॥श्रीः॥

व्रजजीवन प्राच्यभारती ग्रन्थमाला
162

उपनिषत्सञ्चयनम्

(हिन्दीभाषानुवादसहितम्)

प्रथमः खण्डः
(ईशादिदशोपनिषदः)

अनुवादकः
आचार्य केशवलाल वि० शास्त्री

चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान
दिल्ली

उपनिषत्सञ्चयनम्

प्रकाशक
चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान
(भारतीय संस्कृति एवं साहित्य के प्रकाशक तथा वितरक)
38 यू. ए. बंगलो रोड, जवाहर नगर
पो.बा.नं. 2113
दिल्ली 110007
दूरभाष: (011) 23856391, 41530902

प्रथम संस्करण 2015
मूल्य : 250.00

अन्य प्राप्तिस्थान
चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन
के. 37/117 गोपालमन्दिर लेन
पो.बा.नं. 1129, वाराणसी 221001

•

चौखम्बा विद्याभवन
चौक (बैंक ऑफ बड़ौदा भवन के पीछे)
पो.बा.नं. 1069, वाराणसी 221001

•

चौखम्बा पब्लिशिंग हाउस
4697/2, गली नं. 21-ए, अंसारी रोड
दरियागंज, नई दिल्ली 110002

मुद्रक
ए.के. लिथोग्राफर्स, दिल्ली

ISBN { 978-81-7084-611-4 (Vol. 1)
978-81-7084-617-3 (Set)

अर्पण-पत्रिका

प्रात:स्मरणीय परमपूज्य पिताश्री
स्व. श्रीविट्ठलजी पुरुषोत्तम मेहता (शेरगढ़-निवासी)
के
चरण-कमलों में
जिन्होंने अपने अपार वात्सल्य के द्वारा
मेरी बाल्यावस्था में हुए मातृ-वियोग
का मुझे कभी आभास नहीं होने दिया

विनीत
केशवलाल शास्त्री

भूमिका

पीठिकाबन्ध

वैदिक धर्म के कर्मकाण्ड और ज्ञानकाण्ड जब अलग नहीं हुए थे, ऐसे समय में भी तात्त्विक चर्चाएँ नहीं होती थीं, ऐसी बात नहीं है। ऐसे समय में भी तो तात्त्विक चिन्तन होते ही रहते थे। पर वे चिन्तन उस समय प्रचलित यज्ञ संस्कृति के पर्यावरण में होते थे, इसलिए वे यज्ञों के अंगों पर आधारित थे। वेदों में परमेश्वर को 'पुरुष' शब्द से पहचाना गया है क्योंकि वह ब्रह्माण्डरूपी पुर में निवास करता है। वहाँ संसार यज्ञ माना गया है और उसका सर्जन यज्ञप्रसारण रूप में माना गया है। सृष्टि के सर्जक हिरण्यगर्भ भी वैश्वानर अग्नि के रूप में इस यज्ञमय विश्व के अध्यक्ष स्थान पर रहते हैं, ऐसा माना जाता था। वह अग्नि मनुष्य को स्वर्गलोक में ले जाता है, ऐसी उस युग के याज्ञिक लोगों की भावना थी। जगत् का आद्य सर्जक हिरण्यगर्भ है। उसका प्रतीक यज्ञीय अग्नि को माना और पूजा जाता था। विश्वसर्जक का प्रतीक यह अग्नि यज्ञसंस्कृति के लोगों के जीवन में केन्द्रस्थान में था। इसलिए सदैव वैश्वदेव - अग्निहोत्र प्रत्येक घर में किया जाता था और नैमित्तिक कर्मों में भी अग्निपूजन-यजन बौद्धिक प्रसन्नता के लिए, आध्यात्मिक आनन्द के लिए, तात्त्विक चर्चाओं के लिए निमित्त बनता था। अग्नि को विश्वसर्जक मानते-मानते उन लोगों ने धीरे-धीरे अग्नि का स्वरूप विकसित किया और यज्ञकाण्ड से ब्राह्मणग्रन्थों और आरण्यकों में आते-आते यह अग्नि अन्तर्यामी बन गया और यही अन्तर्यामी बाद में ईश्वर भी बन गया। यह अग्निरहस्य के विकास की (अर्थ विकास की) परम्परा दीख पड़ती है।

सामान्यत: वेदों में देवबहुत्व की विभावना प्रचलित होने पर भी प्रत्येक देव एक ही 'सत्' वस्तु के अनन्त रूपों में से कोई एक रूप है, यह भावना तो ऋषियों के अन्त:करण में पूर्व से ही जगी हुई-सी दिखाई देती है। श्रौतकाल के तत्त्वचिंतन को देखा जाय तो उस समय का तत्त्वचिंतन अध्यात्म, अधिभूत और अधिदैव—इन तीन पदार्थों का स्पर्श करता था। अधिभूत चिन्तन की प्रधानता हमें नासदीय सूक्त में दिखाई देती है, अधिदैव चिन्तन की प्रधानता वैश्वानर सूक्त में दिखाई देती है जबकि अध्यात्मभावना की प्रधानता वाक्सूक्त आदि में हम पाते हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि तत्त्वचिन्तन का प्रारंभ उपनिषदों से ही नहीं होता। हाँ, जब ज्ञानकाण्ड कर्मकाण्ड से अलग हुआ तब चिन्तन की परिपक्वता ज्ञानकाण्ड में हम देख सकते हैं और अपेक्षाकृत वैदिक चिन्तन अपक्व था, यह कह सकते हैं।

वैदिक चिन्तन का सिलसिला ब्राह्मणग्रन्थों के काल में भी रुका नहीं। वैदिक चिन्तन की अपेक्षा ब्राह्मणग्रन्थों के चिन्तन में कुछ व्यवस्था मालूम पड़ती है। वैदिक चिन्तन तो बिखरा हुआ ही था, उसमें कोई संकलन नहीं था, पर ब्राह्मणग्रन्थों के चिन्तन में किसी ऋषि के मन्तव्य को स्पष्टतया पकड़ने में हमें सरलता मालूम होती है। जैसे निहारिका में से थोड़ा स्पष्ट आकार बाहर आता हो, ऐसी ब्राह्मणकाल के चिन्तन की अवस्था है। किसी 'दर्शन' जैसी स्पष्ट व्यवस्था तो ब्राह्मणकालीन चिन्तन में भी दुर्लभ लगती है। यज्ञसम्बन्धी परिषदों में या धर्म की सामाजिक सभाओं में चिन्तन तो चलता रहा, परन्तु उसे प्रयोगान्वित करने का रहस्योद्घाटन तो बहुत काल के बाद ही हुआ।

यह रहस्य ऋषिलोग अपने शिष्यों को एकान्त में दिया करते थे। एकान्त में दिये जानेवाले उस रहस्य का नाम ही 'उपनिषद्' है। इन उपनिषदों ने भारतीय संस्कृति और समाज को हजारों वर्षों से प्रेरणा दी है और सांस्कृतिक पोषण दिया है। करोड़ों लोगों को प्रभावित किया है। जड़ प्रकृति के ऊपर चैतन्य की अन्तिम विजय की घोषणा करके इन उपनिषदों ने भारत में (और बाहर भी) आध्यात्मिकता की ज्योति जलती ही रखी है। उपनिषदों की यह महान् आध्यात्मिक परंपरा विश्व को भारत की बहुमूल्य देन है। जड़ प्रकृति पर चैतन्य की, भौतिकता पर मानव की इस विजय-घोषणा ने भारत के लोगों में ऊर्जा भर दी है।

यह भगीरथ कार्य उपनिषदों ने निर्भय होकर खोज करके तर्कों से उसे ठीक तरह से परिपुष्ट किया। इतना ही नहीं, अपितु बुद्धि का भी अतिक्रमण करके रहस्यमय अन्तःप्रेरणा (अनुभूतियों) के द्वारा भी किया। ऋषियों की ये अनुभूतियाँ हमेशा के लिए प्रायः विश्व की एकता की ओर अग्रसर थीं। इन ऋषियों की वह ऐक्योन्मुखी विचारधारा इतनी प्रभावी थी कि बाद के हजारों वर्षों के विचारकों में, सम्प्रदायों में, धार्मिक पन्थों में, भारत के समग्र इतिहास में उनके चिन्तन का प्रवाह गतिशील ही रहा। भले ही वे विचार उन पर पूर्णतया न छाये हों, परन्तु उन विचारों से वे अछूते नहीं रह पाये। सदियाँ गुजर गईं, पर विचारपरंपरा गतिमान ही रहीं।

सही बात तो यह है कि बाद की विचारधाराएँ अपनी प्रामाणिकता के लिए उपनिषद् में प्रतिपादित उन ऋषियों के विचारों को या तो संपूर्णतः अपना लेती थीं, या उनकी ओर बड़े सम्मान के साथ देखती थीं, या तो उनके मार्ग पर ही चल रही थीं, अथवा कुछ इधर-उधर का मिश्रण करके उन्हीं विचारों को अपनी धारा में समा लेती थीं। इसमें नास्तिक दर्शन (बौद्ध) और जैन दर्शन भी अपवाद नहीं है।

कई संशोधक विद्वानों ने, उपनिषदों के इन ऋषियों के चिन्तन ने भारत के बाहर विदेशों में भी कैसा प्रभाव डाला है, उसके बारे में शोध किया है। जापान, चीन, कोरिया, पूर्व-मध्य एशिया और पश्चिमी देशों का इसमें समावेश होता है।

भारत की धार्मिक परंपरा ने उपनिषदों को उच्चतम प्रमाण के रूप में स्वीकृत किया है। इसीलिए तो उन्हें 'श्रुति' का आदरणीय नाम मिला है। उपनिषदें भारतीय धर्मपरंपरा के लिए निःसंदिग्धरूप से प्रमाण मानी गई हैं।

'उपनिषद्' शब्द का अर्थ

'उपनिषद्' शब्द 'उप' और 'नि' पूर्वक 'सद्' धातु से 'क्विप्' प्रत्यय जोड़ने से निष्पन्न होता है। 'सद्' धातु के तीन अर्थ होते हैं—1. विशरण अर्थात् नाश होना, 2. गति अर्थात् प्राप्ति और 3. अवसादन अर्थात् शिथिल हो जाना। यह तो व्युत्पत्ति-लभ्य अर्थ है। पारिभाषिक रूप से उपनिषद् को अध्यात्मविद्या कहा गया है। यह ऐसी विद्या है कि जिसका अध्ययन करने से दृष्ट एवं आनुश्रविक (श्रुतिगम्य) विषयों में से तृष्णा को छोड़कर मुमुक्षु लोग संसार की बीजभूत अविद्या का नाश कर सकते हैं। जो विद्या मुमुक्षुओं को परमतत्त्व (ब्रह्म) की प्राप्ति करा देती है तथा जिसके परिशीलन से जन्म-मरणादि दुःख-द्वन्द्वों का सर्वदा-सर्वदा के लिए शिथिलीकरण हो, वही अध्यात्मविद्या उपनिषद् है। तात्पर्य यह है कि 'सद्' धातु के विशरण (नाश) के अर्थ में उपनिषद् अविद्या का नाश करती है, 'गति' के (प्राप्ति के) अर्थ में वह परमतत्त्व की प्राप्ति कराती है और 'अवसाद' (उदासी) के अर्थ में वह सांसारिक बन्धनों को शिथिल कर देती है। शंकराचार्य ने कठोपनिषद् तथा तैत्तिरीयोपनिषद् के भाष्यों के उपोद्घात में यही तात्पर्य प्रकट किया है। वे इसे ब्रह्मविद्या कहते हैं। शंकराचार्य के अनुसार

उपनिषद् का मुख्य अर्थ ब्रह्मविद्या है और गौण अर्थ ब्रह्मविद्या के प्रतिपादक ग्रन्थ होता है। ब्रह्म, जीव, जगत्, ईश्वर, माया—इन सबका परस्पर सम्बन्ध, मानव-जीवन का लक्ष्य, लक्ष्यप्राप्ति के उपाय आदि विषयों का उपनिषदों में विशद् वर्णन किया गया है।

'उपनिषद्' शब्द का एक और भी अर्थ हो सकता है। उप = नजदीक, नि = निष्ठापूर्वक, सीदति = बैठता है। अर्थात् शिष्य का निष्ठा (श्रद्धा) पूर्वक गुरु के पास बैठना, वह उपनिषद् है। यह एकान्त में गुरु के पास बैठना यह सूचित करता है कि गुरु से शिष्य को कुछ रहस्यमय (गूढ) विद्या की प्राप्ति के लिए ही ऐसा किया जा रहा है। वह आध्यात्मिक ज्ञान है जो अधिकारी शिष्यों को ही दिया जा सकता है। अनधिकारी को यह विद्या न मिले, इसकी पूरी सावधानी यहाँ बरती गई है।

उपनिषदों का रचनाकाल

उपनिषदों के कालनिर्णय के बारे में परम्परा तो कहती है कि वे श्रुति हैं और स्वयं ईश्वर के द्वारा कही गई वाणी है; प्रलय के बाद पूर्ववत् नयी सृष्टि के चलते हुए चक्र के प्रारंभ में ईश्वर के मुख से श्रुति (वेद) (उपनिषद् भी) निकले हैं, इसीलिए उपनिषदें शाश्वत हैं।

फिर भी उपनिषदों को अध्यात्मज्ञान के ग्रन्थों के रूप में देखते हुए, आज तक हमें जो मानव जाति का इतिहास ज्ञात है, उसके साथ जोड़ने के लिए उपनिषदों का कुछ-न-कुछ काल-निर्णय तो करना ही पड़ता है। इस दिशा में विद्वानों के प्रयत्न आज भी जारी हैं। पर विद्वानों के ये प्रयत्न अभी तक परितोषजनक नहीं हुए हैं। ये तो हमें और भी असमंजस में डालने वाले सिद्ध हुए हैं।

उपनिषदों के काल-निर्धारण में ज्यादा तकलीफ होने का एक मुख्य कारण तो यह रहा है कि हिन्दू मस्तिष्क की एक खास लाक्षणिकता यह रही है कि उसने सर्वदा सिद्धान्तों पर ही बल दिया है, किन्तु उस सिद्धान्त के स्थापक तथा उसके काल पर कभी भी ध्यान नहीं दिया।

उपनिषदें वेदों के आंतरिक भाग रूप हैं। इसलिए जो वेदों के निर्माण का समय होगा, वही उपनिषदों के निर्माण का भी समय मान लेना चाहिए। ऋग्वेद का समय तो ई.पू. 4500 (तिलक), ई.पू. 2400 तक (हँग) और 1200 ई.पू. (मैक्समूलर) तक फैला हुआ है। अर्वाचीन पश्चिमी विद्वान् उपनिषदों का समय ई.पू. 700 से ई.पू. 600 रखते हैं और मानव के तत्त्वज्ञान सम्बन्धी क्रमिक विकास का मानदण्ड मन में रखते हैं। वे कहते हैं कि वेद में बिखरे हुए चिन्तन को व्यवस्थित होते-होते वेद के बाद ब्राह्मणग्रन्थों और वहाँ से आरण्यकों में आकर उपनिषद् तक आने में सैंकड़ों वर्ष बीत चुके होंगे। लोकमान्य बालगंगाधर तिलक ने खगोलशास्त्रीय आधार पर यह सिद्ध किया है कि उपनिषदों का रचना-काल ई.पू. 1900 होना चाहिए। इसलिए उनके मतानुसार और उनके मतानुयायी अन्य विद्वानों के अनुसार भी उपनिषदों का रचना-काल ई.पू. 2500 से लेकर ई.पू. 2000 तक का होना चाहिए।

जिन दस उपनिषदों पर शंकराचार्य ने भाष्य लिखे उनमें से कुछ बहुत प्राचीन मालूम पड़ती हैं। ये उपनिषदें बुद्ध के जन्म के पहले की हैं यह निःसंदिग्ध बात है। ऐसा मालूम होता है कि ये उपनिषदें एक साथ नहीं, धीरे-धीरे बनती रहीं। इसलिए कुछ उपनिषदें बुद्धजन्म के बाद बनी हुई मालूम पड़ती हैं। उपनिषदों का रचनाकाल वैदिक सूक्तों की समाप्ति और बौद्धधर्म के उदय के बीच में माना जा सकता है, ऐसा भी कुछ विद्वान् मानते हैं। सर्वसम्मत कालनिर्णय तो अभी हो नहीं पाया है।

शंकराचार्य के भाष्यवाली कुछ उपनिषदों को कुछ विद्वान् बुद्ध के जन्म के बाद की मानते हैं। जो उपनिषदें गद्य में हैं और जिनका कोई सम्प्रदाय नहीं दीखता, वे प्राचीनतम हैं। कौषीतकी, ऐतरेय, तैत्तिरीय, छान्दोग्य, बृहदारण्यक और केनोपनिषद् का कुछ भाग इस श्रेणी में आते हैं।

उपनिषद् नामवाले जो ग्रन्थ आज छपे हुए मिलते हैं, उनकी संख्या लगभग 200 से ऊपर जाती है। मुक्तिकोपनिषद् में 108 नाम गिनाए गए हैं। उपनिषदों के ऊपर सबसे प्राचीन भाष्य शंकराचार्य (788-820) का ही है। भाष्य के लिए उन्होंने केवल 10 उपनिषदें चुनी हैं। अपने किए हुए भाष्य के अतिरिक्त अन्य उपनिषदों का उल्लेख उन्होंने ब्रह्मसूत्र के भाष्य में किया है। रामानुज ने (1017-1137) शंकराचार्य के उपरान्त दो अन्य उपनिषद् भी चुनी हैं। इन दोनों आचार्यों द्वारा चुने गए उपनिषद् ग्रन्थों को ही प्राचीनतम और प्रामाणिक मानें तो यह तालिका इस प्रकार हो सकती है— ऐतरेय, बृहदारण्यक, छान्दोग्य, ईश, जाबाल, कैवल्य, कठ, केन, माण्डूक्य, महानारायण, मुण्डक, प्रश्न, श्वेताश्वतर, तैत्तिरीय और वज्रसूचिका—ये पन्द्रह उपनिषदें हैं।

उपनिषदों का वर्गीकरण

जहाँ तक उपनिषदों के वर्गीकरण का प्रश्न है, वहाँ विविध विद्वानों ने विविध पद्धतियों का उपयोग किया है। कुछ लोग रचनाविषयक विभागीकरण करते हैं, कुछ लोग वेदानुसार तो कुछ लोग विषयानुसार भी उपनिषदों का वर्गीकरण करते हैं।

यज्ञकाण्ड के कर्मविभाग में से ज्ञानकाण्ड के चिन्तन विभाग की बाद में ही रचना हुई। उन्हें उपनिषद् कहा गया। कुछ समय के बाद उन उपनिषदों का समुच्चय हुआ। यह समुच्चय दो स्थानों में हुआ। एक उत्तर भारत में हुआ और दूसरा दक्षिण भारत में हुआ। दक्षिणापथ में किए गए समुच्चय में 52 उपनिषदें संगृहीत हुई हैं, जबकि उत्तरभारत में संकलित उपनिषत्संग्रह में 108 उपनिषदें समाविष्ट हुई हैं। पहले समुच्चय पर श्रीनारायण की दीपिका नामक टीकाएँ हैं। यह समुच्चय भी नारायण ने स्वयं किया हो, ऐसी अवधारणा की जा सकती है। पर दूसरा समुच्चय (उत्तर भारत का) पहले की अपेक्षा बाद का संकलन मालूम होता है।

भाष्यकार भगवान् श्री शंकराचार्य की दृष्टि में उपनिषद् कितनी होंगी, यह कहना मुश्किल-सा है। फिर भी उनके ग्रन्थों के अन्तःसाक्ष्य के आधार पर छान्दोग्य, बृहदारण्यक, तैत्तिरीय, मुण्डक, काठक, कौषीतकि, श्वेताश्वतर, प्रश्न, ऐतरेय, जाबाल, महानारायण, ईशावास्य, पैंगल, केन—इन चौदह उपनिषदों के उपरान्त माण्डूक्योपनिषद् की गौड़पाद कारिका को प्रकरण माना जाता था और केवल माण्डूक्योपनिषद् को आगम भाग माना जाता था।

रचनाविषयक दृष्टिकोण से देखा जाय तो (क) प्राचीन गद्यात्मक उपनिषदों में बृहदारण्यक, ऐतरेय, तैत्तिरीय, कौषीतकि, केन और छान्दोग्य आती हैं। (ख) पद्यात्मक उपनिषदों में काठक, ईश, श्वेताश्वतर, मुण्डक और महानारायण हैं। और (ग) श्रौतकाल के अन्तभाग के गद्यात्मक उपनिषदों में प्रश्न, मैत्रायणी और माण्डूक्य हैं।

शंकराभिमत चौदह एवं माण्डूक्य समेत 15 उपनिषदों का वैदिक शाखानुसार वर्गीकरण किया जाय तो **ऋग्वेद** के एतरेय ब्राह्मण की ऐतरेयोपनिषद् और कौषीतकि हैं। **यजुर्वेद** की तैत्तिरीय (कृष्णयजुर्वेद), मैत्रायणि (कृष्णयजुर्वेद), काठक (लुप्त शाखा), श्वेताश्वतर (लुप्त शाखा), बृहदारण्यक (काण्व शाखा), ईशावास्य (शुक्लयजुर्वेदीय वाजसनेयि शाखा) और महानारायणोपनिषद्

(कृष्णयजुः शाखा) हैं। **सामवेद** की छान्दोग्य (ताण्ड्य शाखा), केनोपनिषद् (जैमिनीय शाखा) तथा **अथर्ववेद** की मुण्डक, प्रश्न, नृसिंहतापनीय और माण्डूक्य हैं। (इस प्रकार 15 संख्या होती है।)

किन्तु बात तो पूर्वोक्त 15 या 16 उपनिषदों के वर्गीकरण की ही हुई। पर उत्तर भारत में जो 108 उपनिषदों का समुच्चय हुआ है, उनका वर्गीकरण भी तरह-तरह से किया गया है। कुछ लोग तत्त्वप्रधान आदि कई विभागों में इन उपनिषदों को बाँटने का प्रयत्न करते हुए दृष्टिगोचर होते हैं। किन्तु उपनिषदों के मर्म-ग्रहण के लिए ऐसे वर्गीकरण ज्यादा लाभदायक नहीं प्रतीत होते।

उपनिषदों की संख्या

ऊपर बताए गए 15 या 16 उपनिषदों के अतिरिक्त भी अनेक 'उपनिषद्' नाम के ग्रन्थ दृष्टिगोचर होते हैं। ऐसे ग्रन्थों की संख्या 108 अथवा 200 से 240 तक पहुँच गयी है। श्रौतकाल से लेकर मुसलमानों के अर्वाचीन राज्यशासनकाल तक के समय में 'उपनिषद्' नामक ग्रन्थों का बहुत बड़ा विस्तार हो गया है। 'अल्लोपनिषद्' भी इसमें घुस गई है। बौद्धधर्म की छायावाली 'वज्रसूचि' का भी प्रवेश हो गया है। शाक्त आगम की त्रिपुरा, काली, अन्नपूर्णा, भावना, देवी आदि नाम की अनेक उपनिषदें भी शामिल हो गई हैं। परन्तु इन सभी को जहाँ तक संहिता, ब्राह्मण या आरण्यक के साथ सप्रमाण स्थान न बताया जाए, वहाँ तक उन्हें श्रौत नहीं मानना चाहिए। ये उपनिषदें तो बाद में बहुत समय के बाद अपने-अपने सम्प्रदाय के प्रचार-प्रसार के लिए लिखी गई हैं और उन्हें 'उपनिषद्' का आदरसूचक नाम भी दिया गया है, जिससे रूढिवादियों और उन-उन मतावलम्बियों में ऐसे ग्रन्थों का आदर, स्वीकार और प्रमाण माने जाएँ।

कुछ भी हो, लेकिन इतना तो मानना ही पड़ेगा कि भले ही ये बाद की उपनिषदें शुद्ध साम्प्रदायिक हों, फिर भी उन्होंने उपनिषद् का स्वरूप ज्यों-का-त्यों रखने का प्रयास किया है। यह बाह्य बात तो ठीक है, पर उन्होंने लोकधर्म के प्रचार-प्रसार में अच्छा योगदान दिया है और सामान्य जनसमाज की नैतिक जीवनशैली को बढ़ावा दिया है। साथ ही लोगों में आध्यात्मिक चेतना एवं वेदान्तिक अधिगम को जाग्रत् रखने में बड़ा योगदान दिया है, इसमें कोई सन्देह नहीं।

इन बाद की उपनिषदों का वर्गीकरण छः भागों में किया जा सकता है—(1) वेदान्ती उपनिषदें, (2) शैव उपनिषदें, (3) शाक्त उपनिषदें, (4) वैष्णव उपनिषदें, (5) योग उपनिषदें और (6) संन्यास उपनिषदें। इनमें ये बाद की वेदान्तोपनिषदें तो जहाँ तक सामान्य सिद्धान्तों का प्रश्न है, उन्हीं पुरानी मुख्य उपनिषदों के मार्ग पर ही चलती हैं। शैव, शाक्त और वैष्णव उपनिषदें हठयोग और पतंजलि के सूत्रों पर आधारित राजयोग सम्बन्धी अनेकानेक हकीकतें बताती हैं, और भी कई नयी बातें कहती हुई दिखाई देती हैं। संन्यास उपनिषदें विशेषरूप में संन्यास की और साधना की बातें बताती हैं।

उपनिषदों का स्वरूप

पहले कहा जा चुका है कि प्राचीन 10 से लेकर 15 उपनिषदें ही प्राचीन भारतीय तत्त्वज्ञान की नींव के समान मानी गई हैं। फिर भी ये पुरानी उपनिषदें क्या एक ही तत्त्वज्ञान सिखाती हैं, या भिन्न-भिन्न प्रकार की तत्त्वज्ञान पद्धतियाँ बताती हैं ? यह प्रश्न विशेष करके विदेशी आलोचकों के मन में उठता है। भारतीय परंपरा तो यही मानती आई है कि समग्र औपनिषदिक वाङ्मय 'श्रुति' नाम से एक ही है और इसीलिए वह तत्त्वज्ञान की एक ही पद्धति सिखाता है। हाँ, उस एक ही पद्धति के अनेक पहलू हो सकते हैं ? फिर भी वह समन्वित रूप से एक ही है।

परन्तु इन उपनिषदों के विविध उपदेशों को देखते हुए हमें सहज ही वह परम्परित दृष्टिकोण परितोषजनक नहीं मालूम पड़ता। उपनिषदों के परम्परागत भाष्यकारों ने किसी तरह हमारी इस समस्या को हल करने का प्रयत्न किया है। उन्होंने उपनिषदों के मंत्रों के अपने मतानुसार विवरण किए। हमारे मस्तिष्क में उठे हुए प्रश्न का—उपनिषदों के तत्त्वज्ञानी एकता या अनेकता के प्रश्न का—कुछ समाधान तो हमें मिल जाता है, क्योंकि एक भाष्यकार द्वारा अपना मत स्थापित करने के लिए एक ही मंच पर अन्य भाष्यकारों के मतों का खण्डन किया हुआ पाया जाता है।

क्या यह संभावना भी हो सकती हैं कि सदियाँ बीत जाने से उपनिषदों की पारस्परिक एकसूत्रता के समन्वयकारी कुछ महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त खो गये हों, और आज जो हमारे हाथ में है, वह खाली उन मुख्य सिद्धान्तों के टुकड़े मात्र ही शेष रह गये हों; और वे ही टुकड़े हमें उन परस्पर-विरोधी विचारों की ओर खींचते रहे हों। ठीक है यह कल्पना युक्तियुक्त तो लगती है परन्तु इसके लिए हमें कोई प्रमाण नहीं मिलता नहीं है, अत: यह धारणा कोरी कल्पना ही लगती है।

अथवा एक दूसरी धारणा भी की जा सकती है कि उपनिषदों में उल्लिखित गौतम, अत्रि, याज्ञवल्क्य, श्वेतकेतु अथवा रैक्व आदि बहुत महान चिन्तक और रहस्यवादी थे। उन्होंने अपने ढंग के स्वतंत्र मौलिक विचार, युक्ति और अनुभूति के आधार पर प्रकट किए, जिसके कारण उपनिषदों में विचार-वैविध्य आ गया हो। क्योंकि आखिर परमसत्यरूप परब्रह्म तो अनन्त है और वह किसी के द्वारा सम्पूर्णतया तो नहीं जाना जा सकता। इसलिए अन्धों ने हाथी के एक-एक अंग पकड़कर हाथी को अपने पकड़े हुए अंग जैसा ही बताया, उसी तरह उन ऋषियों ने भी अपनी अनुभूति के अनुसार परमतत्त्व ब्रह्म के एक ही पहलू को पकड़कर उसका तर्कपूत निदर्शन कर दिया हो, यह भी संभव है। तो क्या ऐसा नहीं हो सकता कि भले ही इन ऋषियों के विचार अलग-अलग दिखाई देते हों, फिर भी वे एक ही परमसत्य परब्रह्म के ही विविध पहलू हैं ?

इन 15 या 16 उपनिषदों के बारे में ज्यादा-से-ज्यादा ये सब केवल बौद्धिक अवधारणाएँ ही हैं। और ये अवधारणाएँ अब भी चालू ही हैं और कुछ समय तक चालू ही रहेंगी।

उपनिषदों के ऊपर संस्कृत में टीकाएँ

इन प्राचीन उपनिषदों को रहस्यमय ग्रन्थ माना जाता है। इसलिए उनका नाम 'उपनिषद्' भी अन्वर्थक ही है। 'उपनिषद्' शब्द की व्युत्पत्ति ही यह बता रही है। उपनिषदें अपने स्वरूप और अपने विषय—दोनों में चिन्तन-प्रधान हैं। उपनिषदों की भाषा आदिम युग की और कालग्रस्त है। उपनिषदों की कई विभावनाएँ (अनुभूतियाँ) ऐसी हैं, जिनका सम्बन्ध संहिताकालीन यज्ञप्रधान संस्कृति से जुड़ा हुआ है। और कुछ ब्राह्मणकालीन विचारों से एवं भावनाओं से भी उनका सम्बन्ध है, जो आज हमारी समझ में नहीं आता। उपनिषदों की ऐसी बातों से हम हजारों साल की दूरी पर आज हो गए हैं, तत्कालीन विधि-विधानों से आज हमारा कोई सरोकार नहीं रहा है। यही कारण है कि किसी प्रमाणभूत भाष्य (या व्याख्या) के बिना उपनिषदों के विचारों की एकसूत्रता को और कभी-कभी तो सामान्य बात को भी समझना हमारे लिए बहुत मुश्किल हो जाता है।

उपनिषदों के भाष्यों में सबसे प्राचीन और सर्वप्रथम भाष्य शंकराचार्य ने लिखा। बाद में शंकराचार्य के उपनिषद्-भाष्यों को ही ज्यादा स्पष्ट करने के लिए उन्हीं भाष्यों पर बहुत सी टीकाएँ लिखी गईं। उन टीकाओं में तेरहवीं सदी के आनन्दगिरि की टीका का विशेष महत्त्व है। आनन्दगिरि की ये टीकाएँ उपनिषद् के ज्ञानरहस्य का ताला खोलने में चाबी का काम करती हैं।

रामानुज ने भले ही किसी भी उपनिषद् पर भाष्य-टीका आदि कुछ लिखा न हो, पर उन्होंने अपने 'वेदार्थसारसंग्रह' में उपनिषदों के कुछ चिन्तन को और कुछ भावनाओं को विस्तार से समझाने का कुछ प्रयत्न तो किया है। परन्तु, ई.स. 1600 में हुए उसी सम्प्रदाय के रंगरामानुज ने सभी मुख्य उपनिषदों पर टीकाएँ लिखकर रामानुज का काम पूरा कर दिया। मध्वाचार्य (ई. 1199-1303) ने भी प्राचीन दस उपनिषदों पर संक्षिप्त में टीकाएँ लिखीं है तथा उनके ऊपर राघवेन्द्र तीर्थ ने (ई. 1595-1671) संक्षिप्त टिप्पणियाँ लिखी हैं।

उपनिषदों पर संस्कृत व्याख्याकारों में कुछ ऐसे भी टीकाकार हुए हैं जिन्होंने प्राचीन दस उपनिषदों में से अपनी टीका के लिए कुछ ही उपनिषदों का चयन किया है। ऐसी उपनिषदों में ईशावास्योपनिषद् प्रधान है। इस उपनिषद् ने बहुत से विद्वानों का ध्यान अपनी ओर आकर्षित किया है। उन विद्वानों में ब्रह्मानन्द सरस्वती, शंकरानन्द (14वीं सदी), उवटाचार्य (11वीं सदी) और वेदान्तदेशिक (1268-1370) के नाम उल्लेखनीय हैं। पहले कहे गए मध्वसंप्रदायी राघवेन्द्र तीर्थ ने ईश, केन, कठ, प्रश्न, मुण्डक और माण्डूक्य उपनिषदों पर साम्प्रदायिक टीकाएँ लिखीं। पिछले वर्षों में उपनिषद्ब्रह्मयोगीन्द्र ने प्राचीन उपनिषदों के अतिरिक्त अन्य सामान्य उपनिषदों के ऊपर भी अपनी टीकाएँ लिखकर एक सराहनीय काम कर दिखाया है।

उपनिषदों का तत्त्वज्ञान

एक तरह से देखा जाय तो उपनिषदों का विचारप्रवाह ब्राह्मणग्रन्थों और आरण्यकों से अविच्छिन्न धारा के रूप में माना जा सकता है। फिर भी उपनिषदों का झुकाव तो अवश्य ही वैदिक विधिविधानों के विरोध की ओर ही है। सभी उपनिषदें बाहरी क्रियाकाण्डों का घोर विरोध करती हैं और उपासना एवं ध्यान के ऊपर ही जोर देती हैं तथा ज्ञान-अनुभूति को ही सर्वप्रथम स्थान देती हैं।

उपनिषदों की तात्त्विक चर्चाओं में, संवादों में ज्यादातर इस जगत् के मूल कारण की चर्चा दृष्टिगोचर होती है। उसी नींव की खोज में प्रश्नोत्तरी हुआ करती है। ऋषिलोग इसी की चर्चा करते हुए, खोज करते हुए सोचते हैं कि क्या इस जगत् का कोई एक उपादान कारण हो सकता है ? और यदि है तो उसकी जगत् के रूप में उत्क्रान्ति करने की सहज प्रकृति क्या है ? अपनी खोज के अन्त में ऋषियों ने जो तत्त्व पाया वह 'ब्रह्म' है।

उपनिषदों का यह परमतत्त्व यों तो वैदिक काल के ऋग्वेदीय ऋषियों के चिन्तनों में दिखाई देता है। वहाँ इसका नाम 'ऋत' था। यह ऋत की संकल्पना 'ब्रह्म' जैसी ही मनोरम है। ऋत का अर्थ है—'अविनाशी सत्ता'। उपनिषदों के ब्रह्म की तरह इस ऋत के कारण ही सृष्टि की उत्पत्ति होती है।

ऋग्वेद के 'ऋत' की तरह ही अथर्ववेद के 'स्कम्भ सूक्त' (अथर्व. 10.7-8) तथा 'उच्छिष्ट सूक्त' (अथर्व. 11.9) पर विचार करने से ऐसा स्पष्टरूप से दिखाई देता है कि ब्रह्म को ही पारमार्थिकता और जीव-ब्रह्मैक्य की बात अथर्ववेद में भी अस्तित्व रखती थी।

अत: यह कल्पना नहीं की जा सकती कि शुरू में अनेक देववाद के बाद एकेश्वरवाद और बाद में उपनिषदों में ही पहली बार सर्वेश्वरवाद के दर्शन होते हैं। चिन्तन के क्रमिक विकास की यह धारणा चाहे कितनी भी मनोनुकूल, मनोहर और क्रमिक विकास के सिद्धान्त पर अवलम्बित दिखाई देती हो, परन्तु वास्तविक भूमि पर वह टिक नहीं सकती, कल्पना के सिवा इसका कोई बहि:साक्ष्य ऐतिहासिक

प्रमाण नहीं मिलता। हाँ, विचार की व्यापकता के तौर पर हम यह अवश्य कह सकते हैं कि उपनिषदों के समय में ब्रह्मात्मैक्य का यह विचार ज्यादा व्यापक था।

ब्रह्म और आत्मा

कुछ भी हो, जिस परमतत्त्व को (जगत् के मूल कारण को) उपनिषदों ने 'ब्रह्म' नाम से पुकारा है, इस 'ब्रह्म' तत्त्व की खोज करते-करते उन्होंने यह भी चिन्तन किया कि हमारे इस मन:शारीर संकुल के पीछे किसी शाश्वत तत्त्व की हस्ती है भी या नहीं ? ऋषियों की समानान्तर खोज के परिणामस्वरूप एक तत्त्व जो उन्हें मिला उसी तत्त्व को वे 'आत्मा' कहने लगे।

बाद में प्रश्न उठे कि यह व्यक्तिनिष्ठ परमतत्त्वरूप आत्मा एक है, या अनेक ? उसका परिमाण (आकार) क्या है ? वैश्विक परमतत्त्व रूप ब्रह्म से उसका क्या सम्बन्ध है ? उपनिषदों में इन सभी प्रश्नों की चर्चा तो की गई है, पर इन प्रश्नों का कोई एक निश्चित उत्तर पाना मुश्किल-सा लग रहा है। क्योंकि इन विषयों में विविध मतमतान्तर दिखाई दे रहे हैं। फिर भी परम्परागत वेदान्तसम्प्रदाय उन विरोधों और विविधता का मेल बिठाने के लिए किसी तरह अविरोध का समन्वय करने के लिए बड़ा कठिन परिश्रम करते दिखाई देते हैं। वे किसी तरह अपने साम्प्रदायिक दृष्टिकोण को ही सही बताने पर तुले हुए हैं, और अन्य मत का खण्डन उनका मुख्य विषय बन गया है।

उपनिषदों का दूसरा विषय मनुष्य की मरणोत्तर गति के बारे में है। इसके अतिरिक्त आचारपक्ष एवं नीति-नियमों का है।

मनुष्य का संसार में बन्धन होने का कारण उसका अज्ञान है और उस अज्ञान का निरसन आत्मसंयम आदि की साधना से हो सकता है। इसके साथ ही सत्यभाषण, अहिंसा आदि कुछ सद्‌गुणों का भी वर्णन किया गया है। उपनिषदों के उपदेशों का कुछ विवरण यहाँ संक्षेप में दिया जा रहा है।

आत्मा

उपनिषदों में आत्मा का स्वरूप-वर्णन बहुत विश्लेषणात्मक ढंग से किया गया है। पुरुष जब मृत्यु को प्राप्त होता है, तब क्या ऐसा कोई तत्त्व है कि जो शेष रहता है, और उसका जीवन चालू ही रहता है ? यदि मरने के बाद भी वह तत्त्व जीवित रहता है तो वह क्या है, जिसके वशीभूत होकर इन्द्रियों और मन को सक्रिय रहना पड़ता है ? उपनिषद् के ऋषियों की यह खोज उन्हें इस आत्मतत्त्व की स्थापना तक ले गई। वही आत्मतत्त्व जीव, चैतन्य, चेतना आदि नामवाला है वह प्रत्येक सजीव प्राणी के मन और बुद्धि से परे है; वही जीवन - संजीवनी शक्ति है। वह 'आत्मा' है।

यह आत्मा कभी जन्मा नहीं है और कभी मरेगा भी नहीं। जन्म-मरण शरीर का ही होता है, आत्मा तो अजन्मा और शाश्वत ही है। यह आत्मा, शरीर-इन्द्रिय-प्राण-मन-बुद्धि-अहंकार से पृथक् ही है, वह सदा मुक्त है। उपर्युक्त शरीरादि सभी तत्त्व आत्मा से ही जीवित रहते हैं, उसी के द्वारा काम कर सकते हैं, उसी के लिए कार्यरत होते हैं। इन्द्रियादि की क्षति, अक्षमता या हानि—कुछ भी आत्मा को प्रभावित नहीं करती।

ऐसा होने पर यह भी एक अनुभवसिद्ध यथार्थ है कि वह आत्मा इस शरीराकार भौतिक पिंजरे में रहते हुए बद्ध हो गया है और उसने अपना बहुत कुछ स्वातन्त्र्य खो दिया है। ऐसी स्थिति में उस आत्मा को 'जीवात्मा' या 'जीव' कहा जाता है। प्रश्न होता है कि—स्वरूप से मुक्त यह आत्मा शरीरादि बन्धन में किसलिए और कैसे फँस गया ? इसके उत्तर में कहा गया है कि—यह उसके

भूतकाल के किए गए कर्मों का अनिवार्य और अविनाश्य फल का परिणाम है। यहाँ अगर यह पूछा जाए कि उसने पहला कर्म कब और क्यों किया जो कि उसके बन्धन का कारण हुआ और जिससे कि वह बन्धन की शृंखला बन गई ? उपनिषदों के पास इस प्रश्न का कोई उत्तर नहीं है। क्योंकि उपनिषदें सृष्टि को अनादि प्रक्रिया मानती हैं। उपनिषदों के मत में सृष्टि का कोई आरंभ नहीं है, न अन्त। प्रलय की संकल्पना है फिर भी अमुक समय के बाद "धाता यथापूर्वमकल्पयत्' की श्रुति के अनुसार पूर्ववत् ही सृष्टि चालू ही रहती है।

जन्म-मरण के चक्र में जीव का फँसना और उसके परिणामस्वरूप दु:खों को भोगना ही 'संसार' कहलाता है और संसार के इन बन्धनों से छुटकारा पाना ही मोक्ष है। इस मोक्ष को उपनिषदों ने मानव-जीवन का परम लक्ष्य माना है। उपनिषदें कहती हैं कि ऐसा मोक्ष सच्चे 'ज्ञान' से प्राप्त किया जा सकता है। ऐसा मोक्ष भक्ति से भी मिलता है, उस भक्ति के साथ उपासना और ध्यान सहजरूप से आ जाने चाहिए। उपनिषदों ने कर्मों को मोक्ष के सहकारी कारण के रूप में माना है।

शरीरादि से अलग इस आत्मतत्त्व के मरणोपरान्त भी अपने अस्तित्व के रहने के बारे में कठोपनिषद् में बड़ी सुन्दर मीमांसा की गई है। यम-नचिकेता के सुप्रसिद्ध संवाद में आत्मा की नित्यता, जन्ममरण-हीनता, मन-इन्द्रियादि से पृथकता आदि को—'आत्मानं रथिनं विद्धि' इत्यादि रूपक द्वारा भलीभाँति समझाया गया है (कठ. 2.3-4)।

'आत्मन्' शब्द का व्युत्पत्ति-लभ्य अर्थ भी आत्मस्वरूप का यथार्थ परिचय पाने के लिए उपयुक्त मालूम पड़ता है। कठोपनिषद् (2.1.1) के शांकरभाष्य में आचार्य ने एक प्राचीन आत्मव्युत्पत्तिदर्शक श्लोक उद्धृत किया है, वह इस प्रकार है—

यदाप्नोति यदादत्ते यच्चात्ति विषयानिह।
यच्चास्य सन्ततो भावस्तस्मादात्मेति कीर्त्यते ॥

अर्थात् जो 'आप्नोति'= वस्तुओं को ग्रहण करता है, 'आदत्ते' = स्थितिकाल में विषयों का अनुभव करता है; 'अत्ति' = जो विषयों को भोगता है, 'आतनोति' = जो विद्यमान ही रहता है, वह आत्मा है।

इस आत्मा की सत्ता के कारण ही प्राणिमात्र जीवित रह सकते हैं। कठ उपनिषद् कहती है कि "कोई भी प्राणी न तो प्राण के कारण जीवित रहता है, न अपान से जीवित रहता है परन्तु वह उस तत्त्व के सहारे जीवित रहता है, जिससे ये दोनों (प्राण तथा अपान) जीवित रहते हैं। वह तत्त्व कौन है ? वह आत्मा है।" (कठ. 2.25)

आत्मा का स्वरूप

इस आत्मतत्त्व का विवेचन उपनिषदों में बड़ी ही सुन्दर रीति से किया गया है।

शुद्ध चैतन्य आत्मा का मूल स्वरूप है। परन्तु वह केवल शुद्ध चैतन्य हमारी सभी अवस्थाओं में नहीं रहता। वह न जाग्रत् में, न स्वप्न में और न तो सुषुप्ति में शुद्ध चैतन्य है। ये तीनों अवस्थाएँ मायिक हैं, अत: इन तीनों अवस्थाओं में रहता हुआ चैतन्य या तो आभासित है या प्रतिबिंबित है, या अवच्छिन्न है अथवा उपहित ही है। इन तीनों अवस्थाओं से परे उच्च कोटि की चौथी—तुरीय अवस्था में ही आत्मतत्त्व का पारमार्थिक स्वरूप प्राप्त हो सकता है। जाग्रत् (शरीरचेतना),

स्वप्नचैतन्य तथा सुषुप्ति चैतन्य की उपाधियों से या विशेषणों से सर्वथा मुक्त विशुद्ध चैतन्य (उनसे सर्वथा अलग चैतन्य) अपने मूल विशुद्ध रूप में विद्यमान रहता है। इस चौथी अवस्था का नाम तुर्य या तुरीय अवस्था है। इस सिद्धान्त का प्रतिपादन छान्दोग्योपनिषद् में बड़े ही रोचक ढंग से एक आख्यायिका द्वारा वर्णित किया गया है। उस उपनिषद् के आठवें अध्याय में देवता तथा असुरों ने आत्मतत्त्व की जिज्ञासा से प्रेरित होकर इन्द्र तथा विरोचन को प्रजापति के पास भेजा। प्रजापति ने उन्हें बत्तीस साल की कठोर तपस्या करवाई और बाद में बतलाया कि आँख में, जल में और दर्पण में जो पुरुष दिखाई देता है, वही 'आत्मा' है। विरोचन को तो प्रजापति के इस उत्तर से संतोष हो गया, लेकिन इन्द्र को सन्तोष न हुआ। उसने सोचा कि वस्त्रालंकार से भूषित होकर जल या दर्पण में देखने पर आत्मा सुंदर लगता है, तो क्या यह शरीर ही आत्मा है ? यदि ऐसा ही हो, तब तो शरीर के अन्धत्व, काणत्व, पंगुत्व से आत्मा भी अन्धा, काना, पंगु हो जाएगा। अपनी शंका का निवारण करने के लिए वह पुनः प्रजापति के पास पहुँचा। तब प्रजापति ने उसे 'स्वप्न-चैतन्य' को आत्मा बताया। तब भी विचारक इन्द्र की शंका बनी ही रही। क्योंकि स्वप्न में हम दुःखानुभव करते हैं, आँसू बहाते हैं, तो आनन्दरूप आत्मा में दुःख कैसे ? क्या ऐसा कभी हो सकता है ? फिर से वह प्रजापति के पास आया। इस समय प्रजापति ने उसे 'सुषुप्त चैतन्य' को आत्मा बताया। परन्तु विचार करनेवाले इन्द्र को उसमें भी कमियाँ दिखाई पड़ीं। उसने सोचा कि सुषुप्तिकाल में तो अपने अस्तित्व का भी भान नहीं रहता, तो आत्मा का भान कैसे होगा ? उस समय तो चैतन्य का ही अभाव दिखाई देता है। वह पुनः प्रजापति के पास पहुँचा। तब प्रजापति ने अन्त में उसे पारमार्थिक आत्मतत्त्व का ज्ञान दिया कि इन तीनों प्रकार के चैतन्यों से पृथग्भूत, उपाधिरहित, विशुद्ध चैतन्य ही आत्मा है। वही सत् रूप स्वचैतन्य है। इस प्रकार के चैतन्य को माण्डूक्योपनिषद् में 'तुरीय' या 'तुर्य' नाम दिया गया है। जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्ति की ये तीन अवस्थाएँ उसी आत्मा की विविध दशाएँ हैं। जाग्रदवस्था में आत्मा बाहर की वस्तुओं का अनुभव करता है, स्वप्नावस्था में भीतर की मानस वस्तुओं का अनुभव करता है और सुषुप्त अवस्था में केवल अपने आनन्दस्वरूप का ही अनुभव करता है। ये तीनों अवस्थाएँ आत्मा की उच्चतम अवस्था का संकेत करती हैं। इन तीनों अवस्थाओं में आत्मा का नाम क्रमशः विश्व, तैजस और प्राज्ञ है। इन तीनों अवस्थाओं में अवस्थित आत्मा का अनुभव हमें आंशिक रूप में ही होता है। परन्तु, तुरीय (चौथी) अवस्था के पूर्ण आत्मा में इन गुणों का सर्वथा अभाव ही है। उस समय न बाह्य चेतना है, न अंतस् चेतना और न दोनों का संमिश्रण ही है। प्रज्ञा और अप्रज्ञा का भी उस समय अभाव रहता है। अदृष्ट, अग्राह्य, अव्यवहार्य, अलक्षण, अचिन्तनीय, अव्यपदेश्य केवल आत्म प्रत्ययसार, प्रपंचोपशम, शान्त, शिव, एक, अद्वैत, तुरीय ही रहता है। वही आत्मा है, उसे ही जानना चाहिए। वह आत्मा कूटस्थ, अविकारी है, और उसी आत्मा की परब्रह्म (निर्गुण ब्रह्म) के साथ सर्वतोभावेन एकता उपनिषदों में मानी गई है। ऐसे आत्मतत्त्व का द्योतक (प्रतीक) ओंकार (ॐ) अक्षर माना गया है।

ब्रह्म

ऊपर कहा गया है कि आत्मा के साथ ब्रह्म की सर्वतोभावेन एकता उपनिषदों में मानी गई है। तो वह 'ब्रह्म' क्या है ? ब्रह्म समग्र विश्व का मूल कारण है। इस ब्रह्म के अन्य वाचक शब्द उपनिषदों में जो दिये हैं वे हैं आत्मा, आकाश, सत्, अक्षर और भूमा। यह समस्त विश्व उसी से उत्पन्न होता है, उसी से जीता है और उसी में लय हो जाता है। वह ब्रह्म सर्वज्ञ, सर्वव्यापक और सर्वशक्तिमान

है। यह ब्रह्म महान् से भी महान् और अणु से भी अणु है। वही सबका अन्तर्यामी है। जल में नमक की तरह वह सबमें ओतप्रोत (अनुप्रविष्ट) है, वह सभी जगह एक समान ही है—कहीं कम-ज्यादा नहीं है। वह अनन्त है, वह अकाय है, वह सबका अधिष्ठान, सबका स्वामी है। वह सबको देखता है, सबको सुनता है और सबको जानता है पर उसे कोई नहीं देखता, उसे कोई नहीं सुनता, उसे कोई नहीं जानता। वह समग्र सद्गुणों का मूर्तरूप है। भक्तों की भक्ति का प्रतिसाद वह अवश्य देता है। भक्तों की सभी कामनाएँ वह पूर्ण करता है। सभी लोगों का वही अन्तिम लक्ष्य-स्थान है।

उसका ध्यान करने में सरलता हो इसलिए उपनिषदें कभी-कभी उसे 'पुरुष' (मानव रूप में दिव्य चेतना—'हिरण्मयोऽयं पुरुषः') नाम भी देती है। उसके सभी अंग तेजस्वी हैं। आँखें उसकी खिले हुए लाल कमल जैसी हैं, वह अग्निमूर्धा (अग्नि जैसे मस्तक वाला) है, वह सूर्यचन्द्ररूप दो आँखोंवाला है, दिशाएँ उसके कान हैं, वेद उसकी वाणी है, धरती उसके पैर हैं। वह सहस्रशीर्षा, सहस्राक्ष, सहस्रपाद है। वैश्विक रूप में उनकी सर्वव्यापकता बताई गई है (देखिए पुरुषसूक्त)। ध्यान के लिए इसी रूप का परामर्श उपनिषदें करती हैं। उपनिषदों में बताया गया वही 'औपनिषद् पुरुष' है।

मूलस्रोत की समानान्तरता

उपनिषद् के अध्यात्मवेत्ता ऋषियों ने इस वैविध्यपूर्ण और सतत परिवर्तनशील अनित्य जगत् के मूल में विद्यमान शाश्वत सत्तारूप पदार्थ का अन्वेषण तात्त्विक दृष्टि से किया है। इस अन्वेषण-प्रक्रिया के मूलस्रोत संहिताओं तक पहुँचते हैं। हमारे द्रष्टा ऋषियों के पास तीन प्रकार की अन्वेषण पद्धतियाँ थीं, ऐसा उस प्राचीन श्रौत वाङ्मय को देखने से हमें पता चलता है—(1) आधिभौतिक पद्धति, (2) आधिदैविक पद्धति और (3) आध्यात्मिक पद्धति। उन तीनों के उदाहरण हमें मूल संहिताओं में भी मिलते हैं। अधिभूतभावना-प्रधान पद्धति का उदाहरण हमारा नासदीय सूक्त है, अधिदैवप्रधान पद्धति का उदाहरण वैश्वानर सूक्त को ले सकते हैं और अध्यात्म-प्रधान पद्धति के उदाहरणरूप में वाक् सूक्त को ले सकते हैं।

यही कारण है कि एक ही परमार्थ सत् का तीन प्रकार से वर्णन उपनिषदों में पाया जाता है। आधिभौतिक पद्धति इस भौतिक जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और लय के कारणों का विश्लेषण करके विलक्षण नित्य पदार्थ का निरूपण करती है, तो आधिदैविक पद्धति विविधरूप और विविध स्वभाववाली अनेक देवताओं में शक्ति का संचार करानेवाली किसी एक परमसत्ता को खोज निकालती है और आध्यात्मिक पद्धति व्यक्ति की मानसिक प्रक्रियाओं तथा दैहिक कार्यकलापों का निरीक्षण-परीक्षण करके उनके मूलभूत आत्मतत्त्व का निरूपण करती है। उपनिषद् के द्रष्टा ऋषियों ने ऊपर की तीनों पद्धतियों का उपयोग करके जिस परमतत्त्व का निरूपण किया है वही 'ब्रह्म' कहा गया है।

ये तीनों पद्धतियाँ समानान्तर रूप से चली हैं। उनमें कोई कालिक क्रमिकता अथवा वैचारिक विकास के सोपान का रूप नहीं है। कुछ पाश्चात्य संस्कृत विद्वान् ऐसा मानते हैं, पर यदि ऐसा होता तो इन तीनों पद्धतियों के समानान्तर उदाहरण, जो ऊपर बताए हैं वे नहीं मिल सकते। ये सब तो संहिताओं के ही सूक्त हैं। अब तो उन तीनों शैलियों के समकालीन - समानान्तर अस्तित्व के विषय में तत्त्वज्ञों को शंका नहीं होनी चाहिए।

यह संभव है कि ऊपर बताई गई तीन शैलियों में से किसी एक दृष्टि से ब्रह्म को देखनेवाले व्यक्ति को, अन्य शैली द्वारा किए गए ब्रह्मनिरूपण में विसंगति और विरोध मालूम हो। इसलिए बहुत

धैर्य, विवेक और सहानुभूतिपूर्वक सभी शैलियों द्वारा किए गए ब्रह्मनिरूपण का मूल्यांकन करके उनमें समन्वय स्थापित करना चाहिए। इसमें अपरिपक्व दृष्टि काम नहीं आएगी। पाश्चात्य वैदिक विद्वानों की यह त्रुटि सहेतुक हो या निर्हेतुक हो, उनकी बात छोड़ दें, तो भी वैदिक देवतातत्त्व को उन्होंने या तो समझा नहीं या समझने का श्रम नहीं उठाया और बहुदेवत्व, एकदेवत्व और सर्वेश्वरवाद की मनगढ़न्त परिकल्पना उन्होंने कर दी।

यदि उनकी बात सही है तो ऋग्वेद का पुरुषसूक्त क्यों संहिता में आ सका ? हमारे सिद्धान्त के प्रत्यक्ष प्रमाण के रूप में तो हम यास्क को ले सकते हैं। अपने निरुक्त के सातवें अध्याय में उन्होंने स्पष्ट कह दिया है कि—"महाभाग्याद् देवताया एक एव आत्मा बहुधा स्तूयते। एकस्यात्मनोऽन्ये देवा: प्रत्यगानि भवन्ति।" (7.4.8-9)। दूसरा प्रमाण बृहद्देवता का भी है। अब इससे ज्यादा किस प्रमाण की अपेक्षा रह जाती है ? हम तो यहाँ तक मानने के लिए लालायित हो उठते हैं कि ऋग्वेद का प्रधान लक्ष्य ही शक्तिवैविध्यसम्पन्न ब्रह्मतत्त्व का निरूपण है। और इसीलिए प्रकृति की विविध शक्तियों का देवतारूप में वर्णन किया गया है। ऐतरेय आरण्यक हमारे इस मत का प्रमाण देते हुए कहता है कि "एक ही महान् सत्ता की उपासना ऋग्वेदी 'उक्थ' से, यजुर्वेदी 'अग्नि' से और सामवेदी 'महाव्रतयाग' से करते हैं।" (ऐतरेय आरण्यक 3.2.3.12)

तदुपरान्त ऋग्वेद के 'ऋत' की बात और अथर्ववेद के 'स्कंभ' की बात तो हम कह आए हैं। अदितिसूक्त आदि अनेकानेक अकाट्य प्रमाण मिल सकते हैं।

ब्रह्म के दो स्वरूप

इन्हीं तीन पूर्वोक्त पद्धतियों में अधिभूत और अधिदैव में से उपनिषदों का सगुण ब्रह्म अवतरित हुआ या कहें कि परिष्कृत हुआ और आध्यात्मिक पद्धति का परिष्कृत रूप निर्गुण ब्रह्म में उतरा। इस तरह उपनिषदों में ब्रह्म के दो स्वरूपों का विशद वर्णन किया गया है।

ऊपर आरंभ में ब्रह्म का जो स्वरूप बताया गया है वह दोनों का समन्वित स्वरूप है। उसमें वाचक को परस्पर विरोधाभास लगेगा। इसके समाधान के लिए हम यहाँ दोनों को अलग दिखाकर स्पष्ट करने का प्रयत्न करेंगे।

उपनिषदों में निर्गुण-निराकार-स्वप्रकाश-ज्ञानस्वरूप-अनन्त परमसत् ब्रह्म को **'परब्रह्म'** कहा गया है और सर्वशक्तियुक्त सृष्टि के सर्जक-पालक-पोषक परमतत्त्व साकार सगुण ब्रह्म को **'अपरब्रह्म'** की संज्ञा दी गई है। परब्रह्म को निर्विशेष, अलक्ष्य, गुणातीत, निरुपाधिक, निर्विकल्प आदि संज्ञाएँ दी जाती हैं, जबकि अपरब्रह्म में विशेषत्व, लक्षण, चिह्न, प्रतीक, गुण, उपाधि-परिवेशादि सविकल्पता आदि सबका समावेश कर सकते हैं। उसका स्वरूप हृदय में रखा जा सकता है।

ब्रह्म के इन पर-अपर—दो भावों को प्रदर्शित करने के लिए उपनिषदों ने दो प्रकार के वाक्य प्रयुक्त किए हैं—एक निर्विशेष और निर्लिंग है, तो दूसरा सविशेष और सलिंग है। सलिंग - सविशेष अपरब्रह्म का वर्णन करती हुई श्रुतियाँ ब्रह्म को पुंल्लिंग श्रेणी में रखती हैं, जैसे—सर्वकर्मा, सर्वसंकल्प, सर्वकर्ता, सर्वरूप, सर्वरस आदि हैं। और परब्रह्म का वर्णन करनेवाली श्रुतियाँ ब्रह्म को नुपंसकलिंग में वर्णित करती हैं; जैसे अणु, अस्थूलम् आदि हैं। कारण यह है कि परमार्थत: परब्रह्म की कोई जाति नहीं होती। यही कारण है कि उसका 'तत्' पद से निर्देश होता है। 'स:' के द्वारा नहीं। स: का निर्देश सविशेष ब्रह्म के लिए - सगुण ब्रह्म के लिए ही किया जाता है। ब्रह्म के सम्बन्ध में

श्रुतिवाक्यों में पर-अपर, सविशेष-निर्विशेष के लिए इतना पार्थक्य होते हुए भी ब्रह्म के सम्बन्ध में किसी भी प्रकार का वैषम्य नहीं। सविशेष-निर्विशेष तो भाव-भेद के सूचक शब्द हैं, पदार्थ-भेद के सूचक नहीं। सगुण-निर्गुण, सोपाधि-निरुपाधि आदि शब्द तो एक ही ब्रह्मतत्त्व के भावगत विशेषण के सूचक हैं। जैसे माण्डूक्योपनिषद् (1.1.6) की एक ही श्रुति में निर्विशेष ब्रह्म के नपुंसकलिंगी वर्णन के साथ ही साथ सविशेष ब्रह्म का पुंल्लिंगी वर्णन भी (एक साथ) किया गया है। (अस्थूलम्..... भूतयोनिम्.....आदि)। इस प्रकार जब एक ही मंच में उभयविध पदों से उभयविध ब्रह्म का निरूपण किया जा रहा हो, तब सुस्पष्ट रीति से दोनों के बीच में वस्तुगत भेद का अभाव सिद्ध हो ही जाता है। पर बाद में उपनिषदों पर भाष्य-टीका आदि करने वाले आचार्यों ने इस उभयविध पदरचना के बारे में भारी ऊहापोह मचाया है। शंकर निर्गुणपरकता को मुख्य और गुणपरकता को गौण मानते हैं, जबकि रामानुज सगुणपरकता को मुख्य और निर्गुणपरकता को गौण मानते हैं। परन्तु, चाहे सगुण हो या निर्गुण, परमतत्त्व तो एक ही है।

अपर ब्रह्म के दो प्रकार के लक्षण

उपनिषदों में अपर (सगुण - सविशेष) ब्रह्म का परिचय दो तरह से दिया गया है। किसी भी सविशेष वस्तु के परिचय के लिए उसका लक्षण देना अनिवार्य है। वह लक्षण दो प्रकार का होता है—एक स्वरूप लक्षण और दूसरा तटस्थ लक्षण।

स्वरूप लक्षण—जिसके द्वारा वस्तु के शुद्ध मूलस्वरूप का ज्ञान हो जाए उसे स्वरूप लक्षण कहते हैं। श्रुतियों में ब्रह्म का मूलस्वरूप—'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म', 'विज्ञानमानन्दं ब्रह्म', 'परास्य शक्ति-र्विविधै श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च' आदि रूप में क्रमश: तैत्तिरीय (2.9) बृहदारण्यकोपनिषद् (3.9.28) में दिया गया है अर्थात् वह ब्रह्म स्वरूपत: सत्य, ज्ञान, अनन्त, विज्ञान, आनन्द आदि रूप है तथा ज्ञानशक्ति, इच्छाशक्ति तथा क्रियाशक्ति से परिपूर्ण है। ऐसी रीति से सविशेष ब्रह्म का निरूपण स्वरूप-लक्षण बताकर किया गया है।

तटस्थ लक्षण—अब सविशेष ब्रह्म का तटस्थ लक्षण देखें तो वह लक्षण छान्दोग्योपनिषद् में केवल एक ही शब्द में दिया गया है—**'तज्जलान्'** (छा.उ. 3.14.9) केवल तीन ही वर्णों का बना लक्षण। इसके तीन शब्द बनाएँ तो —1. तज्ज, 2. तल्ल और 3. तदन् होगा। इनमें **'तज्ज'** का अर्थ है उस ब्रह्म से जगत् उत्पन्न होता है **'तल्ल'** का अर्थ है 'उस ब्रह्म में यह जगत् लय होता है' और **'तदन्'** का अर्थ 'उसी के कारण स्थितिकाल में जगत् प्राण धारण करता है।' तैत्तिरीय उपनिषद् में पूरा लक्षण दिया है—'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते। येन जातानि जीवन्ति। यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति तद् विजिज्ञासस्व तद्ब्रह्म।' (तै.उ. 3.1)। इसी उपनिषद् मंत्र का सिद्धान्त 'जन्माद्यस्य यत:' (ब्रह्मसूत्र 1.1) में उपस्थित है। माण्डूक्योपनिषद् में इसी सगुण ब्रह्म की सर्वज्ञता, सर्वान्तर्यामिता, सर्वाधिपत्य, सर्वकारणत्व, जीवोत्पादकता आदि बताए गए हैं। सगुण ब्रह्म सारे संसार का शासक और सभी प्राणियों का भाग्यविधाता है। वह सत्कर्मशील जनों का कल्याणकारी और दुष्कर्त्ताओं को दण्ड देने वाला है। वह कभी ईश्वर, कभी हिरण्यगर्भ और कभी विराट् के नाम से विभूषित है।

केनोपनिषद् के तृतीय खंड में ब्रह्म की सर्वशक्तिमत्ता के विषय में कही गई उमा-हैमवती की कथा भी तो यही कहती है कि अग्नि में अपनी कोई दाहक शक्ति नहीं है, वायु में एक तिनके को भी उड़ाने की अपनी कोई शक्ति नहीं है। यदि वे उन शक्तियों को अपनी शक्तियाँ मानने का गर्व करें

तो वह गलत ही है। ब्रह्म की ही शक्ति से वे शक्तिमान हैं। इन्द्र की नम्रता से ही उमा-हैमवती (ज्ञानदेवी) ही उसे उपदेश देने के लिए आविर्भूत हुई थीं।

परब्रह्म

यह ठीक है कि सविशेष ब्रह्म का स्वरूप-लक्षण या तटस्थ-लक्षण किसी तरह मन में बैठ सकता है, परन्तु निर्गुण - निर्विशेष ब्रह्म का लक्षण क्या है ? निर्विशेष या निर्गुण भाव को तो किसी लक्षण में कैसे बाँधा जा सकता है। लक्षण तो विशेषता वाले पदार्थ का ही होता है, निर्विशेष का लक्षण कभी हो ही नहीं सकता, तब उसके अस्तित्व को कैसे माना जाए ? उसे किस तरह पहचाना जाय ? वह तो अनिर्देश्य है।

यही कारण है कि जब बाष्कलि ऋषि ने बाध्व ऋषि से ब्रह्म के बारे में पूछा तब वे मौन हो गए। मौन ही इस प्रश्न का उत्तर है। ब्रह्म में सभी गुणों का **अभाव** होने से उसका भावात्मक वर्णन नहीं हो सकता। इसलिए श्रुति 'नेति नेति' कहकर परब्रह्म का परिचय करवाती है, यथा—"स एष नेति नेति आत्मा आदेशो भवति नेति नेति नह्येतस्मात् अन्यत् परम् अस्ति।" (बृ.उ. 4.4.22)

इस नकारात्मक वर्णन पद्धति को 'अतद्व्यावृत्ति' नाम दिया गया है। परब्रह्म के निरूपण में इस पद्धति का अनुसरण किए बिना छुटकारा नहीं है; और कोई उपाय भी नहीं, इसीलिए परब्रह्म के वर्णन में श्रुतियों में 'नकार ('अ'कार) का बाहुल्य ही नजर आता है, जैसे—अस्थूलम्, अनणु, अह्रस्वम्, अदीर्घम् (बृ.उ. 3.6.6), अशब्द, अस्पर्श, अरूप, अव्यय, अरस, अगन्धयत्, अनादि, अनन्त (कठ. 1.3.15) आदि।

याज्ञवल्क्य ने जहाँ गार्गी को ब्रह्मोपदेश दिया, वहाँ भी इस परब्रह्म के वर्णन में नकार की (अकार की) हारमाला ही दिखाई देती है। विस्तार-भय से उसे यहाँ नहीं लिखा जा सकता।

केनोपनिषद् में प्रतिपादित निर्गुण ब्रह्म के वर्णन में कितनी सजीवता है—

यद्वाचानभ्युदितं येन वागभ्युद्यते।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते ।।

यही परब्रह्म की अवाङ्मनस-गोचरता है। देश-कालादि सभी उपाधियों से नितान्त-अतीत विरहित, सर्वातीत, प्रमाणातीत, परात्पर वह है वहाँ—

न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं नेमा विद्युतः कुतोऽयमग्निः ?
तमेवभान्तमनुभाति सर्वं, तस्य भासा सर्वमिदं विभाति।

यही वह परब्रह्म है।

सृष्टि

यह ब्रह्म ही समस्त सृष्टि का अधिष्ठान है, वही हमारा आत्मा है, जीवन का परमलक्ष्य उसकी प्राप्ति ही है, वही मोक्ष है और इसी बात को उपनिषदों में तरह-तरह से बार-बार बतलाया भी गया है; उपनिषदों का मुख्य विषय भी यही है। तथापि जिस जगत् में हम रहते हैं, चलते-फिरते हैं, खाते-पीते हैं, मानो अपने अस्तित्व का भान प्राप्त करते हैं, उस जगत् की उपेक्षा तो कोई भी तत्त्वज्ञानी नहीं कर सकता। सभी व्यावहारिक हेतुओं के लिए जगत् हमारे लिए सत्य ही है। इतना ही नहीं, यह सृष्टि है तभी तो हमारे लिए मोक्ष-साधना की और मोक्ष की प्राप्ति की सार्थकता है, नहीं तो हम

साधना के लिए संघर्ष क्यों करें ? इसीलिए इस सृष्टि के विषय में जानना जरूरी है कि यह सृष्टि कैसे बनी ? अभी तक वह कैसे टिकी हुई है ? और इसका अंतिम परिणाम क्या है ? अतः हम उपनिषदों में प्रस्तुत सृष्टि-विषयक वर्णन का अवलोकन कर लें।

उपनिषदें कहती हैं कि प्रारंभ में तो केवल एक ब्रह्म ही (आत्मा ही 'सत्') था। वह 'एकमेवाद्वितीय' था। उसने बहुत होने की कामना की फिर उसने अपने में से ही आकाश (अवकाश या देश - Space) उत्पन्न किया। उस आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल और जल से उसने पृथ्वी को बनाया। इन पाँचों महाभूतों का ब्रह्म के साथ सम्बन्ध प्रत्येक स्तर और प्रत्येक अवस्था में रहता ही है। इन पाँचों तत्त्वों (महाभूतों) का मिश्रण (पंचीकरण) और उनकी ब्रह्म के साथ संलग्नता का परिणाम ही यह विश्व है। इन भूतों में ब्रह्म अपने संकल्प से अंतर्यामी होकर प्रविष्ट हुआ। ('सोऽकामयत, एकोऽहं बहुस्याम प्रजायेय। तस्माद् वा एतस्मादाकाशः संभूतः' आदि श्रुतियाँ तथा 'अनेन जीवेनात्मनानुप्राविशत्'—यह श्रुति का प्रामाण्य है)।

उपनिषद् के ही एक अन्य वर्णनानुसार जगत् के मूल तत्त्व के रूप में पहले अग्नि, जल और अन्न (पृथ्वी)—ये तीन ही तत्त्व उत्पन्न किए गए थे। कुछ स्थानों पर तो केवल दो ही तत्त्वों का—'रयि' और 'प्राण' का ही जगत् के मूलस्रोतों के लिए उल्लेख मिलता है। 'रयि' का अर्थ चन्द्र या अन्न होता है और 'प्राण' का अर्थ सूर्य, शक्ति, अग्नि या चेतना होता है। विविध प्रमाण में इन तीनों का सम्मिश्रण करने से इस वैविध्यपूर्ण जगत् का निर्माण हुआ। जिस प्रकार संगीत के सात परस्पर पृथक् स्वरों के विशिष्ट संयोजन (संमिश्रण) से असंख्य राग-रागिनियों का जन्म होता है इसी प्रकार ही यह सारा खेल है। 'यह समस्त जगत् उस ब्रह्म के नियन्तृत्व में ही है।' इतना कह देना ही पर्याप्त नहीं, बल्कि यह कह देना चाहिए कि यह जगत् उससे अलग है ही नहीं।

ब्रह्म में से उत्पन्न होने के या ब्रह्म में से उत्स्फुर्जित होने के बाद भी यह सृष्टि ब्रह्म में ही अपना अवस्थान गतिमान रखती है और प्रलय के समय उसी में मिल भी तो जाएगी।

परब्रह्म और जगत् का सम्बन्ध कैसा है ? इसके सम्बन्ध में उपनिषदों में दो दृष्टिकोण दिखाई देते हैं। एक को 'सप्रपंचवाद' तो दूसरे को 'निष्प्रपंचवाद' कहा गया है। सप्रपंचवाद का कहना है कि जगत् ब्रह्म का ही विकास (विस्तार) है, इसलिए जगत् भी ब्रह्म ही है। दूसरी ओर तो निष्प्रपंचवाद कहता है कि जगत् का अपना कोई खास अस्तित्व है ही नहीं। वह कहता है कि सही अस्तित्व अर्थात् पारमार्थिक हस्ती तो केवल ब्रह्म की ही है। ये दोनों ही उपनिषदों के दृष्टिकोण हैं।

मुण्डक ने इस विषय में 'ऊर्णनाभि' का उदाहरण दिया है। कुछ उपनिषदों में उत्पत्ति का काम 'आकाशाद् वायुः' आदि कहकर बताया है।

उपनिषदों में बन्धन और मुक्ति

कुछ उपनिषदें जीवात्मा और परमात्मा का स्वरूप एक ही वृक्ष की डाली पर बैठे हुए दो पक्षियों के चित्रण द्वारा बताते हैं—"द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषष्वजाते। तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति।" अर्थात् एक ही वृक्ष (शरीर) पर दो सुपर्ण युगल सखा पक्षी (जीव-ब्रह्म) एक साथ बैठे हैं उनमें से एक वृक्ष के फल (कर्मफल) जो खट्टे-मीठे हैं खाता है, और दूसरा साक्षीभाव से देखता रहता है। अर्थात् एक सुख-दुःख भोगता है और दूसरा शान्त, निर्लेप, फलों को छूता तक नहीं। कर्मफल भोगनेवाला अर्थात् सुख-दुःखादि का अनुभवकर्ता जीव जब परब्रह्म परमात्मा की महिमा को पा लेता है, तब वह सांसारिक पीड़ाओं से मुक्त हो जाता है।

पर प्रश्न तो यह है कि आत्मा को तो नित्यमुक्त माना गया है। वह जीव कब बना ? कैसे बना ? क्यों बना ? किसलिए बना ? इन प्रश्नों के उत्तर उपनिषदों ने नहीं दिए हैं। उन्होंने तो केवल इस भवचक्र से छूटने के लिए तरह-तरह के साधना-प्रकार बता दिए हैं, जिनका पालन या अनुष्टान करने से जीव अपने मूलस्थान अर्थात् अपनी मूल अवस्था को पुन: प्राप्त कर सके। उपनिषदों के प्राचीन चिन्तकों ने भी जीव, ईश, विशुद्ध चैतन्य, जीव-ईश का भेद, विद्या और अविद्या तथा चित् का भेद— इनको नित्य मानकर ही परितोष कर लिया ! हमारे प्रश्नों का सन्तोषप्रद उत्तर अभी तक तो मिला नहीं है। शायद विश्व के किसी भी दार्शनिक के पास इसका दोषरहित बौद्धिक उत्तर अभी तक नहीं है।

मुमुक्षु साधक को चाहिए कि वह साधना के प्रथम सोपान के रूप में अपने में कुछ नैतिक तथा समाज-हितकारी सद्गुणों को प्रविष्ट करे; उनका अपने जीवन में दृढ़ निष्ठा से पालन करे; अपनी विवेक बुद्धि द्वारा छानबीन करके वह समझ ले कि वैदिक विधिविधान इहामुष्मिक फल देनेवाले होने पर भी वे कभी भी स्थायी शाश्वत सत्य की ओर ले जाने के लिए सामर्थ्यपूर्ण नहीं हो सकते। इसलिए आध्यात्मिक साधक को अन्ततोगत्वा उन्हें छोड़ना ही पड़ेगा। आध्यात्मिक साधक को 'प्रेयस्' (सुख) को छोड़ने के लिए और श्रेयस् (कल्याण) को प्राप्त करने के लिए सर्वदा तत्पर होना चाहिए। दुराचार को छोड़कर संयम का पालन करते हुए साधक को बहिर्मुखता छोड़कर अन्तर्मुखी बनना चाहिए। अपने हृदय की विशालता को उसे देखना चाहिए और उसे भगवान् का आसन समझकर ध्यान करना चाहिए। सभी जीवित प्राणियों के प्रति साधक के हृदय में करुणा होनी चाहिए। उनकी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए उसे हमेशा प्रयत्न करते रहना चाहिए। अपने आचार के विषय में उसे सर्वदा सावधान रहना चाहिए और सत्य ही बोलना चाहिए। उसे धर्माचरण ही करना चाहिए और अपने जीवन में शास्त्रीय आज्ञाओं को धारण करना चाहिए। साधक की साधना के महत्त्व के अंगरूप में उपनिषदों के अध्ययन, तपश्चरण और ब्रह्मचर्य (स्त्री-त्याग)—ये तीन मुख्य बिन्दु माने जाते हैं।

साधक को मुमुक्षुत्व का उदय होते ही नम्रतापूर्वक समित्पाणि होकर गुरु के पास जाना आवश्यक है। और गुरु के लिए भी उपनिषदों का यह अनिवार्य नियम है कि आए हुए शिष्य की योग्य कसौटी करके उसे योग्य आध्यात्मिक ज्ञान दे। गुरु के उपदेश के बाद शिष्य को चाहिए कि वह गुरु के दिए हुए उपदेश का चिन्तन-मनन करे और बाद में उसका ध्यान करे। इस ध्यान का फल अनुभूति होगा। यही साक्षात्कार है।

तो इस अनुभूति का - इस साक्षात्कार का स्वरूप क्या है ? साधक आत्मानुभूति में क्या पाता है ? वह सभी प्राणियों में अपने-आप को और अपने-आप में सभी प्राणियों को देखने लगता है। ऐसा होने से उसे किसी पर न तो कोई विशेष आकर्षण होता है अथवा न ही किसी पर कोई घृणा होती है। अपने सभी विचारों के पीछे वह विशुद्ध आत्मशक्ति का अनुभव कर सकता है। उसको यह स्पष्ट दिखाई देता है कि इस भौतिक जगत् में उसको बाँधनेवाले सभी बन्धन इस ज्ञान से टूट गए हैं वह आत्माराम होता है। सदा आत्मानन्द में मग्न रहता है। जब वह बाहरी दुनिया को देखता है तब भी वह उसी स्वपर्याप्त आत्मा को ही देखता है। उसका आत्मा ही तो ब्रह्म है। उसका आनन्द अवर्णनीय है, अनन्य है, लोकोत्तर है। वह परितुष्ट और विशोक हो जाता है। आनन्दविभोर अवस्था में वह सर्वत्र कभी घूमता भी रहता है और लोककल्याण के लिए अपने अनुभवों को सभी जगह कदाचित् कहता-फिरता भी है।

ऐसे मनुष्य को 'जीवन्मुक्त' कहा जाता है अर्थात् इस जगत् में रहते हुए भी वह मुक्त ही है। ऐसे जीवन्मुक्त की इस देह को छोड़ने के बाद क्या दशा होती है ?

उपनिषदों में इसके लिए दो दृष्टिकोण देखे जाते हैं। एक मत तो ऐसा है कि मरने के समय ऐसे जीवन्मुक्त का स्थूलशरीर और सूक्ष्मशरीर उसकी आत्मा से अलग हो जाते हैं और ये अलग हुए दोनों शरीर पंचमहाभूतों में विलीन हो जाते हैं और वह आत्मा ब्रह्म के साथ मिल जाता है। जैसे नदी सागर में विलीन (एकाकार) हो जाती है, वैसे ही वह ब्रह्म में एकाकार हो जाता है। वह नदी की तरह ही अपना स्वतंत्र अस्तित्व खोकर ब्रह्म के साथ अद्वितीय हो जाता है।

परन्तु उपनिषदों का एक दूसरा मत भी इस विषय में है। अधिकतर उपनिषदें जीवन्मुक्त पुरुष की 'अर्चिरादि मार्ग' की यात्रा का वर्णन करती हैं। उपनिषदों में इस अर्चिरादि मार्ग को 'देवयान' और 'उत्तरायण' भी कहा गया है। यह मार्ग जीवन्मुक्त मनुष्य को 'ब्रह्मलोक' अथवा 'सत्यलोक' में पहुँचा देता है। मरने के बाद जीवन्मुक्त को इस मार्ग से यात्रा करनी पड़ती है—यह उपनिषदों का इस विषय में दूसरा मत है। जीवन्मुक्त इस यात्रा में अन्त में ब्रह्मलोक को पाकर वहाँ स्थायी रूप से अनन्त शान्ति में और अनन्त आनन्द में रहता है। जीवन्मुक्त की इस यात्रा में अग्नि, दिवस, शुक्लपक्ष, उत्तरायण के छ: मास, वर्ष, सूर्य, चन्द्र और विद्युत् नाम के विरामस्थल आते हैं। वास्तविक रूप से ये सभी नाम उस स्थल के अधिष्ठाता देवताओं के ही हैं। जीवन्मुक्त यात्रा करते-करते जब अन्तिम विरामस्थान 'विद्युत्' में पहुँचता है, तब वहाँ 'अमानव पुरुष' (दिव्य पुरुष) उसे ब्रह्मलोक में ले जाता है।

यहाँ प्रश्न यह उठता है कि क्या यह ब्रह्मलोक कोई आन्तरिक अनुभूति की अवस्था है, अथवा कोई वास्तविक बाहरी लोक है, जहाँ यह जीवन्मुक्त निवास करता है ? इस विषय में लगभग सभी उपनिषदें इस प्रश्न का उत्तर या तो देती ही नहीं हैं, और देती भी हैं तो उनका उत्तर धुँधला-सा ही रहता है। हाँ, छान्दोग्य (8.5.3) में कहा है कि यह कोई मानसिक अवस्था नहीं, परलोक ही है। पृथ्वी से ऊपर में वह तीसरा लोक है। वहाँ दो बड़े सरोवर हैं। एक का नाम 'अर' और दूसरे का नाम 'ण्य' है। वहाँ अन्नरस के छोटे-छोटे झरने हैं, उन्हें 'ऐरंमदीय सोमसवन' कहा जाता है। वहाँ एक पिप्पल का वृक्ष है और अपराजिता नाम की नगरी भी है, जिसमें एक सुवर्ण मण्डप भी है। कौषीतकिब्राह्मणोपनिषद् (1.3.4 और 8) में तो उनका सचित्र चित्रण किया गया है। उसमें इस लोक में एक विरजा नदी और इन्द्र तथा प्रजापति, दो द्वारपाल के रूप में तथा विचक्षण नाम का एक सिंहासन, अमितायुज नाम का शंख, पाँच सौ दिव्य अप्सराएँ आदि उस मुक्तात्मा की सेवा में और जोड़े गए हैं। ये सब मुक्तात्मा को सजाते-सँवारते हैं और ब्रह्मलोक में उसके प्रवेश के समय ब्रह्म का सौरभ उसमें प्रविष्ट हो जाता है।

कुछ भी हो, ब्रह्मलोक नाम का कोई बाहरी लोक हो या भीतरी मानसिक अवस्था हो, पर वहाँ पहुँचा हुआ साधक इस संसार के जन्म-मरण के चक्र में फिर से नहीं आता।

उपनिषदों में मरणोत्तर गति

आत्मज्ञानी की मरणोत्तर स्थिति के बारे में उपनिषदों के दो मतों को हमने देखा। पर आत्मज्ञान नहीं पानेवाले जीवों की मरणोत्तर गति कैसी होगी ? उपनिषदों में इस प्रश्न की चर्चा भी की गई है।

जो लोग सकाम कर्म करनेवाले हैं, या जो लोग निम्न कक्षा की उपासनाएँ करनेवाले हैं, उनकी कामनाएँ उन-उन कर्मों के द्वारा पूर्ण होती हैं। उनमें से कुछ लोग स्वर्गलोक को प्राप्त करते हैं।

यहाँ आश्चर्य की बात तो यह है कि उपनिषदों में स्वर्ग की बातें तो कई बार आयी हैं, परन्तु स्वर्ग के विरोधी नरक की बात तो कहीं भी वर्णित नहीं है। बाद के काल में लिखी गई एक गौण उपनिषद् में ही नरक की बात कही गई है। पुराणों में जिस प्रकार के नरक का वर्णन है, उससे उपनिषदें अनजान मालूम होती हैं।

वैसे स्वर्ग में गए हुए लोग अपने पुण्यों के प्रमाण में भोगों को भोग कर पुण्य क्षीण होने पर वापिस मृत्युलोक में लौट जाते हैं। ऐसे लोगों की इस मरणोत्तर यात्रा को कहीं-कहीं 'धूमादिमार्ग' कहा गया है, तो कहीं-कहीं 'पितृयान' और 'दक्षिणायन' भी कहा गया है। वहाँ आत्मा धूमादिमार्ग से चन्द्रलोक की ओर पहुँचाया जाता है। इस मार्ग के बीच धूम, रात्रि, कृष्णपक्ष, दक्षिणायन के छः मास आदि विश्रामस्थल आते हैं। वहाँ (लक्ष्यस्थान) पर पहुँचकर पुण्य के प्रमाण में चन्द्रलोक में सुख भोग कर पुण्य क्षीण होने पर वह फिर पृथ्वी पर आता है। वापिस आने के मार्ग में आकाश, वर्षा, वनस्पति और चेतना—इस प्रकार के रूपों का रूपान्तरण उसे करना पड़ता है।

जो जीव इन दोनों मार्गों में से एक को भी नहीं जानते वे तो बार-बार पशु-पक्षी, जीव-जन्तुओं की कनिष्ठ योनियों में अनन्तकाल तक जन्म-मरण के चक्र में आया-जाया करते हैं।

इसी विषय के आनुषंगिक रूप में उपनिषदों में कर्म और पुनर्जन्म का वर्णन भी जगह-जगह पर पाया जाता है। पुण्यकर्मों का करनेवाला मनुष्य अपने कर्मों का अच्छा फल पाता है और निकृष्ट (पाप) करनेवाला मनुष्य निकृष्ट फल पाता है। ('रमणीयचरणा रमणीयां योनिमापद्यन्ते कपूयचरणा कपूयां योनिमापद्यन्ते' आदि।)

उपनिषदों में उपासनाएँ या विद्याएँ

साधना के अत्यन्त महत्त्वपूर्ण अंग के रूप में उपनिषदों में कुछ उपासनाएँ दी गई हैं। उन उपासनाओं का दूसरा नाम 'विद्याएँ' हैं। जो मनुष्य यज्ञयागादि में ही डूबा रहता है, या वैदिक यज्ञों में ही रममाण होता है, उसे कभी-न-कभी धीरे-धीरे चिन्तन या मनोमन्थन की ओर जाना ही पड़ता है। चिन्तन में उसकी एकाग्रता पहले होती है और तभी ज्ञान की प्राप्ति हो सकती है। वह ज्ञान धीरे-धीरे होता है, वह आत्मा का अनुभवात्मक ज्ञान है। ऐसा अनुभवात्मक आत्मज्ञान ही जीवन का चरम लक्ष्य है और मोक्ष का वही एकमात्र उपाय है ('नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय')।

उपनिषदों में वर्णित इन उपासनाओं (विद्याओं) के दो रूप हैं—पहले रूप में साधक से यह कहा गया है कि यज्ञविधि के विविध भागों में वह अमुक प्रकार के विचारों का आरोपण करे। उदाहरण के तौर पर बृहदारण्यक उपनिषद् में साधक से यज्ञीय अश्व के ऊपर (अश्वमेध के मेध्य अश्व पर) ऐसा आरोपण करने को कहा गया है। वहाँ अश्व में प्रजापति का आरोपण करने को कहा गया है। जो लोग अश्वमेध यज्ञ का अनुष्ठान करने में समर्थ नहीं होते हैं, उनके लिए ऐसी उपासना (ऐसा आरोपण) अश्वमेध के बाह्य अनुष्ठान जैसा ही फल देनेवाला होता है। यज्ञीय पदार्थों का विभाग और उस विभाग पर वैचारिक आरोपण ही इस उपासना का स्वरूप है।

उपासना का दूसरा प्रकार नाम, वाक्, बल और मन आदि कुछ विषयों पर ब्रह्मरूप से ध्यान-चिन्तन करने का उपनिषदों में वर्णन किया गया है। इसमें उन विषयों और ब्रह्म के बीच किसी-न-किसी प्रकार की समानता को खोजा जाता है। ऐसी उपासनाएँ साधक के मन को धीरे-धीरे उच्चतर स्तर की ओर ले जाती हैं, और अन्त में उच्चतम कक्षा 'ब्रह्म' तक पहुँचा देती हैं और उसे आवश्यक सभी आध्यात्मिक अनुभव करवा देती हैं।

उपनिषदों में बताई गई ऐसी उपासनाओं की संख्या बहुत बड़ी है। उपनिषदों में व्यापक प्रमाण में ये उपासनाएँ फैली हुई हैं। उपासनाओं की संख्या लगभग बत्तीस के आसपास हैं। कुछ अधिक महत्त्व की उपासनाओं की बात कहें तो छान्दोग्योपनिषद् में ही ऐसी बारह उपासनाएँ बताई गई हैं—(1) अक्षिपुरुषविद्या, (2) भूमाविद्या, (3) दहरविद्या, (4) गायत्रीविद्या, (5) मधुविद्या, (6) पंचाग्निविद्या, (7) पुरुषविद्या, (8) सद्विद्या, (9) संवर्गविद्या, (10) शाण्डिल्यविद्या, (11) उपकोमलविद्या और (12) वैश्वानरविद्या।

बृहदारण्यक उपनिषद् में ऐसी विद्याओं की संख्या चार हैं—(1) अन्तरादित्यविद्या, (2) पंचाग्निविद्या, (3) प्राणाग्निहोत्रविद्या और (4) उद्गीथविद्या। इसी तरह कौषीतकि उपनिषद् में भी—(1) पर्यंकविद्या और (2) प्रतर्दनविद्या नाम की दो विद्याएँ बताई गई हैं।

ये सभी विद्याएँ रहस्यमय हैं और प्राचीन काल में ये गुप्त रूप से सिखाई जाती थीं। वे गोपनीय ही रहती थीं। उनका अनुष्ठान करने के लिए विशिष्ट अधिकार की आवश्यकता समझी जाती थी। विद्यार्थी की योग्यता की पहले कसौटी की जाती थी। यही कारण है कि इन उपासनाओं की पद्धतियों और विधियों का वर्णन न तो उपनिषदों में पाया जाता है, न ही उपनिषदों के भाष्यकारों के भाष्य में भी पाया जाता है। आज तो हम एक संचित निधि के केवल संरक्षण के रूप में उपनिषदों के साथ उन्हें संगृहीत कर रहे हैं, ऐसा ही समझना चाहिए। एक संभावना ऐसी हो सकती है कि बाद में विकसित विविध प्रकार के योगों के लिए इन उपासनाओं से काफी सामग्री उपलब्ध हुई हो।

उपनिषत्कालीन सभ्यता और संस्कृति

यहाँ पर हम प्राचीन दस उपनिषदों के बारे में ही सब कुछ कह रहे हैं; बाद में रचित अर्वाचीन साम्प्रदायिक, तान्त्रिक, अश्रौत और उपनिषद् नामधारी कृतियों की नहीं। अतः अब हम उन प्राचीनतम दस या ज्यादा-से-ज्यादा चौदह जिनके भाष्य शंकराचार्य ने किये हैं, अथवा उन्होंने अपने भाष्यों में जिन उपनिषदों का उल्लेख किया है उन्हीं उपनिषदों के काल की सभ्यता और संस्कृति के बारे में थोड़ा विचार करेंगे। (श्रौत उपनिषदों में भी प्रणवोपनिषद् जैसी कुछ उपनिषदें तांत्रिक हैं, वह तो विषय ही अलग है अतएव यहाँ अप्रस्तुत है)।

उपनिषदों को देखने पर उस समय की अच्छी सामाजिक परिस्थिति का परिचय मिलता है। उस समय हमारे देश की उत्तर-पश्चिमी सीमा गान्धार तक (अफगानिस्तान तक) फैली हुई थी, और उसमें मद्र (सियालकोट), कुरु (दिल्ली), केकय (पंजाब), पाञ्चाल (बरेली और कन्नौज - उत्तरप्रदेश), कोसल (उत्तरप्रदेश का अयोध्या विस्तार), विदेह (बिहार का तिरहुट), कौशाम्बी (उत्तरप्रदेश का कोसाम और काशी) आदि बहुत राज्य शामिल थे। इन प्रदेशों पर राज्य करने वाले सभी राजा क्षत्रिय थे। वे सब युद्ध-विद्या में और राज्यव्यवस्था में जैसे प्रवीण थे, वैसे ही वैदिक विद्याओं में भी पारंगत थे। वास्तविक बात तो यह है कि वे ही अमुक प्रकार की रहस्यविद्या की परंपरा से रखवाली करते आए थे। वे केवल विद्वान् ब्रह्मज्ञानी ब्राह्मणों और ऋषियों की रक्षामात्र ही नहीं करते थे, अपितु वैदिक धर्म के प्रचार-प्रसार के लिए उन्हें प्रेरित भी करते थे, उन्हें आश्रय देते थे, उनकी मदद करते थे। सत्य और धर्म के स्तर की उच्चतम कक्षा को समाज में सतत चालू रखने के लिए वे कुछ भी करने के लिए सदैव सजग रहते थे। वर्ण-व्यवस्था तो उस समय प्रचलित थी, परन्तु आश्रम-व्यवस्था में ब्रह्मचर्याश्रम, गृहस्थाश्रम और वानप्रस्थाश्रम सर्वसामान्य थे, किन्तु संन्यासाश्रम का उल्लेख कम ही है। फिर भी यह मानने के लिए पूरे कारण हैं कि उस समय संन्यासाश्रम की प्रथा भी अस्तित्व में

थी। मनुष्य के व्यक्तिगत जीवन में चारित्र्यशुद्धि और प्रामाणिकता पर बहुत जोर दिया जाता था। तत्त्वज्ञान, धर्म और नीतिशास्त्र के अलावा धर्मनिरपेक्ष कई विज्ञान-ज्ञान की शाखाएँ जैसे कि व्याकरण, संगीत, नृत्य, शिल्पविद्या, खगोलविद्या, ज्योतिर्विद्या, भूतविद्या, सुगन्धीपदार्थ बनाने की विद्या और ऐसी कई विद्याशाखाएँ भी उस समय में विकसित थीं।

वैदिक यज्ञयागादि क्रियाएँ सर्वसाधारण रूप से उस समय हुआ करती थीं। इन यज्ञक्रियाओं में राजा लोग बड़ी धूमधाम से उत्सव मनाया करते थे। वे यज्ञ एक ओर तो राजाओं की कीर्ति को एवं उदरता को चारों ओर फैलने का अवसर उत्पन्न करते थे, तो दूसरी ओर विद्वानों को उनके ज्ञान को प्रदर्शित करने का और नाम-कीर्ति तथा कुछ धन की प्राप्ति का अवसर भी देते थे।

सामान्यरूप से उस समय के लोग सन्तोषी जान पड़ते हैं। शुद्ध प्रामाणिक रूप से जो कुछ मिलता था, उससे आनन्द लेते थे। वे मानते थे कि जीवन में जो शोक या दु:ख होता है, वह व्यक्ति के पूर्वजन्म के कर्मों का ही फल है। अपने जीवन के दुर्भाग्य, दु:ख या शोक के लिए वे दूसरों को जिम्मेदार नहीं ठहराते थे।

उपनिषदों की भाषा-शैली

इन उपनिषदों की भाषा लगभग वैदिक संस्कृत है। हमारी आज की प्रशिष्ट संस्कृत भाषा इन प्राचीन उपनिषदों की नहीं है। इसलिए आज वह कालग्रस्त ही है, शब्दरूप और क्रियाओं का रूप भी ऐसा ही है। इस औपनिषदिक भाषा में वाक्प्रचार-मुहावरे आदि तथा प्रतीकात्मक प्रयोग भी वैदिक भाषा के ही हैं। इससे उन कालग्रस्त मुहावरों या प्रतीकों को आज सुलझाना कठिन-सा हो गया है। इसीलिए आज के पाठक को उपनिषदों में बहुत-सा धुँधलापन या अस्पष्टता दिखाई देना स्वाभाविक है।

उपनिषदों के मन्त्र या कण्डिकाएँ विश्वतोमुखी हैं। इससे एक ही मंत्र से परस्पर-विरोधी अर्थ भी कहीं-कहीं किसी-किसी ने ढूँढ़ निकाले हैं और पश्चाद्वर्ती काल में वेदान्त की जो विविध शाखाएँ विकसित हुई हैं, उनका कारण भी यही है। उपनिषदों के सभी व्याख्याकारों को अपने-अपने विचारों के परिपोषक प्रमाण उपनिषदों में मिल ही गए हैं। इसका प्रसिद्ध उदाहरण—"यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनुं स्वाम्" (मुण्डक 3.2.3) जैसे अन्य मंत्र भी हैं।

उपनिषद् साहित्य का एक आकर्षक तत्त्व उसमें दिए हुए उदाहरण और उसमें आयी हुई उपमाएँ हैं। जीवात्मा और परमात्मा का स्वरूप बताती हुई उपनिषद् कहती है—"द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते। तयोरन्य: पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति॥" यह मंत्र कठ (1.3.1) में, श्वेताश्वतर (4.6) में और मुण्डक (3.1.1) में—इस प्रकार तीन बार आया है। इसका अर्थ यह है कि "एक ही वृक्ष पर सुन्दर पंखवाले दो पक्षी (जीवात्मा) बैठे हैं। एक पक्षी वृक्ष के खट्टे-मीठे फल खाता है और दूसरा पक्षी (परमात्मा) न खाते हुए साक्षी भाव से देखता रहता है।" आत्मा के ध्यान के सम्बन्ध में मुण्डक-उपनिषद् में धनुष और बाण की सुन्दर उपमा दी गई है, तो कठोपनिषद् में इस विश्व की ऊर्ध्वमूल और अवाक्शाखी अश्वत्थ से समानता दिखाई गई है। ब्रह्म से विश्व की उत्पत्ति समझाने के लिए मुण्डकोपनिषद् में मकड़ी के मुँह से निकले हुए जाल और हमारे शरीर में उगते हुए रोम-बाल आदि का उदाहरण दिया गया है। कठोपनिषद् में मानव-शरीर की समानता ग्यारह द्वारवाले नगर से की गई है (5.1)। ईशावास्योपनिषद् में सूर्य के गोले की सत्यरूप परमात्मा को

आवृत करनेवाले सोने के पात्र के साथ समानता दिखाई गई है (15), कठोपनिषद् में शरीर की रथ के साथ, इन्द्रियों की घोड़ों के साथ, मन की लगाम के साथ, बुद्धि की सारथि के साथ और आत्मा की रथ के स्वामी के साथ उपमा दी गई है (3.3.4)। मुण्डक ने भी ब्रह्म से विश्व की उत्पत्ति के विषय में पूर्वोक्त मकड़ी के जाल के साथ-साथ शरीर में उगते हुए रोम-बालों और औषधियों के उगने का उदाहरण प्रस्तुत किया है (1.1.7)। मुण्डकोपनिषद् ने वैदिक यज्ञों की अदृढ (टूटी हुई) नौकाओं से तुलना करके उन्हें मुक्ति देने में असफल बताया है (1.2.7)। उसी उपनिषद् में आत्मा का ब्रह्म के साथ सायुज्य को समझाने के लिए नदियों और सागर का उदाहरण दिया गया है। जैसे बहती हुई नदियाँ सागर से मिलकर अपना अस्तित्व खो देती हैं, वैसे जीव भी ब्रह्म से मिलकर अपना जीवत्व खो देता है (3.2.8)। बृहदारण्यक उपनिषद् में तो उपमाओं की भरमार ही है। उसमें कहा है कि—'जैसे आर्द्र ईंधन को जलाने से धुआँ पैदा होता है, वैसे ही ब्रह्म से वेद निकल पड़े।' (2.4.10), और भी 'जैसे चक्र की नाभि में अरे जड़े हुए होते हैं, ठीक उसी प्रकार सभी प्राणी भी परमात्मा के आधार पर ही हैं।' (2.5.15)। हमारा आत्मा जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति में आया-जाया करता है, इसे समझाने के लिए उपनिषद् ने सरोवर में एक किनारे से दूसरे किनारे तक तैरती हुई मछली का उदाहरण दिया है (4.3.18)। जब कोई मरता है तो वह बाद का सूक्ष्म शरीर कैसे पकड़ता है? इसका उदाहरण देते हुए उपनिषद् कहती है कि—'जैसे घास का कीड़ा एक पत्ते से नजदीक के पत्ते को आसानी से पकड़ लेता है, वैसे ही मरता हुआ आदमी पहले को बिना छोड़े ही बाद के सूक्ष्म शरीर को पकड़ लेता है' (4-4-3)। मुक्त आदमी के शरीर-त्याग की प्रक्रिया को साँप की त्वचा-त्याग के साथ तुलना करके बताया गया है। सामान्य मर्त्य आदमी के शरीर-त्याग को टूटे-फूटे और बोझिल वाहन की यात्रा को दयाजनक स्थिति के समान बताया गया है (4.3.35)।

उपनिषदों में कथाएँ

सामान्यतया उपनिषदें तत्त्वज्ञान की बोधक हैं, फिर भी अपने तत्त्वज्ञान के अनुषंग में कुछ रमणीय और प्रेरक कथाएँ भी उपकारक ढंग से कहती रहती हैं। केन उपनिषद् में कहा गया है कि—स्वर्ग के देवलोग इन्द्र के नेतृत्व में किस तरह यक्षरूपधारी ब्रह्म के द्वारा उपदिष्ट हुए थे (3.1.11)। कठोपनिषद् का बहुत अंश तो यमराज और नचिकेता की कथा से ही भरा है। छान्दोग्योपनिषद् में भी अनेक कथाएँ वर्णित हैं—श्वानों का उद्गीथगान (1.12), रैक्व से जानश्रुति का उपदेश ग्रहण करना (4.1.3), सत्यकाम जाबाल के ज्ञानप्राप्ति के लिए हरिद्रुमत के पास गमन की कथा (4-4-9), सत्यकाम और उपकोसल की कथा (4.10-15), गर्विष्ठ श्वेतकेतु और उसके नम्र पिता गौतम और राजा प्रवाहण जैवलि की कथा (5.3-10), सनत्कुमार का नारद को उपदेश (7.1-26), आत्मज्ञान के लिए इन्द्र और विरोचन का प्रजापति के प्रति गमन (8.7-12) आदि।

बृहदारण्यकोपनिषद् में भी कथाओं की कमी नहीं है। इसमें भी देव-दानवों का एक-दूसरे को हराने के लिए संघर्ष, (1.3), गर्विष्ठ बालाकि और अजातशत्रु की कथा (2.1), ब्रह्मवादिनी मैत्रेयी और याज्ञवल्क्य की रसप्रद सुप्रसिद्ध कथा (2.4 और 4.5), राजा जनक और याज्ञवल्क्य (अध्याय 3 और 4) आदि हैं।

ये कथाएँ बड़ी रोचक, प्रेरक और विषयपोषक होने से उपनिषदों को पढ़ते समय तत्त्वज्ञान का मानसिक बोझ हल्का-सा कर देती हैं।

उपनिषदों के चिन्तक

उपनिषदों का अवलोकन करने से ऐसा मालूम होता है कि तत्त्वविद्या के सम्बन्ध में प्रथम चिन्तन आधिभौतिक दृष्टि से हुआ था। इसके बाद आधिदैविक और बाद में आध्यात्मिक दृष्टिकोण से तत्त्व-चिन्तन होने लगा था।

अधिभूत दृष्टिबिन्दु में जगत् के अधिकरण के अनेक नाम दिए जाते थे। असत् (अव्यक्त), सत्, सत्य, ऋत, अक्षर आदि नाम हैं, पर अन्त में ब्रह्मतत्त्व नाम में उन नामों का पर्यवसान हुआ। उस ब्रह्म की विश्वालीन - विश्वोत्तीर्ण सत्ता को 'परब्रह्म' कहा गया और उसकी विश्वान्तर्गत - विश्वमय सत्ता को 'अपरब्रह्म' नाम दिया गया गया।

ये सब अधिभूत चिन्तक ब्रह्म की परत्व सत्ता की अपेक्षा उसके अपर अस्तित्व पर ज्यादा जोर देते थे। क्योंकि जहाँ तक उपासना का सम्बन्ध है—'परब्रह्म' की अपेक्षा 'अपरब्रह्म' ही अधिकांश रूप में उपास्य हो सकता है। उपनिषदों के इन अधिभूत चिन्तकों में शाण्डिल्य और श्वेतकेतु के पिता उद्दालक आरुणि अपने कुछ मौलिक विचार बताते हैं। शाण्डिल्य की तो एक अपनी विद्या – उपासना-पद्धति ही छान्दोग्योपनिषद् में दी गई है। विश्व की ब्रह्ममयता समझाने के लिए 'तज्जलान्' रूप रहस्यमंत्र की उपासना उन्होंने बताई है। तज्ज = उसमें से जन्मता है, तल्ल = उसमें लय होता है। और तदन् = उससे जीता है—इन तीनों का समन्वय ही ब्रह्म है।

और भी—अधिभूत दृष्टिकोण से कहा गया है कि—"यह पुरुष यज्ञमय - कर्ममय है। इस लोक में पुरुष जैसे यज्ञवाला (कर्मवाला) होता है, मरण के बाद ऐसा ही होता है। इसलिए पुरुष को कर्मनिष्ठ होना चाहिए। स्वरूप से यह पुरुष मनोमय प्राणरूप शरीरवाला, ज्योतिरूप, सत्यसंकल्प, आकाशात्मा, सर्वकर्मकर्ता, कार्यसिद्धिकर्ता, सर्वगन्ध, सर्वरस है।" संक्षेप में तात्पर्य यह है कि यह पुरुष बाह्य जगत् में ही प्रविष्ट है। ऋषि और आगे कहते हैं कि—"वह अक्षुब्ध है, इन्द्रियातीत है, वह मेरा आत्मा हृदयस्थ भी है। वह यव आदि अन्न के दाने से भी छोटा है, और साथ ही साथ पृथ्वी और आकाश से बड़ा भी है। स्वर्गादि सभी लोकों से बड़ा है। सर्वकर्मा, सर्वकाम, सर्वगन्ध, सर्वरस—संक्षेप में जो समस्त विश्वरूप आत्मा है, वही हृदयस्थ अक्षुब्ध, वागादिशून्य है और वही ब्रह्म है। 'इस देह को छोड़ने के बाद मैं ब्रह्मरूप होऊँगा'—जिसे यह निश्चय हुआ है, वह सत्यनिष्ठ है और उसे कोई शंका नहीं होती है।"

शाण्डिल्य के उपर्युक्त अवतरण से यह स्पष्टरूप से समझ में आ जाता है कि वे जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और लय के कारण को ही ब्रह्मरूप में मानते हैं। यह अधिभूत दृष्टिकोण है। शाण्डिल्य और अन्य उद्दालक आदि द्रष्टा महर्षि इसी अधिभूत दृष्टिकोण से चिन्तन करनेवालों में हैं।

उपर्युक्त कथन से यह स्पष्ट है कि श्वेतकेतु के पिता उद्दालक आरुणि इसी कोटि के चिन्तक थे। उन्होंने उपदेश के प्रारंभ में ही अपने पुत्र श्वेतकेतु को ऐसा समझाया था कि एक ही सद्रूप अद्वितीय ब्रह्म जगत्कारण है। उसने जगदाकार होने की कामना की और क्रमशः यह जगत् उत्पन्न हुआ। उस तेज (जल) पृथ्वी रूप जगत् में मूल सत् तत्त्व जीवरूप से प्रविष्ट हुआ और इस प्रकार क्रमशः सृष्टि निर्माण का विस्तार से वर्णन किया है।

आरुणि उद्दालक की बताई हुई इस लम्बी-चौड़ी सृष्टि-प्रक्रिया में भी ब्रह्मतत्त्व से आविर्भूत स्थावर-जंगम सभी पदार्थों का निर्देश करके पिण्डस्थ आत्मा को ब्रह्माण्ड के आत्मा के साथ अभिन्न बताया गया है।

इस प्रकार शाण्डिल्य और आरुणि—दोनों द्रष्टाओं के चिन्तन का प्रारंभ अधिभूत दृष्टिकोण से ही हुआ है, अर्थात् बाह्य जगत् के अवलोकन से ही उनके चिन्तन का उदय हुआ है। और बाद में वह अध्यात्म में परिणत (पर्यवसित) होता है। इस दृष्टिकोण में सृष्टि की स्वीकार्यता है, उसी से दृष्टि का उदय हुआ है। अधिभूत सृष्टि के समूह को 'विराट्' नाम दिया गया है।

उपनिषदों के कुछ चिन्तकों के चिन्तन का प्रारंभ देवता से होता है। उन्हें अधिभौतिक चिन्तक कहा जाता है। यह औपनिषदिक चिन्तन का दूसरा प्रकार है। श्रौत वाङ्मय में देवता शब्द का अर्थ मन, बुद्धि, प्राण तथा उसका समस्त विस्तार—ऐसा होता है। सभी इन्द्रियरूप देवों का समूह स्थूल शरीर का चालक है और उन इन्द्रियों की उपकारक सामग्री ब्रह्माण्ड से उस-उस इन्द्रिय के प्रेरक तत्त्व से मिलती है। ये प्रेरक तत्त्व भी देवता कहे जाते हैं। जैसे याज्ञवल्क्य काण्ड में प्राण ब्रह्मवादी के दृष्टिकोण से पहले तैंतीस देवताओं की कल्पना थी, फिर मुनि याज्ञवल्क्य ने उन तैंतीस का छः में अन्तर्भाव किया, फिर छः का तीन में और तीन का दो में तथा दो का एक ही मुख्य प्राणदेवता में अन्तर्भाव कर दिया है। यह मूल प्राणदेवता, मुख्य और गौण—इन दो रूपों में माना गया है। गौण प्राण इन्द्रियों को कहा जाता है और मुख्य प्राण संजीवनी शक्ति है। वही मुख्य प्राणरूप संजीवनी शक्ति गौणप्राण नामक इन्द्रियों को टिकाए रखती है। यह ठीक है कि श्वास-प्रश्वास मुख्य प्राण को अभिव्यक्त करनेवाली क्रिया है, परन्तु वास्तविक प्राण तो क्रियाप्रेरक एक स्वतंत्र तत्त्व ही है। गौणप्राणरूप इन्द्रियाँ पापों से आहत हो सकती हैं, पर मुख्य प्राण पाप से अस्पृष्ट ही रहता है। गौण प्राणों को 'रुद्र' कहा गया है। ये रुद्र ग्यारह हैं। पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ और एक अंतःकरण मिलकर ये ग्यारह रुद्र हैं। ये ग्यारह गौण प्राण अथवा रुद्र शुभाशुभ कर्मों के संपर्क में आकर स्वयं शुभाशुभ बनते हैं, पर मुख्य प्राण दोनों से परे रहता है। इसीलिए अधिदैव चिन्तक उसे 'सूत्रात्मा' ऐसा नाम देकर प्रशस्त करते हैं।

उपनिषदों में इस प्रकार का अधिदैव चिन्तन हमें प्रश्नोपनिषद् में पिप्लाद मुनि के छः शिष्यों को दिए गए उत्तरों में मिलता है और अपने को विद्वान् मानने वाले शाकल्य के याज्ञवल्क्य के साथ किए गए विवाद में भी मिलता है।

ये अधिदैव चिन्तक स्थूल सृष्टि के जीवनदायक प्राणब्रह्म के दो स्वरूपों को मानते हैं—एक पिण्ड है और दूसरा ब्रह्माण्ड। वे कहते हैं कि पिण्ड में हृदय और ब्रह्माण्ड में आदित्यमण्डल प्राण की विशेष कला के स्थान हैं। इन दो स्थानों में प्राण विशेष ज्योतिरूप से जाग्रत् होता है और अन्य अधिभूत सृष्टि में वह सोया-सा रहता है। परन्तु है तो वह अणु-अणु में व्याप्त ही। इसलिए बाद में उसको 'हिरण्यगर्भ' ऐसा नाम दिया गया। उपनिषदों का पूरा उपासना काण्ड जो अनेक विद्याओं के नाम से प्रसिद्ध हुआ है, वह इस अधिदैव चिन्तन प्रकार के साथ ही सम्बन्ध रखता है।

परन्तु, उपनिषदों के चिन्तक इन आधिभौतिक और आधिदैविक चिन्तन से भी आगे जाकर अन्त में आध्यात्मिक चिन्तन में अपने चिन्तन की चरम सीमा देखने लगे थे और अन्त में ही उस चिन्तन की परिसमाप्ति हुई है, ऐसा लगता है। इसका अर्थ यह कदापि नहीं है कि उनकी बताई भूतसृष्टि (अधिभूत) और प्राणसृष्टि (अधिदेव) में चिन्तन है ही नहीं। अवश्य ही उन दोनों प्रकार में चिन्तन है। इतना ही नहीं, भावि दर्शनशास्त्रों के बीज भी उन दृष्टिकोणों में निहित हैं। तथापि उपनिषदों के चिन्तन की पराकाष्ठा तो आध्यात्मिक ही है।

अधिभूतवादियों का ब्रह्म विराट् विश्वशरीर में व्यापक है और अधिदेववादी का ब्रह्म भूतसृष्टि का चालक प्राणसृष्टि में सूत्रात्मा या हिरण्यगर्भ है। पर अध्यात्मवादी के अनुसार ये दोनों विकारी और छायारूप ही हैं। इन दोनों को यदि सत्य माना जाय तो उन दोनों के परे जो अविकारी है उसे 'सत्यस्य सत्यम्' ही कहना चाहिए और उसे ही अध्यात्मवादी पारमार्थिक सत्य मानते हैं। मूर्तामूर्तरूप अपर ब्रह्म से भी ऊपर 'परब्रह्म' ही अध्यात्मवाद का परमार्थ सत् तत्त्व है, और यह असीम (अनन्त) है, सीमित नहीं। 'योऽसावादित्ये पुरुषः सोऽहम्' ऐसा स्पष्ट रूप से ही अध्यात्मवादी के लिए कहा गया है।

अध्यात्म चिन्तक के मत में भूतात्मदर्शी तो शोचनीय और कृपण ही है, प्राणात्मदर्शी (अधिदेवचिन्तक) थोड़ा बुद्धिमान है और इसलिए पारलौकिक सुख भोग लेता है, पर ब्रह्मात्मवादी तो यहाँ जीते जी ब्रह्मभाव भोगता है। इसी परमतत्त्व की खोज करना उपनिषदों के चिन्तन का अन्तिम लक्ष्य है।

इस चिन्तन के उच्चतम आसन पर आरूढ होने वाले परम ऋषि द्रष्टा याज्ञवल्क्य हैं। बृहदारण्यकोपनिषद् में शाकल्य के सभी प्रश्नों का उत्तर देने के बाद जब याज्ञवल्क्य ने शाकल्य से उपनिषद्गम्य पुरुष के बारे में पूछा तब शाकल्य मौन रह गया। उपनिषद् की भाषा में वह मरण को प्राप्त हो गया। तब अन्त में याज्ञवल्क्य मर्म वचन कहते हैं—"यह पुरुष महावृक्ष-सा है, पत्ते उसके लोम हैं, छिलका उसकी त्वचा है, छिलके के छिद्र से जैसे रस झरता है, वैसे पुरुष की त्वचा के मेद से लहू निकलता है। वृक्ष की ग्रन्थियों जैसी पुरुष की मांसपेशियाँ होती हैं, वृक्ष की लकड़ी में दिखाई देने वाली शिराएँ जैसे पुरुष के स्नायु हैं। वृक्ष के कठिन भाग जैसी पुरुष की हड्डियाँ, वृक्ष के आते-जाते, उगते-झरते पत्तों की तरह ही पुरुष के जन्मते-नष्ट होते रहते अणु हैं। यह पुरुष वीर्य से जन्मता है—यह कहना नहीं चाहिए। ····जन्म के बाद कैसे यह जन्मेगा ? ····पुरुष का मूल तो चिन्मय और आनन्दमय है। वह ब्रह्म है···· वह स्वयं जीता है और अन्य को जिलाता है।"

इन्हीं तीन चिन्तनधाराओं में भारत के भावि दार्शनिक विकास की अर्थात् दर्शनशास्त्रों की नींव पड़ी हुई है।

उपनिषत्कालीन चिन्तक अब तो केवल नामावशेष ही रहे हैं। आज तो हम केवल इतना ही जानते हैं कि अमुक विद्या (उपासना-पद्धति) के द्रष्टा अमुक मुनि या ऋषि थे। अधिभूत चिन्तकों में शाण्डिल्य, प्रवहण, जैवलि और उद्दालक आरुणि के नाम इतिहास-सागर के तीर पर आरूढ हैं। अधिदैव चिन्तकों में पिप्पलाद मुनि का मुख स्थान है। बालाकि और शाकल्य में पाण्डित्य तो दिखाई देता है, पर निष्ठा नहीं दीखती है। अध्यात्म चिन्तकों में याज्ञवल्क्य मुनि शीर्षस्थानीय हैं। हमारे विचार से आदि शंकराचार्य से पहले यदि कोई भी अध्यात्मविद्या में स्वतंत्र श्रौत चिन्तक हुआ है, तो वह केवल योगीश्वर याज्ञवल्क्य ही हैं। उनका विचार-स्वातंत्र्य, उनका अद्भुत मनःसंयम, उनकी निरीक्षण-शक्ति, उनका परिपक्व अनुभव—ये सब उन्हें सभी उपनिषद् विचारकों में सूर्य का स्थान देते हैं। तदुपरान्त अन्य ऋषियों में अंगिरा, भृगु, गार्गी, घोर आंगिरस, हरिद्रुमत, महीदास, ऐतरेय, नारद, रैक्व, सनत्कुमार, सत्यकाम जाबाल, वामदेव, वरुण आदि के नाम लिए जा सकते हैं।

यह ठीक है कि उपनिषद् के ऋषियों में हम गौतम, आरुणि, प्रजापति, प्रवहण, यम आदि को श्रेष्ठ शिक्षक के रूप में, श्वेतकेतु आदि को श्रेष्ठ अनुशासक रूप में और अन्यान्यों को अपनी-अपनी

विशिष्टताएँ रखते हुए पाते हैं, पर सम्पूर्ण उपनिषत्साहित्य में सर्वोत्तम और सार्वत्रिक चिन्तन प्रदान करने का श्रेय तो याज्ञवल्क्य ऋषि को ही जाता है। उनका योगदान इतना महत्त्वपूर्ण है कि आज भी विश्व के तत्त्व-चिन्तकों के लिए भी उसका स्मरण रखना अनिवार्य है! महामुनि याज्ञवल्क्य के विषय में यहाँ कुछ विशेष प्रकाश डालना अनुचित नहीं होगा।

याज्ञवल्क्य के सन्दर्भ में ज्ञातव्य

मिथिला प्रदेश का देवरात नामक ब्राह्मण बड़ा ही अन्नदान करनेवाला था, इसलिए वह 'वाजसनि' (बहुत अन्न देनेवाला) के नाम से विख्यात हुआ। अनेक यज्ञ करने के बाद उसे एक पुत्र हुआ इसलिए उसका नाम 'याज्ञवल्क्य' रखा गया। उपवीत के बाद याज्ञवल्क्य ने वाष्कल से ऋग्वेद सीखा, यजुर्वेद अपने मामा वैशम्पायन से, सामवेद जैमिनि से और अथर्ववेद आरुणि से सीखा। याज्ञवल्क्य बचपन से ही निर्भय और स्पष्टवक्ता थे। उन्होंने अपने मामा और गुरु वैशम्पायन के हाथ से अनजाने में हुई हिंसा का प्रायश्चित्त-विधान निर्भयता पूर्वक सम्पन्न किया। जिससे गुरु ने क्रुद्ध होकर उन्हें अध्ययन से निकाल दिया। बाद में उन्होंने हिमालय में सूर्योपासना की। उसके प्रभाव से उन्होंने यजुर्वेद की स्वतंत्र शाखा की स्थापना की। वही शाखा यजुर्वेद की वाजसनेयि शाखा है। इस शाखा में मंत्र-भाग और ब्राह्मण-भाग अलग-अलग होने से उसे शुक्लयजुर्वेद कहा गया और प्राचीन यजुर्वेद में दोनों मिश्रित होने से उसे 'कृष्णयजुर्वेद' कहा गया। जैसे तीतर पक्षी के पंख मिश्रित होते हैं, वैसे ही यहाँ दोनों का मिश्रिण होने से इस शाखा का नाम तैत्तिरीय पड़ा—ऐसा कहा जाता है। बाकी तीतर पक्षीवाली बात तो केवल अतिशयोक्ति ही है।

याज्ञवल्क्य की दो पत्नियाँ (मैत्रेयी और कात्यायनी) थीं। मैत्रेयी ब्रह्मवादिनी और कात्यायनी व्यवहारकुशल थी। याज्ञवल्क्य प्रणीत शुक्लयजुर्वेद से ही बृहदारण्यकोपनिषद् सम्बद्ध है। इस उपनिषद् जैसी गंभीर दूसरी कोई भी उपनिषद् नहीं है।

याज्ञवल्क्य वेद के ब्राह्मण-ग्रन्थ के निर्माता, याज्ञवल्क्यशिक्षा, प्रतिसूत्र, योगसूत्र (अलभ्य), याज्ञवल्क्यस्मृति आदि ग्रन्थों के प्रणेता परम्परा से माने गए हैं। इसकी प्रमाणभूतता के आगे अभी प्रश्नार्थ ही है।

ये याज्ञवल्क्य जनक से सम्बद्ध होने से राम के समकालीन माने जाते थे। परन्तु रा.बा.पी.बी. जोशी का मत है कि वे युधिष्ठिर के समकालीन थे। वे कहते हैं कि धर्मसूत्रकार मनु वसिष्ठ के बाद हुए। क्योंकि वसिष्ठ के धर्मसूत्रों से मनु ने अवतरण लिए हैं। याज्ञवल्क्य मनु के बाद हुए। युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ में याज्ञवल्क्य अध्वर्यु थे। याज्ञवल्क्य से सम्बद्ध जनक सीता के पिता नहीं अपितु वे दूसरे थे। जोशीजी ने अन्य कई प्रमाण दिए हैं पर यहाँ वह अप्रासंगिक होने से नहीं दिए जा रहे हैं।

कुछ भी हो, उपनिषदों में याज्ञवल्क्य का योगदान अद्भुत ही है। उपनिषदों में से, विशेषकर बृहदारण्यक उपनिषद् से याज्ञवल्क्य के स्वतंत्र विचार आसानी से चुने जा सकते हैं, क्योंकि ये विचार बृहदारण्यक उपनिषद् में उन्होंने अपनी वाणी से स्वयं कहे हैं।

याज्ञवल्क्य से पहले तो जगत् के कारण-सम्बन्धी निर्णय या तो अधिभूत दृष्टि से या अधिदैव दृष्टि से ही किए गए थे इसलिए ब्रह्मतत्त्व को या तो जगत् के कारण के रूप में, अथवा विश्व के नियन्ता ईश्वर के रूप में निरूपित किया जाता था। परन्तु 'वह विश्वकारण और विश्वनियंता भी सबका

आत्मा ही है, और कोई पृथक् पदार्थ नहीं है'—ऐसा स्वतंत्र निश्चय तर्क के द्वारा जैसा याज्ञवल्क्य ने किया है, वैसा निश्चय उपनिषदों के किसी भी ऋषि ने नहीं किया। आइए याज्ञवल्क्य की ही कुछ वाणी सुन लें—

"यह लोकप्रसिद्ध आत्मा ही ब्रह्म है। वह आत्मा विज्ञान की उपाधि से 'विज्ञानमय', मन की उपाधि से 'मनोमय', चक्षु की उपाधि से 'चक्षुष्मय', श्रोत्र की उपाधि से 'श्रोत्रमय', पृथ्वी की उपाधि से 'पृथ्वीमय', जल की उपाधि से 'जलमय', वायु की उपाधि से 'वायुमय', तेज की उपाधि से 'तेजोमय', आकाश की उपाधि से 'आकाशमय', काम की उपाधि से 'काममय', वैराग्य की उपाधि से 'अकाममय', क्रोध की उपाधि से 'क्रोधमय', शान्ति की उपाधि से 'शान्त', धर्म की उपाधि से 'धर्ममय', अधर्म की उपाधि से 'अधर्ममय'—संक्षेप में जिस-जिस उपाधि से वह जुड़ा हुआ होता है, उस-उस उपाधिमय वह देखा जाता है। आत्मा स्वेच्छाचारी है और वही आत्मा सदाचारी भी है। वही एक आत्मा पापकर्मों से पापी और पुण्यकर्मों से पुण्यवान माना जाता है। विद्वान् कहते हैं कि जैसा जिसका काम या संकल्प होता है, वैसा ही उसका आत्मा होता है।..... जैसे उसके कर्म वैसी उसकी गति होती है।..... वह कर्मसंस्कारानुसार फल भोगता है। कर्मफल क्षीण होते ही वह मर्त्यलोक में लौट आता है।..... जिसकी कामना आत्मा के सिवा किसी अन्य पदार्थ में नहीं है वह 'आप्तकाम है।..... आप्तकाम लोकान्तर में रति नहीं करता..... इसी लोक में वह ब्रह्मरूप हो जाता है।" आदि-आदि।

याज्ञवल्क्य के मतानुसार कामनावाला पुरुष ही संसारी जीव है और कामनारहित असंसारी और वही मुक्तब्रह्म है।

याज्ञवल्क्य इस विशुद्ध असंसारी ब्रह्मात्मा को स्वतः आनन्दस्वरूप मानते हैं। उसी के सम्बन्ध से स्त्री, पुत्र, शरीर आदि प्रिय लगते हैं। 'आत्मा स्वतः प्रियरूप है'—यह निश्चय ही बड़े महत्त्व का है, और यह याज्ञवल्क्य का ही अपना मौलिक निश्चय है। यह ज्ञान उन्होंने अपनी पत्नी मैत्रेयी को दिया है। आत्मा की स्वयंज्योतिर्मयता और विज्ञानघनता का निर्णय भी याज्ञवल्क्य का अपना मौलिक ही है।

संक्षेप में—(1) जगत्कारण और जगन्नियन्ता ब्रह्म और कुछ नहीं, अपनी आत्मा ही है। (2) वही आत्मा स्वतः आनन्दरूप है और (3) वही विज्ञानघन और स्वप्रकाश है—याज्ञवल्क्य के ये विचार ही उपनिषदों को प्रदत्त है।

उपनिषदों में व्यावहारिक जीवन के मूल्य

उपनिषदों का चरम लक्ष्य जीव के साथ ब्रह्म का ऐक्य-तादात्म्य ही है, अद्वैत ही है; फिर भी द्वैतमूलक व्यावहारिक सत्ता का उपनिषदों ने कभी निरादर नहीं किया अपितु द्वैतमूलक जगत् की सापेक्ष सत्ता को उपनिषदों ने सर्वदा स्वीकार किया है। जगत् की सत्ता सापेक्ष है, परिवर्तनशील है—बस इतना ही उन्होंने बताया है। साधारणतया सर्वानुभूत द्वैत में से अद्वैत की ओर जाने के लिए भी पहले द्वैतमूलक उपासनाओं (विद्याओं) का अनुष्ठान करना पड़ता है। और उन्हीं की सफलता के लिए प्रथम सोपान जीवन के कुछ व्यावहारिक मूल्य हैं। उनके आचरण के बिना आगे उन्नति नहीं की जा सकती।

उपनिषदों में ऐसे मूल्य ज्यादातर आनुषंगिक रूप में हैं। ईश्वर की ओर सहज मनोगति बताते हुए उपनिषद् कहती है—"हे प्रभु, मैं शुद्ध होऊँ।" "जैसे पक्षी शाम को अपने नीड़ की ओर जाते

हैं, वैसे मैं तुम्हारे पास आऊँ", "मैं तुझमें प्रविष्ट हो जाऊँ", आदि वाक्य तथा उपनिषदों के विविध शान्तिपाठों के सभी मन्त्र ऐसे जीवनमूल्यों को स्पष्ट रूप से बताते हैं।

परा-अपरा विद्या, संभूति-विनाश की उभयोपासना, अभ्युदय और निःश्रेयस्—दोनों का स्वीकार इत्यादि के द्वारा द्वैत का स्वीकार भी सप्रयोजन रूप से किया गया है। द्वैत-अद्वैत कोई अन्धकार-प्रकाश जैसे प्रतियोगी शब्द नहीं हैं। यदि ऐसा होता तो जहाँ जगत् है वहाँ ब्रह्म नहीं होता और जहाँ ब्रह्म है वहाँ जगत् नहीं होता; यदि ऐसा मान लें तो भी ब्रह्म की सर्वव्यापकता बाधित होती। इस समस्या के निवारण के लिए ही तो कठोपनिषद् में 'ऊर्ध्वमूल' और 'अवाक्शाख' अश्वत्थ को जगत् का रूप दिया गया है। उपनिषदों में बताई गई सभी विद्याएँ-उपासनाएँ भी द्वैतमूलक ही हैं, अन्यथा वे व्यर्थ ही हो जातीं।

हमारे उपनिषदों के चिन्तक यह मानते आए हैं कि जिन सत्यों का हमें आन्तरिक अनुभव होता हो, उनकी छाया (उनका प्रतिफलन), उनकी अभिव्यक्ति किसी-न-किसी प्रकार से हमारे व्यावहारिक जीवन में होनी ही चाहिए। अन्यथा कोरा तत्त्वज्ञान या केवल आन्तरिक अनुभव का कोई मूल्य नहीं है। इसलिए आदर्श पुरुष का आचार उन औपनिषदिक अनुभूतिलब्ध सत्य की नींव पर ही खड़ा है। बृहदारण्यकोपनिषद् (5.3.1-3) में प्रजापति के माध्यम से देव, दानव और मनुष्यों को दिए गए उपदेश की आख्यायिका के द्वारा आत्मसंयम, दया और दान के जीवनमूल्यों का निर्देश किया गया है तो छान्दोग्योपनिषद् (3.17.4) में तपस्या, दान, आर्जव, अहिंसा, सत्यवचन आदि को आध्यात्मिक उन्नति का साधन बताया गया है। तैत्तिरीय उपनिषद् (1.2.1-3) में स्नातक को गुरु ने समावर्तन के समय पर बड़ी ही मूल्यवान शिक्षाएँ दी हैं। यहाँ माता-पिता-गुरु के प्रति सम्मान और सेवाभाव की शिक्षा दी गई है। इनमें स्वाध्याय और धर्मपरायणता का बड़ा महत्त्व है। किसी भी काल में ये सभी शिक्षाएँ प्रस्तुत ही हैं, वे स्थायी हैं और वैश्विक भी। परन्तु इन सीखों में भी 'सत्यं वद' की शिक्षा सिरमौर है। छान्दोग्य (4.4.1-5) की जाबाल-सत्यकाम की कथा में और प्रश्नोपनिषद् की अनृतभाषण की निन्दा में तथा मुण्डकोपनिषद् में भी सत्यवचन के जीवनमूल्य को शीर्षस्थ माना गया है। बृहदारण्यकोपनिषद् (4.4.23) में शम, दम, उपरति, तितिक्षा तथा समाधान की भी जीवन-मूल्यों में गणना की गई है लेकिन वे ज्यादातर आध्यात्मिक साधक के लिए उपयोगी हैं और सामान्य व्यवहार में भी विवेकबुद्धि से उन मूल्यों का विनियोग करना चाहिए। ज्ञानसाधकों के लिए विवेक-वैराग्य के जीवन-मूल्य विशेष रूप में बतलाए गए हैं।

उपनिषदों का तर्कपूत और बुद्धिगम्य आकर्षक सिद्धान्त 'कर्मस्वातन्त्र्य' है। उपनिषदें कहती हैं कि हम ही अपने जीवन के निर्माता हैं। यह सिद्धान्त ही मनुष्य को मानवीय मूल्यों की ओर मूल्यलक्षी जीवन जीने की ओर अग्रसर कर देता है। बृहदारण्यकोपनिषद् ने स्पष्ट ही कह दिया है कि—"यह पुरुष काममय है। जैसी उसकी इच्छा होती है, वैसा उसका क्रतु (संकल्प) होता है, और जैसा संकल्प होता है, वैसा उसका कर्म होता है, और जैसा कर्म होता है, वैसा वह स्वयं होता है।" कौषीतकि ब्राह्मणोनिषद् (3.9) में किए गए स्वातंत्र्य निषेध छान्दोग्य में पुनः दिए हुए कर्म-स्वातन्त्र्य के आगे उपेक्षणीय ही मानना चाहिए। यहाँ मुक्तिकोपनिषद् का यह विधान आकर्षक है, चाहे वह बाद की ही कृति क्यों, न हो—

शुभाशुभाभ्यां मार्गाभ्यां वहन्ती वासनासरित्।
पौरुषेण प्रयत्नेन योजनीया शुभे पथि।
अशुभेषु समाविष्टं शुभेष्वेवावतारयेत्॥ (2.5-6)

अर्थात् "वासनारूपी नदी शुभ और अशुभ—ऐसे दो मार्गों में बह रही है। मनुष्य को अपने प्रयत्न द्वारा अशुभ में लगी वासना को शुभ की ओर ले जाना चाहिए।" कर्म-निष्पादन में आत्मस्वातंत्र्य का प्रतिपादन ही उपनिषद् के मानवीय जीवन का सारतत्त्व है। इससे कोरे दैववाद का उपनिषदों ने जोरदार खण्डन किया है।

ऊपर बताए गए जीवनमूल्य तो उपनिषदों के अन्तःसाक्ष्य से स्पष्ट रूप से ही हम पा सकते हैं। परन्तु कुछ गर्भित जीवन-मूल्य भी हम उपनिषदों से पा सकते हैं। वे मूल्य कथा, प्रसंग, संवाद आदि से सूचित किए गए हैं तो उनकी ओर भी हम एक नजर डाल लें—

ऐसे मूल्यों में एक महत्त्वपूर्ण मूल्य भेद की दीवारों को तोड़ने का है। सत्यकाम जाबाल को गौतम ने विद्यार्थी के रूप में स्वीकार किया, तब उन्होंने न उसका वंश देखा, न गोत्र देखा पर केवल सच्चाईपूर्ण चारित्र्य ही देखा। वंशीयता, जातिभेद और ज्ञातिवाद से छिन्न-भिन्न समाज को इससे यह चुनौती मिलती है कि वह मनुष्य का मूल्य गीता के अनुसार उसके गुण और कर्म से ही आँके और जातिपाति के सामाजिक भेदों को तोड़ दे। वंशीयता के बदले गुण-कर्म देखे। संकुचितता छोड़कर, प्रेम, सहकार, सहानुभूति रखे।

दूसरे एक जीवनमूल्य की सूचना भी हम उसी कहानी से पाते हैं। गौतम ने सत्यकाम को गायें लेकर वन में भेजा, तब सत्यकाम ने ही जहाँ तक गायों की संख्या अधिक न हो जाय, वहाँ तक वनों में घूमने का निश्चय किया। तो सत्यकाम ने वन में रहकर क्या किया ? उसने प्रकृति के साथ तादात्म्य स्थापित किया, वह प्रकृति के पशु-पक्षियों के मनोभाव और भाषा तक समझने लगा और प्रकृति के तत्त्वों ने ही उसे ज्ञान दिया।

आज के प्रकृति-विमुख, नगर-संस्कृति वाले, हिंसक और केवल स्वकेन्द्री मनुष्यों के लिए प्रकृति-प्रेम, ग्राम-संस्कृति की निर्दोषता और निर्दंशता, अहिंसा, प्राणी प्रेम, और परोपकार की शिक्षा इस कथा में वर्णित की गई है। सबको अपने-सा मानना इसका मूल्यबोध है।

ईशावास्योपनिषद् के दूसरे ही मंत्र में दो जीवनमूल्यों का निर्देश है। एक है—'जिजीविषेच्छतं समाः' अर्थात् सौ साल तक जीने की इच्छा करनी चाहिए। यह सूचित करता है कि मनुष्य को अपने जीवन के प्रति पूरा आदर होना चाहिए। इसमें स्वजीवन के आदर के साथ परजीवन के प्रति आदर भी उपलक्षित है। अपने और दूसरे के जीवन को कर्मठतापूर्ण और सुखी बनाने का संकेत इससे मिलता है। आत्महत्या और परहत्या की गर्हणीयता इससे सूचित होती है।

उसी उपनिषद् के पहले मंत्र में 'तेन त्यक्तेन भुंजीथा' में त्याग का जीवनमूल्य बताया गया है। अन्य की भलाई के लिए त्याग करने में भी एक विशेष प्रकार का आनंद है, तुष्टि है छोटे-से किए गए त्याग का कल्याणकारी फल मिलता है। अन्य के लिए किए जाने वाले त्याग में 'आत्मैक्य' की लाभकारी छाया पड़ती है। आत्मब्रह्मात्मैक्य का व्यावहारिक जीवन में वह प्रतिफलन है।

उपनिषद् कहती है—'एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति।' सत्तत्त्व के ज्ञान के अनेक मार्ग हैं, उनमें से किसी एक का पूर्वाग्रह रखना मनुष्य की अपूर्णता और अदूरदृष्टि का ही परिणाम है। पूर्वाग्रहों को छोड़कर सर्वधर्म-स्वीकार या सर्वधर्म-समभाव का जीवनमूल्य इस वाक्य से सूचित होता है।

हमारे उपनिषदों के द्रष्टाओं ने सत्य की खोज के लिए अपने जीवन तक की परवाह नहीं की। उपनिषदों में आत्मज्ञानी का मुख्य स्वरूप 'अभय' बताया गया है—'अभयं वै जनकं प्राप्तोऽसि' आदि

वाक्य मानवजीवन में अभय के मूल्य को दर्शाते हैं। स्वामी विवेकानन्द को सबसे उत्कृष्ट जीवनमूल्य यह 'अभय' उपनिषदों में दृष्टिगोचर हुआ।

उपनिषदों में उपासनाओं में प्राकृतिक जड़ दीखने वाले तत्त्वों में दैवी आरोपण करने के लिए कहा गया है, तो हम जीते-जागते-हिलते-डुलते हमारे ही जैसे चेतन मनुष्य में भला देव का (ईश्वर का) दर्शन क्यों न करें ? सर्वव्यापक ईश्वर मनुष्य में तो प्रायः प्रकाशित ही है। इसलिए प्रत्येक मानव में, प्रत्येक प्राणी में ईश्वर को देखने का प्रयत्न करना भी तो एक मानवीय मूल्य ही है।

उपनिषदों में बाद के दर्शनों के बीज

भारत में जो तत्त्वज्ञान का विकास हुआ है इसमें छः आस्तिक दर्शनों के बीज तो उपनिषदों में पड़े ही हैं। नास्तिक माने जाने वाले जैन और बौद्ध दर्शनों में भी उपनिषदों का स्पष्ट प्रभाव मालूम होता है, क्योंकि उपनिषदों की तरह ही सभी भारतीय दर्शनों का केन्द्रबिन्दु धर्म है, सभी दर्शन जीवनलक्षी हैं, सभी दर्शनों का चरमलक्ष्य आत्यन्तिक मुक्ति है, युक्ति के साथ अनुभूति की प्रामाणिकता, आत्मानुसन्धान, साधनामार्ग और संयम, त्याग आदि हैं। फिर इनके लिए बाद में जन्मे दृष्टिकोण की विषमता के कारण ही अन्यान्य दर्शनों का स्वाभाविक रूप से ही निर्माण हुआ है। क्योंकि परिवर्तनशीलता और गत्यात्मकता जगत् का सहज धर्म है।

वेदान्त (उत्तरमीमांसा) की तो उपनिषदें प्राण ही हैं—'वेदान्तो नाम उपनिषत्प्रमाणं तदुपकारीणि शारीरकसूत्रादीनि च' (वेदान्तसार)। वेदान्त के प्रस्थानत्रय में प्रथम स्थान उपनिषदों का ही है। वेदान्त की सभी द्वैताद्वैत शाखाओं ने उपनिषदों का प्रधान प्रामाण्य स्वीकार किया है।

सांख्य और योगदर्शन के बीज भी उपनिषदों में पाये जाते हैं। सांख्यदर्शन द्वैतमूलक है। उसमें पुरुष और प्रकृति—ये दो तत्त्व मूल माने गए हैं। इनमें प्रकृति समग्र सृष्टि का मूल कारण है। (उत्पत्तिस्थान है) और पुरुष मूलतः अकर्ता - साक्षी ही है। सांख्य पुरुषों का अनेकत्व भी मानता है। उपनिषदें पुरुष का अनेकत्व नहीं मानतीं किन्तु विश्व में नींवरूप चैतन्यतत्त्व जो उपनिषदों में है, वही सांख्य में पुरुष का स्वरूप है, इसमें तो कोई विवाद नहीं है।

उपनिषदों में चैतन्य तत्त्व एक ही है। संभव है कि एकेश्वरवाद या सेश्वरवाद में उपनिषदों के बाद के चिन्तकों ने ऐसा गर्भित विचार खोज लिया हो कि परमात्मा से जीवात्मा का अस्तित्व अलग है। इस विचार से जीवों का अनेकत्व परिणत हो गया हो। परन्तु एक 'सर्वेश्वर' का मूलस्रोत तो उपनिषदें ही हैं। सांख्यदर्शन यदि भारतीय तत्त्वज्ञान का पिता समझा जाए तो उपनिषदों को भारतीय तत्त्वज्ञान का पितामह माना जाना चाहिए।

सांख्यदर्शन अपने ढंग से विकसित हुआ। फिर भी सांख्य दार्शनिक इतना तो समझते ही थे कि परमात्मा और जीवात्मा के अलग अस्तित्व और स्वातंत्र्य को किसी तर्क की कसौटी पर सिद्ध करना अत्यन्त कठिन है। दोनों में से कोई एक तत्त्व अन्य की उपेक्षा कर सकता है। चैतन्य तत्त्व के दो स्वरूप - दो लक्षण तो तर्कपूत नहीं कहे जा सकते। इसलिए दो रूपों में से अर्थात् जीव और ईश्वर में से या तो जीव को निकाल दीजिए या तो ईश्वर को निकाल दीजिए। जब सांख्यदर्शन ने प्रकृति को ही जगत् का उपादानकारण माना। तब उनकी दृष्टि में ईश्वर निरर्थक और निरुपयोगी हो गया। इस विचार में ईश्वरविहीन अकेली जड़ प्रकृति को ही सर्जन के सभी कार्य सौंप दिए गए। यह बात उपनिषदों की विचार-परम्परा से मेल नहीं खाती है। उपनिषदों ने इस बात का घोर विरोध किया।

उपनिषदों की यह स्पष्ट उद्घोषणा है कि 'एकमेवाद्वितीयम्' अर्थात् ब्रह्म एक और अद्वितीय है। उपनिषदें इसी अद्वैत की धरती पर ज्ञाता-ज्ञेय या द्रष्टा-दृश्य की मायिक लीला की उत्पत्ति मानती हैं। यहाँ दो तत्त्व हैं ही नहीं। ऐतरेय (1.1.2), बृहदारण्यक (1.4.3), छान्दोग्य (6.2.6), तैत्तिरीय (2.1) आदि उपनिषदें ढोल पीटकर यह बात कह रही हैं।

बाद के विज्ञानभिक्षु आदि ने सांख्यदर्शन के सूत्र 'ईश्वरासिद्धेः' की व्याख्या करते समय ईश्वर को तर्कातीत अस्तित्ववाला माना है, वह तो एक अलग ही बात है; परन्तु एक तरह से उपनिषदों के बताए हुए ईश्वर के सर्वनियंतृत्व को उनकी स्वीकृति समझा जाए तो वह अनुचित नहीं होगा।

सांख्यदर्शन की तरह उपनिषदों में योगदर्शन के बीज भी खोजे जा सकते हैं। उपनिषदों के द्रष्टा ऋषि-मुनियों को यह अच्छी तरह मालूम था कि हमारी अपूर्ण - एकांगी या धुँधली-सी समझदारी से किसी भी तरह सत् तत्त्व का सम्यक् दर्शन संभव नहीं हो सकता। इसीलिए उन्होंने मनुष्य के मन की दर्पण के साथ तुलना की है। मनुष्य के मन में 'सत्' तत्त्व का प्रतिबिम्ब पड़ता है। जिस प्रमाण में हमारा मन शुद्ध होगा उसी प्रमाण में उसमें सत् का प्रतिबिम्ब शुद्ध-स्वच्छ-चमकीला-स्पष्ट पड़ेगा। और उस प्रतिबिंब के प्रमाण में ही हमें 'सत्' तत्त्व का ज्ञान होगा। जैसे अन्धा रंग नहीं देखता, बहरा संगीत नहीं सुन सकता, उसी तरह निर्बल (अस्वच्छ) मन वाला मनुष्य सत्य नहीं देख सकता। इसलिए मन को स्वच्छ अर्थात् रागद्वेष आदि मलिनताओं से दूर अज्ञानरहित बनाना पड़ता है।

इस मन को पूर्वोक्त प्रकार से राग-द्वेषरहित कैसे किया जाए। इसकी पूरी प्रक्रिया योगदर्शन में निहित है। अपूर्ण, विकृत, स्वार्थी, भ्रान्त, मलिन मन को परिष्कृत, स्वच्छ, अविकारी, ज्ञानी बनाने के लिए साधना का अत्यन्त महत्त्व है। साधना में तिलभर की कमी भी सम्यग्दर्शन नहीं होने देती। मन के सभी अहंकारजन्य दोषों को संपूर्ण रूप से धो डालना ही साधना का कार्य है। इस साधना के द्वारा ही हम अतन्द्रित निर्मलत्व की एक ऐसी अवस्था में पहुँच जाते हैं कि जहाँ से जगत् की प्रतिभासम्पन्न विभूतियाँ दूर-दूर तक देखती रहती हैं। योगदर्शन की यह बात उपनिषदों के आत्मविषयक सिद्धान्त से ठीक मेल खाती है। हमारी चेतना शाश्वत सत् से विमुख होकर इन्द्रियजन्य नश्वर जगत् में भटकती हुई जीवभावापन्न हो गई है। जीवत्व की उस संकीर्णता को लाँघकर पार हो जाने पर आत्मा का कहीं अभाव नहीं दीखता और तब आत्मा की सघनता दिखाई देती है। लौकिकताबद्ध आत्मा पारमार्थिक प्रगति नहीं कर सकता। बन्धन से मुक्ति पाना, आत्मा की अनन्तता की अनुभूति करना, आत्मा के साथ एकात्म्य स्थापित करना, चित्तशुद्धि के द्वारा चित्त से अर्थात् मन से आत्मा को पाना आदि योगदर्शन के सिद्धान्त उपनिषदों में पाए ही जाते हैं। इस तरह सांख्यदर्शन की तरह योगदर्शन भी उपनिषदों का ऋणी है। योगदर्शन हमें मन और आत्मा को साधना के क्रम में अग्रसर होने की आज्ञा करता है, तो उपनिषदें भी हमें जोर देकर यही तो कहती हैं कि तप, संयम, ब्रह्मचर्य आदि गुणों का आचरण करने के बाद ही चरम लक्ष्य तक पहुँचा जा सकता है। प्रश्नोपनिषद् में परब्रह्म की खोज में निकले हुए छः जिज्ञासुओं को पिप्पलाद ने साधना में एक और साल बिताने को कहा था। ब्रह्मचारी-जीवन में चित्तविक्षेपकारी सांसारिक जाल नहीं होता। तप, ब्रह्मचर्य और श्रद्धा चित्तैकाग्र्य में सहायक होते ही हैं। तप से चित्तशान्ति और श्रद्धा से चेतना का सीधा संपर्क किया जा सकता है। और उसी में योगदर्शन का और उपनिषदों के अपरोक्ष सिद्धान्त का सारतत्त्व समाया है—वही दोनों का सम्बन्ध है।

हमें बाह्य विषयों में बाँधने वाला चित्त गुलाम बनाता है। उस पर प्रभुत्व होने से ही मुक्ति मिलती है। मन का मालिन्य किसी भी साधना का फल नहीं देता। उपनिषद् कहती है—"हे गौतम ! स्वच्छ पानी में स्वच्छ जल डालने से वह स्वच्छ ही रहता है।" आदि बहुत-सी बातें ऐसी हैं जो योगदर्शन और उपनिषदों में समान रूप में पाई जाती हैं।

वेदान्त, सांख्य, योग—इन तीन दर्शनों का उपनिषदों के साथ हमने सम्बन्ध देखा। ये तीनों दर्शन एक तरह से ज्ञानकाण्ड में गिने जा सकते हैं। योगदर्शन को तो हम ज्ञानकाण्ड की प्रयोगशाला ही कह सकते हैं। इस ज्ञानकाण्ड के अतिरिक्त एक दूसरा काण्ड हमारे शास्त्रों में पाया जाता है वह है—कर्मकाण्ड। कर्मकाण्ड का भी भारत में एक दर्शन स्थापित हुआ है, उसका भी एक तत्त्व-ज्ञान है, उसका भी एक प्रमाणशास्त्र है, उसका भी एक आचारपक्ष है। उस दर्शन का नाम है—पूर्वमीमांसा।

सामान्यतः कर्मकाण्ड ज्ञानकाण्ड का विरोधी माना जाता है। विधिविधान का बाहुल्य, यज्ञों की प्रचुरता इस दर्शन की विशिष्टता है। मूल आर्यसंस्कृति यज्ञसंस्कृति ही थी इसलिए भारत में यज्ञों की विविधता को, विधिविधानों के बाहुल्य को प्रधानता दी गई हो, यह स्वाभाविक ही है। पर ज्ञानकाण्ड तो निवृत्तिपरक है अतः श्रौत उपनिषदों में—ज्ञानकाण्ड में और श्रौत ही ब्राह्मणादि यज्ञप्रधान वाङ्मय के साथ सम्बन्ध बिठाना कठिन हो गया है।

यह ठीक है कि ये दोनों काण्ड श्रौत होने पर भी एक साथ नहीं रह सकते, ये तमःप्रकाश की तरह अलग मालूम पड़ते हैं; जैसे रोटी और ईख एक साथ नहीं चबाई जा सकती, वैसे ही इन दोनों काण्डों का आचरण एक साथ नहीं किया जा सकता। दोनों का समुच्चय भले ही न हो सके, पर दोनों में क्रमिकता को अनिवार्य रूप से स्वीकार किया ही गया है। वह इस प्रकार है—पहले वेदविहित कर्मों का अनुष्ठान, फिर निष्काम कर्मनिष्ठा, उससे अन्तःकरण की शुद्धि, शमदमादिसाधनपूर्वक ज्ञाननिष्ठा और तब आत्मज्ञान से मुक्ति लाभ। स्मरण रहे, यह क्रमिकता अनिवार्य है।

इस क्रमिक सोपान-परंपरा में सभी सोपान मानव-जीवन के लिए अनिवार्य होने से सभी का अपना महत्त्व है और सभी का एक प्रकार का पारस्परिक क्रमिक सम्बन्ध भी है। उपनिषद् के ज्ञानकाण्ड में उस क्रमिकता का पालन करके ही उसमें पदार्पण किया जा सकता है। इसलिए पूर्वमीमांसा के कर्मकाण्ड का अनुसरण किए बिना उत्तरमीमांसा के ज्ञानकाण्ड का अधिकार ही नहीं प्राप्त होता। ऐसी योजना है। फिर भी यह क्रम सर्वसामान्य है। उसमें कहीं-कहीं वामदेव आदि में इस नियम का अपवाद हो सकता है।

यहाँ एक बात स्मरण रखना जरूरी है, वह यह है कि भारतीय संस्कृति में कर्म और ज्ञान का प्रवाह समानान्तर ही चला है। यही कारण है कि कुछ उपनिषदें सीधी संहिताओं में से आई हैं, कुछ ब्राह्मणग्रंथों से आई हैं, और कुछ ही आरण्यकों से आई हैं। एक बात यह मान सकते हैं कि आरण्यकों से सम्बद्ध उपनिषदें ज्यादा परिपक्व और विकसित तत्त्वज्ञान वाली हैं, जबकि अन्य उपनिषदों में स्थिर प्रकाश के बदले विद्युत् चमक रही हैं।

षड्दर्शनों में उपनिषद् के सम्बन्ध को देखने पर न्यायदर्शन का बीज उपनिषदों में खोजना बड़ा मुश्किल है। आगे चलकर न्यायदर्शन का जो प्रमाणशास्त्र विकसित हुआ, इसका एकमात्र निर्देश मुण्डकोपनिषद् में इस प्रकार मिलता है—"नाऽयमात्मा बलहीनेन लभ्यो न च प्रमादात्तपसो

वाऽप्यलिंगात् ।'' यहाँ पर जो 'लिंग' शब्द आया है, वह न्यायदर्शन का पारिभाषिक शब्द है। वह अनुमानवाक्यों का मध्यम पद है। यह पद उपनिषदों का न्यायदर्शन के साथ जोड़नेवाली शृंखला हो सकती है। उदाहरणों से सत् तत्त्व का स्वरूप-ज्ञान हो सकता है। ऐसी बात कहनेवाले तथा प्रत्यक्षज्ञान के उदाहरण भी न्यायदर्शनानुकूल मिलते हैं। लेकिन सांख्य, योग, पूर्वमीमांसा जैसी सहजता से यह सम्बन्ध नहीं जोड़ा जा सकता।

उपनिषदों में मनोविज्ञान

उपनिषदों में आज के लोग यदि मन के व्यवस्थित पृथक्करण की अपेक्षा रखें, तो वह उचित नहीं है, क्योंकि आज का मनोविज्ञान एक स्वतंत्र विज्ञान के रूप में विकसित हुआ है। फिर भी उपनिषदों के मन सम्बन्धी विचार कुछ हद तक आज भी प्रासंगिक तो हैं ही।

प्रश्नोपनिषद् (4.2) में पाँच ज्ञानेन्द्रियों और पाँच कर्मेन्द्रियों का अर्थात् गति और संवेदनातंत्र का ही केवल उल्लेख है। पर बृहदारण्यक में कहा है कि ये इन्द्रियाँ मन के प्रभुत्व के नीचे ही काम करती हैं और मन मध्यवर्ती अंग है।...... मन के बिना इन्द्रियाँ निष्क्रिय हैं (बृह. 1.5.3) इसीलिए मन को प्रमुख इन्द्रिय माना गया है। मन के बिना इन्द्रियाँ कुछ काम नहीं कर सकतीं अर्थात् मन के बिना वे व्यर्थ हैं। उपनिषदें मन को भौतिक मानती हैं, उसे आज का विज्ञान भी मानता है। अन्यमनस्क व्यक्ति की इन्द्रियाँ ज्ञानोत्पादन में अक्षम होने की बात तो हम अपने व्यवहार में अनुभव करते ही हैं। इसलिए वास्तव में देखा जाय तो यह उपनिषद्वचन सत्य ही है कि—''मनुष्य मन से ही देखता, सुनता और सोचता है, आदि।'' इन्द्रियार्थसन्निकर्ष से प्रत्यक्ष तभी हो सकता है जब कि मन:संयुक्त आत्मारूप देखनेवाली आँख हो।

ऐतरयोपनिषद् में अन्त:करण (मानस) के एक अंश बुद्धि ये कार्य बताए गए हैं—संज्ञान, आज्ञान, विज्ञान, प्रज्ञान, मेधा, दृष्टि, धृति, मति, मनीषा, जूति, स्मृति, संकल्प, क्रतु, असु, काम और वश; ये भले ही पृथक्कर आधुनिक मनोविज्ञान की कसौटी पर खरा न उतरे, फिर भी इससे इतना तो निश्चित हो ही जाता है कि उपनिषत्काल में भी मनोविज्ञान सम्बन्धी चर्चाएँ होती थीं।

उपनिषदों की दृष्टि से उच्चतम ज्ञान तो आत्मा का ही है, मन का नहीं। क्योंकि आत्मा तो मन का भी मन है। वह आत्मा आँख की भी आँख और कान का भी कान है। वह सर्वेन्द्रियों, मन एवं प्राण—सब पर शासन करने वाला है। वह हृदयाकाश में स्थित है। कहीं-कहीं उसका वर्णन भौतिक द्रव्य की तरह भी किया गया है। आत्मा के लिए अंतिम सिद्धान्त शंकर के केवलाद्वैत का माना जाए या रामानुज के विशिष्टाद्वैत का माना जाय—यह निश्चित करना कठिन है।

अस्तु, वह तो एक अन्य ही विषय है। आत्मा तो प्राणों का प्राण और मन का भी मन है। यह 'प्राण' चेतना का अपर नाम है, और जो मन है, वह चेतना से विशाल तत्त्व है। प्राण - चेतना तो मानसिक जीवन का एक अंगमात्र है। प्राण तो केवल हमारे आध्यात्मिक जीवन की अवस्था ही है। चेतना, मन के द्वारा हुए ज्ञान का एक आकस्मिक तत्त्व है, ऐसा मनोवैज्ञानिक कहते हैं।

जब हम ऐसी चेतना से मन की विशालता का स्वीकार पाश्चात्य मनोवैज्ञानिक ढंग से करते हैं, तब तो ''हमारा आन्तर जगत् उस चेतना (प्राण) से ज्यादा समृद्ध, ज्यादा विशाल और ज्यादा गूढ़ है''—यह लाइबनीज की उक्ति तो उपनिषत्कारों को पहले से मालूम थी ही।

माण्डूक्योपनिषद् में कही गई आत्मा की जाग्रदादि चार अवस्थाओं में जाग्रत् में मन और इन्द्रियों की क्रियाएँ चालू ही रहती हैं, स्वप्नावस्था में इन्द्रियाँ शान्त और मनोलीन हो जाती हैं। यह बात आधुनिक मनोविज्ञान नहीं मानता। पर उपनिषदों का कहना है कि जहाँ तक इन्द्रियाँ कुछ-न-कुछ करती हैं, वहाँ तक हम स्वप्न देखते ही नहीं। वह तन्द्रावस्था है, स्वप्न नहीं। सच्ची स्वप्नावस्था केवल मन का ही स्वैरविहार है, उस समय इन्द्रियाँ बिल्कुल शान्त (विलीन) ही होती हैं। स्वप्नावस्था के पदार्थ में संस्कारयुक्त मनोजन्य ही होते हैं, जाग्रदवस्था के पदार्थ बाह्य होते हैं—यही दोनों में अन्तर है। सुषुप्ति में मन अपने कारण - अविद्या - में लीन हो जाता है।

उपनिषदें कहती हैं कि सुषुप्ति में मन और इन्द्रियाँ शान्त हो जाती हैं। जिस प्रकार स्वप्न में मन जाग्रदवस्था के अनुभवों के संस्कारों से युक्त होकर पदार्थज्ञान उत्पन्न कर सकता है, उस प्रकार सुषुप्ति में नहीं कर सकता। उसमें ज्ञाता-ज्ञेय, दृश्य-द्रष्टा के भेद नहीं होते। चेतना का प्रवाह उस समय बन्द हो जाता है। फिर भी कहा जाता है कि उस समय निर्विषय चेतना तो उपस्थित रहती ही है। आत्मा इस समय में ही केवल ब्रह्मैक्य का अनुभव कर लेता है। कुछ भी हो, पर इतना तो निश्चित ही है कि सुषुप्ति में भी संपूर्ण अभाव या शून्य की अवस्था तो होती ही नहीं। सुषुप्ति में भी आत्मा तो उपस्थित ही रहता है और तब उस आत्मा को कुछ भी अनुभव नहीं होता। फिर भी वह आनंदानुभव करता है। उपनिषद् की यह—''कुछ अनुभव न करते हुए भी आनन्दानुभव करने की'' बात मानना मुश्किल-सा लगता है। पर वास्तविक बात यह है कि उपनिषदें शरीर द्वारा अभानरूप से चलती हुई क्रियाओं का समाधान 'प्राण' नामक तत्त्व से करती हैं। वे कहती हैं कि श्वासोच्छ्वास, रुधिराभिसरण आदि क्रियाओं का नियन्त्रण करनेवाला यह 'प्राण' है। शरीर में 'स्मृति' नामक तत्त्व के द्वारा चेतना का प्रवाह अखंडित-सा होता है। संभव है कि यह समाधान ठीक हो। फिर भी हम यह तो कह ही आए हैं कि उपनिषदों के मत में बड़ी भारी अस्पष्टता है, धुँधलापन है। सुषुप्ति अवस्था में, प्रत्यक्षज्ञान के अभाव में, इन्द्रिय और मन की शान्त (निष्क्रिय) दशा में आत्मा आनन्दानुभव करता होगा क्या ? तुरीय में भी केवल एकत्वभान ही होता है। वहाँ भी लौकिक, इन्द्रियजन्य तो है नहीं।

फिर भी ये सब रहस्यमय बातें हैं, वे बुद्धिगम्य नहीं अपितु अनुभूतिगम्य ही हैं। ऐसा मानने के अतिरिक्त कोई दूसरा विकल्प नहीं है।

उपनिषदों की व्यापकता

उपनिषदें वैदिक धर्म और वैदिक तत्त्वज्ञान के सारतत्त्व रूप हैं। और यह तो कहा ही गया है कि सभी भारतीय दर्शनों के बीज उपनिषदों में निहित हैं। वेदान्तदर्शन की तो सभी शाखाएँ उपनिषदों के अध्ययन का ही साक्षात् फल हैं। उपनिषदों में कहे गए मानव-जीवन का परम लक्ष्य (मोक्ष) तो भारतीय संस्कृति, सभ्यता, तत्त्वज्ञान और धर्म में इतना व्यापक हो गया है कि परंपरा से शताब्दियों-सहस्राब्दियों तक भारतीय जनजीवन में एकदम ओतप्रोत हो गया है। यह उपनिषदों की भारतीय जीवन को बहुत बड़ी देन है।

प्रस्थानत्रय की नींव उपनिषदें ही हैं। बाकी के दो ब्रह्मसूत्र और भगवद्गीता हैं, लेकिन केन्द्रस्थानीय तो उपनिषदें ही हैं।

उपनिषदों के विचारों की गम्भीरता और वैचारिक उदारता इतनी बड़ी है कि अन्य धर्मावलम्बियों और अन्य समाज के लोगों का ध्यान भी इनकी ओर आकर्षित हुआ है। और उन्होंने उपनिषदों से

आकर्षित होकर उनका अपनी-अपनी भाषा में अनुवाद किया-करवाया है। ई.स. 1640 में बादशाह शाहजहाँ के पुत्र दाराशिकोह को उपनिषदों के सर्वात्मभाव के सिद्धान्त ने इतना आकर्षित किया कि वह उस समय अपने कश्मीर के आवास को छोड़कर तुरन्त दिल्ली आ पहुँचा और काशी से कुछ विद्वानों को बुलवाया और उपनिषदों का फारसी भाषा में अनुवाद करवाने का काम अपने हाथों में लिया। ई.स. 1775 में जन्द अवेस्ता की खोज करने वाले एन्क्वेटील ड्युपेरोन ने उपनिषदों के उस फारसी अनुवाद की नकल मुजाउद्दौला के राज्य में निवास करने वाले फ्रेंच रेसीडेण्ट मि. ला जेन्टिल को मैत्री-सम्बन्ध से भेंट की। एन्क्वेटील ने उसका भाषान्तर लैटिन भाषा में भी करवाया और वह ई.स. 1800-1801 में प्रकाशित हुआ। यद्यपि यह भाषान्तर बहुत ही अस्पष्ट था, फिर भी जर्मन तत्त्ववेत्ता शोपनहॉवर ने स्वयं में उपनिषद् के तत्त्वज्ञान के प्रभाव को कबूल किया है। शोपनहॉवर के वे शब्द उद्धृत करना यहाँ अनुचित नहीं होगा। उन्होंने कहा है कि—

"उपनिषदों ने गत सदी में जीनेवाले लोगों से अधिक वर्तमान सदी में जीनेवाले मनुष्यों पर उपकार किया है। मेरे मतानुसार पंद्रहवीं सदी में ग्रीक साहित्य के पुनरुद्धार के द्वारा जो प्रभाव पड़ा था इससे कहीं ज्यादा असर संस्कृत साहित्य के पुनः उद्धार के द्वारा सम्भव है। यदि वाचक को प्राचीन हिन्दुओं के ज्ञान की प्राप्ति हुई होगी और उनके विचार पचे होंगे, तो मेरे विचार को समझने का मैं उन्हें खास अधिकारी मानूँगा। मैं ऐसा मानता हूँ कि जिन विचारों के सूत्र उपनिषदों में इधर-उधर बिखरे हुए मालूम पड़ते हैं, उनकी व्यवस्था मैं जिस तत्त्व-पद्धति के द्वारा करना चाहता हूँ, उसमें से फलित हो सकती है। हालाँकि उसके विपरीत मेरी विचारपद्धति या तत्त्वपद्धति कहीं उपनिषदों में से नहीं उत्पन्न होती। इन उपनिषदों की प्रत्येक पंक्ति कितने निश्चित, स्पष्ट और मधुर अर्थ को अभिव्यक्त करती है। उनके प्रत्येक वाक्य में कैसे गहन, अपूर्व और भव्य विचार प्राप्त होते हैं। और उपनिषदों के समग्र संचय में द्रष्टाओं के पवित्र, उदार और उत्साहजनक आशय कैसे प्रकट होते हैं। इस समग्र विश्व में मूल ग्रन्थ के सिवा भी केवल अनुवाद से ही कोई ग्रन्थ हमारे लिए लाभदायक सिद्ध हुआ हो, तो वह मात्र उपनिषद् ही है। हमारे मन को अधिक उच्चादि दिशा में ले जाने के लिए जो एकमात्र प्रकाश है—वही उपनिषद् है। उन (उपनिषद्) ग्रन्थों में मेरे जीवन का विराम है और प्रयाणपर्यन्त उससे मुझे शान्ति मिलती रहेगी"।

शोपनहॉवर की कही गई उपनिषदों की स्तुति के पश्चात् जर्मनी में उपनिषदों का अध्ययन व्यापक मात्रा में होने लगा। और वहाँ से योरप के अन्य सभी देशों में फैल गया। प्रो. ड्युसन ने भाष्य के साथ उपनिषदों का अनुवाद किया। साथ ही ब्रह्मसूत्र-शांकरभाष्य का भी अनुवाद किया। 'अध्यात्म विद्या के मूलतत्त्व' नामक ग्रन्थ में उपनिषदों के विचारों का गुम्फन काण्ट के कुछ सिद्धान्तों के आधार पर भी किया गया। प्रोफेसर मैक्समूलर ने शंकर के वेदान्तदर्शन की मुक्तकंठ से प्रशंसा की। राजा राममोहन राय ने अपने खर्च से उपनिषदों का हिन्दी-अंग्रेजी भाषा में अनुवाद करवाया। ब्राह्मसमाज के कुछ सिद्धान्त उपनिषदों से ही लिए गए हैं, वह तो सर्वविदित ही है।

प्रकृत संस्करण की उपादेयता

उपनिषदों के मतों में दिखाई देनेवाली अस्पष्टताएँ होने से या तो कहिए कि उन मतों की सर्वाभिमुखता से उनमें से अलग-अलग अर्थ निकालने का बहुत बड़ा अवकाश है। भाष्यकारों के विविध मतों का भी यही कारण है। इतने भाष्य-टीकाएँ-वार्तिक आदि होने पर भी अभी और नए अर्थ निकालने की संभावना यथावत् बनी हुई ही है। सहज रूप से अपने शरीर के रंग को बदलनेवाले

गिरगिट के किस रंग को आप झूठा साबित कर सकते हैं? एक-दूसरे से भिन्न उसके शरीर के सभी रंग वास्तविक ही हैं न?

उपनिषदों के इस संग्रह को अपने मूल स्वरूप में ही प्रकाशित करने का यही हेतु है। अनेक अर्थों की संभावना वाले मंत्रों का कोई यदि नया ही अर्थ प्रकाशित करता है तो इससे भारतीय चिन्तन को लाभ ही होगा, हानि नहीं।

इस उद्देश्य को ध्यान में रखकर हमने मूलपाठों का ही जहाँ तक बन सका है अन्वय करके शब्दशः अनुवाद करने का प्रयत्न किया है। प्रासादिकता का जतन हो और अर्थ समझने में सरलता हो, इसको दृष्टिगत रखते हुए आवश्यकतानुरूप यत्र-तत्र कुछ शब्दों को ब्रैकेट ( ) में तथा कुछ को स्वतंत्र रखकर विषयवस्तु को स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है। इसके अतिरिक्त प्रत्येक उपनिषद् के आरम्भ में उसका परिचय भी प्रस्तुत किया गया है।

भारतीय तत्त्वज्ञान के निचोड़रूप श्रौत उपनिषदों का और अश्रौत उपनिषदों का तटस्थ हिन्दी रूपान्तर करने का यह प्रकल्प संशोधकों, स्वतन्त्र विचारकों, जिज्ञासुओं के लिए उपयोगी होने पर भी बड़ा परिश्रम माँगलेनेवाला है। मेरी इस जरावस्था में उसे हाथ में लेना मुश्किल ही था, किन्तु मेरे भूतपूर्व विद्यार्थी और आज के आत्मीयजन भाई श्री हरीश झवेरी ने आग्रह किया और मैं उसे टाल न सका। सुप्रीम कोर्ट के एडवोकेट होने के साथ-साथ वे भारतीय तत्त्वज्ञान का पूरा मर्म समझने वाले हैं। मैंने यह काम हाथ में स्नेहवश ले तो लिया, पर बीच-बीच में मेरी ली हुई इस जिम्मेदारी से मैं उद्विग्न हो उठता था, पर वे मुझे ढाढस बँधाते रहे और मेरा काम चलता रहा—यह इस लेखन का इतिवृत्त है। इसके लिए मैं उनका आभार मानूँ तो उन्हें बुरा लगेगा इसलिए आशीर्वाद देता हूँ।

चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान ने इसके प्रकाशन का भार उठाया और वाचकों के सामने यह ग्रन्थ आ सका, इसके लिए मैं उनसे अपनी कृतज्ञता प्रकट करता हूँ।

आशा है कि मेरा यह प्रयास संस्कृत तथा संस्कृति के प्रेमियों को पसन्द आएगा।

अन्त में स्वामी विवेकानन्द के उपनिषत्सम्बन्धी इन उद्गारों को उद्धृत करके भूमिका का समापन करता हूँ—

"मैं जब उपनिषदों को पढ़ता हूँ, तो मेरे आँसू बहने लगते हैं। यह कितना महान् ज्ञान है? हमारे लिए यह आवश्यक है कि उपनिषदों में सन्निहित तेजस्विता को अपने जीवन में विशेष रूप से धारण करें। हमें शक्ति चाहिए, शक्ति के बिना काम न चलेगा। यह शक्ति कहाँ से प्राप्त होगी? उपनिषदें ही शक्ति की खानें हैं। उनमें ऐसी शक्ति भरी पड़ी है कि जो सम्पूर्ण विश्व को बल, वीर्य और नवजीवन प्रदान कर सके। उपनिषदें किसी भी देश, जाति, मत, सम्प्रदाय का भेद किए बिना हर दीन, दुर्बल, दुःखी और दलित प्राणों को पुकार-पुकार कर कहती हैं कि उठो, अपने पैरों पर खड़े हो जाओ, और बन्धनों को काट डालो। शारीरिक स्वाधीनता एवं आध्यात्मिक स्वाधीनता यही उपनिषदों का मूलमन्त्र है।"

विद्वानों का वशंवद
केशवलाल वि. शास्त्री

उपनिषत्क्रम

॥ श्रीः ॥

उपनिषत्सञ्चयनम्

(1) ईशावास्योपनिषत्

(उपनिषत्परिचय)

मुक्तिकोपनिषद् में बताए हुए उपनिषत्क्रम में ईशावास्योपनिषद् या ईशोपनिषद् का प्रथम स्थान है। 'ईश' शब्द से प्रारंभ होने से इसका नाम ईशोपनिषद् या ईशावास्योपनिषद् पड़ा है। इसे 'संहितोपनिषद्' भी कहा जाता है, क्योंकि इस उपनिषद् ने शुक्लयजुर्वेद के संहिता भाग में (40 अध्याय में) विशिष्ट स्थान प्राप्त किया है। इस शुक्लयजुर्वेदसंहिता को वाजसनेयि संहिता भी कहा जाता है। केवल अठारह मंत्रों की छोटी-सी उपनिषद् होते हुए भी इस पर असंख्य विद्वान् आकर्षित हुए हैं और अन्यान्य उपनिषदों की अपेक्षा इस उपनिषद् पर अधिकाधिक टीकाएँ एवं विवेचन हुए हैं। और असंख्य विवेचन होने पर भी इस उपनिषद् के रहस्य को भलीभाँति अभी तक परितोषजनक रूप से खोला नहीं जा सका है।

यह सम्पूर्ण जगत् ईश का निवासस्थान या ईश से व्याप्त है—यह कहकर प्रथम मंत्र में मनुष्यों को शिक्षा दी गई है कि वे जागतिक भोगों को आसक्ति का त्याग करके ही भोगें, क्योंकि सभी पदार्थ ईश के ही हैं, उनके नहीं हैं और अन्य के पदार्थ को अपना बनाने का लोभ छोड़ने की सलाह दी गई है। दूसरे मंत्र में अनासक्तिपूर्वक कर्मों को करते हुए ही सौ साल तक जीने की इच्छा करने को कहा गया है। समाज के अभ्युदय और निःश्रेयस् के लिए कर्मठ जीवन का सन्देश दिया गया है। जीवन जीने का ऐसा एकमात्र मार्ग बताकर इस मार्ग पर न चलने वालों की अधोगति तीसरे मंत्र में बताई है। चौथे और पाँचवें मंत्र में रहस्यमय रूप से आत्मतत्त्व का स्वरूप और ‹अ›न्तर्यामित्व (सर्वगामित्व) बताया गया है जबकि छठे और सातवें मंत्र में आत्मसाक्षात्कारी की सर्वत्र आत्मदर्शिनी, सर्वत्र प्रेममयी और मोहातीत, राग-द्वेषमुक्त स्थिति बताई है। आठवें मंत्र में आत्मसत्त्व का कवित्वमय वर्णन है। वहाँ आत्मा का स्वप्रकाशत्व, सर्वव्यापकत्व, श्रेष्ठत्व, विशुद्धत्व आदि बताया है।

इसके बाद नौ से चौदह—ये छः मन्त्र बड़े ही अस्पष्ट हैं। इन्हें समझाने के लिए टीकाकारों ने अनेक परस्पर विरुद्ध अर्थ किए हैं। "ज्ञानी लोग 'विद्या' और 'अविद्या' के फल अलग बताते हैं, फिर भी उन दोनों का सन्तुलित संमिश्रण मनुष्य को अमरत्व देता है।" यहाँ 'अविद्या' को वैदिक कर्मकाण्ड और 'विद्या' को ज्ञानपूर्वक देवों के ध्यान के रूप में समझाया

गया है। ज्ञानरहित केवल कर्म-विधि पितृलोक में तथा क्रियारहित केवल ज्ञानयुक्त उपासना देवलोक में पहुँचा सकती है, पर पितृलोक या देवलोक शाश्वत नहीं है। पुण्य क्षीण होने पर पुन: धरा पर आना पड़ता है। तो इन दोनों में जन्म-मृत्यु की शृंखला चालू ही रहती है। मुक्ति (जन्म-मरण का अन्त) नहीं हो सकती। मुक्ति तो तभी मिल सकती है, जब उपासना और ज्ञान का समुचित संमिश्रण हो। कर्तव्यपालन से चित्तशुद्धि और चित्तशुद्धि से निदिध्यासन (उपासना) और बाद में साक्षात्कार मुक्ति होती है। इस सीढ़ी को ही समुचित संमिश्रण कहा गया है।

इसी प्रकार बारहवें से चौदहवें मन्त्र तक के तीन मन्त्रों में आए हुए 'संभूति', 'असंभूति' और 'विनाश' शब्दों के अर्थ के विषय में भी टीकाकारों में बड़ा गहरा मतभेद है।

शंकराचार्य 'संभूति' का अर्थ 'कार्यब्रह्म' (हिरण्यगर्भ) और 'असंभूति' का अर्थ 'कारणब्रह्म' करते हैं। तदनुसार 'कार्यब्रह्म' की उपासना अद्भुत मानसिक सिद्धियाँ दे सकती हैं जब कि 'कारणब्रह्म' की उपासना 'प्रकृतिलय' तक पहुँचाती है। **ये दोनों मुक्तिदायक नहीं है।**

पर इन दोनों का समुचित (और क्रमिक) सम्मिश्रण ही मुक्ति दिला सकता है। इस विषय में शुक्लयजुर्वेदान्तर्गत माध्यन्दिन शाखा के भाष्यकार उव्वट (11वीं सदी) का विवरण बड़ा रसप्रद और आकर्षक है। ये 'संभूति' शब्द का अर्थ 'परब्रह्म' करते हैं और 'असंभूति' शब्द ('विनाश' शब्द) का अर्थ 'शरीर' करते हैं। भूख और प्यास के प्रति आलस्य से भौतिक शरीर मरणशरण हो जाता है, इसलिए जो साधना के लिए अनिवार्य है, ऐसे शरीर से साधक लोगों को समुचित भौतिक कार्यकलाप करते हुए भी उससे ऊपर उठ जाना पड़ता है। अत: ब्रह्मध्यान के द्वारा वे अमरत्व प्राप्त करते हैं। इसी को समुचित सम्मिश्रण कहा गया है।

15 से 18—इन चार मन्त्रों में ऋषि ईश्वर से साक्षात्कार की बाधाओं को दूर करने की प्रार्थना करते हैं एवं ईश का गुणानुवाद करते हैं। ऋषि ने ईश के लिए प्रतीकरूप में अग्नि और सूर्यमण्डल को चुना है। मन्त्रों में आए हुए 'क्रतु' शब्द का अर्थ 'ईश' हो सकता है। 'अग्नि' का प्रतीक तत्कालीन यज्ञसंस्कृति की याद दिलाता है। 'यज्ञो वै विष्णु:' और 'सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च' ये श्रुतियाँ इसकी प्रमाण हैं।

और अगर ऐतिहासिक दृष्टि से देखें तो एक समय ऐसा था जब कि कर्म और उपासना की विभावना के साथ त्याग और संन्यासी जीवन के बीच संघर्ष चल रहा था। संभव है कि यह उपनिषद् सामान्यजनों के लिए उस संघर्ष के नवीनीकरण के लिए प्रस्तुत की गई हो। यह सन्निष्ठ साधकों को यह सन्देश देती है कि स्वार्थ और कामनाजन्य कर्मों को छोड़कर लोक-संग्रहार्थ सेवा-कार्यों, ईश्वर-प्रीत्यर्थ किए जाने वाले कार्यों और मानव-कल्याण के कार्यों को करते हुए जीना चाहिए। इस छोटी पर बहुत सुन्दर उपनिषद् का यही सन्देश है।

शान्तिपाठः

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

ॐ रूप में अभिव्यक्त वह (परब्रह्म) पूर्ण है और यह (कार्यब्रह्म) भी पूर्ण है। क्योंकि पूर्ण में से ही पूर्ण उत्पन्न होता है। (एवं प्रलय के समय) पूर्ण का (कार्यब्रह्म का) पूर्णत्व लेकर (अर्थात् स्वयं के भीतर समाकर) पूर्ण (परब्रह्म) ही शेष रह जाता है।

त्रिविध तापों (आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक) की शान्ति हो।

ईशावास्यमिदꣳ सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्य स्विद्धनम् ॥1॥

सकल ब्रह्माण्ड में जो कुछ भी जड-चेतनरूप जगत् (दिखाई देता) है, यह सब ईश्वर से व्याप्त है (सदा ईश्वर से घिरा हुआ रहता है), (ऐसा समझकर) ईश्वर को साथ में रखकर त्यागपूर्वक उसे भोगते रहो, (परन्तु) उसमें आसक्ति मत रखो। (क्योंकि—) धन (भोग्यपदार्थ) किसका है? (अर्थात् किसी का नहीं)।

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतꣳ समाः।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे ॥2॥

इस (जगत्) में (शास्त्रविहित) कर्मों को करते हुए ही सौ वर्षों तक जीने की इच्छा करनी चाहिए। इस प्रकार (त्यागभाव से ईश्वर-प्रीत्यर्थ) भविष्य में किये जाने वाले कर्म तुम (मानव) में लिप्त नहीं होंगे। इस (मार्ग) से भिन्न दूसरा कोई मार्ग (उपाय) नहीं है (कि जिससे कर्मबन्धन से छुटकारा पाया जा सके)।

असुर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसावृताः।
ताꣳस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः ॥3॥

(जो) असुरों की प्रसिद्ध (तरह-तरह की) योनियाँ और नरकादि लोक हैं, वे सब अज्ञान एवं दु:ख-क्लेशरूप बड़े अन्धकार से घिरे हुए हैं। जो भी कुछ लोग आत्मा की हत्या करनेवाले हैं, वे लोग मरने के बाद उन्हीं भयंकर लोकों को बारम्बार प्राप्त करते रहते हैं।

अनेजदेकं मनसो जवीयो नैनद्देवा आप्नुवन्पूर्वमर्षत्।
तद्धावतोऽन्यानत्येति तिष्ठत्, तस्मिन्नपो मातरिश्वा दधाति ॥4॥

यह परमेश्वर अचल, एकमात्र तथा मन से भी अधिक तीव्र गतिवाला है और सबसे पहले सबको जाननेवाला है। इस परमेश्वर को इन्द्र आदि देवगण भी जान नहीं पाये हैं, वह (परमात्मा, ब्रह्म) स्वयं स्थिर रहकर ही अन्य तीव्र गतिशील पदार्थों से आगे बढ़ जाता है। उसके अस्तित्व से (उसकी सत्ताशक्ति से) ही वायु आदि देव जलवर्षण आदि क्रियाएँ करने में समर्थ हैं।

तदेजति तन्नैजति तद्दूरे तद्वन्तिके।
तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः ॥5॥

वह (आत्मतत्त्व) काँपता (चलता) है (और) काँपता (चलता) नहीं भी है। वह बहुत दूर है, (फिर भी) वह बहुत नजदीक में भी है। वह इस समस्त (जगत्) के भीतर भी है और बाहर भी वही है।

यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्येवानुपश्यति ।
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते ॥6॥

परन्तु जो मनुष्य (साधक) सभी प्राणियों को परमात्मा में ही सर्वदा देखता रहता है और सभी प्राणियों में परमात्मा को देखता है, तब तो वह (कभी भी किसी से भी) घृणा नहीं करता।

यस्मिन् सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्विजानतः ।
तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः ॥7॥

जिस अवस्था में परब्रह्म-परमात्मा को यथार्थ रूप में जाननेवाले महात्मा के (अनुभव में) सभी प्राणी केवल परमात्मस्वरूप ही हो जाते हैं, तब ऐसी स्थिति में भला कौन-सा मोह रह सकता है ? और कौन-सा शोक रह सकता है ? (तात्पर्य यह है कि ऐसा मनुष्य सर्वथा शोक-मोहरहित होकर परमानन्द से परिपूर्ण हो जाता है।)

स पर्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरः शुद्धमपापविद्धम्। कविर्मनीषी
परिभूः स्वयम्भूर्याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः ॥8॥

वह महात्मा उस परम तेजोमय सूक्ष्मशरीर से भी रहित, छिद्र-क्षति से रहित, शिराओं से रहित (अर्थात् पांचभौतिक देह से रहित), शुद्ध दिव्य सच्चिदानन्दस्वरूप, शुभाशुभ कर्मों के सम्बन्ध से रहित—ऐसे परमेश्वर को प्राप्त करता है; जो परमेश्वर सर्वद्रष्टा है, सर्वज्ञ है, ज्ञानस्वरूप, सर्वश्रेष्ठ, सदा विद्यमान, सर्वनियन्ता और स्वेच्छा से प्रकट होनेवाले हैं तथा अनादि काल से सभी प्राणियों के कर्मानुसार यथायोग्य सभी पदार्थों को उत्पन्न करने आये हैं।

अन्धं तमः प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते ।
ततो भूय इव ते तमो य उ विद्यायाः रताः॥9॥

जो लोग अविद्या की (केवल यज्ञ-यागादि की) ही उपासना करते हैं, वे लोग अज्ञानरूप घोर अन्धकार में प्रवेश करते हैं और जो लोग केवल विद्या में ही (ज्ञान के मिथ्याभिमान में ही) डूबे हुए हैं वे लोग तो उससे भी अधिक अन्धकार में प्रवेश करते हैं।

अन्यदेवाहुर्विद्ययान्यदाहुरविद्यया ।
इति शुश्रुम धीराणां ये नस्तद्विचचक्षिरे ॥10॥

ज्ञान के समुचित अनुष्ठान से अलग प्रकार का ही फल कहा गया है और कर्मों के यथार्थ अनुष्ठान से भी तो उससे अलग ही फल कहा गया है। इस प्रकार हम लोगों ने उन परिपक्व बुद्धिवाले (स्थिर बुद्धिवाले) लोगों से वचन सुने हैं। उन्होंने हमसे उस विषय की सम्यक् व्याख्या करके यह विषय कहा था।

विद्यां चाविद्यां च यस्तद्वेदोभयः स ह ।
अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते ॥11॥

जो मनुष्य इन दोनों को अर्थात् विद्या को और अविद्या को (ज्ञानतत्त्व को और कर्मतत्त्व को) भी समुचित रूप से पहचान लेता है, वह कर्मों के अनुष्ठान से मृत्यु को पार करके ज्ञान के अनुष्ठान से (ज्ञानोपासना से) अमृत को भोगता है (तात्पर्य यह कि ज्ञानोपासना से शाश्वत आनन्दस्वरूप परमब्रह्म को प्राप्त करता है)।

अन्धं तमः प्रविशन्ति येऽसम्भूतिमुपासते ।
ततो भूय इव ते तमो य उ संभूत्याः रताः ॥12॥

जो लोग अशाश्वत (विनाशी) देव, पितृ, मनुष्य आदि की उपासना करते हैं, वे लोग अज्ञानरूपी घोर अन्धकार में प्रवेश करते हैं और जो लोग शाश्वत परमतत्त्व में लीन होते हैं (अर्थात् उनकी उपासना के मिथ्याभिमान से पागल हो गये होते हैं) वे तो उनसे भी मानो अधिक अन्धकार में प्रवेश करते हैं।

अन्यदेवाहुः सम्भवादन्यदाहुरसम्भवात् ।
इति शुश्रुम धीराणां ये नस्तद्विचचक्षिरे ॥13॥

शाश्वत ब्रह्म की उपासना से अलग ही फल प्राप्त होता है, ऐसा कहते हैं; और विनाशी देव-पितृ-मनुष्य आदि की उपासना से भी तो अलग ही फल की प्राप्ति कही गयी है। ऐसा वचन हम लोगों ने स्थिरबुद्धि वाले लोगों से सुना है। उन्होंने हमें इस विषय में स्पष्ट रूप से विवेचनपूर्वक समझाया है।

संभूतिं च विनाशं च यस्तद्वेदोभयः सह ।
विनाशेन मृत्युं तीर्त्वा संभूत्याऽमृतमश्नुते ॥14॥

जो मनुष्य उन दोनों को (अर्थात् शाश्वत परमात्मा को और विनाशी देव-पितृ-मनुष्यादि को) भी साथ-साथ में भलीभाँति पहचान लेता है, वह मनुष्य नश्वर देवादि की उपासना से मृत्यु को पार करके अविनाशी परमात्मा की उपासना से अमृत का उपभोग करता है अर्थात् शाश्वत आनन्दमय परमात्मा को प्राप्त कर लेता है।

हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम् ।
तत्त्वं पूषन्नपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये ॥15॥

हे सर्वपालक सर्वपोषक परमात्मन्! सत्यस्वरूप परमेश्वर ऐसे आपका मुख, ज्योतिर्मय सूर्यमण्डल रूपी पात्र से ढँका हुआ है। आपकी भक्तिरूपी सत्यधर्म का अनुष्ठान करनेवाले मुझको आप अपना दर्शन करवाने के लिए उसे खोल दीजिए।

पूषन्नेकर्षे यम सूर्य प्राजापत्य व्यूह रश्मीन् समूह। तेजो यत्ते रूपं
कल्याणतमं तत्ते पश्यामि । योऽसावसौ पुरुषः सोऽहमस्मि ॥16॥

हे भक्तपोषक ! हे प्रधानज्ञानस्वरूप ! हे सर्वनियन्ता ! हे भक्तों के या ज्ञानियों के परम लक्ष्यस्वरूप ! हे प्रजापति के प्रिय ! इन किरणों को समेट लीजिए। इस तेज को इकट्ठा कर लीजिए (अर्थात् अपने तेज में विलीन कर दीजिए), जिससे कि आपका जो अतिशय दिव्य और कल्याणकारी स्वरूप है, उसे मैं (आपकी कृपा से ध्यानपूर्वक) देख रहा हूँ कि जो वह (सूर्य की आत्मा) परमपुरुष आपका ही स्वरूप है और मैं वही हूँ।

वायुरनिलममृतमथेदं भस्मान्तः शरीरम् ।
ॐ क्रतो स्मर कृतः स्मर क्रतो स्मर कृतः स्मर ॥17॥

अब ये मेरे प्राण और इन्द्रियाँ, अविनाशी ऐसे समष्टिवायुतत्त्व में प्रविष्ट (विलीन) हो जायँ । यह स्थूल शरीर अग्नि में जलकर खाक हो जाय । हे सत्-चित्-आनन्दघन ! (ॐ) हे यज्ञस्वरूप प्रभो ! आप मुझ भक्त को याद कीजिए ! मेरे द्वारा किये गये कर्मों को याद कीजिए ।

अग्ने नय सुपथा राये अस्मान् विश्वानि देव वयुनानि विद्वान् ।
युयोध्यस्मज्जुहुराणमेनो भूयिष्ठां ते नम उक्तिं विधेम ॥18॥

इति वाजसनेयिसंहितायामीशोपनिषत्समाप्ता ।
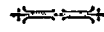
हे अग्नि के अधिष्ठाता देव ! हमें परमसम्पत्तिरूप परमात्मा की सेवा में पहुँचाने के लिए सुन्दर मंगलकारी मार्ग (उत्तरायण मार्ग) पर आप ले चलिए । हे देव ! आप हमारे सभी कर्मों को जाननेवाले हैं । इसलिए हमारे इस मार्ग के प्रतिबन्धक जो भी कुछ पाप हों, उन सभी को आप दूर कर दीजिए । आपको बारम्बार नमस्कार के वचन कहते हैं, बारम्बार नमस्कार करते हैं ।

इस प्रकार ईशावास्योपनिषत् समाप्त होती है ।

शान्तिपाठः

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते ।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ।

(2) केनोपनिषत्

(उपनिषत्परिचय)

प्राचीनतम माने गये दस उपनिषदों की श्रेणी में ईशावास्योपनिषद् के बाद केनोपनिषद् की गणना की जाती है । जो दस उपनिषदें बड़ी ही महत्त्वपूर्ण मानी जाती हैं, उनमें केनोपनिषद् का स्थान द्वितीय है । इस उपनिषद् का नाम भी आरंभ के 'केन' शब्द से रखा गया है । यह उपनिषत् सामवेद के तलवकारब्राह्मण में नौवें अध्याय में आई है, इसलिए इसे 'तलवकार उपनिषद्' भी कहा जाता है । तलवकार वे लोग कहे जाते थे कि जो स्वरताल के साथ सामगान कर सकते थे । सामगान की यह पूर्वकालीन प्रथा बाद के वर्षों में लुप्त हुई-सी मालूम पड़ती है । इस उपनिषद् की जैमिनीय शाखा और जैमिनि ब्राह्मण है । केनोपनिषद् के चार खण्ड हैं । पहले दो खण्ड पद्यात्मक हैं और अन्तिम दो खण्ड गद्यात्मक हैं । कुल मिलाकर मन्त्र की संख्या 35 है ।

जिज्ञासु शिष्य के इस प्रश्न से उपनिषद् का प्रारंभ होता है कि चक्षु:-श्रोत्रादि ज्ञानेन्द्रियों और मन को स्फूर्ति देने वाले उनके पीछे कौन-सा तत्त्व है ? उत्तर में गुरु सर्वनियामक, सर्वसंचालक ब्रह्मतत्त्व का काव्यात्मक ढंग से वर्णन करते हैं । गुरु ब्रह्म को चक्षु का भी चक्षु, श्रवण का भी श्रवण, वाणी की भी वाणी और मन का भी मन कहते हैं । ब्रह्म की ही शक्ति से सबको शक्ति मिलती है । ऐसा कहकर ब्रह्मतत्त्व की अवाङ्मनसगोचरता दिखलाई गई है । अनुभूति में भी दुरूहता बताई गई है ।

पहले पद्यात्मक दो खण्डों में गुरु-शिष्य संवाद के रूप में प्रश्नोत्तर की शैली में सुन्दर रीति से परमतत्त्व ब्रह्म की विशेषताओं तथा उसकी अनुभूति की अनिवार्य आवश्यकताओं का वर्णन किया गया है और अन्तिम दो (तीसरे और चौथे) गद्यात्मक खण्डों से देवताओं के अभिमान के मर्दन के लिए, यक्ष के रूप में ब्राह्मी चेतना के प्रकट होने का एक उपाख्यान दिया गया है ।

अन्त में परब्रह्म की उपासना का प्रकार और फल बताकर ब्रह्मविद्या के साधनों का निर्देश किया गया है तथा उन साधनों से उस रहस्य को पहचनाने की महिमा गाई गई है । कहीं-कहीं इस उपनिषद् को ब्राह्मणोपनिषद् भी कहा गया है ।

शान्तिपाठः

ॐ आप्यायन्तु ममाङ्गानि वाक्प्राणश्चक्षुः श्रोत्रमथो बलमिन्द्रियाणि च सर्वाणि सर्वं ब्रह्मौपनिषदं माहं ब्रह्म निराकुर्यां मा मा ब्रह्म निराकरोदनिराकरणमस्त्वनिराकरणं मेऽस्तु तदात्मनि निरते य उपनिषत्सु धर्मास्ते मयि सन्तु ते मयि सन्तु ॥
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ।

हे परब्रह्म परमात्मा ! मेरे सभी अंग—वाणी, प्राण, चक्षु, श्रोत्र और सभी इन्द्रियाँ तथा बल परिपुष्ट हों। यह जो सर्वरूप उपनिषत्प्रतिपादित ब्रह्म है, उस ब्रह्म की हम अवगणना (तिरस्कार) न करें और ब्रह्म (भी) हमारा परित्याग न करें। उस (ब्रह्म) के साथ हमारा अटूट सम्बन्ध हो। उपनिषदों में प्रतिपादित जो सब धर्म हैं, वे सब परमात्मा में रत हममें प्रविष्ट हों, वे सत् धर्म हमारे में हों।

हे परमात्मा ! (हमारे) त्रिविध तापों की शान्ति हो।

अथ प्रथमः खण्डः

ॐ केनेषितं पतति प्रेषितं मनः केन प्राणः प्रथमः प्रैति युक्तः ।
केनेषितां वाचमिमां वदन्ति चक्षुः श्रोत्रं क उ देवो युनक्ति ॥1॥

किस तत्त्व से सत्ता (स्फूर्ति) प्राप्त करके और प्रेरित होकर यह मन (अन्तःकरण) अपने विषयों से संलग्न होता है ? (विषयों तक पहुँचता है?) किससे नियुक्त होकर यह सर्वश्रेष्ठ प्राण गति करता है, अर्थात् चलता है ? किसके द्वारा गतिशील बनाई हुई इस वाणी को लोग बोलते हैं ? और कौन प्रसिद्ध देव नेत्रेन्द्रिय और श्रोत्रेन्द्रिय को अपने-अपने विषय के अनुभव में लगाता है अर्थात् नियुक्त करता है ?

श्रोत्रस्य श्रोत्रं मनसो मनो यद् वाचो ह वाचꣳ स उ प्राणस्य प्राणः ।
चक्षुषश्चक्षुरतिमुच्य धीराः प्रेत्यास्माल्लोकादमृता भवन्ति ॥2॥

जो (तत्त्व) मन का भी मन (कारण) है; प्राण का भी प्राण है; वाणी की भी वाणी है; श्रोत्रेन्द्रिय का भी श्रोत्र है और चक्षुरिन्द्रिय का भी चक्षु है, वही (इस समस्त जगत् का प्रेरक) परमात्मा है। ज्ञानी लोग उसको पहचान कर जीवन्मुक्त होकर इस मर्त्यलोक से चले जाने के बाद (अर्थात् मृत्यु के बाद) अमर (जन्ममरणरहित) हो जाते हैं।

न तत्र चक्षुर्गच्छति न वाग्गच्छति नो मनः ।
न विद्मो न विजानीमो यथैतदनुशिष्यात् ॥
अन्यदेव तद्विदितादथो अविदितादधि ।
इति शुश्रुम पूर्वेषां ये नस्तद्व्याचचक्षिरे ॥3॥

वहाँ (उस ब्रह्म तक) न तो चक्षुरिन्द्रिय आदि इन्द्रियाँ ही पहुँच सकती हैं, न ही वागिन्द्रिय आदि कर्मेन्द्रियाँ भी पहुँच सकती हैं और मन भी तो नहीं पहुँच पाता, इसलिए इस ब्रह्म के स्वरूप को, 'यह ऐसा है'—इस प्रकार हम अपनी बुद्धि से भी नहीं पहचान पाते और दूसरों से सुनकर भी नहीं समझ पाते। क्योंकि—"वह ब्रह्मतत्त्व जाने हुए सभी ज्ञेय पदार्थों से बिल्कुल अलग ही है और (साथ ही साथ) इन्द्रियों के द्वारा नहीं जाने गए पदार्थसमुदाय से भी उच्चतम ही है"।—ऐसा अपने पूर्वाचार्यों के मुख से हम सुनते आए हैं। उन्होंने हमें यह ब्रह्मतत्त्व अच्छी तरह से स्पष्ट करके समझाया था।

यद्वाचानभ्युदितं येन वागभ्युद्यते ।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते ॥4॥

जो ब्रह्म वाणी द्वारा बताया गया नहीं है, पर वाणी ही जिसके द्वारा बोली जा सकती है, उसी को तुम जानो। वाणी के द्वारा बताए गए जिस तत्त्व की लोग उपासना करते है, वह ब्रह्म नहीं है।

यन्मनसा न मनुते येनाहुर्मनो मतम् ।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते ॥5॥

जिस ब्रह्मतत्त्व को (कोई भी मनुष्य) मन से (अन्तःकरण से) समझ नहीं पाता, परन्तु "मन ही जिसके द्वारा जाना (समझा) जा सकता है"—ऐसा कहा जाता है, वही ब्रह्म है, ऐसा तुम जानो। मन और बुद्धि के द्वारा पहचाने जानेवाले जिस तत्त्व की लोग उपासना करते हैं, वह ब्रह्म नहीं है।

यच्चक्षुषा न पश्यति येन चक्षूꣳषि पश्यति ।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते ॥6॥

जिस ब्रह्मतत्त्व को कोई आँखों से देख नहीं पाता, परन्तु आँखें ही जिसके द्वारा देखी जाती हैं, वही ब्रह्म है, ऐसा तुम जानो। (जिसके होने से ही आँखें अपने विषयों को देख सकती हैं, वही ब्रह्म है।) चक्षुओं के द्वारा दिखाई देने वाले जिस दृश्य समुदाय की लोग उपासना करते हैं, वह ब्रह्म नहीं है।

यच्छ्रोत्रेण न शृणोति येन श्रोत्रमिदꣳ श्रुतम् ।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते ॥7॥

जिस ब्रह्मतत्त्व को कोई भी मनुष्य अपने कानों से नहीं सुन सकता, परन्तु जिसके द्वारा ही यह श्रोत्रेन्द्रिय सुनी जा सकती है (अर्थात् श्रोत्रेन्द्रिय में सुनने की शक्ति आती है), उसी को तुम ब्रह्मरूप में जानो। जो लोग श्रोत्रेन्द्रिय से जानने लायक पदार्थों के समूह की उपासना करते हैं, वह (श्राव्य पदार्थ समूह) ब्रह्म नहीं है।

यत्प्राणेन न प्रणिति येन प्राणः प्रणीयते ।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते ॥8॥

इति प्रथमः खण्डः ।

जो ब्रह्मतत्त्व प्राणों से चेष्टायुक्त नहीं होता, परन्तु प्राण ही जिसके द्वारा चेष्टित होता है, उसी को तुम ब्रह्म जानो। प्राणों के द्वारा चेष्टित किए जाने वाले पदार्थसमूह की लोग उपासना करते हैं पर वह ब्रह्म नहीं है।

अथ द्वितीयः खण्डः

यदि मन्यसे सुवेदेति दभ्रमेवापि नूनं त्वं वेत्थ ब्रह्मणो रूपम् ।
यदस्य त्वं यदस्य देवेष्वथ तु मीमांस्यमेव ते मन्ये विदितम् ॥1॥

यदि तू ऐसा मानता है कि "मैंने ब्रह्म को भलीभाँति जान लिया है" तब तो सही बात यही होती है कि "तुझे ब्रह्म का स्वरूप थोड़ा-सा ही ज्ञात हुआ है।" क्योंकि उस ब्रह्म का आंशिक स्वरूप जो तू है और उसका (अन्य) आंशिक स्वरूप जो देवों में है (इन दोनों को मिलाकर भी वह ज्ञान अल्प ही रहेगा) इसलिए मैं मानता हूँ कि तुम्हारा जाना हुआ ब्रह्मस्वरूप सचमुच फिर से विचार करने योग्य ही है।

नाहं मन्ये सुवेदेति नो न वेदेति वेद च ।
यो नस्तद्वेद तद्वेद नो न वेदेति वेद च ॥2॥

(शिष्य कहता है कि—) "मैं ब्रह्म को अच्छी तरह से जान चुका हूँ"—ऐसा तो मैं नहीं मानता, पर साथ-ही-साथ "मैं ब्रह्म को जानता ही नहीं"—ऐसा भी मैं नहीं मानता, क्योंकि मैं उसे जानता तो हूँ ही। किन्तु मेरा यह जानना कुछ निराला ही है (सामान्य ज्ञेय-ज्ञाता के बीच जैसा जानना होता है, ऐसा तो नहीं है)। मेरे इस कथन के रहस्य को तो हममें से केवल वही समझ सकता है, जो ब्रह्म को जाननेवाला हो।

यस्यामतं तस्य मतं मतं यस्य न वेद सः ।
अविज्ञातं विजानतां विज्ञातमविजानताम् ॥3॥

जिस मनुष्य का मत ऐसा है कि "ब्रह्म जाना नहीं जा सकता", उसका तो वह जाना हुआ ही होता है। परन्तु जो मनुष्य यह मानता है कि "ब्रह्म को मैंने जान लिया है" तो वह आदमी कुछ भी नहीं जानता (ऐसा समझना चाहिए) (क्योंकि—) जानने का अभिमान रखनेवालों के लिए वह ब्रह्मतत्त्व ज्ञात हुआ होता ही नहीं और जिनमें ज्ञातृत्व का कुछ भी अभिमान नहीं होता, उनको यह ब्रह्मतत्त्व ज्ञात हुआ होता है। अर्थात् वे ब्रह्मसाक्षात्कारी होते है।

प्रतिबोधविदितं मतममृतत्वं हि विन्दते ।
आत्मना विन्दते वीर्यं विद्यया विन्दतेऽमृतम् ॥4॥

उपर्युक्त प्रतिबोध (संकेत) से उत्पन्न हुआ ज्ञान ही (बौद्धिक प्रतीति से उत्पन्न हुआ ज्ञान ही) वास्तविक ज्ञान है, क्योंकि ऐसे ज्ञान से अमृतत्व को (अमृतस्वरूप परमात्मा को) मनुष्य प्राप्त करता है। अन्तर्यामी परमात्मा से ही वह परमात्मज्ञान की शक्ति (ज्ञान) प्राप्त करता है और वह उस ज्ञान से (विद्या से) अमृतस्वरूप परब्रह्म परमेश्वर को प्राप्त करता है।

इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति न चेदिहावेदीन्महती विनष्टिः ।
भूतेषु भूतेषु विचित्य धीराः प्रेत्यास्माल्लोकादमृता भवन्ति ॥5॥

इति द्वितीयः खण्डः ।

यदि इस मानवदेह में परब्रह्म को पहचान लिया जाए तब तो बड़ी अच्छी ही बात है। परन्तु अगर इस जन्म में वह न जाना गया, तब तो बहुत बड़ा विनाश ही है—ऐसा सोचकर बुद्धिमान् लोग सकल प्राणियों में परब्रह्म को समझकर इस लोक से प्रयाण करके (मरकर) अमर हो जाते हैं।

अथ तृतीयः खण्डः

ब्रह्म ह देवेभ्यो विजिग्ये तस्य ह ब्रह्मणो विजये देवा अमहीयन्त ॥1॥

परब्रह्म परमेश्वर ने ही देवों के लिए (देवताओं को निमित्त बनाकर असुरों के ऊपर) विजय प्राप्त की। परन्तु परब्रह्म परमेश्वर की ही उस विजय पर इन्द्रादि देव (अपनी महिमा समझकर) अभिमान करने लगे।

त ऐक्षन्तास्माकमेवायं विजयोऽस्माकमेवायं महिमेति । तद्धैषां
विजज्ञौ तेभ्यो ह प्रादुर्बभूव तन्न व्यजानत किमिदं यक्षमिति ॥2॥

वे इस प्रकार समझने लगे कि यह तो हमारी ही विजय है और यह हमारी ही महिमा है। किन्तु परब्रह्म ने इन देवताओं के अभिमान को पहचान ही लिया। (और कृपा करके देवताओं के इस अभिमान को दूर करने के लिए) उनके सामने ही साकार स्वरूप में प्रकट हो गये। (उन्हें यक्ष के रूप में प्रकट हुए देखकर भी) "यह दिव्य यक्ष कौन है"—वह उन देवताओं ने नहीं जाना।

तेऽग्निमब्रुवञ्जातवेद एतद्विजानीहि किमिदं यक्षमिति तथेति ॥3॥

उन इन्द्रादि देवताओं ने अग्निदेव से इस प्रकार कहा—"हे जातवेदा ! आप इस बात को ठीक तौर से जान लीजिए (जाँच-पड़ताल कीजिए) कि यह दिव्य यक्ष कौन है ?" (तब अग्नि ने कहा कि) "हाँ ठीक है।"

तदभ्यद्रवत्तमभ्यवदत्कोऽसीत्यग्निर्वा
अहमस्मीत्यब्रवीज्जातवेदा वा अहमस्मीति ॥4॥

अग्निदेव उस यक्ष के पास दौड़कर गए। उन अग्निदेव से यक्ष ने पूछा कि "तुम कौन हो ?" अग्नि ने कहा कि "मैं प्रसिद्ध अग्निदेव हूँ और मैं ही 'जातवेदा' के नाम से प्रसिद्ध हूँ।"

तस्मिंस्त्वयि किं वीर्यमित्यपीदः सर्वं दहेयं यदिदं पृथिव्यामिति ॥5॥

(तब ब्रह्मरूप परमात्माने कहा कि—) "ऐसे (अग्नि और जातवेदा [सर्वज्ञ] के दो नाम धारण करनेवाले) तुझमें कौन-सा सामर्थ्य है? बताओ तो ?" तब अग्नि ने उत्तर दिया कि "अगर मैं चाहूँ तो इस धरती में जो कुछ भी है, इन सबको जलाकर भस्म कर सकता हूँ।"

तस्मै तृणं निदधावेतद्दहेति । तदुपप्रेयाय सर्वजवेन तन्न शशाक दग्धुं स
तत एव निववृते नैतदशकं विज्ञातुं यदेतद्यक्षमिति ॥6॥

(अग्नि के ऐसा कहने पर उस दिव्य यक्ष ने) उस अग्नि के आगे एक तिनका रखा (और कहा कि—) "इस तिनके को जला दो।" तब वह अग्नि अपनी पूरी ताकत से उस तिनके पर टूट पड़े। परन्तु उस तिनके को जला न सके। (इसलिए लज्जित होकर) लौट आए और देवों के पास जाकर कहने लगे कि "मैं इसे (यक्ष को) जानने में समर्थ नहीं हो पाया हूँ कि सचमुच यह यक्ष कौन है ?"

अथ वायुमब्रुवन् वायवेतद् विजानीहि किमेतद्यक्षमिति तथेति ॥7॥

तब देवताओं ने वायु से कहा कि "हे वायुदेव ! जाकर इस विषय को जान आइए (ठीक तरह से पहचान लीजिए) कि यह दिव्य यक्ष कौन है" ? तब वायुदेव ने कहा कि "ठीक है।" (अभी जान-पहचान करके आता हूँ)।

तदभ्यद्रवत् तमभ्यवदत् कोऽसीति। वायुर्वा अहमस्मीत्यब्रवीन्मात-
रिश्वा वा अहमस्मीति ॥8॥

वायुदेव दौड़कर उस (यक्ष) के पास गए। उनसे भी उस दिव्य यक्ष ने पूछा कि "तुम कौन हो ?" तब वायु ने कहा कि "मैं प्रसिद्ध वायुदेव हूँ और मैं ही 'मातरिश्वा' कहलाता हूँ।"

तस्मिꣳस्त्वयि किं वीर्यमिति ? अपीदं सर्वमाददीय यदिदं पृथिव्या-मिति ॥9॥

तब यक्षरूप ब्रह्म ने कहा—"वायु और मातरिश्वा इन दो नामों को धारण करने वाले तुझमें कौन-सा सामर्थ्य है ? (तब वायु ने उत्तर दिया कि—) "अगर मैं चाहूँ तो इस धरती में जो कुछ भी है, उसे उठाकर आकाश में उड़ा सकता हूँ।"

तस्मै तृणं निदधावेतदादत्स्वेति । तदुपप्रेयाय सर्वजवेन तन्न शशाकादातुं स तत एव निववृते नैतदशकं विज्ञातुं तदेतद् यक्षमिति ॥10॥

(वायु के ऐसा कहने पर उस दिव्य यक्ष ने) उस वायुदेव के सामने एक तिनका रखा और कहा कि "इस तिनके को उठा लो और उड़ा दो।" तब वह वायु अपने पूरे जोर से उस तिनके पर टूट पड़ा, परन्तु उसे उठाने में किसी भी तरह समर्थ न हो सका। इसलिए लज्जित होकर वहाँ से लौट आया और देवताओं से कहने लगा कि "सचमुच यह दिव्य यक्ष कौन है, यह जानने में मैं समर्थ नहीं हो सका हूँ।"

अथेन्द्रमब्रुवन्मघवन्नेतद् विजानीहि किमेतद् यक्षमिति । तथेति तदभ्य-द्रवत्तस्मात्तिरोदधे ॥11॥

इसके बाद देवों ने इन्द्र से कहा कि "हे इन्द्रदेव ! इस विषय को जानकर ठीक तौर से जाँच-पड़ताल कीजिए कि यह दिव्य यक्ष कौन है"। (उत्तर में इन्द्र ने कहा कि—) ठीक है और वह दौड़कर यक्ष की ओर गया। परन्तु वह दिव्य यक्ष उसके सामने से अन्तर्धान हो गया।

स तस्मिन्नेवाकाशे स्त्रियमजगाम बहुशोभमानामुमाꣳ हैमवतीं ताꣳ होवाच किमेतद् यक्षमिति ॥12॥

इति तृतीयः खण्डः ॥

वह इन्द्र उसी आकाशप्रदेश में (यक्ष के स्थान पर ही) अतिलावण्यवती, हिमालय की पुत्री देवी उमा के पास आ पहुँचा और उनसे आदरपूर्वक कहने लगा कि—"(हे देवी !) यह दिव्य यक्ष कौन है ?"

❋

अथ चतुर्थः खण्डः

सा ब्रह्मेति होवाच । ब्रह्मणो वा एतद् विजये महीयध्वमिति । ततो हैव विदाञ्चकार ब्रह्मेति ॥1॥

तब उन भगवती उमादेवी ने स्पष्ट उत्तर दिया कि "वह तो परब्रह्म परमात्मा ही है और उस परमात्मा की ही इस विजय में तुम लोग अपनी विजय मानने लगे थे। उमा के इस कथन के द्वारा ही इन्द्र *निश्चयपूर्वक* जान गया कि 'यह ब्रह्म है।'

तस्माद्वा एते देवा अतितरामिवान्यान्देवान्यदग्निर्वायुरिन्द्रस्तेन ह्येनन्नेदिष्ठं पस्पृशुस्ते ह्येनत्प्रथमो विदाञ्चकार ब्रह्मेति ॥2॥

अग्नि, वायु और इन्द्र—इन तीन देवताओं ने ही इस निकटतम ब्रह्म का साक्षात्काररूप स्पर्श किया था और सर्वप्रथम उन्होंने 'यह ब्रह्म है'—ऐसा जाना था। इसलिए तो वे तीनों अन्य देवताओं से अधिक ऊँचे हुए हैं।

तस्माद्वा इन्द्रोऽतितरामिवान्यान्देवान्स ह्येनन्नेदिष्ठं पस्पर्श स ह्येनत्प्रथमो विदाञ्चकार ब्रह्मेति ॥3॥

इसलिए तो इन्द्र अन्य देवताओं की अपेक्षा मानो अतिशय उच्चस्थानीय है, क्योंकि उसने इस अत्यन्त प्रिय और अतिनिकटस्थ परमात्मा का, उमादेवी से सर्वप्रथम सुनकर अपने मन से उसका स्पर्श (अनुभव) किया था और उसी ने तो अन्य देवताओं की अपेक्षा सर्वप्रथम इस ब्रह्म को अच्छी तरह से पहचाना था कि "यह साक्षात् परब्रह्म पुरुषोत्तम है।"

तस्यैष आदेशो यदेतद् विद्युतो व्यद्युतदा३ इतीन्न्यमीमिषदा३ इत्यधि-दैवतम् ॥4॥

उस ब्रह्म का यह सांकेतिक उपदेश है (उपासना के लिए आदेश है) कि जो यह विद्युत् की चमकार जैसा है और जो आँख की पलक जैसा (निमिषमात्र जैसा) है, क्षणस्थायी है, वह ब्रह्म का अधिदैवत रूप है।

अथाध्यात्मं यदेतद् गच्छतीव च मनोऽनेन चैतदुपस्मरत्यभीक्ष्णꣳ सङ्कल्पः ॥5॥

अब आध्यात्मिक उदाहरण दिया जा रहा है कि जो हमारा मन इस ब्रह्म के पास जाता हुआ-सा दिखाई देता है; और इस ब्रह्म का (वह) निरन्तर अतिशय प्रेमपूर्वक स्मरण करता है; इस मन से ही संकल्प (अर्थात् उस ब्रह्म की अनुभूति की उत्कट अभिलाषा) भी होता है।

तद्ध तद्वनं नाम तद्वनमित्युपासितव्यं स य एतदेवं वेदाभि हैनꣳ सर्वाणि भूतानि संवाञ्छन्ति ॥6॥

वह परब्रह्म परमात्मा सब प्राणियों के लिए प्राप्तव्य होने से 'तद्वन' इस नाम से प्रसिद्ध हैं, इसलिए "वह 'तद्वन' (परमात्मा) सभी प्राणियों का अभीष्ट विषय और सभी का परमप्रिय है"।—इस भाव से उसकी उपासना करनी चाहिए और जो कोई भी साधक इस ब्रह्म को इस प्रकार की उपासना से जान लेता है, उसे सचमुच ही सभी प्राणी सर्वतः हृदयपूर्वक चाहते हैं। (अर्थात् वह प्राणीमात्र का प्रिय बन जाता है)।

उपनिषदं भो ब्रूहीत्युक्ता त उपनिषद् ब्राह्मीं वाव त उपनिषदम-ब्रूमेति ॥7॥

"हे गुरुदेव ! ब्रह्म-सम्बन्धी रहस्यमयी विद्या का उपदेश कीजिए।"—इस प्रकार शिष्य ने प्रार्थना की। तब गुरुदेव कहते हैं कि "तुम्हें हमने रहस्यमयी ब्रह्मविद्या बता दी है। तुम्हें हम लोगों ने निश्चयपूर्वक ब्रह्मविषयक रहस्यमयी विद्या बता ही दी है। इस तरह तुम्हें समझ लेना चाहिए"।

तस्यै तपो दमः कर्मेति प्रतिष्ठा वेदाः सर्वांगानि सत्यमायतनम् ॥8॥

उस रहस्यमयी ब्रह्मविद्या के तप, समनस्क सर्वेन्द्रियसंयम और निष्काम कर्म—ये तीन आधार हैं तथा वेद उस विद्या के सभी अंग हैं। (क्योंकि वेद में उसके सभी अंगों का वर्णन किया गया है।) और सत्यस्वरूप परमात्मा उसका आयतन अर्थात् प्रातव्य है।

यो वा एतामेवं वेदापहत्य पाप्मानमन्ते स्वर्गलोके ज्येये प्रतितिष्ठति प्रतितिष्ठति ॥9॥

इति चतुर्थः खण्डः ।

इति केनोपनित्समाप्ता ॥

यदि कोई भी मनुष्य इस प्रसिद्ध ब्रह्मविद्या को पूर्वोक्तानुसार अच्छी तरह से जान लेता है, वह सर्व पापसमूह को नष्ट करके अविनाशी, असीम, सर्वश्रेष्ठ परमधाम में स्थित हो जाता है। सदा-सर्वदा के लिए स्थित हो जाता है।

इस प्रकार केनोपनिषत् समाप्त होती है।

शान्तिपाठः

ॐ आप्यायन्तु ममाङ्गानि वाक्प्राणश्चक्षुः श्रोत्रमथो बलमिन्द्रियाणि च सर्वाणि सर्वं ब्रह्मौपनिषदं माहं ब्रह्म निराकुर्यां मा मा ब्रह्म निराकरोदनिराकरणमस्त्वनिराकरणं मेऽस्तु तदात्मनि निरते य उपनिषत्सु धर्मास्ते मयि सन्तु ते मयि सन्तु ॥

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ।

(3) कठोपनिषत्

(उपनिषत्परिचय)

कठोपनिषद् कृष्णयजुर्वेद के अन्तर्गत है। उस वेद की काठकसंहिता में शामिल होने से उसे काठकोपनिषद् भी कहते हैं।

नचिकेता और यम की कथा तो बहुत पुरानी है। ऋग्वेद (10.135) में भी उसका उल्लेख है। तैत्तिरीय ब्राह्मण (3.1.8) इस कथा की रूपरेखा बताता है। इस उपनिषद् में वह कथा विस्तृत रूप में दी गई है। ऐसे तो सम्पूर्ण उपनिषद् यम और नचिकेता के संवाद के रूप में है। इस उपनिषद् में छः वल्लियाँ हैं और कुल मिलाकर 119 मंत्र हैं। पहली 29 मंत्रों वाली वल्ली में वाजश्रवस (औदालकि आरुणि) विश्वजित् यज्ञ कर रहा था। यज्ञ के नियमानुसार उसको अपनी सारी सम्पत्ति का दान करना चाहिए। पर उसके बदले वह तो बूढ़ी, दूध नहीं देने वाली गायों का दान करने लगा! यह देखकर उसके तरुण पुत्र नचिकेता को अपने पिता के दुर्हेतु का ख्याल आया। पिता को ठीक तरह से सावधान करने के लिए नचिकेता ने पूछा कि वे उसका दान किसे करते हैं? बार-बार कहने पर पिता ने क्रोध से कह दिया कि "तुम्हें मृत्यु (यम) को भेंट करता हूँ।" ऐसा कहकर बाद में वह पश्चात्ताप करने लगा, पर नचिकेता तो यम के लोक में जा ही पहुँचा। वह पहुँचा तब यमराज अपने लोक में नहीं थे। यमराज की राह देखते हुए नचिकेता ने तीन दिन और तीन रात्रियाँ शान्ति से यमलोक में आतिथ्य-रहित होकर गुजारीं। घर पर वापस आए यमराज ने सब हाल सुनकर बड़े खेद का अनुभव किया। उन्होंने नचिकेता से तीन वरदान माँगने को कहा, ताकि नचिकेता को हुई असुविधा के लिए प्रतिदान के रूप में उसे कुछ दिया जा सके।

यमराज से पहले वरदान के रूप में नचिकेता ने माँगा कि उसके पिता की मानसिक शान्ति हो। वे अपने पुत्र को पहचान लें और सन्तुलित मन से उसको (नचिकेता को) प्रेम करें।

दूसरे वरदान से नचिकेता ने स्वर्ग में पहुँचाने वाली यज्ञविद्या माँगी। यमराज ने सम्पूर्ण यज्ञविद्या उसे सिखाई और बाद में उसकी समझदारी की परीक्षा भी ली। इससे खुश होकर नचिकेता को ऊपर से एक रत्नजड़ित माला भी भेंट कर दी और यज्ञाग्नि का नाम भी 'नाचिकेताग्नि' रख दिया।

अन्तिम वरदान के रूप में नचिकेता ने यमराज से मृत्यु के बाद होने वाली मनुष्य की (आत्मा की) स्थिति का ज्ञान देने का वरदान माँगा। सूक्ष्मतम और दुर्ज्ञेय आत्मतत्त्व सम्बन्धी ज्ञान का वरदान देने से पहले यमराज ने नचिकेता को अन्यान्य भोगों के प्रलोभन देकर इस वरदान को छोड़ देने को कहा, पर नचिकेता अडिग रहा। तब यमराज ने आत्मज्ञान का उपदेश देना शुरू किया।

दूसरी वल्ली में 25 मन्त्र हैं। इसमें श्रेय-प्रेय विवेक, अविद्यामग्नों की दुर्दशा, आत्मज्ञान की दुर्लभता, कर्मफल, ज्ञानफल, ॐकार का उपदेश, आत्मस्वरूप आदि विषय संगृहीत हैं।

तीसरी वल्ली में 17 मन्त्र हैं। इसमें विवेकी और अविवेकी का भेद, आत्मा की सूक्ष्म बुद्धिग्राह्यता, उद्बोधन, निर्विशेष आत्मतत्त्व, विज्ञान-महिमा आदि विषय संगृहीत किए गये हैं।

चौथी वल्ली में 15 मंत्र हैं। इसमें आत्मज्ञ की सर्वज्ञता, निर्भयता, अशोकत्व आदि का निरूपण तथा भेदापवाद आदि विषय शामिल हैं।

पाँचवीं वल्ली में भी 15 मन्त्र ही हैं। इसमें मरणोत्तर जीवन, आत्मा की प्रतिरूपता, असंगता आदि विषय समझाए गए हैं।

छठी वल्ली में 18 मंत्र हैं और इसमें संसाररूप अश्वत्थवृक्ष का वर्णन किया गया है। इसमें अमरत्व की प्राप्ति, ईश्वर की सर्वशासकता, स्थानभेद से भगवद्दर्शन का तारतम्य, आत्मज्ञान का प्रकार और प्रयोजन आदि विषय चर्चित किए गए हैं।

इन छ: वल्लियों को दो अध्यायों में बाँटा गया है। प्रथम तीन वल्लियाँ पहले अध्याय की हैं और अन्तिम तीन वल्लियाँ दूसरे अध्याय की हैं।

प्रधान दस उपनिषदों में कठोपनिषद् की गणना होती है और वर्तमान समय में भी यह उपनिषद् बहुत प्रेरक एवं उपादेय है।

शान्तिपाठः

ॐ सह नाववतु। सह नौ भुनक्तु। सह वीर्यं करवावहै॥
तेजस्विनावधीतमस्तु मा विद्विषावहै॥
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः॥

हे पूर्णब्रह्म परमात्मा! आप हम दोनों की (गुरु-शिष्य की) साथ-ही-साथ रक्षा करें। हम दोनों का एक ही साथ पालन करें। हम दोनों साथ-ही-साथ शक्ति प्राप्त करें। हम दोनों द्वारा प्राप्त की गई विद्या तेजोमयी हो। हम दोनों आपस में द्वेष न करें। (हे परमात्मन्! आधिभौतिक, आधिदैविक, आध्यात्मिक, त्रिविध तापों की) शान्ति हो।

अथ प्रथमोऽध्यायः

प्रथमा वल्ली

ॐ उशन् ह वै वाजश्रवसः सर्ववेदसं ददौ। तस्य ह नचिकेता नाम पुत्र आस॥1॥

(ॐ सच्चिदानन्द परमात्मा का नाम-स्मरण करके उपनिषद् का प्रारम्भ होता है) यह बात तो सुविदित है कि यज्ञ का फल चाहनेवाले, वाजश्रवा के पुत्र (उद्दालक) ने विश्वजित् यज्ञ में अपनी सारी संपत्ति (ब्राह्मणों को) दे दी। उसका नचिकेता नाम का एक प्रसिद्ध पुत्र था।

तꣳह कुमारꣳ सन्तं दक्षिणासु नीयमानासु श्रद्धाविवेश सोऽमन्यत॥2॥

(जिस समय ब्राह्मणों को) दक्षिणा के रूप में देने के लिए गायें लाई जा रही थीं, उस समय छोटा बच्चा होने पर भी उस नचिकेता में श्रद्धा (आस्तिक्य बुद्धि) का प्रवेश हुआ और वह उन बूढ़ी गायों को देखकर सोचने लगा।

पीतोदका जग्धतृणा दुग्धदोहा निरिन्द्रियाः।
अनन्दा नाम ते लोकास्तान्स गच्छति ता ददत्॥3॥

जो गायें (जीवन का) अन्तिम बार का पानी पी चुकी हैं, जो अन्तिम बार की ही घास खा चुकी हैं, जिन गायों का अन्तिम बार का ही दूध दुहा जा चुका है, जिन गायों की इन्द्रियों की शक्ति खत्म हो चुकी है, ऐसी (निरुपयोगी मरणासन्न) गायों को देनेवाला वह दाता तो सर्वसुखरहित (श्वान-शूकरादि निम्न योनियों और) नरक आदि लोकों को प्राप्त करता है। (इसलिए मुझे पिता को सावधान कर देना चाहिए।)

स होवाच पितरं तत कस्मै मां दास्यसीति।
द्वितीयं तृतीयं तꣳ होवाच मृत्यवे त्वा ददामीति॥4॥

ऐसा विचार करके वह अपने पिता से कहने लगा—"हे पिताजी! आप मुझे किसको देंगे?" (पिता से उत्तर न मिलने पर उसने यही बात) पुन: दूसरी बार, तीसरी बार भी कही। तब पिता ने उससे क्रोधपूर्वक कहा कि—"मैं तुझे मृत्यु (यम) को देता हूँ।"

बहूनामेमि प्रथमो बहूनामेमि मध्यमः।
किꣳ स्विद्यमस्य कर्तव्यं यन्मयाद्य करिष्यति॥5॥

(पिता के इस प्रकार कहने पर नचिकेता एकान्त में अनुताप करता हुआ कहता है कि—) "मैं बहुत से शिष्यों में तो प्रथम कक्षा के आचरण में आया हूँ और अनेक छात्रों में (आचरण विषय में) मध्यम श्रेणी में चल रहा हूँ। (मैंने कभी निम्न कोटि का आचरण तो किया नहीं है, तो फिर पिताजी ने ऐसा क्यों कहा होगा?) यमराज का ऐसा कौन-सा कार्य हो सकता है कि जो मेरे द्वारा करवाकर पिताजी पूर्ण करेंगे?"

अनुपश्य यथा पूर्वे प्रतिपश्य तथा परे।
सस्यमिव मर्त्यः पच्यते सस्यमिवाजायते पुनः॥6॥

(नचिकेता ने अपने पिता से कहा कि—) "हे पिता! पूर्वकाल में आपके पितामह आदि पूर्वज जिस प्रकार का आचरण करते आए हैं, उस पर विचार कीजिए और (वर्तमानकाल में भी) अन्य श्रेष्ठ लोग जिस प्रकार का आचरण कर रहे हैं, उस पर भी जरा नजर डालिए। (और उसके बाद आप अपने कर्तव्य के बारे में निर्णय कीजिएगा।) यह मरणशील मानव अन्न की तरह पकाया जाता है (अर्थात् जराजीर्ण होकर घिस-पिसकर मर जाता है।) और फिर अन्न की ही तरह फिर से उगता (जन्म लेता) है।

वैश्वानरः प्रविशत्यतिथिर्ब्राह्मणो गृहान्।
तस्यैताꣳ शान्तिं कुर्वन्ति हर वैवस्वतोदकम्॥7॥

(नचिकेता का वचन सुनकर पिता ने अपनी सत्यनिष्ठा साबित करने के लिए उसे यमराज के पास भेजा। पर यमराज के वहाँ उपस्थित न होने से नचिकेता ने तीन दिन और तीन रात तक राह देखी। यमराज के आने पर उनके सचिवों ने उन्हें सारी बात कहकर सलाह देते हुए कहा कि—) "हे

सूर्यपुत्र यमराज ! अतिथि होकर ब्राह्मण अग्नि (वैश्वानर) रूप से ही घर में प्रवेश करता है। सत्पुरुष ऐसे अतिथि की (अर्घ्य, पाद्य, दान आदि) ऐसे प्रकार से शान्ति करते हैं। इसलिए (इस ब्राह्मण अतिथि की शान्ति के लिए) जल आदि ले आइए।''

आशाप्रतीक्षे सङ्गतः सूनृतां चेष्टापूर्ते पुत्रपशूंश्च सर्वान्।
एतद्वृङ्क्ते पुरुषस्याल्पमेधसो यस्यानश्नन्वसति ब्राह्मणो गृहे ॥8॥

जिसके घर में ब्राह्मण अतिथि बिना खाए रहता है, वह उस अल्प बुद्धि मनुष्य के लिए आशा-प्रतीक्षा अर्थात् प्राप्य और ज्ञात पदार्थों की इच्छाएँ, उन विषयों के संयोगजन्य फल, प्रियवाणी का फल, यज्ञ-यागादि के फल, कूप-उद्यानादि आपूर्तों का फल, पशु-पुत्रादि—सब कुछ नष्ट कर देता है।

तिस्रो रात्रीर्यदवात्सीर्गृहे मेऽनश्नन्ब्रह्मन्नतिथिर्नमस्यः।
नमस्तेऽस्तु ब्रह्मन्स्वस्ति मेऽस्तु तस्मात्प्रति त्रीन्वरान्वृणीष्व ॥9॥

(यमराज बोले—) ''हे ब्राह्मणदेव ! आप मेरे वन्दनीय अतिथि हैं। आपको नमस्कार हो। हे ब्राह्मण ! मेरा कल्याण हो। आप जो तीन रात तक मेरे घर में बिना भोजन किए रहे हैं, इसलिए आप मुझसे प्रत्येक रात्रि के बदले में एक-एक करके तीन वरदान माँग लें।''

शान्तसङ्कल्पः सुमना यथा स्याद्वीतमन्युर्गौतमो माभिमृत्यो।
त्वत्प्रसृष्टं माभिवदेत्प्रतीत एतत्त्रयाणां प्रथमं वरं वृणे ॥10॥

(तब नचिकेता ने कहा कि—) ''हे मृत्युदेव ! गौतमवंश में उत्पन्न हुए मेरे पिता उद्दालक मेरे प्रति शान्त संकल्पवाले, प्रसन्न चित्तवाले और क्रोध-खेद रहित हों और आपके द्वारा वापिस भेजा गया मैं जब उनके पास जाऊँ, तब वे मुझ पर विश्वास करके ('यह वही मेरा पुत्र नचिकेता है' ऐसा भाव रखकर) मेरे साथ वात्सल्यपूर्ण बातचीत करें, यह मैं मेरे तीन वरदानों में से प्रथम वरदान माँगता हूँ।''

यथा पुरस्ताद्भविता प्रतीत औद्दालकिरारुणिर्मत्प्रसृष्टः।
सुखꣳरात्रीः शयिता वीतमन्युस्त्वां ददृशिवान्मृत्युमुखात्प्रमुक्तम् ॥11॥

''मृत्युमुख से विमुक्त हुए तुमको देखकर मेरे द्वारा प्रेरित होकर, तुम्हारे पिता आरुणि (अरुणपुत्र) उद्दालक पहले की ही भाँति ('यह मेरा पुत्र नचिकेता ही है' ऐसा) विश्वास करके दुःख और क्रोध से रहित हो जाएँगे और वे अपने जीवन की शेष रात्रियों में सुखपूर्वक सोएँगे''—(ऐसा यमराज ने वरदान दिया।)

स्वर्गे लोके न भयं किंचनास्ति न तत्र त्वं न जरया बिभेति।
उभे तीर्त्वा अशनायापिपासे शोकातिगो मोदते स्वर्गलोके ॥12॥

(तब नचिकेता ने कहा कि—) ''हे यमराज ! स्वर्गलोक में जरा-सा भी भय नहीं है। यहाँ मृत्युरूप आप स्वयं भी नहीं हैं। (आपका प्रभुत्व नहीं है) वहाँ वृद्धत्व से कोई डरता नहीं है। स्वर्गलोक में रहनेवाला मनुष्य भूख और प्यास—दोनों को पार करके, शोक को लाँघकर आनन्द प्राप्त करता है।

स त्वमग्निꣳ स्वर्ग्यमध्येषि मृत्यो प्रब्रूहि तꣳ श्रद्दधानाय मह्यम्।
स्वर्गलोका अमृतत्वं भजन्त एतद्द्वितीयेन वृणे वरेण ॥13॥

हे मृत्युदेव। आप तो स्वर्ग के साधनरूप अग्नि को जानते ही हैं। इसलिए मुझ श्रद्धावान् को आप उस अग्निविद्या को अच्छी तरह समझाकर बताइए। स्वर्ग में रहनेवाले लोग अमरत्व को प्राप्त करते हैं। इसलिए दूसरे वरदान के रूप में मैं यह वरदान माँगता हूँ।''

प्र ते ब्रवीमि तदु मे निबोध स्वर्ग्यमग्निं नचिकेतः प्रजानन्।
अनन्तलोकाप्तिमथो प्रतिष्ठां विद्धि त्वमेतं निहितं गुहायाम् ॥14॥

''हे नचिकेता ! स्वर्ग प्राप्त करानेवाली अग्निविद्या को अच्छी तरह से जाननेवाला मैं तुम्हें अच्छी तरह से कह देता हूँ। उसे तुम मुझसे भलीभाँति समझ लो। तुम इस अग्निविद्या को अविनाशी लोकों को प्राप्त करानेवाली और जगत् का आधाररूप एवं बुद्धिरूपी गुफा में छिपी हुई जानो।''—ऐसा यमराज ने कहा।

लोकादिमग्निं तमुवाच तस्मै या इष्टका यावतीर्वा यथा वा।
स चापि तत्प्रत्यवदद्यथोक्तमथास्य मृत्युः पुनरेवाह तुष्टः ॥15॥

इसलिए इसके बाद यमराज ने स्वर्गादि लोकों के आदिकारणरूप अग्निविद्या का उस नचिकेता को उपदेश दिया। उसमें कुण्ड आदि बनाने के लिए जितने कद की और जितनी संख्या में ईंटें जरूरी होती हैं तथा उनका चयन कैसे किया जाता है और किस प्रकार उनको व्यवस्थापित किया जाता है इत्यादि बातें भी बताईं। तब नचिकेता ने भी वह उपदेश जैसा सुना था, ठीक उसी तरह समझदारीपूर्वक उसी प्रकार से यमराज को कह दिखाया। उसके बाद यमराज उस पर सन्तुष्ट होकर फिर से उसको कहने लगे।

तमब्रवीत्प्रीयमाणो महात्मा वरं तवेहाद्य ददामि भूयः।
तवैव नाम्ना भविताऽयमग्निः सृंकां चेमामनेकरूपां गृहाण ॥16॥

(नचिकेता की अद्भुत बुद्धि को देखकर—) प्रसन्न हुए महात्मा यमराज नचिकेता से कहने लगे—''अब मैं यहाँ तुम्हें फिर से एक वर और ज्यादा यह देता हूँ कि यह अग्निविद्या तुम्हारे ही नाम से प्रसिद्ध होगी और इसके साथ ही तुम इस अनेक स्वरूपवाली रत्नमाला को स्वीकार करो।''

त्रिणाचिकेतस्त्रिभिरेत्य सन्धिं त्रिकर्मकृत्तरति जन्ममृत्यू।
ब्रह्मजज्ञं देवमीड्यं विदित्वा निचाय्येमाꣳ शान्तिमत्यन्तमेति ॥17॥

शास्त्रोक्त रीति से इस अग्नि का तीन बार अनुष्ठान करनेवाला मनुष्य ऋक्-यजुष्-साम—इन तीनों के साथ सम्बन्ध जोड़कर, यज्ञ-दान-तप—इन तीनों कर्मों को निष्काम भाव से करता हुआ जन्म और मृत्यु का अतिक्रमण कर लेता है। ब्रह्मा की उत्पन्न की गई समग्र सृष्टि को जानने वाले इस स्तुतियोग्य अग्निदेव को जानकर और उसका निष्कामभाव से अनुष्ठान करके मनुष्य परम शान्ति को प्राप्त करता है।

त्रिणाचिकेतस्त्रयमेतद्विदित्वा य एवंविद्वाꣳश्चिनुते नाचिकेतम्।
स मृत्युपाशान्पुरतः प्रणोद्य शोकातिगो मोदते स्वर्गलोके ॥18॥

ईंटों का स्वरूप, संख्या और अग्निचयनविधि—इन तीनों बातों को जानकर, 'नाचिकेत' नाम की अग्निविद्या का तीन बार अनुष्ठान करनेवाला कोई भी मनुष्य इस प्रकार जानता हुआ इस नाचिकेत अग्नि का चयन करता है, वह मनुष्य मृत्यु के फासले को अपने आगे ही (इस मनुष्य शरीर में ही) काटकर, शोक का अतिक्रमण करके स्वर्गलोक में आनन्द का अनुभव करता है।

एष तेऽग्निर्नचिकेतः स्वर्ग्यो यमवृणीथा द्वितीयेन वरेण।
एतमग्निं तवैव प्रवक्ष्यन्ति जनासस्तृतीयं वरं नचिकेतो वृणीष्व ॥19॥

(यमराज नचिकेता से कहते हैं कि—) "हे नचिकेता ! तुम्हें बताई गई यह स्वर्ग प्राप्त कराने वाली अग्निविद्या है, जिसे तुमने दूसरे वरदान के रूप में माँगा था। लोग इस अग्नि को अब से (भविष्य में) तुम्हारे ही नाम से कहा करेंगे। हे नचिकेता ! अब तुम तीसरा वरदान माँग लो"।

येयं प्रेते विचिकित्सा मनुष्येऽस्तीत्येके नायमस्तीति चैके ।
एतद्विद्यामनुशिष्टस्त्वयाहं वराणामेष वरस्तृतीयः ॥20॥

(तब तीसरा वरदान माँगते हुए नचिकेता कहता है कि—) "मरे हुए मनुष्य के विषय में यह जो संशय है कि कुछ लोग इस विषय में ऐसा कहते हैं कि मृत्यु के बाद आत्मा का अस्तित्व रहता है और कुछ लोग कहते हैं कि मरणोपरान्त आत्मा का अस्तित्व रहता ही नहीं है। आपके द्वारा उपदेश पाकर मैं इसके विषय में अच्छी तरह समझ लूँ—यह मेरा तीन वरदानों में से तीसरा वरदान है।"

देवैरत्रापि विचिकित्सितं पुरा न हि सुविज्ञेयमणुरेष धर्मः ।
अन्यं वरं नचिकेतो वृणीष्व मा मोपरोत्सीरति मा सृजैनम् ॥21॥

(तब यमराज ने कहा कि—) "हे नचिकेता ! इस विषय में पूर्वकाल में देवों ने भी संदेह किया था। (पर वे भी समझ नहीं पाए थे) क्योंकि यह विषय बड़ा ही सूक्ष्म है और इसलिए यह सरलता से समझाया नहीं जा सकता। इसलिए कोई दूसरा वरदान माँग लो। इसी को देने के लिए मुझ पर दबाव मत डालो। यह आत्मज्ञान सम्बन्धी वरदान मुझे वापिस लौटा दो।"

देवैरत्रापि विचिकित्सितं किल त्वं च मृत्यो यन्न सुविज्ञेयमात्थ ।
वक्ताऽस्य त्वादृगन्यो न लभ्यो नान्यो वरस्तुल्य एतस्य कश्चित् ॥22॥

(तब नचिकेता ने यमराज से कहा कि—) "हे यमराज ! आपने जो यह कहा कि देवों ने भी इस विषय पर विचार किया था (परन्तु वे भी निर्णय नहीं कर पाए थे) और यह विषय सरलता से जाना जा सके, ऐसा भी नहीं है। इतना ही नहीं, पर ऐसे विषय को समझानेवाला आपके सिवाय तो कोई मिलनेवाला भी नहीं है। (अतः मेरी समझ में तो यही आता है कि—) इसके सिवा कोई अच्छा वरदान है ही नहीं।"

शतायुषः पुत्रपौत्रान्वृणीष्व बहून्पशून्हस्तिहिरण्यमश्वान् ।
भूमेर्महदायतनं वृणीष्व स्वयं च जीव शरदो यावदिच्छसि ॥23॥

(तब यमराज ने नचिकेता को प्रलोभन देते हुए कहा कि—) "हे नचिकेता ! तुम सौ वर्षों की आयुवाले पुत्र-पौत्रादि को और बहुत-से पशुओं को, हाथियों को, सोने को और घोड़ों को भी माँग लो। भूमण्डल के बड़े विस्तृत साम्राज्य को भी माँग लो। तुम स्वयं भी जितने वर्ष चाहो, उतने वर्ष जिओ"।

एतत्तुल्यं यदि मन्यसे वरं वृणीष्व वित्तं चिरजीविकां च ।
महाभूमौ नचिकेतस्त्वमेधि कामानां त्वां कामभाजं करोमि ॥24॥

हे नचिकेता ! धन, सम्पत्ति एवं चिरकालपर्यन्त रहनेवाली आजीविका को तुम यदि इस आत्मज्ञानविषयक वरदान के तुल्य मानते हो, तो इसे माँग लो और तुम इस पृथ्वीलोक में बड़े सम्राट् बन जाओ। मैं तुम्हें सभी उत्तमोत्तम भोगों को भोगनेवाला बना दूँगा।

ये ये कामा दुर्लभा मर्त्यलोके सर्वान्कामाꣳश्छन्दतः प्रार्थयस्व ।

इमा रामाः सरथाः सतूर्या न हीदृशा लम्भनीया मनुष्यैः ।
आभिर्मत्प्रत्ताभिः परिचारयस्व नचिकेतो मरणं मानुप्राक्षीः ॥25॥

इस मनुष्यलोक में जो-जो भोग दुर्लभ हैं, उन सभी प्रकार के भोगों को अपनी इच्छानुसार माँग लो। रथों और विविध प्रकार के वाद्यों के साथ इन स्वर्ग की अप्सराओं को अपने साथ ले जाओ। मनुष्यों को ऐसी स्त्रियाँ कभी मिल नहीं सकतीं। मेरे द्वारा दी गई इन स्त्रियों के द्वारा तुम अपनी सेवा करवाओ। परन्तु हे नचिकेता ! मरणोत्तर आत्मा की स्थिति के विषय में मुझसे मत पूछो।"

श्वोभावा मर्त्यस्य यदन्तकैतत्सर्वेन्द्रियाणां जरयन्ति तेजः ।
अपि सर्वं जीवितमल्पमेव तवैव वाहास्तव नृत्तगीते ॥26॥

यमराज के पूर्वोक्त प्रलोभन में न आते हुए नचिकेता ने कहा—"हे यमराज ! आपके द्वारा वर्णित ये क्षणभंगुर भोग और उनसे प्राप्त किया जानेवाला सुख तो मनुष्य के अन्तःकरण सहित इन्द्रियों का जो तेज है, उसे क्षीण कर देते हैं। तदुपरान्त यह आयु चाहे कितनी भी लम्बी क्यों न हो, पर वास्तव में तो स्वल्प ही है। इसलिए आपके ये रथ आदि वाहन और अप्सराओं के ये नाच-गान आपके पास ही रहने दीजिए। (मुझे इनकी कोई आवश्यकता नहीं है।)

न वित्तेन तर्पणीयो मनुष्यो लप्स्यामहे वित्तमद्राक्ष्म चेत्त्वा ।
जीविष्यामो यावदीशिष्यसि त्वं वरस्तु मे वरणीयः स एव ॥27॥

मनुष्य को धन से कभी भी तृप्त नहीं किया जा सकता। जब हमने आपके दर्शन कर ही लिये हैं, तब धन को हम ऐसे ही प्राप्त कर लेंगे और जहाँ तक आप शासन करते रहेंगे, वहाँ तक तो हम ऐसे ही आवश्यक रूप से जिएँगे ही। इसलिए उन सबको माँगने का प्रयोजन ही क्या है ? इसलिए मेरे लिए माँगने लायक वरदान तो वही (आत्मज्ञान ही) है।

अजीर्यताममृतानामुपेत्य जीर्यन्मर्त्यः क्वधःस्थः प्रजानन् ।
अभिध्यायन्वर्णरतिप्रमोदानतिदीर्घे जीविते को रमेत ॥28॥

"यह मनुष्य जीर्ण होने वाला और मरणधर्मा है।"—इस बात को अच्छी तरह जाननेवाला मानवलोक का कौन निवासी ऐसा होगा जो आपके जैसे जरारहित और अमर आत्माओं का सहवास पाकर भी स्त्रियों के सौन्दर्य, क्रीडा और आमोद-प्रमोद का बार-बार चिन्तन करके अतिदीर्घकाल तक भी जीवित रहने में आनन्द मानेगा ?

यस्मिन्निदं विचिकित्सन्ति मृत्यो यत्साम्पराये महति ब्रूहि नस्तत् ।
योऽयं वरो गूढमनुप्रविष्टो नान्यं तस्मान्नचिकेता वृणीते ॥29॥

इति प्रथमेऽध्याये प्रथमा वल्ली ।

हे यमराज ! जिस महान् आश्चर्यमय पारलौकिक आत्मज्ञान के विषय में मनुष्य लोग ऐसी शंका करते हैं कि मृत्यु होने के बाद यह आत्मा रहता है या नहीं ? तो इसके विषय में आपका जो निर्णय हो, वह मुझे कहिए। मेरा जो यह गंभीर वरदान है, इससे अलग अन्य कोई वरदान नचिकेता नहीं माँगता।

इस प्रकार कठोपनिषद् के प्रथम अध्याय की प्रथम वल्ली समाप्त हुई।

❋

द्वितीया वल्ली

अन्यच्छ्रेयोऽन्यदुतैव प्रेयस्ते उभे नानार्थे पुरुषꣳसिनीतः ।
तयोः श्रेय आददानस्य साधुर्भवति हीयतेऽर्थाद्य उ प्रेयो वृणीते ॥1॥

कल्याणकारिणी विद्या (श्रेय) अलग ही है और प्रिय लगनेवाले भोगों का साधन (प्रेय) भी अलग ही है। अलग-अलग फल देनेवाले होने पर भी ये दोनों साधन मनुष्य को अपनी-अपनी ओर आकर्षित करते हैं (मनुष्य को बाँधते हैं)। इन दोनों में से श्रेय के (कल्याण के) साधन को ग्रहण करने वाले का कल्याण होता है, पर जो प्रेय को (सांसारिक उन्नति के साधन को) ग्रहण करते हैं, वे पारमार्थिक सुख से वंचित रह जाते हैं।

श्रेयश्च प्रेयश्च मनुष्यमेतस्तौ सम्परीत्य विविनक्ति धीरः ।
श्रेयो हि धीरोऽभिप्रेयसो वृणीते प्रेयो मन्दो योगक्षेमाद्वृणीते ॥2॥

श्रेय और प्रेय—ये दोनों मनुष्य के आगे आते हैं। बुद्धिमान मनुष्य इन दोनों के ऊपर ठीक तरह से सोचकर उन्हें अलग-अलग से जान लेता है और वह धीर (बुद्धिवाला) मनुष्य प्रेयम् (भोगसाधन) की अपेक्षा श्रेयस् (परम कल्याण के साधन) को ही श्रेष्ठ मानकर प्रसन्न होता है, जब कि मन्दबुद्धिवाला मनुष्य लौकिक योगक्षेम की कामना से प्रेय को (भोग साधन को) अपनाता है।

स त्वं प्रियान्प्रियरूपाꣳश्च कामानभिध्यायन्नचिकेतोऽत्यस्राक्षीः ।
नैतां सृङ्कां वित्तमयीमवाप्तो यस्यां मज्जन्ति बहवो मनुष्याः ॥3॥

हे नचिकेता! इन मनुष्यों में तुम एक ऐसे निःस्पृह हो कि जिसने अत्यन्त सुन्दर ऐसे इहलोक और परलोक के सभी भोगों को छोड़ दिया! इस सम्पत्तिरूप शृंखला को तोड़कर तुमने इसे अपनाया नहीं! (तुम बन्धन में नहीं फँसे) जिसमें बहुत-से आदमी फँस जाते हैं।

दूरमेते विपरीते विषूची अविद्या या च विद्येति ज्ञाता ।
विद्याभीप्सितं नचिकेतसं मन्ये न त्वा कामा बहवोऽलोलुपन्तः ॥4॥

'विद्या' और 'अविद्या' के नाम से प्रसिद्ध ये दोनों (श्रेय और प्रेय) परस्पर अत्यन्त विपरीत और भिन्न-भिन्न फल देने वाली हैं। तुम नचिकेता को मैं विद्या का अभिलाषी मानता हूँ, क्योंकि बहुत से भोग तुमको प्रलोभित नहीं कर सके हैं।

अविद्यायामन्तरे वर्तमानाः स्वयं धीराः पण्डितं मन्यमानाः ।
दन्द्रम्यमाणाः परियन्ति मूढा अन्धेनैव नीयमाना यथान्धाः ॥5॥

अविद्या में रहने पर भी अपने को पण्डित और बुद्धिमान् माननेवाले भोगेच्छु मूढ़ मानव विविध योनियों में बार-बार भटक कर, अन्धों से प्रेरित (अवलम्बित) होकर अन्धों की ही तरह इधर-उधर भटकते रहते हैं।

न साम्परायः प्रतिभाति बालं प्रमाद्यन्तं वित्तमोहेन मूढम् ।
अयं लोको नास्ति पर इति मानी पुनः पुनर्वशमापद्यते मे ॥6॥

इस तरह सम्पत्ति के मोह से मूढ़ बने हुए और सदैव प्रमाद करते हुए अज्ञानी को परलोक दिखाई ही नहीं देता। (वह तो ऐसा ही समझता है कि—) यह प्रत्यक्ष दिखाई देनेवाला लोक ही सत्य है,

इसके सिवाय स्वर्ग-नरक आदि कुछ है ही नहीं। ऐसा माननेवाला अभिमानी मनुष्य बार-बार मेरे (यमराज के) वश में आ जाता है।

श्रवणायापि बहुभिर्यो न लभ्यः शृण्वन्तोऽपि बहवो यं न विदुः ।
आश्चर्यो वक्ता कुशलोऽस्य लब्धाश्चर्यो ज्ञाता कुशलानुशिष्टः ॥7॥

जो आत्मतत्त्व बहुत-से लोगों को तो सुनने के लिए भी नहीं मिल पाता; जिस आत्मतत्त्व को बहुत-से लोग सुनकर भी नहीं समझ पाते हैं; इस गूढ आत्मतत्त्व का वर्णन करनेवाला आश्चर्यमय (बहुत दुर्लभ) ही है और उसे प्राप्त करनेवाला अत्यंत कुशल (निपुण) पुरुष भी दुर्लभ ही है। जिसको कुशल आचार्य ने उपदेश दिया है और जिसने आत्मतत्त्व जान लिया है, वह तो अतिदुर्लभ है।

न नरेणावरेण प्रोक्त एष सुविज्ञेयो बहुधा चिन्त्यमानः ।
अनन्यप्रोक्ते गतिरत्र नास्त्यणीयान्ह्यतर्क्यमणुप्रमाणात् ॥8॥

अल्पज्ञ मनुष्य के द्वारा कहे जाने पर और उसी परिधि में ही बहुत चिन्तन किए जाने पर भी यह आत्मतत्त्व सरलता (सहजता) से समझा नहीं जा सकता। यदि किसी ज्ञानी पुरुष द्वारा उपदेश न किया जाए तो इस विषय में मनुष्य का प्रवेश नहीं हो सकता। क्योंकि यह आत्मतत्त्व तो सूक्ष्म से भी सूक्ष्म है। इसलिए तर्क से अतीत है। (अर्थात् इसके विषय में तर्क भी नहीं किया जा सकता।)

नैषा तर्केण मतिरापणीया प्रोक्तान्येनैव सुज्ञानाय प्रेष्ठ ।
यां त्वमापः सत्यधृतिर्बतासि त्वादृङ्नो भूयान्नचिकेतः प्रष्टा ॥9॥

हे प्रियतम! (नचिकेता!) तुमने जो यह बुद्धि प्राप्त की है, वह तर्क के द्वारा नहीं प्राप्त की जा सकती। यह बुद्धि तो अन्य शास्त्रज्ञ आचार्य के द्वारा कही जाए तभी आत्मज्ञान के लिए उपयोगी होती है। सचमुच तुम बड़े ही धैर्यशाली पुरुष हो। हे नचिकेता! हम चाहते हैं कि तुम्हारे जैसा प्राश्निक हमें मिले।

जानाम्यहꣳ शेवधिरित्यनित्यं न ह्यध्रुवैः प्राप्यते हि ध्रुवं तत् ।
ततो मया नचिकेतश्चितोऽग्निरनित्यैर्द्रव्यैः प्राप्तवानस्मि नित्यम् ॥10॥

मैं जानता हूँ कि कर्मफलों का खजाना अनित्य ही है। क्योंकि अनित्य (विनाशी) वस्तुओं से परमात्मस्वरूप यह नित्य वस्तु प्राप्त नहीं हो सकती। इसलिए मैंने कर्तव्यबुद्धि से अनित्य पदार्थों के द्वारा 'नचिकेत' नाम की अग्नि का चयन किया है। इन्हीं अनित्य पदार्थों से मैं इस सापेक्ष नित्य (यमराजपद) को प्राप्त कर सका हूँ।

कामस्याप्तिं जगतः प्रतिष्ठां क्रतोरनन्त्यमभयस्य पारम् ।
स्तोममहदुरुगायं प्रतिष्ठां दृष्ट्वा धृत्या धीरो नचिकेतोऽत्यस्राक्षीः ॥11॥

हे नचिकेता! जो सभी प्रकार के भोगों की चरमसीमा है, जो जगत् का आधार है, जो यज्ञ का चिरस्थायी फल है, जो निर्भयता का अन्तिम छोर है, जो स्तुति करने योग्य है और जो महत्त्वपूर्ण है तथा जिसके गुणानुवाद वेदों में तरह-तरह से गाए गए हैं, जो लम्बे समय तक स्थायी है—ऐसे स्वर्गलोक को देखकर भी तुमने धैर्यपूर्वक उसका त्याग कर दिया! इसलिए मैं मानता हूँ कि तुम बहुत ही बुद्धिमान् हो।

तं दुर्दर्शं गूढमनुप्रविष्टं गुहाहितं गह्वरेष्ठं पुराणम्।
अध्यात्मयोगाधिगमेन देवं मत्वा धीरो हर्षशोकौ जहाति ॥12॥

योगमाया के पर्दे में छिपे हुए, सर्वव्यापी, सभी की हृदयरूपी गुहा में स्थित (और इसलिए) संसाररूपी गहन वन में बसनेवाले, सनातन, कदाचित् ही दिखाई देनेवाले उस परमात्मदेव को विशुद्ध बुद्धिवाला साधक अध्यात्मयोग की प्राप्ति के द्वारा जान-पहचान कर हर्ष और शोक को छोड़ देता है।

एतच्छ्रुत्वा सम्परिगृह्य मर्त्यः प्रवृह्य धर्म्यमणुमेतमाप्य।
स मोदते मोदनीयꣳ हि लब्ध्वा विवृतꣳ सद्म नचिकेतसं मन्ये ॥13॥

मरणशील मनुष्य जब इस धर्ममय उपदेश को सुनकर, उसे अच्छी तरह ग्रहण कर, (और) उसके ऊपर विवेकपूर्वक विचार करके, इस सूक्ष्म आत्मतत्त्व को जानकर जब उसका अनुभव कर लेता है तब वह आनन्दस्वरूप परब्रह्म पुरुषोत्तम को प्राप्त करके आनन्द में ही मग्न हो जाता है। तुम नचिकेता के लिए तो मैं, उस परमधाम के द्वार खुले ही हैं, ऐसा मानता हूँ।''

अन्यत्र धर्मादन्यत्राधर्मादन्यत्रास्मात्कृताकृतात्।
अन्यत्र भूताच्च भव्याच्च यत् पश्यसि तद्वद ॥14॥

(यमराज के वचन सुनकर नचिकेता ने कहा कि—यदि मैं मोक्षयोग्य होऊँ और यदि आप मुझ पर प्रसन्न हों तो—) आप जिस परमात्मा को धर्म से अतीत, अधर्म से भी अतीत तथा कारण और कार्यरूप इस जगत् से भी अतीत (परे) अतिक्रान्त तथा भूतकाल एवं भविष्यकाल से भी अतिक्रान्त मानते हैं, उस परमात्मा के विषय में कहिए।''

सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति तपाꣳसि सर्वाणि च यद्वदन्ति।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत्ते पदꣳ संग्रहेण ब्रवीम्योमित्येतत् ॥15॥

(नचिकेता के ऐसा पूछने पर यमराज ने कहा कि—) ''सभी वेद जिस परमतत्त्व का बार-बार प्रतिपादन करते हैं, सभी तप भी जिस पद को अपना लक्ष्य मानते हैं, जिसको चाहनेवाले साधकगण ब्रह्मचर्य का पालन करते हैं, वह पद मैं तुम्हें संक्षेप में बताता हूँ। वह 'ओम्' इस प्रकार का एक अक्षर है।

एतद्ध्येवाक्षरं ब्रह्म एतदेवाक्षरं परम्।
एतद्ध्येवाक्षरं ज्ञात्वा यो यदिच्छति तस्य तत् ॥16॥

(अत:) यह (एक) अक्षर ही (अपर) ब्रह्म है। यह एक अक्षर ही (पर) ब्रह्म है। इस अक्षर को जानकर जो मनुष्य जैसी इच्छा करता है, उसे वह मिल ही जाता है।

एतदालम्बनꣳ श्रेष्ठमेतदालम्बनं परम्।
एतदालम्बनं ज्ञात्वा ब्रह्मलोके महीयते ॥17॥

(ऐसा है इसलिए—) यह ॐकार ही परब्रह्म की प्राप्ति के लिए (अन्य) सभी प्रकार के आधारों से श्रेष्ठ आधार है और यही सभी का अन्तिम आश्रय है। 'इससे बड़ा कोई भी आलम्बन नहीं है'—ऐसा अच्छी तरह से जानकर जो साधक श्रद्धा और प्रेम से उसका आश्रय लेता है, वह सचमुच परमात्मप्राप्ति का गौरव प्राप्त करता है।

न जायते म्रियते वा विपश्चिन्नायं कुतश्चिन्न बभूव कश्चित्।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे ॥18॥

यह ज्ञानस्वरूप आत्मा जन्मता नहीं और मरता भी नहीं है। यह आत्मा किसी और पदार्थ से उत्पन्न नहीं होता और इस आत्मा से भी कोई पदार्थ उत्पन्न नहीं होता। (तात्पर्य यह कि यह आत्मा किसी का कार्य भी नहीं है और कारण भी नहीं है।) यह आत्मा अजन्मा, नित्य, सदा एकसमान रहनेवाला और पुरातन (क्षय-वृद्धिहीन) है। शरीर का नाश होने पर भी इसका नाश नहीं किया जा सकता।

हन्ता चेन्मन्यते हन्तुꣳ हतश्चेन्मन्यते हतम्।
उभौ तौ न विजानीतो नायꣳ हन्ति न हन्यते ॥19॥

यदि कोई मारनेवाला व्यक्ति आत्मा को मारने में अपने को समर्थ माने अथवा यदि कोई मरनेवाला आदमी अपने आत्मा को मरा हुआ माने, वे दोनों आत्मा के सही स्वरूप को नहीं जानते। क्योंकि यह आत्मा किसी को मारता भी नहीं और किसी के द्वारा मारा भी नहीं जा सकता।

अणोरणीयान्महतो महीयानात्माऽस्य जन्तोर्निहितो गुहायाम्।
तमक्रतुः पश्यति वीतशोको धातुप्रसादान्महिमानमात्मनः ॥20॥

इस जीवात्मा की हृदयरूपी गुफा में रहनेवाला परमात्मा सूक्ष्म से भी सूक्ष्म और महान् से भी महान् है। परमात्मा की उस महिमा को कामनारहित और चिन्तारहित कोई विरल साधक ही सर्वाधार परमात्मा की कृपा से ही देख पाता है।

आसीनो दूरं व्रजति शयानो याति सर्वतः।
कस्तं मदामदं देवं मदन्यो ज्ञातुमर्हति ॥21॥

वह परमात्मा बैठा हुआ भी दूर तक पहुँच जाता है। सोया हुआ भी चारों ओर चलता रहता है। ऐश्वर्य के मद से उन्मत्त न होनेवाले उस देव को मेरे सिवा दूसरा भला कौन जान सकने में समर्थ है?

अशरीरꣳ शरीरेष्वनवस्थेष्ववस्थितम्।
महान्तं विभुमात्मानं मत्वा धीरो न शोचति ॥22॥

जो परमात्मा अस्थिर (विनाशशील) शरीरों में शरीररहित परन्तु अचल भाव से स्थित है, उस महान् सर्वव्यापी परमात्मा को जानकर बुद्धिमान् पुरुष कभी भी किसी भी कारण से शोक नहीं करता।

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन।
यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूꣳ स्वाम् ॥23॥

यह परब्रह्म परमात्मा वेदाध्ययन (प्रवचन) से प्राप्त करने योग्य नहीं है एवं धारणाशक्ति से अथवा बहुत शास्त्रों के श्रवण से भी प्राप्त करने योग्य नहीं है। यह (साधक) जिस (आत्मा) का वरण करता है अर्थात् स्वीकार करता है, उसी के द्वारा प्राप्त करने के योग्य है और ऐसे साधक के प्रति (ही) परमात्मा अपने स्वरूप को प्रकट करता है।

नाविरतो दुश्चरितान्नाशान्तो नासमाहितः।
नाशान्तमानसो वापि प्रज्ञानेनैनमाप्नुयात् ॥24॥

दुराचरण से निवृत्त हुए बिना, सूक्ष्म बुद्धि होने पर भी वह (परमात्मा) प्राप्त नहीं किया जा सकता। जो मनुष्य अशान्त है, जो मन और इन्द्रियों को अपने वश में नहीं रख सकता है, जिसका मन शान्त नहीं है, ऐसा मनुष्य भी परमात्मा को प्राप्त नहीं कर सकता।

यस्य ब्रह्म च क्षत्रं च उभे भवत ओदनः ।
मृत्युर्यस्योपसेचनं क इत्था वेद यत्र सः ॥25॥

इति प्रथमेऽध्याये द्वितीया वल्ली ।
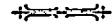
संहारकाल में जिस परमात्मा के ब्राह्मण और क्षत्रिय—ये दोनों (अर्थात् प्राणीमात्र) खाद्यान्न बन जाते हैं और सर्वसंहारक मृत्यु जिसका उपसेचन (व्यंजन - तरकारी आदि) बन जाता है, वह परमेश्वर जहाँ और जैसा है, उसे ठीक तरह से भला कौन जान सकता है ?

इस प्रकार कठोपनिषद् के प्रथम अध्याय की दूसरी वल्ली समाप्त हुई ।

तृतीया वल्ली

ऋतं पिबन्तौ सुकृतस्य लोके गुहां प्रविष्टौ परमे परार्धे ।
छायातपौ ब्रह्मविदो वदन्ति पञ्चाग्नयो ये च त्रिणाचिकेताः ॥1॥

शुभ कर्मों के फलस्वरूप मनुष्य-शरीर में स्थित परब्रह्म के उत्तम निवासस्थान ऐसे हृदयाकाश में अर्थात् बुद्धिरूपी गुफा में छिपे हुए और सत्य का पान करनेवाले दो तत्त्व हैं। वे दोनों छाया और आतप (धूप) की भाँति भिन्न हैं—ऐसा ब्रह्मवेत्ता ज्ञानी महापुरुष कहते हैं। और यही बात तीन बार 'नाचिकेत' अग्नि का चयन करने वाले एवं पञ्चाग्नि की उपासना करनेवाले गृहस्थ भी तो कहते हैं।

यः सेतुरीजानानामक्षरं ब्रह्म यत्परम् ।
अभयं तितीर्षतां पारं नाचिकेतꣳ शकेमहि ॥2॥

जो यज्ञ करनेवालों के लिए दुःखसागर का अतिक्रमण करने के लिए सेतुरूप है, उस 'नाचिकेत' अग्नि को और संसार-समुद्र को पार करने की इच्छावालों के लिए जो भयरहित पद है और परम आश्रय है, उस अविनाशी परब्रह्म परमात्मा को जानने में (प्राप्त करने में) हम समर्थ हैं।

आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरꣳ रथमेव तु ।
बुद्धिं तु सारथिं विद्धि मनः प्रगहमेव च ॥3॥

हे नचिकेता ! तुम जीवात्मा को रथ का मालिक (रथ में बैठकर जानेवाला) जानो और शरीर को ही रथ मानो। बुद्धि को सारथी जानो और मन को लगाम समझो।

इन्द्रियाणि हयानाहुर्विषयाꣳस्तेषु गोचरान् ।
आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः ॥4॥

ज्ञानी लोग इस रूपक में इन्द्रियों को अश्व कहते हैं और शब्द-स्पर्श-रूपादि विषयों को उन अश्वों के लिए चलने का मार्ग कहते हैं तथा शरीर-मन-इन्द्रियों से युक्त आत्मा को 'भोक्ता' कहते हैं।

यस्त्वविज्ञानवान्भवत्ययुक्तेन मनसा सदा ।
तस्येन्द्रियाण्यवश्यानि दुष्टाश्वा इव सारथेः ॥5॥

जो मनुष्य सदैव विवेकहीन बुद्धिवाला और अयुक्त चंचल मन वाला होता है, उसकी इन्द्रियाँ असावधान सारथि के दुष्ट अश्वों की तरह वश में रहनेवाली नहीं होतीं।

यस्तु विज्ञानवान्भवति युक्तेन मनसा सदा ।
तस्येन्द्रियाणि वश्यानि सदश्वा इव सारथेः ॥6॥

परन्तु जो मनुष्य सदा विवेकसम्पन्न और मनोजयी होता है, उसकी इन्द्रियाँ सावधान सारथि के उत्तम अश्वों की तरह वश में रहती हैं।

यस्त्वविज्ञानवान्भवत्यमनस्कः सदाऽशुचिः ।
न स तत्पदमाप्नोति सꣳसारं चाधिगच्छति ॥7॥

परन्तु जो मनुष्य सदा विवेकहीन बुद्धिवाला, असंयमी चित्तवाला और अपवित्र रहता है, वह उस परमपद को प्राप्त नहीं कर सकता। परन्तु बार-बार जन्म-मरणरूप संसारचक्र में ही भटकता रहता है।

यस्तु विज्ञानवान्भवति समनस्कः सदा शुचिः ।
स तु तत्पदमाप्नोति यस्माद्भूयो न जायते ॥8॥

परन्तु जो मनुष्य सर्वदा विवेकशील बुद्धि से युक्त, संयत चित्तवाला और पवित्र रहता है, वह तो उस परमपद को प्राप्त कर ही लेता है जिससे कि वह फिर से जन्म ग्रहण नहीं करता।

विज्ञानसारथिर्यस्तु मनःप्रग्रहवान्नरः ।
सोऽध्वनः पारमाप्नोति तद्विष्णोः परमं पदम् ॥9॥

जो कोई भी मनुष्य यदि विवेकशील बुद्धिरूपी सारथि से युक्त होता है और जो अपने मन को वश में रखता है, तो वह संसारमार्ग को पार करके उस व्यापक परमात्मा (विष्णु) के पद को प्राप्त करता है।

इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्था अर्थेभ्यश्च परं मनः ।
मनसस्तु परा बुद्धिर्बुद्धेरात्मा महान्परः ॥10॥

क्योंकि इन्द्रियों की अपेक्षा शब्दादि विषय बलवान् हैं, शब्दादि विषयों की अपेक्षा मन बलवान् है, मन की अपेक्षा बुद्धि बलवती है और बुद्धि की अपेक्षा महान् आत्मा (महत्तत्त्व) बलवान् है। (महत्तत्त्व बलवत्तम है)। (अथवा बुद्धि की अपेक्षा जीवात्मा बलवान है--ऐसा अर्थ भी लिया जा सकता है।)

महतः परमव्यक्तमव्यक्तात्पुरुषः परः ।
पुरुषान्न परं किञ्चित्सा काष्ठा सा परा गतिः ॥11॥

महत्तत्त्व की (अथवा जीवात्मा की) अपेक्षा अव्यक्त (मूल प्रकृति या ईश्वर की माया) बलवती है और उस अव्यक्त से (मूल प्रकृति या माया से) पुरुष (परमेश्वर) श्रेष्ठ है। पुरुष (परमात्मा) से अधिक श्रेष्ठ कुछ भी नही है। वह सबकी पराकाष्ठा है, वही परम गति है।

एष सर्वेषु भूतेषु गूढोत्मा न प्रकाशते ।
दृश्यते त्वग्र्यया बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः ॥12॥

इस समस्त जगत् का आत्मरूप यह परमपुरुष सभी प्राणियों में रहता हुआ भी माया के आवरण में छिपा होने के कारण प्रत्यक्ष नहीं होता। केवल सूक्ष्मतत्त्व को समझनेवाले लोगों के द्वारा ही अति सूक्ष्म (तीक्ष्ण) बुद्धि से देखा जा सकता है।

यच्छेद्वाङ्मनसी प्राज्ञस्तद्यच्छेज्ज्ञान आत्मनि।
ज्ञानमात्मनि महति नियच्छेत्तद्यच्छेच्छान्त आत्मनि ॥13॥

बुद्धिमान् साधक को पहले वाणी आदि सभी इन्द्रियों का मन में निरोध करना चाहिए। फिर उस मन का ज्ञानस्वरूप बुद्धि में विलीनीकरण करना चाहिए; बुद्धि का महत्तत्त्व में लय कर देना चाहिए और महत्तत्त्व का शान्तस्वरूप परमपुरुष में लय कर देना चाहिए।

उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत।
क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया दुर्गं पथस्तत्कवयो वदन्ति ॥14॥

(ओ मनुष्यो!) उठो, जागो (सावधान बन जाओ और—) श्रेष्ठ महापुरुषों से मिलकर उनके द्वारा परब्रह्म परमेश को जान लो। क्योंकि त्रिकालज्ञ तत्त्वज्ञानी लोग इस तत्त्वज्ञान के मार्ग को छुरे की तीक्ष्ण धार के समान दुस्तर कहते हैं।

अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययं तथाऽरसं नित्यमगन्धवच्च यत्।
अनाद्यनन्तं महतः परं ध्रुवं निचाय्य तन्मृत्युमुखात्प्रमुच्यते ॥15॥

जो परमतत्त्व शब्दरहित, स्पर्शरहित, रूपरहित, रसरहित और गन्धरहित है और जो अविनाशी, नित्य, अनादि, अनन्त (अन्तरहित) और महत्तत्त्व से (अथवा जीवात्मा से) भी उच्चतर है, जो सर्वथा सत्यस्वरूप उस परमात्मा को जानकर मनुष्य मृत्यु के मुख से सदा के लिए मुक्त हो जाता है।

नाचिकेतमुपाख्यानं मृत्युप्रोक्तः सनातनम्।
उक्त्वा श्रुत्वा च मेधावी ब्रह्मलोके महीयते ॥16॥

यमराज के द्वारा कहे गए और नचिकेता के द्वारा सुने गए इस सनातन आख्यान को कहकर और सुनकर बुद्धिमान् मनुष्य ब्रह्मलोक में महिमान्वित होता है (प्रतिष्ठित होता है)।

य इमं परमं गुह्यं श्रावयेद्ब्रह्मसंसदि।
प्रयतः श्राद्धकाले वा तदानन्त्याय कल्पते ॥
तदानन्त्याय कल्पत इति ॥17॥

इति प्रथमेऽध्याये तृतीया वल्ली।

इति प्रथमोऽध्यायः समाप्तः ॥1॥

जो मनुष्य सर्वथा शुद्ध होकर इस परम गुह्य (रहस्यमय) प्रसंग को ब्राह्मणों की सभा में सुनाता है अथवा श्राद्ध के समय में भोजन करनेवाले लोगों को सुनाता है, उसका वह सुनाने का कर्म अविनाशी और असीम फल देने में समर्थ होता है, अनन्त फलवाला होता है।

इस प्रकार कठोपनिषद् के प्रथम अध्याय में तीसरी वल्ली समाप्त हुई।

अथ द्वितीयोऽध्यायः

चतुर्थी वल्ली

पराञ्चि खानि व्यतृणत्स्वयंभूस्तस्मात्पराङ् पश्यति नान्तरात्मन्।
कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षदावृत्तचक्षुरमृतत्वमिच्छन् ॥1॥

स्वयंभू (स्वयं ही प्रकट होनेवाले) परमेश्वर ने सभी इन्द्रियाँ बाहर की ओर जानेवाली बनाकर क्षीण (मर्यादित) कर दी हैं। इसलिए मनुष्य इन्द्रियों से बहुधा बाहर की वस्तुओं को ही देख पाता है, किन्तु अन्तरात्मा को नहीं देख पाता। जिस मनुष्य ने अमरत्व की इच्छा करके अपनी इन्द्रियों को बाह्य विषयों की ओर से खींचकर भीतर संयमित रखा है, वही दुर्लभ मनुष्य प्रत्यगात्मा को देख सकता है।

पराचः कामाननुयन्ति बालास्ते मृत्योर्यन्ति विततस्य पाशम्।
अथ धीरा अमृतत्वं विदित्वा ध्रुवमध्रुवेष्विह न प्रार्थयन्ते ॥2॥

परन्तु जो मूर्ख मनुष्य बाह्य भोगों का अनुसरण करते हैं (उन भोगों में ही रममाण रहते हैं), वे तो चारों ओर फैले हुए मृत्यु के पाश में (बन्धन में) फँस जाते हैं। परन्तु बुद्धिमान् मनुष्य अमृतत्व को निश्चल मानकर संसार के अनित्य पदार्थों में से किसी भी पदार्थ को प्राप्त करने की इच्छा नहीं करते।

येन रूपं रसं गन्धं शब्दान्स्पर्शांश्च मैथुनान्।
एतेनैव विजानाति किमत्र परिशिष्यते। एतद्वै तत् ॥3॥

जिसके अनुग्रह से मनुष्य शब्दों को, स्पर्शों को, रूपसमुदाय को, रससमुदाय को, गन्धसमुदाय को और मैथुन (स्त्रीसंग) आदि सुखों का अनुभव करता है; और उसी के अनुग्रह से इन सबके होते हुए यहाँ बाकी क्या रह जाता है (जो उनसे बाकी अर्थात् शेष रहता है) वही यह तत्त्व ब्रह्म है (जिसे तुम नचिकेता ने पूछा था।)

स्वप्नान्तं जागरितान्तं चोभौ येनानुपश्यति।
महान्तं विभुमात्मानं मत्वा धीरो न शोचति ॥4॥

स्वप्नावस्था के दृश्यों और जागरितावस्था के दृश्यों (दोनों अवस्थाओं के दृश्यों) को मनुष्य जिसके कारण देखता है, उस सर्वश्रेष्ठ, सर्वव्यापी सर्वात्मा को जानकर बुद्धिमान् मनुष्य शोक नहीं करता।

य इमं मध्वदं वेद आत्मानं जीवमन्तिकात्।
ईशानं भूतभव्यस्य न ततो विजुगुप्सते। एतद्वै तत् ॥5॥

जो मनुष्य इस कर्मफलभोक्ता जीवरूप आत्मा को ही भूतकाल और भविष्यत्काल के शासक के रूप में (परमेश्वर के रूप में) जानता है, फिर वह उस आत्मा की रक्षा करने की इच्छा नहीं करता। वही यह आत्मतत्त्व है।

यः पूर्वं तपसो जातमद्भ्यः पूर्वमजायत।
गुहां प्रविश्य तिष्ठन्तं यो भूतेभिर्व्यपश्यत। एतद्वै तत् ॥6॥

सबसे पहले जल में से जो तप के द्वारा हिरण्यगर्भ के रूप में प्रकट हुआ था, उसी को मुमुक्षु बुद्धिरूपी गुहा में सर्वभूतों के साथ प्रविष्ट हुआ देखता है, वही ब्रह्म है। वही यह है।

या प्राणेन सम्भवत्यदितिर्देवतामयी ।
गुहां प्रविश्य तिष्ठन्तीं या भूतेभिर्व्यजायत । एतद्वै तत् ॥7॥

और भी, जो देवतामयी अदिति प्राणरूप से प्रकट होती है, जो प्राणियों के साथ उत्पन्न हुई है और हृदयरूपी गुहा में प्रवेश करके वहाँ रहती है, उसे उस रूप में पुरुष जो देखता है, वही ब्रह्म है अर्थात् वही यह है।

अरण्योर्निहितो जातवेदा गर्भ इव सुभृतो गर्भिणीभिः ।
दिवे दिव ईड्यो जागृवद्भिर्हविष्मद्भिर्मनुष्येभिरग्निः । एतद्वै तत् ॥8॥

और भी, जो सर्वज्ञ अग्निदेव गर्भिणी स्त्रियों द्वारा सुयोग्य खान-पान के द्वारा पोषित गर्भ की तरह दो अरणियों में सुरक्षित रहता है तथा सावधान एवं होमसामग्रीयुक्त पुरुषों द्वारा प्रतिदिन स्तुतियोग्य है, यही वह ब्रह्म है। (यहाँ अरणीस्थ अग्नि में ब्रह्मदृष्टि बताई है।)

यतश्चोदेति सूर्योऽस्तं यत्र च गच्छति ।
तं देवाः सर्वेऽर्पितास्तदु नात्येति कश्चन । एतद्वै तत् ॥9॥

(और भी प्राण में ब्रह्मदृष्टि बताते हैं कि) जहाँ से सूर्य उदित होता है और जहाँ अस्त होता है, जिस प्राणात्मा में (अग्नि आदि और जल आदि) सभी देव रहते हैं उस परमेश्वर को कोई भी कभी भी अतिक्रान्त नहीं कर सकता, यही वह ब्रह्म है।

यदेवेह तदमुत्र यदमुत्र तदन्विह ।
मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति ॥10॥

जो परमतत्त्व यहाँ (देहेन्द्रिय संधान में) भासित होता है, वही अन्यत्र (देहादि संघात के परे) भी है और जो अन्यत्र है, वही यहाँ भी है। जो मनुष्य इस तत्त्व में नानात्व (विभिन्नता) देखता है, वह एक मृत्यु से दूसरे मृत्यु को अर्थात् बार-बार जन्म और मरण को प्राप्त हुआ करता है।

मनसैवेदमाप्तव्यं नेह नानाऽस्ति किंचन ।
मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति ॥11॥

शुद्ध मन से ही यह परमात्मतत्त्व प्राप्त किया जा सकता है। इस जगत् में केवल एक परमात्मा के सिवा भिन्न-भिन्न भाव कोई भी नहीं है। इसलिए इस जगत् में जो कोई भी अनेक की तरह देखता है, वह मनुष्य बार-बार जन्मता है और बार-बार मृत्यु को प्राप्त होता है।

अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषो मध्य आत्मनि तिष्ठति ।
ईशानो भूतभव्यस्य न ततो विजुगुप्सते । एतद्वै तत् ॥12॥

अँगूठे के परिमाण वाला पुरुष (परमात्मा - परमपुरुष) शरीर के मध्य भाग में (हृदयाकाश में) स्थित है। जो भूत, भावि (और वर्तमान) का ईश्वर है। उसे जान लेने के बाद मनुष्य किसी की भी निन्दा नहीं करता। यहीं वह तत्त्व है। (जिसके विषय में तुमने पूछा था।)

अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषः ज्योतिरिवाधूमकः ।
ईशानो भूतभव्यस्य स एवाद्य स उ श्वः । एतद्वै तत् ॥13॥

अंगुष्ठ के-से परिमाण वाला परमपुरुष परमात्मा धूमरहित ज्योति की तरह है। भूत, (वर्तमान) और भविष्य पर शासन करनेवाला वही परमात्मा आज भी है और कल भी रहेगा (अर्थात् तीनों काल में रहता है)। वह सनातन है, वही ब्रह्मतत्त्व यह है (जो तुमने पूछा था)।

यथोदकं दुर्गे वृष्टं पर्वतेषु विधावति ।
एवं धर्मान्पृथक् पश्यंस्तानेवानुविधावति ॥14॥

जिस प्रकार ऊँचे शिखर पर बरसा हुआ पानी पर्वत के अनेक स्थलों में चारों ओर बह जाता है, उसी प्रकार भिन्न-भिन्न प्रकार के (धर्म-विशेषता वाले) आत्माओं को आत्मा से अलग मानकर, उनके पीछे दौड़ता हुआ मनुष्य उन्हीं के शुभाशुभ लोकों में (योनियों में) भटकता रहता है।

यथोदकं शुद्धे शुद्धमासिक्तं तादृगेव भवति ।
एवं मुनेर्विजानत आत्मा भवति गौतम ॥15॥

इति द्वितीयेऽध्याये चतुर्थी वल्ली ।

हे गौतम ! जिस तरह निर्मल जल में बादलों के द्वारा चारों ओर से बरसाया गया पानी वैसा ही रहता है, ठीक उसी प्रकार (केवल पुरुषोत्तम परमात्मा ही सब कुछ है) ऐसा जाननेवाले मुनि का आत्मा ब्रह्म को प्राप्त हो जाता है।

इस प्रकार कठोपनिषद् के द्वितीय अध्याय में चतुर्थ वल्ली समाप्त हुई।

पञ्चमी वल्ली

पुरमेकादशद्वारमजस्यावक्रचेतसः ।
अनुष्ठाय न शोचति विमुक्तश्च विमुच्यते । एतद्वै तत् ॥1॥

नित्यविज्ञानस्वरूप उस अजन्मा परमेश्वर का, ग्यारह द्वारों वाला (मनुष्य शरीररूप) एक नगर है। इस प्रकार उस परमात्मा का ध्यान करने से मनुष्य शोक को प्राप्त नहीं होता और इस शरीर के रहते ही कर्मबन्धनों से मुक्त हुआ वह मृत्यु के बाद विदेहमुक्त हो जाता है। सचमुच यही वह ब्रह्म है (जिसके विषय में तुमने पूछा था)।

हंसः शुचिषद्वसुरन्तरिक्षसद्धोता वेदिषदतिथिर्दुरोणसत् ।
नृषद्वरसदृतसद्व्योमसदब्जा गोजा ऋतजा अद्रिजा ऋतं बृहत् ॥2॥

वह परमात्मा गमन करनेवाला है; आकाश में गति करनेवाला सूर्य है, अन्तरिक्ष में विचरण करनेवाला सर्वव्यापी वायु है; वेदी (धरती) पर रहनेवाला 'होता' है (वेदीस्थापित अग्नि और होता भी वही है), वही कलशस्थ सोम है। इसी तरह वह मनुष्यों में संचलन करनेवाला, आकाश में गतिशील तथा जल में विविध रूपों से प्रकट होनेवाला, धरती में भी रूपवैविध्य द्वारा प्रकट होनेवाला वही सबसे बड़ा परम सत्य है।

ऊर्ध्वं प्राणमुन्नयत्यपानं प्रत्यगस्यति ।
मध्ये वामनमासीनं विश्वेदेवा उपासते ॥3॥

जो आत्मा प्राण को ऊपर ले जाता है और अपान को नीचे ले आता है, उस हृदय के बीच में बैठे हुए सर्वोत्तम और भजनीय परमेश्वर की सभी देव उपासना करते हैं।

अस्य विस्रंसमानस्य शरीरस्थस्य देहिनः ।
देहाद्विमुच्यमानस्य किमत्र परिशिष्यते । एतद्वै तत् ॥4॥

एक शरीर से दूसरे शरीर में गमन करने के स्वभाव वाला यह आत्मा (जीवात्मा) जब इस (वर्तमान) शरीर को छोड़कर चला जाता है (और उस जीवात्मा के साथ-ही-साथ जब इन्द्रियाँ और प्राण आदि भी चले जाते हैं) तब इस मृत देह में क्या शेष रह जाता है ? (अर्थात् कुछ भी बाकी नहीं रहता) तो यही वह है। (तात्पर्य यह है कि कुछ बाकी रहा हुआ न दिखाई देने पर भी जो परब्रह्म सदैव जड़चेतन में व्याप्त होकर रहता है, यह तो शेष रहता ही है और यही वह परमतत्त्व है, जिसके विषय में तुमने पूछा था।)

न प्राणेन नापानेन मर्त्यो जीवति कश्चन ।
इतरेण तु जीवन्ति यस्मिन्नेतावुपाश्रितौ ॥5॥

मनुष्य आदि कोई भी प्राणी प्राण की शक्ति से जीवित नहीं रह सकता और अपान की शक्ति से भी जीवित नहीं रह पाता। परन्तु जिस परम चैतन्यतत्त्व में ये दोनों (प्राण और अपान) आश्रित हैं, ऐसे किसी अनूठे तत्त्व से ही वे सब प्राणी जीवित रहते हैं। (अर्थात् चेतनतत्त्व में ही प्राण, अपान आश्रित हैं) और उसी से ये सब प्राणी जीवित रहते हैं।

हन्त त इदं प्रवक्ष्यामि गुह्यं ब्रह्म सनातनम् ।
यथा च मरणं प्राप्य आत्मा भवति गौतम ॥6॥

यमराज कहते हैं कि हे गौतमवंशीय नचिकेता ! मरण होने के बाद इस जीवात्मा का क्या होता है, यह बात अब मैं तुम्हें कहूँगा और उसी के साथ-ही-साथ मृत्यु के बाद जीवात्मा कहाँ जाता है, कैसे रहता है और उस रहस्यमय चेतनतत्त्व का स्वरूप क्या है ? यह भी बताऊँगा।

योनिमन्ये प्रपद्यन्ते शरीरत्वाय देहिनः ।
स्थाणुमन्येऽनुसंयन्ति यथाकर्म यथाश्रुतम् ॥7॥

जिसका जैसा कर्म होता है और शास्त्र-श्रवण से जिसको जैसा भाव प्राप्त होता है, उसी प्रकार का शरीर धारण करने के लिए बहुत-से जीवात्मा तो तरह-तरह की जंगम योनियों को प्राप्त करते हैं और अन्य कई जीवात्मा तो स्थावरभाव को (वृक्ष आदि की योनि को) भी प्राप्त करते हैं।

य एष सुप्तेषु जागर्ति कामं कामं पुरुषो निर्मिमाणः । तदेव शुक्रं तद्ब्रह्म तदेवामृतमुच्यते ॥ तस्मिँल्लोकाः श्रिताः सर्वे तदु नात्येति कश्चन । एतद्वै तत् ॥8॥

यह कि जो जीवों के कर्मानुसार भाँति-भाँति के भोगों का निर्माण करनेवाला है, वह परमपुरुष परमेश्वर जब प्रलयकाल में सभी सोये हुए ही रहते हैं, तब भी स्वयं जाग्रत् ही रहता है। (सभी जब अज्ञान-व्याप्त होते हैं, तब स्वयं ज्ञानवान् रहता है।) वही अमृतमय है और उसी में सभी लोक आश्रित रहते हैं, उसका अतिक्रमण कोई नहीं कर सकता। यही वह परमतत्त्व है।

अग्निर्यथैको भुवनं प्रविष्टो रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव ।
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा रूपं रूपं प्रतिरूपो बहिश्च ॥9॥

जिस प्रकार समग्र ब्रह्माण्ड में व्याप्त एक ही अग्नि अन्य विविध आधारभूत वस्तु के रूपों को धारण किए हुए रहता है, ठीक उसी प्रकार सभी प्राणियों का अन्तरात्मा परब्रह्मरूप एक होने पर भी तरह-तरह के रूपों को धारण करके प्रविष्ट होता है। इतना ही नहीं, उनके बाहर भी भिन्न-भिन्न रूपों में वह रहता है।

वायुर्यथैको भुवनं प्रविष्टो रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव ।
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा रूपं रूपं प्रतिरूपो बहिश्च ॥10॥

जिस प्रकार सकल ब्रह्माण्ड में एक ही वायु अपने अव्यक्त रूप से व्याप्त है, फिर भी भिन्न-भिन्न व्यक्त वस्तुओं के संयोग से उन-उन वस्तुओं के अनुरूप गति और शक्तिसम्पन्न दिखाई देता है, ठीक उसी प्रकार इन समस्त प्राणियों का अन्तर्यामी परमेश्वर तो एक ही है, तथापि उन प्राणियों के सम्बन्ध से भिन्न-भिन्न गति और शक्तिवाला दिखाई पड़ता है। इतना ही नहीं, वह प्राणियों (वस्तुओं) के बाहर भी अनन्त (असीम) विविध रूपों में भी रहता है।

सूर्यो यथा सर्वलोकस्य चक्षुर्न लिप्यते चाक्षुषैर्बाह्यदोषैः ।
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा न लिप्यते लोकदुःखेन बाह्यः ॥11॥

जैसे सूर्य समग्र लोक का नेत्र है, फिर भी नेत्र सम्बन्धी बाह्य दोषों से सूर्य लिप्त नहीं होता। उसी तरह सर्व प्राणियों का अन्तरात्मा तो एक ही है, फिर भी वह संसार के दुःखों से लिप्त नहीं होता, किन्तु उनसे वह बाहर ही रहता है।

एको वशी सर्वभूतान्तरात्मा एकं रूपं बहुधा यः करोति ।
तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरास्तेषां सुखं शाश्वतं नेतरेषाम् ॥12॥

सदैव सभी के अन्तरात्मा के रूप में स्थित, अद्वितीय, सभी प्राणियों को अपने वश में रखनेवाला वही सर्वशक्तिमान परमेश्वर अपने एक ही रूप को लीला से अनेक प्रकार का बना देता है, ऐसे परमात्मा को जो ज्ञानी पुरुष अपने भीतर अवस्थित देखते हैं, उन्हीं को शाश्वत आनन्द प्राप्त होता है, दूसरों को नहीं।

नित्योऽनित्यानां चेतनश्चेतनानामेको बहूनां यो विदधाति कामान् ।
तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरास्तेषां शान्तिः शाश्वती नेतरेषाम् ॥13॥

वह परमात्मा नित्यों का (जीवों का) भी नित्य है, जो चैतन्यों का भी चैतन्य है, जो अकेला ही अनेक जीवों की कामनाओं का विधान करता है; जो ज्ञानी लोग ऐसे परमेश्वर को अपने भीतर ही सदा देखा करते हैं, उन्हीं को शाश्वत शान्ति मिलती है, दूसरों को नहीं।

तदेतदिति मन्यन्तेऽनिर्देश्यं परमं सुखम् ।
कथं नु तद्विजानीयां किमु भाति विभाति वा ॥14॥

वह अनिर्वचनीय परम सुख यह परमात्मा ही है, ऐसा ज्ञानी लोग मानते हैं। उसे मैं कैसे ठीक से समझ सकता हूँ कि वह किस प्रकार प्रत्यक्षतः प्रकट होता है या वह अनुभव में आता है ? (मेरे लिए यह संभव नहीं।)

न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः ।
तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति ॥15॥

इति द्वितीयेऽध्याये पञ्चमी वल्ली ॥5॥
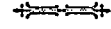
वहाँ न तो सूर्य प्रकाशित होता है, न ही चन्द्र और तारागण ही प्रकाशित होते हैं। वहाँ बिजली भी चमकती नहीं है। तो फिर यह लौकिक अग्नि भला कैसे प्रकाशित हो सकता है ? क्योंकि उसी (परमेश्वर) के प्रकाश से तो वे सब प्रकाशित हो सकते हैं।

इस प्रकार कठोपनिषद् के द्वितीय अध्याय में पञ्चम वल्ली समाप्त हुई।

षष्ठी वल्ली

ऊर्ध्वमूलोऽवाक्शाख एषोऽश्वत्थः सनातनः ।
तदेव शुक्रं तद्ब्रह्म तदेवामृतमुच्यते ॥
तस्मिँल्लोकाः श्रिताः सर्वे तदु नात्येति कश्चन । एतद्वै तत् ॥1॥

जिसका मूल ऊपर की ओर है और शाखाएँ नीचे की ओर हैं, ऐसा यह अश्वत्थ वृक्ष सनातन (अनादि) काल से चला आ रहा है। वही ज्योतिःस्वरूप है, वही ब्रह्म है और वही अमृत कहा जाता है। सभी लोग उसी का आश्रय ग्रहण किए हुए हैं। कोई भी उसे लाँघ नहीं सकता। सचमुच वही ब्रह्म है।

यदिदं किंच जगत्सर्वं प्राण एजति निःसृतम् ।
महद्भयं वज्रमुद्यतं य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति ॥2॥

परब्रह्म परमात्मा से निकला हुआ यह जो कुछ भी सम्पूर्ण जगत् है, वह अपने प्राणस्वरूप (परमकारणस्वरूप) परमेश्वर में ही चेष्टा करता है (तात्पर्य यह है कि जगत् की सम्पूर्ण गति का आश्रय परमेश्वर ही है)। उद्यत वज्र की तरह भय उत्पन्न करनेवाले इस परमेश्वर को जो जान लेते हैं, वे अमर हो जाते हैं।

भयादस्याग्निस्तपति भयात्तपति सूर्यः ।
भयादिन्द्रश्च वायुश्च मृत्युर्धावति पञ्चमः ॥3॥

इस परमेश्वर के भय से अग्नि जलता है, इसी के भय से सूर्य प्रकाशित होता है और इसी के भय से इन्द्र, वायु और मृत्यु अपने-अपने कार्यों में नियमानुसार निमग्न रहते हैं।

इह चेदशकद्बोद्धुं प्राक् शरीरस्य विस्रसः ।
ततः सर्गेषु लोकेषु शरीरत्वाय कल्पते ॥4॥

यदि शरीर का पतन होने से पहले इस मनुष्य-शरीर में ही (साधक) परमात्मा का साक्षात्कार करने में समर्थ हुआ (तब तो अच्छी बात है) और यदि नहीं हुआ तो अनेक कल्पों तक विविध लोकों और योनियों में शरीर धारण करने के लिए मजबूर होता है।

यथादर्शे तथाऽऽत्मनि यथा स्वप्ने तथा पितृलोके ।
यथाप्सु परीव ददृशे तथा गन्धर्वलोके छायातपयोरिव ब्रह्मलोके ॥5॥

जिस प्रकार दर्पण में सामनेवाली वस्तु दिखाई देती है, उसी प्रकार शुद्ध अन्तःकरण में ब्रह्म के दर्शन होते हैं। जिस प्रकार स्वप्न में वस्तु अस्पष्ट दिखाई देती है, उसी तरह पितृलोक में परमात्मा दिखाई देते हैं। जिस प्रकार पानी में वस्तु के रूप का प्रतिबिम्ब पड़ता है, उसी प्रकार गंधर्वलोक में परमात्मा की आभा जैसा कुछ दिखाई पड़ता है, परन्तु ब्रह्मलोक में तो परमात्मा का स्वरूप छाया और आतप (धूप) की भाँति स्पष्ट रूप से अलग-अलग-से दिखाई पड़ते हैं। (यहाँ दर्पण = निर्मल अन्तःकरण, स्वप्न = जाग्रत् वासनाएँ आदि के सूचक हैं)।

इन्द्रियाणां पृथग्भावमुदयास्तमयौ च यत् ।
पृथगुत्पद्यमानानां मत्वा धीरो न शोचति ॥6॥

अपने-अपने कारण की वजह से भिन्न-भिन्न रूपों में उत्पन्न हुई इन्द्रियों की जो अलग-अलग प्रकार की सत्ता है और उनका उदय और अस्त होने का जो स्वभाव है, उसे पहचान कर उन इन्द्रियों से आत्मा का स्वरूप अलग ही है—ऐसा समझने वाला धीर (ज्ञानी) पुरुष कभी शोक नहीं करता।

इन्द्रियेभ्यः परं मनो मनसः सत्त्वमुत्तमम् ।
सत्त्वादपि महानात्मा महतोऽव्यक्तमुत्तमम् ॥7॥

इन्द्रियों से मन श्रेष्ठ है, मन से बुद्धि उच्चतर है, बुद्धि से भी उसका स्वामी जीवात्मा श्रेष्ठ है, और उस जीवात्मा से (महत्तत्त्वरूप जीवात्मा से) अव्यक्त शक्ति श्रेष्ठ है। (कठ. 1.3.10 की भाँति)

अव्यक्तात्तु परः पुरुषो व्यापकोऽलिङ्ग एव च ।
यं ज्ञात्वा मुच्यते जन्तुरमृतत्वं च गच्छति ॥8॥

परन्तु उस अव्यक्त से भी उसका स्वामी परमपुरुष परमात्मा श्रेष्ठ है। वह व्यापक है और सर्वथा निराकार ही है। जिसे जानकर जीवात्मा बन्धनमुक्त हो जाता है और अमृतस्वरूप ब्रह्म को प्राप्त करता है।

न संदृशे तिष्ठति रूपमस्य न चक्षुषा पश्यति कश्चिदेनम् ।
हृदा मनीषा मनसाऽभिक्लृप्तो य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति ॥9॥

इस परमेश्वर का वास्तविक स्वरूप हमारे समक्ष प्रत्यक्ष विषय के रूप में टिक नहीं सकता। इसको कोई भी अपने चर्मचक्षुओं से देख नहीं पाता। मन से बार-बार चिन्तन करके ध्यान में लाया गया वह परमात्मा निर्मल और निश्चल हृदय से तथा विशुद्ध बुद्धि से देखा जा सकता है। जो उसे पहचान लेते हैं, वे अमृत (आनंद) स्वरूप हो जाते हैं।

यदा पञ्चावतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह ।
बुद्धिश्च न विचेष्टति तामाहुः परमां गतिम् ॥10॥

जब मन के साथ पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ ठीक तरह से स्थिर हो जाती हैं और बुद्धि भी किसी प्रकार की चेष्टा नहीं करती, तब उस स्थिति को योगी लोग 'परमगति' कहते हैं।

तां योगमिति मन्यन्ते स्थिरामिन्द्रियधारणाम् ।
अप्रमत्तस्तदा भवति योगो हि प्रभवाप्ययौ ॥11॥

इन्द्रियों की उस स्थिर धारणा को ही योगी लोग 'योग' मानते हैं। क्योंकि उस समय साधक प्रमादरहित हो जाता है। योग उदय और अस्त होनेवाला होता है। (इसलिए साधक को सावधान रहकर निरन्तर योगस्थ रहने का प्रयत्न करना चाहिए।)

नैव वाचा न मनसा प्राप्तुं शक्यो न चक्षुषा ।
अस्तीति ब्रुवतोऽन्यत्र कथं तदुपलभ्यते ॥12॥

वह परब्रह्म परमेश्वर न तो वाणी से या न ही मन से प्राप्त किया जा सकता है और नेत्रों से भी प्राप्त नहीं किया जा सकता। तब फिर "यह आत्मा है ही"—ऐसा कहने वालों के सिवा अन्य के द्वारा भला कैसे प्राप्त किया जा सकता है ?

अस्तीत्येवोपलब्धव्यस्तत्त्वभावेन चोभयोः ।
अस्तीत्येवोपलब्धस्य तत्त्वभावः प्रसीदति ॥13॥

इसलिए इस परमात्मा को प्रथम तो "वह अवश्य है"—इस प्रकार निश्चयपूर्वक ग्रहण करना चाहिए। (तात्पर्य यह कि पहले उसके अस्तित्व का दृढ निश्चय कर लेना चाहिए) । उसके बाद तत्त्वभाव से (स्वरूप भाव से) भी उसे प्राप्त करना चाहिए। इन दोनों प्रकारों में से "वह अवश्य है ही"—इस प्रकार निश्चयपूर्वक परमात्मसत्ता को स्वीकार करनेवाले साधक के लिए उस परमात्मा का पारमार्थिक स्वरूप उसके निर्मल चित्त में यों ही साक्षात् हो जाता है।

यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि स्थिताः ।
अथ मर्त्योऽमर्त्यो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते ॥14॥

इस साधक के हृदय में अवस्थित सारी कामनाएँ जब पूर्णतः छूट जाती हैं, तब मरणधर्मा मानव अमर हो जाता है। और वह यहीं अर्थात् इसी लोक में ब्रह्म का अच्छी तरह से अनुभव कर लेता है (जीवन्मुक्त हो जाता है) ।

यदा सर्वे प्रभिद्यन्ते हृदयस्येह ग्रन्थयः ।
अथ मर्त्योऽमर्त्यो भवत्येतावद्ध्यनुशासनम् ॥15॥

जब साधक के हृदय की सब ग्रन्थियाँ (अहंता-ममतारूप संशय) पूर्ण रूप से खुल जाती हैं, तब मरणधर्मा मनुष्य इसी शरीर में अमर हो जाता है। बस इतना ही सनातन उपदेश है।

शतं चैका च हृदयस्य नाड्यस्तासां मूर्धानमभिनिःसृतैका ।
तयोर्ध्वमायन्नमृतत्वमेति विष्वङ्ङन्या उत्क्रमणे भवन्ति ॥16॥

हृदय में सब मिलाकर एक सौ एक नाडियाँ हैं। उनमें से एक मस्तक (भाल प्रदेश) की ओर निकली हुई है। (उसी को 'सुषुम्णा' कहा जाता है) । मनुष्य उस नाडी के द्वारा ऊपर के लोक में जाकर अमृतभाव को प्राप्त हो जाता है। शेष अन्य सौ नाडियाँ मरणकाल में जीव को तरह-तरह की योनियों में ले जाने का कारण बनती हैं।

अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषोऽन्तरात्मा सदा जनानां हृदये सन्निविष्टः ।
तं स्वाच्छरीरात्प्रवृहेन्मुञ्जादिवेषीकां धैर्येण ।
तं विद्याच्छुक्रममृतं तं विद्याच्छुक्रममृतम् ॥17॥

सर्वान्तर्यामी, अंगुष्ठमात्र परिमाणवाला, परमपुरुष सदैव हृदय में प्रतिष्ठित है। इस आत्मा को मुंज से शलाका की तरह धैर्य से अलग करके जिसने देखा है, उसी को विशुद्ध अमृतस्वरूप जानना चाहिए।

मृत्युप्रोक्तां नचिकेतोऽथ लब्ध्वा विद्यामेतां योगविधिं च कृत्स्नम् ।
ब्रह्मप्राप्तो विरजोऽभूद्विमृत्युरन्योऽप्येवं यो विदध्यात्ममेव ॥18॥

इति द्वितीयेऽध्याये षष्ठी वल्ली ।

इति द्वितीयोऽध्यायः समाप्तः ॥2॥

इति यजुर्वेदीयकठोपनिषत् समाप्ता ॥
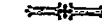
इस तरह उपदेश सुनकर नचिकेता यमराज की कही हुई इस विद्या को और संपूर्ण योगविधि को सुनकर, मृत्युरहित और विशुद्ध (विकारशून्य) होकर ब्रह्म को प्राप्त हो गया। यदि कोई अन्य व्यक्ति भी इस अध्यात्मविद्या को इस तरह जानेगा, तो वह भी वैसा ही (ब्रह्मसाक्षात्कारी) हो जाएगा।

इस प्रकार कठोपनिषद् के द्वितीय अध्याय की षष्ठ वल्ली समाप्त हुई ।

इस प्रकार कठोपनिषत् समाप्त होती है ।

शान्तिपाठः

ॐ सह नाववतु । सह नौ भुनक्तु । सह वीर्यं करवावहै ॥
तेजस्विनावधीतमस्तु मा विद्विषावहै ॥
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

(4) प्रश्नोपनिषत्

(उपनिषत्परिचय)

परम्परानुसार यह उपनिषद् अथर्ववेद के अन्तर्गत मानी जाती है। शंकराचार्य ने इसी वेद की मुण्डकोपनिषद् को 'मन्त्र' कहा है और इस उपनिषद् को 'ब्राह्मण' कहा है। प्राचीन और प्रमाणभूत शास्त्ररूप मानी गई दस उपनिषदों में इस उपनिषद् का भी स्थान है। इसमें छ: प्रश्न और उनके उत्तर होने से इसे 'प्रश्नोपनिषद्' कहा गया है। इसे 'षट्प्रश्नोपनिषद्' भी कहते हैं। इसमें गद्यात्मक मंत्रों की कुल संख्या 67 है।

सुकेशादि छ: ब्रह्मजिज्ञासु मुनि प्रसिद्ध ब्रह्मनिष्ठ पिप्पलाद मुनि के पास समित्पाणि होकर शास्त्रानुसार ब्रह्मज्ञान के लिए गए। पिप्पलाद ने उनसे एक साल तक अपने घर में रहकर तपश्चरण करने को कहा। पिप्पलाद की सूचना का यथा पालन करके वे जब उनके सामने प्रश्न लेकर उपस्थित हुए तो प्रत्येक ने अपना एक-एक प्रश्न पूछा और पिप्पलाद ने उन सभी प्रश्नों का परितोषजनक उत्तर भी दिया।

पिप्पलादमुनि के पास आए हुए ये सभी ब्रह्मजिज्ञासु बड़े बुद्धिशाली थे। उन्होंने उनसे बहुत सुन्दर प्रश्न पूछे—'हम कहाँ से आते हैं ?' 'जीवन का मूलस्रोत कौन-सा है ?' 'कौन से अवयव (इन्द्रियाँ) प्रकाश देते हैं ?' 'उनमें मुख्य अवयव कौन-सा है ?' 'यह प्राण (संजीवनी शक्ति) कहाँ से आती है ?' 'देह में वह कैसे आ जाती है ?' 'इससे फिर अलग क्यों हो जाती है ?' 'निद्रित कौन होता है ?' 'जागता कौन है ?' 'स्वप्न में क्या होता है ?' 'सुख का मूल क्या है ?' 'ॐ के ध्यान से कौन-सी गति और प्राप्ति होती है ?' और 'परम सत् क्या है और कहाँ रहता है ?'

इस उपनिषद् के छ: प्रकरण हैं और उन्हें 'प्रश्न' नाम दिया गया है। प्रथम प्रश्न में 16, द्वितीय में 13, तृतीय में 12, चतुर्थ में 11, पंचम में 7 और षष्ठ में 8 मंत्र हैं। कुल मिलाकर 67 गद्यकण्डिकाएँ (मंत्र) हैं। इस उपनिषद् की मुण्डकोपनिषद् के साथ बहुत-कुछ समानता देखकर कुछ लोग तो यहाँ तक कह देते हैं कि मुण्डक ही मूल ग्रन्थ है और 'प्रश्न' तो उसकी व्याख्या ही है। मुण्डकोपनिषद् में आए हुए कुछ गद्यांशों को छोड़कर शेष पूरी पद्य में लिखी गई है, जब कि 'प्रश्नोपनिषद्' पूरी गद्य-रचना है।

प्रश्नोपनिषद् के प्रश्न क्रमश: आगे बढ़ते रहते हैं। यह परिवर्तनशील जगत्, जगत् की चलती-फिरती हस्तियाँ, उन सबका कोई एक समान मूल, उसको खोजने के लिए अन्तर्दृष्टि, विराट् का भीतर में दर्शन, बाहर-भीतर का ऐक्य—इस प्रकार बढ़ते-बढ़ते अन्त में इस उपनिषद् का अद्वैत में पर्यवसान होता है।

शान्तिपाठ:

ॐ भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः ।
स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवाꣳसस्तनूभिर्व्यशेम देवहितं यदायुः ।
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

हे देवो ! हम अपने कानों से केवल कल्याणकारी बातें ही सुना करें। जिन्हें हम पूजते हैं, ऐसे हे देवो ! हम अपनी आँखों से केवल शुभ दृश्यों को ही देखा करें। हम अपने सुदृढ़ अंगों से युक्त शरीर के द्वारा आपकी स्तुति करते रहें। हम देवों का दिया हुआ जितना आयुष्य है, उसे भोगते रहें।

वैयक्तिक शान्ति हो, पर्यावरणीय शान्ति हो, प्राणीजगत् की शान्ति हो।

अथ प्रथमः प्रश्नः

ॐ सुकेशा च भारद्वाजः, शैब्यश्च सत्यकामः, सौर्यायणी च गार्ग्यः कौसल्यश्चाश्वलायनो, भार्गवो वैदर्भिः, कबन्धी कात्यायनस्ते हैते ब्रह्मपरा ब्रह्मनिष्ठाः परं ब्रह्मान्वेषमाणा एष ह वै तत्सर्वं वक्ष्यतीति ते ह समित्पाणयो भगवन्तं पिप्पलादमुपसन्नाः ॥1॥

भरद्वाज का पुत्र सुकेशा, शिबि का पुत्र सत्यकाम, गर्ग वंश का सौर्यायणी, अश्वल का पुत्र कौसल्य, विदर्भनिवासी भृगुपुत्र और कात्य का पुत्र कबन्धी—ये सब लोग ब्रह्म की जिज्ञासा करनेवाले एवं ब्रह्म के सिवा और किसी से भी सम्बन्ध नहीं रखने वाले थे। वे ब्रह्म-विषयक सब कुछ जानना चाहते थे। "यह पुरुष हमें ब्रह्म के विषय में सब कुछ कहने में समर्थ होगा"—ऐसा मन में सोचकर वे गुरु पिप्पलाद के पास हाथ में यज्ञकाष्ठ लेकर गए।

तान् ह स ऋषिरुवाच भूय एव तपसा ब्रह्मचर्येण श्रद्धया संवत्सरं संवत्स्यथ यथाकामं प्रश्नान् पृच्छथ यदि विज्ञास्यामः सर्वं ह वो वक्ष्याम इति ॥2॥

ऋषि ने तब उनसे कहा—"तुम लोग तपश्चर्या, ब्रह्मचर्य और गुरु एवं शास्त्रों पर श्रद्धा रखकर मेरे पास और एक वर्ष तक रहो और उसके बाद तुम मुझसे चाहे कोई भी प्रश्न पूछ लो। मैं अपनी पूरी शक्ति का उपयोग करके, यदि मैं जानता होऊँगा तब मैं उत्तर दूँगा।"

अथ कबन्धी कात्यायन उपेत्य पप्रच्छ भगवन् कुतो ह वा इमाः प्रजाः प्रजायन्त इति ॥3॥

एक वर्ष के बाद कात्य का पुत्र कबन्धी पिप्पलाद के पास आया और उसने पूछा—"हे भगवन् ! ये सब प्राणी कहाँ से आते हैं ?"

तस्मै स होवाच प्रजाकामो वै प्रजापतिः स तपोऽतप्यत स तपस्तप्त्वा स मिथुनमुत्पादयते रयिं च प्राणं चेत्येतौ मे बहुधा प्रजाः करिष्यत इति ॥4॥

तब पिप्पलाद ने उससे कहा कि—"सन्तानप्राप्ति के इच्छुक होकर प्रजापति ने तपश्चर्या की। उनको ऐसा लगा कि उनके पास अन्न (चन्द्र) हो और उस अन्न को कोई खानेवाला (सूर्य) हो, तब ये दोनों परस्पर मिलकर प्रजा उत्पन्न कर सकते हैं।"

आदित्यो ह वै प्राणो रयिरेव चन्द्रमा रयिर्वा एतत्सर्वं यन्मूर्तं चामूर्तं च तस्मान्मूर्तिरेव रयिः ॥5॥

आदित्य (सूर्य) जीवन है और चन्द्र ही अन्न है। जो कुछ भी स्थूल (कार्यरूप) है अथवा सूक्ष्म (कारणरूप) है, यह सब अन्न ही है। इसलिए स्थूल तो अन्न ही है, क्योंकि वह कार्यरूप (मूर्ति) ही तो है।

अथादित्य उदयन्यत्प्राचीं दिशं प्रविशति तेन प्राच्यान्प्राणान् रश्मिषु संनिधत्ते। यद् दक्षिणां यत्प्रतीचीं यदुदीचीं यदधो यदूर्ध्वं यदन्तरा दिशो यत्सर्वं प्रकाशयति तेन सर्वान्प्राणान् रश्मिषु संनिधत्ते ॥6॥

जिस प्रकार सूर्य उदित होते ही तुरन्त पूर्व दिशा की ओर प्रविष्ट होता है और अपनी किरणों के द्वारा वह पूर्व दिशा के सभी पदार्थों पर छा जाता है। इसी तरह वह दक्षिण दिशा, उत्तर दिशा, पश्चिम दिशा, ऊपर, नीचे, बीच में—चारों ओर सभी जीवित प्राणियों को घेरकर सभी प्राणियों को प्रकाश और जीवन देता है, इसी तरह सभी जगह अपनी किरणें फैलाकर सूर्य वही कार्य करता है।

स एष वैश्वानरो विश्वरूपः प्राणोऽग्निरुदयते। तदेतदृचाऽभ्युक्तम् ॥7॥

इन सभी प्राणियों में अन्तर्हित होने के कारण इस उदीयमान सूर्य को वैश्वानर कहा जाता है। इस विश्व के सभी रूप उसी के ही हैं, इसलिए उसे 'विश्वरूप' भी कहा जाता है। वह जीवनपोषक अग्नि है। वह उदित होता है—अर्थात् क्षितिज पर आदित्य (सूर्य) रूप से वह प्रकट होता है। इसके विषय में ऋग्वेद के इस मंत्र में कहा गया है।

विश्वरूपं हरिणं जातवेदसं परायणं ज्योतिरेकं तपन्तम्।
सहस्ररश्मिः शतधा वर्तमानः प्राणः प्रजानामुदयत्येष सूर्यः ॥8॥

अपनी असंख्य किरणों के साथ सूर्य उदित हो रहा है। वह अनेकानेक रूपों में दिखाई पड़ रहा है। समग्र सजीव सृष्टि का वह संजीवनीरूप है। (विद्वान् लोग सूर्य के विषय में ऐसा कहते हैं कि—) वह सभी जगह और अस्तित्ववाले सभी रूपों में उपस्थित रहता है। वह सभी का आधार है और सभी का एकमात्र प्रकाश है। यही सभी का उष्मादायक है।

संवत्सरो वै प्रजापतिस्तस्यायने दक्षिणं चोत्तरं च। तद्ये ह वै तदिष्टापूर्ते कृतमित्युपासते ते चान्द्रमसमेव लोकमभिजयन्ते। त एव पुनरावर्तन्ते तस्मादेत ऋषयः प्रजाकामा दक्षिणं प्रतिपद्यन्ते। एष ह वै रयिर्यः पितृयाणः ॥9॥

जो वर्ष है, वह प्रजापति का प्रतीक है अर्थात् वह प्राणियों का स्वामी है। वह दो दिशाओं में घूमता है—दक्षिण और उत्तर दिशाओं में। जो लोग सदैव वैदिक विधि-विधानों में डूबे हुए रहते हैं और जो लोग जनकल्याण के अन्य कार्य करते रहते हैं और अपने उन कार्यों के लिए गौरव का अनुभव करते रहते हैं, वे लोग अन्त में चन्द्रलोक में जाते तो हैं, किन्तु मर्यादित समय के लिए ही (क्योंकि उसके बाद अनिवार्यरूप से) मर्त्यलोक में वापस लौट आते हैं। इसलिए कामनावाले मनुष्य दक्षिण मार्ग में जाते हैं। 'पितृयाण' (पितृलोक का) वह मार्ग 'रयि' नाम से प्रसिद्ध है।

अथोत्तरेण तपसा ब्रह्मचर्येण श्रद्धया विद्ययात्मानमन्विष्यादित्यमभि-

जयन्ते। एतद्वै प्राणानामायतनमेतदमृतमभयमेतत्। परायणमेतस्मान्न पुनरावर्तन्त इत्येष निरोधस्तदेष श्लोकः ॥10॥

परन्तु अन्य कुछ लोग ऐसे भी हैं कि जो तप करके और संयम रखकर, गुरु और शास्त्रों में श्रद्धा रखते हुए, शास्त्राध्ययनपूर्वक आत्मा को खोजकर उत्तर के मार्ग पर जाकर सम्पूर्णतया आदित्य की कक्षा प्राप्त करते हैं। समग्र सजीव सृष्टि का आधार यह आदित्य है। इसी अवस्था को 'अमरत्व' या 'भय का अतिक्रमण' कहा जाता है। मनुष्य के लिए यह उत्तमोत्तम की प्राप्ति है। एक बार इस अवस्था को प्राप्त कर लेने के बाद मनुष्य को फिर इस मर्त्यलोक में नहीं आना पड़ता। यह जीवनयात्रा का पूर्णविराम है। इस विषय को यह अग्रिम श्लोक स्पष्ट करता है।

पञ्चपादं पितरं द्वादशाकृतिं दिव आहुः परे अर्धे पुरीषिणम्।
अथेमे अन्य उ परे विचक्षणं सप्तचक्रे षडर आहुरर्पितमिति ॥11॥

(जो काल का स्वरूप जानते हैं, वे आदित्य का इस प्रकार वर्णन करते हैं कि—) वह पाँच पैरवाला (पाँच ऋतुओं वाला) है, वह बारह स्वरूप वाला (मासवाला) है, स्वर्ग और पृथ्वी के बीच के अवकाश (अन्तरिक्ष) में रहता है, यह जल की वर्षा करता है। (अन्य विद्वान् ऐसा कहते हैं कि कैसा भी हो, आदित्य सर्वज्ञ तो है ही। वे लोग कहते हैं कि) वह (आदित्य) सात पहियोंवाले रथ पर सवारी करता है, और प्रत्येक पहिये में छः-छः आरे जोड़े गये हैं और उस पर यह जगत् आश्रय लेता है।

मासो वै प्रजापतिस्तस्य कृष्णपक्ष एव रयिः शुक्लः प्राणस्तस्मादेते ऋषयः शुक्ल इष्टिं कुर्वन्तीतर इतरस्मिन् ॥12॥

संवत्सर की तरह मास को भी प्रजापति के रूप में लिया जा सकता है। ऐसा प्रतीक लें तो कृष्णपक्ष को अन्न (चन्द्र = रयि) मानना चाहिए और शुक्लपक्ष यहाँ प्राणरूप (जीवनरूप) है। (आदित्य = अन्न खानेवाला है) इसलिए प्राण की (जीवन की) रक्षा चाहनेवाले ऋषिलोग शुक्लपक्ष में ही वेदविहित विधि-विधानों के अनुष्ठान करते हैं और अन्य लोग किसी तरह ये अनुष्ठान कृष्णपक्ष में करते हैं।

अहोरात्रो वै प्रजापतिस्तस्याहरेव प्राणो रात्रिरेव रयिः प्राणं वा एते प्रस्कन्दन्ति ये दिवा रत्या संयुज्यन्ते ब्रह्मचर्यमेव तद्यद्रात्रौ रत्या संयुज्यन्ते ॥13॥

'दिन-रात्रि' को भी प्रजापति के प्रतीक के रूप में लिया जा सकता है। ऐसा करने में 'दिवस' प्रजापति का प्राण अर्थात् जीवन (माना जाता) है और रात्रि उसका अन्न है (रयि है)। जो लोग दिवस के भाग में इन्द्रियसुखों में डूबे हुए रहते हैं, वे जीवन को हानि पहुँचाते हैं; जो लोग रात्रि के समय में इन्द्रियसुखों में मग्न बनते हैं, वह तो ब्रह्मचर्य (आत्मसंयम जैसा) ही है।

अन्नं वै प्रजापतिस्ततो ह वै तद्रेतस्तस्मादिमाः प्रजाः प्रजायन्त इति ॥14॥

(मानो) अन्न ही प्रजापति है। उस अन्न में से जीवन का बीज (वीर्यरूप में) आता है। उस बीज में से ये सब सजीव व्यक्ति उत्पन्न होते हैं।

तद्ये ह वै तत्प्रजापतिव्रतं चरन्ति ये मिथुनमुत्पादयन्ते।
तेषामेवैष ब्रह्मलोको येषां तपो ब्रह्मचर्यं येषु सत्यं प्रतिष्ठितम् ॥15॥

इसलिए जो लोग प्रजापति के उन नियमों का पालन करते हैं (प्रजापतितुल्य जीवनवाले होते हैं), वे लोग प्रजापति की तरह और उनके जैसी ही प्रजा को उत्पन्न करते हैं। ऐसे लोगों में से कुछ लोग ऐसे भी होते हैं, जो कि केवल तपोयुक्त और तीव्र आत्मसंयमी जीवन जीते है, तो ये लोग भी दृढतापूर्वक सत्य में प्रतिष्ठित होते हैं। (ऐसे लोग पहले पितृलोक में जाकर वहाँ अपना सम्बन्ध पूरा करके ब्रह्मलोक में जाते हैं।)

तेषामसौ विरजो ब्रह्मलोको न येषु जिह्ममनृतं न माया चेति ॥16॥

इति प्रथमः प्रश्नः ॥1॥

जिन लोगों में वक्रता, अप्रामाणिकता और चालाकी का लेश भी न हो, ऐसे लोगों को ही ब्रह्मलोक में स्थान मिलता है।

इस प्रकार प्रश्नोपनिषद् में प्रथम प्रश्न समाप्त हुआ।

अथ द्वितीयः प्रश्नः

अथ हैनं भार्गवो वैदर्भिः पप्रच्छ। भगवन् कत्येव देवाः प्रजां विधारयन्ते कतर एतत्प्रकाशयन्ते कः पुनरेषां वरिष्ठ इति ॥1॥

इसके बाद उनसे (पिप्पलाद से) विदर्भवासी भार्गव ने (भृगु के पुत्र ने) पूछा कि—हे भगवन्! मुख्य रूप में कितनी इन्द्रियाँ प्राणियों के शरीरों को टिकाए रखती हैं ? उनमें से कौन-सी इन्द्रिय शरीर को प्रकाशित करती है ? और भी उनमें से कौन-सी सबसे अधिक महत्त्व रखती है ?

तस्मै स होवाचाकाशो ह वा एष देवो वायुरग्निरापः पृथिवी वाङ्मनश्चक्षुः श्रोत्रं च। ते प्रकाश्याभिवदन्ति वयमेतद्बाणमवष्टभ्य विधारयामः ॥2॥

महर्षि पिप्पलाद ने उनसे (भार्गव ऋषि से) कहा कि वह देव तो आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी और अन्य ज्ञानेन्द्रियाँ, मन, आँख, कान और अन्य कर्मेन्द्रियाँ भी हैं। वे सभी इन्द्रियाँ एक बार अपनी-अपनी शक्तियों को प्रकाशित करके गर्वपूर्वक कहने लगीं कि—"हम ही इस शरीर को शक्ति देकर धारण कर रहे हैं अर्थात् इसके आश्रयदाता हैं।"

तान्वरिष्ठः प्राण उवाच मा मोहमापद्यथा। अहमेवैतत्पञ्चधात्मानं प्रविभज्यैतद्बाणमवष्टभ्य विधारयामीति तेऽश्रद्दधाना बभूवुः ॥3॥

तब मुख्य प्राण उन इन्द्रियों से कहने लगा कि—"यह (शरीरविधारण के विषय में स्वयं को ही मुख्य मानने की) भूल मत करो। (सच बात तो यह है कि) मैं ही अपने आपको पाँच अलग-अलग शक्तियों में विभक्त कर देता हूँ और इस शरीर को घुमाने-फिराने के लिए उन शक्तियों का उपयोग करता हूँ। शरीर को आश्रय प्रदान करने का पूर्ण उत्तरदायित्व मेरा ही है।" परन्तु ज्ञानेन्द्रियों ने उस पर *विश्वास नहीं किया।*

सोऽभिमानादूर्ध्वमुत्क्रामत इव तस्मिन्नुत्क्रामत्यथेतरे सर्व एवोत्क्रामन्ते तस्मिंश्च प्रतिष्ठमाने सर्व एव प्रतिष्ठन्ते। तद्यथा मक्षिका मधुकर-राजानमुत्क्रामन्तं सर्वा एवोत्क्रामन्ते तस्मिंश्च प्रतिष्ठमाने सर्वा एव प्रतिष्ठन्त एवं वाङ्मनश्चक्षुः श्रोत्रं च ते प्रीताः प्राणं स्तुन्वन्ति ॥4॥

सभी करणों में—इन्द्रियों का प्रधान ऐसा प्राण (इन्द्रियों के किए हुए अपमान से) आहत हो उठा और इसलिए उसने मानो ऊपर उठ जाने का-सा व्यवहार किया (अर्थात् शरीर को छोड़ देने का-सा बर्ताव किया)। पर ज्यों ही उसने शरीर छोड़ना शुरू किया, त्यों ही अन्य इन्द्रियों ने भी उसी तरह उसका अनुसरण किया और जब वह फिर से जाकर अपने स्थान पर स्थिर हुआ, तो अन्य इन्द्रियों ने भी ऐसा ही किया। जिस तरह मधुमक्खियों की रानी जब छत्ता छोड़ती है, तो मधुमक्खियों का सारा झुण्ड भी छत्ता छोड़ ही देता है और जब वह रानी मक्खी उस मधु के छत्ते में स्थिर रहती है, तो शेष सब मधुमक्खियाँ भी वैसा ही करती हैं। वाणी, मन, आँख और कान—ये सब करण (ज्ञानेन्द्रियाँ) इन मधुमक्खियों जैसी ही हैं। ऐसा होने के बाद वे इन्द्रियाँ प्राण पर प्रसन्न होकर प्राण की स्तुति करने लगीं।

**एषोऽग्निस्तपत्येष सूर्य एष पर्जन्यो मघवानेष वायुः।
एष पृथिवी रयिर्देवः सदसच्चामृतं च यत् ॥5॥**

यह प्राण अग्निरूप है जो हमें उष्णता देता है। यह प्राण सूर्य भी है और यही वर्षा देता है। इन्द्र के रूप में यही प्राण (सबकी देखभाल करता है) वही पृथ्वी है, वही रयि (चन्द्र) है। वही सर्वत्र उपस्थित है। वह सबको प्रकाशित करता है। सार यह है कि वह स्थूल अर्थात् कार्यरूप भी है और सूक्ष्म अर्थात् कारणरूप भी है। यह प्राण शाश्वत है।

**अरा इव रथनाभौ प्राणे सर्वं प्रतिष्ठितम्।
ऋचो यजूंषि सामानि यज्ञः क्षत्रं ब्रह्म च ॥6॥**

रथ के पहियों की धुरी पर जिस तरह आरे जड़े हुए रहते हैं, ठीक उसी तरह प्राण में इस विश्व का सब कुछ जड़ा हुआ रहता है। ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद—यह वेदत्रयी और यज्ञ के विधि-विधान तथा क्षत्रिय एवं ब्राह्मण भी इस पर आधारित हैं।

**प्रजापतिश्चरसि गर्भे त्वमेव प्रतिजायसे।
तुभ्यं प्राणस्त्विमा बलिं हरन्ति यः प्राणैः प्रतितिष्ठसि ॥7॥**

(प्राण की स्तुति करती हुई इन्द्रियाँ कहती हैं कि—) आप (प्राण) ही तो प्रजापति (प्राणियों के स्वामी) के रूप में माता के गर्भ में संचार करते हैं। आप (प्राण) ही अपने माता-पिता के द्वारा उनके जैसे ही रूप में जन्म लेते हैं। हे प्राण! आप हर एक शरीर में इन्द्रियों के स्वामी के रूप में हैं। मनुष्य जैसे सभी प्राणी उनकी इन्द्रियों की सहायता से आपके लिए अपनी ओर से बलि (उपहार) आपको देते हैं। (वह उपहारों की श्रेष्ठता है)।

**देवानामसि वह्नितमः पितृणां प्रथमा स्वधा।
ऋषीणां चरितं सत्यमथर्वाङ्गिरसामसि ॥8॥**

आप देवों को दिए गए बलि के श्रेष्ठ अग्निरूप वाहक हैं। पहले पितृओं को (पूर्वजों को) दिए गए खाद्यान्न के रूप में भी तो आप ही हैं। ऋषियों के द्वारा परिशीलन किया गया सत्य भी आप ही

हैं। अंगिरस ऋषियों में (अर्थात् इन्द्रियों में) अथर्वा (अर्थात् प्राण) भी आप ही हैं। (क्योंकि आप ही इन्द्रियों को सही रूप में कार्यशील बनानेवाले हैं।)

इन्द्रस्त्वं प्राण तेजसा रुद्रोऽसि परिरक्षिता ।
त्वमन्तरिक्षे चरसि सूर्यस्त्वं ज्योतिषां पतिः ॥9॥

हे प्राण ! आप देवों के राजा इन्द्र हैं। आप अपने तेज से सभी का नाश करनेवाले रुद्र भी हैं और साथ-ही-साथ सभी का रक्षण करनेवाले भी तो आप ही हैं। आप अन्तरिक्ष में (अवकाश में) चारों ओर संचरण करते हैं और सभी तेजस्वी रूपों के स्वामी सूर्य भी आप ही हैं।

यदा त्वमभिवर्षस्यथेमाः प्राण ते प्रजाः ।
आनन्दरूपास्तिष्ठन्ति कामायान्नं भविष्यतीति ॥10॥

हे प्राण जब आप मेघस्वरूप में वर्षा करते हैं, तब आपके ही सर्जनरूप ये सब प्राणी आनन्दविभोर हो उठते हैं और सोचते हैं कि हम जितना चाहें, उतना जल प्राप्त करेंगे।

व्रात्यस्त्वं प्राणैकर्षिरत्ता विश्वस्य सत्पतिः ।
वयमाद्यस्य दातारः पिता त्वं मातरिश्वनः ॥11॥

हे प्राण ! आप पतित हैं (क्योंकि आप प्रथम मानव होने से किसी के द्वारा आपका यज्ञोपवीत संस्कार नहीं किया गया है) और ऐसा होने पर भी आप 'एकर्षि' के नाम से विख्यात हुए अग्नि के स्वरूपवाले हैं। आप (आहुति में दिए गए मक्खन-घी को) खानेवाले हैं। आप इस विश्व के स्वामी हैं। हम (इन्द्रियाँ) आदिपुरुष ऐसे आपको खाने के लिए (आहुति रूप में घी-मक्खन) देनेवाले हैं। हे मातरिश्वा ! आप हमारे पिता हैं। (अथवा हे प्राण ! आप वायु के भी पिता हैं)।

या ते तनूर्वाचि प्रतिष्ठिता या श्रोत्रे या च चक्षुषि ।
या च मनसि सन्तता शिवां तां कुरु मोत्क्रमीः ॥12॥

हमारी वाणी में आपका जो अंश अवस्थित है, हमारे श्रवण में आपका जो अंश विद्यमान है, हमारे देखने और विचार में आपका जो अंश है और समग्र रूप से मन के विविध कार्यों में जो आपका अंश है उन सभी अंशों को आप मंगलमय बनाइए। आप शरीर से बहिर्गमन न करें।

प्राणस्येदं वशे सर्वं त्रिदिवे यत्प्रतिष्ठितम् ॥
मातेव पुत्रान् रक्षस्व श्रीश्च प्रज्ञां च विधेहि न इति ॥13॥

इति द्वितीयः प्रश्नः ॥2॥
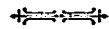
तीन लोक में जो कुछ भी अस्तित्व में है, वह सब प्राण के वश में है। हम प्रार्थना करते हैं कि जिस तरह माता अपने पुत्रों की रक्षा करती है, उसी तरह हे प्राण ! आप हमारा रक्षण कीजिए और कृपा करके हमें सद्बुद्धि भी दीजिए।

इस प्रकार प्रश्नोपनिषद् में दूसरा प्रश्न यहाँ समाप्त हुआ।

❋

अथ तृतीयः प्रश्नः

अथ हैनं कौसल्यश्चाश्वलायनः पप्रच्छ। भगवन् कुत एष प्राणो जायते कथमायात्यस्मिञ्छरीरे ? आत्मानं वा प्रविभज्य कथं प्रातिष्ठते ? केनोत्क्रमते कथं बाह्यमभिधत्ते कथमध्यात्ममिति ॥1॥

इसके बाद अश्वल के पुत्र कौसल्य ने ऋषि पिप्पलाद से पूछा—"हे भगवन् ! यह प्राण कहाँ से आता है ? वह शरीर में किस तरह प्रवेश करता है ? किस तरह वह अपना विभाग करके इस शरीर में कार्य करता है ? और इस शरीर से बाहर निकलने के लिए वह किस तरह (किस उपाय से) काम लेता है ? प्राणी और पदार्थ जैसी बाह्य वस्तुओं को टिकाए रखने के लिए वह क्या करता है ? और शरीरगत भीतर के तत्त्वों को भी वह किस तरह आश्रय देता है ? (ज्ञानेन्द्रियादि को वह कैसे धारण करता है।)"

तस्मै स होवाचातिप्रश्नान्पृच्छसि ब्रह्मिष्ठोऽसीति तस्मात्तेऽहं ब्रवीमि ॥2॥

ऋषि पिप्पलाद ने कौसल्य से कहा कि "तुम्हारा प्रश्न बड़ा ही कठिन है। फिर भी तुम ब्रह्म में बड़ी निष्ठा रखते हो, इसलिए मैं तुम्हारे प्रश्नों का उत्तर दूँगा।"

आत्मन एष प्राणो जायते। यथैषा पुरुषे छायैतस्मिन्नेतदाततं मनोकृतेनायात्यस्मिञ्छरीरे ॥3॥

यह प्राण आत्मा में से उत्पन्न होता है। जिस तरह शरीर की अपनी परछाई होती है, उसी तरह प्राण आत्मा में छिपा हुआ (ओतप्रोत) होता है और वह जब इच्छा करता है, तब इस स्थूल शरीर में आता है (स्थूल शरीर धारण करता है)।

यथा सम्राडेवाधिकृतान्विनियुङ्क्ते। एतान् ग्रामानेतान् ग्रामानधितिष्ठस्वेत्येवमेवैष प्राण इतरान् प्राणान् पृथक् पृथगेव संनिधत्ते ॥4॥

जिस तरह कोई सम्राट् अपने प्रभुत्व में काम करनेवालों को "तुम अमुक-अमुक गाँवों में जाओ और उनकी देखभाल करो"—ऐसा कहकर नियुक्त करता है, उसी प्रकार यह प्राण भी अपने नीचे काम करनेवाले प्राणों और चक्षुरादि ज्ञानेन्द्रियों को उनके अपने-अपने कर्तव्य का पालन करने के लिए नियुक्त करता है।

पायूपस्थेऽपानं चक्षुःश्रोत्रे मुखनासिकाभ्यां प्राणः स्वयं प्रतिष्ठते मध्ये तु समानः। एष ह्येतद्धुतमन्नं समं नयति तस्मादेताः सप्तार्चिषो भवन्ति ॥5॥

मलत्याग करनेवाली इन्द्रिय और प्रजननेन्द्रिय को सम्हालने के लिए यह प्राण अपान को नियुक्त करता है और आँख-कान-नाक-मुख को सम्हालने के लिए स्वयं अपने को नियुक्त करता है। शरीर के मध्य भाग की देखभाल करने के लिए समान नाम का प्राण को नियुक्त करता है। वह अन्न को रक्त के रूप में परिवर्तित कर देता है। इस प्राणरूपी जठरस्थित अग्नि से ये सात इन्द्रियाँ (दो आँखें, दो नथुने, दो कान और जीभ) हमको सही ज्ञान करानेवाली सात ज्वालाओं जैसी होती हैं।

हृदि ह्येष आत्मा। अत्रैतदेकशतं नाडीनां तासां शतं शतमेकैकस्यां द्वासप्ततिर्द्वासप्ततिः प्रतिशाखानाडीसहस्राणि भवन्त्यासु व्यानश्चरति ॥6॥

हृदय आत्मा का निवासस्थान है। इस हृदय में एक सौ एक नाड़ियाँ हैं। उन नाड़ियों में प्रत्येक की सौ-सौ शाखाएँ हैं और हर एक शाखा की बहत्तर-बहत्तर हजार उपशाखाएँ है। 'व्यान' नाम का प्राण इन नाड़ियों में (उनकी शाखाओं और उपशाखाओं में) भ्रमण करता रहता है।

अथैकयोर्ध्व उदानः पुण्येन पुण्यं लोकं नयति पापेन पापमुभाभ्यामेव मनुष्यलोकम् ॥7॥

और यदि मनुष्य अच्छे कार्य करता है, तो 'उदान' नाम का प्राण उसे मृत्यु के समय में सुषुम्णा नाडी के द्वारा उत्तम (ऊर्ध्व) लोक में ले जाता है। यदि मनुष्य नीच कर्म करता है तो उसे अधम लोक में ले जाता है। यदि मनुष्य अच्छे और बुरे—दोनों प्रकार के कर्म समप्रमाण में करता है तो उसे मनुष्यलोक में ले जाता है जहाँ सामान्यतया मानवप्राणी जाया करते हैं।

आदित्यो ह वै बाह्यः प्राण उदयत्येष ह्येनं चाक्षुषं प्राणमनुगृह्णानः। पृथिव्यां या देवता सैषा पुरुषस्यापानमवष्टभ्यान्तरा यदाकाशः स समानो वायुर्व्यानः ॥8॥

जो सूर्य है, वह बाहर का प्राण है। यह सूर्य आँखों में स्थित प्राण पर मानो अनुग्रह करता हो वह इस तरह उदित होता है कि जिससे आँखें देख सकें। जो देव पृथ्वी के अधिष्ठाता हैं, वही यह प्राण है। यह प्राण अपने प्रभुत्व के नीचे काम करनेवाले अपानवायु पर नियन्त्रण रखता है। इसी वजह से धरती पर स्थित पदार्थ ऊँचे नहीं उड़ जाते या फिसल नहीं जाते। वह सभी वस्तुओं को अपनी-अपनी जगह पर ठीक-ठाक रख देता है। आकाश और पृथ्वी के बीच के अवकाश में एक और वायु भी है, इसे 'समान' कहा जाता है। वह वायु प्राण का एक दूसरा अनुचर है। इसके सिवा एक और भी अनुचर है, उसे 'व्यान' कहते हैं। वह साधारण वायु है, वह भीतर और बाहर—दोनों जगह है।

तेजो ह वा उदानस्तस्मादुपशान्ततेजाः। पुनर्भवमिन्द्रियैर्मनसि सम्पद्यमानैः ॥9॥

जो अग्नि है, वह उदान है। जब मनुष्य मृत्यु को प्राप्त होता है, तब उसके शरीर में से उष्णता चली जाती है और उसकी सभी इन्द्रियाँ मन में विलीन हो जाती हैं और वह अगले जन्म के लिए तैयार होता है।

यच्चित्तस्तेनैष प्राणमायाति प्राणस्तेजसा युक्तः। सहात्मना यथासंकल्पितं लोकं नयति ॥10॥

यह मनुष्य मृत्यु के समय में जिस तरह सोचता है उन्हीं विचारों के साथ वह जीवात्मा प्राण के साथ जुड़ता है। बाद में वह समनस्क जीवात्मा वाला प्राण अग्नि (उदान) के साथ जुड़ता है। क्योंकि उदान उसका वाहक है। उस समय जीवात्मा की जो कामनाएँ हों, उस लोक में प्राण जीवात्मा को ले जाता है और उसके बाद जीवात्मा नया जन्म धारण करता है।

य एवं विद्वान्प्राणं वेद न हास्य प्रजा हीयतेऽमृतो भवति। तदेष श्लोकः ॥11॥

जो ज्ञानी मनुष्य इस प्राण को 'प्राण' के रूप में अर्थात् प्रजापति अथवा हिरण्यगर्भ के रूप में जानता है, उसके वंश का कभी विनाश नहीं होता (क्योंकि वह जानता है कि वह स्वयं और प्रजापति अर्थात् दोनों एक ही हैं)। और वह अमर भी हो जाता है। इसके समर्थन में यह श्लोक है—

उत्पत्तिमायतिं स्थानं विभुत्वं चैव पञ्चधा।
अध्यात्मं चैव प्राणस्य विज्ञायामृतमश्नुते॥
विज्ञायामृतमश्नुते इति ॥12॥

इति तृतीयः प्रश्नः ॥3॥
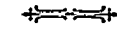
प्राण वैश्विक आत्मा में से आता है (उत्पत्ति)। वह अपनी इच्छानुसार आकार धारण करता है (आयति) और इसके बाद शरीर के अलग-अलग भागों में अपने को प्रयोजित करता है। प्राण के ये अंश (आकार – भाग) अलग-अलग प्रकार के होने से उन्हें अलग-अलग काम सौंपे गए हैं। बाहर का प्राण सूर्यरूप में और भीतर का नेत्र के रूप में है। तुम यदि प्राण और उसके कार्यों को भलीभाँति जान लो तो तुम अमर हो जाओगे। क्योंकि तब तो तुम जानते ही हो कि तुम स्वयं ही वह प्राण हो।

इस प्रकार प्रश्नोपनिषद् में तीसरा प्रश्न यहाँ समाप्त हुआ।

अथ चतुर्थः प्रश्नः

अथ हैनं सौर्यायणी गार्ग्यः पप्रच्छ। भगवन्नेतस्मिन्पुरुषे कानि स्वपन्ति कान्यस्मिन् जाग्रति कतर एष देवः स्वप्नान्पश्यति कस्यैतत्सुखं भवति कस्मिन्नु सर्वे सम्प्रतिष्ठिता भवन्तीति ॥1॥

इसके बाद गर्ग वंश के सौर्यायणी ने पिप्पलाद से पूछा—"हे भगवन्, इस मानव-शरीर में कौन से अंग सोकर आराम करते हैं? और कौन से अंग सर्वदा जाग्रत् रहते हैं? अंगों के इन दो वर्गों में (सक्रिय और निष्क्रिय—ऐसे दो वर्गों में) कौन-सा वर्ग स्वप्न देखने वाला होता। और गाढ़ निद्रा का सुख कौन-सा वर्ग प्राप्त करता है? गाढ़ निद्रा के समय में ये सब अंग किस स्थान में रहते हैं?

तस्मै स होवाच। यथा गार्ग्य मरीचयोऽर्कस्यास्तं गच्छतः सर्वा एतस्मिंस्तेजोमण्डल एकीभवन्ति। ताः पुनः पुनरुदयतः प्रचरन्त्येवं ह वै तत्सर्वं परे देवे मनस्येकीभवति। तेन तर्ह्येष पुरुषो न शृणोति न पश्यति न जिघ्रति न रसयते न स्पृशते नाभिवदते नादत्ते नानन्दयते न विसृजते नेयायते स्वपितीत्याचक्षते ॥2॥

तब पिप्पलाद ने उससे कहा—"हे गार्ग्य! जब सूर्य अस्त होता है, तब उसकी सभी किरणें एकत्रित हो जाती हैं और सूर्य के तेजोमय शरीर में विलीन हो जाती हैं। परन्तु फिर से जब सूर्य उगता है, तब ये किरणें पुनः सभी दिशाओं में फैल जाती हैं। उसी प्रकार मनुष्य जब गाढ़ निद्रा में (सुषुप्ति में) लीन हो जाता है, तब उसकी सभी इन्द्रियाँ उनके शासक (नेता) रूप मन में चली जाती हैं एवं एकाकार हो जाती हैं। तब ये इन्द्रियाँ कुछ भी कार्य नहीं करतीं। फलतः मनुष्य इस अवस्था में सुनता

नहीं है, सूँघता नहीं है, स्वाद नहीं लेता, स्पर्श नहीं करता, बोलता नहीं है, स्वीकार भी नहीं करता, इन्द्रियों का आनन्द नहीं लेता, मल-मूत्र नहीं त्यागता है, चलता भी नहीं। लोग इसके विषय में कहते हैं कि 'वह सो रहा है'।

प्राणाग्नय एवैतस्मिन्पुरे जाग्रति। गार्हपत्यो ह वा एषोऽपानो व्यानो-ऽन्वाहार्यपचनो यद्गार्हपत्यात्प्रणीयते प्रणयनादाहवनीयः प्राणः ॥3॥

यह शरीर एक नगर जैसा है। जब हम सोये होते हैं, तब अग्नि सदृश प्राण तो जागते रहते हैं। जो **अपान** है, वह 'गार्हपत्य अग्नि' है, और जो **व्यान** है, वह 'अन्वाहार्य' नाम का पचन-अग्नि है अथवा वह दक्षिण का अग्नि है और जो **प्राण** है, वह 'आहवनीय' नाम का अग्नि है। क्योंकि उसे गार्हपत्य अग्नि में से अलग कर दिया जाता है (गार्हपत्य अग्नि प्रत्येक गृहस्थ के घर में सदैव जलता रहता है, कभी बुझता नहीं है)। यज्ञानुष्ठान के समय उस गार्हपत्याग्नि से अलग कर जो अग्नि यज्ञभूमि में लाया जाता है, वह 'आहवनीय' कहलाता है। वही दक्षिण दिशा में स्थान पाकर 'दक्षिणाग्नि' होता है। (यह मंत्र रूपकात्मक है)।

यदुच्छ्वासनिःश्वासावेतावाहुती समं नयतीति स समानः। मनो ह वाव यजमानः। इष्टफलमेवोदानः स एनं यजमानमहरहर्ब्रह्म गमयति ॥4॥

(शारीरिक क्रियाओं में 'मानसिक यज्ञ' का चिन्तन रूप अनुष्ठान यहाँ रूपकात्मक ढंग से उपनिषद् द्वारा बताया जा रहा है। तृतीय कण्डिका के ही अनुसन्धान में—) यहाँ मानस यज्ञ में **समान** नाम का प्राण पुरोहित माना जाता है। जिस प्रकार अग्निहोत्र यज्ञ में यज्ञ करानेवाले पुरोहित आहुति के दो समान भाग करते हैं, उसी तरह यह समान प्राण भी हमारे उच्छ्वासों और निःश्वासों को दो समान भागों में बाँट देता है और शरीर का सन्तुलन करता है। (इस मानस यज्ञ में) हमारा जो मन है वह पुरुषरूपी यजमान है। इसी के लिए यह (मानस) यज्ञ किया जाता है और जो **उदान** नाम का प्राण है, वह इच्छित यज्ञफल ही है, क्योंकि यह उदान ही प्रतिदिन जब मनुष्य निद्रावस्था में होता है तब मन को ब्रह्म की ओर ले जाता है।

अत्रैष देवः स्वप्ने महिमानमनुभवति। यद्दृष्टं दृष्टमनुपश्यति। श्रुतं श्रुतमेवार्थमनुश्रृणोति देशदिगन्तरैश्च प्रत्यनुभूतं पुनः पुनः प्रत्यनुभवति दृष्टं चादृष्टं च श्रुतं चाश्रुतं चानुभूतं चाननुभूतं च सच्चासच्च सर्वं पश्यति सर्वः पश्यति ॥5॥

जब हम स्वप्न देखते हैं (स्वप्नावस्था में होते हैं) तब हमारा मन अपनी महान् शक्तियों को देखता है। हमने जो कुछ जाग्रत् अवस्था में देखा होता है, वही सब हम स्वप्नावस्था में देखते हैं। उसी तरह जाग्रत् अवस्था का सुना हुआ सब कुछ हम फिर से (स्वप्न में) सुनते हैं। जाग्रत् अवस्था में हम बहुत-से स्थानों में और बहुत-से देशों में होते हैं, तो स्वप्न में हम उन्हीं स्थानों और देशों में वापिस लौटते हुए दिखाई देते हैं। देखी या अनदेखी, सुनी या अनसुनी, अनुभूत या अननुभूत, सही या झूठी—इन सभी वस्तुओं को हम स्वप्न में देख सकते हैं और उनका अनुभव कर सकते हैं। उन सभी वस्तुओं के साथ मानो हम एकरूप हो जाते हों, ऐसा अनुभव करते हैं।

स यदा तेजसाऽभिभूतो भवति अत्रैष देवः स्वप्नान्न पश्यत्यथ तदैतस्मि-ञ्छरीरे एतत्सुखं भवति ॥6॥

जब मन आत्मा के प्रकाश से अभिभूत हो जाता है तब, (अर्थात् जब कामनाओं के प्रवेश के लिए मन का दरवाजा बन्द हो जाता है तब) और जब तुम गाढ निद्रा की अवस्था में होते हो, तब मन किसी भी स्वप्न को नहीं देख सकता। तब तुम्हारे समग्र शरीर में और मन में बड़े (विस्तृत) सुख का भाव होता है।

स यथा सोम्य वयांसि वासो वृक्षं सम्प्रतिष्ठन्ते। एवं ह वै तत्सर्वं पर आत्मनि सम्प्रतिष्ठते ॥7॥

हे सौम्य ! उदाहरणार्थ कह सकते हैं कि संध्या समय में जिस तरह पक्षी अपने घोंसले की ओर जाने का प्रयत्न करते हैं, उसी तरह इस जगत् के सभी पदार्थ आत्मा में वापिस लौटने का प्रयत्न करते हैं। अर्थात् वे आत्मचैतन्य में विलीन हो जाते हैं।

पृथिवी च पृथिवीमात्रा चापश्चापोमात्रा च तेजश्च तेजोमात्रा च वायुश्च वायुमात्रा चाकाशश्चाकाशमात्रा च चक्षुश्च द्रष्टव्यं च श्रोत्रं च श्रोतव्यं च घ्राणं च घ्रातव्यं च रसश्च रसयितव्यं च त्वक् च स्पर्शयितव्यं च वाक् च वक्तव्यं च हस्तौ चादातव्यं चोपस्थश्चानन्दयितव्यं च पायुश्च विसर्जयितव्यं च पादौ च गन्तव्यं च मनश्च मन्तव्यं च बुद्धिश्च बोद्धव्यं चाहङ्कारश्चाहंकर्तव्यं च चित्तं च चेतयितव्यं च तेजश्च विद्योतयितव्यं च प्राणश्च विधारयितव्यं च ॥8॥

पृथ्वी और पृथ्वी की सूक्ष्म मात्रा, जल और जल की सूक्ष्म मात्रा, अग्नि और अग्नि की सूक्ष्म मात्रा, वायु और उसकी सूक्ष्म मात्रा, आकाश और उसकी घटक सूक्ष्म मात्रा, आँख और जो देखा जाता है, कान और जो सुना जाता है, नाक और जो सूँघा जाता है, जीभ और जिसका स्वाद लिया जाता है, त्वचा और जिसका स्पर्श किया जा सकता है, वाणी और जो बोला जाता है, दो हाथ और ग्रहण की जाने वाली वस्तु, जननेन्द्रिय और आनन्दक्रिया, गुदेन्द्रिय और मलत्याग की क्रिया, दो पैर और गन्तव्य स्थान, मन और विचार, बुद्धि और बुद्धिगम्य विषय, अहंकार और अहंकार के विषय, स्मृति और स्मृतियोग्य विषय, तेज (ज्ञान) और ज्ञेय विषय, प्राण और प्राण के द्वारा जीवित पदार्थ (—यह सब उस समय आत्मा में विलीन हो जाता है)।

एष हि द्रष्टा स्प्रष्टा श्रोता घ्राता रसयिता मन्ता बोद्धा कर्ता विज्ञानात्मा पुरुषः। स परेऽक्षर आत्मनि सम्प्रतिष्ठते ॥9॥

जो देखता है, स्पर्श करता है, सुनता है, सूँघता है, स्वाद लेता है, सोचता है, अनुभव करता है और कार्य करता है, जो इन्द्रियों को वश में रखता है और जो जीवात्मा (व्यष्टि चैतन्य) के रूप में पहचाना जाता है, वह वही है, यह जीवात्मा (व्यक्ति-चैतन्य) जो है, वह उच्चतम अविनाशी आत्मा पर अधिष्ठित है। (अपने स्वस्वरूप में जीवात्मा मिल जाता है अर्थात् उसका मोक्ष होता है)।

परमेवाक्षरं प्रतिपद्यते स यो ह वै तदच्छायमशरीरमलोहितं शुभ्रमक्षरं वेदयते यस्तु सोम्य। स सर्वज्ञः सर्वो भवति। तदेष श्लोकः—॥10॥

हे सौम्य, यह आत्मा निष्कलंक है, रूपरहित (निराकार) है, वर्णरहित है और अविनाशी है। जो मनुष्य इस आत्मा को जानता है, वह उसी की (आत्मा की ही) तरह का हो जाता है अर्थात् वह स्वयं उच्चतम (परम) आत्मरूप और अविनाशी हो जाता है ! ऐसा मनुष्य सर्वज्ञ होता है। उसे ऐसा अनुभव होता है कि वह मानो सबके साथ एकाकार हो गया है। इसके विषय में एक श्लोक है—

विज्ञानात्मा सह देवैश्च सर्वैः प्राणा भूतानि सम्प्रतिष्ठन्ति यत्र ।
तदक्षरं वेदयते यस्तु सोम्य । स सर्वज्ञः सर्वमेवाविवेशेति ॥11॥

इति चतुर्थः प्रश्नः ॥4॥
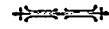
हे सौम्य ! गाढ निद्रा की (सुषुप्ति की) अवस्था में यह जीवात्मा इन्द्रियों के देवों के साथ, इन्द्रियों के साथ तथा अन्य तत्त्वों के साथ अविनाशी आत्मतत्त्व में विश्रान्ति लेता है । जब मनुष्य जाग्रत् अवस्था में भी ऐसा (सुषुप्ति जैसा ही) अनुभव करे कि वह अविनाशी परमात्मा के साथ एकरूप ही है, तब वह सर्वरूप हो जाता है और सबमें वह प्रविष्ट हो जाता है ।

इस प्रकार प्रश्नोपनिषद् में चौथा प्रश्न यहाँ समाप्त हुआ ।

अथ पञ्चमः प्रश्नः

अथ हैनं शैब्यः सत्यकामः पप्रच्छ । स यो ह वै तद्भगवन्मनुष्येषु प्रायणान्तमोङ्कारमभिध्यायीत । कतमं वाव स तेन लोकं जयतीति । तस्मै स होवाच ॥1॥

इसके बाद शिवि का पुत्र सत्यकाम ऋषि पिप्पलाद से पूछता है कि—"हे गुरो ! यदि कोई मनुष्य जीवनपर्यन्त ओमकार का ध्यान करता रहे, तो वह इस ध्यान के द्वारा किस विशिष्ट लोक को प्राप्त करता है ?" तब पिप्पलाद ने कहा—

एतद्वै सत्यकाम परं चापरं च ब्रह्म यदोङ्कारः ।
तस्माद्विद्वानेतेनैवाऽयतनेनैकतरमन्वेति ॥2॥

हे सत्यकाम ! यह सुविख्यात 'ॐ' दोनों प्रकार के ब्रह्म के लिए—सगुण (अपर) ब्रह्म और निर्गुण (पर) ब्रह्म के लिए भी प्रतीक रूप में है । जो इसको जानता है, वह (ज्ञानी) इस 'ॐ' का (अनिवार्य) प्रतीक के रूप में उपयोग करता है और इसका ध्यान करता है और अन्त में उन दोनों प्रकार के ब्रह्म में से एक को प्राप्त होता है ।

स यद्येकमात्रमभिध्यायीत स तेनैव संवेदितस्तूर्णमेव जगत्यामभि-सम्पद्यते । तमृचो मनुष्यलोकमुपनयन्ते । स तत्र तपसा ब्रह्मचर्येण श्रद्धया सम्पन्नो महिमानमनुभवति ॥3॥

जो कोई मनुष्य ॐ के तीन अक्षरों में से 'अ' जैसे किसी भी एक अक्षर का ध्यान करता है, तो वह उसे ज्ञानी बनाने के लिए पर्याप्त है । ऐसा ज्ञानी फिर से तुरन्त ही इस जगत् में जन्म धारण करेगा । 'ॐ' का 'अ' अक्षर ऋग्वेद का प्रतिनिधित्व करता है । वह उसे फिर से मनुष्ययोनि में जन्म लेने के लिए ले जाता है । इस प्रकार मनुष्य योनि में जन्मा हुआ वह मनुष्य तप और ब्रह्मचर्य का सेवन करता है तथा ईश्वर और शास्त्रों में निष्ठा रखता है । ऐसे सद्गुणों की वजह से वह अन्य लोगों से 'विशिष्ट' होता है ।

अथ यदि द्विमात्रेण मनसि सम्पद्यते सोऽन्तरिक्षं यजुर्भिरुन्नीयते सोमलोकम् । स सोमलोके विभूतिमनुभूय पुनरावर्तते ॥4॥

यदि कोई साधक 'ॐ' के द्वितीय अक्षर 'उ' पर ध्यान धरता है, तो वह स्वयं समृद्ध होता है, अर्थात् अक्षर के साथ तादात्म्य की भावना से भर जाता है और उसके मृत्यु-समय में वह अक्षर ('उ') उसे अन्तरिक्ष में (स्वर्ग और पृथ्वी के बीच के अवकाश में) ले जाकर चन्द्रलोक की ओर ले जाता है । यह द्वितीय अक्षर यजुर्वेद का प्रतिनिधित्व करता है । वह साधक वहाँ चन्द्रलोक में प्राप्य कई अद्भुत भोग भोगता है । बाद में फिर से पृथ्वी पर मानव प्राणी के रूप में वापस लौटता है ।

यः पुनरेतं त्रिमात्रेणोमित्येतेनैवाक्षरेण परं पुरुषमभिध्यायीत स तेजसि सूर्ये सम्पन्नः । यथा पादोदरस्त्वचा विनिर्मुच्यत एवं ह वै स पाप्मना विनिर्मुक्तः स सामभिरुन्नीयते ब्रह्मलोकं स एतस्माज्जीवघनात्परात्परं पुरिशयं पुरुषमीक्षते । तदेतौ श्लोकौ भवतः—॥5॥

जो साधक तीन अक्षरवाले 'ॐ' के ध्यान द्वारा समष्टि चैतन्य की उपासना करता है, वह प्रकाशित सूर्य में लीन हो जाता है । जिस प्रकार साँप अपनी पुरानी केचुल को उतारकर मुक्त हो जाता है, उसी तरह यह साधक भी अपने सभी पापों से मुक्त होने में समर्थ हो जाता है । तब साम के मन्त्र उसे ब्रह्मलोक की ओर ले जाते हैं । वहाँ उसे ऐसी अनुभूति होती है कि वह ब्रह्म के साथ एकरूप हो गया है । वह हिरण्यगर्भ से भी उच्चतर है । उसे लगता है कि वह सर्वत्र और सभी प्राणियों में है । इस विषय में यहाँ दो श्लोक हैं—

तिस्रो मात्रा मृत्युमत्यः प्रयुक्ता अन्योन्यसक्ता अनुविप्रयुक्ताः ।
क्रियासु बाह्याभ्यन्तरमध्यमासु सम्यक्प्रयुक्तासु न कम्पते ज्ञः ॥6॥

जो साधक 'ॐ' की तीनों मात्राओं का अलग-अलग ध्यान करता है, वह अन्त में मृत्यु के अधीन होकर ही रहता है । परन्तु यदि तीनों मात्राओं को एक साथ ही लिया जाए, तो उसका वही ध्यान सही रूप में होता है । जाग्रत् अवस्था, गाढ सुषुप्ति की अवस्था और उन दोनों के बीच की अवस्था (अर्थात् स्वप्नावस्था) का प्रतिनिधि (अध्यक्ष) देव तो एक ही है । यदि तुम इस देव का ठीक तरह से ध्यान करने में समर्थ हो, तब तो तुम 'ॐ' का सही अर्थ जान सकोगे और जब एक बार तुमने वह अर्थ जान लिया, तब तुम भय का अतिक्रमण कर जाओगे ।

ऋग्भिरेतं यजुर्भिरन्तरिक्षं सामभिर्यत् तत्कवयो वेदयन्ते । तमोङ्कारेणै-वाऽऽयतनेनान्वेति विद्वान् यत्तच्छान्तमजरममृतमभयं परं चेति ॥7॥

इति पञ्चमः प्रश्नः ॥5॥

यदि तुम 'ॐ' का ब्रह्मस्वरूप में (ब्रह्म के प्रतीक रूप में) ध्यान करो, तो ऋग्वेद के मंत्र तुम्हें मानवीय लोक (स्त्री और पुरुष के लोक) की प्राप्ति कराने में सहायक होंगे । यजुर्वेद के मंत्र चन्द्रलोक की प्राप्ति करवाने में तुम्हारी सहायता करेंगे । सामवेद के मन्त्र ब्रह्मलोक की प्राप्ति में तुम्हारे सहायक होंगे । उस ब्रह्मलोक को तो केवल ज्ञानी मनुष्य ही प्राप्त कर सकते हैं । और भी—इस 'ॐ' के द्वारा ही तुम शान्ति और निर्भयता प्राप्त कर सकते हो और उसी से तुम अपनी जीर्णता को दूर कर सकते हो । अमरता प्राप्त कर सकते हो, विश्वचैतन्य (परमात्मा) के साथ ऐक्य स्थापित कर सकते हो ।

इस प्रकार प्रश्नोपनिषद् में पाँचवाँ प्रश्न यहाँ समाप्त हुआ ।

अथ षष्ठः प्रश्नः

अथ हैनं सुकेशा भारद्वाजः पप्रच्छ। भगवन्हिरण्यनाभः कौसल्यो राजपुत्रो मामुपेत्यैतं प्रश्नमपृच्छत्। षोडशकलं भारद्वाज पुरुषं वेत्थ। तमहं कुमारमब्रवं नाहमिमं वेद। यद्यहमिममवेदिषं कथं ते नावक्ष्यमिति। समूलो वा एष परिशुष्यति योऽनृतमभिवदति तस्मान्नार्हाम्यनृतं वक्तुम्। स तूष्णीं रथमारुह्य प्रवव्राज। तं त्वा पृच्छामि क्वासौ पुरुष इति ॥1॥

अब भरद्वाज के पुत्र सुकेशा ने पिप्पलाद से पूछा कि—"हे भगवन्! कोसल के राजपुत्र हिरण्यनाभ ने एक बार मेरे पास आकर मुझसे पूछा था कि 'हे भरद्वाजपुत्र! क्या तुम सोलह कला (अवयव) वाले उस पुरुष को जानते हो?' तब मैंने राजपुत्र से कहा था कि 'उसके विषय में मैं तो कुछ नहीं जानता। यदि जानता होता तो तुमसे भला क्यों नहीं कहता? और मैं यदि कुछ झूठा-सा बोल भी दूँ, तब तो मेरा मूलसहित नाश ही हो जाएगा! इसलिए मैं झूठ तो बोल नहीं सकता।' (यह सुनकर) राजपुत्र तो शान्ति से अपने रथ पर चढ़ कर चला गया। तो अब मैं आपसे पूछता हूँ कि वह पुरुष है कहाँ?"

तस्मै स होवाच। इहैवान्तःशरीरे सोम्य स पुरुषो यस्मिन्नेताः षोडशकलाः प्रभवन्तीति ॥2॥

पिप्पलाद ने उससे कहा कि—हे सौम्य, वह सोलह कला वाला पुरुष (आत्मा) यहीं शरीर में हृदयकमल के बीच के अवकाश में अवस्थित है और (प्राण आदि) सोलह कलाएँ (अंश) इस आत्मा में से फूट निकलती हैं।

स ईक्षांचक्रे। यस्मिन्नहमुत्क्रान्त उत्क्रान्तो भविष्यामि कस्मिन्वा प्रतिष्ठिते प्रतिष्ठास्यामीति ॥3॥

उस पुरुष ने (अन्तःस्थ आत्मा ने) सोचा कि इस शरीर में से कौन-सा ऐसा कुछ (तत्त्व) चला जाता है कि जिससे मुझे ऐसा लग रहा है कि मानो मैं ही शरीर में से चला (छोड़े) जा रहा हूँ? और इसी तरह से शरीर में ऐसा कौन है, जिससे मुझे लगता है कि मानो मैं ही शरीर में हूँ?

स प्राणमसृजत प्राणाच्छ्रद्धां खं वायुर्ज्योतिरापः पृथिवीन्द्रियं मनः। अन्नमन्नाद्वीर्यं तपो मन्त्राः कर्म लोका लोकेषु नाम च ॥4॥

उस पुरुष ने (सर्वसद्गुणसम्पन्न सगुण ब्रह्म ने) प्राणात्मारूप हिरण्यगर्भ का सर्जन किया। इसके बाद उस हिरण्यगर्भ से श्रद्धा उत्पन्न हुई और उस श्रद्धा में से अवकाश प्रकट हुआ। उस अवकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल, जल से पृथ्वी और पृथ्वी से इन्द्रियावयव उत्पन्न हुए। इसके बाद उसने (सगुण ब्रह्म ने) मन और बाद में अन्न को उत्पन्न किया और बाद में अन्न में से वीर्य, तप, वेद, यज्ञ, स्वर्गादि लोक और उन लोकों की अलग-अलग कक्षाएँ और उनके नाम—ये सब प्रकट किए।

स यथेमा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रायणाः समुद्रं प्राप्यास्तं गच्छन्ति भिद्येते तासां नामरूपे समुद्र इत्येवं प्रोच्यते। एवमेवास्य परिद्रष्टुरिमाः षोडशकलाः पुरुषायणाः पुरुषं प्राप्यास्तं गच्छन्ति भिद्येते तासां नामरूपे पुरुष इत्येवं प्रोच्यते स एषोऽकलोऽमृतो भवति। तदेष श्लोकः ॥5॥

इसका एक उदाहरण यह है कि नदियाँ जब तक सागर से नहीं मिलती हैं, तब तक तो अपना प्रवाह चालू ही रखती हैं, पर ज्यों ही सागर से मिलती हैं कि तुरन्त उनका प्रवाह अस्त हो जाता है और उनके नाम और रूप नष्ट हो जाते हैं। बाद में तो वे सागर के ही नाम से पहचानी जाती हैं। ठीक इसी तरह अपने सही स्वरूप को जाननेवाला ज्ञानी उस पुरुष की (सगुण ब्रह्म की) ओर गति करता हुआ जब उससे मिल जाता है, तब उसकी ये प्राण आदि सोलहों कलाएँ अस्त हो जाती हैं और वह स्वयं 'पुरुष' (सगुण ब्रह्म) ही हो जाता है। वह प्राणादि कलाओं से रहित हो जाता है। यहाँ एक श्लोक है—

अरा इव रथनाभौ कला यस्मिन्प्रतिष्ठिताः।
तं वेद्यं पुरुषं वेद यथा मा वो मृत्युः परिव्यथा इति ॥6॥

जैसे रथ के पहियों की धुरी पर उसके आरे आश्रित होते हैं, उसी प्रकार उस पुरुष (जीवचैतन्य) में गुण आधारित रहते हैं। बाहर और भीतर (दोनों स्थलों में) वे गुण उसी पर आधारित हैं। इस पुरुष के सच्चे स्वरूप को जानने का प्रयत्न करो। यदि तुम उसे जान लोगे तो मृत्यु तुम्हारा स्पर्श करने में समर्थ नहीं होगी।

तान्होवाचैतावदेवाहमेतत्परं ब्रह्म वेद नातः परमस्तीति ॥7॥

पिप्पलाद ने अपने उन शिष्यों से कहा कि—"परब्रह्म के सम्बन्ध में इतना ही जानता हूँ। इसके सम्बन्ध में और अधिक जानना कुछ बाकी नहीं रहता"।

ते तमर्चयन्तस्त्वं हि नः पिता योऽस्माकमविद्यायाः परं पारं तारयसीति।
नमः परमऋषिभ्यो नमः परमऋषिभ्यः ॥8॥

इति षष्ठः प्रश्नः ॥6॥

इति प्रश्नोपनिषत् समाप्ता ॥

इसके बाद उन शिष्यों ने उन पिप्पलाद ऋषि की पूजा करते हुए कहा कि—"आप तो हमारे पिता हैं, जिन्होंने अविद्या के उस पार तक पहुँचा दिया है। परमर्षि ऐसे आपको हमारा नमस्कार हो, नमस्कार हो।"

इस प्रकार प्रश्नोपनिषद् में छठा प्रश्न यहाँ समाप्त होता है।

इस प्रकार प्रश्नोपनिषत् समाप्त होती है।

शान्तिपाठः

ॐ भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः।
स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवांसस्तनूभिर्व्यशेम देवहितं यदायुः।
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

(5) मुण्डकोपनिषत्

(उपनिषत्परिचय)

यह मुण्डकोपनिषद् अथर्ववेदान्तर्गत होने से 'आथर्वणोपनिषद्' के नाम से भी पहचानी जाती है। आकर्षक कवित्व, रोचक और स्पष्ट अभिव्यक्ति तथा उच्चतम विचारों के कारण यह बहुत लोकप्रिय है। इस उपनिषद् के प्रकरणों का नाम 'मुण्डक' रखा गया है। उपनिषद् में ऐसे तीन मुण्डक हैं। प्रत्येक मुण्डक के दो-दो उपविभाग हैं, उन उपविभागों को 'खण्ड' नाम दिया गया है। इस उपनिषद् में मन्त्रों की कुल संख्या 65 है।

यह मुण्डकोपनिषद् भी अन्यान्य उपनिषदों की ही तरह केवल पारमार्थिक अर्थात् उच्चतम ज्ञान की ही चर्चा-विचारणा करती है। कौन-सा है यह ज्ञान, कौन-सा है यह सत्य ? शंकर तो कहते हैं वह सत्य केवल एक ब्रह्म ही है, शेष सारा जगत् तो मिथ्या ही है। यह सत्य पारमार्थिक-उच्चतम-त्रिकालाबाधित सत्य है। यह कोई सापेक्ष सत्य (नियतकालिक सत्य) नहीं है। परिवर्तनशील और नियतकालिक को 'मिथ्या' कहते हैं। जैसे समय की सापेक्षता है, वैसी ही देश (स्थल) की भी सापेक्षता है। एक स्थल में दिखाई देने वाली सत्य वस्तु अन्य स्थल में सत्य नहीं भी हो सकती। जैसे काल-सापेक्ष वस्तु मिथ्या है, वैसे देश-सापेक्ष वस्तु भी तो मिथ्या ही है। यह जगत् काल-सापेक्ष और देश-सापेक्ष दोनों है, इसलिए 'मिथ्या' है। वह भावात्मक होने पर भी मिथ्या है—यह वैचित्र्य है।

उपनिषद् ग्रन्थ अन्य एक बात का भी विचार करते हैं। वह यह कि तुममें, मुझमें और हम सब में जो व्यक्तिगत चैतन्य है, वह अलग-अलग दिखाई देता है, परन्तु वास्तव में वह चैतन्य सर्वव्यापी ब्रह्मरूप ही है; दिखाई देना तो मिथ्या है। वास्तव में हम सब दिव्य हैं, परन्तु हमें अपना सही स्वरूप मालूम नहीं है। इसीलिए तो हम दुःखी हुआ करते हैं। उपनिषदें हमारे इस अज्ञान को दूर करने का प्रयत्न करती हैं। वे हमें कहती हैं—'तत्त्वमसि'—वह तू ही है। तुम्हीं वह सत्-तत्त्व हो। तुम दिव्य हो, तुम यह शरीर नहीं हो, तुम मन भी नहीं हो। तुम्हारे अस्तित्व का सत्त्व पारमार्थिक सत्ता ही है। तुम कभी भी मरते नहीं हो। आत्मा कभी नहीं मरता। वह कभी जन्मा भी नहीं है। तुम कभी परिवर्तन प्राप्त नहीं करते हो। तुम्हें कभी दुःख नहीं होता। तुम सदा के लिए एकसमान, विशुद्ध, आनन्दमय आत्मा ही हो। यह उपनिषदों का सन्देश है। सभी उपनिषदें और मुख्य रूप से यह 'मुण्डकोपनिषद्' यह बोध कराती है।

'मुण्डक' शब्द का वाच्यार्थ तो 'मुण्डन करने वाला' अर्थात् मस्तक को केशविहीन करने वाला होता है। इसका भावार्थ तो यह निकलता है कि जिन लोगों ने अपना सिर मुँडवा दिया हो, ऐसे लोगों का यह ज्ञान है। अर्थात् जिन लोगों ने संसार के सर्वस्व का त्याग किया हो, मस्तक मुँडवा दिए हों, संन्यासी हो गए हों, उन्हीं के लिए यह उपनिषद् उपादेय है। परन्तु, सन्दर्भ देखने में 'मुण्डक' शब्द का एक दूसरा अर्थ भी प्राप्त होता है। 'मुण्डक' शब्द का दूसरा अर्थ है—'दूर करने वाला'। इस प्रकार का अर्थ लें तो यह 'मुण्डकोपनिषद्' हमारे अज्ञान को दूर करती है। किसका है यह अज्ञान ? यह अज्ञान जगत् के सही स्वरूप का

अज्ञान है और साथ-ही-साथ अपने सच्चे स्वरूप का अज्ञान है। कुछ भी हो, पर हम वास्तविक रूप में ब्रह्म ही हैं। दुःखद यह है कि यह हम जानते नहीं। हम दिव्य हैं—यह हमें मालूम नहीं। इसका हमें पूर्ण अज्ञान है। इस मुण्डकोपनिषद् से हमें अपना वह अज्ञान दूर करना है।

शान्तिपाठः

ॐ भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः।
स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवाꣳसस्तनूभिर्व्यशेम देवहितं यदायुः॥
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः॥

ॐ हे देवो ! हम अपने कानों से अच्छी बातें ही सुना करें। जिन्हें हम पूजते हैं ऐसे हे देवो ! हम अपनी आँखों से सदैव शुभ दृश्यों को ही देखा करें। हम अपने सुदृढ़ अंगों से युक्त शरीर के द्वारा आपकी स्तुति करते रहें। हम देवों का दिया हुआ जितना आयुष्य है, उसे भोगते रहें।

व्यक्तियों के लिए शान्ति हो, पर्यावरणीय शान्ति हो, प्राणी-जगत् के लिए शान्ति हो (अर्थात् सबके लिए शान्ति हो)।

प्रथमं मुण्डकम्

प्रथमः खण्डः

ॐ ब्रह्मा देवानां प्रथमः सम्बभूव विश्वस्य कर्ता भुवनस्य गोप्ता।
स ब्रह्मविद्यां सर्वविद्याप्रतिष्ठामथर्वाय ज्येष्ठपुत्राय प्राह ॥1॥

देवों में सबसे पहले ब्रह्मा प्रकट हुए। वे विश्व के सर्जक थे और विश्व के आधार भी थे। ब्रह्मा ने अपने सबसे बड़े पुत्र अथर्वा को सर्वज्ञानों में श्रेष्ठ ऐसी ब्रह्मविद्या दी।

अथर्वणे यां प्रवदेत ब्रह्माऽथर्वा तां पुरोवाचाङ्गिरे ब्रह्मविद्याम्।
स भारद्वाजाय सत्यवाहाय प्राह भारद्वाजोऽङ्गिरसे परावराम् ॥2॥

जो ब्रह्मज्ञान ब्रह्मा ने अथर्वा को दिया था, बाद में अथर्वा ने वह ज्ञान अंगिरा को दिया। इसके बाद अङ्गिरा ने वही ज्ञान भारद्वाजकुल में उत्पन्न हुए सत्यवाह नाम के ऋषि को दिया था। इसी ज्ञान को बाद में सत्यवाह ने गुरु-शिष्य परम्परा के अनुसार अङ्गिरस को दिया।

शौनको ह वै महाशालोऽङ्गिरसं विधिवदुपसन्नः पप्रच्छ।
कस्मिन्नु भगवो विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवतीति ॥3॥

उन अंगिरस के पास (एक दिन) विशाल घर वाला (विशिष्ट धनिक गृहस्थ) शौनक विधिपूर्वक अर्थात् शास्त्रविहित नियमानुसार जिज्ञासु के रूप में आ पहुँचा। आकर वह उनसे (अंगिरस से) पूछा कि—'हे भगवन् ! ऐसा कौन-सा एक तत्त्व है कि जिसके जानने से यह सब जाना जा सकता है ?

तस्मै स होवाच। द्वे विद्ये वेदितव्ये इति ह स्म यद्ब्रह्मविदो वदन्ति परा चैवापरा च ॥4॥

अंगिरस ने शौनक से कहा—"जिन्होंने ब्रह्म का ज्ञान प्राप्त किया है, वे कहते हैं कि विद्याएँ (ज्ञान) दो प्रकार की हैं। एक प्रकार ब्रह्मज्ञान-परक है, और दूसरा प्रकार भौतिकज्ञान-परक है। (परा=उच्चतम ब्रह्मविषयक और अपरा = भौतिक ज्ञानविषयक हैं।)

**तत्रापरा ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्ववेदः शिक्षा कल्पो व्याकरणं
निरुक्तं छन्दो ज्योतिषमिति । अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते ॥5॥**

'अपरा' (भौतिक) और 'परा' (आध्यात्मिक)—इन दो विद्याओं में से जो 'अपरा' है उसमें ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, शिक्षा (स्वरशास्त्र), कल्प (यज्ञीय विधि-विधान), व्याकरण, निरुक्त (व्युत्पत्तिशास्त्र), छन्द और ज्योतिष (खगोलशास्त्र) का समावेश होता है। जबकि जो परा विद्या है, वह ऐसी है कि जिससे मनुष्य ब्रह्म को जान सकता है, जो ब्रह्म 'अक्षर' (अविनाशी) है।

**यत्तदद्रेश्यमग्राह्यमगोत्रमवर्णमचक्षुःश्रोत्रं तदपाणिपादम् ।
नित्यं विभुं सर्वगतं सुसूक्ष्मं तदव्ययं तद्भूतयोनिं परिपश्यन्ति धीराः ॥6॥**

वह अदृश्य तत्त्व है (अवाङ्मनसगोचर है), उसे कर्मेन्द्रियाँ कभी पकड़ नहीं पातीं। उसका कोई मूल कारण नहीं होता। वह नीरूप अर्थात् निर्गुण है। उसकी चक्षुःश्रोत्रादि ज्ञानेन्द्रियाँ और हाथ-पैर आदि कर्मेन्द्रियाँ भी नहीं होतीं। वह अविनाशी है और आकाश की तरह सबको आच्छादित कर स्थित है। वह बहुत ही सूक्ष्म है। सभी प्राणियों का वह उपादान कारण (मूलस्रोत) है। ऐसे ब्रह्म को विवेकशील पुरुष सभी स्थानों और सभी प्राणियों में देखते हैं।

**यथोर्णनाभिः सृजते गृह्णते च यथा पृथिव्यामोषधयः सम्भवन्ति ।
यथा सतः पुरुषात्केशलोमानि तथाक्षरात्सम्भवतीह विश्वम् ॥7॥**

जिस प्रकार मकड़ी अपने शरीर में से ही जाल बाहर निकालती है और फिर उसको अपने शरीर में ही वापस खींच लेती है; पृथ्वी में भी जिस तरह वनस्पतियाँ (वृक्ष) आदि उत्पन्न होती हैं और जिस तरह पुरुष के केश आदि भी उसके शरीर के भीतर से ही उग निकलते हैं, ठीक उसी तरह जगत् अक्षर में से (ब्रह्म में से) फूट निकलता है।

**तपसा चीयते ब्रह्म ततोऽन्नमभिजायते ।
अन्नात्प्राणो मनः सत्यं लोकाः कर्मसु चामृतम् ॥8॥**

ब्रह्म स्वयं अपने चिन्तन से आप ही अभिव्यक्त होता है। (प्रथम वह सर्जनबीज के रूप में प्रकट होता है)। उस बीज में से (अन्न में से = सक्रिय मायाशक्तिरूप सर्जनबीज में से) प्राण (हिरण्यगर्भ=ब्रह्म का प्रथम व्यक्तिरूप) उत्पन्न होता है। उस प्राण में से वैश्विक मन आता है। उसके बाद पाँच महाभूत और चौदह लोक आविष्कृत होते हैं और उनमें फल से सदैव जुड़े हुए कर्मों की प्रक्रिया अनन्तकाल तक चलती रहती है।

**यः सर्वज्ञः सर्वविद्यस्य ज्ञानमयं तपः ।
तस्मादेतद्ब्रह्म नाम रूपमन्नं च जायते ॥9॥**

इति प्रथममुण्डके प्रथमः खण्डः ॥1॥

वह ब्रह्म सामान्यतः सब जानता है और विशेषरूप से भी सब कुछ जानता है। ज्ञानरूप उसका तप है। उस परब्रह्म में से यह अपरब्रह्म (हिरण्यगर्भ) आता है तथा नाम, रूप और अन्न जैसी कुछ कक्षाएँ भी आती हैं।

इस प्रकार मुण्डकोपनिषद् के प्रथम मुण्डक में प्रथम खण्ड समाप्त हुआ।

❋

द्वितीयः खण्डः

तदेतत्सत्यं मन्त्रेषु कर्माणि कवयो यान्यपश्यंस्तानि त्रेतायां बहुधा सन्ततानि। तान्याचरथ नियतं सत्यकामा एष वः पन्थाः सुकृतस्य लोके ॥1॥

यहाँ सच बात तो यह है कि वेदमन्त्रों में विद्वानों ने बहुत-से अनुष्ठान कर्म (अश्वमेधादि यज्ञकर्म) देखे हैं। इतना ही नहीं, उन तीनों वेदों के मन्त्रों को उन्होंने भाँति-भाँति प्रकार से समझाया भी है। अगर तुम अपनी मनचाही वस्तु प्राप्त करना चाहते हो, तो सदैव उन यज्ञकर्मों का आचरण करते रहो। सत्कार्य करनेवालों के लिए इष्टप्राप्ति का यह मार्ग है।

**यदा लेलायते ह्यर्चिः समिद्धे हव्यवाहने ।
तदाज्यभागावन्तरेणाहुतीः प्रतिपादयेत् ॥2॥**

जब अग्नि प्रज्वलित होकर उसकी ज्वालाएँ धधक उठें, तब उस अग्नि की दोनों ओर की करवटों के बीच के भाग में घी की आहुतियाँ प्रदान करें।

**यस्याग्निहोत्रमदर्शमपौर्णमासमचातुर्मास्यमनाग्रयणमतिथिवर्जितं च ।
अहुतमवैश्वदेवमविधिना हुतमासप्तमांस्तस्य लोकान्हिनस्ति ॥3॥**

जिस मनुष्य का अग्निहोत्रानुष्ठान दर्श, पौर्णमास, चातुर्मास्य, आग्रयण आदि आनुषंगिक यज्ञों से रहित हो और जहाँ अतिथि-सत्कार न होता हो, होम न किया जाता हो, वैश्वदेव न किया जाता हो, अनुष्ठानों में शास्त्रीय विधि में क्षतियाँ होती हों तो वहाँ ऐसे लोगों के सातों लोक नष्ट हो जाते हैं।

**काली कराली च मनोजवा च सुलोहिता या च सुधूम्रवर्णा ।
स्फुलिङ्गिनी विश्वरुची च देवी लेलायमाना इति सप्त जिह्वाः ॥4॥**

इस यज्ञाग्नि की सात जिह्वाएँ—काली, कराली, मनोजवा, सुलोहिता, सुधूम्रवर्णा, स्फुलिंगिनी और विश्वरुची देवी नाम की हैं। ऐसे नामों वाली ये जिह्वाएँ विशिष्ट आहुतियों के लिए हैं।

**एतेषु यश्चरते भ्राजमानेषु यथाकालं चाहुतयो ह्याददायन् ।
तं नयन्त्येताः सूर्यस्य रश्मयो यत्र देवानां पतिरेकोऽधिवासः ॥5॥**

चारों ओर घूमती हुई इन तेजस्वी अग्निज्वालाओं में शास्त्रविहित समय पर जो मनुष्य अग्निहोत्र का अनुष्ठान करता है, उस मनुष्य के लिए ये आहुतियाँ सूर्यकिरणों में रूपान्तरित हो जाती हैं और उसे ऊपर उठाकर देवों के एकमात्र अध्यक्ष (इन्द्र) के उच्चतम लोक में ले जाती हैं।

**एह्येहीति तमाहुतयः सुवर्चसः सूर्यस्य रश्मिभिर्यजमानं वहन्ति ।
प्रियां वाचमभिवदन्त्योऽर्चयन्त्य एष वः पुण्यः सुकृतो ब्रह्मलोकः ॥6॥**

वे तेजोमय आहुतियाँ उसको "आओ आओ, अपने कर्मों के परिणामरूप यह स्वर्गलोक तुमने प्राप्त किया है"—ऐसे अच्छे-अच्छे शब्दों से उसका अभिनन्दन करती हुई, उसके प्रति बहुत आदरभाव प्रकट करती हुई सूर्यकिरणों में रूपान्तरित हो जाती हैं और उस यज्ञकर्ता को स्वर्ग में ले जाती हैं।

प्लवा ह्येते अदृढा यज्ञरूपा अष्टादशोक्तमवरं येषु कर्म ।
एतच्छ्रेयो येऽभिनन्दन्ति मूढा जरामृत्युं ते पुनरेवापि यन्ति ॥7॥

अठारह ऋत्विज् के समूह (यज्ञ में यजमान, यजमान-पत्नी और अन्य सोलह यज्ञसहायक) द्वारा किए जाने वाले यज्ञरूपी तरापे तो दुर्बल हैं। ये निर्दिष्ट यज्ञ तो निम्नकोटि के कर्म ही हैं। जो मूढ लोग (इन निम्नकोटि के कर्मों को) श्रेयस्कर अर्थात् कल्याणकारी मानकर उनकी प्रशंसा करते हैं, वे बार-बार वृद्धावस्था और मृत्यु के दुःख भोगते हैं।

अविद्यायामन्तरे वर्तमानाः स्वयं धीराः पण्डितंमन्यमानाः ।
जङ्घन्यमानाः परियन्ति मूढा अन्धेनैव नीयमाना यथान्धाः ॥8॥

ऐसे कुछ लोग हैं, जो अज्ञान में ही डूबे हुए हैं, फिर भी वे मूर्ख लोग अपने आपको धीर, विवेकी और पण्डित (सर्वज्ञ) मानते हैं। ऐसे लोग एक दूषण में से दूसरे दूषण में जाया करते हैं और अंधे आदमी के द्वारा प्रेरित अन्धों की तरह चारों ओर भटका करते हैं।

अविद्यायां बहुधा वर्तमाना वयं कृतार्था इत्यभिमन्यन्ति बालाः ।
यत्कर्मिणो न प्रवेदयन्ति रागात्तेनातुराः क्षीणलोकाश्च्यवन्ते ॥9॥

कई प्रकार के अज्ञान में डूबे हुए ये लोग बच्चों की तरह मूर्ख होते हुए भी, "हम तो धन्य-धन्य हो गए हैं"—ऐसा (झूठा) गर्व करते हैं। पर वास्तव में तो ऐसे लोग आसक्ति से ही काम करनेवाले हैं और आत्मज्ञान के सही मार्ग को जानते ही नहीं। इसलिए उनके किए हुए कर्मों के फल भोगने के बाद दुःखी हो जाते हैं और स्वर्गनिवास के अधिकार को गँवा देते हैं।

इष्टापूर्तं मन्यमाना वरिष्ठं नान्यच्छ्रेयो वेदयन्ते प्रमूढाः ।
नाकस्य पृष्ठे ते सुकृतेऽनुभूत्वेमं लोकं हीनतरं वा विशन्ति ॥10॥

कुछ अत्यन्त मूर्ख लोग यज्ञानुष्ठानादि इष्टकर्मों और गृह-उद्यान निर्माणादि लोकहित के कार्यों (आपूर्त) को ही सबसे श्रेष्ठ समझते हैं, पर उन्हें यह पता नहीं है कि इससे भी अधिक उत्तम काम है। ठीक है, अपने सत्कर्मों से वे कुछ समय स्वर्गसुख भोग तो लेते हैं, पर वहाँ नियत समय पूरा करके इस मनुष्यलोक में मनुष्ययोनि में अथवा तो उससे भी निम्न पशु आदि की योनियों में वापिस लौट आते हैं।

तपःश्रद्धे ये ह्युपवसन्त्यरण्ये शान्ता विद्वांसो भैक्षचर्यां चरन्तः ।
सूर्यद्वारेण ते विरजाः प्रयान्ति यत्रामृतः स पुरुषो ह्यव्ययात्मा ॥11॥

जो लोग शान्त और विद्वान् हैं, भिक्षा माँगकर जीनेवाले हैं, वन में (रहकर) तपश्चर्या और चरम जीवनलक्ष्य की उपासना करनेवाले हैं, वे लोग विशुद्ध चित्तवाले हो जाते हैं। वे सूर्य के दरवाजे से होकर उत्तरायण के मार्ग में, जहाँ वह शाश्वत और अविनाशी पुराणपुरुष (हिरण्यगर्भ) रहता है, वहाँ जाते हैं।

परीक्ष्य लोकान्कर्मचितान्ब्राह्मणो निर्वेदमायान्नास्त्यकृतः कृतेन ।
तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत्समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम् ॥12॥

कर्म से प्राप्त करने योग्य लोकों के स्वरूप को अच्छी तरह परखकर अर्थात् यज्ञादि के स्वरूप को पहचानकर ब्राह्मण (ब्रह्मजिज्ञासु) को त्याग का आचरण करना चाहिए। क्योंकि कर्म करने से तो वह अकृत (अजन्मा - अयोनिज) ब्रह्म प्राप्त नहीं किया जाता। उस अकृत ब्रह्म का ज्ञान प्राप्त करने के लिए तो उस जिज्ञासु को अपने हाथ में कुछ यज्ञकाष्ठ लेकर किसी वेदज्ञ और ब्रह्मनिष्ठ गुरु के पास जाना चाहिए।

तस्मै स विद्वानुपसन्नाय सम्यक् प्रशान्तचित्ताय शमान्विताय ।
येनाक्षरं पुरुषं वेद सत्यं प्रोवाच तां तत्त्वतो ब्रह्मविद्याम् ॥13॥

इति प्रथममुण्डके द्वितीयः खण्डः ॥2॥

उस ब्रह्मज्ञानी गुरु ने शम-दमादि से युक्त शान्त चित्तवाले और ज्ञानप्राप्ति के लिए आये हुए उस शिष्य को ब्रह्म-विद्या का ऐसा सात्त्विक उपदेश दिया कि जिससे शिष्य ने उस सत्यस्वरूप अविनाशी ब्रह्म को जान लिया।

इस प्रकार मुण्डकोपनिषद् के प्रथम मुण्डक में दूसरा खण्ड समाप्त हुआ।

द्वितीयं मुण्डकम्

प्रथमः खण्डः

तदेतत्सत्यं यथा सुदीप्तात्पावकाद्विस्फुलिङ्गाः सहस्रशः प्रभवन्ते सरूपाः । तथाऽक्षराद्विविधाः सोम्य भावाः प्रजायन्ते तत्र चैवापियन्ति ॥1॥

ब्रह्म सचमुच ही परमार्थसत्य है। जिस तरह प्रज्वलित अग्नि में से समान आकारवाली हजारों चिनगारियाँ निकलती हैं, उसी प्रकार हे सौम्य ! इस अक्षर में से (ब्रह्म में से) विविध प्रकार के प्राणी उत्पन्न होते हैं और फिर उसी में विलीन हो जाते हैं।

दिव्यो ह्यमूर्तः पुरुषः सबाह्याभ्यन्तरो ह्यजः ।
अप्राणो ह्यमनाः शुभ्रो ह्यक्षरात्परतः परः ॥2॥

वह प्रकाशमय पुरुष किसी रूपवाला नहीं है, वह बाहर और भीतर सर्वदा विद्यमान ही है, उसका कभी जन्म नहीं होता। वह श्वासोच्छ्वास नहीं करता; उसका कोई मन नहीं है, वह निष्कलंक है और वह अक्षरब्रह्म से भी उच्चतर है।

एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च ।
खं वायुर्ज्योतिरापः पृथिवी विश्वस्य धारिणी ॥3॥

इस ब्रह्म में से (सगुण ब्रह्म में से) प्राण (जीवनीशक्ति), मन और इन्द्रियाँ (इन्द्रियों के अवयव), एवं आकाश, वायु, तेज, जल और विश्व के आधाररूप पृथ्वी प्रकट होती है।

अग्निर्मूर्धा चक्षुषी चन्द्रसूर्यौ दिशः श्रोत्रे वाग्विवृताश्च वेदाः ।
वायुः प्राणो हृदयं विश्वमस्य पद्भ्यां पृथिवी ह्येष सर्वभूतान्तरात्मा ॥4॥

इसका मस्तक स्वर्ग है, चन्द्र और सूर्य इसकी आँखें हैं, दिशाएँ इसके कान हैं, अभिव्यक्त वेद (शब्द) इसकी वाणी है, वायु इसका श्वासोच्छ्वास है, जगत् इसका हृदय है, इसके पैरों के उपयोग के लिए पृथिवी है, वही सर्व प्राणियों के हृदय में रहनेवाला आत्मा है ।

तस्मादग्निः समिधो यस्य सूर्यः सोमात्पर्जन्य ओषधयः पृथिव्याम् ।
पुमान् रेतः सिञ्चति योषितायां बह्वीः प्रजाः पुरुषात्सम्प्रसूताः ॥5॥

उससे सूर्यरूपी समिधा वाला स्वर्गरूप अग्नि उत्पन्न हुआ । वह स्वर्ग (अग्नि) परमपुरुष से जन्मा है और चन्द्र स्वर्ग (अग्नि) में से जन्मा है । चन्द्र से वर्षा आती है । वह वर्षा पृथ्वी पर औषधियाँ उगाती हैं, वे औषधियाँ पुरुषों को वीर्य देती हैं । वे (पुरुष) वीर्य को स्त्री में सिंचित करते हैं और इस प्रकार उस परमपुरुष में से (हिरण्यगर्भ = सगुण ब्रह्म परमात्मा में से) क्रमशः बहुत प्राणी जन्म लेते हैं । (यहाँ स्वर्गलोक को अग्नि कहा है ।)

तस्मादृचः साम यजूꣳषि दीक्षा यज्ञाश्च सर्वे क्रतवो दक्षिणाश्च ।
संवत्सरश्च यजमानश्च लोकाः सोमो यत्र पवते यत्र सूर्यः ॥6॥

उस परमपुरुष – हिरण्यगर्भ में से ऋक्, यजुस् और सामवेद, दीक्षा (प्रतिज्ञाविधि), सभी यज्ञविधि, बलियज्ञ, धार्मिक कार्यों में दिये जाने वाले उपहार (दक्षिणा), संवत्सर (विशिष्ट विधि के लिए शास्त्रविहित निश्चित समय), यज्ञाधिकारी पुरुष – यजमान, यजमान द्वारा इच्छित लोक—यह सब उत्पन्न हुआ है । यजमान द्वारा इच्छित उन देवलोकादि को चन्द्र पवित्र करता है (जैसे पितृलोक को) और सूर्य दुःख का कारण बनता है अर्थात् तपता है ।

तस्माच्च देवा बहुधा सम्प्रसूताः साध्या मनुष्याः पशवो वयाꣳसि ।
प्राणापानौ व्रीहियवौ तपश्च श्रद्धा सत्यं ब्रह्मचर्यं विधिश्च ॥7॥

और भी इस (ब्रह्म) में से देवों और मनुष्यों के भिन्न-भिन्न वर्ग भी आए हैं । साध्य (देवविशिष्ट), मनुष्य (स्त्रियाँ और पुरुष) पशु, पक्षी, प्राण (श्वास = जीवनीशक्ति), अपान (निःश्वास), चावल, यव (खाद्यान्न), तप (श्रम = तपश्चर्या), श्रद्धा, सत्य, आत्मसंयम (कामत्याग) तथा विधि-विधान आते हैं । (साध्य एक विशिष्ट देववर्ग है, वे बारह हैं ।)

सप्त प्राणाः प्रभवन्ति तस्मात्सप्तार्चिषः समिधः सप्त होमाः ।
सप्त इमे लोका येषु चरन्ति प्राणा गुहाशया निहिताः सप्त सप्त ॥8॥

इसी ब्रह्म में से सात इन्द्रियावयव (दो आँखें, दो नाक, दो कान और एक मुख) आविष्कृत होते हैं । (और इन इन्द्रियावयवों के योग्य) प्रत्यक्षीकरण की सात शक्तियाँ, उनके विषय और उनका अनुसरण करती हुई सात समानताएँ (चेतनाएँ) तथा उनके स्थान आदि भी उसी से उत्पन्न होते हैं । प्रत्येक प्राणी के शरीर में निहित चारों ओर घूमनेवाले इन अवयवों के स्थान भी तो उसी में से आए हैं । सुषुप्ति की अवस्था में ये अवयव हृदयरूपी गुफा में लीन हो जाते हैं ।

अतः समुद्रा गिरयश्च सर्वेऽस्मात्स्यन्दन्ते सिन्धवः सर्वरूपाः ।
अतश्च सर्वा ओषधयो रसाश्च येनैष भूतैस्तिष्ठते ह्यन्तरात्मा ॥9॥

और भी—इसी ब्रह्म से सब समुद्र और पर्वत आए हैं, इसी से ही छोटी-बड़ी सभी नदियाँ निःसृत हुई हैं, और इस ब्रह्म में से ही सभी औषधियाँ (खाद्यान्न - वनस्पतियाँ) आई हैं । मधुरादि रस भी इसी से आए हैं । इससे (यह निश्चित है कि—) ब्रह्म के अस्तित्व के कारण ही इन सभी वस्तुओं का अस्तित्व है । वही इन सभी वस्तुओं को एक साथ धारण करता है ।

पुरुष एवेदं विश्वं कर्म तपो ब्रह्म परामृतम् ।
एतद्यो वेद निहितं गुहायां सोऽविद्याग्रन्थिं विकिरतीह सोम्य ॥10॥

इति द्वितीयमुण्डके प्रथमः खण्डः ॥1॥
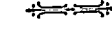
यह ब्रह्म ही सम्पूर्ण जगत् है, ब्रह्म ही यज्ञादि कर्म है, ब्रह्म ही ज्ञानादि तप है । ब्रह्म ही परमतत्त्व है और ब्रह्म ही परम अमृतमय है । हे सौम्य ! वही आनन्दमय शाश्वत ब्रह्म सबके हृदय में अधिष्ठित है । उसे जो जान लेता है, वह इसी जीवन में अज्ञान के बन्धनों को काट देता है ।

इस प्रकार मुण्डकोपनिषद् के द्वितीय मुण्डक में प्रथम खण्ड समाप्त हुआ ।

❋

द्वितीयः खण्डः

आविः संनिहितं गुहाचरं नाम महत्पदमत्रैतत्समर्पितम् । एजत्प्राणान्
निमिषच्च यदेतज्जानथ सदसद्वरेण्यं परं विज्ञानाद्वरिष्ठं प्रजानाम् ॥1॥

वह ब्रह्म स्वप्रकाशित है और सबके भीतर का चैतन्य है । उसे 'गुफा में रहनेवाला' कहा जाता है, क्योंकि वह सबके हृदयरूपी गुफा में स्थित है । यह ब्रह्म सबका आधार है । जो कुछ भी हिलता-चलता है, जो कुछ जीवित है, जो कुछ पलकें मार सकता है या नहीं मार सकता, उन सबका अर्थात् सभी अस्तित्वों का वह आधार है । हे सौम्य ! यह ब्रह्म दृश्य भी है और अदृश्य भी है—दोनों है । वह आदरणीय (वांछनीय - शाश्वत) है । वह ज्ञानेन्द्रियों से परे है । उसे तुम अपने आत्मा के रूप में पहचान लो ।

यदर्चिमद्यदणुभ्योऽणु च यस्मिँल्लोका निहिता लोकिनश्च । तदेतदक्षरं
ब्रह्म स प्राणस्तदु वाङ्मनः तदेतत्सत्यं तदमृतं तद्वेद्धव्यं सोम्यं
विद्धि ॥2॥

जो प्रकाशित है, जो छोटे-से भी छोटा है, जिसके आधार पर सब लोक और लोकवासी अवस्थित हैं (जो सबकी संजीवनी शक्ति है), जो वाणी है, जो मन है, जो सत्य है, जो शाश्वत (अमर्त्य) है, वह लक्ष्य (सब) यह अक्षर (सनातन) ब्रह्म ही है ।

धनुर्गृहीत्वौपनिषदं महान्तं शरं ह्युपासानिशितं सन्दधीत ।
आयम्य तद्भावगतेन चेतसा लक्ष्यं तदेवाक्षरं सोम्य विद्धि ॥3॥

उपनिषत्प्राप्त संदेशरूपी बड़ा धनुष लेकर, ध्यान से तीक्ष्ण बनाए गए जीवात्मारूपी बाण का अनुसन्धान करना चाहिए । फिर उस धनुष को जोर से खींचो (अर्थात् जागतिक विचारों से मन को

वापिस भीतर खींच लो) और फिर ब्रह्म की ओर देखो अर्थात् वह ब्रह्म ही तुम्हारा लक्ष्य है अत: अपने (तीक्ष्ण किए हुए) मन से ब्रह्म को भेदो।

प्रणवो धनुः शरो ह्यात्मा ब्रह्म तल्लक्ष्यमुच्यते।
अप्रमत्तेन वेद्धव्यं शरवत्तन्मयो भवेत् ॥4॥

'ॐ' यह धनुष् है, जीवात्मा बाण है। उस जीवात्मारूप बाण का लक्ष्य ब्रह्म है। अप्रमत्त (सावधान) रहकर उस लक्ष्य को बींध डालो। बाद में तुम उस ब्रह्म जैसे ही बन जाओ। (अर्थात् व्यष्टि चैतन्य को चाहिए कि वह समष्टि चैतन्य को लक्ष्य कर उससे एकाकार हो जाए—यह बात इन मन्त्रों में रूपकात्मक ढंग से कही गई है)।

यस्मिन्द्यौः पृथिवी चान्तरिक्षमोतं मनः सह प्राणैश्च सर्वैः।
तमेवैकं जानथ आत्मानमन्या वाचो विमुञ्चथामृतस्यैष सेतुः ॥5॥

यह स्वर्ग, यह पृथ्वी, यह अन्तरिक्ष (स्वर्ग और पृथ्वी के बीच का अवकाश) तथा यह जीवन, सभी इन्द्रियों के साथ मन आदि सब कुछ इस विश्वात्मा (समष्टिचैतन्य) के ऊपर ही आधारित है। इसलिए इस आत्मा को पहचान लो, अन्य विषयों को छोड़ दो। यह आत्मा तो अमरत्व का सेतु है।

अरा इव रथनाभौ संहता यत्र नाड्यः स एषोऽन्तश्चरते बहुधा जायमानः।
ओमित्येवं ध्यायथ आत्मानं स्वस्ति वः पाराय तमसः परस्तात् ॥6॥

रथ की धुरी में जड़े अरों की भाँति जहाँ हृदय के साथ कई नाड़ियाँ जुड़ी हुई रहती हैं, वहाँ यह परमात्मा अनेक रूपों में अभिव्यक्त होता है और भीतर (हृदय – मन में) घूमता-फिरता है। इस आत्मा का 'ओम्' के रूप में ध्यान करो। अन्धकार का अतिक्रमण करने के लिए तुम्हें आशीर्वचन (स्वस्ति) है। (यहाँ हृदय में उठती हुई अनेक भावनाओं का संकेत है।)

यः सर्वज्ञः सर्वविद्यस्यैष महिमा भुवि।
दिव्ये ब्रह्मपुरे ह्येष व्योम्न्यात्मा प्रतिष्ठितः॥
मनोमयः प्राणशरीरनेता प्रतिष्ठितोऽन्ने हृदयं सन्निधाय।
तद्विज्ञानेन परिपश्यन्ति धीरा आनन्दरूपममृतं यद्विभाति ॥7॥

जो आत्मा सामान्यत: और विशेषत: भी सब कुछ जानता है, इस विश्व में जो सब-कुछ है, वह उसी की महिमा के कारण ही है। वह आत्मा सभी के हृदयाकाश में प्रकाशित है। इस हृदयाकाश को ब्रह्म का निवासस्थान कहा जाता है। मन के रूप में अभिव्यक्त और जीवन एवं सूक्ष्म शरीर का संचालक वह आत्मा हृदय की नींव में है (संनिहित है) एवं स्थूल शरीर में प्रतिष्ठित है। जो विवेकशील हैं, वे "यह आत्मा अमर है और आनन्दमय है"—ऐसा अनुभव करते हैं। जब वे ऐसा अनुभव कर सकते हैं, तब उन्होंने उसे (आत्मा को) पूर्णत: जान लिया है (ऐसा कह सकते हैं)।

भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे ॥8॥

जब मनुष्य उस परब्रह्म को कार्य-कारण सब कुछ के रूप में जान लेता है (सर्वरूपों में ब्रह्म का ही अनुभव करता है, तब उसके हृदय की सभी वक्रताएँ (सभी जटिलताएँ) सरल हो जाती हैं, गाँठें खुल जाती हैं, सभी शंकाएँ मिट जाती हैं और उसके सभी कर्म नष्ट हो जाते हैं।

हिरण्मये परे कोशे विरजं ब्रह्म निष्कलम्।
तच्छुभ्रं ज्योतिषां ज्योतिस्तद्यदात्मविदो विदुः ॥9॥

प्रकाशित और भव्य हृदयकक्ष में निर्मल और प्रकाशित ब्रह्म निवास करता है। वह ब्रह्म तो प्रकाश का भी प्रकाश है, आत्मज्ञानी लोग ऐसे ही ब्रह्म का अनुभव करते हैं।

न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः।
तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति ॥10॥

ब्रह्म की उपस्थिति में सूर्य प्रकाशित नहीं होता (ब्रह्म ही प्रकाशित होता है)। चन्द्र और तारे भी प्रकाशित नहीं होते। बिजली भी नहीं चमकती है, तो फिर अग्नि कैसे प्रकाशित हो सकता है? जब ब्रह्म प्रकाशित करता है, तभी सब प्रकाशित होता है, उसी के प्रकाश से सब प्रकाशित होता है।

ब्रह्मैवेदममृतं पुरस्ताद्ब्रह्म पश्चाद्ब्रह्म दक्षिणतश्चोत्तरेण।
अधश्चोर्ध्वं च प्रसृतं ब्रह्मैवेदं विश्वमिदं वरिष्ठम् ॥11॥

इति द्वितीयमुण्डके द्वितीयः खण्डः ॥2॥

यही आनन्दमय ब्रह्म तुम्हारे आगे है, पीछे है, वह दक्षिण में है, उत्तर में भी है, ऊपर भी है, नीचे भी फैला हुआ है। वह सर्वव्यापक है। यह सारा जगत् ब्रह्म ही है।

इस प्रकार मुण्डकोपनिषद् के द्वितीय मुण्डक में द्वितीय खण्ड समाप्त हुआ।

❋

तृतीयं मुण्डकम्

प्रथमः खण्डः

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति ॥1॥

एक ही वृक्ष पर दो पक्षी सदैव साथ में रहते हैं। दोनों सुन्दर पंखवाले और एक समान ही हैं। उनमें से एक (उस वृक्ष के) मीठे फल खाता है, जबकि दूसरा बिना खाए केवल देखता ही रहता है।

समाने वृक्षे पुरुषो निमग्नोऽनीशया शोचति मुह्यमानः।
जुष्टं यदा पश्यत्यन्यमीशमस्य महिमानमिति वीतशोकः ॥2॥

व्यष्टिचैतन्य जीवात्मा समष्टिचैतन्य के साथ एक ही (शरीररूपी) वृक्ष पर (समान रूप से) होने पर भी अपनी दिव्यता को जाने बिना अज्ञान से मोहित होकर दु:खी होता है। परन्तु वही जीवात्मा जब अपने इष्ट (सही) स्वरूप को पहचान लेता है, तब सभी दु:खों को पार कर लेता है और अपनी मूलगत महिमा को पहचान लेता है।

यदा पश्यः पश्यते रुक्मवर्णं कर्तारमीशं पुरुषं ब्रह्मयोनिम्।
तदा विद्वान्पुण्यपापे विधूय निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति ॥3॥

जब आध्यात्मिक साधक अपने आत्मा को सही सर्जक के रूप से पहचान लेता है और हिरण्यगर्भ (ब्रह्मा) के भी जन्मदाता के रूप में उसे देख लेता है, उसे परमस्वामी समझता है, तब वह पुण्य-पाप दोनों को पार कर जाता है। वह विशुद्ध हो जाता है और उसके साथ ऐक्य का अनुभव करता है।

प्राणो ह्येष यः सर्वभूतैर्विभाति विजानन्विद्वान्भवते नातिवादी ।
आत्मक्रीड आत्मरतिः क्रियावानेष ब्रह्मविदां वरिष्ठः ॥4॥

ईश्वर सभी प्राणियों में अभिव्यक्त हुआ है और सभी प्राणियों की वह जीवनी शक्ति है। मनुष्य को जब इस प्रकार का ज्ञान हो जाता है, तब वह ईश्वर के सिवा अन्य कोई भी बात कर ही नहीं सकता। वह अपने आत्मा के साथ ही रमण करता है। वह स्वयं ही अपने आनन्द का स्रोत है। ध्यानाध्ययनादि आध्यात्मिक कार्यों में वह सदैव रत रहता है। वह आत्मज्ञानियों में उत्तम माना जाता है।

सत्येन लभ्यस्तपसा ह्येष आत्मा सम्यग्ज्ञानेन ब्रह्मचर्येण नित्यम् ।
अन्तःशरीरे ज्योतिर्मयो हि शुभ्रो यं पश्यन्ति यतयः क्षीणदोषाः ॥5॥

शरीर में कमलाकार हृदय में स्वयं प्रकाश और विशुद्ध आत्मा का सदैव अनुभव करते रहना चाहिए। ऐसा अनुभव करने का मार्ग मानसिक और शारीरिक तपश्चरण, आत्मसंयम, एकाग्रता, ध्यान द्वारा ईश्वर के सही स्वरूप का ज्ञान और ब्रह्मचर्यसेवन है। विशुद्ध चित्तवाले योगी ऐसे आत्मा का साक्षात्कार करते हैं।

सत्यमेव जयते नानृतं सत्येन पन्था विततो देवयानः ।
येनाक्रमन्त्यृषयो ह्याप्तकामा यत्र तत्सत्यस्य परमं निधानम् ॥6॥

सत्य ही विजय प्राप्त करता है, असत्य नहीं क्योंकि स्वर्ग की (देवों की) ओर जानेवाला चौड़ा मार्ग (राजमार्ग) सत्य से होकर ही जाता है। सब कामनाओं को लाँघकर ऋषि लोग सत्य द्वारा ही लक्ष्यसिद्धि प्राप्त करते हैं।

बृहच्च तद्दिव्यमचिन्त्यरूपं सूक्ष्माच्च तत्सूक्ष्मतरं विभाति ।
दूरात्सुदूरे तदिहान्तिके च पश्यत्स्विहैव निहितं गुहायाम् ॥7॥

ब्रह्म अनन्त है, इन्द्रियागम्य है, विचारातीत है, सूक्ष्मातिसूक्ष्म है, दूर से भी दूर परन्तु नजदीक से भी नजदीक है, हृदयकमल (हृदयगुहा) में वह सुप्रतिष्ठित है।

न चक्षुषा गृह्यते नापि वाचा नान्यैर्देवैस्तपसा कर्मणा वा ।
ज्ञानप्रसादेन विशुद्धसत्त्वस्ततस्तु तं पश्यते निष्कलं ध्यायमानः ॥8॥

आत्मा के निराकार होने से तुम उसे आँख से देख नहीं सकते। वाणी से अतीत होने से तुम उसका वर्णन नहीं कर सकते, इन्द्रियातीत होने से वह देखा नहीं जा सकता। तप से उसका साक्षात्कार नहीं होता, यज्ञादि कर्मों से वह पहचाना नहीं जा सकता। पर यदि तुम्हारा मन इन्द्रियजन्य सुखों से विमुख हो और तुम ब्रह्मध्यान करो, तब कहीं उस निराकार आत्मा का साक्षात्कार कर सकते हो।

एषोऽणुरात्मा चेतसा वेदितव्यो यस्मिन्प्राणः पञ्चधा संविवेश ।
प्राणैश्चित्तं सर्वमोतं प्रजानां यस्मिन्विशुद्धे विभवत्येष आत्मा ॥9॥

प्राण (जीवनशक्ति) अपने पाँचों प्रकारों के साथ जिस शरीर में व्याप्त है, उसी शरीर में आत्मा भी अतिसूक्ष्म स्वरूप में व्याप्त है। वह आत्मा सूक्ष्म बुद्धि से जाना जा सकता है। सचमुच यह बुद्धि सभी प्राणियों के हृदय में व्याप्त होकर स्थित है। जब वह बुद्धि (मन) निर्मल (पवित्र) हो जाती है, तब आत्मा स्वयं ही उसके आगे प्रकट हो जाता है।

यं यं लोकं मनसा संविभाति विशुद्धसत्त्वः कामयते यांश्च कामान् ।
तं तं लोकं जयते तांश्च कामांस्तस्मादात्मज्ञं ह्यर्चयेद्भूतिकामः ॥10॥

इति तृतीयमुण्डके प्रथमः खण्डः ॥1॥

विशुद्ध मनवाला मनुष्य अपनी इच्छानुसार किसी भी लोक को और चाही हुई किसी भी वस्तु को प्राप्त कर सकता है। अपना कल्याण चाहनेवाले किसी भी मनुष्य को ऐसे मनुष्य का आदर-सम्मान करना चाहिए।

इस प्रकार मुण्डकोपनिषद् के तीसरे मुण्डक में प्रथम खण्ड समाप्त हुआ।

द्वितीयः खण्डः

स वेदैतत्परमं ब्रह्म धाम यत्र विश्वं निहितं भाति शुभ्रम् ।
उपासते पुरुषं ये ह्यकामास्ते शुक्रमेतदतिवर्तन्ति धीराः ॥1॥

स्वात्मज्ञ पुरुष ब्रह्म को भी जान ही लेता है। वह ब्रह्म समस्त जगत् का आधार है। वह मनुष्य यह भी जानता है कि इस दृश्य जगत् का कारण भी तो वही है। वह ब्रह्म पर ही प्रतिष्ठित है। जो लोग ऐसे आत्मज्ञानी की उपासना करते हैं (उनकी सेवा करते हैं) और उनसे कोई कामना नहीं करते, वे निश्चित रूप से पुनर्जन्म को पार कर जाते हैं।

कामान्यः कामयते मन्यमानः स कामभिर्जायते तत्र तत्र ।
पर्याप्तकामस्य कृतात्मनस्तु इहैव सर्वे प्रविलीयन्ति कामाः ॥2॥

भोगों को ही अच्छा माननेवाला पुरुष यदि ऐहिकामुष्मिक भोगों के लिए बेचैन होता है, तो वह मनुष्य कामनाओं से रगड़ खाता हुआ उस-उस जगह पर पैदा हुआ करता है (कि जहाँ ऐसे भोग मिल सकें)। पर जिस मनुष्य को 'अपनी सारी कामनाएँ पूर्ण हो गई हैं' ऐसी प्रतीति हो चुकी है, ऐसे आत्मज्ञानी पुरुष की तो सभी कामनाएँ यहीं शान्त हो गई होती हैं।

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन ।
यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनुं स्वाम् ॥3॥

यह आत्मा शास्त्रों के विवरण से प्राप्य नहीं है, बौद्धिक शक्ति से भी प्राप्य नहीं, गुरु से बार-बार श्रवण करने से भी वह नहीं मिलता। पर यह (साधक) जिस (आत्मा) को निष्ठापूर्वक चाहता है उसी (निष्ठा) से वह प्राप्त किया जा सकता है। यह आत्मा उसके आगे अपना स्वरूप उद्घाटित कर देता है।

(भक्तिमार्गी ऐसा अर्थ करते हैं—यह आत्मा जिस मनुष्य को पसन्द करता है अर्थात् जिसके ऊपर अनुग्रह करता है, उसके आगे अपना स्वरूप प्रकट कर देता है)।

नायमात्मा बलहीनेन लभ्यो न च प्रमादात्तपसो वाप्यलिङ्गात्।
एतैरुपायैर्यतते यस्तु विद्वांस्तस्यैष आत्मा विशते ब्रह्मधाम ॥4॥

यह प्रस्तुत आत्मा निर्बल (निष्ठाहीन) के द्वारा नहीं पाया जा सकता। आत्मसाधना में प्रमाद करने से अथवा त्यागविहीन तपश्चर्या से (या पाण्डित्य से) भी मिलता नहीं है। पर जो विवेकशील पुरुष इन सभी उपायों से निष्ठापूर्वक और श्रमपूर्वक प्रयत्न करता है, तो यह आत्मा उसी का हो जाता है (अर्थात् वह आत्मा को पा लेता है) और वह ब्रह्मधाम में प्रवेश पाता है अर्थात् ब्रह्म के साथ एकाकार हो जाता है।

सम्प्राप्यैनमृषयो ज्ञानतृप्ताः कृतात्मानो वीतरागाः प्रशान्ताः।
ते सर्वगं सर्वतः प्राप्य धीरा युक्तात्मानः सर्वमेवाविशन्ति ॥5॥

आत्मज्ञ ऋषिलोग इस आत्मज्ञान से परितुष्ट हुए हैं। और वे इस इन्द्रियासक्ति से मुक्त हो गए हैं और शान्त हो गए है, क्योंकि वे धीर (संतुलित) हुए हैं। सभी स्थानों में उस सर्वव्यापक आत्मा (समष्टिचैतन्य) को प्राप्त करके उसके साथ वे मिल गए हैं। वे सभी जगह और सब कुछ होते हैं।

वेदान्तविज्ञानसुनिश्चितार्थाः संन्यासयोगाद्यतयः शुद्धसत्त्वाः।
ते ब्रह्मलोकेषु परान्तकाले परामृताः परिमुच्यन्ति सर्वे ॥6॥

वेदान्तशास्त्र के यथार्थ मर्म को सम्पूर्णतया पचानेवाले और संन्यास (कर्मफलत्याग) के द्वारा जो यति हुए हैं (संयमी हुए हैं), ऐसे शुद्ध मनवाले सभी लोग आत्मज्ञान से इसी जन्म में अमरत्व (जीवन्मुक्ति) पा लेते हैं और अन्तकाल में तो विदेहमुक्ति पा ही लेते हैं।

गताः कलाः पञ्चदश प्रतिष्ठा देवाश्च सर्वे प्रतिदेवतासु।
कर्माणि विज्ञानमयश्च आत्मा परेऽव्यये सर्व एकीभवन्ति ॥7॥

उसके बाद शरीर के पंद्रह विभाग फिर अपनी कारणावस्था में लौट जाते हैं। सभी इन्द्रियाँ भी अपने-अपने देवों की ओर लौट जाती हैं और आत्मा संचित कर्मों के साथ विशुद्ध अविनाशी ब्रह्म में मिलकर एकाकार हो जाता है।

यथा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रेऽस्तं गच्छन्ति नामरूपे विहाय।
तथा विद्वान्नामरूपाद्विमुक्तः परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम् ॥8॥

जिस प्रकार दौड़ती हुई नदियाँ अपने नामों और आकारों को छोड़कर सागर में विलीन हो जाती हैं, उसी प्रकार आत्मज्ञानी नाम और रूप (आकार) से मुक्त होकर, ऊँचे से भी ऊँचे (हिरण्यगर्भ से भी ऊँचे) स्वप्रकाशित ब्रह्म को प्राप्त करता है।

स यो ह वै तत्परमं ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति नास्याब्रह्मवित्कुले भवति।
तरति शोकं तरति पाप्मानं गुहाग्रन्थिभ्यो विमुक्तोऽमृतो भवति ॥9॥

जो मनुष्य परमश्रेष्ठ ब्रह्म को जानता है वह ब्रह्मज्ञानी ब्रह्म में ही रूपान्तरित हो जाता है। इस ब्रह्मज्ञानी के वंश में कोई ब्रह्मज्ञान से रहित नहीं जन्मता। वह शोक (सांसारिक दुःख) को पार कर लेता

है। पाप और पुण्य को भी लाँघ जाता है। आत्मा को अज्ञानजन्य बन्धनों से मुक्त कराकर अमर बन जाता है।

तदेतदृचाऽभ्युक्तम्—
क्रियावन्तः श्रोत्रिया ब्रह्मनिष्ठाः स्वयं जुह्वत एकर्षिं श्रद्धयन्तः।
तेषामेवैतां ब्रह्मविद्यां वदेत शिरोव्रतं विधिवद् यैस्तु चीर्णम् ॥10॥

तो यह सत्य वेदमंत्रों ने भी दर्शाया है—"शास्त्रोक्त साधनाएँ करनेवाले, शास्त्रज्ञ, सगुण ब्रह्म में निष्ठावाले जो मनुष्य 'एकर्षि' नाम के यज्ञ का स्वयं अनुष्ठान करते हैं और जिन्होंने शिर पर अग्नि लेकर अथर्ववेदनिर्दिष्ट विधि के अनुसार अनुष्ठान किया हो, उन्हीं मनुष्यों को यह ब्रह्मोपदेश कहना चाहिए।

तदेतत्सत्यमृषिरङ्गिराः पुरोवाच नैतदचीर्णव्रतोऽधीते।
नमः परमऋषिभ्यो नमः परमऋषिभ्यः ॥11॥

इति तृतीयमुण्डके द्वितीयः खण्डः ॥2॥

इति मुण्डकोपनिषत्समाप्ता ॥

ऋषि अंगिरा ने इस ब्रह्मज्ञान को पहले अपने शिष्य शौनक को दिया था। 'अचीर्ण' का व्रत नहीं करनेवाले लोग इसका अध्ययन नहीं करते। ज्ञानी परम ऋषियों को नमस्कार हो (इस वाक्य का पुनरावर्तन ग्रन्थ-समाप्ति का सूचक है)।

इस प्रकार मुण्डकोपनिषद् के तीसरे मुण्डक में दूसरा खण्ड समाप्त हुआ।

इस प्रकार मुण्डकोपनिषत् समाप्त होती है।

शान्तिपाठः

ॐ भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः।
स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवांसस्तनूभिर्व्यशेम देवहितं यदायुः।
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

(6) माण्डूक्योपनिषत्

(उपनिषत्परिचय)

दस सुप्रसिद्ध उपनिषदों में यह सबसे छोटी उपनिषद् है। अथर्ववेद से सम्बद्ध इस उपनिषद् में केवल बारह मन्त्र हैं। इसमें सभी गद्यमन्त्र (कण्डिकाएँ) हैं फिर भी यह उपनिषद् अद्वैतवेदान्त के सिद्धान्तों की नींव मानी गई है। जीवात्मा की जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति—इन अवस्थाओं का पृथक्करण और उसके साथ ही प्रणव के 'अ', 'उ' और 'म' इन तीन वर्णों का सम्बन्ध तथा तुर्यावस्था की स्थापना और उसकी श्रेष्ठता का प्रतिपादन इस उपनिषद् की विशिष्टता है। इस उपनिषद् का 'माण्डूक्य' नाम शायद इसलिए पड़ा है कि इसके निर्माता उसी नाम के ऋषि थे।

शंकाराचार्य के गुरु गोविन्दपाद के भी गुरु गौड़पाद ने इस उपनिषद् के ऊपर कारिकाएँ लिखी हैं (ये कारिकाएँ श्लोकबद्ध सहायक ग्रन्थ जैसी हैं)। ये कारिकाएँ संक्षेप में किन्तु पर्याप्त रूप से अद्वैत के पक्ष में स्पष्ट दलीलें हमारे सामने रखती हैं। कारिकाएँ कहती हैं कि आत्मा के सिवा कुछ है ही नहीं और वह आत्मा एक और समरस है। द्वैत का वे प्रबल खण्डन करती हैं। सृष्टि नाम की किसी चीज में और कार्य-कारणसम्बन्ध में इन कारिकाओं का विश्वास नहीं है। अतः संसार नाम का कोई अस्तित्व नहीं, हम जो देखते हैं वह मात्र भ्रम है। अपने इस मत के लिए ये कारिकाएँ शास्त्रों, तर्कों और अनुभव का प्रमाण देती हैं। ये कारिकाएँ बौद्धों के आत्मलक्षी आदर्शवाद के नजदीक आ जाती हैं। परन्तु यहाँ पर गौड़पाद चेतावनी देते हैं कि वे बौद्धमत को यहाँ प्रस्तुत नहीं कर रहे हैं। वे अपने को एक दृढ़ अद्वैतवादी मानते हैं। विद्वानों के मत में यह ग्रन्थ गौड़पाद का लिखा हो, तो भी मूल उपनिषद् के साथ इसका कोई सम्बन्ध नहीं है, यह एक स्वतंत्र ग्रन्थ ही है। अन्य उपनिषदों की भाँति इस उपनिषद् के साथ किसी कथा का सम्बन्ध नहीं है, यहाँ सीधा उपदेश ही शुरू हो जाता है। 'ॐ' के प्रतीक द्वारा ब्रह्मोपदेश यहाँ है किन्तु ब्रह्म का वर्णन नहीं है। प्रतीक में आरोपण है, आरोपित का वर्णन नहीं है। ॐ ब्रह्म का समुचित प्रतीक है, ॐ ब्रह्म की तरह सर्वव्यापक है, ॐ के उच्चारण में मुख के सभी भागों का स्पर्श होता है। इसीलिए 'ॐ' को शब्दब्रह्म कहा जाता है। हिन्दू-परम्परा का वह पवित्रतम वर्ण है। प्रतीकात्मक रूप से वह वेदतुल्य है। यहाँ पर उपनिषद् ब्रह्म और ॐ को एक मानती हैं। यह बात ठीक ढंग से उपनिषद् में समझाई गई है।

हम यहाँ मूल उपनिषद् के बारह गद्यखण्डों के साथ गौड़पाद की कारिका का भी हिन्दी रूपान्तर दे रहे हैं। स्वतंत्र ग्रन्थ जैसी इस कारिका के चार प्रकरण गौड़पाद ने किए हैं, जिनमें प्रथम प्रकरण का नाम 'आगमप्रकरण' है, और इस प्रकरण में 29 कारिकाएँ हैं। द्वितीय प्रकरण का नाम 'वैतथ्यप्रकरण' है और इस प्रकरण में 38 कारिकाएँ हैं। तृतीय प्रकरण का नाम 'अद्वैतप्रकरण' है और इस प्रकरण में 48 कारिकाएँ हैं और चौथे प्रकरण का नाम 'अलातशान्तिप्रकरण' है, इस प्रकरण में 100 कारिकाएँ हैं। इस प्रकार कुल मिलाकर 200 कारिकाएँ है। इन पर शंकराचार्य ने भाष्य भी लिखा है।

शान्तिपाठः

ॐ भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः ॥
स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवाꣳसस्तनूभिर्व्यशेम देवहितं यदायुः ॥
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

हे देवो ! हम अपने कानों से केवल कल्याणकारी बातें ही सुना करें। जिन्हें हम पूजते हैं, ऐसे हे देवो ! हम अपनी आँखों से केवल शुभ दृश्यों को ही देखा करें। हम अपने सुदृढ़ अंगों से युक्त शरीर के द्वारा आपकी स्तुति करते रहें। हम देवों का दिया हुआ जितना आयुष्य है, उसे भोगते रहें।

वैयक्तिक शान्ति हो, पर्यावरणीय शान्ति हो, प्राणीजगत् की शान्ति हो।

आगमप्रकरणम्

(उपनिषद्)

ओमित्येतदक्षरमिदꣳसर्वं तस्योपव्याख्यानभूतं भवद्भविष्यदिति सर्व-मोङ्कार एव। यच्चान्यत्त्रिकालातीतं तदप्योङ्कार एव ॥1॥

'ओम्'—यह आत्मलक्षी शब्द है, इसका यह आख्यान है। वही यह सब कुछ है। (कार्य-कारण रूप सारा जगत् वही है। ज्यादा स्पष्ट कहें तो—) वह भूतकाल, वर्तमानकाल और भविष्यकाल भी है। इतना ही नहीं, जो कुछ भी त्रिकालातीत है, वह 'ओम्कार' ही है।

सर्वꣳह्येतद् ब्रह्मायमात्मा ब्रह्म सोऽयमात्मा चतुष्पात् ॥2॥

यह सारा घटनामय भौतिक विश्व ब्रह्म ही है। यह व्यष्टिगत आत्मा भी तो ब्रह्म ही है। इस व्यष्टि-चैतन्य की चार अवस्थाएँ देखने में आती हैं।

जागरितस्थानो बहिष्प्रज्ञः सप्ताङ्ग एकोनविंशतिमुखः स्थूलभुग्वैश्वानरः प्रथमः पादः ॥3॥

जब तुम जागते होते हो, तब बाह्य विश्व में तुम्हारी समानता होती है। तब तुम अपनी इन्द्रियों से स्थूल पदार्थ भोगते रहते हो। तब तुम अपने सात अंगों और प्रत्यक्षीकरण के उन्नीस द्वारों का उपयोग करते हो। तब तुम्हारा अपना स्थूल शरीर होता है। यह वैश्वानर आत्मा का प्रथम अंश है। (सात अंग—मस्तक, दो आँखें, नाक, मूत्रपिण्ड और दो पैर। और उन्नीस द्वार—पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ, पाँच प्राण और मन, बुद्धि, चित्त तथा अहंकार कुल मिलाकर उन्नीस द्वार।)

स्वप्नस्थानोऽन्तःप्रज्ञः सप्ताङ्ग एकोनविंशतिमुखः प्रविविक्तभुक्तैजसो द्वितीयः पादः ॥4॥

जब तुम स्वप्न में होते हो तब तुम्हारी सारी क्रियाएँ केवल मानसिक ही होती हैं। तुम्हारी जाग्रत् अवस्था की तरह इस अवस्था में भी वे सात अवयव और उन्नीस द्वार तो रहते ही हैं, परन्तु इस अवस्था के तुम्हारे अनुभव तो मानसिक स्तर पर ही होते हैं। यह मानसिक अनुभव ब्रह्म का दूसरा अंश है। यह अंश स्वप्नावस्था है। इस समय तुम्हारा आत्मा अन्तःकरण में रहता है एवं अकेला ही होता है। इसे 'वैश्वानर' कहा गया है।

यत्र सुप्तो न कञ्चन कामं कामयते न कञ्चन स्वप्नं पश्यति तत्सुषुप्तम्।

सुषुप्तस्थान एकीभूतः प्रज्ञानघन एवानन्दमयो ह्यानन्दभुक्चेतोमुखः प्राज्ञस्तृतीयः पादः ॥5॥

जब तुम गाढ़ निद्रा में होते हो तब तुम्हारे मन में कोई इच्छा नही रहती। कोई स्वप्न भी नहीं होता। इसको 'सुषुप्ति अवस्था' कहते हैं। तब तुम केवल 'अद्वैत' को ही देखते हो। चैतन्यघन के सिवा तब कुछ नहीं होता। तब तुम केवल आनन्दमय और आनन्द भोगने वाले ही होते हो। मानो तब तुम चैतन्य की ओर अग्रसर गए हो। यह ब्रह्म का तृतीय अंश है। इसको 'प्राज्ञ' कहा जाता है।

एष सर्वेश्वर एष सर्वज्ञ एषोऽन्तर्याम्येष योनिः सर्वस्य प्रभवाप्ययौ हि भूतानाम् ॥6॥

यह प्राज्ञ सबका ईश्वर है, वह सब कुछ जानता है, वह अंतर्यामी है, वह सभी पर शासन करनेवाला है। सभी पदार्थ उसी में से उत्पन्न होते हैं एवं उसी में लीन होते हैं। वह सबका कारण (मूल) है।

गौडपाद-कारिका

अत्रैतस्मिन्यथोक्तेऽर्थ एताः कारिकाः—

अब ऊपर कही गई बात पर यहाँ प्रसंगोचित ये कारिकाएँ स्पष्टता के लिए दी जा रही हैं—

बहिष्प्रज्ञो विभुर्विश्वो ह्यन्तःप्रज्ञस्तु तैजसः।
घनप्रज्ञस्तथा प्राज्ञ एक एव त्रिधा स्मृतः ॥1॥

जाग्रत् अवस्था में बाहर की दुनिया का हमें जब भान होता है, तब हम 'विश्व' कहलाते हैं (यह हमारी प्रथम अवस्था है)। जब हम स्वप्न में होते हैं, तब हमें भीतर (मन) की ही भान होता है, तब हम 'तैजस' कहलाते हैं (यह हमारी दूसरी अवस्था है)। उसी तरह जब हमें भान तो होता है पर हमारा कोई भीतर-बाहर का विषय नहीं होता और हम केवल गाढ सभानता वाले ही होते हैं, तब हम 'प्राज्ञ' कहलाते हैं (यह हमारी तीसरी अवस्था है)। पर इन तीनों अवस्थाओं में विभु (व्यापक) आत्मा तो एक ही होता है। भले ही वह तीन अलग-अलग स्वरूपों (अवस्थाओं) में दिखाई देता हो।

दक्षिणाक्षिमुखे विश्वो मनस्यन्तस्तु तैजसः।
आकाशे च हृदि प्राज्ञस्त्रिधा देहे व्यवस्थितः ॥2॥

जाग्रत् अवस्था में जब वह आत्मा 'विश्व'संज्ञक होता है, तब वह अपनी दाहिनी आँख से स्थूल वस्तुओं को ग्रहण करता है। जब 'तैजस्'संज्ञक होता है, तब स्वप्नावस्था में मानसिक रूप से अनुभव करता है और जब 'प्राज्ञ' संज्ञावाला होता है, तब उसका भान (चेतना) केवल हृदय में ही होता है।

विश्वो हि स्थूलभुङ्नित्यं तैजसः प्रविविक्तभुक्।
आनन्दभुक्तथा प्राज्ञस्त्रिधा भोगं निबोधत ॥3॥

'विश्व' सदा स्थूल पदार्थ का भोक्ता होता है, 'तैजस' सदा सूक्ष्म का भोक्ता होता है और 'प्राज्ञ' सदा आनन्द का भोक्ता होता है। इस प्रकार भोग के तीन प्रकार समझने चाहिए।

स्थूलं तर्पयते विश्वं प्रविविक्तं तु तैजसम्।
आनन्दश्च तथा प्राज्ञं त्रिधा तृप्तिं निबोधत ॥4॥

'विश्व' को स्थूल पदार्थ परितुष्ट कर देते हैं, 'तैजस' को सूक्ष्म पदार्थ सन्तोष देते हैं और उसी प्रकार 'प्राज्ञ' को आनन्द परितृप्त करता है। इस तरह तृप्ति भी तीन प्रकार की है, ऐसा समझना चाहिए।

त्रिषु धामसु यद्भोज्यं भोक्ता यश्च प्रकीर्तितः।
वेदैतदुभयं यस्तु स भुञ्जानो न लिप्यते ॥5॥

(जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति) तीनों अवस्थाओं में जो भोगने योग्य पदार्थ हैं और जो अन्य भोक्ता है, उन दोनों को जो विवेकपूर्वक जान लेता है, वह पदार्थों को भोगता हुआ भी उन पदार्थों में लिप्त नहीं होता।

प्रभवः सर्वभावानां सतामिति विनिश्चयः।
सर्वं जनयति प्राणश्चेतोंऽशून्पुरुषः पृथक् ॥6॥

यह तो निश्चित है कि दृश्य या अव्यक्त रूप में भी जिस किसी का अस्तित्व हो, उसी की उत्पत्ति (प्रकटीकरण = आविष्कार) होती है। अतः पूर्ववर्णित प्राण ही सबकुछ उत्पन्न करता है और जो समष्टिचेतन पुरुष है, वह अलग-अलग (जैसे सूर्य अपनी किरणों को प्रकाशित करता है वैसे) जीवों का आविष्कार करता है।

विभूतिं प्रसवं त्वन्ये मन्यन्ते सृष्टिचिन्तकाः।
स्वप्नमायासरूपेति सृष्टिरन्यैर्विकल्पिता ॥7॥

सृष्टि की रचना पर विचार करने में कुछ लोग इस सृष्टि को ईश्वर का विस्तार (महिमा) ही मानते हैं, जब कि कुछ आध्यात्मिक साधक इस सृष्टि को स्वप्न जैसा भ्रम ही मानते हैं।

इच्छामात्रं प्रभोः सृष्टिरिति सृष्टौ विनिश्चिताः।
कालात्प्रसूतिं भूतानां मन्यन्ते कालचिन्तकाः ॥8॥

कुछ लोग सृष्टि के विषय में ऐसा निश्चय कर बैठे हैं कि यह सृष्टि प्रभु की केवल इच्छा ही है, तो फिर कालचिन्तक (ज्योतिषी) 'जीवों की उत्पत्ति काल से ही हुई है'—ऐसा मानते हैं।

भोगार्थं सृष्टिरित्यन्ये क्रीडार्थमिति चापरे।
देवस्यैष स्वभावोऽयमाप्तकामस्य का स्पृहा ॥9॥

तो और कुछ लोग 'यह सृष्टि ईश्वर के भोग के लिए है'—ऐसा मानते हैं तो दूसरे लोग भगवान् की लीला के लिए ही इस सृष्टि का जन्म मानते हैं। परन्तु वे सब भ्रान्त ही हैं, क्योंकि परमात्मा तो 'आप्तकाम' स्पृहाहीन (पूर्णकाम) हैं। सही बात तो यह है कि सृष्टिरचना उस ज्योतिर्मय परमात्मा का स्वभाव ही है।

(उपनिषद्)

अब फिर से उपनिषद् के मंत्र लिए जा रहे हैं—

नान्तःप्रज्ञं न बहिःप्रज्ञं नोभयतःप्रज्ञं न प्रज्ञानघनं न प्रज्ञं नाप्रज्ञम्। अदृष्टमव्यवहार्यमग्राह्यमलक्षणमचिन्त्यमव्यपदेश्यमेकात्मप्रत्ययसारं प्रपञ्चोपशमं शान्तं शिवमद्वैतं चतुर्थं मन्यन्ते स आत्मा स विज्ञेयः ॥7॥

विवेकसम्पन्न प्रमाणभूत आत्मज्ञानी मानते हैं कि पूर्वोक्त तीनों अवस्थाओं से परे जो चौथी (तुरीय) अवस्थावाला है, उसे ही परमार्थरूप से आत्मा मानना चाहिए। वह आत्मा अवाङ्मनसगोचर है। वह न तो अन्त:प्रज्ञ (तैजस्) है, न वा बाह्यप्रज्ञ (विश्व) है। उन दोनों अवस्थाओं के बीच में रहनेवाला भी कोई नहीं है। वह प्रज्ञानघन (प्राज्ञ) भी नहीं है। वह प्रज्ञ भी नहीं है और अप्रज्ञ भी नहीं है। वह इन्द्रियागोचर होने से व्यवहारयोग्य नहीं है, उसे कर्मेन्द्रियाँ पकड़ नहीं सकतीं। उसकी कोई संज्ञा नहीं है। इसीलिए उसका विचार भी नहीं किया जा सकता। वाणी से वह कहा नहीं जा सकता। ऐक्यानुभव का वह सारस्वरूप है। प्रपंच के वैविध्य को वह अपने में समा लेता है। वह सुखस्वरूप, शिव(कल्याण)स्वरूप, अद्वैत चतुर्थ अवस्थावाला है। वही साक्षात्कार करने योग्य है।

(कारिका)

निवृत्तेः सर्वदुःखानामीशानः प्रभुरव्ययः ।
अद्वैतः सर्वभावानां देवस्तुर्यो विभुः स्मृतः ।।10।।

ज्ञानियों ने इस तुर्य को अद्वैत, अव्यय, सर्वव्यापक, स्वप्रकाशक और सभी सांसारिक दुःखों से निवृत्ति के लिए समर्थ माना है।

कार्यकारणबद्धौ ताविष्येते विश्वतैजसौ ।
प्राज्ञः कारणबद्धस्तु द्वौ तौ तुर्ये न सिध्यतः ।।11।।

विश्व और तैजस—ये दोनों तो कार्य और कारण से बँधे हुए हैं (माया = कारण और जगत् = कार्य) और जो प्राज्ञ है, वह भी कारण से (माया से) बद्ध ही है। परन्तु तुर्य में ये दोनों (कार्य और कारण) सिद्ध नहीं हो सकते—हैं ही नहीं।

नात्मानं न परांश्चैव न सत्यं नापि चानृतम् ।
प्राज्ञः किञ्चन संवेत्ति तुर्यं तत्सर्वदृक्सदा ।।12।।

प्राज्ञ अपने आपको नहीं जानता और दूसरा भी कुछ नहीं जानता। वह सत्य को भी नहीं जानता और असत्य को भी नहीं जानता। परन्तु जो तुर्य है वह तो सब कुछ और सर्वदा जानता ही है।

द्वैतस्याग्रहणं तुल्यमुभयोः प्राज्ञतुर्ययोः ।
बीजनिद्रायुतः प्राज्ञः सा च तुर्ये न विद्यते ।।13।।

'प्राज्ञ' और 'तुर्य' में एक वस्तु समान है, वह यह कि दोनों में जगत् के द्वैत का भान नहीं होता। परन्तु फर्क यह है कि प्राज्ञ कारणरूप माया की निद्रा से युक्त (मूढ) है, जबकि वह निद्रा (मूढता) तुर्य में नहीं होती।

स्वप्ननिद्रायुतावाद्यौ प्राज्ञस्त्वस्वप्ननिद्रया ।
न निद्रां नैव च स्वप्नं तुर्ये पश्यन्ति निश्चिताः ।।14।।

पहले दो (जाग्रत् का अभिमानी विश्व और स्वप्न का अभिमानी तैजस आत्मा) स्वप्न और निद्रा से युक्त होते हैं और प्राज्ञ स्वप्नरहित केवल निद्रा से ही युक्त होता है, पर तुर्य में निद्रा भी नहीं है और स्वप्न भी नहीं है। (यहाँ निद्रा अज्ञान है और स्वप्न विपर्यय = विक्षेप है।)

अन्यथा गृह्णतः स्वप्नो निद्रा तत्त्वमजानतः ।
विपर्यासे तयोः क्षीणे तुरीयं पदमश्नुते ।।15।।

वस्तु में अवस्तु का ग्रहण स्वप्न है और निद्रा वस्तु का (तत्त्व का) अज्ञान ही है। परस्पर विरोधी उन दोनों का जब लोप होता है, तब तुरीय पद की प्राप्ति होती है।

अनादिमायया सुप्तो यदा जीवः प्रबुध्यते ।
अजमनिद्रमस्वप्नमद्वैतं बुध्यते तदा ।।16।।

अनादि माया से निद्रित हुआ जीव जब ठीक रीति से जग जाता है, तब वह अजन्मा, निद्रारहित, स्वप्नरहित (आवरण = विक्षेपरहित) अद्वैत का साक्षात्कार करता है।

प्रपञ्चो यदि विद्येत निवर्तेत न संशयः ।
मायामात्रमिदं द्वैतमद्वैतं परमार्थतः ।।17।।

यदि संसार सचमुच सत्य होता तो उसका अवश्य निवारण होता, इसमें कोई सन्देह नहीं। परन्तु वास्तविक रूप में यह जगत् केवल दिखाई देनेवाला मायामय द्वैत ही है और पारमार्थिक रूप से तो केवल अद्वैत ही है।

विकल्पो विनिवर्तेत कल्पितो यदि केनचित् ।
उपदेशादयं वादो ज्ञाते द्वैतं न विद्यते ।।18।।

गुरु-शिष्य उपदेश आदि विकल्प (वैविध्य) किसी के द्वारा किसी हेतु के लिए केवल कल्पित ही होता, तो वह कुछ समय के बाद ऐसे ही चला जाता (नष्ट हो जाता) है। यह बात तो केवल उपदेश के लिए ही है। जब ज्ञान प्राप्त हो जाता है तब गुरु-शिष्य आदि का द्वैत रहेगा ही नहीं।

(उपनिषद्)

सोऽयमात्माऽध्यक्षरमोङ्कारोऽधिमात्रं पादा मात्रा मात्राश्च पादा
'अ'कार 'उ'कारो 'म'कार इति ॥8॥

यह पूर्वोक्त आत्मा अक्षरों के रूप में ओंकार (अ, उ, म) है। अक्षरों के रूप में उनके तीन पाद (अंश—अ, उ और म) हैं, वे मानो आत्मा के तीन अंश हैं (अर्थात् ये तीन मात्राएँ आत्मा की पूर्वोक्त तीन अवस्थाओं का प्रतिनिधित्व कर रही हैं)।

जागरितस्थानो वैश्वानरोऽकारः प्रथमा मात्राऽऽप्तेरादिमत्त्वाद्वाऽऽप्नोति ह
वै सर्वान्कामानादिश्च भवति य एवं वेद ॥9॥

जागरित स्थान के 'वैश्वानर' आत्मा का प्रतिनिधित्व 'अ'कार करता है। "वह वैश्वानर और 'अ' दोनों सर्वव्यापक हैं" ऐसा जो जानता है, वह साधक अवश्य ही अपनी सभी कामनाओं को पूर्ण कर सकता है और वह सब लोगों में श्रेष्ठ (आदि) स्थान प्राप्त करता है।

स्वप्नावस्थस्तैजस उकारो द्वितीया मात्रोत्कर्षादुभयत्वाद्वोत्कर्षति ह वै ज्ञानसन्ततिं समानश्च भवति । नास्याऽब्रह्मवित्कुले भवति य एवं वेद ॥10॥

स्वप्नस्थानीय तैजस् आत्मा का प्रतिनिधित्व 'उ'कार करता है। क्योंकि (तीन मात्राओं में से) वह उत्कृष्ट है और उसका स्थान भी (स्वप्नावस्था की तरह) मध्य में ही है। जो साधक इस प्रकार से जानता

है (उपासना करता है), वह ज्ञान के सातत्य में उत्कर्ष को प्राप्त करता है, सर्वत्र समान व्यवहार करनेवाला बनता है और उसके कुल में कोई बिना ब्रह्मज्ञानवाला (ब्रह्मज्ञानरहित) उत्पन्न नहीं होता।

सुषुप्तस्थानः प्राज्ञो मकारस्तृतीया मात्रा मितेरपीतेर्वा मिनोति ह वा इदं सर्वमपीतिश्च भवति य एवं वेद ॥11॥

सुषुप्तिस्थानीय प्राज्ञ का प्रतिनिधित्व 'म'कार करता है। वह विश्व (तैजस) के बाद लयोन्मुखी ॐ की तीसरी मात्रा है। जो साधक इस प्रकार उसकी उपासना करता है, वह इस समग्र जगत् को नाप लेता है और वह सबका अपने में लय करनेवाला होता है।

(कारिका)

विश्वस्यात्वविवक्षायामादिसामान्यमुत्कटम्।
मात्रासम्प्रतिपत्तौ स्यादाप्तिसामान्यमेव च ॥19॥

जैसे 'विश्व' प्रथम है, उसी तरह 'अ' भी तो प्रथम ही है। ये दोनों प्रथम होने से एक ही हैं और समान ही हैं। यदि आपने 'विश्व' को एक बार 'अ' (मात्रा) मान लिया, तो उनके साम्य और उनकी व्याप्ति भी स्पष्ट ही है।

तैजसस्योत्वविज्ञान उत्कर्षो दृश्यते स्फुटम्।
मात्रासम्प्रतिपत्तौ स्यादुभयत्वं तथाविधम् ॥20॥

यदि तुम 'तैजस' में 'उ' को देख लेते हो तब तो तुम उसकी उत्कृष्टता भी स्पष्टरूप से देख ही लेते हो। (अर्थात् 'उ' जिस तरह 'अ' और 'म' के बीच में आता है, उसी तरह तैजस भी जाग्रत्-सुषुप्ति के बीच में आता है। तीनों वर्ण क्रमशः आत्मा की तीनों अवस्थाओं के प्रतीक हैं)।

मकारभावे प्राज्ञस्य मानसामान्यमुत्कटम्।
मात्रासम्प्रतिपत्तौ तु लयसामान्यमेव च ॥21॥

'प्राज्ञ' आत्मा की तृतीय अवस्था है, जो कि मात्रा के क्रम से 'ओम्' के 'म' समान है। दोनों में यह (अन्त्य स्थान = तीसरे स्थान की) समानता है। जिस प्रकार 'म' के साथ 'ओम्' की समाप्ति हो जाती है, उसी प्रकार 'प्राज्ञ' भी आत्मा की अन्तिम अवस्था है। दोनों ही इस बात में भी साम्य रखते हैं।

त्रिषु धामसु यस्तुल्यं सामान्यं वेत्ति निश्चितः।
स पूज्यः सर्वभूतानां वन्द्यश्चैव महामुनिः ॥22॥

विवेकी और स्थिर बुद्धिवाला मनुष्य इन तीनों अवस्थाओं में एक ही समान आत्मा को देख लेता है, तो वह मनुष्य सचमुच बड़ा ऋषि ही है, वह सबका पूजनीय और वन्दनीय हो जाता है।

अकारो नयते विश्वमुकारश्चापि तैजसम्।
मकारश्च पुनः प्राज्ञं नामात्रे विद्यते गतिः ॥23॥

'अ'कार (प्रथम मात्रा) पर ध्यान करने से हम 'विश्व' होने का अनुभव करते हैं। 'उ' (द्वितीय मात्रा) की उपासना करने पर हम 'तैजस' होने का अनुभव करते हैं और 'म'कार (तृतीय मात्रा) की उपासना करने पर हम 'प्राज्ञ' होने की अनुभूति करते हैं, पर जब हम तुरीय (चौथी अवस्था) का ध्यान करते हैं, तब तो हम अमात्र (असीम) अनन्त हो जाते हैं।

(उपनिषद्)

अमात्रश्चतुर्थोऽव्यवहार्यः प्रपञ्चोपशमः शिवोऽद्वैत एवमोङ्कार आत्मैव संविशत्यात्मनाऽऽत्मानं य एवं वेद ॥12॥

इति माण्डूक्योपनिषत् समाप्ता।

पूर्वोक्त प्रकार से 'ओम्' की चौथी अवस्था (चौथा पाद) विश्वात्मा की है। यह आत्मा अनन्त है, वाणी और मन से परे है, अद्वैत है, मंगलकारी है, समस्त विश्व का इसमें लय हो जाता है। ज्ञानीजन व्यष्टिचेतन (जीवात्मा) को ही विश्वात्मा मानते हैं। जो साधक इस प्रकार जान लेता है, वह अपने आत्मा को विश्वात्मा में मिला देता है। (तात्पर्य यह है कि वह कभी अपने को व्यष्टिचैतन्य के रूप में देखता ही नहीं है।

इस प्रकार माण्डूक्योपनिषत् समाप्त होती है।

शान्तिपाठः

ॐ भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः ॥
स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवाꣳसस्तनूभिर्व्यशेम देवहितं यदायुः ॥
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

नोट—इसका हिन्दी रूपान्तर आरम्भ में दिया गया है।

(कारिका)

ओङ्कारं पादशो विद्यात्पादा मात्रा न संशयः।
ओङ्कारं पादशो ज्ञात्वा न किञ्चिदपि चिन्तयेत् ॥24॥

ओंकार को पादों के अनुसार जानना चाहिए। निःसंदेह रूप से ये पाद (अवस्थाएँ) और मात्राएँ एक ही हैं। यदि इन अवस्थाओं के द्वारा तुम ओंकार को जान लेते हो, तब फिर तुम्हारे लिए किसी चिन्ता की आवश्यकता नहीं रह जाती। (तब तो तुम कृतार्थ हो गए हो।)

युञ्जीत प्रणवे चेतः प्रणवो ब्रह्म निर्भयम्।
प्रणवे नित्ययुक्तस्य न भयं विद्यते क्वचित् ॥25॥

प्रणव के ऊपर चित्त को केन्द्रित करो। प्रणव ही ब्रह्म है और वह निर्भय है। यदि तुम अपने मन को प्रणव के साथ सदैव जोड़ सकते हो, तो कभी भी तुमको भय नहीं होगा।

प्रणवो ह्यपरं ब्रह्म प्रणवश्च परः स्मृतः।
अपूर्वोऽनन्तरोऽबाह्योऽनपरः प्रणवोऽव्ययः ॥26॥

प्रणव सगुण ब्रह्म (अपरब्रह्म) भी है और निर्गुण ब्रह्म (परब्रह्म) भी है। उसके पहले (उसके कारण के रूप में) कुछ भी नहीं था अर्थात् वह कारणरहित है, उससे भिन्न कुछ भी नहीं है। वह

अनन्तर (सर्वव्यापक) है, वह अबाह्य है (उससे बाहर कुछ भी नहीं है)। वह अनपर है (उसके बाद कुछ नहीं है)। वह कार्यरूप भी नहीं है। वह अव्यय (गतिहीन = अजर) है।

सर्वस्य प्रणवो ह्यादिर्मध्यमन्तस्तथैव च।
एवं हि प्रणवं ज्ञात्वा व्यश्नुते तदनन्तरम् ।।27।।

आरंभ, मध्य और अन्त—सब कुछ प्रणव ही है। इस प्रकार यदि प्रणव को पहचाना जाए, तो शीघ्र ही पूर्ण ब्रह्म को जाना जा सकता है।

प्रणवं हीश्वरं विद्यात्सर्वस्य हृदि संस्थितम्।
सर्वव्यापिनमोङ्कारं मत्वा धीरो न शोचति ।।28।।

प्रणव को सबके हृदय में रहता हुआ और सबका नियमन करता हुआ ईश्वर ही समझ लो। विचारशील पुरुष प्रणव को सर्वव्यापी मानता है और ऐसा धीर (विवेकी) पुरुष कभी शोक नहीं करता अर्थात् वह सुख-दुःख से परे हो जाता है।

अमात्रोऽनन्तमात्रश्च द्वैतस्योपशमः शिवः।
ओङ्कारो विदितो येन स मुनिर्नेतरो जनः ।।29।।

जिसने ओंकार को अपरिच्छिन्न, अनन्त, अद्वैत और कल्याणकारी स्वरूप में जान लिया है, वही सच्चा मुनि है; अन्य नहीं।

आगम-प्रकरण समाप्त।

❈

वैतथ्यप्रकरणम्

वैतथ्यं सर्वभावानां स्वप्न आहुर्मनीषिणः।
अन्तःस्थानात्तु भावानां संवृतत्वेन हेतुना ।।1।।

ज्ञानी लोग कहते हैं कि स्वप्न में देखे गए सभी पदार्थ मिथ्या ही होते हैं। ये सभी स्वाप्न पदार्थ तुम्हारे अन्तःकरण में ही होते हैं और छोटे शरीर में स्वप्नदृष्ट बड़े पदार्थ तो समा नहीं सकते। इस संवृतत्व (परिच्छिन्नता) के कारण से वे पदार्थ मिथ्या (वितथ) ही हैं।

अदीर्घत्वाच्च कालस्य गत्वा देशान्न पश्यति।
प्रतिबुद्धश्च वै सर्वस्तस्मिन्देशे न विद्यते ।।2।।

स्वप्न में समय तो बहुत कम होता है, इसलिए स्वप्न में देशान्तर में पदार्थदर्शन होने पर भी शरीर से बाहर जाकर तो आत्मा सचमुच उन्हें देखा नहीं होता और जब वह जागता है, तब वह द्रष्टा अन्य देशों में होता ही नहीं है। (इसलिए सभी स्वप्नदर्शन वितथ अर्थात् मिथ्या ही होते हैं)।

अभावश्च रथादीनां श्रूयते न्यायपूर्वकम्।
वैतथ्यं तेन वै प्राप्तं स्वप्न आहुः प्रकाशितम् ।।3।।

स्वप्न में देखे गए रथ आदि का अभाव तो तर्क से भी और शास्त्रों से भी कहा-सुना जा सकता है। शरीरस्थ अवकाश तो रथादि को रखने के लिए बहुत ही छोटा पड़ता है। यह रथादि के मिथ्यात्व को सिद्ध ही कर देता है। ज्ञानी लोग कहते हैं कि यह बात तर्कों से और शास्त्रों के बार-बार कहने से सिद्ध हो जाती है।

अन्तःस्थानात्तु भेदानां तस्माज्जागरिते स्मृतम्।
यथा तत्र तथा स्वप्ने संवृतत्वेन भिद्यते ।।4।।

शरीर में उतना अवकाश नहीं होने से स्वप्नस्थ रथादि को तुम मिथ्या मानते हो। उसी तरह जाग्रत् अवस्था में भी देखे गए पदार्थ मिथ्या ही हैं, भेद केवल इतना ही है कि जाग्रत् अवस्था में विषयों के लिए अवकाश की कमी नहीं होती। पर जाग्रत् के विषय तो स्वप्न जैसे ही होते हैं। अब जब स्वप्न के ये विषय मिथ्या सिद्ध हुए हैं, तो जाग्रत् के वे ही विषय भी मिथ्या ही हो सकते हैं।

स्वप्नजागरितस्थाने ह्येकमाहुर्मनीषिणः।
भेदानां हि समत्वेन प्रसिद्धेनैव हेतुना ।।5।।

स्वप्न और जाग्रत् (दोनों) अवस्था में विषय और विषयी का सम्बन्ध तो समान ही रहता है। आत्मा इन दो अवस्थाओं में जिन विषयों को भोगता है, वे विषय भी तो समान ही हैं। यह प्रसिद्ध ही है इसीलिए ज्ञानी जन कहते हैं कि ये (अस्थायी) विषय मिथ्या हैं। भले ही वे स्वप्न में देखे गए हों या जाग्रत् में।

आदावन्ते च यन्नास्ति वर्तमानेऽपि तत्तथा।
वितथैः सदृशाः सन्तोऽवितथा इव लक्षिताः ।।6।।

जो वस्तु पहले नहीं थी और भविष्य में नहीं रहेगी, उसे मिथ्या ही कहा जाता है। ऐसी वस्तु का वर्तमान काल में दिखाई देना भी तो मिथ्या ही है। ऐसा दिखाई देनेवाला विषय मरु-मरीचिका के समान भ्रम ही है। अवितथ (सत्य) तो वह है, जो तीनों काल में वैसा ही रहता है।

सप्रयोजनता तेषां स्वप्ने विप्रतिपद्यते।
तस्मादाद्यन्तवत्त्वेन मिथ्यैव खलु ते स्मृताः ।।7।।

जाग्रत् अवस्था में हमें सभी पदार्थ उपयोगी (आवश्यक) दिखाई पड़ते हैं। परन्तु स्वप्नावस्था में उन पदार्थों की उपयोगिता (सप्रयोजनता) हमें मालूम नहीं पड़ती। इसका अर्थ तो यही होगा कि उन वस्तुओं का प्रारंभ भी होता है और नाश भी होता है और ऐसी वस्तुएँ मिथ्या ही होती हैं।

अपूर्वं स्थानिधर्मो हि यथा स्वर्गनिवासिनाम्।
तानयं प्रेक्षते गत्वा यथैवेह सुशिक्षितः ।।8।।

जिस किसी स्थान में रहनेवालों की अपनी-अपनी स्थानिक विलक्षणताएँ (विशिष्टताएँ) तो होती ही हैं। जैसे स्वर्गनिवासी इन्द्रादि देवों की अनिमिषता, सहस्राक्षता, विशेष प्रकार की सिद्धियाँ आदि होती हैं और ऐसी ही कई विचित्र वस्तुओं को तुम अपने स्वप्न के स्थान में भी देख सकते हो। जिस प्रकार कौन-सी वस्तु कहाँ मिलती है यह रास्ता अगर तुम जानते हो, तो तुम सरलता से उस स्थान (अवस्था) में जाकर उसे देख सकते हो, उसी तरह जब तुम स्वप्न में होते हो, तो बहुत-सी विचित्र वस्तुओं को चिरपरिचित रूप से देखते हो। परन्तु ये सब चीजें मरुमरीचिका की ही तरह मिथ्या हैं।

स्वप्नवृत्तावपि त्वन्तश्चेतसा कल्पितं त्वसत्।
बहिश्चेतोगृहीतं सद्दृष्टं वैतथ्यमेतयोः ।।9।।

स्वप्न में तुम सभी मनोजनित विचित्र वस्तुओं को भीतर ही देखते हो। वे सब मिथ्या हैं। बाहर भी तुम उन्हीं सब वस्तुओं को देखते हो, पर उन्हें तो तुम सत्य मानते हो। यह तुम्हारा किया गया भेद

त्रुटिपूर्ण है, क्योंकि तुम किसी अवस्था में जो कुछ भी देखते हो, वह मिथ्या ही है, भले तुम उसे सत्य मान बैठे हो।

जाग्रद्वृत्तावपि त्वन्तश्चेतसा कल्पितं त्वसत्।
बहिश्चेतोगृहीतं सद्युक्तं वैतथ्यमेतयोः ।।10।।

जाग्रत् अवस्था में भी तुम अपने अन्तःकरण में विषयों की कल्पना कर सकते हो। तब तुम जानते भी हो कि ये कल्पित विषय मिथ्या हैं। पर जब तुम बाह्य पदार्थ (विषय) देखते हो, तब उन्हें सत्य मान लेते हो। पर वास्तव में ये भीतर-बाहर अर्थात् दोनों के अनुभव मिथ्या ही हैं। तर्क भी यही कहता है।

उभयोरपि वैतथ्यं भेदानां स्थानयोर्यदि।
क एतान्बुध्यते भेदान् को वै तेषां विकल्पकः ।।11।।

यदि जाग्रत् और स्वप्न—दोनों अवस्थाएँ मिथ्या हैं, तब तो विषय और विषयी का सम्बन्ध हो ही नहीं सकता और उन दोनों अवस्थाओं में हमारे किए हुए अनुभव जब व्यर्थ हो गए, तब उन अनुभवों को करनेवाला और धारण करनेवाला भी कौन है?

कल्पयत्यात्मनात्मानमात्मा देवः स्वमायया।
स एव बुध्यते भेदानिति वेदान्तनिश्चयः ।।12।।

स्वप्रकाशक आत्मा अपनी माया की शक्ति से स्वयं अपने को कर्ता के रूप में, कार्य के रूप में और सभी रूपों में प्रकट करता है। स्वयं विशुद्ध चैतन्यस्वरूप होने पर भी माया की सहायता से विविध रूपों को धारण करता है, यह वेदान्त का निश्चय (सार) है।

विकरोत्यपरान्भावानन्तश्चित्ते व्यवस्थितान्।
नियतांश्च बहिश्चित्त एवं कल्पयते प्रभुः ।।13।।

जैसे मन के भीतर स्थित यह समर्थ आत्मा स्वयं को ही इच्छाओं और विचारों के रूप में प्रकट करता है, उसी तरह बाहर भी वही आत्मा (बहिर्मुख होकर) सुस्पष्ट इन्द्रियग्राह्य पदार्थों को स्वयं प्रकट करता है। (कुछ लोग 'चित्ते व्यवस्थितान्' इस पाठ के बदले 'चित्तेऽव्यवस्थितान्' ऐसा पाठान्तर करके—भीतर (चित्त) की इच्छाओं और विचारों को 'अस्पष्ट' बताते हैं)।

चित्तकाला हि येऽन्तस्तु द्वयकालाश्च ये बहिः।
कल्पिता एव ते सर्वे विशेषो नान्यहेतुकः ।।14।।

मन के भीतर जो कल्पित पदार्थ हैं, वे तो कल्पना के समय तक ही टिकनेवाले होते हैं और जो बाह्य पदार्थ हैं, वे भले ही दो काल तक (अर्थात् अपने अस्तित्व के काल तक) टिकने वाले होते हों, पर ये दोनों कल्पित तो हैं ही। दोनों के कल्पित होने के विषय में विशेष-भेद करने का तो कोई कारण नहीं मिलता।

अव्यक्ता एव येऽन्तस्तु स्फुटा एव च ये बहिः।
कल्पिता एव ते सर्वे विशेषस्त्विन्द्रियान्तरे ।।15।।

मन में अवस्थित विचार – वारानाएँ और पदार्थ भले ही अनभिव्यक्त हों और बाह्य पदार्थ चाहे कितने भी अभिव्यक्त और सुस्पष्ट हों फिर भी वे दोनों ही (बाहरी-भीतरी) केवल कल्पित ही हैं। उनमें

विशेषता (भेद) केवल यही है कि भीतर के पदार्थ अन्तरिन्द्रिय द्वारा और बाहर के पदार्थ बाह्येन्द्रिय के द्वारा काम में लाये जाते हैं।

जीवं कल्पयते पूर्वं ततो भावान्पृथग्विधान्।
बाह्यानाध्यात्मिकांश्चैव यथाविद्यस्तथास्मृतिः ।।16।।

वह चैतन्यात्मा सबसे पहले जीव की कल्पना करता है और बाद में वह जीव तरह-तरह के बाहरी और भीतरी पदार्थों की कल्पना करता है। (अर्थात् चैतन्यकल्पित जीव ही सोचता है कि 'मैं कर्ता-सुखी-दु:खी आदि हूँ'।) इसके बाद वह जीव शब्दादि बाह्य पदार्थों की भी कल्पना करता है। यह प्रस्तुत जीवात्मा अपनी कल्पना के अनुसार बाह्य और भीतरी पदार्थों का अनुभव कर सकता है।

अनिश्चिता यथा रज्जुरन्धकारे विकल्पिता।
सर्पधारादिभिर्भावैस्तद्वदात्मा विकल्पितः ।।17।।

किसी अन्धकारमय स्थान में आप देखते हैं तो रज्जु को, फिर भी आप यह निश्चय नहीं कर पाते कि यह रज्जु ही है। आप समझ रहे हैं कि यह तो साँप है या तो जल की धारा है या और कुछ है। ये सब भ्रम हैं। तो इसी प्रकार जब आप विश्वात्मा (विश्वचैतन्य) को कर्ता के रूप में देखते हैं या उसे सुखी-दु:खी जीव के रूप में देखते हैं, वह आपका भ्रम ही है।

निश्चितायां यथा रज्ज्वां विकल्पो विनिवर्तते।
रज्जुरेवेति चाद्वैतं तद्वदात्मविनिश्चयः ।।18।।

जिस प्रकार उस भ्रम में 'यह तो रज्जु ही है'—इस प्रकार से रज्जु का स्वरूप निश्चित हो जाता है और विकल्प (भ्रम) चला जाता है, उसी प्रकार आत्मा-सम्बन्धी निश्चय के विषय में भी होता है। जब आत्मा के सच्चे स्वरूप के बारे में निश्चित रूप से ज्ञान हो जाता है, तब जीव आदि विकल्प (भ्रम) सब नष्ट हो जाते हैं, तब केवल अद्वैत आत्मा ही प्रतीत होता है।

प्राणादिभिरनन्तैस्तु भावैरेतैर्विकल्पितः।
मायैषा तस्य देवस्य ययायं मोहितः स्वयम् ।।19।।

आत्मा तो अद्वय है। फिर वह प्राणादि रूपों में अलग-अलग क्यों दिखाई देता है? इसका कारण यह माया है (आत्मा की अनिर्वचनीय शक्ति है)। हमारे द्वारा देखे जाने वाले अनेक विषय तो भ्रमरूप ही हैं। यह अद्वैत आत्मा ही अपनी विशिष्ट शक्ति से मोहित हो जाता है।

प्राण इति प्राणविदो भूतानीति च तद्विदः।
गुणा इति गुणविदस्तत्त्वानीति च तद्विदः ।।20।।

जो लोग प्राण (जीवनीशक्ति = हिरण्यगर्भ) की उपासना करते हैं, वे मानते हैं कि हिरण्यगर्भ ही आत्मा (परमार्थतत्त्व) है। (वैशेषिक लोग ऐसे ईश्वर को विश्व के कर्ता के रूप में मानते हैं) जो लोग भौतिकवादी हैं (जिन्हें लौकायतिक चार्वाक कहा जाता है) वे चार भूतों को ही जगत् का घटक (परमार्थतत्त्व) मानते हैं। जो लोग सांख्यमतानुयायी हैं, वे गुणों को (सत्त्व, रजस् और तमस् को) ही परमतत्त्व (आत्मा) के रूप में मानते हैं और जो शैव हैं, वे तीन तत्त्वों को (शिव, अविद्या और आत्मा को) मूल परमार्थतत्त्व (आत्मा) के रूप में मानते हैं।

पादा इति पादविदो विषया इति तद्विदः।
लोका इति लोकविदो देवा इति च तद्विदः ।।21।।

जो लोग आत्मा के पादों को (अंशों को = अवस्थाओं को) ही मानते हैं, वे विश्व, तैजस और प्राज्ञ को (जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति के अभिमानी आत्मा को) आत्मा के अंशों को ही पूरा आत्मस्वरूप मान लेते हैं। वात्स्यायन जैसे विषयज्ञ कुछ लोग शब्द-स्पर्शादि विषयों को ही आत्मा के रूप में मानते हैं। केवल सांसारिक लोग दुनिया के व्यवहार को (संसार को) ही सब कुछ परमतत्त्व के रूप में मानते हैं। (अथवा तो लोकविद् भूः, भुवः, स्वः आदि लोकों को ही आत्मरूप में मानते हैं)। ऐसे अन्य भी लोग हैं जो देव-देवियों को (अनेक देवों को) मानते हैं और उन देवों को ही विश्व का मूलस्रोत (आत्मा) मान लेते हैं।

वेदा इति वेदविदो यज्ञा इति च तद्विदः ।
भोक्तेति च भोक्तृविदो भोज्यमिति च तद्विदः ।।22।।

वेदों में निष्ठा रखने वाले (वैदिक) लोग वेदों को ही आत्मा (परमतत्त्व) मानते हैं। यज्ञों का अनुष्ठान करनेवाले लोग यज्ञ को ही आत्मा (परमतत्त्व) मानते हैं और जो भोक्तृभाववाले हैं वे भोक्ता को और जो स्वादपरस्त हैं वे पाचक आदि लोग स्वादिष्ट खाद्य पदार्थों को ही सबसे श्रेष्ठ (परमतत्त्व) आत्मा के रूप में मान लेते हैं।

सूक्ष्म इति सूक्ष्मविदः स्थूल इति च तद्विदः ।
मूर्त इति मूर्तविदोऽमूर्त इति च तद्विदः ।।23।।

कुछ लोग कहते हैं कि आत्मतत्त्व सूक्ष्म (अणु-परमाणु) है, तो कुछ लोग कहते हैं कि वह तो स्थूल है। कुछ मूर्तविद् (सगुणोपासक) उसे मूर्त बताते हैं तो कुछ लोग उसे अमूर्त कहते हैं।

काल इति कालविदो दिश इति च तद्विदः ।
वादा इति वादविदो भुवनानीति तद्विदः ।।24।।

कालोपासक ज्योतिषी लोग उसे कालस्वरूप कहते हैं, जबकि दिशाएँ जाननेवाले स्वरोदय वाले उसे दिशारूप कहते हैं। यंत्र-तंत्र-धातु आदि वाद वाले लोग उसे अपने-अपने वाद के अनुकूल परम सत्य मान लेते हैं। भुवनों को माननेवाले उसे भुवन के रूप में परमतत्त्व मानते हैं।

मन इति मनोविदो बुद्धिरिति च तद्विदः ।
चित्तमिति चित्तविदो धर्माधर्मौ च तद्विदः ।।25।।

मन को जाननेवाले मानसशास्त्री उसे मन के रूप में, बुद्धि में रचे-बसे लोग उसे बुद्धिरूप में, चित्त को जाननेवाले उसे चित्तरूप में और धर्माधर्म (पाप-पुण्य) को माननेवाले उसे उसी रूप में मानते हैं। (जैसी जिसकी समझ होती है, वह उसी प्रकार उस परमतत्त्व को जानता है)।

पञ्चविंशक इत्येके षड्विंश इति चापरे ।
एकत्रिंशक इत्याहुरनन्त इति चापरे ।।26।।

कुछ लोग (सांख्यादि) इस सृष्टि को पच्चीस तत्त्वों वाली मानते हैं। पतंजलि के अनुयायी इस सत्य सृष्टि के छब्बीस तत्त्व मानते हैं। कुछ लोग इकत्तीस तत्त्व मानते हैं और कुछ लोग असंख्य तत्त्व मानते हैं।

लोकाँल्लोकविदः प्राहुराश्रमा इति तद्विदः ।
स्त्रीपुंनपुंसकं लैङ्गाः परापरमथापरे ।।27।।

व्यवहारदक्ष लोग तो लोकव्यवहार को ही परमतत्त्व मान लेते हैं। आश्रमों के आग्रही लोग आश्रमों को, लिङ्गवादी लोग स्त्री-पुरुष को एवं नपुंसक को तथा कुछ लोग कारणब्रह्म को और कुछ कार्यब्रह्म को परमतत्त्व (आत्मा) मानते हैं।

सृष्टिरिति सृष्टिविदो लय इति च तद्विदः ।
स्थितिरिति स्थितिविदः सर्वे चेह तु सर्वदा ।।28।।

सृष्टि को सत्य माननेवाले सृष्टि को, प्रलय को माननेवाले प्रलय को और स्थिति को मानने वाले स्थिति को आत्मा मानते हैं (अर्थात् ब्रह्मा, विष्णु या महेश को परमतत्त्व मानते हैं)।

यं भावं दर्शयेद्यस्य तं भावं स तु पश्यति ।
तं चावति स भूत्वाऽसौ तद्ग्रहः समुपैति तम् ।।29।।

गुरु शिष्य को जिस भाव को (आदर्श को) परमतत्त्व का रूप बताते हैं, उसी भाव (आदर्श – पदार्थ) को शिष्य परमतत्त्व के रूप में देखता है और वह भाव (आदर्श – पदार्थ) भी शिष्यरूप होकर उसकी रक्षा करता है वह भाव उसे जोर से पकड़े रहता है और वह भाव उसे बहुत ही अनुकूल हो जाता है।

एतैरेषोऽपृथग्भावैः पृथगेवेति लक्षितः ।
एवं यो वेद तत्त्वेन कल्पयेत्सोऽविशङ्कितः ।।30।।

इन सभी पदार्थरूप विकल्पों का एकमात्र आधाररूप आत्मा उन पदार्थों से भिन्न है ही नहीं। फिर भी भिन्न रूप से केवल मूर्ख लोगों को दिखाई ही दे रहा है। जो व्यक्ति इस बात को जान लेता है, वह पदार्थों की यथेच्छ कल्पना करे तो भी उसका कुछ बिगड़ता नहीं।

स्वप्नमाये यथा दृष्टे गन्धर्वनगरं यथा ।
तथा विश्वमिदं दृष्टं वेदान्तेषु विचक्षणैः ।।31।।

जिस प्रकार स्वप्न और जादू दिखाई देते हैं, जैसा गंधर्वनगर दिखाई देता है वैसा ही इस जगत् का दर्शन बुद्धिमानों ने वेदान्त में किया है।

न निरोधो न चोत्पत्तिर्न बद्धो न च साधकः ।
न मुमुक्षुर्न वै मुक्त इत्येषा परमार्थता ।।32।।

कोई नाश (प्रलय) नहीं है, कोई उत्पत्ति भी नहीं है, कोई बद्ध भी नहीं, न ही कोई साधक ही है, कोई मुमुक्षु भी नहीं है और कोइ मुक्त भी नहीं है—यही पारमार्थिकता है।

भावैरसद्भिरेवायमद्वयेन च कल्पितः ।
भावा अप्यद्वयेनैव तस्माद‌द्वयता शिवा ।।33।।

यह आत्मा प्राणादि मिथ्या भावों से अद्वय रूप से भी कल्पित होता है और ये भाव भी अद्वय (आत्मा) के द्वारा ही कल्पित होते हैं। इसलिए अद्वैत ही मंगल है।

नात्मभावेन नानेदं न स्वेनापि कथंचन ।
न पृथङ् नापृथक्किञ्चिदिति तत्त्वविदो विदुः ।।34।।

यह सब कुछ आत्मस्वरूप से भिन्न नहीं है। नामरूपात्मक जगत् स्वप्रकाश आत्मा से वास्तव में अलग नहीं है। कोई अलग नहीं, कोई अभिन्न नहीं, ऐसा ही तत्त्वज्ञानी लोग जानते हैं।

वीतरागभयक्रोधैर्मुनिभिर्वेदपारगैः ।
निर्विकल्पो ह्ययं दृष्टः प्रपञ्चोपशमोऽद्वयः ।।35।।

वेदों के पारंगत, आसक्ति, भय और क्रोध से रहित मुनियों ने इस अपरिवर्तनशील, अभिन्न, संसार का उपशमन करने वाले, अद्वैत आत्मतत्त्व को देखा है।

तस्मादेवं विदित्वैनमद्वैते योजयेत्स्मृतिम् ।
अद्वैतं समनुप्राप्य जडवल्लोकमाचरेत् ।।36।।

अत: इस आत्मा का ऐसा अभेदरूप जानकर चित्त को अद्वैतभाव में जोड़ना चाहिए। अद्वैतभाव को ठीक तरह से अपनाकर संसार में जड़वत् (बुद्धू की तरह) होकर के आचरण करना चाहिए।

नि:स्तुतिर्निर्नमस्कारो नि:स्वधाकार एव च ।
चलाचलनिकेतश्च यतिर्यादृच्छिको भवेत् ।।37।।

इस यति को न किसी की स्तुति चाहिए, न नमस्कार। उसके लिए कोई श्राद्ध-क्रिया भी नहीं है। वह शरीर को चल (विनाशी) और आत्मा को अचल (अविनाशी) जानता है। ऐसा मुनि परिस्थिति के अनुकूल आचरण करता है। (वह मुनि स्वयं किसी की खुशामद नहीं करता, किसी को प्रणाम नहीं करता—ऐसा अर्थ भी लिया जा सकता है)।

तत्त्वमाध्यात्मिकं दृष्ट्वा तत्त्वं दृष्ट्वा तु बाह्यतः ।
तत्त्वीभूतस्तदारामस्तत्त्वादप्रच्युतो भवेत् ।।38।।

शरीर के आन्तरिक भागों एवं बाह्य जगत् का तत्त्व—दोनों को सही रूप में अच्छी तरह से जानकर स्वयं तत्त्वरूप बना हुआ और तत्त्व में ही रममाण पुरुष की स्थिति तत्त्व में ही अचल हो जाएगी।

वैतथ्य-प्रकरण समाप्त।

❋

अद्वैतप्रकरणम्

उपासनाश्रितो धर्मो जाते ब्रह्मणि वर्तते ।
प्रागुत्पत्तेरजं सर्वं तेनासौ कृपणः स्मृतः ।।1।।

उपासना पर आश्रित धर्म तो कार्यब्रह्म (जीव) में ही हो सकता है। वह उपासक कार्यब्रह्म को (जगत् को) उत्पत्ति के पहले (जगत् रूप भ्रम उत्पन्न होने से पहले) सब ब्रह्मरूप था, ऐसा मानता है। (पर अब उपासना काल में तो वह उत्पन्न हुआ ही है, ऐसा भ्रम चालू ही है न ?) इसलिए ऐसा उपासक कृपण माना जाता है।

अतो वक्ष्याम्यकार्पण्यमजाति समतां गतम् ।
यथा न जायते किञ्चिज्जायमानं समन्ततः ।।2।।

इसलिए मैं अब ब्रह्म का स्वरूप कहूँगा। जो ब्रह्म समान रूप से सर्वत्र व्याप्त है, जिसका कभी जन्म नहीं होता। जिस किसी जन्म लिए हुए पदार्थ को तुम देखते हो, वह सब भ्रम ही है। (ब्रह्म जन्महीन है) उत्पन्न होते देखे गए पदार्थ भी उत्पन्न नहीं होते।

आत्मा ह्याकाशवज्जीवैर्घटाकाशैरिवोदितः ।
घटादिवच्च संघातैर्जातावेतन्निदर्शनम् ।।3।।

आत्मा तो आकाश की तरह निरवयव और नि:सीम है, पर घटाकाशों की तरह जीवों के रूप में 'उत्पन्न' हुआ है और घटादि की तरह ही देहादि संघातों से जन्मा-सा हुआ है। आत्मा की उत्पत्ति में यह एक उदाहरण है।

घटादिषु प्रलीनेषु घटाकाशादयो यथा ।
आकाशे सम्प्रलीयन्ते तद्वज्जीवा इहात्मनि ।।4।।

जिस तरह घट आदि का नाश होने से घटाकाश का नाश नहीं होता, वह तो महाकाश में सम्पूर्णतया लीन हो जाता है। उसी तरह शरीर के चले जाने पर जीव नष्ट नहीं होते, अपितु यहाँ आत्मा में लीन हो जाते हैं।

यथैकस्मिन्घटाकाशे रजोधूमादिभिर्युते ।
न सर्वे सम्प्रयुज्यन्ते तद्वज्जीवाः सुखादिभिः ।।5।।

जैसे किसी एक घटाकाश में धूल-धुआँ आदि मिलने से, सभी घटाकाशों में तो कहीं ऐसा मिलन हो नहीं सकता न ? ठीक उसी तरह एक जीव सुख या दु:ख भोगता है, तो सभी जीव तो ऐसे भोगने वाले नहीं हो जाते।

रूपकार्यसमाख्याश्च भिद्यन्ते तत्र तत्र वै ।
आकाशस्य न भेदोऽस्ति तद्वज्जीवेषु निर्णयः ।।6।।

घटादि उपाधियों के कारण प्रतीत होने वाले भिन्न-भिन्न आकाशों के रूप, कार्य और नाम में तो भेद पड़ जाते हैं, परन्तु उपाधिरहित स्वयं आकाश में तो कोई भेद उत्पन्न नहीं होता। उसी प्रकार जीवों का भी निर्णय करना चाहिए।

नाकाशस्य घटाकाशो विकारावयवौ यथा ।
नैवात्मनः सदा जीवो विकारावयवौ तथा ।।7।।

जिस प्रकार घटाकाश, महाकाश का न तो विकार है और न तो कोई अवयव ही है, उसी प्रकार किसी भी समय में जीव आत्मा का विकार भी नहीं और अवयव भी नहीं है।

यथा भवति बालानां गगनं मलिनं मलैः ।
तथा भवत्यबुद्धानामात्मापि मलिनो मलैः ।।8।।

जैसे बच्चों को बादल आदि से घिरा आकाश मैला मालूम होता है, वैसे ही अज्ञानियों को यह आत्मा क्रोध-लोभादि मलिनताओं से मैला मालूम पड़ता है।

मरणे सम्भवे चैव गत्यागमनयोरपि ।
स्थितौ सर्वशरीरेषु आकाशेनाविलक्षणः ।।9।।

यह आत्मा सभी शरीरों में मृत्यु, जन्म, परलोकगमन, पुनरागमन, स्थायी रहना आदि सभी बातों में आकाश से अविलक्षण (आकाश जैसा) ही है। अर्थात् उन सभी व्यवहारों में रहता हुआ भी वह आकाश की ही तरह व्यापक और विकारशून्य ही रहता है।

सङ्घाताः स्वप्नवत्सर्वे आत्ममायाविसर्जिताः ।
आधिक्ये सर्वसाम्ये वा नोपपत्तिर्हि विद्यते ।।10।।

सभी देहादि संघात (आत्मा की मायारूप) अविद्या शक्ति से ही स्वप्न की तरह बने हैं, ऐसा जानना चाहिए। उनमें से किसी को श्रेष्ठ मानने में या किसी को समान मानने में कोई तर्कसंगति नहीं है।

रसादयो हि ये कोशा व्याख्यातास्तैत्तिरीयके ।
तेषामात्मा परो जीवः खं यथा सम्प्रकाशितः ।।11।।

तैत्तिरीय उपनिषद् में जो अन्नरसमय आदि कोशों का वर्णन किया गया है, उन सभी का निर्वहन करता हुआ भी यह आत्मा उनसे परे (आकाश के समान व्यापक) ही है, ऐसा वहाँ स्पष्ट कर दिया गया है।

द्वयोर्द्वयोर्मधुज्ञाने परं ब्रह्म प्रकाशितम् ।
पृथिव्यामुदरे चैव यथाऽऽकाशः प्रकाशितः ।।12।।

जिस प्रकार पृथ्वी पर आकाश है, उसी प्रकार शरीर के भीतर उदर में भी वही आकाश है, उसी प्रकार यह ब्रह्म भीतर भी है और बाहर भी है (सर्वत्र है)। इस प्रकार भीतर-बाहर (के युगलों में) आधिदैविक और आध्यात्मिक (दो-दो में) ब्रह्म के होने की बात बृहदारण्यकोपनिषद् के मधुब्राह्मण में कही गई है।

जीवात्मनोरनन्यत्वमभेदेन प्रशस्यते ।
नानात्वं निन्द्यते यच्च तदेवं हि समञ्जसम् ।।13।।

जीव और आत्मा की अद्वयत्व के रूप में अभेद के निश्चय की प्रतीति हो और भेदभाव का तिरस्कार हो, यही बात प्रशंसनीय है।

जीवात्मनोः पृथक्त्वं यत्प्रागुत्पत्तेः प्रकीर्तितम् ।
भविष्यद्वृत्त्या गौणं तन्मुख्यत्वं हि न युज्यते ।।14।।

पूर्व उपनिषदों में सृष्टि की उत्पत्त्यादि सम्बन्धी वाक्यों में जीव-ब्रह्म की भिन्नता ठीक तरह से बताई है, वह तो भावि कथन की अपेक्षा वाली होने से गौण है। यह कोई मुख्य नहीं है।

मृल्लोहविस्फुलिङ्गाद्यैः सृष्टिर्या चोदितान्यथा ।
उपायः सोऽवताराय नास्ति भेदः कथञ्चन ।।15।।

मिट्टी, लोहा, चिनगारी आदि दृष्टान्तों के माध्यम से तरह-तरह से सृष्टि की उत्पत्ति समझायी गई है, वह तो केवल ब्रह्मात्मैक्य के दुर्बोध विषय में बुद्धि को प्रवेश कराने के लिए तर्क है। वास्तव में इनमें जरा-सा भेद है ही नहीं।

आश्रमास्त्रिविधा हीनमध्यमोत्कृष्टदृष्टयः ।
उपासनोपदिष्टेयं तदर्थमनुकम्पया ।।16।।

शास्त्रों में जो कर्माधिकारानुसार हीन, मध्यम, उत्तम आश्रम-धर्म बताए हैं, वे धर्म (उपासनाएँ) तो उन लोगों के ऊपर अनुकम्पा करने के लिए ही बताए हैं। (ज्ञान के अनधिकारियों के ऊपर कृपा की है, जिसमें वे उपासना करते-करते आगे बढ़ते हैं)। (द्वैत तो अधिकार-भेद से अद्वैत की ओर जाने का एक सोपान ही है)।

स्वसिद्धान्तव्यवस्थासु द्वैतिनो निश्चिता दृढम् ।
परस्परं विरुध्यन्ते तैरयं न विरुध्यते ।।17।।

द्वैती लोग अपनी-अपनी सिद्धान्तयोजना में सुदृढ़ हैं। इसलिए परस्पर झगड़ते हैं। पर इस अद्वैती का तो किसी से भी विरोध नहीं है।

अद्वैतं परमार्थो हि द्वैतं तद्भेद उच्यते ।
तेषामुभयथा द्वैतं तेनायं न विरुद्ध्यते ।।18।।

अद्वैत ही पारमार्थिक है, द्वैत तो उसके भेद कहलाते हैं। द्वैतियों का तो परमार्थ और अपरमार्थ—दोनों द्वैत ही है। पर द्वैत तो अद्वैत पर आधारित है, इसलिए द्वैतियों से हमारा (अद्वैतियों का) कोई विरोध नहीं है।

मायया भिद्यते ह्येतन्नान्यथाजं कथञ्चन ।
तत्त्वतो भिद्यमाने हि मर्त्यताममृतं व्रजेत् ।।19।।

अद्वैत में माया से ही भेद होता है। यह अजन्मा आत्मा कभी भी भिन्न नहीं हो सकता। क्योंकि यदि वास्तव में उसमें भेद हो जाए, तब तो 'अमृत' ही 'मर्त्य' हो जाएगा।

अजातस्यैव भावस्य जातिमिच्छन्ति वादिनः ।
अजातो ह्यमृतो भावो मर्त्यतां कथमेष्यति ।।20।।

जो कभी जन्मा ही नहीं, उसकी उत्पत्ति की ये वादी (द्वैती) अपेक्षा करते हैं। पर जो जन्मा ही नहीं, जो इसलिए अमर है, उसकी मर्त्यता (मरणशीलता) भला कैसे हो सकती है?

न भवत्यमृतं मर्त्यं न मर्त्यममृतं तथा ।
प्रकृतेरन्यथाभावो न कथंचिद्भविष्यति ।।21।।

अमर पदार्थ कभी मरणशील नहीं हो सकता और मरणशील कभी अमर नहीं हो सकता। प्रकृति से विरुद्ध परिस्थिति कभी हो नहीं सकती।

स्वभावेनामृतो यस्य भावो गच्छति मर्त्यताम् ।
कृतकेनामृतस्तस्य कथं स्थास्यति निश्चलः ।।22।।

जिन लोगों के मत में पारमार्थिक अमरता का स्वरूप भी मरणशीलता को प्राप्त होता है, उनके कृतक (कपोलकल्पित मत) से अमृत मोक्ष भी तो भला कैसे शाश्वत रह सकता है?

भूततोऽभूततो वापि सृज्यमाने समा श्रुतिः ।
निश्चितं युक्तियुक्तं च यत्तद्भवति नेतरत् ।।23।।

सृष्टिपरक श्रुतियाँ तो पारमार्थिक और प्रातिभासिक—दोनों अर्थों में ठीक बैठती हैं। इसलिए उन दोनों में जो निःसंदेह और तर्कपूर्ण हो, वही मानना चाहिए अन्य नहीं। (तात्पर्य है कि आत्मतत्त्व की अद्वितीयता ही निःसंदिग्ध और तर्कपूर्ण है)।

नेह नानेति चाम्नायादिन्द्रो मायाभिरित्यपि ।
अजायमानो बहुधा मायया जायते तु सः ।।24।।

'नेह नानास्ति' इत्यादि तथा 'इन्द्रो मायाभिः' इत्यादि वाक्यों में कहा गया है कि वास्तव में अजन्मा यह आत्मा माया के द्वारा मानो जन्म-सा लेता है।

सम्भूतेरपवादाच्च सम्भवः प्रतिषिध्यते ।
को न्वेनं जनयेदिति कारणं प्रतिषिध्यते ।।25।।

श्रुति में 'संभूति' (उत्पत्ति) का निषेध किया गया है, इसलिए आत्मा का संभव तो प्रतिषिद्ध है ही। और 'इसे कौन उत्पन्न कर सकता है'—ऐसे श्रुतिवाक्यों से कारण का निषेध किया गया है।

स एष नेति नेतीति व्याख्यातं निह्नुते यतः ।
सर्वमग्राह्यभावेन हेतुनाजं प्रकाशते ।।26।।

'यह आत्मा नहीं, यह आत्मा नहीं'—इस प्रकार आत्मा की अग्राह्यता के ऊपर जोर देकर सबको नकार दिया है। इस निषेध से ही यह अजन्मा आत्मा प्रकाशित हो जाता है।

सतो हि मायया जन्म युज्यते न तु तत्त्वतः ।
तत्त्वतो जायते यस्य जातं तस्य हि जायते ।।27।।

'सत्' तत्त्व का जन्म तो माया से ही होना सम्भव है, पारमार्थिक रूप से तो उसका जन्म हो ही नहीं सकता। जिनके मत में 'सत्' का जन्म पारमार्थिक रूप से होता है, उन्हें भी यह तो मानना ही पड़ेगा कि उत्पत्तिशील पदार्थ की ही उत्पत्ति हो सकती है, अन्य की तो नहीं ही हो सकती।

असतो मायया जन्म तत्त्वतो नैव युज्यते ।
बन्ध्यापुत्रो न तत्त्वेन मायया वापि जायते ।।28।।

स्वभावतः असत् वस्तु की उत्पत्ति तो पारमार्थिक रूप से हो ही नहीं सकती। तीनों काल में अभाववाला बाँझ का पुत्र तो माया से भी उत्पन्न नहीं हो सकता।

यथा स्वप्ने द्वयाभासं स्पन्दते मायया मनः ।
तथा जाग्रद्द्वयाभासं स्पन्दते मायया मनः ।।29।।

स्वप्न में जैसे माया के द्वारा मन द्वैताभास रूप से प्रस्फुटित होता है, वैसे ही जाग्रत् अवस्था में भी मन ही द्वैताभास के रूप में स्पन्दित (स्फुरित) होता है।

अद्वयं च द्वयाभासं मनः स्वप्ने न संशयः ।
अद्वयं च द्वयाभासं तथा जाग्रन्न संशयः ।।30।।

यह निश्चित है कि मूलतः अद्वैत मन ही स्वप्न में द्वैतरूप में भासमान होता है। उसी प्रकार जाग्रत् अवस्था में भी वही अद्वैत मन द्वैतरूप में भासमान होता है।

मनोदृश्यमिदं द्वैतं यत्किञ्चित्सचराचरम् ।
मनसो ह्यमनीभावे द्वैतं नैवोपलभ्यते ।।31।।

यह जो कुछ स्थावर-जंगम देखा जाता है, वह केवल मन का ही दृश्य है। यदि मन का मनोरूप ही चला जाय (संकल्प-विकल्पात्मकता नष्ट हो जाए) तो द्वैत जैसा कुछ लगेगा ही नहीं।

आत्मसत्यानुबोधेन न सङ्कल्पयते यदा ।
अमनस्तां तदा याति ग्राह्याभावे तदग्रहम् ।।32।।

गुरूपदेशादि द्वारा आत्मा के सत्यत्वादि रूप का ज्ञान होने पर जब मन संकल्प-विकल्प नहीं करता, तब वह 'अमनस्कता' को (मनस्तत्त्व के अभाव को) प्राप्त होता है। क्योंकि तब उसे ग्रहण करने के लिए कुछ नहीं होता। इसलिए वह मन 'अग्रह' (ग्रहणभाव से रहित) हो जाता है।

अकल्पकमजं ज्ञानं ज्ञेयाभिन्नं प्रचक्षते ।
ब्रह्मज्ञेयमजं नित्यमजेनाजं विबुध्यते ।।33।।

कल्पनारहित केवल वह अनादि ज्ञान ज्ञेय से अभिन्न है—ऐसा ज्ञानी लोग कहते हैं। ऐसा ब्रह्म विषयक ज्ञान नित्य है, अनादि है। इसलिए अनादि ही अनादि को जानता है अर्थात् अनादि ज्ञान को अनादि परमतत्त्व जानता है।

निगृहीतस्य मनसो निर्विकल्पस्य धीमतः ।
प्रचारः स तु विज्ञेयः सुषुप्तेऽन्यो न तत्समः ।।34।।

निरुद्ध, कल्पनाशून्य और विवेकसम्पन्न मन की जो प्रवृत्ति होती है, वह विशेष जानने योग्य है। सुषुप्तावस्था की बात उससे अलग है। चित्तनिरोध की स्थिति निद्रा में नहीं होती।

लीयते हि सुषुप्ते तन्निगृहीतं न लीयते ।
तदेव निर्भयं ब्रह्म ज्ञानालोकं समन्ततः ।।35।।

निद्रासमय में मन अविद्या में लीन हो जाता है, पर निरुद्धावस्था में ऐसा नहीं होता। उस समय तो चारों ओर से ज्ञानरूपी प्रकाशवाला निर्भय ब्रह्म अकेला ही रहता है।

अजमनिद्रमस्वप्नमनामकमरूपकम् ।
सकृद्विभातं सर्वज्ञं नोपचारः कथञ्चन ।।36।।

उस ब्रह्म का जन्म, निद्रा, स्वप्न, नाम, रूप—कुछ भी नहीं है। वह सर्वदा भासमान, सर्वज्ञ है। उसमें किसी उपचार (क्रियाविधि) की कोई आवश्यकता नहीं है।

सर्वाभिलाषविगतः सर्वचिन्तासमुत्थितः ।
सुप्रशान्तः सकृज्ज्योतिः समाधिरचलोऽभयः ।।37।।

वह सब प्रकार के वाणी व्यापार से रहित है (इन्द्रियव्यापारों से भी रहित है), सभी चिन्तन से परे है। वह सर्वदा प्रशान्त, सर्वदा प्रकाशमान, अनुभूतिगम्य, निश्चल और अभय है।

ग्रहो न तत्र नोत्सर्गश्चिन्ता यत्र न विद्यते ।
आत्मसंस्थं तदा ज्ञानमजाति समतां गतम् ।।38।।

वहाँ नाममात्र का भी चिन्तन नहीं है। वहाँ किसी का ग्रहण या त्याग करने की कोई अपेक्षा नहीं है। ऐसी स्थिति में वह आत्मज्ञान जन्मादिरहित और एकसमान ही होता है।

अस्पर्शयोगो वै नाम दुर्दर्शः सर्वयोगिभिः ।
योगिनो बिभ्यति ह्यस्मादभये भयदर्शिनः ।।39।।

इस अमनीकरण का नाम 'अस्पर्शयोग' कहा गया है। यह 'अस्पर्शयोग' सचमुच महान् योगियों के लिए भी दुर्विज्ञेय है। यह पद निर्भय होने पर भी भेद देखनेवाले योगी इससे डरते रहते हैं।

मनसो निग्रहायत्तमभयं सर्वयोगिनाम्।
दुःखक्षयः प्रबोधश्चाप्यक्षया शान्तिरेव च ।।40।।

आत्मसाक्षात्कार के इच्छुक योगी इस अस्पर्शयोग से (मन के निग्रह से) अभय, दुःखनाश, ज्ञानोपलब्धि और अमरशान्ति पा सकते हैं।

उत्सेक उदधेर्यद्वत्कुशाग्रेणैकबिन्दुना।
मनसो निग्रहस्तद्वद्भवेदपरिखेदतः ।।41।।

घास के तिनके की नोक से बिन्दु-बिन्दु करके सागर उलीचना जैसे असीम धैर्य की अपेक्षा करता है, वैसे ही खेद छोड़कर अर्थात् प्रसन्नता से धैर्यपूर्वक मनोनिग्रह किया जा सकता है।

उपायेन निगृह्णीयाद्विक्षिप्तं कामभोगयोः।
सुप्रसन्नं लये चैव यथा कामो लयस्तथा ।।42।।

कामभोग में पड़े (विक्षिप्त) मन को उपाय से निगृहीत और प्रसन्न करना चाहिए और साथ ही लय की लत लगाए मन का भी निग्रह करना चाहिए। क्योंकि कामभोग की तरह लय भी अनर्थकारी ही है।

दुःखं सर्वमनुस्मृत्य कामभोगान्निवर्तयेत्।
अजं सर्वमनुस्मृत्य जातं नैव तु पश्यति ।।43।।

दुःखमय द्वैत का स्मरण करते हुए कामभोग से मन को वापस लौटाना चाहिए। सब कुछ जन्मरहित ब्रह्मस्वरूप ही है—ऐसा स्मरण करके मनुष्य उत्पत्तिशील अनित्य को देखता ही नहीं है।

लये सम्बोधयेच्चित्तं विक्षिप्तं शमयेत्पुनः।
सकषायं विजानीयात्समप्राप्तं न चालयेत् ।।44।।

सुषुप्ति (आलस्य), निद्रादि में लीन चित्त को अच्छी तरह से जगाना चाहिए। वह विक्षिप्त हो जाए तो पुनः उसे शान्त करना चाहिए। यदि चित्त सकषाय (इन्द्रियविषयासक्त) हो, तो उसे सावधान कर देना चाहिए। (चेतावनी देकर पुनः आत्मस्थ कर देना चाहिए)। एक बार यदि तुमने अपने मन को सम-प्राप्त कर लिया (संयत या स्थिर कर लिया) हो, तो पुनः उसे बाह्य पदार्थों की ओर आकर्षित नहीं करने देना चाहिए।

नास्वादयेत्सुखं तत्र निःसङ्गः प्रज्ञया भवेत्।
निश्चलं निश्चरच्चित्तमेकीकुर्यात्प्रयत्नतः ।।45।।

साम्यावस्थारूप समाधि में भी वह समाधिजन्य सुख के आस्वाद की अपेक्षा न करे और उस अवस्था में भी अपनी विवेकशील बुद्धि से वह निःसंग ही रहे। यदि उसका चित्त बाहर भटकने का प्रयत्न करे, तो उसे फिर से प्रयत्नपूर्वक निश्चल और एकाग्र करे।

यदा न लीयते चित्तं न च विक्षिप्यते पुनः।
अनिङ्गनमनाभासं निष्पन्नं ब्रह्म तत्तदा ।।46।।

चित्त जब सुषुप्ति में लीन न हो अथवा तो फिर से विक्षेप में भी न पड़ा हो, निश्चल हो गया हो और द्वैत के किसी भी प्रकार के आभास से रहित हो गया हो, तब तो वह ब्रह्म ही है (ऐसा समझना चाहिए)।

स्वस्थं शान्तं सनिर्वाणमकथ्यं सुखमुत्तमम्।
अजमजेन ज्ञेयेन सर्वज्ञं परिचक्षते ।।47।।

इससे होनेवाला अनुभव स्वस्थ, शान्त, निर्वाणयुक्त, अवर्णनीय, परमसुखमय अजन्मा (ब्रह्म से अभिन्न) और अनादि होता है, ऐसा ज्ञानीलोग कहते हैं।

न कश्चिज्जायते जीवः सम्भवोऽस्य न विद्यते।
एतत्तदुत्तमं सत्यं यत्र किञ्चिन्न जायते ।।48।।

कोई जीव उत्पन्न नहीं होता, उसकी उत्पत्ति का कोई कारण नहीं है। यही परम सत्य बात है कि जहाँ कोई कहीं जन्म ही नहीं लेता।

अद्वैत-प्रकरण समाप्त।

❋

अलातशान्तिप्रकरणम्

ज्ञानेनाकाशकल्पेन धर्मान्यो गगनोपमान्।
ज्ञेयाभिन्नेन सम्बुद्धस्तं वन्दे द्विपदां वरम् ।।1।।

ऐसे श्रेष्ठ मानव को मैं प्रणाम करता हूँ जिसने आकाश के समान व्यापक अपने आत्मतत्त्व को (अपने स्वरूप को) जान लिया है। वही सच्चे रूप में आत्मज्ञ है। उसी आत्मज्ञान से वह आत्मा के गुणों को जान सकता है।

अस्पर्शयोगो वै नाम सर्वसत्त्वसुखो हितः।
अविवादोऽविरुद्धश्च देशितस्तं नमाम्यहम् ।।2।।

सर्व प्राणियों के लिए कल्याणकारी, सुखकारी, क्लेशहीन और अविरुद्ध यह अस्पर्शयोग शास्त्रों ने बताया है, उस (अस्पर्शयोग) को मैं प्रणाम करता हूँ।

भूतस्य जातिमिच्छन्ति वादिनः केचिदेव हि।
अभूतस्यापरे धीरा विवदन्तः परस्परम् ।।3।।

कुछ मत-वादी लोग अस्तित्ववाले पदार्थ की उत्पत्ति मानते हैं, जबकि कुछ ऐसे धीर विवादी (बुद्धिशाली) लोग भी हैं, जो कि एक-दूसरे से विवाद करते हुए असत्पदार्थ की भी उत्पत्ति मानते हैं।

भूतं न जायते किंचिदभूतं नैव जायते।
विवदन्तोऽद्वया ह्येवमजातिं ख्यापयन्ति ते ।।4।।

कुछ लोग कहते हैं कि विद्यमान पदार्थ उत्पन्न नहीं होता। तो कुछ लोग कहते हैं कि अविद्यमान पदार्थ जन्मता नहीं है। इस प्रकार विवाद करते हुए वे दोनों अद्वैतवादी अजातिवाद का ही स्थापन करते हैं।

ख्याप्यमानामजातिं तैरनुमोदामहे वयम् ।
विवदामो न तैः सार्धमविवादं निबोधत ।।5।।

उनके स्थापित किए हुए अजातिवाद का हम समर्थन करते हैं। हमारा उनसे कोई विवाद नहीं है। हमारे इस विवादरहित परमार्थदर्शन को आप समझ लें।

अजातस्यैव धर्मस्य जातिमिच्छन्ति वादिनः ।
अजातो ह्यमृतो धर्मो मर्त्यतां कथमेष्यति ।।6।।

विवादी लोग 'अजात' वस्तु की 'उत्पत्ति' की कल्पना करते हैं। (वैशेषिक लोग) किन्तु जो उत्पन्न हुआ ही नहीं है और जो आत्मा अमर है, वह भला कैसे मृत्यु को प्राप्त होगा ?

न भवत्यमृतं मर्त्यं न मर्त्यममृतं तथा ।
प्रकृतेरन्यथाभावो न कथञ्चिद्भविष्यति ।।7।।

मरणहीन कभी मृत्युशील नहीं बन सकता और मरणशील कभी अमर नहीं हो सकता। किसी भी प्रकार से स्वभाव के विपरीत बात तो हो ही नहीं सकती।

स्वभावेनामृतो यस्य धर्मो गच्छति मर्त्यताम् ।
कृतकेनामृतस्तस्य कथं स्थास्यति निश्चलः।।8।।

जिनके मत में स्वभाव से अमृत वस्तु भी मृत्यु के वश में आ जाती हो, उनके अभिप्रायानुसार तो 'अमृत' पदार्थ भी कृतक (जन्मा हुआ) होने से वह पदार्थ निश्चल (अविनाशी) कैसे रह सकता है ?

सांसिद्धिकी स्वाभाविकी सहजा अकृता च या ।
प्रकृतिः सेति विज्ञेया स्वभावं न जहाति या ।।9।।

'प्रकृति' तो इसे ही कहा जाता है कि जो योगसिद्धि से प्राप्त हो, जो जन्मजात (सहज) हो, जो बनाई हुई नहीं हो और जो अपने स्वरूप को कभी बदलती न हो।

जरामरणनिर्मुक्ताः सर्वे धर्माः स्वभावतः ।
जरामरणमिच्छन्तश्च्यवन्ते तन्मनीषया ।।10।।

वास्तव में अपने स्वरूप से ही ये सभी जीव जरा और मरण से रहित ही हैं, परन्तु वे जरा और मृत्यु का चिन्तन करते हुए अपने स्वरूप को खो बैठे और गिर गए।

कारणं यस्य वै कार्यं कारणं तस्य जायते ।
जायमानं कथमजं भिन्नं नित्यं कथं च तत् ।।11।।

जिन (सांख्यों) के मत में कारण ही कार्य है, उनके अनुसार तो कारण ही उत्पन्न होता है। पर जो उत्पन्न होता है, वह जन्मरहित कैसे होगा ? और यदि कार्य कारण से भिन्न हो, तो वह जन्मशील होने से नित्य कैसे होगा ?

कारणाद्यद्यनन्यत्वमतः कार्यमजं यदि ।
जायमानाद्धि वै कार्यात्कारणं ते कथं ध्रुवम् ।।12।।

तुम्हारे (सांख्य के) मतानुसार यदि कारण से कार्य अलग न हो, तो कार्य भी तो कारण की तरह

ही जन्मरहित हो जाएगा। यदि ऐसा हो तो उत्पत्तिशील कार्य से अभिन्न माना गया कारण अविचल कैसे हो सकता है ?

अजाद्वै जायते यस्य दृष्टान्तस्तस्य नास्ति वै ।
जाताच्च जायमानस्य न व्यवस्था प्रसज्यते ।।13।।

'अजन्मा पदार्थ से (प्रधान से) ही किसी कार्य की उत्पत्ति होती है'—ऐसा माननेवालों के पास कोई दूसरा दृष्टान्त नहीं है। और उत्पत्तिशील पदार्थ से ही अन्य पदार्थ (कार्य) की उत्पत्ति मानने में अनवस्था दोष आता है, यह कोई तार्किक व्यवस्था नहीं है।

हेतोरादिः फलं येषामादिर्हेतुः फलस्य च ।
हेतोः फलस्य चानादिः कथं तैरुपवर्ण्यते ।।14।।

जिनके मत में (कर्मरूपी) कारण से (शरीररूप) कार्य की उत्पत्ति होती है और (शरीररूप) कारण से (कर्मरूप) कारण की उत्पत्ति होती है, (अर्थात् कारण कार्य बन जाता है और कार्य कारण बन जाता है) तब तो यह प्रश्न स्पष्ट हो गया कि ये (सांख्यादि द्वैती लोग) 'अनादि' वस्तु को कैसे समझाएँगे ?

हेतोरादिः फलं येषामादिर्हेतुः फलस्य च ।
तथा जन्म भवेत्तेषां पुत्राज्जन्म पितुर्यथा ।।15।।

जिनके मत में हेतु का कारण फल है (कारण का कारण 'कार्य' है) और फल का कारण हेतु है (कार्य का कारण 'कारण' है) उनकी मानी हुई उत्पत्ति तो पुत्र से पिता का जन्म हो, इस प्रकार है।

सम्भवे हेतुफलयोरेषितव्यः क्रमस्त्वया ।
युगपत्सम्भवे यस्मादसम्बन्धो विषाणवत् ।।16।।

कार्य-कारण के सम्बन्ध में तुम्हें (वादी को) क्रम का स्वीकार तो करना ही होगा। कार्य और कारण यदि एक साथ ही उत्पन्न हों, तब तो किसी पशु के दो सींगों की तरह कार्य-कारणभाव हो ही नहीं सकता।

फलादुत्पद्यमानः सन्न ते हेतुः प्रसिध्यति ।
अप्रसिद्धः कथं हेतुः फलमुत्पादयिष्यति ।।17।।

हेतु यदि फल से उत्पन्न होता हो (कारण यदि कार्य से उत्पन्न होता हो), तो वह हेतु प्रकट तो नहीं होता और जो हेतु प्रकट नहीं है, वह फल (कार्य) कैसे उत्पन्न कर सकता है ?

यदि हेतोः फलात्सिद्धिः फलसिद्धिश्च हेतुतः ।
कतरत्पूर्वनिष्पन्नं यस्य सिद्धिरपेक्षया ।।18।।

यदि हेतु की सिद्धि फल में हो और फल की सिद्धि हेतु में हो, तब उनमें से पहले कौन पैदा हुआ कि जिसकी अपेक्षा से दूसरे की सिद्धि मानी जा सकती है ?

अशक्तिरपरिज्ञानं क्रमकोपोऽथ वा पुनः ।
एवं हि सर्वथा बुद्धैरजातिः परिदीपिता ।।19।।

ऐसी उत्तर देने की अशक्ति पूर्णज्ञानाभाव ही है अथवा तो इससे क्रम उलट जाता है। इस प्रकार ज्ञानी लोग सब तरह से अजातिवाद का स्थापन करते हैं।

बीजाङ्कुराख्यो दृष्टान्तः सदा साध्यसमो हि सः ।
न हि साध्यसमो हेतुः सिद्धौ साध्यस्य युज्यते ॥20॥

बीजाङ्कुर का उदाहरण तो तुम्हारे साध्य की तरह ही असिद्ध है और अभी असिद्ध साध्य के लिए तुम्हारा असिद्ध हेतु तो साध्य ही सिद्धि में उपयोगी नहीं हो सकता।

पूर्वापरापरिज्ञानमजातेः परिदीपकम् ।
जायमानाद्धि वै धर्मात् कथं पूर्वं न गृह्यते ॥21॥

हेतु और फल के पूर्वापरत्व का अज्ञान तो उत्पत्ति के अभाव को ही प्रकट कर देता है। क्योंकि यदि धर्म (कार्य = जीवत्व) सचमुच ही उत्पन्न होता हो, तो उसके पूर्वकारण का स्वीकार क्यों नहीं किया जाता ?

स्वतो वा परतो वापि न किञ्चिद्वस्तु जायते ।
सदसत्सदसद्वापि न किञ्चिद्वस्तु जायते ॥22॥

'स्व' में से या 'पर' में से कोई भी पदार्थ उत्पन्न नहीं होता। क्योंकि 'सत्' से, 'असत्' से और 'सदसत्' से कोई भी पदार्थ उत्पन्न नहीं होता।

हेतुर्न जायतेऽनादेः फलं चापि स्वभावतः ।
आदिर्न विद्यते यस्य तस्य ह्यादिर्न विद्यते ॥23॥

फल या हेतु—जो भी अनादि है, उसमें से जैसे कारण नहीं जन्मता, वैसे फल भी उत्पन्न नहीं हो सकता। जिसका कारण नहीं होता, उसकी उत्पत्ति नहीं होती।

प्रज्ञप्तेः सनिमित्तत्वमन्यथा द्वयनाशतः ।
संक्लेशस्योपलब्धेश्च परतन्त्रास्तिता मता ॥24॥

शब्दादि संवेदना का निमित्त (आधार) कोई-न-कोई विषय होता ही है, क्योंकि विषय और विषयी न हो तो द्वैत का नाश होगा और दुःखादि की प्राप्ति होने से भी इन द्वैतवादी लोगों के शास्त्रों में बाह्य वस्तु की (विषय की) विद्यमानता को स्वीकार किया गया है।

प्रज्ञप्तेः सनिमित्तत्वमिष्यते युक्तिदर्शनात् ।
निमित्तस्यानिमित्तत्वमिष्यते भूतदर्शनात् ॥25॥

पूर्वोक्त तर्कों के आधार पर तुम शब्दादि प्रतीति (संवेदनाओं की) योग्यता को स्वीकार करते हो, परन्तु पारमार्थिक दृष्टि से देखने पर हम तो विषय के अविषयत्व को ही मानते हैं।

चित्तं न संस्पृशत्यर्थं नार्थाभासं तथैव च ।
अभूतो हि यतश्चार्थो नार्थाभासस्ततः पृथक् ॥26॥

चित्त किसी भी पदार्थ का स्पर्श नहीं करता और पदार्थ के आभास का भी तो स्पर्श नहीं करता। पदार्थ स्वयं चित्तविवर्त के सिवा और कुछ नहीं है, ऐसे ही अर्थाभास भी चित्त से कोई पृथक् वस्तु नहीं है। (यदि पदार्थ असत् है तो पदार्थाभास भी तो असत् ही हुआ)।

निमित्तं न सदा चित्तं संस्पृशत्यध्वसु त्रिषु ।
अनिमित्तो विपर्यासः कथं तस्य भविष्यति ॥27॥

तीनों मार्ग (काल) में चित्त किसी भी विषय (निमित्त) का स्पर्श नहीं करता और जहाँ निमित्त (विषय) ही न हो, वहाँ फिर चित्त को बिना कारण ही विपरीत ज्ञान भला क्यों होगा ?

तस्मान्न जायते चित्तं चित्तदृश्यं न जायते ।
तस्य पश्यन्ति ये जातिं खे वै पश्यन्ति ते पदम् ॥28॥

इसलिए न तो चित्त उत्पन्न होता है, न वा कोई दृश्य ही उत्पन्न होता है। जिन लोगों को इनका जन्म दिखाई देता है, वे मानो आकाश में पदचिह्न देख रहे हैं।

अजातं जायते यस्मादजातिः प्रकृतिस्तथा ।
प्रकृतेरन्यथाभावो न कथंचिद्भविष्यति ॥29॥

जन्मरहित चित्त का ही जन्म होता है। उसका स्वभाव ही जन्मराहित्य है और स्वभाव का बदलाव तो किसी भी तरह हो ही नहीं सकता।

अनादेरन्तवत्त्वं च संसारस्य न सेत्स्यति ।
अनन्तता चादिमतो मोक्षस्य न भविष्यति ॥30॥

सृष्टि को अनादि माननेवालों को यह मानना होगा कि वह अनन्त भी है। तो मोक्ष को सादि मानने पर वह अनन्त (स्थायी) भी नहीं हो सकेगा। क्योंकि जो सादि होता है वह सान्त होता है और जो अनादि होता है, वह अनन्त है।

आदावन्ते च यन्नास्ति वर्तमानेऽपि तत्तथा ।
वितथैः सदृशाः सन्तोऽवितथा इव लक्षिताः ॥31॥

जो पदार्थ पहले नहीं होते, वे बाद में भी नहीं होते। वे वर्तमान में भी वैसे ही अस्तित्वहीन हैं। वे मिथ्या होने पर भी अवितथ (अमिथ्या) हों, ऐसे लग रहे हैं।

सप्रयोजनता तेषां स्वप्ने विप्रतिपद्यते ।
तस्मादाद्यन्तवत्त्वेन मिथ्यैव खलु ते स्मृताः ॥32॥

जाग्रत् समय के उन पदार्थों की सप्रयोजनता निद्रा में उल्टी हो जाती है (जाग्रत् की वास्तविकता निद्रा में अवास्तविकता हो जाती है)। अतः आदि और अन्त वाले होने से वे पदार्थ मिथ्या ही हैं।

सर्वे धर्मा मृषा स्वप्ने कायस्यान्तर्निदर्शनात् ।
संवृतेऽस्मिन्प्रदेशे वै भूतानां दर्शनं कुतः ॥33॥

स्वप्नकाल में सभी पदार्थ शरीर के भीतर ही भासमान होने से मिथ्या ही हैं। ऐसे संकुचित प्रदेश में प्राणियों का वास्तविक दर्शन कैसे हो सकता है ?

न युक्तं दर्शनं गत्वा कालस्यानियमाद्गतौ ।
प्रतिबुद्धश्च वै सर्वस्तस्मिन्देशे न विद्यते ॥34॥

दूरदेशस्थ पदार्थों का दर्शन वहाँ जाकर तो स्वप्न में नहीं हो सकता। क्योंकि देशान्तरगमन का जाग्रत् अवस्था का कालव्यय का नियम स्वप्न में तो लागू नहीं हो सकता।

मित्राद्यैः सह सम्मन्त्र्य सम्बुद्धो न प्रपद्यते ।
गृहीतं चापि यत्किञ्चित्प्रतिबुद्धो न पश्यति ।।35।।

स्वप्न में मित्रों के साथ गोष्ठी करके जागने पर मनुष्य कुछ भी नहीं देख पाता । स्वप्न में जो कुछ पकड़ा हो, उसे जाग्रत् में मनुष्य प्राप्त नहीं कर सकता ।

स्वप्ने चावस्तुकः कायः पृथगन्यस्य दर्शनात् ।
यथा कायस्तथा सर्वं चित्तदृश्यमवस्तुकम् ।।36।।

स्वप्न में देखी गई काया असत्य है, क्योंकि वह अपनी मूल काया से अलग ही है । जिस तरह काया है, उसी तरह सब चित्त में देखा गया भी असत्य ही है ।

ग्रहणाज्जागरितवत्तद्धेतुः स्वप्न इष्यते ।
तद्धेतुत्वात्तु तस्यैव सज्जागरितमिष्यते ।।37।।

स्वप्न में पदार्थग्रहण तो जाग्रत् जैसा ही होने से जाग्रत् ही स्वप्न का कारण माना जाता है और इसी प्रकार वह स्वप्न तो केवल तुम्हारा अपना ही होने से, उस स्वप्न का कारण जाग्रत् भी केवल तुम्हारा अपना ही है । दूसरों का उससे कोई लेना-देना नहीं ।

उत्पादस्याप्रसिद्धत्वादजं सर्वमुदाहृतम् ।
न च भूतादभूतस्य सम्भवोऽस्ति कथञ्चन ।।38।।

उत्पत्ति तो सिद्ध नहीं हो सकती, इसलिए उपनिषदों में सबको 'अज' कहा गया है । और 'सत्' पदार्थ से 'असत्' का कभी भी जन्म नहीं हो सकता ।

असज्जागरिते दृष्ट्वा स्वप्ने पश्यति तन्मयः ।
असत्स्वप्नेऽपि दृष्ट्वा च प्रतिबुद्धो न पश्यति ।।39।।

जाग्रत् अवस्था में देखे गए असत् पदार्थ को, उन पदार्थों से एकाकार हुआ मनुष्य स्वप्न में उन्हीं को देखता है और स्वप्न में उन असार पदार्थों को देखने पर भी जागता हुआ मनुष्य उन्हें नहीं देखता ।

नास्त्यसद्धेतुकमसत्सदसद्धेतुकं तथा ।
सच्च सद्धेतुकं नास्ति सद्धेतुकमसत्कुतः ।।40।।

जिस प्रकार 'असत्' वस्तु असत् कारणवाली नहीं होती (जो है ही नहीं, उसका कोई कारण नहीं होता) उसी प्रकार विद्यमान पदार्थ का कारण कोई अविद्यमान वस्तु भी तो नहीं हो सकती । इसी प्रकार विद्यमान पदार्थ किसी दूसरे विद्यमान पदार्थ से भी उत्पन्न नहीं हो सकता । इसलिए कोई असत् पदार्थ किसी 'सत्' पदार्थ से कैसे उत्पन्न हो सकता है ?

विपर्यासाद्यथा जाग्रदचिन्त्यान्भूतवत्स्पृशेत् ।
तथा स्वप्ने विपर्यासाद्धर्मांस्तत्रैव पश्यति ।।41।।

जैसे मनुष्य भ्रमवश होकर जाग्रत् अवस्था में अवास्तविक पदार्थों में भी वास्तविकता मानकर व्यवहार करता है, उसी प्रकार स्वप्न में भी भ्रमवश होकर असत् पदार्थों में भी सत् का-सा व्यवहार करता है ।

उपलम्भात्समाचारादस्तिवस्तुत्ववादिनाम् ।
जातिस्तु देशिता बुद्धैरजातेस्त्रसतां सदा ।।42।।

जो लोग अपने व्यक्तिगत अनुभवों के आधार पर अथवा प्रवर्तमान वर्णाश्रमादि के आधार पर बाहर की वस्तुओं की वास्तविकता को मानते हैं और जो अजाति(अजात)वाद से त्रस्त हो रहे हैं, उनके लिए ही ज्ञानियों ने जाति का बोध दिया है ।

अजातेस्त्रसतां तेषामुपलम्भाद्वियन्ति ये ।
जातिदोषा न सेत्स्यन्ति दोषोऽप्यल्पो भविष्यति ।।43।।

अजातवाद का सामना करने में डरनेवाले द्वैती लोग अद्वैतियों का विरोध करते हैं, क्योंकि वे सब जगह पर द्वैत ही देखते हैं । ऐसे लोग द्वैतमूलक उपासनाएँ करते हैं । उन्हें जाति मानने के दोष नहीं लगेंगे और यदि लगेगा तो भी थोड़ा ही लगेगा ।

उपलम्भात्समाचारान्मायाहस्ती यथोच्यते ।
उपलम्भात्समाचारादस्ति वस्तु तथोच्यते ।।44।।

व्यक्तिगत अनुभव और उससे मेल खाती हुई धारणा से ऐन्द्रजालिक हाथी सही मान लिया जाता है, इसी प्रकार वे लोग जो देखते हैं और उनकी धारणा के अनुकूल यदि वह हो तो उसे सत्य मान लेते हैं ।

जात्याभासं चलाभासं वस्त्वाभासं तथैव च ।
अजाचलमवस्तुत्वं विज्ञानं शान्तमद्वयम् ।।45।।

जो कुछ जन्मता-सा भासित होता है, चलता-सा भासता है, अस्तित्ववाला दिखाई देता है, वह वास्तव में जन्मरहित, अचल, शान्त, अद्वैत, विज्ञान ही है ।

एवं न जायते चित्तमेवं धर्मा अजाः स्मृताः ।
एवमेव विजानन्तो न पतन्ति विपर्यये ।।46।।

इस प्रकार चित्त उत्पन्न नहीं होता । ऐसे ही आत्मा 'अज' कहा गया है । इस प्रकार जाननेवाले लोग विपर्यय (भ्रम) में कभी नहीं फँसते हैं ।

ऋजुवक्रादिकाभासमलातं स्पन्दितं यथा ।
ग्रहणग्राहकाभासं विज्ञानस्पन्दितं तथा ।।47।।

जिस प्रकार जलती लकड़ी की ही गति कभी सीधी, कभी वक्र और कभी किसी और आकारवाली दीखती है, उसी प्रकार एक विज्ञान का ही स्फुरण ग्रहण एवं ग्राहक के रूप में प्रतीत होता है ।

अस्पन्दमानमलातमनाभासमजं यथा ।
अस्पन्दमानं विज्ञानमनाभासमजं तथा ।।48।।

जिस तरह चेष्टारहित जलती लकड़ी ऋजु (और वक्र) आदि आभास से रहित और 'अज' है, उसी प्रकार स्पन्दनरहित विज्ञानस्वरूप आत्मा भी ग्रहण-ग्राहकभावरूप आभासहीन और जन्मरहित ही है ।

अलाते स्पन्दमाने वै नाभासा अन्यतो भुवः ।
न ततोऽन्यत्र निःस्पन्दान्नालातं प्रविशन्ति ते ।।49।।

जलती हुई लकड़ी के स्पन्दनकाल में ऋजु (और वक्र) आदि आभास कहीं अन्यत्र से बनकर तो नहीं आते और उसका स्पन्दन बन्द हो जाने पर वहाँ से किसी दूसरे स्थान पर चले भी नहीं जाते और उसमें भी प्रविष्ट नहीं हो जाते।

न निर्गता अलातात्ते द्रव्यत्वाभावयोगतः।
विज्ञानेऽपि तथैव स्युराभासस्याविशेषतः ॥50॥

वे सीधे (बाँके) आभास तो द्रव्य नहीं हैं—उनमें द्रव्यत्व का अभाव ही मौजूद है। इसलिए वे उस जलती हुई लकड़ी से तो नहीं निकल सकते। इसी प्रकार विज्ञान में भी ऐसी ही परिस्थिति है, क्योंकि आभास तो इन दोनों ही स्थलों में समान ही हैं।

विज्ञाने स्पन्दमाने वै नाभासा अन्यतो भुवः।
न ततोऽन्यत्र निःस्पन्दान्न विज्ञानं विशन्ति ते ॥51॥

जब विज्ञान का स्फुरण होता है तब यह जगत् और उसके व्यवहार दीख पड़ते हैं। उनका अन्य कोई कारण नहीं है। यदि विज्ञान स्पन्दित नहीं होता, तब तो उन व्यवहारों का कोई आधार ही नहीं है और उनका उस विज्ञान में लय भी नहीं होता।

न निर्गतास्ते विज्ञानाद्द्रव्यत्वाभावयोगतः।
कार्यकारणताभावाद्यतोऽचिन्त्याः सदैव ते ॥52॥

उन आभासों में द्रव्यत्व नहीं होने से वे विज्ञान में से निकल नहीं सकते। क्योंकि उन दोनों में कार्य-कारणता का कोई सम्बन्ध नहीं है। इसलिए ये आभास अचिन्त्य (अनिर्वचनीय) ही हैं।

द्रव्यं द्रव्यस्य हेतुः स्यादन्यदन्यस्य चैव हि।
द्रव्यत्वमन्यभावो वा धर्माणां नोपपद्यते ॥53॥

द्रव्य का कारण द्रव्य अर्थात् पदार्थ का कारण पदार्थ ही होता है और वह भी एक पदार्थ का कारण अन्य पदार्थ ही हो सकता है। परन्तु जीवात्मा में तो द्रव्यत्व नहीं होता और द्रव्यत्वभिन्न कोई दूसरा भाव भी तो नहीं होता।

एवं न चित्तजा धर्माश्चित्तं वापि न धर्मजम्।
एवं हेतुफलाजातिं प्रविशन्ति मनीषिणः ॥54॥

इस प्रकार विषय चित्त में से उत्पन्न नहीं होते और चित्त भी विषयों में से प्रकट नहीं होता। इसलिए ज्ञानी पुरुष हेतु और फल की अनुत्पत्ति (कार्य-कारण सम्बन्ध का अभाव) ही मानते हैं।

यावद्धेतुफलावेशस्तावद्धेतुफलोद्भवः।
क्षीणे हेतुफलावेशे नास्ति हेतुफलोद्भवः ॥55॥

जहाँ तक कार्य-कारण सम्बन्ध माना जाता है, वहाँ तक वह कार्य-कारण सम्बन्ध दिखलाई पड़ेगा, परन्तु कार्य-कारणभाव के क्षीण होते ही वह कार्य-कारण नहीं रहेगा।

यावद्धेतुफलावेशः संसारस्तावदायतः।
क्षीणे हेतुफलावेशे संसारं न प्रपद्यते ॥56॥

जहाँ तक कार्य-कारण सम्बन्ध का भाव रहता है, वहाँ तक यह संसारबन्धन (दुःखादि बन्धन) रहता है, पर कार्य-कारण भाव के क्षीण होने से मनुष्य संसार में नहीं आता।

संवृत्या जायते सर्वं शाश्वतं नास्ति तेन वै।
सद्भावेन ह्यजं सर्वमुच्छेदस्तेन नास्ति वै ॥57॥

वैश्विक अज्ञान से ही सब उत्पन्न होता है, कुछ भी शाश्वत नहीं है। पारमार्थिक दृष्टि से देखने पर सब कुछ जन्मरहित है। इसका नाश नहीं हो सकता।

धर्मा य इति जायन्ते जायन्ते ते न तत्त्वतः।
जन्म मायोपमं तेषां सा च माया न विद्यते ॥58॥

जो पदार्थ उत्पन्न हुए कहे जाते हैं, वे वास्तव में उत्पन्न होते ही नहीं। उनकी उत्पत्ति तो ऐन्द्रजालिक है और वह इन्द्रजाल (नजरबन्दी) भी तो वास्तविक नहीं है।

यथा मायामयाद्बीजाज्जायते तन्मयोऽङ्कुरः।
नासौ नित्यो न चोच्छेदी तद्वद्धर्मेषु योजना ॥59॥

जैसे मायारूप बीज में से तद्रूप ही अंकुर उत्पन्न होता है। (माया जादूगरनी है अतः उससे उत्पन्न होनेवाला अंकुर भी तो जादूगर अर्थात् मायामय ही होगा न ?) वह नित्य भी नहीं होता और नाशशील भी नहीं होता। उसी प्रकार पदार्थों के विषय में भी समझ लेना चाहिए।

नाजेषु सर्वधर्मेषु शाश्वताशाश्वताभिधा।
यत्र वर्णा न वर्तन्ते विवेकस्तत्र नोच्यते ॥60॥

जन्मरहित ही सभी धर्मों में (जीवात्माओं में) नित्य या अनित्य जैसी संज्ञा का कोई स्थान नहीं है। यहाँ वाणी की प्रवृत्ति काम नहीं करती है, वहाँ (अनिर्वचनीयता के कारण) निर्णय नहीं हो सकता।

यथा स्वप्ने द्वयाभासं चित्तं चलति मायया।
तथा जाग्रद्द्वयाभासं चित्तं चलति मायया ॥61॥

जिस प्रकार स्वप्नावस्था में द्वैत का आभास माया के द्वारा चित्त का स्फुरण कराता है, उसी प्रकार जाग्रत् में भी द्वैत का आभास माया से ही चित्त को प्रवृत्त करता है।

अद्वयं च द्वयाभासं चित्तं स्वप्ने न संशयः।
अद्वयं च द्वयाभासं तथा जाग्रन्न संशयः ॥62॥

यह तो निर्विवाद सत्य है कि स्वप्न में अद्वय चित्त ही द्वयाभास (द्वैताभासयुक्त) होता है। उसी प्रकार जाग्रत् में भी स्व-रूप से अद्वय अन्तःकरण ही द्वैताकार रूप से भासित होता है।

स्वप्नदृक्प्रचरन्स्वप्ने दिक्षु वै दशसु स्थितान्।
अण्डजान्स्वेदजान्वापि जीवान्पश्यति यान्सदा ॥63॥

स्वप्नद्रष्टा जीव मानो दसों दिशाओं में घूमता हुआ अण्डज, स्वेदज आदि जीवों को सदैव देखता रहता है।

स्वप्नदृक्चित्तदृश्यास्ते न विद्यन्ते ततः पृथक्।
तथा तद्दृश्यमेवेदं स्वप्नदृक्चित्तमिष्यते ॥64॥

मनुष्य जो कुछ भी वस्तु स्वप्न में देखता है, वह चित्त के ही दृश्य हैं—चित्त से भिन्न उनका कोई अस्तित्व नहीं है। तो जैसा वह दृश्य (मिथ्या) है वैसे ही उस दृश्य को देखनेवाला चित्त भी वैसा (मिथ्या) ही है।

चरञ्जागरिते जाग्रद्दिक्षु वै दशसु स्थितान्।
अण्डजान्स्वेदजान्वापि जीवान्पश्यति यान्सदा ॥65॥

इसी प्रकार जाग्रदवस्था में जागता मनुष्य दसों दिशाओं में घूमता हुआ, अण्डज, स्वेदज आदि जीवों को सदैव देखता रहता है।

जाग्रच्चित्तेक्षणीयास्ते न विद्यन्ते ततः पृथक्।
तथा तद्दृश्यमेवेदं जाग्रतश्चित्तमिष्यते ॥66॥

ये सब भी जाग्रत् चित्त के द्वारा ही देखने में आते हैं, जाग्रत् चित्त से उनका अस्तित्व अलग नहीं है। अतः जाग्रत् आदि का चित्त ही उस दृश्यरूप में माना गया है।

उभे ह्यन्योऽन्यदृश्ये ते किं तदस्तीति नोच्यते।
लक्षणाशून्यमुभयं तन्मतेनैव गृह्यते ॥67॥

जीव और चित्त—दोनों एक-दूसरे के दृश्य हैं। वह क्या है, यह कहा नहीं जा सकता। दोनों ही प्रमाणहीन हैं। केवल मानने के लिए (मन की कल्पना से) ही वह ग्रहण किया जाता है।

यथा स्वप्नमयो जीवो जायते म्रियतेऽपि च।
तथा जीवा अमी सर्वे भवन्ति न भवन्ति च ॥68॥

जैसे स्वप्न में किसी को जन्मते हुए और किसी को मरते हुए देखा जाता है वैसे ही ये सब जीव होते भी हैं और नहीं भी होते।

यथा मायामयो जीवो जायते म्रियतेऽपि च।
तथा जीवा अमी सर्वे भवन्ति न भवन्ति च ॥69॥

जिस प्रकार यह जादू जैसा जीव जन्मता भी है और मरता भी है, वैसे ही ये सभी जीव होते भी हैं और नहीं भी होते।

यथा निर्मितको जीवो जायते म्रियतेऽपि वा।
तथा जीवा अमी सर्वे भवन्ति न भवन्ति च ॥70॥

जिस प्रकार यह निर्मित (कल्पित) जीव जन्मता भी है और गरता भी है, उसी प्रकार ये सभी जीव होते भी हैं और नहीं भी होते।

न कश्चिज्जायते जीवः सम्भवोऽस्य न विद्यते।
एतत्तदुत्तमं सत्यं यत्र किञ्चिन्न जायते ॥71॥

कोई जीव जन्मता नहीं है। इस जीव की कभी उत्पत्ति होती ही नहीं। यही उत्तम (पारमार्थिक) सत्य है कि यहाँ कुछ भी जन्म नहीं लेता (कारिका 3.48)।

चित्तस्पन्दितमेवेदं ग्राह्यग्राहकवद्द्वयम्।
चित्तं निर्विषयं नित्यमसङ्गं तेन कीर्तितम् ॥72॥

चित्त का स्पन्दन ही ग्राह्य-ग्राहकभाव रूप द्वैतभाव है। चित्त तो पारमार्थिक रूप से निर्विषय ही है। इसीलिए तो उसे नित्य और असंग कहा जाता है।

योऽस्ति कल्पितसंवृत्या परमार्थेन नास्त्यसौ।
परतन्त्राभिसंवृत्या स्यान्नास्ति परमार्थतः ॥73॥

जो वस्तु लौकिक व्यवहार के लिए (उपयोग के लिए) मन में कल्पित है, वह पारमार्थिक रूप से तो है ही नहीं। यदि अन्य शास्त्रों (द्वैतशास्त्रों) के लिए वह भले ही उपयोगी हो, पर पारमार्थिक रूप में वह नहीं है।

अजः कल्पितसंवृत्या परमार्थेन नाप्यजः।
परतन्त्राभिनिष्पत्त्या संवृत्या जायते तु सः ॥74॥

आत्मा भी कल्पित भौतिक दृष्टि से 'अज' कहा गया है, वास्तविक रूप से तो उसे 'अज' भी नहीं कहा जा सकता। अन्य द्वैतवादी शास्त्रों के अनुसार अज्ञान से ही वह उत्पन्न हुआ-सा होता है।

अभूताभिनिवेशोऽस्ति द्वयं तत्र न विद्यते।
द्वयाभावं स बुद्ध्वैव निर्निमित्तो न जायते ॥75॥

मनुष्य को अभूत (असत्य) में अभिनिवेश है, अर्थात् सत्य मानने का भ्रम हो गया है, सचमुच वहाँ द्वैत नहीं होता। जीवात्मा वास्तविक रूप में द्वैत के अभाव को जानकर ही धर्माधर्मादि निमित्त से रहित होकर फिर से यहाँ उत्पन्न नहीं होता।

यदा न लभते हेतूनुत्तमाधममध्यमान्।
तदा न जायते चित्तं हेत्वभावे फलं कुतः ॥76॥

जब उत्तम, मध्यम या कनिष्ठ हेतुओं के (कारणों के) निमित्त की कोई गुंजाइश ही न हो, तब मनुष्य जन्म नहीं लेता। क्योंकि जब कारण ही नहीं है तो फल (कार्य) कैसे बन सकेगा?

अनिमित्तस्य चित्तस्य याऽनुत्पत्तिः समाऽद्वया।
अजातस्यैव सर्वस्य चित्तदृश्यं हि तद्यतः ॥77॥

निमित्तरहित चित्त की जन्मरहितता समान और अद्वैत होती है। सभी जन्मरहित पदार्थों का ऐसा ही है। क्योंकि वह सब चित्त के ही दृश्य हैं।

बुद्ध्वाऽनिमित्ततां सत्यां हेतुं पृथगनाप्नुवन्।
वीतशोकं तथाकाममभयं पदमश्नुते ॥78॥

सब पदार्थों की पारमार्थिक (सत्य) नियमरहितता को पहचान कर उसके किसी भी कारण को नहीं मानता हुआ मनुष्य शोकरहित, कामरहित होकर अभयपद को प्राप्त कर लेता है।

अभूताभिनिवेशाद्धि सदृशे तत्प्रवर्तते।
वस्त्वभावं स बुद्ध्वैव निःसङ्गं विनिवर्तते ॥79॥

यह चित्त अभूत (असत् = द्वैत) के अभिनिवेश (आसक्ति) से डूब गया हो, तब तो वह चित्त उसी द्वैत में (भ्रम में) प्रवर्तमान होता रहेगा। परन्तु मनुष्य जब उसमें पारमार्थिकता का अभाव जान लेगा, तब आसक्तिरहित होकर एकदम उससे अलग हो जाएगा।

निवृत्तस्याप्रवृत्तस्य निश्चला हि तदा स्थितिः ।
विषयः स हि बुद्धानां तत्साम्यमजमद्वयम् ॥80॥

इस प्रकार विषयों से निवृत्त होकर, प्रवृत्तिभाव की मन:स्थिति को छोड़कर रहनेवाले मनुष्य की स्थिति निश्चल होती है और वही स्थिति ज्ञानियों का विषय होती है। वह जन्मरहित, समरस और अव्यय है।

अजमनिद्रमस्वप्नं प्रभातं भवति स्वयम् ।
सकृद्विभातो ह्येवैष धर्मो धातुस्वभावतः ॥81॥

यह आत्मा जन्मरहित, स्वप्नरहित, निद्रारहित और स्वयंप्रकाश है। यह धर्म (आत्मा) अपने मूल स्वभाव से ही सर्वदा प्रकाशवान रहता है।

सुखमाव्रियते नित्यं दुःखं विव्रियते सदा ।
यस्य कस्य च धर्मस्य ग्रहेण भगवानसौ ॥82॥

यदि तुम किसी और वस्तु को चाहना शुरू करो तो वह चिरकाल तक आत्मा को आवृत ही करती रहेगी। पर अगर तुम आत्मा को देखना चाहते हो तो तुम्हें बहुत परिश्रम करना पड़ेगा। ("यस्य कस्यचन धर्मस्य ग्रहेण असौ भगवान् सदा सुखम् आव्रियते, दुःखं विव्रियते" अर्थात् जिस किसी धर्म के ग्रहण से यह भगवान सरलता से छिपाया जाता है और मुश्किल से प्रकट किया जा सकता है)।

अस्ति नास्त्यस्ति नास्तीति नास्ति नास्तीति वा पुनः ।
चलस्थिरोभयाभावैरावृणोत्येव बालिशः ॥83॥

'है' (वैशेषिक), 'नहीं है' (योगाचार), 'है भी और नहीं भी' (जैन), 'नहीं है, नहीं है' (शून्यवादी बौद्ध)—इस प्रकार आत्मा के विषय में चल, स्थिर या उभय भावों से कल्पना करके मूढ लोग आत्मा को ढँक ही देते हैं।

कोट्यश्चतस्र एतास्तु ग्रहैर्यासां सदावृतः ।
भगवानाभिरस्पृष्टो येन दृष्टः स सर्वदृक् ॥84॥

ऊपर की बालिशों की चार कोटियों से आवृत इस भगवान् को जिसने कोटियों से मुक्त स्वरूप में देख लिया है, वह सर्वद्रष्टा है।

प्राप्य सर्वज्ञतां कृत्स्नां ब्राह्मण्यं पदमद्वयम् ।
अनापन्नादिमध्यान्तं किमतः परमीहते ॥85॥

संपूर्ण सर्वज्ञानस्वरूप परम अद्वैत, आदि-मध्य-अन्तरहित ब्रह्मपद की जब प्राप्ति हो गई तब इससे और अधिक क्या हो सकता है ?

विप्राणां विनयो ह्येष शमः प्राकृत उच्यते ।
दमः प्रकृतिदान्तत्वादेवं विद्वाञ्शमं व्रजेत् ॥86॥

वह परमपदस्थिति विप्रों का विनय है, वही उनका सहज 'शम' है। उनकी सहज जितेन्द्रियता ही उनका 'दम' है। इस प्रकार ज्ञानी शम (शान्ति) को प्राप्त करे।

सवस्तु सोपलम्भं च द्वयं लौकिकमिष्यते ।
अवस्तु सोपलम्भं च शुद्धं लौकिकमिष्यते ॥87॥

वस्तु का होना और उसका ग्रहण होना—ये दो भौतिक वास्तविकता जाग्रदवस्था कहलाती है, और वस्तु के न होने पर भी उसका ग्रहण हो, तो ये दो बातें शुद्ध लौकिक (स्वप्न) कहलाती हैं।

अवस्त्वनुपलम्भं च लोकोत्तरमिति स्मृतम् ।
ज्ञानं ज्ञेयं च विज्ञेयं सदा बुद्धैः प्रकीर्तितम् ॥88॥

जहाँ पदार्थ का अस्तित्व ही नहीं होता और उसकी उपलब्धि भी नहीं होती, ऐसी अवस्था को 'लोकोत्तर' (भौतिक जगत् के परे की) सुषुप्ति अवस्था कहा गया है। ज्ञानी लोगों ने (तीनों अवस्थाओं को परखकर) जो सदैव ज्ञान, ज्ञेय और विशेषज्ञेय है (जो तुरीय है) उसकी प्रसिद्धि की है।

ज्ञाने च त्रिविधे ज्ञेये क्रमेण विदिते स्वयम् ।
सर्वज्ञता हि सर्वत्र भवतीह महाधियः ॥89॥

जब भौतिक ज्ञान और तीनों अवस्थाओं का ज्ञान मनुष्य को हो जाता है, तब वह बुद्धिमान् व्यक्ति इसी जन्म में सभी विषयों में सर्वज्ञता प्राप्त कर लेता है।

हेयज्ञेयाप्यपाक्यानि विज्ञेयान्यग्रयाणतः ।
तेषामन्यत्र विज्ञेयादुपलम्भस्त्रिषु स्मृतः ॥90॥

जाग्रदादि अवस्थारूप त्याज्य, आत्मरूप ज्ञेय, पाण्डित्यादि रूप प्राप्य और मल आदि पाक्य (पकाकर नाश किए जाने वाले)—इन सबको सबसे पहले जान लेना चाहिए। परन्तु विज्ञेय (आत्मा) के सिवा बाकी के तीनों में जो ग्रहण होता है, वह तो उपलम्भ (मिथ्या = दिखावे मात्र का अस्तित्व) ही होता है।

प्रकृत्याकाशवज्ज्ञेयाः सर्वे धर्मा अनादयः ।
विद्यते न हि नानात्वं तेषां क्वचन किञ्चन ॥91॥

सभी आत्मा (जीवात्मा) आकाश जैसा ही निर्लेप है और सभी अनादि (अजन्मा) ही है। उनमें नानात्वं (भिन्नता) नहीं है अर्थात् कहीं भी किसी भी प्रकार का भेद नहीं है।

आदिबुद्धाः प्रकृत्यैव सर्वे धर्माः सुनिश्चिताः ।
यस्यैवं भवति क्षान्तिः सोऽमृतत्वाय कल्पते ॥92॥

सभी आत्मा स्वरूप से ही पूर्णज्ञानरूप हैं, यह निश्चित किया गया है। जो साधक निश्चित रूप से यह जान लेता है, वह अमरत्व (मोक्ष) को प्राप्त कर लेता है।

आदिशान्ता ह्यनुत्पन्नाः प्रकृत्यैव सुनिर्वृताः ।
सर्वे धर्माः समाभिन्ना अजं साम्यं विशारदम् ॥93॥

सभी जीवात्मा पहले से ही नित्य, निरन्तर, शान्त, जन्मरहित, स्वभाव से ही वृत्तिरहित, समान, अभिन्न और अज-साम्य (विशुद्ध आत्मतत्त्व) ही हैं।

वैशारद्यं तु वै नास्ति भेदे विचरतां सदा ।
भेदनिम्नाः पृथग्वादास्तस्मात्ते कृपणाः स्मृताः ॥94॥

सर्वदा भेदभाव में ही रममाण लोगों को किसी काल में विशुद्धि प्राप्त नहीं होती। भेदवादी लोग भिन्नता की ओर ही जाया करते हैं, इसलिए वे कृपण कहे जाते हैं।

अजे साम्ये तु ये केचिद्भविष्यन्ति सुनिश्चिताः।
ते हि लोके महाज्ञानास्तच्च लोको न गाहते ।।95।।

यदि कोई मनुष्य उस जन्मरहित साम्य में दृढ निश्चयवाले होंगे, तो वे ही इस जगत् में बड़े ज्ञानी माने जाएँगे। क्योंकि इस आत्मज्ञान में सामान्य लोगों की बुद्धि तो चलती नहीं है।

अजेष्वजमसङ्क्रान्तं धर्मेषु ज्ञानमिष्यते।
यतो न क्रमते ज्ञानमसङ्गं तेन कीर्तितम् ।।96।।

जन्मरहित जीवात्माओं में जन्मरहित (अनादि) ज्ञान का उचित मेल बैठता है (ऐसा ज्ञान असंक्रान्त = अमिश्रित = विशुद्ध ही है)। क्योंकि ऐसा ज्ञान अन्यत्र कहीं प्रवर्तमान नहीं होता। इसीलिए उसे असंग कहा गया है।

अणुमात्रेऽपि वैधर्म्ये जायमाने विपश्चितः।
असङ्गता सदा नास्ति किमुतावरणच्युतिः ।।97।।

द्वैतमतानुसार आत्मा में यदि लेशमात्र भी वैधर्म्य (परिवर्तन) हो, तो वहाँ आत्मा की असंगता का मेल नहीं बैठेगा। और जब आत्मा असंग नहीं रहा, तब तो माया के आवरण को हटाने की बात ही कहाँ रही?

अलब्धावरणाः सर्वे धर्माः प्रकृतिनिर्मलाः।
आदौ बुद्धास्तथा मुक्ता बुध्यन्त इति नायकाः ।।98।।

सभी जीवात्मा आवरणहीन तथा स्वभाव से ही विशुद्ध हैं। सदैव वे ज्ञानस्वरूप हैं, सदैव वे मुक्त ही हैं। ज्ञानी लोग कहते हैं कि उन्हें जाना जा सकता है।

क्रमते न हि बुद्धस्य ज्ञानं धर्मेषु तायिनः।
सर्वे धर्मास्तथा ज्ञानं नैतद्बुद्धेन भाषितम् ।।99।।

परमार्थदर्शी ज्ञानी का ज्ञान कभी किसी भी जीवात्मा में (जीवात्माओं में) संक्रान्त नहीं होता और सभी जीवात्मा और ज्ञान तो नित्य है (तायिनः = नित्याः)। बुद्ध ने इस नित्यता की बात नहीं कही है।

दुर्दर्शमतिगम्भीरमजं साम्यं विशारदम्।
बुद्ध्वा पदमनानात्वं नमस्कुर्मो यथाबलम् ।।100।।

यह परमार्थतत्त्व बड़ा दुर्विज्ञेय है, बड़ा गहन है, जन्म (आदि) रहित है, सर्वत्र समरस है, परमशुद्ध है; ऐसे अद्वैत पद को जानकर हम उसे यथाशक्ति नमस्कार करते हैं।

अलातशान्ति-प्रकरण समाप्त।

माण्डूक्यकारिका सहित माण्डूक्योपनिषद् यहाँ समाप्त होती है।

❋

(7) तैत्तिरीयोपनिषत्

(उपनिषत्परिचय)

यजुर्वेद सामान्यतया वैदिक विधियों का सन्दर्भ-ग्रन्थ माना जाता है। यजुर्वेद की दो शाखाएँ हैं—कृष्णयजुर्वेद और शुक्लयजुर्वेद। कृष्णयजुर्वेद को तैत्तिरीय भी कहा जाता है। अन्य वेदों की तरह इस शाखा के भी ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषद् ग्रन्थ हैं। इस वेद के आरण्यक के 7 से 9 प्रकरणों में यह उपनिषद् समायी है। और इसका दसवाँ प्रकरण सुप्रसिद्ध महानारायणोपनिषद् (याज्ञिकी उपनिषद्) है। तैत्तरीयोपनिषद् में गृहीत तीन प्रकरणों का नाम (1) शीक्षावल्ली, (2) ब्रह्मानन्दवल्ली और (3) भृगुवल्ली है।

शीक्षावल्ली में बारह अनुवाक (उपविभाग) हैं, ब्रह्मानन्दवल्ली में उन्नीस अनुवाक हैं और भृगुवल्ली में दस अनुवाक हैं। कुल एकतालीस अनुवाक हैं और प्रत्येक अनुवाक में कुछ गद्य-कण्डिकाएँ होती हैं।

'तैत्तिरीय' नाम के पीछे एक किंवदन्ती है कि—एक बार याज्ञवल्क्य ने अपने गुरु वैशम्पायन का कुछ अपराध किया। यों तो याज्ञवल्क्य बड़े बुद्धिमान मेधावी युवा छात्र थे पर अभिमानवश उनसे कुछ अपराध हो गया और गुरु ने क्रुद्ध होकर कहा—"मेरा दिया सब ज्ञान मुझे वापिस दे दो।" याज्ञवल्क्य ने वमन करके गुरु से लिया हुआ ज्ञान वापिस कर दिया। पर वह ज्ञान पवित्र, मूल्यवान और गूढ था, वह व्यर्थ नहीं जाना चाहिए, इसलिए वैशम्पायन ने अपने शिष्यों को उसे निगल जाने को कहा। शिष्यों ने तित्तर का रूप धारण कर उसे निगल लिया। इस किंवदन्ती का तात्पर्य यह है कि ज्ञान हमेशा आत्मस्वरूप होने से विशुद्ध ही है। ज्ञान की कभी उपेक्षा नहीं करनी चाहिए। किसी भी उपाय से उसका रक्षण करना चाहिए।

तैत्तिरीय उपनिषद् कृष्णयजुर्वेद से सम्बद्ध है और कृष्ण का अर्थ तो काला या अशुद्ध होता है, पर बात यह है कि ज्ञान कभी अशुद्ध नहीं होता। ज्ञान का अधिष्ठान (आश्रय) काला हो सकता है। यहाँ तित्तरों ने जिस वमन किए हुए ज्ञान को निगलकर बाद में अन्यों को दिया, उसे वैशम्पायन ने 'कृष्ण' (मैला-काला) कहा, क्योंकि शिष्य स्वयं अशुद्ध थे। फिर भी याज्ञवल्क्य उनमें अपवाद थे। वेदों के ज्ञान के लिए उन्होंने सूर्योपासना की और सूर्य की तरह प्रकाशित हो उठे। फिर सूर्य की कृपा से उन्होंने जो ज्ञान प्राप्त किया वही 'शुक्ल' (शुद्ध) कहा गया।

पहली शीक्षावल्ली उच्चारण (शुद्ध उच्चारण) विषयक है। योग्य उच्चारण नहीं करने से अर्थ का अनर्थ हो जाता है। कण्ठोपकण्ठ से जतन किए गए वेद साहित्य में शुद्ध उच्चारण का बड़ा महत्त्व था। आज तक मंत्रोच्चारण में वह परंपरा चालू रही है। साथ-ही-साथ यह वल्ली प्रार्थना या उपासना की विधि भी बताती है। उपासक के हाथ-पैर-आँखें आदि के स्थान

तथा विधि भी दी गई। उपासना का फल भी तत्तत् स्थान पर बताया गया है। शरीर - मन के संयम पर जोर दिया गया है।

इस शीक्षावल्ली में ओम् को ब्रह्म का प्रतीक मानकर उसे सबमें ओत-प्रोत माना है। अन्य उपासनाएँ, शिष्योपदेश, मोक्षमीमांसा आदि अनेक विषय हैं।

दूसरी ब्रह्मानन्दवल्ली में पाँच कोशों का वर्णन किया गया है। सब कोशों की महिमा भी बताई गई है। ब्रह्म को सत् और असत् मानने वालों का भेद भी दिखाया गया है। ब्रह्म और ब्रह्मवेत्ता का वर्णन किया गया है। ब्रह्मानन्द प्राप्त करने वालों की अभय प्राप्ति का वर्णन किया गया है।

तीसरी भृगुवल्ली है। इसमें भृगु को उसके पिता द्वारा दिए गए ब्रह्मोपदेश का वर्णन है। भृगु अपने पिता के पास बार-बार जाकर क्रमशः ब्रह्म का ज्ञान प्राप्त करते हैं—प्राण, मन, विज्ञान, आनन्द और अन्त में अपार ब्रह्म पर जाकर भृगु की ज्ञानयात्रा स्थिर होती है। किस-किस रूप की उपासना से किस-किस प्रकार का फल मिलता है, वह भी बताया गया है।

शान्तिपाठः

ॐ शं नो मित्रः शं वरुणः। शं नो भवत्वर्यमा। शं नो इन्द्रो बृहस्पतिः। शं नो विष्णुरुरुक्रमः। नमो ब्रह्मणे। नमस्ते वायो। त्वमेव प्रत्यक्षं ब्रह्मासि। त्वमेव प्रत्यक्षं ब्रह्म वदिष्यामि। ऋतं वदिष्यामि। सत्यं वदिष्यामि। तन्मामवतु। तद्वक्तारमवतु। अवतु माम्। अवतु वक्तारम्।
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः॥

नोट—इसका हिन्दी रूपान्तर अगले मन्त्र में दिया गया है।

ॐ सह नाववतु। सह नौ भुनक्तु। सह वीर्यं करवावहै।
तेजस्विनावधीतमस्तु मा विद्विषावहै।
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः॥

नोट—इसका हिन्दी रूपान्तर आगे ब्रह्मानन्दवल्ली के शान्तिपाठ में दिया गया है।

शीक्षावल्ली (1)

प्रथमोऽनुवाकः

ॐ शं नो मित्रः शं वरुणः। शं नो भवत्वर्यमा। शं न इन्द्रो बृहस्पतिः। शं नो विष्णुरुरुक्रमः। नमो ब्रह्मणे। नमस्ते वायो। त्वमेव प्रत्यक्षं ब्रह्मासि। त्वामेव प्रत्यक्षं ब्रह्म वदिष्यामि। ऋतं वदिष्यामि। सत्यं वदिष्यामि। तन्मामवतु। तद्वक्तारमवतु। अवतु माम्। अवतु वक्तारम्।
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः॥1॥

इति प्रथमोऽनुवाकः॥1॥

हमारे लिए मित्र (सूर्य) सुखकर हो, वरुण हमारे लिए सुखदायी हो, हमारे लिए अर्यमा सुखकर हो, हमारे लिए इन्द्र और बृहस्पति शान्तिदायक हों। हमारे लिए बलवान कदमों वाले विष्णु सुखकर हो। ब्रह्मरूप वायु को नमस्कार, हे वायु तुमको नमस्कार! तुम्हीं प्रत्यक्ष ब्रह्म हो, इसलिए तुम्हें ही मैं प्रत्यक्ष ब्रह्म कहूँगा। तुम्हीं को मैं शास्त्रोक्त निश्चित अर्थ कहूँगा। तुम्हीं को मैं सत्य के रूप में उद्घोषित करूँगा। तुम मेरी रक्षा करो और मेरे उपदेशक की भी रक्षा करो। रक्षा करो, मेरी रक्षा करो, वक्ता की भी रक्षा करो। आध्यात्मिक, आधिभौतिक तथा आधिदैविक—तीनों प्रकार के तापों की शान्ति हो। (यहाँ प्रथम अनुवाक पूरा होता है)।

द्वितीयोऽनुवाकः

ॐ शीक्षां व्याख्यास्यामः। वर्णः स्वरः। मात्रा बलम्। साम सन्तानः। इत्युक्तः शीक्षाध्यायः॥1॥

इति द्वितीयोऽनुवाकः॥2॥

अब हम शिक्षा की—उच्चारणशास्त्र की व्याख्या करेंगे। इसमें अकारादि वर्ण, उदात्तादि स्वर, ह्रस्वादि मात्रा, शब्दोच्चारण में आवश्यक प्राण का प्रधान रूप बल, नियमानुसार उचारण की पद्धति रूप साम तथा सन्तान (संहिता-सन्धि) आदि विषय सीखने योग्य हैं। इसे शीक्षाध्याय कहा गया है। (यहाँ दूसरा अनुवाक पूरा हुआ)।

तृतीयोऽनुवाकः

सह नौ यशः। सह नौ ब्रह्मवर्चसम्। अथातः संहिताया उपनिषदं व्याख्यास्यामः। पञ्चस्वधिकरणेषु। अधिलोकमधिज्योतिषमधिविद्यमधिप्रजमध्यात्मम्। ता महासंहिता इत्याचक्षते। अथाधिलोकम्। पृथिवी पूर्वरूपम्। द्यौरुत्तररूपम्। आकाशः सन्धिः। वायुः सन्धानम्। इत्यधिलोकम्॥1॥

हम दोनों को (गुरु और शिष्य को) एक साथ ही यश प्राप्त हो। और हम दोनों को एक साथ ही ब्रह्मतेज की प्राप्ति हो। (क्योंकि शास्त्राध्ययन से परिमार्जित बुद्धि वाले लोग भी परमार्थ तत्त्व को समझने में सहसा समर्थ नहीं होते, अतः) हम अब पाँच अधिकरणों में संहिता के उपनिषद् (अर्थात् संहिता—सन्धि सम्बन्धी तात्त्विक उपासना) की व्याख्या करेंगे। ये पाँच अधिकरण हैं—(1) अधिलोक, (2) अधिज्यौतिष, (3) अधिविध, (4) अधिप्रज और (5) अध्यात्म। इन पाँचों अधिकरणों को विद्वान् लोग महासंहिता कहते हैं। इन अधिकरणों में से पहले हम अधिलोक सम्बन्धी उपासना की बात करेंगे। संहिता का प्रथम वर्ण पृथिवी है, अन्तिम वर्ण द्युलोक है, सन्धिभाग आकाश है और वायु सन्धान (जोड़नेवाला) है। (अर्थात् 'अधिलोक' की उपासना करनेवाले मनुष्य को पूर्वोक्त संहिता में इस प्रकार की दृष्टि करनी चाहिए)। इस प्रकार यह 'अधिलोक का दर्शन' कहा गया।

अथाधिज्यौतिषम्। अग्निः पूर्वरूपम्। आदित्य उत्तररूपम्। आपः सन्धिः। वैद्युतः सन्धानम्। इत्यधिज्यौतिषम्।

अधिलोक की उपासना के बाद अब अधिज्यौतिष दर्शन कहा जाता है। इस उपासना में संहिता का प्रथम वर्ण अग्नि है, अन्तिम वर्ण सूर्य, सन्धिभाग जल है, विद्युत् सन्धान (जोड़नेवाला) है

(अधिज्यौतिष के उपासक को संहिता में इस प्रकार की दृष्टि रखनी चाहिए)। इस प्रकार यहाँ 'अधिज्यौतिष दर्शन' कहा गया।

अथाधिविद्यम्। आचार्यः पूर्वरूपम्। अन्तेवास्युत्तररूपम्। विद्या सन्धिः। प्रवचनꣳ सन्धानम्। इत्यधिविद्यम् ॥2॥

ज्योतिविषयक दर्शन के बाद अब विद्याविषयक दर्शन (उपासना) कहा जाता है। यहाँ इस संहिता का प्रथम वर्ण आचार्य है। अन्तिम वर्ण अन्तेवासी (शिष्य) है। दोनों के मिलन से उद्भूत विद्या ही सन्धि (जोड़नेवाली) है और प्रवचन (परिप्रश्न-उत्तर) आदि सन्धान (जोड़ने का साधन) है। इस प्रकार विद्याविषयक संहिता कही गई है।

अथाधिप्रजम्। माता पूर्वरूपम्। पितोत्तररूपम्। प्रजा सन्धिः। प्रजननꣳ सन्धानम्। इत्यधिप्रजम् ॥3॥

जब प्रजाविषयक दर्शन कहा जाता है। इस उपासनादर्शन में माता संहिता का प्रथम वर्ण है। पिता अन्तिम वर्ण है। प्रजा (सन्तति) उन दोनों को जोड़नेवाली सन्धि है। प्रजनन (शास्त्रविहित काल का स्त्रीसंभोग) सन्धान (जोड़ने का साधन) है। इस प्रकार प्रजा सम्बन्धी संहिता का रहस्य यहाँ बताया गया है।

अथाध्यात्मम्। अधरा हनुः पूर्वरूपम्। उत्तरा हनुरुत्तररूपम्। वाक् सन्धिः। जिह्वा सन्धानम्। इत्यध्यात्मम्।

इसके बाद अब इस पंचाधिकरणी संहिता के पाँचवें अध्यात्माधिकरण का (आत्मविषयक संहिता अर्थात् उसके रहस्य का) वर्णन किया जाता है—यहाँ इस संहिता में प्रथम वर्ण नीचे का जबड़ा है और अन्तिम वर्ण ऊपर का जबड़ा है। इन दोनों के मिलने से उत्पन्न हुई वाणी यहाँ सन्धि है। और जीभ वाणी की उत्पत्ति का कारण (साधन) है। इस प्रकार यहाँ अध्यात्मविषयक संहिता कही गई।

इतीमा महासꣳहिताः। य एवमेता महासꣳहिता व्याख्याता वेद। सन्धीयते प्रजया पशुभिः। ब्रह्मवर्चसेनान्नाद्येन सुवर्ग्येण लोकेन ॥4॥

इति तृतीयोऽनुवाकः ॥3॥

इस तरह ये महासंहिताएँ कही जाती हैं। जो मनुष्य ऊपर वर्णित की गई इन महासंहिताओं की उपासना की पद्धति और रहस्य को जान लेता है और उसका अनुष्ठान करता है, वह मनुष्य प्रजा, ब्रह्मतेज, अन्नादि सम्पत्ति और स्वर्ग को प्राप्त कर लेता है। (यहाँ तीसरा अनुवाक पूरा हुआ)।

चतुर्थोऽनुवाकः

यश्छन्दसामृषभो विश्वरूपः। छन्दोभ्योऽध्यमृतात्सम्बभूव। स मेन्द्रो मेधया स्पृणोतु। अमृतस्य देवधारणो भूयासम्। शरीरं मे विचर्षणम्। जिह्वा मे मधुमत्तमा। कर्णाभ्यां भूरि विश्रुवम्। ब्रह्मणः कोशोऽसि मेधया पिहितः। श्रुतं मे गोपाय ॥1॥

जो वेदों में सर्वश्रेष्ठ है, जो सर्वरूप है, जो वेदरूपी अमृत से उत्पन्न हुआ है, वह ओंकाररूप परमात्मा मुझे मेधा (विश्लेषक तीक्ष्ण बुद्धि) से प्रसन्न (बलिष्ठ) बना दे। हे देव! मैं अमृतत्व को (ब्रह्मज्ञान को) धारण करनेवाला हो जाऊँ। मेरा शरीर विशेष स्फूर्तिवाला हो, मेरी जिह्वा अत्यन्त

मधुरभाषिणी हो, मैं अपने कानों से बहुत सुनता रहूँ। हे ओंकार! तुम तो ब्रह्म का कोश (खजाना) हो। तुम लौकिक बुद्धि से आवृत हुए हो, इसलिए पहचाने नहीं जाते हो। मेरे द्वारा सुनी गई विद्या का तुम रक्षण करो।

आवहन्ती वितन्वाना। कुर्वाणा चीरमात्मनः। वासाꣳसि मम गावश्च। अन्नपाने च सर्वदा। ततो मे श्रियमावह। लोमशां पशुभिः सह स्वाहा। आमायन्तु ब्रह्मचारिणः स्वाहा। विमायन्तु ब्रह्मचारिणः स्वाहा। प्रमायन्तु ब्रह्मचारिणः स्वाहा। दमायन्तु ब्रह्मचारिणः स्वाहा। शमायन्तु ब्रह्मचारिणः स्वाहा ॥2॥

हे (अग्नि के अधिष्ठाता) देव! मेरे लिए आवश्यकता पड़ने पर तुरन्त ही तरह-तरह के वस्त्र, गायें, खाद्यान्न सामग्री—ऐसी-ऐसी बहुत-सी चीजें ला देने वाली और उन्हें बढ़ानेवाली तथा बनानेवाली 'श्री' को ला दो। जो रोमवाले पशु आदि हमें प्राप्त कराएँ। इस उद्देश्य से आपको यह आहुति दी जाती है। ब्रह्मचारी (विद्यार्थी) मेरे पास आएँ, वे निष्कपट हों, वे प्रामाणिक और ज्ञानधारक हों, वे इन्द्रियों का संयम करनेवाले हों, वे मन को वश में करनेवाले हों—इन सबके लिए ये पाँच आहुतियाँ दी जाती हैं (यहाँ एक-एक उद्देश्य के लिए एक-एक आहुति है)।

यशो जनेऽसानि स्वाहा। श्रेयान् वस्यसोऽसानि स्वाहा। तं त्वा भग प्रविशानि स्वाहा। स मा भग प्रविश स्वाहा। तस्मिन् सहस्रशाखे निभगाहं त्वयि मृजे स्वाहा। यथाऽपः प्रवता यन्ति। यथा मासा अहर्जरम्। एवं मा ब्रह्मचारिणः। धातरायान्तु सर्वतः स्वाहा। प्रतिवेशोऽसि प्रमा भाहि प्रमा पद्यस्व ॥3॥

इति चतुर्थोऽनुवाकः ॥4॥

मैं लोगों में यशस्वी होऊँ। मैं बहुत ही प्रशस्य और धनवान बनूँ। हे भगवन्! मैं ब्रह्मकोशरूप आप में समा जाऊँ। और हे भगवन्, तुम भी मुझमें समा जाओ। हे भगवन्, हजारों शाखावाले तुममें ध्यान के द्वारा निमग्न होकर मैं अपने आपको विशुद्ध कर लूँ। (तत्तद् उद्देश्यों से ये आहुतियाँ दी जाती हैं)। जिस प्रकार नदी आदि का समग्र जलप्रवाह निम्न स्तर पर होकर सागर से मिल जाता है, और जिस तरह दिनों को निगलने वाले महीने वर्ष में समा जाते हैं, ठीक इसी तरह हे विधाता! इसी तरह मेरे पास चारों ओर से ब्रह्मचारी आते रहें, और मैं उन्हें विद्या देता रहूँ। तुम सबके विश्रामस्थल हो। मेरे लिए तुम प्रकाशित हो। मुझे तुम प्राप्त हो जाओ। (इन सभी प्रत्येक उद्देश्य के लिए एक-एक आहुति देनी चाहिए।) (यहाँ चौथा अनुवाक पूरा हुआ।)

पञ्चमोऽनुवाकः

भूर्भुवः सुवरिति वा एतास्तिस्रो व्याहृतयः। तासामु ह स्मैतां चतुर्थीम्। महाचमस्यः प्रवेदयते। मह इति। तद्ब्रह्म। स आत्मा। अङ्गान्यन्या देवताः। भूरिति वा अयं लोकः। भुव इत्यन्तरिक्षम्। सुवरित्यसौ लोकः। मह इत्यादित्यः। आदित्येन वाव सर्वे लोका महीयन्ते ॥1॥

भूः, भुवः और सुवः—ये तीन व्याहृतियाँ तो प्रसिद्ध हैं। इन तीनों से भिन्न चौथी व्याहृति 'महः' है। उसको महाचमस के पुत्र ने सर्वप्रथम जाना था। चौथी व्याहृति ही ब्रह्म है। वह सभी व्याहृतियों

का आत्मा है। अन्य देवता उसके अंग हैं। 'भू' व्याहति पृथ्वी लोक है, 'भुवः' व्याहति अन्तरिक्ष है और 'सुवः' यह प्रसिद्ध स्वर्गलोक है। 'महः' सूर्य है, क्योंकि सूर्य से सब लोक वृद्धि प्राप्त करते हैं।

भूरिति वा अग्निः। भुव इति वायुः। सुवरित्यादित्य। मह इति चन्द्रमाः। चन्द्रमसा वाव सर्वाणि ज्योतीꣳषि महीयन्ते। भूरिति वा ऋचः। भुव इति सामानि। सुवरिति यजूꣳषि ॥2॥

अथवा 'भू' व्याहति अग्नि है, 'भुवः' व्याहति वायु है, 'सुवः' व्याहति सूर्य और 'महः' व्याहति चन्द्रमा है। क्योंकि चन्द्र से ही सब ज्योतियाँ वृद्धि को प्राप्त करती हैं। अथवा तो 'भूः' व्याहति ही ऋग्वेद है, 'भुवः' ही सामवेद है, 'सुवः' ही यजुर्वेद है।

'मह' इति ब्रह्म। ब्रह्मणा वाव सर्वे वेदा महीयन्ते। भूरिति वै प्राणः। भुव इत्यपानः। सुवरिति व्यानः। मह इत्यन्नम्। अन्नेन वाव सर्वे प्राणा महीयन्ते। ता वा एताश्चतस्रश्चतुर्धा। चतस्रश्चतस्रो व्याहृतयः। ता यो वेद। स वेद ब्रह्म। सर्वेऽस्मै देवा बलिमावहन्ति ॥3॥

इति पञ्चमोऽनुवाकः ॥5॥

यह 'महः' ब्रह्म है क्योंकि ब्रह्म से ही सब वेद वृद्धि प्राप्त करते हैं। यह 'भूः' की व्याहति ही प्राण है, 'भुवः' यह अपान है, 'सुवः' यह व्यान है, 'महः' यह अन्न है। अन्न से ही ये सभी प्राण वृद्धि प्राप्त करते हैं (तृप्त होते हैं; अर्थात् ये तीन व्याहतियाँ मानो प्राण ही हैं और महः = अन्न चौथी व्याहति है)। ये चार व्याहतियाँ चार-चार प्रकार (कुल सोलह प्रकार) की हैं। जो उन्हें तत्त्वतः जानता है, वह ब्रह्म को जानता है। ऐसे ब्रह्मवेत्ता को सभी देव बलि (भेंट) उपहार देते हैं। (यहाँ पाँचवाँ अनुवाद पूरा हुआ।)

षष्ठोऽनुवाकः

स य एषोऽन्तर्हृदय आकाशः। तस्मिन्नयं पुरुषो मनोमयः। अमृतो हिरण्मयः। अन्तरेण तालुके। य एष स्तन इवावलम्बते। सेन्द्रयोनिः। यत्रासौ केशान्तो विवर्तते। व्यपोह्य शीर्षकपाले। भूरित्यग्नौ प्रतितिष्ठति। भुव इति वायौ ॥1॥

इस हृदय में पूर्वोक्त जो यह आकाश है, उसमें यह विशुद्ध प्रकाशमय अविनाशी मनोमय पुरुष रहता है। दोनों तालुओं के बीच जो यह स्तन जैसा लटक रहा है, इसके भी भीतर जहाँ यह बालों का मूल स्थान (ब्रह्मरन्ध्र) स्थित है, वहाँ मस्तक के दोनों कपालों को भेद कर जो सुषुम्णा नाम की नाड़ी निकली है, वह इन्द्रयोनि (परमात्मा की प्राप्ति का द्वार) है। महापुरुष अन्तकाल में 'भूः' इस व्याहति के अर्थरूप अग्नि में स्थित होता है, और 'भुवः' इस व्याहति के अर्थरूप वायु देवता में स्थित होता है।

सुवरित्यादित्ये। मह इति ब्रह्मणि। आप्नोति स्वाराज्यम्। आप्नोति मनसस्पतिम्। वाक्पतिश्चक्षुष्पतिः। श्रोत्रपतिर्विज्ञानपतिः। एतत्ततो भवति। आकाशशरीरं ब्रह्म। सत्यात्म प्राणारामं ब्रह्म आनन्दम्। शान्तिसमृद्धममृतम्। इति प्राचीनयोग्योपास्स्व ॥2॥

इति षष्ठोऽनुवाकः ॥6॥

उसके बाद वह महापुरुष 'स्वः' इस व्याहति के अर्थरूप सूर्य में स्थित होता है। बाद में 'महः' इस व्याहति के अर्थरूप ब्रह्म में स्थित होता है। वह मनुष्य स्वाराज्य को प्राप्त कर लेता है। मन के स्वामी को प्राप्त कर लेता है। वह वाणी का स्वामी हो जाता है, वह नेत्रों का स्वामी हो जाता है, वह विज्ञान का स्वामी हो जाता है। वह पूर्वोक्त साधन के द्वारा इस फल को प्राप्त करता है। वह ब्रह्म आकाश की तरह ही निराकार और सर्वव्यापी है। वह एकमात्र सत्तारूप है। वह सभी इन्द्रियों को आराम देनेवाला, शान्ति से सम्पन्न और अविनाशी है। ऐसा मानकर, हे प्राचीनयोग्य शिष्य, तुम उसकी उपासना करो। (यहाँ छठाँ अनुवाक पूरा हुआ।)

सप्तमोऽनुवाकः

पृथिव्यन्तरिक्षं द्यौर्दिशोऽवान्तरदिशाः। अग्निर्वायुरादित्यश्चन्द्रमा नक्षत्राणि। आप ओषधयो वनस्पतय आकाश आत्मा। इत्यधिभूतम्। अथाध्यात्मम्। प्राणो व्यानोऽपान उदानः समानः। चक्षुः श्रोत्रं मनो वाक् त्वक्। चर्म माꣳसꣳ स्नावास्थिमज्जा। एतदधिविधाय ऋषिरवोचत्। पाङ्क्तं वा इदꣳ सर्वम्। पाङ्क्तेनैव पाङ्क्तꣳ स्पृणोतीति ॥1॥

इति सप्तमोऽनुवाकः ॥7॥

पृथ्वी, अंतरिक्ष, स्वर्ग, दिशाएँ, ईशानादि दिशाकोण—ये पाँच लोगों की आधिभौतिक पंक्ति है। अग्नि, वायु, सूर्य, चन्द्रमा और नक्षत्र—ये पाँच ज्योतिसमुदाय की पंक्ति है। जल, वनस्पति, औषधियाँ, आकाश और आत्मा (और उनका संधान रूप स्थूल शरीर) ये सब मिलकर स्थूल पदार्थों की पंक्ति है। इस प्रकार आधिभौतिक दृष्टि से वर्णन हुआ। अब आध्यात्मिक दृष्टि बताते हैं—प्राण, व्यान, अपान, उदान और समान—ये पाँचों प्राणों की पंक्ति है। चक्षु, श्रोत्र, मन, वाक् और त्वक्—यह करणों की पंक्ति है। त्वचा, मांस, स्नायु, अस्थि और मज्जा—यह शरीरगत धातु की पंक्ति है। इस तरह ठीक तरह से कल्पना करके ऋषि ने कहा कि यह सब पांक्त ही है। साधक (उपासक) आध्यात्मिक पांक्त से बाह्य पांक्त को और बाह्य से आध्यात्मिक पांक्त को पूर्ण करता है। (यहाँ सातवाँ अनुवाक पूर्ण हुआ।)

अष्टमोऽनुवाकः

ओमिति ब्रह्म। ओमितीदꣳसर्वम्। ओमित्येतदनुकृतिर्ह स्म वा अप्यो श्रावयेत्याश्रावयन्ति। ओमिति सामानि गायन्ति। ओꣳशोमिति शस्त्राणि शꣳसन्ति। ओमित्यध्वर्युः प्रतिगरं प्रतिगृणाति। ओमिति ब्रह्मा प्रसौति। ओमित्यग्निहोत्रमनुजानाति। ओमिति ब्राह्मणः प्रवक्ष्यन्नाह ब्रह्मोपाप्नवानीति। ब्रह्मैवोपाप्नोति ॥1॥

इत्यष्टमोऽनुवाकः ॥8॥

'ओम्' यह शब्दब्रह्म है, क्योंकि 'ॐ' सर्वरूप है। 'ॐ' यह अनुकृति (अनुकरण—सम्मति) हकारसूचक है, यह तो प्रसिद्ध है। यज्ञ करानेवाले लोग 'ॐ श्रावय' ऐसा कहकर ही बोलते हैं। ॐ बोलकर ही सामगान किया जाता है। 'ॐ शोम्' ऐसा बोलकर ही गतिहीन (अछांदस ?) ऋचाओं का पाठ किया जाता है। उध्वर्यु लोग प्रत्येक कर्म के प्रति 'ॐ' का उच्चारण करते हैं। 'ॐ' का उच्चारण करके ही ब्रह्मा—यह चौथा ऋत्विक् अनुमति देता है। वेदाध्ययन करनेवाला ब्राह्मण ॐ बोलकर ही

कहता है कि—'मैं ब्रह्म को (वेद को या परब्रह्म को) प्राप्त करूँ।' और इसीलिए वह ब्रह्म को प्राप्त करता है। (यहाँ आठवाँ अनुवाद पूरा हुआ।)

नवमोऽनुवाकः

ऋतं च स्वाध्यायप्रवचने च। सत्यं च स्वाध्यायप्रवचने च। तपश्च स्वाध्यायप्रवचने च। दमश्च स्वाध्यायप्रवचने च। शमश्च स्वाध्यायप्रवचने च। अग्नयश्च स्वाध्यायप्रवचने च। अग्निहोत्रं च स्वाध्यायप्रवचने च। अतिथयश्च स्वाध्यायप्रवचने च। मानुषं च स्वाध्यायप्रवचने च। प्रजा च स्वाध्यायप्रवचने च। प्रजनश्च स्वाध्यायप्रवचने च। प्रजातिश्च स्वाध्यायप्रवचने च। सत्यमिति सत्यवचा राथीतरः। तप इति तपोनित्यः पौरुशिष्टिः स्वाध्यायप्रवचने एवेति नाको मौद्गल्यः। तद्धि तपस्तद्धि तपः ॥1॥

इति नवमोऽनुवाकः ॥9॥

शास्त्रादि द्वारा बुद्धि में किया गया निश्चय अर्थात् 'ऋत' और अध्ययन-अध्यापन करना चाहिए। सत्य और अध्ययन-अध्यापन करना चाहिए। तप और अध्ययन-अध्यापन करना चाहिए। इन्द्रियसंयम और अध्ययन-अध्यापन करना चाहिए। मनोनिग्रह और अध्ययन-अध्यापन करते रहना चाहिए। अग्नि का आधान और अध्ययन-अध्यापन करना चाहिए। अग्निहोत्र और अध्ययन-अध्यापन करते रहना चाहिए। अतिथि-सत्कार और अध्ययन-अध्यापन करते रहना चाहिए। मनुष्योचित कार्यों के साथ अध्ययन-अध्यापन करते रहना चाहिए। सन्तानोत्पत्ति और अध्ययन-अध्यापन करते रहना चाहिए। शास्त्रोक्त रीति से स्त्रीसंग और अध्ययन-अध्यापन करना चाहिए। पौत्रों की उत्पत्ति और अध्ययन-अध्यापन करना चाहिए। रथीतर का पुत्र सत्यवक्ता मानता है कि सत्य का ही आचरण करना चाहिए। परन्तु सदैव तपोनिष्ठ ऐसे पुरुशिष्ट का मत है कि तप ही सदैव अनुष्ठान करने योग्य (आचरण करने योग्य) है। परन्तु मुद्गल के पुत्र नाक मुनि का मत तो यही है कि स्वाध्याय और प्रवचन (अध्ययन और अध्यापन) ही करना चाहिए। इसलिए स्वाध्याय और प्रवचन ही वास्तव में तप हैं। सचमुच वही तप है। (यहाँ नवाँ अनुवाक पूरा हुआ।)

दशमोऽनुवाकः

अहं वृक्षस्य रेरिवा। कीर्तिः पृष्ठं गिरेरिव। ऊर्ध्वपवित्रो वाजिनीवस्वमृतमस्मि। द्रविणꣳ सवर्चसम्। सुमेधा अमृतोक्षितः। इति त्रिशङ्कोर्वेदानुवचनम् ॥1॥

इति दशमोनुवाकः ॥10॥

"मैं इस जन्ममरणरूप वृक्ष का उच्छेदक हूँ। मेरी कीर्ति पर्वतशिखर की तरह उन्नत और विशाल है। अन्नोत्पादन की शक्तिवाले सूर्य में जैसे अमृत है, वैसे मैं भी पवित्र अमृतस्वरूप ही हूँ। और मैं प्रकाशयुक्त भी हूँ, मैं धन का भण्डार हूँ। मैं परमानन्दमय अमृत से अभिषिंचित हूँ। मैं परम बुद्धिमान हूँ।"—इस प्रकार त्रिशंकु ऋषि का वेदानुभव है (अर्थात् मोक्षप्राप्ति होने के बाद उनके अन्तस् की यह आवाज है।) (यहाँ दसवाँ अनुवाक पूर्ण हुआ।)

एकादशोऽनुवाकः

वेदमनूच्याचार्योऽन्तेवासिनमनुशास्ति। सत्यं वद। धर्मं चर। स्वाध्यायान्मा प्रमदः। आचार्याय प्रियं धनमाहृत्य प्रजातन्तुं मा व्यवच्छेत्सीः। सत्यान्न प्रमदितव्यम्। धर्मान्न प्रमदितव्यम्। कुशलान्न प्रमदितव्यम्। भूत्यै न प्रमदितव्यम्। स्वाध्यायप्रवचनाभ्यां न प्रमदितव्यम् ॥1॥

वेदों का अध्ययन कराने के बाद आचार्य शिष्य को उपदेश देते हैं कि—सत्य बोलो, धर्म का आचरण करो। स्वाध्याय में प्रमाद नहीं करना चाहिए। आचार्य को मनवांछित धन लाकर उनकी आज्ञा से गृहस्थाश्रम का प्रारंभ करके सन्तान-परम्परा चालू रखो। उसका उच्छेद मत करो। सत्य से कभी विचलित न हो, धर्म से कभी विचलित नहीं होना चाहिए। कुशलमंगल के कार्यों से कभी दूर नहीं रहना चाहिए। ऐश्वर्यदायक कर्मों में कभी प्रमाद नहीं करना चाहिए। वेद के पठन-पाठन में प्रमाद नहीं करना चाहिए।

देवपितृकार्याभ्यां न प्रमदितव्यम्। मातृदेवो भव। पितृदेवो भव। आचार्यदेवो भव। अतिथिदेवो भव। यान्यनवद्यानि कर्माणि। तानि सेवितव्यानि। नो इतराणि। यान्यस्माकꣳ सुचरितानि। तानि त्वयोपास्यानि ॥2॥

देवकार्य और पितृकार्य को कभी भूलना नहीं। माता में देवबुद्धि रखनेवाले बनो, पिता में देवबुद्धि रखनेवाले बनो, आचार्य में देवबुद्धि रखनेवाले बनो। जो दोषरहित कर्म हों, उन्हीं का तुम अनुसरण करो, दूसरों का नहीं। तुम अच्छे कर्मों का ही अनुसरण करो।

नो इतराणि। ये के चास्मच्छ्रेयाꣳसो ब्राह्मणाः। तेषां त्वयाऽऽसनेन प्रश्वसितव्यम्। श्रद्धया देयम्। अश्रद्धयाऽदेयम्। श्रिया देयम्। ह्रिया देयम्। भिया देयम्। संविदा देयम्। अथ यदि ते कर्मविचिकित्सा वा वृत्तविचिकित्सा वा स्यात् ॥3॥

इसके विपरीत कर्मों का अनुसरण मत करना। जो कोई भी हमसे श्रेष्ठ ब्राह्मण हों, उन्हें तुम आसनादि देकर विश्राम देते रहो। श्रद्धापूर्वक दान करना चाहिए, श्रद्धारहित दान नहीं देना चाहिए। आर्थिक स्थिति के अनुसार दान करना चाहिए। शर्म रखकर भी देना चाहिए। भय से भी देना चाहिए। और विवेकपूर्वक दान करना चाहिए। और उसके बाद यदि तुम्हें अपने कर्तव्यनिर्णय में कोई शंका हो या आचारसम्बन्धी कोई शंका हो तो—

ये तत्र ब्राह्मणाः संमर्शिनः। युक्ता आयुक्ताः। अलूक्षा धर्मकामाः स्युः। यथा ते तत्र वर्तेरन्। तथा तत्र वर्तेथाः। अथाभ्याख्यातेषु। ते तत्र ब्राह्मणाः संमर्शिनः। युक्ता आयुक्ताः। अलूक्षा धर्मकामाः स्युः। यथा ते तेषु वर्तेरन्। तथा तेषु वर्तेथाः। एष आदेशः। एष उपदेशः। एषा वेदोपनिषत्। एतदनुशासनम्। एवमुपासितव्यम्। एवमु चैतदुपास्यम् ॥4॥

इत्येकादशोऽनुवाकः ॥11॥

वहाँ जो उत्तम विचारवाले, योग्य सलाहकार, समुचित आचारवाले, सरलमधुर स्वभाववाले, केवल धर्माभिलाषी ब्राह्मण हों, वे जिस प्रकार उस क्षेत्र में वर्तन करें, वहाँ तुम्हें उसी प्रकार का व्यवहार

करना चाहिए। और भी यदि कहीं किसी दूषित कलंकवाले मनुष्य के साथ काम करने में संदेह हो, तो भी वहाँ जो उत्तम विचारवाले, योग्य सलाह देनेवाले, सदाचारी, मधुर स्वभाववाले, केवल धर्माभिलाषी ब्राह्मण हों, वे जिस तरह उनके साथ बर्ताव करें, उसी प्रकार तुम्हें व्यवहार करना चाहिए। यह शास्त्र की आज्ञा है, यही गुरुजनों का उपदेश है। यही वेदों का रहस्य है। यही परंपरागत बोध है। इसी तरह व्यवहार करना चाहिए। यही आचरण करना चाहिए। (यहाँ ग्यारहवाँ अनुवाक पूरा हुआ।)

द्वादशोऽनुवाकः

शं नो मित्रः शं वरुणः। शं नो भवत्वर्यमा। शं न इन्द्रो बृहस्पतिः। शं नो विष्णुरुरुक्रमः। नमो ब्रह्मणे। नमस्ते वायो। त्वमेव प्रत्यक्षं ब्रह्मासि। त्वामेव प्रत्यक्षं ब्रह्मावादिषम्। ऋतमवादिषम्। सत्यमवादिषम्। तन्मामावीत्। तद्वक्तारमावीत्। आवीन्माम्। आवीद्वक्तारम् ॥1॥

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः।

इति द्वादशोऽनुवाकः ॥12॥

दिन और प्राण के अधिष्ठाता देव-मित्र, सूर्य हमारे लिए कल्याणकारी हों। तथा रात्रि और अपान के अधिष्ठाता वरुण देव हमारे लिए कल्याणकारी हों। चक्षु और सूर्यमण्डल के अधिष्ठाता अर्यमा देव हमारा कल्याण करें। बल और भुजाओं के अधिष्ठाता इन्द्रदेव हमारे लिए कल्याणकारी हों। वाणी और बुद्धि के अधिष्ठाता देव बृहस्पति हमारे लिए कल्याणकारी हों। त्रिविक्रमरूपी विशाल कदम भरनेवाले विष्णु हमारे लिए कल्याणकारी हों। (वे चरणों के अधिष्ठाता हैं)। उपर्युक्त सभी देवताओं के आत्मस्वरूप ब्रह्म को मेरा नमस्कार हो। हे वायुदेव! आपको नमस्कार हो। आप ही प्रत्यक्ष ब्रह्म हैं। आपको ही हमने प्रत्यक्ष ब्रह्म कहा है। आपको ही 'ऋत' कहा है। आपको ही सत्य कहा है। उन सर्वेश्वर परमात्मा ने मेरी रक्षा की है। उन्होंने वक्ता की (आचार्य की) भी रक्षा की है। मेरी और मेरे आचार्य की रक्षा की है। तीनों प्रकार के तापों की शान्ति हो। (यहाँ बारहवाँ अनुवाक पूरा होता है।)

यहाँ तैत्तिरीयोपनिषद् में शीक्षावल्ली समाप्त हुई।

अथ ब्रह्मानन्दवल्ली (2)

प्रथमोऽनुवाकः

ॐ सह नाववतु। सह नौ भुनक्तु। सह वीर्यं करवावहै।
तेजस्विनावधीतमस्तु मा विद्विषावहै।
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः॥

हे परमात्मा! आप हम गुरु-शिष्य—दोनों की एक साथ रक्षा करें, दोनों का एक साथ ही पालन करें। हम दोनों एक साथ ही शक्ति प्राप्त करें। हमारी दोनों की पढ़ी हुई विद्या तेजस्वी हो। हम दोनों कभी परस्पर द्वेष न करें। ॐ त्रिविध तापों की शान्ति हो।

ॐ ब्रह्मविदाप्नोति परम्। तदेषाऽभ्युक्ता। सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म। यो वेद निहितं गुहायां परमे व्योमन्। सोऽश्नुते सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा

विपश्चितेति। तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः। आकाशाद्वायुः। वायोरग्निः। अग्नेरापः। अद्भ्यः पृथिवी। पृथिव्या ओषधयः। ओषधीभ्योऽन्नम्। अन्नात्पुरुषः। स वा एष पुरुषोऽन्नरसमयः। तस्येदमेव शिरः। अयं दक्षिणः पक्षः। अयमुत्तरः पक्षः। अयमात्मा। इदं पुच्छं प्रतिष्ठा। तदप्येष श्लोको भवति ॥1॥

इति प्रथमोऽनुवाकः ॥1॥

ब्रह्मज्ञानी ब्रह्म को प्राप्त कर लेता है। इस भाव को बताने वाली यह श्रुति कही गई है। ब्रह्म सत्य, ज्ञानरूप और अनन्त है। जो मनुष्य परमशुद्ध आकाश में रहने पर भी प्राणियों की हृदयरूपी गुफा में छिपे हुए ब्रह्म को जानता है, वह विज्ञानस्वरूप ब्रह्म के साथ सब भोगों का अनुभव करता है। उसी इस आत्मा से आकाश उत्पन्न हुआ। आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल, जल से पृथ्वी, पृथ्वी से औषधियाँ, औषधियों से अन्न पैदा हुए। वह यह पुरुष अन्नमय और रसमय ही है। (पुरुष में पक्षी की कल्पना करके कहते हैं कि—) उसका जो मस्तक है वह शिर है, यह दाहिना पंख ही दक्षिण भुजा है, यह बाँया पंख है वही बाँया हाथ है। शरीर का मध्यभाग ही उसका आत्मा है। और निम्नभाग ही पुच्छ और प्रतिष्ठा है। इस विषय में यह कहा जानेवाला श्लोक है। (यहाँ पहला अनुवाक पूरा हुआ।)

द्वितीयोऽनुवाकः

अन्नाद्वै प्रजाः प्रजायन्ते। याः काश्च पृथिवीꣳश्रिताः। अथो अन्नेनैव जीवन्ति। अथैनदपि यन्त्यन्ततः। अन्नꣳ हि भूतानां ज्येष्ठम्। तस्मात्सर्वौषधमुच्यते। सर्वं वै तेऽन्नमाप्नुवन्ति। येऽन्नं ब्रह्मोपासते। अन्नꣳहि भूतानां ज्येष्ठम्। तस्मात्सर्वौषधमुच्यते। अन्नाद्भूतानि जायन्ते। जातान्यन्नेन वर्धन्ते। अद्यतेऽत्ति च भूतानि तस्मादन्नं तदुच्यत इति ॥ तस्माद्वा एतस्मादन्नरसमयात्। अन्योऽन्तर आत्मा प्राणमयः। तेनैष पूर्णः। स वा एष पुरुषविध एव। तस्य पुरुषविधताम्। अन्वयं पुरुषविधः। तस्य प्राण एव शिरः। व्यानो दक्षिणः पक्षः। अपान उत्तरः पक्षः। आकाश आत्मा। पृथिवी पुच्छं प्रतिष्ठा। तदप्येष श्लोको भवति ॥1॥

इति द्वितीयोऽनुवाकः ॥2॥

पृथ्वी का आश्रय लेकर रहनेवाले जो सब प्राणी हैं, वे सब अन्न से ही उत्पन्न होते हैं, और बाद में अन्न से ही जीते हैं, और अन्त में वे इस अन्न में ही विलीन हो जाते हैं। इसलिए अन्न ही सर्वभूतों में श्रेष्ठ है। इसीलिए उसे 'सर्वौषधरूप' कहते हैं। जो साधक अन्न की ब्रह्मभाव से उपासना करते हैं, वे अवश्य सभी प्रकार के अन्न को प्राप्त कर लेते हैं। क्योंकि अन्न ही भूतों में श्रेष्ठ है। इसलिए उसे 'सर्वौषध' नाम से कहा गया है। अन्न से ही सभी प्राणी उत्पन्न होते हैं और उत्पन्न होकर अन्न से ही वृद्धि को प्राप्त करते हैं। वह अन्न प्राणियों द्वारा खाया जाता है और अन्न भी प्राणियों को खाता है। इसलिए वह 'अन्न' शब्द से कहा जाता है।

अवश्य ही उस अन्नरसमय शरीर से अलग ही, उसी के अन्दर रहनेवाला एक प्राणमय पुरुष है। उस प्राणमय पुरुष से यह अन्नरसमय व्याप्त है। यह प्राणमय आत्मा अवश्य ही इस पुरुष के

परिमाणवाला है। इस प्राणमय आत्मा का प्राण ही मानो मस्तक है। व्यान उसका दाहिना पंख है, अपान उसका बाँया पंख है, आकाश उसके शरीर का मध्य भाग है, पृथ्वी पूँछ और आधार है। इस प्राण की महिमा बताने के लिए भी यह आगे कहा जानेवाला एक श्लोक है। (यहाँ दूसरा अनुवाक पूर्ण हुआ।)

तृतीयोऽनुवाकः

प्राणं देवा अनु प्राणन्ति। मनुष्याः पशवश्च ये। प्राणो हि भूतानामायुः। तस्मात्सर्वायुषमुच्यते। सर्वमेव त आयुर्यन्ति। ये प्राणं ब्रह्मोपासते। प्राणो वै भूतानामायुः। तस्मात्सर्वायुषमुच्यत इति॥
तस्यैष एव शारीर आत्मा। यः पूर्वस्य। तस्माद्वा एतस्मात्प्राणमयात्। अन्योऽन्तर आत्मा मनोमयः। तेनैष पूर्णः। स वा एष पुरुषविध एव। तस्य पुरुषविधताम्। अन्वयं पुरुषविधः। तस्य यजुरेव शिरः। ऋग् दक्षिणः पक्षः। सामोत्तरः पक्षः। आदेश आत्मा। अथर्वाङ्गिरसः पुच्छं प्रतिष्ठा। तदप्येष श्लोको भवति॥1॥

इति तृतीयोऽनुवाकः॥3॥

जो देव, मनुष्य और पशु आदि प्राणी हैं, वे सब प्राण का अनुसरण करके ही चेष्टा करते हैं (जीवित रहते हैं)। क्योंकि प्राण ही प्राणियों का आयुष्य है; इससे यह प्राण 'सर्वायुष' कहा जाता है। प्राण ही प्राणियों का जीवन है; इससे वह सबका आयुष कहा जाता है। ऐसा मानकर यदि कोई साधक प्राण की ब्रह्मरूप में उपासना करता है, तो वह सब प्रकार के आयुष्य को प्राप्त कर लेता है।

उसका पहले का जो अन्नरसमय आत्मा है, वही यह अन्तरात्मा है। तो इस प्राणमय पुरुष से अलग ही भीतर में रहनेवाला मनोमय आत्मा अवश्य है। उस मनोमय आत्मा से यह प्राणमय शरीर पूर्णतः व्याप्त है। यह मनोमय आत्मा निश्चित ही उस पुरुष के ही आकारवाला है। उसकी पुरुषतुल्य आकृति में व्याप्त होने से ही यह मनोमय आत्मा पुरुषाकार है। इस मनोमय पुरुष का मस्तक मानो यजुर्वेद है, ऋग्वेद मानो दाहिना पंख है, सामवेद मानो बायाँ पंख है, विधिवाक्य शरीर का मध्यभाग है, और अंगिरा ऋषि द्वारा देखे गए अथर्ववेद के मंत्र ही पुच्छ और आधार हैं। इसकी महिमा के विषय में आगे कहा जानेवाला एक श्लोक है। (यहाँ तीसरा अनुवाक पूर्ण होता है।)

चतुर्थोऽनुवाकः

यतो वाचो निवर्तन्ते। अप्राप्य मनसा सह। आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान्। न बिभेति कदाचनेति॥
तस्यैष एव शारीर आत्मा। यः पूर्वस्य। तस्माद्वा एतस्मान्मनोमयात्। अन्योऽन्तर आत्मा विज्ञानमयः। तेनैष पूर्णः। स वा एष पुरुषविध एव। तस्य पुरुषविधताम्। अन्वयं पुरुषविधः। तस्य श्रद्धैव शिरः। ऋतं दक्षिणः पक्षः। सत्यमुत्तरः पक्षः। योग आत्मा। महः पुच्छं प्रतिष्ठा। तदप्येष श्लोको भवति॥1॥

इति चतुर्थोऽनुवाकः॥4॥

जहाँ से मन सहित वाणी आदि इन्द्रियाँ उसको प्राप्त किए बिना ही वापिस लौट आती हैं, उस ब्रह्म के आनन्द को जाननेवाला पुरुष कभी भी भय को प्राप्त नहीं होता। ऐसा श्लोक है।

इस मनोमय शरीर का भी यही परमात्मा शरीर में प्रतिष्ठित आत्मा है। पूर्वनिर्विष्ट इस मनोमय पुरुष से भी अलग एक और भीतर स्थित आत्मा 'विज्ञानमय' है। उस विज्ञानमय आत्मा से मनोमय शरीर व्याप्त है। यह विज्ञानमय आत्मा निःसन्देह पुरुषाकार है। उसके पुरुषाकार में अनुगत होने से ही यह विज्ञानमय पुरुषाकार बताया जाता है। उस विज्ञानमय आत्मा का 'श्रद्धा' ही मानो मस्तक है, 'ऋत' मानो दाहिना पंख है, सत्य मानो बायाँ पंख है, योग उसका मध्यभाग है, और महत्तत्त्व पुच्छ और आधार भाग है। इसके विषय में भी यह आगे कहा जानेवाला श्लोक है। (यहाँ चौथा अनुवाक पूरा हुआ।)

पञ्चमोऽनुवाकः

विज्ञानं यज्ञं तनुते। कर्माणि तनुतेऽपि च। विज्ञानं देवाः सर्वे। ब्रह्म ज्येष्ठमुपासते। विज्ञानं ब्रह्म चेद्वेद। तस्माच्चेन्न प्रमाद्यति। शरीरे पाप्मनो हित्वा। सर्वान्कामान्समश्नुत इति॥
तस्यैष एव शारीर आत्मा। यः पूर्वस्य। तस्माद्वा एतस्माद्विज्ञानमयात्। अन्योऽन्तर आत्मा आनन्दमयः। तेनैष पूर्णः। स वा एष पुरुषविध एव। तस्य पुरुषविधताम्। अन्वयं पुरुषविधः। तस्य प्रियमेव शिरः। मोदो दक्षिणः पक्षः। प्रमोद उत्तरः पक्षः। आनन्द आत्मा। ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा॥ तदप्येष श्लोको भवति॥1॥

इति पञ्चमोऽनुवाकः॥5॥

विज्ञान ही यज्ञों का विस्तार करता है और कर्मों का भी विस्तार करता है। सभी इन्द्रियरूपी देव सर्वश्रेष्ठ ब्रह्म के रूप में विज्ञान की सेवा करते हैं। कोई भी साधक यदि विज्ञान को ब्रह्मरूप से जान लेता है और उससे प्रमाद नहीं करता तथा अपने निश्चय से विचलित नहीं होता, तो शरीराभिमान से जन्में पापों के समूह को शरीर में ही छोड़कर सब लोकों का अनुभव करता है। (ऐसा यह श्लोक है)।

उस विज्ञानमय का यह परमात्मा ही शरीरान्तर्गत आत्मा है कि जो पूर्ववर्ती मनोमय शरीर का ही आत्मा है। निश्चय ही वह पूर्वोक्त विज्ञानमय जीवात्मा से अलग और उसके भी भीतर रहनेवाला आत्मा आनन्दमय परमात्मा है। उससे यह विज्ञानमय पूर्णतः व्याप्त है। वह यह आनन्दमय परमात्मा भी पुरुष सदृश आकारवाला है। वह विज्ञानमय की पुरुषाकारता में अनुगत होने से ही यह आनन्दमय परमात्मा पुरुषाकार कहलाता है। उस आनन्दमय का शिर मानो 'प्रिय' है, 'मोद' मानो दाहिना पंख है, आनन्द ही शरीर का मध्य भाग है और ब्रह्म ही पुच्छ तथा आधार है। इसकी महिमा के विषय में भी यह श्लोक है। (यहाँ पाँचवाँ अनुवाक पूर्ण हुआ।)

षष्ठोऽनुवाकः

असन्नेव स भवति। असद्ब्रह्मेति वेद चेत्। अस्ति ब्रह्मेति चेद्वेद। सन्तमेनं ततो विदुरिति।
तस्यैष एव शारीर आत्मा। यः पूर्वस्य। अथातोऽनुप्रश्नाः। उताविद्वानमुं लोकं प्रेत्य। कश्चन गच्छती3। आहो विद्वानमुं लोकं प्रेत्य। कश्चित्समश्नुता 3 उ॥

सोऽकामयत। बहु स्यां प्रजायेयेति। स तपोऽतप्यत। स तपस्तप्त्वा। इदꣳ सर्वमसृजत। यदिदं किंच। तत्सृष्ट्वा। तदेवानुप्राविशत्। तदनुप्रविश्य। सच्च त्यच्चाभवत्। निरुक्तं चानिरुक्तं च। निलयनं चानिलयनं च। विज्ञानं चाविज्ञानं च। सत्यं चानृतं च। सत्यमभवत्। यदिदं किंच। तत्सत्यमित्याचक्षते। तदप्येष श्लोको भवति ॥1॥

इति षष्ठोऽनुवाकः ॥6॥

जो मनुष्य 'ब्रह्म नहीं है'—इस प्रकार मानता है, तो वह असत् ही हो जाता है। और यदि कोई 'ब्रह्म है'—इस प्रकार मानता है, तो उसको ज्ञानी लोग सन्तपुरुष मानते हैं। ऐसा यह श्लोक है।

उस आनन्दमय का भी यही शरीरान्तर्वती आत्मा है, जो कि पूर्वोक्त विज्ञानमय का है। तब यहाँ से अनुप्रश्न शुरू होते हैं (आचार्योपदेश के बाद शिष्यद्वारा पूछे गए प्रश्न शुरू होते हैं)। पहला प्रश्न है कि यदि ब्रह्म है तो उसे न जाननेवाला कोई भी मनुष्य मरण के बाद परलोक में जाता है या नहीं? और दूसरा प्रश्न यह है कि ब्रह्म को जाननेवाला कोई विद्वान् भी मरने के बाद परलोक को प्राप्त करता है या नहीं?

(इन प्रश्नों के उत्तर में ब्रह्मस्वरूप का वर्णन करते हुए श्रुति कहती है कि—) उस परमेश्वर ने संकल्प किया कि मैं प्रकट होऊँ और (नामरूपात्मक) बहुत हो जाऊँ। उसने तप किया और अपने संकल्प का विस्तार किया। तप करके यह जो कुछ है, उसे उत्पन्न किया। जगत् की रचना करने के बाद वह स्वयं ही उसमें प्रविष्ट हो गया। उसके साथ (उसमें प्रविष्ट होने के बाद) स्वयं ही मूर्त और अमूर्त हो गया। आश्रय-अनाश्रय, चेतन-अचेतन, व्यावहारिक सत्य और असत्य हो गया। यह जो कुछ भी है, उसे ब्रह्मज्ञानी 'सत्य' ही समझते हैं। इसके विषय में यह (कहा जानेवाला) श्लोक है। (यहाँ छठा अनुवाक पूरा हुआ।)

सप्तमोऽनुवाकः

असद्वा इदमग्र आसीत्। ततो वै सदजायत। तदात्मानꣳ स्वयमकुरुत। तस्मात्तत्सुकृतमुच्यत इति॥

यद्वै तत्सुकृतम्। रसो वै सः। रसꣳ ह्येवायं लब्ध्वाऽनन्दी भवति। को ह्येवान्यात्कः प्राण्यात्। यदेष आकाश आनन्दो न स्यात्। एष ह्येवानन्दयति। यदा ह्येवैष एतस्मिन्नदृश्येऽनात्म्येऽनिरुक्तेऽनिलयनेऽभयं प्रतिष्ठां विन्दते। अथ सोऽभयं गतो भवति। यदा ह्येवैष एतस्मिन्नुदरमन्तरं कुरुते। अथ तस्य भयं भवति। तत्त्वेव भयं विदुषोऽमन्वानस्य। तदप्येष श्लोको भवति ॥1॥

इति सप्तमोऽनुवाकः ॥7॥

उत्पन्न (अभिव्यक्त) होने से पहले यह जगत् अव्यक्त ब्रह्मरूप ही था। उसी में से यह नामरूपात्मक जगत् उत्पन्न हुआ। उस (आत्मा) ने स्वयं को ऐसा बनाया, इसलिए वह 'सुकृत' कहलाया। (ऐसा वह श्लोक है)।

जो वह 'सुकृत' है, वह रस ही है। इस रस को पाकर पुरुष आनन्द युक्त हो जाता है। यदि आकाश की भाँति आनन्दरूप व्यापक परमात्मा न होता, तो कौन जीवित रह सकता था? कौन प्राणों की चेष्टा कर सकता था? सचमुच यह परमात्मा ही सबको आनन्दित करता है। जिस समय साधक इस अदृश्य, अशरीरी, अनिर्वाच्य, पराश्रयरहित, परब्रह्म परमात्मा में निर्भयतापूर्वक स्थिति प्राप्त करता हैं, उस समय वह अभयपद को प्राप्त करता है। क्योंकि जब तक लेशमात्र भी परमात्मा से वियोग रहता है, वहाँ तक मनुष्य को जन्म-मरणरूप भय बना रहता है। ऐसा भय केवल मूर्ख को ही नहीं होता, अभिमानी विद्वान् को भी होता है। इसी अर्थ में यह कहा जानेवाला श्लोक है। (यहाँ सातवाँ अनुवाक पूर्ण हुआ)।

अष्टमोऽनुवाकः

भीषाऽस्माद्वातः पवते। भीषोदेति सूर्यः। भीषाऽस्मादग्निश्चेन्द्रश्च। मृत्युर्धावति पञ्चम इति। सैषाऽऽनन्दस्य मीमाꣳसा भवति। युवा स्यात्साधुयुवाध्यायकः। आशिष्ठो दृढिष्ठो बलिष्ठः। तस्येयं पृथिवी सर्वा वित्तस्य पूर्णा स्यात्। स एको मानुष आनन्दः। ते ये शतं मानुषा आनन्दाः ॥1॥

उसी के भय से पवन चलता है, उसी के भय से सूर्य उगता है, उसी के भय से अग्नि, इन्द्र और पाँचवाँ यम अपने-अपने कार्य यथासमय कर रहे हैं। अब यह ब्रह्मानन्द की मीमांसा (कही जाती) है। जो सदाचारी, वेदज्ञ, आशाओं से भरा (कभी निराश नहीं होनेवाला), बहुत दृढ़ और बलवान नवयुवक होता है, यह धनधान्यपूर्ण समग्र पृथिवी उसी की हो जाती है। उसका जो आनन्द है, वह मानुष आनन्द है। मनुष्य के ऐसे सौ आनन्द हों, तो—

स एको मनुष्यगन्धर्वाणामानन्दः। श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य। ते ये शतं मनुष्यगन्धर्वाणामानन्दाः। स एको देवगन्धर्वाणामानन्दः। श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य। ते ये शतं देवगन्धर्वाणामानन्दाः। स एकः पितॄणां चिरलोकलोकानामानन्दः। श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य। ते ये शतं पितॄणां चिरलोकलोकानामानन्दाः। स एक आजानजानां देवानामानन्दः ॥2॥

वह मनुष्यगन्धर्वों का एक आनन्द (के तुल्य) होता है। ऐसा आनन्द कामना से दूषित नहीं होनेवाले ब्रह्मवेत्ता को तो सहज प्राप्त ही है। और मनुष्यगन्धर्वों के ऐसे जो सौ आनन्द होते हैं, वह देवगन्धर्वों का एक आनन्द होता है। वह आनन्द भी कामना से अदूषित चित्तवाले ब्रह्मज्ञानी को तो सहज ही होता है। और देवगंधर्वों के ऐसे सौ आनन्द जो हैं, वह चिरस्थायी पितृलोक में रहनेवाले पितृओं का मात्र एक ही आनन्द होता है। यह आनन्द भी कामनाओं से अदूषित ब्रह्मज्ञानी के लिए तो सहज प्राप्त ही है। चिरस्थायी पितृलोक में रहने वाले पितृओं के ऐसे सौ आनन्द हों, तब 'आजानज' नाम के देवों का वह एक ही आनन्द होता है।

श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य। ते ये शतमाजानजानां देवानामानन्दाः। स एकः कर्मदेवानां देवानामानन्दः। ये कर्मणा देवानपि यन्ति। श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य। ते ये शतं कर्मदेवानां देवानामानन्दाः। स एको देवानामानन्दः। श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य। ते ये शतं देवानामानन्दाः। स एक इन्द्रस्यानन्दः ॥3॥

यह आनन्द भी कामनाओं से अदूषित ब्रह्मज्ञानी के लिए स्वभावसिद्ध ही है। आजानज **देवों के** ऐसे जो सौ आनन्द होते हैं, उनके बराबर 'कर्मदेव' नाम के देवों का एक ही आनन्द होता **है। वे** कर्मदेव कर्म से देवत्व को प्राप्त हुए हैं। वह आनन्द भी कामनाओं से मुक्त ब्रह्मवेत्ता को सहज **ही** मिलता है। और उन कर्मदेवों के जो सौ आनन्द हैं, उसके तुल्य देवों का एक ही आनन्द होता **है और** ऐसा आनन्द भी निष्काम ब्रह्मज्ञानी को स्वाभाविक रूप से प्राप्त है। और देवों के ऐसे सौ **आनन्दों के** तुल्य इन्द्र का एक आनन्द होता है।

श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य। ते ये शतमिन्द्रस्यानन्दाः। स एको बृहस्पतेरानन्दः। श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य। ते ये शतं बृहस्पतेरानन्दाः। स एकः प्रजापतेरानन्दः। श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य। ते ये शतं प्रजापतेरानन्दाः। स एको ब्रह्मण आनन्दः। श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य ॥4॥

वह आनन्द भी निष्काम ब्रह्मज्ञानी को स्वयंसिद्ध होता है। इन्द्र के ऐसे सौ आनन्दों के **समान** बृहस्पति का एक ही आनन्द होता है। ऐसा आनन्द भी निष्काम ब्रह्मवेत्ता के लिए स्वभावसिद्ध **है।** बृहस्पति के ऐसे जो सौ आनन्द होते हैं, वह प्रजापति का एक ही आनन्द होता है। पर ऐसा **आनन्द** भी निष्काम ब्रह्मवेत्ता के लिए स्वभावसिद्ध ही होता है। और प्रजापति के ऐसे जो सौ आनन्द **होते हैं,** उनके बराबर ब्रह्म का एक ही आनन्द होता है, पर वह (सर्वश्रेष्ठ) आनन्द भी कामनाओं से **अदूषित** चित्तवाले ब्रह्मज्ञानी के लिए तो सहज रीति से प्राप्य ही है।

स यश्चायं पुरुषे। यश्चासावादित्ये। स एकः। य स एवंवित्। अस्माल्लोकात्प्रेत्य। एतमन्नमयमात्मानमुपसंक्रामति। एतं प्राणमयमात्मानमुपसंक्रामति। एतं मनोमयमात्मानमुपसंक्रामति। एतं विज्ञानमयमात्मानमुपसंक्रामति। एतमानन्दमयमात्मानमुपसंक्रामति। तदप्येष श्लोको भवति ॥5॥

इत्यष्टोऽनुवाकः ॥8॥

इस तरह जो यह पुरुष पंचकोशात्मक देह में है, और जो आदित्य के भीतर है—वे दोनों **एक** ही हैं। जो मनुष्य इस प्रकार जान लेता है, वह इस दृष्ट और अदृष्ट लोक से निवृत्त होकर अन्नमय **कोश** को प्राप्त होता है। तात्पर्य यह है कि वह विषयसमूह को अन्नमय कोश (एक आवरण) से अलग **नहीं** समझता। और इसी तरह प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय और आनन्दमय आत्मा को प्राप्त करता है। अर्थात् वह उन कोशों को आवरणमात्र ही समझता है—शुद्ध आत्मा नहीं समझता। इस विषय में यह श्लोक है। (यहाँ आठवाँ अनुवाक पूर्ण हुआ)।

नवमोऽनुवाकः

यतो वाचो निवर्तन्ते। अप्राप्य मनसा सह। आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान्। न बिभेति कुतश्चनेति। एतꣳ ह वाव न तपति किमहꣳ साधु नाकरवम्। किमहं पापमकरवमिति। स य एवं विद्वानेते आत्मानꣳ स्पृणुते। उभे ह्येवैष एते आत्मानꣳ स्पृणुते। य एवं वेद। इत्युनिषत् ॥1॥

इति नवमोऽनुवाकः ॥9॥

जहाँ से मन सहित सभी इन्द्रियाँ उसे प्राप्त किए बिना ही वापिस लौट जाती हैं, उस ब्रह्म के आनन्द को जाननेवाला महापुरुष किसी से भी डरता नहीं है। ऐसे विद्वान् को 'मैंने अच्छा काम क्यों नहीं किया ?' अथवा 'मैंने पापाचरण क्यों किया ?'—ऐसी चिन्ताएँ नहीं सताती हैं। 'पुण्य और पापवाले सभी कर्म आवरणकारी ही हैं'—ऐसा माननेवाला यह विद्वान् उनसे अपने आत्मा की रक्षा करता है। ये पुण्य और पाप आत्मस्वरूप ही दिखाई देते हैं। जो पुरुष उपर्युक्त प्रकार से अद्वैत को जान लेता है, वह आनन्दस्वरूप को जान लेता है। ऐसी यह उपनिषद् विद्या है। (यहाँ नवाँ अनुवाक पूर्ण हुआ।)

यहाँ तैत्तिरीयोपनिषद् में ब्रह्मानन्दवल्ली समाप्त हुई।
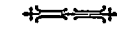
अथ भृगुवल्ली (3)

प्रथमोऽनुवाकः

**ॐ सह नाववतु। सह नौ भुनक्तु। सह वीर्यं करवावहै।
तेजस्विनावधीतमस्तु मा विद्विषावहै।
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः।**

नोट—इसका हिन्दी रूपान्तर ब्रह्मानन्दवल्ली में दिया गया है।

भृगुर्वै वारुणिः। वरुणं पितरमुपससार। अधीहि भगवो ब्रह्मेति। तस्मा एतत्प्रोवाच। अन्नं प्राणं चक्षुः श्रोत्रं मनो वाचमिति। तꣳहोवाच। यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते। येन जातानि जीवन्ति। यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति। तद्विजिज्ञासस्व। तद्ब्रह्मेति। स तपोऽतप्यत। स तपस्तप्त्वा ॥1॥

इति प्रथमोऽनुवाकः ॥1॥

यह प्रसिद्ध है कि वरुण का पुत्र भृगु अपने पिता वरुण के पास गया और विनयपूर्वक बोला कि हे भगवन्! मुझे ब्रह्म का उपदेश दीजिए। इस प्रकार प्रार्थना करने से उसे वरुण ने यह कहा कि अन्न, प्राण, नेत्र, श्रोत्र, मन और वाणी—इस प्रकार ये सब ब्रह्म की उपलब्धि के द्वार हैं। वरुण ने उससे कहा कि ये सब प्रत्यक्ष दिखाई देने वाले प्राणी उत्पन्न होते हैं, और उत्पन्न होकर जीते हैं, तथा प्रयाण के अंत में जिसमें मिल जाते हैं—उसकी जिज्ञासा करो, वही ब्रह्म है। पिता की आज्ञा सुनकर उसने तप किया। और फिर तप करके—(यहाँ पहला अनुवाक पूरा हुआ।)

द्वितीयोऽनुवाकः

अन्नं ब्रह्मेति व्यजानात्। अन्नाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते। अन्नेन जातानि जीवन्ति। अन्नं प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति। तद्विज्ञाय। पुनरेव वरुणं पितरमुपससार। अधीहि भगवो ब्रह्मेति। तꣳहोवाच। तपसा ब्रह्म विजिज्ञासस्व। तपो ब्रह्मेति। स तपोऽतप्यत। स तपस्तप्त्वा ॥1॥

इति द्वितीयोऽनुवाकः ॥2॥

'अन्न ब्रह्म है'—इस प्रकार उसने जाना क्योंकि अन्न से ही ये सब प्राणी उत्पन्न होते हैं, उत्पन्न होकर अन्न से जीते हैं और अन्त में प्रयाण करके अन्न में ही विलीन होते हैं। इस प्रकार जानकर वह फिर से अपने पिता वरुण के पास गया और बोला कि—हे भगवन्! मुझे ब्रह्म का उपदेश दीजिए। तब उसने कहा कि तप से ब्रह्म को जानो। तप ही ब्रह्म है। तब उसने फिर से तप किया और तप करके—(यहाँ दूसरा अनुवाक पूरा हुआ।)

तृतीयोऽनुवाकः

प्राणो ब्रह्मेति व्यजानात्। प्राणाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते। प्राणेन जातानि जीवन्ति। प्राणं प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति। तद्विज्ञाय। पुनरेव वरुणं पितरमुपससार॥ अधीहि भगवो ब्रह्मेति॥ तꣳहोवाच तपसा ब्रह्म विजिज्ञासस्व। तपो ब्रह्मेति। स तपोऽतप्यत। स तपस्तप्त्वा॥1॥

इति तृतीयोऽनुवाकः॥3॥

उसने 'प्राण ब्रह्म है' ऐसा जाना। क्योंकि प्राण से ही ये सब प्राणी उत्पन्न होते हैं और जन्मे हुए प्राण से ही जीवित रहते हैं और प्रयाण काल में अन्त में प्राण में ही विलीन हो जाते हैं। ऐसा जानकर वह फिर से अपने पिता वरुण के पास गया और कहने लगा कि—हे भगवन्। मुझे ब्रह्म का उपदेश दीजिए। तब उसने उससे कहा कि तप से ब्रह्म को जानो, तप ही ब्रह्म है। उसने तप किया और तप करके— (यहाँ तीसरा अनुवाक पूर्ण हुआ।)

चतुर्थोऽनुवाकः

मनो ब्रह्मेति व्यजानात्। मनसो ह्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते। मनसा जातानि जीवन्ति। मनःप्रयन्त्यभिसंविशन्तीति। तद्विज्ञाय। पुनरेव वरुणं पितरमुपससार। अधीहि भगवो ब्रह्मेति। तꣳहोवाच। तपसा ब्रह्म विजिज्ञासस्व। तपो ब्रह्मेति। स तपोऽतप्यत। स तपस्तप्त्वा॥1॥

इति चतुर्थोऽनुवाकः॥4॥

उसने 'मन ब्रह्म है' ऐसा जाना। क्योंकि मन ही से ये प्राणी उत्पन्न होते हैं, मन से उत्पन्न होकर ये जीते हैं और प्रयाणकाल के अन्त में मन में ही मिल जाते हैं। ऐसा जानकर वह फिर से अपने पिता वरुण के पास गया और बोला कि—हे भगवन्। मुझे ब्रह्म का उपदेश दीजिए। तब उसने उससे कहा कि तप से ब्रह्म को जानो, तप ही ब्रह्म है। उसने तप किया और तप करके—(यहाँ चौथा अनुवाक पूर्ण हुआ।)

पञ्चमोऽनुवाकः

विज्ञानं ब्रह्मेति व्यजानात्। विज्ञानाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते। विज्ञानेन जातानि जीवन्ति। विज्ञानं प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति। तद्विज्ञाय। पुनरेव वरुणं पितरमुपससार। अधीहि भगवो ब्रह्मेति। तꣳहोवाच। तपसा ब्रह्म विजिज्ञासस्व। तपो ब्रह्मेति। स तपोऽतप्यत। स तपस्तप्त्वा॥1॥

इति पञ्चमोऽनुवाकः॥5॥

तब उसने 'विज्ञान ही ब्रह्म है' ऐसा जाना। क्योंकि विज्ञान से ही ये सब प्राणी जन्मते हैं, विज्ञान से उत्पन्न होकर विज्ञान से ही ये जीते हैं और प्रयाणसमय (अन्त में) विज्ञान में ही विलीन जाते हैं। ऐसा जानकर वह फिर से अपने पिता वरुण के पास गया और बोला कि—हे भगवन्! ब्रह्म का उपदेश दीजिए। तब उसने उससे कहा कि तप से ब्रह्म को जानो, तप ही ब्रह्म है। उसने फिर तप किया और तप करके—(यहाँ पाँचवाँ अनुवाक पूर्ण हुआ।)

षष्ठोऽनुवाकः

आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्। आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते। आनन्देन जातानि जीवन्ति। आनन्दं प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति। सैषा भार्गवी वारुणी विद्या। परमे व्योमन् प्रतिष्ठिता। य एवं वेद। प्रतितिष्ठति। अन्नवानन्नादो भवति। महान् भवति प्रजया पशुभिर्ब्रह्मवर्चसेन। महान् कीर्त्या॥1॥

इति षष्ठोऽनुवाकः॥6॥

उसने 'आनन्द ही ब्रह्म है' ऐसा निश्चित रूप से जाना क्योंकि सचमुच आनन्द से ही ये सब प्राणी उत्पन्न होते हैं, आनन्द से जन्म लेकर ये सब जीते हैं और अन्त में (प्रयाणकाल में) आनन्द में ही मिल जाते हैं। ऐसा जानकर उसने पूरा ब्रह्म जान लिया। भृगु की जानी हुई और वरुण के द्वारा उपदिष्ट यह विद्या विशुद्ध आकाश-सदृश परमात्मा में पूर्णतया प्रतिष्ठित है। यदि कोई अन्य साधक भी इस तरह आनन्दस्वरूप ब्रह्म को जान लेता है, तो वह भी ब्रह्म में स्थित हो जाता है। इतना ही नहीं, यहाँ लोगों की दृष्टि में भी बहुत अन्नवाला और अन्न को पचानेवाला होता है। और सन्तान, पशु तथा ब्रह्मतेज से युक्त होकर महान बन जाता है। वह उत्तम कीर्तिमान हो जाता है। (यहाँ छठा अनुवाक पूर्ण हुआ।)

सप्तमोऽनुवाकः

अन्नं न निन्द्यात्। तद्व्रतम्। प्राणो वा अन्नम्। शरीरमन्नादम्। प्राणे शरीरं प्रतिष्ठितम्। शरीरे प्राणः प्रतिष्ठितः। तदेतदन्नमन्ने प्रतिष्ठितम्। स य एतदन्नमन्ने प्रतिष्ठितं वेद प्रतितिष्ठिति। अन्नवानन्नादो भवति। महान् भवति प्रजया पशुभिर्ब्रह्मवर्चसेन। महान् कीर्त्या॥1॥

इति सप्तमोऽनुवाकः॥7॥

अन्न की निन्दा नहीं करनी चाहिए। वह ब्रह्मज्ञ का व्रत है, प्राण ही अन्न है। शरीर ही अन्नाद है। प्राण में शरीर रहा है और शरीर में प्राण रहा है। इस प्रकार परस्पराश्रित होने से अन्न ही अन्न में प्रतिष्ठित है। इस प्रकार जो मनुष्य अन्न में स्थित अन्न को जानता है वह प्रतिष्ठित होता है। अन्नवान और अन्नभोक्ता बन जाता है। प्रजा, पशु और ब्रह्मतेज से महान् हो जाता है और कीर्ति से भी महान् हो जाता है। (यहाँ सातवाँ अनुवाक पूर्ण हुआ।)

अष्टमोऽनुवाकः

अन्नं न परिचक्षीत। तद्व्रतम्। आपो वा अन्नम्। ज्योतिरन्नादम्। अप्सु ज्योतिः प्रतिष्ठितम्। ज्योतिष्यापः प्रतिष्ठिताः। तदेतदन्नमन्ने प्रतिष्ठितम्। स य एतदन्नमन्ने प्रतिष्ठितं वेद प्रतितिष्ठति। अन्नवानन्नादो भवति। महान्भवति प्रजया पशुभिर्ब्रह्मवर्चसेन महान्कीर्त्या॥

इत्यष्टमोऽनुवाकः॥8॥

अन्न की अवहेलना नहीं करनी चाहिए। वह ब्रह्मज्ञ का एक व्रत है। जल ही अन्न है और ज्योति उस अन्न का भोक्ता है। जल में ज्योति प्रतिष्ठित है और ज्योति में जल प्रतिष्ठित है। इस तरह अन्न में ही अन्न प्रतिष्ठित है। जो मनुष्य इस प्रकार अन्न में प्रतिष्ठित अन्न को जानना है, वह प्रसिद्ध हो जाता है। वह अन्नवान और अन्नभोक्ता हो जाता है। प्रजा, पशु और ब्रह्मवर्चस से महान् हो जाता है। कीर्ति से भी महान् होता है। (यहाँ आठवाँ अनुवाक पूर्ण हुआ।)

नवमोऽनुवाकः

अन्नं बहु कुर्वीत। तद्व्रतम्। पृथिवी वा अन्नम्। आकाशोऽन्नादः। पृथिव्यामाकाशः प्रतिष्ठितः। आकाशे पृथिवी प्रतिष्ठिता। तदेतदन्नमन्ने प्रतिष्ठितम्। स य एतदन्नमन्ने प्रतिष्ठितं वेद प्रतितिष्ठति। अन्नवानन्नादो भवति। महान्भवति प्रजया पशुभिर्ब्रह्मवर्चसेन। महान्कीर्त्या ॥1॥

इति नवमोऽनुवाकः ॥9॥

अन्न को बढ़ाना चाहिए। यह एक व्रत है। अथवा पृथ्वी अन्न है और आकाश अन्नभोक्ता है। पृथ्वी में आकाश स्थित है और आकाश में पृथ्वी स्थित है इस प्रकार अन्न ही अन्न में प्रतिष्ठित है। जो मनुष्य इस तरह अन्न में ही प्रतिष्ठित अन्न के रहस्य को जानता है, वह प्रसिद्ध हो जाता है। वह अन्नवान और अन्नभोक्ता बनता है। वह प्रजा, पशु और ब्रह्मवर्चस से महान् बन जाता है, वह कीर्ति से भी महान् बन जाता है। (यहाँ नवाँ अनुवाक पूर्ण हुआ।)

दशमोऽनुवाकः

न कंचन वसतौ प्रत्याचक्षीत। तद्व्रतम्। तस्माद्यया कया च विधया बह्वन्नं प्राप्नुयात्। आराध्यस्मा अन्नमित्याचक्षते। एतद्वै मुखतोऽन्नꣳ राद्धम्। मुखतोऽस्मा अन्नꣳ राध्यते। एतद्वै मध्यतोऽन्नꣳ राद्धम्। मध्यतोस्मा अन्नꣳ राध्यते। एतद्वा अन्ततोऽन्नꣳ राद्धम्। अन्ततोऽस्मा अन्नꣳ राध्यते ॥1॥

अपने घर पर आए आश्रयवांछु अतिथि को अयोग्य उत्तर नहीं देना चाहिए। यह एक व्रत है। इसलिए अतिथिसत्कार के लिए जिस किसी भी प्रकार से यथेष्ठ अन्न प्राप्त करना चाहिए। क्योंकि घर पर आए अतिथि को गृहस्थ लोग 'भोजन तैयार है'—ऐसा कहते हैं। इस प्रकार मुख्य वृत्ति (प्रधानवृत्ति - श्रद्धा व आदर से) से पकाया हुआ अन्न देनेवाले को बड़े आदर के साथ प्राप्त होता है। मध्यम श्रद्धा-आदर से यह पकाया हुआ अन्न जो देता है, वह निश्चित ही मध्यम श्रद्धा-आदर से अन्न प्राप्त करता है और जो मनुष्य अधम श्रद्धा-आदर से अतिथि को पकाया हुआ भोजन देता है, तो निश्चय ही ऐसे दाता को निकृष्ट (हलके) प्रकार की श्रद्धा से अन्न मिलता है।

य एवं वेद। क्षेम इति वाचि। योगक्षेम इति प्राणापानयोः। कर्मेति हस्तयोः। गतिरिति पादयोः। विमुक्तिरिति पायौ। इति मानुषीः समाज्ञाः। अथ दैवीः। तृप्तिरिति वृष्टौ। बलमिति विद्युति ॥2॥

जो इस प्रकार जानता है, वह अतिथियों के प्रति सद्व्यवहार करते हैं। वह परमात्मा वाणी में क्षेमरूप (रक्षकरूप) है, प्राण और अपान में प्राप्ति और रक्षा (दोनों) स्वरूपों में हैं। दो हाथों में कर्मशक्ति के रूप में है, दो पैरों में गतिशक्ति के रूप में है, गुदा में मलत्याग की शक्तिरूप में है—इस

प्रकार ये मानुषी आध्यात्मिक उपासनाएँ हैं। अब दैवी उपासनाओं का वर्णन किया जाता है। वह परमात्मा वृष्टि में तृप्तिशक्ति के रूप में रहते हैं और विद्युत् में बलशक्तिरूप में अवस्थित हैं।

यश इति पशुषु। ज्योतिरिति नक्षत्रेषु। प्रजापतिरमृतमानन्द इत्युपस्थे। सर्वमित्याकाशे। तत्प्रतिष्ठेत्युपासीत। प्रतिष्ठावान् भवति। तन्मह इत्युपासीत। महान् भवति। तन्मन इत्युपासीत। मानवान् भवति ॥3॥

(वह परमात्मा) पशुओं में यशरूप में स्थित है। नक्षत्रों में ज्योति के रूप में स्थित है। उपस्थ में प्रजननशक्ति के रूप में स्थित है। वीर्यरूप अमृत और आनन्ददायक शक्ति के रूप में रहता है। और आकाश में सर्वाधार होकर स्थित है। वह उपास्य देव सर्व का आधार है। इस प्रकार यदि कोई उपासना करे, तो वह महान् हो जाता है। 'वह उपास्य देव मह: है'—ऐसा समझकर यदि कोई उपासना करता है, तो वह महान् से सम्पन्न हो जाता है। कोई यदि 'वह उपास्य देव मन: है'—ऐसा समझकर उपासना करे, तो वह मन:शक्ति से पूर्ण हो जाता है।

तन्नम इत्युपासीत। नम्यन्तेऽस्मै कामाः। तद्ब्रह्मेत्युपासीत। ब्रह्मवान् भवति। तद्ब्रह्मणः परिमर इत्युपासीत। पर्येणं म्रियन्ते द्विषन्तः सपत्नाः। परि येऽप्रिया भ्रातृव्याः। स यश्चायं पुरुषे। यश्चासावादित्ये। स एकः ॥4॥

वह उपास्य देव 'नमनयोग्य' है, ऐसा जानकर यदि उपासना की जाए तो ऐसे उपासक को सभी भोग्यपदार्थ विनीत हो जाते हैं। वह उपास्यदेव 'ब्रह्म' है, ऐसा मानकर यदि साधक उपासना करे, तो वह ब्रह्मयुक्त हो जाता है। यदि वह ब्रह्म 'सर्व को मारने के लिए नियुक्त किया गया अधिकारी है'—ऐसा समझकर उपासना की जाए, तो उस उपासक के द्वेषी शत्रु मर जाते हैं। और उसके जो सर्वत: अनिष्ट चाहनेवाले भाई-पितृव्य आदि हैं, वे भी मर जाते हैं। वह परमात्मा जो इस मनुष्य में है, वह जो सूर्य में है, उन दोनों का अन्तर्यामी एक ही है।

स य एवंवित्। अस्माल्लोकात्प्रेत्य। एतमन्नमयमात्मानमुपसंक्रम्य। एतं प्राणमयमात्मानमुपसंक्रम्य। एतं मनोमयमात्मानमुपसंक्रम्य। एतं विज्ञानमयमात्मानमुपसंक्रम्य। एतमानन्दमयमात्मानमुपसंक्रम्य। इमाँल्लोकान्कामान्नी कामारूप्यनुसंचरन्। एतत्साम गायन्नास्ते। हा 3 वु हा 3 वु हा 3 वु ॥5॥

जो मनुष्य इस प्रकार तत्त्वज्ञानी है, वह इस लोक से (शरीर से) उत्क्रमण करके इस अन्नमय आत्मा को प्राप्त करके, इस प्राणमय आत्मा को प्राप्त करके, इस मनोमय आत्मा को प्राप्त करके, इस विज्ञानमय आत्मा को प्राप्त करके, इस आनन्दमय आत्मा को प्राप्त करके इच्छानुसार भोक्ता और इच्छानुसार रूपधारी हो सकता है। और इन सभी लोकों में विचरण करता हुआ वह साम (वेद) के उद्गारों को गाया करता है—'हा 3 वु'—हा आश्चर्य! हा आश्चर्य! हा आश्चर्य! ('आश्चर्यवत्पश्यति कश्चिदेनम्'–गीता)।

अहमन्नमहमन्नमहमन्नम्। अहमन्नादोऽहमन्नादोऽहमन्नादः। अहꣳ श्लोककृदहꣳ श्लोककृदहꣳ श्लोककृत्। अहमस्मि प्रथमजा ऋता 3 स्य। पूर्वं देवेभ्योऽमृतस्य ना 3 भायि। यो मा ददाति स इदेव मा 3 वाः।

अहमन्नमन्नमदन्तमा 3 द्मि। अहं विश्वं भुवनमभ्यभवा3म्। सुवर्ण-ज्योतिः। य एवं वेद ॥ इत्युपनिषत् ॥6॥

इति दशमोऽनुवाकः ॥10॥

इति तैत्तिरीयोपनिषत्समाप्ता ॥
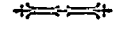
मैं ही अन्न हूँ, अन्न हूँ, अन्न हूँ। मैं ही अन्न का भोक्ता हूँ, भोक्ता हूँ, भोक्ता हूँ। मैं ही उनका (भोक्ता और अन्न का) संयोग कराने वाला हूँ, संयोग करानेवाला हूँ, संयोग करानेवाला हूँ। मैं ही तो सत्य का सत्य प्रत्यक्ष जगत् से परे, सर्वमुख्य हिरण्यगर्भ और देवताओं से भी पहले अवस्थित अमृत का केन्द्र हूँ। जो कोई मनुष्य अन्नस्वरूप मुझे देता है, तो वह अपने उस कार्य से ही मेरी रक्षा करता है। मैं अन्नस्वरूप होकर अन्न खानेवाले को निगल जाता हूँ। मैं समस्त ब्रह्माण्ड का पराभव करता हूँ। मेरे प्रकाश की एक झलक सूर्य जैसी है। नित्यप्रकाशित है। यह उपनिषद् (ब्रह्मविद्या) है। जो इसको इस प्रकार जानता है, वह पूर्वोक्त फल पाता है। (यहाँ दसवाँ अनुवाक हुआ।)

यहाँ तैत्तिरीयोपनिषद् की भृगुवल्ली यहाँ पूर्ण हुई।

इस प्रकार तैत्तिरीयोपनिषत् समाप्त होती है।

शान्तिपाठः

शं नो मित्रः शं वरुणः। शं नो भवत्वर्यमा। शं न इन्द्रो बृहस्पतिः। शं नो विष्णुरुरुक्रमः। नमो ब्रह्मणे। नमस्ते वायो। त्वमेव प्रत्यक्षं ब्रह्मासि। त्वामेव प्रत्यक्षं ब्रह्म वदिष्यामि। ऋतं वदिष्यामि। सत्यं वदिष्यामि। तन्मामवतु। तद्वक्तारमवतु। अवतु माम्। अवतु वक्तारम्॥
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः॥

(8) ऐतरेयोपनिषत्

(उपनिषत्परिचय)

ऋग्वेद के ऐतरेय आरण्यक के दूसरे आरण्य का चौथा, पाँचवाँ और छठा अध्याय ही यह उपनिषद् है। विख्यात दस या बारह उपनिषदों में ऐतरेयोपनिषद् भी एक है। इसके ऊपर भी शंकराचार्य ने भाष्य लिखा है। महीदास ऐतरेय, जिनका छान्दोग्योपनिषद् (3.16.9) में उल्लेख है, वे इस उपनिषद् के ऋषि हैं।

इस आरण्यक का पूर्व भाग तो वैदिक कर्मोपासना और प्राणोपासना के विषयों से युक्त है। अगर किसी साधक ने निष्ठापूर्वक प्राणोपासना की हो और ठीक तरह से आरण्यक में बताए गए कर्म गंभीरता से किए हों, तो वह ब्रह्मज्ञान के लिए योग्य हो जाता है। इसलिए पहले यह सब बताकर बाद में 4, 5 और 6 इन तीन अध्यायों में यह उपनिषद् कही गई है। इसके तीन अध्याय हैं और पाँच खण्ड हैं। (पहले अध्याय में तीन खण्ड तथा द्वितीय और तृतीय अध्याय में एक-एक खण्ड है)। इनमें कुल 33 मंत्र (कण्डिकाएँ) हैं।

प्रथम अध्याय में आत्मा की ईक्षणपूर्वक सृष्टि, सृष्टिक्रम, लोकपालरचना, इन्द्रियों और उनके अधिष्ठाता देवों की उत्पत्ति, उनका निवास, खाद्य, पश्वादि देहों की देवों द्वारा अस्वीकृति, मनुष्यदेह का स्वीकार, देवों का स्वस्थान प्रवेश आदि विषयों के उपरान्त अन्न की रचना, अन्न का ग्रहण, परमात्मा का शरीर-प्रवेश, जीव का मोह और उसकी निवृत्ति और इन्द्र शब्द की व्युत्पत्ति सम्मिलित है।

द्वितीय अध्याय में पुरुष के तीन जन्म बताए गए हैं और अन्त में वामदेव की उक्ति दी गई है। तीसरे अध्याय में आत्मा सम्बन्धी अनेक प्रश्न किए गए हैं। प्रधान संज्ञक मन के अनेक नाम बाद में बताए गए हैं। तथा प्रज्ञान की सर्वरूपता बताने के साथ आत्मा की एकता को जानने वालों की अमृत की प्राप्ति का वर्णन है।

शान्तिपाठः

ॐ वाङ्मे मनसि प्रतिष्ठिता मनो मे वाचि प्रतिष्ठितमाविरावीर्म एधि। वेदस्य म आणीस्थः श्रुतं मे मा प्रहासीरनेनाधीतेनाहोरात्रान्सन्दधाम्यृतं वदिष्यामि। सत्यं वदिष्यामि। तन्मामवतु तद्वक्तारमवत्ववतु मामवतु वक्तारमवतु वक्तारम्। ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः॥

हे परमात्मन्! मेरी वाणी मन में स्थिर हो तथा मन वाणी में स्थिर हो। हे प्रकाशरूप परमात्मन्, मेरे लिए तुम प्रकट हो। (हे वाणी और हे मन!) तुम मेरे लिए वेदविषयक ज्ञान को लानेवाले हो। मेरा श्रुतज्ञान मेरे से कभी विस्मृत न हो। इस स्वाध्याय से मैं दिनों और रात्रियों को एक कर दूँ। मैं परमसत्य ही बोलूँगा, सत्य ही बोला करूँगा। वह ब्रह्म मेरी रक्षा करे। वह ब्रह्म आचार्य की रक्षा करे, रक्षा करे मेरी और रक्षा करे आचार्य की। ॐ त्रिविध तापों की शान्ति हो।

अथ प्रथमोऽध्यायः

प्रथमः खण्डः

ॐ आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत् । नान्यत्किञ्चन मिषत् । स ईक्षत लोकान्नु सृजा इति ॥1॥

ॐ परमात्मा का नामोच्चारण करके उपनिषद् का प्रारंभ होता है। इस जगत् के प्रकट होने से पहले एकमात्र परमात्मा ही था। दूसरा कोई चेष्टा करनेवाला नहीं था। उस परम पुरुष परमात्मा ने 'अवश्य ही मैं लोकों का सर्जन करूँ'—इस प्रकार का विचार किया।

स इमाँल्लोकानसृजत अम्भो मरीचीर्मरमापोऽदोऽम्भः परेण दिवं द्यौः प्रतिष्ठान्तरिक्षं मरीचयः। पृथिवी मरो या अधस्तात्ता आपः ॥2॥

उसने अम्भ (द्युलोक से ऊपर के लोक), मरीची (अन्तरिक्ष), मर (मर्त्यलोक) और आप (पृथ्वी के नीचे के लोक)—इन लोकों की रचना की। जो द्युलोक से परे है और स्वर्ग जिसकी प्रतिष्ठा है, वह 'अम्भ' है। अन्तरिक्ष (भुवर्लोक) 'मरीची' है और जो पृथ्वी के नीचे है, वह 'आप' है।

स ईक्षतेमे नु लोका लोकपालान्नु सृजा इति। सोऽद्भ्य एव पुरुषं समुद्धृत्यामूर्च्छयत् ॥3॥

उसने फिर से संकल्प किया कि 'ये लोक तो तैयार हो गए, अब लोकपालों की रचना करूँ'—ऐसा सोचकर उसने जल में से एक पुरुष को निकालकर मूर्तिमान (अवयववाला) बनाया।

तमभ्यतपत्तस्याभितप्तस्य मुखं निरभिद्यत यथाण्डं मुखाद्वाग्वाचोऽग्निर्नासिके निरभिद्येतां नासिकाभ्यां प्राणः प्राणाद्वायुरक्षिणी निरभिद्येतामक्षिभ्यां चक्षुश्चक्षुष आदित्यः कर्णौ निरभिद्येतां कर्णाभ्यां श्रोत्रं श्रोत्राद्दिशस्त्वङ्निरभिद्यत त्वचो लोमानि लोमभ्य औषधिवनस्पतयो हृदयं निरभिद्यत हृदयान्मनो मनसश्चन्द्रमा नाभिर्निरभिद्यत नाभ्या अपानोऽपानान्मृत्युः शिश्नं निरभिद्यत शिश्नाद्रेतो रेतस आपः ॥4॥

इति प्रथमः खण्डः ॥1॥

परमात्मा ने उस हिरण्यगर्भ पुरुष को लक्ष्य करके संकल्पात्मक तप किया। उस तप से तप्त (प्रभावित) हिरण्यगर्भ के शरीर से प्रथम अण्डे की तरह फूटकर मुख (छिद्र) पैदा हुआ। मुख से वागिन्द्रिय और वागिन्द्रिय से अग्नि पैदा हुआ। बाद में नाक के दो छिद्र प्रकट हुए। नाक के छिद्रों से प्राण पैदा हुआ और प्राण से वायु उत्पन्न हुआ। बाद में आँखों के दो छिद्र उत्पन्न हुए। आँखों के दो छिद्रों से चक्षुरिन्द्रिय प्रकट हुई और नेत्रेन्द्रिय से सूर्य पैदा हुआ। फिर कानों के दो छिद्र उत्पन्न हुए। उन छिद्रों से कर्णेन्द्रिय उत्पन्न हुई। श्रोत्रेन्द्रिय से दिशाएँ प्रकट हुईं। फिर त्वचा उत्पन्न हुई। त्वचा से रोंगटे पैदा हुए। रोंगटों से औषधियाँ और वनस्पतियाँ पैदा हुईं। फिर हृदय उत्पन्न हुआ। हृदय से मन और मन से चन्द्र उत्पन्न हुआ। फिर नाभि प्रकट हुई। नाभि से अपानवायु उत्पन्न हुआ। और अपानवायु से मृत्युदेव पैदा हुए। बाद में लिङ्ग उत्पन्न हुआ। लिंग से वीर्य और वीर्य से जल उत्पन्न हुआ।

(यहाँ प्रथम खण्ड पूरा हुआ।)

द्वितीयः खण्डः

ता एता देवताः सृष्टा अस्मिन्महत्यर्णवे प्रापतंस्तमशनायापिपासाभ्यामन्ववार्जत् । ता एनमब्रुवन्नायतनं नः प्रजानीहि यस्मिन्प्रतिष्ठिता अन्नमदामेति ॥1॥

परमात्मा के द्वारा रचे गए ये सब देव इस संसाररूपी महासागर में जब प्रकट हो गए तब परमात्मा ने उस देवसमुदाय को भूख और प्यास से युक्त कर दिया। तब इन सब देवों ने उससे कहा—"हमारे लिए एक-एक स्थान की व्यवस्था कीजिए, जिसमें रहकर हम अन्न का भक्षण करें।"

ताभ्यो गामानयत्ता अब्रुवन्न वै नोऽयमलमिति। ताभ्योऽश्वमानयत्ता अब्रुवन्न वै नोऽयमलमिति ॥2॥

परमात्मा ने देवताओं के लिए गाय का शरीर दिया। उसे देखकर उन्होंने कहा—"हमारे लिए यह पर्याप्त नहीं है।" उनके ऐसा कहने से परमात्मा ने उनके लिए घोड़े का शरीर बनाया। उसे देखकर भी उन्होंने फिर भी वैसा ही कहा कि "हमारे लिए यह पर्याप्त नहीं है।"

ताभ्यः पुरुषमानयत्ता अब्रुवन् सुकृतं बतेति पुरुषो वाव सुकृतम्। ता अब्रवीद्यथाऽऽयतनं प्रविशतेति ॥3॥

बाद में परमात्मा उनके लिए पुरुष का शरीर बनाया। उसे देखकर वे (देव) बोले—"वाह ! वाह ! यह तो बहुत सुन्दर बन गया !" सचमुच मनुष्य-शरीर परमात्मा की सुन्दरतम रचना है। फिर देवों से परमात्मा ने कहा—"तुम अपने-अपने योग्य आश्रयों में प्रविष्ट हो जाओ।"

अग्निर्वाग्भूत्वा मुखं प्राविशद्वायुः प्राणो भूत्वा नासिके प्राविशदादित्यश्चक्षुर्भूत्वाऽक्षिणी प्राविशद्दिशः श्रोत्रं भूत्वा कर्णौ प्राविशन्नोषधिवनस्पतयो लोमानि भूत्वा त्वचं प्राविशंश्चन्द्रमा मनो भूत्वा हृदयं प्राविशन्मृत्युरपानो भूत्वा नाभिं प्राविशदापो रेतो भूत्वा शिश्नं प्राविशन् ॥4॥

तब अग्नि वागिन्द्रिय बनकर मुख में प्रविष्ट हो गया। वायु प्राण बनकर नासिका में दाखिल हुआ। सूर्य नेत्रेन्द्रिय बनकर अक्षिगोलक में चला गया। दिग्देवताएँ श्रोत्रेन्द्रिय बनकर कानों में प्रविष्ट हुईं। औषधियों और वनस्पतियों के देव रोंगटे बनकर त्वचा में दाखिल हुए। चन्द्रमा मन बनकर हृदय में प्रविष्ट हुआ। मृत्यु अपानवायु बनकर नाभि में प्रविष्ट हुआ। जल वीर्य बनकर लिंग में दाखिल हो गया।

तमशनायापिपासे अब्रूतामावाभ्यामभिप्रजानीहीति। ते अब्रवीदेतास्वेव वां देवतास्वाभजाम्येतासु भागिन्यौ करोमीति। तस्माद्यस्यै कस्यै च देवतायै हविर्गृह्यते भागिन्यावेवास्यामशनायापिपासे भवतः ॥5॥

इति द्वितीयः खण्डः ॥2॥

तब उस परमात्मा से भूख और प्यास ने कहा—"हमारे लिए भी निवासस्थान की सुविधा कर दीजिए।" यह सुनकर उन दोनों से परमात्मा ने कहा—"तुम दोनों को मैं इन सभी देवताओं में ही भाग प्रदान करता हूँ। (अर्थात् उन्हीं देवों में तुम दोनों भागीदार हो) इसीलिए जिस किसी भी देवता के लिए हवि दी जाती है, उस देवहवि में भूख और प्यास की भागीदारी होती ही है।

(यहाँ द्वितीय खण्ड पूरा हुआ।)

तृतीयः खण्डः

स ईक्षतेमे नु लोकाश्च लोकपालाश्चान्नमेभ्यः सृजा इति ॥1॥

उस परमात्मा ने सोचा कि—"ये लोक और लोकपाल तो हो गए। अब मैं उनके लिए अन्न की रचना करूँ।"

सोऽपोऽभ्यतपत् ताभ्योऽभितप्ताभ्यो मूर्तिरजायत। या वै सा मूर्तिरजायताऽन्नं वै तत् ॥2॥

उसने (परमात्मा ने) जलों को लक्ष्य कर तप किया (अर्थात् परमात्मा ने जलादि पाँच सूक्ष्म महाभूतों को अपने संकल्प द्वारा तपाया—उनमें क्रिया उत्पन्न की)। तपे हुए (क्रियाशील) उन सूक्ष्म महाभूतों में से एक मूर्त्ति उत्पन्न हुई। वह जो मूर्ति उत्पन्न हुई, वह सचमुच अन्न ही है।

तदेतत्सृष्टं पराङत्यजिघांसत् तद्वाचो जिघृक्षत्तन्नाशक्नोद्वाचा ग्रहीतुम्। स यद्धैनद्वाचाग्रहैष्यदभिव्याहृत्य हैवान्नमत्रप्स्यत् ॥3॥

उत्पन्न किया गया यह अन्न भोक्ता से विमुख होकर भागने की चेष्टा करने लगा। तब उस पुरुष ने उसे वाणी द्वारा पकड़ने की इच्छा की। परन्तु वह उसे वाणी द्वारा ग्रहण न कर सका। यदि पुरुष ने इसे वाणी द्वारा ग्रहण कर लिया होता, तो आज मनुष्य अवश्य ही (वाणी द्वारा) अन्न का वर्णन करके ही तृप्त (तुष्ट) हो जाता।

तत्प्राणेनाजिघृक्षत् तन्नाशक्नोत्प्राणेन ग्रहीतुम्। स यद्धैनत्प्राणेनाग्रहैष्यदभिप्राण्य हैवान्नमत्रप्स्यत् ॥4॥

तब उस पुरुष ने उस अन्न को प्राण द्वारा पकड़ना चाहा, परन्तु प्राण के द्वारा भी वह उसे पकड़ नहीं सका। अगर उसने अन्न को प्राण के द्वारा पकड़ लिया होता तो आज मनुष्य अवश्य ही अन्न को सूँघकर ही तृप्त हो जाता।

तच्चक्षुषाऽजिघृक्षत् तन्नाशक्नोच्चक्षुषा ग्रहीतुम्। स यद्धैनच्चक्षुषाऽग्रहैष्यद् दृष्ट्वा हैवान्नमत्रप्स्यत् ॥5॥

तब उस पुरुष ने अन्न को आँखों से पकड़ना चाहा। परन्तु आँखों से भी वह उसे पकड़ न सका। यदि उसने अन्न को आँखों से पकड़ लिया होता, आज भी मनुष्य अवश्य ही अन्न को आँखों से देखकर ही तृप्त हो जाता।

तच्छ्रोत्रेणाजिघृक्षत् तन्नाशक्नोच्छ्रोत्रेण ग्रहीतुम्। स यद्धैनच्छ्रोत्रेणाग्रहैष्यच्छ्रुत्वा हैवान्नमत्रप्स्यत् ॥6॥

तब उस पुरुष ने अन्न को श्रोत्र से पकड़ना चाहा। परन्तु श्रोत्रों से भी वह उसे न पकड़ सका। यदि उसने अन्न को श्रोत्र से पकड़ लिया होता आज भी मनुष्य अवश्य ही अन्न को सुनकर ही तृप्त हो जाता।

तत्त्वचाजिघृक्षत् तन्नाशक्नोत्त्वचा ग्रहीतुम्। स यद्धैनत्त्वचाऽग्रहैष्यत्स्पृष्ट्वा हैवान्नमत्रप्स्यत् ॥7॥

तब उस पुरुष ने अन्न को त्वचा से पकड़ना चाहा। परन्तु त्वचा से भी वह उसे न पकड़ सका।

यदि उसने अन्न को त्वचा से पकड़ लिया होता तो आज भी मनुष्य अवश्य अन्न को स्पर्श करके ही तृप्त हो जाता।

तन्मनसाऽजिघृक्षत् तन्नाशक्नोन्मनसा ग्रहीतुम्। स यद्धैनन्मनसाऽग्रहैष्यद्ध्यात्वा हैवान्नमत्रप्स्यत् ॥8॥

तब उस पुरुष ने अन्न को मन से पकड़ना चाहा। परन्तु मन से भी वह उसे न पकड़ सका। अगर उसने अन्न को मन से पकड़ लिया होता, तो अवश्य अभी भी मनुष्य अन्न का ध्यान करके ही तृप्त हो जाता।

तच्छिश्नेनाजिघृक्षत् तन्नाशक्नोच्छिश्नेन ग्रहीतुम्। स यद्धैनच्छिश्नेनाग्रहैष्यद्विसृज्य हैवान्नमत्रप्स्यत् ॥9॥

तब उस पुरुष ने अन्न को शिश्न (लिंग) से पकड़ना चाहा। परन्तु शिश्न से (लिंग से) वह उसे न पकड़ सका। अगर उसने अन्न को शिश्न से पकड़ लिया होता, तो आज भी मनुष्य अवश्य अन्न का त्याग करके तृप्त हो जाता।

तदपानेनाजिघृक्षत् तदावयत्। सैषोऽन्नस्य ग्रहो यद्वायुरन्नमायुर्वा एष यद्वायुः ॥10॥

अन्त में उस पुरुष ने अन्न को अपान से ग्रहण कराना चाहा। उस समय उसने पकड़ लिया। वह यह अपानवायु ही अन्न का ग्रहण करनेवाला है। जो वायु अन्न से जीवन की रक्षा करने के रूप में प्रसिद्ध है, वह यही अपानवायु है।

स ईक्षत कथं न्विदं मदृते स्यादिति स ईक्षत कतरेण प्रपद्या इति। स ईक्षत यदि वाचाभिव्याहृतं यदि प्राणेनाभिप्राणितं यदि चक्षुषा दृष्टं यदि श्रोत्रेण श्रुतं यदि त्वचा स्पृष्टं यदि मनसा ध्यातं यद्यपानेनाभ्यपानितं यदि शिश्नेन विसृष्टमथ कोऽहमिति ॥11॥

तब उस परमेश्वर ने सोचा कि निश्चय ही यह मेरे बिना कैसे रहेगा ? इसका विचार करते हुए फिर से उसने सोचा कि यदि इस पुरुष ने मेरे बिना ही केवल वाणी के ही द्वारा बोलने की क्रिया कर ली हो, यदि केवल प्राण से ही सूँघने की क्रिया कर ली हो, यदि केवल आँख से ही देखने की क्रिया कर ली हो, यदि केवल श्रवणेन्द्रिय से ही सुनने की क्रिया कर ली हो, यदि त्वगिन्द्रिय द्वारा स्पर्शन की क्रिया कर ली हो, यदि मन से ही मनन कर लिया हो, यदि अपान के द्वारा अन्नग्रहणादि कर लिया हो और यदि उपस्थ से मूत्रादि का त्याग कर लिया हो, तो फिर मैं कौन हूँ ? यह विचार कर उसने फिर से सोचा कि पैर और सर—इन दो मार्गों में से किस मार्ग से मैं उसमें प्रवेश करूँ ?

स एतमेव सीमानं विदार्यैतया द्वारा प्रापद्यत। सैषा विदृतिर्नाम द्वास्तदेतन्नान्दनम्। तस्य त्रय आवसथास्त्रयः स्वप्नाः अयमावसथोऽयमावसथोऽयमावसथ इति ॥12॥

ऐसा सोचकर उसने इस मनुष्य शरीर की सीमा को ही चीरकर उसके द्वारा शरीर में प्रवेश किया। यह द्वार 'विदृति' नाम से प्रसिद्ध है। वही यह आनन्ददायक ब्रह्मद्वार है। उस परमेश्वर के तीन आश्रयस्थान हैं, तीन स्वप्न हैं, यह (हृदय) आश्रयस्थान, एक यह (परमधाम) आश्रयस्थान और एक यह (ब्रह्माण्ड) आश्रयस्थान है।

स जातो भूतान्यभिव्यैख्यत्। किमिहान्यं वावदिष्यदिति।
स एतमेव पुरुषं ब्रह्म ततममपश्यदिदमदर्शमिति 3 ॥13॥

मनुष्य-रूप में उत्पन्न हुए उस पुरुष ने पंचमहाभूतों की रचना को चारों ओर से देखा और 'यहाँ दूसरा क्या है ?''—ऐसा कहा। तब उसने इस अन्तर्यामी पुरुष को ही सर्वव्यापी परब्रह्म के रूप में देखा और उसे प्रकट किया। अरे वाह ! बड़े सौभाग्य की बात है कि इस परब्रह्म परमात्मा को मैंने देख लिया।

तस्मादिदन्द्रो नामेदन्द्रो ह वै नाम । तमिदन्द्रं सन्तमिन्द्र इत्याचक्षते परोक्षेण। परोक्षप्रिया इव हि देवाः परोक्षप्रिया इव हि देवाः ॥14॥

इति तृतीयः खण्डः ॥3॥

इत्यैतरेयारण्यके चतुर्थोऽध्यायः ॥4॥

उपनिषत्सु प्रथमोऽध्यायः ।

इसलिए उसका नाम 'इदन्द्र' (इदम् + इन्द्र) हुआ। 'इदन्द्र' नाम से प्रसिद्ध यह है, इसलिए ही ब्रह्मवेत्ता लोग इसे 'इन्द्र' कहते हैं। परोक्षरूप से इसे इन्द्र कहते हैं, क्योंकि देवगण परोक्षप्रिय ही होते हैं, देवगण परोक्षप्रिय ही होते हैं।

(यहाँ तृतीय खण्ड पूरा हुआ।)
यहाँ ऐतरेय उपनिषद् का प्रथम अध्याय समाप्त होता है।

अथ द्वितीयोऽध्यायः

चतुर्थः खण्डः

पुरुषे ह वा अयमादितो गर्भो भवति। यदेतद्रेतस्तदेतत्सर्वेभ्योऽङ्गेभ्य-स्तेजःसंभूतमात्मन्येवात्मानं बिभर्ति । तद्यदा स्त्रियां सिञ्चत्यथैनज्जन-यति तदस्य प्रथमं जन्म ॥1॥

यह संसारी जीव निश्चयपूर्वक सबसे पहले पुरुष-शरीर में ही वीर्यरूपी गर्भ बनता है। पुरुष में यह जो वीर्य है, वह पुरुष के सभी अंगों से उत्पन्न हुआ तेज है। यह पुरुष पहले अपने स्वरूपभूत इस वीर्यरूप तेज को धारण करता है। बाद में जब वह उसे स्त्री में सिंचित करता है, तब वह गर्भरूप में उत्पन्न होता है। यह उसका पहला जन्म है।

तत् स्त्रिया आत्मभूयं गच्छति । यथा स्वमङ्गं तथा तस्मादेनां न हिनस्ति । साऽस्यैतमात्मानमत्र गतं भावयति ॥2॥

वह गर्भ स्त्री के आत्मभाव को प्राप्त होता है अर्थात् जैसे अपना अंग हो, वैसा ही हो जाता है। इसीलिए वह स्त्री को पीड़ा नहीं पहुँचाता। वह स्त्री अपने शरीर में आए हुए पति के स्वरूप का पालन-पोषण करती है।

सा भावयित्री भावयितव्या भवति। तं स्त्री गर्भं बिभर्ति । सोऽग्र एव कुमारं जन्मनोऽग्रेऽधिभावयति । स यत्कुमारं जन्मनोऽग्रेऽधिभावय-

त्यात्मानमेव तद्भावयत्येषां लोकानां सन्तत्या । एवं सन्तता हीमे लोकास्तदस्य द्वितीयं जन्म ॥3॥

गर्भ का पोषण करती हुई स्त्री पालन-पोषण करने योग्य होती है। वह स्त्री (माता) उस गर्भ को प्रसव होने तक धारण करती है। जन्म होने के बाद वह पिता पहले ही कुमार को (जातकर्मादि संस्कारों से) अभ्युदयशील बनाता है—उसकी उन्नति करता है। वह पिता जन्म के बाद कुमार की उन्नति करता है। वह मानों इन लोगों की उन्नति करने से अपनी ही उन्नति करता है। क्योंकि इसी प्रकार ये सब लोग विस्तार को प्राप्त हुए हैं। वह उसका दूसरा जन्म है।

सोऽस्यायमात्मा पुण्येभ्यः कर्मभ्यः प्रतिधीयते। अथास्यायमितर आत्मा कृतकृत्यो वयोगतः प्रैति । स इतः प्रयन्नेव पुनर्जायते तदस्य तृतीयं जन्म ॥4॥

पुत्ररूप में उत्पन्न हुआ उस पिता का ही आत्मा इसी के शुभकर्मों के लिए उसका प्रतिनिधि बना दिया जाता है। इसके बाद, इस पुत्र का यह पिता-रूप दूसरा आत्मा अपना कर्तव्य पूरा करके आयुष्य पूरा होने पर मरने के बाद यहाँ से चला जाता है। यहाँ से जाकर ही फिर से उत्पन्न हो जाता है। वह इसका तीसरा जन्म है।

तदुक्तमृषिणा—गर्भे नु सन्नन्वेषामवेदमहं देवानां जनिमानि विश्वा। शतं मा पुर आयसीररक्षन्नधः श्येनो जवसा निरदीयमिति ।. गर्भ एवैतच्छयानो वामदेव एवमुवाच ॥5॥

यही बात ऋषि ने कही है—"अहो! मैंने गर्भ में रहकर ही इन देवों के बहुत जन्मों को जान लिया है। तत्त्वज्ञान होने से पहले मुझे सैकड़ों लोहमय शरीरों ने जकड़ रखा था। अब तत्त्वज्ञान के प्रभाव से मैं बाज पक्षी की तरह उन्हें विदीर्ण कर बाहर निकल आया हूँ।" वामदेव ने गर्भ में शयन करते ही ऐसा कहा था।

स एवं विद्वानस्याच्छरीरभेदादूर्ध्वं उत्क्रम्यामुष्मिन् स्वर्गे लोके सर्वान् कामानाप्त्वामृतः समभवत्समभवत् ॥6॥

इति चतुर्थ खण्डः ॥4॥

इत्यैतरेयारण्यके पञ्चमोऽध्यायः ॥5॥

उपनिषत्सु द्वितीयोऽध्यायः ॥2॥

इस प्रकार जन्म-जन्मान्तर का रहस्य जाननेवाला वह वामदेव ऋषि इस शरीर के नष्ट होने पर, संसार से उठकर, ऊर्ध्व गति द्वारा परमधाम में पहुँच गया। सर्व भोगों को वहाँ प्राप्त कर अमर हो गया। अमर हो गया।

(यहाँ चतुर्थ खण्ड पूरा हुआ।)
यहाँ ऐतरेय उपनिषद् का द्वितीय अध्याय समाप्त हुआ।

❋

अथ तृतीयोऽध्यायः

पञ्चमः खण्डः

कोऽयमात्मेति वयमुपास्महे कतरः स आत्मा येन वा पश्यति येन वा शृणोति येन वा गन्धानाजिघ्रति येन वा वाचं व्याकरोति येन वा स्वादु चास्वादु च विजानाति ॥1॥

हम जिसकी उपासना करते हैं, वह यह आत्मा कौन है ? अथवा मनुष्य जिससे देखता है, अथवा जिससे सुनता है, अथवा जिससे गन्ध को सूँघता है, अथवा जिससे वाणी को स्पष्टरूप से बोलता है, अथवा जिससे स्वादयुक्त या स्वादरहित वस्तु को जानता है, वह आत्मा (प्रथम और द्वितीय अध्यायों में बताए गए आत्माओं में से) कौन-सा है ?

यदेतद्धृदयं मनश्चैतत्। संज्ञानमाज्ञानं विज्ञानं प्रज्ञानं मेधा दृष्टिर्धृतिर्मतिर्मनीषा जूतिः स्मृतिः संकल्पः क्रतुरसुः कामो वश इति। सर्वाण्येवैतानि प्रज्ञानस्य नामधेयानि भवन्ति ॥2॥

यह जो हृदय है वही मन भी है। संज्ञान (चेतन), आज्ञान (प्रभुत्व), विज्ञान, प्रज्ञान, मेधा, दृष्टि, धृति, मति, मनीषा, जूति (रोगादिजनित दुःखवेग), स्मृति, संकल्प, क्रतु, असु (प्राण), काम, वश (स्त्री-संसर्गादि की अभिलाषा)—ये सब प्रज्ञान (स्वच्छ ज्ञानस्वरूप) परमात्मा के ही नाम अर्थात् उसी की सत्ता के बोधक लक्षण हैं।

एष ब्रह्मैष इन्द्र एष प्रजापतिरेते सर्वे देवा इमानि च पञ्च महाभूतानि पृथिवी वायुराकाश आपो ज्योतींषीत्येतानीमानि च क्षुद्रमिश्राणीव। बीजानीतराणि चेतराणि चाण्डजानि च जारुजानि च स्वेदजानि चोद्भिज्जानि चाश्वा गावः पुरुषा हस्तिनो यत्किञ्चेदं प्राणि जङ्गमं च पतत्रि च यच्च स्थावरं सर्वं तत्प्रज्ञानेत्रं प्रज्ञाने प्रतिष्ठितं प्रज्ञानेत्रो लोकः प्रज्ञा प्रतिष्ठा प्रज्ञानं ब्रह्म ॥3॥

यह ब्रह्मा है, यह इन्द्र है, यही प्रजापति है। ये सभी देवता और पृथ्वी, वायु, आकाश, जल और तेज—ये पाँच महाभूत हैं। (यह प्रज्ञानरूप आत्मा ही) क्षुद्र जीवों के साथ उनके बीज (कारण) और अन्य अण्डज, जरायुज, स्वेदज, उद्भिज, घोड़े, गायें, मनुष्य एवं हाथी हैं। इसके अतिरिक्त और जो कुछ भी जंगम है, आकाश में उड़नेवाले (पतत्रि) हैं, और वृक्षपर्वतादि स्थावर हैं—ये सब प्रज्ञानेत्र और प्रज्ञान में ही (निरुपाधिक चैतन्य में ही) स्थित हैं। यह समस्त ब्रह्माण्ड प्रज्ञास्वरूप परमात्मा से ही ज्ञानशक्ति से सम्पन्न हुआ है। प्रज्ञास्वरूप परमात्मा ही इस स्थिति का आधार है। अर्थात् प्रज्ञान ही इस स्थिति के केन्द्र में है। इसलिए प्रज्ञान ही ब्रह्म है।

स एतेन प्रज्ञेनात्मनास्माल्लोकादुत्क्रम्यामुष्मिन् स्वर्गे लोके सर्वान् कामानाप्त्वामृतः समभवत्समभवत्। इत्योम् ॥4॥

इति पञ्चमः खण्डः ॥5॥

इत्यैतरेयारण्यके षष्ठोऽध्यायः ॥6॥

उपनिषत्सु तृतीयोऽध्यायः ॥3॥

इत्यैतरेयोपनिषत्समाप्ता।
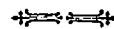
वह इस लोक से ऊपर उठकर उस परमधाम में उस प्रज्ञानस्वरूप परमात्मा के साथ सभी दिव्य भोगों को भोग कर अमर हो गया, अमर हो गया।

(यहाँ पञ्चम खण्ड पूरा हुआ।)

यहाँ ऐतरेय उपनिषद् का तृतीय अध्याय समाप्त होता है।

इस प्रकार ऐतरेयोपनिषत् समाप्त होती है।

शान्तिपाठः

ॐ वाङ्मे मनसि प्रतिष्ठिता मनो मे वाचि प्रतिष्ठितमाविरावीर्म एधि। वेदस्य म आणीस्थः श्रुतं मे मा प्रहासीरनेनाधीतेनाहोरात्रान्सन्दधाम्यृतं वदिष्यामि। सत्यं वदिष्यामि। तन्मामवतु तद्वक्तारमवत्ववतु मामवतु वक्तारमवतु वक्तारम्।
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

(9) छान्दोग्योपनिषत्

(उपनिषत्परिचय)

सामवेदान्तर्गत यह उपनिषद् सामवेद के छान्दोग्य ब्राह्मण से सम्बद्ध है। छान्दोग्य ब्राह्मण के कुल मिलाकर दस अध्याय हैं। उनमें से अन्तिम आठ अध्याय से यह उपनिषद् बनी हुई है। इस उपनिषद् का नाम 'छन्दस्' शब्द से निष्पन्न हुआ है। 'छन्दस्' सामवेद का नाम है। जो पुरुष उस 'छन्दस्' का गान करते हैं, उन्हें 'छन्दोगा' कहा जाता है। उन छन्दागाओं के गानविषय और श्रद्धाविषय होने से इस उपनिषद् का नाम 'छान्दोग्योपनिषद्' पड़ा है।

छान्दोग्योपनिषद् के सभी अध्याय महत्त्वपूर्ण हैं। पहले पाँच अध्याय उपासना (ध्यान-पद्धति) के विषय के हैं, अर्थात् वे द्वैतपरक हैं। और बाद के तीन अध्याय ब्रह्मपरक हैं। अर्थात् वे बहुधा अद्वैतपरक हैं। उपासना सम्बन्धी अध्यायों का हेतु चित्तशुद्धि पर जोर देने का है। जब चित्त विशुद्ध हो तभी ब्रह्मोपदेश प्रभावी हो सकता है।

प्राचीनतम उपनिषदों में छान्दोग्योपनिषद् का महत्त्वपूर्ण स्थान है। उपनिषद् में कही गई विषयानुरूप रसमय कहानियाँ, सरल भाषा, विषय का गांभीर्य आदि सामान्य जनों में भी इस उपनिषद् की उपादेयता को बढ़ा देते हैं। यह उपनिषद् सामान्य जनों को भी प्रेम से सत्पथ बताने में समर्थ है।

उपनिषद् का प्रारंभ ही मनुष्यों को आध्यात्मिक उन्नति के उपदेश से होता है। यहाँ मनुष्य के लिए दो मार्ग बताए हैं। एक तो वैदिक विधिविधानों का अनुष्ठान और दूसरा शास्त्रविहित ब्रह्मोपासना। छान्दोग्योपनिषद् का कहना है कि ज्यादातर लोग तो पहला मार्ग ही पसंद करेंगे क्योंकि इन्द्रियातीत ब्रह्म का विचार उनकी पहुँच के बाहर का ही होता है। अवाङ्मनसगोचर ब्रह्म उनके लिए कुछ नहीं है। उनमें बहुत-सी इच्छाएँ होती हैं, और इच्छाओं की पूर्ति से ही वे खुश होते हैं। और उस इच्छापूर्ति के लिए वैदिक विधियों का अनुष्ठान सीधा सा उपाय है ही।

पर उपनिषदें तो डंके की चोट कहती हैं कि ये 'धन-दौलत, सौन्दर्य, स्वास्थ्य, सत्ता और स्वर्ग भी स्थायी नहीं है, और वैदिक अनुष्ठान तो सिर्फ यही दे सकते हैं। यदि तुम शाश्वत आनन्द चाहते हो, तो वह तो इच्छाओं की अर्थात् संसार-बन्धनों की मुक्ति से ही मिल सकता है। और ऐसी मुक्ति तो केवल आत्मा के ज्ञान से ही हो सकती है। वैदिक विधियों में रचे-पचे लोगों के लिए यह उपनिषदों का आह्वान है। श्वेताश्वतरोपनिषद् की यह घोषणा ध्यानार्ह है—"तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यते अयनाय।"

छान्दोग्योपनिषद् की भी यही चेतावनी है। चेतावनी देकर वह आत्मज्ञान की ओर हमारा ध्यान खींचती है। इस मार्गदर्शन के प्रथम सोपान में वह उद्गीथ का उपदेश करती है। अर्थात् 'ओम्' के रटन की बात करती है। यह उपासना की एक पद्धति है। मनोनिग्रह के लिए उपयुक्त उपासना-पद्धति का यह एक भाग है। हमारा लक्ष्य तो आत्मज्ञान ही है, परन्तु उसके पहले मनोनिग्रह करने के लिए कुछ उपासनाएँ करना अनिवार्य है, इस उपनिषद् का यही उपदेश है।

उपनिषद् हमें उपासना (विद्या) और यज्ञविधियों का अनुष्ठान (अविद्या) दोनों का एक साथ आचरण करने की भी सूचना देता है। यह क्रमिक मुक्ति का मार्ग है।

पहले पाँच अध्याय उपासनापरक (द्वैतपरक) हैं, किन्तु बाद के तीन अध्याय तो ब्रह्म के सिवा कुछ बात नहीं करते। वेदान्त का कोई भी तत्त्व ऐसा नहीं है, जो इसमें शामिल न किया गया हो। छान्दोग्योपनिषद् वेदान्त का एक कोश ही है।

शान्तिपाठः

ॐ आप्यायन्तु ममाङ्गानि वाक्प्राणश्चक्षुः श्रोत्रमथो बलमिन्द्रियाणि च सर्वाणि सर्वं ब्रह्मौपनिषदं माहं ब्रह्म निराकुर्यां मा मा ब्रह्म निराकरोदनिराकरणमस्त्वनिराकरणं मेऽस्तु तदात्मनि निरते य उपनिषत्सु धर्मास्ते मयि सन्तु ते मयि सन्तु।
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

ॐ हे परब्रह्म परमात्मा! मेरे सभी अंग—वाणी, प्राण, नेत्र, कर्ण और सभी इन्द्रियाँ और शक्ति परिपुष्ट हों। यह जो सर्वरूप उपनिषत्प्रतिपादित ब्रह्म है, उस ब्रह्म का मैं अस्वीकार न करूँ। और ब्रह्म भी मेरा त्याग न करे। उसके साथ मेरा अटूट सम्बन्ध बना रहे। उपनिषद् में प्रतिपादित जो धर्मसमुदाय है, वे सभी परमात्मा में रत हममे प्रविष्ट हों, वे सभी धर्म हमारे में हों।

ॐ हे परमात्मा! त्रिविध तापों की शान्ति हो।

अथ प्रथमोऽध्यायः

प्रथमः खण्डः

ओमित्येतदक्षरमुद्गीथमुपासीत। ओमिति ह्युद्गायति तस्योपव्याख्यानम् ॥1॥

'ॐ' यह अक्षर उद्गीथ है। इसकी उपासना करनी चाहिए। 'ॐ' ऐसा उच्चारण करके यज्ञ में उद्गाता उच्च स्वर से सामगान करता है। उस उद्गीथोपासना की यहाँ व्याख्या की जाती है।

एषां भूतानां पृथिवी रसः, पृथिव्या आपो रसः। अपामोषधयो रस ओषधीनां पुरुषो रसः। पुरुषस्य वाग्रसो वाच ऋगस ऋचः साम रसः साम्न उद्गीथो रसः ॥2॥

इन चराचर भूतों का रस (सार) पृथ्वी है, पृथ्वी का रस (सार) जल है, जल का रस (सार) औषधियाँ हैं, औषधियों का (अन्नादि का) रस (सार) पुरुष है। पुरुष का सार वाणी है, वाणी का सार ऋचा है। ऋचाओं का रस (सार) साम है और सामवेद का रस (सारसत्त्व) यह उद्गीथ (ओंकार) है।

स एष रसानाः रसतमः परमः परार्ध्योऽष्टमो य उद्गीथः ॥3॥

जो यह आठवाँ ओंकार है, वह सारभूत वस्तुओं का सार है, अतिश्रेष्ठ है, परमात्मस्थानीय है।

कतमा कतमर्क्कतमत्कतमत्साम कतमः कतम उद्गीथ इति विमृष्टं भवति ॥4॥

कौन-कौन-सी ऋचा है, कौन-कौन-सा सामवेद है, कौन-कौन-सा उद्गीथ है ?—इसका विचार किया जा रहा है।

वागेवर्क् प्राणः सामोमित्येतदक्षरमुद्गीथः । तद्वा एतन्मिथुनं यद्वाक् च प्राणश्चर्क् च साम च ॥5॥

वाणी ही ऋचा है और प्राण ही सामवेद है। इस प्रकार यह अक्षर ॐ (ओंकार) उद्गीथ है। यह जो ऋक् और सामरूप वाणी और प्राण हैं, वे परस्पर मिथुन (युगल) हैं।

तदेतन्मिथुनमोमित्येतस्मिन्नक्षरे सꣳसृज्यते। यदा वै मिथुनौ समागच्छत आपयतो वै तावन्योन्यस्य कामम् ॥6॥

जब यह जोड़ा (युगल) 'ओम्' इस अक्षर के साथ जुड़ जाता है, जिस समय उस युगल के अवयव परस्पर जुड़ जाते हैं, तब निश्चय ही वे दोनों संयोग करते हैं और एक-दूसरे के मनोरथ को पूर्ण करते हैं।

आपयिता ह वै कामानां भवति य एतदेवं विद्वानक्षरमुद्गीथमुपास्ते ॥7॥

जो विद्वान् पुरुष इस अविनाशी ॐकार का इस प्रकार निश्चित रूप से सेवन करता है, वह अवश्य हा यजमान के मनोरथों को पूर्ण करनेवाला होता है।

तद्वा एतदनुज्ञाक्षरं यद्धि किंचानुजानात्योमित्येव तदाहैषो एव समृद्धिर्यदनुज्ञा समर्धयिता ह वै कामानां भवति । य एतदेवं विद्वानक्षरमुद्गीथमुपास्ते ॥8॥

यह वह ओंकार ही अनुज्ञा (स्वीकार) सूचक शब्द है। क्योंकि मनुष्य किसी को जब कोई अनुमति देता है, तब 'ओम्' ('हाँ') ऐसा ही कहता है। यह जो अनुज्ञा (स्वीकार) है, वही समृद्धि (संपदा) है। इस प्रकार जाननेवाला जो पुरुष उद्गीथ की उपासना करता है, वह अवश्य ही सभी कामनाओं को पूर्ण करनेवाला होता है।

तेनेयं त्रयी विद्या वर्तते ओमित्याश्रावयत्योमिति शꣳसत्योमित्युद्गायत्येतस्यैवाक्षरस्यापचित्यै महिम्ना रसेन ॥9॥

इस अक्षर से ही ये (ऋग्वेदादि) तीन विद्याएँ प्रवृत्त होती हैं। 'ओम्' ऐसा कहकर ही अध्वर्यु (यजुर्वेदी ऋत्विज्) देवता या यजमान को सुनाता है। 'ओम्' कहकर ही होता (ऋग्वेदी ऋत्विज्) प्रशंसा करता है। और 'ॐ' शब्द बोलकर ही उद्गाता (सामवेदी ऋत्विज्) उद्गान करता है। इस अक्षर की (ॐकार की) पूजा के लिए ही (अर्थात् ॐकाररूप परब्रह्म के महत्त्व के लिए ही) ऋत्विज (यजमानादि) से और यव, अक्षत, घी आदि होम द्रव्यों से सभी यज्ञादि कर्म सम्पन्न होते हैं।

तेनोभौ कुरुतो यश्चैतदेवं वेद यश्च न वेद। नाना तु विद्या चाविद्या च यदेव विद्यया करोति श्रद्धयोपनिषदा तदेव वीर्यवत्तरं भवतीति खल्वेतस्यैवाक्षरस्योपव्याख्यानं भवति ॥10॥

इति प्रथमः खण्डः ॥

और जो पुरुष इस ओंकार अक्षर को इस तरह भलीभाँति जानता है और जो नहीं भी जानता—ये दोनों ओंकार का उच्चारण करके यज्ञादि कर्म के अधिकारी हैं। पर जो ज्ञानी ओंकार के रहस्य को समझकर यज्ञादि कर्म करते हैं, उनका यह कर्म विशेष फलप्रद होता है, क्योंकि विद्या अलग बात है और अविद्या भी अलग बात है। दोनों का फल भी अलग ही है। इसलिए जो मनुष्य विद्या, श्रद्धा और भक्ति से कर्म करता है, उसका फल अधिक होता है। इस प्रकार यह (ओंकार अक्षर का) व्याख्यान है।

(यहाँ पहला खण्ड पूरा हुआ।)

द्वितीयः खण्डः

देवासुरा ह वै यत्र संयेतिर उभये प्राजापत्यास्तद्ध देवा उद्गीथमाजह्रुरनेनैनानभिभविष्याम इति ॥1॥

जिस समय प्रजापति की दो सन्तति—देव और असुर (श्रेष्ठता के लिए) एक-दूसरे के साथ झगड़ने लगीं, तब देवों ने ओंकार को अंगीकार किया और माना कि इस 'ओम्' के द्वारा हम असुरों को पराजित करेंगे। (इस रूपकात्मक मंत्र में देव - सात्त्विक मनोवृत्तियों का और असुर - तामसी मनोवृत्तियों का प्रतीक है—अब आगे से लक्ष्यार्थ ही लेंगे)।

ते ह नासिक्यं प्राणमुद्गीथमुपासांचक्रिरे तꣳहासुराः पाप्मना विविधुस्तस्मात्तेनोभयं जिघ्रति सुरभि च दुर्गन्धि च पाप्मना ह्येष विद्धः ॥2॥

वे इन्द्रियों की सात्त्विक वृत्तियाँ (वे देव) नासिका सम्बन्धी प्राणचैतन्य रूप उद्गीथ की ही उपासना करने लगीं। और तामसवृत्तिरूप असुरों ने उस प्राणचैतन्य को स्पर्श करके अशुद्ध कर ही दिया। इसीलिए उसी पाप से जीव सुगन्ध और दुर्गन्ध—दोनों को सूँघता है। क्योंकि यह नासिक्याभिमानी देवता पाप से भी स्पृष्ट हो गया है।

अथ ह वाचमुद्गीथमुपासांचक्रिरे ताꣳहासुराः पाप्मना विविधुस्तस्मात्तयोभयं वदति सत्यं चानृतं च पाप्मना ह्येषा विद्धा ॥3॥

अब सात्त्विक वृत्तिरूप देव, वाणीस्थित चैतन्य की ओंकार के रूप में उपासना करने लगे। पर तामसवृत्तिरूप असुरों ने उसे भी (वाणीस्थित प्राणचैतन्य को भी) पाप से स्पर्श (संसर्ग) कर दिया—अशुद्ध बना दिया। इसीलिए यह जीव उससे (वाणी से) सत्य और असत्य बोला करता है।

अथ ह चक्षुरुद्गीथमुपासांचक्रिरे तद्धासुराः पाप्मना विविधुस्तस्मात्तेनोभयं पश्यति दर्शनीयं चादर्शनीयं च पाप्मना ह्येतद्विद्धम् ॥4॥

फिर उन्होंने चक्षु के रूप में उद्गीथ की उपासना की। तामसीवृत्तिरूपी असुरों ने उसे भी पाप-संसर्ग से विद्ध (अशुद्ध) कर दिया। इसीलिए मनुष्य देखने योग्य को भी देखता है और न देखने योग्य वस्तु को भी देखता है।

अथ ह श्रोत्रमुद्गीथमुपासांचक्रिरे तद्धासुराः पाप्मना विविधुस्तस्मात्तेनोभयꣳ शृणोति श्रवणीयं चाश्रवणीयं च पाप्मना ह्येतद्विद्धम् ॥5॥

फिर उन्होंने श्रोत्र के रूप में उद्‌गीथ की उपासना की। तामसवृत्तिरूप असुरों ने उसे भी पाप से (संसर्ग से) बींध डाला (अशुद्ध कर दिया)। इसलिए मनुष्य उस (श्रोत्र) से सुनने योग्य और न सुनने योग्य बातों को सुनता है। क्योंकि श्रोत्रेन्द्रिय भी स्पर्श के पाप से दोषयुक्त है।

अथ ह मन उद्‌गीथमुपासांचक्रिरे तद्धासुराः पाप्मना विविधुस्तस्मात्ते-नोभयꣳ संकल्पयते संकल्पनीयं चासंकल्पनीयं च पाप्मना ह्येत-द्विद्धम् ॥6॥

फिर उन्होंने मन के रूप में उद्‌गीथ की उपासना की। पूर्वोक्त असुरों ने उसे भी पाप से बींध डाला। इसी से मनुष्य संकल्प करने योग्य और संकल्प न करने योग्य दोनों का ही संकल्प किया करता है। क्योंकि यह मन भी पाप से दूषित ही है।

अथ ह य एवायं मुख्यः प्राणस्तमुद्‌गीथमुपासांचक्रिरे तꣳहासुरा ऋत्वा विदध्वꣳसुर्यथाश्मानमाखणमृत्वा विध्वꣳसेत् ॥7॥

और उसके बाद जो यह मुखस्थ प्राणचैतन्य है, उसकी वे सात्त्विक वृत्तिरूपी देव, उद्‌गीथ—ओंकार के रूप में उपासना करने लगे। परन्तु उसे पाकर (स्पर्श करके) वे तामस वृत्तिरूप असुर (स्वयं) नष्ट हो गए। जैसे कठिन पत्थर को पाकर अर्थात् इससे टकराकर (मिट्टी का बरतन) फूट जाता है।

एवं यथाश्मानमाखणमृत्वा विध्वꣳसत एवꣳ हैव स विध्वꣳसते य एवंविदि पापं कामयते यश्चैनमभिदासति स एषोऽश्माखणः ॥8॥

जो पुरुष इस प्राणज्ञाता पुरुष के प्रति पाप करना चाहता है, और जो इस प्राणवेत्ता को दुःख देता है, वह उसी प्रकार पूर्णतः नष्ट हो जाता है जिस प्रकार कठिन पत्थर पर गिरकर (मिट्टी का बरतन) नष्ट हो जाता है। क्योंकि ऐसा यह प्राणवेत्ता कठिन पत्थर जैसा (अविकारी ब्रह्मरूप) होता है।

नैवैतेन सुरभि न दुर्गन्धि विजानात्यपहतपाप्मा ह्येष तेन यदश्नाति यत्पिबति तेनेतरान् प्राणानवति एतमु एवान्ततोऽवित्त्वोत्क्रामति व्याददात्येवान्तत इति ॥9॥

तामसवृत्ति से अविद्ध और नष्ट हुए पापवाला यह मुख्य प्राण इस नासिका से सुगन्ध और दुर्गन्ध को नहीं जानता और इसी विशुद्ध प्राण से पुरुष जो कुछ खाता और जो कुछ पीता है, उससे अन्य नासिकादि में स्थित देवताओं का ठीक तरह से पालन करता है। इस खानपान को बिना प्राप्त किए मरणसमय पर नासिकादि स्थित देवसमूह भागने लग जाते हैं। इसीलिए मरणसमय पर पुरुष अपना मुँह खोलकर चौड़ा कर देता है।

तꣳहाङ्गिरा उद्‌गीथमुपासांचक्र एतमु एवाङ्गिरसं मन्यन्तेऽङ्गानां यद्रसः ॥10॥

इस मुख्य प्राण की ही अंगिरा ने उद्‌गीथ मानकर (ब्रह्म समझकर) उपासना की। इस मुख्य प्राण को 'आंगिरस' कहते हैं क्योंकि वह अंगों का रस है।

तेन तꣳह बृहस्पतिरुद्‌गीथमुपासांचक्र एतमु एव बृहस्पतिं मन्यन्ते वाग्घि बृहती तस्या एष पतिः ॥11॥

वाणी 'बृहती' (बड़ी) है। अतः यह बृहस्पति वाणी का स्वामी है। इसलिए इस मुख्य प्राण की ओंकाररूप से बृहस्पति उपासना करने लगे। इसीलिए ऋषि लोग इस मुख्य प्राण को बृहस्पति मानते हैं।

तेन तꣳहायास्य उद्‌गीथमुपासांचक्र एतमु एवायास्यं मन्यन्त आस्याद्यदयते ॥12॥

आयास्य (नामक) ऋषि मुख से उत्पन्न हुए हैं। इसीलिए उस मुख्य प्राण की ही ओंकाररूप में उपासना करने लगे और उस मुख्य प्राण को इसीलिए ही मुनि लोग 'आयास्य' इस नाम से जानते हैं।

तेन तꣳह बको दाल्भ्यो विदांचकार। स ह नैमिषीयानामुद्‌गाता बभूव स ह स्मैभ्यः कामानागायति ॥13॥

दल्भ्य ऋषि का पुत्र बक ऋषि उस मुख्य प्राण को अच्छी तरह जानता था। उसकी उपासना करने से बक ऋषि नैमिष क्षेत्र के यज्ञकर्ता ऋषियों का उद्‌गाता बना था। उसी उद्‌गाता बक ऋषि ने यज्ञकर्ता उन ऋषियों के मनोरथ पूर्ण किए थे।

आगाता ह वै कामानां भवति य एतदेवं विद्वानक्षरमुद्‌गीथमुपास्त इत्यध्यात्मम् ॥14॥

इति द्वितीयः खण्डः ॥

जो पुरुष इस प्रकार मुख्य प्राण को जाननेवाला है और इस अविनाशी ओंकार की उपासना करता है, वह सब मनोरथों को अवश्य ही पूर्ण करनेवाला होता है। इस प्रकार यह अध्यात्मविद्या समाप्त हुई।

(यहाँ दूसरा खण्ड पूरा हुआ।)

❋

तृतीयः खण्डः

अथाधिदैवतं य एवासौ तपति तमुद्‌गीथमुपासीतोद्यन्वा एष प्रजाभ्य उद्‌गायति उद्यꣳस्तमो भयमपहन्त्यपहन्ता ह वै भयस्य तमसो भवति य एवं वेद ॥1॥

अब देवताविषयक उद्‌गीथ की उपासना का प्रारंभ होता है। यह जो सूर्य उदय होकर प्रत्यक्ष तपता है और जो यह उदय होता हुआ सूर्य प्रजा (कल्याण) के लिए उद्‌गीथ गाता है और जो उदित होकर अन्धकार और उसके भय को दूर करता है, उसी सूर्य की ओंकाररूप से उपासना करनी चाहिए। जो मनुष्य इस प्रकार जानता है, वही संसार के भय का और अज्ञान का निश्चयपूर्वक नाश करनेवाला होता है।

समान उ एवायं चासौ चोष्णोऽयमुष्णोऽयं स्वर इतीममाचक्षते स्वर इति प्रत्यास्वर इत्यमुं तस्माद्वा एतमिमममुं चोद्‌गीथमुपासीत ॥2॥

इस शरीर में स्थित प्राण और सूर्यस्थ प्राण—दोनों समान हैं। और जैसे इस शरीर में स्थित प्राण उष्ण है, वैसे ही सूर्यस्थित प्राण भी उष्ण है। जैसे इस शरीर में स्थित प्राण को लोग 'स्वर' कहते हैं, वैसे ही सूर्यस्थ प्राण को भी लोग 'प्रत्यास्वर' कहते हैं। इसलिए इस शरीर में स्थित प्राण में और सूर्यस्थ प्राण में उद्‌गीथ की - ओंकाररूप की उपासना करनी चाहिए।

अथ खलु व्यानमेवोद्गीथमुपासीत यद्वै प्राणिति स प्राणो यदपानिति सोऽपानः । अथ यः प्राणापानयोः सन्धिः स व्यानो यो व्यानः सा वाक् तस्मादप्राणन्ननपानन्वाचमभिव्याहरति ॥3॥

इसके बाद व्यानरूप उद्गीथ की उपासना करनी चाहिए। पुरुष जिस वायु का प्राणन करता है (मुख-नासिका द्वारा वायु को बाहर निकालता है) वही 'प्राण' है और जिस वायु को भीतर खींचता है, वही 'अपान' है। और जो वायु प्राण-अपान की संधि है, वही 'व्यान' है। जो व्यान है, वह वाणी है। अत: प्राणक्रिया नहीं करनेवाला और अपानक्रिया नहीं करनेवाला होने पर भी पुरुष वाणी को बोलता है।

या वाक्सर्क्तस्मादप्राणन्ननपानन्नृचमभिव्याहरति यर्क्तत्साम तस्माद-प्राणन्ननपानन्साम गायति यत्साम स उद्गीथस्तस्मादप्राणन्ननपानन्नु-द्गायति ॥4॥

जो वाणी है, वही ऋचा है। अत: प्राणव्यापार को रोकता हुआ, अपानव्यापार को रोकता हुआ पुरुष ऋचा का उच्चारण करता है। जो ऋचा है, वही सामवेद है। अत: प्राणव्यापार को रोकता हुआ, और अपानव्यापार को रोकता हुआ पुरुष साम गाता है। जो साम है, वही उद्गीथ है। अत: प्राणव्यापार को रोकता हुआ और अपानव्यापार को रोकता हुआ पुरुष व्यान के द्वारा उद्गीथ-गान करता है।

अतो यान्यन्यानि वीर्यवन्ति कर्माणि यथाग्नेर्मन्थनमाजेः सरणं दृढस्य धनुष आयमनमप्राणन्ननपानꣳस्तानि निकरोत्येतस्य हेतोर्व्यानमेवो-द्गीथमुपासीत ॥5॥

इसीलिए ऐसे जो अन्य प्रबल कार्य हैं, जैसे—अग्निमंथन, कुछ हद तक दौड़ना, मजबूत धनुष का खींचना आदि। ऐसे जो कर्म हैं, उन्हें प्राणव्यापार को रोकता हुआ और अपानव्यापार को रोकता हुआ पुरुष व्यान के द्वारा कर सकता है। इसलिए व्यान की ही ओंकार के रूप में उपासना करनी चाहिए।

अथ खलूद्गीथाक्षराण्युपासीतोद्गीथ इति प्राण एवोत्प्राणेन ह्युत्तिष्ठति वाग्गीर्वाचो ह गिर इत्याचक्षतेऽन्नं थमन्ने हीदꣳ सर्वꣳ स्थितम् ॥6॥

इसके बाद उद्गीथ के अक्षरों की उपासना करनी चाहिए। 'उद्गीथ' पद में 'उत्' अक्षर का अर्थ मुख्य प्राण है, क्योंकि प्राणवायु से पुरुष उठता है। 'गी' अक्षर का अर्थ वाणी है। गिरा को ही वाणी कहा जाता है। 'थम्' अक्षर का अर्थ अन्न होता है। अन्न में ही यह सारा जगत् स्थित है।

द्यौरेवोदन्तरिक्षं गीः पृथिवी थमादित्य एवोद्वायुर्गीरग्निस्थः सामवेद एवोद्यजुर्वेदो गीर्ऋग्वेदस्थं दुग्धेऽस्मै वाग्दोहं यो वाचो दोहोऽन्न-वानन्नादो भवति य एतान्येवं विद्वानुद्गीथाक्षराण्युपास्त उद्गीथ इति ॥7॥

'उत्' अक्षर ही स्वर्ग है, 'गी' अक्षर आकाश है, 'थम्' अक्षर पृथ्वी है। 'उत्' अक्षर ही आदित्य है, 'गी' अक्षर वायु है, 'थम्' अक्षर अग्नि है। 'उत्' अक्षर ही सामवेद है, 'गी' अक्षर यजुर्वेद है और 'थ' अक्षर ऋग्वेद है। वाणी का फल जो मोक्ष है, ऐसा वाणी का फल इस प्रकार के उपासक को

वह उपासना देती है। जो उपासक उक्त प्रकार से उद्गीथ के इन अक्षरों को जानकर उपासना करता है, वह अन्नसम्पत्ति और भोगशक्तिवाला होता है। इस प्रकार उद्गीथ की यह उपासना है।

अथ खल्वाशीः समृद्धिरुपसरणानीत्युपासीत येन साम्ना स्तोष्यन्स्या-त्तत्सामोपधावेत् ॥8॥

इसके बाद अच्छी तरह जो फलसिद्धि होती है, वह बताते हैं। जो ध्येय-ध्यान करने योग्य है, उसकी इस तरह उपासना करनी चाहिए। अर्थात् जिन सामवेदमंत्रों से स्तुति करता हुआ मनुष्य हो (स्तुति करना चाहता हो), साधक उस मंत्र का प्रथम चिन्तन करे।

यस्यामृचि तामृचं यदार्षेयं तमृषिं यां देवतां तामभिष्टोष्यन्स्यात्तां देवतामुपधावेत् ॥9॥

साधक सामवेद की बहुत-सी ऋचाओं में से जिस विशिष्ट ऋचा द्वारा स्तुति करना चाहता हो उसका उसे पहले चिन्तन करना चाहिए। फिर उस ऋचा के ऋषि (द्रष्टा) जो हो, उसका चिन्तन करना चाहिए और उस मंत्र के देवता का भी चिन्तन करना चाहिए।

येन च्छन्दसा स्तोष्यन्स्यात् तच्छन्द उपधावेद्येन स्तोमेन स्तोष्यमाणः स्यात्तꣳ स्तोममुपधावेत् ॥10॥

साधक गायत्र्यादि जिस छन्द से स्तुति करनेवाला हो, उस छन्द का चिन्तन-उसे करना चाहिए। जिस स्वर से वह स्तुति करनेवाला हो उस स्वर का भी चिन्तन कर लेना चाहिए (अर्थात् उनकी जानकारी प्राप्त कर लेनी चाहिए)।

यां दिशमभिष्टोष्यन्स्यात्तां दिशमुपधावेत् ॥11॥

उद्गीथोपासक जिस दिशा की स्तुति करनेवाला हो, उस दिशा के अभिमानी देव का भी उसे चिन्तन कर लेना चाहिए।

आत्मानमन्तत उपसृत्य स्तुवीत कामं ध्यायन्नप्रमत्तोऽभ्याशो ह यदस्मै स कामः समृद्ध्येत यत्कामः स्तुवीतेति यत्कामः स्तुवीतेति ॥12॥

इति तृतीयः खण्डः ॥

सावधान होकर अपने मनोरथ का चिन्तन करता हुआ वह उद्गाता साधक, अन्त में अपने आत्मा का चिन्तन करते हुए स्तुति करता है। जिस फल की इच्छा से वह स्तुति करता है, वह फल उसे अवश्य ही मिलता है (तत्काल मिलता है)।

(यहाँ तीसरा खण्ड पूरा हुआ।)

❋

चतुर्थः खण्डः

ओमित्येतदक्षरमुद्गीथमुपासीत । ओमिति । ह्युद्गायति तस्योपव्याख्यानम् ॥1॥

'ॐ यह अक्षर उद्गीथ है।'—इस प्रकार इसकी उपासना करनी चाहिए। 'ॐ' का उच्चारण करके ही उद्गाता यज्ञ में उपगान करता है। यहाँ उस उद्गीथोपासना की व्याख्या की जाती है।

देवा वै मृत्योर्बिभ्यतस्त्रयीं विद्यां प्राविशꣳस्ते छन्दोभिरच्छादयन्यदे-भिरच्छादयꣳस्तच्छन्दसां छन्दस्त्वम् ॥2॥

एक बार इन्द्रियों की सात्त्विक वृत्तिरूप देवों ने तामस वृत्तिरूप मृत्यु के संसर्गजन्य पाप से डरकर वेदत्रयी में प्रवेश किया (वेदों की शरण में गए)। वेदों ने उन्हें छन्दों से ढँक दिया। उसी से (आच्छदन से) छन्दों का छन्दस्त्व है (छन्दों का छन्द नाम अन्वर्थक है)।

**तानु तत्र मृत्युर्यथा मत्स्यमुदके परिपश्येदेवं पर्यपश्यदृचि साम्नि यजुषि ।
ते नु विदित्वोर्ध्वा ऋचः साम्नो यजुषः स्वरमेव प्राविशन् ॥3॥**

(माछीमार) जिस तरह पानी में मछली को देखता है, इसी प्रकार तमोगुणवृत्तिरूपी मृत्यु ने वहाँ (ऋक्, यजुस्, साम सम्बन्ध कर्मों में) उन सात्त्विक वृत्तिरूपी देवों को देखा। वे देव (सात्त्विक वृत्तियाँ) मृत्यु की कामना को जानकर, ऋक्-यजुस्-साम के कर्मों से उपरत हो गए (निवृत्त हो गए) और ॐकार की शरण में गए।

**यदा वा ऋचमाप्नोत्योमित्येवातिस्वरत्येवꣳ सामैवं यजुरेष उ स्वरो
यदेतदक्षरमेतदमृतमभयं तत्प्रविश्य देवा अमृता अभया अभवन् ॥4॥**

जब उपासक ऋग्वेद के मन्त्रों को 'ॐ'—इस प्रकार प्राप्त होता है, तब इस तरह 'ओम्' (ॐ)—ऐसा बोलकर सामवेद के और यजुर्वेद के मन्त्रों का उच्चारण करता है, सब यह 'ॐ' स्वर (स्वतंत्र) है। क्योंकि वह अक्षररूप है, इसीलिए मृत्युहीन है। इसलिए ॐरूप ब्रह्म को प्राप्त करके सात्त्विक वृत्तिरूप देव अमर और अभय हो गए।

**स य एतदेवंविद्वानक्षरं प्रणौत्येतदेवाक्षरꣳ स्वरममृतमभयं प्रविशति
तत्प्रविश्य यदमृता देवास्तदमृतो भवति ॥5॥
इति चतुर्थः खण्डः ॥**

जो पुरुष पूर्वोक्तानुसार इस 'ॐ' अक्षर को जानता हुआ उपासना करता है, वह पुरुष अमर और अभयरूप स्वर को (अर्थात् ॐकार को) प्राप्त होता है। क्योंकि सात्त्विक वृत्तिरूप देवलोग ॐकार का ध्यान करके अमर और अभय हो गए। अतः जो पुरुष ओंकार की उपासना करता है, वह अमर और अभय हो जाता है।

(यहाँ चौथा खण्ड पूरा हुआ।)

❋

पञ्चमः खण्डः

**अथ खलु य उद्गीथः स प्रणवो यः प्रणवः स उद्गीथ इत्यसौ वा
आदित्य उद्गीथ एष प्रणव ओमिति ह्येष स्वरन्नेति ॥1॥**

पूर्वोक्तानुसार सचमुच जो उद्गीथ है वह प्रणव है और जो प्रणव है वह उद्गीथ है। इस तरह यह प्रत्यक्ष सूर्य भी उद्गीथ है, वही प्रणव है। क्योंकि यह सूर्य ॐ ॐ ऐसे बोलता हुआ ही उदित होता है।

**एतमु एवाहमभ्यगासिषं तस्मान्मम त्वमेकोऽसीति ह कौषीतकिः पुत्र-
मुवाच रश्मीꣳस्त्वं पर्यावर्तयाद्बहवो वै ते भविष्यन्तीत्यधिदैवतम् ॥2॥**

और "मैं कौषीतकि इस सूर्य के आगे ही उद्गीथ का गान करने लगा। इसी से मेरा 'तू' एक पुत्र हुआ।" ऐसा कौषीतकि अपने पुत्र से कहने लगे। सूर्य की किरणों की और सूर्य की उपासना तुम उद्गीथ बुद्धि से करो। अवश्य तुम्हें बहुत पुत्र प्राप्त होंगे। इस प्रकार अधिदैवत उपासना है।

**अथाध्यात्मम् । य एवायं मुख्यः प्राणस्तमुद्गीथमुपासीतोमिति ह्येष
स्वरन्नेति ॥3॥**

अब आध्यात्मिक उपासना कही जाती है। जो यह मुखसम्बन्धी चैतन्य प्राण है, उसे उद्गीथ से अभिन्न मानकर उपासना करनी चाहिए। क्योंकि यह प्राण ही सूर्य की तरह 'ओम् ओम्'—यह उच्चारण करता हुआ वागिन्द्रियादि की प्रवृत्ति के लिए चलता है।

**एतमु एवाहमभ्यागासिषं तस्मान्मम त्वमेकोऽसीति ह कौषीतकिः
पुत्रमुवाच प्राणाꣳस्त्वं भूमानमभिगायताद्बहवो वै मे भविष्य-
न्तीति ॥4॥**

और "मैं कौषीतकि ने इसी प्राण के सामने उद्गीथ का गान किया (उपासना की)। इससे तुम एक पुत्र मुझे प्राप्त हुए हो। तुम सूर्य और सूर्यकिरणों की उपासना उद्गीथ के रूप में करो। तुम्हारे अवश्य ही बहुत पुत्र होंगे"—ऐसा कौषीतकि ने अपने पुत्र से कहा।

**अथ खलु य उद्गीथः स प्रणवो यः प्रणवः स उद्गीथ इति होतृषद-
नाद्धैवापि दुरुद्गीथमनुसमाहरतीत्यनुसमाहरतीति ॥5॥
इति पञ्चमः खण्डः ॥**

जो उद्गीथ है वही प्रणव है, और जो प्रणव है वही उद्गीथ है। इसलिए उद्गीथ का गान करनेवाला ऋत्विज् होम करके अपने स्वरवर्णादि दूषित उद्गीथगान को भी सम्हाल लेता है—दूर कर देता है। इस प्रकार उद्गीथ की उपासना पूरी हुई।

(यहाँ पाँचवाँ खण्ड पूरा हुआ।)

❋

षष्ठः खण्डः

**इयमेवर्गग्निः साम तदेतदेतस्यामृच्यध्यूढꣳ साम तस्मादृच्यध्यूढꣳ साम
गीयत इयमेव साऽग्निरमस्तत्साम ॥1॥**

यह (पृथ्वी) ऋग्वेद है, अग्नि सामवेद है, वह यह सामवेद ऋग्वेदरूपी पृथ्वी में अवस्थित है। अतः ऋग्वेद में आधेय भाव से स्थित है, ऐसा मानकर सामवेद (सामवेदियों द्वारा) गाया जाता है। यही पृथ्वी 'सा' है। और अग्नि 'अम' है। इसलिए वह अग्नि और यह पृथ्वी—दोनों मिलकर 'साम' अर्थ होता है।

**अन्तरिक्षमेवर्ग्वायुः साम तदेतदेतस्यामृच्यध्यूढꣳ साम तस्मादृच्यध्यूढꣳ
साम गीयतेऽन्तरिक्षमेव सा वायुरमस्तत्साम ॥2॥**

आकाश ही ऋग्वेद है और वायु सामवेद है। यह वायुरूपी सामवेद आकाशरूपी ऋग्वेद में आधेयरूप से अवस्थित है। इसलिए ऋग्वेद में अवस्थित सामवेद (सामवेदियों के द्वारा) गाया जाता है। आकाश ही 'सा' है और वायु ही 'अम' है। वह आकाश और वह वायु—दोनों मिलकर 'साम' शब्द का अर्थ है।

**द्यौरेवर्गादित्यः साम तदेतदेतस्यामृच्यध्यूढꣳ साम तस्मादृच्यध्यूढꣳ
साम गीयते द्यौरेव साऽदित्योऽमस्तत्साम ॥3॥**

स्वर्ग ही ऋग्वेद है और आदित्य ही सामवेद है। यह आदित्यरूपी सामवेद स्वर्गरूपी ऋग्वेद में आधेयरूप से अवस्थित है। इसलिए ऋग्वेद में अवस्थित सामवेद (सामवेदियों द्वारा) गाया जाता है। स्वर्ग ही 'सा' है और आदित्य ही 'अम' है। वह स्वर्ग और यह आदित्य—दोनों मिलकर 'साम' का अर्थ होता है।

नक्षत्राण्येवर्क् चन्द्रमाः साम तदेतदेतस्यामृच्यध्यूढः साम तस्मादृच्यध्यूढः साम गीयते नक्षत्राण्येव सा चन्द्रमा अमस्तत्साम ॥4॥

नक्षत्र ही ऋग्वेद है और चन्द्रमा ही सामवेद है। यह चन्द्रमारूपी सामवेद नक्षत्रोंरूपी ऋग्वेद में आधेयरूप से अवस्थित है। इसलिए ऋग्वेद में अवस्थित सामवेद गाया जाता है। नक्षत्र ही 'सा' है और चन्द्रमा ही 'अम' है। वे नक्षत्र और यह चन्द्रमा—दोनों मिलकर 'साम' का अर्थ होता है।

अथ यदेतदादित्यस्य शुक्लं भाः सैवर्गथ यन्नीलं परः कृष्णं तत्साम तदेतदेतस्यामृच्यध्यूढः साम तस्मादृच्यध्यूढः साम गीयते ॥5॥

जो सूर्य का श्वेत प्रकाश है, वही ऋग्वेद है और जो नील और श्याम वर्ण है, वह सामवेद है। यह नील और कृष्णवर्ण सम्बन्धी सामवेद इस शुक्लवर्णरूपी ऋग्वेद में आधेयरूप से अवस्थित है। ऐसा समझकर गान किया जाता है।

अथ यदेवैतदादित्यस्य शुक्लं भाः सैव साऽथ यन्नीलं परः कृष्णं तदमस्तत्सामाऽथ य एषोऽन्तरादित्ये हिरण्मयः पुरुषो दृश्यते हिरण्यश्मश्रुर्हिरण्यकेश आप्रणखात्सर्व एव सुवर्णः ॥6॥

सूर्य का जो यह शुक्ल प्रकाश है, वही 'सा' है और जो नीलवर्ण अतिश्याम है, वही 'अम' है। ये दोनों मिलकर ही साम हैं। और आदित्यमण्डल के भीतर जो यह सुवर्णमय दाढीवाला और सुवर्णमय केशवाला, सुवर्णमय नखशिख, सुवर्णमय देहवाला पुरुष है, वही यह पुरुष है।

तस्य यथा कप्यासं पुण्डरीकमेवमक्षिणी तस्योदिति नाम स एष सर्वेभ्यः पाप्मभ्य उदित उदेति ह वै सर्वेभ्यः पाप्मभ्यो य एवं वेद ॥7॥

सूर्य-मण्डलस्थ उस सुवर्णपुरुष की आँखें बन्दर की गुदा सदृश लालवर्ण वाले कमल जैसी हैं। उसका नाम 'उत्' है। क्योंकि उसने सर्वपापों का उत् (लंघन) किया है। जो उपासक इस तरह उस सूर्यमण्डलस्थ पुरुष को जानता है, वह सभी पापों से ऊपर उठकर उनसे युक्त हो जाता है।

तस्यर्क् च साम च गेष्णौ तस्मादुद्गीथस्तस्मात्त्वेवोद्गातैतस्य हि गाता स एष ये चामुष्मात्पराञ्चो लोकास्तेषां चेष्टे देवकामानां चेत्यधिदैवतम् ॥8॥

इति षष्ठः खण्डः ॥

उस आदित्यस्थ 'उत्' पुरुष को ऋग्वेद और सामवेद गाते हैं। अतः वही 'उत्' उद्गीथ है। और इसी से ही इस पुरुष को गानेवाला 'उद्गाता' है। और वही यह 'उत्' पुरुष इस सूर्य के ऊपर जो लोक हैं, उनका अधिपति है। वह देवताओं की कामनाओं को पूर्ण करता है। ऐसा यह अधिदैवत उपासना का फल है।

(यहाँ छठा खण्ड पूरा हुआ।)

*

सप्तमः खण्डः

अथाध्यात्मम् । वागेवर्क् प्राणः साम तदेतदेतस्यामृच्यध्यूढः साम तस्मादृच्यध्यूढः साम गीयते वागेव सा प्राणोऽमस्तत्साम ॥1॥

अब आध्यात्मिक उपासना कही जाती है—वाणी ऋग्वेद है और नासिकास्थ प्राण सामवेद है। वही साम वाणीरूपी ऋग्वेद में आधेयरूप से अवस्थित है। इसलिए ऋग्वेद में स्थित सामवेद गाया जाता है। वाणी ही 'सा' है और प्राण ही 'अम' है। वे दोनों मिलकर 'साम' हो जाता है।

चक्षुरेवर्गात्मा साम तदेतदेतस्यामृच्यध्यूढः साम तस्मादृच्यध्यूढः साम गीयते । चक्षुरेव सात्माऽमस्तत्साम ॥2॥

चक्षु ही ऋग्वेद है और उसका प्रतिबिम्ब ही सामवेद है। सही साम चक्षुरूपी ऋग्वेद आधेयरूप से अवस्थित है। इसलिए ऋग्वेद में स्थित सामवेद गाया जाता है। चक्षु ही 'सा' है और उसका प्रतिबिम्ब ही 'अम' है। दोनों मिलकर 'साम' हो जाता है।

श्रोत्रमेवर्ङ्मनः साम तदेतदेतस्यामृच्यध्यूढः साम तस्मादृच्यध्यूढः साम गीयते । श्रोत्रमेव सा मनोऽमस्तत्साम ॥3॥

श्रोत्र ही ऋग्वेद है और मन ही सामवेद है। वही साम श्रोत्ररूपी ऋग्वेद में आधेयरूप से अवस्थित है। इसीलिए ऋग्वेद-स्थित सामवेद गाया जाता है। श्रोत्र ही 'सा' है और मन ही 'अम' है। दोनों मिलकर 'साम' होता है।

अथ यदेतदक्ष्णः शुक्लं भाः सैवर्गथ यन्नीलं परः कृष्णं तत्साम तदेतदेतस्यामृच्यध्यूढः साम तस्मादृच्यध्यूढः साम गीयते । अथ यदेवैतदक्ष्णः शुक्लं भाः सैव साऽथ यन्नीलं परः कृष्णं तदमस्तत्साम ॥4॥

नेत्र में जो श्वेतवर्ण है, वह ऋग्वेद है और जो अत्यन्त नील-काला वर्ण है, वह सामवेद है। यह सामवेद ऋग्वेद में अधिष्ठित है। इसलिए ऋग्वेद में अवस्थित उस सामवेद को गाया जाता है। नेत्रस्थ श्वेतवर्ण ही 'सा' है और जो अतिनील श्यामवर्ण है, वह 'अम' है। दोनों मिलकर 'साम' अर्थ होता है।

अथ य एषोऽन्तरक्षिणि पुरुषो दृश्यते सैवर्क्तत्साम तदुक्थं तद्यजुस्तद्ब्रह्म तस्यैतस्य तदेव रूपं यदमुष्य रूपं यावमुष्य गेष्णौ तौ गेष्णौ यन्नाम तन्नाम ॥5॥

जो यह नेत्रस्थ पुरुष है, वही ऋग्वेद है, वही सामवेद है, वही ऋचा है, वही यजुर्वेद है, वही ब्रह्म है। जो सूर्यस्थित पुरुष का रूप है, वही इसका भी रूप है (चक्षुःस्थ पुरुष का भी)। जो सूर्यमण्डलस्थ पुरुष का अंग है वही चक्षुःस्थ पुरुष का अंग है। और जो उसका नाम है, वह इसका भी नाम है।

स एष ये चैतस्मादर्वाञ्चो लोकास्तेषां चेष्टे मनुष्यकामानां चेति । तद्य इमे वीणायां गायन्त्येतं ते गायन्ति तस्मात्ते धनसनयः ॥6॥

इस सूर्य के नीचे-ऊपर, दाईं-बाईं ओर जो लोकान्तर हैं, उनका वह स्वामी है। वैसा ही चक्षुःस्थ पुरुष का भी है। वह सब मनुष्यों की कामनाएँ पूर्ण करता है। साधक विधिपूर्वक सूर्यस्थित पुरुष का

वीणा से गान करते हैं, वे चक्षु:स्थ पुरुष का ही गान करते हैं। इसलिए वे गान करनेवाले धनवान होते हैं।

अथ य एतदेवं विद्वान्साम गायत्युभौ स गायति । सोऽमुनैव स एष ये चामुष्मात्पराञ्चो लोकास्ताःश्चाप्नोति देवकामास्ताःश्च ॥7॥

जो पुरुष ज्ञानपूर्वक और विधिपूर्वक सामवेद का गान करता है, वह चक्षु:स्थ पुरुष और सूर्यस्थ पुरुष—इन दोनों का गान करता है। वह पुरुष दोनों की अभेदोपासना द्वारा, जो लोक इस उपास्य सूर्य के ऊपर-नीचे, बायें-दायें हैं, उन सबको प्राप्त होता है। और वह पुरुष-यजमान की कामना के लिए देवों की इच्छा को भी प्राप्त करता है।

अथानेनैव ये चैतस्मादर्वाञ्चो लोकास्ताःश्चाप्नोति मनुष्यकामाःश्च तस्माद् हैवंविदुद्गाता ब्रूयात् ॥8॥

और बाद में, इस लोक से ऊपर-नीचे-दायें-बायें जो लोक हैं, उन्हें वह प्राप्त करता है। जो मनुष्यसम्बन्धी कामनाएँ हैं, उन सबको इसी चक्षु:स्थ पुरुष के द्वारा ही अपने यजमान के लिए प्राप्त करता है। अत: इसे जानने वाला उद्गाता यजमान से (इस निम्न प्रकार से) कहता है।

कं ते काममागायानीत्येष ह्येव कामागानस्येष्टे य एवं विद्वान्साम गायति साम गायति ॥9॥

इति सप्तमः खण्डः ॥

"मैं तेरे किस मनोरथ की सिद्धि के लिए सामवेद का गान करूँ ?" जब वह यजमान की कामनाओं को सुन लेता है, तब वह सामवेद का गान करता है।

(यहाँ सातवाँ खण्ड पूरा हुआ।)

❋

अष्टमः खण्डः

त्रयो होद्गीथे कुशला बभूवुः शिलकः शालावत्यश्चैकितायनो दाल्भ्यः प्रवाहणो जैवलिरिति । ते होचुरुद्गीथे वै कुशलाः स्मो हन्तोद्गीथे कथां वदाम इति ॥1॥

शालावान का पुत्र शिलक, जिलक का पुत्र प्रवाहण और चिकितायन का पुत्र दाल्भ्य—ये तीनों उद्गीथ के ज्ञान में निपुण थे। ये तीनों ऋषि एक-दूसरे से कहने लगे कि अगर सबकी इच्छा हो, तो विशेष ज्ञान के लिए उद्गीथ में हम वादप्रतिवाद करें।

तथेति ह समुपविविशुः । स ह प्रवाहणो जैवलिरुवाच भगवन्तावग्रे वदतां ब्राह्मणयोर्वदतोर्वाचःश्रोष्यामीति ॥2॥

'ठीक' ऐसा कहकर सब बैठे। तब जिवल का पुत्र प्रवाहण बोला—'आप दोनों महानुभाव पहले बोलिए। बोलते हुए आप दोनों ब्राह्मणों की वाणी को मैं सुनूँगा।

स ह शिलकः शालावत्यश्चैकितायनं दाल्भ्यमुवाच हन्त त्वा पृच्छानीति पृच्छेति होवाच ॥3॥

यह सुनकर शालावान के पुत्र शिलक, चिकितायन के पुत्र दाल्भ्य से कहने लगे कि "मैं (आपसे कुछ) पूछूँ !" दाल्भ्य ने कहा—'हाँ पूछिए।' तब वह बोले।

का साम्नो गतिरिति स्वर इति होवाच स्वरस्य का गतिरिति प्राण इति होवाच प्राणस्य का गतिरित्यन्नमिति होवाचान्नस्य का गतिरित्याप इति होवाच ॥4॥

शिलक ने पूछा—'सामवेद का आश्रय कौन है ?' उसने कहा 'स्वर'। उसने पूछा—'स्वर का आश्रय कौन है ?' उसने उत्तर दिया—'प्राण।' उसने पूछा—'प्राण का आश्रय कौन है ?' उसने उत्तर दिया—'अन्न'। उसने पूछा—'अन्न का आश्रय क्या है ?' उसने उत्तर दिया 'जल'।

अपां का गतिरित्यसौ लोक इति होवाचामुष्य लोकस्य का गतिरिति न स्वर्गं लोकमतिनयेदिति होवाच स्वर्गं वयं लोकः सामाभि-संस्थापयामः स्वर्गसःस्तावः हि सामेति ॥5॥

शिलक ने पूछा—'जल का आश्रय कौन है ?' दाल्भ्य ने कहा—'स्वर्ग है।' उसने फिर पूछा—'स्वर्ग का आश्रय कौन है ?' उसने कहा—"सामवेद का आश्रय स्वर्ग से इतर लोक नहीं है। मैं स्वर्गलोक की प्रतिष्ठा सामरूप से करता हूँ। क्योंकि सामवेद की स्तुति स्वर्गरूप में ही की गई है।"

तः ह शिलकः शालावत्यश्चैकितायनं दाल्भ्यमुवाचाऽप्रतिष्ठितं वै किल ते दाल्भ्य साम यस्त्वेतर्हि ब्रूयान्मूर्धा ते विपतिष्यतीति मूर्धा ते विपते-दिति ॥6॥

शालावान का पुत्र शिलक, चेकितायन के पुत्र दाल्भ्य से कहने लगा—'हे दाल्भ्य ! साम स्वर्ग का आश्रय है'—यह जो तू कह रहा है, वह योग्य नहीं है। किसी के आगे तू ऐसा कहेगा तो वह (सुनने वाला) यदि यह कह देगा कि 'तेरा मस्तक गिर पड़े', तो उसी समय तेरा मस्तक नीचे गिर पड़ेगा।

हन्ताहमेतद्भगवतो वेदानीति विद्धीति होवाचामुष्य लोकस्य का गतिरित्ययं लोक इति होवाचास्य लोकस्य का गतिरिति न प्रतिष्ठां लोकमतिनयेदिति होवाच प्रतिष्ठां वयं लोकः सामाभिसःस्थापयामः प्रतिष्ठासःस्तावः हि सामेति ॥7॥

दाल्भ्य ने कहा कि आपसे मैं सामवेद का आश्रय जानना चाहता हूँ। तब शिलक ने कहा कि "इस स्वर्गलोक का क्या आश्रय है, वह तुम ठीक तौर से जानो। सुनो। वह मृत्युलोक है।" तब दाल्भ्य ने कहा कि "इस मृत्युलोक का कौन आधार है ?" तब शिलक ने कहा—"इस मृत्युलोक को लाँघकर साम का दूसरा आश्रय कोई प्राप्त नहीं करता। इसीलिए हम सब साम को मृत्युलोक का आश्रय मानते हैं। क्योंकि वेद में साम की स्तुति पृथ्वीरूप में की गई है"।

तः ह प्रवाहणो जैवलिरुवाचान्तवद्वै किल ते शालावत्य साम यस्त्वेतर्हि ब्रूयान्मूर्धा ते विपतिष्यतीति मूर्धा ते विपतेदिति हन्ताहमेतद्भगवतो वेदानीति विद्धीति होवाच ॥8॥

इत्यष्टमः खण्डः ॥

जिवल का पुत्र प्रवाहण शिलक से कहने लगा कि—"हे शालावत्य ! तेरा साम नाशवान है। यदि कोई साम को न जाननेवाला तुझसे कह दे कि तेरा मस्तक गिर जाएगा, तब उसी समय अवश्य तेरा मस्तक गिर पड़ेगा।" ऐसा सुनकर शिलक ने कहा—"हाँ, तो मैं उस अविनाशी साम को आप महानुभाव से सीखूँ !" ऐसा सुनकर प्रवाहण ने कहा—'हाँ, जान लो।' तब शिलक ने कहा कि—

(यहाँ आठवाँ खण्ड पूरा हुआ।)

❋

नवम: खण्ड:

अस्य लोकस्य का गतिरित्याकाश इति होवाच । सर्वाणि ह वा इमानि भूतान्याकाशादेव समुत्पद्यन्त आकाशं प्रत्यस्तं यन्त्याकाशो ह्येवैभ्यो ज्यायानाकाशः परायणम् ॥1॥

शिलक ने पूछा—"इस लोक का आश्रय कौन है ?" प्रवाहण ने उत्तर में कहा—"वह आकाश है। आकाश से ही ये सब प्राणी उत्पन्न होते हैं, और अन्त में आकाश में ही लीन हो जाते हैं। अतः सर्व का आधार आकाश ही है। क्योंकि आकाश सबसे श्रेष्ठ है।"

स एष परोवरीयानुद्गीथः स एषोऽनन्तः परोवरीयो हास्य भवति परोवरीयसो ह लोकाञ्जयति य एतदेवं विद्वान् परोवरीयाꣳसमुद्गीथमुपास्ते ॥2॥

वही यह आकाश उद्गीथरूप परमात्मा है। वही यह आकाश अनन्त ब्रह्म है। इस आकाश का ज्ञाता श्रेष्ठ और पूजनीय होता है। जो आकाशरूप उद्गीथ ब्रह्म जानता है, वह श्रेष्ठ लोकों को प्राप्त होता है।

तꣳ हैतमतिधन्वा शौनक उदरशाण्डिल्यायोक्त्वोवाच । यावत्त एनं प्रजायामुद्गीथं वेदिष्यन्ते परोवरीयो हैभ्यस्तावदस्मिँल्लोके जीवनं भविष्यति ॥3॥

शुनक ऋषि का पुत्र अतिधन्वा अपने शिष्य उदरशाण्डिल्य को उद्गीथ का अनुभव कराकर कहता है कि—"हे उदरशाण्डिल्य ! तूने मेरे कथनानुसार उद्गीथ पहचान लिया है। अतः तुम्हारे वंशज जहाँ तक उद्गीथोपासना करते रहेंगे, वहाँ तक संसार में उत्कृष्ट जीवन जीएँगे।

तथामुष्मिँल्लोके लोक इति स य एतमेवं विद्वानुपास्ते । परोवरीय ह्येवास्यास्मिँल्लोके जीवनं भवति तथाऽमुष्मिँल्लोके लोक इति लोके लोक इति ॥4॥

इति नवमः खण्डः ॥

जो कोई भी उपर्युक्त प्रकार से उद्गीथोपासना करता है, वह उस लोक में श्रेष्ठ पदवी प्राप्त करता है और शरीर का त्याग करने के बाद उसे उत्तम लोकों की प्राप्ति होती है। यह उद्गीथ महिमा सर्वलोकहितार्थ कही गई है।

(यहाँ नौवाँ खण्ड पूरा हुआ।)

❋

दशमः खण्डः

मटचीहतेषु कुरुष्वाटिक्या सह जाययोषस्तिर्ह चाक्रायण इभ्यग्रामे प्रद्राणक उवास ॥1॥

चक्र ऋषि का पुत्र उषस्ति जब ओले-पत्थर आदि गिरने से कुरुप्रदेश की खेती बिगड़ गई, तब अपनी छोटी उम्र की पत्नी के साथ किसी धनिकों के गाँव में दीनहीन होकर रहने लगा।

स हेभ्यं कुल्माषान्खादन्तं बिभिक्षे तꣳहोवाच । नेतोऽन्ये विद्यन्ते यच्च ये म इम उपनिहिता इति ॥2॥

उस उषस्ति ने उस गाँव में सड़े हुए उड़द को खाते हुए महावत से वे सड़े उड़द माँगे। अतः महावत ने उससे कहा—"मेरे इस बरतन में जो उड़द हैं, इनके सिवा मेरे पास दूसरे उड़द नहीं हैं।"

एतेषां मे देहीति होवाच तानस्मै प्रददौ हन्तानुपानमित्युच्छिष्टं वै मे पीतꣳस्यादिति होवाच ॥3॥

उषस्ति ने कहा—"ये उड़द मुझे दे दो।" "ठीक है अच्छी बात" ऐसा कहकर महावत ने उसे उड़द दे दिए। फिर महावत बोला—"खाने के बाद पानी पीओ" तब उषस्ति ने कहा—"तब तो मुझे उच्छिष्ट (जूठा) जल पीने का दोष लगेगा"।

न स्विदेतेऽप्युच्छिष्टा इति न वा अजीविष्यमिमां न खादन्निति होवाच कामो म उदपानमिति ॥4॥

"तो क्या उड़द उच्छिष्ट नहीं हैं ?"—महावत के ऐसा कहने पर उषस्ति बोला—"यदि मैंने ये उच्छिष्ट उड़द नहीं खाये होते तो मैं जीवित नहीं रहता। पानी का पीना या न पीना तो मेरी इच्छा की बात है। क्योंकि पानी तो मेरी इच्छानुसार कहीं भी मिल जायेगा। अतः यदि मैं उच्छिष्ट पानी नहीं पीऊँगा तो मरूँगा नहीं।

स ह खादित्वातिशेषाञ्जायाया आजहार । साग्र एव सुभिक्षा बभूव तान्प्रतिगृह्य निदधौ ॥5॥

उषस्ति अच्छी तरह उड़द खा गए। बाद में बचे हुए उड़द अपनी स्त्री के लिए ले गए और उसे दिए। परन्तु, उसको पहले से ही भिक्षा मिल चुकी थी, अतः उसने वे उड़द पति के पास से लेकर रख दिए।

स ह प्रातः संजिहान उवाच यद्बतान्नस्य लभेमहि लभेमहि धनमात्राꣳ राजासौ यक्ष्यते स मा सर्वैरार्त्विज्यैर्वृणीतेति ॥6॥

उस उषस्ति ने सुबह विस्तर से उठते ही खेदपूर्वक अपनी स्त्री से कहा कि अगर थोड़ा भी अन्न हम प्राप्त करें, तो चलने की शक्ति पाकर कहीं से थोड़ा धन प्राप्त करें। सुना है कि नजदीक में एक राजा यज्ञ कर रहा है। वह ऋत्विक् कर्म जाननेवाला मुझे उस पद के लिए पसंद करेगा।

तं जायोवाच हन्त पत इम एव कुल्माषा इति तान्खादित्वामुं यज्ञं विततमेयाय ॥7॥

पत्नी ने उससे कहा—"हे पति ! ये तो सड़े हुए उड़द हैं !" तब उन उड़दों को खाकर वह ऋत्विजों के द्वारा किए जानेवाले यज्ञ की ओर गया।

तत्रोद्गातॄनास्तावे स्तोष्यमाणानुपोपविवेश स ह प्रस्तोतारमुवाच ॥8॥

वहाँ आस्ताव (स्तुति करने के स्थल) में उद्गीथगान करनेवाले उद्गाताओं के पास वह (उषस्ति) बैठा और प्रस्तोता ऋषि से कहने लगा—

प्रस्तोतर्या देवता प्रस्तावमन्वायत्ता तां चेदविद्वान्प्रस्तोष्यसि मूर्धा ते विपतिष्यतीति ॥9॥

"हे प्रस्तोता ! जो देवता प्रस्ताव कर्म के साथ सम्बन्ध रखनेवाला है, उसे न जानते हुए यदि तुम गान करोगे, तो तुम्हारा मस्तक गिर पड़ेगा।"

एवमेवोद्गातारमुवाचोद्गातर्या देवतोद्गीथमन्वायत्ता तां चेदविद्वानुद्गास्यसि मूर्धा ते विपतिष्यतीति ॥10॥

उसी तरह उद्गाता से भी उषस्ति ने कहा—"हे उद्गाता ! जो देवता प्रस्ताव कर्म के साथ सम्बन्ध रखनेवाला है, उसे बिना जाने ही यदि तुम यदि उद्गीथगान करोगे तो तुम्हारा मस्तक गिर पड़ेगा।"

एवमेव प्रतिहर्तारमुवाच प्रतिहर्तर्या देवता प्रतिहारमन्वायत्ता तां चेदविद्वान्प्रतिहरिष्यसि मूर्धा ते विपतिष्यतीति ते ह समारतास्तूष्णीमासाञ्चक्रिरे ॥11॥

इति दशमः खण्डः ॥

इसी तरह उसने प्रतिहर्ता से भी कहा—"हे प्रतिहर्ता ! जो देवता प्रतिहारकर्म के साथ सम्बन्ध रखनेवाला है, उसे बिना जाने ही यदि तू प्रतिहार कर्म करेगा, तो तेरा सर नीचे गिर पड़ेगा।" यह सुनकर सभी ऋत्विज अपने-अपने कामों से रुक गए और मौन धारण किए हुए बैठे रहे ।

(यहाँ दसवाँ खण्ड पूरा हुआ।)

एकादशः खण्डः

अथ हैनं यजमान उवाच भगवन्तं वा अहं विविदिषाणीत्युषस्तिरस्मि चाक्रायण इति होवाच ॥1॥

बाद में यजमान उससे (उषस्ति से) इस प्रकार कहने लगा—"आप महानुभाव को मैं जानना चाहता हूँ।" तब उसने उत्तर दिया—"मैं चक्रपुत्र उषस्ति हूँ।"

स होवाच भगवन्तं वा अहमेभिः सर्वैरार्त्विज्यैः पर्यैषिषं भगवतो वा अहमवित्त्यान्यानवृषि ॥2॥

उस महानुभाव (उषस्ति) से वह यजमान कहने लगा—"मैंने इन ऋत्विजों के साथ आपकी बहुत खोज की, पर आपके न मिलने से मैंने दूसरों का वरण किया।"

भगवांस्त्वेव मे सर्वैरार्त्विज्यैरिति तथेत्यथ तर्ह्येत एव समतिसृष्टाः स्तुवतां यावत्त्वेभ्यो धनं दद्यास्तावन्मम दद्या इति तथेति ह यजमान उवाच ॥3॥

"अब आप ही मेरे सभी ऋत्विक-कार्यों के लिए बनें।" तब उषस्ति ने कहा—"हाँ, पर इन सब उपस्थित ऋत्विजों को मेरी आज्ञानुसार स्तुति करनी होगी। और जितना धन तुम उन्हें देते हो, उतना ही धन मुझे देना होगा।" तब यजमान (राजा) ने कहा—'ठीक है'।

अथ हैनं प्रस्तोतोपससाद। प्रस्तोतर्या देवता प्रस्तावमन्वायत्ता तां चेदविद्वान्प्रस्तोष्यसि मूर्धा ते विपतिष्यतीति मा भगवानवोचत्कतमा सा देवतेति ॥4॥

इसके बाद जो प्रस्तोता था, वह उषस्ति के पास आया। उषस्ति ने उससे कहा—"हे प्रस्तोता ! प्रस्तावभक्ति का अधिष्ठाता जो देवता है, उसे बिना जाने ही तुम यदि यज्ञ में स्तुति करोगे, तो तुम्हारा मस्तक अवश्य ही नीचे गिर पड़ेगा।" तब प्रस्तोता बोला—"हे भगवन् ! वह कौन-सा देव है, वह तो आपने कहा ही नहीं।"

प्राण इति होवाच सर्वाणि ह वा इमानि भूतानि प्राणमेवाभिसंविशन्ति प्राणमभ्युज्जिहते। सैषा देवता प्रस्तावमन्वायत्ता तां चेदविद्वान्प्रास्तोष्यो मूर्धा ते व्यपतिष्यत्तथोक्तस्य मयेति ॥5॥

उषस्ति ने कहा—"वह देवता प्राण है। क्योंकि ये सभी प्राणी प्राण से उत्पन्न होकर प्राण में ही विलीन हो जाते हैं। यह प्राणदेवता ही प्रस्तावानुगत है। यदि तुम उसे बिना जाने ही स्तुति कर देते, तो मेरे कहने से तेरा सर नीचे गिर जाता।

अथ हैनमुद्गातोपससादोद्गातर्या देवतोद्गीथमन्वायत्ता तां चेदविद्वानुद्गास्यसि मूर्धा ते विपतिष्यतीति मा भगवानवोचत्कतमा सा देवतेति ॥6॥

पुनः उद्गाता उषस्ति के पास गया। उषस्ति ने कहा—"हे उद्गाता ! जो देव उद्गीथ का सम्बन्धी है, उसे बिना जाने ही यदि तुम यज्ञ में उसका उद्गान (स्तुति) करोगे, तो तुम्हारा सर नीचे गिर पड़ेगा।" तब उद्गाता बोला—"भगवन् ! वह कौन-सा देव है, वह तो आपने कहा ही नहीं।"

आदित्य इति होवाच सर्वाणि ह वा इमानि भूतान्यादित्यमुच्चैः सन्तं गायन्ति सैषा देवतोद्गीथमन्वायत्ता तां चेदविद्वानुदगास्यो मूर्धा ते व्यपतिष्यत्तथोक्तस्य मयेति ॥7॥

उषस्ति ने कहा—"वह देव आदित्य है। सभी स्थावरजंगम उसकी बहुत स्तुति करते हैं। वही सूर्य उद्गीथ का अधिष्ठाता देव है। उसे बिना जाने ही अगर तुमने उसकी स्तुति कर दी होती तो मेरे कथनानुसार तुम्हारा मस्तक नीचे गिर पड़ता।"

अथ हैनं प्रतिहर्तोपससाद प्रतिहर्तर्या देवता प्रतिहारमन्वायत्ता तां चेदविद्वान्प्रतिहरिष्यसि मूर्धा ते विपतिष्यतीति मा भगवानवोचत्कतमा सा देवतेति ॥8॥

अब प्रतिहर्ता उषस्ति के पास गया। उषस्ति ने उससे कहा—"हे प्रतिहर्ता ! जो देव प्रतिहार से सम्बद्ध है, उसे बिना जाने ही यदि तुम प्रतिहारकर्म करोगे, तो तुम्हारा मस्तक नीचे गिर जाएगा।" तब प्रतिहर्ता बोला—"भगवन् ! वह कौन-सा देव है, वह तो आपने कहा ही नहीं।"

अन्नमिति होवाच सर्वाणि ह वा इमानि भूतान्यन्नमेव प्रतिहरमाणानि जीवन्ति सैषा देवता प्रतिहारमन्वायत्ता । तां चेदविद्वान्प्रत्यहरिष्यो मूर्धा ते व्यपतिष्यत्तथोक्तस्य मयेति तथोक्तस्य मयेति ॥9॥

इत्येकादशः खण्डः ॥

तब उषस्ति ने कहा—"वह देवता अन्न है, क्योंकि सब प्राणी अन्न खाकर ही तो जीते हैं। इसलिए अन्नदेव प्रतिहारकर्म का अधिष्ठाता है। इस अन्न को बिना जाने ही यदि तुम प्रतिहारकर्म करते तो तुम्हारा मस्तक मेरे कथनानुसार नीचे गिर पड़ता।"

(यहाँ ग्यारहवाँ खण्ड पूरा हुआ।)

❋

द्वादशः खण्डः

अथातः शौव उद्गीथस्तद्ध बको दाल्भ्यो ग्लावो वा मैत्रेयः स्वाध्यायमुद्वव्राज ॥1॥

(अब अन्नलाभ की इच्छा से कुत्तों द्वारा देखा गया उद्गीथ यहाँ आरंभ किया जाता है)। दल्भ्यपुत्र बक अथवा ग्लाव एवं मित्रापुत्र मैत्रेय (दोनों एक ही व्यक्ति हैं) स्वाध्याय (उद्गीथाध्ययन) के लिए किसी पवित्र स्थान में गया। [अन्नाभावपीड़ित कुत्तों का रुदन सुनकर, भूख के दुःख का अनुभव करके, उसके निवारणार्थ यह बक ऋषि उद्गीथगान किया करते थे। इसलिए इस उद्गीथ का नाम 'शौव उद्गीथ' अर्थात् 'कुत्तों का उद्गीथ' पड़ा है]।

तस्मै श्वा श्वेतः प्रादुर्बभूव । तमन्ये श्वान उपसमेत्योचुरन्नं नो भगवानागायत्वशनायाम वा इति ॥2॥

बक ऋषि के पास एक श्वेत कुत्ता (कुत्ते के रूप में एक ऋषि) उपस्थित हुआ। उस सफेद कुत्ते के आसपास अन्य छोटे-मोटे कुत्ते जाकर उसे कहने लगे—"आप हमारे लिए अन्न उत्पन्न करने के लिए गान कीजिए जिससे हम खाकर भूख मिटाएँ।"

तान्होवाचेहैव मा प्रातरुपसमीयातेति तद्ध बको दाल्भ्यो ग्लावो वा मैत्रेयः प्रतिपालयाञ्चकार ॥3॥

यह सुनकर श्वेतश्वानरूपधारी उस ऋषि ने उन कुत्तों से कहा—"कल सुबह तुम सब मेरे पास आओ।" यह सुनकर बक ऋषि भी (दल्भ्यपुत्र = दाल्भ्य अथवा मित्रापुत्र मैत्रेय = गाल्व) उस स्थान पर उस श्वेतश्वान की राह देखने लगा।

ते ह यथैवेदं बहिष्पवमानेन स्तोष्यमाणाः सꣳरब्धाः सर्पन्तीत्येवमाससृपुस्ते ह समुपविश्य हिंचक्रुः ॥4॥

जैसे किसी यज्ञकर्म में बहिष्पवमान स्तोत्र के गान के लिए, स्तुति करते हुए अध्वर्यु आदि ऋत्विज एक साथ पंक्तिबद्ध होकर चलते हैं, उसी प्रकार यहाँ भी सभी छोटे कुत्ते एक साथ पंक्ति में चलने लगे। और फिर अच्छी तरह से बैठकर "हीं हीं"—ऐसी आवाज करने लगे। (यहाँ अन्योक्ति अलंकार का प्रयोग करके समझाया गया है कि श्वेतश्वान मुख्य प्राण है, छोटे कुत्ते वागिन्द्रिय हैं। ऐसा कुछ लोग कहते हैं।)

ओ३मदा३मों३पिबा३मों३देवो वरुणः प्रजापतिः सविता३ऽन्नमिहा२ऽऽहरदन्नपते२ऽन्नमिहा२ऽऽहरा२ऽऽहरो३मिति ॥5॥

इति द्वादशः खण्डः ॥

तब कुत्ते बोलने लगे—"ॐ हम खाएँ, ॐ हम पीएँ। प्रकाशमान वृष्टिदाता, सृष्टिपालक सविता देव हमारे लिए इस संसार में अन्न उत्पन्न करें।" वे फिर बोले—"हे अन्नोत्पादक सूर्य! यहाँ हमारे लिए अन्न लाइए। हम ॐ बोलकर खाएँ-पीएँ"।

(यहाँ बारहवाँ खण्ड पूरा हुआ।)

❋

त्रयोदशः खण्डः

अयं वाव लोको हाउकारो वायुर्हाइकारश्चन्द्रमा अथकारः । आत्मेहकारोऽग्निरीकारः ॥1॥

यह लोक 'हाउ' अक्षर में प्रतिष्ठित है। वायु 'हाइ' अक्षर में आरोपित है। चन्द्रमा 'अथ' अक्षर में आरोपित है। आत्मा 'इह' अक्षर में आरोपित है। और अग्नि 'ई' अक्षर में आरोपित है। (साम के अवयवभूत 'स्तोभाक्षर' उपासना यहाँ बताई गई है। ये स्तोभाक्षर 'हाऊ', 'हाई', 'अथ', 'इह', 'ई' आदि हैं। अर्थरहित गानसिद्ध्यर्थ अक्षर ही स्तोभाक्षर हैं।)

आदित्य ऊकारो निहव एकारो विश्वेदेवा औहोइकारः प्रजापतिर्हिंकारः प्राणः स्वरोऽन्नं या वाग्विराट् ॥2॥

सूर्य 'उ' अक्षर है (उष्णता से), आह्वान 'ए' अक्षर है (इन्द्रनिर्देशक), विश्वेदेवा 'औहोइ' अक्षर है, प्रजापति 'हि' अक्षर है, प्राण स्वर है, अन्न 'या' अक्षर है और वाणी विराट् है।

अनिरुक्तस्त्रयोदशः स्तोभः संचरो हुंकारः ॥3॥

कार्यकारणरूपी आत्मा जो 'हुम्' अक्षर है, वह तेरहवाँ स्तोभाक्षर है। इस स्तोभ अक्षर का भी कोई निर्वचन नहीं होता। इस अक्षर के द्वारा की गई उपासना का फल भी अनिर्वचनीय ही है।

दुग्धेऽस्मै वाग्दोहं यो वाचो दोहोऽन्नवानन्नादो भवति य एतामेवꣳसाम्नामुपनिषदं वेदोपनिषदं वेद इति ॥4॥

इति त्रयोदशः खण्डः ॥

इति छान्दोग्योपनिषदि प्रथमोऽध्यायः ॥1॥

जो वाणी का फल है, वही फल यह स्तोभाक्षर उपासना उपासक को देती है। जो उपासक सामवेद के स्तोभाक्षरविषयक समुचित ज्ञानवाला होता है, वह अन्नसम्पत्तिवाला और भोजनशक्तिवाला होता है।

(यहाँ तेरहवाँ खण्ड पूरा हुआ।)

यहाँ छान्दोग्योपनिषद् का प्रथम अध्याय समाप्त हुआ।

❋

अथ द्वितीयोऽध्यायः

प्रथमः खण्डः

**ॐ समस्तस्य खलु साम्न उपासनꣳ साधु यत्खलु साधु तत्सामेत्या-
चक्षते यदसाधु तदसामेति ॥1॥**

अंगों सहित सामवेद की उपासना करने योग्य है। जो अंगसहित साम है, वही सचमुच साम है। जो अंगों के सहित साम नहीं है, वह साम नहीं है। ऐसा सामवेदज्ञ लोग कहते हैं।

**तदुताप्याहुः साम्नैनमुपागादिति साधुनैनमुपागादित्येव तदाहुरसाम्नै-
नमुपागादित्यसाधुनैनमुपागादित्येव तदाहुः ॥2॥**

और स्पष्ट कहते हैं कि कोई पुरुष राजादि के पास 'साम' से (नम्रवचन से) गया, सब लोग कहते हैं कि वह उसके पास 'साधुभाव' से गया। और जब वह उसके पास 'असाम' (कठोर-गर्व से) से जाता है तब लोग कहते हैं, वह असाधुभाव से वहाँ गया था।

**अथोताप्याहुः साम नो बतेति यत्साधु भवति साधु बतेत्येव तदाहुरसाम
नो बतेति यदसाधु भवत्यसाधु बतेत्येव तदाहुः ॥3॥**

फिर ऐसा भी कहते हैं कि हमारा 'साम' (शुभ) हुआ। जब 'साम (शुभ) होता है, तब 'साधु' अर्थात् 'अच्छा हुआ' ऐसा कहते हैं, और जब ऐसा कहते हैं कि हमारा 'असाम' (अशुभ) हुआ, तब 'असाधु' अर्थात् बुरा हुआ ऐसा भी कहते हैं।

**स य एतदेवं विद्वान्साधु सामेत्युपास्तेऽभ्याशो ह यदेनꣳ साधवो धर्मा
आ च गच्छेयुरुप च नमेयुः ॥4॥**

इति प्रथमः खण्डः ॥

अतः जो उपासक उस साम-असाम के भेद को जानते हुए, इस शोभन अंग सहित साम को उक्त प्रकार से जानकर उपासना करता है, उसे श्रुतिस्मृति-प्रतिपादित धर्म प्राप्त होते हैं, और उपस्थित होते हैं।

(यहाँ पहला खण्ड पूरा हुआ।)

❋

द्वितीयः खण्डः

**लोकेषु पञ्चविधꣳ सामोपासीत। पृथिवी हिंकार अग्निः प्रस्तावोऽन्त-
रिक्षमुद्गीथः आदित्यः प्रतिहारो द्यौर्निधनमित्यूर्ध्वेषु ॥1॥**

ऊर्ध्व लोकों के उपासक को पाँच प्रकार के साम की उपासना इस प्रकार करनी चाहिए—पृथिवी हिंकार है, अग्नि प्रस्ताव है, अन्तरिक्ष उद्गीथ है, आदित्य प्रतिहार है और द्युलोक निधन है अर्थात् गए हुए उपासक का स्थान है।

**अथावृत्तेषु द्यौर्हिंकार आदित्यः प्रस्तावोऽन्तरिक्षमुद्गीथोऽग्निः प्रतिहारः
पृथिवी निधनम् ॥2॥**

उसके बाद नीचे के लोकों में उसी उपासक को साम के पाँच अंगों की यहाँ कहे अनुसार उपासना करनी चाहिए। जैसे स्वर्ग हिंकार है, आदित्य प्रस्ताव है, अन्तरिक्ष उद्गीथ है, अग्नि प्रतिहार है और पृथ्वी निधन अर्थात् स्वर्ग से आए लोगों का स्थान है।

**कल्पन्ते हास्मै लोका ऊर्ध्वाश्चावृत्ताश्च य एतदेवं विद्वाँल्लोकेषु पञ्च-
विधꣳसामोपास्ते ॥3॥**

इति द्वितीयः खण्डः ॥

लोकों में जो उपासक इस स्तोभाक्षरयुक्त पाँच प्रकारवाले साम की पूर्वोक्त प्रकार से जानकर उपासना करता है, वह ऊपर के स्वर्गादि तथा नीचे के पृथ्वी आदि लोकों को भोग सहित प्राप्त करता है।

(यहाँ दूसरा खण्ड पूरा हुआ।)

❋

तृतीयः खण्डः

**वृष्टौ पञ्चविधꣳ सामोपासीत पुरोवातो हिंकारो मेघो जायते स प्रस्तावो
वर्षति स उद्गीथो विद्योतते स्तनयति स प्रतिहारः ॥1॥**

उपासक को सृष्टि में पाँच प्रकार के साम की उपासना करनी चाहिए। उसमें वर्षापूर्व का पवन हिंकार है, जो मेघ उत्पन्न होता है वह प्रस्ताव है, बरसात उद्गीथ है, जो प्रकाश के साथ चमकता है और आवाज करता है वह प्रतिहार है।

**उद्गृह्णाति तन्निधनं वर्षति हास्मै वर्षयति ह य एतदेवं विद्वान्वृष्टौ
पञ्चविधꣳ सामोपास्ते ॥2॥**

इति तृतीयः खण्डः ॥

मेघ जो जल ग्रहण करता है, वह निधन है। इस प्रकार जाननेवाला जो पुरुष वृष्टि में पाँच प्रकार के साम की उपासना करता है उस उपासक के लिए ही वह बरसता है और बरसाता है। उस उपासक के लिए ऊपर और नीचे के लोक उपस्थित रहते हैं (वह उन्हें पाता है)।

(यहाँ तीसरा खण्ड पूरा हुआ।)

❋

चतुर्थः खण्डः

**सर्वास्वप्सु पञ्चविधꣳ सामोपासीत मेघो यत्सम्प्लवते स हिंकारो यद्वर्षति
स प्रस्तावो याः प्राच्यः स्यन्दन्ते स उद्गीथो याः प्रतीच्यः स प्रतिहारः
समुद्रो निधनम् ॥1॥**

उपासक को सब प्रकार के जलों में इस प्रकार पाँच प्रकार के साम की उपासना करनी चाहिए। मेघ जो घनीभूत होता है वह हिंकार है, जो बरसता है वह प्रस्ताव है, पूर्व में बहने वाला जल उद्गीथ है और पश्चिम में बहनेवाला जल प्रतिहार है और समुद्र निधन है।

न हाप्सु प्रैत्यप्सुमान्भवति । य एतदेवं विद्वान्सर्वास्वप्सु पञ्चविधः सामोपास्ते ॥2॥

इति चतुर्थः खण्डः ॥

पूर्वोक्त प्रकार से जो साधक पंचांग सहित सामोपासना सर्व जलों में ज्ञानपूर्वक करता है, वह कभी जल में डूबकर नहीं मरता। वह जल का स्वामी हो जाता है।

(यहाँ चौथा खण्ड पूरा हुआ।)

❋

पञ्चमः खण्डः

ऋतुषु पञ्चविधः सामोपासीत वसन्तो हिंकारो ग्रीष्मः प्रस्तावो वर्षा उद्गीथः शरत्प्रतिहारो हेमन्तो निधनम् ॥1॥

साधक को इस प्रकार ऋतुओं में पाँच प्रकार की सामोपासना करनी चाहिए। जैसे वसन्त हिंकार है, ग्रीष्म प्रस्ताव है, वर्षा उद्गीथ है, शरद् प्रतिहार है और हेमन्त निधन है।

कल्पन्ते हास्मा ऋतव ऋतुमान्भवति य एतदेवं विद्वानृतुषु पञ्चविधः सामोपास्ते ॥2॥

इति पञ्चमः खण्डः ॥

जो साधक ऋतुओं में इस पंचविध साम की पूर्वोक्त प्रकार से ज्ञानपूर्वक उपासना करता है, उसके लिए ऋतुएँ सभी फल देती हैं और वह ऋतुओं का सुख भोगनेवाला होता है।

(यहाँ पाँचवाँ खण्ड पूरा हुआ।)

❋

षष्ठः खण्डः

पशुषु पञ्चविधः सामोपासीताजा हिंकारोऽवयः प्रस्तावो गाव उद्गीथो-ऽश्वाः प्रतिहारः पुरुषो निधनम् ॥1॥

उपासक को पशुओं में पंचविध साम की उपासना करनी चाहिए। जैसे बकरे हिंकार है, भेड़ें प्रस्ताव है, गायें उद्गीथ हैं, घोड़े प्रतिहार हैं और पुरुष निधन है।

भवन्ति हास्य पशवः पशुमान्भवति य एतदेवं विद्वान्पशुषु पञ्चविधः सामोपास्ते ॥2॥

इति षष्ठः खण्डः ॥

जो उपासक ज्ञानपूर्वक पूर्वोक्त प्रकार से पशुओं में पंचविध सामोपासना करता है, वह अनेक पशुवाला हो जाता है अर्थात् पशुओं से समृद्ध होता है।

(यहाँ छठा खण्ड पूरा हुआ।)

❋

सप्तमः खण्डः

प्राणेषु पञ्चविधं परोवरीयः सामोपासीत प्राणो हिंकारो वाक्प्रस्तावश्च-क्षुरुद्गीथः श्रोत्रं प्रतिहारो मनो निधनं परोवरीयाꣳसि वैतानि ॥1॥

उपासक को प्राणों में अतिश्रेष्ठ पंचविध सामोपासना करनी चाहिए। जैसे—प्राण हिंकार है, वाक् प्रस्ताव है, चक्षु उद्गीथ है, श्रोत्र प्रतिहार है और मन निधन है, इस प्रकार उत्तरोत्तर श्रेष्ठ है। ये उपासनाएँ सचमुच उत्तरोत्तर श्रेष्ठ हैं।

परोवरीयो हास्य भवति परोवरीयसो ह लोकाञ्जयति य एतदेवं विद्वान्प्राणेषु पञ्चविधं परोवरीयः सामोपास्त इति तु पञ्चविधस्य ॥2॥

इति सप्तमः खण्डः ॥

जो उपासक इस प्रकार जानकर इन्द्रियों में अंगों के साथ साम की उपासना करता है, उसका जीवन अतिश्रेष्ठ बन जाता है। और वह उत्कृष्ट लोकों को प्राप्त करता है।

(यहाँ सातवाँ खण्ड पूरा हुआ।)

❋

अष्टमः खण्डः

अथ सप्तविधस्य वाचि सप्तविधः सामोपासीत यत्किञ्च वाचो हुमिति स हिंकारो यत्प्रेति स प्रस्तावो यदेति स आदिः ॥1॥

अब सात प्रकार के साम की उपासना इस प्रकार कही जाती है। (इस मंत्र के तीन अंग और आगे कहे गए चार अंग—सब मिलकर सात होते हैं। अब सातों की उपासना कही जा रही है—) जो कुछ वाणी है वह हुंकार है, और जो हुंकार है वह 'हिंकार' है, और जो 'प्र' उपसर्ग है वह प्रस्ताव है, और जो 'आ' उपसर्ग है वह आदि है।

यदुदिति स उद्गीथो यत्प्रतीति स प्रतिहारो यदुपेति स उपद्रवो अन्विति तन्निधनम् ॥2॥

जो 'उत्' उपसर्ग है वह उद्गीथ है, जो 'प्रति' उपसर्ग है वह प्रतिहार है, जो 'उप' उपसर्ग है वह उपद्रव है और जो 'अनु' उपसर्ग है वह निधन है।

दुग्धेऽस्मै वाग्दोहं यो वाचो दोहोऽन्नवानन्नदो भवति य एतदेवं विद्वान्वाचि सप्तविधः सामोपास्ते ॥3॥

इत्यष्टमः खण्डः ॥

यह उपासना, जो वाणी का फल है, उस फल को प्राप्त करा देती है। जो उपासक ज्ञानपूर्वक वाणी में सातों अंगों से साम की उपासना करता है, वह अन्नशक्ति से और उसे पचाने की शक्ति से पूर्ण हो जाता है।

(यहाँ आठवाँ खण्ड पूरा हुआ।)

❋

नवमः खण्डः

अथ खल्वमुमादित्यः सप्तविधः सामोपासीत सर्वदा समस्तेन साम मां प्रति मां प्रतीति सर्वेण समस्तेन साम ॥1॥

वाणी में सामोपासना के बाद, उस आदित्यरूप में सप्तविध साम की उपासना करनी चाहिए। यह सूर्य सर्वदा एकरूप (सम) है, इसी से साम सबके लिए समान है, अतः साम सर्वरूप है।

सूर्य, 'मेरे सामने है' 'मेरे सामने है''—इस प्रकार अनुभव से सबके प्रति 'सम' है, इसीलिए वह 'साम' है।

तस्मिन्निमानि सर्वाणि भूतान्यन्वायत्तानीति विद्यात्तस्य यत्पुरोदयात्स हिंकारस्तदस्य पशवोऽन्वायत्तास्तस्मात्ते हिंकुर्वन्ति हिंकारभाजिनो ह्येतस्य साम्नः ॥2॥

'उस आदित्य में ही ये सब प्राणी अनुगत हैं'—ऐसा जानना चाहिए। आदित्य के उदय के पहले जो है, वह हिंकार है। उसके हिंकार के अनुगत पशु हैं, इसीलिए वे "हीं हीं" किया करते हैं। इसीलिए वे आदित्यरूप साम के हिंकार के पात्र हैं।

अथ यत्प्रथमोदिते स प्रस्तावस्तदस्य मनुष्या अन्वायत्तास्तमात्ते प्रस्तुतिकामाः प्रशंस्साकामाः प्रस्तावभाजिनो ह्येतस्य साम्नः ॥3॥

अब अन्य रीति से सामोपासना कही जाती है। उदयपूर्व सूर्य का जो रूप है, वह प्रस्ताव है। उस प्रस्ताव में मनुष्य शरण में हैं। अतः इस सूर्यरूप साम के प्रस्ताव के उपासक प्रशंसा चाहनेवाले होते हैं।

अथ यत्सङ्गववेलायाः स आदिस्तदस्य वयाःस्यन्वायत्तानि तस्मात्तान्यन्तरिक्षेऽनारम्भणान्यादायात्मानं परिपतन्त्यादिभाजीनि ह्येतस्य साम्नः ॥4॥

अब अन्य उपासना कहते हैं। सूर्योदय के बाद तीन मुहूर्त बीतने पर जो सूर्य का रूप है, वह सामवेद का एक भाग (भक्तिविशेष) है। इस भक्तिविशेष ॐकार का जो रूप है, उसमें पक्षी प्रविष्ट हैं। अतः पक्षी आकाश में किसी की सहायता के बिना, अपनी ही शक्ति ग्रहण करके उड़ते हैं। क्योंकि ये पक्षी उस भक्तिविशेष ॐकार रूप संगवकाल के आदि की उपासना करनेवाले हैं।

अथ यत्सम्प्रति मध्यन्दिने स उद्गीथस्तदस्य देवा अन्वायत्तास्तस्मात्ते सत्तमाः प्राजापत्यानामुद्गीथभाजिनो ह्येतस्य साम्नः ॥5॥

अब अन्य प्रकार की उपासना कही जाती है। मध्याह्न काल में जो सूर्यरूप है, वह उद्गीथ है। उस उद्गीथ में देव अनुस्यूत हैं। इसीलिए प्रजापति की सन्तानों में वे श्रेष्ठ हैं। क्योंकि वे (देवता) इस साम के उद्गीथ के उपासक हैं।

अथ यदूर्ध्वं मध्यन्दिनात्प्रागपराह्णात्स प्रतिहारस्तदस्य गर्भा अन्वायत्तास्तस्मात्ते प्रतिहृता नावपद्यन्ते प्रतिहारभाजिनो ह्येतस्य साम्नः ॥6॥

अब मध्याह्नकाल के बाद और अपराह्णकाल के पूर्व सूर्य का जो रूप है, वह प्रतिहार है। उस प्रतिहार में गर्भ प्रविष्ट है। इसीलिए गर्भाशय में प्राप्त गर्भ च्युत नहीं होते है। क्योंकि वे गर्भ इस साम के प्रतिहार के उपासक हैं।

अथ यदूर्ध्वमपराह्णात्प्रागस्तमयात्स उपद्रवस्तदस्यारण्या अन्वायत्तास्तस्मात्ते पुरुषं दृष्ट्वा कक्षः श्वभ्रमित्युपद्रवन्त्युपद्रवभाजिनो ह्येतस्य साम्नः ॥7॥

अपराह्णकाल के बाद और अस्तकाल के पूर्व जो सूर्य का रूप है, वह उपद्रवस्तोभ है। वन्य

पशु उसी के आश्रय में जीते हैं। इसीलिए वे पशु पुरुष को देखकर भागने लगते हैं। और भयमुक्त वन में चले जाते हैं। क्योंकि ये पशु उपद्रवस्तोभ के उपासक हैं।

अथ यत्प्रथमास्तमिते तन्निधनं तदस्य पितरोऽन्वायत्तास्तस्मात्तान्निदधति निधनभाजिनो ह्येतस्य साम्न एवं खल्वमुमादित्यः सप्तविधः सामोपास्ते ॥8॥

इति नवमः खण्डः ॥

और भी एक उपासना कहते हैं—प्रथम अस्तकाल में जो सूर्यरूप है, वह निधन है। उस सूर्यरूप में पितृलोग प्रविष्ट है। अतः दर्भ पर पितृओं को (पिता, पितामह आदि के रूप में) रखा जाता है। क्योंकि वे पितृ साम के निधनस्तोभ के उपासक हैं। इसलिए जो उपासक सात प्रकार के साम की सूर्य-रूप में उपासना करता है, सूर्यतुल्य ही हो जाता है।

(यहाँ नौवाँ खण्ड पूरा हुआ।)

❋

दशमः खण्डः

अथ खल्वात्मसंमितमतिमृत्यु सप्तविधः सामोपासीत हिंकार इति त्र्यक्षरं प्रस्ताव इति त्र्यक्षरं तत्समम् ॥1॥

अब समान अक्षरों वाले मृत्यु से अतीत सप्तविध साम की उपासना करनी चाहिए—यह कहते हैं। 'हिंकार' तीन अक्षरों वाला है और 'प्रस्ताव' भी तीन अक्षरोंवाला है। अतः दोनों समान हैं।

आदिरिति द्व्यक्षरं प्रतिहार इति चतुरक्षरं तत इहैकं तत्समम् ॥2॥

'आदि' दो अक्षरवाला है और 'प्रतिहार' चार अक्षरवाला है। यदि प्रतिहार से एक अक्षर निकालकर आदि में जोड़ा जाय, तो दोनों समान होंगे। उपासक को चाहिए कि वह ऐसा चिन्तन करके ही इन दोनों की उपासना करे।

उद्गीथ इति त्र्यक्षरमुपद्रव इति चतुरक्षरं त्रिभिस्त्रिभिः समं भवत्यक्षरमतिशिष्यते त्र्यक्षरं तत्समम् ॥3॥

'उद्गीथ' तीन अक्षरवाला है और 'उपद्रव' चार अक्षरवाला है। दोनों में तीन अक्षरों की तो समानता है, पर 'उपद्रव' में एक अक्षर बढ़ जाता है। पर उसमें भी तीन अक्षर होने की समानता तो है ही।

निधनमिति त्र्यक्षरं तत्सममेव भवति तानि ह वा एतानि द्वाविंशतिरक्षराणि ॥4॥

'निधन' यह तीन अक्षरों वाला नाम है। वह तो समान ही है। ये सब मिलकर बाईस अक्षर होते हैं। (छः स्तोभों के 19 और निधन के 3 = 22)

एकविंशत्यादित्यमाप्नोत्येकविंशो वा इतोऽसावादित्यो द्वाविंशेन परमादित्याज्जयति तन्नाकं तद्विशोकम् ॥5॥

उपासक इक्कीस अक्षरों से आदित्य को प्राप्त होता है। वह सूर्यलोक, इस लोक से इक्कीसवाँ

है। बाइसवें अक्षर से सूर्यलोक से ऊपर के लोक को उपासक जीतता है। वह लोक सुखरूप और शोकरहित है।

आप्नोति हादित्यस्य जयं परो हास्यादित्यजयाज्जयो भवति य एतदेवं विद्वानात्मसंमितमतिमृत्यु सप्तविधः सामोपास्ते सामोपास्ते ॥6॥

इति दशमः खण्डः ॥

जो उपासक पूर्वोक्त प्रकार से ज्ञानपूर्वक परमात्मतुल्य, मृत्युजयी, सात प्रकार के साम की उपासना करता है, वह अवश्य सूर्य पर विजय पा लेता है और आदित्यजय के बाद भी जय (ब्रह्मलोक) की प्राप्ति उसे अवश्य होती है।

(यहाँ दसवाँ खण्ड पूरा हुआ।)

❉

एकादशः खण्डः

मनो हिंकारो वाक्प्रस्तावश्चक्षुरुद्गीथः श्रोत्रं प्रतिहारः प्राणो निधन-मेतद्गायत्रं प्राणेषु प्रोतम् ॥1॥

मन हिंकार है, वाणी प्रस्ताव है, चक्षु उद्गीथ है, श्रोत्र प्रतिहार है, प्राण निधन है। यह गायत्र (साम) प्राणों में पिरोया हुआ है।

स य एवमेतद्गायत्रं प्राणेषु प्रोतं वेद प्राणी भवति सर्वमायुरेति ज्योग्जीवति महान्प्रजया पशुभिर्भवति महान्कीर्त्या महामनाः स्यात्तद् व्रतम् ॥2॥

इत्येकादशः खण्डः ॥

जो महात्मा इस गायत्रसाम की उपासना इन्द्रियसहित प्राण में करता है, वह इन्द्रियशक्ति से सम्पन्न होता है, पूर्ण आयुष्य पाता है, उसका अन्तःकरण शुद्ध हो जाता है, सन्तान-पशु आदि से बड़ा होता है, बड़ा यशस्वी होता है, उदारहृदय होता है, यह उसका व्रत है।

(यहाँ ग्यारहवाँ खण्ड पूरा हुआ।)

❉

द्वादशः खण्डः

अभिमन्थति स हिंकारो धूमो जायते स प्रस्तावो ज्वलति स उद्गीथो-ऽङ्गारा भवन्ति स प्रतिहार उपशाम्यति तन्निधनः संशाम्यति तन्निधन-मेतद्रथन्तरमग्नौ प्रोतम् ॥1॥

अरणिमन्थन से उत्पन्न अग्नि हिंकार है, धूम प्रस्ताव है, जलता है वह उद्गीथ है, जो अंगारे हैं वह प्रतिहार है, शान्त होना वह निधन है, पूर्ण शान्त होना भी निधन है। यह 'रथ्यन्तर' नामक साम अग्नि में अनुस्यूत है।

स य एवमेतद्रथन्तरमग्नौ प्रोतं वेद ब्रह्मवर्चस्यन्नादो भवति सर्वमायुरेति ज्योग्जीवति महान्प्रजया पशुभिर्भवति महान्कीर्त्या न प्रत्यङ्ङग्निमा-चामेन्न निष्ठीवेत्तद्व्रतम् ॥2॥

इति द्वादशः खण्डः ॥

जो साधक अग्नि में अनुगत इस 'रथ्यन्तर' साम को इस तरह जानता है, वह विद्यावान और ज्ञानवान बनता है। पुष्ट शरीर और पूर्ण आयुष्य पाता है, उज्ज्वल जीवन जीता है, पशु-संतान से महान् और बड़ा यशस्वी होता है। उनका ऐसा व्रत है कि जिसमें अग्नि के सामने मुँह रखकर भोजन नहीं करते और उसके आगे थूकते नहीं हैं।

(यहाँ बारहवाँ खण्ड पूरा हुआ।)

❉

त्रयोदशः खण्डः

उपमन्त्रयते स हिंकारो ज्ञपयते स प्रस्तावः स्त्रिया सह शेते स उद्गीथः प्रति स्त्रीं सह शेते स प्रतिहारः कालं गच्छति तन्निधनं पारं गच्छति तन्निधनमेतद्वामदेव्यं मिथुने प्रोतम् ॥1॥

संकेत करते हैं वह हिंकार है, मीठी-मीठी बातें प्रस्ताव है, स्त्री के साथ सोता है वह उद्गीथ है, अनेक पत्नियों में से एक पत्नी के साथ सोता है वह प्रतिहार है, मैथुन में समय व्यतीत करता है वह निधन है, मैथुनक्रिया की समाप्ति भी निधन ही है। यह वामदेव्य साम मिथुन में ओतप्रोत (सम्बद्ध) है।

स य एवमेतद्वामदेव्यं मिथुने प्रोतं वेद मिथुनीभवति मिथुनान्मिथुना-त्प्रजायते सर्वमायुरेति ज्योग्जीवति महान्प्रजया पशुभिर्भवति महा-न्कीर्त्या न कांचन परिहरेत्तद्व्रतम् ॥2॥

इति त्रयोदशः खण्डः ॥

जो उपासक इस वामदेव्य नामक साम की पूर्वोक्त रीति से उपासना करता है, वह सदा स्त्री के साथ ही रहता है। प्रत्येक मैथुन से सन्तानोत्पत्ति करता है, पूर्ण आयुष्य भोगता है, उज्ज्वल जीवन जीता है, सन्तान-पशुओं से बड़ा होता है, बहुत यशस्वी होता है। अपनी किसी स्त्री का त्याग न करना ही उसका व्रत होता है।

(यहाँ तेरहवाँ खण्ड पूरा हुआ।)

❉

चतुर्दशः खण्डः

उद्यन्हिंकार उदितः प्रस्तावो मध्यन्दिन उद्गीथोऽपराह्णः प्रतिहारोऽस्तं यन्निधनमेतद् बृहदादित्ये प्रोतम् ॥1॥

उगता हुआ सूर्य हिंकार है, उदित सूर्य प्रस्ताव है, मध्याह्न का सूर्य उद्गीथ है, अपराह्न का सूर्य प्रतिहार है, और अस्त निधन है। यह बृहत्साम सूर्य में स्थित है।

स य एवमेतद् बृहदादित्ये प्रोतं वेद तेजस्व्यन्नादो भवति सर्वमायुरेति ज्योग्जीवति महान्प्रजया पशुभिर्भवति महान्कीर्त्या तपन्तं न निन्देत् तद्व्रतम् ॥2॥

इति चतुर्दशः खण्डः ॥

जो साधक आदित्य में इस बृहत्साम की उपासना करता है, वह तेजस्वी अन्न पचानेवाला होता है, पूर्ण आयुष्य पाता है, संतान-पशुओं से बड़ा होता है, बहुत यशस्वी होता है, उज्ज्वल जीवन जीता है। तपते सूर्य की निन्दा न करना ही यहाँ व्रत है।

(यहाँ चौदहवाँ खण्ड पूरा हुआ।)

❋

पञ्चदशः खण्डः

अभ्राणि सम्प्लवन्ते स हिंकारो मेघो जायते स प्रस्तावो वर्षति स उद्गीथो विद्योतते स्तनयति स प्रतिहार उद्गृह्णाति तन्निधनमेतद्वैरूपं पर्जन्ये प्रोतम् ॥1॥

बादल एकत्रित होते हैं वह हिंकार है, मेघ उत्पन्न होता है वह प्रस्ताव है, बरसता है वह उद्गीथ है, चमकता और गड़गड़ाहट करता है वह प्रतिहार है, वृष्टि का उपसंहार निधन है। वह वैरूप नामक साम मेघ में ओतप्रोत है।

स य एवमेतद्वैरूपं पर्जन्ये प्रोतं वेद विरूपाꣳश्च सुरूपाꣳश्च पशूनवरुन्धे सर्वमायुरेति ज्योग्जीवति महान्प्रजया पशुभिर्भवति महान्कीर्त्या वर्षन्तं न निन्देत्तद्व्रतम् ॥2॥

इति पञ्चदशः खण्डः ॥

जो पुरुष इस 'वैरूप' साम को इस प्रकार पर्जन्य में ओतप्रोत जानकर उपासना करता है, वह कुरूप और सुरूप पशु प्राप्त करता है, पूर्ण आयुष्य भोगता है, तेजस्वी जीवन जीता है, प्रजाओं और पशुओं से बड़ा होता है, बहुत यशस्वी होता है। बरसते हुए की निन्दा न करना यहाँ नियम है।

(यहाँ पंद्रहवाँ खण्ड पूरा हुआ।)

❋

षोडशः खण्डः

वसन्तो हिंकारो ग्रीष्मः प्रस्तावो वर्षा उद्गीथः शरत्प्रतिहारो हेमन्तो निधनमेतद्वैराजमृतुषु प्रोतम् ॥1॥

वसन्त हिंकार है, ग्रीष्म प्रस्ताव है, वर्षा उद्गीथ है, शरत् प्रतिहार है, हेमन्त निधन है—वह वैराज साम ऋतुओं में अनुस्यूत है।

स य एवमेतद्वैराजमृतुषु प्रोतं वेद विराजति प्रजया पशुभिर्ब्रह्मवर्चसेन सर्वमायुरेति ज्योग्जीवति महान्प्रजया पशुभिर्भवति महान्कीर्त्यर्तूंन्न निन्देत्तद्व्रतम् ॥2॥

इति षोडशः खण्डः ॥

जो उपासक वैराज साम को पूर्वोक्त प्रकार से ऋतुओं में अनुगत मानकर उपासना करता है, वह सन्तानों, पशुओं और ब्रह्मतेज से शोभित होता है। पूर्ण आयु भोगता है, उज्ज्वल जीवन जीता है, सन्तानों, पशुओं और कीर्ति से बड़ा होता है। ऋतुओं की निन्दा न करना ही नियम है।

(यहाँ सोलहवाँ खण्ड पूरा हुआ।)

❋

सप्तदशः खण्डः

पृथिवी हिंकारोऽन्तरिक्षं प्रस्तावो द्यौरुद्गीथो दिशः प्रतिहारः समुद्रो निधनमेताः शक्वर्यो लोकेषु प्रोताः ॥1॥

पृथ्वी हिंकार है, अन्तरिक्ष प्रस्ताव है, द्यौ उद्गीथ है, दिशाएँ प्रतिहार हैं, समुद्र निधन है। वह शक्वरी साम लोकों में ओतप्रोत है।

स य एवमेताः शक्वर्यो लोकेषु प्रोता वेद लोकी भवति सर्वमायुरेति ज्योग्जीवति महान्प्रजया पशुभिर्भवति महान्कीर्त्या लोकान्न निन्देत्तद्व्रतम् ॥2॥

इति सप्तदशः खण्डः ॥

जो उपासक शक्वरी साम को इस प्रकार लोकों में अनुस्यूत जानता है, वह लोकवान होता है, पूरा आयुष्य भोगता है, उज्ज्वल जीवन जीता है, संतति और पशुओं से भी महान् बनता है, बड़ा यशस्वी होता है। लोकों की निन्दा न करे—यह नियम है।

(यहाँ सत्रहवाँ खण्ड पूरा हुआ।)

❋

अष्टादशः खण्डः

अजा हिंकारोऽवयः प्रस्तावो गाव उद्गीथोऽश्वाः प्रतिहारः पुरुषो निधनमेता रेवत्यः पशुषु प्रोताः ॥1॥

बकरे हिंकार हैं, भेड़ें प्रस्ताव हैं, गायें उद्गीथ हैं, घोड़े प्रतिहार हैं, पुरुष निधन है। इस प्रकार से रेवती साम पशुओं में ओतप्रोत है।

स य एवमेता रेवत्यः पशुषु प्रोता वेद पशुमान्भवति सर्वमायुरेति ज्योग्जीवति महान्प्रजया पशुभिर्भवति महान्कीर्त्या पशून्न निन्देत्तद्व्रतम् ॥2॥

इत्यष्टादशः खण्डः ॥

जो उपासक इस रेवती साम को पशुओं में ओतप्रोत जानता है, वह पशुवाला होता है, पूरा आयुष्य भोगता है, ओजस्वी जीवन जीता है, प्रजा और पशुओं से बड़ा होता है, बहुत यशस्वी होता है। पशुओं की निन्दा न करना यहाँ नियम है।

(यहाँ अठारहवाँ खण्ड पूरा हुआ।)

❋

एकोनविंशतिः खण्डः

लोम हिंकारस्त्वक्प्रस्तावो माꣳसमुद्गीथोऽस्थि प्रतिहारो मज्जा निधनमेतद्यज्ञायज्ञीयमङ्गेषु प्रोतम् ॥1॥

रोंगटे हिंकार हैं, त्वचा प्रस्ताव है, मांस उद्गीथ है, हड्डियाँ प्रतिहार हैं, मज्जा निधन है। इस प्रकार यह यज्ञायज्ञीय साम अंगों में ओतप्रोत है।

स य एवमेतद्यज्ञायज्ञीयमङ्गेषु प्रोतं वेदाङ्गी भवति नाङ्गेन विहूर्च्छति सर्वमायुरेति ज्योग्जीवति महान्प्रजया पशुभिर्भवति महान्कीर्त्या संवत्सरं मज्ज्ञो नाश्नीयात्तद्व्रतं मज्ज्ञो नाश्नीयादिति वा ॥2॥

इत्येकोनविंशः खण्डः ॥

जो उपासक इस यज्ञायज्ञीय साम को अंगों में ओतप्रोत होते हुए जानता है, वह सबल अंगोंवाला होता है। किसी अंग से खण्डित नहीं होता। पूरी आयु भोगता है, उज्ज्वल जीवन जीता है, सन्तति और पशुओं से महान् होता है, बड़ा यशस्वी बनता है। एक वर्ष तक मांस न खाना यहाँ नियम है। अथवा तो मांस ही न खाना—यह नियम है।

(यहाँ उन्नीसवाँ खण्ड पूरा हुआ।)

❋

विंशः खण्डः

अग्निर्हिंकारो वायुः प्रस्ताव आदित्य उद्गीथो नक्षत्राणि प्रतिहारश्चन्द्रमा निधनमेतद्राजनं देवतासु प्रोतम् ॥1॥

अग्नि हिंकार है, वायु प्रस्ताव है, आदित्य उद्गीथ है, नक्षत्र प्रतिहार है, चन्द्रमा निधन है। यह राजन साम देवताओं में ओतप्रोत है।

स य एवमेतद्राजनं देवतासु प्रोतं वेदैतासामेव देवतानाꣳ सलोकताꣳ सार्ष्टिताꣳ सायुज्यं गच्छति सर्वमायुरेति ज्योग्जीवति महान्प्रजया पशुभिर्भवति महान्कीर्त्या ब्राह्मणान्न निन्देत्तद्व्रतम् ॥2॥

इति विंशः खण्डः ॥

जो साधक इस प्रकार राजन साम को देवताओं में ओतप्रोत जानकर उपासना करता है, वह इन देवताओं के सालोक्य और ऐश्वर्य को प्राप्त करता है, पूर्ण आयु पाता है, उज्ज्वल जीवन जीता है, सन्तान और पशुओं से बड़ा होता है। बहुत यशस्वी होता है। ब्राह्मणों की निन्दा न करना, यहाँ नियम है।

(यहाँ बीसवाँ खण्ड पूरा हुआ।)

❋

एकविंशः खण्डः

त्रयी विद्या हिंकारस्त्रय इमे लोकाः स प्रस्तावोऽग्निर्वायुरादित्यः स उद्गीथो नक्षत्राणि वयाꣳसि मरीचयः स प्रतिहारः सर्पा गन्धर्वाः पितरस्तन्निधनमेतत्साम सर्वस्मिन्प्रोतम् ॥1॥

तीनों वेद हिंकार हैं; तीनों लोक (पृथ्वी-अन्तरिक्ष-स्वर्ग) प्रस्ताव है; अग्नि, वायु और आदित्य—ये उद्गीथ हैं; नक्षत्र, पक्षी और किरणें—प्रतिहार हैं; सर्प, गंधर्व और पितृ—ये निधन हैं। यह सामोपासना सबमें अनुगत है।

स य एवमेतत्साम सर्वस्मिन्प्रोतं वेद सर्वꣳ ह भवति ॥2॥

इस तरह जो इस साम को सबमें अनुगत जानकर उपासना करता है, वह सर्वरूप होता है।

तदेष श्लोको यानि पञ्चधा त्रीणि त्रीणि तेभ्यो न ज्यायः परमन्यदस्ति ॥3॥

इस खण्ड में हिंकारादि पाँच अंग सहित तीन रूप वाले साम कहे गए हैं, उनसे ज्यादा उत्तम कोई भी पदार्थ नहीं है। इस विषय में यह श्लोक है—

यस्तद्वेद स वेद सर्वꣳ सर्वा दिशो बलिमस्मै हरन्ति सर्वमस्मीत्युपासीत तद्व्रतं तद्व्रतम् ॥4॥

इत्येकविंशः खण्डः ॥

जो इसे जानता है, सब जानता है, उसे सभी दिशाएँ बलि समर्पित करती हैं। "मैं सब कुछ जानता हूँ"—ऐसी भावना करनी चाहिए। सर्वात्मक साम को जाननेवाले का यह नियम है। यह व्रत है।

(यहाँ इक्कीसवाँ खण्ड पूरा हुआ।)

❋

द्वाविंशः खण्डः

विनर्दि साम्नो वृणे पशव्यमित्यग्नेरुद्गीथोऽनिरुक्तः प्रजापतेर्निरुक्तः सोमस्य मृदु श्लक्ष्णं वायो श्लक्ष्णं बलवदिन्द्रस्य क्रौञ्चं बृहस्पतेरपध्वान्तं वरुणस्य तान्सर्वानेवोपसेवेत वारुणं त्वेव वर्जयेत् ॥1॥

जो अग्निरूपी सामगान है, वह पशुओं की वृद्धि करनेवाला है, वह गाय-बछड़े के शब्द जैसा है। जो उद्गीथरूप ब्रह्मा का गान है, वह अनिरुक्त शब्दवाला है। जो निरुक्त शब्दवाला गान है, वह चन्द्रमा का है। जो गान केवल कर्णमधुर है, वह वायु का है। जो गान प्रिय और उच्च स्वरवाला है, वह इन्द्र का है। जो गान सारसपक्षी के स्वर-सा है, वह बृहस्पति का है, जो गान टूटे हुए कांस्य घण्ट का-सा है, वह वरुण का है। उन्हीं सब सामगानों की उपासना करनी चाहिए। परन्तु वरुण देवता से सम्बद्ध अप्रिय साम का त्याग करना चाहिए। इस प्रकार मैं पूर्वोक्त प्रकार को चाहता हूँ—ऐसा एक उद्गाता कहता है।

अमृतत्वं देवेभ्य आगायानीत्यागायेत्स्वधां पितृभ्य आशां मनुष्येभ्यस्तृणोदकं पशुभ्यः स्वर्गं लोकं यजमानायान्नमात्मन आगायानीत्येतानि मनसा ध्यायन्नप्रमत्तः स्तुवीत ॥2॥

एक उद्गाता कहता है कि—"मैं देवताओं के लिए अमृत का गान करूँ, पितृओं के लिए स्वधासम्बन्धी सामगान करूँ, मनुष्यों के लिए आशा सम्बन्धी सामगान करूँ, पशुओं के लिए घास-पानी सम्बन्धी साम का गान करूँ, यजमान के लिए स्वर्गलोक सम्बन्धी और अपने लिए अन्न सम्बन्धी साम का गान करूँ।" इस प्रकार मन से चिन्तन करके स्वरव्यंजन से सावधान होकर सामगान करना चाहिए।

सर्वे स्वरा इन्द्रस्यात्मानः सर्व ऊष्माणः प्रजापतेरात्मानः सर्वे स्पर्शा मृत्योरात्मानस्तं यदि स्वरेषूपालभेतेन्द्रꣳ शरणं प्रपन्नोऽभूवं स त्वा प्रति वक्ष्यतीत्येनं ब्रूयात् ॥3॥

सभी स्वर इन्द्र के अंग हैं। सभी उष्माक्षर प्रजापति के अंगभूत हैं। सभी स्पर्शव्यंजन मृत्यु के अंगीभूत हैं। कोई भी मनुष्य यदि उद्गाता को अशुद्ध उच्चारण करते हुए देख लें, तो उद्गाता को कहना चाहिए कि—"मैं इन्द्र की शरण में गया हूँ। तेरे प्रश्न का वे उत्तर देंगे।"

अथ यद्येनमूष्मसूपालभेत प्रजापतिः शरणं प्रपन्नोऽभूवं स त्वा प्रति पेक्ष्यतीत्येनं ब्रूयादथ यद्येनःस्पर्शेषूपालभेत मृत्युः शरणं प्रपन्नोऽभूवं स त्वा प्रतिवक्ष्यतीत्येनं ब्रूयात् ॥4॥

यदि कोई उस साम-उद्गाता को ऊष्माक्षरों के अशुद्ध उच्चारण के लिए उलाहना दे तो उसको यह कहना चाहिए कि "मैं प्रजापति की शरण में गया हूँ, वह तुम्हें पीस डालेंगे।" और यदि कोई उस सामगाता को स्पर्शव्यंजनों के अशुद्ध उच्चारण करने के लिए उलाहना दे तो, उसको यह कहना चाहिए कि "मैं मृत्यु की शरण में गया हूँ, वह तुम्हें भस्म कर डालेंगे"।

सर्वे स्वरा घोषवन्तो बलवन्तो वक्तव्या इन्द्रे बलं ददानीति सर्वे ऊष्माणोऽग्रस्ता अनिरस्ता विवृता वक्तव्याः प्रजापतेरात्मानं परिददानीति सर्वे स्पर्शा लेशेनानभिनिहिता वक्तव्या मृत्योरात्मानं परिहराणीति ॥5॥

इति द्वाविंशः खण्डः ॥

"मैं अपना बल इन्द्र को देता हूँ"—ऐसी भावना करके सभी स्वर गंभीर और उच्च आवाज से बोलने चाहिए। "मैं अपनी आत्मा प्रजापति को सौंपता हूँ"—ऐसी भावना करके ऊष्माक्षर मुँह में बिना दबाए, जैसे-तैसे बिना फेंके ठीक तरह की खुली आवाज से बोलने चाहिए। "मैं अपने को मृत्यु से बचा लूँ"—ऐसी धारणा करके सभी स्पर्श व्यंजन जिसका परस्पर मिश्रण न हो, इस प्रकार से स्पष्ट उच्चारण करके ही बोलने चाहिए।

(यहाँ बाईसवाँ खण्ड पूरा हुआ।)

❋

त्रयोविंशः खण्डः

त्रयो धर्मस्कन्धा यज्ञोऽध्ययनं दानमिति प्रथमस्तप एव द्वितीयो ब्रह्मचार्याचार्यकुलवासी तृतीयोऽत्यन्तमात्मानमाचार्यकुलेऽवसादयन्सर्व एते पुण्यलोका भवन्ति ब्रह्मसंस्थोऽमृतत्वमेति ॥1॥

धर्म के तीन भाग हैं। प्रथम भाग यज्ञ, वेदाध्ययन और दान है। द्वितीय भाग तपश्चर्या है। तृतीय भाग कष्टदायक तपश्चरण करते हुए आचार्य के घर में निवास करना है। ऐसे तपस्वी पुण्यलोक प्राप्त करते हैं, पर ब्रह्मोपासक तो मोक्ष ही प्राप्त करता है।

प्रजापतिर्लोकानभ्यतपत्तेभ्योऽभितप्तेभ्यस्त्रयी विद्या सम्प्रास्रवत्तामभ्यतपत्तस्या अभितप्ताया एतान्यक्षराणि सम्प्रास्रवन्त भूर्भुवः स्वरिति ॥2॥

प्रजापति ने लोकों के लिए तप किया। सन्तप्त हुए उन लोकों से तीन वेद निकले। उन तीन वेदों से तप (विचार) किया तो अभितप्त हुई उस त्रयी विद्या से भूः, भुवः और स्वः—ये तीन व्याहृतियाँ निकल पड़ीं (तीन अक्षर निकले)।

तान्यभ्यतपत्तेभ्योऽभितप्तेभ्य ॐकारः सम्प्रास्रवत्तद्यथा शङ्कुना सर्वाणि पर्णानि सन्तृण्णान्येवमोंकारेण सर्वावाक् सन्तृण्णोंकार एवेदं सर्वमोंकार एवेदं सर्वम् ॥3॥

इति त्रयोविंशः खण्डः ॥

बाद में प्रजापति ने उन अक्षरों का परीक्षण किया। उन परीक्षित अक्षरों से ॐकार निकला। जिस तरह नसों के द्वारा सभी पत्ते व्याप्त होते हैं, उसी तरह ॐकार से समस्त वाणी व्याप्त है। केवल ॐकार ही यह सब कुछ है।

(यहाँ तेईसवाँ खण्ड पूरा हुआ।)

❋

चतुर्विंशः खण्डः

ब्रह्मवादिनो वदन्ति यद्वसूनां प्रातःसवनः रुद्राणां माध्यन्दिनः सवनमादित्यानां च विश्वेषां च देवानां तृतीयसवनम् ॥1॥

ब्रह्मवादी कहते हैं कि जो सुबह का होम है, वह वसुओं के लिए है, जो मध्याह्न का हवन है, वह रुद्रों के लिए है और जो तीसरा होम (संध्या का) करते हैं वह आदित्यों के लिए और विश्वदेवों के लिए है।

क्व तर्हि यजमानस्य लोक इति स यस्तं न विद्यात्कथं कुर्यादथ विद्वान्कुर्यात् ॥2॥

यदि ऐसा ही है तो यजमान का यज्ञफलरूप लोक कहाँ है? यदि यजमान वह नहीं जानता, तो फिर भला वह यज्ञ ही क्यों करेगा? इसलिए उसे जाननेवाला ही यज्ञ करेगा।

पुरा प्रातरनुवाकस्योपाकरणाज्जघनेन गार्हपत्यस्योदङ्मुख उपविश्य स वासवः सामाभिगायति ॥3॥

सुबह में 'शस्त्र' नामक स्तोत्र का प्रारंभ करने से पहले, गार्हपत्य अग्नि के पीछे उत्तराभिमुख बैठकर वह यजमान वसुदेवता सम्बन्धी साम का गान करे (करता है)।

लो ३ कद्वारमपावा ३ र्णू ३३ पश्येम त्वा वयःरा ३ ३ ३ ३ ३ हुं ३ आ ३३ जा ३ यो ३ आ ३२१११ इति ॥4॥

हे अग्निदेव! मेरे लिए पृथ्वीलोक के द्वार को खोल दीजिए, जिससे मैं आपको देखूँ और ऐश्वर्य पाऊँ।

अथ जुहोति नमोऽग्नये पृथिवीक्षिते लोकक्षिते लोकं मे यजमानाय विन्दैष वै यजमानस्य लोक एतास्मि ॥5॥

इसके बाद यजमान इस मंत्र के द्वारा हवन करता है—"पृथ्वी में रहनेवाले (इस लोक के निवासी) अग्निदेव को नमस्कार। मुझ यजमान को आप पुण्यलोक की प्राप्ति कराइए। मैं अवश्य ही इस पुण्यलोक में जानेवाला हूँ।"

अत्र यजमानः परस्तादायुषः स्वाहाऽपजहि परिघमित्युक्त्वोत्तिष्ठति तस्मै वसवः प्रातःसवनः सम्प्रयच्छन्ति ॥6॥

इस लोक में यजमान हवन करते हुए बोलता है कि—"मेरी आयु पूरी होने के बाद मैं उस लोक में जाना चाहता हूँ—स्वाहा।" और भी—"जब मैं आऊँ, तब पृथ्वीलोक के दरवाजे की आड़ को दूर करके दरवाजा खोल देना।"—यह मंत्र बोलकर वह खड़ा होता है। वसुदेवताएँ उसे वह फल देती हैं।

पुरा माध्यन्दिनस्य सवनस्योपाकरणाज्जघनेनाग्नीध्रीयस्योदङ्मुख उपविश्य स रौद्रꣳ सामाभिगायति ॥7॥

मध्याह्न के यज्ञ के प्रारंभ से पहले, दक्षिणाग्नि के पीछे से उत्तराभिमुख होकर यजमान रुद्रदेवता सम्बन्धी साम का गान करता है कि—

लो ३ कद्वारमपावा ३ र्णू ३३ पश्येम त्वा वयं वैरा ३३३३३ हुं ३ आ ३३ ज्या ३ यो ३ आ ३२१११ इति ॥8॥

"हे अग्नि! अन्तरिक्ष के द्वार को खोल दीजिए, जिससे हम अन्तरिक्ष लोक को प्राप्त करने के लिए आपको देखें।

अथ जुहोति नमो वायवेऽन्तरिक्षक्षिते लोकक्षिते लोकं मे यजमानाय विन्दैष वै यजमानस्य लोक एतास्मि ॥9॥

बाद में यजमान इस मंत्र के द्वारा हवन करता है—"अन्तरिक्ष में रहनेवाले अन्तरिक्षवासी वायुदेव को नमस्कार हो। मुझ यजमान को आप अन्तरिक्षलोक की प्राप्ति कराइए। यजमान का वही लोक है, मैं उसे प्राप्त करूँगा।"

अत्र यजमानः परस्तादायुषः स्वाहाऽपजहि परिघमित्युक्त्वोत्तिष्ठति तस्मै रुद्रा माध्यन्दिनꣳ सवनꣳ सम्प्रयच्छन्ति ॥10॥

यहाँ यजमान "आयुष्य पूर्ण होने के बाद मैं अन्तरिक्षलोक पाऊँगा स्वाहा"—वह बोलकर होम करता है। और, "लोकद्वार की आड़ को दूर कीजिए"—ऐसा बोलकर उठ जाता है। तब रुद्र उसे मध्याह्न के हवन का फल देते हैं।

पुरा तृतीयसवनस्योपाकरणाज्जघनेनाहवनीयस्योदङ्मुख उपविश्य स आदित्यꣳ स वैश्वदेवꣳ सामाभिगायति ॥11॥

सायंकालीन यज्ञारंभ के पहले यजमान आहवनीय अग्नि के पीछे उत्तराभिमुख बैठकर आदित्यसम्बन्धी और वैश्वदेवसम्बन्धी साम का भी गान करता है कि—

लो ३ कद्वारमपावा ३ र्णू ३३ पश्येम त्वा वयꣳस्वारा ३३३३३ हुं ३ आ ३३ ज्या ३ यो ३ आ ३२१११ इति ॥12॥

हे अग्नि! कृपा करके मेरे प्राप्य लोक का द्वार खोल दीजिए, कि जिससे हम स्वाराज्य प्राप्त करने के लिए आपके दर्शन पा सकें।

आदित्यमथ वैश्वदेवं लो ३ कद्वारमपावा ३ र्णू ३३ पश्येम त्वा वयꣳ साम्ना ३३३३३ हुं ३ आ ३३ ज्या ३ यो ३ आ ३२१११ इति ॥13॥

(पूर्वमंत्र आदित्य के लिए था और अब वैश्वदेव के लिए है कि—) हे अग्नि! हमारे प्राप्य लोक का द्वार खोल दीजिए, जिससे स्वाराज्य प्राप्त करने के लिए हम आपके दर्शन पा सकें।

अथ जुहोति नम आदित्येभ्यश्च विश्वेभ्यश्च देवेभ्यो दिविक्षिद्भ्यो लोकक्षिद्भ्यो लोकं मे यजमानाय विन्दत ॥14॥

अब यजमान होम करते हुए कहता है—"स्वर्गस्थ द्युलोकवासी आदित्यों को नमस्कार। मुझ यजमान को पुण्यलोक की प्राप्ति कराइए।

एष वै यजमानस्य लोक एतास्म्यत्र यजमानः परस्तादायुषः स्वाहा-ऽपहतपरिघमित्युक्त्वोत्तिष्ठति ॥15॥

"यह स्वर्गलोक अवश्य ही यजमान का लोक है। मैं मृत्यु के बाद उसी लोक में जानेवाला हूँ, स्वाहा"—"स्वर्ग के दरवाजे की आड़ को दूर कर दीजिए।"—ऐसा मंत्र कहकर यजमान खड़ा हो जाता है।

तस्मा आदित्याश्च विश्वे च देवास्तृतीयꣳ सवनꣳ सम्प्रयच्छन्त्येष ह वै यज्ञस्य मात्रां वेद य एवं वेद य एवं वेद ॥16॥

इति चतुर्विंशः खण्डः ॥

इति छान्दोग्योपनिषदि द्वितीयोऽध्यायः ॥2॥

उस यजमान को आदित्य और विश्वदेव तीसरे सवन का फल देते हैं। जो इस प्रकार जानता है, वह निश्चय ही यज्ञ के यज्ञार्थ स्वरूप को जानता है।

(यहाँ चौबीसवाँ खण्ड पूरा हुआ।)

यहाँ छान्दोग्योपनिषद् का द्वितीय अध्याय समाप्त हुआ।

❋

अथ तृतीयोऽध्यायः

प्रथमः खण्डः

ॐ असौ वा आदित्यो देवमधु तस्य द्यौरेव तिरश्चीनवꣳशोऽन्तरिक्ष-मपूपो मरीचयः पुत्राः ॥1॥

यह सूर्य देवों का मधु है, द्युलोक एक तिरछा बाँस है, अन्तरिक्ष उस बाँस पर आया हुआ शहद का छत्ता (मोहार) है, उस छत्ते में सूर्य शहद (मधु) है, और किरणें उस छत्ते में रहनेवाले मक्खियों के बच्चे हैं।

तस्य ते प्राञ्चो रश्मयस्ता एवास्य प्राच्यो मधुनाड्य ऋच एष मधुकृत ऋग्वेद एव पुष्पं ता अमृता आपस्ता वा एता ऋचः ॥2॥

पूर्वदिशा की सूर्यकिरणें इस अन्तरिक्षरूप छत्तों के पूर्वीय छिद्र हैं, ऋचाएँ मधुमक्खियाँ हैं, ऋग्वेद पुष्प है, वे सोमरसादि प्रवाही (जल) है—ये ऋचाएँ हैं।

एतमृग्वेदमभ्यतपꣳस्तस्याभितप्तस्य यशस्तेज इन्द्रियं वीर्यमन्नाद्यꣳ रसोऽजायत ॥3॥

इन ऋचारूप मधुमक्खियों ने ही ऋग्वेद को अभितप्त किया। तप्त हुए उस ऋग्वेद से (ऋग्वेदनिर्दिष्ट यज्ञादि क्रियाओं से) यश, तेज, नीरोगी इन्द्रियाँ, बल, अन्नादि—ये सब फल मिलते हैं। वे फल ही रस है (वह यज्ञादि से उत्पन्न होता है)।

तद्व्यक्षरत्तदादित्यमभितोऽश्रयत्तद्वा एतद्यदेतदादित्यस्य रोहितꣳ-रूपम् ॥4॥

इति प्रथमः खण्डः ॥

यज्ञकर्म से यश आदि जो क्रियाशील हुआ उसने सूर्य के पूर्वभाग में आश्रय लिया। इसलिए सूर्य का जो लाल रूप दीखता है, वह यज्ञ-कर्मों के फलरूप यश, कान्ति आदि है।

(यहाँ पर पहला खण्ड पूरा हुआ।)

❋

द्वितीयः खण्डः

अथ येऽस्य दक्षिणा रश्मयस्ता एवास्य दक्षिणा मधुनाड्यो यजूꣳष्येव मधुकृतो यजुर्वेद एव पुष्पं ता अमृता आपः ॥1॥

सूर्य की दक्षिण की ओर की किरणें ही छत्ते (मोहार) के दक्षिण ओर के छिद्र हैं, यजुर्वेद के यज्ञमन्त्र ही मधुमक्खियाँ हैं, यजुर्वेद की यज्ञक्रियाएँ ही पुष्प हैं, सोमादि वनस्पति (अमृतरूप) ही जल है।

तानि वा एतानि यजूꣳष्येतं यजुर्वेदमभ्यतपꣳस्तस्याभितप्तस्य यशस्तेज इन्द्रियं वीर्यमन्नाद्यꣳरसोऽजायत ॥2॥

यजुर्वेद निर्दिष्ट यज्ञादि क्रियाओं से यश, शरीर का तेज और बल बढ़ता है; इन्द्रियाँ नीरोगी बनती हैं तथा अन्नादि पदार्थ मिलते हैं। यजुःश्रुतियों ने यजुर्वेद को अभितप्त किया। उस अभितप्त यजुर्वेद से यह सब होता है।

तद्व्यक्षरत्तदादित्यमभितोऽश्रयत्तद्वा एतद्यदेतदादित्यस्य शुक्लꣳ रूपम् ॥3॥

इति द्वितीयः खण्डः ॥

वह रस नीचे स्रवित होता है, सूर्य में ढलता है। सूर्य में जो श्वेत तेज दीखता है, वह वही रस है।

(यहाँ दूसरा खण्ड पूरा हुआ।)

❋

तृतीयः खण्डः

अथ येऽस्य प्रत्यञ्चो रश्मयस्ता एवास्य प्रतीच्यो मधुनाड्यः सामान्येव मधुकृतः सामवेद एव पुष्पं ता अमृता आपः ॥1॥

सूर्य की पश्चिमी किरणें इस आदित्यरूप छत्ते के पश्चिम के छिद्र हैं, साममन्त्र ही मधुमक्खियाँ हैं, सामनिर्दिष्ट विधि ही पुष्प है और वही सोमादि अमृत है।

तानि वा एतानि सामान्येतꣳ सामवेदमभ्यतपꣳस्तस्याभितप्तस्य यशस्तेज इन्द्रियं वीर्यमन्नाद्यꣳ रसोऽजायत ॥2॥

इन साममन्त्रों ने ही सामनिर्दिष्ट कर्मों को अभितप्त किया। उस अभितप्त कर्म से ही यश, शरीरकान्ति और बल बढ़ता है, इन्द्रियाँ नीरोगी होती हैं, अन्नादि मिलते हैं—ये फल ही सामवेद का सार हैं।

तद्व्यक्षरत्तदादित्यमभितोऽश्रयत्तद्वा एतद्यदेतदादित्यस्य परं कृष्णꣳ-रूपम् ॥3॥

इति तृतीयः खण्डः ॥

उस रस ने विशिष्ट गति की। उसने आदित्य के पास आश्रय लिया। सूर्य का जो काला रूप दीखता है, वही वह रस है।

(यहाँ तीसरा खण्ड पूरा हुआ।)

❋

चतुर्थः खण्डः

अथ येऽस्योदञ्चो रश्मयस्ता एवास्योदीच्यो मधुनाड्योऽथर्वाङ्गिरस एव मधुकृत इतिहासपुराणं पुष्पं ता अमृता आपः ॥1॥

सूर्य की उत्तरी किरणें ही उत्तर के मधुछिद्र हैं, अथर्ववेद के मन्त्र ही मधुमक्खियाँ हैं, इतिहास और पुराण ही पुष्प हैं और वेदमन्त्रों से दिया हुआ जल ही अमृत है।

ते वा एतेऽथर्वाङ्गिरस एतदितिहासपुराणमभ्यतपꣳस्तस्याभितप्तस्य यशस्तेज इन्द्रियं वीर्यमन्नाद्यꣳ रसोऽजायत ॥2॥

उन अथर्वणमन्त्रों ने इस इतिहासपुराण को अभितप्त किया। अभितप्त इतिहासपुराण से ही कीर्ति, प्रताप, बल, अन्नादिरूप रस उत्पन्न हुआ।

तद्व्यक्षरत्तदादित्यमभितोऽश्रयत्तद्वा एतद्यदेतदादित्यस्य परं कृष्णꣳरूपम् ॥3॥

इति चतुर्थः खण्डः ॥

ये यश आदि रस सूर्य से निकलकर सूर्य के चारों ओर फैल गए। सूर्य का जो काला रूप दीख पड़ता है, वही ये रस हैं।

(यहाँ चौथा खण्ड पूरा हुआ।)

❋

पञ्चमः खण्डः

अथ येऽस्योर्ध्वा रश्मयस्ता एवास्योर्ध्वा मधुनाड्यो गुह्या एवादेशा मधुकृतो ब्रह्मैव पुष्पं ता अमृता आपः ॥1॥

जो सूर्य की ऊपर की किरणें हैं, वे ही मधु झरने के स्थान हैं। गूढ उपदेश मधुमक्खियाँ हैं, प्रणवब्रह्म पुष्प है, घृतादि हव्य पदार्थ अमृत है।

ते वा एते गुह्या आदेशा एतद्ब्रह्माभितपꣳस्तस्याभितप्तस्य यशस्तेज इन्द्रियं वीर्यमन्नाद्यꣳ रसोऽजायत ॥2॥

वे गूढोपदेश ही प्रणवसंज्ञक ब्रह्म का ध्यान करने लगे। ध्यान किए गए उस ब्रह्म से यश, देहकान्ति, इन्द्रियबल, शक्ति, अन्नादि फल मिला। यह फल ही अमृत रस है।

तद्व्यक्षरत्तदादित्यमभितोऽश्रयत्तद्वा एतद्यदेतदादित्यस्य मध्ये क्षोभत इव ॥3॥

वे यश आदि रस सूर्य की किरणोंरूपी छिद्रों से निकलकर बहने लगे और सूर्य के चारों ओर फैल गए। सूर्य के बीच चमकता हुआ जो मधु दिखाई पड़ता है, वह ये रस ही हैं।

ते वा एते रसानाꣳ रसा वेदा हि रसास्तेषामेते रसास्तानि वा एतान्यमृतानाममृतानि वेदा ह्यमृतास्तेषामेतान्यमृतानि ॥4॥

इति पञ्चमः खण्डः ॥

सभी का सारतत्त्व ये सूर्य प्रभाएँ हैं, क्योंकि वेद सभी का सार है, और उन वेदों का भी ये सूर्य-प्रभाएँ सारतत्त्व हैं। ये सूर्यप्रभाएँ अमृतों के भी अमृत-सी हैं, क्योंकि वेद अमृत हैं, और ये प्रभाएँ उन वेदों का भी सार हैं।

(यहाँ पाँचवाँ खण्ड पूरा हुआ।)

❋

षष्ठः खण्डः

तद्यत्प्रथमममृतं तद्वसव उपजीवन्त्यग्निना मुखेन न वै देवा अश्नन्ति न पिबन्त्येतदेवामृतं दृष्ट्वा तृप्यन्ति ॥1॥

वास्तव में देवता खाते भी नहीं और पीते भी नहीं हैं, किन्तु इस अमृत को देखकर ही तृप्त

हो जाते हैं। इस रीति से सूर्य की जो पहली लाल प्रभा है, उसी अमृतरूप प्रभा पर आठों वसु-देवताएँ, अपने मुखरूप अग्निदेवता के साथ जीवननिर्वाह करती हैं।

त एतदेव रूपमभिसंविशन्त्येतस्माद्रूपादुद्यन्ति ॥2॥

वे वसुदेवताएँ सूर्य की इसी लाल प्रभा को देखकर (भोगकर) उदासीन हो जाती हैं और उसी में लीन हो जाती हैं (पड़े रहती हैं)। (और फिर भोगसमय आने पर) उसी में से बाहर निकल आती हैं।

स य एतदेवममृतं वेद वसूनामेवैको भूत्वाऽग्निनैव मुखेनैतदेवामृतं दृष्ट्वा तृप्यति स य एतदेव रूपमभिसंविशत्येतस्माद्रूपादुदेति ॥3॥

जो साधक पूर्वोक्त प्रकार से इस अमृत की उपासना करता है, वसुओं में से कोई एक बन जाता है और अग्नि को अग्रसर करके अमृत को देखकर तृप्त हो जाता है और वह उसी सूर्यरूप को (लालरूप का) प्राप्त होता है अर्थात् उसमें मिल जाता है। फिर भोगसमय आनेपर उसमें से निकल आता है।

स यावदादित्यः पुरस्तादुदेता पश्चादस्तमेता वसूनामेव तावदाधित्यꣳ स्वाराज्यं पर्येता ॥4॥

इति षष्ठः खण्डः ॥

ऐसा उपासक, सूर्य जहाँ तक पूर्व में उदय होता रहेगा और पश्चिम में अस्त होता रहेगा, वहाँ तक वसुदेवताओं का स्वामित्व और स्वर्गीय सुख भोगा करेगा।

(यहाँ छठा खण्ड पूरा हुआ।)

❋

सप्तमः खण्डः

अथ यद् द्वितीयममृतं तद्रुद्रा उपजीवन्तीन्द्रेण मुखेन न वै देवा अश्नन्ति न पिबन्त्येतदेवामृतं दृष्ट्वा तृप्यन्ति ॥1॥

बाद में सूर्य का दूसरा जो शुक्लरूप है, उस शुक्लरूप का रुद्रदेवताएँ इन्द्र को आगे कर पान करते हैं। वास्तव में देव न खाते हैं, न पीते हैं किन्तु अमृतरूप शुक्ल प्रभा को देखकर ही तृप्त हो जाते हैं।

त एतदेव रूपमभिसंविशन्त्येतस्माद्रूपादुद्यन्ति ॥2॥

वे रुद्रदेव इसी सूर्य के शुक्लरूप को भोगने के बाद उसी में मग्न हो जाते हैं और बाद में भोगेच्छा होने पर फिर उसमें से निकल आते हैं।

स य एतदेवममृतं वेद रुद्राणामेवैको भूत्वेन्द्रेणैव मुखेनैतदेवामृतं दृष्ट्वा तृप्यति स एतदेव रूपमभिसंविशत्येतस्माद्रूपादुदेति ॥3॥

जो उपासक सूर्य की श्वेतप्रभा रूप अमृत को जानता है, वह रुद्रों में से कोई एक रुद्र बन जाता है और इन्द्रदेव को अग्रसर कर, उस प्रभामृत को देखकर ही तृप्त हो जाता है और उसी में मग्न होकर पड़ा रहता है और भोग का समय आने पर फिर से निकल आता है।

स यावदादित्यः पुरस्तादुदेता पश्चादस्तमेता द्विस्तावद्दक्षिणत उदेतोत्तर-
तोऽस्तमेता रुद्राणामेव तावदाधिपत्यꣳ स्वाराज्यं पर्येता ॥4॥

इति सप्तमः खण्डः ॥

जितने काल तक सूर्य पूर्व में उदय होकर पश्चिम में अस्त हुआ करेगा, उससे दुगुने काल तक वह दक्षिण में आकर उत्तर में अस्त होगा। उतने काल तक वह उपासक स्वर्ग के राज्य को और रुद्रों के स्वामित्व को पाएगा।

(यहाँ सातवाँ खण्ड पूरा हुआ।)

❋

अष्टमः खण्डः

अथ यत्तृतीयममृतं तदादित्या उपजीवन्ति वरुणेन मुखेन न वै देवा
अश्नन्ति न पिबन्त्येतदेवामृतं दृष्ट्वा तृप्यन्ति ॥1॥

आदित्य की तीसरी कृष्णप्रभा रूप अमृत वरुण को आगे करके आदित्य पान करते हैं। वास्तव में देवलोग तो खाते भी नहीं और पीते भी नहीं हैं। इस प्रभामृत को देखकर ही तृप्त हो जाते हैं।

त एतदेव रूपमभिसंविशन्त्येतस्माद्रूपादुद्यन्ति ॥2॥

वे इसी कृष्णरूप अमृत में मग्न होकर पड़े रहते हैं और भोग के अवसर पर फिर निकल आते हैं।

स य एतदेवममृतं वेदादित्यानामेवैको भूत्वा वरुणेनैव मुखेनैतदेवामृतं
दृष्ट्वा तृप्यति स एतदेव रूपमभिसंविशत्येतस्माद्रूपादुदेति ॥3॥

जो साधक इस कृष्णरूप को यथोक्त प्रकार से जानता है, वह आदित्यों में से एक बनकर वरुण को अग्रेसर रखकर इस अमृत को देखकर ही तृप्त हो जाता है, वह इसी रूप में मग्न हो जाता है, और भोग के समय इसी रूप से बाहर आता है।

स यावदादित्यो दक्षिणत उदेतोत्तरतोऽस्तमेता द्विस्तावत्पश्चादुदेता
पुरस्तादस्तमेताऽऽदित्यानामेव तावदाधिपत्यꣳ स्वाराज्यं पर्येता ॥4॥

इत्यष्टमः खण्डः ॥

जब तक सूर्य दक्षिण में उगकर उत्तर में अस्त हुआ करेगा, उससे दुगुने काल तक पश्चिम में उगकर पूर्व में अस्त हुआ करेगा। यह साधक इतने काल तक आदित्यों के स्वामित्व को और स्वर्ग-सुख भोगेगा।

(यहाँ आठवाँ खण्ड पूरा हुआ।)

❋

नवमः खण्डः

अथ यच्चतुर्थममृतं तन्मरुत उपजीवन्ति सोमेन मुखेन न वै देवा
अश्नन्ति न पिबन्त्येतदेवामृतं दृष्ट्वा तृप्यन्ति ॥1॥

आदित्य के चौथे अतिकृष्णरूप अमृत, सोम को अग्रेसर करके मरुतदेवताएँ पान करती हैं। देवतालोग न खाते हैं, न पीते हैं, वे लोग तो मात्र इस प्रभामृत को देखकर ही तृप्त हो जाते हैं।

त एतदेव रूपमभिसंविशन्त्येतस्माद्रूपादुद्यन्ति ॥2॥

वे देव इसी अमृत में (अतिकृष्ण प्रभा में) तल्लीन हो जाते हैं, फिर भोग के समय इसी से उदित हो जाते हैं।

स य एतदेवममृतं वेद मरुतामेवैको भूत्वा सोमेनैव मुखेनैतदेवामृतं
दृष्ट्वा तृप्यति स एतदेव रूपमभिसंविशत्येतस्माद्रूपादुदेति ॥3॥

जो साधक यथोक्त प्रकार से इस अमृत को जान लेता है, वह मरुतों में से एक बनकर सोम को अग्रेसर कर उस अमृत को देखकर ही तृप्त हो जाता है और इसी अमृत में लीन हो जाता है। फिर भोग का समय आने पर इसी से निकल आता है।

स यावदादित्यः पश्चादुदेता पुरस्तादस्तमेता द्विस्तावदुत्तरत उदेता
दक्षिणतोऽस्तमेता मरुतामेव तावदाधिपत्यꣳ स्वाराज्यं पर्येता ॥4॥

इति नवमः खण्डः ॥

सूर्य पश्चिम में उदय होकर पूर्व में अस्त होगा, इससे दुगुने काल तक वह उत्तर में उगकर दक्षिण में अस्त होता रहेगा। वह साधक उतने काल तक मरुतों का आधिपत्य और स्वर्ग का सुख भोगेगा।

(यहाँ नौवाँ खण्ड पूरा हुआ।)

❋

दशमः खण्डः

अथ यत्पञ्चमममृतं तत्साध्या उपजीवन्ति ब्रह्मणा मुखेन न वै देवा
अश्नन्ति न पिबन्त्येतदेवामृतं दृष्ट्वा तृप्यन्ति ॥1॥

जो सूर्यमण्डलस्थ तेजोरूप पाँचवाँ अमृत है, उसका साध्य लोग ब्रह्मा को अग्रेसर बनाकर पान करते हैं। यद्यपि ये साध्यलोग (देव) खाते भी नहीं और पीते भी नहीं, पर उस अमृत को ही देखकर तृप्त हो जाते हैं।

त एतदेव रूपमभिसंविशन्त्येतस्माद्रूपादुद्यन्ति ॥2॥

वे साध्यजाति के देव इसी रूप में मग्न हो जाते हैं और समय आने पर उसी से फिर बाहर निकल आते हैं।

स य एतदेवममृतं वेद साध्यानामेवैको भूत्वा ब्रह्मणैव मुखेनैतदेवामृतं
दृष्ट्वा तृप्यन्ति स एतदेव रूपमभिसंविशत्येतस्माद्रूपादुदेति ॥3॥

जो साधक यथोक्तरूप से उस अमृत को जान लेता है, वह साध्य जाति के देवों में से एक होकर ब्रह्मा को अग्रेसर बनाकर इस अमृत को देखकर तृप्त हो जाता है, इसी में मग्न हो जाता है, और समय आने पर उसी से बाहर निकलता है।

स यावदादित्य उत्तरत उदेता दक्षिणतोऽस्तमेता द्विस्तावदूर्ध्वमुदेता-
ऽर्वाङ्ङस्तमेता साध्यानामेव तावदाधिपत्यꣳ स्वाराज्यं पर्येता ॥4॥

इति दशमः खण्डः ॥

जब तक सूर्य उत्तर से उदय होकर दक्षिण में अस्त होगा उससे दुगुने समय तक ऊपर से उगकर

नीचे की ओर अस्त होगा। उतने काल तक वह साधक साध्यजाति के देवों का आधिपत्य और स्वर्ग का सुख भोगेगा।

(यहाँ दसवाँ खण्ड पूरा हुआ।)

❋

एकादशः खण्डः

अथ तत ऊर्ध्व उदेत्य नैवोदेता नास्तमेतैकल एव मध्ये स्थाता। तदेष श्लोकः ॥1॥

तदनन्तर इस उच्च स्थिति में उदित होकर सूर्य कहीं और उदय नहीं होता और अस्त भी नहीं होता। मध्य में वह अकेला ही अपने आप में स्थित रहता है। यहाँ यह श्लोक है—

न वै तत्र न निम्लोच नोदियाय कदाचन। देवास्तेनाहꣳ सत्येन मा विराधिषि ब्रह्मणेति ॥2॥

उस ब्रह्मलोक में सचमुच ऐसा नहीं होता। वहाँ सूर्य कभी उदय नहीं होता और अस्त भी नहीं होता। हे देवलोग! यह सत्य सुनो। इस सत्य से मैं कभी ब्रह्म से विरुद्ध न होऊँ अर्थात् पतित न होऊँ।

न ह वा अस्मा उदेति न निम्लोचति सकृद्दिवा हैवास्मै भवति य एतामेवं ब्रह्मोपनिषदं वेद ॥3॥

ब्रह्मज्ञ उपासक के लिए सूर्य का उदय या अस्त नहीं होता। उसके लिए तो सूर्य सदा एक समान प्रकाशमान रहता है। यहाँ तक कि वह स्वयं प्रकाशवान हो जाता है।

तद्धैतद्ब्रह्मा प्रजापतय उवाच प्रजापतिर्मनवे मनुः प्रजाभ्यस्तद्धैतदुद्दालकायारुणये ज्येष्ठाय पुत्राय पिता ब्रह्म प्रोवाच ॥4॥

यह मधुविद्या ब्रह्मा ने प्रजापति से कही। प्रजापति ने मनु से कही। मनु ने प्रजाओं से कही। वही यह मधुविद्या अपने बड़े पुत्र उद्दालक आरुणि को उसके पिता ने कही थी।

इदं वाव तज्ज्येष्ठाय पुत्राय पिता ब्रह्म प्रब्रूयात्प्राणाय्याय वान्तेवासिने ॥5॥

यह पूर्वोक्त प्रसिद्ध ब्रह्मविद्या पिता को अपने बड़े पुत्र या विनयी अन्तेवासी को कहनी चाहिए।

नान्यस्मै कस्मैचन यद्यप्यस्मा इमामद्भिः परिगृहीतां धनस्य पूर्णां दद्यादेतदेव ततो भूय इत्येतदेव ततो भूय इति ॥6॥

इत्येकादशः खण्डः ॥

यह ब्रह्मविद्या और किसी से भी नहीं कहनी चाहिए, चाहे वह धन से परिपूर्ण और समुद्र तक फैला हुआ राज्य भी इस ब्रह्मविद्या के बदले में क्यों न दे दे। क्योंकि यह ब्रह्मविद्या ऐसे विशाल राज्य से भी श्रेष्ठ है, श्रेष्ठ है।

(यहाँ ग्यारहवाँ खण्ड पूरा हुआ।)

❋

द्वादशः खण्डः

गायत्री वा इदꣳ सर्वं भूतं यदिदं किंच वाग्वै गायत्री वाग्वा इदꣳ सर्वं भूतं गायति च त्रायते च ॥1॥

यह सब जो स्थावर-जंगम रूप जगत् है, वह गायत्री ही है। शब्दमात्र गायत्री ही है और यह स्थावर-जंगमरूप जगत् वाणी (वाक्) ही है क्योंकि वाक् ही सर्व जीवों का निर्देश करती है और रक्षा करती है।

या वै सा गायत्रीयं वाव सा येयं पृथिव्यस्याꣳ हीदꣳ सर्वं भूतं प्रतिष्ठितमेतामेव नातिशीयते ॥2॥

गायत्री पृथ्वीरूप है और पृथ्वी गायत्रीरूप है। जिस तरह पृथ्वी में सब कुछ (प्राणी मात्र) रहता है, वैसे ही गायत्री में भी सारा जगत् रहता है, जगत् गायत्रीरूपी पृथ्वी से अलग अस्तित्व नहीं रखता।

या वै सा पृथिवी यं वाव सा यदिदमस्मिन्पुरुषे शरीरमस्मिन्हीमे प्राणाः प्रतिष्ठिता एतदेव नातिशीयन्ते ॥3॥

जो पृथ्वीरूप गायत्री है, वही शरीररूप गायत्री है क्योंकि जैसे पृथ्वी में सारा जगत् व्यांप्त है, उसी प्रकार इस पुरुषशरीर में भी सारा जगत् व्याप्त है, क्योंकि इसी पुरुषशरीर में ये पाँचों प्राण रहते हैं। (अर्थात् जिस तरह गायत्री में सब जीव रहते हैं उसी प्रकार शरीर में भी पाँच प्राणों से युक्त हुआ जीव रहता है। जैसे पृथ्वी गायत्रीरूप है, वैसे शरीर भी गायत्रीरूप है। जैसे पृथ्वी में सब जीव रहते हैं, वैसे ही शरीर में प्राण सब रहते हैं)।

यद्वै तत्पुरुषे शरीरमिदं वाव तद्यदिदमस्मिन्नन्तःपुरुषे हृदयमस्मिन्हीमे प्राणाः प्रतिष्ठिता एतदेव नातिशीयन्ते ॥4॥

पुरुष का जो शरीर है वही गायत्री है और जो अन्तःपुरुष में हृदय-कमल है वह भी गायत्री है। क्योंकि इस हृदयकमल में प्राण रहते है, वे उसका अतिक्रमण नहीं करते।

सैषा चतुष्पदा षड्विधा गायत्री तदेतदृचाऽभ्यनूक्तम् ॥5॥

यही वह गायत्री चार चरणों वाली और छः प्रकार की है। यह गायत्र्याख्य ब्रह्म मन्त्र से प्रकाशित किया गया है।

तावानस्य महिमा ततो ज्यायाꣳश्च पूरुषः। पादोऽस्य सर्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवीति ॥6॥

यह समस्त जगत् ब्रह्म का एक चरण है। यों तो सब गायत्रीरूप ही है, फिर भी इस जगत् से परे ब्रह्म के जो तीन चरण शेष रहते हैं, वह अविनाशी ब्रह्मपुरुष जो प्रकाशित बुद्धि में रहता है, वह तो गायत्री से भी श्रेष्ठ है।

यद्वै तद्ब्रह्मेतीदं वाव तद्योऽयं बहिर्धा पुरुषादाकाशो यो वै स बहिर्धा पुरुषादाकाशः ॥7॥

वह त्रिपाद् अमृतरूप अर्थात् गायत्रीरूप ब्रह्म ही इस पुरुष के बाहर का आकाश है और जो बाहर का आकाश है वही गायत्रीरूप ब्रह्म है।

अयं वाव स योऽयमन्तः पुरुष आकाशो यो वै सोऽन्तः पुरुष आकाशः ॥8॥

वह गायत्रीरूप ब्रह्म ही इस पुरुष के भीतर रहा हुआ आकाश है और भीतर का आकाश ही गायत्रीरूप ब्रह्म है।

अयं वाव सोऽयमन्तर्हृदय आकाशस्तदेतत्पूर्णमप्रवर्ति पूर्णमप्रवर्तिनीः श्रियं लभते य एवं वेद ॥9॥

इति द्वादशः खण्डः ॥

हृदय के भीतर जो आकाश है वह तो पूर्ण आत्मा ही है। वह सर्वव्यापक है, उसका कभी नाश नहीं होता। जो साधक इस तरह आत्मा की पूजा करता है, उसको पूर्णतया लक्ष्मी प्राप्त होती है।

(यहाँ बारहवाँ खण्ड पूरा हुआ।)

❋

त्रयोदशः खण्डः

तस्य ह वा एतस्य हृदयस्य पञ्च देवसुषयः स योऽस्य प्राङ्सुषिः स प्राणस्तच्चक्षुः स आदित्यस्तदेतत्तेजोऽन्नाद्यमित्युपासीत तेजस्व्यन्नादो भवति य एवं वेद ॥1॥

इस हृदयकमल के पाँच दरवाजे हैं। जो पूर्व का दरवाजा है वह प्राण है, वह आँख से सम्बद्ध है। आँख के देव सूर्य हैं। उस प्राण को तेजस्वी और अन्नभोक्ता मानकर पूजना चाहिए। जो ऐसी उपासना करता है, वह तेजस्वी होता है और अन्न पचाने की शक्तिवाला होता है।

अथ योऽस्य दक्षिणः सुषिः स व्यानस्तच्छ्रोत्रः स चन्द्रमास्तदेतच्छ्रीश्च यशश्चेत्युपासीत श्रीमान्यशस्वी भवति य एवं वेद ॥2॥

इसका जो दक्षिणी दरवाजा है वह व्यान है, वह श्रोत्र से सम्बन्ध रखता है, उसके देव चन्द्रमा हैं। 'वह व्यान श्रीरूप और यशोरूप है'—ऐसा मानकर उपासना करनी चाहिए। ऐसी उपासना करनेवाला श्रीमान और यशस्वी होता है।

अथ योऽस्य प्रत्यङ्सुषिः सोऽपानः सा वाक् सोऽग्निस्तदेतद्ब्रह्मवर्चसमन्नाद्यमित्युपासीत ब्रह्मवर्चस्व्यन्नादो भवति य एवं वेद ॥3॥

हृदयकमल का जो पश्चिमी दरवाजा है वह अपान है, वही वाणी है, वही अग्नि है, वही ब्रह्मतेज है, वही बल है, ऐसा जानकर यथोक्त उपासना करनेवाला ब्रह्मतेज से युक्त और भोजन पचाने की क्षमतावाला होता है।

अथ योऽस्योदङ्सुषिः स समानस्तन्मनः स पर्जन्यस्तदेतत्कीर्तिश्च व्युष्टिश्चेत्युपासीत कीर्तिमान् व्युष्टिमान् भवति य एवं वेद ॥4॥

हृदयकमल का जो उत्तरी दरवाजा है वह समान है, उसका मन के साथ सम्बन्ध है, उसका देव पर्जन्य है। उस समान को कीर्ति और प्रकाश से युक्त मानकर जो साधक उपासना करता है, वह कीर्तिमान और प्रकाशवान होता है।

अथ योऽस्योर्ध्वः सुषिः स उदानः स वायुः स आकाशस्तदेतदोजश्च महश्चेत्युपासीतौजस्वी महास्वान्भवति य एवं वेद ॥5॥

इस हृदयकमल का ऊपर का जो दरवाजा है, उसका अधिष्ठाता देव उदान है, वही मुख्य प्राण है, वही आकाश है, वही बल है, वही तेज है, यह समझकर उपासना करनी चाहिए। इसे जानकर जो साधक यथोक्त प्रकार से उसकी उपासना करता है वह बलवान और तेजस्वी होता है।

ते वा एते पञ्च ब्रह्मपुरुषाः स्वर्गस्य लोकस्य द्वारपाः स य एतानेवं पञ्च ब्रह्मपुरुषान्स्वर्गस्य लोकस्य द्वारपान्वेदास्य कुले वीरो जायते प्रतिपद्यते स्वर्गं लोकं य एतानेवं पञ्च ब्रह्मपुरुषान्स्वर्गस्य लोकस्य द्वारपान्वेद ॥6॥

तो ये ही स्वर्गलोक के द्वारपाल पाँच ब्रह्मपुरुष हैं। जो मनुष्य स्वर्ग के इन द्वारपालों को ऊपर कही गई रीति से हृदय से सम्बद्ध ब्रह्मपुरुष ही मानते हैं, उनके कुल में वीर पुरुष जन्म लेता है और वह स्वयं भी स्वर्गलोक को प्राप्त होता है।

अथ यदतः परो दिवो ज्योतिर्दीप्यते विश्वतः पृष्ठेषु सर्वतः पृष्ठेष्वनुत्तमेषूत्तमेषु लोकेष्विदं वाव तद्यदिदमस्मिन्नन्तःपुरुषे ज्योतिः ॥7॥

इस स्वर्गलोक के ऊपर जो तेज है और जो तेज समस्त सृष्टि एवं सत्यादि ऊपर के ऊर्ध्व लोकों में है, वही तेज इस पुरुष के हृदय में है।

तस्यैषा दृष्टिर्यत्रैतदस्मिञ्छरीरे संस्पर्शेनोष्णीमानं विजानाति तस्यैषा श्रुतिर्यत्रैतत्कर्णावपिगृह्य निनदमिव नदथुरिवाग्नेरिव ज्वलत उपशृणोति तदेतद्दृष्टं च श्रुतं चेत्युपासीत चक्षुष्यः श्रुतो भवति य एवं वेद य एवं वेद ॥8॥

इति त्रयोदशः खण्डः ॥

उसी तेज का प्रत्यक्ष प्रमाण यह नेत्र है कि जहाँ तक शरीर में गरमी बनती जाती है, वहाँ तक मनुष्य जीवित है ऐसा समझा जाता है। उसी तेज का प्रत्यक्ष प्रमाण यह श्रुति (श्रवण) भी है कि कान बन्द कर देने पर रथ के 'घरघर' जैसी या अग्नि के जलने की-सी या बैल की-सी आवाज सुनाई देती है। "ऐसी ज्योति को मैंने देखा है और सुना भी है"—ऐसी समझदारी से उसकी उपासना करनी चाहिए। जो इस तरह उपासना करता है, उसकी आँखों का तेज बढ़ता है, और उसकी ख्याति बढ़ती है।

(यहाँ तेरहवाँ खण्ड पूरा हुआ।)

❋

चतुर्दशः खण्डः

सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति शान्त उपसीताथ खलु क्रतुमयः पुरुषो यथा क्रतुरस्मिँल्लोके पुरुषो भवति तथेतः प्रेत्य भवति स क्रतुं कुर्वीत ॥1॥

यह सब सचमुच ब्रह्म ही है। तत् = उस ब्रह्म में से, ज = यह जन्मा हुआ है और लान् = उसी में लय होनेवाला है और उसी में चेष्टा करता है—इस प्रकार शान्त रहकर उसकी उपासना करनी

चाहिए। यह जीव संकल्पमय है। इस लोक में जीव जैसा संकल्प करेगा वैसा ही यहाँ से जाकर होता है। इसलिए अच्छे संकल्प ही करने चाहिए।

मनोमयः प्राणशरीरो भारूपः सत्यसंकल्प आकाशात्मा सर्वकर्मा सर्वकामः सर्वगन्धः सर्वरसः सर्वमिदमभ्यात्तोऽवाक्यनादरः ॥2॥

यह आत्मा (ब्रह्म) मनरूप होता है, प्राण और शरीररूप भी वह है; वह प्रकाशस्वरूप है, सत्यसंकल्पवाला है, आकाशादि का निर्माण करनेवाला है। सभी कर्म उसी के हैं, सभी धर्म उसी के हैं, वह सभी गन्धों से पूर्ण है, वही सभी रसों से परिपूर्ण है, यह सारा जगत् उससे व्याप्त है। वह वाणी आदि इन्द्रियों से परे है। वह पक्षपातरहित है।

एष म आत्माऽन्तर्हृदयेऽणीयान्व्रीहेर्वा यवाद्वा सर्षपाद्वा श्यामाकाद्वा श्यामाकतण्डुलाद्वा एष म आत्मान्तर्हृदये ज्यायान्पृथिव्या ज्यायानन्तरिक्षाज्ज्यायान्दिवो ज्यायानेभ्यो लोकेभ्यः ॥3॥

यह मेरा आत्मा चावल से, यव से, सरसों से या धान (शालि) से या सामा से भी अधिक छोटा है। फिर भी हृदय के भीतर स्थित मेरा आत्मा पृथ्वी से बड़ा, आकाश से बड़ा, अन्तरिक्ष से बड़ा, स्वर्ग से भी बड़ा और इन लोकों से भी बड़ा है। (ऐसे आत्मा की उपासना करनी चाहिए)।

सर्वकर्मा सर्वकामः सर्वगन्धः सर्वरसः सर्वमिदमभ्यात्तोऽवाक्यनादर एष म आत्मान्तर्हृदय एतद्ब्रह्मैतमितः प्रेत्याभिसंभवितास्मीति यस्य स्यादद्धा न विचिकित्सास्तीति ह स्माह शाण्डिल्यः शाण्डिल्यः ॥4॥

इति चतुर्दशः खण्डः ॥

"सर्व कर्मोंवाला, सर्व इच्छाओं वाला, सर्वगन्धयुक्त, सर्वरसयुक्त; इन सबको व्याप्त कर रहनेवाला, वाणी से परे, पक्षपातरहित यह जो आत्मा मेरे हृदय के भीतर स्थित है वह ब्रह्म है। इस शरीर को छोड़ने के बाद भी मैं उसे पा सकूँगा।"—ऐसा जिसका निश्चय होता है, और जिसमें इस विषय के प्रति शंका का लेशमात्र भी नहीं है, वह अवश्य ईश्वर को प्राप्त कर लेता है। इस प्रकार की यह विद्या शाण्डिल्य ने कही है।

(यहाँ चौदहवाँ खण्ड पूरा हुआ।)

❋

पञ्चदशः खण्डः

अन्तरिक्षोदरः कोशो भूमिर्बुध्नो न जीर्यति दिशो ह्यस्य स्रक्तयो द्यौरस्योत्तरं बिलꣳ स एष कोशो वसुधानस्तस्मिन्विश्वमिदꣳ श्रितम् ॥1॥

आकाश इस विराट् पुरुष का उदर है, पृथ्वी पाद है, दिशाएँ हाथ हैं, उसका मस्तक पर का छिद्र (ब्रह्मरन्ध्र) स्वर्ग है, ऐसा यह कोशभाण्डागार है, उसका कभी नाश नहीं होता। इसमें सारा जगत् अवस्थित है।

तस्य प्राची दिग्जुहूर्नाम सहमाना नाम दक्षिणा राज्ञी नाम प्रतीची सुभूता नामोदीची तासां वायुर्वत्सः स य एतमेवं वायुं दिशां वत्सं वेद न पुत्ररोदꣳ रोदिति सोऽहमेतमेवं वायुं दिशां वत्सं वेद मा पुत्ररोदꣳ रुदम् ॥2॥

उस विराट् पुरुष की पूर्व दिशा 'जुहु' (होमस्थल) नाम की है, दक्षिण दिशा 'सहमाना' (कर्मफल स्वीकारना) नाम की है, पश्चिम दिशा का नाम 'राज्ञी' (सान्ध्य वर्ण की) है, उत्तर दिशा का नाम 'सुभूता' है (कुबेरादि का स्थान) है। उन दिशाओं का पुत्र वायु है। जो साधक वायु को दिशाओं के पुत्र के रूप में पूजते हैं उसे पुत्र के कारण रोना नहीं पड़ता। मैं उस वायु को दिशाओं का पुत्र मानकर पूजता हूँ जिससे कि पुत्र के कारण कभी मैं न रोऊँ।

अरिष्टं कोशं प्रपद्येऽमुनाऽमुनाऽमुना प्राणं प्रपद्येऽमुनाऽमुनाऽमुना भूः प्रपद्येऽमुनाऽमुनाऽमुना भुवः प्रपद्येऽमुनाऽमुनाऽमुना स्वः प्रपद्येऽमुनाऽमुनाऽमुना ॥3॥

मैं अमुक-अमुक नामवाले पुत्र के साथ अविनाशी कोश की शरण में हूँ। इसी प्रकार प्राण की शरण में हूँ, वैसे ही भूर्लोक के अधिष्ठाता देव की शरण में हूँ। इसी प्रकार भुवर्लोक के देवता की और स्वर्लोक की भी शरण में हूँ।

स यदवोचं प्राणं प्रपद्य इति प्राणो वा इदꣳ सर्वं भूतं यदिदं किंच तमेव तत्प्रापत्सि ॥4॥

मैंने जो कहा कि "मैं मुख्य प्राण की शरण में हूँ"—इसका तात्पर्य यह है कि जो कुछ स्थावरजंगम जगत् है, वह प्राण ही है, मैं उस सर्वात्मक प्राण की शरण में हूँ।

अथ यदवोचं भूः प्रपद्य इति पृथिवीं प्रपद्येऽन्तरिक्षं प्रपद्ये दिवं प्रपद्ये इत्येव तदवोचम् ॥5॥

और भी मैंने जो कहा कि "मैं पृथ्वी की शरण में हूँ"—इससे मेरा प्रयोजन है कि मैं पृथ्वी की शरण में हूँ, आकाश की शरण में हूँ और स्वर्ग की शरण में हूँ।

अथ यदवोचं भुवः प्रपद्य इत्यग्निं प्रपद्ये वायुं प्रपद्य आदित्यं प्रपद्य इत्येव तदवोचम् ॥6॥

और जो मैंने कहा कि मैं "भुवर्लोक की शरण में हूँ" तो इसका अर्थ यह है कि मैं भुवर्लोक की शरण में हूँ, मैं अग्नि की शरण में हूँ, मैं वायु की शरण में हूँ, मैं आदित्य की शरण में हूँ।

अथ यदवोचꣳ स्वः प्रपद्य इत्यृग्वेदं प्रपद्ये यजुर्वेदं प्रपद्ये सामवेदं प्रपद्य इत्येव तदवोचं तदवोचम् ॥7॥

इति पञ्चदशः खण्डः ॥

जो मैंने कहा था कि "मैं स्वर्ग की शरण में हूँ"—इसका तात्पर्य यह है कि मैं ऋग्वेद की शरण में हूँ, यजुर्वेद की शरण में हूँ, सामवेद की शरण में हूँ। मैंने ऐसा ही कहा था, यही कहा था।

(यहाँ पंद्रहवाँ खण्ड पूरा हुआ।)

❋

षोडशः खण्डः

पुरुषो वाव यज्ञस्तस्य यानि चतुर्विंशतिवर्षाणि तत्प्रातःसवनं चतुर्विंꣳशत्यक्षरा गायत्री गायत्रं प्रातःसवनं तदस्य वसवोऽन्वायत्ताः प्राणा वाव वसव एते हीदꣳ सर्वं वासयन्ति ॥1॥

पुरुष ही यज्ञ है। उसकी आयु के पहले चौबीस वर्ष प्रात:-सन्ध्या है, क्योंकि गायत्री चौबीस अक्षर की है, और प्रात:सवन की आहुति के मंत्र गायत्री छन्द के हैं। इस प्रात:सवन के देवता वसु हैं। प्राण ही वसु हैं क्योंकि प्राण ही सबको अपने में बसाते हैं।

तं चेदेतस्मिन्वयसि किंचिदुपतपेत्स ब्रूयात्प्राणा वसव इदं मे प्रात:सवनं माध्यन्दिनꣳ सवनमनुसन्तनुतेति माहं प्राणानां वसूनां मध्ये यज्ञो विलोप्सीयेत्युद्धैव तत इत्यगदो ह भवति ॥2॥

चौबीस वर्ष की आयु में यज्ञकर्त्ता को कोई रोग पीड़ित करे तो उसे कहना चाहिए कि "हे प्राणो! हे वसुओ! मेरी इस प्रातर्यज्ञ की आयु को मध्याह्नयज्ञ की आयु तक फैला दीजिए, जिससे प्राणरूपी वसुदेवताओं के आगे यज्ञरूप मैं नष्ट न होऊँ।"—ऐसी प्रार्थना से वह रोगादिरहित हो जाता है।

अथ यानि चतुश्चत्वारिंशद्वर्षाणि तन्माध्यन्दिनꣳ सवनं चतुश्चत्वारिꣳशदक्षरा त्रिष्टुप् त्रैष्टुभं माध्यन्दिनꣳ सवनं तदस्य रुद्रा अन्वायत्ताः प्राणा वाव रुद्रा एते हीदꣳ सर्वꣳ रोदयन्ति ॥3॥

चौबीस वर्ष के बाद की जो चँवालीस वर्ष तक की (अड़सठ वर्ष तक की) आयु है, वह मध्याह्न की आहुति है (मध्याह्न सन्ध्या है), क्योंकि त्रिष्टुभ् छन्द चँवालीस अक्षरों का है और मध्याह्न की यज्ञक्रिया के मन्त्र भी त्रिष्टुभ् छन्द के ही हैं। मध्याह्न की यज्ञक्रिया के देव रुद्र हैं। यहाँ प्राण ही रुद्र हैं। क्योंकि उस आयु में प्राण सतानेवाले होने से सबको रुला सकते हैं। (जो रुलाता है, वही रुद्र है)।

तं चेदेतस्मिन्वयसि किंचिदुपतपेत्स ब्रूयात्प्राणा रुद्रा इदं मे माध्यन्दिनꣳ सवनं तृतीयसवनमनुसन्तनुतेति माहं प्राणानाꣳ रुद्राणां मध्ये यज्ञो विलोप्सीयेत्युद्धैव तत एत्यगदो ह भवति ॥4॥

और यदि पुरुष को इस दूसरी अवस्था में कोई दु:ख हो तो वह प्रार्थना करे कि—"हे प्राणो! हे रुद्रो! मेरी इस मध्याह्न आहुति को तीसरी आहुति (सायंसन्ध्या) तक पहुँचा दीजिए कि जिससे यज्ञरूप मैं रुद्ररूप प्राणों से बीच में ही बिछुड़ न जाऊँ।" ऐसी प्रार्थना से यह रोगमुक्त हो जाता है।

अथ यान्यष्टाचत्वारिꣳशद्वर्षाणि तृतीयसवनमष्टाचत्वारिꣳशदक्षरा जगती जागतं तृतीयसवनं तदस्यादित्या अन्वायत्ताः प्राणा वावादित्या एते हीदꣳ सर्वमाददते ॥5॥

अब बाद के जो अड़तालीस वर्ष (69 से 116 वर्ष तक) हैं, वे तीसरी आहुति (सायंसन्ध्या) है। क्योंकि जगती छन्द अड़तालीस अक्षरों का है और तृतीय सवन की आहुतियों के मन्त्र भी जगती छन्द के ही हैं। उस आहुति के देवता आदित्य हैं। यहाँ प्राण ही आदित्य है, क्योंकि वही सबको ले जाते हैं।

तं चेदेतस्मिन्वयसि किंचिदुपतपेत्स ब्रूयात्प्राणा आदित्या इदं मे तृतीयसवनमायुरनुसन्तनुतेति माहं प्राणानामादित्यानां मध्ये यज्ञो विलोप्सीयेत्युद्धैव तत एत्यगदो हैव भवति ॥6॥

और यदि इस तीसरी अवस्था में पुरुष को पीड़ा हो तो वह कहे कि—"हे प्राणो! हे आदित्यो! मेरी इस तीसरे सवन की आहुति को मेरी पूरी आयु तक पहुँचा दीजिए कि जिससे यज्ञरूप मैं बीच में ही प्राणों या आदित्यों से बिछुड़ न जाऊँ।" ऐसी प्रार्थना से वह नीरोगी हो जाता है।

एतद्ध स्म वै तद्विद्वानाह महिदास ऐतरेयः स किं म एतदुपतपसि योऽहमनेन न प्रेष्यामीति स ह षोडशं वर्षशतमजीवत्प्र ह षोडशं वर्षशतं जीवति य एवं वेद ॥7॥

इति षोडशः खण्डः ॥

इस प्रसिद्ध विद्या को जाननेवाले इतरापुत्र महीदास ने इस प्रकार कहा है—"अरे, (रोग!) तू मुझे क्यों पीड़ा दे रहा है? तुझसे मैं मरनेवाला नहीं हूँ।" फलस्वरूप वह एक सौ सोलह वर्ष तक जीवित रहा था। और भी कोई उपासक यदि यह जानता है तो वह भी एक सौ सोलह साल तक जीवित रहता है।

(यहाँ सोलहवाँ खण्ड पूरा हुआ।)

❋

सप्तदशः खण्डः

स यदशिशिषति यत्पिपासति यन्न रमते ता अस्य दीक्षाः ॥1॥

वह यज्ञकर्ता खाने की इच्छा करता है, पीने की इच्छा भी करता है, पर अन्य वस्तुओं में—इन्द्रियादि सुखों में इच्छा नहीं करता, वही उसकी दीक्षा है। (आत्मसंयम का यह प्रथम सोपान है)।

अथ यदश्नाति यत्पिबति यद्रमते तदुपसदैरेति ॥2॥

फिर भी वह जो खाता है, जो पीता है, जो रति का अनुभव करता है, वह तो उपसदों के जैसा ही माना जाता है। (यज्ञकर्ता की खानपानादि क्रियाएँ उपसदों के जैसी ही मानी जाती है)।

अथ यद्धसति यज्जक्षति यन्मैथुनं चरति स्तुतशस्त्रैरेव तदेति ॥3॥

और जब वह हँसता है, खाता है, मैथुन करता है, तब स्तुतशस्त्र की समानता रखता है।

अथ यत्तपो दानमार्जवमहिꣳसा सत्यवचनमिति ता अस्य दक्षिणाः ॥4॥

उसी प्रकार उस यज्ञकर्ता के दान, तप, सरलता, अहिंसा और सत्यवचन हैं, वे ही उसकी दक्षिणा है।

तस्मादाहुः सोष्यत्यसोष्टेति पुनरुत्पादनमेवास्य तन्मरणमेवास्यावभृथः ॥5॥

इसलिए कहते हैं कि—जन्म देगा या जन्म दिया वह उसका पुनर्जन्म ही है। और उसका मरण ही अवभृथ स्नान है।

तद्धैतद्घोर आङ्गिरसः कृष्णाय देवकीपुत्रायोक्त्वोवाचापिपास एव स बभूव सोऽन्तवेलायामेतत्त्रयं प्रतिपद्येताक्षितमस्यच्युतमसि प्राणसꣳशितमसीति तत्रैते द्वे ऋचौ भवतः ॥6॥

अंगिरा के पुत्र घोर नामक ऋषि ने यह यज्ञ-शास्त्र देवकीपुत्र कृष्ण को सुनाया था, जिसे सुनकर वह तृष्णारहित हो गया था। उस घोर ऋषि ने कहा कि मरण समय में उसे ये तीन मंत्र जपने चाहिए—"तू अक्षय है, तू अच्युत है, तू अतिसूक्ष्म है।" और इस विषय में दो ऋचाएँ और भी हैं।

आदित्प्रत्नस्य रेतसः। ज्योतिः पश्यन्ति वासरम्। परो यदिध्यते दिवि ॥7॥

उद्वयन्तमसस्परि ज्योतिः पश्यन्त उत्तरꣳस्वः पश्यन्त उत्तरं देवं देवत्रा सूर्यमगन्म ज्योतिरुत्तममिति ज्योतिरुत्तममिति ॥8॥

इति सप्तदशः खण्डः ॥

ब्रह्मज्ञानी लोग परब्रह्म के प्रकाशमान तेज को ही जगत् का बीज मानते हैं। यह प्रकाश सूर्यप्रकाश की ही तरह सर्वव्यापक है। यह शाश्वत है, यह महाप्रकाश समस्त विश्व का मूलस्रोत है। यह महत्तम प्रकाश अन्धकाररूपी अज्ञान को दूर कर देता है। इसी प्रकाश को अपने हृदय में देखकर हमने स्वयंप्रकाश परमतत्त्व को प्राप्त कर लिया है, जो कि प्रकाशों का भी प्रकाश है।

(यहाँ सत्रहवाँ खण्ड पूरा हुआ।)

❋

अष्टादशः खण्डः

मनो ब्रह्मेत्युपासीतेत्यध्यात्ममथाधिदैवतमाकाशो ब्रह्मेत्युभयमादिष्टं भवत्यध्यात्मं चाधिदैवतं च ॥1॥

'मन ब्रह्म है'—इस प्रकार उपासना करनी चाहिए। यह आध्यात्मिक उपासना है। और 'आकाश ब्रह्म है'—ऐसी उपासना आधिदैविक उपासना है। इस प्रकार अध्यात्म (आध्यात्मिक उपासना) और अधिदैवत (आधिदैविक उपासना) दोनों यहाँ कहे गये हैं।

तदेतच्चतुष्पाद्ब्रह्म। वाक् पादः प्राणः पादश्चक्षुः पादः श्रोत्रं पाद इत्यध्यात्मम्। अथाधिदैवतमग्निः पादो वायुः पाद आदित्यः पादो दिशः पाद इत्युभयमेवादिष्टं भवत्यध्यात्मं चैवाधिदैवतं च ॥2॥

उस ब्रह्म के चार भाग हैं—वाक्पाद, प्राणपाद, चक्षुपाद और श्रोत्रपाद (वाणी, प्राण, नेत्र और कान) यह अध्यात्म है। अब अधिदैवत कहते हैं कि अग्नि, वायु, सूर्य और दिशाएँ—ये भाग हैं। इस प्रकार अध्यात्म और अधिदैवत—दोनों के चार-चार भाग कहे गये हैं।

वागेव ब्रह्मणश्चतुर्थः पादः। सोऽग्निना ज्योतिषा भाति च तपति च भाति च तपति च कीर्त्या यशसा ब्रह्मवर्चसेन य एवं वेद ॥3॥

मनरूपी ब्रह्म का वाणी ही चौथा पाद (भाग) है। वह पाद अग्नि से प्रकाशित होता है और घृतादि भक्षण से तेजस्वी होता है। जो उपासक इस ज्ञान के साथ मनोब्रह्म की उपासना करता है, वह कीर्ति, यश और ब्रह्मतेज से प्रकाशमान होता है।

प्राण एव ब्रह्मणश्चतुर्थः पादः। स वायुना ज्योतिषा भाति च तपति च भाति च तपति च कीर्त्या यशसा ब्रह्मवर्चसेन य एवं वेद ॥4॥

मनोब्रह्म का चौथा भाग प्राण है, प्राण बाह्य वायु के तेज से प्रकाशित और तप्त होता है, जो उपासक इस प्रकार जानकर उपासना करता है, वह तेजस्वी होता है, प्रत्यक्ष-परोक्ष कीर्ति से और ब्रह्मतेज से प्रकाशित होता है।

चक्षुरेव ब्रह्मणश्चतुर्थः पादः। स आदित्येन ज्योतिषा भाति च तपति च भाति च तपति च कीर्त्या यशसा ब्रह्मवर्चसेन य एवं वेद ॥5॥

मनरूपी ब्रह्म का आँख चौथा भाग है। नेत्र आदित्य के तेज से प्रकाशित और तेजस्वी होता है। जो उपासक इस प्रकार समझ-बूझ कर उपासना करता है, वह तेजस्वी होता है और कीर्ति से तथा ब्रह्मतेज से ओजस्वी एवं शोभित होता है।

श्रोत्रमेव ब्रह्मणश्चतुर्थः पादः। स दिग्भिर्ज्योतिषा भाति च तपति च भाति च तपति च कीर्त्या यशसा ब्रह्मवर्चसेन य एवं वेद ॥6॥

इत्यष्टादशः खण्डः ॥

श्रोत्र ही मनोब्रह्म का चौथा पाद है। वह दिशाओं के तेज से प्रकाशित और शोभित होता है। जो साधक इस प्रकार जानकर उपासना करता है वह प्रकाशित और शोभित होता है। और कीर्ति एवं ब्रह्मतेज से तेजस्वी और शोभित होता है।

(यहाँ अठारहवाँ खण्ड पूरा हुआ।)

❋

एकोनविंशः खण्डः

आदित्यो ब्रह्मेत्यादेशस्तस्योपव्याख्यानमसदेवेदमग्र आसीत्। तत्सदासीत्तत्समभवत्तदाण्डं निरवर्तत तत्संवत्सरस्य मात्रामशयत तन्निरभिद्यत ते आण्डकपाले रजतं च सुवर्णं चाभवताम् ॥1॥

'सूर्य ब्रह्म है' इस उपदेश का व्याख्यान करते हैं—यह नामरूपात्मक जगत् अपनी उत्पत्ति के पहले असत् (अनभिव्यक्त) नामरूपहीन ही था। बाद में यह सत् (परिमाणवाला) हुआ। बाद में अण्डाकार हुआ। बाद में एक वर्ष तक वैसे ही पड़ा रहा। एक वर्ष के बाद वह फूटा। फूटे हुए अण्डे के दो भागों में से एक स्वर्ण हुआ और दूसरा रजत हुआ।

तद्यद्रजतꣳ सेयं पृथिवी यत्सुवर्णꣳ सा द्यौर्यज्जरायु ते पर्वता यदुल्बꣳ समेघो नीहारो या धमनयस्ता नद्यो यद्वास्तेयमुदकꣳ स समुद्रः ॥2॥

जो रजत है वह यह पृथ्वी है, जो सोना है वह स्वर्ग है। अण्डे के भीतर जो (जरायु) भाग था वह पर्वत हैं, उल्ब भाग का स्तर मेघों के साथ ओस हुआ, अण्डे के भीतर के रेशे नदियाँ हुईं और अण्डे का पानी सागर बना।

अथ यत्तदजायत सोऽसावादित्यस्तं जायमानं घोषा उलूलवोऽनूदतिष्ठन् सर्वाणि च भूतानि च सर्वे च कामास्तस्मात्तस्योदयं प्रति प्रत्यायनं प्रति घोषा उलूलवोऽनूत्तिष्ठन्ति सर्वाणि च भूतानि सर्वे चैव कामाः ॥3॥

उस अण्डे से सूर्य उत्पन्न हुआ। उसके उत्पन्न होते ही उत्साह (आनन्द) की आवाजें हुईं, स्थावरजंगम जीव और भोग्य पदार्थ भी उत्पन्न हुए। इसलिए तो सूर्य के उदय और अस्त होते ही उत्साह (आनंद) के शब्द होने लगते हैं।

स य एतमेवं विद्वानादित्यं ब्रह्मेत्युपास्तेऽभ्याशो ह यदेनः साधवो घोषा आ च गच्छेयुरुप च निम्रेडेरन्निम्रेडेरन् ॥4॥

इत्येकोनविंशः खण्डः ॥

इति छान्दोग्योपनिषदि तृतीयोऽध्यायः ॥3॥
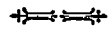
पूर्वोक्त प्रकार से जानकर जो कोई ब्रह्मबुद्धि से सूर्य की उपासना करता है, वह सूर्यरूप हो जाता है और उसे आनन्द के शब्द सुनाई देते हैं और सुनाई देते रहेंगे।

(यहाँ उन्नीसवाँ खण्ड पूरा हुआ।)
यहाँ छान्दोग्योपनिषद् का तृतीय अध्याय समाप्त हुआ।

❋

अथ चतुर्थोऽध्यायः

प्रथमः खण्डः

ॐ जानश्रुतिर्ह पौत्रायणः श्रद्धादेयो बहुदायी बहुपाक्य आस स ह सर्वत आवसथान्मापयांचक्रे सर्वत एव मेऽस्यन्तीति ॥1॥

जनश्रुत-वंशी (उसके पुत्र का पुत्र) जानश्रुति श्रद्धापूर्वक बहुत दान देनेवाला था। उसके यहाँ बहुत अन्न पकाया जाता था। "सब लोग मेरा ही अन्न खाएँ"—इस आशय से उसने स्थान-स्थान पर धर्मशालाएँ बनवाई थीं।

अथ ह हꣳसा निशायामतिपेतुस्तद्धैवꣳ हꣳ सो हꣳसमभ्युवाद हो होऽपि भल्लाक्ष भल्लाक्ष जानश्रुतेः पौत्रायणस्य समं दिवा ज्योतिराततं तन्मा प्रसाङ्क्षीस्तत्त्वा मा प्रधाक्षीरिति ॥2॥

उसी समय रात को उस तरफ से उड़ते-उड़ते कुछ हंस आए। उनमें से किसी एक हंस ने दूसरे हंस से कहा—"हे भल्लाक्ष! भल्लाक्ष! इस जानश्रुति पौत्रायण का तेज स्वर्ग की तरह फैला हुआ है। उसे तुम स्पर्श मत करना। शायद वह तुझे स्पर्श करने से जला देगा।"

तमु ह परः प्रत्युवाच कम्बर एनमेतत्सन्तꣳ सयुग्वानमिव रैक्वमात्थेति यो नु कथꣳ सयुग्वा रैक्व इति ॥3॥

तब उससे दूसरे हंस ने कहा—"अरे, इस राजा में ऐसी तो कौन-सी बड़ाई है कि तुम इसके सम्बन्ध में ऐसे मानसूचक शब्द कह रहे हो?—गाड़ीवाले रैक्व के समान कह रहे हो?" तब पहले ने पूछा—"कौन है वह गाड़ीवाला रैक्व?" उसने कहा—'सुनो।'

यथा कृतायविजितायाधरेयाः संयन्त्येवमेनꣳसर्वं तदभिसमेति यत्किञ्च प्रजाः साधु कुर्वन्ति यस्तद्वेद यत्स वेद स मयैतदुक्त इति ॥4॥

"जिस तरह जुए में 'कृत' नाम के (चार अंकवाले) अक्ष से जीतनेवाले पुरुष के प्रभुत्व में निम्नश्रेणी के सभी अक्ष आ जाते हैं, उसी तरह जो अच्छे काम करते हैं, वे सभी रैक्व के अधीन हो जाते हैं। जो रैक्व जानता है, यदि उसे कोई जान लेता है तो वह रैक्व जैसा हो जाता है। इस प्रकार मैंने रैक्व के विषय में कहा।"

तदु ह जानश्रुतिः पौत्रायण उपशुश्राव। स ह संजिहान एव क्षत्तार-मुवाचाङ्गारे ह सयुग्वानमिव रैक्वमात्थेति यो नु कथꣳ सयुग्वा रैक्व इति ॥5॥

जानश्रुति पौत्रायण ने यह बात सुनी। प्रातःकाल उठते ही उसने बन्दीजन से यह बात कही—"अरे भाई! तू मेरी प्रशंसा में गाड़ीवाले रैक्व की स्तुति-सी ही क्यों कर रहा है?" तब बन्दीजन ने पूछा—"कौन है वह गाड़ीवाला रैक्व? कैसा है वह?"

यथा कृतायविजितायाधरेयाः संयन्त्येवमेनꣳ सर्वं तदभिसमेति यत्किञ्च प्रजाः साधु कुर्वन्ति यस्तद्वेद यत्स वेद स मयैतदुक्त इति ॥6॥

"जिस तरह जुए में 'कृत' नाम के (ज्यादा आँकड़ों वाले) अक्ष से जीतनेवाले पुरुष के प्रभुत्व में निचली श्रेणी के सभी अक्ष आ जाते हैं, उसी प्रकार जो अच्छे कार्य करते हैं, वे सभी रैक्व के अधीन हो जाते हैं। जो रैक्व जानता है, उसे जो जान लेता है, तो वह रैक्व जैसा हो जाता है। इस प्रकार मैंने रैक्व के बारे में तुमसे कह दिया।"—ऐसा प्रत्युत्तर राजा ने बन्दीजन को दिया।

स ह क्षत्ताऽन्विष्य नाविदमिति प्रत्येयाय तꣳ होवाच यत्रारे ब्राह्मणस्यान्वेषणा तदेनमर्च्छेति ॥7॥

तब उस बन्दीजन ने जाँच-पड़ताल करके लौटकर कहा—"मुझे तो उसका पता नहीं मिला" तब राजा ने कहा—"अरे भाई! जहाँ ब्रह्मज्ञानी की खोज की जाती है, वहाँ (अरण्यादि में) उसे खोज निकालो।"

सोऽधस्ताच्छकटस्य पामानं कषमाणमुपोपविवेश तꣳ हाभ्युवाद त्वं तु भगवः सयुग्वा रैक्व इत्यहꣳ ह्यरा 3 इति ह प्रतिजज्ञे स ह क्षत्ताऽविदमिति प्रत्येयाय ॥8॥

इति प्रथमः खण्डः ॥

उस बन्दीजन ने गाड़ी के नीचे खाज खुजलाते हुए रैक्व को देखा। उनके पास वह बन्दीजन बैठा और उसने कहा—"क्या आप ही महानुभाव गाड़ीवाले रैक्व हैं न?" रैक्व ने कहा—"अरे हाँ, मैं ही रैक्व हूँ।" तब बन्दीजन ने उन्हें पहचाना। यह जानकर वह राजा के पास लौटा और राजा से कहा—"रैक्व मुझे मिल गए हैं।"

(यहाँ पहला खण्ड पूरा हुआ।)

❋

द्वितीयः खण्डः

तदुह जानश्रुतिः पौत्रायणः षट् शतानि गवां निष्कमश्वतरीरथं तदादाय प्रतिचक्रमे तꣳ हाभ्युवाद ॥1॥

इसके बाद जानश्रुति पौत्रायण छः सौ गायें, एक हार और टट्टुओं से जुड़ा हुआ रथ लेकर उनके पास गया और बोला कि—

रैक्वेमानि षट् शतानि गवामयं निष्कोऽयमश्वतरीरथो नु म एतां भगवो देवताꣳ शाधि यां देवतामुपास्स इति ॥2॥

"हे रैक्व! ये छः सौ गायें, यह हार और यह टट्टुओं से जुड़ा हुआ रथ मैं लाया हूँ, इन्हें स्वीकार करके हे भगवन्! आप जिस देवता की उपासना करते हैं, उसका मुझे उपदेश दीजिए।

तमु ह परः प्रत्युवाचाह हारे त्वा शूद्र तवैव सह गोभिरस्त्विति तदुह पुनरेव जानश्रुतिः पौत्रायणः सहस्रं गवां निष्कमश्वतरीरथं दुहितरं तदादाय प्रतिचक्रमे ॥3॥

तब उसको दूसरे (रैक्व) ने उत्तर दिया—"हे शूद्र! ये गायें हारादि सहित तुम अपने पास ही रखो। तब फिर जानश्रुति पौत्रायण हजार गायें, एक हार, खच्चरों से जुता हुआ रथ और अपनी कन्या लेकर उनके पास आया।

तꣳ हाभ्युवाद रैक्वेदꣳसहस्रं गवामयं निष्कोऽयमश्वतरीरथ इयं जायाऽयं ग्रामो यस्मिन्नास्सेऽन्वेव मा भगवः शाधीति ॥4॥

जानश्रुति ने रैक्व से कहा—"हे रैक्व! ये एक हजार गायें, यह हार, यह टट्टुओं से जुड़ा हुआ रथ, यह पत्नी, जहाँ आप रहते हैं वह गाँव—इन सबको स्वीकार करते मुझे आप अवश्य उपदेश दीजिए।

तस्या ह मुखमुपोद्गृह्णन्नुवाचाजहारेमाः शूद्रानेनैव मुखेनालापयिष्यथा इति ते हैते रैक्वपर्णा नाम महावृषेषु यत्रास्मा उवास तस्मै होवाच ॥5॥

इति द्वितीयः खण्डः ॥

उस कन्या का मुँह ऊँचा करके ग्रहण करते हुए रैक्व ने कहा—"हे शूद्र! तुम मेरे लिए बहुत-सी वस्तुएँ लाए हो वे सब मेरे लिए गौण है किन्तु विद्या ग्रहण के इस द्वार से आप मुझसे उपदेश कराते है।" जहाँ वे रैक्व रहते थे, वह 'रैक्वपर्णा' नामक गाँव 'महावृष' प्रदेश में अवस्थित है। फिर रैक्व ने जानश्रुति को यह (निम्न) उपदेश दिया।

(यहाँ दूसरा खण्ड पूरा हुआ।)

❋

तृतीयः खण्डः

वायुर्वाव संवर्गो यदा वा अग्निरुद्वायति वायुमेवाप्येति यदा सूर्योऽस्तमेति वायुमेवाप्येति यदा चन्द्रोऽस्तमेति वायुमेवाप्येति ॥1॥

वायु ही सबका संग्राहक है। जब अग्नि शान्त होती है तब वायु में ही मिल जाती है, जब सूर्य अस्त होता है, तब वायु में ही मिल जाता है, जब चन्द्र अस्त होता है, तब वायु में ही मिल जाता है।

यदाप उच्छुष्यन्ति वायुमेवापियन्ति वायुर्ह्येवैतान्सर्वान्संवृङ्क्त इत्यधिदैवतम् ॥2॥

जब जल सूख जाता है, वायु में ही मिल जाता है, क्योंकि वायु ही अग्नि आदि का आधार है। इस प्रकार यह देवतासम्बन्धी संवर्ग कहा गया।

अथाध्यात्मं प्राणो वाव संवर्गः स यदा स्वपिति प्राणमेव वागप्येति प्राणं चक्षुः प्राणꣳश्रोत्रं प्राणं मनः प्राणो ह्येवैतान्सर्वान्संवृङ्क्त इति ॥3॥

अब अध्यात्म (शारीरिक) संवर्ग कहते हैं। प्राण ही संवर्ग (संग्राहक) है। जब मनुष्य सोता है तब प्राण में ही वाणी लीन होती है, प्राण में ही आँख, प्राण में ही कान, प्राण में ही मन लीन हो जाता है। प्राण ही इन सबका आधार है।

तौ वा एतौ द्वौ संवर्गौ वायुरेव देवेषु प्राणः प्राणेषु ॥4॥

तो ये दो संवर्ग हैं—देवों में वायु है और इन्द्रियों में प्राण है।

अथ ह शौनकं च कापेयमभिप्रतारिणं च काक्षसेनिं परिविष्यमाणौ ब्रह्मचारी बिभिक्षे तस्मा उ ह न ददतुः ॥5॥

एक बार कापिगोत्रोत्पन्न शौनक और कक्षसेन-पुत्र अभिप्रतारी को जब भोजन परोसा जा रहा था तो बीच में ही किसी ब्रह्मचारी ने भिक्षा माँगी, किन्तु उन्होंने भिक्षा नहीं दी।

स होवाच महात्मनश्चतुरो देव एकः कः स जगार भुवनस्य गोपास्तं कापेय नाभिपश्यन्ति मर्त्या अभिप्रतारिन्बहुधा वसन्तं यस्मै वा एतदन्नं तस्मा एतन्न दत्तमिति ॥6॥

वह ब्रह्मचारी बोला—"एक कोई देव चार महात्माओं को निगल गया। हे कापेय! हे अभिप्रतारी! मरणधर्मा मानव, उस अनेक रूपों में अवस्थित जगत् के रक्षक देव को देख नहीं पाते, जिसके लिए यह अन्न है, उसको नहीं दिया गया।"

तदु ह शौनकः कापेयः प्रतिमन्वानः प्रत्येयायात्मा देवानां जनिता प्रजानाꣳहिरण्यदꣳष्ट्रो बभसोऽनसूरिर्महान्तमस्य महिमानमाहुरनद्यमानो यदनन्नमत्तीति वै वयं ब्रह्मचारिन्नेदमुपास्महे दत्तास्मै भिक्षामिति ॥7॥

उस कथन पर कपिगोत्रीय शौनक ने चिन्तन किया फिर ब्रह्मचारी के पास जाकर कहा—"जो देवों का आत्मा है, जो प्रजाओं को उत्पन्न करनेवाला है, जो अटूट दंष्ट्रावाला है, जो भक्षणशील है, जो मेधावी है, जो बड़ा महिमावान कहा जाता है, जो अन्यों से अभक्षणीय है, जो वस्तुतः अन्न न हो तो उसे भी खा जाता है, हे ब्रह्मचारी! हम उसी देव की उपासना करते हैं।" ऐसा कहकर उसने सेवकों से कहा—"इसे भिक्षा दे दो।"

तस्मा उ ह ददुस्ते वा एते पञ्चान्ये पञ्चान्ये दश संतस्तत्कृतं तस्मात्सर्वासु दिक्ष्वन्नमेव दशकृतꣳ सैषा विराडन्नादी तयेदꣳ सर्वं दृष्टꣳ सर्वमस्येदं दृष्टं भवत्यन्नादो भवति य एवं वेद य एवं वेद ॥8॥

इति तृतीयः खण्डः ॥

बाद में उन्होंने उसे भिक्षा दी। वायु आदि पाँच तत्त्व और प्राण आदि पाँच तत्त्व मिलकर दस होते हैं। ये दस मानो द्युत के 'कृत' नाम का अक्ष है। इसलिए सभी दिशाओं में यह अन्न ही दशकृत है। यह विराट् ही अन्नभक्षक है, इसी से यह सब देखा जाता है। जो इस प्रकार जानता है, वह सब कुछ देख सकता है और वह अन्न पचानेवाला होता है।

(यहाँ तीसरा खण्ड पूरा हुआ।)

❋

चतुर्थः खण्डः

सत्यकामो ह जाबालो जबालां मातरमामन्त्रयाञ्चक्रे। ब्रह्मचर्यं भवति निवत्स्यामि किंगोत्रोन्वहमस्मीति ॥1॥

जबालापुत्र सत्यकाम ने अपनी माता जबाला से कहा—"आदरणीय माता, मैं ब्रह्मचर्यपूर्वक गुरुगृहनिवास करना चाहता हूँ। तो मेरा गोत्र कौन-सा है?"

सा हैनमुवाच नाहमेतद्वेद तात यद्गोत्रस्त्वमसि बह्वहं चरन्ती परिचारिणी यौवने त्वामलभे साहमेतन्न वेद यद्गोत्रस्त्वमसि जबाला तु नामाहमस्मि सत्यकामो नाम त्वमसि स सत्यकाम एव जाबालो ब्रुवीथा इति ॥2॥

उस जबाला ने पुत्र से कहा—"हे पुत्र, तुम किस गोत्र के हो, वह मैं नहीं जानती हूँ। बहुत लोगों की सेवा-शुश्रूषा करते हुए मैंने युवावस्था में तुम्हें प्राप्त किया है। मैं यह नहीं जानती कि तुम

किस गोत्र के हो। मेरा नाम तो जबाला है और तुम्हारा नाम सत्यकाम है। इसलिए गुरु के पास जाकर "मैं सत्यकाम जाबाल हूँ"—ऐसा कह दो।

स ह हारिद्रुमतं गौतममेत्योवाच ब्रह्मचर्यं भगवति वत्स्याम्युपेयां भगवन्तमिति ॥3॥

वह सत्यकाम गौतमगोत्रीय हरिद्रुमान के पुत्र हारिद्रुमत के पास जाकर बोला—"आदरणीय, आपके पास मैं ब्रह्मचर्यपूर्वक गुरुगृहवास करूँगा। इसलिए मैं आया हूँ।"

तꣳ होवाच किंगोत्रो नु सोम्यासीति स होवाच नाहमेतद्वेद भो यद्गोत्रोऽहमस्म्यपृच्छं मातरꣳ सा मा प्रत्यब्रवीद् बह्वहं चरन्ती परिचारिणी यौवने त्वामलभे साऽहमेतन्न वेद यद्गोत्रस्त्वमसि जबाला तु नामाहमस्मि सत्यकामो नाम त्वमसीति सोऽहꣳ सत्यकामो जाबालोऽस्मि भो इति ॥4॥

गौतम ने उससे कहा—"हे सौम्य! तुम किस गोत्र के हो?" उसने कहा—"यह तो मैं नहीं जानता। हाँ मैंने अपनी माता से अपना गोत्र पूछा था। उसने मुझे उत्तर दिया कि—"बहुत लोगों की सेवा-शुश्रूषा करती हुई मैंने युवावस्था में तुम्हें प्राप्त किया है। अतः वह यह नहीं जानती कि तुम किस गोत्र के हो। मेरा नाम जबाला है और तुम्हारा नाम सत्यकाम है। इसलिए हे पूजनीय! मैं जाबाल सत्यकाम हूँ।"

तꣳ होवाच नैतदब्राह्मणो विवक्तुमर्हति समिधꣳ सौम्याहरोप त्वा नेष्ये न सत्यादगा इति तमुपनीय कृशानामबलानां चतुःशता गा निराकृत्योवाचेमाः सोम्यानुसंव्रजेति ता अभिप्रस्थापयन्नुवाच नासहस्रेणावर्तयेति स ह वर्षगणं प्रोवास ता यदा सहस्रꣳ संपेदुः ॥5॥

इति चतुर्थः खण्डः ॥

गौतम ने उस सत्यकाम से कहा—"ब्राह्मण के सिवा ऐसी स्पष्ट बात कोई नहीं कह सकता। अतः हे सौम्य! समिधा ले आओ, मैं तुम्हें उपवीत दूँगा, क्योंकि तुमने सत्य नहीं छोड़ा।" फिर उपनयन करके चार सौ दुबली-पतली गायें अलग कर उसे देते हुए कहा—"सौम्य, इन गायों के पीछे जाओ।" तब सत्यकाम बोला—"(चार सौ की) हजार गायें होने तक मैं लौटूँगा नहीं।" और हजार गायें होने तक बहुत वर्ष वह वन में ही रहा।

(यहाँ चौथा खण्ड पूरा हुआ।)

❋

पञ्चमः खण्डः

अथ हैनमृषभोऽभ्युवाद सत्यकाम 3 इति भगव इति ह प्रतिशुश्राव प्राप्ताः सोम्य सहस्रꣳ स्मः प्रापय न आचार्यकुलम् ॥1॥

बाद में सत्यकाम को ऋषभ ने बुलाकर कहा—'हे सत्यकाम!' तब सत्यकाम ने उत्तर में कहा 'कहिए महानुभाव!' तब ऋषभ ने कहा—"अब हम हजार संख्या में हो गए हैं, अब हमें आचार्य के घर पर ले चलो।"

ब्रह्मणश्च ते पादं ब्रवाणीति ब्रवीतु मे भगवानिति तस्मै होवाच प्राची

दिक्कला प्रतीची दिक्कला दक्षिणा दिक्कलोदीची दिक्कलैष वै सोम्य चतुष्कलः पादो ब्रह्मणः प्रकाशवान्नाम ॥2॥

ऋषभ ने कहा—"मैं तुम्हें ब्रह्म के एक चरण के विषय में भी कह दूँ।" सत्यकाम ने कहा—"हाँ कहिए महानुभाव !" तब ऋषभ बोला—पूर्वदिशा ब्रह्म की एक कला है, पश्चिम दिशा दूसरी कला है, दक्षिण दिशा एक और कला है और उत्तर दिशा भी एक और कला है। हे सौम्य ! इन चार कलाओं से ब्रह्म का एक पाद होता है। इस पाद का नाम 'प्रकाशवान' है।

स य एतमेवं विद्वाꣳश्चतुष्कलं पादं ब्रह्मणः प्रकाशवानित्युपास्ते प्रकाशवानस्मिँल्लोके भवति प्रकाशवतो ह लोकाञ्जयति य एतमेवं विद्वाꣳश्चतुष्कलं पादं ब्रह्मणः प्रकाशवानित्युपास्ते ॥3॥

इति पञ्चमः खण्डः ॥

जो पुरुष इस प्रकार ब्रह्म के इस चार कलावाले पाद को प्रकाशवान मानकर जानता है और उपासना करता है, वह इस लोक में प्रकाशवान कीर्तिमान होता है और प्रकाशवाले लोकों को प्राप्त होता है। जो साधक इस चतुष्कल ब्रह्मपाद को प्रकाशवान रूप से जानता है, वह यहाँ से जाने के बाद (मृत्यु के बाद) प्रकाशवान लोकों को प्राप्त होता है।

(यहाँ पञ्चम खण्ड पूरा हुआ।)

षष्ठः खण्डः

अग्निष्टे पादं वक्तेति स ह श्वोभूते गा अभिप्रस्थापयांचकार ता यत्राभिसायं बभूवुस्तत्राग्निमुपसमाधाय गा उपरुध्य समिधमाधाय पश्चादग्नेः प्राङुपोपविवेश ॥1॥

ऋषभ ने कहा—"अग्नि तुम्हें ब्रह्म के द्वितीय पाद के बारे में कहेगा।" दूसरे दिन सत्यकाम गायों को इकट्ठा करके आगे बढ़ने लगा। जाते-जाते शाम होने पर गायों को बाँधकर कुछ लकड़ी लाकर अग्नि जलायी और बाद में वह अग्नि के सामने पूर्वाभिमुख होकर बैठ गया।

तमग्निरभ्युवाद सत्यकाम 3 इति भगव इति ह प्रतिशुश्राव ॥2॥

उससे अग्नि ने कहा—'हे सत्यकाम !' तब उसने प्रत्युत्तर दिया—'हाँ महानुभाव !'

ब्रह्मणः सोम्य ते पादं ब्रवाणीति ब्रवीतु मे भगवानिति तस्मै होवाच पृथिवी कलान्तरिक्षं कला द्यौः कला समुद्रः कलैष वै सोम्य चतुष्कलः पादो ब्रह्मणोऽनन्तवान्नाम ॥3॥

अग्नि ने कहा—"हे सौम्य ! मैं तुम्हें ब्रह्म के एक पाद के बारे में कहूँगा।" सत्यकाम ने कहा—"कहिए भगवान् !" तब सत्यकाम से अग्नि ने कहा कि—"पृथ्वी इसकी एक कला है, अन्तरिक्ष दूसरी कला है, स्वर्ग फिर और एक कला है और समुद्र भी एक कला है। हे सोम्य ! ये चार कलाएँ ब्रह्म के इस पाद की हैं, इसका नाम अनन्तवान् है।

स य एतमेवं विद्वाꣳश्चतुष्कलं पादं ब्रह्मणोऽनन्तवानित्युपास्तेऽनन्तवानस्मिँल्लोके भवत्यनन्तवतो ह लोकाञ्जयति य एतमेवं विद्वाꣳश्चतुष्कलं पादं ब्रह्मणोऽनन्तवानित्युपास्ते ॥4॥

इति षष्ठः खण्डः ॥

जो पुरुष चार कलावाले ब्रह्म के इस पाद को अनन्तवान् के रूप में उपासना करता है, वह इस जगत् में अनन्त आयुवाला होता है। चार कला वाले अनन्तवान नाम के इस ब्रह्मपाद को जाननेवाला और उपासना करने वाला साधक मरण के बाद चिरस्थायी (अनन्त) लोकों को प्राप्त होता है।

(यहाँ छठा खण्ड पूरा हुआ।)

❋

सप्तमः खण्डः

हꣳसस्ते पादं वक्तेति स ह श्वोभूते गा अभिप्रस्थापयांचकार ता यत्राभिसायं बभूवुस्तत्राग्निमुपसमाधाय गा उपरुध्य समिधमाधाय पश्चादग्नेः प्राङुपोपविवेश ॥1॥

अग्नि बोला—"हंस तुम्हें ब्रह्म के अन्य पाद के विषय में कहेगा।" दूसरे दिन सत्यकाम गायों को साथ लेकर आगे बढ़ा। रास्ते में सायंकाल होने पर अग्नि की स्थापना की, गायों को बाँधकर समिध लाकर फिर अग्नि के सामने पूर्वाभिमुख बैठ गया है।

तꣳ हꣳस उपनिपत्याभ्युवाद सत्यकाम 3 इति भगव इति ह प्रतिशुश्राव ॥2॥

वहाँ उसके सामने उड़कर आए हुए हंस ने कहा—'सत्यकाम !' सत्यकाम ने उत्तर दिया—'हाँ भगवन् ! कहिए।'

ब्रह्मणः सोम्य ते पादं ब्रवाणीति ब्रवीतु मे भगवानिति तस्मै होवाचाग्निः कला सूर्यः कला चन्द्रः कला विद्युत्कलैष वै सोम्य चतुष्कलः पादो ब्रह्मणो ज्योतिष्मान्नाम ॥3॥

हंस बोला—"हे सौम्य ! तुझसे ब्रह्म के एक और पाद के बारे में कहूँगा।" सत्यकाम बोला—"हाँ भगवन् ! कहिए।" तब हंस ने उससे कहा—"अग्नि एक कला है, सूर्य दूसरी कला है, चन्द्र तीसरी कला है और विद्युत् चौथी कला है। हे सौम्य ! इन चार कलाओं से ब्रह्म का यह पाद बनता है। इस पाद का नाम 'ज्योतिष्मान्' है"।

स य एतमेवं विद्वाꣳश्चतुष्कलं पादं ब्रह्मणो ज्योतिष्मानित्युपास्ते ज्योतिष्मानस्मिँल्लोके भवति ज्योतिष्मतो ह लोकाञ्जयति य एतमेवं विद्वाꣳश्चतुष्कलं पादं ब्रह्मणो ज्योतिष्मानित्युपास्ते ॥4॥

इति सप्तमः खण्डः ॥

जो इस प्रकार से चार कलावाले ब्रह्म के पाद को 'ज्योतिष्मान्' के स्वरूप में जानता है—(उपासना करता है), वह इस लोक में ज्योतिष्मान् होता है। जो इस चार कलावाले ब्रह्मपाद को 'ज्योतिष्मान्' के रूप में उपासना करता है, वह ज्योतिवाले लोकों को प्राप्त होता है।

(यहाँ सातवाँ खण्ड पूरा हुआ।)

अष्टमः खण्डः

मद्गुष्टे पादं वक्तेति स ह श्वोभूते गा अभिप्रस्थापयांचकार ता यत्राभि सायं बभूवुस्तत्राग्निमुपसमाधाय गा उपरुध्य समिधमाधाय पश्चादग्नेः प्राङुपोपविवेश ॥1॥

हंस बोला—"तुम्हें मद्गु (एक जलचर पक्षी) ब्रह्म के अन्य पाद के विषय में कहेगा।" दूसरे दिन सत्यकाम गायों को इकट्ठा कर गुरुगृह की ओर आगे बढ़ाने लगा। जब सायंकाल हुआ तब अग्निस्थापन कर, गायें बाँधकर, अग्नि में लकड़ी डालकर अग्नि के पास पूर्वाभिमुख होकर बैठ गया।

तं मद्गुरभिनिपत्याभ्युवाद सत्यकाम 3 इति भगव इति ह प्रतिशुश्राव ॥2॥

मद्गु उड़कर उसके पास आकर बोला—'हे सत्यकाम।' उसने उत्तर दिया—'हाँ कहिए महानुभाव।'

ब्रह्मणः सोम्य ते पादं ब्रवाणीति ब्रवीतु मे भगवानिति तस्मै होवाच प्राणः कला चक्षुः कला श्रोत्रं कला मनः कलैष वै सोम्य चतुष्कलो पादो ब्रह्मण आयतनवान्नाम ॥3॥

मृद्गु बोला—"हे सौम्य! मैं तुम्हें ब्रह्म का एक और पाद कहूँगा।" वह बोला—"भगवन्, आप कहिए।" तब मद्गु ने कहा—"प्राण कला है, चक्षु कला है, श्रोत्र कला है, मन कला है—इस प्रकार यह ब्रह्म का चार कलावाला पाद है, इसका नाम 'आयतनवान्' है।

स य एतमेवं विद्वांश्चतुष्कलं पादं ब्रह्मण आयतनवानित्युपास्त आयतनवानस्मिँल्लोके भवत्यायतनवतो ह लोकाञ्जयति य एतमेवं विद्वांश्चतुष्कलं पादं ब्रह्मण आयतनवानित्युपास्ते ॥4॥

इत्यष्टमः खण्डः ॥

जो पुरुष इस तरह 'आयतनवान्' नामके इस चार कला वाले ब्रह्मपाद को जानकर उपासना करता है, वह इस लोक में अन्यों का आयतन (आधार) बनता है, और जो इस तरह आयतनवान् नामके इस चार कलावाले ब्रह्मपाद को जानकर उपासना करता है, वह मृत्यु के बाद आश्रयवाले (विस्तृत प्रदेशवाले) लोकों को प्राप्त करता है।

(यहाँ आठवाँ खण्ड पूरा हुआ।)

❋

नवमः खण्डः

प्राप हाचार्यकुलं तमाचार्योऽभ्युवाद सत्यकाम 3 इति भगव इति ह प्रतिशुश्राव ॥1॥

अन्त में वह आचार्य के घर पर पहुँचा। उससे आचार्य ने कहा—'हे सत्यकाम।' उसने प्रत्युत्तर दिया—'जी भगवन्!'

ब्रह्मविदिव वै सोम्य भासि को नु त्वानुशशासेत्यन्ये मनुष्येभ्य इति ह प्रतिजज्ञे भगवांस्त्वेव मे कामे ब्रूयात् ॥2॥

आचार्य ने कहा—"हे सौम्य! तुम ब्रह्मज्ञानी जैसे तेजस्वी लगते हो। तुम्हें किसने उपदेश दिया?" सत्यकाम ने उत्तर दिया—"मनुष्यों से अन्यों ने (देवादियों ने) मुझे उपदेश दिया है। अब मेरी इच्छा है कि आप ही मुझे उपदेश करें।"

श्रुतं ह्येव मे भगवद्दृशेभ्य आचार्याद्धैव विद्या विदिता साधिष्ठं प्रापयतीति तस्मै हैतदेवोवाचात्र ह न किंचन वीयायेति वीयायेति ॥3॥

इति नवमः खण्डः ॥

सत्यकाम ने कहा—"मैंने आप जैसे आदरणीय पुरुषों से सुना है कि जब पुरुष किसी सुयोग्य आचार्य से उपदेश लेता है, तभी वह अच्छा फल देनेवाला होता है। (सत्यकाम के ऐसा कहने पर गौतम ने उसे) ऐसा ज्ञान दिया कि जिसमें कुछ भी बाकी न रह जाय।

(यहाँ नौवाँ खण्ड पूरा हुआ)।

❋

दशमः खण्डः

उपकोसलो ह वै कामलायनः सत्यकामे जाबाले ब्रह्मचर्यमुवास तस्य ह द्वादशवर्षाण्यग्नीन्परिचचार स ह स्मान्यानन्तेवासिनः समावर्तयंस्त ह स्मैव न समावर्तयति ॥1॥

कमल का पुत्र उपकोसल नाम का ब्रह्मचारी सत्यकाम जाबाल के पास बारह वर्ष तक ब्रह्मचारी के रूप में शास्त्राध्ययन करते हुए और गुरु की यज्ञाग्नि का ध्यान रखते हुए रहा। विद्याध्ययन पूरा होने पर गुरु दूसरे छात्रों को तो घर वापिस जाने की अनुज्ञा दे रहे थे, पर उपकोसल को अनुमति नहीं दे रहे थे।

तं जायोवाच तप्तो ब्रह्मचारी कुशलमग्नीन्परिचचारीन्मा त्वाग्नयः परिप्रवोचन्प्रब्रूह्यस्मा इति तस्मै ह्यप्रोच्यैव प्रवासांचक्रे ॥2॥

तब सत्यकाम की पत्नी ने उससे कहा—"यह ब्रह्मचारी तप से क्षीण हो गया है, बड़े जतन से यज्ञाग्नियों की देखभाल भी कर रहा है। तुम्हें कहीं ये अग्नि उपालम्भ न दे दें। दे दो न इसे उपदेश।" पर सत्यकाम ने उसे उपदेश न दिया। उल्टे प्रवास करने के लिए निकल पड़ा।

स ह व्याधिनानशितुं दध्रे तमाचार्यजायोवाच ब्रह्मचारिन्नशान किंनु नाश्नासीति स होवाच बहव इमेऽस्मिन्पुरुषे काम नानात्यया व्याधिभिः परिपूर्णोऽस्मि नाशिष्यामीति ॥3॥

उपकोसल उद्विग्न हो उठा। उसने खाना बन्द कर दिया। गुरुपत्नी ने कहा—"ब्रह्मचारी! कुछ खा लो। खाते क्यों नहीं?" उपकोसल बोला—"मुझमें बहुत-सी कामनाएँ भरी हैं, वे मुझे दूसरी ओर खींच रही हैं। मैं अनेक रोगों से भरा हूँ। मैं खाना नहीं चाहता।"

अथ हाग्नयः समूदिरे तप्तो ब्रह्मचारी कुशलं नः पर्यचारीद्धन्तास्मै प्रब्रवामेति तस्मै होचुः प्राणो ब्रह्म कं ब्रह्म खं ब्रह्मेति ॥4॥

उपकोसल के द्वारा जतन से सम्हाले ये तीन अग्नि, उसकी दशा देखकर कहने लगे—"इस तपस्वी ब्रह्मचारी ने हमारी अच्छी सेवा की है। हमें बड़ा खेद है। हम उसे ब्रह्मविद्या का उपदेश करेंगे।" बाद में उन्होंने उपदेश दिया— "प्राण ब्रह्म है, क = सुख ब्रह्म है, ख = आकाश ब्रह्म है।

स होवाच विजानाम्यहं यत्प्राणो ब्रह्म कं च तु खं च न विजानामीति ते होचुर्यद्वाव कं तदेव खं यदेव खं तदेव कमिति प्राणं च हास्मै तदाकाशं चोचुः ॥5॥

इति दशमः खण्डः ॥

उपकोसल बोला—"प्राण ब्रह्म है, वह तो मैं जानता हूँ, परन्तु 'क' और 'ख' ब्रह्म है वह मैं नहीं जानता।" तब अग्नियों ने कहा—"जो 'क' है, वही 'ख' है और जो 'ख' है वही 'क' भी है।" ऐसा कहकर अग्नियों ने उसे 'प्राण और आकाश ब्रह्म ही है'—ऐसा बोध प्रदान किया।

(यहाँ दसवाँ खण्ड पूरा हुआ।)

❋

एकादशः खण्डः

अथ हैनं गार्हपत्योऽनुशशास पृथिव्यग्निरन्नमादित्य इति य एष आदित्ये पुरुषो दृश्यते सोऽहमस्मि स एवाहमस्मीति ॥1॥

फिर गार्हपत्य अग्नि ने उपकोसल से कहा—"पृथ्वी, अग्नि, अन्न और आदित्य—ये मेरे ब्रह्म के भाग हैं। जो पुरुष सूर्यमण्डल में दिखाई देता है, वह मैं हूँ, वह मैं ही हूँ।

स य एतमेवं विद्वानुपास्तेऽपहते पापकृत्यां लोकीभवति सर्वमायुरेति ज्योग्जीवति नास्यावरपुरुषाः क्षीयन्त उप वयं तं भुञ्जानोऽस्मिंश्च लोकेऽमुष्मिंश्च य एतमेवं विद्वानुपास्ते ॥2॥

इत्येकादशः खण्डः ॥

जो इस प्रकार गार्हपत्य को जानकर उसकी उपासना करता है, उसके सारे पाप नष्ट होते हैं, और वह गार्हपत्यलोक को प्राप्त करता है, वहाँ पूर्ण आयु भोगता है, उज्ज्वल जीवन जीता है, उसके वंशज कभी क्षीण नहीं होते, हम उसका इस लोक और परलोक में पालन करते हैं।

(यहाँ ग्यारहवाँ खण्ड पूरा हुआ।)

❋

द्वादशः खण्डः

अथ हैनमन्वाहार्यपचनोऽनुशशासापो दिशो नक्षत्राणि चन्द्रमा इति य एष चन्द्रमसि पुरुषो दृश्यते सोऽहमस्मि स एवाहमस्मीति ॥1॥

फिर अन्वाहार्य अग्नि (दक्षिणाग्नि ने) उपकोसल से कहा—"जल, दिशाएँ, नक्षत्र और चन्द्रमा मेरा शरीर है। यह जो चन्द्रमा में पुरुष दिखाई देता है, वही मैं हूँ, वही मैं हूँ"।

स य एतमेवं विद्वानुपास्तेऽपहते पापकृत्यां लोकीभवति सर्वमायुरेति ज्योग्जीवति नास्यावरपुरुषाः क्षीयन्त उप वयं तं भुञ्जानोऽस्मिँश्च लोकेऽमुष्मिँश्च च एतमेव विद्वानुपास्ते ॥2॥

इति द्वादशः खण्डः ॥

जो इस प्रकार दक्षिणाग्नि को जानकर उपासना करता है, उसके सभी पाप नष्ट हो जाते हैं, और वह अन्वाहार्यलोक को प्राप्त होता है, वहाँ पूरी आयु भोगता है, उज्ज्वल जीवन जीता है, उसके वंशज कभी क्षीण नहीं होते, हम उसका इस लोक और परलोक में पालन करते हैं।

(यहाँ बारहवाँ खण्ड पूरा हुआ।)

❋

त्रयोदशः खण्डः

अथ हैनमाहवनीयोऽनुशशास प्राण आकाशो द्यौर्विद्युदिति य एष पुरुषो विद्युति दृश्यते सोऽहमस्मि स एवाहमस्मीति ॥1॥

इसके बाद उपकोसल को आहवनीय अग्नि ने कहा—"प्राण, आकाश, स्वर्ग और विद्युत् ही मेरा शरीर है। विद्युत् में जो यह पुरुष दिखाई देता है, वह मैं हूँ, मैं ही वह हूँ।"

स य एतमेवं विद्वानुपास्तेऽपहते पापकृत्यां लोकीभवति सर्वमायुरेति ज्योग्जीवति नास्यावरपुरुषाः क्षीयन्त उप वयं तं भुञ्जानोऽस्मिंश्च लोकेऽमुष्मिंश्च य एतमेवं विद्वानुपास्ते ॥2॥

इति त्रयोदशः खण्डः ॥

जो मनुष्य इस प्रकार आहवनीय अग्नि को जानकर उपासना करता है, उसके सभी पाप नष्ट हो जाते हैं। वह आहवनीय अग्नि के लोक को प्राप्त होता है, वह वहाँ पूर्ण आयु भोग कर तेजस्वी जीवन जीता है। हम उसे यहाँ (इस लोक में) और परलोक में उसका जतन करते हैं।

(यहाँ तेरहवाँ खण्ड पूरा हुआ।)

❋

चतुर्दशः खण्डः

ते होचुरुपकोसलैषा सोम्य तेऽस्मद्विद्याऽऽत्मविद्या चाचार्यस्तु ते गतिं वक्तेत्याजगाम हास्याचार्यस्तमाचार्योऽभ्युवादोपकोसल 3 इति ॥1॥

फिर उन अग्नियों ने उपकोसल से कहा—"हे उपकोसल ! हे सौम्य ! हमने अभी तुम्हें हमारी (अग्नियों की) विद्या कही है। यह विद्या आत्मविद्या भी है। अब तुम्हारे आचार्य उस विद्योपासना की पद्धति कहेंगे अर्थात् उपासना के द्वारा प्राप्त किया जानेवाला परलोक का मार्ग बताएँगे"। फिर कुछ समय बाद आचार्य ने लौटकर कहा—'अरे उपकोसल !'

भगव इति ह प्रतिशुश्राव ब्रह्मविद इव सोम्य ते मुखं भाति को नु त्वानुशशासेति को नु मानुशिष्याद्भो इतीहापेव निह्नुत इमे नूनमीदृशा अन्यादृशा इतीहाग्नीनभ्युदे किं नु सौम्य किल तेऽवोचन्निति ॥2॥

तब उपकोसल ने उत्तर दिया—"हाँ भगवन् !" तब आचार्य ने कहा—"हे सौम्य ! तुम्हारा मुख तो ब्रह्मज्ञानी की तरह प्रकाशवान दीख पड़ता है। तुम्हें किसने उपदेश दिया ?" उपकोसल बोला—"मुझे भला कौन उपदेश देगा ?" ऐसा कहकर मानो वह कुछ छिपाना चाहता था। फिर अग्नियों के बारे में कहने लगा—"पहले ये (अग्नि) अलग प्रकार के थे, और अब ये ऐसे (उपदेशक) हो गए।" ऐसा कहकर उसने अग्नियों की ओर संकेत किया। तब आचार्य ने पूछा—"सौम्य ! इन अग्नियों ने तुम्हें क्या सिखाया ?"

इदमिति ह प्रतिजज्ञे लोकान्वाव किल सोम्य तेऽवोचन्नहं तु ते तद्वक्ष्यामि यथा पुष्करपलाश आपो न श्लिष्यन्त एवमेवंविदि पापं कर्म न श्लिष्यत इति ब्रवीतु मे भगवानिति तस्मै होवाच ॥3॥

इति चतुर्दशः खण्डः ॥

उपकोसल ने उत्तर दिया—"उन्होंने ऐसा ऐसा कहा।" (इस प्रकार उसने आचार्य को अग्नि द्वारा दिए हुए सब उपदेश बताए)। तब आचार्य ने कहा—"हे सौम्य! उन्होंने तुम्हें केवल लोकों के बारे में ही बताया है। परन्तु मैं तुम्हें ब्रह्म के विषय में बताऊँगा। जिस तरह कमलपत्र के ऊपर पानी कभी ठहरता नहीं है, ठीक उसी प्रकार उस ब्रह्म को जाननेवाले को पाप कभी स्पर्श नहीं कर सकता।" तब उपकोसल ने कहा—"आप महानुभाव मुझे यह कहिए।" इस पर आचार्य ने कहा—

(यहाँ चौदहवाँ खण्ड पूरा हुआ।)

❀

पञ्चदशः खण्डः

य एषोऽक्षिणि पुरुषो दृश्यत एष आत्मेति होवाचैतदमृतमभयमेतद्ब्रह्मेति तद्यद्यप्यस्मिन्सर्पिर्वोदकं वा सिञ्चन्ति वर्त्मनी एव गच्छति ॥1॥

"आँख में जो यह पुरुष दिखाई देता है, वह आत्मा है। यह (आत्मा) अमर है, निर्भय है, वही ब्रह्म है। इसीलिए यदि कोई इस (आँख) में घी या पानी डालता है, तो वह आँख की पलकों से बाहर निकल जाता है (आँख के साथ उसका कोई सम्बन्ध नहीं होता)।

एतꣳ संयद्वाम इत्याचक्षत एतꣳ हि सर्वाणि वामान्यभिसंयन्ति सर्वाण्येनं वामान्यभिसंयन्ति य एवं वेद ॥2॥

इसे ज्ञानी लोग 'संयद् वाम' कहते हैं। क्योंकि जो कुछ अच्छा और सुन्दर है, वह इसमें मिलता है। जो पुरुष इस तत्त्व को जानता है, उसे सब सुन्दर और सब उत्तम ही मिलता है। (वाम का अर्थ आकर्षक, सुन्दर, इच्छित आदि होता है)।

एष उ एव वामनीरेष हि सर्वाणि वामानि नयति सर्वाणि वामानि नयति य एवं वेद ॥3॥

आँख में दिखाई देनेवाला यह पुरुष ही 'वामनी' है ('वामनी' का अर्थ शुभ कर्मों का समुचित फलदाता होता है) क्योंकि वही सभी लोगों को शुभ कार्यों की ओर प्रेरित करता है। जो पुरुष इस अक्षिपुरुष को इस प्रकार से जानता है, उसको सभी शुभ कर्म प्राप्त हो जाते हैं।

एष उ एव भामनीरेष हि सर्वेषु लोकेषु भाति सर्वेषु लोकेषु भाति य एवं वेद ॥4॥

यही अक्षिपुरुष 'भामनी' (प्रकाशक) है, क्योंकि यही सभी लोकों को प्रकाशित करता है। जो साधक इसको ऐसा जानता (उपासना करता) है, उसे सभी प्रकाश मिल जाते हैं।

अथ यदु चैवास्मिञ्छव्यं कुर्वन्ति यदि च नार्चिषमेवाभिसंभवन्त्यर्चिषो-ऽहरह्न आपूर्यमाणपक्षमापूर्यमाणपक्षाद्यान्षड्डुदङ्ङेति मासाꣳस्तान्मा-सेभ्यः संवत्सरꣳ संवत्सरादादित्यमादित्याच्चन्द्रमसं चन्द्रमसो विद्युतं

तत्पुरुषोऽमानवः। स एनान्ब्रह्म गमयत्येष देवपथो ब्रह्मपथ एतेन प्रतिपद्यमाना इमं मानवमावर्तं नावर्तन्ते नावर्तन्ते ॥5॥

इति पञ्चदशः खण्डः ॥

इसके बाद ऐसे ज्ञानियों के मरण के बाद उनकी उत्तरक्रियाएँ की गई हों या न की गई हों, पर वे अर्चिष (तेज) को ही प्राप्त होते हैं, अर्चिष से वे दिवसाभिमानी देव को प्राप्त होते हैं, दिवसदेव से शुक्लपक्ष को, शुक्लपक्ष से उत्तरायण के जो छः मास हैं उनको, उन मासों से संवत्सर को, संवत्सर से आदित्य को आदित्य से चन्द्रमा को, चन्द्रमा से वे विद्युत् को प्राप्त हो जाते हैं। वहाँ कोई अमानवीय पुरुष उन्हें ब्रह्मतत्त्व को प्राप्त करवाता है। यही देवमार्ग है, यही ब्रह्ममार्ग है। इसको प्राप्त होनेवाले ज्ञानी फिर इस मानुषी (मर्त्य) लोक के गमनागमन में नहीं आते।

(यहाँ पंद्रहवाँ खण्ड पूरा हुआ।)

❀

षोडशः खण्डः

एष ह वै यज्ञो योऽयं पवत एष ह यन्निदꣳ सर्वं पुनाति यदेष यन्निदꣳ सर्वं पुनाति तस्मादेष एव यज्ञस्तस्य मनश्च वाक्च वर्तनी ॥1॥

जो यह बहता (चलता है) यह वायु ही यज्ञ है। वह बहता हुआ वायु ही सारे जगत् को पवित्र (स्वच्छ) कर देता है। और चूँकि बहता हुआ यह सारे जगत् को पवित्र (स्वच्छ) कर देता है इसीलिए यह यज्ञ है। मन और वाणी इसके मार्ग हैं।

तयोरन्यतरां मनसा सꣳस्करोति ब्रह्मा वाचा होताध्वर्युरुद्गाता-न्यतराꣳस यत्रोपाकृते प्रातरनुवाके पुरा परिधानीयाया ब्रह्मा व्यववदति ॥2॥

उन दो मार्गों में से एक मार्ग का ब्रह्मा ऋत्विक् मन से संस्कार करता है और होता, अध्वर्यु एवं उद्गाता—ये तीन ऋत्विज दूसरे मार्ग का वाणी से संस्कार करते हैं। ऐसी अवस्था में वह ब्रह्माऋत्विज् 'प्रातरनुवाक' कर्म का प्रारंभ होते ही और 'परिधानीया' ऋचा का जप करने से पहले बोल उठते हैं। (तब—)

अन्यतरामेव वर्तनीꣳ सꣳस्करोति हीयतेऽन्यतरा स यथैकपाद्व्रजन्रथो वैकेन चक्रेण वर्तमानो रिष्यत्येवमस्य यज्ञो रिष्यति यज्ञꣳ रिष्यन्तं यज-मानोऽनुरिष्यति स इष्ट्वा पापीयान्भवति ॥3॥

तो (केवल ब्रह्मा के ही बोलने पर तो) ब्रह्मा केवल एक ही मार्ग का संस्कार करते हैं (दूसरा मार्ग बाकी रह जाता है) और अन्य ऋत्विजों के कार्यों के अभाव से दूसरा मार्ग नष्ट हो जाता है। जिस तरह एक पैर से चलनेवाला पुरुष अथवा एक ही पहिए से चलनेवाला रथ नष्ट हो जाता है, इसी तरह उसका (यजमान का) यज्ञ भी नष्ट ही हो जाता है। यज्ञ का नाश होने के बाद यजमान का नाश हो जाता है। ऐसे यज्ञ किए जाने से वह उत्तरोत्तर अधिक पापी होता जाता है।

अथ यत्रोपाकृते प्रातरनुवाके न पुरा परिधानीयाया ब्रह्मा व्यववदत्युभे एव वर्तनी सꣳस्कुर्वन्ति न हीयतेऽन्यतरा ॥4॥

बाद में यदि 'प्रातरनुवाक' का प्रारंभ होने के बाद एवं 'परिधानीया' ऋचा के पहले यदि ब्रह्मा न बोलता हो, तब तो सब ऋत्विज् मिलकर दोनों मार्गों का संस्कार कर देते हैं, किसी मार्ग का नाश नहीं होता।

स यथोभयपद्व्रजन्रथो वोभाभ्यां चक्राभ्यां वर्तमानः प्रतितिष्ठत्येवमस्य यज्ञः प्रतितिष्ठति यज्ञं प्रतितिष्ठन्तं यजमानोऽनुप्रतितिष्ठति स इष्ट्वा श्रेयान्भवति ॥5॥

इति षोडशः खण्डः ॥

जिस तरह दोनों पैरों से चलनेवाला पुरुष अथवा दोनों चक्रों से चलनेवाला रथ स्थित रहता है, ठीक उसी तरह उसका यज्ञ स्थित रहता है। यज्ञ के स्थित होने से यजमान भी स्थित रहता है। ऐसा यज्ञ करके वह श्रेष्ठ होता है।

(यहाँ सोलहवाँ खण्ड पूरा हुआ।)

❋

सप्तदशः खण्डः

प्रजापतिर्लोकानभ्यतपत्तेषां तप्यमानानाꣳ रसान्प्रावृहदग्निं पृथिव्या वायुमन्तरिक्षादादित्यं दिवः ॥1॥

प्रजापति ने लोकों का सारतत्त्व जानने के लिए तप किया। इससे उन्होंने पृथ्वी के सारतत्त्व अग्नि को, अन्तरिक्ष के सारतत्त्व वायु को और स्वर्ग के सारतत्त्व आदित्य को जाना।

स एतास्तिस्रो देवता अभ्यतपत्तासां तप्यमानानाꣳ रसान्प्रावृहदग्नेर्ऋचो वायोर्यजूꣳषि सामान्यादित्यात् ॥2॥

इन तीन देवताओं का सारतत्त्व जानने के लिए उन्हें लक्ष्य कर प्रजापति ने फिर से तप किया। इससे उन्होंने अग्नि से ऋग्वेद, वायु से यजुर्वेद और आदित्य से सामवेद को साररूप में जाना अर्थात् ग्रहण किया।

स एतां त्रयीं विद्यामभ्यतपत्तस्यास्तप्यमानाया रसान्प्रावृहद् भूरित्यृग्भ्यो भुवरिति यजुर्भ्यः स्वरिति सामभ्यः ॥3॥

प्रजापति ने तीनों विद्याओं का सारतत्त्व जानने के लिए फिर से तप किया। इससे उन्होंने जाना कि ऋग्वेद का सार 'भूः' है, यजुर्वेद का सार 'भुवः' है और सामवेद का सार 'स्वः' है।

तद्यदृध्यृक्तो रिष्येद्भूः स्वाहेति गार्हपत्ये जुहुयादृचामेव तद्रसेनर्चां वीर्येणर्चां यज्ञस्य विरिष्टꣳ सन्दधाति ॥4॥

इसलिए ऋग्वेद-मंत्रों में क्षति होने पर, 'भूः स्वाहा' ऐसा बोलकर गार्हपत्य अग्नि में होम करना चाहिए। ऋग्वेद के उस सारतत्त्व से, ऋग्वेद के वीर्य (महत्त्व) से (यजमान के) यज्ञ की क्षति को अवश्य ही वह ब्रह्मा (ऋत्विज्) पूर्ण कर देता है।

अथ यदि यजुष्टो रिष्येद् भुवः स्वाहेति दक्षिणाग्नौ जुहुयाद्यजुषामेव तद्रसेन यजुषां वीर्येण यजुषां यज्ञस्य विरिष्टꣳ सन्दधाति ॥5॥

यदि यजुः श्रुतियों से क्षति हुई हो, तो 'भुवः स्वाहा' ऐसा बोलकर दक्षिणाग्नि में होम करना

चाहिए। इस तरह यजुषों के रस से, यजुषों के प्रभाव द्वारा यज्ञ की यजुःसम्बन्धी क्षति को ब्रह्मा दूर करते हैं।

अथ यदि सामतो रिष्येत्स्वः स्वाहेत्याहवनीये जुहुयात्साम्नामेव तद्रसेन साम्नां वीर्येण साम्नां यज्ञस्य विरिष्टꣳ सन्दधाति ॥6॥

यदि साम श्रुतियों के कारण कोई गलती हो, तो 'स्वः स्वाहा'—ऐसा बोलकर आहवनीय अग्नि में होम करना चाहिए। इस तरह सामों के रस से, सामों के महत्त्व से यज्ञ की साम सम्बन्धी क्षति ब्रह्मा (ऋत्विज्) पूर्ण कर देता है।

तद्यथा लवणेन सुवर्णꣳ संदध्यात्सुवर्णेन रजतꣳ रजतेन त्रपु त्रपुणा सीसꣳ सीसेन लोहं लोहेन दारु दारु चर्मणा ॥7॥

इसमें ऐसा समझना चाहिए कि जैसे क्षार से सोना, सोने से रजत, रजत से रांगा, रांगे से सीसा, सीसे से लोहा तथा लोहे से काष्ठ को और चमड़े से काष्ठ को जोड़ा जाता है।

एवमेषां लोकानामासां देवतानामस्यास्त्रय्या विद्याया वीर्येण यज्ञस्य विरिष्टꣳ संदधाति भेषजकृतो ह वा एष यज्ञो यत्रैवंविद्ब्रह्मा भवति ॥8॥

उसी प्रकार इन लोकों, देवताओं और त्रयी विद्या के प्रभाव से यज्ञ के क्षत को जोड़ा जाता है। जिस यज्ञ में इस प्रकार जाननेवाला ब्रह्मा (ऋत्विज्) होता है, वह अवश्य ही मानो औषधियों (आहुतियों) के द्वारा सुसंस्कृत होता है।

एष ह वा उदक्प्रवणो यज्ञो यत्रैवंविद् ब्रह्मा भवत्येवंविदꣳ ह वा एषा ब्रह्माणमनु गाथा यतो यत आवर्तते तत्तद्गच्छति ॥9॥

जिस यज्ञ में ऐसा जानकार ब्रह्मा (ऋत्विज्) होता है, वह यज्ञ उत्तरमार्ग की प्राप्ति का कारण होता है। ऐसी जानकारी रखनेवाले ब्रह्मा की स्तुति के लिए ही कहा गया है कि (यह गाथा है कि—) "जहाँ-जहाँ यज्ञकर्म आवृत्त (क्षतियुक्त) होता है, वहाँ उस क्षति (कमी) की पूर्ति करनेवाला ब्रह्मा (ऋत्विज्) आ जाता है।"

मानवो ब्रह्मैवैक ऋत्विक्कुरूनश्वाभिरक्षत्येवंविद्ध वै ब्रह्मा यज्ञं यजमानꣳ सर्वांश्चर्त्विजोऽभिरक्षति तस्मादेवंविदमेव ब्रह्माणं कुर्वीत नानेवंविदं नानेवंविदम् ॥10॥

इति सप्तदशः खण्डः ॥

इति छान्दोग्योपनिषदि चतुर्थोऽध्यायः ॥4॥

वही सच्चा ब्रह्मा (ऋत्विज्) है, जो मननशील और शान्तिप्रिय हो। जैसे युद्ध में योद्धाओं को अश्वा (घोड़ी) हर तरह से बचा लेती है, वैसे ही यह पूरी जानकारी रखनेवाला ब्रह्मा (ऋत्विज्) यजमान एवं अन्य ऋत्विजों की भी हर तरह से रक्षा करता है। इसलिए ऐसा जाननेवाले को ही ब्रह्मा बनाना चाहिए, नहीं जाननेवाले को ब्रह्मा नहीं बनाना चाहिए, नहीं जाननेवाले को ब्रह्मा नहीं बनाना चाहिए।

(यहाँ सत्रहवाँ खण्ड पूरा हुआ।)

यहाँ छान्दोग्योपनिषद् का चौथा अध्याय समाप्त हुआ।

❋

अथ पञ्चमोऽध्यायः

प्रथमः खण्डः

ॐ यो ह वै ज्येष्ठं च श्रेष्ठं च वेद ज्येष्ठश्च ह वै श्रेष्ठश्च भवति प्राणो वाव ज्येष्ठश्च श्रेष्ठश्च ॥1॥

जो सबसे बड़े को और सबसे ज्यादा गुणवाले को जान लेता है, वह स्वयं ही सबसे बड़ा और सबसे अधिक गुणवाला हो जाता है। प्राण ही इन्द्रियों में सबसे बड़ा और सबसे अधिक गुणवाला है।

यो ह वै वसिष्ठं वेद वसिष्ठो ह स्वानां भवति वाग्वाव वसिष्ठः ॥2॥

जो कोई वसिष्ठ को (धनवान को – आच्छादक को) जानता है, वह स्वयं अपनी जातियों में स्थायी (धनवान अर्थात् सब पर छा जानेवाला) होता है। सचमुच वाणी ही वसिष्ठ है।

यो ह वै प्रतिष्ठां वेद प्रति ह तिष्ठत्यस्मिꣳश्च लोकेऽमुष्मिꣳश्च चक्षुर्वाव प्रतिष्ठा ॥3॥

जो कोई प्रतिष्ठा को जानता है, वह इस लोक में और परलोक में प्रतिष्ठित होता है। चक्षु ही प्रतिष्ठा है।

यो ह वै सम्पदं वेद सꣳहास्मै कामाः पद्यन्ते दैवाश्च मानुषाश्च श्रोत्रं वाव सम्पत् ॥4॥

जो कोई संपत् को जानता है, उसको सभी दैवी और मानुष कामभोग आ मिलते हैं। श्रोत्र ही वह संपत् है।

यो ह वा आयतनं वेदायतनꣳ ह स्वानां भवति मनो ह वा आयतनम् ॥5॥

जो कोई आयतन (आश्रय) को जानता है, वह स्वजनों का आश्रय होता है। सचमुच मन ही आयतन (आश्रय) है।

अथ ह प्राणा अहꣳ श्रेयसि व्यूदिरेऽहꣳ श्रेयानस्म्यहꣳ श्रेयानस्मीति ॥6॥

एक बार सभी इन्द्रियाँ "मैं श्रेष्ठ हूँ, मैं श्रेष्ठ हूँ"—इस प्रकार अपनी-अपनी श्रेष्ठता के लिए वाद-विवाद करने लगीं।

ते ह प्राणाः प्रजापतिं पितरमेत्योचुर्भगवन्को नः श्रेष्ठ इति तान्होवाच यस्मिन्व उत्क्रान्ते शरीरं पापिष्ठतरमिव दृश्येत स वः श्रेष्ठ इति ॥7॥

वे इन्द्रियाँ अपने पिता प्रजापति के पास जाकर कहने लगीं कि—"हे भगवन्! हममें से कौन श्रेष्ठ है ?" तब प्रजापति ने उनसे कहा—"तुममें से जिसके चले जाने से शरीर शव की तरह अपवित्र दिखाई दे, वह तुममें से श्रेष्ठ है।"

सा ह वागुच्चक्राम सा संवत्सरं प्रोष्य पर्येत्योवाच कथमशकतर्ते मज्जीवितुमिति यथा कला अवदन्तः प्राणन्तः प्राणेन पश्यन्तश्चक्षुषा शृण्वन्तः श्रोत्रेण ध्यायन्तो मनसैवमिति प्रविवेश ह वाक् ॥8॥

पहले वाणी शरीर से बाहर चली गई। एक वर्ष तक शरीर से बाहर रहकर लौटकर उसने अन्यों

से पूछा—"मेरे बिना तुम (सब अन्य इन्द्रियाँ) कैसे जी सकीं ?" तब अन्य इन्द्रियों ने उत्तर दिया—"जैसे गूँगे लोग न बोलते हुए भी नाक से श्वास लेते हुए, आँखों से देखते हुए, कान से सुनते हुए और मन से विचार करते हुए जीते हैं, उसी प्रकार हम जी सकीं"। तब वाणी फिर से शरीर में प्रविष्ट हो गई।

चक्षुर्होच्चक्राम तत्संवत्सरं प्रोष्य पर्येत्योवाच कथमशकतर्ते मज्जीवितुमिति यथान्धा अपश्यन्तः प्राणान्तः प्राणेन वदन्तो वाचा शृण्वन्तः श्रोत्रेण ध्यायन्तो मनसैवमिति प्रविवेश ह चक्षुः ॥9॥

फिर चक्षुरिन्द्रिय शरीर से बाहर निकल गई। एक वर्ष तक शरीर से बाहर रहकर वापस लौटकर उसने अन्य इन्द्रियों से पूछा—"मेरे बिना तुम किस तरह जी सकीं ? इन्द्रियों ने उत्तर दिया—"जैसे अन्धे लोग नासिका से श्वास लेते हुए, वाणी से बोलते हुए, कान से सुनते हुए और मन से विचार करते हुए जीते हैं, वैसे ही हम जी सकीं।" ऐसा सुनकर चक्षुरिन्द्रिय ने फिर से शरीर में प्रवेश किया।

श्रोत्रꣳ होच्चक्राम तत्संवत्सरं प्रोष्य पर्येत्योवाच कथमशकतर्ते मज्जीवितुमिति यथा बधिरा अशृण्वन्तः प्राणन्तः प्राणेन वदन्तो वाचा पश्यन्तश्चक्षुषा ध्यायन्तो मनसैवमिति प्रविवेश ह श्रोत्रम् ॥10॥

बाद में श्रोत्रेन्द्रिय शरीर से बाहर निकल गई। एक वर्ष तक शरीर से बाहर रहकर फिर लौटकर उसने अन्य इन्द्रियों से पूछा—"मेरे बिना तुम किस तरह जी सकीं ? तब अन्य इन्द्रियों ने उत्तर दिया—"जैसे बहरे लोग न सुनते हुए भी नासिका से श्वास लेते हुए, वाणी से बोलते हुए, आँखों से देखते हुए और मन से विचार करते हुए जीते हैं, वैसे ही हम जी सकीं।" ऐसा सुनकर श्रोत्रेन्द्रिय ने भी वापस शरीर में प्रवेश कर लिया।

मनो होच्चक्राम तत्संवत्सरं प्रोष्य पर्येत्योवाच कथमशकतर्ते मज्जीवितुमिति यथा बाला अमनसः प्राणन्तः प्राणेन वदन्तो वाचा पश्यन्तश्चक्षुषा शृण्वन्तः श्रोत्रेणैवमिति प्रविवेश ह मनः ॥11॥

फिर मन शरीर को छोड़कर चला गया। एक वर्ष तक दूर रहकर वापिस आकर अन्य अवयवों से वह बोला—"मेरे बिना तुम लोग कैसे जी सकीं ?" तब उन्होंने कहा—"जिस प्रकार बच्चे विचारहीन होते हुए भी नाक से श्वास लेकर, वाणी से बोलकर, आँखों से देखकर, कानों से सुनकर जीते हैं, वैसे ही हम जी सके।" यह सुनकर मन ने फिर से शरीर में प्रवेश कर लिया।

अथ ह प्राण उच्चिक्रमिषन्त्स यथासुहयः पड्वीशशङ्कून्संखिदेदेवमितरान्प्राणान्समखिदत्तꣳ हाभिसमेत्योचुर्भगवन्नेधि त्वं नः श्रेष्ठोऽसि मोत्क्रमीरिति ॥12॥

अब जब प्राण ने शरीर छोड़ना चाहा, तब जैसे ऊँची जाति का कोई घोड़ा पैर बाँधने के खूँटों को भी उखाड़ डालता है, वैसे ही उसके निकलने से अन्यान्य इन्द्रियाँ भी उखड़ने लगीं। बाद में उन इन्द्रियों ने प्राण से कहा—"हे महानुभाव! आप हमारा स्वामित्व स्वीकार करें। आप इस शरीर में वापस लौट जाइए, आप हम सबमें श्रेष्ठ हैं। बाहर मत जाइए"।

अथ हैनं वागुवाच यदहं वसिष्ठोऽस्मि त्वं तद्वसिष्ठोऽसीत्यथ हैनं चक्षुरुवाच यदहं प्रतिष्ठास्मि त्वं तत्प्रतिष्ठासीति ॥13॥

फिर उस (प्राण) से वागिन्द्रिय ने कहा—"मैं जो वसिष्ठ (धनवान) हूँ वह वसिष्ठ (धनवान) आप ही हैं। फिर चक्षुरिन्द्रिय ने उससे कहा—"मैं जो प्रतिष्ठा (स्थिति) हूँ वह प्रतिष्ठा (स्थिति) आप ही हैं"।

अथ हैनं श्रोत्रमुवाच यदहꣳ संपदस्मि त्वं तत्संपदसीत्यथ हैनं मन उवाच यदहमायतनमस्मि त्वं तदायतनमसीति ॥14॥

फिर श्रोत्रेन्द्रिय ने उससे कहा—"मैं जो संपत् हूँ, वह संपत् आप ही हैं। बाद में मन ने उससे कहा कि—"मैं जो आयतन हूँ, वह आयतन भी आप ही हैं।

न वै वाचो न चक्षूꣳषि न श्रोत्राणि न मनाꣳसीत्याचक्षते प्राणा इत्येवाचक्षते प्राणो ह्येवैतानि सर्वाणि भवन्ति ॥15॥

इति प्रथमः खण्डः ॥

लोग इन इन्द्रियों को वाणी, चक्षु, श्रोत्र, मन आदि नहीं कहते अपितु सभी को 'प्राण' (शब्द से) कहते हैं। क्योंकि प्राण ही इन सभी इन्द्रियों के रूप में सम्बोधित होता है।

(यहाँ पहला खण्ड पूरा हुआ।)

❋

द्वितीयः खण्डः

स होवाच किं मेऽन्नं भविष्यतीति यत्किंचिदिदमा श्वभ्य आ शकुनिभ्य इति होचुस्तद्वा एतदनस्यान्नमनो ह वै नाम प्रत्यक्षं न ह वा एवंविदि किंचनानन्नं भवतीति ॥1॥

प्राण ने इन्द्रियों से कहा—"मेरा अन्न (भोग) क्या होगा ?" इन्द्रियों ने कहा—"हे भगवन् कुत्तों से लेकर, पक्षियों से लेकर, सब जीवों का जो कुछ भी अन्न है, वही आपका भोग (भोग्य आहार) होगा"। इसलिए यह सब अन्न प्राण का ही अन्न है। प्राण का प्रत्यक्ष नाम 'अन' है। ('अन् गतौ' इस धातु के आगे प्र वि उद् सम् अप् उपसर्ग लगने से क्रमशः प्राण, व्यान, उदान, समान और अपान शब्द बनते हैं।) ऐसा जाननेवाले के लिए कुछ भी 'अनन्न' 'अनाहार' नहीं है।

स होवाच किं मे वासो भविष्यतीत्याप इति होचुस्तस्माद्वा एतदशिष्यन्तः पुरस्ताच्चोपरिष्टाच्चाद्भिः परिदधति लम्भुको ह वासो भवत्यनग्नो ह भवति ॥2॥

तब प्राण ने इन्द्रियों से पूछा—"मेरा वस्त्र क्या होगा ?" इन्द्रियों ने कहा—"जल आपका वस्त्र होगा।" इसीलिए तो भोजन करने वाले भोजन से पहले और भोजन करने के बाद भी पानी के आचमन से प्राण का आस्तरण और आच्छादन करते हैं। ऐसा करनेवाला व्यक्ति (भोजन से पहले और बाद में 'ॐ अमृतोपस्तरणमसि' और 'ॐ अमृतापिधानमसि' ऐसे मंत्रपूर्वक आचमन करनेवाला व्यक्ति) वस्त्र प्राप्त करनेवाला होता है, वह कभी नग्न नहीं रहता।

तद्धैतत्सत्यकामो जाबालो गोश्रुतये वैयाघ्रपद्यायोक्त्वोवाच यद्यप्येतच्छुष्काय स्थाणवे ब्रूयाज्जायेरन्नेवास्मिञ्छाखाः प्ररोहेयुः पलाशानीति ॥3॥

यह प्राणविद्या सत्यकाम जाबाल ने वैयाघ्रपद्य गोश्रुति से कहकर फिर कहा—"यदि यह प्राणविद्या सूखे हुए ठूँठे को भी सुनाई जाए, तो उसमें से भी डालियाँ और पत्ते भी फूट निकलेंगे।

अथ यदि महज्जिगमिषेदमावास्यायां दीक्षित्वा पौर्णमास्याꣳ रात्रौ सर्वौषधस्य मन्थं दधिमधुनोरुपमथ्य ज्येष्ठाय श्रेष्ठाय स्वाहेत्यग्नावाज्यस्य हुत्वा मन्थे संपातमवनयेत् ॥4॥

प्राणविद्या के बोध के बाद यदि कोई महत्त्व की (बड़प्पन की) प्राप्ति करना चाहे, तो अमावास्या के दिन दीक्षा लेकर, पूर्णिमा की रात्रि में सभी प्रकार की औषधियों को बारीक कूटकर उसे लकड़ी के बरतन में मधु और दही के साथ मन्थन कर (घोंटकर)—'ज्येष्ठाय श्रेष्ठाय स्वाहा'—यह मंत्र पढ़कर घी का अग्नि में होम करने के बाद स्रुव में से टपकता हुआ घी उस मन्थ में डालना चाहिए।

वसिष्ठाय स्वाहेत्यग्नावाज्यस्य हुत्वा मन्थे संपातमवनयेत् प्रतिष्ठायै स्वाहेत्यग्नावाज्यस्य हुत्वा मन्थे संपातमवनयेत् संपदे स्वाहेत्यग्नावाज्यस्य हुत्वा मन्थे संपातमवनयेदायतनाय स्वाहेत्यग्नावाज्यस्य हुत्वा मन्थे संपातमवनयेत् ॥5॥

'वसिष्ठाय स्वाहा'—यह मन्त्र बोलकर अग्नि में घी की आहुति देकर बाद में घी को उस मन्थ में टपकाना चाहिए। 'प्रतिष्ठायै स्वाहा'—इस मंत्र को बोलकर अग्नि में घी की आहुति डालकर बाद में वह घी उस मन्थ में टपकाना चाहिए। 'सम्पदे स्वाहा'—यह मंत्र बोलकर पहले अग्नि में उस घी की आहुति देकर बाद में घी को उस मन्थ में टपकाना चाहिए। 'आयतनाय स्वाहा'—यह मंत्र बोलकर अग्नि में घी की आहुति देनी चाहिए फिर उस स्रुव में रहे (बचे हुए) घी को उस मन्थ में टपकाना चाहिए।

अथ प्रतिसृप्याञ्जलौ मन्थमाधाय जपत्यमो नामास्यमा हि ते सर्वमिदꣳ स हि ज्येष्ठः श्रेष्ठो राजाधिपतिः स मा ज्यैष्ठ्यꣳ श्रैष्ठ्यꣳ राज्यमाधिपत्यं गमयत्वहमेवेदꣳ सर्वमसानीति ॥6॥

हवन के बाद थोड़ा दूर खिसकर मंथ को अंजलि में लेकर स्तुति करनी चाहिए—"हे मन्थ ! तू 'अम' नामवाला है। क्योंकि यह सारा जगत् अपने प्राणभूत रूप में तुझमें रहा है। वह तू ज्येष्ठ, श्रेष्ठ, दीप्तिमान और सर्वाधिपति है। तू मुझे ज्येष्ठत्व, श्रेष्ठत्व, राज्य और आधिपत्य दो, जिससे मैं यह ऐश्वर्य पा सकूँ।" (यह मूल मंत्र ऊपर की कण्डिका में—'अमो नामासि' से लेकर 'आसानि' तक दिया है)।

अथ खल्वेतयर्चा पच्छ आचामति तत्सवितुर्वृणीमह इत्याचामति वयं देवस्य भोजनमित्याचामति श्रेष्ठꣳ सर्वधातममित्याचामति तुरं भगस्य धीमहीति सर्वं पिबति। निर्णिज्य कꣳसं चमसं वा पश्चादग्नेः संविशति चर्मणि वा स्थण्डिले वा वाचंयमोऽप्रसाहः। स यदि स्त्रियं पश्येत्समृद्धं कर्मेति विद्यात् ॥7॥

इसके बाद आगे कही जाने वाली ऋचा का एक-एक चरण बोलकर मन्थ का प्राशन करना चाहिए अर्थात् खाना चाहिए। यथा—(1) तत्सवितुर्वृणीमहे, (2) वयं देवस्य भोजनम्, (3) श्रेष्ठं सार्वधातमम्, (4) तुरं भगस्य धीमहि। इस प्रकार अन्तिम चौथे चरण को बोलकर कांस्यपात्र अथवा चमस में रखा हुआ सब मन्थ धोकर पी जाना चाहिए। इसके बाद मृगचर्म पर या पवित्र यज्ञभूमि पर

वाणी का संयम रखते हुए अर्थात् अनिष्ट स्वप्नदर्शनादि से अभिभूत न होते हुए चित्त को शान्त करके सो जाना चाहिए। यदि स्वप्न में स्त्री दिखाई दे तो कार्य सफल हो गया है, ऐसा समझना चाहिए।

तदेष श्लोकः—यदा कर्मसु काम्येषु स्त्रियः स्वप्नेषु पश्यति। समृद्धिं तत्र जानीयात्तस्मिन्स्वप्ननिदर्शने। तस्मिन्स्वप्ननिदर्शने इति ॥8॥

इति द्वितीयः खण्डः ॥

इस विषय में यह श्लोक है—जब काम्य कर्मों में स्वप्न में कोई स्त्री को देखता है, तब समृद्धि जाननी चाहिए अर्थात् कार्य की सफलता जाननी चाहिए।

(यहाँ दूसरा खण्ड पूरा हुआ।)

❋

तृतीयः खण्डः

श्वेतकेतुर्हारुणेयः पञ्चालानाꣳसमितिमेयाय तꣳह प्रवाहणो जैबलिरुवाच कुमारानु त्वाशिषत्पितेत्यनु हि भगव इति ॥1॥

आरुणि का पुत्र श्वेतकेतु एक बार पंचालों की सभा में आया। उससे जैबलिपुत्र प्रवाहण (राजा) ने पूछा—"कुमार! तुम्हारे पिता ने तुम्हें उपदेश दिया है क्या?" श्वेतकेतु बोला—"हाँ, भगवन्! मेरे पिता ने मुझे उपदेश दिया है"।

वेत्थ यदितोऽधि प्रजाः प्रयन्तीति न भगव इति वेत्थ यथा पुनरावर्तन्त 3 इति न भगव इति वेत्थ पथोर्देवयानस्य पितृयाणस्य च व्यावर्तना 3 इति न भगव इति ॥2॥

फिर प्रवाहण ने पूछा—"मरने के बाद मनुष्य कहाँ जाते हैं, वह तू जानता है?" उसने कहा—"नहीं भगवन्"। प्रवाहण ने पूछा—"वहाँ से वे किस तरह लौटते हैं वह तू जानता है?" श्वेतकेतु ने कहा—"नहीं भगवन्!" प्रवाहण ने पूछा—"देवयान और पितृयाण—ये दो मार्ग कहाँ से अलग होते हैं, वह तू जानता है?" श्वेतकेतु ने कहा—"नहीं भगवन्।"

वेत्थ यथासौ लोको न संपूर्यत 3 इति न भगव इति वेत्थ यथा पञ्चम्यामाहुतावापः पुरुषवचसो भवन्तीति नैव भगव इति ॥3॥

प्रवाहण ने कहा—"मरे हुए लोगों से पितृलोक क्यों भर नहीं जाता, वह तू जानता है क्या"? श्वेतकेतु बोला—"नहीं भगवन्"। प्रवाहण ने पूछा—"पाँचवीं आहुति में जल पुरुषवाचक अथवा जीववाचक कैसे बन जाता है, वह तू जानता है क्या? श्वेतकेतु ने कहा—"नहीं भगवन्"।

अथानु किमनुशिष्टोऽवोचथा यो हीमानि न विद्यात्कथꣳसोऽनुशिष्टो ब्रुवीतेति स हायस्तः पितुरर्धमेयाय तꣳहोवाचाऽननुशिष्य वाव किल मा भगवानब्रवीदनु त्वाशिषमिति ॥4॥

प्रवाहण ने कहा—"यदि तू कुछ भी नहीं जानता तो, 'मेरे पिता ने मुझे पढ़ाया' ऐसा कैसे तूने कहा?" प्रवाहण के ऐसा कहने से श्वेतकेतु खिन्न हो गया। यह पिता के पास वापिस आया और कहने लगा—"पूर्ण उपदेश दिए बिना ही आपने मुझे ऐसा क्यों कहा कि मैंने तुझे पढ़ा दिया है?

पञ्च मा राजन्यबन्धुः प्रश्नानप्राक्षीत्तेषां नैकंचनाशकं विवक्तुमिति स होवाच यथा मा त्वं तदैतानवदो यथाहमेषां नैकंचन वेद यद्यहमिमानवेदिष्यं कथं ते नावक्ष्यमिति ॥5॥

"उस क्षत्रियबन्धु ने मुझसे पाँच प्रश्न पूछे थे। उनमें से एक का भी उत्तर मैं न दे सका।" तब पिता ने कहा—"तूने आते ही ये जो प्रश्न मुझे सुनाए, उनमें से एक का भी उत्तर मैं नहीं जानता। यदि जानता होता तो भला क्यों तुझे न बताया होता? मैं स्वयं ही उत्तर नहीं जानता।"

स ह गौतमो राज्ञोऽर्धमेयाय तस्मै ह प्राप्तायार्हांचकार स ह प्रातः सभाग उदेयाय तꣳ होवाच मानुषस्य भगवन्गौतम वित्तस्य वरं वृणीथा इति स होवाच तवैव राजन्मानुषं वित्तं यामेव कुमारस्यान्ते वाचमभाषथास्तामेव मे ब्रूहीति। स ह कृच्छ्रीबभूव ॥6॥

इसके बाद, गौतमगोत्रीय आरुणि ऋषि प्रवाहण राजा के पास गए। राजा ने उनकी आदरपूर्वक पूजा की। दूसरे दिन प्रात:काल में ऋषि राजा की सभा में गए। तब राजा ने उनसे कहा—"मनुष्य सम्बन्धी धनधान्यादि जो कुछ भी चाहिए, सो माँग लीजिए।" तब ऋषि ने कहा—"हे राजन्! धनधान्यादि मनुष्य सम्बन्धी सब कुछ आपके पास ही रहने दीजिए। जो प्रश्न आपने मेरे पुत्र से पूछे थे, उन्हीं के सम्बन्ध में मुझे कहिए।" तब राजा (सोच में पड़ गया कि यह विद्या इस ब्राह्मण को कैसे दी जाए? इसलिए) दु:खी हो गया।

तꣳ ह चिरं वसेत्याज्ञापयांचकार तꣳ होवाच यथा मा त्वं गौतमावदो यथेयं न प्राक् त्वत्तः पुरा विद्या ब्राह्मणान्गच्छति तस्मादु सर्वेषु लोकेषु क्षत्रस्यैव प्रशासनमभूदिति तस्मै होवाच ॥7॥

इति तृतीयः खण्डः ॥

प्रवाहण ने ऋषि को आज्ञा की कि "यहाँ लम्बे समय तक रहिए।" और आगे कहा कि—"पूर्व काल में आपसे पहले यह अग्निविद्या ब्राह्मणों में नहीं गई है। इसीलिए सभी लोकों में क्षत्रियों का ही प्रशासन चल रहा था"। ऐसा कहकर वे गौतम को इस विद्या का उपदेश देने लगे।

(यहाँ तीसरा खण्ड पूरा हुआ।)

❋

चतुर्थः खण्डः

असौ वाव लोको गौतमाग्निस्तस्यादित्य एव समिद्रश्मयो धूमोऽहरर्चिश्चन्द्रमा अङ्गारा नक्षत्राणि विस्फुलिङ्गा ॥1॥

हे गौतम! यह प्रसिद्ध द्युलोक ही अग्नि है, आदित्य ही उसकी समिध है, किरणें धुआँ हैं, दिन ही ज्वाला है, चन्द्रमा अंगारे हैं और नक्षत्र चिनगारियाँ हैं।

तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवाः श्रद्धां जुह्वति तस्या आहुतेः सोमो राजा संभवति ॥2॥

इति चतुर्थः खण्डः ॥

उस द्युलोक नामक अग्नि में देवलोग श्रद्धा का हवन करते हैं। उस आहुति से सोम राजा उत्पन्न होते हैं।

(यहाँ चौथा खण्ड पूरा हुआ।)

❋

पञ्चमः खण्डः

पर्जन्यो वाव गौतमाग्निस्तस्य वायुरेव समिदभ्रं धूमो विद्युदर्चिरशनिरङ्गारा ह्रादनयो विस्फुलिङ्गाः ॥1॥

पर्जन्य (वर्षा के देव) ही अग्नि हैं, हे गौतम! उसका समित् वायु है, बादल धुआँ है, विद्युत् उसकी ज्वाला है, इन्द्र का वज्र अंगारे हैं और मेघ की गड़गड़ाहट ही चिनगारियाँ हैं।

तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवाः सोमꣳ राजानं जुह्वति तस्या आहुतेर्वर्षꣳ सम्भवति ॥2॥

इति पञ्चमः खण्डः ॥

उस अग्नि में देवगण राजा सोम के निमित्त हवन करते हैं। उस आहुति से वर्षा उत्पन्न होती है।

(यहाँ पाँचवाँ खण्ड पूरा हुआ।)

❋

षष्ठः खण्डः

पृथिवी वाव गौतमाग्निस्तस्याः संवत्सर एव समिदाकाशो धूमो रात्रिरर्चिर्दिशोऽङ्गारा अवान्तरदिशो विस्फुलिङ्गाः ॥1॥

हे गौतम! पृथ्वी ही अग्नि है, संवत्सर उसका समित् है, आकाश धुआँ है, रात्रि ज्वालाएँ हैं, दिशाएँ अंगारे हैं और अग्नि आदि अवान्तर दिशाएँ चिनगारियाँ हैं।

तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवा वर्षं जुह्वति तस्या आहुतेरन्नꣳ संभवति ॥2॥

इति षष्ठः खण्डः ॥

उस अग्नि में देवलोग वर्षा के निमित्त हवन करते हैं। इस आहुति से अन्न उत्पन्न होता है।

(यहाँ छठा खण्ड पूरा हुआ।)

❋

सप्तमः खण्डः

पुरुषो वाव गौतमाग्निस्तस्य वागेव समित्प्राणो धूमो जिह्वार्चिश्चक्षुरङ्गाराः श्रोत्रं विस्फुलिङ्गाः ॥1॥

हे गौतम! पुरुष ही अग्नि है, उसकी वाणी ही समित् है, प्राण धुआँ है, जिह्वा ज्वालाएँ हैं, चक्षु अंगारे हैं और श्रोत्र चिनगारियाँ हैं।

तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवा अन्नं जुह्वति तस्या आहुते रेतः संभवति ॥2॥

इति सप्तम खण्डः ॥

उस अग्नि में देवलोग अन्न के निमित्त हवन करते हैं, उस आहुति से वीर्य उत्पन्न होता है।

(यहाँ सातवाँ खण्ड पूरा हुआ।)

❋

अष्टमः खण्डः

योषा वाव गौतमाग्निस्तस्या उपस्थ एव समिद्यदुपमन्त्रयते स धूमो योनिरर्चिर्यदन्तः करोति तेऽङ्गारा अभिनन्दा विस्फुलिङ्गाः ॥1॥

हे गौतम! स्त्री अग्नि है, उपस्थ (जननेन्द्रिय) उसका समित् है, पुरुष जो उसका उपमंत्रण करता है (उसको प्रेरणा देता है) वह धूम है, योनि ज्वालाएँ हैं, स्त्री-पुरुष का सम्मिलन ही अंगारे हैं और उससे जो आनन्दानुभूति है वह चिनगारियाँ हैं।

तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवा रेतो जुह्वति तस्या आहुतेर्गर्भः संभवति ॥2॥

इत्यष्टमः खण्डः ॥

उस अग्नि में देवलोग वीर्य के निमित्त हवन करते हैं, उस आहुति से गर्भ उत्पन्न होता है।

(यहाँ आठवाँ खण्ड पूरा हुआ।)

❋

नवमः खण्डः

इति तु पञ्चम्यामाहुतावापः पुरुषवचसो भवन्तीति स उल्बावृतो गर्भो दश वा नव वा मासानन्तः शयित्वा यावद्वाथ जायते ॥1॥

इस प्रकार पाँचवीं आहुति देने के बाद जल पुरुषशब्दवाची बन जाता है। उल्ब से (जरायु से) ढँका हुआ वह गर्भ नव या दस मास तक माता की कोख में शयन करने के बाद उत्पन्न होता है।

स जातो यावदायुषं जीवति तं प्रेतं दिष्टमितोऽग्नय एव हरन्ति यत एवेतो यतः संभूतो भवति ॥2॥

इति नवमः खण्डः ॥

जन्म के बाद जितनी आयुष्य है, उतना जीता है और मरने के बाद उसे अग्निदाह देने के लिए (उसके पुत्रादि) ले जाते हैं। इस प्रकार अन्त में जहाँ से आया था, वहीं चला जाता है।

(यहाँ नवाँ खण्ड पूरा हुआ।)

❋

दशमः खण्डः

तद्य इत्थं विदुः। ये चेमेऽरण्ये श्रद्धा तप इत्युपासते तेऽर्चिषमभिसंभवन्त्यर्चिषोऽहरह्न आपूर्यमाणपक्षमापूर्यमाणपक्षाद्यान्षडुदङ्ङेति मासाꣳस्तान् ॥1॥

जो मनुष्य इस पंचाग्नि विद्या को जानते हैं, वे वन में रहकर श्रद्धा और तप का सेवन करते हुए उपासना करते हैं, वे पूर्वकथित सूर्यकिरणों के अधिष्ठाता देव को प्राप्त करते हैं। वहाँ से

दिवसाधिष्ठाता देव को, दिवसाधिष्ठाता देव से शुक्ल पक्ष को, शुक्ल पक्ष से उत्तरायण के छः मासों को प्राप्त करता है।

मासेभ्यः संवत्सरꣳ संवत्सरादादित्यमादित्याच्चन्द्रमसं चन्द्रमसो विद्युतं तत्पुरुषोऽमानवः स एनान्ब्रह्म गमयत्येष देवयानः पन्था इति ॥2॥

वह मासों से संवत्सर को, संवत्सर से आदित्य को, आदित्य से चन्द्रमा को, चन्द्रमा से विद्युत् को प्राप्त होता है। वहाँ ब्रह्मलोक में अमानव दिव्य पुरुष आकर उसे ब्रह्मलोक में ले जाता है। यह देवयान (देवलोक) का मार्ग है।

अथ य इमे ग्राम इष्टापूर्ते दत्तमित्युपासते ते धूममभिसंभवन्ति धूमाद्रात्रिं रात्रेरपरपक्षमपरपक्षाद्यान्षड्दक्षिणैति मासाꣳस्तान्नैते संवत्सरमभिप्राप्नुवन्ति ॥3॥

अब जो गृहस्थ मनुष्य गाँव में ही रहकर यज्ञयागादि क्रियाएँ तथा कूपतडागादि जनहित के कार्य करते हैं, या दान देते हैं, वे धूम्राभिमानी देवता को प्राप्त कर वहाँ से रात्रि को, रात्रि से कृष्णपक्ष को, कृष्णपक्ष से दक्षिणायन के देव को प्राप्त करते हैं, पर वहाँ से वे लोग संवत्सर को नहीं प्राप्त कर सकते।

मासेभ्यः पितृलोकं पितृलोकादाकाशमाकाशाच्चन्द्रमसमेष सोमो राजा तद्देवानामन्नं तं देवा भक्षयन्ति ॥4॥

दक्षिणायन के मासों से वे पितृलोक में जाते हैं, पितृलोक से आकाश में, आकाश से वे लोग चन्द्रलोक को जाते हैं। यह चन्द्रमा ही राजा सोम है। वह सभी देवों का अन्न है, देवलोग उसका भक्षण करते हैं।

तस्मिन्यावत्संपातमुषित्वाथैतमेवाध्वानं पुनर्निवर्तन्ते यथेतमाकाशमाकाशाद्वायुं वायुर्भूत्वा धूमो भवति धूमो भूत्वाभ्रं भवति ॥5॥

उस चन्द्रमण्डल में कर्मों के क्षय होने तक रहकर वे फिर से उसी मार्ग से (जिस मार्ग से गए थे) पुनः आ जाते हैं। वे पहले आकाश को प्राप्त होते है, आकाश से वायु को, तदुपरान्त वायुभूत होकर वे धूम होते हैं और धूम होकर ही बादल हो जाते है।

अभ्रं भूत्वा मेघो भवति मेघो भूत्वा प्रवर्षति त इह व्रीहियवा ओषधिवनस्पतयस्तिलमाषा इति जायन्तेऽतो वै खलु दुर्निष्प्रपतरं यो यो ह्यन्नमत्ति यो रेतः सिञ्चति तद्भूय एव भवति ॥6॥

बादल होकर मेघ होता है, मेघ होकर बरसता है, उससे चावल, जव, औषधियाँ, वनस्पति, तिल, उड़द बनकर पृथ्वी में उगते हैं। ये अपने स्थान से स्वयं कहीं नहीं जा सकते। उन्हें जो-जो मनुष्य खाता है और बाद में वीर्यसिञ्चन (स्त्रीसंभोग) करता है, तब उसके जैसे ही होकर वे जन्म लेते हैं।

तद्य इह रमणीयचरणा अभ्याशो ह यत्ते रमणीयां योनिमापद्येरन्ब्राह्मणयोनिं वा क्षत्रिययोनिं वा वैश्ययोनिं वाथ य इह कपूयचरणा अभ्याशो ह यत्ते कपूयां योनिमापद्येरन् श्वयोनिं वा सूकरयोनिं वा चाण्डालयोनिं वा ॥7॥

अनुशयी जीवों में जो इस लोक में शुभ आचरणवाले होते हैं, वे शीघ्र ही उत्तम योनि को अर्थात् ब्राह्मणयोनि, क्षत्रिययोनि या वैश्ययोनि को प्राप्त होते हैं। पर जो दुराचरणवाले होते हैं, वे शीघ्र ही निकृष्ट योनियों अर्थात् कुत्ते की, सूअर की या चाण्डाल की योनि को प्राप्त होते हैं।

अथैतयोः पथोर्न कतरेण च न तानीमानि क्षुद्राण्यसकृदावर्तीनि भूतानि भवन्ति जायस्व म्रियस्वेत्येतत्तृतीयꣳ स्थानं तेनासौ लोको न संपूर्यते तस्माज्जुगुप्सेत तदेष श्लोकः ॥8॥

जो उपर्युक्त दो मार्गों में से किसी भी मार्ग में नहीं जा सकते, वे तो क्षुद्र—बार-बार मरने वाले और बार-बार जन्मने वाले (मच्छर, जू आदि) जन्तु के रूप में आया-जाया करते हैं। जीवन-धारण और मृत्यु ही उनका तृतीय स्थान कहा गया है। इसीलिए तो परलोक पूरा नहीं भर पाता। इसीलिए संसार से घृणा ही करनी चाहिए। इस विषय में यह श्लोक है—

स्तेनो हिरण्यस्य सुरां पिबꣳश्च गुरोस्तल्पमावसन्ब्रह्महा चैते पतन्ति चत्वारः पञ्चमश्चाचरꣳस्तैरिति ॥9॥

सोना चुरानेवाला, शराब पीनेवाला, गुरु की स्त्री के साथ निषिद्ध सम्बन्ध रखनेवाला और ब्राह्मण की हत्या करनेवाला—ये चार और पाँचवाँ उनके साथ सम्बन्ध रखनेवाला महापापी है।

अथ ह य एतानेवं पञ्चाग्नीन्वेद न स ह तैरप्याचरन्पाप्मना लिप्यते शुद्धः पूतः पुण्यलोको भवति य एवं वेद य एवं वेद ॥10॥

इति दशमः खण्डः ॥

इस प्रकार कही गई इस पंचाग्निविद्या जाननेवालों का कोई भी मनुष्य संग करे, तो भी उसे पाप नहीं लगता। ऐसा समझदार मनुष्य पवित्र और पुण्यशाली लोक को प्राप्त करता है।

(यहाँ दसवाँ खण्ड पूरा हुआ।)

❋

एकादशः खण्डः

प्राचीनशाल औपमन्यवः सत्ययज्ञः पौलुषिरिन्द्रद्युम्नो भाल्लवेयो जनः शार्कराक्ष्यो बुडिल आश्वतराश्विस्ते हैते महाशाला महाश्रोत्रियाः समेत्य मीमाꣳसां चक्रुः को नु आत्मा किं ब्रह्मेति ॥1॥

उपमन्युपुत्र प्राचीनशाल, पुलुषपुत्र सत्ययज्ञ, भल्लवि का पौत्र इन्द्रद्युम्न, शर्कराक्षपुत्र जन, अश्वतराश्वपुत्र गुडिल—इन सब बड़े गृहस्थों और सदाचारसम्पन्न महापंडितों ने एक बार मिलकर विचार किया कि—"आत्मा क्या है और ब्रह्म क्या है ?"

ते ह संपादयांचक्रुरुद्दालको वै भगवन्तोऽयमारुणिः संप्रतीममात्मानं वैश्वानरमध्येति तꣳ हन्ताभ्यागच्छामेति तꣳ हाभ्याजग्मुः ॥2॥

अन्त में उन्होंने निश्चय किया कि—"वर्तमान में तो अरुण ऋषि के पुत्र उद्दालक इस वैश्वानर आत्मा को भलीभाँति समझते हैं। तो हम उन्हीं के पास जाएँ।" बाद में वे उद्दालक के पास गये।

स ह संपादयांचकार प्रक्ष्यन्ति मामिमे महाशाला महाश्रोत्रियास्तेभ्यो न सर्वमिव प्रतिपत्स्ये हन्ताहमन्यमभ्यनुशासानीति ॥3॥

वे (उद्दालक) समझ गए कि ये परमश्रोत्रिय महान् गृहस्थ मुझे पूछेंगे, पर मैं पूर्ण रूप से तो बता नहीं पाऊँगा। मैं उन्हें अन्य के पास उपदेश के लिए भेजूँ।

तान्होवाचाश्वपतिर्वै भगवन्तोऽयं कैकयः संप्रतीममात्मानं वैश्वानर-मध्येति तः हन्ताभ्यागच्छामेति तः हाभ्याजग्मुः ॥4॥

उद्दालक ने उनसे कहा कि—"हे सम्माननीय महानुभावो ! वर्तमान में तो केकयकुमार अश्वपति ही वैश्वानर आत्मा को अच्छी तरह से समझते हैं। अतः हम सब उन्हीं के पास जाएँ।" बाद में वे सब अश्वपति के पास गए।

तेभ्यो ह प्राप्तेभ्यः पृथगर्हाणि कारयांचकार स ह प्रातः संजिहान उवाच न मे स्तेनो जनपदे न कदर्यो न मद्यपो नानाहुताग्निर्नाविद्वान्न स्वैरी स्वैरिणी कुतो यक्ष्यमाणो वै भगवन्तोऽहमस्मि यावदेकैकस्मा ऋत्विजे धनं दास्यामि तावद्भगवद्भ्यो दास्यामि वसन्तु भगवन्त इति ॥5॥

उस अश्वपति ने अपने पास आए हुए उन श्रेष्ठ ऋषियों की अलग-अलग पूजा की (सत्कार किया)। दूसरे दिन वह राजा निद्रा का त्याग करके (आकर) बोला—"मेरे राज्य में चोर नहीं हैं, कोई लोभी (कृपण) नहीं है, कोई मद्य पीनेवाला नहीं है, कोई यज्ञ न करनेवाला नहीं है, कोई मूर्ख नहीं है, कोई परस्त्रीगामी नहीं है, तो फिर दुराचारिणी स्त्री हो ही कैसे सकती है ? हे महानुभावो ! मैं कुछ समय बाद यज्ञ करनेवाला हूँ। एक-एक ऋत्विज को मैं जितना धन दूँगा, उतना ही धन आप सभी को भी दूँगा। आप कृपा करके यहीं रह जाइए"।

ते होचुर्येन हैवार्थेन पुरुषश्चरेत्तः हैव वदेदात्मानमेवेमं वैश्वानरः संप्रत्य-ध्येषि तमेव नो ब्रूहीति ॥6॥

वे ऋषि बोले—"कोई भी पुरुष जिस हेतु से जहाँ जाता है, उसे उसी हेतु को कहना चाहिए। आप वैश्वानर आत्मा को जानते हैं। इस समय उसी को आप हमारे लिए कहिए।"

तान्होवाच प्रातर्वः प्रतिवक्तास्मीति ते ह समित्पाणयः पूर्वाह्णे प्रतिचक्र-मिरे तान्हानुपनीयैवैतदुवाच ॥7॥

इत्येकादशः खण्डः ॥

उस अश्वपति ने उनसे कहा—"सुबह में आपको इसका उत्तर दूँगा।" अत एव दूसरे दिन हाथ में समिधा लेकर वे राजा के पास गए। उनका उपनयन किए बिना राजा ने पूछा—

(यहाँ ग्यारहवाँ खण्ड पूरा हुआ।)

❋

द्वादशः खण्डः

औपमन्यव कं त्वमात्मानमुपास्स इति दिवमेव भगवो राजन्निति होवाचैष वै सुतेजा आत्मा वैश्वानरो यं त्वमात्मानमुपास्से तस्मात्तव सुतं प्रसुतमासुतं कुले दृश्यते ॥1॥

"हे उपमन्युपुत्र ! तुम किसे आत्मा समझकर पूजते हो ?" प्राचीनशाल ने कहा—"भगवन् ! हे राजन् ! मैं तो स्वर्ग को ही आत्मा समझता हूँ।" राजा ने कहा—"तुम जिसे आत्मा समझते हो,

और पूजते हो, वह 'सुतेजा' नामक प्रसिद्ध वैश्वानर आत्मा है। इसकी उपासना से तुम्हारे कुल में सुत, प्रसुत और आसुत (तीनों प्रकार से निकाला गया सोमरस) पुष्कल प्रमाण में मिलता है।

अत्स्यन्नं पश्यसि प्रियमत्त्यन्नं पश्यति प्रियं भवत्यस्य ब्रह्मवर्चसं कुले य एतमेवमात्मानं वैश्वानरमुपास्ते मूर्धा त्वेष आत्मन इति होवाच मूर्धा ते व्यपतिष्यद्यन्मां नागमिष्य इति ॥2॥

इति द्वादशः खण्डः ॥

"तुम अन्न खाते हो, और (पुत्र-पौत्रादि) अपने इष्ट (प्रिय) को देखते हो। और इस प्रकार जो भी इस वैश्वानर आत्मा की उपासना करता है वह अन्न खाता है और इष्ट देखता है, उसके कुल में ब्रह्मतेज होता है। तुम जिसकी उपासना करते हो वह तो वैश्वानर आत्मा का मस्तक है"। ऐसा कहकर राजा फिर बोला—"यदि तुम यहाँ नहीं आते, तो तुम्हारा मस्तक गिर पड़ता"।

(यहाँ बारहवाँ खण्ड पूरा हुआ।)

❋

त्रयोदशः खण्डः

अथ होवाच सत्ययज्ञं पौलुषिं प्राचीनयोग्य कं त्वमात्मानमुपास्स इत्यादित्यमेव भगवो राजन्निति होवाचैष वै विश्वरूप आत्मा वैश्वानरो यं त्वमात्मानमुपास्से तस्मात्तव बहु विश्वरूपं कुले दृश्यते ॥1॥

बाद में पुलुषपुत्र सत्ययज्ञ से राजा ने कहा—"हे प्राचीनयोग्य ! तुम किस आत्मा की उपासना करते हो ?" सत्ययज्ञ बोला—"हे भगवन् ! हे राजन् ! मैं आदित्य को आत्मा मानकर उसकी उपासना करता हूँ।" राजा बोला—"यही विश्वरूप वैश्वानर आत्मा है। इसीलिए तुम्हारे कुल में बहुत विश्वरूप साधन (धनधान्यादि) दिखाई पड़ते हैं।

प्रवृत्तोऽश्वतरीरथो दासीनिष्कोऽत्स्यन्नं पश्यसि प्रियमत्त्यन्नं पश्यति प्रियं भवत्यस्य ब्रह्मवर्चसं कुले य एतमेवमात्मानं वैश्वानरमुपास्ते चक्षुष्ट्वेत-दात्मन इति होवाचान्धोऽभविष्यो यन्मां नागमिष्य इति ॥2॥

इति त्रयोदशः खण्डः ॥

तुम्हारे पास दो टट्टुओं से जुता हुआ रथ और दासी के साथ हार (धन) है, तुम नीरोगी हो, सुख भोगते हो, जो इस आत्मा की उपासना करता है, वह निरोगी होता है, सुख भोगता है। उसके कुल में ब्रह्मतेज स्थिर होता है। जिस आदित्य की आत्मा समझकर तुम उपासना करते हो, वह आदित्य तो उस वैश्वानर आत्मा की केवल आँख ही है। यदि तुम मेरे पास नहीं आए होते तो तुम अन्धे ही बन गए होते"।

(यहाँ तेरहवाँ खण्ड पूरा हुआ।)

❋

चतुर्दशः खण्डः

अथ होवाचेन्द्रद्युम्नं भाल्लवेयं वैयाघ्रपद्य कं त्वमात्मानमुपास्स इति वायुमेव भगवो राजन्निति होवाचैष वै पृथग्वर्त्मात्मा वैश्वानरो यं

**त्वमात्मानमुपास्से तस्मात्त्वां पृथग्बलय आयन्ति पृथग्रथश्रेणयोऽनु-
यन्ति ॥1॥**

बाद में राजा ने भाल्लवेय इन्द्रद्युम्न से कहा—"तुम किस आत्मा की उपासना करते हो?" इन्द्रद्युम्न बोला—"हे भगवन्! हे राजन्! मैं वायु को ही आत्मरूप से उपासना करता हूँ।" राजा ने कहा—"वही 'पृथग्वर्त्मा' नामक वैश्वानर आत्मा है। इसीलिए तुम्हारे पास तरह-तरह के उपहार आते हैं, और तुम्हारे पीछे तरह-तरह के रथों का हार है।

**अत्स्यन्नं पश्यसि प्रियमत्त्यन्नं पश्यति प्रियं भवत्यस्य ब्रह्मवर्चसं कुले य
एतमेवमात्मानं वैश्वानरमुपास्ते प्राणस्त्वेष आत्मन इति होवाच प्राणस्त
उदक्रमिष्यद्यन्मां नागमिष्य इति ॥2॥**

इति चतुर्दशः खण्डः ॥

"तुम अन्न खाते हो, (पुत्र-पौत्रादि) अपने प्रिय को देखते हो। जो कोई इस तरह वैश्वानर आत्मा की उपासना करता है, वह अन्न खाता है, इष्ट देखता है, उसके कुल में ब्रह्मतेज होता है। परन्तु, यह तो आत्मा का प्राणमात्र है"। ऐसा कहकर राजा फिर बोला—"अगर तुम मेरे पास नहीं आए होते तो तुम्हारे प्राण निकल जाते"।

(यहाँ चौदहवाँ खण्ड पूरा हुआ।)

❋

पञ्चदशः खण्डः

**अथ होवाच जनꣳ शार्कराक्ष्य कं त्वमात्मानमुपास्स इत्याकाशमेव
भगवो राजन्निति होवाचैष वै बहुल आत्मा वैश्वानरो यं त्वमात्मानमुपास्से
तस्मात्त्वं बहुलोऽसि प्रजया च धनेन च ॥1॥**

बाद में राजा ने जन से पूछा—"हे शार्कराक्ष्य! तुम किस आत्मा की उपासना करते हो?" जन ने कहा—"हे भगवन्! हे राजन्! मैं आकाश को आत्मा मानकर उपासना करता हूँ।" तब राजा ने कहा—"तुम जिसकी आत्मा मानकर उपासना करते हो, वह 'बहुल' नामका वैश्वानर आत्मा है। इसीलिए तुम प्रजा और धन के बाहुल्यवाले हो।

**अत्स्यन्नं पश्यसि प्रियमत्त्यन्नं पश्यति प्रियं भवत्यस्य ब्रह्मवर्चसं कुले य
एतमेवमात्मानं वैश्वानरमुपास्ते संदेहस्त्वेष आत्मन इति होवाच संदेहस्ते
व्यशीर्यद्यन्मां नागमिष्य इति ॥2॥**

इति पञ्चदशः खण्डः ॥

"तुम अन्न खाते हो, (पुत्र-पौत्रादि) अपने प्रिय को देखते हो। जो इस प्रकार वैश्वानर आत्मा की उपासना करता है, वह अन्न खाता है, प्रिय देखता है, उसके कुल में ब्रह्मतेज होता है। परन्तु, यह तो आत्मा का मध्यभाग ही है"। ऐसा कहकर राजा फिर बोला—"यदि तुम मेरे पास नहीं आए होते तो तुम्हारे शरीर का मध्यभाग नष्ट हो जाता।

(यहाँ पंद्रहवाँ खण्ड पूरा हुआ।)

❋

षोडशः खण्डः

**अथ होवाच बुडिलमाश्वतराश्विं वैयाघ्रपद्य कं त्वमात्मानमुपास्स इत्यप
एव भगवो राजन्निति होवाचैष वै रयिरात्मा वैश्वानरो यं त्वमात्मान-
मुपास्से तस्मात्त्वꣳ रयिमान्पुष्टिमानसि ॥1॥**

बाद में राजा ने अश्वतराश्व के पुत्र बुडिल से पूछा—"तुम किस आत्मा की उपासना करते हो?" कुडिल ने कहा—"हे भगवन्! हे राजन्। मैं जल को आत्मा मानकर उसकी उपासना करता हूँ।" तब राजा ने कहा—"यही 'दधि' नामवाला वैश्वानर आत्मा है। उसकी तुम उपासना करते हो। इसीलिए तुम धनवान और पुष्टिमान हो।"

**अत्स्यन्नं पश्यसि प्रियमत्त्यन्नं पश्यति प्रियं भवत्यस्य ब्रह्मवर्चसं कुले य
एतमेवमात्मानं वैश्वानरमुपास्ते बस्तिस्त्वेष आत्मन इति होवाच
बस्तिस्ते व्यभेत्स्यद्यन्मां नागमिष्य इति ॥2॥**

इति षोडशः खण्डः ॥

"तुम अन्न खाते हो, प्रिय देखते हो। जो ऐसे इस वैश्वानर आत्मा की उपासना करता है वह अन्न खाता है, प्रिय देखता है उसके कुल में ब्रह्मवर्चस् होता है, परन्तु यह तो आत्मा की बस्ति (मूत्राशय) ही है"। ऐसा कहकर राजा फिर बोला—"तुम यदि मेरे पास नहीं आते तो तुम्हारी बस्ति नष्ट हो जाती"।

(यहाँ सोलहवाँ खण्ड समाप्त हुआ।)

❋

सप्तदशः खण्डः

**अथ होवाचोद्दालकमारुणिं गौतम कं त्वमात्मानमुपास्स इति पृथिवीमेव
भगवो राजन्निति होवाचैष वै प्रतिष्ठात्मा वैश्वानरो यं त्वमात्मानमुपास्से
तस्मात्त्वं प्रतिष्ठितोऽसि प्रजया च पशुभिश्च ॥1॥**

फिर राजा ने गौतमवंशीय अरुणपुत्र उद्दालक से पूछा—"हे गौतम! तुम किसे आत्मा मानकर उपासना करते हो?" आरुणि बोला—'हे भगवन्! हे राजन्! मैं पृथ्वी को आत्मा मानकर उपासना करता हूँ।" राजा बोला—"वह 'प्रतिष्ठा' नामक वैश्वानर आत्मा है, इसलिए तुम प्रजा और पशुओं से प्रतिष्ठित (अच्छी स्थितिवाले) हो"।

**अत्स्यन्नं पश्यसि प्रियमत्त्यन्नं पश्यति प्रियं भवत्यस्य ब्रह्मवर्चसं कुले य
एतमेवमात्मानं वैश्वानरमुपास्ते पादौ त्वेतावात्मन इति होवाच पादौ ते
व्यम्लास्येतां यन्मां नागमिष्य इति ॥2॥**

इति सप्तदशः खण्डः ॥

"तुम अन्न खाते हो, प्रिय देखते हो। जो इस आत्मा की इस प्रकार उपासना करता है, वह अन्न खाता है, प्रिय देखता है। परन्तु यह तो आत्मा के मात्र पैर ही हैं।" ऐसा कहकर राजा फिर से बोला—"यदि तुम यहाँ नहीं आते तो तुम्हारे पैर ढीले पड़ जाते।

(यहाँ सत्रहवाँ खण्ड पूरा हुआ।)

❋

अष्टादशः खण्डः

तान्होवाचैते वै खलु सूयं पृथगिवेममात्मानं वैश्वानरं विद्वाꣳसोऽन्नमत्थ यस्त्वेतमेवं प्रादेशमात्रमभिविमानमात्मानं वैश्वानरमुपास्ते स सर्वेषु लोकेषु सर्वेषु भूतेषु सर्वेष्वात्मस्वन्नमत्ति ॥1॥

बाद में राजा ने उन सभी से कहा—"तुम सभी आत्मा को भिन्न-भिन्न समझकर अन्न (सुख) भोगते हो। पर जो कोई इसको आकाशरूप मस्तक से लेकर पृथ्वीरूप चरण तक में कि—"यह सब मैं ही हूँ" इस प्रकार वैश्वानर आत्मा की उपासना करता है, वह सब प्राणियों, लोकों, इन्द्रियों, शरीरों आदि में सुख भोगता है"।

तस्य ह वा एतस्यात्मनो वैश्वानरस्य मूर्धैव सुतेजाश्चक्षुर्विश्वरूपः प्राणः पृथग्वर्त्मात्मा संदेहो बहुलो बस्तिरेव रयिः पृथिव्येव पादावुर एव वेदिर्लोमानि बर्हिर्हृदयं गार्हपत्यो मनोऽन्वाहार्यपचन आस्यमाहवनीयः ॥2॥

इत्यष्टादशः खण्डः ॥

"इस विराट् पुरुष का स्वर्ग ही सर है, आँखें ही सूर्य हैं, वायु ही प्राण हैं, आकाश ही उदर है, जल ही बस्ति है (मूत्राशय है), पृथ्वी चरण है, वेदि ही वक्षःस्थल है, दर्भ ही लोम हैं, हृदय गार्हपत्य अग्नि है, मन दक्षिणाग्नि है, और मुख आहवनीय अग्नि है।

(यहाँ अठारहवाँ खण्ड पूरा हुआ।)

❋

एकोनविंशः खण्डः

तद्यद्भक्तं प्रथममागच्छेत्तद्धोमीयꣳस यां प्रथमामाहुतिं जुहुयात्तां जुहुयात्प्राणाय स्वाहेति प्राणस्तृप्यति ॥1॥

अतः जो अन्न पहले आए, उसमें से पहला ग्रास 'प्राणाय स्वाहा'—ऐसा बोलकर पहली आहुति देनी चाहिए (ग्रास भरना चाहिए)। उससे प्राण तृप्त होते हैं।

प्राणे तृप्यति चक्षुस्तृप्यति चक्षुषि तृप्यत्यादित्यस्तृप्यत्यादित्ये तृप्यति द्यौस्तृप्यति दिवि तृप्यन्त्यां यत्किंच द्यौश्चादित्यश्चाधितिष्ठतस्तत्तृप्यति तस्यानुतृप्तिं तृप्यति प्रजया पशुभिरन्नाद्येन तेजसा ब्रह्मवर्चसेनेति ॥2॥

इत्येकोनविंशः खण्डः ॥

प्राण तृप्त होने से आँख तृप्त होती है, आँख तृप्त होने पर आदित्य तृप्त होता है, आदित्य के तृप्त होने पर स्वर्ग तृप्त होता है, स्वर्ग के तृप्त होने पर जिस पर स्वर्ग और आदित्य का स्वामित्व है, वह सब तृप्त हो जाता है। सबकी तृप्ति होने से वह अन्नभोक्ता पशुओं से, प्रजा से, अन्न से और ब्रह्मतेज से तृप्त ही जाता है।

(यहाँ उन्नीसवाँ खण्ड पूरा हुआ।)

❋

विंशः खण्डः

अथ यां द्वितीयां जुहुयात्तां जुहुयाद् व्यानाय स्वाहेति व्यानस्तृप्यति ॥1॥

उसके बाद दूसरी आहुति —'व्यानाय स्वाहा' कहकर देनी चाहिए। इससे व्यान तृप्त होता है।

व्याने तृप्यति श्रोत्रं तृप्यति श्रोत्रे तृप्यति चन्द्रमास्तृप्यति चन्द्रमसि तृप्यति दिशस्तृप्यन्ति दिक्षु तृप्यन्तीषु यत्किंच दिशश्च चन्द्रमाश्चाधितिष्ठन्ति तत्तृप्यति तस्यानुतृप्तिं तृप्यति प्रजया पशुभिरन्नाद्येन तेजसा ब्रह्मवर्चसेनेति ॥2॥

इति विंशः खण्डः ॥

व्यान तृप्त होने से श्रोत्र तृप्त होता है, श्रोत्र तृप्त होने से चन्द्रमा तृप्त होता है, चन्द्रमा के तृप्त होने से दिशाएँ तृप्त होती हैं, दिशाएँ तृप्त होने पर जो कुछ भी दिशाओं और चन्द्रमा के स्वामित्व में है, वह सब कुछ तृप्त हो जाता है। सबकी तृप्ति होने से वह अन्नभोक्ता पशुओं से, प्रजा से, अन्न से और ब्रह्मतेज से तृप्त हो जाता है।

(यहाँ बीसवाँ खण्ड पूरा हुआ।)

❋

एकविंशः खण्डः

अथ यां तृतीयां जुहुयात्तां जुहुयादपानाय स्वाहेत्यपानस्तृप्यति ॥1॥

अब जो तीसरी आहुति देनी है, वह 'अपानाय स्वाहा'—यह कहकर देनी चाहिए। इससे अपान तृप्त होता है।

अपाने तृप्यति वाक्तृप्यति वाचि तृप्यन्त्यामग्निस्तृप्यत्यग्नौ तृप्यति पृथिवी तृप्यति पृथिव्यां तृप्यन्त्यां यत्किंच पृथिवीं चाग्निश्चाधितिष्ठतस्तत्तृप्यति तस्यानुतृप्तिं तृप्यति प्रजया पशुभिरन्नाद्येन तेजसा ब्रह्मवर्चसेनेति ॥2॥

इत्येकविंशः खण्डः ॥

अपान के तृप्त होने से वाणी तृप्त होती है, वाणी के तृप्त होने से अग्नि तृप्त होता है, अग्नि के तृप्त होने से पृथ्वी तृप्त होती है, पृथ्वी के तृप्त होने पर जो कुछ भी पृथ्वी और अग्नि के आधिपत्य में है, वह सब तृप्त हो जाता है। ऐसा होने से वह अन्नभोक्ता प्रजा और पशुओं से, अन्न आदि से, तृप्त हो जाता है, वह ब्रह्मतेज से युक्त होता है।

(यहाँ इक्कीसवाँ खण्ड पूरा हुआ।)

❋

द्वाविंशः खण्डः

अथ यां चतुर्थीं जुहुयात्तां जुहुयात्समानाय स्वाहेति समानस्तृप्यति ॥1॥

बाद में 'समानाय स्वाहा'—यह बोलकर चौथी आहुति देनी चाहिए (ग्रास भरना चाहिए)। इससे समान तृप्त होता है।

समाने तृप्यति मनस्तृप्यति मनसि तृप्यति पर्जन्यस्तृप्यति पर्जन्ये तृप्यति विद्युत्तृप्यति विद्युति तृप्यन्त्यां यत्किंच विद्युच्च पर्जन्यश्चाधितिष्ठस्त-

तृप्यति तस्यानुतृप्तिं तृप्यति प्रजया पशुभिरन्नाद्येन तेजसा ब्रह्मवर्च-सेनेति ॥2॥

इति द्वाविंशः खण्डः ॥

समान के तृप्त होने से मन तृप्त होता है, मन के तृप्त होने से पर्जन्य तृप्त होता है, पर्जन्य के तृप्त होने से विद्युत् तृप्त होती है, विद्युत् के तृप्त होने से जो कुछ भी विद्युत् और पर्जन्य के आधिपत्य में है, वह तृप्त हो जाता है। ऐसा होने से वह अन्न भोक्ता प्रजा, पशुओं और अन्नादि से तृप्त हो जाता है, ब्रह्मतेज से युक्त होता है।

(यहाँ बाईसवाँ खण्ड पूरा हुआ।)

❋

त्रयोविंशः खण्डः

अथ यां पञ्चमीं जुहुयात्तां जुहुयादुदानाय स्वाहेत्युदानस्तृप्यति ॥1॥

बाद में 'उदानाय स्वाहा'—यह बोलकर पाँचवीं (ग्रास रूप) आहुति देनी चाहिए। इससे उदान तृप्त होता है।

उदाने तृप्यति त्वक् तृप्यति त्वचि तृप्यन्त्यां वायुस्तृप्यति वायौ तृप्यत्या-काशस्तृप्यत्याकाशे तृप्यति यत्किंच वायुश्चाकाशश्चाधितिष्ठतस्तत्तृप्यति तस्यानुतृप्तिं तृप्यति प्रजया पशुभिरन्नाद्येन तेजसा ब्रह्मवर्चसेनेति ॥2॥

इति त्रयोविंशः खण्डः ॥

उदान तृप्त होने से त्वचा तृप्त होती है, त्वचा तृप्त होने से वायु तृप्त होता है, वायु तृप्त होने से आकाश तृप्त होता है, आकाश तृप्त होने से आकाश और वायु के प्रभुत्व वाला जो कुछ है, तृप्त होता है। ऐसा होने से वह अन्नभोक्ता प्रजा, पशुओं और अन्नादि से तृप्त होता है, ब्रह्मतेज से युक्त होता है।

(यहाँ तेईसवाँ खण्ड पूरा हुआ।)

❋

चतुर्विंशः खण्डः

स य इदमविद्वानग्निहोत्रं जुहोति यथाङ्गारानपोह्य भस्मनि जुहुयात्तादृक् तत्स्यात् ॥1॥

जो मनुष्य इस वैश्वानरदर्शन को बिना जाने ही होम करता है, उसका वह अग्निहोत्र तो जैसे अंगारों को दूर करके भस्म में आहुति देता हो, ऐसा ही होता है।

अथ य एतदेवं विद्वानग्निहोत्रं जुहोति तस्य सर्वेषु लोकेषु सर्वेषु भूतेषु सर्वेष्वात्मसु हुतं भवति ॥2॥

जो यह सब समझकर अग्निहोत्र करता है, वह सभी लोकों के लिए, सभी प्राणियों के लिए और सभी आत्माओं के लिए होम करता है।

तद्यथेषीकातूलमग्नौ प्रोतं प्रदूयेतैवꣳहास्य सर्वे पाप्मानः प्रदूयन्ते य एतदेवं विद्वानग्निहोत्रं जुहोति ॥3॥

जैसे मुंज की सलाई का अग्रभाग अग्नि में डालने से तुरन्त जल जाता है, वैसे ही इसे जाननेवाला कोई मनुष्य यदि अग्निहोत्र करे, तो उसके सभी पाप जल जाते हैं।

तस्मादु हैवंविद्यद्यपि चण्डालायोच्छिष्टं प्रयच्छेदात्मनि हैवास्य तद्वैश्वानरे हुतꣳ स्यादिति तदेष श्लोकः ॥4॥

अतः इस प्रकार जाननेवाला यदि चाण्डाल को उच्छिष्ट (जूठा) दे, तो भी वह अन्न वैश्वानर आत्मा में यज्ञ करने के समान है। इस विषय में यह मन्त्र है—

यथेह क्षुधिता बाला मातरं पर्युपासते।
एवꣳसर्वाणि भूतान्यग्निहोत्रमुपासत ॥
इत्यग्निहोत्रमुपासत इति ॥5॥

इति चतुर्विंशः खण्डः ॥

इति छान्दोग्योपनिषदि पञ्चमोऽध्यायः ॥5॥

जिस तरह भूखे बच्चे माँ की राह देखते हैं, वैसे ही सभी प्राणी इस ज्ञानी के हव्य रूप यजन की (यह तत्वज्ञानी कब भोजन लेगा, इसकी) राह देखते हैं।

(यहाँ चौबीसवाँ खण्ड पूरा हुआ।)

यहाँ छान्दोग्योपनिषद् का पाँचवाँ अध्याय समाप्त हुआ।

❋

अथ षष्ठोऽध्याय:

प्रथमः खण्डः

ॐ श्वेतकेतुर्हारुणेय आस तꣳ ह पितोवाच श्वेतकेतो वस ब्रह्मचर्यं न वै सोम्य ! अस्मत्कुलीनोऽननूच्य ब्रह्मबन्धुरिव भवतीति ॥1॥

अरुण का पुत्र श्वेतकेतु था। उससे पिता ने कहा—"हे श्वेतकेतु ! ब्रह्मचर्याश्रम में रहो। हे सोम्य ! हमारे कुल में जन्मा कोई पुरुष बिना अध्ययन किए केवल नाम का ब्राह्मण ही नहीं रहता।

स ह द्वादशवर्ष उपेत्य चतुर्विꣳशतिवर्षः सर्वान्वेदानधीत्य महामना अनूचानमानी स्तब्ध एयाय तꣳह पितोवाच श्वेतकेतो यन्नु सोम्येदं महामना अनूचानमानी स्तब्धोऽस्युत तमादेशमप्राक्ष्यः ॥2॥

बारह वर्ष का वह गुरु के यहाँ रहकर चौबीस साल तक सभी वेदों का अध्ययन करके अपने को बड़ा पण्डित और पढ़ालिखा मानता हुआ गर्व से अक्खड़ बनकर लौटा। तब उसके पिता ने पूछा—"हे श्वेतकेतु ! हे सोम्य ! जो तुम इस प्रकार अपने को बड़ा पण्डित और पढ़ा-लिखा मानकर गर्विष्ट हुए हो, तो क्या तुमने अपने गुरु से परब्रह्म का उपदेश पूछा है ?"

येनाश्रुतꣳश्रुतं भवत्यमतं मतमविज्ञातं विज्ञातमिति कथं नु भगवः स आदेशो भवतीति ॥3॥

"जिससे न सुना हुआ सुना होता है, नहीं विचारा हुआ विचारा होता है, न जाना हुआ जाना जाता है ?" यह सुनकर श्वेतकेतु बोला—"भगवन् ! ऐसा उपदेश कैसे होता है ?"

यथा सोम्यैकेन मृत्पिण्डेन सर्वं मृन्मयं विज्ञातꣳस्याद्वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम् ॥4॥

तब पिता बोले—"जैसे मिट्टी के एक पिण्ड से मिट्टी से बने सभी पदार्थ जाने जा सकते हैं, क्योंकि मिट्टी से बने पदार्थों के नाम-रूप वाणी के आश्रय में रहे हुए विकार हैं। वास्तव में तो मिट्टी ही सत्य है।

यथा सोम्यैकेन लोहमणिना सर्वं लोहमयं विज्ञातꣳ स्याद्वाचारम्भणं विकारो नामधेयं लोहमित्येव सत्यम् ॥5॥

"हे सौम्य ! जैसे एक लोहमणि (सोने की ईंट) के ज्ञान से सभी सुवर्णनिर्मित गहने जाने जा सकते हैं। वाणी के आश्रय में रहे हुए नामों के ही ये सब विकार हैं। वास्तव में तो सोना ही सत्य है।"

यथा सोम्यैकेन नखनिकृन्तनेन सर्वं कार्ष्णायसं विज्ञातꣳ स्याद्वाचारम्भणं विकारो नामधेयं कार्ष्णायसमित्येव सत्यमेवꣳ सोम्य स आदेशो भवतीति ॥6॥

"हे सोम्य ! जिस प्रकार एक ही नखैनी (नख काटने का औजार) के ज्ञान से सभी लोहमय पदार्थ जाने जा सकते हैं। लोहोत्पन्न सभी पदार्थों का नाममात्र वाणी के आश्रय में रहे हुए विकार हैं। वास्तव में सत्य तो एक लोहा ही है।"

न वै नूनं भगवन्तस्त एतदवेदिषुर्यद्ध्येतदवेदिष्यन् कथं मे नावक्ष्यन्निति भगवाꣳस्त्वेवमेतद्ब्रवीत्विति तथा सोम्येति होवाच ॥7॥

इति प्रथमः खण्डः ॥

तब श्वेतकेतु ने कहा—"मेरे पूज्य गुरु वह नहीं जानते होंगे, यदि जानते होते तो मुझे क्यों नहीं बताते ? इसलिए पूज्य आप ही मुझसे यह कहिए।" तब पिता ने कहा—ठीक है, हे सोम्य !"

(यहाँ पहला खण्ड पूरा हुआ।)

❋

द्वितीयः खण्डः

सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयं तद्धैक आहुरसदेवेदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयं तस्मादसतः सज्जायत ॥1॥

हे सोम्य ! यह पहले सत् ही था, वह एक था—अद्वितीय था। कुछ लोग ऐसा कहते हैं कि असत् ही पहले था, वह एक और अद्वितीय था। उस असत् में से सत् जन्मा।

कुतस्तु खलु सोम्यैवꣳ स्यादिति होवाच कथमसतः सज्जायेतेति। सत्त्वेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम् ॥2॥

हे सोम्य ! परन्तु ऐसा कैसे हो सकता है ? कुछ न हो, उसमें से सत् कैसे उत्पन्न हो सकता है ? इसलिए हे सौम्य ! पहले 'सत्' ही था, वह अकेला ही था, अन्य कुछ नहीं था।

तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेयेति तत्तेजोऽसृजत । तत्तेज ऐक्षत बहुस्यां प्रजायेयेति तदपोऽसृजत । तस्माद्यत्र क्व च शोचति स्वेदते वा पुरुषस्तेजस एव तद्ध्यापो जायन्ते ॥3॥

उसने संकल्प किया—"मैं बहुत होऊँ, अनेक प्रकार से उत्पन्न होऊँ।" उसने तेज बनाया। उस तेज ने संकल्प किया—"मैं बहुत होऊँ", तो उसने पानी बनाया। इसीलिए जहाँ-कहीं मनुष्य शोक करता है या उसे पसीना आता है, वह तेजसे (गरमी से) ही पानी होता है।

ता आप ऐक्षन्त बह्व्यः स्याम प्रजायेमहीति ता अन्नमसृजन्त । तस्माद्यत्र क्व च वर्षति तदेव भूयिष्ठमन्नं भवत्यद्भ्य एव तदध्यन्नाद्यं जायते ॥4॥

इति द्वितीयः खण्डः ॥

फिर उस पानी ने सोचा—'मैं बहुत होऊँ', 'बहुत रूप धारण करूँ'—तो उसने अन्न पैदा किया। पानी से ही वह अन्न उपजता है। इसीलिए जहाँ कहीं भी वर्षा होती है वहाँ बहुत अन्न होता है।

(यहाँ दूसरा खण्ड पूरा हुआ।)

❋

तृतीयः खण्डः

तेषां खल्वेषां भूतानां त्रीण्येव बीजानि भवन्त्याण्डजं जीवजमुद्भिज्जमिति ॥1॥

इन प्राणियों के तीन बीज (प्रकार) हैं—अण्डे से उत्पन्न होनेवाले, जीव (जरायु) से उत्पन्न होनेवाले और धरती को भेदकर उत्पन्न होनेवाले। (यहाँ स्वेदज का अन्तर्भाव अण्डज में किया गया है)।

सेयं देवतैक्षत हन्ताहमिमास्तिस्रो देवता अनेन जीवेनात्मनानुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणीति ॥2॥

फिर उस 'सत्' तत्त्व ने सोचा कि "अब मैं इन तेज, जल और अन्न में जीव के साथ प्रवेश करके उन्हें अलग-अलग नामवाले और रूपवाले बनाऊँ।"

तासां त्रिवृतं त्रिवृतमेकैकां करवाणीति सेयं देवतेमास्तिस्रो देवता अनेनैव जीवेनात्मनानुप्रविश्य नामरूपे व्याकरोत् ॥3॥

"और इन तीनों देवताओं को (तेज, जल और अन्न) तिगुना कर दूँ"—ऐसा सोचकर उस 'सत्' तत्त्व ने (सत् नामक देव ने) उन तीनों देवताओं में जीव के साथ प्रवेश किया और उन्हें अलग-अलग नाम-रूप वाला बनाया।

तासां त्रिवृतं त्रिवृतमेकैकामकरोद्यथा नु खलु सोम्येमास्तिस्रो देवतास्त्रिवृत्त्रिवृदेकैका भवति तन्मे विजानीहीति ॥4॥

इति तृतीयः खण्डः ॥

"हे सोम्य ! बाद में उसने उन तीनों देवताओं को त्रिगुणित त्रिगुणित बनाया। ऐसा किस तरह किया, वह मैं तुम्हें समझाता हूँ।"

(यहाँ तीसरा खण्ड पूरा हुआ।)

❋

चतुर्थः खण्डः

यदग्ने रोहितꣳ रूपं तेजसस्तद्रूपं यच्छुक्लं तदपां यत्कृष्णं तदन्नस्यापागादग्नेरग्नित्वं वाचारम्भणं विकारो नामधेयं त्रीणि रूपाणीत्येव सत्यम् ॥1॥

तिगुने किए अग्नि में जो लाल वर्ण है वह तेज का रूप है, जो शुक्ल है वह जल का और जो काला वर्ण है वह अन्न (पृथ्वी) का रूप है। अग्नि का अग्नित्व चला गया। वाणी से कहा जाने वाला नाममात्र का ही वह विकार है। तीन रूप ही वास्तव में सत्य हैं।

यदादित्यस्य रोहितꣳ रूपं तेजसस्तद्रूपं यच्छुक्लं तदपां यत्कृष्णं तदन्नस्यापागादादित्यादादित्यत्वं वाचारम्भणं विकारो नामधेयं त्रीणि रूपाणीत्येव सत्यम् ॥2॥

सूर्य का लाल वर्ण तेज का रूप है, जो शुक्लवर्ण है वह जल का रूप है, जो कृष्ण वर्ण है, वह अन्न (पृथ्वी) का रूप है। इस तरह आदित्य से आदित्यत्व चला गया। वाणी से कहा जानेवाला नाममात्र का ही वह विकार है। वास्तव में तीन रूप ही सत्य हैं।

यच्चन्द्रमसो रोहितꣳ रूपं तेजसस्तद्रूपं यच्छुक्लं तदपां यत्कृष्णं तदन्नस्यापागाच्चन्द्राच्चन्द्रत्वं वाचारम्भणं विकारो नामधेयं त्रीणि रूपाणीत्येव सत्यम् ॥3॥

चन्द्रमा में जो लाल वर्ण है वह तेज का रूप है, जो शुक्ल वर्ण है वह जल का रूप है और जो कृष्णवर्ण है वह अन्न (पृथ्वी) का रूप है। इस तरह चन्द्र का चन्द्रत्व चला गया। वाणी का आश्रित नाममात्र का ही यह विकार रह गया। वास्तव में तीन रूप ही सत्य हैं।

यद्विद्युतो रोहितꣳ रूपं तेजसस्तद्रूपं यच्छुक्लं तदपां यत्कृष्णं तदन्नस्यापागाद्विद्युतो विद्युत्त्वं वाचारम्भणं विकारो नामधेयं त्रीणि रूपाणीत्येव सत्यम् ॥4॥

विद्युत् में जो लाल वर्ण है वह तेज का रूप है, जो शुक्ल वर्ण है वह जल का रूप है और जो कृष्णवर्ण है, वह अन्न (पृथ्वी) का रूप है। इस तरह विद्युत् का विद्युत्त्व चला गया। वाणी में आश्रित नाममात्र का विकार रह गया! वास्तव में तीन रूप ही सत्य हैं।

एतद्ध स्म वै तद्विद्वाꣳस आहुः पूर्वे महाशाला महाश्रोत्रिया न नोऽद्य कश्चनाश्रुतममतमविज्ञातमुदाहरिष्यतीति ह्येभ्यो विदांचक्रुः ॥5॥

इस त्रिवृत्करण को जाननेवाले पूर्व के बड़े गृहस्थों और महाश्रोत्रियों ने कहा था कि—'हमारे कुल में आज से कोई ऐसा नहीं कह सकेगा कि यह न सुना हुआ, न माना हुआ, न ठीक से जाना हुआ है। क्योंकि अग्नि आदि के दृष्टान्त से वे सब कुछ जानते थे।

यदु रोहितमिवाभूदिति तेजसस्तद्रूपमिति तद्विदांचक्रुर्यदु शुक्लमिवाभूदित्यपाꣳ रूपमिति तद्विदांचक्रुर्यदु कृष्णमिवाभूदित्यन्नस्य रूपमिति तद्विदांचक्रुः ॥6॥

जो लालिमा जैसा रूप दिखाई देता था उसे वे तेज का रूप जानते थे, जो सफेद रूप दिखाई पड़ता था उसे वे जल का रूप समझते थे, और जो काला-सा रूप दिखाई पड़ता था उसे वे अन्न (पृथ्वी) का रूप समझते थे।

यद्विज्ञातमिवाभूदित्येतासामेव देवतानाꣳ समास इति तद्विदांचक्रुर्यथा नु खलु सोम्येमास्तिस्रो देवताः पुरुषं प्राप्य त्रिवृत्त्रिवृदेकैका भवति तन्मे विजानीहीति ॥7॥

इति चतुर्थः खण्डः ॥

जो कुछ भी न समझ में आनेवाली वस्तु हो, तो उसे वे इन्हीं तीन तत्त्वों से बनी हुई समझते थे। हे सोम्य ! अब ये तीनों देव किस तरह मनुष्य के शरीर में त्रिगुणित हुए, वह मैं तुम्हें समझाऊँगा।

(यहाँ चौथा खण्ड पूरा हुआ।)

❋

पञ्चमः खण्डः

अन्नमशितं त्रेधा विधीयते। तस्य यः स्थविष्ठो धातुस्तत्पुरीषं भवति यो मध्यमस्तन्माꣳसं योऽणिष्ठस्तन्मनः ॥1॥

खाए हुए अन्न के तीन परिणाम होते हैं, जो स्थूल भाग है वह मल बनता है, जो मध्य भाग है उसका मांस बनता है और जो सूक्ष्म भाग है उसका मन बनता है।

आपः पीतास्त्रेधा विधीयन्ते तासां यः स्थविष्ठो धातुस्तन्मूत्रं भवति यो मध्यमस्तल्लोहितं योऽणिष्ठः स प्राणः ॥2॥

पिये हुए जल के तीन परिणाम होते हैं। उसका जो स्थूल भाग है वह मूत्र बनता है, जो मध्यम है वह लहू बनता है और जो सूक्ष्म है वह प्राण है।

तेजोऽशितं त्रेधा विधीयते तस्य यः स्थविष्ठो धातुस्तदस्थि भवति यो मध्यमः स मज्जा योऽणिष्ठः सा वाक् ॥3॥

खाए हुए घृतादि तेज के तीन परिणाम होते हैं, उसका स्थूलतम भाग है वह हड्डियाँ बनता है, मध्यम भाग चरबी होता है और सूक्ष्मतम भाग वाणी बनता है।

अन्नमयꣳ हि सोम्य मन आपोमयः प्राणस्तेजोमयी वागिति भूय एव मा भगवान्विज्ञापयत्विति तथा सोम्येति होवाच ॥4॥

इति पञ्चमः खण्डः ॥

"हे सोम्य! मन अन्नमय है, प्राण जलमय है और वाणी तेजोमय है।" आरुणि के ऐसा कहने पर श्वेतकेतु बोला—"भगवन्! मुझे फिर से विस्तृत रूप में समझाइए।" पिता ने कहा—"ठीक है।"

(यहाँ पाँचवाँ खण्ड पूरा हुआ।)

❋

षष्ठः खण्डः

दध्नः सोम्य मथ्यमानस्य योऽणिमा स ऊर्ध्वः समुदीषति तत्सर्पिर्भवति ॥1॥

हे सोम्य! मथे हुए दही का जो सूक्ष्म भाग है वही ऊर्ध्व-गमन करते हुए घृत रूप में परिणत होता है।

एवमेव खलु सोम्यान्नस्याश्यमानस्य योऽणिमा स ऊर्ध्वः समुदीषति तन्मनो भवति ॥2॥

हे सोम्य! इसी प्रकार खाए जानेवाले अन्न का जो अतिसूक्ष्म अंश है, जो ऊपर एकत्रित होता है वही मन रूप में परिणत होता है।

अपाꣳ सोम्य पीयमानानां योऽणिमा स ऊर्ध्वः समुदीषति स प्राणो भवति ॥3॥

हे सोम्य! पिये जानेवाले जल का सूक्ष्मतम भाग जो ऊपर एकत्रित होता है, वही प्राण के रूप में परिणत होता है।

तेजसः सोम्याश्यमानस्य योऽणिमा स ऊर्ध्वः समुदीषति सा वाग्भवति ॥4॥

हे सोम्य! ग्रहण किए हुए तेज का सूक्ष्मतम भाग जो ऊपर आता है, वही वाणी के रूप में परिणत होता है।

अन्नमयꣳहि सोम्य मन आपोमयः प्राणस्तेजोमयी वागिति भूय एव मा भगवान्विज्ञापयत्विति तथा सोम्येति होवाच ॥5॥

इति षष्ठः खण्डः ॥

"हे सोम्य! मन अन्नमय है, प्राण जलमय है, वाणी तेजोमयी है।" आरुणि ने ऐसा कहा, तब श्वेतकेतु बोला—"भगवन्! फिर से और अधिक समझाइए।" पिता ने कहा—"हाँ, ठीक है।"

(यहाँ छठा खण्ड पूरा हुआ।)

❋

सप्तमः खण्डः

षोडशकलः सोम्य पुरुषः पञ्चदशाहानि माशीः। काममपः पिबापोमयः प्राणो न पिबतो विच्छेत्स्यत इति ॥1॥

हे सोम्य! यह पुरुष सोलह कलाओं वाला है। पंद्रह दिनों तक तुम खाओ नहीं। परन्तु अपनी इच्छानुसार जल पीओ। क्योंकि पानी नहीं पिओगे, तो प्राण निकल जाएँगे। (क्योंकि प्राण आपोमय है)।

स ह पञ्चदशाहानि नाशाथ हैनमुपससाद। किं ब्रवीमि भो इत्यृचः सोम्य यजूꣳषि सामानीति स होवाच न वै मा प्रतिभान्ति भो इति ॥2॥

उसने पंद्रह दिनों तक खाया नहीं, फिर बाद में पिता के पास आकर बोला—"जी, मैं क्या बोलूँ?" पिता ने कहा—"ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद के मंत्र बोलो।" उसने कहा—"जी, मुझे तो कुछ याद नहीं आता।

तꣳ होवाच यथा सोम्य महतोऽभ्याहितस्यैकोऽङ्गारः खद्योतमात्रः परिशिष्टः स्यात्तेन ततोऽपि न बहु दहेदेवꣳ सोम्य ते षोडशानां कलानामेका कलाऽतिशिष्टा स्यात्तयैतर्हि वेदान्नानुभवस्यशानाथ मे विज्ञास्यसीति ॥3॥

आरुणि ने उससे कहा—"हे सोम्य! जैसे बहुत ईंधन से प्रज्वलित अग्नि का एक जुगनू जैसा अंगारा ही शेष रहा हो, तो वह अपने से बड़े परिमाणवाले पदार्थ को नहीं जला सकता। इसी प्रकार तुम्हारी सोलह कलाओं में से मात्र एक कला ही शेष रही हो, तो उस एक ही कला से इस समय तुम वेदों का अनुभव नहीं कर सकते हो। अब तुम खा लो। बाद में मेरी बात को समझ सकोगे।

स हाशाथ हैनमुपससाद तꣳह यत्किंच पप्रच्छ सर्वꣳ ह प्रतिपेदे ॥4॥

उसने खाया और बाद में वह अपने पिता के पास गया। उस समय पिता ने जो कुछ भी कहा, उन सबको वह समझ गया।

तꣳ होवाच यथा सोम्य महतोऽभ्याहितस्यैकमङ्गारं खद्योतमात्रं परिशिष्टं तं तृणैरूपसमाधाय प्राज्वलयेत्तेन ततोऽपि बहु दहेत् ॥5॥

आरुणि ने उससे कहा—"हे सोम्य, जिस तरह बहुत ईंधन से प्रज्वलित अग्नि के शेष रह गए जुगनू जैसे छोटे अंगारे में तिनके, घास, लकड़ियाँ आदि डालकर धीरे-धीरे जलाया जाए, तो फिर ज्यादा परिमाणवाले पदार्थ को भी वह जला सकता है।

एवꣳ सोम्य ते षोडशानां कलानामेका कलाऽतिशिष्टाऽभूत्सान्नेनोपसमाहिता प्राज्वालीत्तयैतर्हि वेदाननुभवस्यन्नमयꣳ हि सोम्य मन आपोमयः प्राणस्तेजोमयी वागिति तद्धास्य विजज्ञाविति विजज्ञाविति ॥6॥

इति सप्तमः खण्डः ॥

"इस प्रकार हे सोम्य! पंद्रह दिनों तक भोजन किए बिना तुम्हारी सोलह कलाओं में से एक ही कला अवशिष्ट रही थी। वह कला अन्न से फिर से प्रज्वलित की गई। इसीलिए तुम इस समय वेदों को याद करते हो। हे सोम्य! मन ही अन्नमय है, प्राण जलमय है, और वाणी तेजोमय है। ऐसा समझो।" पिता ने ऐसा कहा तो पुत्र समझ गया। समझ गया।

(यहाँ सातवाँ खण्ड पूरा हुआ।)

❋

अष्टमः खण्डः

उद्दालको हारुणिः श्वेतकेतुं पुत्रमुवाच स्वप्नान्तं मे सोम्य विजानीहीति यत्रैतत्पुरुषः स्वपिति नाम सता सोम्य तदा सम्पन्नो भवति स्वमपीतो भवति तस्मादेनꣳ स्वपितीत्याचक्षते स्वꣳ ह्यपीतो भवति ॥1॥

आरुणि उद्दालक ने अपने पुत्र श्वेतकेतु से कहा—"हे सोम्य! अब तुम मुझ से स्वप्नावस्था के विषय में जानो। स्वप्नावस्था में पुरुष 'स्वपिति' (अपि इति) अर्थात् सत् के साथ मिल जाता है। इसलिए सो जाता है। स्वयम् अपने आपको अपीत = मिला हुआ रहता है। इसलिए उसे 'स्वपिति' कहा जाता है अर्थात् अपने साथ मिला हुआ रहता है।

स यथा शकुनिः सूत्रेण प्रबद्धो दिशं दिशं पतित्वान्यत्रायतनमलब्ध्वा बन्धनमेवोपश्रयत एवमेव खलु सोम्य तन्मनो दिशं दिशं पतित्वान्यत्रायतनमलब्ध्वा प्राणमेवोपश्रयते प्राणबन्धनꣳ हि सोम्य मन इति ॥2॥

जैसे डोरी से बाँधा हुआ कोई पक्षी प्रत्येक दिशा में घूमकर कहीं भी आश्रय न मिलने पर, अपने बन्धन का ही आश्रय लेता है, उसी प्रकार हे सोम्य! यह मन प्रत्येक दिशा में घूमकर कहीं भी आश्रय न मिलने पर प्राण का आश्रय ही लेता है। हे सोम्य! मन प्राणरूपी बन्धनवाला है।

अशनापिपासे मे सोम्य विजानीहीति यत्रैतत्पुरुषोऽशिशिषति नामाप एव तदशितं नयन्ते तद्यथा गोनायोऽश्वनायः पुरुषनाय इत्येवं तदप आचक्षतेऽशनायेति तत्रैतच्छुङ्गमुत्पतितꣳ सोम्य विजानीहि नेदममूलं भविष्यतीति ॥3॥

अब हे सोम्य! तुम मुझसे 'अशनाय' (भूख) और पिपासा के विषय में जान लो। जब कोई पुरुष 'अशन' (खाने) की इच्छा करता है, तब उस खाए हुए अन्न को पानी ही ले जाता है (नयति)। तो जिस प्रकार गाय को ले जानेवाला 'गोनाय', अश्व को ले जानेवाला 'अश्वनाय' और पुरुष को ले जानेवाला 'पुरुषनाय' कहलाता है, वैसे ही अशित को ले जाने वाला 'अशनाय' कहलाता है। पानी को अशनाय कहते हैं। ऐसा होने से इस जलरूप अशनाय से ही शरीररूप शुंग (कार्य) उत्पन्न हुआ है। क्योंकि कारण के बिना कार्य उत्पन्न नहीं होता।

तस्य क्व मूलꣳ स्यादन्यत्रान्नादेवमेव खलु सोम्यान्नेन शुङ्गेनापोमूलमन्विच्छाद्भिः सोम्य शुङ्गेन तेजोमूलमन्विच्छ तेजसा सोम्य शुङ्गेन सन्मूलमन्विच्छ सन्मूलाः सोम्येमाः सर्वाः प्रजाः सदायतनाः सत्प्रतिष्ठाः ॥4॥

उस (शरीर) का अन्न के सिवा क्या कारण हो सकता है। हे सोम्य! इस अन्नरूप कार्य का मूल जल को जानो। हे सोम्य! जल रूप कार्य का मूल तेज को जानो और तेजरूप कार्य का मूल 'सत्' तत्त्व को जानो। हे सोम्य! यह सब प्रजा सत् रूप आश्रयवाली और सत् तत्त्व में ही अधिष्ठित है अर्थात् सत् रूप कारणवाली है।

अथ यत्रैतत्पुरुषः पिपासति नाम तेज एव तत्पीतं नयते तद्यथा गोनायोऽश्वनायः पुरुषनाय इत्येवं तत्तेज आचष्ट उदन्येति तत्रैतदेव शुङ्गमुत्पतितꣳ सोम्य विजानीहि नेदममूलं भविष्यतीति ॥5॥

जब पुरुष को 'पिपासा (पीने की इच्छा) होती है, तो पिए हुए जल को तेज ही ले जाता है। जैसे गाय को हाँकनेवाला 'गोनाय', अश्व को हाँकनेवाला 'अश्वनाय' और पुरुष को ले जानेवाला 'पुरुषनाय' कहलाता है, इसी तरह तेज को 'उदन्य' (उदक को ले जानेवाला) कहा गया है। हे सोम्य! यह शरीर कार्यरूप है, कारण के बिना वह उत्पन्न नहीं हो सकता।

तस्य क्व मूलꣳ स्यादन्यत्राद्भ्योऽद्भिः सोम्य शुङ्गेन तेजोमूलमन्विच्छ तेजसा सोम्य शुङ्गेन सन्मूलमन्विच्छ सन्मूलाः सोम्येमाः सर्वाः प्रजाः सदायतनाः सत्प्रतिष्ठा यथा तु खलु सोम्येमास्तिस्रो देवताः पुरुषं प्राप्य त्रिवृत्त्रिवृदेकैका भवति तदुक्तं पुरस्तादेव भवत्यस्य सोम्य पुरुषस्य प्रयतो वाङ्मनसि संपद्यते मनः प्राणे प्राणस्तेजसि तेजः परस्यां देवतायाम् ॥6॥

जल के सिवा शरीर का मूल भला क्या हो सकता है? हे सोम्य! जल रूप कार्य का कारण तेज को ही जानो। और तेजरूप कार्य का कारण 'सत्' तत्त्व को जानो। ये सारी प्रजाएँ हे सोम्य! सत् रूप कारणवाली हैं, सत् पर ही अवलम्बित हैं और सत् में ही अधिष्ठित हैं। हे सोम्य! जिस प्रकार ये तीनों—अन्न-जल-तेज प्रत्येक तिगुना-तिगुना होता है, वह पहले ही बताया जा चुका है। हे सोम्य! यह पुरुष जब मरने लगता है, तब उसकी वाणी मन में समा जाती है, मन प्राण में और प्राण तेज में समा जाता है।

स य एषोऽणिमैतदात्म्यमिदꣳ सर्वं तत्सत्यꣳ स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो इति भूय एव मा भगवान् विज्ञापयत्विति तथा सोम्येति होवाच ॥7॥

इत्यष्टमः खण्डः ॥

यह जो सूक्ष्म है, यह सारा जगत् उसी का आत्मरूप है। हे श्वेतकेतु! तो वास्तविक रूप से वह आत्मतत्त्व तुम्हीं हो। बाद में श्वेतकेतु बोला—"भगवन्! और भी अधिक स्पष्टतापूर्वक कहिए" तब आरुणि ने कहा—"ठीक है।"

(यहाँ आठवाँ खण्ड पूरा हुआ।)

❋

नवमः खण्डः

यथा सोम्य मधु मधुकृतो निस्तिष्ठन्ति नानात्ययानां वृक्षाणाꣳरसान्समवहारमेकताꣳ रसं गमयन्ति ॥1॥

हे सोम्य ! जैसे मधुमक्खियाँ अनेक वृक्षों के फूलों के रस को ले आकर उन सभी रसों को एक-रूप बना देती हैं और मधु बनाती हैं।

ते यथा तत्र न विवेकं लभन्तेऽमुष्याहं वृक्षस्य रसोऽस्म्यमुष्याहं वृक्षस्य रसोऽस्मीत्येवमेव खलु सोम्येमाः सर्वाः प्रजाः सति सम्पद्य न विदुः सति सम्पद्यामह इति ॥2॥

मधु बनने के बाद उस मधु में—"मैं अमुक-अमुक वृक्ष का रस हूँ।" इस प्रकार का कोई भेद जाना नहीं जा सकता, इसी प्रकार हे सोम्य ! ये सारी प्रजाएँ सत् से मिलकर यह नहीं जानतीं कि हम अलग-अलग थीं और सत् में मिली हैं।

त इह व्याघ्रो वा सिꣳहो वा वृको वा वराहो वा कीटो वा पतङ्गो वा दꣳशो वा मशको वा यद्यद्भवन्ति तदा भवन्ति ॥3॥

बाघ, सिंह, वृक, वराह, कीड़ा, जुगनू, डाँस या मच्छर—आदि सभी पहले यहाँ जैसे थे, उसी रूप में फिर से जब सत् से अलग होते हैं, तब स्वरूप वाले हो जाते हैं।

स य एषोऽणिमैतदात्म्यमिदꣳ सर्वं तत्सत्यꣳ स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो इति भूय एव मा भगवान् विज्ञापयत्विति तथा सोम्येति होवाच ॥4॥

इति नवमः खण्डः ॥

"अतः यह सत् रूप सूक्ष्म तत्त्व ही सारे जगत् का मूल है, वही जगत् का आत्मा है, वही सत्य है, और हे श्वेतकेतु ! वह आत्मा तुम्हीं हो।" पिता के ऐसा कहने पर श्वेतकेतु ने कहा—"भगवन् ! मुझे फिर से समझाइए", तब पिता ने कहा—"ठीक है।"

(यहाँ नवाँ खण्ड पूरा हुआ।)

दशमः खण्डः

इमाः सोम्य नद्यः पुरस्तात्प्राच्यः स्यन्दन्ते पश्चात्प्रतीच्यस्ताः समुद्रात्समुद्रमेवापियन्ति स समुद्र एव भवति ता यथा तत्र न विदुरियमहमस्मीति ॥1॥

"हे सोम्य ! पूर्व दिशावाली नदियाँ पूर्व की ओर बहती हैं, पश्चिम की नदियाँ पश्चिम की ओर बहती हैं। ये सभी नदियाँ समुद्र से निकल कर समुद्र में ही मिल जाती हैं। समुद्र से मिली हुई वे नहीं जानतीं कि मैं अमुक-अमुक नदी हूँ।

एवमेव खलु सोम्येमाः सर्वाः प्रजा सत आगत्य न विदुः सत आगच्छामह इति त इह व्याघ्रो वा सिꣳहो वा वृको वा वराहो वा कीटो वा पतङ्गो वा दꣳशो वा मशको वा यद्यद्भवन्ति तदा भवन्ति ॥2॥

हे सोम्य ! इसी प्रकार ये सब प्रजाएँ सत् से आकर भी यह नहीं जानतीं कि हम सत् से ही आ रहे हैं। इस लोक में बाघ, सिंह, वृक, वराह, कीड़ा, जुगनू, डाँस, मच्छर आदि जो-जो होते हैं, सत् से निकलकर वे उसी रूपवाले होते हैं।

स य एषोऽणिमैतदात्म्यमिदꣳ सर्वं तत्सत्यꣳ स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो इति भूय एव मा भगवान् विज्ञापयत्विति तथा सोम्येति होवाच ॥3॥

इति दशमः खण्डः ॥

वह जो यह सूक्ष्म आत्मा है, यह सारा जगत् उसी का स्वरूप है, वही सत्य है और हे श्वेतकेतु ! तुम्हीं वह आत्मा हो" पिता के ऐसा कहने पर पुत्र ने कहा—"हे भगवन् ! आप फिर से मुझे उपदेश दीजिए।" तब पिता ने कहा—"ठीक है।"

(यहाँ दसवाँ खण्ड पूरा हुआ।)

एकादशः खण्डः

अस्य सोम्य महतो वृक्षस्य यो मूलेऽभ्याहन्याज्जीवन् स्रवेद्यो मध्येऽभ्याहन्याज्जीवन्स्रवेद्योऽग्रेऽभ्याहन्याज्जीवन्स्रवेत्स एष जीवेनात्मनानुप्रभूतः पेपीयमानो मोदमानस्तिष्ठति ॥1॥

हे सोम्य ! इस महान् वृक्ष के मूल में अगर कोई प्रहार करे उसमें से रस का स्राव होता है, और वह जीवित रहता है। कोई यदि बीच के भाग में प्रहार करे तो भी वहाँ रस का स्राव होता है और वृक्ष जीवित ही रहता है। अगर कोई अग्र भाग में प्रहार करे, तो भी वहाँ रस झरता है और वृक्ष जीवित रहता है। वह यह वृक्ष जीवात्मा से संपूर्णतया व्याप्त है। वृक्ष उस आत्मा का रस पीता हुआ आनन्द से खड़ा रहता है।

अस्य यदेकाꣳ शाखां जीवो जहात्यथ सा शुष्यति द्वितीयां जहात्यथ सा शुष्यति तृतीयां जहात्यथ सा शुष्यति सर्वं जहाति सर्वः शुष्यति ॥2॥

जब इसकी एक शाखा को जीव छोड़ देता है, तो वह सूख जाती है, जब दूसरी को छोड़ देता है तब वह सूख जाती है, जब तीसरी को छोड़ता है तो वह भी सूख जाती है और जब सबको छोड़ देता है, तब सारा वृक्ष ही सूख जाता है।

एवमेव खलु सोम्य विद्धीति होवाच जीवापेतं वाव किलेदं म्रियते न जीवो म्रियत इति स य एषोऽणिमैतदात्म्यमिदꣳ सर्वं तत्सत्यꣳ स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो इति भूय एव मा भगवान् विज्ञापयत्विति तथा सोम्येति होवाच ॥3॥

इत्येकादशः खण्डः ॥

हे सोम्य ! ठीक उसी तरह जीव के निकल जाने के बाद सचमुच यह शरीर मर जाता है, परन्तु, जीव नहीं मरता। ऐसा तुम जानो।" उसने आगे यह भी कहा कि—"यह जो अणिमा (सूक्ष्मतम) तत्त्व है, वही आत्मा है, सारा जगत् इसी का रूप है, वही सत्य है। हे श्वेतकेतु ! वह तत्त्व तुम्हीं हो।" तब श्वेतकेतु ने कहा—"भगवन् ! और भी आगे मुझे समझाइए।" तब पिता ने कहा—"हाँ ठीक है।"

(यहाँ ग्यारहवाँ खण्ड पूरा हुआ।)

❋

द्वादशः खण्डः

न्यग्रोधफलमत आहरेतीदं भगव इति भिन्द्धीति भिन्नं भगव इति किमत्र पश्यसीत्यण्व्य इवेमा धाना भगव इत्यासामङ्गैकां भिन्द्धीति भिन्ना भगव इति किमत्र पश्यसीति न किंचन भगव इति ॥1॥

पिता बोले—'एक वटफल लाओ।' पुत्र बोला—'यह लाया भगवन्।' पिता बोले—'इसे तोड़ो'। पुत्र बोला—'यह तोड़ा भगवन्', पिता बोले—'इसमें क्या देखते हो ?' पुत्र बोला—'अतिसूक्ष्म बीज भगवन्।' पिता बोले—'भाई, इसमें से एक को तोड़ो', पुत्र बोला—'तोड़ा भगवन्'। पिता ने पूछा—'इसमें क्या देखते हो ?' पुत्र ने कहा—'हे भगवन्। मैं तो इसमें कुछ भी नहीं देखता।'

तꣳ होवाच यं वै सोम्यैतमणिमानं न निभालयस एतस्य वै सोम्यैषोऽणिम्न एवं महान्यग्रोधस्तिष्ठति श्रद्धत्स्व सोम्येति ॥2॥

पिता बोले—"हे सोम्य ! वट के बीज में जिस सूक्ष्म तत्त्व को तुम नहीं देख रहे हो, हे सोम्य ! उसी से यह इतना बड़ा बना है। तुम इस कथन में श्रद्धा रखो"।

स य एषोऽणिमैतदात्म्यमिदꣳ सर्वं तत्सत्यꣳ स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो इति भूय एव मा भगवान् विज्ञापयत्विति तथा सोम्येति होवाच ॥3॥

इति द्वादशः खण्डः ॥

"वह यह सूक्ष्म (अणु-सा) आत्मा है, सारी सृष्टि उसी से व्याप्त है, वही सत्य है, वही आत्मा है, और श्वेतकेतु ! वह आत्मा तुम्ही हो" तब श्वेतकेतु बोला—'और ज्यादा आप महानुभाव मुझे कहिए"। तब पिता बोले—"ठीक है।"

(यहाँ बारहवाँ खण्ड पूरा हुआ।)

त्रयोदशः खण्डः

लवणमेतदुदकेऽवधायाथ मा प्रातरुपसीदथा इति स ह तथा चकार तꣳ होवाच यद्दोषा लवणमुदकेऽबाधा अङ्ग तदाहरेति तद्धावमृश्य न विवेद ॥1॥

पिता ने कहा—'(रात को) जल में नमक डालकर प्रातःकाल उसे मेरे पास लाओ।" उसने (श्वेतकेतु ने) ऐसा ही किया। तब पिता ने कहा—"रात को जो नमक इसमें डाला था, भाई ! उसे यहाँ लाओ।" श्वेतकेतु ने पानी में उसे खोजा पर वह उसे पा न सका।

यथा विलीनमेवाङ्गास्यान्तादाचामेति कथमिति लवणमिति मध्यादाचामेति कथमिति लवणमित्यन्तादाचामेति कथमिति लवणमित्यभिप्रास्यैस्तदथ मोपसीदथा इति तद्ध तथा चकार तच्छश्वत्संवर्तते तꣳहोवाचात्र वाव किल सत्सोम्य न निभालयसेऽत्रैव किलेति ॥2॥

पिता बोले—"हे वत्स ! जैसे वह (नमक) उसी में (पानी में ही) समा गया है, तुम ऊपर से

उसका आचमन करो। कैसा लगा ?" पुत्र बोला—'खारा'। पिता बोले—"मध्यभाग से आचमन करो। कैसा लगा ?" पुत्र बोला—'खारा'। पिता बोले—"तल भाग से आचमन करो। कैसा लगा ?" पुत्र बोला—'खारा'। पिता ने तब कहा—"अब उस जल को फेंककर मेरे पास आओ।" पुत्र ने ऐसा ही किया। तब पिता ने कहा—"वह नमक हमेशा ही जल में रहता ही है।" और भी कहा कि—"ऐसे ही 'सत्' यहाँ भी विद्यमान ही है। भले ही तुम उसे देख नहीं सकते, पर है तो वह यहाँ ही।"

स ह एषोऽणिमैतदात्म्यमिदꣳ सर्वं तत्सत्यꣳ स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो इति भूय एव मा भगवान् विज्ञापयत्विति तथा सोम्येति होवाच ॥3॥

इति त्रयोदशः खण्डः ॥

"और वही यह अणु (सूक्ष्म) आत्मा है, सभी उससे व्याप्त है, वही सत्य है, वही आत्मा है और श्वेतकेतु ! तुम ही तो वह आत्मा हो।" तब श्वेतकेतु बोला—"भगवन् ! फिर से और ज्यादा मुझे बताइए।" पिता बोले—"अच्छा सोम्य !"

(यहाँ तेरहवाँ खण्ड पूरा हुआ।)

❋

चतुर्दशः खण्डः

यथा सोम्य पुरुषं गन्धारेभ्योऽभिनद्धाक्षमानीय तं ततोऽतिजने विसृजेत्स यथा तत्र प्राङ्वोदङ्वाऽधराङ्वा प्रत्यङ्वा प्रध्मायीताभिनद्धाक्ष आनीतोऽभिनद्धाक्षो विसृष्टः ॥1॥

"हे सोम्य ! जिस प्रकार गांधार देश में से आँखें बाँधकर लाए गए पुरुष को किसी निर्जन प्रदेश में छोड़ दिया जाए, और वहाँ पर वह पूर्व, पश्चिम, उत्तर या दक्षिण की ओर मुँह करके क्रन्दन करता है। वह कहता है कि "मैं आँखें बाँधकर यहाँ लाया गया हूँ—मेरी आँखें बाँधकर मुझे यहाँ छोड़ दिया गया है।"

तस्य यथाभिनहनं प्रमुच्य प्रब्रूयादेतां दिशं गन्धारा एतां दिशं व्रजेति स ग्रामाद्ग्रामं पृच्छन् पण्डितो मेधावी गन्धारानेवोपसम्पद्येतैवमेवेहाचार्यवान् पुरुषो वेद तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्येऽथ संपत्स्य इति ॥2॥

उस पुरुष के बन्धन को खोलकर जैसे उससे कोई कहे—"इस दिशा में गन्धार देश है, इस दिशा में चलो।" तो वह बुद्धिमान और समझदार पुरुष एक गाँव से दूसरे गाँव पूछते-पूछते गन्धार देश में पहुँच ही जाता है। उसी प्रकार इस लोक में आचार्यवाला मनुष्य ही सत् को जान सकता है। उसके लिए मोक्षप्राप्ति में उतनी ही देर लगती है जब तक कि वह देहबन्धन से मुक्त नहीं हो जाता। इसके बाद तो वह पुरुष मुक्त होते ही सत् को प्राप्त कर लेता है।

स य एषोऽणिमैतदात्म्यमिदꣳ सर्वं तत्सत्यꣳ स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो इति भूय एव मा भगवान्विज्ञापयत्विति तथा सोम्येति होवाच ॥3॥

इति चतुर्दशः खण्डः ॥

"वही यह सूक्ष्मतम है, उसी से सब कुछ व्याप्त है, वह सत्य है, वह आत्मा है और हे श्वेतकेतु ! वह आत्मा तुम ही हो।" श्वेतकेतु बोला—"भगवन् ! और भी आगे समझाइए"। पिता बोले—"हाँ ठीक है सोम्य।"

(यहाँ चौदहवाँ खण्ड पूरा हुआ।)

पञ्चदशः खण्डः

पुरुषꣳ सोम्योतोपतापिनं ज्ञातयः पर्युपासते जानासि मां जानासि मामिति तस्य यावन्न वाङ्मनसि सम्पद्यते मनः प्राणे प्राणस्तेजसि तेजः परस्यां देवतायां तावज्जानाति ॥1॥

"हे सोम्य ! ज्वरादि से सख्त तपे हुए आदमी को सब सगे-सम्बन्धी, 'मुझे पहचानते हो ? मुझे पहचानते हो ?'—ऐसा कहते हुए, उसे घेरकर बैठते हैं, तब उसकी वाणी मन में नहीं समा गई होती, मन प्राण में नहीं समाया होता, प्राण तेज में नहीं समाया होता, और तेज परमात्मा में नहीं समाया होता, तब तक वह पहचान पाता है।

अथ यदाऽस्य वाङ्मनसि सम्पद्यते मनः प्राणे प्राणस्तेजसि तेजः परस्यां देवतायामथ न जानाति ॥2॥

परन्तु, जब उसकी वाणी मन में, मन प्राण में, प्राण तेज में और तेज परमात्मा में समा जाता है, तब वह नहीं पहचान पाता।

स य एषोऽणिमैतदात्म्यमिदꣳ सर्वं तत्सत्यꣳ स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो इति भूय एव मा भगवान् विज्ञापयत्विति तथा सोम्येति होवाच ॥3॥

इति पञ्चदशः खण्डः ॥

"वह यह सूक्ष्मतम तत्त्व है, वह सर्व का स्रोत है, वह सत्य है, वह आत्मा है, हे श्वेतकेतु ! और तुम वही आत्मा हो"। तब श्वेतकेतु बोला—"हे भगवन् ! और भी ज्यादा मुझे बताइए।" पिता बोले—"ठीक है, सोम्य !"

(यहाँ पंद्रहवाँ खण्ड पूरा हुआ।)

षोडशः खण्डः

पुरुषꣳ सोम्योत हस्तगृहीतमानयन्त्यपहार्षीत्स्तेयमकार्षीत्परशुमस्मै तपतेति स यदि तस्य कर्ता भवति तत एवानृतमात्मानं कुरुते सोऽनृताभिसन्धोऽनृतेनात्मानमन्तर्धाय परशुं तप्तं प्रतिगृह्णाति स दह्यतेऽथ हन्यते ॥1॥

"और हे सोम्य ! किसी पुरुष को हाथ बाँधकर (राजपुरुष) ले आते हैं और कहते हैं—"इसने चोरी की है। इसके लिए कुल्हाड़ी तपाओ। अगर इसने चोरी की है, फिर भी झूठ बोलता है कि मैं चोर नहीं हूँ, तो जब वह तपी हुई कुल्हाड़ी को छुएगा तो वह जलकर मृत्यु को प्राप्त हो जायेगा।

अथ यदि तस्याकर्ता भवति तत एव सत्यमात्मानं कुरुते स सत्याभिसन्धः सत्येनात्मानमन्तर्धाय परशुं तप्तं प्रतिगृह्णाति स न दह्यतेऽथ मुच्यते ॥2॥

और यदि उसने चोरी नहीं की है, तो उसी से ही वह अपने आत्मा को सच्चा कर देता है। सत्याश्रयी वह अपनी आत्मा को सत्य से ढँककर तपी हुई कुल्हाड़ी को छूता है, तो वह नहीं जलता और मुक्त हो जाता है।

स यथा तत्र नादाह्येतैतदात्म्यमिदꣳ सर्वं तत्सत्यꣳ स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो इति तद्धास्य विजज्ञाविति विजज्ञाविति ॥3॥

इति षोडशः खण्डः ॥

इति छान्दोग्योपनिषदि षष्ठोऽध्यायः ॥6॥

जैसे वह सत्याश्रयी पुरुष तप्त कुल्हाड़ी से नहीं जलता है, वैसे ही वह सत्यात्मक ही सब-कुछ है, वही सत् है, वही आत्मा है, और हे श्वेतकेतु ! वह आत्मा तुम ही हो। तब श्वेतकेतु ने कहा भगवन् ! मैं उस सत्यतत्त्व को समझ गया, समझ गया।

(यहाँ सोलहवाँ खण्ड पूरा हुआ।)

यहाँ छान्दोग्योपनिषद् में छठा अध्याय समाप्त हुआ।

❋

अथ सप्तमोऽध्यायः

प्रथमः खण्डः

अधीहि भगव इति होपससाद सनत्कुमारं नारदस्तꣳ होवाच यद्वेत्थ तेन मोपसीद ततस्त ऊर्ध्वं वक्ष्यामीति स होवाच ॥1॥

एक बार नारद सनत्कुमार के पास गए और उनसे कहने लगे—"हे भगवन् ! मुझे उपदेश दीजिए"। तब सनत्कुमार ने उनसे कहा—"पहले तुम जो कुछ जानते हो वह कहो, बाद में उससे आगे की बात कहूँगा।

ऋग्वेदं भगवोऽध्येमि यजुर्वेदꣳ सामवेदमाथर्वणं चतुर्थमितिहासपुराणं पञ्चमं वेदानां वेदं पित्र्यꣳ राशिं दैवं निधिं वाकोवाक्यमेकायनं देवविद्यां ब्रह्मविद्यां भूतविद्यां क्षत्रविद्यां नक्षत्रविद्याꣳ सर्पदेवजन-विद्यामेतद्भगवोऽध्येमि ॥2॥

नारद ने कहा—"हे भगवन् ! ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और चौथा अथर्ववेद मैं जानता हूँ। इतिहापुराण रूप पाँचवाँ वेद, वेदों का वेद (व्याकरण), श्राद्धकल्प, गणितशास्त्र, दैव (उत्पात ज्ञान), निधिशास्त्र, तर्कशास्त्र, नीतिशास्त्र, निरुक्त, शिक्षा-कल्पादि ब्रह्म (वेदांग) विद्या, भूतविद्या, क्षत्रविद्या, नक्षत्रविद्या, सर्प-देव-जन विद्या (अर्थात् गारुडीमंत्र, नृत्य, संगीत, शिल्पादि सभी विद्याएँ) मैं जानता हूँ।

सोऽहं भगवो मन्त्रविदेवास्मि नात्मविच्छ्रुतꣳ ह्येव मे भगवद्दृशेभ्यस्तरति शोकमात्मविदिति सोऽहं भगवः शोचामि तं मा भगवाञ्छोकस्य पारं तारयत्विति तꣳ होवाच यद्वै किंचैतदध्यगीष्ठा नामैवैतत् ॥3॥

"हे भगवन् ! मैं केवल मंत्रवेत्ता ही हूँ, आत्मवेत्ता नहीं हूँ। मैंने आप जैसे लोगों से सुना है कि आत्मवेत्ता शोक को पार कर जाता है। और मैं तो शोक करता हूँ। हे भगवन् ! कृपया मुझको शोक के पार लगा दीजिए।" तब सनत्कुमार ने नारद से कहा—यह जो कुछ तुम जानते हो (पढ़े हो) यह सब नाम ही है।

नाम वा ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेद आथर्वणश्चतुर्थ इतिहासपुराणः पञ्चमो वेदानां वेदः पित्र्यो राशिर्दैवो निधिर्वाकोवाक्यमेकायनं देवविद्या ब्रह्म-विद्या भूतविद्या क्षत्रविद्या नक्षत्रविद्या सर्वदेवजनविद्या नामैवैतन्नामो-पास्स्वेति ॥4॥

यह ऋग्वेद नाम (सत् का एक नाम) है। यजुर्वेद, सामवेद और चौथा अथर्ववेद, पाँचवें वेद का स्वरूप इतिहास-पुराण, वेदों के वेद रूप व्याकरण, पितृविद्या, गणित, दैवविज्ञान, निधिशास्त्र, तर्कशास्त्र, नीतिशास्त्र, निरुक्त, वेदांगविद्या, भूतविद्या, क्षत्रविद्या, नक्षत्रविद्या गारुड़ीमंत्रविद्या, नृत्यविद्या, संगीतकला, शिल्प आदि यह सभी विद्याएँ नाम हैं। नाम की उपासना करो।" (कहने का तात्पर्य यह है कि जिस तरह विष्णुबुद्धि से प्रतिमा की पूजा की जाती है, उसी तरह तुम नामों की—'यह ब्रह्म है' इस बुद्धि से उपासना करो)।

स यो नाम ब्रह्मेत्युपास्ते यावन्नाम्नो गतं तत्रास्य यथाकामचारो भवति

यो नाम ब्रह्मेत्युपास्तेऽस्ति भगवो नाम्नो भूय इति नाम्नो वाव भूयोऽस्तीति तन्मे भगवान्ब्रवीत्विति ॥5॥

इति प्रथमः खण्डः ॥

'यह नाम ब्रह्म है'—ऐसा समझकर जो उसकी उपासना करता है, वह जहाँ तक अर्थात् जिस देशकाल तक नाम की गति (विषय) होती है, वहाँ तक अपनी इच्छानुसार जा सकता है।" सनत्कुमार के ऐसा कहने पर नारद ने पूछा—"नाम से कोई बड़ा है क्या ?" सनत्कुमार बोले—"हाँ, नाम से बड़ा है।" तब नारद बोले—"भगवन् ! वह मुझे कहिए।"

(यहाँ पहला खण्ड पूरा हुआ।)

❋

द्वितीयः खण्डः

वाग्वाव नाम्नो भूयसी वाग्वा ऋग्वेदं विज्ञापयति यजुर्वेदꣳ सामवेद-माथर्वणं चतुर्थमितिहासपुराणं पञ्चमं वेदानां वेदं पित्र्यꣳ राशिं दैवं निधिं वाकोवाक्यमेकायनं देवविद्यां ब्रह्मविद्यां भूतविद्यां क्षत्रविद्यां नक्षत्रविद्याꣳ सर्पदेवजनविद्यां दिवं च पृथिवीं च वायुं चाकाशं चापश्च तेजश्च देवाꣳश्च मनुष्याꣳश्च पशूꣳश्च वयाꣳसि च तृणवनस्पतीञ्छ्वापदान्याकीटपतङ्गपिपीलकं धर्मं चाधर्मं च सत्यं चानृतं च साधु चासाधु च हृदयज्ञं चाहृदयज्ञं च यद्वै वाङ्नाभविष्यन्न धर्मो नाधर्मो व्यज्ञापयिष्यन्न सत्यं नानृतं न साधु नासाधु न हृदयज्ञो नाहृदयज्ञो वागेवैतत्सर्वं विज्ञापयति वाचमुपास्स्वेति ॥1॥

(हे नारद !) वाणी नाम से बड़ी है। वाणी ही ऋग्वेद को समझती है। यजुर्वेद, सामवेद और चौथे अथर्ववेद को, पाँचवें इतिहासपुराण को, वेदों के वेद समान व्याकरण को, श्राद्धकल्प को, गणित को, भविष्यविद्या को, निधिविद्या को, तर्कविद्या को, नीतिशास्त्र को, देवविद्या, ब्रह्मविद्या, भूतविद्या, क्षत्रविद्या, खगोलविद्या, सर्पविद्या, देवविद्या, मनुष्यविद्या को तथा स्वर्ग, पृथ्वी, वायु, आकाश, जल, तेज को तथा देवों, मनुष्यों, पशुओं, पक्षियों को तथा घास, वनस्पतियों, हिंसक पशुओं को, कीट-जुगनू आदि से लेकर चींटी जैसे सब जन्तुओं को, धर्म, अधर्म, सत्य, असत्य, हृदयंगम पदार्थों या हृदय को अच्छे न लगने वाले पदार्थों को—सबको वाणी ही तो समझाती है। यदि वाणी नहीं होती तो धर्म या अधर्म समझाया नहीं जा सकता। सत्य-असत्य, भला-बुरा, हृदयंगम या अहृदयंगम—कुछ भी समझाया नहीं जा सकता। वाणी ही सब कुछ हमें समझाती है, इसलिए तुम वाणी की उपासना करो।"

'स यो वाचं ब्रह्मेत्युपास्ते यावद्वाचो गतं तत्रास्य यथा... यो वाचं ब्रह्मेत्युपास्तेऽस्ति भगवो वाचो भूय इ... भूयोऽस्तीति तन्मे भगवान्ब्रवीत्विति ॥2॥

इति द्वितीयः खण्डः ॥

"जो वाणी को ब्रह्म समझकर उसकी उपासना करता है, वह जिस देश... गति है, वहाँ तक अपनी इच्छानुसार गति कर सकता है।" सनत्कुमार के ऐसा क...

"जिस वाणी को ब्रह्म समझ कर उपासना करता है, उस वाणी से बड़ा कोई है क्या ?" सनत्कुमार बोले—"हाँ बड़ा है ही।" तब नारद बोले—"भगवान् आप वही मुझे बताइए।"

(यहाँ दूसरा खण्ड पूरा हुआ।)

❋

तृतीयः खण्डः

मनो वाव वाचो भूयो यथा वै द्वे वामलके द्वे वा कोले द्वौ वाक्षौ मुष्टिरनुभवत्येवं वाचं च नाम च मनोऽनुभवति स यदा मनसा मनस्यति मन्त्रानधीयीयेत्यथाधीते कर्माणि कुर्वीतेत्यथ कुरुते पुत्राꣳश्च पशूꣳश्चेच्छेयेत्यथेच्छत इमं च लोकममुं चेच्छेयेत्यथेच्छते मनो ह्यात्मा मनो हि लोको मनो हि ब्रह्म मन उपास्स्वेति ॥1॥

(हे नारद !) मन वाणी से बड़ा है। जैसे कोई अपनी मुट्ठी में दो आँवले, दो बेर या दो बहेड़े रखता हो, वैसे ही मन में वाणी और नाम दोनों रहते हैं। पहले मनुष्य मन में सोचता है कि—"मैं मन्त्रपाठ करूँ", इसके बाद ही वह मन्त्रों को बोलता है। पहले सोचता है—"मैं कर्म करूँ", तभी वह कर्म करता है। "मैं पुत्रों और पशुओं को प्राप्त करूँ"—पहले ऐसी इच्छा करके ही वह पुत्रों और पशुओं को प्राप्त करता है। "मैं इस लोक या उस लोक को प्राप्त करूँ"—ऐसी पहले इच्छा करके ही वह उन्हें प्राप्त करता है। मन ही आत्मा है, मन ही लोक है, मन ही ब्रह्म है अत: मन की उपासना करो।

स यो मनो ब्रह्मेत्युपास्ते यावन्मनसो गतं तत्रास्य यथाकामचारो भवति यो मनो ब्रह्मेत्युपास्तेऽस्ति भगवो मनसो भूय इति मनसो वाव भूयोऽस्तीति तन्मे भगवान्ब्रवीत्विति ॥2॥

इति तृतीयः खण्डः ॥

"जो मन को ब्रह्म समझकर उसकी उपासना करता है, वह जहाँ तक मन की गति है, वहाँ तक अपनी इच्छानुसार आ-जा सकता है।" सनत्कुमार के ऐसा कहने पर नारद ने पूछा—"मन से बड़ा कोई है क्या ?" सनत्कुमार ने उत्तर दिया—"हाँ, है ही।" तब नारद ने कहा—"तब भगवान्, आप वही मुझसे कहिए।"

(यहाँ तीसरा खण्ड पूरा हुआ।)

❋

चतुर्थः खण्डः

संकल्पो वाव मनसो भूतान्यदा वै संकल्पयतेऽथ मनस्यत्यथ वाचमीरयति तामु नाम्नीरयति नाम्नी मन्त्रा एकं भवन्ति मन्त्रेषु कर्माणि ॥1॥

(हे नारद !) संकल्प मन से बड़ा है। कोई भी पहले संकल्प करने के बाद ही सोचता है। बाद में वाणी बोलता है। वाणी को नाम (शब्द) रूप से बाहर निकालता है, और उन्हीं शब्दों से मंत्र बनता है, और मंत्रों में क्रिया की प्रेरणा निहित ही है।

तानि ह वा एतानि संकल्पैकायनानि संकल्पात्मकानि संकल्पे प्रतिष्ठितानि समक्लृपतां द्यावापृथिवी समकल्पेतां वायुश्चाकाशं च समकल्पन्तामापश्च तेजश्च तेषाꣳ संक्लृप्त्यै वर्षꣳ संकल्पते वर्षस्य संक्लृप्त्या अन्नꣳ संकल्पतेऽन्नस्य संक्लृप्त्यै प्राणाः संकल्पन्ते प्राणानाꣳ संक्लृप्त्यै मन्त्रा संकल्पन्ते मन्त्राणाꣳ संक्लृप्त्यै कर्माणि संकल्पन्ते कर्मणाꣳ संक्लृप्त्यै लोकः संकल्पते लोकस्य संक्लृप्त्यै सर्वꣳ संकल्पते स एष संकल्पः संकल्पमुपास्स्वेति ॥2॥

"मन, वाणी आदि सब संकल्प में ही लीन होनेवाले, संकल्पमय तथा संकल्प में ही रहनेवाले होते हैं। मानो स्वर्ग और पृथ्वी ने संकल्प किया हो, आकाश और पृथ्वी ने संकल्प किया हो, जल और तेज ने भी संकल्प किया हो—ऐसा लग रहा है। उन्हीं सबके संकल्प से ही मानो वर्षा बरसती है, वर्षा के संकल्प से अन्न होता है, अन्न के संकल्प से प्राण होता है, प्राण के संकल्प से मंत्र होते हैं, मन्त्रों के संकल्प से क्रियाएँ होती हैं, क्रियाओं के संकल्प से फल उत्पन्न होता है, फल के संकल्प से ही सारा जगत् संकल्प करता है। इस प्रकार संकल्प ही बड़ा है, इसलिए संकल्प को ही ब्रह्म मानकर उसकी उपासना करो।

स यः संकल्पं ब्रह्मेत्युपास्ते क्लृप्तान्वै स लोकान् ध्रुवान् ध्रुवः प्रतिष्ठितान् प्रतिष्ठितोऽव्यथमानानव्यथमानोऽभिसिध्यति यावत्संकल्पस्य गतं तत्रास्य यथाकामचारो भवति यः संकल्पं ब्रह्मेत्युपास्तेऽस्ति भगवः संकल्पाद्भूय इति संकल्पाद्वाव भूयोऽस्तीति तन्मे भगवान्ब्रवीत्विति ॥3॥

इति चतुर्थः खण्डः ॥

"संकल्प को ब्रह्म समझकर जो उसकी उपासना करता है, वह स्थायी, प्रतिष्ठित, पीड़ारहित लोकों को स्वयं में स्थिर, स्वयं में प्रतिष्ठित और स्वयं में व्यथारहित होकर प्राप्त करता है। जहाँ तक संकल्प की गति होती है वहाँ तक (उस देशकाल तक) इस संकल्पब्रह्म के उपासक की भी इच्छानुसार गति होती है।" सनत्कुमार ने ऐसा कहा। तब नारद बोले—"हे भगवन् संकल्प से भी कोई बड़ा है क्या ?" तब सनत्कुमार बोले—"हाँ, है ही" तब नारद फिर बोले—"तो भगवान्, उसे आप मुझे कहिए।"

(यहाँ चौथा खण्ड पूरा हुआ।)

❋

पञ्चमः खण्डः

चित्तं वाव संकल्पाद्भूयो यदा वै चेतयतेऽथ संकल्पयतेऽथ मनस्यत्यथ वाचमीरयति तामु नाम्नीरयति नाम्नि मन्त्रा एकं भवन्ति मन्त्रेषु कर्माणि ॥1॥

(हे नारद !) चित्त ही संकल्प से बड़ा है। मनुष्य जब कुछ जानता है तभी संकल्प करता है, बाद में सोचता है, फिर बोलता है, उस बोलने में नाम बोले जाते हैं, उन नामों में शब्द इकट्ठे होते हैं और शब्दों में (मंत्रों में) क्रियाएँ रहती हैं।

तानि ह वा एतानि चित्तैकायनानि चित्तात्मानि चित्ते प्रतिष्ठितानि तस्माद्यद्यपि बहुविदचित्तो भवति नायमस्तीत्येवैनमाहुर्यदयं वेद यद्वा अयं विद्वान्नेत्थमचित्तः स्यादित्यथ यद्यल्पविच्चित्तवान्भवति तस्मा

एवोत शुश्रूषन्ते चित्तꣳह्येवैषामेकायनं चित्तमात्मा चित्तं प्रतिष्ठा चित्त-मुपास्स्वेति ॥2॥

ये संकल्पादि सब चित्त में ही समा जानेवाले, चित्त से ही उदित होनेवाले, चित्त में ही रहनेवाले हैं। अत: यदि कोई मनुष्य बहुत जाननेवाला होने पर भी चित्तवाला न हो तो लोग "उसमें कुछ भी नहीं है"—ऐसा समझेंगे। भले ही वह विद्वान् और बहुत जाननेवाला क्यों न हो! परन्तु यदि वह कम जाननेवाला भले ही हो, किन्तु चित्तवाला (भानवाला) हो, तो लोग उसे सुनते हैं। अन्त में संकल्पादि सब चित्त में ही समा जाते हैं, चित्त से उत्पन्न होते हैं, चित्त में ही रहते हैं। अत: चित्त को ही ब्रह्म समझकर उसकी उपासना करो।

स यश्चित्तं ब्रह्मेत्युपास्ते चित्तान्वै स लोकान् ध्रुवान् ध्रुवः प्रतिष्ठितान् प्रतिष्ठितोऽव्यथमानानव्यथमानोऽभिसिद्ध्यति यावच्चित्तस्य गतं तत्रास्य यथाकामचारो भवति यश्चित्तं ब्रह्मेत्युपास्तेऽस्ति भगवंश्चित्ताद्भूय इति चित्ताद्वाव भूयोऽस्तीति तन्मे भगवान्ब्रवीत्विति ॥3॥

इति पञ्चमः खण्डः ॥

"जो मनुष्य चित्त को ही ब्रह्म समझकर उसकी उपासना करता है, वह नित्य, बुद्धियुक्त, स्थायी और पीड़ारहित लोकों को प्राप्त होता है और स्वयं भी नित्य, स्थिर, पीड़ारहित होता है। और जहाँ तक चित्त की गति हो सकती है, वहाँ तक वह अपनी इच्छानुसार जा सकता है।" सनत्कुमार के ऐसा कहने पर नारद ने कहा—"भगवन्, चित्त से बड़ा कोई है क्या ?" तब सनत्कुमार ने कहा—"हाँ, चित्त से बड़ा है"। तब नारद बोले—"आप भगवान्, मुझे इसका उपदेश दीजिए।"

(यहाँ पाँचवाँ खण्ड पूरा हुआ)

षष्ठः खण्डः

ध्यानं वाव चित्ताद्भूयो ध्यायतीव पृथिवी ध्यायतीवान्तरिक्षं ध्यायतीव द्यौर्ध्यायन्तीवापो ध्यायन्तीव पर्वता ध्यायन्तीव देवमनुष्यास्तस्माद्य इह मनुष्याणां महत्तां प्राप्नुवन्ति ध्यानापादाꣳशा इवैव ते भवन्त्यथ येऽल्पाः कलहिनः पिशुना उपवादिनस्तेऽथ ये प्रभवो ध्यानापादाꣳशा इवैव ते भवन्ति ध्यानमुपास्स्वेति ॥1॥

(हे नारद !) ध्यान चित्त से बड़ा है। ऐसा लगता है कि मानो पृथ्वी ध्यान करती हो, अन्तरिक्ष ध्यान कर रहा हो, स्वर्ग ध्यान कर रहा हो, जल ध्यान कर रहा हो, पर्वत भी मानो ध्यान कर रहे हों, देव और मनुष्य भी ध्यान कर रहे हों, ऐसा लगता है। इस लोक में मनुष्यों में जो महत्ता को प्राप्त करते हैं, वे मानो ध्यान के अंश का ही लाभ पाते हैं। और जो क्षुद्र होते हैं, वे तो झगड़ालू, चुगलीखोर, दूसरों को उनका दोष बतानेवाले होते हैं। पर जो शक्तिशाली (समर्थ) होते हैं, वे भी ध्यानांश के लाभ को ही प्राप्त करनेवाले होते हैं। अत: ध्यान को ब्रह्म मानकर उसकी उपासना करो।

स यो ध्यानं ब्रह्मत्युपास्ते यावद्ध्यानस्य गतं तत्रास्य यथाकामचारो भवति यो ध्यानं ब्रह्मत्युपास्तेऽस्ति भगवो ध्यानाद्भूय इति ध्यानाद्वाव भूयोऽस्तीति तन्मे भगवान्ब्रवीत्विति ॥2॥

इति षष्ठः खण्डः ॥

"जो ध्यान को ब्रह्म समझकर उपासना करता है, वे उनकी स्वेच्छानुसार गति के अनुरूप उनके ध्यान की गति हो जाती है"। सनत्कुमार के इन वचनों को सुनकर नारद ने पूछा—"हे भगवन्! ध्यान से बड़ा कुछ है क्या ?" सनत्कुमार बोले—"हाँ, है तो!" नारद बोले—"तो भगवन्, ऐसे आप मुझे उसका उपदेश दीजिए।

(यहाँ छठा खण्ड पूरा हुआ।)

❋

सप्तमः खण्डः

विज्ञानं वाव ध्यानाद्भूयो विज्ञानेन वा ऋग्वेदं विजानाति यजुर्वेदꣳसामवेदमाथर्वणं चतुर्थमितिहासपुराणं पञ्चमं वेदानां वेदं पित्र्यꣳ राशिं दैवं निधिं वाकोवाक्यमेकायनं देवविद्यां ब्रह्मविद्यां भूतविद्यां क्षत्रविद्यां नक्षत्रविद्याꣳ सर्पदेवजनविद्यां दिवं च पृथिवीं च वायुं चाकाशं चापश्च तेजश्च देवाꣳश्च मनुष्याꣳश्च पशूꣳश्च वयाꣳसि च तृणवनस्पतीञ्छ्वापदान्याकीटपतङ्गपिपीलकं धर्मं चाधर्मं च सत्यं चानृतं च साधु चासाधु च हृदयज्ञं चाहृदयज्ञं चान्नं च रसं चेमं च लोकममुं च विज्ञानेनैव विजानाति विज्ञानमुपास्स्वेति ॥1॥

(हे नारद !) विज्ञान ध्यान से बड़ा है। विज्ञान से ऋग्वेद समझा जाता है। यजुर्वेद, सामवेद, चौथा अथर्ववेद, इतिहास-पुराण, व्याकरण, श्राद्धकल्प, गणित, उत्पातविद्या, निधिशास्त्र, तर्कशास्त्र, नीतिशास्त्र, व्युत्पत्तिशास्त्र, वेदविद्या, भूततंत्र, धनुर्विद्या, खगोलशास्त्र, सर्पविद्या, संगीतादि देवविद्या, मनुष्यविद्या आदि को समझा जाता है। तदुपरान्त देवों, मनुष्यों, पशुओं, पक्षियों, घास-वनस्पतियों, हिंसक प्राणियों को, धर्म, अधर्म, सत्य, असत्य, अच्छे-बुरे को, मनोज्ञ या अमनोज्ञ पदार्थों को, अन्न, रस तथा इस लोक को और परलोक को—सभी को 'विज्ञान' द्वारा ही तो जाना जा सकता है इसलिए 'विज्ञान' को ही ब्रह्म समझ उसकी उपासना करो।

स यो विज्ञानं ब्रह्मेत्युपास्ते विज्ञानवतो वै स लोकाञ्ज्ञानवतोऽभि-सिद्ध्यति। यावद्विज्ञानस्य गतं तत्रास्य यथाकामचारो भवति। यो विज्ञानं ब्रह्मेत्युपास्तेऽस्ति भगवो विज्ञानाद्भूय इति विज्ञानाद्वाव भूयोऽस्तीति तन्मे भगवान्ब्रवीत्विति ॥2॥

इति सप्तमः खण्डः ॥

"इस प्रकार जो विज्ञान को ब्रह्म मानकर उसकी उपासना करता है, वह विज्ञानवाले और ज्ञानवाले लोकों को प्राप्त करता है, और जहाँ तक विज्ञान की गति है, वहाँ तक वह अपनी इच्छा के अनुसार परिसरण कर सकता है।" सनत्कुमार का यह कथन सुनकर नारद ने पूछा—"भगवन्, विज्ञान से भी बड़ा कोई है क्या ?" सनत्कुमार ने कहा—"हाँ, है तो!" तब नारद बोले—"तो भगवन्, आप मुझे उसी का उपदेश दीजिए।"

(यहाँ सातवाँ खण्ड पूरा हुआ।)

❋

अष्टमः खण्डः

बलं वाव विज्ञानाद्भूयोऽपि ह शतं विज्ञानवतामेको बलवानाकम्पयते स यदा बली भवत्यथोत्थाता भवत्युत्तिष्ठन्परिचरिता भवति परिचरन्नुपसत्ता भवत्युपसीदन्द्रष्टा भवति श्रोता भवति मन्ता भवति बोद्धा भवति कर्ता भवति विज्ञाता भवति बलेन वै पृथिवी तिष्ठति बलेनान्तरिक्षं बलेन द्यौर्बलेन पर्वता बलेन देवमनुष्या बलेन पशवश्च वयांसि च तृणवनस्पतयः श्वापदान्याकीटपतङ्गपिपीलकं बलेन लोकस्तिष्ठति बलमुपास्स्वेति ॥1॥

(हे नारद !) बल विज्ञान से बड़ा है। सौ विज्ञानवालों को एक ही बलवान कँपा देता है। वह यदि बलवान होता है तो उठ सकता है, उठकर सेवा कर सकता है, सेवा कर आचार्य के पास जा सकता है, देख सकता है, उपदेश सुन सकता है, सोच सकता है, जान सकता है, काम कर सकता है, कर्मफल भोग सकता है, बल से ही यह पृथ्वी टिकी है, बल से ही आकाश, स्वर्ग, पर्वत, देव, मनुष्य, पशु, पक्षी, घास, वनस्पति, हिंसक पशु, कीड़े, जुगनू, चींटी तक के जन्तु सब स्थिर रह सकते हैं। समग्र जगत् बल से ही स्थिर रह सकता है। इसलिए 'बल' को ही ब्रह्म समझकर उसकी उपासना करो।

स यो बलं ब्रह्मेत्युपास्ते यावद्बलस्य गतं तत्रास्य यथाकामचारो भवति यो बलं ब्रह्मेत्युपास्तेऽस्ति भगवो बलाद्भूय इति बलाद्वाव भूयोऽस्तीति तन्मे भगवान्ब्रवीत्विति ॥2॥

इत्यष्टमः खण्डः ॥

"जो बल को ब्रह्म मानकर उपासना करता है, वह जहाँ तक बल की गति है, वहाँ तक अपनी इच्छा के अनुसार जा सकता है।" सनत्कुमार का यह वचन सुनकर नारद बोले—"भगवन् ! बल से कोई बड़ा है ?" सनत्कुमार बोले—"हाँ, है तो !" नारद ने कहा—"तो फिर आप मुझे उसी का उपदेश दीजिए।"

(यहाँ आठवाँ खण्ड पूरा हुआ।)

❋

नवमः खण्डः

अन्नं वाव बलाद्भूयस्तस्माद्यद्यपि दशरात्रीर्नाश्नीयाद्यद्यु ह जीवेदथवाऽद्रष्टाऽश्रोताऽमन्ताऽबोद्धाऽकर्ताऽविज्ञाता भवत्यथाऽन्नस्यायै द्रष्टा भवति श्रोता भवति मन्ता भवति बोद्धा भवति कर्ता भवति विज्ञाता भवत्यन्नमुपास्स्वेति ॥1॥

(हे नारद !) अन्न बल से बड़ा है, अतः यदि कोई दस रात तक खाए नहीं और वह जीवित रहे तो वह देख नहीं सकता, सुन नहीं सकता, सोच नहीं सकता, समझ नहीं सकता, कुछ कर नहीं सकता, कुछ भोग नहीं सकता। पर यदि अन्न प्राप्त हो तो वह देख सकता है, सुन सकता है, सोच सकता है, जान सकता है, काम कर सकता है, कर्मफल भोग सकता है। अतः अन्न की ब्रह्मभाव से उपासना करो।

स योऽन्नं ब्रह्मेत्युपास्तेऽन्नवतो वै स लोकान्पानवतोऽभिसिद्ध्यति यावदन्नस्य गतं तत्रास्य यथाकामचारो भवति योऽन्नं ब्रह्मेत्युपास्तेऽस्ति भगवोऽन्नाद्भूय इत्यन्नाद्वाव भूयोऽस्तीति तन्मे भगवान्ब्रवीत्विति ॥2॥

इति नवमः खण्डः ॥

"जो इस प्रकार अन्न की ब्रह्मभाव से उपासना करता है, वह अन्नवाले और पानवाले लोकों को प्राप्त होता है।"—सनत्कुमार का ऐसा वचन सुनकर नारद ने पूछा—"हे भगवन् ! अन्न से बड़ा कोई है ?" सनत्कुमार ने कहा—"हाँ भाई ! है ही।" तब नारद बोले—"तो आप भगवान् ! उसके बारे में ही मुझे कहिए।"

(यहाँ नौवाँ खण्ड पूरा हुआ।)

❋

दशमः खण्डः

आपो वावान्नाद्भूयस्तस्माद्यदा सुवृष्टिर्न भवति व्याधीयन्ते प्राणा अन्नं कनीयो भविष्यतीत्यथ यदा सुवृष्टिर्भवत्यानन्दिनः प्राणा भवन्त्यन्नं बहु भविष्यतीत्याप एवेमा मूर्ता येयं पृथिवी यदन्तरिक्षं यद् द्यौर्यत्पर्वता यद्देवमनुष्या यत्पशवश्च वयांसि च तृणवनस्पतयः श्वापदान्याकीटपतङ्गपिपीलकमाप एवेमा मूर्ता अप उपास्स्वेति ॥1॥

(हे नारद !) जल अन्न से बड़ा है। अतः जब अच्छी वर्षा नहीं होती तब 'अन्न कम होगा'—ऐसा समझ कर प्राण व्यथित होने लगते हैं, और जब वर्षा अच्छी होती है, तब 'बहुत अन्न होगा'—ऐसा समझकर प्राण आनन्दित हो जाते हैं। जल ही विविध मूर्त रूप धारण करके पृथ्वी, आकाश, स्वर्ग, पर्वत, देव, मनुष्य, पशु, पक्षी, घास, वनस्पति, हिंसक पशु, कीड़े, जुगनू और चींटी तक के जन्तु बनता है। इसलिए जल को ही ब्रह्म समझकर उसकी उपासना करो।

स योऽपो ब्रह्मेत्युपास्त आप्नोति सर्वान्कामांस्तृप्तिमान्भवति यावदपां गतं तत्रास्य यथाकामचारो भवति योऽपो ब्रह्मेत्युपास्तेऽस्ति भगवोऽद्भ्यो भूय इत्यद्भ्यो वा भूयोऽस्तीति तन्मे भगवान्ब्रवीत्विति ॥2॥

इति दशमः खण्डः ॥

"जो पुरुष जल की ब्रह्मभाव से उपासना करता है वह सभी इच्छाओं को प्राप्त करता है। और तृप्त हो जाता है।" सनत्कुमार का यह वचन सुनकर नारद बोले—"भगवन् ! जल से बड़ा कोई है क्या ?" सनत्कुमार ने कहा—"हाँ भाई ! है तो सही।" तब नारद बोले—"हे भगवन् ! आप मुझे उसी का उपदेश दीजिए।"

(यहाँ दसवाँ खण्ड पूरा हुआ।)

❋

एकादशः खण्डः

तेजो वावाद्भ्यो भूयस्तद्वा एतद्वायुमागृह्याकाशमभितपति तदाहुर्निशोचति नितपति वर्षिष्यति वा इति तेज एव तत्पूर्वं दर्शयित्वाऽथापः सृजते तदेतदूर्ध्वाभिश्च तिरश्चीभिश्च विद्युद्भिराह्रादाश्चरन्ति तस्मादाहुर्विद्योतते

स्तनयति वर्षिष्यति वा इति तेज एव तत्पूर्वं दर्शयित्वाऽथापः सृजते तेज उपास्स्वेति ॥1॥

(हे नारद !) तेज जल से बड़ा है। यह तेज ही वायु को निगृहीत करके (निश्चल बनाकर) आकाश को सर्वतः तपाता है। इसीलिए लोग कहते हैं कि गरमी होती है, बड़ा ताप होता है, बरसात आएगी। तेज ही पहले अपने आपको दिखाकर बाद में जल को उत्पन्न करता है। ऊँची-सीधी और बाँकी विद्युत् के साथ गड़गड़ाहट होती है। इससे लोग कहते हैं कि बिजली चमकती है, गड़गड़ाहट होती है, वर्षा होगी ऐसा लगता है। तेज पहले अपने आपको बताकर बाद में जल को उत्पन्न करता है। अतः तेज की उपासना करो।

स यस्तेजो ब्रह्मेत्युपास्ते तेजस्वी वै स तेजस्वतो लोकान्भास्वतोऽपहततमस्कानभिसिध्यति यावत्तेजसो गतं तत्रास्य यथाकामचारो भवति यस्तेजो ब्रह्मेत्युपास्तेऽस्ति भगवस्तेजसो भूय इति तेजसो वाव भूयोऽस्तीति तन्मे भगवान्ब्रवीत्विति ॥2॥

इत्येकादशः खण्डः ॥

"जो तेज की ब्रह्मबुद्धि से उपासना करता है वह तेजस्वी होकर तेजवाले और अन्धकार के दूर करनेवाले लोकों को प्राप्त करता है। और जहाँ तक तेज की गति है, वहाँ तक अपनी इच्छानुसार विचरण कर सकता है।" सनत्कुमार के ऐसा कहने पर पर नारद ने पूछा—"भगवन्! तेज से बड़ा कोई है क्या ?" तब सनत्कुमार ने कहा—"हाँ भाई, है न ?" तब नारद ने कहा—"तो इसी का आप भगवान्! मुझे उपदेश दीजिए।"

(यहाँ ग्यारहवाँ खण्ड पूरा हुआ।)

❈

द्वादशः खण्डः

आकाशो वाव तेजसो भूयानाकाशे वै सूर्याचन्द्रमसावुभौ विद्युन्नक्षत्राण्यग्निराकाशेनाह्वयत्याकाशेन शृणोत्याकाशेन प्रतिशृणोत्याकाशे रमत आकाशे न रमत आकाशे जायत आकाशमभिजायत आकाशमुपास्स्वेति ॥1॥

(हे नारद !) आकाश तेज से बड़ा है। सूर्य-चन्द्र दोनों तथा अग्नि, नक्षत्र और विद्युत्—ये सब आकाश में ही रहते हैं। आकाश है, इसीलिए किसी को बुलाया जा सकता है। आकाश है, इसीलिए सुना जा सकता है। आकाश में ही एक-दूसरे के साथ क्रीड़ा की जा सकती है। और आकाश में ही मनुष्य क्रीड़ा नहीं करता (दुःख सहन करता है)। प्राणी आकाश में ही जन्मता है, आकाश में ही बढ़ता है, इसलिए आकाश की ही ब्रह्मभाव से उपासना करो।

स य आकाशं ब्रह्मेत्युपास्त आकाशवतो वै स लोकान्प्रकाशवतोऽसम्बाधानुरुगायवतोऽभिसिध्यति यावदाकाशस्य गतं तत्रास्य यथाकामचारो भवति य आकाशं ब्रह्मेत्युपास्तेऽस्ति भगव आकाशाद्भूय इत्याकाशाद्वाव भूयोऽस्तीति तन्मे भगवान्ब्रवीत्विति ॥2॥

इति द्वादशः खण्डः ॥

"जो कोई आकाश की ब्रह्मभाव से उपासना करता है, वह आकाश जैसे विस्तृत, प्रकाशवान और किसी भी प्रकार की बाधा न हो, ऐसे लोकों को प्राप्त करता है। और जहाँ तक आकाश की गति है, वहाँ तक वह अपनी इच्छानुसार विचरण कर सकता है।" सनत्कुमार के ऐसा कहने पर नारद ने पूछा—"आकाश से बड़ा कोई तत्त्व है क्या ?" तब सनत्कुमार ने कहा—"हाँ भाई, है तो।" तब नारद बोले—"तो भगवन् ? उसी को आप मुझे बताइये।

(यहाँ बारहवाँ खण्ड पूर्ण हुआ।)

❈

त्रयोदशः खण्डः

स्मरो वावाकाशाद्भूयस्तस्माद्यद्यपि बहव आसीरन्न स्मरन्तो नैव ते कंचन शृणयुर्न मन्वीरन्न विजानीरन् यदा वाव ते स्मरेयुरथ शृणुयुरथ मन्वीरन्नथ विजानीरन् स्मरेण वै पुत्रान्विजानाति स्मरेण पशून् स्मरमुपास्स्वेति ॥1॥

(हे नारद !) स्मरण आकाश से भी बड़ा है। क्योंकि यदि बहुत से मानव उपस्थित हों और वे कुछ याद न कर सकते हों, तो वे न कुछ सुन सकते हैं, न सोच ही सकते हैं। वे कुछ जान ही नहीं सकते। परन्तु, यदि वे स्मरण कर सकते हैं, तब एक-दूसरे को सुन सकते हैं, सोच सकते हैं, जान सकते हैं। स्मरण से ही पुत्रों को और पशु आदि को जाना जा सकता है। इसलिए स्मरण की ब्रह्मरूप से उपासना करो।

स यः स्मरं ब्रह्मेत्युपास्ते यावत्स्मरस्य गतं तत्रास्य यथाकामचारो भवति यः स्मरं ब्रह्मेत्युपास्तेऽस्ति भगवः स्मराद्भूय इति स्मराद्वाव भूयोऽस्तीति तन्मे भगवान्ब्रवीत्विति ॥2॥

इति त्रयोदशः खण्डः ॥

"जो स्मरण की ब्रह्मबुद्धि से उपासना करता है, वह जहाँ तक स्मरण की गति है, वहाँ तक अपनी इच्छा के अनुसार रह सकता है।" सनत्कुमार के ऐसा कहने पर नारद ने पूछा—"भगवन्! स्मरण से भी कोई बड़ा है क्या ?" सनत्कुमार बोले—"हाँ है तो।" तब नारद बोले— "तो भगवन्! मुझे इसका उपदेश दीजिए।"

(यहाँ तेरहवाँ खण्ड पूरा हुआ।)

❈

चतुर्दशः खण्डः

आशा वाव स्मराद्भूयस्याशेद्धो वै स्मरो मन्त्रानधीते कर्माणि कुरुते पुत्रांश्च पशूंश्चेच्छत इमं च लोकममुं चेच्छत आशामुपास्स्वेति ॥1॥

(हे नारद !) आशा स्मरण से बड़ी है। आशा से वर्धित स्मरण ही मंत्रों को पढ़ता है, कर्म करता है, पुत्रों को और पशुओं की इच्छा करता है। इस लोक की और परलोक की इच्छा करता है। इसलिए आशा की ब्रह्मभाव से उपासना करो।

स य आशां ब्रह्मेत्युपास्त आशयास्य सर्वे कामाः समृद्धन्त्यमोघा हास्याशिषो भवन्ति यावदाशाया गतं तत्रास्य यथाकामचारो भवति य आशां

ब्रह्मेत्युपास्तेऽस्ति भगव आशाया भूय इत्याशाया वाव भूयोऽस्तीति तन्मे भगवान्ब्रवीत्विति ॥2॥

इति चतुर्दशः खण्डः ॥

"जो आशा की ब्रह्मभाव से उपासना करता है, तो इस आशा से उसकी सभी कामनाएँ समृद्ध होती हैं। उसकी दी हुई आशिषें सफल होती हैं। जहाँ तक आशा की गति हैं, वहाँ तक वह अपनी इच्छानुसार रह सकता है"। सनत्कुमार के ऐसा कहने पर नारद ने पूछा—"भगवन्! आशा से भी बड़ा पदार्थ कोई है क्या ?" सनत्कुमार ने कहा—"हाँ, है ही।" तब नारद बोले—"हे भगवन्। तब उसी को आप मुझे कहिए।"

(यहाँ चौदहवाँ खण्ड पूरा हुआ।)

❋

पञ्चदशः खण्डः

प्राणो वा आशाया भूयान्यथा वा अरा नाभौ समर्पिता एवमस्मिन् प्राणे सर्वꣳ समर्पितं प्राणः प्राणेन याति प्राणः प्राणं ददाति प्राणाय ददाति प्राणो ह पिता प्राणो माता प्राणो भ्राता प्राणः स्वसा प्राण आचार्यः प्राणो ब्राह्मणः ॥1॥

(हे नारद!) प्राण ही आशा से बड़ा है। जिस तरह रथ के पहियों की नाभि में आरे लगे हुए होते हैं, इसी प्रकार इस प्राण में सारा जगत् अनुस्यूत हुआ है (आधारित रहता है)। प्राण अपनी शक्ति से ही चलता है, प्राण ही प्राण को देता है, प्राण के लिए देता है। प्राण ही पिता, माता, भाई, बहन, आचार्य और ब्राह्मण है।

स यदि पितरं वा मातरं वा भ्रातरं वा स्वसारं वाचार्यं वा ब्राह्मणं वा किंचिद् भृशमिव प्रत्याह धिक्त्वाऽस्त्वित्येवैनमाहुः। पितृहा वै त्वमसि मातृहा वै त्वमसि भ्रातृहा वै त्वमसि स्वसृहा वै त्वमस्याचार्यहा वै त्वमसि ब्राह्मणहा वै त्वमसीति ॥2॥

यदि कोई पिता, माता, भाई, बहन, आचार्य या ब्राह्मण को न कहने योग्य कुछ बात कहे, तो उसके आसपास के लोग 'तुझे धिक्कार है'—ऐसा ही कहेंगे। और कहेंगे कि "तू तो पितृघाती, मातृघाती, भ्रातृघाती, बहन का हत्यारा, या आचार्य का घातक है।"

अथ यद्यप्येनानुत्क्रान्तप्राणान् शूलेन समासं व्यतिषं दहेत्रैवैनं ब्रूयुः पितृहासीति न मातृहासीति न भ्रातृहासीति न स्वसृहासीति नाचार्यहासीति न ब्राह्मणहासीति ॥3॥

परन्तु वही पुरुष मरे हुए (प्राण निकले हुए) पिता आदि को शूल से एकत्रित करके अर्थात् सँड़से से इकट्ठा करके अग्नि में जला देता है, तो कोई भी उसे पितृघातक, मातृघातक, बन्धुघातक, भगिनीघातक, आचार्यघातक या ब्राह्मणघातक नहीं कहता।

प्राणो ह्येवैतानि सर्वाणि भवति स वा एष एवं पश्यन्नेवं मन्वान एवं विजानन्नतिवादी भवति तं चेद्ब्रूयुरतिवाद्यसीत्यतिवाद्यस्मीति ब्रूयान्नापह्नुवीत ॥4॥

इति पञ्चदशः खण्डः ॥

इसीलिए ये सब (माता-पिता आदि) प्राण के ही रूप हैं। प्राण को समझनेवाला मनुष्य ऐसा अनुभव करके, सोच-समझ करके, मन में निश्चय करके कह देता है कि "मैं ही प्राण हूँ।" अगर कोई उसे कहे कि "तुम तो ज्यादा बोल देते हो—तुम अतिवादी हो" तो उसे कहना चाहिए कि—"हाँ, मैं वास्तव में अतिवादी हूँ।" उसे इस तथ्य को स्वीकार कर लेना चाहिए।

(यहाँ पंद्रहवाँ खण्ड पूरा हुआ।)

❋

षोडशः खण्डः

एष तु वा अतिवदति यः सत्येनातिवदति सोऽहं भगवः सत्येनातिवदानीति सत्यं त्वेव विजिज्ञासितव्यमिति सत्यं भगवो विजिज्ञास इति ॥1॥

इति षोडशः खण्डः ॥

"जो सत्य के लिए (पारमार्थिक सत्य के लिए, आत्म विज्ञान के लिए) अतिवाद करता है वही सच्चा अतिवाद करता है अर्थात् निर्भयता से निश्चयपूर्वक बोल देता है।" ऐसा सनत्कुमार ने कहा। तब नारद बोले—"भगवन्! मैं भी इस आत्मविज्ञान के लिए ही अतिवाद करता हूँ।" तब सनत्कुमार बोले—"पहले तो आत्मविज्ञान का वह सत्य ही समझ लेना चाहिए।" तब नारद बोले—"भगवन्! मैं उस सत्य को समझना चाहता हूँ।"

(यहाँ सोलहवाँ खण्ड पूरा हुआ।)

सप्तदशः खण्डः

यदा वै विजानात्यथ सत्यं वदति नाविजानन् सत्यं वदति विजानन्नेव सत्यं वदति विज्ञानं त्वेव विजिज्ञासितव्यमिति विज्ञानं भगवो विजिज्ञास इति ॥1॥

इति सप्तदशः खण्डः ॥

(हे नारद!) जब सत्य को अच्छी तरह से समझ लिया जाता है, तभी सत्य बोला जाता है। अच्छी तरह से सत्य को नहीं जानने वाला सत्य नहीं बोल सकता। सत्य को अच्छी तरह जाननेवाला ही सत्य बोलता है। सत्य के विशेषज्ञान को ही जानने की इच्छा करनी चाहिए है। तब नारद बोले—"भगवन्! उस विशेषज्ञान को जानने की मैं इच्छा करता हूँ।

(यहाँ सत्रहवाँ खण्ड पूरा हुआ।)

अष्टादशः खण्डः

यदा वै मनुतेऽथ विजानाति नामत्वा विजानाति मत्वैव विजानाति मतिस्त्वेव विजिज्ञासितव्येति मतिं भगवो विजिज्ञास इति ॥1॥

इत्यष्टादशः खण्डः ॥

सनत्कुमार बोले—मनन करके (सोचकर के) ही मनुष्य पदार्थ को ठीक-ठाक समझ सकता है। बिना सोचे वस्तु समझी नहीं जा सकती। मति (मनन - विचार) की ही जिज्ञासा करनी चाहिए।" तब नारद बोले—"भगवन्! मैं उस मति को (मनन-विचार को) जानने की जिज्ञासा करता हूँ।"

(यहाँ अठारहवाँ खण्ड पूरा हुआ।)

एकोनविंशः खण्डः

यदा वै श्रद्दधात्यथ मनुते नाश्रद्दधन्मनुते श्रद्दधन्नेव मनुते श्रद्धा त्वेव विजिज्ञासितव्येति श्रद्धां भगवो विजिज्ञास इति ॥1॥

इत्येकोनविंशः खण्डः ॥

"मनुष्य जब श्रद्धा करता है, तभी सोच सकता है। श्रद्धा किए बिना सोचता नहीं है। श्रद्धा करके ही सोचता है, श्रद्धा जानने की इच्छा करनी चाहिए।" सनत्कुमार का यह कथन सुनकर नारद बोले—"भगवन्! मैं श्रद्धा को जानना चाहता हूँ"।

(यहाँ उन्नीसवाँ खण्ड पूरा हुआ।)

❋

विंशः खण्डः

यदा वै निस्तिष्ठत्यथ श्रद्दधाति नानिस्तिष्ठञ्छ्रद्दधाति निस्तिष्ठन्नेव श्रद्दधाति निष्ठा त्वेव विजिज्ञासितव्येति निष्ठां भगवो विजिज्ञास इति ॥1॥

इति विंशः खण्डः ॥

"मनुष्य जब निष्ठा (एकाग्रता) रखता है, तभी श्रद्धा रख सकता है, निष्ठा के बिना श्रद्धा नहीं रख सकता। निष्ठा रखते हुए ही श्रद्धा रखता है अत: निष्ठा की जिज्ञासा करनी चाहिए।" सनत्कुमार का यह कथन सुनकर नारद बोले—"भगवन्! मैं निष्ठा जानना चाहता हूँ।"

(यहाँ बीसवाँ खण्ड पूरा हुआ।)

एकविंशः खण्डः

यदा वै करोत्यथ निस्तिष्ठति नाकृत्वा निस्तिष्ठति कृत्वैव निस्तिष्ठति कृतिस्त्वेव विजिज्ञासितव्येति कृतिं भगवो विजिज्ञास इति ॥1॥

इत्येकविंशः खण्डः ॥

"मनुष्य जब इन्द्रियसंयम और मनोनिग्रह के लिए कोई कार्य करता है, तभी वह निष्ठा (एकाग्रता) रख सकता है। इन्द्रियसंयम या मनोनिग्रह किए बिना श्रद्धा नहीं रख सकता। मनोनिग्रह और इन्द्रियसंयम करके ही श्रद्धा करता है"। सनत्कुमार के ऐसा कहने पर नारद ने कहा—"भगवन्! मैं इन्द्रियों और मन के निग्रह को जानना चाहता हूँ।"

(यहाँ इक्कीसवाँ खण्ड पूरा हुआ।)

❋

द्वाविंशः खण्डः

यदा वै सुखं लभतेऽथ करोति नासुखं लब्ध्वा करोति सुखमेव लब्ध्वा करोति सुखं त्वेव विजिज्ञासितव्यमिति सुखं भगवो विजिज्ञास इति ॥1॥

इति द्वाविंशः खण्डः ॥

"जब मनुष्य सुख प्राप्त करता है, तभी क्रिया करता है। सुख को प्राप्त किए बिना क्रिया नहीं की जाती। सुख प्राप्त किए जाने से ही मनुष्य क्रिया करता है। इसलिए सुख की जिज्ञासा करनी चाहिए।" सनत्कुमार का यह कथन सुनकर नारद ने कहा—"भगवन्! मैं सुख को जानना चाहता हूँ।"

(यहाँ बाईसवाँ खण्ड पूरा हुआ।)

त्रयोविंशः खण्डः

यो वै भूमा तत्सुखं नाल्पे सुखमस्ति भूमैव सुखं भूमा त्वेव विजिज्ञासितव्य इति भूमानं भगवो विजिज्ञास इति ॥1॥

इति त्रयोविंशः खंण्डः ॥

सनत्कुमार ने कहा—"जो भूमा है (विशालता है) वही सुख है, अल्प में (कम में या संकुचितता में) सुख नहीं है इसलिए भूमा को (विशालता को) समझना चाहिए।" तब नारद बोले—"हे भगवन्! मैं विशालता को समझना चाहता हूँ।"

(यहाँ तेईसवाँ खण्ड पूरा हुआ।)

❋

चतुर्विंशः खण्डः

यत्र नान्यत्पश्यति नान्यच्छृणोति नान्यद्विजानाति स भूमाऽथ यत्रान्यत्पश्यत्यन्यच्छृणोत्यन्यद्विजानाति तदल्पं यो वै भूमा तदमृतमथ यदल्पं तन्मर्त्यꣳ स भगवः कस्मिन्प्रतिष्ठित इति स्वे महिम्नि यदि वा न महिम्नीति ॥1॥

सनत्कुमार बोले—"जब मनुष्य किसी को अपने से अलग नहीं देखता, अलग नहीं सुनता, अलग नहीं जानता, वही भूमा (वही विशालता) है। जब मनुष्य दूसरे को अपने से अलग देखता है, अलग सुनता है, अलग समझता है, वही अल्पता है (संकुचितता है)। जो भूमा है वह अमृत है और जो अल्प है वह मर्त्य (विनाशी) है।" तब नारद बोले—"हे भगवन्! वह भूमा किसमें प्रतिष्ठित है?" सनत्कुमार ने कहा—वह अपनी महिमा में ही प्रतिष्ठित है, अथवा यों कहें कि वह अपनी महिमा में भी नहीं रहता। अर्थात् वह किसी पर भी आधारित नहीं है।

गोअश्वमिह महिमेत्याचक्षते हस्तिहिरण्यं दासभार्यं क्षेत्राण्यायतनानीति नाहमेवं ब्रवीमि ब्रवीमीति होवाचान्यो ह्यन्यस्मिन्प्रतिष्ठित इति ॥2॥

इति चतुर्विंशः खण्डः ॥

इस जगत् में कुछ लोग गायों को और घोड़ों को 'महिमा' कहते हैं। हाथी, सोना, दास-दासियाँ, स्त्रियाँ, खेतीबाड़ी, घर इत्यादि को भी कुछ लोग 'महिमा' मानते हैं, पर मैं ऐसा नहीं कहता। मैं तो कहता हूँ कि ये बताए गए पदार्थ अन्य में अर्थात् भूमा में ही प्रतिष्ठित हैं, भूमा किसी में प्रतिष्ठित नहीं है।

(यहाँ चौबीसवाँ खण्ड पूरा हुआ।)

❈

पञ्चविंशः खण्डः

स एवाधस्तात्स उपरिष्टात्स पश्चात्स पुरस्तात्स दक्षिणतः स उत्तरतः स एवेदꣳसर्वमित्यथातोऽहङ्कारादेश एवाहमेवाधस्तादहमुपरिष्टादहं पश्चादहं पुरस्तादहं दक्षिणतोऽहमुत्तरतोऽहमेवेदꣳ सर्वमिति ॥1॥

"वह भूमा ही नीचे, ऊपर, आगे, पीछे, दाहिनी ओर, बाईं ओर—सब जगह पर है। वही यह सब कुछ है। अब इसके साथ अपना ऐक्य बताने के लिए 'मैं' के रूप में (अहंकार के रूप में) आदेश किया जाता है कि मुझसे अन्य कुछ है ही नहीं। मैं ही नीचे, ऊपर, आगे, पीछे, दाहिनी ओर, बाईं ओर—जब जगह पर हूँ। मैं ही सब कुछ हूँ।"

अथात आत्मादेश एवात्मैवाधस्तादात्मोपरिष्टादात्मा पश्चादात्मा पुरस्तादात्मा दक्षिणत आत्मोत्तरत आत्मैवेदꣳ सर्वमिति स वा एष एवं पश्यन्नेवं मन्वान एवं विजानन्नात्मरतिरात्मक्रीड आत्ममिथुन आत्मानन्दः स स्वराट् भवति तस्य सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति। अथ येऽन्यथाऽतो विदुरन्यराजानस्ते क्षय्यलोका भवन्ति तेषाꣳ सर्वेषु लोकेष्वकामचारो भवति ॥2॥

इति पञ्चविंशः खण्डः ॥

अब आत्मरूप से ही भूमा का आदेश किया जा रहा है। आत्मा ही नीचे, ऊपर, आगे, पीछे, दाईं ओर, बाईं ओर है—यह सब कुछ आत्मा ही है। कोई भी मनुष्य यदि ऐसा देखता है, सोचता है, समझता है, वह आत्मा में ही आनन्द मानता है, आत्मा के साथ ही खेलता है, आत्मा ही उसका आनन्द है। वह स्वराट् (स्वयं का राजा) होता है, वह लोक में स्वेच्छाविचरण कर सकता है। पर जो आत्मा को निर्दिष्ट प्रकार से अन्यथा समझता है वह अन्यों के अधीन रहता है, वह विनाशी लोकों में जाता है, किसी भी लोक में वह अपनी इच्छानुसार जा नहीं सकता।

(यहाँ पच्चीसवाँ खण्ड पूरा हुआ।)

❈

षड्विंशः खण्डः

तस्य ह वा एतस्यैवं पश्यत एवं मन्वानस्यैवं विजानत आत्मतः प्राण आत्मत आशाऽऽत्मतः स्मर आत्मत आकाश आत्मतस्तेज आत्मत आप आत्मत आविर्भावतिरोभावावात्मतोऽन्नमात्मतो बलमात्मतो विज्ञानमात्मतो ध्यानमात्मतश्चित्तमात्मतः संकल्प आत्मतो मन आत्मतो वागात्मतो नामात्मतो मन्त्रा आत्मतः कर्माण्यात्मत एवेदꣳ सर्वमिति ॥1॥

इस तरह से देखनेवाले, सोचनेवाले, समझनेवाले के आत्मा से प्राण उत्पन्न होता है, आत्मा से आशा, आत्मा से स्मरण, आत्मा से आकाश, आत्मा से तेज, आत्मा से जल, आत्मा से उत्पत्ति और नाश, आत्मा से अन्न, आत्मा से बल, आत्मा से विज्ञान, आत्मा से ध्यान, आत्मा से चित्त, आत्मा से संकल्प, आत्मा से मन, आत्मा से वाणी, आत्मा से नाम, आत्मा से मंत्र, आत्मा से कर्म जन्मते हैं। अतः आत्मा ही यह सब कुछ है।

तदेष श्लोको न पश्यो मृत्युं पश्यति न रोगं नोत दुःखताꣳ सर्वꣳ ह पश्यः पश्यति सर्वमाप्नोति सर्वश इति। स एकधा भवति त्रिधा भवति पञ्चधा सप्तधा नवधा चैव पुनश्चैकादशः स्मृतः। शतं च दश चैकश्च सहस्त्राणि च विꣳशतिराहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिः सत्त्वशुद्धौ ध्रुवा स्मृतिः स्मृतिलम्भे सर्वग्रन्थीनां विप्रमोक्षस्तस्मै मृदितकषायाय तमसस्पारं दर्शयति भगवान् सनत्कुमारस्तꣳ स्कन्द इत्याचक्षते तꣳ स्कन्द इत्याचक्षते ॥2॥

इति षड्विंशः खण्डः ॥

इति छान्दोग्योपनिषदि सप्तमोऽध्यायः ॥7॥

इस विषय में यह मन्त्र है—"ऐसा ज्ञानी मनुष्य मरण, रोग या दुःख को नहीं देखता। ज्ञानी सबको आत्मस्वरूप ही देखता है। अतः वह सबको प्राप्त कर लेता है। आत्मा एक, तीन, पाँच, सात, नौ और ग्यारह प्रकार का हो जाता है और एक सौ दस और इक्कीस हजार प्रकार का होता है। आहार की शुद्धि से अन्तःकरण की शुद्धि होती है। अन्तःकरण की शुद्धि से निश्चल स्मृति उत्पन्न होती है। उस स्मृति से सब बन्धन छूट जाते हैं। जिसके रागद्वेष नष्ट हुए हैं ऐसे नारद को भगवान् सनत्कुमार ने ऐसे अज्ञान को दूर करने का मार्ग बताया। भगवान् सनत्कुमार को स्कन्द कहते हैं।

(यहाँ छब्बीसवाँ खण्ड पूरा हुआ।)

यहाँ छान्दोग्योपनिषद् में सातवाँ अध्याय समाप्त हुआ।

❈

अथाष्टमोऽध्यायः

प्रथमः खण्डः

ॐ अथ यदिदमस्मिन्ब्रह्मपुरे दहरं पुण्डरीकं वेश्म दहरोऽस्मिन्नन्तराकाशस्तस्मिन्यदन्तस्तदन्वेष्टव्यं तद्वाव विजिज्ञासितव्यमिति ॥1॥

ॐ अब इस ब्रह्मपुर (शरीर) में जो यह सूक्ष्म कमल जैसा स्थान है, उसमें जो सूक्ष्म अंतर जैसा आकाश है, उसके भी भीतर जो वस्तु है, उसकी खोज करनी चाहिए और उसी की जिज्ञासा करनी चाहिए।

तं चेद्ब्रूयुर्यदिदमस्मिन्ब्रह्मपुरे दहरं पुण्डरीकं वेश्म दहरोऽस्मिन्नन्तराकाशः किं तदत्र विद्यते यदन्वेष्टव्यं यद्वाव विजिज्ञासितव्यमिति स ब्रूयात् ॥2॥

उन गुरु से यदि शिष्य पूछे कि—इस ब्रह्मपुर (शरीर) में जो सूक्ष्म कमल जैसा घर है, इसमें सूक्ष्म अंतराकाश है, इसमें कौन-सी वह वस्तु है कि जिसकी खोज करनी चाहिए और जिसकी जिज्ञासा करनी चाहिए? तो आचार्य को उसे इस प्रकार कहना चाहिए।

यावान्वा अयमाकाशस्तावानेषोऽन्तर्हृदय आकाश उभे अस्मिन् द्यावापृथिवी अन्तरेव समाहिते उभावग्निश्च वायुश्च सूर्याचन्द्रमसावुभौ विद्युन्नक्षत्राणि यच्चास्येहास्ति यच्च नास्ति सर्वं तदस्मिन्समाहितमिति ॥3॥

जितना यह बाहर का आकाश है, इतना ही यह हृदय के भीतर का आकाश है। द्युलोक और पृथ्वी (दोनों) इसके भीतर ही अच्छी तरह से अवस्थित है। अग्नि और वायु—दोनों तथा सूर्य और चन्द्र—ये दोनों एवं विद्युत्, नक्षत्र (सब कुछ) जो इस आत्मा का है या जो कुछ नहीं है, वह सब भी इस अन्तरात्मा में समा जाता है।

तं चेद्ब्रूयुरस्मिꣳश्चेदिदं ब्रह्मपुरे सर्वꣳ समाहितꣳ सर्वाणि च भूतानि सर्वे च कामा यदैनज्जरामाप्नोति प्रध्वꣳसते वा किं ततोऽतिशिष्यत इति ॥4॥

उन आचार्य से यदि शिष्य ऐसा पूछे कि—"इस ब्रह्मपुर (शरीर) में जो यह सब कुछ अर्थात् सब प्राणी और सभी कामनाएँ अवस्थित हैं, तो जब यह ब्रह्मपुर नामक शरीर वृद्ध होता है तब, अथवा नष्ट होता है तब, उसमें से क्या शेष रह जाता है?"

स ब्रूयान्नास्य जरयैतज्जीर्यति न वधेनास्य हन्यत एतत्सत्यं ब्रह्मपुरमस्मिन्कामाः समाहिता एष आत्मापहतपाप्मा विजरो विमृत्युर्विशोको विजिघत्सोऽपिपासः सत्यकामः सत्यसंकल्पो यथा ह्येवेह प्रजा अन्वाविशन्ति यथानुशासनं यं यमन्तमभिकामा भवन्ति यं जनपदं यं क्षेत्रभागं तं तमेवोपजीवन्ति ॥5॥

तब आचार्य कहे कि—"इस देह के वृद्धत्व से वह आकाशनामक ब्रह्मपुर जीर्ण नहीं होता, इस देह के वध से वह (ब्रह्मपुर) नष्ट नहीं होता। यह ब्रह्मपुर सत्य है, इसमें कामनाएँ सुव्यवस्थित रहती हैं। यह आत्मा पापशून्य, जरारहित, मृत्युरहित, शोकरहित, बुभुक्षारहित, पिपासारहित, सत्य कामनावाला, सत्य संकल्पवाला है। जिस प्रकार इस लोक में प्रजा अपने राजा की आज्ञानुसार व्यवहार करती

है तब वह अपने जिस जनपद की या क्षेत्र की कामना करती है, वह उसे मिलता है। और उसमें रहकर वह जीवन धारण करती है (इसी तरह ब्रह्मपुर में सभी इच्छाएँ समा जाती हैं।)

तद्यथेह कर्मजितो लोकः क्षीयत एवमेवामुत्र पुण्यजितो लोकः क्षीयते तद्य इहात्मानमननुविद्य व्रजन्त्येताꣳश्च सत्यान् कामाꣳस्तेषाꣳ सर्वेषु लोकेष्वकामचारो भवत्यथ य इहात्मानमनुविद्य व्रजन्त्येताꣳश्च सत्यान् कामाꣳस्तेषाꣳ सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति ॥6॥

इति प्रथमः खण्डः ॥

जिस प्रकार यहाँ (इस लोक में) कर्म द्वारा प्राप्त लोक क्षीण हो जाता है, वैसे ही परलोक में पुण्यों से उपार्जित लोक भी क्षीण हो जाता है। इसलिए इस लोक में जो मनुष्य आत्मा को और सत्य (वास्तविक) कामनाओं को बिना जाने ही परलोक में चले जाते हैं, उनकी सभी लोकों में यथेच्छ गति नहीं होती। और जो लोग इस लोक में आत्मा को और वास्तविक कामनाओं को जानकर ही परलोकगमन करते हैं, उनकी सभी लोकों में यथेच्छ गति होती है।

(यहाँ पहला खण्ड पूरा हुआ)

❋

द्वितीयः खण्डः

स यदि पितृलोककामो भवति संकल्पादेवास्य पितरः समुत्तिष्ठन्ति तेन पितृलोकेन सम्पन्नो महीयते ॥1॥

उस आत्मसाक्षात्कारी को यदि पितृलोक देखने की इच्छा हुई हो, तो पितृलोग उसके सोचते ही उससे आ मिलते हैं और पितरों को प्राप्त करके वह सुखी होता है।

अथ यदि मातृलोककामो भवति संकल्पादेवास्य मातरः समुत्तिष्ठन्ति तेन मातृलोकेन सम्पन्नो महीयते ॥2॥

वह ज्ञानी यदि मातृलोक को देखने की इच्छा करता है, तो उसके संकल्पमात्र से माताएँ उससे आ मिलती हैं और माताओं को प्राप्त करके वह सुखी होता है।

अथ यदि भ्रातृलोककामो भवति संकल्पादेवास्य भ्रातरः समुत्तिष्ठन्ति तेन भ्रातृलोकेन सम्पन्नो महीयते ॥3॥

यदि वह ज्ञानी भ्रातृलोक को देखने की इच्छा करता है तो संकल्पमात्र से ही भाईलोग उससे आ मिलते हैं और इस तरह भ्रातृलोक को प्राप्त करके वह सुखी होता है।

अथ यदि स्वसृलोककामो भवति संकल्पादेवास्य स्वसारः समुत्तिष्ठन्ति तेन स्वसृलोकेन सम्पन्नो महीयते ॥4॥

यदि वह भगिनीलोक को देखने की इच्छा रखता हो, तो संकल्पमात्र से ही बहनें उससे आ मिलती हैं, इस तरह भगिनियों से मिलकर वह आनन्दित होता है।

अथ यदि सखिलोककामो भवति संकल्पादेवास्य सखायः समुत्तिष्ठन्ति तेन सखिलोकेन सम्पन्नो महीयते ॥5॥

वह ज्ञानी यदि मित्रलोक को देखने की इच्छा करता है, तो उसके संकल्पमात्र से ही मित्र उससे आ मिलते हैं, और इस तरह मित्रों से मिलकर वह आनन्दित होता है।

अथ यदि गन्धमाल्यलोककामो भवति संकल्पादेवास्य गन्धमाल्ये समुत्तिष्ठतस्तेन गन्धमाल्यलोकेन सम्पन्नो महीयते ॥6॥

उस आत्मज्ञानी को यदि सुगन्ध और पुष्पमालाओं की कामना होती है, तो उसके संकल्पमात्र से ही वे दोनों उससे आ मिलते हैं और इस तरह सुगन्ध और पुष्पलताएँ पाकर वह आनन्दित होता है।

अथ यद्यन्नपानलोककामो भवति संकल्पादेवास्यान्नपाने समुत्तिष्ठत-स्तेनान्नपानलोकेन सम्पन्नो महीयते ॥7॥

वह ज्ञानी यदि अन्न और पान की कामना करता है, तो संकल्पमात्र से ही उसे खाना-पीना आ मिलता है और इस तरह खाने-पीने को पाकर वह आनन्द करता है।

अथ यदि गीतवादित्रलोककामो भवति संकल्पादेवास्य गीतवादित्रे समुत्तिष्ठतस्तेन गीतवादित्रलोकेन सम्पन्नो महीयते ॥8॥

यदि वह गीत और वाद्य की कामना करता है, तो संकल्पमात्र से ही गीत और वाद्य उससे आ मिलते हैं। इस तरह गीत और वाद्य की प्राप्ति होने से वह आनन्द करता है।

अथ यदि स्त्रीलोककामो भवति संकल्पादेवास्य स्त्रियः समुत्तिष्ठन्ति तेन स्त्रीलोकेन सम्पन्नो महीयते ॥9॥

वह ज्ञानी यदि स्त्री-लोक की कामना करता है, तो संकल्पमात्र से ही उससे स्त्रियाँ आ मिलती हैं। इस तरह स्त्रियों को प्राप्त कर वह आनन्दित होता है।

यं यमन्तमभिकामो भवति यं कामं कामयते सोऽस्य संकल्पादेव समुत्तिष्ठति तेन सम्पन्नो महीयते ॥10॥

इति द्वितीयः खण्डः ॥

वह ज्ञानी जिस-जिस लोक की कामना करता है, जिस-जिस वस्तु की कामना करता है, वह सब उसे संकल्पमात्र से ही आ मिलता है। इस तरह उस-उससे मिलकर वह आनन्दित होता है।

(यहाँ दूसरा खण्ड पूरा हुआ।)

❋

तृतीयः खण्डः

त इमे सत्याः कामा अनृतापिधानास्तेषाः सत्यानाः सतामनृतमपिधानं यो यो ह्यस्येतः प्रैति न तमिह दर्शनाय लभते ॥1॥

वे सत्य कामनाएँ अनृत (असत्य) से ढँकी हुई हैं। उन कामनाओं के सत्य होते हुए भी उन पर असत्य (अनृत) का आवरण (ढक्कन) है। इसलिए जो-जो उसका सम्बन्धी यहाँ से चला जाता है (मर जाता है) वह इस लोक में फिर से देखने को नहीं मिलता। (अज्ञान के आवरण की वजह से ही ऐसा होता है। अज्ञान के हट जाने से आत्मा की सर्वव्यापकता प्रकाशित हो जाती है। इस अवस्था में कुछ भी अदृश्य नहीं रहता)।

अथ ये चास्येह जीवा ये च प्रेता यच्चान्यदिच्छन्न लभते सर्वं तदत्र गत्वा विन्दतेऽत्र ह्यस्यैते सत्याः कामा अनृतापिधानास्तद्यथापि हिरण्यनिधिं निहितमक्षेत्रज्ञा उपर्युपरि संचरन्तो न विन्देयुरेवमेवेमाः सर्वाः प्रजा अहरहर्गच्छन्त्य एतं ब्रह्मलोकं न विन्दन्त्यनृतेन हि प्रत्यूढाः ॥2॥

और अब वह यहाँ जिन जीवित या मरे हुए मनुष्यों (सम्बन्धियों को) को देखना चाहता है, और कुछ वस्तुओं को भी देखना चाहता है, वह कुछ उसे मिलता नहीं है। वह सब तो उसी को मिल सकता है जो अपने हृदयाकाश के आत्मा को समझता हो। क्योंकि इस जगत् में वास्तविक इच्छाएँ अनृत (असत्य) से ढँकी हुई हैं। अतः जैसे धरती में गाड़े गए सोने के खजाने वाली भूमि पर चलकर भी उससे अनजान आदमी को वह प्राप्त नहीं होता, उसी प्रकार सुषुप्ति काल में हृदयाकाश नामक ब्रह्म के स्थान में अज्ञानी लोग रोज ही आते-जाते हैं, फिर भी उस आत्मा को वे समझ नहीं पाते। क्योंकि वे सभी अनृत (असत्य) के माध्यम से हरण कर लिए गए हैं।

स वा एष आत्मा हृदि तस्यैतदेव निरुक्तः हृद्यमिति तस्माद्धृदय-महरहर्वा एवंवित्स्वर्गं लोकमेति ॥3॥

ऐसा वह आत्मा हृदय में है। इसीलिए उसे 'हृद्यम्' (हृदि+अयम्) ऐसा व्युत्पत्तिलभ्य नाम दिया गया है। इसीलिए आत्मा हृदय में है—ऐसा समझना चाहिए। ऐसा समझनेवाला मनुष्य प्रति दिन आत्मा के पास जाता है।

अथ य एष सम्प्रसादोऽस्माच्छरीरात्समुत्थाय परं ज्योतिरुपसम्पद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यत एष आत्मेति होवाचैतदमृतमभयमेतद्ब्रह्मेति तस्य ह वा एतस्य ब्रह्मणो नाम सत्यमिति ॥4॥

जो यह शुद्ध बना हुआ आत्मा है (सम्प्रसाद है), वह इस शरीर में से ममता छोड़कर परम ज्योति को प्राप्त करके अपने मूल स्वरूप में अवस्थित हो जाता है। वह आत्मा है, वह अमृत है, वह अभय है, वही ब्रह्म है—ऐसा कहा जाता है और उसी ब्रह्म का नाम 'सत्य' है।

तानि ह वा एतानि त्रीण्यक्षराणि सतीयमिति तद्यत्सत्तदमृतमथ यत्ति तन्मर्त्यमथ यद्यं तेनोभे यच्छति यदनेनोभे यच्छति तस्माद्यमहरहर्वा एवंवित्स्वर्गं लोकमेति ॥5॥

इति तृतीयः खण्डः ॥

'सत्य' (सत्+ती+यम्) ये तीन अक्षर हैं। इनमें जो 'सत्' है वह अमर है, जो 'त्' (ती) है वह नाश प्राप्त करनेवाला है और जो 'यम्' है वह पूर्व के दोनों अक्षरों को अपने वश में लाता है। इसलिए उसको 'यम्' संज्ञा दी गई है। ऐसा समझनेवाला व्यक्ति प्रतिदिन आत्मा में जाता है (अर्थात् प्रतिदिन हृदयस्थ आत्मा को प्राप्त करता है अथवा निःस्वप्न सुषुप्ति में वह प्रतिदिन आत्मानुभव करता है)।

(यहाँ तीसरा खण्ड पूरा हुआ।)

❋

चतुर्थः खण्डः

अथ य आत्मा स सेतुर्विधृतिरेषां लोकानामसम्भेदाय नैतः सेतुमहोरात्रे

**तरतः न जरा न मृत्युर्न शोको न सुकृतं न दुष्कृतः सर्वे पाप्मानोऽतो-
निवर्तन्तेऽपहतपाप्मा ह्येष ब्रह्मलोकः ॥1॥**

यह जो आत्मा है वह पृथ्वी आदि लोकों का संघर्ष (विनाश) न हो, इसलिए उनको धारण करनेवाला सेतु है। इस सेतुरूप आत्मा को रात-दिन का समय अतिक्रमण नहीं कर सकता। उसको बुढ़ापा या मरण नहीं आ सकता। उसे शोक नहीं होता, पाप-पुण्य उसे स्पर्श नहीं कर सकते। सभी पाप उसे बिना स्पर्श किए ही वापिस लौट जाते हैं क्योंकि आत्मा निष्पाप और ब्रह्मरूप है।

**तस्माद्वा एतः सेतुं तीर्त्वाऽन्धः सन्ननन्धो भवति विद्धः सन्नविद्धो भवत्यु-
पतापी सन्ननुपतापी भवति तस्माद्वा एतः सेतुं तीर्त्वापि नक्तमहरेवाभि-
निष्पद्यते सकृद्विभातो ह्येवैष ब्रह्मलोकः ॥2॥**

इसीलिए इस सेतुरूप आत्मा को पाकर अन्धा अन्धा नहीं रहता, घायल भी अच्छा हो जाता है, दुःखी भी सुखी हो जाता है, रोगी नीरोगी हो जाता है, इस आत्मा को पाकर विद्वान् के लिए रात भी दिन-सी हो जाती है। क्योंकि वह आत्मा सदैव प्रकाशमय है।

**तद्य एवैतं ब्रह्मलोकं ब्रह्मचर्येणानुविन्दन्ति तेषामेवैष ब्रह्मलोकस्तेषाः
सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति ॥3॥**

इति चतुर्थः खण्डः ॥

तो जो लोग ब्रह्मचर्य से अर्थात् शास्त्र और आचार्य के अनुशासन से इस ब्रह्मलोक को प्राप्त करते हैं, उन्हीं का यह ब्रह्मलोक है। ऐसे लोग अपनी इच्छानुसार सभी लोकों में जा सकते हैं।

(यहाँ चौथा खण्ड पूरा हुआ।)

❋

पञ्चमः खण्डः

**अथ यद्यज्ञ इत्याचक्षते ब्रह्मचर्यमेव तद् ब्रह्मचर्येण ह्येव यो ज्ञाता तं
विन्दतेऽथ यदिष्टमित्याचक्षते ब्रह्मचर्यमेव तद् ब्रह्मचर्येण ह्येवेष्ट्वात्मान-
मनुविन्दते ॥1॥**

अब जो 'यज्ञ' कहा जाता है, वह ब्रह्मचर्य ही है। क्योंकि ब्रह्मचर्य से जो आत्मा को जानता है, वह ब्रह्मलोक को प्राप्त होता है। जो 'इष्ट' कहा जाता है वह ब्रह्मचर्य ही है, क्योंकि ब्रह्मचर्य से ही आत्मा को जानने की इच्छा करके आत्मा को प्राप्त करते हैं।

**अथ यत्सत्त्रायणमित्याचक्षते ब्रह्मचर्यमेव तद्ब्रह्मचर्येण ह्येव सत आत्म-
नस्त्राणं विन्दतेऽथ यन्मौनमित्याचक्षते ब्रह्मचर्यमेव तद्ब्रह्मचर्येण
ह्येवात्मानमनुविद्य मनुते ॥2॥**

अब जो 'सत्रायण' (साधु-संन्यासियों का पोषण) कहा जाता है, वह भी ब्रह्मचर्य ही है, क्योंकि ब्रह्मचर्य से ही 'सत्' रूप आत्मा का त्राण (रक्षण) होता है। जो 'मौन' कहा जाता है, वह भी ब्रह्मचर्य ही है क्योंकि ब्रह्मचर्य से ही आत्मा को समझकर मनुष्य उसका मनन करता है।

**अथ यदनाशकायनमित्याचक्षते ब्रह्मचर्यमेव तदेष ह्यात्मा न नश्यति यं
ब्रह्मचर्येणानुविन्दतेऽथयदरण्यायनमित्याचक्षतेब्रह्मवर्यमेवतत्तदरश्च ह**

**वै ण्यश्चार्णवौ ब्रह्मलोके तृतीयस्यामितो दिवि तदैरंमदीयः सरस्तदश्वत्थः
सोमसवनस्तदपराजिता पूर्ब्रह्मणः प्रभुविमितः हिरण्यम् ॥3॥**

और जिसे 'अनाशकायन' (अनशन) कहते हैं वह भी तो ब्रह्मचर्य ही है। क्योंकि साधक जिसे ब्रह्मचर्य के द्वारा प्राप्त करता है, उस आत्मा का नाश नहीं होता। और जिसे 'अरण्यायन' कहते हैं, वह भी ब्रह्मचर्य ही है। क्योंकि उस ब्रह्मलोक में 'अर' और 'ण्य' ये दोनों प्रसिद्ध समुद्र हैं। यहाँ से तीसरे द्युलोक में वह "ऐरंमदीयम्' नाम का एक सरोवर है। वहाँ 'सोमसवन' नाम का एक अश्वत्थ (पिप्पल) का वृक्ष है। वहाँ ब्रह्मा की अपराजिता नाम की एक पुरी (नगरी) है। और वहाँ प्रभु के द्वारा बाँधा गया एक सोने का मण्डप है।

**तद्य एवैतावरं च ण्यं चार्णवौ ब्रह्मलोके ब्रह्मचर्येणानुविन्दन्ति तेषामेवैष
ब्रह्मलोकस्तेषाः सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति ॥4॥**

इति पञ्चमः खण्डः ॥

इस ब्रह्मलोक में जो लोग 'अर' और 'ण्य' नाम के दो सरोवरों को ब्रह्मचर्य के द्वारा प्राप्त करते हैं, उन्हीं का यह ब्रह्मलोक हो जाता है और सभी लोकों में उनका मुक्त आना-जाना हो जाता है।

(यहाँ पाँचवाँ खण्ड पूरा हुआ।)

❋

षष्ठः खण्डः

**अथ या एता हृदयस्य नाड्यस्ताः पिङ्गलस्याणिम्नस्तिष्ठन्ति शुक्लस्य
नीलस्य पीतस्य लोहितस्येत्यसौ वा आदित्यः पिङ्गल एष शुक्ल एष
नील एष पीत एष लोहितः ॥1॥**

जो हृदय की ये नाड़ियाँ हैं, वे पिंगल वर्ण के सूक्ष्म रसवाली हैं। वे सफेद, नीले, पीले और लोहित वर्ण के सूक्ष्म रस से युक्त हैं। सूर्य में भी पिंगल, सफेद, नीला और लाल वर्ण होते ही हैं।

**तद्यथा महापथ आतत उभौ ग्रामौ गच्छतीमं चामुं चैवमेवैता आदित्यस्य
रश्मय उभौ लोकौ गच्छन्तीमं चामुं चामुष्मादादित्यात्प्रतायन्ते ता आसु
नाडीषु सृप्ता आभ्यो नाडीभ्यः प्रतायन्ते तेऽमुष्मिन्नादित्ये सृप्ताः ॥2॥**

जैसे दो गाँवों के बीच से निकला हुआ एक बड़ा रास्ता उन दोनों गाँवों को जोड़ता है, उसी तरह सूर्य की किरणें भी सूर्यलोक को इस लोक के साथ जोड़ती हैं। सूर्य में से जो किरणें निकलती हैं, वे हृदय की इन नाडियों में समा जाती हैं और इन नाड़ियों में से जो किरणें निकलती हैं, वे सूर्य में समा जाती हैं।

**यद्यत्रैतत्सुप्तः समस्तः संप्रसन्नः स्वप्नं न विजानात्यासु तदा नाडीषु सृप्तो
भवति तन्न कश्चन पाप्मा स्पृशति तेजसा हि तदा सम्पन्नो भवति ॥3॥**

इस अवस्था में जब यह जीव सम्यक् प्रकार से निद्रा में पड़ जाता है और स्वप्न भी नहीं देखता, तब उसे कोई भी पाप स्पर्श नहीं कर सकता क्योंकि उस समय वह नाड़ियों में स्थित सूर्य के तेज के साथ मिला हुआ होता है।

अथ यत्रैतदबलिमानं नीतो भवति तमभित आसीना आहुर्जानासि मां जानासि मामिति स यावदस्माच्छरीरादनुत्क्रान्तो भवति तावज्जानाति ॥4॥

(रोग आदि से) जब मनुष्य दुर्बल हो जाता है, तब उसके आस-पास बैठे हुए सगे-सम्बन्धी उससे पूछते हैं कि—"मुझे पहचानते हो क्या ? मुझे जानते हो क्या ?" जब तक इस शरीर से जीव निकल गया नहीं होता, तब तक तो वह सभी को पहचानता है।

अथ यत्रैतदस्माच्छरीरादुत्क्रामत्यथैतैरेव रश्मिभिरूर्ध्वमाक्रमते स ओमिति वा होद्वा मीयते स यावत्क्षिप्येन्मनस्तावदादित्यं गच्छत्येतद्वै खलु लोकद्वारं विदुषां प्रपदनं निरोधोऽविदुषाम् ॥5॥

परन्तु जब जीव इस शरीर में से निकल जाता है, तब सूर्य की इन किरणों के द्वारा ही वह ऊर्ध्व की ओर जाता है और 'ओम्' बोलते हुए ऊर्ध्व गति को प्राप्त करता है अथवा अधोलोक में जाता है। जितने समय में मन पहुँचता है, उतने समय में वह आदित्यलोक (सूर्य) में जा पहुँचता है। यह सूर्य ब्रह्मलोक का प्रवेशद्वार है। उसमें विद्वान् और ज्ञानी ही प्रवेश कर सकते हैं। अज्ञानी लोग वहाँ नहीं जा सकते।

तदेष श्लोकः—
शतं चैका च हृदयस्य नाड्यस्तासां मूर्धानमभिनिः सृतैका।
तयोर्ध्वमायन्नमृतत्वमेति विष्वङ्ङन्या उत्क्रमेण भवन्त्युत्क्रमणे भवन्ति ॥6॥

इति षष्ठः खण्डः ॥

यहाँ यह श्लोक है—"हृदय में एक सौ और एक नाड़ियाँ हैं उनमें से (सुषुम्णा नाम की) एक नाड़ी मस्तक की ओर जाती है। ज्ञानी आत्मा उस नाड़ी से ऊपर आरूढ़ होकर अमरत्व को प्राप्त होता है। हृदय में से चारों ओर निकलती हुई अन्य नाड़ियाँ तो केवल शरीर से बाहर निकलने के लिए ही हैं। (अर्थात् इन नाड़ियों से यदि जीव बाहर जाता है, तो उसे मोक्ष नहीं मिलता।)

(यहाँ छठा खण्ड पूरा हुआ।)

सप्तमः खण्डः

य आत्माऽपहतपाप्मा विजरो विमृत्युर्विशोको विजिघत्सोऽपिपासः सत्यकामः सत्यसंकल्पः सोऽन्वेष्टव्यः स विजिज्ञासितव्यः स सर्वांश्च लोकानाप्नोति सर्वांश्च कामान्यस्तमात्मानमनुविद्य विजानातीति ह प्रजापतिरुवाच ॥1॥

जो यह आत्मा पापरहित, जरारहित, मृत्युरहित, शोकरहित, क्षुधापिपासारहित, सत्यकामनावाला और सत्यसंकल्पवाला है, उसे खोजना चाहिए, उसे ठीक तरह से जानने की इच्छा करनी चाहिए। कुछ लोग इस आत्मा को समझकर उसका अनुभव करते हैं, वे सभी लोकों में जा सकते हैं और उसकी सभी इच्छाएँ पूरी होती हैं—ऐसा प्रजापति ने कहा।

तद्धोभये देवाऽसुरा अनुबुबुधिरे ते होचुर्हन्त तमात्मानमन्विच्छामो यमात्मानमन्विष्य सर्वांश्च लोकानाप्नोति सर्वांश्च कामानितीन्द्रो हैव

देवानामभिप्रवव्राज विरोचनोऽसुराणां तौ हासंविदानावेव समित्पाणी प्रजापतिसकाशमाजग्मतुः ॥2॥

उनकी यह बात देवताओं और असुरों ने परम्परा से जान लीं। फिर उन्होंने सोचा कि जिसे समझने से सभी लोकों में जाया जा सकता है, सभी कामनाएँ पूरी की जा सकती हैं, उस आत्मा को हमें खोजना चाहिए। बाद में देवों में से इन्द्र और असुरों में से विरोचन—ये दोनों परस्पर ईर्ष्या करते हुए ही अलग-अलग हाथ में समिध लेकर प्रजापति के पास गए।

तौ ह द्वात्रिंशतं वर्षाणि ब्रह्मचर्यमूषतुस्तौ ह प्रजापतिरुवाच किमिच्छन्ताववास्तमिति तौ होचतुर्य आत्माऽपहतपाप्मा विजरो विमृत्युर्विशोकोऽविजिघत्सोऽपिपासः सत्यकामः सत्यसंकल्पः सोऽन्वेष्टव्यः स विजिज्ञासितव्यः स सर्वांश्च लोकानाप्नोति सर्वांश्च कामान्यस्तमात्मानमनुविद्य विजानातीति भगवतो वचो वेदयन्ते तमिच्छन्ताववास्तमिति ॥3॥

उन दोनों ने बत्तीस वर्ष तक ब्रह्मचर्य का पालन करते हुए वहाँ वास किया। तब प्रजापति ने उनसे पूछा—"तुम यहाँ किस इच्छा से रहे हो ?" तब उन दोनों ने कहा कि—"आत्मा पापरहित, जरारहित, शोकरहित, क्षुधारहित, प्यासरहित, सत्य कामनाओं वाला, सत्य संकल्पवाला है अतः उसे खोजना चाहिए, उसे ठीक तरह से जानने की इच्छा करनी चाहिए। जो कोई भी मनुष्य इस आत्मा को ठीक तरह से समझ लेता है, वह सभी लोकों को प्राप्त कर लेता है, अपनी सभी कामनाओं को पूर्ण कर सकता है। आपके ऐसे वचन को विद्वज्जन श्रेष्ठ कहते हैं। तो उस आत्मा को समझने के लिए हमने यहाँ वास किया हैं।

तौ ह प्रजापतिरुवाच य एषोऽक्षिणि पुरुषो दृश्यत एष आत्मेति होवाचैतदमृतमभयमेतद्ब्रह्मेत्यथ योऽयं भगवोऽप्सु परिख्यायते यश्चायमादर्शे कतम एष इत्येष उ एवैषु सर्वेष्वन्तेषु परिख्यात इति होवाच ॥4॥

इति सप्तमः खण्डः ॥

तब प्रजापति ने उनसे कहा—"आँख में जो यह पुरुष दिखाई देता है, वह आत्मा है।" और आगे भी कहा कि—"यह अमर है, निर्भय है, और वही ब्रह्म है।" तब वे दोनों अज्ञानी होने से ऐसा समझे कि आँख में सामनेवाले मनुष्य का जो मुख (मुँह) दिखाई पड़ता है, वही आत्मा है। इसलिए उन्होंने पूछा कि—"हे भगवन्! पानी में देखने से जो दिखाई पड़ता है, जो दर्पण में दिखाई देता है, उनमें से आपका कहा हुआ आत्मा किसमें है ? कौन है ?" तब प्रजापति ने कहा—"वही आत्मा सभी लोगों में सर्वरूप से (समरूप से) रहता है।"

(यहाँ सातवाँ खण्ड पूरा हुआ।)

अष्टमः खण्डः

उदशराव आत्मानमवेक्ष्य यदात्मनो न विजानीथस्तन्मे प्रब्रूतमिति तौ होदशरावेऽवेक्षांचक्राते तौ ह प्रजापतिरुवाच किं पश्यथेति तौ होचतुः सर्वमेवेदमावां भगव आत्मानं पश्याव आलोमभ्य आनखेभ्यः प्रतिरूपमिति ॥1॥

प्रजापति ने कहा—"जल से भरे हुए शराव में अपने को देखकर, आत्मा के बारे में जो कुछ तुम न जान सको, वह मुझे कह दिखाओ।" अत: दोनों ने जल से भरे शराव में देखा तब प्रजापति ने उनसे पूछा—"तुम क्या देखते हो तुम ? तब वे दोनों बोले—"हे भगवन्। हम पूरे आत्मा को इसमें देखते हैं—सर के बाल से पैर के नखों तक पूर्ण आत्मा को देखते हैं।"

तौ ह प्रजापतिरुवाच साध्वलंकृतौ सुवसनौ परिष्कृतौ भूत्वोदशरावेऽ-वेक्षेथामिति तौ ह साध्वलंकृतौ सुवसनौ परिष्कृतौ भूत्वोदशरावेऽवेक्षांचक्राते तौ ह प्रजापतिरुवाच किं पश्यथ इति ॥2॥

प्रजापति बोले—"तुम अच्छे गहने पहनकर, अच्छे कपड़े पहनकर सज-धजकर पानी से भरे शराव में अपने को देखो।" तब वे अच्छे गहने पहनकर, अच्छे कपड़े पहनकर सज-धजकर पानी से भरे शराव में स्वयं को देखने लगे। तब प्रजापति ने उनसे पूछा—"क्या देखते हो ?"

तौ होचतुर्यथैवेदमावां भगवः साध्वलंकृतौ सुवसनौ परिष्कृतौ च एवमेवेमौ भगवः साध्वलंकृतौ सुवसनौ परिष्कृतावित्येष आत्मेति होवाचैतदमृतमभयमेतद्ब्रह्मेति तौ ह शान्तहृदयौ प्रवव्रजतुः ॥3॥

तब उन दोनों ने कहा—"हे भगवन्! जैसे ही हम अच्छे गहने पहने हुए, अच्छे वस्त्र पहने हुए सजे-धजे हैं, वैसे ही अच्छी तरह से अलंकृत, अच्छे वस्त्र पहने हुए सजे-धजे इसमें भी दिखाई देते हैं।" तब प्रजापति बोले—"वही आत्मा है, वही निर्भय है, वही अमर है और वही ब्रह्म है।" तब शान्त हृदय होकर वे दोनों चले गये।

तौ हान्वीक्ष्य प्रजापतिरुवाचानुपलभ्यात्मानमननुविद्य व्रजतो यतर एत-दुपनिषदो भविष्यन्ति देवा वाऽसुरा वा ते पराभविष्यन्तीति स ह शान्त-हृदय एव विरोचनोऽसुराञ्जगाम तेभ्यो हैतामुपनिषदं प्रोवाचात्मैवेह महय्य आत्मा परिचर्य आत्मानमेवेह महयन्नात्मानं परिचरन्नुभौ लोकाव-वाप्नोतीमं चामुं चेति ॥4॥

उन दोनों को जाते हुए देखकर प्रजापति कहने लगे—"आत्मा को बिना जाने और बिना समझे ही ये दोनों जा रहे हैं। इनमें से जो (शरीर ही आत्मा है) ऐसा निश्चयवाले होंगे वे देव या असुर—कोई भी पराभव को प्राप्त करेंगे।" विरोचन तो सन्तुष्ट होकर असुरों के पास चला गया और उसने सबको इस प्रकार ज्ञान का उपदेश किया—"देह ही आत्मा है इसलिए उसी को पूजना चाहिए, उसी (देहरूप) आत्मा की सेवा करनी चाहिए। इस जगत् में देहात्मा की पूजा-सेवा करके ही मनुष्य इस लोक को और परलोक को प्राप्त कर सकता है।"

तस्मादप्यद्येहाददानमश्रद्दधानमयजमानमाहुरासुरो बतेत्यसुराणाᳬं ह्येषो-पनिषत्प्रेतस्य शरीरं भिक्षया वसनेनालंकारेणेति सᳬस्कुर्वन्त्येतेन ह्यमुं लोकं जेष्यन्तो मन्यन्ते ॥5॥

इत्यष्टमः खण्डः ॥

इसीलिए आज भी इस जगत् में दान न करनेवाले को, श्रद्धा से रहित को और यज्ञ न करने वाले को लोग कहते हैं कि "यह असुर है।" क्योंकि असुरों का ज्ञान ऐसा ही होता है। वे लोग मरे

हुओं के शरीर को (सुगन्ध-पुष्पमाला-अन्नादि) भिक्षा से और गहनों से सजाते हैं और मानते हैं कि इससे वे स्वर्गलोक को प्राप्त करेंगे।

(यहाँ आठवाँ खण्ड पूरा हुआ।)

❈

नवमः खण्डः

अथ हेन्द्रोऽप्राप्यैव देवानेतद्भयं ददर्श यथैव खल्वयमस्मिञ्छरीरे साध्व-लंकृते साध्वलंकृतो भवति सुवसने सुवसनः परिष्कृते परिष्कृत एवमे-वायमस्मिन्नन्धेऽन्धो भवति स्रामे स्रामः परिवृक्णे परिवृक्णोऽस्यैव शरीरस्य नाशमन्वेष नश्यति नाहमत्र भोग्यं पश्यामीति ॥1॥

परन्तु, इन्द्र को तो देवताओं के पास जाने से पहले ही यह भय दिखाई दिया अर्थात् यह शंका हुई कि—जिस तरह इस शरीर को अच्छी तरह से अलंकृत (शोभायमान) करने से यह छायात्मा अच्छी तरह से शोभित होता है, उसे अच्छे कपड़े पहनाने से अच्छे वस्त्रवाला दिखाई पड़ता है, सजाने से सजा हुआ दीखता है, ठीक इसी प्रकार यह देह अन्धा होने पर इस छाया में भी (छायात्मा भी) अन्धा ही दिखाई देता है। देह के क्षीण होने से छायात्मा भी क्षीण दीखता है, कटे हुए हाथ-पैर से छायात्मा के हाथ-पैर भी कटे हुए दिखाई देते हैं। और इस शरीर के नाश होने से छायात्मा का भी नाश हो जाता है। इसलिए शरीररूप आत्मा के ऐसे छायारूप ज्ञान से कोई फल मिलेगा, ऐसा मुझे नहीं लगता।

स समित्पाणिः पुनरेयाय तᳬ ह प्रजापतिरुवाच मघवन्यच्छान्तहृदयः प्राव्राजीः सार्धं विरोचनेन किमिच्छन् पुनरागम इति स होवाच यथैव खल्वयं भगवोऽस्मिञ्छरीरे साध्वलंकृते साध्वलंकृतो भवति सुवसने सुवसनः परिष्कृते परिष्कृत एवमेवायमस्मिन्नन्धेऽन्धो भवति स्रामे स्रामः परिवृक्णे परिवृक्णोऽस्यैव शरीरस्य नाशमन्वेष नश्यति नाहमत्र भोग्यं पश्यामीति ॥2॥

वह इन्द्र हाथ में समिधा लेकर फिर प्रजापति के पास आया। प्रजापति ने उससे पूछा—"हे इन्द्र! विरोचन के साथ शान्तचित्त होकर के ही तुम गए थे। अब किस इच्छा से तुम फिर से यहाँ आए हो ?" तब वह (इन्द्र) बोला—"हे भगवन्! जिस प्रकार यह छायात्मा इस शरीर को अच्छी तरह से विभूषित करने से अच्छी तरह से वह छायात्मा भी विभूषित हो जाता है, शरीर को अच्छे वस्त्र पहनाने से वह छायात्मा भी अच्छे वस्त्रों वाला हो जाता है और शरीर को सजाने-धजाने से वह सजा-धजा हो जाता है ठीक उसी प्रकार शरीर के अन्ध होने से वह छायात्मा भी अन्ध हो जाता है, शरीर के क्षीण होने पर वह छायात्मा भी क्षीण हो जाता है, शरीर के हाथ-पैर कट जाने से छायात्मा भी कटे हाथ-पैर वाला हो जाता है, और शरीर के नाश होने पर यह छायात्मा भी नष्ट हो जाता है। मैं तो उसमें कोई फल नहीं देखता।"

एवमेवैष मघवन्निति होवाचैतं त्वेव ते भूयोऽनुव्याख्यास्यामि वसापराणि द्वात्रिᳬशतं वर्षाणीति स हापराणि द्वात्रिᳬशतं वर्षाण्युवास तस्मै होवाच ॥3॥

इति नवमः खण्डः ॥

तब प्रजापति ने कहा—"हे इन्द्र ! वह ऐसा ही है। मैं तुम्हें फिर से समझाऊँगा। तुम बत्तीस वर्ष यहाँ रहकर ब्रह्मचर्य का पालन करो। उसने और भी बत्तीस वर्ष तक ब्रह्मचर्य का पालन करते हुए वहाँ वास किया फिर प्रजापति ने उससे कहा—

(यहाँ नौवाँ खण्ड पूरा हुआ।)

❋

दशमः खण्डः

य एष स्वप्ने महीयमानश्चरत्येष आत्मेति होवाचैतदमृतमभयमेतद्ब्रह्मेति स ह शान्तहृदयः प्रवव्राज स हाप्राप्यैव देवानेतद्भयं ददर्श तद्यद्यपीदः शरीरमन्धं भवत्यनन्धः स भवति यदि स्राममस्रामो नैवैषोऽस्य दोषेण दुष्यति ॥1॥

"जो यह स्वप्न में महिमावान होकर विचरण करता है, वह आत्मा है" प्रजापति ने ऐसा कहकर और आगे कहा—"वही अमृत है, वही अभय है, वही ब्रह्म है।" तब वह शान्तचित्त होकर चला गया, पर देवों के पास जाने से पहले ही उसको भय दिखाई दिया (मन में शंका हुई कि—) यह शरीर अन्धा होने पर भी स्वप्न पुरुष तो सब देखने वाला होता है ! शरीर के क्षीण होने पर भी स्वप्नस्थ आत्मा तो क्षीण नहीं दीखता। शरीर के दोषों से स्वरूपस्थ आत्मा दूषित नहीं होता।

न वधेनास्य हन्यते नास्य स्राम्येण स्रामो घ्नन्ति त्वेवैनं विच्छादयन्तीवाप्रियवेत्तेव भवत्यपि रोदितीव नाहमत्र भोग्यं पश्यामीति ॥2॥

"इस देह के वध से उसका वध नहीं होता। शरीर की पंगुता से उसकी पंगुता नहीं होती। फिर भी मानो उसे कोई मारता हो, मानो कोई चीरता हो, मानो कोई उसका नाश कर रहा हो, मानो किसी अप्रिय का अनुभव कर रहा हो, मानो रो रहा हो ऐसा लगता है। ऐसे आत्मा के ज्ञान से मैं कोई फल नहीं देख रहा हूँ।"

स समित्पाणिः पुनरेयाय । तः ह प्रजापतिरुवाच मघवन्यच्छान्तहृदयः प्राव्राजीः किमिच्छन् पुनरागम इति स होवाच तद्यद्यपीदं भगवः शरीरमन्धं भवत्यनन्धः स भवति यदि स्राममस्रामो नैवैषोऽस्य दोषेण दुष्यति ॥3॥

फिर वह इन्द्र हाथ में समिधा लेकर प्रजापति के पास आया। तब प्रजापति ने उससे पूछा—"हे इन्द्र ! पहले जो तुम शान्तचित्त से सन्तुष्ट होकर गए थे, तो किस इच्छा से फिर आए हो ?" तब उसने (इन्द्र ने) कहा—"हे भगवन् ! यद्यपि यह शरीर अन्ध होता है, तो भी वह (आत्मा) अन्ध नहीं होता। यद्यपि यह देह पंगु होता है तो भी वह (आत्मा) पंगु नहीं होता। इस शरीर के दोष से आत्मा दूषित होता ही नहीं। और—

न वधेनास्य हन्यते नास्य स्राम्येण स्रामो घ्नन्ति त्वेवैनं विच्छादयन्तीवाप्रियवेत्तेव भवत्यपि रोदितीव नाहमत्र भोग्यं पश्यामीत्येवमेवैष मघवन्निति होवाचैतं त्वेव ते भूयोऽनुव्याख्यास्यामि वसाऽपराणि द्वात्रिंशतं वर्षाणीति स हाऽपराणि द्वात्रिंशतं वर्षाण्युवास तस्मै होवाच ॥4॥

इति दशमः खण्डः ॥

देह के वध से भी वह नष्ट नहीं होता। इस (देह) की पंगुता से वह पंगु नहीं हो जाता। फिर भी मानो उस आत्मा को कोई मारता हो, कोई पीटता हो, मानो वह अप्रिय का अनुभव करता हो, मानो वह रोता हो, ऐसा लगता है। मैं तो ऐसे आत्मज्ञान में कोई फल नहीं देख रहा हूँ।" इन्द्र के ऐसा कहने पर प्रजापति ने कहा—"हे इन्द्र ! वह ऐसा ही है। मैं तुम्हें फिर उपदेश दूँगा। और बत्तीस वर्ष ब्रह्मचर्य का पालन करते हुए यहाँ रहो। अतः वह (इन्द्र) और बत्तीस वर्ष वहाँ रहा। बाद में प्रजापति बोले—

(यहाँ दसवाँ खण्ड पूरा हुआ।)

❋

एकादशः खण्डः

तद्यत्रैतत् सुप्तः समस्तः सम्प्रसन्नः स्वप्नं न विजानात्येष आत्मेति होवाचैतदमृतमभयमेतद्ब्रह्मेति स ह शान्तहृदयः प्रवव्राज स हाप्राप्यैव देवानेतद्भयं ददर्श नाहं खल्वयमेवः सम्प्रत्यात्मानं जानात्ययमहमस्मीति नो एवेमानि भूतानि विनाशमेवापीतो भवति नाहमत्र भोग्यं पश्यामीति ॥1॥

"उस अवस्था में जब यह सुप्तिमय जीव सोया हुआ होता है, दर्शनरहित, बहुत आनन्दित होकर स्वप्न भी नहीं देखता, वही आत्मा है, वही अमृत है, वही अभय है, वही ब्रह्म है।" प्रजापति के ऐसा कहने पर इन्द्र शान्तहृदय होकर चला गया। परन्तु, देवों के पास जाने के पहले ही उसके मन में भय (शंका) उत्पन्न हुआ कि सुषुप्ति में रहा हुआ यह आत्मा भी इस अवस्था में अपने को "मैं हूँ" इस प्रकार नहीं जानता है। और अन्य प्राणियों एवं पदार्थों को भी नहीं जानता है। मानो वह विनाश को ही प्राप्त हो जाता है। ऐसे आत्मा के ज्ञान से मैं कोई लाभ नहीं देखता।

स समित्पाणिः पुनरेयाय । तः ह प्रजापतिरुवाच मघवन्यच्छान्तहृदयः प्राव्राजीः किमिच्छन्पुनरागम इति स होवाच नाहं खल्वयं भगव एवः सम्प्रत्यात्मानं जानात्ययमहमस्मीति नो एवेमानि भूतानि विनाशमेवापीतो भवति नाहमत्र भोग्यं पश्यामीति ॥2॥

फिर से वह (इन्द्र) हाथ में समिधा लिए आया। प्रजापति ने उससे पूछा—"हे इन्द्र, पहले यहीं से तुम सन्तुष्ट-हृदय होकर गए थे, अब कौन-सी इच्छा से फिर से आए हो ?" तब इन्द्र बोला—"हे भगवन् ! सुषुप्ति में रहा हुआ आत्मा इस अवस्था में अपने आपको इस तरह नहीं जानता कि 'यह मैं हूँ।' और इन प्राणियों एवं पदार्थों को भी नहीं जानता। मानो वह नाश प्राप्त करता हुआ मालूम पड़ रहा है। ऐसे आत्मा के ज्ञान से मैं कोई लाभ नहीं देखता।"

एवमेवैष मघवन्निति होवाचैतं त्वेव ते भूयोऽनुव्याख्यास्यामि नो एवान्यत्रैतस्माद्वसापराणि पञ्च वर्षाणीति स हापराणि पञ्च वर्षाण्युवास । तान्येकशतं संपेदुरेतत्तद्यदाहुरेकशतः ह वै वर्षाणि मघवान्प्रजापतौ ब्रह्मचर्यमुवास तस्मै होवाच ॥3॥

इत्येकादशः खण्डः ॥

प्रजापति बोले—"हे इन्द्र ! यह ऐसी ही बात है। इस आत्मा के विषय में मैं तुम्हें फिर अधिक उपदेश दूँगा। उस आत्मा से भिन्न कोई दूसरा आत्मा नहीं है। तुम और भी पाँच वर्ष तक यहाँ रहो।"

इन्द्र और भी पाँच वर्ष तक यहाँ रहे। इस प्रकार सब मिलकर एक सौ और एक वर्ष तक इन्द्र प्रजापति के यहाँ ब्रह्मचर्य का पालन करते हुए रहे। तब प्रजापति बोले—

(यहाँ ग्यारहवाँ खण्ड पूरा हुआ।)

द्वादशः खण्डः

मघवन्मर्त्यं वा इदꣳशरीरमात्तं मृत्युना तदस्यामृतस्याशरीरस्यात्मनो-ऽधिष्ठानमात्तो वै सशरीरः प्रियाप्रियाभ्यां न वै सशरीरस्य सतः प्रियाप्रिययोरपहतिरस्त्यशरीरं वाव सन्तं न प्रियाप्रिये स्पृशतः ॥1॥

"हे इन्द्र! यह शरीर मरणशील ही है, मृत्यु से ग्रसित ही है। यह शरीर अमर और अशरीरी आत्मा का अधिष्ठान है (निवासस्थान है)। सशरीर आत्मा तो अवश्य प्रिय और अप्रिय से ग्रस्त है। जहाँ तक आत्मा शरीर में रहता है, वहाँ तक तो उसके प्रिय और अप्रिय का नाश नहीं हो सकता। पर जब वह शरीररहित होता है, तब प्रिय या अप्रिय उसका स्पर्श नहीं कर सकते।

अशरीरो वायुरभ्रं विद्युत्स्तनयित्नुरशरीराण्येतानि तद्यथैतान्यमुष्मादा-काशात्समुत्थाय परं ज्योतिरुपसम्पद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यन्ते ॥2॥

पवन देहरहित है। बादल, बिजली गड़गड़ाहट—सभी शरीररहित हैं। जिस प्रकार ये सब आकाश में से निकल कर परम तेज को पाकर अपने-अपने रूप में दिखाई पड़ते हैं—

एवमेवैष सम्प्रसादोऽस्माच्छरीरात्समुत्थाय परं ज्योतिरुपसम्पद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते। स उत्तमः पुरुषः स तत्र पर्येति जक्षत्क्रीडन्रममाणः स्त्रीभिर्वा यानैर्वा ज्ञातिभिर्वा नोपजनꣳ स्मरन्निदꣳ शरीरꣳ स यथा प्रयोग्य आचरणे युक्त एवमेवायमस्मिञ्छरीरे प्राणो युक्तः ॥3॥

उसी प्रकार सुप्रसन्न ज्ञानी जीव, इस शरीर से उठकर परंज्योति (विश्वात्मा) को प्राप्त करके अपने रूप में प्रकाशित हो उठता है। वह उत्तम पुरुष है। वह उस अवस्था में हँसता, खाता, खेलता, स्त्रियों के साथ, वाहनों के साथ, सगे-सम्बन्धियों के साथ आनन्द-प्रमोद करता हुआ भी परम आत्मा में लीन हो जाता है। अपने साथ उत्पन्न हुए शरीर का तो उसे स्मरण तक नहीं होता। रथ को खींचने के लिए जैसे बैल या घोड़े जोड़े जाते हैं, इसी तरह इस शरीर के साथ प्राण जुड़े हुए हैं, जिससे वह चारों ओर विचरण करता है।

अथ यत्रैतदाकाशमनुविषण्णं चक्षुः स चाक्षुषः पुरुषो दर्शनाय चक्षुरथ यो वेदेदं जिघ्राणीति स आत्मा गन्धाय घ्राणमथ यो वेदेदमभिव्याहरा-णीति स आत्माऽभिव्याहाराय वागथ यो वेदेदꣳ शृणवानीति स आत्मा श्रवणाय श्रोत्रम् ॥4॥

अब जिस नेत्रगोलक में नेत्रेन्द्रिय है उस इन्द्रियस्थ आत्मा को 'चाक्षुष आत्मा' कहा जाता है। उसे देखने के लिए आँख है (चक्षु के अधिष्ठाता देव आत्मरूप है, उसे देखने के उपकरणरूप आँख है) और जो "मैं सूँघता हूँ"—ऐसा जानता है, वह आत्मा है, और जिस उपकरण के द्वारा आत्मा सूँघता है, वह गन्ध का उपकरण घ्राणेन्द्रिय है। इसी तरह जो कहता है कि "मैं बोलता हूँ।" वह आत्मा है और जिस उपकरण से वह आत्मा बोलता है, वह वागिन्द्रिय है। जो कहता है कि "मैं सुनता हूँ" वह आत्मा है, और जिस उपकरण से वह सुनता है वह श्रोत्रेन्द्रिय है।

अथ यो वेदेदं मन्वानीति स आत्मा मनोऽस्य दैवं चक्षुः स वा एष एतेन दैवेन चक्षुषा मनसैतान् कामान् पश्यन् रमते य एते ब्रह्मलोके ॥5॥

"मैं सोचता हूँ"—ऐसा जो कहता (मानता) है, वह आत्मा है। उसके सोचने के उपकरण को मन कहा जाता है। मन आत्मा का दिव्य नेत्र है। ज्ञानी आत्मा मनरूपी दैवी आँख से सब सुखों को जो कि ब्रह्मलोक में होते हैं, समझकर आनन्द लेता है।

तं वा एतं देवा आत्मानमुपासते तस्मात्तेषाꣳ सर्वे च लोका आत्ताः सर्वे च कामाः स सर्वाꣳश्च लोकानाप्नोति सर्वाꣳश्च कामान्यस्तमात्मान-मनुविद्य विजानातीति ह प्रजापतिरुवाच प्रजापतिरुवाच ॥6॥

इति द्वादशः खण्डः ॥

"जो भोग ब्रह्मलोक में हैं, उन्हें देखते-खेलते हुए इस आत्मा की देवलोग भी उपासना करते हैं। इसीलिए इस आत्मा को सभी लोक और सभी भोग प्राप्त ही हैं। जो मनुष्य आत्मा को शास्त्र और आचार्य के उपदेश द्वारा अच्छी तरह से जान लेता है अर्थात् अनुभव कर लेता है, वह सभी लोकों को प्राप्त कर लेता है। उसकी सभी कामनाएँ पूर्ण हो जाती हैं"—ऐसा प्रजापति ने कहा, ऐसा प्रजापति ने कहा।

(यहाँ बारहवाँ खण्ड पूरा हुआ)

त्रयोदशः खण्डः

श्यामच्छबलं प्रपद्ये शबलाच्छ्यामं प्रपद्येऽश्व इव रोमाणि विधूय पापं चन्द्र इव राहोर्मुखात्प्रमुच्य धूत्वा शरीरमकृतं कृतात्मा ब्रह्मलोकमभि-सम्भवामीत्यभिसम्भवामीति ॥1॥

इति त्रयोदशः खण्डः ॥

श्याम (हृदयस्थ) ब्रह्म से मैं शबल ब्रह्म (ब्रह्मलोक) को प्राप्त होऊँ, और शबलब्रह्म (ब्रह्मलोक) से मैं श्याम (हृदयस्थ) ब्रह्म को प्राप्त होऊँ। जिस तरह अश्व अपने शरीर को कँपाकर रोंगटों और धूल को झाड़ देता है, वैसे ही मैं ज्ञान से सभी पापों को झाड़ दूँ। जैसे चन्द्र राहु के मुख से छूटता है, वैसे ही मैं शरीर से छूटकर कृतकृत्य होकर ब्रह्मलोक को प्राप्त करूँ।

(यहाँ तेरहवाँ खण्ड पूरा हुआ।)

चतुर्दशः खण्डः

आकाशो वै नाम नामरूपयोर्निर्वहिता। ते यदन्तरा तद्ब्रह्म तदमृतꣳ स आत्मा प्रजापतेः सभां वेश्म प्रपद्ये यशोऽहं भवामि ब्राह्मणानां यशो राज्ञां यशो विशां यशोऽहमनुप्रापत्सि स हाहं यशसां यशः श्येतमदत्क-मदत्कꣳ श्येतं लिन्दु माभिगां लिन्दु माभिगाम् ॥1॥

इति चतुर्दशः खण्डः ॥

आकाश नामक आत्मा नाम और रूप का निर्वाहक है। नाम और रूप जिसके अन्तर्गत हैं, वह ब्रह्म है, वही अमृत है, वही आत्मा है। मैं प्रजापति के सभागृह को प्राप्त करता हूँ। मैं यशोनामधारी

आत्मा हूँ। मैं ब्राह्मणों के यशोरूप, क्षत्रियों के यशोरूप, वैश्यों के यशोरूप आत्मा को प्राप्त होना चाहता हूँ। वह मैं यशों का भी यश हूँ। पक्व बेर जैसे लाल, दाँत न होने पर भी खाने वाले दन्तरहित चिकने स्त्रीचिह्न को (स्त्री के गर्भ को) मैं कभी प्राप्त न होऊँ।

(यहाँ चौदहवाँ खण्ड पूरा हुआ)

❋

पञ्चदशः खण्डः

तद्धैतद्ब्रह्मा प्रजापतय उवाच प्रजापतिर्मनवे मनुः प्रजाभ्य आचार्य-कुलाद्वेदमधीत्य यथाविधानं गुरोः कर्मातिशेषेणाभिसमावृत्य कुटुम्बे शुचौ देशे स्वाध्यायमधीयानो धार्मिकान्विदधदात्मनि सर्वेन्द्रियाणि सम्प्रतिष्ठाप्याहिꣳसन् त्सर्वभूतान्यन्यत्र तीर्थेभ्यः स खल्वेवं वर्तयन्या-वदायुषं ब्रह्मलोकमभिसम्पद्यते न च पुनरावर्तते न च पुनरावर्तते ॥1॥

इति पञ्चदशः खण्डः ॥

इति छान्दोग्योपनिषदि अष्टमोऽध्यायः ॥8॥

इति छान्दोग्योपनिषत्समाप्ता ॥

यह आत्मज्ञान ब्रह्मा ने प्रजापति को सुनाया। प्रजापति ने मनु को और मनु ने प्रजाओं को सुनाया। आचार्य से वेद का अध्ययन करके, नियमानुसार गुरु के काम करके शेष समय में स्वाध्याय करके, गुरुकुल से निवृत्त होकर, समावर्तन संस्कार प्राप्त करके, कुटुम्ब में स्थिर होकर, पवित्र स्थान में स्वाध्याय करते रहकर, पुत्रों-शिष्यों को धार्मिक बनाकर, सभी इन्द्रियों को अन्तःकरण में स्थापित करके, शास्त्राज्ञा से अतिरिक्त हिंसा न करके, जहाँ तक आयुष्य हो वहाँ तक इसी प्रकार से रहकर ब्रह्मलोक को प्राप्त करता है। और फिर से वह (यहाँ जगत् में) वापिस नहीं आता। वह बाद में कभी वापस नहीं लौटता।

(यहाँ पंद्रहवाँ खण्ड पूरा हुआ।)

यहाँ छान्दोग्योपनिषद् में आठवाँ अध्याय समाप्त हुआ।

इस प्रकार छान्दोग्योपनिषत् समाप्त होती है।

शान्तिपाठः

ॐ आप्यायन्तु ममाङ्गानि वाक्प्राणश्चक्षुः श्रोत्रमथो बलमिन्द्रियाणि च सर्वाणि सर्वं ब्रह्मौपनिषदं माहं ब्रह्म निराकुर्यां मा मा ब्रह्म निराकरोद-निराकरणमस्त्वनिराकरणं मेऽस्तु तदात्मनि निरते य उपनिषत्सु धर्मास्ते मयि सन्तु ते मयि सन्तु ॥ ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

❋

(10) बृहदारण्यकोपनिषत्

(उपनिषत्परिचय)

बृहदारण्यकोपनिषद् अपने नाम से ही सूचित करती है कि यह उपनिषद् एक बड़ी (बृहद् = बड़ी लंबी) उपनिषद् है। यह उपनिषद् शुक्लयजुर्वेद के अन्तर्गत सुप्रसिद्ध शतपथ ब्राह्मण का ही एक भाग है। शतपथब्राह्मण की दो वाचनाएँ हैं। एक काण्वशाखीय वाचना है और दूसरी माध्यन्दिन शाखीय वाचना है। कण्वशाखा की वाचना के सत्रह काण्ड हैं और माध्यन्दिन शाखा के केवल चौदह हैं। शतपथब्राह्मण की सत्रह काण्डोंवाली काण्वशाखीय वाचना के तीन से आठ अध्याय—कुल छः अध्याय ही यह 'बृहदारण्यक उपनिषद्' है और शतपथब्राह्मण की चौदह काण्ड वाली माध्यन्दिन शाखा वाली वाचना के चार से नौ काण्ड (कुल छः काण्ड) ही यह बृहदारण्यक उपनिषद् है।

अतः इस उपनिषद् के छः अध्याय हैं। अध्यायों को 'खण्डों' या 'ब्राह्मणों' में विभाजित किया गया है। और उन खण्डों या ब्राह्मणों को भी 'कण्डिकाओं' में विभाजित किया गया है। कण्डिकाओं की समानता मन्त्रों से की जा सकती है। इस उपनिषद् में ऐसी 435 कण्डिकाएँ हैं, 47 ब्राह्मण या खण्ड हैं और छः अध्याय हैं।

इस उपनिषद् के विभागीकरण का एक दूसरा भी प्रकार है। पहले दो अध्यायों वाले एक विभाग को 'मधुकाण्ड' कहा गया है। बीच के दो अध्यायों (3 और 4 अध्यायों) को 'मुनिकाण्ड' कहा जाता है। 'मुनिकाण्ड' को 'याज्ञवल्क्य काण्ड' भी कहते हैं। अन्तिम दो अध्यायों को (5 और 6 को) 'खिलकाण्ड' कहा गया है। ये तीन काण्ड क्रमशः उपदेश, उपपत्ति और उपासना के तीन विषयों का विश्लेषण करते हैं। इन तीनों काण्डों में मुनिकाण्ड अथवा याज्ञवल्क्यकाण्ड अत्यंत महत्त्व का है। उसमें इस उपनिषद् की कण्डिकाओं में से आधी संख्या में कण्डिकाएँ शामिल हो जाती हैं। ऋषि याज्ञवल्क्य इस काण्ड के प्रधान वक्ता हैं। इन्होंने इसमें आत्मा का (ब्रह्म का) तत्त्वज्ञान बड़ी ही ओजस्विता से निरूपित किया है। और ब्रह्म या आत्मा सम्बन्धी अनेकानेक आनुषंगिक विषयों पर भी अपने उपदेशों में उनका सूक्ष्म निरूपण किया है। किसी भी युग के विश्व के महान् चिन्तकों में मुनि याज्ञवल्क्य को सहज ही उच्च आसन प्राप्त है।

प्रथम अध्याय में छः ब्राह्मण हैं। आरंभ के अश्वमेध ब्राह्मण में यज्ञीय अश्व के अवयवों में विराट् के अवयवों की दृष्टि बताई है। आगे जाकर प्रजापति के दोनों पुत्रों—देवों और असुरों का विग्रह बताया है। ये देव और असुर इन्द्रियों की शुभाशुभ वृत्तियों का रोचक रूपक है। दूसरे अध्याय के गर्विष्ठ बालाकि और तत्त्वज्ञानी अजातशत्रु के संवाद द्वारा उदात्त चित्तवालों की गुणग्राहिता बताई है। इसमें ब्रह्मज्ञान की महत्ता भी दिखाई देती है। इसी अध्याय के चौथे ब्राह्मण में याज्ञवल्क्य और मैत्रेयी का संवाद है। यह संवाद सुप्रसिद्ध है। ब्रह्मवादिनी मैत्रेयी ने याज्ञवल्क्य की भौतिक पूँजी छोड़कर आत्मज्ञानी बनना चाहा। उसने अपनी पूरी पूँजी

याज्ञवल्क्य की दूसरी पत्नी कात्यायनी को दे दी। इसके बाद आने वाला मधुब्राह्मण है। यहाँ 'मधु' का अर्थ, 'उपकार्य = उपकारकभाव' होता है। इस ब्राह्मण में अधिष्ठान-दृष्टि से संपूर्ण प्रपंच की ब्रह्मरूपता निरूपित है। आत्मतत्त्व अपनी एक ही मायाशक्ति से अनेक रूप धारण करके क्रीड़ा करता है—यह बात 'इन्द्रो मायाभि:' इत्यादि श्रुति से कही गई है।

इसके बाद के दो अध्याय मुनिकाण्ड या याज्ञवल्क्य काण्ड के हैं। आरंभ के तीसरे अध्याय में जनक के यज्ञ का प्रसंग है। "यज्ञ में आए हुए विद्वानों में से सबसे बड़ा ज्ञानी ही गोशाला से सुवर्णमण्डित गायों को ले जाए"—जनक की ऐसी घोषणा थी, तब उपस्थित विद्वानों में से कोई भी अपने आपको सर्वश्रेष्ठ ज्ञानी न मान सका। अत: याज्ञवल्क्य ने उन गायों को अपने आश्रम में शिष्य के द्वारा ले जाने का आदेश दिया। इस पर अन्य ब्राह्मण क्षुब्ध हो उठे। उन्होंने याज्ञवल्क्य से अनेकानेक ब्रह्मपरक प्रश्न पूछे और याज्ञवल्क्य ने उनका परितोषजनक उत्तर भी दिया। अन्त में ब्रह्मवादिनी गार्गी ने कारणमाला पूछी। जब गार्गी ने ब्रह्म का कारण पूछा, तब याज्ञवल्क्य बोले—यह अतिप्रश्न है। नि:संदिग्ध वस्तु में सन्देह तो अपराध ही है। ऐसा अपराध करने से शाकल्य का सिर कट गया था। फिर याज्ञवल्क्य ने भी ब्राह्मणों से अनेक प्रश्न पूछे, पर कोई किसी भी प्रश्न का उत्तर न दे सका। याज्ञवल्क्य की विजय के साथ यह अध्याय समाप्त होता है।

चौथा अध्याय जनक-याज्ञवल्क्य संवाद से शुरू होता है। इसमें याज्ञवल्क्य वाक्, प्राण आदि के स्थान को बताकर उनकी उपासना और उपासना का फल बताते हैं। उन उपासनाओं को ही जीवन का परमलक्ष्य समझकर जनक ने याज्ञवल्क्य को हजार गायें दान में देना चाहा। पर शिष्य का श्रेय चाहनेवाले याज्ञवल्क्य ने बाद के ब्राह्मण में परमात्मा के विराट् स्वरूप का उपदेश दिया और विराट् स्वरूप की सर्वव्यापी निर्गुण के साथ एकरूपता बताई। तब कृतकृत्य जनक ने अपने आपको तथा समस्त राज्य को गुरुदेव के चरणों में अर्पित कर दिया। इस अध्याय के तीसरे और चौथे ब्राह्मण में प्रश्नोत्तर के रूप में आत्मतत्त्व का विस्तृत वर्णन है। आत्मा के ज्योतिरूप का निर्णय किया गया है। पाँचवें ब्राह्मण में याज्ञवल्क्य-मैत्रेयी संवाद है और छठे ब्राह्मण में आचार्य परंपरा के उल्लेख के बाद मुनिकाण्ड समाप्त होता है।

पाँचवें अध्याय से खिलकाण्ड का प्रारंभ होता है। इसमें कई प्रकार की उपासनाएँ वर्णित हैं। प्रजापति की तीन सन्तानें (देव, असुर और मनुष्य) प्रजापति के पास ज्ञान प्राप्त करने के लिए जाते हैं। प्रजापति तीनों को एक वर्ण 'द' का उपदेश देते हैं। इस एक ही अक्षर से तीनों को अपने-अपने योग्य उपदेश मिल जाता है। भोगप्रधान देव 'द' का अर्थ इन्द्रियदमन समझ लेते हैं, क्रूर प्रकृति वाले असुर 'द' का अर्थ 'दया' समझ लेते हैं और अर्थलोलुप मनुष्य 'द' का अर्थ 'दान' समझ लेते हैं। तीनों कृतकृत्य हो जाते हैं। इसके अतिरिक्त और कई प्रकार की उपासनाएँ दी गई हैं।

छठें अध्याय के प्रथम ब्राह्मण में इन्द्रियों के विवाद के माध्यम से प्राण की श्रेष्ठता बताई गई है। दूसरे में श्वेतकेतु तथा उसके पिता आरुणि को पांचाल देश के राजा प्रवाहण की दी हुई पंचाग्निविद्या का वर्णन है (छान्दोग्योपनिषद् में भी यह वर्णन आता है)। बाद के

तीसरे और चौथे ब्राह्मण में श्रीमन्थ और पुत्रमन्थ कर्मों का वर्णन है। ये दोनों कर्म परस्पर जुड़े हुए हैं। और पाँचवें ब्राह्मण में आचार्यपरंपरा है। यहाँ उपनिषद् की समाप्ति होती है।

शान्तिपाठः

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते॥
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः॥

वह (परमात्मा) पूर्ण है, और यह (कार्य ब्रह्म - जगत्) भी पूर्ण ही है। क्योंकि पूर्ण में से ही पूर्ण की उत्पत्ति होती है। तथा (प्रलयकाल में) पूर्ण का अर्थात् कार्यब्रह्मरूप जगत् का पूर्णत्व लेकर केवल परब्रह्म (कारण ब्रह्म) ही शेष रहता है।

ॐ त्रिविध तापों की शान्ति हो।

अथ प्रथमोऽध्यायः

प्रथमं ब्राह्मणम्

[ॐ नमो ब्रह्मादिभ्यो ब्रह्मविद्यासम्प्रदायकर्तृभ्यो वंश ऋषिभ्यो नमो गुरुभ्यः॥]

ब्रह्मविद्या-सम्प्रदाय के प्रवर्तक वंश ब्राह्मणोक्त गुरुपरम्परा ब्रह्मादि गुरुजनों को नमस्कार हो।

ॐ उषा वा अश्वस्य मेध्यस्य शिरः। सूर्यश्चक्षुर्वातः प्राणो व्यात्तमग्नि-वैश्वानरः संवत्सर आत्माश्वस्य मेध्यस्य। द्यौः पृष्ठमन्तरिक्षमुदरं पृथिवी पाजस्यम्। दिशः पार्श्वे अवान्तरदिशः पर्शव ऋतवोऽङ्गानि मासाश्चार्ध-मासाश्च पर्वाण्यहोरात्राणि प्रतिष्ठा नक्षत्राण्यस्थीनि नभो मांसानि। ऊवध्यं सिकताः सिन्धवो गुदा यकृच्च क्लोमानश्च पर्वता ओषधयश्च वनस्पतयश्च लोमानि उद्यन् पूर्वार्धो निम्लोचञ्जघनार्धो तद्विजृम्भते यद्वि-द्योतते यद्विधूनुते तत्स्तनयति यन्मेहति तद्वर्षति वागेवास्य वाक्॥1॥

उषा (ब्राह्म मुहूर्त्त) ही मेध्य अश्व (यज्ञीय मेधार्ह अश्व) का मस्तक है। सूर्य नेत्र है, वायु प्राण है, वैश्वानर अग्नि उसका खुला हुआ मुख है, संवत्सर ही मेध्य अश्व का आत्मा है, द्युलोक उसकी पीठ है, अन्तरिक्ष उदर है, पृथ्वी पैर रखने का स्थान है, दिशाएँ पार्श्वभाग हैं, ईशानादि (अवान्तर) दिशाएँ उसकी पसलियाँ हैं, ऋतुएँ अवयव हैं, मास और अर्धमास सन्धियाँ हैं, दिन-रात उसके पैर हैं, नक्षत्र हड्डियाँ हैं, आकाशस्थ मेघ मांस है, रेती उसका उदरस्थ (आधा पचा हुआ) अन्न है, नदियाँ नाड़ियाँ हैं, पर्वत यकृत और क्लोम (हृदय की दाँई-बाँई ओर आए हुए दो मांसखण्ड) हैं, औषधियाँ और वनस्पतियाँ उसके केश और रोंगटे हैं, सूर्योदय से लेकर मध्याह्न तक का पूर्वार्ध उसका नाभि के ऊपर का भाग है, मध्याह्न के बाद अस्त की ओर जाता हुआ दिन का उत्तरभाग उसकी कमर के नीचे का भाग है, बिजली का चमकना उसकी जम्भाई है, मेघगर्जना उसके शरीर की हलचल है, वर्षा उसका मूत्रत्याग है, शब्द-घोष ही उसकी वाणी है।

अहर्वा अश्वं पुरस्तान्महिमान्वजायत तस्य पूर्वे समुद्रे योनी रात्रिरेनं पश्चान्महिमान्वजायत तस्यापरे समुद्रे योनिरेतौ वा अश्वं महिमानावभितः सम्बभूवतुः । हयो भूत्वा देवानवहद्वाजी गन्धर्वानर्वाऽसुरानश्वो मनुष्यान् समुद्र एवास्य बन्धुः समुद्रो योनि ॥2॥

इति प्रथमं ब्राह्मणम् ॥

इस घोड़े के सामने दिवस (दिन) 'महिमा' स्वरूप सुवर्णपात्र होकर उदित हुआ। इस दिवस का पूर्व समुद्र में जन्म हुआ। इस घोड़े के पिछले भाग में रात्रि, 'महिमा' स्वरूप रजतपात्र होकर उगी। उस रात का पश्चिम समुद्र में जन्म हुआ। 'महिमा' नामवाले सोने के और चाँदी के दो पात्र अश्वरूपी जगत् की दोनों ओर रखे हुए थे। वह घोड़ा हय बनकर देवों का वहन कर गया, 'वाजी' बन कर गन्धर्वों को और अश्व बनकर मनुष्यों को वहन कर ले गया। सागर ही उसका जन्मस्थान और उसका बन्धु है।

(यहाँ पहला ब्राह्मण पूरा हुआ।)

❋

द्वितीयं ब्राह्मणम्

नैवेह किंचनाग्र आसीन्मृत्युनैवेदमावृतमासीत्। अशनाययाशनाया हि मृत्युस्तन्मनोऽकुरुतात्मन्वी स्यामिति। सोऽर्चन्नचरत्तस्यार्चत आपोऽजायन्तार्चते वै मे कमभूदिति तदेवार्कस्यार्कत्वम् कः ह वा अस्मै भवति य एवमेतदर्कस्यार्कत्वं वेद ॥1॥

यहाँ पहले कुछ भी नहीं था। यह सब कुछ मृत्यु से ही ढँका हुआ था। अथवा भूख से ढँका हुआ था। क्योंकि भूख ही मृत्यु है। (मृत्यु ने सोचा—) "मैं आत्मावाला बनूँ।" फिर उसने 'मन' को बनाया। वह (मृत्यु) विचाररूप पूजा करता हुआ घूमने लगा। पूजारूप विचार करते-करते उसमें से जल पैदा हुआ। (मृत्यु ने माना कि—) पूजा करते-करते मुझमें से जल पैदा हुआ है। वही 'अर्क' का अर्कत्व है। ('अर्'=पूजा और 'क'=जल) इसीलिए अग्नि का नाम 'अर्क' पड़ा। जो कोई इस तरह 'अर्क' का 'अर्कत्व' जानता है उसको अवश्य 'क' (सुख) मिलता है।

आपो वा अर्कस्तद्यदपाः शर आसीत्समहन्यत सा पृथिव्यभवत्तस्यामश्राम्यत्तस्य श्रान्तस्य तप्तस्य तेजो रसो निरवर्तताग्निः ॥2॥

अथवा जल ही अर्क है। जल का जो स्थूल भाग था वह इकट्ठा हो गया। वह पृथ्वी बनी। पृथ्वी के उत्पन्न होने के बाद उस प्रजापति अर्थात् मृत्यु को श्रम हुआ। श्रमित और तप्त प्रजापति में से तेज के साररूप (रसरूप) अग्नि निकल आया।

स त्रेधात्मानं व्याकुरुतादित्यं तृतीयं वायुं तृतीयः स एष प्राणस्त्रेधा विहितः। तस्य प्राची दिक्छिरोऽसौ चासौ चेर्मौ। अथास्य प्रतीची दिक् पुच्छमसौ चासौ च सक्थ्यौ। दक्षिणा चोदीची च पार्श्वे द्यौः पृष्ठमन्तरिक्षमुदरमियमुरः स एषोऽप्सु प्रतिष्ठितो यत्र क्व चैति तदेव प्रतितिष्ठत्येवं विद्वान् ॥3॥

उस प्रजापति ने अपने तीन भाग किए—आदित्य को अग्नि और वायु की अपेक्षा तीसरा भाग बनाया और अग्नि और वायु की अपेक्षा वायु को तीसरा भाग बनाया। फिर प्राण भी तीन भागों में बँट

गया। पूर्व दिशा अग्नि का मस्तक है, ईशान और आग्नेय कोण उसके दो हाथ हैं। पश्चिम दिशा उसका पुच्छ है, वायव्य और नैर्ऋत्य कोण उसकी दो जाँघें हैं। दक्षिण और उत्तर दिशाएँ उसके पार्श्व हैं। आकाश पीठ है, अन्तरिक्ष उदर है, यह पृथ्वी हृदय है। यह प्रजापतिरूप अग्नि जल में रहा है। जो इस विराट् को इस प्रकार जानता है, वह जहाँ जाता है, प्रतिष्ठित हो जाता है।

सोऽकामयत द्वितीयो म आत्मा जायेतेति स मनसा वाचं मिथुनः समभवदशनाया मृत्युस्तद्यद्रेत आसीत्स संवत्सरोऽभवत्। न ह पुरा ततः संवत्सर आस। तमेतावन्तं कालमबिभः। यावान्संवत्सरस्तमेतावतः कालस्य परस्तादसृजत। तं जातमभिव्याददात्स भाणकरोत्सैव वागभवत् ॥4॥

फिर मृत्यु ने चाहा कि—"मेरा दूसरा आत्मा पैदा हो।' उस अशनायारूप मृत्यु ने मन से वेदरूप वाणी की द्वन्द्वभाव से भावना की (मन को वाणी के साथ जोड़ा)। उससे जो रेत (बीज) हुआ, वह संवत्सर हुआ। यह सच है कि इससे पहले संवत्सर था ही नहीं। उस संवत्सर को प्रजापति ने इतने समय तक गर्भ में धारण किया (एक संवत्सर तक धारण किया)। एक संवत्सर परिमित काल के बाद उसने उसको जन्म दिया। उस उत्पन्न हुए कुमार को खा जाने की इच्छा से मृत्यु ने उसकी ओर मुँह फाड़ा। तब उसने (कुमार ने) 'भाण्' ऐसी चीख की। यह चीख ही वाणी हुई।

स ऐक्षत यदि वा इममभिमंस्ये कनीयोऽन्नं करिष्य इति। स तया वाचा तेनात्मनेदः सर्वमसृजत यदिदं किंचर्चो यजूंषि सामानि छन्दांसि यज्ञान् प्रजाः पशून्। स यद्यदेवासृजत तत्तदत्तुमध्रियत सर्वं वा अत्तीति तददितेरदितित्वः सर्वस्यैतस्यात्ता भवति सर्वमस्यान्नं भवति य एवमेतददितेरदितित्वं वेद ॥5॥

मृत्यु ने सोचा—"मैं यदि इसको खा जाऊँगा तो अत्यल्प अन्न ही ग्रहण करूँगा।" बाद में उसने उस वाणी और उस आत्मा से (दोनों के संयोग से) ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, छन्द, यज्ञ, मनुष्यों और पशुओं को उत्पन्न किया। फिर उसने जो-जो उत्पन्न किया उसको खा जाने का निश्चय कर वह सबको खा जाता है, इसलिए उसका नाम 'अदिति' पड़ा। वह इस सारे जगत् को खा जाता है सब कुछ उसका अन्न होता है। जो इस अदिति का अदितित्व (सच्चा स्वरूप) जान लेता है, उसके लिए सारा जगत् अन्नरूप बनता है।

सोऽकामयत भूयसा यज्ञेन भूयो यजेयेति। सोऽश्राम्यत्स तपोऽतप्यत तस्य श्रान्तस्य तप्तस्य यशो वीर्यमुदक्रामत् प्राणा वै यशो वीर्यं तत्प्राणेषूत्क्रान्तेषु शरीरः श्वयितुमध्रियत तस्य शरीर एव मन आसीत् ॥6॥

मृत्यु ने सोचा—"मैं फिर से बड़े यज्ञ से यजन करूँ।" उसको श्रम हुआ। उसने कठिन तप किया। थके हुए और तपे हुए उसके यश और वीर्य-बल उसमें से निकल आए (चले गए) प्राण ही तो यश और वीर्य है। प्राणों के निकल जाने के बाद शरीर फूलने लगा (विकृत होने लगा) फिर भी उसका मन तो शरीर में ही था।

सोऽकामयत मेध्यं म इदःस्यादात्मन्व्यनेन स्यामिति। ततोऽश्वः समभवद्यदश्वत्तन्मेध्यमभूदिति तदेवाश्वमेधस्याश्वमेधत्वम्। एष ह वा अश्वमेधं

वेद थ एनमेवं वेद । तमनवरुध्यैवामन्यत । तः संवत्सरस्य परस्तादात्मन आलभत पशून्देवताभ्यः प्रत्यौहत् । तस्मात्सर्वदेवत्यं प्रोक्षितं प्राजापत्य-मालभन्ते । एष ह वा अश्वमेधो य एष तपति तस्य संवत्सर आत्माऽय-मग्निरर्कस्तस्येमे लोका आत्मानस्तावेतावर्काश्वमेधौ । सो पुनरेकैव देवता भवति मृत्युरेवाप पुनर्मृत्युं जयति नैनं मृत्युराप्नोति मृत्युरस्यात्मा भवत्येतासां देवतानामेको भवति ॥7॥

इति द्वितीयं ब्राह्मणम् ॥

उस (मृत्यु) ने कामना की कि—"मेरा यह शरीर मेध्य-यज्ञ के लिए योग्य (पवित्र) हो और इस शरीर से मैं आत्मा वाला होऊँ।" तब यह शरीर अश्वत् (अर्थात् फैलकर बड़ा) हो गया। वह शरीर मेध्य (यज्ञयोग्य पवित्र) था। यही तो 'अश्वमेध' का 'अश्वमेधत्व' (सच्चा स्वरूप) है। जो इसे इस प्रकार जानता है, वही अश्वमेध को जानता है। उस घोड़े को उसने मुक्त माना (किया)। एक वर्ष के बाद उस घोड़े का मृत्युरूप प्रजापति ने अपने लिए ही वध किया और अन्य पशुओं को भी देवताओं के पास पहुँचाया। इसलिए (याज्ञिक लोग) सब देवताओं के लिए अभिषिक्त ऐसे प्रजापति सम्बन्धी अश्व को धरने के लिए पशु का वध करते हैं। जो तपता अर्थात् प्रकाशित होता है (सूर्य), वह अश्वमेध है, संवत्सर (वर्ष) उसका शरीर है, अग्नि उसका अर्क है, समस्त लोक ही उसका आत्मा है। इस प्रकार अर्क और आदित्य के रूप समझने चाहिए। और वे दोनों भी एक ही मृत्युरूप प्रजापति देवता हैं। ऐसा जो जानता है, वह मृत्यु को जीत लेता है। इस प्रकार जाननेवाले को मृत्यु प्राप्त नहीं होता। मृत्यु तो उसकी आत्मा ही हो जाता है। ऐसा जाननेवाला देवताओं में से एक हो जाता है।

(यहाँ दूसरा ब्राह्मण पूरा हुआ।)

❋

तृतीयं ब्राह्मणम्

द्वया ह प्राजापत्या देवाश्चासुराश्च । ततः कनीयसा एव देवा ज्यायसा असुरास्त एषु लोकेष्वस्पर्धन्त । ते ह देवा ऊचुर्हन्तासुरान्यज्ञ उद्गीथे-नात्ययामेति ॥1॥

प्रजापति के दो प्रकार के पुत्र थे—देव और असुर। उनमें देव कम थे और असुर अधिक थे। वे दोनों इन लोकों में परस्पर स्पर्धा करने लगे। उनमें से देवों ने कहा—"अरे, हम यज्ञ में उद्गीथ के द्वारा असुरों से आगे बढ़ जाएँ।" (असुरों को हटा दें।)

ते ह वाचमूचुस्त्वं न उद्गायेति तथेति तेभ्यो वागुदगायत् । यो वाचि भोगस्तं देवेभ्य आगायत् यत् कल्याणं वदति तदात्मने । ते विदुरनेन वै न उद्गात्रात्येष्यन्तीति तमभिद्रुत्य पाप्मनाविध्यन्स यः स पाप्मा यदे-वेदमप्रतिरूपं वदति स एव स पाप्मा ॥2॥

उन्होंने (देवों ने) वाणी से कहा—"तुम हमारे लिए उद्गीथ का गान करो।" वाणी बोली—"ठीक है।" फिर देवों के लिए वाणी ने उद्गीथ का गान किया। वाणी में जो भोग्य वस्तु थी, वह उसने देवों के लिए गाई। किन्तु वाणी जो हितवचन बोलती है, वह तो अपने ही उपयोग के लिए किया

हुआ वचन था। असुरों ने यह जाना कि इस गाने वाली की सहाय से ही देव हमें हरा देंगे। इसलिए वे दौड़कर वाणी के पास गए और उसको पाप से बींध डाला। वाणी जो अयोग्य बोलती है, वही पाप है।

अथ ह प्राणमूचुस्त्वं न उद्गायेति तथेति तेभ्यः प्राण उदगायद्यः प्राणे भोगस्तं देवेभ्य आगायद्यत् कल्याणं जिघ्रति तदात्मने । ते विदुरनेन वै न उद्गात्रात्येष्यन्तीति तमभिद्रुत्य पाप्मनाऽविध्यन्स यः स पाप्मा यदेवेद-मप्रतिरूपं जिघ्रति स एव स पाप्मा ॥3॥

इसके बाद देवों ने प्राण से (श्वास से) कहा कि—"तुम हमारे लिए उद्गीथ का गान करो।" प्राण बोला—"ठीक है।" फिर देवों के लिए श्वास ने उद्गीथ का गान किया। प्राण में जो भोग्य वस्तु थी, वह उसने देवों के लिए गाई। पर श्वास जो शुद्ध वस्तु सूँघता है, वह उसके अपने उपयोग के लिए था। असुरों ने यह जाना कि इस उद्गाता की सहाय से देव हमें हरा देंगे। तब उन्होंने दौड़कर श्वास के पास जाकर उसे पाप से बींध डाला। श्वास जो खराब चीज सूँघता है, वही पाप है।

अथ ह चक्षुरूचुस्त्वं न उद्गायेति तथेति तेभ्यश्चक्षुरुदगायत् । यश्चक्षुषि भोगस्तं देवेभ्य आगायद्यत्कल्याणं पश्यति तदात्मने । ते विदुरनेन वै न उद्गात्रात्येष्यन्तीति तमभिद्रुत्य पाप्मनाविध्यन्स यः स पाप्मा यदेवेद-मप्रतिरूपं पश्यति स एव स पाप्मा ॥4॥

इसके बाद उन्होंने आँख से कहा—"तुम हमारे लिए उद्गीथ का गान करो।" आँख बोली—"ठीक है।" फिर देवों के लिए आँख ने उद्गीथ का गान किया। आँख में जो भोग्य वस्तु थी, वह उसने देवों के लिए गाई। पर जो कल्याण-प्रदर्शन होता है, वह तो उसने अपने लिए ही किया। असुरों ने यह जाना कि इस उद्गाता की सहाय से देव हमें हरा देंगे, तब उन्होंने दौड़कर आँख के पास जाकर उसे पाप से बींध डाला। आँख जिस न देखने लायक वस्तु को देखती है, वही तो पाप है।

अथ ह श्रोत्रमूचुस्त्वं न उद्गायेति तथेति तेभ्यः श्रोत्रमुदगायद्यः श्रोत्रे भोगस्तं देवेभ्य आगायद्यत्कल्याणं शृणोति तदात्मने । ते विदुरनेन वै न उद्गात्रात्येष्यन्तीति तमभिद्रुत्य पाप्मनाऽविध्यन्स यः स पाप्मा यदेवेद-मप्रतिरूपः शृणोति स एव स पाप्मा ॥5॥

तब देवों ने श्रोत्र से कहा—"तुम हमारे लिए उद्गीथ का गान करो।" श्रोत्र बोला—"ठीक है।" फिर श्रोत्र ने जो भोग्य वस्तु थी वह देवों के लिए गाई। परन्तु जो श्रेयस्कर वस्तु का श्रवण था वह अपने लिए ही रखा। असुरों ने जब यह जाना कि इस उद्गाता की सहाय से देव हमें हरा देंगे, तब वे दौड़ कर श्रोत्र के पास गए और उसे पाप से बींध डाला। श्रोत्र जो खराब सुनता है, वही यह पाप है।

अथ ह मन ऊचुस्त्वं न उद्गायेति तथेति तेभ्यो मन उदगायद्यो मनसि भोगस्तं देवेभ्य आगायद्यत् कल्याणं संकल्पयति तदात्मने । ते विदुरनेन वै न उद्गात्रात्येष्यन्तीति तमभिद्रुत्य पाप्मनाऽविध्यन्स यः स पाप्मा यदेवेदमप्रतिरूपंः संकल्पयति स एव स पाप्मैवमु खल्वेता देवताः पाप्मभिरुपासृजन्नेवमेनाः पाप्मनाऽविध्यन् ॥6॥

तब देवों ने मन से कहा—"तुम हमारे लिए उद्‌गीथ का गान करो।" मन बोला—"ठीक है।" मन ने उन देवों के लिए जो भोग्य वस्तु थी वही गाई। परन्तु जो कल्याणकारी संकल्प थे उन्हें तो अपने लिए ही रख लिया। असुरों ने जब जाना कि इस उद्‌गाता की सहाय से देव हमें हरा देंगे, तो वे दौड़कर मन के पास पहुँचे और मन को पाप से बींध डाला। मन जो ये बुरे संकल्प करता है वही पाप है। इस प्रकार सभी इन्द्रियों के अधिदेव पाप से विद्ध हो गये। इस प्रकार ये इन्द्रियाँ पाप से आविष्ट हो गईं।

अथ हेममासन्यं प्राणमूचुस्त्वं न उद्‌गायेति तथेति तेभ्य एष प्राण उदगायत्ते विदुरनेन वै न उद्‌गात्रात्येष्यन्तीति तदभिद्रुत्य पाप्मना-विव्यत्सन् स यथाश्मानमृत्वा लोष्टो विध्वꣳसे तैवꣳहैव विध्वꣳसमाना विष्वञ्चो विनेशुस्ततो देवा अभवन् परासुराः भवत्यात्मना परास्य द्विषन्भ्रातृव्यो भवति य एवं वेद ॥7॥

फिर देवों ने मुखस्थ प्राण से कहा—"तुम हमारे लिए उद्‌गीथ का गान करो।" मुखस्थ प्राण बोला—"ठीक है।" ऐसा कह कर उस प्राण ने उनके लिए उद्‌गीथ का गान किया। असुरों ने जाना कि इस उद्‌गाता की सहायता से देव हमें हरा देंगे, तो वे एकदम दौड़कर उसे पाप से बींध डालने का विचार किया, परन्तु जिस तरह मिट्टी का टुकड़ा पत्थर से टकराकर चूर होकर नष्ट हो जाता है, उसी तरह वे अनेक प्रकार से नष्ट हो गए। इसके बाद देवलोग अपने मूल स्वरूप (स्वभाव) को प्राप्त हुए। असुर हार गए। जो इस तरह जानता है, वह प्रजापतिरूप में स्थिर होता है और उसके साथ द्वेष करनेवाले सौतेले भाई का पराजय हो जाता है।

ते होचुः क्व नु सोऽभूद्यो न इत्थमसक्तेत्ययमास्येऽन्तरिति सोऽयास्य आङ्गिरसोऽङ्गानाꣳ हि रसः ॥8॥

इन्द्रियों के अधिदेव बोले—"जिसने (प्राण ने) हमें इस प्रकार आत्मभाव से देवत्व को पहुँचाया है, वह कहाँ है भला? उसे 'अयास्य' कहते हैं, उसे 'आंगिरस' भी कहते हैं क्योंकि वह अंगों का रस है।

सा वा एषा देवता दूर्नाम दूरꣳ ह्यस्या मृत्युर्दूरꣳ ह वा अस्मान्मृत्युर्भवति य एवं वेद ॥9॥

वह यह देवता 'दूर्' नामवाला है। क्योंकि इससे मृत्यु दूर है। जो इस प्रकार जानता है उससे मृत्यु दूर हो जाता है।

सा वा एषा देवतैतासां देवतानां पाप्मानं मृत्युमपहत्य यत्रासां दिशा-मन्तस्तद्‌गमयांचकार तदासां पाप्मनो विन्यदधात्तस्मान्न जनमियान्नान्त-मियान्नेत्पाप्मानं मृत्युमन्ववायानीति ॥10॥

इस प्राणदेवता ने उन वागादि देवताओं के पापमय मृत्यु को दूर करके, जहाँ इन दिशाओं का अन्त है, वहाँ पहुँचा दिया। वहाँ उन देवताओं के पापों को उसने तिरस्कारपूर्वक स्थापित कर दिया। 'मैं पापरूप मृत्यु से कदाचित् मिल तो नहीं जाऊँगा न!" इस भय से किसी अन्य जन के पास जाना नहीं चाहिए (अन्य=अन्त्य=बाहर के लोकों के पास नहीं जाना चाहिए) और दिशाओं के अन्त में भी नहीं जाना चाहिए।

सा वा एषा देवतैतासां देवतानां पाप्मानं मृत्युमपहत्याथैनां मृत्युमत्य-वहत् ॥11॥

उस प्राण देवता ने इन देवताओं के पापरूप मृत्यु को दूर करके बाद में इन यागादि देवताओं को उनके पापरूप मृत्यु से दूर करके अग्नि आदि को उनके मूल देवत्व को प्राप्त करवाया।

स वै वाचमेव प्रथमामत्यवहत्सा यदा मृत्युमत्यमुच्यत सोऽग्निरभ-वत्सोऽयमग्निः परेण मृत्युमतिक्रान्तो दीप्यते ॥12॥

उस प्रसिद्ध प्राण ने प्रधान वाग्देवता को पहले मृत्यु से पार किया। वह वाक् जब मृत्यु को पार कर गई, तो वह अग्नि हो गई। वह मृत्यु को अतिक्रान्त करनेवाला अग्नि मृत्यु से परे रहता हुआ देदीप्यमान है।

अथ ह प्राणमत्यवहत्स यदा मृत्युमत्यमुच्यत स वायुरभवत्सोऽयं वायुः परेण मृत्युमतिक्रान्तः पवते ॥13॥

फिर उस प्राण ने श्वास को मृत्यु से रहित कर दिया। वह श्वास जब मृत्यु से रहित हो गया, तब वह वायु हो गया। वह मृत्यु से अतिक्रान्त हुआ वायु मृत्यु से ऊपर उठकर बहता है।

अथ चक्षुरत्यवहत्तद्यदा मृत्युमत्यमुच्यत स आदित्योऽभवत्सोऽसावा-दित्यः परेण मृत्युमतिक्रान्तस्तपति ॥14॥

फिर उस प्राण ने चक्षु को मृत्युरहित बनाया। वह चक्षु जब मृत्यु से रहित हो गया, तब वह आदित्य (सूर्य) बन गया। मृत्यु को पार कर जानेवाला वह सूर्य, मृत्यु से ऊपर उठकर तप रहा है अर्थात् प्रकाशित हो रहा है।

अथ श्रोत्रमत्यवहत्तद्यदा मृत्युमत्यमुच्यत ता दिशोऽभवꣳस्ता इमा दिशः परेण मृत्युमतिक्रान्ताः ॥15॥

बाद में उसने कान को मृत्युरहित किया। कान मृत्यु के पास से छूट गया, तब वह दिशाएँ बन गया। वे मृत्यु से ऊपर उठी हुई दिशाएँ मृत्यु का अतिक्रमण कर चुकी हैं।

अथ मनोऽत्यवहत्तद्यदा मृत्युमत्यमुच्यत स चन्द्रमाऽभवत्सोऽसौ चन्द्रः परेण मृत्युमतिक्रान्तो भात्येवꣳ ह वा एनमेषा देवता मृत्यमतिवहति य एवं वेद ॥16॥

बाद में उस प्राण ने मन को मृत्यु से छुटकारा दिलाया। मन जब मृत्यु को पार कर गया, तब वह चन्द्रमा हो गया। वह पार हुआ चन्द्रमा, मृत्यु से ऊपर उठकर प्रकाशित हो रहा है। जो इस प्राण को ऐसा (पंचदेवविशिष्ट) मानता है, उसको भी यह प्राण मृत्यु से ऊपर उठा देता है।

अथात्मनेऽन्नाद्यमागायद्यद्धि किंचनान्नमद्यतेऽनेनैव तदद्यत इह प्रति-तिष्ठति ॥17॥

तब अपने लिए उस प्राण ने अन्नाद्य का गान किया अर्थात् अन्नादि प्राप्त किया। क्योंकि जो कुछ भी अन्न खाया जाता है, वह प्राण ही खाता है और उसी से वह टिका रहता है।

ते देवा अब्रुवन्नेतावद्वा इदः सर्वं यदन्नं तदात्मन आगासीरनु नोऽस्मिन्नन्न आभजस्वेति ते वै माभिसंविशतेति तथेति तः समन्तं परिण्यविशन्त तस्माद्यदनेनान्नमत्ति तेनैतास्तृप्यन्त्येवः ह वा एनः स्वा अभिसंविशन्ति भर्ता स्वानाः श्रेष्ठः पुर एता भवत्यन्नादोऽधिपतिर्य एवं वेद य उ हैवं-विदः स्वेषु प्रतिप्रतिर्बुभूषति न हैवालं भार्येभ्यो भवत्यथ य एवैतमनु-भवति यो वै तमनुभार्यान् बुभूर्षति स हैवालं भार्येभ्यो भवति ॥18॥

वे वागादि देव प्राण से कहने लगे—"(जगत् में) अन्न तो इतना ही था वह (सब) तो आपने गाकर ले लिया। अब हमें भी उस अन्न में से थोड़ा भाग दीजिए।" तब प्राण ने कहा—"तुम (सब) मुझमें प्रविष्ट हो जाओ।" इन्द्रियों ने "ठीक है"। ऐसा कहकर चारों ओर से प्राण में प्रवेश कर लिया। इसीलिए प्राण जो कुछ अन्न खाता है, इससे सभी इन्द्रियाँ तृप्त हो जाती हैं। जो मनुष्य इस प्रकार जानता है, उसके स्वजन (सगे-सम्बन्धी) उसका आश्रय लेते हैं। जो मनुष्य आश्रितों का रक्षण करता है, वह श्रेष्ठ बनता है। वह अग्रगण्य होता है, वह खाने-पीने में सुखी होता है, वह सबका स्वामी (अधिपति) होता है। उसके स्वजनों में से यदि कोई उसके साथ स्पर्धा करना चाहे, तो वह स्पर्धक अपने आश्रितों का भरणपोषण नहीं कर सकता। परन्तु जो मनुष्य ऐसे ज्ञानी का अनुसरण करके अपने आश्रितों का भरणपोषण करना चाहता है, वह सचमुच आश्रितों को पाल सकता है।

सोऽयास्य आङ्गिरसोऽङ्गानाः हि रसः प्राणो वा अङ्गानाः रसः प्राणो हि वा अङ्गानाः रसस्तस्माद्यस्मात्कस्माच्चाङ्गात्प्राण उत्क्रामति तदेव तच्छु-ष्यत्येष हि वा अङ्गानाः रसः ॥19॥

वह 'अयास्य' (मुखस्थ प्राण) 'आंगिरस' भी कहा जाता है। क्योंकि वह अंगों का रस है। वास्तव में प्राण अंगों का रस है। प्राण अंगों का रस है इसीलिए किसी अंग से जब प्राण निकल जाते हैं, तब वह अंग सूख जाता है, क्योंकि वह अंगों का ही तो रस है।

एष उ एव बृहस्पतिर्वाग्वै बृहती तस्या एष पतिस्तस्मादु बृहस्पतिः ॥20॥

यह प्राण ही बृहस्पति है, क्योंकि वाणी ही 'बृहती' है, उस वाणी का यह प्राण पति (स्वामी) है इसलिए वह बृहस्पति है।

एष उ एव ब्रह्मणस्पतिर्वाग्वै ब्रह्म तस्या एष पतिस्तस्मादु ब्रह्मण-स्पतिः ॥21॥

यह प्राण ही ब्रह्मणस्पति भी है, क्योंकि वाणी ही ब्रह्म (वैदिक प्रार्थना) है, प्राण वाणी का पति है, इसलिए प्राण ही 'ब्राह्मणस्पति' है।

एष उ एव साम वाग्वै सामेष सा चामश्चेति तत्साम्नः सामत्वं यद्वेव समः प्लुषिणा समो मशकेन समो नागेन सम एभिस्त्रिभिर्लोकैः समोऽनेन सर्वेण तस्माद्वेव सामाश्नुते साम्नः सायुज्यः सलोकतां जयति य एवमेतत्साम वेद ॥22॥

यह प्राण ही साम है। वाणी 'सा' (स्त्री) है, और वह प्राण 'अम' (पुरुष) है। 'सा' और 'अम' ही साम है। यही साम का सामत्व (वास्तविक रूप) है। क्योंकि प्राण एक छोटी मक्खी के शरीर जैसा है, मच्छर जैसा है, हाथी के शरीर जैसा है, तीनों लोंकों के समान है, सारे विश्व के समान है, इसलिए

वह साम (वेद) कहा जाता है। जो (मनुष्य) साम को इस तरह जानता है, वह साम में मिल जाता है और जिस लोक में साम रहता है, उस लोक को पा लेता है।

एष उ वा उद्गीथः प्राणो वा उत्प्राणेन हीदः सर्वमुत्तब्धं वागेव गीथोच्च-गीथा चेति स उद्गीथः ॥23॥

यह प्राण ही उद्गीथ है। प्राण ही 'उत्' है, प्राण से ही यह सब धारण किया हुआ है। और वाक् ही 'गीथा' है। 'उत्' भी है और 'गीथा' भी है, इसलिए वह उद्गीथ है।

तद्धापि ब्रह्मदत्तश्चैकितानेयो राजानं भक्षयन्नुवाचायं त्यस्य राजा मूर्धानं विपातयताद्यदितोऽयास्य आङ्गिरसोऽन्येनोद्गायदिति वाचा च ह्येव स प्राणेन चोदगायदिति ॥24॥

इस विषय में यह (आख्यायिका) भी है। चैकितानेय ब्रह्मदत्त ने (यज्ञ में) राजा का (सोम का) भक्षण करते हुए कहा—"यदि मेरे अयास्य अंगिरस नामक मुख्य प्राण ने वाणी और प्राण के सिवा किसी अन्य रीति से उद्गीथ गान किया हो, तो यह सोमदेव मेरा सिर नीचे गिरा दे अर्थात् मेरा अपमान कर दे।" उसने वाणी और प्राण से ही उद्गीथ का गान किया था, ऐसा निश्चय होता है।

तस्य हैतस्य साम्नो यः स्वं वेद भवति हास्य स्वं तस्य वै स्वर एव स्वं तस्मादार्त्विज्यं करिष्यन्वाचि स्वरमिच्छेत तया वाचा स्वरसंपन्नयार्त्विज्यं कुर्यात्तस्माद्यज्ञे स्वरवन्तं दिदृक्षन्त एवाथो यस्य स्वं भवति भवति हास्य स्वं य एवमेतत्साम्नः स्वं वेद ॥25॥

जो इस साम के 'स्वर' को यथार्थ रूप में जानता है, वह अवश्य धन-ऐश्वर्य से सम्पन्न होता है। उसका स्वर ही उसका धन है। इसलिए ऋत्विक्-कर्म करनेवाले को वाणी में स्वर की इच्छा करनी चाहिए। उस स्वरयुक्त वाणी से ऋत्विक्-कर्म करना चाहिए। जैसे लोग धनवाले को देखने की (सदा) इच्छा करते हैं, वैसे ही यज्ञ में अच्छे स्वरवाले को देखने की इच्छा करते हैं। जो कोई भी इस तरह साम के तत्त्व को जानता है, उसे वह धन (मधुर स्वर) मिल जाता है।

तस्य हैतस्य साम्नो यः सुवर्णं वेद भवति हास्य सुवर्णं तस्य वै स्वर एव सुवर्णं भवति हास्य सुवर्णं य एवमेतत्साम्नः सुवर्णं वेद ॥26॥

इस साम के उस सुवर्ण (मधुर स्वर) को जो जानता है उसे सुवर्ण प्राप्त होता है। स्वर ही उसका सुवर्ण है। इस प्रकार जो साम के सुवर्ण को जानता है, उसे सुवर्ण मिलता है।

तस्य हैतस्य साम्नो यः प्रतिष्ठां वेद प्रति ह तिष्ठति तस्य वै वागेव प्रतिष्ठा वाचि हि खल्वेष एतत्प्राणः प्रतिष्ठितो गीयतेऽन्न इत्यु हैक आहुः ॥27॥

जो इस साम की प्रतिष्ठा को जानता है, वह प्रतिष्ठित होता है। वाणी ही उसकी प्रतिष्ठा है। वास्तव में वाणी में ही प्रतिष्ठित यह प्राण गाया जाता है (गीतिभाव को प्राप्त होता है)। कुछ लोग कहते हैं कि साम अन्न में रहता है (अर्थात् अन्नस्थ साम ही गाया जाता है।)

अथातः पवमानानामेवाभ्यारोहः स वै खलु प्रस्तोता साम प्रस्तौति स यत्र प्रस्तुयात्तदेतानि जपेदसतो मा सद्गमय तमसो मा ज्योतिर्गमय मृत्यो-र्माऽमृतं गमयेति। स यदाहासतो मा सद्गमयेति मृत्युर्वा असत्सदमृतं

मृत्योर्मा मृतं गमयामृतं मा कुर्वित्येवैतदाह तमसो मा ज्योतिर्गमयेति मृत्युर्वै तमो ज्योतिरमृतं मृत्योर्माऽमृतं गमयामृतं मां कुर्वित्येवैतदाह मृत्योर्माऽमृतं गमयेति नात्र तिरोहितमिवास्ति। अथ यानीतराणि स्तोत्राणि तेष्वात्मनेऽन्नाद्यमागायेत्तस्माद‍ु तेषु वरं वृणीत यं कामं कामयेत तꣳ स एष एवंविदुद्गातात्मने वा यजमानाय वा यं कामं कामयेत तमागायति तद्धैतल्लोकजिदेव न हैवालोक्यताया आशास्ति य एवमेतत्साम वेद ॥28॥

इति तृतीयं ब्राह्मणम् ॥

अब पवमान मन्त्रों (शुद्धिमन्त्रों) के जप की विधि बताई गई है। यज्ञ में उद्‍गाता ऋत्विज् साम की स्तुति करता है। उस स्तुति में उसे इन मंत्रों का जप करना चाहिए—"मुझे असत् से सत् की ओर ले जाओ, अन्धकार से प्रकाश की ओर ले जाओ, मृत्यु से अमृत की ओर ले जाओ।" स्तुतिकर्ता कहता है—"मुझे असत् में से सत् की ओर ले जाओ।" यहाँ 'असत्' मृत्यु है और 'सत्' अमृत है। इसलिए वह यही कहता है कि "मुझे मृत्यु से अमृत की ओर ले जाओ।" वह और आगे कहता है कि—"मुझे अन्धकार से प्रकाश की ओर जाओ।" यहाँ भी अन्धकार मृत्यु ही है और प्रकाश अमृत है। तो इसका अर्थ भी यही हुआ कि "मुझे मृत्यु से अमृत की ओर ले जाओ"। उद्‍गाता और आगे कहता है कि—"मुझे मृत्यु से अमृत की ओर ले जाओ अर्थात् मुझे अमर बना दो।" इसमें तो कुछ भी अस्पष्ट है ही नहीं। इसके बाद जो अन्य स्तोत्र बाकी रहे, उन्हें गाकर उद्‍गाता अपने लिए खाद्यान्न प्राप्त करता है। अत: इन (शेष) स्तोत्रों को गाकर उद्‍गाता भले ही अपनी इच्छित वस्तु माँग ले। यज्ञ में उद्‍गाता का काम करनेवाला अध्वर्यु इस प्रकार अपने लिए अथवा यजमान के लिए जो कुछ चाहता है, वह ऐसा स्तुतिगान करके प्राप्त कर सकता है। यह ज्ञान (उपर्युक्त साम का ज्ञान) जगत् को जीत सकता है। जो मनुष्य इस प्रकार से साम को जानता है, वह किसी भी लोक में जाने के योग्य बन जाता है। उसे किसी भी लोक में न जाने की निराशा नहीं होती।

(यहाँ तीसरा ब्राह्मण पूरा हुआ।)

❈

चतुर्थं ब्राह्मणम्

आत्मैवेदमग्र आसीत् पुरुषविधः सोऽनुवीक्ष्य नान्यदात्मनोऽपश्यत् सोऽहमस्मीत्यग्रे व्याहरत्ततोऽहंनामाभवत्तस्मादप्येतर्ह्यामन्त्रितोऽहमयमित्येवाग्र उक्त्वाऽथान्यन्नाम प्रब्रूते यदस्य भवति स यत्पूर्वोऽस्मात्सर्वस्मात्सर्वान्पाप्मन औषत् तस्मात्पुरुष ओषति ह वै स तं योऽस्मात्पूर्वो बुभूषति य एवं वेद ॥1॥

पहले यह पुरुषाकार आत्मा (प्रजापति) ही था। उसने विचार करने के बाद अपने से भिन्न किसी को नहीं देखा। प्रारंभ में उसने "मैं हूँ" ऐसा कहा। इसीलिए वह "मैं" ऐसे नामवाला (अहंनामा) हुआ। इसलिए अब भी किसी को बुलाए जाने पर पहले "यह मैं हूँ"—ऐसा कहकर ही बाद में अपना जो नाम होता है, वह यह मनुष्य बोलता है। और क्योंकि सबसे पहले सभी पापों को प्रजापति ने जला दिया था इसीलिए तो वह पुरुष हुआ था। जो मनुष्य इस प्रकार जानता है (उपासना करता है) वह अपने प्रतिस्पर्धी को जला देता है।

सोऽबिभेत्तस्मादेकाकी बिभेति स हायमीक्षांचक्रे यन्मदन्यन्नास्ति कस्मान्नु बिभेमीति तत एवास्य भयं वीयाय कस्माद्ध्यभेष्यद्द्वितीयाद्वै भयं भवति ॥2॥

उस आत्मा को डर लगा इसलिए आज भी अकेला मनुष्य डरता है। उस आत्मा ने सोचा कि, "मुझसे दूसरा तो कोई है नहीं तो मैं किससे डरता हूँ?" ऐसा विचार करने से उसका डर चला गया। वास्तव में वह किससे डर रहा था? यदि उसके सिवा कोई होता तभी तो डर लगता! दूसरे से ही भय होता है।

स वै नैव रेमे तस्मादेकाकी न रमते स द्वितीयमैच्छत् स हैतावानास यथा स्त्रीपुमाꣳसौ संपरिष्वक्तौ स इममेवात्मानं द्वेधाऽपातयत्ततः पतिश्च पत्नी चाभवतां तस्मादिदमर्धबृगलमिव स्व इति ह स्माह याज्ञवल्क्यस्तस्मादयमाकाशः स्त्रिया पूर्यत एव ताꣳ समभवत्ततो मनुष्या अजायन्त ॥3॥

उस प्रजापति (आत्मा) को कुछ भी चैन न पड़ा। इसीलिए आज भी अकेले मनुष्य को चैन नहीं पड़ता। उसने दूसरे की कामना की। तो जैसे स्त्री-पुरुष परस्पर आश्लिष्ट हों, ऐसा वह हो गया (ऐसा उसका स्वरूप=परिमाण हो गया)। फिर उसने अपने शरीर को दो भागों में बाँट दिया। इससे पति और पत्नी—दो हुए। इसीलिए याज्ञवल्क्य ने कहा है कि जैसे द्विदल का एक भाग पूरे बीज का आधा भाग होता है वैसे ही यह पुरुष अपने वास्तविक स्वरूप का आधा भाग मात्र ही है। उसकी जो कमी थी, वह स्त्री से पूरी हो गई। इसी से यह पुरुषार्धरूप आकाश स्त्री से पूर्ण होता है। उस स्त्री के साथ वह मैथुनकर्म में प्रवृत्त हुआ। उसमें से मनुष्य पैदा हुआ।

सो हेयमीक्षांचक्रे कथं नु मात्मन एव जनयित्वा संभवति हन्त तिरोऽसानीति सा गौरभवदृषभ इतरस्ताꣳ समेवाभवत्ततो गावोऽजायन्त वडवेतराभवदश्ववृष इतरो गर्दभीतरा गर्दभ इतरस्ताꣳ समेवाभवत्तत एकशफमजायताऽजेतराभवद्बस्त इतरोऽविरितरा मेष इतरस्ताꣳसमेवाभवत्ततोऽजावयोऽजायन्तैवमेव यदिदं किंच मिथुनमापिपीलिकाभ्यस्तत्सर्वमसृजत ॥4॥

फिर उस स्त्री ने (शतरूपा ने) सोचा कि—"मुझे अपने ही शरीर में से उत्पन्न करके वह मेरे साथ क्यों संभोग करता है? वह तो बड़े खेद का विषय है, इसलिए मैं चलो छिप जाऊँ।"—ऐसा सोचकर वह गाय बनी, तो दूसरा (मनु) साँड़ बना और उसके साथ संभोग किया। इससे गायें, बैल आदि उत्पन्न हुए। फिर वह दूसरी (शतरूपा) घोड़ी बनी, तो दूसरा (मनु) अश्वश्रेष्ठ बना। जब दूसरी (शतरूपा) गधी बनी तो वह दूसरा (मनु) गधा हुआ और उसके साथ संभोग किया तो उससे एक खुरवाले प्राणी उत्पन्न हुए। तब दूसरी (शतरूपा) ने बकरी का रूप लिया, तो दूसरा (मनु) बकरा हुआ। जब दूसरी (शतरूपा) भेड़ी बनी तो वह दूसरा (मनु) भेड़ा बना और उसके साथ संभोग किया तो उससे बकरे-बकरियाँ और भेड़ा-भेड़ियाँ उत्पन्न हुईं। इस प्रकार जो कोई भी यहाँ स्त्री-पुरुष का युगल है—चींटियों से लेकर जो कुछ भी युगल है, वह उसने ही उत्पन्न किया है।

सोऽवेदहं वाव सृष्टिरस्म्यहꣳहीदꣳसर्वमसृक्षीति ततः सृष्टिरभवत्सृष्ट्याꣳ हास्यैतस्यां भवति य एवं वेद ॥5॥

उस प्रजापति ने जाना कि—"मैं ही सृष्टि हूँ। मैंने ही यह सब कुछ बनाया है।" इसलिए वह 'सृष्टि' ऐसे नामवाला हुआ। जो कोई भी इस प्रकार जानता है, वह इस प्रजापति की इस सृष्टि में स्रष्टा होता है।

अथेत्यभ्यमन्थत्स मुखाच्च योनेर्हस्ताभ्यां चाग्निमसृजत तस्मादेतदुभयमलोमकमन्तरतोऽलोमका हि योनिरन्तरतः। तद्यदिदमाहुरमुं यजामुं यजेत्येकैकं देवमेतस्यैव वा विसृष्टिरेष उ ह्येव सर्वे देवा अथ यत्किंचेदमार्द्रं तद्रेतसोऽसृजत तदु सोम एतावद्वा इदꣳसर्वमन्नं चैवान्नादश्च सोम एवान्नमग्निरन्नादः सैषा ब्रह्मणोऽतिसृष्टिर्यच्छ्रेयसो देवानसृजताथ यन्मर्त्यः सन्नमृतानसृजत तस्मादतिसृष्टिरतिसृष्ट्याꣳ हास्यैतस्यां भवति य एवं वेद ॥6॥

बाद में इस प्रकार उसने मन्थन किया। उसने मुखरूपी योनि में से दो हाथों से मन्थन करके अग्नि उत्पन्न किया। इसलिए ये हाथ और मुख (दोनों) भीतर की ओर लोमरहित हैं। इसीलिए स्त्रियों की योनि भी भीतर से लोमरहित है। कर्मकाण्ड में याज्ञिक ऐसा कहते रहते हैं कि—"इस एक-एक देव का पूजन करो" (पर) ये सब देव प्रजापति के (एक के) ही देवभेद हैं। इसलिए यह प्रजापति ही सर्वदेवरूप है। इसके बाद जो कुछ भी यहाँ आर्द्र (भीगा) है, वह सब उसने अपने वीर्य से उत्पन्न किया है। वही सोम है (सोमरस है)। बस, इतना ही यह सब अन्न और अन्नाद है। सोम ही अन्न है और अग्नि अन्नाद है। वह यही तो ब्रह्मा की अतिसृष्टि (उत्कृष्ट सृष्टि) है कि उसने अपने से भी उत्कृष्ट देवता उत्पन्न किये। और भी यह कि स्वयं मरणधर्मा होने पर भी उसने अमृत देवों को उत्पन्न किया। इसलिए तो वह अतिसृष्टि (उत्कृष्टसृष्टि) है। जो कोई भी इस प्रकार जानता है, वह इस प्रजापति की इस अतिसृष्टि में ही (देवसमूह में ही) प्राप्त हो जाता है।

तद्धेदं तर्ह्यव्याकृतमासीत्तन्नामरूपाभ्यामेव व्याक्रियतेऽसौनामायमिदꣳरूप इति तदिदमप्येतर्हि नामरूपाभ्यामेव व्याक्रियतेऽसौनामायमिदꣳरूपमिति स एष इह प्रविष्ट आनखाग्रेभ्यो यथा क्षुरः क्षुरधानेऽवहितः स्याद्विश्वंभरो वा विश्वंभरकुलाये तं न पश्यन्ति। अकृत्स्नो हि स प्राणन्नेव प्राणो नाम भवति। वदन् वाक्पश्यꣳश्चक्षुः शृण्वन् श्रोत्रं मन्वानो मनस्तान्यस्यैतानि कर्मनामान्येव स योऽत एकैकमुपास्ते न स वेदाकृत्स्नो ह्येषोऽत एकैकेन भवत्यात्मेत्येवोपासीतात्र ह्येते सर्व एकं भवन्ति तदेतत्पदनीयमस्य सर्वस्य यदयमात्मानेन ह्येतत्सर्वं वेद। यथा ह वै पदेनानुविन्देदेवं कीर्तिꣳ श्लोकं विन्दते य एवं वेद ॥7॥

उस समय यह जगत् अव्याकृत (अप्रकट) था। वह नाम और रूप से ही प्रकट (अभिव्यक्त) हुआ। यह (व्यापक) आत्मा अमुक नामवाला और अमुक रूपवाला होकर प्रकट हुआ। इस समय में भी वह अव्याकृत वस्तु, नाम और रूप के द्वारा ही "अमुक-अमुक नामवाली है, या अमुक रूपवाली है।"—इस प्रकार ही व्यक्त होती है। वह यह आत्मा नख से लेकर समस्त देहों में प्रविष्ट है। जिस तरह अस्त्र अपने म्यान में प्रविष्ट होता है, अथवा अग्नि अपने आश्रयरूप काष्ठ में प्रविष्ट होता है, उसे कोई देख नहीं सकता, क्योंकि वह असंपूर्ण है। श्वास-प्रश्वास की क्रिया से ही वह 'प्राण' ऐसे नामवाला होता है। बोलने से ही वह 'वाक्' होता है, देखने से ही वह चक्षु है, मनन करने से ही वह मन है।

उनके ये नाम कर्मानुसारी ही हैं। इसलिए जो उनमें से एक-एक देव की उपासना करता है, वह (इसके वास्तविक स्वरूप को) जानता नहीं है। इसीलिए वह यह अपूर्ण है। वह एक-एक विशेषण से युक्त होता है। इसलिए 'यह सब आत्मा ही है'—ऐसी उपासना करनी चाहिए। क्योंकि इस आत्मा में ही ये सब एक हो जाते हैं। वह यह आत्मतत्त्व ही इन सबमें जानने योग्य है। क्योंकि यह 'आत्मा' है, इस आत्मा को जानने से ही इस सारे जगत् को (मनुष्य) जान लेता है। जैसे (व्यवहार में) खोए हुए पशु के पदचिह्न से वह पशु खोज लिया जाता है, उसी प्रकार जो इस तथ्य को इस प्रकार जानता है, वह कीर्ति और स्वजन का समागम प्राप्त करता है।

तदेतत्प्रेयः पुत्रात्प्रेयो वित्तात्प्रेयोऽन्यस्मात्सर्वस्मादन्तरतरं यदयमात्मा स योऽन्यमात्मनः प्रियं ब्रुवाणं ब्रूयात् प्रियꣳ रोत्स्यतीतीश्वरो ह तथैव स्यादात्मानमेव प्रियमुपासीत स य आत्मानमेव प्रियमुपास्ते न हास्य प्रियं प्रमायुकं भवति ॥8॥

वह यह आत्मतत्त्व पुत्र से भी अधिक प्रिय होता है, धन से भी अधिक प्रिय होता है। अन्य सभी से भी अधिक प्रिय होता है। क्योंकि यह आत्मा सबसे अत्यन्त समीपवर्ती है। तो यह जो आत्मदर्शी है, वह जो मनुष्य आत्मा से भिन्न (अन्य) को प्रिय कहता है उससे यह कह दे कि "तुम्हारा प्रिय नष्ट हो जाएगा।" और होता भी तो ऐसा ही है, क्योंकि वह समर्थ होता है। इसलिए आत्मरूप प्रिय की ही उपासना करनी चाहिए। तो जो आत्मतत्त्व को सर्वाधिक प्रिय मानकर उसकी उपासना करता है, उसका प्रिय कदापि नष्ट नहीं होता।

तदाहुर्यद्ब्रह्मविद्यया सर्वं भविष्यन्तो मनुष्या मन्यन्ते किमु तद्ब्रह्माऽवेद्यस्मात् तत्सर्वमभवदिति ॥9॥

जिस ब्रह्मविद्या से "हम सर्वरूप (अशेष) हो जाएँगे"—ऐसा लोग मानते हैं, उस ब्रह्म के विषय में जिज्ञासु ब्राह्मणों ने कहा है कि—"ब्रह्म क्या है ? उसने क्या जाना कि जिससे वह सर्वरूप हो गया" ?

ब्रह्म वा इदमग्र आसीत् तदात्मानमेवावेत्। अहं ब्रह्मास्मीति तस्मात्तत् सर्वमभवत् तद्यो यो देवानां प्रत्यबुध्यत स एव तदभवत्तथर्षीणां तथा मनुष्याणां तद्धैतत्पश्यन्नृषिर्वामदेवः प्रतिपेदेऽहं मनुरभवꣳ सूर्यश्चेति तदिदमप्येतर्हि य एवं वेदाऽहं ब्रह्मास्मीति स इदꣳ सर्वं भवति तस्य ह न देवाश्च नाभूत्या ईशत आत्मा ह्येषाꣳ स भवत्यथ योऽन्यां देवतामुपास्तेऽन्योऽसावन्योऽहमस्मीति न स वेद यथा पशुरेवꣳ स देवानां यथा ह वै बहवः पशवो मनुष्यं भुंज्युरेवमेकैकः पुरुषो देवान् भुनक्त्येकस्मिन्नेव पशावादीयमानेऽप्रियं भवति किमु बहुषु तस्मादेषां तन्न प्रियं यदेतन्मनुष्या विद्युः ॥10॥

पहले यह ब्रह्म ही था। उसने स्वयं को जाना कि 'मैं ब्रह्म हूँ।' इसलिए वह ब्रह्म सर्वरूप हो गया। देवों में से जिस-जिसने ब्रह्म को जाना, वे स्वयं ही तद्रूप (ब्रह्मरूप) हो गये। इसी प्रकार ऋषियों में और मनुष्यों में जिसने-जिसने ब्रह्म को जाना वे तद्रूप (ब्रह्मरूप) हो गये। उसी को ही आत्मरूप से देखते हुए ऋषि वामदेव ने कहा कि—"मैं मनु था, मैं सूर्य भी था।" इस समय में भी

इस ब्रह्म को, "मैं ब्रह्म हूँ"—इस प्रकार जो कोई जानता है, तो वह सर्वरूप हो जाता है। ऐसे ब्रह्मज्ञानी की 'ब्रह्मरूपता न हो' अर्थात् उसका सर्वात्मभाव न होने देने में देवलोग भी सामर्थ्य नहीं रखते। क्योंकि वह ब्रह्मवेत्ता उनका भी (देवों का भी) आत्मा हो जाता है। देवों का भी ध्येय, देवों का भी विज्ञेय ब्रह्म हो जाता है। और जो अन्यान्य देवों की उपासना करता है कि—"वह अन्य है, मैं अन्य हूँ" ऐसा मानता है, वह पशु के समान हो जाता है। जैसे बहुत से पशु अपने मालिक का पालन-पोषण करते हैं, वैसे ही एक-एक अज्ञानी पुरुष देवों का पालन-पोषण करता है। एक भी पशु का हरण किए जाने पर मनुष्य को अच्छा नहीं लगता तो फिर बहुत से पशुओं के हरण किए जाने पर तो कहना ही क्या है ? इसलिए उन देवताओं को यह बात अच्छी नहीं लगती कि मनुष्य इस बात को जान लें।

ब्रह्म वा इदमग्र आसीदेकमेव तदेकꣳ सन्न व्यभवत्तच्छ्रेयो रूपमत्यसृजत क्षत्रं यान्येतानि देवत्रा क्षत्राणीन्द्रो वरुणः सोमो रुद्रः पर्जन्यो यमो मृत्यु-रीशान इति तस्मात् क्षत्रात्परं नास्ति तस्माद्ब्राह्मणः क्षत्रियमधस्तादुपास्ते राजसूये क्षत्र एव तद्यशो दधाति सैषा क्षत्रस्य योनिर्यद्ब्रह्म तस्माद्यद्यपि राजा परमतां गच्छति ब्रह्मैवान्तत उपनिश्रयति स्वां योनिं य उ एनꣳ हिनस्ति स्वाꣳ स योनिमृच्छति स पापीयान् भवति यथा श्रेयाꣳसꣳ हिꣳसित्वा ॥11॥

आरम्भ में एक ब्रह्म ही था। अकेले होने से वह विभूतियुक्त कार्य करने में असमर्थ था। उसने प्रशस्त क्षत्र की रचना की। देवों में जो क्षत्रिय जाति के हैं, वे इन्द्र, वरुण, सोम, रुद्र, पर्जन्य, यम, मृत्यु, ईशान आदि हैं (उन्हें उत्पन्न किया) इसलिए क्षत्रिय से उत्कृष्ट कोई नहीं है। इसीलिए ब्राह्मण राजसूय यज्ञ में क्षत्रिय के नीचे बैठकर उपासना करता है। अपने यश को वह क्षत्रिय में ही स्थापित करता है। जो ब्रह्म है, वह क्षत्रिय की योनि (जन्मस्थान) है। इसलिए यद्यपि राजा श्रेष्ठत्व को भले ही प्राप्त करता हो, परन्तु राजसूय के पूर्ण होने के बाद अन्त में ब्राह्मण का ही आश्रय लेता है। क्योंकि ब्राह्मण से ही उसका जन्म हुआ है। जो कोई उस ब्राह्मण को मारता है, वह अपनी ही योनि का नाश करता है। जैसे श्रेष्ठ की हिंसा से पुरुष पापी होता है, वैसे ही वह भी पापी होता है।

स नैव व्यभवत् स विशमसृजत यान्येतानि देवजातानि गणश आख्या-यन्ते वसवो रुद्रा आदित्या विश्वेदेवा मरुत इति ॥12॥

वह ब्रह्म विकसित कर्म करने में असमर्थ हुआ, तब उसने वैश्य को उत्पन्न किया। जो देव सामूहिक रूप से पहचाने जाते हैं। जैसे रुद्र (ग्यारह), वसु (आठ), आदित्य (बारह), विश्वेदेवा (तेरह) और मरुत् (उनचास) हैं।

स नैव व्यभवत्स शौद्रं वर्णमसृजत पूषणमियं वै पूषेयꣳ हीदꣳ सर्वं पुष्यति यदिदं किञ्च ॥13॥

वह ब्रह्म विभूतियुक्त कर्म करने में समर्थ नहीं हुआ। उसने सबके पोषक ऐसे शूद्रवर्ण की रचना की। यह पृथ्वी ही पूषा है (पोषण करनेवाली है), क्योंकि यहाँ जो कुछ है उन सबका पोषण वही करती है।

स नैव व्यभवत्तच्छ्रेयोरूपमत्यसृजत धर्मं तदेतत् क्षत्रस्य क्षत्रं यद्धर्मस्त-स्माद्धर्मात्परं नास्त्यथो अबलीयान् बलीयाꣳसमाशꣳसते धर्मेण यथा

राज्ञैवं यो वै स धर्मः सत्यं वै तत्तस्मात् सत्यं वदन्तमाहुर्धर्मं वदतीति धर्मं वा वदन्तꣳ सत्यं वदतीत्येतद्ध्येवैतदुभयं भवति ॥14॥

फिर भी ब्रह्म से विभूतियुक्त कार्य न हो सका। इसलिए उसने कल्याणस्वरूप धर्म (न्याय) को उत्पन्न किया। वह धर्म क्षत्रिय का भी रक्षण करता है। धर्म से उच्चतर कोई भी वस्तु नहीं है। इसलिए जैसे दुर्बल मनुष्य राजा की सहाय से बलवान को जीतना चाहता है, वैसे ही धर्म (न्याय) की सहायता से (मनुष्य) अपने से अधिक बलवान् को जीतना चाहता है। धर्म ही सत्य है। इसलिए जो मनुष्य सत्य बोलता है, उसके विषय में कहा जाता है कि वह धर्मानुसार बोल रहा है, और जो मनुष्य धर्मानुसार बोलता है, उसके विषय में कहा जाता है कि वह सत्य बोल रहा है। इस तरह धर्म और सत्य दोनों एक ही हैं।

तदेतद्ब्रह्म क्षत्रं विट् शूद्रस्तदग्निनैव देवेषु ब्रह्माभवद्ब्राह्मणो मनुष्येषु क्षत्रियेण क्षत्रियो वैश्येन वैश्यः शूद्रेण शूद्रस्तस्मादग्नावेव देवेषु लोक-मिच्छन्ते ब्राह्मणे मनुष्येष्वेताभ्याꣳहि रूपाभ्यां ब्रह्माभवत्। अथ यो ह वा अस्माल्लोकात्स्वं लोकमदृष्ट्वा प्रैति स एनमविदितो न भुनक्ति यथा वेदो वाननुक्तोऽन्यद्वा कर्माकृतं यदिह वा अप्यनेवंविन्महत्पुण्यं कर्म करोति तद्धास्यान्ततः क्षीयत एवमात्मानमेव लोकमुपासीत स य आत्मा-नमेव लोकमुपास्ते न हास्य कर्म क्षीयते अस्माद्ध्येवात्मनो यद्यत्कामयते तत्तत्सृजते ॥15॥

इसी तरह ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र—ये चार वर्ण उत्पन्न हुए। ब्रह्म ही देवों में अग्निरूप में ब्राह्मण (श्रेष्ठवर्ण) हुआ। मनुष्यों में वह ब्राह्मणरूप में हुआ। क्षत्रियों में ब्रह्म क्षत्रिय बना, वैश्य में वैश्य बना, शूद्रों में शूद्ररूप हुआ। इसीलिए लोग देवलोक में जाकर अग्नि बनना चाहते हैं, तथा पृथ्वी पर मनुष्यों में ब्राह्मण ही बनना चाहते हैं क्योंकि अग्नि और ब्राह्मण में ब्रह्म विशेषरूप से प्रकट हुआ था। अब जो मनुष्य आत्मा को बिना देखे ही इस जगत् से चला जाता है, उसका रक्षण आत्मा नहीं करता, क्योंकि उसने आत्मा को जाना नहीं होता। जैसे वेद को न जाननेवाले या कर्म न करनेवाले का रक्षण वेद और कर्म नहीं करते, वैसा ही आत्मा को न जाननेवाले का भी होता है। जो मनुष्य आत्मा को जाने बिना ही इष्टफलदायक अश्वमेध यज्ञादि बड़ा पुण्यकार्य भी करता है, उसका पुण्य भी अन्त में नष्ट हो जाता है। इसलिए मनुष्य को आत्मा के ऊपर ही श्रद्धा रखकर उसकी उपासना करनी चाहिए। जो मनुष्य आत्मा की ही श्रद्धापूर्वक उपासना करता है, उसका किया हुआ कार्य नष्ट नहीं होता। वह जो कुछ चाहता है, उसे प्राप्त कर सकता है।

अथो अयं वा आत्मा सर्वेषां भूतानां लोकः स यज्जुहोति यद्यजते तेन देवानां लोकोऽथ यदनुब्रूते तेन ऋषीणामथ यत्पितृभ्यो निपृणाति यत्प्रजामिच्छते तेन पितृणामथ यन्मनुष्यान्वासयते यदेभ्योऽशनं ददाति तेन मनुष्याणामथ यत्पशुभ्यस्तृणोदकं विन्दति तेन पशूनां यदस्य गृहेषु श्वापदा वयाꣳस्यापिपीलिकाभ्य उपजीवन्ति तेन तेषां लोको यथा ह वै स्वाय लोकायारिष्टिमिच्छेदेवꣳ हैवंविदे सर्वाणि भूतान्यरिष्टिमिच्छन्ति तद्वा एतद्विदितं मीमाꣳसितम् ॥16॥

अब यह जो आत्मा है (शरीरेन्द्रिय संघात रूप कर्माधिकारी गृहस्थ आत्मा है), वह सभी जीवों का लोक है (आधार है), ऐसा आत्मा जो होम करता है, जो यज्ञ करता है, उससे देवताओं का पोषण होता है। वह जो स्वाध्याय करता है उससे ऋषियों का, जो पिण्डतर्पणादि करता है तथा सन्तानप्राप्ति करता (चाहता) है इससे पितृओं का, और जो मनुष्यों को आश्रय देता है तथा उन्हें खिलाता-पिलाता है उससे मनुष्यों का, और जो पशुओं को चारा-पानी पहुँचाता है उससे पशुओं का, और अपने घरों में कुत्तों, बिल्लियों, पक्षियों आदि को एवं चींटी तक के जीव-जन्तुओं को वह जो पोषण करता है, इससे उन सबका बड़ा परितोष और पोषण होता है, वह (परितोषक-पोषक) योग्य हो जाता है। जैसे अपने शरीर के लिए मनुष्य अविनाशित्व चाहता है, वैसे ही इस प्रकार जाननेवाले के लिए सभी प्राणी अविनाशित्व चाहते हैं। इसीलिए यह मीमांसा प्रसिद्ध है। अर्थात् पंचमहायज्ञ प्रकरण में आवश्यक कर्मों की चर्चा सुप्रसिद्ध है।

आत्मैवेदमग्र आसीदेक एव सोऽकामयत जाया मे स्यादथ प्रजायेयाथ वित्तं मे स्यादथ कर्म कुर्वीयेत्येतावान् वै कामो नेच्छꣳश्च नातो भूयो विन्देत्तस्मादप्येतर्ह्येकाकी कामयते जाया मे स्यादथ प्रजायेयाथ वित्तं मे स्यादथ कर्म कुर्वीयेति स यावदप्येतेषामेकैकं न प्राप्नोत्यकृत्स्न एव तावन्मन्यते तस्यो कृत्स्नता मन एवास्यात्मा वाग्जाया प्राणः प्रजा चक्षुर्मानुषं वित्तं चक्षुषा हि तद्विन्दते श्रोत्रं दैवꣳ श्रोत्रेण हि तच्छृणोत्यात्मैवास्य कर्मात्मना हि कर्म करोति स एष पाङ्क्तो यज्ञः पाङ्क्तः पशु पाङ्क्त पुरुषः पाङ्क्तमिदꣳ सर्वं यदिदं किंच तदिदꣳ सर्वमाप्नोति य एवं वेद ॥17॥

इति चतुर्थं ब्राह्मणम् ॥

प्रारंभ में अकेला यह देहेन्द्रिय संघातरूप आत्मा ही था। उसने इच्छा की कि—"मैं स्त्रीवाला होऊँ और प्रजारूप से उत्पन्न होऊँ; मुझे धन प्राप्त हो और मैं (यज्ञादि) कर्म करूँ। बस, इतनी ही इच्छा है।" अधिक इच्छा हो तो भी वह पूर्ण नहीं हो सकती, इसलिए आज भी अकेला आदमी चाहता है कि "मुझे स्त्री हो तो अच्छा हो, उससे मैं सन्तानोत्पत्ति करूँ। और धन हो तो अच्छा कि जिससे मैं यज्ञादि पुण्यकार्य कर सकूँ।" जहाँ तक मनुष्य को इनमें से एक-एक वस्तु नहीं मिलती, वहाँ तक उसे लगता है कि मैं अधूरा हूँ। उसकी वह कमी इस तरह पूर्ण होती है कि यदि वह जान ले कि मन ही उसका आत्मा है, वाणी स्त्री है, प्राण सन्तान है, आँख ही उसका दुनिया का धन है, क्योंकि आँख से ही सब मानुष धन को देख पाता है। कान उसका पारलौकिक धन है, क्योंकि उस धन के विषय में वह कानों से ही सुनता है। शरीर ही कर्म है, क्योंकि शरीरात्मा से ही वह कर्म करता है। यह यज्ञ पाँच प्रकार का है, (आत्मा, वाणी, प्राण, चक्षु और श्रोत्र) पशु भी पाँच प्रकार का है, पुरुष भी उक्त प्रकार से पाँच प्रकार का है। जो इस प्रकार जानता है, वह जो कुछ भी यहाँ है, उसे प्राप्त कर सकता है।

(यहाँ चौथा ब्राह्मण पूरा हुआ।)

❋

पञ्चमं ब्राह्मणम्

यत्सप्तान्नानि मेधया तपसाऽजनयत्पिता। एकमस्य साधारणं द्वे देवानभाजयत्। त्रीण्यात्मनेऽकुरुत पशुभ्य एकं प्रायच्छत्तस्मिन्सर्वं प्रतिष्ठितं

यच्च प्राणिति यच्च न कस्मात्तानि न क्षीयन्तेऽद्यमानानि सर्वदा। यो वैतामक्षितिं वेद सोऽन्नमत्ति प्रतीकेन स देवानपि यच्छति स ऊर्जमुपजीवतीति श्लोकाः ॥1॥

प्रजापति ने विज्ञान से और कर्म से जिन सात अन्नों की रचना की, उनमें से एक अन्न तो सर्वसाधारण है। दो अन्न देवों को बाँट दिए। तीन अन्न अपने लिए रखे और एक अन्न पशुओं को दिया। पशुओं को दिए गए उस अन्न से जो कुछ साँस लेता है या नहीं लेता वह सब कुछ टिकता रहता है। वे सभी अन्न प्रतिदिन खाये जाने पर भी क्यों क्षीण नहीं हो जाते ? जो मनुष्य उसके क्षीण न होने का कारण जानता है, वह मुखरूपी प्रतीक से अन्न का भक्षण करता है, और देवताओं को प्राप्त होता है। वह अमृत का भोक्ता बनता है। इस विषय में ये मन्त्र हैं।

यत्सप्तान्नानि मेधया तपसाऽजनयत्पितेति मेधया हि तपसाऽजनयत्पितैकमस्य साधारणमितीदमेवास्य तत्साधारणमन्नं यदिदमद्यते स य एतदुपास्ते न स पाप्मनो व्यावर्तते मिश्रꣳ ह्येतद्वे देवानभाजयदिति हुतं च प्रहुतं च तस्माद्देवेभ्यो जुह्वति च प्र च जुह्वत्यथो आहुर्दर्शपूर्णमासाविति। तस्मान्नेष्टियाजुकः स्यात्पशुभ्य एकं प्रायच्छदिति तत्पयः पयो ह्येवाग्रे मनुष्याश्च पशवश्चोपजीवन्ति तस्मात् कुमारं जातं घृतं वैवाग्रे प्रतिलेहयन्ति स्तनं वानु धापयन्त्यथ वत्सं जातमाहुरनुतृणाद इति। तस्मिन् सर्वं प्रतिष्ठितं यच्च प्राणिति यच्च नेति पयसि हीदꣳ सर्वं प्रतिष्ठितं यच्च प्राणिति यच्च न। तद्यदिदमाहुः संवत्सरं पयसा जुह्वदप पुनर्मृत्युं जयतीति न तथा विद्याद्यदहरेव जुहोति तदहः पुनर्मृत्युमपजयत्येवंविद्वान्सर्वꣳ हि देवेभ्योऽन्नाद्यं प्रयच्छति। कस्मात्तानि न क्षीयन्तेऽद्यमानानि सर्वदेति पुरुषो वा अक्षितिः स हीदमन्नं पुनः पुनर्जनयते यो वै तामक्षितिं वेदेति पुरुषो वा अक्षितिः स हीदमन्नं धिया धिया जनयते। कर्मभिर्यद्धैतन्न कुर्यात्क्षीयेत ह सोऽन्नमत्ति प्रतीकेनेति मुखं प्रतीकं मुखेनेत्येतत्स देवानपि गच्छति स ऊर्जमुपजीवतीति प्रशꣳसा ॥2॥

पिता प्रजापति ने अपनी मेधा (बुद्धि और तप) कर्म से जो सात अन्न बनाए, वे सचमुच पिता ने ज्ञान से और कर्म (तप) से उत्पन्न किए। उनमें से एक साधारण अन्न है। और वही यह साधारण अन्न है, जो खाया जाता है। जो (शरीर के लिए) इसकी उपासना करता है, वह पाप से (अधर्म से) नहीं बच सकता, क्योंकि यह अन्न मिश्र अर्थात् सभी प्राणियों का है। दो अन्न देवों को बाँट दिए ऐसा कहा है। वे दो अन्न यह हैं—1. हुतम्—यज्ञ में देवों के लिए होम किया गया और 2. प्रहुतम्—यज्ञ में से बलि के लिए लिया हुआ। इसलिए आज भी गृहस्थ लोग देवताओं के लिए होम करते हैं, और होम करने के बाद बलिहरण भी करते हैं। कुछ लोग यही दर्शपूर्णमास है ऐसा कहते हैं। इसलिए सकाम यज्ञों का यजन नहीं करना चाहिए। एक अन्न जो पशुओं को दिया वह दूध है। मनुष्य और पशु वास्तव में दूध से ही जीते हैं (टिकते हैं)। इसीलिए उत्पन्न हुए बच्चे को शुरू में दूध और घी ही चटाए जाते हैं। अथवा स्तनपान करवाते हैं। और उत्पन्न हुए बछड़े को 'घास नहीं खानेवाला' कहा जाता है। जो साँस लेता है और जो साँस नहीं लेता—वह सब कुछ अन्न में ही प्रतिष्ठित (आधारित) है। अर्थात् श्वास लेने वाला और न लेनेवाला सब कुछ इस पयस (दूध) पर ही आधारित है। एक वर्ष तक दूध

से यज्ञ करनेवाला मनुष्य बार-बार मृत्यु को जीतता है ऐसा जो कहा गया है, वह ठीक नहीं है। परन्तु जिस दिन वह दूध से होम करता है, उसी दिन वह मृत्यु को जीत लेता है। इस प्रकार जाननेवाला अवश्य ही अपना सब अन्नाद्य देवों को दे देता है। सर्वदा खाए जाने पर भी भला वे अन्न क्षीण क्यों नहीं होते ? क्योंकि अन्न का क्षय नहीं होने देनेवाला पुरुष है। क्योंकि बुद्धि (ज्ञान) और मेहनत से वह अन्न को उगाता है। जो मनुष्य इस अक्षिति को पुरुष के रूप में—'पुरुष ही अक्षिति है' इस प्रकार जानता है, वही इस अन्न को बुद्धि और कर्मों से उत्पन्न करता है। यदि वह ऐसा नहीं करता तब तो क्षीण हो ही जाता। वह प्रतीक से अनाज खाता है इसका अर्थ है मुख (मुख्यत्व - प्रधानत्व) अर्थात् वह प्रमुखता से अन्न खाता है गौण रूप से नहीं और कहा गया है कि—"वह देवों के पास जाता है और अमृत का भोक्ता बनता है"—यह सब तो अनाज की स्तुति करने के वचन हैं।

त्रीण्यात्मनेऽकुरुतेति मनो वाचं प्राणं तान्यात्मनेऽकुरुतान्यत्रमना अभूवं नादर्शमन्यत्रमना अभूवं नाश्रौषमिति मनसा ह्येव पश्यति मनसा शृणोति। कामः संकल्पो विचिकित्सा श्रद्धाऽश्रद्धा धृतिरधृतिर्ह्रीर्धी-र्भीरित्येतत्सर्वं मन एव तस्मादपि पृष्ठत उपस्पृष्टो मनसा विजानाति यः कश्च शब्दो वागेव सैषा ह्यन्तमायत्तैषा हि न प्राणेऽपानो व्यान उदानः समानोऽन इत्येतत्सर्वं प्राण एवैतन्मयो वा अयमात्मा वाङ्मयो मनोमयः प्राणमयः ॥3॥

उसने (जगत्पिता ने) तीन अन्न अपने लिए नियत किए जो मन, वाणी और प्राण (श्वास) हैं। लोग कहते हैं—"मेरा मन अन्यत्र था इसलिए मैंने देखा नहीं, मेरा मन अन्यत्र था इसलिए मैंने सुना नहीं।" इसलिए मनुष्य वास्तव में मन से ही देखता है और मन से ही सुनता है। इच्छा, संकल्प, शंका, श्रद्धा, धैर्य, अधैर्य, लज्जा, बुद्धि, भय—यह सब मन स्वरूप ही है। इसलिए यदि मनुष्य का कोई पीठ का स्पर्श करे, तो भी वह मन से ही जान लेता है। जो कोई आवाज है, वह वाणी ही है। क्योंकि यह वाणी किसी अभिधेय (अर्थ का ही) अनुसरण करती है, स्वयं कुछ नहीं है। प्राण, अपान, व्यान, उदान, समान—ये सब प्राण (श्वास) के रूप हैं। वास्तव में तो यह शरीर, वाणी, मन और प्राण से ही निर्मित हुआ है।

त्रयो लोका एत एव वागेवायं लोको मनोऽन्तरिक्षलोकः प्राणोऽसौ लोकः ॥4॥

तीन लोक ये ही हैं—वाणी लोक है, मन अन्तरिक्ष लोक है और प्राण स्वर्गलोक है।

त्रयो वेदा एत एव वागेवर्ग्वेदो मनो यजुर्वेदः प्राणः सामवेदः ॥5॥

तीन वेद भी वे ही हैं—वाणी ऋग्वेद है, मन यजुर्वेद है और प्राण सामवेद है।

देवाः पितरो मनुष्या एत एव वागेव देवाः मनः पितरः प्राणो मनुष्याः ॥6॥

देव, पितर और मनुष्य भी ये ही हैं—वाणी ही देव है, पितर मन है और प्राण मनुष्य है।

पिता माता प्रजैत एव मन एव पिता वाङ्माता प्राणः प्रजा ॥7॥

पिता, माता और प्रजा भी ये ही हैं—मन ही पिता है, वाणी माता है और प्राण प्रजा है।

विज्ञातं विजिज्ञास्यमविज्ञातमेत एव यत् किंच विज्ञातं वाचस्तद्रूपं वाग्घि विज्ञाता वागेनं तद्भूत्वाऽवति ॥8॥

जाना हुआ, जाननेयोग्य तथा न जाना हुआ—ये भी इस तीन के ही रूप हैं। जो कुछ जाना हुआ है वह वाणी का रूप है, क्योंकि वाणी जानी हुई होती है। ऐसा रूप धारण करके वाणी मनुष्य का रक्षण करती है।

यत्किंच विजिज्ञास्यं मनसस्तद्रूपं मनो हि विजिज्ञास्यं मन एनं तद्भूत्वा-ऽवति ॥9॥

जो कुछ जाननेलायक है, वह मन का रूप है क्योंकि जाननेवाले के लिए मन ही इष्ट है। मन ही जाननेलायक होकर उसकी रक्षा करता है।

यत्किंचाविज्ञातं प्राणस्य तद्रूपं प्राणो ह्यविज्ञातः प्राण एनं तद्भूत्वा-ऽवति ॥10॥

जो कुछ अविज्ञात है वह प्राण का ही रूप है, क्योंकि प्राण अविज्ञात है। प्राण अविज्ञात होकर उसका रक्षण करता है।

तस्यैव वाचः पृथिवी शरीरं ज्योतीरूपमयमग्निस्तद्यावत्येव वाक्तावती पृथिवी तावानयमग्निः ॥11॥

यह पृथ्वी उस वाणी का शरीर है। यह अग्नि उसमें ज्योतिरूप से रहता है। जितनी वाणी है, उतनी पृथ्वी है। यह अग्नि भी उतना ही है।

अथैतस्य मनसो द्यौः शरीरं ज्योतीरूपमसावादित्यस्तद्यावदेव मनस्ता-वती द्यौस्तावानसावादित्यस्तौ मिथुनः समैतां ततः प्राणोऽजायत स इन्द्रः स एषोऽसपत्नो द्वितीयो वै सपत्नो नास्य सपत्नो भवति य एवं वेद ॥12॥

इस तरह इस मन का द्युलोक शरीर है। वह आदित्य ज्योतिरूप है। वहाँ जितने परिमाण का मन है, उतने ही परिमाणवाला द्युलोक है और उतना ही आदित्य है। वह अग्निरूप वाणी और आदित्य रूप मन—दोनों परस्पर संयुक्त हुए। उससे प्राण उत्पन्न हुआ। वह यह इन्द्र है वह शत्रुरहित है। प्रतिपक्षी तो कोई अपने से अलग ही होता है। जो कोई भी इस प्रकार जानता है, उसका कोई शत्रु नहीं होता।

अथैतस्य प्राणस्यापः शरीरं ज्योतीरूपमसौ चन्द्रस्तद्यावानेव प्राणस्ता-वत्य आपस्तावानसौ चन्द्रस्त एते सर्व एव समाः सर्वेऽनन्ताः स यो हैतानन्तवत उपास्तेऽन्तवन्तः स लोकं जयत्यथ यो हैताननन्तानु-पास्तेऽनन्तः स लोकं जयति ॥13॥

जल प्राण का शरीर है। उसमें ज्योति रूप में चन्द्र रहता है। जितना प्राण है उतना जल है और उतना ही चन्द्र है। ये सब (वाणी, मन, प्राण) समान हैं। वे अन्तहीन हैं। उन्हें अन्तवाला मानकर जो उनकी उपासना करता है, वह वैसे ही अन्तवाले (स्वर्गादि) लोक में जाता है। पर उन्हें अनन्त मानकर जो उसकी उपासना करता है, वह अनन्तलोक में जाता है।

स एष संवत्सरः प्रजापतिः षोडशकलस्तस्य रात्रय एव पञ्चदशकला ध्रुवैवास्य षोडशी कला स रात्रिभिरेवा च पूर्यतेऽप च क्षीयते सोऽमावास्याꣳ रात्रिमेतस्या षोडश्या कलया सर्वमिदं प्राणभृदनुप्रविश्य ततः प्रातर्जायते तस्मादेताꣳ रात्रिं प्राणभृतः प्राणं न विच्छिन्द्यादपि कृकलासस्यैतस्या एव देवताया अपचित्यै ॥14॥

यह संवत्सर ही प्रजापति है। वह सोलह कलाओं वाला है। रात्रियाँ ही उसकी कलाएँ हैं। सोलहवीं अमावसरूप कला स्थिर है। वह चन्द्र शुक्लपक्ष में रात्रियों से ही बढ़ता है और कृष्णपक्ष में उन्हीं से क्षीण होता है। अमावास्या की रात्रि में वह इस सोलहवीं कला के माध्यम से सभी सजीव प्राणियों के शरीर में प्रविष्ट हो जाता है। फिर दूसरे दिन जन्मता है। इसलिए अमावस की रात्रि में किसी प्राणी के प्राण का विच्छेद देवपूजा के लिए भी नहीं करना चाहिए, गिरगिट तक का भी नहीं।

यो वै स संवत्सरः प्रजापतिः षोडशकलोऽयमेव स योऽयमेवंवित्पुरुषस्तस्य वित्तमेव पञ्चदशकला आत्मैवास्य षोडशी कला स वित्तेनैवा च पूर्यतेऽप च क्षीयते तदेतन्नभ्यं यदयमात्मा प्रधिर्वित्तं तस्माद्यद्यपि सर्वज्यानिं जीर्यत आत्मना चेज्जीवति प्रधिनागादित्येवाहुः ॥15॥

वह यह जो सोलह कलावाला संवत्सर प्रजापति है, वित्त ही उसकी पंद्रह कलाएँ हैं तथा आत्मा (शरीर) ही सोलहवीं कला है। वित्त से ही वह बढ़ता-घटता है। यह जो आत्मा (पिण्ड - शरीर) है, वह रथचक्र की नाभिरूप है। और वित्त रथचक्र के बाहर का परिघ है। इसलिए पुरुष यदि सर्वस्व खो बैठे और दीन-हीन हो जाए और ग्लानि का अनुभव करे, तो भी अगर देहपिण्ड से जीता हो, तो लोग ऐसा ही कहते हैं कि "वह केवल बाह्य परिवार से ही चला गया है।

अथ त्रयो वाव लोका मनुष्यलोको देवलोकः पितृलोक इति सोऽयं मनुष्यलोकः पुत्रेणैव जय्यो नान्येन कर्मणा कर्मणा पितृलोको विद्यया देवलोको देवलोको वै लोकानाꣳ श्रेष्ठस्तस्माद्विद्यां प्रशꣳसन्ति ॥16॥

मनुष्यलोक, पितृलोक और देवलोक—ये तीन ही लोक हैं। जो यह मनुष्यलोक है, वह पुत्र द्वारा ही जीता जाता है अर्थात् प्राप्त (सिद्ध) किया जाता है, दूसरे किसी कर्म से नहीं। कर्म से पितृलोक और विद्या से देवलोक जीते जा सकते हैं अर्थात् प्राप्त (सिद्ध) किए जा सकते हैं। देवलोक सब लोकों में श्रेष्ठ है, इसीलिए तो लोग विद्या की प्रशंसा करते हैं।

अथातः संप्रत्तिर्यदा प्रैष्यन्मन्यतेऽथ पुत्रमाह त्वं ब्रह्म त्वं यज्ञस्त्वं लोक इति स पुत्रः प्रत्याहाहं ब्रह्माहं यज्ञोऽहं लोक इति यद्वै किंचनानूक्तं तस्य सर्वस्य ब्रह्मेत्येकता। ये वै के च यज्ञास्तेषाꣳ सर्वेषां यज्ञ इत्येकता ये वै के च लोकास्तेषाꣳ सर्वेषां लोक इत्येकतैतावद्वा इदꣳ सर्वमेतन्मा सर्वꣳ सन्नयमितोऽभुनजदिति तस्मात् पुत्रमनुशिष्टं लोक्यमाहुस्तस्मादेनमनुशासति स यदैवंविदस्माल्लोकात्प्रैत्यथैभिरेव प्राणैः सह पुत्रमाविशति स यद्यनेन किंचिदक्ष्णयाकृतं भवति तस्मादेनꣳ सर्वस्मात्पुत्रो मुञ्चति तस्मात्पुत्रो नाम स पुत्रेणैवास्मिँल्लोके प्रतितिष्ठत्यथैनमेते दैवाः प्राणा अमृता आविशन्ति ॥17॥

अब यहाँ सम्प्रति (सम्प्रदान) कहा जाता है। पिता जब—*"अब मैं मरूँगा" ऐसा समझता है,* तब पुत्र से कहता है—"तू ब्रह्म है, तू यज्ञ है, तू लोक है।" *तब पुत्र प्रतिवचन कहता है—"मैं ब्रह्म* हूँ, मैं यज्ञ हूँ, मैं लोक हूँ।" पिता ने जो कुछ वेदाध्ययन किया है वह सब ब्रह्म है, जो यज्ञ किए हैं वे सब मिलकर 'यज्ञ' हैं, जितने जगत् हैं, उनका समास 'लोक' शब्द में होता है। इन तीन शब्दों में सब कुछ आ जाता है। पिता सोचता है कि पुत्र में यह सब कुछ है, इसलिए वह मुझे जगत् के पार पहुँचायेगा। इसलिए पढ़कर विद्वान् पुत्र को 'लोक्य' (लोक को प्राप्त कराने वाला) कहा गया है। इसलिए पिता उसे पढ़ाता है। ऐसा जाननेवाला जो मनुष्य जब इस लोक से चला जाता है। तब इन प्राणों के साथ ही पुत्र में प्रवेश करता है। और पिता ने अमुक कार्य यदि संयोगवशात् पूरा न किया हो तो पुत्र पिता को उसमें से बचा लेता है। इसीलिए उसे 'पुत्र' कहा जाता है। पिता पुत्र के रूप में इस जगत् में टिका रहता है। बाद में वागादि देव इस पिता में (सम्प्रत्ति कर्म किए हुए पिता में) अमर प्राण प्रवेश करते हैं।

पृथिव्यै चैनमग्नेश्च दैवी वागाविशति सा वै दैवी वाग्यया यद्यदेव वदति तत्तद्भवति ॥18॥

पृथ्वी और अग्नि से उसमें दैवी वाक् का आवेश होता है। दैवी वाक् वही है, जिससे पुरुष जो कुछ भी बोलता है, वह उसी प्रकार हो जाता है।

दिवश्चैनमादित्याच्च दैवं मन आविशति तद्वै दैवं मनो येनानन्द्येव भवत्यथो न शोचति ॥19॥

द्युलोक और आदित्य से उसमें दैवी मन का आवेश होता है। दैवी मन वही है कि जिससे वह आनन्दित होता है और शोक नहीं करता।

अद्भ्यश्चैनं चन्द्रमसश्च दैवः प्राण आविशति स वै दैवः प्राणो यः संचरꣳश्चासंचरꣳश्च न व्यथतेऽथो न रिष्यति स एवंवित्सर्वेषां भूतानामात्मा भवति यथैषा देवतैवꣳ स यथैतां देवताꣳ सर्वाणि भूतान्यवन्त्येवꣳहैवंविदꣳ सर्वाणि भूतान्यवन्ति यदु किंचेमाः प्रजाः शोचन्त्यमैवासां तद्भवति पुण्यमेवामुं गच्छति न ह वै देवान् पापं गच्छति ॥20॥

जल और चन्द्रमा से उसमें दैव प्राण का आवेश होता है। यह दैव प्राण वही है, जो संचार करते हुए और संचार न करते हुए भी व्यथित नहीं होता और नष्ट भी नहीं होता। इस प्रकार जो जानता है, वह सभी प्राणियों का आत्मा हो जाता है। जैसा यह देव (हिरण्यगर्भ) है, ऐसा ही वह हो जाता है। जैसे इस देवता का सभी प्राणी पालन करते हैं, वैसे ही इस उपासक का भी सभी प्राणी पालन करते हैं। जो कुछ भी ये प्रजाएँ शोक करती हैं, वह दुःख उन प्रजाओं के साथ ही रहता है, पर उसको तो पुण्य ही मिलता है। क्योंकि देवताओं के पास पाप जा ही नहीं जा सकता।

अथातो व्रतमीमाꣳसा प्रजापतिर्ह कर्माणि ससृजे तानि सृष्टान्यन्योऽन्येनास्पर्धन्त वदिष्याम्येवाहमिति वाग्दध्रे द्रक्ष्याम्यहमिति चक्षुः श्रोष्याम्यहमिति श्रोत्रमेवमन्यानि कर्माणि यथाकर्म तानि मृत्युः श्रमो भूत्वोपयेमे तान्याप्नोत्तान्याप्त्वा मृत्युरवारुन्धत्तस्माच्छ्राम्यत्येव वाक् श्राम्यति चक्षुः श्राम्यति श्रोत्रमथेममेव नाप्नोद्योऽयं मध्यमः प्राणस्तानि ज्ञातुं दध्रिरे अयं वै नः श्रेष्ठो यः संचरꣳश्चासंचरꣳश्च न व्यथतेऽथो न रिष्यति हन्तास्यैव

सर्वे रूपमसामेति त एतस्यैव सर्वे रूपमभवंस्तस्मादेत एतेनाख्यायन्ते प्राणा इति तेन ह वाव तत्कुलमाचक्षते यस्मिन्कुले भवति य एवं वेद य उ हैवंविदा स्पर्धतेऽनुशुष्यत्यनुशुष्य हैवान्ततो म्रियत इत्यध्यात्मम् ॥21॥

अब आगे व्रत का (उपासना कर्म का) विचार किया जा रहा है। प्रजापति ने ही कर्मसाधनरूप यागादि करण को उत्पन्न किया। रचे हुए ये कर्मसाधन एक-दूसरे के साथ स्पर्द्धा करने लगे। वाणी ने कहा—"मैं बोला ही करूँगी।" चक्षु ने कहा—"मैं देखा ही करूँगा।" कान बोला—"मैं सुना ही करूँगा।" इस प्रकार प्रत्येक कर्मकरण-इन्द्रिय अपने-अपने काम के लिए बोले। अत: मृत्यु ने श्रमरूप होकर उन्हें पकड़ा अर्थात् उनमें (मृत्यु में) श्रमरूप से व्याप्त हो गया। उनमें व्याप्त होने पर मृत्यु ने उन्हें काम करने से रोक दिया। इसीलिए वाणी थक जाती है, आँख थक जाती है, कान थक जाता है। पर जो यह मध्यम प्राण है, उसे ही श्रमरूपी मृत्यु नहीं पकड़ सका। अत: उन इन्द्रियों ने प्राण को पहचानने का निश्चय किया कि "वह हममें सबसे श्रेष्ठ है। वह संचरणशील हो या स्थिर हो, तो भी थकता या नष्ट नहीं होता। इसलिए हम सब उसी का रूप ग्रहण करें।" तब उन सभी ने प्राण का रूप ग्रहण किया। इसलिए उन्हें 'प्राण' नाम दिया गया है।

अथाधिदैवतं ज्वलिष्याम्येवाहमित्यग्निर्दध्रे तप्स्याम्यहमित्यादित्यो भास्याम्यहमिति चन्द्रमा एवमन्या देवता यथादैवतः स यथैषां प्राणानां मध्यमः प्राण एवमेतासां देवतानां वायुर्निम्लोचन्ति ह्यन्या देवता न वायुः सैषानस्तमिता देवता यद्वायुः ॥22॥

अब अधिदैव दर्शन कहा जाता है। "मैं जला ही करूँगा"—ऐसा व्रत अग्नि ने धारण किया। "मैं तपा ही करूँगा"—ऐसा आदित्य ने और "मैं प्रकाशित हुआ ही करूँगा"—ऐसा चन्द्रमा ने भी कहा। इसी प्रकार अन्य देवों ने भी अपने-अपने कामों में लगे रहने का निश्चय किया। शरीर की इन्द्रियों की बात में जैसा मुख्य प्राण के बारे में हुआ, वैसा ही (इन) देवों में वायु के बारे में हुआ। अन्य देव काम करते रुक जाते हैं, पर वायु चलता ही रहता है।

अथैष श्लोको भवति यतश्चोदेति सूर्योऽस्तं यत्र च गच्छतीति प्राणाद्वा एष उदेति प्राणेऽस्तमेति तं देवाश्चक्रिरे धर्मं स एवाद्य स उ श्व इति यद्वा एतेऽमुर्ह्यध्रियन्त तदेवाप्यद्य कुर्वन्ति। तस्मादेकमेव व्रतं चरेत्प्राण्याच्चैवापान्याच्च नेन्मा पाप्मा मृत्युराप्नुवदिति यद्यु चरेत्समापिपयिषेत्तेनो एतस्यै देवतायै सायुज्यः सलोकतां जयति ॥23॥

इति पञ्चमं ब्राह्मणम् ॥

यहाँ यह मन्त्र है—"जिस वायुदेव से सूर्य उगता है और जिसमें अस्त होता है, वह इस प्राण में से ही उगता है और प्राण में ही अस्त होता है।" इसी को देवों ने धर्म (नियम) माना है। वह आज और कल भी (सभी काल में) रहनेवाला (शाश्वत) नियम है। वागादि इन्द्रियों और अग्नि आदि देवों ने जो काम करने का निर्णय किया था, वह काम वे आज भी करते हैं। इसलिए मनुष्य को चाहिए कि वह भी एक काम करता रहे, श्वासोच्छ्वास की क्रिया करता रहे, "पापी मृत्यु मुझे प्राप्त न हो"—ऐसी भावना किया करे, जो काम हाथ में लिया हो उसे पूरा करे। ऐसा करने से वह उस देव में (प्राण में) संपूर्ण एकाकार हो जाता है और प्राण के लोक को प्राप्त करता है।

(यहाँ पाँचवाँ ब्राह्मण पूरा हुआ।)

❋

षष्ठं ब्राह्मणम्

त्रयं वा इदं नामरूपं कर्म तेषां नाम्नां वागित्येतदेषामुक्थमतो हि सर्वाणि नामान्युत्तिष्ठन्त्येतदेषाः सामैतद्धि सर्वैर्नामभिः सममेतदेषां ब्रह्मैतद्धि सर्वाणि नामानि बिभर्ति ॥1॥

यह जगत्, नाम, रूप और कर्म का समुदाय है। इन पूर्वोक्त नामों का 'वाक्' ही उक्थ—कारण है, क्योंकि सभी नाम इसी से उत्पन्न होते हैं। यही उनका साम है, क्योंकि वास्तव में सभी नामों में वह (वाग्) समान है। वही उनका ब्रह्म है क्योंकि यही साम सभी नामों को धारण करता है।

अथ रूपाणां चक्षुरित्येतदेषामुक्थमतो हि सर्वाणि रूपाण्युत्तिष्ठन्त्येतदेषाः सामैतद्धि सर्वै रूपैः सममेतदेषां ब्रह्मैतद्धि सर्वाणि रूपाणि बिभर्ति ॥2॥

अब रूपों का सामान्य चक्षु है। यही उनका उक्थ (कारण) है, क्योंकि इसी से सभी रूप उत्पन्न होते हैं। यही उनका साम है, क्योंकि यह सब रूपों के साथ समरूप है। यही उनका ब्रह्म है क्योंकि सभी रूप उसी के आधार पर होते हैं।

अथ कर्मणामात्मेत्येतदेषामुक्थमतो हि सर्वाणि कर्माण्युत्तिष्ठन्त्येतदेषाः सामैतद्धि सर्वैः कर्मभिः सममेतदेषां ब्रह्मैतद्धि सर्वाणि कर्माणि बिभर्ति तदेतत्त्रयः सदेकमयमात्माऽत्मो एकः सन्नेतत्त्रयं तदेतदमृतः सत्येन छन्नं प्राणो वा अमृतं नामरूपे सत्यं ताभ्यामयं प्राणश्छन्नः ॥3॥

इति षष्ठं ब्राह्मणम् ॥

इति बृहदारण्यकोपनिषदि प्रथमोऽध्यायः ॥1॥

अब यह शरीर ही कर्मों का उक्थ (कारण) है, क्योंकि सभी कर्म शरीर से ही उत्पन्न होते हैं। शरीर ही कर्मों का साम भी है, क्योंकि सभी कर्म शरीर से ही हो सकते हैं अर्थात् सभी कर्मों में शरीर समानरूप से रहता है। शरीर ही सभी कर्मों का ब्रह्म है, क्योंकि सभी कर्म शरीर पर ही आधार रखते हैं। ये तीनों अलग-अलग दिखाई पड़ते हैं, पर वास्तव में ये एक (शरीर) ही हैं। आत्मा (शरीर) एक होने पर भी इन तीनों रूपों में दिखाई देता है। उसी प्रकार यह अमर आत्मा भी सत्य से (प्रत्यक्ष जगत् से) ढँका हुआ है। प्राण ही अमृत (अमर) है। यह प्रत्यक्ष नामरूपात्मक जगत् ही सत्य है। उस नामरूप से यह आत्मा आच्छन्न है।

(यहाँ छठा ब्राह्मण पूरा हुआ।)

यहाँ बृहदारण्यकोपनिषद् का प्रथम अध्याय समाप्त होता है।

❋

अथ द्वितीयोऽध्यायः

प्रथमं ब्राह्मणम्

ॐ दृप्तबालाकिर्हानूचानो गार्ग्य आस स होवाचाजातशत्रुं काश्यं ब्रह्म ते ब्रवाणीति स होवाचाजातशत्रुः सहस्रमेतस्यां वाचि दद्मो जनको जनक इति वै जना धावन्तीति ॥1॥

गार्ग्य गोत्र का बालाकि नाम का एक ब्राह्मण था। वह गर्विष्ठ और वाचाल था। उसने काशी के राजा अजातशत्रु से कहा—"मैं आपको ब्रह्म के बारे में समझा दूँगा।" अजातशत्रु ने कहा—"ठीक है। इस वचन के लिए मैं आपको एक हजार गायें देता हूँ"। यहाँ लोग—"यह तो जनक (जैसा श्रोता) है, यह तो जनक (जैसा दाता है) है"—ऐसा मानकर दौड़कर आया करते हैं।

स होवाच गार्ग्यो य एवासावादित्ये पुरुष एतमेवाहं ब्रह्मोपास इति स होवाचाजातशत्रुर्मा मैतस्मिन्संवदिष्ठा अतिष्ठाः सर्वेषां भूतानां मूर्धा राजेति वा अहमेतमुपास इति स य एतमेवमुपास्तेऽतिष्ठाः सर्वेषां भूतानां मूर्धा राजा भवति ॥2॥

गार्ग्य ने कहा—"सूर्य में जो (चेतन) पुरुष रहता है, उसी की मैं उपासना करता हूँ।" तब अजातशत्रु ने कहा—ऐसी बात मुझे मत कहो। मैं यह तो जानता ही हूँ कि वह पुरुष सबसे श्रेष्ठ है, सबका स्वामी है, राजा है और इसीलिए मैं उसकी उपासना करता हूँ। जो मनुष्य इसकी इस तरह उपासना करता है, वह सब प्राणियों में श्रेष्ठ बनता है, सबका स्वामी बनता है, राजा बनता है।

स होवाच गार्ग्यो य एवासौ चन्द्रे पुरुष एतमेवाहं ब्रह्मोपास इति स होवाचाजातशत्रुर्मा मैतस्मिन्संवदिष्ठा बृहत्पाण्डरवासाः सोमो राजेति वा अहमेतमुपास इति स य एतमेवमुपास्तेऽहरहर्ह सुतः प्रसुतो भवति नास्यान्नं क्षीयते ॥3॥

गार्ग्य ने कहा—"जो (चेतन) पुरुष चन्द्रमा में रहता है, उसी की मैं ब्रह्म मानकर उपासना करता हूँ।" तब अजातशत्रु बोले—यह बात मुझे न कहो। मैं यह जानता ही हूँ कि वह सोम श्वेतवस्त्रधारी बड़ा राजा है और इसीलिए मैं उसे पूजता हूँ। जो मनुष्य इसकी इस तरह से उपासना करता है, उसे प्रतिदिन सोमरस परोसा जाता है और उसके लिए अन्न कभी क्षीण नहीं होता।

स होवाच गार्ग्यो य एवासौ विद्युति पुरुष एतमेवाहं ब्रह्मोपास इति स होवाचाजातशत्रुर्मा मैतस्मिन्संवदिष्ठास्तेजस्वीति वा अहमेतमुपास इति स य एतमेवमुपास्ते तेजस्वी ह भवति तेजस्विनी हास्य प्रजा भवति ॥4॥

गार्ग्य ने (फिर) कहा—"विद्युत् में जो (चेतन) पुरुष रहता है, उसी की मैं ब्रह्म मानकर उपासना करता हूँ।" तब अजातशत्रु बोले—यह बात मुझे न कहो। यह तो मैं जानता ही हूँ कि वह पुरुष तेजस्वी है, और इसीलिए मैं उसे पूजता हूँ। कोई भी यदि उसे ऐसा मानकर पूजेगा तो वह तेजस्वी होगा और उसकी सन्तानें भी तेजस्वी होंगी।

स होवाच गार्ग्यो य एवायमाकाशे पुरुष एतमेवाहं ब्रह्मोपास इति स होवाचाजातशत्रुर्मा मैतस्मिन्संवदिष्ठाः पूर्णमप्रवर्तीति वा अहमेतमुपास

इति स य एतमेवमुपास्ते पूर्यते प्रजया पशुभिर्नास्यास्माल्लोकात्प्रजोद्वर्तते ॥5॥

गार्ग्य ने कहा—"जो (चेतन) पुरुष आकाश में रहता है उसे ब्रह्म मानकर मैं उसकी उपासना करता हूँ।" तब अजातशत्रु बोले—यह बात न कहो। मैं यह तो जानता ही हूँ कि वह पुरुष पूर्ण है, और स्थिर है। इसीलिए मैं इसे पूजता हूँ। जो कोई उसे इस प्रकार पूजता है, वह सन्तति से और पशुओं से भरपूर हो जाता है। इस लोक में उसका वंश नष्ट नहीं होता।

स होवाच गार्ग्यो य एवायं वायौ पुरुष एतमेवाहं ब्रह्मोपास इति स होवाचाजातशत्रुर्मा मैतस्मिन्संवदिष्ठा इन्द्रो वैकुण्ठोऽपराजिता सेनेति वा अहमेतमुपास इति स य एतमेवमुपास्ते जिष्णुर्हापराजिष्णुर्भवत्यन्यतस्त्यजायी ॥6॥

गार्ग्य ने कहा—"वायु में जो (चेतन) पुरुष है, उसे मैं ब्रह्म मानकर पूजता हूँ।" तब अजातशत्रु बोले—ऐसी बात मत कहो। यह तो मैं जानता ही हूँ कि वह पुरुष इन्द्र है, उसका बल अपार है, उसकी सेना अजेय है, इसलिए तो मैं उसको पूजता हूँ। जो कोई उसे इस तरह पूजता है, वह विजयी होता है, वह अजेय होता है, वह शत्रुओं को जीतनेवाला होता है।

स होवाच गार्ग्यो य एवायमग्नौ पुरुष एतमेवाहं ब्रह्मोपास इति स होवाचाजातशत्रुर्मा मैतस्मिन्संवदिष्ठा विषासहिरिति वा अहमेतमुपास इति स य एतमेवमुपास्ते विषासहिर्ह भवति विषासहिर्हास्य प्रजा भवति ॥7॥

गार्ग्य ने कहा—"अग्नि में जो (चेतन) पुरुष है, उसकी मैं ब्रह्म मानकर उपासना करता हूँ।" तब अजातशत्रु ने कहा—ऐसा मत कहो, उसकी तो मैं 'विषासहि' के रूप में उपासना करता ही हूँ। जो कोई इस तरह उसकी उपासना करता है, वह 'विषासहि' (अन्यों को सहन करनेवाला) होता है, इसकी सन्तानें भी 'विषासहि' (सहनशील) होती हैं।

स होवाच गार्ग्यो य एवायमप्सु पुरुष एतमेवाहं ब्रह्मोपास इति स होवाचाजातशत्रुर्मा मैतस्मिन्संवदिष्ठाः प्रतिरूप इति वा अहमेतमुपास इति स य एतमेवमुपास्ते प्रतिरूपः हैवेनमुपगच्छति नाप्रतिरूपमथो प्रतिरूपोऽस्माज्जायते ॥8॥

गार्ग्य ने कहा—"जल में जो यह पुरुष रहता है, उसकी मैं ब्रह्म समझकर उपासना करता हूँ।" तब अजातशत्रु ने कहा—ऐसी बात न कहो ! उसको मैं 'प्रतिरूप' के रूप में पूजता हूँ। जो कोई इस प्रकार उसकी उपासना करता है तो उसे प्रतिरूप (अनुकूल) ही सब प्राप्त होता है। उसका प्रतिकूल कुछ नहीं होता, उसका पुत्र अनुकूल ही जन्म लेता है।

स होवाच गार्ग्यो य एवायमादर्शे पुरुष एतमेवाहं ब्रह्मोपास इति स होवाचाजातशत्रुर्मा मैतस्मिन्संवदिष्ठा रोचिष्णुरिति वा अहमेतमुपास इति स य एवमेतमुपास्ते रोचिष्णुर्ह भवति रोचिष्णुर्हास्य प्रजा भवत्यथो यैः सन्निगच्छति सर्वाँस्तानतिरोचते ॥9॥

गार्ग्य ने कहा—"आदर्श (दर्पण) में जो यह पुरुष रहता है उसे मैं ब्रह्म मानकर उसकी उपासना करता हूँ।" तब अजातशत्रु बोले—ऐसी बात न कहो। उसको तो मैं तेजस्वी के रूप में जानता हूँ और

इसलिए उसकी उपासना करता हूँ। जो कोई भी उसकी इस प्रकार से उपासना करता है, वह तेजस्वी होता है, उसकी सन्तानें भी तेजस्वी होती हैं। जो कोई इसके संपर्क में आता है, उससे वह अधिक तेजस्वी होता है।

स होवाच गार्ग्यो य एवायं यन्तं पश्चाच्छब्दोऽनूदेत्येतमेवाहं ब्रह्मोपास इति स होवाचाजातशत्रुर्मा मैतस्मिन्संवदिष्ठा असुरिति वा अहमेतमुपास इति स य एतमेवमुपास्ते सर्वꣳ हैवास्मिँल्लोक आयुरेति नैनं पुरा कालात्प्राणो जहाति ॥10॥

गार्ग्य ने कहा—"चलते हुए मनुष्य के पीछे जो आवाज होती है, उसकी मैं ब्रह्म समझकर उपासना करता हूँ।" तब अजातशत्रु ने कहा—ऐसी बात (भी) न कहो क्योंकि मैं उसको असु (प्राण) के रूप में पहचानता ही हूँ, और उसकी उपासना करता हूँ। जो कोई भी उसकी इस प्रकार उपासना करता है, वह इस लोक में पूर्ण आयुष्य को प्राप्त करता है, वह अकाल में प्राणत्याग नहीं करता।

स होवाच गार्ग्यो य एवायं दिक्षु पुरुष एतमेवाहं ब्रह्मोपास इति स होवाचाजातशत्रुर्मा मैतस्मिन्संवदिष्ठा द्वितीयोऽनपग इति वा अहमेतमुपास इति स य एतमेवमुपास्ते द्वितीयवान् ह भवति नास्माद्गणश्छिद्यते ॥11॥

गार्ग्य ने कहा—"जो यह दिशाओं में पुरुष है उसको ब्रह्म मानकर मैं उसकी उपासना करता हूँ।" तब अजातशत्रु ने कहा—ऐसा न कहो। यह तो मैं जानता ही हूँ कि वह पुरुष हमारा दूसरा साथी है, और इसलिए मैं उसकी उपासना करता हूँ। जो कोई उसकी इस तरह उपासना करता है, वह अन्य साथीवाला होता है, उसके मित्र उससे कभी अलग नहीं हो जाते।

स होवाच गार्ग्यो य एवायं छायामयः पुरुष एतमेवाहं ब्रह्मोपास इति स होवाचाजातशत्रुर्मा मैतस्मिन्संवदिष्ठा मृत्युरिति वा अहमेतमुपास इति स य एतमेवमुपास्ते सर्वꣳ हैवास्मिँल्लोक आयुरेति नैनं पुरा कालान्मृत्युरागच्छति ॥12॥

गार्ग्य ने कहा—"जो यह छायारूप पुरुष है उसे ब्रह्म मानकर मैं उसकी उपासना करता हूँ।" तब अजातशत्रु बोले—यह बात मत कहो। मैं जानता ही हूँ कि वह 'मृत्यु' है और मैं उसकी इसी तरह उपासना करता हूँ। जो कोई भी उसकी इस तरह से उपासना करता है, वह पूर्ण आयुष्य प्राप्त करता है, और उसकी अकाल मृत्यु नहीं होती।

स होवाच गार्ग्यो य एवायमात्मनि पुरुष एतमेवाहं ब्रह्मोपास इति स होवाचाजातशत्रुर्मा मैतस्मिन्संवदिष्ठा आत्मन्वीति वा अहमेतमुपास इति स य एतमेवमुपास्त आत्मन्वीह भवत्यात्मन्विनी हास्य प्रजा भवति स ह तूष्णीमास गार्ग्यः ॥13॥

गार्ग्य ने कहा—"जो यह आत्मा (बुद्धि) में पुरुष है उसे ब्रह्म मानकर उसकी मैं उपासना करता हूँ।" तब अजातशत्रु ने कहा—ऐसी बात न कहो। यह तो मैं जानता ही हूँ कि वह (बुद्धि) आत्मावाली ही है, और मैं उसकी इसी तरह उपासना करता हूँ। जो कोई भी इसकी इस तरह उपासना करता है,

वह आत्मन्वी (स्वतंत्र बुद्धिवाला) होता है। उसकी प्रजा भी स्वतंत्र होती है। यह सुनकर गार्ग्य चुप हो गया।

स होवाचाजातशत्रुरेतावन्नू३ इत्येतावद्धीति नैतावता विदितं भवतीति स होवाच गार्ग्य उपत्वायानीति ॥14॥

अजातशत्रु ने कहा—"बस, इतना ही तुमने जाना है क्या ?" गार्ग्य ने कहा—"हाँ, इतना ही जाना है।" अजातशत्रु ने कहा—"इतने मात्र से ब्रह्म को नहीं जाना जा सकता।" तब गार्ग्य बोला—"तब आप ही मुझे समझाइये। मैं आपकी शरण में आया हूँ।"

स होवाचाजातशत्रुः प्रतिलोमं चैतद्यद्ब्राह्मणः क्षत्रियमुपेयाद्ब्रह्म मे वक्ष्यतीति व्येव त्वा ज्ञपयिष्यामीति तं पाणावादायोत्तस्थौ तौ ह पुरुषꣳ सुप्तमाजग्मतुस्तमेतैर्नामभिरामन्त्रयांचक्रे बृहन् पाण्डरवासः सोमराजन्निति न नोत्तस्थौ तं पाणिनापेषं बोधयांचकार स होत्तस्थौ ॥15॥

अजातशत्रु ने कहा—"क्षत्रिय के पास ब्राह्मण जाए और यह आशा रखे कि वह मुझे ब्रह्म के बारे में समझाएगा, यह तो उल्टी ही बात हुई। फिर भी मैं तुम्हें समझाऊँगा।" ऐसा कहकर राजा गार्ग्य का हाथ पकड़कर खड़ा हुआ। वे दोनों एक सोए हुए पुरुष के पास गए। उस पुरुष को राजा ने इन नामों से जोर से पुकारा—"हे महापुरुष! हे श्वेतवस्त्रधारी! हे सोमराज! फिर भी वह मनुष्य जागा नहीं। फिर बाद में राजा ने उसे हाथ से टटोलकर जगाया, तब वह खड़ा हो गया।

स होवाचाजातशत्रुर्यत्रैष एतत्सुप्तोऽभूद्य एष विज्ञानमयः पुरुषः क्वैष तदाभूत्कुत एतदागादिति तदु ह न मेने गार्ग्यः ॥16॥

अजातशत्रु ने कहा—जब यह पुरुष सोया हुआ था, तब उसके शरीर में रहनेवाला विज्ञानमय (चेतन) आत्मा कहाँ था, और वह यहाँ फिर कहाँ से आ गया ?" गार्ग्य को कुछ मालूम नहीं था।

स होवाचाजातशत्रुर्यत्रैष एतत्सुप्तोऽभूद्य एष विज्ञानमयः पुरुषस्तदेषां प्राणानां विज्ञानेन विज्ञानमादाय य एषोऽन्तर्हृदय आकाशस्तस्मिञ्छेते तानि यदा गृह्णात्यथ हैतत्पुरुषः स्वपिति नाम तद्गृहीत एव प्राणो भवति गृहीता वाग् गृहीतं चक्षुर्गृहीतꣳ श्रोत्रं गृहीतं मनः ॥17॥

अजातशत्रु ने कहा—जब यह मनुष्य सो जाता है, तब उसके शरीर में अवस्थित विज्ञानमय (चेतन) पुरुष अपने विज्ञान द्वारा सभी इन्द्रियों के विज्ञान को अपने भीतर ग्रहण करके हृदयाकाश में सो जाता है। यह पुरुष जब उन सभी विज्ञानों को अपने भीतर ग्रहण कर लेता है (खींच लेता है) तब ऐसा कहा जाता है कि वह सो गया है। अर्थात् वह 'स्वपिति' नामवाला हो जाता है। उस समय उसका श्वास भीतर चला जाता है, वाणी भीतर चली जाती है, कान भीतर चला जाता है, आँख भीतर चली जाती है और मन भी भीतर चला जाता है।

स यत्रैतत्स्वप्न्यया चरति ते हास्य लोकास्तदुतेव महाराजो भवत्युतेव महाब्राह्मण उतेवोच्चावचं निगच्छति स यथा महाराजो जानपदान् गृहीत्वा स्वे जनपदे यथाकामं परिवर्तेतैवमेवैष एतत्प्राणान् गृहीत्वा स्वे शरीरे यथाकामं परिवर्तते ॥18॥

जब यह मनुष्य स्वप्नावस्था में चलता-फिरता है, तब उसे ऐसे अनुभव होते हैं कि मानो वह राजा है, वह बड़ा ब्राह्मण है, कभी उच्च कभी निम्न कोटि में जाता है। जैसे कोई बड़ा राजा अपनी प्रजा को साथ में लिए अपने देश में यथेच्छ घूमता है, वैसे ही विज्ञानरूप पुरुष भी (उस समय) अपने प्राणों को साथ में लिए हुए (अर्थात् इन्द्रियों को अपने साथ लेकर) अपने शरीर में अपनी इच्छानुसार घूमता रहता है।

अथ यदा सुषुप्तो भवति यदा न कस्यचन वेद हिता नाम नाड्यो द्वासप्ततिः सहस्राणि हृदयात्पुरीततमभिप्रतिष्ठन्ते ताभिः प्रत्यवसृप्य पुरीतति शेते स यथा कुमारो वा महाराजो वा महाब्राह्मणो वातिघ्नीमानन्दस्य गत्वा शयीतैवमेवैष एतच्छेते ॥19॥

जब वह मनुष्य सुषुप्त अवस्था में होता है, तब उसे कुछ भी मालूम नहीं होता। शरीर में 'हिता' नाम से प्रसिद्ध बहत्तर हजार नाड़ियाँ हैं। वे हृदय से निकलकर सारे शरीर में फैलती हैं। वह पुरुष उन नाडियों में से निकलकर शरीर में सो जाता है। जैसे कोई बच्चा या कोई बड़ा राजा अथवा तो विद्याविनयसम्पन्न कोई परिपक्व ब्राह्मण सर्वदुःखनाशक सुखावस्था को प्राप्त करके सो जाता है, वैसे ही यह विज्ञानमय पुरुष सो जाता है।

स यथोर्णनाभिस्तन्तुनोच्चरेद्यथाग्नेः क्षुद्रा विस्फुलिङ्गा व्युच्चरन्त्येवमेवास्मादात्मनः सर्वे प्राणाः सर्वे लोकाः सर्वे देवाः सर्वाणि भूतानि व्युच्चरन्ति तस्योपनिषत्सत्यस्य सत्यमिति प्राणा वै सत्यं तेषामेष सत्यम् ॥20॥

इति प्रथमं ब्राह्मणम् ॥

जैसे मकड़ी (सेहुआ) अपनी लार के (राल के) तंतु से ऊपर जाती है, जैसे अग्नि से छोटे-छोटे अंगारे निकलते हैं, वैसे ही आत्मा में से सभी इन्द्रियाँ, सभी लोक, सभी देव, सभी प्राणी उत्पन्न होते हैं। इस आत्मा का गूढ नाम है—"सत्य का भी सत्य।" इन्द्रियाँ सत्य हैं, पर आत्मा उनका भी सत्य है।

(यहाँ पहला ब्राह्मण पूरा हुआ।)

❋

द्वितीयं ब्राह्मणम्

यो ह वै शिशुं साधानं सप्रत्याधानं सस्थूणं सदामं वेद सप्त ह द्विषतो भ्रातृव्यानवरुणद्धयं वाव शिशुर्योऽयं मध्यमः प्राणस्तस्येदमेवाधानमिदं प्रत्याधानं प्राणः स्थूणान्नं दाम ॥1॥

जो कोई इस प्राणतत्त्व रूपी शिशु को उसके निवासस्थान, तबेले और खूँटे तथा रस्सी के साथ जान लेता है, वह अपने द्वेषी सात भतीजों (सात विरोधियों—पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, मन और बुद्धि) को रोक सकता है। वह शिशु यहाँ शरीर में अवस्थित मुख्य प्राण है, शरीर उसका निवास-स्थान, मस्तक उसका तबेला और श्वास उसका खूँटा तथा अनाज ही उसकी रस्सी है।

तमेताः सप्ताक्षितय उपतिष्ठन्ते तद्या इमा अक्षन् लोहिन्यो राजयस्ताभिरेनं रुद्रोऽन्वायत्तोऽथ या अक्षन्नापस्ताभिः पर्जन्यो या कनीनिका तयादित्यो यत्कृष्णं तेनाग्निर्यच्छुक्लं तेनेन्द्रोऽधरयैनं वर्तन्या पृथिव्यन्वायत्ता द्यौरुत्तरया नास्यान्नं क्षीयते य एवं वेद ॥2॥

ये सात अक्षिति (अमर देव) उसकी सेवा करते हैं। (जैसे—) उसकी आँखों में जो लाल रेखाएँ हैं, उनके द्वारा रुद्र उसकी रक्षा करते हैं। आँख में जो पानी है, उसके द्वारा पर्जन्य उसकी रक्षा करते हैं। आँख की जो पुतली है, उसके द्वारा आदित्य उसकी सेवा करता है। आँख में जो काला अंश है, उसके द्वारा अग्नि उसकी रक्षा करता है। जो सफेद अंश है, उसके द्वारा इन्द्र उसकी सेवा करता है। आँख की नीचे की बरुनी के द्वारा पृथ्वी उसकी सेवा करती है। और ऊपर की बरुनी के द्वारा स्वर्ग उसकी सेवा करता है। जो मनुष्य ऐसा जानता है उसका अन्न कभी क्षीण नहीं होता।

तदेष श्लोको भवति। अर्वाग्बिलश्चमस ऊर्ध्वबुध्नस्तस्मिन्यशो निहितं विश्वरूपम्। तस्यासत ऋषयः सप्त तीरे वागष्टमी ब्रह्मणा संविदानेत्यर्वाग्बिलश्चमस ऊर्ध्वबुध्न इतीदं तच्छिर एष ह्यर्वाग्बिलश्चमस ऊर्ध्वबुध्नस्तस्मिन्यशो निहितं विश्वरूपमिति प्राणा वै यशो विश्वरूपं प्राणानेतदाह तस्यासत ऋषयः सप्त तीर इति प्राणा वा ऋषयः प्राणानेतदाह वागष्टमी ब्रह्मणा संविदानेति वाग्घ्यष्टमी ब्रह्मणा संवित्ते ॥3॥

उस विषय में यह श्लोक है—सोमरस भरने का जो 'चमस' (यक्षपात्र) है, वह नीचे मुखवाला और ऊपर तले वाला है। उसमें विश्वरूप यश रखा हुआ है। उसके तीर पर सात ऋषि और आठवीं वेद द्वारा बोलने वाली वाणी स्थित है। नीचे मुखवाला और ऊपर की ओर तलेवाला ऐसा यह जो चमस के आकारवाला है वह मनुष्य का मस्तक है, क्योंकि यह भी नीचे छिद्र (मुख) वाला और ऊपर तलेवाला चमस (सोमरस भरने का यज्ञ पात्र) ही है। उसमें विविध प्रकार का प्राण अवस्थित है। वही विश्वरूप यश–सर्वशक्तिमान सर्वविभवी है। इसलिए प्राण को ही विश्वरूप यश कहते हैं। उसके समीप सात ऋषि रहते हैं। प्राण ही (गौण प्राणइन्द्रियाँ—दो आँखें, दो कान, दो नाक के छिद्र और सातवीं जीभ) ये ऋषि हैं। इसीलिए मंत्र इन्हें 'प्राण' संज्ञा देते हैं। वेद द्वारा बोलने वाली आठवीं वाणी हैं। वह वेद द्वारा उच्चार करती है।

इमावेव गोतमभरद्वाजावयमेव गोतमोऽयं भरद्वाज इमावेव विश्वामित्रजमदग्नी अयमेव विश्वामित्रोऽयं जगदग्निरिमावेव वसिष्ठकश्यपावयमेव वसिष्ठोऽयं कश्यपो वागेवात्रिर्वाचा ह्यन्नमद्यतेऽत्तिर्ह वै नामैतद्यदत्रिरिति सर्वस्यात्ता भवति सर्वमस्यान्नं भवति य एवं वेद ॥4॥

इति द्वितीयं ब्राह्मणम् ॥

ये दोनों (कान) ही गौतम और भरद्वाज हैं, यह (एक) गौतम और दूसरा भरद्वाज है। ये दोनों (नेत्र) ही विश्वामित्र और जमदग्नि हैं। यही (एक) विश्वामित्र और दूसरा जमदग्नि है। ये दोनों (नथुने) ही वसिष्ठ और कश्यप हैं। यही (एक) वसिष्ठ है और दूसरा कश्यप है। और जीभ ही अत्रि है, क्योंकि वाग् (जीभ) द्वारा ही अन्न खाया जाता है। जिसे 'अत्रि' कहा जाता है, वह 'अत्ति' नामवाला ही है। जो इस तथ्य को जानता है, वह सबका भोग करने वाला (अत्ता) होता है और सब कुछ उसका अन्न हो जाता है।

(यहाँ दूसरा ब्राह्मण पूरा हुआ।)

❋

तृतीयं ब्राह्मणम्

द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे मूर्तं चैवामूर्तं च मर्त्यं चामृतं च स्थितं च यच्च सच्च त्यच्च ॥1॥

ब्रह्म के दो रूप हैं—मूर्त और अमूर्त; मर्त्य और अमृत; चर और अचर; सत् और त्यत् (अदृश्य)।

तदेतन्मूर्तं यदन्यद्वायोश्चान्तरिक्षाच्च तन्मर्त्यमेतत्स्थितमेतत्सत्तस्यैतस्य मूर्तस्यैतस्य मर्त्यस्यैतस्य स्थितस्यैतस्य सत एष रसो य एष तपति सतो ह्येष रसः ॥2॥

वायु और अन्तरिक्ष से जो कुछ भी भिन्न है, वह ब्रह्म का साकार स्वरूप है। वह सब मरणशील ही है, वह अव्यापक (परिमित) है, वह देखा जा सकता है। इस साकार, विनाशी, परिमित, देखे जानेवाले रूप का सारतत्त्व यह सूरज है, जो तपता है। दृश्य जगत् का वही सार है।

अथामूर्तं वायुश्चान्तरिक्षं चैतदमृतमेतद्यदेतत्त्यत्तस्यैतस्यामूर्तस्यैतस्यामृतस्यैतस्य यत एतस्य त्यस्यैष रसो य एष एतस्मिन्मण्डले पुरुषस्तस्य ह्येष रस इत्यधिदैवतम् ॥3॥

और वायु और अन्तरिक्ष अमृत हैं, ये अमूर्त और त्यत् (गतिशील) हैं, इसी अमृतरूप और गतिशील 'त्यत्' का जो रस (सारतत्त्व) है, वह (इस आदित्यमण्डल में स्थित) पुरुष है, वही इस गतिशील तत्त्व का सार है (जो भौतिक आँख से देखा नहीं जा सकता)। यह देवों के विषय की (अधिदैव) बात हुई।

अथाध्यात्ममिदमेव मूर्तं यदन्यत्प्राणाच्च यश्चायमन्तरात्मन्नाकाश एतन्मर्त्यमेतत्स्थितमेतत्सत्तस्यैतस्य मूर्तस्यैतस्य मर्त्यस्यैतस्य स्थितस्यैतस्य सत एष रसो यच्चक्षुः सतो ह्येष रसः ॥4॥

अब अध्यात्म की दृष्टि से मूर्तामूर्त का वर्णन किया जाता है। इस शरीर के भीतर हृदयस्थ आकाशरूप जो प्राण है, इसके सिवा जो कुछ भी है, वह मूर्त है, वह मर्त्य है, वह गतिहीन है, वह परिमित है, वह दृश्य है, इस मूर्त, मरणशील, गतिशून्य—परिमित दृश्य तत्त्व का साररूप यह आँख है। दृश्यपदार्थ का सार यही है।

अथामूर्तं प्राणश्च यश्चायमन्तरात्मन्नाकाश एतदमृतमेतद्यदेतत्त्यं तस्यैतस्यामूर्तस्यैतस्यामृतस्यैतस्य यत एतस्य त्यस्यैष रसो योऽयं दक्षिणेऽक्षन्पुरुषस्त्यस्य ह्येषः रसः ॥5॥

शरीरस्थ प्राण और अन्तराकाश ही अमूर्त अर्थात् निराकार है, वही अमृत है, वही 'यत्' (गतिशील) है, यही 'त्यत्' (अदृश्य) है। इस अमृत, गतिशील, अदृश्य का रस (सारतत्त्व) दायीं आँख में बसनेवाला पुरुष है। इस निराकार (अविनाशी-गतिशील-व्यापक-अदृश्य) ब्रह्मतत्त्व का सार वही है।

तस्य हैतस्य पुरुषस्य रूपं यथा महारजनं वासो यथा पाण्ड्वाविकं यथेन्द्रगोपो यथाऽग्न्यर्चिर्यथा पुण्डरीकं यथा सकृद्विद्युत्तः सकृद्विद्युत्तेव

ह वा अस्य श्रीर्भवति य एवं वेदाथात आदेशो नेति नेति न ह्येतस्मादिति नेत्यन्यत्परमस्त्यथ नामधेयꣳ सत्यस्य सत्यमिति प्राणा वै सत्यं तेषामेव सत्यम् ॥6॥

इति तृतीयं ब्राह्मणम् ॥

अब उस पुरुष के रूप का वर्णन करते हैं—जैसे हल्दी सदृश किसी पक्के रंग से रँगा हुआ कपड़ा हो, जैसे सफेद ऊन हो, जैसे इन्द्रगोप (वीरबहूटी) हो, मानो अग्नि की ज्वाला हो, श्वेत कमल हो, बिजली की मानो एक चमक हो। जो मनुष्य ऐसा जानता है, उसकी कीर्ति बिजली की एक चमक जैसी होती है। इस ब्रह्म का 'यह नहीं यह नहीं' (न इति न इति) कहकर ही वर्णन किया जा सकता है। अन्य रीति से इसका वर्णन नहीं किया जा सकता। इसका नाम 'सत्य का सत्य' है। प्राण (इन्द्रियाँ) सत्य हैं। इसका भी यह (ब्रह्म) सत्य है।

(यहाँ तीसरा ब्राह्मण पूरा हुआ।)

❋

चतुर्थं ब्राह्मणम्

मैत्रेयीति होवाच याज्ञवल्क्य उद्यास्यन्वा अरेऽहमस्मात्स्थानादस्मि हन्त तेऽनया कात्यायन्यान्तं करवाणीति ॥1॥

याज्ञवल्क्य ने कहा—"हे मैत्रेयि! मैं तो इस स्थान (गृहस्थाश्रम) से आगे के (संन्यास आश्रम) स्थान में जाना चाहता हूँ। इसलिए (मेरी जो कुछ सम्पत्ति है उसका) इस कात्यायनी के साथ बँटवारा कर दूँ।

सा होवाच मैत्रेयी यन्नु म इयं भगोः सर्वा पृथिवी वित्तेन पूर्णा स्यात्कथं तेनामृता स्यामिति नेति होवाच याज्ञवल्क्यो यथैवोपकरणवतां जीवितं तथैव ते जीवितꣳ स्यात् अमृतत्वस्य तु नाशास्ति वित्तेनेति ॥2॥

मैत्रेयी ने कहा—"हे भगवन्! यदि धन से भरी हुई यह समग्र धरती मुझे मिल जाए, तब मैं अमर हो जाऊँगी क्या?" तब याज्ञवल्क्य बोले—नहीं, जैसा कि बहुत सी साधन-सामग्रियों से सम्पन्न मनुष्यों का जीवन होता है, वैसा ही तब तुम्हारा जीवन होगा। धन से अमर होने की तो आशा भी नहीं की जा सकती।"

सा होवाच मैत्रेयी येनाहं नामृता स्यां किमहं तेन कुर्यां यदेव भगवान्वेद तदेव मे ब्रूहीति ॥3॥

मैत्रेयी ने कहा—"हे भगवन्! जिससे मैं अमर नहीं हो सकती, उसे लेकर मैं क्या करूँ? अमरत्व के विषय में आप जो कुछ भी जानते हों, वही मुझे बताइए।"

स होवाच याज्ञवल्क्यः प्रिया बतारे नः सती प्रियं भाषस एह्यास्स्व व्याख्यास्यामि ते व्याचक्षाणस्य तु मे निदिध्यासस्वेति ॥4॥

फिर ऋषि याज्ञवल्क्य ने कहा—"धन्य हो मैत्रेयी! पहले भी तुम हमारी प्यारी होकर रही हो। और अब भी मुझे अनुकूल (प्रिय) ही बोल रही हो। आओ, बैठो मैं तुम्हें आत्मज्ञान का उपदेश दूँगा। मेरे बोले हुए वाक्यों का ध्यान से चिन्तन करो।"

स होवाच न वा अरे पत्युः कामाय पतिः प्रियो भवत्यात्मनस्तु कामाय पतिः प्रियो भवति न वा अरे जायायै कामाय जाया प्रिया भवत्यात्मनस्तु कामाय जाया प्रिया भवति न वा अरे पुत्राणां कामाय पुत्राः प्रिया भवन्त्यात्मनस्तु कामाय पुत्राः प्रिया भवन्ति न वा अरे वित्तस्य कामाय वित्तं प्रियं भवत्यात्मनस्तु कामाय वित्तं प्रियं भवति न वा अरे ब्रह्मणः कामाय ब्रह्म प्रियं भवत्यात्मनस्तु कामाय ब्रह्म प्रियं भवति न वा अरे क्षत्रस्य कामाय क्षत्रं प्रियं भवत्यात्मनस्तु कामाय क्षत्रं प्रियं भवति न वा अरे लोकानां कामाय लोकाः प्रिया भवन्त्यात्मनस्तु कामाय लोकाः प्रिया भवन्ति न वा अरे देवानां कामाय देवाः प्रिया भवन्त्यात्मनस्तु कामाय देवाः प्रिया भवन्ति न वा अरे भूतानां कामाय भूतानि प्रियाणि भवन्त्यात्मनस्तु कामाय भूतानि प्रियाणि भवन्ति न वा अरे सर्वस्य कामाय सर्वं प्रियं भवत्यात्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवत्यात्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यो मैत्रेय्यात्मनो वा अरे दर्शनेन श्रवणेन मत्या विज्ञानेनेदꣳ सर्वं विदितम् ॥5॥

याज्ञवल्क्य ने कहा—"अरे मैत्रेयी ! पति की इच्छा के लिए पति प्रिय नहीं होता, किन्तु आत्मा की (स्व की) कामना के लिए पति प्रिय होता है। अरे ! पत्नी कहीं पत्नी की कामना के लिए प्रिय नहीं होती, पर आत्मा की कामना के लिए प्रिय होती है। अरे ! पुत्रों की कामना (फल) के लिए पुत्र प्यारे नहीं लगते, आत्मा की कामना के लिए ही तो पुत्र प्यारे लगते हैं। अरे ! धन के फल के लिए धन अच्छा नहीं लगता, आत्मा (स्व) की इच्छा के लिए ही धन अच्छा लगता है। अरे, ब्राह्मण के फल के लिए ब्राह्मण प्रिय नहीं लगता, आत्मा की कामना के लिए ही ब्राह्मण प्रिय लगता है। अरे ! क्षत्रिय (भी) क्षत्रिय की कामना के लिए प्रिय नहीं लगता, आत्मा की कामना के लिए ही वह प्रिय लगता है। अरे ! ये सारे लोग भी उन लोगों के लिए प्रिय नहीं लगते किन्तु आत्मा की कामना के लिए ही ये सब प्रिय लगते हैं। अरे ! ये देव भी देवों की कामना के लिए प्रिय नहीं लगते, आत्मा की कामना के लिए यही देव प्रिय लगते हैं। अरे ! प्राणी भी प्राणियों की कामना के लिए प्रिय नहीं लगते, आत्मा की कामना के लिए प्रिय लगते हैं। अरे ! जो कुछ भी वस्तुएँ हमें प्यारी लगती हैं, वह उन वस्तुओं के फल के लिए नहीं, अपितु अपने आत्मा की कामना के लिए ही प्यारी लगती हैं। अरे ! वह आत्मा देखने लायक है, उसको सुनना चाहिए, उसका चिन्तन करना चाहिए, उसका ध्यान करना चाहिए। हे मैत्रेयी ! इस आत्मा को देखने से, उसका श्रवण करने से, उसके मनन से, उसके ध्यान से सब कुछ जाना जा सकता है।

ब्रह्म तं परादाद्योऽन्यत्रात्मनो ब्रह्म वेद क्षत्रं तं परादाद्योऽन्यत्रात्मनः क्षत्रं वेद लोकास्तं परादुर्योऽन्यत्रात्मनो लोकान्वेद देवास्तं परादुर्योऽन्यत्रात्मनो देवान्वेद भूतानि तं परादुर्योऽन्यत्रात्मनो भूतानि वेद सर्वं तं परादाद्योऽन्यत्रात्मनः सर्वं वेदेदं ब्रह्मेदं क्षत्रमिमे लोका इमे देवा इमानि भूतानीदꣳ सर्वं यदयमात्मा ॥6॥

जो मनुष्य ब्राह्मण या ज्ञान को आत्मा से भिन्न मानता है, उसका ब्राह्मण या ज्ञान उसका त्याग कर देता है, जो कोई क्षत्रिय या बल को आत्मा से अलग मानता है तो क्षत्रिय या बल उसे छोड़ देते

हैं, जो कोई इन लोकों को आत्मा से भिन्न मानता है तो लोक भी उसका त्याग कर देते हैं। जो देवों को आत्मा से अलग मानता है तो देव उसे छोड़ देते हैं। जो कोई प्राणियों को आत्मा से अलग मानता है तो प्राणी भी उसको छोड़ देते हैं। जो मनुष्य इस सबको आत्मा से अलग ही मानता है, तो वे सब भी उसे छोड़ ही देते हैं। अतः ये ब्राह्मण (ज्ञान), ये क्षत्रिय (बल), यह जगत्, ये देव, ये प्राणी—यह जो कुछ भी है, सब आत्मा ही है।

स यथा दुन्दुभेर्हन्यमानस्य न बाह्याञ्शब्दाञ्शक्नुयाद् ग्रहणाय दुन्दुभेस्तु ग्रहणेन दुन्दुभ्याघातस्य वा शब्दो गृहीतः ॥7॥

उदाहरणार्थ—जब ढोल पीटा जाता है, तब बाहर के लोग उसकी आवाजों को पकड़ नहीं सकते। परन्तु ढोल को या ढोल बजाने की क्रिया को पकड़ने से ही आवाजें पकड़ी जा सकती हैं। (उसी प्रकार आत्मा को आत्मचेतना से प्राप्त किया जा सकता है अर्थात् सामान्य छोड़ देने से विशेष पकड़ा नहीं जा सकता, विशेष को पकड़ने के लिए सामान्य का ग्रहण भी करना ही चाहिए।)

स यथा शङ्खस्य ध्मायमानस्य न बाह्याञ्शब्दाञ्शक्नुयाद्ग्रहणाय शङ्खस्य तु ग्रहणेन शङ्खध्मस्य वा शब्दो गृहीतः ॥8॥

शंख के फूँके जाने पर बाहर के लोग उसकी आवाज को पकड़ नहीं सकते। परन्तु शंख को या शंख फूँकने की क्रिया को पकड़ लेने से शंख की आवाज को पकड़ा जा सकता है, वैसे ही इस आत्मा का स्वरूप समझना चाहिए।

स यथा वीणायै वाद्यमानायै न बाह्याञ्शब्दाञ्शक्नुयाद्ग्रहणाय वीणायै तु ग्रहणेन वीणावादस्य वा शब्दो गृहीतः ॥9॥

जिस तरह वीणा के बजाए जाने पर बाहर के लोग उसकी आवाजों को नहीं पकड़ पाते, किन्तु, वीणा को या वीणा बजाने की क्रिया को पकड़ने से वे आवाजें पकड़ी जा सकती हैं, वैसे ही इस आत्मा का स्वरूप समझना चाहिए।

स यथार्द्रैधाग्नेरभ्याहितात्पृथग्धूमा विनिश्चरन्त्येवं वा अरेऽस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतदृग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरस इतिहासः पुराणं विद्या उपनिषदः श्लोकाः सूत्राण्यनुव्याख्यानानि व्याख्यानान्यस्यैवैतानि सर्वाणि निःश्वसितानि ॥10॥

जैसे भीगी लकड़ियों से जलाई गई अग्नि में से तरह-तरह का धुआँ निकलता है, वैसे ही ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, इतिहास, पुराण, विद्याएँ (उपासना प्रक्रियाएँ), उपनिषदें, श्लोक, सूत्र, मंत्रविवरण, अर्थवाद—ये सब इस महान् तत्त्व (आत्मा) के निःश्वासरूप ही हैं।

स यथा सर्वासामपाꣳ समुद्र एकायनमेवꣳ सर्वेषाꣳ स्पर्शानां त्वगेकायनमेवꣳ सर्वेषां गन्धानां नासिके एकायनमेवꣳ सर्वेषाꣳ रसानां जिह्वैकायनमेवꣳ सर्वेषाꣳ रूपाणां चक्षुरेकायनमेवꣳ सर्वेषाꣳ शब्दानाꣳ श्रोत्रमेकायनमेवꣳ सर्वेषाꣳ संकल्पानां मन एकायनमेवꣳ सर्वासां विद्यानाꣳ हृदयमेकायनमेवꣳ सर्वेषां कर्मणाꣳ हस्तावेकायनमेवꣳ सर्वेषामानन्दानामुपस्थ एकायनमेवꣳ सर्वेषां विसर्गाणां पायुरेकायनमेवꣳ सर्वेषामध्वनां पादावेकायनमेवꣳ सर्वेषाꣳ वेदानां वागेकायनम् ॥11॥

जैसे सभी जलों का एक गमन-स्थान सागर है, सब स्पर्शों का एक गमन-स्थान त्वक् (त्वचा) है, वैसे सभी गन्धों का एकाश्रय नासिकाएँ हैं, वैसे सभी रसों का एकाश्रय जीभ है, वैसे सब रूपों का एकाश्रय चक्षु ही है, वैसे सभी शब्दों का एकाश्रय श्रोत्र ही है, वैसे सभी संकल्पों का एकाधिकरण मन ही होता है, वैसे सभी विद्याओं का एकाश्रय हृदय ही है, वैसे सभी कर्मों का एकाधार दो हाथ ही हैं, वैसे सभी आनंदों का एकाश्रय जननेन्द्रिय है, वैसे सभी उत्सर्गों का एकायन गुदा है, वैसे सभी मार्गों का एकाश्रय दो पैर ही हैं, और वैसे ही सभी वेदों का एकाश्रय वाणी ही है।

स यथा सैन्धवखिल्य उदके प्रास्त उदकमेवानुविलीयेत न हास्योद्ग्रह-णायेव स्याद्यतो यतस्त्वाददीत लवणमेवैवं वा अर इदं महद्भूतमनन्त-मपारं विज्ञानघन एवैतेभ्यो भूतेभ्यः समुत्थाय तान्येवानुविनश्यति न प्रेत्य संज्ञाऽस्तीत्यरे ब्रवीमीति होवाच याज्ञवल्क्यः ॥12॥

"जैसे नमक के डले को पानी में डालने से वह पानी में ही विलीन हो जाता है, उसे पानी में से बाहर निकालने की किसी की ताकत नहीं होती। पानी को जहाँ कहीं से भी लिया जाता है, तो वह खारा ही होता है। इसी तरह हे मैत्रेयी! यह महद्भूत (परमात्मा) अनन्त, अपार और विज्ञानघन ही है। इन महाभूतों में से (परिच्छिन्न जीव रूप से) वह उत्पन्न होकर फिर उन्हीं में वह (जीव) विलीन हो जाता है। (परिच्छिन्नता - देहादिभाव से) मुक्त होने के बाद, मरने पर ('मेरा है' ऐसा) ज्ञान नहीं रहता।" हे मैत्रेयी! ऐसा मैं कहता हूँ।

सा होवाच मैत्रेय्यत्रैव मा भगवानमूमुहन्नथ प्रेत्य संज्ञास्तीति स होवाच याज्ञवल्क्यो न वा अरेऽहं मोहं ब्रवीम्यलं वा अर इदं विज्ञानाय ॥13॥

मैत्रेयी ने कहा—"मरने के बाद, ('यह मेरा है' ऐसा) ज्ञान नहीं रहता—ऐसा कहकर तो आप भगवन् ने मुझे उलझन में ही डाल दिया।" तब याज्ञवल्क्य बोले—"अरे! मैं तुम्हें उलझन में नहीं डाल रहा हूँ। इतना ही ज्ञान (कि मरने के बाद ज्ञानियों को विशेष ज्ञान नहीं होता) तुम्हारे लिए पर्याप्त है।

यत्र हि द्वैतमिव भवति तदितर इतरं जिघ्रति तदितर इतरं पश्यति तदितर इतरꣳ शृणोति तदितर इतरमभिवदति तदितर इतरं मनुते तदितर इतरं विजानाति यत्र वा अस्य सर्वमात्मैवाभूत् तत्केन कं जिघ्रेत्तत्केन कं पश्येत्तत्केन कꣳ शृणुयात्तत्केन कमभिवदेत्तत् केन कं मन्वीत तत्केन कं विजानीयाद्येनेदꣳ सर्वं विजानाति तं केन विजानीयाद्विज्ञातारमरे केन विजानीयादिति ॥14॥

इति चतुर्थं ब्राह्मणम् ॥

जहाँ (अविद्यावस्था में) द्वैत जैसा हो वहीं एक-दूसरे को सूँघता है, वहीं एक-दूसरे को देखता है, वहीं एक-दूसरे को सुनता है, वहीं एक-दूसरे से बोलता है, वहीं एक-दूसरे से विचार करता है, वहीं एक-दूसरे को जानता है। परन्तु, जहाँ इस (ज्ञानी) के लिए सब कुछ आत्मा ही हो गया हो, वहाँ भला कौन किसके द्वारा किसको सूँघेगा? कौन किसके द्वारा किसे देखेगा? कौन किसके द्वारा किसे सुनेगा? कौन किसके द्वारा किसे बोलेगा? कौन किसके द्वारा किसका विचार करेगा? कौन किसके द्वारा किसे जानेगा? जिसके द्वारा मनुष्य इस सबको जानता है उसे किसके द्वारा जाना जा सकता है? विज्ञाता को कैसे जाना जा सकता है भला?

(यहाँ चौथा ब्राह्मण पूरा हुआ।)

❋

पञ्चमं ब्राह्मणम्

इयं पृथिवी सर्वेषां भूतानां मध्वस्यै पृथिव्यै सर्वाणि भूतानि मधु यश्चा-यमस्यां पृथिव्यां तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषो यश्चायमध्यात्मꣳ शारीर-स्तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषोऽयमेव स योऽयमात्मेदममृतमिदं ब्रह्मेदꣳ सर्वम् ॥1॥

यह पृथ्वी सब भूतों का मधु है, और सभी भूत पृथ्वी का मधु है। इस पृथ्वी में जो यह तेजोमय अमृतमय पुरुष है, और जो अध्यात्म, शरीरस्थ, तेजोमय अमृतमय पुरुष है, वही यह आत्मा है, वही ब्रह्म है, वही सब कुछ है। (अर्थात् पृथ्वीस्थ चेतन ही शरीरस्थ चेतन है, पृथ्वीस्थ चेतन शरीरस्थ चेतन का और शरीरस्थ चेतन पृथ्वीस्थ चेतना का मधु (सारतत्त्व) है।

इमा आपः सर्वेषां भूतानां मध्वासामपाꣳ सर्वाणि भूतानि मधु यश्चाय-मास्वप्सु तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषो यश्चायमध्यात्मꣳ रैतसस्तेजोमयोऽ-मृतमयः पुरुषोऽयमेव स योऽयमात्मेदममृतमिदं ब्रह्मेदꣳ सर्वम् ॥2॥

यह जल सब प्राणियों का मधु है और ये सभी प्राणी जल का मधु हैं। उसी प्रकार जल में जो तेजोमय अमृत पुरुष बसता है, और शरीरस्थ वीर्यरूप जो तेजोमय पुरुष बसता है, वही यह आत्मा है, वही अमृत है, वही ब्रह्म है, वही सबकुछ है।

अयमग्निः सर्वेषां भूतानां मध्वस्याग्नेः सर्वाणि भूतानि मधु यश्चाय-मस्मिन्नग्नौ तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषो यश्चायमध्यात्मं वाङ्मयस्तेजो-मयोऽमृतमयः पुरुषोऽयमेव स योऽयमात्मेदममृतमिदं ब्रह्मेदꣳ सर्वम् ॥3॥

यह अग्नि सभी प्राणियों का मधु है और ये सभी प्राणी अग्नि का मधु हैं। इस प्रकार अग्नि में जो तेजोमय अमृत पुरुष रहता है और शरीर में जो वाणी के रूप में तेजोमय अमृत पुरुष रहता है वही यह आत्मा है, वही अमृत है, वही ब्रह्म है, वही सब कुछ है।

अयं वायुः सर्वेषां भूतानां मध्वस्य वायोः सर्वाणि भूतानि मधु यश्चाय-मस्मिन्वायौ तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषो यश्चायमध्यात्मं प्राणस्तेजोमयोऽ-मृतमयः पुरुषोऽयमेव स योऽयमात्मेदममृतमिदं ब्रह्मेदꣳ सर्वम् ॥4॥

यह वायु सभी प्राणियों का मधु है और ये सभी प्राणी वायु का मधु है। इस प्रकार वायु में जो तेजोमय अमृत पुरुष है, और शरीर में जो प्राणरूप तेजोमय अमृत पुरुष है, वही यह आत्मा है, वही अमृत है, वही ब्रह्म है, वही सब कुछ है।

अयमादित्यः सर्वेषां भूतानां मध्वस्यादित्यस्य सर्वाणि भूतानि मधु यश्चायमस्मिन्नादित्ये तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषो यश्चायमध्यात्मं चाक्षु-षस्तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषोऽयमेव स योऽयमात्मेदममृतमिदं ब्रह्मेदꣳ सर्वम् ॥5॥

यह आदित्य सभी प्राणियों का मधु है और ये सभी प्राणी आदित्य का मधु है। इस प्रकार आदित्य में जो तेजोमय अमृतरूप पुरुष है और जो शरीर में चक्षुरूप तेजोमय अमृत पुरुष है, वही यह आत्मा है, वही अमृत है, वही ब्रह्म है, वही सब कुछ है।

इमा दिशः सर्वेषां भूतानां मध्वासां दिशाः सर्वाणि भूतानि मधु यश्चाय-मासु दिक्षु तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषो यश्चायमध्यात्मः श्रौत्रः प्रातिश्रुत्क-स्तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषोऽयमेव स योऽयमात्मेदममृतमिदं ब्रह्मेदः सर्वम् ॥6॥

ये दिशाएँ सब प्राणियों का मधु हैं और सभी प्राणी दिशाओं का मधु है। इस प्रकार दिशाओं में जो तेजोमय अमृतरूप पुरुष है और जो शरीर में श्रोत्रस्थ सर्वश्रवणक्रियाओं में उपस्थित जो तेजोमय अमृतरूप पुरुष है, वही यह आत्मा है, वही अमृत है, वही ब्रह्म है, वही सब कुछ है।

अयं चन्द्रः सर्वेषां भूतानां मध्वस्य चन्द्रस्य सर्वाणि भूतानि मधु यश्चाय-मस्मिंश्चन्द्रे तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषो यश्चायमध्यात्मं मानसस्तेजो-मयोऽमृतमयः पुरुषोऽयमेव स योऽयमात्मेदममृतमिदं ब्रह्मेदः सर्वम् ॥7॥

यह चन्द्र सभी प्राणियों का मधु है और ये सभी प्राणी चन्द्र का मधु है। इस चन्द्र में जो तेजोमय अमृतरूप पुरुष है और इस शरीर में जो मानसरूप तेजोमय अमृतरूप पुरुष है, वही यह आत्मा है, वही अमृत है, वही ब्रह्म है, वही सब कुछ है।

इयं विद्युत्सर्वेषां भूतानां मध्वस्यै विद्युतः सर्वाणि भूतानि मधु यश्चाय-मस्यां विद्युति तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषो यश्चायमध्यात्मं तैजसस्तेजोम-योऽमृतमयः पुरुषोऽयमेव स योऽयमात्मेदममृतमिदं ब्रह्मेदः सर्वम् ॥8॥

यह विद्युत् सभी प्राणियों का मधु है और ये सभी प्राणी विद्युत का मधु है। इस प्रकार इस विद्युत् में जो तेजोमय अमृतरूप पुरुष रहता है और इस शरीर में त्वचा में रहनेवाला जो तेजोमय और अमृतमय पुरुष है, वही यह आत्मा है, वही अमृत है, वही ब्रह्म है, वही सब कुछ है।

अयं स्तनयित्नुः सर्वेषां भूतानां मध्वस्य स्तनयित्नोः सर्वाणि भूतानि मधु यश्चायमस्मिन्स्तनयित्नौ तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषो यश्चायमध्यात्मः शाब्दः सौवरस्तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषोऽयमेव स योऽयमात्मेदममृतमिदं ब्रह्मेदः सर्वम् ॥9॥

यह बादलों की गड़गड़ाहट सभी प्राणियों का मधु है और सभी प्राणी बादलों की गड़गड़ाहट का मधु है। इस प्रकार इस गड़गड़ाहट में जो तेजोमय अमृतमय पुरुष है और जो इस शरीर में आवाज और सुर के स्वरूप में तेजोमय और अमृतमय पुरुष है, वही यह आत्मा है, वही अमृत है, वही ब्रह्म है और वही सब कुछ है।

अयमाकाशः सर्वेषां भूतानां मध्वस्याकाशस्य सर्वाणि भूतानि मधु यश्चायमस्मिन्नाकाशे तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषो यश्चायमध्यात्मः हृद्या-काशस्तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषोऽयमेव स योऽयमात्मेदममृतमिदं ब्रह्मेदः सर्वम् ॥10॥

यह आकाश सब प्राणियों का मधु है और सभी प्राणी आकाश का मधु है। इस प्रकार इस आकाश में जो यह तेजोमय और अमृतमय पुरुष रहता है और शरीर में जो हृदय के आकाश के रूप में तेजोमय और अमृतमय पुरुष है वही आत्मा है, यही अमृत है, यही ब्रह्म है, यही सब कुछ है।

अयं धर्मः सर्वेषां भूतानां मध्वस्य धर्मस्य सर्वाणि भूतानि मधु यश्चाय-मस्मिन्धर्मे तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषो यश्चायमध्यात्मं धर्मस्तेजोमयो-ऽमृतमयः पुरुषोऽयमेव स योऽयमात्मेदमृतमिदं ब्रह्मेदः सर्वम् ॥11॥

यह धर्म सभी प्राणियों का मधु है, और ये सभी प्राणी धर्म का मधु हैं। इस प्रकार इस धर्म में जो तेजोमय अमृतमय पुरुष रहता है और जो इस शरीर में धर्मनीति सम्बन्धी जो तेजोमय और अमृतरूप पुरुष रहता है, वही आत्मा है, वही अमृत है, वही ब्रह्म है और वही सब कुछ है।

इदः सत्यः सर्वेषां भूतानां मध्वस्य सत्यस्य सर्वाणि भूतानि मधु यश्चा-ऽयमस्मिन्सत्ये तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषो यश्चाऽयमध्यात्मः सत्यस्तेजो-मयोऽमृतमयः पुरुषोऽयमेव स योऽयमात्मेदममृतमिदं ब्रह्मेदः सर्वम् ॥12॥

यह सत्य ही सभी प्राणियों का मधु है और ये सभी प्राणी सत्य का मधु हैं। इस प्रकार इस सत्य में जो यह तेजोमय और अमृतमय पुरुष रहता है और शरीर में जो सत्यमय (सच्चाई के रूप में), तेजोमय और अमृतमय पुरुष रहता है, वही यह आत्मा है, वही अमृत है, वही ब्रह्म है, वही सब कुछ है।

इदं मानुषः सर्वेषां भूतानां मध्वस्य मानुष्यस्य सर्वाणि भूतानि मधु यश्चाऽयमस्मिन्मानुषे तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषः यश्चायमध्यात्मं मानुष-तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषोऽयमेव स योऽयमात्मेदममृतमिदं ब्रह्मेदः सर्वम् ॥13॥

यह मनुष्य जाति सभी प्राणियों का मधु है और ये सभी प्राणी मनुष्य जाति का मधु है। इस प्रकार जो इस मनुष्य जाति में तेजोमय अमृतरूप पुरुष रहता है और इस शरीर में जो मानवता के रूप में तेजोमय और अमृतरूप पुरुष रहता है, वही यह आत्मा है, यही अमृत है, यही ब्रह्म है और यही सब कुछ है।

अयमात्मा सर्वेषां भूतानां मध्वस्यात्मनः सर्वाणि भूतानि मधु यश्चाय-मस्मिन्नात्मनि तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषो यश्चायमात्मा तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषोऽयमेव स योऽयमात्मेदममृतमिदं ब्रह्मेदः सर्वम् ॥14॥

यह आत्मा सभी प्राणियों का मधु है और सभी प्राणी आत्मा का मधु है। इस प्रकार इस आत्मा में तेजस्वी और अमृतरूप पुरुष रहता है और इस शरीर में भी जो तेजोमय अमृतरूप पुरुष रहता है, वही यह आत्मा है, वही अमृत है, वही ब्रह्म है, वही सब कुछ है।

स वा अयमात्मा सर्वेषां भूतानामधिपतिः सर्वेषां भूतानाः राजा तद्यथा रथनाभौ च रथनेमौ चाराः सर्वे समर्पिता एवमेवास्मिन्नात्मनि सर्वाणि भूतानि सर्वे देवाः सर्वे लोकाः सर्वे प्राणाः सर्व एत आत्मानः समर्पिताः ॥15॥

यह आत्मा सभी प्राणियों का अधिपति है, सभी प्राणियों का राजा है। जैसे रथ के पहियों की नाभि में तथा उसके परिघ में सभी अरे जड़े हुए होते हैं, उसी प्रकार इस आत्मा में सभी प्राणी, सभी देव, सब लोक, सब प्राण और सभी आत्मा समर्पित (अनुस्यूत) ही हैं।

इदं वै तन्मधु दध्यङ्ङाथर्वणोऽश्विभ्यामुवाच तदेतदृषिः पश्यन्नवोचत्।

**तद्वां नरा सनये दꣳस उग्रमाविष्कृणोमि तन्यतुर्न वृष्टिम् । दध्यङ् ह यन्म-
ध्वाथर्वणो वामश्वस्य शीर्ष्णा प्रयदीमुवाचेति ॥16॥**

दध्यङ् नाम के आथर्वण ने इस मधु (आत्मविद्या) को अश्विनीकुमारों से कहा। तब कोई एक ऋषि इस मधु को देखकर बोल उठे—"जैसे बादल बरसात को प्रकट करते हैं, वैसे ही हे नररूपधारी अश्विनो ! तुम्हारे उस क्रूरकर्म को मैं प्रकट करता हूँ कि तुमने अपने लाभ के लिए दध्यङ् के मस्तक को उतार कर उसकी जगह पर एक घोड़े का मस्तक जोड़ दिया है।

**इदं वै तन्मधु दध्यङ्ङाथर्वणोऽश्विभ्यामुवाच तदेतदृषिः पश्यन्नवोचदत् ।
आथर्वणायाश्विना दधीचेऽश्व्यꣳ शिरः प्रत्यैरयतम् । स वां मधु प्रवोच-
दृतायन्त्वाष्ट्रं यद्दस्रावपि कक्ष्यं वामिति ॥17॥**

यह मधुविद्या अथर्वण के पुत्र दध्यङ् ने अश्विनीकुमारों से कही। उसको देखकर एक मंत्रद्रष्टा ऋषि बोल उठे—"हे अश्विनीकुमारो ! अथर्वण के पुत्र दध्यङ् के लिए तुम लोगों ने (उनके सर को उतार कर) घोड़े का मस्तक जोड़ दिया। तब भी तो दध्यङ् ने अपना वचन सत्य करने के लिए तुम्हें यह त्वाष्ट्र (सूर्य सम्बन्धी) मधुविद्या का उपदेश दिया। हे शत्रु को मारनेवालो ! और जिन्होंने उसके साथ-ही-साथ जो कक्ष्य (गोपनीय) मधुविद्या है, उसका भी उपदेश कर दिया।

(यहाँ उल्लेखनीय है कि सर्वप्रथम इन्द्र ने दध्यङ् को मधुविद्या सिखाते समय यह शर्त रखी थी कि इसे दूसरे किसी से कहने पर तुम्हारा सर कट जाएगा। अश्विनीकुमारों ने उस विद्या को पाने के लिए दध्यङ् का सर उतार कर पहले सुरक्षित रख दिया और उसके स्थान पर घोड़े का सर जोड़कर उस मुख से विद्या सुनी। विद्या सुनने के बाद मानव-मस्तक फिर से धड़ पर जोड़ दिया गया।)

**इदं वै तन्मधु दध्यङ्ङाथर्वणोऽश्विभ्यामुवाच तदेतदृषिः पश्यन्नवोचत् ।
पुरश्चक्रे द्विपदः पुरश्चक्रे चतुष्पदः पुरः स पक्षी भूत्वा पुरःपुरुष आवि-
शदिति । स वा अयं पुरुषः सर्वासु पूर्षु पुरिशयो नैनेन किंचना-
संवृतम् ॥18॥**

अथर्वण के पुत्र दध्यङ् ने यह मधुविद्या अश्विनीकुमारों से कही। यह देखते हुए एक ऋषि बोल उठे—"उस परमेश्वर ने दो पैरवाले शरीर बनाए, फिर चार पैरवाले शरीर बनाए। उस परमात्मा ने पहले पक्षी का रूप लेकर उन शरीरों में प्रवेश किया। सभी शरीरों में वही पुरुष रहता है, इसीलिए तो वह 'पुरिशय' कहा जाता है। वह पूर्षु (शरीररूपी) पुरों (नगरों) में शेते अर्थात् रहता है। विश्व में कोई भी ऐसी वस्तु नहीं है, जहाँ वह व्याप्त न हो। उसके द्वारा व्याप्त न हो, ऐसा कुछ भी नहीं है।

**इदं वै तन्मधु दध्यङ्ङाथर्वणोऽश्विभ्यामुवाच तदेतदृषिः पश्यन्नवोच-
द्रूपꣳरूपं प्रतिरूपो बभूव तदस्य रूपं प्रतिचक्षणाय । इन्द्रो मायाभिः
पुरुरूप ईयते युक्ता ह्यस्य हरयः शता दशेत्ययं वै हरयोऽयं वै दश च
सहस्राणि बहूनि चानन्तानि च तदेतद्ब्रह्मापूर्वमनपरमनन्तरमबाह्यमय-
मात्मा ब्रह्म सर्वानुभूरित्यनुशासनम् ॥19॥**

इति पञ्चमं ब्राह्मणम् ॥

अथर्वण के पुत्र दध्यङ् ने अश्विनीकुमारों से यह मधुविद्या कही। उसे देखकर एक ऋषि बोल उठे—"इस आत्मा के रूप को प्रकट करने के लिए वह हरएक रूप का प्रतिरूप हो गया। इन्द्र

(परमेश्वर) माया से अनेक रूपवाला देखा जाता है। क्योंकि उसके शरीररूपी रथ में एक सौ दस इन्द्रियरूपी घोड़े जुते हैं। वास्तव में तो यह परमेश्वर स्वयं ही एक सौ दस (अनेक) है, वही सहस्र है, वही अनन्त है, वही अबाह्य है, वही अपूर्व (कारणरहित) है, वही 'अनपर' (कार्यरहित) है, वही 'अनन्तर' (विजातीय भेद से रहित) है, वही अबाह्य है, वही सबका अनुभव करनेवाला है। वही ब्रह्म है, सभी वेदान्तों का यही अनुशासन (उपदेश) है।

(यहाँ पाँचवाँ ब्राह्मण पूरा हुआ।)

❋

षष्ठं ब्राह्मणम्

**अथ वꣳशः पौतिमाष्यो गौपवनाद् गौपवनो पौतिमाष्यात्पौतिमाष्यो
गौपवनाद् गौपवनः कौशिकात्कौशिकः कौण्डिन्यात्कौण्डिन्यः शाण्डि-
ल्याच्छाण्डिल्यः कौशिकाच्च गौतमाच्च गौतमः ॥1॥**

अब गुरुपरम्परा कहते हैं। यह विद्या पौतिमाष्य ने गौपवन से ली। गौपवन ने पौतिमाष्य से, पौतिमाष्य ने गोपवन से, गोपवन ने कौशिक से, कौशिक ने कौण्डिन्य से, कौण्डिन्य ने शाण्डिल्य से, शाण्डिल्य ने कौशिक और गौतम से प्राप्त की। (और) गौतम ने—

**आग्निवेश्यादाग्निवेश्यः शाण्डिल्याच्चानभिम्लाताच्चानभिम्लात
आनभिम्लातादानभिम्लात आनभिम्लातादानभिम्लातो गौतमाद् गौतमः
सैतवप्राचीनयोग्याभ्याꣳ सैतवप्राचीनयोग्यौ पाराशर्यात्पाराशर्यो भार-
द्वाजाद्भरद्वाजो भारद्वाजाच्च गौतमाच्च गौतमो भारद्वाजाद्भारद्वाजः पारा-
शर्यात् पाराशर्यो बैजवापायनाद् बैजवापायनः कौशिकायनेः कौशि-
कायनिः ॥2॥**

आग्निवेश्य से, आग्निवेश्य ने शाण्डिल्य और आनभिम्लात से, आनभिम्लात ने दूसरे आनभिम्लात से, उस आनभिम्लात ने तीसरे आनभिम्लात से, उस तीसरे आनभिम्लात ने गौतम से, गौतम ने सैतव और प्राचीनयोग्य से, सैतव और प्राचीनयोग्य ने पाराशर्य से, पाराशर्य ने भारद्वाज से, भारद्वाज ने दूसरे भारद्वाज और गौतम से, गौतम ने भारद्वाज से, भारद्वाज ने पाराशर्य से, पाराशर्य ने वैजवापायन से, वैजवापायन ने कौशिकायनि से और कौशिकायनि ने—

**घृतकौशिकाद्घृतकौशिकः पाराशर्यायणात्पाराशर्यायणः पाराशर्यात्
पाराशर्यो जातूकर्ण्याज्जातूकर्ण्य आसुरायणाच्च यास्काच्चासुरायण-
स्त्रैवणेस्त्रैवणिरौपजन्धनेरौपजन्धनिरासुरेरासुरिर्भारद्वाजाद्भारद्वाज आत्रे-
यादात्रेयो माण्टेर्माण्टिर्गौतमाद्गौतमो गौतमाद्गौतमो वात्स्याद्वात्स्यः
शाण्डिल्याच्छाण्डिल्यः कैशोर्यात्काप्यात्कैशोर्यः काप्यः कुमारहारिता-
त्कुमारहारितो गालवाद्गालवो विदर्भीकौण्डिन्याद्विदर्भीकौण्डिन्यो
वत्सनपातो बाभ्रवाद्वत्सनपाद्बाभ्रवः पथः सौभरात्पन्थाः सौभरोऽयास्या-
दाङ्गिरसादयास्य आङ्गिरस आभूतेस्त्वाष्ट्रादाभूतिस्त्वाष्ट्रो विश्वरूपात्त्वाष्ट्रा-
द्विश्वरूपस्त्वाष्ट्रोऽश्विभ्यामश्विनौ दधीच आथर्वणाद्दध्यङ्ङाथर्वणो-
ऽथर्वणो दैवादथर्वा दैवो मृत्योः प्राध्वꣳसनान्मृत्युः प्राध्वꣳसनः**

प्रध्वꣳसनात्प्रध्वꣳसन एकर्षेरेकर्षिर्विप्रचित्तेर्विप्रचित्तिर्व्यष्टेर्व्यष्टिः सनारोः सनारुः सनातनात्सनातनः सनगात्सनगः परमेष्ठिनः परमेष्ठी ब्रह्मणो ब्रह्म स्वयंभु ब्रह्मणे नमः ॥3॥

इति षष्ठं ब्राह्मणम् ॥

इति बृहदारण्यकोपनिषदि द्वितीयोऽध्यायः ॥2॥
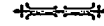
घृतकौशिक से, घृतकौशिक ने पाराशर्यायण से, पाराशर्यायण ने पाराशर्य से, पाराशर्य ने जातूकर्ण्य से, जातूकर्ण्य ने आसुरायण और यास्क से, आसुरायण ने त्रैवणि से, त्रैवणि ने औपजन्धनि से, औपजन्धनि ने आसुरि से, आसुरि ने भारद्वाज से, भारद्वाज ने आत्रेय से, आत्रेय ने माण्टि से, माण्टि ने गौतम से, गौतम ने दूसरे गौतम से, दूसरे गौतम ने वात्स्य से, वात्स्य ने शाण्डिल्य से, शाण्डिल्य ने कैशोर्य काप्य से, कैशोर्य काप्य ने कुमारहारित से, कुमारहारित ने गालव से, गालव ने विदर्भी कौण्डिन्य से, विदर्भी कौण्डिन्य ने वत्सनपात् बाभ्रव से, वत्सनपात् बाभ्रव ने पन्थासौभर से, पन्थासौभर ने अयास्य आंगिरस से, अयास्य आंगिरस ने आभूति त्वाष्ट्र से, आभूति त्वाष्ट्र ने विश्वरूप त्वाष्ट्र से, विश्वरूप त्वाष्ट्र ने दोनों अश्विनों से, दोनों अश्विनों ने दध्यङ् आथर्वण से, दध्यङ् आथर्वण ने अथर्वा दैव से, अथर्वा दैव ने मृत्युध्वंसन से, मृत्युध्वंसन ने प्रध्वंसन से, प्रध्वंसन ने एकर्षि से, एकर्षि ने विप्रचित्ति से, विप्रचित्ति ने व्यष्टि से, व्यष्टि ने सनारु से, सनारु ने सनातन से, सनातन ने सनग से, सनग ने परमेष्ठी से, परमेष्ठी ने ब्रह्म से यह विद्या प्राप्त की। ब्रह्मा स्वयंभू है। उस ब्रह्मा को नमस्कार।

(यहाँ छठा ब्राह्मण पूरा हुआ।)

यहाँ बृहदारण्यकोपनिषद् का दूसरा अध्याय समाप्त होता है।

❋

अथ तृतीयोऽध्यायः

प्रथमं ब्राह्मणम्

ॐ जनको ह वैदेहो बहुदक्षिणेन यज्ञेनेजे तत्र ह कुरुपञ्चालानां ब्राह्मणा अभिसमेता बभूवुस्तस्य ह जनकस्य वैदेहस्य विजिज्ञासा बभूव कःस्विदेषां ब्राह्मणानामनूचानतम इति स ह गवाꣳ सहस्रमवरुरोध दश दश पादा एकैकस्याः शृङ्गयोराबद्धा बभूवुः ॥1॥

विदेह देश के राजा जनक ने बहुत दक्षिणावाले यज्ञ से यजन किया। वहाँ कुरुपांचाल देश के ब्राह्मण आ मिले थे। उस विदेही जनक को यह जानने की इच्छा हुई कि इन ब्राह्मणों में सबसे अधिक विद्वान् ब्राह्मण कौन होगा भला ? उसने एक हजार गायें एकत्र की और प्रत्येक गाय के दोनों सींगों में दस-दस पाद (भरी) सोना बाँध दिया।

तान्होवाच ब्राह्मणा भगवन्तो यो वो ब्रह्मिष्ठः स एता गा उदजतामिति ते ह ब्राह्मणा न दधृषुरथ ह याज्ञवल्क्यः स्वयमेव ब्रह्मचारिणमुवाचैताः सोम्योदज सामश्रवा 3 इति ता होदांचकार ते ह ब्राह्मणाश्चुक्रुधुः कथं नो ब्रह्मिष्ठो ब्रुवीतेत्यथ ह जनकस्य वैदेहस्य होताश्वलो बभूव स हैनं पप्रच्छ त्वं नु खलु नो याज्ञवल्क्य ब्रह्मिष्ठोऽसी 3 इति स होवाच नमो वयं ब्रह्मिष्ठाय कुर्मो गोकामा एव वयꣳ स्म इति तꣳ ह तत एव प्रष्टुं दध्रे होताश्वलः ॥2॥

फिर जनक ने ब्राह्मणों से कहा—"हे पूज्य ब्राह्मणो ! आपमें से जिसको ब्रह्म का अच्छे से अच्छा ज्ञान हो, वह ब्रह्मिष्ठ ब्राह्मण इन गायों को ले जाए।" परन्तु वे ब्राह्मण (गायें ले जाने का) साहस न कर पाए। तब याज्ञवल्क्य ने अपने ही एक ब्रह्मचारी से कहा—"अरे सोम्य सामश्रवा ! इन्हें तुम (हमारे निमित्त) ले जाओ।" तब वह ब्रह्मचारी उनको (याज्ञवल्क्य के घर पर) लेकर चलने लगा। इससे दूसरे ब्राह्मण क्रुद्ध हो गए कि "हमारे आगे उसने अपने को सर्वश्रेष्ठ ब्रह्मनिष्ठ कैसे समझ लिया ? तदनन्तर जनकविदेह का होता अश्वल था, उसने उनसे (याज्ञवल्क्य से) पूछा—"हे याज्ञवल्क्य ! हम सबमें क्या तुम्हीं सर्वश्रेष्ठ ब्रह्मवेत्ता हो ?" तब उन्होंने (याज्ञवल्क्य ने) कहा कि—"सबसे बड़े ब्रह्मज्ञानी को तो हम नमस्कार करते हैं। हम तो केवल गायों की आकांक्षा करनेवाले हैं।" तब अश्वल ने याज्ञवल्क्य से प्रश्न पूछने का निश्चय किया।

याज्ञवल्क्येति होवाच यदिदꣳ सर्वं मृत्युनाप्तꣳ सर्वं मृत्युनाभिपन्नं केन यजमानो मृत्योराप्तिमतिमुच्यत इति होत्रर्त्विजाग्निना वाचा वाग्वै यज्ञस्य होता तद्येयं वाक् सोऽयमग्निः स होता स मुक्तिः सातिमुक्तिः ॥3॥

अश्वल ने पूछा—"हे याज्ञवल्क्य ! यह सब जो मृत्यु से व्याप्त है, मृत्यु के वश में ही रखा गया है। तब किस साधन के द्वारा यजमान मृत्यु की व्याप्ति का अतिक्रमण करके मुक्त हो जाता है ?" (तब याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया कि—) "होता नामक ऋत्विज के द्वारा ही (मृत्यु का अतिक्रमण किया जाता है।) क्योंकि होता वाक् और अग्निरूप है। वह मृत्यु को पार कर सकता है। वही मुक्ति और अतिमुक्ति है।

याज्ञवल्क्येति होवाच यदिदः सर्वमहोरात्राभ्यामाप्तः सर्वमहोरात्राभ्या-मभिपन्नं केन यजमानोऽहोरात्रयोराप्तिमतिमुच्यत इत्यध्वर्युणर्त्विजा चक्षुषादित्येन चक्षुर्वै यज्ञस्याध्वर्युस्तद्यदिदं चक्षुः सोऽसावादित्यः सोऽध्वर्युः स मुक्तिः सातिमुक्तिः ॥4॥

अश्वल ने पूछा—"हे याज्ञवल्क्य ! यह जो सब कुछ है, वह रात-दिन के वश में ही है। तो इन रात और दिन से यजमान किससे मुक्त हो सकता है ?" याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया—"अध्वर्यु नाम के ऋत्विज से तथा आँखरूपी सूर्य से (वह मुक्त हो सकता है), क्योंकि—आँख ही यज्ञ का अध्वर्यु है, और आँख सूर्य का ही दूसरा रूप है और सूर्य ही अध्वर्यु है। वही मुक्ति और अतिमुक्ति है।"

याज्ञवल्क्येति होवाच यदिदः सर्वं पूर्वपक्षापरपक्षाभ्यामाप्तः सर्वं पूर्व-पक्षापरपक्षाभ्याममभिपन्नं केन यजमानः पूर्वपक्षापरपक्षयोराप्तिमति-मुच्यत इत्युद्गात्रर्त्विजा वायुना प्राणेन प्राणो वै यज्ञस्योद्गाता तद्योऽयं प्राणः स वायुः स उद्गाता स मुक्तिः सातिमुक्तिः ॥5॥

अश्वल ने पूछा—"हे याज्ञवल्क्य ! यह जो सब कुछ है, वह पूर्व पक्ष और अपरपक्ष (शुक्ल पक्ष और कृष्णपक्ष) से ही व्याप्त है। तो यजमान किससे इन पूर्वपक्ष और उत्तरपक्ष के घेरे से मुक्त हो सकता है ?" तब याज्ञवल्क्य ने कहा कि—"उद्गाता नामक ऋत्विज् के द्वारा और प्राण के द्वारा ऐसा हो सकता है। क्योंकि जो प्राण है वह वायु है, और जो वायु है वही उद्गाता का रूप है। वही मुक्ति है और अतिमुक्ति है।"

याज्ञवल्क्येति होवाच यदिदमन्तरिक्षमनारम्बणमिव केनाक्रमेण यज-मानः स्वर्गं लोकमाक्रमत इति ब्रह्मणर्त्विजा मनसा चन्द्रेण मनो वै यज्ञस्य ब्रह्मा तद्यदिदं मनः सोऽसौ चन्द्रः स ब्रह्मा स मुक्तिः साऽतिमुक्तिरित्यतिमोक्षा अथ सम्पदः ॥6॥

अश्वल ने पूछा—"हे याज्ञवल्क्य ! यह जो आकाश है, वह तो आधाररहित है, तब यज्ञ करनेवाला यजमान किस आधार से सीढ़ी से चढ़कर स्वर्ग में पहुँच सकता है ?" तब याज्ञवल्क्य ने कहा—"ब्रह्मा नामक ऋत्विज् से और मन से तथा चन्द्र से ऐसा हो सकता है, क्योंकि मन ही यज्ञ का ब्रह्मा है, और जो मन है वही चन्द्र है और वही ब्रह्मा है। वह मुक्ति है, और अतिमुक्ति है"। अब सम्पद का निरूपण करते हैं।

याज्ञवल्क्येति होवाच कतिभिरमद्यर्ग्भिर्होतास्मिन्यज्ञे करिष्यतीति तिसृभिरिति कतमास्तास्तिस्र इति पुरोऽनुवाक्या च याज्या च शस्यैव तृतीया किं ताभिर्जयतीति यत्किंचेदं प्राणभृदिति ॥7॥

अश्वल ने पूछा—"हे याज्ञवल्क्य ! आज इस यज्ञ में होता कितनी (कितने प्रकार की) ऋचाओं से स्तुति करेगा ?" याज्ञवल्क्य बोले—"तीन प्रकार की ऋचाओं से।" अश्वल बोला—"कौन-कौन-सी हैं वे ?" याज्ञवल्क्य ने कहा—"1. पुरोनुवाक्या, 2. याजा और 3. शस्या।" तब अश्वल ने पूछा—"उनसे वह किसको जीतता है अर्थात् क्या प्राप्त करता है ?" याज्ञवल्क्य ने कहा—"जो कुछ प्राणियों का समुदाय है, उस सबको वह जीत लेता है।"

(पुरोनुवाक्या = यज्ञ से पहले बोली जानेवाली ऋचाएँ। याज्या = यज्ञ के समय बोली जानेवाली ऋचाएँ। शस्या = यज्ञ के बाद बोली जानेवाली स्तुतिपरक ऋचाएँ)

याज्ञवल्क्येति होवाच कत्ययमद्याध्वर्युरस्मिन्यज्ञ आहुतीर्होष्यतीति तिस्र इति कतमास्तास्तिस्र इति या हुता उज्ज्वलन्ति या हुता अतिनेदन्ते या हुता अधिशेरते किं ताभिर्जयतीति या हुता उज्ज्वलन्ति देवलोकमेव ताभिर्जयति दीप्यत इव हि देवलोको या हुता अतिनेदन्ते पितृलोकमेव ताभिर्जयत्यतीव हि पितृलोको या हुता अधिशेरते मनुष्यलोकमेव ताभिर्जयत्यध इव हि मनुष्यलोकः ॥8॥

अश्वल ने पूछा—"हे याज्ञवल्क्य ! आज यह अध्वर्यु इस यज्ञ में कितने प्रकार की आहुतियों से होम करेगा ?" याज्ञवल्क्य बोले—"तीन प्रकार की।" अश्वल ने कहा—"कौन-कौन से प्रकार की ?" याज्ञवल्क्य ने कहा— "(एक वे हैं) जिनका होम करने से अग्नि प्रज्वलित हो उठती है ऐसी घृत, लकड़ी आदि की; (दूसरी वे हैं) जिनका होम करने से अग्नि में आवाज होती है, ऐसी मांसादि की और (तीसरी वे हैं) जिनका होम करने से हव्यपदार्थ नीचे बैठ जाते हैं, ऐसी दूध-घी आदि की हैं।" तब अश्वल ने पूछा—"उन आहुतियों से वह (यज्ञकर्ता) क्या प्राप्त करता है ?" याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया कि—जिन आहुतियों को अग्नि में डालने से अग्नि प्रज्वलित हो उठती है, उनसे वह (यज्ञकर्ता) देवलोक को प्राप्त करता है, क्योंकि देवलोक मानो प्रकाशमय हो, ऐसा लगता है। जिन आहुतियों को अग्नि में डालने से बहुत आवाज होती है, उनसे वह पितृलोक प्राप्त करता है, क्योंकि पितृलोक में बहुत आवाजें हुआ करती हैं। जिन आहुतियों को अग्नि में डालने से आहुतियों के पदार्थ नीचे बैठ जाते हैं, उनसे वह मनुष्यलोक को (पृथ्वी को) प्राप्त करता है, क्योंकि मनुष्य लोक नीचे स्थित है।

याज्ञवल्क्येति होवाच कतिभिरयमद्य ब्रह्मा यज्ञं दक्षिणतो देवताभिर्गो-पायतीत्येकयेति कतमा सैकेति मन एवेत्यनन्तं वै मनोऽनन्ता विश्वेदेवा अनन्तमेव स तेन लोकं जयति ॥9॥

अश्वल ने कहा—"हे याज्ञवल्क्य ! दाईं ओर बैठे हुए यह ब्रह्मा नाम के ऋत्विज आज कितने देवों के द्वारा इस यज्ञ की रक्षा करेंगे ?" तब याज्ञवल्क्य ने कहा—"एक ही देवता से।" अश्वल ने पूछा—"कौन है वह देवता ?" याज्ञवल्क्य बोले—"मन ही एकमात्र वह है। मन तो अनन्त है। मन के अधिष्ठाता विश्वदेवों का कोई अन्त नहीं है। यह यजमान उस मन के द्वारा अनन्त लोक को प्राप्त करता है।

याज्ञवल्क्येति होवाच कत्ययमद्योद्गाताऽस्मिन्यज्ञे स्तोत्रियाः स्तोष्य-तीति तिस्र इति कतमास्तास्तिस्र इति पुरोनुवाक्या च याज्या च शस्यैव तृतीया कतमास्ता या अध्यात्ममिति प्राण एवं पुरोनुवाक्यापानो याज्या व्यानः शस्या किं ताभिर्जयतीति पृथिवीलोकमेव पुरोनुवाक्यया जयत्यन्तरिक्षलोकं याज्यया द्युलोकः शस्यया ततो ह होताश्वल उपर-राम ॥10॥

इति प्रथमं ब्राह्मणम् ॥

फिर अश्वल ने पूछा—"हे याज्ञवल्क्य ! आज इस यज्ञ में उद्गाता कितने प्रकार के स्तोत्र गाएगा ?" याज्ञवल्क्य ने कहा—"तीन प्रकार के स्तोत्र गाएगा।" अश्वल ने पूछा—"ये तीन प्रकार कौन-कौन से हैं ?" याज्ञवल्क्य ने कहा—(यज्ञ से पहले गाए जाने वाले) पुरानुवाक्या, (यज्ञ के समय गाए जाने वाले) याज्या और (यज्ञ के अन्त में गाए जाने वाले स्तुतिपरिक) शस्या।" अश्वल ने फिर

पूछा—" अध्यात्मदृष्टि से (शरीर के सम्बन्ध की दृष्टि से) वे स्तोत्र कौन-कौन से हैं ?" याज्ञवल्क्य ने कहा—"यह प्राणवायु ही यज्ञपूर्व गाया जानेवाला स्तोत्र है, 'अपान' यज्ञ के मध्य में गाया जानेवाला स्तोत्र है और 'व्यान' यज्ञ के बाद गाया जानेवाला स्तुतिपरक स्तोत्र है।" अश्वल ने फिर पूछा—"इन स्तोत्रों से वह (यज्ञकर्ता) क्या प्राप्त करता है ?" याज्ञवल्क्य बोले— "पुरोवाक्या नामक स्तोत्रों से वह पृथ्वीलोक को प्राप्त करता है, याज्या नामक स्तोत्रों से वह अन्तरिक्ष लोक को प्राप्त करता है और शस्या नामक स्तोत्रों से वह द्युलोक (स्वर्गलोक) को प्राप्त करता है।" बाद में होता शान्त हो गया।

(यहाँ पहला ब्राह्मण पूरा हुआ)

❋

द्वितीयं ब्राह्मणम्

अथ हैनं जारत्कारव आर्तभागः पप्रच्छ याज्ञवल्क्येति होवाच कति ग्रहाः कत्यतिग्रहा इत्यष्टौ ग्रहा अष्टावतिग्रहा इति ये तेऽष्टौ ग्रहा अष्टावतिग्रहाः कतमे त इति ॥1॥

अब उन याज्ञवल्क्य से जारत्कारव आर्तभाग ने पूछा—"हे याज्ञवल्क्य ! ग्रह कितने हैं और अतिग्रह कितने हैं ?" याज्ञवल्क्य ने कहा—"आठ ग्रह हैं और आठ अतिग्रह हैं।" तब आर्तभाग ने फिर पूछा—"ये जो आठ ग्रह और आठ अतिग्रह हैं, वे कौन-कौन से हैं ?

प्राणो वै ग्रहः सोऽपानेनातिग्राहेण गृहीतोऽपानेन हि गन्धाञ्जिघ्रति ॥2॥

तब याज्ञवल्क्य ने कहा—"प्राणवायु ग्रह है, वह अपानवायुरूपी अतिग्रह के अंकुश में है। क्योंकि अपानवायु से ही वह सूँघता है।

वाग्वै ग्रहः स नाम्नातिग्राहेण गृहीतो वाचा हि नामान्यभिवदति ॥3॥

वाणी ग्रह है, वह नामरूपी अतिग्रह के अंकुश में है, क्योंकि वाणी से ही नाम बोलते हैं।

जिह्वा वै ग्रहः स रसेनातिग्राहेण गृहीतो जिह्वया हि रसान्विजानाति ॥4॥

जीभ ग्रह है, वह रसरूप अतिग्रह के अंकुश में है क्योंकि मनुष्य जीभ से ही रस को जानता है।

चक्षुर्वै ग्रहः स रूपेणातिग्रहेण गृहीतश्चक्षुषा हि रूपाणि पश्यति ॥5॥

आँख ग्रह है, वह रूपात्मक अतिग्रह के अंकुश में है, क्योंकि मनुष्य आँख से ही रूप को देखता है।

श्रोत्रं वै ग्रहः स शब्देनातिग्राहेण गृहीतः श्रोत्रेण हि शब्दाछृणोति ॥6॥

कान ग्रह है,वह शब्दरूपी अतिग्रह के वश में है, क्योंकि मनुष्य कान से ही शब्द सुनता है।

मनो वै ग्रहः स कामेनातिग्राहेण गृहीतो मनसा हि कामान्कामयते ॥7॥

मन ग्रह है और इच्छारूपी अतिग्रह के वश में है क्योंकि मनुष्य मन से ही इच्छा करता है।

हस्तौ वै ग्रहः स कर्मणातिग्राहेण गृहीतो हस्ताभ्याः हि कर्म करोति ॥8॥

दो हाथ ग्रह हैं, वह कर्मरूप अतिग्रह के वश में हैं क्योंकि मनुष्य दो हाथों से ही कर्म करता है।

त्वग्वै ग्रहः स स्पर्शेनातिग्राहेण गृहीतस्त्वचा हि स्पर्शान्वेदयत इत्येतेऽष्टौ ग्रहा अष्टावतिग्रहाः ॥9॥

त्वचा ग्रह है और वह स्पर्शरूप अतिग्रह के वश में है, क्योंकि मनुष्य त्वचा से ही स्पर्श का अनुभव करता है। इस प्रकार ये आठ ग्रह और आठ अतिग्रह हैं।"

याज्ञवल्क्येति होवाच यदिदꣳ सर्वं मृत्योरन्नं का स्वित्सा देवता यस्या मृत्युरन्नमित्यग्निर्वै मृत्युः सोऽपामन्नमप पुनर्मृत्युं जयति ॥10॥

आर्तभाग ने पूछा—"हे याज्ञवल्क्य ! यह सब कुछ मृत्यु का अन्न है। तो ऐसा कौन-सा देवता है, जिसकी मृत्यु भी अन्न हो (भक्ष्य हो) ?" तब याज्ञवल्क्य ने कहा—"अग्नि मृत्यु है, वह जल का अन्न (भक्ष्य) होता है। ऐसा जाननेवाला मनुष्य बार-बार आनेवाली मृत्यु को जीत लेता है।

याज्ञवल्क्येति होवाच यत्रायं पुरुषो म्रियत उदस्मात्प्राणाः क्रामन्त्याहो ३ नेति नेति होवाच याज्ञवल्क्योऽत्रैव समवनीयन्ते स उच्छ्वयत्याध्मायत्याध्मातो मृतः शेते ॥11॥

आर्तभाग ने पूछा—"हे याज्ञवल्क्य ! मनुष्य जब यहाँ मर जाता है, तब उसके प्राण शरीर से चले जाते हैं या नहीं ?" तब याज्ञवल्क्य ने कहा—"नहीं रे ! प्राण चले नहीं जाते, किन्तु यहीं (इस शरीर में ही) लीन हो जाते हैं। (प्राणों को भीतर खींचने से) वह फूल जाता है और यहीं वायु से भरा हुआ और मरा हुआ सुप्त रहता है।

याज्ञवल्क्येति होवाच यत्रायं पुरुषो म्रियते किमेनं न जहातीति नामेत्यनन्तं वै नामानन्ता विश्वेदेवा अनन्तमेव स तेन लोकं जयति ॥12॥

आर्तभाग ने पूछा—"हे याज्ञवल्क्य ! जब यहाँ मनुष्य मर जाता है, तब उसे कौन-सी वस्तु छोड़ नहीं जाती ?" तब याज्ञवल्क्य ने कहा—"नाम उसे नहीं छोड़ता। नाम अनन्त हैं। सब देव अनन्त हैं। इससे वह मनुष्य अनन्त लोक को प्राप्त करता है। (तात्पर्य यह है कि यदि मनुष्य-नाम के अनन्तत्व के अधिकारी विश्वदेवों को वह आत्मभाव से उपासता है, तो वह आनन्त्य के दर्शनद्वारा अनन्तलोक को प्राप्त होता है।)

याज्ञवल्क्येति होवाच यत्रास्य पुरुषस्य मृतस्याग्निं वागप्येति वातं प्राणश्चक्षुरादित्यं मनश्चन्द्रं दिशः श्रोत्रं पृथिवीꣳ शरीरमाकाशमात्मौषधीर्लोमानि वनस्पतीन्केशा अप्सु लोहितं च रेतश्च निधीयते क्वाऽयं तदा पुरुषो भवतीत्याहर सोम्य हस्तमार्तभागावामेवैतस्य वेदिष्यावो न नावेतत् सजन इति तौ होत्क्रम्य मन्त्रयांचक्राते तौ ह यदूचतुः कर्म हैव तदूचतुरथ यत्प्रशशꣳसतुः कर्म हैव तत्प्रशशꣳसतुः पुण्यो वै पुण्येन कर्मणा भवति पापः पापेनेति ततो ह जारत्कारव आर्तभाग उपरराम ॥13॥

इति द्वितीयं ब्राह्मणम् ॥

आर्तभाग ने पूछा—"हे याज्ञवल्क्य ! जब यहाँ मरे हुए पुरुष की वाणी अग्नि में लीन हो जाती है, प्राण वायु में लीन हो जाते हैं, चक्षु आदित्य में लीन हो जाता है, मन चन्द्र में लीन हो जाता है, कान दिशाओं में लीन हो जाते हैं, शरीर पृथ्वी में विलीन हो जाता है, आत्मा आकाश में लीन हो जाता है, रोम (रोंगटे) औषधियों में लीन हो जाते हैं, बाल वनस्पतियों में लीन हो जाते हैं, लहू और वीर्य जल में मिल जाते हैं, तब इस पुरुष का क्या होता है ?" तब याज्ञवल्क्य बोले—"हे सोम्य ! मेरा हाथ पकड़ो। हम दोनों (एकान्त में ही) इसकी चर्चा करेंगे। हम दोनों की यह चर्चा जनसमुदाय के बीच

करनी योग्य नहीं है।" तब उन दोनों ने बाहर (एकान्त) में जाकर चर्चा की। उन्होंने जो कुछ कहा, वह कर्मसम्बन्धी ही था। और जिसकी प्रशंसा की वह भी सही रूप में कर्म की ही थी। पुण्यकर्म से मनुष्य पुण्यवान होता है और पाप कर्म से पापी होता है। इसके बाद आर्तभाग शान्त हो गया।

(यहाँ दूसरा ब्राह्मण पूरा हुआ।)

❋

तृतीयं ब्राह्मणम्

अथ हैनं भुज्युर्लाह्यायनिः पप्रच्छ याज्ञवल्क्येति होवाच मद्रेषु चरकाः पर्यव्रजाम ते पतञ्जलस्य काप्यस्य गृहानैम तस्यासीद्दुहिता गन्धर्वगृहीता तमपृच्छाम कोऽसीति सोऽब्रवीत्सुधन्वाऽऽङ्गिरस इति तं यदा लोकानामन्तानपृच्छामाथैनमब्रूम क्व पारिक्षिता अभवन्निति क्व पारिक्षिता अभवन् स त्वा पृच्छामि याज्ञवल्क्य क्व पारिक्षिता अभवन्निति ॥1॥

अब उन याज्ञवल्क्य से लाह्यानि भुज्यु ने पूछा—"हे याज्ञवल्क्य! हम जब मद्र देश में चरक (अध्ययनव्रतधारी अथवा अध्वर्यु) होकर घूम रहे थे, तब कपिगोत्रीय पतंचल के घर पर जा पहुँचे। वहाँ उसकी पुत्री गन्धर्व से गृहीत थी (गन्धर्व उसके शरीर में आविष्ट हुआ।) हमने उससे पूछा—'तू कौन है?' वह बोला—'मैं सुधन्वा आंगिरस हूँ।' जब हमने उससे लोकों के अन्त के विषय में और 'परिक्षित के वंशज कहाँ थे'—इसके विषय में पूछा था। तो अब हे याज्ञवल्क्य! मैं आपसे पूछता हूँ कि परिक्षित के उन वंशजों का क्या हुआ?"

स होवाचोवाच वै सोऽगच्छन्वै ते तद्यात्राश्वमेधयाजिनो गच्छन्तीति क्व न्वश्वमेधयाजिनो गच्छन्तीति द्वात्रिंशतं वै देवरथाह्न्यान्ययं लोकस्तꣳ समन्तं पृथ्वी द्विस्तावत्पर्येति ताꣳ समन्तं पृथिवीं द्विस्तावत्समुद्रः पर्येति तद् यावती क्षुरस्य धारा यावद्वा मक्षिकायाः पत्रं तावानन्तरेणाकाशस्तानिन्द्रः सुपर्णो भूत्वा वायवे प्रायच्छत्तान्वायुरात्मनि धित्वा तत्रागमयद्यत्राश्वमेधयाजिनोऽभवन्नित्येवमिव वै स वायुमेव प्रशशꣳस तस्माद्वायुरेव व्यष्टिर्वायुः समष्टिरप पुनर्मृत्युं जयति य एवं वेद ततो ह भुज्युर्लाह्यायनिरुपरराम ॥2॥

इति तृतीयं ब्राह्मणम् ॥

तब याज्ञवल्क्य ने कहा—"उसने (गन्धर्व ने) (तुम्हें) ऐसा कहा था कि वे (परिक्षित के वंशज) वहीं गए हैं कि जहाँ अश्वमेध यज्ञ करनेवाले जाते हैं"। भुज्यु ने पूछा—"अश्वमेध यज्ञ करनेवाले कहाँ जाते हैं?" तब याज्ञवल्क्य ने कहा—"देवरथ (सूर्य के रथ) का बत्तीस गुना विस्तार—अर्थात् एक दिन में अपने रथ के द्वारा सूर्य जितना अन्तर काटता है, उसका बत्तीस गुना विस्तार इस लोक का है। इस लोक के आसपास इस लोक से दुगुनी पृथ्वी उसे घेर कर अवस्थित है। उस पृथ्वी को भी चारों और उससे दुगुने समुद्र ने घेर रखा है। उन दोनों के बीच उस्तरे की धार जैसा या मक्खी के पंख जैसा एक छिद्र है (आकाश है) फिर इन्द्र ने एक पक्षी (अच्छी पंखवाले) का रूप लेकर उस छिद्र (आकाश - खाली जगह) के द्वारा परिक्षित के वंशजों को वायु को सौंप दिया। वायु ने उनको (परिक्षित के वंशजों को) अपने भीतर स्थापित करके (अर्थात् अपने ऊपर बिठाकर) जिस स्थान पर अश्वमेध यज्ञ

करनेवाले थे, वहाँ पहुँचा दिया। इस प्रकार गंधर्व ने यहाँ वायु की ही प्रशंसा की थी। इसलिए वायु ही व्यष्टि है, वायु ही समष्टि है। जो कोई भी इस प्रकार जानता है, वह अपमृत्यु और पुनर्मृत्यु को जीत लेता है।" और इसके बाद लाह्यायनि भुज्यु शान्त हो गया।

(यहाँ तीसरा ब्राह्मण पूरा हुआ)

❋

चतुर्थं ब्राह्मणम्

अथ हैनमुषस्तश्चाक्रायणः पप्रच्छ याज्ञवल्क्येति होवाच यत्साक्षादपरोक्षाद्ब्रह्म य आत्मा सर्वान्तरस्तं मे व्याचक्ष्व इत्येष त आत्मा सर्वान्तरः कतमो याज्ञवल्क्य सर्वान्तरो यः प्राणेन प्राणिति स त आत्मा सर्वान्तरो योऽपानेनापानिति स त आत्मा सर्वान्तरो यो व्यानेन व्यानिति स त आत्मा सर्वान्तरो य उदानेनोदानिति स त आत्मा सर्वान्तर एष त आत्मा सर्वान्तरः ॥1॥

अब उनसे (याज्ञवल्क्य से) चक्र के पुत्र उषस्त ने पूछा—"हे याज्ञवल्क्य! जो ब्रह्म साक्षात् (हमारे सामने ही) है जो अपरोक्ष (हमसे जरा भी दूर) नहीं है, और जो सभी के अन्तस् में आत्मा के स्वरूप में बसता है उस ब्रह्म के विषय में मुझे समझाइए।" तब याज्ञवल्क्य ने कहा—"यह जो तुम्हारा आत्मा है, वही सभी का आत्मा है। प्राण लेनेवाला जो तुम्हारा आत्मा है, वही सभी के अंतस् में रहता है। व्यान वायु के द्वारा सारे शरीर में व्याप्त होकर रहने वाला जो तुम्हारा आत्मा है वही सभी के अंतस् में रहनेवाला आत्मा है। उदानवायु के द्वारा तुम्हारे शरीर में श्वास बाहर निकालने वाला जो तम्हारा आत्मा है, वही सभी के अन्तस् में रहनेवाला आत्मा है। यह तुम्हारा ही आत्मा सभी के अन्तस् में रहता है।

स होवाचोषस्तश्चाक्रायणो यथा विब्रूयादसौ गौरसावश्व इत्येवमेवैतद् व्यपदिष्टं भवति यदेव साक्षादपरोक्षाद्ब्रह्म य आत्मा सर्वान्तरस्तं मे व्याचक्ष्वेत्येष त आत्मा सर्वान्तरः कतमो याज्ञवल्क्य सर्वान्तरो न दृष्टेर्द्रष्टारं पश्येर्न श्रुतेः श्रोतारꣳ शृणुयान्न मतेर्मन्तारं मन्वीथा न विज्ञातेर्विज्ञातारं विजानीया एष त आत्मा सर्वान्तरोऽतोऽन्यदार्तं ततो होषस्तश्चाक्रायण उपरराम ॥2॥

इति चतुर्थं ब्राह्मणम् ॥

उषस्त चाक्रायण ने कहा—"(हे याज्ञवल्क्य!) जिस तरह 'यह गाय है, घोड़ा है' ऐसा कहा जाता है, इसी तरह आपका 'यह ब्रह्म है'—ऐसा कथन है। परन्तु मुझे तो आप जो हमारे सामने ही हैं (साक्षात् हैं) और जो कहीं भी दूर नहीं है (जो अपरोक्ष है) और जो सभी के अन्तस् में रहता है उसी के विषय में समझाइए।" तब याज्ञवल्क्य ने कहा—"यह जो तुम्हारा आत्मा है, वही सबके भीतर (सबके अन्तस् में) रहता है।" तब चाक्रायण ने कहा—"हे याज्ञवल्क्य! सभी के अन्तस् में कौन बसता है?" तब याज्ञवल्क्य बोले—"जो आँख को देखने वाला है उसे तुम नहीं देख सकते। जो कान का सुनने वाला है, उसे तुम नहीं सुन सकते। जो मन का सोचनेवाला (मन) है, उसे तुम नहीं

सोच सकते । जो ज्ञान का ज्ञाता है, उसे तुम नहीं जान सकते । वह जो तुम्हारा आत्मा है, वही सभी के अंतर में रहता है । इसके सिवा सब कुछ नाशवान् है । तब उषस्त चाक्रायण शान्त हो गया ।

(यहाँ चौथा ब्राह्मण पूरा हुआ ।)

❋

पञ्चमं ब्राह्मणम्

अथ हैनं कहोलः कौषीतकेयः पप्रच्छ याज्ञवल्क्येति होवाच यदेव साक्षादपरोक्षाद्ब्रह्म य आत्मा सर्वान्तरस्तं मे व्याचक्ष्वेत्येष त आत्मा सर्वान्तरः कतमो याज्ञवल्क्य सर्वान्तरो योऽशनायापिपासे शोकं मोहं जरां मृत्युमत्येति एतं वै तमात्मानं विदित्वा ब्राह्मणाः पुत्रैषणायाश्च वित्तैषणायाश्च लोकैषणायाश्च व्युत्थायाथ भिक्षाचर्यं चरन्ति या ह्येव पुत्रैषणा सा वित्तैषणा या वित्तैषणा सा लोकैषणोभे ह्येते एषणे एव भवतस्तस्माद् ब्राह्मणः पाण्डित्यं निर्विद्य बाल्येन तिष्ठासेद्बाल्यं च पाण्डित्यं च निर्विद्याथ मुनिरमौनं च मौनं च निर्विद्याऽथ ब्राह्मणः स ब्राह्मणः केन स्याद्येन स्यात्तेनेदृश एवातोऽन्यदार्तं ततो ह कहोलः कौषीतकेय उपरराम ॥1॥

इति पञ्चमं ब्राह्मणम् ॥

इसके बाद कुषीतक के पुत्र कहोल ने उनसे पूछा—"हे याज्ञवल्क्य ! जो ब्रह्म साक्षात् (हमारे सामने ही) है, जो अपरोक्ष (जरा भी दूर) नहीं है, और जो सबके अन्तर में आत्मा के रूप में रहता है उस ब्रह्म के विषय में मुझे समझाइए ।" तब याज्ञवल्क्य ने कहा—"यह जो तुम्हारा आत्मा है, वही सबके अन्तर में रहता है ।" तब कहोल ने पूछा—"कौन-सा आत्मा सबके अन्तस् में रहता है ?" तब याज्ञवल्क्य ने कहा—"जो आत्मा भूख, प्यास, शोक, मोह, वृद्धत्व, मृत्यु—इन सबका अतिक्रमण करता है; ऐसे इस आत्मा को जो ब्राह्मण जानते हैं, वे पुत्र-प्राप्ति की इच्छा छोड़ देते हैं, धनप्राप्ति की इच्छा छोड़ देते हैं, स्वर्गादि लोकों की प्राप्ति की इच्छा भी छोड़ देते हैं और भिक्षा माँगकर निर्वाह करते हैं । पुत्रप्राप्ति की इच्छा होती है, तभी तो धनप्राप्ति की इच्छा होती है । और जब धनप्राप्ति की इच्छा होती है, तब स्वर्गादि लोक की प्राप्ति की इच्छा होती है । क्योंकि आखिर में वे दोनों इच्छाएँ तो हैं ही । इसलिए ब्राह्मण को चाहिए कि वह पूर्णतः आत्मज्ञान प्राप्त करके उस आत्मज्ञानरूप बल से स्थिर रहने की इच्छा करे । फिर उस बल और पाण्डित्य को पूर्णतः प्राप्त करके वह मुनि होता है । फिर अमौन और मौन उन दोनों को पूर्णतः प्राप्त करके वह ब्राह्मण होता है ।" "तो वह ब्राह्मण कैसे होता है ?"—कहोल के ऐसा पूछने पर याज्ञवल्क्य बोले—"वह किसी भी प्रकार से हो, पर वह ब्राह्मण ऐसा ही (उपर्युक्त योग्यतावाला) होता है । आत्मा भी ऐसा ही है । आत्मा के सिवा अन्य सब कुछ विनाशी ही है ।" यह सुनकर कहोल शान्त हो गया ।

(यहाँ पाँचवाँ ब्राह्मण पूरा हुआ ।)

❋

षष्ठं ब्राह्मणम्

अथ हैनं गार्गी वाचक्नवी पप्रच्छ याज्ञवल्क्योते होवाच यदिदꣳ सर्वमप्स्वोतं च प्रोतं च कस्मिन्नु खल्वाप ओताश्च प्रोताश्चेति वायौ गार्गीति

कस्मिन्नु खलु वायुरोतश्च प्रोतश्चेत्यन्तरिक्षलोकेषु गार्गीति कस्मिन्नु खल्वन्तरिक्षलोका ओताश्च प्रोताश्चेति गन्धर्वलोकेषु गार्गीति कस्मिन्नु खलु गन्धर्वलोका ओताश्च प्रोताश्चेत्यादित्यलोकेषु गार्गीति कस्मिन्नु खल्वादित्यलोका ओताश्च प्रोताश्चेति चन्द्रलोकेषु गार्गीति कस्मिन्नु खलु चन्द्रलोका ओताश्च प्रोताश्चेति नक्षत्रलोकेषु गार्गीति कस्मिन्नु खलु नक्षत्रलोका ओताश्च प्रोताश्चेति देवलोकेषु गार्गीति कस्मिन्नु खलु देवलोका ओताश्च प्रोताश्चेतीन्द्रलोकेषु गार्गीति कस्मिन्नु खल्विन्द्रलोका ओताश्च प्रोताश्चेति प्रजापतिलोकेषु गार्गीति कस्मिन्नु खलु प्रजापतिलोका ओताश्च प्रोताश्चेति ब्रह्मलोकेषु गार्गीति कस्मिन्नु खलु ब्रह्मलोका ओताश्च प्रोताश्चेति स होवाच गार्गि माति प्राक्षीर्मा ते मूर्धा व्यपप्तत्सदनतिप्रश्न्यां वै देवतामतिपृच्छसि गार्गि मातिप्राक्षीरिति ततो ह गार्गी वाचक्नव्युपरराम ॥1॥

इति षष्ठं ब्राह्मणम् ॥

बाद में वचक्नु की पुत्री गार्गी ने उनसे पूछा—"हे याज्ञवल्क्य ! विश्व में जो कुछ भी है, वह सब यदि पानी में घुलमिल गया हो, तो फिर पानी किसमें घुलमिला है ?" याज्ञवल्क्य बोले—"गार्गी ! वायु में ।" गार्गी बोली—"वायु किसमें अनुस्यूत है ?" याज्ञवल्क्य बोले—"गार्गी ! अन्तरिक्ष लोकों में ।" गार्गी बोली—"तो अन्तरिक्षलोक किसमें अनुस्यूत है ?" याज्ञवल्क्य बोले—"गार्गी ! गन्धर्व लोकों में ।" गार्गी बोली—"गन्धर्वलोक किसमें ओतप्रोत है ?" याज्ञवल्क्य बोले—"गार्गी ! सूर्यलोकों में ।" गार्गी बोली—"सूर्यलोक किसमें ओतप्रोत है ?" याज्ञवल्क्य बोले—"गार्गी ! चन्द्रलोकों में ।" गार्गी बोली—"चन्द्रलोक किसमें ओतप्रोत है ?" याज्ञवल्क्य बोले—"गार्गी ! नक्षत्रलोकों में ।" गार्गी बोली—"नक्षत्रलोक किसमें ओतप्रोत हैं ?" याज्ञवल्क्य बोले—"गार्गी ! देवलोकों में ।" गार्गी बोली—"देवलोक किसमें ओतप्रोत है ?" याज्ञवल्क्य बोले—"गार्गी ! इन्द्रलोकों में ।" गार्गी बोली—"इन्द्रलोक किसमें घुलेमिले हैं ?" याज्ञवल्क्य बोले—"गार्गी ! प्रजापतिलोकों में ।" गार्गी बोली—"प्रजापतिलोक किसमें तानेबाने की तरह मिलेजुले हैं ?" याज्ञवल्क्य बोले—"गार्गी ! ब्रह्मलोकों में ।" गार्गी बोली—"तब ब्रह्मलोक किसमें तानेबाने की तरह अनुस्यूत है ?" याज्ञवल्क्य बोले—"हे गार्गी ! अब अधिक प्रश्न मत पूछो ! नहीं तो तुम्हारा मस्तक उड़कर नीचे गिर पड़ेगा । जिस देव के सम्बन्ध में अमुक सीमा से अधिक प्रश्न पूछना उचित नहीं है, उस देव के विषय में तुम हद से अधिक प्रश्न पूछ रही हो । इसलिए हे गार्गी ! तुम अब अतिप्रश्न न पूछो ।" यह सुनकर वचक्नु की पुत्री गार्गी शान्त हो गई ।

(यहाँ छठा ब्राह्मण पूरा हुआ ।)

❋

सप्तमं ब्राह्मणम्

अथ हैनमुद्दालक आरुणिः पप्रच्छ याज्ञवल्क्येति होवाच मद्रेष्ववसाम पतञ्चलस्य काप्यस्य गृहेषु यज्ञमधीयानास्तस्यासीद्भार्या गन्धर्वगृहीता तमपृच्छाम कोऽसीति सोऽब्रवीत् कबन्ध आथर्वण इति सोऽब्रवीत्पतञ्चलं काप्यं याज्ञिकाꣳश्च वेत्थ नु त्वं काप्य तत्सूत्रं येनायं च लोकः परश्च

लोकः सर्वाणि च भूतानि सन्दृब्धानि भवन्तीति सोऽब्रवीत्पतञ्चलः काप्यो नाहं तद्भगवन्वेदेति सोऽब्रवीत्पतञ्चलं काप्यं याज्ञिकाꣳश्च वेत्थ नु त्वं काप्य तमन्तर्यामिणं य इमं च लोकं परं च लोकꣳ सर्वाणि च भूतानि योऽन्तरो यमयतीति सोऽब्रवीत्पतञ्चलः काप्यो नाहं तं भगवन्वेदेति सोऽब्रवीत्पतञ्चलं काप्यं याज्ञिकाꣳश्च यो वै तत्काप्यसूत्रं विद्यात्तं चान्तर्यामिणमिति स ब्रह्मवित्स लोकवित्स देववित्स वेदवित्स भूतवित्स आत्मवित्स सर्वविदिति तेभ्योऽब्रवीत्तदहं वेद तच्चेत्त्वं याज्ञवल्क्य सूत्रमविद्वाꣳस्तं चान्तर्यामिणं ब्रह्मगवीरुदजसे मूर्धा ते विपतिष्यतीति वेद वा अहं गौतम तत्सूत्रं तं चान्तर्यामिणमिति यो वा इदं कश्चिद्ब्रूयाद्वेद वेदेति यथा वेत्थ तथा ब्रूहीति ॥1॥

फिर उनसे अरुण के पुत्र उद्दालक ने प्रश्न पूछा—"हे याज्ञवल्क्य ! हम लोग मद्र देश में जब शास्त्रों का अभ्यास करते थे तब कपिगोत्रीय पतंचल के घर में रहते थे। उसकी स्त्री को गन्धर्व ने आविष्ट कर लिया था। हम लोगों ने उससे पूछा—"तू कौन है ?" उसने कहा—"मैं अथर्व का पुत्र कबन्ध हूँ।" उसने फिर कपिगोत्रीय पतंचल से और हम याज्ञिकों से (विद्यार्थियों से) कहा—"हे काप्य ! क्या तुम लोग यह जानते हो कि यह लोक, परलोक और ये सब प्राणी किस सूत्र में पिरोये हुए हैं ?" कपिगोत्रीय पतंचल ने कहा—"भगवन् ! नहीं, हम तो यह नहीं जानते।" तब उस गन्धर्व ने उस कपिगोत्रीय पतंचल से और हम याज्ञिकों से (विद्यार्थियों से) कहा—"हे काप्य ! क्या तुम लोग उस अन्तर्यामी को जानते हो जो कि भीतर बैठे-बैठे ही इस लोक को, परलोक को और सभी प्राणियों को नियम में रखता है ?" काप्य पतंचल ने कहा—"भगवन् ! नहीं, हम उसे नहीं जानते।" फिर उस (गन्धर्व) ने कपिगोत्रीय पतंचल से और हम सब याज्ञिकों से कहा—"हे काप्य ! जो मनुष्य उस सूत्र को और उस अन्तर्यामी को जान लेता है, वह ब्रह्म को जान लेता है, वह जगत् को जान लेता है, वह देवों को जानता है, वह वेदों को जानता है, प्राणियों को जानता है और आत्मा को जानता है। वह सब कुछ जानता है।" बाद में गंधर्व ने उन्हें जो कुछ समझाया था, वह मैं जानता हूँ। हे याज्ञवल्क्य ! तुम यदि उस सूत्र को और उस अन्तर्यामी को बिना जाने ही इन ब्रह्मज्ञानी को (ही) दी जानेवाली गायों को हाँककर ले जाओगे, तो तुम्हारा सिर नीचे गिर पड़ेगा।" तब याज्ञवल्क्य बोले—"हे गौतम ! मैं उस सूत्र को और उस अन्तर्यामी को जानता हूँ।" तब कुद्दालक ने कहा—"मैं जानता हूँ, मैं जानता हूँ—ऐसा तो कोई भी मनुष्य कह सकता है। पर तुम जो जानते हो, वह कहकर बताओ।"

स होवाच वायुर्वै गौतम तत्सूत्रं वायुना वै गौतम सूत्रेणायं च लोकः परश्च लोकः सर्वाणि च भूतानि सन्दृब्धानि भवन्ति तस्माद्वै गौतम पुरुषं प्रेतमाहुर्व्यस्रꣳसिषतास्याङ्गानीति वायुना हि गौतम सूत्रेण सन्दृब्धानि भवन्तीत्येवमेवैतद् याज्ञवल्क्यान्तर्यामिणं ब्रूहीति ॥2॥

उन्होंने (याज्ञवल्क्य ने) कहा—"हे गौतम ! वह सूत्र वायु है। हे गौतम ! इस वायुरूपी सूत्र में यह लोक, परलोक तथा सभी प्राणी पिरोये हुए हैं। इसलिए हे गौतम ! जब मनुष्य मर जाता है, तब लोग कहते हैं कि इसके शरीर के बन्ध छूट गए हैं, क्योंकि हे गौतम ! वायुरूपी सूत्र से ही वे सब पिरोये हुए रहते हैं।" तब उद्दालक ने कहा—"यह सब तो ठीक है। अब हे याज्ञवल्क्य ! अन्तर्यामी के विषय में कहो"।

यः पृथिव्यां तिष्ठन् पृथिव्या अन्तरो यं पृथिवी न वेद यस्य पृथिवी शरीरं यः पृथिवीमन्तरो यमयत्येष त आत्मान्तर्याम्यमृतः ॥3॥

वह जो पृथ्वी में रहता है, पृथ्वी के भीतर है, जिसे पृथ्वी नहीं जानती, पृथ्वी जिसका शरीर है, पृथ्वी के भीतर रहकर जो पृथ्वी को नियम में रखता है, वही तुम्हारा आत्मा है, वही अन्तर्यामी है, और वही अमृत है।

योऽप्सु तिष्ठन्नद्भ्योऽन्तरो यमापो न विदुर्यस्यापः शरीरं योऽपोऽन्तरो यमयत्येष त आत्मान्तर्याम्यमृतः ॥4॥

जो यह जल में रहता हुआ जल ही संव्याप्त है, जिसे जल जानता नहीं, जल जिसका शरीर है, जो जल में रहकर जल का नियमन करता है, वही तुम्हारा आत्मा है, वही अन्तर्यामी है, वही अमृत है।

योऽग्नौ तिष्ठन्नग्नेरन्तरो यमग्निर्न वेद यस्याग्निः शरीरं योऽग्निमन्तरो यमयत्येष त आत्मान्तर्याम्यमृतः ॥5॥

जो अग्नि में रहते हुए अग्नि में अनुस्यूत है, जिसे अग्नि नहीं जानता, जिसका शरीर अग्नि है जो अग्नि के भीतर रहकर अग्नि का नियमन करता है, वही तुम्हारा आत्मा है, वही अन्तर्यामी है, वही अमृत है।

योऽन्तरिक्षे तिष्ठन्नन्तरिक्षादन्तरो यमन्तरिक्षं न वेद यस्यान्तरिक्षꣳ शरीरं योऽन्तरिक्षमन्तरो यमयत्येष त आत्मान्तर्याम्यमृतः ॥6॥

जो अन्तरिक्ष में रहते हुए अन्तरिक्ष में ही संव्याप्त है, जिसे अन्तरिक्ष नहीं जानता, अन्तरिक्ष जिसका शरीर है। जो अन्तरिक्ष में अनुस्यूत रहकर अन्तरिक्ष को नियम में रखता है, वही यह तुम्हारा आत्मा है, वही अन्तर्यामी है, वही अमृत है।

यो वायौ तिष्ठन्वायोरन्तरो यं वायुर्न वेद यस्य वायुः शरीरं यो वायुमन्तरो यमयत्येष त आत्मान्तर्याम्यमृतः ॥7॥

जो वायु में रहकर वायु के भीतर रहकर बसता है, जिसे वायु नहीं जानता, वायु जिसका शरीर है, जो वायु के भीतर रहकर वायु का नियमन करता है, वही तेरा आत्मा है, वही अन्तर्यामी है, वही अमृत है।

यो दिवि तिष्ठन्दिवोऽन्तरो यं द्यौर्न वेद यस्य द्यौः शरीरं यो दिवमन्तरो यमयत्येष त आत्मान्तर्याम्यमृतः ॥8॥

जो द्युलोक (स्वर्ग) में रहता है, स्वर्ग के भीतर उसका निवास है; जिसे द्युलोक (स्वर्ग) नहीं जानता, स्वर्गलोक जिसका शरीर है; जो स्वर्ग के भीतर रहकर जो स्वर्ग को नियम में रखता है वही तुम्हारा आत्मा है, वही अन्तर्यामी है, वही अमृत है।

य आदित्ये तिष्ठन्नादित्यादन्तरो यमादित्यो न वेद यस्यादित्यः शरीरं य आदित्यमन्तरो यमयत्येष त आत्मान्तर्याम्यमृतः ॥9॥

जो सूर्य में रहता हुआ सूर्य के भीतर अनुस्यूत है, जिसे सूर्य नहीं जानता, जिसका शरीर सूर्य है, जो सूर्य के भीतर रहकर सूर्य का नियमन करता है, वही यह तुम्हारा आत्मा है, वही अन्तर्यामी है और वही अमृत है।

यो दिक्षु तिष्ठन्दिग्भ्योऽन्तरो यं दिशो न विदुर्यस्य दिशः शरीरं यो दिशो-ऽन्तरो यमयत्येष त आत्मान्तर्याम्यमृतः ॥10॥

जो दिशाओं में रहता हुआ दिशाओं के भीतर अनुस्यूत है, जिसे दिशाएँ नहीं जानतीं, दिशाएँ जिसका शरीर हैं, दिशाओं के भीतर रहकर जो दिशाओं का नियमन करता है, वही यह तुम्हारा आत्मा है, वही अन्तर्यामी है, वही अमृत है।

यश्चन्द्रतारके तिष्ठंश्चन्द्रतारकादन्तरो यं चन्द्रतारकं न वेद यस्य चन्द्र-तारकः शरीरं यश्चन्द्रतारकमन्तरो यमयत्येष त आत्मान्तर्याम्य-मृतः ॥11॥

जो चन्द्र और ताराओं में रहकर चन्द्र और तारकों के भीतर अनुस्यूत है, जिसे चन्द्र और तारक नहीं जानते। चन्द्र और तारक जिसका शरीर है जो चन्द्र और तारक के भीतर रहकर उनका नियमन करता है, वही यह तुम्हारा आत्मा है, वही अन्तर्यामी है, वही अमृत है।

य आकाशे तिष्ठान्नाकाशादन्तरो यमाकाशो न वेद यस्याकाशः शरीरं यश्चाकाशमन्तरो यमयत्येष त आत्मान्तर्याम्यमृतः ॥12॥

जो आकाश में रहता हुआ आकाश के भीतर गूँथा हुआ है, जिसे आकाश नहीं जानता, आकाश जिसका शरीर है। आकाश में अनुस्यूत होकर जो आकाश को नियमन में रखता है, वह यह तुम्हारा आत्मा है, वही अन्तर्यामी है, वही अमृत है।

यस्तमसि तिष्ठंस्तमसोऽन्तरो यं तमो न वेद यस्य तमः शरीरं यस्तमोऽन्तरो यमयत्येष त आत्मान्तर्याम्यमृतः ॥13॥

जो अँधेरे में रहते हुए अंधकार से ओतप्रोत है, जिसे अँधेरा नहीं जानता, अंधकार ही उसका शरीर है। अँधेरे में अनुस्यूत होकर जो अंधकार का नियमन करता है, वही यह तुम्हारा आत्मा है, वही अन्तर्यामी है, वही अमृत है।

यस्तेजसि तिष्ठंस्तेजसोऽन्तरो यं तेजो न वेद यस्य तेजः शरीरं यस्तेजोऽन्तरो यमयत्येष त आत्मान्तर्याम्यमृतः । इत्यधिदैवतमथाधि-भूतम् ॥14॥

जो तेज में रहते हुए तेज के साथ अनुरयूत है, जिसे तेज नहीं जानता, तेज जिसका शरीर है। तेज के भीतर रहकर जो तेज का नियमन करता है वही यह तेरा आत्मा है, वही अन्तर्यामी है, वही अमृत है। इतना वर्णन देवों के विषय में हुआ। अब प्राणियों के विषय में उसका वर्णन किया जाता है।

यः सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्सर्वेभ्यो भूतेभ्योऽन्तरो यः सर्वाणि भूतानि न विदुर्यस्य सर्वाणि भूतानि शरीरं यः सर्वाणि भूतान्यन्तरो यमयत्येष त आत्मान्तर्याम्यमृत इत्यधिभूतमथाध्यात्मम् ॥15॥

जो सभी प्राणियों में रहते हुए सभी में अनुस्यूत है जिसे प्राणी नहीं जानते, प्राणी जिसका शरीर है। प्राणियों के भीतर रहकर जो प्राणियों का नियन्त्रण करता है, वही यह तुम्हारा आत्मा है, वही

अन्तर्यामी है, वही अमृत है। इतना वर्णन प्राणियों के विषय में हुआ। अब शरीर के विषय में कहा जाता है।

यः प्राणे तिष्ठन्प्राणादन्तरो यं प्राणो न वेद यस्य प्राणः शरीरं यः प्राण-मन्तरो यमयत्येष त आत्मान्तर्याम्यमृतः ॥16॥

जो प्राणों में रहता हुआ प्राणों में ओतप्रोत है, जिसे प्राण नहीं जानता, जिसका प्राण शरीर है। जो प्राण के भीतर रहकर प्राण का नियमन करता है वही यह तुम्हारा आत्मा है, वही अन्तर्यामी है, वही अमृत है।

यो वाचि तिष्ठन्वाचोऽन्तरो यं वाङ् न वेद यस्य वाक् शरीरं यो वाच-मन्तरो यमयत्येष त आत्मान्तर्याम्यमृतः ॥17॥

जो वाणी में रहते हुए वाणी के भीतर ओतप्रोत है, जिसे वाणी नहीं जानती, वाणी जिसका शरीर है। वाणी के भीतर रहकर जो वाणी का नियंत्रण करता है, यह वही तुम्हारा आत्मा है, वह अन्तर्यामी है, वही अमृत है।

यश्चक्षुषि तिष्ठंश्चक्षुषोऽन्तरो यं चक्षुर्न वेद यस्य चक्षुः शरीरं यश्चक्षुरन्तरो यमयत्येष त आत्मान्तर्याम्यमृतः ॥18॥

जो आँख में रहते हुए आँख से ओतप्रोत हो गया है, जिसे आँख नहीं जानती, आँख जिसका शरीर है, जो आँख के भीतर रहकर आँख का नियंत्रण करता है, वह यही तुम्हारा आत्मा है, वही अन्तर्यामी है, वही अमृत है।

यः श्रोत्रे तिष्ठञ्छ्रोत्रादन्तरो यः श्रोत्रं न वेद यस्य श्रोत्रः शरीरं यः श्रोत्र-मन्तरो यमयत्येष त आत्मान्तर्याम्यमृतः ॥19॥

जो कान में रहते हुए कान में घुलमिल गया है, जिसे कान नहीं जानता, कान जिसका शरीर है। जो कान के भीतर रहकर कान का नियन्त्रण करता है, वही यह तुम्हारा आत्मा है, वहीं अन्तर्यामी है और वही अमृत है।

यो मनसि तिष्ठन्मनसोऽन्तरो यं मनो न वेद यस्य मनः शरीरं यो मनो-ऽन्तरो यमयत्येष त आत्मान्तर्याम्यमृतः ॥20॥

जो मन में रहते हुए मन के साथ अनुस्यूत हो गया है, जिसे मन नहीं जानता, मन जिसका शरीर है। जो मन के भीतर रहकर मन का नियन्त्रण करता है, वही तुम्हारा यह आत्मा है, वही अन्तर्यामी है, वही अमृत है।

यस्त्वचि तिष्ठंस्त्वचोऽन्तरो यं त्वङ् न वेद यस्य त्वक् शरीरं यस्त्वच-मन्तरो यमयत्येष त आत्मान्तर्याम्यमृतः ॥21॥

जो त्वचा में रहते हुए त्वचा के साथ अनुस्यूत होकर रहता है, जिसे त्वचा नहीं जानती, त्वचा जिसका शरीर है। जो त्वचा के भीतर रहकर त्वचा का नियंत्रण करता है, वह यह तुम्हारा आत्मा है, वही अन्तर्यामी है और वही अमृत है।

यो विज्ञाने तिष्ठन्विज्ञानादन्तरो यं विज्ञानं न वेद यस्य विज्ञानः शरीरं यो विज्ञानमन्तरो यमयत्येष त आत्मान्तर्याम्यमृतः ॥22॥

जो विज्ञान में रहते हुए विज्ञान में ओतप्रोत है, जिसे विज्ञान नहीं जानता, विज्ञान जिसका शरीर है। जो विज्ञान के भीतर रहकर विज्ञान का नियंत्रण करता है, वह यह तुम्हारा आत्मा है, वही अन्तर्यामी है, वही अमृत है।

यो रेतसि तिष्ठन् रेतसोऽन्तरो यः रेतो न वेद यस्य रेतः शरीरं यो रेतोऽन्तरो यमयत्येष त आत्मान्तर्याम्यमृतोऽदृष्टो द्रष्टाऽश्रुतः श्रोताऽमतो मन्ताऽविज्ञातो विज्ञाता नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा नान्योऽतोऽस्ति श्रोता नान्योऽतोऽस्ति मन्ता नान्योऽतोऽस्ति विज्ञातैष त आत्मान्तर्याम्यमृतोऽन्यदार्तं ततो होद्दालक आरुणिरुपरराम ॥23॥

इति सप्तमं ब्राह्मणम् ॥

जो वीर्य में रहकर वीर्य में अनुस्यूत हो गया है, जिसे वीर्य नहीं जानता, वीर्य जिसका शरीर है। जो वीर्य में रहकर वीर्य का नियंत्रण करता है, वह यह तुम्हारा आत्मा है, वही अन्तर्यामी है, वही अमृत है। वह सबको देखता है, उसे कोई नहीं देखता। वह सबको सुनता है, उसको कोई नहीं सुनता। वह सब कुछ सोचता है पर वह सोचा नहीं जा सकता। वह सब कुछ जानता है पर वह जाना नहीं जा सकता। आत्मा के सिवा अन्य कोई देखनेवाला नहीं है, इसके सिवा दूसरा कोई सुननेवाला नहीं है। इसके सिवा अन्य कोई सोचनेवाला नहीं है। इसके सिवा अन्य कोई जाननेवाला नहीं है। वही यह आत्मा है, वही अन्तर्यामी है, वही अमृतमय (अविनाशी) है। इसके सिवा सब कुछ विनाशशील है—इसके बाद उद्दालक आरुणि शान्त हो गया।

(यहाँ सातवाँ ब्राह्मण पूरा हुआ।)

❋

अष्टमं ब्राह्मणम्

अथ ह वाचक्नव्युवाच ब्राह्मणा भगवन्तो हन्ताहमिमं द्वौ प्रश्नौ प्रक्ष्यामि तौ चेन्मे वक्ष्यति न वै जातु युष्माकमिमं कश्चिद्ब्रह्मोद्यं जेतेति पृच्छ गार्गीति ॥1॥

तब वचक्नुपुत्री गार्गी ने कहा—"हे पूज्य ब्राह्मणो! अब मैं उनसे दो प्रश्न पूछूँगी। इनका यदि वे (याज्ञवल्क्य) उत्तर दे देंगे, तो तुममें से कोई भी ब्रह्मसम्बन्धी बातों में उन्हें जीत सकनेवाला नहीं है।" तब ब्राह्मणों ने कहा—"ठीक है, पूछो गार्गी!"

सा होवाचाहं वै त्वा याज्ञवल्क्य यथा काश्यो वा वैदेहो वोग्रपुत्र उज्ज्यं धनुरधिज्यं कृत्वा द्वौ बाणवन्तौ सपत्नातिव्याधिनौ हस्ते कृत्वोपोत्तिष्ठेदेवमेवाहं त्वा द्वाभ्यां प्रश्नाभ्यामुपोदस्थां तौ मे ब्रूहीति पृच्छ गार्गीति ॥2॥

वह बोली—"हे याज्ञवल्क्य! जैसे काशी में रहनेवाले या विदेहों में रहनेवाले किसी योद्धा का पुत्र उतारे गए धनु पर फिर से प्रत्यञ्चा (धनुष की डोरी) चढ़ाकर, शत्रुओं को बहुत पीड़ा पहुँचानेवाले दो बाण हाथ में लेकर सामने खड़ा हो जाए, उसी तरह दो प्रश्न लेकर मैं आपके सामने खड़ी हुई हूँ। ये प्रश्न मैं आपसे पूछ रही हूँ। मुझे उन प्रश्नों का उत्तर दीजिए।" तब याज्ञवल्क्य ने कहा—"पूछो गार्गी!"

सा होवाच यदूर्ध्वं याज्ञवल्क्य दिवो यदवाक् पृथिव्या यदन्तरा द्यावापृथिवी इमे यद्भूतं च भवच्च भविष्यच्चेत्याचक्षते कस्मिंस्तदोतं च प्रोतं चेति ॥3॥

उसने (गार्गी ने) पूछा—"हे याज्ञवल्क्य! जो तत्त्व स्वर्ग के ऊपर है, और जो पृथ्वी के नीचे है, जो स्वर्ग में भी है और पृथ्वी में भी है तथा उन दोनों के बीच में भी है। और (विद्वान्) कहते हैं कि वह भूत, भविष्यत् तथा वर्तमानकाल में भी है, वह तत्त्व ताने-बाने की तरह किसमें पिरोया हुआ है?"

स होवाच यदूर्ध्वं गार्गि दिवो यदवाक् पृथिव्या यदन्तरा द्यावापृथिवी इमे यद्भूतं च भवच्च भविष्यच्चेत्याचक्षत आकाशे तदोतं च प्रोतं चेति ॥4॥

याज्ञवल्क्य ने कहा—"हे गार्गी! जो तत्त्व स्वर्ग (द्युलोक) से ऊपर है और पृथ्वी से नीचे है, जो (स्वर्ग और पृथ्वी के) भीतर भी है, उन दोनों के बीच में भी है, और जो भूत, भविष्यत् और वर्तमानकाल में भी है, वह आकाश में तानेबाने की तरह ओतप्रोत है।

सा होवाच नमस्तेऽस्तु याज्ञवल्क्य यो म एतं व्यवोचोऽपरस्मै धारयस्वेति पृच्छ गार्गीति ॥5॥

तब गार्गी ने कहा—"हे याज्ञवल्क्य! आपको मैं नमस्कार करती हूँ। आपने मेरे प्रश्न का उत्तर अच्छी तरह से दे दिया। अब दूसरे प्रश्न के (उत्तर) के लिए तत्पर हो जाइए।" तब याज्ञवल्क्य ने कहा—"गार्गी! पूछो!"

सा होवाच यदूर्ध्वं याज्ञवल्क्य दिवो यदवाक् पृथिव्या यदन्तरा द्यावापृथिवी इमे यद्भूतं च भवच्च भविष्यच्चेत्याचक्षते कस्मिँस्तदोतं च प्रोतं चेति ॥6॥

गार्गी ने कहा—"हे याज्ञवल्क्य! जो तत्त्व स्वर्ग (द्युलोक) से ऊपर है, जो पृथ्वी के नीचे है, जो इन दोनों के बीच में भी है, वह स्वयं भी पृथ्वी और स्वर्ग ही है। विद्वान् लोग जिसे भूत, भविष्य और वर्तमान कहते हैं, वह तानेबाने की तरह किसमें ओतप्रोत है?"

स होवाच यदूर्ध्वं गार्गि दिवो यदवाक् पृथिव्या यदन्तरा द्यावापृथिवी इमे यद्भूतं च भवच्च भविष्यच्चेत्याचक्षत आकाश एव तदोतं च प्रोतं चेति कस्मिन्नु खल्वाकाश ओतश्च प्रोतश्चेति ॥7॥

याज्ञवल्क्य ने कहा—"हे गार्गी! जो तत्त्व स्वर्ग से ऊपर है, पृथ्वी से नीचे है, दोनों के बीच में है, और जो ये दोनों भी है, जिसे विद्वान् लोग भूत, वर्तमान और भविष्य कहते हैं, वह आकाश में ही तानेबाने की तरह पिरोया हुआ है।" तब गार्गी ने कहा—"पर यह आकाश किसमें ओतप्रोत है?"

स होवाचैतद्वै तदक्षरं गार्गि ब्राह्मणा अभिवदन्त्यस्थूलमनण्वह्रस्वमदीर्घमलोहितमस्नेहमच्छायमतमोऽवाय्वनाकाशमसङ्गमरसमगन्धमचक्षुष्कमश्रोत्रमवागमनोऽतेजस्कमप्राणममुखममात्रमनन्तरमबाह्यं न तदश्नाति किंचन न तदश्नाति कश्चन ॥8॥

तब याज्ञवल्क्य ने कहा—"हे गार्गी ! (जिसके भीतर आकाश तानेबाने की तरह बुना हुआ है) उस तत्त्व को ब्रह्मवेत्ता लोग 'अक्षर' (अविनाशी) ब्रह्म कहते हैं। वह न स्थूल है न पतला, न छोटा है न बड़ा, न लम्बा है न नाटा, वह लाल नहीं है (किसी वर्णवाला नहीं है), वह प्रवाही भी नहीं है। वह न छायावाला है न अँधेरेवाला, वह पवनयुक्त नहीं, आकाशयुक्त नहीं, वह असंग, रसरहित, गन्धरहित, चक्षुरहित, श्रोत्ररहित, वाणीरहित, मनरहित, तेज़रहित, प्राणरहित, सुखरहित है। वह पाप नहीं है। उसमें बाहर और भीतर—ऐसा भेद नहीं हैं। वह कुछ खाता नहीं है और उसको भी कोई खाता नहीं है।

एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि सूर्याचन्द्रमसौ विधृतौ तिष्ठत एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि द्यावापृथिव्यौ विधृते तिष्ठत एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि निमेषा मुहूर्ता अहोरात्राण्यर्धमासा मासा ऋतवः संवत्सरा इति विधृतास्तिष्ठन्त्येतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि प्राच्योऽन्या नद्यः स्यन्दन्ते श्वेतेभ्यः पर्वतेभ्यः प्रतीच्योऽन्या यां यां च दिशमन्वेतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि ददतो मनुष्याः प्रशंसन्ति यजमानं देवा दर्वीं पितरोऽन्वायत्ताः ॥9॥

"हे गार्गी ! इस अक्षर (अविनाशी) ब्रह्म की आज्ञा से सूर्य और चन्द्र अपने-अपने स्थान पर स्थित रहते हैं। हे गार्गी ! इस अक्षर-ब्रह्म की आज्ञा से ही स्वर्ग और पृथ्वी अपने-अपने स्थान पर स्थित रहते हैं। हे गार्गी ! इस अक्षर (अविनाशी) ब्रह्म की आज्ञा से ही क्षण, मुहूर्त, दिन, रात, पक्ष, मास, ऋतुएँ, वर्ष—ये सभी अपने-अपने स्थान पर स्थित (स्थिर रहते) हैं। हे गार्गी। इस अक्षर-ब्रह्म की ही आज्ञा से श्वेत पर्वतों (हिमालय आदि) से निकलकर कुछ नदियाँ पूर्व की ओर, कुछ पश्चिम की ओर, और कुछ अन्यान्य—जिस किसी दिशा में बहती हैं। हे गार्गी ! इस अक्षर (ब्रह्म) की आज्ञा से ही मनुष्य दानियों की प्रशंसा करते हैं तथा देवों का, यज्ञ करनेवालों का तथा पितृलोग दर्वी होम का अनुसरण करते हैं।

यो वा एतदक्षरं गार्ग्यविदित्वाऽस्मिँल्लोके जुहोति यजते तपस्तप्यते बहूनि वर्षसहस्राण्यन्तवदेवास्य तद्भवति यो वा एतदक्षरं गार्ग्यविदित्वा-ऽस्माल्लोकात्प्रैति स कृपणोऽथ य एतदक्षरं गार्गि विदित्वाऽस्माल्लो-कात्प्रैति स ब्राह्मणः ॥10॥

"हे गार्गी ! जो मनुष्य इस अक्षर को बिना जाने ही यदि हजारों वर्ष तक भी होम किया करे, यज्ञपूजा किया करे, तपश्चर्या किया करे, तो भी उसके ये सब (होम, पूजा, तप आदि) नाश होने वाले ही होते हैं। हे गार्गी ! जो मनुष्य अक्षर को जाने बिना ही इस जगत् से मृत्यु को प्राप्त कर चला जाता है, वह कृपण (दीन-हीन—दयापात्र) ही है। परन्तु हे गार्गी ! जो मनुष्य इस अक्षरतत्त्व को जानकर मरण प्राप्त करता है, वह ब्राह्मण (ब्रह्मवेत्ता) है।

तद्वा एतदक्षरं गार्ग्यदृष्टं द्रष्टृश्रुतः श्रोत्रमतं मन्त्रविज्ञातं विज्ञातृ नान्य-दतोऽस्ति द्रष्टृ नान्यदतोऽस्ति श्रोतृ नान्यदतोऽस्ति मन्तृ नान्यदतोऽस्ति विज्ञात्रेतस्मिन्नु खल्वक्षरे गार्ग्याकाश ओतश्च प्रोतश्चेति ॥11॥

"हे गार्गी ! यह अक्षरब्रह्म सबको देखता है, पर उसे कोई नहीं देख सकता। वह सब कुछ सुनता है, पर उसे कोई नहीं सुन सकता। वह सोच सकता है, पर वह सोचा नहीं जा सकता। वह

सबको जानता है, पर जाना नहीं जा सकता। उसके सिवा कोई देखनेवाला नहीं है, कोई सुननेवाला नहीं है, कोई सोचनेवाला नहीं है, कोई जाननेवाला नहीं है। हे गार्गी ! उस अक्षर में आकाश तानेबाने जैसा बुना हुआ है।"

सा होवाच ब्राह्मणा भगवन्तस्तदेव बहु मन्येध्वं यदस्मान्नमस्कारेण मुच्येध्वं न वै जातु युष्माकमिमं कश्चिद्ब्रह्मोद्यं जेतेति ततो ह वाच-क्नव्युपरराम ॥12॥

इति अष्टमं ब्राह्मणम् ॥

तब गार्गी बोलीं—"हे पूजनीय ब्राह्मणो ! आप सब इन्हें नमस्कार करके मुक्त हों तो भी बड़ी बात है, ऐसा मान लीजिए। आपमें से कोई भी ब्रह्मसम्बन्धी बातों में इन ब्रह्मवेत्ता को जीत नहीं सकेगा।" ऐसा कहकर वाचक्नवी (गार्गी) शान्त हो गईं।

(यहाँ आठवाँ ब्राह्मण पूरा हुआ।)

नवमं ब्राह्मणम्

अथ हैनं विदग्धः शाकल्यः पप्रच्छ कति देवा याज्ञवल्क्येति स हैतयैव निविदा प्रतिपेदे यावन्तो वैश्वदेवस्य निविद्युच्यन्ते त्रयश्च त्री च शता त्रयश्च त्री च सहस्रेत्योमिति होवाच कत्येव देवा याज्ञवल्क्येति त्रयस्त्रिंशदित्योमिति होवाच कत्येव देवा याज्ञवल्क्येति षडित्योमिति होवाच कत्येव देवा याज्ञवल्क्येति त्रय इत्योमिति होवाच कत्येव देवा याज्ञवल्क्येति द्वावित्योमिति होवाच कत्येव देवा याज्ञवल्क्येत्यध्यर्ध इत्योमिति होवाच कत्येव देवा इत्येक इत्योमिति होवाच कतमे ते त्रयश्च त्री च शता त्रयश्च त्री च सहस्रेति ॥1॥

बाद में शकलपुत्र शाकल्य विदग्ध ने पूछा—"हे याज्ञवल्क्य ! देव कितने हैं ?" याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया—"विश्वदेवों की स्तुति में देवों की संख्या बताने वाले मंत्र में जितने देव गिनाए गए हैं उतने तीन हजार तीन सौ और छः देव हैं।" तब शाकल्य ने कहा—"यह तो ठीक है याज्ञवल्क्य ! पर वास्तव में देव कितने हैं ?" याज्ञवल्क्य बोले—"तैंतीस देव हैं।" शाकल्य ने कहा—"यह भी ठीक है पर याज्ञवल्क्य ! सचमुच देव कितने हैं ?" याज्ञवल्क्य ने कहा—"छः हैं।" शाकल्य बोला—ठीक है पर सही रूप में देव कितने हैं याज्ञवल्क्य !" तब याज्ञवल्क्य ने कहा—"तीन देव।" तब शाकल्य बोला—"याज्ञवल्क्य ! यह भी ठीक है पर फिर भी देव कितने हैं ?" याज्ञवल्क्य ने कहा—"दो देव हैं।" फिर शाकल्य बोला—"याज्ञवल्क्य। यह भी ठीक है पर वास्तव में देव कितने हैं ?" याज्ञवल्क्य ने कहा—"डेढ़ देव।" शाकल्य बोला—"याज्ञवल्क्य ! यह भी ठीक है पर फिर भी सही रूप में देव कितने हैं ?" याज्ञवल्क्य बोले—"एक देव !" शाकल्य बोला—"ठीक है। अब वे तीन हजार तीन सौ छः देव कौन कौन-से हैं ?"

स होवाच महिमान एवैषामेते त्रयस्त्रिंशत्त्वेव देवा इति कतमे ते त्रयस्त्रिंशदित्यष्टौ वसव एकादश रुद्रा द्वादशादित्यास्त एकत्रिंशदिन्द्र-श्चैव प्रजापतिश्च त्रयस्त्रिंशाविति ॥2॥

याज्ञवल्क्य ने कहा—"ये तो उनकी शक्तियाँ ही हैं। ये देव तो तैंतीस ही हैं।" शाकल्य ने पूछा—"ये तैंतीस कौन-कौन से हैं ?" याज्ञवल्क्य बोले—"आठ वसु, ग्यारह रुद्र, बारह आदित्य, ये सब मिलकर इकत्तीस हुए। इनमें इन्द्र और प्रजापति मिलने से तैंतीस हुए।" (फिर दोनों में प्रश्नोत्तरी चली—)

कतमे वसव इत्यग्निश्च पृथिवी च वायुश्चान्तरिक्षं चादित्यश्च द्यौश्च चन्द्रमाश्च नक्षत्राणि चैते वसव एतेषु हीदꣳ सर्वꣳ वसु हितमिति तस्मा-द्वसव इति ॥3॥

प्रश्नः—'वसु कितने हैं ?' उत्तर—'अग्नि, पृथ्वी, वायु, अन्तरिक्ष, सूर्य, स्वर्ग, चन्द्रमा और नक्षत्र—ये वसु हैं। सब कुछ इनमें बसता है इसलिए वे वसु कहे गए हैं।

कतमे रुद्रा इति दशेमे पुरुषे प्राणा आत्मैकादशस्ते यदास्माच्छरीरान्म-र्त्यादुत्क्रामन्त्यथ रोदयन्ति तद्यद्रोदयन्ति तस्माद्रुद्रा इति ॥4॥

प्रश्नः—"रुद्र कितने हैं ?" उत्तर—"इस पुरुष में दस प्राण और ग्यारहवाँ आत्मा (ये 'रुद्र' हैं) जब इस मरणशील शरीर में से जब ये उठकर चले जाते हैं, तब (सगे-सम्बन्धियों को) रुलाते हैं इसलिए वे 'रुद्र' हैं।"

कतम आदित्या इति द्वादश वै मासाः संवत्सरस्यैत आदित्या एते हीदꣳ सर्वमाददाना यन्ति ते यदिदꣳ सर्वमाददाना यन्ति तस्मादादित्या इति ॥5॥

प्रश्नः—"आदित्य कितने हैं ?" उत्तर—"वर्ष के बारह महीने ही बारह आदित्य हैं। वे इस सारे जगत् को अपने साथ लेकर (आददाना) बह जाते हैं (यन्ति)। इसलिए वे आदित्य कहे गए हैं।

कतम इन्द्रः कतमः प्रजापतिरिति स्तनयित्नुरेवेन्द्रो यज्ञः प्रजापतिरिति कतमः स्तनयित्नुरित्यशनिरिति कतमो यज्ञ इति पशव इति ॥6॥

प्रश्नः—"इन्द्र कौन है ? प्रजापति कौन है ?" उत्तर—"मेघ ही इन्द्र है और यज्ञ ही प्रजापति है।" प्रश्न—"मेघ कौन है ?" उत्तर—"वज्र ही।" प्रश्नः—"यज्ञ कौन है ?" उत्तर—"पशु।"

कतमे षडित्यग्निश्च पृथिवी च वायुश्चान्तरिक्षं चादित्यश्च द्यौश्चैते षडेते हीदꣳ सर्वं षडिति ॥7॥

प्रश्नः—"वे छः देव कौन-कौन से हैं ?" उत्तर—"अग्नि, पृथिवी, वायु, अन्तरिक्ष, आदित्य और द्युलोक—ये छः देव हैं। उनमें ही सब कुछ (सभी देव) समा जाते हैं।

कतमे ते त्रयो देवा इतीम एव त्रयो लोका एषु हीमे सर्वे देवा इति कतमौ तौ द्वौ देवावित्यन्नं चैव प्राणश्चेति कतमोऽध्यर्ध इति योऽयं पवत इति ॥8॥

प्रश्न—"वे तीन देव कौन-कौन से हैं ?" उत्तर—"ये तीन लोक ही तीन देव हैं, क्योंकि इन्हीं में सभी देव समा जाते हैं।" प्रश्न—"वे दो देव कौन से हैं ?" उत्तर—"वे अन्न और प्राण हैं।" प्रश्न—"तो यह डेढ़ देव कौन-सा है ?" उत्तर—वह, जो कि बहता है अर्थात् पवन।"

तदाहुर्यदयमेक इवैव पवतेऽथ कथमध्यर्ध इति यदस्मिन्निदꣳ सर्वमध्या-र्ध्नोत्तेनाध्यर्ध इति कतम एको देव इति प्राण इति स ब्रह्म त्यदित्या-चक्षते ॥9॥

प्रश्न—"कुछ लोग तो ऐसा कहते हैं कि वायु अकेला ही बहता है, तो *फिर वह डेढ़ कैसे ?"* उत्तर—"क्योंकि इसी में यह सब 'ऋद्धि' को प्राप्त होते हैं (अधि+ऋद्धि) इसीलिए *वह 'अध्यर्ध' कहा* जाता है।" प्रश्न—"तो एक देव कौन सा है ?" उत्तर—"वह प्राण है, वह ब्रह्म है, वही 'त्यत्' कहा जाता है।

पृथिव्येव यस्यायतनमग्निर्लोको मनोज्योतिर्यो वै तं पुरुषं विद्यात्सर्व-स्यात्मनः परायणꣳ स वै वेदिता स्याद्याज्ञवल्क्य वेद वा अहं तं पुरुषꣳ सर्वस्यात्मनः परायणं यमात्थ य एवायꣳ शारीरः पुरुषः स एष वदैव शाकल्य तस्य का देवतेत्यमृतमिति होवाच ॥10॥

तब शाकल्य ने कहा—"हे याज्ञवल्क्य ! पृथ्वी जिस चैतन्यपुरुष का निवासस्थान है, अग्नि जिसकी आँख है, मन जिसकी ज्योति है, वह पुरुष सभी के शरीरों का बड़े से बड़ा आश्रय है, ऐसा जानना चाहिए। ऐसा जो मनुष्य ज़ानता है केवल वही ज्ञानी है।" तब याज्ञवल्क्य बोले—"तुम जिसे सभी शरीरों का आश्रयरूप मानते हो, उस चेतनपुरुष को तो मैं जानता ही हूँ। जो पुरुष शरीर में रहता है, वही यह है। समझे न शाकल्य ?" तब शाकल्य ने पूछा—"उस पुरुष का देव कौन है ? याज्ञवल्क्य बोले—"अमृत।"

काम एव यस्यायतनꣳ हृदयं लोको मनो ज्योतिर्यो वै तं पुरुषं विद्यात्स-र्वस्यात्मनः परायणꣳ स वै वेदिता स्याद्याज्ञवल्क्य वेद वा अहं तं पुरुषꣳ सर्वस्यात्मनः परायणं यमात्थ य एवायं काममयः पुरुषः स एष वदैव शाकल्य तस्य का देवतेति स्त्रिय इति होवाच ॥11॥

शाकल्य ने कहा—"काम जिसका निवासस्थान है, हृदय जिसकी आँख है, मन जिसकी ज्योति है, वह पुरुष सभी के शरीरों का आश्रयस्थान है, ऐसा जानना चाहिए। उसे जाननेवाला ही ज्ञानी कहलाता है समझे याज्ञवल्क्य ?" तब याज्ञवल्क्य ने कहा—"जो पुरुष सबके शरीर का बड़े से बड़ा आश्रयस्थान है, ऐसा जो तुमने कहा, उस काममय पुरुष को मैं जानता हूँ।" तब शाकल्य ने कहा—"उसका देव कौन है ?" याज्ञवल्क्य बोले—"स्त्रियाँ हैं।"

रूपाण्येव यस्यायतनं चक्षुर्लोको मनो ज्योतिर्यो वै तं पुरुषं विद्यात्सर्व-स्यात्मनः परायणꣳ स वै वेदिता स्याद्याज्ञवल्क्य वेद वा अहं तं पुरुषꣳ सर्वस्यात्मनः परायणं यमात्थ य एवासावादित्ये पुरुषः स एष वदैव शाकल्य तस्य का देवतेति सत्यमिति होवाच ॥12॥

शाकल्य ने कहा—"रूप जिसका निवासस्थान है, आँख से जो देखता है, मन जिसकी ज्योति है, वह पुरुष सबके शरीर का आश्रयस्थान है, ऐसा जानना चाहिए। याज्ञवल्क्य ! उसको ऐसा जाननेवाला ही ज्ञानी होता है (समझे ?)" तब याज्ञवल्क्य ने कहा—"जो तुमने कहा कि वह पुरुष सबके शरीर का आश्रयस्थान होता है तो उस आदित्यस्थ पुरुष को मैं जानता ही हूँ।" तब शाकल्य ने कहा—"तो उसका देवता कौन है ? याज्ञवल्क्य बोले—"वह सत्य है।"

आकाश एव यस्यायतनꣳ श्रोत्रं लोको मनो ज्योतिर्यो वै तं पुरुषं विद्यात्सर्वस्यात्मनः परायणꣳ स वै वेदिता स्याद्याज्ञवल्क्य वेद वा अहं तं पुरुषꣳ सर्वस्यात्मनः परायणं यमात्थ य एवायꣳ श्रौत्रः प्रातिश्रुत्कः पुरुषः स एष वदैव शाकल्य तस्य का देवतेति दिश इति होवाच ॥13॥

शाकल्य ने कहा—"आकाश जिसका निवासस्थान है, कान जिसकी आँख है, मन जिसकी ज्योति है, वह पुरुष सबके शरीर का आश्रयस्थान है, ऐसा जानना चाहिए। हे याज्ञवल्क्य! उसको जाननेवाला ही ज्ञानी कहलाता है।" तब याज्ञवल्क्य बोले—"जो तुमने कहा कि वह पुरुष सबके शरीर का आश्रयस्थान है, उस प्रतिघोषात्मक पुरुष को तो मैं जानता ही हूँ।" तब शाकल्य ने कहा—"तो उसका देव कौन है?" याज्ञवल्क्य ने कहा—"वह दिशाएँ हैं।"

तम एव यस्यायतनꣳ हृदयं लोको मनो ज्योतिर्यो वै तं पुरुषं विद्यात्सर्वस्यात्मनः परायणꣳ स वै वेदिता स्याद्याज्ञवल्क्य वेद वा अहं तं पुरुषꣳ सर्वस्यात्मनः परायणं यमात्थ य एवायं छायामयः पुरुषः स एष वदैव शाकल्य तस्य का देवतेति मृत्युरिति होवाच ॥14॥

शाकल्य बोला—"अंधकार जिसका निवासस्थान है, हृदय आँख है, मन ज्योति है, वह पुरुष सबके शरीर का आश्रयस्थान है—ऐसा जानना चाहिए। उसको जाननेवाला ही हे याज्ञवल्क्य! ज्ञानी कहलाता है।" तब याज्ञवल्क्य बोले—"जो तुमने कहा कि वह पुरुष सबके शरीर का आश्रयस्थान है, तो मैं उस छायामय पुरुष को जानता हूँ शाकल्य।" तब शाकल्य ने कहा—"उसका देव कौन है?" याज्ञवल्क्य बोले—"मृत्यु।"

रूपाण्येव यस्यायतनं चक्षुर्लोको मनो ज्योतिर्यो वै तं पुरुषं विद्यात्सर्वस्यात्मनः परायणꣳ स वै वेदिता स्याद्याज्ञवल्क्य वेद वा अहं तं पुरुषꣳ सर्वस्यात्मनः परायणं यमात्थ य एवायमादर्शे पुरुषः स एष वदैव शाकल्य तस्य का देवतेत्यसुरिति होवाच ॥15॥

शाकल्य ने कहा—"रूप जिसका आश्रयस्थान है, जो आँख ही जिसकी शक्ति है, मन जिसकी ज्योति है, वह पुरुष सबके शरीर का आश्रयस्थान है, ऐसा जानना चाहिए। हे याज्ञवल्क्य! उसको जाननेवाला ही ज्ञानी कहलाता है"। तब याज्ञवल्क्य बोले—"जो तुमने कहा कि वह पुरुष सबका आश्रयस्थान है, उस दर्पणस्थ पुरुष को मैं जानता हूँ।" शाकल्य ने कहा—"उसका देव कौन है?" याज्ञवल्क्य बोले—"असु अर्थात् जीव।"

आप एव यस्यायतनꣳ हृदयं लोको मनो ज्योतिर्यो वै तं पुरुषं विद्यात्सर्वस्यात्मनः परायणꣳ स वै वेदिता स्याद्याज्ञवल्क्य वेद वा अहं तं पुरुषꣳ सर्वस्यात्मनः परायणं यमात्थ य एवायमप्सु पुरुषः स एष वदैव शाकल्य तस्य का देवतेति वरुण इति होवाच ॥16॥

शाकल्य ने कहा—"जल जिसका निवासस्थान है, हृदय आँख है, मन ज्योति है, उस पुरुष को सबका आश्रयस्थान है, ऐसा जानना चाहिए। उसको ऐसा जाननेवाला ही हे याज्ञवल्क्य! ज्ञानी समझा जाता है"। तब याज्ञवल्क्य बोले—"तुमने जो कहा कि वह पुरुष सबके शरीर का आश्रयस्थान है, तो मैं उस जलगत पुरुष को जानता हूँ शाकल्य।" तब शाकल्य बोला—"उसका देव कौन है?" याज्ञवल्क्य बोले—"वरुण।"

रेत एव यस्यायतनꣳ हृदयं लोको मनो ज्योतिर्यो वै तं पुरुषं विद्यात्सर्वस्यात्मनः परायणꣳ स वै वेदिता स्याद्याज्ञवल्क्य वेद वा अहं तं पुरुषꣳ सर्वस्यात्मनः परायणं यमात्थ य एवायं पुत्रमयः पुरुषः स एष वदैव शाकल्य तस्य का देवतेति प्रजापतिरिति होवाच ॥17॥

शाकल्य ने कहा—"वीर्य जिसका निवासस्थान है, हृदय आँख है, मन ज्योति है, वह पुरुष सबके आत्मा का बड़ा आश्रयस्थान है, ऐसा जानना चाहिए। जो पुरुष यह जानता है वही हे याज्ञवल्क्य! ज्ञानी कहलाता है।" तब याज्ञवल्क्य बोले—"तुम जिसे सबके शरीर का आश्रयस्थान कहते हो, उस पुत्रमय को तो मैं जानता हूँ शाकल्य।" तब शाकल्य बोला—"उसका देव कौन है?" याज्ञवल्क्य बोले—"प्रजापति।"

शाकल्येति होवाच याज्ञवल्क्यस्त्वाꣳ स्विदिमे ब्राह्मणा अङ्गारावक्षयणमक्रता ३ इति ॥18॥

याज्ञवल्क्य ने कहा—"हे शाकल्य! तुम्हें इन ब्राह्मणों ने अंगारे पकड़ने का चिमटा बना दिया है अर्थात् अपने स्वार्थ के लिए तुमको बलि का बकरा बना दिया है।

याज्ञवल्क्येति होवाच शाकल्यो यदिदं कुरुपाञ्चालानां ब्राह्मणानत्यवादीः किं ब्रह्म विद्वानिति दिशो वेद सदेवाः सप्रतिष्ठा इति यद्दिशो वेत्थ सदेवाः सप्रतिष्ठाः ॥19॥

शाकल्य बोला—"हे याज्ञवल्क्य! कुरुपांचाल देश के ब्राह्मणों के ऊपर तुम आक्षेप करते हो, तो क्या तुम ब्रह्म को जानते हो?" याज्ञवल्क्य बोले—"मैं दिशाओं को जानता हूँ।" तब शाकल्य बोला—"यदि तुम दिशाओं को, उनके देवों को और उनके आधारों को जानते हो, तब—

किंदेवतोऽस्यां प्राच्यां दिश्यसीत्यादित्यदेवत इति स आदित्यः कस्मिन्प्रतिष्ठित इति चक्षुषीति कस्मिन्नु चक्षुः प्रतिष्ठितमिति रूपेष्विति चक्षुषा हि रूपाणि पश्यति कस्मिन्नु रूपाणि प्रतिष्ठितानीति हृदय इति होवाच हृदयेन हि रूपाणि जानाति हृदये ह्येव रूपाणि प्रतिष्ठितानि भवन्तीत्येवमेवैतद्याज्ञवल्क्य ॥20॥

"हे याज्ञवल्क्य! कहो कि इस पूर्व दिशा में तुम किस रूप में हो?" याज्ञवल्क्य बोले—"आदित्यदेवतावाला हूँ।" शाकल्य बोला—"वह आदित्य कहाँ प्रतिष्ठित है?" याज्ञवल्क्य ने कहा—कहा—"आँख में।" शाकल्य बोला—तब आँख किसमें प्रतिष्ठित है?" याज्ञवल्क्य ने कहा—"रूपों में, क्योंकि मनुष्य चक्षु के द्वारा ही रूपों को देखता है।" शाकल्य बोला—"ये रूप किसमें प्रतिष्ठित हैं?" याज्ञवल्क्य बोले—"हृदय में, क्योंकि हृदय से ही मनुष्य रूपों को जानता है। हृदय में ही रूप प्रतिष्ठित है।" तब शाकल्य बोला—"हे याज्ञवल्क्य! ठीक है, ऐसा ही है।"

किं देवतोऽस्यां दक्षिणायां दिश्यसीति यमदेवत इति स यमः कस्मिन्प्रतिष्ठित इति यज्ञ इति कस्मिन्नु यज्ञः प्रतिष्ठित इति दक्षिणायामिति कस्मिन्नु दक्षिणा प्रतिष्ठितेति श्रद्धायामिति यदा ह्येव श्रद्धत्तेऽथ दक्षिणां ददाति श्रद्धायाꣳ ह्येव दक्षिणा प्रतिष्ठितेति कस्मिन्नु श्रद्धा प्रतिष्ठितेति हृदय इति होवाच हृदयेन हि श्रद्धां जानाति हृदये ह्येव श्रद्धा प्रतिष्ठिता भवतीत्येवमेवैतद्याज्ञवल्क्य ॥21॥

शाकल्य ने पूछा—"दक्षिण दिशा में आप किस रूप में हैं ?" याज्ञवल्क्य बोले—"यमदेव के रूप में।" शाकल्य बोला—"वह यम किसमें रहते हैं ?" याज्ञवल्क्य बोले—"यज्ञ में।" शाकल्य ने पूछा—"यज्ञ किसमें प्रतिष्ठित है ?" याज्ञवल्क्य बोले—"दक्षिणा में।" तब शाकल्य ने पूछा—"दक्षिणा किसमें प्रतिष्ठित है ?" याज्ञवल्क्य बोले—"श्रद्धा में ही प्रतिष्ठित है। जब मनुष्य श्रद्धा रखता है, तब दक्षिणा देता है। इसलिए श्रद्धा में ही दक्षिणा प्रतिष्ठित है। शाकल्य ने पूछा—"श्रद्धा किसमें प्रतिष्ठित है ?" याज्ञवल्क्य बोले—"हृदय में ही प्रतिष्ठित है। हृदय से ही श्रद्धा जानी जा सकती है। अतः हृदय में ही श्रद्धा प्रतिष्ठित है।" तब शाकल्य बोला—"हे याज्ञवल्क्य ! ठीक है, वह ऐसा ही है।"

किं देवतोऽस्यां प्रतीच्यां दिश्यसीति वरुणदेवत इति स वरुणः कस्मिन्प्रतिष्ठित इत्यप्स्विति कस्मिन्न्वापः प्रतिष्ठिता इति रेतसीति कस्मिन्नु रेतः प्रतिष्ठितमिति हृदय इति तस्मादपि प्रतिरूपं जातमाहुर्हृदयादिव सृप्तो हृदयादिव निर्मित इति हृदये ह्येव रेतः प्रतिष्ठितं भवतीत्येवमेवैतद्याज्ञवल्क्य ॥22॥

शाकल्य ने पूछा—"पश्चिम दिशा में आप किस रूप में हैं ?" याज्ञवल्क्य बोले—"वरुण के रूप में।" शाकल्य ने पूछा—"उन वरुण को किसका आधार है ?" याज्ञवल्क्य ने कहा—"जल का।" शाकल्य ने पूछा—"जल को किसका आधार है ?" याज्ञवल्क्य बोले—"वीर्य का।" शाकल्य ने पूछा—"वीर्य कहाँ प्रतिष्ठित है ?" याज्ञवल्क्य बोले—"हृदय में। इसलिए जब पिता जैसे रूपवाला पुत्र जन्मता है, तब लौकिक जन ऐसा कहते हैं कि 'मानो यह पिता के हृदय से ही निकला है। हृदय से ही बना है।' क्योंकि वीर्य हृदय के आधार से ही टिका हुआ है।" तब शाकल्य ने कहा—"हे याज्ञवल्क्य। ठीक है, वह ऐसा ही है।"

किं देवतोऽस्यामुदीच्यां दिश्यसीति सोमदेवत इति स सोमः कस्मिन्प्रतिष्ठित इति दीक्षायामिति कस्मिन्नु दीक्षा प्रतिष्ठितेति सत्य इति तस्मादपि दीक्षितमाहुः सत्यं वदेति सत्ये ह्येव दीक्षा प्रतिष्ठितेति कस्मिन्नु सत्यं प्रतिष्ठितमिति हृदय इति होवाच हृदयेन हि सत्यं जानाति हृदये ह्येव सत्यं प्रतिष्ठितं भवतीत्येवमेवैतद्याज्ञवल्क्य ॥23॥

शाकल्य ने पूछा—"उत्तर में आप किस देववाले हैं ?" याज्ञवल्क्य बोले—"सोमदेववाला।" शाकल्य बोला—"वह सोम किसमें प्रतिष्ठित है ? याज्ञवल्क्य बोले—"दीक्षा में।" शाकल्य बोला—"दीक्षा किसमें प्रतिष्ठित है ?" याज्ञवल्क्य बोले—"सत्य में। इसीलिए दीक्षा लेनेवाले से कहा जाता है कि 'सत्य बोलो।' क्योंकि दीक्षा सत्य के आधार पर ही तो टिकी हुई है।" तब शाकल्य ने पूछा—"सत्य को किसका आधार है ?" याज्ञवल्क्य बोले—"हृदय का ही, क्योंकि मनुष्य हृदय से ही सत्य को जानता है। सत्य हृदय में ही रहता है। उसी के आधार पर सत्य टिका रहता है।" तब शाकल्य ने कहा—"हे याज्ञवल्क्य ! वह ऐसा ही है।"

किं देवतोऽस्यां ध्रुवायां दिश्यसीत्यग्निदेवत इति सोऽग्निः कस्मिन्प्रतिष्ठित इति वाचीति कस्मिन्नु वाक्प्रतिष्ठितेति हृदय इति कस्मिन्नु हृदयं प्रतिष्ठितमिति ॥24॥

शाकल्य ने पूछा—"ध्रुवा (ऊपर की दिशा) में आप किस देव के रूप में हैं ?" याज्ञवल्क्य बोले—"अग्निदेव के रूप में।" शाकल्य बोला—"वह अग्नि किसमें प्रतिष्ठित है ?" याज्ञवल्क्य बोले—"वाणी में।" शाकल्य बोला—"वाणी किसमें प्रतिष्ठित है ?" याज्ञवल्क्य बोले—"हृदय में।" शाकल्य ने पूछा—"हृदय किसमें प्रतिष्ठित है ?"

अहल्लिकेति होवाच याज्ञवल्क्यो यत्रैतदन्यत्रास्मन्मन्यासै यद्ध्येतदन्यत्रास्मत्स्याच्छ्वानो वैनदद्युर्वयांसि वैनद्विमथ्नीरन्निति ॥25॥

तब याज्ञवल्क्य ने कहा—"ओ प्रेत ! यदि तुम ऐसा मानते हो कि हृदय इससे (आत्मा-शरीर) से अलग है, और यदि हृदय हमसे (शरीर से) अलग हो, तब तो कुत्ते इसको खा जाते और पक्षी इसको कुचल डालते।

कस्मिन्नु त्वं चात्मा च प्रतिष्ठितौ स्थ इति प्राण इति कस्मिन्नु प्राणः प्रतिष्ठित इत्यपान इति कस्मिन्न्वपानः प्रतिष्ठित इति व्यान इति कस्मिन्नु व्यानः प्रतिष्ठित इत्युदान इति कस्मिन्नूदानः प्रतिष्ठित इति समान इति स एष नेतिनेत्यात्माऽगृह्यो नहि गृह्यतेऽशीर्यो नहि शीर्यतेऽसङ्गो नहि सज्यतेऽसितो न व्यथते न रिष्यत्येतान्यष्टावायतनान्यष्टौ लोका अष्टौ देवा अष्टौ पुरुषाः स यस्तान्पुरुषान्निरुह्य प्रत्युह्यात्यक्रामत्तं त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामि तं चेन्मे न विवक्ष्यसि मूर्धा ते विपतिष्यतीति तꣳ ह न मेने शाकल्यस्तस्य ह मूर्धा विपपातापि हास्य परिमोषिणोऽस्थीन्यपजह्रुरन्यन्मन्यमानाः ॥26॥

शाकल्य ने पूछा—"यह शरीर और आत्मा किसमें प्रतिष्ठित (आधारित) है ?" याज्ञवल्क्य ने कहा—"प्राण में।" शाकल्य ने पूछा—"प्राण किसमें प्रतिष्ठित हैं ?" याज्ञवल्क्य ने कहा—"अपान में।" शाकल्य बोला—"और अपान किसमें प्रतिष्ठित है ?" याज्ञवल्क्य बोले—"व्यान में।" शाकल्य ने पूछा—"व्यान किसमें प्रतिष्ठित है ?" याज्ञवल्क्य ने कहा—"उदान में।" शाकल्य ने पूछा—"और उदान किसमें प्रतिष्ठित है ?" याज्ञवल्क्य ने कहा—"समान में। यह आत्मा 'नेति नेति' कहकर ही बताया जा सकता है। वह पकड़ने योग्य नहीं है, क्योंकि वह पकड़ा नहीं जा सकता। वह अक्षीण (अक्षय) है, क्योंकि उसका क्षय नहीं होता। वह असंग है, क्योंकि वह कहीं चिपकता नहीं। वह बद्ध नहीं है, वह दुःखी नहीं होता, वह किसी से मारा नहीं जा सकता। ये आठ निवासस्थान हैं, आठ लोक हैं, आठ देव हैं, आठ पुरुष हैं। इन आठ पुरुषों को ठीक तरह से जान लेने पर अपनी बुद्धि में इकट्ठा करके उपाधि के धर्मों को मनुष्य पार कर जाता है। उसका ज्ञान उपनिषदों से ही मिलता है। उस परम पुरुष के बारे में मैं तमसे पूछता हूँ (हे शाकल्य !) यदि वह तुम मुझे नहीं समझा पाओगे, तो तुम्हारा मस्तक नीचे गिर पड़ेगा।" शाकल्य तो उस (औपनिषद् पुरुष को) जानता नहीं था इसलिए उसका मस्तक नीचे गिर पड़ा। चोर लोग तो (कुछ और होगा ऐसा मानकर) उसकी हड्डियाँ तक उठा ले गए।

अथ होवाच ब्राह्मणा भगवन्तो यो वः कामयते स मा पृच्छतु सर्वे वा मा पृच्छत यो वः कामयते तं वः पृच्छामि सर्वान्वा वः पृच्छामीति ते ह ब्राह्मणा न दधृषुः ॥27॥

फिर उन्होंने (याज्ञवल्क्य ने) कहा—"हे पूजनीय ब्राह्मणो ! आपमें से जिस किसी की भी इच्छा हो वह मुझसे प्रश्न पूछे या आप सभी पूछें। अथवा तो मैं आपमें से किसी एक से या आप सभी से प्रश्न पूछूँ।" पर ब्राह्मणों की ऐसा कुछ करने की हिम्मत नहीं पड़ी।

तान् हैतैः श्लोकैः पप्रच्छ–

यथा वृक्षो वनस्पतिस्तथैव पुरुषोऽमृषा।
तस्य लोमानि पर्णानि त्वगस्योत्पाटिका बहिः ॥(1)॥

फिर याज्ञवल्क्य ने उनसे इन श्लोकों के द्वारा उनसे पूछा—

"वृक्ष जिन विशालता आदि गुणों से युक्त है, इसी प्रकार पुरुष (जीव का शरीर) भी तो वैसा ही (उन्हीं गुणों से सम्पन्न) होता है, यह बात बिल्कुल सही है। पुरुष के लोम (रोंगटे) होते हैं, और वृक्ष के पत्ते होते हैं। पुरुष के बाहर त्वचा होती है, तो वृक्ष के बाहर में छिलका होता है।

त्वच एवास्य रुधिरं प्रस्यन्दि त्वच उत्पटः।
तस्मात्तदा तृण्णात्प्रैति रसो वृक्षादिवाहतात् ॥(2)॥

इस पुरुष की त्वचा में से ही लहू निकलता है वैसे ही वृक्ष के छिलके से रस द्रवित होता है। इससे (इस साम्य से) काटे हुए वृक्ष में से जैसे रस निकलता है, वैसे ही जख्मी पुरुष से लहू निकलता है।

माꣳसान्यस्य शकराणि किनाटꣳ स्नाव तत्स्थिरम्।
अस्थीन्यन्तरतो दारूणि मज्जा मज्जोपमा कृता ॥(3)॥

मनुष्य के शरीर में मांस होता है, तो वृक्ष में भी छिलके का भीतर का भाग (शकर), तथा (रेशे) उसके भी भीतर का भाग (किनाट) होता है। वह स्थिर है। पुरुष के स्नायुजाल के भीतर जैसे हड्डियाँ होती हैं, वैसे ही वृक्ष में किनाट (रेशे) आदि के भीतर काष्ठ होते हैं। मज्जा तो दोनों में ही मज्जा-रूप में निश्चित की गई है।

यद्वृक्षो वृक्णो रोहति मूलान्नवतरः पुनः।
मर्त्यः स्विन्मृत्युना वृक्णः कस्मान्मूलात्प्ररोहति ॥(4)॥

वृक्ष के काटे जाने पर भी वह मूल में से नए सिरे से अंकुरित होता है, उसी तरह मृत्यु के द्वारा काटे जाने पर भी मनुष्य किस मूल में से फिर से अंकुरित होता है (उग निकलता है) ?

रेतस इति मा वोचत जीवतस्तत्प्रजायते।
धानरुह इव वै वृक्षोऽञ्जसा प्रेत्यसम्भवः ॥(5)॥

ऐसा मत कहो कि वह वीर्य से उत्पन्न होता है। क्योंकि वीर्य तो जीवित मनुष्य से ही उत्पन्न होता है। पुरुष की तरह वृक्ष भी बीज से ही उत्पन्न होता है, परन्तु वह तो नष्ट होने के बाद भी फिर-फिर से उत्पन्न हुआ करता है, जबकि पुरुष तो मरने के बाद फिर जीवित नहीं होता।

यत्समूलमावृहेयुर्वृक्षं न पुनराभवेत्।
मर्त्यः स्विन्मृत्युना वृक्णः कस्मान्मूलात्प्ररोहति ॥(6)॥

यदि वृक्ष को मूलसहित उखाड़ दिया जाए, तो वह फिर से नहीं उगता। उसी प्रकार यदि मृत्यु मनुष्य को काट डाले, तो फिर वह किस मूल से उगेगा ?

जात एव न जायते को न्वेवं जनयेत्पुनः।
विज्ञानमानन्दं ब्रह्म रातिर्दातुः परायणं तिष्ठमनस्य तद्विद इति ॥(7)28॥

इति नवमं ब्राह्मणम् ॥

इति बृहदारण्यकोपनिषदि तृतीयोऽध्यायः ॥3॥
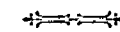
(हे ब्राह्मणो !) यदि आप ऐसा मानें कि "वह पुरुष तो उत्पन्न हो ही गया है, इससे वह फिर से उत्पन्न नहीं होता।'—तो वह ठीक नहीं है। वह फिर से जन्मता तो है ही। तो (मैं पूछता हूँ कि—) उसे कौन जन्म देता है ?" (याज्ञवल्क्य के प्रश्न का उत्तर जब ब्राह्मण लोग न दे सके, तब याज्ञवल्क्य ने स्वयं उत्तर देते हुए कहा कि—) "ब्रह्म विज्ञानरूप है, आनन्दरूप है, वह दानी (त्यागी) यजमान की परम गति है। वह परमज्ञानी (ब्रह्मवेत्ता) का चरम लक्ष्य है।

(यहाँ नौवाँ ब्राह्मण पूरा हुआ।)

यहाँ बृहदारण्यकोपनिषद् में तीसरा अध्याय समाप्त होता है।

❋

अथ चतुर्थोऽध्यायः

प्रथमं ब्राह्मणम्

ॐ जनको ह वैदेह आसाञ्चक्रेऽथ ह याज्ञवल्क्य आवव्राज तः होवाच याज्ञवल्क्य किमर्थमचारीः पशूनिच्छन्नण्वन्तानीत्युभयमेव सम्राडिति होवाच ॥1॥

विदेह जनक आसन पर बैठे हुए थे तब उनके पास याज्ञवल्क्य आए। उन याज्ञवल्क्य से जनक ने कहा—"हे याज्ञवल्क्य ! किस हेतु से यहाँ आप आए हैं ? क्या पशुओं की इच्छा से आए हैं अथवा सूक्ष्म वस्तु के निर्णायक प्रश्नों को सुनने के लिए आए हैं ?" तब याज्ञवल्क्य ने कहा—"हे राजा ! दोनों के लिए आया हूँ।"

यत्ते कश्चिदब्रवीत्तच्छृणवामेत्यब्रवीन्मे जित्वा शैलिनिर्वाग्वै ब्रह्मेति यथा मातृमान्पितृमानाचार्यवान्ब्रूयात्तथा तच्छैलिनिरब्रवीद्वाग्वै ब्रह्मेत्यवदतो हि किः स्यादित्यब्रवीत्तु ते तस्यायतनं प्रतिष्ठां न मेऽब्रवीदित्येकपाद्वा एतत्सम्राडिति स वै नो ब्रूहि याज्ञवल्क्य। वागेवायतनमाकाशः प्रतिष्ठा प्रज्ञेत्येनदुपासीत का प्रज्ञा याज्ञवल्क्य वागेव सम्राडिति होवाच वाचा वै सम्राड् बन्धुः प्रज्ञायत ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरस इतिहासः पुराणं विद्या उपनिषदः श्लोकाः सूत्राण्यनुव्याख्यानानि व्याख्यानानीष्टः हुतमाशितं पायितमयं च लोकः परश्च लोकः सर्वाणि च भूतानि वाचैव सम्राट् प्रज्ञायन्ते वाग्वै सम्राट् परमं ब्रह्म नैनं वाग्जहाति सर्वाण्येनं भूतान्यभिक्षरन्ति देवो भूत्वा देवानप्येति य एवं विद्वानेतदुपास्ते हस्त्यृषभः सहस्त्रं ददामीति होवाच जनको वैदेहः स होवाच याज्ञवल्क्यः पिता मेऽमन्यत नाननुशिष्य हरेतेति ॥2॥

याज्ञवल्क्य ने आगे कहा—"यदि किसी ने तुम्हें किसी सत्य की बात बताई हो, तो हम सुनना चाहते हैं।" तब जनक बोले—"शिलिनपुत्र जित्वा ने मुझे कहा था कि 'वाणी' ही ब्रह्म है।" तब याज्ञवल्क्य बोले—"जैसे कोई मातावाला, पितावाला, आचार्यवाला कहे, वैसा ही तुम्हें शिलिनपुत्र जित्वा ने बताया कि 'वाणी ब्रह्म है।' क्योंकि जो मनुष्य बोल ही न सकता हो, उसकी दशा कैसी होती है ? पर उस ब्रह्म का निवासस्थान क्या है, वह किसके आधार पर टिका हुआ है, आदि उसने तुम्हें बताया है क्या ?" जनक ने कहा—"नहीं जी !" तब याज्ञवल्क्य ने कहा—"तब तो वह ब्रह्म का केवल एक ही अंश हुआ।" तब जनक बोले—"तो हे याज्ञवल्क्य ! आप मुझे वह समझाइए।" तब याज्ञवल्क्य बोले—"वाणी ही उसका निवासस्थान है, आकाश उसका आधार है, उस ब्रह्म की प्रज्ञा (ज्ञान) के रूप में उपासना करनी चाहिए।" तब जनक ने पूछा—"हे याज्ञवल्क्य ! प्रज्ञा क्या है ?" तब याज्ञवल्क्य बोले—"हे सम्राट् ! वाणी ही प्रज्ञा है। हे सम्राट् ! वाणी से ही मित्र को पहचाना जा सकता है। ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, इतिहास, पुराण, विद्या, उपनिषदें, श्लोक, सूत्र, टीकाएँ, भाष्य, यज्ञ, होम, अन्य को खिलाया गया अन्न, पिलाया हुआ पानी, यह लोक, परलोक, और इन सब प्राणियों को वाणी से ही जाना जा सकता है। हे सम्राट् ! वाणी परब्रह्म ही है, ऐसा जानकर जो उसकी उपासना करता है, तो वाणी कभी उसका त्याग नहीं करती। सभी प्राणी उसको उपहार आदि देते हैं। वह देव बनकर देवों के पास जाता है।" तब विदेह के राजा जनक ने कहा—

"मैं आपको हाथी जैसे बैल उत्पन्न करनेवाली हजार गायों का झुण्ड देता हूँ।" तब याज्ञवल्क्य ने कहा कि—"मेरे पिता का ऐसा मत था कि शिष्य को पूरी शिक्षा दिए बिना उससे धन नहीं लेना चाहिए।"

यदेव ते कश्चिदब्रवीत्तच्छृणवामेत्यब्रवीन्म उदङ्कः शौल्बायनः प्राणो वै ब्रह्मेति यथा मातृमान्पितृमानाचार्यवान्ब्रूयात्तथा तच्छौल्बायनोऽब्रवी-त्प्राणो वै ब्रह्मेत्यप्राणतो हि किः स्यादित्यब्रवीत्तु ते तस्यायतनं प्रतिष्ठां न मेऽब्रवीदित्येकपाद्वा एतत्सम्राडिति स वै नो ब्रूहि याज्ञवल्क्य प्राण एवायतनमाकाशः प्रतिष्ठा प्रियमित्येनदुपासीत का प्रियता याज्ञवल्क्य प्राण एव सम्राडिति होवाच प्राणस्य वै सम्राट् कामायायाज्यं याजयत्य-प्रतिगृह्यस्य प्रतिगृह्णात्यपि तत्र वधाशङ्कं भवति यां दिशमेति प्राणस्यैव सम्राट् कामाय प्राणो वै समाट् परमं ब्रह्म नैनं प्राणो जहाति सर्वाण्येनं भूतान्यभिक्षरन्ति देवो भूत्वा देवानप्येति य एवंविद्वानेतदुपास्ते हस्त्यृ-षभः सहस्त्रं ददामीति होवाच जनको वैदेहः स होवाच याज्ञवल्क्यः पिता मेऽमन्यत नाननुशिष्य हरेतेति ॥3॥

याज्ञवल्क्य ने फिर कहा—"तुम्हें जिस किसी ने (ज्ञान की बात) बताई हो, उसे हम सुनना चाहते हैं।" जनक बोले—"शुल्वपुत्र उदक ने मुझसे कहा था कि—'प्राण' ब्रह्म है।" तब याज्ञवल्क्य बोले—"जैसे कोई मातावाला, पितावाला, आचार्यवाला मनुष्य कहता हो, वैसे ही तुम्हें शुल्वपुत्र उदक ने बताया है कि 'प्राण ब्रह्म है।' क्योंकि यदि मनुष्य में प्राण न हो तो उसकी कैसी दशा होती ? परन्तु इस प्राण का निवासस्थान क्या है और वह किसके आधार पर टिका है, वह तुम्हें उसने बताया है क्या ?" जनक बोले—"नहीं जी", तब याज्ञवल्क्य बोले—"सम्राट् ! तब तो वह ब्रह्म का एक अंश ही हुआ !" तब जनक बोले—"हे याज्ञवल्क्य ! तो आप मुझे यह बताइए।" तब याज्ञवल्क्य बोले—"प्राण उसका निवासस्थान है, और आकाश उसका आधार है। उस ब्रह्म की प्रिय के रूप में उपासना करनी चाहिए।" जनक बोले—"हे याज्ञवल्क्य ! वह प्रिय क्या है ?" याज्ञवल्क्य बोले—"हे सम्राट् ! प्राण ही प्रिय है। हे सम्राट् ! प्राण को टिकाए रखने के लिए ही मनुष्य यज्ञ के अनधिकारी को भी यज्ञ करवा देते हैं, अयोग्य दाता से भी दान ले लेते हैं। हे सम्राट् ! मनुष्य प्राण टिकाने के लिए ही तो वह जिस दिशा में वध की शंका होती है, उस दिशा की ओर भी जाता है। हे सम्राट् ! 'प्राण परम ब्रह्म है' ऐसा जानकर जो मनुष्य उसकी उपासना करता है उसे प्राण कभी नहीं त्यागता है। सभी प्राणी उसे उपहारादि देकर उसका उपकार करते हैं। वह दैव बनकर देवों के पास जाता है"। तब विदेहराज जनक ने कहा—"जिन गायों से हाथी के आकार वाले बैल उत्पन्न होते हैं, ऐसी हजार गायें मैं आपको देता हूँ।" तब याज्ञवल्क्य बोले—"मेरे पिता ऐसा मानते थे कि शिष्य को पूर्ण शिक्षा दिए बिना उसके पास से कुछ लेना नहीं चाहिए।"

यदेव ते कश्चिदब्रवीत्तच्छृणवामेत्यब्रवीन्मे बर्कुर्वार्ष्णश्चक्षुर्वै ब्रह्मेति यथा मातृमान्पितृमानाचार्यवान्ब्रूयात्तथा तद्वार्ष्णोऽब्रवीच्चक्षुर्वै ब्रह्मेत्यपश्यतो हि किः स्यादित्यब्रवीत्तु ते तस्यायतनं प्रतिष्ठां न मेऽब्रवीदित्येकपाद्वा एतत्सम्राडिति स वै नो ब्रूहि याज्ञवल्क्य चक्षुरेवायतनमाकाशः प्रतिष्ठा सत्यमित्येनदुपासीत का सत्यता याज्ञवल्क्य चक्षुरेव सम्राडिति होवाच चक्षुषा वै सम्राट् पश्यन्तमाहुरद्राक्षीरिति स आहाद्राक्षमिति तत्सत्यं

भवति चक्षुर्वै सम्राट् परमं ब्रह्म नैनं चक्षुर्जहाति सर्वाण्येनं भूतान्यभि-क्षरन्ति देवो भूत्वा देवानप्येति य एवं विद्वानेतदुपास्ते हस्त्यृषभꣳ सहस्रं ददामीति होवाच जनको वैदेहः स होवाच याज्ञवल्क्यः पिता मेऽमन्यत नानुशिष्य हरेतेति ॥4॥

याज्ञवल्क्य फिर बोले—"तुम्हें और किसी ने कुछ ज्ञान की बात बताई हो, तो हम सुनना चाहते हैं।" तब जनक बोले—"वृष्ण-पुत्र बर्कु ने मुझसे कहा है कि—"चक्षु ही ब्रह्म है।" तब याज्ञवल्क्य बोले—"जैसे मातावाला, पितावाला, आचार्यवाला पुरुष कहता है, उसी तरह वृष्णपुत्र ने तुम्हें बताया है कि चक्षु ही ब्रह्म है। न देखनेवाले की कैसी दशा होती है ? परन्तु उसने उसका निवासस्थान और उसका आधार क्या है, वह तुम्हें बताया है क्या ?" जनक बोला—"नहीं जी।" तब याज्ञवल्क्य बोले—"तब तो हे सम्राट्! वह तो ब्रह्म का एक अंश ही हुआ।" तब जनक ने कहा—"हे याज्ञवल्क्य! तब आप ही मुझे यह समझाइए।" तब याज्ञवल्क्य ने कहा—"चक्षु ही इसका निवासस्थान है और आकाश उसका आधार है। उसे सत्य मानकर उसकी उपासना करनी चाहिए।" तब जनक बोले—"वह सत्यता क्या है याज्ञवल्क्य!" तब याज्ञवल्क्य बोले—"हे सम्राट्! चक्षु ही तो (सत्यता) है, क्योंकि आँख से देखनेवाले से यदि कोई पूछे कि—"क्या तुमने देखा ?" और यदि वह उत्तर दे कि—'हाँ देखा', तो वह सत्य साबित होता है। हे सम्राट्! 'चक्षु ही परम ब्रह्म है' ऐसा जानने वाले उपासक का चक्षु कभी त्याग नहीं करता है, सभी प्राणी उसे उपहार देकर उसका उपकार करते हैं। वह देव होकर देवों से मिलता है।" तब जनक वैदेह ने कहा—"हाथी के आकार वाले बैलों को उत्पन्न करनेवाली हजार गायें मैं आपको देता हूँ।" तब याज्ञवल्क्य ने कहा—"मेरे पिता मानते थे कि पूर्ण शिक्षा दिए बिना शिष्य से कुछ भी लेना नहीं चाहिए।

यदेव ते कश्चिदब्रवीतच्छृणवामेत्यब्रवीन्मे गर्दभीविपीतो भारद्वाजः श्रोत्रं वै ब्रह्मेति यथा मातृमान्पितृमानाचार्यवान्ब्रूयात्तथा तद्भारद्वाजोऽब्रवी-च्छ्रोत्रं वै ब्रह्मेत्यशृण्वतो हि किꣳ स्यादित्यब्रवीत्तु ते तस्यायतनं प्रतिष्ठां न मेऽब्रवीदित्येकपाद्वा एतत्सम्राडिति स वै नो ब्रूहि याज्ञवल्क्य श्रोत्रमेवा-यतनमाकाशः प्रतिष्ठाऽनन्त इत्येनदुपासीत कानन्तता याज्ञवल्क्य दिश एव सम्राडिति होवाच तस्माद्वै सम्राडपि यां कां च दिशं गच्छति नैवास्या गच्छत्यनन्ता हि दिशो दिशो वै सम्राट् श्रोत्रꣳ श्रोत्रं वै सम्राट् परमं ब्रह्म नैनꣳ श्रोत्रं जहाति सर्वाण्येनं भूतान्यभिक्षरन्ति देवो भूत्वा देवानप्येति य एवं विद्वानेतदुपास्ते हस्त्यृषभꣳ सहस्रं ददामीति होवाच जनको वैदेहः स होवाच याज्ञवल्क्यः पिता मेऽमन्यत नानुशिष्य हरेतेति ॥5॥

याज्ञवल्क्य ने कहा—"जिस किसी ने तुम्हें सत्य के बारे में बताया हो, वह हम सुनना चाहते हैं।" तब जनक ने कहा—"भारद्वाज गोत्र के गर्दभीविपीत ने मुझे बताया है कि 'कान ब्रह्म है।' याज्ञवल्क्य ने कहा—"जैसे मातावाला, पितावाला, आचार्यवाला मनुष्य कहता हो, वैसे ही भरद्वाज गोत्र के गर्दभीविपीत ने तुम्हें बताया कि 'कान ब्रह्म है।' क्योंकि नहीं सुनने वाले की कैसी दशा होती है ? परन्तु उस ब्रह्म का निवासस्थान कहाँ है, उसका आधार क्या है, इसके बारे में बताया है क्या ?" जनक बोले—"वह तो नहीं कहा था।" तब याज्ञवल्क्य बोले—'हे सम्राट्! वह तो ब्रह्म का एक ही अंश हुआ"। तब जनक बोले—"हे याज्ञवल्क्य! तब अब आप मुझे इस विषय में समझाइए।" तब

याज्ञवल्क्य बोले—"कान उसका निवासस्थान है, आकाश उसका आधार है। उस ब्रह्म को 'अनन्त' मानकर उसकी उपासना करनी चाहिए।" तब जनक ने कहा—"हे याज्ञवल्क्य! वह अनन्तता क्या है ?" याज्ञवल्क्य बोले—"हे सम्राट्! दिशाएँ ही अनन्तता है। इसीलिए हे सम्राट्! मनुष्य यदि किसी भी दिशा में जाए, तो भी उसके अन्त तक नहीं पहुँच सकता। क्योंकि दिशाओं का कोई अन्त ही नहीं है। हे सम्राट्! दिशाएँ ही कान हैं। जो मनुष्य 'कान ही ब्रह्म है'—ऐसा समझकर उसकी उपासना करता है, उसे कान कभी नहीं छोड़ते। सभी प्राणी उसे उपहार देते हैं। वह देव बनकर देवों के पास जाता है।" तब विदेह के राजा जनक ने कहा—"हाथी के आकार वाले बैल उत्पन्न करनेवाली हजार गायें मैं देता हूँ।' तब याज्ञवल्क्य ने कहा—"मेरे पिता ऐसा मानते थे कि शिष्य को पूर्ण शिक्षा दिये बिना उससे कुछ भी लेना नहीं चाहिए।"

यदेव ते कश्चिदब्रवीत्तच्छृणवामेत्यब्रवीन्मे सत्यकामो जाबालो मनो वै ब्रह्मेति यथा मातृमान्पितृमानाचार्यवान्ब्रूयात्तथा तज्जाबालोऽब्रवीन्मनो ब्रह्मेत्यमनसो हि किꣳ स्यादित्यब्रवीत्तु ते तस्यायतनं प्रतिष्ठां न मेऽब्र-वीदित्येकपाद्वा एतत्सम्राडिति स वै नो ब्रूहि याज्ञवल्क्य मन एवायतन-माकाशः प्रतिष्ठाऽऽनन्द इत्येनदुपासीत का आनन्दता याज्ञवल्क्य मन एव सम्राडिति होवाच मनसा वै सम्राट् स्त्रियमभिहार्यते तस्यां प्रतिरूपः पुत्रो जायते स आनन्दो मनो वै सम्राट् परमं ब्रह्म नैनं मनो जहाति सर्वाण्येनं भूतान्यभिक्षरन्ति देवो भूत्वा देवानप्येति य एवंविद्वानेतदुपास्ते हस्त्यृषभꣳ सहस्रं ददामीति होवाच जनको वैदेहः स होवाच याज्ञव-ल्क्यः पिता मेऽमन्यत नानुशिष्य हरेतेति ॥6॥

याज्ञवल्क्य बोले—"जिस किसी ने तुम्हें सत्य के बारे में कुछ कहा हो, उसे हम सुनना चाहते हैं"। तब जनक बोले—"सत्यकाम जाबाल ने कहा है कि 'मन ब्रह्म है।" तब याज्ञवल्क्य बोले—"जैसे मातावाला, पितावाला, आचार्यवाला मनुष्य कहता है, वैसे ही वह जाबाल बोला है कि 'मन ही ब्रह्म है।' मनरहित मनुष्य की कैसी दशा होती है ? परन्तु, उसने यह बताया कि उसका निवासस्थान कहाँ है और उसका आधार क्या है ? जनक बोले—"वह तो नहीं बताया!" तब याज्ञवल्क्य बोले—"तब तो हे सम्राट्! वह ब्रह्म का एक ही अंश हुआ।" तब जनक बोले—"आप ही मुझे इस बारे में कहिए हे याज्ञवल्क्य।" तब याज्ञवल्क्य बोले—"मन ही उसका निवासस्थान है और आकाश उसका आधार है। इसकी 'आनन्द' रूप में उपासना करनी चाहिए।" तब जनक ने पूछा—"हे याज्ञवल्क्य! आनन्दता क्या है ?" याज्ञवल्क्य ने कहा—"हे सम्राट्! वह मन ही है। मन से ही मनुष्य स्त्री के पास जाता है और उसकी प्रार्थना करता है। उसके द्वारा अपने जैसा ही पुत्र उत्पन्न होता है। हे सम्राट्! वह आनन्दस्वरूप है। मन को ही परब्रह्म मानकर जो मनुष्य उसकी उपासना करता है उसे मन कभी छोड़ता नहीं। सभी प्राणी उसे उपहार देते हैं। वह देव बनकर देवों के पास जाता है।" तब विदेहराज जनक ने कहा—"हाथी के आकार वाले बैल उत्पन्न करनेवाली एक हजार गायें मैं आपको देता हूँ।" तब याज्ञवल्क्य बोले—"मेरे पिता ऐसा मानते थे कि शिष्य को पूर्ण शिक्षा दिए बिना उससे कुछ नहीं लेना चाहिए।"

यदेव ते कश्चिदब्रवीत्तच्छृणवामेत्यब्रवीन्मे विदग्धः शाकल्यो हृदयं वै ब्रह्मेति यथा मातृमान्पितृमानाचार्यवान्ब्रूयात्तथा तच्छाकल्योऽब्रवीद्धृदयं

वै ब्रह्मेत्यहृदयस्य हि किꣳ स्यादित्यब्रवीत्तु ते तस्यायतनं प्रतिष्ठां न मेऽब्रवीदित्येकपाद्वा एतत्सम्राडिति स वै नो ब्रूहि याज्ञवल्क्य हृदयमेवायतनमाकाशः प्रतिष्ठा स्थितिरित्येनदुपासीत का स्थितता याज्ञवल्क्य हृदयमेव सम्राडिति होवाच हृदयं वै सम्राट् सर्वेषां भूतानामायतनꣳ हृदयं वै सम्राट् सर्वेषां भूतानां प्रतिष्ठा हृदये ह्येव सम्राट् सर्वाणि भूतानि प्रतिष्ठितानि भवन्ति हृदयं वै सम्राट् परमं ब्रह्म नैनꣳ हृदयं जहाति सर्वाण्येनं भूतान्यभिक्षरन्ति देवो भूत्वा देवानप्येति य एवं विद्वानेतदुपास्ते हस्त्यृषभꣳ सहस्रं ददामीति होवाच जनको वैदेहः स होवाच याज्ञवल्क्यः पिता मेऽमन्यत नानुशिष्य हरेतेति ॥7॥

इति प्रथमं ब्राह्मणम् ॥

याज्ञवल्क्य ने कहा—जिस किसी ने तुम्हें सत्य के विषय में जो कुछ कहा हो उसे हम सुनना चाहते हैं। जनक बोले—"शकलपुत्र विदग्ध ने मुझसे कहा था कि हृदय ही ब्रह्म है।" याज्ञवल्क्य ने कहा—"जैसे कोई मातृमान, पितृमान, आचार्यवान कहता हो, उसी तरह उस शाकल्य ने तुमसे कह दिया है कि 'हृदय ही ब्रह्म है'। हृदयविहीन की कैसी दशा होती है ? परन्तु, उसने क्या तुम्हें उसके निवासस्थान और आधार के बारे में कुछ कहा है ?" जनक बोला—"नहीं जी।" तब याज्ञवल्क्य बोले—"हे सम्राट् ! वह तो ब्रह्म का एक ही अंश हुआ।" तब जनक बोले—"तो आप उसे मेरे लिए कह दीजिए।" तब याज्ञवल्क्य ने कहा—"हृदय ही उसका निवासस्थान है, और आकाश उसका आधार है। उस ब्रह्म की स्थिरता के रूप में उपासना करनी चाहिए।" तब जनक ने पूछा—"वह स्थिरता का क्या अर्थ है ?" याज्ञवल्क्य बोले—"हे सम्राट् ! हृदय ही स्थिरता है। हृदय ही प्राणीमात्र का निवासस्थान है। हे सम्राट् ! जो मनुष्य हृदय को परब्रह्म मानकर उसकी उपासना करता है, उसे हृदय कभी छोड़ता नहीं। सभी प्राणी उसे उपहार देते हैं, वह देव होकर देवों से मिल जाता है।" तब विदेहराज जनक ने कहा—"हाथी के आकार वाले बैल उत्पन्न करनेवाली हजार गायें मैं तुम्हें देता हूँ।" तब याज्ञवल्क्य बोले—"मेरे पिता का यह मत था कि शिष्य को पूरी शिक्षा दिए बिना उससे कुछ भी नहीं लेना चाहिए"।

(यहाँ पहला ब्राह्मण पूरा हुआ।)

द्वितीयं ब्राह्मणम्

जनको ह वैदेहः कूर्चादुपावसर्पन्नुवाच नमस्तेऽस्तु याज्ञवल्क्यानु मा शाधीति स होवाच यथा वै सम्राण्महान्तमध्वानमेष्यन् रथं वा नावं वा समाददीतैवमेवैताभिरुपनिषद्भिः समाहितात्मास्येवं वृन्दारक आढ्यः सन्नधीतवेद उक्तोपनिषत्क इतो विमुच्यमानः क्व गमिष्यसीति नाहं तद् भगवन्वेद यत्र गमिष्यामीत्यथ वै तेऽहं तद्वक्ष्यामि यत्र गमिष्यसीति ब्रवीतु भगवानिति ॥1॥

राजा जनक विशिष्ट आसन पर से उठकर उन (याज्ञवल्क्य) के पास जाकर प्रणाम करके बोले—"हे याज्ञवल्क्य ! आपको नमस्कार हो। मुझे ज्ञानोपदेश दीजिए।" याज्ञवल्क्य ने कहा—"हे सम्राट् ! लम्बी यात्रा पर जाने का इच्छुक आदमी जैसे रथ या नाव को धारण करता है, वैसे ही तुम

इन उपनिषदों से प्रामाणित प्राण आदि ब्रह्म की उपासना करके गूढ ज्ञान से समाहित चित्तवाले हुए हो। (अर्थात् आत्मा में एकाग्र चित्तवाले हुए हो)। इसीलिए तुम सम्माननीय हो, धनिक हो, वेदाभ्यासी हो, गुरुओं के द्वारा तुम्हें उपनिषदों का ज्ञान दिया गया है। परन्तु तुम क्या यह जानते हो कि तुम इस देह में से छूटकर कहाँ जाओगे ?" जनक ने कहा—"नहीं भगवन् ! मुझे पता नहीं कि मैं कहाँ जाऊँगा।" तब याज्ञवल्क्य ने कहा—"मैं तुम्हें बतलाऊँगा कि तुम कहाँ जाओगे।" तब जनक ने कहा—"कहिए भगवन् !"

इन्धो ह वै नामैष योऽयं दक्षिणेऽक्षन्पुरुषस्तं वा एतमिन्धꣳ सन्तमिन्द्र इत्याचक्षते परोक्षेणैव परोक्षप्रिया इव हि देवाः प्रत्यक्षद्विषः ॥2॥

याज्ञवल्क्य ने कहा—दाहिनी आँख में जो (चेतन) पुरुष रहता है, वह 'इन्ध' नाम का है। वह है तो 'इन्ध' ही, परन्तु लोग उसे 'इन्द्र' ऐसे परोक्ष (गूढ) अर्थवाले नाम से कहते हैं। मानो देवों को गूढ अर्थ वाले नाम ही पसन्द आते हों और स्पष्ट अर्थवाले नामों से वे द्वेष करते हों ऐसा लगता है।

अथैतद्वामेऽक्षणि पुरुषरूपमेषास्य पत्नी विराट् तयोरेष सꣳस्तावो य एषोऽन्तर्हृदय आकाशोऽथैनयोरेतदन्नं य एषोऽन्तर्हृदये लोहितपिण्डोऽथैनयोरेतत्प्रावरणं यदेतदन्तर्हृदये जालकमिवाथैनयोरेषा सृतिः संचरणी यैषा हृदयादूर्ध्वा नाड्युच्चरति यथा केशः सहस्रधा भिन्न एवमस्यैता हिता नाम नाड्योऽन्तर्हृदये प्रतिष्ठिता भवन्त्येताभिर्वा एतदास्रवदास्रवति तस्मादेष प्रविविक्ताहारतर इवैव भवत्यस्माच्छारीरादात्मनः ॥3॥

बायीं आँख में जो मनुष्यरूप है, वह उसकी पत्नी विराज है। हृदय में जो आकाश (खाली स्थान) है वह इन दोनों का मिलनस्थान है। और हृदय में जो यह लहू का पिण्ड है, वह उन दोनों का अन्न (खाद्य) है। और हृदय में जो यह जाल जैसा है, वह उन दोनों की ओढ़ने की चादर है। और हृदय से जो नाड़ी ऊपर जाती है वह उन दोनों का घूमने का रास्ता है। और बाल के सहस्र भाग जैसी सूक्ष्म हिता नाम की जो नाड़ियाँ हृदय के भीतर हैं, इन्हीं के द्वारा ग्रहण किये गये अन्न का प्रवाह सम्पूर्ण शरीर में होता है, इसलिए बाहर के इस शरीररूपी आत्मा से उस भीतर के आत्मा को अधिक स्वच्छ आहार मिलता है।

तस्य प्राची दिक् प्राञ्चः प्राणा दक्षिणा दिग्दक्षिणे प्राणाः प्रतीची दिक् प्रत्यञ्चः प्राणा उदीची दिगुदञ्चः प्राणा ऊर्ध्वा दिगूर्ध्वाः प्राणा अवाची दिगवाञ्चः प्राणाः सर्वा दिशः सर्वे प्राणाः स एष नेति नेत्यात्माऽगृह्यो नहि गृह्यतेऽशीर्यो नहि शीर्यतेऽसङ्गो नहि सज्यतेऽसितो न व्यथते न रिष्यत्यभयं वै जनक प्राप्तोऽसीति होवाच याज्ञवल्क्यः स होवाच जनको वैदेहोऽभयं त्वा गच्छताद्याज्ञवल्क्य यो नो भगवन्नभयं वेदयसे नमस्तेऽस्त्विमे विदेहा अयमहमस्मि ॥4॥

इति द्वितीयं ब्राह्मणम् ॥

पूर्व दिशा इस आत्मा का पूर्वीय प्राण है, दक्षिण दिशा उसका दक्षिण का प्राण है, पश्चिम दिशा उसका पश्चिमी प्राण है, उत्तर दिशा उसका उत्तरी प्राण है, ऊपर की दिशा उसका ऊपर का प्राण है, निचली दिशा उसका निचला प्राण है, सभी दिशाएँ उस आत्मा के अलग-अलग प्राण हैं। वह आत्मा

'नेति नेति' कहकर ही बताया जा सकता है। वह पकड़ने योग्य नहीं है, इसलिए पकड़ा नहीं जा सकता, वह क्षययोग्य नहीं है इसलिए वह क्षीण नहीं होता, वह असंग है इसलिए कहीं आसक्त नहीं होता, वह विनाश्य नहीं है, उसको कुछ दुःख नहीं होता। वह कभी भी नष्ट नहीं होता। तुम निर्भय हो गए हो जनक!"—ऐसा याज्ञवल्क्य ने कहा। तब विदेह के राजा जनक ने कहा—"याज्ञवल्क्य! आप भी निर्भय हों। क्योंकि आप ही तो हमें उस अभयरूप ब्रह्म का ज्ञान देते हैं। इसलिए मैं आपको वन्दन करता हूँ। यह रहा विदेह देश और यह रहा मैं।" (सब आपका ही है।)

(यहाँ दूसरा ब्राह्मण पूरा हुआ।)

❋

तृतीयं ब्राह्मणम्

जनकः ह वैदेहं याज्ञवल्क्यो जगाम स मेने न वदिष्य इत्यथ ह यज्जन-कश्च वैदेहो याज्ञवल्क्यश्चाग्निहोत्रे समूदाते तस्मै ह याज्ञवल्क्यो वरं ददौ स ह कामप्रश्नमेव वव्रे तꣳहास्मै ददौ तꣳ ह सम्राडेव पूर्वं पप्रच्छ ॥1॥

विदेहराज जनक के यहाँ याज्ञवल्क्य गए। उन्होंने 'मैं नहीं बोलूँगा'—ऐसा सोच तो रखा था। परन्तु एकबार जनक और याज्ञवल्क्य अग्निहोत्र के सम्बन्ध में बातें कर रहे थे, तब याज्ञवल्क्य ने जनक को वरदान दिया था तब जनक ने मनचाहा वर (कि मैं आपसे कभी कुछ भी प्रश्न पूछ सकता हूँ) माँग लिया था और याज्ञवल्क्य ने यह वरदान उसे दिया था। इसलिए राजा ने ही पहला प्रश्न पूछा।

याज्ञवल्क्य किंज्योतिरयं पुरुष इति आदित्यज्योतिः सम्राडिति होवाचा-दित्येनैवायं ज्योतिषास्ते पल्ययते कर्म कुरुते विपल्येतीत्येमेवैतद्याज्ञ-वल्क्य ॥2॥

"हे याज्ञवल्क्य! यह मनुष्य किस तेज से युक्त है?" याज्ञवल्क्य बोले—"आदित्य (सूर्य) के तेज से ही। क्योंकि सूर्य के तेज से ही मनुष्य बैठता है, चलता-फिरता है, काम करता है और वापस लौटता है।" तब जनक ने कहा—"ठीक है याज्ञवल्क्य! वह ऐसा ही है।"

अस्तमित आदित्ये याज्ञवल्क्य किंज्योतिरेवायं पुरुष इति चन्द्रमा एवास्य ज्योतिर्भवतीति चन्द्रमसैवायं ज्योतिषास्ते पल्ययते कर्म कुरुते विपल्येतीत्येवमेवैतद्याज्ञवल्क्य ॥3॥

"हे याज्ञवल्क्य! सूर्य के अस्त होने पर यह मनुष्य किस तेज से युक्त होता है?" याज्ञवल्क्य ने कहा—"चन्द्र के तेज से ही। क्योंकि चन्द्रमा ही इसकी ज्योति है। चन्द्र के तेज से ही मनुष्य बैठता है, चलता-फिरता है, काम करता है, वापस लौटता है।" तब जनक ने कहा—"ऐसा ही है याज्ञवल्क्य!"

अस्तमित आदित्ये याज्ञवल्क्य चन्द्रमस्यस्तमिते किंज्योतिरेवायं पुरुष इत्यग्निरेवास्य ज्योतिर्भवतीत्यग्निनैवायं ज्योतिषास्ते पल्ययते कर्म कुरुते विपल्येतीत्येवमेवैतद्याज्ञवल्क्य ॥4॥

जनक ने फिर पूछा—"हे याज्ञवल्क्य! सूर्य अस्त हो जाए और चन्द्र भी अस्त हो जाए तब यह पुरुष (मनुष्य) किस तेज से युक्त होता है?" याज्ञवल्क्य बोले—"अग्निरूप तेज से युक्त होता

है। अग्नि के तेज से ही मनुष्य बैठता है, चलता-फिरता है, काम करता है और वापिस आता है।" तब जनक ने कहा—"ऐसा ही है याज्ञवल्क्य!"

अस्तमित आदित्ये याज्ञवल्क्य चन्द्रमस्यस्तमिते शान्तेऽग्नौ किंज्योति-रेवायं पुरुष इति वागेवास्य ज्योतिर्भवतीति वाचैवायं ज्योतिषास्ते पल्ययते कर्म कुरुते विपल्येतीति तस्माद्वै सम्राडपि यत्र स्वः पाणिर्न विनिर्ज्ञायतेऽथ यत्र वागुच्चारयत्युपैव तत्र न्येतीत्येवमेवैतद्याज्ञव-ल्क्य ॥5॥

जनक ने आगे पूछा—"हे याज्ञवल्क्य! सूर्य अस्त हो जाए, चन्द्र अस्त हो जाए, अग्नि शान्त हो जाए, तब यह मनुष्य किस तेज से युक्त होता है?" याज्ञवल्क्य ने कहा—"तब वाणी ही इसका तेज होती है; वाणीरूप तेज से ही पुरुष बैठता है, चलता-फिरता है, काम करता है, और वापिस लौट सकता है। हे सम्राट्! अपना हाथ भी जब स्पष्ट रूप से देखा नहीं जा सकता, तब (घोर अंधकार में भी) जब कहीं कुछ आवाज हो, तो मनुष्य वहाँ सीधा चला जाता है।" तब जनक ने कहा—"याज्ञवल्क्य! ठीक है, वह ऐसा ही है"।

अस्तमित आदित्ये याज्ञवल्क्य चन्द्रमस्यस्तमिते शान्तेऽग्नौ शान्तायां वाचि किंज्योतिरेवायं पुरुष इत्यात्मैवास्य ज्योतिर्भवतीत्यात्मनैवायं ज्योतिषास्ते पल्ययते कर्म कुरुते विपल्येतीति ॥6॥

जनक ने और पूछा—"हे याज्ञवल्क्य! सूर्य जब अस्त हो जाता है, चन्द्र भी अस्त हो जाता है, अग्नि शान्त हो जाती है, वाणी भी शान्त हो जाती है, तब यह मनुष्य किस ज्योति से युक्त होता है?" तब याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया—"आत्मा के तेज से युक्त होता है; वही उसका प्रकाश है। आत्मा के तेज से ही वह बैठता है, घूमता-फिरता है, काम करता है, वापिस आता है।

कतम आत्मेति योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु हृद्यन्तर्ज्योतिः पुरुषः स समानः सन्नुभौ लोकावनुसंचरति ध्यायतीव लेलायतीव स हि स्वप्नो भूत्वेमं लोकमतिक्रामति मृत्यो रूपाणि ॥7॥

जनक ने पूछा—"वह आत्मा कौन-सा है? याज्ञवल्क्य ने कहा—"जो (चेतन) पुरुष विज्ञानरूप शरीर में इन्द्रियों के बीच रहता है और हृदय में तेजरूप से रहता है, सर्वदा एक-सा रहता है, वह इस लोक और परलोक में घूमता-फिरता रहता है। वह मानो ध्यान करता हो, घूमता-फिरता हो ऐसा भास होता है; स्वप्नावस्था में वह इस लोक को पार कर चला जाता है अर्थात् मृत्यु के सभी रूपों का अतिक्रमण कर लेता है।

स वा अयं पुरुषो जायमानः शरीरमभिसम्पद्यमानः पाप्मभिः सꣳसृज्यते स उत्क्रामन् म्रियमाणः पाप्मनो विजहाति ॥8॥

वह आत्मा जब जन्म लेता है अर्थात् शरीर धारण करता है, तब वह पाप से जुड़ जाता है। और जब देह छोड़ देता है (मर जाता है) तब (देहेन्द्रियादि) पापों को छोड़ जाता है।

तस्य वा एतस्य पुरुषस्य द्वे एव स्थाने भवत इदं च परलोकस्थानं च सन्ध्यं तृतीयꣳ स्वप्नस्थानं तस्मिन्सन्ध्ये स्थाने तिष्ठन्नेते उभे स्थाने पश्यतीदं च परलोकस्थानं च। अथ यथाक्रमोऽयं परलोकस्थाने भवति

तमाक्रममाक्रम्योभयान् पाप्मन आनन्दांश्च पश्यति य यत्र प्रस्वपित्यस्य लोकस्य सर्वावतो मात्रामुपादाय स्वयं विहत्य स्वयं निर्माय स्वेन भासा स्वेन ज्योतिषा प्रस्वपित्यत्रायं पुरुषः स्वयंज्योतिर्भवति ॥9॥

इस पुरुष के (आत्मा के) दो ही स्थान हैं। एक यह लोक और दूसरा परलोक। तीसरा स्वप्नस्थान उन दोनों की सन्धि का स्थान है। उस बीच के स्थान में खड़ा रहकर यह आत्मा इन दोनों स्थानों (इस लोक और परलोक को) देख सकता है। और यह आत्मा, परलोक में जाने के लिए जिन साधनों से सम्पन्न होता है, उन साधनों का आश्रय लेकर पाप और आनन्द—दोनों को देख सकता है। वह जब स्वप्नावस्था में होता है, तब इस सर्वांशों से पूर्ण जगत् का कुछ अंश ले जाता है, और तोड़ता-फोड़ता है और कुछ नया बना भी देता है और अपने तेज से, अपने प्रकाश से स्वप्नसृष्टि रच देता है। इस स्थिति में आत्मा अपने ही तेज से प्रकाशित होता है।

न तत्र रथा न रथयोगा न पन्थानो भवन्त्यथ रथान्रथयोगान्पथः सृजते न तत्रानन्दा मुदः प्रमुदो भवन्त्यथानन्दान् प्रमुदः सृजते न तत्र वेशान्ताः पुष्करिण्यः स्रवन्त्यो भवन्त्यथ वेशान्तान् पुष्करिणीः स्रवन्तीः सृजते स हि कर्ता ॥10॥

वहाँ (स्वप्नावस्था में) न तो रथ होते हैं, न घोड़े ही होते हैं, मार्ग भी तो नहीं होते। यह आत्मा स्वयं रथ, घोड़े और रास्ते उत्पन्न कर देता है। वहाँ स्वप्नावस्था में न तो आनंद होते हैं, न मोद और प्रमोद ही होता है। पर आत्मा स्वयं आनन्द और मोद को उत्पन्न कर देता है। उस स्वप्नावस्था में तालाब, सरोवर या नदी जैसा कुछ भी नहीं होता, परन्तु आत्मा ही तालाबों, सरोवरों और नदियों को पैदा कर देता है।

तदेते श्लोका भवन्ति।
स्वप्नेन शारीरमभिप्रहत्याऽसुप्तः सुप्तानभिचाकशीति।
शुक्रमादाय पुनरेति स्थानꣳ हिरण्मयः पुरुष एकहꣳसः ॥11॥

इस विषय में ये श्लोक हैं—स्वप्न द्वारा शरीर को निश्चेष्ट करके स्वयं असुप्त रहकर यह आत्मा सोए हुए सब पदार्थों को प्रकाशित कर देता है। फिर शुद्ध इन्द्रियमात्रारूप को लेकर अपने स्थान में आ जाता है। यह आत्मा तेजस्वी है, अकेला है और अमर है।

प्राणेन रक्षन्नवरं कुलायं बहिष्कुलायादमृतश्चरित्वा।
स ईयतेऽमृतो यत्र कामꣳहिरण्मयः पुरुष एकहꣳसः ॥12॥

यह अमर, तेजस्वी आत्मा अकेला ही घूमता है। यह प्राण से निम्न कोटि के घोंसले जैसे शरीर की रक्षा करता है। और स्वयं घोसले से बाहर चलकर घूमने जाया करता है। वह स्वयं अमर है और अपनी इच्छानुसार घूमता-फिरता है।

स्वप्नान्त उच्चावचमीयमानो रूपाणि देवः कुरुते बहूनि।
उतेव स्त्रीभिः सह मोदमानो जक्षदुतेवापि भयानि पश्यन् ॥13॥

स्वप्नावस्था में वह आत्मा उच्च-नीच स्थितियों को प्राप्त करता है, और अनेक रूप धारण करता है। कभी स्त्रियों के साथ आमोद करता है, कभी हँसता है तो कभी भयजनक दृश्य देखता है।

आराममस्य पश्यन्ति न तं पश्यति कश्चनेति तं नायतं बोधयेदित्याहुः। दुर्भिषज्यꣳहास्मै भवति यमेष न प्रतिपद्यतेऽथो खल्वाहुर्जागरितदेश एवास्यैष इति यानि ह्येव जाग्रत्पश्यति तानि सुप्त इत्यत्रायं पुरुषः स्वयं-ज्योतिर्भवति सोऽहं भगवते सहस्रं ददाम्यत ऊर्ध्वं विमोक्षाय ब्रूहीति ॥14॥

"लोग इसकी क्रीडाओं को ही देखते हैं, उस खुद को नहीं। इसलिए कहते हैं कि सोए हुए को (एकदम) जगाना नहीं चाहिए। क्योंकि आत्मा यदि शरीर में वापस न लौटे, तो उसकी चिकित्सा बड़ी कठिन हो जाती है। कुछ लोग कहते हैं कि जाग्रत् अवस्था ही स्वप्नावस्था है। क्योंकि मनुष्य जब जागता होता है और जिन पदार्थों को देखता है, उन्हीं पदार्थों को वह स्वप्नावस्था में भी देखता है। परन्तु, ऐसा कहना ठीक नहीं। क्योंकि स्वप्नावस्था में तो आत्मा स्वयं ज्योतिरूप बनकर प्रकाशित होता है। भगवन्! मैं आपको हजार गायें देता हूँ। मोक्ष के विषय में मुझे और भी कहिये"—ऐसा जनक ने कहा।

स वा एष एतस्मिन्सम्प्रसादे रत्वा चरित्वा दृष्ट्वैव पुण्यं च पापं च पुनः प्रतिन्यायं प्रतियोन्याद्रवति स्वप्नायैव स यत्तत्र किंचित्पश्यत्यनन्वागत-स्तेन भवत्यसङ्गो ह्ययं पुरुष इत्येवमेवैतद्याज्ञवल्क्य सोऽहं भगवते सहस्रं ददाम्यत ऊर्ध्वं विमोक्षायैव ब्रूहीति ॥15॥

याज्ञवल्क्य बोले—"यह आत्मा सुषुप्तावस्था में रमण करता है, चलता-फिरता है, अच्छे-बुरे दृश्य देखता है, और फिर जैसे आया था, वैसे ही स्वप्नावस्था में वापस लौट जाता है। उस सुषुप्ति अवस्था में उसने जो कुछ देखा होता है, उससे वह लिप्त नहीं होता, क्योंकि उसे आसक्ति जैसा कुछ नहीं होता"। तब जनक बोले—"हे याज्ञवल्क्य! "वह ऐसा ही है। मैं आपको और हजार गायें देता हूँ, इससे आगे मोक्ष के विषय में और भी कहिए।"

स वा एष एतस्मिन्स्वप्ने रत्वा चरित्वा दृष्ट्वैव पुण्यं च पापं च पुनः प्रतिन्यायं प्रतियोन्याद्रवति बुद्धान्तायैव स यत्तत्र किंचित्पश्यत्यनन्वा-गतस्तेन भवत्सङ्गो ह्ययं पुरुष इत्येवमेवैतद्याज्ञवल्क्यं सोऽहं भगवते सहस्रं ददाम्यत ऊर्ध्वं विमोक्षायैव ब्रूहीति ॥16॥

याज्ञवल्क्य बोले—"यह आत्मा इस स्वप्नावस्था में रमण करता है, चलता-फिरता है, अच्छे-बुरे दृश्य देखता है, फिर जैसे जहाँ से आया था, वहाँ जाग्रत् दशा में वापस चला जाता है। स्वप्नावस्था में उसने जो कुछ देखा होता है, उससे वह लिप्त नहीं होता। क्योंकि उसे आसक्ति जैसा कुछ है ही नहीं।" जनक बोले—"ठीक ही है भगवन्! मैं आपको और हजार गायें देता हूँ। मोक्ष के विषय में मुझे और भी कहिए।"

स वा एष एतस्मिन्बुद्धान्ते रत्वा चरित्वा दृष्ट्वैव पुण्यं च पापं च पुनः प्रतिन्यायं प्रतियोन्याद्रवति स्वप्नान्तायैव ॥17॥

याज्ञवल्क्य ने कहा—"यह आत्मा जाग्रत् दशा में रमण करता है, घूमता-फिरता है, अच्छे-बुरे दृश्य देखता है और फिर से जहाँ से जैसे आया था, वहीं स्वप्नदशा में वापिस चला जाता है।

तद्यथा महामत्स्य उभे कूलेऽनुसंचरति पूर्वं चापरं चैवमेवायं पुरुष एतावुभावन्तावनुसंचरति स्वप्नान्तं च बुद्धान्तं च ॥18॥

जिस प्रकार एक महामत्स्य (बड़ा मगर) नदी के दोनों तीरों पर घूमा करता है, वह इस पार भी जाता है और उस पार भी जाता है, वैसे ही यह आत्मा स्वप्नावस्था और जाग्रत् अवस्था—इन दोनों अवस्थाओं में घूमता रहता है।

तद्यथास्मिन्नाकाशे श्येनो वा सुपर्णो वा विपरिपत्य श्रान्तः संहत्य पक्षौ संलयायैव ध्रियत एवमेवायं पुरुष एतस्मा अन्ताय धावति यत्र सुप्तो न कंचन कामं कामयते न कंचन स्वप्नं पश्यति ॥19॥

जैसे बाज अथवा गरुड आकाश में उड़-उड़कर थक जाता है और फिर पंख फैलाकर अपने घोंसले की ओर जाता है, उसी तरह यह आत्मा भी उस स्थान पर दौड़ जाता है कि जहाँ सो जाने के बाद उसे कोई चिन्ता नहीं रहती या कोई इच्छा भी नहीं होती।

ता वा अस्यैता हिता नाम नाड्यो यथा केशः सहस्रधा भिन्नस्ताव-ताणिम्ना तिष्ठन्ति शुक्लस्य नीलस्य पिङ्गलस्य हरितस्य लोहितस्य पूर्णा अथ यत्रैनं घ्नन्तीव जिनन्तीव हस्तीव विच्छाययति गर्तमिव पतति यदेव जाग्रद्भयं पश्यति तदत्राविद्यया मन्यतेऽथ यत्र देव इव राजेवाहमेवेदं सर्वोऽस्मीति मन्यते सोऽस्य परमो लोकः ॥20॥

इस पुरुष की ये 'हिता' नाम की नाड़ियाँ केश सदृश हजार भाग में बँटी हों, इतनी सूक्ष्म हैं, और सफेद, आसमानी, पीले, हरित और लाल रंग के रसों से भरी हुई है। आत्मा को जब ऐसा लगता है कि कोई उसे मार डालता है, कोई उसे जीत लेता है, हाथी उसके पीछे पड़ा है, किसी खड्डे में वह गिर पड़ा है, वह जाग्रत् में देखे हुए सभी भय स्वप्न में अविद्या के कारण देखता है। जब उसे लगता है कि मैं देव हूँ, मैं राजा हूँ तब वह उसका परमलोक हो जाता है।

तद्वा अस्यैतदतिच्छन्दा अपहतपाप्माऽभयं रूपं तद्यथा प्रियया स्त्रिया सम्परिष्वक्तो न बाह्यं किंचन वेद नान्तरमेवमेवायं पुरुषः प्राज्ञेनात्मना सम्परिष्वक्तो न बाह्यं किंचन वेद नान्तरं तद्वा अस्यैतदाप्तकाममात्म-काममकामं रूपं शोकान्तरम् ॥21॥

वह उसका कामरहित, पापरहित और अभय रूप है। जैसे अपनी प्रिय भार्या का गाढ आलिंगन करनेवाले पुरुष को बाहर का या अन्दर का कुछ भी ज्ञान नहीं होता, वैसे ही यह आत्मा जब परमात्मा से आलिंगित होता है, तब उसे भी कुछ बाहर का या भीतर का ज्ञान नहीं होता। यह उसका आप्तकाम, आत्मकाम, अकाम और शोकरहित रूप है।

अत्र पिताऽपिता भवति माताऽमाता लोका अलोका देवा अदेवा वेदा अवेदा अत्र स्तेनोऽस्तेनो भवति भ्रूणहाऽभ्रूणहा चाण्डालोऽचाण्डालः पौल्कसोऽपौल्कसः श्रमणोऽश्रमणस्तापसोऽतापसोऽनन्वागतं पुण्येनान-न्वागतं पापेन तीर्णो हि तदा सर्वाञ्छोकान्हृदयस्य भवति ॥22॥

इस (सुषुप्तावस्था में) पिता पिता नहीं रहता, माता माता नहीं रहती, लोक लोक नहीं रहते, देव देव नहीं रहते, वेद वेद नहीं रहते, चोर चोर नहीं रहता, गर्भहत्यारा गर्भहत्यारा नहीं रहता, चाण्डाल चाण्डाल नहीं रहता, पौल्कस (शूद्र पिता और क्षत्रियाणी से पैदा हुआ पुत्र) पौल्कस नहीं रहता, श्रमण श्रमण नहीं रहता, तपस्वी तपस्वी नहीं रहता, उस स्थिति में उसे पुण्य भी नहीं लगता और पाप भी नहीं लगता। तब वह हृदय के सभी शोकों का अतिक्रमण कर जाता है।

यद्वै तन्न पश्यति पश्यन्वै तन्न पश्यति न हि द्रष्टुर्दृष्टेर्विपरिलोपो विद्यते-ऽविनाशित्वान्न तु तद्द्वितीयमस्ति ततोऽन्यद्विभक्तं यत्पश्येत् ॥23॥

'वह देखता नहीं'—ऐसा लगता है, पर वास्तव में वह देखते हुए भी नहीं देखता। क्योंकि द्रष्टा की दृष्टि का कभी नाश नहीं होता, क्योंकि वह अविनाशी है इससे अलग कोई चीज है ही नहीं, कि जिसे देखा जाए।

यद्वै तन्न जिघ्रति जिघ्रन्वै तन्न जिघ्रति न हि घ्रातुर्घ्रातेर्विपरिलोपो विद्यते-ऽविनाशित्वान्नतु तद्द्वितीयमस्ति ततोन्यद्विभक्तं यज्जिघ्रेत् ॥24॥

'वह सूँघता नहीं'—ऐसा लगता है, परन्तु वास्तव में वह सूँघता हुआ भी नहीं सूँघता। सूँघनेवाले की सूँघने की शक्ति का कभी लोप नहीं होता। क्योंकि वह अविनाशी है। परन्तु उससे अन्य कोई है ही नहीं, कि जिसे सूँघा जाए।

यद्वै तन्न रसयते रसयन्वै तन्न रसयते नहि रसयितू रसयतेर्विपरिलोपो विद्यतेऽविनाशित्वान्न तु तद्द्वितीयमस्ति ततोऽन्यद्विभक्तं यद्र-सयेत् ॥25॥

'वह रसास्वाद नहीं करता'—ऐसा लगता है, पर वास्तव में वह स्वाद लेता हुआ भी स्वाद नहीं लेता। क्योंकि वह अविनाशी है। परन्तु, उससे अलग कोई दूसरा है ही नहीं, कि जिसका रसास्वाद किया जाए।

यद्वै तन्न वदति वदन्वै तन्न वदति न हि वक्तुर्वक्तेर्विपरिलोपो विद्यते-ऽविनाशित्वान्न तु तद्द्वितीयमस्ति ततोऽन्यद्विभक्तं यद्वदेत् ॥26॥

'वह बोलता नहीं'—ऐसा लगता है, पर वास्तव में वह बोलते हुए भी नहीं बोलता। वक्ता की बोलने की शक्ति का नाश नहा होता क्योंकि वह तो अविनाशी है। परन्तु उससे अलग अन्य कोई है ही नहीं कि जिससे वह बोले।

यद्वै तन्न शृणोति शृण्वन्वै तन्न शृणोति न हि श्रोतुः श्रुतेर्विपरिलोपो विद्यतेऽविनाशित्वान्न तु तद्द्वितीयमस्ति ततोऽन्यद्विभक्तं यच्छृणु-यात् ॥27॥

'वह सुनता नहीं'—ऐसा लगता है, पर वास्तव में वह सुनते हुए भी नहीं सुनता। श्रोता की श्रवण-शक्ति का नाश नहीं होता, क्योंकि वह अविनाशी है। परन्तु जब उससे अलग दूसरा है कोई है ही नहीं, कि जिसे वह सुने।

यद्वै तन्न मनुते मन्वानो वै तन्न मनुते न हि मन्तुर्मतेर्विपरिलोपो विद्यते-ऽविनाशित्वान्न तु तद्द्वितीयमस्ति ततोऽन्यद्विभक्तं यन्मन्वीत ॥28॥

'वह सोचता नहीं'—ऐसा लगता है, पर वास्तव में वह सोचते हुए भी नहीं सोचता। सोचनेवाले की सोचने की शक्ति का नाश नहीं होता क्योंकि वह अविनाशी है। परन्तु वहाँ जब उसके सिवा दूसरा कोई अलग है ही नहीं कि जिसे वह सोचे।

यद्वै तन्न स्पृशति स्पृशन्वै तन्न स्पृशति न हि स्प्रष्टुः स्पृष्टेर्विपरिलोपो विद्यतेऽविनाशित्वान्न तु तद्द्वितीयमस्ति ततोऽन्यद्विभक्तं यत्स्पृ-शेत् ॥29॥

'वह स्पर्श नहीं करता' —ऐसा लगता है । पर वास्तव में वह स्पर्श करते हुए भी स्पर्श नहीं करता क्योंकि स्पर्श करनेवाले की स्पर्श शक्ति का कभी लोप नहीं होता, क्योंकि वह अविनाशी है परन्तु, उससे अलग दूसरा कोई है ही नहीं कि जिसका वह स्पर्श करे ।

यद्वै तन्न विजानाति विजानन्वै तन्न विजानाति न हि विज्ञातुर्विज्ञातेर्विपरिलोपो विद्यतेऽविनाशित्वान्न तु तद्द्वितीयमस्ति ततोऽन्यद्विभक्तं यद्विजानीयात् ॥30॥

'वह जानता नहीं'—ऐसा लगता है, पर वास्तव में वह जानते हुए भी नहीं जानता । विज्ञाता की विज्ञापित (ज्ञान) का कभी लोप नहीं होता, क्योंकि वह अविनाशी है । परन्तु उससे अलग दूसरा कोई है ही नहीं कि जिसे वह जाने ।

यत्र वान्यदिव स्यात्तत्रान्योऽन्यत्पश्येदन्योऽन्यज्जिघ्रेदन्योऽन्यद् रसयेदन्योन्यद्वदेदन्योऽन्यच्छृणुयादन्योऽन्यमन्वीतान्योऽन्यत्स्पृशेदन्योऽन्यद् विजानीयात् ॥31॥

जहाँ (जाग्रत् और स्वप्न में) कोई दूसरा हो तभी तो एक-दूसरे को देखता है, एक-दूसरे को सूँघता है, एक-दूसरे का स्वाद लेता है, एक-दूसरे से बोलता है, एक-दूसरे को सुनता है, एक-दूसरे का विचार करता है, एक-दूसरे का स्पर्श करता है, एक-दूसरे को जानता है ।

सलिल एको द्रष्टाऽद्वैतो भवत्येष ब्रह्मलोकः सम्राडिति हैनमनुशशास याज्ञवल्क्य एषास्य परमा गतिरेषास्य परमा सम्पदेषोऽस्य परमो लोक एषोऽस्य परम आनन्द एतस्यैवानन्दस्यान्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्ति ॥32॥

"यह आत्मा जल जैसा शुद्ध, एक, साक्षीरूप, अद्वितीय है । यही (ऐसा ही) ब्रह्मलोक है । हे सम्राट् !"—ऐसा याज्ञवल्क्य ने उपदेश दिया । यही मनुष्य की सर्वोच्च गति है, यही सबसे बड़ी सम्पदा है, यही उच्चतम लोक है, यही उसका परम आनन्द है । अन्य प्राणी इसी परमानन्द की एक मात्रा से ही जीवन जी रहे हैं ।

स यो मनुष्याणाः राद्धः समृद्धो भवत्यन्येषामधिपतिः सर्वैर्मानुष्यकैर्भोगैः संपन्नतमः स मनुष्याणां परम आनन्दोऽथ ये शतं मनुष्याणामानन्दाः स एकः पितॄणां जितलोकानामानन्दोऽथ ये शतं पितॄणां जितलोकानामानन्दाः स एको गन्धर्वलोक आनन्दोऽथ ये शतं गन्धर्वलोक आनन्दाः स एकः कर्मदेवानामानन्दो ये कर्मणा देवत्वमभिसंपद्यन्तेऽथ ये शतं कर्मदेवानामानन्दाः स एक आजानदेवानामानन्दो यश्च श्रोत्रियोऽवृजिनोऽकामहतोऽथ ये शतमाजानदेवानामानन्दाः स एकः प्रजापतिलोक आनन्दो यश्च श्रोत्रियोऽवृजिनोऽकामहतोऽथ ये शतं प्रजापतिलोक आनन्दाः स एको ब्रह्मलोक आनन्दो यश्च श्रोत्रियोऽवृजिनोऽकामहतोऽथैष एव परम आनन्द एष ब्रह्मलोकः सम्राडिति होवाच याज्ञवल्क्यः सोऽहं भगवते सहस्त्रं ददाम्यत ऊर्ध्वं विमोक्षायैव ब्रूहीत्यत्र ह याज्ञवल्क्यो बिभयांचकार मेधावी राजा सर्वेभ्यो मान्तेभ्य उदरौत्सीदिति ॥33॥

मनुष्यों में जो किसी प्रकार से पंगु न हो, धनिक हो, दूसरों पर स्वामित्व रखता हो, विश्व का अधिकतम वैभवशाली हो, वह मनुष्य का श्रेष्ठ आनन्द है । ऐसे मनुष्य के आनन्द से सौ गुना एक आनन्द श्राद्ध आदि से पितृलोक को जीतने वाले पितृओं का होता है । और पितृलोक को जीतनेवाले पितृओं के ऐसे सौ गुने आनन्द का एक आनन्द गन्धर्वलोक का होता है । गन्धर्वलोक के उस एक आनन्द से सौ गुना एक आनन्द कर्मलोक का लेता है । वे कर्मों से देवत्व प्राप्त किए हुए हैं । उन कर्म देवताओं के एक आनन्द से सौ गुना एक आनन्द जन्मजात देवलोगों का होता है । और जो मनुष्य वेदाभ्यासी, निष्पाप और वासनारहित हो उसका भी यही लोक होता है । ऐसे देवों के आनन्द से सौ गुना आनन्द प्रजापति लोक का तथा वेदाभ्यासी, निष्पाप और वासनारहित का भी होता है । ऐसे प्रजापति लोक के आनन्द से सौ गुना आनन्द ब्रह्मलोक का तथा वेदाभ्यासी, निष्पाप, वासनारहित मनुष्यों का भी होता है । ऐसे प्रजापतिलोक के एक आनन्द से सौ गुना आनन्द ब्रह्मलोक का होता है । तथा जो मनुष्य वेदाभ्यासी, निष्पाप तथा वासनारहित हो, उसका भी यही लोक होता है । ब्रह्मलोक का यह आनन्द सबसे बड़ा है ।" तब जनक ने कहा—"मैं आपको हजार गायें देता हूँ । हे भगवन् ! मोक्ष के विषय में आगे कुछ उपदेश दीजिए ।" तब याज्ञवल्क्य को भय लगा कि यह राजा बड़ा मेधावी (बुद्धिशाली) है, जिसने मेरे सारे ज्ञान को अपने सभी प्रश्नों के उत्तर के माध्यम से प्राप्त कर लेने तक के लिए मुझे रोक लिया है ।

स वा एष एतस्मिन्स्वप्नान्ते रत्वा चरित्वा दृष्ट्वैव पुण्यं च पापं च पुनः प्रतिन्यायं प्रतियोन्याद्रवति बुद्धान्तायैव ॥34॥

याज्ञवल्क्य ने कहा—"वह यह पुरुष (आत्मा) इस स्वप्नावस्था में रमण (विहार) करके और अच्छा-बुरा देखकर फिर से जिस तरह आया था, उसी तरह से यथास्थान अर्थात् जाग्रत्दशा में वापिस लौटता है ।

तद्यथाऽनः सुसमाहितमुत्सर्जद्यायादेवमेवायः शारीर आत्मा प्राज्ञेनात्मनाऽन्वारूढ उत्सर्जन्याति यत्रैतदूर्ध्वोच्छ्वासी भवति ॥35॥

जैसे लोकव्यवहार में बोझ से लदी हुई गाड़ी जोर से आवाज करती हुई ही चलती है, वैसे ही यह शरीर में अवस्थित आत्मा (लिङ्गदेह रूप आत्मा), उस स्वयंप्रकाश रूप आत्मा से (चिदाभास से) व्याप्त हुआ ऊर्ध्व साँस लेते हुए (आवाज करते हुए) चलता है ।

स यत्रायमणिमानं न्येति जरया वोपतपतावाणिमानं निगच्छति तद्यथाम्रं वौदुम्बरं वा पिप्पलं वा बन्धनात्प्रमुच्यत एवमेवायं पुरुष एभ्योऽङ्गेभ्यः संप्रमुच्य पुनः प्रतिन्यायं प्रतियोन्याद्रवति प्राणायैव ॥36॥

यह देह जिस समय वृद्धावस्था आदि से कृश हो जाता है, तब वह आम, उदुम्बर या पिप्पल के फल की तरह झड़ जाता है, उसी तरह आत्मा शरीर के इन अंगों से बिछुड़ जाता है और फिर से जहाँ से जैसे आया था, उसी तरह यथाक्रम अन्य देह में चला जाता है ।

तद्यथा राजानमायान्तमुग्राः प्रत्येनसः सूतग्रामण्योऽन्नैः पानैरावसथैः प्रतिकल्पन्तेऽयमायात्ययमागच्छतीत्येवः हैवंविदः सर्वाणि भूतानि प्रतिकल्पन्त इदं ब्रह्मायातीदमागच्छतीति ॥37॥

जब राजा आता हो तब जैसे उग्रकर्मा और पापकर्मी लोग, सूतजाति के लोग, गाँव के नेता लोग, अन्न, पानी, निवासादि को तैयार रखकर राह देखते हैं, और कहते हैं कि—"यह आता है, यह

आता है, उसी तरह इस ज्ञानी मनुष्य के लिए भी सभी प्राणी कहते हैं कि—"यह वह आता है, यह वह आता है"।

तद्यथा राजानं प्रयियासन्तमुग्राः प्रत्येनसः सूतग्रामण्योऽभिसमायन्त्येव-मेवेममात्मानमन्तकाले सर्वे प्राणा अभिसमायन्ति यत्रैतदूर्ध्वोच्छ्वासी भवति ॥38॥

इति तृतीयं ब्राह्मणम् ॥

जिस प्रकार राजा के कहीं जाते समय सब उग्रकर्मी, पापकर्मी और ग्रामीण नेता लोग और सूत जाति के लोग एकत्रित हो जाते हैं, उसी प्रकार अन्तकाल में जब मनुष्य ऊपर की श्वास लेता है, तब सभी इन्द्रियाँ इस आत्मा के पास इकट्ठा होकर आती हैं।

(यहाँ तीसरा ब्राह्मण पूरा हुआ।)

चतुर्थं ब्राह्मणम्

स यत्रायमात्माऽबल्यं न्येत्य संमोहमिव न्येत्यथैनमेते प्राणा अभिसमा-यन्ति स एतास्तेजोमात्राः समभ्याददानो हृदयमेवान्ववक्रामति स यत्रैष चाक्षुषः पुरुषः पराङ् पर्यावर्ततेऽथारूपज्ञो भवति ॥1॥

वह यह आत्मा जब दुर्बलता को प्राप्त कर मानो संमूढ हुआ हो, ऐसा होता है, तब शरीरगत ये वाणी आदि सभी प्राण (इन्द्रियाँ) उसके साथ मिलकर वह उन प्राणों से (इन्द्रियों में से) तेज का अंश खींच लेता है और हृदय की ओर गमन करता है। जब आँख का तेज चला जाता है, तब मनुष्य रूप नहीं देख पाता।

एकीभवति न पश्यतीत्याहुरेकीभवति न जिघ्रतीत्याहुरेकीभवति न रसयत इत्याहुरेकीभवति न वदतीत्याहुरेकीभवति न शृणोतीत्याहुरेकीभवति न मनुत इत्याहुरेकीभवति न स्पृशतीत्याहुरेकीभवति न विजानाती-त्याहुस्तस्य हैतस्य हृदयस्याग्रं प्रद्योतते तेन प्रद्योतेनैष आत्मा निष्क्रामति चक्षुष्टो वा मूर्ध्नो वाऽन्येभ्यो वा शरीरदेशेभ्यस्तमुत्क्रामन्तं प्राणोऽनू-त्क्रामति प्राणमनूत्क्रामन्तः सर्वे प्राणा अनूत्क्रामन्ति सविज्ञानो भवति सविज्ञानमेवान्ववक्रामति तं विद्याकर्मणी समन्वारभेते पूर्वप्रज्ञा च ॥2॥

चक्षु का चेतन आत्मा से एकीकृत जाने पर लोग कहते हैं कि यह देखता नहीं है। नासिका का चेतन आत्मा के साथ एकरूप होने पर लोग कहते हैं, यह सूँघता नहीं है। जिह्वा का चेतन आत्मा से एकरूप होने पर यह स्वाद नहीं लेता, ऐसा कहते हैं। मुख का चेतन आत्मा से एकरूप होने पर कहते हैं कि यह बोलता नहीं है। कान का चेतन आत्मा से एकरूप होने पर कहते हैं कि यह सुनता नहीं है। मन का चेतन आत्मा से एकरूप हो जाने पर कहते हैं कि यह सोचता नहीं है। त्वगिन्द्रिय का चेतन आत्मा से एकरूप होने पर कहते हैं कि यह स्पर्श नहीं करता है। बुद्धि का चेतन आत्मा से एकरूप होने पर कहते हैं कि वह जानता नहीं है। उस मनुष्य के हृदय का अग्रभाग प्रकाश से जगमगाता है। उस प्रकाश के द्वारा ही वह आत्मा नेत्र, मस्तक या शरीर के किसी भाग से बाहर निकलता है। उसके साथ प्राण भी बाहर निकलता है। उसके बाहर निकलते ही उसके साथ प्राण (इन्द्रियाँ) भी बाहर निकल

आती हैं। और इस समय यह आत्मा विशेष ज्ञान से युक्त हो जाता है और विज्ञानयुक्त प्रदेश में ही जाता है। उस समय उसके साथ विद्या और कर्म तथा पूर्व प्रज्ञा (पूर्वानुभूत विषयों की वासनाएँ) भी जाती हैं।

तद्यथा तृणजलायुका तृणस्यान्तं गत्वाऽन्यमाक्रममाक्रम्यात्मानमुपसंहरत्येवमेवायमात्मेदं शरीरं निहत्याऽविद्यां गमयित्वाऽन्यमाक्रममा-क्रम्यात्मानमुपसंहरति ॥3॥

जैसे घास के तिनके पर (चलने वाला) जोंक नामक कीड़ा उस तिनके की नोक पर जाने के बाद दूसरे तृणों का अवलम्बन लेने के लिए अपना अंग सिकोड़ता है, वैसे ही यह आत्मा भी इस शरीर का आश्रय छोड़कर इस शरीर को अविद्या को प्राप्त करवा कर अर्थात् अचेतन बनाकर दूसरे नवीन शरीर का आश्रय लेकर उसी में अपना उपसंहार कर देता है अर्थात् अपना आत्मभाव करने लगता है।

तद्यथा पेशस्कारी पेशसो मात्रामुपादायान्यन्नवतरं कल्याणतरं रूपं तनुते एवमेवायमात्मेदं शरीरं निहत्याऽविद्यां गमयित्वाऽन्यन्नवतरं कल्याणतरं रूपं कुरुते पित्र्यं वा गान्धर्वं वा दैवं वा प्राजापत्यं वा ब्राह्मं वाऽन्येषां वा भूतानाम् ॥4॥

जैसे कोई सुनार सोने के टुकड़े को लेकर अन्य नवतर और अधिक सुन्दर आकार की रचना करता है, वैसे ही यह आत्मा इस शरीर को छोड़कर, उसे अविद्या को प्राप्त करवा कर (अचेतन बनाकर) अन्य नवीन और अधिक सुन्दर शरीर को बनाता है। वह शरीर या तो पितृओं का-सा, या गन्धर्वों का-सा, वा देवों का-सा, या प्रजापति का-सा, ब्रह्मा का-सा अथवा सभी प्राणियों जैसा होता है।

स वा अयमात्मा ब्रह्म विज्ञानमयो मनोमयः प्राणमयश्चक्षुर्मयः श्रोत्रमयः पृथिवीमय आपोमयो वायुमय आकाशमयस्तेजोमयोऽतेजोमयः काममयोऽकाममयः क्रोधमयोऽक्रोधमयो धर्ममयोऽधर्ममयः सर्वम-यस्तद्यदेतदिदंमयोऽदोमय इति यथाकारी यथाचारी तथा भवति साधुकारी साधुर्भवति पापकारी पापो भवति पुण्यः पुण्येन कर्मणा भवति पापः पापेन। अथो खल्वाहुः काममय एवायं पुरुष इति स यथाकामो भवति तत्क्रतुर्भवति यत्क्रतुर्भवति तत्कर्म कुरुते यत्कर्म कुरुते तदभिसम्पद्यते ॥5॥

वह यह आत्मा ब्रह्म है। वह विज्ञानमय है, मनोमय है, प्राणमय है, चक्षुर्मय है, श्रोत्रमय है, पृथ्वीमय है, जलमय है, वायुमय है, आकाशमय है, तेजोमय है, अतेजोमय (अन्धकारमय) भी है। वह काममय, अकाममय, क्रोधमय, अक्रोधमय, धर्ममय और अधर्ममय और सर्वमय है। यह जो कुछ परोक्ष है, प्रत्यक्ष है वह सब कुछ है। वह जैसा कर्म और आचरण करता है, वैसा होता है। शुभ कर्म करनेवाला शुभ होता है और पाप कर्म करनेवाला पापी होता है। पुरुष पुण्यकर्म से पुण्यशाली और पापकर्म से पापी होता है। कुछ लोग कहते हैं कि यह पुरुष काममय ही है। वह जैसी कामनावाला होता है, वैसे ही संकल्पवाला होता है। और जैसे संकल्पवाला होता है, वैसे ही वह कर्म करता है। और जैसे कर्म वह करता है, वैसा ही फल उसको प्राप्त होता है।

तदेष श्लोको भवति—
तदेव सक्तः सहकर्मणैति लिङ्गं मनो यत्र निषक्तमस्य ।
प्राप्यान्तं कर्मणस्तस्य यत्किंचेह करोत्ययम् ॥
तस्माल्लोकात्पुनरैत्यस्मै लोकाय कर्मण इति नु कामयमानोऽथाकामय-मानो योऽकामो निष्काम आप्तकाम आत्मकामो न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति ब्रह्मैव सन्ब्रह्माप्येति ॥6॥

इस विषय में यह मन्त्र है—इसका लिंग (मन) जिसमें अति आसक्त होता है, उसी फल की अभिलाषावाला होकर ही वह काम करता है। इस लोक में जो कुछ भी करता है, उस कर्म का फल परलोक में प्राप्त करके (भोगकर) फिर से कर्म करने के लिए इस लोक में आ जाता है। कर्मफलभोग की कामना करने वालों में निश्चितरूप से आवागमन का चक्र चलता रहता है। परन्तु, जिस पुरुष में कामना ही नहीं होती, जिसने अपनी सारी कामनाएँ छोड़ दी हैं, जिसकी कामनाएँ पूर्णतः पूरी हो चुकी हैं, जिसको आत्मप्राप्ति के अतिरिक्त कोई अन्य कामना नहीं है, उसके प्राण शरीर को छोड़कर और कहीं नहीं जाते। वह ब्रह्मस्वरूप होकर ब्रह्म में लीन हो जाता है।

तदेष श्लोको भवति—
यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि श्रिताः ।
अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुत इति ॥
तद्यथाऽहिनिर्ल्वयनी वल्मीके मृता प्रत्यस्ता शयीतैवमेवेदꣳ शरीरꣳ शेतेऽथायमशरीरोऽमृतः प्राणो ब्रह्मैव तेज एव सोऽहं भगवते सहस्रं ददामीति होवाच जनको वैदेहः ॥7॥

उसी अर्थ में यह श्लोक है—"जब मनुष्य के हृदय में स्थित सारी कामनाएँ छूट जाती हैं, तब मरणशील मानव अमर हो जाता है। और इस देह के होते हुए भी ब्रह्म को प्राप्त कर लेता है।" जैसे साँप द्वारा उतार दी गई निर्जीव त्वचा बिल में पड़ी रहती है, वैसे यह शरीर भी पड़ा रहता है। पर शरीर से मुक्त हुआ अमर आत्मा तो ब्रह्मरूप ही है, वह तेजस्वरूप है।

तदेते श्लोका भवन्ति—
अणुः पन्था विततः पुराणो माꣳस्पृष्टोऽनुवित्तो मयैव ।
तेन धीरा अपियन्ति ब्रह्मविदः स्वर्गं लोकमित ऊर्ध्वं विमुक्ताः ॥8॥

इसके विषय में यह श्लोक है—"इस प्राचीन विशाल मार्ग को जानना कठिन है। मैंने उसे पकड़ा है, मुझे वह प्राप्त हुआ है। ब्रह्म को जाननेवाले ऋषि भी उसी रास्ते से स्वर्ग तथा उसके भी पार (ऊर्ध्व) जाते हैं।

तस्मिञ्छुक्लमुत नीलमाहुः पिङ्गलꣳ हरितं लोहितं च ।
एष पन्था ब्रह्मणा हानुवित्तस्तेनैति ब्रह्मवित्पुण्यकृत्तैजसश्च ॥9॥

कुछ लोग कहते हैं कि उसमें श्वेत ब्रह्म है, कुछ कहते हैं वह आसमानी है, कुछ कहते हैं वह पीला है, कुछ कहते हैं वह नीलवर्ण है, कुछ कहते है वह हरित वर्ण है, कुछ कहते हैं वह लाल वर्ण है। किसी ब्रह्मविद् ने वह रास्ता खोज निकाला है। उसी मार्ग पर ब्रह्मज्ञ, पुण्यशाली और तेजस्वी लोग जाते हैं।

अन्धं तमः प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते ।
ततो भूय इव ते तमो य उ विद्यायाꣳ रताः ॥10॥

जो लोग अविद्या की उपासना (कर्मोपासना) करते हैं, वे घोरतमस् में (भयंकर अज्ञान में) जाते हैं और जो विद्या की ही उपासना (द्वैतमूलक उपासना पद्धति) में ही होते हैं (अथवा केवल विधिविधानों में ही रत होते हैं) वे तो इससे भी ज्यादा अन्धकार में प्रवेश करते हैं।

अनन्दा नाम ते लोका अन्धेन तमसावृताः ।
ताꣳस्ते प्रेत्याभिगच्छन्त्यविद्वाꣳसोऽबुधो जनाः ॥11॥

जो 'अनन्द' (असुखकर) नाम के लोक हैं जो कि अदर्शनरूप अन्धकार से घिरे हुए हैं, वहाँ जो ज्ञानरहित हैं, ऐसे आत्मबोधहीन लोग मरने के बाद पहुँचते हैं।

आत्मानं चेद्विजानीयादयमस्मीति पूरुषः ।
किमिच्छन्कस्य कामाय शरीरमनुसंज्वरेत् ॥12॥

जो पुरुष आत्मा को 'यह मैं हूँ'—इस प्रकार विशिष्ट रूप से जान लेता है, तब वह भला क्या चाहता हुआ और कौन-सी कामना के लिए शरीर के लिए संतप्त होगा ?

यस्यानुवित्तः प्रतिबुद्ध आत्माऽस्मिन्संदेह्ये गहने प्रविष्टः ।
स विश्वकृत् स हि सर्वस्य कर्ता तस्य लोकाः स उ लोक एव ॥13॥

इस अनेक संदेहों (स्वार्थों) से भरे गहन (विषम) शरीर में प्रविष्ट आत्मा को जिसने साक्षात्कृत कर लिया है, वह प्रतिबुद्ध (ज्ञानी) हो गया है, वह (अब स्वयं) विश्व का सर्जनहार है, वह सबका कर्ता है। उसको जो लोक मिलता है, वह आत्मा का ही लोक होता है।

इहैव सन्तोऽथ विद्मस्तद्वयं न चेदवेदीर्महती विनष्टिः ।
ये तद्विदुरमृतास्ते भवन्त्यथेतरे दुःखमेवापियन्ति ॥14॥

हम इस शरीर में रहते हुए, उसी काल में यदि आत्मा (ब्रह्म) को जान लें, तब हम कृतार्थ हो जाएँगे। अन्यथा (ऐसा न होने पर) बड़ी हानि होगी। जो लोग उसे जान लेते हैं, वे अमर हो जाते हैं, और दूसरे लोग दुःख को ही प्राप्त करते हैं।

यदैतमनुपश्यत्यात्मानं देवमञ्जसा ।
ईशानं भूतभव्यस्य न ततो विजुगुप्सते ॥15॥

जब भूत और भविष्य के स्वामी इस प्रकाशमान (कर्मफलदाता) आत्मा को मनुष्य साक्षात् देख लेता है (अनुभूति प्राप्त कर लेता है) तब वह अपनी रक्षा करना नहीं चाहता अर्थात् न तो वह किसी से ऊबता है, और न किसी की निन्दा करता है।

यस्मादर्वाक्संवत्सरोऽहोभिः परिवर्तते ।
तद्देवा ज्योतिषां ज्योतिरायुर्होपासतेऽमृतम् ॥16॥

यह संवत्सररूप कालात्मा अहोरात्रादि अवयवों के साथ जिसके पीछे-पीछे घूमता रहता है, ऐसे ज्योतियों के भी ज्योतिस्वरूप इस आत्मा (ब्रह्मतत्त्व) को (सभी) देव 'आयु' के नाम से उपासते हैं। वह ज्योति अमर है।

यस्मिन्पञ्च पञ्चजना आकाशश्च प्रतिष्ठितः ।
तमेव मन्य आत्मानं विद्वान्ब्रह्मामृतोऽमृतम् ॥17॥

जिस ब्रह्म में पाँच 'पञ्चजन' (गंधर्व, देव, पितर, असुर और राक्षस—ये पाँच 'पंचजन हैं, अथवा तो चार ब्राह्मणादि वर्ण और पाँचवाँ निषाद मिलकर पाँच = पाँचों का समूह) और (छठा) आकाश प्रतिष्ठित है उसी को मैं आत्मा मानता हूँ। उस अमर आत्मा को जाननेवाला मैं (स्वयं) ब्रह्म हूँ, अमर हूँ।

प्राणस्य प्राणमुत चक्षुषश्चक्षुरुत श्रोत्रस्य श्रोत्रं मनसो ये मनो विदुः।
ते निचिक्युर्ब्रह्म पुराणमग्र्यम् ॥18॥

वह आत्मा प्राण का भी प्राण और आँख की भी आँख है। वह कान का भी कान और मन का भी मन है। जिन्होंने ऐसा ब्रह्म जाना है, उन्होंने सबसे प्राचीन और सबसे आदि (प्रथम) ब्रह्म को अवश्य पहचान लिया है।

मनसैवानुद्रष्टव्यं नेह नानास्ति किंचन।
मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति ॥19॥

इस ब्रह्म को मन से ही जानना (पहचानना) चाहिए कि यहाँ कुछ अलग-अलग नहीं है, जो यहाँ भेदभाव (अलगाव) देखता है, वह एक मृत्यु के बाद दूसरा, इस प्रकार से मृत्यु को प्राप्त करता ही रहता है।

एकधैवानुद्रष्टव्यमेतदप्रमयं ध्रुवम्।
विरजः पर आकाशादज आत्मा महान्ध्रुवः ॥20॥

वह एक प्रकार से ही (आचार्योपदेश से ही) जाना जा सकता है, वह अन्य प्रमाणों से गम्य नहीं है। वह शाश्वत है, वह शुद्ध है, आकाश से भी परे है, वह महान् है, वही आत्मा परब्रह्म है, वह अविनाशी है।

तमेव धीरो विज्ञाय प्रज्ञां कुर्वीत ब्राह्मणः।
नानुध्यायाद्बहूञ्छब्दान्वाचो विग्लापनꣳ हि तदिति ॥21॥

बुद्धिमान ब्राह्मण को उस आत्मा को जानकर ही ज्ञान प्राप्त करना चाहिए। उसको बहुत शब्दों का अभ्यास नहीं करना चाहिए। क्योंकि वह तो वाणी को थका देनेवाला ही है (वह वाणी का श्रम ही है)।

स वा एष महानज आत्मा योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु य एषोऽन्तर्हृदय आकाशस्तस्मिञ्छेते सर्वस्य वशी सर्वस्येशानः सर्वस्याधिपतिः स न साधुना कर्मणा भूयान्नो एवासाधुना कनीयानेष सर्वेश्वर एष भूताधिपतिरेष भूतपाल एष सेतुर्विधरण एषां लोकानामसम्भेदाय तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसानाशकेनैतमेव विदित्वा मुनिर्भवति एतमेव प्रव्राजिनो लोकमिच्छन्तः प्रव्रजन्ति एतद्ध स्म वैतत्पूर्वे विद्वाꣳसः प्रजां न कामयन्ते किं प्रजया करिष्यामो येषां नोऽयमात्माऽयं लोक इति ते ह स्म पुत्रैषणायाश्च वित्तैषणायाश्च लोकैषणायाश्च व्युत्थायाथ भिक्षाचर्यं चरन्ति या ह्येव पुत्रैषणा सा वित्तैषणा या वित्तैषणा सा लोकैषणोभे ह्येते एषणे एव भवतः। स एष नेति नेत्यात्माऽगृह्यो न हि गृह्यतेऽशीर्यो न हि शीर्यतेऽसङ्गो न हि सज्यते-

ऽसितो न व्यथते न रिष्यत्येतमु हैवैते न तरत इत्यतः पापमकरवमित्यतः कल्याणमकरवमित्युभे उ हैवैष एते तरति नैनं कृताकृते तपतः ॥22॥

यह वह महान् अजन्मा आत्मा जो कि प्राणों में विज्ञानमय है और जो हृदय के भीतर में आकाश है, उसमें रहता है (सोता है), जो सबको वश में रखनेवाला, सब पर शासन चलानेवाला और सबका अधिपति है। वह शुभ कर्म से बड़ा नहीं हो जाता और अशुभ कर्म से छोटा भी नहीं हो जाता है। वह सबका ईश्वर है, वह प्राणीमात्र का पालक है। वह इन लोगों की मर्यादा का भंग न हो जाए, इसलिए उन्हें धारण करनेवाला सेतु है। ब्राह्मण लोग उसे वेदों के अध्ययन के द्वारा, यज्ञ द्वारा, दान द्वारा, तप द्वारा, अनशन द्वारा जानना चाहते हैं। उसी को जानकर मनुष्य मुनि बनता है। उसी को प्राप्त करने की इच्छा रखकर संन्यासी लोग संसार को छोड़कर संन्यास ले लेते हैं। उसका ज्ञान होने से ही पूर्व के ऋषि लोग सन्तानप्राप्ति की इच्छा नहीं रखते थे। (वे सोचते थे कि—) "हमें जो आत्मा मिला है, वही हमारा लोक है (लक्ष्यस्थान है)। तो हम अब संतानप्राप्ति से क्या करेंगे ?" वे पुत्रप्राप्ति की इच्छा, धनप्राप्ति की इच्छा और स्वर्गादि लोकप्राप्ति की इच्छा से मुक्त हो गए थे। और भिक्षा माँगकर निर्वाह करते थे। क्योंकि जो पुत्रप्राप्ति की इच्छा है, वही धनप्राप्ति की इच्छा है। और धनप्राप्ति की इच्छा है, वही लोक (स्वर्गादि) प्राप्ति की इच्छा है, क्योंकि वे दोनों आखिर में हैं तो इच्छाएँ ही न ! यह आत्मा 'नेति नेति' कहकर ही बताया जा सकता है। क्योंकि यह पकड़ने योग्य नहीं है इसलिए नहीं पकड़ा जाता। वह अक्षय है इसलिए क्षीण नहीं होता। वह चिपक नहीं जाता क्योंकि असंग है। वह बन्धन में पड़ा नहीं इसलिए उसे कोई दुःख नहीं है। वह अविनाशी है। इस आत्मा को पापपुण्य—हर्ष-शोकादि द्वन्द्व प्रभावित नहीं करते। इसलिए "मैंने पाप किया है या मैंने पुण्य किया है"—इन दोनों बातों को वह पार कर जाता है। उसको (इस प्रकार जाननेवाले आत्मज्ञानी को) 'यह किया अथवा यह नहीं किया' का दुःख नहीं होता।

तदेतदृचाभ्युक्तम्। एष नित्यो महिमा ब्राह्मणस्य न वर्धते कर्मणा नो कनीयान्। तस्यैव स्यात्पदवित्तं विदित्वा न लिप्यते कर्मणा पापकेनेति। तस्मादेवंविच्छान्तो दान्त उपरतस्तितिक्षुः समाहितो भूत्वाऽत्मन्येवात्मानं पश्यति सर्वमात्मानं पश्यति नैनं पाप्मा तरति सर्वं पाप्मानं तरति नैनं पाप्मा तपति सर्वं पाप्मानं तपति विपापो विरजोऽविचिकित्सो ब्राह्मणो भवत्येष ब्रह्मलोकः सम्राडेनं प्रापितोऽसीति होवाच याज्ञवल्क्यः सोऽहं भगवते विदेहान् ददामि मां चापि सह दास्यायेति ॥23॥

यह बात मंत्र द्वारा कही गई है—यह आत्मा, ब्रह्मवेत्ता की नित्य महिमा है। वह कर्म से न तो बढ़ता है, न घटता है। उसी को जाननेवाला होना चाहिए। उसको जान लेने के बाद मनुष्य पाप से लिप्त नहीं होता। अतः इस तरह का ज्ञानी शान्त, आन्तरिक तृष्णा से रहित, सभी इच्छाओं से मुक्त, सुख-दुःखादि को सहन करनेवाला एकाग्र होकर आत्मा में ही आत्मा को देखता है। इस प्रकार देखनेवाले ब्रह्मवेत्ता को पाप का दोष नहीं लगता। वह सब पापों को तैर जाता है। पाप उसको सताता नहीं है, बल्कि सब पापों को वह सताता है। वह पापरहित, निष्काम और संशयरहित ब्रह्मज्ञ होता है। यह ब्रह्मलोक है। हे सम्राट् ! उस ब्रह्मलोक को तुम पहुँच चुके हो।" इस प्रकार याज्ञवल्क्य ने जनक से कहा। तब जनक बोला कि—"यह मैं (जनक) आप महानुभाव को विदेह प्रदेश का राज्य देता हूँ और (साथ ही साथ) अपने आपको (स्वयं को) सेवक के नाते काम करने के लिए देता हूँ।"

स वा एष महानज आत्माऽन्नादो वसुदानो विन्दते वसु य एवं वेद ॥24॥

तब याज्ञवल्क्य बोले—"जन्मरहित यह महान् आत्मा ही अन्नभक्षक और धन-वसु-रूपी कर्मफलों का देनेवाला है।

स वा एष महानज आत्माऽजरोऽमरोऽमृतोऽभयो ब्रह्माभयं वै ब्रह्माभयः हि वै ब्रह्म भवति य एवं वेद ॥25॥

इति चतुर्थं ब्राह्मणम् ॥

यही वह महान् जन्मरहित आत्मा जरारहित, मरणरहित, अमृत और अभय ब्रह्म है। ब्रह्म अभय है। जो मनुष्य ब्रह्म को इस तरह जानता है, वह स्वयं अभय हो जाता है।

(यहाँ चौथा ब्राह्मण पूरा हुआ।)

❈

पञ्चमं ब्राह्मणम्

अथ ह याज्ञवल्क्यस्य द्वे भार्ये बभूवतुर्मैत्रेयी च कात्यायनी च तयोर्ह मैत्रेयी ब्रह्मवादिनी बभूव स्त्रीप्रज्ञैव तर्हि कात्यायन्यथ ह याज्ञवल्क्योऽन्यद्वृत्तमुपाकरिष्यन् ॥1॥

याज्ञवल्क्य की दो पत्नियाँ थीं। एक का नाम मैत्रेयी और दूसरी का नाम कात्यायनी था। उनमें मैत्रेयी को ब्रह्म के विषय में रस था, जबकि कात्यायनी स्त्री-साधारण बुद्धिवाली थी। याज्ञवल्क्य को (संसार छोड़कर) अन्य चर्या (आश्रम = संन्यासाश्रम) में जाने की इच्छा हुई।

मैत्रेयीति होवाच याज्ञवल्क्यः प्रव्रजिष्यन्वा अरेऽयमस्मात्स्थानादस्मि हन्त तेऽनया कात्यायन्याऽन्तं करवाणीति ॥2॥

"हे मैत्रेयी! मैं अब यह गृहस्थाश्रम छोड़कर यहाँ से चला जानेवाला हूँ। तो इस कात्यायनी के साथ तुम्हारा (सम्पत्ति का) बँटवारा कर दूँ।"—इस प्रकार याज्ञवल्क्य ने मैत्रेयी से कहा।

सा होवाच मैत्रेयी यन्नु म इयं भगोः सर्वा पृथिवी वित्तेन पूर्णा स्यात्स्यां न्वहं तेनामृताऽऽहो 3 नेति नेति होवाच याज्ञवल्क्यो यथैवोपकरणवतां जीवितं तथैव ते जीवितः स्यादमृतत्वस्य तु नाशास्ति वित्तेनति ॥3॥

तब मैत्रेयी बोलीं—"हे भगवन्! यदि धन से भरपूर यह सारी धरती मेरी हो जाए, तो उससे मैं क्या अमृतरूप हो सकती हूँ?" तब याज्ञवल्क्य ने कहा—"अरे! नहीं रे! नहीं! तब तो केवल जैसे साधनसम्पन्न मनुष्यों का जीवन होता है, वैसा ही तुम्हारा जीवन होगा। अमृतत्व की तो धन से आशा भी नहीं हो सकती"।

सा होवाच मैत्रेयी येनाहं नामृता स्यां किमहं तेन कुर्यां यदेव भगवान्वेद तदेव मे ब्रूहीति ॥4॥

तब मैत्रेयी ने कहा—"जिससे मैं अमृत न बन सकूँ, उसके लिए मैं क्या-क्या करूँ? आप जो (अमृत बनने की रीति) जानते हैं, वह मुझे बताइए।"

स होवाच याज्ञवल्क्यः प्रिया वै खलु नो भवती सती प्रियमवृधत् हन्त तर्हि भवत्येतद्व्याख्यास्यामि ते व्याचक्षाणस्य तु मे निदिध्यासस्वेति ॥5॥

तब याज्ञवल्क्य बोले—"मैत्रेयी! तुम मुझे प्यारी तो पहले से ही थी। और अब तो अधिक प्यारी हो गई हो। अच्छा, मैं तुम्हें समझा देता हूँ। जैसे-जैसे मैं कहता जाऊँ वैसे उस पर गहरा चिन्तन करो।

स होवाच न वा अरे पत्युः कामाय पतिः प्रियो भवत्यात्मनस्तु कामाय पतिः प्रियो भवति न वा अरे जायायै कामाय जाया प्रिया भवत्यात्मनस्तु कामाय जाया प्रिया भवति न वा अरे पुत्राणां कामाय पुत्राः प्रिया भवन्त्यात्मनस्तु कामाय पुत्राः प्रिया भवन्ति न वा अरे वित्तस्य कामाय वित्तं प्रियं भवत्यात्मनस्तु कामाय वित्तं प्रियं भवति न वा अरे पशूनां कामाय पशवः प्रिया भवन्त्यात्मनस्तु कामाय पशवः प्रिया भवन्ति न वा अरे ब्रह्मणः कामाय ब्रह्म प्रियं भवत्यात्मनस्तु कामाय ब्रह्म प्रियं भवति न वा अरे क्षत्रस्य कामाय क्षत्रं प्रियं भवत्यात्मनस्तु कामाय क्षत्रं प्रियं भवति न वा अरे लोकानां कामाय लोकाः प्रिया भवन्त्यात्मनस्तु कामाय लोकाः प्रिया भवन्ति न वा अरे देवानां कामाय देवाः प्रिया भवन्त्यात्मनस्तु कामाय देवाः प्रिया भवन्ति न वा अरे वेदानां कामाय वेदाः प्रिया भवन्त्यात्मनस्तु कामाय वेदाः प्रिया भवन्ति न वा अरे भूतानां कामाय भूतानि प्रियाणि भवन्त्यात्मनस्तु कामाय भूतानि प्रियाणि भवन्ति न वा अरे सर्वस्य कामाय सर्वं प्रियं भवत्यात्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यो मैत्रेय्यात्मनि खल्वरे दृष्टे श्रुते मते विज्ञात इदः सर्वं विदितम् ॥6॥

याज्ञवल्क्य ने कहा—पति के लिए पति प्रिय नहीं लगता, पर आत्मा के लिए पति प्रिय लगता है। पत्नी के लिए पत्नी प्रिय नहीं लगती, पर आत्मा के लिए पत्नी प्रिय लगती है। अरे! पुत्रों के लिए पुत्र प्यारे नहीं लगते आत्मा के लिए ही पुत्र प्यारे लगते हैं। धन के लिए धन प्यारा नहीं लगता, आत्मा के लिए धन प्यारा लगता है। पशुओं के लिए पशु प्यारे नहीं लगते, पर आत्मा के लिए पशु प्यारे लगते हैं। ब्राह्मण के लिए बाह्मण प्रिय नहीं लगता पर आत्मा के लिए ब्राह्मण प्रिय लगता है। क्षत्रिय के लिए क्षत्रिय प्रिय नहीं लगता, आत्मा के लिए क्षत्रिय प्रिय लगता है। लोगों के लिए लोग अच्छे नहीं लगते, आत्मा के लिए लोग अच्छे लगते हैं। देवों के लिए देव प्रिय नहीं लगते, आत्मा के लिए देव प्रिय लगते हैं। वेदों के लिए वेद अच्छे नहीं लगते, आत्मा के लिए ही वेद प्रिय लगते हैं। अरे! प्राणियों के लिए प्राणी प्रिय नहीं लगते, आत्मा के लिए ही प्राणी प्रिय लगते हैं। अरे! सबके लिए सब प्रिय नहीं लगता, आत्मा के लिए ही सब कुछ प्रिय लग रहा है। अरे मैत्रेयी! उस आत्मा को देखना चाहिए, उसे सुनना चाहिए, उसका चिन्तन करना चाहिए, उसका ध्यान करना चाहिए। आत्मा को देखने के बाद, सुनने के बाद, सोचने के बाद, उसका ध्यान करने के बाद सब कुछ जाना जा सकता है।

ब्रह्म तं परादाद्योऽन्यत्रात्मनो ब्रह्म वेद क्षत्रं तं परादाद्योऽन्यत्रात्मनः क्षत्रं वेद लोकास्तं परादुर्योऽन्यत्रात्मनो लोकान्वेद देवास्तं परादुर्योऽन्यत्रात्मनो देवान्वेद वेदास्तं परादुर्योऽन्यत्रात्मनो वेदान्वेद भूतानि तं परादुर्योऽन्यत्रात्मनो भूतानि वेद सर्वं तं परादाद्योऽन्यत्रात्मनः सर्वं वेदेदं ब्रह्मेदं क्षत्रमिमे लोका इमे देवा इमे वेदा इमानि भूतानीदः सर्वं यदयमात्मा ॥7॥

जो मनुष्य ब्राह्मण को आत्मा से अलग मानता है, उसे ब्राह्मण परास्त कर देता है (अलग कर देता है), जो क्षत्रिय को ब्रह्म से भिन्न मानता है, उसे क्षत्रिय परास्त कर देता है । जो लोगों को ब्रह्म से भिन्न मानता है, उसे लोग अपने से अलग कर देते हैं। जो देवों को ब्रह्म (आत्मा) से अलग मानता है उसे देव अपने से अलग कर देते हैं। जो वेदों को ब्रह्म से अलग मानता है, उसे वेद पराजित (पृथक्) कर देते हैं, जो प्राणियों को आत्मा से अलग मानता है, उसे प्राणी अपने से पृथक् कर देते हैं। यह ब्राह्मण, यह क्षत्रिय, ये लोग, ये देव, ये वेद, ये प्राणी—यह जो कुछ भी है, वह सब आत्मरूप (ब्रह्मरूप) ही है।

स यथा दुन्दुभेर्हन्यमानस्य न बाह्याञ्छब्दाञ्छक्नुयाद्ग्रहणाय दुन्दुभेस्तु ग्रहणेन दुन्दुभ्याघातस्य वा शब्दो गृहीतः ॥8॥

जैसे बजाए जानेवाले दुन्दुभि आदि की आवाजें बाहर से नहीं पकड़ी जा सकतीं, पर दुन्दुभि के अथवा उसे बजाने वाले के पकड़े जाने से ही आवाज पकड़ी जाती है, वैसे ही आत्मा का भी है।

स यथा शङ्खस्य ध्मायमानस्य न बाह्याञ्छब्दाञ्छक्नुयाद्ग्रहणाय शङ्खस्य तु ग्रहणेन शङ्खध्मस्य वा शब्दो गृहीतः ॥9॥

जैसे फूँके जानेवाले शंख की आवाजें बाहर से नहीं पकड़ी जा सकतीं, परन्तु शंख के या फूँकनेवाले के पकड़े जाने पर आवाज पकड़ी जाती है, वैसे ही आत्मा का भी है।

स यथा वीणायै वाद्यमानायै न बाह्याञ्छब्दाञ्छक्नुयाद्ग्रहणाय वीणायास्तु ग्रहणेन वीणावादस्य वा शब्दो गृहीतः ॥10॥

जैसे बजाई जानेवाली वीणा के स्वर बाहर से नहीं पकड़े जा सकते, परन्तु वीणा के अथवा वीणावादक के पकड़े जाने से वीणा का स्वर पकड़ा जा सकता है, वैसे ही आत्मा का भी है।

स यथार्द्रैधाग्नेरभ्याहितस्य पृथग्धूमा विनिश्चरन्त्येवं वा अरेऽस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतद्यदृग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरस इतिहासः पुराणं विद्या उपनिषदः श्लोकाः सूत्राण्यनुव्याख्यानानि व्याख्यानानीष्टः हुतमाशितं पायितमयं च लोकः परश्च लोकः सर्वाणि च भूतान्यस्यैवैतानि सर्वाणि निःश्वसितानि ॥11॥

जैसे भीगी लकड़ियों से जलाई अग्नि से तरह-तरह का धुआँ निकलता है, वैसे ही अरे मैत्रेयी ! यह जो ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, इतिहास, पुराण, विद्याएँ (उपासनाएँ), उपनिषदें, श्लोक, सूत्र, मंत्रविवरण, अर्थवाद एवं यज्ञ, हुत, खिलाया हुआ, पिलाया गया, यह लोक और परलोक, सभी प्राणी—यह सभी कुछ उस महाभूत (आत्मा) के निःश्वास रूप ही है।

स यथा सर्वासामपाः समुद्र एकायनमेवः सर्वेषाः स्पर्शानां त्वगेकायनमेवः सर्वेषां गन्धानां नासिके एकायनमेवः सर्वेषाः रसानां जिह्वैकायनमेवः सर्वेषाः रूपाणा चक्षुरेकायनमेवः सर्वेषां शब्दानाः श्रोत्रमेकायनमेवः सर्वेषां संकल्पानां मन एकायनमेवः सर्वासां विद्यानाः हृदयमेकायनमेवः सर्वेषां कर्मणाः हस्तावेकायनमेवः सर्वेषामानन्दानामुपस्थ एकायनमेवः सर्वेषां विसर्गाणां पायुरेकायनमेवः सर्वेषामध्वनां पादावेकायनमेवः सर्वेषां वेदानां वागेकायनम् ॥12॥

जैसे सब जलों का एक मिलनस्थान सागर है, सब स्पर्शों का एक मिलनस्थान त्वचा है, सब गन्धों का एक मिलनस्थान नासिकाएँ हैं, सब रसों का एक मिलनस्थान जीभ है, सब रूपों का एक मिलनस्थान चक्षु है, सब शब्दों का एक मिलनस्थान श्रोत्र है, सब संकल्पों का एक मिलनस्थान मन है, सब विद्याओं का एक मिलनस्थान हृदय है, सभी कर्मों का एक मिलनस्थान दो हाथ हैं, सभी आनन्दों का एक मिलनस्थान जैसे उपस्थ है (गुह्येन्द्रिय है), जैसे सभी मलत्यागों का एक मिलनस्थान गुदा है, जैसे सब मार्गों का एक मिलनस्थान दो पैर हैं और सब वेदों का एक मिलनस्थान वाणी है।

स यथा सैन्धवघनोऽनन्तरोऽबाह्यः कृत्स्नो रसघन एवैवं वाऽरेऽयमात्मानन्तरोऽबाह्यः कृत्स्नः प्रज्ञानघन एवैतेभ्यो भूतेभ्यः समुत्थाय तान्येवानुविनश्यति न प्रेत्य संज्ञास्तीत्यरे ब्रवीमीति होवाच याज्ञवल्क्यः ॥13॥

जैसे नमक का ढेला भीतर-बाहर के भेद बिना पूर्णरूप से एक रसवाला (खारा) ही होता है, वैसे ही अरे मैत्रेयी ! यह आत्मा भी भीतर-बाहर के भेदभाव से रहित पूर्ण रूप से प्रज्ञानघन ही है। वह इन्हीं पाँच महाभूतों में से उठकर वह उन भूतों के बाद नष्ट होता है, मरने के बाद उसकी कोई संज्ञा नहीं रहती, ऐसा मैं कहता हूँ।''—यह याज्ञवल्क्य बोले।

सा होवाच मैत्रेय्यत्रैव मा भगवान्मोहान्तमापीपिपन्न वा अहमिमं विजानामीति स होवाच न वा अरेऽहं मोहं ब्रवीम्यविनाशी वाऽरेऽयमात्माऽनुच्छित्तिधर्मा ॥14॥

तब मैत्रेयी ने कहा—''आप महानुभाव ने तो मुझे यहाँ (इस बात में) असमंजस में डाल दिया ! यह बात तो मेरी समझ में नहीं आती।'' तब याज्ञवल्क्य बोले—''असमंजस में डाले ऐसी तो कोई बात मैं कहता नहीं हूँ। अरे मैत्रेयी ; यह आत्मा अविनाशी है, उसका धर्म ही नाश न होने का है''।

यत्र हि द्वैतमिव भवति तदितर इतरं पश्यति तदितर इतरं जिघ्रति तदितर इतरः रसयते तदितर इतरमभिवदति तदितर इतरः शृणोति तदितर इतरं मनुते तदितर इतरः स्पृशति तदितर इतरं विजानाति यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत्तत्केन कं पश्येत्तत्केन कं जिघ्रेत्तत्केन कः रसयेत्तत्केन कमभिवदेत्तत्केन कः शृणुयात्तत्केन कं मन्वीत तत्केन कः स्पृशेत्तत्केन कं विजानीयाद्येनेदः सर्वं विजानाति तं केन विजानीयात्स एष नेति नेत्यात्माऽगृह्यो न हि गृह्यतेऽशीर्यो न हि शीर्यतेऽसङ्गो न हि सज्यते-

ऽसितो न व्यथते न रिष्यति विज्ञातारमरे केन विजानीयादित्युक्ता- नुशासनासि मैत्रेय्येतावदरे खल्वमृतत्वमिति होक्त्वा याज्ञवल्क्यो विजहार ॥15॥

इति पञ्चमं ब्राह्मणम् ॥

"जहाँ द्वैतावस्था (अज्ञानजनित स्थिति) होती है, वहाँ एक-दूसरे को देखता है, एक-दूसरे को सूँघता है, एक-दूसरे का स्वाद लेता है, एक-दूसरे से बोलता है, एक-दूसरे को सुनता है, एक-दूसरे को सोचता है, एक-दूसरे का स्पर्श करता है, एक-दूसरे को जानता है; परन्तु जब मनुष्य के लिए सभी कुछ आत्मा ही हो गया तो वहाँ किसके द्वारा किसको देखेगा ? किसके द्वारा किसको सूँघेगा ? किसके द्वारा किसका स्वाद लेगा ? किसके द्वारा किसको बोलेगा ? तब किसके द्वारा किसको सुनेगा ? तब किसके द्वारा किसको सोचेगा ? तब किसके द्वारा किसको स्पर्श करेगा ? तब किसके द्वारा किसको जानेगा ? जो सबको जानता है, उसे किस साधन से जाना जा सकता है ? वह 'नेति नेति' (अतद् व्यावृत्ति) से निर्दिष्ट हुआ आत्मा पकड़ा नहीं जा सकता, क्योंकि वह पकड़ने योग्य नहीं है। वह अविनाशी है, क्योंकि वह विनाश के योग्य नहीं है। वह असंग है, क्योंकि वह किसी में लिपटता नहीं है। वह अबद्ध (बन्धनरहित) है। वह व्यथित और क्षीण नहीं होता। हे मैत्रेयी ! स्वयं विज्ञाता को (जाननेवाले को) भला किस साधन के द्वारा पाया जा सकता है ? हे मैत्रेयी ! इस प्रकार तुमको उपदेश दिया गया। हे मैत्रेयी ! यह तुम अवश्य ही जान लो कि केवल इतना ही (यही) अमृत है।" ऐसा कहकर याज्ञवल्क्य ने सर्वस्व का त्याग किया और परिव्राजक हो गए।

(यहाँ पाँचवाँ ब्राह्मण पूरा हुआ।)

❋

षष्ठं ब्राह्मणम्

अथ वꣳशः (पौतिमाष्यात्) पौतिमाष्यो गौपवनाद्गौपवनः पौतिमाष्या- त्पौतिमाष्यो गौपवनाद्गौपवनः कौशिकात्कौशिकः कौण्डिन्यात्कौण्डि- न्यः शाण्डिल्याच्छाण्डिल्यः कौशिकाच्च गौतमाच्च गौतमः ॥1॥

अब वंश कहा जाता है—(यह ज्ञान) पौतिमाष्य ने गोपवन से, गोपवन ने दूसरे पौतिमाष्य से, पौतिमाष्य ने दूसरे गोपवन से, गोपवन ने कौशिक से, कौशिक ने कौन्डिन्य से, कौन्डिन्य ने शाण्डिल्य से, शाण्डिल्य ने दूसरे कौशिक और गौतम से और गौतम ने—

आग्निवेश्यादाग्निवेश्यो गार्ग्याद्गार्ग्यो गार्ग्याद्गार्ग्यो गौतमाद्गौतमः सैतवात्सैतवः पाराशर्यायणात्पाराशर्यायणो गार्ग्यायणाद्गार्ग्यायण उद्दालकायनादुद्दालकायनो जाबालायनाज्जाबालायनो माध्यन्दि- नायनान्माध्यन्दिनायनः सौकरायणात्सौकरायणः काषायणात्काषायणः सायकायनात्सायकायनः कौशिकायनेः कौशिकायनिः ॥2॥

आग्निवेश्य से, आग्निवेश्य ने गार्ग्य से, गार्ग्य ने दूसरे गार्ग्य से, उस गार्ग्य ने गौतम से, गौतम ने सैतव से, सैतव ने पाराशर्यायण से, पाराशर्यायण ने गार्ग्याणण से, गार्ग्यायण ने उद्दालकायन से, उद्दालकायन ने जाबालायन से, जाबालायन ने माध्यन्दिनायन से, माध्यन्दिनायन ने सौकरायण से, सौकरायण ने काषायण से, काषायण ने सायकायन से, सायकायन ने कौशिकायनि से, कौशिकायनि ने—

घृतकौशिकाद्घृतकौशिकः पाराशर्यायणात्पाराशर्यायणः पाराशर्या- त्पाराशर्यो जातूकर्ण्याज्जातूकर्ण्य आसुरायणाच्च यास्काच्चासुरायण- स्त्रैवणेस्त्रैवणिरौपजन्धनेरौपजन्धनिरासुरेरासुरिर्भारद्वाजाद्भारद्वाज आत्रे- यादात्रेयो माण्टेर्माण्टिर्गौतमाद्गौतमो गौतमाद्गौतमो वात्स्याद्वात्स्यः शाण्डिल्याच्छाण्डिल्यः कैशोर्यात्काप्यात्कैशोर्यः काप्यः कुमारहारि- तात्कुमारहारितो गालवाद्गालवो विदर्भीकौण्डिन्याद्विदर्भीकौण्डिन्यो वत्सनपातो बाभ्रवाद्वत्सनपाद्बाभ्रवः पथः सौभरात्पन्थाः सौभरोऽया- स्यादाङ्गिरसादयास्य आङ्गिरस आभूतेस्त्वाष्ट्रादाभूतिस्त्वाष्ट्रो विश्व- रूपात्त्वाष्ट्राद्विश्वरूपस्त्वाष्ट्रोऽश्विभ्यामश्विनौ दधीच आथर्वणाद्दध्यङ्ङा- थर्वणो दैवादथर्वाद्दैवो मृत्योः प्राध्वꣳसनान्मृत्युः प्राध्वꣳसनः प्रध्वꣳ- सनात्प्रध्वꣳसन एकर्षेरेकर्षिर्विप्रचित्तेर्विप्रचित्तिर्व्यष्टेर्व्यष्टिः सनारोः सनारुः सनातनात्सनातनः सनगात्सनगः परमेष्ठिनः परमेष्ठी ब्रह्मणो ब्रह्म स्वयंभु ब्रह्मणे नमः ॥3॥

इति षष्ठं ब्राह्मणम् ॥

इति बृहदारण्यकोपनिषदि चतुर्थोऽध्यायः ॥4॥

घृतकौशिक से, घृतकौशिक ने पाराशर्यायण से, पाराशर्यायण ने पाराशर्य से, पाराशर्य ने जातूकर्ण्य से, जातूकर्ण्य ने आसुरायण और यास्क से, आसुरायण ने त्रैवणि से, त्रैवणि ने औपजन्धनि से, औपजन्धनि ने आसुरि से, आसुरि ने भारद्वाज से, भारद्वाज ने आत्रेय से, आत्रेय ने माण्टि से, माण्टि ने गौतम से, गौतम ने दूसरे गौतम से, उस गौतम ने वात्स्य से, वात्स्य ने शाण्डिल्य से, शाण्डिल्य ने कैशोर्य काप्य से, कैशोर्य काप्य ने कुमार हारित से, कुमार हारित ने गालव से, गालव ने विदर्भी कौण्डिन्य से, विदर्भी कौण्डिन्य ने वत्सनपाद् बाभ्रव से, वत्सनपाद् बाभ्रव ने पन्था सौभर से, पन्था सौभर ने अयास्य आंगिरस से, अयास्य आंगिरस ने आभूति त्वाष्ट्र से, आभूति त्वाष्ट्र ने विश्वरूप त्वाष्ट्र से, विश्वरूप त्वाष्ट्र ने अश्विनीकुमारों से, अश्विनीकुमारों ने दध्यङ् आथर्वण से, दध्यङ् आथर्वण ने अथर्वा दैव से, अथर्वा दैव ने मृत्यु प्राध्वंसन से, मृत्यु प्राध्वंसन ने प्रध्वंसन से, प्रध्वंसन ने एकर्षि से, एकर्षि ने विप्रचिति से, विप्रचिति ने व्यष्टि से, व्यष्टि ने सनारु से, सनारु ने सनातन से, सनातन ने सनग से, सनग ने परमेष्ठी से, परमेष्ठी ने ब्रह्म से यह विद्या ली है। ब्रह्म स्वयंभू है। उस ब्रह्म को नमस्कार।

(यहाँ छठा ब्राह्मण पूरा हुआ।)

यहाँ बृहदारण्यकोपनिषद् में चौथा अध्याय समाप्त होता है।

❋

अथ पञ्चमोऽध्यायः

प्रथमं ब्राह्मणम्

खिलकाण्ड—परिशिष्ट काण्ड के आरंभ में शान्तिपाठ—

**ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते ।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥**

ॐ यह पूर्ण ब्रह्म है, यह जगत् पूर्ण है, उस पूर्ण ब्रह्म में से यह पूर्ण जगत् उत्पन्न हुआ है। उस पूर्ण ब्रह्म में से इस पूर्ण जगत् को निकाल लें, तो भी पूर्ण ब्रह्म ही शेष रहता है।

ॐ ३ खं ब्रह्म खं पुराणं वायुरं खमिति ह स्माह कौरव्यायणीपुत्रो वेदोऽयं ब्राह्मणा विदुर्वेदैनेन यद्वेदितव्यम् ॥1॥

इति प्रथमं ब्राह्मणम् ॥

आकाश ब्रह्म ॐकार है, आकाश (चैतन्य) सनातन परमात्मा है। जिसमें वायु रहता है, वह आकाश ही 'ख' है।'—इस प्रकार कौरव्यायणी पुत्र ने कहा है। यह ॐकार वेद है, ऐसा ब्राह्मण जानते हैं (क्योंकि) जो ज्ञेय (जानने योग्य) है, वह ॐकार से ही जाना जा सकता है।

(यहाँ पहला ब्राह्मण पूरा हुआ।)

❋

द्वितीयं ब्राह्मणम्

त्रयः प्राजापत्याः प्रजापतौ पितरि ब्रह्मचर्यमूषुर्देवा मनुष्या असुरा उषित्वा ब्रह्मचर्यं देवा ऊचुर्ब्रवीतु नो भवानिति तेभ्यो हैतदक्षरमुवाच द इति व्यज्ञासिष्टा ३ इति व्यज्ञासिष्मेति होचुर्दाम्यतेति न आत्थेत्योमिति-होवाच व्यज्ञासिष्टेति ॥1॥

देव, मनुष्य और असुर—ये तीन प्रजापति के पुत्र पिता के यहाँ ब्रह्मचर्य का पालन और अभ्यास करते हुए रहते थे। ब्रह्मचर्य पालन और अभ्यास के बाद देवों ने कहा—"हमें उपदेश दीजिए।" उनसे प्रजापति ने 'द' यह अक्षर कहा। (और पूछा—) 'समझ गए न ?' (तब देवों ने कहा—) "हाँ, समझ गए, आपने हमें 'दमन करो'—ऐसा उपदेश दिया है।" प्रजापति ने कहा—"ठीक है। तुम समझ गए हो।"

अथ हैनं मनुष्या ऊचुर्ब्रवीतु नो भवानिति तेभ्यो हैतदेवाक्षरमुवाच द इति व्यज्ञासिष्टा ३ इति व्यज्ञासिष्मेति होचुर्दत्तेति न आत्थेत्योमिति होवाच व्यज्ञासिष्टेति ॥2॥

इसके बाद मनुष्यों ने उनसे कहा—"हमें उपदेश दीजिए।" उनसे भी (प्रजापति ने) वही अक्षर 'द' कहा। (प्रजापति ने पूछा—) "जान गए क्या ?" उन्होंने कहा—हाँ, जान गए। आपने हमें 'दान करो'—ऐसा कहा है। (प्रजापति बोले—) "ठीक है तुम समझ गए हो।'

अथ हैनमसुरा ऊचुर्ब्रवीतु नो भवानिति तेभ्यो हैतदेवाक्षरमुवाच द इति व्यज्ञासिष्टा ३ इति व्यज्ञासिष्मेति होचुर्दयध्वमिति न आत्थेत्योमिति

होवाच व्यज्ञासिष्टेति तदेतदेवैषा दैवी वागनुवदति स्तनयित्नुर्द द द इति दाम्यत दत्त दयध्वमिति तदेतत्त्रयः शिक्षेद्दमं दानं दयामिति ॥3॥

इति द्वितीयं ब्राह्मणम् ॥

बाद में असुरों ने (प्रजापति से) कहा—"आप हमें उपदेश दीजिए।" तब उन्होंने वही अक्षर 'द' कहा (और पूछा)—'जान गए क्या ?' (असुरों ने कहा—) हाँ, जान गए। (आपने हमें) 'दया रखो' ऐसा कहा है। (प्रजापति ने कहा—) "ठीक है तुम समझ गए हो।" यह प्रजापति के अनुशासन की मेघगर्जना दैवीवाणी का अनुकथन करती है। अर्थात् दमन करो, दान करो, दया करो। इसलिए दया, दान और दमन—तीनों सीखना चाहिए।

(यहाँ दूसरा ब्राह्मण पूरा हुआ।)

❋

तृतीयं ब्राह्मणम्

एष प्रजापतिर्यद्धृदयमेतद्ब्रह्मैतत्सर्वं तदेतत्त्र्यक्षरꣳहृदयमिति 'हृ' इत्येकमक्षरमभिहरन्त्यस्मै स्वाश्चान्ये च य एवं वेद द इत्येकमक्षरं ददत्यस्मै स्वाश्चान्ये च य एवं वेद यमित्येकमक्षरमेति स्वर्गं लोकं य एवं वेद ॥1॥

इति तृतीयं ब्राह्मणम् ।

जो यह हृदय है, वह प्रजापति है, वह ब्रह्म है, वह सब कुछ है। इसमें हृ द यं ऐसे तीन अक्षर हैं। इसमें 'हृ' प्रथम अक्षर है, ऐसा जो जानता है उसके लिए अपने और दूसरे लोग भेंट आदि लाते हैं। 'द' एक अन्य अक्षर है—ऐसा जाननेवाले के लिए अपने और पराये लोग देते हैं। और 'य' एक अन्य (तीसरा) अक्षर है। ऐसा जो जानते हैं, वे स्वर्ग में जाते हैं॥

(यहाँ तीसरा ब्राह्मण पूरा हुआ।)

❋

चतुर्थं ब्राह्मणम्

तद्वैतदेव तदास सत्यमेव स यो हैतं महद्यक्षं प्रथमजं वेद सत्यं ब्रह्मेति जयतीमाँल्लोकान् जित इन्न्वसावसद्य एवमेतं महद्यक्षं प्रथमजं वेद सत्यं ब्रह्मेति सत्यꣳ ह्येव ब्रह्म ॥1॥

इति चतुर्थं ब्राह्मणम् ॥

वह (हृदयरूप) ब्रह्म ही सत्य है, वही पहले था। वही है कि जो सत्य है। "वह महान्, सत्य, आदरणीय और सबसे पहले जन्मा है"—ऐसा जो मनुष्य जानता है उस मनुष्य के शत्रु जीत लिए जाते हैं और नष्ट होते हैं। ब्रह्म ही सत्य है।

(यहाँ चौथा ब्राह्मण पूरा हुआ।)

❋

पञ्चमं ब्राह्मणम्

आप एवेदमग्र आसुस्ता आपः सत्यमसृजन्त सत्यं ब्रह्म ब्रह्म प्रजापतिं प्रजापतिर्देवाꣳस्ते देवाः सत्यमेवोपासते तदेतत्त्र्यक्षरꣳ सत्यमिति स

इत्येकमक्षरं तीत्येकमक्षरं यमित्येकमक्षरं प्रथमोत्तमे अक्षरे सत्यं मध्यतोऽनृतं तदेतदनृतमुभयतः सत्येन परिगृहीतः सत्यभूयमेव भवति नैवं विद्वाꣳसमनृतꣳ हिनस्ति ॥1॥

यह जगत् पहले जल ही था। जल ने सत्य की रचना की। सत्य ही ब्रह्म है। ब्रह्म ने प्रजापति को उत्पन्न किया। प्रजापति ने देवों को उत्पन्न किया। वे देव सत्य की ही उपासना करते हैं। सत्य शब्द में तीन अक्षर हैं। एक पहला 'स' अक्षर है, एक दूसरा 'ती' अक्षर है और एक तीसरा 'य' अक्षर है। इनमें पहला और तीसरा अक्षर 'सत्य' है, बीच का अनृत (असत्य) है। यह अनृत दोनों ओर से सत्य से घिरा हुआ है। (इसलिए वह) सत्यप्राय ही है। जो मनुष्य यह जानता है कि सत्य का जोर अधिक होता है उसका नाश अनृत कभी नहीं करता (प्रमाद से यदि अनृत बोला गया हो, तो भी।)

तद्यत्तत्सत्यमसौ स आदित्यो य एष एतस्मिन्मण्डले पुरुषो यश्चायं दक्षिणेऽक्षन्पुरुषस्तावेतावन्योन्यस्मिन्प्रतिष्ठितौ रश्मिभिरेषोऽस्मिन्प्रतिष्ठितः प्राणैरयममुष्मिन् स यदोत्क्रमिष्यन्भवति शुद्धमेवैतन्मण्डलं पश्यति नैनमेते रश्मयः प्रत्यायन्ति ॥2॥

वह जो सत्य है, वह यह आदित्य है। जो इस आदित्यमण्डल में पुरुष है और जो दाहिना आँख में (चेतन) पुरुष है—वे दोनों एक-दूसरे में अवस्थित हैं। यह आदित्य अपनी किरणों द्वारा आँख के चेतन पुरुष में बसता है और यह दाहिनी आँख का चेतन पुरुष अपने प्राणों से आदित्य में रहता है। इसलिए जब प्राण निकलने लगते हैं, तब (मनुष्य) सूर्य को स्पष्ट रूप से देखने लगता है। ये किरणें वापिस उसके पास नहीं जातीं।

य एष एतस्मिन्मण्डले पुरुषस्तस्य भूरिति शिर एकꣳ शिर एकमेतदक्षरं भुव इति बाहू द्वौ बाहू द्वे एते अक्षरे स्वरिति प्रतिष्ठा द्वे प्रतिष्ठे द्वे एते अक्षरे तस्योपनिषदित्यहरिति हन्ति पाप्मानं जहाति च य एवं वेद ॥3॥

सूर्यमण्डल में जो पुरुष है, उसका मस्तक 'भूः' है। सर एक होता है और यह अक्षर भी तो एक है। 'भुवः' इसके दो हाथ हैं। हाथ दो होते हैं, और ये अक्षर भी तो दो ही हैं। 'स्वः' उसकी प्रतिष्ठा (पैर) है। पैर दो होते हैं और ये अक्षर भी तो दो ही हैं। उसका रहस्यमय नाम 'अहर्' है, ऐसा जो जानता है, वह पाप का त्याग कर देता है अर्थात् वह पाप का नाश करता है।

योऽयं दक्षिणेऽक्षन्पुरुषस्तस्य भूरिति शिर एकꣳ शिर एकमेतदक्षरं भुव इति बाहू द्वौ बाहू द्वे एते अक्षरे स्वरिति प्रतिष्ठा द्वे प्रतिष्ठे द्वे एते अक्षरे तस्योपनिषदहमिति हन्ति पाप्मानं जहाति च य एवं वेद ॥4॥

इति पञ्चमं ब्राह्मणम् ॥

इस दाहिनी आँख में जो चेतन पुरुष है, उसका 'भूः' यह मस्तक है। मस्तक एक है और यह भी एक अक्षर ही है। 'भुवः' यह दो हाथ हैं। हाथ दो होते हैं, और ये अक्षर भी दो हैं। 'स्वः' उसके पैर हैं। पैर दो होते हैं, और ये अक्षर दो ही हैं। 'अहम्' उसका रहस्यमय नाम है। ऐसा जो जानता है वह पापों का नाश कर देता है।

(यहाँ पाँचवाँ ब्राह्मण पूरा हुआ।)

❋

षष्ठं ब्राह्मणम्

मनोमयोऽयं पुरुषो भाःसत्यस्तस्मिन्नन्तर्हृदये यथा व्रीहिर्वा यवो वा स एष सर्वस्येशानः सर्वस्याधिपतिः सर्वमिदं प्रशास्ति यदिदं किंच ॥1॥

इति षष्ठं ब्राह्मणम् ॥

प्रकाशरूप सत्यवाला यह पुरुष मनोमय है। वह हृदय के भीतर चावल या यव के दाने जैसा है, वही सभी का ईश्वर है, सबका अधिपति है, और यह जो कुछ भी है, वह वही है, वही सबके ऊपर शासन करता है।

(यहाँ छठा ब्राह्मण पूरा हुआ।)

❋

सप्तमं ब्राह्मणम्

विद्युद्ब्रह्मेत्याहुर्विदानाद्विद्युद्विद्यत्येनं पाप्मनो य एवं वेद विद्युद्ब्रह्मेति विद्युद्ध्येव ब्रह्म ॥1॥

इति सप्तमं ब्राह्मणम् ॥

विद्युत् ब्रह्म है—ऐसा कहते हैं। (अंधकार का) खण्डन करने से वह विद्युत् है। इसी प्रकार के गुणवाले 'विद्युद्ब्रह्म' को जो जानता है, उसके पापों को विद्युत् (ब्रह्म) नाश कर देता है, क्योंकि विद्युत् ही ब्रह्म है।

(यहाँ सातवाँ ब्राह्मण पूरा हुआ।)

❋

अष्टमं ब्राह्मणम्

वाचं धेनुमुपासीत तस्याश्चत्वारः स्तनाः स्वाहाकारो वषट्कारो हन्तकारः स्वधाकारस्तस्यै द्वौ स्तनौ देवा उपजीवन्ति स्वाहाकारं च वषट्कारं च हन्तकारं मनुष्याः स्वधाकारं पितरस्तस्याः प्राण ऋषभो मनो वत्सः ॥1॥

इत्यष्टमं ब्राह्मणम् ॥

वाणी ही गायरूप में उपासना करनी चाहिए। इसके चार आँचल हैं—स्वाहाकार, वषट्कार, स्वधाकार और हन्तकार। देवलोक उसके 'स्वाहा' और 'वषट्'—इन दो आँचलों के आधार पर जीते हैं। मनुष्य 'हन्तकार' (के आधार पर जीते हैं) और पितृलोक 'स्वधाकार' के आधार पर जीते हैं। उसका प्राण ही ऋषभ है और मन बछड़ा है।

(यहाँ आठवाँ ब्राह्मण पूरा हुआ।)

❋

नवमं ब्राह्मणम्

अयमग्निर्वैश्वानरो योऽयमन्तः पुरुषे येनेदमन्नं पच्यते यदिदमद्यते तस्यैष घोषा भवति यमेतत्कर्णावपिधाय शृणोति स यदोत्क्रमिष्यन्भवति नैनं घोषꣳ शृणोति ॥1॥

इति नवमं ब्राह्मणम् ॥

मनुष्य के भीतर जो यह अग्नि है, वह वैश्वानर अग्नि है, जिससे वह अन्न पचाया जाता है, जो खाया जाता है। उसी की यह आवाज होती है। जिस आवाज को दोनों कान बन्द करके मनुष्य सुनता है। जब मनुष्य उत्क्रमण करने की तैयारी करता है अर्थात् शरीर से चले जाने की तैयारी करता है, तब यह आवाज वह नहीं सुन सकता।

(यहाँ नौवाँ ब्राह्मण पूरा हुआ।)

❈

दशमं ब्राह्मणम्

यदा वै पुरुषोऽस्माल्लोकात्प्रैति स वायुमागच्छति तस्मै स तत्र विजिहीते यथा रथचक्रस्य खं तेन स ऊर्ध्व आक्रमते स आदित्यमागच्छति तस्मै स तत्र विजिहीते यथा लम्बरस्य खं तेन स ऊर्ध्व आक्रमते स चन्द्रमसमागच्छति तस्मै स तत्र विजिहीते यथा दुन्दुभेः खं तेन स ऊर्ध्व आक्रमते स लोकमागच्छत्यशोकमहिमं तस्मिन्वसति शाश्वतीः समाः ॥1॥

इति दशमं ब्राह्मणम् ॥

मनुष्य जब इस लोक से चला जाता है अर्थात् मृत्यु को प्राप्त करता है, तब वायु के पास जाता है। वायु अपने को उसके लिए रथ के पहिए के छिद्र जैसा बनकर उसे दे देता है, जिसके द्वारा वह ऊपर जाता है। फिर वह सूर्य के पास जाता है। सूर्य अपने को उसके लिए लम्बर नाम के वाजिन्त्र के छिद्र जैसा बना देता है। उससे वह ऊपर चढ़ता है। वह चन्द्रमा के पास जाता है। चन्द्र उसके लिए अपने आपको नगारे के काने (छिद्र) जैसा बना देता है। उसके द्वारा मनुष्य ऊपर चढ़ता है, और ऐसे लोक में आता है, जहाँ (मन के या शरीर के) दुःख नहीं होते। और उसमें बहुत-बहुत वर्षों तक (अनगिनत वर्षों तक) निवास करता है।

(यहाँ दसवाँ ब्राह्मण पूरा हुआ।)

एकादशं ब्राह्मणम्

एतद्वै परमं तपो यद्व्याहितस्तप्यते परमꣳ हैव लोकं जयति य एवं वेदैतद्वै परमं तपो यं प्रेतमरण्यꣳ हरन्ति परमꣳ हैव लोकं जयति य एवं वेदैतद्वै परमं तपो यं प्रेतमग्नावभ्यादधति परमꣳ हैव लोकं जयति य एवं वेद ॥1॥

इत्येकादशं ब्राह्मणम् ॥

रोगग्रस्त मनुष्य का शरीर जो तपता है, वह बड़ा तप है—इस प्रकार जो जानता है वह परमलोक को जीत लेता है। मरे हुए मनुष्य को जो वन में ले जाता है, वह सचमुच बड़ा तप है—ऐसा जो जान लेता है, वह परमलोक को जीत लेता है। मरे हुए मनुष्य के शरीर को जो चारों ओर अग्नि में रख देता है, वह बड़ा तप है—ऐसा जो जानता है, वह परम लोक को जीत लेता है (उसकी अच्छी गति होती है)।

(यहाँ ग्यारहवाँ ब्राह्मण पूरा हुआ।)

द्वादशं ब्राह्मणम्

अन्नं ब्रह्मेत्येक आहुस्तन्न तथा पूयति वा अन्नमृते प्राणात्प्राणो ब्रह्मेत्येक आहुस्तन्न तथा शुष्यति वै प्राण ऋतेऽन्नादेते ह त्वेव देवते एकधाभूयं भूत्वा परमतां गच्छतस्तद्ध स्माह प्रातृदः पितरं किꣳस्विदेवैवं विदुषे साधु कुर्यां किमेवास्मा असाधु कुर्यामिति स ह स्माह पाणिना मा प्रातृदः कस्त्वेनयोरेकधाभूयं भूत्वा परमतां गच्छतीति तस्मा उ हैतदुवाच वीत्यन्नं वै व्यन्ने हीमानि सर्वाणि भूतानि विष्टानि रमिति प्राणो वै रं प्राणे हीमानि सर्वाणि भूतानि रमन्ते सर्वाणि ह वा अस्मिन्भूतानि विशन्ति सर्वाणि भूतानि रमन्ते य एवं वेद ॥1॥

इति द्वादशं ब्राह्मणम् ॥

कुछ लोग कहते हैं—'अन्न ब्रह्म है।' पर वह ठीक नहीं, क्योंकि प्राण के बिना अन्न सड़ जाता है। कुछ लोग कहते हैं 'प्राण अन्न है।' वह भी ठीक नहीं। क्योंकि अन्न के बिना प्राण सूख जाते हैं। पर ये दोनों देव एकरूपता को प्राप्त कर परमभाव प्राप्त करते हैं। परमोच्च स्थिति को प्राप्त करते हैं, ऐसा निश्चय करके प्रातृद ने अपने पिता से कहा—"जिस मनुष्य को ऐसा ज्ञान है, उस मनुष्य का मैं क्या अच्छा या बुरा कर सकता हूँ?" तब पिता ने हाथ हिलाकर कहा—"प्रातृद! ऐसा मत कहो। इन दोनों (प्राण और अन्न) की एकरूपता प्राप्त करके तो भला कौन परमभाव को प्राप्त कर सकता है?" उसके पिता ने और आगे ऐसा भी कहा कि—"अन्न है वह 'वि' है। क्योंकि 'वि' रूप अन्न में ही सभी प्राणी प्रविष्ट हैं। और 'रम्' यह प्राण है। क्योंकि ये सभी प्राणी 'रम्' यानी प्राण में ही रमण करते हैं। जो मनुष्य इस प्रकार जानता है, उसमें सभी प्राणी प्रवेश करते हैं, उससे सभी प्राणी आनन्द प्राप्त करते हैं।

(यहाँ बारहवाँ ब्राह्मण पूरा हुआ।)

❈

त्रयोदशं ब्राह्मणम्

उक्थं प्राणो वा उक्थं प्राणो हीदꣳ सर्वमुत्थापयत्युद्धास्मादुक्थविद्वीरस्तिष्ठत्युक्थस्य सायुज्यꣳ सलोकतां जयति य एवं वेद ॥1॥

अब 'उक्थ' के विषय में (स्तुतिगान के विषय में) कहा जाता है। प्राण ही 'उक्थ' है क्योंकि वह सारे जगत् को उठाता है और जो मनुष्य इस प्रकार से जानता है उसके यहाँ 'उक्थ' जाननेवाले पुत्र का जन्म होता है। वह उक्थ में समा जाता है और उक्थ के लोक में बसता है।

यजुः प्राणो वै यजुः प्राणे हीमानि सर्वाणि भूतानि युज्यन्ते युज्यन्ते हास्मै सर्वाणि भूतानि श्रैष्ठ्याय यजुषः सायुज्यꣳ सलोकतां जयति य एवं वेद ॥2॥

अब यजुष् के विषय में कहा जाता है—प्राण ही यजुष् है क्योंकि ये सभी प्राणी प्राण से ही युक्त होते हैं। जो मनुष्य इस प्रकार जानता है, उसकी श्रेष्ठता को स्थापित करने के लिए सभी प्राणी एकत्रित होते हैं। वह मनुष्य यजुष् में समा जाता है और जिस लोक में यजुष् रहता है, उस लोक में निवास करता है।

साम प्राणो वै साम प्राणे हीमानि सर्वाणि भूतानि सम्यञ्चि सम्यञ्चि हास्मै सर्वाणि भूतानि श्रैष्ठ्याय कल्पन्ते साम्नः सायुज्यꣳ सलोकतां जयति य एवं वेद ॥3॥

अब सामरूप प्राण की उपासना कही जाती है—साम ही प्राण है प्राण में ही ये सभी प्राणी एकत्रित होते हैं। वे उसकी श्रेष्ठता स्थापित कर देते हैं। जो मनुष्य इस प्रकार जानता है, वह साम में समा जाता है। जिस देश में साम रहता है, उसी देश को वह प्राप्त होता है।

क्षत्रं प्राणो वै क्षत्रं प्राणो ह वै क्षत्रं त्रायते हैनं प्राणः क्षणितोः प्रक्षत्रमत्राप्नोति क्षत्रस्य सायुज्यꣳ सलोकतां जयति य एवं वेद ॥4॥

इति त्रयोदशं ब्राह्मणम् ॥

अब क्षत्र के विषय में प्राणोपासना कही जाती है—प्राण ही क्षत्रियत्व है। क्योंकि प्राण ही क्षत से बचाता है (त्राण करता है)। जो मनुष्य इस प्रकार जानता है, उसे क्षत्रियत्व मिल जाता है। उस क्षत्रियत्व को अन्य किसी रक्षण की आवश्यकता नहीं रहती। जो इस प्रकार जानता है, वह क्षत्रियत्व में समा जाता है, और जिस लोक में क्षत्रियत्व रहता है, उस लोक में जाता है।

(यहाँ तेरहवाँ ब्राह्मण पूरा हुआ।)

❋

चतुर्दशं ब्राह्मणम्

भूम्यन्तरिक्षं द्यौरित्यष्टावक्षराण्यष्टाक्षरꣳ ह वा एकं गायत्र्यै पदमेतदु हैवास्या एतत्स यावदेषु त्रिषु लोकेषु तावद्ध जयति योऽस्या एतदेवं पदं वेद ॥1॥

भूमि, अन्तरिक्ष और द्यौः—ये आठ अक्षर हैं। गायत्री का प्रथम पद भी तो आठ ही अक्षर वाला है। ये (भूमि आदि) ही गायत्री का प्रथम पाद है। इस प्रकार इसके पाद को जो मनुष्य जानता है, वह इस त्रिलोक में जो कुछ है, उसे जीत लेता है।

ऋचो यजूꣳषि सामानीत्यष्टावक्षराण्यष्टाक्षरꣳ ह वा एकं गायत्र्यै पदमेतदु हैवास्या एतत्स यावतीयं त्रयी विद्या तावद्ध जयति योऽस्या एतदेवं पदं वेद ॥2॥

'ऋचः यजूँषि सामानि'—ये आठ अक्षर हैं। गायत्री का एक दूसरा चरण भी आठ ही अक्षरों वाला है। जो मनुष्य इसके इस चरण को इस तरह जानता है, वह जितनी यह त्रयीविद्या है, उसका फल प्राप्त कर लेता है।

प्राणोऽपानो व्यान इत्यष्टावक्षराण्यष्टाक्षरꣳ ह वा एकं गायत्र्यै पदमेतदु हैवास्या एतत्स यावदिदं प्राणि तावद्ध जयति योऽस्या एतदेवं पदं वेदाथास्या एतदेव तुरीयं दर्शतं पदं परोरजा य एष तपति यद्वै चतुर्थं तत्तुरीयं दर्शतं पदमिति ददृश इव ह्येष परोरजा इति सर्वमु ह्येवैष रज उपर्युपरि तपत्येवꣳ हैव श्रिया यशसा तपति योऽस्या एतदेवं पदं वेद ॥3॥

प्राण, अपान और व्यान—ये आठ अक्षर हैं। गायत्री मंत्र के एक तीसरे चरण के भी तो आठ ही अक्षर हैं। ये प्राण आदि ही गायत्री का तीसरा चरण है। जो मनुष्य इस तीसरे चरण को इस प्रकार जानता है, वह जितना प्राणीसमुदाय है, उन सबको जीत लेता है। और यह जो कुछ तपता (प्रकाशता) है, वही इस गायत्री का तुरीय अर्थात् चौथा चरण है। वह दर्शत् (दिखाई देनेवाला) और परोरज (अन्धकार से उस पार का) है। 'दर्शत्' का अर्थ—'मानो दिखाई देता हो' और 'परोरज' का अर्थ—'सब रजों के (लोकों के) अंधकार के परे है।' ऐसा होता है। जो मनुष्य इसको इस प्रकार जानता है, वह तेज और यश से प्रकाशित हो जाता है।

सैषा गायत्र्येतस्मिꣳस्तुरीये दर्शते पदे परोरजसि प्रतिष्ठिता तद्वै तत्सत्ये प्रतिष्ठितं चक्षुर्वै सत्यं चक्षुर्हि वै सत्यं तस्माद्यदिदानीं द्वौ विवदमानावेयातामहमदर्शमहमश्रौषमिति य एवं ब्रूयादहमदर्शमिति तस्मा एव श्रद्ध्याम तद्वै तत्सत्यं बले प्रतिष्ठितं प्राणो वै बलं तत्प्राणे प्रतिष्ठितं तस्मादाहुर्बलꣳ सत्यादोजीय इत्येवं वैषा गायत्र्यध्यात्मं प्रतिष्ठिता सा हैषा गयाꣳस्तत्रे प्राणा वै गयास्तत्प्राणाꣳस्तत्रे तद्यद्गयाꣳस्तत्रे तस्माद्गायत्री नाम स यामेवामूꣳ सावित्रीमन्वाहैषैव स यस्मा अन्वाह तस्य प्राणाꣳस्त्रायते ॥4॥

यह गायत्री इस दिखाई देनेवाले और अन्धकार के उस पार के चौथे चरण पर प्रतिष्ठित है। और वह चरण सत्य के आधार पर स्थित है। सत्य क्या है ? आँख ही सत्य है। आँख वास्तव में सत्य है, क्योंकि आज भी दो मनुष्य झगड़ते हुए आयें और उनमें से एक यदि कहे कि 'मैंने देखा' और दूसरा कहे कि 'मैंने सुना' तो 'मैंने देखा'—ऐसा कहनेवाले के ऊपर ही हम श्रद्धा रखते हैं। वह सत्य बल के आधार पर टिका हुआ है। इसलिए कहते हैं कि बल सत्य से भी ओजस्वी है। इसी प्रकार यह गायत्री शरीर में स्थित प्राण पर आधारित है। उसने 'गयों' का त्राण किया—'गय' का अर्थ है प्राण। गायत्री ने उन प्राणों का त्राण (रक्षण) किया। इसलिए इसका नाम 'गायत्री' पड़ा है। (उपवीत के समय) आचार्य ने जिस गायत्री का उपदेश दिया था वह यही है। वही गायत्री उस बटुक के प्राणों का रक्षण करती है।

ताꣳ हैतामेके सावित्रीमनुष्टुभमन्वाहुर्वागनुष्टुबेतद्वाचमनुब्रूम इति न तथा कुर्याद्गायत्रीमेव सावित्रीमनुब्रूयाद्यदिह वा अप्येवंविद्बह्विव प्रतिगृह्णाति न हैव तद्गायत्र्या एकं च न पदं प्रति ॥5॥

कुछ (वैदिक शाखाओं वाले लोग यज्ञोपवीत देते समय उपवीतार्थी को) गायत्री छन्द वाले मंत्र के बदले (तीन चरणों वाले छन्द के बदले) अनुष्टुभ् छन्द वाली (चार चरण के छन्द वाली) सावित्री का उपदेश करते हैं। और कहते हैं कि वाणी 'अनुष्टुभ्' है। इसलिए हम वाणी का उपदेश करते हैं। परन्तु, ऐसा नहीं करना चाहिए। गायत्री छन्द वाली सावित्री का ही उपदेश करना चाहिए। इस प्रकार जाननेवाला मनुष्य चाहे कितनी ही भेंटों को स्वीकार करे, तो भी वह गायत्री के एक चरण के समान भी नहीं होंगी।

स य इमाꣳस्त्रींल्लोकान्पूर्णान्प्रतिगृह्णीयात्सोऽस्या एतत्प्रथमं पदमाप्नुयादथ यावतीयं त्रयी विद्या यस्तावत्प्रतिगृह्णीयात्सोऽस्या एतद्द्वितीयं

पदमाप्नुयादथ यावदिदं प्राणि यस्तावत्प्रतिगृह्णीयात्सोऽस्या एतत्तृतीयं पदमाप्नुयादथास्या एतदेव तुरीयं दर्शतं पदं परोरजा य एष तपति नैव केनचनाप्यं कुत उ एतावत्प्रतिगृह्णीयात् ॥6॥

यदि मनुष्य धन से परिपूर्ण इन तीनों लोकों का स्वीकार करे, तो उसे गायत्री के प्रथम चरण मात्र के समान ही मानते हैं। यदि वह तीनों वेदों का ज्ञान प्राप्त कर ले, तो वह गायत्री के दूसरे चरण के बराबर ही है। यदि वह सभी प्राणियों को अपने प्रभुत्व में ले ले, तो वह गायत्री के तीसरे चरण के बराबर ही है। अन्धकार के उस पार प्रकाशित गायत्री का जो चौथा चरण दर्शनीय है, वह तपता हुआ सूर्य है। वह तो किसी से भी प्राप्त नहीं किया जा सकता। इतना बड़ा धन तो मनुष्य कैसे और कहाँ से प्राप्त कर सकता है भला?

तस्या उपस्थानं गायत्र्यस्येकपदी द्विपदी त्रिपदी चतुष्पद्यपदसि न हि पद्यसे नमस्ते तुरीयाय दर्शताय पदाय परोरजसेऽसावदो मा प्रापदिति यं द्विष्यादसावस्मै कामो मा समृद्धीति वा न हैवास्मै स कामः समृध्यते यस्मा एवमुपतिष्ठतेऽहमदः प्रापमिति वा ॥7॥

(अब) उस गायत्री का उपस्थान (बताते हैं—) हे गायत्री! तू एकपदी (= त्रैलोक्यरूप) है, तू द्विपदी (=वेदरूप) है, तू त्रिपदी (= प्राणापानव्यानरूप) है और तू चतुष्पदी (= तुरीय) भी है। और इस सबसे परे (निरुपाधिक स्वरूप से) तू अपद् (चरणरहित) है। तू किसी से जानी नहीं जा सकती। तुम्हारे दर्शनीय, अन्धकारातीत प्रकाशित स्वरूप को नमस्कार हो।

यह गायत्री मन्त्र को जाननेवाला विद्वान यदि किसी से बैर रखता हो और उसके लिए कहे कि, 'उसकी कामना फलवती न हो' तो उसकी कामना फलदायी नहीं होती और यदि कहे कि 'उसकी कामना सफल हो' तो वह सफल हो जाती है।

एतद्ध वै तज्जनको वैदेहो बुडिलमाश्वतराश्विमुवाच यन्नु हो तद्गायत्रीविदब्रूथा अथ कथꣳ हस्तीभूतो वहसीति मुखꣳ ह्यस्याः सम्राण्न विदांचकारेति होवाच तस्या अग्निरेव मुखं यदि ह वा अपि बह्विवाग्नावभ्यादधति सर्वमेव तत्संदहत्येवꣳ हैवैवंविद्यद्यपि बह्विव पापं कुरुते सर्वमेव तत्संप्साय शुद्धः पूतोऽजरोऽमृतः संभवति ॥8॥

इति चतुर्दशं ब्राह्मणम् ॥

इस विषय में विदेहराज जनक ने अश्वतराश्व के पुत्र बुडिल से कहा—"तुमने कहा था न कि मैं गायत्री का जानने वाला हूँ? तो फिर हाथी बनकर मेरा भार क्यों ढोते हो?" तब बुडिल बोला—"सम्राट्! मैं उस मंत्र का मुख नहीं जानता था।" तब जनक बोले—"अग्नि ही गायत्री का मुख है। लोग अग्नि में बहुत ईंधन डालते हैं, तो भी वह सबको खाक कर देता है। वैसे ही जो मनुष्य ऐसा जानता है, वह बहुत पाप करे, तो भी वह सब पापों को जला देता है, और शुद्ध एवं पवित्र होता है, उसको वृद्धत्व नहीं आता, उसे मृत्यु नहीं आती।

(यहाँ चौदहवाँ ब्राह्मण पूरा हुआ।)

पञ्चदशं ब्राह्मणम्

हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्। तत्त्वं पूषन्नपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये। पूषन्नेकर्षे यम सूर्य प्राजापत्य व्यूहरश्मीन्समूह तेजो यत्ते रूपं कल्याणतमं तत्ते पश्यामि योऽसावसौ पुरुषः सोऽहमस्मि। वायुरनिलममृतमथेदं भस्मान्तꣳ शरीरम्। ॐ 3 क्रतो स्मर कृतꣳ स्मर क्रतो स्मर कृतꣳ स्मर। अग्ने नय सुपथा राये अस्मान्विश्वानि देव वयुनानि विद्वान्। युयोध्यस्मज्जुहुराणमेनो भूयिष्ठां ते नम उक्तिं विधेम ॥1॥

इति पञ्चदशं ब्राह्मणम् ॥

इति बृहदारण्यकोपनिषदि पञ्चमोऽध्यायः ॥5॥

हिरण्मय पात्र से सत्य (ब्रह्म) का मुख ढँक गया है। हे पूषन्! धर्मरूप दृष्टिवाले मेरे देखने के लिए उसे खोल दो। हे पूषन् (पोषक देव)! हे एकर्षे! हे यम! हे सूर्य! हे प्राजापत्य! अपनी किरणों को (वहाँ से) हटा लीजिए, जिससे मैं तुम्हारा जो अतिकल्याणकारी रूप है, उसे देख लूँ। (आदित्यमण्डल में स्थित) जो वह पुरुष है, वह अमृतस्वरूप मैं ही हूँ। (मरण होने पर मेरा) प्राणवायु बाह्य अनिल में (वायु में) तथा यह शरीर भस्म में मिल जाए। हे ऊँकाररूप मनोमय अग्नि! स्मरणीय कार्यों का स्मरण कर। हे अग्नि! मेरे किए हुए का स्मरण कर। हे अग्नि! हमें कर्मफल की प्राप्ति के लिए शुभ मार्ग की ओर ले चल। हे देव! तू सर्व प्राणियों के सर्वज्ञानों को जानता है। हमारे कुटिल पापों को दूर कर। हम बार-बार तेरा वन्दन करते हैं।

(यहाँ पंद्रहवाँ ब्राह्मण पूरा हुआ।)

यहाँ बृहदारण्यकोपनिषद् में पाँचवाँ अध्याय समाप्त होता है।

अथ षष्ठोऽध्यायः

प्रथमं ब्राह्मणम्

ॐ यो ह वै ज्येष्ठं च श्रेष्ठं च वेद ज्येष्ठश्च श्रेष्ठश्च स्वानां भवति प्राणो वै ज्येष्ठश्च श्रेष्ठश्च ज्येष्ठश्च श्रेष्ठश्च स्वानां भवत्यपि च येषां बुभूषति य एवं वेद ॥1॥

ॐ जो मनुष्य सबसे बड़ी और सबसे अच्छी वस्तु को जानता है, वह स्वजनों में सबसे बड़ा और सबसे अच्छा बनता है। प्राण ही सबसे बड़ी और सबसे अच्छी वस्तु है। इस प्रकार जानकर जो उसकी (प्राण की) उपासना करता है, वह स्वजनों में सबसे बड़ा और सबसे अच्छा तो बनता ही है, पर अन्य लोगों में भी जहाँ वह चाहता है वहाँ सबसे बड़ा और सबसे अच्छा बन जाता है।

यो ह वै वसिष्ठां वेद वसिष्ठः स्वानां भवति वाग्वै वसिष्ठा वसिष्ठः स्वानां भवत्यपि च येषां बुभूषति य एवं वेद ॥2॥

यदि कोई मनुष्य किसी के उत्तम निवासस्थान रूप वस्तु को जानता है, वह स्वजनों में उत्तम आश्रयस्थान रूप बनता है। वाणी ही श्रेष्ठ है। और जो ऐसा जानता है वह अन्य लोगों में भी जहाँ वह चाहता है उत्तम आश्रयरूप बन जाता है।

यो ह वै प्रतिष्ठां वेद प्रतितिष्ठति समे प्रतितिष्ठति दुर्गे चक्षुर्वै प्रतिष्ठा चक्षुषा हि समे च दुर्गे च प्रतितिष्ठति प्रतितिष्ठति समे प्रतितिष्ठति दुर्गे य एवं वेद ॥3॥

यदि कोई मनुष्य प्रतिष्ठा को (सद्गुणयुक्त स्थिति को) जानता है (उपासना करता है), वह सुभिक्षादि अच्छे समय में अच्छी तरह से स्थिर रहता है, तथा विषम काल में भी अच्छी तरह से स्थिर रहता है। चक्षु ही प्रतिष्ठा (अच्छी स्थिति) है क्योंकि आँख के द्वारा ही अच्छे-बुरे देशकाल में मनुष्य अच्छी तरह से स्थिर रहता है। दोनों में समानरूप से रह सकता है।

यो ह वै संपदं वेद सꣳ हास्मै पद्यते यं कामं कामयते श्रोत्रं वै संपच्छ्रोत्रे हीमे सर्वे वेदा अभिसंपन्नाः सꣳहास्मै पद्यते यं कामं कामयते य एवं वेद ॥4॥

जो मनुष्य संपद को जानता (उपासना करता) है, उसकी जो भी इच्छा हो, पूर्ण होती है। कान ही संपद है। कान हो तभी सब वेद सुने जा सकते हैं। जो मनुष्य श्रोत्र की इस प्रकार से उपासना करता है, उसकी किसी भोग की कामना सरलता से पूर्ण हो सकती है।

यो ह वा आयतनं वेदायतनꣳ स्वानां भवत्यायतनं जनानां मनो ह वा आयतनमायतनꣳ स्वानां भवत्यायतनं जनानां य एवं वेद ॥5॥

जो कोई आयतन (आश्रय) को जानता (उपासना करता) है, वह स्वजनों का आश्रय बनता है, और अन्य जनों का भी आश्रयस्थान बनता है। मन ही वह आश्रय है।

यो ह वै प्रजातिं वेद प्रजायते ह प्रजया पशुभिः रेतो वै प्रजातिः प्रजायते ह प्रजया पशुभिर्य एवं वेद ॥6॥

जो प्रजाति (प्रजननशक्ति) को जानता है, वह प्रजाओं और पशुओं के द्वारा वृद्धि को प्राप्त होता है। 'वीर्य ही प्रजननशक्ति है।'—ऐसा जो जानता है, वह प्रजाओं और पशुओं से युक्त होता है।

ते हेमे प्राणा अहꣳश्रेयसे विवदमाना ब्रह्म जग्मुस्तद्धोचुः को नो वसिष्ठ इति तद्धोवाच यस्मिन्व उत्क्रान्त इदꣳ शरीरं पापीयो मन्यते स वो वसिष्ठ इति ॥7॥

एक बार वाग् आदि ये प्राण (इन्द्रियाँ) अपनी श्रेष्ठता (साबित करने) के लिए ब्रह्मा के पास गए। (उन्होंने पूछा—) "हममें से बड़ा कौन है ?" ब्रह्मा ने उनसे कहा—"तुममें से जिसके चले जाने से (अलग पड़ जाने से) यह शरीर अपने को अधिक पापी मानने लगे (शरीर की दुर्दशा हो) वही सबसे बड़ा है।"

वाग्घोच्चक्राम सा संवत्सरं प्रोष्यागत्योवाच कथमशकत मदृते जीवितुमिति ते होचुर्यथाऽकला अवदन्तो वाचा प्राणन्तः प्राणेन पश्यन्तश्चक्षुषा शृण्वन्तः श्रोत्रेण विद्वाꣳसो मनसा प्रजायमाना रेतसैवमजीविष्मेति प्रविवेश ह वाक् ॥8॥

बाद में जीभ शरीर में से चली गई। एक वर्ष तक बाहर रहकर वह वापिस आई और अन्यों से बोली—"मेरे बिना तुम लोग कैसे जी सके ?" उन इन्द्रियों ने उत्तर दिया—"जैसे गूँगे लोग वाणी से बिना बोले ही प्राणवायु से साँस लेते हुए, आँख से देखते हुए, कान से सुनते हुए, मन से जानते हुए और वीर्य से उत्पन्न हुए जीते हैं, वैसे ही हम जीएँ।" (यह सुनकर) वाणी ने फिर (शरीर में) प्रवेश कर लिया।

चक्षुर्होच्चक्राम तत्संवत्सरं प्रोष्यागत्योवाच कथमशकत मदृते जीवितुमिति ते होचुर्यथाऽन्धा अपश्यन्तश्चक्षुषा प्राणन्तः प्राणेन वदन्तो वाचा शृण्वन्तः श्रोत्रेण विद्वाꣳसो मनसा प्रजायमाना रेतसैवमजीविष्मेति प्रविवेश ह चक्षुः ॥9॥

बाद में चक्षु शरीर से बाहर चला गया। एक वर्ष तक बाहर रहकर वापस आकर अन्यों से पूछने लगा—"मेरे बिना तुम लोग कैसे जी सके ?" अन्यों ने कहा—"जैसे अन्धे लोग बिना चक्षु से न देखते हुए भी प्राणों से साँस लेते हुए, वाणी से बोलते हुए, कान से सुनते हुए, मन से जानते हुए और वीर्य से उत्पन्न हुए जीते हैं, वैसे ही हम जीएँ।" तब आँख ने फिर से (शरीर में) प्रवेश कर लिया।

श्रोत्रꣳ होच्चक्राम तत्संवत्सरं प्रोष्यागत्योवाच कथमशकत मदृते जीवितुमिति ते होचुर्यथा बधिरा अशृण्वन्तः श्रोत्रेण प्राणन्तः प्राणेन वदन्तो वाचा पश्यन्तश्चक्षुषा विद्वाꣳसो मनसा प्रजायमाना रेतसैवमजीविष्मेति प्रविवेश ह श्रोत्रम् ॥10॥

तब श्रोत्र उठकर चला गया। वह (भी) एक वर्ष तक बाहर रहकर वापिस आकर (अन्य इन्द्रियों से) कहने लगा—"मेरे बिना तुम लोग कैसे जी सके ?" उन्होंने कहा—"जैसे बहरे लोग कान के बिना न सुनते हुए भी प्राणों से साँस लेते हुए, वाणी से बोलते हुए, आँख से देखते हुए, मन से जानते

हुए, और वीर्य से उत्पन्न होते हुए जीते हैं, वैसे ही हम लोग भी जीए।'' यह सुनकर कान भी (शरीर में) वापिस प्रविष्ट हो गया।

मनो होच्चक्राम तत्संवत्सरं प्रोष्यागत्योवाच कथमशकत मदृते जीवितु-मिति ते होचुर्यथा मुग्धा अविद्वांसो मनसा प्राणन्तः प्राणेन वदन्तो वाचा पश्यन्तश्चक्षुषा शृण्वन्तः श्रोत्रेण प्रजायमाना रेतसैवमजीविष्मेति प्रविवेश ह मनः ॥11॥

अब मन उठकर चला गया। वह एक वर्ष तक बाहर रहकर वापस आकर बोला—''मेरे बिना तुम लोग कैसे जी सके ?'' तब अन्य इन्द्रियों ने कहा—''जैसे नासमझ मनुष्य मन से न समझते हुए भी प्राणों से साँस लेते हुए, वाणी से बोलते हुए, आँख से देखते हुए, कान से सुनते हुए, वीर्य से उत्पन्न होते हुए जीते हैं, वैसे ही हम जीए।'' यह सुनकर मन भी फिर से (शरीर में) प्रविष्ट हो गया।

रेतो होच्चक्राम तत्संवत्सरं प्रोष्यागत्योवाच कथमशकत मदृते जीवितु-मिति ते होचुर्यथा क्लीबा अप्रजायमाना रेतसा प्राणन्तः प्राणेन वदन्तो वाचा पश्यन्तश्चक्षुषा शृण्वन्तः श्रोत्रेण विद्वांसो मनसैवमजीविष्मेति प्रविवेश ह रेतः ॥12॥

फिर वीर्य शरीर से चला गया। एक वर्ष तक बाहर रहकर वह वापिस आया और बोला—''मेरे बिना तुम लोग कैसे जी सके ?'' उन्होंने तब कहा—''जैसे नपुंसक लोग बिना वीर्य के प्रजा तो उत्पन्न नहीं कर सकते, परन्तु प्राण से साँस लेकर, वाणी को बोलते हुए, आँख से देखते हुए, कान से सुनते हुए, मन से जानते हुए जीते हैं, वैसे ही हम जीए।'' यह सुनकर वीर्य ने भी वापस (शरीर में) प्रवेश किया।

अथ ह प्राण उत्क्रमिष्यन्यथा महासुहयः सैन्धवः पड्वीशशङ्कून्संवृहे-देवः हैवेमान्प्राणान्त्संववर्ह ते होचुर्मा भगव उत्क्रमीर्न वै शक्ष्यामस्त्वदृते जीवितुमिति तस्यो मे बलिं कुरुतेति तथेति ॥13॥

फिर जब प्राण चलने लगा तब उसने जैसे सिन्ध देश में जन्मा हुआ बड़ा सुन्दर घोड़ा बन्धन के खूँटों को उखाड़ देता है, वैसे ही इन दूसरे प्राणों को (इन्द्रियों को) उखाड़ दिया। इसलिए उन्होंने (इन्द्रियों ने) कहा—''हे भगवन्! आप मत जाइए। आपके बिना हम जीवित नहीं रह सकेंगे।'' तब प्राण बोला—''तब श्रेष्ठ ऐसे मुझको बलि देते रहो।'' तब दूसरे प्राण (इन्द्रियाँ) बोले—''ठीक है—जी हाँ।''

सा ह वागुवाच यद्वा अहं वसिष्ठास्मि त्वं तद्वसिष्ठोऽसीति यद्वा अहं प्रति-ष्ठास्मि त्वं तत्प्रतिष्ठोऽसीति चक्षुर्यद्वा अहः संपदस्मि त्वं तत्संपदसीति श्रोत्रं यद्वा अहमायतनमस्मि त्वं तदायतनमसीति मनो वा यद्वा अहं प्रजातिरस्मि त्वं तत्प्रजातिरसीति रेतस्तस्यो मे किमन्नं किं वास इति यदिदं किंचाश्वभ्य आकृमिभ्य आकीटपतङ्गेभ्यस्तत्तेऽन्नमापो वास इति न ह वा अस्यानन्नं जग्धं भवति नानन्नं परिगृहीतं य एवमेतदनस्यान्नं वेद तद्विद्वांसः श्रोत्रिया अशिष्यन्त आचमन्त्यशित्वाचामन्त्येतमेव तदनम-नग्नं कुर्वन्तो मन्यन्ते ॥14॥

इति प्रथमं ब्राह्मणम् ॥

वाणी बोली—''यदि मैं उत्तम आश्रय हूँ, तो मुझसे अधिक उत्तम आश्रय तुम हो।'' तब आँख ने कहा—''यदि मैं प्रतिष्ठा हूँ, तो मुझसे भी सबकी प्रतिष्ठा तुम हो'' । तब कान ने कहा—''यदि मैं सम्पत्तिरूप तो मुझसे अधिक तुम सम्पत्तिरूप हो।'' तब मन बोला—''यदि मैं आश्रयरूप हूँ तो मुझसे अधिक आश्रयरूप तो तुम्हीं हो।'' तब वीर्य ने कहा—''यदि मैं प्रजननशक्तिवाला हूँ, तो तुम उसकी भी प्रजननशक्ति हो।'' तब प्राण ने कहा—''तुम लोगों में श्रेष्ठ ऐसे मेरा अन्न क्या है ? मेरा वस्त्र क्या है ?'' (इसके उत्तर में वागादि ने कहा कि—) ''कुत्ते, कीड़े और जुगनुओं से लेकर यह जो कुछ भी है, वह सब तुम्हारा अन्न है, और जल ही तुम्हारा वस्त्र है। जो कोई भी मनुष्य इस प्राण के अन्न को जानता है, उसको कभी अभक्ष्य का भक्षण नहीं होता। अभक्ष्य का संग्रहण भी उसका नहीं होता है। इसलिए पढ़े-लिखे विद्वान् लोग भोजन करते समय आचमन करते हैं, और भोजन करने के बाद भी आचमन करते हैं। और अपने उस कर्म को वे प्राणों को आच्छादित करने का (प्राणों को वस्त्रहीन करने का) कार्य नहीं करते हैं।

(यहाँ पहला ब्राह्मण पूरा हुआ।)

❋

द्वितीयं ब्राह्मणम्

श्वेतकेतुर्ह वा आरुणेयः पञ्चालानां परिषदमाजगाम स आजगाम जैवलिं प्रवाहणं परिचारयमाणं तमुदीक्ष्याभ्युवाद कुमार 3 इति स भो 3 इति प्रतिशुश्रावाऽनुशिष्टोन्वसि पित्रेत्योमिति होवाच ॥1॥

अरुणपौत्र श्वेतकेतु पांचालों की सभा में आया। वह जीवलपुत्र प्रवहण के यहाँ पहुँचा। वह नौकरों से अपनी सेवा करवा रहा था। उसे देखकर प्रवहण ने कहा—''क्यों कुमार !'' उसने उत्तर दिया 'जी !' तब (राजा प्रवहण ने) पूछा—''क्या तुम्हारे पिता ने तुम्हें पढ़ाया है ?'' वह बोला—''जी हाँ'' ।

वेत्थ यथेमाः प्रजाः प्रयत्यो विप्रतिपद्यन्ता 3 इति नेति होवाच वेत्थो यथेमं लोकं पुनरापद्यन्ता 3 इति नेति हैवोवाच वेत्थो यथासौ लोक एवं बहुभिः पुनः पुनः प्रयद्भिर्न संपूर्यता 3 इति नेति हैवोवाच वेत्थो यति-थ्यामाहुत्याः हुतायामापः पुरुषवाचो भूत्वा समुत्थाय वदन्ती 3 इति नेति हैवोवाच वेत्थो देवयानस्य वा पथः प्रतिपदं पितृयाणस्य वा यत्कृत्वा देवयानं वा पन्थानं प्रतिपद्यन्ते पितृयाणं वापि हि न ऋषेर्वचः श्रुतम्। द्वे सृती अशृणवं पितॄणामहं देवानामुत मर्त्यानाम्। ताभ्यामिदं विश्वमेजत्समेति यदन्तरा पितरं मातरं चेति नाहमत एकंचन वेदेति होवाच ॥2॥

(तब राजा ने पूछा—) ''ये सब लोग मृत्यु के बाद विभिन्न मार्गों में जाते हैं, वह तुम जानते हो ?'' श्वेतकेतु ने कहा—''नहीं जी।'' तब राजा ने पूछा—''जैसे पुनः वे लोग यहाँ आते हैं वह जानते हो ?'' श्वेतकेतु ने कहा—''नहीं जी।'' तब राजा ने पूछा—''क्या तुम यह जानते हो कि बार-बार लोग परलोक में जाते हैं, फिर भी वह भर क्यों नहीं जाता ?'' श्वेतकेतु बोला—''नहीं जी।'' तब राजा ने फिर पूछा—''कितनी आहुतियाँ देने के बाद जल पुरुषशब्द वाच्य होकर बोल उठता है, वह तुम जानते हो ?'' श्वेतकेतु बोला—''जी नहीं।'' राजा ने आगे पूछा—''देवयान या पितृयाण के मार्गों के साधनों को तुम जानते हो क्या ? हम लोगों ने ऋषि का वचन (मंत्रवाक्य) सुना है कि मनुष्यों के

लिए दो रास्ते हैं एक देवदान है और दूसरा है पितृयाण। यह सारा विश्व उन दो मार्गों से होकर ही जाता है। ये दो मार्ग जिसके बीच में हैं, ऐसे द्युलोकरूप पिता और पृथ्वीलोकरूप माता के मध्यवर्ती मार्गों को तुम जानते हो क्या?" तब श्वेतकेतु ने कहा—"मैं इनमें से किसी को नहीं जानता।"

अथैनं वसत्योपमन्त्रयांचक्रेऽनादृत्य वसतिं कुमारः प्रदुद्राव स आजगाम पितरं तः होवाचेति वाव किल नो भवान्पुरानुशिष्टानवोचदिति कथः सुमेध इति पञ्च मा प्रश्नान् राजन्यबन्धुरप्राक्षीत्ततो नैकंचन वेदेति कतमे त इतीम इति ह प्रतीकान्युदाजहार ॥3॥

बाद में उसको (श्वेतकेतु को) यहाँ ठहरने के लिए प्रार्थना की। परन्तु कुमार श्वेतकेतु ठहरने की उस प्रार्थना का अनादर करके दौड़कर अपने पिता के पास आ पहुँचा, और उससे कहने लगा—"आपने पहले समावर्तन संस्कार के समय ऐसा ही कहा था न कि आपने मुझे पढ़ा दिया है!" तब पिता बोले—"अरे सयाने! तो उसका अब क्या है?" तब श्वेतकेतु ने कहा—"अरे! उस दुष्ट क्षत्रिय ने मुझसे पाँच प्रश्न पूछे, उनमें से एक का जवाब भी मैं नहीं दे पाया।" पिता ने पूछा—"कौन से थे वे प्रश्न?" श्वेतकेतु ने कहा—"ये हैं वे प्रश्न!" ऐसा कहकर उसने (पूछे हुए) प्रश्नों का कुछ अंश सुनाया।

स होवाच तथा नस्त्वं तात जानीथा यथा यदहं किंचन वेद सर्वमहं तत्तुभ्यमवोचं प्रेहि तु तत्र प्रतीत्य ब्रह्मचर्यं वत्स्याव इति भवानेव गच्छत्विति स आजगाम गौतमो यत्र प्रवाहणस्य जैबलेरास तस्मा आसनमाहृत्योदकमाहारयांचकाराथ हास्मा अर्घ्यं चकार तः होवाच वरं भगवते गौतमाय दद्म इति ॥4॥

तब उसने (पिता ने पुत्र से) कहा—"तुम मुझसे यह जान लो कि मैं जो कुछ भी जानता था, वह सब मैंने तुम्हें बता दिया है। इसलिए चलो मेरे साथ चलो, हम दोनों उसके यहाँ जाकर विद्याग्रहण करने के लिए ब्रह्मचर्य का पालन करें।" श्वेतकेतु ने कहा—"आप ही जाइए।" ऐसा सुनकर गौतम (आरुणि) प्रवाहण जैबाल की जहाँ बैठक थी वहाँ गए। राजा प्रवाहण ने उनके लिए आसन लाकर और (सेवकों द्वारा) जल मँगवाकर अर्घ्यदान किया। और कहा—"मैं भगवान् गौतम को वर देता हूँ।"

स होवाच प्रतिज्ञातो म एष वरो यां तु कुमारस्यान्ते वाचमभाषथास्तां मे ब्रूहीति ॥5॥

तब उसने (गौतम आरुणि ने) कहा—"आपने मुझे वर देने की प्रतिज्ञा की है, तो ऐसे आपसे मेरा यही वर है कि आपने कुमार से (मेरे पुत्र से) जो बात पूछी थी, वह कहिए।"

स होवाच दैवेषु वै गौतम तद्वरेषु मानुषाणां ब्रूहीति ॥6॥

तब उसने (प्रवाहण ने) कहा—"हे गौतम! वह वरदान तो दैव वरदानों में से है। आप मनुष्य सम्बन्धी वरदानों में से कोई वर माँगिए।"

स होवाच विज्ञायते हास्ति हिरण्यस्यापात्तं गोअश्वानां दासीनां प्रवाराणां परिधानस्य मा नो भवान्बहोरनन्तस्यापर्यन्तस्याभ्यवदान्योऽभूदिति स वै गौतम तीर्थेनेच्छासा इत्युपैम्यहं भवन्तमिति वाचा ह स्मैव पूर्व उपयन्ति स होपायनकीर्त्योवास ॥7॥

उसने (गौतम आरुणि ने) कहा—"आप जानते हैं कि वह तो मेरे पास है ही। सोने की, गायों की, घोड़ों की, दासियों की, परिवार की और वस्त्र आदि की प्राप्ति तो मुझे है ही। आप तो सदा पुष्कल अपार अनन्त धन का दान करते ही रहे हैं, तो मेरे लिए उस अपार अक्षुण्ण वस्तु के दान के लिए 'अदाता' (दान में संकोच करनेवाले) न हों।" तब राजा ने कहा—"तब तो हे गौतम, तुम्हें शास्त्रकथित विधि अनुसार ऐसी इच्छा करनी चाहिए।" तब गौतम ने कहा—"मैं आपके पास शिष्यभाव से उपस्थित होता हूँ। ब्राह्मण लोग मुँह से ऐसा बोलकर ही प्राचीन समय में गुरु के यहाँ पढ़ने जाते थे।"

स होवाच यथा नस्त्वं गौतम मापराधास्तव च पितामहा यथेयं विद्येतः पूर्वं न कस्मिंश्चन ब्राह्मण उवास तां त्वहं तुभ्यं वक्ष्यामि को हि त्वैवं ब्रुवन्तमर्हति प्रत्याख्यातुमिति ॥8॥

उसने (राजा ने) कहा—"जिस तरह तुम्हारे परदादों ने हमारे पूर्वजों के अपराधों को लक्ष्य में नहीं लिया, वैसे ही हमारे अपराधों को तुम भी लक्ष्य में मत लेना। यह विद्या पहले किसी ब्राह्मण के यहाँ नहीं रही। वह मैं तुम्हें बताऊँगा। क्योंकि इस तरह विनयपूर्वक बोलनेवाले तुमको 'नहीं'—ऐसा कहने के लिए कौन समर्थ है भला?

असौ वै लोकोऽग्निर्गौतम तस्यादित्य एव समिद्रश्मयो धूमोऽहरर्चिर्दिशोऽङ्गारा अवान्तरदिशो विस्फुलिङ्गास्तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवाः श्रद्धां जुह्वति तस्या आहुत्यै सोमो राजा संभवति ॥9॥

हे गौतम! यह द्युलोक ही अग्नि है, आदित्य उसका समिध है, किरणें धुआँ है, दिवस उसकी ज्वाला है, दिशाएँ अंगारे हैं, अवान्तर दिशाएँ चिनगारियाँ हैं, उस ऐसे अग्नि में देवलोक श्रद्धा का होम करते हैं। उस आहुति से राजा सोम उत्पन्न होता है।

पर्जन्यो वाऽग्निर्गौतम तस्य संवत्सर एव समिदभ्राणि धूमो विद्युदर्चिरशनिरङ्गारा ह्रादुनयो विस्फुलिङ्गास्तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवाः सोमः राजानं जुह्वति तस्या आहुत्यै वृष्टिः संभवति ॥10॥

हे गौतम! मेघ ही अग्नि है, उसका संवत्सर ही समिध है, बादल धुआँ है, विद्युत् उसकी ज्वाला है, अशनि (इन्द्र का वज्र) अंगारे हैं, मेघगर्जनाएँ चिनगारियाँ हैं, ऐसे उस अग्नि में देवलोग सोम राजा की आहुति देते हैं। उस आहुति से वृष्टि होती है।

अयं वै लोकोऽग्निर्गौतम तस्य पृथिव्येव समिदग्निर्धूमो रात्रिरर्चिश्चन्द्रमा अङ्गारा नक्षत्राणि विस्फुलिङ्गास्तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवा वृष्टिं जुह्वति तस्या आहुत्या अन्नः संभवति ॥11॥

हे गौतम! यह लोक ही अग्नि है, पृथ्वी ही इसका समिध है, अग्नि धूम है, रात्रि ज्वाला है, चन्द्रमा अंगारे हैं, नक्षत्र चिनगारियाँ हैं। ऐसे इस अग्नि में देवलोग वृष्टि को होमते हैं, इस आहुति से अन्न होता है।

पुरुषो वाऽग्निर्गौतम तस्य व्यात्तमेव समित्प्राणो धूमो वागर्चिश्चक्षुरङ्गाराः श्रोत्रं विस्फुलिङ्गास्तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवा अन्नं जुह्वति तस्या आहुत्यै रेतः संभवति ॥12॥

हे गौतम ! पुरुष ही अग्नि है, उसका खुला हुआ मुख ही समिध है, प्राण धूम है, वाणी ज्वाला है, चक्षु अंगारे हैं, श्रोत्र चिनगारियाँ हैं। ऐसे इस अग्नि में देवलोग अन्न का होम करते हैं। उस आहुति से वीर्य उत्पन्न होता है।

योषा वा अग्निर्गौतम तस्या उपस्थ एव समिल्लोमानि धूमो योनिरर्चिर्य-
दन्तः करोति तेऽङ्गारा अभिनन्दा विस्फुलिङ्गास्तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवा
रेतो जुह्वति तस्या आहुत्यै पुरुषः संभवति । स जीवति यावज्जीवत्यथ
यदा म्रियते ॥13॥

हे गौतम ! स्त्री ही यज्ञाग्नि है, उसकी जननेन्द्रिय ही समिध है, उसके ऊपर के बाल धूम हैं, योनि ज्वाला है, उसके अन्दर किया जानेवाला मैथुन व्यवहार अंगारे हैं, आनन्द चिनगारियाँ हैं। ऐसे उस अग्नि में देवलोग वीर्य का होम करते हैं। उस आहुति से पुरुष उत्पन्न होता है। वह कर्म शेष रहने तक जीता है, और जब मर जाता है, तब—

अथैनमग्नये हरन्ति तस्याग्निरेवाग्निर्भवति समित्समिद्धूमो धूमोऽर्चिर-
र्चिरङ्गारा अङ्गारा विस्फुलिङ्गा विस्फुलिङ्गास्तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवाः
पुरुषं जुह्वति तस्या आहुत्यै पुरुषो भास्वरवर्णः संभवति ॥14॥

उसे अग्नि के पास ले जाते हैं। उसका अग्नि ही अग्नि रूप होता है, समिध ही समिध रूप होता है, धूम ही धूम रूप होता है, ज्वाला ही ज्वाला रूप होती है, अंगारे ही अंगारे रूप होते हैं, चिनगारियाँ ही चिनगारियाँ रूप होती हैं। ऐसे उस अग्नि में देवलोग पुरुष का होम करते हैं। उस आहुति से पुरुष अत्यन्त दीप्तिमान हो जाता है।

ते य एवमेतद्विदुर्ये चामी अरण्ये श्रद्धाꣳ सत्यमुपासते तेऽर्चिरभिसंभव-
न्त्यर्चिषोऽहरह्न आपूर्यमाणपक्षमापूर्यमाणपक्षाद्यान्षण्मासानुदङ्ङादित्य
एति मासेभ्यो देवलोकं देवलोकादादित्यमादित्याद्वैद्युतं तान्वैद्युता-
न्पुरुषो मानस एत्य ब्रह्मलोकान् गमयति तेषु ब्रह्मलोकेषु पराः परावतो
वसन्ति तेषां न पुनरावृत्तिः ॥15॥

वे जो इस प्रकार इसको (पंचाग्निविद्या को) जानते हैं, और वे जो वन में श्रद्धायुक्त होकर सत्य की उपासना करते हैं, वे ज्योति के अभिमानी देवताओं को प्राप्त होते हैं। ज्योति के अभिमानी देवताओं में से दिवस के अभिमानी देव को, दिवस के अभिमानी देव से शुक्लपक्ष के अभिमानी देव को, शुक्ल पक्ष के अभिमानी देव से उन छः मास के अभिमानी देव को प्राप्त होता है, जिनमें सूर्य उत्तर दिशा की ओर चलता है। फिर उस मासाभिमानी देव से देवलोक को, देवलोक से आदित्य को, आदित्य से विद्युत्सम्बन्धी देवताओं को प्राप्त होता है। उन वैद्युत देवों के पास एक-एक मानस पुरुष आकर उन्हें ब्रह्मलोक में ले जाता है। उन ब्रह्मलोकों में वे प्रकृष्ट होकर (मोक्ष प्राप्त करके) अनेक वर्षों तक वे रहते हैं। उनका इस संसार में पुनरागमन नहीं होता।

अथ ये यज्ञेन दानेन तपसा लोकाञ्जयन्ति ते धूममभिसंभवन्ति धूमाद्रा-
त्रिꣳ रात्रेपरपक्षीयमाणपक्षमपक्षीयमाणपक्षाद्यान्षण्मासान्दक्षिणादित्य
एति मासेभ्यः पितृलोकं पितृलोकाच्चन्द्रं ते चन्द्रं प्राप्यान्नं भवन्ति ताꣳ-
स्तत्र देवा यथा सोमꣳ राजानमाप्यायस्वापक्षीयस्वेत्येवमेनाꣳस्तत्र भक्ष-

यन्ति तेषां यदा तत्पर्यवैत्यथेममेवाकाशमभिनिष्पद्यन्त आकाशाद्वायुं
वायोर्वृष्टिं वृष्टेः पृथिवीं ते पृथिवीं प्राप्यान्नं भवन्ति ते पुनः पुरुषाग्नौ
हूयन्ते ततो योषाग्नौ जायन्ते लोकान्प्रत्युत्थायिनस्त एवमेवानुपरिवर्त-
न्तेऽथ य एतौ पन्थानौ न विदुस्ते कीटाः पतङ्गाः यदिदं दन्दशूकम् ॥16॥

इति षष्ठे द्वितीयं ब्राह्मण् ॥

और जो मनुष्य यज्ञ से, दान से, तप से लोकों को प्राप्त करता है, वे धूमाभिमानी देवता को प्राप्त होते हैं। धूम से रात्रि देवता को, रात्रि से कृष्णपक्षाभिमानी देवता को, कृष्णपक्ष से दक्षिणायन के छः महीनों में जाते हैं। उन महीनों में से पितृलोक में जाते हैं। पितृलोक से चन्द्रलोक में जाते हैं। चन्द्रलोक में जाकर वे अन्नरूप बन जाते हैं। वहाँ जैसे ऋत्विज् लोग 'आप्यायस्व अपक्षीयस्व'—ऐसा बोलकर सोमराजा को चमस में पी जाते हैं, उस तरह देव लोग, उन अन्नरूप बने मनुष्यों को खा जाते हैं। फिर से उनका पुरुषरूप अग्नि में होम किया जाता है। उससे फिर लोकों के प्रति उत्थान करने वाले होकर वे फिर स्त्रीरूपी अग्नि से उत्पन्न होते हैं। इस प्रकार वे बार-बार परिवर्तित हुआ करते हैं (घूमा करते हैं)। परन्तु, जो लोग इन दोनों मार्गों में से एक का भी ज्ञान नहीं रखते, वे कीट-पतंगादि और डाँस-मच्छर आदि होते हैं, वे ही होते हैं।

(यहाँ दूसरा ब्राह्मण पूरा हुआ।)

❋

तृतीयं ब्राह्मणम्

स यः कामयेत महत्प्राप्नुयामित्युदगयन आपूर्यमाणपक्षस्य पुण्याहे द्वाद-
शाहमुपसद्व्रती भूत्वौदुम्बरे कꣳसे चमसे वा सर्वौषधं फलानीति संभृत्य
परिसमुह्य परिलिप्याग्निमुपसमाधाय परिस्तीर्यावृताज्यꣳ सꣳस्कृत्य पुꣳसा
नक्षत्रेण मन्थꣳ संनीय जुहोति—यावन्तो देवास्त्वयि जातवेदस्तिर्यञ्चो
घ्नन्ति पुरुषस्य कामान् । तेभ्योऽहं भागधेयं जुहोमि ते मा तृप्ताः सर्वैः
कामैस्तर्पयन्तु स्वाहा । या तिरश्ची निपद्यतेऽहं विधरणी इति । तां त्वा
घृतस्य धारया यजे सꣳराधनीमहꣳ स्वाहा ॥1॥

जो ऐसा चाहता हो कि मैं बहुत ही महत्त्व प्राप्त करूँ, यह उत्तरायण में शुक्लपक्ष के पवित्र दिन, बारह दिनों तक केवल दूध ही पीकर रहकर, औदुम्बर-गूलर के काष्ठ से बनाए गए कटोरे में अथवा चमसपात्र में सभी औषधियाँ, फल और अन्य सामग्रियाँ एकत्रित करके, हवनस्थान को दर्भ से साफ-सुथरा बनाकर उसकी लिपाई करे। फिर उसमें अग्नि का स्थापन करके, उसके आसपास आसन बिछाकर, गृह्यसूत्रों में बताई गई विधि के अनुसार घी का संस्कार करके पुल्लिंग नामवाले (हस्त आदि) नक्षत्रों में (पहले से तैयार किए गए) सर्वौषधियों के दध्यादि मिश्रित मन्थ (मिश्रण =चूर्ण) को, स्वयं तथा अग्नि के बीच में रखकर होम करता है। और उस समय यह मन्त्र बोलता है—"हे जातवेद ! तुम्हारे वश में से जितने देवता वक्रमति होकर पुरुष की कामनाओं का प्रतिबन्ध करते हैं, उनको उद्देश करके यह आव्यभाग मैं तुममें होमता हूँ। तृप्त हुए वे सभी मुझे सब कामनाओं से तृप्त करें। स्वाहा।" (यह बोलकर आहुति देनी चाहिए) और भी "मैं सबके मृत्यु को धारण करनेवाला हूँ। ऐसा मानकर जो कुटिल बुद्धिवाला देवता तुम्हारा आश्रय लेकर रहता है, सर्वसाधनों की पूर्ति करनेवाले उस देवता

के लिए घी की धारा से मैं यजन करता हूँ, स्वाहा''—ऐसा बोलकर उसको आहुति देनी चाहिए (वह देता है)।

ज्येष्ठाय स्वाहा श्रेष्ठाय स्वाहेत्यग्नौ हुत्वा मन्थे सꣳस्त्रवमवनयति प्राणाय स्वाहा वसिष्ठायै स्वाहेत्यग्नौ हुत्वा मन्थे सꣳस्त्रवमवनयति वाचे स्वाहा प्रतिष्ठायै स्वाहेत्यग्नौ हुत्वा मन्थे सꣳस्त्रवमवनयति चक्षुषे स्वाहा संपदे स्वाहेत्यग्नौ हुत्वा मन्थे सꣳस्त्रवमवनयति श्रोत्राय स्वाहाऽयतनाय स्वाहेत्यग्नौ हुत्वा मन्थे सꣳस्त्रवमवनयति मनसे स्वाहा प्रजात्यै स्वाहेत्यग्नौ हुत्वा मन्थे सꣳस्त्रवमवनयति रेतसे स्वाहेत्यग्नौ हुत्वा मन्थे सꣳस्त्रवमवनयति ॥2॥

''ज्येष्ठाय स्वाहा श्रेष्ठाय् स्वाहा''—इस मंत्र से अग्नि में आहुति देकर स्रुव में बचे हुए घी को मन्थ में टपका देता है (उसे टपका देना चाहिए)। ''प्राणाय स्वाहा वसिष्ठायै स्वाहा''—यह मंत्र बोलकर अग्नि में वह आहुति देता है, और स्रुव में बचे हुए घी को मन्थ में टपका देता है। ''वाचे स्वाहा प्रतिष्ठायै स्वाहा''—इस मंत्र से वह अग्नि में आहुति देता है और स्रुव में चिपके हुए घी को मन्थ में टपका देता है। ''चक्षुषे स्वाहा सम्पदे स्वाहा''—यह मंत्र बोलकर अग्नि में आहुति देता है और स्रुव में लगे रहे घी को मन्थ में टपका देता है। ''श्रोत्राय स्वाहा आयतनाय स्वाहा''—यह मन्त्र बोलकर अग्नि में आहुति देता है और स्रुव में बचे-खुचे घी को मन्थ में टपका देता है। बाद में ''रेतसे स्वाहा''—यह मन्त्र बोलकर अग्नि में आहुति देता है और स्रुव में अवशिष्ट घी को मन्थ में टपका देना है।

अग्नये स्वाहेत्यग्नौ हुत्वा मन्थे सꣳस्त्रवमवनयति सोमाय स्वाहेत्यग्नौ हुत्वा मन्थे सꣳस्त्रवमवनयति भूः स्वाहेत्यग्नौ हुत्वा मन्थे सꣳस्त्रवमवनयति भुवः स्वाहेत्यग्नौ हुत्वा मन्थे सꣳस्त्रवमवनयति स्वः स्वाहेत्यग्नौ हुत्वा मन्थे सꣳस्त्रवमवनयति भूःर्भुवःस्वः स्वाहेत्यग्नौ हुत्वा मन्थे सꣳस्त्रवमवनयति ब्रह्मणे स्वाहेत्यग्नौ हुत्वा मन्थे सꣳस्त्रवमवनयति क्षत्राय स्वाहेत्यग्नौ हुत्वा मन्थे सꣳस्त्रवमवनयति भूताय स्वाहेत्यग्नौ हुत्वा मन्थे सꣳस्त्रवमवनयति भविष्यते स्वाहेत्यग्नौ हुत्वा मन्थे सꣳस्त्रवमवनयति विश्वाय स्वाहेत्यग्नौ हुत्वा मन्थे सꣳस्त्रवमवनयति सर्वाय स्वाहेत्यग्नौ हुत्वा मन्थे सꣳस्त्रवमवनयति प्रजापतये स्वाहेत्यग्नौ हुत्वा मन्थे सꣳस्त्रवमवनयति ॥3॥

''अग्नये स्वाहा''—यह मन्त्र बोलकर अग्नि में आहुति डालता है और स्रुव में अवशिष्ट घी को मन्थ में टपकाता है। ''सोमाय स्वाहा''—यह मंत्र बोलकर अग्नि में आहुति देता है और स्रुव में लगे घी को मन्थ में टपकाता है। ''भूः स्वाहा''—इस मंत्र को पढ़कर अग्नि में आहुति देता है और स्रुव में अवशिष्ट घी को मन्थ में टपका देता है। ''भुवः स्वाहा''—इस मंत्र को पढ़कर अग्नि में आहुति देता है और स्रुव में अवशिष्ट घी को मन्थ में टपका देता है। ''स्वः स्वाहा''—यह मंत्र बोलकर अग्नि में आहुति देता है और स्रुव में अवशिष्ट घी को मन्थ में टपका देता है। ''भूर्भुवः स्वः स्वाहा''—इस मंत्र को पढ़कर अग्नि में आहुति डालता है, और अवशिष्ट घी को मन्थ में टपका देता है। ''ब्रह्मणे स्वाहा''—यह मन्त्र पढ़कर अग्नि में आहुति डालता है और स्रुव में बचे-खुचे घी को मन्थ में टपका

देता है। ''क्षत्राय स्वाहा''—यह मन्त्र पढ़कर अग्नि में आहुति देता है और स्रुव में बचे घी को मन्थ में टपका देता है। ''भूताय स्वाहा''—यह मंत्र बोलकर अग्नि में आहुति देता है और स्रुव में लगे घी को मन्थ में टपका देता है। ''भविष्यते स्वाहा''—यह मन्त्र पढ़कर अग्नि में आहुति देता है और स्रुव में बचे घी को मन्थ में टपका देता है। ''विश्वाय स्वाहा''—यह मंत्र बोलकर अग्नि में आहुति देता है और स्रुव में बचे घी को मन्थ में टपकाता है। ''सर्वाय स्वाहा''—यह मंत्र बोलकर अग्नि में आहुति डालता है और स्रुव में बचे घी को मन्थ में टपकाता है। ''प्रजापतये स्वाहा''—यह मन्त्र बोलकर अग्नि में आहुति डालता है और स्रुव में बचे घी को मन्थ में टपका देता है।

अथैनमभिमृशति भ्रमदसि ज्वलदसि पूर्णमसि प्रस्तब्धमस्येकसभमसि हिंकृतमसि हिंक्रियमाणमस्युद्गीथमस्युद्गीयमानमसि श्रावितमसि प्रत्याश्रावितमस्यार्द्रे संदीप्तमसि विभूरसि प्रभूरस्यन्नमसि ज्योतिरसि निधनमसि संवर्गोऽसीति ॥4॥

बाद में उस मन्थ का स्पर्श करते हुए यह मंत्र बोलता है—''हे मन्थ ! तू सर्व प्राणियों में भ्रमण करनेवाला प्राण है, तू अग्नि के रूप में चलता है, तू ब्रह्मरूप में परिपूर्ण है, तू आकाश के रूप में अति स्तब्ध है, तू जगत्‌रूपी एक सभा-सा है (तू सबका अविरोधी है), तू ही यज्ञारंभ में प्रस्तोता द्वारा किया गया हिंकार है, तू ही उसी प्रस्तोता द्वारा किया गया यज्ञमध्य हिंक्रियमाण है, तू ही उद्गीथ है, तू ही यज्ञमध्य का उद्गीयमान है, तू ही श्रावित (सुनाया) जानेवाला है, तू ही प्रत्याश्रावित (सामने से सुनाया जानेवाला) है, तू ही आर्द्र-मेघ में चमकनेवाला (विद्युत् रूप में) है, तू ही विभु है, तू ही प्रभु है, तू ही अन्न है, तू ही भोक्ता है, तू ही प्रलयस्थान है, तू ही संवर्ग (सर्वसंहारक) है।''

अथैनमुद्यच्छत्यामꣳ स्यामꣳ हि ते महि स हि राजेशानोऽधिपतिः स माꣳ राजेशानोऽधिपतिं करोत्विति ॥5॥

बाद में ''आमं स्यामं ते महि''—इत्यादि मन्त्र के द्वारा मन्थ को हाथ में लेता है। मंत्रार्थ यह है—''तू सब कुछ जानता है, तेरी महिमा को मैं अच्छी तरह जानता हूँ। वह प्राण ही राजा है, वही नियन्ता है, वही अधिपति है। वह प्राण मुझे राजा ईशान (नियंता) और अधिपति बनाए।

अथैनमाचामति तत्सवितुर्वरेण्यं मधु वाता ऋतायते मधु क्षरन्ति सिन्धवः माध्वीर्नः सन्त्वोषधीर्भूः स्वाहा भर्गो देवस्य धीमहि मधु नक्तमुतोषसो मधुमत्पार्थिवꣳरजः मधु द्यौरस्तु नः पिता भुवः स्वाहा धियो यो नः प्रचोदयान्मधुमान्नो वनस्पतिर्मधुमाँ 3 अस्तु सूर्यः माध्वीर्गावो भवन्तु नः स्वः स्वाहेति सर्वां च सावित्रीमन्वाह सर्वाश्च मधुमतीरहमेवेदꣳ सर्वं भूयासं भूर्भुवः स्वः स्वाहेत्यन्तत आचम्य पाणी प्रक्षाल्य जघनेनाग्निं प्राक्शिराः संविशति प्रातरादित्यमुपतिष्ठते दिशामेकपुण्डरीकमस्यहं मनुष्याणामेकपुण्डरीकं भूयासमिति यथेतमेत्य जघनेनाग्निमासीनो वꣳशं जपति ॥6॥

बाद में (उस मन्थ के चार अलग-अलग ग्रास बनाकर) वह खाता है। प्रथम ग्रास यह मन्त्र बोलकर खाता है—''सूर्य के उस श्रेष्ठ पद का मैं ध्यान करता हूँ। वायु मधुर रीति से बहते हैं, नदियाँ भी मधुर रस का स्राव कर रही हैं, हमारे लिए औषधियाँ मधुर रसवाली हों, भूः स्वाहा।'' (फिर उसके बाद दूसरा ग्रास यह मंत्र बोलकर खाता है—) ''सूर्यदेव के तेज का हम ध्यान करते हैं। रात और दिन

हमारे लिए सुखकर हों, पृथ्वी की रज हमें उद्वेगकारी न हो (अर्थात् हमारे लिए आनन्दकारी हो), हमारे पिता द्युलोक हमारे लिए सुखदायक हों, भुवः स्वाहा।" (इसके बाद तीसरा ग्रास यह मंत्र बोलकर वह खाता है कि—) "जो सूर्यदेव हमारी बुद्धि को सन्मार्ग की ओर प्रेरित करते हैं वे तथा वनस्पतिरूप सोम—दोनों हमारे लिए आनन्द देनेवाले हों, उनकी किरणें हमारे लिए सुखकर हों। स्वः स्वाहा।" इस प्रकार (तीन ग्रास भक्षण करके बाद में) वह पूरा गायत्रीमंत्र बोलता है, और (साथ में ही) "मधुवाता ऋतायते" आदि पूरी मधुमती ऋचा बोलकर, हाँ मैं ही सर्वस्वरूप हूँ"—ऐसा कहता है, और "भूर्भुवः स्वः स्वाहा"—ऐसा बोलकर चौथे ग्रास का भक्षण करता है। और अन्त में वह मन्थवाला पात्र भी धोकर उसका पानी पी जाता है। और आचमन करके दोनों हाथ धोकर अग्नि के पश्चिम भाग में पूर्व दिशा की ओर मस्तक रखकर सो जाता है। फिर प्रातःकाल होने पर सूर्य के सामने इस मन्त्र के द्वारा उपस्थान करता है कि—"हे सूर्य! जिस तरह आप दिशाओं में अखण्ड (श्रेष्ठ) हैं, वैसे ही मैं भी मनुष्यों में अखण्ड और श्रेष्ठ बनूँ"—इस प्रकार सूर्योपस्थान के बाद रात्रि में सोने से पहले जिस मार्ग से आया था, उसी मार्ग से अग्नि के पास जाकर, अग्नि के पश्चिम की ओर बैठकर (आगे के मन्त्रों में बताए अनुसार) वंश का जप करता है।

**तꣳ हैतमुद्दालक आरुणिर्वाजसनेयाय याज्ञवल्क्यायान्तेवासिन उक्त्वो-
वाचापि य एनꣳ शुष्के स्थाणौ निषिञ्चेज्जायेरञ्छाखाः प्ररोहेयुः पलाशा-
नीति ॥7॥**

अरुणपुत्र उद्दालक ने इस (मन्थकर्म) का उपदेश वाजसनेयिपुत्र याज्ञवल्क्य नाम के अपने एक शिष्य को दिया था और कहा था कि "जो उपासक इस मन्थ को सूखे ठूँठे पर भी सींचेगा तो उस ठूँठे में भी शाखायें और कोपलें फूटेंगी।

**एतमुहैव वाजसनेयो याज्ञवल्क्यो मधुकाय पैङ्ग्यायान्तेवासिन उक्त्वो-
वाचापि य एनꣳ शुष्के स्थाणौ निषिञ्चेज्जायेरञ्छाखाः प्ररोहेयुः पलाशा-
नीति ॥8॥**

इसी उपर्युक्त मन्थ का उपदेश वाजसनेय याज्ञवल्क्य ने अपने शिष्य पैंग्य को दिया था और कहा था कि जो कोई भी इस मंथ का सिञ्चन किसी वृक्ष के ठूँठे पर भी करेगा, तो उसमें भी शाखाएँ और कोपलें फूटने लगेंगी।"

**एतमुहैव मधुकः पैङ्ग्यश्चूलाय भागवित्तयेऽन्तेवासिने उक्त्वोवाचापि य
एनꣳ शुष्के स्थाणौ निषिञ्चेज्जायेरञ्छाखाः प्ररोहेयुः पलाशानीति ॥9॥**

इसी पूर्वोक्त मन्थ का उपदेश मधुक पैंग्य ने अपने शिष्य चूल भागवित्ति को दिया और कहा कि यदि कोई भी मनुष्य इस मन्थ को वृक्ष के सूखे तने पर भी सींचेगा, तो उसमें भी शाखायें और कोंपलें फूटने लगेंगी।"

**एतमु हैव चूलो भागवित्तिर्जानकायायस्थूणायान्तेवासिन उक्त्वोवा-
चापि य एनꣳ शुष्के स्थाणौ निषिञ्चेज्जायेरञ्छाखाः प्ररोहेयुः पलाशा-
नीति ॥10॥**

चूल भाग्यवित्ति ने अपने शिष्य जानकी आयस्थूण को इसी पूर्वोक्त मन्थ का उपदेश देकर कहा कि यदि कोई भी मनुष्य इस मन्थ का सिंचन सूखे वृक्ष के ठूँठे पर करेगा तो उसमें भी शाखायें और कोपलें फूटने लगेंगी।

**एतमु हैव जानकिरायस्थूणः सत्यकामाय जाबालायान्तेवासिन उक्त्वो-
वाचापि य एनꣳ शुष्के स्थाणौ निशिञ्चेज्जायेरञ्छाखाः प्ररोहेयुः
पलाशानीति ॥11॥**

जानकि आयस्थूण ने अपने शिष्य सत्यकाम जाबाल को इसी मन्थ का उपदेश देते हुए कहा था कि "यदि कोई भी मनुष्य इस मन्थ को सूखे वृक्ष के तने पर भी सींचेगा तो उसमें भी शाखाएँ और कोंपलें फूटने लगेंगी।

**एतमु हैव सत्यकामो जाबालोऽन्तेवासिभ्य उक्त्वोवाचापि य एनꣳ शुष्के
स्थाणौ निषिञ्चेज्जायेरञ्छाखाः प्ररोहेयुः पलाशानीति तमेतन्नापुत्राय
नानन्तेवासिने वा ब्रूयात् ॥12॥**

सत्यकाम जाबाल ने अपने शिष्यों को इसी का उपदेश देकर कहा था कि—"यदि कोई भी मनुष्य इस मन्थ को वृक्ष के ठूँठे पर भी सींचेगा तो उसमें से भी शाखाएँ और कोंपलें फूटने लगेंगी। पर इस मन्थ का उपदेश पुत्ररहित और शिष्यरहित व्यक्ति को नहीं करना चाहिए।"

**चतुरौदुम्बरो भवत्यौदुम्बरः स्रुव औदुम्बरश्चमस औदुम्बर इध्म औदु-
म्बर्या उपमन्थन्यौ दश ग्राम्याणि धान्यानि भवन्ति व्रीहियवास्तिलमाषा
अणुप्रियङ्गवो गोधूमाश्च मसूराश्च खल्वाश्च खलकुलाश्च तान् पिष्टान्द-
धनि मधुनि घृत उपसिंचत्याज्यस्य जुहोति ॥13॥**

इति तृतीयं ब्राह्मणम् ॥

इस मन्थनकर्म में चार औदुम्बरकाष्ठ से बनाई हुई वस्तुएँ होती हैं—औदुम्बर काष्ठ का स्रुव, औदुम्बर काष्ठ का चमसपात्र, औदुम्बर काष्ठ का ईंधन तथा औदुम्बर काष्ठ की दो उपमन्थनियाँ (मन्थ को हिलाने की शलाकाएँ)। इसमें दस प्रकार के ग्रामीण धान्यों का उपयोग होता है वे हैं—व्रीहि (धान), यव (जौ), तिल, माष (उड़द), अणु (साँवा), प्रियंगु (कांगनी), गोधूम (गेहूँ), मसूर, खल्व (एक धान) और खलकुल (कुलथी)। इन सभी को पीसकर उसमें मधु और घृत डालकर आहुति दी जाती है।

(यहाँ तीसरा ब्राह्मण पूरा हुआ।)

❋

चतुर्थं ब्राह्मणम्

**एषां वै भूतानां पृथिवी रसः पृथिव्या आपोऽपामोषधय ओषधीनां
पुष्पाणि पुष्पाणां फलानि फलानां पुरुषः पुरुषस्य रेतः ॥1॥**

पृथ्वी सभी प्राणियों का रस (सारतत्त्व) है, जल पृथ्वी का सार है, औषधियाँ जल का सार (रस) हैं, पुष्प औषधियों का रस है, फल फूलों का रस है, पुरुष फलों का रस है, और वीर्य पुरुष का सारतत्त्व है।

**स ह प्रजापतिरीक्षांचक्रे हन्तास्मै प्रतिष्ठां कल्पयानीति स स्त्रियꣳ ससृजे
ताꣳसृष्ट्वाऽध उपास्ते तस्मात्स्त्रियमध उपासीत स एतं प्राञ्चं ग्रावाणमा-
त्मन एव समुदपारयत्तेनैनामभ्यसृजत् ॥2॥**

प्रसिद्ध प्रजापति ने अनुग्रहपूर्वक सोचा, मैं इस (वीर्य) के लिए आधारभूमि बना दूँ। इसलिए उन्होंने स्त्री बनाई। उसे बनाकर उसके अधोभाग की उपासना की (मैथुन कर्म किया)। इसीलिए स्त्री के अधोभाग का सेवन करना चाहिए। इन प्रजापति ने उस उत्कृष्ट और पाषाणखण्ड जैसा अपना शिश्न (लिंग) उत्पन्न करके स्त्री की योनि में उसे प्रेरित किया। उससे स्त्री का संसर्ग किया।

तस्या वेदिरुपस्थो लोमानि बर्हिश्चर्माधिषवणे समिद्धो मध्यतस्तौ मुष्कौ स यावान् ह वै वाजपेयेन यजमानस्य लोको भवति तावानस्य लोको भवति य एवं विद्वानधोपहासं चरत्यासाꣳ स्त्रीणाꣳ सुकृतं वृङ्क्तेऽथ य इदमविद्वानधोपहासं चरत्यस्य स्त्रियः सुकृतं वृञ्जते ॥3॥

स्त्री की उपस्थेन्द्रिय वेदी है, उस पर के लोम ही दर्भ है, योनि का मध्यभाग प्रज्वलित अग्नि है, जो दो मुष्क हैं (योनि के दोनों पार्श्वों में जो कठिन मांसखण्ड हैं) वे अधिषवण नाम से सुख्यात दो चर्ममय सोमफलक हैं। वाजपेय यज्ञ करने से यजमान को जितना पुण्य प्राप्त होता है (जितने अच्छे लोक की प्राप्ति होती है), उतना ही पुण्य ऐसा रहस्य जानकर ग्राम्यधर्म का सेवन करनेवाले मनुष्य को मिलता है। ऐसा पुरुष स्त्रियों के पुण्यों को रोक देता है। परन्तु जो कोई इस रहस्य को बिना जाने ही मैथुन-कर्म में प्रयुक्त हो जाता है, उसके पुण्य को स्त्रियाँ रोक देती हैं।

एतद्ध स्म वै तद्विद्वानुद्दालक आरुणिराहैतद्ध स्म वै तद्विद्वान्नाको मौद्गल्य आहैतद्ध स्म वै तद्विद्वान्कुमारहारित आह बहवो मर्या ब्राह्मणायना निरिन्द्रिया विसुकृतोऽस्माल्लोकात्प्रयन्ति य इदमविद्वाꣳसोऽधोपहासं चरन्तीति बहु वा इदꣳ सुप्तस्य वा जाग्रतो वा रेतः स्कन्दति ॥4॥

सचमुच यह मैथुनकर्म वाजपेयसम्पन्न रहस्यज्ञ उद्दालक आरुणि ने कहा है। इसी मैथुनकर्म को उसी रूप में जानने वाले मुद्गलपुत्र नाक ने कहा है। और भी—उसी को उसी रूप में जाननेवाले कुमारहारित ने भी कहा है। वे कहते हैं कि बहुत ही ऐसे मरणधर्मा कथनमात्र के ब्राह्मण लोग हैं जो निःसत्त्व और प्राणहीन हैं, जो पुण्यहीन और मैथुनविज्ञान को जाननेवाले नहीं हैं, फिर भी ग्राम्यधर्म का आचरण करते हैं वे परलोक से भ्रष्ट हो जाते हैं। निद्रावस्था में अथवा जाग्रत् अवस्था में अधिक या न्यून प्रमाण में स्खलित हो जाता है।

तदभिमृशेदनु वा मन्त्रयेत यन्मेऽद्य रेतः पृथिवीमस्कान्त्सीद्यदोषधीरप्यसरद्यदप इदमहं तद्रेत आददे पुनर्मामैत्विन्द्रियं पुनस्तेजः पुनर्भगः पुनरग्निर्धिष्ण्या यथास्थानं कल्पन्तामित्यनामिकाङ्गुष्ठाभ्यामादायान्तरेण स्तनौ वा भ्रुवौ वा निमृज्यात् ॥5॥

उस वीर्य का हाथ से स्पर्श करना चाहिए और उसे इस मंत्र से अभिमन्त्रित करना चाहिए। (अर्थात् स्पर्श करते समय यह मंत्र बोलना चाहिए—(मन्त्रार्थ यह है—) "मेरा वीर्य आज जो स्खलित होकर पड़ा है, जो पहले कभी औषधियों में (अन्न में) भी पड़ा है और जल में भी पड़ा है, उस वीर्य को मैं ग्रहण करता हूँ (उठा लेता हूँ)।"—ऐसा बोलकर उस वीर्य को अनामिका अंगुली तथा अंगुष्ठ से उठाकर दोनों स्तनों और भौंहों पर लगाना चाहिए। वहाँ लगाते समय यह मंत्र बोलना चाहिए। (मन्त्रार्थ—) "मेरी इन्द्रिय (जो वीर्यरूप से मुझसे चली गई थी वह) वापिस आ जाए। मुझे फिर से तेज और ऐश्वर्य की प्राप्ति हो जाए। अग्निरूप स्थानवाले देवतालोग फिर से उस वीर्य को (मेरे शरीर में) योग्य स्थान पर स्थापित कर दें।"

अथ यद्युदक आत्मानं पश्येत्तदभिमन्त्रयेत् मयि तेज इन्द्रियं यशो द्रविणꣳ सुकृतमिति । श्रीर्ह वा एषां स्त्रीणां यन्मलोद्वासास्तस्मान्मलोद्वाससं यशस्विनीमभिक्रम्योपमन्त्रयेत ॥6॥

और यदि कभी पानी में वीर्य स्खलित हो जाए और भूल से उसमें यदि अपना प्रतिबिम्ब दीख जाए, तो जल को इस प्रकार अभिमंत्रित करना चाहिए (अभिमंत्रण का मंत्रार्थ—) "हे देवो! मुझमें तेज, इन्द्रिय (वीर्य), यश, धन, सत्कर्म स्थापन करें।" (इसके बाद अपनी स्त्री की प्रशंसा करते हुए कहना चाहिए कि—) "यह मेरी स्त्री संसार की सभी स्त्रियों में लक्ष्मीस्वरूप है। क्योंकि इसके वस्त्र में रजस्वलात्व के चिह्न स्पष्ट रूप से दिखाई दे रहे हैं।" बाद में (तीन रात्रियों के बाद) शुद्ध हुई अपनी कीर्तिमती पत्नी के पास जाकर पुत्रोत्पत्ति के लिए उसके साथ विचार-विमर्श करना चाहिए।

सा चेदस्मै न दद्यात्काममेनामवक्रीणीयात् सा चेदस्मै नैव दद्यात्काममेनां यष्ट्या वा पाणिना वोपहत्यातिक्रामेदिन्द्रियेण ते यशसा यश आदद इत्ययशा एव भवति ॥7॥

पत्नी यदि अपने पति को मैथुन के लिए समर्पित न करे तो उस पत्नी को आभूषणादि देकर मना लेना चाहिए। फिर भी यदि मैथुन न करने दे तो उसे दंड का भय दिखलाकर उसके साथ बलपूर्वक इन्द्रिय से संभोग करना चाहिए। यदि यह भी संभव न हो, तो उसे कह देना चाहिए कि "तुम्हारे यश को मैं अपनी यशस्वरूप इन्द्रिय से ले लेता हूँ।" इससे वह अयशस्विनी ही हो जाती है। (अर्थात् वन्ध्या ही रहती है।)

सा चेदस्मै दद्यादिन्द्रियेण ते यशसा यश आदधामीति यशस्विनावेव भवतः ॥8॥

वह पत्नी यदि अपने पति को मैथुन करने का अवसर दे ही देती है, तो (शुभेच्छाएँ देते हुए) पति को उससे कहना चाहिए कि—" मेरी यशरूप इन्द्रिय से तुझमें मैं यश की स्थापना करता हूँ।" ऐसा करने से वे दोनों यशस्वी (संतानवाले) होते हैं।

स यामिच्छेत्कामयेत मेति तस्यामर्थं निष्ठाय मुखेन मुखꣳ संधायोपस्थमस्या अभिमृश्य जपेदङ्गादङ्गात्संभवसि हृदयादधि जायसे । स त्वमङ्गकषायोऽसि दिग्धविद्धामिव मादयेमाममूं मयीति ॥9॥

पुरुष अपनी जिस स्त्री के विषय में कि "यह मुझे चाहे"—ऐसी इच्छा रखता हो, वह उस पत्नी में अपने शिश्न को स्थापित करके, अपने मुँह के साथ उसका मुख लगाकर उस पत्नी के उपस्थ का स्पर्श करना चाहिए। स्पर्श करते समय इस मंत्र का जप करना चाहिए। (मंत्रार्थ—) "हे वीर्य! तू मेरे अंग-अंग में से उत्पन्न होता है। खास करके हृदय से तेरा प्रादुर्भाव होता है। तू मेरे अंगों का रस है। विष लगाए हुए बाण से आहत हरिणी की तरह मेरी इस पत्नी को मेरे विषय में पागल (उन्मत्त) बना दे।"

अथ यामिच्छेन्न गर्भं दधीतेति तस्यामर्थं निष्ठाय मुखेन मुखꣳ संधायाभिप्राण्यापान्यादिन्द्रियेण ते रेतसा रेत आदद इत्यरेता एव भवति ॥10॥

और यदि वह 'यह स्त्री गर्भ धारण न करे'—ऐसा चाहता हो तो, उस पत्नी में अपना शिश्न स्थापित करके, उसके मुँह से अपना मुँह लगाकर इन्द्रिय से "अभिप्राणनकर्म करके फिर

'अपाननक्रिया' करनी 'चाहिए। ('अभिप्राणन' कर्म वह है जिसमें पुरुष अपनी शिश्नेन्द्रिय द्वारा स्त्री के शरीर में वायु का प्रवेश कराता है और 'अपानन' क्रिया वह है, जिसमें पुरुष अपने शिश्न को बाहर निकालते समय वायु को बाहर निकाल देता है।) इन क्रियाओं को करते समय यह मंत्र बोलना चाहिए—(मंत्रार्थ) "इन्द्रियस्वरूप वीर्य के द्वारा मैं तुम्हारे तेज को (रेतस् को) ग्रहण करता हूँ।" ऐसा करने से वह रेतस् से रहित हो जाती है, और गर्भ धारण नहीं करती।

अथ यामिच्छेद्दधीतेति तस्यामर्थं निष्ठाय मुखेन मुखꣳ संधायापान्याभि-प्राण्यादिन्द्रियेण ते रेतसा रेत आदधामीति गर्भिण्येव भवति ॥11॥

पुरुष जिस पत्नी के विषय में ऐसा सोचे कि 'इसे गर्भ धारण करना चाहिए'—तो उसे उसकी योनि में अपने शिश्न को स्थापित करके, उसके मुँह से अपना मुँह लगाकर पहले अपानन क्रिया करके (भावना द्वारा पहले स्त्री के रेतस् वायु को आकर्षित करके), बाद में मेढ़ द्वारा (जननेन्द्रिय द्वारा) 'अभिप्राणन कर्म' करना चाहिए। अभिप्राणन कर्म करते समय यह मन्त्र बोलना चाहिए (मन्त्रार्थ—) "मैं इन्द्रियरूप रेतस् के द्वारा तुम्हारे रेतस् का आधान करता हूँ।" ऐसा करने से स्त्री गर्भवती होती है। (अभिप्राणन कर्म की स्पष्टता ऊपर की जा चुकी है।)

अथ यस्य जायायै जारः स्यात्तं चेद्द्विष्यादामपात्रेऽग्निमुपसमाधाय प्रतिलोमꣳ शरबर्हिस्तीर्त्वा तस्मिन्नेताः शरभृष्टीः प्रतिलोमाः सर्पिषाक्ताः जुहुयान्मम समिद्धेऽहौषीः प्राणापानौ त आददेऽसाविति मम समिद्धे-ऽहौषीः पुत्रपशूꣳस्त आददेऽसाविति मम समिद्धेऽहौषीरिष्टासुकृते त आददेऽसाविति मम समिद्धेऽहौषीराशापराकाशौ त आददेऽसाविति। स वा एष निरिन्द्रियो विसुकृतोऽस्माल्लोकात्प्रैति यमेवंविद्वान्ब्राह्मणः शपति तस्मादेवंविच्छ्रोत्रियस्य दारेण नोपहासमिच्छेदुत ह्येवंवित्परो भवति ॥12॥

और जिस गृहस्थ विद्वान् की पत्नी का किसी जार (व्यभिचारी) के साथ सम्बन्ध हो, और उसके (जार के) प्रति द्वेष होने पर उस विद्वान् को मिट्टी के कच्चे बरतन में अग्नि की विधिपूर्वक स्थापना करके विपरीत क्रम से (अर्थात् दक्षिणाग्र या पश्चिमाग्र क्रम से) सरकंडों या दर्भ की शलाकाओं को बिछाकर उस अग्नि में घी से भिगोई गई उन बाणाकार शलाकाओं को विपरीत क्रम में ही इस मंत्र को बोलते हुए 4 आहुतियाँ देनी चाहिए। (मंत्रार्थ—) (1) "युवावस्था से प्रज्वलित मेरी स्त्रीरूपी अग्नि में तूने वीर्य की आहुति डाली है। ऐसा अपराध करते तेरे प्राण और अपान मैं ले लेता हूँ।" (2) "युवावस्था से प्रज्वलित मेरी स्त्रीरूपी अग्नि में तूने वीर्यरूपी आहुति दी है तेरे इस अपराध के लिए मैं तेरे पुत्र, पशु आदि को ले लेता हूँ।" (3) "युवावस्था से प्रज्वलित मेरी स्त्रीरूपी अग्नि में तूने वीर्यरूपी आहुति दे दी है, तेरे इस अपराध के लिए मैं तेरे यज्ञों और पुण्यों को ले लेता हूँ।" (4) "युवावस्था से प्रज्वलित मेरी स्त्रीरूपी अग्नि में तूने वीर्यरूपी आहुति दी है। तेरे इस अपराध के लिए मैं तेरी आशाओं और वचनपालन की प्रतिज्ञाओं को ले लेता हूँ।"—इस प्रकार विद्वान् ब्राह्मण उसे शाप देता है। और वह जार इन्द्रियविहीन और पुण्यरहित होकर इस लोक से चला जाता है। अतः ऐसे ज्ञानी ब्राह्मण की पत्नी के साथ किसी समझदार आदमी को हँसी-मजाक का भी सम्बन्ध नहीं रखना चाहिए। क्योंकि उसके व्यभिचार-कर्म को जान लेने पर महान् श्रोत्रिय ब्राह्मण उसका शत्रु हो जाता है।

अथ यस्य जायामार्तवं विन्देत्त्र्यहं कꣳसे न पिबेदहतवासा नैनां वृषलो न वृषल्युपहन्यात्त्रिरात्रान्त आप्लुत्य व्रीहीनवघातयेत् ॥13॥

और जिसकी पत्नी को रजोधर्म (ऋतुधर्म) प्राप्त हो, उस स्त्री को तीन दिनों तक काँसे के बरतन में कुछ पीना नहीं चाहिए। उसके बाद (चौथे दिन में) जब वह 'अहतवासा' हो, अर्थात् फटा न हो ऐसा स्वच्छ वस्त्र पहने हुए हो, तब उसे शूद्र पुरुष अथवा शूद्र स्त्री के द्वारा नहीं छुआ जाना चाहिए। तीन दिन बीतने के बाद उसे धान कूटने के काम में लगाना चाहिए (उसके द्वारा धान कुटवाना चाहिए) अर्थात् उसे फिर श्रमयुक्त काम में लगा देना चाहिए।

स य इच्छेत्पुत्रो मे शुक्लो जायेत वेदमनुब्रवीत सर्वमायुरियादिति क्षीरौदनं पाचयित्वा सर्पिष्मन्तमश्नीयातामीश्वरौ जनयितवै ॥14॥

यदि कोई पुरुष ऐसा चाहता हो कि मेरा बेटा गोरा (रूपवान) हो, वेदों का अध्ययन करनेवाला हो, पूरी आयु (सौ वर्ष की) भोगनेवाला हो, तो दूध और चावल पकाकर (खीर बनाकर) उसमें घी मिलाकर दोनों को खाना चाहिए। इससे वे उक्त लक्षणवाले पुत्र को प्राप्त करने में समर्थ बन सकते हैं।

अथ य इच्छेत्पुत्रो मे कपिलः पिङ्गलो जायेत द्वौ वेदावनुब्रवीत सर्व-मायुरियादिति दध्योदनं पाचयित्वा सर्पिष्मन्तमश्नीयातामीश्वरौ जनयितवै ॥15॥

यदि कोई पुरुष ऐसा चाहता हो कि मेरा बेटा कपिल या पिंगलवर्ण वाला जन्मे, वह दो वेदों को जाननेवाला हो, और वह पूर्ण आयुष्य को भोगनेवाला हो, तो उन दोनों को (पति-पत्नी को) दही के साथ चावल पकाकर उसमें घी डालकर उसका भक्षण करना चाहिए, जिससे कि वे वांछित पुत्र के जन्म के लिए समर्थ हों।

अथ य इच्छेत्पुत्रो मे श्यामो लोहिताक्षो जायेत त्रीन्वेदाननुब्रवीत सर्वमायुरियादित्युदौदनं पाचयित्वा सर्पिष्मन्तमश्नीयातामीश्वरौ जन-यितवै ॥16॥

यदि कोई मनुष्य ऐसा चाहता हो कि मेरा बेटा श्यामवर्ण हो, लौहित (लाल) अरुण आँखों वाला हो, तीन वेदों का अध्ययन करनेवाला हो, और पूर्ण आयुष्य को भोगनेवाला हो, तो उन दोनों को पानी में चावल पकाकर, उसमें घी डालकर खाना चाहिए जिससे वे मनोवांछित पुत्र-प्राप्ति में समर्थ हों।

अथ य इच्छेद्दुहिता मे पण्डिता जायेत सर्वमायुरियादिति तिलौदनं पाच-यित्वा सर्पिष्मन्तमश्नीयातामीश्वरौ जनयितवै ॥17॥

यदि कोई मनुष्य ऐसा चाहता हो कि मेरी बेटी पण्डित जन्मे, पूर्ण आयुष्य भोगे, तो उन दोनों (पति-पत्नी को) तिल और चावल पकाकर, उसमें घी डालकर भोजन करना चाहिए जिससे कि वे अपनी चाही हुई बेटी को प्राप्त करने में समर्थ हों।

अथ य इच्छेत्पुत्रो मे पण्डितो विगीतः समितिंगमः शुश्रूषितां वाचं भाषिता जायेत सर्वान्वेदाननुब्रवीत सर्वमायुरियादिति माꣳसौदनं पाचयित्वा सर्पिष्मन्तमश्नीयातामीश्वरौ जनयितवा औक्षेण वार्षभेण वा ॥18॥

यदि कोई पुरुष ऐसा चाहे कि मेरा बेटा पंडित हो, विख्यात हो, विद्वत्सभा में जानेवाला हो, मधुर वाणी बोलने वाला हो, सब वेदों का अध्ययन करनेवाला हो, पूरे सौ साल जीनेवाला हो, तो उन दोनों (पति-पत्नी) को ऋषभ नामक औषधि के गूदे को चावल में मिलाकर पकाना चाहिए। फिर उसमें घी डालकर भक्षण करना चाहिए, जिससे कि वे मनोवांछित पुत्र-प्राप्ति के लिए समर्थ हों। (औक्ष अथवा ऋषभ नाम की औषधि के गर्भ के साथ खाने का नियम है)।

अथाभिप्रातरेव स्थालीपाकावृताज्यं चेष्टित्वा स्थालीपाकस्योपघातं जुहोत्यग्नये स्वाहानुमतये स्वाहा देवाय सवित्रे सत्यप्रसवाय स्वाहेति हुत्वोद्धृत्य प्राश्नाति प्राश्येतरस्याः प्रयच्छति प्रक्षाल्य पाणी उदपात्रं पूरयित्वा तेनैनां त्रिरभ्युक्षत्युत्तिष्ठातो विश्वावसोऽन्यामिच्छ प्रपूर्व्यां सं जायां पत्या सहेति ॥19॥

इसके बाद (चौथे दिन) सुबह होते ही उस कूटे हुए धान को स्थालीपाक की विधि से पकाकर, उसमें घी का संस्कार करके, स्थालीपाक के अन्न में से थोड़ा-थोड़ा लेकर निम्नांकित इन मंत्रों को बोलकर आहुतियाँ देनी चाहिए। ये मंत्र इस प्रकार हैं—"अग्नये स्वाहा, अनुमतये स्वाहा, देवाय सवित्रे सत्यप्रसवाय स्वाहा।" बाद में 'स्विष्टकृत' होम करके स्थली में बचे हुए चरु को (हुतद्रव्य को) एक बरतन में निकालकर उसमें घी डालकर पहले पति उस अन्न को खाता है, बाद में उसी उच्छिष्ट अन्न को वह अपनी पत्नी को खिलाता है। बाद में हाथ धोकर, आचमन करके, जलपात्र भरकर, उसी जल से अपनी पत्नी का तीन बार अभिषेक करता है। अभिषेक का मंत्र यह है—"उत्तिष्ठातो विश्वावसोऽन्यामिच्छ प्रपूर्व्यां सं जायां पत्या सह।"

अथैनामभिपद्यतेऽमोहमस्मि सा त्वꣳ सा त्वमस्यमोऽहं सामाहमस्मि ऋक्त्वं द्यौरहं पृथिवी त्वं तावेहि सꣳरभावहै सह रेतो दधावहै पुꣳसे पुत्राय वित्तय इति ॥20॥

इसके बाद (खीर आदि खिलाने के बाद) पति इसके साथ शयन करके आलिंगन करता है। (और इस समय यह मंत्र पढ़ता है; मन्त्रार्थ—) "हे देवी ! मैं प्राण हूँ तू वाक् है, मैं साम हूँ और तू ऋक् है, मैं द्युलोक हूँ और तू पृथिवी है अतः आओ हम दोनों एक-दूसरे का आलिंगन करें। अर्थात् एक साथ ही रेतस्-वीर्य धारण करके हम दोनों पुरुषत्वयुक्त पुत्र से लाभान्वित हों।

अथास्य ऊरू विहापयति विजिहीथां द्यावापृथिवी इति तस्यामर्थं निष्ठाय मुखेन मुखꣳ संधाय त्रिरेनामनुलोमामनुमार्ष्टि विष्णुर्योनिं कल्पयतु त्वष्टा रूपाणि पिꣳशतु। आसिञ्चतु प्रजापतिर्धाता गर्भं दधातु ते। गर्भं धेहि सिनीवालि गर्भं धेहि पृथुष्टुके गर्भं ते अश्विनौ देवावाधत्तां पुष्कर-स्रजौ ॥21॥

इसके बाद पति स्त्री की दोनों जंघाओं को पृथक् (चौड़ी) करता है और यह मंत्र बोलता है। (मंत्रार्थ—) "हे ऊरुस्वरूप स्वर्ग और पृथ्वी ! तुम दोनों अब अलग-अलग हो जाओ।" इसके बाद पत्नी की योनि में अपनी जननेन्द्रिय स्थापित करके, उसके मुख के साथ अपना मुख लगाकर, अनुलोम क्रम से—पत्नी के सर से लेकर पैर तक के क्रम से तीन बार मार्जन करता है। मार्जन करते समय यह मंत्र बोलता है। (मन्त्र का अर्थ यह है—) "सर्वव्यापी भगवान् विष्णु तुम्हारी जननेन्द्रिय को पुत्र की उत्पत्ति के लिए समर्थ करें। भगवान् सूर्य तेरे उत्पद्यमान पुत्र को रूप दें (उसके अंगों को यथायोग्य रीति

से पुष्ट और सुन्दर बनाएँ। प्रजापति मुझमें अभिन्न रूप से स्थित होकर तुझमें गर्भ धारण करें और उसका पोषण करें। हे एक कलावशिष्ट अमावास्या रूप हे देव !) तुम यह गर्भधारण करो। जिनकी बहुत स्तुतियाँ गायी जाती हैं। ऐसे हे सिनीवाली देव ! (हे एककलावशिष्ट अमावास्या !) तुम इस गर्भ को धारण करो। अपनी किरणरूपी कमलमाला पहने हुए हे दोनों अश्विनीकुमारो ! आप मुझसे अभिन्न होकर (मुझमें स्थित होकर) तुझमें गर्भ धारण करें।"

हिरण्मयी अरणी याभ्यां निर्मन्थतामश्विनौ। तं ते गर्भं हवामहे दशमे मासि सूतये। यथाऽग्निगर्भा पृथिवी यथा द्यौरिन्द्रेण गर्भिणी। वायुर्दिशां यथा गर्भ एवं गर्भं दधामि तेऽसाविति ॥22॥

"प्राचीन काल में दो स्वर्णमयी (तेजोमयी) अरणियाँ थीं। उन दोनों के द्वारा अश्विनीकुमारों ने मन्थन किया। (उससे उत्पन्न हुए उसी) गर्भ को तुम्हारी कोख में हम बुलाते हैं (स्थापित करते हैं) कि जिससे दसवें महीने में तुम सन्तान को उत्पन्न कर सको। जिस प्रकार पृथ्वी अग्निरूप गर्भवाली है, जैसे स्वर्गभूमि इन्द्र से गर्भिणी है, जैसे दिशाओं का गर्भ वायु है, वैसे ही उसी प्रकार का गर्भ, हे अमुकनामवाली स्त्री ! मैं तुझमें स्थापित करता हूँ।"

सोष्यन्तीमद्भिरभ्युक्षति यथा वायुः पुष्करिणीꣳसमिङ्गयति सर्वतः। एवा ते गर्भ एजतु सहावैतु जरायुणा। इन्द्रस्यायं व्रजः कृतः सार्गलः सपरिश्रयः। तमिन्द्र निर्जहि गर्भेण सावराꣳसहेति ॥23॥

प्रसवकाल में प्रसवासन्न स्त्री के ऊपर जल का अभ्युक्षण (मार्जन) करना चाहिए और तब यह मंत्र बोलना चाहिए (मंत्रार्थ—) "जिस प्रकार वायु पुष्करिणी (छोटे तालाब) के पानी को चारों ओर से चंचल बना देता है इसी तरह तुम्हारा गर्भ अपने ही स्थान में चलित (स्फुरित) हो, और वह जरायु के साथ बाहर निकले। यह इन्द्र के (प्रसववायु के) बाहर निकलने का मार्ग है, वह गर्भ का प्रतिबन्धक है, गर्भ का आश्रय है (अर्थात् गर्भ को नीचे नहीं गिरने देता) तो हे इन्द्र ! (हे प्रसववायु !) उस मार्ग को प्राप्त करके जरायु के साथ बाहर निकल आ।"

जातेऽग्निमुपसमाधायाङ्क आधाय कꣳसे पृषदाज्यꣳ संनीय पृषदाज्य-स्योपघातं जुहोत्यस्मिन्सहस्रं पुष्यासमेधमानः स्वे गृहे। अस्योपसंद्यां मा च्छैत्सीत् प्रजया च पशुभिश्च स्वाहा। मयि प्राणाꣳस्त्वयि मनसा जुहोमि स्वाहा। यत्कर्मणात्यरीरिचं यद्वा न्यूनमिहाकरम्। अग्निष्टत्स्विष्टकृद्विद्वा-न्स्विष्टꣳ सुकृतं करोतु नः स्वाहेति ॥24॥

पुत्र का जन्म होने के बाद उसको गोद में लेकर अग्नि की स्थापना करके, काँसे की कटोरी में दही और घी का मिश्रण रखकर, उस दही और घी के मिश्रण को पिता थोड़ा-थोड़ा आहुति देता है। आहुति देते समय इन मंत्रों को बोलना चाहिए (मंत्रार्थ)—"मेरे अपने घर में पुत्र आदि से वृद्धि प्राप्त करता हुआ मैं हजारों मनुष्यों का पोषण करनेवाला बनूँ। मेरे इस पुत्र के वंश में प्रजा और पशुओं के साथ सम्पत्ति का कभी उच्छेद न हो। स्वाहा"—ऐसा बोलकर आहुति देनी चाहिए। "मुझमें अवस्थित प्राणों को मन से तुझमें होमता हूँ, स्वाहा।" (यह बोलकर और आहुति देनी चाहिए) "प्रधानकर्म के साथ मैंने यदि कुछ अधिक कार्य कर दिया हो अथवा यहाँ आवश्यक कर्म में भी अल्प करके (कुछ क्षति या न्यूनता करके) जो किया हो, तो हमारे उस कर्म को विद्वान् अग्नि अभीष्ट (साधक) होकर

अभीष्ट और सुकृत कर दें। (अर्थात् न्यूनाधिकता के दोष से मुक्त कर दें) स्वाहा''—यह बोलकर आहुति देता है।

अथास्य दक्षिणं कर्णमभिनिधाय वाग्वागिति त्रिरथ दधिमधुघृतꣳ संनी-यानन्तर्हितेन जातरूपेण प्राशयति भूस्ते दधामि भुवस्ते दधामि स्वस्ते दधामि भूर्भुवः स्वः सर्वं त्वयि दधामीति ॥25॥

स्विष्टकृत होम के बाद, उस बालक के दाहिने कान पर अपना मुख रखकर उसके कान पर, 'वाक्, वाक्, वाक्'—ऐसा तीन बार पिता कहता है। इसके बाद दही, मधु और घी को मिलाकर विशुद्ध सोने की चमची से उसे खिलाना चाहिए। खिलाते समय (प्रत्येक ग्रास देते समय) ऐसा एक-एक मन्त्र बोलते जाना चाहिए—''(1) भूस्ते दधामि, (2) भुवस्ते दधामि, (3) स्वस्ते दधामि। 'भू भुवः स्वः सर्वं ते दधामि।'' अर्थात् 'तुझमें पृथ्वी धारण करता हूँ, अन्तरिक्ष धारण करता हूँ, स्वर्ग धारण करता हूँ।'

अथास्य नाम करोति वेदोऽसीति तदस्य तद्गुह्यमेव नाम भवति ॥26॥

इसके बाद उस बालक का नामकरण करता है कि ''तू वेद है।''—यह 'वेद' नाम बालक का गुप्त नाम होता है।

अथैनं मात्रे प्रदाय स्तनं प्रयच्छति यस्ते स्तनः शशयो यो मयोभूर्यो रत्नधा वसुविद्यः सुदत्रः। येन विश्वा पुष्यसि वार्याणिः सरस्वति तमिह धातवेऽकरिति ॥27॥

इसके बाद उस बालक को माता को देकर उसके मुँह में (पिता) स्तन देता है। स्तन देते समय यह मंत्र बोलता है। (मन्त्रार्थ—) ''हे सरस्वती! यह स्तन अब इसको पान करने के लिए दो। तुम्हारा जो स्तन अभी तक शुष्क जैसा ही था, वह तो सर्व प्राणियों के लिए सुखदायक है, वह रमणीय है, वह धन को धारण करनेवाला है। वह सुवर्णधारक है, वह कल्याणकारी है (हे सरस्वती!) तुम उस स्तन से सर्वपोषण करने योग्य वस्तुओं का पोषण करती हो।''

अथास्य मातरमभिमन्त्रयते इलासि मैत्रावरुणी वीरे वीरमजीजनत्। सा त्वं वीरवती भव याऽस्मान् वीरवतोऽकरोदिति तं वा एतमाहुरतिपिता बताभूरतिपितामहो वताभूः परमां बत काष्ठां प्रापच्छ्रिया यशसा ब्रह्मवर्चसेन य एवंविदो ब्राह्मणस्य पुत्रो जायत इति ॥28॥

इति चतुर्थं ब्राह्मणम्॥

इसके बाद (पिता) बालक की माता को अभिमंत्रित करता है। अभिमन्त्रण करते समय यह मंत्र बोलता है। (मंत्रार्थ—) ''तुम पृथ्वीरूप हो, समस्त भोग सामग्री को देनेवाली हो, तुम मैत्रावरुणी (अरुन्धती) हो। पुत्रोत्पत्ति के लिए मैं निमित्त कारण हूँ इसी से वीर पुत्र उत्पन्न करनेवाली तुम वीरपुत्रों वाली बनो। तुमने हमें वीरपुत्रवाला पिता बनाया है। इस पुत्र को देखकर लोग कहेंगे—''वाह! तू तो अपने पिता से भी आगे बढ़ गया! अरे वाह! तू तो अपने दादा से भी बढ़कर निकला! और लक्ष्मी, कीर्ति और ब्रह्मतेज से तू तो उन्नति की चरम सीमा तक पहुँच गया!'' इस प्रकार विशिष्ट ज्ञानसम्पन्न ब्राह्मण को यदि ऐसा पुत्र होता है, तो उससे पिता भी स्तुतिपात्र हो जाता है।

(यहाँ चौथा ब्राह्मण पूरा हुआ।)

पञ्चमं ब्राह्मणम्

अथ वꣳशः। पौतिमाषीपुत्रः कात्यायनीपुत्रात् कात्यायनीपुत्रो गौतमी-पुत्राद्गौतमीपुत्रो भारद्वाजीपुत्राद्भारद्वाजीपुत्रः पाराशरीपुत्रात्पाराशरीपुत्र औपस्वस्तीपुत्रादौपस्वस्तीपुत्रः पाराशरीपुत्रात्पाराशरीपुत्रः कात्यायनी-पुत्रात्कात्यायनीपुत्रः कौशिकीपुत्रात्कौशिकीपुत्र आलम्बीपुत्राच्च वैयाघ्रपदीपुत्राच्च वैयाघ्रपदीपुत्रः काण्वीपुत्राच्च कापीपुत्राच्च कापीपुत्रः ॥1॥

अब इस ज्ञानशाखा की आचार्य परंपरा कही जा रही है। यह ज्ञान पौतिमाषी के पुत्र ने कात्यायनी-पुत्र से, कात्यायनी-पुत्र ने गौतमी के पुत्र से, गौतमी-पुत्र ने भारद्वाजी के पुत्र से, भारद्वाजी के पुत्र ने पाराशरी के पुत्र से, पाराशरी पुत्र ने औपस्वस्ती-पुत्र से, औपस्वस्ती-पुत्र ने पाराशरी के पुत्र से, पाराशरी-पुत्र ने कात्यायनी के पुत्र से, कात्यायनी के पुत्र ने कौशिकी के पुत्र से, कौशिकी-पुत्र ने आम्बीलपुत्र और वैयाघ्रपदी के पुत्र से, वैयाघ्रपदी के पुत्र ने काण्वी के पुत्र और कापी-पुत्र से लिया। और कापीपुत्र ने—

आत्रेयीपुत्रादात्रेयीपुत्रो गौतमीपुत्राद्गौतमीपुत्रो भारद्वाजीपुत्राद्भारद्वाजी-पुत्रः पाराशरीपुत्रात्पाराशरीपुत्रो वात्सीपुत्राद्वात्सीपुत्रः पाराशरीपुत्रा-त्पाराशरीपुत्रो वार्कारुणिपुत्राद्वार्कारुणिपुत्रो वार्कारुणिपुत्राद्वार्कारुणि-पुत्र आर्तभागीपुत्रादार्तभागीपुत्रः शौङ्गीपुत्राच्छौङ्गीपुत्रः सांकृतीपुत्रात्सां-कृतीपुत्र आलम्बायनीपुत्रादालम्बायनीपुत्र आलम्बीपुत्रादालम्बीपुत्रो जायन्तीपुत्राज्जायन्तीपुत्रो माण्डूकायनीपुत्रान्माण्डूकायनीपुत्रो माण्डूकीपुत्रान्माण्डूकीपुत्रः शाण्डिलीपुत्राच्छाण्डिलीपुत्रो राथीतरीपुत्रा-द्राथीतरीपुत्रो भालुकीपुत्राद्भालुकीपुत्रः क्रौञ्चिकीपुत्राभ्यां क्रौञ्चिकीपुत्रौ वैदभृतीपुत्राद्वैदभृतीपुत्रः कार्शकेयीपुत्रात्कार्शकेयीपुत्रः प्राचीनयोगी-पुत्रात्प्राचीनयोगीपुत्रः सांजीवीपुत्रात्सांजीवीपुत्रः प्राश्नीपुत्रादासुरि-वासिनः प्राश्नीपुत्र आसुरायणादासुरायण आसुरेरासुरिः ॥2॥

आत्रेयीपुत्र से, आत्रेयीपुत्र ने गौतमीपुत्र से, गौतमीपुत्र ने भारद्वाजी से, उसने पाराशरी के पुत्र से, उसने वात्सी के पुत्र से, उसने पाराशरी के पुत्र से, उसने वार्कारुणि के पुत्र से, उसने दूसरी वार्कारुणि के पुत्र से, उसने आर्तभागी के पुत्र से, उसने शौंगी के पुत्र से, उसने सांकृति के पुत्र से, उसने आलम्बायनी के पुत्र से, उसने आलम्बी के पुत्र से, उसने जायन्ती के पुत्र से, उसने माण्डूकायनी के पुत्र से, उसने माण्डूकी के पुत्र से, उसने शांडिली के पुत्र से, उसने राथीतरी के पुत्र से, उसने बालुकि के पुत्र से, उसने कौंचिकी के दो पुत्रों से, उन्होंने वैदभृति के पुत्र से, उसने कार्शकेयी के पुत्र से, उसने प्राचीन योगी के पुत्र से, उसने सांजीवी के पुत्र से, उसने प्राश्नी के पुत्र आसुरिवासी से, उसने आसुरायण से, आसुरायण ने आसुरि से, और आसुरि ने—

याज्ञवल्क्याद्याज्ञवल्क्य उद्दालकादुद्दालकोऽरुणादरुण उपवेशेरुपवेशिः कुश्रेः कुश्रिर्वाजश्रवसो वाजश्रवा जिह्वावतो बाध्योगाज्जिह्वावान्बाध्यो-गोऽसिताद्वार्षगणादसितो वार्षगणो हरितात्कश्यपाद्धरितः कश्यपः शिल्पात्कश्यपाच्छिल्पः कश्यपः कश्यपान्नैध्रुवेः कश्यपो नैध्रुविर्वाचो

**वागम्भिण्या अम्भिण्यादित्यादित्यानीमानि शुक्लानि यजुꣳषि वाजसने-
येन याज्ञवल्क्येनाख्यायन्ते ॥3॥**

याज्ञवल्क्य से, याज्ञवल्क्य ने उद्दालक से, उसने अरुण से, उसने उपवेशि से, उसने कुश्री से, उसने याजश्रवा से, उसने जिह्वावान बाध्योग से, उसने असित वार्षगण से, उसने हरित काश्यप से, उसने शिल्प काश्यप से, उसने काश्यप नैध्रुवि से, उसने वाक् से, उसने अंभिणी से, उसने सूर्य से और सूर्य द्वारा प्राप्त हुआ यह यजुर्वेद याज्ञवल्क्य वाजसनेय ने कहा है।

**समानमा सांजीवीपुत्रात्सांजीवीपुत्रो माण्डूकायनेर्माण्डूकायनिर्माण्ड-
व्यान्माण्डव्यः कौत्सात्कौत्सो माहित्थेर्माहित्थिर्वामकक्षायणाद्वामकक्षा-
यणः शाण्डिल्याच्छाण्डिल्यो वात्साद्वात्स्यः कुश्रेः कुश्रिर्यज्ञवचसो राज-
स्तम्बायनाद्यज्ञवचा राजस्तम्बायनस्तुरात्कावषेयात्तुरः कावषेयः प्रजा-
पतेः प्रजापतिर्ब्रह्मणो ब्रह्म स्वयंभु ब्रह्मणे नमः ॥4॥**

इति पञ्चमं ब्राह्मणम् ॥

इति बृहदारण्यकोपनिषदि षष्ठोऽध्यायः ॥6॥

॥ इति बृहदारण्यकोपनिषत्समाप्ता ॥
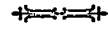
(वही ज्ञान सांजीवी के पुत्र के पास कैसे आया, यह अब बताते हैं—) सांजीवी के पुत्र ने वह ज्ञान माण्डूकायनि से प्राप्त किया। उसने माण्डव्य से, उसने कौत्स से, उसने आहित्थि से, उसने वाकक्षायण से, उसने शाण्डिल्य से, उसने वत्स्य से, उसने कुश्रि से, उसने यज्ञवचा राजस्तंभायन से, उसने तुरकावशेय से, उसने प्रजापति से तथा प्रजापति ने ब्रह्म से ज्ञान प्राप्त किया। ब्रह्म स्वयंभू है उस स्वयंभू ब्रह्म को नमस्कार।

(यहाँ पाँचवाँ ब्राह्मण पूरा हुआ।)

यहाँ बृहदारण्यकोपनिषद् में छठा अध्याय समाप्त होता है।

इस प्रकार बृहदारण्यकोपनिषत् समाप्त होती है।

शान्तिपाठः

**ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥**

मन्त्रानुक्रमणिका

स य एतमेवं विद्वानादित्यं	छान्दो० 3.19.4
स य एतमेवं विद्वानु०	छान्दो० 4.11.2, 4.12.2,4.13.2
स य एवमेतत्साम	छान्दो० 2.21.2
स य एवमेतद्गायत्रं	छान्दो० 2.11.2
स य एवमेतद्बृहदादित्ये	छान्दो० 2.14.2
स य एवमेतद्यज्ञाय	छान्दो० 2.19.2
स य एवमेतद्रथन्तरमग्नौ	छान्दो० 2.12.2
स य एवमेतद्राजनम्	छान्दो० 2.20.2
स य एवमेतद्वामदेव्यम्	छान्दो० 2.13.2
स य एवमेतद्वैराजमृतुषु	छान्दो० 2.16.2
स य एवमेतद्वैरूपम्	छान्दो० 2.15.2
स य एवमेता:	छान्दो० 2.17.2
स य एवमेता रेवत्य:	छान्दो० 2.18.2
स य एवंवित्	तैत्ति० 3.10.5
स य एषोऽणिमैतदात्म्यमिद२	छान्दो० 6.8.7, 6.9.4,6.10.3, 6.12.3,6.13.3, 6.14.3,6.15.3
स य एषोऽन्तर्हृदय	तैत्ति० 1.6.1
स य: कामयेत	बृह० 6.3.1
स यत्रायमणिमानं न्येति	बृह० 4.3.36
स यत्रायमात्माऽबल्यं	बृह० 4.4.1
स यत्रैतत्स्वप्न्यया०	बृह० 2.1.18
स यथा तत्र नादाह्येत्	छान्दो० 6.16.3
स यथा दुन्दुभेर्हन्यमा०	बृह० 2.4.7
स यथा दुन्दुभेर्हन्यमानस्य	बृह० 4.5.8
स यथार्द्रैधाग्नेरभ्याहितस्य	बृह० 4.5.11
स यथार्द्रैधाग्नेरभ्याहितात्	बृह० 2.4.10
स यथा वीणायै वाद्यमानायै	बृह० 2.4.9, 4.5.10
स यथा शकुनि:	छान्दो० 6.8.2
स यथा सङ्खस्य ध्मायमानस्य	बृह० 2.4.8, 4.5.9
स यथा सर्वासामपा२	बृह० 2.4.11, 4.5.12
स यथा सैन्धवखिल्य	बृह० 2.4.12
स यथा सैन्धवघनो०	बृह० 4.5.13
स यथा सौम्य	प्रश्न० 4.7

स यथेमा नद्य:	प्रश्न० 6.5
स यथोभयपाद०	छान्दो० 4.16.5
स यथोर्णनाभि०	बृह० 2.1.20
स यदवोचं प्राणम्	छान्दो० 3.15.4
स यदशिशिषति	छान्दो० 3.17.1
स यदा तेजसाऽभिभूतो	प्रश्न० 4.6
स यदि पितरं	छान्दो० 7.15.2
स यदि पितृलोककामो	छान्दो० 8.2.1
स यद्येकमात्रमभिध्यायीत	प्रश्न० 5.3
स य: संकल्पं ब्रह्मेत्युपास्ते	छान्दो० 7.4.3
स यस्तेजो ब्रह्मेत्युपास्ते	छान्दो० 7.11.2
स य: स्मरं ब्रह्मेत्युपास्ते	छान्दो० 7.13.2
स यश्चायं पुरुषे	तैत्ति० 2.8.5
स यश्चित्तं ब्रह्मेत्युपास्ते	छान्दो० 7.5.3
स यामिच्छेत्कामयेत	बृह० 6.4.9
स यावदादित्य:	छान्दो० 3.6 4
स यावदादित्य उत्तरत	छान्दो० 3.10.4
स यावदादित्य: पुरस्ताद्	छान्दो० 3.7.4
स यावदादित्य: पश्चादु०	छान्दो० 3.9.4
स यावदादित्यो दक्षिणत	छान्दो० 3.8.4
स यो ध्यानं ब्रह्मेत्युपास्ते	छान्दो० 7.6.2
स यो नाम ब्रह्मेत्युपास्ते	छान्दो० 7.1.5
स योऽन्नं ब्रह्मेत्युपास्ते	छान्दो० 7.9.2
स योऽपो ब्रह्मेत्युपास्त	छान्दो० 7.10.2
स यो बलं ब्रह्मेत्युपास्ते	छान्दो० 7.8.2
स यो मनुष्याणा२	बृह० 4.3.33
स यो मनो ब्रह्मेत्युपास्ते	छान्दो० 7.3.2
स यो वाचं ब्रह्मेत्युपास्ते	छान्दो० 7.2.2
स यो विज्ञानं ब्रह्मेत्युपास्ते	छान्दो० 7.7.2
स यो ह वै तत्परमं	मुण्ड० 3.2.9
सर्वकर्मा सर्वकाम:	छान्दो० 3.14.4
सर्वं ह्येतद्ब्रह्म	माण्डू० 2
सर्वं खल्विदं ब्रह्म	छान्दो० 3.14.1
सर्वास्वप्सु पञ्चविधं२	छान्दो० 2.4.1
सर्वे वेदा यत्पदं	कठ० 1.2.15
सर्वे स्वरा इन्द्रस्यात्मन:	छान्दो० 2.22.3
सर्वे स्वरा घोषवन्तो	छान्दो० 2.22.5

सलिल एको द्रष्टाऽद्वैतो	बृह० 4.3.32
स वा अयं पुरुषो जायमान:	बृह० 4.3.8
स वा अयमात्मा ब्रह्म	बृह० 4.4.5
स वा अयमात्मा सर्वेषाम्	बृह० 2.5.15
स वा एष महानज आत्मा	बृह० 4.4.22, 4.4.24
स वा एष आत्मा	छान्दो० 8.3.3
स वा एष एतस्मिन्बुद्ध	बृह० 4.3.17
स वा एष एतस्मिन् स्वप्नान्ते	बृह० 4.3.34
स वा एष एतस्मिन् स्वप्ने	बृह० 4.3.16
स वा एष एतस्मिन्सम्प्रसादे	बृह० 4.3.15
स वा एष महानज	बृह० 4.4.25
स वेदैतत्परमं	मुण्ड० 3.2.1
स वै नैव रेमे तस्मादेकाकी	बृह० 1.4.3
स वै वाचमेव प्रथमामत्य०	बृह० 1.3.12
स समित्पाणि: पुनरेयाय	छान्दो० 8.9.2, 8.10.3, 8.11.2
स ह क्षत्ताऽन्विष	छान्दो० 4.1.7
स ह खादित्वा०	छान्दो० 1.10.5
स ह गौतमो राज्ञो०	छान्दो० 5.3.6
स ह द्वादशवर्ष	छान्दो० 6.1.2
सह नौ यश:	तैत्ति० 1.3.1
स ह पञ्चदशाहानि	छान्दो० 6.7.2
स ह प्रजापतिरीक्षांचक्रे	बृह० 6.4.2
स ह प्रात: संजिहान	छान्दो० 1.10.6
स ह व्याधिना०	छान्दो० 4.10.3
स ह शिलक:	छान्दो० 1.8.3
स ह संपादयांचकार	छान्दो० 5.11.3
स ह हारिद्रुमतम्	छान्दो० 4.4.3
स हाशाथ हैनमुपससाद	छान्दो० 6.7.4
स हेभ्यं कुल्माषान्	छान्दो० 1.10.2
स होवाच यदूर्ध्वं गार्गि	बृह० 3.8.4, 3.8.7
स होवाच किं मे ग्रहम्	छान्दो० 5.3.1
स होवाच किं मे वासो	छान्दो० 5.2.2
स होवाच गार्ग्यो य एवासौ	बृह० 2.1.2-13
स होवाच तथा नस्त्वं तात	बृह० 6.2.4
स होवाच दैवेषु वै	बृह० 6.2.6

स होवाच न वा अरे पत्यु:	बृह० 2.4.5,4.5.6
स होवाच पितरं	कठ० 1.1.4
स होवाच प्रतिज्ञातो	बृह० 6.2.5
स होवाच भगवन्तं	छान्दो० 1.11.2
स होवाच महात्मन०	छान्दो० 4.3.6
स होवाच महिमान	बृह० 3.9.2
स होवाच यथा नस्त्वं	बृह० 6.2.8
स होवाच याज्ञवल्क्य:	बृह० 2.4.4
स होवाच याज्ञवल्क्य: प्रिया	बृह० 4.5.5
स होवाच वायुर्वै गौतम	बृह० 3.7.2
स होवाच विजानाम्यहं	छान्दो० 4.10.5
स होवाच विज्ञायते	बृह० 6.2.7
स होवाचाजातशत्रु:	बृह० 2.1.14-17
स होवाचैतद्वै तदक्षरम्	बृह० 3.8.8
स होवाचोवाच वै सो	बृह० 3.3.2
स होवाचोषस्तश्चाक्रायणो	बृह० 3.4.2
सा चेदस्मै दद्यात्	बृह० 6.4.8
सा चेदस्मै न	बृह० 6.4.7
सा ब्रह्मेति होवाच	केन० 4.1
सा भावयित्री	ऐत० 2.4.3
साम प्राणो वै साम	बृह० 5.13.3
सा वा एषा देवता	बृह० 1.3.9
सा वा एषा दैवतैतासं	बृह० 1.3.10-11
सा ह वागुच्चक्राम	छान्दो० 5.1.8
सा ह वागुवाच	बृह० 6.1.14
सा हैनमुवाच नाहमेतद्वेद	छान्दो० 4.4.2
सा होवाच नमस्तेऽस्तु	बृह० 3.8.5
सा होवाच ब्राह्मणा	बृह० 3.8.12
सा होवाच मैत्रेयी यन्नु	बृह० 2.4.2,4.5.3
सा होवाच मैत्रेयी येनाहं	बृह० 2.4.3,4.5.4
सा होवाच मैत्रेय्यत्रैव मा	बृह० 2.4.13, 4.5.14
सा होवाच यदूर्ध्वं याज्ञवल्क्य	बृह० 3.8.3, 3.8.6
सा होवाचाहं वै त्वा	बृह० 3.8.2
सुकेशा च भारद्वाज:	प्रश्न० 1.1
सुवरित्यादित्ये मह०	तैत्ति० 1.6.2

॥ श्रीः ॥

व्रजजीवन प्राच्यभारती ग्रन्थमाला
162

उपनिषत्सञ्चयनम्

(हिन्दीभाषानुवादसहितम्)

द्वितीयः खण्डः
(ब्रह्मोपनिषदाऽऽरभ्य मुद्‌गलोपनिषत्पर्यन्तम्)

अनुवादकः
आचार्य केशवलाल वि० शास्त्री

चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान
दिल्ली

उपनिषत्सञ्चयनम्

प्रकाशक
चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान
(भारतीय संस्कृति एवं साहित्य के प्रकाशक तथा वितरक)
38 यू. ए. बंगलो रोड, जवाहर नगर
पो. बा. नं. 2113
दिल्ली 110007
दूरभाष : (011) 23856391, 41530902

प्रथम संस्करण 2015 ई.
मूल्य : 375.00

अन्य प्राप्तिस्थान
चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन
के. 37/117, गोपालमन्दिर लेन
पो. बा. नं. 1129, वाराणसी 221001

•

चौखम्बा विद्याभवन
चौक (बैंक ऑफ बड़ौदा भवन के पीछे)
पो. बा. नं. 1069, वाराणसी 221001

•

चौखम्बा पब्लिशिंग हाउस
4697/2 गली नं. 21-ए, अंसारी रोड
दरियागंज, नई दिल्ली-110002

•

मुद्रक
ए.के. लिथोग्राफर्स, दिल्ली

ISBN : 978-81-7084-613-0 (Vol. 2)
978-81-7084-617-3 (Set)

प्राक्कथन

परम्परा तो ऐसा कहती है कि हरएक वैदिक शाखा की अपनी एक-एक उपनिषत् थी; यदि इस किंवदन्ती में कुछ तथ्य हो, तब तो हमारा विशाल उपनिषत्साहित्य कालग्रस्त हो गया है, ऐसा अनुमान किया जा सकता है; पर जो-कुछ भी हो, उपनिषदें कुछ कालग्रस्त हुईं भी हों या न हों, तथापि उपनिषदों के निर्माण का सिलसिला तो आधुनिक काल तक जारी ही रहा है। सभी उपनिषदें एक साथ तो नहीं बनी हैं। वैदिककालीन उपनिषदों का भी भाषाकीय दृष्टि से विद्वानों ने क्रम बताया ही है; जैसे—प्रारम्भ में बृहदारण्यक, तैत्तिरीय, ऐतरेय, कौषीतकी, केन और छान्दोग्य आदि गद्य उपनिषदें बनीं। मध्यकाल में कठ, ईश, श्वेताश्वतर, मुण्डक और महानारायण आदि पद्यात्मक उपनिषदें बनीं तथा उसी श्रौतकाल के अन्तभाग में प्रश्न, मैत्रायणी और माण्डूक्योपनिषद् जैसी गद्यात्मक उपनिषदों का निर्माण हुआ—ऐसा भाषावैज्ञानिक विद्वानों का मानना है। यह तो केवल श्रौतकालीन उपनिषदों के भाषाकीय वर्गीकरण के आधार पर उनके समय की क्रमिकता बताने का अनुमान है, परन्तु इसके बाद भी उपनिषदों के निर्माण का क्रम चालू ही रहा है। इसको समझने के लिए हमें इतिहास पर थोड़ी दृष्टि डालनी होगी।

हमारे देश का प्राचीन नाम आर्यावर्त है, पर इसका यह अर्थ नहीं है कि इसमें केवल आर्य-श्रौत-वैदिक लोग ही निवास करते थे; हाँ, आर्य लोगों की अधिकता अवश्य थी। आर्यावर्त में आर्येतर शबर, पुलिन्द आदि कई अन्य लोग भी बसते ही थे। भागवत में ऐसी छोटी-मोटी नौ जातियों का उल्लेख है। तो आर्य और आर्येतर जाति एक ही भूमि पर रहते हुए भी विभिन्न संस्कृति वाली, विभिन्न धर्मभावना वाली और विविध उपासना पद्धति वाली थी। इस तरह दो समान्तर विचारधाराएँ एक ही भूमि पर वर्षों तक प्रवहमान रहीं। श्रौतभावधारा का नाम 'निगम' और इतर भावधारा का सामुदायिक नाम 'आगम' पड़ा।

कालान्तर में दोनों भावधाराओं का—दोनों संस्कृतियों का अभीष्ट संगम हुआ। और ऐसी एक समन्वयात्मक संस्कृति का निर्माण हुआ कि आज हम उन दोनों का पृथक्करण कर ही नहीं सकते; परिणाम यह हुआ कि एक ओर निगमों ने आगम को अपनी उपनिषदों की कुछ विद्याओं में स्थान दिया (जैसे अग्निविद्या आदि) और दूसरी ओर उन आगमों ने भी अपने को, 'वेदबाह्य नहीं हैं, वेदमूलक हम भी हैं'—ऐसा ठहराने का प्रयत्न किया। इसके लिए सबसे सरल मार्ग यह था कि अपने मत की ऐसी कोई उपनिषद् बनाकर किसी-न-किसी वेद के साथ में जोड़ दें। और उन आगमवादियों ने यही मार्ग पसन्द किया और फलस्वरूप हमें कुछ शैव, वैष्णव, शाक्त, गाणपत्य और हठयोग आदि की उपनिषदें मिलीं। उपनिषद् निर्माण का सिलसिला जारी ही रहा। ऐसा होने में निगम-आगम दोनों पक्षों का सहयोग था। निगम पक्ष में इस प्रक्रिया के पुरस्कर्ता 'शुभागमपंचक' (शुक, सनत्कुमार आदि) को माना जाता है। यह घटना अतिप्राचीन है। इस तरह उपनिषदें निर्मित होती रहीं।

श्रौतकाल के बाद की यह ऐतिहासिक घटना है। बौद्धकाल में भी यह समन्वयात्मक उपनिषत् निर्माण का प्रवाह चालू ही रहा और बौद्धमार्ग की छायावाली एक 'वज्रसूचि' नामक उपनिषद् भी मिलती है। समन्वय-भावना भारतीय संस्कृति की नसों में प्रवहमान है। और तो क्या कहें ? मुसलमानों के अर्वाचीन शासनकाल में भी उपनिषदों का बहुत बड़ा विस्तार देखा जाता है। एक 'अल्लोपनिषद्' भी मिलती है। इतना ही नहीं आज तक यह प्रक्रिया चालू ही है। विविध मतवादों को वेदमूलक बताने

की यह समन्वयात्मक प्रक्रिया है। हमारी संस्कृति का यह एक ऐसा शाश्वत तत्त्व है कि जिसके कारण हमारी संस्कृति हजारों वर्षों से जीवित रही है, कभी पतली और कभी अन्त:सलिला सरस्वती की तरह छिपी रहकर भी जीवित ही है। अभी थोड़े समय पहले ही हमारे प्रथम गवर्नर जनरल राजगोपालाचारी ने 'रामकृष्णोपनिषद्' नाम की एक उपनिषत् लिखी थी, परन्तु वह अंग्रेजी में होने से उपनिषदों की शैलीयुक्त नहीं थी इसलिए बेंगलूरू के स्वामी हर्षानन्द ने इसे उपनिषदों की शैली में पुन: संस्कृत में प्रस्तुत किया है।

यह सारा इतिहास हमारे वेदों, हमारी उपनिषदों और हमारी समन्वयभावना का महिमागान कर रहा है, हमारी वेदमूलकता को बढ़ावा दे रहा है, तथा उपनिषद् की उपादेयता बता रहा है।

आज तो इन उपनिषदों की संख्या सम्भवत: 272 तक पहुँच गई है, परन्तु उनमें से महत्त्वपूर्ण उपनिषदों का विद्वानों ने संचय या समुच्चय किया है। कभी-कभी उसे उपनिषत्संहिता भी कहा जाता है। इस प्रकार के समुच्चय दो प्रकार के हुए हैं—एक उत्तर भारतवर्ष में हुआ है और दूसरा दक्षिण भारत में व्यवस्थित हुआ है। पहले समुच्चय में 52 उपनिषदें आती हैं और दूसरे समुच्चय में 108 उपनिषदें आती हैं। पहले समुच्चय के ऊपर श्रीनारायण की दीपिका नाम की टीकाएँ हैं, और उसकी व्यवस्था भी नारायण ने ही रची है, ऐसा विद्वानों का अनुमान है। इसके बाद का दूसरा समुच्चय जो कि मुक्तिकोपनिषत् में प्रस्तुत की गई (108 उपनिषदों वाली) सूची के अनुसार है, जो अधिक प्रचलित है और 'अष्टोत्तरशतोपनिषत्' की संज्ञा से प्रतिष्ठित है, अत: प्रस्तुत संस्करण में इस दूसरे अधिक प्रचलित समुच्चय को ही ग्रहण किया गया है, और उस समुच्चय में कुछ उपनिषदों के पूर्व और उत्तर ऐसे दो भाग होने से कुल एक सौ ग्यारह उपनिषदें होती हैं।

मुक्तिकोपनिषत् में दिये गए विवरण के अनुसार 108 उपनिषदों की सारणी इस प्रकार है—इसमें ऋग्वेद की 10, शुक्लयजुर्वेद की 19, कृष्णयजुर्वेद की 32, सामवेद की 16 और अथर्ववेद की 31 = कुल मिलाकर 108 उपनिषदें होती हैं, जिसका विवरण यहाँ दिया जा रहा है—

१) ऋग्वेदीय उपनिषदें—ऐतरेय, कौषीतकि, नादबिन्दु, आत्मबोध, निर्वाण, मुद्गल, अक्षमालिका, त्रिपुरा, सौभाग्यलक्ष्मी और बह्वृच (कुल 10)।

२) शुक्लयजुर्वेदीय उपनिषदें—ईश, बृहदारण्यक, जाबाल, हंस, परमहंस, सुबाल, मंत्रिका, निरालम्ब, त्रिशिखिब्राह्मण, मण्डलब्राह्मण, अद्वयतारक, पैंगल, भिक्षुक, तुरीयातीतावधूत, अध्यात्म, तारसार, याज्ञवल्क्य, शाट्यायनी और मुक्तिका (कुल 19)।

३) कृष्णयजुर्वेदीय उपनिषदें—कठ, तैत्तिरीय, ब्रह्म, कैवल्य, श्वेताश्वतर, गर्भ, नारायण, अमृतबिन्दु, अमृतनाद, कालाग्निरुद्र, क्षुरिका, सर्वसार, शुकरहस्य, तेजोबिन्दु, ध्यानबिन्दु, ब्रह्मविद्या, योगतत्त्व, दक्षिणामूर्ति, स्कन्द, शारीरक, योगशिखा, एकाक्षर, अक्षि, अवधूत, कठरुद्र, रुद्रहृदय, योगकुण्डलिनी, पंचब्रह्म, प्राणाग्निहोत्र, वराह, कलिसंतरण, सरस्वतीरहस्य (कुल मिलाकर 32)।

४) सामवेदीय उपनिषदें—केन, छान्दोग्य, आरुणि, मैत्रायणि, मैत्रेयी, वज्रसूचिका, योगचूडामणि, वासुदेव, महा, संन्यास, अव्यक्त, कुण्डिका, सावित्री, रुद्राक्षजाबाल, जाबालदर्शन और जाबालि (कुल 16)।

५) अथर्ववेदीय उपनिषदें—प्रश्न, मुण्डक, माण्डूक्य, अथर्वशिर, अथर्वशिखा, बृहज्जाबाल, नृसिंहतापिनी, नारदपरिव्राजक, सीता, शरभ, त्रिपाद्विभूतिमहानारायण, रामरहस्य, रामतापिनी,

शाण्डिल्य, परमहंसपरिव्राजक, अन्नपूर्णा, सूर्य, आत्मा, पाशुपतब्रह्म, परब्रह्म, त्रिपुरातापिनी, देवी, भावना, ब्रह्मजाबाल, गणपति, महावाक्य, गोपालतापिनी, कृष्ण, हयग्रीव, दत्तात्रेय, गरुड (कुल 31)।

हमने नृसिंहतापिनी, रामतापिनी तथा गोपालतापिनी इन तीनों उपनिषदों के जो पूर्वतापिनी और उत्तरतापिनी ऐसे दो विभाग प्रचलित हैं, उन्हीं का स्वीकार करके दो-दो उपनिषदों की गणना की है, इस प्रकार इस दूसरे समुच्चय में उपनिषदों की कुल संख्या 111 होती है।

हमारी आज की संस्कृत भाषा की अपेक्षा प्राचीन उपनिषदों की वैदिक संस्कृत भाषा कुछ अलग है और अर्वाचीन उपनिषदों में भी पारिभाषिकता अधिक होने से संस्कृत के अनभिज्ञ लोगों के लिए और कभी-कभी अभिज्ञ लोगों के लिए भी दुरूह हो गई हैं, फिर भी उपनिषदों के आदर्श इतने महान् और भव्य हैं कि सम्पूर्ण विश्व की दृष्टि को अपनी ओर उन्होंने आकर्षित किया है। ई. 1640 में शाहजहाँ के ज्येष्ठपुत्र दाराशिकोह ने अपने काश्मीरवास के दरमियान उपनिषदों के बारे में कुछ बातें सुनकर वाराणसी के कुछ पण्डितों को दिल्ली बुलाकर पहले-पहल उपनिषदों का फारसी अनुवाद करवाया। सन् 1775 में फैजाबाद में रहने वाले फ्रांसीसी राजदूत ली जेन्टील ने उस अनुवाद की एक कापी अपने मित्र एकेलीन दुपरो को दी। उन्होंने उन उपनिषदों का लैटिन में अनुवाद किया और 1801-2 में वह प्रकाशित हुआ। वह अनुवाद क्लिष्ट होने पर भी शोपनहॉवर ने उसे बड़े उत्साह से पढ़ा। उन पर उसका बड़ा भारी प्रभाव पड़ा। उन्होंने लिखा है—"इस नवीन शताब्दि में सबसे महत्त्वपूर्ण लाभ यह हुआ है कि उपनिषदों के अनुवाद ने वेदों के अपौरुषेय ज्ञान का मार्ग खोल दिया है। मेरा यह विश्वास है कि संस्कृत साहित्य का प्रभाव उतना ही गम्भीर और व्यापक होगा, जितना की पंद्रहवी शताब्दि में पुनरुत्थानकाल में ग्रीक साहित्य का हुआ था। मेरी यह मान्यता है कि यदि किसी व्यक्ति ने प्राचीन भारतीय दर्शन का ज्ञान प्राप्त किया है, और उसने उसे समझा हो, तो उसे मैं जो कुछ भी कहना चाहता हूँ, वह इससे और भी स्पष्ट हो जाएगा। उपनिषदों में अपना अलग-अलग अस्तित्व रखने वाले अनेक क्लिष्ट सूत्र जो हैं, वे मेरे वर्णन से सरल-सुबोध हो जाएंगे।" (हाल्डेन एवं केम्प कृत अनुवाद)

उपनिषदों की अपनी भूमिका में मैक्समूलर ने कहा है—"शोपनहॉवर ने उपनिषदों को जो 'उच्चतर मनीषा की उपज' कहा है, वह ठीक ही है, किन्तु और भी तथ्य उन्होंने बताया वह भी बड़ा महत्त्वपूर्ण है, वह यह कि उपनिषदों में जो बहुदेववाद दिखाई देता है, वह ब्रूनो, मेलकांश, स्पिनोजा और स्काट्स एरिजिना के बताए हुए बहुदेववाद से कहीं अधिक उच्चतर है। इन महान् ज्ञान-भाण्डागारों को उच्चतम स्थान दिलाने के लिए इतना ही पर्याप्त है। इनके सम्बन्ध में कुछ कहूँ, तो उससे अधिक वे स्वयं प्रमाण हैं।"

इसके बाद स्वामी विवेकानन्द आए। इनके पहले भी कुछ भारतीय विद्या के प्रेमी हुए थे, पर बहुत ही व्यापक प्रमाण में उन्होंने उपनिषदों के वेदान्ती ज्ञान को सारे पश्चिम में एक झंझावात की तरह फैला दिया। और आज तो प्रत्येक विचारक उपनिषदों को लक्ष्य में लिए बिना रह ही नहीं सकता। डॉ० सर्वपल्ली राधाकृष्णन् को भी इसका श्रेय जाता है।

ऐसे हमारे संचित निधि के रूप में आज भी वे जगमगा रहे हैं। उपनिषदों के ही प्रभाव से एक युग के कट्टर शत्रु 'विज्ञान' और 'अध्यात्म' आज नजदीक आ गए हैं। एक समय था जब अध्यात्म और विज्ञान के बीच पूर्णिमा और अमावास्या जितना बड़ा अन्तर था, जो आज शुक्ल चतुर्दशी और पूर्णिमा जितना मात्र ही रह गया है, दोनों के रास्ते अलग होने पर भी लक्ष्य एक ही है। विज्ञान बाहर से जिस तत्त्व की खोज कर रहा है, उसी तत्त्व की खोज अध्यात्म भीतर (अन्तस्) से कर रहा है। एक

शक्ति केन्द्रोत्सारी है, दूसरी केन्द्रगामी है। अनादि काल से दोनों की प्रक्रियाएँ अविरत चल ही रहीं हैं। कौन प्रथम और कौन द्वितीय है—यह कौन कह सकता है ? कोई नहीं। अत: हमें दोनों का स्वीकार करके चलना है। ऐसा नहीं करेंगे तो गति रुक जाएगी। इसलिए हमें आज केन्द्रगामी शक्ति के छूट जाने का भय सता रहा है, और उसे परितुष्ट केवल उपनिषदें ही कर सकतीं हैं; चलिए हम फिर से उस केन्द्रगामी शक्ति को जगाएँ और उपनिषद् के विचारों को सोच-समझकर अपने जीवन को सुव्यवस्थित बनाएँ। हमें ये सभी विविध अध्यात्म विभावनाएँ मान्य हैं, लेकिन हम उनमें से अपनी रुचि, रस, रुझान, योग्यता, अधिकार के योग्य वस्तु चुनकर जीवन को संतुलित करेंगे—'एकं सद् बहुधा विप्रा वदन्ति।'

प्रकृत संस्करण के सन्दर्भ में

मुक्तिकोपनिषत् में वर्णित क्रम के अनुसार, जिसका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है, उपनिषदों की संख्या 108 मानने की परम्परा चली आ रही है। श्री शंकराचार्य के भाष्यवाली उपनिषदों के अलावा एक-दो और उपनिषदों का मन्त्रश: हिन्दी अनुवाद तो मिलता है, इसके अतिरिक्त 98 उपनिषदों का मन्त्रश: हिन्दी अनुवाद हमारी दृष्टि में नहीं आया है। अत: हमने औपनिषदिक मन्त्रों के मौलिक स्वरूप को ध्यान में रखते हुए जहाँ तक बन सका है, मूलपाठों का अन्वय करके शब्दश: अनुवाद करने का प्रयास किया है। उपनिषत्कथित उपासनाओं की निदर्शनीय प्रक्रियाएँ अब लुप्त-प्राय हो गई हैं, इसलिए भिन्न-भिन्न व्याख्याकारों ने अपने विशिष्ट ढंग से उन मन्त्रों की विवेचना की है। उनमें से हमें जो ज्यादा सरल और सुगम जान पड़ी, उसी के आधार पर मन्त्रों का अनुवाद प्रस्तुत किया है। उपासनाओं की गुत्थियों को सुलझाने के लिए पं० वासुदेवशरण अग्रवाल प्रभृति विद्वानों के अभिप्रायों को लक्ष्य में लेने का यथा सम्भव प्रयास किया है। तान्त्रिक, यौगिक एवं सम्प्रदाय-विशेष की उपनिषदों के अनुवाद में सुगमता एवं सरलता का विशेष ध्यान रखा गया है।

आशा है मेरा यह प्रयास संस्कृत एवं संस्कृति-प्रेमियों को पसन्द आयेगा।

31,ओंकार टावर,
राजकोट (गुजरात)

विदुषामनुचर:
केशवलाल वि० शास्त्री

उपनिषत्क्रम

पृष्ठांक

❋

॥ श्रीः ॥

उपनिषत्संग्रहः

(11) ब्रह्मोपनिषत्

(उपनिषत्परिचय)

तेईस मंत्रों की इस कृष्णयजुर्वेदीय उपनिषद् में ब्रह्म का स्वरूप और उसकी प्राप्ति का उपाय बताया गया है। इसीलिए इस उपनिषद् का नाम ब्रह्मोपनिषद् पड़ा है। कुछ लोग इसे ही ब्रह्मबिन्दूपनिषद् कहते हैं, परन्तु कुछ विद्वानों की ऐसी राय है कि ब्रह्मबिन्दूपनिषद् तो कृष्णयजुर्वेदीय अमृतबिन्दूपनिषद् का ही दूसरा नाम है। वह अमृतबिन्दूपनिषत् तो इससे अलग ही है। उसमें तो बाईस मन्त्र हैं।

यहाँ प्रस्तुत ब्रह्मोपनिषद् में चतुष्पाद ब्रह्म का वर्णन किया गया है। इसके बाद परब्रह्म का अक्षरत्व, ब्रह्म और निर्वाण की एकरूपता, हृदय में विद्यमान देवगण, प्राण और ज्योति—ऐसे ब्रह्म के तीन स्वरूप (त्रिवृत्सूत्र) का वर्णन, यज्ञोपवीत का तात्त्विक रहस्य, शिखा, यज्ञोपवीत आदि का स्वरूप - ज्ञान, ब्राह्मणों के लिए उस ज्ञान की आवश्यकता आदि विषय सुचारु रूप से बताए गए हैं। बाद में ब्रह्मप्राप्ति का उपाय, सत्य, तप आदि की महिमा बताकर, जिस प्रकार दूध में घी मिला हुआ ही रहता है, ठीक उसी प्रकार आत्मा और ब्रह्म की एकता स्थापित की गई है। ब्रह्म की व्यापकता, सर्वसत्तावत्ता की अनुभूति करनेवाला साधक स्वयं ब्रह्मस्वरूप हो जाता है, यह बताया गया है। कुछ विद्वान् इसे अथर्ववेदीय भी बताते हैं।

शान्तिपाठः

ॐ सह नाववतु। सह नौ भुनक्तु। सह वीर्यं करवावहै।
तेजस्विनावधीतमस्तु मा विद्विषावहै॥
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः॥

हे पूर्णब्रह्म परमात्मा ! आप हम दोनों (गुरु-शिष्य) की साथ-साथ रक्षा करें। हम दोनों का साथ-साथ पालन करें। हम दोनों साथ-साथ शक्ति प्राप्त करें। हम दोनों द्वारा प्राप्त की गई विद्या तेजोमयी हो। हम दोनों आपस में कभी द्वेष न करें।

हे परमात्मन् ! हमारे त्रिविध (आधिभौतिक, आधिदैविक, आध्यात्मिक) तापों की शान्ति हो।

अथास्य पुरुषस्य चत्वारि स्थानानि भवन्ति। नाभिर्हृदयं कण्ठं मूर्धेति। तत्र चतुष्पादं ब्रह्म विभाति। जागरितं स्वप्नं सुषुप्तं तुरीयमिति। जागरिते ब्रह्मा स्वप्ने विष्णुः सुषुप्तौ रुद्रस्तुरीयमक्षरम्। स आदित्यो

विष्णुश्चेश्वरश्च स्वयममनस्कमश्रोत्रमपाणिपादं ज्योतिर्विदितम् ॥1॥

इस शरीर में नाभि, हृदय, कण्ठ और ब्रह्मरन्ध्र—ये चार आत्मा के (विशिष्ट) स्थान हैं। (उन चार स्थानों में) चार चरणवाला वह ब्रह्म प्रकाशित होता है। उस आत्मा की जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति और तुरीय—ऐसी चार अवस्थाएँ होती हैं। उन अवस्थाओं में से जाग्रत् में ब्रह्मा के रूप में, स्वप्न में विष्णु के रूप में और सुषुप्त अवस्था में रुद्र के रूप में तथा चौथा तुरीय अवस्था में अक्षर अर्थात् परमात्मा के रूप में वह प्रकाशित होता है। यह आत्मा स्वयं तो मन, इन्द्रियों, हाथ, पैर आदि से रहित ही है। वह केवल ज्योतिस्वरूप ही है, ऐसा सर्वविदित ही है।

यत्र लोका न लोका देवा न देवा वेदा न वेदा यज्ञा न यज्ञा माता न माता पिता न पिता स्नुषा न स्नुषा चाण्डालो न चाण्डालः पौष्कसो न पौष्कसः श्रमणो न श्रमणस्तापसो न तापस एकमेव तत्परं ब्रह्म विभाति निर्वाणम् ॥2॥

उस आत्मा में (ब्रह्म में) लोक लोकरूप में नहीं होते, देव देवों के रूप में नहीं होते, वेद वेदरूप में नहीं हैं, यज्ञ यज्ञों के रूप में नहीं हैं, माता माता के रूप में नहीं है, पिता पिता के रूप में नहीं है, बहू बहू के रूप में नहीं है, चाण्डाल चाण्डाल के रूप में नहीं है, भील भील के रूप में नहीं है, संन्यासी संन्यासी के रूप में नहीं है, वानप्रस्थ वानप्रस्थ के रूप में नहीं है, परन्तु वह तो सदैव एकरूप ही है, अतः वह निर्वाणरूप में और ब्रह्मरूप में प्रकाशित होता है।

न तत्र देवा ऋषयः पितर ईशते प्रतिबुध्यः सर्वविद्येति ॥3॥

उस ब्रह्म में देवलोग, ऋषिलोग और पितृलोग अपना सामर्थ्य नहीं रख सकते। वह तो ज्ञान द्वारा ही जानने योग्य है और वह सर्वविद्यास्वरूप है।

हृदिस्था देवताः सर्वा हृदि प्राणाः प्रतिष्ठिताः।
हृदि प्राणाश्च ज्योतिश्च त्रिवृत्सूत्रं च तद्विदुः॥
हृदि चैतन्ये तिष्ठति ॥4॥

"सभी प्राणियों के हृदय में सभी देवता रहते हैं। हृदय में ही प्राण अवस्थित हैं। हृदय में ही प्राण और ज्योति हैं। इस प्रकार तीन स्वरूप से परमात्मा अवस्थित हैं—ऐसा जो सूचित करता है वह तीन तन्तुओं वाला यज्ञोपवीत है।" यह बात उसके रहस्य को जाननेवाले समझ सकते हैं। वह परमात्मा चेतना के रूप में हृदय में निवास करता है—ऐसा बताते हैं।

यज्ञोपवीतं परमं पवित्रं प्रजापतेर्यत्सहजं पुरस्तात्।
आयुष्यमग्र्यं प्रतिमुञ्च शुभ्रं यज्ञोपवीतं बलमस्तु तेजः ॥5॥

(हृदयस्थ आत्मा को सूचित करता हुआ यह—) यज्ञोपवीत परम पवित्र है। वह प्रजापति के साथ पहले ही उत्पन्न हो गया है। वह आयुष्य को देनेवाला है।—ऐसा समझकर तुम उत्तम और उज्ज्वल उपवीत धारण करो। वह यज्ञोपवीत तुम्हें बल देनेवाला और तेज देनेवाला हो।

सशिखं वपनं कृत्वा बहिःसूत्रं त्यजेद् बुधः।
यदक्षरं परं ब्रह्म तत्सूत्रमिति धारयेत् ॥6॥

शिखासहित मुण्डन कराने के बाद अर्थात् संन्यासी होकर ज्ञानी को उस बाहर के सूत्र को

(उपवीत को) छोड़ देना चाहिए। और जिसे अविनाशी परब्रह्म कहा जाता है, उसे ही सूत्र समझकर उसी को हृदय में धारण कर लेना चाहिए।

सूचनात्सूत्रमित्याहुः सूत्रं नाम परं पदम्।
तत्सूत्रं विदितं येन स विप्रो वेदपारगः ॥7॥

उपवीत परब्रह्म की हृदय में ही स्थिति सूचित करता है, इसीलिए उसे 'सूत्र' कहा जाता है। सूत्र ही परमपद है। जिसने उस सूत्र को पहचान लिया है, वह वेदों का पारंगत विप्र है, ऐसा माना जाता है।

येन सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव।
तत्सूत्रं धारयेद्योगी योगवित्तत्त्वदर्शिवान् ॥8॥

जिस तरह सूत के तन्तु में मनके पिरोये होते हैं, उसी प्रकार ब्रह्म में यह सब कुछ पिरोया है। इसीलिए तो वह सूत्र कहा जाता है। ऐसे सूत्र को योगवेत्ता और तत्त्वदर्शी योगी को अपने हृदय में धारण करना चाहिए।

बहिःसूत्रं त्यजेद्विद्वान् योगमुत्तममास्थितः।
ब्रह्मभावमिदं सूत्रं धारयेद्यः स चेतनः।
धारणात्तस्य सूत्रस्य नोच्छिष्टो नाशुचिर्भवेत् ॥9॥

उत्तम योग में लगे हुए पुरुष को बाहर का सूत्र छोड़ देना चाहिए, क्योंकि—ब्रह्मस्वरूप होना ही यह सूत्र है। इस सूत्र को जो धारण करता है, वही चेतन है। इसलिए उत्तम योग को धारण करनेवाले विद्वान् (ज्ञानी) को बाहर के सूत्र का त्याग कर देना चाहिए। इस सूत्र को धारण करने से मनुष्य उच्छिष्ट या अपवित्र नहीं होता।

सूत्रमन्तर्गतं येषां ज्ञानयज्ञोपवीतिनाम्।
ते वै सूत्रविदो लोके ते च यज्ञोपवीतिनः ॥10॥

ज्ञानरूपी यज्ञोपवीत धारण करने वाले जिन लोगों के हृदय में ब्रह्मरूप सूत्र (जनेऊ) ही स्थित रहता है, वे ही इस सूत्र के स्वरूप को पहचानते हैं और वे ही सही रूप में यज्ञोपवीत धारण किए हुए माने जाते हैं।

ज्ञानशिखिनो ज्ञाननिष्ठा ज्ञानयज्ञोपवीतिनः।
ज्ञानमेव परं तेषां पवित्रं ज्ञानमुच्यते ॥11॥

जो लोग ज्ञानरूपी शिखावाले हैं, ज्ञान में ही निष्ठा रखनेवाले हैं और ज्ञानरूपी यज्ञोपवीत को धारण करनेवाले हैं, उनके लिए ज्ञान ही सर्वश्रेष्ठ है, उन्हीं का ज्ञान पवित्र कहा जाता है।

अग्नेरिव शिखा नान्या यस्य ज्ञानमयी शिखा।
स शिखीत्युच्यते विद्वान् नेतरे केशधारिणः ॥12॥

जिस पुरुष की अग्नि की शिखा जैसी ही ज्ञानरूपी शिखा होती है, दूसरी कोई शिखा नहीं होती, वही सही रूप में शिखाधारी कहलाता है, वही सच्चा ज्ञानी है, बालों की चोटी रखनेवाले अन्य कोई शिखाधारी हैं ही नहीं (बाहरी शिखा का कोई अर्थ नहीं)।

कर्मण्यधिकृता ये तु वैदिके ब्राह्मणादयः ।
तेभिर्धार्यमिदं सूत्रं क्रियाङ्गं तद्धि वै स्मृतम् ॥13॥

(परन्तु) जो ब्राह्मणादि लोग वैदिक कर्मों के अधिकारी हैं, उन्हें तो यह यज्ञोपवीत (सूत्रात्मक) धारण करना ही चाहिए क्योंकि उसे (जनेऊ को) क्रिया का अंग माना गया है।

शिखा ज्ञानमयी यस्य उपवीतं च तन्मयम् ।
ब्राह्मण्यं सकलं तस्य इति ब्रह्मविदो विदुः ॥14॥

ब्रह्मवेत्ता लोग कहते हैं कि जिसकी शिखा ज्ञानमयी है, और यज्ञोपवीत भी ज्ञानमय है, उसका ब्राह्मणत्व सम्पूर्ण होता है। यह ज्ञान ही तो उपवीत है, वही तो परम ज्ञानमय है।

इदं यज्ञोपवीतं तु परमं यत्परायणम् ।
स विद्वान् यज्ञोपवीती स्यात्स यज्ञस्तं यज्वानं विदुः ॥15॥

यह यज्ञोपवीत ही ज्ञान है, यही परमपरायण (ब्रह्मपरायण) है। इसीलिए ज्ञानी पुरुष ही सही रूप में यज्ञोपवीत धारण करनेवाला है, वही यज्ञरूप है और वही यजमान कहा जाता है।

एको देवः सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा ।
कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च ॥16॥

परमात्मा एक है, सभी प्राणियों में छिपा हुआ है, वह सर्वव्यापक और सभी प्राणियों का अन्तर्यामी है, वह सभी के कर्मों को नियम में रखनेवाला है, सभी प्राणियों का वह आश्रयस्थान है। वह सबका साक्षी है, वह चैतन्यस्वरूप है, वह शुद्ध है, एकमात्र है और वह निर्गुण है।

एको वशी सर्वभूतान्तरात्मैकं रूपं बहुधा यः करोति ।
तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरास्तेषां सुखं शाश्वतं नेतरेषाम् ॥17॥

सबको वश में रखनेवाला वह एक ही है, वह सभी प्राणियों का अन्तरात्मा है; अपने एक ही रूप को वह अनेक रूपों में प्रकट करता है। जो बुद्धिमान लोग उसे अपनी आत्मा में ही अवस्थित देखते हैं, उन्हीं को स्थायी शान्ति प्राप्त होती है, दूसरों को नहीं मिलती।

आत्मानमरणिं कृत्वा प्रणवं चोत्तरारणिम् ।
ध्याननिर्मथनाभ्यासादेवं पश्येन्निगूढवत् ॥18॥

आत्मा को निम्नभाग की अरणि बनाकर तथा प्रणव (ॐकार) को ऊपर की अरणि बनाते हुए ध्यानरूपी मन्थन के अभ्यास से (बार-बार करने से) इस प्रकार उस निगूढ (छिपे हुए) आत्मा का साक्षात्कार करना चाहिए।

तिलेषु तैलं दधनीव सर्पिरापः स्त्रोतःस्वरणिष्विवाग्निः ।
एवमात्मात्मनि जायतेऽसौ सत्येन तपसा योऽनुपश्यति ॥19॥

तिल में तेल की तरह, दही में घी की तरह, झरनों में पानी की तरह और लकड़ी में अग्नि की तरह यह आत्मा हम सब में छिपकर (निगूढ रूप में) विद्यमान है। वह आत्मा सत्य और तप से हममें प्रकट होता है। अथवा ऐसा ही अधिकारी उसे प्राप्त करता है।

ऊर्णनाभिर्यथा तन्तून्सृजते संहरत्यपि ।
जाग्रत्स्वप्ने तथा जीवो गच्छत्यागच्छते पुनः ॥20॥

जिस प्रकार मकड़ी तन्तुओं को उत्पन्न करती है और उन्हें समेट भी लेती है, ठीक उसी प्रकार जीवात्मा भी जाग्रत् और स्वप्नावस्था में आता है और जाता है।

नेत्रस्थं जागरितं विद्यात्कण्ठे स्वप्नं समाविशेत् ।
सुषुप्तं हृदयस्थं तु तुरीयं मूर्ध्नि संस्थितम् ॥21॥

जाग्रत् अवस्था का आत्मा (विश्व) आँख में रहता है, स्वप्नावस्था का आत्मा (तैजस्) कंठ में रहता है, सुषुप्तावस्था का आत्मा (प्राज्ञ) हृदय में रहता है और तुरीय आत्मा मस्तक (ब्रह्मरन्ध्र) में रहता है, ऐसा समझना चाहिए।

यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह ।
आनन्दमेतज्जीवस्य यज्ज्ञात्वा मुच्यते बुधः ॥22॥

जहाँ मनुष्य का मन और वाणी पहुँच नहीं सकते (मन के साथ वाणी जिसे पाये बिना लौट जाते हैं) ऐसे आत्मा के आनन्द को जानकर ज्ञानी पुरुष मुक्त हो जाता है।

सर्वव्यापिनमात्मानं क्षीरे सर्पिरिवार्पितम् ।
आत्मविद्या तपोमूलं तद्ब्रह्मोपनिषत्पदं तद्ब्रह्मोपनिषत्पदमिति ॥23॥

इति ब्रह्मोपनिषत्समाप्ता ।
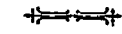
दूध में घी की तरह सर्वव्यापक आत्मा को आत्मज्ञान और तप से प्राप्त किया जा सकता है। वह आत्मा ही ब्रह्म है। वही उपनिषदों का परम पद है।

शान्तिपाठः

ॐ सह नाववतु। सह नौ''''मा विद्विषावहै ॥ (पूर्ववत्)
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

❋

(12) कैवल्योपनिषत्

(उपनिषत्परिचय)

कुछ विद्वान् इस उपनिषद् को कृष्णयजुर्वेदीय शाखान्तर्गत मानते हैं जबकि कुछ विद्वान् इसे अथर्ववेदीय मानते हैं। आश्वलायन और परमेष्ठी (ब्रह्मा) के संवाद रूप में यह उपनिषद् है। परमेष्ठी (ब्रह्माजी) आश्वलायन से कहते हैं कि गृहस्थाश्रम में रहकर कर्म करने से मुक्ति नहीं प्राप्त की जा सकती। मोक्ष का साधन तो त्याग ही है, संन्यास ही है। एकान्त में जाओ, पवित्र स्थान में ध्यान करो, आत्मा और परमात्मा को अरणिकाष्ठ-सा मानकर ध्यानरूपी मथनी से मंथन करो, तब आत्मसाक्षात्कार हो सकता है। हृदयकमल में ब्रह्म का ध्यान करना चाहिए। भगवान् शंकर का निरन्तर ध्यान करो। इस प्रकार श्रद्धा, भक्ति, ज्ञान और योग का सहारा लेने की सीख दी गई है। अभेद की सिद्धि करना ही इस उपनिषद् का तात्पर्य है।

शान्तिपाठः

ॐ सह नाववतु। सह नौ ..... मा विद्विषावहै। (पूर्ववत्)
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः॥

इस शान्तिपाठ का हिन्दी रूपान्तर आरम्भ में (ब्रह्मोपनिषद् में) द्रष्टव्य है।

ॐ यथाश्वलायनो भगवन्तं परमेष्ठिनमुपसमेत्योवाच—
अधीहि भगवन्ब्रह्मविद्यां वरिष्ठां सदा सद्भिः सेव्यमानां निगूढाम्।
यथाऽचिरात्सर्वपापं व्यपोह्य परात्परं पुरुषं याति विद्वान्॥1॥

आश्वलायन नामक महाऋषि प्रजापति ब्रह्माजी के पास जाकर समित्पाणि होकर कहने लगे कि—"हे भगवन्! आप मुझे उस ब्रह्मविद्या का उपदेश दीजिए कि जो विद्या संतजनों के द्वारा सदैव सेवित है, जो अत्यन्त रहस्यमय है, जो सभी विद्याओं में श्रेष्ठ है और जिसे पाकर विद्वान् लोग एकदम सभी पापों से मुक्त हो जाते हैं और परब्रह्म (परमपुरुष) को प्राप्त कर लेते हैं।"

तस्मै स होवाच पितामहश्च श्रद्धाभक्तिध्यानयोगादवैहि॥2॥

इसके बाद पितामह ब्रह्माजी ने आश्वलायन से कहा—"(हे आश्वलायन!) श्रद्धा, भक्ति, ध्यान (चिन्तन) और योगाभ्यास के साधन से तुम उस परमतत्त्व को सिद्ध कर सकते हो।"

न कर्मणा न प्रजया धनेन त्यागेनैके अमृतत्वमानशुः।
परेण नाकं निहितं गुहायां विभ्राजते यद्यतयो विशन्ति॥3॥

उस अमृतत्त्व की प्राप्ति कर्म से नहीं होती, न वा प्रजा से ही हो सकती है। धन के द्वारा भी वह नहीं हो पाती। उस अमृतत्व को ठीक तरह से जाननेवाले ज्ञानियों ने उसे केवल त्याग के द्वारा ही प्राप्त किया है। स्वर्गलोक से भी परे गुहा में अर्थात् हृदयरूपी गुफा में प्रतिष्ठित होकर जो ब्रह्मलोक प्रकाश से परिपूर्ण है, ऐसे उस ब्रह्मलोक में संयमी योगी ही प्रवेश पा सकते हैं।

वेदान्तविज्ञानसुनिश्चितार्थाः संन्यासयोगाद्यतयः शुद्धसत्त्वाः।
ते ब्रह्मलोकेषु परान्तकाले परामृताः परिमुच्यन्ति सर्वे॥4॥

जिन योगीजनों ने वेदान्त के विशेष ज्ञान से अपने अर्थ (ब्रह्मप्राप्ति रूप लक्ष्य) का दृढ निश्चय कर लिया है, ऐसे पवित्र अन्तःकरणवाले योगीजन संन्यासयोग के द्वारा ब्रह्मा के लोक को पहले प्राप्त होते हैं और कल्प का अन्त होने पर अमृततुल्य होकर मुक्त हो जाते हैं।

विविक्तदेशे च सुखासनस्थः शुचिः समग्रीवशिरःशरीरः।
अन्त्याश्रमस्थः सकलेन्द्रियाणि निरुध्य भक्त्या स्वगुरुं प्रणम्य॥5॥

साधक पहले स्नान आदि से अपने शरीर को पवित्र करके बाद में किसी एकान्त स्थल में बैठे। बाद में ग्रीवा, मस्तक एवं शरीर को एक सीध में रखकर और सभी इन्द्रियों का निग्रह करके भक्तिपूर्वक अपने गुरु को प्रणाम करे।

हृत्पुण्डरीकं विरजं विशुद्धं विचिन्त्य मध्ये विशदं विशोकम्।
अचिन्त्यमव्यक्तमनन्तरूपं शिवं प्रशान्तममृतं ब्रह्मयोनिम्॥6॥

जब रजस्—पापादि से रहित विशुद्ध तथा शोकरहित और निर्मल हृदयरूपी कमल हो जाता है, तब उसके बीच जो (परमात्मा) अचिन्त्य है, जो अव्यक्त है, जो अनन्तरूपों को धारण कर सकते हैं, जो कल्याणकारी है, जो शान्त और अमृतमय है, जो समग्र ब्रह्माण्ड का मूल कारण है और—

तमादिमध्यान्तविहीनमेकं विभुं चिदानन्दमरूपमद्भुतम्।
उमासहायं परमेश्वरं प्रभुं त्रिलोचनं नीलकण्ठं प्रशान्तम्।
ध्यात्वा मुनिर्गच्छति भूतयोनिं समस्तसाक्षिं तमसः परस्तात्॥7॥

जो आदि, मध्य और अन्त से रहित है, जो सर्वव्यापक है, जो चित्-आनन्द स्वरूपी है, जिसका कोई आकार नहीं है, जो अद्भुत (भव्य) है, जो उमा (ब्रह्मविद्या) के साथ रहता है, जिसका कण्ठ नीलवर्ण है, जिसके तीन लोचन हैं, जो शान्त और ध्यानस्थ है—ऐसे सकल भूतों के उपादान कारणरूप, समस्त ब्रह्माण्ड के साक्षिस्वरूप परम तत्त्व का ध्यान करके मुनिलोग तमस् को पार कर लेते हैं।

स ब्रह्मा स शिवः सेन्द्रः सोऽक्षरः परमः स्वराट्।
स एव विष्णुः स प्राणः स कालोऽग्निः स चन्द्रमाः॥8॥

वही परमात्मा - परम पुरुष ब्रह्मा - है, वही शिव है, वही इन्द्र है, वही अक्षर (शाश्वत) है, वही श्रेष्ठ - परमोत्तम ब्रह्म है, वही विष्णु है, वही प्राण है, काल भी तो वही है, अग्नि और चन्द्रमा भी वही है।

स एव सर्वं यद्भूतं यच्च भव्यं सनातनम्।
ज्ञात्वा तं मृत्युमत्येति नान्यः पन्था विमुक्तये॥9॥

जो कुछ हुआ है और जो कुछ होनेवाला है, वह सब कुछ वही है। उस सनातन तत्त्व को जानकर ही मनुष्य मृत्यु की सीमा को लाँघ सकता है। और तो मुक्ति के लिए कोई भी उपाय नहीं है।

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।
सम्पश्यन्ब्रह्म परमं याति नान्येन हेतुना॥10॥

· अपने आत्मा को सभी प्राणियों में अवस्थित रहता हुआ, तथा सभी प्राणियों को अपने आत्मा में अवस्थित रहते हुए देखनेवाला मनुष्य ही परमपद को प्राप्त कर सकता है। इसके लिए अन्य कोई उपाय नहीं है (अन्य किसी उपाय से ब्रह्म प्राप्त नहीं किया जा सकता)।

आत्मानमरणिं कृत्वा प्रणवं चोत्तरारणिम्।
ज्ञाननिर्मन्थनाभ्यासात् पापं दहति पण्डितः ॥11॥

ज्ञानी पुरुष अपने आत्मा को नीचे की अरणि तथा ओम्(ॐ)कार को ऊपर की अरणि बनाकर और फिर ज्ञानरूपी मथनी से बारम्बार मन्थन द्वारा अनुशीलन करने से अपने पाप को जला देता है।

स एव मायापरिमोहितात्मा शरीरमास्थाय करोति सर्वम्।
स्त्रियन्नपानादिविचित्रभोगैः स एव जाग्रत्परितृप्तिमेति ॥12॥

वही जीवात्मा माया से अपने आपको मोहित कर लेता है, शरीर में रहकर - देह को ही सब कुछ मानकर - सभी प्रकार के कार्य करता रहता है। स्त्री, अन्न, खान-पान आदि भाँति-भाँति के भोगों के द्वारा वह जाग्रदवस्था में परितृप्ति का अनुभव करता रहता है।

स्वप्ने स जीवः सुखदुःखभोक्ता स्वमायया कल्पितजीवलोके।
सुषुप्तिकाले सकले विलीने तमोऽभिभूतः सुखरूपमेति ॥13॥

वही जीवात्मा स्वप्नावस्था में अपनी माया से कल्पित जीवलोक में सुखों और दुःखों का भोगनेवाला होता है। और फिर वही सुषुप्तिकाल में तमोगुण (अज्ञान) से अभिभूत होता हुआ सुख रूप को प्राप्त करता है।

पुनश्च जन्मान्तरकर्मयोगात्स एव जीवः स्वपिति प्रबुद्धः।
पुरत्रये क्रीडति यश्च जीवस्ततस्तु जातं सकलं विचित्रम्।
आधारमानन्दमखण्डबोधं यस्मिँल्लयं याति पुरत्रयं च ॥14॥

इसके बाद, फिर से यह जीवात्मा जन्मजन्मान्तरों के कर्मों की प्रेरणा के कारण सुषुप्ति से स्वप्नावस्था में उतर आता है। और इसके बाद वह जाग्रत् अवस्था में भी वापस लौट आता है। इस प्रकार स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीररूप तीनों नगरियों में जीव जो क्रीडा करता है, उसी से सभी प्रपंचों की यह विचित्रता उत्पन्न होती है। इन सभी प्रपंचों का आधार (अवलम्बन) आनन्दस्वरूप अखण्ड ज्ञानस्वरूप (ब्रह्म) ही है, जिसमें स्थूल, सूक्ष्म और कारणस्वरूप तीनों पुरियाँ विलीन हो जाती हैं।

एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च।
खं वायुर्ज्योतिरापश्च पृथ्वी विश्वस्य धारिणी ॥15॥

इसी परमतत्त्व से प्राण, मन और सभी इन्द्रियाँ उत्पन्न होती हैं। और आकाश, वायु, जल, तेज और विश्व को धारण करनेवाली पृथ्वी—ये सब जन्म लेते हैं।

यत्परं ब्रह्म सर्वात्मा विश्वस्यायतनं महत्।
सूक्ष्मात्सूक्ष्मतरं नित्यं स त्वमेव त्वमेव तत् ॥16॥

जो परब्रह्म सभी का आत्मस्वरूप है, जो विश्व का महान् आश्रय है, जो सूक्ष्म से भी अतिसूक्ष्म है, जो नित्य है, वह तुम्हीं हो वह तुम्हीं हो।

जाग्रत्स्वप्नसुषुप्त्यादि प्रपञ्चं यत्प्रकाशते।
तद्ब्रह्माहमिति ज्ञात्वा सर्वबन्धैः प्रमुच्यते ॥17॥

जो यहाँ जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति आदि प्रपंच (विश्व) दिखाई दे रहा है (प्रकाशित हो रहा है), वह ब्रह्म ही है और वह ब्रह्म मैं ही हूँ—ऐसा ज्ञान प्राप्त करके मनुष्य सभी प्रकार के बन्धनों से छुटकारा पा लेता है।

त्रिषु धामसु यद्भोग्यं भोक्ता भोगश्च यद्भवेत्।
तेभ्यो विलक्षणः साक्षी चिन्मात्रोऽहं सदाशिवः ॥18॥

तीनों लोकों में जो कुछ भोग्यपदार्थ हैं, जो भोक्ता हैं, जो भोगक्रिया हैं, उन सबसे यह साक्षी विलक्षण ही है। वह साक्षी सदा मंगलस्वरूप, चिन्मय जो है, वह मैं ही हूँ।

मय्येव सकलं जातं मयि सर्वं प्रतिष्ठितम्।
मयि सर्वं लयं याति तद्ब्रह्माद्वयमस्म्यहम् ॥19॥

मुझमें ही यह सब कुछ उत्पन्न हुआ है, मुझमें ही यह सब कुछ अवस्थित रहता है और मुझ ही में यह सब कुछ विलीन भी होता है। वह अद्वितीय जो ब्रह्म है, वह मैं ही हूँ।

अणोरणीयानहमेव तद्वन्महानहं विश्वमिदं विचित्रम्।
पुरातनोऽहं पुरुषोऽहमीशो हिरण्मयोऽहं शिवरूपमस्मि ॥20॥

परब्रह्मस्वरूप मैं अणु से भी अणु (परमाणु) भी हूँ और उसी प्रकार यह वैविध्यपूर्ण विश्व के रूप से बड़े से बड़ा भी तो मैं ही हूँ। मैं पुरातन (सबसे पहले का) पुरुष हूँ, मैं ईश्वर हूँ, मैं ही हिरण्मय हूँ और मैं ही परमतत्त्व (ब्रह्म) स्वरूप हूँ।

अपाणिपादोऽहमचिन्त्यशक्तिः पश्याम्यचक्षुः स शृणोम्यकर्णः।
अहं विजानामि विविक्तरूपो न चास्ति वेत्ता मम चित्सदाहम् ॥21॥

मेरे हाथ-पैर न होते हुए भी मैं अचिन्त्य शक्तिसम्पन्न हूँ। मेरी आँखें न होते हुए भी मैं देखता रहता हूँ। मेरे कान न होने पर भी मैं सुनता रहता हूँ। बुद्धि आदि से अलग स्वरूपवाला होते हुए भी मैं सब कुछ जानता रहता हूँ। किन्तु मुझे जाननेवाला कोई भी नहीं है। मैं शाश्वत चित्स्वरूप हूँ।

वेदैरनेकैरहमेव वेद्यो वेदान्तकृद् वेदविदेव चाहम् ॥22॥

समस्त वेदों और उपनिषदों के द्वारा मैं ही जानने योग्य हूँ, वेदान्त ज्ञान (ब्रह्मज्ञान) का जनक भी तो मैं ही हूँ। सब वेदों का जाननेवाला भी मैं ही हूँ।

न पुण्यपापे मम नास्ति नाशो न जन्म देहेन्द्रियबुद्धिरस्ति।
न भूमिरापो न च वह्निरस्ति न चानिलो मेऽस्ति न चाम्बरं च ॥23॥

ब्रह्मस्वरूप मुझे पुण्य-पाप स्पर्श नहीं कर सकते। मेरा कभी नाश नहीं होता। न ही मेरा कोई जन्म ही होता है। मेरा कोई शरीर नहीं है, कोई इन्द्रियाँ नहीं हैं, कोई बुद्धि भी नहीं है। ये पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश—पञ्च महाभूत भी मेरे नहीं हैं (क्योंकि ये अनित्य हैं और मैं नित्य हूँ)।

एवं विदित्वा परमात्मरूपं गुहाशयं निष्कलमद्वितीयम्।
समस्तसाक्षिं सदसद्विहीनं प्रयाति शुद्धं परमात्मरूपम् ॥24॥

इस प्रकार हृदयरूपी गुहा में स्थित अंशादि भाग रहित, अद्वितीय परमात्मस्वरूप, समग्र सचराचर के साक्षिस्वरूप, सत्-असत् की सापेक्षता से ऊपर उठे हुए निर्मल ब्रह्म को जानकर मनुष्य परमात्मस्वरूप को पा लेता है।

यः शतरुद्रियमधीते सोऽग्निपूतो भवति स वायुपूतो भवति स आत्मपूतो भवति स सुरापानात्पूतो भवति स ब्रह्महत्यायाः पूतो भवति स सुवर्ण-स्तेयात्पूतो भवति स कृत्याकृत्यात्पूतो भवति तस्मादविमुक्तमाश्रितो भवत्वित्याश्रमी सर्वदा सकृद्वा जपेत् ॥25॥

जो मनुष्य इस शतरुद्रिय का पाठ करता है, वह अग्नि की तरह पवित्र हो जाता है, गतिशील वायु की तरह रहता हुआ विशुद्ध हो जाता है, वह अपने मन से निर्मल हो जाता है, सुरापान और ब्रह्महत्या के दोष से वह मुक्त हो जाता है। उसे सुवर्ण की चोरी का पाप भी नहीं लगता। शुभ और अशुभ दोनों प्रकार के कर्मों से उसका छुटकारा हो जाता है। भगवान् सदाशिव के प्रति वह स्वयं समर्पित होकर वह अविमुक्त को अर्थात् अविमुक्तक्षेत्र को (काशी को) प्राप्त करता है। (या मोक्ष को प्राप्त करता है।) वह अत्याश्रमी (सभी आश्रमों का पारगामी) हो जाता है।

अनेन ज्ञानमाप्नोति संसारार्णवनाशनम्।
तस्मादेवं विदित्वैनं कैवल्यं पदमश्नुते ॥
कैवल्यं पदमश्नुत इति ॥26॥

इति कैवल्योपनिषत्समाप्ता।
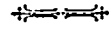
इससे (इस पाठादि के करने से) ऐसे विशिष्ट ज्ञान की प्राप्ति होती है, जो संसार-सागर का नाश कर देता है। अतः इस प्रकार समझकर मनुष्य कैवल्यपद को प्राप्त कर सकता है।

शान्तिपाठः

ॐ सह नाववतु। सह नौ ...... मा विद्विषावहै। (पूर्ववत्)
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः।

(13) जाबालोपनिषत्

(उपनिषत्परिचय)

कुछ विद्वान् इस उपनिषत् को अथर्ववेद से सम्बद्ध मानते हैं और कुछ अन्य विद्वान् इसे शुक्लयजुर्वेद से सम्बद्ध मानते हैं। शान्तिपाठ में यजुर्वेद के ही शान्तिपाठ देखने में आए हैं। इस उपनिषत् के कुल छः खण्ड हैं। प्रथम खण्ड में बृहस्पति और याज्ञवल्क्य का संवाद है। इस खण्ड में प्राणविद्या का विवेचन है। याज्ञवल्क्य ने प्राण का स्थान 'ब्रह्मसदन' कहा और देवयजन का एकमात्र स्थान 'अविमुक्त' बताया है। यह 'अविमुक्त' स्थान ब्रह्मरन्ध्र -काशी है। इस स्थल में रुद्रदेव सदैव विद्यमान रहते हैं, और अन्तिम क्षणों में "तारक मंत्र" देकर जीव को विमुक्त कर देते है।

द्वितीय खण्ड में अत्रिमुनि और याज्ञवल्क्य का संवाद है। इसमें 'अविमुक्त क्षेत्र' को भृकुटि के बीच में बताया गया है। इसकी उपासना करने से मिले हुए ज्ञान के आधार पर दूसरों को ज्ञान देना संभव हो जाता है।

तृतीय खण्ड में याज्ञवल्क्य अमृतप्राप्ति का उपाय बताते हैं। शतरुद्रीयपाठ ही यह उपाय है। वह मृत्यु पर विजय प्राप्त करवाता है। चौथे खण्ड में जनक द्वारा संन्यास-सम्बन्धी पूछे गए प्रश्न का उत्तर याज्ञवल्क्य ने विशद रूप से दिया है। संन्यास का क्रम-विधि-व्यवस्था-कृत्य आदि उसमें है। पाँचवें खण्ड में अत्रि मुनि ने फिर से याज्ञवल्क्य मुनि से संन्यास सम्बन्धी अनेक प्रश्नों का मार्गदर्शन प्राप्त किया है। इसका सारतत्त्व यह है कि संन्यासी को मन-वाणी से पूर्णतया विषय विकारों से दूर रहना चाहिए। और छठे खण्ड में संवर्तक, आरुणि, श्वेतकेतु, दुर्वासा, ऋभु आदि संन्यासियों के आचरण की समीक्षा की गई है। और अन्त में दिगम्बर परमहंस का लक्षण बताया गया है।

शान्तिपाठः

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

ॐ रूप में अभिव्यक्त वह (परमब्रह्म) पूर्ण है और यह (कार्यब्रह्म - जगत्) भी पूर्ण है। क्योंकि पूर्ण में से ही पूर्ण होता है। (एवं प्रलय के समय) पूर्ण का (कार्यब्रह्म का) पूर्णत्व लेकर (अर्थात् स्वयं के भीतर समाकर) पूर्ण (परब्रह्म) ही शेष रह जाता है।

प्रथमः खण्डः

ॐ बृहस्पतिरुवाच याज्ञवल्क्यं यदनु कुरुक्षेत्रं देवानां देवयजनं सर्वेषां भूतानां ब्रह्मसदनम्। अविमुक्तं वै कुरुक्षेत्रं देवानां देवयजनं सर्वेषां भूतानां ब्रह्मसदनम्। तस्माद्यत्र क्वचन गच्छति तदेव मन्येत तदवि-

मुक्तमेव। इदं वै कुरुक्षेत्रं देवानां देवयजनं सर्वेषां भूतानां ब्रह्मसदनम्। अत्र हि जन्तोः प्राणेषूत्क्रममाणेषु रुद्रस्तारकं ब्रह्म व्याचष्टे येनासाव-मृतीभूत्वा मोक्षीभवति। तस्मादविमुक्तमेव निषेवेत। अविमुक्तं न विमुञ्चेदेवमेवैतद्याज्ञवल्क्यः ॥1॥

इति प्रथमः खण्डः।

बृहस्पति ने याज्ञवल्क्य से कहा कि—"प्राणों का स्थान कौन-सा है ? इन्द्रियों के देवयजन का रहस्य क्या है ? और समग्र प्राणियों का देवसदन क्या है ?" तब याज्ञवल्क्य ने उत्तर में कहा कि—प्राणों का क्षेत्र 'अविमुक्त' ही है। उसी को इन्द्रियों का देवयजन कहा गया है। और वही सब प्राणियों का देवसदन है। इसलिए किसी भी स्थान पर जानेवाले मनुष्य को यही समझना चाहिए। वही (कुरुक्षेत्र) प्राणस्थान—इन्द्रियों का देवयजन है। और समस्त प्राणियों का ब्रह्मस्थान—ब्रह्मसदन है। जब इस लोक में जीव के प्राणों का उत्क्रमण होता है, तब रुद्रदेव तारक ब्रह्म के सम्बन्ध में उपदेश देते हैं, जिससे कि यह जीव अमृतत्व को प्राप्त करके मोक्षलाभ करता है। अतः हर एक प्राणी को चाहिए कि वह हमेशा अविमुक्त की ही उपासना किया करे। उसका त्याग वह कभी न करे। इस प्रकार ऋषि याज्ञवल्क्य ने यह तथ्य प्रकट किया। [पापकर्म के क्षेपणपूर्वक स्वजनों का परित्राण करनेवाला कुरुक्षेत्र कहा जाता है। अथवा कु - पृथ्वी, उसमें होनेवाला (रुः) प्राण है, उसका क्षेत्र यानी शरीर को भी कुरुक्षेत्र कहा जा सकता है।]

यहाँ प्रथम खण्ड पूरा हुआ।

❋

द्वितीयः खण्डः

अथ हैनमत्रिः पप्रच्छ याज्ञवल्क्यम्। य एषोऽनन्तोऽव्यक्त आत्मा तं कथमहं विजानीयामिति। स होवाच याज्ञवल्क्यः सोऽविमुक्त उपास्यो य एषोऽनन्तोऽव्यक्त आत्मा सोऽविमुक्ते प्रतिष्ठित इति ॥1॥

इसके बाद ऋषि अत्रि ने याज्ञवल्क्य से पूछा—'मैं इस अनन्त और अव्यक्त आत्मा को किस तरह जान सकता हूँ ?' तब याज्ञवल्क्य ने कहा—'इस आत्मा का ज्ञान प्राप्त करने के लिए अविमुक्त की ही उपासना करनी चाहिये। क्योंकि यह अनन्त और अव्यक्त आत्मा अविमुक्त में ही प्रतिष्ठित है।' [अविमुक्त = काशीक्षेत्र = भृकुटी के बीच में अवस्थित ज्योतिर्लिङ्ग को कहा जाता है, यह पहले बता दिया है।]

सोऽविमुक्तः कस्मिन्प्रतिष्ठित इति। वरणायां नास्यां च मध्ये प्रतिष्ठित इति। का वै वरणा का च नाशीति। सर्वानिन्द्रियकृतान्दोषान्वारयतीति तेन वरणा भवति। सर्वानिन्द्रियकृतान्पापान्नाशयतीति तेन नाशी भवतीति। कतमच्चास्य स्थानं भवतीति। भ्रुवोर्घ्राणस्य च यः संधिः स एष द्यौर्लोकस्य परस्य च सन्धिर्भवतीति। एतद्वै सन्धिं सन्ध्यां ब्रह्मविद उपासत इति। सोऽविमुक्त उपास्य इति। सोऽविमुक्तं ज्ञानमाचष्टे। यो वै तदेतदेवं वेदेति ॥2॥

इति द्वितीयः खण्डः।

'यह अविमुक्त किसमें प्रतिष्ठित है ?'—ऐसा पूछने पर याज्ञवल्क्य बोले—'वह वरणा और नासी के बीच में अवस्थित है।' तब फिर अत्रि ने पूछा—'यह वरणा कौन है और यह नासी कौन है ?' तब याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया—'ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियों के द्वारा किए गए सभी पापों का निवारण करती है, इसलिए वह 'वारणा' है और उन दसों इन्द्रियों द्वारा किए गए पापों का नाश करती है इसलिए वह 'नासी' है।' तब अत्रि ने फिर से पूछा कि—'इसका स्थान क्या है ?' याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया कि—दोनों भौंहों और नाक का जहा मिलन (संधि) होता है, वही द्युलोक और परलोक का सन्धिस्थल (संगमस्थल) है। ब्रह्मज्ञानी लोग इस भ्रू - घ्राण सन्धि (संगमस्थल) की ही उपासना करते हैं। इसलिए यह अविमुक्त ही उपासना करने लायक है। इस प्रकार अविमुक्त की उपासना से जिसने ज्ञान प्राप्त कर लिया है, ऐसा मनुष्य ही अन्य मनुष्यों को ब्रह्मज्ञान के बारे में अर्थात् आत्मा के विषय में बोध कराने में समर्थ या योग्य माना जा सकता है।

यहाँ दूसरा खण्ड पूरा हुआ।

❋

तृतीयः खण्डः

अथ हैनं ब्रह्मचारिण ऊचुः। किं जप्येनामृतत्वं ब्रूहीति। स होवाच याज्ञवल्क्यः। शतरुद्रियेणेत्येतानि ह वा अमृतनामधेयान्येतैर्ह वा अमृतो भवतीति ॥1॥

इति तृतीयः खण्डः।

इसके बाद कुछ ब्रह्मचारियों ने याज्ञवल्क्य से पूछा—'किसका जप करने से अमृतत्व को प्राप्त किया जा सकता है ?' तब याज्ञवल्क्य ने उत्तर में कहा—'शतरुद्रीय के जप के द्वारा अमृतत्व प्राप्त किया जा सकता है। इसके द्वारा साधक मृत्यु पर विजय प्राप्त कर सकता है'।

यहाँ तीसरा खण्ड पूरा हुआ।

❋

चतुर्थः खण्डः

अथ ह जनको ह वैदेहो याज्ञवल्क्यमुपसमेत्योवाच। भगवन् संन्यासम-नुब्रूहीति। स होवाच याज्ञवल्क्यः। ब्रह्मचर्यं समाप्य गृही भवेत्। गृही भूत्वा वनी भवेत्। वनी भूत्वा प्रव्रजेत्। यदि वेतरथा ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजेद् गृहाद्वा वनाद्वा। अथ पुनरव्रती वा व्रती वा स्नातको वाऽस्नातको वा उत्सन्नाग्निरनग्निको वा यदहरेव विरजेत्तदहरेव प्रव्रजेत् ॥1॥

एक बार विदेह के राजा जनक ने समित्पाणि होकर मुनि याज्ञवल्क्य से पूछा कि—'हे भगवन्! मुझे संन्यास के विषय में कहिए।' तब उन याज्ञवल्क्य मुनि ने कहा कि—'पहले ब्रह्मचर्याश्रम का पालन करके उसके बाद गृहस्थाश्रम में प्रवेश करना चाहिए। गृहस्थाश्रम के बाद वानप्रस्थाश्रम में जाना चाहिए। उसके बाद फिर अंत में संन्यास को ग्रहण करना चाहिए। अथवा तो ब्रह्मचर्य से सीधे ही संन्यास ले लेना चाहिए। अथवा गृहस्थाश्रम या वानप्रस्थाश्रम से भी संन्यास लिया जा सकता है। और

भी एक बात है कि यदि पुरुष व्रती हो या अव्रती हो, स्नातक हो या स्नातक न भी हो, यदि उसने अग्नि ग्रहण किया हो (गृहस्थ बना हो) या वह किसी प्रकार से अग्निरहित हो (गृहस्थाश्रमी न बना हो) पर जिस दिन उसे वैराग्य हो जाए, उसी दिन वह संन्यास ले, इसमें कोई क्षति नहीं।

तद्धैके प्राजापत्यामेवेष्टिं कुर्वन्ति । तत्तथा न कुर्यादाग्नेयीमेव कुर्यात् । अग्निर्ह वै प्राणः । प्राणमेवैतया करोति । पश्चात् त्रैधातवीयामेव कुर्यात् । एतयैव त्रयो धातवो यदुत सत्त्वं रजस्तम इति । अयं ते योनिर्ऋत्वियो यतो जातो अरोचथाः । तं प्राणं जानन्नग्न आरोहाथा नो वर्धया रयिम् । इत्यनेन मन्त्रेणाग्निमाजिघ्रेत् । एष ह वा अग्नेर्योनिर्यः प्राणः । प्राणं गच्छ स्वाहेत्येवमेवैतदाह ॥2॥

इस प्रसंग में कुछ लोग प्राजापत्य इष्टि करते हैं, परन्तु ऐसा नहीं करना चाहिए। उनको आग्नेयी इष्टि करनी चाहिए। क्योंकि अग्नि ही प्राण है। अग्नि की इष्टि करने से प्राण की अभिवृद्धि होती है। इसके बाद उन्हें त्रिधातु इष्टि करनी चाहिए। सत्त्व, रजस् और तमस्—ये तीन धातुएँ हैं। (अनुक्रम से शुक्ल, लोहित और कृष्ण उनके वर्ण हैं) इन इष्टियों के करने के बाद, इस मंत्र से अग्नि का अवघ्राण करना चाहिए कि—'हे अग्ने ! आप प्राण को दग्ध करनेवाले हैं; आप प्रकाश और बुद्धि को प्राप्त करानेवाले हैं। आप हमारी भी वृद्धि करें। जो अग्नि की योनि (अग्नि का उत्पत्तिस्थान) है, वह प्राण है। अतः हे अग्निदेव ! आप उस प्राण में प्रविष्ट हों'—ऐसा कहकर आहुति देनी चाहिए।

ग्रामादग्निमाहृत्य पूर्ववदग्निमाघ्रापयेत् । यद्यग्निं न विन्देदप्सु जुहुयात् । आपो वै सर्वा देवताः । सर्वाभ्यो देवताभ्यो जुहोमि स्वाहेति हुत्वा समुद्धृत्य प्राश्नीयात्साज्यं हविरनामयम् । मोक्षमन्त्रस्त्रय्यैवं विन्देत् । तद्ब्रह्मैतदुपासितव्यम् । एवमेवैतद्भगवन्निति वै याज्ञवल्क्यः ॥3॥

इति चतुर्थः खण्डः ।

गाँव के किसी श्रोत्रिय के घर से अग्नि को लाकर, पहले कहे गए मन्त्र से उसका अवघ्राण (सूँघने की क्रिया) करना चाहिए। अगर अग्नि उपलब्ध न हो, तो पानी में भी आहुति देनी चाहिए। क्योंकि पानी ही समस्त देवतारूप है। 'मैं समस्त देवताओं को आहुति दे रहा हूँ'—ऐसा भाव करके जल में आहुति देकर घी से युक्त उस बाकी बचे हुए हविष्यान्न को उठाकर भक्षण करे। मोक्षमन्त्र तीन अक्षरों (अ, उ, म्), वाला है, ऐसा समझना चाहिए। वही ब्रह्म है, वही उपासना के योग्य है—ऐसा याज्ञवल्क्य ने कहा।

यहाँ चौथा खण्ड पूरा हुआ।

❉

पञ्चमः खण्डः

अथ हैनमत्रिः पप्रच्छ याज्ञवल्क्यम् । पृच्छामि त्वा याज्ञवल्क्य अयज्ञोपवीती कथं ब्राह्मण इति । स होवाच याज्ञवल्क्यः । इदमेवास्य तद्यज्ञोपवीतं य आत्मा अपः प्राश्याचम्यायं विधिः परिव्राजकानाम् ॥1॥

इसके बाद अत्रि ऋषि ने याज्ञवल्क्य से पूछा—'हे याज्ञवल्क्य ! मैं आपसे यह पूछना चाहता हूँ कि जिसने यज्ञोपवीत धारण नहीं किया है, वह ब्राह्मण किस तरह हो सकता है ?' तब याज्ञवल्क्य ने

उत्तर देते हुए कहा—उसका (संन्यासी का) आत्मा ही यज्ञोपवीत होता है। परिव्राजकों के लिए तो यही विधि है कि वे जल से तीन बार प्राशन और आचमन करे।

वीराध्वाने वाऽनाशके वाऽपां प्रवेशे वाऽग्निप्रवेशे वा महाप्रस्थाने वा । अथ परिव्राड्विवर्णवासा मुण्डोऽपरिग्रहः शुचिरद्रोही भैक्षाणो ब्रह्मभूयाय भवति । यद्यातुरः स्यान्मनसा वाचा संन्यसेत् । एष पन्था ब्रह्मणा हानुवित्तस्तेनैति संन्यासी ब्रह्मविदित्येवमेवैष भगवन्निति वै याज्ञवल्क्यः ॥2॥

इति पञ्चमः खण्डः ।

वीर के मार्ग में, अनशन की स्थिति में, जल में प्रवेश करने पर, अग्नि में प्रवेश किए जाने पर, महाप्रस्थान में, परिव्राजक संन्यासी के लिए यही धर्म विहित है कि वह गेरुआ वस्त्र धारण करके, मुण्डितमस्तक होकर अपरिग्रही बनकर पवित्र और दोषरहित होकर, लोककल्याण के लिए भिक्षावृत्ति अपनाकर, जीवन बिताए। यदि कोई संन्यास के लिए आतुर हो, तो उसे मन और वाणी से सभी विषयों का त्याग कर देना चाहिए (सभी विषय छोड़ देने चाहिए)। यज्ञ ज्ञानमार्ग वेद प्रतिपादित है। इसलिए संन्यासी के लिए यह सर्वथा योग्य है। क्योंकि संन्यासी ब्रह्मविद् होता है। इस तरह याज्ञवल्क्य ने अपना मत प्रकट किया।

यहाँ पर पाँचवाँ खण्ड समाप्त होता है।

❉

षष्ठः खण्डः

तत्र परमहंसा नाम संवर्तकारुणिश्वेतकेतुदुर्वासऋभुनिदाघजडभरतदत्तात्रेयरैवर्तकप्रभृतयोऽव्यक्तलिङ्गा अव्यक्ताचारा अनुन्मत्ता उन्मत्तवदाचरन्तः ॥1॥

संवर्तक, आरुणि, श्वेतकेतु, दुर्वासा, ऋभु, निदाघ, जडभरत, दत्तात्रेय, रैवर्तक आदि ये सब परमहंस संन्यासी हुए हैं। वे सब संन्यासियों के चिह्नों से रहित ही थे। उनका आचरण भी अव्यक्त था। वे भीतर से पागल न होते हुए भी पागलों का-सा वर्तन करते थे।

त्रिदण्डं कमण्डलुं शिक्यं पात्रं जलपवित्रं शिखां यज्ञोपवीतं चैतत्सर्वं भूः स्वाहेत्यप्सु परित्यज्यात्मानमन्विच्छेत् ॥2॥

ऐसा संन्यासी त्रिदण्ड, कमण्डलु, शिखा, जलपवित्र पात्र, भिक्षापात्र, शिखा, यज्ञोपवीत—इन सबको 'भूः स्वाहा'—ऐसा कह करके पानी में परित्याग कर दे और आत्मा की खोज (अनुसन्धान) में ही लगा रहे।

यथा जातरूपधरो निर्द्वन्द्वो निष्परिग्रहस्तत्तद् ब्रह्ममार्गे सम्यक्सम्पन्नः शुद्धमानसः प्राणसन्धारणार्थं यथोक्तकालेऽविमुक्तो भैक्ष्यमाचरन्नुदरपात्रेण लाभालाभौ समो भूत्वा शून्यागारदेवगृहतृणकूटवल्मीकवृक्षमूलकुलालशालाग्निहोत्रशालानदीपुलिनगिरिकुहरकन्दरकोटरनिर्झरस्थण्डिलेष्वनिकेतवास्यप्रयत्नो निर्ममः शुक्लध्यानपरायणोऽध्यात्म-

निष्ठः शुभाशुभकर्मनिर्मूलनपरः संन्यासेन देहत्यागं करोति स परमहंसो नाम स परमहंसो नामेति ॥3॥

इति षष्ठः खण्डः ।

इति जाबालोपनिषत्समाप्ता ॥

परमहंस संन्यासी यथाजातरूपधारी अर्थात् निर्दोष, निर्दश, निश्छल और निःस्पृह होता है। वह निर्द्वन्द्व, अपरिग्रही, तत्त्वरूप ब्रह्ममार्ग में अच्छी तरह सम्पन्न, निर्मल मानसवाला, जीवन्मुक्त होने से केवल प्राण धारण करने के लिए ही उदररूपी पात्र से भिक्षा आदि ग्रहण करनेवाला होता है। वह किसी भी प्रकार के लाभ या हानि को समान मानता है। वह शून्य स्थल, देवगृह, घास की झोपड़ी, सॉप का बिल, वृक्ष का मूल, कुम्हार का घर, अग्निहोत्र का स्थल, नदी का तट, पर्वत, गुफा, खाई और झरने आदि निर्मल प्रदेश में पहले के घर का ध्यान न रखते हुए ममतारहित होकर रहता है। वह निरन्तर शुक्ल (सत्त्वशील) ध्यान में तन्मय होकर अच्छे और बुरे कर्मों को मूल सहित उखाड़ता रहता है। ऐसे संन्यास धर्म का पालन करता हुआ जो संन्यासी अपनी देह का परित्याग कर देता है, वही परमहंस है, वही परमहंस है।

यहाँ छठा खण्ड पूरा होता है।
यहाँ उपनिषत् पूर्ण होती है।

शान्तिपाठः

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं""""पूर्णमेवावशिष्यते ॥ (पूर्ववत्)
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

(14) श्वेताश्वतरोपनिषत्

(उपनिषत्परिचय)

श्वेताश्वतर उपनिषद् कृष्णयजुर्वेद की शाखा के अन्तर्गत आता है। श्वेताश्वतर तो उन मुनि का ही नाम है, जिन्होंने इस उपनिषत् को रचा। यों तो श्वेताश्वतर शब्द का व्युत्पत्तिगम्य अर्थ होता है, "श्वेत = सफेद और अश्वतर = खच्चर (घोड़े का-सा छोटा प्राणी) ऐसा प्राणी जिसके पास हो, ऐसा मनुष्य।" एक अन्य संभावित अर्थ यह भी है—"श्वेत = निर्मल और अश्वतर = इन्द्रियाँ। कठोपनिषद् (1.3.3.9) में शरीर को रथ की, आत्मा को रथ के भीतर बैठे हुए रथस्वामी की, और इन्द्रियों को घोड़ों की उपमा दी गई है (इन्द्रियाणि हयानाहुः)। घोड़ों को काबू में रखने की कठिनाई तो हम सब जानते ही हैं। यदि वश में रहें तो अश्व आपके मित्र भी बन सकते हैं। पर वश में न रहने पर वे आपको ही गुलाम बना देंगे। तो इन श्वेताश्वतर मुनि ने अपनी इन्द्रियाँ वश में कर ली हैं। वे स्थिरचित्त हो गए हैं—ऐसा अर्थ होता है।

इस उपनिषद् में छः अध्याय हैं। प्रत्येक अध्याय में क्रमशः 16, 17, 21, 22, 14 और 23 मन्त्र हैं। कुल मिलाकर 113 मन्त्र हैं। कुछ प्रश्नों के साथ उपनिषत् का प्रारंभ होता है। विश्व का कारण क्या है ? हमें किसने बनाया ? हम कहाँ से आए हैं ? अन्त में हम कहाँ जाएँगे ? हमें कभी सुख और कभी दुःख क्यों होता है ? उपनिषत् कहती है—सारे विश्व का कारण ब्रह्म ही है। ब्रह्म ही पारमार्थिक सत् है। ब्रह्म को ही परमात्मा कहा जाता है। क्योंकि जो कुछ यहाँ अस्तित्व में है, उस सबका आत्मा वही तो है। जीवात्मा जो अलग-अलग दिखाई देते हैं, उनके जो अलग-अलग नाम और रूप दीखते हैं, वे तो केवल उपाधिमात्र ही हैं। वह तो परमात्मा के ऊपर केवल आरोपण ही है। वास्तव में सभी जीवात्मा परमात्मा के ही रूप हैं। जब हम अपने आपका परमात्मा के रूप में साक्षात्कार करेंगे, तब जन्म-मरण के फेरे से छूट जाएँगे। उपनिषत् कहती है कि हमारे जन्म-मरण का कारण मात्र हमारा उसकी (परमात्मा की) एकता का अज्ञान ही है। यह द्वैत ही दुःख का अर्थात् बन्धन का कारण है और अद्वैत ही मुक्ति का कारण है। जीवन का लक्ष्य ज्ञानप्राप्ति और अद्वैतसाक्षात्कार ही है और वही मुक्ति है।

शान्तिपाठः

ॐ सह नाववतु। सह नौ""""मा विद्विषावहै। (पूर्ववत्)
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

इसका हिन्दी रूपान्तर पूर्व में (ब्रह्मोपनिषत् में) द्रष्टव्य है।

प्रथमोऽध्यायः

हरि ॐ। ब्रह्मवादिनो वदन्ति—

किं कारणं ब्रह्म कुतः स्म जाता जीवाम केन क्व च सम्प्रतिष्ठाः ।
अधिष्ठिताः केन सुखेतरेषु वर्तामहे ब्रह्मविदो व्यवस्थाम् ॥1॥

ब्रह्मचर्चा के प्रेमी ऋषिलोग एक बार मिलकर परस्पर पूछने लगे—विश्व का कारण क्या ब्रह्म है ? हम कहाँ से आए हैं ? जब आए ही हैं तो हमें जिलानेवाला कौन है ? अन्त आने पर हम कहाँ जाएँगे ? हे ब्रह्मज्ञ लोग ! हमें नियम में रखनेवाला कौन है कि जिसकी वजह से हम सुख या दुःख के विषय बन जाते हैं ?

कालः स्वभावो नियतिर्यदृच्छा भूतानि योनिः पुरुष इति चिन्त्यम् ।
संयोग एषां न त्वात्मभावादात्माप्यनीशः सुखदुःखहेतोः ॥2॥

काल, वस्तु का अपना स्वरूप, कार्यकारणसम्बन्ध, केवल दैव, पंचमहाभूत, जीव—इनमें से विश्व का कारण कौन-सा है ?—यह प्रश्न है। (नहीं, इनमें से तो कोई विश्व का कारण नहीं) और इन सभी का संयोग भी विश्व का कारण नहीं है। जीव इन सभी को एकत्रित तो कर सकता है, पर जीवात्मा भी सुख-दुःख का कारण नहीं हो सकता (क्योंकि वह तो सुख-दुःख का विषय अर्थात् अपने कर्मानुसार भोगनेवाला आश्रय ही है)।

ते ध्यानयोगानुगता अपश्यन् देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निगूढाम् ।
यः कारणानि निखिलानि तानि कालात्मयुक्तान्यधितिष्ठत्येकः ॥3॥

गहरे ध्यान में डूबे हुए योगियों ने विश्व के कारण के रूप में उस प्रकाशित विश्वात्मा की शक्ति को देखा है। वह अपनी त्रिगुणात्मिका माया से अपने आप को ढँक देता है। वही एक और अद्वितीय आत्मा उपर्युक्त सभी कारणों और जीव को भी अपने वश में रखता है।

तमेकनेमिं त्रिवृत्तं षोडशान्तं शतार्धारं विंशतिप्रत्यराभिः ।
अष्टकैः षड्भिर्विश्वरूपैकपाशं त्रिमार्गभेदं द्विनिमित्तैकमोहम् ॥4॥

उस एक नेमि (परिधि) वाले, सत्त्व-रजस्-तमस् रूप तीन प्रकृति गुणों से घिरे हुए, जिसमें सोलहों कलाओं का पर्यवसान होता है ऐसे, पचास आरोंवाले, बीस छोटे आरों वाले, छः अष्टकों वाले तथा एक ही पाश से युक्त, तीन मार्गवाले पापपुण्य के निमित्तभूत, एक मोह वाले संसारचक्ररूपी ब्रह्म को उन्होंने देखा।

इस मंत्र में विश्व की व्यवस्था को एक चक्र के रूप में बताया गया है। इस नेमिचक्र को बाँधकर रखनेवाली परिधि ही प्रकृति है। इसके तीन वृत्त सत्त्व, रजस् और तमस्—ये तीन गुण हैं। परिधि के सिरे का (उस छोर का) जोड़ सोलह कलाएँ हैं। ये सोलह कलाएँ प्रश्नोपनिषद् के छठे प्रश्न के अन्तर्गत चौथे और पाँचवें मंत्र में बताई गई हैं। और ये पचास अरे अन्तःकरण की वृत्तियों के भेद हैं। (विपर्यय, अशक्ति, तुष्टि आदि ये 50 भेद हैं।) बीस सहायक अरों में 10 इन्द्रियाँ, पाँच विषयों और पाँच प्राणों का समावेश होता है। चक्र में अष्टक किसे कहा गया है, वह स्पष्ट नहीं है। यहाँ प्रकृति, शरीरगत धातु, सिद्धियाँ, भाव, देवयोनियाँ और विशिष्ट गुण—ये छः भेद बताए हैं। धर्म, अधर्म और ज्ञानमार्ग—ये तीन मार्ग हैं। पाप और पुण्यकर्म—ये दो निमित्त हैं। यह सब मोहरूपी नाभिक को केन्द्र में रखकर घूम रहे हैं।

पञ्चस्रोतोऽम्बुं पञ्चयोन्युग्रवक्त्रां पञ्चप्राणोर्मिं पञ्चबुद्ध्यादिमूलाम् ।
पञ्चावर्तां पञ्चदुःखौघवेगां पञ्चाशद्भेदां पञ्चपर्वामधीमः ॥5॥

हम एक ऐसी नदी को पहचाते हैं जिसकी पाँच जलधाराएँ हैं, जिसके पाँच उद्गमस्थल हैं और इसीलिए जो बड़ी वेगवती है, जो टेढ़ी-मेढ़ी चलती है, जिसमें पाँच तरंगें हैं, जिसके पाँच मूल हैं, जो पाँच भँवरोंवाली है, जो पाँच दुःखप्रवाहों से वेगवाली है, जो पाँच पर्वोंवाली और पचास भेदों वाली है।

यहाँ ऋषि विश्वप्रवाह का नदी के रूप में वर्णन करते हैं। पाँच इन्द्रियाँ ही उसकी पाँच धाराएँ हैं, पाँच तत्त्व इसके पाँच उद्गमस्थल हैं, पाँच प्राण उसकी तरंगें हैं, पाँच तन्मात्राएँ ही उसकी भँवरें हैं, गर्भ-जन्म-रोग-जरा-मृत्यु उसका दुःखौघ है, अन्तःकरण की पचास वृत्तियाँ इसके भेद हैं। अज्ञान-अहंकार-राग-द्वेष-भय, ये पाँच पर्व हैं।

सर्वा जीवे सर्वसंस्थे बृहन्ते अस्मिन्हंसो भ्राम्यते ब्रह्मचक्रे ।
पृथगात्मानं प्रेरितारं च मत्वा जुष्टस्ततस्तेनामृतत्वमेति ॥6॥

जब तक जीवात्मा अपने को विश्वात्मा से अलग समझता है, तब तक उसे इस भवचक्र में घूमना ही पड़ता है (अर्थात् उस प्रेरयिता - विश्वात्मा की दया पर संसार के इस दुश्चक्र में आना-जाना पड़ता है)। अन्त में यदि उसकी कृपा हो, तब उसे मुक्ति मिलती है। अर्थात् जब वह विश्वात्मा के साथ ऐक्य का अनुभव करता है, तब एक या दूसरी तरह से विश्वात्मा के साथ एक हो जाता है। मानो विश्वात्मा ही उसे अपनी ओर खींच रहा है, ऐसा होता है।

उद्गीतमेतत्परमं तु ब्रह्म तस्मिंस्त्रयं सुप्रतिष्ठाऽक्षरं च ।
अत्रान्तरं ब्रह्मविदो विदित्वा लीना ब्रह्मणि तत्परा योनिमुक्ताः ॥7॥

विश्वप्रपंच से अलग वर्णित यह ब्रह्म सबसे उत्कृष्ट ही है। भोक्ता, भोग्य और नियन्ता—तीनों इसी में अवस्थित हैं। इन तीनों का भेद पहचानकर (अर्थात् वही विश्वपालक और अविनाशी है ऐसा जानकर) ही ब्रह्मज्ञानी लोग अपने को शरीर से अलग समझते हैं। ब्रह्म ही सबमें अनुस्यूत है, ऐसा जानकर धीरे-धीरे वे ब्रह्म में मिल जाते हैं और फिर उनके लिए जन्म नहीं होता।

संयुक्तमेतत्क्षरमक्षरं च व्यक्ताव्यक्तं भरते विश्वमीशः ।
अनीशश्चात्मा बध्यते भोक्तृभावाज्ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः ॥8॥

विनाशशील और अविनाशी (व्यक्त और अव्यक्त) दोनों एक-दूसरे से घनिष्ठ रूप से संलग्न हैं। क्योंकि ईश्वर ही दोनों का आधार है। वास्तव में ईश्वर ही समग्र सृष्टि का अवलम्बन है। जीवात्मा अपने दिव्य स्वरूप के अज्ञान से अपने को भोक्ता मानकर बन्धन में पड़ता है। परन्तु वही जीवात्मा जब अपने को ब्रह्मरूप में जान लेता है तब वह मुक्त हो जाता है।

ज्ञाज्ञौ द्वावजावीशानीशावजा ह्येका भोक्तृभोग्यार्थयुक्ता ।
अनन्तश्चात्मा विश्वरूपो ह्यकर्ता त्रयं यदा विन्दते ब्रह्ममेतत् ॥9॥

सर्वज्ञ ईश्वर और अज्ञानी जीव—दोनों जन्मरहित हैं। प्रकृति ही जीवात्मा के लिए भोग्य पदार्थ उत्पन्न करती है। विश्वात्मा तो अनन्त है और इसलिए वह साक्षीमात्र ही है। वह अकर्ता है। भोक्तृत्व, भोगत्व और भोग—ये तो जीव के ही हैं। जीव, माया और विश्वात्मा—इन तीनों को जब साधक एक समझ लेता है, तब वह मुक्त हो जाता है।

क्षरं प्रधानममृताक्षरं हरः क्षरात्मानावीशते देव एकः ।
तस्याभिध्यानाद्योजनात्तत्त्वभावाद्भूयश्चान्ते विश्वमायानिवृत्तिः ॥10॥

प्रकृति (भौतिक विश्व) तो विनाशशील है और अज्ञाननाशक परमात्मा (विश्वात्मा) तो अविनाशी और अक्षय है। वही दिव्य विश्वात्मा सकल विश्व को और जीव को नियमबद्ध रखता है। यदि उस विश्वात्मा का ध्यान किया जाए, तो उस सम्बन्ध के द्वारा मनुष्य धीरे-धीरे उसके साथ ऐक्य का अनुभव करेगा। ऐसा होने पर माया की वैश्विक पकड़ ढीली पड़ जाने से मनुष्य मुक्त हो जाएगा।

ज्ञात्वा देवं सर्वपाशापहानिः क्षीणैः क्लेशैर्जन्ममृत्युप्रहाणिः ।
तस्याभिध्यानात्तृतीयं देहभेदे विश्वैश्वर्यं केवल आप्तकामः ॥11॥

उस विश्वात्मा के साथ अपने आत्मा का ऐक्य जानकर मनुष्य अज्ञानजनित सभी बन्धनो से मुक्त हो जाता है और सभी क्लेश क्षीण हो जाने से जन्म-मरण की भी समाप्ति हो जाती है। मृत्यु के समय उस विश्वात्मा (परमात्मा) के ध्यान से तो (पूर्वोक्त दो से) तीसरा स्थान—विश्वात्मा के साथ ऐक्य ही प्राप्त करता है। वह अपने को आप्तकाम (कृतार्थ) ही समझता है। (पापशान्ति और जन्ममरण हानि की अपेक्षा यह ऐक्यानुभव तीसरा स्थान है)।

एतज्ज्ञेयं नित्यमेवात्मसंस्थं नातः परं वेदितव्यं हि किञ्चित् ।
भोक्ता भोग्यं प्रेरितारं च मत्वा सर्वं प्रोक्तं त्रिविधं ब्रह्ममेतत् ॥12॥

ब्रह्म को सदैव अपने भीतर ही अवस्थित हुआ जानना चाहिए। इससे अधिक अच्छा जानने योग्य कुछ है ही नहीं। भोक्ता – जीव, भोग्य – जगत और प्रेरक – परमात्मा—इन तीनों को एक ब्रह्मरूप ही मानो।

वह्नेर्यथा योनिगतस्य मूर्तिर्न दृश्यते नैव च लिङ्गनाशः ।
स भूय एवेन्धनयोनिगृह्यस्तद्वोभयं वै प्रणवेन देहे ॥13॥

जिस तरह अपने आश्रय (काष्ठ) में स्थित अग्नि का रूप दिखाई नहीं देता, फिर भी उसके सूक्ष्मरूप का तो नाश नहीं होता और ईंधनरूप कारण द्वारा ही उसका ग्रहण हो सकता है, ठीक उसी प्रकार (उन दोनों के समान) इस देह में प्रणव द्वारा आत्मा का ग्रहण किया जा सकता है।

स्वदेहमरणिं कृत्वा प्रणवं चोत्तरारणिम् ।
ध्याननिर्मथनाभ्यासाद् देवं पश्येन्निगूढवत् ॥14॥

अपने शरीर को नीचे की अरणि करके और प्रणव को ऊपर की अरणि करके ध्यानरूपी मन्थन के अभ्यास से उस स्वयंप्रकाशित परमात्मा को गुप्ताग्नि की तरह ही देखना चाहिए।

तिलेषु तैलं दधनीव सर्पिरापः स्रोतस्स्वरणीषु चाग्निः ।
एवमात्मात्मनि गृह्यतेऽसौ सत्येनैनं तपसा योऽनुपश्यति ॥15॥

जैसे तिल में तेल, दही में घी, झरनों में जल और काष्ठों में अग्नि रहता है, उसी प्रकार जो मनुष्य सत्य और तप के द्वारा उसे बार-बार देखने का प्रयत्न करता है, उसी को यह आत्मा, आत्मा में अवस्थित दिखाई देता है।

सर्वव्यापिनमात्मानं क्षीरे सर्पिरिवार्पितम् ।
आत्मविद्यातपोमूलं तद्ब्रह्मोपनिषत्परम् ॥
तद्ब्रह्मोपनिषत्परम् ॥16॥

इति श्वेताश्वतरोपनिषत्सु प्रथमोऽध्यायः ॥

आत्मविद्या और तप के कारणरूप, दूध में घी की तरह रहते हुए, सर्वव्यापक आत्मा को सर्व के आश्रयरूप आत्मा के रूप में देखा जा सकता है। अर्थात्, सत्यादि साधन द्वारा अधिकारी पुरुष जिसका अनुभव करता है, वह ब्रह्म ही है। वह ब्रह्म ही है। (यह दो बार कथन अध्याय की समाप्ति का सूचक है)।

इस प्रकार श्वेताश्वतर उपनिषद् में प्रथम अध्याय पूरा हुआ।

❈

द्वितीयोऽध्यायः

युञ्जानः प्रथमं मनस्तत्त्वाय सविता धियः ।
अग्नेर्ज्योतिर्निचाय्य पृथिव्या अध्याभरत् ॥1॥

सविता देवता (प्रजापति) प्रथम तो हमारे मन और अन्य प्राणों का विस्तार करके, उन्हें परमात्मा में लगाकर, अग्नि आदि का-सा तेज प्राप्त करके इस धरती पर इस शरीर में स्थापित करे।

युक्तेन मनसा वयं देवस्य सवितुः सवे ।
सुवर्गेयाय शक्त्या ॥2॥

सविता देवता की अनुज्ञा मिलने से, परमात्मा से जुड़े हुए मन में, परमात्मा की प्राप्ति के लिए, कारणभूत ध्यान-कर्म के लिए यथाशक्ति हम प्रयत्न करें।

युक्त्वाय मनसा देवान् सुवर्यतो धिया दिवम् ।
बृहज्ज्योतिः करिष्यतः सविता प्रसुवाति तान् ॥3॥

सविता देव मेरे मन को विश्वात्मा के साथ जोड़ दें। इससे मेरी सारी इन्द्रियाँ उस विश्वात्मा के प्रति प्रेरित होंगी। बाद में उस स्वप्रकाशित आत्मा के साक्षात्कार के लिए मेरी इन्द्रियों को आवश्यक विवेकशक्ति प्रदान करें।

युञ्जते मन उत युञ्जते धियो विप्रा विप्रस्य बृहतो विपश्चितः ।
वि होत्रा दधे वयुनाविदेक इन्महि देवस्य सवितुः परिष्टुतिः ॥4॥

जो विप्र (ब्राह्मण) लोग अपने मन एवं इन्द्रियों को परमात्मा में जोड़ देते हैं, वे सर्वव्यापक, महान्, सर्वज्ञ, सविता के बहुत ही कृतज्ञ हैं। उन्हें चाहिए कि वे ज्ञानवान सूर्य की सर्व प्रकार से आराधना करें।

युजे वां ब्रह्म पूर्व्यं नमोभिर्विश्लोक एतु पथ्येव सूरेः ।
श्रृण्वन्तु विश्वे अमृतस्य पुत्रा आ ये धामानि दिव्यानि तस्थुः ॥5॥

ओ मेरी इन्द्रियो और उनके अधिष्ठातृ देवताओ ! (हे दोनो !) मैं तुम दोनों को ध्यान, प्रणाम के द्वारा शाश्वत ब्रह्म के साथ जोड़ देता हूँ। ज्ञानियों द्वारा यह स्तुतिमंत्र भले ही चारों ओर फैल जाए। हे अमृत की सन्तानो ! और हे दिव्यधाम में रहनेवाले लोगो ! तुम सब मेरी यह वाणी सुनो।

अग्निर्यत्राभिमथ्यते वायुर्यत्रानुरुध्यते ।
सोमो यत्रातिरिच्यते तत्र संजायते मनः ॥6॥

जहाँ मथन से अग्नि पैदा होता है, जहाँ वायु बहता नहीं है, जहाँ सोमरस से भरपूर घड़े उभरते हैं, वहाँ बाह्य कर्मों का इच्छुक मन लगता है।

सवित्रा प्रसवेन जुषेत ब्रह्म पूर्व्यम् ।
तत्र योनिं कृणवते न हि ते पूर्वमक्षिपत् ॥7॥

सविता देवता द्वारा अनुमति प्राप्त करके उस चिरन्तन ब्रह्म का सेवन करना चाहिए । तुम उस ब्रह्म में निष्ठा रखनेवाले हो जिससे कि तुम्हारा पूर्तकर्म (स्मार्त कर्म) बन्धनकारक नहीं होगा ।

त्रिरुन्नतं स्थाप्य समं शरीरं हृदीन्द्रियाणि मनसा संनिवेश्य ।
ब्रह्मोडुपेन प्रतरेत विद्वान् स्त्रोतांसि सर्वाणि भयावहानि ॥8॥

मस्तक-ग्रीवा-छाती—तीनों को उन्नत रखकर (आगे बढ़ाकर) शरीर को सीधा रखकर, मन से इन्द्रियों को भीतर प्रवेश करवाकर ज्ञानी मनुष्य को ॐकाररूप नौका से सभी भयानक जलाशयों को तैर जाना (पार कर जाना) चाहिए ।

प्राणान्प्रपीड्येह संयुक्तचेष्टः क्षीणे प्राणे नासिकयोच्छ्वसीत ।
दुष्टाश्वयुक्तमिव वाहमेनं विद्वान्मनो धारयेताप्रमत्तः ॥9॥

समुचित आहार-विहार करते हुए प्राणों का निरोध करके जब प्राणशक्ति क्षीण हो जाए अर्थात् प्राणधारण-सामर्थ्य चला जाए, तब नासिका से उसे बाहर निकाल देना चाहिए । जैसे शरारती घोड़ों से जुड़े हुए रथ का सारथि सावधान होकर घोड़ों को वश में करता है, उसी प्रकार विद्वान् योगी को भी उस प्राण के प्रति सावधान रहकर मन को केन्द्रित करना चाहिए ।

समे शुचौ शर्करावह्निवालुकाविवर्जिते शब्दजलाश्रयादिभिः ।
मनोनुकूले न तु चक्षुपीडने गुहानिवाताश्रयणे प्रयोजयेत् ॥10॥

जो स्थान समतल एवं पवित्र हो, कंकड़, आग, रेती और कोलाहल से तथा पनघट आदि से रहित हो, जो कि मन के अनुकूल हो और जो आँख को तकलीफ देनेवाला न हो, ऐसे गुफा आदि वायुरहित स्थान में मन को परमात्मा के साथ जोड़ना चाहिए ।

नीहारधूमार्कानिलानलानां खद्योतविद्युत्स्फटिकाशशीनाम् ।
एतानि रूपाणि पुरःसराणि ब्रह्मण्यभिव्यक्तिकराणि योगे ॥11॥

योग का अभ्यास करते समय बीच में आनेवाले ओस, धूम, सूर्य, वायु, अग्नि, जुगनू, बिजली, स्फटिकमणि और चन्द्रमा के रूप में शुरू में ब्रह्म की अभिव्यक्ति कराते हों, ऐसे मालूम पड़ते हैं ।

पृथिव्यप्तेजोऽनिलखे समुत्थिते पञ्चात्मके योगगुणे प्रवृत्ते ।
न तस्य रोगो न जरा न मृत्युः प्राप्तस्य योगाग्निमयं शरीरम् ॥12॥

पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश की अभिव्यक्ति होने पर, पंचभूतमय योग के गुणों का अनुभव होने के बाद, योगाग्निमय शरीर पानेवाले योगी को न रोग आता है, न बुढापा ही, अकालमृत्यु भी नहीं आती ।

लघुत्वमारोग्यमलोलुपत्वं वर्णप्रसादं स्वरसौष्ठवं च ।
गन्धः शुभो मूत्रपुरीषमल्पं योगप्रवृत्तिं प्रथमां वदन्ति ॥13॥

शारीरिक फुर्तिलापन (लघुता), आरोग्य, अलोलुपता (विषयासक्ति का अभाव), देह के वर्ण की उज्ज्वलता, आवाज का माधुर्य, सुन्दर गन्ध और मूत्रपुरीष की न्यूनता—ये सब योग की पहली सिद्धियाँ मानी जाती हैं ।

यथैव बिम्बं मृदयोपलिप्तं तेजोमयं भ्राजते तत्सुधान्तम् ।
तद्वात्मतत्त्वं प्रसमीक्ष्य देही एकः कृतार्थो भवते वीतशोकः ॥14॥

जिस तरह मिट्टी से मलिन हुआ बिम्ब (सोने या चाँदी का टुकड़ा) शुद्ध करने के बाद चमक उठता है, ठीक इसी प्रकार देहधारी जीव आत्मतत्त्व का साक्षात्कार करके कृतार्थ और शोक से रहित हो जाता है ।

यदात्मतत्त्वेन तु ब्रह्मतत्त्वं दीपोपमेनेह युक्तः प्रपश्येत् ।
अजं ध्रुवं सर्वतत्त्वैर्विशुद्धं ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः ॥15॥

जब वह योगी दीपक के समान स्वयं प्रकाशित रूप से आत्मतत्त्व के भाव से ब्रह्मतत्त्व का साक्षात्कार करता है, तब वह जन्मरहित, अचल (स्थिर) और सभी तत्त्वों से विशुद्ध देव को पहचानकर सभी पापों से मुक्त हो जाता है ।

एष ह देवः प्रदिशोऽनुसर्वाः पूर्वो ह जातः स उ गर्भे अन्तः ।
स एव जातः स जनिष्यमाणः प्रत्यङ्जनास्तिष्ठति सर्वतोमुखः ॥16॥

यह देव ही पूर्वादि सभी दिशाएँ और उपदिशाएँ हैं । यही देव हिरण्यगर्भ से भी पहले पैदा हुआ था । यही गर्भ के भीतर भी है और यही उत्पन्न भी हुआ है । (उत्पन्न होनेवाला भी तो वही है) सभी देवों के अन्तरात्मा के रूप में वही अवस्थित है । वही सर्वतोमुख है (सभी प्राणियों के मुख उसी के हैं) ।

यो देवोऽग्नौ योऽप्सु यो विश्वं भुवनमाविवेश ।
य ओषधीषु यो वनस्पतिषु तस्मै देवाय नमो नमः ॥17॥

इति श्वेताश्वतरोपनिषत्सु द्वितीयोऽध्यायः ॥

जो देव अग्नि में है, जो पानी में है और जो समस्त भुवन को व्याप्त कर रहा है, जो औषधियों में और वनस्पतियों में भी विद्यमान है, उस देव को नमस्कार हो, नमस्कार हो । (दो बार नमस्कार अध्याय की समाप्ति का सूचक है) ।

इस प्रकार श्वेताश्वतर उपनिषत् में द्वितीय अध्याय पूरा हुआ ।

❋

तृतीयोऽध्यायः

य एको जालवानीशत ईशनीभिः सर्वांल्लोकानीशत ईशनीभिः ।
य एवैक उद्भवे संभवे च य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति ॥1॥

जो एक मायावी परमेश्वर अपनी ईश्वरीय शक्तियों से शासन करता है, जो इस जगत् के प्रादुर्भाव के समय में वह अकेला ही अपनी शक्तियों से शासन करता है । उस परमात्मा को जो कोई जानते हैं, वे अमर हो जाते हैं ।

एको हि रुद्रो न द्वितीयाय तस्थुर्य इमाँल्लोकानीशत ईशनीभिः ।
प्रत्यङ्जनांस्तिष्ठति सञ्चुकोपान्तकाले संसृज्य विश्वा भुवनानि गोपाः ॥2॥

क्योंकि रुद्र (ईश्वर) एक ही है इसलिए ब्रह्मज्ञानी लोग इसके अतिरिक्त किसी अन्य वस्तु की अपेक्षा नहीं करते । वह ईश्वर अपनी ब्रह्मादि शक्तियों के द्वारा इन लोगों पर शासन चलाता है—इन्हें

नियम में रखता है। वह सकल जीवों के भीतर बसा हुआ है और सब लोकों का निर्माण करके उनका रक्षक बनकर रहता है। वही प्रलयकाल में संहार भी करता है।

विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतोमुखो विश्वतोबाहुरुत विश्वतस्पात्।
सं बाहुभ्यां धमति सं पतत्रैर्द्यावाभूमी जनयन्देव एकः ॥3॥

सभी ओर नेत्रवाला, सभी ओर मुँहवाला, सभी ओर हाथवाला और सभी ओर चरणवाला वह देव है। वह एकमात्र प्रकाशमय परमात्मा द्युलोक और पृथ्वी की रचना करते रहते हुए ही वहाँ के पशु, पक्षी, मनुष्य आदि प्राणियों को दो हाथ, दो पैर और दो पंख आदि से युक्त करता है। [अथवा दूसरा अर्थ—वह अपने दो हाथों से विश्व को उत्पन्न करके, उत्पत्ति के समय में उत्पाद्य-उत्पादकादि रूप से अनेक प्रकार के शब्द करता है। यह शंकरानंद का मत है।]

यो देवानां प्रभवश्चोद्भवश्च विश्वाधिपो रुद्रो महर्षिः।
हिरण्यगर्भं जनयामास पूर्वं स नो बुद्ध्या शुभया संयुनक्तु ॥4॥

जो रुद्र (ईश्वर) देवताओं की उत्पत्ति तथा ऐश्वर्यप्राप्ति का कारण है, जगत् का पति है, सर्वज्ञ है, जिसने सर्वप्रथम हिरण्यगर्भ को उत्पन्न किया था वह हमें शुद्ध बुद्धि से युक्त करे।

या ते रुद्र शिवा तनूरघोराऽपापकाशिनी।
तया न स्तनुवा शंतमया गिरिशन्ताभिचाकशीहि ॥5॥

हे रुद्र! (हे परमात्मा!) आपकी जो कल्याणकारी, शान्त, पुण्यप्रकाशिका देहमूर्ति है, उस आनन्दमय मूर्ति द्वारा हे गिरिशन्त! (हे पर्वतशिखरवासि!) आप हमपर दृष्टि डालिए (कि जिससे हम अच्छे कार्य करने के लिए प्रेरित हों)।

यामिषुं गिरिशंत हस्ते बिभर्ष्यस्तवे।
शिवां गिरित्र तां कुरु मा हिंसीः पुरुषं जगत् ॥6॥

हे गिरिशिखरवासि! प्राणियों के ऊपर फेंकने के लिए आपने जो अपने हाथ में बाण धारण किया है, उसे मंगलकारी कर दीजिए। हे गिरिरक्षक! हममें से किसी मनुष्य की और सारे जगत् की भी हिंसा आप न करें।

ततः परं ब्रह्म परं बृहन्तं यथा निकायं सर्वभूतेषु गूढम्।
विश्वस्यैकं परिवेष्टितारमीशं तं ज्ञात्वाऽमृता भवन्ति ॥7॥

इस जगत् से जो परे है, जो ब्रह्मा (हिरण्यगर्भ) से भी परे है, जो महान् है, जो सभी प्राणियों में उनके शरीरों के अनुसार परिच्छिन्न रूप से छिपा हुआ रहता है, और जो एकमात्र परिवेष्टा (सर्वव्यापी) है, उस परमेश्वर को जानकर ही जीवसमूह अमर हो जाता है (उनकी मुक्ति हो जाती है)।

वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसः परस्तात्।
तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय ॥8॥

मैं इस महान् पुरुष को जो सूर्य जैसा प्रकाशस्वरूप है और अज्ञानान्धकार से परे है, उसे पहचानता हूँ। मनुष्य उसी को जानकर मृत्यु को लाँघ सकता है। इसके अलावा मृत्यु से छुटकारा पाने का कोई उपाय ही नहीं है।

यस्मात्परं नापरमस्ति किञ्चिद्यस्मान्नाणीयो न ज्यायोऽस्ति कश्चित्।
वृक्ष इव स्तब्धो दिवि तिष्ठत्येकस्तेनेदं पूर्णं पुरुषेण सर्वम् ॥9॥

जिससे श्रेष्ठ अन्य कुछ नहीं है, और जिससे छोटा और बड़ा भी कुछ नहीं है, ऐसे यह अद्वितीय परमात्मा अपनी द्योतनात्मक (प्रकाशमय) महिमा में वृक्ष की भाँति निश्चल भाव से अवस्थित है। उस परमपुरुष ने ही सारे जगत् को व्याप्त कर रखा है। (वह सारे जगत् को व्याप्त करके स्थित है)।

ततो यदुत्तरतरं तदरूपमनामयम्।
य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्त्यथेतरे दुःखमेवापि यन्ति ॥10॥

उस कारणब्रह्म से जो उत्कृष्टतर है, वह अरूप और अनामय है, उसे जो जानते हैं, वे अमर हो जाते हैं। दूसरे लोग दुःख को ही प्राप्त हुआ करते हैं।

सर्वाननशिरोग्रीवः सर्वभूतागुहाशयः।
सर्वव्यापी स भगवांस्तस्मात्सर्वगतः शिवः ॥11॥

वह भगवान् चारों ओर मुखवाले, चारों ओर मस्तक वाले और चारों ओर ग्रीवावाले हैं। सभी जीवों के हृदय में छिपे हुए सर्वव्यापी भगवान् शिव सभी में निवास कर रहे हैं।

महान्प्रभुर्वै पुरुषः सत्त्वस्यैष प्रवर्तकः।
सुनिर्मलामिमां प्राप्तिमीशानो ज्योतिरव्ययः ॥12॥

यह परमात्मा महान्, पूर्ण सामर्थ्यशाली, शरीररूपी नगरी में शयन करनेवाला, निर्मल प्राप्ति के उद्देश्य से मन को प्रेरित करनेवाला, सर्वशासक, प्रकाशरूप और अविनाशी है।

अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषोऽन्तरात्मा सदा जनानां हृदये सन्निविष्टः।
हृदा मन्वीशो मनसाभिक्लृप्तो य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति ॥13॥

अंगुष्ठ के परिमाणवाला अन्तर्यामी पुरुष जीवों के हृदय में हमेशा विद्यमान है। हृदय और मन से वह चारों ओर प्रकाशित होता है, वह ज्ञान का स्वामी है। उसे जो जानते हैं, वे अमर हो जाते हैं।

सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्।
स भूमिं विश्वतो वृत्वात्यतिष्ठद्दशाङ्गुलम् ॥14॥

वह पुरुष सहस्र (अनेक) मस्तकवाला है, सहस्र आँखों वाला है, सहस्र पैरोंवाला है। वह भूमि को चारों ओर से व्याप्त करके दशांगुल तक (ज्यादा आगे) उसका अतिक्रमण करके भी अवस्थित है।

पुरुष एवेदं सर्वं यद्भूतं यच्च भाव्यम्।
उतामृतत्वस्येशानो यदन्नेनातिरोहति ॥15॥

जो कुछ भी भूतकालीन और भविष्यत्कालीन है, और जो कुछ भी अन्न के द्वारा वृद्धि प्राप्त करता है, वह सब यह पुरुष ही है। और वही अमृतत्व अर्थात् मुक्ति का भी प्रभु है।

सर्वतः पाणिपादं तत्सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम्।
सर्वतः श्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति ॥16॥

उस परब्रह्म के हाथ-पैर सभी दिशाओं में हैं। उसकी आँखें, मस्तक और मुख भी सभी दिशाओं

में हैं। उसके कान भी सभी दिशाओं में हैं। इस लोक में वह सबको आवृत किए हुए स्थित है। अर्थात् सबको अपने से व्याप्त करके अवस्थित है।

सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जितम्।
सर्वस्य प्रभुमीशानं सर्वस्य शरणं बृहत् ॥17॥

वह ज्ञेय (प्रमेय) ब्रह्म सभी इन्द्रियों और विषयों के रूप में (केवल) भासित (ही) होता है, परन्तु वास्तव में सभी इन्द्रियों से रहित ही है। वह सबका प्रभु है, सबका शासक है और सबका आश्रय एवं कारण है।

नवद्वारे पुरे देही हंसो लेलायते बहिः।
वशी सर्वस्य लोकस्य स्थावरस्य चरस्य च ॥18॥

समग्र स्थावर-जंगम सृष्टि का स्वामी ऐसा हंसस्वरूप यह परमात्मा ही देहाभिमानी होकर इस नव द्वारवाले देहरूपी नगर में बाह्य विषयों को ग्रहण करने के लिए चेष्टा करता है।

अपाणिपादो जवनो गृहीता पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः।
स वेत्ति वेद्यं न च तस्यास्ति वेत्ता तमाहुरग्र्यं पुरुषं महान्तम् ॥19॥

वह निर्विशेष ब्रह्म हाथ-पैरों से रहित होकर भी वेगवान और ग्रहण करनेवाला है। आँखें न होते हुए भी वह देखता है, कान न होने पर भी वह सुनता है। वह सभी ज्ञेय विषयों को जानता है, पर उसको जाननेवाला कोई भी नहीं है। उसी को महान् प्रथम पुरुष (ब्रह्म) कहा जाता है।

अणोरणीयान्महतो महीयानात्मा गुहायां निहितोऽस्य जन्तोः।
तमक्रतुं पश्यति वीतशोको धातुः प्रसादान्महिमानमीशम् ॥20॥

वह आत्मा अणु से भी अणु और महान् से भी महान् है। वह जीव के अन्त:करण में रहता है। उस विषयरूप संकल्प से रहित और महिमामय आत्मा को जो विधाता की कृपा से जान लेता है, वह शोकरहित हो जाता है।

वेदाहमेतमजरं पुराणं सर्वात्मानं सर्वगतं विभुत्वात्।
जन्मनिरोधं प्रवदन्ति यस्य ब्रह्मवादिनो हि प्रवदन्ति नित्यम् ॥21॥

इति श्वेताश्वतरोपनिषत्सु तृतीयोऽध्यायः ॥

ब्रह्मज्ञानी लोग जिसे जन्म से रहित कहते हैं और 'वह नित्य है'—ऐसा भी कहते हैं। वह बुढापे से रहित है, वह पुरातन है, वह सर्वात्मा और सर्वगत है, क्योंकि वह विभु (व्यापक) है, उस आत्मा को मैं जानता हूँ।

इस प्रकार श्वेताश्वतर उपनिषद् में तीसरा अध्याय पूरा हुआ।

❋

चतुर्थोऽध्यायः

य एकोऽवर्णो बहुधा शक्तियोगाद्वर्णाननेकान्निहितार्थो दधाति।
वि चैति चान्ते विश्वमादौ स देवः स नो बुद्ध्या शुभया संयुनक्तु ॥1॥

जो परमात्मा एक और निर्विशेष होकर भी अपनी शक्ति द्वारा सृष्टि के आरम्भ में किसी भी प्रयोजन के बिना ही विविध प्रकार के रूप धारण करता है, और अन्त में (प्रलय काल में) सारा विश्व जिसमें लीन हो जाता है, ऐसा वह प्रकाशस्वरूप परमात्मा हमें सद्बुद्धि से संयुक्त करे (अर्थात् हमें सद्बुद्धि प्रदान करे)।

तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद्वायुस्तदु चन्द्रमाः।
तदेव शुक्रं तद्ब्रह्म तदापस्तत्प्रजापतिः ॥2॥

वह आत्मतत्त्व ही अग्नि है, वही आदित्य है, वही वायु है और वही चन्द्रमा है, वही शुक्र (शुद्ध) नक्षत्र है, वही ब्रह्म (हिरण्यगर्भ) है, वही ब्रह्म जल है और वही प्रजापति है।

त्वं स्त्री त्वं पुमानसि त्वं कुमार उत वा कुमारी।
त्वं जीर्णो दण्डेन वञ्चसि त्वं जातो भवसि विश्वतोमुखः ॥3॥

तू स्त्री है, तू पुरुष है, तू कुमार है और तू ही कुमारी है। तू ही तो बूढ़ा बनकर लाठी लिए चलता है, तू ही प्रपंचरूप से अनेक होने के बाद अनेक रूप हो जाता है।

नीलः पतङ्गो हरितो लोहिताक्षस्तडिद्गर्भ ऋतवः समुद्राः।
अनादिमत्त्वं विभुत्वेन वर्तसे यतो जातानि भुवनानि विश्वा ॥4॥

तू ही नीलवर्णी मयूर है, तू ही तोता और लाल आँखोंवाली मैना भी तू ही है। विद्युत् को अपने में समानेवाला मेघ भी तू ही है और ऋतुएँ, समुद्र आदि भी तू ही है। तू आदिरहित व्यापक बनकर रहता है और उसी से ये सारे भुवन उत्पन्न हुए हैं।

अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां बह्वीः प्रजा सृजमानां सरूपाः।
अजो ह्येको जुषमाणोऽनुशेते जहात्येनां भुक्तभोगामजोऽन्यः ॥5॥

जो माया एक है, वह लाल, सफेद आदि काले रंगवाली है (अर्थात् तेज, जल और पृथ्वीरूप है) और वह अपने समान बहुत-सी प्रजाओं को उत्पन्न करती है, ऐसी माया का सेवन करता हुआ भी एक पुरुष (ईश्वर) उसे छोड़ देता है, और दूसरा (जीव) उसमें अनुरक्त हो जाता है।

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्योऽभिचाकशीति ॥6॥

जीवात्मा और परमात्मारूप दो पक्षी साथ में रहनेवाले दो मित्र होकर एक ही वृक्ष (शरीररूपी वृक्ष) को आलिङ्गन (आश्रय) करके रहते हैं। उन दोनों में से एक (जीव) मीठा लगनेवाला फल खाता है और अन्य (परमात्मा) उसे न खाते हुए केवल देखा ही करता है।

समाने वृक्षे पुरुषो निमग्नोऽनीशया शोचति मुह्यमानः।
जुष्टं यदा पश्यत्यन्यमीशमस्य महिमानमिति वीतशोकः ॥7॥

उस एक ही शरीररूपी वृक्ष पर भोक्ता - जीव (अविद्या, कर्मफल आदि के बोझ से) डूबा हुआ, मोहग्रस्त होकर दीनभाव से शोक करता है। और जिस समय में (अनेक योगमार्गों से) सेवित एवं देहादि से भिन्न ईश्वर और उसकी महिमा को देखता है, तब वह शोक से रहित हो जाता है।

ऋचो अक्षरे परमे व्योमन् यस्मिन्देवा अधिविश्वे निषेदुः।
यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति य इत्तद्विदुस्त इमे समासते ॥8॥

सभी देव जिसमें अवस्थित हैं, ऐसे अक्षरब्रह्मरूप परम आकाश में तीनों वेद निवास करते हैं। जो मनुष्य उसे नहीं जानता, वह भला ऋचाओं (वेदों) का क्या करेगा ? जो लोग उसे (ब्रह्म को) जानते हैं, वे धन्य-धन्य हो जाते हैं।

छन्दांसि यज्ञाः क्रतवो व्रतानि भूतं भव्यं यच्च वेदा वदन्ति ।
अस्मान्मायी सृजते विश्वमेतत् तस्मिंश्चान्यो मायया संनिरुद्धः ॥9॥

वेद, यज्ञ, अग्न्याधानादि क्रतु, व्रत, भूत, भविष्यत् (और वर्तमान) आदि जो कुछ भी अन्यान्य बातें वेदों में बताई गईं हैं, वह सब मायाशक्ति से सम्पन्न ईश्वर ही उत्पन्न करता है। और उसी माया के प्रपंच से जीवात्मा बन्धन में पड़ता है।

मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम् ।
तस्यावयवभूतैस्तु व्याप्तं सर्वमिदं जगत् ॥10॥

माया को तुम जगत् का कारणरूप प्रकृति जानो। और मायाशक्तिसम्पन्न देव को महेश्वर जानो। उस महेश्वर के अवयवों से (कार्यकारणरूप संघात से) यह सारा जगत् व्याप्त है।

यो योनिं योनिमधितिष्ठत्येको यस्मिन्निदं सं च वि चैति सर्वम् ।
तमीशानं वरदं देवमीड्यं निचाय्येमां शान्तिमत्यन्तमेति ॥11॥

जो एक परमेश्वर हर एक जीवजाति को अपने नियम में रखता है, और जिस ईश्वर में यह सारा जगत् समा भी जाता है और फिर उत्पन्न भी होता है, उस सर्वनियामक, वरदाता एवं स्तवनीय देव को जानकर मनुष्य परमशान्ति पाता है।

यो देवानां प्रभवश्चोद्भवश्च विश्वाधिपो रुद्रो महर्षिः ।
हिरण्यगर्भं पश्यति जायमानं स नो बुद्ध्या शुभया संयुनक्तु ॥12॥

जो रुद्र (परमेश्वर) सभी देवों की उत्पत्ति और ऐश्वर्य प्राप्ति का हेतु है, जो जगत् का स्वामी और सर्वज्ञ है और जिसने सबसे पहले अपने से उत्पन्न हिरण्यगर्भ को देखा था, वह हमें सद्बुद्धि से संयुक्त करे।

यो देवानामधिपो यस्मिँल्लोका अधिश्रिताः ।
य ईशे अस्य द्विपदश्चतुष्पदः कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥13॥

जो देवों का अधिपति है, जिसके अवलम्बन पर वे सभी लोक टिके हुए हैं, जो दो पैर वाले और चार पैर वाले प्राणियों पर शासन कर रहा है, उस आनन्दस्वरूप देव को हम हवि से पूजते हैं।

सूक्ष्मातिसूक्ष्मं कलिलस्य मध्ये विश्वस्य स्रष्टारमनेकरूपम् ।
विश्वस्यैकं परिवेष्टितारं ज्ञात्वा शिवं शान्तिमत्यन्तमेति ॥14॥

इस विश्वप्रपंच के बीच में रहते हुए, सूक्ष्म से भी अतिसूक्ष्म, अनेक रूपों को धारण करनेवाले, विश्व के स्रष्टा और विश्व को व्याप्त किये हुए शिव को जानकर जीव परमशान्ति को प्राप्त करता है।

स एव काले भुवनस्य गोप्ता विश्वाधिपः सर्वभूतेषु गूढः ।
यस्मिन्युक्ता ब्रह्मर्षयो देवताश्च तमेवं ज्ञात्वा मृत्युपाशांश्छिनत्ति ॥15॥

सभी काल में वही तो इस लोक की रक्षा करनेवाला है और सभी भूतों में छिपकर रहता हुआ

वही समग्र विश्व का अधीश्वर है। इसमें महर्षि, देव आदि स्थिर होकर रहते हैं। इसके ऐसे स्वरूप को जानकर मनुष्य मृत्युबन्धनों काट देता है।

घृतात्परं मण्डमिवातिसूक्ष्मं ज्ञात्वा शिवं सर्वभूतेषु गूढम् ।
विश्वस्यैकं परिवेष्टितारं ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः ॥16॥

घी के ऊपर स्थित उसके सारभाग के समान अत्यन्त सूक्ष्म, और सभी प्राणियों में छिपे हुए, विश्व को घेर कर रहते हुए उस शिवतत्त्व (ब्रह्म) को जानकर मनुष्य सभी पापों से (पापरूपी बन्धनों से) मुक्त हो जाता है।

एष देवो विश्वकर्मा महात्मा सदा जनानां हृदये सन्निविष्टः ।
हृदा मनीषा मनसाऽभिक्लृप्तो य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति ॥17॥

यह सर्वव्यापी देव जगत् का कर्ता है और महान् (परम) आत्मा है, इसलिए सदैव सब प्राणियों के हृदय में रहनेवाला है। और उस हृदय द्वारा किए गए ''नेति नेति'' 'अतद्व्यावृत्ति' के उपदेश से, आत्मा-अनात्मा की विवेक, बुद्धि और ऐक्यज्ञान द्वारा जाना जा सकता है। अर्थात् बुद्धि और मन के द्वारा जाना जा सकता है। जो इसे इस प्रकार जानते हैं, वे अमर हो जाते हैं।

यदाऽतमस्तन्न दिवा न रात्रिर्न सन्न चासच्छिव एव केवलः ।
तदक्षरं तत्सवितुर्वरेण्यं प्रज्ञा च तस्मात्प्रसृता पुराणी ॥18॥

जब मनुष्य अज्ञानरहित होता है, तब उसके लिए न दिवस होता है, न रात। न सत् होता है न असत्। तब केवल शिव ही रहते हैं। वह स्वरूप अविनाशी है, वह आदित्यमण्डलाभिमानी देव का श्रेष्ठ तेज है, अतः सुपूजनीय है। उसी में से पुरातन आत्मविद्या निकली है अर्थात् गुरु-परंपरित ज्ञान फैला है।

नैतदूर्ध्वं न तिर्यञ्चं न मध्ये परिजग्रभत् ।
न तस्य प्रतिमा अस्ति यस्य नाम महद्यशः ॥19॥

इस ईश्वर को ऊपर से या तिरछी जगह से या मध्य से कोई ग्रहण नहीं कर सकता (क्योंकि वह अपरिच्छिन्न, निरंश और निरवयव है)। इस ईश्वर की कोई उपमा नहीं है, क्योंकि परिपूर्ण यश ही तो उसका नाम है।

न संदृशे तिष्ठति रूपमस्य न चक्षुषा पश्यति कश्चिदेनम् ।
हृदा हृदिस्थं मनसा य एनमेवं विदुरमृतास्ते भवन्ति ॥20॥

इस ब्रह्म का रूप कहीं नहीं दीखता। उसे कोई आँखों से नहीं देख सकता। हृदयस्थ इस ईश्वर को जो लोग मन और हृदय से ही—शुद्ध बुद्धि से ही इस प्रकार का जानते हैं, वे अमर हो जाते हैं।

अजात इत्येवं कश्चिद्भीरुः प्रपद्यते ।
रुद्र यत्ते दक्षिणं मुखं तेन मां पाहि नित्यम् ॥21॥

हे रुद्र ! तुम जन्मरहित हो—ऐसा जानकर संसार से भयभीत मुझ जैसा कोई तेरी शरण खोजता है और कहता है कि तुम्हारा जो दक्षिण मुख है, उससे मेरी रक्षा करो।

मा नस्तोके तनये मा न आयुषि मा नो गोषु मा न अश्वेषु रीरिषः ।
वीरान्मा नो रुद्र भामिनोऽवधीर्हविष्मन्तः सदमित्त्वा हवामहे ॥22॥

इति श्वेताश्वतरोपनिषत्सु चतुर्थोऽध्यायः ॥

हे रुद्र ! हमारे पुत्र, पौत्र, हमारे जीवन, हमारी गायों, अश्वों के प्रति हिंसक मत बनो । क्रुद्ध होने पर भी तुम हमारे नौकर-चाकरों को नहीं मारना । हम हमेशा हवियुक्त होकर तुम्हें बुलाते हैं ।

इस प्रकार श्वेताश्वतर उपनिषद् में चौथा अध्याय पूरा हुआ ।

❈

पञ्चमोऽध्यायः

द्वे अक्षरे ब्रह्मपरे त्वनन्ते विद्याऽविद्ये निहिते यत्र गूढे ।
क्षरं त्वविद्या ह्यमृतं तु विद्या विद्याऽविद्ये ईशते यस्तु सोऽन्यः ॥1॥

इस अविनाशी और अनन्त परब्रह्म में विद्या और अविद्या (दोनों गूढ रूप से) परिच्छिन्न रूप से निहित हैं । जो क्षर है वह अविद्या है, और जो अमृत है वह विद्या है । और जो उन विद्या और अविद्या दोनों का शासन करता है अर्थात् दोनों को नियम में रखता है, वह तो अलग ही है ।

यो योनिं योनिमधितिष्ठत्येको विश्वानि रूपाणि योनींश्च सर्वाः ।
ऋषिं प्रसूतं कपिलं यस्तमग्रे ज्ञानैर्बिभर्ति जायमानं च पश्येत् ॥2॥

जो अकेला ही प्रत्येक स्थान, प्रत्येक (सभी) रूपों और सभी उत्पत्तिस्थानों का नियमन करता है, और जिसने सृष्टि की शुरुआत में जन्मे हुए कपिल मुनि को (हिरण्यगर्भ को) ज्ञानयुक्त किया था, और जन्म लेते हुए भी देखा था (वही विद्या-अविद्या से भिन्न सबका शासक है) ।

एकैकं जालं बहुधा विकुर्वन्नस्मिन्क्षेत्रे संहरत्येष देवः ।
भूयः सृष्ट्वा पतयस्तथेशः सर्वाधिपत्यं कुरुते महात्मा ॥3॥

सर्जनकाल में यह देव (परमात्मा) (इस संसारक्षेत्र में) एक-एक जाल को (प्रत्येक प्राणी से सम्बद्ध संसाररूप इन्द्रजाल को अर्थात् कर्मफल बन्धन की जाल को अथवा इन्द्रियादि रूप जाल को) अनेक प्रकार से विकृत करके अन्त में संहार कर देता है । और यह महात्मा ईश्वर ही कल्प के आरंभ में प्रजापतियों को फिर से उत्पन्न करके सबपर अपना आधिपत्य रखता है ।

सर्वा दिश ऊर्ध्वमधश्च तिर्यक्प्रकाशयन्भ्राजते यद्वनड्वान् ।
एवं स देवो भगवान्वरेण्यो योनिस्वभावानधितिष्ठत्येकः ॥4॥

जैसे पूर्वादि सभी दिशाओं को सूर्य प्रकाशित करता है, उसी तरह ऐश्वर्ययुक्त स्तवनीय यह देव अकेला ही ऊपर, नीचे और आसपास के कोनों को भी प्रकाशित करता हुआ कारणस्वभाव पृथ्वी आदि को नियम में रखता है । ('योनिः स्वभावात्'—ऐसा पाठ लेनेपर 'सर्वभूत का कारणस्वरूप ईश्वर अपने स्वभाव से ही नियम में रखता है'—ऐसा अर्थ होगा) ।

यच्च स्वभावं पचति विश्वयोनिः पाच्यांश्च सर्वान्परिणामयेद्यः ।
सर्वमेतद्विश्वमधितिष्ठत्येको गुणांश्च सर्वान्विनियोजयेद्यः ॥5॥

जो जगत्कारणरूप परमात्मा हर एक वस्तु के स्वभाव को निष्पन्न करता है, और जो परिणमन-योग्य सभी पदार्थों को परिणत करता है, वह अकेला ही इस संपूर्ण विश्व का नियमन करता है । वही सत्त्वादि समस्त गुणों को उनके कार्यों में नियुक्त करता है, वही परब्रह्म है ।

तद्वेदगुह्योपनिषत्सु गूढं तद्ब्रह्मा वेदते ब्रह्मयोनिम् ।
ये पूर्वं देवा ऋषयश्च तद्विदुस्ते तन्मया अमृता वै बभूवुः ॥6॥

वेदों के गोपनीय अंश ऐसे उपनिषदों में उस आत्मा का स्वरूप बताया गया है । वेदों का मूल ब्रह्म है । अतः वेदप्रमाणक आत्मा को हिरण्यगर्भ ब्रह्मा जानते हैं । जो प्राचीन देव और ऋषिलोग उसे जानते थे, वे तो तद्रूप होकर अमर हो गए थे ।

गुणान्वयो यः फलकर्मकर्ता कृतस्य तस्यैव स चोपभोक्ता ।
स विश्वरूपस्त्रिगुणस्त्रिवर्त्मा प्राणाधिपः संचरति स्वकर्मभिः ॥7॥

जो गुणों के साथ जुड़ा हुआ फलप्रद कर्मों का कर्ता होता है और किए हुए कर्मों का फल भोगनेवाला भी होता है, वह विविध रूप धारण करनेवाला, त्रिगुणमय एवं तीन मार्गों से गमन करनेवाला, प्राणों का अधिष्ठाता तथा अपने कर्मानुसार गमन करनेवाला होता है ।

अङ्गुष्ठमात्रो रवितुल्यरूपः सङ्कल्पाहङ्कारसमन्वितो यः ।
बुद्धेर्गुणेनात्मगुणेन चैव आराग्रमात्रो ह्यवरोऽपि दृष्टः ॥8॥

जो अंगुष्ठ जैसे परिमाणवाला, सूर्य के समान रूप (तेज) वाला, संकल्प और अहंकार से युक्त तथा बुद्धि और शरीर के गुणों से भी युक्त है, वह दूसरा जीव भी आरा के अग्रभाग जैसा देखने में (जानने में) आया है ।

वालाग्रशतभागस्य शतधा कल्पितस्य च ।
भागो जीवः स विज्ञेयः स चानन्त्याय कल्पते ॥9॥

बाल का अग्र भाग भी यदि सौ भाग में बाँटा जाए, ऐसा उस जीव को (सूक्ष्म) जानना चाहिए । परन्तु वही बाद में अनन्तरूप हो जाता है ।

नैव स्त्री न पुमानेष न चैवायं नपुंसकः ।
यद्यच्छरीरमादत्ते तेन तेन स युज्यते ॥10॥

यह विज्ञानात्मा स्त्री भी नहीं है, पुरुष भी नहीं है और नपुंसक भी नहीं है । वह जिस-जिस शरीर को धारण करता है, उस-उस शरीर के द्वारा उसका रक्षण किया जाता है अर्थात् उस-उस शरीर के द्वारा वह सुरक्षित रहता है ।

संकल्पनस्पर्शनदृष्टिमोहैर्ग्रासाम्बुवृष्ट्या चात्मविवृद्धिजन्म ।
कर्मानुगान्यनुक्रमेण देही स्थानेषु रूपाण्यभिसम्प्रपद्यते ॥11॥

जिस प्रकार अन्न और जल के सेवन से शरीर की वृद्धि होती है, ठीक उसी प्रकार संकल्प, स्पर्शन, दर्शन और मोह से कर्म उत्पन्न होते हैं । इसके बाद यह शरीरधारी आत्मा अपने कर्मों के अनुसार क्रमशः अलग-अलग प्रकार की योनियों में कर्मानुसार रूप धारण करता है ।

स्थूलानि सूक्ष्माणि बहूनि चैव रूपाणि देही स्वगुणैर्बिभर्ति ।
क्रियागुणैरात्मगुणैश्च तेषां संयोगहेतुरपरोऽपि दृष्टः ॥12॥

जीव पाप-पुण्यरूप अपने गुणों के द्वारा स्थूल, सूक्ष्म आदि अनेक देह धारण करता रहता है ।

बाद में वह शरीरों के कर्मफल और मानसिक संस्कारों के द्वारा देह प्राप्त होने का दूसरा हेतु (देह संयोग का दूसरा हेतु) भी देखा जाता है।

अनाद्यनन्तं कलिलस्य मध्ये विश्वस्य स्रष्टारमनेकरूपम्।
विश्वस्यैकं परिवेष्टितारं ज्ञात्वां देवं मुच्यते सर्वपाशैः ॥13॥

इस अतिगम्भीर संसार के बीच, अनादि-अनन्त विश्व के रचनेवाले अनेकविध विश्व को व्याप्त करनेवाले उस एकमात्र देव को जानकर जीव सभी पाशों से मुक्त हो जाता है।

भावग्राह्यमनीडाख्यं भावाभावकरं शिवम्।
कलासर्गकरं देवं ये विदुस्ते जहुस्तनुम् ॥14॥

इति श्वेताश्वतरोपनिषत्सु पञ्चमोऽध्यायः ॥

भावग्राह्य, अशरीरसंज्ञक, सृष्टि और प्रलय करनेवाले, शिवस्वरूप और कलाओं का निर्माण करनेवाले उस देव को जो पहचान लेते हैं, वे अपने देह के बन्धन को छोड़ देते हैं।

इस प्रकार श्वेताश्वतर उपनिषत् में पाँचवाँ अध्याय पूरा हुआ।

❋

षष्ठोऽध्यायः

स्वभावमेके कवयो वदन्ति कालं तथाऽन्ये परिमुह्यमानाः।
देवस्यैष महिमा तु लोके येनेदं भ्राम्यते ब्रह्मचक्रम् ॥1॥

कुछ विद्वान् स्वभाव को जगत् का कारण बताते हैं, और मोहग्रस्त कुछ लोग काल को कारण बताते हैं। पर यह महिमा तो भगवान् की ही है कि जिसके द्वारा यह ब्रह्मचक्र (संसाररूप ब्रह्मविवर्त) घुमाया जा रहा है।

येनावृतं नित्यमिदं हि सर्वं ज्ञः कालकारो गुणी सर्वविद्यः।
तेनेशितं कर्म विवर्तते ह पृथ्व्यप्तेजोऽनिलखानि चिन्त्यम् ॥2॥

जिसके द्वारा ही यह सब कुछ निश्चित रूप से व्याप्त है, जो ज्ञानस्वरूप और काल का भी कर्ता है, जो निष्पापत्व आदि गुणों से युक्त है, जो सर्वज्ञ है, जिससे प्रेरित होकर ही यह पृथ्वी-जल-तेज-वायु-आकाश का जगत् रूपी कार्य चल रहा है, उसका चिन्तन-मनन करना चाहिए।

तत्कर्म कृत्वा विनिवर्त्य भूयस्तत्तस्य तत्त्वेन समेत्य योगम्।
एकेन द्वाभ्यां त्रिभिरष्टभिर्वा कालेन चैवात्मगुणैश्च सूक्ष्मैः ॥3॥

परमात्मा ने इस सृष्टि का निर्माण करने के बाद इसका पुनर्निरीक्षण किया। उसके बाद जड़ और चेतन को मिलाकर उन्होंने जगत् की रचना की। अर्थात्, एक प्रकृति, दो धर्माधर्म, तीन सत्त्वादि गुण, आठ तत्त्व (पाँच महाभूत और मन-बुद्धि-अहंकार) और काल तथा सूक्ष्म आत्मगुणों से उन्होंने सृष्टि उत्पन्न की।

आरभ्य कर्माणि गुणान्वितानि भावांश्च सर्वान्विनियोजयेद्यः।
तेषामभावे कृतकर्मनाशः कर्मक्षये याति स तत्त्वतोऽन्यः ॥4॥

जो पुरुष सत्त्वादि गुणमय कर्मों का आरंभ करके उन्हें तथा उनके सभी भावों को परमात्मा को

अर्पण कर देता है, तब उनके सम्बन्ध का अभाव हो जाने से उसके पहले किए हुए कर्मों का नाश हो जाता है, और कर्मों का क्षय होने पर वह पृथ्वी आदि तत्त्वों से अलग हो जाता है और वह परमात्मा को प्राप्त हो जाता है।

आदिः स संयोगनिमित्तहेतुः परस्त्रिकालादकलोऽपि दृष्टः।
तं विश्वरूपं भवभूतमीड्यं देवं स्वचित्तस्थमुपास्य पूर्वम् ॥5॥

वह सबका कारण है। शरीर के संयोग के निमित्तभूत अविद्या का हेतु है। वह त्रिकाल से अतीत और कलारहित भी देखा जाता है। अपने अन्तःकरणस्थित सर्वरूप, विश्वरूप, सत्यस्वरूप और स्तवनीय देव की पहले स्तुति कर मनुष्य उसे प्राप्त करता है।

स वृक्षकालाकृतिभिः परोऽन्यो यस्मात्प्रपञ्चः परिवर्ततेऽयम्।
धर्मावहं पापनुदं भगेशं ज्ञात्वात्मस्थममृतं विश्वधाम ॥6॥

वह (परमात्मा) संसाररूप वृक्ष से, उत्पन्न काल से और भौतिक पदार्थों से परे (भिन्न) है। उसी में से यह सात प्रपंच उत्पन्न होते हैं। ऐसे धर्मप्रद, पापनाशक, ऐश्वर्य के नियामक, बुद्धिस्थित, अविनाशी परमात्मा को जानकर मनुष्य संसार में मुक्त होता है।

तमीश्वराणां परमं महेश्वरं तं देवतानां परमं च दैवतम्।
पतिं पतीनां परमं परस्ताद्विदाम देवं भुवनेशमीड्यम् ॥7॥

ईश्वरों के भी परम महान् ईश्वर, देवताओं के परम देव, पतियों के परम पति, अव्यक्त आदि से भी परे, विश्व के अधिपति उस स्तवनीय देव को हम जानते हैं।

न तस्य कार्यं करणं च विद्यते न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते।
पराऽस्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च ॥8॥

उसका न शरीर है, न इन्द्रियाँ; उसके जैसा कोई नहीं है, उससे अधिक भी कोई नहीं है। उसकी तरह-तरह की शक्ति श्रुतियों में कही हुई सुनाई देती है और वह स्वाभाविक ज्ञानक्रिया और बल-क्रिया है।

न तस्य कश्चित्पतिरस्ति लोके न चेशिता नैव च तस्य लिङ्गम्।
स कारणं करणाधिपाधिपो न चास्य कश्चिज्जनिता न चाधिपः ॥9॥

इस लोक में उसका कोई स्वामी नहीं है, उसका कोई शासक नहीं है, उसका कोई चिह्न भी नहीं है, वही सब कारणों का कारण है, वह सब करणों (इन्द्रियों) के स्वामी (जीव) का स्वामी है, उसको कोई उत्पन्न करनेवाला नहीं है और कोई स्वामी भी नहीं है।

यस्तन्तुनाभ इव तन्तुभिः प्रधानजैः स्वभावतो देव एकः स्वमावृणोत्।
स नो दधाद् ब्रह्माप्ययम् ॥10॥

जिस तरह मकड़ी अपने तन्तुओं से अपने को ढँक लेती है, उसी प्रकार उस एक देव ने स्वभाव से प्रधानजनित कार्यों के द्वारा अपने को ढँक लिया है। वह हमें ब्रह्म में एकीभाव प्रदान करे।

एको देवः सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा।
कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च ॥11॥

सभी प्राणियों में गूढरूप से रहा हुआ एक देव है, जो सर्वव्यापी है और सभी प्राणियों का अन्तरात्मा है। वह कर्मों का अधिष्ठाता है, सभी प्राणियों में बसा हुआ है, सबका साक्षी है, सबको चेतना प्रदान करनेवाला शुद्ध और निर्गुण है।

एको वशी निष्क्रियाणां बहूनामेकं बीजं बहुधा यः करोति ।
तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरास्तेषां सुखं शाश्वतं नेतरेषाम् ॥12॥

जो एक (अद्वितीय) स्वतंत्र परमात्मा, बहुत से निष्क्रिय जीवों के एक बीज को अनेकरूप कर देता है। ऐसे उस भीतर में स्थित देव को जो धीर पुरुष देखते हैं, उन्हीं को शाश्वत सुख मिलता है, दूसरों को नहीं मिलता।

नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानामेको बहूनां यो विदधाति कामान् ।
तत्कारणं सांख्ययोगाधिगम्यं ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः ॥13॥

जो नित्यों में भी नित्य और चेतनों में भी चेतन केवल एक अकेला ही होकर सब भोग देनेवाला है और जो सांख्ययोग द्वारा जानने योग्य है, ऐसे सर्व के कारणरूप देव को जानकर मनुष्य सभी बन्धनों से छुटकारा पा लेता है।

न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः ।
तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति ॥14॥

वहाँ न तो सूर्य प्रकाशित होता है, न चाँद-तारे ही प्रकाशित होते हैं। ये बिजलियाँ भी नहीं चमकतीं, तो भला यह अग्नि वहाँ कैसे प्रकाशित हो सकती है ? उस स्वयं प्रकाशित ब्रह्म के पीछे-पीछे ही सब प्रकाशित होता है, उसी के तेज से यह सब-कुछ प्रकाशित होता है।

एको हꣳसो भुवनस्यास्य मध्ये स एवाग्निः सलिले सन्निविष्टः ।
तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय ॥15॥

इस भुवन के बीच जो एक हंस है, वही जल में (पंचमाहुतिभूत देह में) सन्निहित अग्नि के समान है। उसी को जानकर मनुष्य मृत्यु को पार कर सकता है अर्थात् मृत्यु का अतिक्रमण कर उसके आगे निकल जाता है। मोक्षप्राप्ति का इससे अलग कोई अन्य मार्ग है ही नहीं।

स विश्वकृद्विश्वविदात्मयोनिर्ज्ञः कालकालो गुणी सर्ववेद्यः ।
प्रधानक्षेत्रज्ञपतिर्गुणेशः संसारमोक्षस्थितिबन्धहेतुः ॥16॥

वह विश्व का कर्ता है, विश्व का ज्ञाता है, स्वयंभू है, ज्ञाता है, काल का भी काल है, अपहतपाप्मादि गुणों से युक्त है, वह सभी विद्याओं का अधिष्ठान है, वही प्रधान (प्रकृति) और क्षेत्रज्ञ (पुरुष का अध्यक्ष) है, वही गुणनियामक, तथा संसार के मोक्ष, स्थिति और बन्धन का हेतु है।

स तन्मयो ह्यमृत ईशसंस्थो ज्ञः सर्वगो भुवनस्यास्य गोप्ता ।
य ईशेऽस्य जगतो नित्यमेव नान्यो हेतुर्विद्यत ईशनाय ॥17॥

वह तन्मय (ज्योतिर्मय अथवा जगन्मय) है। वह अमरणधर्मा, ईश्वरस्वरूप में अवस्थित, सर्वज्ञ, सर्वव्यापी है, और इस भुवन का रक्षक है। वह सदैव इस सृष्टि का शासन करता है, क्योंकि उसका शासन करने के लिए तो कोई भी समर्थ नहीं है।

यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै ।
तꣳह देवमात्मबुद्धिप्रकाशं मुमुक्षुर्वै शरणमहं प्रपद्ये ॥18॥

सृष्टि के आरम्भ में जो ब्रह्मा को उत्पन्न करता है, और जो उसके लिए वेदों को प्रवृत्त करता है, मैं मोक्षप्राप्ति की अभिलाषा से बुद्धि को प्रकाशित करनेवाले ऐसे देव की शरण में जाता हूँ।

निष्कलं निष्क्रियꣳ शान्तं निरवद्यं निरञ्जनम् ।
अमृतस्य परꣳ सेतुं दग्धेन्धनमिवानलम् ॥19॥

कलाहीन, क्रियाहीन, शान्त, दोषरहित, निर्लेप, अमृतत्व का उत्कृष्ट सेतु, जिसका काष्ठ जल चुका है ऐसे अग्नि सदृश प्रकाशमान उस देव की मैं शरण में जाता हूँ।

यदा चर्मवदाकाशं वेष्टयिष्यन्ति मानवाः ।
तदा देवमविज्ञाय दुःखस्यान्तो भविष्यति ॥20॥

जब मानव सारे आकाश को चमड़े से लपेट लेंगे, तब देव को बिना जाने इनके दुःखों का अन्त होगा। अर्थात् आकाश को चमड़े से मढ़ना जैसा असम्भव है, वैसा ही ब्रह्म को जाने बिना दुःख का अत्यन्ताभाव (मोक्ष) असंभव ही है।

तपःप्रभावाद्देवप्रसादाच्च ब्रह्म ह श्वेताश्वतरोऽथ विद्वान् ।
अत्याश्रमिभ्यः परमं पवित्रं प्रोवाच सम्यगृषिसङ्घजुष्टम् ॥21॥

श्वेताश्वतर ऋषि ने तपःप्रभाव से और भगवत्कृपा से उस प्रसिद्ध ब्रह्म को जाना अर्थात् साक्षात् किया और ऋषिसमुदाय से सेवित इस परमपवित्र ब्रह्मतत्त्व का संन्यासियों को उपदेश दिया।

वेदान्ते परमं गुह्यं पुराकल्पे प्रचोदितम् ।
नाप्रशान्ताय दातव्यं नापुत्राय नाशिष्याय वा पुनः ॥22॥

उपनिषत् में परमगुह्य इस विद्या का उपदेश किया गया था। इसे अशान्त, अपुत्र और जो अपना शिष्य न हो, उसे यह गुह्य ज्ञान नहीं देना चाहिए।

यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ ।
तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः ॥
प्रकाशन्ते महात्मन इति ॥23॥

इति श्वेताश्वतरोपनिषत्सु षष्ठोऽध्यायः ॥

इति कृष्णयजुर्वेदीयश्वेताश्वतरोपनिषत्संपूर्णा ॥
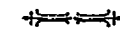
परमेश्वर में अत्यन्त भक्तिवाले, और ईश्वर की भाँति ही गुरु में जिसकी भक्ति है, उस महात्मा से कहे जाने पर ये तत्त्व प्रकाशित हो जाते हैं, प्रकाशित हो जाते हैं।

इस प्रकार श्वेताश्वतर उपनिषद् में छठा अध्याय पूरा हुआ।

शान्तिपाठः

ॐ सह नाववतु। सह नौ........मा विद्विषावहै। (पूर्ववत्)
ॐ शान्तिः शान्ति शान्तिः ॥

(15) हंसोपनिषत्

(उपनिषत्परिचय)

इस उपनिषत् को कुछ लोग अथर्ववेद से सम्बद्ध मानते हैं, तो कुछ विद्वान् इसे शुक्ल यजुर्वेद से सम्बद्ध मानते हैं। यह उपनिषद् गौतम और सनत्सुजात के संवाद के रूप में है। इसमें हंसमन्त्र का रहस्य, ध्यान, जपादि की विधि आदि विषय हैं। इसके ऋषि हंस, देवता परमहंस, 'हम्' बीज, 'स' शक्ति और 'सोऽहम्' कीलक बताया गया है। यह बड़ा ही निगूढ (रहस्यमय) ज्ञान है। सबसे पहले यह उपनिषत् शिवजी ने पार्वतीजी को सुनाया था। शान्त, दान्त और गुरुभक्त मनुष्य ही इसे सुनने का अधिकारी माना जाता है। इसमें कहा है कि जिस प्रकार काष्ठ में अग्नि और तिलों में तेल रहता है, उसी प्रकार सभी शरीरों में जीवात्मा रहता है। उस आत्मा की प्राप्ति के लिए षट्चक्रभेदन की साधना करनी पड़ती है। अष्टदल कमल में उसकी वृत्तियों का साम्य बताया है और बाद में ब्रह्म का स्फटिक मणि जैसा स्वरूप बताया गया है, वही ब्रह्म 'हंस' है। इस पर ध्यान करने से 'नाद' उत्पन्न होता है। इसकी अनेक रूपों में अनुभूति होती है, ऐसा कहा गया है। यही आत्मसाक्षात्कार की परमावस्था है। यही समाधि है।

शान्तिपाठः

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं...... पूर्णमेवावशिष्यते ॥ (पूर्ववत्)
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

इसका हिन्दी रूपान्तर पूर्व में (जाबालोपनिषद् में) द्रष्टव्य है।

गौतम उवाच—
भगवन् सर्वधर्मज्ञ सर्वशास्त्रविशारद।
ब्रह्मविद्याप्रबोधो हि ये(के)नोपायेन जायते ॥1॥

ऋषि गौतम ने सनत्कुमार से पूछा—'हे भगवन्! हे सर्व धर्मों को जानने वाले! हे सभी शास्त्रों में पारंगत! यह ब्रह्मविद्या जिस किसी उपाय से जानी जा सकती हो, यह बताने की आप कृपा करें।'

सनत्कुमार उवाच—
विचार्य सर्वधर्मेषु मतं ज्ञात्वा पिनाकिनः।
पार्वत्या कथितं तत्त्वं शृणु गौतम तन्मम ॥2॥

तब सनत्कुमार ने उत्तर दिया कि—"हे गौतम! पिनाकपाणि महादेव ने सभी उपनिषद्धर्मों में दिए गए मत का ठीक तौर से विचार करके पार्वतीजी से जो कुछ पहले कहा था, वही तुम मुझसे सुनो।

अनाख्येयमिदं गुह्यं योगिने कोशसन्निभम्।
हंसस्याकृतिविस्तारं भुक्तिमुक्तिफलप्रदम् ॥3॥

यह गूढ रहस्यमय ज्ञान अनधिकारी को नहीं देना चाहिए। योगियों के लिए तो यह ज्ञान एक खजाने जैसा ही है। यह ज्ञान हंस की (आत्मा की) आकृति (स्वरूप) का विस्तार (वर्णन) करने वाला है, तथा भोग और मोक्षरूपी फल देनेवाला है।

अथ हंसपरमहंसनिर्णयं व्याख्यास्यामः।
ब्रह्मचारिणे शान्ताय दान्ताय गुरुभक्ताय। हंसहंसेति सदा ध्यायन् ॥4॥

जो गुरुभक्त है और सदैव जो हंस (सोऽहम् सोऽहम्) का जाप करनेवाला है, जो ब्रह्मचारी जितेन्द्रिय तथा शान्त मनःस्थिति वाला है, उसी के समक्ष हंसपरमहंस का रहस्य प्रकट करना चाहिए। (ऐसा मनुष्य ही ज्ञान का अधिकारी है, दूसरा नहीं)।

सर्वेषु देहेषु व्याप्तो वर्तते। यथा ह्यग्निः काष्ठेषु तिलेषु तैलमिव। तं विदित्वा मृत्युमत्येति ॥5॥

जैसे तिल में तेल और लकड़ी में अग्नि व्याप्त होकर रहते हैं, उसी प्रकार यह जीव—हंस भी समस्त शरीर को व्याप्त होकर रहता है। उस हंस को (सदा हंस हंस का जाप करने वाले जीव को) जानकर मनुष्य मृत्यु को पार कर जाता है।

गुदमवष्टभ्याधाराद्वायुमुत्थाप्य स्वाधिष्ठानं त्रिः प्रदक्षिणीकृत्य मणिपूरकं गत्वा अनाहतमतिक्रम्य विशुद्धौ प्राणान्निरुध्याज्ञामनुध्यायन् ब्रह्मरन्ध्रं ध्यायन् त्रिमात्रोऽहमित्येवं सर्वदा पश्यत्यनाकारश्च भवति ॥6॥

इस हंस ज्ञान की साधना सर्वप्रथम गुदा को खींचकर, आधारचक्र से वायु को ऊपर उठाकर स्वाधिष्ठान चक्र की तीन प्रदक्षिणाएँ करनी चाहिए। इसके बाद, मणिपूरचक्र में प्रवेश करके, अनाहत चक्र को लाँघकर बाद में विशुद्धचक्र में प्राणों को निरुद्ध करके आज्ञाचक्र का ध्यान करना चाहिए। और उसके बाद फिर ब्रह्मरन्ध्र का ध्यान करना चाहिए। 'मैं त्रिमात्र ब्रह्म हूँ'—ऐसा ध्यान करते हुए योगी हमेशा निराकार ब्रह्म को देखता हुआ स्वयं अनाकार जैसा हो जाता है। अर्थात् तुरीयावस्था को प्राप्त करता है।

एषोऽसौ परमहंसो भानुकोटिप्रतीकाशो येनेदं व्याप्तम् ॥7॥

ऐसा यह परमहंस करोड़ों सूर्यों के समान प्रकाशमान होता है और उससे यह सम्पूर्ण जगत् व्याप्त (घिरा हुआ) है।

तस्याष्टधा वृत्तिर्भवति। पूर्वदले पुण्ये मतिः। आग्नेये निद्रालस्यादयो भवन्ति। याम्ये क्रौर्ये मतिः। नैर्ऋते पापे मनीषा। वारुण्यां क्रीडा। वायव्यां गमनादौ बुद्धिः। सौम्ये रतिप्रीतिः। ईशान्ये द्रव्यदानम्। मध्ये वैराग्यम्। केसरे जाग्रदवस्था। कर्णिकायां स्वप्नम्। लिङ्गे सुषुप्तिः। पद्मत्यागे तुरीयम्। यदा हंसे नादो विलीनो भवति तत्तुरीयातीतम् ॥8॥

जीव भाव को प्राप्त हुए उस हंस की आठ प्रकार की वृत्तियाँ होती हैं। हृदयस्थ अष्टदल कमल की विविध दिशाओं में विविध प्रकार की वृत्तियाँ होती हैं, जैसे पूर्वदल में पुण्यमति, आग्नेय दल में निद्रा-आलस्यादि, दक्षिण दल में क्रूरमति, नैर्ऋत्य दल में पापबुद्धि, पश्चिम दल में क्रीडावृत्ति, वायव्यदल में गमन करने आदि की मति, उत्तर दल में स्नेह-प्रीति (रमणप्रीति), ईशान दल में द्रव्यदान

की वृत्ति, मध्यदल में वैराग्यवृत्ति होती है उस अष्टदल कमल के केसरतन्तु में जाग्रदवस्था, कर्णिका में स्वप्नावस्था तथा लिंग में सुषुप्तावस्था होती है। जब यह हंस (जीव) उस पद्म को छोड़ देता है, तब वह तुरीय अवस्था को प्राप्त करता है। जब नाद उस हंस में विलीन हो जाता है, तब तुरीयातीत स्थिति से सम्पन्न हो जाता है।

अथो नाद आधाराद् ब्रह्मरन्ध्रपर्यन्तं शुद्धस्फटिकसंकाशः। स वै ब्रह्म परमात्मेत्युच्यते ॥9॥

जो नाद इस प्रकार मूलाधारचक्र से लेकर ब्रह्मरन्ध्र तक विद्यमान रहता है, वह विशुद्ध स्फटिकमणि जैसा ब्रह्म है। उसी को परमात्मा कहा जाता है।

अथ हंस ऋषिः। अव्यक्तगायत्री छन्दः। परमहंसो देवता। हमिति बीजम्। स इति शक्तिः। सोऽहमिति कीलकम् ॥10॥

इस तरह इस अजपामन्त्र का ऋषि हंस (प्रत्यगात्मा) है, अव्यक्तगायत्री इसका छन्द है, और देवता परमहंस (परमात्मा) है। 'हं' जीव और 'स' शक्ति है। 'सोऽहम्' यह कीलक है।

षट्संख्यया अहोरात्रयोरेकविंशतिसहस्राणि षट्शतान्यधिकानि भवन्ति। सूर्याय सोमाय निरञ्जनाय निराभासायातनुसूक्ष्म प्रचोदयादिति ॥11॥

इस प्रकार इन छः संख्यकों द्वारा एक अहोरात्र (24 घण्टों) में इक्कीस हजार छः सौ श्वास लिए जाते हैं। अथवा गणेश आदि छः देवताओं द्वारा दिन-रात्रि में इक्कीस हजार छः सौ बार 'सोऽहं' मंत्र का जाप किया जाता है। यथा—'......सूर्याय सोमाय निरंजनाय निराभासायातनुसूक्ष्मप्रचोदयात्'।

अग्निषोमाभ्यां वौषट् हृदयाद्यङ्गन्यासकरन्यासौ भवतः ॥12॥

मंत्र के साथ 'अग्निषोमाभ्यां वौषट्'—यह जोड़कर पूरे मंत्र का जाप करते हुए हृदय आदि अङ्गन्यास और करन्यास करना चाहिए।

एवं कृत्वा हृदयेऽष्टदले हंसमात्मानं ध्यायेत् ॥13॥

ऐसा करके हृदय में स्थित अष्टदल कमल में हंस का (परमात्मा का) ध्यान करना चाहिए।

अग्निषोमौ पक्षावोंकारः शिर उकारो बिन्दुस्त्रिणेत्रं मुखं रुद्रो रुद्राणी चरणौ द्विविधं कण्ठतः कुर्यादित्युन्मना अजपोपसंहार इत्यभिधीयते ॥14॥

अग्नि और सोम इस हंस के दो पंख हैं, ओंकार इसका सिर है, बिन्दुसहित 'उ'कार हंस का तीसरा नेत्र है, रुद्र उसका मुख है, रुद्राणी उसके चरण हैं। अपने कण्ठ से दो प्रकार का नाद (सगुण-निर्गुण प्रकार के) करते हुए ऐसे हंसरूप परमात्मा का ध्यान करना चाहिए। इस तरह नाद द्वारा ध्यान करने पर साधक की उन्मनी अवस्था हो जाती है। इस स्थिति को 'अजपोपसंहार' कहा जाता है।

एतं हंसवशात् तस्मान्मनो विचार्यते ॥15॥

सभी भाव हंस के वश में आ जाते हैं, इसलिए साधक अपने मन में अवस्थित उस हंस के विषय में चिन्तन करता है।

अस्यैव जपकोट्या नादमनुभवति। स च दशविधो जायते। चिणीति प्रथमः। चिञ्चिणीति द्वितीयः। घण्टानादस्तृतीयः। शङ्खनादश्चतुर्थः। पञ्चमस्तन्त्रीनादः। षष्ठस्तालनादः। सप्तमो वेणुनादः। अष्टमो मृदङ्गनादः। नवमो भेरीनादः। दशमो मेघनादः ॥16॥

इस 'सोऽहम्' मन्त्र के दस कोटि जाप कर लेने पर साधक नाद का अनुभव करता है। वह नाद दस प्रकार का उत्पन्न होता है—पहला चिणी, दूसरा चिञ्चिणी, तीसरा घण्टानाद, चौथा शंखनाद, पाँचवाँ वीणानाद, छठा तालनाद, सातवाँ वेणुनाद, आठवाँ मृदंगनाद, नवाँ भेरीनाद और दसवाँ मेघनाद।

नवमं परित्यज्य दशममेवाभ्यसेत् ॥17॥

उनमें से नवम को छोड़कर दशम का ही अभ्यास करना चाहिए।

प्रथमे चिञ्चिणीगात्रं द्वितीये गात्रभञ्जनम्।
तृतीये भेदनं याति चतुर्थे कम्पते शिरः ॥18॥

इन नादों के प्रभाव से शरीर में तरह-तरह की अनुभूतियाँ होने लगती हैं। प्रथम नाद से शरीर में चिन्-चिन् अर्थात् शरीर में चिनचिनाहट पैदा हो जाती है। दूसरे नाद के प्रभाव से गात्रभंजन होता है अर्थात् शरीर टूटने लगता है और अवयवों में अकड़न पैदा हो जाती है। तीसरे नाद के प्रभाव से हृदयपद्म विकास को प्राप्त होता है (कहीं 'स्वेदनं याति' या 'खेदनं याति'—ऐसे भी पाठान्तर मिलते हैं; तदनुसार तीसरे नाद से 'पसीना आ जाता है'—ऐसा अर्थ होता है) और चौथे प्रकार के नाद के प्रभाव से सिर काँपने लग जाता है।

पञ्चमे स्रवते(न्ति) तालु षष्ठेऽमृतनिषेवणम्।
सप्तमे गूढविज्ञानं परावाचा(चां) तथाष्टमे ॥19॥

पाँचवें नाद से तालु में स्राव उत्पन्न होता है, छठे नाद से अमृत की वर्षा होने लगती है। सातवें नाद से निगूढ विज्ञान की प्राप्ति होती है और आठवें नाद में परावाणी प्राप्त होती है।

अदृश्यं नवमे देहं दिव्यं चक्षुस्तथामलम्।
दशमं च परं ब्रह्म भवेद् ब्रह्मात्मसन्निधौ ॥20॥

नवें नाद से शरीर को अन्तर्धान करने की (शरीर को अदृश्य करने की) तथा निर्मल (विशुद्ध) दृष्टि की विद्या प्राप्त होती है। और दसवें नाद से परब्रह्म का साक्षात्कार हो जाता है (ब्रह्म उसकी सन्निधि में आ जाता है)।

तस्मिन्मनो विलीयते मनसि संकल्पविकल्पे दग्धे पुण्यपापे सदाशिवः (सदाशिवेशः) शक्त्यात्मा सर्वत्रावस्थितः स्वयंज्योतिः शुद्धो बुद्धो नित्यो निरञ्जनः शान्तः प्रकाशत इति वेदानुवचनं भवतीत्युपनिषत् ॥21॥

इति हंसोपनिषत् समाप्ता।
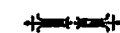
जब मन उस हंसरूप परमात्मा में विलीन हो जाता है, तब सभी संकल्प-विकल्प मन में ही विलीन हो चुके होते हैं। तब सभी पाप और पुण्य जल जाते हैं। तब वह हंस सदाशिवस्वरूप, शक्त्यात्मा (चैतन्यस्वरूप), सर्वत्र व्यापक, स्वयंप्रकाश, निर्मल, ज्ञानस्वरूप, नित्य, निष्पाप और शान्त होकर प्रकाशित होता है—ऐसा वेद कहते हैं। यहाँ उपनिषत् पूर्ण होती है।

यहाँ हंसोपनिषत् पूरी हुई।

शान्तिपाठः

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं। ...पूर्णमेवावशिष्यते। (पूर्ववत्)
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

❈

(16) आरुण्युपनिषत्

(उपनिषत्परिचय)

यह उपनिषद् सामवेद से सम्बद्ध मानी जाती है। कुछ लोग इसे 'आरुणिकोपनिषत्' भी कहते हैं। नौ कण्डिकाओं वाली इस उपनिषत् में संन्यासदीक्षा के सूत्र समझाए गए हैं। ब्रह्माजी ने आरुणि को यह उपदेश दिया है। संन्यासप्रवेश के लिए पहले के तीनों आश्रमवाले अधिकारी माने गए हैं। यज्ञ-यज्ञोपवीतादि कर्मकांडप्रतीकों को छोड़ने का अच्छा अर्थ यहाँ समझाया गया है। संन्यासी यज्ञत्यागी नहीं, यज्ञस्वरूप होता है। इसमें अनेक मार्मिक सूत्र ध्यानार्ह हैं। इन सूत्रों को आन्तरिक जीवन में उतारने से संन्यास का सम्यक् धारण होता है। संन्यासधारण करने की विधि भी इसमें निर्दिष्ट है।

शान्तिपाठः

ॐ आप्यायन्तु ममाङ्गानि वाक्प्राणश्चक्षुः श्रोत्रमथो बलमिन्द्रियाणि च सर्वाणि सर्वं ब्रह्मोपनिषदं माहं ब्रह्म निराकुर्यां मा मा ब्रह्म निराकरोद-निराकरणं मेऽस्त्वनिराकरणं मेऽस्तु तदात्मनि निरते य उपनिषत्सु धर्मास्ते मयि सन्तु ते मयि सन्तु ॥
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

हे परब्रह्म परमात्मा! हमारे सभी अंग—वाणी, प्राण, चक्षु, श्रोत्र और सभी इन्द्रियाँ तथा बल परिपुष्ट हों। यह जो सर्वरूप उपनिषत्प्रतिपादित ब्रह्म है, उस ब्रह्म की अवगणना (तिरस्कार) हम न करें और ब्रह्म (भी) हमारा परित्याग न करें। उस (ब्रह्म) के साथ हमारा अटूट सम्बन्ध हो। उपनिषदों में प्रतिपादित जो धर्म हैं, वे सब परमात्मा में रत हममें प्रविष्ट हों, वे सभी धर्म हमारे में हों।

हे परमात्मा! (हमारे) त्रिविध तापों की शान्ति हो।

ॐ आरुणिः प्रजापतेर्लोकं जगाम। तं गत्वोवाच। केन भगवन् कर्माण्यशेषतो विसृजानीति। तं होवाच प्रजापतिः। तव पुत्रान् भ्रातॄन् बन्ध्वादीञ्छिखां यज्ञोपवीतं यागं सूत्रं स्वाध्यायं च भूर्लोकभुवर्लोक-स्वर्लोकमहर्लोकजनोलोकतपोलोकसत्यलोकं च अतलतलातलवितल-सुतलरसातलमहातलपातालं ब्रह्माण्डं च विसृजेत्। दण्डमाच्छादनं चैव कौपीनं च परिग्रहेत्। शेषं विसृजेदिति ॥1॥

एक बार आरुणि प्रजापति के लोक में गए। वहाँ जाकर उनसे पूछा—"हे भगवन्! किस तरह से मैं सभी कर्मों का त्याग कर सकता हूँ?" तब उनसे प्रजापति ने कहा—"हे ऋषि! तुम्हें अपने पुत्रों, भाइयों, बान्धवों को तथा शिखा, यज्ञोपवीत, यज्ञ, सूत्र और स्वाध्याय को एवं भूर्लोक, भुवर्लोक, स्वर्लोक, महर्लोक, जनलोक, तपोलोक तथा सत्यलोक को और भी अतल-तलातल-वितल-सुतल-

रसातल-महातल-पाताल को और ब्रह्मांड को छोड़ देना चाहिए, और दण्ड, शरीर ढँकने का वस्त्र और कौपीन को धारण करना चाहिए बाकी सब कुछ छोड़ ही देना चाहिए।

गृहस्थो ब्रह्मचारी वा वानप्रस्थो वा उपवीतं भूमावप्सु वा विसृजेत्। अलौकिकाग्नीनुदराग्नौ समारोपयेत्। गायत्रीं च स्ववाच्यग्नौ समारोपयेत्। कुटिचरो ब्रह्मचारी कुटुम्बं विसृजेत्। पात्रं विसृजेत्। पवित्रं विसृजेत्। दण्डाल्लोकाग्नीन् विसृजेत् इति होवाच। अत ऊर्ध्वममन्त्रवदाचरेत्। ऊर्ध्वगमनं विसृजेत्। औषधवदशनमाचरेत्। त्रिसन्ध्यादौ स्नानमाचरेत्। सन्धिं समाधावात्मन्याचरेत्। सर्वेषु वेदेष्वारण्यकमावर्तयेदुपनिषदमावर्तयेदिति ॥2॥

गृहस्थ, वानप्रस्थ अथवा ब्रह्मचारी सभी को संन्यास लेने के लिए अपने उपवीत (जनेऊ) को धरती पर या पानी में छोड़ देना चाहिए। और स्व-स्वाश्रमोचित अलौकिक अग्नियों को अपने उदराग्नि में आरोपित कर देना चाहिए। गायत्री को अपनी वाणीरूपी अग्नि में समारोपित कर देना चाहिए। कुटीर में बसनेवाले ब्रह्मचारी को अपना परिवार छोड़ देना चाहिए। पात्र को छोड़ देना चाहिए। पवित्रा (कुशा) को भी छोड़ देना चाहिए। दण्ड और लौकिक अग्नि को भी उसे छोड़ना चाहिए—ऐसा ब्रह्माजी ने आरुणि से कहा। उन्होंने आगे भी कहा—उसे मंत्रहीन की तरह आचरण करना चाहिए। स्वर्गादि ऊर्ध्वलोकों में जाने की उसे इच्छा नहीं करनी चाहिए। औषधि की भाँति अन्न ग्रहण करना चाहिए। उसे त्रिकाल स्नानसन्ध्या करनी चाहिए। सन्ध्याकाल में समाधिस्थ होकर परब्रह्म का अनुसन्धान करना चाहिए। उसे सभी वेदों में आरण्यक की आवृत्ति करनी चाहिए अर्थात् अधीत का चिन्तन-मनन करना चाहिए तथा उपनिषदों का बार-बार अध्ययन करना चाहिए।

खल्वहं ब्रह्मसूत्रं, सूचनात् सूत्रं, ब्रह्मसूत्रमहमेव विद्वांस्त्रिवृत्सूत्रं त्यजेद् विद्वान् य एवं वेद संन्यस्तं मया संन्यस्तं मया संन्यस्तं मयेति त्रिरुक्त्वाऽभयं सर्वभूतेभ्यो मत्तः सर्वं प्रवर्तते। सखा मा गोपायोजः सखायोऽसीन्द्रस्य वज्रोऽसि वार्त्रघ्नः शर्म मे भव यत्पापं तन्निवारयेति। अनेन मन्त्रेण कृतं वैष्णवं दण्डं कौपीनं परिग्रहेत्। औषधवदशनं प्राश्नीयाद्यथालाभमश्नीयात्। ब्रह्मचर्यमहिंसां चापरिग्रहं च सत्यं च यत्नेन हे रक्षतो हे रक्षतो हे रक्षत इति ॥3॥

'अवश्य ही ब्रह्मतत्त्वबोधक ब्रह्मसूत्र मैं ही हूँ'—ऐसा जानकर त्रिवृत्सूत्र का भी त्याग कर देना चाहिए। ऐसा जाननेवाला विद्वान् 'मया संन्यस्तम्'—मैंने छोड़ा है, मैंने छोड़ा है, मैंने छोड़ा है—ऐसा तीन बार कहे तथा उसके बाद—'अभयं सर्वभूतेभ्यो मत्तः सर्वं प्रवर्तते' अर्थात् 'मुझसे सभी प्राणियों के लिए अभय ही है।'—इत्यादि मंत्र को पढ़कर, बाद में—'सखायो मा गोपायो०' अर्थात् "हे दण्ड! तुम मेरे मित्र हो, मेरे तेज की रक्षा करो। तुम मेरे मित्र और तुम्हीं वृत्रासुर का विनाश करने वाले देवराज इन्द्र के वज्र हो। हे वज्र! तुम हमें सुख प्राप्त कराओ तथा हमें संन्यास धर्म से पथभ्रष्ट कराने वाला जो कोई भी पाप हो, उसका निवारण करो।"—ऐसा कहते हुए अभिमंत्रित बाँस का दण्ड तथा कौपीन धारण करना चाहिए। औषधि की तरह ही भोजन ग्रहण करे। जो कुछ भी यदृच्छया मिल जाए, उसे अल्पमात्रा में औषधि समझकर ही खाना चाहिए। हे आरुणि! संन्यास धर्म को ग्रहण करने के उपरान्त ब्रह्मचर्य, अहिंसा, अपरिग्रह, सत्य आदि का भी उसे निष्ठापूर्वक पालन करना चाहिए। हे वत्स! संन्यास के उन सभी अनुष्ठानों की प्रयत्नपूर्वक रक्षा करो, रक्षा करो, रक्षा करो।

अथातः परमहंसपरिव्राजकानामासनशयनादिकं भूमौ ब्रह्मचारिणां मृत्पात्रं वा अलाबुपात्रं दारुपात्रं वा। कामक्रोधहर्षलोभमोहदम्भदर्पेच्छासूयाममत्वाहङ्कारादीनपि परित्यजेत्। वर्षासु ध्रुवशीलोऽष्टौ मासानेकाकी यतिश्चरेद्, द्वावेवाचरेत् द्वावेवाचरेत् इति ॥4॥

अब उन परमहंस परिव्राजकों के आसन-शयन के बारे में ब्रह्माजी ने फिर से कहा—'इन ब्रह्मभाव को प्राप्त परमहंस परिव्राजकों के लिए पृथ्वी पर ही आसन तथा शयन करने का नियम है। मिट्टी के पात्र को या फिर तुम्बी या लकड़ी के कमण्डलु को वह अपने पास रखे। संन्यासियों को काम, क्रोध, हर्ष, शोक, रोष, लोभ, मोह, दम्भ, दर्प, इच्छा, असूया, ममत्व, अहंकार आदि को भी छोड़ देना चाहिए। वर्षा ऋतु में चार महीनों तक एक ही स्थान पर रहना चाहिए और बाकी के आठ महीनों में उसे अकेला ही यति होकर विचरण करना चाहिए। अथवा कम-से-कम दो मास तक एक स्थान पर अकेला रहना चाहिए।

स खलु एवं यो विद्वान् सोपनयनादूर्ध्वमेतानि प्राग्वा त्यजेत्। पितरं पुत्रमग्निमुपवीतं कर्मकाण्डं चान्यदपीह ॥5॥

संन्यास के सभी नियमों की संपूर्ण जानकारी रखनेवाले विद्वान् को संन्यासवांछु होने पर यज्ञोपवीत धारण करने के बाद या पहले भी ये सब छोड़ देने चाहिए। पिता, पुत्र, अग्नि, यज्ञोपवीत आदि कर्मकाण्ड या अन्य भी जो कुछ सत्सम्बद्ध हो, उसे छोड़ देना चाहिए।

यतयो भिक्षार्थं ग्रामं प्रविशन्ति पाणिपात्रम्, उदरपात्रं वा ॥6॥

संन्यासधर्म ग्रहण करनेवाले को अपने हाथों को ही या अपने पेट को ही पात्र के रूप में उपयोग करके भिक्षा के लिए गाँव में प्रवेश करना चाहिए।

ओं हि ओं हि ओं हीत्येतदुपनिषदं विन्यसेत्। विद्वान् य एवं वेद ॥7॥

पहले 'ओम् हि'—इस उपनिषद् मंत्र का तीन बार उच्चारण करके उसको गाँव में प्रवेश करना चाहिए।

पलाशं बैल्वमौदुम्बरं वा दण्डं मौञ्जीं मेखलां यज्ञोपवीतं च त्यक्त्वा शूरो य एवं वेद ॥8॥

पलाश, बेल, पीपल या गूलर में से किसी एक का दण्ड, मुंज और मेखला धारण करके और यज्ञोपवीत को छोड़कर जो इस उपनिषद् को भलीभाँति जान लेता है, वही शूरवीर है।

तद्विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः। दिवीव चक्षुराततम् ॥9॥

जो परमात्मा आकाश में प्रकाशमान सूर्यमण्डल की तरह परम व्योम में चिन्मय तेज से सर्वव्याप्त है, उस विष्णु के परमपद को विद्वान् लोग सर्वदा देखा ही करते हैं।

तद्विप्रासो विपन्यवो जागृवांसः समिन्धते। विष्णोर्यत् परमं पदमिति। एवं निर्वाणानुशासनं वेदानुशासनम्। इत्युपनिषत् ॥10॥

इति आरुण्युपनिषत्समाप्ता।
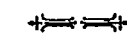
ऐसे भगवान् विष्णु के उस परमधाम का विद्वान् उपासक, जो साधना में लगे रहनेवाले हैं, वे निष्काम ब्राह्मण वहाँ पहुँचकर उस परमधाम को प्रदीप्त करते रहते हैं। वह विष्णु का परमधाम है। ऐसे यह निर्वाण का अनुशासन है। वेद का अनुशासन है। उपनिषदत् पूर्ण हुई।

यहाँ आरुण्युपनिषत् पूरी हुई।

शान्तिपाठः

ॐ आप्याययन्तु ममाङ्गानि........ते मयि सन्तु। (पूर्ववत्)
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

(17) गर्भोपनिषत्

(उपनिषत्परिचय)

इस कृष्णयजुर्वेदीय उपनिषद् में शरीर की पांचभौतिकता आदि का वर्णन किया गया है। और साथ ही साथ पूर्व कर्मों के अनुसार माता के गर्भ में आए हुए जीवात्मा की दशा का वर्णन बड़े मार्मिक ढंग से किया गया है। गर्भ में जीव भयंकर दुःख से पीड़ित होकर जो प्रार्थना करता है, वह प्रार्थना बड़ी संवेदनात्मक है। प्रवर्तमान काल की महिलाएँ यदि भ्रूणहत्या करवाते समय भ्रूण की पीड़ा का इलेक्ट्रोनिक फिल्म से वह दृश्य देखें तो अवश्य ही वे थर्रा उठेंगी। इसका प्रमाण है कि बहुत-सी विदेशी महिलाएँ ऐसी फिल्में देखकर बेहोश-सी हो गयी थीं।

शान्तिपाठः

ॐ सह नाववतु। सह नौ.........मा विद्विषावहै। (पूर्ववत्)
ॐ शान्तिः शान्ति शान्तिः ॥

इसका हिन्दी रूपान्तर पूर्व में (ब्रह्मोपनिषद् में) द्रष्टव्य है।

पञ्चात्मकं पञ्चसु वर्तमानं षडाश्रयं षड्गुणयोगयुक्तम्।
तं सप्तधातुं (द्वि)त्रिमलं त्रियोनिं चतुर्विधाहारमयं शरीरम् ॥1॥

यह शरीर पंचभूतात्मक है, पाँच इन्द्रियों में रहा करता है, छः रसों का आश्रय है, और छः गुणों के योग से युक्त है। वह सात धातुवाला है, (दो) तीन प्रकार के मलोंवाला, तीन प्रकार की योनिवाला और चार प्रकार के आहार से युक्त है।

पञ्चात्मकमिति कस्मात्? पृथिव्यप्तेजोवाय्वाकाशमिति। अस्मिन् पञ्चात्मके शरीरे का पृथिवी का आपः किं तेजः को वायुः किमाकाशमिति। अस्मिन् पञ्चात्मके शरीरे यत्कठिनं सा पृथिवी, यद् द्रवं तदापः, यदुष्णं तत्तेजः, यत् सञ्चरति स वायुः, यत् सुषिरं तदाकाशमित्युच्यते ॥2॥

इसे पञ्चात्मक क्यों कहा गया है? क्योंकि पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश—ये पाँच तत्त्व हैं। तो इस पञ्चात्मक शरीर में पृथ्वी कौन सी है? जल कौन सा है? तेज कौन सा है? वायु कौन सा है? और आकाश कौन सा है? तो इस पञ्चात्मक शरीर में जो कठिन भाग है वह पृथ्वी है, जो द्रव (प्रवाही) है वह जल है, जो उष्ण (गरम) है वह तेज है, जो परिभ्रमण करता है वह वायु है और जो शून्य (खाली) है वह आकाश है—ऐसा कहा जाता है।

तत्र पृथिवी धारणे आपः पिण्डीकरणे तेजो रूपदर्शने वायुर्गमने आकाशमवकाशप्रदाने ॥3॥

इसमें से पृथ्वी का कार्य शरीर को धारण करना है, जल का कार्य उसे संयुक्त रखने का है, तेज का कार्य उसे प्रकाश देना है, वायु का कार्य उसमें गति प्रदान करना है और आकाश का कार्य उसे अवकाश देने का है। ('तेजोरूप दर्शने' के बदले कहीं-कहीं 'तेज: प्रकाशने' ऐसा पाठ भी मिलता है, पर दोनों के अर्थ में कुछ खास अन्तर नहीं है)।

पृथक् चक्षुःश्रोत्रे चक्षुषी रूपे जिह्वोपस्थश्चानन्दोऽपाने चोत्सर्गो बुद्ध्या बुध्यति मनसा सङ्कल्पयति वाचा वदति ॥4॥

पञ्चात्मक शरीर के चक्षु आदि अवयव भी रूप आदि कर्म में पृथक् (अलग) निर्दिष्ट किए जाते हैं। श्रोत्र शब्द में और चक्षु रूप में विनियुक्त है। इसी प्रकार जिह्वा रसास्वाद में नियोजित है। (यहाँ कहा गया केवल श्रोत्र, चक्षु और जिह्वा का ग्रहण त्वक् और घ्राणेन्द्रिय को भी उपलक्षित कर देता है, ऐसा समझना चाहिए)। उपस्थ आनन्द है और अपान में उत्सर्ग कर्म होता है। मनुष्य बुद्धि से जानता है, मन से संकल्प करता है और वाणी से बोलता है।

षडाश्रयमिति कस्मात्? मधुराम्ललवणतिक्तकटुकषायरसान् विन्दत इति ॥5॥

यह शरीर 'षडाश्रय' है, ऐसा क्यों कहा गया है? (उत्तर यह है कि) यह शरीर मीठा, खारा, खट्टा, तीखा, कडुआ और कसेला—ऐसे छ: रसों पर आधारित है।

षड्जर्षभगान्धारमध्यमपञ्चमधैवतनिषादाश्चेतीष्टानिष्टशब्दसंज्ञाः प्रति-विधाः भवन्ति ॥6॥

षड्ज, ऋषभ, गान्धार, मध्यम, पंचम, धैवत और निषाद एवं इष्ट और अनिष्ट ऐसे बहुत प्रकार के शब्द होते हैं, शब्द के गुण हैं। (कहीं-कहीं 'प्रतिविधा:' के बदले 'प्रणिधानाद्दशविधा:'—ऐसा पाठ भी है जिसके अनुसार अर्थ होगा—सात स्वर+दो इष्ट-अनिष्ट+प्रणिधान=इस प्रकार कुल मिलाकर दस प्रकार के स्वरगुण होते हैं)।

शुक्लो रक्तः कृष्णो धूम्रः पीतः कपिलः पाण्डरः सप्त धातव इति कस्मात्? यदा देवदत्तस्य द्रव्यविषया जायन्ते परस्पररसोगुणत्वात्। षड्विधो रसः। रसाच्छोणितं शोणितान्मांसं मांसान्मेदो मेदसोऽस्थीनि अस्थिभ्यो मज्जा मज्जायाः शुक्लं शुक्लशोणितसंयोगादावर्तते गर्भो हृदि व्यवस्थां नयति हृदयेऽभ्यन्तराऽग्निः अग्निस्थाने पित्तं पित्तस्थाने वायुः वायुस्थाने हृदयं प्राजापत्य ऋतुकाले सम्प्रयोगतः ॥7॥

सफेद, लाल, काला, भूरा, पीला, कपिल और पाण्डर—ये सात धातु के गुण हैं। परन्तु सात धातुएँ कही हैं वह कैसे? (सुनो। किसी) देवदत्त को भोग भोगने की अन्यान्य रसादि के गुणों से (आकर्षित होकर) इच्छाएँ होती हैं, तब वह जो छ: प्रकार का रस है, उस रस से शोणित बनता है उस शोणित (रक्त) से मांस बनता है, मांस से चर्बी उत्पन्न होती है, चरबी से हड्डियाँ पैदा होती हैं, हड्डियों से मज्जा पैदा होती है और मज्जा में से वीर्य पैदा होता है। (कहीं-कहीं 'मेदस: स्नायव: स्नायुभ्योऽस्थीनि'—ऐसा भी पाठ है, तदनुसार 'चरबी से स्नायु और स्नायु से हड्डियाँ बनती हैं'—ऐसा अर्थ करना चाहिए)। उस वीर्य का जब स्त्री के रज के साथ संयोग होता है, तब गर्भ उत्पन्न होता है। वह गर्भ जठर में रहता है ऐसी व्यवस्था है। वहाँ जठर के भीतर अग्नि (उष्णता) भी है, और

मूलाधार में पित्त का जल – प्रवाही – भी है तथा स्वाधिष्ठान प्रदेश में प्राणवायु भी है। अत: उष्णता, जल और वायु से जठराग्निस्थित गर्भ सुरक्षित रहता है। प्रजापति द्वारा व्यवस्थापित ऋतुकाल में ही स्त्री-पुरुष संयोग से गर्भ उत्पन्न होता है।

एकरात्रोषितं कलिलं भवति। सप्तरात्रोषितं बुद्बुदं भवति। अर्धमासा-भ्यन्तरेण कठिनो भवति। मासद्वयेन शिरः कुरुते (सम्पद्यते)। मास-त्रयेण पादप्रदेशो भवति। अथ चतुर्थे मासे जठरकटिप्रदेशो भवति। पञ्चमे मासे पृष्ठवंशो भवति। षष्ठे मासे नासाक्षिश्रोत्राणि भवन्ति। सप्तमे मासे जीवसंयुक्तो भवति। अष्टमे मासे सर्वसम्पूर्णो भवति ॥8॥

ऋतुकाल में स्त्रीसंभोग से उत्पन्न वह गर्भ एक रात्रि में छोटी बूँद जैसा होता है, सात रात्रि में वह बड़े बुद्बुदे-सा हो जाता है, पंद्रह दिनों में वह पिण्डाकार (कठिन) हो जाता है, दो महीनों में उसका सिर उत्पन्न होता है, तीन महीनों में पैर आदि विभाग उत्पन्न होता है और चार मास होते-होते उसके जठर और कमर का भाग उत्पन्न होता है। पाँचवें महीने में उसकी पीठ का भाग बनता है, छठे महीने में मुख, नासिका, आँख, कान आदि अवयव फूट निकलते हैं। सातवें महीने में उसमें जीव संचरित होता है और आठवें महीने में वह सर्वांग (सम्पूर्ण) बन जाता है।

पितृरेतोऽतिरिक्तात् पुरुषो भवति। मातुः रेतोऽतिरिक्तात् स्त्रियो भवन्ति। उभयोः बीजतुल्यत्वान्नपुंसको भवति। व्याकुलितमन-सोऽन्धाः खञ्जाः कुब्जा वामना भवन्ति। अन्योन्यवायुपरिपीडितानां शुक्लद्वैधे स्त्रियो योन्यां (योन्या) युग्माः प्रजायन्ते ॥9॥

यदि पिता का वीर्य प्रमाण में ज्यादा हो, तो पुरुष उत्पन्न होता है, और यदि स्त्री का वीर्य प्रमाण में ज्यादा हो, तो स्त्री उत्पन्न होती है। परन्तु दोनों का बीज अगर समान प्रमाण में हो, तो नपुंसक उत्पन्न होता है। अगर गर्भाधान-काल में माता का मन व्याकुल हो तो अन्धी, लँगड़ी, कुरूप या ठिगनी सन्तानें उत्पन्न होती हैं। और यदि वायु के आघात से माता-पिता के गर्भ के दो भाग हो गए हों तो जुडवाँ सन्तान उत्पन्न होती हैं।

पञ्चात्मकसमर्थः पञ्चात्मकतेजसेद्धरसश्च सम्यज्ज्ञानात् ध्यानादक्षर-मोङ्कारं चिन्तयति। तदेतदेकाक्षरं ज्ञात्वा अष्टौ प्रकृतयः षोडश विकाराः शरीरे ॥10॥

आठ महीने बीतने पर वह पाँच इन्द्रियों और मन-बुद्धि आदि के तेज से प्रकाशित और समर्थ होकर ओंकार का चिन्तन करने लगता है। इस प्रकार वह उस एकाक्षर ब्रह्म को जानता है। और बाद में उसके शरीर में आठ प्रकृतियाँ और सोलह विकार उत्पन्न हो जाते हैं।

तस्यैव देहिनोऽथ (देहिनामथ) नवमे मासे सर्वलक्षणसम्पूर्णो भवति। पूर्वजातिं स्मरति। कृताकृतं कर्म विभाति। शुभाशुभं कर्म विन्दति (विभाति) ॥11॥

वह देहधारी आत्मा नवम मास में सभी लक्षणों से संपूर्ण हो जाता है। और तब वह अपने पूर्वजन्म का स्मरण करता है। उसके पहले किए हुए शुभ और अशुभ कर्म उससे आ मिलते हैं और वह अपने किए गए कर्मों को याद करता है (कि—)

नानायोनिसहस्राणि दृष्ट्वा चैव ततो मया।
आहारा विविधा भुक्ताः पीताश्च विविधाः स्तनाः ॥12॥

मैंने हजारों योनियाँ देखकर तरह-तरह के आहार खाए हैं और अनेक माताओं के स्तनों का पान पूर्व में किया है।

जातस्यैव मृतस्यैव जन्म चैव पुनः पुनः।
अहो दुःखोदधिमग्नो न पश्यामि प्रतिक्रियाम् ॥13॥

जन्मे हुए व्यक्ति की मृत्यु और मरे हुए व्यक्ति का जन्म तो बार-बार होता ही रहता है। अरे, इस संसाररूप दु:ख के सागर में डूबा हुआ मैं इसे पार करने का कोई उपाय नहीं जानता।

यदि योन्यां प्रमुञ्चामि साङ्ख्यं योगं समाश्रये।
अशुभक्षयकर्तारं फलमुक्तिप्रदायिनम् ॥14॥

और कदाचित् यदि मैं योनि से (जन्ममरण से) छुटकारा पा जाऊँगा तो मैं सांख्य और योग का आश्रय लूँगा, जो कि अशुभ कर्मों का क्षय करनेवाला है, तथा मुक्तिरूपी फल को देनेवाला है।

यदि योन्यां प्रमुञ्चामि तं प्रपद्ये महेश्वरम्।
अशुभक्षयकर्तारं फलमुक्तिप्रदायिनम् ॥15॥

और यदि कदाचित् मैं इस जन्ममरणरूप दु:ख से मुक्त हो जाऊँगा तो मैं महेश्वर की ही शरण में जाऊँगा, जो कि अशुभ कर्मों का क्षय करनेवाले हैं और मुक्तिरूपी फल को देनेवाले हैं।

यदि योन्यां प्रमुञ्चामि तं प्रपद्ये भगवन्तं नारायणं देवम्।
अशुभक्षयकर्तारं फलमुक्तिप्रदायिनम् ॥16॥

और भी यदि कदाचित् मैं इस जन्मादि दु:खसागर से छुटकारा पाऊँ, तो मैं भगवान् नारायण देव की शरण में जाऊँगा, जो कि अशुभ का क्षय करनेवाले हैं, और मोक्षरूपी फल को देनेवाले हैं।

यन्मया परिजनस्यार्थे कृतं कर्म शुभाशुभम्।
एकाकी तेन दह्यामि गतास्ते फलभागिनः ॥17॥

मैंने जो कुछ भी अच्छा-बुरा काम अपने स्वजनों के लिए किया है, उन कर्मों के फलस्वरूप मैं अब अकेला (नि:सहाय) होकर जलता रहता हूँ क्योंकि वे तो मेरे किए का फल भोगकर अब चले ही गए (मेरा साथी कोई न रहा)।

जन्तुः स्त्रीयोनिशतं योनिद्वारि सम्प्राप्तो यन्त्रेण परिपीड्यमानो महता दुःखेन जातमात्रस्तु वैष्णवेन वायुना संस्पृश्यते। तदा न स्मरति जन्ममरणादिकं शुभाशुभम् ॥18॥

प्राणी बाद में हजारों बार योनियों में भटकते हुए जब योनि के मुख में आता है, तब मानों किसी यन्त्र में पिसकर बड़े ही कष्ट से जैसे ही जन्म लेता है कि तुरन्त ही उसे वैष्णव वायु का स्पर्श होता है, और उससे उसके जन्म-मरण की पूर्व स्मृति चली जाती है। और साथ ही वह अपने पूर्वकृत शुभाशुभ कर्मों को भूल जाता है।

शरीरमिति कस्मात्? ज्ञानाग्निः दर्शनाग्निः कोष्ठाग्निरिति। तत्र कोष्ठाग्निर्नामाशितपीतलेह्यचोष्यं पाचयति रूपादीनां दर्शनं करोति ॥19॥

इस देह को 'शरीर' क्यों कहा गया है? क्योंकि इसमें ज्ञानाग्नि, दर्शनाग्नि और कोष्ठाग्नि—ये तीन अग्नियाँ आश्रित होती हैं। इनमें से कोष्ठाग्नि खाए गए, पीए गए, चाटे गए और चूसे गए अन्नादि का पाचन करता है। (दर्शनाग्नि) रूपों का दर्शन कराता है।

तत्र त्रीणि स्थानानि भवन्ति। हृदये दक्षिणाग्निः उदरे गार्हपत्यं मुखमाहवनीयम्। यजमानाय बुद्धिं पत्नीं निधाय दीक्षा सन्तोषं बुद्धीन्द्रियाणि यज्ञपात्राणि शिरः कपालं केशाः दर्भाः मुखमन्तर्वेदिः षोडश पार्श्वदन्तपटलान्यष्टोत्तरमर्मशतमशीतिसन्धिशतं नवस्नायुशतमष्टसहस्त्ररोमकोट्यः ॥20॥

शरीर में चल रहे यज्ञ की तीन अग्नियों में हृदय में दक्षिणाग्नि, उदर में गार्हपत्य तथा मुख में आहवनीय अग्नि है। इसमें आत्मा यजमान, बुद्धि यजमानपत्नी, संतोष दीक्षा, यज्ञपात्र बुद्धि और इन्द्रियाँ, कपाल मस्तक, केशरूप दर्भ, मुख अन्तर्वेदि है। इसमें सोलह दंष्ट्राएँ हैं, एक सौ आठ मर्म हैं, एक सौ अस्सी सन्धियाँ हैं, एक सौ नौ स्नायु हैं और आठ हजार करोड़ रोंगटे हैं।

हृदयपटलान्यष्टौ द्वादशपला जिह्वा पित्तं प्रस्थं कफस्याढकं शुक्लं कुडुपं मेदः प्रस्थौ। द्वावेव मूत्रपुरीषयोः अहरहः पानपरिमाणम् ॥21॥

आठ पल के भार वाला हृदय है, बारह पल परिमित जिह्वा है, एक प्रस्थ परिमित पित्त है, एक आढक कफ धातु है, एक कुडव वीर्य है, दो प्रस्थ मेद है। मलमूत्र का परिमाण खाए हुए अन्न पर आधारित है।

टिप्पणी—ये प्रस्थ, आढक, कुडुप (कुडव) आदि मान प्राचीन समय में वस्तुओं को नापने के साधन थे। लीलावती के गणित के आधार पर इसका अर्वाचीन रूप इस प्रकार है—पाँच गुञ्जा = 1 मासा, सोलह मासा = 1 कर्ष, पाँच कर्ष = 1 पल, पचास पल = 1 आढक, चार कुडव = 1 प्रस्थ, चार प्रस्थ = 1 आढक।

पैप्पलादं मोक्षशास्त्रं परिसमाप्तं पैप्पलादं मोक्षशास्त्रं परिसमाप्तमित्युपनिषत् ॥22॥

इति गर्भोपनिषत्समाप्ता।

इस प्रकार मुनि पिप्पलाद द्वारा कथित मोक्षशास्त्र यहाँ समाप्त हुआ—इसी वाक्य की पुनरुक्ति उपनिषत् की समाप्ति की सूचक है। इस तरह यह गर्भोपनिषत् यहाँ पर समाप्त होती है।

शान्तिपाठः

ॐ सह नाववतु। सह नौ.........मा विद्विषावहै। (पूर्ववत्)
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः॥

(18) नारायणोपनिषत्

(उपनिषत्परिचय)

यह छोटी-सी उपनिषद् कृष्णयजुर्वेद से सम्बन्ध रखती है। इसका दूसरा नाम 'नारायणाथर्वशिर उपनिषद्' भी है। चारों वेदों का सारतत्त्व इसमें मुख्य (मस्तक के) रूप में प्रतिपादित किया गया है। सबसे पहले 'नारायण' से ही इस समग्र जडचेतन जगत् का निर्माण बताया गया है। उसके बाद नारायण की ही सर्वात्मकस्वरूपता का प्रतिपादन किया गया है। 'ॐ नमो नारायणाय'—यह जो अष्टाक्षर मन्त्र है, इसकी चर्चा की गई है। इसके बाद नारायण और प्रणव की एकता बताई है। बाद में इस उपनिषद् का अध्ययन करने की फलश्रुति दर्शाई गई है। कहा गया है कि इस छोटी सी उपनिषद् के अध्ययन से चारों वेदों के पठन का पुण्यलाभ मिल जाता है।

शान्तिपाठः

ॐ सह नाववतु। सह नौ"""मा विद्विषावहै। (पूर्ववत्)
शान्तिः शान्तिः शान्तिः॥

इसका हिन्दी रूपान्तर पूर्व में (ब्रह्मोपनिषद् में) द्रष्टव्य है।

अथ पुरुषो ह वै नारायणोऽकामयत प्रजाः सृजेयेति। नारायणात् प्राणो जायते। मनः सर्वेन्द्रियाणि च। खं वायुर्ज्योतिरापः पृथिवी विश्वस्य धारिणी। नारायणाद्ब्रह्मा जायते। नारायणाद्रुद्रो जायते। नारायणा-दिन्द्रो जायते। नारायणात्प्रजापतिः प्रजायते। नारायणाद्द्वादशादित्या रुद्रा वसवः सर्वाणि छन्दांसि नारायणादेव समुत्पद्यन्ते। नारायणा-त्प्रवर्तन्ते नारायणे प्रलीयन्ते। एतदृग्वेदशिरोऽधीते॥1॥

अब पुरुषरूप नारायण ने ही संकल्प किया कि मैं प्रजा का सर्जन करूँ। नारायण से प्राण उत्पन्न होता है, नारायण से मन और सभी इन्द्रियाँ उत्पन्न होती हैं, नारायण से ही आकाश, वायु, तेज, जल और समस्त विश्व को धारण करने वाली पृथ्वी उत्पन्न होती है। नारायण से ब्रह्मा उत्पन्न होते हैं, नारायण से ही रुद्र जन्मते हैं, नारायण से इन्द्र जन्म लेते हैं, नारायण से प्रजापति जन्म लेते हैं। नारायण के द्वारा ही ये बारह आदित्य, रुद्रगण, वसुगण तथा सभी वेद उत्पन्न होते हैं। नारायण के द्वारा ही सब संचालित होते हैं और अन्त में नारायण में ही विलीन हो जाते हैं। यह ऋग्वेदीय उपनिषद् का सारकथन है।

अथ नित्यो नारायणः। ब्रह्मा नारायणः। शिवश्च नारायणः। शक्रश्च नारायणः। कालश्च नारायणः। दिशश्च नारायणः। विदिशश्च नारायणः। ऊर्ध्वं च नारायणः। अधश्च नारायणः। अन्तर्बहिश्च नारायणः। नारायण एवेदं सर्वं यद्भूतं यच्च भव्यम्। निष्कलङ्को

निरञ्जनो निर्विकल्पो निराख्यातः शुद्धो देव एको नारायणो न द्वितीयोऽस्ति कश्चित्। य एवं वेद स विष्णुरेव भवति स विष्णुरेव भवति। एतद्यजुर्वेदशिरोऽधीते॥2॥

वह नारायण नित्य है। ब्रह्मा नारायण है, शिव भी नारायण है, इन्द्रदेव भी नारायण है और काल भी नारायण है। दिशाएँ भी नारायण हैं और उपदिशाएँ भी नारायण ही हैं। ऊपर भी नारायण है और नीचे भी नारायण है। भीतर भी नारायण है और बाहर भी नारायण है। जो कुछ हो चुका है और जो कुछ होनेवाला है, वह सब कुछ पुरुषरूप – नारायणरूप – ही है। वही कलंकरहित, पापरहित, निर्विकल्प, अनिर्वचनीय और विशुद्ध देव है। उनके अतिरिक्त कोई दूसरा है ही नहीं। जो मनुष्य ऐसा जानता है, वह स्वयं विष्णुरूप ही हो जाता है। वह विष्णु ही हो जाता है। ऐसा ही यजुर्वेदीय उपनिषद् का सारकथन है।

ॐ इत्यग्रे व्याहरेत्। नम इति पश्चात्। नारायणायेत्युपरिष्टात्। ॐ इत्येकाक्षरम्। नम इति द्वे अक्षरे। नारायणायेति पञ्चाक्षराणि। एतद्वै नारायणास्याष्टाक्षरं पदम्। यो ह वै नारायणस्याष्टाक्षरं पदमध्येति अनपब्रुवः सर्वमायुरेति। विन्दते प्राजापत्यं रायस्पोषं गौपत्यं ततोऽ-मृतत्वमश्नुते ततोऽमृतत्वमश्नत इति। एतत्सामवेदीयशिरोऽधीते॥3॥

'ॐ' यह पहले बोलना चाहिए। बाद में 'नमः' ऐसा बोलना चाहिए और इसके बाद में 'नारायणाय' ऐसा बोलना चाहिए। 'ॐ' यह एक अक्षर है। 'नमः' ये दो अक्षर हैं। 'नारायणाय'—ये पाँच अक्षर हैं। इस प्रकार यह अष्टाक्षर नारायण का मन्त्र है। जो मनुष्य नारायण के इस अष्टाक्षर मंत्र का जाप करता है, वह अकथनीय कीर्तिसम्पन्न होकर पूर्ण आयुष्य भोगता है। उसे प्रजापतिपद स्त्री-पुत्र-धन-धान्यादि की वृद्धि और गायों का स्वामित्व मिलता है, तथा वह अमृतत्व का उपभोग करता है—अमर हो जाता है—उसे मोक्ष मिलता है—यह सामवेदीय उपनिषद् का सारतत्त्वकथन है।

प्रत्यगानन्दं ब्रह्मपुरुषं प्रणवस्वरूपम्। अकार उकारो मकार इति। ता अनेकधा समभवत्तदेतदोमिति यमुक्त्वा मुच्यते योगी जन्मसंसार-बन्धनात्। ॐ नमो नारायणायेति मन्त्रोपासको वैकुण्ठभुवनं गमि-ष्यति। तदिदं पुण्डरीकं विज्ञानघनं तस्मात्तडिदाभमात्रम्। ब्रह्मण्यो देवकीपुत्रो ब्रह्मण्यो मधुसूदनः। ब्रह्मण्यः पुण्डरीकाक्षो ब्रह्मण्यो विष्णुरुच्यत इति। सर्वभूतस्थमेकं वै नारायणं कारणपुरुषमकारणं परं ब्रह्मोम्। एतदथर्वशिरोऽधीते॥4॥

'अ'कार, 'उ'कार और 'म'कार मात्रायुक्त यह प्रत्यक् (आन्तरिक) आनन्दरूप ओम्कार ब्रह्मपुरुष प्रणवरूप है। इन भिन्न-भिन्न तीन मात्राओं के सम्मिलित स्वरूप को ओम्कार कहते हैं। इस प्रणवरूप ऊँकार का जप करके योगी जन्मकरणरूप इस संसार के बन्धनों से मुक्त हो जाता है। 'ॐ नमो नारायणाय'—इस मन्त्र की साधना करने वाला साधक वैकुण्ठधाम में जाता है। यह वैकुण्ठधाम हृदयरूपी पुण्डरीक (कमल) विज्ञानमय है। इस कारण से इसका स्वरूप विद्युत् के समान अतिप्रकाशित है। ब्रह्ममय देवकीपुत्र कृष्ण सर्वदा ब्राह्मणप्रिय हैं। वे ही कमलनयन मधुसूदन विष्णु कहे जाते हैं। वे सबके कारण होते हुए भी स्वयं कारणरहित ही हैं। ऐसे सभी प्राणियों के अन्तर्यामी रूप नारायण हैं। वे ही प्रणव (ओम्कार) हैं। इस प्रकार यह अथर्ववेदीय उपनिषद् का सारकथन है।

प्रातरधीयानो रात्रिकृतं पापं नाशयति। सायमधीयानो दिवसकृतं पापं नाशयति। तत्सायंप्रातरधीयानः पापोऽपापो भवति। माध्यंदिनमादित्याभिमुखोऽधीयानः पञ्चमहापातकोपपातकात् प्रमुच्यते। सर्ववेदपारायणफलं लभते। नारायणसायुज्यमवाप्नोति। श्रीमन्नारायणसायुज्यमवाप्नोति य एवं वेद ॥5॥

इति नारायणोपनिषत् समाप्ता।
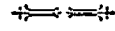
इस उपनिषत् का प्रात: में अध्ययन करनेवाला मनुष्य रात्रि में किए हुए पापों से मुक्त हो जाता है और शाम को अध्ययन करनेवाला दिवस में किए हुए पापों से मुक्त हो जाता है। इस प्रकार प्रात:-सायं अध्ययन करनेवाला यदि पापी हो तो वह पापरहित हो जाता है। अर्थात् पूर्व जन्म में किए हुए पापों से भी मुक्त हो जाता है। दुपहर के समय में सूर्य के सामने मुख रखकर इसका पाठ करनेवाला पुरुष पाँच महापातकों से और उपपातकों से भी मुक्त हो जाता है। इसके पाठ से मनुष्य सभी वेदों के पारायण का पुण्य प्राप्त करता है। वह नारायण का सायुज्य (नारायण में स्वयं जुड़ जाने का सौभाग्य) प्राप्त करता है। ऐसा जाननेवाला पुरुष भी श्रीमन्नारायण के सायुज्य को प्राप्त करता है। (वाक्य की पुनरावृत्ति उपनिषत् की समाप्ति का सूचक है)।

यहाँ नारायणोपनिषत् पूरी हुई।

शान्तिपाठः

ॐ सह नाववतु। सह नौ……मा विद्विषावहै। (पूर्ववत्)
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

(19) परमहंसोपनिषत्

(उपनिषत्परिचय)

इस शुक्लयजुर्वेदीय उपनिषत् में कुल चार कण्डिकाएँ ही हैं। इसमें श्रीनारदजी ब्रह्माजी से परमहंस की स्थिति के विषय में और मार्ग के विषय में पूछ रहे हैं। ब्रह्माजी ने उत्तर में परमहंस का जो वर्णन किया, वही यह उपनिषद् है। इसमें परमहंस का स्वरूप, उसकी वेशभूषा, उसके व्यवहार आदि के बारे में अच्छे ढंग से समझाया गया है। दीक्षा के बारे में भी कहा गया है। साथ-ही-साथ दंभी परमहंसों के लिए पातकों का बयान करते हुए इसके फलस्वरूप घोर नरकादि का फल भी बताया गया है।

शान्तिपाठः

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं……पूर्णमेवावशिष्यते। (पूर्ववत्)
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

इसका हिन्दी रूपान्तर पूर्व में (जाबालोपनिषद् में) द्रष्टव्य है।

अथ योगिनां परमहंसानां कोऽयं मार्गस्तेषां का स्थितिरिति नारदो भगवन्तमुपसमेत्योवाच। तं भगवानाह। योऽयं परमहंसमार्गो लोके दुर्लभतरो न तु बाहुल्यो यद्येको भवति स एव नित्यपूतस्थः स एव वेदपुरुष इति विदुषो मन्यन्ते महापुरुषो यच्चित्तं तत्सर्वदा मय्येवावतिष्ठते। तस्मादहं च तस्मिन्नेवावस्थीयते। असौ स्वपुत्रमित्रकलत्रबन्ध्वादीञ्छिखा यज्ञोपवीतं स्वाध्यायं च सर्वकर्माणि संन्यस्यायं ब्रह्माण्डं च हित्वा कौपीनं दण्डमाच्छादनं च स्वशरीरोपभोगार्थाय लोकस्यैवोपकारार्थाय च परिग्रहेत्। तच्च न मुख्योऽस्ति। कोऽयं मुख्य इति चेदयं मुख्यः ॥1॥

एक बार नारद मुनि ने भगवान् नारायण के पास जाकर पूछा कि—"हे भगवन्! इन योगियों का (परमहंसों का) मार्ग कौन-सा है, उनकी स्थिति कैसी है?" तब भगवान् ने उनसे कहा—'यह जो परमहंसों का मार्ग है, वह लोकों में बहुत ही दुर्लभ है। संसार में ऐसे व्यक्ति बहुत ही कम होते हैं। कोई इक्का-दुक्का ही होता है। वह परमहंस हमेशा पवित्र भावना में अवस्थित होता है। विद्वान् लोग मानते हैं कि वही वेदपुरुष है। वही महापुरुष है कि जिसका चित्त हमेशा मुझमें ही रहता है। इसीलिए मैं भी उस महापुरुष में रहता हूँ। वह परमहंस अपने पुत्र, मित्र, स्त्री, बन्धु आदि स्वजनों को तथा शिखा, यज्ञोपवीत, देहाध्ययन—इन सबका त्याग करके सारे ब्रह्माण्ड के कल्याण के लिए और शरीर की रक्षा के लिए कौपीन, दण्ड और आच्छादन (उपवस्त्र) को धारण करता है। परन्तु, यह भी परमहंस की मुख्य दीक्षा नहीं है।' तब फिर नारद ने पूछा—'तो फिर मुख्य दीक्षा कौन-सी होती है?' तब नारायण ने कहा—'यह मुख्य दीक्षा है, सुनो'—

न दण्डं न शिखां न यज्ञोपवीतं न चाच्छादनं चरति परमहंसो न शीतं न चोष्णं न सुखं न दुःखं न मानावमाने च षड्भिर्वर्जं निन्दागर्वमत्सर-दम्भदर्पेच्छाद्वेषसुखदुःखकामक्रोधलोभमोहहर्षासूयाहङ्कारादींश्च हित्वा स्ववपुः कुणपमिव दृश्यते। यतस्तद्वपुरध्वस्तसंशयविपरीतमिथ्या-ज्ञानानां यो हेतुस्तेन नित्यनिवृत्तस्तन्नित्यबोधस्तत्स्वयमेवं नित्याव-स्थितिस्तं शान्तमचलमद्वयानन्दचिद्घन एवास्मि। तदेव मम परमं धाम, तदेव शिखा च तदेवोपवीतं च। परमात्मात्मनोरेकत्वज्ञानेन तयोर्भेद एव विभग्नः, सा संध्या ॥2॥

परमहंस की मुख्य दीक्षा इस प्रकार है—वह दण्ड, शिक्षा, यज्ञोपवीत, आच्छादन को धारण न करे। इसके सिवा शीत-उष्ण, मान-अपमान, सुख-दुःख—इन छः ऊर्मियों से वह रहित हो जाए। वह निन्दा, गर्व, मत्सर, दम्भ, दर्प, इच्छा, द्वेष, सुख, दुःख, काम, क्रोध, लोभ, मोह, हर्ष, असूया और अहंकार को छोड़कर अपने शरीर को मरे हुए के समान देखता है। संशय, विपरीत ज्ञान और मिथ्याज्ञान का जो कारण है, उससे वह सदा के लिए निवृत्त हो जाए। वह सदैव बोधस्वरूप हो। वह संसार में किसी भी पदार्थ की अपेक्षा न रखते हुए मानता है कि—मैं एकमात्र अचल, अद्वय चिद्घनानन्द हूँ। यही मेरा परमधाम है। यही मेरी शिखा और यही मेरा यज्ञोपवीत है। वह आत्मा और परमात्मा में अभेददृष्टि रखता है। उसके लिए दोनों का भेद मिट जाता है। वही उसकी सन्ध्या है।

सर्वान् कामान् परित्यज्य अद्वैते परमे स्थितिः।
ज्ञानदण्डो धृतो येन एकदण्डी स उच्यते॥
काष्ठदण्डो धृतो येन सर्वाशी ज्ञानवर्जितः।
तितिक्षाज्ञानवैराग्यशमादिगुणवर्जितः॥
भिक्षामात्रेण यो जीवेत् स पापी यतिवृत्तिहा।
स याति नरकान् घोरान् महारौरवसंज्ञकान्॥
इदमन्तरं ज्ञात्वा स परमहंसः—॥3॥

यह परमहंस सभी कामनाओं को छोड़कर अद्वैत परब्रह्म के स्वरूप में स्थित रहता है। उसे 'एकदण्डी' भी कहा जाता है क्योंकि उसने ज्ञानरूपी दण्ड धारण किया होता है। परन्तु जो मनुष्य काष्ठ का ही दण्ड धारण करता है, जो सभी आशाओं से भरा है, जिसमें ज्ञान है ही नही, जिसमें तितिक्षा-ज्ञान-वैराग्य-शम आदि कोई भी गुण नहीं है, जो भीख माँगकर अपना गुजारा करता रहता है, जो पापी सच्चे यतियों की आजीविका को इस तरह छीन लेता है और जीता है, वह महारौरव जैसे भयंकर नरकों में ही जाता है। जो इसको (पापी, संन्यासी और परमहंस की इस भिन्नता को) जानता है वह परमहंस है।

आशाम्बरो यो नमस्कारो न स्वाहाकारो न स्वधाकारो न निन्दा न स्तुति-र्यादृच्छिको भवेद्भिक्षुः। नावाहनं न विसर्जनं न मन्त्रं न ध्यानं नोपासनं च। न लक्ष्यं न चालक्ष्यं न पृथङ् नापृथगहर्न न त्वं न सर्वं च अनिकेतस्थिरमतिरेव स भिक्षुः सौवर्णादीनां नैव परिग्रहेन्न लोकनं नावलोकनं च। न च बाधकः क इति चेद्बाधकोऽस्त्येव। यस्माद्भिक्षुर्हिरण्यं रसेन दृष्टं चेत् स ब्रह्महा भवेत्। यस्माद्भिक्षुर्हिरण्यं

रसेन स्पृष्टं चेत् स पौल्कसो भवेत्। यस्माद्भिक्षुर्हिरण्यं रसेन ग्राह्यं चेत् स आत्महा भवेत्। तस्माद्भिक्षुर्हिरण्यं रसेन न दृष्टं न स्पृष्टं न ग्राह्यं च। सर्वे कामा मनोगता व्यावर्तन्ते। दुःखे नोद्विग्नः सुखे निःस्पृहा। त्यागो रागे सर्वत्र शुभाशुभयोरनभिस्नेहो न द्वेष्टि न मोदं च। सर्वेषामिन्द्रि-याणां गतिरुपरमते। य आत्मन्येवावस्थीयते। तत्पूर्णानन्दैकबोधस्तद्-ब्रह्मैवाहमस्मीति कृतकृत्यो भवति कृतकृत्यो भवतीत्युपनिषत् ॥4॥

इति परमहंसोपनिषत् समाप्ता।

वह दिगम्बर परमहंस नमस्कार, स्वाहाकार, स्वधाकार, निन्दा, स्तुति आदि की परवाह नहीं करता हुआ स्वैच्छिक भिक्षाचरण करता रहता है। उसके लिए आवाहन, विसर्जन, मन्त्र, ध्यान, उपासना, लक्ष्य, अलक्ष्य कुछ भी नहीं होता। उसका पृथक्-अपृथक् और मेरे-तेरे का भाव तथा सर्वभाव भी नहीं होता। वह निवासरहित और स्थिर बुद्धिवाला होता है। वह भिक्षु सोने आदि के संग्रह में प्रवृत्त नहीं होता। उसके लिए कोई भी चीज आकर्षक या अपाकर्षक नहीं होती। उसके लिए क्या बाधक (अवरोधक) है अर्थात् उसके लिए कुछ भी बाधक नहीं है। भिक्षु परमहंस होकर यदि वह सोने से प्रेम करे तो उसे ब्रह्महत्या का पाप लगता है। भिक्षु होकर यदि वह सुवर्ण से लगाव करे तो उसे चाण्डाल की तरह माना जाता है। ऐसा भिक्षु परमहंस होकर सोने से प्रेम करने पर आत्महत्या करनेवाला होता है। इसलिए उस परमहंस भिक्षु को चाहिए कि वह न तो सुवर्ण को देखे, न उसका स्पर्श करे और न ग्रहण ही करे। ऐसा परमहंस भिक्षु तो आप्तकाम ही हो जाता है अर्थात् उसकी समस्त कामनाएँ पूर्ण या समाप्त ही हो जाती हैं। वह दुःख में उद्विग्न नहीं होता है और सुख में भी निःस्पृह ही रहता है। राग को छोड़कर वह शुभ और अशुभ के प्रति आसक्तिरहित हो जाता है। वह न द्वेष करता है, न खुशी व्यक्त करता है। उसकी सभी इन्द्रियाँ शान्त हो जाती हैं। वह अपने आत्मतत्त्व में ही स्थित रहता है। वह अपने आपको सदैव पूर्णानन्दस्वरूप और पूर्णबोधस्वरूप ही समझता है। ऐसी भावना तथा अनुभूति से वह कृतार्थ (धन्य) हो जाता है।

यहाँ परमहंसोपनिषद् पूरी हुई।

शान्तिपाठः

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं। ....**पूर्णमेवावशिष्यते।** (पूर्ववत्)
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः॥

(20) ब्रह्मबिन्दूपनिषत्

(उपनिषत्परिचय)

इस उपनिषद् का दूसरा नाम 'अमृतबिन्दूपनिषद्' है। बाईस मंत्रों वाली यह उपनिषद् कृष्णयजुर्वेद से सम्बद्ध है। इसमें ब्रह्मसाक्षात्कार का (आत्मानुसन्धान का) क्रम बताया गया है। 'मनुष्य के बन्ध और मोक्ष का कारण मन ही है'—इस सुप्रसिद्ध और शाश्वत सत्य के कथन से ही उपनिषद् का आरंभ होता है। मन को निर्विषय बनाकर मुक्ति की प्राप्ति का विधान करके उस निर्विषयता की विधि, स्वर-अस्वर द्वारा व्यक्त-अव्यक्त ब्रह्म का अनुसन्धान, तीनों अवस्थाओं में अनुस्यूत आत्मतत्त्व की स्थिति, पारमार्थिक आत्मस्वरूप, माया के द्वारा जीव का आवरण, अज्ञानान्धकार के हट जाने से जीव-ब्रह्म के ऐक्य का बोध, दूध में छिपे हुए घी की तरह चिन्तन-मननरूप मथनी से परमात्मतत्त्व की उपलब्धि और अन्त में परमतत्त्व का साक्षात्कार—ये सब बातें प्रतिपादित की गई है। इस ब्रह्मबिन्दूपनिषत् के सभी विषय प्रासादिक ढंग से बताए गए है।

शान्तिपाठः

ॐ सह नाववतु । सह नौ''''''''मा विद्विषावहै । (पूर्ववत्)
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

इसका हिन्दी रूपान्तर पूर्व में (ब्रह्मोपनिषद् में) द्रष्टव्य है।

मनो हि द्विविधं प्रोक्तं शुद्धं चाशुद्धमेव च ।
अशुद्धं कामसंकल्पं शुद्धं कामविवर्जितम् ॥1॥

मन दो प्रकार का है—शुद्ध और अशुद्ध। कामनाओं की इच्छा करनेवाला मन अशुद्ध कहा जाता है और कामनाओं से रहित मन शुद्ध है।

मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः ।
बन्धाय विषयासक्तं मुक्त्यै निर्विषयं स्मृतम् ॥2॥

मनुष्यों के बन्धन और मोक्ष का कारण केवल एक मन ही है। वह मन जब विषयों में आसक्त हो जाता है, तब बन्धन का कारण बनता है और जब विषयों के जाल (बन्धन) से छूट जाता है, तब वही मुक्ति का कारण हो जाता है।

यतो निर्विषयस्यास्य मनसो मुक्तिरिष्यते ।
तस्मान्निर्विषयं नित्यं मनः कार्यं मुमुक्षुणा ॥3॥

जब मन भोगों की इच्छा का परित्याग कर देता है, तब उस मनुष्य का मोक्ष हो जाता है। इसलिए मुक्ति की इच्छा करनेवाले को चाहिए कि वह अपने मन को विषयासक्ति से रहित रखे।

निरस्तविषयासङ्गं सन्निरुद्धं मनो हृदि ।
यदा यात्युन्मनीभावं तदा तत्परमं पदम् ॥4॥

भोगों का लगाव छूट जाने पर मन जब हृदय में एकाग्र होता है, तब और जब मन का 'मनस्त्व' चला जाता है तब वह परमपदरूप ब्रह्म को प्राप्त हो जाता है।

तावदेव निरोद्धव्यं यावद्धृदि गतं क्षयम् ।
एतज्ज्ञानं च मोक्षं च अतोऽन्यो ग्रन्थविस्तरः ॥5॥

जब तक मन का नाश (विलय) न हो जाए, तब तक उसका हृदय में निरोध करते रहना चाहिए। यही तो पारमार्थिक ज्ञान है, यही तो मोक्ष है, शेष तो सब ग्रन्थविस्तार ही है।

नैव चिन्त्यं न चाचिन्त्यमचिन्त्यं चिन्त्यमेव तत् ।
पक्षपातविनिर्मुक्तं ब्रह्म सम्पद्यते तदा ॥6॥

अशुद्ध मन से ब्रह्म का चिन्तन नहीं किया जा सकता। परन्तु शुद्ध मन से तो उसका चिन्तन किया जा सकता है। इस प्रकार ब्रह्म अचिन्त्य भी है और चिन्त्य भी है। सभी जगह समान रूप से अवस्थित उस ब्रह्म का चिन्तन करनेवाला मनुष्य ब्रह्म को ही प्राप्त हो जाता है। (क्योंकि ब्रह्म कहीं ज्यादा और कहीं कम नहीं अपितु सर्वसमान है)।

स्वरेण सन्धयेद्योगमस्वरं भावयेत् परम् ।
अस्वरेण हि भावेन भावो ना भाव इष्यते ॥7॥

पहले ॐकार से (स्वर से) साधना करनी चाहिए और बाद में ॐकार से भी परे परब्रह्म की अस्वर साधना करनी चाहिए अर्थात् उसका ध्यान करना चाहिए क्योंकि उस निर्गुण ब्रह्म की धारणा होते ही भाव-अभाव, सत्य-मिथ्या का कुछ भी खयाल नहीं रहता।

तदेव निष्कलं ब्रह्म निर्विकल्पं निरञ्जनम् ।
तद्ब्रह्माहमिति ज्ञात्वा ब्रह्म सम्पद्यते ध्रुवम् ॥8॥

वही विकल्पहीन, दोषहीन पूर्ण ब्रह्म है। 'वह ब्रह्म मैं ही हूँ'—ऐसा जानकर साधक अवश्य उस ब्रह्म को प्राप्त करता है।

निर्विकल्पमनन्तं च हेतुदृष्टान्तवर्जितम् ।
अप्रमेयमनाद्यं च ज्ञात्वा च परमं शिवम् ॥9॥

जो विकल्परहित है, अनन्त है, युक्ति और उदाहरण से परे (अगम्य) है, जो नापा नहीं जा सकता जो परम कल्याणकारी है, उस अनादि ब्रह्म को जानकर मनुष्य उसी को प्राप्त होता है।

न निरोधो न चोत्पत्तिर्न बद्धो न च साधकः ।
न मुमुक्षुर्न वै मुक्त इत्येषा परमार्थता ॥10॥

वास्तविक दृष्टि से देखा जाए तो यहाँ कोई उत्पत्ति भी नहीं है और विनाश भी नहीं है, कोई बद्ध भी नहीं है और कोई साधक भी नहीं है, कोई मुमुक्षु भी नहीं है और कोई मुक्त भी नहीं है—यही पारमार्थिक तत्त्व है।

एक एवात्मा मन्तव्यो जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तिषु ।
स्थानत्रयाद्व्यतीतस्य पुनर्जन्म न विद्यते ॥11॥

जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति—इन तीनों अवस्थाओं में अनुस्यूत एक ही आत्मा है, ऐसा समझना चाहिए। इन तीनों अवस्थाओं का अतिक्रमण कर लेने वाले साधक को पुनः जन्म नहीं लेना पड़ता।

एक एव हि भूतात्मा भूते भूते व्यवस्थितः।
एकधा बहुधा चैव दृश्यते जलचन्द्रवत् ॥12॥

हरएक प्राणी में और हरएक वस्तु में एक ही आत्मा स्थित है। जैसे जल से भरे हुए अनेक पात्रों में एक ही चन्द्र भिन्न दिखाई देता है, वैसे ही आत्मा भी हरएक प्राणी में अलग-अलग दिखाई देता है पर स्वयं में एक ही है।

घटसम्भृतमाकाशं लीयमाने घटे यथा।
घटो लीयेत नाकाशं तद्वज्जीवो घटोपमः ॥13॥

घड़े के नाश होने पर घड़े में निहित आकाशतत्त्व नष्ट नहीं होता, सिर्फ घड़े का ही नाश होता है। जीव भी घड़े की तरह ही है जिसमें देह का नाश तो होता है, पर जीव का कभी नाश नहीं होता।

घटवद्विविधाकारं भिद्यमानं पुनः पुनः।
तद्भग्नं न च जानाति स जानाति च नित्यशः ॥14॥

घड़े की तरह एक शरीर का नाश होने पर दूसरे देह और उसका भी नाश होने पर और दूसरे देह को—इस प्रकार विविध प्रकार के देह को जीव बार-बार धारण करता रहता है। देह के नाश को जीव हमेशा जानता तो है, फिर भी नहीं जानता।

शब्दमायावृतो यावत् तावत्तिष्ठति पुष्करे।
भिन्ने तमसि चैकत्वमेकमेवानुपश्यति ॥15॥

जब तक शब्द-नामरूपात्मक माया से जीव आवृत होता है, तब तक ही वह हृदयरूपी पुष्कर-कमल में बँधा रहता है, पर जैसे ही अज्ञानान्धकार नष्ट हो जाता है, वह परब्रह्म के साथ एकता का अनुभव करने लगता है।

शब्दाक्षरं परं ब्रह्म यस्मिन् क्षीणे यदक्षरम्।
तद्विद्वानक्षरं ध्यायेद् यदीच्छेच्छान्तिमात्मनः ॥16॥

यों तो शब्दब्रह्म (प्रणव) और परब्रह्म दोनों ही 'अक्षर' हैं। इन दोनों में से किसी भी एक के क्षीण हो जाने पर भी आश्रय की स्थिति में जो बचा रहता है, वही वास्तविक परब्रह्म है। उस वास्तविक ब्रह्म को जाननेवाला यदि कोई अन्तिम इच्छा रखता हो तो उसे उस अविनाशी ब्रह्म का ही ध्यान करना चाहिए।

द्वे विद्ये वेदितव्ये तु शब्दब्रह्म परं च यत्।
शब्दब्रह्मणि निष्णातः परं ब्रह्माधिगच्छति ॥17॥

दो विद्याएँ जानने योग्य हैं। उनमें प्रथम विद्या को 'शब्दब्रह्म' कहते हैं और दूसरी 'परब्रह्म' कही जाती है। इनमें से जो मनुष्य शब्दब्रह्म में अर्थात् वेदविद्या में प्रवीण होता है, वह ब्रह्मविद्या को प्राप्त कर सकता है।

ग्रन्थमभ्यस्य मेधावी ज्ञानविज्ञानतत्त्वतः।
पलालमिव धान्यार्थी त्यजेद् ग्रन्थमशेषतः ॥18॥

बुद्धिमान मनुष्य को शास्त्रग्रन्थों में प्रतिपादित ज्ञान-विज्ञान (मूलतत्त्व) को ग्रहण करने के पश्चात् ग्रन्थ को ठीक उसी प्रकार से त्याग देना चाहिए जैसे धान्य (अन्न) को प्राप्त करने वाला उसकी भूसी का त्याग कर देता है।

गवामनेकवर्णानां क्षीरस्याप्येकवर्णता।
क्षीरवत् पश्यते ज्ञानं लिङ्गिनस्तु गवां यथा ॥19॥

जिस तरह अनेक रंगों वाली गायों का दूध एक ही रंग का (सफेद) होता है, इसी तरह भिन्न-भिन्न शास्त्रों में दिया गया ज्ञान एक ही होता है, ऐसा ज्ञानी लोग (लिंगी) समझते हैं।

घृतमिव पयसि निगूढं भूते भूते च वसति विज्ञानम्।
सततं मन्थयितव्यं मनसा मन्थानभूतेन ॥20॥

दूध में घी की भाँति एक ही विज्ञानात्मा सर्वप्राणियों में निगूढ़ रूप में रहता है। अतः मन की मथनी से सदा आत्मा का मन्थन करना चाहिए। दूध का दही बनाना पड़ता है, फिर मथना पड़ता है, तब जाकर घी निकलता है।

ज्ञाननेत्रं समादाय चरेद्वह्निमतः परम्।
निष्कलं निर्मलं शान्तं तद् ब्रह्माहमिति स्मृतम् ॥21॥

ज्ञानरूपी नेत्र (दृष्टि) को प्राप्त करके अग्नि के सदृश प्रकाशमान आत्मा की चर्या (साधना-ध्यानादि) करनी चाहिए। तब कहीं 'निष्कल, विशुद्ध, शान्त, ऐसा ब्रह्म मैं ही हूँ'—ऐसी स्मृति (ज्ञान) होती है।

सर्वभूताधिवासं च यद्भूतेषु च वसत्यधि।
सर्वानुग्राहकत्वेन तदस्म्यहं वासुदेवः तदस्म्यहं वासुदेवः ॥22॥

इत्यमृतबिन्दूपनिषत् समाप्ता।
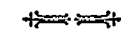
जिसमें सभी प्राणी निवास करते हैं, और जो स्वयं सभी प्राणियों में निवास करता है वह प्राणिमात्र पर अनुग्रह करनेवाला वासुदेव मैं ही हूँ। वह वासुदेव मैं ही हूँ।

इस तरह यहाँ अमृतबिन्दु उपनिषत् पूरी हुई।

शान्तिपाठः

ॐ सह नाववतु। सह नौ...... मा विद्विषावहै। (पूर्ववत्)
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

(21) अमृतनादोपनिषत्

(उपनिषत्परिचय)

यह उपनिषद् कृष्णयजुर्वेद के साथ संलग्न है। इस उपनिषद् में प्रणव की उपासना वर्णित है। और उसके साथ ही योग के छः अंगों का भी विवेचन किया गया है। प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि—इन पाँचों के साथ तर्क (समीक्षा) को भी जोड़ा है। इसमें प्राणायाम की विधि, ॐकार की मात्राओं का ध्यान, पाँचों प्राणों का स्थान, तथा रंगों का निर्देश भी किया गया है। योगसाधक को भयक्रोधादि मानसिक विकारों से रहित होकर आहार-विहारादि चेष्टा तथा सोना-जागना आदि क्रियाओं को सन्तुलित बनाए रखने की सीख दी गई है। साधना के फल के रूप में देवसदृश रूप की प्राप्ति से लेकर ब्रह्मनिर्वाण की प्राप्ति पर्यन्त का दिशासूचन किया गया है।

शान्तिपाठः

ॐ सह नाववतु। सह नौ"""मा विद्विषावहै। (पूर्ववत्)
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः॥

इसका हिन्दी रूपान्तर पूर्व में (ब्रह्मोपनिषद् में) द्रष्टव्य है।

शास्त्राण्यधीत्य मेधावी अभ्यस्य च पुनः पुनः।
परमं ब्रह्म विज्ञाय उल्कावत्तान्यथोत्सृजेत्॥1॥

मेधावी पुरुष को शास्त्र का अध्ययन करके उनका बार-बार परिशीलन करके फलरूप में ब्रह्मतत्त्व को जानकर फिर उन शास्त्रों को मशाल की तरह छोड़ देना चाहिए।

ओंकाररथमारुह्य विष्णु कृत्वाऽथ सारथिम्।
ब्रह्मलोकपदान्वेषी रुद्राराधनतत्परः॥2॥

ओंकाररूपी रथ पर चढ़ कर विष्णु को सारथि बनाकर ब्रह्मलोक के स्थान की खोज करनेवाले मनुष्य को रुद्र भगवान् की आराधना में लग जाना चाहिए।

तावद्रथेन गन्तव्यं यावद्रथपथि स्थितः।
स्थात्वा रथपथिस्थानं रथमुत्सृज्य गच्छति॥3॥

उस ओंकाररूपी रथ के द्वारा तब तक चलते रहना चाहिए जब तक कि रथ द्वारा चलने योग्य मार्ग पूर्ण न हो जाये। जब रथपति का वह मार्ग (लक्ष्य) पूरा हो जाता है, तब स्वयं वह रथ को छोड़कर चलने लगता है।

मात्रालिङ्गपदं त्यक्त्वा शब्दव्यञ्जनवर्जितम्।
अस्वरेण मकारेण पदं सूक्ष्मं हि गच्छति॥4॥

ओंकार की मात्राओं को बताने वाले (लिंगभूत) जो पद हैं, उनको तथा स्थूल शरीरादि पदों को छोड़कर, स्वरविहीन 'म' अर्थात् बिन्दु का ध्यान करके मनुष्य सूक्ष्म ब्रह्मतत्त्व को प्राप्त करता है।

शब्दादिविषयान् पञ्च मनश्चैवातिचञ्चलम्।
चिन्तयेदात्मनो रश्मीन् प्रत्याहारः स उच्यते॥5॥

शब्द-स्पर्शादि पाँच विषयों को और छठे अतिचञ्चल मन को आत्मतत्त्व की किरणों के रूप में चिन्तन करना ही 'प्रत्याहार' कहलाता है। (आत्मसत्ता से ही उनकी सत्ता है)।

प्रत्याहारस्तथा ध्यानं प्राणायामोऽथ धारणा।
तर्कश्चैव समाधिश्च षडङ्गो योग उच्यते॥6॥

प्रत्याहार, ध्यान, प्राणायाम और धारणा तथा तर्क और समाधि—इन छः को 'योग' कहा गया है। (यहाँ पर पतंजलि के अष्टांग योग के कुछ तत्त्वों को क्रमव्यत्यास ढंग से बताया है। केवल 'तर्क' को अधिक कहा है)।

यथा पर्वतधातूनां दह्यन्ते धमनान्मलाः।
तथेन्द्रियकृता दोषा दह्यन्ते प्राणधारणात्॥7॥

जिस प्रकार पर्वत से निकलती हुई धातुओं की मैल अग्नि में तप्त करने से जल जाती है (धातु विशुद्ध होती है) ठीक उसी प्रकार इन्द्रियों के दोष (मैल) प्राणों की धारणा से अर्थात् प्राणायाम की क्रिया से जल जाते हैं।

प्राणायामैर्देहदोषान् धारणाभिश्च किल्बिषम्।
(प्रत्याहारेण संसर्गान् ध्यानेनानीश्वरान् गुणान्।)
किल्बिषं हि क्षयं नीत्वा रुचिरं चैव चिन्तयेत्॥8॥

प्राणायामों से देह के (इन्द्रियों के भी) दोषों को, तथा धारणा के द्वारा मनोगत पाप (कुसंस्कार) को, एवं प्रत्याहार से विषयों के साथ संसर्गों को और ध्यान से दुर्गुणों को नष्ट करके बाद रमणीय इष्टदेव के रूप का चिन्तन करना चाहिए।

रुचिरं रेचकं चैव वायोराकर्षणं तथा।
प्राणायामास्त्रयः प्रोक्ता रेचपूरककुम्भकाः॥9॥

रुचिर (कुम्भक), रेचक तथा वायु के आकर्षणरूप पूरक—ये तीन प्रकार के प्राणायाम कहे गए हैं। इनके नाम रेचक, पूरक और कुम्भक हैं।

सव्याहृतिं सप्रणवां गायत्रीं शिरसा सह।
त्रिः पठेदायतप्राणः प्राणायामः स उच्यते॥10॥

प्राणशक्ति की वृद्धि करने वाला जो मनुष्य व्याहृतियों (भूः भुवः स्वः) के साथ और प्रणव (ओंकार) के उच्चारण के साथ संपूर्ण गायत्री मंत्र का उसके शीर्ष के साथ तीन बार पढ़ते हुए अपने श्वास का पूरक, कुंभक और रेचन करता है, उस सम्पूर्ण प्रक्रिया को एक 'प्राणायाम' कहा जाता है।

उत्क्षिप्य वायुमाकाशे शून्यं कृत्वा निरात्मकम्।
शून्यभावे नियुञ्जीयाद्रेचकमिति लक्षणम्॥11॥

प्राणेन्द्रिय द्वारा वायु को आकाश में निकालकर (फेंककर), हृदय को (मन को) वायु से खाली और विचारशून्य बनाकर शून्यभाव में मन को (हृदय को) जोड़ देना चाहिए। इस प्रक्रिया को रेचक नाम दिया जाता है।

वक्त्रेणोत्पलनालेन तोयमाकर्षयेन्नरः।
एवं वायुर्गृहीतव्यः पूरकस्येति लक्षणम् ॥12॥

जिस प्रकार पुरुष अपने मुख में नाली लगाकर धीरे-धीरे मुख में पानी को खींचता है, उसी प्रकार नाक से वायु को भीतर लेने की क्रिया को पूरक कहा जाता है। यह पूरक का लक्षण है।

नोच्छ्वसेन्न च निःश्वसेन्नैव गात्राणि चालयेत्।
एवं भावं नियुञ्जीयात् कुम्भकस्येति लक्षणम् ॥13॥

साँस को भीतर खींचना भी नहीं चाहिए और साँस को बाहर भी नहीं निकालना चाहिए। जब इस प्रकार की स्थिति में मनुष्य अपने को रखता है, तब वह कुंभक है (यह कुंभक का लक्षण है) ऐसा कहा जाता है।

अन्धवत्पश्य रूपाणि शब्दं बधिरवच्छृणु।
काष्ठवत्पश्य वै देहं प्रशान्तस्येति लक्षणम् ॥14॥

सभी रूपों को अन्धे की तरह देखो और सभी शब्दों को बहेरे की भाँति सुनो तथा अपने शरीर को काष्ठ की तरह ही देखो अर्थात् सभी इन्द्रियविषयों की और अपने शरीर की भी उपेक्षा करो। यही प्रशान्तपुरुष का लक्षण है।

मनः सङ्कल्पकं ध्यात्वा संक्षिप्यात्मनि बुद्धिमान्।
धारयित्वा तथात्मानं धारणा परिकीर्तिता ॥15॥

बुद्धिमान् मनुष्य मन को संकल्पात्मक मानकर उसको आत्मा में लय कर देता है और उस मन को उसी आत्मा में ही धारण करता है। इसे 'धारणा' कहा जाता है।

आगमस्याविरोधेन ऊहनं तर्क उच्यते।
समं मन्येत यल्लब्ध्वा स समाधिः प्रकीर्तितः ॥16॥

शास्त्रानुसार किए जानेवाले वादविवाद को 'तर्क' कहा जाता है। और जिस अवस्था को प्राप्त करके सर्वत्र समानता का ही अनुभव किया जा सकता है, उस अवस्था को समाधि कहा जाता है।

भूमौ दर्भासने रम्ये सर्वदोषविवर्जिते।
कृत्वा मनोमयीं रक्षां जप्त्वा वै रथमण्डले ॥17॥

सर्व प्रकार के दोषों से रहित भूमि पर, सुन्दर दर्भासन पर भूतप्रेतादि से मानसिक रक्षा करते हुए रथमण्डल का (प्रणव व्याहृतिसह और अष्टाक्षर गायत्रीमंत्र का) जप करना चाहिए।

पद्मकं स्वस्तिकं वापि भद्रासनमथापि वा।
बद्ध्वा योगासनं सम्यगुत्तराभिमुखः स्थितः ॥18॥

पद्मासन अथवा स्वस्तिकासन अथवा भद्रासन नामक योगासन को लगाकर उत्तर की ओर मुँह करके अच्छी तरह बैठना चाहिए।

नासिकापुटमङ्गुल्या पिधायैकेन मारुतम्।
आकृष्य धारयेदग्निं शब्दमेव विचिन्तयेत् ॥19॥

इसके बाद नासिका के दायें छिद्र को अँगूठे से दबाकर वायु को भीतर खींचकर मूलाधार के त्रिकोणाकार में अग्नि को धारण करते हुए शब्द का (ओंकार का) ही चिन्तन करते रहना चाहिए।

ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म ओमित्येतन्न रेचयेत्।
दिव्यमन्त्रेण बहुधा कुर्यादामलमुक्तये ॥20॥

यह प्रणव (ॐ) ही एकाक्षर ब्रह्म है। उस ॐकाररूप एकाक्षर ब्रह्म का भंग (रेचन) नहीं करना चाहिए। उसे सतत जपते रहना चाहिए। उस दिव्य मंत्र के द्वारा सब मलों की मुक्ति के लिए सतत प्रयत्न करते ही रहना चाहिए। (जप का सातत्य रहना चाहिए, उसका रेचन – विच्छेद – नहीं होना चाहिए।)

पश्चाद् ध्यायीत पूर्वोक्तक्रमशो मन्त्रविद् बुधः।
स्थूलादिस्थूलसूक्ष्मं च नाभेरूर्ध्वमुपक्रमः ॥21॥

इसके बाद मंत्रज्ञ बुद्धिमान मनुष्य को पहले बताए हुए क्रम के अनुसार नाभि के ऊपर के भाग में स्थित स्थूल पदार्थ से लेकर स्थूल से सूक्ष्म तक अर्थात् स्थूल से लेकर क्रमशः (अपेक्षाकृत) स्थूल से सूक्ष्म की ओर जाते-जाते अन्त में सूक्ष्मातिसूक्ष्म ब्रह्मतत्त्व का ध्यान करना चाहिए।

तिर्यगूर्ध्वमधोदृष्टिं विहाय च महामतिः।
स्थिरस्थायी विनिष्कम्पः सदा योगं समभ्यसेत् ॥22॥

उस बुद्धिमान मनुष्य को चाहिए कि वह अपनी दृष्टि को तिरछी, ऊँची या नीची न रखकर स्थिर रखे, और स्वयं स्थिर और अचल रहकर करके योग का अभ्यास करे।

तालमात्राविनिष्कम्पो धारणायोजनं तथा।
द्वादशमात्रो योगस्तु कालतो नियमः स्मृतः ॥23॥

ताल (प्राणवायु का पारम्परिक संगठन प्रकार), मात्रा (कालमाप), विनिष्कम्प (स्थैर्य), धारणा (प्राणवायु का स्थिरीकरण) और योजन (प्राणवायु का अग्नि से संयोग)—इन पाँचों बातों को योगी को समझ लेना चाहिए। यह योग बारह मात्रावाला माना जाता है। इस योग को पूर्ण करने में कालिक नियममर्यादा रखनी चाहिए।

अघोषमव्यञ्जनमस्वरं च अतालुकण्ठोष्ठमनासिकं च यत्।
अरेफजातमुभयोष्मवर्जितं यदक्षरं न क्षरते कथंचित् ॥24॥

घोषव्यंजनों से रहित, व्यंजनों से भी रहित, स्वरविहीन, कण्ठ-तालु-मूर्धा-दन्त्य-औष्ठ्य व्यंजनों से रहित, नासिक्य व्यंजनविहीन तथा रेफ (र कार) और ऊष्माक्षरों (श, ष, स) से भी रहित (ऐसे जो अक्षर ब्रह्म – प्रणव – ॐकार) है, वह कभी विकार को प्राप्त नहीं होता।

येनासौ गच्छते मार्गं प्राणस्तेनाभिगच्छति।
अतस्तमभ्यसेन्नित्यं यन्मार्गगमनाय वै ॥25॥

योगी पुरुष जिस मार्ग पर जाता है या जाना चाहता है, उसी मार्ग से प्राण भी योगी की इच्छानुसार जाता है। इसलिए जिस किसी वांछित मार्ग पर जाने के लिए सदैव योग का अभ्यास करना चाहिए।

हृद्द्वारं वायुद्वारं च मूर्धद्वारमथापरम्।
मोक्षद्वारं बिलं चैव सुषिरं मण्डलं विदुः ॥26॥

हृदय का द्वार, वायु का द्वार और मस्तक का द्वार, क्रमशः मोक्षद्वार, बिलद्वार और ब्रह्मरन्ध्र कहा जाता है।

भयं क्रोधमथालस्यमतिस्वप्नातिजागरम्।
अत्याहारमनाहारं नित्यं योगी विवर्जयेत् ॥27॥

योगी को सदैव भय, क्रोध, आलस्य, अति सोना, अति जगाना, बहुत खाना, बिल्कुल न खाना—इनको छोड़ देना चाहिए।

अनेन विधिना सम्यङ् नित्यमभ्यस्यते क्रमात्।
स्वयमुत्पद्यते ज्ञानं त्रिभिर्मासैर्न संशयः ॥28॥

इस प्रकार से अच्छी तरह से क्रमशः यदि नित्य अभ्यास किया जाए, तो तीन महीनों के भीतर ही ऐसे साधक को ज्ञान उत्पन्न हो जायगा, इसमें संशय नहीं।

चतुर्भिः पश्यते देवान् पञ्चभिर्विततः क्रमः।
इच्छयाप्नोति कैवल्यं षष्ठे मासि न संशयः ॥29॥

नित्य-नियमित अभ्यास करनेवाला वह साधक (योगी) चार मास में ही देवों का दर्शन करने लग जाता है। और पाँच महीनों में उसका सामर्थ्य विस्तृत प्रगतिवाला हो जाता है। और छठे महीने में तो अपनी इच्छा के अनुसार उसमें कैवल्यप्राप्ति का सामर्थ्य आ जाता है, इसमें कोई संशय नहीं है।

पार्थिवः पञ्चमात्रस्तु चतुर्मात्रस्तु वारुणः।
आग्नेयस्तु त्रिमात्रोऽसौ वायव्यस्तु द्विमात्रकः ॥30॥

पृथ्वी तत्त्व की धारणा करते समय इस ओंकार का उच्चारण पाँच मात्रा तक करना चाहिए, जलतत्त्व की धारणा करते समय चार मात्रा तक उच्चारण करना चाहिए, तेज की धारणा करते समय तीन मात्रा तक का और वायु की धारणा करते समय दो मात्राओं तक का उच्चारण करना चाहिए। (या उन-उन मात्राओं तक ध्यान करना चाहिए)।

एकमात्रस्तथाकाशो ह्यर्धमात्रं तु चिन्तयेत्।
संधिं कृत्वा तु मनसा चिन्तयेदात्मनात्मनि ॥31॥

आकाश की धारणा करते समय एक मात्रा तक तथा स्वयं ओंकार (प्रणव) की धारण करते समय अर्धमात्रा के परिमाण में ध्यान या उच्चारण करना चाहिए। मन से फिर उसे जोड़कर आत्मा के द्वारा अन्तःकरण में ही उसका चिन्तन करना चाहिए।

त्रिंशत्सार्धाङ्गुलः प्राणो यत्र प्राणैः प्रतिष्ठितः।
एष प्राण इति ख्यातो बाह्यप्राणस्य गोचरः ॥32॥

मूलाधार से कण्ठ तक साढे तीस अंगुलि के परिमाण का यह प्राण श्वासों के रूप में जिसमें प्रतिष्ठित हुआ है, वही वास्तविक प्राण है और बाह्य प्राण का वह विषय है।

अशीतिश्च शतं चैव सहस्राणि त्रयोदश।
लक्षश्चैको विनिश्वास अहोरात्रप्रमाणतः ॥33॥

इस बाह्य प्राण में एक लाख तेरह हजार छः सौ अस्सी निःश्वासों (श्वास-प्रश्वासों) का आवागमन एक रात और दिन में होता है।

प्राण आद्यो हृदि स्थाने अपानस्तु पुनर्गुदे।
समानो नाभिदेशे तु उदानः कण्ठमाश्रितः ॥34॥

आदि प्राण हृदय में, अपान गुदा में, समान नाभिदेश में और उदान कण्ठ में रहता है।

व्यानः सर्वेषु चाङ्गेषु व्याप्य तिष्ठति सर्वदा।
अथ वर्णास्तु पञ्चानां प्राणादीनामनुक्रमात् ॥35॥

व्यान सदैव सभी अंगों में व्याप्त होकर रहता है। अब पाँचों प्राणों के वर्ण क्रमशः कहे जाते हैं।

रक्तवर्णो मणिप्रख्यः प्राणवायुः प्रकीर्तितः।
अपानस्तस्य मध्ये तु इन्द्रकोपसमप्रभः ॥36॥

प्राणवायु को लाल मणि के समान लाल वर्ण का कहा गया है और अपानवायु को गुदा के बीचोबीच इन्द्रगोप (बीरबहूटी) नामक गाढे लाल रंग वाले एक बरसाती कीड़े के रंग का माना गया है।

समानस्तु द्वयोर्मध्ये गोक्षीरधवलप्रभः।
अपाण्डुर उदानश्च व्यानो ह्यर्चिसमप्रभः ॥37॥

इन दोनों के बाद समान गाय के दूध जैसा सफेद रंगवाला है और उदान फीके पीले रंग वाला है, तथा व्यान अग्निज्वाला जैसे रंगवाला है।

यस्येदं मण्डलं भित्वा मारुतो याति मूर्धनि।
यत्र कुत्र म्रियेद्वापि न स भूयोऽभिजायते॥
न स भूयोऽभिजायत इत्युपनिषत् ॥38॥

इत्यमृतनादोपनिषत् समाप्ता।
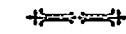
इस वायुमण्डल को भेदकर जिस साधक (योगी) का प्राण ब्रह्मरन्ध्र में पहुँच जाता है, वह जहाँ कहीं पर भी मरे, तो वह फिर से नहीं जन्मता, नहीं जन्मता।

यहाँ अमृतनाद उपनिषत् पूरी हुई।

शान्तिपाठः

ॐ सह नाववतु। सह नौ.........मा विद्विषावहै। (पूर्ववत्)
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः॥

(22) अथर्वशिर उपनिषत्

(उपनिषत्परिचय)

यह अथर्ववेदीय उपनिषद् है। इसमें देवों की रुद्रस्वरूप के विषय में जिज्ञासा, रुद्रैकत्व का प्रतिपादन, रुद्र की सर्वात्मता, रुद्रज्ञान का फल आदि विषय हैं। देवों की रुद्रस्तुति, देवों की रुद्रप्रार्थना, आदि के साथ शंकर, प्रणव, सर्वव्यापिता, अनन्त, तार, सूक्ष्म, वैद्युत, परब्रह्म, एक, एकोरुद्र, ईशान, भगवत् महेश्वर महादेव आदि शब्दों के अर्थ भी स्पष्ट किए गए हैं। रुद्र की व्यापकता, उपासना का फल, तृष्णावालों के लिए शान्ति के उपाय, महापाशुपत का व्रत आदि विषय भी दिए गए हैं। छोटी-मोटी 70 गद्यकण्डिकाएँ इस उपनिषत् में शामिल है। इसकी तीन-चार प्रकार की वाचनाएँ मिलती हैं।

शान्तिपाठः

ॐ भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः।
स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवाꣳसस्तनूभिर्व्यशेमहि देवहितं यदायुः॥
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः॥

हे देवो! हम अपने कानों से केवल कल्याणकारी बातें ही सुना करें। जिन्हें हम पूजते है, ऐसे हे देवो! हम अपनी आँखों से केवल शुभ दृश्यों को ही देखा करें। हम अपने सुदृढ़ अंगों से युक्त शरीर के द्वारा आयुष्यपर्यन्त आपकी स्तुति करते रहें। हम देवों का दिया हुआ जितना आयुष्य है, उसे भोगते रहें।

त्रिविध (आधिभौतिक, आधिदैविक, आध्यात्मिक) तापों की शान्ति हो।

ॐ स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवाः स्वस्ति नः पूषा विश्ववेदाः।
स्वस्ति नस्तार्क्ष्यो अरिष्टनेमिः स्वस्ति नो बृहस्पतिर्दधातु।
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः॥

महान् कीर्तिशाली इन्द्र हमारा कल्याण करें। सर्वज्ञ पूषा देवता हमारा कल्याण करें। अरिष्टनेमि, (अप्रतिहतगति) गरुडदेव और बृहस्पति हमारा कल्याण करें। हमारे त्रिविध तापों की शान्ति हो।

देवा ह वै स्वर्गं लोकमगमंस्ते देवा रुद्रमपृच्छन्—को भवानिति ॥1॥

देवगण स्वर्गलोक में गए और वहाँ जाकर रुद्र से उन्होंने पूछा—आप कौन हैं ?

सोऽब्रवीदहमेकः प्रथममासं वर्तामि भविष्यामि च। नान्यः कश्चिन्मत्तो व्यतिरिक्त इति ॥2॥

उसने कहा—'मैं अकेला ही था, अभी भी हूँ और भविष्य में भी होऊँगा। मुझसे अतिरिक्त कोई है ही नहीं'।

सोऽन्तरादन्तरं प्राविशत् दिशश्चान्तरं प्राविशत् ॥3॥

जो भीतर से भी भीतर प्रविष्ट हुआ है, जो दिशाओं के भीतर भी प्रविष्ट है (वह मैं ही हूँ)।

सोऽहं नित्यानित्योऽहं व्यक्ताव्यक्तो ब्रह्माहमब्रह्माहं प्राञ्चः प्रत्यञ्चोऽहं दक्षिणाञ्चोदञ्चोऽहमधश्चोर्ध्वं चाहं दिशश्च प्रतिदिशश्चाहं पुमानपुमान् स्त्रियश्चाहं गायत्र्यहं सावित्र्यहं सरस्वत्यहं त्रिष्टुब्जगत्यनुष्टुप् चाहं छन्दोऽहं गार्हपत्यो दक्षिणाग्निराहवनीयोऽहं सत्योऽहं गौरहं गौर्यहमृगहं यजुरहं सामाहमथर्वाङ्गिरसोऽहं ज्येष्ठोऽहं श्रेष्ठोऽहं वरिष्ठोऽहमपापोऽहं तेजोऽहं गुह्योऽहमरण्योऽहमक्षरमहं क्षरमहं पुष्करमहं पवित्रमहमग्रं च मध्यं च बहिश्च पुरस्ताज्ज्योतिरित्यहमेव च सर्वे मामेव ॥4॥

नित्य-अनित्य, व्यक्त-अव्यक्त, ब्रह्म-अब्रह्म–सब मैं ही हूँ। मैं ही पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण, ऊर्ध्व, अधो आदि दिशाएँ तथा विदिशाएँ भी हूँ। पुरुष, अपुरुष और स्त्री भी मैं हूँ। मैं ही गायत्री, सावित्री और सरस्वती हूँ। त्रिष्टुप्, जगती, अनुष्टुप् आदि छन्द भी मैं ही हूँ। गार्हपत्य, दक्षिणाग्नि तथा आहवनीय अग्नि भी मैं ही हूँ। सत्य, गौ, गौरी, ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद मैं ही हूँ। ज्येष्ठ, श्रेष्ठ, वरिष्ठ और निष्पाप मैं हूँ। मैं जल हूँ, मैं तेज हूँ, क्षर-अक्षर भी मैं हूँ। छिपाने योग्य और छिपाया हुआ भी मैं हूँ। मैं पवित्र हूँ। अग्र, मध्य, बाहर, सामने, दसों दिशाओं में अवस्थित और अनवस्थित ज्योतिरूप शक्ति मुझे ही मानना चाहिए।

मां यो वेद सर्वान् देवान् वेद। गां गोभिर्ब्राह्मणान् ब्राह्मण्येन हवींषि हविषाऽऽयुरायुषा सत्यं सत्येन धर्मं धर्मेण तर्पयामि तर्पयामि ॥5॥

इस प्रकार जो मुझे जानता है वह समस्त देवों को जानता है। मैं गाय को गोत्व से, ब्राह्मणों को ब्राह्मणत्व से, हवि को हविष्य से, आयु को आयुष से, सत्य को सत्य से और धर्म को धर्म से सन्तुष्ट करता हूँ। (कहीं पर 'देवान् वेद' के पश्चात् 'सर्वांश्च वेदान्सांगानपि'—ऐसा पाठ भी मिलता है, वहाँ पर 'अंग सहित सभी वेदों को भी' इतना अधिक जोड़ देना चाहिए)।

स्वेन तेजसा ततो देवा रुद्रं नापश्यन्। ते देवा रुद्रं ध्यायन्ति। ततो देवा ऊर्ध्वबाहवः स्तुवन्ति–ॐ यो ह वै देवः स भगवान् यश्च ब्रह्मा भूर्भुवः स्वः तस्मै वै नमो नमः। शीर्षञ्जनर्दो विश्वरूपोऽसि ॥6॥

प्रौढ प्रकाशवाले उसके तेज की वजह से देवलोग उस रुद्र को देख न पाए। इसलिए वे उसका ध्यान करने लगे। तब वे अपने हाथ ऊँचे करके ऐसी स्तुति करने लगे—'जो देव रुद्र भगवान् हैं, वे ही ब्रह्मा है, वह विश्वरूप है।' (इस स्तुतिमंत्र के पहले 'ॐ भूर्भुवः स्वः' ऐसी व्याहृतियाँ और अन्त में 'तस्मै नमो नमः'—ऐसा पद जोड़कर मंत्र पूर्ण करना चाहिए)।

ॐ यो वै रुद्रः स भगवान् यश्च ब्रह्मा तस्मै वै नमो नमः ॥7॥
ॐ यो वै रुद्रः स भगवान् यश्च विष्णुः तस्मै वै नमो नमः ॥8॥
ॐ यो वै रुद्रः स भगवान् यश्च स्कन्दः तस्मै वै नमो नमः ॥9॥
ॐ यो वै रुद्रः स भगवान् यश्चेन्द्रः तस्मै वै नमो नमः ॥10॥
ॐ यो वै रुद्रः स भगवान् यश्चाग्निः तस्मै वै नमो नमः ॥11॥
ॐ यो वै रुद्रः भगवान् यश्च वायुः तस्मै वै नमो नमः ॥12॥
ॐ यो ह वै रुद्रः स भगवान् यश्च विनायकः तस्मै वै नमो नमः ॥13॥

ॐ यो ह वै रुद्रः स भगवान् या चोमा तस्मै वै नमो नमः ॥14॥
ॐ यो ह वै रुद्रः स भगवान् यश्च महेश्वरः तस्मै वै नमो नमः ॥15॥
ॐ यो ह वै रुद्रः स भगवान् यश्च भूः तस्मै वै नमो नमः ॥16॥
ॐ यो ह वै रुद्रः स भगवान् यश्च भुवः तस्मै वै नमो नमः ॥17॥
ॐ यो ह वै रुद्रः स भगवान् यश्च सुवः तस्मै वै नमो नमः ॥18॥
ॐ यो ह वै रुद्रः स भगवान् यश्च महः तस्मै वै नमो नमः ॥19॥
ॐ यो ह वै रुद्रः स भगवान् यश्च जनः तस्मै वै नमो नमः ॥20॥
ॐ यो ह वै रुद्रः स भगवान् यश्च तपः तस्मै वै नमो नमः ॥21॥
ॐ यो ह वै रुद्रः स भगवान् यश्च सत्यं तस्मै वै नमो नमः ॥22॥
ॐ यो ह वै रुद्रः स भगवान् या च पृथिवी तस्मै वै नमो नमः ॥23॥
ॐ यो ह वै रुद्रः स भगवान् याश्चापः तस्मै वै नमो नमः ॥24॥
ॐ यो ह वै रुद्रः स भगवान् यच्च तेजः तस्मै वै नमो नमः ॥25॥
ॐ यो ह वै रुद्रः स भगवान् यश्च वायुः तस्मै वै नमो नमः ॥26॥
ॐ यो ह वै रुद्रः स भगवान् यश्च आकाशं तस्मै वै नमो नमः ॥27॥
ॐ यो ह वै रुद्रः स भगवान् यश्च सूर्यः तस्मै वै नमो नमः ॥28॥
ॐ यो ह वै रुद्रः स भगवान् यश्च सोमः तस्मै वै नमो नमः ॥29॥
ॐ यो ह वै रुद्रः स भगवान् यानि च नक्षत्राणि तस्मै वै नमो नमः ॥30॥
ॐ यो ह वै रुद्रः स भगवान् ये चाष्टौ ग्रहाः तस्मै वै नमो नमः ॥31॥
ॐ यो ह वै रुद्रः स भगवान् यश्च प्राणः तस्मै वै नमो नमः ॥32॥
ॐ यो ह वै रुद्रः स भगवान् यश्च कालः तस्मै वै नमो नमः ॥33॥
ॐ यो ह वै रुद्रः स भगवान् यश्च यमः तस्मै वै नमो नमः ॥34॥
ॐ यो ह वै रुद्रः स भगवान् यश्च मृत्युः तस्मै वै नमो नमः ॥35॥
ॐ यो ह वै रुद्रः स भगवान् यश्चामृतं तस्मै वै नमो नमः ॥36॥
ॐ यो ह वै रुद्रः स भगवान् यच्च भूतं, भव्यं वर्तमानं तस्मै वै नमो नमः ॥37॥
ॐ यो ह वै रुद्रः स भगवान् यश्च विश्वं तस्मै वै नमो नमः ॥38॥
ॐ यो ह वै रुद्रः स भगवान् यच्च कृत्स्नं सर्वं सत्यं तस्मै वै नमो नमः ॥39॥

(अब 7 से 39 मंत्रों की स्तुति दी जा रही है—)

हे भगवान् रुद्र ! आप ब्रह्मा, विष्णु, स्कन्द, इन्द्र, अग्नि, वायु, विनायक, उमा, महेश्वर, भूः, भुवः, स्वः, महः, जनः, तपः, सत्य, पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश, सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र, ग्रह, प्राण, काल, यम, मृत्यु, अमृत, भूत-भव्य-वर्तमान, विश्व, कृत्स्न-सर्व-सत्य स्वरूप हैं। ऐसे आप (सर्वरूप) को हम बार-बार नमस्कार करते हैं।

[अलग-अलग वाचनाओं में इस प्रार्थना के विशेषणों का क्रम अव्यवस्थित-सा (उल्टा-सीधा) मिलता है। प्रार्थना के कुछ विशेषणों में भी भारी भेद देखा गया है। यहाँ किसी विशेषण की पुनरावृत्ति न हो और जो विशेषण सामान्यतः सभी आवृत्तियों में पाए जाते हैं उन्हीं का संग्रह करके यथासम्भव प्रामाणिक सूची बनाने का प्रयास किया गया है तथा यथासाध्य उनके क्रम का भी रक्षण करने का प्रयास किया गया है।]

ब्रह्मैकस्त्वं द्वित्रिधोर्ध्वमधश्च त्वं शान्तिश्च त्वं पुष्टिश्च त्वं तुष्टिश्च त्वं हुतमहुतं विश्वमविश्वं दत्तमदत्तं कृतमकृतं परमपरं परायणं चेति ॥40॥

तू ही एकमात्र ब्रह्म है। दो-तीन आदि संख्या भी तू ही है। ऊपर-नीचे भी तू ही है। तू ही शान्ति, पुष्टि, तुष्टि, हुत-अहुत, विश्व-अविश्व, दान-अदान, सकाम-निष्काम कर्म और सबका परम आश्रय भी तू ही है। (कुछ वाचनाओं में 'भूस्ते आदिर्मध्यं भुवस्ते स्वस्ते शीर्षम्'—यह अधिक पाठ है। इसका अर्थ यह है—हे भगवन्! ये 'भूर्लोक' आपका आदि, 'भुवः' आपका मध्य और 'स्वः' आपका मस्तक है)।

अपाम सोमममृता अभूमागन्म ज्योतिरविदाम देवान्।
किं नूनमस्मान् कृणवदरातिः किमु धूर्तिरमृत मर्त्यस्य ॥41॥

हे अमृतस्वरूप रुद्र ! आपकी कृपा से हम सोमरस का पान करें, हम उससे अमर हो जाएँ, हम ज्ञानरूप ज्योति को प्राप्त करें, हम देवताओं को पहचानें। अब हमारा शत्रु हमें क्या क्षति पहुँचा सकता है ? मरणशील मुझे दुष्कृति भी तो (आपका अनुग्रह होने पर) क्या कर सकती है ?

(सोमसूर्यपुरस्तात् सूक्ष्मः पुरुषः।) सर्वजगद्धितं वा एतदक्षरं प्राजापत्यं सौम्यं सूक्ष्मं पुरुषमग्राह्यमग्राह्येण वायुं वायव्येन सोमं सौम्येन ग्रसति स्वेन तेजसा तस्मा उपसंहर्त्रे महाग्रासाय वै नमो नमः ॥42॥

(हे देव ! आप सोम और चन्द्र से भी पहले के सूक्ष्म पुरुष हैं।) यह अक्षर (आप) सर्व जगत् का हित करनेवाला, प्रजापतिथां के द्वारा स्तवनीय, सूक्ष्म सौम्य पुरुष हैं, जो अपने तेज से अग्राह्य को अग्राह्य से, भाव को भाव से, सौम्य को सौम्य से, सूक्ष्म को सूक्ष्म से, वायु को वायु से ग्रस लेते हैं। ऐसे महाग्रास करनेवाले आप रुद्र भगवान् को नमस्कार है। नमस्कार है।

हृदिस्था देवताः सर्वा हृदि प्राणाः प्रतिष्ठिताः।
हृदि त्वमसि यो नित्यं तिस्रो भावाः परस्तु सः ॥43॥

आपके हृदय में ही सभी देवता निवास करते हैं, प्राण भी आपके हृदय में प्रतिष्ठित हैं। हृदय में रहते हुए आप तीनों (अ, उ, म) मात्राओं से परे ही हैं।

तस्योत्तरतः शिरो दक्षिणतः पादौ य उत्तरतः स ओङ्कारः, स प्रणवः स सर्वव्यापी, यः सर्वव्यापी सोऽनन्तो योऽनन्तो तत्तारं यत्तारं तत् सूक्ष्मं यत् सूक्ष्मं तच्छुक्लं यच्छुक्लं तद्वैद्युतं यद्वैद्युतं तत् परं ब्रह्म यत् परं ब्रह्म स एकः य एकः स रुद्रः यो रुद्रः स ईशानो य ईशानः स भगवान् महेश्वरः (स भगवान् महादेवः) ॥44॥

हृदय में रहते हुए उसका सिर उत्तर में है, दोनों चरण दक्षिण में हैं, वह ओंकार है। उसे ही 'प्रणव' कहते हैं। वही सर्वव्यापी है, सर्वव्यापी ही अनन्त है, अनन्त ही तारक है, जो तारक है वही सूक्ष्म है, जो सूक्ष्म है वही शुक्ल है, जो शुक्ल है वही विद्युत् है, जो विद्युत है वही परब्रह्म है, जो

परब्रह्म है वही एकरूप है जो एकरूप है वही रुद्र है, जो रुद्र है वही ईशान रूप है, जो ईशानरूप है वही भगवान् महेश्वररूप है (वही भगवान् महादेव है)।

अथ कस्मादुच्यत ओङ्कारो यस्मादुच्चार्यमाण एव प्राणानूर्ध्वमाक्रमयति तस्मादुच्यत ओङ्कारः ॥45॥

ठीक, तो उसे 'ओंकार' क्यों कहा जाता है? इसीलिए कि उच्चारण किये जाने से प्राणों को ऊँचे खींचना पड़ता है। इसलिए उसे 'ओङ्कार' कहा जाता है।

अथ कस्मादुच्यते प्रणवो यस्मादुच्चार्यमाण एव ऋग्यजुःसामाथर्वाङ्गि-रसो ब्रह्म ब्राह्मणेभ्यः प्रणामयति नामयति च तस्मादुच्यते प्रणवः ॥46॥

तब उसे 'प्रणव' क्यों कहा जाता है ? इसलिए कि उसका उच्चारण किए जाने पर ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेदांगिरस और ब्राह्मणों को प्रणाम करवाया जाता है। अर्थात् इसका उपयोग उनको नमस्कार करवाने के लिए किया जाता है, इसलिए उसे प्रणव कहा जाता है।

अथ कस्मादुच्यते सर्वव्यापीति यस्मादुच्चार्यमाण एव सर्वाल्लोकान् व्याप्नोति स्नेहो यथा पललपिण्डमिव शान्तरूपमोतप्रोतमनुप्राप्तो व्यतिषिक्तश्च तस्मादुच्यते सर्वव्यापी ॥47॥

तो फिर वह 'सर्वव्यापी' क्यों कहा जाता है ? इसलिए कि उसका उच्चारण किए जाने पर वह सभी लोकों में व्याप्त हो जाता है। जैसे (काष्ठ में अग्नि या) तिल में तेल के समान वह सबमें व्याप्त हो जाता है, उसी तरह यह आत्मा सबको जोड़े हुए सबमें एक साथ रहता है। इसलिए इसे सर्वव्यापी कहा गया है।

अथ कस्मादुच्यते अनन्तो यस्मादुच्चार्यमाण एवाद्यन्तं नोपलभ्यते। तिर्यगूर्ध्वमधस्तात्तस्मादुच्यते अनन्त इति ॥48॥

इसे 'अनन्त' क्यों कहा जाता है ? इसलिए कि इसका उच्चारण करने से ही उच्चारणरूप अविद्या कार्य का अन्त-आदि होने पर भी उस उच्चरित का आदि और अन्त नहीं देखा जाता है। अतः यह 'अनन्त' ऐसा कहा गया है।

अथ कस्मादुच्यते तारं यस्मादुच्चार्यमाण एव गर्भजन्मजरामरण-संसारमहाभयात् संतारयति तस्मादुच्यते तारम् ॥49॥

इसे 'तार' क्यों कहा जाता है ? इसलिए कि इसके उच्चारण करने मात्र से ही वह गर्भवास, जन्म, जरा, मरण, संसार के महाभय से तार देता है अर्थात् छुटकारा प्राप्त करा देता है, इसलिए उसे 'तार' कहा जाता है।

अथ कस्मादुच्यते सूक्ष्मं यस्मादुच्चार्यमाण एव सूक्ष्मो भूत्वा परशरीरा-ण्येवाधितिष्ठति तस्मादुच्यते सूक्ष्मम् ॥50॥

उसे 'सूक्ष्म' क्यों कहा जाता है ? इसलिए कि उसका उच्चारण करने से साधक सूक्ष्म होकर अन्यों के शरीर में भी अधिष्ठित रह सकता है। इसीलिए वह सूक्ष्म कहा जाता है।

अथ कस्मादुच्यते शुक्लं यस्मादुच्चार्यमाण एव क्लन्दते क्लामयते तस्मादुच्यते शुक्लम् ॥51॥

उसे तब 'शुक्ल' क्यों कहा जाता है ? इसलिए कि उसका उच्चारण करने से अपने रूप से वह प्रकाशित हो जाता है तथा अन्य विषयों को भी प्रकाशित कर देता है, इसलिए उसे शुक्ल (प्रकाशरूप–स्वयंप्रकाश) कहा जाता है।

अथ कस्मादुच्यते वैद्युतं यस्मादुच्चार्यमाण एवातितमसि शरीरं विद्योतयति तस्मादुच्यते वैद्युतम् ॥52॥

उसे 'वैद्युत' क्यों कहा जाता है? इसलिए कि उसका उच्चारण करने से ही गाढ तमस् (अन्धकार) में रहा हुआ शरीर प्रकाशित हो उठता है। गाढ अज्ञानान्धकार में नहीं दीखने वाला आत्मतत्त्व 'नेति नेति' की 'अतद्व्यावृत्ति' से प्रकाशित होता है।

अथ कस्मादुच्यते परं ब्रह्म यस्मादुच्चार्यमाण एव बृहति बृंहयति तस्मा-दुच्यते परं ब्रह्म ॥53॥

तब इसे 'परब्रह्म' क्यों कहा जाता है ? इसलिए कि इसका उच्चारण करने से ही वह अपने से अतिरिक्त बाकी सबका भक्षण कर लेता है, और स्वयं सर्वोत्कृष्ट भाव से रहता है इसलिए उसे परब्रह्म कहा जाता है।

अथ कस्मादुच्यत एको यः सर्वान् लोकानुद्गृह्णात्यजस्त्रं सृजति विसृजति वासयति तस्मादुच्यत एकः ॥54॥

अब उसे 'एक' क्यों कहा जाता है ? इसलिए कि वह सभी लोकों का उपसंहार करता है। बार-बार सर्जन करता रहता है। स्थूल-सूक्ष्म रूप से ऐसा बार-बार करता रहता है और जगत् की स्थूल-सूक्ष्म भाव से स्थिति भी करता रहता है। अर्थात् स्वयं सर्वश्रेष्ठ होकर अन्य का सर्जन-विसर्जन करता ही रहता है।

कहीं-कहीं उक्त मंत्र के बदले नीचे दिया गया मंत्र मिलता है—

[अथ कस्मादुच्यत एको यः सर्वान्प्राणान्सम्भक्ष्य सम्भक्षणेनाजः संसृजति विसृजति च। तीर्थमेके व्रजन्ति तीर्थमेके दक्षिणाः प्रत्यञ्च उदञ्चः प्राञ्चोभिव्रजन्त्येके तेषां सर्वेषामिह संगतिः। साकं एको भूतश्चरति तस्मादुच्यत एकः।]

[इस परमतत्त्व ब्रह्म को 'एक' इसलिए कहा जाता है कि वह सभी प्राणियों का भक्षण करके, स्वयं अजन्मा रहते हुए उत्पत्ति और विनाश करता रहता है। समस्त तीर्थों में वह 'एक' ही विद्यमान तत्त्व होता है। बहुत से लोग पूर्व-पश्चिम-उत्तर-दक्षिण आदि दिशाओं में परिभ्रमण किया करते हैं। वहाँ भी उनकी सद्गति का कारण तो यह 'एक' ही तत्त्व है। समस्त प्राणियों में एकरूप से निवास करते हुए अवस्थित होने से 'एक' कहा जाता है।]

अथ कस्मादुच्यते रुद्रः ? एक एव रुद्रो न द्वितीयाय तस्थुः इमान् लोकानीशत ईशनीयुर्जननीयुः। प्रत्यङ्जनास्तिष्ठति सञ्चुकोचान्तकाले, संसृज्य विश्वा भुवनेषु गोप्ता। तस्मादुच्यत एको रुद्रः ॥55॥

इस रुद्र को 'एकरुद्र' क्यों कहा गया है? इसलिए कि वह एक ही रुद्र है, उसके अतिरिक्त अविद्या कार्य है ही नहीं। फिर भी मूल बीज के अंश के योग से ईश्वरत्व को धारण करके वह इन लोकों के ऊपर शासन चलाता है। ये सब लोक ईश्वर से ही उत्पन्न हों और ईश्वर के द्वारा ही अपने-अपने कार्यों को करने में समर्थ हों। यह ईश्वर प्रत्येक मनुष्य के हृदय में रहता है। प्रलयकाल में विश्व का संहार करके फिर सृष्टिकाल में उसका सर्जन करता है और रक्षण करता है।

कहीं-कहीं यह मंत्र अधिक मिलता है—

[अथ कस्मादुच्यते रुद्रः यस्मादृषिभिर्नान्यैर्भक्तैर्द्रुतमस्य रूपमुपलभ्यते। तस्मादुच्यते रुद्रः ॥]

[अर्थात् इसे रुद्र क्यों कहा जाता है? इसलिए कि इसका रूप ऋषियों द्वारा ही देखा जा सकता है, भक्तों के द्वारा नहीं, इसलिए इसे रुद्र कहा गया है।]

अथ कस्मादुच्यत ईशानो यः सर्वान् लोकानीशत ईशनीभिः। जननीभिः परमशक्तिभिः ॥56॥

उसे 'ईशान' क्यों कहा जाता है? इसलिए कि वह समस्त देवों तथा उनकी शक्तियों पर अपना प्रभुत्व रखता है। इसे 'ईशान' क्यों कहा जाता है? इसलिए कि वह समस्त देवों और मनुष्यों की शक्तियों पर अपना वर्चस् रखता है।

अभि त्वा शूर नो नुमो दुग्धा इव धेनवः।
ईशानमस्य जगतः सुवर्दृशमीशानमिन्द्र तस्थुषः ॥
तस्मादुच्यत ईशानः ॥57॥

इसलिए हे रुद्र! शूर-वीर ऐसे आपकी हम इस प्रकार स्तुति करते हैं जिस प्रकार दूध प्राप्त करने के लिए गायों को प्रसन्न किया जाता है। हे रुद्र! आप ही इन्द्ररूप होकर स्थावर-जंगम संसार के ईश हैं और दिव्यदृष्टि से सम्पन्न हैं, इसी कारण आपको 'ईशान' नाम से सम्बोधित किया जाता है।

अथ कस्मादुच्यते भगवान् यः सर्वान् भावान् निरीक्षित्यात्मज्ञानं निरीक्ष्यति योगं गमयति तस्मादुच्यते भगवान् ॥58॥

अब 'भगवान्' क्यों कहा जाता है? इसलिए कि वह अपने ही अंश से उत्पन्न हुए सभी भावों को (जीवों को जीवभाव से) मुक्त करके फिर अपने साथ ऐक्य की प्राप्ति के लिए योग्य उपदेश और साधना की ओर प्रेरित करते हैं, इसलिए भगवान् कहा गया है।

अथ कस्मादुच्यते महेश्वरो यः सर्वान् लोकान् सम्भक्षः। सम्भक्षयत्यजस्त्रं सृजति विसृजति वासयति तस्मादुच्यते महेश्वरः ॥59॥

उसे 'महेश्वर' क्यों कहा जाता है? इसलिए कि वह सभी लोगों का (लोकों का भी) उपसंहर्ता है। वह निरन्तर संहार करता रहता है, निरन्तर सर्जन करता रहता है फिर से बार-बार विसर्जन करता रहता है तथा सब लोगों को टिकाए भी रखता है इसीलिए उसका नाम महेश्वर कहा गया है।

[58, 59 और 60—इन तीन मंत्रों को सम्मिलित करके (एक मंत्र बना करके) कहीं-कहीं पर संयुक्त अर्थ किया गया है, पर उसमें स्पष्टता नहीं दिखती।]

अथ कस्मादुच्यते महादेवो यः सर्वान् भावान् परित्यज्यात्मज्ञानयोगैश्वर्ये महति महीयते तस्मादुच्यते महादेवः ॥60॥

उसे 'महादेव' क्यों कहा गया है? इसलिए कि वह अपने सिवा सभी अस्तित्वों को छोड़कर आत्मज्ञानरूपी योगैश्वर्य में आनंद लेता है, इसीलिए उसे 'महादेव' कहा गया है।

तदेतद्रुदचरिम्—
एको हि देवः प्रदिशो नु सर्वाः पूर्वो हि जातः स उ गर्भे अन्तः।
स विजायमानः स जनिष्यमाणः प्रत्यङ्जनास्तिष्ठति विश्वतोमुखः ॥61॥

एक ही ऐसा देवता है, जो समस्त दिशाओं में निवास करता है। सर्वप्रथम उसी का आविर्भाव हुआ है। मध्य में और अन्त में वही अवस्थित रहता है। वही उत्पन्न होता है और भविष्य में भी वही उत्पन्न होगा। वही सबमें व्याप्त होकर रहा है। वह सभी जगह मुँहवाला है।

विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतोमुखो विश्वतोबाहुरुत विश्वतस्पात्।
सं बाहुभ्यां धमति सम्पतत्रैर्द्यावाभूमी जनयन् देव एकः ॥62॥

चारों ओर आँखों वाला, चारों ओर मुखवाला, चारों ओर हाथोंवाला, चारों ओर पैरों वाला वह रुद्र ही अपने हाथों से सभी प्राणियों का संयोजन (व्यवस्था) अकेला ही करता है। सचमुच ही वह एक ही होकर चलाता है।

एतदुपासितव्यं यद्वाचो वदन्ति तदेव ग्राह्यम्।
अयं पन्था वितत उत्तरेण येन देवा येन ऋषयो येन पितरः प्राप्नुवन्ति परमपरं नारायणं च ॥63॥

जिसके सम्बन्ध में श्रुतियाँ कहती हैं वही ब्रह्म उपासना करने योग्य है, वही ग्रहण करने योग्य है। यही एकमात्र मार्ग उत्तर का मार्ग सुप्रसिद्ध है कि जिसके द्वारा देव, ऋषि, पितर नारायणरूप परमपद को प्राप्त होते हैं।

बालाग्रमात्रं हृदयस्य मध्ये विश्वं देवं जातवेदं वरेण्यम्।
तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरास्तेषां शान्तिः शाश्वती नेतरेषाम् ॥64॥

हृदय के बीच बाल की नोंक के समान सूक्ष्म, स्वप्रकाश, विश्व, सर्वज्ञ और वरणीय देव को जो धीर पुरुष देख लेते हैं, उन्हीं को शाश्वत शान्ति मिलती है। अन्य लोगों को ऐसी शान्ति नहीं मिलती।

यो योनिं योनिमधितिष्ठत्येको येनेदं पूर्णं पञ्चविधं च सर्वम्।
तमीशानं पुरुषं देवमीड्यं निदिध्या(या)त्तारं शान्तिमत्यन्तमेति ॥65॥

जो अकेला रहकर भी विविध शरीरों में अधिष्ठित रहता है, जिसके द्वारा यह पंचभूतात्मक जगत् व्याप्त रहता है, ऐसे ईश्वर (शासक) पूजनीय (स्तवनीय) पुरुष का (परमात्मा का) निदिध्यासन (ध्यान) करना चाहिए और वह साधक परमोच्च शान्ति (कैवल्य) को प्राप्त करता है।

प्राणेष्वन्तर्मनसो लिङ्गमाहुर्यस्मिन् क्रोधो या च तृष्णाऽक्षमा च।
तृष्णां छित्त्वा हेतुजालस्य मूलं बुद्ध्या सञ्चिन्त्य स्थापयित्वा तु रुद्र एकत्वमाहुः ॥66॥

सभी प्राणियों के हृदय में क्रोध, तृष्णा और अक्षमा आदि मन का चिह्न हैं, ऐसा तत्त्वज्ञानी लोग कहते हैं। उनमें से संसार के हेतुरूप जाल का कारण जो तृष्णा है, उसे काटकर, बुद्धि से सोचकर और मन में जो स्थापित किया जाता है वही हे रुद्र! एकत्व है।

रुद्र शाश्वतं वै पुराणमिषमूर्जं तपसा नियच्छत। व्रतमेतत् पाशुपतम्। अग्निरिति भस्म वायुरिति भस्म जलमिति भस्म स्थलमिति भस्म व्योमेति भस्म। सर्वं ह वा इदं भस्म मन इत्यानि चक्षूंषि भस्मानीत्यग्निरित्यादिना भस्म गृहीत्वा विसृज्याङ्गानि संस्पृशेत्तस्माद् व्रतमेतत् पाशुपतम् ॥67॥

अरे स्वयं को नहीं जानने वाले लोगो! तुम लोग मन में ऐसा निश्चय कर लो कि–'जो कुछ शाश्वत है, (इषम् =) इच्छामय है, ऊर्जस्वी है, वह सब रुद्र ही हैं।' यह पाशुपत व्रत हैं। इस शाश्वत रुद्र—परमात्मा के सिवा अग्नि, वायु, जल, थल, यह समस्त जगत् और मन-इन्द्रियादि सब कुछ भस्म ही है, ऐसा अग्नि आदि मंत्र से सबको भस्म (तुच्छ ही) मानकर इन सबका त्याग करके अपने अंगों का स्पर्श करना चाहिए। इसलिए यह पाशुपत व्रत कहा गया है।

पशुपाशविमोक्षाय योऽथर्वशिरसं ब्राह्मणोऽधीते सोऽग्निपूतो भवति, स वायुपूतो भवति। स आदित्यपूतो भवति। स सोमपूतो भवति। स सत्यपूतो भवति। स सर्वपूतो भवति। स सर्वेषु तीर्थेषु स्नातो भवति। स सर्वेषु वेदेष्वधीतो भवति। स सर्ववेदव्रतचर्यासु चरितो भवति। स सर्वैर्देवैर्ज्ञातो भवति। स सर्वयज्ञक्रतुभिरिष्टवान् भवति। तेनेतिहासपुराणानां रुद्राणां शतसहस्राणि जप्तानि भवन्ति। गायत्र्याः शतसहस्रं जप्तं भवति। प्रणवानामयुतं जप्तं भवति। रूपे रूपे दश पूर्वान् पुनाति। दशोत्तरानाचक्षुषः पङ्क्तिं पुनातीत्याह भगवानथर्वशिरोऽथर्वशिरः। सकृज्जप्त्वा शुचिः पूतः कर्मण्यो भवति। द्वितीयं जप्त्वा गाणपत्यमवाप्नोति। तृतीयं जप्त्वा देवमनुप्रविशत्यों सत्यम् ॥68॥

पशु के पाशों से छूटने के लिए जो ब्राह्मण इस अथर्वशीर्ष का पाठ करता है, वह अग्नि के समान, वायु के समान, सूर्य के समान, चन्द्र के समान, पवित्र और निर्मल हो जाता है। वह सत्य की तरह शुद्ध होता है। वह सभी में पवित्र, सभी तीर्थों में स्नान किया हुआ होता है, वह सब वेदों का जानकार होता है, वह वेदों में विहित सभी व्रताचरण का आचरने वाला होता है, सभी देवों के द्वारा वह जाना गया होता है। उसने सब यज्ञ सत्कर्मादि कर लिए हैं, उसने इतिहास-पुराणों और रुद्रमंत्रों के लाख जप किए हैं, पुराणों के अयुतसंख्या में जाप किए हैं, गायत्री के लाख जप उसने किए हैं। उसने ॐकार का अयुत जप किया है, वह अपने पूर्व की दश पीढ़ियों का और आगे की दश की पीढ़ियों का उद्धार कर देता है। उसके दर्शन से लोग पवित्र होते हैं। यह सब भगवान् अथर्वशिर ने कहा है। इस उपनिषद् का एक बार पाठ करने से मनुष्य पवित्र, निर्मल और सर्वकर्मकृत होता है। दो बार पाठ करके मनुष्य गाणपत्य को प्राप्त हो जाता है और तीसरी बार जाप करके मनुष्य देव में अनुप्रविष्ट हो जाता है। ऐसा अवश्य होता है, यह सत्य ही है, इसमें किसी प्रकार का सन्देह नहीं किया जा सकता।

**यो रुद्रो अग्नौ यो अप्स्वन्तर्य ओषधीर्वीरुध आविवेश।
य इमा विश्वा भुवनानि चक्लृपे तस्मै रुद्राय नमो अस्तु ॥69॥**

जो रुद्र अग्नि में रहते हैं, जो पानी में रहते हैं वही औषधियों और लताओं में भी प्रविष्ट रहते हैं। जिसने यह सारा विश्व और अनेक लोक निर्मित किए हुए हैं, उस रुद्र देवता को मैं बार-बार नमस्कार करता हूँ।

अस्य मूर्धानमस्य संशीर्योऽथर्वा हृदयं च मन्मस्तिष्कादूर्ध्वं प्रेरयन् पवमानोऽथ शीर्ष्णस्तद्वाऽथर्वशिरो देवकोशः समुज्झितः तत्प्राणोऽभिरक्षतु। नियमन्नमथो मनःश्रियमन्नमथो मनोविद्यामन्नमथो मनोविद्यामन्नमथो मनोमोक्षमन्नमथो मनोमोक्षमन्नमथो मन इत्यों सत्यमित्युपनिषत् ॥70॥

इत्यथर्वशिर उपनिषत् समाप्ता।
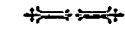
जिस अथर्वा ने इस ब्रह्माण्ड का और पिण्ड ब्रह्माण्ड का मूल तक पूर्णरूप से शासन किया है, जिस सर्वपावक परमेश्वर ने प्राणसहित अन्तःकरण (हृदय) का और प्रारब्धक्षय के बाद मेरे मस्तक से ऊपर मुझे प्रेरित करके तुर्यावस्था का कोश खोल दिया है, वह परमेश्वर मेरे समाधिस्थ शरीर का रक्षण करे। जहाँ तक मेरा शरीर पृथ्वी पर रहे, वहाँ तक देहधारण के लिए उपयोगी अन्न, सुविधा, मन का स्वास्थ्य आदि परमेश्वर देते रहें। वहाँ तक मेरी ब्रह्म विद्या बनी रहे। मुझे इन सबके साथ अन्त में मोक्ष भी मिले।

इस प्रकार यहाँ अथर्वशिर उपनिषत् पूरी हुई।

शान्तिपाठः

**ॐ भद्रं कर्णेभिः...... देवहितं यदायुः। (पूर्ववत्)
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः॥
ॐ स्वस्ति न इन्द्रो...... बृहस्पतिर्दधातु। (पूर्ववत्)
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः॥**

(23) अथर्वशिखोपनिषत्

(उपनिषत्परिचय)

यह अथर्ववेदीय उपनिषद् है। इस उपनिषद् में ॐकार मंत्र, उसके ध्यान की रीति, उसका स्वरूप, इसका अधिकारी आदि का एक निराले ढंग से प्रतिपादन किया गया है। ॐकार के चार पाद, उसकी मात्राएँ, देव, छन्द, अग्नि आदि का भी उल्लेख किया गया है। बाद में उस ॐकार के अनेक नामों की अन्वर्थकता भी बताई गई है। इसमें ॐकार की मात्राओं की जो व्याख्या की गई है, उसमें थोड़ी-सी अस्पष्टता मालूम होती है। चतुर्थ मात्रा के बारे में इसमें कहा गया है—'स्थूलहस्वदीर्घप्लुत:।' परन्तु इससे पहले 'चतुर्थ्यर्धमात्रा लुप्तमकार:' ऐसा पाठ निर्णयसागरीय संस्करण में मिलता है।—इन दोनों का मेल नहीं बैठता। इसके लिए ब्रह्मयोगी के विवरण का और उनके द्वारा स्वीकृत पाठ 'सोमलोक ओंकार:' का अवलम्बन करके सभी उपनिषदों के और वेदान्त के अभिमत अर्थ को बिठाने का प्रयत्न किया गया है। इस उपनिषद् के तीन खण्ड हैं।

शान्तिपाठः

ॐ भद्रं कर्णेभिः .... देवहितं यदायुः। (पूर्ववत्)
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

इसका हिन्दी रूपान्तर पूर्व में (अथर्वशिर उपनिषद् में) द्रष्टव्य है।

प्रथमः खण्डः

अथ हैनं पैप्पलादोऽङ्गिराः सनत्कुमारश्चाथर्वाणमुवाच–भगवन् किमादौ प्रयुक्तं ध्यानं ध्यायितव्यं किं तद्ध्यानं को वा ध्याता कश्च ध्येयः ॥1॥

तब पिप्पलाद का पुत्र अंगिरा और सनत्कुमार ने अथर्वा के पास जाकर पूछा—हे भगवन्! मुमुक्षुओं को पहले किसका ध्यान करना चाहिए? वह ध्यान क्या है? ध्यानकर्ता कौन होता है? ध्यान का ध्येय (ध्यान-विषय) क्या है?

स एभ्योऽथर्वा प्रत्युवाच—ओमित्येतदक्षरमादौ प्रयुक्तं ध्यानं ध्यायितव्यमित्येतदक्षरं परं ब्रह्मास्य पादाश्चत्वारो वेदाश्चतुष्पादिदमक्षरं परं ब्रह्म ॥2॥

तब उस अथर्वा ने इन सनत्कुमार और पैप्पलाद से कहा—सर्वप्रथम 'ओम्' इस अक्षर का ध्यान करना चाहिए। उस अक्षर को परब्रह्म समझना चाहिए। चार वेद इसके चार पाद हैं। इसलिए इस परब्रह्म को 'चतुष्पाद' कहा जाता है।

पूर्वाऽस्य मात्रा पृथिव्यकारः स ऋग्भिर्ऋग्वेदो ब्रह्मा वसवो गायत्री गार्हपत्यः ॥3॥

इसकी पहली मात्रा (अर्थात् पाद) पृथिवीरूप अकार है, वह ऋग्वेदस्वरूप है, इसके देव ब्रह्मा है, इसके गणदेवता आठ वसु हैं, इसका छन्द गायत्री है और गार्हस्पत्य अग्नि है।

द्वितीयाऽन्तरिक्षं स उकारः। स यजुर्भिर्यजुर्वेदो विष्णू रुद्रास्त्रिष्टुब्दक्षिणाग्निः ॥4॥

इसकी दूसरी मात्रा अन्तरिक्षरूप 'उ'कार है। इसका स्वरूप यजुर्वेद है। उसके देव विष्णु हैं, और गणदेवता एकादश रुद्र हैं। इसका छन्द त्रिष्टुप् है और अग्नि दक्षिणाग्नि है।

तृतीया द्यौः स मकारः। स सामभिः सामवेदो रुद्र आदित्या जगत्याहवनीयः ॥5॥

इसकी तीसरी मात्रा (पाद) द्यौ: (द्युलोक) है। वह 'मकार' है। वह सामवेद का स्वरूप है। इसका देव रुद्र है, इसके गणदेवता बारह आदित्य हैं। इसका छन्द जगती है और इसका अग्नि आहवनीय है।

याऽवसानेऽस्य चतुर्थ्यर्धमात्रा सा सोमलोक ओंकारः। साऽथर्वणैर्मन्त्रैरथर्ववेदः संवर्तकोऽग्निर्मरुतो विराडेकर्षिर्भास्वती स्मृता ॥6॥

अन्त में जो चौथी अर्धमात्रा है, वह सोमलोक रूप ओंकार अर्थात् बिन्दुरूप है। वह अथर्ववेदरूप है। उसके देव संवर्तक नाम के अग्नि हैं, गणदेवता सात मरुत् गण हैं, विराट् नाम का छन्द है, एकर्षि नाम का अग्नि है।

प्रथमा रक्तपीता महद्ब्रह्मदैवत्या। द्वितीया विद्युमती कृष्णा विष्णुदैवत्या। तृतीया शुभाशुभा शुक्ला रुद्रदैवत्या। यावसानेऽस्य चतुर्थ्यर्धमात्रा सा विद्युमती सर्ववर्णा पुरुषदैवत्या ॥7॥

उनमें से पहली मात्रा धुंधली लालिमायुक्त पीले रंगवाली है, दूसरी मात्रा चमकते हुए काले रंगवाली है और तीसरी शुक्लवर्ण है। पहली मात्रा ब्रह्मदैवत्य - ब्रह्मारूप देवतावाली, दूसरी विष्णुदेव वाली तथा तीसरी रुद्रदेव वाली है और इसके अन्त में चौथी जो अर्धमात्रा है वह चमकीली और सर्ववर्णवाली है और उसका देव आत्मा है।

स एष ह्योंकारश्चतुरक्षरश्चतुष्पादश्चतुःशिरश्चतुश्चतुर्धा मात्रा स्थूलमेतद्धस्वदीर्घप्लुतम् ॥8॥

वह यह ओंकार इस प्रकार, अ-उ-म-अर्धमात्रा रूप चार अक्षरों वाला, विश्वविराडादि भेद से चार पाद वाला, चार मस्तकवाला तथा चार-चार मात्रावाला है। ये स्थूल, ह्रस्व, दीर्घ और प्लुत हैं। ओंकार की अर्धमात्रा सूक्ष्म है।

ॐ ॐ ॐ इति त्रिरुक्त्वा चतुर्थः शान्त आत्मा प्लुतप्रणवप्रयोगेण समस्तमोमिति प्रयुक्तमात्मज्योतिः सकृदावर्तते ॥9॥

तीन बार ॐ ॐ ॐ ऐसा कहकर फिर चौथी बार प्लुतोच्चारण में आत्मा शान्त हो जाता है और यह सब कुछ ब्रह्म ही है, ऐसा ध्यान करने से आत्मज्योति एकाएक (एकबारगी) फिर से प्रकाशित हो उठती है।

सकृदुच्चारितमात्रेणोर्ध्वमुन्नामयतीत्योंकारः । प्राणान् सर्वान् प्रलीयत इति प्रलयः (प्रणवः) । प्राणान् सर्वान् परमात्मनि प्रणामयतीत्येतस्मात् प्रणवः । चतुर्धाऽवस्थित इति सर्वदेववेदयोनिः सर्ववाच्यवस्तु प्रणवात्मकम् ॥10॥

इति प्रथमः खण्डः ।

केवल एक बार उच्चारण करने से ऊपर उठाता है - उन्नयन करता है, इसीलिए इसे 'ॐकार' कहा गया है । यह सभी प्राणों को अपने में लीन कर देता है इसलिए इसका नाम 'प्रलय' पड़ा है । सभी प्राणों को परमात्मा में प्रणत (वश में) कर देता है इसलिए वह 'प्रणव' कहा जाता है । वह चार प्रकार से अवस्थित है इसलिए उसे 'सर्वदेववेदयोनि' कहा जाता है । सभी वाच्यपदार्थों मे अनुस्यूत एक ही वस्तु प्रणवात्मक ही है ।

यहाँ प्रथम खण्ड समाप्त हुआ ।

❋

द्वितीयः खण्डः

देवाश्चेति संधत्तां सर्वेभ्यो दुःखभवेभ्यः सन्तारयतीति तारणात्तारः ॥1॥

सभी देव और सभी वेद भी, जो तुरीय ओंकार के रूप में माना गया है, उसको अपने सभी दुःखों और भयों से मुक्ति पाने के लिए ध्यान करने लगे थे और उनका इसने तारण (उद्धार) किया, इसलिए इसे 'तार' भी कहा जाता है ।

सर्वे देवाः संविशन्तीति विष्णुः ॥2॥

और भी इस तुरीय ओंकार में सभी देवता–प्राणादि इन्द्रियों के साथ प्रवेश कर जाते हैं इसलिए इसको 'विष्णु' नाम से भी कहा जाता है ।

सर्वाणि बृंहयतीति ब्रह्म ॥3॥

और जो अपने अतिरिक्त बाकी के अविद्या और उसके कार्य आदि को खाकर (अपने में समाकर) अपने आश्रय में रखकर वृद्धि करता है (बृंहयति), इसलिए उसे 'ब्रह्म' कहते हैं ।

सर्वेभ्योऽन्तःस्थानेभ्यो ध्येयेभ्यः प्रदीपवत् प्रकाशयतीति प्रकाशः ॥4॥

जो सभी ध्येयों (विषयों) को और सभी मन आदिक आन्तरिक विषयों को भी प्रदीप की तरह प्रकाशित करता रहता है, इसीलिए वह 'प्रकाश' भी कहा जाता है ।

प्रकाशेभ्यः सदोमित्यन्तःशरीरे विद्युद्वद्द्योतयति मुहुर्मुहुरिति विद्युद्वत् प्रतीयां दिशं भित्त्वा सर्वांल्लोकान् व्याप्नोति व्यापयतीति व्यापनाद् व्यापी महादेव ॥5॥

इति द्वितीयः खण्डः ।

और जो अपने अन्तःशरीर में कामादि प्रकाश्य विषयों को स्वयं अलग होकर प्रकाशित करता रहता है । जैसे विद्युत् दिशाओं को भेदकर मेघों को प्रकाशित करती है, व्याप्त हो जाती है, उसी तरह

यह तुरीय ओंकार भी स्वप्रतीतिभूत - स्वरूपिणी माया नाम की दिशा को भेदकर सब विषयों को व्याप्त कर लेती है । (सच्चिदानन्द रूप से घेर लेती है । इस प्रकार के व्यापन (व्यापकता) से वह 'व्यापी' कहा जाता है और 'महादेव' भी कहा जाता है ।

यहाँ द्वितीय खण्ड पूरा हुआ ।

❋

तृतीयः खण्डः

पूर्वोऽस्य मात्रा जागर्ति जागरितं द्वितीया स्वप्नं तृतीया सुषुप्तिश्चतुर्थी तुरीयम् ॥1॥

इस ओंकार की 'अ'कार नाम की पूर्व मात्रा जाग्रत् अवस्था है, दूसरी अवस्था स्वप्न है, तीसरी अवस्था सुषुप्ति है और चौथी अवस्था तुरीय है ।

मात्रा मात्राः प्रतिमात्रागताः सम्यक् समस्तानपि पादान् जयतीति स्वयंप्रकाशः स्वयं ब्रह्म भवतीत्येष सिद्धिकर एतस्माद्ध्यानादौ प्रयुज्यते । सर्वकरणोपसंहारत्वाद्धार्यधारणाद् ब्रह्म तुरीयम् ॥2॥

इस प्रकार अकारादि मात्राओं में पूर्व-पूर्व मात्रा का उत्तर-उत्तर मात्रा में विलय हो जाने पर सभी पादों पर वह विजय प्राप्त करता है । इस प्रकार वह विद्वान स्वयंप्रकाश हो जाता है । इस प्रकार वह तत्त्वज्ञान की सिद्धि को प्राप्त करता है । इससे वह निर्विकल्प समाधि आदि में प्रयुक्त होता है । उस समय सभी करणों का उपसंहार हो जाने से तत्त्वमात्ररूप धार्य की धारणा से वह तुरीय ब्रह्म अवशिष्ट रहता है ।

सर्वकरणानि सम्प्रतिष्ठाप्य ध्यानं विष्णुः प्राणं मनसि सह करणैः मनसि सम्प्रतिष्ठाप्य ध्याता रुद्रः प्राणं मनसि सह करणैर्नादान्ते परमात्मनि सम्प्रतिष्ठाप्य ध्यायीतेशानं प्रध्यायितव्यम् ॥3॥

उस तुर्य ब्रह्म में सभी करणों को अच्छी तरह से प्रस्थापित करके (विलय करके) ध्यान किया जाता है, इसका प्रधान पुरुष विष्णु होता है । और इन्द्रियों के साथ प्राण को मन में प्रतिष्ठापित करके ध्यान किए जाने पर केवल मन ब्रह्माकार रूप में परिणत होने पर वह ध्याता रुद्र होता है और मुमुक्षुओं के द्वारा इन्द्रियसहित प्राण मन में एवं मन ब्रह्मप्रवण नाद के अन्तरूप परमात्मा में प्रतिस्थापित किये जाने पर ईश्वर का ध्यान करना चाहिए ।

सर्वमिदं ब्रह्मविष्णुरुद्रेन्द्रास्ते सम्प्रसूयन्ते सर्वाणि चेन्द्रियाणि सह भूतैर्न कारणं कारणानां ध्याता कारणं तु ध्येयः सर्वैश्वर्यसम्पन्नः सर्वेश्वरः शंभुराकाशमध्ये ध्रुवं स्तब्ध्वाऽधिकं क्षणमेकं क्रतुशतस्यापि चतुःसप्तत्या यत्फलं तदवाप्नोति कृत्स्नमोंकारगतिश्च सर्वध्यानयोगज्ञानानां यत् फलमोंकारो वेद पर ईशो वा शिव एको ध्येयः शिवंकरः सर्वमन्यत् परित्यज्य ॥4॥

जिससे यह सारा जगत् और ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र जन्म लेते हैं, वह सबका कारणरूप ईश्वर नाम का ब्रह्म ही है । उसके अतिरिक्त ये सभी इन्द्रियाँ और पंचमहाभूत कोई कारण नहीं है । इसलिए

ध्याता (परमेश्वर) ही सर्वध्येयरूप होकर सबका कारण बनता है। वह सर्वैश्वर्य से युक्त है, वह सर्वेश्वर है, वही शंभु है। ऐसे शाश्वत आत्मा को जो कोई भी पुरुष अपने हृदयाकाश में एक क्षण या क्षणार्ध भी स्थिर होकर ध्यान करे, तो उसको उसी स्वरूप की प्राप्तिरूप फल ही तो है, पर अन्तराल फल में एक सौ चौहत्तर यज्ञानुष्ठान के फलों की भी प्राप्ति होती है। ओंकार की पूर्ण गति को भी वह जान लेता है। इस प्रकार जो ओंकार को जानता है वह मुनि सभी ध्यान, योग और ज्ञान का जो फल होता है, उसे प्राप्त करता है। इसलिए और सभी वस्तुओं को छोड़कर एकमात्र शिव (ईश) का ही ध्यान करना चाहिए। वही कल्याणकारी है।

समाप्ताऽथर्वशिखा। तामधीत्य द्विजो गर्भवासाद्विमुक्तो मुच्यते। एताम-धीत्य द्विजो गर्भवासाद् विमुक्तो विमुच्यत इत्योऽसत्यमित्युपनिषत् ॥5॥

इति तृतीयः खण्डः।

इत्यथर्वशिखोपनिषत्समाप्ता।
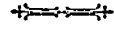
यहाँ अथर्वशिखा समाप्त होती है। इसका अध्ययन करके द्विज गर्भवास से छुटकारा पाकर यहाँ भी जीवन्मुक्त हो जाता है। इसका अध्ययन करके द्विज गर्भवास से छुटकारा पाकर यहाँ जीवन्मुक्त हो जाता है। उपनिषत् की समाप्ति के सूचक के रूप में यह वाक्य दुहराया गया है। यहाँ उपनिषत् पूर्ण हुई।

तृतीय खण्ड भी समाप्त हुआ।

शान्तिपाठ

ॐ भद्रं कर्णेभिः......देवहितं यदायुः। (पूर्ववत्)
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

(24) मैत्रायण्युपनिषत्

(उपनिषत्परिचय)

सामवेद से सम्बद्ध इस उपनिषत् के स्वरूप (आकार) में अनेक प्रकार की विसंगतियाँ देखने में आती हैं; यथा—सन् 1948 के निर्णयसागरीय संस्करण में तथा 1970 वाले मोतीलाल बनारसीदास द्वारा प्रकाशित संस्करण में इस उपनिषत् के **सात** प्रपाठक दिए हैं। सन् 1938 की सर्वहितैशी कम्पनी, रामघाट, काशी के संस्करण में इस उपनिषत् के **चार** प्रपाठक दिए हैं। अड्यार लाईब्रेरी, मद्रास के संग्रह में भी इस उपनिषत् के **चार** ही प्रपाठक दिए गए हैं। ब्रह्मयोगी के विवरण टीका वाले उपनिषत्संग्रह में भी इस उपनिषत् के **चार** प्रपाठक ही दिए हैं। श्रीरामशर्मा आचार्य के उपनिषदों के संग्रह में इस उपनिषद् के **पाँच** प्रपाठक दिए गए हैं। यहाँ चार प्रपाठक देने वालों का बहुमत देखकर चार प्रपाठक वाली उपनिषत् ही ली गई है। इसमें बृहद्रथ राजा को शाकायन्य मुनि उपदेश देते हुए कहते हैं कि पहले इस विषय में भगवान् मैत्रेय को हुए ज्ञान में जो था वही सुनाता हूँ। फिर उन्होंने प्राणों के भेद बताए, आत्मा और भूतात्मा का भेद बताया, जीवनरथ का सुन्दर रूपक भी कहा। जीवनरथ में ज्ञानेन्द्रियों की लगाम कर्मेन्द्रियों के घोड़ों को लगाई है। अन्तःप्रवृत्ति चाबुक है और आत्मा संचालक है। इन्धन समाप्त होने पर जैसे अग्नि शान्त हो जाती है, वैसे ही मनोवृत्तियों के शान्त होने पर चित्त शान्त हो जाता है। इसमें ॐकार और उद्गीथ की एकता समझाई गई है। गायत्री का पदच्छेद और उसकी उपासना का महत्त्व बताया गया है।

शान्तिपाठः

ॐ आप्यायन्तु ममाङ्गानि...........ते मयि सन्तु। (पूर्ववत्)
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

इसका हिन्दी रूपान्तर पूर्व में (आरुण्युपनिषद् में) द्रष्टव्य है।

प्रथमः प्रपाठकः

बृहद्रथो ह वै नाम राजा राज्ये ज्येष्ठं पुत्रं निधापयित्वेदमशाश्वतं मन्यमानः शारीरं वैराग्यमुपेतोऽरण्यं निर्जगाम। स तत्र परमं तप आस्थायादित्य-मीक्षमाण ऊर्ध्वबाहुस्तिष्ठत्यन्ते सहस्रस्य मुनिरन्तिकमाजगामाग्निरिवा-धूमकस्तेजसा निर्दहन्निवात्मविद् भगवान् शाकायन्यः। उत्तिष्ठोत्तिष्ठ वरं वृणीष्वेति राजानमब्रवीत्। स तस्मै नमस्कृत्योवाच भगवन् नाहमात्मवित् त्वं तत्त्वविच्छृणुमो वयं स त्वं नो ब्रूहीति। एतद् व्रतं पुरस्तादशक्यं मा पृच्छ प्रश्नमैक्ष्वाकान्यान् कामान् वृणीष्वेति। शाकायन्यस्य चरण-मभिमृश्यमानो राजेमां गाथां जगाद ॥1॥

बृहद्रथ नाम के किसी एक राजा को 'यह शरीर अनित्य है'—ऐसा विचार आने से वैराग्य उत्पन्न

हुआ। इसलिए वह अपने बड़े पुत्र को राज्यभार सौंपकर वन में चला गया। वहां लम्बे समय तक उसने तपश्चर्या की। वह हाथ ऊँचा करके सूर्य के सामने देखता रहता था। अन्त में एक हजार वर्ष के बाद, उस तपश्चर्या के फलस्वरूप शाकायन्य नाम के आत्मवेत्ता महामुनि उसके पास आए। वह मुनि निर्धूम अग्नि की तरह तेजस जाज्वल्यमान जैसे लगते थे। उन्होंने राजा से कहा—'हे राजन्! उठो, खड़े हो और वरदान माँगो।' तब राजा ने उनसे कहा—'हे भगवन्! मैं आत्मवेत्ता नहीं हूँ। हमने सुना है कि आप आत्मवेत्ता हैं। इसलिए आप मुझे आत्मज्ञान का वरदान दीजिए।' ऐसा सुनकर मुनि ने उससे कहा—'हे इक्ष्वाकुवंशी राजन्! तुम दूसरा कोई वरदान माँग लो। तुम पहले से ही अशक्य प्रश्न मत पूछो।' यह सुनकर बृहद्रथ राजा शाकायन्य का चरणस्पर्श करके यह गाथा कहने लगा।

भगवन्नस्थिचर्मस्नायुमज्जामांसशुक्रशोणितश्लेष्माश्रुदूषिते विण्मूत्रवातपित्तकफसंघाते दुर्गन्धे निःसारेऽस्मिन् शरीरे किं कामोपभोगैरिति ॥2॥

(राजा बोला—) हे भगवन्! यह शरीर अस्थियों, चर्म, स्नायुओं, मज्जा, मांस, वीर्य, लहू, श्लेष्मा आदि से दूषित है और विष्टा, मूत्र, पित्त, कफ आदि से युक्त हैं और सारहीन है, तो विषयोपभोगों की क्या आवश्यकता है?

कामक्रोधलोभमोहभयविषादेर्ष्येष्टवियोगानिष्टसंयोगक्षुत्पिपासाजरामृत्युरोगशोकाद्यैरभिहतेऽस्मिन् शरीरे किं कामोपभोगैः ॥3॥

यह शरीर काम, क्रोध, लोभ, भय, खेद, ईर्ष्या, इष्टवियोग, अनिष्टसंयोग, भूख, प्यास, वृद्धावस्था, मृत्यु, शोक आदि से पीड़ित है। ऐसे शरीर में विषयभोगों की क्या आवश्यकता है?

सर्वं चेदं क्षयिष्णु पश्यामो यथेमे दंशमशकादयस्तृणवन्नश्यतयोद्भूतप्रध्वंसिनः ॥4॥

यह सारा जगत विनाशशील है, मैं सबको मरते हुए देखता हूँ। जैसे दंश, मच्छर आदि जन्तु तो तिनके की तरह जन्मते ही नष्ट होते (मरते) रहते हैं।

अथ किमेतैर्वा परेऽन्ये महाधनुर्धराश्चक्रवर्तिनः केचित् सुद्युम्नभूरिद्युम्नेन्द्रद्युम्नकुवलयाश्वयौवनाश्वबद्धियाश्वाश्वपतिः शशबिन्दुर्हरिश्चन्द्राऽम्बरीष मनूत्थशर्यातिर्ययातिरनरण्योक्षसेनोत्थमरुत्तभरतप्रभृतयो राजानो मिषतो बन्धुवर्गस्य महतीं श्रियं त्यक्त्वाऽस्माल्लोकादमुं लोके प्रयान्ति ॥5॥

उन जन्तुओं को क्या कहें? परन्तु बड़े-बड़े धनुर्धारी और चक्रवर्ती सुद्युम्न, भूरिद्युम्न, इन्द्रद्युम्न, कुवलयाश्व, यौवनाश्व और उसके जैसे धियाश्व, अश्वपति, शशबिन्दु, हरिश्चन्द्र, अम्बरीष, मनु का पुत्र शर्याति, ययाति, अनरण्य, उग्रसेन, उसका पुत्र मरुत्त और भरत आदि चक्रवर्ती राजा भी अपने बन्धुवर्ग सहित देखते-देखते ही इस लोक की विपुल समृद्धि छोड़कर प्रयाण कर गये हैं।

अथ किमेतैर्वा परेऽन्ये गन्धर्वासुरयक्षराक्षसभूतगणपिशाचोरगग्रहादीनां निरोधनं पश्यामः ॥6॥

और तो क्या मनुष्योपरान्त अन्य गन्धर्व, असुर, यक्ष, राक्षस, भूतगण, पिशाच, साँप और ग्रह आदि भी मरते हुए देखे गए हैं।

अथ किमेतैर्वाऽन्यानां शोषणं महार्णवानां शिखरिणां प्रपतनं ध्रुवस्य प्रचलनं स्थानं वा तरूणां निमज्जनं पृथिव्याः स्थानादपसरणं सुराणां सोऽहमित्येतद्विधेऽस्मिन् संसारे किं कामोपभोगैर्यैरेवाश्रितस्यासकृदिहावर्तनं दृश्यत इत्युद्धर्तुमर्हसीत्यन्धोदपानस्थो भेक इवाहमस्मिन् संसारे भगवंस्त्वं नो गतिस्त्वं नो गतिः ॥7॥

इति प्रथमः प्रपाठकः।

अथवा और क्या कहूँ? बड़े-बड़े समुद्र भी सूख जाते हैं, पर्वत भी टूट-फूट जाते हैं, ध्रुव भी अपने स्थान से चलित हो जाता है, वृक्ष गिर पड़ते हैं, धरती भी अपने स्थान से खिसक जाती है, देव भी नीचे गिर जाते हैं, तो 'यह मैं हूँ'—ऐसे अहंकार से भरे इस संसार में विषयोपभोग से भला क्या लाभ है? विषयों में लीन रहनेवालों को तो बार-बार जन्म-मरण के फेरे में घूमना ही पड़ता है, ऐसा देखा जाता है। इसलिए हे भगवन्! अँधेरे कुएँ में पड़े हुए मेढक जैसे मेरा आप उद्धार कीजिए। आप ही मेरी शरण हैं। आप ही मेरे आधार है।

यहाँ प्रथम प्रपाठक पूरा हुआ।

❋

द्वितीयः प्रपाठकः

अथ भगवान् शाकायन्यः सुप्रीतोऽब्रवीद्राजानं महाराज बृहद्रथेक्ष्वाकुवंशध्वजशीर्षात्मजः कृतकृत्यस्त्वं मरुन्नाम्नो विश्रुतोऽसीत्ययं वाव खल्वात्मा ते कतमो भगवान् वर्ण्य इति तं होवाच ॥1॥

यह सुनकर महर्षि शाकायन्य प्रसन्न होकर राजा से कहने लगे—'हे महाराजा बृहद्रथ! इक्ष्वाकुवंश के ध्वजशीर्ष के तुम पुत्र हो। तुम 'मरुत्' नाम से सुविख्यात हो और कृतकृत्य (धन्य) हो। यह आत्मा कैसा है, वह मैं तुम्हें समझाता हूँ।' यह सुनकर राजा ने कहा—'भगवन् आप उसका वर्णन कीजिए।' तब वे मुनि राजा से कहने लगे—

य एषो बाह्यावष्टम्भनेनोर्ध्वमुत्क्रान्तो व्यथमानोऽव्यथमानस्तमः प्रणुदत्येष आत्मेत्याह भगवानथ य एष संप्रसादोऽस्माच्छरीरात् समुत्थाय परं ज्योतिरुपसम्पद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यत एष आत्मेति होवाचैतमृतमभयमेतद् ब्रह्मेति ॥2॥

'बाह्येन्द्रियों का निरोध करने से यह प्राणरूप आत्मा योग द्वारा ऊपर चढ़ता है। वह दुःख भोगता हुआ दीखने पर भी दुःखरहित ही होता है और वह अन्धकार का नाश कर देता है।' ऋषि ने आगे कहा—'यह आत्मा इस शरीर में से बाहर निकलकर परम ज्योतिरूप ब्रह्म को प्राप्त करके अपने स्वरूप में स्थिर रहता है, वही आत्मा अमृतरूप, अभयरूप और ब्रह्मरूप है।'

अथ खल्वियं ब्रह्मविद्या सर्वोपनिषद्विद्या वा राजन्नस्माकं भगवता मैत्रेयेण व्याख्याताऽहं ते कथयिष्यामीत्यथापहतपाप्मानस्तिग्मतेजस ऊर्ध्वरेतसो वालखिल्या इति श्रूयन्तेऽथैते प्रजापतिमब्रुवन् भगवन् शकटमिवाचेतनमिदं शरीरं कस्यैष खल्वीदृशो महिमाऽतीन्द्रियभूतस्य

येनैतद्विधमिदं चेतनवत् प्रतिष्ठापितं प्रचोदयिताऽस्य को भगवन्नेतद-स्माकं ब्रूहीति तान् होवाच ॥3॥

हे राजन्! सभी उपनिषदों ने जिसका उपदेश किया है ऐसी यह ब्रह्मविद्या भगवान् मैत्रेय ने हमको बताई है, वही मैं तुम्हें बताता हूँ। जिनके पाप नष्ट हो गए हैं ऐसे प्रचंड तेजस्वी ब्रह्मचारी वालखिल्य नाम के मुनि तो सुप्रसिद्ध हैं। उन मुनियों ने एक बार ब्रह्माजी से पूछा था—'हे भगवन्! यह शरीर तो बैलगाड़ी की तरह अचेतन ही है। तो फिर यह सब किसकी महिमा है? कौन-सा ऐसा अतीन्द्रिय पदार्थ है कि जिसकी वजह से यह जड़ शरीर चेतन की तरह प्रतिष्ठित दिखाई देता है? उसे प्रेरणा देनेवाला कौन है? यह हमें बताइए।' तब ब्रह्मा ने उत्तर दिया था (कि—)

यो ह खलु वाचोपरिस्थः श्रूयते स एव वा एष शुद्धः पूतः शून्यः शान्तः प्राणोऽनीशात्माऽनन्तोऽक्षय्यः स्थिरः शाश्वतोऽजः स्वतन्त्रः स्वे महिम्नि तिष्ठत्यनेनेदं शरीरं चेतनवत्प्रतिष्ठापितं प्रचोदयिता चैषोऽस्येति ते होचु-र्भगवन् कथमनेनेदृशेनानिच्छेनैतद्विधमिदं चेतनवत् प्रतिष्ठापितं प्रचो-दयिता चैषोऽस्येति कथमिति तान् होवाच ॥4॥

'जो वाणी से परे विद्यमान है, ऐसा सुना जाता है कि वह शुद्ध, पवित्र, शून्य, शान्त, जीवनदाता, अनीश्वर का आत्मा, अनन्त, अविनाशी, स्थिर, सनातन, जन्मरहित, स्वतंत्र—ऐसा आत्मा अपनी महिमा में अवस्थित है। उसी के कारण यह शरीर चेतन की तरह प्रतिष्ठापित हुआ है। वही इसको प्रेरणा देनेवाला है। ऐसी इसकी महिमा है।' यह सुनकर वालखिल्य ने पूछा—'वह आत्मा इच्छारहित होने पर भी क्यों और कैसे इस शरीर को चेतन जैसा बनाया और उसे टिकाया भी? वह उसका प्रेरक कैसे हुआ? और उसकी महिमा कैसी है?' तब ब्रह्मा ने कहा कि—

स वा एष सूक्ष्मोऽग्राह्योऽदृश्यः पुरुषसंज्ञको बुद्धिपूर्वमिहैवावर्ततेंऽशेन सुषुप्तस्यैव बुद्धिपूर्वं निबोधयत्यथ यो ह खलु वावैतस्यांशोऽयं यश्चे-तनमात्रः प्रतिपूरुषं क्षेत्रज्ञः सङ्कल्पाध्यवसायाभिमानलिङ्गः प्रजापतिर्वि-श्वाक्षस्तेन चेतनेनेदं शरीरं चेतनवत् प्रतिष्ठापितं प्रचोदयिता चैषोऽस्येति ते होचुर्भवन्नीदृशस्य कथमंशेन वर्तमिति तान् होवाच ॥5॥

'यह आत्मा सूक्ष्म, अग्राह्य और अदृश्य है। इसका नाम 'पुरुष' है। वह अपने एक अंश से यहाँ बुद्धिपूर्वक क्रिया करता है, सुषुप्त मनुष्य को बुद्धि से जगाता है। वह उसका जो अंश है, वही यहाँ जीवरूप बना है। सभी प्राणियों का जीवात्मा वही है। प्रत्येक शरीर में वही क्षेत्रज्ञ रूप से रहा है। और वही संकल्प, प्रयत्न, अभिमान से युक्त प्रजापतिरूप और सबको देखनेवाला है। उस चेतन से ही यह शरीर चेतनमय बना है। वही इस शरीर को क्रिया करने के लिए प्रेरित करता है।' तब वालखिल्य ने पूछा—'भगवन्! वह आत्मा अखण्ड होने पर भी किस तरह अपने अंश से यहाँ अवस्थित है?' तब उन्हें ब्रह्माजी ने उत्तर दिया कि—

प्रजापतिर्वा एषोऽग्रेऽतिष्ठत्। स नारमतैकः। स आत्मानमभिध्यायद्बह्वीः प्रजा असृजत्ता अस्यैवात्मप्रबुद्धा अप्राणा स्थाणुरिव तिष्ठमाना अपश्यत् स नारमत। सोऽमन्यतैतासां प्रतिबोधनायाभ्यन्तरं प्राविशानीत्यथ स वायुमिवात्मानं कृत्वाऽभ्यन्तरं प्राविशत् स एको नाविशत्। स पञ्चधा-ऽऽत्मानं प्रविभज्योच्यते यः प्राणोऽपानः समान उदानो व्यान इति ॥6॥

सबसे पहले केवल प्रजापति ही एकमात्र थे। उन्हें अकेले को कुछ चैन न पड़ा अर्थात् अपने को अकेले सन्तुष्ट नहीं कर सके। इसलिए उन्होंने आत्मा का ध्यान करके तरह-तरह की प्रजाएँ उत्पन्न कीं। परन्तु, अपने द्वारा उत्पन्न की गई इन प्रजाओं को प्राणविहीन और खम्भों की भाँति जड़ देखा। वह उन्हें पसन्द न आया। उन्होंने सोचा कि इन सभी प्रजाओं को सचेतन करने के लिए मैं उनमें प्रविष्ट होऊँ। ऐसा सोचकर अपने को वायु जैसा बनाकर उन्होंने उनमें प्रवेश किया। पर उन्होंने एक रूप में नहीं परन्तु पाँच रूपों में अपना विभाजन करके प्रवेश किया। इसलिए एक ही प्राण के प्राण, अपान, समान, उदान और व्यान—ऐसे पाँच भेद हुए।

अथ योऽयमूर्ध्वमुत्क्रामतीत्येष वाव स प्राणोऽथ योऽयमवाञ्चं सङ्क्राम-त्येष वाव सोऽपानोऽथ योऽयं स्थविष्ठमन्नधातुमपाने स्थापयत्यणिष्ठं चाङ्गेऽङ्गे समं नयत्येष वाव स समानोऽथ योऽयं पीताशितमुद्गिरति निगिरतीति चैष वाव स उदानोऽथ येनैताः सिरा अनुव्याप्ता एष वाव स व्यानः ॥7॥

जो ऊपर गति करता है वह 'प्राण' है, जो नीचे गति करता है वह 'अपान' है, जो अतिशय स्थूल अन्नधातु (मल) को गुदा स्थान में पहुँचाता है और अतिसूक्ष्म धातु को प्रत्येक अंग में समान रूप से ले जाता है, वह 'समान' कहलाता है; जो यह वायु खाए-पीए हुए पदार्थों को उगलता है या निगलता है वह 'उदान' कहलाता है, और जिसके द्वारा ये शिराएँ घिरी हुई रहती हैं, ऐसा जो वायु है वह 'व्यान' कहलाता है।

अथोपांशुरन्तर्याम्यभिभवत्यन्तर्याममुपांशुमेतयोरन्तराले चौष्ण्यं मास-वद्यदौष्ण्यं स पुरुषोऽथ यः पुरुषः सोऽग्निर्वैश्वानरोऽप्यन्यत्राप्युक्त-मयमग्निर्वैश्वानरो योऽयमन्तः पुरुषो येनेदमन्नं पच्यते यदिदमद्यते तस्यैष घोषो भवति यदेतत् कर्णावपिधाय शृणोति स यदोत्क्रमिष्यन् भवति नैनं घोषं शृणोति ॥8॥

जो नजदीक में अन्तर्यामी है वह और जो एक प्रहर में पराभव कर सकता है वह—इन दोनों के बीच जो ग्रीष्म ऋतु जैसी उष्णता है, वह पुरुष ही वैश्वानर अग्नि है। अन्य जगहों पर भी ऐसा ही कहा गया है कि यह भीतर रहा हुआ अग्नि वैश्वानर 'अग्निपुरुष' है, जिसकी वजह से अन्न पचता है। जब कुछ खाया जाता है, तब उसी की (वैश्वानर अग्नि की) यह आवाज होती है। कान बन्द करने पर जो आवाज सुनाई देती है, वह उसी की आवाज है। जब शरीर से प्राण निकल जानेवाले होते हैं, तब यह आवाज नहीं सुनाई देती।

स वा एष पञ्चधाऽऽत्मानं प्रविभज्य निहितो गुहायां मनोमयः प्राणशरीरो बहुरूपः सत्यसङ्कल्प आत्मेति स वा एषोऽस्य हृदन्तरे तिष्ठन्नकृतार्थोऽ-मन्यतार्थानसानि तत्स्वानीमानि भित्त्वोदितः पञ्चमी रश्मिभिर्विषयान-त्तीति बुद्धीन्द्रियाणि यानीमान्येतान्यस्य रश्मयः। कर्मेन्द्रियाण्यस्य हयां रथः शरीरं मनो नियन्ता प्रकृतिमयोऽस्य प्रतोदनेन खल्वीरितं परिभ्रमतीदं शरीरं चक्रमिव मृते च नेदं शरीरं चेतनवत् प्रतिष्ठापितं प्रचोदयिता चैषोऽस्येति ॥9॥

वह प्रजापतिरूप आत्मा स्वयं को पाँच रूपों में निर्मित करके हृदयरूपी गुफा में स्थिर हुआ है। और वह आत्मा ही मनरूप में, प्राणरूप में, अनेक रूपों में सत्यसंकल्पवाला है। इस प्रकार हृदय में रहता हुआ वह अपने को अकृतार्थ मानने लगा। अपने को कृतार्थ बनाने के लिए वह अपने पाँच द्वारों (इन्द्रियों) को भेदकर प्रकट हुआ। वे पाँच द्वार ही पाँच इन्द्रियाँ बनी हैं। ये ही पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ लगाम है, पाँच कर्मेन्द्रियाँ घोड़े हैं, शरीर रथ है, मन सारथि है और स्वभाव (प्रकृति-सहज रुझान) चाबुक है। इसी चाबुक से प्रेरित शरीर पहियों की तरह गतिशील बनता है और मरण के बाद वह सचेतन दिखाई नहीं पड़ता, क्योंकि आत्मा ही शरीर का प्रेरक है।

स वा एष आत्मेत्यदो वशं नीत इव सितासितैः कर्मफलैरभिभूयमान इव प्रतिशरीरेषु चरतव्यक्तत्वात् सूक्ष्मत्वाददृश्यत्वादग्राह्यत्वान्निर्ममत्वाच्चा-नवस्थोऽकर्ता कर्तेवावस्थितः ॥10॥

यह आत्मा मानो शरीर के वश में आ गया हो, और मानो शुभाशुभ कर्मों के फल से बँध गया हो, इस प्रकार भाँति-भाँति के शरीरों में संचरण करता रहता है (हालाँकि वह वास्तविक नहीं है)। परन्तु वास्तविक दृष्टि से देखने पर तो वह अव्यक्त, अदृश्य, सूक्ष्म, अग्राह्य और ममतारहित है। उसमें कर्तृत्व न होने पर भी और उसकी कोई अवस्था (जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्ति) न होने पर भी वह मानो कर्तारूप हो, ऐसा प्रतीत होता है।

स वा एष शुद्धः स्थिरोऽचलश्चालेपोऽव्यग्रो निःस्पृहः प्रेक्षकवदवस्थितः स्वस्य चरितभुग्गुणमयेन पटेनात्मानमन्तर्धायावस्थित इत्यव-स्थित इति ॥11॥

इति द्वितीयः प्रपाठकः।

वह आत्मा शुद्ध, स्थिर, अचल, निरासक्त, दुःखरहित, इच्छारहित द्रष्टा रूप होने पर भी अपने कर्मों को मानो भोगता हो, ऐसा दिखाई देता है। वही (सत्त्वादि) तीन गुणों रूपी वस्त्र से अपने को आच्छादित रखता हो, ऐसा मालूम होता है।

यहाँ पर दूसरा प्रपाठक पूरा होता है।

❋

तृतीयः प्रपाठकः

ते होचुर्भगवन् यद्येवमस्यात्मनो महिमानं सूचयसीत्यन्यो वा परः कोऽ-यमात्मा सितासितैः कर्मफलैरभिभूयमानः सदसद्योनिमापद्यत इत्यवाचीं वोर्ध्वां वा गतिं द्वन्द्वैरभिभूयमानः परिभ्रमतीति कतम एष इति तान् होवाच ॥1॥

यह सुनकर वालखिल्य ने प्रश्न किया—'हे भगवन्! यदि आप उस आत्मा की ऐसी महिमा कहते हैं, तो फिर शुभाशुभ कर्मों के नीचे दबा हुआ और तदनुसार अच्छी या बुरी योनियों में भटकता हुआ आत्मा क्या कोई दूसरा आत्मा है? सुख-दुःख से पराभव प्राप्त करके उच्च या नीच गति में भटकनेवाला यह कौन-सा आत्मा है?' यह सुनकर ब्रह्मा ने कहा—

अस्ति खल्वन्योऽपरो भूतात्मा योऽयं सितासितैः कर्मफलैरभिभूयमानः सदसद्योनिमापद्यत इत्यवाचीं वोर्ध्वां गति द्वन्द्वैरभिभूयमानः परिभ्रमती-त्यस्योपव्याख्यानं पञ्च तन्मात्राणि भूतशब्देनोच्यन्ते पञ्च महाभूतानि भूतशब्देनोच्यन्तेऽथ तेषां यः समुदायः शरीरमित्युक्तमथ यो ह खलु वाव शरीरमित्युक्तं स भूतात्मेत्युक्तमथास्ति तस्यात्मा बिन्दुरिव पुष्कर इति स वा एषोऽभिभूतः प्राकृतैर्गुणैरित्यतोऽभिभूतत्वात् सम्मूढत्वं प्रयात्यसम्मूढत्वादात्मस्थं प्रभुं भगवन्तं कारयितारं नापश्यद्गुणौघै-स्तृप्यमानः कलुषीकृतश्चास्थिरश्चञ्चलो लोलुप्यमानः सस्पृहो व्यग्रश्चा-भिमानत्वं प्रयात इत्यहं सो ममेदमित्येवं मन्यमानो निबन्ध्नात्यात्म-नाऽऽत्मानं जालेनेव खचरः कृतस्यानुफलैरभिभूयमानः परिभ्रम-तीति ॥2॥

जो शुभाशुभ कर्मों के नीचे दबा हुआ है वह तो दूसरा 'भूतात्मा' कहा जाता है। वह अच्छी-बुरी योनि को प्राप्त करता है, ऊँची-नीची गति में जाता है, राग-द्वेष आदि द्वन्द्वों से परेशान होता है। उसे 'भूतात्मा' कहा जाने का कारण यह है कि जो पाँच तन्मात्राएँ हैं और पाँच महाभूत हैं, उन्हें 'भूत' शब्द से पहचाना जाता है। और उन्हीं भूतों का समुदाय ही तो शरीर है। इसलिए उस शरीर को ही 'भूतात्मा' कहा जाता है। उसमें स्थित आत्मा तो कमलपत्र के ऊपर के जल के बिन्दु के समान ही है। फिर भी अपनी प्रकृति के गुणों से पराजित हो जाने से वह मूढ़ बन गया है। इससे वह अपने भीतर स्थित प्रेरक परमात्मा को देख नहीं पाता और गुणों के समूह से ही सन्तुष्ट होता हुआ, पापों से युक्त होता हुआ, अस्थिर, चंचल, लोलुप और अभिमानी बनता हुआ वह, 'यह मैं हूँ', 'यह मेरा है'—ऐसा मानता हुआ अपने आप वह स्वयं बन्धन में पड़ जाता है। जिस प्रकार जाल में पक्षी फँस जाता है, वैसे ही अपने आप ही कर्मफलों में फँसकर इधर-उधर भटकता रहता है।

अथान्यत्राप्युक्तं यः कर्ता सोऽयं वै भूतात्मा करणैः कारयिताऽन्तः-पुरुषोऽथ यथाऽग्निनायःपिण्डो वाऽभिभूतः कर्तृभिर्हन्यमानो नानात्व-मुपेत्यैवं वाव खल्वसौ भूतात्माऽन्तःपुरुषेणाभिभूतो गुणैर्हन्यमानो नानात्वमुपेत्यथ यत्त्रिगुणं चतुरशीतिलक्षयोनिपरिणतं भूतत्रिगुणमेतद्वै नानात्वस्य रूपं तानि ह वा इमानि गुणानि पुरुषेणेरितानि चक्रमिव चक्रिणेत्यथ यथाऽयःपिण्डे हन्यमाने नाग्निरभिभूयत्येवं नाभिभूयत्यसौ पुरुषोऽभिभूयत्ययं भूतात्मोपसंश्लिष्टत्वादिति ॥3॥

अन्यत्र भी कहा गया है कि कर्तृत्व तो इस भूतात्मा का ही है। भीतर स्थित शुद्ध आत्मा तो केवल प्रेरक ही है। वह इन्द्रियों के द्वारा सब कुछ करवाता है। जैसे अग्नि में तपाया गया लोहे का गोला लोहार द्वारा पीटे जाने पर अनेक आकारवाला बन जाता है, वैसे ही यह भूतात्मा भी अन्तःस्थ शुद्ध आत्मा की अग्नि से तपकर एवं गुणों के द्वारा पीटा जाता हुआ अनेक प्रकार का हो जाता है। अर्थात् तीन गुणों से युक्त ऐसी चौरासी लाख त्रिगुणात्मक योनियों में परिवर्तित हुआ करता है। यही तो अनेकता का स्वरूप है। जैसे चाक को चलानेवाला कुम्हार चाक से अलग ही होता है, वैसे ही तीन गुणों का प्रेरक आत्मा तीन गुणों से अलग ही है। जैसे लोहे के गोले के पीटे जाने से उसमें स्थित अग्नि नहीं पीटी जाती, वैसे ही शुद्ध आत्मा को किसी भी प्रकार का विकार नहीं होता। उसको तो केवल भूतात्मा के साथ सम्पर्क का दोष ही लगता है।

अथान्यत्राप्युक्तं शरीरमिदं मैथुनादेवोद्भूतं संविदपेतं निरय एवं मूत्र-द्वारेण निष्क्रान्तमस्थिभिश्चितं मांसेनानुलिप्तं चर्मणाऽवबद्धं विण्मूत्र-पित्तकफमज्जामेदोवसाभिरन्यैश्च मलैर्बहुभिः परिपूर्णं कोश इवावस-न्नेति ॥4॥

और अन्यत्र कहा भी गया है कि स्त्री-पुरुष के संयोग से ही यह शरीर उत्पन्न होता है। वह चेतनविहीन होता है और मानो नरक ही होता है। मूत्र के द्वार में से वह निकला है और हड्डियों से व्यवस्थापित (आकारित) हुआ है, मांस से वह अवलिप्त हुआ और चमड़ी से मढ़ा गया है। मल, मूत्र, पित्त, कफ आदि से वह भरा-पूरा है। अन्य कई मलिनताओं से वह भरा हुआ है। ऐसा मालूम होता है कि मानो वह दूषित वस्तुओं का खजाना ही हो।

अथान्यत्राप्युक्तं सम्मोहो भयं विषादो निद्रा तन्द्री व्रणो जरा शोकः क्षुत् पिपासा कार्पण्यं क्रोधो नास्तिक्यमज्ञानं मात्सर्यं वैकारुण्यं मूढत्वं निर्व्रीडत्वं निकृतत्वमुद्धतत्वमसमत्वमिति तामसान्वितस्तृष्णा स्नेहो रागो लोभो हिंसा रतिर्दृष्टिव्यावृतत्वमीर्ष्याकाममस्थिरत्वं चञ्चलत्वं जिहीर्षा-र्थोपार्जनं मित्रानुग्रहणं परिग्रहावलम्बोऽनिष्टेष्विन्द्रियार्थेषु द्विष्टिरिष्टेष्व-भिष्वङ्ग इति राजसान्वितैः परिपूर्ण एतैरभिभूत इत्ययं भूतात्मा तस्मान्नानारूपाण्याप्नोतीत्याप्नोतीति ॥5॥

इति तृतीयः प्रपाठकः ॥

और भी अन्य स्थान पर कहा गया है कि मोह, भय, विषाद, निद्रा, तन्द्रा, बूढ़ापन, शोक, भूख, प्यास, दैन्य, क्रोध, नास्तिकता, अज्ञान, ईर्ष्या, विकार, मूढता, निर्लज्जता, उद्धतता, विषमता इत्यादि तमोगुण के विकारों से यह शरीर परिपूर्ण है। इसके उपरान्त तृष्णा, स्नेह, राग, लोभ, हिंसा, कामुकता, व्यापार, ईर्ष्या, स्वेच्छाचारिता, चंचलता, किसी भी वस्तु को हड़प लेने की इच्छा, धनोपार्जन की इच्छा, मित्रों का अनुग्रह, परिग्रह का आश्रय, इन्द्रियों का अप्रिय विषयों से द्वेष, और प्रिय विषयों में आसक्ति आदि रजोगुण से युक्त विकार भी इस भूतात्मा में विद्यमान रहते हैं। इन सभी विकारों के द्वारा यह भूतात्मा पराभव प्राप्त करता रहता है। और बारी-बारी से तरह-तरह के रूपों को धारण करता रहता है, धारण करता रहता है (अन्तिम शब्दसमूह की पुनरावृत्ति प्रपाठक की समाप्तिसूचक है)।

यहाँ तीसरा प्रपाठक पूरा होता है।

चतुर्थः प्रपाठकः

ते ह खल्वथोर्ध्वरेतसो अतिविस्मिता अतिसमेत्योचुर्भगवन्नमस्ते त्वं नः शाधि त्वमस्माकं गतिरन्या न विद्यत इत्यस्य कोऽतिथिर्भूतात्मनो येनेदं हित्वात्मन्येव सायुज्यमुपैति। तान् होवाच ॥1॥

यह सुनकर वे ऊर्ध्वरेतस् (ब्रह्मचारी) वालखिल्य बहुत ही विस्मित हो गए और एकदम नजदीक जाकर बोले—'हे भगवन्! आपको हमारा नमस्कार है। आप ही हमारी शरण हैं, दूसरा हमारा कोई आश्रय नहीं है, तो आप हमें समझाइए कि उस भूतात्मा का अतिथि कौन-सा है, जिसकी वजह से वह इस सबको छोड़कर उस आत्मा में ही सायुज्य प्राप्त करता है'? तब ब्रह्मा उत्तर दिया कि—

अथान्यत्राप्युक्तं महानदीषूर्मय इव निवर्तकमस्य यत्पुराकृतं समुद्रवेलेव दुर्निवार्यमस्य मृत्योरागमनं सदसत्फलमयैर्हि पाशैः पशुरिव बद्धं बन्धनस्थस्येवास्वातन्त्र्यं यमविषयस्थस्येव बहुभयावस्थं मदिरोन्मत्त इवामोदमदिरोन्मत्तं पाप्मना गृहीत इव भ्राम्यमाणं महोरगदष्ट इव विपद्दष्टं महान्धकार इव रागान्धमिन्द्रजालमिव मायामयं स्वप्न इव मिथ्यादर्शनं कदलीगर्भ इवासारं नट इव क्षणवेशं चित्रभित्तिरिव मिथ्यामनोरम-मित्यथोक्तम्।

**शब्दस्पर्शादयो येऽर्था अनर्था इव ते स्थिताः।
येष्वासक्तस्तु भूतात्मा न स्मरेच्च परं पदम् ॥2॥**

और भी एक जगह पर कहा गया है कि बड़ी नदियों में जिस तरह तरंगें उछलती हैं इसी तरह इस भूतात्मा में पूर्वकृत कर्म होते हैं, और उनके फल तो उसे भोगने ही पड़ते हैं। जिस प्रकार उन ऊर्मियों के अन्त के लिए समुद्र का किनारा जरूरी होता है, उसी प्रकार भूतात्मा के लिए मृत्यु भी जरूरी ही होती है। उन शुभाशुभ कर्मों के फलस्वरूप बन्धनों में वह एक पशु की तरह ही जकड़ा हुआ है और एकदम परतन्त्र ही हो गया है; जैसे यम के राज्य में रहता हो, वैसे ही वह भूतात्मा सर्वदा भयभीत ही रहता है। विषयसुख रूपी मदिरा पीकर वह पागल बन जाता है और पाप के प्रेत का उसमें आवेश आ गया हो, ऐसे इधर-उधर भटकता ही रहता है। जैसे जहरीले साँप ने काटा हो इस तरह विपत्ति से दुःख भोगता है। विषयों की लालसा रूपी गाढ़ अन्धकार से वह अन्धा बन जाता है। ऐन्द्रजालिक के जादू की तरह वह माया से भरा हुआ है। स्वप्न की तरह मिथ्या दिखावेवाला है। केले के पेड़ के गर्भ की तरह वह सारहीन ही है। नट की तरह वह क्षण-क्षण में नए-नए वेश धारण करता है। चित्रवाली दीवार की तरह वह झूठे ही दिखावे से सुन्दर भासित होता है। और ऐसा भी कहा गया है कि शब्द, स्पर्श आदि विषय असार हैं और उनमें आसक्त हुए भूतात्मा को अपना वास्तविक स्वरूप स्मरण नहीं होता।

अयं वाव खल्वस्य प्रतिविधिर्भूतात्मनो यद्वेव विद्याधिगमस्य धर्मस्या-नुचरणं स्वाश्रमेष्वेवानुक्रमणं स्वधर्म एव सर्वं धत्ते स्तम्भशाखे-वेतराण्यनेनोर्ध्वभाग्भवत्यन्यथाऽधः पतत्येष स्वधर्मोऽभिभूतो यो वेदेषु न स्वधर्मातिक्रमेणाश्रमी भवत्याश्रमेष्वेवावस्थितस्तपस्वी चेत्युच्यत एतदप्युक्तं नातपस्कस्यात्मध्यानेऽधिगमः कर्मशुद्धिर्वेत्येवं ह्याह।

**तपसा प्राप्यते सत्त्वं सत्त्वात्संप्राप्यते मनः।
मनसा प्राप्यते त्वात्मा ह्यात्मापत्त्या निवर्तते ॥3॥**

उसकी मुक्ति का उपाय इस प्रकार है—ज्ञान की प्राप्ति करानेवाले धर्म का आचरण करना चाहिए और अपने आश्रमधर्मों का भी पालन करना चाहिए। क्योंकि स्वधर्माचरण ही सब कुछ कर सकता है। अन्य धर्म तो खम्भे की शाखाओं जैसे झूठे ही हैं। स्वधर्माचरण के द्वारा ही भूतात्मा मुक्ति को प्राप्त होता है। इससे अलग मार्ग पर जाने से तो वह नीचे ही गिरता है। वेदविहित स्वधर्म का त्याग करनेवाला मनुष्य 'आश्रमी' नहीं कहलाता। जो अपने आश्रमधर्मों का पालन करता है, वह तपस्वी है। और यह भी कहा गया है कि जो तपस्वी नहीं है, वह आत्मा में ध्यान नहीं लगा सकता। और उसकी

कर्मशुद्धि भी नहीं होती। तप के द्वारा ज्ञान प्राप्त होता है, ज्ञान होने पर मन वश में आता है, और आत्मा की प्राप्ति होती है। आत्मा की प्राप्ति होने पर संसार से मुक्ति होती है।

अत्रैते श्लोका भवन्ति—
यथा निरिन्धनो वह्निः स्वयोनावुपशाम्यति।
तथा वृत्तिक्षयाच्चित्तं स्वयोनावुपशाम्यति ॥4-1॥

यहाँ ये श्लोक हैं—जैसे काष्ठ खत्म होने पर अग्नि आप-ही-आप अपने उत्पत्ति स्थान में बुझ जाती है, ठीक उसी प्रकार जब वृत्तियों का क्षय हो जाता है, तब चित्त आप-ही-आप अपने कारण (उत्पत्तिस्थान) में शान्त हो जाता है।

स्वयोनावुपशान्तस्य मनसः सत्यकामिनः।
इन्द्रियार्थाविमूढस्यानृताः कर्मवशानुगाः ॥4-2॥

अपने उत्पत्तिस्थान में (कारण में) शान्त बना हुआ और ज्ञानप्राप्त किया हुआ चित्त जब सत्य की ओर मोड़ लेता है, तब उसे वे कर्म के वश में रहनेवाले इन्द्रियविषय मिथ्या (तुच्छ झूठे) ही मालूम पड़ते हैं।

चित्तमेव हि संसारस्तत्प्रयत्नेन शोधयेत्।
यच्चित्तस्तन्मयो भवति गुह्यमेतत्सनातनम् ॥4-3॥

चित्त ही तो संसार है। इसलिए प्रयत्नपूर्वक चित्तशुद्धि करनी चाहिए। जैसा मनुष्य का चित्त होता है, वैसा ही वह मनुष्य होता है। जैसा चित्त वैसी गति होती है। यह तो एक सनातन रहस्य है।

चित्तस्य हि प्रसादेन हन्ति कर्म शुभाशुभम्।
प्रसन्नात्माऽऽत्मनि स्थित्वा सुखमव्ययमश्नुते ॥4-4॥

चित्त के शान्त होने से शुभ-अशुभ कर्मों का नाश हो जाता है। और शान्त बना हुआ मनुष्य जब अपने आत्मा में लीन हो जाता है, तब उसे अक्षय आनन्द प्राप्त होता है।

समासक्तं यदा चित्तं जन्तोर्विषयगोचरे।
यद्येवं ब्रह्मणि स्यात्तत् को न मुच्येत बन्धनात् ॥4-5॥

प्राणि का चित्त जितना अधिक विषयों में आसक्त रहता है, उतना ही यदि ब्रह्म में आसक्त हो जाता, तो भला कौन प्राणी बन्धन से मुक्त नहीं होता? अर्थात् सभी मुक्त हो जाते।

मनो हि द्विविधं प्रोक्तं शुद्धं चाशुद्धमेव च।
अशुद्धं कामसङ्कल्पं शुद्धं कामविवर्जितम् ॥4-6॥

मन दो प्रकार का होता है—एक शुद्ध और दूसरा अशुद्ध। उनमें अशुद्ध मन कामनाओं और संकल्पों से भरा हुआ होता है, जबकि शुद्ध मन कामनाओं से रहित होता है।

लयविक्षेपरहितं मनः कृत्वा सुनिश्चलम्।
यदा यात्यमनीभावं तदा तत्परमं पदम् ॥4-7॥

मन को लय और विक्षेप से रहित और ठीक तरह से स्थिर करके जब मनुष्य अमनीभाव को अर्थात् निर्विचारता को प्राप्त करता है, तब वह परमपद होता है।

तावदेव निरोद्धव्यं हृदि यावत् क्षयं गतम्।
एतज्ज्ञानं च मोक्षं च शेषास्तु ग्रन्थविस्तराः ॥4-8॥

जब तक मन का पूर्णतः नाश न हो जाए, तब तक हृदय में मन का निरोध करते ही रहना चाहिए। बस इतना ही ज्ञान है, वही मोक्ष है। शेष तो सब ग्रन्थों के विस्तारमात्र ही है।

समाधिनिर्धूतमलस्य चेतसो निवेशितस्यात्मनि यत्सुखं लभेत्।
न शक्यते वर्णयितुं गिरा तदा स्वयं तदन्तःकरणेन गृह्यते ॥4-9॥

समाधि के द्वारा जिसका मल दूर हो गया है और आत्मा में प्रवेश कराए गए चित्त को जो सुख मिलता है उसे वाणी से वर्णन करना तो असम्भव ही है। वह तो केवल अन्तःकरण के द्वारा ही अनुभव किया जानेवाला है।

अपामपोऽग्निरग्नौ वा व्योम्नि व्योम न लक्षयेत्।
एवमन्तर्गतं चित्तं पुरुषः प्रतिमुच्यते ॥4-10॥

जैसे पानी में पानी, अग्नि में अग्नि और आकाश में आकाश मिल जाने से उसे फिर अलग नहीं देखा जा सकता ठीक उसी तरह चित्त का लय हो जाने से मनुष्य मुक्त हो जाता है।

मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः।
बन्धाय विषयासक्तं मुक्त्यै निर्विषयं स्मृतम् ॥4-11॥

मनुष्य के बन्धन और मोक्ष का कारण मन ही होता है। विषयों में आसक्त मन बन्धन का कारण होता है और विषयासक्तिरहित मन मुक्ति के लिए होता है।

अथ यथेयं कौत्सायनिस्तुतिः—
त्वं ब्रह्मा त्वं च वै विष्णुस्त्वं रुद्रस्त्वं प्रजापतिः।
त्वमग्निर्वरुणो वायुस्त्वमिन्द्रस्त्वं निशाकरः ॥4-12॥

अब यहाँ मुनि कौत्सायनि द्वारा की हुई स्तुति कही जा रही है—तुम ब्रह्मा हो, तुम्हीं विष्णु हो, तुम्हीं रुद्र और तुम्हीं प्रजापति हो। तुम अग्नि हो, वरुण, वायु, इन्द्र और चन्द्र तुम्हीं हो।

त्वं मनुस्त्वं यमश्च त्वं पृथिवी त्वमथाच्युतः।
स्वार्थे स्वाभाविकेऽर्थे च बहुधा तिष्ठसे दिवि ॥4-13॥

तुम मनु हो, तुम यम हो, तुम पृथ्वी हो, तुम अच्युत हो। तुम्हीं अपने विषयरूप स्वाभाविक अर्थ में हो तथा तुम्हीं अपने अर्थ में रहते हुए भी स्वर्ग में अनेक रूपों को धारण किए हुए हो।

विश्वेश्वर नमस्तुभ्यं विश्वात्मा विश्वकर्मकृत्।
विश्वभुग्विश्वमायस्त्वं विश्वक्रीडारतः प्रभुः ॥4-14॥

हे सर्वेश्वर! आपको नमस्कार। तुम सर्व के आत्मा हो, तुम सब कर्म करनेवाले हो। सबके भोक्ता तुम्हीं हो। विविध माया को धारण करनेवाले तुम ही हो। तुम विश्व की लीला में रत हो, तुम सब कुछ करने में समर्थ हो।

नमः शान्तात्मने तुभ्यं नमो गुह्यतमाय च।
अचिन्त्यायाप्रमेयाय अनादिनिधनाय चेति ॥4-15॥

हे शान्तस्वरूप आपको नमस्कार है। अतिशय रहस्यमय, अचिन्तनीय, अप्रमेय अर्थात् प्रमाणों से अगम्य और आदि-अन्त रहित ऐसे आपको नमस्कार है।

तमो वा इदमेकमास। तत्पश्चात्तत्परेणेरितं विषयत्वं प्रयात्येतद्वै रजसो रूपं तद्रजः खल्वीरितं विषयत्वं प्रयात्येतद्वै तमसो रूपं तत्तमः खल्वीरितं तमसः सम्प्रास्त्रवत्येतद्वै सत्त्वस्य रूपं तत्सत्त्वमेवेरितं तत्सत्त्वात् सम्प्रास्त्रवत् सोंऽशोऽयं यश्चेतनमात्रः प्रतिपुरुषं क्षेत्रज्ञः सङ्कल्पाध्यवसायाभिमानलिङ्गः प्रजापतिस्तस्य प्रोक्ता अग्र्यास्तनवो ब्रह्मा रुद्रो विष्णुरित्यथ यो ह खलु वावास्य राजसोंशोऽसौ स योऽयं ब्रह्माऽथ यो ह खलु वावास्य तामसोंऽशोऽसौ स योऽयं रुद्रोऽथ यो ह खलु वावास्य सात्त्विकोंऽशोऽसौ स एव विष्णुः स वा एष एकस्त्रिधाभूतोऽष्टैकादशधा द्वादशधाऽपरिमितधा चोद्भूत उद्भूतत्वाद्भूतेषु चरति। प्रतिष्ठा सर्वभूतानामधिपतिर्बभूवेत्यसावात्माऽन्तर्बहिश्चान्तर्बहिश्च ॥5॥

इति चतुर्थः प्रपाठकः।
इति मैत्रायण्युपनिषत्समाप्ता।
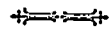
सृष्टि से पहले यह सब केवल अन्धकार (केवल अज्ञानरूप) ही था। बाद में परमात्मा से प्रेरित होकर इन्द्रियों के विषयरूप बना है। परमात्मा से प्रेरित रजोगुण विषमता को प्राप्त हुआ और कुछ विषय रजोगुण के स्वरूपवाले हुए। परमात्मा से प्रेरित तमोगुण विषमता को प्राप्त हुआ और कुछ विषय तमोगुण के स्वरूपवाले हुए। तथा परमात्मा से सत्त्वगुण प्रेरित हुआ और वह भी विषमता को प्राप्त हुआ और इस तरह सत्त्वगुण के वैषम्य से स्रवण से जो उत्पन्न हुआ है वह 'क्षेत्रज्ञ' के रूप में (जीव के रूप में) सभी प्राणियों में अवस्थित है। उस परमात्मा का ही वह अंश है। वह संकल्परूप, निश्चयरूप और अभिमानरूप चिह्न वाला है। वह प्रजाओं का पति है, उस परमात्मा के सबसे बड़े और श्रेष्ठ शरीर ब्रह्मा, रुद्र और विष्णु कहे गए हैं। उस परमात्मा के रजोगुण का अंश ब्रह्मा कहा गया है, उसी के तमोगुण का अंश रुद्र कहा गया है और जो सत्त्वगुण का अंश है वह विष्णु है। वह एक ही परमात्मा तीन रूपों में, आठ रूपों में, ग्यारह रूपों में, बारह रूपों में, अनेक रूपों में उत्पन्न हुआ है। इस प्रकार अनन्त रूपों में होकर प्रत्येक भूत में वह रहते हैं। सब प्राणियों के वे अधिपति हैं। और वही बाहर-भीतर सर्वत्र है, वही बाहर भीतर सर्वत्र है। वाक्य की पुनरावृत्ति उपनिषत् की समाप्ति को सूचित करती है।

इस प्रकार यहाँ चौथा प्रपाठक पूरा होता है।
यह उपनिषत् भी समाप्त होती है।

शान्तिपाठः

ॐ आप्यायन्तु ममाङ्गानि ... ते मयि सन्तु। (पूर्ववत्)
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

(25) कौषीतकिब्राह्मणोपनिषत्

(उपनिषत्परिचय)

ऋग्वेद के कौषीतकिब्राह्मण की अंशरूप इस उपनिषत् के चार अध्याय हैं। पहले अध्याय में गर्ग के प्रपौत्र चित्र और गौतम उद्दालक का संवाद है। इसमें अग्निहोत्र और उसकी फलश्रुति बताई है। मरण के बाद अग्निहोत्री का जीवात्मा कहाँ-कहाँ होकर ब्रह्मलोक तक पहुँचता है और वहाँ उसका कैसे-कैसे स्वागत होता है, और भी वहाँ क्या-क्या बनता है, उसका विवरण दिया गया है। इसके पहले अध्याय का नाम 'पर्यंकविद्या' भी है। दूसरे अध्याय में प्राणोपासना, आध्यात्मिक अग्निहोत्र, विविध उपासनाएँ, दैवपरिसर में प्राणोपासना, मोक्ष को दिलानेवाली श्रेष्ठ प्राणोपासना तथा प्राणोपासक का सम्प्रदानकर्म बताया गया है। तीसरे अध्याय में इन्द्र-प्रतर्दन संवाद द्वारा प्रज्ञारूप प्राण की महिमा बताई है और चौथे अध्याय में अजातशत्रु और गार्ग्य के संवाद द्वारा पहले सूर्य, चन्द्र, विद्युत्, मेघ, आकाश, वायु, अग्नि, जल, दर्पण, प्रतिध्वनि वगैरह में विद्यमान चैतन्यतत्त्व की उपासना के बारे में कहा गया है। अन्त में आत्मतत्त्व के स्वरूप, उपासना ओर फल कहे गए हैं।

शान्तिपाठः

ॐ वाङ्मे मनसि प्रतिष्ठिता मनो मे वाचि प्रतिष्ठितमाविरावीर्म एधि। वेदस्य म आणीस्थः श्रुतं मे मा प्रहासीरनेनाधीतेनाहोरात्रान्सन्दधाम्यृतं वदिष्यामि। सत्यं वदिष्यामि। तन्मामवतु तद्वक्तारमवतु अवतु मामवतु वक्तारमवतु वक्तारम्।
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

हे परमात्मन्! मेरी वाणी मन में स्थिर हो तथा मन वाणी में स्थिर हो। हे प्रकाशरूप परमात्मन्! मेरे लिए तुम प्रकट हो। (हे वाणी और हे मन!) तुम मेरे लिए वेदविषयक ज्ञान को लाने वाले हो। मेरा श्रुत ज्ञान मेरे से कभी विस्मृत न हो। इस स्वाध्याय से मैं दिन-रात को एक कर दूँ। मैं परमसत्य ही बोलूँगा, सत्य ही बोला करूँगा। वह ब्रह्म मेरी रक्षा करे। वह (ब्रह्म) आचार्य की रक्षा करे। रक्षा करे मेरी और रक्षा करे आचार्य की। ॐ त्रिविध तापों की शान्ति हो।

प्रथमोऽध्यायः

चित्रो ह वै गार्ग्यायणिर्यक्ष्यमाण आरुणिं वव्रे। स ह पुत्रं श्वेतकेतुं प्रजिघाय याजयेति। तं हासीनं पप्रच्छ गौतमस्य पुत्रास्ते संवृतं लोके यस्मिन्माधास्यस्यन्यमुताहो बोद्धवा तस्य मा लोके धास्यसीति। स होवाच नाहमेतद्वेद हन्ताचार्यं पृच्छानीति। स ह पितरमासाद्य पप्रच्छेति। गा प्राक्षीत् कथं प्रतिब्रवाणीति। स होवाचाहमप्येतन्न वेद सदस्येव वयं स्वाध्यायमधीत्य हरामहे यन्नः परे ददत्येह्युभौ गमिष्याव इति ॥1॥

यज्ञ करने की इच्छा वाले गर्ग के पौत्र चित्र ने उद्दालक आरुणि को निमन्त्रण भेजा। परन्तु महात्मा उद्दालक ने अपने पुत्र श्वेतकेतु को 'तुम यज्ञ कराओ'—ऐसा कहकर अपने बदले भेजा। यज्ञ में आसन पर बैठे श्वेतकेतु से चित्र ने पूछा—'हे गौतम के पुत्र ! यज्ञ तो संवृत अर्थात् स्वर्ग देने वाले भी होते हैं, क्या तुम ऐसे ऐहिक फल देने वाले यज्ञ ही करवाओगे अथवा किसी विशिष्ट फलवाले यज्ञ करवाओगे ?' (अर्थात् तुम मुझे सामान्य फलवाला यज्ञ करवाओगे या किसी विशेष फलवाला यज्ञ करवाओगे ?) यह सुनकर श्वेतकेतु ने कहा—'हे भगवन् ! मैं यह सब नहीं जानता। मैं आचार्य को (मेरे पिता को) जाकर पूछ लूँ।' वह पिता के पास गया और कहने लगा कि—'चित्र ने इस तरह से प्रश्न किया है। तो मैं उन्हें क्या उत्तर दूँ ?' तब उद्दालक ने कहा—'मैं भी इस प्रश्न का उत्तर नहीं जानता। चलो हम महाभाग चित्र की यज्ञशाला में चलकर इस प्रश्न का अध्ययन करके ही इस विद्या को प्राप्त करेंगे। जब दूसरे लोग हमें विद्या और धन देते हैं, तो चित्र भी हमें देंगे ही। इसलिए चलो हम दोनों महर्षि चित्र के पास चलें।'

स ह समित्पाणिश्चित्रं गार्ग्यायणिं प्रतिचक्राम उपायानीति। तं होवाच ब्रह्मार्घोऽसि गौतम यो मानमुपागा एहि त्वा ज्ञपयिष्यामीति। स होवाच ये वै के चास्माल्लोकात् प्रयान्ति चन्द्रमसमेव ते सर्वे गच्छन्ति। तेषां प्राणैः पूर्वपक्ष आप्यायते। अथापरपक्षे न प्रजनयति। एतद्वै स्वर्गस्य लोकस्य द्वारं यश्चन्द्रमास्तं यत् प्रत्याह तमति सृजतेऽथ य एनं प्रत्याहत-मिह वृष्टिर्भूत्वा वर्षति। स इह कीटो वा पतङ्गो वा शकुनिर्वा शार्दूलो वा सिंहो वा मत्स्यो वा परश्वा वा पुरुषो वाऽन्यो वैतेषु स्थानेषु प्रत्याजायते यथाकर्म यथाविद्यम्। तमागतं पृच्छति कोऽसीति तं प्रतिब्रूयात् ॥2॥

इसके बाद वे आरुणि मुनि हाथ में समिधा लिए हुए और जिज्ञासुभाव से चित्र के यहाँ गए और बोले—'मैं विद्या की प्राप्ति के लिए आपके पास आया हूँ।' तब चित्र ने कहा—'हे गौतम ! आप ब्राह्मणों में अति आदरणीय हैं और ब्रह्मविद्या के अधिकारी भी हैं क्योंकि मेरे जैसे छोटे व्यक्ति के पास आने में आपको संकोच नहीं हुआ। अत: आइए मैं आपको बोध करवाऊँगा। हे ब्रह्मन् ! जो कोई अग्निहोत्रादि सत्कार्य करनेवाले होते हैं, वे सभी इस लोक से प्रयाण करने के पश्चात् चन्द्रलोक को ही जाते हैं। कहीं पर (चन्द्रलोक में) फल-प्राप्ति के दो विकल्प हैं। एक विकल्प के द्वारा वह फल जीव को आगे ले जाता है और दूसरे विकल्प द्वारा वह यज्ञफल उन जीवों को अन्य जन्म लेने के लिए वापिस भेजता है। **अथवा** पहले पक्ष में—प्रारंभ के समय में वहाँ गए हुए लोग पुण्य शेष रहने तक भोग भोगते रहते हैं और दूसरे पक्ष में—पुण्यक्षीण हो जाने पर वह चन्द्रलोक उन जीवों को तृप्ति नहीं दे पाता। यह जो चन्द्रमा (चन्द्रलोक) है, वह वास्तव में स्वर्ग का द्वार है। दैवीसम्पद्युक्त जो अधिकारी इस स्वर्गद्वार रूप चन्द्रलोक को अस्वीकार करके—स्वर्गसुख की भी विनाशशीलता को समझकर—छोड़ देता है, वह तो उससे ऊपर उठ जाता है, परन्तु जो पुरुष स्वर्गीय सुखों के प्रति आसक्ति रखकर उसको स्वीकार कर लेता है, उस कामनामय पुरुष का स्वर्ग में पुण्य क्षीण हो जाने पर वह वृष्टिरूप होकर बरसता है और फिर अपने कर्मानुसार कीट, पतंग, व्याघ्र, सिंह, मछली, साँप, बिच्छू या मनुष्य या अन्य कोई दूसरा जीव होकर अनुकूल शरीरों में इधर-उधर जन्म लेता है। कर्म और विद्या के प्रमाण में ऐसा होता है। वह मनुष्य जब गुरु के पास आए तो गुरु को उससे पूछना चाहिए कि 'तुम कौन हो ?' तो उस मनुष्य को ऐसा उत्तर देना चाहिए—

विचक्षणत्वादृतवो रेत आभृतं पञ्चदशात् प्रसूतात् पित्र्यावतस्तन्मा पुंसि

कर्तर्येरयध्वं पुंसा कर्त्रा मातरि मा निषिक्तः स जायमान उपजायमानो द्वादश त्रयोदश उपमासो द्वादशत्रयोदशेन पित्रा सन्तद्विदेऽहं तन्म ऋतवो मर्त्यव आरभध्वम्। तेन सत्येन तपसर्तुरस्यार्तवोऽस्मि। कोऽसि त्वमसीति तमतिसृजते। तमेतं देवयजनं पन्थानमासाद्याग्निलोकमा-गच्छति। स वायुलोकं स वरुणलोकं स आदित्यलोकं स इन्द्रलोकं स प्रजापतिलोकं स ब्रह्मलोकम्। तस्य ह वा एतस्य ब्रह्मलोकस्य आरो ह्रदो मुहूर्तोऽन्वेष्टिहा विरजा नदील्यो वृक्षः। सालज्जं संस्थानमपराजित-मायतनमिन्द्रप्रजापती द्वारगोपौ। विभुप्रमितं विचक्षणसन्ध्यमितौजाः पर्यङ्कः प्रिया च मानसी प्रतिरूपा च चाक्षुषी पुष्पाण्यादायावगतौ वै च जगान्यम्बाश्चाम्बाऽवयवाश्चाप्सरसोः। अम्बया नद्यस्तमित्थंविदा गच्छति। तं ब्रह्माहाभिधावत मम यशसा विरजां वा अयं नदीं प्रापन्न वा अयं जिगीष्यतीति ॥3॥

'हे देवो ! पंद्रह कलाओं से युक्त, शुक्ल-कृष्णपक्ष के कारणभूत, श्रद्धा के माध्यम से प्रादुर्भूत, विविध प्रकार के भोगों को देने में समर्थ, पितृलोक स्वरूप—ऐसे जो चन्द्रमा हैं, उनके सामीप्य से मैं उत्पन्न हुआ और पुरुषरूप अग्नि में स्थापित हुआ। श्रद्धा-सोम-वृष्टि-जल के परिणामभूत वीर्य के रूप में मैं केन्द्रित हुआ और बाद में कर्मफल भोक्ता जीवरूप मुझको तुमने वीर्याधान करनेवाले पुरुष में प्रेरित किया। बाद में गर्भाधान करनेवाले पुरुष पिता के द्वारा माता के गर्भ में तुमने धारण करवाया। गर्भ में बारह-तेरह अर्धमास तक रहकर जन्म लिया। अब मुझे अमृतत्व की प्राप्ति के साथ आप ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति के लिए अनेक ऋतुओं तक रहनेवाले अक्षय दीर्घ आयु का दान करें। क्योंकि यह सब कुछ जानकर ही मैं देवों से प्रार्थना कर रहा हूँ कि मैं वही मरणधर्मा ननुष्य हूँ, वही ऋतु हूँ, वही वीर्य हूँ, उसी से प्रादुर्भूत यह शरीर मैं हूँ। और यदि ऐसा नहीं है तो फिर आप ही कृपा करके बताइए कि मैं कौन हूँ ?'

शिष्य के इस तरह से कहने पर, संसार के भय से डरे हुए उस शिष्य को गुरु ब्रह्मविद्या का उपदेश देते हैं कि—'ऐसा अधिकारी देवयान मार्ग को प्राप्त करके सर्वप्रथम अग्निलोक में पहुँच जाता है। उसके बाद वायुलोक में, उसके बाद वरुणलोक में, उसके बाद आदित्यलोक में, तदनन्तर इन्द्रलोक में, बाद में प्रजापतिलोक में तथा उसके बाद ब्रह्मलोक में आ जाता है। बीच में मार्ग पर सबसे पहले 'अरा' नामक एक बड़ा प्रसिद्ध जलाशय है (कामादि षड्रिपुओं से निर्मित होने से उसका नाम 'अर' है)। उस जलाशय के आगे मुहूर्ताभिमानी देवता का स्थान है। इसका नाम 'इष्टिहा' है (कामादि रिपुओं का प्रवर्तक और इसलिए इष्टि = चाही हुई वस्तु को, हा = नष्ट करनेवाला—ऐसा उसका नाम है)। इसके आगे 'विरजा' नाम की नदी है। इस नदी के आगे 'इल्य' नाम का वृक्ष है। इसके आगे 'सालज्य' नाम का एक नगर है। उसमें 'अपराजित' नाम का महल है। इन्द्र और प्रजापति इसके द्वारपाल हैं। वहाँ विभुप्रमित मंडप और विचक्षणा नाम की उसके बीच एक वेदी है। वहाँ 'अमितौजा' नामक एक पर्यंक (पलंग) है। वहाँ मानसी नाम की प्रिय स्त्री तथा चाक्षुषी नाम का प्रतिबिम्ब है। वहाँ की अम्बा और अम्बावयवी नाम से ख्यात अप्सराएँ (स्त्रियाँ) पुष्पों को लाकर इसका वहाँ स्वागत करती हैं। इसके सिवा वहाँ 'अम्बया' नाम की नदियाँ भी बह रही हैं। ऐसे उस श्रेष्ठ ब्रह्म को जो मनुष्य जानता है—अर्थात् इस रूपकात्मक रहस्य को जो मनुष्य समझ लेता है, वह उसी को प्राप्त हो जाता

है। ऐसे उपासक को आते हुए जानकर ब्रह्मा, विष्णु और महेश उसके आदरसत्कार के लिए तय्यारी करवाते हैं। वे मानते हैं कि उनकी सहायता के बिना यह साधक उनके धाम को जीत न पाएगा।

टिप्पणी—ऊपर के इस रूपकात्मक वर्णन में अलग-अलग व्याख्याकारों ने तरह-तरह के अर्थ किए हैं। यहाँ उन सबका ब्यौरा देना संभव नहीं है फिर भी संक्षेप में हम कह सकते हैं कि साधक ब्रह्मा-विष्णु-महेश रूप उस परमतत्त्व के अनुग्रह से कामादि निर्मित 'अर' सरोवर को पार करके, इष्टिहा नाम के विघ्नकारी देव के पास जाकर उसे अपने प्रभाव से भगाकर, मन से विरजा = पापरहित या विजरा = वृद्धत्वरहित—अर्थात् निष्पाप और उत्साह को अपने मन से लाँघकर = जीतकर—धीरे धीरे ब्रह्मलोक की प्राप्ति करता जाता है। इस वर्णन में अस्पष्टता ज्यादा है। किसी भी टीकाकार का विवरण पूर्णत: परितोषजनक नहीं मालूम पड़ता। कण्डिकाओं की योजनाओं में भी फर्क दिखाई देता है। हमें ब्रह्मयोगी का विवरण अधिक पसन्द आया है। इसका विशेष वर्णन अभी नीचे दिया जा रहा है। अन्य विवरणों के उपयुक्त अंशों को भी हमने स्वीकार किया है।

तं पञ्चशतान्यप्सरसां प्रतियन्ति शतं चूर्णहस्ताः शतं वासोहस्ताः शतं फलहस्ताः शतमञ्जनहस्ताः शतं माल्यहस्तास्तं ब्रह्मालङ्कारेणालङ्कुर्वन्ति। स ब्रह्मालङ्कारेणालङ्कृतो ब्रह्मविद्वान् ब्रह्माभिप्रैति। स आगच्छत्यारं ह्रदं तं मनसाऽत्येति। तमित्वा सम्प्रतिविदो मज्जन्ति। स आगच्छति मुहूर्तान्विहेष्टिहास्तेऽस्मादपद्रवन्ति। स आगच्छति विरजां नदीं तां मनसैवात्येति। तत्सुकृतदुष्कृते धूनुते। तस्य प्रिया ज्ञातयः सुकृतमुपयन्त्यप्रिया दुष्कृतं तद्यथा रथेन धावयन् रथचक्रे पर्यवेक्षत एवमहोरात्रे पर्यवेक्षत एवं सुकृतदुष्कृते एवं सर्वाणि च द्वन्द्वानि। स एष विसुकृतो विदुष्कृतो ब्रह्मविद्वान् ब्रह्मैवाभिप्रैति ॥4॥

ब्रह्मा के आदेश से उस मनुष्य के सत्कारार्थ पाँच सौ अप्सराएँ जाती हैं। सौ अप्सराएँ हाथ में केसर आदि चूर्ण लिए, सौ अप्सराएँ हाथों में वस्त्र लिए, सौ अप्सराएँ हाथों में फल लिए, सौ अप्सराएँ हाथों में अंजनादि लिए, सौ अप्सराएँ हाथों में मालाएँ लिए, उसके सम्मानार्थ जाती हैं और उसे ब्रह्मोचित आभरणों से विभूषित करती हैं। वह ब्रह्मज्ञ ब्रह्मोचित अलंकारों को धारण करके ब्रह्मा के स्वरूप को धारण कर लेता है। और उसके बाद वह 'अर' नाम के सरोवर के पास जाकर उसे संकल्पमात्र से ही पार कर कर लेता है। अज्ञानी लोग तो उस सरोवर के पास जाकर उसमें डूब ही जाते हैं। इसके बाद वह साधक मूहूर्ताभिमानी विघ्नकारी येष्टिहा के पास जाता है, लेकिन ये देवता उससे डरकर भाग जाते हैं। इसके बाद वह विरजा नदी को भी अपने संकल्पभाव से पार कर लेता है। यहाँ आकर वह ब्रह्मज्ञानी अपने पुण्य और पाप—दोनों का त्याग कर देता है। उसके प्रिय स्वज्ञातिजन उसके पुण्य के भागीदार होते हैं और जो अप्रिय अर्थात् उसका बुरा चाहने वाले होते हैं, वे उसके पाप के भागीदार होते हैं। इस सम्बन्ध में यह दृष्टान्त दिया जाता है कि रथ के द्वारा यात्रा करनेवाला पुरुष, दोनों पहियों को दौड़ाता हुआ भी स्वयं नहीं दौड़ता, वह तो देखता ही रहता है, वैसे ही वह ब्रह्मज्ञ पुरुष रात-दिन सुकृत-दुष्कृत और अन्य द्वन्द्वों को केवल देखता ही रहता है, पर स्वयं उससे सम्बन्धरहित ही होता है। अत: ऐसे ब्रह्मज्ञान के कारण ही ब्रह्मज्ञानी ब्रह्म हो जाता है।

स आगच्छतील्यं वृक्षं तं ब्रह्मगन्धः प्रविशति। स आगच्छति सालज्यं संस्थानं तं ब्रह्मरसं प्रविशति। स आगच्छत्यपराजितमायतनं तं ब्रह्मतेजः

प्रविशति। स आगच्छति इन्द्रप्रजापती द्वारगोपौ तावस्मादभिद्रवतः। स आगच्छति विभुप्रमितं तं ब्रह्मतेजः प्रविशति। स आगच्छति विचक्षणामासन्दीं। बृहद्रथन्तरे सामनी पूर्वौ पादौ श्यैतनौधसे चापरौ पादौ वैरूपवैराजे अनूच्येते। शाक्वररैवते तिरश्ची सा प्रज्ञा प्रजया हि विपश्यति। स आगच्छत्यमितौजसं पर्यङ्कं स प्राणस्तस्य भूतं च भविष्यच्च पूर्वौ पादौ श्रीश्चेरा चापरौ बृहद्रथन्तरे अनूच्ये भद्रयज्ञायज्ञीये शीर्षण्ये ऋचश्च सामानि च प्राचीनातानानि यजूंषि तिरश्चीनानि सोमांशव उपस्तरणमुद्गीथ उपश्रीः श्रीरुपबृंहणं तस्मिन् ब्रह्मास्ते। तमित्थंवित्पादेनैवाग्र आरोहति। तं ब्रह्मा पृच्छति कोऽसीति तं प्रतिब्रूयात् ॥5॥

इसके बाद वह 'इल्य' वृक्ष के पास जाता है। वहाँ उसको ब्रह्मगन्ध आती है। इसके बाद वह 'सालज्य' नगर के पास पहुँचता है, वहाँ उसे ब्रह्मरस की अनुभूति होती है। इसके बाद वह 'अपराजित' महल (मन्दिर) में जाता है, वहाँ उसमें ब्रह्मतेज आता है। इसके बाद वह इन्द्र और प्रजापति नाम के द्वारपालों के पास जाता है तो वे दोनों उसे आते हुए देखकर भाग जाते हैं। तदनन्तर वह 'विभुप्रमित' नाम के मण्डप पर पहुँचता है, वहाँ उसे ब्रह्मतेज का अनुभव होता है। बाद में वह 'विचक्षणा' वेदी के पास आता है। उस पर रखे गए सिंहासन के 'बृहत्' और 'रथन्तर' नाम के साम पूर्व की ओर के पाद (पाये) हैं तथा 'श्येत' और 'नेधस्' नाम के साम उसके पीछे के दो पाद (पाये) हैं। 'वैरूप' और 'वैराज' नाम के साम उसके उत्तर-दक्षिण के पार्श्व हैं, 'शाक्वर' और 'रैवत' नाम के साम उसके पूर्व-पश्चिमी पार्श्व हैं। वह समष्टिबुद्धिस्वरूप ही है। उसी बुद्धि के माध्यम से वह ब्रह्मवेत्ता विशेष दृष्टि प्राप्त करता है। बाद में वह 'अमितौजस्' नाम के पर्यंक (पलंग) के समीप आता है। वह पलंग प्राणरूप है। भूत और भविष्य उसके पूर्व की ओर के पाये हैं, श्रीदेवी और भूदेवी—ये दोनों उसके पीछे के पाये हैं। बृहत् और रथन्तर साम उसके सुश्राव्य गीत होते हैं। पर्यंक का शीर्षण्य (सिरहाना) 'भद्रयज्ञायज्ञीय' विशिष्ट गीतिवाले साम होते हैं। **अथवा**—बड़े यज्ञों की समग्रता को 'भद्रयज्ञ' कहा जा सकता है और उसके प्रत्येक घटक को 'यज्ञीय' कहा जा सकता है। (यहाँ जो यज्ञायज्ञीय में 'ज्ञा' दीर्घ है, वह छान्दस समझना चाहिए)। पूर्व-पश्चिम दीर्घाकारी जड़ी हुई पलंग की पट्टियाँ ऋक् और साम की प्रतीक हैं। उत्तर-दक्षिण की तिरछी जड़ी हुई पलंग की पट्टियाँ यजुर्वेद का प्रतीक है। चन्द्र की किरणें पलंग की चादर हैं, उद्गीथ इसकी दूसरी श्वेत चादर है, लक्ष्मीदेवी पलंग का तकिया है। उसपर ब्रह्मा बैठे हैं। इसको ठीक उसी तरह से जाननेवाला ब्रह्मज्ञानी उस पलंग पर पहले पैर रखकर आरोहण करता है। उससे ब्रह्मा पूछते हैं कि—'तुम कौन हो?'

तं प्रतिब्रूयात् ऋतुरस्म्यार्तवोऽस्म्याकाशयोनेः संभूतो हाव। एतत् संवत्सरस्य तेजोऽभूतस्य भूतस्य त्वमात्माऽसि यस्त्वमसि सोऽहमस्मीति। तमाह कोऽहमस्मीति सत्यमिति ब्रूयात्। किं तत् सत्यमिति। यदन्यद्देवेभ्यश्च प्राणेभ्यश्च तत् सद्ध यद्देवाश्च प्राणाश्च तद्यत्तदेतया वाचाऽभिव्याह्रियते तत्सत्यमिति। एतावदिदं सर्वमिदं सर्वमसीत्येवैनं तदाह। केन पौंसानि नामान्याप्नोतीति। प्राणेनेति ब्रूयात्। केन त्विमानि। वाचेति। केन नपुंसकनामानीति। मनसेति। केन गन्धानिति। घ्राणेनेति ब्रूयात्। केन रूपाणीति। चक्षुषेति। केन शब्दानिति। श्रोत्रेणेति। केनान्नर-

सानिति । जिह्वयेति । केन कर्माणीति । हस्ताभ्यामिति । केन सुखदुःखे इति । शरीरेणेति । केनानन्दं रतिं प्रजातमिति । उपस्थेनेति । केनेत्या इति । पादाभ्यामिति । केन धियो विज्ञातव्यं कामानिति । प्रज्ञयेति प्रब्रूयात् । तमाहापैव खलु मे ह्यसावयं ते लोक इति । सा या ब्रह्मणि चिति या व्यष्टिस्तां चितिं जयति तां व्यष्टिं व्यश्नुते य एवं वेद य एवं वेद ॥6॥

इति प्रथमोध्यायः ।

ब्रह्माजी के प्रश्न का उत्तर उसे इस प्रकार देना चाहिए—'मैं स्वयं ही ऋतु स्वरूप हूँ। मैं अव्याकृत आकाश हूँ, परमतत्त्व से प्रादुर्भूत हुआ हूँ। मैं सत्य हूँ।' ऐसा कहना चाहिए। **ब्रह्माजी**—'सत्य क्या है ?' **साधक**—'जो देवों से और प्राणों से परे हो, वह सत्य है। इस वाणी के द्वारा **जिस सत् का देव** और **प्राण** इस प्रकार का व्यवहार किया जाता है। यह सब आप ही हैं।' (साधक के ऐसा कहने पर) **ब्रह्माजी** ने फिर पूछा—'पुल्लिंग नाम कहाँ से प्राप्त होते है ?' **साधक**—'प्राण से।' **ब्रह्मा**—'स्त्रीलिंग नाम कहाँ से प्राप्त होते हैं' ? **साधक**—'वाणी से।' **ब्रह्मा**—'नपुंसकलिंगी नाम कहाँ से प्राप्त होते हैं' ? **साधक**—'मन से।' **ब्रह्मा**—'गन्ध किससे प्राप्त करते हो' ? **साधक**—'नाक से'। **ब्रह्मा**—'रूपों को किससे ग्रहण करते हो' ? **साधक**—'आँखों से।' **ब्रह्मा**—'शब्दों को किससे सुनते हो' ? **साधक**—'कान से।' **ब्रह्मा**—'अन्न का आस्वादन किससे करते हो' ? **साधक**—'जिह्वा से।' **ब्रह्मा**—'काम किससे करते हो' ? **साधक**—'हाथों से'। **ब्रह्मा**—'सुख-दुःख का अनुभव किससे करते हो' ? । **साधक**—'शरीर से।' **ब्रह्मा**—'रति का आनन्द और प्रजोत्पत्ति का सुख किससे प्राप्त करते हो' ? **साधक**—'उपस्थ से।' **ब्रह्मा**—'गमनक्रिया किससे करते हो' ? **साधक**—'पैरों से।' **ब्रह्मा**—'बुद्धिवृत्तियों (जाननेयोग्य विषयों को) और मनोरथों को किससे ग्रहण करते हो ?' **साधक**—'प्रज्ञा से।'—ब्रह्माजी के प्रश्नों का साधक इस प्रकार उत्तर दे। ऐसे उत्तर देने के बाद ब्रह्माजी अब कहते हैं—'जल आदि प्रसिद्ध महाभूत मेरे स्थान हैं। अतः यह मेरा लोक भी जलादि तत्त्व प्रधान ही है। तुम उपासक भी मुझसे अभिन्न ही हो, इसलिए यह तुम्हारा ही लोक है।' अतः ब्रह्म की जो चिति शक्ति है और जो सर्वव्यापकता है, इन दोनों शक्तियों को साधक प्राप्त कर लेता है। जो इस तरह का ज्ञान रखता है अर्थात् जो ऐसा अनुभव करता है, वह ब्रह्मा की तरह शक्तिसम्पन्न हो जाता है। अध्याय की परिसमाप्ति की सूचना के लिए शब्दसमूह दुहराया गया है।

यहाँ प्रथम अध्याय पूर्ण होता है।

❈

द्वितीयोऽध्यायः

प्राणो ब्रह्मेति ह स्माह कौषीतकिः । तस्य ह वा एतस्य प्राणस्य ब्रह्मणो मनो भूतं वाक्यं परिवेष्टृ चक्षुः श्रोत्रं संश्रावयितृ । तस्मै वा एतस्मै प्राणाय ब्रह्मण एताः सर्वा देवता अयाचमानाय बलिं हरन्ति । तथो एवास्मै सर्वाणि भूतान्ययाच्यमानेन बलिं हरन्ति । य एवं वेद तस्योपनिषन्न याचेदिति तद्यथा ग्रामं भिक्षित्वा लब्ध्वोपविशेन्नाहमतो दत्तमश्नीयामिति । य एवैनं पुरस्तात् प्रत्याचक्षीरंस्त एवैनमुपमन्त्रयन्ते । ददाम त

इति । एष धर्मो याचितो भवत्यन्तरंस्त्वेवैनमुपमन्त्रयन्ते ददाम त इति । प्राणो ब्रह्मेति ह स्माह पैङ्ग्यः । तस्य ह वा एतस्य प्राणस्य ब्रह्मणो वाक्परस्ताच्चक्षुरारुन्धे चक्षुः परस्ताच्छ्रोत्रमारुन्धे श्रोत्रं परस्तान्मन आरुन्धे मनः परस्तात्प्राण आरुन्धे । तस्मै वा एतस्मै प्राणाय ब्रह्मण एता सर्वा देवता अयाचमानाय बलिं हरन्ति । तथो एवास्मै सर्वाणि भूतान्ययाचमानाय बलिं हरन्ति । य एवं वेद तस्योपनिषन्न याचेदिति तद्यथा ग्रामं भिक्षित्वा लब्ध्वोपविशेन्नाहमतो दत्तमश्नीयामिति । य एवैनं पुरस्तात् प्रत्याचक्षीरंस्त एवमुपमन्त्रयन्ते । ददाम त इति । एष धर्मो याचितो भवत्यन्यतरस्त्वेवैनमुपमन्त्रयन्ते ददाम त इति ॥1॥

कौषीतकि कहते हैं कि प्राण ही ब्रह्म है। इस प्राणमय ब्रह्म के भूत, वर्तमान और भविष्य को सोचनेवाला मन है, वाणी उसे व्याप्त कर अवस्थित है। वाणी को व्याप्त किए हुए चक्षु रहते हैं, चक्षुओं को व्याप्त करके श्रवण रहता है (अथवा इस प्राण का मन विचार, वाणी सेविका, चक्षु रक्षक और कान संदेशवाहक हैं)। ये उपर्युक्त सभी देव प्राण को बिना माँगे ही उपहार देते रहते हैं। जो साधक प्राणब्रह्म का यह रहस्य जानता है उसको भी प्राण की ही तरह बिना माँगे ये सब इन्द्रियादि देव उपहार देते रहते हैं। उस साधक की यही तो उपनिषद् = उपासना है कि वह कभी याचना न करे। जिस तरह कोई भिक्षुक गाँव में भीख माँगने जाता है, पर वहाँ से कुछ भी न मिलने पर नीचे बैठ जाता है और कहता है कि 'अब तो वे ग्रामलोक स्वयं देने आएंगे तो भी नहीं खाऊँगा।' जब ऐसा होता है तो पहले दरकार नहीं करनेवाले ग्रामलोक स्वयं आकर उसे भिक्षा देते हैं, ठीक उसी प्रकार प्राण ब्रह्मोपासक साधक को भी बिना माँगे ही ये इन्द्रियाँ उपहार में देती रहेंगी। याचना का धर्म ही ऐसा (दैन्यपूर्ण) होता है। ऐसी याचना से दूर रहनेवाले साधक को लोग ऐसे ही (स्वयं ही) निमंत्रण देते रहते हैं कि आओ, 'हम तुम्हें भिक्षा देंगे'।

पैंग्य ऋषि ने भी प्राण को ब्रह्म कहा है। उस प्रसिद्ध प्राणब्रह्म के लिए वाणी से परे नेत्रेन्द्रिय है, चक्षु से परे श्रोत्रेन्द्रिय है, श्रोत्रेन्द्रिय से परे मन है, मन से परे प्राण है। इस प्राणब्रह्म के लिए बिना माँगे ही सभी देवता उपहार देते रहते हैं। इसी प्रकार इस प्राणब्रह्म के उपासक को भी सब प्राणी बिना माँगे ही उपहार देते रहते हैं। ऐसा जाननेवाले साधक की यही उपासना है कि वह किसी से कुछ माँगे ही नहीं। जैसे गाँव में भीख माँगते हुए भिक्षुक को कुछ भी न मिलने पर वह निराश होकर बैठ जाता है और प्रतिज्ञा करता है कि अब तो गाँववाले स्वयं आकर भिक्षा देंगे तो भी नहीं खाऊँगा। तब पहले जिन्होंने उसकी दरकार नहीं की थी. वे स्वयं उसे निमंत्रण देते हुए कहने लगते हैं कि आओ आओ ! हम तुम्हें भिक्षा देते हैं। याचना का धर्म ही तो दैन्य होता है। ऐसा दैन्य न रखनेवाले को लोग स्वयं आमंत्रण देते हैं कि आओ ! हम तुम्हें भिक्षा देते हैं।

**अथात एकधनावरोधनम् । यदेकधनमभिध्यायात् पौर्णमास्यां वाऽमा-वास्यां वा शुक्लपक्षे वा पुण्यनक्षत्रेऽग्निमुपसमाधाय परिसमूह्य परिस्तीर्य पर्युक्ष्य पूर्वदक्षिणं जान्वावाच्य स्रुवेण वा चमसेन वा कंसेन वैता आज्याहुतीर्जुहोति–वाङ्नामदेवताऽवरोधिनी सा–
मे तस्मादिदमवरुन्धा तस्यै स्वाहा, प्राणो नाम देवताऽवरोधिनी सा
मे तस्मादिदमवरुन्धा तस्यै स्वाहा, चक्षुर्नाम देवताऽवरोधिनी सा**

मे तस्मादिदमवरुन्धा तस्यै स्वाहा, श्रोत्रं नाम देवताऽवरोधिनी सा मे तस्मादिदमवरुन्धा तस्यै स्वाहा, मनो नाम देवताऽवरोधिनी सा मे तस्मादिदमवरुन्धा तस्यै स्वाहा, प्रज्ञा नाम देवताऽवरोधिनी सा मे तस्मादिदमवरुन्धा तस्यै स्वाहेति। अथ धूमगन्धं प्रजिघायाज्यलेपे- नाङ्गान्यनुविमृज्य वाचंयमोऽभिप्रव्रज्यार्थं ब्रवीत दूतं वा प्रहिणुयाल्ल- भेते हैव ॥2॥

अब 'एकधनावरोधन' का कर्म (काम्योपासना) कहा जाता है। कांक्षितार्थ की सिद्धि के लिए 'एकधनावरोधन' का विचार करना चाहिए। किसी पूर्णिमा या अमावास्या को शुक्ल पक्ष में या अच्छे नक्षत्र में अग्नि की स्थापना, वेदी का परिसमूहन-संस्कार, कुशों का बिछाना, अभिमंत्रित जल से अग्निवेदी का मार्जन-अभिषेकादि करके पात्र में रखे हुए घी का अग्नि में शोधन करके दाहिने घुटने को पृथ्वी पर स्थिर करके स्रुवा से, चमस से या काँसे की करछुल से 'वाङ्नामदेवतावरोधिनी....' आदि ऊपर मूलपाठ में दिए गए छ: मंत्रों से आहुतियाँ देनी चाहिए। इन छ: मंत्रों का अर्थ इस प्रकार है—

"वाणी नाम की अवरोधिनी देवता सर्वकामनापूर्ण करने वाली है, वह मुझ प्राणब्रह्मोपासक को इष्ट अर्थ की प्राप्ति कराएँ। इसके लिए यह घृत की आहुति समर्पित है।" जिस प्रकार 'वाणी' देवता के विषय में उपर्युक्त मंत्र कहकर आहुति दी गई है, वैसे ही अन्य शब्दों से प्राण को, चक्षु को, श्रोत्र को, मन को और प्रज्ञा को—कुल छ: आहुतियाँ देनी चाहिए। सभी मंत्रों के शब्द एक से ही हैं। आहुतियाँ देने के बाद, धूम की गन्ध को सूँघकर और हवन से बचे हुए घी को अपने शरीर पर लेपन करके मौन भाव से धन के स्वामी के पास गमन करना चाहिए और इच्छित धन के लिए कहना चाहिए। अथवा जहाँ से वह इच्छित धन मिले उसे लाने के लिए किसी दूत को प्रेरित करना चाहिए। यहाँ वह इप्सित अर्थ मिल सकता है, अर्थात् 'एकधनावरोध' कर्म के अनुठान से इप्सित फल अवश्य मिलता ही है।

अथातो दैवः स्मरो यस्य बुभूषेद्यस्यै वा एषां वै तेषामेवैकस्मिन्प- र्वण्यग्निमुपसमाधायैतयैवावृतैता आज्याहुतीर्जुहोति वाचं ते मयि जुहोम्यसौ स्वाहा। प्राणं ते मयि जुहोम्यसौ स्वाहा। चक्षुस्ते मयि जुहोम्यसौ स्वाहा। श्रोत्रं ते मयि जुहोम्यसौ स्वाहा। मनस्ते मयि जुहोम्यसौ स्वाहा। प्रज्ञानं ते मयि जुहोम्यसौ स्वाहेति। अथ धूमगन्धं प्रजिघायाज्यलेपेनाङ्गान्यनुविमृज्य वाचंयतोऽभिप्रवृज्य संस्पर्शं जिगमिषेदपि वाताद्वाऽसंभाषमाणस्तिष्ठेत्। प्रियो हैव भवति स्मरन्तीहैव स्यात् ॥3॥

अब जो प्राणोद्दिष्ट कर्म का उद्दिष्ट जो कोई किसी का प्रिय बनना चाहे, तो उसे वाक् आदि का प्रिय बनना चाहिए। किसी एक शुभ दिन पर नियमानुसार शुभ मुहूर्त पर अग्निस्थापन करके पूर्व की (पहले कही गई) सभी विधियाँ पूरी करके सभी आहुतियाँ देनी चाहिए। उन आहुतियों के मन्त्र—'वाचं ते मयि जुहोति' आदि हैं। ये मन्त्र छ: हैं। उनका भावार्थ इस प्रकार है—'मैं तुम्हारी वागिन्द्रिय का अपने में हवन करता हूँ'—इसी प्रकार प्राण, चक्षु, श्रोत्र, मन और प्रज्ञा का हवन करना चाहिए। इस प्रकार छ: मन्त्रों से छ: आहुतियाँ देकर नाक से होम के धूम को सूंघकर बचे हुए घी का शरीर पर लेपन करके मौन रहकर अमुक व्यक्ति के पास साधक जाए अथवा ऐसे स्थान पर खड़ा होकर कहे, जहाँ पर

वायु के सहयोग से उसके शब्द इच्छित व्यक्ति के कानों में सुनाई पड़ें, तो अवश्य ही उस व्यक्ति का प्रिय हो जाता है। यही नहीं, बल्कि उस जगह से हट जाने पर वहाँ के निवासी उसका सदा के लिए स्मरण करते ही रहते हैं।

अथातः सायमन्नं प्रातर्दनमान्तरग्निहोत्रमिति चाचक्षते। यावद्वै पुरुषो भासते न तावत्प्राणितुं शक्नोति प्राणं तदा वाचि जुहोति। यावद्वै पुरुषः प्रणिति न तावद्वक्तुं शक्नोति वाचं तदा प्राणे जुहोति। एतेऽनन्ते- ऽमृताहुती जाग्रच्च स्वरूपं च सन्ततमव्यवच्छिन्नं जुहोति। अथ या अन्या आहुतयोऽन्तवन्यस्ताः कर्ममय्यो भवन्ति। एतदु वै पूर्वे विद्वांसोऽग्निहोत्रं जुहवांचक्रुः। अथ कथं ब्रह्मेति। शुष्कभृङ्गारमृगित्युपासीत। सर्वाणि हास्मै भूतानि श्रैष्ठ्यायाभ्यर्च्यन्ते। तद्यजुरित्युपासीत। सर्वाणि हास्मै भूतानि श्रैष्ठ्याय युज्यन्ते। तत्सामेत्युपासीत सर्वाणि हास्मै भूतानि श्रैष्ठ्याय संनमन्ते। तच्छ्रीत्युपासीत। तद्यश इत्युपासीत। तत्तेज इत्युपा- सीत। तद्यथैतच्छास्त्राणां श्रीमत्तममं यशस्वितमं तेजस्वितमं भवति। तथैवैवं विद्वान् सर्वेषां भूतानां श्रीमत्तमो यशस्वितमस्तेजस्वितमो भवति। तदेतदैष्टकं कर्म यमात्मानध्वर्युः संस्करोति तस्मिन् यद्धर्ममयं प्रभवति तद्धर्ममयं त्वम्मयं होतर्मयं साममयमुद्गाता स एष सर्वस्यै त्रयी- विद्याया आत्मैष उत एव स्यान्नैतदात्मा भवति य एवं वेद ॥4॥

अब प्रतर्दन के द्वारा किया गया अनुष्ठान 'प्रातर्दन' कहलाता है, और जो सांयमन या सांयमन्न नाम से प्रसिद्ध है, वह उपासनान्तर बताया जाता है। मनुष्य जहाँ तक बोलता रहता है, वहाँ तक वह पूर्ण रूप से साँस को ग्रहण नहीं कर सकता। उस समय वह प्राण का वाणी रूप अग्नि में हवन कर देता है। और जहाँ तक मनुष्य साँस लेता रहता है, वहाँ तक मनुष्य बोल नहीं सकता। उस समय वह वाणी का प्राण में होम कर देता है। ये वाणी और प्राणरूप दो आहुतियाँ अन्तहीन हैं, वे अमृतस्वरूप हैं। जाग्रत एवं स्वप्नकाल में भी प्राणी सदैव अविच्छिन्न रूप से इन आहुतियों को होमता ही रहता है। इसके अतिरिक्त वाणी और प्राणरूप आहुतियों से भिन्न जो अन्य द्रव्यमयी आहुतियाँ हैं, वे तो कर्म द्वारा गतिमान रहा करती हैं। प्रसिद्ध है कि इस रहस्य को जानने वाले प्राचीन काल के विद्वान् केवल कर्ममय अग्निहोत्र का अनुष्ठान किया करते थे। तब प्राण ही ब्रह्म है—ऐसा कैसे कहा जा सकता है ? (इतने मात्र से जाग्रत्स्वप्नरूप अग्निहोत्र दृष्टि से ब्रह्मोपासन किस तरह से हो सकता है ? यह बताते हैं—) शुष्क - जाग्रदादि से अतिरिक्त भृंगार - स्फटिक के टुकड़े के समान विशुद्ध प्राण की वेदत्रयी के रूप में उपासना करनी चाहिए। अर्थात् प्राण में क्रमशः ऋग्वेदादि तीन वेदों की इष्टि करनी चाहिए। ऐसे विद्वान् के लिए सभी प्राणी श्रेष्ठ बनने के लिए प्रार्थना करते हैं। उस प्राण की यजुर्वेद के रूप में उपासना करनी चाहिए। इससे सब प्राणी उस ज्ञानी की श्रेष्ठता के लिए सहयोग करते हैं। उस प्राण की सामवेद के रूप में उपासना करनी चाहिए। इससे सब प्राणी उस ज्ञानी की श्रेष्ठता में झुक जाते हैं। उसकी श्रीभाव से उपासना करनी चाहिए। उसकी यशभाव से उपासना करनी चाहिए। उसकी तेजभाव से उपासना करनी चाहिए। जिस तरह अध्यात्मशास्त्र सभी शास्त्रों में सबसे ज्यादा श्रीमय और यशोमय होता है, इसी तरह वह ज्ञानी, जो प्राण को सही स्वरूप में जानता है वह सभी प्राणियों में सर्वाधिक श्रीसम्पन्न, परम यशस्वी और परम तेजोमय होता है। इस प्राण को तथा इष्टिनिर्मित यज्ञवेदी

पर रखे गए अग्नि में अभिन्नता का अनुभव करने वाला अध्वर्यु अपना संस्कार सम्पन्न करता है। और उसी प्राण में वह यजु:साध्य कार्यों का विस्तरण करता है। इस वेदत्रयी विद्या की आत्मा (प्राण) वह अध्वर्यु है। प्राण ही इस विद्या की आत्मा है। जो मनुष्य प्राण को इस प्रकार जानता है, वह स्वयं भी प्राण के तुल्य हो जाता है।

अथातः सर्वजितः कौषीतकिस्त्रीण्युपासनानि भवन्ति। यज्ञोपवीतं कृत्वाऽप आचम्य त्रिरुदपात्रं प्रसिच्योद्यन्तमादित्यमुपतिष्ठेत् वर्गोऽसि पाप्मानं मे वृङ्धीति, एतयैवावृता मध्ये सन्तमुद्वर्गोऽसि पाप्मानं मे उद्वृङ्धीति, एतयैवावृताऽस्तं यन्तं संवर्गोऽसि पाप्मानं मे संवृङ्धीति, यदहोरात्राभ्यां पापं करोति सं तद्वृङ्क्ते। अथ मासि मास्यमावास्यायां पश्चाच्चन्द्रमसं दृश्यमानमुपतिष्ठेतैतयैवावृता हरिततृणाभ्यां वा वृत्तः स्यात् यत्ते स्वसीमं हृदयमसि चन्द्रमसि शृतं तेनामृतत्वमस्येशानं माऽहं पौत्रमघं रुहमिति। न हास्मात् पूर्वाः प्रजाः प्रयन्तीति। न जातपुत्रस्याथ जातपुत्रस्य ह यं समेत्तातु सन्ते पयांसि सस्वयन्तु राजा यामात्या अंशुमाप्यायन्तीत्येतास्तिस्र ऋचो जपित्वा नास्माकं प्राणेन प्रजया पशुभिराप्यायिष्ठा योऽस्मान् द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मः तस्य प्राणेन प्रजया पशुभिराप्याययस्वेति दैवीमावृतमावर्त आदित्यस्यावृतमन्वावर्तयति दक्षिणं बाहुमन्वावर्तते॥5॥

इसके बाद कौषीतकि ऋषि, जो कि 'सर्वजित्' थे, उनकी कही हुई तीन प्रकार की उपासनाएँ कही जाती हैं। यज्ञोपवीत को सव्य करके आचमन करके, जलपात्र को तीन बार शुद्ध जल से भरकर उगते हुए सूर्य के सामने अर्घ्य प्रदान करना चाहिए। अर्घ्य प्रदान करने का मंत्र है—'ॐ वर्गोऽसि पाप्मानं मे वृङ्धि।' अर्थात् 'तुम संसार को तृणवत् छोड़ देने वाले हो, मेरे पापों का नाश करो।' इसी प्रकार मध्याह्न काल में भी अर्घ्य देना चाहिए। उस समय का मन्त्र है—'ॐ उद्वर्गोऽसि पाप्मानं मे वृङ्धि' अर्थात् 'उद्वर्ग ऐसे तुम मेरे पापों को दूर करो।' इसी प्रकार अस्त होते हुए सूर्य को अर्घ्य देते हुए यह मंत्र कहे—'ॐ संवर्गोऽसि पाप्मानं में वृङ्धि' अर्थात् 'संवर्ग ऐसे तुम मेरे पापों को दूर करो।' इस उपासना का परिणाम यह है कि मनुष्य दिन और रात में होने वाले पापों से सर्वथा मुक्त हो जाता है। हर महीने की अमावास्या को, जब चन्द्र पीछे दिखाई दे, तब उसके सामने खड़ा होकर उपर्युक्त विधि से ही उपस्थान (पूजन) करना चाहिए। इस समय अर्घ्यपात्र में दो हरी दूर्वा के अंकुर भी रखने चाहिए। अर्घ्य देते समय यह मंत्र बोलना चाहिए—'यत्ते स्वसीमं ...... पौत्रमघं रुहम्' (पूरा मंत्र मूलपाठ में दिया गया है)। इस मंत्र के साथ पूर्वोक्त उपासना करने स्व वाले मनुष्य से पहले उसकी सन्तानों की मृत्यु नहीं होती। पुत्र उत्पन्न न हुआ हो, या हुआ हो पर मेरा रक्षण करो, रक्षण करो—इस प्रकार 'सन्ते पयांसि......' आदि (मूलपाठ में उद्धृत) मंत्र से चन्द्रमा की प्रार्थना करनी चाहिए। अपुत्र या सपुत्र ऐसे मेरे पापों के खाने वाले देवरूप आचार्य, जिसको मनु कहते हैं, वह इस मंत्र के द्वारा स्तुति किए गए मेरे प्राण, प्रजा, पशु आदि का रक्षण करे—यह भाव है। और हमसे जो द्वेष करता है या हम जिससे द्वेष करते हैं, उस मेरे शत्रु को हे सवितादेव! प्राण से, प्रजा से, पशुओं से तुम तृप्ति का अनुभव करो। इसके लिए 'दैवीमावृत.....' आदि (मूल पाठ में उद्धृत) मंत्र का जाप (उच्चारण) करना चाहिए।

अथ पौर्णमास्यां पुरस्ताच्चन्द्रमसं दृश्यमानमुपतिष्ठेतैतयैवावृता—"सोमो राजाऽसि विचक्षणः पञ्चमुखोऽसि प्रजापतिर्ब्राह्मणस्त एकं मुखं तेन मुखेन राज्ञोत्थितेन मुखेन मामन्ववादं कुरु। राजा त एकं मुखं तेन मुखेन विशोत्थितेनैव मुखेन मामन्ववादं कुरु। श्येनस्त एकं मुखं तेन मुखेन पक्षिणोत्थितेन मुखेन मामन्ववादं कुरु। अग्निस्त एकं मुखं तेन मुखेनेमं लोकमुत्थितेन मुखेन मामन्ववादं कुरु। सर्वाणि भूतानीत्येव पञ्चममुखं तेन मुखेन सर्वाणि भूतान्युत्थितेन मुखेन मामन्ववादं कुरु। माऽस्माकं प्राणेन प्रजया पशुभिरवक्षेष्ठा योऽस्मान् द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मस्तस्य प्राणेन प्रजया पशुभिरपक्षीयस्वेति स्थितिर्दैवीमावृतमावर्त आदित्यस्यावर्तमन्वावर्तन्त" इति दक्षिणं बाहुमन्वावर्तते।
अथ संवेश्य नु जायायै हृदयमभिमृशेत्—
'यत्ते सरीमे हृदये हिमवन्तः प्रजापतौ।
मन्येऽहं मां तद्विद्वांसं माऽहं पौत्रमघं रुदम्'॥
इति। न हास्मात् पूर्वाः प्रजाः प्रैति (प्रयन्ति)॥6॥

पूर्णिमा के दिन जब चन्द्र सामने दिखाई दे, तब उसके सम्मुख खड़े होकर पूर्व मंत्र में बताई गई विधि के द्वारा पाँच प्राणों की वृत्तिवाले पाँच स्तावक (स्तुतिपरक) मंत्रों से जप करना चाहिए। (यह विशिष्ट फल देने वाली एक अन्य उपासना है)। वह मंत्र इस प्रकार है—"सोमो राजासि......आदित्यस्यावर्तमन्ववर्तन्त' (पूरा मंत्र मूलपाठ में दिया गया है)। मंत्र का भावार्थ इस प्रकार है—'हे सोमदेव! तुम विचक्षण हो, पाँच मुख वाले हो, प्रजापति हो। ब्राह्मण तुम्हारा एक मुख है, राज्ञा (सूर्य) के साथ उत्पन्न हुए उस मुख से तुम मुझे निर्विवाद रूप से शक्तिसम्पन्न बनाओ। क्षत्रिय तुम्हारा एक मुख है, वैश्यों के साथ उत्पन्न हुए इस मुख से मुझे निर्विवाद रूप से शक्तिसम्पन्न बनाओ। श्येन (बाज) तुम्हारा एक मुख है, पक्षियों के साथ उत्पन्न हुए इस मुख से तुम मुझे निर्विवाद रूप से शक्तिसम्पन्न बनाओ। अग्नि भी तुम्हारा एक मुख है, तुम उस मुख के साथ उत्पन्न हुए इस लोक को और मुझे शक्तिसम्पन्न बनाओ। और ये सभी भूत भी तुम्हारा पाँचवाँ मुख है उस मुख से जो सभी भूतों के साथ उत्पन्न हुआ है, उसे और मुझे शक्तिसम्पन्न बनाओ।' तुम हमारे प्राणों, हमारी सन्तानों एवं पशुओं से हमें कमजोर मत करो। परन्तु जो लोग हमसे द्वेष करते हैं, या हम जिनसे द्वेष करते हैं, ऐसे लोगों के प्राणों, सन्तानों तथा पशुओं को नष्ट कर दो। मैं तो मन्त्राधिपति देवता और तुम्हारी संवरण क्रिया का अनुसरण करने वाला हूँ"। इस प्रकार से उपर्युक्त मंत्र का पाठ करते हुए दाहिनी भुजा को बार-बार घुमाना चाहिए। और बाद में भुजा को नीचे कर देना चाहिए।

इस प्रकार से सोम की प्रार्थना करने के बाद (गर्भाधान के लिए) पत्नी के पास बैठने से पहले इसके हृदय का स्पर्श करना चाहिए। स्पर्श करते हुए यह मन्त्र बोलना चाहिए—'यत्ते सुसीमे.....पौत्रमघं रुदम्' (यह पूरा मंत्र मूलपाठ में दिया गया है)। इस मन्त्र का भावार्थ इस प्रकार है—"हे सुंदर मांग भरने वाली सुन्दरी! तुम सोमरूप वाली हो। तुम्हारा हृदय प्रजा का चालक (पालक) है। उसके भीतर जो सोममण्डल जैसा अमृतराशि – दूध स्थित है, उसे मैं जानता हूँ। मैं स्वयं को उसका पूर्ण ज्ञाता समझता हूँ। इससे मुझे कभी पुत्रशोक झेलना नहीं पड़ेगा"। इस तरह की प्रार्थना करने से साधक के पहले उसकी सन्तान की मृत्यु नहीं होती।

[इस कण्डिका में कहीं-कहीं 'राज्ञोऽत्सि', 'विशोऽत्सि', 'पक्षिणोऽत्सि', 'लोकमत्सि' और 'भूतान्यत्सि' ऐसे पाठ मिलते हैं और 'अन्ववाहं' की जगह पर 'अन्नाहं' ऐसा पाठ भी मिलता है। ऐसा पाठ लेने पर ब्राह्मण क्षत्रिय का, क्षत्रिय वैश्य का, बाजपक्षी अन्य पक्षियों का भक्षणकर्ता है—ऐसा अर्थ निकलता है। और 'अन्नादं' पाठ से 'अन्न पचाने की शक्ति वाला'—ऐसा अर्थ निकलता है। दोनों में प्रथम अर्थ हमें अधिक अनुकूल लगता है।]

अथ प्रोष्यायनः पुत्रस्य मूर्धानमभिमृशति। अङ्गादङ्गात् सम्भवसि। हृदयादधि जायसे। आत्मा वै पुत्र मामविध स जीव शरदः शतमसाविति नामास्य गृह्णाति। मा छेत्ता मा व्यथिष्ठाः शतं शरद आयुषं जीव पुत्र। ते नाम्ना मूर्धानमभिजिघ्राम्यसाविति त्रिर्मूर्धानमभिजिघ्रेत्। गवा त्वा हिंकारेणाभिहिंकरोमीति त्रिर्मूर्धानमभिहिंकुर्यात् ॥7॥

विदेश से वापस आये हुए अपने पुत्र के मस्तक पर हाथ फेरकर यह मंत्र बोलना चाहिए—'अङ्गादङ्गात्संभवसि······ शरदः शतम् असौ।' (पूरा मंत्र मूलपाठ में दिया गया है)। मन्त्र का भावार्थ इस प्रकार है—'हे अमुक नाम के पुत्र! तुम मेरे अंग-प्रत्यंग से उत्पन्न हुए हो। मेरे हृदय से तुम्हारा प्रादुर्भाव हुआ है। तुम मेरे आत्मस्वरूप हो। तुम्हीं ने हमारे वंश की रक्षा की है। तुम (यहाँ नाम बोलना चाहिए) शतायु हो।' फिर इस मंत्र को पढ़ते हुए तीन बार पुत्र के मस्तक को सूंघते हुए यह मंत्र बोलना चाहिए—'मा छेत्ता······मूर्धानमभिजिघ्रामि।' (पूरा मंत्र मूलपाठ में दिया गया है) इस मंत्र का भावार्थ इस प्रकार है—'हे पुत्र! सन्तान परम्परा का उच्छेद न करना। तुम्हें किसी प्रकार का कष्ट न हो। तुम सैंकड़ों वर्षों तक जीवित रहो। मैं तुम्हारा पिता तुम्हारे अमुक नाम से (अमुक की जगह पुत्र का नाम लेना चाहिए) तीन बार तुम्हारे मस्तक को सूँघता हूँ।' इसके बाद निम्नलिखित मंत्र को पढ़कर पुत्र के मस्तक पर सभी ओर से हिंकार का उच्चारण करना चाहिए। मन्त्र यह है—'गवा त्वा······हिंकरोमि।' (पूरा मंत्र मूलपाठ में दिया गया है)। मंत्र का भावार्थ इस प्रकार है—'हे वत्स! गायें जिस प्रकार अपने बछड़े को बुलाने के लिए रँभाती हैं, उसी प्रकार मैं प्रेम से तुम्हें हिंकार के द्वारा बुलाता हूँ'।

[कहीं-कहीं मस्तक का अभिस्पर्शन करने के बाद नामोच्चारण करते समय 'अश्मा भव····' इत्यादि मंत्र और 'येन प्रजापति····' इत्यादि मन्त्र—इस प्रकार दो अधिक मंत्रों का पाठ करने का विधान भी किया गया है। परन्तु, अधिकांश वाचनाओं में ऊपर मूल में दिया गया पाठ है। ब्रह्मयोगीजी के विवरण में भी ऊपर मूल में दिये एक ही मंत्र का विधान किया गया है।]

अथातो दैवः परिमरः। एतद्वै ब्रह्म दीप्यते यदग्निर्ज्वलत्यथैतन्म्रियते यन्न ज्वलति तस्यादित्यमेव तेजो गच्छति वायुं प्राणः। एतद्वै ब्रह्म दीप्यते यथा मर्त्यो दृश्यतेऽथैतन्म्रियते यन्न दृश्यते तस्य चन्द्रमसमेव तेजो गच्छति वायुं प्राणः। एतद्वै ब्रह्म दीप्यते यद्विद्युद्विद्योततेऽथैतन्म्रियते यन्न विद्योतते तस्य वायुमेव तेजो गच्छति वायुं प्राणः। ता वा एताः सर्वा देवता वायुमेव प्रविश्य वायौ तृप्ता न मूर्च्छन्ते। तस्माद्वैव पुनरुदीरत इत्यधिदैवतम्। अथाध्यात्मम्। एतद्वै ब्रह्म दीप्यते यद्वाचा वदत्यथैतन्म्रियते यन्न वदति तस्य चक्षुरेव तेजो गच्छति प्राणं प्राणः। एतद्वै ब्रह्म दीप्यते यच्चक्षुषा पश्यत्यथैतन्म्रियते यन्न पश्यति तस्य श्रोत्रमेव तेजो गच्छति प्राणं प्राणः। एतद्वै ब्रह्म दीप्यते यन्मनसा ध्यायत्यथैतन्म्रियते

यन्न ध्यायति तस्य प्राणमेव तेजो गच्छति प्राणं प्राणः। ता वा एताः सर्वा देवताः प्राणमेव प्रविश्य प्राणे क्लृप्ता न मूर्च्छन्ते तस्माद्वैव पुनरुदीरते। तद्यदिह वा एवं विद्वांस उभौ पर्वतावभिप्रवर्तयातां तस्त्व(तौ त्व)र्षमाणौ दक्षिणश्चोत्तरश्च न हैवैनं त्रीणि वीयाताम्। अथ य एनं द्विषन्ति यांश्च स्वयं द्वेष्टि त एनं सर्वे परितो म्रियन्ते ॥8॥

अब इसके बाद देवसम्बद्ध 'परिमर' का वर्णन किया जाता है। [कहीं-कहीं 'परिसर' पाठ भी दिया गया है। यहाँ परिमर का अर्थ सर्वसमावेशक ब्रह्मरूप प्राण है]। यहाँ जो प्रत्यक्ष रूप में अग्नि जलता है, वह वास्तव में ब्रह्म ही प्रकाशित हो रहा है, और जब अग्नि नहीं जलता, तब उसका तेज सूर्य में मिल जाता है और प्राण मुख्य प्राण में मिल जाता है। इसी प्रकार मनुष्य के भीतर का प्राण चलता हुआ दिखाई दे रहा है वह भी वास्तव में ब्रह्म ही प्रकाशित हो रहा है, पर वह जब नहीं चलता तब उसका तेज चन्द्रमा में ही मिल जाता है और प्राण मुख्य प्राण में चला जाता है। इसी तरह बिजली चमकती है, वह वास्तव में ब्रह्म ही प्रकाशित होता है। जब वह नहीं चमकती, तब उसका तेज वायु में चला जाता है और प्राण मुख्य प्राण में चला जाता है। इसी प्रकार ये सभी देवता भी वायु में ही प्रविष्ट हो जाया करते हैं, और वायु से ही तृप्त होकर वहाँ रहा करते हैं और नष्ट नहीं होते और पुनः उसी में से उत्पन्न हुआ करते हैं। यह अधिदैवत पक्ष की बात हुई। अब अध्यात्मपक्ष लेकर बात कही जा रही है कि मनुष्य जो वाणी से बोलता है, वह वास्तव में ब्रह्म ही प्रकाशित होता है। वाणी जब नहीं बोली जाती तब उसका तेज चक्षु में चला जाता है और इसी तरह प्राण का प्राण में मिलन होता है। मनुष्य जो आँख से देखता है वहाँ भी वास्तव में ब्रह्म ही प्रकाशित होता है। जब आँख देखती नहीं तब उसका तेज श्रोत्र में चला जाता है और इस तरह प्राण से प्राण मिल जाता है। मनुष्य मन से ध्यान करता है, वहाँ भी वास्तव में ब्रह्म ही प्रकाशित होता है। जब ध्यान नहीं किया जाता, तब उसका तेज प्राण में ही चला जाता है और इस तरह प्राण से प्राण मिल जाता है। ये भीतर के भी सभी देव प्राण में ही प्रविष्ट होकर प्राणों में ही अवस्थित रहकर नष्ट नहीं होते और फिर प्राण से ही पुनः उत्पन्न हुआ करते हैं। इस दैवपरिमर (प्राण ब्रह्म) के पूर्ण ज्ञानी विद्वान्, धरती के उत्तरी-दक्षिणी ध्रुवों में फैले दो पर्वतों को अपनी इच्छा के अनुसार प्रेरित करें, तो वे पर्वत भी इसकी आज्ञा की उपेक्षा नहीं कर सकते। तदुपरान्त, जो मनुष्य ऐसे ज्ञानी से द्वेष करते हैं, और ये ज्ञानी जिनसे द्वेष करते हैं वे सभी सब ओर से विनष्ट होते हैं।

[इस परिमराख्य उपासना के अधिदैव और अध्यात्म उपासना सम्बन्धी कण्डिकाएँ कहीं-कहीं दो भागों में बाँटी गई हैं। दोनों कण्डिकाओं में कई वाचनाओं में यत्र-तत्र छोटे-मोटे अनेक पाठान्तर मिलते हैं, पर जहाँ तक भावार्थ का सम्बन्ध है, इसमें कुछ खास अन्तर नहीं पड़ता। यहाँ ब्रह्मयोगी वाली वाचना ली गई है]।

अथातो निःश्रेयसादानम्। सर्वा ह वै देवता अहंश्रेयसे विवदमाना अस्माच्छरीरादुच्चक्रमुः। तद्दारुभूतं शिश्ये। अथ हैनद्वाक्प्रविवेश। तद्वाचा वदच्छिश्य एव। अथ हैनच्चक्षुः प्रविवेश। तद्वाचा वदच्चक्षुषा पश्यच्छिश्य एव। अथ हैनच्छ्रोत्रं प्रविवेश। तद्वाचा वदच्चक्षुषा पश्यच्छ्रोत्रेण शृण्वच्छिश्य एव। अथ हैनन्मनः प्रविवेश। तद्वाचा वदच्चक्षुषा पश्यच्छ्रोत्रेण शृण्वन्मनसा ध्यायच्छिश्य एव। अथ हैनत्

प्राणः प्रविवेश तत्तत एव समुत्तस्थौ। तद्देवाः प्राणे निःश्रेयसं विदित्वा प्राणमेव प्रज्ञाऽऽत्मानमभिसंस्तूय सहैतैः सर्वैरस्माल्लोकादुच्चक्रमुः। ते वायुप्रतिष्ठाकाशात्मानः स्वर्जग्मुः। तथो एवैवं विद्वान् सर्वेषां भूतानां प्राणमेव प्रज्ञाऽऽत्मानमभिसंस्तूय सहैतैः सर्वैरस्माच्छरीरादुत्क्रामति स वायुप्रतिष्ठाकाशात्मा स्वरेति सद्भवति यत्रैतद्देवास्तत् प्राप्य तदमृतो भवति यदमृतो देवाः ॥9॥

अब मोक्षसाधक उपासना का वर्णन किया जा रहा है। एक बार वाणी आदि सभी देव अपने अहंकार के वशीभूत हो आपस में विवाद करते हुए प्राण के साथ इस शरीर के बाहर चले गए। जिससे शरीर काष्ठवत् (जडवत्) होकर पड़ा रहा। तब कहीं वाणी ने इस शरीर में प्रवेश किया। वह शरीर वाणी से बोलते हुए भी जडवत् पड़ा ही रहा। बाद में उसमें चक्षु ने प्रवेश किया तब वह बोलते हुए और देखते हुए भी सोता ही रहा। तब कहीं उसमें श्रोत्र ने प्रवेश किया। तो भी वह बोलता था, देखता था, सुनता भी था पर सोया ही रहा, उठ न पाया। तब उसमें मन ने प्रवेश किया। तब भी वह बोलते हुए, देखते हुए, सुनते हुए तथा सोच-विचार करते हुए भी वह जडवत् सोता ही रहा। तब उसमें प्राण ने प्रवेश किया जिससे वह एकदम खड़ा हो गया। तब देवों ने प्राण में ही मोक्षसाधकत्व निश्चित करके प्राण को ही विशिष्ट ज्ञानस्वरूप और व्याप्त जानकर प्राणापानादि सभी प्राणों के साथ इस शरीर लोक से ऊर्ध्व की ओर (शरीर से बाहर) गमन किया। इसके बाद ये सब प्राण, आधिदैविक प्राण में स्थिर होकर आकाश के रूप में परिणत होकर स्वर्गलोक में गए। वे अपने अधिष्ठाता देव अग्नि आदि के स्वरूप वाले हो गए। (जैसे देवों का हुआ वैसे ही) इसका जानने वाला भी प्राणरूप हो जाता है। यह विद्वान सम्पूर्ण प्राणियों से प्राण को ही प्रज्ञात्मारूप से पाकर इन सभी प्राणों के साथ शरीर से उत्क्रमण कर, वायु में स्थित होकर स्वर्ग में जाते हैं, अर्थात् ब्रह्मलोक में जाते हैं और वहाँ ब्रह्मरूप ही हो जाते हैं। जिस बोध से ये देव अमृतत्व को प्राप्त हुए, उसी बोध से ज्ञानी भी अमृतत्व पाता है।

अथातः पितापुत्रो यं सम्प्रदानमिति चाचक्षते। पिता पुत्रं प्रेष्याह्वयति। नवैस्तृणैरागारं संस्तीर्याग्निमुपसमाधायोदकुम्भं सपात्रमुपनिधायाहतेन वाससा सम्प्रच्छन्नं ह्यत एत्य पुत्र उपरिष्टादभिनिष्पद्येत इन्द्रियैरस्येन्द्रियाणि संस्पृश्यापि वाऽस्याभिमुखत एवासीत। अथास्मै सम्प्रयच्छति–वाचं मे त्वयि दधानीति पिता। वाचं ते मयिं दध इति पुत्रः। चक्षुर्मे त्वयि दधानीति पिता। चक्षुस्ते मयि दध इति पुत्रः। श्रोत्रं मे त्वयि दधानीति पिता। श्रोत्रं ते मयि दध इति पुत्रः। मनो मे त्वयि दधानीति पिता। मनस्ते मयि दध इति पुत्रः। अन्नरसान् मे त्वयि दधानीति पिता। अन्नरसांस्ते मयि दध इति पुत्रः। कर्माणि मे त्वयि दधानीति पिता। कर्माणि ते मयि दध इति पुत्रः। सुखदुःखे मे त्वयि दधानीति पिता। सुखदुःखे ते मयि दध इति पुत्रः। आनन्दं रतिं प्रजातिं मे त्वयि दधानीति पिता। आनन्दं रतिं प्रजातिं ते मयि दध इति पुत्रः। इत्यां मे त्वयि दधानीति पिता। इत्यास्ते मयि दध इति पुत्रः। धियो विज्ञातव्यं कामान् मे त्वयि दधानीति पिता। धियो विज्ञातव्यं कामांस्ते मयि दध इति पुत्रः। अथ दक्षिणाप्राक्प्राङ् परिक्रामति तं पिताऽनुमन्त्रयति—यशो ब्रह्मवर्चसमन्नाद्यं कीर्तिस्त्वा जुषतामिति। अथेतरः सव्यमंसमन्ववेक्षते पाणिनाऽन्तर्धाय वसनान्तु वा प्रच्छाद्य सर्वान् लोकान् कामानवाप्नुहीति स्वयं ह्येकतः स्यात्। पुत्रस्यैश्वर्ये पिता वसेत परि वा व्रजेयुः। यद्यु वै प्रयुज्यादेवैनं समापयति तथा समापयितव्यो भवति ॥10॥

इति द्वितीयोऽध्यायः।

अब पिता-पुत्र के सम्प्रदान कर्म का वर्णन किया जा रहा है। पिता जब ऐसा निर्णय करे कि मुझे अब अपना शरीर छोड़ना है, तब वह अपने पुत्र को अपने पास बुलाकर कुशादि तृणों से यज्ञशाला आच्छादित करके विधिपूर्वक अग्निस्थापन करे। अग्नि की पूर्व या उत्तर दिशा में जल से भरा कुंभ स्थापित करे। कुंभ पर धान्य से भरा पात्र भी रखे। स्वयं नए वस्त्रों से आच्छादित होकर श्वेत वस्त्र और माला आदि धारण करके घर में प्रवेश करते हुए अपने पुत्र को अपने पास बुलाए। पुत्र के पास आ जाने पर उसे अपने अंक में बिठाकर अपनी इन्द्रियों से पुत्र की इन्द्रियों का स्पर्श करे अथवा वह पुत्र के समक्ष बैठ जाए और उसे अपनी वाणी आदि सभी इन्द्रियों का दान करे। यथा—पिता—'पुत्र ! मैं तुझमें अपनी वाक् शक्ति का स्थापन करता हूँ।' पुत्र—'मैं आपकी वाक्शक्ति ग्रहण करता हूँ।' पिता—'मैं तुझमें अपनी प्राणशक्ति स्थापित करता हूँ।' पुत्र—'मैं आपकी प्राणशक्ति ग्रहण करता हूँ।' पिता—'मैं अपनी नेत्रेन्द्रिय को तुझमें स्थापित करता हूँ।' पुत्र—'मैं नेत्रेन्द्रिय को ग्रहण करता हूँ।' पिता—'मैं अपनी श्रोत्रेन्द्रिय को तुझमें स्थापित करता हूँ।' पुत्र—'मैं श्रोत्रेन्द्रिय का ग्रहण करता हूँ।' पिता—'मैं अपने मन को तुझमें स्थापित करता हूँ।' पुत्र—'मैं आपके मन को धारण करता हूँ।' पिता—'मैं अन्नरसों को तुझमें स्थापित करता हूँ।' पुत्र—'मैं आपके अन्नरस को धारण करता हूँ।' पिता—'मैं अपने सभी कर्मों को तुझमें स्थिर करता हूँ।' पुत्र—'मैं आपके कर्मों को धारण करता हूँ।' पिता—'मैं अपने सुख-दुःखों को तुझमें स्थापित करता हूँ।' पुत्र—'मैं आपके सुख-दुःखों को ग्रहण करता हूँ।' पिता—'मैं तुझमें मैथुन जनित आनन्द, रति और सन्तानोत्पादक शक्ति स्थापित करता हूँ।' पुत्र—'मैं रतिजनित आनन्द और सन्तानशक्ति ग्रहण करता हूँ।' पिता—'मैं तुझमें अपनी गतिशक्ति स्थापित करता हूँ।' पुत्र—'मैं गतिशक्ति को ग्रहण करता हूँ'। पिता—'मैं अपनी बुद्धि को, ज्ञेय वस्तु को और कामनाओं को तुझमें स्थापित करता हूँ'। पुत्र—'मैं आपकी बुद्धिवृत्तियों को, विज्ञान और ज्ञेय वस्तुओं को ग्रहण करता हूँ।' बाद में पुत्र पिता की प्रदक्षिणा करके पूर्व की ओर पिता के पास से गुजरता है। उस समय पिता पुत्र से कहते हैं कि—'यश-ब्रह्मतेज-अन्न ग्रहण करने और पचाने की शक्ति और श्रेष्ठ सद्गुण एवं कीर्ति तुम्हारा सेवन करें।' पिता के ऐसा कहने पर पुत्र अपने बायें कन्धे की ओर दृष्टि करके हाथ से या कपड़े से ओट कर ले। तत्पश्चात् उस आड़ में पिता पुत्र से यह कहे—'आप अपनी इच्छानुसार कामनायुक्त स्वर्ग को या समस्त लोकों की प्राप्ति करें। इसके अनन्तर यदि पिता नीरोगी हो तो ग्रहस्थाश्रमी बनकर ऐश्वर्य भोगे, अन्यथा सब कुछ छोड़कर संन्यासी हो जाएँ अथवा परलोक में चले जाएँ, तो भी जिन-जिन वाणी आदि इन्द्रियों को उसने पुत्र में प्रतिष्ठित किया था, उन सभी की शक्तिधाराओं का वह अधिकारी बन जाता है। वे सभी शक्तिधाराएँ उसे प्राप्त हो जाती हैं।

यहाँ दूसरा अध्याय पूर्ण होता है।

❋

तृतीयोऽध्यायः

प्रतर्दनो ह वै दैवोदासिरिन्द्रस्य प्रियं धामोपजगाम। युद्धेन पौरुषेण च तं हेन्द्र उवाच। प्रतर्दन वरं ते ददानीति। स होवाच प्रतर्दनस्त्वमेव मे वृणीष्व यं त्वं मनुष्याय हिततमं मन्यस इति। तं हेन्द्र उवाच। न वै वरोऽवरस्मै वृणीते त्वमेव वृणीष्वेत्येवमवरो वै तर्हि किल म इति होवाच प्रतर्दनः। अथो खल्विन्द्रः सत्यादेव नेयाय। सत्यं हीन्द्रः। स होवाच मामेव विजानीह्येतदेवाहं मनुष्याय हिततमं मन्ये। यन्मां विजानीयात्। त्रिशीर्षाणं त्वाष्ट्रमहनमरुङ्मुखान् यतीन् सालावृकेभ्यः प्रायच्छं बह्वीः सन्धा अतिक्रम्य दिवि प्रह्लादीयानतृणमहमन्तरिक्षे पौलोमान् पृथिव्यां कालखाञ्जान्। तस्य मे तत्र न लोम च मा मीयते। स यो मां विजानीयान्नास्य केन च कर्मणा लोको मीयते न मातृवधेन न पितृवधेन न स्तेयेन न भ्रूणहत्यया नास्य पापं च न चक्रुषो मुखान्नीलं वेत्तीति। स होवाच प्राणोऽस्मि प्रज्ञाऽऽत्मा तं मामायुरमृतमित्युपास्स्वायुः प्राणः प्राणो वा आयुः प्राण एवामृतम्। यावद्ध्यस्मिञ्छरीरे प्राणो वसति तावदायुः। प्राणेन ह्येवामुष्मिंल्लोकेऽमृतत्वमाप्नोति ॥1॥

एक बार दिवोदास का पुत्र इन्द्र के प्रिय निवासस्थान स्वर्ग में जा पहुँचा। उसकी युद्धकला और पराक्रम से सन्तुष्ट होकर इन्द्र ने उससे कहा—'हे प्रतर्दन! मैं तुझे वरदान देना चाहता हूँ, माँगो।' तब प्रतर्दन ने कहा—'जो मनुष्यों के लिए अति कल्याणकारी हो ऐसा कोई वरदान आप ही दे दीजिए।' तब इन्द्र ने कहा कि—'कोई भी दूसरों के लिए वरदान नहीं माँगता। तुम अपने आप के लिए ही कोई वरदान माँग लो।' तब प्रतर्दन ने कहा—'तब तो मेरे लिए किसी भी वरदान का अभाव ही रहा।' इस पर इन्द्र अपने सत्य से विचलित नहीं हुए और कहने लगे—'तुम मुझे ही (मेरे ही) यथार्थ स्वरूप को जानो। इसे ही मैं मानवजाति के लिए परम कल्याणकारी वरदान मानता हूँ। त्वष्टा प्रजापति के तीन सींग वाले पुत्र विश्वरथ को मैंने ही अपने वज्र से मार डाला था। अपने आश्रमों में श्रेष्ठ आचरण से भ्रष्ट हुए कई मिथ्याचारी अहंकारी संन्यासियों को मैंने खण्ड-खण्ड करके भेड़ियों के सामने खाने के लिए फेंक दिया है। कई बार प्रह्लादवंशी दैत्यों को मैंने मौत के घाट उतार दिया है। पुलोमासुर के सहयोगियों तथा पृथ्वीवासी कालखाञ्जों को भी मार दिया है। परन्तु, इतना करने पर भी इसमें मुझे कोई फल का लोभ, कोई आसक्ति, कोई अभिमान नहीं है। इसीलिए मुझ इन्द्र का एक रोम भी खण्डित नहीं हुआ। जो मेरे इस स्वरूप को इस तरह जान लेता है उसकी किसी भी कर्म से कोई हानि नहीं होती। मेरे सत्यस्वरूप का विवेक रखने वाले मनुष्य को बड़े-से-बड़े पाप का भी कुछ असर नहीं होता। मातृवध, पितृवध, चोरी, भ्रूणहत्या का भी उसे पाप नहीं लगता। और ऐसा करने पर उसका मुख भी नीला-काला नहीं पड़ता। इन्द्रदेव ने कहा कि—'मैं स्वयं ही प्रज्ञारूप प्राण हूँ। उस प्राण से और श्रेष्ठ ज्ञान से युक्त आत्मा रूप मैं प्रख्यात इन्द्र हूँ। तुम मेरी आयु रूप और अमृत रूप से उपासना करो।' आयु ही प्राण है, प्राण ही आयु है, प्राण ही अमृतत्व है। इस शरीर में जब तक प्राण का निवास है, तभी तक आयु है। प्राण के द्वारा ही प्राणी अन्य लोक में अमृतत्व के विशेष सुख की अनुभूति कर सकता है।

प्रज्ञया सत्यसंकल्पम्। सोऽयं ममायुरमृतमित्युपास्ते सर्वमायुरस्मिंल्लोक एति। आप्नोत्यमृतत्वमक्षितिं स्वर्गे लोके। तद्धैक आहुरेकभूयं वै प्राणा गच्छन्तीति। न हि कश्चन शक्नुयात् सकृद्वाचा नाम प्रज्ञापयितुं चक्षुषा रूपं श्रोत्रेण शब्दं मनसा ध्यातुमित्येकभूयं वै प्राणा। एकैकमेतानि सर्वाण्येव प्रज्ञापयन्ति। वाचं वदन्तीं सर्वे प्राणा अनुवदन्ति। चक्षुः पश्यत् सर्वे प्राणा अनुपश्यन्ति। श्रोत्रं शृण्वत् सर्वे प्राणा अनुशृण्वन्ति। मनो ध्यायत् सर्वे प्राणा अनुध्यायन्ति। प्राणं प्राणन्तं सर्वे प्राणा अनुप्राणन्तीति। एवमुहैवैतदिति हेन्द्र उवाच अस्ति त्वेव प्राणानां निःश्रेयसमिति। जीवति वागपेतो मूकान् हि पश्यामो, जीवति चक्षुरपेतोऽन्धान् हि पश्यामो, जीवति श्रोत्रापेतो बधिरान् हि पश्यामो, जीवति मनोपेतो बालान् हि पश्यामो, जीवति बाहुच्छिन्नो जीवत्यूरुच्छिन्न इत्येवं हि पश्याम इति। अथ खलु प्राण एव प्रज्ञाऽऽत्मेदं शरीरं प्रतिगृह्योत्थापयति ॥2॥

"प्रज्ञा से ही सत्य संकल्प होता है। जो पुरुष आयु और अमृत के रूप में मेरी उपासना करता है, वह इस लोक में सम्पूर्ण आयुष्य को प्राप्त करता है। और स्वर्गलोक में भी अक्षय अमृतत्व की प्राप्ति करता है। यहाँ कुछ लोग कहते हैं कि अवश्य ही सभी प्राण (सभी इन्द्रियों के साथ प्राण) एकी भाव को प्राप्त करते हैं। कोई भी व्यक्ति एक साथ ही वाणी के द्वारा बोलने की, नेत्र के द्वारा देखने की, कान द्वारा सुनने की और मन द्वारा चिन्तन-ध्यान करने की क्रिया एक साथ नहीं कर सकता। क्योंकि सभी प्राण एक साथ (इन्द्रियों के साथ) मिलकर ही कोई एक क्रिया कर सकते हैं। वाणी बोलती है, तो सभी प्राण उसका अनुसरण करते हैं (मानों अनुवाद करते हैं)। आँख देखती है, तो सभी प्राण उसके पीछे-पीछे देखने लगते हैं। कान जब सुनते हैं, तो प्राण भी उसके पीछे सुनने लग जाते हैं, मन जब ध्यान करता है तो सभी प्राण भी उसका अनुसरण कर ध्यान करने लगते हैं, यह ऐसी ही है'—ऐसा इन्द्र ने कहा। यही प्राणों का कल्याणकारी वरदान (ज्ञान) है। वाणी रहित पुरुष जी सकता है क्योंकि हम गूँगे लोगों को देखते हैं, श्रोत्ररहित भी जीता है क्योंकि हम बहरे लोगों को देखते हैं। बिना मन से भी मनुष्य जी सकता है क्योंकि हम बच्चों को देखते हैं। कटे हुए हाथों वाला, कटी हुई जाँघ वाला आदमी भी जी सकता है, ऐसे लोगों को भी हम देखते हैं। परन्तु एक प्राण ही प्रज्ञारूप ऐसी शक्ति है, जो इस शरीर को पकड़ कर भाँति-भाँति का क्रियाएँ कराता रहता है।

तस्मादेतदेवोक्थमुपासीत। यो वै प्राणः सा प्रज्ञा या वा प्रज्ञा स प्राणः। सह ह्येतावस्मिन् शरीरे वसतः सहोत्क्रामतः। तस्यैषैव दृष्टिरेतद्विज्ञानम्। यत्रैतत् पुरुषः सुप्तः स्वप्नं न कंचन पश्यत्यथास्मिन् प्राण एवैकधा भवति। तदैनं वाक्सर्वैर्नामभिः सहाप्येति। चक्षुः सर्वै रूपैः सहाप्येति श्रोत्रं सर्वैः शब्दैः सहाप्येति। मनः सर्वैर्ध्यानैः सहाप्येति। स यदा प्रतिबुध्यते। यथाऽग्नेर्ज्वलतः सर्वा दिशो विस्फुलिङ्गाः विप्रतिष्ठेरन्नेवमेवैतस्मादात्मनः प्राणा यथाऽऽयतनं विप्रतिष्ठन्ते। प्राणेभ्यो देवा देवेभ्यो लोकाः। तस्यैवैष सिद्धिरेतद्विज्ञानम्। यत्रैतत् पुरुष आर्तो मरिष्यन्नाबल्यं न्येत्य सम्मोहं नेति तदाहुः उदक्रमीच्चितम्। न शृणोति न पश्यति न

वाचा वदति न ध्यायत्यथास्मिन् प्राण एवैकधा भवति तदेनं वाक् सर्वैर्नामभिः सहाप्येति। चक्षुः सर्वै रूपैः सहाप्येति श्रोत्रं सर्वैः शब्दैः सहाप्येति मनः सर्वैर्ध्यानैः सहाप्येति। स यदा प्रतिबुध्यते यथाऽग्नेर्ज्वलतो विस्फुलिङ्गाः विप्रतिष्ठेरन्नेवमेवैतस्मादात्मनः प्राणा यथायतनं विप्रतिष्ठन्ते प्राणेभ्यो देवा देवेभ्यो लोकाः ॥3॥

इसलिए इस प्राण की ही 'उक्थ' रूप से उपासना करनी चाहिए। निश्चय ही जो प्राण है, वही प्रज्ञा है और जो प्रज्ञा है, वही प्राण है। क्योंकि प्रज्ञा और प्राण दोनों एक ही साथ इस शरीर में निवास करते हैं और जीवात्मा के साथ (एक ही साथ) इस शरीर से बाहर निकले जाते हैं। इस प्राणमय परब्रह्म का यही सच्चा दर्शन (यही वास्तविक ज्ञान) है, और यही विज्ञान है। क्योंकि सुषुप्तावस्था में निद्राधीन मनुष्य किसी भी तरह का सपना नहीं देखता। उस समय उसकी वाणी सभी नामों के साथ, आँखें सभी रूपों के साथ, कान सभी शब्दों के साथ और मन सभी चिन्तनों एवं ध्यानों के साथ मुख्य प्राण में सन्निहित हो जाते हैं। वही मनुष्य जब जाग्रत अवस्था में आ जाता है, तब जलती हुई अग्नि से जैसे चिनगारियाँ निकलकर चारों दिशाओं में फैल जाती हैं, वैसे ही इस प्राणस्वरूप आत्मा में से वे वाणी आदि सभी बाहर निकलकर अपने-अपने योग्य स्थान पर पहुँच जाते हैं। बाद में उन प्राणों से अग्नि आदि उनके अधिष्ठाता देव भी उत्पन्न होते हैं। बाद में उनके लोक-नाम आदि भी उत्पन्न होते हैं। जिस अवस्था में रोग पीड़ित मनुष्य मरणासन्न बनता है, तब वह शक्ति से हीन और सम्मोहित हो जाता है। उसके द्वारा किसी को न पहचानने पर लोग कहते हैं कि—'इसका चित्त उठ गया (निकल गया) है।' यही कारण है कि उस समय वह न तो सुन सकता है, न देख सकता है, न वाणी से बोल सकता है, न ही ध्यान-चिन्तन कर सकता है। उस समय वह केवल प्राणों में ही लीन रहता है। ऐसी अवस्था में वाणी समस्त नामों के साथ, आँख समस्त रूपों के साथ, कान सभी शब्दों के साथ और मन सभी ध्यान के विषयों के साथ उस प्राणतत्त्व में विलीन हो जाता है। और वही मनुष्य जब फिर से जाग उठता है, तब जिस तरह जलती हुई अग्नि से चिंगारियाँ फूट निकलती हैं, उसी प्रकार प्राणस्वरूप आत्मा से वाणी आदि समस्त प्राण उत्पन्न होकर यथास्थान अपना स्वरूप ग्रहण कर लेते हैं। इसके बाद प्राणों से उनके अधिष्ठाता अग्नि और अन्य देवता उत्पन्न होकर समस्त लोक आदि को उत्पन्न कर देते हैं।

स यदाऽस्माच्छरीरादुत्क्रामति सहैवेतैः सर्वैरुत्क्रामति। वागस्मात्सर्वाणि नामान्यभिविसृजते। वाचा सर्वाणि नामान्याप्नोति। प्राणोऽस्मात्सर्वान् गन्धानभिविसृजते। प्राणेन सर्वान् गन्धानाप्नोति। चक्षुरस्मात्सर्वाणि रूपाण्यभिविसृजते। चक्षुषा सर्वाणि रूपाण्याप्नोति। श्रोत्रमस्मात्सर्वान् शब्दानभिविसृजते। श्रोत्रेण सर्वान् शब्दानाप्नोति। मनोऽस्मात्सर्वाणि ध्यातान्यभिविसृजते। मनसा सर्वाणि ध्यातान्याप्नोति। सैषा प्राणे सर्वाप्तिः। यो वै प्राणः सा प्रज्ञा या वा प्रज्ञा स प्राणः सह ह्येतावस्मिन् शरीरे वसतः सहोत्क्रामतः। अथ खलु यथास्यै प्रज्ञायै सर्वाणि भूतान्येकं भवन्ति तद्व्याख्यास्यामः ॥4॥

जब वह प्राण इस शरीर से बाहर निकलता है अर्थात् उठता है, तब सभी इन्द्रियों के साथ ही उठता है। तब वाणी उस पुरुष के सभी नामों का त्याग कर देती है, क्योंकि वागिन्द्रिय से ही पुरुष

सभी नाम प्राप्त करता है। प्राण उस पुरुष के सभी गन्धों का त्याग कर देता है क्योंकि पुरुष प्राणेन्द्रिय से ही सभी गन्धों को प्राप्त करता है। चक्षु उसके सभी रूपों का त्याग कर देते हैं क्योंकि मनुष्य चक्षुरिन्द्रिय से ही सभी रूप ग्रहण करता है। श्रोत्र उसके सभी शब्दों का त्याग कर देते हैं क्योंकि मनुष्य श्रोत्रेन्द्रिय से ही सभी शब्द प्राप्त करता है। मन उसके सभी ध्यानों का परित्याग कर देता है क्योंकि मनुष्य मन से ही सभी ध्यान प्राप्त करता है। उसी प्राणरूप आत्मा में सभी इन्द्रियाँ समर्पित होकर अपने-अपने विषयों का पूर्णतः परित्याग कर देती हैं। प्राण ही प्रज्ञा है और प्रज्ञा ही प्राण है। अथवा जो प्रज्ञा है वही प्राण है। क्योंकि वे दोनों इस शरीर में एक साथ ही निवास करते हैं और एक ही साथ इस शरीर से उत्क्रमण भी कर देते हैं। अब किस तरह से समस्त भूत प्राणी इस प्रज्ञा में एकरूप हो जाते हैं—इसकी अब हम व्याख्या करने जा रहे हैं।

वागेवास्या एकमङ्गमुदूढं तस्यै नाम परस्तात्प्रतिविहिता भूतमात्रा। प्राणमेवास्या एकमङ्गमुदूढं तस्य गन्धः परस्तात्प्रतिविहिता भूतमात्रा। चक्षुरेवास्या एकमङ्गमुदूढं तस्य रूपं परस्तात्प्रतिविहिता भूतमात्रा। श्रोत्रमेवास्या एकमङ्गमूदूढं तस्य शब्दः परस्तात्प्रतिविहिता भूतमात्रा। जिह्वैवास्या एकमङ्गमुदूढं तस्यान्नरसः परस्तात्प्रतिविहिता भूतमात्रा। हस्तावेवास्या एकमङ्गमुदूढं तयोः कर्म परस्तात्प्रतिविहिता भूतमात्रा। शरीरमेवास्या एकमङ्गमुदूढं तस्य सुखदुःखे परस्तात्प्रतिविहिता भूतमात्रा। उपस्थ एवास्या एकमङ्गमुदूढं तस्यानन्दो रतिः प्रजातिः परस्तात्प्रति-विहिता भूतमात्रा। पादावेवास्या एकमङ्गमुदूढं तयोरित्या परस्तात्प्रति-विहिता भूतमात्रा। प्रज्ञैवास्या एकमङ्गमुदूढं तस्यै धियो विज्ञातव्यं कामाः परस्तात्प्रतिविहिता भूतमात्रा ॥5॥

वाणी ही इस प्रज्ञा का उन्नत (उठा हुआ) एक अंग है, और उसके बाहर की ओर शब्दतन्मात्रा नियत की गई है। प्राण ही इस प्रज्ञा का एक उन्नत अंग है और उसके बाहर की ओर गन्ध नाम की तन्मात्रा नियत है। चक्षु ही इस प्रज्ञा का उन्नत एक अंग है और उसके बाहर की ओर रूप नाम की तन्मात्रा है। श्रोत्र ही इस प्रज्ञा का उन्नत एक अंग है और उसके बाहर की ओर शब्द नाम की तन्मात्रा नियत है। जिह्वा ही इस प्रज्ञा का उन्नत एक अंग है और उसके बाहर की ओर अन्नरस नाम की तन्मात्रा नियत है। दो हाथ ही इसका आगे बढ़ा हुआ अंग है और बाहर के कर्म ही उन दोनों की भूतमात्रा नियत है। शरीर ही इस प्रज्ञा का आगे उठा हुआ अंग है और बाहर के सुख-दुःख ही उसकी नियत तन्मात्रा है। उपस्थ ही इस प्रज्ञा का आगे प्रस्फुटित एक अंग है और बाहर के विषयरूप में आनन्द, रति और वंशवृद्धि उसकी नियत तन्मात्रा है। दो पैर ही इस प्रज्ञा का एक ऊँचा उठा हुआ अंग है और बाहर में गति ही इनकी नियत तन्मात्रा है। प्रज्ञा ही इसका ऊपर धारण किया हुआ अंग है और निर्णय शक्तियाँ जानने योग्य वस्तु तथा कामनाएँ इसकी बाहरी नियत तन्मात्रा है।

[मंत्र में दिए गए 'उदूढम्' शब्द की जगह पर कहीं-कहीं 'अदूदहत्' ऐसा पाठ मिलता है। इसके पक्ष में 'उन्नत' (ऊँचा उठा हुआ) इस अर्थ के बदले 'पूरक' या 'क्षतिपूरक' अर्थ लेना चाहिए। वहाँ पर जहाँ षष्ठी विभक्ति का प्रयोग किया गया है इसके बदले वहाँ—पक्षान्तर में सप्तमी विभक्ति का ही अर्थ लेना चाहिए।]

प्रज्ञया वाचं समारुह्य वाचा सर्वाणि नामान्याप्नोति। प्रज्ञया प्राणं समारुह्य प्राणेन सर्वान् गन्धानाप्नोति। प्रज्ञया चक्षुः समारुह्य चक्षुषा सर्वाणि रूपाण्याप्नोति। प्रज्ञया श्रोत्रं समारुह्य श्रोत्रेण सर्वान् शब्दानाप्नोति। प्रज्ञया जिह्वां समारुह्य जिह्वया सर्वानन्नरसानाप्नोति। प्रज्ञया हस्तौ समारुह्य हस्ताभ्यां सर्वाणि कर्माण्याप्नोति। प्रज्ञया शरीरं समारुह्य शरीरेण सुखदुःखे आप्नोति। प्रज्ञयोपस्थं समारुह्योपस्थेनानन्दं रतिं प्रजातिमाप्नोति। प्रज्ञया पादौ समारुह्य पादाभ्यां सर्वा इत्या आप्नोति। प्रज्ञयैव धियं समारुह्य प्रज्ञयैव धियो विज्ञातव्यं कामानाप्नोति ॥6॥

मनुष्य प्रज्ञा के द्वारा वाणी को वश में कर वाणी द्वारा सब नामों को प्राप्त करता है। प्रज्ञा से ही वह प्राण पर प्रभुत्व प्राप्त करके प्राण से सभी गन्धों को प्राप्त करता है। प्रज्ञा के द्वारा ही वह आँख को वश में लाकर आँख से सभी रूपों को प्राप्त करता है। प्रज्ञा से ही वह श्रोत्रेन्द्रिय को अपने वश में कर श्रोत्र से सभी शब्दों को प्राप्त करता है। प्रज्ञा के द्वारा ही वह जिह्वा को अपने वश में कर जीभ से सभी अन्नरसों को प्राप्त करता है। प्रज्ञा से ही वह दोनों हाथों पर अपना नियन्त्रण कर दोनों हाथों के द्वारा सभी कर्मों को प्राप्त करता है। प्रज्ञा से ही वह अपने शरीर को वश में करके सभी सुख- दुःख प्राप्त करता है। प्रज्ञा से ही उपस्थेन्द्रिय को वश में करके वह आनन्द, रति और प्रजनन शक्ति को प्राप्त करता है। प्रज्ञा से ही वह अपने दोनों पैरों को वश में करके सभी गतियाँ प्राप्त करता है। प्रज्ञा से ही अपनी बुद्धि को संयत करके उस प्रज्ञा के द्वारा अनुभूतिजन्य वस्तुओं तथा कामनाओं को प्राप्त करता है।

न हि प्रज्ञाऽपेता वाङ्नाम किञ्चन प्रज्ञापयेत्। अन्यत्र मे मनोऽभूदित्याह। नाहमेतन्नाम प्राज्ञासिषमिति। न हि प्रज्ञाऽपेतः प्राणो गन्धं कञ्चन प्रज्ञापयेदन्यत्र मे मनोऽभूदित्याह। नाहं कञ्चन गन्धं प्रज्ञासिषमिति। न हि प्रज्ञाऽपेतं चक्षू रूपं किञ्चन प्रज्ञापयेदन्यत्र मे मनोऽभूदित्याह नाहमेतद् रूपं प्रज्ञासिषमिति। न हि प्रज्ञाऽपेतं श्रोत्रं शब्दं कञ्चन प्रज्ञापयेदन्यत्र मे मनोऽभूदित्याह। नाहमेतं शब्दं प्रज्ञासिषमिति। न हि प्रज्ञाऽपेता जिह्वाऽन्नरसं कञ्चन प्रज्ञापयेदन्यत्र मे मनोऽभूदित्याह। नाहमेतमन्नरसं प्रज्ञासिषमिति। न हि प्रज्ञाऽपेतौ हस्तौ कर्म किञ्चन प्रज्ञापयेदन्यत्र मे मनोऽभूदित्याह। नाहमेतत्कर्म प्रज्ञासिषमिति। न हि प्रज्ञाऽपेतं शरीरं सुखं दुःखं किञ्चन प्रज्ञापयेदन्यत्र मे मनोऽभूदित्याह। नाहमेतत्सुखं दुःखं प्रज्ञासिषमिति। न हि प्रज्ञाऽपेत उपस्थ आनन्दं रतिं प्रजातिं कञ्चन प्रज्ञापयेदन्यत्र मे मनोऽभूदित्याह। नाहमेतमानन्दं न रतिं न प्रजातिं प्रज्ञासिषमिति। न हि प्रज्ञाऽपेतौ पादावित्यां काञ्चन प्रज्ञापयेदन्यत्र मे मनोऽभूदित्याह। नाहमेतामित्यां प्रज्ञासिषमिति। न हि प्रज्ञाऽपेता धीः काञ्चन सिद्ध्येन्न प्रज्ञातव्यं प्रज्ञायेत ॥7॥

प्रज्ञा के बिना वाणी किसी भी नाम का बोध नहीं करा पाती, क्योंकि तब व्यक्ति कहेगा कि मेरा मन कहीं दूसरी जगह था अत: मैं इस नाम को नहीं जान सका। प्रज्ञा से विहीन प्राण भी किसी गन्ध को नहीं पहचान पाता क्योंकि तब वह कहेगा कि मेरा मन दूसरी जगह था इसलिए मैं किसी गन्ध को नहीं पहचान सका। प्रज्ञा रहित चक्षु भी किसी रूप को नहीं जान सकता क्योंकि उस अवस्था में मनुष्य कहेगा कि मेरा मन अन्य विषय में था, इसलिए मैं किसी प्रकार के रूप को नहीं जान सका। प्रज्ञाहीन कान भी किसी शब्द को नहीं सुन पाता क्योंकि ऐसी अवस्था में वह कहेगा कि उस समय मेरा मन अन्यत्र था इसलिए मैं किसी शब्द को सुन न सका। प्रज्ञा से रहित जिह्वा भी किसी अन्नरस को जान नहीं सकती, क्योंकि उस समय मनुष्य कहेगा कि मेरा मन तब दूसरी जगह था, इसलिए मैं किसी भी प्रकार के अन्न-रस को जान न सका। प्रज्ञा से रहित दोनों हांथ भी किसी कर्म को करना नहीं जानते क्योंकि ऐसी अवस्था में मनुष्य कहेगा कि मेरा मन उस समय अलग स्थान पर था, इसलिए मैं किसी भी कर्म को नहीं जान सका। प्रज्ञा से रहित यह शरीर भी किसी प्रकार के सुख और दु:ख को नहीं जानता क्योंकि ऐसी अवस्था में वह कहेगा कि मेरा मन अन्यत्र था इसलिए मैं किसी प्रकार के सुख या दु:ख को नहीं जान सका। प्रज्ञा से शून्य उपस्थेन्द्रिय को भी किसी प्रकार के आनन्द, रति या प्रजनन का अनुभव ही नहीं होता क्योंकि ऐसी अवस्था में वह मनुष्य कहेगा कि तब मेरा मन कहीं और जगह पर था इसलिए मैं किसी भी प्रकार के आनन्द, रति या प्रजनन को नहीं जान सका हूँ। प्रज्ञा से रहित दोनों पाँव भी किसी प्रकार की गति करना नहीं जानते क्योंकि ऐसी अवस्था में मनुष्य यह कहता है कि मेरा मन उस समय कहीं और जगह पर था इसलिए मैं गति को नहीं पहचान सका हूँ। प्रज्ञारहित बुद्धि भी (बुद्धि की कोई भी वृत्ति) सिद्ध नहीं हो सकती। और बुद्धि वृत्ति के द्वारा किसी जानी गई वस्तु का भी एहसास नहीं हो सकता।

न वाचं विजिज्ञासीत वक्तारं विद्यात्। न गन्धं विजिज्ञासीत घ्रातारं विद्यात्। न रूपं विजिज्ञासीत रूपविदं विद्यात्। न शब्दं विजिज्ञासीत श्रोतारं विद्यात्। नान्नरसं विजिज्ञासीतान्नरसस्य विज्ञातारं विद्यात्। न कर्म विजिज्ञासीत कर्तारं विद्यात्। न सुखदुःखे विजिज्ञासीत सुखदुःखयोर्विज्ञातारं विद्यात्। नानन्दं न रतिं न प्रजातिं विजिज्ञासीतानन्दस्य रतेः प्रजातेर्विज्ञातारं विद्यात्। नेत्यां विजिज्ञासीतैतारं विद्यात्। न मनो विजिज्ञासीत मन्तारं विद्यात्। ता वा एता दशैव भूतमात्रा अधिप्रज्ञं दश प्रज्ञामात्रा अधिभूतम्। यद्धि भूतमात्रा न स्युर्न प्रज्ञामात्राः स्युर्यद्वा प्रज्ञामात्रा न स्युर्न भूतमात्राः स्युः ॥8॥

वाणी को जानने की इच्छा नहीं करनी चाहिए वरन् वक्ता को जानना चाहिए। गन्ध की जिज्ञासा नहीं करनी चाहिए वरन् सूँघने वाले को जानना चाहिए। रूप की जिज्ञासा नहीं करनी चाहिए वरन् रूप के जानने वाले को जानना चाहिए। शब्द की जिज्ञासा नहीं करनी चाहिए वरन् श्रोता को ही जानना चाहिए। अन्नरस को जानने की इच्छा नहीं करनी चाहिए, बल्कि अन्न रस को जानने वाले को ही जान लेना चाहिए। कर्म की जिज्ञासा नहीं करनी चाहिए किन्तु कर्ता को ही जानना चाहिए। सुख-दु:ख की जिज्ञासा नहीं करनी चाहिए, वरन् सुख-दु:ख को जानने वाले को ही जान लेना चाहिए। आनन्द, रति और प्रजनन की जिज्ञासा नहीं करनी चाहिए किन्तु आनन्द, रति और प्रजनन को पहचानने वाले को ही जान लेना चाहिए। गति को जानने की इच्छा नहीं करनी चाहिए, किन्तु गति करने वाले को समझ लेना चाहिए। मन को समझने की इच्छा नहीं करनी चाहिए बल्कि मनन करने वाले को जान लेना चाहिए। इस प्रकार दश ही भूत मात्राएँ हैं अर्थात् प्रज्ञा में विद्यमान दस ही नामादि विषय हैं। और यह प्रज्ञा भी दस मात्राओं के रूप में है। यदि ये सुविख्यात दस भूत मात्राएँ न हों, तो प्रज्ञा की मात्राएँ भी

अस्तित्व में नहीं रह सकतीं और यदि प्रज्ञा की मात्राएँ न हों, तो ये भूत मात्राएँ भी अपना अस्तित्व नहीं रख सकतीं।

न ह्यन्यरतो रूपं किञ्चन सिध्येत्। नो एतन्नाना। तद्यथा रथस्यारेषु नेमिरर्पिता नाभावारा अर्पिता एवमेवैता भूतमात्राः प्रज्ञामात्रास्वर्पिताः। प्रज्ञामात्राः प्राणे अर्पिताः। स वा एष प्राण एव प्रज्ञाऽऽत्माऽऽनन्दोऽजरोऽमृतो न साधुना कर्मणा भूयान् नो एवासाधुना कर्मणा कनीयान्। एष ह्येवैनं साधु कर्म कारयति तं यमेभ्यो लोकेभ्य उन्निनीषते। एष उ एवैनमसाधु कर्म कारयति तं यमेभ्यो लोकेभ्यो नुनुत्सते। एष लोकपाल एष लोकाधिपतिरेष सर्वेश्वरः स म आत्मेति विद्यात्। स म आत्मेति विद्यात् ॥9॥

इति तृतीयोऽध्यायः।

प्रज्ञामात्रा और भूतमात्रा—इन दोनों में से किसी एक ही के द्वारा किसी भी रूप-विषय-इन्द्रिय की सिद्धि नहीं होती। ये दोनों भिन्न हैं ही नहीं। जिस प्रकार रथ के अरों में नेमि आश्रित होती है और वे अरे फिर नाभि में आश्रित होते हैं, ठीक उसी प्रकार ये भूतमात्राएँ प्रज्ञामात्राओं में अर्पित (आश्रित) होती हैं। और वे प्रज्ञामात्राएँ प्राण में अर्पित (आश्रित) होती हैं। वह प्राण ही प्रज्ञात्मा है, वही अजर (अक्षय) और अमृतस्वरूप है। यह अच्छे कर्मों से बड़ा भी नहीं बनता और बुरे कर्मों से छोटा भी नहीं बन जाता। वही प्राणात्मा इस देहाभिमानी पुरुष द्वारा अच्छा कार्य करवाता है और वह उसी देहाभिमानी पुरुष के द्वारा ऐसे अच्छे काम करवाता है कि जिसको वह ऊर्ध्व लोक की ओर ले जाना चाहता है। वही मनुष्य से बुरे कार्य भी करवाता है कि जिसे वह इस लोक से नीचे ले जाना चाहता है। यही लोकपाल है, यही लोकों का अधिपति है, यही सर्वेश्वर है और वही मेरा आत्मा है—इस प्रकार जानना चाहिए! वही मेरा आत्मा है ऐसा जानना चाहिए। वाक्य की पुनरावृत्ति अध्याय की समाप्ति की सूचक है।

यहाँ तीसरा अध्याय पूरा होता है।

❋

चतुर्थोऽध्यायः

अथ गार्ग्यो ह वै बालाकिरनूचानः संस्पष्ट आस। सोऽयमुशीनरेषु सत्त्व-मत्स्येषु कुरुपाञ्चालेषु काशीविदेहेष्विति स हाजातशत्रुं काश्यमेत्योवाच ब्रह्म ते ब्रवाणीति। तं होवाचाजातशत्रुः सहस्रं दद्मस्त इत्येतस्यां वाचि जनको जनक इति वा उ जना धावन्तीति ॥1॥

गर्गगोत्रीय बलाका पुत्र बालाकि एक वेदपारंगत वक्ता थे और उशीनर, सत्त्व, मत्स्य, कुरु, पांचाल, काशी, विदेह आदि देशों में प्रसिद्ध थे। वे काशीराज अजातशत्रु के पास जाकर कहने लगे—'मैं तुम्हें ब्रह्म का उपदेश दूँगा।' तब अजातशत्रु ने उससे कहा—'तुम्हारे इस वचन पर मैं तुम्हें हजार मुहरें देता हूँ। क्योंकि आजकल तो लोक ब्रह्मविद्या में जनक को ही मुख्य जानकर 'जनक जनक' ऐसा कहकर उसकी ओर दौड़कर जाया करते हैं'।

स होवाच बालाकिर्य एवैष आदित्ये पुरुषस्तमेवाहमुपास इति। तं होवाचाजातशत्रुर्मामैवं तस्मिन् समवादयिष्ठा बृहन् पाण्डरवासाधिष्ठाः सर्वेषां भूतानां मूर्धेति वा अहमेतद्वा उपास इति। स यो हैतमेवमुपास्तेऽधिष्ठाः सर्वेषां भूतानां मूर्धा भवति ॥2॥

तब बालाकि ने कहा—'आदित्य के भीतर जो यह पुरुष है उसी की मैं ब्रह्मरूप से उपासना करता हूँ।' तब उससे अजातशत्रु ने कहा कि—'नहीं नहीं, ऐसा इसके विषय में मत कहो। वह पाण्डर (शुक्ल) कपड़े पहने हुए महान तो है। सभी प्राणियों के वह शीर्षस्थानीय है, मैं इसी तरह उसकी उपासना करता हूँ (अर्थात् वह ब्रह्म नहीं है); हाँ, जो उसकी इस प्रकार उपासना करता है, वह सब कुछ पार कर जाता है और सब प्राणियों का मस्तक माना जाता है'।

स होवाच बालाकिर्य एवैष चन्द्रमसि पुरुषस्तमेवाहमुपास इति। तं होवाचाजातशत्रुर्मा मैवं तस्मिन् समवादयिष्ठाः सोमो राजाऽन्नस्यात्मेति वा अहमेतमुपास इति। स यो हैतमेवमुपास्तेऽन्नस्यात्मा भवति ॥3॥

तब बालाकि ने कहा—'चन्द्रमा में स्थित जो पुरुष है, उसी की मैं ब्रह्मरूप में उपासना करता हूँ।' इस पर अजातशत्रु ने कहा—'नहीं नहीं इसके सम्बन्ध में ऐसा मत कहो। क्योंकि वह सोम राजा तो अन्न का आत्मा है। मैं तो उसी रूप से उसकी उपासना करता हूँ (ब्रह्म रूप से नहीं) वह मनुष्य जो इसकी उस तरह उपासना करता है, वह अन्न का आत्मा (अन्न की शक्ति से पूर्ण) बन जाता है।'

स होवाच बालाकिर्य एवैष विद्युति पुरुषस्तमेवाहमुपास इति। तं होवाचाजातशत्रुर्मा मैवं तस्मिन् समवादयिष्ठाः। तेजस्यात्मेति वा अहमेतमुपास इति। स यो हैतमेवमुपास्ते तेजस्यात्मा भवति ॥4॥

उस बालाकि ने तब कहा—'जो यह विद्युत् में पुरुष रहता है उसी की मैं ब्रह्म रूप से उपासना करता हूँ।' तब अजातशत्रु ने कहा—'नहीं, नहीं इस विषय में ऐसा मत कहो, क्योंकि वह तो तेज का स्वरूप है (यहाँ 'तेजस आत्मा'-ऐसा पाठ भी मिलता है)। मैं उसकी ऐसे ही उपासना करता हूँ। कोई भी मनुष्य यदि इस रूप में इसकी उपासना करता है, तो वह तेज का आत्मा (तेज में पूर्ण) हो जाता है'।

स होवाच बालाकिर्य एवैष स्तनयित्नौ पुरुषस्तमेवाहमुपास इति। तं होवाचाजातशत्रुर्मा मैवं तस्मिन् समवादयिष्ठाः। शब्दस्यात्मेति वा अहमेतमुपास इति। स यो हैतमेवमुपास्ते शब्दस्यात्मा भवति ॥5॥

तब बालाकि ने कहा—'यह जो मेघगर्जना में पुरुष है उसी को मैं ब्रह्म मानकर उसकी उपासना करता हूँ।' इस पर अजातशत्रु ने कहा—'नहीं, नहीं, इसके विषय में ऐसा मत कहो। वह तो शब्द की शक्ति – आत्मा है, ऐसा मानकर मैं उसकी उपासना करता हूँ। जो उसकी इस प्रकार से उपासना करता है, वह शब्द के आत्मारूप (शब्दशक्ति से पूर्ण) हो जाता है।

स होवाच बालाकिर्य एवैष आकाशे पुरुषस्तमेवाहमुपास इति। तं होवाचाजातशत्रुर्मा मैवं तस्मिन् समवादयिष्ठाः। पूर्णमप्रवर्ति ब्रह्मेति वा अहमेतमुपास इति। स यो हैतमेवमुपास्ते पूर्यते प्रजया पशुभिर्नो एव स्वयं नास्य प्रजा पुरा कालात्प्रवर्तते ॥6॥

तब वह बालाकि बोले—'जो यह आकाश में पुरुष है, उसी की मैं ब्रह्मरूप से उपासना करता हूँ।' इस पर अजातशत्रु ने कहा—'इस विषय में ऐसा न कहो क्योंकि मैं उसको निष्क्रिय (क्रियारहित) विशालता के रूप में उपासता हूँ। जो उसकी इस तरह से उपासना करता है वह सन्तति से और पशुओं से सम्पन्न हो जाता है। वह स्वयं और उसकी सन्तति भी समय से पहले (पूर्णायु के पहले) यहाँ से नहीं जाती अर्थात् मृत्यु को नहीं प्राप्त होती'।

स होवाच बालाकिर्य एवैष वायौ पुरुषस्तमेवाहमुपास इति। तं होवाचाजातशत्रुर्मा मैवं तस्मिन् समवादयिष्ठाः इन्द्रो वैकुण्ठोऽपराजिता सेनेति वा अहमेतमुपास इति। स यो हैतमेवमुपास्ते जिष्णुर्ह वा पराजयिष्णुरन्यस्त्यजायी भवति ॥7॥

उन बालाकि ने कहा—'जो यह वायु में पुरुष है उसको ब्रह्म मानकर उसकी उपासना करता हूँ। इस पर अजातशत्रु ने कहा—'इसके विषय में मुझे आप ऐसा मत कहिए। क्योंकि मैं तो उसकी इन्द्र, वैकुण्ठ या अपराजिता सेना मानकर उपासना करता हूँ और जो कोई भी इस तरह से उसकी उपासना करेगा वह सर्वदा विजेता, किसी से न हारने वाला और सभी शत्रुओं पर विजयी होता है'।

स होवाच बालाकिर्य एवैषोऽग्नौ पुरुषस्तमेवाहमुपास इति। तं होवाचाजातशत्रुर्मा मैवं तस्मिन् समवादयिष्ठाः विषासहिरिति वा अहमेतमुपास इति। स यो हैतमेवमुपास्ते विषासहिर्हैवान्वेष भवति ॥8॥

फिर वह बालाकि बोले—'अग्नि में जो यह पुरुष है उसको मैं ब्रह्म मानकर उपासना करता हूँ'। इस पर अजातशत्रु ने कहा—'नहीं, नहीं इस विषय में तुम मुझे ऐसा न कहो, क्योंकि मैं उसे विषासहि (शत्रुओं को क्षमा करने वाला) समझकर उसकी उपासना करता हूँ। जो कोई भी उसकी इस तरह से उपासना करता है वह शत्रुओं के प्रति क्षमाशील हो जाता है'।

स होवाच बालाकिर्य एवैषोऽप्सु पुरुषस्तमेवाहमुपास इति। तं होवाचाजातशत्रुर्मा मैवं तस्मिन् समवादयिष्ठाः नाम्न आत्मेति वा अहमेतमुपास इति। स यो हैतमेवमुपास्ते नाम्न आत्मा भवति। इत्यधिदैवतमथाध्यात्मम् ॥9॥

आगे बालाकि ने पुनः कहा—'जो जल में यह पुरुष है, मैं उसी की उपासना (ब्रह्मोपासना) करता हूँ'। इस पर अजातशत्रु ने कहा—'इसके बारे में मुझे तुम ऐसा मत कहो क्योंकि मैं तो उसे नामधारी जीवात्मा समझकर ही उसकी उपासना करता हूँ। जो इसकी इस प्रकार से उपासना करता है वह नामधारी सभी प्राणियों का आत्मा हो जाता है'।

स होवाच बालाकिर्य एवैष आदर्शे पुरुषस्तमेवाहमुपास इति। तं होवाचाजातशत्रुर्मा मैवं तस्मिन् समवादयिष्ठाः प्रतिरूप इति वा अहमेतमुपास इति। स यो हैतमेवमुपास्ते प्रतिरूपो हैवास्य प्रजायामाजायते नाप्रतिरूपः ॥10॥

तब बालाकि फिर बोले—'दर्पण में जो यह पुरुष विद्यमान है उसी की ब्रह्मरूप में मैं उपासना करता हूँ'। इस पर अजातशत्रु ने कहा—'नहीं, नहीं, इसके सम्बन्ध में तुम ऐसा मत कहो क्योंकि मैं तो उसकी एकरूप की प्रतिकृति के रूप में उपासना करता हूँ और जो कोई भी उसकी इस तरह से

उपासना करता है उसकी संतति उसके प्रतिरूप (उसी के जैसी) होती है, उससे अलग रूपवाली नहीं होती'।

स होवाच बालाकिर्य एवैष प्रतिश्रुत्कायां पुरुषस्तमेवाहमुपास इति। तं होवाचाजातशत्रुर्मा मैवं तस्मिन् समवादयिष्ठाः। द्वितीयोऽनपग इति वा अहमेतमुपास इति। स यो हैतमेवमुपास्ते विन्दते द्वितीयाद् द्वितीयवान् भवति ॥11॥

बालाकि ने पुनः कहा—'प्रतिध्वनि में जो यह पुरुष है, मैं उसकी उपासना करता हूँ।' इस पर अजातशत्रु ने कहा—'नहीं, नहीं उस विषय में तुम मुझे ऐसा मत कहो क्योंकि मैं उसे 'द्वितीय' या 'अनपग' समझकर उपासना करता हूँ। (अनपग=ध्वनि में पुनरावर्तन का अभाव अथवा प्रतिध्वनि में गति का अभाव) और जो इसकी इस तरह से उपासना करता है वह अपने से अलग अन्यान्य सहवासियों को प्राप्त करता है, वह सहायकों वाला होता है'।

स होवाच बालाकिर्य एवैष शब्दः पुरुषमन्वेति तमेवाहमुपास इति। तं होवाचाजातशत्रुर्मा मैवं तस्मिन् समवादयिष्ठाः। आयुरिति वा अहमेतमुपास इति। स यो हैतमेवमुपास्ते नो एव स्वयं नास्य प्रजा पुरा कालात् सम्मोहमेति ॥12॥

बालाकि ने कहा कि—'पुरुष के चलने के पीछे जो यह शब्द सुनाई देता है, उसकी मैं ब्रह्म समझकर उपासना करता हूँ।' तब उस अजातशत्रु ने कहा—'नहीं नहीं इसके बारे में मुझे यह मत कहो। मैं तो उसे 'आयु' के रूप में मानकर उसकी उपासना करता हूँ। (यहाँ 'आयु' के बदले कहीं कहीं 'असु' पाठ मिलता है—उस पक्ष में 'प्राण' अर्थ है) और जो इसे इस रूप में उपासता है, वह स्वयं और उसकी संतति भी पूर्ण आयु के भोगे बिना मृत्यु को प्राप्त नहीं होते हैं।'

स होवाच बालाकिर्य एवैष छायापुरुषस्तमेवाहमुपास इति। तं होवाचाजातशत्रुर्मा मैवं तस्मिन् समवादयिष्ठाः। मृत्युरिति वा अहमेतमुपास इति। स यो हैतमेवमुपास्ते नो वा स्वयं नास्य प्रजा पुरा कालात् प्रमीयते ॥13॥

वह बालाकि फिर बोले—'यह जो छाया में पुरुष है मैं उसी ब्रह्म की उपासना करता हूँ।' तब अजातशत्रु ने कहा—'इसके विषय में तुम मुझे ऐसा मत कहो, क्योंकि मैं तो उसको मृत्यु रूप मानकर उपासना करता हूँ। जो कोई उसकी इस प्रकार से उपासना करता है तो वह स्वयं तथा उसकी संतति भी समय से पहले (पूर्ण आयु को भोगने से पहले) मृत्यु को प्राप्त नहीं होती अर्थात् मनुष्य के लिए निश्चित की गई सौ वर्ष की आयु वह और उसकी सन्तति अवश्य भोगते हैं।

स होवाच बालाकिर्य एवैष शारीरः पुरुषस्तमेवाहमुपास इति। तं होवाचाजातशत्रुर्मा मैवं तस्मिन् समवादयिष्ठाः। प्रजापतिरिति वा अहमेतमुपास इति। स यो हैतमेवमुपास्ते प्रजायते प्रजया पशुभिः ॥14॥

फिर उन बालाकि ने कहा—'जो यह शरीर स्थित पुरुष है उसकी मैं ब्रह्मरूप से उपासना करता हूँ'। तब अजातशत्रु ने उनसे कहा—'इसके विषय में तुम मुझे ऐसी बात मत कहो क्योंकि उसकी तो

मैं प्रजापति के रूप में उपासना करता हूँ। जो इसकी इस प्रकार से उपासना करता है वह प्रजा और पशुओं से सम्पन्न होता है'।

स होवाच बालाकिर्य एवैष प्राज्ञ आत्मा येनैष पुरुषः सुप्तः स्वप्न्यया चरति तमेवाहमुपास इति। तं होवाचाजातशत्रुर्मा मैवं तस्मिन् समवादयिष्ठाः। यमो राजेति वा अहमेतमुपास इति। स यो हैतमेवमुपास्ते सर्वं हास्मा इदं श्रैष्ठ्याय यम्यते ॥15॥

वह बालाकि फिर बोले—'जो यह प्राज्ञ आत्मा है, जो कि सोता हुआ भी स्वप्न में विचरण करता है (विविध रूपों को देखता है), उसकी मैं ब्रह्म मानकर उपासना करता हूँ'। तब अजातशत्रु ने कहा—'इसके विषय में तुम मुझे ऐसा मत कहो, क्योंकि मैं तो उसकी यमराज मानकर उपासना करता हूँ और जो कोई उसकी इस तरह से उपासना करता है, तो उसका यह सब कुछ भी श्रेष्ठता के लिए ही चलता है (अथवा) उसका सब कुछ श्रेष्ठता के लिए ही नियन्त्रित होता रहता है।

स होवाच बालाकिर्य एवैष दक्षिणेऽक्षन्पुरुषस्तमेवाहमुपास इति। तं होवाचाजातशत्रुर्मा मैवं तस्मिन् समवादयिष्ठाः। नाम्न आत्माऽग्नेरात्मा ज्योतिष आत्मेति वा अहमेतमुपास इति। स यो हैतमेवमुपास्त एतेषां सर्वेषामात्मा भवति ॥16॥

बालाकि ने कहा—'यह जो दाहिनी आँख में जो पुरुष अवस्थित है, उसी ब्रह्म को मैं उपासना करता हूँ।' तब अजातशत्रु ने उससे कहा—'इसके विषय में तुम मुझे ऐसा मत कहो, क्योंकि उसकी तो मैं नाम, अग्नि और ज्योति की आत्मा के रूप में उपासना करता हूँ। जो इसकी इस प्रकार उपासना करता है, वह इन सभी प्राणियों का आत्मस्वरूप हो जाता है'।

स होवाच बालाकिर्य एवैष सव्येऽक्षन्पुरुषस्तमेवाहमुपास इति। तं होवाचाजातशत्रुर्मा मैवं तस्मिन् समवादयिष्ठाः। सत्यस्यात्मा विद्युत आत्मा तेजस आत्मेति वा अहमेतमुपास इति। स यो हैतमेवमुपास्त एतेषां सर्वेषामात्मा भवति ॥17॥

बालाकि ने कहा—'जो बाएँ नेत्र में पुरुष है, मैं उस ब्रह्म की उपासना करता हूँ'। तब अजातशत्रु ने उनसे कहा—'नहीं, इस विषय में मुझे ऐसा मत कहो। क्योंकि मैं तो उसकी सत्य के आत्मा के रूप में, विद्युत् की आत्मा के रूप में और तेज की आत्मा के रूप में उपासना करता हूँ। जो कोई भी उसकी इस तरह से उपासना करेगा, वह इन सब पदार्थों (प्राणियों) का आत्मा हो जायेगा।

तत उ ह बालाकिस्तूष्णीमास। तं होवाचाजातशत्रुः। एतावन्नु बालाका इति। एतावद्धीति होवाच बालाकिः। तं होवाचाजातशत्रुर्मृषा वै किल मा समवादयिष्ठा ब्रह्म ते ब्रवाणीति। स होवाच यो वै बालाक एतेषां पुरुषाणां कर्ता यस्य वैतत्कर्म स वै वेदितव्य इति। तत उ ह बालाकिः समित्पाणिः प्रतिचक्रम उपायानीति। तं होवाचाजातशत्रुः प्रतिलोमरूपमेव तस्याद्यत् क्षत्रियो ब्राह्मणमुपनयेत्। एहि व्येव त्वा ज्ञपयिष्यामीति। तं ह पाणावभिपद्य प्रवव्राज। तौ ह सुप्तं पुरुषमाजग्मतुः। तं हाजातशत्रुरामन्त्रयांचक्रे। बृहन् पाण्डरवासः सोमराजन्निति। स उ ह तूष्णीमेव

शिश्ये। तत उ हैनं यष्ट्या विचिक्षेप। स तत एव समुत्तस्थौ। तं होवाचाजातशत्रुः क्वैष एतद्बालाके पुरुषोऽशयिष्ट क्वैतदभूत् कुतः एतगादिति। तत उ ह बालाकिर्न विजज्ञौ ॥18॥

तब बालाकि मौन हो गए। अजातशत्रु ने उनसे कहा—'बालाके! बस, आपका ब्रह्मज्ञान इतना ही है?' बालाकि ने कहा—'हाँ, बस इतना ही है।' तब अजातशत्रु ने कहा कि—'तब तो तुम मेरे आगे झूठ (मिथ्या) ही बोले कि मैं तुम्हें ब्रह्मज्ञान दूँगा'। अजातशत्रु ने आगे कहा कि—'हे बालाकि! जो (तुम्हारे कहे हुए) इन सभी पुरुषों का कर्त्ता है वही जानने योग्य है'। तब बालाकि हाथ में समिधा लिए प्रदक्षिणा करके विनती करने लगे कि मुझे उपनयन दीजिए अर्थात् आप ब्रह्मज्ञान दीजिए।' इस पर अजातशत्रु कहने लगे कि—'क्षत्रिय ब्राह्मण को उपनयन दे, यह तो उल्टा क्रम हो जाएगा। फिर भी आओ, मैं तुम्हें अवश्य ही ज्ञान दूँगा।' बाद में अजातशत्रु बालाकि का हाथ पकड़कर चले। वे दोनों किसी सोए हुए पुरुष के पास आए। उसको अजातशत्रु ने बुलाया—'हे महान् पुरुष! हे पाण्डर वस्त्र पहने हुए! हे सोम राजन्!' परन्तु वह मौन ही रहा। बाद में उसको लाठी से फटकारा। तब वह खड़ा हो गया। तब अजातशत्रु ने बालाकि से कहा—'हे बालाकि! यह पुरुष तब कहाँ सोया था? यह कहाँ था? वह यहाँ फिर कहाँ से आया?' किन्तु वह बालाकि यह नहीं जानता था।

तं होवाचाजातशत्रुः यत्रैतद् बालाके पुरुषोऽशयिष्ट यत्रैतदभूद्यत एतदागादिति। हिता नाम हृदयस्य नाड्यो हृदयात् पुरीततमभिप्रतन्वन्ति तद्यथा सहस्रधा केशो विपाटितस्तावदण्व्यः पिङ्गलस्याणिम्ना तिष्ठन्ति शुक्लस्य कृष्णस्य पीतस्य लोहितस्येति तासु तदा भवति। यदा सुप्तः स्वप्नं न कंचन पश्यति। अस्मिन् प्राण एकैकधा भवति। तदैनं वाक् सर्वैर्नामभिः सहाप्येति। चक्षुः सर्वैं रूपैः सहाप्येति श्रोत्रं सर्वैः शब्दैः सहाप्येति मनः सर्वैर्ध्यानैः सहाप्येति। स यदा प्रतिबुध्यते यथाऽग्नेर्ज्वलतः सर्वा दिशो विस्फुलिङ्गा विप्रतिष्ठेरन्नेवमैवास्मादात्मनः प्राणा यथायतनं विप्रतिष्ठन्ते प्राणेभ्यो देवा देवेभ्यो लोकाः। तद्यथा क्षुरः क्षुरधानेऽवहितः स्यात्। विश्वंभरो वा विश्वंभरकुलाय एवमेवैष प्रज्ञ आत्मेदं शरीरमात्मानमनुप्रविष्ट आ लोमभ्य आ नखेभ्यः ॥19॥

अजातशत्रु ने उनसे (बालाकि से) कहा—'हे बालाकि! यह पुरुष इस तरह से जहाँ सोया था, जिस स्थान में था, जहाँ से वह आया, यह बात इस प्रकार है—'हिता' नाम की बहुत-सी प्रसिद्ध नाड़ियाँ हृदयकमल से सम्बन्ध रखने वाली हैं। वे नाडियाँ हृदय से निकलकर सारे शरीर में फैली हुई हैं। वे नाड़ियाँ एक बाल के हजारों भाग के परिमाण वाली अतिसूक्ष्म हैं। ये नाड़ियाँ अतिसूक्ष्म पिंगलवर्ण वाली हैं। शुक्ल, कृष्ण, पीत, रक्त आदि अनेक रंगों के सूक्ष्मातिसूक्ष्म अंशों से वे युक्त हैं। जिस समय वह सोया हुआ पुरुष किसी स्वप्न को नहीं देखता, उस समय वह इस मुख्य प्राणतत्त्व में ही एकीभाव प्राप्त करके रहता है। तब वाणी अपने सभी नामों के साथ प्राणतत्त्व में विलीन हो जाती है, चक्षु सभी रूपों के साथ प्राणतत्त्व में विलीन होता है, श्रोत्रेन्द्रिय सभी शब्दों के साथ प्राणतत्त्व में विलीन होती है, मन सभी ध्यानों के साथ प्राणतत्त्व में विलीन होता है। वह जब जागता है, तब जैसे जलती हुई आग से चारों ओर चिनगारियाँ फैल जाती हैं, उसी प्रकार इस आत्मा से वाणी आदि सभी प्राणतत्त्व इस प्राणतत्त्व से निकलकर अपने-अपने योग्य स्थान पर चले जाते हैं। बाद में उन प्राणतत्त्वों

से उनके अधिष्ठाता देव उत्पन्न होते हैं और उन देवों से लोकों की (विषयों की) उत्पत्ति होती है। जैसे क्षुरधान (छूरे के म्यान) में छूरा रहता है, और जैसे यह विश्वंभर - प्राणोपाधिक विज्ञानात्मा उसके निवासरूप इस शरीर में रहता है, उसी तरह यह प्रज्ञात्मा भी तीनो प्रकार के शरीरों मे नखशिख प्रविष्ट हो जाता है।

तमेतमात्मानमेतमात्मनोऽन्वपश्यन्ति (अन्ववस्यन्ति)। यथा वा श्रेष्ठिनं स्वाः। तद्यथा श्रेष्ठैः स्वैर्भुङ्क्ते यथा वा श्रेष्ठिनं स्वाः भुञ्जन्त्येवमेवैष प्रज्ञात्मैतैरात्मभिर्भुङ्क्ते। एवं वै तमात्मानमेत आत्मानो भुञ्जन्ति। स यावद्ध वा इन्द्र एतमात्मानं न विजते तावदेनमसुरा अभिबभूवुः। स यदा विजज्ञेऽथ हत्वाऽसुरान्विजित्य सर्वेषां देवानां श्रैष्ठ्यं स्वाराज्यमधिपत्यं परीयाय तथो एवैवं विद्वान् सर्वान् पाप्मनोऽपहत्य सर्वेषां भूतानां श्रैष्ठ्यं स्वाराज्यमाधिपत्यं पर्येति। य एवं वेद एवं वेद ॥20॥

इति चतुर्थोऽध्यायः।

इति कौषीतकिब्राह्मणोपनिषत्समाप्ता।
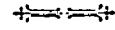
उस साक्षीभूत आत्मा की ये सब (वाणी आदि) अन्य आत्मा अनुगत (सेवक) की तरह होते हैं, जैसे किसी धनिक के सेवक हों। जैसे धनिक सेठ अनुचरादि स्वजनों के साथ खाते-पीते हैं और जैसे वे अनुचर भी समान भाव से सेठ को खिलाते-पिलाते हैं, उसी तरह यह प्रज्ञात्मा, वाणी आदि आत्माओं के साथ उपभोग करता है और अवश्य ही इस प्रज्ञात्मा का भी वाणी आदि आत्माएँ उपभोग करती हैं। इन्द्र राजा भी जब तक इस आत्मा को नहीं जान पाए थे तब तक उन्हें समस्त दैत्यसमूह पराजित करता रहता था। पर जब उन्होंने यह रहस्य जान लिया, तब उन्होंने सभी दैत्यों को मारकर पराजित कर दिया और समग्र देवों में श्रेष्ठता का पद, स्वर्ग का राज्य और त्रिलोकी का आधिपत्य प्राप्त कर लिया। इस प्रकार आत्मा को जानने वाला ज्ञानी समग्र पापों का नाश कर, सभी भूत-प्राणियों में श्रेष्ठ होकर स्वराज्य और प्रभुता को प्राप्त करके सब का स्वामी बन जाता है। जो भी उपासक इस तरह से उसे जानता है, उसे उपर्युक्त समस्त फलों की प्राप्ति होती है। (वाक्य की पुनरावृत्ति अध्याय और उपनिषत् की समाप्ति का सूचक है)।

यहाँ चौथा अध्याय समाप्त हुआ और उपनिषत् भी समाप्त हुई।

शान्तिपाठः

ॐ वाङ्मे मनसि .... वक्तारमवतु वक्तारम्। (पूर्ववत्)
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

(26) बृहज्जाबालोपनिषत्

(उपनिषत्परिचय)

यह आठ ब्राह्मणों (अध्यायों) वाली अथर्ववेदीय उपनिषद् है। इस उपनिषद् में कपिल, कृष्ण, रक्त, श्वेत और चित्रवर्णा गायों के गोबर से क्रमशः विभूति, भसित, भस्म, क्षार और रक्षा—ऐसे पाँच नामों वाली भस्मों का वर्णन है। विभूति नाम की भस्म ऐश्वर्यदात्री है। भसित भस्म प्रकाशदात्री है। भस्म नाम की तीसरी भस्म पापों को भस्म करती है। क्षार भस्म आपत्तियों का क्षय करती है। और रक्षा नाम की भस्म भूत-प्रेतादि से रक्षा करती है। भस्म अग्नि का सत्त्व है। भस्म से भाल, दोनों हाथ और छाती पर त्रिपुण्ड्र करना चाहिए। भस्मधारण से सदाशिव की प्राप्ति होती है। त्रिपुण्ड्र की तीन रेखाएँ ब्रह्मा, विष्णु और सदाशिव के रूप हैं।

प्रलयकाल में सदाशिव विश्व का संहार करके जब अपनी आँखें बन्द कर लेते हैं, तब उन आँखों से जो आँसू गिरते हैं, उन्हीं से रुद्राक्ष (रुद्र का अक्ष = रुद्राक्ष) की उत्पत्ति होती है। सिर पर चालीस, शिखा में एक या तीन, दोनों कानों में बारह, गले में बारह, दोनों हाथों पर सोलह-सोलह, कलई पर बारह-बारह और अँगूठों पर छः-छः रुद्राक्ष धारण करने का उपदेश यह उपनिषद् करती है। इस उपनिषद् का अध्ययन करने वाला परमगति को प्राप्त होता है, ऐसी फलश्रुति भी कही गई है।

शान्तिपाठः

ॐ भद्रं कर्णेभिः .... देवहितं यदायुः। (पूर्ववत्)
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

इसका हिन्दी रूपान्तर पूर्व में (अथर्वशिर उपनिषद् में) द्रष्टव्य है।

प्रथमं ब्राह्मणम्

आपो वा इदमासन् सलिलमेव। स प्रजापतिरेकः पुष्करपर्णे समभवत्। तस्यान्तर्मनसि कामः समवर्तत इदं सृजेयमिति। तस्माद्यत्पुरुषो मनसा-ऽभिगच्छति। तद् वाचा वदति। तत्कर्मणा करोति ॥1॥

पहले पानी ही पानी था। बाद एक कमलपत्र पर एक प्रजापति उत्पन्न हुए। उनके भीतर मन में इच्छा हुई कि मैं सर्जन करूँ। इसीलिए (परंपरानुसार) मनुष्य पहले मन में सोचता है, बाद में वाणी से बोलता है और तब बाद में कार्य करता है।

तदेषाभ्यनूक्ता—कामस्तदग्रे समवर्तताभि। मनसो रेतः प्रथमं यदासीत्। सतो बन्धुमसति निरविन्दन्। हृदि प्रतीष्या कवयो मनीषेति। उपैनं तदुपनमति। यत्कामो भवति। य एवं वेद ॥2॥

तो यह बात बाद में कही गई है कि—ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति के पहले काम (अभिलाष) उत्पन्न हुआ था। जो मन का रेतस् (सत्त्व) पहले था वही काम (अभिलाष) है। इस दृश्य जगत् के बन्धु जैसा काम अदृश्य (अचाक्षुष) ब्रह्म में पूर्णता को प्राप्त हुआ। कवि लोग मनीषा से हृदय में अवलोकन करके उस कामी को ब्रह्म के समीप ले जाते हैं (जो स्त्री आदि में कामना रखता है, उसे कवि = ऋषि लोग बुद्धि द्वारा उस परमतत्त्व के पास ले जाते हैं, यह भाव है)। जिसको इस प्रकार का ज्ञान है, वह प्रजापति-पद को प्राप्त करता है।

स तपोऽतप्यत। स तपस्तप्त्वा। स एवं भुसुण्डः कालाग्निरुद्रगमदागत्य भो, विभूतेर्माहात्म्यं ब्रूहीति ॥3॥

उस प्रजापति ने तप (परिश्रम) किया। तप करके जो कौए के आकारवाले विख्यात परमयोगी थे, उनमें वे प्रविष्ट हुए। प्रजापति से आविष्ट हुए भुसण्ड उस कालाग्नि रुद्र के पास गए। वहाँ जाकर उन्होंने कहा—जी! 'विभूति का माहात्म्य कहिए।'

तथेति प्रत्यवोचद्भुसुण्ड वाच्यमानं किमिति ॥4॥
विभूतिरुद्राक्षयोर्माहात्म्यं बभाणेति ॥5॥
आदावेव पैप्पलादेन सहोक्तमिति ॥6॥
तत्फलश्रुतिरिति ॥7॥
तस्योर्ध्वं किं वदामेति ॥8॥
बृहज्जालाभिधां मुक्तिश्रुतिं ममोपदेशं कुरुष्वेति ॥9॥

तब कालाग्निरुद्र भगवान् ने उत्तर दिया—'ठीक है भुसुण्ड! तो मुझे क्या कहना है?' तब भुसुण्ड ने कहा—'विभूति और रुद्राक्ष का माहात्म्य बताइए।' तब कालाग्निरुद्र बोले—'वह तो पैप्पलाद के साथ तुमको पहले ही बताया जा चुका है।' तब भुसुण्ड ने कहा—'अब उसकी फलश्रुति कहिए।' तब कालाग्निरुद्र बोले—'इसके आगे फिर क्या कहा जाए?' तब भुसुण्ड बोले—'बृहज्जाल नाम की मुक्तिश्रुति का मुझे उपदेश दीजिए।'

ॐ तथेति। सद्योजातात्पृथिवी। तस्याः स्यान्निवृत्तिः। तस्याः कपिलवर्णा नन्दा। तद् गोमयेन विभूतिर्जाता ॥10॥
वामदेवादुदकम्। तस्मात्प्रतिष्ठा। तस्याः कृष्णवर्णा भद्रा। तद्गोमयेन भसितं जातम् ॥11॥
अघोराद्वह्निः तस्माद्विद्या। तस्या रक्तवर्णा सुरभिः। तद्गोमयेन भस्म जातम् ॥12॥
तत्पुरुषाद्वायुः। तस्माच्छान्तिः। तस्याः श्वेतवर्णा सुशीला। तस्या गोमयेन क्षारं जातम् ॥13॥
ईशानादाकाशम्। तस्माच्छान्त्यतीता। तस्याश्चित्रवर्णा सुमना। तद्गोमयेन रक्षा जाता ॥14॥
विभूतिर्भसितं भस्म क्षारं रक्षेति भस्मनो भवन्ति पञ्च नामानि। पञ्चभिर्नामभिर्भृशमैश्वर्यकारणाद्भूतिः। भस्म सर्वाघभक्षणात्। भासनाद्भसितम्। क्षारणादापदां क्षारम्। भूतप्रेतपिशाचब्रह्मराक्षसापस्मारभवभीतिभ्योऽभिरक्षणाद्रक्षेति ॥15॥

इति प्रथमं ब्राह्मणम्।

तब कालाग्निरुद्र भगवान् ने कहा—'अच्छा, तो उस सद्योजात प्रजापति से पहले **पृथ्वी** उत्पन्न हुई। उसके सकाश (निकटता) से निवृत्तिनामक कला उत्पन्न हुई। उससे कपिल वर्णवाली नन्दा नाम की गाय उत्पन्न हुई। उसके गोबर से 'विभूति' नाम की भस्म उत्पन्न हुई। वामदेव से **जल** की उत्पत्ति हुई। उससे प्रतिष्ठा नामक कला जन्मी। उससे काले वर्णवाली भद्रा नाम की गाय उत्पन्न हुई और उसके गोबर से 'भसित' नाम की भस्म उत्पन्न हुई। अघोर से **अग्नि** उत्पन्न हुआ, अग्नि से विद्याकला जन्मी। उससे लाल रंग वाली सुरभि गाय उत्पन्न हुई। उसके गोबर से 'भस्म' नाम की भस्म उत्पन्न हुई। तत्पुरुष से **वायु** उत्पन्न हुआ, उससे शान्तिकला जन्मी। उससे श्वेतवर्ण सुशीला गाय उत्पन्न हुई। उसके गोबर से 'क्षार' नाम की भस्म उत्पन्न हुई। ईशान से **आकाश** की उत्पत्ति हुई। उससे शान्त्यतीता कला उत्पन्न हुई। इससे विचित्रवर्ण वाली सुमना नाम की गाय उत्पन्न हुई। उसके गोबर से 'रक्षा' नाम की भस्म उत्पन्न हुई। इस प्रकार विभूति, भसित, भस्म, क्षार, रक्षा—ये पाँच तरह की भस्म होती हैं। इन पाँचों नामों में ऐश्वर्य को भृशम् अर्थात् तुरन्त देने वाली होने से पहली का नाम **'विभूति'** है। सब पापों का भक्षण करने वाली होने से दूसरी का नाम **'भस्म'** रखा गया है। भासक (प्रकाशक) होने से तीसरी का नाम **'भसित'** है। आपत्तियों का क्षरण (नाश) करने वाली होने से चौथी का नाम **'क्षार'** है और भूत-प्रेत-पिशाच-ब्रह्मराक्षस-भवभय-आदि भय से रक्षण करने वाली होने से पाँचवीं नाम **'रक्षा'** रखा है। इस प्रकार पाँच भस्मों के नामों की अन्वर्थकता है।

यहाँ प्रथम ब्राह्मण समाप्त होता है।

❋

द्वितीयं ब्राह्मणम्

अथ भुसुण्डः कालाग्निरुद्रमग्निषोमात्मकं भस्मस्नानविधिं पप्रच्छ ॥1॥

अब भुसुण्ड ने कालाग्निरुद्र से अग्निषोमीय भस्मस्नान की विधि के विषय में पूछा।

अग्निर्यथैको भुवनं प्रविष्टो रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव।
एकं भस्म सर्वभूतान्तरात्मा रूपं रूपं प्रतिरूपो बहिश्च ॥2॥

जिस प्रकार एक ही अग्नि अपने आश्रयभूत पदार्थ के अनुसार तरह-तरह के रूप धारण करता है, ठीक उसी प्रकार भस्म भी व्यष्टि-समष्टिरूप उपाधि से स्वयं एक और सर्वभूतान्तरात्मा - व्यापक - होते हुए ही भाँति-भाँति के आकार धारण करता है।

अग्निषोमात्मकं विश्वमित्यग्निरित्याचक्षते। रौद्री घोरा या तैजसी तनूः।
सोमः शक्त्यमृतमयः शक्तिकरी तनूः ॥3॥

यह विश्व अग्न्यात्मक और सोमात्मक है। इसलिए उसे विश्वासपूर्वक अग्नि कहते हैं। (क्योंकि अग्निषोम कारण है और विश्व उसका कार्य है) उसका एक घोर और तैजस शरीर है और दूसरा शक्तिदायक शरीर है। सोम ही वह शक्ति है। (शरीर के वाम भाग में स्थित इडा शक्ति अमृतमय है)।

अमृतं यत्प्रतिष्ठा सा तेजोविद्याकला स्वयम्।
स्थूलसूक्ष्मेषु भूतेषु स एव रसतेजसी ॥4॥

जिस चन्द्रनाडी में अमृत और प्रतिष्ठा होने से वह नाडी अमृतरूप प्रतिष्ठा है और इससे वह तेजोविद्याकलात्मिका बनती है। वे रस और तेज स्थूल और सूक्ष्म शरीरों में दो प्रकार के बनते हैं।

द्विविधा तेजसो वृत्तिः सूर्यात्मा चानलात्मिका ।
तथैव रसशक्तिश्च सोमात्मा चानलात्मिका ॥5॥

सूर्य और अग्नि के भेद से जिस तरह तेज की वृत्ति दो प्रकार की होती है, उसी प्रकार रसशक्ति भी सोमात्मिका और अनलात्मिका के भेद से दो प्रकार की होती है ।

वैद्युदादिमयं तेजो मधुरादिमयो रसः ।
तेजोरसविभेदैस्तु वृत्तमेतच्चराचरम् ॥6॥

इसमें तेज तो विद्युत् आदि रूप है (अर्थात् दीपक, नक्षत्र आदि मे तेज रहता है) और जो रस है वह मधुर–अम्ल-खट्टा-मीठा आदि होता है । इस प्रकार यह सम्पूर्ण चराचर (स्थावर-जंगम) जगत् तेज और रसों की विविधता से छाया हुआ है ।

अग्नेरमृतनिष्पत्तिरमृतेनाग्निरेधते ।
अत एव हविः क्लृप्तमग्नीषोमात्मकं जगत् ॥7॥

अग्नि से अमृत की निष्पत्ति होती है (नवनीत का घृत - अमृत बनाने के लिए उसे अग्नि पर चढ़ाया जाता है) और अमृत से अग्नि बढ़ता है (अमृतमन्थन में मन्थन क्रिया है और अरणि से अग्नि निकालने में भी मन्थनक्रिया की जाती है—यह दोनों का साम्य है) । मंथन से आविर्भूत उष्ण अग्नि से ही उत्पन्न अमृतविशेष सोम होता है इसलिए अग्निषोमीय हवि निष्पन्न होता है । इसीलिए इस जगत् को 'अग्निषोमीय' जानना चाहिए ।

ऊर्ध्वशक्तिमयः सोम अधःशक्तिमयोऽनलः ।
ताभ्यां सम्पुटितं तस्माच्छश्वद्विश्वमिदं जगत् ॥8॥

सोम ऊर्ध्वशक्तियुक्त है और अग्नि अधःशक्तिमय (नीचे की शक्ति से युक्त) है । ऊपर-नीचे की दोनों शक्तियों से संपुट किया हुआ यह जगत् होता है (शिव के तीसरे नेत्र से चन्द्र ऊपर = ऊर्ध्व है, और उसकी अपेक्षा वह नेत्रानल नीचे है) अथवा तो ऐसा भी अर्थ लिया जा सकता है कि अपने भक्तों को ऊर्ध्वपद की प्राप्ति कराने की शक्ति वाले होने से सोम शिव है और विषयों से कभी सन्तुष्ट नहीं होने वाला जीव अधःशक्तिमय है । इसलिए उन दोनों से - शिव और शक्ति से - अलग यह विश्व संपुटित (कवलित) किया गया है ।

अग्नेरूर्ध्वं भवत्येषा यावत्सौम्यं परामृतम् ।
यावदग्न्यात्मकं सौम्यममृतं विसृजत्यधः ॥9॥

यह शिवशक्ति जबतक अग्नि से ऊपर होती है, वहाँ सोमसम्बन्धी परामृत होता है । वह अग्निसंयुक्त होकर नीचे चरण तक अमृत छोड़ता है तब तक शिवशक्तिसंयोग होता है, यह अर्थ है । (तात्पर्य यह है कि मूलाधारस्थ अग्नि के ऊपर, आज्ञाचक्र और सहस्रार के बीच परामृत सोममंडल है, वह केवलकुंभक से उत्थित अग्नि से युक्त होकर नीचे चरणों तक यह सौम्य - सोमसम्बन्धी अमृत छोड़ता है - तब तक शिवशक्ति का संयोग होता है ।

अत एव हि कालाग्निरधस्ताच्छक्तिरूर्ध्वगा ।
यावदादहनश्चोर्ध्वमधस्तात्पावनं भवेत् ॥10॥

इसीलिए (अग्नीषोमयोग ही शिवशक्तियोग और जीवेशैक्य होने से) नीचे की कालाग्नि नाम की जीवशक्ति ऊर्ध्वगामिनी शक्ति बन सकती है । जहाँ तक शिव-शक्ति की अर्थात् जीव-शिव की एकता

रहती है, वहाँ तक पहले अनुभूत की हुई सभी बातें जल-सी जाती हैं । उस समय पहले अनुभवों का ऊर्ध्व में फिर वाद में बाध होने से वह ऐक्य पावन (ब्रह्मभावापन्न) ही होता है ।

आधारशक्त्यावधृतः कालाग्निरयमूर्ध्वगः ।
तथैव निम्नगः सोमः शिवशक्तिपदास्पदः ॥11॥

मूलाधारशक्ति के द्वारा धारण किया गया (युक्त) यह कालाग्नि जीव अपनी उपाधिरूप शक्ति के अंश को छोड़कर जैसे ऊर्ध्व गतिवाला होता है, वैसे ही शिवशक्ति के स्थान में रहा हुआ सोम मानो नीचे आ रहा हो, ऐसा लगता है । वास्तव में तो निम्न-उन्नत भाव जैसा कुछ है ही नहीं ।

शिवश्चोर्ध्वमयः शक्तिरूर्ध्वशक्तिमयः शिवः ।
तदित्थं शिवशक्तिभ्यां नाव्याप्तमिह किञ्चन ॥12॥

जो शिव है वह ऊर्ध्वस्थानीय शक्ति ही है और जो शक्ति है वह ऊर्ध्वमय शिव ही है । अर्थात् शिव और शक्ति में किसी प्रकार का वास्तविक भेद नहीं है । इस तरह इस जगत् में कुछ भी ऐसा नहीं है, जो कि शिव और शक्ति द्वारा व्याप्त न हो ।

असकृच्चाग्निना दग्धं जगत्तद्भस्मसात्कृतम् ।
अग्नेर्वीर्यमिदं प्राहुस्तद्वीर्यं भस्म यत्ततः ॥13॥

बार-बार शास्त्रीय ज्ञानाग्नि से जलाए गए इस जगत् को जो भस्मसात् किया गया है, इसलिए इस जगत् को अग्नि का वीर्य कहा गया है । और तब तो यह भस्म जगत् का भी वीर्य हो गया क्योंकि जगत् का यदि अस्तित्व ही न होता, तब तो उसे जलाने से होने वाली भस्म का अस्तित्व भी नहीं होता ।

यश्चेत्थं भस्मसद्भावं ज्ञात्वाऽभिस्नाति भस्मना ।
अग्निरित्यादिभिर्मन्त्रैर्दग्धपाशः स उच्यते ॥14॥

जो कोई भी भस्म के इस रहस्य (भस्म की यथाविधि उत्पत्ति) को जान कर 'अग्निरिति भस्म' आदि मन्त्रों के साथ भस्म से स्नान करता है, वह 'दग्धपाश' हो जाता है, उसके पाश (बन्धन) जल गए हैं, ऐसा हो जाता है ।

अग्नेर्वीर्यं च तद्भस्म सोमेणाप्लावितं पुनः ।
अयोगयुक्त्या प्रकृतेरधिकाराय कल्पते ॥15॥

जो अग्नि का वीर्यरूप भस्म है, वह फिर सोम से – शिवशक्ति रूप अमृत जल से – मिश्रीकृत हो गया, ऐसा मालूम होता है । सोम के सिवा कोई प्रकृति या विकृति नहीं होती—इस प्रकार के प्रकृति के अयोग के तर्क से मनुष्य मुख्य भस्म को जानने का अधिकारी बनता है ।

योगयुक्त्या तु तद्भस्म प्लाव्यमानं समन्ततः ।
शाक्तेनामृतवर्षेण ह्यधिकारान्निवर्तते ॥16॥

परन्तु जो मनुष्य शिवशक्ति के अमृत-वर्षण में प्रकृति-विकृति का योग मानता है अर्थात् अभेद के बदले भेद मानकर दोनों का संयोग मानता है, और शिवशक्ति की वृष्टि से भस्म को चारों ओर से आप्लावित होता हुआ मानता है, वह मनुष्य मुख्य भस्म को जानने के अधिकार से वंचित ही रह जाता है ।

अतो मृत्युञ्जयायेत्थममृतप्लावनं सताम्।
शिवशक्त्यमृतस्पर्शे लब्ध एव कुतो मृतिः ॥17॥

योग युक्ति से संसारित्व होता है इसलिए इस मृत्युंजय परमात्मा के लिए जो इस प्रकार का अमृत निमज्जन (शिव के सिवा शक्ति है ही नहीं—ऐसा ज्ञानसमर्पण) करते हैं, ऐसे सत्पुरुषों को शिव-शक्ति का अमृतस्पर्श हो ही गया है तो फिर उनकी मृत्यु कैसे हो सकती है ? अर्थात् नहीं हो सकती।

यो वेद गहनं गुह्यं पावनं च ततोदितम्।
अग्नीषोमपुटं कृत्वा न स भूयोऽभिजायते ॥18॥

जो मनुष्य इस दुर्गम और गोपनीय एवं पावन सदोदित अग्नीषोमीय पुट करके अर्थात् प्रत्यक्तत्त्व और परमतत्त्व का ऐक्य करके इसको जान लेता है, वह फिर से नहीं जन्मता अर्थात् मुक्त हो जाता है।

शिवाग्निना तनुं दग्ध्वा शक्तिसोमामृतेन यः।
प्लावयेद् योगमार्गेण सोऽमृतत्वाय कल्पते ॥ सोऽमृतत्वाय कल्पते ॥19॥

इति द्वितीयं ब्राह्मणम्।

परमात्मारूप अग्नि में जो अपने शरीर को (अज्ञान को) जलाकर के जो मनुष्य (योगी) शक्तिरूपी सोमामृत से योगमार्ग द्वारा निमज्जित कर देता है वह अमृतत्व को (कैवल्य को) प्राप्त करने वाला हो जाता है। वाक्य का दुहराना ब्राह्मण की समाप्ति सूचित करता है।

यहाँ पर दूसरा ब्राह्मण पूरा हुआ।

❋

तृतीयं ब्राह्मणम्

अथ भुसुण्डः कालाग्निरुद्रं विभूतियोगमनुब्रूहीति होवाच ॥1॥

अब भुसुण्ड ने फिर से कालाग्निरुद्र से कहा कि अब विभूतियोग के विषय में कहिए।

विकटाङ्गामुन्मत्तां महाखलामशिवादिचिह्नान्वितां पुनर्धेनुं कृशाङ्गां वत्सहीनामशान्तामदुग्धदोहिनीं निरिन्द्रियां जग्धतृणां केशचेलास्थि-भक्षिणीं सन्धिनीं नवप्रसूतां रोगार्तां गां विहाय प्रशस्तगोमयमाहरेद् गोमयं खसंस्थं ग्राह्यं शुभे स्थाने वा पतितमपरित्यज्यात ऊर्ध्वं मर्दयेद् गव्येन। गोमयग्रहणं कपिला धवला वा। अलाभे तदन्या गौः स्याद्दोषवर्जिता। कपिलागोभस्मोक्तम्। लब्धगोभस्मना चेदन्यगोक्षारं यत्र क्वापि स्थितं यत्तन्न हि धार्यं संस्काररहितं धार्यम् ॥2॥

जो गाय कुरूप हो, पागल हो, दुष्ट (शरारती) हो, अमंगल चिह्नवाली हो, दुबली-पतली हो, जिसका बछड़ा न हो, चञ्चल हो, जिसका दूध न निकलता हो, इन्द्रियों की जिसमें क्षति हो, खा-पी चुकी हो (वृद्ध हो गई हो), बाल-चीथडे-हड्डियाँ आदि खाती हो, कामार्ता हो, नवप्रसूता हो, रोग से पीड़ित हो—ऐसी गाय को छोड़कर, प्रशस्त (विशुद्ध) गाय का गोमय लेना चाहिए। वह गोमय भी कहीं अन्तराल में और किसी अच्छे स्थान में पड़ा हो, ऐसा होना चाहिए, अर्थात् पवित्र गोबर का ही

ग्रहण करना चाहिए। उसके बाद, उस गव्य का मर्दन करना चाहिए। यदि हो सके तो कपिला या श्वेत गाय का गोमय ग्रहण करना चाहिए। और यदि वह न मिले तो इसके स्थान पर अन्य (पूर्वोक्त दोषों से रहित) गाय का गोमय ग्रहण करना चाहिए। कपिलादि गोमय की भस्म का विधान तो प्रशस्ति के लिए किया गया है। प्राप्य गोभस्म से काम चल सकता है, परन्तु जहाँ-जहाँ पड़े हुए असंस्कृत गोमय (गोबर) की भस्म ग्रहण नहीं करनी चाहिए।

तत्रैते श्लोका भवन्ति—
विद्याशक्तिः समस्तानां शक्तिरित्यभिधीयते।
गुणत्रयाश्रया विद्या सा विद्या च तदाश्रया ॥3॥

उन शक्तियों में विद्याशक्ति ही सबकी सही रूप में शक्ति कही जाती है। वह तीन गुणों का आश्रय-स्थान है और विद्या वही है जो तीनों गुणों से युक्त हो। ऐसे परस्पराश्रय भाव दोनों में है।

गुणत्रयमिदं धेनुर्विद्याऽभूद् गोमयं शुभम्।
मूत्रं चोपनिषत्प्रोक्तं कुर्याद्भस्म ततः परम् ॥4॥

ये गुणत्रय ही धेनु है और शुभ गोमय विद्यारूप है। गोमूत्र को उपनिषत् कहा गया है (इस प्रकार धेनु, गोमय और गोमूत्र में गुणत्रय, विद्या और उपनिषद् की दृष्टि करनी चाहिए। और बाद में उसकी भस्म करनी चाहिए।

वत्सस्तु स्मृतयश्चास्यास्तत्सम्भूतं तु गोमयम्।
आगाव इति मन्त्रेण धेनुं तत्राभिमन्त्रयेत् ॥5॥

तीन गुणों से विशिष्ट इस गाय का बछड़ा इसका स्मृतिसमूह है। इससे जो गोमय उत्पन्न होता है, उस गोमय से भस्म बनानी चाहिए। बाद में 'आगावो अगमन्नुत भद्रमकन्'—इस मन्त्र से गाय को अभिमन्त्रित करके—

गावो भगो गाव इति प्राशयेत् तत्तृणं जलम्।
उपोष्य च चतुर्दश्यां शुक्ले कृष्णेऽथवा व्रती ॥6॥

बाद में 'गावो भगो गाव इन्द्रो मे अगच्छत्'—इस मन्त्र से गाय को चारा-पानी देकर श्रौतभस्मव्रती को शुक्ल या कृष्ण पक्ष की चतुर्दशी को उपवास करना चाहिए। बाद में—

परेद्युः प्रातरुत्थाय शुचिर्भूत्वा समाहितः।
कृतस्नानो धौतवस्त्रः पयोर्ध्वं च सृजेच्च गाम् ॥7॥

दूसरे दिन सुबह में उठकर शौचादि क्रियाएँ करके शान्त चित्त से स्नान करके, धुले हुए कपड़े पहनकर गाय को दुहने के बाद उसे भस्मोत्पादन का निमित्त (कारण) बनाना चाहिए।

उत्थाप्य गां प्रयत्नेन गायत्र्या मूत्रमाहरेत्।
सौवर्णे राजते ताम्रे धारयेन्मृण्मये घटे ॥8॥
पौष्करेऽथ पलाशे वा पात्रे गोशृंग एव वा।
आददीत हि गोमूत्रं गन्धद्वारेति गोमयम् ॥9॥

बाद में गाय को प्रयत्नपूर्वक उठाकर गायत्रीमन्त्र बोलते हुए मूत्र का ग्रहण करना चाहिए। वह

मूत्र सोने के, चाँदी के, ताँबे के, अथवा मिट्टी के घड़े में या कमलपत्र में या पलाशपत्र में अथवा गाय के सींग से बनाए गए पात्र में रखना चाहिए और 'गन्धद्वाराम्' इस मन्त्र को बोलते हुए गोमय का ग्रहण करना चाहिए।

आभूमिपातं गृह्णीयात् पात्रे पूर्वोदिते गृही ।
गोमयं शोधयेद्विद्वान् श्रीर्मे भवतु मन्त्रतः ॥10॥

बाद में, वह गृहस्थ भूमि पर पड़े हुए उस गोबर को पहले बताए गए पात्र में लेकर तत्पश्चात् 'श्रीर्मे भवतु···' इत्यादि मन्त्र से गोमय का शोधन करे।

अलक्ष्मीर्म इति मन्त्रेण गोमयं धान्यवर्जितम् ।
सं त्वा सिञ्चामि मन्त्रेण गोमूत्रं गोमये क्षिपेत् ॥11॥

बाद में, 'श्रीर्मे भवतु अलक्ष्मीर्मे नश्यतु' इस मन्त्र से धान्यरहित उस गोमय का संशोधन करके, 'सं त्वा सिञ्चामि···' यह मन्त्र पढ़ते हुए गोमय में गोमूत्र डालना चाहिए।

पञ्चानां त्विति मन्त्रेण पिण्डानां च चतुर्दश ।
कुर्यात्संशोध्य किरणैः सौरिकैराहरेत्ततः ॥12॥

इसके बाद, 'पञ्चानां त्वा वातानां यन्त्राय धर्त्राय गृह्णामि'—इस मन्त्र से उस गोमय के चौदह पिण्ड बनाकर उन्हें सूर्य की किरणों से शुष्क कर फिर इकट्ठा करके एक जगह पर लाना चाहिए।

निदध्यादथ पूर्वोक्तपात्रे गोमयपिण्डकान् ।
स्वगृह्योक्तविधानेन प्रतिष्ठाप्याग्निमीजयेत् ॥13॥

फिर एकत्र किए गए उन गोमय के पिण्डों को पहले बताए गए पात्र में रखना चाहिए। इसके बाद अपने-अपने गृह्यसूत्रों में बताए गए विधि-विधान के अनुसार अग्नि का प्रतिष्ठापन करना चाहिए।

पिण्डांश्च निक्षिपेत्तत्र आद्यन्तं प्रणवेन तु ।
षडक्षरस्य सूक्त(त्र)स्य व्याकृतस्य तथाक्षरैः ॥14॥
स्वाहान्ते जुहुयात्तत्र वर्णदेवाय पिण्डकान् ।
आधारावाज्यभागौ च प्रक्षिपेद् व्याहृतीः सुधीः ॥15॥

तत्पश्चात्, आदि और अन्त में प्रणव (ॐकार) का उच्चारण करते हुए, षडक्षर मन्त्र के अक्षरों का पृथक्करणपूर्वक स्पष्ट उच्चारण करते हुए और मन्त्र के अन्त में 'स्वाहा' बोलते हुए उस-उस वर्ण के देव को पिण्डों की आहुतियाँ देनी चाहिए। और अच्छी बुद्धि वाले अनुष्ठानकर्त्ता को इसके बाद मूक रहकर व्याहृतियों के साथ, 'अग्नये स्वाहा' 'सोमाय स्वाहा' इस प्रकार की आहुतियाँ देनी चाहिए। (इस षडक्षर सूक्त (सूत्र) के हर एक वर्ण के अधिष्ठाता देव पञ्चब्रह्म और परब्रह्म मिलकर छः होते हैं)।

ततो निधनपतये त्रयोविंशज्जुहोति च ।
होतव्याः पञ्च ब्रह्माणि नमो हिरण्यबाहवे ॥16॥

इसके बाद, 'निधनपतये नमः'—आदि तेईस मन्त्रों से तेईस आहुतियाँ देनी चाहिए और इसके बाद, 'नमो हिरण्यबाहवे' इस पंच ब्रह्ममन्त्र से पाँच आहुतियाँ देनी चाहिए।

इति सर्वाहुतीर्हुत्वा चतुर्थ्यन्तैश्च मन्त्रकैः ।
ऋतं सत्यं कद्रुद्राय यस्य कैकंकतीति च ॥17॥

इस प्रकार चतुर्थी विभक्ति के अन्तवाले मन्त्रों के द्वारा सभी आहुतियाँ देनी चाहिए। इसके बाद, 'ऋतं सत्यं परं ब्रह्म' इस मन्त्र से और 'कद्रुद्राय प्रचेतसे मीढुष्टमाय तव्यसे'—इन दो मन्त्रों से तथा 'कैकंकती' आदि मन्त्रों से भी आहुतियाँ देनी चाहिए।

एतैश्च जुहुयाद् विद्वाननाज्ञातत्रयं तथा ।
व्याहृतीरथ हुत्वा च ततः स्विष्टकृतं हुनेत् ॥18॥

इसके बाद उस विद्वान् को तीन बार व्याहृति सहित 'अनाज्ञात' मन्त्रों की आहुतियाँ देनी चाहिए। और फिर स्विष्टकृत् तथा पूर्णाहुति का विधिपूर्वक होम करना चाहिए।

इध्मशेषं नु निर्वर्त्य पूर्णपात्रोदकं तथा ।
पूर्णमसीति यजुषा जलेनान्येन बृंहयेत् ॥19॥

तदनन्तर शेष बची हुई समिधा को पूरा करके, 'पूर्णमसि' इस यजुर्वेद के मंत्र से पात्र को जल से भरकर अन्य जल से मार्जन करना चाहिए। अन्य जल से उसे मिश्रित करके उच्चारणपूर्वक मार्जन करे।

ब्राह्मणेष्वमृतमिति तज्जलं शिरसि क्षिपेत् ।
प्राच्यामिति दिशं लङ्घैर्दिक्षु तोयं विनिक्षिपेत् ॥20॥

इसके पश्चात् 'ब्राह्मणेष्वमृतम्०' इत्यादि मन्त्र बोलते हुए उस जल को मस्तक पर डालना चाहिए। और 'प्राच्यां दिशि देवा:०' इत्यादि मन्त्र से उसे चारों दिशाओं में छिड़क देना चाहिए।

ब्रह्मणे दक्षिणां दत्त्वा शान्त्यै पुलकमाहरेत् ।
आहरिष्यामि देवानां सर्वेषां कर्मगुप्तये ॥21॥

तदनन्तर ब्राह्मण को दक्षिणा देकर, इस कर्म की रक्षा के लिए सब देवों के लिए शान्ति प्राप्त करने के लिए पुलक (एक प्रकार का पेय) तथा घास आदि लाना चाहिए।

जातवेदसमेतं त्वां पुलकैश्छादयाम्यहम् ।
मन्त्रेणानेन तं वह्निं पुलकैश्छादयेत्ततः ॥22॥

बाद में 'जातवेदसं त्वां पुलकैश्छादयामि'—इस मन्त्र के द्वारा उस अग्नि को पुलकों से (घास आदि पदार्थों से) आच्छादित कर देना चाहिए।

त्रिदिनं ज्वलनस्थित्यै छादनं पुलकैः स्मृतम् ।
ब्राह्मणान्भोजयेद्भक्त्या स्वयं भुञ्जीत वाग्यतः ॥23॥

अग्नि को घास से आच्छादित करने को इसलिए कहा गया है कि उसके भीतर की आग तीन दिनों तक जलती ही रहनी चाहिए। बाद में ब्राह्मणों को श्रद्धापूर्वक भोजन करवाना चाहिए और उसके बाद ही स्वयं भोजन करना चाहिए।

भस्माधिक्यमभीप्सुस्तु अधिकं गोमयं हरेत् ।
दिनत्रयेण यदि वा एकस्मिन्दिवसेऽथवा ॥24॥
तृतीये वा चतुर्थे वा प्रातः स्नात्वा सिताम्बरः ।
शुक्लयज्ञोपवीती च शुक्लमाल्यानुलेपनः ॥25॥

शुक्लदन्तो भस्मदिग्धो मन्त्रेणानेन मन्त्रवित् ।
ॐ तद् ब्रह्मेति चोच्चार्य, पौलकं भस्म सन्त्यजेत् ॥26॥

ज्यादा भस्म की इच्छा करने वाले को ज्यादा गोमय लाना चाहिए। वह तीन दिनों में या एक दिन में लाया जाना चाहिए। अनुष्ठान पूरा होने के बाद, तीसरे या चौथे दिन नित्यानुष्ठान सम्पन्न होने के बाद, प्रातःकाल में स्नान करके, सफेद वस्त्र धारण कर, सफेद यज्ञोपवीत पहनकर, सफेद माला धारण कर, सफेद चन्दन का शरीर पर लेप करके, भस्म लगाकर, मन्त्र को जानने वाले को 'ॐ ब्रह्म' इस मन्त्र को बोलकर भस्म इकट्ठा कर लेनी चाहिए। परन्तु उसमें जो आच्छादन किए हुए घास की भस्म हो, उसे छोड़ देना चाहिए।

तत्र चावाहनमुखानुपचारांश्च षोडश ।
कर्तव्या व्याहृतास्त्वेवं ततोऽग्निमुपसंहरेत् ॥27॥

वहाँ फिर शिवावाहन करके उनकी षोडशोपचार पूजा करने का विधान है। पूजा होने के बाद अग्नि का शमन करना चाहिए। यह श्रौतभस्म की आविर्भाव विधि है।

अग्निर्भस्मेति मन्त्रेण गृह्णीयाद्भस्म चोत्तरम् ।
अग्निरित्यादिमन्त्रेण प्रयुज्य च ततः परम् ॥28॥

'अग्नेर्भस्मास्यग्नेः पुरीषमसि'—इस मन्त्र के द्वारा उन चौदह भस्मपिण्डों को ग्रहण करके इसके बाद, 'अग्निरिति भस्म०' इत्यादि मन्त्र द्वारा अच्छी तरह समेट कर—

संयोज्य गन्धसलिलैः कपिलामूत्रकेण वा ।
चन्द्रकुङ्कुमकाश्मीरमुशीरं चन्दनं तथा ॥29॥
अगुरुत्रितयं चैव चूर्णयित्वा तु सूक्ष्मतः ।
क्षिपेद्भस्मनि तच्चूर्णमोमिति ब्रह्ममन्त्रतः ॥30॥
प्रणवेनाहरेद्विद्वान् ब्रह्मतो वटकानथ ।
अणोरणीयानिति हि मन्त्रेण विचक्षणः ॥31॥

उसमें सुगन्धित जल या कपिला गाय का मूत्र डालकर और चन्द्रकुंकुम, केसर, कुसुम चन्दन, तीन प्रकार का अगुरु—इत्यादि पदार्थों का बारीक चूर्ण बनाकर, वह चूर्ण उस भस्म में मिलाना चाहिए। और बाद में 'ओमिति ब्रह्म' और 'अणोरणीयान्' इन दो मन्त्रों के द्वारा गोले बनाकर यथासंभव पात्रों में रखकर उस विद्वान् को सर्वदा उसकी पूजा करनी चाहिए।

इत्थं भस्म सुसम्पाद्य शुष्कमादाय मन्त्रवित् ।
प्रणवेन विमृज्याथ सप्तप्रणवमन्त्रितम् ॥32॥
ईशानेति शिरोदेशं मुखं तत्पुरुषेण तु ।
ऊरुदेशमघोरेण गुह्यं वामेन मन्त्रयेत् ॥33॥
सद्योजातेन वै पादान् सर्वाङ्गं प्रणवेन तु ।
तत उद्धूल्य सर्वाङ्गमापादतलमस्तकम् ॥34॥
आचम्य वसनं धौतं ततश्चैतत्प्रधारयेत् ।
पुनराचम्य कर्म स्वं कर्तुमर्हसि सत्तमः ॥35॥

इस तरह भस्म को प्राप्त करके उसे सुखाकर, वह मन्त्रज्ञ पुरुष उसे बाएँ हाथ में रखकर दाहिने हाथ से पेषण करके (मलते हुए) प्रणवमन्त्र बोलते जाना चाहिए। इस प्रकार सात बार मन्त्र सहित उसे मलना चाहिए। इस तरह सात बार अभिमन्त्रित उस भस्म को 'ईशानः सर्वविद्यानाम्' इत्यादि पाँच ब्रह्ममन्त्रों के द्वारा मस्तक, मुख, ऊरु, गुह्यांग और पैरों पर तथा शेष अंगों पर लगाकर, आचमन करके सर्वदा नित्यकर्म करना चाहिए। वे पाँच मन्त्र—ईशान, तत्पुरुष, अघोर, वाम और सद्योजात हैं। 'ईशानः सर्वविद्यानां' इस मन्त्र से मस्तक पर, 'तत्पुरुष' मन्त्र से मुख पर, 'अघोर' मन्त्र से ऊरुदेश पर, 'वाम' मन्त्र से गुह्यांग पर अभिमन्त्रित करना चाहिए। 'सद्योजात' मन्त्र से चरणों पर और ओंकार से सर्वांग में (चरणों से लेकर मस्तकपर्यन्त) लगाना चाहिए। बाद में आचमन करके श्वेत वस्त्र पहनकर पुनः आचमन करके बाद में नित्य अनुष्ठेय कर्म करना चाहिए।

अथ चतुर्विधं भस्मकल्पम्। प्रथममनुकल्पम्। द्वितीयमुपकल्पम्। उपोपकल्पं तृतीयम्। अकल्पं चतुर्थम् ॥36॥
अग्निहोत्रसमुद्भूतं विरजानलजमनुकल्पम्। वने शुष्कं शकृत् संगृह्य कल्पोक्तविधिना कल्पितमुपकल्पं स्यात्। अरण्ये शुष्कगोमयं चूर्णीकृत्यानुसंगृह्य गोमूत्रैः पिण्डीकृत्य कल्पोक्तविधिना कल्पितमुपोपकल्पम्। शिवालयस्थमकल्पं शतकल्पं च ॥37॥
इत्थं चतुर्विधं भस्म सर्वपापं निकृन्तयेन्मोक्षं ददातीति भगवान् कालाग्निरुद्रः ॥38॥

इति तृतीयं ब्राह्मणम् ।

यह भस्म चार प्रकार से कल्पित किया जाता है (भस्म के चार कल्पन हैं); वे इस प्रकार हैं—पहला प्रकार अनुकल्प कहलाता है, दूसरा उपकल्प कहा जाता है, तीसरा उपोपकल्पन है और चौथा अकल्प है। इनमें जो विरजा होम की अग्नि के अग्निहोत्र से उत्पन्न किया जाता है वह 'अनुकल्प' है। और वन में गोबर का संग्रह करके उससे कल्पग्रन्थों में बताई गई विधि के अनुसार जो भस्म तैयार की जाती है उसे 'उपकल्प' कहते हैं। वन में सूखकर पड़े हुए गोबर को इकट्ठा कर उसका चूर्ण बनाकर गोमूत्र से उसके पिण्ड बनाकर बाद में कल्पग्रन्थों में बताई गई विधि के अनुसार जो भस्म तैयार की जाती है, उसे 'उपोपकल्पन' कहा जाता है। शिवालय में रखी गई भस्म को 'अकल्प' या शतकल्प कहते हैं। इस प्रकार चार प्रकार की भस्म होती हैं, जो सर्वपापों को दूर करती है और मोक्ष प्रदान करती है, ऐसा भगवान् कालाग्निरुद्र ने कहा है।

यहाँ तीसरा ब्राह्मण समाप्त हुआ।

❄

चतुर्थं ब्राह्मणम्

अथ भुसुण्डः कालाग्निरुद्रं भस्मस्नानविधिं ब्रूहीति होवाच ॥1॥

अब भुसुण्ड ने कालाग्निरुद्र से कहा—अब भस्मस्नान की विधि बताइए।

अथ प्रणवेन विमृज्याथ सप्तप्रणवेनाभिमन्त्रितमागमेन तु तेनैव दिग्बन्धनं कारयेत्। पुनरपि तेनास्त्रमन्त्रेणाङ्गानि मूर्धादीन्युद्धूलयेन्मलस्नानमिदम् ॥2॥

प्रातः स्नान के बाद प्रणवमन्त्र से मले हुए सात प्रणवमन्त्रों के द्वारा अभिमन्त्रित भस्म को आगम में बताए गए पंचाक्षर मन्त्र से भी अभिमन्त्रित कर लेना चाहिए। और उसी भस्म से दिग्बन्धन करना चाहिए। और फिर से उसी पंचाक्षरास्त्र मन्त्र के द्वारा सिर से लेकर सभी अंगों पर लगाना चाहिए। इस प्रकार किए गए भस्मस्नान को 'मलस्नान' कहा जाता है।

ईशाद्यैः पञ्चभिर्मन्त्रैः तनुं क्रमादुद्धूलयेत्। ईशानेति शिरोदेशं मुखं तत्पुरुषेण तु। ऊरुदेशमघोरेण गुह्यं वामेन। सद्योजातेन वै पादौ सर्वाङ्गं प्रणवेन। आपादमस्तकं सर्वाङ्गं तत उद्धूल्याचम्य वसनं धौतं श्वेतं प्रधारयेद् विधिस्नानमिदम् ॥3॥

पहले कहे गए अनुसार 'ईशानः सर्वभूतानाम्' इत्यादि पाँच मन्त्रों के द्वारा क्रमशः भस्म लगानी चाहिए। 'ईशानः सर्वभूतानाम्' इस मन्त्र के द्वारा मस्तक पर, तत्पुरुष मन्त्र के द्वारा मुख पर, अघोरमन्त्र के द्वारा ऊरुदेश पर, वाममन्त्र के द्वारा गुह्यांग पर, सद्योजातमन्त्र के द्वारा दोनों पैरों पर और ॐकार के द्वारा मस्तक से लेकर चरणों तक सारे शरीर में भस्म लगानी चाहिए। बाद में आचमन करना चाहिए और श्वेत वस्त्र धारण करना चाहिए। इस प्रकार किए गए भस्म-स्नान को विधिस्नान कहा जाता है (यह पहले कहा जा चुका है)।

तत्र श्लोका भवन्ति–
भस्ममुष्टिं समादाय संहितामन्त्रमन्त्रिताम्।
मस्तकात्पादपर्यन्तं मलस्नानं पुरोदितम् ॥4॥

वहाँ ये श्लोक हैं—संहिता के मन्त्रों द्वारा अभिमन्त्रित भस्म को मुट्ठी में भरकर लाने के पश्चात् उससे सिर से लेकर पैरों तक जो स्नान किया जाता है, उसे 'मलस्नान' कहते हैं।

तन्मन्त्रेणैव कर्त्तव्यं विधिस्नानं समाचरेत्।
ईशाने पञ्चधा भस्म विकिरेन्मूर्ध्नि यत्नतः ॥5॥

संहिता के उन्हीं मन्त्रों के द्वारा विधिस्नान भी करना चाहिए। वे मन्त्र, 'ईशानः सर्वभूतानाम्' आदि पाँच पहले बताए जा चुके हैं। ईशानादि मन्त्रों से मस्तकादि अंगों में लगाने की विधिस्नान की रीति पहले बताई गई है।

मुखे चतुर्थवक्त्रेण अघोरेणाष्टधा हृदि।
वामेन गुह्यदेशे तु त्रिदशस्थानभेदतः ॥6॥

चतुर्थवक्त्र अर्थात् तत्पुरुष मन्त्र के द्वारा मुख पर सात बार भस्म छिड़कनी चाहिए। हृदय में अघोर मन्त्रों के द्वारा आठ बार छिड़कनी चाहिए। गुह्यांग एवं नाभिदेश पर वामदेव मन्त्र के द्वारा नौ बार छिड़कनी (लगानी) चाहिए। तथा उस-उस अंग में—हाथ आदि में प्रतिष्ठित प्रतिनिधि देवताओं के स्थान-भेद के अनुसार भस्म लगानी चाहिए।

अष्टावङ्गेन साध्येन पादावुद्धूल्य यत्नतः।
ससर्वाङ्गोद्धूलनं कार्यं राजन्यस्य यथाविधि।
मुखं विना च तत्सर्वमुद्धूल्य क्रमयोगतः ॥7॥

छाती आदि आठ अंग हैं, उन अंगों से हृदय आदि साध्य से अर्थात् अपने इच्छित साध्य के नाम

के अक्षरों से दोनों पैरों में भस्म अच्छी तरह से लगाकर, बाद में अन्य सभी अंगों पर विधिपूर्वक भस्म लगानी चाहिए। यह विधि ब्राह्मण के लिए है। क्षत्रिय के लिए यह विधि है कि तत्पुरुष स्थानीय मुख को छोड़ देना चाहिए। बाकी की विधि तो पूर्ववत् ही (ब्राह्मण की विधि की तरह क्रमशः) है।

सन्ध्याद्वये निशीथे च तथा पूर्वावसानयोः।
सुप्त्वा मुक्त्वा पयः पीत्वा कृत्वा चावश्यकादिकम् ॥8॥
स्त्रियं नपुंसकं गृध्रं बिडालं बकमूषिकम्।
स्पृष्ट्वा तथाविधानन्यान्भस्मस्नानं समाचरेत् ॥9॥

अब यह भस्मस्नान कब करना चाहिए ? इस पर कहते हैं—दोनों सन्ध्याओं के समय—प्रातः और मध्याह्न, सन्ध्या के पहले और बाद में, सोकर उठने के बाद, शौचादि क्रिया के बाद, दूध पीने के बाद, नित्यकर्मानुष्ठान करने के बाद, किसी स्त्री, नपुंसक, गीध, बिडाल, बगुले और चूहे को स्पर्श करने के बाद और अन्य ऐसे प्राणियों के स्पर्श करने के बाद भस्मस्नान कर लेना चाहिए।

देवाग्निगुरुवृद्धानां समीपेऽन्त्यजदर्शने।
अशुद्धभूतले मार्गे कुर्यान्नोद्धूलनं व्रती ॥10॥

व्रतधारी मनुष्य को चाहिए कि वह देव, अग्नि, गुरुओं और वृद्धों के सामने, अथवा कोई अन्त्यज देखता हो तब एवं अपवित्र स्थान में और रास्ते के बीच कभी भस्मस्नान न करे।

शङ्खतोयेन मूलेन भस्मना मिश्रणं भवेत्।
योजितं चन्दनेनैव वारिणा भस्म संयुतम् ॥11॥
चन्दनेन समालिम्पेज्ज्ञानदं चूर्णमेव तत्।
मध्याह्नात्प्राग्जलैर्युक्तं तोयं तदनु वर्जयेत् ॥12॥

यदि कोई ज्ञानार्थी हो तो केवल भस्म धारण के बदले उस भस्म को मूल मन्त्र से अभिमन्त्रित कर शंख के पानी से मिश्रित करके ही धारण करना चाहिए। उस शंख के पानी में चन्दन मिला करके ऐसी भस्म लगानी चाहिए। वह चन्दनमिश्रित पानीयुक्त चूर्ण ज्ञानदायक है और मध्याह्न होने से पहले ही वह लगा लेना चाहिए। लगाने के बाद जो पानी बाकी बचा हो, उसे छोड़ देना चाहिए।

अथ भुसुण्डो भगवन्तं कालाग्निरुद्रं त्रिपुण्ड्रविधिं पप्रच्छ ॥13॥

अब भुसुण्ड ने भगवान् कालाग्नि से त्रिपुण्ड्रविधि के बारे में पूछा—

तत्रैते श्लोका भवन्ति–
त्रिपुण्ड्रं कारयेत्पश्चाद् ब्रह्मविष्णुशिवात्मकम्।
मध्याङ्गुलिभिरादाय तिसृभिर्मूलमन्त्रतः ॥14॥

इस विषय में ये श्लोक हैं—इसके बाद मूल मन्त्र बोलते हुए हाथ के मध्य की तीन अँगुलियों से भस्म लेकर ब्रह्मा, विष्णु और महेश-स्वरूप त्रिपुण्ड्र करना चाहिए।

अनामामध्यमाङ्गुष्ठैरथवा स्यात्त्रिपुण्ड्रकम्।
उद्धूलयेन्मुखं विप्रः क्षत्रियस्तच्छिरोदितम् ॥15॥

अथवा अनामिका, मध्यमा और अंगुष्ठ—इन तीनों के द्वारा भी त्रिपुण्ड्र हो सकता है। ब्राह्मण प्रथम भस्म को मुख पर और क्षत्रिय उसे प्रथम मस्तक पर लगाए, ऐसा कहा गया है।

द्वात्रिंशत्स्थानके चार्धं षोडशस्थानकेऽपि वा ।
अष्टस्थाने तथा चैव पञ्चस्थानेऽपि योजयेत् ॥16॥

वह त्रिपुण्ड्र बत्तीस स्थानों पर करना चाहिए अथवा उससे आधे अर्थात् सोलह स्थानों पर करना चाहिए। अथवा इससे भी कम आठ स्थानों पर लगाना चाहिए अथवा पाँच स्थानों पर भी वह लगाया जा सकता है।

उत्तमाङ्गे ललाटे च कर्णयोर्नेत्रयोस्तथा ।
नासावक्त्रे गले चैवमंसद्वयमतः परम् ॥17॥
कूर्परे मणिबन्धे च हृदये पार्श्वयोर्द्वयोः ।
नाभौ गुह्यद्वये चैवमूर्वोः स्फिग्बिम्बजानुनी ॥18॥
जङ्घाद्वये च पादौ च द्वात्रिंशत्स्थानमुत्तमम् ।

मस्तक, ललाट, दो कान, दो नेत्र, दो नासिकाएँ, मुख, गला, दो कन्धे, दो कुहनियाँ, दो मणिबन्ध, हृदय, दो पार्श्व, नाभि, गुदा, उपस्थ, दो ऊरु, दो नितम्ब, दो जानु, दो जांघें और दो पैर—ये बत्तीस अच्छे स्थान हैं।

अष्टमूर्त्यष्टविद्येशान् दिक्पालान्वसुभिः सह ॥19॥
धरो ध्रुवश्च सोमश्च कृपश्चैवानिलोऽनलः ।
प्रत्यूषश्च प्रकाशश्च वसवोऽष्टावितीरिताः ॥20॥

शिखण्डी-श्रीकण्ठ आदि आठ मूर्तियाँ, सत्या-ईशा आदि आठ विद्याएँ, शिव-उत्तमादि शैवागमों में प्रसिद्ध उनके ईश, धरादि आठ वसु, और इन्द्रादि दिक्पाल हैं—ये उनकी अधिष्ठाता देवताएँ हैं। इनमें आठ वसु ये हैं—धर, ध्रुव, सोम, कृप, अनिल, अनल, प्रत्यूष और प्रकाश।

एतेषां नाममात्रेण त्रिपुण्ड्रं धारयेद्बुधः ।
विदध्यात्षोडशस्थाने त्रिपुण्ड्रं तु समाहितः ॥21॥

इन बत्तीस स्थानों में तत्तत् स्थानीय देवताओं का नाम ले-लेकर उन-उन स्थलों पर ज्ञानी मनुष्य को त्रिपुण्ड्र करना चाहिए। और अब सोलह स्थानों को स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि स्वस्थ मनवाला पुरुष जब सोलह स्थानों में त्रिपुण्ड्र करता है वह 'समाहित' कहा जाता है।

शीर्षके च ललाटे च कण्ठे चांसद्वये तथा ।
कूर्परे मणिबन्धे च हृदये नाभिपार्श्वयोः ॥22॥
पृष्ठे चैकं प्रतिष्ठानं जपेत्तत्राधिदेवताः ।
शिवशक्तिं च सादाख्यमीशं विद्याऽऽख्यमेव च ॥23॥
वामादिनवशक्तीश्च एते षोडश देवताः ।
नासत्यो दस्रकश्चैव अश्विनौ द्वौ समीरितौ ॥24॥

अब उन सोलह स्थानों को स्पष्ट किया जा रहा है—मस्तक, ललाट, कण्ठ, दो कन्धे, दो कुहनियाँ, मणिबन्ध, हृदय, नाभि, दो पार्श्व, पृष्ठभाग और पैर—इन सोलह स्थानों में तत्तत्स्थानीय अधिदेवताओं का स्मरण करते हुए त्रिपुण्ड्र करना चाहिए। वे देव हैं—शिव-शक्ति, सादाख्य ईश और विद्या नामक देवता, वाम आदि नव शक्तियाँ, नासत्य, दस्त्र और दो अश्विन्—ऐसे कहे गए हैं।

अथवा मूर्ध्न्यलीके च कर्णयोः श्वसने तथा ।
बाहुद्वये च हृदये नाभ्यामूर्वोर्युगे तथा ॥25॥
जानुद्वये च पदयोः पृष्ठभागे च षोडश ।
शिवश्चेन्द्रश्च रुद्रार्कौ विघ्नेशो विष्णुरेव च ॥26॥
श्रीश्चैव हृदयेशश्च तथा नाभौ प्रजापतिः ।
नागश्च नागकन्याश्च उभे च ऋषिकन्यके ॥27॥
पादयोश्च समुद्राश्च तीर्थाः पृष्ठेऽपि च स्थिताः ॥
एवं वा षोडश स्थानम्—

अब उन सोलह स्थानों में एक दूसरा पक्ष भी है। वह पक्ष इस प्रकार है—मस्तक, ललाट, दो कान, नाक, दो हाथ, हृदय, नाभि, दो जाँघें, दो जानुदेश, दो पैर और पृष्ठभाग—ये सोलह स्थान भी माने जाते हैं। और उन स्थानों के देवताओं में शिव, इन्द्र, रुद्र, अर्क, विघ्नेश और विष्णु क्रमशः पूर्वोक्त मस्तक आदि अंशों के देव माने गए हैं। और छठे हृदय की देवता श्री हैं। नाभि के देव प्रजापति हैं। नाग और नाग-कन्याएँ तथा दोनों ऋषि-कन्याएँ पैरों के देव हैं और समुद्र एवं तीर्थ पृष्ठ भाग के देव हैं। इस प्रकार पक्षान्तर के बताए गए सोलह स्थानों में भी तत्तत्स्थानीय बताए गए देवताओं का स्मरण करते हुए त्रिपुण्ड्र करते जाना चाहिए। इस प्रकार यहाँ दोनों अभिप्रायों के अनुसार सोलह स्थानों की और उनके देवताओं की बात पूरी होती है।

—अष्टस्थानमथोच्यते ॥28॥
गुरुस्थानं ललाटं च कर्णद्वयमनन्तरम् ।
अंसयुग्मं च हृदयं नाभिरित्यष्टमं भवेत् ॥29॥

(पहले बत्तीस, बाद में सोलह स्थानों और उन स्थानों के देवों का वर्णन करके अब) पूर्वोक्त प्रकार से आठ स्थानों और उनके देवों की बात कही जाती है। वे अष्ट स्थान ये हैं—गुरुस्थान अर्थात् मस्तक, ललाट, दो कान, दो कन्धे, हृदय और आठवाँ स्थान नाभि है।

ब्रह्मा च ऋषयः सप्त देवताश्च प्रकीर्तिताः ।
अथवा मस्तकं बाहू हृदयं नाभिरेव च ॥30॥
पञ्च स्थानान्यमून्याहुर्भस्मतत्त्वविदो जनाः ।
यथासम्भवतः कुर्याद्देशकालाद्यपेक्षया ॥31॥

इन पूर्वश्लोक में कहे गए आठों स्थानों में बताए गए देव हैं—सप्त ऋषि और ब्रह्माजी। अब आठ के बदले जो पहले पाँच स्थानों का निर्देश किया गया है वे पाँच स्थान मस्तक, दो हाथ, हृदय और नाभि माने गए हैं। भस्म के तत्त्ववेत्ता कहते हैं कि देश और काल के अनुसार बत्तीस, सोलह, आठ या पाँच स्थानों पर उस-उस स्थान के देवता का स्मरण करते हुए त्रिपुण्ड्र करना चाहिए।

उद्धूलनेऽप्यशक्तश्चेत् त्रिपुण्ड्रादीनि कारयेत् ।
ललाटे हृदये नाभौ गले च मणिबन्धयोः ।
बाहुमध्ये बाहुमूले पृष्ठके चैव शीर्षके ॥32॥

यदि मनुष्य अपने शरीर पर भस्म का लेपन करने में अशक्त हो, तो उसे ललाट, हृदय, नाभि, ग्रीवा, मणिबन्ध, बाहुओं के बीच, बाहुओं के मूल में, पीछे के भाग में और मस्तक पर त्रिपुण्ड्र करवाना चाहिए।

ललाटे ब्रह्मणे नमः । हृदये हव्यवाहनाय नमः । नाभौ स्कन्दाय नमः ।
गले विष्णवे नमः । मध्ये प्रभञ्जनाय नमः । मणिबन्धे वसुभ्यो नमः । पृष्ठे
हरये नमः । ककुदि शम्भवे नमः । शिरसि परमात्मने नमः ।
इत्यादिस्थानेषु त्रिपुण्ड्रं धारयेत् ॥33॥

यहाँ 'ब्रह्मणे नमः' यह कहकर ललाट पर, 'हव्यवाहाय नमः' यह कहकर हृदय पर, 'स्कन्दाय नमः' यह कहकर नाभि पर, 'विष्णवे नमः' यह कहकर गले पर, 'प्रभञ्जनाय नमः' यह कहकर मध्यछाती पर, 'वसुभ्यो नमः' यह कहकर मणिबन्धों पर, 'हरये नमः' यह कहकर पीठ पर, 'शम्भवे नमः' यह कहकर कन्धों पर, 'परमात्मने नमः' यह कहकर मस्तक पर—इस प्रकार विभिन्न स्थानों पर त्रिपुण्ड्र करना चाहिए।

त्रिणेत्रं त्रिगुणाकारं त्रयाणां जनकं प्रभुम् ।
स्मरन्नमः शिवायेति ललाटे तत्त्रिपुण्ड्रकम् ॥34॥

अब दूसरे प्रकार से त्रिपुण्ड्र-विधि कही जा रही है—ललाट में त्रिपुण्ड्र करते समय—'त्रिणेत्रं त्रिगुणाकारं' इत्यादि (मूल में दिया गया) मन्त्र बोलना चाहिए और बाद में 'नमः शिवाय' बोलकर त्रिपुण्ड्र लगाना चाहिए। 'तीन नेत्रों वाले, तीन गुणों से अनेक आकार धारण करने वाले, तीनों लोकों के सर्जक प्रभु का मैं स्मरण करता हूँ'—यह मूल में दिए गए पाठ का अर्थ है।

कूर्पराधः पितृभ्यां तु ईशानाभ्यां तदोपरि ।
ईशाभ्यां नम इत्युक्त्वा पार्श्वयोश्च त्रिपुण्ड्रकम् ॥35॥

दोनों कुहनियों के नीचे के भाग में 'पितृभ्यां नमः' यह बोलते हुए त्रिपुण्ड्र करना चाहिए। दोनों कुहनियों के ऊपर के भाग में 'ईशानाभ्यां नमः' ऐसा बोलते हुए त्रिपुण्ड्र करना चाहिए। और दोनों पार्श्वभाग में 'ईशाभ्यां नमः' ऐसा बोलते हुए त्रिपुण्ड्र लगाना चाहिए।

स्वच्छाभ्यां नम इत्युक्त्वा धारयेत्तत्प्रकोष्ठयोः ।
भीमायेति तथा पृष्ठे शिवायेति च पार्श्वयोः ॥36॥

दोनों प्रकोठों (मणिबन्धों) के ऊपर 'स्वच्छाभ्यां नमः'—यह बोलकर त्रिपुण्ड्र लगाना चाहिए और 'भीमाय नमः' यह बोलते हुए पीठ कर त्रिपुण्ड्र लगाना चाहिए तथा 'शिवाय नमः' यह बोलकर दो पार्श्व भागों में त्रिपुण्ड्र लगाना चाहिए।

नीलकण्ठाय शिरसि क्षिपेत्सर्वात्मने नमः ।
पापं नाशयते कृत्स्नमपि जन्मान्तरार्जितम् ॥37॥

'नीलकण्ठाय नमः' ऐसा बोलते हुए मस्तक पर त्रिपुण्ड्र धारण करना चाहिए। इस प्रकार बताए गए उन-उन स्थानों में त्रिपुण्ड्रों को लगाने से पूर्वजन्मों में किए हुए पाप पूर्णतः नष्ट हो जाते हैं।

कण्ठोपरि कृतं पापं नष्टं स्यात्तत्र धारणात् ।
कर्णे तु धारणात्कर्णरोगादिकृतपातकम् ॥38॥

कण्ठ पर त्रिपुण्ड्र धारण करने से कण्ठ से किए गए पाप नष्ट होते हैं और कर्ण में त्रिपुण्ड्र धारण करने से कान के रोग आदि पातक नष्ट हो जाते हैं।

बाह्वोर्बाहुकृतं पापं वक्षःसु मनसा कृतम् ।
नाभ्यां शिश्नकृतं पापं पृष्ठे गुदकृतं तथा ॥39॥
पार्श्वयोर्धारणात्पापं परस्त्र्यालिङ्गनादिकम् ।
तद्भस्मधारणं कुर्यात् सर्वत्रैव त्रिपुण्ड्रकम् ॥40॥

हाथों से किया गया पाप, छाती से किया गया पाप, मन से किया गया पाप, इसी प्रकार नाभि से, शिश्न से, पार्श्वभागों से या पर-स्त्री के आलिंगन आदि से पाप हुए हों, तो उस-उस स्थान पर त्रिपुण्ड्र करना चाहिए अर्थात् वहाँ पर भस्म धारण करना चाहिए।

ब्रह्मविष्णुमहेशानां त्र्यक्षीणां च धारणात् ।
गुणलोकत्रयाणां च धारणं तेन वै श्रुतम् ॥41॥

इति चतुर्थं ब्राह्मणम् ।

जिस मनुष्य ने ऐसे त्रिपुण्ड्र लगाए हैं, उसने ब्रह्मा, विष्णु और महेश का, तीन आँखों का, तीन गुणों का, तीन लोकों का ध्यान कर लिया है, ऐसा शास्त्र कहते हैं।

यहाँ पर चौथा ब्राह्मण पूरा हुआ।

❋

पञ्चमं ब्राह्मणम्

मानस्तोकेति मन्त्रेण मन्त्रितं भस्म धारयेत् ।
ऊर्ध्वपुण्ड्रं भवेत्साम मध्यपुण्ड्रं त्रियायुषम् ॥1॥
त्रियायुषाणि कुरुते ललाटे च भुजद्वये ।
नाभौ शिरसि हृत्पार्श्वे ब्राह्मणाः क्षत्रियास्तथा ॥2॥

'मा न स्तोके तनये'—इस मन्त्र से अभिमन्त्रित भस्म से त्रिपुण्ड्र लगाना चाहिए। त्रिपुण्ड्र में जो ऊर्ध्वपुण्ड्र (ऊपर की रेखा) किया जाता है वह साम से सम्बद्ध होता है और जो मध्यपुण्ड्र है वह तिर्यक् पुण्ड्र याजुष (यजुर्वेद से सम्बद्ध) होता है। वह 'त्रियाजुष' (अर्थात् संहिता, पद और क्रम—इन तीनों से विशिष्ट) को यजुर्वेद से सम्बद्ध जानना चाहिए। (यहाँ त्रिपुण्ड्र की ऊर्ध्व रेखा—पहली ऊपर की रेखा और मध्य (बीच) की रेखा में क्रमशः साम और यजुष की दृष्टि करने को कहा गया है। शेष तीसरी रेखा (तृतीय पुण्ड्र) में ऋग्वेद की दृष्टि करनी चाहिए यह अध्याहार्य है, ऐसा समझना चाहिए)। इस प्रकार का त्रिपुण्ड्र ब्राह्मण और क्षत्रिय ललाट पर, दोनों हाथों पर, नाभि पर, मस्तक पर, हृदय पर और दोनों पार्श्वों पर करते हैं।

त्रैवर्णिकानां सर्वेषामग्निहोत्रसमुद्भवम् ।
इदं मुख्यं गृहस्थानां विरजानलजं भवेत् ॥3॥

ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्यों को (गृहस्थों को) श्रौत्र अग्निहोत्र से उत्पन्न विरजाहोम की अग्नि से उत्पन्न भस्म त्रिपुण्ड्र के लिए मुख्य माना गया है।

विरजानलजं चैव धार्यं प्रोक्तं महर्षिभिः ।
औपासनसमुत्पन्नं गृहस्थानां विशेषतः ॥4॥

त्रिवर्णीय गृहस्थों को विरजानल से उत्पन्न भस्म धारण करना चाहिए ऐसा महर्षियों ने कहा है। उसमें भी यदि औपासन अग्नि से अर्थात् स्वयं की की गई उपासना वाले अग्नि से भस्म उत्पन्न हुई हो तो वह और अधिक अच्छी बात है।

समिदग्निसमुत्पन्नं धार्यं वै ब्रह्मचारिणा।
शूद्राणां श्रोत्रियागारपचनाग्निसमुद्भवम् ॥5॥

ब्रह्मचारियों को समिध् की अग्नि से उत्पन्न भस्म धारण करनी चाहिए और शूद्रों को श्रोत्रिय ब्राह्मण की रसोईघर की अग्नि से उत्पन्न भस्म धारण करनी चाहिए।

अन्येषामपि सर्वेषां धार्यं चैवानलोद्भवम्।
यतीनां ज्ञानदं प्रोक्तं वनस्थानां विरक्तिदम्।
अतिवर्णाश्रमाणां तु श्मशानाग्निसमुद्भवम् ॥6॥

विधिपूर्वक सिद्ध की गई भस्म यदि उपलब्ध न हो, तो सभी लोगों को अग्नि से उत्पन्न भस्म लगानी चाहिए। इसके लिए सूखे गोबर को अग्नि में जलाकर बनाई भस्म का उपयोग करना चाहिए। वह भस्म यतियों को ज्ञान देने वाली और वन में रहने वालों को वैराग्य उत्पन्न करने वाली होती है। जो अतिवर्णाश्रमी (अवधूत) हैं, उनके लिए तो श्मशान की अग्नि की भस्म ही अच्छी है, इनके लिए उसी का विधान किया गया है।

सर्वेषां देवालयस्थं भस्म शिवाग्निजं शिवयोगिनाम्।
शिवालयस्थं वल्लिङ्गलिप्तं वा मन्त्रसंस्कारदग्धं वा ॥7॥

सभी शिवयोगियों के लिए तो शिवालय में स्थित, शिवाग्नि से उत्पन्न, शिवलिंग में जिसका लेप किया गया हो ऐसी अथवा मन्त्र संस्कारों के द्वारा बनाई गई भस्म ही विहित है।

अत्रैते श्लोका भवन्ति–
तेनाधीतं श्रुतं तेन तेन सर्वमनुष्ठितम्।
येन विप्रेण शिरसि त्रिपुण्ड्रं भस्मना कृतम् ॥8॥

इस सम्बन्ध में यहाँ श्लोक है—जिस विप्र के द्वारा भस्म से मस्तक पर त्रिपुण्ड्र किया जाता है उसने सब वेदों का अध्ययन कर लिया है, सभी शास्त्र उसने सुन लिए हैं और उसने सभी कर्मों का अनुष्ठान कर लिया है, ऐसा समझना चाहिए।

त्यक्तवर्णाश्रमाचारो लुप्तसर्वक्रियोऽपि सः।
सकृत्तिर्यक् त्रिपुण्ड्राङ्कधारणात्सोऽपि पूज्यते ॥9॥

जिस मनुष्य ने सभी वर्णाश्रम धर्मों को छोड़ दिया हो और जिसकी सभी धार्मिक क्रियाएँ नष्ट हो गई हों, ऐसा मनुष्य भी यदि एक बार त्रिपुण्ड्र का तिर्यक् (बंकिम) चिह्न धारण कर ले, तो वह भी पूजनीय होता है।

ये भस्मधारणं त्यक्त्वा कर्म कुर्वन्ति मानवाः।
तेषां नास्ति विनिर्मोक्षः संसाराज्जन्मकोटिभिः ॥10॥

जो मनुष्य भस्मधारण को त्याग कर अन्य क्रियाएँ—धार्मिक विधियाँ आदि करते हैं उनका करोड़ों जन्मों के बाद भी मोक्ष नहीं होता।

महापातकयुक्तानां पूर्वजन्मार्जितागसाम्।
त्रिपुण्ड्रोद्धूलने द्वेषो जायते सुदृढं बुधाः ॥11॥

हे सुज्ञजनो ! जिन्होंने बड़े-बड़े पाप किये हों, जिन्होंने अपने पूर्व जन्मों के पाप इकट्ठे किए हों, ऐसे लोगों को त्रिपुण्ड्र लगाने में बड़ा द्वेष होता है।

येषां कोपो भवेद् ब्रह्मन्! ललाटे भस्मदर्शनात्।
तेषामुत्पत्तिसाङ्कर्यमनुमेयं विपश्चिता ॥12॥

हे ब्राह्मणो ! किसी के भाल में त्रिपुण्ड्र को देखकर जिन मनुष्यों को क्रोध आ जाता है, उनके जन्म के सम्बन्ध में विद्वान् पुरुष के द्वारा वर्णसंकरता का अनुमान ही किया जाना चाहिए। (वह वर्णसंकर है, ऐसा विद्वान् लोग तर्क करते हैं)।

येषां नास्ति मुने श्रद्धा श्रौते भस्मनि सर्वदा।
गर्भाधानादिसंस्कारस्तेषां नास्तीति निश्चयः ॥13॥

हे मुनि ! जिन लोगों की श्रौत भस्म में श्रद्धा नहीं होती उनका गर्भाधानादि कोई संस्कार ही नहीं किया गया है, ऐसा निश्चयपूर्वक मान लेना चाहिए।

ये भस्मधारिणं दृष्ट्वा नराः कुर्वन्ति ताडनम्।
तेषां चाण्डालतो जन्म ब्रह्मन्नूह्यं विपश्चिता ॥14॥

हे ब्रह्मन् ! जो लोग भस्म धारण किए हुए मनुष्य को देखकर उसे मारने दौड़ते हैं, उनका अगला जन्म चण्डाल का ही होगा, ऐसा विद्वान् को अनुमान कर लेना चाहिए।

येषां क्रोधो भवेद्भस्मधारणे तत्प्रमाणके।
ते महापातकैर्युक्ता इति शास्त्रस्य निश्चयः ॥15॥

त्रिपुण्ड्र के प्रमाण की भस्म धारण करने में जिन्हें क्रोध आता है, वे लोग बड़े-बड़े पापों से युक्त होते हैं, ऐसा शास्त्रों ने निश्चय किया है।

त्रिपुण्ड्रं ये विनिन्दन्ति निन्दन्ति शिवमेव ते।
धारयन्ति च ये भक्त्या धारयन्ति शिवं च ते ॥16॥

जो लोग त्रिपुण्ड्र की निन्दा करते हैं, वे स्वयं शिव की ही निन्दा करते हैं और जो भस्म को धारण करते हैं, वे शिव को ही धारण करते हैं, ऐसा समझ लेना चाहिए।

धिग्भस्मरहितं भालं धिग्ग्राममशिवालयम्।
धिगनीशार्चनं जन्म धिग्विद्यामशिवात्मकाम् ॥17॥

भस्मरहित मस्तक प्रदेश को धिक्कार हो, शिवालयरहित गाँव को धिक्कार हो, शिवपूजा के अभाव वाले जन्म को धिक्कार हो और जिस विद्या में शिवतत्त्व न हो, ऐसी विद्या को भी धिक्कार हो।

रुद्राग्नेर्यत्परं वीर्यं तद्भस्म परिकीर्तितम्।
तस्मात्सर्वेषु कालेषु वीर्यवान्भस्मसंयुतः ॥18॥

रुद्र रूप अग्नि का वीर्यरूप ही यह भस्म कही गई है। इसलिए भस्मधारक मनुष्य तीनों काल में वीर्यवान् होता है।

भस्मनिष्ठस्य दह्यन्ते दोषा भस्माग्निसङ्गमात् ।
भस्मस्नानविशुद्धात्मा भस्मनिष्ठ इति स्मृतः ॥19॥

जो भस्मनिष्ठ होता है उसके सभी दोष भस्म की अग्नि के संयोग से नष्ट हो जाते हैं, और भस्मनिष्ठ उसे कहा जाता है कि जो भस्म के स्नान से विशुद्ध आत्मावाला हुआ हो।

भस्मसन्दिग्धसर्वाङ्गो भस्मदीप्तत्रिपुण्ड्रकः ।
भस्मशायी च पुरुषो भस्मनिष्ठ इति स्मृतः ॥20॥

इति पञ्चमं ब्राह्मणम् ।

अथवा भस्मनिष्ठ पुरुष का दूसरा लक्षण यह भी है कि जो भस्म से सर्वागों को जलाने वाला हुआ हो अर्थात् ज्ञानाग्नि से जिसने अपने सभी अंग जला दिये हों, अथवा जिसने अपने सभी अंग भस्म से लिप्त किये हों, अथवा जो भस्म से देदीप्यमान त्रिपुण्ड्र किया हुआ हो, अथवा जो भस्म में ही सोता हो, ऐसा पुरुष भी भस्मनिष्ठ कहा जाता है।

यहाँ पाँचवाँ ब्राह्मण पूरा होता है।

❋

षष्ठं ब्राह्मणम्

अथ भुसुण्डः कालाग्निरुद्रं नामपञ्चकस्य माहात्म्यं ब्रूहीति होवाच ॥1॥

अब भुसुण्डु ने कालाग्निरुद्र से 'विभूति आदि नामपंचक का माहात्म्य कहिए'—ऐसा कहा।

अथ वसिष्ठवंशजस्य शतभार्यासमेतस्य धनञ्जयस्य ब्राह्मणस्य ज्येष्ठभार्यायाः पुत्रः करुण इति नाम। तस्य शुचिस्मिता भार्या। असौ करुणो भ्रातृवैरमसहमानो भवानीतटस्थं नृसिंहमगमत्। तत्र देवसमीपेऽन्येनोपायनार्थं समर्पितं जम्बीरफलमजिघ्रत्। तदा तत्रस्था अशपन् पाप मक्षिको भव वर्षाणां शतमिति। सोऽपि शापमादाय मक्षिकः सन् स्वचेष्टितं तस्यै निवेद्य मां रक्षेति स्वभार्यामवदत्। तदा मक्षिकोऽभवत्। तमेवं ज्ञात्वा ज्ञातयस्तैलमध्ये ह्यमारयन्। सा मृतं पतिमादायारुन्धतीमगमत्। भो शुचिस्मिते शोकेनालमरुन्धत्याह्वामुं जीवयाम्यद्य विभूतिमादायेति। एषाऽग्निहोत्रजं भस्म—

एक वसिष्ठकुल में जन्मे हुए, सौ पत्नी वाले धनंजय नाम के ब्राह्मण की बड़ी पत्नी का करुण नाम का एक पुत्र था। उसकी शुचिस्मिता नाम की पत्नी थी। यह करुण अपने सौतेले भाइयों के वैर को सहन न कर सका इसलिए भवानी (नदी) के तट पर अवस्थित नृसिंह देव के पास गया। वहाँ किसी ने उस देव को जो जम्बीर फल भेंट में दिया था, उस फल को उसके सूँघ लिया। उसकी यह क्रिया वहाँ उपस्थित सभी लोगों ने देख ली। और वे बोल उठे—'हे पापी ! सौ साल तक मक्षिक बन जाओ'। वह (करुण) उनके दिए उस शाप को लेकर, मक्षिक होता हुआ, अपना किया-कराया अपनी उस पत्नी को बताकर, 'अब तुम मुझे बचाओ'—ऐसा कहने लगा। यह कहने के पश्चात् वह मक्षिक बन गया। उसके सगे-सम्बन्धियों ने उसे ऐसा जानकर तेल में डुबोकर उसे मार डाला। अब वह (शुचिस्मिता) अपने मरे हुए पति को लेकर अरुन्धती (बड़ी सास) के पास गई। तब अरुन्धती ने

कहा—'हे शुचिस्मिता ! शोक मत करो। मैं इसे अरुन्धती विभूति के द्वारा जीवन दूँगी। इस विभूति को लेकर जिलाऊँगी।' यह अरुन्धती नाम की विभूति अग्निहोत्र से उत्पन्न हुई भस्म है। वह—

मृत्युञ्जयेन मन्त्रेण मृतजन्तौ तदाऽक्षिपत् ।
मन्दवायुस्तदा जज्ञे व्यजनेन शुचिस्मिते ॥2॥
उदतिष्ठत्तदा जन्तुर्भस्मनोऽस्य प्रभावतः ।

हे शुचिस्मिता ! जब मन्द-मन्द वायु ने अपने व्यजन से मृत्युञ्जय मन्त्र के द्वारा एक बार मरे हुए किसी एक जन्तु पर यह भस्म डाली थी, तब इस भस्म के प्रभाव से वह मरा हुआ जन्तु उठकर खड़ा हो गया था।

ततो वर्षशते पूर्णे ज्ञातिरेको ह्यमारयत् ॥3॥
भस्मैव जीवयामास काश्या पञ्च तथाऽभवन् ।
देवानपि तथाभूतान् मामप्येतादृशं पुरा ॥4॥
तस्मात्तु भस्मना जन्तुं जीवयामि तदा(वा)नघे ।

इसके पश्चात् सौ साल बीत गए। तब एक और आदमी मर गया था। उसको भी उसके ज्ञाति-बन्धुओं ने इस भस्म के द्वारा ही जिलाया था। इसके बाद प्राचीन समय में इस भस्म से ही देवों को भी जिलाया था। वे देव भी अपने अपराध से विकृत भाव को प्राप्त हुए थे। इसलिए हे निष्पाप शुचिस्मिता ! मैं इसी भस्म (विभूति) से इस जन्तु को (तुम्हारे पति को) जिलाऊँगी।

इत्येवमुक्त्वा भगवान् दधीचिः समजायत ।
स्वरूपं च ततो गत्वा स्वमाश्रमपदं ययौ ॥5॥

ऐसा कहकर जब उस मृत जन्तु पर विभूति छिड़की गई तब उसमें से भगवान् दधीचि नाम के ऋषि का जन्म हुआ। और वे अपना मूल (मनुष्य) रूप प्राप्त करके वह धनंजय-पुत्र अब दधीचि अपने आश्रम पर लौट गए।

इदानीमस्य भस्मनः सर्वाघभक्षणसामर्थ्यं विधत्त इत्याह। श्रीगौतमविवाहकाले तामहल्यां दृष्ट्वा सर्वे देवाः कामातुरा अभवन्। तदा नष्टज्ञाना दुर्वाससं पप्रच्छुः। तद्दोषं शमयिष्यामीत्युवाच। ततः शतरुद्रेण मन्त्रेण मन्त्रितं भस्म वै मयाऽपि दत्तं तेनैव ब्रह्महत्यादि शान्तम् ॥6॥

अब यह भस्म सभी पापों का भक्षण करने में समर्थ है—"यह कहते हैं कि ऋषि श्रीगौतम के विवाह के समय उनकी पत्नी अहल्या को देखकर सभी देव कामातुर हो गए। तब उनका ज्ञान नष्ट हो गया। वे मुनि दुर्वासा के पास जाकर इस कामुकता के दोष के बारे में पूछने लगे। तब दुर्वासा ने कहा—'मैं तुम्हारे इस दोष को मिटा दूँगा'। तब उन्हें शतरुद्र मन्त्र से अभिमन्त्रित भस्म मैंने दी है और उससे ब्रह्महत्यादि दोष भी शान्त हो गए हैं।"—

इत्येवमुक्त्वा दुर्वासा दत्तवान्भस्म चोत्तमम् ।
जाता मद्वचनात्सर्वे यूयं तेऽधिकतेजसः ॥7॥

ऐसे वाक्य कहकर दुर्वासा ने उन देवताओं को वह उत्तम भस्म दी थी। फिर कहा—'देखो, अब मेरे कहने से तुम लोग पहले से भी ज्यादा तेजवाले (शुद्ध) हो गए हो'।

शतरुद्रेण मन्त्रेण भस्मोद्धूलितविग्रहाः ।
निर्धूतरजसः सर्वे तत्क्षणाच्च वयं मुने ।
आश्चर्यमेतज्जानीमो भस्मसामर्थ्यमीदृशम् ॥8॥

(तब देवों ने कहा—) हे मुने ! शतरुद्र मन्त्र से अभिमन्त्रित भस्म से लिप्त शरीर वाले होकर हम तो उसी क्षण से पापरहित (दोषरहित) हो गए। इस भस्म की सामर्थ्य देखकर तो हमें बड़ा ही आश्चर्य होता है।

अस्य भस्मनः शक्तिमन्यां शृणु । एतदेव हरिशङ्करयोर्ज्ञानप्रदं ब्रह्महत्या-दिपापनाशकं महाविभूतिदमिति ॥9॥

इस भस्म की एक और शक्ति को भी सुनो। यह भस्म ही शिव और विष्णु दोनों का ज्ञान करवाती है। ब्रह्महत्या आदि पापों की नाशक है और बड़ी उन्नति या ऐश्वर्य को दिलाने वाली है।

शिववक्षसि स्थितं नखेनादाय प्रणवेनाभिमन्त्र्य गायत्र्या पञ्चाक्षरेणाभि-मन्त्र्य हरिमस्तकगात्रेषु समर्पयेत् । तदा हृदि ध्यायस्वेति हरिमुक्त्वाऽथ हरिः स्वहृदि ध्यात्वा दृष्टो दृष्ट इति शिवमाह ॥10॥

शिव की छाती पर स्थित भस्म को नाखून से उठाकर, उसे प्रणवमन्त्र द्वारा अभिमन्त्रित करके, गायत्रीमन्त्र द्वारा अभिमन्त्रित करके और पंचाक्षर मन्त्र से भी अभिमन्त्रित करके हरि के मस्तक और अन्य गात्रों में लगाए। तब हरि से कहे कि 'अपने हृदय में ध्यान करो।' तब हृदय में ध्यान करके हरि ने कह दिया—देख लिया है ! मैंने देख लिया है।

ततो भस्म भक्षयेति हरिमाह हरस्ततः ।
भक्षयिष्ये शिवं भस्म स्नात्वाऽहं भस्मना पुरा ॥11॥

बाद में हर ने हरि से कहा—'अब तुम इस भस्म का भक्षण करो।' तब हरि ने कहा—'पहले मैं भस्म से स्नान करूँगा और तब इस मंगलकारी भस्म को मैं खाऊँगा।'

पृष्ट्वेश्वरं भक्तिगम्यं भस्माभक्षयदच्युतः ।
तत्राश्चर्यमतीवासीत्प्रतिबिम्बसमद्युतिः ॥12॥
वासुदेवः शुद्धमुक्ताफलवर्णोऽभवत्क्षणात् ।
तदाप्रभृति शुक्लाभो वासुदेवः प्रसन्नवान् ॥13॥

भक्ति से प्राप्य भगवान् शिव को पूछकर अच्युत विष्णु ने ज्यों ही भस्म का भक्षण किया, त्यों ही एक बड़ा आश्चर्य उत्पन्न हुआ। भगवान् विष्णु की द्युति उस (शिव) के प्रतिबिम्ब जैसी हो गई। और एक ही क्षण में वह वासुदेव शुद्धमुक्ताफल की कान्तिवाले हो गए। तब से लेकर वासुदेव शुभ्रवर्ण वाले और प्रसन्न ही रहे।

न शक्यं भस्मनो ज्ञानप्रभावं ते कुतो विभो ।
नमस्तेऽस्तु नमस्तेऽस्तु त्वामहं शरणं गतः ॥14॥
त्वत्पादयुगले शम्भो भक्तिरस्तु सदा मम ।
भस्मधारणसम्पन्नो मम भक्तो भविष्यति ॥15॥

तब भगवान् विष्णु बोले—'हे प्रभो ! आपकी भस्म के ज्ञान का प्रभाव मैं नहीं जानता, तो आपके ज्ञान के प्रभाव को भला मैं कैसे जान सकता हूँ ? मैं आपको बार-बार नमस्कार करता हूँ। मैं आपकी शरण में आया हूँ। आपके चरणयुगल में हे शम्भो ! मेरी हमेशा के लिए भक्ति रहे।' विष्णु के इन वचनों को सुनकर शिवजी बोले—'जो मेरी भस्म को धारण करेगा, वह मेरा भक्त होगा।'

अत एवैषा भूतिर्भूतिकरीत्युक्ता । अस्य पुरस्ताद्वसव आसन् । रुद्रा दक्षिणत आदित्याः पश्चाद् विश्वदेवा उत्तरतो ब्रह्मविष्णुमहेश्वरा नाभ्यां सूर्यचन्द्रमसौ पार्श्वयोः ॥16॥

इसीलिए यह भूति भूतिकरी (ऐश्वर्यकारिणी) कही गई है। इसके (भस्मधारी के) आगे वसु थे, दक्षिण में रुद्र थे, पीछे आदित्य थे, उत्तर में वैश्वदेव थे, नाभि में ब्रह्म-विष्णु-महेश्वर थे और दोनों पार्श्वभाग में सूर्य और चन्द्र हैं।

तदेतदृचाऽभ्युक्तम्—
ऋचो अक्षरे परमे व्योमन् यस्मिन्देवा अधि विश्वे निषेदुः ।
यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति य इत्तद्विदुस्त इमे समासते ॥17॥

वह तो इस ऋचा द्वारा भी बताया गया है कि ऋक् आदि सभी वेद भस्म के द्वारा उस सिद्ध परम व्योम में हैं कि जहाँ सभी देव (विराट् आदि सभी देव) रहते हैं। यदि मनुष्य उसको नहीं जानता, तो वह ऋचा से क्या करेगा ? जो उसको जानते हैं, वे ही लोग इसकी महिमा में समासित हो जाते हैं अर्थात् स्वयं ब्रह्मरूप ही बन जाते हैं।

यदेतद् बृहज्जाबालं सार्वकामिकं मोक्षद्वारमृङ्मयं यजुर्मयं साममयं ब्रह्ममयममृतमयं भवति । यदेतद् बृहज्जाबालं बालो वा युवा वा वेद स महान् भवति । स गुरुः सर्वेषां मन्त्राणामुपदेष्टा भवति । मृत्युतारकं गुरुणा लब्धं कण्ठे बाहौ शिखायां वा बध्नीत । सप्तद्वीपवती भूमिर्दक्षिणार्थं नावकल्पते । तस्माच्छ्रद्धया यां काञ्चिद् गां दद्यात् सा दक्षिणा भवति ॥18॥

इति षष्ठं ब्राह्मणम् ।

तो यह बृहज्जाबाल सभी कामनाओं को पूर्ण करने वाला, मोक्ष के द्वार स्वरूप, ऋग्वेदमय, यजुर्मय, साममय, ब्रह्ममय और अमृतमय होता है। यह जो बृहज्जाबाल है, उसे यदि कोई बालक या कोई युवा जानता है, वह महान् बन जाता है। वह सभी मन्त्रों का उपदेशक (गुरु) बन जाता है। गुरु के द्वारा प्राप्त इस मृत्युतारक मन्त्र (रहस्य) को कण्ठ में, हाथ में, अथवा शिखा में बाँधकर रखना चाहिए। ऐसे उपदेष्टा को यदि सात द्वीपों वाली भूमि भी दक्षिणा में दी जाए, तो वह पर्याप्त नहीं है। इसलिए श्रद्धापूर्वक जो किसी गाय को दक्षिणा में दिया जाए, वही दक्षिणा होगी।

यहाँ षष्ठ ब्राह्मण पूरा हुआ।

❋

सप्तमं ब्राह्मणम्

अथ जनको वैदेहो याज्ञवल्क्यमुपसमेत्योवाच । भगवन् ! त्रिपुण्ड्रविधिं नो ब्रूहीति ॥1॥

एक बार वैदेह (विदेहराज जनक) याज्ञवल्क्य के पास जाकर बोले—'हे भगवन् ! मुझे त्रिपुण्ड्र धारण करने की विधि बताइए'।

स होवाच सद्योजातादिपञ्चमन्त्रैः परिगृह्याग्निरिति भस्मेत्यभिमन्त्र्य मानस्तोक इति समुद्धृत्य त्रियायुषमिति जलेन संमृज्य त्र्यम्बकं यजामह इति मन्त्रेण शिरोललाटवक्षःस्कन्धेषु त्रिपुण्ड्रं कृत्वा पूतो भवति । मोक्षी भवति । शतरुद्रेण यत्फलमाप्नोति तत्फलमश्नुते स एष भस्मज्योतिरिति याज्ञवल्क्यः ॥2॥

तब याज्ञवल्क्य ने कहा—'सद्योजात' आदि पाँच मन्त्रों से भस्म को ग्रहण करके, 'अग्निरिति भस्म' इस मन्त्र से उस भस्म को अभिमन्त्रित करके, 'मानस्तोके' इत्यादि मन्त्र से हाथ में उठाकर 'त्र्यायुषम्' इत्यादि मन्त्र से जल के साथ मल कर 'त्र्यम्बकं यजामहे' इस मन्त्र से मस्तक, ललाट, छाती और कन्धों पर त्रिपुण्ड्र करना चाहिए। यह त्रिपुण्ड्र करके मनुष्य पवित्र और मोक्ष प्राप्त करने वाला होता है। मनुष्य शतरुद्र से जो फल पाता है, वही फल यह भी प्राप्त कराता है। इसे 'भस्मज्योति' कहा जाता है, ऐसा याज्ञवल्क्य ने कहा।

जनको ह वैदेहः स होवाच याज्ञवल्क्यं भस्मधारणात् किं फलमश्नुत इति ॥3॥

स होवाच तद्भस्मधारणादेव मुक्तिर्भवति । तद्भस्मधारणादेव शिवसायुज्यमवाप्नोति । न स पुनरावर्तते न स पुनरावर्तते स एव भस्मज्योतिरिति वै याज्ञवल्क्यः ॥4॥

विदेहराज जनक ने याज्ञवल्क्य से पूछा—भस्म धारण करने से कौन-सा फल प्राप्त किया जाता है ? तब याज्ञवल्क्य ने कहा कि भस्म के धारण से मुक्ति मिल जाती है। उस भस्म के धारण से शिवजी का सायुज्य मिलता है। वह मनुष्य फिर से यहाँ नहीं आता। वह फिर से जन्म नहीं लेता। यही भस्म ज्योति है, ऐसा याज्ञवल्क्य ने कहा।

जनको ह वैदेहः स होवाच याज्ञवल्क्यं भस्मधारणात् किं फलमश्नुते न वेति ॥5॥

तत्र परमहंसा नाम संवर्तकारुणिश्वेतकेतुदुर्वासऋभुनिदाघजडभरतदत्तात्रेयरैवतकभुसुण्डप्रभृतयो विभूतिधारणादेव मुक्ताः स्युः स एष भस्मज्योतिरिति वै याज्ञवल्क्यः ॥6॥

फिर भी विदेहराज जनक ने पक्का करने के लिए याज्ञवल्क्य से पूछा—'क्या भस्म-धारण से फल प्राप्त होता है या नहीं ?' तब याज्ञवल्क्य ने कहा—'जो संवर्तक, आरुणि, श्वेतकेतु, दुर्वासा, ऋभु, निदाघ, जडभरत, दत्तात्रेय, दैवतक, भुसुण्ड आदि परमहंस थे, वे इस विभूति के धारण से ही तो मुक्त हुए हैं। यह तो भस्म ज्योति है'।

जनको ह वैदेहः स होवाच याज्ञवल्क्यं भस्मस्नानेन किं जायत इति ॥7॥

यस्य कस्यचिच्छरीरे यावन्तो रोमकूपास्तावन्ति लिङ्गानि भूत्वा तिष्ठन्ति । ब्राह्मणो वा क्षत्रियो वा वैश्यो वा शूद्रो वा तद्भस्मधारणादेतच्छब्दस्य रूपं यस्यां तस्यां ह्येवावतिष्ठते ॥8॥

विदेहराज जनक ने याज्ञवल्क्य से पूछा—'भस्मस्नान से क्या होता है ?' सब याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया कि जिस किसी के शरीर में जितने रोमकूप (रोमच्छिद्र) होते हैं उतने ही शिवलिंग होकर उनमें बैठते हैं। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य या शूद्र भी उस भस्म के धारण से जिस ज्योति में इस शब्द का अर्थ है उस ज्योति में ही रहता है। अर्थात् भस्म शब्द का अर्थ जिस ज्योति को बताता है, उसी ज्योति में भस्मस्नान करने वाला मनुष्य भी अवस्थित हो जाता है।

जनको ह वैदेहः पैप्पलादेन सह प्रजापतिलोकं जगाम । तं गत्वोवाच भो प्रजापते त्रिपुण्ड्रस्य माहात्म्यं ब्रूहीति ॥9॥

तं प्रजापतिरब्रवीद्यथैवेश्वरस्य माहात्म्यं तथैव त्रिपुण्ड्रस्येति ॥10॥

अथ पैप्पलादो वैकुण्ठं जगाम तं गत्वोवाच भो विष्णो त्रिपुण्ड्रस्य माहात्म्यं ब्रूहीति ॥11॥

यथैवेश्वरस्य माहात्म्यं तथैव त्रिपुण्ड्रस्येति विष्णुराह ॥12॥

विदेहराज जनक तब पैप्पलाद मुनि के साथ प्रजापतिलोक में गए। वहाँ जाकर उन्होंने पूछा—'हे प्रजापति ! त्रिपुण्ड्र का माहात्म्य कहिए।' तब प्रजापति ने उनसे कहा—'जो ईश्वर का माहात्म्य है, वही माहात्म्य त्रिपुण्ड्र का भी है'। तब पैप्पलाद वैकुण्ठ में गए। वहाँ जाकर उन्होंने पूछा—'हे विष्णो ! त्रिपुण्ड्र का माहात्म्य बताइए।' तब विष्णु ने कहा—'जो माहात्म्य ईश्वर का स्वयं का है, वही माहात्म्य त्रिपुण्ड्र का भी है'।

अथ पैप्पलादः कालाग्निरुद्रं परिसमेत्योवाचाधीहि भगवन् त्रिपुण्ड्रस्य विधिम् ॥13॥

त्रिपुण्ड्रस्य विधिर्मया वक्तुं न शक्यमिति सत्यमिति होवाच । अथ भस्मच्छन्नः संसारात् मुच्यते । भस्मशय्याशयानस्तच्छब्दगोचरः शिवसायुज्यमवाप्नोति । न स पुनरावर्तते न स पुनरावर्तते । रुद्राध्यायी सन्नमृतत्वं च गच्छति । स एव भस्मज्योतिः । विभूतिधारणाद् ब्रह्मैकत्वं च गच्छति । विभूतिधारणादेव सर्वेषु तीर्थेषु स्नातो भवति । विभूतिधारणाद् वाराणस्यां स्नानेन यत्फलमवाप्नोति तत्फलमश्नुते । स एष भस्मज्योतिः । यस्य कस्यचिच्छरीरे त्रिपुण्ड्रस्य लक्ष्म वर्तते प्रथमा प्रजापतिर्द्वितीया विष्णुस्तृतीया सदाशिव इति स एष भस्मज्योतिः स एव भस्मज्योतिरिति ॥14॥

अब पैप्पलाद कालाग्निरुद्र के पास जाकर पूछा—'हे भगवन्, मुझे त्रिपुण्ड्र की विधि बताइए।' तब कालाग्निरुद्र ने कहा—त्रिपुण्ड्र की विधि कहने की मेरी कोई सामर्थ्य नहीं है, यह मैं सच कहता हूँ। भस्म से स्नान किया हुआ व्यक्ति संसार से मुक्त हो जाता है, भस्म की शय्या पर सोने वाला मनुष्य उस शब्द के विषयरूप शिवजी का सायुज्य प्राप्त करता है। वह फिर से इस पृथ्वी पर नहीं आता। उसका यहाँ फिर से आना नहीं होता। रुद्र का अध्ययन करने वाला वह अमृतत्व को प्राप्त करता है। वही भस्मज्योति होता है। विभूति के धारण करने से वह ब्रह्म के साथ ऐक्य प्राप्त करता है। विभूति के धारण से वह सभी तीर्थों में स्नान किया हुआ माना जाता है। विभूति के धारण करने से वाराणसी में स्नान करने से जो फल मिलता है, वह उसे मिल जाता है। वह यह भस्मज्योति है। जिस किसी

भी मनुष्य के शरीर में त्रिपुण्ड्र का चिह्न लगा हुआ होता है, उसकी पहली रेखा प्रजापति, दूसरी विष्णु और तीसरी सदाशिव है। यही वह भस्मज्योति है।

अथ कालाग्निरुद्रं भगवन्तं सनत्कुमारः पप्रच्छाधीहि भगवन्रुद्राक्षधारणविधिम् ॥15॥

स होवाच रुद्रस्य नयनादुत्पन्ना रुद्राक्षा इति लोके ख्यायन्ते। सदाशिवः संहारं कृत्वा संहाराक्षं मुकुलीकरोति तन्नयनाज्जाता रुद्राक्षा इति होवाच। तस्माद्रुद्राक्षत्वमिति मुनिना पृष्टः स होवाच ॥16॥

अब भगवान् कालाग्निरुद्र से सनत्कुमार ने पूछा—'भगवन्! रुद्राक्ष के धारण की विधि कहिए।' इस प्रकार मुनि द्वारा पूछने कालाग्निरुद्र ने कहा—'रुद्र के नयन से उत्पन्न होने से ये लोगों में रुद्राक्ष नाम से प्रसिद्ध हुए हैं। शिवजी प्रलयकाल में जब संहार करके अपने उस संहाराक्ष (तृतीय नेत्र) को आधा बन्द-सा कर लेते हैं, तब उनकी आँख से ये रुद्राक्ष उत्पन्न हुए हैं'।

तद्रुद्राक्षे वाग्विषये कृते दशगोप्रदानेन यत्फलमवाप्नोति तत्फलमश्नुते। स एष भस्मज्योती रुद्राक्ष इति। तद्रुद्राक्षं करेण स्पृष्ट्वा धारणमात्रेण द्विसहस्रगोप्रदानफलं भवति। तद्रुद्राक्षे कर्णयोर्धार्यमाणे एकादशसहस्रगोप्रदानफलं भवति। एकादशरुद्रत्वं च गच्छति। तद्रुद्राक्षे शिरसि धार्यमाणे कोटिगोप्रदानफलं भवति। एतेषां स्थानानां कर्णयोः फलं वक्तुं न शक्यमिति होवाच। मूर्ध्नि चत्वारिंशच्छिखायामेकं त्रयं वा श्रोत्रयोर्द्वादश द्वादश कण्ठे द्वात्रिंशद् बाह्वोः षोडश षोडश द्वादश द्वादश मणिबन्धयोः षट्षडङ्गुष्ठयोस्ततः सन्ध्यां सकुशोऽहरहरुपासीत। अग्नि-र्ज्योतिरित्यादिभिरग्नौ जुहुयात् ॥17॥

इति सप्तमं ब्राह्मणम्।

वह रुद्राक्ष यदि 'एष भस्मज्योती रुद्राक्षः'—इस तरह वाणी का विषय बनाया जाए अर्थात् ऐसे शब्द बोले जाएँ, तो दश गाय के दान का जो फल मिलता है, उसे मनुष्य प्राप्त करता है। और यदि हाथ से स्पर्श करके इसका धारण किया जाए तो दो हजार गायों के दान का फल होता है, उस रुद्राक्ष के दोनों कानों पर धारण किए जाने पर ग्यारह हजार गायों के दान का फल होता है, और एकादशरुद्रत्व को वह मनुष्य प्राप्त करता है। वह रुद्राक्ष यदि मस्तक पर धारण किया जाए तो करोड़ों गायों के दान का फल होता है। इन सभी स्थानों में तथा दोनों कानों पर धारण किए गए रुद्राक्ष का फल तो कहा ही नहीं जा सकता, ऐसा कहा। मस्तक पर चालीस, शिखा में एक अथवा तीन, दो कानों में बारह-बारह, गले में बत्तीस, दोनों हाथों में सोलह-सोलह, दोनों मणिबन्धों पर बारह-बारह, दोनों अंगूठों पर छः-छः रुद्राक्ष धारण करने चाहिए। और प्रतिदिन कुशासन पर बैठकर सन्ध्योपासन करना चाहिए। और 'अग्निर्ज्योतिर्ज्योतिरग्निः स्वाहा', 'सूर्यो ज्योतिर्ज्योतिरग्निः स्वाहा' इस प्रकार अग्नि में आहुतियाँ देनी चाहिए।

यहाँ पर सातवाँ ब्राह्मण पूरा हुआ।

❋

अष्टमं ब्राह्मणम्

अथ बृहज्जाबालस्य फलं नो ब्रूहि भगवन्निति ॥1॥

स होवाच य एतद्बृहज्जाबालं नित्यमधीते स अग्निपूतो भवति। स वायुपूतो भवति। स आदित्यपूतो भवति। स सोमपूतो भवति। स ब्रह्मपूतो भवति। स विष्णुपूतो भवति। स रुद्रपूतो भवति। स सर्वपूतो भवति। स सर्वपूतो भवति ॥2॥

अब कालाग्निरुद्र से सनत्कुमार ने कहा—'हे भगवन्! अब आप इस बृहज्जाबाल उपनिषद् का हमें फल कहिए'। तब कालाग्निरुद्र बोले—'जो मनुष्य इस बृहज्जाबाल का नित्य पाठ करता है वह अग्नि द्वारा या अग्नि जैसा पवित्र होता है, वायु द्वारा या वायु जैसा पवित्र होता है, वह सूर्य के द्वारा या सूर्य जैसा पवित्र होता है, वह ब्रह्मा जैसा पवित्र होता है, वह विष्णु जैसा पवित्र होता है, वह रुद्र जैसा पवित्र होता है, वह सर्वतः पवित्र हो जाता है, वह चारों ओर पवित्र हो जाता है।

य एतद् बृहज्जाबालं नित्यमधीते सोऽग्निं स्तम्भयति स वायुं स्तम्भयति स आदित्यं स्तम्भयति स सोमं स्तम्भयति स उदकं स्तम्भयति स सर्वान्देवान्स्तम्भयति स सर्वान्ग्रहान्स्तम्भयति। स विषं स्तम्भयति स विषं स्तम्भयति ॥3॥

जो मनुष्य इस बृहज्जाबाल को हमेशा पढ़ता है (रोज पाठ करता है) वह अग्नि को रोक सकता है, वह वायु को रोक सकता है, वह सूर्य को थमा सकता है, वह सोम को थमा सकता है, वह जलप्रवाह को भी रोक सकता है, वह सभी देवों को रोक सकता है, वह सभी ग्रहों को रोक सकता है। वह विष को भी रोक सकता है, विष को भी रोक सकता है।

स एतद् बृहज्जाबालं नित्यमधीते स मृत्युं तरति स पाप्मानं तरति स ब्रह्महत्यां तरति स भ्रूणहत्यां तरति स वीरहत्यां तरति स सर्वहत्यां तरति स संसारं तरति स सर्वं तरति स सर्वं तरति ॥4॥

जो मनुष्य इस बृहज्जाबाल उपनिषद् को रोज पढ़ता है (इसका रोज पाठ करता है) वह मृत्यु को पार कर जाता है, वह पापों से परे हो जाता है, वह ब्रह्महत्या को पार कर जाता है, वह भ्रूणहत्या को भी पार कर जाता है, वह वीरहत्या से भी परे हो जाता है, वह सभी हत्याओं से परे हो जाता है, वह संसार को पार कर जाता है, सबसे परे हो जाता है, सबसे ऊपर उठ जाता है।

य एतद् बृहज्जाबालं नित्यमधीते स भूर्लोकं जयति स भुवर्लोकं जयति स सुवर्लोकं जयति स महर्लोकं जयति स जनोलोकं जयति स तपोलोकं जयति स सत्यलोकं जयति स सर्वान् लोकान् जयति सर्वान् लोकान् जयति ॥5॥

जो इस बृहज्जाबाल का नित्य अध्ययन करता है, वह भूर्लोक को जीतता है, भुवर्लोक को जीतता है, स्वर्लोक को जीतता है, महर्लोक को जीतता है, जनलोक को जीतता है, तपोलोक को जीतता है, सत्यलोक को जीतता है, वह सभी लोकों को जीतता है, वह सभी लोकों को जीत लेता है।

स एतद् बृहज्जाबालं नित्यमधीते स ऋचोऽधीते स यजूँष्यधीते स सामान्यधीते सोऽथर्वणमधीते सोऽङ्गिरसमधीते स शाखा अधीते स कल्पानधीते स नाराशंसीरधीते स पुराणान्यधीते स ब्रह्मप्रणवमधीते स ब्रह्मप्रणवमधीते ॥6॥

जो मनुष्य इस बृहज्जाबाल का नित्य पाठ करता है वह ऋग्वेद पढ़ता है, वह यजुर्वेद पढ़ता है, वह सामवेद पढ़ता है, वह अथर्ववेद पढ़ता है, वह अंगिरस पढ़ता है, वह शाखाएँ पढ़ता है, वह कल्पों को पढ़ता है, वह नाराशंसी पढ़ता है, वह पुराणों को पढ़ता है, वह ब्रह्मप्रणव भी पढ़ता है, वह ब्रह्मप्रणव भी पढ़ता है।

अनुपनीतशतमेकमेकेनोपनीतेन तत्सममुपनीतशतमेकमेकेन गृहस्थेन तत्समं गृहस्थशतमेकमेकेन वानप्रस्थेन तत्समं वानप्रस्थशतमेकमेकेन यतिना तत्समं यतीनां तु शतं पूर्णमेकमेकेन रुद्रजापकेन तत्समं रुद्रजापकशतमेकमेकेनाऽथर्वशिरःशिखाऽध्यापकेन तत्सममथर्वशिरः-शिखाध्यापकशतमेकेन बृहज्जाबालोपनिषदध्यापकेन तत्समम् ॥7॥

सौ अनुपवीतों के बराबर एक उपवीत वाला होता है, सौ उपवीत वालों के समान एक गृहस्थ होता है, सौ गृहस्थों के समान एक वानप्रस्थाश्रमी होता है, सौ वानप्रस्थियों के तुल्य एक यति होता है, सौ यतियों के समान एक रुद्रजापक होता है, सौ रुद्रजापकों के समान एक अथर्वशिरा का अध्यापक जो बृहज्जाबालोपनिषद् का अध्यापक है, वह होता है। इस प्रकार बृहज्जाबालोपनिषद् के अध्यापक की सर्वोत्तमता है।

तद्वा एतत्परं धाम बृहज्जाबालोपनिषज्जपशीलस्य यत्र न सूर्यस्तपति यत्र न वायुर्वाति यत्र न चन्द्रमा भाति यत्र न नक्षत्राणि भान्ति यत्र नाग्निर्दहति यत्र न मृत्युः प्रविशति यत्र न दुःखानि प्रविशन्ति सदानन्दं परमानन्दं शान्तं शाश्वतं सदाशिवं ब्रह्मादिवन्दितं योगिध्येयं परं पदं यत्र गत्वा न निवर्तन्ते योगिनः ॥8॥

अतः बृहज्जाबालोपनिषद् का जप करने वाले का यह परमधाम ऐसा है अर्थात् यह ऐसे लोक में रहता है कि जहाँ सूर्य नहीं तपता, जहाँ वायु वहन नहीं करता, जहाँ चन्द्र प्रकाशित नहीं होता है, जहाँ नक्षत्र भी नहीं चमकते, जहाँ अग्नि नहीं जलती, जहाँ मृत्यु का प्रवेश नहीं हो सकता, जहाँ दुःखों का प्रवेश भी नहीं हो सकता, जो सदानन्दमय, परमानन्दस्वरूप, शान्त, शाश्वत, सदाशिवस्वरूप, ब्रह्मादि देवों के द्वारा वन्द्यमान, योगियों के लिए ध्यान का विषय है। जहाँ जाकर फिर से योगियों को यहाँ वापस नहीं आना पड़ता।

तदेतदृचाऽभ्युक्तम्—
तद्विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः। दिवीव चक्षुराततम् ॥9॥
तद्विप्रासो विपन्यवो जागृवांसः समिन्धते।
विष्णोर्यत्परं धाम। ॐ सत्यमित्युपनिषत् ॥10॥

इत्यष्टमं ब्राह्मणम्।

इति बृहज्जाबालोपनिषत्समाप्ता।

इस धाम का वर्णन ऋचा में भी किया गया है—यह विष्णु का परमपद (स्वरूप ही) है। उसे विद्वान् सदैव देखते हैं—अनुभव करते हैं। द्योतनात्मक ब्रह्म में जैसे चक्षु फैला हो! ये ब्रह्म को देखने वाले सूरि लोक विप्र - ज्ञानी हैं, क्रोधरहित हैं, हमेशा जागरूक हैं, वे विष्णु के दर्शनकाल में ही केवल विष्णुमयता से ही अवशिष्ट रहते हैं। ऐसा प्रतिपादित विष्णुपद ॐकाररूप, तुरीय, सत्य रूप है।

यहाँ अष्टम ब्राह्मण और उपनिषद् दोनों पूर्ण होते हैं।

शान्तिपाठः

ॐ भद्रं कर्णेभिः.........देवहितं यदायुः। (पूर्ववत्)
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

❋

(27) नृसिंहपूर्वतापिन्युपनिषत्

(उपनिषत्परिचय)

इस अथर्ववेदीय उपनिषद् में पाँच प्रखण्ड [उपनिषद्] हैं। इसमें देवगण और प्रजापति के संवाद के रूप में सगुण-निर्गुण ब्रह्म का प्रतिपादन किया गया है। विश्व के मूल कारण को इसमें नृसिंह कहा गया है और कहा गया है कि नृसिंह में से ही यह सृष्टि उत्पन्न होती है, और उसी में लय होती है। यह नृसिंह सभी प्राणियों में श्रेष्ठ होने से और सभी मे बलवान होने से उसे नृसिंह नाम दिया गया है। उस तत्त्व को वीर और उग्र भी कहा गया है क्योंकि वह शूर है, वही महाविष्णु है क्योंकि इन सभी लोगों को, देवों को और प्राणियों को वे अपने में समा लेते हैं। वह नृसिंह (तत्त्व) स्वयंप्रकाशित है। किसी भी इन्द्रिय के बिना वह देव सुन सकता है, वह सर्वव्यापी है। वह सर्वसमावेशक और सर्वसंग्राहक है। उसका रूप देखकर सभी प्राणी, लोग, देव, मनुष्य—सभी भयभीत हो उठते हैं। ऐसा होने पर भी वह वास्तव में तो कल्याणकारी ही है। जो मनुष्य ऐसे नृसिंह तत्त्व की—नृसिंह भगवान् की उपासना करता है, और नृसिंह गायत्री का जप करता है, उसके ब्रह्महत्यादि समस्त पाप नष्ट हो जाते हैं, और वह सातों लोकों की विजय प्राप्त कर लेता है।

शान्तिपाठः

ॐ भद्रं कर्णेभिः.........देवहितं यदायुः। (पूर्ववत्)
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

इसका हिन्दी रूपान्तर पूर्व में (अथर्वशिर उपनिषद् में) द्रष्टव्य है।

प्रथमोपनिषत्

आपो वा इदमासन्सलिलमेव। स प्रजापतिरेकः पुष्करपर्णे समभवत्। तस्यान्तर्मनसि कामः समवर्तत। इदं सृजेयमिति। तस्माद्यत्पुरुषो मनसाभिगच्छति तद्वाचा वदति तत्कर्मणा करोति। तदेषाभ्यनूक्ता—कामस्तदग्रे समवर्तताधिमनसो रेतः प्रथमं यदासीत्। सतो बन्धुमसति निरविन्दन् हृदि प्रतीच्या कवयो मनीषेति उपैनं तदुपनमति यत्कामो भवति य एवं वेद ॥1॥

कहते हैं कि पहले जल ही था, सर्वत्र जल ही जल था। तब कमलपत्र के ऊपर प्रजापति उत्पन्न हुए। उनके भीतर मन में काम (इच्छा) प्रकट हुआ कि मैं यह सृष्टि बनाऊँ। यह तो जानी हुई बात है कि मनुष्य पहले मन में सोचता है, वही फिर वाणी से बोलता है, और वही कर्म करता है। ऐसा ऋषियों ने भी कहा है कि पहले मन में काम ही उत्पन्न हुआ, काम ही मन का वीर्य (सत्त्व) है। वह काम दृश्यमान सत् (जगत्) के बन्धु के समान है पर ऋषि (कवि) लोगों ने अपनी बुद्धि से उसे अपने

हृदय में स्थित अचाक्षुष ब्रह्म में ही देखा है। ऐसा कवियों का सा-जो जानता है, उसकी जैसी कामना होती है, वहाँ यह ज्ञान उसे पहुँचा देता है अर्थात् उसकी सारी कामनाएँ पूर्ण होती हैं।

स तपोऽतप्यत। स तपस्तप्त्वा स एतं मन्त्रराजं नारसिंहमानुष्टुभम-पश्यत्। तेन वै सर्वमिदमसृजत यदिदं किञ्च। तस्मात्सर्वमानुष्टुभमित्या-चक्षते यदिदं किञ्च। अनुष्टुभो वा इमानि भूतानि जायन्ते। अनुष्टुभा जातानि जीवन्ति। अनुष्टुभं प्रयन्त्यभिसंविशन्ति। तस्यैषा भवति अनुष्टुप्प्रथमा भवति अनुष्टुबुत्तमा भवति वाग्वा अनुष्टुब्वाचैव प्रयन्ति वाचोद्यन्ति परमा वा एषा छन्दसां यदनुष्टुबिति ॥2॥

उस प्रजापति ने तप (परिश्रम) किया। तप करके उन्होंने अनुष्टुभ् में रचे गए नारसिंह मन्त्र को प्राप्त किया। उसके द्वारा उन्होंने यह जो कुछ है, इसका सर्जन किया। इसलिए यह जो कुछ है, उसे 'आनुष्टुभ्' कहा जाता है। अनुष्टुभ् से ही ये सब भूत (प्राणी) उत्पन्न होते हैं, अनुष्टुभ् से जन्मे हुए ही ये सब जीते हैं, और अन्त में अनुष्टुभ् में ही प्रयाणकाल में जाकर मिल जाते हैं। इस मन्त्रराज की यह अभिधा (अनुष्टुभ्) है। अथवा इस अनुष्टुप् की प्रकाशिका वक्ष्यमाण ऋचा है। इस अनुष्टुप् के साम-प्रकारों में अनुष्टुप् प्रथमा—आद्यस्वरयुक्त साम होता है तथा अनुष्टुप् उत्तमा—अन्त्यस्वरयुक्त सामवाला भी होता है। अथवा स्वरवती वाणी भी अनुष्टुभ् होता है। और इस लौकिकादि शब्दस्वरूप वाणी के द्वारा ही सभी भूत प्रयाण करते हैं, वाणी से ही उत्पन्न होते हैं। ऐसा होने से वाणीरूप यह अनुष्टुप् गायत्र्यादि अन्य सभी छन्दों से परम है।

ससागरां सपर्वतां सप्तद्वीपां वसुन्धरां तत्साम्नः प्रथमं पादं जानीयात्। यक्षगन्धर्वाप्सरोगणसेवितमन्तरिक्षं तत्साम्नो द्वितीयं पादं जानीयात्। वसुरुद्रादित्यैः सर्वदेवैः सेवितं दिवं तत्साम्नस्तृतीयं पादं जानीयात्। ब्रह्मस्वरूपं निरञ्जनं परमं व्योमकं तत्साम्नश्चतुर्थं पादं जानीयात्। यो जानीते सोऽमृतत्वं च गच्छति ॥3॥

सागरों और पर्वतों सहित सात द्वीपवाली पृथ्वी इस सामरूपी नारसिंह मन्त्रराज के प्रथम पाद से उत्पन्न हुई है, ऐसा जानना चाहिए। यक्षों, गन्धर्वों, अप्सराओं के समूह आदि द्वारा सेवित जो अन्तरिक्ष है, वह इस सामरूप नारसिंह मन्त्रराज के दूसरे पाद से उत्पन्न हुए हैं, ऐसा जानना चाहिए। वसुओं, रुद्रों, आदित्यों और सभी देवों के द्वारा सेवित जो स्वर्गलोक है, वह इस सामरूप मन्त्रराज के तीसरे पाद से उत्पन्न हुआ है, ऐसा समझना चाहिए और ब्रह्मस्वरूप, निरंजन, परम व्यापक जो है, वह इस मन्त्रराज साम का चौथा पाद है, ऐसा जानना चाहिए। जो ऐसा जानता है वह अमृतत्व को प्राप्त होता है।

ऋग्यजुःसामाथर्वाणश्चत्वारो वेदाः। साङ्गाः सशाखाश्चत्वारो पादा भवन्ति ॥4॥

ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद—ये चारों वेद, सभी शिक्षाकल्पादि छः अंगों के साथ और सभी शाखाओं के साथ इस मन्त्रराज के चार पाद होते हैं।

किं ध्यानं किं दैवतं कान्यङ्गानि कानि दैवतानि किं छन्दः कः ऋषिरिति ॥5॥

ध्यान क्या व कैसे होता है ? अर्थात् इस मन्त्रराज का ध्यान किस तरह किया जा सकता है ? इस मन्त्रराज के अधिष्ठाता देव कौन हैं ? इसके अंग कौन-कौन से हैं ? इसका देवगण कौन-सा है ? इस मन्त्रराज का छन्द कौन-सा है ? और इस मन्त्र के ऋषि कौन है ?

स होवाच प्रजापतिः । स यो ह वै सावित्रस्याष्टाक्षरं पदं श्रियाऽभिषिक्तं तत्साम्नोऽङ्गं वेद श्रिया हैवाभिषिच्यते । सर्वे वेदाः प्रणवादिकास्तं प्रणवं तत्साम्नोऽङ्गं वेद स त्रींल्लोकाञ्जयति । चतुर्विंशत्यक्षरा महालक्ष्मीर्यजुस्तत्साम्नोऽङ्गं वेद स आयुर्यशःकीर्तिज्ञानैश्वर्यवान् भवति । तस्मादिदं साङ्गं साम जानीयाद्यो जानीते सोऽमृतत्वं च गच्छति ॥6॥

तब प्रजापति ने कहा—'श्री' से अभिषिक्त अर्थात् बीजरूप '**श्रीं**' से अभिषिक्त जो अष्टाक्षरी गायत्रीमन्त्र है, वह साम का प्रथम अंग है। ऐसा जो जानता है, वह श्री से (लक्ष्मी से) सम्पन्न होता है। सभी मन्त्रों के आदि में प्रणव का उच्चारण किया जाता है वह आदि प्रणव (ओंकार) साम का अंग है, ऐसा जो समझता है, वह मनुष्य लक्ष्मी के द्वारा अभिषिक्त किया जाता है और तीनों लोकों के ऊपर जय प्राप्त करता है। जो ज्ञानी जन चौबीस अक्षरवाले महालक्ष्मी के मन्त्र को यजुर्वेद का स्वरूप समझता है, वह यश, आयु, कीर्ति, ज्ञान, ऐश्वर्य से युक्त होता है। इसलिए इस सामरूप मन्त्रराज को अंगों के साथ जान लेना चाहिए। जो इस तरह जान लेता है, वह अमृतत्व को प्राप्त करता है।

सावित्रीं प्रणवं यजुर्लक्ष्मीं स्त्रीशूद्राय नेच्छन्ति । द्वात्रिंशदक्षरं साम जानीयाद्यो जानीते सोऽमृतत्वं च गच्छति । सावित्रीं लक्ष्मीं यजुः प्रणवं यदि जानीयात्स्त्रीशूद्रः स मृतोऽधो गच्छति तस्मात्सर्वदा नाचष्टे यद्याचष्टे स आचार्यस्तेनैव स मृतोऽधो गच्छति ॥7॥

ज्ञानी लोग इस सावित्रीमन्त्र को, प्रणव को, यजुर्मन्त्रों को और लक्ष्मीमन्त्र को स्त्री तथा शूद्र को देना नहीं चाहते। बत्तीस अक्षरवाले साम को जानना चाहिए। जो यह जानता है, वह अमृतत्व को प्राप्त करता है। गायत्री (सावित्री) मन्त्र, लक्ष्मीमन्त्र, यजुस्, और प्रणवमन्त्र को यदि स्त्री या शूद्र जान ले, तब तो उसका मरण और अधःपतन ही होगा। इसलिए आचार्य को उनके आगे इन मन्त्रों का उच्चारण नहीं करना चाहिए। अगर आचार्य उनके आगे बोलेगा तो उसका मरण और अधःपतन होगा।

स होवाच प्रजापतिः । अग्निर्वै देवा इदं सर्वं विश्वा भूतानि प्राणा वा इन्द्रियाणि पशवोऽन्नममृतं सम्राट् स्वराड् विराट् तत्साम्नः प्रथमं पादं जानीयात् । ऋग्यजुःसामाथर्वरूपः सूर्योऽन्तरादित्ये हिरण्मयः पुरुषस्तत् साम्नो द्वितीयं पादं जानीयात् । य ओषधीनां प्रभुर्भवति ताराधिपतिः सोमस्तत्साम्नस्तृतीयं पादं जानीयात् । स ब्रह्मा स शिवः स हरिः सेन्द्रः सोऽक्षरः परमः स्वराट् तत्साम्नश्चतुर्थं पादं जानीयाद्यो जानीते सोऽमृतत्वं च गच्छति ॥8॥

वह प्रजापति बोले—अग्नि, सभी देव, यह जो कुछ है वह सब, सभी प्राणी, सभी प्राण, सभी इन्द्रियाँ, पशु, अन्न, अमृत, सम्राट्, स्वराट् है—उसे इस साम का प्रथम पाद जानना चाहिए। ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, सूर्य, सूर्य के भीतर स्थित हिरण्मय पुरुष—यह सब उस साम का द्वितीय पाद जानना चाहिए। जो औषधियों का स्वामी है ऐसा ताराओं का अधिपति सोम है उसे साम का तीसरा पाद जानना चाहिए और जो ब्रह्मा है, जो शिव है, जो हरि है, इन्द्र है वह अक्षर परम स्वराट् है, उसे साम का चौथा पाद जानना चाहिए। जो मनुष्य इस प्रकार से जानता है वह अमृतत्व को प्राप्त करता है।

उग्रं प्रथमस्याद्यं ज्वलं द्वितीयस्याद्यं नृसिं तृतीयस्याद्यं मृत्युं चतुर्थस्याद्यं साम जानीयाद्यो जानीते सोऽमृतत्वं च गच्छति । तस्मादिदं साम यत्र कुत्रचिन्नाचष्टे । यदि दातुमपेक्षते पुत्राय शुश्रूषवे दास्यत्यन्यस्मै शिष्याय वा चेति ॥9॥

इस मन्त्रराज के प्रथम चरण के आरम्भ का अंश (स्वरं) 'उग्रम्' कहलाता है। दूसरे चरण का आद्य अंश (स्वर) 'ज्वलम्' कहलाता है। तृतीय चरण का आद्य अंश (स्वर) 'नृसिम्' कहलाता है, और चौथे चरण का आद्य अंश (स्वर) 'मृत्युम्' कहलाता है। ये चारों चरण (क्रमशः उग्रम्, ज्वलम्, नृसिम्, और मृत्युम्) साम के ही रूप हैं। इसलिए इसे जहाँ-तहाँ उच्चारित नहीं करना चाहिए। जो इस प्रकार जानता है, वह अमृतत्व को प्राप्त करता है। इस साम को यदि किसी को देना हो, तो सेवा करने वाले पुत्र को या शिष्य को ही देना चाहिए (अनधिकारियों को नहीं)।

क्षीरोदार्णवशायिनं नृकेसरिं योगिध्येयं परमं पदं साम जानीयाद्यो जानीते सोऽमृतत्वं च गच्छति ॥10॥

क्षीरसागर में शयन करने वाले नरकेसरी का ही रूप है, योगियों के लिए वे ही ध्यान के विषय हैं। वह परम पद है, वही परम साम है, ऐसा जानना चाहिए। ऐसा जो जानता है, वह अमृतत्व को प्राप्त होता है।

वीरं प्रथमस्याद्यार्धान्त्यं तं स द्वितीयस्याद्यार्धान्त्यं हंभी तृतीयस्याद्यार्धान्त्य मृत्युं चतुर्थस्याद्यार्धान्त्यं साम जानीयाद्यो जानीते सोऽमृतत्वं च गच्छति । तस्मादिदं साम येन केनचिदाचार्यमुखेन यो जानीते स तेनैव शरीरेण संसारान्मुच्यते मोचयति मुमुक्षुर्भवति । जपात्तेनैव शरीरेण देवतादर्शनं करोति । तस्मादिदमेव मुख्यद्वारं कलौ नान्येषां भवति तस्मादिदं साङ्गं साम जानीयाद्यो जानीते सोऽमृतत्वं च गच्छति ॥11॥

इस मंत्रराज के प्रथम चरण के पूर्वार्ध के अन्त्य भाग को 'वीरम्' कहते हैं। इसके द्वितीय चरण के पूर्वार्ध के अन्त्य भाग को 'हंभी' कहते हैं। इसके तीसरे चरण के पूर्वार्ध के अन्त्य भाग को 'मृत्युम्' कहते हैं और चौथे चरण के पूर्वार्ध के अन्त्य भाग को 'साम' कहते हैं। इस साम रूप मन्त्र को इस तरह जानना चाहिए। इस तरह जो जानता है, वह अमृतत्व को प्राप्त करता है। इसलिए इस सामरूप मन्त्रराज को किसी एक आचार्य के मुख से सुनकर जो जानता है, वह उसी शरीर से संसार से मुक्त हो जाता है। और दूसरों को भी मुक्त कर देता है। वह मुमुक्षु हो जाता है। इसके जप से उसी शरीर से वह देवताओं के दर्शन कर सकता है। इसलिए कलियुग में यही मुक्ति का बड़ा द्वार है। अन्य लोगों के लिए और कोई द्वार नहीं है। इसलिए सभी अंगपूर्वक यही सामरूप मन्त्रराज जानना चाहिए। जो यह जानता है, वह अमृतत्व को प्राप्त कर लेता है।

ऋतं सत्यं परं ब्रह्म पुरुषं नरकेसरीविग्रहं कृष्णपिङ्गलम् । ऊर्ध्वरेतं विरूपाक्षं शङ्करं नीललोहितम् । उमापतिः पशुपतिः पिनाकी ह्यमितद्युतिः । ईशानः सर्वविद्यानामीश्वरः सर्वभूतानां ब्रह्माधिपतिर्ब्रह्मणोऽधिपतिर्यो वै यजुर्वेदवाच्यस्तं हि साम जानीयाद्यो जानीते सोऽमृतत्वं च गच्छति ॥12॥

साक्षात् ऋतस्वरूप, सत्यरूप परब्रह्म पुरुष नरसिंह ही हैं। उनका वर्ण कृष्ण और पिंगल (भूरा) है, वे ऊर्ध्वरेता हैं, विकराल आँखों वाले हैं फिर भी कल्याणकारी हैं। उमापति, पशुपति, पिनाकी, भी वही हैं। उनका तेज नापा नहीं जा सकता। सब विद्याओं के वे स्वामी हैं। सभी प्राणियों के वे अधिपति हैं। वे ब्रह्माजी के भी अधिपति हैं, ब्रह्म के भी अधिपति हैं वे नृसिंह यजुर्वेद के वाच्यार्थ हैं, उन्हीं को साम जानना चाहिए। जो ऐसा जानता है वह अमृतत्व को प्राप्त हो जाता है।

महा प्रथमान्तार्धस्याद्यं र्वतो द्वितीयान्तार्धस्याद्यं षणं तृतीयान्तार्धस्याद्यं नमा चतुर्थान्तार्धस्याद्यं साम जानीयाद्यो जानीते सोऽमृतत्वं च गच्छति। तस्मादिदं साम सच्चिदानन्दमयं परं ब्रह्म तमेवं विद्वानमृत इह भवति। तस्मादिदं साङ्गं साम जानीयाद्यो जानीते सोऽमृतत्वं च गच्छति ॥13॥

इस अनुष्टुभ् मन्त्रराज के प्रथम चरण के उत्तरार्ध का आदि भाग 'महा' कहलाता है। इसके द्वितीय चरण के उत्तरार्ध के आदि भाग को 'र्वतो' कहते हैं। और इसके तृतीय चरण के उत्तरार्ध का आदि भाग 'षणम्' कहा जाता है और चतुर्थ चरण के उत्तरार्ध के प्रथम भाग को 'नमा' कहते हैं। इस प्रकार साम को जानना चाहिए। जो इस प्रकार साम को जानता है, वह अमृतत्व को प्राप्त करता है। इसीलिए यह साम सच्चिदानन्दमय परब्रह्म ही है। इसे इस प्रकार जानने वाला यहाँ अमृतत्व को प्राप्त होता है। उसे ऐसा ही जानना चाहिए। जो इसे ऐसा जानता है, वह अमृतत्व को प्राप्त होता है।

विश्वसृज एतेन वै विश्वमिदमसृजन्त। यद् विश्वमसृजन्त तस्माद् विश्वसृजो विश्वमेनाननु प्रजायते। ब्रह्मणः सलोकतां सार्ष्टितां सायुज्यं यान्ति। तस्मादिदं साङ्गं साम जानीयाद्यो जानीते सोऽमृतत्वं च गच्छति ॥14॥

इसी मन्त्रराज से विश्व का सर्जन करने वाले प्रजापतियों ने सृष्टि का निर्माण किया है। इसीलिए तो उन्हें 'विश्वसृष्टा' कहा जाता है। यह सारा विश्व उनके पीछे ही उत्पन्न हुआ है। इसे जानने वाले ब्रह्मा के लोक में ब्रह्मा के साथ सायुज्य प्राप्त करते हैं। ऐसे ही उसे जानना चाहिए। यह जानने वाला अमृतत्व को प्राप्त करता है।

विष्णुं प्रथमान्त्यं मुखं द्वितीयान्त्यं भद्रं तृतीयान्त्यं म्यहं चतुर्थान्त्यं साम जानीयाद्यो जानीते सोऽमृतत्वं च गच्छति। योऽसौ वेद यदिदं किञ्चात्मनि ब्रह्मण्येवानुष्टुभं जानीयाद्यो जानीते सोऽमृतत्वं च गच्छति। स्त्रीपुंसयोर्वा। य इहैव स्थातुमपेक्षते तस्मै सर्वैश्वर्यं ददाति। यत्र कुत्रापि म्रियते देहान्ते देवाः परमं ब्रह्म तारकं व्याचष्टे येनासावमृतीभूत्वा सोऽमृतत्वं च गच्छति ॥15॥

इस मन्त्रराज के प्रथम चरण के अन्तिम पद को 'विष्णुम्' कहते हैं, द्वितीय चरण के अन्तिम पद को 'मुखम्' कहा जाता है, तृतीय चरण के अन्तिम पद को 'भद्रम्' कहा जाता है और चतुर्थ चरण के अन्तिम पद को 'म्यहम्' कहते हैं। इस प्रकार इस साम को जानना चाहिए। ऐसा जो जानता है, वह अमृतत्व को प्राप्त होता है। जो यह प्रजापति है वही यह जानता है। जो यहाँ सब कुछ है, सब की आत्मा रूप ब्रह्म में यह अनुष्टुभ् रहा है – अनुस्यूत है, ऐसा जानना चाहिए। और ऐसा जो जानता है वह अमृतत्व को प्राप्त कर लेता है। चाहे वह स्त्री हो या पुरुष हो। इन मन्त्रज्ञों में जो यहाँ रहने की

इच्छा करते हों, उन्हें भगवान् नृसिंह सब ऐश्वर्य देते हैं। और वह जहाँ कहीं भी मरता है, भगवान् नृसिंह उसे वहाँ पर ही परब्रह्मरूप तारक मन्त्र का बोध कराते हैं, जिससे वह अमृतरूप होकर अमृतत्व को प्राप्त करता है।

तस्मादिदं साममध्यगं जपति तस्मादिदं सामाङ्गं प्रजापतिस्तस्मादिदं सामाङ्गं प्रजापतिर्य एवं वेदेति महोपनिषत्। य एतां महोपनिषदं वेद स कृतपुरश्चरणो महाविष्णुर्भवति महाविष्णुर्भवति ॥16॥

इति प्रथमोपनिषत्।
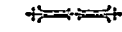
इसलिए सामों में अवस्थित इस तारकमन्त्र का जप मनुष्य करता है। साम का अंगरूप यह मन्त्रराज स्वयं प्रजापति का ही स्वरूप है। इसलिए यह साम का अंग प्रजापति का ही रूप है, ऐसा जानने वाला मनुष्य महोपनिषत् को जान लेता है। परमतत्त्व को यथार्थ बताने वाली इस महोपनिषत् को जानने वाला साधक पुरश्चरण किया हुआ ही माना जाता है। वह महाविष्णुरूप ही हो जाता है। वाक्य की पुनरुक्ति प्रथमोपनिषत् की समाप्ति को सूचित करती है।

यहाँ प्रथम उपनिषत् पूर्ण होती है।

द्वितीयोपनिषत्

देवा ह वै मृत्योः पाप्मभ्यः संसाराच्च बिभीयुस्ते प्रजापतिमुपाधावंस्तेभ्य एवं मन्त्रराजं नारसिंहमानुष्टुभं प्रायच्छत्तेन वै ते मृत्युमजयन्। पाप्मानं चातरन्संसारं चातरंस्तस्माद्यो मृत्योः पाप्मभ्यः संसाराच्च बिभीयात्स एतं मन्त्रराजं नारसिंहमानुष्टुभं प्रतिगृह्णीयात्स मृत्युं जयति पाप्मानं जयति संसारं तरति ॥1॥

पहले के काल में देवलोग मृत्यु से, पापों से और संसार से भयभीत हुए और दौड़कर प्रजापति के पास पहुँच गए। प्रजापति ने उन्हें यह नारसिंह मन्त्रराज, जो अनुष्टुभ् में निबद्ध था, दिया। उसी से वे मृत्यु को जीत गए और पाप को एवं संसार को पार कर गए। इसलिए जो कोई मनुष्य मृत्यु से, पाप से और संसार से डर जाए उसे इस अनुष्टुभ् में बँधा हुआ नारसिंह मन्त्रराज ग्रहण करना चाहिए। जिससे वह मृत्यु को जीत सकता है, पाप को जीत सकता है और संसार को पार कर सकता है।

तस्य ह वै प्रणवस्य या पूर्वा मात्रा पृथिव्यकारः स ऋग्भिर्ऋग्वेदो ब्रह्मा वसवो गायत्री गार्हपत्यः स साम्नः प्रथमः पादो भवति। द्वितीयाऽन्तरिक्षं स उकारः स यजुर्भिर्यजुर्वेदो विष्णुः रुद्रास्त्रिष्टुब्दक्षिणाग्निः स साम्नो द्वितीयः पादो भवति। तृतीया द्यौः स मकारः स सामभिः सामवेदो रुद्रा आदित्या जगत्याहवनीयः स साम्नस्तृतीयः पादो भवति। याऽवसानेऽस्य चतुर्थ्यर्धमात्रा सा सोमलोक ओङ्कारः सोऽथर्वणैर्मन्त्रैरथर्ववेदः संवर्तकोऽग्निर्मरुतो विराडेकर्षिर्भास्वती स्मृता सा साम्नश्चतुर्थो पादो भवति ॥2॥

इस मन्त्रराज का अंगभूत जो प्रणव (ओंकार) है उसकी पहली मात्रा 'अ'कार है। इसका लोक पृथ्वी है, वह (अकार) ऋचाओं में रक्षित ऋग्वेद वाला है – इसका वेद ऋग्वेद है, इसका देव ब्रह्मा है, इसका देवगण आठ वसु और गायत्री है, इसका अग्नि गार्हपत्य है, यह साममन्त्र का प्रथम चरण बनता है। प्रणव की दूसरी मात्रा 'उ'कार है। इसका लोक अन्तरिक्ष है, यजुषों से रक्षित यजुर्वेद उसका वेद है, उसका देव विष्णु है, उसका देवगण ग्यारह रुद्र हैं, उसका छन्द त्रिष्टुभ है, उसका अग्नि दक्षिणाग्नि है। इस तरह वह साम का द्वितीय चरण बनता है। प्रणव की तीसरी मात्रा 'म'कार है। इसका लोक द्यौ: है, इसका वेद साममन्त्रों से पोषित सामवेद है, उसका देव रुद्र है, उसका देवगण बारह आदित्य हैं, उसका छन्द जगती है, उसका अग्नि आहवनीय है, इस तरह यह साममन्त्र का तीसरा चरण बनता है। और इसके अन्त में जो चौथी आधी मात्रा है, वह सोमलोक वाला ओंकार है। वह अथर्वणमन्त्रों से पोषित अथर्ववेद वाला है (अर्थात् उसका लोक सोमलोक, उसका वेद अथर्ववेद है), उसका अग्नि संवर्तक है, उनचास मरुत् उसके देव हैं, विराट् उसका छन्द है। इसके एक ही ऋषि हैं (ब्रह्मा)। वह स्वप्रकाशित मात्रा ही इस मन्त्रराज का चौथा पाद होता है।

अष्टाक्षरः प्रथमः पादो भवत्यष्टाक्षरास्त्रयः पादा भवन्त्येवं द्वात्रिंशद-क्षराणि सम्पद्यन्ते। द्वात्रिंशदक्षरा वा अनुष्टुब्भवत्यनुष्टुभा सर्वमिदं सृष्ट-मनुष्टुभा सर्वमुपसंहृतम् ॥3॥

अनुष्टुभ् छन्द के प्रथम चरण में आठ अक्षर होते हैं, ऐसे ही आठ-आठ अक्षरों वाले अन्य तीन पाद भी होते हैं। इस प्रकार कुल मिलाकर बत्तीस अक्षर होते हैं। अनुष्टुभ् छन्द बत्तीस अक्षरों वाला होता है। इस अनुष्टुभ् के द्वारा ही यह सब निर्मित होता है और अनुष्टुभ् द्वारा ही सभी का उपसंहार भी होता है।

तस्य हैतस्य पञ्चाङ्गानि भवन्ति चत्वारः पादाश्चत्वार्यङ्गानि भवन्ति। सप्रणवं सर्वं पञ्चमं भवति। हृदयाय नमः शिरसे स्वाहा शिखायै वषट् कवचाय हुं अस्त्राय फडिति प्रथमं प्रथमेन संयुज्यते द्वितीयं द्वितीयेन तृतीयं तृतीयेन चतुर्थं चतुर्थेन पञ्चमं पञ्चमेन व्यतिषजति व्यतिषिक्ता वा इमे लोकास्तस्माद् व्यतिषिक्तान्यङ्गानि भवन्ति ॥4॥

इस मन्त्र के पाँच अंग होते हैं। चार बताए गए पाद ही इसके चार अंग हैं और पाँचवाँ अंग प्रणव होता है, प्रणव से ही मन्त्र पूरा होता है, अत: वह पाँचवाँ अंग होता है। मन्त्र के इन पाँच अंगों से शरीर के पाँच अंगों का संयोजन करना चाहिए। शरीर के पाँच अंग ये हैं—हृदय, सिर, शिखा, बाहुमूल और ललाट। अत: क्रमश: "हृदयाय नम:, शिरसे स्वाहा, शिखायै वषट्, कवचाय हुम् और अस्त्राय फट्"—इनके साथ अनुष्टुप् के अंगों का संयोग करना चाहिए। प्रथम से प्रथम, द्वितीय से द्वितीय, तृतीय से तृतीय, चौथे से चौथे और पाँचवें से पाँचवें का संयोग बिठाना चाहिए। सभी लोक जिस प्रकार परस्परावलम्बी हैं, इसी प्रकार ये भी परस्पर सम्बद्ध हैं।

ओमित्येतदक्षरमिदं सर्वं तस्मात्प्रत्यक्षरमुभयत ओङ्कारो भवति। अक्षराणां न्यासमुपदिशन्ति ब्रह्मवादिनः ॥5॥

यह जो कुछ भी है, वह ओंकार रूप यह अक्षर ही है। इसलिए अनुष्टुप् के हर एक अक्षर से

पहले और बाद में ओंकार का उच्चारण करके सम्पुट बनाना चाहिए। ब्रह्म को जानने वाले इन अक्षरों का शरीर के अंगों में न्यास करने का उपदेश देते हैं।

तस्य ह वा उग्रं प्रथमं स्थानं जानीयाद्यो जानीते सोऽमृतत्वं च गच्छति।' घोरं द्वितीयं स्थानं महाविष्णुं तृतीयं स्थानं ज्वलन्तं चतुर्थं स्थानं सर्वतोमुखं पञ्चमं स्थानं नृसिंहं षष्ठं स्थानं भीषणं सप्तमं स्थानं भद्रमष्टमं स्थानं मृत्युमृत्युं नवमं स्थानं नमामि दशमं स्थानमहमेकादशं स्थानं जानीयाद्यो जानीते सोऽमृतत्वं च गच्छति ॥6॥

इस मन्त्र का जो प्रथम 'उग्र' पद है, वह पहला स्थान है, ऐसा जानना चाहिए। ऐसा जो जानता है वह अमृतत्व को प्राप्त होता है। 'घोरम्' द्वितीय स्थान है, 'महाविष्णुम्' तृतीय स्थान है, 'ज्वलन्तम्' चौथा स्थान है, 'सर्वतोमुखम्' पाँचवाँ स्थान है, 'नृसिंहम्' छठा स्थान है, 'भीषणम्' सातवाँ स्थान है, 'भद्रम्' आठवाँ स्थान है, 'मृत्युमृत्युम्' नवाँ स्थान है, 'नमामि' दसवाँ स्थान है, 'अहम्' ग्यारहवाँ स्थान है—ऐसा जानना चाहिए। ऐसा जो जानता है, वह अमृतत्व को प्राप्त करता है। (पूरा मन्त्र इस तरह बनेगा—'ॐ उग्रं घोरं महाविष्णुं ज्वलन्तं सर्वतोमुखम्। नृसिंहं भीषणं भद्रं मृत्युमृत्युं नमाम्यहम्')।

एकादशपदा वा अनुष्टुब्भवत्यनुष्टुभा सर्वमिदं सृष्टमनुष्टुभा सर्वमिदमुप-संहृतं तस्मात्सर्वमानुष्टुभं जानीयाद्यो जानीते सोऽमृतत्वं च गच्छति ॥7॥

अथवा यह एकादश पदों वाली अनुष्टुप् होती है। ऐसी इस अनुष्टुप् से ही यह सबकुछ उत्पन्न हुआ है और सब कुछ उपसंहृत भी होता है। इसलिए यह सब कुछ अनुष्टुभ्मय ही (आनुष्टुभ् ही) है, ऐसा जानना चाहिए। और जो ऐसा जानता है, वह अमृतत्व को प्राप्त कर लेता है।

देवा ह वै प्रजापतिमब्रुवन्नथ कस्मादुच्यत उग्रमिति। स होवाच प्रजापतिर्यस्मात्स्वमहिम्ना सर्वांल्लोकान्सर्वान्देवान्सर्वानात्मनः सर्वाणि भूतान्युद्गृह्णात्यजस्रं सृजति विसृजति वासयत्युद्ग्राह्यत उद्गृह्यते। स्तुहि श्रुतं गर्तसदं युवानं मृगं न भीममुपहत्नुमुग्रम्। मृडा जरित्रे रुद्र स्तवानो अन्यं ते अस्मन्निवपन्तु सेनाः ॥ तस्मादुच्यत उग्र इति ॥8॥

देवों ने प्रजापति (ब्रह्मा) से पूछा—'उन्हें 'उग्र' क्यों कहा जाता है?' तब वह (प्रजापति बोले)—इसीलिए कि वह (नृसिंह भगवान्) अपनी महिमा से सभी लोकों को, सभी देवों को, सभी आत्माओं को और सभी भूतों को (प्राणियों को) उठाकर अर्थात् ग्रहण कर निरन्तर उनका सर्जन किया करते हैं, विसर्जन भी किया करते हैं, पूरी सृष्टि को अपने में निविष्ट करा लेते हैं – लीन कर देते हैं, वही संसार का अनुग्रह करते और करवाते हैं। इसीलिए उन्हें उग्र कहा गया है। ऋग्वेद में कहा गया है कि श्रुतियाँ जिनकी प्रार्थना करती हैं उन्हीं परमात्मा की स्तुति करो। वह परमात्मा सिंह का रूप धारण किए हुए होने पर भी भयंकर नहीं हैं। वह साधकों के सम्मुख जाकर अनुग्रह करने वाले हैं और वह 'उग्र' हैं (क्योंकि दुष्टों का वे संहार करते हैं)। हे नृसिंह! हम आपकी स्तुति करते हैं, आप हमारा कल्याण करें। आपकी सेना हम पर आक्रमण न करके अन्यत्र ही चली जाए। इसीलिए उसे 'उग्र' कहा जाता है। अथवा सर्वत्र जरणशील कालात्मा ऐसे आपको मैं नमस्कार करता हूँ।

अथ कस्मादुच्यते वीरमिति। यस्मात्स्वमहिम्ना सर्वांल्लोकान्सर्वान्दे-वान्सर्वानात्मनः सर्वाणि भूतानि विरमति विरामयत्यजस्रं सृजति

विसृजयति वासयति। यतो वीरः कर्मण्यो सुदक्षो युक्तग्रावा जायते देवकामस्तस्मादुच्यते वीरमिति ॥9॥

देवों ने फिर पूछा—'हे भगवन्! उन्हें 'वीरम्' क्यों कहा गया है?' प्रजापति ने इसका उत्तर दिया कि—वह नृसिंह भगवान् सभी लोकों को, सभी देवों को, सभी आत्माओं को, सब प्राणियों को अपनी महिमा से क्रीडा करवाते भी हैं और उनसे क्रीडा करते भी हैं। वे ऐसा निरन्तर किया ही करते हैं। वे उन्हें बनाते हैं, उनका उपसंहार (नाश) भी करते हैं और उन्हें निवासस्थान भी देते हैं। ऋग्वेद में भी कहा गया है कि, चूँकि वे कर्मठ हैं, वह दक्ष हैं, वह देवों को उत्पन्न करने की कामना करने वाले हैं, सोमयाग में पाषाणयुक्त होकर वे अध्वर्यु आदि के रूप में सोम निकालने में सुदक्ष हैं, इसलिए वे 'वीर' कहलाते हैं।

अथ कस्मादुच्यते महाविष्णुमिति। यस्मात्स्वमहिम्ना सर्वांल्लोकान्सर्वान्देवान्सर्वानात्मनः सर्वाणि भूतानि व्याप्नोति व्यापयति स्नेहो यथा पललपिण्डं शान्तमूलमोतं प्रोतमनुव्याप्तं व्यतिषिक्तो व्याप्यते व्यापयति। यस्मान्न जातः परो अन्यो अस्ति य आविवेश भुवनानि विश्वा। प्रजापतिः प्रजया संविदानः त्रीणि ज्योतींषि सचते स षोडशीं तस्मादुच्यते महाविष्णुमिति ॥10॥

देवों ने आगे पूछा—तब 'महाविष्णुम्' ऐसा विशेषण उन्हें क्यों दिया गया है? ब्रह्माजी ने उत्तर दिया—इसलिए कि वे अपनी महिमा से सभी लोकों को, सभी देवों को, सभी आत्माओं को, सभी प्राणियों को व्याप्त करके स्थित हैं, और अपने ज्ञान से उपासकों में व्यापकता लाते हैं। जिस प्रकार मांसपिण्ड में चिकनाहट व्याप्त होकर रहती है, वैसे ही वे सावयव शरीर में सर्वत्र व्याप्त रहते हैं। यह जगत् उन्हीं से ओत-प्रोत होने से प्रलयकाल में उन्हीं में लीन भी हो जाता है। ऋचा कहती है कि इससे भिन्न चारों भुवनों को व्याप्त करके रहने वाला कोई भी उत्पन्न नहीं हुआ। वे ही प्रजाओं के स्वामी हैं, वे ही प्रजाओं के द्वारा पूजित होते हैं। वह नृसिंह तीनों प्रकार की ज्योतियों में सोलह कलाओं से युक्त होकर छाए रहते है (व्याप्त रहते हैं), इसीलिए उन्हें 'महाविष्णुम्' ऐसा विशेषण दिया गया है।

अथ कस्मादुच्यते ज्वलन्तमिति। यस्मात्स्वमहिम्ना सर्वांल्लोकान्सर्वान्देवान् सर्वानात्मनः सर्वाणि भूतानि स्वतेजसा ज्वलति ज्वलयति ज्वाल्यते ज्वालयते। सविता प्रसविता दीप्तो दीपयन्दीप्यमानः ज्वलञ्ज्वलिता तपन्वितपन्सम्पतन्रोचंनो रोचमानः शोभनः शोभमानः कल्याणस्तस्मादुच्यते ज्वलन्तमिति ॥11॥

तब देवों ने आगे पूछा—'तो उन्हें 'ज्वलन्तम्' यह विशेषण क्यों दिया गया है?' तब प्रजापति ब्रह्मा ने कहा कि—वे अपनी महिमा से सभी लोकों को, सभी देवों को, सभी आत्माओं को सभी प्राणियों को अपने तेज के द्वारा स्वयं जलते हैं, जलाते हैं, ज्वलित किए जाते हैं, ज्वलित कराए जाते हैं, अर्थात् वह स्वयंप्रकाश हैं, अन्यप्रकाशक हैं, उनसे प्रकाशित हुआ जाता है, इनके द्वारा अन्य प्रकाशित किए और कराए जाते हैं। ऋचा कहती है कि वे ही सविता के रूप में प्रकाश फैलानेवाले और उत्पन्न करनेवाले हैं। वे स्वयं तपते हैं और दूसरों को तपाते हैं, स्वयं तेजोयुक्त होकर अन्यों को तेजोयुक्त बनाते हैं। स्वयं परमकल्याणकारक हैं, स्वयं शोभमान हैं, और अन्यों से कल्याण करवाते हैं और अन्यों को शोभित करते हैं, इसीलिए ये 'ज्वलन्तम्' हैं।

अथ कस्मादुच्यते सर्वतोमुखमिति। यस्मात्स्वमहिम्ना सर्वांल्लोकान्सर्वान्देवान्सर्वानात्मनः सर्वाणि भूतानि स्वयमनिन्द्रियोऽपि सर्वतः पश्यति सर्वतः शृणोति सर्वतो गच्छति सर्वत्र आदत्ते सर्वगः सर्वगतस्तिष्ठति। एकः पुरस्ताद्य इदं बभूव यतो बभूव भुवनस्य गोपाः। यमप्येति भुवनं सांपराये नमामि तमहं सर्वतोमुखमिति॥ तस्मादुच्यते सर्वतोमुखमिति ॥12॥

देवों ने फिर आगे पूछा—'उन्हें 'सर्वतोमुखम्' विशेषण क्यों दिया गया है?' तब प्रजापति ने कहा—वे अपनी महिमा से सभी लोकों को, सभी देवों को, सभी आत्माओं को और सभी प्राणियों को, स्वयं इन्द्रियरहित होते हुए भी चारों ओर देखते हैं, चारों ओर से सुन सकते हैं, चारों ओर जा सकते हैं, चारों ओर से सब कुछ ले सकते हैं, वे सभी जगह रहने वाले हैं और समानरूप से रहने वाले हैं। ऋचा कहती है कि वे ही एकमात्र इस जगत् के पहले विद्यमान थे। भुवनों के रक्षक उस एक तत्त्व से ही यह जगत् उत्पन्न हुआ है। और प्रलयकाल में इन्हीं में यह सब कुछ विलीन हो जाता है। उस 'सर्वतोमुख' को मैं प्रणाम करता हूँ। इसीलिए इसे 'सर्वतोमुखम्' कहा गया है।

अथ कस्मादुच्यते नृसिंहमिति। यस्मात्सर्वेषां भूतानां ना वीर्यतमः श्रेष्ठतमश्च सिंहो वीर्यतमः श्रेष्ठतमश्च। तस्मान्नृसिंह आसीत्परमेश्वरो जगद्धितं वा एतद्रूपं यदक्षरं भवति। प्रतद्विष्णुः स्तवते वीर्याय मृगो न भीमः कुचरो गिरिष्ठाः। यस्योरुषु त्रिषु विक्रमणेष्वधिक्षियन्ति भुवनानि विश्वा। तस्मादुच्यते नृसिंहमिति ॥13॥

देवों ने आगे पूछा—'तो उन्हें 'नृसिंहम्' विशेषण क्यों दिया गया?' प्रजापति ब्रह्मा ने उत्तर दिया कि—सभी जीवों में मनुष्य ही (नर ही) वीर्यतम – सबसे ज्यादा बलशाली और उत्तम भी है और सभी प्राणियों में सिंह ही सबसे ज्यादा शक्तिशाली और श्रेष्ठ माना जाता है। इसलिए भगवान् ने नरसिंह का रूप धारण किया था। अथवा यह रूप जगत् के हित के लिए ही है। यह स्वरूप अक्षर (अविनाशी) है। ऋचा कहती है—'ये भगवान् विष्णु सिंह का स्वरूप धारण करके भक्तों के द्वारा स्तवनीय बनते हैं। भक्तजन शक्ति प्राप्त करने के लिए इस स्वरूप की स्तुति करते हैं। भक्तों के लिए सिंह का रूप धारण करते हुए भी वे भयंकर नहीं होते। ये भगवान् पृथ्वी पर यथेच्छ भ्रमण करते हैं, पर्वतों के ऊपर भी रहते हैं। उनके तीन विशाल कदमों में तीनों लोक समा जाते हैं, इसलिए 'नृसिंहम्' कहा गया है।

अथ कस्मादुच्यते भीषणमिति। यस्माद् भीषणं यस्य रूपं दृष्ट्वा सर्वे लोकाः सर्वे देवाः सर्वाणि भूतानि भीत्या पलायन्ते स्वयं यतः कुतश्च न बिभेति। भीषाऽस्माद्वातः पवते भीषोदेति सूर्यः। भीषाऽस्मादग्निश्चेन्द्रश्च मृत्युर्धावति पञ्चमः। तस्मादुच्यते भीषणमिति ॥14॥

देवों ने फिर पूछा—'तब उन्हें 'भीषणम्' विशेषण क्यों दिया गया है?' ब्रह्माजी ने उत्तर दिया कि—इनके भयंकर रूप को देखकर सभी लोक, सभी देव और सभी प्राणी भय से भागने लगते हैं, पर वह स्वयं किसी से और कहीं से भयभीत नहीं होते। श्रुति कहती है कि इसके भय से ही वायु प्रवहनशील होता है, इन्हीं के भय से सूर्य उदित होता है। अग्नि और इन्द्र भी इन्हीं के भय से अपने-अपने काम जल्दी से (दौड़कर) करते हैं और पाँचवाँ मृत्यु भी इन्हीं के डर से दौड़ता रहता है। इसलिए 'भीषणम्' कहा गया है।

अथ कस्मादुच्यते भद्रमिति । यस्मात्स्वयं भद्रो भूत्वा सर्वदा भद्रं ददाति । रोचनो रोचमानः शोभनो शोभमानः कल्याणः । भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः । स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवांसस्तनूभिर्व्यशेम देवहितं यदायुः । तस्मादुच्यते भद्रमिति ॥15॥

देवों ने पूछा—'तब उन्हें 'भद्रम्' क्यों कहा गया है ?' प्रजापति बोले कि—वह स्वयं भद्र (मंगल) रूप होकर दूसरों का मंगल करनेवाले हैं। वे स्वयं कान्तिमान है और दूसरों को कान्तिमान बनाने वाले भी हैं। स्वयं शोभन है और अन्यों को शोभायमान करनेवाले भी हैं। श्रुतिवचन है कि—'हम अपने कानों से सभी शुभ शब्दों को सुनें। हे देवो ! यज्ञ करनेवाले हम अपनी आँखों से शुभ वस्तुओं को देखें और अपने स्वस्थ शरीरों के द्वारा दैव द्वारा दी हुई आयु भोगें।' इसीलिए उन्हें 'भद्रम्' कहा गया है।

अथ कस्मादुच्यते मृत्युमृत्युमिति । यस्मात्स्वमहिम्ना स्वभक्तानां स्मृत एव मृत्युमपमृत्युं च मारयति । य आत्मदा बलदा यस्य विश्वं उपासते प्रशिषं यस्य देवाः । यस्य छायामृतं यो मृत्युमुत्युः कस्मै देवाय हविषा विधेम । तस्मादुच्यते मृत्युमृत्युमिति ॥16॥

देवों ने आगे पूछा—'उन्हें 'मृत्युमृत्युम्' ऐसा क्यों कहा गया है ?' ब्रह्माजी ने उत्तर दिया कि—अपनी महिमा से, वे अपने भक्तों के स्मरण करते ही उनकी मृत्यु वा अपमृत्यु को मार डालते हैं। श्रुति कहती है कि जो भक्तों को अपना दान (अपना स्वरूपदान) देते हैं और अपने से विमुखों को अपने सम्मुख लाने का बल देते है (अथवा जो भक्तों को आध्यात्मिक और भौतिक – दोनों शक्तियाँ देते हैं) जिनके आशीष के लिए सभी देव जिनकी उपासना करते हैं, उस मृत्यु के मृत्युरूप नृसिंह की छाया ही अमृत है, अर्थात् नृसिंह के साथ अमृत है (मोक्ष का अविनाभाव सम्बन्ध है)। ऐसे परमात्मा के प्रति हम आहुतियों से होम करते हैं। इस आधार पर उसे 'मृत्युमृत्युम्' कहा गया है।

अथ कस्मादुच्यते नमामीति । यस्माद्यं सर्वे देवा नमन्ति मुमुक्षवो ब्रह्मवादिनश्च । प्र नूनं ब्रह्मणस्पतिर्मन्त्रं वदत्युक्थ्यम् । यस्मिन्निन्द्रो वरुणो मित्रो अर्यमा देवा ओकांसि चक्रिरे । तस्मादुच्यते नमामीति ॥17॥

देवों ने पूछा—'तो 'नमामि' ऐसा क्यों कहा गया है ?' ब्रह्माजी ने उत्तर दिया—इसलिए कि इन्हें सभी देवलोग, ब्रह्मवादी और मुमुक्षु नमस्कार करते हैं। वेद का वचन है कि—वेदों के पालयिता ब्रह्माजी अवश्य ही उनकी स्तुति का उक्थ्यमन्त्र बोलते हैं कि जिसमें इन्द्र, वरुण, मित्र, अर्यमा और अन्य सभी देव अपना निवास करते हैं। (भावार्थ यह है कि ब्रह्माजी ऐसा स्तुतिमन्त्र बोलते हैं कि जिसमें इन्द्रादि देवों की स्तुतियों का स्वयं ही समावेश हो जाता है)। इसीलिए 'नमामि' ऐसा उनके लिए कहा गया है।

अथ कस्मादुच्यतेऽहममिति । अहमस्मि प्रथमजा ऋतस्य पूर्वं देवेभ्यो अमृतस्य नाभिः । यो मा ददाति स इ देवभावाः । अहमन्नमन्नमदन्तमद्मि । अहं विश्वं भुवनमभ्यभवां सुवर्णज्योतीः । य एवं वेदेति महोपनिषत् ॥18॥

इति द्वितीयोपनिषत् ।
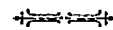
देवलोग पूछते हैं—'उन्हें 'अहम्' क्यों कहा गया है ?' ब्रह्माजी कहते हैं कि—वेद कहता है कि मैं इस सृष्टिरूपी शाश्वत यज्ञ से पहले उत्पन्न हुआ था। मैं अमृत का उत्पत्तिस्थान हूँ। मैं ही तो अन्न हूँ। मैं सभी ज्योतियों और शक्तियों को देने वाला हूँ। जो सत्पात्रों को दान करते हैं उससे सबका कल्याण होता है। पर जो स्वयं अकेले ही अन्न खाते हैं, उन्हें मैं खा जाता हूँ।' इस ज्ञान को जानने वाले ही सच्चे साधक हैं। यह महोपनिषत् है।

यहाँ दूसरी उपनिषत् पूरी हुई।

तृतीयोपनिषत्

देवा ह वै प्रजापतिमब्रुवन्नानुष्टुभस्य मन्त्रराजस्य नारसिंहस्य शक्तिं बीजं नो ब्रूहि भगव इति ॥1॥

देवलोग प्रजापति ब्रह्माजी के पास गए और पूछने लगे कि—'हे भगवन्! इस अनुष्टुभ् छन्दवाले नृसिंह भगवान् के मन्त्रराज की शक्ति और उसके बीज के बारे में हमें बताइए'।

स होवाच प्रजापतिर्माया वा एषा नारसिंही सर्वमिदं सृजति सर्वमिदं रक्षति सर्वमिदं संहरति । तस्मान्मायामेतां शक्तिं विद्याद्य एतां मायां शक्तिं वेद स पाप्मानं तरति स मृत्युं तरति स संसारं तरति सोऽमृतत्वं च गच्छति महतीं श्रियमश्नुते ॥2॥

तब प्रजापति ने उन देवों से कहा कि यह जो नरसिंह की माया है, वह सभी कुछ उत्पन्न करती है, सभी का रक्षण करती है और सभी का संहार करती है। इसलिए इस माया को उनकी शक्ति समझना चाहिए। इस माया को जो जानता है, वह पाप से मुक्त हो जाता है, मृत्यु को पार कर लेता है, वह इस संसार को तैर जाता है और अमृतत्व को प्राप्त करता है एवं सभी प्रकार की समृद्धि का उपभोग करता है।

मीमांसन्ते ब्रह्मवादिनो ह्रस्वा दीर्घा प्लुता चेति । यदि ह्रस्वा भवति सर्वं पाप्मानं दहत्यमृतत्वं च गच्छति यदि दीर्घा भवति महतीं श्रियमाप्नोत्यमृतत्वं च गच्छति यदि प्लुता भवति ज्ञानवान्भवत्यमृतत्वं च गच्छति ॥3॥

ब्रह्मवादी लोग विचार-विमर्श करते हैं कि यह नारसिंही माया ह्रस्व है या दीर्घ है या प्लुत है ? यदि ह्रस्व है तो वह पाप को जला देती है और इससे साधक को अमृतत्व की उपलब्धि होती है। यदि दीर्घ है तो साधक महान् ऐश्वर्य को भोगता है और अमृतत्व को प्राप्त करता है। अगर प्लुत है तो साधक ज्ञानवान् हो जाता है और अमृतत्व को प्राप्त करता है।

तदेतदृषिणोक्तं निदर्शनम्—स ईं पाहि य ऋजीषी तरुत्रः श्रियं लक्ष्मीमौपलामम्बिकां गां षष्ठीं च यामिन्द्रसेनेत्युदाहुः । तां विद्यां ब्रह्मयोनिं सरूपामिहायुषे शरणं प्रपद्ये ॥4॥

इस विषय में ऋषि कहते हैं—'तुम नृसिंह स्वयं मायारहित होकर भी भक्तजनों का रक्षण करते हो। मैं तुम्हारी उस ईश्वरात्मक मायारूप शक्ति श्रीस्वरूपा, लक्ष्मीस्वरूपा, (श्रीमन्त्रानुगत धनधान्यरूपिणी तथा

लक्ष्मीमन्त्रानुगत हस्ति-अश्व-रथादि रूपिणी) एवं हिमालयपुत्री अम्बिका (भवानी), वाणीरूपिणी, उस ब्रह्मयोनिरूप विद्या और छठी जो इन्द्रसेना कही जाती है उसकी शरण में आया हूं।

सर्वेषां वा एतद्भूतानामाकाशः परायणं सर्वाणि ह वा इमानि भूतान्या-काशादेव जायन्त आकाशादेव जातानि जीवन्त्याकाशं प्रयन्त्यभि-संविशन्ति तस्मादाकाशं बीजं विद्यात् ॥5॥

इन सभी भूतों का आकाश ही आश्रयीभूत है, ये सभी भूत आकाश से ही उत्पन्न होते हैं। आकाश से उत्पन्न होकर ही जीते हैं और अन्त में आकाश में ही विलीन हो जाते हैं। इसलिए आकाश ही को बीज समझना चाहिए।

तदेतदृषिणोक्तं निदर्शनम्—हंसः शुचिषद्वसुरन्तरिक्षसद्धोता वेदिषद-तिथिर्दुरोणासत्। नृषद्वरसदृतसद्व्योमसदब्जा गोजा ऋतजा अद्रिजा ऋतं महत्। य एवं वेदेति महोपनिषत् ॥6॥

इति तृतीयोपनिषत्।
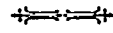
इसके बारे में ऋषि का यह कथन है कि यह जो प्रत्यगात्माभिन्न परमात्मारूप हंस है, वह शुचिसद् – हृदयादि पवित्र प्रदेशों में रहने वाला है, वसुरूप है, अन्तरिक्ष में रहने वाला है। वही होता और वही अतिथि है, वही पृथ्वीलोक में और वही उससे श्रेष्ठ स्वर्गलोक में भी है। सर्वश्रेष्ठ सत्यलोक में भी उन्हीं का निवास है। आकाश में भी वही रहते हैं। सबसे उत्तम परमतत्त्व के रूप में पृथ्वी, जल, पर्वत और सभी सत्कार्यों में वे ही आविर्भूत होते हैं। इस प्रकार ज्ञान लेने से उपर्युक्त फल प्राप्त होता है। यही महोपनिषद् है।

यहाँ तृतीय उपनिषत् पूरी होती है।

चतुर्थोपनिषत्

देवा ह वै प्रजापतिमब्रुवन्नानुष्टुभस्य मन्त्रराजस्य नारसिंहस्याङ्गमन्त्रान्नो ब्रूहि भगव इति ॥1॥

देवलोग प्रजापति के पास गए और पूछने लगे कि हे भगवन्! इस आनुष्टुभ नारसिंह मन्त्रराज के अंगभूत मन्त्रों को बताइए।

स होवाच प्रजापतिः प्रणवं सावित्रीं यजुर्लक्ष्मीं नृसिंहगायत्रीमित्यङ्गानि जानीयाद्यो जानीते सोऽमृतत्वं च गच्छति ॥2॥

तब प्रजापति ने कहा—प्रणव को, सावित्री को (ॐकार को और गायत्रीमन्त्र को), यजुर्लक्ष्मी को और नृसिंहगायत्री को इसके अंग जानना चाहिए। जो यह जानता है वह अमृतत्व को प्राप्त होता है।

ओमित्येतदक्षरमिदं सर्वं तस्योपव्याख्यानं भूतं भवद् भविष्यदिति सर्व-मोंकार एव यच्चान्यत्त्रिकालातीतं तदप्योंकार एव सर्वं ह्येतद् ब्रह्माय-मात्मा ब्रह्म सोऽयमात्मा चतुष्पात् ॥3॥

'ओम्' यह एक अक्षर (अविनाशी) ही सब कुछ है, उसी की महिमा से यह भूत, वर्तमान और भविष्य है। जो तीनों कालों से अतीत है वह भी तो ओंकार ही है। यह सब कुछ ब्रह्म है। यह आत्मा भी ब्रह्म ही है। ऐसा यह आत्मा चार पाद वाला है।

जागरितस्थानो बहिःप्रज्ञः सप्ताङ्ग एकोनविंशतिमुखः स्थूलभुग्वैश्वानरः प्रथमः पादः ॥4॥

जागरित स्थान में रहने वाला, बाहर के दृश्य जगत् को विषय करने वाला, सात लोकरूपी सात अंगों वाला, उन्नीस मुखवाला (5 ज्ञानेन्द्रिय, 5 कर्मेन्द्रिय, 5 प्राण और 4 अन्तःकरण मिलाकर उन्नीस मुख) और भौतिक जगत् के भोगों को भोगने वाला जो है और यह विश्व जिसका शरीर है, ऐसा वैश्वानर नामधारी इसका प्रथम पाद है।

स्वप्नस्थानोऽन्तःप्रज्ञः सप्ताङ्ग एकोनविंशतिमुखः प्रविविक्तभुक् तैजसो द्वितीयः पादः ॥5॥

और जिसका निवासस्थान स्वप्न में है, जो सूक्ष्म जगत् को व्याप्त कर रहा है, जिसका ज्ञान आन्तरिक है अर्थात् जिसका ज्ञान सूक्ष्म जगत् को व्याप्त करता है, जिसके पूर्वोक्त प्रकार से ही सात अंग हैं (सात अंग—द्युलोक, वायु, आकाश, सूर्य, पृथ्वी, जल और आहवनीय अग्नि–भी लिए जा सकते हैं।) और जिसके पूर्वोक्त प्रकार से ही उन्नीस अंग हैं, जो सूक्ष्म जगत् के भोगों को भोगता और पालता है, वह तैजस (हिरण्यगर्भ) इस आत्मा का दूसरा पाद है।

यत्र सुप्तो न कंचन कामं कामयते न कंचन स्वप्नं पश्यति तत्सुप्तम्। सुषुप्तस्थान एकीभूतः प्रज्ञानघन एवानन्दमयो ह्यानन्दभुक् चेतोमुखः प्राज्ञस्तृतीयः पादः। एष सर्वेश्वर एष सर्वज्ञ एषोऽन्तर्याम्येष योनिः सर्वस्य प्रभवाप्ययौ हि भूतानाम् ॥6॥

जहाँ पर सोया हुआ पुरुष किसी प्रकार का स्वप्न नहीं देखता, वह सुषुप्तावस्था है। इस सुषुप्त स्थान में एकीभूत (प्रलयकाल में समष्टि चैतन्य भी सभी के साथ एकीभूत हो जाता है—यह यहाँ उपलक्षित है), सर्वांगपूर्ण विज्ञानस्वरूप, केवल आनन्दमय आनन्द को ही भोगनेवाला जो चिन्मय मुखवाला है, वह इस आत्मा का तीसरा पाद है। (आत्मा - ब्रह्म ही है और उसे यहाँ नृसिंह कहा गया है इसलिए नृसिंह भगवान का यह तृतीय पाद है, ऐसा कह सकते हैं)। यह ब्रह्मात्मा या ये परमात्मा नृसिंह सब कुछ जानने वाले हैं, सर्वान्तर्यामी हैं, जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और लय के कारण भी वही हैं।

नान्तःप्रज्ञं न बहिःप्रज्ञं नोभयतःप्रज्ञं न प्रज्ञं नाप्रज्ञं न प्रज्ञानघन-मदृष्टमव्यवहार्यमग्राह्यमलक्षणमचिन्त्यमव्यपदेश्यमैकात्म्यप्रत्ययसारं प्रपञ्चोपशमं शान्तं शिवमद्वैतं चतुर्थं मन्यन्ते स आत्मा स विज्ञेयः ॥7॥

जो स्थूलज्ञानरहित, जो सूक्ष्मज्ञानरहित, स्थूल-सूक्ष्म-उभयज्ञानरहित, ज्ञातृत्व और अज्ञातृत्व से विहीन, जो प्रज्ञान का घनीभूत रूप भी नहीं है, जो अदृश्य है, जो किसी की पकड़ के बाहर है, जो व्यवहार में नहीं लाया जा सकता, जो निराकार, अचिन्त्य, अनिर्वाच्य, जो आत्मसत्ता के रूप में ही अनुभूत हो सकता है, जो प्रपंचरहित है, शान्त है, मंगलकारी है, एक (अद्वितीय) है, वह इस आत्मरूप ब्रह्म का (नृसिंहरूप ब्रह्म का) चौथा पाद है, ऐसा ज्ञानी लोग मानते हैं। वही आत्मा है और वही जानने लायक है।

अथ सावित्री । गायत्र्या यजुषा प्रोक्ता तया सर्वमिदं व्याप्तं घृणिरिति द्वे अक्षरे सूर्य इति त्रीणि आदित्य इति त्रीणि एतद्वै सावित्र्यस्याष्टाक्षरं पदं श्रियाभिषिक्तं य एवं वेद श्रिया हैवाभिषिच्यते ॥8॥

अब सावित्रीमन्त्र के विषय में कहा जाता है—यह यजुर्वेद का मन्त्र है और गायत्री छन्द में निबद्ध है। इस मन्त्र में 'घृणि' ये दो अक्षर हैं, 'सूर्य' (सूरिय) ये तीन अक्षर हैं और 'आदित्य' ये तीन अक्षर हैं। इस मन्त्र से सबकुछ व्याप्त है। आठ अक्षरों वाला यह सावित्री मन्त्र श्री से विभूषित है (विभूतिमण्डित है)। यह जो जानता है वह विभूति से शोभित हो जाता है।

तदेतदृचाभ्युक्तम्—
ऋचो अक्षरे परमे व्योमन्यस्मिन्देवा अधिविश्वे निषेदुः ।
यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति य इत्तद्विदुस्त इमे समासते ॥ इति ॥9॥

यह बात ऋचा में भी कही गई है—सभी ऋचाएँ स्वयंप्रकाश शाश्वत ब्रह्मरूपी परमाकाश में ही प्रतिष्ठित हैं। सभी देवताएँ भी वहाँ निवास करती हैं। जो मनुष्य यह नहीं जानता उसे ऋचाओं के केवल पाठ से भला क्या लाभ हो सकता है ? (कुछ नहीं)। जो यह रहस्य जान लेते है वे आनन्दपूर्वक वहाँ (परमधाम में) प्रविष्ट हो जाते हैं।

न ह वा एतस्यर्चा न यजुषा न साम्नाऽर्थोऽस्ति यः सावित्रं वेदेति ॥10॥

जिसने इस सावित्रीमन्त्र को जान लिया है, उसे फिर ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेद की कोई आवश्यकता नहीं पड़ती (अर्थात् इस सावित्रीमन्त्र में ही सब कुछ समाविष्ट है)।

ॐ भूर्लक्ष्मीर्भुवर्लक्ष्मीः स्वर्लक्ष्मीः कालकर्णी तन्नो महालक्ष्मीः प्रचोदयात् इत्येषा वै महालक्ष्मीर्यजुर्गायत्री चतुर्विंशत्यक्षरा भवति ॥11॥

जो भूलोक की लक्ष्मी, भुवः लोक की लक्ष्मी, स्वः लोक की लक्ष्मी, सर्वैश्वर्यमयी लक्ष्मी है, उसका नाम कालकर्णी है। ऐसी महालक्ष्मी हमको उत्तम कार्यों की ओर प्रेरित करे। यह यजुर्वेद में कही गई गायत्री महालक्ष्मी की गायत्री है, और इसमें चौबीस अक्षर होते हैं।

गायत्री वा इदं सर्वं यदिदं किंच तस्माद्य एतां महालक्ष्मीं 'याजुषीं' वेद महतीं श्रियमश्नुते ॥12॥

यह जो सब-कुछ है, वह गायत्री ही है। इसलिए जो मनुष्य इस महालक्ष्मी की यजुर्वेद कथित गायत्री को जानता है वह महान् ऐश्वर्य को भोगता है।

ॐ नृसिंहाय विद्महे। वज्रनखाय धीमहि। तन्नः सिंहः प्रचोदयात्। इत्येषा वै नृसिंहगायत्री देवानां वेदानां निदानं भवति य एवं वेद निदानवान्भवति ॥13॥

हम भगवान् नृसिंह को जानते हैं। वज्र जैसे नखवाले उस देव का हम ध्यान करते हैं। वह नृसिंह हमें प्रेरित करें। यह नृसिंह गायत्री है। यह देवों और वेदों का कारण (मूलस्रोत) है। जो यह जानता है वह उस मूलस्रोत को अर्थात् परमात्मा को ही प्राप्त कर लेता है।

देवा ह वै प्रजापतिमब्रुवन्नथ कैर्मन्त्रैः स्तुतो देवः प्रीतो भवति स्वात्मानं दर्शयति तन्नो ब्रूहि भगवन्निति ॥14॥

देवलोग प्रजापति ब्रह्माजी से पूछने लगे—'हे भगवन् ! किन-किन मन्त्रों के द्वारा स्तुति करने से ये देव (नृसिंह) प्रसन्न होते हैं और अपने स्वरूप को हमारे सामने प्रकट करते हैं, वह हमें बताइए'।

स होवाच प्रजापतिः ।
ॐ यो ह वै नृसिंहो देवो भगवान्यश्च ब्रह्मा भूर्भुवः स्वस्तस्मै वै नमो नमः (1)
ॐ यो ह वै नृसिंहो देवो भगवान्यश्च विष्णुः " " "(2)
ॐ यो ह वै नृसिंहो देवो भगवान्यश्च महेश्वरः " " "(3)
ॐ यो ह वै नृसिंहो देवो भगवान्यश्च पुरुषः " " "(4)
ॐ यो ह वै नृसिंहो देवो भगवान्यश्चेश्वरः " " "(5)
ॐ यो ह वै नृसिंहो देवो भगवान्या सरस्वती " " "(6)
ॐ यो ह वै नृसिंहो देवो भगवान्या श्रीः " " "(7)
ॐ यो ह वै नृसिंहो देवो भगवान्या गौरी " " "(8)
ॐ यो ह वै नृसिंहो देवो भगवान्या प्रकृतिः " " "(9)
ॐ यो ह वै नृसिंहो देवो भगवान्या विद्या " " "(10)
ॐ यो ह वै नृसिंहो देवो भगवान्यश्चोंकारः " " "(11)
ॐ यो ह वै नृसिंहो देवो भगवान्याश्चतस्त्रोऽर्धमात्राः " "(12)
ॐ यो ह वै नृसिंहो देवो भगवान्ये वेदाः साङ्गा सशाखाः सेतिहासाः (13)
ॐ यो ह वै नृसिंहो देवो भगवान्ये च पंचाग्नयः " " "(14)
ॐ यो ह वै नृसिंहो देवो भगवान्याः सप्त महाव्याहृतयः" "(15)
ॐ यो ह वै नृसिंहो देवो भगवान्ये चाष्टौ लोकपालाः " "(16)
ॐ यो ह वै नृसिंहो देवो भगवान्ये चाष्टौ वसवः" " "(17)
ॐ यो ह वै नृसिंहो देवो भगवान्ये चैकादश रुद्राः " "(18)
ॐ यो ह वै नृसिंहो देवो भगवान्ये च द्वादशादित्याः " "(19)
ॐ यो ह वै नृसिंहो देवो भगवान्ये चाष्टौ ग्रहाः " " "(20)
ॐ यो ह वै नृसिंहो देवो भगवान्यानि च पंच महाभूतानि "(21)
ॐ यो ह वै नृसिंहो देवो भगवान्यश्च कालः " " "(22)
ॐ यो ह वै नृसिंहो देवो भगवान्यश्च मनुः " " "(23)
ॐ यो ह वै नृसिंहो देवो भगवान्यश्च मृत्युः " " "(24)
ॐ यो ह वै नृसिंहो देवो भगवान्यश्च यमः " " "(25)
ॐ यो ह वै नृसिंहो देवो भगवान्यश्चान्तकः " " "(26)
ॐ यो ह वै नृसिंहो देवो भगवान्यश्च प्राणः " " "(27)
ॐ यो ह वै नृसिंहो देवो भगवान्यश्च सूर्यः " " "(28)
ॐ यो ह वै नृसिंहो देवो भगवान्यश्च सोमः " " "(29)
ॐ यो ह वै नृसिंहो देवो भगवान्यश्च विराट् पुरुषः " "(30)
ॐ यो ह वै नृसिंहो देवो भगवान्यश्च जीवः " " "(31)
ॐ यो ह वै नृसिंहो देवो भगवान्यश्च सर्वम् " " "(32)
इति द्वात्रिंशत् इति तान्प्रजापतिरब्रवीदेतैर्मन्त्रैर्नित्यं देवं स्तुवध्वम् ॥15॥

यह सुनकर प्रजापति ने कहा—इस मन्त्रराज के हर एक मन्त्र में बत्तीस अक्षर हैं और हर एक मन्त्र में एक स्तुति है। इन्ही मन्त्रों से स्तुति करनी चाहिए।

[यहाँ ऊपर बत्तीस मन्त्र प्रजापति ने बताए हैं। नृसिंह भगवान् को अनुष्टुभ् का स्वरूप माना गया है। ये बत्तीस मन्त्र इसलिए हैं कि अनुष्टुभ् छंद के बत्तीस अक्षर होते हैं। और एक-एक अक्षर के लिए एक मन्त्र दिया गया है अर्थात् अनुष्टुभ् नृसिंहमय होने से उसका एक-एक अक्षर नृसिंह स्वरूप ही है। और ऐसा करके उनकी बत्तीसों शक्तिधाराओं के साथ तादात्म्य प्राप्त करना इसका हेतु है।]

ततो देवः प्रीतो भवति स्वात्मानं दर्शयति। तस्माद्य एतैर्मन्त्रैर्नित्यं देवं स्तौति स देवं पश्यति। सोऽमृतत्वं च गच्छति य एवं वेदेति महोपनिषत् ॥16॥

इति चतुर्थोपनिषत्।
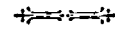
ऐसा करने से देव (नृसिंह भगवान्) प्रसन्न होते हैं और अपना स्वरूप प्रकट करते हैं। इसलिए जो मनुष्य इन (बत्तीस) मन्त्रों द्वारा हमेशा उन देव की स्तुति करता है वह उनका साक्षात्कार करता है और अमृतत्व को प्राप्त करता है, ऐसा जो जानता है वह भी अमृतत्व को प्राप्त होता है। ऐसी यह महोपनिषत् है।

यहाँ पर चतुर्थ उपनिषत् पूरी हुई।

पञ्चमोपनिषत्

देवा ह वै प्रजापतिमब्रुवन्नानुष्टुभस्य मन्त्रराजस्य नारसिंहस्य महाचक्रं नाम चक्रं नो ब्रूहि भगव इति सार्वकामिकं मोक्षद्वारं यद्योगिन उपदिशन्ति ॥1॥

एक समय देवताओं ने प्रजापति से प्रश्न किया—हे भगवन्! अनुष्टुप् में निबद्ध नारसिंह मन्त्रराज जो 'महाचक्र' नाम से कहा जाता है, उसके बारे में हमें कहिए। वह महाचक्र सभी कामनाओं को पूरा करने वाला है और योगी लोग उसे मोक्ष का द्वार बताते हैं।

स होवाच प्रजापतिः षडक्षरं वा एतत्सुदर्शनं महाचक्रं तस्मात्षडरं भवति। षट् पत्रं चक्रं भवति। षड्वा ऋतवः। ऋतुभिः सम्मितं भवति। मध्ये नाभिर्भवति। नाभ्यां वा एते अराः प्रतिष्ठिता मायया एतत्सर्वं वेष्टितं भवति। नात्मानं माया स्पृशति तस्मान्मायया बहिर्वेष्टितं भवति ॥2॥

तब ब्रह्माजी बोले—यह सुदर्शन नाम का महाचक्र छः अक्षरों वाला होने से छः अरों वाला है। छः पत्रों वाला चक्र होता है। अथवा जो छः ऋतुएँ हैं, वे अरों के समान हैं। इसके मध्य में नाभि है और उस नाभि में ये अरे प्रतिष्ठित हुए हैं। मायारूपी नेमि से यह सब घिरा हुआ रहता है। माया आत्मा का स्पर्श नहीं करती। माया की चेष्टा बाहर की ही होती है।

अथाष्टाक्षरमष्टपत्रं चक्रं भवत्यष्टाक्षरा हि गायत्री। गायत्र्या सम्मितं भवति। बहिर्मायया वेष्टितं भवति। क्षेत्रं क्षेत्रं वै मायैषा सम्पद्यते ॥3॥

इसके बाद आठ अक्षर वाला अष्टदलीय चक्र भी हो सकता है क्योंकि गायत्री के प्रत्येक चरण में आठ अक्षर होते हैं, अतः क्योंकि आठ अरों की समानता गायत्री के आठ अक्षरों से होती है। इसको भी माया ने बाहर से घेर रखा है। माया तो प्रत्येक क्षेत्र में व्याप्त ही होती है।

अथ द्वादशारं द्वादशपत्रं चक्रं भवति। द्वादशाक्षरा वै जगती। जगत्या सम्मितं भवति बहिर्मायया वेष्टितं भवति ॥4॥

फिर बारह अरों वाला द्वादशदलीय चक्र बनता है। जगती छन्द बारह अक्षरों वाला है अतः जगती के साथ इसका इस तरह साम्य माना जाता है। यह चक्र भी बाहर से ही माया से आवेष्टित होता है।

अथ षोडशारं षोडशपत्रं चक्रं भवति। षोडशकलो वै पुरुषः। पुरुष एवेदं सर्वं पुरुषेण सम्मितं भवति। मायया बहिर्वेष्टितं भवति ॥5॥

फिर सोलह अरों वाला षोडशदलीय चक्र भी बनता है। वह पुरुष सोलह कलाओं वाला है। यह सब कुछ वह पुरुष ही है। पुरुष के सोलह कला वाला होने से इस षोडशदलीय चक्र के साथ उसका तादात्म्य बैठता है। यह चक्र भी बाहर से माया द्वारा वेष्टित होता है।

अथ द्वात्रिंशदरं द्वात्रिंशत्पत्रं चक्रं भवति। द्वात्रिंशदक्षरा वा अनुष्टुब्भवत्यनुष्टुभा सर्वमिदं भवति। मायया बहिर्वेष्टितं भवति ॥6॥

और भी बत्तीस अरों वाला बत्तीस दलों वाला भी चक्र होता है। क्योंकि अनुष्टुप् बत्तीस अक्षरों वाला छन्द है। अनुष्टुभ् से ही सब कुछ उत्पन्न होता है। यह भी माया के द्वारा बाहर से ही आवेष्टित है।

अरैर्वा एतत्सुबद्धं भवति। वेदा वा एते अराः। पत्रैर्वा एतत्सर्वतः परिक्रामति। छन्दांसि वा पत्राणि ॥7॥

यह चक्र अरों से अच्छी तरह बँधा हुआ रहता है। वेद ही इस चक्र के अरे हैं, छन्दरूपी पत्तों के द्वारा यह चारों ओर घूमता रहता है। छन्द ही इसके पत्ते हैं।

एतत्सुदर्शनं महाचक्रं तस्य मध्ये नाभ्यां तारकं यदक्षरं नारसिंहमेकाक्षरं तद् भवति। षट्सु पत्रेषु षडक्षरं सुदर्शनं भवत्यष्टसु पत्रेष्वष्टाक्षरं नारायणं भवति। द्वादशसु पत्रेषु द्वादशाक्षरं वासुदेवं भवति। षोडशसु पत्रेषु मातृकाद्याः सबिन्दुकाः षोडश स्वरा भवन्ति। द्वात्रिंशत्सु पत्रेषु द्वात्रिंशदक्षरं मन्त्रराजं नारसिंहमानुष्टुभं भवति। तद्वा एतत्सुदर्शनं नाम चक्रं महाचक्रं सर्वकामिकं मोक्षद्वारमृङ्मयं यजुर्मयं साममयं ब्रह्ममयममृतमयं भवति। तस्य पुरस्ताद्वसव आसते। रुद्रा दक्षिणत आदित्याः पश्चाद् विश्वेदेवा उत्तरतो महाविष्णुमहेश्वरा नाभ्यां सूर्याचन्द्रमसौ पार्श्वयोः ॥8॥

यह (बत्तीस दलों वाला) सुदर्शन महाचक्र है। इसके मध्य में नाभि में जो नारसिंह तारक है, वह एकाक्षर कहा जाता है। अर्थात् वहाँ एकाक्षरी तारक मन्त्र 'ॐ' का न्यास (स्थापन) करना चाहिए। षड्दलीय में छः अक्षर वाले सुदर्शन मन्त्र का न्यास (स्थापन) करना चाहिए। ('सहस्रार हुँ फट्'— यह षडक्षर मन्त्र है)। अष्टदलीय में अष्टाक्षरी नारायण मन्त्र का और बारह दल वाले में द्वादशाक्षरी

वासुदेव मन्त्र का न्यास (स्थापन) करना चाहिए। (अष्टाक्षरी मन्त्र है 'ॐ नमो नारायणाय' और द्वादशाक्षरी मन्त्र है, 'ॐ नमो भगवते वासुदेवाय')। सोलह दलों में प्रारंभ के बिन्दु सहित सोलह अक्षरों की स्थापना करनी चाहिए, और बत्तीस दलो में बत्तीस अक्षरवाले मन्त्रराज नारसिंह, जो कि अनुष्टुभ् में निबद्ध है, उसकी स्थापना करनी चाहिए। यह सुदर्शचक्र नाम का महाचक्र सर्वकामनाओं को पूर्ण करने वाला, मोक्ष का द्वाररूप, ऋग्वेदमय, यजुर्वेदमय, सामवेदमय, ब्रह्ममय और अमृतमय है। इसके आगे आठ वसु बैठते हैं, दक्षिण की ओर ग्यारह रुद्र बैठते हैं, पीछे बारह आदित्य बैठते हैं, उत्तर की ओर विश्वदेवा, नाभि में ब्रह्मा, विष्णु और महेश्वर तथा पार्श्वभागों में सूर्य, चन्द्र अवस्थित हैं।

तदेतदृचाभ्युक्तम्—
ऋचो अक्षरे परमे व्योमन्यस्मिन्देवा अधिविश्वे निषेदुः।
यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति य इत्तद्विदुस्त इमे समासत। इति ॥9॥

एक ऋचा यह भी कहती है कि परमाकाशस्वरूप भगवान् नृसिंह, जो कि अक्षर (अच्युत) हैं, उन्हीं में सभी वेद उपस्थित हैं, सभी देव भी तो उन्हीं में स्थित हैं। जो उन भगवान् को और उनके चक्र को नहीं जानता, वह वेदों को पढ़-पढ़कर भला क्या करेगा ? जो इसे (नृसिंह को) और उनके चक्र को जानते हैं, वे परमगति को प्राप्त करते हैं।

तदेतत्सुदर्शनं महाचक्रं बालो वा युवा वा वेद स महान्भवति। स गुरुः सर्वेषां मन्त्राणामुपदेष्टा भवत्यनुष्टुभा होमं कुर्यादनुष्टुभार्चनं कुर्यात्तदेतद्रक्षोघ्नं मृत्युतारकं गुरुणा लब्धं कण्ठे बाहौ शिखायां वा बध्नीत। सप्तद्वीपवती भूमिर्दक्षिणार्थं नावकल्पते तस्माच्छ्रद्धया या कांचिद् गां दद्यात्सा दक्षिणा भवति ॥10॥

इस सुदर्शन नाम के महाचक्र को जो कोई बालक या युवा जानता है, तो वह महान् हो जाता है। वह सभी मन्त्रों का गुरु और उपदेशक होता है। इस अनुष्टुभ् मन्त्र से होम करना चाहिए, इस अनुष्टुभ् मन्त्र की पूजा करनी चाहिए। यह राक्षसों को मारने वाला है और मृत्यु से पार ले जाने वाला है। गुरु के द्वारा ही प्राप्त इस सुदर्शन महाचक्र को कण्ठ में, हाथ में, या शिखा में बाँधना चाहिए। इस मन्त्र के मूल्य (दक्षिणा) में सप्त द्वीपवाली यह भूमि भी पर्याप्त नहीं हो सकती (कम होती है)। इसलिए इस मन्त्र के बदले में श्रद्धा से थोड़ी-सी भी दान में दी गई भूमि दक्षिणा होगी।

देवा ह वै प्रजापतिमब्रुवन्नानुष्टुभस्य मन्त्रराजस्य नारसिंहस्य फलं नो ब्रूहि भगव इति ॥11॥

देवताओं ने प्रजापति से पूछा—हे भगवन्। इस नारसिंह मन्त्रराज, जो अनुष्टुभ् में निबद्ध है इसका फल हमें बताइए।

स होवाच प्रजापतिर्य एतं मन्त्रराजं नारसिंहमानुष्टुभं नित्यमधीते सोऽग्निपूतो भवति स वायुपूतो भवति स आदित्यपूतो भवति स सोमपूतो भवति स सत्यपूतो भवति स ब्रह्मपूतो भवति स विष्णुपूतो भवति स रुद्रपूतो भवति स देवपूतो भवति। स सर्वपूतो भवति स सर्वपूतो भवति ॥12॥

प्रजापति ने कहा—जो मनुष्य इस नारसिंह आनुष्टुभ् मन्त्रराज को सर्वदा पढ़ता है वह अग्नि जैसा

पवित्र, वायु जैसा पवित्र, आदित्य जैसा पवित्र हो जाता है। वह सोम जैसा पवित्र, वह सत्य जैसा पवित्र हो जाता है, वह ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र जैसा पवित्र होता है, वह देवों की तरह पवित्र हो जाता हैं वह इन सबकी तरह पवित्र हो जाता है। [यहाँ 'जैसा' शब्द के स्थान पर 'के द्वारा' शब्द रखकर भी अनुवाद पढ़ा जा सकता है।]

य एतं मन्त्रराजं नारसिंहमानुष्टुभं नित्यमधीते स मृत्युं तरति स पाप्मानं तरति स ब्रह्महत्यां तरति स भ्रूणहत्यां तरति स वीरहत्यां तरति स सर्वहत्यां तरति स संसारं तरति स सर्वं तरति स सर्वं तरति ॥13॥

जो इस नारसिंह आनुष्टुभ् मन्त्रराज का हमेशा पाठ करता है वह मृत्यु को पार कर जाता है, वह पापों को पार कर लेता है, वह ब्रह्महत्या को पार कर लेता है, वह भ्रूणहत्या को पार कर लेता है, वह वीरहत्या को पार कर लेता है। वह सर्वहत्या से भी बच जाता है। वह संसार को पार कर लेता है। वह सबको तैर जाता है, वह सबको तैर जाता है।

य एतं मन्त्रराजं नारसिंहमानुष्टुभं नित्यमधीते सोऽग्निं स्तम्भयति स वायुं स्तम्भयति स आदित्यं स्तम्भयति स सोमं स्तम्भयति स उदकं स्तम्भयति स सर्वान्देवान्स्तम्भयति स सर्वान्ग्रहांस्तम्भयति स विषं स्तम्भयति स विषं स्तम्भयति ॥14॥

जो मनुष्य इस नारसिंह आनुष्टुभ् मन्त्रराज का नित्य पाठ करता है, वह अग्नि को स्थिर कर सकता है, वह वायु को रोक सकता है, वह सूर्य को स्थगित कर सकता है, वह सोम को अवरुद्ध कर सकता है, वह पानी के प्रवाह को रोक सकता है, वह सभी देवों को रोक सकता है, वह सभी ग्रहों को रोक सकता है, वह जहर को भी रोक सकता है, जहर को भी रोक सकता है।

य एतं मन्त्रराजं नारसिंहमानुष्टुभं नित्यमधीते स देवानाकर्षयति स यक्षानाकर्षयति स नागानाकर्षयति स ग्रहानाकर्षयति स मनुष्यानाकर्षयति स सर्वानाकर्षयति स सर्वानाकर्षयति ॥15॥

जो मनुष्य इस नारसिंह आनुष्टुभ् मन्त्रराज का सदैव पाठ करता है, वह देवों को आकर्षित करता है, वह यक्षों को आकर्षित करता है, वह नागों को आकर्षित करता है, वह ग्रहों को आकर्षित करता है, वह मनुष्यों को आकर्षित करता है, वह सबको आकर्षित करता है वह सबको ही आकर्षित कर लेता है।

य एतं मन्त्रराजं नारसिंहमानुष्टुभं नित्यमधीते स भूर्लोकं जयति स भुवर्लोकं जयति स स्वर्लोकं जयति स महर्लोकं जयति स जनोलोकं जयति स तपोलोकं जयति स सत्यलोकं जयति स सर्वाल्लोकाञ्जयति स सर्वाल्लोकाञ्जयति ॥16॥

जो कोई भी इस नारसिंह आनुष्टुभ् मन्त्रराज का नित्य ही पाठ करता है वह भूर्लोक को जीतता है, वह भुवर्लोक को जीतता है, वह स्वर्लोक को जीतता है, वह महर्लोक को जीतता है, वह जनलोक को जीतता है, वह तपोलोक को भी जीतता है, वह सत्यलोक को भी जीतता है, वह सभी लोकों को जीत लेता है, वह सभी लोकों को जीत लेता है।

स एतं मन्त्रराजं नारसिंहनानुष्टुभं नित्यमधीते सोऽग्निष्टोमेन यजते स उक्थ्येन यजते स षोडशिना यजते स वाजपेयेन यजते सोऽतिरात्रेण

यजते सोऽप्तोर्यामेण यजते सोऽश्वमेधेन यजते स सर्वैः क्रतुभिर्यजते स सर्वैः क्रतुभिर्यजते ॥17॥

जो कोई भी इस नारसिंह आनुष्टुभ् मन्त्रराज का प्रतिदिन पाठ करता है वह अग्निष्टोम से होम करता है, वह उक्थ्ययाग, षोडशीयाग, वाजपेयीयाग, अतिरात्रयाग, अप्तोर्यामयाग, अश्वमेधयाग करता है, वह सभी याग करता है, सभी याग वह करता है। अर्थात् सभी यज्ञों का फल उसे इस मन्त्रराज के पाठ से मिल ही जाता है।

य एतं मन्त्रराजं नारसिंहमानुष्टुभं नित्यमधीते स ऋचोऽधीते स यजूंष्यधीते स सामान्यधीते सोऽथर्वणमधीते सोऽङ्गिरसमधीते स शाखा अधीते स पुराणान्यधीते स कल्पानधीते स गाथामधीते स नाराशंसीरधीते स प्रणवमधीते स यः प्रणवमधीते स सर्वमधीते स सर्वमधीते ॥18॥

जो इस नारसिंह आनुष्टुभ् मन्त्रराज का प्रतिदिन पाठ करता है वह ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, आंगिरस, वेदों की सभी शाखाओं के स्वाध्याय का फल प्राप्त करता है वह पुराणों के, कल्पों के, गाथाओं के, नारायणी और प्रणव के स्वाध्याय फल प्राप्त करता है। अर्थात् इस मन्त्रराज के नियमित पाठ से वह सभी का अध्ययन कर लेता है।

अनुपनीतशतमेकमेकेनोपनीतेन तत्सममुपवीतशतमेकमेकेन गृहस्थेन तत्समं गृहस्थशतमेकमेकेन वानप्रस्थेन तत्समं वानप्रस्थशतमेकमेकेन यतिना तत्समं यतीनां तु शतं पूर्णमेकमेकेन रुद्रजापकेन तत्समं रुद्रजापकशतमेकमेकेनाथर्वशिरःशिखाध्यापकेन तत्सममथर्वशिरःशाखाध्यापकशतमेकमेकेन तापनीयोपनिषदध्यापकेन तत्समं तापनीयोपनिषदध्यापकशतमेकमेकेन मन्त्रराजाध्यापकेन तत्समम् ॥19॥

सौ उपवीत विहीन के बराबर एक उपवीती होता है, सौ उपवीतियों के तुल्य एक गृहस्थ होता है, सौ गृहस्थों के समान एक वानप्रस्थी होता है, सौ वानप्रस्थियों के समान एक यति होता है, सौ यतियों के समान एक रुद्रजापक होता है, सौ रुद्रजापकों के समान एक अथर्वशिरःशाखा का अध्यापक होता है, सौ अथर्वशिरःशाखाध्यापकों के तुल्य एक तापनीयोपनिषद् का अध्यापक होता है और सौ तापनीयोपनिषद् के अध्यापकों के समान एक इस मन्त्रराज का अध्यापक होता है। अर्थात् मन्त्रराजाध्यापक की महिमा सबसे बढ़ी-चढ़ी है।

तद्वा एतत्परमं धाम मन्त्रराजाध्यापकस्य यत्र न सूर्यस्तपति यत्र न वायुर्वाति यत्र न चन्द्रमा भाति यत्र न नक्षत्राणि भान्ति यत्र नाग्निर्दहति यत्र न मृत्युः प्रविशति यत्र न दुःखं सदानन्दं परमानन्दं शान्तं शाश्वतं सदाशिवं ब्रह्मादिवन्दितं योगिध्येयं परमं पदं यत्र गत्वा न निवर्तन्ते योगिनः ॥20॥

उस मन्त्रराज का अध्यापक (साधक) उस धाम को प्राप्त होता है जहाँ सूर्य नहीं तपता, वायु निर्वहण नहीं करता, चन्द्रमा नहीं प्रकाशित होता, नक्षत्र नहीं चमकते, अग्नि नहीं जलती, मृत्यु वहाँ आ नहीं सकती, वहाँ दुःख नहीं होता। सदानन्द, परमानन्द, शान्त, शाश्वत, सदाशिव ब्रह्मादि के द्वारा वन्दित, योगियों के ध्येय वह परमपद है, जहाँ जाकर योगि लोग फिर से यहाँ मर्त्यलोक में नहीं आते।

तदेतदृचाभ्युक्तम्—
तद्विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः। दिवीव चक्षुराततम्। तद्विप्रासो विपन्यवो जागृवांसः समिन्धते। विष्णोर्यत्परमं पदम्। तदेतन्निष्कामस्य भवति। तदेतन्निष्कामस्य भवति य एवं वेदेति महोपनिषत् ॥21॥

इति पञ्चमोपनिषत्।

इति नृसिंहपूर्वतापिन्युपनिषत्समाप्ता।
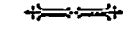
ऋचा कहती है—ज्ञानीलोग विष्णु के उस परमपद को सदैव देखते हैं, मानो आकाश में फैलाये गए नेत्र जैसा है। जागरूक विद्वान् स्तोतागण उस परमपद को प्रकाशित करते हैं। जो ऐसा जानता है, ऐसे निष्कामी को यह दिव्य पद प्राप्त होता है। यह महोपनिषत् है।

यहाँ पाँचवीं उपनिषत् पूरी हुई है और नृसिंहपूर्वतापनी भी पूर्ण हुई।

शान्तिपाठः

ॐ भद्रं कर्णेभिः..........देवहितं यदायुः। (पूर्ववत्)
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः॥

(28) नृसिंहोत्तरतापिन्युपनिषत्

(उपनिषत्परिचय)

परम्परा से अथर्ववेद से सम्बद्ध मानी गई इस उपनिषद् के नव खण्ड हैं। इसमें शुरू में माण्डूक्योपनिषद् की तरह की ॐकार और उसकी चार मात्राएँ तथा आत्मा के वैश्वानर, तैजस, प्राज्ञ और साक्षी—इन चार पादों का वर्णन आता है। बाद में आत्मा के साक्षी स्वरूप का प्रतिपादन है। आत्मा चक्षु आदि इन्द्रियों तथा मन, बुद्धि, अहंकारादि और प्राणों का केवल द्रष्टा ही है, साक्षी ही है, वह अविकारी है, चैतन्यस्वरूप, आनन्दमय, स्वयंप्रकाश, एकरस, अजर-अमर और अभय है। काष्ठ को जलाने के बाद जैसे अग्नि शान्त हो जाती है, ठीक उसी प्रकार वाणी और मन के विषय दूर हो जाने पर चित्स्वरूप में वही शेष रहता है। नृसिंह के मन्त्र द्वारा जो मनुष्य जाग्रदादि अवस्थात्रयरहित आत्मा को जान लेता है, वह सदा उज्ज्वल, अज्ञानरहित, बन्धनरहित, द्वैतरहित, आनन्दरूप और मोहशून्य हो जाता है। यह सारा जगत् आत्ममय ही है क्योंकि इसमें ईश्वर व्याप्त होकर रहता है। इस व्यापक नृसिंहरूप ईश्वर को जानने वाला आत्माराम निष्कामकर्मी ब्रह्मरूप हो जाता है। आत्मा ब्रह्मरूप, सच्चिदानन्द, पूर्ण, अद्वैत, शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्धहीन, प्राण-मन-बुद्धि-चित्त-अहंकार से परे, असंग, निर्गुण एवं स्वयंप्रकाश है।

शान्तिपाठः

ॐ भद्रं कर्णेभिः..........**देवहितं यदायुः।** (पूर्ववत्)
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

इसका हिन्दी रूपान्तर पूर्व में (अथर्वशिर उपनिषद् में) द्रष्टव्य है।

प्रथमः खण्डः

देवा ह वै प्रजापतिमब्रुवन् अणोरणीयांसमिममात्मानमोंकारं नो व्याचक्ष्वेति ॥1॥

देवलोग प्रजापति से एक बार कहने लगे—अणु से भी अणु इस आत्मा के स्वरूप ओंकार के विषय में हमें आप बताइए।

तथेत्योमित्येतदक्षरमिदं सर्वं तस्योपव्याख्यानं भूतं भवद् भविष्यदिति सर्वमोंकार एव। यच्चान्यत् त्रिकालातीतं तदप्योंकार एव सर्वं ह्येतद् ब्रह्मायमात्मा ब्रह्म ॥2॥

प्रजापति ने 'अच्छा' ऐसा कहकर बताया कि यह सब जो कुछ है वह 'ओम्' यह एक अक्षर रूप ही है। इसका विवरण यह है कि जो भूतकाल में था, वर्त्तमान में होता है और भविष्य में होगा, वह सब ओंकार ही है। इतना ही नहीं, इन तीन कालों से जो परे है, वह भी ओंकार ही है। यह सब कुछ ब्रह्म ही है। यह आत्मा ब्रह्म ही है।

तमेतमात्मानमोमिति ब्रह्मणैकीकृत्य ब्रह्म चात्मनमोमित्येकीकृत्य तदेकमजरममृतमभयमोमित्यनुभूय तस्मिन्निदं सर्वं त्रिशरीरमारोप्य तन्मयं हि तदेवेति संहरेदोमिति ॥3॥

इस आत्मा को 'ओम्' अक्षर के द्वारा ब्रह्म के साथ तादात्म्य करके तथा ब्रह्म को आत्मा के साथ एकीभाव करके उस एक को ही अजर, अमर, अमृत, अभय को, ओम् के द्वारा अनुभूति में लाकर उसी ब्रह्मात्मैक्य में तीनों शरीरों को—त्रिगुणात्मक, अवस्थात्रयात्मक, आधिभौतिकादि तापत्रयात्मक, स्थूलादि तीनों शरीरों को अथवा विश्वादि तीनों जीवों को—अर्थात् त्रित्ववाली सभी वस्तुओं का आरोपण करके वह तद्रूप ही है और ये तीनों शरीर, अवस्था, गुण आदि मिथ्या है, ऐसा अनुसन्धान करना चाहिए। (यहाँ अध्यारोप और अपवाद की बात कही गई है)।

तं वा एतं त्रिशरीरमात्मानं त्रिशरीरं परं ब्रह्मानुसन्दध्यात्। स्थूलत्वात्स्थूल-भुक्त्वाच्च सूक्ष्मत्वात्सूक्ष्मभुक्त्वाच्चैक्यादानन्दभोगाच्च ॥4॥
सोऽयमात्मा चतुष्पात् ॥5॥

उसी तीन शरीरवाले माने गए आत्मा को तीन शरीरवाले ब्रह्म के रूप में ही, जहाँ तक उन दोनों के ऐक्य की अनुभूति हो जाए, तब तक ध्यान करना चाहिए। ब्रह्म का इन तीन शरीरों के अधिकरण रूप में चिन्तन करना चाहिए। स्वयं स्थूल होकर स्थूल पदार्थों का भोग करने से तथा वही स्वयं सूक्ष्म होकर सूक्ष्म वस्तुओं का भोग करने से दोनों की एकता समान ही दीखती है अर्थात् जाग्रदभिमानी स्थूल आत्मा स्थूल भोगों को भोगता है और स्वप्नाभिमानी सूक्ष्म आत्मा सूक्ष्म भोग भोगता है, उन दोनों की एकता दीखती ही है। जैसे ये अवस्थाएँ व्यष्टिचैतन्य की हैं वैसे ही समष्टिचैतन्य की भी हैं। जैसे विश्व-विराट् का अर्थात् तैजस-सूत्रात्मा का ऐक्य ही है, उसी प्रकार प्राज्ञ-ईश्वर का भी ऐक्य है। आनन्द भोग भी दोनों के समान हैं। यह आत्मा चार पाद वाला है।

जागरितस्थानः स्थूलप्रज्ञः सप्ताङ्गः एकोनविंशतिमुखः स्थूलभुक् चतुरात्मा विश्वो वैश्वानरः प्रथमः पादः ॥6॥

जाग्रत् अवस्था में रहने वाला, स्थूल (बाह्य) ज्ञान को जानने वाला, सात लोकरूप अंगों वाला (अथवा स्वर्ग, सूर्य, आकाश, पृथ्वी, जल, वायु और आहवनीय अग्निरूप सात अंगों वाला), उन्नीस मुखवाला (5 ज्ञानेन्द्रिय + 5 कर्मेन्द्रिय + 5 प्राण + 4 अन्तःकरण = 19); यह उस चार पाद वाले आत्मा का प्रथम पाद है, वह समष्टि में वैश्वानर और व्यष्टि में विश्व कहा जाता है।

स्वप्नस्थानः सूक्ष्मप्रज्ञः सप्ताङ्ग एकोनविंशतिमुखः सूक्ष्मभुक् चतुरात्मा तैजसो हिरण्यगर्भः द्वितीयः पादः ॥7॥

स्वप्नावस्था में रहने वाला, सूक्ष्म (अन्तः) ज्ञान को जानने वाला, सात लोकरूप अंगों वाला (पूर्वोक्त प्रकार से सात अंग हैं), पूर्वोक्त प्रकार से ही उन्नीस मुखवाला यह पाद, उस चारपाद वाले आत्मा का दूसरा पाद है। वह व्यष्टि में तैजस और समष्टि में हिरण्यगर्भ कहा जाता है।

यत्र सुप्तो न कञ्चन कामं कामयते न कञ्चन स्वप्नं पश्यति तत्सुषुप्तम्। सुषुप्तस्थान एकीभूतः प्रज्ञानघन एवानन्दमयो ह्यानन्दभुक् चेतो-मुखश्चतुरात्मा प्राज्ञ ईश्वरस्तृतीयः पादः ॥8॥

जहाँ पर सोया हुआ मनुष्य किसी भी वस्तु की कामना नहीं करता, जहाँ पर वह किसी स्वप्न को भी नहीं देखता वह सुषुप्तावस्था है। उस सुषुप्तस्थान में एकीभूत होकर रहने वाला, पूर्ण विज्ञानरूप, आनन्दमय और आनन्द को भोगने वाला और जो चिन्मय प्रकाशयुक्त मुखवाला है वह चारपादों वाले आत्मा का चौथा पाद है, जिसे व्यष्टि की दृष्टि से 'प्राज्ञ' और समष्टि की दृष्टि से 'ईश्वर' कहते हैं।

एष सर्वेश्वर एष सर्वज्ञ एषोऽन्तर्याम्येष योनिः सर्वस्य प्रभवाप्ययौ हि भूतानाम् ॥9॥

यह सर्वेश्वर है, यही सर्वज्ञ है, यह अन्तर्यामी है, यही सभी का जन्मस्थान है। भूतों का जन्म और नाश भी इसी से होता है।

त्रयमप्येतत्सुषुप्तं स्वप्नं मायामात्रं चिदेकरसो ह्ययमात्मा ॥10॥

ये तीनों अवस्थाएँ तो सुषुप्त की—आवरणात्मक मायाशक्ति या सुषुप्त जैसी मिथ्या-माया की विक्षेपशक्ति रूप ही है (मिथ्या ही है)। यह आत्मा तो चिन्मात्र एक स्वरूपवाला ही है।

अथ तुरीयश्चतुरात्मा तुरीयावसितत्वादेकैकस्योतानुज्ञात्रनुज्ञाविकल्पैस्त्रयमप्यत्रापि सुषुप्तं स्वप्नं मायामात्रं चिदैकरसो ह्ययमात्मा ॥11॥

अब उन तीनों अवस्थाओं के बाद, अविद्वानों का अगम्य यह तुरीय स्थान चतुष्पाद आत्मा का चौथा पाद है। क्योंकि अवस्थाओं की और अवस्थाओं के अभिमानी आत्माओं की एक-एक करके गणना करने से अन्तिम छोर या पर्यवसान इस तुरीय में ही होता है—अर्थात् तुर्य के आगे कोई अवस्था ही नहीं होती। तुर्य जगदादि अपवादों का अधिकरण है, अतः उन अपवादों में तुर्य का समावेश नहीं होता। इसलिए व्यष्टि-समष्टि के विभाग पहली तीन अवस्थाओं के ही हैं, तुरीय के नहीं। तुरीय का कोई अधिकरण नहीं, वह तीनों अवस्थाओं का अधिकरण है। यह बात ओता, अनुज्ञाता और अनुज्ञा से जानी जाती है। तुरीय के साथ विश्व (या विराट्) को अनुस्यूत होना 'ओत' है। तुरीय के साथ तैजस (या सूत्रात्मा) को भीतर जानना यह 'ज्ञातृ' – अनुज्ञाता है। और तुरीय – प्राज्ञ बीज का ऐक्यात्मरूप से चिदेकदृष्टि होना 'अनुज्ञा' है। उन ओता, अनुज्ञाता और अनुज्ञान के विकल्पों से यह आत्मा का चौथा पाद निराला ही है। इससे तुरीय के अतिरिक्त वे तीनों अवस्थाएँ स्वप्न की तरह मिथ्या और मायामय हैं और वे चिन्मय रूप ही होती हैं। वह अविकल्प की चौथी अवस्था तुर्य की है, यह अविकल्पा-विकल्प है।

अथायमादेशो न स्थूलप्रज्ञं न सूक्ष्मप्रज्ञं नोभयतःप्रज्ञं सप्रज्ञं नाप्रज्ञं न प्रज्ञानघनमदृष्टमव्यवहार्यमग्राह्यमलक्षणमचिन्त्यमव्ययमव्यपदेश्यमैकात्मप्रत्ययसारं प्रपञ्चोपशमं शिवं शान्तमद्वैतं चतुर्थं मन्यन्ते स आत्मा स विज्ञेय ईश्वरग्रासस्तुरीयस्तुरीयः ॥12॥

इति प्रथमः खण्डः
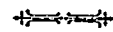
अब यह उपदेश है कि जो स्थूल (बाहर के) ज्ञानवाला भी नहीं और सूक्ष्म (भीतर के) ज्ञानवाला भी नहीं, जो दोनों के ज्ञान वाला नहीं है, वह जानने वाला भी नहीं है, सघन जानने वाला भी नहीं,

जो देखा नहीं जाता, जिसके साथ कोई व्यवहार नहीं किया जा सकता, जो अग्राह्य है, जिसका कोई लक्षण नहीं है, जो अचिन्त्य है, अव्यय है, अनिर्वाच्य है, एकात्मानुभूतिरूप तत्त्वसार है, संसारोपशामक है, मंगलकारी, शान्त, अद्वैत को ही चौथा माना जाता है। वही आत्मा है, वही जानने लायक है, यही ईश्वररूपी ग्रासरूप चतुर्थ आत्मा जानना चाहिए। ज्ञानी लोगों के लिए निर्गुण ब्रह्म एकमात्र तत्त्व होने से ईश्वर और जगत् का भी (तुर्य में) ग्रास हो जाता है।

यहाँ प्रथम खण्ड पूरा हुआ।

❃

द्वितीयः खण्डः

तं वा एतमात्मानं जाग्रत्यस्वप्नमसुषुप्तं स्वप्नेऽजाग्रतमसुषुप्तं सुषुप्तेऽजाग्रतमस्वप्नं तुरीयेऽजाग्रतमस्वप्नमसुषुप्तमव्यभिचारिणं नित्यानन्दं सदेकरसं ह्येव ॥1॥

ऐसे उस तुर्य को जाग्रत् अवस्था में स्वप्न और सुषुप्ति से रहित, स्वप्न में जाग्रत् तथा सुषुप्ति से रहित, एवं सुषुप्ति में जाग्रत् तथा स्वप्न से रहित तथा तुरीय अवस्था में तो जाग्रत् से रहित, स्वप्न से रहित तथा सुषुप्ति से भी रहित—इन तीनों अवस्थाओं से रहित और तीनों अवस्थाओं में अव्यभिचरित रूप से रहे हुए नित्यानन्दरूप पूर्णतः सत् स्वरूप ही इस आत्मा को जाना जाता है।

चक्षुषो द्रष्टा श्रोत्रस्य द्रष्टा वाचो द्रष्टा मनसो द्रष्टा बुद्धेर्द्रष्टा प्राणस्य द्रष्टा तमसो द्रष्टा सर्वस्य द्रष्टा ततः सर्वस्मादन्यो विलक्षणः ॥2॥

वह तुर्य चक्षु का द्रष्टा है, श्रोत्र का द्रष्टा है, वाणी का द्रष्टा है, मन का द्रष्टा है, बुद्धि का भी द्रष्टा है, प्राण का भी द्रष्टा है, हमारे तमस् (अज्ञान) का भी द्रष्टा है इसलिए वह सबसे विलक्षण (भिन्न) ही है, क्योंकि जो जिसका द्रष्टा होता है, वह उससे हमेशा अलग ही हुआ करता है।

चक्षुषः साक्षी श्रोत्रस्य साक्षी वाचः साक्षी मनसः साक्षी बुद्धेः साक्षी प्राणस्य साक्षी तमसः साक्षी सर्वस्य साक्षी ततोऽविक्रियो महाचैतन्योऽस्मात्सर्वस्मात् प्रियतम आनन्दघनं ह्येवमस्मात् सर्वस्मात्पुरतः सुविभातमेकरसमेवाजरममृतमभयं ब्रह्मैव ॥3॥
अप्यजयैनं चतुष्पादं मात्राभिरोंकारेण चैकी कुर्यात् ॥4॥

यह तुर्य चक्षु का साक्षी, श्रोत्र का साक्षी, वाणी का साक्षी, मन का साक्षी, बुद्धि का साक्षी, प्राण का साक्षी, हमारे तमस् (अज्ञान) का भी साक्षी है। इसलिए यह विकाररहित—विकार के लिए अयोग है। (साक्षी का अर्थ दो विवाद करते हुए मनुष्यों के बीच निष्पक्षपाती और अपने किसी भी सम्बन्ध से रहित मनुष्य को कहा जाता है। इसलिए वह देखने वाला होने पर भी सर्वविलक्षणता से अविक्रिय है)। उदय और अस्त से रहित महाचैतन्यरूप है। इसी से वह सबसे ज्यादा प्रिय है, इसीलिए पूर्णतः आनन्दरूप है। इसलिए सामने ही दीखने वाला प्रकाशित, एकरस, अजर, अमर, अभय ब्रह्म ही यह तुर्य है। इस मुक्तात्मा चतुष्पाद अध्यात्म और अधिदैव को अजया = अपनी अविद्या के द्वारा भी - शास्त्रोक्त बुद्धि से - चार मात्रादि के साथ एकीकृत किया जा सकता है। (यह बाद में कहा जाएगा)।

जागरितस्थानश्चतुरात्मा विश्वो वैश्वानरश्चतूरूपोऽकार एव चतूरूपो

ह्ययमकारः। स्थूलसूक्ष्मबीजसाक्षिभिरकाररूपैराप्तेरादिमत्त्वाद्वा स्थूलत्वात्सूक्ष्मत्वाद् बीजत्वात् साक्षित्वाच्च। आप्नोति ह वा इदं सर्वमादिश्च भवति य एवं वेद ॥5॥

चार प्रकार की अवस्था वाला यह आत्मा जाग्रत् अवस्था में व्यष्टि में विश्व और समष्टि में वैश्वानर कहलाता है। चार रूपवाला यह आत्मा ही चार रूपवाला 'अंकार है (उदात्त, अनुदात्त, स्वरित और ज्ञान—ये चार अकार के रूप हैं; अकार के चार रूप—ह्रस्व, दीर्घ, प्लुत और नाम भी है)। स्थूल, सूक्ष्म, बीज और साक्षी—इन रूपों के साथ अकार के रूपों का तादात्म्य होता है क्योंकि ये अवस्थाएँ स्थूल, सूक्ष्म, बीज और साक्षिभाव वाली हैं। जो इस प्रकार अकार के चार रूपों के साथ आत्मा के चार रूपों के तादात्म्य को जानता है, वह सब कुछ प्राप्त कर सकता है और जगत् का प्रथम पुरुष हो जाता है। कुछ लोग आत्मा के चार रूपों में तीनों अवस्थाएँ एक अवस्था में लेने की बजाय एक जाग्रत् अवस्था के ही चार भेद करते हैं; यथा—1. जाग्रत्-जाग्रत, 2. जाग्रत्स्वप्न, 3. जाग्रत्सुषुप्ति और 4. जाग्रत्साक्षी। इसी प्रकार तीनों अवस्थाओं के चार-चार विभाग कर देते हैं।

स्वप्नस्थानश्चतुरात्मा तैजसो हिरण्यगर्भश्चतूरूप उकार एव चतूरूपो ह्ययमुकारः स्थूलसूक्ष्मबीजसाक्षिभिरुकाररूपैरुत्कर्षादुभयत्वाद्वा स्थूलत्वात्सूक्ष्मत्वाद्बीजत्वात्साक्षित्वाच्च। उत्कर्षति ह वै ज्ञानसन्ततिं समानश्च भवति य एवं वेद ॥6॥

जाग्रत्स्थानीय की तरह ही चार रूपों वाला यह स्वप्नस्थानीय आत्मा व्यष्टि रूप में तैजस और समष्टिरूप में हिरण्यगर्भ कहलाता है। उसी प्रकार ओंकार की दूसरी मात्रा 'उ'कार भी चार रूप वाला ही है। ये चार रूप स्थूल, सूक्ष्म, बीज और साक्षी हैं। वह या तो उत्कर्ष (आधिक्य) या तो उभय (द्वितीय) होने से 'उ'कार कहा जाता है। वह स्थूलत्व, सूक्ष्मत्व, बीजत्व और साक्षित्व चार प्रकार का है (अर्थात् स्वप्नजाग्रत्, स्वप्नस्वप्न, स्वप्नसुषुप्ति और स्वप्नसाक्षी)। अतएव जो इस प्रकार उकार का तादात्म्य जानता है, वह ज्ञानपरंपरा को प्राप्त करके ईश्वरतुल्य होता है।

सुषुप्तस्थानश्चतुरात्मा प्राज्ञ ईश्वरश्चतूरूपो मकार एव चतूरूपो ह्ययं मकारः स्थूलसूक्ष्मबीजसाक्षिभिर्मकाररूपैर्मितेरपीतेर्वा स्थूलत्वात्सूक्ष्मत्वाद् बीजत्वात्साक्षित्वाच्च। मिनोति ह वा इदं सर्वमपीतश्च भवति य एवं वेद ॥7॥

पूर्व दोनों अवस्थाओं की तरह ही चाररूप वाला स्वप्नस्थानीय यह आत्मा व्यष्टि की दृष्टि से प्राज्ञ और समष्टि की दृष्टि से ईश्वर कहलाता है। उस आत्मा की तरह तीसरी मात्रा 'म'कार भी स्थूल, सूक्ष्म, बीज और साक्षीरूप से चार प्रकार का है। यह ईश्वर - प्राज्ञ सबका मापन करने से अथवा जाग्रत् और स्वप्न को अपने में लय करने से यह 'म'कार कहा गया है। वह भी स्थूलत्व, सूक्ष्मत्व, बीजत्व और साक्षित्व से आत्मा से तादात्म्य करता है। (सुषुप्तजागरण, सुषुप्तस्वप्न, सुषुप्तसुषुप्त और सुषुप्तसाक्षी—ये चार प्रकार हैं)। जो इस तादात्म्य को जानता है, वह सबको नाप सकता है और सर्व को अपने में समा सकता है।

मात्राऽमात्राः प्रतिमात्राः कुर्यात्। अथ तुरीय ईश्वरग्रासः। स स्वराट् स्वयमीश्वरः स्वप्रकाशश्चतुरात्मोतानुज्ञात्रनुज्ञा विकल्पैः। ओतो ह्यय-

मात्मा ह्यथैवेदं सर्वमन्तकाले कालाग्निः सूर्योस्त्रैः। अनुज्ञातो ह्ययमात्मा ह्यस्य सर्वस्य स्वात्मानं ददातीदं सर्वं स्वात्मानमेव करोति यथा तमः सविता। अनुज्ञैकरसो ह्ययमात्मा। चिद्रूप एव यथा दाह्यं दग्ध्वाऽग्निः ॥8॥

'अ', 'उ' और 'म' की मात्राओं को और अर्धमात्रा को—प्रत्येक को इस प्रकार प्लुतादि विशिष्ट (पूर्वोक्त रीति से) करना चाहिए अर्थात् चार-चार प्रकारों में बाँटना चाहिए। इस प्रकार करते-करते मात्राएँ अमात्राएँ हो जाएँगी, तुर्य तुर्य में मिल जाएँगी। उन तीनों अवस्थाओं से भिन्न जो ईश्वर को भी ग्रस लेता है, वह अवस्थात्रयातीत विलक्षण तुरीय है। वही साधनान्तरानपेक्षी स्वराट् है, वही नियन्ता है, वह स्वप्रकाशित है। वह भी चारों अवस्थाओं में अनुस्यूत है, और ओता, अनुज्ञाता, अनुज्ञा और अविकल्प—इन चारों से युक्त होता है। यह आत्मा 'ओता' - व्यापक है, क्योंकि वह सबके अधिकरण रूप में है। जैसे अन्तकाल में कालाग्नि सूर्य की प्रखर किरणों से सबको अपने में समा लेता है, उसी तरह इस आत्मा में सब कुछ समा जाता है (यह आत्मा तुर्यजाग्रदाधार है)। यह आत्मा अनुज्ञाता इसलिए है कि यह तुर्य के साथ तैजस - सूत्रात्मा के ऐक्य को जानता है (अनुजानाति)। वह अपने आपको सबमें देता है और सबको अपने में ले लेता है। जैसे सूर्य अन्धकार को अपने में समा लेता है और अन्धकार को स्वयं का दान करता है (यह तुर्यस्वप्नाधार आत्मा है)। यह आत्मा अनुज्ञा इसलिए है कि यह ऐक्य की अनुज्ञा देता है। बाद में अखण्डैकरस चिद्रूप सर्वावस्था का (विकल्पों का) अपह्नव करके अवस्थित रहता है। जैसे काष्ठ आदि दाह्य पदार्थों को जला देने के बाद स्वयं निर्विकल्प हो जाता है, वैसे ही यह आत्मा स्वात्मबोध से अपने से भिन्न सब जड़ को हटने की अनुज्ञा देकर सुषुप्तावस्था में एकरस होकर रहता है (यह तुर्यसुषुप्ताधार आत्मा है)।

अविकल्पो ह्ययमात्माऽवाङ्मनोऽगोचरत्वाच्चिद्रूपश्चतूरूप ॐकार एव ह्ययं चतूरूपो ह्ययमोंकार ओतानुज्ञात्रानुज्ञाऽविकल्पैरोकाररूपैः। आत्मैव नामरूपात्मकं हीदं सर्वं तुरीयत्वाच्चिद्रूपत्वाच्च ओतत्वाद् अनुज्ञातृत्वाद् अनुज्ञात्वाद् अविकल्परूपत्वाच्च। अविकल्परूपं हीदं सर्वं नात्र काचन भिदाऽस्ति नैव तत्र काचन भिदाऽस्ति ॥9॥

पूर्वमन्त्रोक्त सुषुप्त - तुर्य से भी परे यह विकल्परहित तुर्यतुर्य आत्मा है, जो वाणी और मन से भी अगोचर होने से केवल चिद्रूप ही है। वह अविकल्पाविकल्प है। यह चार रूप वाला—अकार, उकार, मकार, और अर्धमात्रा से अभिन्न क्रमशः—ओता, अनुज्ञाता, अनुज्ञा और अविकल्प से युक्त है। इस प्रकार चार रूप वाला यह ॐकार है। यह जो कुछ नामरूप वाला दिखाई देता है वह सब यही आत्मा है, क्योंकि यही तुरीय है, चिद्रूप है, व्यापक (ओत) है, यही अनुज्ञाता (जानने वाला) है, यही ज्ञान है और यही इन सब विकल्पों से परे भी है। यहाँ किसी प्रकार का भी भेद नहीं है, कोई भी भेद नहीं है।

अथ अस्यायमादेशोऽमात्रश्चतुर्थोऽव्यवहार्यः, प्रपञ्चोपशमः शिवोऽद्वैतः। एवमोंकार आत्मैव। संविशत्यात्मनाऽऽत्मानं य एवं वेद ॥10॥

इस तुर्य प्रदेश में प्रवेश करने के बाद, वह तुर्यतुर्य—अविकल्पाविकल्प उपदेश करने योग्य न होने पर भी वेद उसका उपदेश करते हैं, कि वह अमात्र है, तीनों अवस्थाओं से परे वह चतुर्थ है, वह अव्यवहार्य है, जगत् का उपशम (आधार) है, मंगलमय है, अद्वैत है। इस प्रकार यह ओंकार आत्मा ही है। जो इस प्रकार का ज्ञान रखता है, वह इस आत्मा में प्रवेश कर पाता है।

एष वीरो नारसिंहेन अनुष्टुभा मन्त्रराजेन तुरीयं विद्यादेष ह्यात्मानं प्रकाशयति सर्वसंहारसमर्थः परिभवासहः प्रभुर्व्याप्तः सदोज्ज्वलोऽविद्यातत्कार्यहीनः स्वात्मबन्धहरः सर्वदा द्वैतरहित आनन्दरूपः सर्वाधिष्ठानसन्मात्रो निरस्ताविद्यातमोमोहोऽहमेवेति। तस्मादेवमेवेनमात्मानं परं ब्रह्मानुसन्दध्यादेष वीरो नृसिंह इति ॥11॥

इति द्वितीयः खण्डः
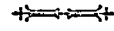
उपासकों में कोई ही वीर ऐसा होता है कि जो इस अनुष्टुप् छन्द में निबद्ध नारसिंह मन्त्रराज के द्वारा उस तुरीय पद को प्राप्त कर लेता है। यह मन्त्र आत्मा के सही स्वरूप को प्रकाशित करने वाला है, यह मन्त्र सर्व पापों और अज्ञान का संहार करने में समर्थ है। यह अपने पराभव को सहन नहीं कर सकता। यह समर्थ है, सर्वत्र फैला हुआ है, सदा जगमगाता है, अविद्या और उसके कार्य का नाश करने वाला है, अपने बन्धनों को दूर करने वाला है, हमेशा अद्वैतरूप (द्वैतरहित) ही है, आनन्दरूप है, सबका एकमात्र सद् अधिष्ठानरूप है, अविद्या - अज्ञानरूपी अन्धकार और मोह से निरस्त, ऐसा तुरीय मैं ही हूँ। इसलिए इस आत्मा को परब्रह्म के साथ जोड़ना चाहिए। इसीलिए वह वीर उपासक नृसिंह (ब्रह्म) ही है।

यहाँ पर द्वितीय खण्ड पूरा हुआ।

तृतीयः खण्डः

तस्य ह वै प्रणवस्य या पूर्वा मात्रा सा प्रथमः पादो भवति। द्वितीया द्वितीयस्य तृतीया तृतीयस्य चतुर्थ्योतानुज्ञात्रनुज्ञाऽविकल्परूपा तया तुरीयं चतुरात्मानमन्विष्य चतुर्थपादेन च तया तुरीयेणानुचिन्तयन् ग्रसेत् ॥1॥

उस पूर्ववर्णित प्रणव की अकारसंज्ञक जो पूर्वमात्रा है, वह इस प्रणव और मन्त्रराज का प्रथम चरण है। इसी प्रकार उसकी उकार संज्ञक जो द्वितीय मात्रा है, वह प्रणव और इस मन्त्रराज का दूसरा पाद (चरण) है। और मकारसंज्ञक जो तीसरी मात्रा है, वह प्रणव और मन्त्रराज का तीसरा चरण है। और जो चतुर्थ अर्धमात्रा है वह ओता, अनुज्ञाता, अनुज्ञा और अविकल्प रूप है। इस चतुर्थ मात्रा से तुरीय को (चौथे आत्मा को) खोजकर उस चौथी मात्रा के साथ चतुर्थ पाद को जोड़कर—उनसे अभेद का चिन्तन करके उन भेदों को ग्रसित कर देना चाहिए अर्थात् मिटा देना चाहिए।

तस्य ह वा एतस्य प्रणवस्य या पूर्वा मात्रा पृथिव्यकारः स ऋग्भिर्ऋग्वेदो ब्रह्मा वसवो गायत्री गार्हपत्यः सः प्रथमः पादो भवति। भवति च सर्वेषु पादेषु चतुरात्मा स्थूलसूक्ष्मबीजसाक्षिभिः ॥2॥

इस प्रणव की जो पूर्व मात्रा (प्रथम मात्रा) है, वह पृथ्वी है। अक्षर अकार है। ऋचाओं से पुष्ट ऋग्वेद इसका वेद है। ब्रह्मा इसके देवता हैं। आठ वसु इसके देवगण हैं। गायत्री इसका छन्द है। गार्हपत्य इसका अग्नि है। सभी पादों की तरह ही यह पाद भी स्थूलत्व, सूक्ष्मत्व, बीजत्व और साक्षित्व भेद से चार प्रकार का अर्थात् चार स्वरूपवाला होता है।

द्वितीयाऽन्तरिक्षं स उकारः स यजुर्भिर्यजुर्वेदो विष्णूरुद्रास्त्रिष्टुब्दक्षिणाग्निः सा द्वितीयः। पादो भवति। भवति च सर्वेषु पादेषु चतुरात्मा स्थूलसूक्ष्मबीजसाक्षिभिः ॥3॥

इस प्रणव और मन्त्रराज की दूसरी मात्रा अन्तरिक्ष है। उसका अक्षर 'उ'कार है। यजुष् मन्त्रों से पुष्ट यजुर्वेद इसका वेद है। विष्णु इसके देवता हैं। ग्यारह रुद्र इसके देवगण हैं। अनुष्टुभ् छन्द है। और दक्षिणाग्नि अग्नि है। यह पाद भी स्थूल, सूक्ष्म, बीज और साक्षीरूप से चार रूप वाला है।

तृतीया द्यौः स मकारः स सामभिः सामवेदो रुद्र आदित्या जगत्याहवनीयः सा तृतीयः पादो भवति। भवति च सर्वेषु पादेषु चतुरात्मा स्थूलसूक्ष्मबीजसाक्षिभिः ॥4॥

इस प्रणव और मन्त्रराज की तीसरी मात्रा द्युलोक है। इसका अक्षर 'म'कार है, सामों से पुष्ट सामवेद इसका वेद है, रुद्र इसके देवता हैं, बारह आदित्य इसके देवगण हैं, जगती इसका छन्द है और आहवनीय इसका अग्नि है। यह इस प्रणव और मन्त्रराज का तीसरा पाद है। यह भी अन्य पादों की तरह ही स्थूल, सूक्ष्म, बीज और साक्षी रूप से चार रूपवाला होता है।

याऽवसानेऽस्य चतुर्थ्यर्धमात्रा सा सोमलोक ॐकारः साऽऽथर्वणैर्मन्त्रैरथर्ववेदः। संवर्तकोऽग्निर्मरुतोऽग्निर्विराडेकर्षिर्भास्वती स्मृता सा चतुर्थः पादो भवति। भवति स सर्वेषु पादेषु चतुरात्मा स्थूलसूक्ष्मबीजसाक्षिभिः ॥5॥

उन तीनों मात्राओं के पूर्ण होने पर यह जो चौथी अर्धमात्रा है, वह उमा (विद्या) सहित ईश्वर का लोक है। वह ओंकार है। अथर्वमन्त्रों से पुष्ट अथर्ववेद इसका वेद है। संवर्तक अग्नि इसकी देवता है। (उनचास) वायु इसके देवगण हैं। दशाक्षरी विराट् इसका छन्द है। एकर्षि इसका अग्नि है। विद्वान् लोग इस मात्रा को भास्वती नाम देते हैं। यही इस प्रणव और मन्त्रराज का चतुर्थ पाद है। यह भी अन्य सभी पादों की तरह स्थूल, सूक्ष्म, बीज और साक्षी के रूप से चार रूपवाला होता है।

मात्राऽमात्राः प्रतिमात्राः कृत्वोतानुज्ञात्रनुज्ञाऽविकल्परूपं चिन्तयन् ग्रसेत् ॥6॥

मात्राओं और अमात्रा (अर्धमात्रा) को प्रतिमात्र करके—अर्थात् इस चौथी अर्धमात्रा में भी तीन मात्राओं के अनुसार ही चारों मात्राओं में अमात्रा करके, ओत, अनुज्ञाता, अनुज्ञ और अविकल्प रूप का चिन्तन करना चाहिए और उत्तरोत्तर को ग्रसित करते हुए अन्त में एकमात्र निर्विशेष ब्रह्म जो तुर्यतुर्य है, उसी में इस सबका उपसंहरण कर देना चाहिए। यही मात्राओं का अमात्रीकरण है।

ज्ञोऽमृतो हुत्संवित्कः शुद्धः संविष्टो निर्विघ्न इममसुनियमेऽनुभूयेहेदं सर्वं दृष्ट्वा स प्रपञ्चहीनः ॥7॥

अथ सकलः साधारोऽमृतमयश्चतुरात्मा ॥8॥

इस प्रकार उपसंहरण करने वाला मनुष्य ज्ञानी होता है, अमृत होता है, वह अपने आत्मारूप अग्नि में ध्यातृ-ध्येयादि संवित् का होम किया होता है, वह निश्चल आसनवाला होता है, निर्विघ्न हो जाता है। प्राणादि का नियमन करके इस सच्चिदानन्द का अनुभव करके भले ही वह सबको देख रहा

हो, फिर भी वह तो प्रपंच (संसार) से हीन ही रहता है। अथवा वह नृसिंहमन्त्रराज प्रणव के पाद, मात्रा, मात्राओं के अवान्तर भेद आदि को देखता हुआ भी तुर्यतुर्य से अतिरिक्त कुछ भी नहीं है, ऐसा जानकर प्रपंचरहित ही रहता है। अब यह संपूर्ण और आधारसहित प्रणव और मन्त्रराज अमृतमय ही है। अर्थात् ऊपर जो इसके भेद या प्रकार आदि बताए गए हैं, वे सब मिलकर यह एक अमृतमय है। न कोई वास्तव में अवस्थाभेद है, न कोई वास्तव में विश्वविराडादि भेद है।

अथ महापीठे सपरिवारं तमेतं चतुःसप्तात्मानं चतुरात्मानं मूलाग्नावग्निरूपं प्रणवं सन्दध्यात्। सप्तात्मानं चतुरात्मानमकारं ब्रह्माणं नाभौ, सप्तात्मानं चतुरात्मानमुकारं विष्णुं हृदये सप्तात्मानं चतुरात्मानं मकारं रुद्रं भ्रूमध्ये सप्तात्मानं चतुरात्मानं चतुःसप्तात्मानं चतुरात्मानमोंकारं सर्वेश्वरं द्वादशान्ते सप्तात्मानं चतुरात्मानं चतुःसप्तात्मानं चतुरात्मानमानन्दामृतरूपं षोडशान्ते ॥9॥

अब गुरु-प्रसाद के बाद सुषुम्नान्तर्गत महापीठ में भक्तों रूप परिवार के साथ अथवा उस पीठ पर अंग आदि बत्तीस व्यूहान्तर्गत परिवार के साथ उस सकल, साधार, अमृतमय, सर्वमय—इन चार लक्षणों से युक्त इस पूर्वोक्त प्रकार से कुल अट्ठाईस रूपवाले और स्थूल, सूक्ष्म, बीज और अविकल्प रूप—चार प्रकार के आत्मा को मूलाधारस्थित त्रिकोण में प्रतिष्ठित अग्नि में प्रणवात्मक नृसिंहरूप का अनुसन्धान करना चाहिए। [आत्मा के अट्ठाईस रूप ये हैं—प्रत्येक पाद (चारों पादों) में अक्षर, लोक, वेद, देव, देवगण, छन्द और अग्नि—ये सात-सात अलग अलग हैं अतः $4 \times 7 = 28$ होते हैं।] इस प्रकार प्रणव के आद्यक्षर अकार रूप सप्तात्मा और चतुरात्मा रूप जगत्स्रष्टा ब्रह्मा का नाभि में अनुसन्धान करना चाहिए; और सप्तात्मा और चतुरात्मा रूप प्रणव के द्वितीय अक्षर उकार के स्वरूप विष्णु का हृदय में अनुसन्धान करना चाहिए; और उसी सप्तात्मा और चतुरात्मा के स्वरूप रुद्र का भ्रूमध्य भाग में अनुसन्धान करना चाहिए। सोमलोक से एकर्षिपर्यन्त जो चतुर्थपाद का ध्यान कहा गया है, ऐसे सप्तात्मा, चतुरात्मा और चतुःसप्तात्मा रूप सर्वेश्वर ओंकार का 'द्वादशान्त' में अनुसन्धान करना चाहिए। 'द्वादशान्त' का अर्थ चिबुक से लेकर बाल के अग्रभाग तक—मस्तक के अन्त तक होता है। अकार, उकार, मकार, बिन्दु, नाद, कला, कलातीतात्मक, जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति, तुर्य, तुर्यतुर्य—ये बारह द्वादशान्त कहे गये हैं। सहस्रदल में इन सबके सहित तथा अक्षर, लोक, वेद, देव, देवगण, छन्द और अग्नि—इन सात रूपोंवाले तथा ओता, अनुज्ञाता, अनुज्ञ और अविकल्प रूप चार स्वरूपवाले पूर्वोक्त रूप से अट्ठाईस भेदवाले इस आत्मा का भूमण्डल से ऊर्ध्व आए हुए षोडशांगुल परिमित देश में अनुसन्धान करना चाहिए।

अथानन्दामृतेनैतांश्चतुर्धा सम्पूज्य ब्रह्माणमेव विष्णुमेव रुद्रमेव विभक्तांस्त्रीनेवाविभक्तान् लिङ्गरूपानेव सम्पूज्योपहारैश्चतुर्धा लिङ्गान् संहृत्य तेजसा शरीरत्रयं संव्याप्य तदधिष्ठानमात्मानं संज्वाल्य तत्तेज आत्मचैतन्यरूपं बलमवष्टभ्यं गुणैरैक्यं सम्पाद्य महास्थूलं महासूक्ष्मे महासूक्ष्मं महाकारणे च संहृत्य मात्राभिरोतानुज्ञात्रनुज्ञाऽविकल्परूपं चिन्तयन् ग्रसेत् ॥10॥

इति तृतीयः खण्डः।
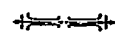
अब इन अकार, उकार, मकार और तुर्य को ज्ञानरूप अमृत से चार प्रकार से पूजित करके अर्थात् ओता, अनुज्ञाता, अनुज्ञ और अविकल्प—इन चार प्रकारों से भावनामयी पूजा करके, ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र—इन तीनों को, जो कि विभक्त जैसे दिखाई दे रहे हैं पर वास्तव में एक ही हैं—उन तीनों को आधिदैविक रूप से भिन्न किन्तु आध्यात्मिक रूप से अभिन्न—इस लिंग से (इस चिह्न से), समीप में स्थित स्थूल, सूक्ष्म, बीज और साक्षीभाव रूप उपहारों से भावनामय पूजा करके उन चारों चिह्नों को बाद में समेटकर अपनी आत्मा के साथ उसका अनुसन्धान करना चाहिए। इस प्रकार स्थिरता प्राप्त करने के बाद उन भेदरूप लिंगों को आत्मा में उपसंहत करके भौतिक प्रपंच भेद की तरह आध्यात्मिक प्रपंच (भेद) का आत्मा में ही मूलाधार से निकले हुए तेज से उपसंहार कर देना चाहिए। इस उपसंहरण में तीनों शरीर समाविष्ट हैं। इसके अतिरिक्त इन शरीरों में कल्पित अधिष्ठेयों को भी जला देने के लिए आत्मा को प्रज्वलित कर देना चाहिए। और फिर वह तेज आत्मचैतन्य रूप बल को लिए हुए गुणों के साथ ऐक्य सम्पादन करके महास्थूल को महासूक्ष्म में और महासूक्ष्म को महाकारण में उपसंहत करके ओता, अनुज्ञाता, अनुज्ञ और अविकल्प रूप मात्राओं को सोचता हुआ उनका भक्षण कर जाता है अर्थात् उन्हें मिटा देता है।

यहाँ तृतीय खण्ड पूरा हुआ।

❈

चतुर्थः खण्डः

तं वा एतमात्मानं परमं ब्रह्मोंकारं तुरीयोंकाराग्रविद्योतमनुष्टुभा नत्वा प्रसाद्योमिति संहृत्याहमित्यनुसन्दध्यात् ॥1॥

उस प्रणवार्थोक्त परमात्मा को, परम-निरतिशय ब्रह्म को, उस तुरीय ओंकार को (अर्धमात्ररूप तुरीय ओंकार को) और उनसे भी परे (अग्रे) रहने वाले तुर्यतुर्य रूप (मात्रा कलनादिरहित रूप से विशेष प्रकाशित) को अनुष्टुभ् में निबद्ध मन्त्रराज से नमन करके, स्तुतिद्वारा उसे (नरसिंह को) प्रसन्न करके बाद में जो-जो दीखता है वह ओंकार के परे (अग्रे) विद्योतित तुर्यतुर्य है, ऐसा निश्चय करके वह मैं हूँ, ऐसा अनुसन्धान करना चाहिए।

अथैतमेवात्मानं परमं ब्रह्मोंकारं तुरीयोंकाराग्रविद्योतमेकादशात्मानं नारसिंहं नत्वोमिति संहरन्ननुसन्दध्यात् ॥2॥

इस अनुसन्धान के बाद इसी आत्मा को, परम को, उसी पूर्वोक्त ब्रह्मरूप ओंकार को भी अतिक्रान्त किए हुए विद्योतित तुर्यतुर्य को 'उग्र' शब्द से लेकर 'अहम्' पर्यन्त के मन्त्र से एकादश आत्मरूप नारसिंह को नमन करके पूर्व की ही तरह (दो पदों से) नमन करके 'ओम्' शब्द से उत्पन्न अनुसंधान (ज्ञान) का भी उपसंहरण कर देना चाहिए। ओम् की शब्दवृत्ति का प्रत्यय भी छोड़ना चाहिए।

अथैतमेवात्मानं परमं ब्रह्मोंकारं तुरीयोंकाराग्रविद्योतं प्रणवेन संचिन्त्यानुष्टुभा नत्वा सच्चिदानन्दपूर्णात्मसु नवात्मकं सच्चिदानन्दपूर्णात्मकं परमात्मानं परं ब्रह्म सम्भाव्याहमित्यात्मानमादाय मनसा ब्रह्मणैकीकुर्याद्यदनुष्टुभैव वा ॥3॥

फिर भी इसी आत्मा को, परम को, पूर्वोक्त ब्रह्मरूप ओंकार को भी लाँघकर अवस्थित उस विद्योतित तुर्यतुर्य को प्रणव से चिन्तन करके पूर्वोक्त रीति से ही अनुष्टुभ् मन्त्र से नमन करना चाहिए।

वह नमन इस प्रकार है—उस अनुष्टुभ् में दिए गए नव विशेषणों से युक्त जो सच्चिदानन्दपूर्णात्म रूप है, उनमें सच्चिदानन्दपूर्णात्मरूप परमात्मा परब्रह्म की संभावना करके कि वह परमात्मा मैं हूँ, इस प्रकार मन से आत्मा का एकीकरण करना चाहिए [अनुष्टुभ् में तो कुल ग्यारह पद दिए हैं, उनमें से 'उग्र' पद से लेकर 'मृत्यु' पद तक नव पद होते हैं, वहाँ तक बोलकर फिर 'नमाम्यहम्' इन दो पदों से नमन करना चाहिए। इस एकीकरण को उस अनुष्टुभ् के द्वारा ही करना चाहिए।]

एष उ एव नृ, एष हि सर्वत्र सर्वदा सर्वात्मा नृ, सिंहोऽसौ परमेश्वरः असौ हि सर्वत्र सर्वदा सर्वात्मा सन् सर्वमत्ति, नृसिंह एवैकल एष तुरीय एष एवोग्र एष एव वीर एष एव महानेष एव विष्णुरेष एव ज्वलन्नेष एव सर्वतोमुख एष एव नृसिंह एष एव भीषण एष एव भद्र एष एव मृत्युमृत्युरेष एव नमाम्येष एवाहं एवं योगारूढो ब्रह्मण्येवानुष्टुभं सन्दध्यादोंकार इति ॥4॥

यह मन्त्रराज ब्रह्मात्मैक्य का हेतु इसलिए है कि वही वह नवपदलक्ष्य नर है, यही सर्वदा सर्वत्र सर्वात्मा है, वही परमात्मा सर्वदा सर्वत्र सर्वात्मा सिंह है और ऐसा होकर सबका भक्षण करता है। वह अकेला (अद्वितीय) एक ही है, यही तुरीय है, यही उग्र है, यही वीर है, यही महान् है, यही विष्णु है, यही देदीप्यमान तेज है, वही सर्वतोमुख है, वही नृसिंह है, वही भीषण है, वही भद्र है, वही मृत्यु-मृत्यु है, 'नमामि' भी तो वही है, (प्रत्यगात्मा के साथ अभिन्न होने से) वही मैं हूँ। इस प्रकार प्रत्यगात्मा और परात्मा के ऐक्य योग में आरूढ मनुष्य को इस अनुष्टुभ् छन्द वाले मन्त्रराज का ब्रह्म के साथ अनुसन्धान करना चाहिए।

तदेतौ श्लोकौ भवतः—
संस्तभ्य सिंहं स्वसुतान्गुणार्थान् संयोज्य शृङ्गैर्ऋषभस्य हत्वा।
वश्यां स्फुरन्तीमसतीं निपीड्य सम्भक्ष्य सिंहेन स एष वीरः ॥5॥
शृङ्गप्रोतान् पदा स्पृष्ट्वा हत्वा तामग्रसत् स्वयम्।
नत्वा च बहुधा दृष्ट्वा नृसिंहः स्वयमुद्बभौ ॥6॥

इति चतुर्थः खण्डः।
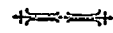
इसके विषय में ये दो श्लोक हैं—मैं तो सिंह को ब्रह्ममात्र रूप में जानकर अपने अन्तःकरण वृत्त्यादिरूप स्रुवों से जो कि सत्त्वादि या शब्दादि गुणों के अर्थ रूप हैं, उनको श्रेष्ठ प्रणव और मन्त्रराज रूप ऋषभ के सींगों से जोड़कर और उनमें से ब्रह्मातिरिक्तबुद्धि को मार कर बाद में अपनी अविद्या रूप कुटिल दूतिका को, जो कि प्रतिक्षण व्यभिचारिणी और सर्वानर्थकारिणी बुद्धिवृत्तिरूप युवती है, उस स्फुरन्ती (अपनी ही श्लाघा करने वाली) को एकदम हटाकर और अन्ततः उस हटाने की क्रिया को भी खाकर (खत्म करके) वह सिंह जैसा ज्ञानी केवल एक (आत्मरूप) ही रहता है। प्रणव के अकारादि सींगों में पिराये गए पूर्वोक्त गुणों और उनके अर्थों (विषयों) को तुर्य पाद से स्पर्श करके—अर्थात् तुर्य के अतिरिक्त कुछ नहीं है ऐसा निश्चय करके (बाद में उस तुर्यपाद) बुद्धि को भी दूर करके (हत्वा), उसे खा जाना चाहिए। यह नरसिंह ज्ञानी नमन आदि करके साधनचतुष्टयादि से साक्षात्कार करता है।

यहाँ चौथा खण्ड पूरा हुआ।

पञ्चमः खण्डः

अथैष उ एव अकार आप्ततमार्थ आत्मन्येव नृसिंहे देवे ब्रह्मणि वर्तत एष ह्येवाप्ततम एष हि साक्ष्येष ईश्वरोऽतः सर्वगतो न हीदं सर्वमेष एव व्याप्ततम इदं सर्वं यदयमात्मा मायामात्रमेष एवोग्र एष एव व्याप्ततम एष एव वीर एष एव व्याप्ततम एष एव महानेष एव व्याप्ततम एष एव विष्णुरेष एव व्याप्ततम एष एव ज्वलन्नेष एव व्याप्ततम एष एव सर्वतोमुख एष एव व्याप्ततम एष एव नृसिंह एष एव व्याप्ततम एष एव भीषण एष एव व्याप्ततम एष एव भद्र एष एव व्याप्ततम एष एव मृत्युमृत्युरेष एव व्याप्ततम एष एव नमाम्येष एव व्याप्ततम एष एवाहमेष एव व्याप्ततम आत्मैव नृसिंहो देवो ब्रह्म भवति य एवं वेद सोऽकामो निष्काम आप्तकाम आत्मकामो न तस्य प्राणा उत्क्रामन्त्यत्रैव समवलीयन्ते ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति ॥1॥

अब ओंकार के अकार और अनुष्टुभ् का तादात्म्य बताया जाता है कि जो प्रणवार्थ मन्त्रराज है, वही यह ओंकार की 'अ'कार मात्रा है। वह अतिव्याप्त (सर्वव्याप्त) है। अथवा जैसे मन्त्रराज नृसिंहस्वरूप में है, वैसे ही यह अकार भी है। यह अकार आत्मस्वरूप नृसिंहदेवरूपी ब्रह्म में स्थित है। क्योंकि वह नृसिंह देव सर्वव्यापक (ब्रह्म) है, वही साक्षी है, वही ईश्वर है और कुछ नहीं है। जो कुछ यहाँ प्रतीत हो रहा है, वह सब आत्मारूप नृसिंह ही है। इसके सिवा जो कुछ अन्य दीखता है, वह तो मायामात्र ही है। यही सर्वव्यापक उग्र है, यही सर्वव्यापक वीर है, यही सर्वव्यापक महान् है, यही सर्वव्यापक विष्णु है, यही व्यापकतम ज्वलन्त (प्रखर तेज) है, यही व्यापकतम सर्वतोमुख है, यही व्यापकतम नृसिंह है, यही व्यापकतम भीषण है, यही व्यापकतम भद्र है, यही व्यापकतम मृत्युमृत्यु है, यही व्यापकतम 'नमामि' भी है, यही व्यापकतम 'अहम्' है, यही आत्मा यदि यह जानने वाला हो तो नृसिंहरूप बन जाता है, ब्रह्मरूप हो जाता है, निष्काम हो जाता है, आप्तकाम हो जाता है। वह पूर्णकाम है अतः उसके प्राण यहाँ से कहीं जाते नहीं, यहीं विलीन हो जाते हैं। ब्रह्म होकर ब्रह्म में मिल जाते हैं।

अथैष एवोकार उत्कृष्टतमार्थ आत्मन्येव नृसिंहे देवे ब्रह्मणि वर्तते तस्मादेष सत्यस्वरूपो न ह्यन्यदस्त्यमेयमनात्मप्रकाशमेव हि स्वप्रकाशो-ऽसङ्गोऽन्यन्न वीक्षत आत्माऽतो नान्यथा प्राप्तिरात्ममात्रं ह्येतदुत्कृष्टमेष एवोग्र एष ह्येवोत्कृष्ट एष एव वीर एष ह्येवोत्कृष्ट एष एव महानेष ह्येवोत्कृष्ट एष एव विष्णुरेष ह्येवोत्कृष्ट एष एव ज्वलन्नेषु ह्येवोत्कृष्ट एष एव सर्वतोमुख ह्येष एवोत्कृष्ट एष एव नृसिंह एष ह्येवोत्कृष्ट एष एव भीषण एष ह्येवोत्कृष्ट एष एव भद्र एष ह्येवोत्कृष्ट एष एव मृत्युमृत्युरेष ह्येवोत्कृष्ट एष एव नमाम्येष ह्येवोत्कृष्ट एष एवाहमेष ह्येवोत्कृष्टस्त-स्मादात्मानमेवैनं जानीयादात्मैव नृसिंहो देवो ब्रह्म भवति य एवं वेद सोऽकामो निष्काम आप्तकाम आत्मकामो न तस्य प्राणा उत्क्रामन्त्यत्रैव समवलीयन्ते ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति ॥2॥

अब ओंकार की 'उ'कार मात्रा का अनुष्टुभ् से तादात्म्य बताते हुए कहते हैं कि यह उकार का अर्थ उत्कृष्टतम होता है। वह सर्वोत्कृष्टता तो आत्मरूप नृसिंहदेवस्वरूप ब्रह्म में ही होती है। इसीलिए वही सत्यस्वरूप है, नृसिंह के सिवा कोई अप्रमेय नहीं है (सभी प्रमेय असत्य ही होते हैं) बाकी तो सब जड़ (अनात्मप्रकाश) ही है, यही केवल स्वप्रकाश, असंग है और आत्मातिरिक्त है और कुछ देखता नहीं है। इसलिए प्रकाशातिरिक्त किसी की प्राप्ति नहीं है (ऐसी किसी प्राप्ति का प्रश्न नहीं है)। उत्कृष्ट तो केवल यही प्रकाशरूप आत्मा (नृसिंह – ब्रह्म) ही है। और उकार ही वह उत्कृष्टतम है। वही मन्त्रराजरूप नृसिंहरूप ब्रह्मरूप उकार ही उग्र है और वही उत्कृष्टतम है। यही उत्कृष्टतम वीर है, यही उत्कष्टतम महान् है। यही विष्णु और उत्कृष्टतम है, यही ज्वलन्त और उत्कृष्टतम है, वही सर्वतोमुख उत्कृष्टतम है, वही नृसिंह उत्कृष्टतम है, वही भीषण और उत्कृष्टतम है, यही भद्र और उत्कृष्टतम है, यही मृत्युमृत्यु और उत्कृष्टतम है, यही 'नमामि' और सर्वोत्कृष्ट है, यही 'अहम्' और उत्कृष्टतम है इसलिए इस आत्मा को भी 'आत्मा ही नृसिंह देव है'—इस तरह जानना चाहिए। जो इस तरह जानता है वह नृसिंहदेवरूप ही बनता है, वह अकाम होता है, निष्काम होता है, आप्तकाम होता है, ऐसा वह आप्तकाम कि उसके प्राण यहाँ से कहीं नहीं जाते अपितु यहीं विलीन हो जाते हैं। वह ब्रह्मरूप होकर ब्रह्म में मिल जाता है।

अथैष एव मकारो महाविभूत्यर्थ आत्मन्येव नृसिंहे देवे ब्रह्मणि वर्तते। तस्मादयमनल्पोऽभिन्नरूपः स्वप्रकाशो ब्रह्मैवाप्ततम उत्कृष्टतम एतदेव ब्रह्मापि सर्वज्ञं महामायं महाविभूत्येतदेवोग्रमेतद्धि महाविभूत्येतदेव वीरमेतद्धि महाविभूत्येतदेव महदेतद्धि महाविभूत्येतदेव विष्ण्वेतद्धि महाविभूत्येतदेव ज्वलदेतद्धि महाविभूत्येतदेव सर्वतोमुखमेतद्धि महाविभूत्येतदेव नृसिंहमेतद्धि महाविभूत्येतदेव भीषणमेतद्धि महाविभूत्येतदेव भद्रमेतद्धि महाविभूत्येतदेव मृत्युमृत्य्वेतद्धि महाविभूत्येतदेव नमाम्येतद्धि महाविभूत्येतदेवाहमेतद्धि महाविभूति तस्मादकारोकाराभ्यामिममात्मानमाप्ततममुत्कृष्टतमं चिन्मात्रं सर्वद्रष्टारं सर्वसाक्षिणं सर्वग्रासं सर्वप्रेमास्पदं सच्चिदानन्दमात्रमेकरसं परमेव ब्रह्म मकारेण जानीयादात्मैव नृसिंहो देवः परमेव ब्रह्म भवति य एवं वेद। सोऽकामो निष्काम आप्तकाम आत्मकामो न तस्य प्राणा उत्क्रामन्त्यत्रैव समवलीयन्ते ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येतीहैव प्रजापतिरुवाच प्रजापतिरुवाच ॥3॥

इति पञ्चमः खण्डः।

अब (उकार के बाद) 'म'कार भी महाविभूतिरूप अर्थवाला है। ऐसी महाविभूति आत्मरूप नृसिंह देवरूप ब्रह्म में होता है। इसीलिए यह मकार भी उनसे अभिन्न रूप होने से वह अनन्त स्वयंप्रकाश ब्रह्म ही है, वह व्यापकतम है, उत्कृष्टतम भी है और वही ब्रह्म है, सर्वज्ञ है, महामायावाला विभूतिमय है। यही महाविभूतिरूप उग्र है, यही महाविभूतिमान वीर है, यही महाविभूतिमान महान् है, यही महाविभूतियुक्त विष्णु है, यही महाविभूतिरूप जलती ज्योति है, यही महाविभूतिरूप सर्वतोमुख है, नृसिंह भी इस महाविभूति के स्वरूप हैं, यह भीषण भी महाविभूतिरूप है, यह भद्र भी महाविभूतिमय है, यह मृत्युमृत्यु भी महाविभूतिमय है यह 'नमामि' भी महाविभूतिमय है, यह 'अहम्' भी महाविभूतिमय है।

इसलिए अकार और उकार के साथ इस आप्ततम और उत्कृष्ट इस आत्मा को, इस चिन्मय को, इस सर्वद्रष्टा, सर्वसाक्षी को, सबको अपने में समा लेने वाले को, इस सर्वप्रेमास्पद को, इस सच्चिदानन्द एकरस परब्रह्म को मकार के रूप में जान लेना चाहिए। जो इस प्रकार मकार को परब्रह्मरूप नृसिंहरूप में जानता है, वह स्वयं नृसिंहदेवरूप परब्रह्मरूप हो जाता है। वह अकाम हो जाता है, वह निष्काम हो जाता है, वह आप्तकाम हो जाता है और वह आत्मा की ही कामना करने वाला हो जाता है। उसके प्राण फिर उसके शरीर से निकलकर कहीं नहीं जाते। वे यहीं विलीन हो जाते हैं। वह स्वयं ब्रह्मरूप होकर ब्रह्म में मिल जाता है। ऐसा प्रजापति ने कहा। प्रजापति ने ऐसा ही कहा।

यहाँ पाँचवाँ खण्ड पूरा हुआ।

❋

षष्ठः खण्डः

ते देवा इममात्मानं ज्ञातुमैच्छन्। तान्हासुरः पाप्मा परिजग्राह। त ऐक्षन्त हन्तैनमासुरं पाप्मानं ग्रसाम इति। एतमोंकाराग्रविद्योतं तुरीयतुरीयमात्मानमुग्रमनुग्रं वीरमवीरं महान्तममहान्तं विष्णुमविष्णुं ज्वलन्तमज्वलन्तं सर्वतोमुखमसर्वतोमुखं नृसिंहमनृसिंहं भीषणमभीषणं भद्रमभद्रं मृत्युमृत्युममृत्युमृत्युं नमाम्यनमाम्यहमनहं नृसिंहानुष्टुभैव बुबुधिरे। तेभ्यो हासावासुरः पाप्मा सच्चिदानन्दज्योतिरभवत् ॥1॥

प्रजापति द्वारा उपदिष्ट वे देव उस चिद्रूप आत्मा को जानने की इच्छा करने लगे। पर उन देवों को अज्ञान और उसके कार्यरूप आसुरी पाप ने पकड़ा। उस आसुरी पाप से स्पृष्ट होते हुए भी उन देवों ने सोचा कि इस आसुरी पाप को हम आत्मज्ञान के बल से ग्रस लेंगे (हम खा जाएँगे – नष्ट कर देंगे)। इसलिए वे देव इसी प्रस्तुत ओंकाराग्र, विद्योत, तुरीयतुरीय पूर्वव्याख्यात अनुष्टुभ् में दिए गए उग्र आदि ग्यारह विशेषणों से युक्त आत्मा को केवल ब्रह्म रूप से ही देखते हुए उग्र को अनुग्र, वीर को अवीर, महान् को अमहान्, विष्णु को अविष्णु, ज्वलन्त को अज्वलन्त, सर्वतोमुख को असर्वतोमुख, नृसिंह को अनृसिंह, भीषण को अभीषण, भद्र को अभद्र, मृत्युमृत्यु को अमृत्युमृत्यु, नमामि को अनमामि, अहम् को अनहम्—अर्थात् सविशेष को निर्विशेष मानकर इस आनुष्टुभ् मन्त्र से ही जान लिया। इस तरह उन देवों से यह आसुरी पाप भी सच्चिदानन्द ज्योतिरूप बन गया।

तस्मादपक्वकषाय इममोंकाराग्रविद्योतं तुरीयतुरीयमात्मानं नृसिंहानुष्टुभैव जानीयात्। तस्यासुरः पाप्मा सच्चिदानन्दघनज्योतिर्भवति ॥2॥

इसलिए अपक्व कषायवाले मनुष्य को (अनर्थदृष्टि वाले मनुष्य को) चाहिए कि वह इस सामने ही उपस्थित ओंकाराग्रविद्योत – तुरीयतुरीय रूप आत्मा को नृसिंहानुष्टुभ् मन्त्रराज से ही जान ले। उसका यह आसुरी पाप इससे सच्चिदानन्दघन ज्योति बन जाएगा।

ते देवा ज्योतिरुत्तितीर्षवो द्वितीयाद् भयमेव पश्यन्त इममोंकाराग्रविद्योतं तुरीयतुरीयमात्मानमनुष्टुभाऽन्विष्य प्रणवेनैव तस्मिन्नवस्थिताः। तेभ्यस्तज्ज्योतिरस्य सर्वस्य पुरतः सुविभातमविभातमद्वैतमचिन्त्यमलिङ्गं स्वप्रकाशमानन्दघनं शून्यमभवत्। एवंवित्स्वप्रकाशं परं ब्रह्मैव भवति ॥3॥

वे देवलोग ध्याता-ध्यान आदि ज्ञानरूप ज्योति को पार करने की (मिटाने की) इच्छावाले होकर और द्वितीय वस्तु से भय को देखने वाले होकर इसी ओंकाराग्रविद्योत – तुरीयतुरीय को उस अनुष्टुभ मन्त्रराज के द्वारा खोजकर षोडशमात्रात्मक चतुर्थ प्रणव से ही उसमें अवस्थित हुए हैं। तब उनके आगे इस जगत् का प्रकाश अच्छी तरह से हो गया कि वास्तव में तो यह अविभाव – आत्मातिरिक्त कुछ नहीं है – इस तरह अद्वैत, अचिन्त्य, अलिङ्ग, स्वप्रकाश, आनन्दघन शून्य ही था। ऐसा जानने वाला मनुष्य स्वप्रकाश्य परब्रह्म ही हो जाता है।

ते देवाः पुत्रैषणायाश्च वित्तैषणायाश्च लोकैषणायाश्च ससाधनेभ्यो व्युत्थाय निरागारा निष्परिग्रहा अशिखा अयज्ञोपवीता अन्धा बधिरा मुग्धाः क्लीबा मूका उन्मत्ता इव परिवर्तमानाः शान्ता दान्ता उपरता-स्तितिक्षवः समाहिता आत्मरतय आत्मक्रीडा आत्ममिथुना आत्मानन्दाः प्रणवमेव परं ब्रह्मात्मप्रकाशं शून्यं जानन्तस्तत्रैव परिसमाप्ताः। तस्मात्तद्देवानां व्रतमाचरन्नोंकारे परे ब्रह्मणि पर्यवसितो भवेत्स आत्मन्ये-वात्मानं परं ब्रह्म पश्यति ॥4॥

वे देवलोग प्रजापति से आत्मा के ज्ञान को जानकर तीन प्रकार की एषणाओं—पुत्रैषणा, वित्तैषणा और लोकैषणा से और उनके साधनों से भी ऊपर उठकर अर्थात् उनको छोड़कर, अनिकेतन, शिखारहित, उपवीतरहित, अन्धे, बधिर, नपुंसक, मूक, पागलों-से घुमक्कड़, शान्त, दमनशील, उपरत, तितिक्षावाले, स्थिरमन वाले, आत्मा में ही रमण करने वाले, आत्मा में ही विनोद करने वाले, आत्मा के साथ ही ऐक्य साधने वाले, आत्मा में ही आनन्द लेने वाले, प्रणव को ही ब्रह्मात्मप्रकाश के रूप में जानने वाले वे वहीं ब्रह्म में ही परिसमाप्त हुए—अर्थात् उन्होंने तुरन्त संन्यास ग्रहण कर लिया। इसलिए उन देवों के व्रत का आचरण करने वाला मनुष्य परब्रह्म में पर्यवसित (विलीन) होता है, और वह अपनी आत्मा में सर्व आत्माओं को देखता है।

तदेष श्लोकः—
शृङ्गेष्वशृङ्गं संयोज्य सिंहं शृङ्गेषु योजयेत्।
शृङ्गाभ्यां शृङ्गमाबध्य त्रया देवा उपासते। इति ॥5॥

इति षष्ठः खण्डः।
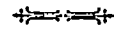
इसके विषय में यह श्लोक है—शृंगों में (विकल्पों में) अशृंग का (अविकल्प का) संयोजन करके—अर्थात् विकल्पों में अनुस्यूत उस अविकल्प को जानकर सिंहरूप आनुष्टुभ् नृसिंह को—चतुष्पद अकार, उकार, मकार और अर्धमात्रारूप को उसके साथ जोड़ना चाहिए। अर्थात् मन से चिन्तन करना चाहिए। आप्ततम और उत्कृष्टतम रूपवाले **अ**कार और **उ**कार रूप दो सींगों के साथ महाविभूति रूप **म**कार को बाँधकर (बुद्धि से एक करके) ये तीनों देव कृतकृत्य होते हैं। अर्थात् शृंग, अशृंग और नृसिंह के तादात्म्य की उपासना करते हैं [तीनों देव यानी अकार, उकार, और मकार के अधिष्ठाता क्रमशः विश्व-तैजस-प्राज्ञ (अध्यात्म), ब्रह्मा-विष्णु-महेश्वर (अधिदैवत) और विराट्-हिरण्यगर्भ-ईश्वर (अभिभूत) हैं।]

यहाँ छठा खण्ड पूरा हुआ।

❋

सप्तमः खण्डः

देवा ह वै प्रजापतिमब्रुवन् भूय एव नो भगवान् विज्ञापयत्विति ॥1॥

देवों ने प्रजापति से कहा—हे भगवन्! आप हमें और भी सुनाइए।

तथेत्यजत्वादमरत्वादजरत्वादमृतत्वादभयत्वादशोकत्वादमोहत्वादन-शनायत्वादपिपासत्वादद्वैतत्वाच्चाकारेणेममात्मानमन्विष्योत्कृष्टत्वा-दुदुत्पादकत्वादुदुप्रवेष्टृत्वाददुदुत्थापयितृत्वाददुदुद्द्रष्टृत्वादुदुत्कर्तृत्वा-दुदुत्पथवारकत्वादुदुद्ग्रासकत्वाददुदुद्भ्रान्तत्वादुदुत्तीर्णविकृतित्वा-च्चोकारेणात्मानं परमं ब्रह्म नृसिंहमन्विष्याकारेणेममात्मानमुकारपूर्वार्ध-माकृष्य सिंहीकृत्योत्तरार्धेन तं सिंहमाकृष्य महत्त्वान्महस्त्वान्मानत्वा-न्मुक्तत्वान्महादेवत्वान्महेश्वरत्वान्महासत्त्वान्महाचित्त्वान्महानन्दत्वान्महा-प्रभुत्वाच्च मकारार्धेनानेनात्मनैकी कुर्यात् ॥2॥

देवों का वचन सुनकर प्रजापति ने कहा—ठीक है, सुनिए। यह मन्त्रराज और यह प्रणव अज है - जन्मरहित है, अजर है, अमर है, अमृत है, अभय है, अशोक है, मोहरहित है, अशनायरहित है, पिपासारहित है, अद्वैत है। इसलिए इस विकल्पनिषेधक '**अ**'कार के साथ – प्रणव के प्रथमामात्रारूप 'अ' के द्वारा निर्विकल्पक आनन्दात्मा को खोजकर, फिर वह प्रणव तो उत्कृष्ट है, उत्पादक है, स्थूल शरीर में उत्प्रवेष्टा – उत्कर्ष से प्रवेश करने वाला आत्मरूप है, वह उत्थापक भी है, वह उद्द्रष्टा है, उत्कर्ता है, वह उत्पथवारक भी है, वह उद्ग्रासक है, वह उद्भ्रान्त है, वह उत्तीर्ण विकृति है (जीवरूप में उद्भ्रान्त और स्वरूप से विकाररहित)—ये सब '**उ**'कार से आरम्भ होने वाली विशेषताएँ हैं। ये सब उकारात्मक हैं—प्रणव के उकार रूप ही हैं। इसलिए इस उकार के द्वारा भी उस स्वप्रकाश आत्मा को परमब्रह्म नृसिंह को खोजकर उकार के पूर्वार्ध में कहे गए अकार के साथ खींचकर तथा अनुष्टुप् के पाद-द्वय के पूर्वार्ध को भी खींचकर उसे सिंह के समान बलवान बनाकर अनुष्टुभ् के पूर्वार्ध से तादात्म्य करके फिर नृसिंहानुष्टुभ् के उत्तरपादद्वयरूप उत्तरार्ध से उस सिंहानुष्टुभ के प्रथमार्ध रूप अकारात्मक सिंह को खींचकर एकत्व प्राप्त करना चाहिए। इस प्रकार अकार और उकार आत्मरूप हो गए। अब '**म**'कार भी तो आत्मरूप ही है क्योंकि उसमें महत्त्व है, महस्त्व (तेजस्विता) है, मानत्व है, महादेवत्व है, महेश्वरत्व है, महासत्त्व है, महाचित्त्व है, महानन्दत्व है, महाप्रभुत्व है। इसलिए इस मकारार्ध से सभी प्रत्ययों में अनुस्यूत होते हुए – सर्वप्रत्यक् से अभिन्न होते हुए भी – वास्तव में तुरीयतुरीय रूपवाले आत्मा के साथ एकीकृत करना चाहिए।

अशरीरो निरिन्द्रियोऽप्राणोऽतमाः सच्चिदानन्दमात्रः स स्वराड् भवति य एवं वेद ॥3॥

जो मुनि ऐसा जानता है वह शरीररहित, इन्द्रियरहित, प्राणरहित, तमोरहित सच्चिदानन्दमात्र और स्वराट् होता है।

कस्त्वमिति। अहमिति होवाच। एवमेवेदं सर्वं तस्मादहमिति सर्वाभि-धानं तस्यादिरयमकारः स एव भवति सर्वं ह्ययमात्माऽयं हि सर्वान्तरो न हीदं सर्वमहमिति होवाचैव निरात्मकमात्मैवेदं सर्वं तस्मात् सर्वात्मकेना-कारेण सर्वात्मकमात्मानमन्विच्छेत् ॥4॥

अपने अवतार्य कार्य को सिद्ध करके भद्रासन में बैठे हुए नृसिंह से ब्रह्मादि देवों ने पूछा—'तुम कौन हो ?' तब उन्होंने उत्तर दिया—'अहम्' मैं हूँ। यह 'अहम्' नृसिंह मन्त्रराज का अन्तिम पद है। इसका अर्थ—'यह जो सब कुछ है वह अहम् 'मैं' ही हूँ' ऐसा होता है। इस प्रकार अहम् शब्द सर्व का अभिधान कर देता है। इस 'अहम्' का आदि अक्षर अकार ही प्रणव का आदि अक्षर अकार है। इसीलिए सब कुछ यह आत्मा ही है। यह सब कुछ जो है वह निरात्मक नहीं है, ऐसा कहा है। यह सब आत्मा ही है इसलिए इस सर्वात्मक अकार के द्वारा सर्वात्मक आत्मा को खोजना चाहिए।

ब्रह्मैवेदं सर्वं सच्चिदानन्दरूपं सच्चिदानन्दरूपमिदं सर्वं सद्धीदं सर्वं सत् सदिति चिद्धीदं सर्वं प्रकाशते चेति ॥5॥

यह सब ब्रह्म ही है, वह सच्चिदानन्दरूप है, और यह जो कुछ है वह भी सच्चिदानन्दरूप ही है। यह सब सत् ही है, चित् ही है, यह सब कुछ जो प्रकाशित हो रहा है।

किं सदिति। इदमिदं नेत्यनुभूतिरिति ॥6॥

कैषेति। इयमियं नेत्यवचनेनैवानुभवन्नुवाच। एवमेव चिदानन्दावप्य-वचनेनैवानुभवन्नुवाच। सर्वमन्यदिति स परमानन्दस्य ब्रह्मणो नाम ब्रह्मेति तस्यान्त्योऽयं मकारः। स एव भवति तस्मान्मकारेण पूर्णं ब्रह्मान्विच्छेत् ॥7॥

कुछ लोग पूछते हैं—'सत् क्या है ?' उत्तर है—यह जो जगत् है, वह जगत् नहीं है—ऐसी अनुभूति ही 'सत्' है। अर्थात् केवल स्वरूपानुभूति ही सत् है। दूसरा प्रश्न है—'तो ऐसी अनुभूति क्या है ?' उत्तर में—'हम यहाँ जो विविधता भरी अनुभूतियाँ करते हैं, ऐसी वह अनुभूति नहीं है'—यह बताने के लिए कुछ बोले बिना ही अनुभव करते हुए प्रजापति ने उत्तर दे दिया। अर्थात् स्वयं ब्रह्मानुभव करते हुए, आनन्दाश्रु बहाते हुए प्रजापति ने निरुत्तर होकर ही उत्तर दे दिया। जिस प्रकार इस सत्ता के विषय में मौन उत्तर दिया उसी प्रकार 'चित्' और 'आनन्द' का उत्तर भी और अन्य सब का उत्तर भी 'अवचन से ही अनुभव करते हुए' दिया गया। प्रजापति ने कहा कि उस परमानन्द ब्रह्म का 'ब्रह्म' नाम है, और उस 'ब्रह्म' शब्द का अन्तिम अक्षर '**म**'कार है, वह ब्रह्मरूप ही है, इसलिए मकार द्वारा परब्रह्म की खोज करनी चाहिए।

किमिदम्। एवमित्यकार इत्येवाहाविचिकित्सन्नकारेणेममात्मानमन्विष्य मकारेणानुसन्दध्यादुकारेणाविचिकित्सन्नशरीरोऽनिन्द्रियोऽप्राणोऽतमाः सच्चिदानन्दमात्रः स स्वराड् भवति य एवं वेद ॥8॥

देवों ने पूछा—'यह ब्रह्म क्या है ?' तब प्रजापति बोले—विद्यादशा में अवचन से ही उत्तर देने पर भी अविद्यादशा में, त्वं पदार्थ की शुद्धि करने वाले अकार के द्वारा इस आनन्दात्मा को खोजकर तत्पदार्थ की शुद्धि करने वाले मकार के साथ अनुसन्धान करना चाहिए। और अकार-मकार के अनुसन्धान के हेतुभूत उकार के द्वारा यह अनुसन्धान बिना सन्देह के करना चाहिए। इस प्रकार अकार और मकार की सन्धि उकाररूप ऐक्य है। ऐसा जानने वाला ज्ञानी अशरीर, अनिन्द्रिय, अप्राण, तमोरहित, सच्चिदानन्दमात्र और स्वराट् होता है।

ब्रह्म वा इदं सर्वमत्तृत्वादुग्रत्वाद्वीरत्वान्महत्त्वाद्विष्णुत्वाज्ज्वलत्वात्सर्व-तोमुखत्वान्नृसिंहत्वाद्भीषणत्वाद्भद्रत्वान्मृत्युमृत्युत्वान्नमामित्वादहंत्वादिति

सततं ह्येतद् ब्रह्मोग्रत्वाद्वीरत्वान्महत्त्वाद्विष्णुत्वाज्ज्वलत्वात् सर्वतो-मुखत्वान्नृसिंहत्वाद्भीषणत्वाद्भद्रत्वान्मृत्युमृत्युत्वान्नमामित्वादहंत्वा-दिति ॥9॥

'**म**'कार से ब्रह्मावलोकन की उपपत्ति यह है कि इस ब्रह्म में ही अत्तृत्व, उग्रत्व, वीरत्व, महत्त्व, विष्णुत्व, ज्वलत्व, सर्वमुखत्व, नृसिंहत्व, भीषणत्व, भद्रत्व, मृत्युमृत्युत्व, नमामित्व और अहंत्व है। इन सभी कारणों से यह परमानन्दरूप ब्रह्म अवश्य मकारगम्य है। क्योंकि उग्रत्व, महत्त्व आदि हेतु उसमें हैं ही। मन्त्र में उन्हीं पूर्वोक्त हेतुओं की पुनरावृत्ति की गई है।

तस्मादकारेण परमं ब्रह्मान्विष्य मकारेण मनआद्यवितारं मनआदि-साक्षिणमन्विच्छेत् ॥10॥

इसलिए त्वंपदार्थाभिधायी अकार से परब्रह्म को खोजकर (शोधित करके) तत्पदार्थवाची मकार के साथ मन आदि करणों के समूह का रक्षण करने वाले उस साक्षीमात्र असंग ब्रह्म को खोजना चाहिए।

स यदैतत्सर्वमुपेक्षते तदैतत् सर्वमस्मिन् प्रविशति स यदा प्रतिबुध्यते तदेतत् सर्वमस्मादेवोत्तिष्ठति ॥11॥

तदेतत् सर्वं निरूह्य प्रत्यूह्य सम्पीड्य संज्वाल्य संभक्ष्य स्वात्मानमेवैषां ददाति ॥12॥

यह त्वंपदार्थ या तत्पदार्थ जब इस दृश्यमान जगत् की उपेक्षा कर देता है, तब यह सब उसमें समा जाता है (जैसे रज्जु में सर्प समा जाता है) और जब यह जागता है, तब उसी में से सब उत्पन्न हो जाता है। इस जगत् को आत्मसात् करके, वापिस खींचकर, अच्छी तरह से परिच्छेद करके (विश्लेषण करके) बाद में ज्ञानरूपी अग्नि से उसे जलाकर, फिर ग्रसित करके यह ज्ञान उन आत्मज्ञानियों को स्वस्वरूप देता है – बताता है।

अत्युग्रोऽतिवीरोऽतिमहानतिविष्णुरतिज्वलन्नतिसर्वतोमुखोऽतिनृसिंहोऽति-भीषणोऽतिभद्रोऽतिमृत्युमृत्युरतिनमाम्यहं भूत्वा स्वे महिम्नि सदा समासते ॥13॥

वास्तव में जो उग्रातीत, वीरातीत, महदतीत, विष्ण्वतीत, ज्वलदतीत, सर्वतोमुखातीत, नृसिंहातीत, भीषणातीत, भद्रातीत, मृत्युमृत्यु से भी अतीत, नमनक्रिया से भी अतीत – मैं-भाव से अतीत होकर – अतिक्रान्त होकर वह अपनी ही महिमा में सर्वदा सर्वसंग्राहक और सर्वसमावेशक होकर रहता है।

तस्मादेनमकारेण परेण ब्रह्मणैकीकुर्यादुकारेणाविचिकित्सन्नशरीरो निरिन्द्रियोऽप्राणोऽतमाः सच्चिदानन्दमात्रः स स्वराड् भवति य एवः वेद ॥14॥

और चूँकि यह आत्मा उग्रादिरूप है, इसलिए इस आनन्दरूप आत्मा को अकारार्ध से ब्रह्म के साथ एकीभूत करना चाहिए। और उकार से (संधि से) अविद्यापेक्षा से (अविचिकित्सन्) अशरीर, निरिन्द्रिय, अप्राण, तमोरहित, सच्चिदानन्दमात्र स्वराट् हो जाता है। (उकार रूप सन्धि अकार और मकार को जोड़ने वाली कड़ी है, यह सब अविद्या श्रेणी की ही भाषा है। विद्यादशा में तो कोई भेद ही नहीं होता।

तदेष श्लोकः—
शृङ्गं शृङ्गार्धमाकृष्य शृङ्गेणानेन योजयेत् ।
शृङ्गमेनं परे शृङ्गे तमनेनापि योजयेत् ॥15॥

इति सप्तमः खण्डः ।

यहाँ पर यह श्लोक है—शृंग को – अकार को, और शृंगार्ध को – मकार को खींचकर, अकार और मकार के घटक रूप उकार रूप शृंग के साथ उसका तादात्म्य कर देना चाहिए। और फिर उकार नाम के शृंग को, मकार नाम के शृंग को और अकार नाम के शृंग को भी परब्रह्म के साथ तादात्म्य कर देना चाहिए।

यहाँ सातवाँ खण्ड पूरा हुआ।

अष्टमः खण्डः

अथ तुरीयेणोतश्च प्रोतश्च ह्ययमात्मा नृसिंहोऽस्मिन्सर्वमयं सर्वात्माऽयं हि सर्वं नैवातो अद्वयो ह्ययमात्मैकल एव विकल्पो न हि खलु सदयं ह्योत एव सद्घनोऽयं चिद्घन आनन्दघन एवैकरसोऽव्यवहार्यः केन च न द्वितीय ओतश्च प्रोतश्चैष ओंकारः ॥1॥

अब तुर्यमात्रा से भी तुर्य की प्राप्ति हो सकती है। यह नृसिंहरूप आत्मा तुर्य मात्रा में भी ओतप्रोत है। इसी में सब है, यही सर्वात्मा है, यही सर्वात्मरूप है, इससे अन्य और कोई है ही नहीं, इसलिए यह अद्वैत है। यह आत्मा केवल एक ही है इसमें किसी प्रकार का विकल्प (भेद) नहीं है। यह सद्रूप है, सर्वत्र ओत (बुना गया) व्याप्त है। यह चिद्घन है, आनन्दपूर्ण है, सर्वत्र एकसमान रूप से व्याप्त है, व्यवहार का यह किसी से भी विषय नहीं बनता। यह **तुरीय** ओंकार भी ऐसा है।

एवं नैवमिति पृष्ट ओमित्येवाह वाग्वा ओंकारो वागेवेदं सर्वं न ह्यशब्दमिवेहास्ति चिन्मयो ह्ययमोंकारश्चिन्मयमिदं सर्वं तस्मात्परमेश्वर एवैकमेव तद्भवत्येतदमृतमभयमेतद् ब्रह्माभयं ब्रह्माभयं हि वै ब्रह्म भवति य एवं वेदेति रहस्यम् ॥2॥

देवों ने कहा कि यह नहीं हो सकता—यह अर्धमात्राप्रणव कैसे निर्विशेष तुरीय ओंकार हो सकता है ? इस पर प्रजापति ने कहा—ओम् ऐसा ही है। वाणी और मन से कहा गया तुरीय ओंकारस्वरूप निर्विशेष सच्चिदानन्द ब्रह्म ही है। वर्णध्वनिरूपी वाणी ही तुर्य प्रणव है। वाणी ही तो सब कुछ है। इस संसारमण्डल में कोई भी रूप या कोई भी कर्म शब्दहीन तो है नहीं। (सबका अपना नाम होता ही है) तो वह वाणी ही तुर्य को बताती है, कि वह चिन्मय है। (जगद्रूप नहीं है)। यह ओंकार चिद्रूप ही है, तो यह सब कुछ भी चिन्मय ही है, इसलिए सब परमेश्वर ही है। यह एक ही अमृतमय, अभय, ब्रह्म है। जो ऐसा जानता है, वह ब्रह्म रूप हो जाता है। यही इसका रहस्य है।

अनुज्ञाता ह्ययमात्मैव ह्यस्य सर्वस्य स्वात्मानमनुजानाति न हीदं सर्वं स्वत आत्मविन्न ह्ययमोतो नानुज्ञाताऽसङ्गत्वादविकारित्वादसत्त्वादन्य-

स्यानुज्ञाता ह्ययमोंकार ओमिति ह्यनुजानाति वाग्वा ओंकारो वागेवेदं सर्वमनुजानाति चिन्मयो ह्ययमोंकारश्चिद्धीदं सर्वं निरात्मकमात्म-सात्करोति तस्मात् परमेश्वर एवैकमेव तद्भवेत्यमृतमभयमेतद् ब्रह्माभयं हि वै ब्रह्म भवति य इदं वेदेति रहस्यम् ॥3॥

(पहले तुरीयमात्रा का ओतत्व बताकर अब तुरीय मात्रा का अनुज्ञातृत्व बताते हुए कहते हैं कि) अनुज्ञाता भी यही आत्मा है। क्योंकि वही सब उपलभ्यमान सबके आत्मा को अनुज्ञा देता है। यहाँ सब कोई कहीं अपने आप ही स्वयं को नहीं जानता। (क्योंकि आत्मातिरिक्त कोई सत्ता ही न होने से ज्ञेय-ज्ञातृत्व भेद हो नहीं सकता)। वास्तव में तो यह तुर्य न ओता है, न अनुज्ञाता है क्योंकि वह तो असंग है और अविकारी है, इसके अतिरिक्त अन्य सब असत् है। ऐसा होने पर भी वह अनुज्ञाता बनता तो है, क्योंकि जैसे ही उसके ओतत्व का रहस्य पहले दिखाया जा चुका है, वैसे ही वास्तव में अनुज्ञाता न होने पर भी 'ओम्' (हाँ) इस प्रकार वह अनुज्ञा देता हुआ दिखाई ही देता है। इसका कारण यह है कि वास्तव में यह 'चित्' ही सब निरात्मक को आत्मसात् कर लेता है। सत्ताशून्य को अपनी सत्ता देकर आत्माधीन कर देता है। इसलिए परमेश्वर एक ही वह सब हो जाता है। जो यह जानता है, वह अमृत, अभय ब्रह्म का रूप हो जाता है, यही रहस्य है।

अनुज्ञैकरसो ह्ययमात्मा प्रज्ञानघन एवायं यस्मात् सर्वस्मात् पुरतः सुविभातोऽतश्चिद्घन एव न ह्ययमोतो नानुज्ञातैतदात्म्यं हीदं सर्वं सदैवानुज्ञैकरसो ह्ययमोंकार ओमिति ह्येवानुजानाति वाग्वा ओंकारो वागेव ह्यनुजानाति चिन्मयो ह्ययमोंकारश्चिदेव ह्यनुज्ञाता तस्मात्परमेश्वर एवैकमेव तद्भवत्येतदमृतमभयमेतद् ब्रह्माभयं वै ब्रह्माभयं हि वै ब्रह्म भवति य एवं वेदेति रहस्यम् ॥4॥

(अब ओंकार का अनुज्ञारूप बताते हुए कहते हैं कि—) यह आत्मा अनुज्ञैकरस है, यह प्रज्ञानघन है, क्योंकि वह सबके आगे तीनों काल में स्वयं प्रकाशित होता है। इसी कारण से वह चैतन्यमात्र चिद्घन है। पारमार्थिक रूप से तो वह न ओता है, न अनुमन्ता है, इसलिए अनुज्ञा भी आप-ही-आप निवृत्त हो जाती है। इसके सिवा कुछ है ही नहीं, वह स्वयं ही एकरस ओंकार है—इस जगत् का वही आत्मा है (पारमार्थिक रूप है) और वह सब जानता है। तुर्य को कहने वाली वाणी भी ओंकाररूप है। क्योंकि वर्णध्वनिरूप वाणी ही तुर्यरूप है, वाणी ही सब कुछ है, वाणी से ही मनुष्य अनुमति देता है। पारमार्थिक रूप से तो यह ओंकार चिन्मय ही है और चित् ही अनुज्ञाता है। इसलिए यह परमेश्वर है। इस तरह यह एक ही वह – अनुज्ञादि होता है। वह तो एक ही अमृत, अभय, ब्रह्म ही है। जो इस प्रकार जानता है, वह अभय ब्रह्मरूप होता है, क्योंकि ब्रह्म अभय ही है। यही रहस्य है।

अविकल्पो ह्ययमात्माऽद्वितीयत्वादविकल्पो ह्ययमोंकारोऽद्वितीयत्वादेव चिन्मयो ह्ययमोंकारस्तस्मात् परमेश्वर एवैकमेव तद्भवत्यविकल्पोऽपि नात्र काचिद् भिदाऽस्ति। नैव तत्र काचन भिदाऽस्त्यत्र हि भिदामिव मन्यमानः शतधा सहस्रधा भिन्नो मृत्योः स मृत्युमाप्नोति तदेतदद्वयं स्वप्रकाशं महानन्दमात्मैवेतदमृतमभयमेतद् ब्रह्माभयं वै ब्रह्माभयं हि वै ब्रह्म भवति य एवं वेदेति रहस्यम् ॥5॥

इत्यष्टमः खण्डः

(अब तुरीयमात्रा का अविकल्पत्व बताते हुए कहते हैं कि—) यह आत्मा अविकल्प है, क्योंकि वह अद्वितीय है। ठीक इसी प्रकार यह ओंकार भी तो अविकल्प है, क्योंकि वह भी अद्वितीय है। वह ओंकार चिन्मय है, इसलिए परमेश्वर ही है, वह एक ही है, अविकल्प (विकल्परहित) ही है। यहाँ कोई भेद नहीं है। कोई भेद नहीं होने पर भी भेद मानने वाला मनुष्य सैंकड़ों-सहस्रों भागों में बँट जाता है और एक मृत्यु के बाद दूसरी-तीसरी ऐसी बहुत-सी मृत्यु को प्राप्त होता है। ऐसा वह आत्मा (ब्रह्म) तुरीय (अद्वैत) है, स्वप्रकाशित है, महानन्दरूप है, वह आत्मा ही ऐसा अमृत-अभय-ब्रह्मरूप है। जो इसे जानता है वह भी अभय-अमृत-ब्रह्मरूप बन जाता है, यही रहस्य है।

यहाँ आठवाँ खण्ड पूरा हुआ।

❊

नवमः खण्डः

देवा ह वै प्रजापतिमब्रुवन्निममेव नो भगवन्नोंकारमात्मानमुपदिशेति ॥1॥

देवलोगों ने प्रजापति से कहा—'हे भगवन्! इसी ओंकार रूप आत्मा के बारे में हमें उपदेश दीजिए।'

तथेत्युपद्रष्टाऽनुमन्तैष आत्मा नृसिंहश्चिद्रूप एव। अविकारो ह्युपलब्धः सर्वस्य सर्वत्र न ह्यस्ति द्वैतसिद्धिरात्मैव सिद्धोऽद्वितीयः ॥2॥

प्रजापति ने 'ठीक है' ऐसा कहकर कहा—यह आत्मा उपद्रष्टा है, अनुमन्ता है। नृसिंहरूप है अर्थात् भ्रमरूपी असुर को मारने वाले सिंह है, वह चिद्रूप ही है। यह आत्मा अविकारी है, सर्वव्यापक है, सबमें है, इससे अतिरिक्त द्वैत की कोई सिद्धि नहीं है, आत्मा ही एक अद्वैतरूप से सिद्ध है।

मायया ह्यन्यदिव। स वा एत आत्मा पर एषैव सर्वम्। तथा हि प्राज्ञे सैषाऽविद्या जगत्सर्वम्। आत्मा परमात्मैव। स्वप्रकाशोऽप्यविषय-ज्ञानत्वाज्जानन्नेव ह्यन्यत्रान्यन्न विजानात्यनुभूतेः ॥3॥

स्वरूपशून्य माया से ही यह अन्य – ब्रह्म से अन्य जैसा दीखता है। यह आत्मा ही सबसे परे है और यह जो सब कुछ दिखाई देता है, वह एक ही है। अद्वैत ही है। जैसे सुषुप्तावस्था को प्राप्त हुए प्राज्ञ को अद्वैत ही उपलब्ध होता है। यह नानात्वयुक्त जगत् तो माया ही है। यह जो आत्मा है, वही परमात्मा है, वह स्वयंप्रकाश है। यह विषय के अभाव का ज्ञान रखते हुए भी (सुषुप्ति में), अन्यत्र अन्य कुछ है, यह नहीं जानता, अर्थात् सुषुप्तावस्था में प्राज्ञ स्वप्रकाश होते हुए भी और अपनी अज्ञानवृत्ति को जानते हुए भी विक्षेपवृत्ति को नहीं जानता। विषयाभाव में भी आत्मा की अनुभूति—'मैं कुछ नहीं जानता'—यह तो रहती ही है।

माया च तमोरूपानुभूतिः। तदेतज्जडं मोहात्मकमनन्तमिदं रूपमस्यास्य व्यञ्जिका नित्यनिवृत्ताऽपि मूढैरात्मैव दृष्टाऽस्य सत्त्वमसत्त्वं च दर्शयति। सिद्धत्वासिद्धत्वाभ्यां स्वतन्त्रास्वतन्त्रत्वेन ॥4॥

यह माया तमोगुणरूप अज्ञता की अनुभूतिरूप है। यह जो जड, मोहात्मक, अनन्त (विक्षेपात्मक भी) दीखता है वह भी इस माया का ही रूप है। इस रूप को अभिव्यक्त करने वाली भी माया ही है। यद्यपि वह हमेशा के लिए निवृत्त ही है – स्वरूपशून्य ही है, तथापि मूढ मनुष्यों के द्वारा अपने आत्मा

की तरह ही सत्य देखी जाती है। और इससे ही किसी कार्य की सच्चाई या झूठापन नापा जाता है और कार्य करने की स्वतंत्रता या पराधीनता भी इसी अज्ञान की परिधि में रहकर देखी जाती है।

सैषा वटबीजसामान्यवदनेकवटशक्तिरेकैव। तद्यथा वटबीजसामान्य-मेकमनेकान् स्वव्यतिरिक्तान् वटान् सबीजानुत्पाद्य तत्र तत्र पूर्णं सन्तिष्ठत्येवमेवैषा माया स्वव्यतिरिक्तानि पूर्णानि क्षेत्राणि दर्शयित्वा जीवेशावाभासेन करोति। माया चाविद्या च स्वयं भवति ॥5॥

यह माया जैसे वट के एक सामान्य बीज में अनेक वटवृक्ष उत्पन्न करने की शक्ति होती है, ऐसी ही शक्तिवाली है। जैसे वट का एक सामान्य बीज अपने से भिन्न अनेक वट-वृक्षों को उत्पन्न करके उस-उस वृक्ष में पूर्णरूप से निहित रहता है, ठीक वैसे ही यह माया अपने से अलग हों, ऐसे कई पूर्ण क्षेत्रों को आभास से दिखाकर जीव और ईश्वर बनाती है और इस तरह वह स्वयं माया और अविद्या बनती है।

सैषा चित्रा सुदृढा बह्वङ्कुरा स्वयं गुणाभिन्नाऽङ्कुरेष्वपि गुणभिन्ना सर्वत्र ब्रह्मविष्णुशिवरूपिणी चैतन्यदीप्ता तस्मादात्मन एव त्रैविध्यं सर्वत्र योनित्वमपि ॥6॥

यह माया अनेकरूपिणी है, बड़ी बलवती है, विविध कार्यरूपी अंकुरवाली है। कारणरूप में स्वयं गुणों से अभिन्न होते हुए भी (एक होते हुए भी) कार्यरूप में गुणों से भिन्न होती है और सर्वत्र ब्रह्मा-विष्णु-महेश के रूप में होती है। स्वयं जड़ – अंधकारमय – होते हुए भी चैतन्य के आभास से दीप्त (प्रकाशित) होती है। इसलिए देश-कालादि सबके मूल में त्रैविध्य (त्रिगुणात्मक) हो जाती है। त्रिगुणात्मकता सबकी योनि (मूल) होती है।

अभिमन्ता जीवो नियन्तेश्वरः। सर्वाहंमानी हिरण्यगर्भस्त्रिरूप ईश्वर-वद्व्यक्तचैतन्यः सर्वगो ईश्वरः क्रियाज्ञानात्मा। सर्वं सर्वमयं सर्वे जीवाः सर्वमयाः सर्वावस्थासु तथाऽप्यल्पाः ॥7॥

अभिमन्ता (कार्यकारणाभिमानी) जीव होता है और नियन्ता ईश्वर होता है। इनमें सर्वाभिमानी (समष्टि अभिमानी) जीव हिरण्यगर्भ कहा जाता है। वह ब्रह्मा आदि रूप से तीन रूपवाला होता है। ईश्वर की तरह उसका चैतन्य अभिव्यक्त होता है। इसलिए यह हिरण्यगर्भ जीव भी है और ईश्वर भी है। हिरण्यगर्भ भी सर्वव्यापी होने से ईश्वर कहा जाता है। वह क्रियाशक्ति और ज्ञानशक्ति वाला है। इस तरह सर्व सर्वमय ही है। प्राणों का धारण करने से सभी जीव सर्वजीवमय हैं। सर्व सर्वमय होते हुए भी जीव अल्प है, हिरण्यगर्भ और ईश्वर अनल्प है। और हिरण्यगर्भ सर्वाभिमानी है पर ईश्वर अभिमानशून्य है। इस तरह तीनों में भेद है।

स वा एष भूतानीन्द्रियाणि विराजं देवताः कोशांश्च सृष्ट्वा प्रविश्यमूढो मूढ इव व्यवहरन्नास्ते। माययैव तस्मादद्वय एवायमात्मा सन्मात्रो नित्यः शुद्धो बुद्धः सत्यो मुक्तो निरञ्जनो विभुरद्वयानन्दः परः प्रत्यगेकरसः प्रमाणैरवगतः ॥8॥

जीवेश हिरण्यगर्भादि शब्दों द्वारा कथित यह परमात्मा ही इन भूतों को, इन्द्रियों को, विराट् को,

देवों को और कोशों को रचकर, उनमें प्रवेश करके स्वयं अमूढ होते हुए भी मूढ की तरह व्यवहार करता हुआ रहता है। यह सब माया से ही होता है। इसलिए वास्तव में तो यह आत्मा अद्वैत है, वह केवल सद्रूप है। नित्य, शुद्ध, बुद्ध, सत्य, मुक्त, निरञ्जन है। विभु, अद्वय सबसे परे है। प्रत्यक् का रस और उसका रस एक ही है। शास्त्रप्रमाण से अपवाद और अध्यारोप के द्वारा जाना जा सकता है।

सत्तामात्रं हीदं सर्वम्। सदेव पुरस्तात्सिद्धं हि ब्रह्म। न ह्यत्र किंचनानुभूयते। नाऽविद्याऽनुभवात्मनि स्वप्रकाशे सर्वसाक्षिण्यविक्रियेऽद्वये। पश्यतेहापि सन्मात्रमन्यदसत्। सत्यं हीत्थं पुरस्तादयोनि स्वात्मस्थानन्द चिद्घनं सिद्धं ह्यसिद्धम् ॥9॥

यह दृश्यमान जगत् वास्तव में सत्तामात्र है। और यह सत् तो जगत् की उत्पत्ति से पहले से ही ब्रह्मरूप में सिद्ध ही है। अपनी अनुभूतिरूप प्रमाण से सिद्ध इस आत्मा में सत् में और दूसरा सहसा नहीं अनुभव किया जा सकता। इस अनुभवात्मक स्वयंप्रकाशित सर्वसाक्षीरूप अद्वय और अक्रिय आत्मा में अविद्या नहीं है। हे लोगो! इस संसारदशा में भी केवल सत् को ही देखो। सत्य से अन्य जो दिखाई देता है वह असत है।

ऽभिन्नोऽद्वयः। सर्वदा संवित्तिर्मायया नासंवित्तिः। स्वप्रकाशेन यूयमेव दृष्टाः ॥13॥

किम्? अद्वयेन द्वितीयमेव न यूयमेव ॥14॥

तब प्रजापति ने कहा—'नहीं, यह अल्प नहीं है। क्योंकि यह तो साक्षी है, निर्विशेष है, अनन्य है, सुख-दुःख से परे है, अद्वैत है, परमात्मा है, सर्वज्ञ, अभिन्न, अनन्त, अद्वैत है। सर्वदा संवित्तिरूप है। संविन्मात्र होने से कहीं असंवित्ति है ही नहीं। और उस स्वप्रकाश संवित्ति से तुम्हीं स्वयं को देखने वाले होते हो।' देवों ने तब पूछा—'यह कैसे?' ... द्वितीय है ही नहीं और वह तुम्हीं हो'।

ब्रह्मेव भगवन्निति देवा ... ह्ययमात्माऽतो ... येव ॥15॥

शान्तिपाठः

ॐ भद्रं कर्णेभिः............देवहितं यदायुः। (पूर्ववत्)

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

❋

देवों को और कोशों को रचकर, उनमें प्रवेश करके स्वयं अमूढ होते हुए भी मूढ की तरह व्यवहार करता हुआ रहता है। यह सब माया से ही होता है। इसलिए वास्तव में तो यह आत्मा अद्वैत है, वह केवल सद्रूप है। नित्य, शुद्ध, बुद्ध, सत्य, मुक्त, निरञ्जन है। विभु, अद्वय सबसे परे है। प्रत्यक् का रस और उसका रस एक ही है। शास्त्रप्रमाण से अपवाद और अध्यारोप के द्वारा जाना जा सकता है।

सत्तामात्रं हीदं सर्वम्। सदेव पुरस्तात्सिद्धं हि ब्रह्म। न ह्यत्र किंचनानुभूयते। नाऽविद्याऽनुभवात्मनि स्वप्रकाशे सर्वसाक्षिण्यविक्रियेऽद्वये। पश्यतेहापि सन्मात्रमन्यदसत्। सत्यं हीत्थं पुरस्तादयोनि स्वात्मस्थानन्द चिद्घनं सिद्धं ह्यसिद्धम् ॥9॥

यह दृश्यमान जगत् वास्तव में सत्तामात्र है। और यह सत् तो जगत् की उत्पत्ति से पहले से ही ब्रह्मरूप में सिद्ध ही है। अपनी अनुभूतिरूप प्रमाण से सिद्ध इस आत्मा में सत् में और दूसरा सहसा नहीं अनुभव किया जा सकता। इस अनुभवात्मक स्वयंप्रकाशित सर्वसाक्षीरूप अद्वय और अक्रिय आत्मा में अविद्या नहीं है। हे लोगो! इस संसारदशा में भी केवल सत् को ही देखो। सत्य से अन्य जो दिखाई देता है वह असत् है। क्योंकि सृष्टि के पहले यह जन्मरहित सत् ही था। वह स्वात्मस्थ ही था आनन्दरूप और चिद्घन था। यह तो स्वतःसिद्ध है, अन्य प्रमाणों से वह असिद्ध है।

तद् विष्णुरीशानो ब्रह्मान्यदपि सर्वं सर्वगतं सर्वमत एव। शुद्धोऽबाध्यस्वरूपो बुद्धः सुखस्वरूप आत्मा। न ह्येतन्निरात्मकमपि नात्मा पुरतो हि सिद्धः। न हीदं सर्वं कदाचित्। आत्मा हि स्वमहिमस्थो निरपेक्ष एक एव साक्षी स्वप्रकाशः ॥10॥

वही आत्मा विष्णु है, वही ईशान (शिव) है, वही ब्रह्मा है, और भी सर्वगत सब कुछ जो है, वह वही है। वह शुद्ध ही है, उसके स्वरूप को कोई बाध नहीं कर सकता, वह सुखस्वरूप है। यह निरात्मक जगत् आत्मा नहीं है क्योंकि यह तो जगत् की उत्पत्ति से पहले ही सिद्ध था। यह जगत् तो कभी नहीं था पर स्वमहिमा में अवस्थित यह आत्मा तो निरपेक्षरूप से और साक्षीरूप से स्वयं प्रकाशित सर्वदा विद्यमान ही है।

किं? तन्नित्यम्। आत्माऽत्र ह्येव न विचिकित्स्यम्। एतद्धीदं सर्वं साधयति। द्रष्टा द्रष्टुः साक्ष्यविक्रियः। सिद्धो निरवद्यो बाह्याभ्यन्तरवीक्षणात् सुविस्फुटस्तमसः परस्तात् ॥11॥
ब्रूतैष दृष्टोऽदृष्टो वेति दृष्टोऽव्यवहार्योऽप्यल्पः ॥12॥

देवों ने पूछा—'वह नित्य क्या है?' तब प्रजापति ने कहा—'यहाँ आत्मा ही नित्य है, इसमें सोचने की कोई बात नहीं है। वही सब वस्तु सिद्ध करता है। वह द्रष्टा है। व्यावहारिक द्रष्टा का भी वह साक्षी है। वह निष्क्रिय है, वह सर्वदा सिद्ध है, अविद्यारहित है, वह भीतर-बाहर एकसाथ ही देखता है इसलिए स्वयं सुविस्फुट है, और अविद्या से तो दूर ही है। एकदम स्पष्ट है और अन्धकार से परे है।' ऐसा कहकर प्रजापति ने देवों से पूछा—'क्यों? मेरे द्वारा कहा हुआ यह आत्मा तुमने देखा या नहीं?' तब देवों ने कहा—'हाँ, वह अव्यवहार्य है। पर हमने अपनी बुद्धि से उसे बहुत ही अल्प जाना'।

नाल्पः साक्ष्यविशेषोऽनन्योऽसुखदुःखोऽद्वयः परमात्मा सर्वज्ञोऽनन्तो-

ऽभिन्नोऽद्वयः। सर्वदा संवित्तिर्मायया नासंवित्तिः। स्वप्रकाशेन यूयमेव दृष्टाः ॥13॥
किम्? अद्वयेन द्वितीयमेव न यूयमेव ॥14॥

तब प्रजापति ने कहा—'नहीं, यह अल्प नहीं है। क्योंकि यह तो साक्षी है, निर्विशेष है, अनन्य है, सुख-दुःख से परे है, अद्वैत है, परमात्मा है, सर्वज्ञ, अभिन्न, अनन्त, अद्वैत है। सर्वदा संवित्तिरूप है। संविन्मात्र होने से कहीं असंवित्ति है ही नहीं। और उस स्वप्रकाश संवित्ति से तुम्हीं स्वयं को देखने वाले होते हो।' देवों ने तब पूछा—'यह कैसे?' उत्तर में प्रजापति बोले—'अद्वैत होने से द्वितीय है ही नहीं और वह तुम्हीं हो'।

ब्रूह्येव भगवन्निति देवा ऊचुः। यूयमेव। दृश्यते चेन्नात्मज्ञाः। असङ्गो ह्ययमात्माऽतो यूयमेव स्वप्रकाशाः। इदं हि तत्संविन्मयत्वाद्यूयमेव ॥15॥

देवों ने कहा—'हे भगवन्! यह कैसे? यह हमें बताइए।' तब प्रजापति बोले—तुम्हीं तो वह आत्मा हो। यदि आत्मा से कुछ भी भिन्न देखते हो तो तुम आत्मज्ञ नहीं हो। यह आत्मा तो असंग है। इसलिए तुम्हीं वह स्वप्रकाश आत्मा हो। यह सब संवित् स्वरूप ही है, इसलिए तुम्हीं यह हो।

नेति होचुः। हन्तासङ्गा वयमिति होचुः। कथं पश्यन्तीति होवाच। न वयं विद्म इति होचुः। ततो यूयमेव स्वप्रकाशा इति होवाच। न च संविन्मया एतौ हि। पुरस्तात् सुविभातमव्यवहार्यमद्वयम्। ज्ञातो वैष विज्ञातः। विदिताविदितात् पर इति होचुः ॥16॥

देवों ने कहा—'हम स्वप्रकाश नहीं हैं, और हम तो असंग हैं।' तब प्रजापति ने कहा—'क्यों? तब तुम अपने आपको किस तरह देख सकते हो?' तब देवों ने कहा—'यह तो हम नहीं जानते।' तब प्रजापति ने कहा—'क्योंकि तुम्हीं अपने आपको प्रकाशित करने वाले हो।' तब देवों ने कहा—'हम तो संविद्रूप नहीं हैं क्योंकि ये दो हैं, ऐसा द्वैत ज्ञान हममें है।' तब प्रजापति बोले—'इस भेदमय जगत् के पहले ही यह आत्मा ब्रह्म स्पष्टरूप से प्रकाशित था, अव्यवहार्य था और अद्वैत था।' ऐसा कहकर प्रजापति ने देवों से पूछा—'क्या तुमने इस आत्मा को पहचान लिया?' तब देव लोग बोले—'हाँ। (अथवा इसका अर्थ निषेधात्मक 'नहीं जाना'—ऐसा भी हो सकता है, क्योंकि 'वि' उपसर्ग निषेधात्मक भी है)। यह आत्मा तो विदित और अविदित से परे मालूम होता है।'

स होवाच तद्वा एतद् ब्रह्माद्वयं बृहत्त्वान्नित्यं शुद्धं बुद्धं मुक्तं सत्यं सूक्ष्मं परिपूर्णमद्वयं सदानन्दचिन्मात्रमात्मैवाव्यवहार्यं केन च। तदेतदात्मानमोमित्यपश्यन्तः पश्यत। तदेतत् सत्यमात्मा ब्रह्मैव। ब्रह्मात्मैवात्र ह्येव न विचिकित्स्यमित्यों सत्यम्। तदेतत्पण्डिता एव पश्यन्ति ॥17॥

प्रजापति ने कहा—यह ब्रह्म विशालत्व के कारण अद्वय है। नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त, सत्य, सूक्ष्म, परिपूर्ण, अद्वय, सदानन्दचिन्मात्र आत्मा ही है। वह किसी से व्यवहार्य नहीं है। वह यह आत्मा को 'ओम्' के रूप में नहीं देखने वाले तुम लोग उसे ओंकार के रूप में देखो। वह यह सत्य आत्मा ब्रह्मरूप ही है। ब्रह्म ही यह आत्मा है, इसमें सोचने की कोई बात नहीं है। इस प्रकार 'ओम्' ही सत्य है। उसे पण्डित लोग ही पहचान पाते हैं।

एतद्धयशब्दमस्पर्शमरूपमरसमगन्धमवक्तव्यमनादातव्यमगन्तव्यमविस-र्जयितव्यमनानन्दयितव्यममन्तव्यमबोद्धव्यमनहंकर्तयितव्यमचेतयित-व्यमप्राणयितव्यमनपानयितव्यमव्यानयितव्यमनुदानयितव्यमसमानयि-तव्यमनिन्द्रियमविषयमकरणमलक्षणमसङ्गमगुणमविक्रियमव्यपदेश्य-मसत्त्वमरजस्कमतमस्कममायमभयमप्यौपनिषदमेव सुविभातं सकृद्वि-भातं पुरतोऽस्मात् सर्वस्मात् सुविभातमद्वयं पश्यत हंसः सोहमिति॥18॥

यह तुर्यतुर्य ब्रह्म शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्ध से रहित है। वह कहा नहीं जा सकता, पकड़ा भी नहीं जा सकता और छोड़ा भी नहीं जा सकता। उसे खुश नहीं किया जा सकता। वह न मन्तव्य है न बोद्धव्य है, वह अहंकाररहित है। उसमें किसी के द्वारा चेतना भरी नहीं गई है। प्राण, अपान, उदान, व्यान, समान आदि से उसे युक्त नहीं किया जा सकता। वह अनिन्द्रिय है, करणरहित है, उसका कोई लक्षण बन नहीं सकता। वह असंग, अगुण, विकाररहित, अनिर्वाच्य, सत्त्व-रज-तम से हीन होकर भी अभय है और केवल उपनिषदों से ही गम्य है। सुस्पष्ट भान करने वाला, नित्यप्रकाशित, इस सर्व जगत् के पहले भी विद्यमान इस ओंकाररूप ब्रह्म को देखो। 'हं' - त्वंपदार्थ और स तत्पदार्थ—दोनों को ('हंसः सोहम्'—मैं वह हूँ और वह मैं हूँ) इस प्रकार पहचानो।

स होवाच किमेष दृष्टो नेति। दृष्टो विदिताविदितात्पर इति होचुः। क्वैषा कथमिति होचुः। किं तेन। न किंचनेति होचुः। यूयमेवाश्चर्यरूपा इति होवाच। न चेत्याहुः। ओमित्यनुजानीध्वं ब्रूतैनमिति। ज्ञातोऽज्ञातश्चेति होचुर्न चैवमिति होचुरिति। ब्रूतैवेनमात्मसिद्धमिति होवाच। पश्याम एव भगवो न च वयं पश्यामो नैव वयं वक्तुं शक्नुमो नमस्तेऽस्तु भगवन् प्रसीदेति होचुः। न भेतव्यं पृच्छतेति होवाच। कैषाऽनुज्ञेति। एष एवात्मेति होवाच। तं होचुर्नमस्तुभ्यं वयं त इति। इति ह प्रजापति-र्देवाननुशशासानुशशासेति॥19॥

प्रजापति ने कहा—'क्या तुमने उसे देख लिया ?' देव बोले—'हाँ, वह विदित और अविदित से परे है, ऐसा देखा।' तब प्रजापति ने कहा—'वह स्वात्मसंवित् कहाँ है ?' तब देवों ने कहा—'किस प्रकार से पूछ रहे हैं आप ?' तब प्रजापति ने कहा—'अपनी महिमा में स्थित उस संविद्रूप आत्मा के साक्षात्कार से क्या लाभ होगा ?' देवों ने कहा—'कुछ लाभ नहीं होगा'। तब प्रजापति बोले—'हे देवो ! तुम्हीं तो वह आश्चर्यस्वरूप हो'। तब देवलोग बोले—'हाँ, जब कोई द्वैत है ही नहीं तब ठीक है।' तब प्रजापति बोले—'उसी ब्रह्म को ओंकार के रूप में तुम जानो। पूर्वकथित अशब्दादि निषेधरूप को छोड़कर इस हकारात्मकरूप से उसे जानो। पर पहले तुम अपनी समझ क्या है, वह कहो।' तब देवलोग बोले—'हे भगवन् !' हम उसे देखते हैं और अपने सिवा कुछ नहीं देखते। हम उसके विषय में बोल नहीं सकते। हे भगवन् ! आपको नमस्कार है। आप हम पर प्रसन्न होइए।' तब प्रजापति ने कहा कि 'डरो मत ! फिर भी पूछो।' तब देवों ने पूछा—'यह संवित् क्या है ?' तब प्रजापति ने कहा—'वही तो आत्मा है—आत्मातिरिक्त कोई संवित् नहीं है।' तब देवों ने प्रजापति से कहा—'आपको नमस्कार हो, हम आपके ही (शिष्य) हैं। इस प्रकार प्रजापति ने देवों को उपदेश दिया।

तदेष श्लोकः—
ओतमोतेन जानीयादनुज्ञातारमान्तरम्।
अनुज्ञामद्वयं लब्ध्वा उपद्रष्टारमाव्रजेदिति॥20॥

इति नवमः खण्डः।

इति नृसिंहोत्तरतापिन्युपनिषत्समाप्ता।
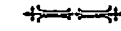
इस उपनिषद् के अर्थ के विषय में यह श्लोक है कि—'सर्वत्र ओतप्रोत इस तुर्य-तुर्य को, ओतेन - तुरीय रूप ओंकार के द्वारा जान लेना चाहिए। यह ओतप्रोत तुर्यतुर्य भीतर का अनुज्ञाता – साक्षी भी है, उसको भी जान लेना चाहिए। इसके बाद प्रत्यगात्मा के साथ परमात्मा के अद्वैत ज्ञान को प्राप्त करके उपद्रष्टारूप तुर्यतुर्य को प्राप्त कर लेना चाहिए।

यहाँ नवम खण्ड पूरा हुआ।

शान्तिपाठः

ॐ भद्रं कर्णेभिः...........देवहितं यदायुः। (पूर्ववत्)
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः॥

❈

(29) कालाग्निरुद्रोपनिषत्

(उपनिषत्परिचय)

परम्परा से कृष्णयजुर्वेद के साथ सम्बद्ध मानी गई इस छोटी सी उपनिषद् में सनत्कुमार के पूछने पर भगवान् कालाग्निरुद्र ने त्रिपुण्ड्र करने की विधि बतलाई है। अग्निहोत्र में से भस्म लेकर निश्चित मन्त्रों का उच्चारण करते हुए ललाट पर, सिर पर, छाती पर और दोनों कन्धों पर त्रिपुण्ड्र खींचना चाहिए। त्रिपुण्ड्र की ये तीन रेखाएँ सत्त्व-रज-तम की, ब्रह्मा-विष्णु-महेश की, विश्व-तैजस-प्राज्ञ की, ॐकार की अ-उ-म इन तीन मात्राओं की, ऋक्-यजुः-साम की, पृथ्वी-अन्तरिक्ष-स्वर्ग की, ज्ञान-क्रिया-इच्छाशक्ति की, गार्हपत्य-आहवनीय-दक्षिणाग्नि की, वैश्वानर-हिरण्यगर्भ-ईश्वर की प्रतीक है। इस प्रकार त्रिपुण्ड्र की विधि और महिमा इस उपनिषद् में बताई गई है।

शान्तिपाठः

ॐ सह नाववतु। सह नौ.......मा विद्विषावहै। (पूर्ववत्)
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः॥

इसका हिन्दी रूपान्तर पूर्व में (ब्रह्मोपनिषद् में) द्रष्टव्य है।

अथ कालाग्निरुद्रोपनिषदः संवर्तकोऽग्निर्ऋषिरनुष्टुप् छन्दः श्रीकालाग्नि-रुद्रो देवता श्रीकालाग्निरुद्रप्रीत्यर्थे विनियोगः॥1॥

इस कालाग्निरुद्र नामक उपनिषद् के संवर्तक अग्नि ऋषि हैं, अनुष्टुभ् इसका छन्द है, श्रीकालाग्निरुद्र इसके देवता हैं, और श्रीकालाग्निरुद्र देव को प्रसन्न करने के लिए इसका विनियोग किया गया है।

अथ कालाग्निरुद्रं भगवन्तं सनत्कुमारः पप्रच्छ। अधीहि भगवंस्त्रिपुण्ड्र-विधिं सतत्त्वं किं द्रव्यं कियत्स्थानं कति प्रमाणं का रेखाः के मन्त्राः का शक्तिः किं दैवतं कः कर्त्ता किं फलमिति॥2॥

एक बार भगवान् कालाग्निरुद्र से सनत्कुमार ने पूछा—'हे भगवन्! मुझे रहस्य के साथ त्रिपुण्ड्र की विधि का उपदेश दीजिए। यह त्रिपुण्ड्र क्या है? इसका स्थान कहाँ है? इसका प्रमाण (नाप) कितना है? इसकी रेखाएँ कितनी हैं? मन्त्र कौन-कौन से हैं? इसकी शक्ति क्या है? इसका देवता कौन है? इसका कर्त्ता कौन है? और इसका फल क्या है?

तं होवाच भगवान्कालाग्निरुद्रः। यद् द्रव्यं तदाग्नेयं भस्म सद्योजातादि-पञ्चब्रह्ममन्त्रैः परिगृह्याग्निरिति भस्म वायुरिति भस्म जलमिति भस्म स्थलमिति भस्म व्योमेति भस्मेत्यनेनाभिमन्त्र्य मानस्तोक इति समुद्धृत्य मा नो महान्तमिति जलेन संसृज्य त्रियायुषमिति शिरोललाटवक्षः-स्कन्धेषु त्रियायुषैस्त्र्यम्बकैस्त्रिशक्तिभिस्तिर्यक् तिस्रो रेखाः प्रकुर्वीत। व्रतमेतच्छाम्भवं सर्वेषु वेदेषु वेदवादिभिरुक्तं भवति। तस्मात्तत्समाचरे-न्मुमुक्षुर्न पुनर्भवाय॥3॥

तब भगवान् कालाग्निरुद्र ने सनत्कुमार से कहा कि इस त्रिपुण्ड्र का द्रव्य तो सिर्फ अग्निहोत्र की भस्म ही है। 'सद्योजात०' आदि पाँच ब्रह्ममन्त्रों को पढ़ते हुए पहले इस भस्म को धारण (ग्रहण) करना चाहिए। बाद में अग्नि-वायु-जल-स्थल-व्योम पंचभूतादि मन्त्रों से (*'अग्निरिति भस्म०' आदि मन्त्रों से*) इसे अभिमन्त्रित करना चाहिए। फिर 'मानस्तोक०' इत्यादि मन्त्रों से उस भस्म को करतल से अंगुली द्वारा उठाकर 'मा नो महान्०' आदि मन्त्र से उसे पानी में भिगोकर, 'त्रियायुषं०' इत्यादि मन्त्र पढ़ते हुए सिर, ललाट, छाती और कन्धों पर तीन-तीन रेखाएँ करनी चाहिए। इस समय 'त्रियायुषं०' मन्त्र के साथ 'त्र्यम्बकं यजामहे०' यह मन्त्र भी पढ़ना चाहिए। इसी को 'शाम्भव व्रत' कहते हैं। यह व्रत वेदज्ञों ने सभी वेदों में बताया है। इसलिए मुमुक्षुओं को पुनर्जन्म की निवृत्ति के लिए इसका आचरण करना चाहिए।

अथ सनत्कुमारः पप्रच्छ प्रमाणमस्य त्रिपुण्ड्रधारणस्य॥4॥

बाद में सनत्कुमार ने इस त्रिपुण्ड्रधारण के प्रमाण (आकृति आदि) के बारे में पूछा।

त्रिधा रेखा आललाटादाचक्षुषोरामूर्ध्नोराभ्रुवोर्मध्यतश्च॥5॥

भगवान् कालाग्निरुद्र ने उत्तर दिया कि दोनों भौंहों के मध्य से आरंभ करके आँखों से लेकर पूरे ललाट तक तीन रेखाएँ खींचने का इसका नाप (प्रमाण) है।

याऽस्य प्रथमा रेखा सा गार्हपत्यश्चाकारो रजो भूर्लोकः स्वात्मा क्रियाशक्तिर्ऋग्वेदः प्रातः सवनं महेश्वरो देवतेति॥6॥

इस त्रिपुण्ड्र की प्रथम रेखा गार्हपत्याग्निरूप, ॐकार के अकाररूप, रजोगुणरूप, भूर्लोकरूप, स्वात्मरूप, क्रियाशक्तिरूप, ऋग्वेदस्वरूप, प्रातःसवनरूप तथा महेश्वरदेवतारूप है।

यास्य द्वितीया रेखा सा दक्षिणाग्निरुकारः सत्त्वमन्तरिक्षमन्तरात्मा चेच्छाशक्तिर्यजुर्वेदो माध्यन्दिनं सवनं सदाशिवो देवतेति॥7॥

इस त्रिपुण्ड्र की जो दूसरी रेखा है, वह दक्षिणाग्नि, ॐकार के उकार, सत्त्वगुण, अन्तरिक्ष लोक, अन्तरात्मा, इच्छाशक्ति, यजुर्वेद, मध्याह्न सवन और सदाशिव देवता का ही स्वरूप है।

याऽस्य तृतीया रेखा साऽहवनीयो मकारस्तमो द्यौर्लोकः परमात्मा ज्ञानशक्तिः सामवेदस्तृतीयसवनं महादेवो देवतेति॥8॥

इस त्रिपुण्ड्र की जो तीसरी रेखा है, वह आहवनीय अग्निरूप, ॐकार के मकाररूप, तमोगुण द्युलोक स्वरूप, परमात्मस्वरूप, ज्ञानशक्तिरूप, सामवेदरूप, तृतीयसवनरूप और महादेव देवता का ही स्वरूप है। इस प्रकार ये तीनों रेखाएँ अपने-अपने विशिष्ट अग्नि, लोक, गुण, वेद, आत्मा, ॐकार की मात्रा, सवन और देव का सूचन करने वाली होती हैं।

एवं त्रिपुण्ड्रविधिं भस्मना करोति यो विद्वान् ब्रह्मचारी गृही वानप्रस्थो यतिर्वा स महापातकोपपातकेभ्यः पूतो भवति स सर्वेषु तीर्थेषु स्नातो भवति स सर्वान्वेदानधीतो भवति स सर्वान्देवाञ्ज्ञातो भवति। स सततं सकलरुद्रमन्त्रजापी भवति स सकलभोगान् भुङ्क्ते। देहं त्यक्त्वा

शिवसायुज्यमेति। न स पुनरावर्तते न स पुनरावर्तत इत्याह भगवान् कालाग्निरुद्रः ॥9॥

इस प्रकार की त्रिपुण्ड्र विधि का आचरण यदि कोई भी विद्वान् करे, चाहे वह ब्रह्मचारी हो, या गृहस्थी हो, या वानप्रस्थी हो, या संन्यासी हो, तो वह सभी बड़े और छोटे पापों से मुक्त हो जाता है। उसने सभी तीर्थों में स्नान कर लिया है, ऐसा मानना चाहिए। उसने सभी वेद पढ़ लिए हैं, ऐसा समझना चाहिए। उसने सभी देवों को पहचान लिया है, ऐसा मानना चाहिए। वह निरन्तर सकल रुद्रमन्त्रों को जपता ही है, ऐसा मानना चाहिए। वही समग्र भोगों को सही रूप में भोगता है। वह इस लोक को छोड़कर शिव के साथ एकाकार हो जाता है। वह फिर से यहां (मर्त्यलोक में) नहीं लौटता अर्थात् वह वापिस आता ही नहीं है, ऐसा भगवान् कालाग्निरुद्र ने कहा।

यस्त्वेतद् वाऽधीते सोऽप्येवमेव भवतीत्यों सत्यमित्युपनिषत् ॥10॥

इति कालाग्निरुद्रोपनिषत्समाप्ता।
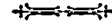
जो मनुष्य इस उपनिषत् का अध्ययन करता है, वह भी उसी प्रकार का अर्थात् शिवलोक को प्राप्त करने वाला होता है। जितना ओंकार सत्य है, उतनी ही यह उपनिषत् भी सत्य है। यहाँ उपनिषत् पूर्ण होती है।

शान्तिपाठः

ॐ सह नाववतु। सह नौ..........मा विद्विषावहै। (पूर्ववत्)
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

❋

(30) मैत्रेय्युपनिषत्

(उपनिषत्परिचय)

सामवेद से सम्बद्ध इस उपनिषद में तीन अध्याय हैं। जब बृहद्रथ राजा को अपने शरीर की विनश्वरता का बोध हुआ तो उन्होंने अपने बड़े पुत्र को राज्यभार सौंप दिया और आत्मज्ञान पाने के लिए घोर जंगल में तप करने के लिए चले गए। उनके तीव्र तप से प्रभावित होकर मुनि शाकायन्य वहाँ आए और उन्होंने राजा से वर माँगने को कहा। राजा ने आत्मतत्त्व का वर माँगा। तब दोनों का संवाद चला। इसमें शरीर की नश्वरता, बीभत्सता बताई है और अन्त में आत्मतत्त्व का स्वरूप, उसकी प्राप्ति का उपाय, यह प्रथम अध्याय में बताया गया है। द्वितीय अध्याय में मैत्रेय और महादेव का संवाद है। इसमें शिव के ध्यान, ज्ञान, स्नान आदि का अच्छी तरह स्पष्टीकरण करके बाद में संन्यास द्वारा मुक्तिप्राप्ति का बड़े विस्तार से वर्णन किया गया है। और अन्तिम तीसरे अध्याय में विशुद्ध आत्मानुभूति का विस्तार से वर्णन करने के बाद उपनिषद् का महिमागान किया गया है।

शान्तिपाठः

ॐ आप्यायन्तु ममाङ्गानि..........ते मयि सन्तु। (पूर्ववत्)
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

इसका हिन्दी रूपान्तर पूर्व में (आरुण्युपनिषद् में) द्रष्टव्य है।

प्रथमोऽध्यायः

ॐ बृहद्रथो वै नाम राजा राज्ये ज्येष्ठं पुत्रं निधापयित्वेदमशाश्वतं मन्यमानः शरीरं वैराग्यमुपेतोऽरण्यं जगाम। स तत्र परमं तप आस्थायादित्यमीक्षमाण ऊर्ध्वबाहुस्तिष्ठत्यन्ते सहस्रस्य मुनेरन्तिकमाजगामाग्निरिवाधूमकस्तेजसा निर्दहन्निवात्मविद्भगवाञ्छाकायन्य उत्तिष्ठोत्तिष्ठ वरं वृणीष्वेति राजानमब्रवीत्। स तस्मै नमस्कृत्योवाच भगवन्नाहमात्मवित् त्वं तत्त्वविच्छृणुमो वयं स त्वं नो ब्रूहीति। एतद् वृत्तं पुरस्तादशक्यं मा पृच्छ प्रश्नम्। ऐक्ष्वाकान्यान्कामान्वृणीष्वेति। शाकायन्यस्य चरणावभिमृश्यमानो राजेमां गाथां जगाद ॥1॥

ॐ बृहद्रथ नाम के एक राजा को, यह शरीर विनाशशील है—ऐसा ज्ञान होने पर वैराग्य आ गया। और इसलिए वह अपने बड़े पुत्र को राज्य का भार सौंपकर वन में चला गया। वहाँ उसने बड़ी कठोर तपश्चर्या की। वह सूर्य के सामने ही देखता रहता था। हाथ ऊँचा करके खड़ा रहा करता था। एक हजार वर्ष के बाद इस तपश्चर्या के फलस्वरूप एक बार एक निर्धूम अग्नि जैसे तेजस्वी आत्मज्ञ शाकायन्य महामुनि उसके पास आकर खड़े हो गए और बोले—'उठो, उठो, वरदान माँग लो।' तब राजा ने उन्हें नमस्कार करके कहा—'हे भगवन्! मैं आत्मज्ञानी नहीं हूँ, और हमने सुना है कि आप

तो आत्मज्ञानी हैं। इसलिए आप मुझे इस तत्त्व का उपदेश दीजिए।' तब मुनि शाकायन्य ने—'वह तो बड़ा ही कठिन है।' ऐसा कहकर दूसरा कोई वर माँग लेने को कहा। यह सुनकर बृहद्रथ राजा ने मुनि के दोनों चरणों को पकड़ कर यह बात कही।

अथ किमेतैर्मान्यानां शोषणं महार्णवानां शिखरिणां प्रपतनं ध्रुवस्य प्रचलनं स्थानं वा तरूणां निमज्जनं पृथिव्याः स्थानादपसरणं सुराणाम्। सोऽहमित्येतद्विधेऽस्मिन्संसारे किं कामोपभोगैर्यैरेवाश्रितस्यासकृदुपावर्तनं दृश्यत इत्युद्धर्तुमर्हसीत्यन्धोदपानस्थो भेक इवाहमस्मिन्संसारे इति भगवंस्त्वं नो गतिरिति ॥2॥

(राजा ने कहा कि—) 'बड़े-बड़े सागर सूख जाते हैं, पर्वत भी टूट-फूट जाते हैं, ध्रुवतारा भी अपने स्थान से विचलित होता है, पेड़ गिर पड़ते हैं, यह धरती भी डूब जाती है, देव भी निश्चल नहीं रह पाते, तो फिर उस विनाशशील संसार में विषयभोगों से क्या लाभ हो सकता है ? विषयों में डूबे रहने वालों को तो कई बार इस जन्ममरण के चक्र में घूमता पड़ता है, ऐसा देखा जाता है। इसलिए हे मुनि ! अँधेरे कुएँ में पड़े हुए मेंढक जैसे मेरा उद्धार करने के लिए आप योग्य हैं। हे भगवन् ! इस संसार में आप ही मेरा आश्रय हैं।'

भगवञ्शरीरमिदं मैथुनादेवोद्भूतं संविदपेतं निरय एव मूत्रद्वारेण निष्क्रान्तमस्थिमिश्रितं मांसेनानुलिप्तं चर्मणावबद्धं विण्मूत्रवातपित्तकफमज्जामेदोवसाभिरन्यैश्च मलैर्बहुभिः परिपूर्णम्। एतादृशे शरीरे वर्तमानस्य भगवंस्त्वं नो गतिरिति ॥3॥

'हे भगवन् ! मैथुन से ही उत्पन्न हुआ यह शरीर यदि ज्ञान से रहित हो, तब तो वह नरक ही है, क्योंकि वह मूत्र के द्वार से निकला है, हड्डियों से उसे आकार दिया गया है, मांस से उसे लेपा गया है, चमड़ी से उसे मढ़ा गया है और विष्टा, मूत्र, वात, पित्त, कफ, मज्जा, मेद, चर्बी और अन्य अनेक प्रकार की मलिनताओं से भरा-पूरा है। ऐसे शरीर में रहे हुए मेरा आप ही एकमात्र आश्रय हैं।'

अथ भगवाञ्शाकायन्यः सुप्रीतोऽब्रवीद्राजानम्। महाराज बृहद्रथेक्ष्वाकुवंशध्वजशीर्षात्मज्ञः कृतकृत्यस्त्वं मरुन्नाम्नो विश्रुतोऽसीत्ययं खल्वात्मा ते। कतमो भगवान्वर्ण्य इति तं होवाच ॥4॥

यह सुनकर भगवान् शाकायन्य ने बहुत प्रसन्न होकर कहा—'हे महाराज बृहद्रथ ! तुम सचमुच बड़े ही भाग्यशाली – कृतकृत्य हो। 'मरुत्' नाम से तुम विख्यात हो, यही तुम्हारा आत्मा है।' तब राजा ने कहा—'वह कौन-सा आत्मा है ? हे भगवन् ! आप उसका वर्णन कीजिए'। तब मुनि ने उससे कहा कि—

शब्दस्पर्शमया येऽर्था अनर्था इव ते स्थिताः।
तेषां सक्तस्तु भूतात्मा न स्मरेच्च परं पदम् ॥5॥

जो शब्द, स्पर्श आदि विषय हैं, वे बड़े ही अनर्थ करने वाले हैं। उनमें आसक्त रहने वाला जीवात्मा परमपद को कभी याद नहीं कर सकता।

तपसा प्राप्यते सत्त्वं सत्त्वात्सम्प्राप्यते मनः।
मनसा प्राप्यते ह्यात्मा ह्यात्मापत्त्या निवर्तते ॥6॥

तप-साधना से ज्ञान प्राप्त होता है, ज्ञान से मन वश में आता है, मन के वश में आने से आत्मा की प्राप्ति होती है और आत्मा की प्राप्ति से मोक्ष मिलता है।

यथा निरिन्धनो वह्निः स्वयोनावुपशाम्यति।
तथा वृत्तिक्षयाच्चित्तं स्वयोनावुपशाम्यति ॥7॥

काष्ठ जब खत्म हो जाते हैं, तब आग स्वतः अपने में ही (अपने उत्पत्ति स्थान में ही) लीन हो जाती है, ठीक उसी प्रकार जब चित्तवृत्तियाँ क्षीण हो जाती हैं, तब मन अपने कारणरूप आत्मा में लीन हो जाता है।

स्वयोनावुपशान्तस्य मनसः सत्यगामिनः।
इन्द्रियार्थविमूढस्यानृताः कर्मवशानुगाः ॥8॥

जब इन्द्रियों के विषयों में लीन विमूढ मन स्वयं ही अपने कारण में शान्त हो जाता है, और सत्य ही ओर झुक जाता है, तब कर्मों के वश में रहे हुए विषय ऐसे मन को झूठे ही लगते हैं।

चित्तमेव हि संसारस्तत्प्रयत्नेन शोधयेत्।
यच्चित्तस्तन्मयो भवति गुह्यमेतत्सनातनम् ॥9॥

हमारा मन ही संसार है, इसलिए प्रयत्नपूर्वक उसको शुद्ध करना चाहिए। 'जैसा जिसका चित्त होता है, वैसा ही वह मनुष्य होता है।' यह तो सनातन रहस्य है।

चित्तस्य हि प्रसादेन हन्ति कर्म शुभाशुभम्।
प्रसन्नात्माऽऽत्मनि स्थित्वा सुखमक्षयमश्नुते ॥10॥

चित्त की प्रसन्नता से ही (शान्ति से ही) शुभ या अशुभ कर्म नष्ट हो जाते हैं। और वह प्रसन्न-शान्त मनुष्य जब अपनी आत्मा में लीन हो जाता है, तब वह अक्षय सुख भोगता है।

समासक्तं यदा चित्तं जन्तोर्विषयगोचरम्।
यद्येवं ब्रह्मणि स्यात्तत्को न मुच्येत बन्धनात् ॥11॥

बाहर के विषयों में मनुष्य का मन जितना आसक्त होता है, उतना ही यदि ब्रह्म में लगा रहे, तब भला कौन मुक्त नहीं होगा ? अर्थात् सभी मुक्त हो ही जाएँगे।

हृत्पुण्डरीकमध्ये तु भावयेत्परमेश्वरम्।
साक्षिणं बुद्धिवृत्तस्य परमप्रेमगोचरम् ॥12॥

हृदयरूपी कमल के बीच में बुद्धि के समस्त कार्यों के साक्षी ऐसे तथा परम प्रेम के स्थानरूप परमेश्वर का ध्यान करना चाहिए।

अगोचरं मनोवाचामवधूतादिसम्प्लवम्।
सत्तामात्रप्रकाशैकप्रकाशं भावनातिगम् ॥13॥

वह परमेश्वर वाणी और मन की पहुँच के बाहर है। उसमें न आदि है न अन्त है। केवल 'सत्' रूप प्रकाश से (अस्तित्व के प्रकाश से ही) वह प्रकाशित है और कल्पना से परे है।

अहेयमनुपादेयमसामान्यविशेषणम्।
ध्रुवं स्तिमितगम्भीरं न तेजो न तमस्ततम्।
निर्विकल्पं निराभासं निर्वाणमयसंविदम् ॥14॥

उसको ग्रहण किया जाए या छोड़ दिया जाए, ऐसी कोई भावना उसके सम्बन्ध में नहीं की जा सकती। उसे सामान्य भी नहीं कहा जा सकता और विशेष भी नहीं कहा जा सकता। वह निश्चल है,

शान्त है, गंभीर है। वह तेज भी नहीं है और फैला हुआ अन्धकार भी नहीं है। वह संकल्परहित, आभासरहित और मुक्तरूप चैतन्य है।

नित्यः शुद्धो बुद्धमुक्तस्वभावः सत्यः सूक्ष्मः संविभुश्चाद्वितीयः ।
आनन्दाब्धिर्यः परः सोऽहमस्मि प्रत्यग्धातुर्नात्र संशीतिरस्ति ॥15॥

वह नित्य, शुद्ध, ज्ञानमय, मुक्तस्वभाववाला, सत्य, सूक्ष्म, सर्वव्यापक एवं एक (अद्वितीय) है। वह आनन्द का सागर है, वह सबसे परे है, और वह मैं ही हूँ। प्रत्येक स्वरूप धारण करने वाला वह मैं ही हूँ, इसमें कोई शंका नहीं है।

आनन्दमन्तर्निजमाश्रयं तमाशापिशाचीमवमानयन्तम् ।
आलोकयन्तं जगदिन्द्रजालमापत्कथं मां प्रविशेदसङ्गम् ॥16॥

अन्तःकरण में प्राप्त होने वाले आनंद के आश्रय में रहने वाली आशा नाम की पिशाचिनी को दूर धकेलने वाले एवं सारे जगत् को इन्द्रजाल के समान देखने वाले मुझ असंग में भला आपद् (दुःख) कैसे प्रविष्ट हो सकेगा ?

वर्णाश्रमाचारयुता विमूढाः कर्मानुसारेण फलं लभन्ते ।
वर्णादिधर्मं हि परित्यजन्तः स्वानन्दतृप्ताः पुरुषा भवन्ति ॥17॥

वर्ण और आश्रम धर्म का पालन करने वाले मूढ लोग ही अपने-अपने कर्मों के फल भोगते हैं और वर्णाश्रम धर्मों को छोड़नेवाले ही अपने आत्मा में ही संतुष्ट रहने वाले हो जाते हैं।

वर्णाश्रमं सावयवं स्वरूपमाद्यन्तयुक्तं ह्यतिकृच्छ्रमात्रम् ।
पुत्रादिदेहेष्वभिमानशून्यं भूत्वा वसेत्सौख्यतमे ह्यनन्ते । इति ॥18॥

इति प्रथमोऽध्यायः ।
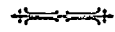
वर्णाश्रम के धर्म और यह सावयव शरीर—ये सब आदि और अन्तवाले हैं, और इसलिए बड़े ही कष्टदायक हैं। इसलिए मनुष्य को चाहिए कि वह पुत्रादि के शरीरों में ममत्व से शून्य होकर परमानन्दरूप अनन्त में स्थिर बना रहे।

यहाँ प्रथम अध्याय पूरा हुआ।

द्वितीयोऽध्यायः

अथ भगवान्मैत्रेयः कैलासं जगाम । तं गत्वोवाच भो भगवन्परमतत्त्व-
रहस्यमनुब्रूहीति । स होवाच महादेवः—
देहो देवालयः प्रोक्तः स जीवः केवलः शिवः ।
त्यजेदज्ञाननिर्माल्यं सोऽहंभावेन पूजयेत् ॥1॥

एक बार भगवान् मैत्रेय कैलास पर्वत पर गए। वहाँ जाकर उन्होंने महादेव से कहा कि—'हे भगवन् ! आप मुझे परमतत्त्व का रहस्य कहिए।' तब महादेव बोले 'शरीर देवालय है और उसमें जो जीव दीखता है, वह शिव ही है। इसलिए अज्ञानरूप निर्माल्य को (बासी पुष्प जैसा मानकर) छोड़ देना चाहिए और 'वह (शिव) मैं ही हूँ' इस प्रकार मानकर उसकी पूजा करनी चाहिए।

अभेददर्शनं ज्ञानं ध्यानं निर्विषयं मनः ।
स्नानं मनोमलत्यागः शौचमिन्द्रियनिग्रहः ॥2॥

अभेद का दर्शन ही सच्चा ज्ञान है, विषयरहित मनोदशा ही सच्चा ध्यान है। मन की मलिनता का त्याग ही सच्चा स्नान है और इन्द्रियों को वश में लाना ही वास्तविक पवित्रता है।

ब्रह्मामृतं पिबेद्भैक्षमाचरेद्देहरक्षणे ।
वसेदेकान्तिको भूत्वा चैकान्ते द्वैतवर्जिते ।
इत्येवमाचरेद्धीमान्स एवं मुक्तिमाप्नुयात् ॥3॥

सदैव ब्रह्मरूपी अमृत का पान करते रहना चाहिए। केवल देह को स्थिर रखने के लिए ही भिक्षा माँगनी चाहिए। जहाँ कोई दूसरा न हो ऐसे एकान्त स्थल में अकेला ही रहना चाहिए। बुद्धिमान मनुष्य को इस प्रकार का आचरण करना चाहिए। ऐसा आचरण करने वाला वह मोक्ष प्राप्त करता है।

जातं मृतमिमं देहं मातापितृमलात्मकम् ।
सुखदुःखालयामेध्यं स्पृष्ट्वा स्नानं विधीयते ॥4॥

माता-पिता के मल (शुक्र-शोणित) से उत्पन्न, जन्मते और मरते हुए, और सुखों एवं दुःखों के निवासरूप अपवित्र ऐसे शरीर का स्पर्श करने के बाद स्नान कर लेने को कहा गया है।

धातुबद्धं महारोगं पापमन्दिरमध्रुवम् ।
विकाराकारविस्तीर्णं स्पृष्ट्वा स्नानं विधीयते ॥5॥

सप्त धातुओं से गढ़े गए, भयंकर रोगों से युक्त, पाप के घर के समान, अस्थिरता और विकारों से भरे हुए इस शरीर का स्पर्श करके स्नान करने का कहा गया है।

नवद्वारमलस्रावं सदा काले स्वभावजम् ।
दुर्गन्धं दुर्मलोपेतं स्पृष्ट्वा स्नानं विधीयते ॥6॥

आँख-कान-नाक आदि नव द्वारों से सदा-सर्वदा जिस देहरूपी महालय से स्वभाव से ही मल निकलता ही रहता है, ऐसे दुर्गन्धमय दूषित मैल से युक्त इस शरीर का स्पर्श कर स्नान कर लेना चाहिए।

मातृसूतकसम्बन्धं सूतके सह जायते ।
मृतसूतकजं देहं स्पृष्ट्वा स्नानं विधीयते ॥7॥

माता के सूतक के साथ सम्बद्ध होकर ही मनुष्य जन्म लेता है और मरण के सूतक के साथ तो वह होता ही है इसलिए ऐसे उभयतः सूतक वाले शरीर का स्पर्श करके नहा लेना चाहिए।

अहं ममेति विण्मूत्रलेपगन्धादिमोचनम् ।
शुद्धशौचमिति प्रोक्तं मृज्जलाभ्यां तु लौकिकम् ॥8॥

मल-मूत्र आदि दुर्गन्ध की शुद्धि तो पानी और मिट्टी से होती है, ठीक है, परन्तु वह तो लौकिक शुद्धि ही कही गई है। वास्तविक शुद्धि तो 'मैं और मेरा'—इस भाव के त्याग द्वारा ही हो सकती है।

चित्तशुद्धिकरं शौचं वासनात्रयनाशनम् ।
ज्ञानवैराग्यमृत्तोयैः क्षालनाच्छौचमुच्यते ॥9॥

और ऐसी शुद्धि (पवित्रता) मन की शुद्धि करती है। ऐसी पवित्रता मन में स्थित तीनों प्रकार की

वासनाओं (लोकैषणा, वित्तैषणा, पुत्रैषणा) को दूर करती है। ज्ञान और वैराग्यरूपी मिट्टी और पानी से मन को धोने से वही शौच कहलाता है (वास्तविक शौच यही है)।

अद्वैतभावनाभैक्षमभक्ष्यं द्वैतभावनम्।
गुरुशास्त्रोक्तभावेन भिक्षोर्भैक्षं विधीयते ॥10॥

अद्वैत की भावना करना ही सही रूप में भिक्षावृत्ति है और द्वैत की भावना ही अभक्ष्य (अखाद्य) है। गुरु और शास्त्रों में कहे गए भावों के अनुसार ही भिक्षुक को भिक्षा माँगनी चाहिए।

विद्वान्स्वदेशमुत्सृज्य संन्यासानन्तरं स्वतः।
कारागारविनिर्मुक्तचौरवद्दूरतो वसेत् ॥11॥

संन्यास के बाद उस आत्मज्ञ पुरुष को स्वयं ही कारागार से छोड़े गए चोर की तरह अपने देश को त्यागकर दूर-दूर निवास करना चाहिए (एकान्त में रहना चाहिए)।

अहंकारसुतं वित्तभ्रातरं मोहमन्दिरम्।
आशापत्नीं त्यजेद्यावत्तावन्मुक्तो न संशयः ॥12॥

अहंकाररूपी पुत्र को, धनरूपी भाई को, मोहरूपी घर को और आशारूपी पत्नी को मनुष्य जैसे ही छोड़ता है, वैसे ही मुक्त हो जाता है, इसमें शंका नहीं है।

मृता मोहमयी माता जातो बोधमयः सुतः।
सूतकद्वयसम्प्राप्तौ कथं सन्ध्यामुपास्महे ॥13॥

मोहरूपी माता मर गई है और बोधरूपी बेटे ने जन्म लिया है। इस तरह दोनों ओर से सूतक लग जाने से भला हम किस तरह सन्ध्योपासन कर सकते हैं?

हृदाकाशे चिदादित्यः सदा भासति भासति।
नास्तमेति न चोदेति कथं सन्ध्यामुपास्महे ॥14॥

इस हृदयरूपी आकाश में चिद्रूपी सूर्य सदासर्वदा भासित ही रहता है। वह कभी अस्त नहीं होता और उदय भी नहीं होता, तो सन्ध्योपासन कैसे कर सकते हैं?

एकमेवाद्वितीयं यद् गुरोर्वाक्येन निश्चितम्।
एतदेकान्तमित्युक्तं न मठो न वनान्तरम् ॥15॥

गुरु के उपदेशवाक्य से जो 'एक ही अद्वितीय है—' ऐसा निश्चय किया गया है, वही तो सही रूप में एकान्त है। किसी एक या दूसरे वन में एकान्त नहीं है।

असंशयवतां मुक्तिः संशयाविष्टचेतसाम्।
न मुक्तिर्जन्मजन्मान्ते ततो विश्वासमाप्नुयात् ॥16॥

संशयरहित मनुष्यों की ही मुक्ति होती है। संशय से घिरे हुए मनवालों की जन्म-जन्मान्तर में भी मुक्ति नहीं होती। इसलिए श्रद्धा रखनी चाहिए।

कर्मत्यागान्न संन्यासो न प्रेयोच्चारणेन तु।
सन्धौ जीवात्मनोरैक्यं संन्यासः परिकीर्तितः ॥17॥

कर्मों को छोड़ देना ही संन्यास नहीं है। और 'मैं संन्यासी हूँ'—ऐसे अपने को प्रिय लगने वाले उच्चारण करने से भी कोई संन्यासी नहीं बन जाता। अपितु समाधि में जीव और परमात्मा का ऐक्य ही वास्तविक संन्यास कहा जाता है।

वमनाहारवद्यस्य भाति सर्वेषणादिषु।
तस्याधिकारः संन्यासे त्यक्तदेहाभिमानिनः ॥18॥

जिस मनुष्य को अपनी सभी एषणाएँ वमन किये हुए (उगले हुए) आहार जैसी लगती है, और जिसने अपने देह के अभिमान को छोड़ दिया है, उसी को संन्यास लेने का अधिकार है।

यदा मनसि वैराग्यं जातं सर्वेषु वस्तुषु।
तदैव संन्यसेद्विद्वानन्यथा पतितो भवेत् ॥19॥

जब मन में संसार की सभी वस्तुओं को प्रति वैराग्य उत्पन्न हो गया हो, तभी उस विद्वान् को संन्यास ग्रहण करना चाहिए। ऐसा न होने पर तो वह पतित हो जाएगा।

द्रव्यार्थमन्नवस्त्रार्थं यः प्रतिष्ठार्थमेव च।
संन्यसेदुभयभ्रष्टः स मुक्तिं नाप्तुमर्हति ॥20॥

यदि कोई द्रव्य के लिए, या अन्न-वस्त्र के लिए अथवा प्रतिष्ठा प्राप्त करने के लिए संन्यास ग्रहण करेगा तो वह दोनों ओर से भ्रष्ट हुआ मुक्ति को पाने के लिए योग्य नहीं है।

उत्तमा तत्त्वचिन्तैव मध्यमं शास्त्रचिन्तनम्।
अधमा मन्त्रचिन्ता च तीर्थभ्रान्त्यधमाधमा ॥21॥

तत्त्वचिन्तन सबसे उत्तम है, शास्त्रों का चिन्तन मध्यम है, मन्त्र का चिन्तन अधम है और तीर्थों में भ्रमण करना तो अधम से भी अधम है।

अनुभूतिं विना मूढो वृथा ब्रह्मणि मोदते।
प्रतिबिम्बितशाखाग्रफलास्वादनमोदवत् ॥22॥

प्रतिबिम्ब में दिखाई देने वाले पेड़ के फल के आस्वाद की तरह मनुष्य वास्तविक अनुभव के बिना झूठे ही ब्रह्म के बारे में आनन्द लेता है।

न त्यजेच्चेद्यतिर्मुक्तो यो माधुकरमातरम्।
वैराग्यजनकं श्रद्धाकलत्रं ज्ञाननन्दनम् ॥23॥

जो ज्ञानी माधुकरीरूपी मात्रा को, वैराग्यरूपी पिता को, श्रद्धारूपी पत्नी को और ज्ञानरूपी बेटे को नहीं छोड़ता, वह विनिर्मुक्त (मुक्त) ही हो जाता है।

धनवृद्धा वयोवृद्धा विद्यावृद्धास्तथैव च।
ते सर्वे ज्ञानवृद्धस्य किंकराः शिष्यकिंकराः ॥24॥

जो लोग धन से बड़े हैं, विद्या से बड़े हैं, उम्र से बड़े हैं, ये सभी ज्ञान से युक्त पुरुष के नौकर के जैसे और शिष्य जैसे छोटे ही हैं, ऐसा समझना चाहिए।

यन्मायया मोहितचेतसो मामात्मानमापूर्णमलब्धवन्तः।
परं विदग्धोदरपूरणाय भ्रमन्ति काका इव सूरयोऽपि ॥25॥

जो लोग माया से मोहित चित्तवाले होते हैं, जो 'मैं आत्मा हूँ' इस प्रकार अपने आत्मा को पूर्ण रूप से नहीं जानते, वे लोग विद्वान् होते हुए भी कौओं की ही तरह केवल पेट भरने के लिए ही इधर-उधर दौड़कर दुर्भाग्यपूर्ण जीवन जीते हैं।

पाषाणलोहमणिमृण्मयविग्रहेषु पूजा पुनर्जननभोगकरी मुमुक्षोः।
तस्माद्यतिः स्वहृदयार्चनमेव कुर्याद्बाह्यार्चनं परिहरेदपुनर्भवाय ॥26॥

पत्थर, मणि, लोहे, मिट्टी आदि से बनी हुई मूर्त्तियों की पूजा तो मुमुक्षु के लिए फिर से जन्म-मरण का भोग कराने वाली है। इसलिए यति (सन्यासी) को तो अपने हृदय में ही अर्चन-पूजन करना चाहिए और मोक्ष के लिए बाह्य पूजन को उसे छोड़ ही देना चाहिए।

अन्तःपूर्णो बहिःपूर्णः पूर्णकुम्भ इवार्णवे।
अन्तःशून्यो बहिःशून्यः शून्यकुम्भ इवाम्बरे ॥27॥

समुद्र में डूबा हुआ घड़ा भीतर और बाहर भरा-भरा ही रहता है और खाली जगह (शून्य) में रहा हुआ बाहर और भीतर से खाली ही रहता है।

मा भव ग्राह्यभावात्मा ग्राहकात्मा च मा भव।
भावनामखिलां त्यक्त्वा यच्छिष्टं तन्मयो भव ॥28॥

तुम ग्राह्य (ग्रहण होने वाले) मत बनो। तुम ग्राहक (ग्रहण करने वाले विषयरूप) भी मत बनो। ग्राह्यग्राहक भावना को छोड़कर जो शेष रहता है, उसके परायण हो जाओ।

द्रष्टृदर्शनदृश्यानि त्यक्त्वा वासनया सह।
दर्शनप्रथमाभासमात्मानं केवलं भव ॥29॥

दृश्य, दर्शन और द्रष्टा—तीनों को वासना के साथ छोड़कर, जो दर्शनों का मूल आभास है, केवल उसी आत्मस्वरूप में अवस्थित रहो।

संशान्तसर्वसंकल्पा या शिलावदवस्थितिः।
जाग्रन्निद्राविनिर्मुक्ता सा स्वरूपस्थितिः परा ॥30॥

इति द्वितीयोऽध्यायः।
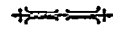
जिस स्थिति में सब संकल्प शान्त हो गए हैं, जो जाग्रत् और निद्रा से विमुक्त है, ऐसी शिलाखण्ड (दृढ़-निश्चेष्ट) जैसी अवस्था ही पारमार्थिक दृष्टि से परम अवस्था है।

यहाँ दूसरा अध्याय पूरा हुआ।

❋

तृतीयोऽध्यायः

अहमस्मि परश्चास्मि ब्रह्मास्मि प्रभवोऽस्म्यहम्।
सर्वलोकगुरुश्चास्मि सर्वलोकेऽस्मि सोऽस्म्यहम् ॥1॥

मैं हूँ, दूसरा भी मैं हूँ, मैं ब्रह्म हूँ, उत्पत्ति मैं हूँ, सभी लोगों का गुरु मैं हूँ और सभी लोक में भी मैं हूँ, वह मैं हूँ।

अहमेवाऽस्मि सिद्धोऽस्मि शुद्धोऽस्मि परमोऽस्म्यहम्।
अहमस्मि सदा सोऽस्मि नित्योऽस्मि विमलोऽस्म्यहम् ॥2॥

मैं ही तो हूँ, मैं सिद्ध हूँ, मैं ही शुद्ध हूँ, परम भी तो मैं ही हूँ। मैं शाश्वत हूँ, मैं ही सतत रहने वाला हूँ, मैं निर्मल हूँ।

विज्ञानोऽस्मि विशेषोऽस्मि सोमोऽस्मि सकलोऽस्म्यहम्।
शुभोऽस्मि शोकहीनोऽस्मि चैतन्योऽस्मि समोऽस्म्यहम् ॥3॥

मैं ही विज्ञान हूँ, मैं ही विशेष हूँ, मैं सोम हूँ, सब कुछ मैं ही हूँ, मैं शोकरहित हूँ, मैं मंगलकारी हूँ, चैतन्यरूप भी मैं ही हूँ, और सर्वत्र समरूप मैं हूँ।

मानावमानहीनोऽस्मि निर्गुणोऽस्मि शिवोऽस्म्यहम्।
द्वैताद्वैतविहीनोऽस्मि द्वन्द्वहीनोऽस्मि सोऽस्म्यहम् ॥4॥

मैं मान और अपमान से रहित हूँ, मैं निर्गुण हूँ, मैं शिव हूँ, मैं द्वैत और अद्वैत से परे हूँ, मैं सुख-दु:खादि द्वन्द्वों से परे हूँ; वही मैं हूँ।

भावाभावविहीनोऽस्मि भासाहीनोऽस्मि भास्म्यहम्।
शून्याशून्यप्रभावोऽस्मि शोभनाशोभनोऽस्म्यहम् ॥5॥

मैं उत्पत्ति और विनाश से रहित हूँ, मैं प्रकाशहीन भी हूँ और प्रकाशस्वरूप भी हूँ, मैं शून्य और अशून्य दोनों हूँ, और शोभन और अशोभन (सुन्दर और विरूप) मैं ही हूँ।

तुल्यातुल्यविहीनोऽस्मि नित्यः शुद्धः सदाशिवः।
सर्वासर्वविहीनोऽस्मि सात्त्विकोऽस्मि सदास्म्यहम् ॥6॥

मुझमें न समता है, न विषमता है, मैं तो नित्य, शुद्ध और सदाशिवरूप हूँ। सर्व या असर्व की कल्पना मुझमें नहीं है, मैं सदैव सात्त्विक हूँ।

एकसंख्याविहीनोऽस्मि द्विसंख्यावानहं न च।
सदसद्भेदहीनोऽस्मि संकल्परहितोऽस्म्यहम् ॥7॥

मैं न तो एक संख्यावाला हूँ, न ही दो संख्यावाला हूँ। मुझमें सद्-असद् जैसा कोई भेद ही नहीं है, मैं सभी संकल्पों से रहित हूँ।

नानात्मभेदहीनोऽस्मि ह्यखण्डानन्दविग्रहः।
नाहमस्मि न चान्योऽस्मि देहादिरहितोऽस्म्यहम् ॥8॥

मैं विविधतारहित और अखण्ड आत्मस्वरूप हूँ। मैं 'मैं' भी नहीं हूँ और कोई अन्य भी मैं नहीं हूँ। मैं देह आदि से रहित हूँ।

आश्रयाश्रयहीनोऽस्मि आधाररहितोऽस्म्यहम्।
बन्धमोक्षादिहीनोऽस्मि शुद्धब्रह्मास्मि सोऽस्म्यहम् ॥9॥

मेरा कोई आश्रय और अवलम्बन नहीं है। मेरा कोई बन्ध और मोक्ष भी नहीं। जो शुद्ध ब्रह्म है, वही मैं हूँ।

चित्तादिसर्वहीनोऽस्मि परमोऽस्मि परात्परः।
सदा विचाररूपोऽस्मि निर्विचारोऽस्मि सोऽस्म्यहम् ॥10॥

मैं चित्त आदि सबसे रहित हूँ, मैं परम से भी परम हूँ। मैं सदैव विचारयुक्त होने पर भी वास्तव में निर्विचार ही हूँ। वही मैं हूँ।

अकारोकाररूपोऽस्मि मकारोऽस्मि सनातनः।
ध्यातृध्यानविहीनोऽस्मि ध्येयहीनोऽस्मि सोऽस्म्यहम् ॥11॥

मैं ॐकार का अकार, उकार और मकाररूप सनातन ब्रह्म हूँ। ध्याता और ध्यान से भी रहित हूँ। मेरा कोई ध्येय नहीं है, केवल वही मैं हूँ।

सर्वपूर्णस्वरूपोऽस्मि सच्चिदानन्दलक्षणः ।
सर्वतीर्थस्वरूपोऽस्मि परमात्माऽस्म्यहं शिवः ॥12॥

मैं सब कुछ हूँ, पूर्ण स्वरूप हूँ, सच्चिदानन्द मेरा लक्षण है, सभी तीर्थो का स्वरूप मैं ही हूँ, मैं परमात्मा हूँ, मैं शिव हूँ।

लक्ष्यालक्ष्यविहीनोऽस्मि लयहीनरसोऽस्म्यहम् ।
मातृमानविहीनोऽस्मि मेयहीनः शिवोऽस्म्यहम् ॥13॥

मैं लक्ष्य और अलक्ष्य से रहित हूँ। मैं कभी लय न होने वाले रस का स्वरूप हूँ। मेरा कोई नापने वाला नहीं, मुझे नापने का कोई प्रमाण नहीं है। मैं किसी का प्रमेय नही हूँ। मैं तो केवल सदाशिव ही हूँ।

न जगत्सर्वद्रष्टाऽस्मि नेत्रादिरहितोऽस्म्यहम् ।
प्रवृद्धोऽस्मि प्रबुद्धोऽस्मि प्रसन्नोऽस्मि परोऽस्म्यहम् ॥14॥

मैं जगत् का सर्वद्रष्टा भी नहीं हूँ, मैं आँख आदि इन्द्रियों से रहित हूँ। विस्तृत हुआ भी मैं हूँ, ज्ञानवान भी मैं हूँ, मैं ही प्रसन्न हूँ, मैं सबसे परे हूँ।

सर्वेन्द्रियविहीनोऽस्मि सर्वकर्मकृदप्यहम् ।
सर्ववेदान्ततृप्तोऽस्मि सर्वदा सुलभोऽस्म्यहम् ॥15॥

मैं सभी इन्द्रियों से रहित होते हुए भी सभी कर्मों को करता हूँ। सभी वेदान्तों के – उपनिषदों के द्वारा मैं ही तृप्त किया गया हूँ और मैं ही हमेशा सब लोगों को सुलभ होता हूँ।

मुदितामुदिताख्योऽस्मि सर्वमौनफलोऽस्म्यहम् ।
नित्यचिन्मात्ररूपोऽस्मि सदा सच्चिन्मयोऽस्म्यहम् ॥16॥

आनन्दरूप भी मैं और शोकरूप भी मैं ही हूँ। मैं सब मौन का फल हूँ। मैं सर्वदा चिन्मयस्वरूप ही हूँ। सदा सत् और केवल चित्स्वरूप मैं ही हूँ।

यत्किञ्चिदपि हीनोऽस्मि स्वल्पमप्यति नास्म्यहम् ।
हृदयग्रन्थिहीनोऽस्मि हृदयाम्भोजमध्यगः ॥17॥

जो कुछ हीन है, वह मैं हूँ, फिर भी मैं हीन नहीं हूँ, मैं न अल्प हूँ, न अधिक हूँ। मुझमें हृदय की ग्रन्थि नहीं है। हृदयरूपी कमल के बीच में मैं रहता हूँ।

षड्विकारविहीनोऽस्मि षट्कोशरहितोऽस्म्यहम् ।
अरिषड्वर्गमुक्तोऽस्मि अन्तरादन्तरोस्म्यहम् ॥18॥

मैं जन्मादि छः विकारों से रहित हूँ, मैं अन्नमयादि छः कोशों से रहित हूँ। मैं कामादि छः शत्रुओं से रहित हूँ। मैं गहरे से गहरे स्थान में रहता हूँ।

देशकालविमुक्तोऽस्मि दिगम्बरसुखोऽस्म्यहम् ।
नास्ति नास्ति विमुक्तोऽस्मि नकारसहितोऽस्म्यहम् ॥19॥

मैं देश और काल से विमुक्त हूँ, मैं दिशा, आकाश और आनन्दरूप हूँ। 'वह नहीं यह नहीं'— वह भी तो मैं ही हूँ, मैं मुक्त हूँ, नकार के साथ सब कुछ मैं ही हूँ।

अखण्डाकाशरूपोऽस्मि अखण्डाकारमस्म्यहम् ।
प्रपञ्चयुक्तचित्तोऽस्मि प्रपञ्चरहितोऽस्म्यहम् ॥20॥

मैं अखण्ड आकाश हूँ और अखण्ड आकार हूँ। मैं इस प्रपञ्च से (जगत् से) मुक्त चित्तवाला हूँ प्रपञ्च से (जगत् से) रहित भी मैं हूँ।

सर्वप्रकाशरूपोऽस्मि चिन्मात्रज्योतिरस्म्यहम् ।
कालत्रयविमुक्तोऽस्मि कामादिरहितोऽस्म्यहम् ॥21॥

मैं सबका प्रकाशरूप हूँ, मैं चिन्मात्र और ज्योति:स्वरूप मात्र हूँ। मैं तीनों कालों से अतिक्रान्त हूँ। मैं कामनाओं से रहित ही हूँ।

कायिकादिविमुक्तोऽस्मि निर्गुणः केवलोऽस्म्यहम् ।
मुक्तिहीनोऽस्मि मुक्तोऽस्मि मोक्षहीनोऽस्म्यहं सदा ॥22॥

मैं शरीरादि से परे हूँ, मैं निर्गुण हूँ, मैं एक (अद्वितीय) हूँ, मैं मोक्षरहित हूँ, परन्तु मुक्त हूँ। मैं सदा मोक्ष से रहित ही हूँ।

सत्यासत्यविहीनोऽस्मि सन्मात्रान्नास्म्यहं सदा ।
गन्तव्यदेशहीनोऽस्मि गमनादिविवर्जितः ॥23॥

मैं सत्यरहित और असत्यरहित हूँ। मैं किसी भी काल में सत् स्वरूप से अलग नहीं हूँ। मेरा कोई गन्तव्य देश नहीं है। मैं गमन आदि क्रिया से भी रहित हूँ।

सर्वदा समरूपोऽस्मि शान्तोऽस्मि पुरुषोत्तमः ।
एवं स्वानुभवो यस्य सोऽहमस्मि न संशयः ।
यः शृणोति सकृद् वापि ब्रह्मैव भवति स्वयम् ॥24॥ इत्युपनिषत् ।

इति तृतीयोऽध्यायः ।

इति मैत्रेय्युपनिषत्समाप्ता ।
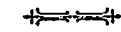
मैं सदैव शान्त, समरूप पुरुषोत्तम हूँ'—ऐसा जिसका अनुभव हुआ है, वह नि:संदेह **'मैं'** हूँ। यदि एक बार भी जो मनुष्य इसे सुनेगा, तो वह स्वयं ब्रह्म होता है, ऐसा यह उपनिषत् कहती है।

यहाँ तीसरा अध्याय पूरा हुआ।
यहाँ उपनिषत् समाप्त होती है।

शान्तिपाठः

ॐ आप्याय्न्तु ममाङ्गानि……ते मयि सन्तु । (पूर्ववत्)
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ।

(31) सुबालोपनिषत्

(उपनिषत्परिचय)

शुक्लयुजर्वेद से सम्बद्ध इस उपनिषद् में सोलह खण्ड हैं। यह प्रश्नोत्तर शैली में लिखी गई है। इसमें अध्यात्मदर्शन की बहुत-सी रहस्यमय बातें बताई गई है। पहले दो खण्डों में रैक्व ऋषि के प्रश्न के उत्तर रूप में घोरांगिरस ने सृष्टि की प्रक्रिया बताई है। तीसरे खण्ड में आत्मतत्त्व का स्वरूप और उसे जानने का उपाय बताया है। चौथे में हृदयस्थ नाडीस्वरूप तथा स्थूलकोश में जाग्रदनुभव, सूक्ष्मकोश में स्वप्नानुभव और हृदयाकाश में सुषुप्त्यनुभव की बात है। पाँचवें खण्ड में तुरीय (ईश्वर) का स्वरूप कहा गया है। छठे में नारायण की सर्वरूपता कही है। सातवें में नारायण का सर्वान्तर्यामित्व और विद्यावंश है। आठवें में शरीरस्थ आत्मा की शुद्धता बताई गई है। नवें में निर्बीज ब्रह्म का सर्वव्यपाश्रयत्व, इसके ज्ञान का फल और ब्रह्मात्मलाभ के उपाय दिये हैं। दसवें खण्ड में सर्वलोकों के प्रतिष्ठारूप ब्रह्म और उसके ज्ञान का फल बताया है। ग्यारहवें खण्ड में हृदयनाडी का उत्क्रान्तिप्रकार बताया गया है और बारहवें में आहारशुद्धि बताई गई है। तेरहवें खण्ड में ब्रह्मज्ञान के साधनरूप सपरिकर समाधि का वर्णन है और सन्मात्र की अवगति के उपाय के रूप में सात भूमिकाएँ बताई हैं। चौदहवें खण्ड में एक-दूसरे का भक्ष्य बताते हुए सर्वभक्षण के अधिष्ठान के रूप में ब्रह्म को बताया गया है। पंद्रहवें खण्ड में उत्क्रान्त हुए व्यक्ति के तत्त्वदहन का क्रम दिया गया है और सोलहवें खण्ड में ब्रह्मविद्यासंप्रदान की विधि दी है।

शान्तिपाठः

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं.....पूर्णमेवावशिष्यते। (पूर्ववत्)
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

इसका हिन्दी रूपान्तर पूर्व में (जाबालोपनिषद् में) द्रष्टव्य है।

प्रथमः खण्डः

तदाहुः किं तदासीत् तस्मै होवाच न सन्नासन्न सदसदिति ॥1॥

ऋषियों ने घोरांगिरस से पूछा—'तब क्या था ?' तब घोरांगिरस ने कहा—'तब सत् भी नहीं था, असत् भी नहीं था और सदसत् भी नहीं था।

तस्मात्तमः संजायते तमसो भूतादिर्भूतादेराकाशमाकाशाद्वायुर्वायो-रग्निरग्नेरापोऽद्भ्यः पृथिवी ॥2॥

ऐसे सदसद्विलक्षण अनिर्वचनीय तत्त्व से पहले पहल तमस् (अन्धकार) उत्पन्न हुआ। और उस तम से भूतादि (अक्षर-अव्यक्त) अहंकार आदि उत्पन्न हुए। उस भूतादि से आकाश, आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल और जल से पृथ्वी उत्पन्न हुई।

तदण्डं समभवत् तत्संवत्सरमात्रमुषित्वा द्विधाऽकरोदधस्ताद्भूमिमु-परिष्टादाकाशं मध्ये पुरुषो दिव्यः, सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात् सहस्रबाहुरिति ॥3॥

वही सब मिल कर ब्रह्माण्डाकार हो गया। एक वर्ष तक उसे वैसा ही रखकर उसके दो भाग किए। नीचे का भाग पृथ्वी और ऊपर का भाग आकाश हुआ। बीच में हजार मस्तक वाला, हजार आँखों वाला, हजार पैरों वाला, हजार हाथों वाला दिव्य पुरुष (विराट्) प्रकट हुआ।

सोऽग्रे भूतानां मृत्युमसृजत् त्र्यक्षं त्रिशिरस्कं त्रिपादं खण्डपरशुम् ॥4॥

उस विराट् पुरुष ने पहले प्राणियों की मृत्यु का सृजन किया। वह मृत्यु तीन आँखों वाला, तीन मस्तक वाला, तीन पैरों वाला और छोटी कुल्हाडी को धारण करने वाला था।

तस्य ब्रह्मा बिभेति स ब्रह्माणमेव विवेश। स मानसान्सप्त पुत्रानसृजत्। ते ह विराजः सप्त मानसानसृजन्। ते ह प्रजापतयः ॥5॥

अपने द्वारा निर्मित उस रूप को देखकर ब्रह्माजी भी भयभीत हो गये। और वह (रुद्र - मृत्यु) ब्रह्मा में ही समाविष्ट हो गया। इसके बाद ब्रह्माजी ने सात मानस पुत्रों को उत्पन्न किया। और इन सात पुत्रों ने पुनः सात विराट् पुत्रों को उत्पन्न किया। वे ही सात पुत्र सात प्रजापति हुए।

ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद्बाहू राजन्यः कृतः।
ऊरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रो अजायत ॥
चन्द्रमा मनसो जातश्चक्षोः सूर्यो अजायत।
श्रोत्राद्वायुश्च प्राणश्च हृदयात्सर्वमिदं जायते ॥6॥

इति प्रथमः खण्डः।
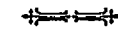
इस विराट् पुरुष के मुख से ब्राह्मण, हाथों से क्षत्रिय, जाँघों से वैश्य और पैरों से शूद्र जन्मे। मन से चन्द्र, आँखों से सूर्य, कान से प्राण और वायु तथा हृदय से यह सब (सम्पूर्ण जगत्) उत्पन्न हुआ।

यहाँ प्रथम खण्ड पूरा हुआ।

द्वितीयः खण्डः

अपानान्निषादा यक्षराक्षसगन्धर्वाश्चास्थिभ्यः पर्वता लोमभ्य ओषधि-वनस्पतयो ललाटात्क्रोधजो रुद्रो जायते ॥1॥

इस विराट् के अपान से निषाद, यक्ष, राक्षस और गंधर्व उत्पन्न हुए। हड्डियों से पर्वत, रोमों से औषधि और वनस्पतियाँ तथा क्रोधयुक्त ललाट से रुद्र जन्मे।

तस्यैतस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतदृग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्ववेदः शिक्षा कल्पो व्याकरणं निरुक्तं छन्दो ज्योतिषामयनं न्यायो मीमांसा धर्मशास्त्राणि व्याख्यानान्युपव्याख्यानानि च सर्वाणि भूतानि ॥2॥

उस महाभूत रूप विराट् के निश्वास के फलस्वरूप ही यह ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द, ज्योतिःशास्त्र, न्याय, मीमांसा, धर्मशास्त्र, व्याख्यान और उपाख्यान और सभी प्राणी भी हैं।

हिरण्यज्योतिर्यस्मिन्नयमात्माधिक्षियन्ति भुवनानि विश्वा। आत्मानं द्विधाऽकरोदर्धेन स्त्री अर्धेन पुरुषो देवो भूत्वा देवानसृजदृषिर्भूत्वा ऋषीन् यक्षराक्षसगन्धर्वान्सर्वान्ग्राम्यानारण्यांश्च पशूनसृजदितरा गौरितरोऽनड्वानितरा वडवेतरोऽश्व इतरा गर्दभीतरो गर्दभ इतरा विश्वम्भरीतरो विश्वम्भरः ॥3॥

वह सुवर्ण जैसे तेजस्वी हैं। उन्हीं में यह आत्मा और सर्वभुवन अवस्थित है। उन्होंने अपने स्वरूप के दो विभाग किए। आधे भाग से स्त्री और आधे से पुरुष हुए। उन्हीं ने देव होकर देव उत्पन्न किए और ऋषि होकर ऋषियों को उत्पन्न किया। उसी प्रकार से यक्षों, राक्षसों, गन्धर्वों, ग्राम में रहने वालों को और वनवासियों को तथा पशुओं को उत्पन्न किया। उन पशुओं में कोई गाय हुई, कोई बैल हुआ, कोई घोड़ी बनी, कोई घोड़ा बना, कोई गधी बनी, कोई गधा बना। कोई सबकी पालिका-पोषिका बनी, कोई पालक-पोषक बना।

सोऽन्ते वैश्वानरो भूत्वा संदग्ध्वा सर्वाणि भूतानि पृथिव्यप्सु प्रलीयत आपस्तेजसि प्रलीयन्ते तेजो वायौ विलीयते वायुराकाशे विलीयत आकाशमिन्द्रियेष्विन्द्रियाणि तन्मात्रेषु तन्मात्राणि भूतादौ विलीयन्ते भूतादिर्महति विलीयते महानव्यक्ते विलीयतेऽव्यक्तमक्षरे विलीयत अक्षरं तमसि विलीयते तमः परे देव एकीभवति परस्तान्न सन्नासन्नासदसदित्येतन्निर्वाणानुशासनमिति वेदानुशासनमिति वेदानुशासनम् ॥4॥

इति द्वितीयः खण्डः
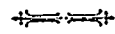
अन्त में वही पुरुष वैश्वानर (अग्नि) होकर सब भूतों को जला देता है। उस समय पृथ्वी जल में विलीन हो जाती है, जल अग्नि में, अग्नि वायु में, वायु आकाश में, आकाश इन्द्रियों में, इन्द्रियाँ तन्मात्राओं में, तन्मात्राएँ अहंकार में विलीन हो जाती हैं। अहंकार महत्तत्त्व में विलीन हो जाता है, महत्तत्त्व का विलय अव्यक्त में हो जाता है, और अव्यक्त का विलय अक्षर में होता है। अक्षर तमस् (अज्ञान में) में लीन हो जाता है और वह तमस् (अज्ञान) परमदेव परमात्मा में एकीभूत हो जाता है। उसके बाद तो न सत् रहता है, न असत् रहता है न वा सदसत् रहता है। यही निर्वाण का उपदेश है, यही वेद की शिक्षा है, यही वेदों का अनुशासन है।

यहाँ दूसरा खण्ड पूरा हुआ।

तृतीयः खण्डः

असद् वा इदमग्र आसीदजातमभूतमप्रतिष्ठितमशब्दमस्पर्शमरूपमरसमगन्धमव्ययममहान्तमबृहन्तमजमात्मानं मत्वा धीरो न शोचति ॥1॥

अथवा सृष्टि के पहले यह जगत् असत् ही था। इसीलिए आत्मा उससे उत्पन्न नहीं हुआ है, उसकी कहीं प्रतिष्ठा भी नहीं की गई। वह शब्दरहित, स्पर्शहीन, रूपहीन, रसहीन, गन्धहीन है। उसका कभी विकार नहीं होता, वह अव्यय है। वह महान् भी नहीं, वह विशाल (विस्तारयुक्त) भी नहीं, वह अजन्मा है। ऐसे आत्मा को जानकर धीर पुरुष शोक नहीं करता।

अप्राणममुखमश्रोत्रमवागमनोऽतेजस्कमचक्षुष्कमनामगोत्रमशिरस्कमपाणिपादमस्निग्धमलोहितमप्रमेयमह्रस्वमदीर्घमस्थूलमनण्वनल्पमपारमनिर्देश्यमनपावृतमप्रतर्क्यमप्रकाश्यमसंवृतमनन्तरमबाह्यं न तदश्नाति किञ्चन न तदश्नाति कश्चन ॥2॥

वह आत्मा प्राणरहित, मुखरहित, श्रोत्ररहित, वाणीरहित, मनरहित, तेजरहित, चक्षुरहित नाम और गोत्र से रहित, मस्तकरहित, हाथ-पैर रहित, स्नेहरहित, अलोहित (अथवा रज आदि गुणों से हीन), अमाप, अह्रस्व, अदीर्घ, स्थूलतारहित, अणुत्वरहित, अनल्प है। अपार है, जिसे बताया न जा सके ऐसा, और अनावृत है। उसके लिए कोई तर्क नहीं किया जा सकता, अथवा नियम भी नहीं बनाया जा सकता। उसको किसी से प्रकाशित नहीं किया जा सकता। वह असंवृत (असंकीर्ण) है। उसके लिए बाहर-भीतर कुछ नहीं है। वह कुछ खाता नहीं है और उसको भी कोई खाने वाला नहीं है।

एतद् वै सत्येन दानेन तपसाऽनाशकेन ब्रह्मचर्येण निर्वेदनेनानाशकेन षडङ्गेनैव साधयेदेतत्त्रयं वीक्षेत दमं दानं दयामिति। न तस्य प्राणा उत्क्रामन्त्यत्रैव समलीयन्ते ब्रह्मैव सन्ब्रह्माप्येति य एवं वेद ॥3॥

इति तृतीयः खण्डः।
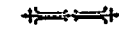
इस आत्मा को सत्य, दान, तप, अनशन, ब्रह्मचर्य, अखण्ड वैराग्य—इन छः साधनों के द्वारा ही जानना चाहिए। और दम-इन्द्रियसंयम, दान, दया—इन तीनों के सामने दृष्टि रखनी चाहिए। ऐसा जो जानता है उसके प्राण उत्क्रमण (अर्थात् अन्यत्र गति) नहीं करते, बल्कि इसी आत्मतत्त्व में ही लीन हो जाते हैं। वह ब्रह्मस्वरूप होकर ब्रह्म को ही प्राप्त कर लेता है।

यहाँ तीसरा खण्ड पूरा हुआ।

चतुर्थः खण्डः

हृदयस्य मध्ये लोहितं मांसपिण्डं यस्मिंस्तद्दहरं पुण्डरीकं कुमुदमिवानेकधा विकसितं हृदयस्य दश छिद्राणि भवन्ति तेषु प्राणाः प्रतिष्ठिताः ॥1॥

हृदय के बीच एक रक्तवर्ण का मांसपिण्ड है। उसमें वह आत्मतत्त्व श्वेत कमल (कुमुद) की तरह अनेक तरह से विकसित होकर रहता है। इस हृदय में दश छिद्र हैं, उनमें प्राण अवस्थित रहते हैं।

स यदा प्राणेन सह संयुज्यते तदा पश्यति नद्यो नगराणि बहूनि विविधानि च। यदा व्यानेन सह संयुज्यते तदा पश्यति देवांश्च, ऋषींश्च,

यदाऽपानेन सह संयुज्यते तदा पश्यति यक्षराक्षसगन्धर्वान्त्यदोदानेन सह संयुज्यते तदा पश्यति यदा देवलोकान्देवान्स्कन्दं जयन्तं चेति यदा समानेन सह संयुज्यते तदा पश्यति देवलोकान्धनानि च यदा वैरम्भेण सह संयुज्यते तदा पश्यति दृष्टं च श्रुतं च भुक्तं चाभुक्तं च सच्चासच्च सर्वं पश्यति ॥2॥

यह आत्मा (जीव) अपनी जाग्रत् अवस्था में जब प्राण के साथ संयुक्त होता है, तब तरह-तरह की नदियों को और बहुत से नगरों को देखता है। जब वह व्यान के साथ जुड़ जाता है तब देवों और ऋषियों को देखता है। जब वह अपान के साथ संयोजित होता है, तब यक्षों, राक्षसों और गन्धर्वो को देखता है। जब वह उदान के साथ संयुक्त होता है, तब देवों को, देवों के लोकों को, कार्तिक स्वामी को और जयन्त को देखने लगता है। जब वह समान के साथ संयुक्त होता है, तो देवलोकों को और धन को देखता है। वह जब वैरम्भ को साथ संयुक्त होता है, तब भूतकाल में देखी गई वस्तुओं को, सुने हुए पदार्थो को तथा खाए और बिना खाए पदार्थों को तथा सत् तथा असत्—सबको देख लेता है।

अथेमा दश दश नाड्यो भवन्ति तासामेकैकस्या द्वासप्ततिर्द्वासप्ततिः शाखाः नाडीसहस्राणि भवन्ति। यस्मिन्नयमात्मा स्वपिति। शब्दानां च करोत्यथ यद् द्वितीये स कोशे स्वपिति तदेमं च लोकं परं च लोकं पश्यति। सर्वाञ्छब्दान् विजानाति स संप्रसाद इत्याचक्षते प्राणः शरीरं परिरक्षति। हरितस्य नीलस्य पीतस्य लोहितस्य श्वेतस्य नाड्यो रुधिरस्य पूर्णाः ॥3॥

अब इस हृदय में दश-दश अर्थात् सौ नाडियाँ हैं और एक-एक की बहत्तर-बहत्तर हजार शाखाएँ हैं। इस तरह नाडियों की संख्या हजारों की हो जाती है। इस (नाडीसहस्रस्थान) में यह आत्मा सोता है और शब्दों की क्रियाएँ करता है। जब वह दूसरे कोश में सोता है, तब इस लोक और परलोक को देखता है, समस्त शब्दों को जानता है, इसको 'संप्रसाद' कहा जाता है। प्राण शरीर की रक्षा करता है। जो ये नाडियाँ हैं, वे हरित, नीले, पीले, लाल और सफेद रक्त से भरी हुई हैं।

अथात्रैतद्दहरं पुण्डरीकं कुमुदमिवानेकधा विकसितं यथा केशः सहस्रधा भिन्नस्तथा हिता नाम नाड्यो भवन्ति हृद्याकाशे परे कोशे दिव्योऽयमात्मा स्वपिति यत्र सुप्तो न कंचन कामं कामयते न कंचन स्वप्नं पश्यति न तत्र देवा न देवलोका यज्ञा न यज्ञा वा न माता न पिता न बन्धुर्न बान्धवो न स्तेनो न ब्रह्महा तेजस्कायममृतं सलिलं एवेदं सलिलं वनं भूयस्तेनैव मार्गेण जाग्राय धावति सम्राडिति होवाच ॥4॥

इति चतुर्थः खण्डः।

शरीरस्थ सूक्ष्म हृदयकमल कुमुद सदृश धवलवर्ण का है। वह विविधरूपों में विकसित है। हजारों प्रकार से चीरे गए एक छाल जैसी सूक्ष्म 'हिता' नाम की नाडियाँ है। हृदयरूपी आकाश के श्रेष्ठ कोश में सोया हुआ यह आत्मा किसी प्रकार की कामना नहीं करता। स्वप्न भी नहीं देखता। वहाँ न देव हैं, न देवलोक हैं, न यज्ञ हैं, न यज्ञ की क्रियाएँ हैं, न माता है, न पिता है, न बन्धु हैं, न बान्धव

हैं, न चोर हैं न ब्रह्महत्यारा है। वह तेजोरूप है, अमृत है, जल में ही अवस्थित है, वह लगभग वन ही है। फिर उसी मार्ग से जीवात्मा जाग्रदावस्था की ओर दौड़ता है। ऐसा सम्राट् ने कहा था।

यहाँ चौथा खण्ड पूरा हुआ।

❉

पञ्चमः खण्डः

स्थानानि स्थानिभ्यो यच्छति नाडी तेषां निबन्धनं चक्षुरध्यात्मं द्रष्टव्यमधिभूतमादित्यस्तत्राधिदैवतं नाडी तेषां निबन्धनं यश्चक्षुषि यो द्रष्टव्ये य आदित्ये यो नाड्यां यः प्राणे यो विज्ञाने य आनन्दे यो हृद्याकाशे य एतस्मिन्सर्वस्मिन्नन्तरे संचरति सोऽयमात्मा तमात्मानमुपासीताजरममृतमभयमशोकमनन्तम् ॥1॥

आत्मा उन-उन स्थानों में रहने वालों को स्थान प्रदान करता है। नाडी उनका मूल स्थान है। चक्षु अध्यात्म है, देखने का पदार्थ अधिभूत है और सूर्य अधिदैवत है। उनका मूल स्थान नाडी है। जो चक्षुरिन्द्रिय में, दृश्य पदार्थ में, सूर्य में, नाडी में, प्राण में, विज्ञान में, आनन्द में, हृदयाकाश में और इस सारे शरीर में जो संचरण करता है वह आत्मा है। उसकी उपासना करनी चाहिए। वह आत्मा जरारहित, मरणरहित, भयरहित, शोकरहित और अनन्त है।

श्रोत्रमध्यात्मं श्रोतव्यमधिभूतं दिशस्तत्राधिदैवतं नाडी तेषां निबन्धनं यः श्रोत्रे यः श्रोतव्ये यः दिक्षु यो नाड्यां यः प्राणे यो विज्ञाने य आनन्दे यो हृद्याकाशे य एवमस्मिन्सर्वस्मिन्नन्तरे सञ्चरति सोऽयमात्मा तमात्मानमुपासीताजरममृतमभयमशोकमनन्तम् ॥2॥

ऐसे ही श्रोत्रेन्द्रिय अध्यात्म, श्रोतव्य शब्द अधिभूत और दिशाएँ अधिदैवत हैं। इन तीनों का मूल कारण नाडी है। श्रोत्र, श्रोतव्य, दिशाओं में जो है और नाडी, प्राण, विज्ञान, आनन्द, हृदयाकाश और संपूर्ण शरीर में जो संचरित होता है, वह आत्मा है। इसी की उपासना करनी चाहिए। वह जरा-मृत्यु-भय-शोक रहित है और अनन्त है।

नासाध्यात्मं घ्रातव्यमधिभूतं पृथिवी तत्राधिदैवतं नाडी तेषां निबन्धनं यो नासायां यो घ्रातव्ये यः पृथिव्यां यो नाड्यां......नन्तम् ॥3॥

ऊपर के मन्त्र के समान ही नासिका अध्यात्म, घ्रातव्य पदार्थ अधिभूत और पृथिवी वहाँ अधिदैवत है। उन तीनों का मूल नाडी है, नासिका, घ्रातव्य और पृथ्वी में जो है, और नाडी......अनन्त है।

जिह्वाध्यात्मं यो रसयितव्यमधिभूतं वरुणस्तत्राधिदैवतं नाडी तेषां निबन्धनं यो जिह्वायां यो रसयितव्ये यो वरुणे यो नाड्यां......नन्तम् ॥4॥

उसी प्रकार जिह्वा अध्यात्म है, जो आस्वादनीय है वह अधिभूत है, वरुण अधिदैवत हैं। उन सबका मूल नाडी है, जो जीभ में, जो आस्वाद्य पदार्थ में और जो पृथ्वी में है, और नाडी......अनन्त है।

त्वगध्यात्मं स्पर्शयितव्यमधिभूतं वायुस्तत्राधिदैवतं नाडी तेषां निबन्धनं यस्त्वचि यः स्पर्शयितव्ये यो वायौ यो नाड्यां......नन्तम् ॥5॥

पूर्वानुसार ही त्वगिन्द्रिय अध्यात्म है स्पर्शयोग्य पदार्थ अधिभूत है और वायु वहाँ अधिदैवत है। उन सबका मूल नाडी है। जो त्वगिन्द्रिय में, जो स्पर्शयोग्य पदार्थ में और जो वायु में है, और नाडी……अनन्त है।

मनोऽध्यात्मं मन्तव्यमधिभूतं चन्द्रस्तत्राधिदैवतं नाडी तेषां निबन्धनं यो मनसि यो मन्तव्ये यश्चन्द्रे यो नाड्यां……नन्तम् ॥6॥

उसी प्रकार मन अध्यात्म है, मन्तव्य अधिभूत है और चन्द्र वहाँ अधिदैवत है, जो मन में है, जो मन्तव्य में और जो चन्द्र में हैं और नाडी……अनन्त हैं।

बुद्धिरध्यात्मं बोद्धव्यमधिभूतं ब्रह्मा तत्राधिदैवतं नाडी तेषां निबन्धनं यो बुद्धौ यो बोद्धव्ये यो ब्रह्मणि यो नाड्यां……नन्तम् ॥7॥

इसी तरह बुद्धि अध्यात्म है, बोद्धव्य अधिभूत है, ब्रह्मा वहाँ अधिदैवत है। उन सबका मूल नाडी है। जो बुद्धि में है, बोद्धव्य में है, ब्रह्मा में है, और नाडी……अनन्त है।

अहङ्कारोऽध्यात्ममहङ्कर्तव्यमधिभूतं रुद्रस्तत्राधिदैवतं नाडी तेषां निबन्धनं योऽहङ्कारे योऽहङ्कर्तव्ये यो रुद्रे यो नाड्यां……नन्तम् ॥8॥

इसी प्रकार अहंकार अध्यात्म है, अहंकर्तव्य अधिभूत है और रुद्र वहाँ अधिदैवत है। नाडी उन सबका मूल है। जो अहंकार में है, जो अहंकर्तव्य में हैं, जो रुद्र में है और नाडी……अनन्त है।

चित्तमध्यात्मं चेतयितव्यमधिभूतं क्षेत्रज्ञस्तत्राधिदैवतं नाडी तेषां निबन्धनं यश्चित्ते यश्चेतयितव्ये यः क्षेत्रज्ञे यो नाड्यां……नन्तम् ॥9॥

ठीक इसी प्रकार चित्त अध्यात्म है, चिन्तनविषय अधिभूत है, क्षेत्रज्ञ वहाँ अधिदैवत है। नाडी उनका मूल है। जो चित्त में है, चेतयितव्य (चिन्तनविषय) में है, क्षेत्रज्ञ में है और नाडी……अनन्त है।

वागध्यात्मं वक्तव्यमधिभूतमग्निस्तत्राधिदैवतं नाडी तेषां निबन्धनं यो वाचि यो वक्तव्ये योऽग्नौ यो नाड्यां……नन्तम् ॥10॥

इसी तरह वाणी अध्यात्म है, वक्तव्य अधिभूत है और अग्नि वहाँ अधिदैवत है। नाडी उन सबका मूल है। जो वाणी में है, जो वक्तव्य में है, जो अग्नि में है और नाडी……अनन्त है।

हस्तावध्यात्ममादातव्यमधिभूतमिन्द्रस्तत्राधिदैवतं नाडी तेषां निबन्धनं यो हस्ते य आदातव्ये य इन्द्रे यो नाड्यां……नन्तम् ॥11॥

इसी प्रकार हाथ (दो) अध्यात्म है, ग्रहणयोग्य वस्तु अधिभूत है, इन्द्र वहाँ अधिदैवत है। नाडी उनका मूल है। जो हाथ में है, जो ग्रहणयोग्यवस्तु में है, जो इन्द्र में है, और नाडी……अनन्त है।

पादावध्यात्मं गन्तव्यमधिभूतं विष्णुस्तत्राधिदैवतं नाडी तेषां निबन्धनं यः पादे यो गन्तव्ये यो विष्णौ यो नाडयां……नन्तम् ॥12॥

इसी प्रकार दो पैर अध्यात्म है, गन्तव्य अधिभूत है और विष्णु वहाँ अधिदैवत है। नाडी उन सबका मूल है। जो पैर में है, जो गन्तव्य में है, जो विष्णु में है, और नाडी……अनन्त है।

पायुरध्यात्मं विसर्जयितव्यमधिभूतं मृत्युस्तत्राधिदैवतं नाडी तेषां निबन्धनं यः पायौ यो विसर्जयितव्ये यो मृत्यौ यो नाड्यां……नन्तम् ॥13॥

इसी तरह पायु (गुदा) अध्यात्म है, विसर्जयितव्य पदार्थ अधिभूत है और मृत्यु यहाँ अधिदैवत है। नाडी उनका मूल है। जो पायु (गुदा) में है, जो विसर्जनयोग्य पदार्थ में है, जो मृत्यु में और नाडी……अनन्त है।

उपस्थोऽध्यात्ममानन्दयितव्यमधिभूतं प्रजापतिस्त्राधिदैवतं नाडी तेषां निबन्धनं य उपस्थे य आनन्दयितव्ये यः प्रजापतौ यो नाड्यां यः प्राणे यो विज्ञाने य आनन्दे यो हृद्याकाशे य एवमस्मिन्सर्वस्मिन्नन्तरे संचरति सोऽयमात्मा तमात्मानमुपासीताजरममृतमभयमशोकमनन्तम् ॥14॥

इसी तरह उपस्थेन्द्रिय अध्यात्म है, आनन्द का विषय अधिभूत है और प्रजापति यहाँ अधिदैवत है। जो उपस्थ में है, जो आनन्द के विषय में है, जो प्रजापति में है और जो नाडी में, प्राण में, विज्ञान में, आनन्द में, हृदयाकाश में और इस सारे शरीर में संचरण करता है, वह आत्मा है। उसकी उपासना करनी चाहिए। वह आत्मा जरारहित, मरणरहित, भयरहित, शोकरहित और अनन्त है।

एष सर्वज्ञ एष सर्वेश्वर एष सर्वाधिपतिरेष सर्वान्तर्याम्येष योनिः सर्वस्य सर्वसौख्यैरुपास्यमानो न च सर्वसौख्यानुपास्यति वेदशास्त्रैरुपास्यमानो न च वेदशास्त्राण्युपास्यति यस्यान्नमिदं सर्वं न च योऽन्नं भवत्यतः परं सर्वनयनः प्रशास्तान्नमयो भूतात्मा प्राणमय इन्द्रियात्मा मनोमयः संकल्पात्मा, विज्ञानमयः कालात्मानन्दमयो लयात्मैकत्वं नास्ति द्वैतं कुतो मर्त्यं नास्त्यमृतं कुतो नान्तःप्रज्ञो न बहिःप्रज्ञो नोभयतःप्रज्ञो न प्रज्ञानघनो न प्रज्ञो नाऽप्रज्ञोऽपि नो विदितं वेद्यं नास्तीत्येतन्निर्वाणानुशासनमिति वेदानुशासनमिति वेदानुशासनम् ॥15॥

इति पञ्चमः खण्डः।
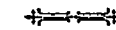
यह तुर्यातिरिक्त ईश्वर सर्वज्ञ है, यह सर्वेश्वर है, सर्व के अधिपति हैं, वह सर्व के अन्तर्यामी हैं। यही समस्त जगत् का उत्पत्तिस्थान है। सभी सुखों से वही उपास्य है, वह सभी सुखों की उपासना नहीं करता। वेद और शास्त्र इसकी उपासना करते हैं। वह (ईश्वर) वेद-शास्त्रों की उपासना नहीं करता। यह सब उसका अन्न (भक्ष्य-भोग्य) है, वह किसी का अन्न (भक्ष्य-भोग्य) नहीं है। तदुपरान्त, वह सभी का नेत्र है, सबका शासक है, वह अन्नमय है, सर्वप्राणियों का वह आत्मा है, वही प्राणमय है, वह इन्द्रियों का आत्मा है। वह मनोमय है, संकल्पमय वही है, वह विज्ञानमय है, वह कालस्वरूप है, आनन्दमय है, लयस्वरूप है। उसमें जब एकत्व ही नहीं है, तो द्वित्व कहाँ से हो सकता है ? जब वह मरणधर्मा ही नहीं है, तो अमृत का प्रश्न ही कहाँ रहता है ? वह अन्तःप्रज्ञावाला भी नहीं है, बाहर की प्रज्ञावाला भी नहीं—दोनों तरह की प्रज्ञावाला भी नहीं है। वह प्रज्ञा से व्याप्त नहीं है, वह न प्रज्ञ है, न अप्रज्ञ ही है। उसने कुछ जाना नहीं है, उसके लिए जानने योग्य भी कुछ नहीं है। बस, यही मोक्ष के लिए उपदेश है, यही वेद की शिक्षा है, यही वेद का अनुशासन है।

यहाँ पाँचवाँ खण्ड पूरा हुआ।

❋

षष्ठः खण्डः

नैवेह किञ्चनाग्र आसीदमूलमनाधारा इमाः प्रजाः प्रजायन्ते ॥1॥

इस सृष्टि के पहले कुछ नहीं था, सब अमूल (निराधार) था, उसी (निराधार) से ये सब प्रजाएँ उत्पन्न हुईं।

दिव्यो देव एको नारायणश्चक्षुश्च द्रष्टव्यं च नारायणः श्रोत्रं च श्रोतव्यं च नारायणो घ्राणं च घ्रातव्यं च नारायणो जिह्वा च रसयितव्यं च नारायणस्त्वक् च स्पर्शयितव्यं च नारायणो मनश्च मन्तव्यं च नारायणो बुद्धिश्च बोद्धव्यं च नारायणोऽहंकारश्चाहंकर्तव्यं च नारायणश्चित्तं च चेतयितव्यं च नारायणो वाक् च वक्तव्यं च नारायणो हस्तौ चादातव्यं च नारायणः पादौ च गन्तव्यं च नारायणः पायुश्च विसर्जयितव्यं च नारायण उपस्थश्चानन्दयितव्यं च नारायणो धाता विधाता कर्ता विकर्ता दिव्यो देव एको नारायणः ॥2॥

उस अमूल (निराधार) एक देव नारायण से ही सृष्टि उत्पन्न हुई। चक्षु भी नारायण और दृश्यपदार्थ भी नारायण है। श्रोत्रेन्द्रिय और श्रवणयोग्य—दोनों नारायण हैं। घ्राणेन्द्रिय और सूँघने योग्य पदार्थ—दोनों नारायण है। जिह्वा और स्वादयोग्य पदार्थ भी नारायण हैं। त्वगिन्द्रिय और स्पर्शयोग्य वस्तु भी नारायण है। मन और मननयोग्य सब नारायण है। बुद्धि और बोद्धव्य वस्तु भी नारायण है। अहंकार और अहंकर्तव्यता भी नारायण है। चित्त और चिन्तनीय भी नारायण है। वाणी और वक्तव्य भी नारायण है। दोनों हाथ और ग्रहण करने योग्य वस्तु भी नारायण है। पैर और गन्तव्य भी नारायण है। गुदा और विसर्जनीय पदार्थ भी नारायण है। उपस्थेन्द्रिय और आनन्द देने योग्य पदार्थ भी नारायण ही है। इस तरह धाता, विधाता, कर्त्ता, विशिष्ट कर्त्ता दिव्य देव एक नारायण ही है।

आदित्या रुद्रा मरुतो वसवोऽश्विनावृचो यजूंषि सामानि मन्त्रोऽग्नि-
राज्याहुतिर्नारायण उद्भवः सम्भवो दिव्यो देव एको नारायणः ॥3॥
माता पिता भ्राता निवासः शरणं सुहृद् गतिर्नारायणः ॥4॥

आदित्य, रुद्र, वायु, वसु, अश्विनीकुमार, ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, मन्त्र, अग्नि और घी की आहुति भी नारायण ही है। यही नारायण एक है। वह दिव्य एक और सबका उत्पत्ति-स्थान है। माता, पिता, भाई, आश्रय, शरण, मित्र और गति नारायण ही है।

विराजा सुदर्शनाजितासोम्यामोघाकुमारामृतासत्यामध्यमानासीराशि-
शुरासुरासूर्याभास्वतीविज्ञेयानि नाडीनामानि दिव्यानि ॥5॥

नारायण ही की ये विराजा, सुदर्शना, जिता, सौम्या, अमोघा, कुमारा, अमृता, सत्या, मध्यमा, नासीरा, शिशुरा, असुरा, सूर्या और भास्वती—ऐसी नाडियों के दिव्य नाम कहे गए हैं।

गर्जति गायति वाति वर्षति वरुणोऽर्यमा चन्द्रमा कालः कविर्धाता ब्रह्मा प्रजापतिर्मघवा दिवसाश्चार्धदिवसाश्च कलाः कल्पाश्चोर्ध्वं च दिशश्च सर्वं नारायणः ॥6॥

वह नारायण ही तो गर्जना करते हैं, वही गाते हैं, वही बहते हैं, वही बरसते हैं। वरुण, अर्यमा,

चन्द्रमा, काल, कवि, धाता, ब्रह्मा, प्रजापति, इन्द्र, दिन, आधा दिन, कलाएँ, कल्प, ऊर्ध्व प्रदेश और दिशाएँ—ये सब नारायण ही हैं।

पुरुष एवेदं सर्वं यद्भूतं यच्च भाव्यम्।
उतामृतत्वस्येशानो यदन्नेनातिरोहति ॥
तद्विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः। दिवीव चक्षुरायतम्।
तद्विप्रासो विपन्यवो जागृवांसः समिन्धते। विष्णोर्यत्परमं पदम्।
तदेतन्निर्वाणानुशासनमिति वेदानुशासनमिति वेदानुशासनम् ॥7॥

इति षष्ठः खण्डः।

जो कुछ हो चुका है, जो होने वाला है, वह सब पुरुष ही है। वह अमर है और जीव-जगत् के स्वामी हैं। जो अन्न से बुद्धि प्राप्त करते हैं, उनके भी वह स्वामी है। यह विष्णु का परमस्थान है, उसे विद्वान् लोग सदैव देखते हैं। वह अन्तरिक्ष में फैले हुए चक्षु के समान है। क्रोधरहित और सतत जाग्रत् विप्र लोग इसका साक्षात्कार करते हैं। यही विष्णु का परमपद है। यही निर्वाण का आदेश है, यही वेदों का उपदेश है, यही वेदों की शिक्षा है, यही वेदों का अनुशासन है।

यहाँ छठा खण्ड पूरा हुआ।

सप्तमः खण्डः

अन्तःशरीरे निहितो गुहायामज एको नित्यो यस्य पृथिवी शरीरं यः पृथिवीमन्तरे सञ्चरन् यं पृथिवी न वेद। यस्यापः शरीरं योऽपोऽन्तरे सञ्चरन् यमापो न विदुः। यस्य तेजः शरीरं यस्तेजोऽन्तरे सञ्चरन् यं तेजो न वेद। यस्य वायुः शरीरं यो वायुमन्तरे सञ्चरन् यं वायुर्न वेद। यस्याकाशः शरीरं य आकाशमन्तरे सञ्चरन् यमाकाशो न वेद। यस्य मनः शरीरं यो मनोऽन्तरे सञ्चरन् यं मनो न वेद। यस्य बुद्धिः शरीरं यो बुद्धिमन्तरे सञ्चरन् यं बुद्धिर्न वेद। यस्याहङ्कारः शरीरं योऽहङ्कारमन्तरे सञ्चरन् यमहङ्कारो न वेद। यस्य चित्तं शरीरं यश्चित्तमन्तरे सञ्चरन् यं चित्तं न वेद। यस्याव्यक्तं शरीरं योऽव्यक्तमन्तरे सञ्चरन् यमव्यक्तं न वेद। यस्याक्षरं शरीरं योऽक्षरमन्तरे सञ्चरन् यमक्षरो न वेद। यस्य मृत्युः शरीरं यो मृत्युमन्तरे सञ्चरन् यं मृत्युर्न वेद। स एष सर्वभूतान्तरात्माऽपहतपाप्मा दिव्यो देव एको नारायणः ॥1॥

शरीर के भीतर हृदयगुहा में अवस्थित यह एक अजन्मा आत्मा है। पृथ्वी उसका शरीर है, वह पृथ्वी में संचरित होता है, पर पृथ्वी उसे नहीं जानती। जल उसका शरीर है, वह जल में संचरण करता है, पर जल उसे नहीं जानता। तेज उसका शरीर है, वह तेज में संचरित होता है, पर तेज उसे नहीं जानता। वायु उसका शरीर है, वह वायु में संचरित होता है, पर वायु उसे नहीं जानता। आकाश उसका शरीर है, वह आकाश में संचरित होता है, पर आकाश उसे नहीं जानता। मन उसका शरीर

है, वह मन में संचरण करता है, पर मन उसे नहीं जानता। बुद्धि उसका शरीर है, वह बुद्धि में संचरण करता है, पर बुद्धि उसे नहीं जानती। अहंकार उसका शरीर है, जो अहंकार में विचरण करता है, पर अहंकार उसे नहीं पहचानता। चित्त जिसका शरीर है, जो चित्त में संचरित होता है, पर चित्त उसे नहीं जानता। अव्यक्त जिसका शरीर है, जो अव्यक्त के भीतर संचार करता है, परन्तु अव्यक्त उसे नहीं पहचानता। अक्षर जिसका शरीर है, जो अक्षर के भीतर संचार करता है, पर अक्षर उसे नहीं जानता। मृत्यु जिसका शरीर है, जो मृत्यु के भीतर संचार करता है, पर मृत्यु उसे नहीं जानता। वही यह सर्वभूतों का अन्तरात्मा निष्पाप एक दिव्यदेव नारायण है।

एषा विद्यामपान्तरतमाय ददावपान्तरतमो ब्रह्मणे ददौ। ब्रह्मा घोरांगिरसे ददौ घोरांगिरा रैक्वाय ददौ रैक्वो रामाय ददौ रामः सर्वेभ्यो भूतेभ्यो ददावित्येवं निर्वाणानुशासनमिति वेदानुशासनमिति वेदानुशासनम् ॥2॥

इति सप्तम खण्डः।
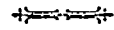
यह विद्या नारायण ने अपान्तरतम नाम के सिद्ध ब्राह्मण को दी थी। अपान्तरतम ने इसे ब्रह्मा को दिया, ब्रह्मा ने घोरांगिरस को दिया, घोरांगिरस ने रैक्व को, रैक्व ने राम को, राम ने सब प्राणियों को दिया। इस प्रकार यह मोक्ष का उपदेश है। यही वेदों का उपदेश है, यही वेदों की शिक्षा है।

यहाँ सातवाँ खण्ड पूरा हुआ।

❋

अष्टमः खण्डः

अन्तःशरीरे निहितो गुहायां शुद्धः सोऽयमात्मा सर्वस्य मेदोमांसक्लेदावकीर्णे शरीमध्येऽत्यन्तोपहते चित्रभित्तिप्रतीकाशे गन्धर्वनगरोपमे कदलीगर्भवन्निःसारे जलबुद्बुद्वच्चञ्चले निःसृतमात्मानमचिन्त्यरूपं दिव्यं देवमसङ्गं शुद्धं तेजस्कायमरूपं सर्वेश्वरमचिन्त्यमशरीरं निहितं गुहायाममृतं बिभ्राजमानमानन्दं तं पश्यन्ति विद्वांसस्तेन लयेन पश्यन्ति ॥1॥

इत्यष्टमः खण्डः।
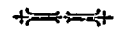
सबके शरीर के भीतर हृदयरूपी गुफा में आत्मा अवस्थित है। पर शरीर तो मेद, मांस और रक्त से भरा हुआ है, वह तो अत्यन्त विनाशी है, चित्र में दी हुई दीवार जैसा भ्रममूलक है, गन्धर्व नगर जैसा झूठा है, केले के पेड़ के गर्भ के समान निःसार है, पानी के बुद्बुदे की तरह चंचल है, पर उससे परे रहा हुआ आत्मा तो अचिन्त्य रूपवाला है, दिव्य देव है, असंग - निर्लेप है, शुद्ध है, तेजरूपी शरीरवाला है, सर्वेश्वर है, उसका शरीर मापा नहीं जा सकता। वह हृदयरूपी गुफा में रहता है। यह अमर है, शोभायमान तेजोरूप है, आनन्दरूप है। उसे विद्वान् देखते हैं फिर उसके साथ एकाकार होने से वह देखा नहीं जाता—दोनों एक हो जाते हैं।

यहाँ आठवाँ खण्ड पूरा हुआ।

❋

नवमः खण्डः

अथ हैनं रैक्वः पप्रच्छ। भगवन्कस्मिन्सर्वेऽस्तं गच्छन्तीति। तस्मै स होवाच चक्षुरेवाप्येति। यच्चक्षुरेवास्तमेति द्रष्टव्यमेवाप्येति यो द्रष्टव्यमेवास्तमेत्यादित्यमेवाप्येति य आदित्यमेवास्तमेति विराजमेवाप्येति यो विराजमेवास्तमेति प्राणमेवाप्येति यः प्राणमेवास्तमेति विज्ञानमेवाप्येति यो विज्ञानमेवास्तमेत्यानन्दमेवाप्येति य आनन्दमेवास्तमेति तुरीयमेवाप्येति यस्तुरीयमेवास्तमेति तदमृतमभयमशोकमनन्तनिर्बीजमेवाप्येतीति होवाच ॥1॥

रैक्व ने घोरांगिरस से पूछा—'हे भगवन्! सभी पदार्थ किसमें अस्त (विलीन) होते हैं? तब घोरांगिरस ने कहा—'जो पदार्थ चक्षु को प्राप्त होता है, वह चक्षु में ही विलीन (अस्त) हो जाता है। चक्षु द्रष्टव्य को प्राप्त होता है, तो वह द्रष्टव्य में अस्त होता है। द्रष्टव्य आदित्य को प्राप्त होता है, तो वह आदित्य में अस्त होता है। आदित्य विराजा नाम की नाडी (सुषुम्ना नाडी) को प्राप्त होता है, तो वह विराजा में अस्त होता है। **अथवा**—आदित्य विराट् को प्राप्त होता है और विराट् में अस्त होता है। विराट् प्राण को प्राप्त होता है और प्राण में अस्त होता है। प्राण विज्ञान को प्राप्त होता है और विज्ञान में अस्त होता है। विज्ञान आनन्द को प्राप्त होता है इसलिए वह विज्ञान आनन्द में अस्त होता है। आनन्द तुरीय को प्राप्त होता है अतः आनंद तुरीय में अस्त होता है। और वह अमृत, अभय, अशोक, अनन्त, निर्बीज को ही प्राप्त होता है, ऐसा आंगिरस ने कहा।

श्रोत्रमेवाप्येति यः श्रोत्रमेवास्तमेति श्रोतव्यमेवाप्येति यः श्रोतव्यमेवास्तमेति दिशमेवाप्येति यो दिशमेवास्तमेति सुदर्शनामेवाप्येति यः सुदर्शनामेवास्तमेत्यपानमेवाप्येति योऽपानमेवास्तमेति विज्ञानमेवाप्येति यो विज्ञानमेवास्तमेति तदमृतमभयमशोकमनन्तनिर्बीजमेवाप्येतीति होवाच ॥2॥

ठीक इसी तरह जो श्रोत्र को प्राप्त होता है, वह श्रोत्र में अस्त होता है। जो श्रोत्र श्रोतव्य को प्राप्त होता है, वह श्रोतव्य में अस्त होता है। जो श्रोतव्य दिशा को प्राप्त होता है, वह दिशा में अस्त होता है। जो दिशा सुदर्शना को प्राप्त होती है अतः सुदर्शना में अस्त होती है। सुदर्शना अपान को प्राप्त होती है तो अपान में अस्त होती है। अपान विज्ञान को प्राप्त होता है अतः विज्ञान में अस्त होता है। वही पूर्वोक्त क्रम से अमृत, अभय, अशोक, अनन्त, निर्बीज को प्राप्त होता है—ऐसा कहा है।

नासामेवाप्येति यो नासामेवास्तमेति घ्रातव्यमेवाप्येति यो घ्रातव्यमेवास्तमेति पृथिवीमेवाप्येति यः पृथिवीमेवास्तमेति जितामेवाप्येति यो जितामेवास्तमेति व्यानमेवाप्येति यो व्यानमेवास्तमेति विज्ञानमेवाप्येति तदमृत.......होवाच ॥3॥

इसी प्रकार जो नासिका को प्राप्त होता है, वह नासिका में ही अस्त होता है। नासा घ्रातव्य को प्राप्त होती है, तो वह घ्रातव्य में अस्त हो जाती है। वह घ्रातव्य पृथ्वी को प्राप्त होता है और पृथ्वी में अस्त हो जाता है। पृथ्वी जिता-नाडी को प्राप्त होती है और जिता में अस्त होती है। जिता व्यान को प्राप्त होती है और व्यान में अस्त होती है और व्यान विज्ञान को प्राप्त होता है और वही, पूर्वोक्तक्रम से अमृत, अभय, अशोक, अनन्त, निर्बीज को प्राप्त होता है—ऐसा कहा है।

जिह्वामेवाप्येति यो जिह्वामेवास्तमेति रसयितव्यमेवाप्येति यो रसयितव्यमेवास्तमेति वरुणमेवाप्येति यो वरुणमेवास्तमेति सौम्यामेवाप्येति यः सौम्यामेवास्तमेत्युदानमेवाप्येति य उदानमेवास्तमेति विज्ञानमेवाप्येति तदमृत.......होवाच ॥4॥

इसी प्रकार जो जिह्वा को प्राप्त होता है, वह जिह्वा में अस्त होता है। जिह्वा स्वाद्य पदार्थों के प्रति जाती है तो वह आस्वाद्य पदार्थों में अस्त हो जाती है। स्वाद्य पदार्थ वरुण को प्राप्त होते हैं और वे वरुण में अस्त हो जाते हैं। वरुण सौम्या नाडी को प्राप्त होता है और वह सौम्या में अस्त होता है। सौम्या उदान को प्राप्त होती है और उदान में अस्त हो जाती है। उदान विज्ञान को प्राप्त होता है और वही पूर्वोक्त क्रम से अमृत, अभय, अशोक, अनन्त और निर्बीज को प्राप्त होता है—ऐसा कहा।

त्वचमेवाप्येति यस्त्वचमेवास्तमेति स्पर्शयितव्यमेवाप्येति यः स्पर्शयितव्यमेवास्तमेति वायुमेवाप्येति यो वायुमेवास्तमेति मोघामेवाप्येति यो मोघामेवास्तमेति समानमेवाप्येति यः समानमेवास्तमेति। विज्ञानमेवाप्येति तदमृत.......होवाच ॥5॥

उसी प्रकार जो पदार्थ त्वचा को प्राप्त होता है, वह त्वचा में ही अस्त हो जाता है। त्वचा स्पर्शयोग्य पदार्थ को प्राप्त होती है और वह स्पर्शयोग्य पदार्थ में ही लीन हो जाती है। स्पर्शयोग्य पदार्थ वायु को प्राप्त होता है और वह वायु में अस्त हो जाता है। वायु मोघानामक नाडी को प्राप्त होता है और वह मोघा में अस्त हो जाता है। मोघा समान को प्राप्त होती है और समान में अस्त हो जाती है। समान विज्ञान को प्राप्त होता है और वही पूर्वोक्त क्रम से अमृत, अभय, अशोक, अनन्त, निर्बीज को प्राप्त होता है—ऐसा कहा।

वाचमेवाप्येति यो वाचमेवास्तमेति वक्तव्यमेवाप्येति यो वक्तव्यमेवास्तमेत्यग्निमेवाप्येति योऽग्निमेवास्तमेति कुमारामेवाप्येति यः कुमारामेवास्तमेति वैरम्भमेवाप्येति यो वैरम्भमेवास्तमेति विज्ञानमेवाप्येति तदमृत.......होवाच ॥6॥

इसी प्रकार जो वाणी को प्राप्त होता है, वह वाणी में ही अस्त हो जाता है। वाणी वक्तव्य को प्राप्त होती है और उस वक्तव्य में ही अस्त हो जाती है। वक्तव्य अग्नि को प्राप्त होता है और अग्नि में लीन होता है। वह अग्नि कुमारा नामक नाडी को प्राप्त होता है और कुमारा में अस्त हो जाता है। वह कुमारा नाडी वैरंभ को प्राप्त होती है और वह वैरंभ में ही अस्त होती है। वैरंभ विज्ञान को प्राप्त होता है, और वह पूर्वोक्त क्रम से अमृत, अभय, अशोक, अनन्त, निर्बीज को प्राप्त करता है—ऐसा कहा है।

हस्तमेवाप्येति यो हस्तमेवास्तमेत्यादातव्यमेवाप्येति य आदातव्यमेवास्तमेतीन्द्रमेवाप्येति य इन्द्रमेवास्तामेत्यमृतमेवाप्येति योऽमृतमेवास्तमेति मुख्यमेवाप्येति यो मुख्यमेवास्तमेति विज्ञानमेवाप्येति तदमृत.......होवाच ॥7॥

जो हाथ को प्राप्त होता है, वह हाथ में ही अस्त होता है। हाथ ग्राह्य पदार्थ को प्राप्त होता है, और उस ग्राह्य वस्तु का हाथ में ही लय होता है। वह ग्रहणयोग्य पदार्थ इन्द्र के पास जाता है और

वह इन्द्र में अस्त हो जाता है। वह इन्द्र अमृता नाडी के पास जाता है और वह अमृता नाडी में अस्त होता है। अमृत नाडी मुख्य की ओर जाती है और मुख्य में अस्त हो जाती है। वह मुख्य विज्ञान की ओर जाता है और वह पूर्वोक्त क्रम से अमृत, अभय, अशोक, अनन्त, निर्बीज को प्राप्त करता है—ऐसा कहा है।

पादमेवाप्येति यः पादमेवास्तमेति गन्तव्यमेवाप्येति यो गन्तव्यमेवास्तमेति विष्णुमेवाप्येति यो विष्णुमेवास्तमेति सत्यामेवाप्येति यो सत्यामेवास्तमेत्यन्तर्याममेवाप्येति योऽन्तर्याममेवास्तमेति विज्ञानमेवाप्येति तदमृत.......होवाच ॥8॥

जो पैर को प्राप्त हो जाता है वह पैर में ही अस्त हो जाता है। पैर गन्तव्य स्थान को प्राप्त होते हैं और गन्तव्य स्थान में अस्त हो जाते हैं। गन्तव्य स्थान विष्णु को प्राप्त होता है और विष्णु में ही अस्त हो जाता है। विष्णु सत्या नाडी को प्राप्त होते हैं और सत्या नाडी में ही अस्त हो जाते हैं। सत्या नाडी अन्तर्यामी विज्ञान को प्राप्त होता है, और विज्ञान पूर्वोक्त क्रमानुसार अमृत, अभय, अशोक अनन्त और निर्बीज को प्राप्त होता है—ऐसा कहा है।

पायुमेवाप्येति यः पायुमेवास्तमेति विसर्जयितव्यमेवाप्येति योविसर्जयितव्यमेवास्तमेति मृत्युमेवाप्येति यो मृत्युमेवास्तमेति मध्यमामेवाप्येति यो मध्यमामेवास्तमेति प्रभञ्जनमेवाप्येति यः प्रभञ्जनमेवास्तमेति विज्ञानमेवाप्येति तदमृत.......होवाच ॥9॥

यह कहकर उन्होंने पुनः कहा—जो गुदा को प्राप्त होता है, वह गुदा में ही अस्त हो जाता है। गुदा विसर्जयितव्य (त्याज्य) पदार्थ को प्राप्त होती है, तो वह उस त्याज्य पदार्थ में (मलत्याग) में ही अस्त हो जाती है। त्याज्य पदार्थ मृत्यु को प्राप्त होता है, अतः वह मृत्यु में अस्त होता है। मृत्यु मध्यमा नाडी को प्राप्त होता है तो वह मध्यमा में ही अस्त हो जाता है। मध्यमा प्रभञ्जन नाम के वायु को प्राप्त होती है तो वह प्रभञ्जन में ही अस्त हों जाती है। प्रभञ्जनवायु विज्ञान को प्राप्त होता है और विज्ञान पूर्वोक्त क्रम से अमृत, अभय, अशोक, अनन्त और निर्बीज को प्राप्त होता है—ऐसा कहा है।

उपस्थमेवाप्येति य उपस्थमेवास्तमेत्यानन्दयितव्यमेवाप्येति य आनन्दयितव्यमेवास्तमेति प्रजापतिमेवाप्येति यः प्रजापतिमेवास्तमेति नासीरामेवाप्येति यो नासीरामेवास्तमेति कूर्मिरमेवाप्येति यो कूर्मिरमेवास्तमेति विज्ञानमेवाप्येति तदमृत.......होवाच ॥10॥

उन्होंने आगे कहा कि—जो उपस्थ को प्राप्त होता है, वह उपस्थ में ही अस्त होता है। उपस्थ आनंदरूप विषय को प्राप्त करता है इसलिए वह आनन्दरूप विषय में विलीन होता है। आनन्दरूप विषय प्रजापति को प्राप्त करता है, इसलिए वह प्रजापति में लीन होता है। प्रजापति नासीरा को प्राप्त करते हैं इसलिए वे नासीरा में अस्त होते हैं। नासीरा कूर्मिरनाडी को पाता है और वह कूर्मिर में अस्त होता है। कूर्मिर विज्ञान को पाती है और वह पूर्वोक्त क्रम से अमृत, अभय, अशोक, अजन्त, निर्बीज को पाती है—ऐसा कहा है।

मन एवाप्येति यो मन एवास्तमेति मन्तव्यमेवाप्येति यो मन्तव्यमेवास्तमेति चन्द्रमेवाप्येति यश्चन्द्रमेवास्तमेति शिशुमेवाप्येति यः शिशुमेवा-

स्तमेति श्येनमेवाप्येति यः श्येनमेवास्तमेति विज्ञानमेवाप्येति तदमृत''''''' होवाच ॥11॥

उन्होंने आगे कहा कि जो मन को प्राप्त होता है, वह मन में ही लीन हो जाता है। मन विचार को प्राप्त होता है, तो वह विचार में अस्त हो जाता है। विचार चन्द्र को प्राप्त होते हैं तो वे चन्द्र में अस्त हो जाते हैं। चन्द्र शिशु नाम की नाडी को प्राप्त होता है, तो वह शिशु नाडी में अस्त होता है। शिशुनाडी श्येन को प्राप्त होती है, इसलिए वह श्येन में अस्त होती है, और श्येन विज्ञान को प्राप्त होता है और वह पूर्वोक्तक्रम से अमृत, अभय, अशोक, अनन्त, निर्बीज को प्राप्त होता है—ऐसा कहा है।

बुद्धिमेवाप्येति यो बुद्धिमेवास्तमेति बोद्धव्यमेवाप्येति यो बोद्धव्यमेवा-स्तमेति ब्रह्माणमेवाप्येति यो ब्रह्माणमेवास्तमेति सूर्यामेवाप्येति यः सूर्यामेवास्तमेति कृष्णमेवाप्येति यः कृष्णमेवास्तमेति विज्ञानमेवाप्येति तदमृत''''होवाच ॥12॥

उन्होंने आगे कहा कि—जो बुद्धि को प्राप्त होता है, वह बुद्धि में ही अस्त होता है। बुद्धि ज्ञेय विषय की ओर जाती है इसलिए वह ज्ञेय विषय में अस्त हो जाती है। ज्ञेय विषय ब्रह्मा को प्राप्त होते हैं अत: वे ब्रह्मा में अस्त हो जाते हैं। ब्रह्मा सूर्यानाडी को प्राप्त होते हैं, अत: वे सूर्यानाडी में अस्त होते हैं। सूर्यानाडी कृष्ण को प्राप्त होती है अत: वह कृष्ण में अस्त हो जाती है और कृष्ण विज्ञान को प्राप्त होते हैं और विज्ञान पूर्वोक्त क्रम से अमृत, अभय, अशोक, अनन्त और निर्बीज को प्राप्त होता है—ऐसा कहा है।

अहङ्कारमेवाप्येति योऽहङ्कारमेवास्तमेत्यहङ्कर्तव्यमेवाप्येति योऽहङ्कर्त-व्यमेवास्तमेति रुद्रमेवाप्येति यो रुद्रमेवास्तमेत्यसुरामेवाप्येति योऽसुरा-मेवास्तमेति श्वेतमेवाप्येति यः श्वेतमेवास्तमेति विज्ञानमेवाप्येति तदमृत ''''''होवाच ॥13॥

उन्होंने आगे बताया कि जो अहंकार को प्राप्त होता है, वह अहंकार में अस्त हो जाता है। वह अहंकार, अहंकार करने योग्य को पाता है और अहंकार करने योग्य में लीन हो जाता है। वह अहंकारयोग्य रुद्र को पाता है और रुद्र में अस्त हो जाता है। वह रुद्र असुरानाडी को प्राप्त होता है और असुरानाडी में अस्त हो जाता है। वह असुरानाडी श्वेत को प्राप्त करती है और वह श्वेत में अस्त हो जाती है। वह श्वेत विज्ञान को पाता है और वह पूर्वोक्त क्रम से अमृत, अभय, अशोक, अनन्त क्रम से और निर्बीज को पाता है—ऐसा कहा है।

चित्तमेवाप्येति यश्चित्तमेवास्तमेति चेतयितव्यमेवाप्येति यश्चेतयितव्य-मेवास्तमेति क्षेत्रज्ञमेवाप्येति यः क्षेत्रज्ञमेवास्तमेति भास्वतीमेवाप्येति यो भास्वतीमेवास्तमेति नागमेवाप्येति यो नागमेवास्तमेति विज्ञानमेवाप्येति यो विज्ञानमेवास्तमेत्यानन्दमेवाप्येति य आनन्दमेवास्तमेति तुरीयमेवा-प्येति यस्तुरीयमेवास्तमेति तदमृतमभयमशोकमनन्तनिर्बीजमेवाप्येति होवाच ॥14॥

उन्होंने आगे कहा कि जो चित्त को प्राप्त होता है, वह चित्त में अस्त हो जाता है। चित्त विचार

को प्राप्त होता है और वह विचार में लीन हो जाता है। विचार चेतयितव्य (क्षेत्रज्ञ) को प्राप्त होता है और वह क्षेत्रज्ञ में लीन हो जाता है। क्षेत्रज्ञ भास्वती नाडी को प्राप्त होता है और वह भास्वती नाडी में अस्त हो जाता है। भास्वती नाडी नागवायु को प्राप्त होती है, और वह नागवायु में अस्त हो जाती है। वह नागवायु विज्ञान को प्राप्त होता है और वह विज्ञान में ही अस्त हो जाता है। और वह विज्ञान पहले बताए गए तेरहों मन्त्रों के क्रमानुसार आनन्द को प्राप्त होता है और आनन्द में अस्त होता है। वह आनन्द तुरीय को प्राप्त होता है और तुरीय में अस्त होता है। वही तुरीय अमृत, अभय, अशोक, अनन्त और निर्बीज को प्राप्त होता है—ऐसा कहा है।

य एवं निर्बीजं वेद निर्बीज एव स भवति न जायते न म्रियते न मुह्यते न भिद्यते न दह्यते न छिद्यते न कम्पते न कुप्यते सर्वदहनोऽयमात्मेत्या-चक्षते ॥15॥

घोरांगिरस ने अन्त में कहा कि जो मनुष्य इस निर्बीज को पहचान लेता है, वह स्वयं निर्बीज हो जाता है। वह न जन्मता है, न मरता है। वह मोह प्राप्त नहीं करता। उसका भेदन नहीं हो सकता। वह न जलाया जा सकता है, न काटा जा सकता है। वह काँपता नहीं। वह क्रोध नहीं करता। सभी वस्तुओं का दहन करने वाले इसको आत्मा कहा जाता है।

नैवमात्मा प्रवचनशतेनापि लभ्यते। न बहुश्रुतेन न बुद्धिज्ञानाश्रितेन न मेधया न वेदैर्न यज्ञैर्न तपोभिरुग्रैर्न सांख्यैर्न योगैर्नाश्रमैर्नान्यैरात्मानमु-पलभन्ते। प्रवचनेन प्रशंसया व्युत्पानेन तमेतं ब्राह्मणा शुश्रुवांसो-ऽनूचाना उपलभन्ते। शान्तो दान्त उपरतस्तितिक्षुः समाहितो भूत्वाऽऽ-त्मन्येवात्मानं पश्यति। सर्वस्यात्मा भवति य एवं वेद ॥16॥

इति नवमः खण्डः।
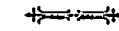
यह आत्मा सैकड़ों प्रवचनों से प्राप्त नहीं किया जा सकता। बहुत शास्त्रश्रवण से या बुद्धि और किसी ज्ञान का आश्रय करने से भी प्राप्त नहीं किया जा सकता। और मेधा से, वेदों से, यज्ञों से, उग्र तपश्चर्याओं से, सांख्यज्ञान से, योगसाधना से, आश्रमों से या अन्य किसी भी साधन से यह आत्मा प्राप्त नहीं किया जा सकता। जो ब्रह्मनिष्ठ पुरुष (अपने) प्रवचन से और प्रशंसा से समाधि से बाहर आकर आत्मा के विषय में श्रवण करवाते हैं और व्याख्यान करते हैं वे ही उसको पा सकते हैं। जो मनुष्य शान्त, दान्त, उपरत और तितिक्षु होकर समाधिनिष्ठ रहता है, वह अपने आत्मा में ही सर्व प्राणियों के आत्मा को देखता है, और जो ऐसा समझता है, वह सबका आत्मा हो जाता है।

यहाँ नवाँ खण्ड पूरा हुआ।

❉

दशमः खण्डः

अथ हैनं रैक्वः पप्रच्छ भगवन्कस्मिन्सर्वे सम्प्रतिष्ठिता भवन्तीति; रसातललोकेष्विति होवाच। कस्मिन्नसातललोका ओताश्च प्रोताश्चेति भूर्लोकेष्विति होवाच। कस्मिन्भूर्लोका ओताश्च प्रोताश्चेति

भुवर्लोकेष्विति होवाच । कस्मिन्भुवर्लोका ओताश्च प्रोताश्चेति
सुवर्लोकेष्विति होवाच । कस्मिन्सुवर्लोका ओताश्च प्रोताश्चेति
महर्लोकेष्विति होवाच । कस्मिन्महर्लोका ओताश्च प्रोताश्चेति
जनोलोकेष्विति होवाच । कस्मिञ्जनोलोका ओताश्च प्रोताश्चेति
तपोलोकेष्विति होवाच । कस्मिंस्तपोलोका ओताश्च प्रोताश्चेति
सत्यलोकेष्विति होवाच । कस्मिन्सत्यलोका ओताश्च प्रोताश्चेति
प्रजापतिलोकेष्विति होवाच । कस्मिन्प्रजापतिलोका ओताश्च प्रोताश्चेति
ब्रह्मलोकेष्विति होवाच । कस्मिन्ब्रह्मलोका ओताश्च प्रोताश्चेति
सर्वलोका आत्मनि ब्रह्मणि मणय इवौताश्च प्रोताश्चेति स होवाच ॥1॥
एवमेतान् लोकानात्मनि प्रतिष्ठितान् वेदात्मैव स भवतीत्येतन्निर्वाणा-
नुशासनमिति वेदानुशासनमिति वेदानुशासनम् ॥2॥

इति दशमः खण्डः ।
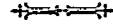
आगे भी रैक्व मुनि ने घोरांगिरस से पूछा—'हे भगवन् ! किस पदार्थ में सब पदार्थ निहित हैं ?' तब उन्होंने कहा कि—'सभी पदार्थ रसातल में अवस्थित हैं ।' तब रैक्व बोले—'रसातल लोक किसमें ओतप्रोत है ?' अंगिरस बोले—'वे भूर्लोक में ओतप्रोत हैं ।' रैक्व बोले—'भूर्लोक किसमें ओतप्रोत हैं ?' अंगिरस बोले—'वे भुवर्लोक में ओतप्रोत हैं ।' रैक्व बोले—'भुवर्लोक किसमें ओतप्रोत हैं ?' अंगिरा बोले—'स्वर्लोक में ओतप्रोत हैं। रैक्व बोले—'स्वर्लोक किसमें ओत-प्रोत है ?' अंगिरस बोले—'वे महर्लोक में ओतप्रोत हैं ।' रैक्व बोले—'महर्लोक किसमें ओतप्रोत हैं ?' अंगिरस बोले—'वे जनलोक में ओतप्रोत हैं ।' रैक्व बोले—'जनलोक किसमें ओतप्रोत हैं ?' अंगिरस बोले—वे तपोलोक में ओतप्रोत हैं ।' रैक्व बोले—'तपोलोक किसमें ओतप्रोत हैं ?' अंगिरस बोले—'वे सत्यलोक में ओतप्रोत हैं ।' रैक्व बोले—'सत्यलोक किसमें ओतप्रोत है ।' अंगिरस ने कहा—'वे प्रजापति लोक में ओतप्रोत हैं ।' रैक्व बोले—'प्रजापतिलोक किसमें ओतप्रोत हैं ?' अंगिरस बोले—'वे ब्रह्मलोक में ओतप्रोत हैं। रैक्व बोले—'ब्रह्मलोक किसमें ओतप्रोत हैं ?' अंगिरस बोले—'ये सभी लोक आत्मारूप ब्रह्म में मणियों की तरह ओतप्रोत हैं ।' ऐसा उन्होंने कहा । जो मनुष्य इन सभी लोकों को आत्मा में अवस्थित जान लेता है, वह स्वयं आत्मरूप ही हो जाता है । ऐसा यह मोक्षविषय का उपदेश है । यही वेद का उपदेश है, यही वेद की आज्ञा है ।

यहाँ दसवाँ खण्ड पूरा हुआ ।

एकादशः खण्डः

अथ हैनं रैक्वः पप्रच्छ भगवन् योऽयं विज्ञानघन उत्क्रामन्स केन कतरद्
वावस्थानमुत्सृज्यापक्रामतीति तस्मै स होवाच हृदयस्य मध्ये लोहितं
मांसपिण्डं यस्मिंस्तद्दहरं पुण्डरीकं कुमुदमिवानेकधा विकसितं तस्य मध्ये
समुद्रः समुद्रस्य मध्ये कोशस्तस्मिन्नाड्यश्चतस्रो भवन्ति रमाऽरमेच्छा-
ऽपुनर्भवेति । तत्र रमा पुण्येन पुण्यं लोकं नयत्यरमा पापेन पापमिच्छया

यत्स्मरति तदभिसम्पद्यते अपुनर्भवया कोशं भिनत्ति कोशं भित्त्वा
शीर्शकपालं भिनत्ति शीर्षकपालं भित्त्वा पृथिवीं भिनत्ति पृथिवीं
भित्त्वाऽपो भिनत्त्यपो भित्त्वा तेजा भिनत्ति तेजो भित्त्वा वायुं भिनत्ति
वायुं भित्त्वाऽऽकाशं भिनत्त्याकाशं भित्त्वा मनो भिनत्ति मनो भित्त्वा
भूतादिं भिनत्ति भूतादिं भित्त्वा महान्तं भिनत्ति महान्तं भित्त्वाऽव्यक्तं
भिनत्त्यव्यक्तं भित्त्वाऽक्षरं भिन्नत्त्यक्षरं भित्त्वा मृत्युं भिनत्ति मृत्युर्वै परे देव
एकीभवतीति परस्तान्न सन्नासन्न सदसदित्येतन्निर्वाणानुशासनमिति
वेदानुशासनमिति वेदानुशासनमिति ॥1॥

इत्येकादशः खण्डः ।
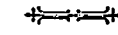
पुनः रैक्व ने उनसे पूछा—'हे भगवन् ! यह विज्ञानमय आत्मा जब शरीर से बाहर निकलता है, तब किस मार्ग से कौन सा स्थान छोड़ते हुए बाहर जाता है ?' यह सुनकर घोरांगिरस ने कहा कि—'हृदय के बीच रक्तवर्ण मांस का पिण्ड है। उसमें कुमुद (चन्द्रविकासी कमल) जैसा एक सफेद और सूक्ष्म कमल है । वह अनेक तरह से विकसित हुआ है। उसके बीच में एक सागर है। उस समुद्र के बीच में एक कोश (कली) है। उसमें रमा, अरमा, इच्छा और अपुनर्भवा नाम की चार नाड़ियाँ हैं। इनमें रमा पुण्य से पुण्यलोक में ले जाती है और अरमा पापों से पापलोक में ले जाती है। इच्छा नाड़ी के द्वारा जो जिसका स्मरण करता है, उसे वह पाता है। और अपुनर्भवा से उस कोश को भेदता है (खोलता है)। कोश को खोलकर खोपड़ी को खोलता है, खोपड़ी को खोलकर पृथ्वी को खोलता है, पृथ्वी को भेदकर जल को भेदता है, जल को भेदकर तेज को भेदता है, तेल को भेदकर वायु को भेदता है, वायु को भेदकर आकाश को भेदता है, आकाश को भेदकर मन को भेदता है, मन को भेदकर अहंकार को भेदता है, अहंकार को भेदकर महत्तत्त्व को भेदता है, महत्तत्त्व को भेदकर अव्यक्त को भेदता है, अव्यक्त को भेदकर अक्षर को भेदता है और अक्षर को भेदकर मृत्यु को भेदता है। वह मृत्यु परमदेव (परमात्मा) के साथ एकीभूत हो जाता है। फिर इसके बाद तो न सत् है, न असत् है, न सदसत् है। यही यहाँ मोक्ष का उपदेश है। यही वेद का आदेश है। यही वेदों की शिक्षा है।

यहाँ ग्यारहवाँ खण्ड पूरा हुआ ।

द्वादशः खण्डः

ॐ नारायणाद्वा अन्नमागतं पक्वं ब्रह्मलोके महासंवर्तके पुनः
पक्वमादित्ये पुनः पक्वं क्रव्यादि पुनः पक्वं जालकिलक्लिन्नं पर्युषितं
पूतमन्नमयाचितसंक्लृप्तमश्नीयान्न कञ्चन याचेत ॥1॥

इति द्वादशः खण्डः ।

ॐ यह अन्न नारायण से आया है, वह ब्रह्मलोक में पकाया गया है, बाद में महासंवर्तक में प्रलयकाल में पकाया गया है, तदनन्तर आदित्य में पका है और बाद में क्रव्याद (आवसथ्याग्नि) में

पकाया गया है। इस तरह चार प्रकार से अन्न पकाया जाता है। संन्यासी को यह अन्न यदि पानी से भीग गया हो, बासी हो गया हो, तो उसे न खाकर केवल जो अन्न पवित्र हो, जो माँगा गया न हो, और किसी पूर्वसंकल्प से प्राप्त न किया गया हो, ऐसा अन्न ही खाना चाहिए। और किसी से अन्न की याचना नहीं करनी चाहिए।

यहाँ बारहवाँ खण्ड पूरा हुआ।

❋

त्रयोदशः खण्डः

बाल्येन तिष्ठासेद् बालस्वभावोऽसङ्गो निरवद्यो मौनेन पाण्डित्येन निरवधिकारतयोपलभ्यते कैवल्यमुक्तं निगमनं प्रजापतिरुवाच महत्पदं ज्ञात्वा वृक्षमूले वसेत कुचेलोऽसहाय एकाकी समाधिस्थ आत्मकाम आप्तकामो निष्कामो जीर्णकामो हस्तिनि सिंहे दंशे मशके नकुले सर्पराक्षसगन्धर्वे मृत्यो रूपाणि विदित्वा न बिभेति कुतश्चनेति वृक्षमिव तिष्ठासेच्छिद्यमानोऽपि न कुप्येत न कम्पेतोत्पलमिव तिष्ठासेच्छिद्यमानोऽपि न कुप्येत न कम्पेताकाशमिव तिष्ठासेच्छिद्यमानोऽपि न कुप्येत न कम्पेत सत्येन तिष्ठासेत्सत्योऽयमात्मा ॥1॥

ज्ञानी को शिशुसहज स्वभाव में रहना चाहिए। ज्ञानी को असंग, निर्दोष, मौनपूर्वक, पाण्डित्यपूर्वक और किसी अवधि से रहित (नियमरहित) अधिकार को प्राप्त करते हुए रहना चाहिए— यही कैवल्य की स्थिति कही गई है। प्रजापति ने कहा है कि उस महान् पद को जानने के बाद वृक्ष के मूल में रहना चाहिए, खराब (फटे-पुराने) वस्त्र पहनने चाहिए, ज्ञानी निःसहाय, एकाकी, समाधिमग्न, आत्मा की ही कामना से युक्त, पूर्णकाम, कामनारहित और जीर्णकाम ही रहता है। वह ज्ञानी हाथी, सिंह, डाँस, मच्छर, नेवले, सर्प, राक्षस और गंधर्व में मृत्यु के रूपों को देखकर किसी से भी डरता नहीं है। वह वृक्ष की ही तरह रहना चाहता है, जो काटा जाने पर भी न कोप करता है, न काँपता है। वह कमल की तरह निर्लेप रहना चाहता है, जो छेद किये जाने पर भी न क्रोध करता है, न डिगता है। वह आकाश की तरह निर्लेप रहना चाहता है जो छिन्न-भिन्न करने पर कोप नहीं करता और काँपता नहीं है। वह सत्य में ही रहना चाहता है। यही आत्मा का सत्य (अकोप और अकम्प) रूप है।

सर्वेषामेव गन्धानां पृथिवी हृदयं सर्वेषामेव रसानामापो हृदयं सर्वेषामेव रूपाणां तेजो हृदयं सर्वेषामेव स्पर्शानां वायुर्हृदयं सर्वेषामेव शब्दानामाकाशं हृदयं सर्वेषामेव गतीनामव्यक्तं हृदयं सर्वेषामेव सत्त्वानां मृत्युर्हृदयं मृत्युर्वै परे देव एकीभवतीति परस्तान्न सन्नासन्न सदसदित्येतन्निर्वाणानुशासनमिति वेदानुशासनमिति वेदानुशासनम् ॥2॥

इति त्रयोदशः खण्डः।

सभी गन्धों का हृदय पृथ्वी है, सभी रसों का हृदय जल है, सभी रूपों का हृदय तेज है, सभी स्पर्शों का हृदय वायु है, सभी शब्दों का हृदय आकाश है, सभी गतियों का हृदय अव्यक्त (प्रकृति) है, सभी प्राणियों का हृदय मृत्यु है। यह मृत्यु ही परमदेव परमात्मा के साथ एकीभूत हो जाता है। और

उसके परे तो न कोई सत् है, न असत् है, न सदसत् है। यही मोक्ष का उपदेश है, यही वेदों की आज्ञा है, यही वेदों की शिक्षा है।

यहाँ तेरहवाँ खण्ड पूरा हुआ।

❋

चतुर्दशः खण्डः

ॐ पृथिवी वाऽन्नमापोऽन्नादा आपो वाऽन्नं ज्योतिरन्नादं ज्योतिर्वाऽन्नं वायुरन्नादो वायुर्वाऽन्नमाकाशोऽन्नाद आकाशो वाऽन्नमिन्द्रियाण्यन्नादानीन्द्रियाणि वाऽन्नं मनोऽन्नादं मनो वाऽन्नं बुद्धिरन्नादा बुद्धिर्वाऽन्नमव्यक्तमन्नादमव्यक्तं वाऽन्नमक्षरमन्नादमक्षरं वाऽन्नं मृत्युरन्नादो मृत्युर्वै परे देव एकीभवतीति परस्तान्न सन्नासन्न सदसदित्येतन्निर्वाणानुशासनमिति वेदानुशासनमिति वेदानुशासनम् ॥1॥

इति चतुर्दशः खण्डः।

अथवा पृथ्वी अन्न है, तो जल अन्नभक्षक है। जल यदि अन्न है तो तेज अन्नभक्षक है। तेज अन्न है तो वायु अन्नभक्षक है। वायु अन्न है तो आकाश अन्नभक्षक है। आकाश अन्न है तो इन्द्रियाँ अन्नभक्षक हैं। इन्द्रियाँ अन्न हैं तो मन अन्नभक्षक हैं। मन यदि अन्न है तो बुद्धि अन्नभक्षक है। बुद्धि अन्न है तो अव्यक्त (प्रकृति) अन्नभक्षक है। प्रकृति अन्न है तो अक्षर अन्नभक्षक है। अक्षर अन्न है तो मृत्यु अन्नभक्षक है। वह मृत्यु परमदेव परमात्मा से एकीभूत हो जाता है। इसके परे फिर न सत् है, न असत् है, न सदसत् है। यही मोक्ष का उपदेश है, यही वेदों की आज्ञा है, यही वेदों की शिक्षा है।

यहाँ चौदहवाँ खण्ड पूरा हुआ।

पञ्चदशः खण्डः

अथ हैनं रैक्वः पप्रच्छ भगवन् योऽयं विज्ञानमय उत्क्रामन्स केन कतरद्वाव स्थानं दहतीति तस्मै स होवाच। योऽयं विज्ञानघन उत्क्रामन्प्राणं दहत्यपानं व्यानमुदानं समानं वैरम्भं मुख्यमन्तर्यामं प्रभञ्जनं कुमारं श्येनं श्वेतं कृष्णं नागं दहति पृथिव्यापस्तेजोवाय्वाकाशं दहति जागरितं स्वप्नं सुषुप्तं तुरीयं च महतां च लोकं परं च लोकं दहति लोकालोकं दहति धर्माधर्मं दहत्यभास्करममर्यादं निरालोकमतः परं दहति महान्तं दहत्यव्यक्तं दहत्यक्षरं दहति मृत्युं दहति मृत्युर्वै परे देव एकीभवतीति परस्तान्न सन्नासन्न सदसदित्येतन्निर्वाणानुशासनमिति वेदानुशासनमिति वेदानुशासनम् ॥1॥

इति पञ्चदशः खण्डः।

आगे पुनः रैक्व ने घोरांगिरस से पूछा—'हे भगवन्! यह विज्ञानमय आत्मा जब शरीर से

बाहर निकलता है, तब किसके द्वारा किस स्थान को प्राप्त होता है ?' तब घोर अंगिरस ने कहा कि—यह विज्ञानात्मा जब शरीर से बाहर निकलता है, तब पहले प्राण को, अपान को, व्यान को, उदान को, समान को, वैरंभ को, मुख्य को, अन्तर्याम को, प्रभंजन को, कुमार को, श्येन को, श्वेत को, कृष्ण को और नाग को जलाता है। और बाद में पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश को जलाता है। बाद में जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति, तुरीय तथा महान् लोक को जलाता है तथा परलोक और इस लोक को जलाता है। बाद में लोक और अलोक को भी जलाता है। बाद में बिना सूर्य के, बिना सीमा के लोक को जलाता है। बाद में महत्तत्त्व को जलाता है, बाद में अव्यक्त को, इसके बाद अक्षर को, इसके बाद मृत्यु को जलाता है। मृत्यु उस परमदेव परमात्मा के साथ एकीभूत होता है और उसके परे तो न सत् है, न असत् है, न सदसत् है। यही मोक्ष का उपदेश है, यही वेदों की आज्ञा है, यही वेदों की शिक्षा है।

यहाँ पन्द्रहवाँ खण्ड पूरा हुआ।

❋

षोडशः खण्डः

सौबालबीजब्रह्मोपनिषन्नाप्रशान्ताय दातव्या नापुत्राय नाशिष्याय नासंवत्सररात्रोषिताय नापरिज्ञातकुलशीलाय दातव्या नैव च प्रवक्तव्या।
यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ।
तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः॥
इत्येतन्निर्वाणानुशासनमिति वेदानुशासनमिति वेदानुशासनम्॥1॥

इति षोडशः खण्डः।

इति सुबालोपनिषत्समाप्ता।

सौबाल नामक बीजवाली यह ब्रह्मोपनिषद् अशान्त मनुष्य को, अपुत्र को, जो शिष्य न बना हो उसको, जो एक वर्ष तक नजदीक में न रहा हो, जिसके कुल और शील के बारे में कुछ पता न हो, ऐसे मनुष्य को नहीं देनी चाहिए और कहनी भी नहीं चाहिए। क्योंकि जिसको परमात्मा के प्रति और वैसी ही गुरु के प्रति परमभक्ति हो, उसी मनुष्य के लिए ये विषय कहें गए हैं। और ऐसे महात्मा के प्रति ही ऐसे अर्थ प्रकाशित होते हैं। यही मोक्ष का उपदेश है, यही वेद की आज्ञा है और यही वेद की शिक्षा है।

यहाँ सोलहवाँ खण्ड पूरा हुआ।

यहाँ उपनिषत् समाप्त हुई।

शान्तिपाठः

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं······पूर्णमेवावशिष्यते। (पूर्ववत्)
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः॥

❋

(32) क्षुरिकोपनिषत्

(उपनिषत्परिचय)

कृष्णयजुर्वेदीय इस उपनिषद् में 25 मन्त्र हैं। उपनिषद् का नाम क्षुरिका इसलिए रखा गया है कि जैसे क्षुरिका (छुरी) काटने का काम करती है, वैसे ही यह उपनिषद् बन्धनों को काटने में समर्थ है। योग के आठ अंगों में से छठे अंग धारणा की यहाँ विशेष चर्चा हुई है। पहले इस उपनिषद् में योग के अधिकार के विषय में कहकर बाद में आसन और प्राणायाम के बारे में बताया गया है। फिर प्रत्याहार के विषय का स्पर्श करके जो अन्तरंग साधन ध्यान-धारणा-समाधि हैं, उस पर ज्यादा बल दिया गया है। फिर योग के साधन और योग के अधिकारी के विषय में कहा है और अन्त में समाधि का फल बताया है।

शान्तिपाठः

ॐ सह नाववतु। सह नौ······मा विद्विषावहै। (पूर्ववत्)
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः॥

इसका हिन्दी रूपान्तर आरम्भ में (ब्रह्मोपनिषद् में) द्रष्टव्य है।

ॐ क्षुरिकां सम्प्रवक्ष्यामि धारणां योगसिद्धये।
यां प्राप्य न पुनर्जन्म योगयुक्तस्य जायते॥1॥

योग की सिद्धि के लिए धारणारूपी क्षुरिका (छुरी) को मैं कहूँगा। इसको प्राप्त करके जो योगयुक्त हो जाता है, उसका पुनर्जन्म नहीं होता है।

वेदतत्त्वार्थविहितं यथोक्तं हि स्वयम्भुवा।
निःशब्दं देशमास्थाय तत्रासनमवस्थितः॥2॥
कूर्मोऽङ्गानीव संहृत्य मनो हृदि निरुध्य च।
मात्राद्वादशयोगेन प्रणवेन शनैः शनैः॥3॥
पूरयेत्सर्वमात्मानं सर्वद्वारं निरुध्य च।
उरोमुखकटिग्रीवं किञ्चिद्धृदयमुन्नतम्॥4॥
प्राणान्सन्धारयेत्तस्मिन् नासाभ्यन्तरचारिणः।
भूत्वा तत्र गतप्राणः शनैरथ समुत्सृजेत्॥5॥

स्वयंभू ब्रह्माजी के कथनानुसार और वेद के तत्त्वार्थ में कहे अनुसार किसी नीरव स्थान में आसन लगाकर वहाँ पर बैठना चाहिए। और जैसे कछुआ अपने अंगों को सिकोड़ लेता है, वैसे ही इन्द्रियों को विषयों से समेटकर भीतर खींच लेना चाहिए और मन को हृदय में रोक देना चाहिए। बाद में धीरे-धीरे बारह मात्रा वाले ॐकार से समग्र शरीर को पूरक प्राणायाम से भर देना चाहिए। और छाती, मुँह, कमर, गर्दन तथा हृदय को कुछ उन्नत (उठाए हुए) रखना चाहिए। तदनन्तर नासिका के भीतर प्रविष्ट

प्राणों को (श्वासों को) हृदय में धारण करना चाहिए। इस प्रकार (कुंभक की स्थिति में) रहकर धीरे-धीरे उसे छोड़ देना चाहिए, अर्थात् रेचक करना चाहिए।

स्थिरमात्रादृढं कृत्वा अङ्गुष्ठेन समाहितः।
द्वे गुल्फे तु प्रकुर्वीत जङ्घे चैव त्रयस्त्रयः ॥6॥
द्वे जानुनी तथोरुभ्यां गुदे शिश्ने त्रयस्त्रयः।
वायोरायतनं चात्र नाभिदेशे समाश्रयेत् ॥7॥

जब यह धारणायुक्त प्राणायाम दृढ हो जाए, तब पूर्ण सावधान रहते हुए पैर के अँगूठे से लेकर दोनों टखनों में (घूटियों में) दो-दो बार, दोनों पिण्डलियों में तीन-तीन बार, घुटनों और जाँघों में दो-दो बार तथा गुदा तथा जननेन्द्रिय में तीन-तीन बार वायु की धारणा करनी चाहिए और बाद में वायु के स्थान नाभि का आश्रय लेना चाहिए।

तत्र नाडी सुषुम्ना तु नाडीभिर्बहुभिर्वृता।
अणु रक्ताश्च पीताश्च कृष्णास्ताम्रा विलोहिताः ॥8॥

उस स्थान पर इडा, पिंगला आदि बहुत-सी नाडियों से घिरी हुई सुषुम्ना नाम की नाडी है। वहाँ पर बहुत-सी नाडियाँ हैं जो बहुत सूक्ष्म हैं तथा लाल, पीली, काली ताँबे की-सी लाल हैं।

अतिसूक्ष्मां च तन्वीं च शुक्लां नाडीं समाश्रयेत्।
ततः संचारयेत्प्राणानूर्णनाभीव तन्तुना ॥9॥

परन्तु, उनमें से जो नाडी बहुत ही सूक्ष्म और पतली है, उस सफेद नाडी का आश्रय लेना चाहिए। जिस प्रकार मकड़ी अपनी लार के तन्तु से संचरण करती है, ठीक वैसे ही योगी को उस नाड़ी में अपने प्राणों का संचार करना चाहिए।

ततो रक्तोत्पलाभासं हृदयायतनं महत्।
दहरं पुण्डरीकं तद् वेदान्तेषु निगद्यते ॥10॥
तद्भित्त्वा कण्ठमायाति तां नाडीं पूरयन्यतः।
मनसस्तु परं गुह्यं सुतीक्ष्णं बुद्धिनिर्मलम् ॥11॥

इसके बाद, वेदान्तों में जिसे 'दहर पुंडरीक' नाम दिया गया है, पुरुष के—आत्मा के उस हृदयरूपी बड़े निवासस्थान को, जो लालकमल की भाँति प्रकाशित हो रहा है, उसको भेदकर वायु उस नाडी को अपने से भरते हुए कण्ठ में आता है। इसके बाद मनःक्षेत्र और इसके भी परे गुह्य, सुनिर्मल और सुतीक्ष्ण (छुरे जैसा) बुद्धि का स्थान है।

पादस्योपरि यन्मर्म तद्रूपं नाम चिन्तयेत्।
मनोद्वारेण तीक्ष्णेन योगमाश्रित्य नित्यशः ॥12॥
इन्द्रवज्र इति प्रोक्तं मर्मजङ्घानुकृन्तनम्।
तद्ध्यानबलयोगेन धारणाभिर्निकृन्तयेत् ॥13॥
ऊर्वोर्मध्ये तु संस्थाप्य मर्मप्राणविमोचनम्।
चतुरभ्यासयोगेन छिन्देदनभिशङ्कितः ॥14॥

इस प्रकार पैरों के ऊपर जो मर्मस्थान स्थित है, उसके नाम और रूप का चिन्तन करना चाहिए। सदैव योगाभ्यास का अवलम्बन करके, तीक्ष्ण मन के द्वारा जंघाओं में लगे हुए 'इन्द्रव्रज' नाम के क्षेत्र

का छेदन करना चाहिए। बाद में ध्यानयोग के बल से और धारणा से दोनों जंघाओं के बीच के मर्म भागों में स्थित प्राण का विमोचन करना चाहिए। और फिर विमोचन करने वाले उस प्राण को ध्यान, बल और धारणा के योग से स्थापित करके योगाभ्यास द्वारा मन को तीक्ष्ण धारणा से बिना शंका किए मूलाधार से लेकर हृदयपर्यन्त मर्म स्थानों का (चारों मर्मस्थलों का) भेदन करना चाहिए।

ततः कण्ठान्तरे योगी समूहन्नाडिसञ्चयम्।
एकोत्तरं नाडिशतं तासां मध्ये परा स्थिता ॥15॥
सुषुम्ना तु परे लीना विरजा ब्रह्मरूपिणी।
इडा तिष्ठति वामेन पिङ्गला दक्षिणेन च ॥16॥

इसके बाद कण्ठस्थ नाडीसमूह में योगी प्राणों को संचरित करे। इस नाडीसमूह में एक सौ एक नाडियाँ हैं। उनके बीच में पराशक्ति रहती है। सुषुम्ना नाडी परमतत्त्व में लीन होती है और विरजा नाडी ब्रह्ममय है। उसके बाएँ भाग में इडा अवस्थित है और दाहिने भाग में पिंगला है।

तयोर्मध्ये वरं स्थानं यस्तं वेद स वेदवित्।
द्वासप्ततिसहस्राणि प्रतिनाडीषु तैतिलम् ॥17॥

इन इडा और पिंगला—दोनों नाडियों के बीच में जो उत्तम स्थान है, उसे जो जान लेता है, वह सभी वेदों को जानने में समर्थ हो जाता है। उन सभी सूक्ष्म नाडियों की संख्या बहत्तर हजार कही गई है। उस नाडीसमूह को 'तैतिल' नाम दिया गया है।

छिन्द्यते ध्यानयोगेन सुषुम्नैका न छिद्यते।
योगनिर्मलधारेण क्षुरेणानलवर्चसा ॥18॥
छिन्देन्नाडीशतं धीरः प्रभवादिह जन्मनि।
जातीपुष्पसमायोगैर्यथा वास्यति तैतिलम् ॥19॥

ध्यानयोग से समस्त नाडीसमूह को काटा जा सकता है, पर एक सुषुम्ना नहीं काटी जा सकती। धीर पुरुष को चाहिए कि वह इसी जन्म में आत्मप्रभाव से आग जैसी तेजस्वी और योगप्रभाव से निर्मल बनी हुई धारणा की तीक्ष्ण छुरी से सभी नाड़ियों का छेदन कर दे। इससे जिस प्रकार चमेली के पुष्प डालने से तिल का तेल सुगन्धित हो जाता है, उसी तरह सभी नाडियाँ सुगन्धित हो उठती हैं।

एवं शुभाशुभैर्भावैः सा नाडी तां विभावयेत्।
तद्भाविताः प्रपद्यन्ते पुनर्जन्मविवर्जिताः ॥20॥

इस प्रकार योगी को शुभ और अशुभ भाववाली सभी नाडियों को समझकर इसमें जो सुषुम्ना नाडी है, उसपर धारणा करनी चाहिए। ऐसी धारणा से जो भावित (युक्त) होते हैं, वे पुनर्जन्म से रहित होकर परमपद को प्राप्त कर लेते हैं। अर्थात् ऐसे लोग शाश्वत ब्रह्मभाव को प्राप्त कर लेते हैं।

तपोविजितचित्तस्तु निःशब्दं देशमास्थितः।
निःसंगस्तत्त्वयोगज्ञो निरपेक्षः शनैः शनैः ॥21॥

तपों से चित्त पर विजय प्राप्त करने वाला मनुष्य नीरव एकान्त प्रदेश में रहते हुए निःसंग तत्त्व के योग को जानने वाला होकर धीरे-धीरे निरपेक्ष हो जाता है।

पाशं छित्त्वा यथा हंसो निर्विशंङ्कं खमुत्क्रमेत्।
छिन्नपाशस्तथा जीवः संसारं तरते सदा ॥22॥

जिस प्रकार जाल के बन्धन को काट कर हंस शंकारहित होकर के आकाश में उड़ता है, वैसे ही जीव (योगीपुरुष) बन्धन के कट जाने से सदा के लिए संसार को पार कर जाता है।

यथा निर्वाणकाले तु दीपो दग्ध्वा स्वयं व्रजेत्।
तथा सर्वाणि कर्माणि योगी दग्ध्वा लयं व्रजेत् ॥23॥

जिस तरह बुझने के समय पर दीपक सभी को (तेल, बाती आदि को) जलाकर स्वयं ही समाप्त हो जाता है, वैसे ही योगी भी सभी कर्मों को जलाकर स्वयं ब्रह्मलीन हो जाता है।

प्राणायामसुतीक्ष्णेन मात्राधारेण योगवित्।
वैराग्योपलघृष्टेन छित्त्वा तं तु न बध्यते ॥24॥

वैराग्यरूपी शिला पर प्रणव के साथ प्राणायाम द्वारा घिसकर तीक्ष्ण बनाई गई धारणा रूपी छुरी से संसार के बन्धनों को काटने वाले योगी को बन्धन नहीं बाँध पाते।

अमृतत्वं समाप्नोति यदा कामात्प्रमुच्यते।
सर्वैषणाविनिर्मुक्तश्छित्त्वा तन्तु न बध्यते॥
छित्त्वा तन्तुं न बध्यते। इत्युपनिषत् ॥25॥

इति क्षुरिकोपनिषत् समाप्ता।
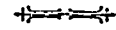
जब वह योगी पुरुष कामनाओं से मुक्त हो जाता है, तब वह अमृतत्व को प्राप्त हो जाता है। जब वह सभी एषणाओं से छूट जाता है, तब वह फिर से कभी बन्धनों में जकड़ा नहीं जा सकता। वह पुनः बन्धनों में नहीं फँसता।

यहाँ उपनिषत् समाप्त होती है।

शान्तिपाठः

ॐ सह नाववतु। सह नौ""मा विद्विषावहै। (पूर्ववत्)
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः॥

❋

(33) मन्त्रिकोपनिषत्

(उपनिषत्परिचय)

शुक्लयजुर्वेद से सम्बन्ध रखने वाली इस उपनिषद् में बीस मन्त्र हैं। इसमें कहा गया है कि जीवात्मा, परमात्मा के अंशरूप में अपने को अनुभव तो करता है, परन्तु उसे सहज रूप में देख नहीं पाता और देहासक्ति का अन्धकार हटने पर ही वह सही दर्शन कर पाता है। साधारण लोग तो माया को ही शाश्वत मान लेते हैं, माया में ही घिरे हुए रहते हैं। परन्तु यह तो ठीक नहीं है। उन्हें चाहिए कि वे माया से परे परमतत्त्व का अनुभव करें। उसी तत्त्व का व्यक्त, अव्यक्त, द्वैत, अद्वैत आदि अनेक प्रकार से वर्णन किया गया है। सूक्ष्म और विराट् भी उसी को कहा गया है। सभी वेदमन्त्रों का वही (ब्रह्म) एकमात्र रहस्य है। ऋषि ने उसे ब्रह्मचारी, खम्भे की तरह निश्चल, संसाररूप में कल्पित होने वाला तथा जगद्रूपी बैलगाड़ी को खींचने वाला बताया है।

शान्तिपाठः

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं""पूर्णमेवावशिष्यते। (पूर्ववत्)
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः॥

इसका हिन्दी रूपान्तर पूर्व में (जाबालोपनिषद् में) द्रष्टव्य है।

ॐ अष्टपादं शुचिं हंसं त्रिसूत्रमणुमव्ययम्।
त्रिवर्त्मानं तेजसोऽहं सर्वतः पश्यन्न पश्यति ॥1॥

आठ पाद वाले, उज्ज्वल, तीन सूत्रवाले, सूक्ष्म, अविनाशी, तीन मार्गवाले और 'सोऽहम्' अर्थात् 'वह मैं ही हूँ', इस प्रकार तेज से प्रकाशित आत्मा को मनुष्य देखते हुए भी नहीं देखता।

भूतसंमोहने काले भिन्ने तमस्ति वैखरे।
अन्तः पश्यन्ति सत्त्वस्था निर्गुणं गुणगह्वरे ॥2॥

वह आत्मा निर्गुण है, फिर भी गुणरूपी गुहा में छिपा हुआ है। इसलिए प्राणियों में मोह उत्पन्न कराने वाले, काले और अतिकठोर अज्ञानरूपी अन्धकार का जब नाश होता है, तब सत्त्व में अवस्थित रहने वाले मनुष्य उसे अपने अन्तःकरण में देख पाते हैं।

अशक्यः सोऽन्यथा द्रष्टुं ध्यायमानः कुमारकैः।
विकारजननीमज्ञामष्टरूपामजां ध्रुवाम् ॥3॥

अन्य किसी प्रकार से ध्यान किया जाए, तो भी अज्ञानी लोग उसे देख नहीं सकते। क्योंकि विकारों को उत्पन्न करने वाली अज्ञान से भरी हुई आठ रूपों को धारण करने वाली जन्मरहित और अविचल (ध्रुव) ऐसी माया का ही वे ध्यान करते हैं। (माया के आठ रूप—5 महाभूत + मन, बुद्धि और अहंकार)।

ध्यायतेऽध्यासिता तेन तन्यते प्रेर्यते पुनः ।
सूयते पुरुषार्थं च तेनैवाधिष्ठितं जगत् ॥4॥

वह माया उस अध्यास से ही देखी जाती है। उसी के द्वारा ही वह फैलाई जाती है। वास्तविक रूप से तो वह हंस ही पुरुषार्थ उत्पन्न करता है और उसी के ऊपर यह जगत् प्रतिष्ठित है।

गौरनाद्यन्तवती सा जनित्री भूतभाविनी ।
सितासिता च रक्ता च सर्वकामदुघा विभोः ॥5॥

यह परमात्मा की मायारूपी गाय अनादि है और अन्तहीन है। वह सबकी माता है, सभी प्राणियों का पोषण करने वाली है। वह सफेद, काली और लाल है और सभी कामनाओं को पूर्ण करने वाली है।

पिबन्त्येनामविषयामविज्ञातां कुमारकाः।
एकस्तु पिबते देवः स्वच्छन्दोऽत्र वशानुगः ॥6॥

सभी अज्ञानी जीव इस मायारूपी गाय का स्तनपान करते हैं। क्योंकि उनके लिए यह माया अविज्ञात है अर्थात् माया का स्वरूप वे जानते नहीं हैं और माया उनके लिए ज्ञान का विषय नहीं है। परन्तु, एक परमात्मा ही ऐसा है कि जो माया से स्वतंत्र भी है और माया के वश में भी रहकर (स्वतंत्र होते हुए भी स्वेच्छा से माया के मानो वश में हो इस तरह माया का दूध पीते हैं) मायाजनित पदार्थों को भोगते हैं।

ध्यानक्रियाभ्यां भगवान्भुंक्तेऽसौ प्रसहद्विभुः ।
सर्वसाधारणीं दोग्ध्री पीयमानां तु यज्वभिः ॥7॥

भगवान् विभु होने पर भी मानो अवश होकर—बलात् इस माया को ध्यान-चिन्तन और क्रिया द्वारा भोगते हैं। यह माया सर्वसाधारण के लिए समानरूप से भोग्य है और याज्ञिक लोग इसे कर्म के द्वारा पीते हैं (भोगते हैं)।

पश्यन्त्यस्यां महात्मानः सुवर्णं पिप्पलाशनम् ।
उदासीनं ध्रुवं हंसं स्नातकाध्वर्यवो जगुः ॥8॥

महात्मा लोग सुन्दर वर्ण-रूपवाले इस जगत्रूपी पिप्पल का फल खाते हैं और उस पर बैठे हुए उदासीन-साक्षी-ध्रुव-अचल हंस चैतन्य रूप परमात्मा को देखते हैं। उसी हंस को स्नातक और अध्वर्यु लोग गाते हैं—स्तुति करते हैं।

शंसन्तमनुशंसन्ति बह्वृचाः शास्त्रकोविदाः ।
रथन्तरं बृहत्साम सप्तवैधैस्तु गीयते ॥9॥

शास्त्रों में कुशल अनेक ऋग्वेदी लोग ऋचाओं के द्वारा तथा अनेक स्तुति करने वाले लोग स्तवनों से उसी परमात्मा की स्तुति करते हैं। उसी के लिए रथन्तर नाम का बृहत्साम सात प्रकार की विधियों से (सात प्रकार धारण किए हुए) गाया जाता है।

मन्त्रोपनिषदं ब्रह्म पदक्रमसमन्वितम् ।
पठन्ति भार्गवा ह्येते ह्यथर्वाणो भृगूत्तमाः ॥10॥

मन्त्रोपनिषदों का रहस्य ब्रह्म है। इसी रहस्य को भृगुओं के उत्तम जन एवं भार्गव गोत्र के अथर्ववेदी लोग पद और क्रम के साथ गाते हैं (पढ़ते हैं)।

सब्रह्मचारिवृत्तिश्च स्तम्भोऽथ फलितस्तथा ।
अनड्वान्रोहितोच्छिष्टः पश्यन्तो बहुविस्तरम् ॥11॥

वह परमात्मा ब्रह्मचारी वृत्तिवाला स्तम्भ की तरह अटल (अचल), संसार के रूप में फलित हुआ, संसाररूपी गाड़ी को खींचने वाले बैल जैसे, रोहित (रजोगुणी) और सर्वनिषेध से (नेति-नेति से) जो शेष बचा है, वह है। उस व्यापक स्वरूप वाले को ऋषि लोग देखते हैं। (यहाँ स्तम्भ, अनड्वान्, रोहित और उच्छिष्ट ऋषियों के भी नाम हैं, जो परमात्मा को देखते हैं—यहाँ श्लेष का उपयोग किया गया मालूम पड़ता है)।

कालः प्राणश्च भगवान्मृत्युः शर्वो महेश्वरः ।
उग्रो भवश्च रुद्रश्च ससुरः सासुरस्तथा ॥12॥

यह भगवान् कालरूप, प्राणरूप, मृत्युरूप तथा महेश्वर हैं। वे शर्वरूप, भवरूप, रुद्ररूप, उग्ररूप भी हैं। वे देवताओं के साथ भी होते हैं और असुरों के साथ भी रहते हैं।

प्रजापतिर्विराट् चैव पुरुषः सलिलमेव च ।
स्तूयते मन्त्रसंस्तुत्यैरथर्वविदितैर्विभुः ॥13॥

वह व्यापक परमपुरुष ही प्रजापति है, विराट् है, वही जलरूप होते हुए मन्त्रों से स्तुति करने योग्य हैं। और अथर्ववेद में बताए गए प्रसिद्ध नामों के द्वारा परिज्ञात हुए हैं।

तं षड्विंशक इत्येके सप्तविंशं तथापरे ।
पुरुषं निर्गुणं सांख्यमथर्वशिरसो विदुः ॥14॥

उस परमपुरुष परमात्मा को कुछ लोग छब्बीसवें तत्त्व के रूप में पहचानते हैं, कुछ और लोग उसे सत्ताईसवें तत्त्व के रूप में जानते हैं, और उसी को अथर्ववेद की उपनिषदें निर्गुण सांख्य के रूप में बताते हैं।

चतुर्विंशतिसंख्यातं व्यक्तमव्यक्तमेव च ।
अद्वैतं द्वैतमित्याहुस्त्रिधा तं पञ्चधा तथा ॥15॥

कुछ लोग उसे चौबीस संख्यक तत्त्व वाला बताते हैं, तो कुछ और लोग उसे व्यक्त, कुछ अव्यक्त, तो कुछ लोग द्वैत, कुछ लोग अद्वैत कहते हैं। कुछ उसे तीन प्रकार का और कुछ पाँच प्रकार का भी कहते हैं।

ब्रह्माद्यं स्थावरान्तं च पश्यन्ति ज्ञानचक्षुषः ।
तमेकमेव पश्यन्ति परिशुभ्रं विभुं द्विजाः ॥16॥

कुछ ज्ञानदृष्टिवाले ब्राह्मणलोग ब्रह्म से लेकर स्थावर तक की सृष्टि को एकमात्र अत्यन्त प्रोज्ज्वल परमात्मस्वरूप में ही देखते हैं।

यस्मिन्सर्वमिदं प्रोतं ब्रह्म स्थावरजङ्गमम् ।
तस्मिन्नेव लयं यान्ति स्रवन्त्यः सागरे यथा ॥17॥

यह सब कुछ स्थावर और जंगम जिसमें ओतप्रोत होकर स्थित है और उसी में इन सबका लय होता है वह ब्रह्म है। जिस प्रकार सभी नदियाँ आकर अन्त में सागर ही में मिल जाती हैं।

यस्मिन्भावाः प्रलीयन्ते लीनाश्चाव्यक्ततां ययुः ।
पश्यन्ति व्यक्ततां भूयो जायन्ते बुद्बुदा इव ॥18॥

जिस परमात्मा में सभी पदार्थ लीन हो जाते हैं और लीन होकर अव्यक्त हो जाते हैं और फिर व्यक्त हो जाते हैं। जैसे पानी में बुद्बुदे पैदा होते हैं और पानी में ही लीन हो जाते हैं। वही ब्रह्म है।

क्षेत्रज्ञाधिष्ठितं चैव कारणैर्विद्यते पुनः ।
एवं स भगवान्देवं पश्यन्त्यन्ये पुनः पुनः ॥19॥

वह भगवान् 'क्षेत्रज्ञ' के रूप में सभी प्राणियों के द्वारा अधिष्ठित होते हैं (क्षेत्रज्ञ के रूप में वे सबमें अवस्थित हैं)। कारणों से उसका अस्तित्व सिद्ध होता है। इस प्रकार वह क्षेत्रज्ञ ही भगवान् हैं। उस देव को ज्ञानी लोग बार-बार देखा करते हैं।

ब्रह्म ब्रह्मेत्यथायान्ति ये विदुर्ब्राह्मणास्तथा ।
अत्रैव ते लयं यान्ति लीनाश्चाव्यक्तशालिनः ।
लीनाश्चाव्यक्तशालिनः इत्युपनिषत् ॥20॥

इति मन्त्रिकोपनिषत् समाप्ता ।
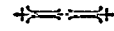
जो ब्राह्मणलोग ब्रह्म को जानते हैं, वे लोग ब्रह्म को ही प्राप्त होते हैं और उसी में लय हो जाते हैं। ब्रह्म में लीन हुए वे लोग अव्यक्त रूप से शोभित होते हैं। उसी में शोभित होते हैं।

यहाँ उपनिषत् पूर्ण होती है।

शान्तिपाठः

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं...... पूर्णमेवावशिष्यते ।
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

(34) सर्वसारोपनिषत्

(उपनिषत्परिचय)

कृष्णयजुर्वेद से सम्बद्ध इस उपनिषद् में बन्ध और मोक्ष का स्वरूप, विद्या और अविद्या का स्वरूप, चार अवस्थाओं का निरूपण, पंचकोश का निरूपण, उपहित जीव का स्वरूप, जीवोपाधि का स्वरूप, क्षेत्रज्ञ का स्वरूप, साक्षी का स्वरूप, कूटस्थ का स्वरूप, अन्तर्यामी का स्वरूप, प्रत्यगात्मा का स्वरूप, परमात्मा, ब्रह्म, माया का स्वरूप और ब्रह्मात्मानुभव का प्रकटन—ये विषय दिए गए हैं। इस छोटी उपनिषद् में बहुत विषय हैं।

शान्तिपाठः

ॐ सह नाववतु । सह नौ...... मा विद्विषावहै । (पूर्ववत्)
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

इसका हिन्दी रूपान्तर पूर्व में (ब्रह्मोपनिषद् में) द्रष्टव्य है।

कथं बन्धः कथं मोक्षः का विद्या काऽविद्येति । जाग्रत्स्वप्नसुषुप्ततुरीयं च कथम् । अन्नमयप्राणमयमनोमयविज्ञानमयानन्दमयकोशाः कथम् । कर्त्ता जीवः पञ्चवर्गः क्षेत्रज्ञः साक्षी कूटस्थोऽन्तर्यामी च कथम् । प्रत्यगात्मा परात्मा माया चेति कथम् ॥1॥

प्रश्न हैं—बन्धन क्या है ? मोक्ष क्या है ? विद्या क्या है ? अविद्या क्या है ? जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्त और तुरीय—ये अवस्थाएँ क्या हैं ? अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय और आनन्दमय—ये पाँच कोश क्या हैं ? कर्ता, जीव, पंचवर्ग, क्षेत्रज्ञ, साक्षी, कूटस्थ, अंतर्यामी, ये सब क्या हैं ? प्रत्यगात्मा, परात्मा और माया क्या हैं ?

आत्मेश्वरजीवोऽनात्मनां देहादीनामात्मत्वेनाभिमन्यते सोऽभिमान आत्मनो बन्धः । तन्निवृत्तिर्मोक्षः ॥2॥

आत्मा ही जीव और ईश्वर का स्वरूप है। परन्तु वह, जो आत्मा नहीं है, ऐसे देह आदि में आत्मत्व का अभिमान करता है वही बन्ध है और उस बन्ध से छुटकारा पाना ही मोक्ष है।

या तदभिमानं कारयति सा अविद्या । सोऽभिमानो यथा निवर्तते सा विद्या ॥3॥

जो अनात्म में आत्मत्व का (अहंत्व का) अभिमान करवाती है, वह अविद्या है और जिससे वह अभिमान दूर हो जाता है उसको विद्या कहा जाता है।

मनआदिचतुर्दशकरणैः पुष्कलैरादित्याद्यनुगृहीतैः शब्दादीन्विषयान्स्थूलान्यदोपलभते तदात्मनो जागरणम् । तद्वासनासहितैश्चतुर्दशकरणैः शब्दाद्यभावेऽपि वासनामयाञ्छब्दादीन्यदोपलभते तदात्मनः स्वप्नम् ।

चतुर्दशकरणोपरमाद्विशेषविज्ञानाभावाद् यदा शब्दादीन्नोपलभते तदात्मनः सुषुप्तम्। अवस्थात्रयभावाभावसाक्षी स्वयंभावरहितं नैरन्तर्यं चैतन्यं यदा तदा तुरीयं चैतन्यमित्युच्यते ॥4॥

सूर्य आदि देवताओं की शक्तियों की सहायता से मन आदि चौदह करणों (दश इन्द्रियाँ + मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार = 14) से, शब्द-स्पर्शादि स्थूल विषयों को जब मनुष्य प्राप्त होता है, तब वह आत्मा की जाग्रत् अवस्था होती है। अब स्थूल विषयों की वासनाओं से युक्त उन्ही चौदह करणों से जिस अवस्था में शब्दादि वासनामय सूक्ष्म विषयों को जीव ग्रहण करता है, वह आत्मा की स्वप्न अवस्था कहलाती है। जब ये चौदह करण शान्त हो जाते हैं, और जब विशेष ज्ञान नही होता और इसलिए आत्मा जब विषयों को ग्रहण नहीं करता, तब वह आत्मा की सुषुप्तावस्था कही जाती है। परन्तु इन तीनों अवस्थाओं की उत्पत्ति और लय को जानने वाला और स्वयं उत्पत्ति और लय से परे रहने वाला ऐसा जो निरन्तर नित्य साक्षी चैतन्य है, उसे 'तुरीय' चैतन्य अथवा तुरीयावस्था कहा जाता है।

अन्नकार्याणां कोशानां समूहोऽन्नमयः कोश इत्युच्यते। प्राणादिचतुर्दशवायुभेदा अन्नमयकोशे यदा वर्तन्ते तदा प्राणमयः कोश इत्युच्यते। एतत्कोशद्वयसंसक्तं मनआदिचतुर्दशकरणैरात्मा शब्दादिविषयसंकल्पादीन्धर्मान्यदा करोति तदा मनोमयः कोश इत्युच्यते। एतत्कोशत्रयसंसक्तं तद्गतविशेषज्ञो यदा भासते तदा विज्ञानमयः कोश इत्युच्यते। एतत्कोशचतुष्टयं संसक्तं स्वकारणाज्ञाने वटकणिकायामिव वृक्षो यदा वर्तते तदानन्दमयः कोश इत्युच्यते ॥5॥

अन्न से निर्मित कोशों का समूहरूप शरीर अन्नमय कोश कहा जाता है। जब प्राण आदि चौदह प्रकार के वायु उस अन्नमय कोश में संचरण करते हैं, तब उसे प्राणमय कोश कहा जाता है। इन दोनों कोशों के भीतर स्थित मन आदि चौदह करणों (इन्द्रियों) से जब आत्मा शब्द आदि विषयों को सोचता है, तब उसे मनोमय कोश कहा जाता है। और जब इन तीनों कोशों से संयुक्त होकर यह आत्मा बुद्धि से जो जानता है, ऐसा बुद्धिमयस्वरूप विज्ञानमय कोश कहा जाता है। इन चारों कोशों के साथ जब आत्मा वटबीज में वृक्ष की तरह अपने कारणरूप अज्ञान में रहता है तो उसे आनन्दमय कोश कहा जाता है। (आनन्दमय कोश का आत्मा अपने कारण अज्ञान को नहीं जानता)।

सुखदुःखबुद्ध्या श्रेयोऽन्तः कर्ता यदा तदा दृष्टविषये बुद्धिः सुखबुद्धिरनिष्ट विषये बुद्धिर्दुःखबुद्धिः। शब्दस्पर्शरूपरसगन्धाः सुखदुःखहेतवः। पुण्यपापकर्मानुसारी भूत्वा प्राप्तशरीरसंयोगमप्राप्तशरीरसंयोगमिव कुर्वाणो यदा दृश्यते तदोपहितजीव इत्युच्यते ॥6॥

जब यह कर्ता (जीव) सुख और दुःख की बुद्धि का आश्रय लेता है, तब मन में जो इष्टविषय में बुद्धि होती है, उसे सुखबुद्धि कहा जाता है और मन में जब अनिष्ट बुद्धि होती है, उसे दुःखबुद्धि कहते हैं। शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध—ये सुख और दुःख की बुद्धि के विषय हैं। पुण्य और पाप का अनुसरण करने वाला यह आत्मा जब इस मिले हुए शरीर को भी नहीं मिला है ऐसा मानता है, तब वह उपाधियुक्त जीव कहा जाता है। (शरीर से अपने को अलग मानने वाला जीव 'उपाधियुक्त' कहा जाता है)।

मनआदिश्च प्राणादिश्चेच्छादिश्च सत्त्वादिश्च पुण्यादिश्चैते पञ्चवर्गाः। इत्येतेषां पञ्चवर्गाणां धर्मीभूतात्मा ज्ञानादृते न विनश्यत्यात्मसन्निधौ नित्यत्वेन प्रतीयमान आत्मोपाधिर्यस्तल्लिङ्गशरीरं हृद्ग्रन्थिरित्युच्यते ॥7॥

मन आदि (अन्तःकरण चतुष्टय), प्राण आदि (चौदह प्राण), इच्छा आदि (इच्छा और द्वेष), सत्त्व आदि (सत्त्व, रजस् और तमस्) और पुण्य आदि (पुण्य और पाप) को पंच वर्ग कहा गया है। इन पाँचों वर्गों का धर्मी (धारक) जो आत्मा है वह अपने सच्चे स्वरूप के ज्ञान के बिना उन वर्गों से छुटकारा नहीं प्राप्त कर सकता। ये पाँच वर्ग आत्मा के साथ हमेशा ही जुड़े हुए हैं, ऐसी जो प्रतीति होती है, वही लिङ्गशरीर है। और उसी को हृदयग्रन्थि कहा जाता है।

तत्र यत्प्रकाशते चैतन्यं स क्षेत्रज्ञ इत्युच्यते ॥8॥

उस लिंगशरीर में जो प्रकाशित होता है, उस चैतन्य को 'क्षेत्रज्ञ' कहा जाता है।

ज्ञातृज्ञानज्ञेयानामाविर्भावतिरोभावज्ञाता स्वयमाविर्भावतिरोभावरहितः स्वयंज्योतिः साक्षीत्युच्यते ॥9॥

जो ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय के आविर्भाव और तिरोभाव को जानता है और जो स्वयं आविर्भाव और तिरोभाव से रहित है वह स्वयंप्रकाश चैतन्य साक्षी कहा जाता है।

ब्रह्मादिपिपीलिकापर्यन्तं सर्वप्राणिबुद्धिष्वशिष्टतयोपलभ्यमानः सर्वप्राणिबुद्धिस्थो यदा तदा कूटस्थ इत्युच्यते ॥10॥

ब्रह्मा से लेकर चींटी तक के सभी प्राणियों की बुद्धियों में अवस्थित और उन सभी का नाश होने पर भी जो अवशिष्ट (शेष नाशरहित) रह जाता है, ऐसे चैतन्य को कूटस्थ कहा जाता है।

कूटस्थोपहितभेदानां स्वरूपलाभहेतुर्भूत्वा मणिगणे सूत्रमिव सर्वक्षेत्रेष्वनुस्यूतत्वेन यदा काश्यते आत्मा तदान्तर्यामीत्युच्यते ॥11॥

इन कूटस्थ आदि सभी उपाधियों के भेदों में से अपने सच्चे स्वरूप को प्राप्त करने के हेतुरूप होकर यह आत्मा जब मणियों के समूह में सूत्र की तरह पिरोया हुआ प्रकाशित होता है, तब उसे अन्तर्यामी कहा जाता है।

सत्यं ज्ञानमनन्तमानन्दं सर्वोपाधिविनिर्मुक्तं कटकमुकुटाद्युपाधिरहितसुवर्णघनवद्विज्ञानचिन्मात्रस्वभावात्मा यदा भासते तदा त्वंपदार्थः प्रत्यगात्मेत्युच्यते। सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म। सत्यमविनाशि। अविनाशि नाम देशकालवस्तुनिमित्तेषु विनश्यत्सु यन्न विनश्यति तदविनाशि। ज्ञानं नामोत्पत्तिविनाशरहितं नैरन्तर्यं चैतन्यं ज्ञानमित्युच्यते। अनन्तं नाम मृद्विकारेषु मृदिव स्वर्णविकारेषु स्वर्णमिव तन्तुविकारेषु तन्तुरिवाव्यक्तादिसृष्टिप्रपञ्चेषु पूर्णं व्यापकं चैतन्यमनन्तमित्युच्यते। आनन्दं नाम सुखचैतन्यस्वरूपोऽपरिमितानन्दसमुद्रोऽवशिष्टसुखस्वरूपश्चानन्द इत्युच्यते ॥12॥

सत्य, ज्ञान, अनन्त और आनन्द ब्रह्म है। जब सभी उपाधियों से जीव (त्वं) मुक्त ही होता है

और जैसे कड़ें और मुकुट आदि उपाधियों से रहित पिण्डरूप सुवर्ण की तरह केवल विज्ञान और चैतन्यरूप दिखाई देता है, तब ऐसे त्वंपदार्थ (जीव) को प्रत्यगात्मा कहा जाता है। क्योंकि ब्रह्म का स्वरूप ही सत्य, ज्ञान और अनन्त है। सत्य का अर्थ अविनाशी है। देश, काल, वस्तु और निमित्त का नाश होने पर भी जिसका नाश नहीं होता, वह अविनाशी कहा जाता है। उत्पत्ति और नाश से रहित नित्य चैतन्य तत्त्व ज्ञान कहलाता है। मिट्टी से बनी हुई वस्तुओं में मिट्टी रहती है, सोने से बनी हुई वस्तुओं में सोना रहता है, तन्तुओं से बनी हुई वस्तुओं में तन्तुओं की तरह जो समग्र सृष्टि में पूर्णतः व्याप्त है, वह अनन्त है। जो सुखमय चैतन्यस्वरूप है, असीम आनन्द का सागर है और सबका नाश होने पर भी अवशिष्ट सुख का जो स्वरूप है, वह आनन्द है।

एतद्वस्तुचतुष्टयं यस्य लक्षणं देशकालवस्तुनिमित्तेष्वव्यभिचारी तत्पदार्थः परमात्मेत्युच्यते ॥13॥

ये चार वस्तु (सत्य, ज्ञान, अनन्त, आनन्द) ही जिसका लक्षण है और जो (चैतन्य) सभी देश, काल, वस्तु और निमित्त में अव्यभिचारी रूप से रहता है, वह तत् पदार्थ है और वह परमात्मा है।

त्वंपदार्थादौपाधिकात् तत्पदार्थादौपाधिकभेदाद् विलक्षणमाकाशवत्सूक्ष्मं केवलं सत्तामात्रस्वभावं परं ब्रह्मेत्युच्यते ॥14॥

त्वं पदार्थ में रहे हुए औपाधिक भेद से और तत् पदार्थ में रहे हुए औपाधिक भेद से विलक्षण, आकाश की तरह सूक्ष्म और केवल एक (अद्वितीय) सत्तामात्र स्वभाव वाला चैतन्य परब्रह्म कहा जाता है।

माया नाम अनादिरन्तवती प्रमाणाप्रमाणसाधारणा न सती नासती न सदसती स्वयमधिका विकाररहिता निरूप्यमाणा सतीतरलक्षणशून्या सा मायेत्युच्यते। अज्ञानं तुच्छाप्यसती कालत्रयेऽपि पामराणां वास्तवी च सत्त्वबुद्धिर्लौकिकानामिदमित्यनिर्वचनीया वक्तुं न शक्यते ॥15॥

और माया जो है वह तो अनादि होते हुए भी अन्तवाली है, वह सत् भी नहीं है, असत् भी नहीं है, 'सदसत्' भी नहीं है, किसी प्रमाण से उसका अस्तित्व सिद्ध नहीं होता और अप्रमाण होते हुए भी प्रमाण-सी दिखाई देने वाली वह प्रमाण और अप्रमाण दोनों के लिए समान है। वह स्वयं सबसे ज्यादा विकाररहित दीखती है। निरूपण किए जाने पर भी वह 'है' के सिवा अन्य लक्षण से कही नहीं जा सकती। वह मायाशक्ति अज्ञानरूप तुच्छ और मिथ्या है, फिर भी मूढ मनुष्यों को तीनों काल में वह वास्तविक (पारमार्थिक) मालूम पड़ती है। इसीलिए माया में 'यह ऐसा है'—यह स्पष्टतया नहीं कहा जा सकता।

नाहं भवाम्यहं देवो नेन्द्रियाणि दशैव तु।
न बुद्धिर्न मनः शश्वन्नाहंकारस्तथैव च ॥16॥
अप्राणो ह्यमनाः शुभ्रो बुद्ध्यादीनां हि सर्वदा।
साक्ष्यहं सर्वदा नित्यश्चिन्मात्रोऽहं न संशयः ॥17॥
नाहं कर्ता नैव भोक्ता प्रकृतेः साक्षिरूपकः।
मत्सान्निध्यात्प्रवर्तन्ते देहाद्या अजडा इव ॥18॥
स्थाणुर्नित्यः सदानन्दः शुद्धो ज्ञानमयोऽमलः।
आत्माहं सर्वभूतानां विभुः साक्षी न संशयः ॥19॥

देवरूप—चैतन्यरूप मैं कभी उत्पन्न नहीं होता। मैं दश इन्द्रियरूप भी नहीं हूँ; मैं बुद्धि, मन और अहंकार भी नहीं हूँ; मेरे कोई प्राण नहीं हैं, कोई मन नहीं है, मैं सदा उज्ज्वलरूप हूँ। बुद्धि आदि का मैं केवल साक्षी ही हूँ। मैं नित्य और चिन्मात्र हूँ, इसमें कोई सन्देह नहीं है। मैं न कर्ता हूँ, न भोक्ता ही हूँ। मैं तो प्रकृति का साक्षीमात्र हूँ। मेरे सान्निध्यमात्र से ही जड देह आदि मानो अजड हों, इस तरह प्रवर्तमान हो जाते हैं। मैं भी स्थाणु हूँ, नित्य हूँ, सदा आनन्दस्वरूप हूँ, शुद्ध ज्ञानमय हूँ। सभी प्राणियों का मैं आत्मा हूँ। निःसंदेह मैं ही व्यापक और साक्षी हूँ।

ब्रह्मैवाहं सर्ववेदान्तवेद्यं नाऽहं वेद्यं व्योमवातादिरूपम्।
रूपं नाहं नाम नाहं न कर्म ब्रह्मैवाहं सच्चिदानन्दरूपम् ॥20॥

सभी वेदान्तों के द्वारा जानने योग्य मैं ब्रह्म ही हूँ। मैं वेद्य-विषय नहीं हूँ। जैसे आकाश और वायु ज्ञेय विषय हैं, मैं वैसा नहीं हूँ। मेरा कोई न नाम है, न रूप है, मेरा कोई कर्म भी नहीं है। मैं सत्-चित्-आनन्दस्वरूप ब्रह्म ही हूँ।

नाहं देहो जन्ममृत्यू कुतो मे नाहं प्राणः क्षुत्पिपासे कुतो मे।
नाहं चेतो शोकमोहौ कुतो मे नाहं कर्ता बन्धमोक्षौ कुतो मे ॥21॥

इत्युपनिषत्

इति सर्वसारोपनिषत् समाप्ता।

मैं जब देह ही नहीं हूँ, तब भला मेरा जन्म और मृत्यु कैसे सम्भव है? मैं प्राण नहीं हूँ तब भूख और प्यास मुझे कैसे होगी? मैं चित्त नहीं हूँ तब शोक और मोह मुझे कैसे हो सकते हैं? जब मैं कर्त्ता ही नहीं हूँ तब मुझे बन्ध और मोक्ष कैसे हो सकते हैं?

यहाँ पर उपनिषत् समाप्त होती है।

शान्तिपाठः

ॐ सह नाववतु। सह नौ⋯⋯मा विद्विषावहै। (पूर्ववत्)
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः॥

(35) निरालम्बोपनिषत्

(उपनिषत्परिचय)

इस उपनिषद् का सम्बन्ध शुक्लयजुर्वेद से है। इस उपनिषद् में ब्रह्म, जीव, प्रकृति, ईश्वर, जगत्, कर्म आदि का वर्णन है। पहले कुल 40 प्रश्न किए गए हैं और बाद में उत्तर के रूप में ब्रह्म, जीव, ईश्वर, प्रकृति और परमात्मा का स्वरूप बताकर ब्रह्मादि की ब्रह्ममात्रता बताई गई है। तदनन्तर जाति का स्वरूप कर्म-अकर्म का स्वरूप, ज्ञान-अज्ञान का स्वरूप, सुख-दुःख का स्वरूप, स्वर्ग-नरक का स्वरूप, बन्ध-मोक्ष का स्वरूप, इसी प्रकार उपास्य, शिष्य, मूढ, विद्वान्, आतुर, तप, परमपद, ग्राह्य, अग्राह्य और संन्यासी के स्वरूप बताए गए हैं और अन्त में इस ब्रह्मविद्या की फलश्रुति कही गई है।

शान्तिपाठः

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं .... पूर्णमेवावशिष्यते। (पूर्ववत्)
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

इसका हिन्दी रूपान्तर पूर्व में (जाबालोपनिषद् में) द्रष्टव्य है।

ॐ नमः शिवाय गुरवे सच्चिदानन्दमूर्तये।
निष्प्रपञ्चाय शान्ताय निरालम्बाय तेजसे ॥
निरालम्बं समाश्रित्य सालम्बं विजहाति यः।
स संन्यासी च योगी च कैवल्यं पदमश्नुते ॥1॥

सत्-चित्-आनन्दस्वरूप कल्याणकारी गुरु को, जो प्रपंच (जगत्) रहित हैं, शान्त हैं, तेजोमय हैं और निरधिष्ठान (आधाररहित) हैं, उन्हें नमस्कार है। उस निरधिष्ठान - ब्रह्म - का आश्रय करके जो मनुष्य इन आधार वाले जगत् का त्याग करता है वही संन्यासी है, वही योगी है, वह कैवल्यपद को प्राप्त होता है।

एषामज्ञानजन्तूनां समस्तारिष्टशान्तये।
यद्यद् बोद्धव्यमखिलं तदाशङ्क्य ब्रवीम्यहम् ॥2॥

इन अज्ञानी जन्तुओं के लिए—तुच्छ जीवों के सभी कष्टों के निवारण के लिए जो-जो बातें जाननी जरूरी हैं, उनको मैं शंका (प्रश्न) करके बाद में उत्तर के रूप में कहता हूँ।

किं ब्रह्म। क ईश्वरः। को जीव। का प्रकृतिः। कः परमात्मा। को ब्रह्मा। को विष्णुः। को रुद्रः। क इन्द्रः। कः शमनः। कः सूर्यः। कश्चन्द्रः। के सुराः। के असुराः। के पिशाचाः। के मनुष्याः। काः स्त्रियः। के पश्वादयः। किं स्थावरम्। के ब्राह्मणादयः। का जातिः। किं कर्म। किमकर्म। किं ज्ञानम्। किमज्ञानम्। किं सुखम्। किं दुःखम्। कः

स्वर्गः। को नरकः। को बन्धः। को मोक्षः। क उपास्यः। कः शिष्यः। को विद्वान्। को मूढः। किमासुरम्। किं तपः। किं परमं पदम्। किं ग्राह्यम्। किमग्राह्यम्। कः संन्यासीत्याशङ्क्याह ब्रह्मेति ॥3॥

ब्रह्म क्या है ? ईश्वर कौन है ? जीव कौन है ? प्रकृति क्या है ? परमात्मा कौन है ? ब्रह्मा कौन है ? विष्णु कौन है ? रुद्र कौन है ? इन्द्र कौन है ? यम कौन है ? सूर्य कौन है ? चन्द्र कौन है ? देव कौन-कौन से है ? असुर कौन से हैं ? पिशाच कौन हैं ? मनुष्य कौन हैं ? स्त्रियाँ कौन हैं ? पशु आदि कौन हैं ? स्थावर क्या है ? ब्राह्मण आदि कौन हैं ? जाति क्या है ? कर्म क्या है ? अकर्म क्या है ? ज्ञान क्या है ? अज्ञान क्या है ? सुख क्या है ? दुःख क्या है ? स्वर्ग क्या है ? नरक क्या है ? बन्ध क्या है ? मोक्ष क्या है ? उपास्य कौन है ? शिष्य कौन है ? विद्वान् कौन है ? मूढ कौन है ? आसुर क्या है ? तप क्या है ? परमपद क्या है ? ग्राह्य क्या है ? अग्राह्य क्या है ? संन्यासी कौन है ? इस प्रकार शंका व्यक्त करके (प्रश्न पूछकर) उन्होंने इस प्रकार (निम्नलिखित प्रकार) से ब्रह्म का वर्णन किया।

स होवाच महदहंकारपृथिव्यप्तेजोवाय्वाकाशत्वेन बृहद्रूपेणाण्डकोशेन कर्मज्ञानार्थरूपतया भासमानमद्वितीयमखिलोपाधिविनिर्मुक्तं तत्सकल-शक्त्युपबृंहितमनाद्यनन्तं शुद्धं शिवं शान्तं निर्गुणमित्यादिवाच्यमनि-र्वाच्यं चैतन्यं ब्रह्म। ईश्वर इति च। ब्रह्मैव स्वशक्तिं प्रकृत्यभिधेयामा-श्रित्य लोकान्सृष्ट्वा प्रविश्यान्तर्यामित्वेन ब्रह्मादीनां बुद्धीन्द्रियनियन्तृ-त्वादीश्वरः ॥4॥

महत्तत्त्व, पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश से बने हुए बड़े ब्रह्माण्ड के कोश के रूप में तथा ज्ञान और कर्म के रूप में भासित होने वाला होते हुए भी जो उन सभी उपाधियों से रहित ही है, वह (अनन्य) सकल शक्तियों से युक्त है, अनादि है, अनन्त है, शुद्ध है, कल्याणमय है, शान्त है तथा निर्गुण आदि शब्दों से कहा जाता है वह चैतन्य ही ब्रह्म है। अब ईश्वर का स्वरूप यह है कि वह पूर्वोक्त ब्रह्म ही अपनी प्रकृति नाम की शक्ति का आश्रय करके, लोकों का सर्जन करके फिर उन लोकों में स्वयं प्रविष्ट होकर अन्तर्यामी के रूप में ब्रह्मा आदि जीवों की बुद्धि, इन्द्रियों आदि का नियमन करते हैं इसलिए वह (ब्रह्म ही) ईश्वर कहा जाता है।

जीव इति च ब्रह्मविष्णवीशानेन्द्रादीनां नामरूपद्वारा स्थूलोऽहमिति मिथ्याध्यासवशाज्जीवः। सोऽहमेकोऽपि देहारम्भकभेदवशाद् बहु-जीवः ॥5॥

जब उस चैतन्य को ब्रह्मा, विष्णु, महेश, इन्द्र आदि नाम और रूप के द्वारा कि 'मैं स्थूल हूँ' (अमुक-अमुक हूँ) इस प्रकार का मिथ्या अध्यास होता है इसलिए वह 'जीव' होता है। वैसे तो **'वह मैं'** एक ही है, परन्तु अनेक शरीरों के आरंभक (कर्मों) के भेद से वह बहुत-सा हो जाता है।

प्रकृतिरिति च ब्रह्मणः सकाशान्नानाविचित्रजगन्निर्माणसामर्थ्यबुद्धिरूपा ब्रह्मशक्तिरेव प्रकृतिः ॥6॥

प्रकृति उसे कहा जाता है जो कि अनेक प्रकार के चित्र-विचित्र जगतों को उत्पन्न करने की सामर्थ्य वाली ब्रह्म की बुद्धि है। वह ब्रह्म की शक्ति ही प्रकृति है।

परमात्मेति च देहादेः परतरत्वाद् ब्रह्मैव परमात्मा ॥7॥

स ब्रह्मा स विष्णुः स इन्द्रः स शमनः स सूर्यः स चन्द्रस्ते सुरास्त असुरास्ते पिशाचास्ते मनुष्यास्ताः स्त्रियस्ते पश्वादयस्तत्स्थावरं ते ब्राह्मणादयः ॥8॥

परमात्मा वह है जो देह आदि से अत्यन्त परे है। वह ब्रह्म है, तो वही परमात्मा है। और वही ब्रह्म (वही परमात्मा) ब्रह्मा, विष्णु, इन्द्र, यम, सूर्य, चन्द्र, देव, असुर, पिशाच, मनुष्य, स्त्रियाँ, पशु आदि रूपों में प्रकट होता है। वही ब्रह्म-परमात्मा स्थावर है, वही ब्राह्मण आदि रूपों में हुआ है।

सर्वं खल्विदं ब्रह्म। नेह नानास्ति किंचन ॥9॥

यह जो कुछ भी है, वह ब्रह्म ही है, ब्रह्म से अतिरिक्त अन्य कुछ है ही नहीं।

जातिरिति च।
न चर्मणो न रक्तस्य न मांसस्य न चास्थिनः।
न जातिरात्मनो जातिर्व्यवहारप्रकल्पिता ॥10॥

अब जाति के बारे में कहते हैं कि त्वचा, रक्त, मांस और हड्डियों तथा आत्मा में भी तो कोई जाति नहीं है। जाति तो सिर्फ व्यवहार के लिए कल्पित की गई है।

कर्मेति च क्रियमाणेन्द्रियैः कर्माण्यहं करोमीत्यध्यात्मनिष्ठतया कृतं कर्मैव कर्म ॥11॥

अकर्मेति च कर्तृत्वभोक्तृत्वाद्यहङ्कारतया बन्धरूपं जन्मादिकरणं नित्यनैमित्तिकयागव्रततपोदानादिषु फलाभिसन्धानं यत्तदकर्म ॥12॥

'कर्म' वह है जो इन्द्रियों के द्वारा किए जाने वाले कर्मों को अध्यात्मनिष्ठा से (कर्तृत्वाभिमान से नहीं कि 'मैं करता हूँ'—इस प्रकार) किया जाता हो। 'अकर्म' वह है कि जो कर्तृत्व और भोक्तृत्व के अभिमान (अहंकार) के साथ किया जाने से बन्धरूप हो जाता है और जन्मादि का कारण बनता है। नित्य, नैमित्तिक, यज्ञ-यागादि, तप, दान आदि कर्मों में जो फलानुसन्धान (फलासक्ति) रखा जाता है, वही अकर्म है।

ज्ञानमिति देहेन्द्रियनिग्रहसद्गुरूपासनश्रवणमनननिदिध्यासनैर्यद्यद् दृग्दृश्यस्वरूपं सर्वान्तरस्थं सर्वसमं घटपटादिपदार्थमिवाविकारं विकारेषु चैतन्यं विना किंचिन्नास्तीति साक्षात्कारानुभवो ज्ञानम् ॥13॥

अब ज्ञान यह है—इस सृष्टि की सभी परिवर्तनशील वस्तुओं के पीछे जो अपरिवर्तनशील तत्त्व है, वह चैतन्य है, और वही सब कुछ है, उसके सिवा कुछ है ही नहीं; जो द्रष्टा है और जो दृश्य हैं, वे सब एक ही चैतन्यरूप हैं। वह चैतन्य सबके भीतर है, और समानरूप से सबमें अवस्थित है, वह चैतन्य स्वयं विकाररहित है, फिर भी घड़ा, वस्त्र आदि पदार्थों के रूप में मानो वह रूपान्तरित हुआ हो, ऐसा दिखाई देता है। इस प्रकार साक्षात्कारयुक्त अनुभव ही ज्ञान है। साक्षात्काररूप यह अनुभव देह-इन्द्रियादि के संयम से और सद्गुरु की उपासना, श्रवण, मनन और निदिध्यासन से मिलता है।

अज्ञानमिति च रज्जौ सर्पभ्रान्तिरिवाद्वितीये सर्वानुस्यूते सर्वमये ब्रह्मणि देवतिर्यङ्नरस्थावरस्त्रीपुरुषवर्णाश्रमबन्धमोक्षोपाधिनानात्मभेदकल्पितं ज्ञानमज्ञानम् ॥14॥

अज्ञान यह है—जिस प्रकार रज्जु में साँप की भ्रान्ति होती है, उसी प्रकार सर्व में अनुस्यूत होकर अवस्थित, सर्वरूप और एकमात्र उस ब्रह्म में देव, पशु, पक्षी, मनुष्य, स्थावर, स्त्री, पुरुष, वर्ण, आश्रम, बन्ध, मोक्ष आदि अनेकानेक उपाधियुक्त अनात्म वस्तुओं का जो भेदकल्पित (मिथ्या) ज्ञान होता है उसे अज्ञान कहते हैं।

सुखमिति च सच्चिदानन्दस्वरूपं ज्ञात्वानन्दरूपा या स्थितिः सैव सुखम् ॥15॥

दुःखमिति अनात्मरूपः विषयसंकल्प एव दुःखम् ॥16॥

सुख यह है—सच्चिदानन्द परमात्मा के स्वरूप को जानकर जो ज्ञानरूप अवस्था होती है, वही सुख है। दुःख यह है—अनात्ममय विषयों के विचार ही दुःख हैं।

स्वर्ग इति सत्संसर्गः स्वर्गः। नरक इति च असत्संसारविषयजसंसर्ग एव नरकः ॥17॥

स्वर्ग यह है—सत्पुरुषों का संसर्ग ही स्वर्ग है। और नरक यह है—असत् संसार के विषयों से जन्मा हुआ संसर्ग ही नरक है। (सत्संसर्ग का अर्थ, अनश्वर (ब्रह्म) का सम्पर्क, ऐसा भी ले सकते हैं)।

बन्ध इति च अनाद्यविद्यावासनया जातोऽहमित्यादिसंकल्पो बन्धः॥18॥
पितृमातृसहोदरदारापत्यगृहारामक्षेत्रममतासंसारावरणसंकल्पो बन्धः ॥19॥
कर्तृत्वाद्यहंकारसंकल्पो बन्धः ॥20॥
अणिमाद्यष्टैश्वर्याशासिद्धसंकल्पो बन्धः ॥21॥
देवमनुष्याद्युपासनाकामसंकल्पो बन्धः ॥22॥
यमाद्यष्टाङ्गयोगसंकल्पो बन्धः ॥23॥
वर्णाश्रमधर्मकर्मसंकल्पो बन्धः ॥24॥
आशा(ज्ञा ?)भयसंशयात्मगुणसंकल्पो बन्धः ॥25॥
यागव्रततपोदानविधिविधानसंकल्पो बन्धः ॥26॥
केवलमोक्षापेक्षासंकल्पो बन्धः ॥27॥
संकल्पमात्रसंभवो बन्धः ॥28॥

बन्ध यह है—अनादि अज्ञान की वासना से 'मैं जन्मता हूँ, मैं मरता हूँ' आदि जो विचार उत्पन्न होते हैं, वही बन्धन है। 'माता, पिता, भाई, पत्नी, पुत्र, घर, बाग-बगीचे, खेत'—'ये सब मेरे हैं'—ऐसे संसारी आवरणरूप विचार भी बन्धन हैं। कर्तृत्व के अभिमानरूप संस्कार भी बन्धन हैं। अणिमा आदि आठ ऐश्वर्यों (सिद्धियों) को सिद्ध करने के आशारूप विचार भी बन्धन है। देव, मनुष्य आदि की उपासना के मनोरथ वाला संकल्प भी तो बन्धन है। यम-नियमादि अष्टांग योग का संकल्प भी बन्धन है। और वर्णाश्रम धर्म और कर्म का संकल्प भी बन्धन ही है। आशा (आज्ञा ?), भय, संशय आदि आत्मगुणों का संकल्प भी बन्धन है। यज्ञ, व्रत, तप, दान, विधिविधान के ज्ञान का संकल्प भी बन्धन है। (अरे !) केवल मोक्ष की इच्छा का संकल्प करना भी बन्धन ही है। तात्पर्य यह है कि बन्धन केवल संकल्प से ही उत्पन्न हो जाता है।

मोक्ष इति च नित्यानित्यवस्तुविचारादनित्यसंसारसुखदुःखविषयसमस्तक्षेत्रममताबन्धक्षयो मोक्षः ॥29॥

मोक्ष यह है—नित्य और अनित्य वस्तु के विचार द्वारा अनित्य संसार के सुखों और दुःखों के सभी क्षेत्रों में से ममत्व के (आसक्ति के) बन्धन का क्षय कर देना ही मोक्ष है।

उपास्य इति च सर्वशरीरस्थचैतन्यब्रह्मप्रापको गुरुरुपास्यः ॥30॥
शिष्य इति च विद्याध्वस्तप्रपञ्चावगाहितज्ञानावशिष्टं ब्रह्मैव शिष्यः ॥31॥

उपास्य यह है—सभी शरीरों में अवस्थित चैतन्यरूप ब्रह्म को प्राप्त कराने वाले गुरु उपास्य हैं। शिष्य वह है—विद्या के द्वारा संसाररूपी अज्ञान का नाश हो जाने से अवशिष्ट गहनज्ञान रूप जो ब्रह्म है, वही शिष्य है।

विद्वानिति च सर्वान्तरस्थस्वसंविद्रूपविद्विद्वान् ॥32॥
मूढ इति च कर्तृत्वाद्यहंकारभावारूढो मूढः ॥33॥

विद्वान् वह है जो सबके भीतर रहे हुए आत्मा के ज्ञानस्वरूप को जानता है, वह विद्वान् है। (और) मूढ वह है—कर्तृत्व आदि के अहंकार भाव पर आरूढ व्यक्ति मूढ है।

आसुरमिति च ब्रह्म विष्णवीशानेन्द्रादीनामैश्वर्यकामनया निरशनजपाग्निहोत्रादिष्वन्तरात्मानं सन्तापयति चात्युग्ररागद्वेषविहिंसादम्भाद्यपेक्षितं तप आसुरम् ॥34॥

आसुर यह है—ब्रह्मा, विष्णु, शिव, इन्द्र आदि के ऐश्वर्य की इच्छा करके और उपवास, जप, अग्निहोत्र, आदि से जो अन्तरात्मा को दुःख देता है, तथा अति उग्र राग, द्वेष, हिंसा, दम्भ आदि दुर्गुणों से युक्त तप जो करता है वह आसुर है।

तप इति च ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्येत्यपरोक्षज्ञानाग्निना ब्रह्माद्यैश्वर्याशासिद्धसंकल्पसन्तापं तपः ॥35॥

तप यह है—'ब्रह्म सत्य है और जगत् मिथ्या है'—इस प्रकार के प्रत्यक्ष ज्ञानरूपी अग्नि से, ब्रह्मादि के ऐश्वर्य की आशा सिद्ध करने वाले संकल्प के बीज को जला डालना ही (सही रूप में) तप है।

परमं पदमिति च प्राणेन्द्रियाद्यन्तःकरणगुणादेः परतरं सच्चिदानन्दरूपं नित्यमुक्तब्रह्मस्थानं परमं पदम् ॥36॥

परमपद यह है—प्राण, इन्द्रिय, अन्तःकरण और गुण आदि से परे जो सच्चिदानन्दरूप और नित्यमुक्त ऐसा जो ब्रह्म का स्थान है, वही परमपद है।

ग्राह्यमिति च देशकालवस्तुपरिच्छेदराहित्यचिन्मात्रस्वरूपं ग्राह्यम् ॥37॥
अग्राह्यमिति च स्वस्वरूपव्यतिरिक्तमायामयबुद्धीन्द्रियगोचरजगत्सत्यत्वचिन्तनमग्राह्यम् ॥38॥

ग्राह्य यह है—देश, काल, वस्तु आदि की मर्यादा से - परिच्छेद से रहित जो चिन्मय तत्त्व है, वही ग्राह्य (ग्रहणयोग्य) है और अग्राह्य यह है—अपने वास्तविक रूप को छोड़कर, मायामय इन्द्रियों का विषय जो जगत् है उसमें सत्यत्व मानना अग्राह्य है अर्थात् वह ग्रहणयोग्य नहीं है।

संन्यासीति च सर्वधर्मान्परित्यज्य निर्ममो निरहंकारो भूत्वा ब्रह्मेष्टं शरणमुपगम्य तत्त्वमसि अहं ब्रह्मास्मि सर्वं खल्विदं ब्रह्म नेह नानास्ति किंचनेत्यादिमहावाक्यार्थानुभवज्ञानाद् ब्रह्मैवाहमस्मीति निश्चित्य निर्विकल्पसमाधिना स्वतन्त्रो यतिश्चरति स संन्यासी स मुक्तः स पूज्यः स योगी स परमहंसः सोऽवधूतः स ब्राह्मण इति ॥39॥

संन्यासी वह है—सभी धर्मों को छोड़कर और अहंता-ममता का भी त्याग करके, इष्ट पदार्थ—ब्रह्म की ही शरण में जाकर, 'वह तू है', 'मैं ब्रह्म हूँ,' 'यह सब वास्तव में ब्रह्म है,' 'यहाँ ब्रह्म से भिन्न ऐसा कुछ है ही नहीं'—ऐसे-ऐसे महावाक्यों से, 'मैं ब्रह्म हूँ' ऐसा निश्चय करके निर्विकल्प समाधि में अवस्थित रहकर जो स्वतंत्र यति के रूप में व्यवहार करता है, वही संन्यासी है, वही मुक्त है, वही पूजनीय है, वही योगी है, वही परमहंस है, वही अवधूत है और वही सही रूप में ब्राह्मण कहा जाता है।

इदं निरालम्बोपनिषदं योऽधीते गुर्वनुग्रहतः सोऽग्निपूतो भवति स वायुपूतो भवति। न स पुनरावर्तते न स पुनरावर्तते पुनर्नाभिजायते पुनर्नाभिजायत इत्युपनिषत् ॥40॥
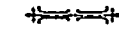
इति निरालम्बोपनिषत् समाप्ता।

जो मनुष्य इस निरालम्बोपनिषद् का अध्ययन करता है, वह गुरु के अनुग्रह से अग्नि जैसा पवित्र हो जाता है, वह वायु जैसा पवित्र हो जाता है। वह फिर से यहाँ (मर्त्यलोक में) नहीं आता, वह पुनर्जन्म नहीं लेता, वह फिर से जन्म ही नहीं लेता। वाक्यों की द्विरुक्ति उपनिषद् की समाप्ति का सूचन करनी है।

यहाँ उपनिषत् समाप्त होती है।

शान्तिपाठः

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं ...... पूर्णमेवावशिष्यते। (पूर्ववत्)
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

(36) शुकरहस्योपनिषत्

(उपनिषत्परिचय)

इस उपनिषद् का सम्बन्ध कृष्णयजुर्वेद से है। यह उपनिषद् गद्य-पद्यात्मक है। इसमें व्यास के आग्रह से शिव ने शुकदेव को उपदेश दिया है। उपनिषद् के सुप्रसिद्ध चार महावाक्यों का उपदेश विस्तार से दिया गया है। महावाक्यों का सांग जप, महावाक्य के तत्पद का सांग जप, त्वं पद का सांग जप, असि पद का सांग जप, महावाक्यों का अर्थ, शुक का स्वानुभव कथन, जीव-ईश के ऐक्य की उत्पत्ति, कैवल्यसाधन ज्ञान का उपाय, ब्रह्मभाव से सर्वात्मभाव की प्राप्ति आदि विषय दिए गए हैं।

शान्तिपाठः

ॐ सह नाववतु। सह नौ......मा विद्विषावहै। (पूर्ववत्)
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

इसका हिन्दी रूपान्तर पूर्व में (ब्रह्मोपनिषद् में) द्रष्टव्य है।

अथातो रहस्योपनिषदं व्याख्यास्यामः ॥1॥
देवर्षयो ब्रह्माणं सम्पूज्य प्रणिपत्य पप्रच्छुर्भगवन्नस्माकं रहस्योपनिषदं ब्रूहीति ॥2॥

अब हम यहाँ रहस्योपनिषत् की व्याख्या करेंगे। देवर्षियों ने ब्रह्माजी की पूजा करके उनसे पूछा कि—'हे भगवन्! आप हमें रहस्यमय उपनिषद् का उपदेश दीजिए।'

सोऽब्रवीत्—
पुरा व्यासो महातेजाः सर्ववेदतपोनिधिः।
प्रणिपत्य शिवं साम्बं कृताञ्जलिरुवाच ह ॥3॥

तब ब्रह्माजी बोले—प्राचीनकाल में महातेजस्वी तथा वेदों और तप के भण्डार सदृश महर्षि व्यास ने उमासहित महादेव को हाथ जोड़कर प्रणाम करके उनसे विनती की थी।

श्रीवेदव्यास उवाच—
देवदेव महाप्राज्ञ पाशच्छेददृढव्रत।
शुकस्य मम पुत्रस्य वेदसंस्कारकर्मणि ॥4॥
ब्रह्मोपदेशकालोऽयमिदानीं समुपस्थितः।
ब्रह्मोपदेशः कर्तव्यो भवताद्य जगद्गुरो ॥5॥

श्री वेदव्यास ने कहा—'हे देवों के देव! हे महाबुद्धिमान! हे संसाररूपी पाश को काटने का दृढ व्रत लिए हुए देव! मेरे पुत्र शुक्रदेव को वेदसंस्कार करने का कर्म अभी चल रहा है। उस कर्म में अब उसे ब्रह्म का उपदेश करने का समय आ पहुँचा है। इसलिए हे जगद्गुरो! आज आप उसको ब्रह्म का उपदेश दीजिए।'

ईश्वर उवाच—
मयोपदिष्टे कैवल्ये साक्षाद् ब्रह्मणि शाश्वते।
विहाय पुत्रो निर्वेदात्प्रकाशं यास्यति स्वयम् ॥6॥

तब ईश्वर ने कहा—'यदि मैं कैवल्यरूप सनातन का साक्षात् उपदेश करूँगा, तब तो आपका पुत्र वैराग्य उत्पन्न होने से सब कुछ त्यागकर प्रकाशस्वरूप को प्राप्त हो जायेगा।'

श्रीवेदव्यास उवाच—
यथा तथा वा भवतु ह्युपनायनकर्मणि।
उपदिष्टे मम सुते ब्रह्मणि त्वत्प्रसादतः ॥7॥

तब श्री वेदव्यास ने कहा—'जो कुछ भी हो, मेरे पुत्र को आप उपनयनविधि में अनुग्रह करके उपदेश दीजिए। ऐसा करने में चाहे कुछ भी हो, उसे मैं सहने के लिए तैयार हूँ।'

सर्वज्ञो भवतु क्षिप्रं मम पुत्रो महेश्वर।
तव प्रसादसम्पन्नो लभेन्मुक्तिं चतुर्विधाम् ॥8॥

'हे महेश्वर! मैं चाहता हूँ कि मेरा पुत्र सत्वर सर्वज्ञ हो जाए। आपके अनुग्रह से युक्त होकर चारों प्रकार की मुक्ति को वह प्राप्त कर ले।' (सायुज्य, सामीप्य, सारूप्य और सालोक्य—ये चार मुक्तिभेद हैं)।

तच्छ्रुत्वा व्यासवचनं सर्वदेवर्षिसंसदि।
उपदेष्टुं स्थितः शम्भुः साम्बो दिव्यासने मुदा ॥9॥

व्यास का यह वचन सुनकर, अम्बा (उमा) के साथ भगवान् शिव सभी देवर्षियों की सभा में उपदेश करने के लिए दिव्य आसन पर विराजमान हुए।

कृतकृत्यः शुकस्तत्र समागत्य सुभक्तिमान्।
तस्मात्स प्रणवं लब्ध्वा पुनरित्यब्रवीच्छिवम् ॥10॥

तब कृतकृत्य शुकदेव जी बड़े भक्तिभाव से वहाँ आए और उन्होंने सर्वप्रथम शिवजी से प्रणव का उपदेश ग्रहण किया। बाद में वे (शुक्रदेवजी) फिर से शिव से कहने लगे कि—

श्रीशुक उवाच—
देवादिदेव सर्वज्ञ सच्चिदानन्दलक्षण।
उमारमण भूतेश प्रसीद करुणानिधे ॥11॥

श्री शुक्रदेव बोले—'हे देवों के भी आदिदेव! हे सर्वज्ञ! हे सत्-चित्-आनन्दस्वरूप! हे उमापति! हे सभी प्राणियों के ईश्वर! हे करुणा के सागर! आप मुझ पर प्रसन्न हों। (आगे भी—)

उपदिष्टं परंब्रह्म प्रणवान्तर्गतं परम्।
तत्त्वमस्यादिवाक्यानां प्रज्ञादीनां विशेषतः ॥12॥
श्रोतुमिच्छामि तत्त्वेन षडङ्गानि यथाक्रमम्।
वक्तव्यानि रहस्यानि कृपयाद्य सदाशिव ॥13॥

'आपने मुझे प्रणव का स्वरूप तथा उससे परे जो ब्रह्म है, उसका उपदेश तो दिया। परन्तु, अब

मैं 'तत्त्वमसि' और 'प्रज्ञानं ब्रह्म' आदि महावाक्यों का छहों अंगों के क्रम से (षडंगन्यास के क्रम से) विशेष तत्त्व के रूप में आपसे सुनना चाहता हूँ। हे सदाशिव ! कृपा करके आप मुझे आज उसके रहस्यों को बताइए।'

श्रीसदाशिव उवाच—
साधु साधु महाप्राज्ञ शुक ज्ञाननिधे मुने।
प्रष्टव्यं तु त्वया पृष्टं रहस्यं वेदगर्भितम् ॥14॥

भगवान् शिव बोले—'हे ज्ञाननिधि मुनि शुकदेव। बहुत ही अच्छा ! बहुत अच्छा ! तुमने जो पूछने योग्य था वह पूछ लिया है। वही रहस्य वेदों का रहस्य है।

रहस्योपनिषन्नाम्ना सषडङ्गमिहोच्यते।
यस्य विज्ञानमात्रेण मोक्षः साक्षान्न संशयः ॥15॥

छः अंगों के साथ (षडंगन्यास के कथन के साथ) वह रहस्योपनिषद् यहाँ कही जा रही है। जिसका ज्ञान प्राप्त करने से ही साक्षात् मोक्ष मिलता है, इसमें कोई भी सन्देह नहीं है।

अङ्गहीनानि वाक्यानि गुरुर्नोपदिशेत्पुनः।
सषडङ्गान्युपदिशेन्महावाक्यानि कृत्स्नशः ॥16॥

गुरु को चाहिए कि वह बिना अंगों का उपदेश किए महावाक्यों का उपदेश न करे। उसे छहों अंगों के साथ ही महावाक्यों का संपूर्ण उपदेश करना चाहिए।

चतुर्णामपि वेदानां अथोपनिषदः शिरः।
इयं रहस्योपनिषत् तथोपनिषदां शिरः ॥17॥

जिस प्रकार चारों वेदों के मस्तक समान उपनिषदें मानी जाती हैं, ठीक उसी प्रकार यह रहस्योपनिषद् सभी उपनिषदों के मस्तक के समान मानी जाती है।

रहस्योपनिषद् ब्रह्म ध्यातं येन विपश्चिता।
तीर्थैर्मन्त्रैः श्रुतैर्जप्यैस्तस्य किं पुण्यहेतुभिः ॥18॥

जिस विद्वान ने इस रहस्योपनिषद् में उपदिष्ट ब्रह्म का ध्यान किया है, उसे भला पुण्य के हेतुरूप अन्य तीर्थों, मन्त्रों और जप्य देवों की क्या आवश्यकता है ? अर्थात् कोई आवश्यकता नहीं।

वाक्यार्थस्य विचारेण यदाप्नोति शरच्छतम्।
एकवारजपेनैव ऋष्यादिध्यानतश्च तत् ॥19॥

सौ वर्षों तक के वाक्यार्थविचार से जो फल प्राप्त किया जाता है, वही फल इसके ऋषि आदि के ध्यानपूर्वक एक बार भी स्मरण करने से मिलता है।

ॐ अस्य श्रीमहावाक्यमहामन्त्रस्य हंसः ऋषिः। अव्यक्तगायत्री छन्दः। परमहंसो देवतो। हं बीजम्। सः शक्तिः। सोऽहं कीलकम्। मम परमहंसप्रीत्यर्थे महावाक्यजपे विनियोगः। सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म अंगुष्ठाभ्यां नमः। नित्यानन्दो ब्रह्म तर्जनीभ्यां स्वाहा। नित्यमानन्दमयं ब्रह्म मध्यमाभ्यां वषट्। यो वै भूमा अनामिकाभ्यां हुम्। यो वै

भूमाधिपतिः कनिष्ठिकाभ्यां वौषट्। एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म करतलकर-पृष्ठाभ्यां फट्। सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म हृदयाय नमः। नित्यानन्दो ब्रह्म शिरसे स्वाहा। नित्यानन्दमयं ब्रह्म शिखायै वषट्। यो वै भूमा कवचाय हुम्। यो वै भूमाधिपतिः नेत्रत्रयाय वौषट्। एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म अस्त्राय फट्। भूर्भुवःसुवरोमिति दिग्बन्धः ॥20॥

ॐ इस श्रीमहावाक्य महामन्त्र के ऋषि हंस हैं। अव्यक्तगायत्री छन्द है। परमहंस देवता है। 'हं' बीज है। 'सः' शक्ति है। 'सोऽहम्' कीलक है। और मुझ पर परमहंस की प्रीति हो—इसके लिए महावाक्य के जप में इसका विनियोग है। अब करन्यास में, 'सत्य, ज्ञान और अनन्त ब्रह्म है'—ऐसा कहकर (अगुष्ठाभ्यां नमः बोलकर) दोनों अँगूठों का स्पर्श करें फिर, 'ब्रह्म नित्यानन्द है' ऐसा कहकर 'स्वाहा' पूर्वक, दोनों तर्जनियों का स्पर्श करे। 'ब्रह्म नित्यानन्दमय है, मध्यमाभ्यां वषट्'—यह कर दोनों मध्यम अंगुलियों पर न्यास करे। 'जो भूमा है' यह कहते हुए दोनों अनामिकाओं के लिए 'हुम्' कहकर न्यास करे। 'जो भूमा के अधिपति हैं—' ऐसा कहकर दोनों कनिष्ठिकाओं के लिए 'वौषट्' बोलकर न्यास करे। 'एक ही अद्वितीय ब्रह्म है'—यह कहकर दोनों करतलों और हाथों के पीछे के भागों को 'फट्' बोलकर न्यास करे। फिर 'सत्य, ज्ञान और अनन्त ब्रह्म' बोलते हुए हृदय पर 'नमः' कहकर न्यास करे। 'ब्रह्म नित्यानन्द है'—यह बोलते हुए मस्तक के लिए 'स्वाहा' बोलकर न्यास करे। 'ब्रह्म नित्य आनन्दमय है'—यह कहकर शिखा के लिए 'वषट्' कहकर न्यास करना चाहिए। 'जो भूमा (विशाल) है'—यह बोलते हुए कवच (दायें-बायें कन्धे) के लिए 'हुम्' बोलकर न्यास करे। 'जो भूमा का अधिपति है'—यह बोलते हुए तीन नेत्रों के लिए 'वौषट्' बोलकर न्यास करना चाहिए। 'ब्रह्म एक और अद्वितीय है'—यह कहते हुए वाम हस्त को मस्तक के ऊपर से घुमाकर 'अस्त्राय फट्' बोलकर दक्षिण की ओर ले जाकर ताली बजानी चाहिए। और 'भूः भुवः सुवः ओम्'—ऐसा बोलकर दिग्बन्ध करना चाहिए।

ध्यानम्—
नित्यानन्दं परमसुखदं केवलं ज्ञानमूर्तिं,
द्वन्द्वातीतं गगनसदृशं तत्त्वमस्यादिलक्ष्यम्।
एकं नित्यं विमलमचलं सर्वधीसाक्षिभूतं,
भावातीतं त्रिगुणरहितं सद्गुरुं तं नमामि ॥21॥

फिर इस प्रकार का ध्यान करना चाहिए—जो नित्य आनन्दरूप हैं, परमसुख देने वाले हैं, जो ज्ञान के ही स्वरूप हैं, जो सुख-दुःखादि द्वन्द्वों से परे हैं, जो आकाश जैसे निराकार हैं, जो तत्त्वमसि आदि महावाक्यों का लक्ष्य हैं, जो एक, अद्वितीय, विशुद्ध, अचल हैं, जो सभी की बुद्धियों के केवल साक्षी ही हैं, ऐसे सद्गुरु को मैं नमस्कार करता हूँ।

अथ महावाक्यानि चत्वारि। यथा ॐप्रज्ञानं ब्रह्म (1), ॐ अहं ब्रह्मास्मि (2), ॐ तत्त्वमसि (3), ॐ अयमात्मा ब्रह्म (4)। तत्त्वमसीत्यभेदवाचकमिदं ये जयन्ति ते शिवसायुज्यमुक्तिभाजो भवन्ति ॥22॥

अब चार महावाक्य ये हैं—1. प्रज्ञानं ब्रह्म—प्रकृष्ट ज्ञान ब्रह्म है, 2. अहं ब्रह्मास्मि—मैं ब्रह्म हूँ, 3. तत्त्वमसि—वह तू है, और 4. अयमात्मा ब्रह्म—यहा आत्मा ब्रह्म है। इनमें तत्त्वमसि—वह तू है;

इस अभेदवाचक वाक्य को जो मनुष्य जीत लेते हैं अर्थात् सिद्ध कर लेते हैं, वह शिव की सायुज्य मुक्ति को प्राप्त कर लेते हैं।

तत्पदमहामन्त्रस्य हंस ऋषिः। अव्यक्तगायत्री छन्दः। परमहंसो देवता। हं बीजम्। सः शक्तिः। सोऽहं कीलकम्। मम सायुज्यमुक्त्यर्थे विनियोगः। तत्पुरुषाय अंगुष्ठाभ्यां नमः। ईशानाय तर्जनीभ्यां स्वाहा। अघोराय मध्यमाभ्यां वषट्। सद्योजाताय अनामिकाभ्यां हुम्। वामदेवाय कनिष्ठिकाभ्यां वौषट्। तत्पुरुषेशानाघोरसद्योजातवामदेवेभ्यो नमः करतलकरपृष्ठाभ्यां फट्। एवं हृदयादिन्यासः। भुर्भूवःसुवरोमिति दिग्बन्धः ॥23॥

'तत्त्वमसि' महावाक्य के 'तत्' पदरूप महामन्त्र के ऋषि हंस हैं। अव्यक्तगायत्री छन्द है। परमहंस देवता हैं। हं बीज है। सः शक्ति है। सोऽहम् कीलक है। 'मेरी सायुज्य मुक्ति' के लिए इसका विनियोग है। तत्पुरुष के लिए दोनों अंगूठों का 'नमः' बोलकर स्पर्श करना चाहिए। ईशान के लिए दोनों तर्जनियों का स्वाहा बोलकर स्पर्श करना चाहिए। अघोर के लिए दोनों मध्यमा अँगुलियों का वषट् बोलकर स्पर्श करना चाहिए। सद्योजात के लिए दोनों अनामिकाओं का 'हुम्' बोलते हुए स्पर्श करना चाहिए। वामदेव के लिए दोनों कनिष्ठिकाओं का 'वौषट्' बोलकर स्पर्श करना चाहिए। तत्पुरुष, ईशान, अघोर, सद्योजात और वामदेव को नमस्कार कहकर करतलों एवं हाथों के पृष्ठभागों का 'फट्' बोलकर स्पर्श करना चाहिए। इसी प्रकार हृदय आदि का न्यास भी पूर्वोक्त प्रकार से करना चाहिए। और 'भूः भुवः सुवः'—यह बोलकर दिग्बन्ध करना चाहिए।

ध्यानम्—
ज्ञानं ज्ञेयं ज्ञानगम्यादतीतं शुद्धं बुद्धं मुक्तमप्यव्ययं च।
सत्यं ज्ञानं सच्चिदानन्दरूपं ध्यायेदेवं तन्महो भ्राजमानम् ॥24॥

बाद में इस प्रकार ध्यान करना चाहिए—'जो ज्ञानरूप है, ज्ञेयरूप है और ज्ञानगम्यता से परे भी है, ऐसे शुद्ध, बुद्ध, मुक्त, अव्यय, सत्य, ज्ञान, सत्, चित्, आनन्दस्वरूप बड़े प्रकाशमान उस देव का मैं ध्यान करता हूँ।

त्वंपदमहामन्त्रस्य विष्णुर्ऋषिः। गायत्री छन्दः। परमात्मा देवता। ऐं बीजम्। क्लीं शक्तिः। सौः कीलकम्। मम मुक्त्यर्थे जपे विनियोगः। वासुदेवाय अंगुष्ठाभ्यां नमः। संकर्षणाय तर्जनीभ्यां स्वाहा। प्रद्युम्नाय मध्यमाभ्यां वषट्। अनिरुद्धाय अनामिकाभ्यां हुम्। वासुदेवाय कनिष्ठिकाभ्यां वौषट्। वासुदेवसंकर्षणप्रद्युम्नानिरुद्धेभ्यो करतलकरपृष्ठाभ्यां फट्। एवं हृदयादिन्यासः। भुर्भुवःसुवरोमिति दिग्बन्धः ॥25॥

'तत्त्वमसि' महावाक्य के दूसरे 'त्वं' पदरूपी महामन्त्र के विष्णु ऋषि हैं। गायत्री छन्द है। परमात्मा देवता है। 'ऐं' बीज है। क्लीं शक्ति है। सौर कीलक है। मेरी मुक्ति के लिए जप में विनियोग है। वासुदेव के लिए दोनों अँगूठों का 'नमः' बोलकर न्यास करना चाहिए। संकर्षण के लिए दोनों तर्जनियों का 'स्वाहा' कहकर न्यास करना चाहिए। प्रद्युम्न के लिए दोनों मध्यमाओं से 'वषट्' बोलकर स्पर्श करना चाहिए। अनिरुद्ध के लिए दोनों अनामिकाओं से 'हुम्' बोलकर न्यास करना चाहिए।

वासुदेव के लिए दोनों कनिष्ठिकाओं से 'वौषट्' बोलकर स्पर्श (न्यास) करना चाहिए। वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध के लिए दोनों करतलों और करपृष्ठों से 'फट्' बोलकर स्पर्श करना चाहिए। इस प्रकार हृदयादि का भी विन्यास करना चाहिए। और, 'भुर्भूवः सुवरित्योम्'—यह बोलते हुए दिग्बन्ध करना चाहिए।

ध्यानम्—
जीवत्वं सर्वभूतानां सर्वत्राखण्डविग्रहम्।
चित्ताहङ्कारयन्तारं जीवाख्यं त्वंपदं भजे ॥26॥

फिर इस प्रकार ध्यान करना चाहिए—सभी प्राणियों का जीवत्व सभी स्थान पर अखण्ड रूप में विद्यमान है। अर्थात् ब्रह्म अखण्ड विग्रह – परिच्छेदरहित होते हुए सभी प्राणियों में जीवस्वरूप में विद्यमान रहता है। और वह जीव चित्त और अहंकार का नियामक है। ऐसे जीव नाम के 'त्वं' पद की मैं स्तुति करता हूँ।

असिपदमहामन्त्रस्य मन ऋषिः। गायत्री छन्दः। अर्धनारीश्वरो देवता। अव्यक्तादिर्बीजम्। नृसिंहः शक्तिः। परमात्मा कीलकम्। जीवब्रह्मैक्यार्थे जपे विनियोगः। पृथ्वीद्व्यणुकाय अंगुष्ठाभ्यां नमः। अब्द्व्यणुकाय तर्जनीभ्यां स्वाहा। तेजोद्व्यणुकाय मध्यमाभ्यां वषट्। वायुद्व्यणुकाय अनामिकाभ्यां हुम्। आकाशद्व्यणुकाय कनिष्ठिकाभ्यां वौषट्। पृथिव्यप्तेजोवाय्वाकाशद्व्यणुकेभ्यः करतलकरपृष्ठाभ्यां फट्। एवं हृदयादिन्यासः। भुर्भुवःसुवरोमिति दिग्बन्धः ॥27॥

अब 'तत्त्वमसि' महावाक्य के 'असि' पद रूप महामन्त्र के ऋषि मन है। छन्द गायत्री है। अर्धनारीश्वर देवता है। अव्यक्तादि बीज है। नृसिंह शक्ति है। परमात्मा कीलक है। जीव और ब्रह्म की एकता के लिए जप का इसमें विनियोग है। पृथ्वी के द्व्यणुक (दो अणुओं) के लिए 'नमः' कहकर दोनों अँगूठों पर न्यास करना चाहिए। जल के द्व्यणुक के लिए दोनों तर्जनियों से 'स्वाहा' बोलकर स्पर्श करना चाहिए। तेज के द्व्यणुक के लिए दोनों मध्यमा अँगुलियों से 'वषट्' बोलकर स्पर्श करना चाहिए। वायु के द्व्यणुक के लिए दोनों अनामिकाओं से 'हुम्' कहकर स्पर्श करना चाहिए। आकाश के द्व्यणुक के लिए दोनों कनिष्ठिकाओं से 'वौषट्' बोलकर स्पर्श करना चाहिए। पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश के द्व्यणुकों के लिए दोनों करतलों और करपृष्ठों से 'फट्' कहकर स्पर्श करना चाहिए। इसी प्रकार हृदयादि के न्यास भी करने चाहिए। और बाद में 'भूर्भुवः सुवरित्योम्' यह बोलते हुए दिग्बन्ध करना चाहिए।

ध्यानम्—
जीवो ब्रह्मेति वाक्यार्थं यावदस्ति मनःस्थितिः।
ऐक्यं तत्त्वं लये कुर्वन् ध्यायेदसिपदं सदा ॥28॥
एवं महावाक्यषडङ्गान्युक्तानि ॥29॥

बाद में इस प्रकार ध्यान करना चाहिए—जहाँ तक मन का अस्तित्व है, वहाँ तक 'जीव ब्रह्म हैं'—इस प्रकार लयरूप तत्त्व में ऐक्य स्थापित कर 'असि' पद का चिन्तन करते रहना चाहिए। इस प्रकार महावाक्य के षडंग कहे गए।

अथ रहस्योपनिषद्विभागशो वाक्यार्थश्लोकाः प्रोच्यन्ते ॥30॥

अब इस रहस्योपनिषद् के विभागानुसार वाक्यार्थ के श्लोक कहे जा रहे हैं।

येनेक्षते शृणोतीदं जिघ्रति व्याकरोति च।
स्वाद्वस्वादु विजानाति तत्प्रज्ञानमुदीरितम् ॥31॥
चतुर्मुखेन्द्रदेवेषु मनुष्याश्वगवादिषु।
चैतन्यमेकं ब्रह्मातः प्रज्ञानं ब्रह्म मय्यपि ॥32॥

पहला महावाक्य 'प्रज्ञानं ब्रह्म'—यह है। इसकी व्याख्या की जाती है। इस महावाक्य में जो 'प्रज्ञानं' शब्द है, इसका अर्थ यह है कि 'जिसकी वजह से मनुष्यादि सभी प्राणी देखते हैं, सुनते हैं, सूँघते हैं, बोलते हैं, स्वादिष्ट या अस्वादिष्ट जानते हैं, वही 'प्रज्ञान' है। और वह प्रज्ञानरूप चैतन्य ब्रह्मा, इन्द्र आदि देवों में तथा मनुष्यों, गायों, घोड़ों आदि सभी प्राणियों में एक ही है, वह ब्रह्म है। और ऐसा ही प्रज्ञान ब्रह्म मुझमें भी है ही।

परिपूर्णः परात्मास्मिन् देहे विद्याधिकारिणि।
बुद्धेः साक्षितया स्थित्वा स्फुरन्नहमितीर्यते ॥33॥
स्वतः पूर्णः परात्मात्र ब्रह्मशब्देन वर्णितः।
अस्मीत्यैक्यपरामर्शस्तेन ब्रह्म भवाम्यहम् ॥34॥

पहले महावाक्य के अर्थ को बताकर अब दूसरे 'अहं ब्रह्मास्मि' महावाक्य का अर्थ बताते हैं कि विद्या के अधिकारी ऐसे इस मनुष्यदेह में जो परमात्मा (परमचैतन्य) परिपूर्ण रूप से अवस्थित रहा है और जो बुद्धि का साक्षी होकर स्फुरित हो रहा है, नही इस महावाक्य के 'अहं' पद के द्वारा कहा गया है। और वही स्वतः पूर्ण परमात्मा ब्रह्म है, ऐसा यहाँ पर कहा गया है। और महावाक्य का 'अस्मि' पद दोनों के देहस्थ और ब्रह्म चैतन्य की एकता को बताता है। इसलिए 'मैं ब्रह्म हूँ' ऐसा अर्थ फलित हो जाता है।

एकमेवाद्वितीयं सन्नामरूपविवर्जितम्।
सृष्टेः पुराऽधुनाप्यस्य तादृक्त्वं तदितीर्यते ॥35॥
श्रोतुर्देहेन्द्रियातीतं वस्त्वत्र त्वंपदेरितम्।
एकता ग्राह्यतेऽसीति तदैक्यमनुभूयताम् ॥36॥

अब तीसरे महावाक्य 'तत्त्वमसि'—'वह तू है' का अर्थ किया जा रहा है। इस सृष्टि के पहले भी और अब भी जो एक ही अद्वितीय सत् तत्त्व, नाम और रूप से रहित था और है, वही 'तत्त्वमसि' के 'तत्' पद का अर्थ होता है। और 'त्वम्' पद का अर्थ, श्रोता के देह और इन्द्रियों से परे जो वस्तु-चैतन्य है, वह है। इन दोनों की एकता 'असि' पद के द्वारा ग्रहण कराई जाती है। इस एकता का अनुभव करो।

स्वप्रकाशापरोक्षत्वमयमित्युक्तितो मतम्।
अहङ्कारादिदेहान्तं प्रत्यगात्मेति गीयते ॥37॥
दृश्यमानस्य सर्वस्य जगतस्तत्त्वमीर्यते।
ब्रह्मशब्देन तद् ब्रह्म स्वप्रकाशात्मरूपकम् ॥38॥

अब 'अयमात्मा ब्रह्म'—इस चौथे महावाक्य का अर्थ करते हैं कि इस वाक्य में जो 'अयम्' पद है, इसका अर्थ स्वप्रकाश और अपरोक्ष होता है। और 'आत्मा' शब्द का अर्थ अंहकार से लेकर देह तक का प्रत्यगात्मा है। और 'ब्रह्म' शब्द से यह दृश्यमान सारा जगत् स्वप्रकाश ब्रह्म का ही रूप है, ऐसा कहा गया है।

अनात्मदृष्टेरविवेकनिद्रामहं मम स्वप्नगतिं गतोऽहम्।
स्वरूपसूर्येऽभ्युदिते स्फुटोक्तेर्गुरोर्महावाक्यपदैः प्रबुद्धः ॥39॥

जब तक मुझमें आत्मदृष्टि (आत्मज्ञान) नहीं थी, तब तक तो मैं अविवेकरूपी निद्रा में ही पड़ा था। तब तो 'अहं' और 'मम'—'मैं' और 'मेरा'—ऐसी स्वप्न की अवस्था में ही अवस्थित था। परन्तु, गुरु के द्वारा कहे गए महावाक्यों के पदों को स्पष्ट रूप से बतलाये जाने पर जब स्वरूपरूपी सूर्य का उदय हुआ, तब मैं जाग उठा।

वाच्यं लक्ष्यमिति द्विधार्थसरणी वाच्यस्य हि त्वंपदं,
वाच्यं भौतिकमिन्द्रियादिरपि यल्लक्ष्यं त्वमर्थश्च सः।
वाच्यं तत्पदमीशताकृतमतिर्लक्ष्यं तु सच्चित्सुखा-
नन्दं ब्रह्म तदर्थ एष च तयोरैक्यं त्वसीदं पदम् ॥40॥

'तत्त्वमसि' इस महावाक्य के 'त्वम्' पद के दो अर्थ होते हैं। एक वाच्य और दूसरा लक्ष्य। उनमें भौतिक इन्द्रियाँ, शरीर और जीव—यह वाच्य अर्थ है और लक्ष्य त्वंपद का वास्तविक अर्थ—शुद्ध चैतन्य है। उसी प्रकार तत्पद के भी दो अर्थ होते हैं। इनमें 'ईश्वर' और इसी तरह 'परमात्मा' आदि तत्पद का वाच्यार्थ है और लक्ष्य अर्थ—सच्चिदानन्द सुखस्वरूप ब्रह्म है। इस प्रकार लक्ष्यार्थरूप में जीव और ब्रह्म की एकता है, ऐसा अर्थ 'असि' पद सूचित करता है।

त्वमिति तदिति कार्ये कारणे सत्युपाधौ,
द्वितयमितरथैकं सच्चिदानन्दरूपम्।
उभयवचनहेतू देशकालौ च हित्वा,
जगति भवति सोऽहं देवदत्तो यथैकः ॥41॥

'त्वम्' और 'तत्' पदार्थों में जो भेद किए जाते हैं, वे कारणरूप और कार्यरूप दो उपाधियों के कारण ही किए जाते हैं। उपाधि के चले जाने पर तो दोनों एक ही सच्चिदानन्दस्वरूप हैं। जगत् में भी ये दोनों वचन—तुम और वह (त्वं और तत्) विशिष्ट देश और काल के कारण ही कहे जाते हैं। उन दोनों (तुम और वह) को छोड़ देने पर ब्रह्म ही शेष रहता है, जैसे—'यह वह देवदत्त है'—यहाँ 'देवदत्त' एक ही है।

कार्योपाधिरयं जीवः कारणोपाधिरीश्वरः।
कार्यकारणतां हित्वा पूर्णबोधोऽवशिष्यते ॥42॥

जीव कार्यरूप उपाधि वाला है और ईश्वर कारणरूप उपाधिवाला है। अर्थात् कार्यरूप उपाधि है इसलिए त्वं पदवाची जीव है, और कारणरूप उपाधि है इसलिए तत् रूप ईश्वर है। पर कार्यता और कारणता छूट जाने पर तो एक ही सच्चिदानन्द स्वरूप पूर्णबोध ही शेष रह जाता है।

श्रवणं तु गुरोः पूर्वं मननं तदनन्तरम्।
निदिध्यासनमित्येत्पूर्णबोधस्य कारणम् ॥43॥

प्रथम तो गुरु के पास महावाक्यों के उपदेश का श्रवण करना चाहिए। बाद में उनके गुरु द्वारा बताए गए अर्थ का मनन करना चाहिए। तदनन्तर उसका निदिध्यासन करना चाहिए। इस प्रकार ये तीनों पूर्णबोध प्राप्त करने के कारण हैं।

अन्यविद्यापरिज्ञानमवश्यं नश्वरं भवेत्।
ब्रह्मविद्यापरिज्ञानं ब्रह्मप्राप्तिकरं स्थितम् ॥44॥

ब्रह्मविद्या के अतिरिक्त अन्य विद्याओं का ज्ञान तो विनाशशील ही है। परन्तु ब्रह्मविद्या का पूर्णज्ञान तो ब्रह्म की प्राप्ति कराने वाला और शाश्वत है।

महावाक्यान्युपदिशेत्सषडङ्गानि देशिकः।
केवलं नहि वाक्यानि ब्रह्मणो वचनं यथा ॥45॥

ब्रह्माजी का ऐसा वचन है कि गुरु द्वारा शिष्य को छः अंगों के साथ महावाक्यों का उपदेश करना चाहिए। परन्तु केवल वाक्यों का ही उपदेश नहीं करना चाहिए।

ईश्वर उवाच—
एवमुक्त्वा मुनिश्रेष्ठ रहस्योपनिषच्छुक।
मया पित्रानुनीतेन व्यासेन ब्रह्मवादिना ॥46॥

ईश्वर ने कहा—'हे मुनिश्रेष्ठ शुकदेव ! तुम्हारे पिता ब्रह्मवादी व्यासजी ने मुझसे निवेदन किया था, इसलिए मैंने यह रहस्योपनिषद् इस प्रकार तुमसे कही है।

ततो ब्रह्मोपदिष्टं वै सच्चिदानन्दलक्षणम्।
जीवन्मुक्तः सदा ध्यायन् नित्यस्त्वं विहरिष्यसि ॥47॥

और उसके द्वारा सच्चिदानन्द लक्षण से लक्षित ब्रह्म का उपदेश दिया। अब इसको तुम सदैव ध्यान करते हुए जीवन्मुक्त होकर हमेशा ही स्वस्वरूप में विहार करोगे।

यो वेदादौ स्वरः प्रोक्तो वेदान्ते च प्रतिष्ठितः।
तस्य प्रकृतिलीनस्य यः परः स महेश्वरः ॥48॥

जो 'ॐ' का स्वर वेदों के आदि में कहा गया है, और जो वेदों के अन्त में प्रतिष्ठित हुआ है। और प्रकृति में लय को प्राप्त होकर भी जो उससे परे है, वह महेश्वर हैं।

उपदिष्टः शिवेनेति जगत्तन्मयतां गतः।
उत्थाय प्रणिपत्येशं त्यक्ताशेषपरिग्रहः ॥49॥

शिवजी ने इस प्रकार उपदेश दिया। अतः शुक्रदेवजी जगद्रूप और शिवरूप हो गए। उन्होंने सब परिग्रह छोड़ दिया और शिवजी को प्रणाम करके वहाँ से उठ कर चले गए।

परब्रह्मपयोराशौ प्लवन्निव ययौ तदा।
प्रव्रजन्तं तमालोक्य कृष्णद्वैपायनो मुनिः ॥50॥
अनुव्रजन्नाजुहाव पुत्रविश्लेषकातरः।
प्रतिनेदुस्तदा सर्वे जगत्स्थावरजङ्गमाः॥51॥

जगद्गुरु शिवजी के उपदेश से ब्रह्मानन्द का अनुभव कर चुके शुक्रदेवजी मानो परब्रह्मरूपी

महासागर में तैर रहे हों, ऐसे चलने लगे। तब व्यास मुनि सब कुछ छोड़कर जाते हुए (संन्यासी बनने जाते हुए) पुत्र को देखकर, उनके पीछे जाकर पुत्र के वियोग के दुःख से उद्विग्न होकर उन्हें पुकारने लगे। उस समय जगत् के स्थावर, जंगम सभी पदार्थों ने बादरायण की पुकार का प्रत्युत्तर दिया था।

तच्छ्रुत्वा सकलावारं व्यासः सत्यवती सुतः।
पुत्रेण सहितः प्रीत्या परानन्दमुपेयिवान् ॥52॥

बाद में उस सकलस्वरूप ब्रह्म क़ी आवाज सुनकर, सत्यवती के पुत्र व्यास अपने पुत्र के साथ प्रसन्न होकर परम आनन्द को प्राप्त हुए।

यो रहस्योपनिषदमधीते गुर्वनुग्रहात्।
सर्वपापविनिर्मुक्तः साक्षात्कैवल्यमश्नुते ॥
साक्षात्कैवल्यमश्नुते ॥53॥

इत्युपनिषत्।

इति शुकरहस्योपनिषत्समाप्ता।
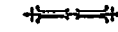
जो मनुष्य गुरु की कृपा से इस रहस्योपनिषद् का अध्ययन कर लेता है, वह सभी पापों से मुक्त होकर साक्षात् कैवल्य को प्राप्त होता है। वाक्य की द्विरुक्ति समाप्तिसूचक है।

यहाँ याजुषी शुकरहस्योपनिषद् समाप्त होती है।

शान्तिपाठ

ॐ सह नाववतु। सह नौ''''''मा विद्विषावहै। (पूर्ववत्)
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

(37) वज्रसूचिकोपनिषत्

(उपनिषत्परिचय)

इस उपनिषद् का सम्बन्ध सामवेद से है। इसमें कुल नौ मन्त्र ही हैं। यह उपनिषद् कहती है कि जीव, शरीर, जन्म, ज्ञान या कर्म से ब्राह्मणत्व प्राप्त नहीं होता। किन्तु ब्रह्म को जानने से ही ब्राह्मणत्व प्राप्त होता है। वह ब्रह्म तो जाति-गुण-क्रिया आदि से रहित है। वह निर्दुष्ट है, वह अन्तर्यामी है, वह आकाश की ही तरह सर्वगत और नित्य है। ऐसे ब्रह्म को जो जानता है, वही सही रूप में ब्राह्मण कहलाता है। ऐसा ब्राह्मण क्रोधरहित होता है, कामरहित होता है, वह संयतेन्द्रिय और मनोजयी होता है। तृष्णा, आशा, मोह आदि उसमें नहीं होते। वह कभी अहंकार करता ही नहीं।

शान्तिपाठः

ॐ आप्यायन्तु ममाङ्गानि""""ते मयि सन्तु। (पूर्ववत्)
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः।

इसका हिन्दी रूपान्तर पूर्व में (आरुण्युपनिषद् में) द्रष्टव्य है।

वज्रसूचीं प्रवक्ष्यामि शास्त्रमज्ञानभेदनम्।
दूषणं ज्ञानहीनानां भूषणं ज्ञानचक्षुषाम् ॥1॥

मैं अज्ञान का नाश करने वाले, ज्ञानहीनों के दूषण रूप, ज्ञानरूपी आँख वालों के लिए भूषणरूप ऐसे वज्रसूचि नामक उपनिषत् रूप शास्त्र कह रहा हूँ।

ब्रह्मक्षत्रियवैश्यशूद्रा इति चत्वारो वर्णास्तेषां वर्णानां ब्राह्मण एव प्रधान इति वेदवचनानुरूपं स्मृतिभिरप्युक्तम्। तत्र चोद्यमस्ति को वा ब्राह्मणो नाम किं जीवः किं देहः किं जातिः किं ज्ञानं किं कर्म किं धार्मिक इति ॥2॥

ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र—ये चार वर्ण हैं। उनमें ब्राह्मण ही मुख्य है ऐसा वेद-वचन के अनुसार स्मृतियों में भी कहा गया है। यहाँ पर विचारणीय यह है कि ब्राह्मण का सही अर्थ क्या है? क्या वह जीव है? क्या वह देह है? क्या वह जाति है? क्या वह ज्ञान है? क्या वह कर्म है? अथवा क्या वह धार्मिकता है?

तत्र प्रथमो जीवो ब्राह्मण इति चैतन्न। अतीतानागतानामनेकदेहानां जीवस्यैकरूपत्वादेकस्यापि कर्मवशादनेकदेहसम्भवात् सर्वशरीराणां जीवस्यैकरूपत्वाच्च। तस्मान्न जीवो ब्राह्मण इति ॥3॥

इस स्थिति में यदि पहला विकल्प ब्राह्मण को जीव मानें तो, यह ठीक नहीं है क्योंकि भूतकाल के और भविष्यत्काल के अनेक देहों में जीव का तो एक ही रूप होता है, और उस एक ही जीव का

अपने कर्मों के अनुसार अनेक देहों से युक्त होना संभव है। इन सभी शरीरों में जीव तो एक होता है इसलिए जीव तो ब्राह्मण नहीं हो सकता।

तर्हि देहो ब्राह्मण इति चेत्तन्न। आचाण्डालादिपर्यन्तानां मनुष्याणां पाञ्चभौतिकत्वेन देहस्यैकरूपत्वाज्जरामरणधर्माधर्मादिसाम्यदर्शनाद् ब्राह्मणः श्वेतवर्णः क्षत्रियो रक्तवर्णो वैश्यः पीतवर्णः शूद्रः कृष्णवर्ण इति नियमाभावात्। पित्रादिशरीरदहने पुत्रादीनां ब्रह्महत्यादिदोषसम्भ-वाच्च। तस्मान्न देहो ब्राह्मण इति ॥4॥

तब दूसरा विकल्प 'देह ब्राह्मण है'—यह भी कहना ठीक नहीं है, क्योंकि चाण्डाल पर्यन्त सभी मनुष्यों के देह पांचभौतिक ही हैं, इसलिए समान ही हैं। सभी देहों में जरा, मरण, धर्म, अधर्म आदि की भी समानता देखी जाती है। ब्राह्मण श्वेतवर्ण ही हो, क्षत्रिय लाल वर्ण वाला ही हो, वैश्य पीले वर्ण वाला हो और शूद्र काले ही रंग वाला हो, ऐसा कोई नियम भी नहीं देखा जाता। और देह के ब्राह्मण होने पर तो पिता आदि के शरीर को जलाने में पुत्र आदि को ब्रह्महत्या का पाप-दोष भी लग सकता है। इसलिए देह तो ब्राह्मण नहीं हो सकता।

तर्हि जातिर्ब्राह्मण इति चेत्तन्न। तत्र जात्यन्तरजन्तुष्वनेकजातिसम्भवा महर्षयो बहवः सन्ति। ऋष्यशृंगो मृग्याः, कौशिकः कुशात्, जाम्बूको जम्बूकात्, वाल्मीको वल्मीकात्, व्यासः कैवर्तककन्यायां, शशपृष्ठाद् गौतमः, वसिष्ठ उर्वश्याम्, अगस्त्यः कलशे जात इति श्रुतत्वात्। एतेषां जात्या विनाप्यग्रे ज्ञानप्रतिपादिता ऋषयो बहवः सन्तिः। तस्मान्न जातिर्ब्राह्मण इति ॥5॥

तब तीसरा विकल्प 'जाति ब्राह्मण है'—ऐसा भी नहीं हो सकता। क्योंकि अलग-अलग जाति और जन्तुओं की भी अनेक जातियों में बहुत-से महर्षि लोग उत्पन्न हुए हैं। मृगी से ऋष्यशृंग, कुश से कौशिक, जम्बूक से जाम्बूक, वल्मीक से वाल्मीक, धीवरकन्या सत्यवती से व्यास, शशक के पृष्ठभाग से गौतम, उर्वशी अप्सरा से वसिष्ठ, कुम्भ से अगस्त्य उत्पन्न हुए थे, ऐसा सुना जाता है। इन सभी की ब्राह्मण जाति न होने पर भी प्राचीन काल में वे ज्ञान को प्रतिपादित करने वाले बड़े ही विद्वान् ब्राह्मण हुए हैं। इसलिए जाति भी ब्राह्मण नहीं है।

तर्हि ज्ञानं ब्राह्मण इति चेत्तन्न। क्षत्रियादयोऽपि परमार्थदर्शिनोऽभिज्ञा बहवः सन्ति। तस्मान्न ज्ञानं ब्राह्मण इति ॥6॥

यदि चौथा विकल्प 'ज्ञान ब्राह्मण है'—यह कहा जाए, तो भी ठीक नहीं, क्योंकि क्षत्रिय आदि कहलाने वाले भी कई लोग परमार्थदर्शी (ज्ञानी) हैं। इसलिए ज्ञान को ब्राह्मण नहीं कहा जा सकता।

तर्हि कर्म ब्राह्मण इति चेत्तन्न। सर्वेषां प्राणिनां प्रारब्धसंचितागामिकर्म-साधर्म्यदर्शनात् कर्माभिप्रेरिताः सन्तो जनाः क्रियाः कुर्वन्तीति। तस्मान्न कर्म ब्राह्मण इति ॥7॥

तब यदि 'कर्म ब्राह्मण है'—ऐसा कहना भी ठीक नहीं। क्योंकि सभी प्राणियों में प्रारब्ध, संचित और आगामी – क्रियमाण कर्मों की समानता प्रतीत होती है। और सभी मनुष्य (जाति की अपेक्षा के बिना) कर्म से प्रेरित होकर ही क्रियाएँ करते हैं। इसलिए कर्म को ब्राह्मण नहीं कहा जा सकता।

तर्हि धार्मिको ब्राह्मण इति चेत्तन्न । क्षत्रियादयो हिरण्यदातारो बहवः **सन्ति । तस्मान्न धार्मिको ब्राह्मण इति ॥8॥**

तब यदि धार्मिक को ब्राह्मण कहा जाए तो वह भी योग्य नहीं है। क्योंकि बहुत से क्षत्रिय आदि लोग सुवर्ण आदि का दान करने वाले धार्मिक होते हैं। इसलिए धार्मिक भी ब्राह्मण नहीं है।

तर्हि को ब्राह्मणो नाम । यः कश्चिदात्मानमद्वितीयं जातिगुणक्रियाहीनं **षडूर्मिषड्भावेत्यादिसर्वदोषरहितं** सत्यज्ञानानन्दानन्तस्वरूपं स्वयं **निर्विकल्पमशेषकल्पाधारमशेषभूतान्तर्यामित्वेन** वर्तमानमन्तर्बहिश्चा- **काशवदनुस्यूतमखण्डानन्दस्वभावमप्रमेयमनुभवैकवेद्यमपरोक्षतया भासमानं करतलामलकवत्साक्षादपरोक्षीकृत्य कृतार्थतया कामरागादि- दोषरहितः शमदमादिसम्पन्नो भावमात्सर्यतृष्णाशामोहादिरहितो दम्भाहं- कारादिभिरसंस्पृष्टचेता वर्तत एवमुक्तलक्षणो यः स एव ब्राह्मण इति श्रुतिस्मृतिपुराणेतिहासानामभिप्रायः ।** अन्यथा हि ब्राह्मणत्वसिद्धिर्ना- **स्त्येव । सच्चिदानन्दमात्मानमद्वितीयं ब्रह्म** भावयेदात्मानं सच्चिदा- **नन्दरूपं ब्रह्म भावयेदित्युपनिषत् ॥9॥**

इति वज्रसूच्युपनिषत् समाप्ता ।
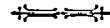
तब ब्राह्मण कौन है ? उत्तर है कि जो आत्मा को एक और अद्वितीय रूप में अनुभव करता हो; वह आत्मा जाति-गुण-क्रिया से रहित, जिसे छः ऊर्मियों और छः भावों का स्पर्श न हो, और भी अन्य दोषों से वह मुक्त हो, वह आत्मा सत्य, ज्ञान, आनन्दस्वरूप स्वयं निर्विकल्प समाधि में रहने वाला हो, वह समग्र कल्पों का अवलम्बन रूप, समस्त प्राणियों के अन्तस् में रहने वाला, भीतर-बाहर आकाश की तरह व्याप्त, अखण्ड आनन्दरूप, अप्रमेय, अनुभवगम्य, अपरोक्षतया भासमान हो—ऐसे आत्मा को जो मनुष्य हाथ में लिए आमलक की भाँति साक्षात् अपरोक्ष रूप से अनुभव करके कृतार्थभाव से काम-राग आदि दोषों से मुक्त होता है, जिस मनुष्य में शम-दम आदि होते हैं, जो मात्सर्य, आशा, तृष्णा, मोह आदि भावों से रहित होता है, जो मन में दंभ, अहंकार आदि से रहित होकर ही वर्तन करता है, जो इन पूर्वोक्त लक्षणों से युक्त है, वही सही अर्थ में ब्राह्मण है; ऐसा श्रुति, स्मृति, पुराण, इतिहास—सबका अभिप्राय है। इसके सिवा तो अन्य कोई ब्राह्मणत्व की सिद्धि (लक्षण) हो ही नहीं सकती। आत्मा ही सत्-चित्-आनन्द रूप है—ऐसी भावना करनी चाहिए। वाक्य की द्विरुक्ति उपनिषद् की समाप्ति की सूचक है।

इस प्रकार यह वज्रसूच्युपनिषद् पूर्ण होती है।

शान्तिपाठः

ॐ आप्यायन्तु ममाङ्गानि........ते मयिसन्तु । (पूर्ववत्)
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

(38) तेजोबिन्दूपनिषत्

(उपनिषत्परिचय)

इस उपनिषद् का सम्बन्ध कृष्णयजुर्वेद से है। इस उपनिषद् में छः अध्याय हैं। इसमें कहा गया है कि तेज के बिन्दु का ध्यान उत्कृष्ट ध्यान है। वह अगोचर और हृदयस्थित है। मुनियों और बुद्धिमानों को भी यह ध्यान दुःसाध्य, दुःसेव्य और दुर्दृश्य है। मिताहारी, क्रोधरहित और जितेन्द्रिय, सुखदुःखादि-द्वन्द्वरहित, अहंकार-आशा-तृष्णा-रहित, उत्साही एवं सद्गुरु के अनुग्रह से युक्त ही ऐसा ध्यान करने का अधिकारी है। जनसाधारण के लिए अप्रतीत, निरधिष्ठान, सूक्ष्मातिसूक्ष्म ब्रह्म विष्णु का विश्रामस्थल है। वह त्रिलोकजनक, त्रिगुणाश्रय, नीरूप, निश्चल, निर्विकल्प, निरवलम्ब, निरूपाधिक, अवाङ्मनसगोचर, सच्चिदानन्दरूप भाव से ग्राह्य है। वह निरुपाधिक आनन्दरूप है। वह अजन्मा, अविकारी, शाश्वत, अचल, अविनाशी ब्रह्म है, वही आत्मा है। वही ज्ञानियों की परम गति है। काम, क्रोध, लोभ, मोह, भय, दर्प आदि को तथा शीतोष्णादि, मानापमानादि, भूख-प्यास आदि की असहिष्णुता को तथा कुलाभिमानादि वासनाओं को छोड़कर ही ब्रह्मसाक्षात्कार हो सकता है। [विरजानंद स्वामी द्वारा प्रकाशित इस उपनिषद् के केवल तेरह मन्त्र हैं परन्तु निर्णयसागर द्वारा प्रकाशित 'अष्टोत्तरशतोपनिषदः' में संगृहीत इस उपनिषत् के छः अध्याय हैं। यहाँ उसी का अनुसरण किया जा रहा है, क्योंकि वह तत्त्वपूर्ण है।]

शान्तिपाठः

ॐ सह नाववतु । सह नौ........मा विद्विषावहै । (पूर्ववत्)
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

इसका हिन्दी रूपान्तर पूर्व में (ब्रह्मोपनिषद् में) द्रष्टव्य है।

प्रथमोऽध्यायः

ॐ तेजोबिन्दुः परं ध्यानं विश्वात्महृदि संस्थितम् ।
आणवं शाम्भवं शान्तं स्थूलं सूक्ष्मं परं च यत् ॥1॥

विश्व में और अपने हृदय में अवस्थित तेजोबिन्दु का ध्यान ही सर्वश्रेष्ठ माना गया है, क्योंकि वही परमात्मा का अणुस्वरूप है, वही शान्त है, स्थूल भी वही, सूक्ष्म भी वही और स्थूल-सूक्ष्म दोनों से परे भी तो वही तत्त्व है।

दुःखाढ्यं च दुराराध्यं दुष्प्रेक्ष्यं मुक्तमव्ययम् ।
दुर्लभं तत्स्वयं ध्यानं मुनीनां च मनीषिणाम् ॥2॥

उस मुक्त अविनाशी स्वरूप का दर्शन करना अत्यन्त कठिन है, बड़ा मुश्किल है, कष्टसाध्य है। जनसाधारण के लिए ही नहीं, मुनियों और मनीषियों के लिए भी यह ध्यान प्राप्त करना अत्यन्त दुर्लभ है।

यताहारो जितक्रोधो जितसङ्गो जितेन्द्रियः ।
निर्द्वन्द्वो निरहङ्कारो निराशीरपरिग्रहः ॥3॥

जो मनुष्य आहार के प्रति संयमित है, जिसने क्रोध को जीता है, जिसने निःसंगता प्राप्त की है, जो सुख-दुःखादि और शीतोष्णादि द्वन्द्वों से परे हो गया हो, जो अहंकाररहित हो, आशातृष्णारहित हो जो अपरिग्रही हो, वही ऐसा ध्यान प्राप्त कर सकता है। (उत्तम अधिकारियों को तो यह ध्यान सिद्ध हो ही जाता है, पर ऊपर के ये साधन मध्यमाधिकारी और मन्दाधिकारी के लिए बताए गए हैं।)

अगम्यागमकर्ता यो गम्याऽगमनमानसः ।
मुखे त्रीणि च विन्दन्ति त्रिधामा हंस उच्यते ॥4॥

जो मनुष्य इन्द्रियों के लिए अयोग्य तत्त्व में गमन (प्रवेश) नहीं करता है, और इन्द्रियगम्य पदार्थों में भी प्रवेश करने की मानसिकता नहीं रखता, और जिसके मुख को ये तीन (ॐकार की मात्राएँ) प्राप्त हो जाती हैं, वह पुरुष त्रिधामा (तीन धामवाला) हंस कहलाता है। (अयोग्य पदार्थों का त्याग, इन्द्रिय-विषयों में अनासक्ति और ॐकार का जाप—ये तीन धाम हैं)।

परं गुह्यतमं विद्धि ह्यस्ततन्द्री निराश्रयः ।
सोमरूपकला सूक्ष्मा विष्णोस्तत्परमं पदम् ॥5॥

तुम्हें जानना चाहिए कि यह परम गुह्य वस्तु है। उसमें तन्द्रा (आलस्य) अस्त हो चुकी है, अर्थात् है ही नहीं। उसका कोई आधार (अधिष्ठान) नहीं है। सौम्य रूप (सोम जैसी) सूक्ष्म कला है। वह विष्णु का परमपद (स्थान) है।

त्रिवक्त्रं त्रिगुणं स्थानं त्रिधातुं रूपवर्जितम् ।
निश्चलं निर्विकल्पं च निराकारं निराश्रयम् ॥6॥

वह स्थान विश्व-तैजस-प्राज्ञरूप तीन मुखों वाला है, विराट्-सूत्रात्मा-ईश्वर भेद से तीन गुणों वाला है, ओता-अनुज्ञाता-अनुज्ञा भेद से अथवा ब्रह्मा-विष्णु-महेश भेद से तीन धातुओं वाला है। परन्तु पारमार्थिक दृष्टि से तो उसका कोई रूप ही नहीं है, वास्तव में तो वह निश्चल, निर्विकल्प और निरधिष्ठान ही है।

उपाधिरहितं स्थानं वाङ्मनोऽतीतगोचरम् ।
स्वभावं भावसंग्राह्यमसंघातं पदाच्युतम् ॥7॥

वह स्थान उपाधिरहित है, वाणी और मन से परे है इसलिए वह उनका विषय नहीं है। वह केवल स्वरूपमात्र ही है, केवल हृदय के भाव से ही वह पकड़ा जा सकता है। वह कुछ तत्त्वों का समूहरूप नहीं है। और अपने स्थान में वह अच्युत ही है।

अनानानन्दनातीतं दुष्प्रेक्ष्यं मुक्तमव्ययम् ।
चिन्त्यमेवं विनिर्मुक्तं शाश्वतं ध्रुवमच्युतम् ॥8॥

तरह-तरह के आनन्दों से वह रहित नहीं है अर्थात् सभी प्रकार के आनंद उसमें हैं। उसे भौतिक नेत्रों से देखना मुश्किल है। वह सर्वदा मुक्त है, अक्षय है, निर्विकार है, शाश्वत है, अविचल है, अच्युत है; इसी तरह उसका चिन्तन-मनन करना चाहिए।

तद्ब्रह्मणस्तदध्यात्मं तद्विष्णोस्तत्परायणम् ।
अचिन्त्यं चिन्मयात्मानं यद्व्योम परमं स्थितम् ॥9॥

वही अध्यात्म है, वही व्यापक ब्रह्मरूप विष्णु का परम स्थान है। वह अचिन्त्य है, वह चैतन्यस्वरूप है और विशाल आकाश के रूप में अवस्थित है।

अशून्यं शून्यभावं तु शून्यातीतं हृदि स्थितम् ।
न ध्यानं च न च ध्याता न ध्येयो ध्येय एव च ॥10॥

वह अशून्य है फिर भी वह शून्यभाव वाला है। और शून्य-अशून्य से परे भी है। वह हृदय में ही अवस्थित है। वह न ध्यानरूप है, न ध्यातारूप है, न ही ध्येयरूप है। फिर भी केवल एक ध्येय तो वही है।

सर्वं च न परं शून्यं न परं नापरात्परम् ।
अचिन्त्यमप्रबुद्धं च न सत्यं न परं विदुः ॥11॥

वह सर्वस्वरूप है। वह सर्व से परे (अलग) नहीं है। वह शून्य नहीं है। वह द्वैतरूप नहीं है। वह अपर (जगत् से परे) नहीं है। ऐसे अचिन्त्य स्थान को आज तक किसी ने नहीं जाना है। इसे किसी ने न तो सत्यरूप से पूरा जाना है या न ही पररूप से पूरा पहचाना है।

मुनीनां सम्प्रयुक्तं च न देवा न परं विदुः ।
लोभं मोहं भयं दर्पं कामं क्रोधं च किल्बिषम् ॥12॥
शीतोष्णे क्षुत्पिपासे च संकल्पकविकल्पकम् ।
न ब्रह्मकुलदर्पं च न मुक्तिग्रन्थिसञ्चयम् ॥13॥
न भयं न सुखं दुःखं तथा मानापमानयोः ।
एतद्भावविनिर्मुक्तं तद्ग्राह्यं ब्रह्म तत्परम् ॥14॥

वह मुनियों के साथ अच्छी तरह से जुड़ा हुआ दिखाई देता है। देव लोग उसे नहीं जानते। और लोग भी उस परमतत्त्व को पहचानते नहीं हैं। लोभ, मोह, भय, गर्व, काम, क्रोध, पाप, शीतता, उष्णता, भूख, प्यास, संकल्प और विकल्प—ये सब उस परमतत्त्व में नहीं हैं। ब्राह्मण कुल का (उच्चकुल का) अभिमान भी वहाँ नहीं है। बन्धन-मुक्ति की ग्रन्थियों का साथ भी उसे नहीं है। मानापमानजन्य सुख-दुःख भी वहाँ नहीं है। वहाँ कोई भय नहीं है। वह उपर्युक्त सभी भावों से रहित है, वही ब्रह्म ग्रहणयोग्य है।

यमो हि नियमस्त्यागो मौनं देशश्च कालतः ।
आसनं मूलबन्धश्च देहसाम्यं च दृक्स्थितिः ॥15॥
प्राणसंयमनं चैव प्रत्याहारश्च धारणा ।
आत्मध्यानं समाधिश्च प्रोक्तान्यङ्गानि वै क्रमात् ॥16॥

योग के ये अंग हैं—यम, नियम, मौन, त्याग, देश, काल, आसन, मूलबन्ध, देहसाम्य, दृष्टि की एकाग्रता, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, आत्मध्यान और समाधि—ये योग के क्रमानुसारी अंग कहे गए हैं।

सर्वं ब्रह्मेति वै ज्ञानादिन्द्रियग्रामसंयमः ।
यमोऽयमिति सम्प्रोक्तोऽभ्यसनीयो मुहुर्मुहुः ॥17॥

'सब कुछ ब्रह्म ही है'—इस प्रकार के ज्ञान से जो आप-ही-आप इन्द्रियों का संयम हो जाता है, उसे 'यम' कहा जाता है। इसका बार-बार अभ्यास करना चाहिए।

सजातीयप्रवाहश्च विजातीयतिरस्कृतिः।
नियमो हि परानन्दो नियमात्क्रियते बुधैः ॥18॥

नियमपूर्वक एक ही प्रकार के विचार करना और अन्य प्रकार के विचारों का तिरस्कार करना ही परम आनंदरूप 'नियम' कहा गया है। ज्ञानियों के द्वारा यह नियम दत्तचित्त होकर किया जाता है।

त्यागः प्रपञ्चरूपस्य सच्चिदात्मावलोकनात्।
त्यागो हि महतां पूज्यः सद्यो मोक्षप्रदायकः ॥19॥

सच्चिद्रूप आत्मा के अवलोकन से इस जगत्‌रूपी प्रपंच को छोड़ना ही त्याग कहलाता है। यह त्याग बड़े लोगों के द्वारा भी आदर से देखा जाता है। क्योंकि वह तुरन्त मोक्ष का प्रदाता है।

यस्माद्वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह।
यन्मौनं योगिभिर्गम्यं तद्भवेत्सर्वदा जडैः ॥20॥

'जिस परमतत्त्व को बिना प्राप्त किए ही वाणी मन के साथ वापस लौट जाती है'—ऐसे विचार से जो मौन रखा जाता है, वही योगियों के द्वारा सिद्ध करने योग्य है और वह मौन जड इन्द्रियों के द्वारा किया जाता है। (यहाँ चौथे चरण में 'तद् भजेत्सर्वदा बुधः'—ऐसा पाठान्तर है। इस पक्ष में यह अर्थ होगा—'वह मौन ज्ञानी हमेशा के लिए करता रहे')।

वाचो यस्मान्निवर्तन्ते तद्वक्तुं केन शक्यते।
प्रपञ्चो यदि वक्तव्यः सोऽपि शब्दविवर्जितः ॥21॥
इति वा तद्भवेन्मौनं सर्वं सहजसंज्ञितम्।
गिरां मौनं तु बालानामयुक्तं ब्रह्मवादिनम् ॥22॥

जिसको बिना कहे वाणी भी वापिस लौट जाती है, वह भला फिर किसके द्वारा कहा जा सकता है ? '(अरे !) यदि जगत् (प्रपंच) का वर्णन करना हो, तो भी वह शब्दों से नहीं कहा जा सकता।'—इस विचार से जो मौन रखा जाता है, उसे 'सहज मौन' नाम दिया गया है। बाकी केवल वाणी का मौन तो बच्चों का अर्थात् अज्ञानियों का ही मौन है। वैसा मौन ब्रह्मवादियों के लिए योग्य नहीं है।

आदावन्ते च मध्ये च जनो यस्मिन्न विद्यते।
येनेदं सततं व्याप्तं स देशो विजनः स्मृतः ॥23॥

जहाँ आदि में, मध्य में या अन्त में कोई लोग या लोक है ही नहीं और जिस एक ही के द्वारा यह सब कुछ व्याप्त हुआ है, ऐसा देश ही वास्तव में 'विजन देश' कहा गया है।

कल्पना सर्वभूतानां ब्रह्मादीनां निमेषतः।
कालशब्देन निर्दिष्टं ह्यखण्डानन्दमद्वयम् ॥24॥

जिसके नेत्र के एक निमिषमात्र से ही सभी भूतों की कल्पना (रचना) हो जाती है वही अखण्ड आनन्दरूप अद्वयतत्त्व यहाँ 'काल' शब्द के द्वारा निर्दिष्ट किया गया है।

सुखेनैव भवेद्यस्मिन्नजस्रं ब्रह्मचिन्तनम्।
आसनं तद्विजानीयादन्यत्सुखविनाशनम् ॥25॥

जहाँ सुखपूर्वक निरन्तर ब्रह्म का चिन्तन किया जा सके उसी को आसन समझना चाहिए। अन्य जो दूसरे आसन हैं, वे तो सुख के विनाशक हैं।

सिद्धये सर्वभूतादि विश्वाधिष्ठानमद्वयम्।
यस्मिन्सिद्धिं गताः सिद्धास्तत्सिद्धासनमुच्यते ॥26॥

सभी भूतों के आदि, जगत् का अधिष्ठान और अद्वैत ब्रह्म, ये ही सिद्ध करने के लिए योग्य तत्त्व है। इन्हें सिद्ध करने वाले मनुष्य स्वयं सिद्ध होते हैं और उसी सिद्धि को सिद्धासन नाम दिया जाता है।

यन्मूलं सर्वलोकानां यन्मूलं चित्तबन्धनम्।
मूलबन्धः सदा सेव्यो योग्योऽसौ ब्रह्मवादिनाम् ॥27॥

जो सभी लोकों का मूल है, जो चित्त के बन्धन का कारण (मूल) हो सकता है, वही मूलबन्ध ब्रह्मवादियों के लिए सदैव सेवन करने योग्य है। अर्थात् सर्वकारण ब्रह्म ही मूलबन्ध है। शरीर की आकुंचनादि क्रिया वास्तव में मूलबन्ध नहीं है। यह राजयोगियों का सेव्य है।

अङ्गानां समतां विद्यात् समे ब्रह्मणि लीयते।
नो चेन्नैव समानत्यमृजुत्वं शुष्कवृक्षवत् ॥28॥

सर्वस्वरूप ब्रह्म में लीनता को ही 'अंगों की समता' कहा जाता है। ऐसा न मानने पर तो सूखे पेड़ की-सी समानता कोई 'समत्व' नहीं है, या वैसी सरलता (वैसा सीधापन) वास्तव में कोई सीधापन नहीं है।

दृष्टिं शास्त्रमयीं कृत्वा पश्येद् ब्रह्ममयं जगत्।
सा दृष्टिः परमोदारा न नासाग्रावलोकिनी ॥29॥

शास्त्रपरक दृष्टि करके जगत् को ब्रह्ममय देखना चाहिए। उसे ही 'परमोदार दृष्टि' कहते हैं। केवल नाक के अग्र भाग को देखना ही कोई वास्तविक एकाग्रता (परमोदार दृष्टि) नहीं कही जा सकती।

द्रष्टृदर्शनदृश्यानां विरामो यत्र वा भवेत्।
दृष्टिस्तत्रैव कर्तव्या न नासाग्रावलोकिनी ॥30॥

जिसमें द्रष्टा, दर्शन और दृश्य का अभाव ही हो जाए, उस ब्रह्म में ही दृष्टि को स्थिर करना चाहिए। केवल नाक के अग्र भाग को देखना कोई वास्तविक 'स्थिर दृष्टि' नहीं कही जाती।

चित्तादिसर्वभावेषु ब्रह्मत्वेनैव भावनात्।
निरोधः सर्ववृत्तीनां प्राणायामः स उच्यते ॥31॥

चित्त आदि सभी पदार्थों में ब्रह्मदृष्टि करने से अन्य सभी चित्तवृत्तियाँ अवरुद्ध हो जाती हैं। इसी को सही प्राणायाम कहा जाता है।

निषेधनं प्रपञ्चस्य रेचकाख्यः समीरितः।
ब्रह्मैवास्मीति या वृत्तिः पूरको वायुरुच्यते ॥32॥
ततस्तद्वृत्तिनैश्चल्यं कुम्भकः प्राणसंयमः।
अयं चापि प्रबुद्धानामज्ञानां प्राणपीडनम् ॥33॥

जगत्रूप प्रपंच का निषेध ही वास्तविक रूप में रेचक है। और 'मैं ब्रह्म हूँ'—ऐसी वृत्ति ही वास्तव में पूरक है। और बाद में उसी वृत्ति की निश्चलता होना ही सही रूप में कुंभक है। यही ज्ञानियों का प्राणायाम है। अज्ञानी लोग ही नाक दबाना आदि को प्राणायाम समझते हैं।

विषयेष्वात्मतां दृष्ट्वा मनसश्चित्तरञ्जकम्।
प्रत्याहारः स विज्ञेयोऽभ्यसनीयो मुहुर्मुहुः ॥34॥

सभी विषयों में आत्मदृष्टि (ब्रह्मदृष्टि) करते हुए मन और चित्त को उसी में लीन करना (और अन्य विषयों से हटा लेना) ही प्रत्याहार है और वह बार-बार अभ्यास करने योग्य है।

यत्र यत्र मनो याति ब्रह्मणस्तत्र दर्शनात्।
मनसा धारणं चैव धारणा सा परा मता ॥35॥

जहाँ-जहाँ मन जाता है, वहाँ-वहाँ मन से ब्रह्म का ही जो दर्शन किया जाता है, वही परम धारणा कही गई है।

ब्रह्मैवास्मीति सद्वृत्या निरालम्बतया स्थितिः।
ध्यानशब्देन व्याख्यातः परमानन्ददायकः ॥36॥

'मैं ब्रह्म हूँ'—इस प्रकार की आलम्बनरहित स्थिति सत् वृत्ति के द्वारा हो, वह विख्यात भाव ध्यान शब्द के द्वारा कहा गया है। वह परम आनन्ददायक भाव है।

निर्विकारतया वृत्त्या ब्रह्माकारतया पुनः।
वृत्तिविस्मरणं सम्यक् समाधिरभिधीयते ॥37॥

और फिर बाद में वही निर्विकार वृत्ति जब ब्रह्माकार हो जाती है और वृत्ति का ही बिल्कुल विस्मरण हो जाता है, तब उस अवस्था को समाधि कहा जाता है।

इमं चाकृत्रिमानन्दं तावत्साधु समभ्यसेत्।
लक्ष्यो यावत्क्षणात्पुंसः प्रत्यक्त्वं सम्भवेत्स्वयम् ॥38॥
ततः साधननिर्मुक्तः सिद्धो भवति योगिराट्।
तत्स्वं रूपं भवेत्तस्य विषयो मनसो गिराम् ॥39॥

इस अकृत्रिम (स्वाभाविक) आनन्द का मनुष्य को तब तक अच्छी तरह से अभ्यास करना चाहिए जब तक कि मनुष्य का लक्ष्य आप-ही-आप प्रत्यक् स्वरूप स्पष्ट न हो जाए। इसके बाद साधनरहित होकर वह मनुष्य सिद्ध योगीराज बन जाता है। और तब उसके मन और वाणी का विषय अपना ब्रह्मरूप ही हो जाता है।

समाधौ क्रियमाणे तु विघ्नान्यायान्ति वै बलात्।
अनुसन्धानराहित्यमालस्यं भोगलालसम् ॥40॥
लयस्तमश्च विक्षेपस्तेजः स्वेदश्च शून्यता।
एवं हि विघ्नबाहुल्यं त्याज्यं ब्रह्मविशारदैः ॥41॥
भाववृत्त्या हि भावत्वं शून्यवृत्त्या हि शून्यता।
ब्रह्मवृत्त्या हि पूर्णत्वं तया पूर्णत्वमभ्यसेत् ॥42॥

समाधि करते समय बलात् अनेकानेक विघ्न आते हैं—अनुसन्धानराहित्य आता है, आलस्य

आता है, भोगलालसा आती है, लय, तमस्, विक्षेप, तेज, पसीना और शून्यता आदि आते हैं। परन्तु, ब्रह्मकुशल लोग उनको हटा सकते हैं। किसी भावात्मक वृत्ति से उस भाव का स्वरूप पाया जा सकता है। शून्य की वृत्ति से शून्यवृत्तिरूप और ब्रह्मवृत्ति से ब्रह्मरूप – पूर्णरूप पाया जा सकता है। इसलिए उसी वृत्ति में रहकर पूर्णता का अनुभव करना चाहिए।

ये हि वृत्तिं विहायैनां ब्रह्माख्यां पावनीं पराम्।
वृथैव ते तु जीवन्ति पशुभिश्च समा नराः ॥43॥

जो लोग इस परमपावन ब्रह्म नाम की वृत्ति को छोड़कर जी रहे हैं, वे तो पशु के समान ही हैं, और वे वृथा ही जी रहे हैं।

ये तु वृत्तिं विजानन्ति ज्ञात्वा वै वर्धयन्ति ये।
ते वै सत्पुरुषा धन्या वन्द्यास्ते भुवनत्रये ॥44॥

जो मनुष्य इस ब्रह्माकारवृत्ति को जानते हैं, और जानकर उसे आगे बढ़ाते हैं अर्थात् परिशीलन करते हैं, वे सत्पुरुष धन्य (कृतार्थ) हैं, और वे तीनों लोकों में वन्दन योग्य हैं।

येषां वृत्तिः समा वृद्धा परिपक्वा च सा पुनः।
ते वै सद् ब्रह्मतां प्राप्ता नेतरे शब्दवादिनः ॥45॥

जिन मनुष्यों की वह ब्रह्मवृत्ति एकसमान रूप से बढ़ती हुई बाद में परिपक्व हो जाती है, वे मनुष्य ही सद्रूप ब्रह्म को प्राप्त होते हैं, पर अन्य लोग जो केवल ऐसे शब्दमात्र ही बोला करते हैं, वे ब्रह्मत्व को प्राप्त नहीं कर सकते।

कुशला ब्रह्मवार्तायां वृत्तिहीनाः सुरागिणः।
तेऽप्यज्ञानतया नूनं पुनरायान्ति यान्ति च ॥46॥

जो लोग ब्रह्म की बातें करने में तो बहुत कुशल होते हैं, पर ब्रह्मवृत्ति से हीन होते हैं और अतिशय आसक्तिवाले होते हैं, वे सचमुच अपने अज्ञान के कारण मृत्यु के बाद पुनः जन्म लेते हैं और जन्म लेकर फिर मृत्यु को प्राप्त करते हैं।

निमिषार्धं न तिष्ठन्ति वृत्तिं ब्रह्ममयीं विना।
यथा तिष्ठन्ति ब्रह्माद्याः सनकाद्याः शुकादयः ॥47॥

वे योगी लोग आधे निमिष तक भी ब्रह्मादि, सनकादि और शुकादि की तरह ब्रह्मवृत्ति के बिना नहीं रह सकते।

कारणं यस्य वै कार्यं कारणं तस्य जायते।
कारणं तत्त्वतो नश्येत् कार्याभावे विचारतः ॥48॥

'कारण ही कार्य है' और 'कार्य ही कारण है'—ऐसी जिसकी वृत्ति होती है, उसके लिए यदि तात्त्विक विचार किया जाए, तो कार्य के अभाव में कारण भी नष्ट हो जाता है।

अथ शुद्धं भवेद्वस्तु यद्वै वाचामगोचरम्।
उदेति शुद्धचित्तानां वृत्तिज्ञानं ततः परम् ॥49॥

फिर तो ऐसे शुद्ध चितवाले मनुष्यों के सामने वाणी से अगोचर शुद्ध ब्रह्मरूप पदार्थ, वृत्ति के ज्ञान में उदित हो जाता है।

भावितं तीव्रवेगेन यद्वस्तु निश्चयात्मकम्।
दृश्यं ह्यदृश्यतां नीत्वा ब्रह्माकारेण चिन्तयेत् ॥50॥
विद्वान्नित्यं सुखे तिष्ठेद्धिया चिद्रसपूर्णया ॥51॥

इति प्रथमोऽध्यायः।
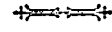
सम्यक् ज्ञान से पहले निश्चयात्मक रूप से बड़ी तत्परता से दृश्यभाव के रूप में जिस वस्तु को माना गया हो, उसी का फिर बाद में अदृश्यता में ले जाकर ब्रह्माकार में चिन्तन-मनन करना चाहिए जिससे उसे जानने वाला होकर अर्थात् ज्ञानी बनकर मनुष्य चैतन्यरस से परिपूर्ण हुई बुद्धि के कारण हमेशा सुख को प्राप्त कर सकता है।

यहाँ प्रथम अध्याय पूरा हुआ।

❋

द्वितीयोऽध्यायः

अथ ह कुमारः शिवं पप्रच्छाऽखण्डैकरसचिन्मात्रस्वरूपमनुब्रूहीति। स होवाच परमशिवः—

फिर कार्त्तिकस्वामी ने (कुमार ने) शिव से पूछा—मुझे आप अखण्ड-एकरसमात्र चिन्मात्र का (चैतन्य मात्र का) उपदेश दीजिए। तब परम शिव ने कहा—

अखण्डैकरसं दृश्यमखण्डैकरसं जगत्।
अखण्डैकरसं भावमखण्डैकरसं स्वयम् ॥1॥
अखण्डैकरसो मन्त्र अखण्डैकरसा क्रिया।
अखण्डैकरसं ज्ञानमखण्डैकरसं जलम् ॥2॥
अखण्डैकरसा भूमिरखण्डैकरसं वियत्।
अखण्डैकरसं शास्त्रमखण्डैकरसा त्रयी ॥3॥
अखण्डैकरसं ब्रह्म चाखण्डैकरसं वृतम्।
अखण्डैकरसो जीव अखण्डैकरसो ह्यजः ॥4॥

दृश्य अखण्ड एकरस है, जगत् अखण्ड एकरस है, भाव अखण्ड एकरस है, स्वयं भी अखण्ड एकरस है। इसी प्रकार मन्त्र, क्रिया, ज्ञान और जल भी अखण्ड एकरस हैं। उसी प्रकार पृथ्वी, आकाश, शास्त्र और तीन वेद भी अखण्ड एकरस हैं। इसी तरह ब्रह्म, वृत्त, जीव और अजन्मा परमात्मा भी अखण्ड एकरस ही है।

अखण्डैकरसो ब्रह्मा अखण्डैकरसो हरिः।
अखण्डैकरसो रुद्र अखण्डैकरसोऽस्म्यहम् ॥5॥
अखण्डैकरसो ह्यात्मा अखण्डैकरसोऽगुरुः।
अखण्डैकरसं लक्ष्यमखण्डैकरसं महः ॥6॥
अखण्डैकरसो देह अखण्डैकरसं मनः।
अखण्डैकरसं चित्तमखण्डैकरसं सुखम् ॥7॥

अखण्डैकरसा विद्या अखण्डैकरसोऽव्ययः।
अखण्डैकरसं नित्यमखण्डैकरसं परम् ॥8॥

ठीक उसी प्रकार ब्रह्मा, हरि (विष्णु), रुद्र और मैं—ये सब भी अखण्ड एकरस रूप ही हैं। और आत्मा, गुरु, लक्ष्यस्थान और तेज भी अखण्ड एकरस हैं। देह, मन, चित्त और सुख भी अखण्ड एकरस है। उसी तरह विद्या, विकारविहीन आत्मा, नित्यत्व, परमतत्त्व ब्रह्मतत्त्व भी अखण्डैकरस ही हैं।

अखण्डैकरसं किंचिदखण्डैकरसं परम्।
अखण्डैकरसादन्यन्नास्ति नास्ति षडानन ॥9॥
अखण्डैकरसान्नास्ति अखण्डैकरसान्न हि।
अखण्डैकरसात्किंचिदखण्डैकरसादहम् ॥10॥

हे षडानन! जो कुछ भी अव्याख्येय है, वह अखण्ड एकरस ही है। वही परम है। अखण्ड एकरस से भिन्न कोई वस्तु है ही नहीं। कुछ है ही नहीं, है ही नहीं। अखण्ड एकरस से अतिरिक्त कोई भी पदार्थ नहीं है। मैं स्वयं भी अखण्ड एकरस से खाली नहीं हूँ।

अखण्डैकरसं स्थूलं सूक्ष्मं चाखण्डरूपकम्।
अखण्डैकरसं वेद्यमखण्डैकरसो भवान् ॥11॥
अखण्डैकरसं गुह्यमखण्डैकरसादिकम्।
अखण्डैकरसो ज्ञाता ह्यखण्डैकरसा स्थितिः ॥12॥
अखण्डैकरसा माता अखण्डैकरसः पिता।
अखण्डैकरसो भ्राता अखण्डैकरसः पतिः ॥13॥

स्थूल, सूक्ष्म, ज्ञेय पदार्थ और तुम—सभी अखण्ड एकरस हैं। गुह्य वस्तु अखण्ड एकरस है और उसका आदि भी अखण्ड एकरस है। ज्ञाता भी अखण्डैकरस है और स्थिति भी अखण्ड एकरस है। माता, पिता, भाई और स्वामी सभी अखण्ड एकरस हैं।

अखण्डैकरसं सूत्रमखण्डैकरसो विराट्।
अखण्डैकरसं गात्रमखण्डैकरसं शिरः ॥14॥
अखण्डैकरसं चान्तरखण्डैकरसं बहिः।
अखण्डैकरसं पूर्णमखण्डैकरसामृतम् ॥15॥
अखण्डैकरसं गोत्रमखण्डैकरसं गृहम्।
अखण्डैकरसं गोप्यमखण्डैकरसश्शशी ॥16॥
अखण्डैकरसास्तारा अखण्डैकरसो रविः।
अखण्डैकरसं क्षेत्रमखण्डैकरसा क्षमा ॥17॥

सूत्रात्मा, विराट्, सभी अवयव और मस्तक अखण्ड एकरस हैं। अन्दर का सब अखण्डैकरस है और बाहर का भी सब अखण्डैकरस ही है। पूर्ण वस्तु अखण्डैकरस है और अमृत अखण्डैकरस है। वंशनाम, घर सब अखण्डैकरस हैं, सब गोपनीय और चन्द्र, सूर्य, तारा भी अखण्ड एकरस है। क्षेत्र, क्षमा भी अखण्ड एकरस हैं।

अखण्डैकरसः शान्त अखण्डैकरसोऽगुणः।
अखण्डैकरसः साक्षी अखण्डैकरसः सुहृत् ॥18॥

अखण्डैकरसो बन्धुरखण्डैकरसः सखा ।
अखण्डैकरसो राजा अखण्डैकरसं पुरम् ॥19॥
अखण्डैकरसं राज्यमखण्डैकरसः प्रजाः ।
अखण्डैकरसं तारमखण्डैकरसो जपः ॥20॥

जो शान्तरस है वह अखण्ड एकरस है, निर्गुण अखण्डैकरस है, साक्षी और मित्र भी अखण्ड एकरस हैं। भाई, सखा, राजा और नगर ये सभी अखण्ड एकरस हैं। राज्य, प्रजा, तारक मन्त्र (ओम्) और जप—सभी अखण्ड एकरस हैं।

अखण्डैकरसं ध्यानमखण्डैकरसं पदम् ।
अखण्डैकरसं ग्राह्यमखण्डैकरसं महत् ॥21॥
अखण्डैकरसं ज्योतिरखण्डैकरसं धनम् ।
अखण्डैकरसं भोज्यमखण्डैकरसं हविः ॥22॥
अखण्डैकरसो होम अखण्डैकरसो जपः ।
अखण्डैकरसं स्वर्गमखण्डैकरसः स्वयम् ॥23॥

ध्यान, परमतत्त्व, ग्राह्य पदार्थ, विशाल वस्तु भी अखण्ड एकरस हैं। ज्योति, धन, खाद्यपदार्थ, होमद्रव्य आदि भी अखण्ड एकरस ही हैं। होमक्रिया, जपक्रिया और स्वयं भी अखण्ड एकरस रूप ही हैं।

अखण्डैकरसं सर्वं चिन्मात्रमिति भावयेत् ।
चिन्मात्रमेव चिन्मात्रमखण्डैकरसं परम् ॥24॥

यह सब मात्र अखण्डैकरस चैतन्य ही है—ऐसा चिन्तन करना चाहिए। सब चैतन्य ही है। और मात्र चैतन्य ही परमतत्त्व है और वही अखण्ड एकरस है।

भववर्जितचिन्मात्रं सर्वं चिन्मात्रमेव हि ।
इदं च सर्वं चिन्मात्रमयं चिन्मात्रमेव हि ॥25॥
आत्मभावं च चिन्मात्रमखण्डैकरसं विदुः ।
सर्वलोकं च चिन्मात्रं त्वत्ता मत्ता च चिन्मयम् ॥26॥
आकाशो भूर्जलं वायुरग्निर्ब्रह्मा हरिः शिवः ।
यत्किञ्चिद्यन्न किञ्चिच्च सर्वं चिन्मात्रमेव हि ॥27॥
अखण्डैकरसं सर्वं यद्यच्चिन्मात्रमेव हि ।
भूतं भव्यं भविष्यच्च सर्वं चिन्मात्रमेव हि ॥28॥

संसार रहित यह सब चिन्मात्र है। यह केवल चैतन्य और मात्र चैतन्य ही है। यह जो आत्मा का भाव (सत्ता) है वह केवल चैतन्य ही है, अखण्ड है, एकरस ही है, ऐसा ज्ञानी लोग मानते हैं। ये सभी लोक चैतन्य हैं, त्वंभाव और अहंभाव भी चैतन्य है। आकाश, पृथ्वी, जल, वायु, अग्नि, ब्रह्मा, विष्णु, महेश, जो कुछ है और जो कुछ नहीं है वह सब चैतन्य ही हैं और जो चिन्मात्र है वह अखण्ड एकरस ही है। भूत, भविष्य और वर्तमान सभी अखण्डैकरस और चैतन्यमय ही हैं।

द्रव्यं कालं च चिन्मात्रं ज्ञानं ज्ञेयं चिदेव हि ।
ज्ञाता चिन्मात्ररूपश्च सर्वं चिन्मयमेव हि ॥29॥

सम्भाषणं च चिन्मात्रं यद्यच्चिन्मात्रमेव हि ।
असच्च सच्च चिन्मात्रमाद्यन्तं चिन्मयं सदा ॥30॥
आदिरन्तश्च चिन्मात्रं गुरुशिष्यादि चिन्मयम् ।
दृग्दृश्यं यदि चिन्मात्रमस्ति चेच्चिन्मयं सदा ॥31॥
सर्वाश्चर्यं हि चिन्मात्रं देहं चिन्मात्रमेव हि ।
लिङ्गं च कारणं चैव चिन्मात्रान्न हि भिद्यते ॥32॥

द्रव्य और काल केवल चैतन्य है, ज्ञान और ज्ञेय केवल चैतन्य है, ज्ञाता भी चिन्मात्र रूप ही है। सब कुछ चिन्मय ही है। संभाषण भी चैतन्यमात्र है, जो भी है वह सब भी चिन्मय है। असत् और सत् भी चैतन्यमात्र है, आदि और अन्त भी चैतन्यमात्र है, गुरु-शिष्य आदि भी चैतन्यमात्र है, और यदि दृक् तथा दृश्य (द्रष्टा और दृश्य) सब चिन्मात्र है, तब तो सब कुछ चिन्मात्र ही है। सभी आश्चर्य, देह, लिंगदेह, इन सबका कारण—ये सभी चिन्मात्र हैं। चिन्मात्र से भिन्न कुछ भी नहीं है।

अहं त्वं चैव चिन्मात्रं मूर्तामूर्तादि चिन्मयम् ।
पुण्यं पापं च चिन्मात्रं जीवश्चिन्मात्रविग्रहः ॥33॥
चिन्मात्रान्नास्ति संकल्पश्चिन्मात्रान्नास्ति वेदनम् ।
चिन्मात्रान्नास्ति मन्त्रादि चिन्मात्रान्नास्ति देवता ॥34॥
चिन्मात्रान्नास्ति दिक्पालाश्चिन्मात्राद्व्यावहारिकम् ।
चिन्मात्रात्परमं ब्रह्म चिन्मात्रान्नास्ति कोऽपि हि ॥35॥
चिन्मात्रान्नास्ति माया च चिन्मात्रान्नास्ति पूजनम् ।
चिन्मात्रान्नास्ति मन्तव्यं चिन्मात्रान्नास्ति सत्यकम् ॥36॥

'मैं' और 'तू' केवल चैतन्य ही हैं। मूर्त-अमूर्त सब केवल चैतन्य है। पुण्य-पाप चिन्मात्र ही है, जीव केवल चिन्मय है। कोई संकल्प चैतन्य से अलग नहीं है, कोई अनुभव, कोई ज्ञान, कोई भी दिक्पाल, कोई भी व्यावहारिक वस्तु चैतन्यमात्र से भिन्न है ही नहीं। परमब्रह्म भी चैतन्य से भिन्न नहीं है। कोई भी पदार्थ चैतन्यमात्र से भिन्न नहीं है। माया भी चिन्मात्र से अलग नहीं है। कोई पूजन भी चिन्मयता से अलग नहीं है। चिन्मात्र से अलग कोई भी पदार्थ मन्तव्य (चिन्तनीय) ही नहीं है। चिन्मात्र से बढ़कर कोई सत्य नहीं है।

चिन्मात्रान्नास्ति कोशादि चिन्मात्रान्नास्ति वै वसु ।
चिन्मात्रान्नास्ति मौनं च चिन्मात्रान्नास्त्यमौनकम् ॥37॥
चिनमात्रान्नास्ति वैराग्यं सर्वं चिन्मात्रमेव हि ।
यच्च यावच्च चिन्मात्रं यच्च यावच्च दृश्यते ॥38॥
यच्च यावच्च दूरस्थं सर्वं चिन्मात्रमेव हि ।
यच्च यावच्च भूतादि यच्च यावच्च लक्ष्यते ॥39॥
यच्च यावच्च वेदान्ताः सर्वं चिन्मात्रमेव हि ।
चिन्मात्रान्नास्ति गमनं चिन्मात्रान्नास्ति मोक्षकम् ॥40॥

निधि आदि भी चैतन्यमात्र से अलग नहीं हैं। चैतन्य से बढ़कर कोई धन नहीं है। कोई मौन या कोई अमौन भी चैतन्य से अलग नहीं है। वैराग्य भी चैतन्य से भिन्न नहीं क्योंकि सब कुछ चिन्मात्र ही है। जो जितना दिखाई देता है वह केवल चैतन्य ही है और जो नहीं दिखाई देता अर्थात् दूर है,

वह भी चिन्मात्र है। जितने और जिस प्रमाण में ये पंचभूत आदि हैं, वे भी चिन्मात्र हैं। जो कुछ भी और जितने प्रमाण में वेदान्त हैं, सब चिन्मात्र हैं। चिन्मात्र से भिन्न कोई गति नहीं, चिन्मय से बढ़कर कोई मोक्ष ही नहीं है।

चिन्मात्रान्नास्ति लक्ष्यं च सर्वं चिन्मात्रमेव हि।
अखण्डैकरसं ब्रह्म चिन्मात्रान्न हि विद्यते ॥41॥
शास्त्रे मयि त्वयीशे च ह्यखण्डैकरसो भवान्।
इत्येकरूपकतया यो वा जानात्यहं त्विति ॥42॥
सकृज्ज्ञानेन मुक्तिः स्यात्सम्यग्ज्ञाने स्वयं सदा ॥43॥

इति द्वितीयोऽध्यायः।
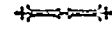
चैतन्य को छोड़कर कोई लक्ष्य ही नहीं है। सब कुछ केवल चित् ही है। सब कुछ अतएव अखण्ड एकरस ही है, चिन्मात्र से अलग कुछ भी नहीं है। शास्त्र में, मुझमें, तुझमें, और ईश्वर में— सबमें आप ही अखण्ड एकरस रूप से विद्यमान हैं। इस प्रकार एकरूपता से सर्वत्र मैं हूँ, ऐसा जो जानता है अर्थात् ऐसे सम्यग् ज्ञान से उसकी तत्काल सदा के लिए मुक्ति हो जाती है।

यहाँ दूसरा अध्याय पूरा हुआ।

❋

तृतीयोऽध्यायः

कुमारः पितरमात्मानुभवमनुब्रूहीति पप्रच्छ। स होवाच परः शिवः—
परब्रह्मस्वरूपोऽहं परमानन्दमस्म्यहम्।
केवलं ज्ञानरूपोऽहं केवलं परमोऽस्म्यहम् ॥1॥
केवलं शान्तरूपोऽहं केवलं चिन्मयोऽस्म्यहम्।
केवलं नित्यरूपोऽहं केवलं शाश्वतोऽस्म्यहम् ॥2॥
केवलं सत्त्वरूपोऽहमहं त्यक्त्वाहमस्म्यहम्।
सर्वहीनस्वरूपोऽहं चिदाकाशमयोऽस्म्यहम् ॥3॥
केवलं तुर्यरूपोऽस्मि तुर्यातीतोऽस्मि केवलः।
सदा चैतन्यरूपोऽस्मि चिदानन्दमयोऽस्म्यहम् ॥4॥

कुमार कार्तिकस्वामी ने अपने पिता शंकर से पूछा—'आप आत्मानुभूति की बात कहिए'। तब परम शिव बोले—'मैं परब्रह्मस्वरूप हूँ, मैं परम आनन्दस्वरूप हूँ, मैं केवल ज्ञानरूप हूँ, मैं केवल परमात्मा हूँ। मैं केवल शान्तरूप हूँ, चैतन्यरूप हूँ, केवल नित्यरूप हूँ, मैं शाश्वत-स्थिर-एकरूप हूँ। मैं केवल सत्त्वस्वरूप हूँ, 'मैं' भाव को छोड़कर 'मैं' हूँ, सर्व से हीन स्वरूपवाला हूँ, मैं चिदाकाशमय हूँ, केवल तुर्यरूप हूँ, और तुर्यातीत (तुर्यतुर्य रूप) भी मैं हूँ। सदैव चैतन्यरूप मैं हूँ। मैं चिदानन्दमय हूँ।

केवलाकाररूपोऽस्मि शुद्धरूपोऽस्म्यहं सदा।
केवलं ज्ञानरूपोऽस्मि केवलं प्रियमस्म्यहम् ॥5॥
निर्विकल्पस्वरूपोऽस्मि निरीहोऽस्मि निरामयः।
सदाऽसङ्गस्वरूपोऽस्मि निर्विकारोऽहमव्ययः ॥6॥

सदैकरसरूपोऽस्मि सदा चिन्मात्रविग्रहः।
अपरिच्छिन्नरूपोऽस्मि ह्यखण्डानन्दरूपवान् ॥7॥
सत्परानन्दरूपोऽस्मि चित्परानन्दमस्म्यहम्।
अन्तरान्तररूपोहमवाङ्मनसगोचरः ॥8॥

मैं केवल आकाररूप हूँ, सदैव शुद्ध रूपवाला हूँ, केवल ज्ञानरूप हूँ, एकमात्र प्रियस्वरूप हूँ, निर्विकल्परूप हूँ, सदा इच्छारहित हूँ, निर्दोष हूँ, सदा असंग स्वरूप हूँ, विकाररहित हूँ, सदैव एकरस हूँ, सदैव चैतन्यमात्र रूप हूँ, असीम स्वरूप वाला हूँ, अखण्ड-आनन्दस्वरूप हूँ, सद्रूप, परानन्दरूप, चिद्रूप, उच्चतम आनन्दरूप, भीतर से भी भीतर के रूपवाला हूँ और वाणी एवं मन का विषय नहीं हूँ।

आत्मानन्दस्वरूपोऽहं सत्यानन्दोऽस्म्यहं सदा।
आत्मारामस्वरूपोऽस्मि ह्ययमात्मा सदाशिवः ॥9॥
आत्मप्रकाशरूपोऽस्मि ह्यात्मज्योती रसोऽस्म्यहम्।
आदिमध्यान्तहीनोऽस्मि ह्याकाशसदृशोऽस्म्यहम् ॥10॥
नित्यशुद्धचिदानन्दसत्तामात्रोऽहमव्ययः।
नित्यबुद्धविशुद्धैकसच्चिदानन्दमस्म्यहम् ॥11॥
नित्यशेषस्वरूपोऽस्मि सर्वातीतोऽस्म्यहं सदा।
रूपातीतस्वरूपोऽस्मि परमाकाशविग्रहः ॥12॥

मैं आत्मानन्दस्वरूप हूँ, सदा सत्य – आनन्द हूँ, आत्मारामस्वरूप हूँ, सदाशिव आत्मा हूँ। मैं आत्मा का प्रकाशरूप हूँ, मैं आत्मज्योतिरूप रसयुक्त हूँ, मैं आदि-मध्य-अन्त हीन हूँ, मैं आकाश जैसा हूँ। मैं नित्य, शुद्ध, चैतन्य, आनन्द और नित्य सत्तामात्र हूँ। मैं निर्विकार, नित्य ज्ञानी, अतिशय शुद्ध और केवल सच्चिदानन्द हूँ। मैं नित्य और 'नेति नेति' करने से शेष रहा हुआ तत्त्व हूँ। मैं सबसे परे, सदा रूपरहित स्वरूपवाला हूँ, मैं परम आकाश जैसे शरीरवाला हूँ।

भूमानन्दस्वरूपोऽस्मि भाषाहीनोऽस्म्यहं सदा।
सर्वाधिष्ठानरूपोऽस्मि सर्वदा चिद्घनोऽस्म्यहम् ॥13॥
देहभावविहीनोऽस्मि चिन्ताहीनोऽस्मि सर्वदा।
चित्तवृत्तिविहीनोऽहं चिदात्मैकरसोऽस्म्यहम् ॥14॥
सर्वदृश्यविहीनोऽहं दृग्रूपोऽस्म्यहमेव हि।
सर्वदा पूर्णरूपोऽस्मि नित्यतृप्तोऽस्म्यहं सदा ॥15॥
अहं ब्रह्मैव सर्वं स्यादहं चैतन्यमेव हि।
अहमेवाहमेवास्मि भूमाकाशस्वरूपवान् ॥16॥

मैं भूमा (विशालतम) आनन्दस्वरूप हूँ। मैं भाषारहित हूँ, सर्वाधिष्ठानस्वरूप हूँ, सर्वदा चिद्घन - सर्वत्र चिद्व्याप्त हूँ, देहभाव से रहित हूँ, सदैव चिन्ता-विचार-हीन हूँ, चित्तवृत्तियों से रहित हूँ, चित्-रूप एकरस वाला हूँ, सभी दृश्यपदार्थों से परे हूँ, केवल द्रष्टा (साक्षी) ही हूँ, सदैव पूर्ण हूँ, सदैव परितुष्ट हूँ, मैं ब्रह्म ही हूँ, यह सर्वचैतन्य मैं ही हूँ, मैं मैं ही हूँ, विशालतम आकाश जैसे व्याप्त शरीरवाला मैं ही हूँ।

अहमेव महानात्मा अहमेव परात्परः।
अहमन्यवदाभामि ह्यहमेव शरीरवत् ॥17॥

अहं शिष्यवदाभामि ह्यहं लोकत्रयाश्रयः ।
अहं कालत्रयातीत अहं वेदैरुपासितः ॥18॥
अहं शास्त्रेण निर्णीत अहं चित्ते व्यवस्थितः ।
मत्त्यक्तं नास्ति किंचिद्वा मत्त्यक्तं पृथिवी च वा ॥19॥
मयातिरिक्तं यद्यद्वा तत्तन्नास्तीति निश्चिनु ।
अहं ब्रह्मास्मि सिद्धोऽस्मि नित्यशुद्धोऽस्म्यहं सदा ॥20॥

मैं ही महान् आत्मा हूँ, मैं परमत्त्व से भी परतत्त्व हूँ। मैं अन्य-सा मात्र दिखाई ही देता हूँ, मैं ही शरीर जैसा लग रहा हूँ, मैं शिष्य जैसा लग रहा हूँ, मैं तीनों लोकों का आश्रय हूँ, मैं भूत, भविष्य और वर्तमान—तीनों कालों से परे हूँ, मैं ही वेदों के द्वारा उपासित हूँ। मैं ही शास्त्रों के द्वारा निर्णीत किया गया हूँ, मैं चित्त में रहा हूँ, मुझसे कोई भी त्यागा नहीं गया है, अव्यक्त, पृथ्वी सबमें मैं व्याप्त हूँ। मुझसे रिक्त जो है वह है ही नहीं, ऐसा निश्चय जान लो। मैं ही ब्रह्म हूँ, सिद्ध हूँ, नित्य शुद्ध हूँ।

निर्गुणः केवलात्मास्मि निराकारोस्म्यहं सदा ।
केवलं ब्रह्ममात्रोऽस्मि ह्यजरोऽस्म्यमरोऽस्म्यहम् ॥21॥
स्वयमेव स्वयं भामि स्वयमेव सदात्मकः ।
स्वयमेवात्मनि स्वस्थः स्वयमेव परा गतिः ॥22॥
स्वयमेव स्वयं भुञ्जे स्वयमेव स्वयं रमे ।
स्वयमेव स्वयं ज्योतिः स्वयमेव स्वयं महः ॥23॥
स्वस्यात्मनि स्वयं रंस्ये स्वात्मन्येव विलोकये ।
स्वात्मन्येव सुखासीनः स्वात्ममात्रावशेषकः ॥24॥

मैं केवल निर्गुण आत्मा हूँ, सदैव निराकार हूँ, मैं केवल (मात्र) ब्रह्म हूँ, अजर हूँ, अमर हूँ। मैं स्वयं ही अपना प्रकाश करता हूँ। मैं स्वयं सदा आत्मरूप हूँ। स्वयं अपने आत्मा में रहता हूँ, स्वयं ही परमगति हूँ। मैं स्वयं अपने को खाता हूँ, मैं अपने आपसे ही खेलता हूँ, मैं अपने आपमें ज्योति रूप हूँ, मैं ही अपना प्रकाश हूँ। मैं अपने आपमें ही खेलता हूँ, अपने आपमें ही देखता हूँ, अपने आपमें ही सुख से अवस्थित होकर अपने में ही स्वयं शेष रहता हूँ।

स्वचैतन्ये सदा स्थास्ये स्वात्मराज्ये सुखे रमे ।
स्वात्मसिंहासने स्थित्वा स्वात्मनोऽत्यन्न चिन्तये ॥25॥
चिद्रूपमात्रं ब्रह्मैव सच्चिदानन्दमद्वयम् ।
आनन्दघन एवाहमहं ब्रह्मास्मि केवलम् ॥26॥
सर्वदा सर्वशून्योऽहं सर्वात्मानन्दवानहम् ।
नित्यानन्दस्वरूपोऽहमात्माकाशोऽस्मि नित्यदा ॥27॥
अहमेव हृदाकाशश्चिदादित्यस्वरूपवान् ।
आत्मनात्मनि तृप्तोऽस्मि ह्यरूपोऽस्म्यहमव्ययः ॥28॥

मैं अपने चैतन्य में सदैव रहता हूँ। अपने आत्मरूप राज्य में सिंहासन पर बैठकर अपने आत्मा से अलग किसी का चिन्तन नहीं करता। केवल चैतन्यरूप ब्रह्म ही सच्चिदानन्द और अद्वैत है। मैं ही आनन्दमय हूँ, मैं ही वह ब्रह्म हूँ, मात्र ब्रह्म ही हूँ। मैं सर्वदा सर्व से शून्य हूँ। मैं ही सबका आत्मा

और मैं ही सर्वानन्दमय हूँ। मैं नित्यानन्दस्वरूप आकाश की तरह व्यापक हूँ। मैं हृदयाकाश रूप प्रकाशमान चिदाकाश हूँ। मैं अपने आत्मा में आत्मा से ही परितृप्त हूँ। मैं अरूप हूँ, मैं अव्यय हूँ।

एकसंख्याविहीनोऽस्मि नित्यमुक्तस्वरूपवान् ।
आकाशादपि सूक्ष्मोऽहमाद्यन्ताभाववानहम् ॥29॥
सर्वप्रकाशरूपोऽहं परावरसुखोऽस्म्यहम् ।
सत्तामात्रस्वरूपोऽहं शुद्धमोक्षस्वरूपवान् ॥30॥
सत्यानन्दस्वरूपोऽहं ज्ञानानन्दघनोऽस्म्यहम् ।
विज्ञानमात्ररूपोऽहं सच्चिदानन्दलक्षणः ॥31॥
ब्रह्ममात्रमिदं सर्वं ब्रह्मणोऽन्यन्न किञ्चन ।
तदेवाहं सदानन्दं ब्रह्मैवाहं सनातनम् ॥32॥

मैं एक संख्या से रहित हूँ। मैं नित्यमुक्त स्वरूप वाला हूँ। मैं आकाश से भी सूक्ष्म हूँ। मैं आदि-अन्त से रहित हूँ। मैं सर्वप्रकाशरूप, परमोत्तम (दिव्य) सुखरूप, केवल सद्रूप, शुद्ध मोक्षस्वरूप, सत्य और आनन्दस्वरूप, ज्ञान और आनन्दघन, केवल विज्ञानरूप, सच्चिदानन्द ही हूँ। यह सब भी केवल ब्रह्मस्वरूप ही है, ब्रह्म से अतिरिक्त कुछ है ही नहीं। और वह मैं हूँ। मैं ही वह सदानन्दरूप सनातन ब्रह्म हूँ।

त्वमित्येतत्तदित्येतन्मत्तोऽन्यन्नास्ति किञ्चन ।
चिच्चैतन्यस्वरूपोऽहमहमेव परः शिवः ॥33॥
अतिभावस्वरूपोऽहमहमेव सुखात्मकः ।
साक्षिवस्तुविहीनत्वात्साक्षित्वं नास्ति मे सदा ॥34॥
केवलं ब्रह्ममात्रत्वादहमात्मा सनातनः ।
अहमेवादिशेषोऽहमहं शेषोऽहमेव च ॥35॥
नामरूपविमुक्तोऽहमहमानन्दविग्रहः ।
इन्द्रियाभावरूपोऽहं सर्वभावस्वरूपकः ॥36॥

'तू' और 'वह' मुझसे अलग नहीं हैं। कुछ भी मुझसे अलग नहीं है। मैं ज्ञानरूप और चैतन्यरूप हूँ। मैं ही परमशिव हूँ। मैं सर्व पदार्थों से परे रहने वाला पदार्थ हूँ, मैं ही सुखस्वरूप हूँ। मैं साक्षी के लिए (साक्ष्य) वस्तु का अभाव हो जाने से सभी काल में साक्षी नहीं बना रहता परन्तु केवल ब्रह्मत्व मात्र से ही मैं सदा शाश्वत आत्मरूप में रहता हूँ। मैं ही आदि में शेष होता हूँ और अन्त में भी मैं ही शेष रहता हूँ। मेरा न कोई नाम है, न रूप है, मैं तो केवल आनन्दस्वरूप हूँ। मुझमें इन्द्रियाँ नहीं है, फिर भी सब पदार्थों में मैं ही तो हूँ। (मैं सर्वभावरूप हूँ)।

बन्धमुक्तिविहीनोऽहं शाश्वतानन्दविग्रहः ।
आदिचैतन्यमात्रोऽहमखण्डैकरसोऽस्म्यहम् ॥37॥
वाङ्मनोऽगोचरश्चाहं सर्वत्र सुखवानहम् ।
सर्वत्र पूर्णरूपोऽहं भूमानन्दमयोऽस्म्यहम् ॥38॥
सर्वत्र तृप्तिरूपोऽहं परामृतरसोऽस्म्यहम् ।
एकमेवाद्वितीयं सद् ब्रह्मैवाहं न संशयः ॥39॥

सर्वशून्यस्वरूपोऽहं सकलागमगोचरः ।
मुक्तोऽहं मोक्षरूपोऽहं निर्वाणसुखरूपवान् ॥40॥

मैं बन्ध-मोक्ष से रहित, सनातन आनन्दरूप शरीर वाला, केवल आदिचैतन्य और अखण्ड एकरस हूँ। मैं वाणी और मन का विषय नहीं हूँ। मैं सर्वत्र सुखस्वरूप, सर्वत्र पूर्णरूप और सर्वातिशय आनन्दस्वरूप हूँ। मैं सर्वत्र तृप्तिरूप, परम अमृत रसस्वरूप, एक, अद्वितीय, ऐसा ब्रह्म ही हूँ, इसमें कोई सन्देह नहीं। मैं सर्वत्र शून्यस्वरूप हूँ। मैं सभी सत्प्रतिपादक शास्त्रों का प्रतिपाद्य विषय हूँ। मैं मुक्त, मोक्षरूप और निर्वाणस्वरूप वाला हूँ।

सत्यविज्ञानमात्रोऽहं सन्मात्रानन्दवानहम् ।
तुरीयातीतरूपोऽहं निर्विकल्पस्वरूपवान् ॥41॥
सर्वदा ह्यजरूपोऽहं नीरागोऽस्मि निरञ्जनः ।
अहं शुद्धोऽस्मि बुद्धोऽस्मि नित्योऽस्मि प्रभुरस्म्यहम् ॥42॥
ओंकारार्थस्वरूपोऽस्मि निष्कलङ्कमयोऽस्म्यहम् ।
चिदाकारस्वरूपोऽस्मि नाहमस्मि न सोऽस्म्यहम् ॥43॥
न हि किञ्चित्स्वरूपोऽस्मि निर्व्यापारस्वरूपवान् ।
निरंशोऽस्मि निराभासो न मनो नेन्द्रियोऽस्म्यहम् ॥44॥

मैं केवल सत्य, केवल विज्ञान हूँ, मैं केवल सत्य और आनन्दस्वरूप ही हूँ, मैं तुरीय से भी परे स्वरूपवाला हूँ, मैं निर्विकल्प हूँ। मैं सभी कालों में अजन्मा हूँ। मैं रागरहित और निरंजन हूँ। मैं शुद्ध, ब्रह्म, नित्य हूँ। मैं प्रभु हूँ। मैं ओंकार का अर्थस्वरूप हूँ। निष्कलंक और चैतन्य के स्वरूपवाला हूँ। मैं 'मैं' भी नहीं हूँ और 'तू' भी नहीं हूँ। मेरा कोई स्वरूप ही नहीं है। मैं व्यापाररहित स्वरूप वाला हूँ। मैं अंशहीन और आभासहीन हूँ। मैं न मन हूँ, न इन्द्रिय ही हूँ।

न बुद्धिर्न विकल्पोऽहं न देहादित्रयोऽस्म्यहम् ।
न जाग्रत्स्वप्नरूपोऽहं न सुषुप्तिस्वरूपवान् ॥45॥
न तापत्रयरूपोऽहं नेषणात्रयवानहम् ।
श्रवणं नास्ति मे सिद्धेर्मननं च चिदात्मनि ॥46॥
सजातीयं न मे किञ्चिद्विजातीयं न मे क्वचित् ।
स्वगतं च न मे किञ्चिन्न मे भेदत्रयं क्वचित् ॥47॥
असत्यं हि मनोरूपमसत्यं बुद्धिरूपकम् ।
अहङ्कारमसद्धीति नित्योऽहं शाश्वतो ह्यजः ॥48॥

मैं बुद्धि नहीं हूँ, विकल्प नहीं हूँ, स्थूल-सूक्ष्म-कारणरूप तीनों देह नहीं हूँ, जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्तिरूप तीनों अवस्थाएँ नहीं हूँ, आध्यात्मिक-आधिभौतिक-आध्यात्मिक तीनों नामरूप नहीं हूँ, पुत्रैषणा-वित्तैषणा-लोकैषणारूप तीनों एषणाएँ नहीं हूँ। मेरा कोई श्रवण नहीं, चित्स्वरूप आत्मा में कोई मनन भी तो नहीं है। मेरा कोई सजातीय नहीं, विजातीय भी नहीं और स्वगत भी नहीं—ये तीन भेद मुझमें नहीं हैं। मन का रूप असत्य है, बुद्धि का रूप भी तो असत्य ही है, और अहंकार भी असत् है। इसलिए मैं ही शाश्वत नित्य हूँ।

देहत्रयमसद्विद्धि कालत्रयमसत्सदा ।
गुणत्रयमसद्विद्धि ह्यहं सत्यात्मकः शुचिः ॥49॥

श्रुतं सर्वमसद्विद्धि वेदं सर्वमसत्सदा ।
शास्त्रं सर्वमसद्विद्धि ह्यहं सत्यचिदात्मकः ॥50॥
मूर्तित्रयमसद्विद्धि सर्वभूतमसत्सदा ।
सर्वसत्त्वमसद्विद्धि ह्यहं भूमा सदाशिवः ॥51॥
गुरुशिष्यमसद्विद्धि गुरोर्मन्त्रमसत्ततः ।
यद्दृश्यं तदसद्विद्धि न मां विद्धि तथाविधम् ॥52॥

स्थूल-सूक्ष्म-कारणरूप तीनों देह को असत् मानो। भूत-भविष्य-वर्तमान तीनों कालों को सदा असत् मानो। सत्त्व-रजस्-तमस् तीनों गुणों को असत् मानो। सत्यरूप और निर्मल तो मैं ही हूँ। शास्त्रों को, वेदों को, श्रवण को असत् मानो। मैं ही एक सत्य चिदात्मक हूँ। ब्रह्मा-विष्णु-महेश की तीन मूर्तियों को असत् मानो। सब प्राणिसमूह को असत् मानो। सर्व भूतों को (पाँच भूतों को) असत् मानो। मैं ही सर्वव्यापक सदाशिव हूँ। गुरु-शिष्य को असत् मानो पर मुझे ऐसा नहीं मानो।

यच्चिन्त्यं तदसद्विद्धि यन्न्याय्यं तदसत्सदा ।
यद्धितं तदसद्विद्धि न मां विद्धि तथाविधम् ॥53॥
सर्वान्प्राणानसद्विद्धि सर्वान्भोगानसत्त्विति ।
दृष्टं श्रुतमसद्विद्धि ओतं प्रोतमसन्मयम् ॥54॥
कार्याकार्यमसद्विद्धि नष्टं प्राप्तमसन्मयम् ।
दुःखादुःखमसद्विद्धि सर्वासर्वमसन्मयम् ॥55॥
पूर्णापूर्णमसद्विद्धि धर्माधर्ममसन्मयम् ।
लाभालाभावसद्विद्धि जयाजयमसन्मयम् ॥56॥

जो चिन्तनीय है उसे असत् मानो और जो तर्कपूत-न्याय्य है उसे भी असत् मानो। जो हित है उसे असत् मानो। पर मुझे ऐसा नहीं मानना चाहिए। सभी प्राणों को मिथ्या मानो, सब भोगों को मिथ्या मानो, जो दृष्ट और श्रुत है उसे भी मिथ्या मानो, जो ओत-प्रोत है उसे मिथ्या मानो, कार्याकार्य को मिथ्या समझो, जो नष्ट है या जो प्राप्त है उसे भी मिथ्या मानो, दु:ख और अदु:ख को भी झूठा समझो, सर्व और असर्व को भी असत् मान लो, पूर्ण और अपूर्ण को मिथ्या जानो, जय और पराजय को भी मिथ्या ही मान लो।

शब्दं सर्वमसद्विद्धि स्पर्शं सर्वमसत्सदा ।
रूपं सर्वमसद्विद्धि रसं सर्वमसन्मयम् ॥57॥
गन्धं सर्वमसद्विद्धि सर्वाज्ञानमसन्मयम् ।
असदेव सदा सर्वमसदेव भवोद्भवम् ॥58॥
असदेव गुणं सर्वं सन्मात्रमहमेव हि ।
स्वात्ममन्त्रं सदा पश्येत् स्वात्ममन्त्रं सदाभ्यसेत् ॥59॥
अहं ब्रह्मास्मि मन्त्रोऽयं दृश्यपापं विनाशयेत् ।
अहं ब्रह्मास्मि मन्त्रोऽयमन्यमन्त्रं विनाशयेत् ॥60॥

सभी शब्द को, सभी स्पर्श को, सभी रूप को, सभी रस को, सभी गन्ध को हमेशा के लिए असत् (मिथ्या) ही जानो और सभी अज्ञान को भी मिथ्या ही मानो। सब कुछ सदैव असत् ही है। इस संसार में उत्पन्न हुआ सब कुछ मिथ्या ही है। सभी गुण भी असत् हैं। सत् तो केवल मैं ही हूँ। अपने

आत्मरूप मन्त्र का सदा दर्शन करते ही रहना चाहिए और उसी - अपने आत्मा के मन्त्र का - अभ्यास (रटन) करना चाहिए। 'मैं ब्रह्म हूँ'—यह आत्म मन्त्र दृश्य (दिखाई देने वाले) पाप का नाश करता है, और वही 'मैं ब्रह्म हूँ' का आत्ममन्त्र अन्य मन्त्रों का भी विनाश कर देता है।

अहं ब्रह्मास्मि मन्त्रोऽयं देहदोषं विनाशयेत्।
अहं ब्रह्मास्मि मन्त्रोऽयं जन्मपापं विनाशयेत् ॥61॥
अहं ब्रह्मास्मि मन्त्रोऽयं मृत्युपाशं विनाशयेत्।
अहं ब्रह्मास्मि मन्त्रोऽयं द्वैतदुःखं विनाशयेत् ॥62॥
अहं ब्रह्मास्मि मन्त्रोऽयं भेदबुद्धिं विनाशयेत्।
अहं ब्रह्मास्मि मन्त्रोऽयं चिन्तादुःखं विनाशयेत् ॥63॥
अहं ब्रह्मास्मि मन्त्रोऽयं बुद्धिव्याधिं विनाशयेत्।
अहं ब्रह्मास्मि मन्त्रोऽयं चित्तबन्धं विनाशयेत् ॥64॥

'मैं ब्रह्म हूँ' – 'अहं ब्रह्मास्मि' – यह मन्त्र देह के दोषों का नाश करता है, यही मन्त्र जन्मों के पाप का नाश करता है, यही मन्त्र मृत्यु के बन्धन का नाश करता है, यह मन्त्र द्वैत के दुःखों का नाश कर देता है। यही मन्त्र भेदबुद्धि का नाश करता है, यह मन्त्र चिन्ता से उत्पन्न होने वाली पीडा को हटा देता है, यह मन्त्र बुद्धिरूपी व्याधि का नाश करता है, यह मन्त्र चित्तरूपी बन्धन को नष्ट कर देता है।

अहं ब्रह्मास्मि मन्त्रोऽयं सर्वव्याधीन् विनाशयेत्।
अहं ब्रह्मास्मि मन्त्रोऽयं सर्वशोकं विनाशयेत् ॥65॥
अहं ब्रह्मास्मि मन्त्रोऽयं कामादीन्नाशयेत्क्षणात्।
अहं ब्रह्मास्मि मन्त्रोऽयं क्रोधशक्तिं विनाशयेत् ॥66॥
अहं ब्रह्मास्मि मन्त्रोऽयं चित्तवृत्तिं विनाशयेत्।
अहं ब्रह्मास्मि मन्त्रोऽयं संकल्पादीन्विनाशयेत् ॥67॥
अहं ब्रह्मास्मि मन्त्रोऽयं कोटिदोषं विनाशयेत्।
अहं ब्रह्मास्मि मन्त्रोऽयं सर्वतन्त्रं विनाशयेत् ॥68॥

यह 'अहं ब्रह्मास्मि' मन्त्र सभी व्याधियों का विनाश कर देता है, यही मन्त्र सब शोक को मिटा देता है, यही मन्त्र एक क्षण में कामादि दोषों को दूर कर देता है। यही मन्त्र क्रोधशक्ति का नाश कर देता है, यही मन्त्र चित्तवृत्ति का शमन कर देता है, यही मन्त्र संकल्पादि को नष्ट कर देता है, यही मन्त्र करोड़ों दोषों का नाश करता है और यही मन्त्र सब तन्त्रों का भी नाश कर देता है।

अहं ब्रह्मास्मि मन्त्रोऽयमात्माज्ञानं विनाशयेत्।
अहं ब्रह्मास्मि मन्त्रोऽयमात्मलोकजयप्रदः ॥69॥
अहं ब्रह्मास्मि मन्त्रोऽयमप्रतर्क्यसुखप्रदः।
अहं ब्रह्मास्मि मन्त्रोऽयमजडत्वं प्रयच्छति ॥70॥
अहं ब्रह्मास्मि मन्त्रोऽयमनात्मासुरमर्दनः।
अहं ब्रह्मास्मि वज्रोऽयमनात्माख्यगिरीन्हरेत् ॥71॥
अहं ब्रह्मास्मि मन्त्रोऽयमनात्माख्यासुरान्हरेत्।
अहं ब्रह्मास्मि मन्त्रोऽयं सर्वांस्तान्मोक्षयिष्यति ॥72॥

यह 'अहं ब्रह्मास्मि' मन्त्र आत्मा के अज्ञान को दूर करता है, यह मन्त्र आत्मलोक को जीतता है, यही मन्त्र अकल्पनीय सुख देने वाला है, यही मन्त्र अजडत्व (चैतन्य) को देने वाला है, यह मन्त्र अनात्मारूपी असुर का नाश करने वाला है, यह मन्त्र अनात्मारूप पर्वत को तोड़ने वाला वज्र है। यह मन्त्र अनात्मा रूपी असुरों का नाश करने वाला है, यह मन्त्र सभी उपासकों को मोक्ष ही देने वाला है।

अहं ब्रह्मास्मि मन्त्रोऽयं ज्ञानानन्दं प्रयच्छति।
सप्तकोटिमहामन्त्रं जन्मकोटिशतप्रदम् ॥73॥
सर्वतन्त्रान्समुत्सृज्य एतं मन्त्रं समभ्यसेत्।
सद्यो मोक्षमवाप्नोति नात्र सन्देहमण्वपि ॥74॥

इति तृतीयोऽध्यायः।
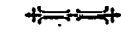
'मैं ब्रह्म हूँ' – 'अहं ब्रह्मास्मि'—यह मन्त्र ज्ञान का आनन्द देता है। और यह मन्त्र सात करोड़ महामन्त्रों की समानता रखता है, और करोड़ों जन्मों के बन्धनों को काट डालता है। इसलिए अन्य सभी मन्त्रों को छोड़कर इसी मन्त्र का अभ्यास करना चाहिए, जिससे मनुष्य तुरन्त ही मोक्ष को प्राप्त कर लेता है, इसमें कोई भी सन्देह नहीं है।

यहाँ तीसरा अध्याय पूरा हुआ।

❈

चतुर्थोऽध्यायः

कुमारः परमेश्वरं पप्रच्छ जीवन्मुक्तविदेहमुक्तयोः स्थितिमनुब्रूहीति। स होवाचः परः शिवः—

कुमार ने परमेश्वर से पूछा—'जीवन्मुक्त और विदेहमुक्त की स्थिति कहिए'। तब वह परमशिव बोले—

चिदात्माहं परात्माहं निर्गुणोऽहं परात्परः।
आत्ममात्रेण यस्तिष्ठेत्स जीवन्मुक्त उच्यते ॥1॥
देहत्रयातिरिक्तोऽहं शुद्धचैतन्यमस्म्यहम्।
ब्रह्माहमिति यस्यान्तः स जीवन्मुक्त उच्यते ॥2॥
आनन्दघनरूपोऽस्मि परानन्दघनोऽस्म्यहम्।
यस्य देहादिकं नास्ति यस्य ब्रह्मेति निश्चयः।
परमानन्दपूर्णो यः स जीवन्मुक्त उच्यते ॥3॥
यस्य किंचिदहं नास्ति चिन्मात्रेणावतिष्ठते।
चैतन्यमात्रो यस्यान्तश्चिन्मात्रैकस्वरूपवान् ॥4॥

'मैं चिदात्मा हूँ, मैं परमात्मा हूँ, मैं निर्गुण हूँ, मैं पर से भी परे हूँ'—इस प्रकार जो मनुष्य केवल आत्मा में ही अवस्थित होता है, वह जीवन्मुक्त कहा जाता है। 'मैं स्थूल-सूक्ष्म-कारण, इन तीनों देहों से अलग हूँ, मैं शुद्ध चैतन्य स्वरूप हूँ, मैं ब्रह्म हूँ'—इस प्रकार का चिन्तन जिसके अन्तःकरण में होता रहता हो, वह जीवन्मुक्त कहलाता है। 'मैं आनन्दरूप हूँ, मैं परमानन्दघन हूँ'—ऐसे विचार से जिसका

देह आदि से कोई सम्बन्ध ही नहीं रहता और 'मैं ब्रह्म ही हूँ' ऐसा जिसको निश्चय हो चुका हो और जो परमानन्द से पूर्ण हो गया हो, उसे 'जीवन्मुक्त' कहा जाता है। जिसमें किसी भी प्रकार का 'अहंभाव' नहीं है, जो केवल चिन्मात्र भाव में अवस्थित रहता है, जिसके अंतस् में केवल चैतन्य ही रममाण होने से जो केवल चिन्मात्ररूप स्वरूप वाला रहता है।

सर्वत्र पूर्णरूपात्मा सर्वत्रात्मावशेषकः।
आनन्दरतिरव्यक्तः परिपूर्णश्चिदात्मकः ॥5॥
शुद्धचैतन्यरूपात्मा सर्वसङ्गविवर्जितः।
नित्यानन्दः प्रसन्नात्मा ह्यन्यचिन्ताविवर्जितः ॥6॥
किञ्चिदस्तित्वहीनो यः स जीवन्मुक्त उच्यते।
न मे चित्तं न मे बुद्धिर्नाहङ्कारो न चेन्द्रियम् ॥7॥

वह सर्वत्र व्यापक पूर्ण आत्मरूप में रहता है, सभी व्याप्य पदार्थों के बाद भी वह शेष रहता है। वह अपने आनंद में ही प्रेम रखता है। वह अव्यक्त है, परिपूर्ण है, चैतन्यात्मक है, शुद्ध चैतन्य स्वरूपवाला है, सभी प्रकार की आसक्ति से वह मुक्त है, नित्यानन्दस्वरूप है, सदैव प्रसन्न रहता है। आत्मातिरिक्त किसी अन्य विचार से वह रहित होता है। आत्मातिरिक्त अन्य किसी अस्तित्व को वह नहीं मानता; ऐसा जो मनुष्य होता है, वह जीवन्मुक्त कहलाता है। वह ऐसा सोचता है कि यह चित्त, यह बुद्धि, ये इन्द्रियाँ—सब कुछ मेरा नहीं है। (और भी—)

न मे देहः कदाचिद् वा न मे प्राणादयः क्वचित्।
न मे माया न मे कामो न मे क्रोधः परोऽस्म्यहम् ॥8॥
न मे किञ्चिदिदं वापि न मे किञ्चित्क्वचिज्जगत्।
न मे दोषो न मे लिङ्गं न मे चक्षुर्न मे मनः ॥9॥
न मे श्रोत्रं न मे नासा न मे जिह्वा न मे करः।
न मे जाग्रन्न मे स्वप्नं न मे कारणमण्वपि ॥10॥
न मे तुरीयमिति यः स जीवन्मुक्त उच्यते।
इदं सर्वं न मे किञ्चिदयं सर्वं न मे क्वचित् ॥11॥

देह कभी मेरा नहीं है, प्राण आदि मेरे नहीं हैं, माया मेरी नहीं है, कामना मेरी नहीं है, क्रोध मेरा नहीं है, मैं तो सबसे परे हूँ। यह जो कुछ है वह मेरा नहीं है, कोई भी, कहीं भी, कभी भी यह जगत् मेरा नहीं है, दोष मेरा नहीं, जाति या चिह्न मेरा नहीं, आँख मेरी नहीं, मन मेरा नहीं, कान भी मेरा नहीं, नाक भी मेरा नहीं, जीभ मेरी नहीं, जाग्रत् मुझे नहीं, स्वप्न भी मेरा नहीं, मेरा कारण अणु भी नहीं है। मेरी कोई तुरीयावस्था भी नहीं है—ऐसा सोचने वाला जीवन्मुक्त कहा जाता है। वह आगे सोचता रहता है कि यह दिखाई देने वाला कुछ भी मेरा नहीं है और वह भी मेरा नहीं है (अर्थात् मैं निर्लेप हूँ)।

न मे कालो न मे देशो न मे वस्तु न मे मतिः।
न मे स्नानं न मे सन्ध्या न मे दैवं न मे स्थलम् ॥12॥
न मे तीर्थं न मे सेवा न मे ज्ञानं न मे पदम्।
न मे बन्धो न मे जन्म न मे वाक्यं न मे रविः ॥13॥

न मे पुण्यं न मे पापं न मे कार्यं न मे शुभम्।
न मे जीव इति स्वात्मा न मे किञ्चिज्जगत्त्रयम् ॥14॥
न मे मोक्षो न मे द्वैतं न मे वेदो न मे विधिः।
न मेऽन्तिकं न मे दूरं न मे बोधो न मे रहः ॥15॥

काल मेरा नहीं है, देश मेरा नहीं है, वस्तु मेरी नहीं है, बुद्धि मेरी नहीं है, स्नान मेरा नहीं, सन्ध्या मेरी नहीं, दैव मेरा नहीं, स्थल मेरा नहीं है। मेरा तीर्थ नहीं, मेरी सेवा नहीं, मेरा ज्ञान नहीं, मेरा स्थान नहीं, मेरा बन्ध नहीं, मेरा जन्म नहीं, मेरा वाक्य नहीं, मेरा सूर्य नहीं है, मेरा पुण्य नहीं, मेरा पाप नहीं, मेरा कार्य नहीं, मेरा शुभ नहीं, मेरा जीव नहीं, मैं स्वयं आत्मा हूँ, ये तीनों जगत् में से मेरा कुछ भी नहीं है। मेरा मोक्ष नहीं है, द्वैत मेरा नहीं है, वेद मेरा नहीं, विधि मेरा नहीं, मेरे लिए कोई नजदीकी या दूरी भी नहीं है, मेरा कोई ज्ञान नहीं, मेरा कोई एकान्त नहीं है।

न मे गुरुर्न मे शिष्यो न मे हीनो न चाधिकः।
न मे ब्रह्मा न मे विष्णुर्न मे रुद्रो न चन्द्रमाः ॥16॥
न मे पृथ्वी न मे तोयं न मे वायुर्न मे वियत्।
न मे वह्निर्न मे गोत्रं न मे लक्ष्यं न मे भवः ॥17॥
न मे ध्याता न मे ध्येयं न मे ध्यानं न मे मनुः।
न मे शीतं न मे चोष्णं न मे तृष्णा न मे क्षुधा ॥18॥
न मे मित्रं न मे शत्रुर्न मे मोहो न मे जयः।
न मे पूर्वं न मे पश्चान्न मे चोर्ध्वं न मे दिशः ॥19॥

मेरा कोई गुरु नहीं, कोई शिष्य नहीं, मुझसे कोई हल्का या निम्न नहीं, कोई उच्च भी नहीं, मेरे लिए कोई ब्रह्मा नहीं, कोई विष्णु नहीं, कोई रुद्र नहीं, कोई चन्द्र नहीं है। मेरी कोई पृथ्वी नहीं, कोई जल नहीं, कोई वायु नहीं, मेरा कोई आकाश नहीं है। मेरा कोई अग्नि नहीं, कोई गोत्र नहीं, कोई लक्ष्य नहीं, मेरा कोई संसार ही नहीं है। मेरा कोई ध्याता नहीं, कोई ध्येय नहीं, कोई ध्यान नहीं, मेरा कोई मन्त्र नहीं है (अथवा कालमान नहीं है)। मेरे लिए कोई शीत नहीं, कोई उष्ण नहीं है, मेरी कोई तृष्णा नहीं है, कोई क्षुधा भी नहीं है। मेरा कोई मित्र नहीं, कोई शत्रु भी नहीं है। मुझे किसी का मोह नहीं है, मेरा कोई विजय नहीं है। मेरे लिए कोई पूर्व नहीं, पश्चिम नहीं, ऊपर भी कुछ नहीं, दिशाएँ भी नहीं है।

न मे वक्तव्यमल्पं वा न मे श्रोतव्यमण्वपि।
न मे गन्तव्यमीषद्वा न मे ध्यातव्यमण्वपि ॥20॥
न मे भोक्तव्यमीषद्वा न मे स्मर्तव्यमण्वपि।
न मे भोगो न मे रागो न मे यागो न मे लयः ॥21॥
न मे मौर्ख्यं न मे शान्तं न मे बन्धो न मे प्रियम्।
न मे मोदः प्रमोदो वा न मे स्थूलं न मे कृशम् ॥22॥
न मे दीर्घं न मे ह्रस्वं न मे वृद्धिर्न मे क्षयः।
अध्यारोपोऽपवादो वा न मे चैकं न मे बहु ॥23॥

मेरा कुछ बोलने का नहीं है, सुनने का भी कुछ नहीं है। कहीं जाने का भी नहीं है। कुछ ध्यान करने का भी मेरे लिए नहीं है। मेरे लिए कुछ भोगने का भी नहीं और स्मरणीय भी कुछ नहीं है। मेरा

कोई भोग नहीं है, राग नहीं है, कोई याग नहीं है, कोई लय भी नहीं है। मुझमें मूर्खता नहीं है, मेरी शान्ति नहीं, मेरा कोई बन्ध नहीं, कोई मेरा प्रिय नहीं है, कोई मेरा आनन्द नहीं, कोई प्रमोद नहीं, कोई स्थूल और दुबला-पतला भी मेरा नहीं है। मेरा न दीर्घ है, न ह्रस्व है। बुद्धि मेरी नहीं है, क्षय भी मेरा नहीं है। मुझमें किसी का अध्यारोप नहीं होता, मुझसे कोई अपवाद भी नहीं किया जाता। मैं न एक हूँ, न बहुत हूँ।

न मे आन्ध्यं न मे मान्द्यं न मे पट्विदमण्वपि।
न मे मांसं न मे रक्तं न मे मेदो न मे ह्यसृक् ॥24॥
न मे मज्जा न मेऽस्थिर्वा न मे त्वग्धातुसप्तकम्।
न मे शुक्लं न मे रक्तं न मे नीलं न मे पृथक् ॥25॥
न मे तापो न मे लाभो मुख्यं गौणं न मे क्वचित्।
न मे भ्रान्तिर्न मे स्थैर्यं न मे गुह्यं न मे कुलम् ॥26॥
न मे त्याज्यं न मे ग्राह्यं न मे हास्यं न मे नयः।
न मे वृत्तं न मे ग्लानिर्न मे शोष्यं न मे सुखम् ॥27॥

मेरे लिए कुछ अन्धापन नहीं है, कोई मन्दता नहीं है। मेरे लिए यह जरा-सा भी कुछ अच्छा नहीं है। मांस मेरा नहीं, लहू मेरा नहीं, चरबी मेरी नहीं, हड्डियाँ मेरी नहीं हैं, त्वक् मेरी नहीं, इस प्रकार सातों धातुएँ मेरी नहीं हैं। सफेद मेरा नहीं, लाल मेरा नहीं, हरा मेरा नहीं है। फिर भी मुझसे कोई अलग भी नहीं है। मेरा ताप नहीं, मेरा लाभ नहीं, मेरा मुख्य नहीं, मेरा गौण नहीं है। मुझे कहीं भी भ्रान्ति नहीं है, स्थिरता भी मेरी नहीं है, मुझे कोई गोपनीय नहीं है और मेरा कोई कुल नहीं है। मेरे लिए कुछ त्याज्य भी नहीं और ग्राह्य भी नहीं है। मेरा कोई हास्य नहीं है, मेरी कोई नीति भी नहीं है। मेरा कोई वर्तन नहीं है और मुझे कोई ग्लानि नहीं है। मेरे लिए कोई शोष्य नहीं है और मेरा कोई सुख नहीं है।

न मे ज्ञाता न मे ज्ञानं न मे ज्ञेयं न मे स्वयम्।
न मे तुभ्यं न मे मह्यं न मे त्वं च न मे त्वहम् ॥28॥
न मे जरा न मे बाल्यं न मे यौवनमण्वपि।
अहं ब्रह्मास्म्यहं ब्रह्मास्म्यहं ब्रह्मेति निश्चयः ॥29॥
चिदहं चिदहं चेति स जीवन्मुक्त उच्यते।
ब्रह्मैवाहं चिदेवाहं परो वाहं न संशयः ॥30॥
स्वयमेव स्वयं हंसः स्वयमेव स्वयं स्थितः।
स्वयमेव स्वयं पश्येत् स्वात्मराज्ये सुखं वसेत्।
स्वात्मानन्दं सदा पश्येत् स जीवन्मुक्त उच्यते ॥31॥

मेरा कोई ज्ञाता नहीं है, मेरा कोई ज्ञान नहीं है, कोई ज्ञेय नहीं है, मैं स्वयं ही हूँ। मेरा कुछ तुम्हारे लिए नहीं है, मेरा कुछ मेरे लिए भी नहीं है, मेरा तू नहीं है, मेरा मैं भी नहीं हूँ। मुझे वृद्धत्व नहीं, मुझे बचपन नहीं, मुझे थोड़ा-सा यौवन भी नहीं है। 'मैं ब्रह्म हूँ, मैं ब्रह्म हूँ, मैं ब्रह्म हूँ'—बस, इतना ही निश्चय है। मैं चित्स्वरूप हूँ, चिद्रूप ही हूँ ऐसा जो सोचता है, वह जीवन्मुक्त कहलाता है। मैं ब्रह्म हूँ, मैं चिद्रूप हूँ, मैं सबसे परे हूँ इसमें कोई शंका नहीं है। ऐसा मनुष्य स्वयं ही स्वयं में रहता है, वह स्वयं ही हंसरूप में अपने में अवस्थित रहता है। वह स्वयं ही स्वयं को देखता रहता है, वह अपने आत्मराज्य

में ही सुखपूर्वक रहता है और वह सदैव आत्मानन्द को देखता (आत्मानन्द में मग्न रहता) है, उसे जीवन्मुक्त कहा जाता है।

स्वयमेवैकवीरोऽग्रे स्वयमेव प्रभुः स्मृतः।
स्वस्वरूपे स्वयं स्वप्स्येत् स जीवन्मुक्त उच्यते ॥32॥

जो स्वयं ही एक वीर की तरह आगे अग्रसर होता है, वह प्रभु कहलाता है। वह अपने ही स्वरूप में सोता भी है, वह जीवन्मुक्त कहलाता है।

ब्रह्मभूतः प्रशान्तात्मा ब्रह्मानन्दमयः सुखी।
स्वच्छभूतो महामौनी वैदेही मुक्त एव सः ॥33॥
सर्वात्मा समरूपात्मा शुद्धात्मा त्वहमुत्थितः।
एकवर्जित एकात्मा सर्वात्मा स्वात्ममात्रकः ॥34॥
अजात्मा चामृतात्माऽहं स्वयमात्माहमव्ययः।
लक्ष्यात्मा ललितात्माहं तूष्णीमात्मस्वरूपवान् ॥35॥
आनन्दात्मा प्रियो ह्यात्मा मोक्षात्मा बन्धवर्जितः।
ब्रह्मैवाहं चिदेवाहमेवं वाऽपि न चिन्त्यते ॥36॥
चिन्मात्रेणैव यस्तिष्ठेद् वैदेही मुक्त एव सः ॥37॥

जो ब्रह्मरूप हो गया हो, अत्यन्त शान्त मनवाला हो, ब्रह्मानन्दमय होते हुए जो सुखी, निर्मल, बड़ा मौनव्रती हो, वह विदेहमुक्त ही है। जो सबका आत्मरूप हो, समान रूप से आत्मा हो और 'मैं शुद्धात्मा हूँ'—इस प्रकार का उत्थान प्राप्त करने वाला हो, वह विदेहमुक्त ही है। एक संख्या से रहित फिर भी एकस्वरूप हो, सर्वस्वरूप हो, आत्माराम हो, वह अजन्मा, अमर, अव्यय है। जो आत्मा को ही लक्ष्य में रखे हुए हो और स्वयं को उसी का स्वरूप मानता हो, जो चुपचाप आत्मस्वभावस्थ हो, जो आनन्दस्वरूप हो, प्रिय-आत्मा मोक्षात्मा हो, बन्ध से मुक्त हो, 'मैं ब्रह्म ही हूँ', 'मैं चिद्रूप ही हूँ'—ऐसा विचार तक नहीं किया जाता (विचार भी छोड़ दिया जाता है)। जो इस तरह चिन्मात्र में ही अवस्थित रहता है, वह विदेहमुक्त ही है।

निश्चयं च परित्यज्य अहं ब्रह्मेति निश्चयम्।
आनन्दभरितस्वान्तो वैदेही मुक्त एव सः ॥38॥
सर्वमस्तीति नास्तीति निश्चयं त्यज्य तिष्ठति।
अहं ब्रह्मास्मि नास्मीति सच्चिदानन्दमात्रकः ॥39॥
किञ्चित्क्वचित्कदाचिच्च आत्मानं व स्पृश्यत्यसौ।
तूष्णीमेव स्थितस्तूष्णीं तूष्णीं सत्यं न किञ्चन ॥40॥

'यह सब कुछ है या नहीं है ?'—इस प्रकार के विचारों या निर्णयों को छोड़कर जो रहता है, इतना ही नहीं, मैं ब्रह्म हूँ या नहीं—ऐसे विचारों को और निश्चय को भी छोड़ देता है, अर्थात् निर्विचार हो जाता है, और अपने अन्तःकरण को केवल आनन्द से ही भर देता है, वह विदेहमुक्त ही है। जो केवल सच्चिदानन्दमात्र है, जो कुछ भी, कहीं भी, कभी भी आत्मा को स्पर्श नहीं करता, जो मौन रहता हो और जो मौन ही को सत्य मानता हो (वह विदेहमुक्त है)।

परमात्मा गुणातीतः सर्वात्मा भूतभावनः।
कालभेदं वस्तुभेदं देशभेदं स्वभेदकम् ॥41॥

किञ्चिद्भेदं न तस्यास्ति किञ्चिद्वापि न विद्यते ।
अहं त्वं तदिदं सोऽयं कालात्मा कालहीनकः ॥42॥
शून्यात्मा सूक्ष्मरूपात्मा विश्वात्मा विश्वहीनकः ।
देवात्मा देवहीनात्मा मेयात्मा मेयवर्जितः ॥43॥
सर्वत्र जडहीनात्मा सर्वेषामन्तरात्मकः ।
सर्वसङ्कल्पहीनात्मा चिन्मात्रोऽस्मीति सर्वदा ॥44॥

परमात्मा गुणातीत है, वह सर्वात्मा, सर्व भूतों का रक्षक है। उसमें न कालभेद है, न वस्तुभेद है, न देशभेद है या न तो कोई स्वगतभेद ही है। किसी भी प्रकार का उसमें भेद नहीं है। उसमें मैं-तू-वह-यह—ऐसा कुछ भी नहीं है। वह कालात्मा होते हुए भी कालहीन है, वह शून्यात्मा है, सूक्ष्मात्मा है, विश्वात्मा हुए भी विश्वविहीन है। वह देवात्मा और देवहीनात्मा दोनों है। मेयात्मा-प्रमेयस्वरूप होते हुए भी मेयवर्जित (प्रमेयहीन) है। वह सर्वत्र जड़हीन (चैतन्यरूप) आत्मा है। वही सबका अंतरात्मा है। वह सभी संकल्पों से रहित स्वरूपवाला है। वह पूर्ववर्णित चिन्मय आत्मा सदा मैं ही हूँ।

केवलः परमात्माहं केवलो ज्ञानविग्रहः ।
सत्तामात्रस्वरूपात्मा नान्यत्किञ्चिज्जगद्भयम् ॥45॥
जीवेश्वरेति वाक् क्वेति वेदशास्त्राद्यहं त्विति ।
इदं चैतन्यमेवेति अहं चैतन्यमित्यपि ॥46॥
इति निश्चयशून्यो यो वैदेही मुक्त एव यः ।
चैतन्यमात्रसंसिद्धः स्वात्मारामः सुखासनः ॥47॥
अपरिच्छिन्नरूपात्मा अणुस्थूलादिवर्जितः ।
तुर्यतुर्यः परानन्दो वैदेही मुक्त एव सः ॥48॥

मैं केवल परमात्मा हूँ, केवल ज्ञानरूप शरीरवाला हूँ, केवल सत्ता ही मेरा स्वरूप है और किसी जगत् जैसा भय है ही नहीं। 'जीव' और 'ईश्वर'—ऐसी वाणी कहाँ है ? वेद और शास्त्र मैं ही हूँ। मैं यह चैतन्य ही हूँ। अरे ! 'मैं चैतन्य हूँ'—ऐसा विचार भी जिसमें न रहा हो, वह विदेहमुक्त ही है। जो केवल चैतन्यरूप से ही सिद्ध हुआ हो, अपने आत्मा में ही रममाण रहता हो, सुखपूर्वक बैठा रहता हो, अपरिमेय आत्मस्वरूप बन गया हो, स्थूल-सूक्ष्मादि से ऊपर उठ गया हो, तुरीय का भी तुरीय बन चुका हो, वह विदेहमुक्त ही है।

नामरूपविहीनात्मा परसंवित्सुखात्मकः ।
तुरीयातीतरूपात्मा शुभाशुभविवर्जितः ॥49॥
योगात्मा योगयुक्तात्मा बन्धमोक्षविवर्जितः ।
गुणागुणविहीनात्मा देशकालादिवर्जितः ॥50॥
साक्ष्यसाक्षित्वहीनात्मा किञ्चित्किञ्चिन्न किञ्चन ।
यस्य प्रपञ्चमानं न ब्रह्माकारमपीह न ॥51॥
स्वस्वरूपे स्वयंज्योतिः स्वस्वरूपे स्वयंरतिः ।
वाचामगोचरानन्दो वाङ्मनोऽगोचरः स्वयम् ॥52॥

जिसका स्वरूप नाम-रूप से रहित बन चुका हो, जिसका आत्मा उत्कृष्ट ज्ञानमय हो गया हो, जो तुरीय से पर स्वरूपवाला हो गया हो, जो शुभ-अशुभ से ऊपर उठ गया हो, जो योगरूप और योग से युक्त आत्मा वाला भी हो, जिसका कोई बन्ध और मोक्ष न हो, जो गुण या अगुण दोनों से रहित हो, देश और काल से रहित हो, साक्षित्व और असाक्षित्व से परे हो, जिसकी दृष्टि में 'कुछ-कुछ' और 'कुछ नहीं' जैसी कोई बात न हो, जिसको न तो संसार का भान है, न ब्रह्म का भी भान है, केवल अपनी ज्योति से अपने स्वरूप में रहता हो, अपने में ही रममाण हो, जो आनंद वाणी का विषय नहीं है, वह वाणी और मन का भविष्य जो है (वह विदेहमुक्त ही है)।

अतीतातीतभावो यो वैदेही मुक्त एव सः ।
चित्तवृत्तेरतीतो यश्चित्तवृत्त्यवभासकः ॥53॥
सर्ववृत्तिविहीनात्मा वैदेही मुक्त एव सः ।
तस्मिन्काले विदेहीति देहस्मरणवर्जितः ॥54॥
ईषन्मात्रं स्मृतं चेद्यस्तदा सर्वसमन्वितः ।
परैरदृष्टबाह्यात्मा परमानन्दचिद्घनः ॥55॥
परैरदृष्टबाह्यात्मा सर्ववेदान्तगोचरः ।
ब्रह्मामृतरसास्वादो ब्रह्मामृतरसायनः ॥56॥

जो चित्त की वृत्तियों से परे रहा हो, जो चित्त की वृत्तियों का प्रकाशक बन गया हो, जो स्वयं सभी चित्तवृत्तियों से रहित हो, वह विदेहमुक्त ही है। उस समय, 'मैं विदेहमुक्त हूँ'—ऐसे ज्ञान से उसे देहभान नहीं रहता। उसे थोड़ा-सा स्मरण यही है कि वह सबके साथ रहता है। फिर भी उसे बाहर के अन्य लोग पहचान नहीं पाते। वह स्वयं तो आनन्दरूप और चैतन्यमय ही होता है। उसका आत्मा बाह्य रूप से देखा नहीं जा सकता। वह सर्व वेदान्तों का विषय है। ब्रह्मरूप अमृतरस का उसे अब स्वाद लग गया है। ब्रह्मरूप अमृतरस का वह आश्रय बना हुआ रहता है।

ब्रह्मामृतरसासक्तो ब्रह्मामृतरसः स्वयम् ।
ब्रह्मामृतरसे मग्नो ब्रह्मानन्दशिवार्चनः ॥57॥
ब्रह्मामृतरसे तृप्तो ब्रह्मानन्दानुभावकः ।
ब्रह्मानन्दशिवानन्दो ब्रह्मानन्दरसप्रभः ॥58॥
ब्रह्मानन्दपरं ज्योतिर्ब्रह्मानन्दनिरन्तरः ।
ब्रह्मानन्दरसान्नादो ब्रह्मानन्दकुटुम्बकः ॥59॥
ब्रह्मानन्दरसारूढो ब्रह्मानन्दैकचिद्घनः ।
ब्रह्मानन्दरसोद्वाहो ब्रह्मानन्दरसम्भरः ॥60॥

वह विदेहमुक्त ब्रह्मानन्दरस में आसक्त होकर स्वयं ब्रह्मात्मकरस बन जाता है। ब्रह्मामृतरस में डूबकर वह ब्रह्मानन्दरस का ही शिवार्चन करता है। ब्रह्मामृतरस से वह तृप्त होता है, ब्रह्मानन्दरस का अनुभव करता रहता है। ब्रह्मानन्दरूप मंगलकारी उसका आनंद होता है, ब्रह्मानन्दरस ही उसका तेज होता है। वह ब्रह्मानन्दरूप परम ज्योति का अनुभव करता रहता है। वह निरंतर ब्रह्मानन्द से व्याप्त रहता है ब्रह्मानन्द रस रूप अन्न को ही वह खाता रहता है। ब्रह्मानन्द ही उसका कुटुम्ब होता है। वह ब्रह्मानन्दरस पर आरूढ रहता है। ब्रह्मानन्दरूप एक समान रस से वह तरबतर रहता है। ब्रह्मानन्द के रस को वह वहन करता है। वह ब्रह्मानन्द रस से भरपूर रहता है।

ब्रह्मानन्दजनैर्युक्तो ब्रह्मानन्दात्मनि स्थितः ।
आत्मरूपमिदं सर्वमात्मनोऽन्यन्न किंचन ॥61॥
सर्वमात्माऽहमात्मास्मि परमात्मा परात्मकः ।
नित्यानन्दस्वरूपात्मा वैदेही मुक्त एव सः ॥62॥
पूर्णरूपो महानात्मा प्रीतात्मा शाश्वदात्मकः ।
सर्वान्तर्यामिरूपात्मा निर्मलात्मा निरात्मकः ॥63॥
निर्विकारस्वरूपात्मा शुद्धात्मा शान्तरूपकः ।
शान्ताशान्तस्वरूपात्मा नैकात्मत्वविवर्जितः ॥64॥

वह ब्रह्मानन्दरूप लोगों के साथ रहता है, वह ब्रह्मानन्दरूप आत्मा में अवस्थित है, उसके लिए यह सब कुछ आत्मरूप ही है, आत्मा से अतिरिक्त कुछ है ही नहीं। यह सब कुछ आत्मा ही है और मैं वही आत्मा हूँ, मैं ही सबसे परे परमात्मा हूँ। वह आत्मा नित्य आनन्दस्वरूप ही है और ऐसे आत्मा वाला वह मनुष्य विदेहमुक्त ही है। वह पूर्णरूप महान् आत्मा है, वह प्रसन्न आत्मा है। वह शाश्वतरूप आत्मा है, वह सर्वान्तर्यामी है, वह विशुद्ध है, वह आत्मभाव से रहित है। वह निर्विकारस्वरूप है। वह शुद्धात्मा, शान्तस्वरूप, शान्त-अशान्तस्वरूपात्मक, अनेक आत्माओं की भावना से रहित है।

जीवात्मपरमात्मेति चिन्तासर्वस्ववर्जितः ।
मुक्तामुक्तस्वरूपात्मा मुक्तामुक्तविवर्जितः ॥65॥
बन्धमोक्षस्वरूपात्मा बन्धमोक्षविवर्जितः ।
द्वैताद्वैतस्वरूपात्मा द्वैताद्वैतविवर्जितः ॥66॥
सर्वासर्वस्वरूपात्मा सर्वासर्वविवर्जितः ।
मोदप्रमोदरूपात्मा मोदादिविनिवर्जितः ॥67॥
सर्वसंकल्पहीनात्मा वैदेही मुक्त एव सः ।
निष्कलात्मा निर्मलात्मा बुद्धात्मा पुरुषात्मकः ॥68॥

वह जीवात्मा और परमात्मा के भेद जैसी सभी चिन्ताओं (विकारों) से पूर्ण मुक्त होता है। वह मुक्तामुक्त दोनों स्वरूप वाला होते हुए भी उन दोनों मुक्त-अमुक्त स्वरूप से रहित है। वह बन्ध-मोक्ष दोनों स्वरूप वाला होते हुए भी उन दोनों (बन्धन और मोक्ष) से रहित है। वह द्वैत-अद्वैत स्वरूपी होते हुए भी वह द्वैत-अद्वैत से रहित है। वह सर्व-असर्व दोनों रूप होते हुए भी सर्व-असर्व से रहित है। वह मोदात्मक-प्रमोदात्मक होते हुए भी मोदादि से रहित है। वह सभी संकल्पों से रहित होता है। ऐसा वह विदेहमुक्त ही होता है। वह अंशरहित है, वह विशुद्ध ही है, वह बुद्ध है और पुरुषात्मा है।

आनन्दादिविहीनात्मा अमृतात्मामृतात्मकः ।
कालत्रयस्वरूपात्मा कालत्रयविवर्जितः ॥69॥
अखिलात्मा ह्यमेयात्मा मानात्मा मानवर्जितः ।
नित्यप्रत्यक्षरूपात्मा नित्यप्रत्यक्षनिर्णयः ॥70॥
अन्यहीनस्वभावात्मा अन्यहीनस्वयम्प्रभः ।
विद्याविद्यादिमेयात्मा विद्याविद्यादिवर्जितः॥71॥
नित्यानित्यविहीनात्मा इहामुत्रविवर्जितः ।
शमादिषट्कशून्यात्मा मुमुक्षुत्वादिवर्जितः ॥72॥

और भी वह तथाकथित आनन्द से रहित स्वरूपवाला, अमृतस्वरूप और अमृत का भी आत्मा, तीनों काल का स्वरूप होते हुए भी तीनों काल से रहित है। वह अखिलात्मा है, अमेयात्मा है - असीम है, वह सभी प्रमाणों का भी आत्मा है, वह किसी प्रमाण से गम्य नहीं है। वह सदैव प्रत्यक्ष है और सदैव प्रत्यक्ष का निर्णय भी है। वह अनन्य स्वभाववाला है, वह अनन्य स्वयंप्रकाशरूप है। विद्या-अविद्या आदि सीमित वस्तुओं का वह आत्मा है, फिर भी स्वयं विद्या और अविद्या से वर्जित है। उसे न नित्य कहा जा सकता है न ही अनित्य। उसमें यहाँ-वहाँ का कोई स्थलभेद नहीं है। शमदमादि षट्सम्पत् उसमें नहीं है, उसमें मुमुक्षुत्व भी नहीं।

स्थूलदेहविहीनात्मा सूक्ष्मदेहविवर्जितः ।
कारणादिविहीनात्मा तुरीयादिविवर्जितः ॥73॥
अन्नकोशविहीनात्मा प्राणकोशविवर्जितः ।
मनःकोशविहीनात्मा विज्ञानादिविवर्जितः ॥74॥
आनन्दकोशहीनात्मा पंचकोशविवर्जितः ।
निर्विकल्पस्वरूपात्मा सविकल्पविवर्जितः ॥75॥
दृश्यानुविद्धहीनात्मा शब्दविद्धविवर्जितः ।
सदा समाधिशून्यात्मा आदिमध्यान्तवर्जितः ॥76॥

उस विदेहमुक्त का आत्मा स्थूल देह से, सूक्ष्म देह से, कारण देह से और तुरीय देह से भी अलग ही है। वह अन्नमय कोश से रहित, प्राणमय कोश से रहित, मनोमय कोश से रहित और विज्ञानमय कोश आदि से भी रहित है। वह आनन्दमय कोश से भी रहित है, अर्थात् पंचकोशों से रहित है। वह निर्विकल्पस्वरूप आत्मावाला होता है, सविकल्पकात्मकता से वह रहित है। और भी उस विदेहमुक्त का आत्मा दृश्य के साथ जुड़ा हुआ नहीं रहता। किसी शब्द से भी वह सम्बद्ध नहीं है। वह सदैव समाधिशून्य रहता है और वह आदि-मध्य-अन्त हीन होता है।

प्रज्ञानवाक्यहीनात्मा अहंब्रह्मास्मिवर्जितः ।
तत्त्वमस्यादिहीनात्मा अयमात्मेत्यभावकः ॥77॥
ओंकारवाच्यहीनात्मा सर्ववाच्यविवर्जितः ।
अवस्थात्रयहीनात्मा अक्षरात्मा चिदात्मकः ॥78॥
आत्मज्ञेयादिहीनात्मा यत्किञ्चिदिदमात्मकः ।
भानाभानविहीनात्मा वैदेही मुक्त एव सः ॥79॥
आत्मानमेव वीक्षस्व आत्मानं बोधय स्वकम् ।
स्वमात्मानं स्वयं भुंक्ष्व स्वस्थो भव षडानन ॥80॥
स्वमात्मनि स्वयं तृप्तः स्वमात्मानं स्वयं चर ।
आत्मानमेव मोदस्व वैदेही मुक्तिको भवेत् ॥81॥ इत्युपनिषत् ॥

इति चतुर्थोऽध्यायः ।

उस विदेहमुक्त का स्वरूप 'प्रज्ञानं ब्रह्म' इस महावाक्य से रहित, 'अहं ब्रह्मास्मि' इस महावाक्य से रहित, 'तत्त्वमसि' आदि महावाक्य से रहित और 'अयमात्मा ब्रह्म' इस महावाक्य से भी रहित है।

उसका स्वरूप ओंकार से वाच्य नहीं है, क्योंकि वह सभी वाच्य शब्दों से हीन है। जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्ति ये तीन अवस्थाएँ उसकी नहीं हैं। वह अक्षर-अक्षय स्वरूप है, चिद्रूप है। और वह आत्मरूप से 'ज्ञेय' नहीं है। जो कुछ भी है वह उसी का स्वरूप है। वह भान और अभान से रहित है—वह विदेहमुक्त ऐसा होता है। तुम आत्मा को ही देखते रहो। हे कार्तिक स्वामी! अपने आत्मा को ही ज्ञान कराओ। अपने आत्मा का ही तुम भोग करो और स्वस्थ बने रहो। अपने आत्मा से ही तुम तृप्त हो जाओ। अपने आत्मा में ही विचरण किया करो। आत्मा में ही आनन्द लिया करो और तुम भी वैसा ही विदेहमुक्त बन जाओ।' यह उपदेश है।

यहाँ चतुर्थ अध्याय पूरा हुआ।

*

पञ्चमोऽध्यायः

निदाघो नाम वै मुनिः पप्रच्छ ऋभुं भगवन्तमात्मानात्मविवेकमनुब्रूहीति
स होवाच ऋभुः—
सर्ववाचोऽवधिर्ब्रह्म सर्वचिन्तावधिर्गुरुः।
सर्वकारणकार्यात्मा कार्यकारणवर्जितः॥1॥

निदाघ नाम के मुनि ने भगवान् ऋभु से पूछा कि आप आत्मा और अनात्मा का विवेक कहिए। इस पर ऋभु ने कहा कि—

'ब्रह्म सभी वाणी की अवधि है, और गुरु सभी चिन्ताओं (चिन्तनों) की अवधि है। वह ब्रह्म सर्व कार्यकारणरूप है और फिर भी सभी कार्यकारणों से रहित भी है।

सर्वसंकल्परहितः सर्वनादमयः शिवः।
सर्ववर्जितचिन्मात्रः सर्वानन्दमयः परः॥2॥
सर्वतेजःप्रकाशात्मा नादानन्दमयात्मकः।
सर्वानुभवनिर्मुक्तः सर्वध्यानविवर्जितः॥3॥
सर्वनादकलातीतः एष आत्माहमव्ययः।
आत्मानात्मविवेकादिभेदाभेदविवर्जितः॥4॥
शान्ताशान्तादिहीनात्मा नादान्तर्ज्योतिरूपकः।
महावाक्यार्थतो दूरो ब्रह्मास्मीत्यतिदूरतः॥5॥
तच्छब्दवर्ज्यस्त्वंशब्दहीनो वाक्यार्थवर्जितः।
क्षराक्षरविहीनो यो नादान्तर्ज्योतिरेव सः॥6॥

सर्व प्रकार के संकल्पों से रहित, सर्वनादमय, शिवरूप, सर्वपदार्थरहित, केवल चिद्रूप और सर्वानन्दमय ही परमात्मा है। सर्वतेज और सर्वप्रकाश के स्वरूप, नाद और आनंद का स्वरूप, सर्वप्रकार के अनुभवों से रहित, सभी ध्यान से भी रहित, सभी नादों और कलाओं से भी परे यह जो अव्यय आत्मा है, वह मैं हूँ। और मैं आत्मा तथा अनात्मा के विवेक से रहित हूँ। भेद-अभेद से भी ऊपर उठा हुआ हूँ। शान्त-अशान्त आदि के अभाववाला, नाद के भीतर की ज्योतिरूप, महावाक्यों के अर्थ से भी परे, 'ब्रह्मास्मि' वाक्य से तो बहुत ही दूर, 'तत्' शब्द से हीन, 'त्वं' शब्द से भी रहित, वाच्यार्थ से हीन, क्षर-अक्षर से रहित ऐसा जो नाद के भीतर का ज्योतिस्वरूप है, वही आत्मा है।

अखण्डैकरसो वाहमानन्दोऽस्मीति वर्जितः।
सर्वातीतस्वभावात्मा नादान्तर्ज्योतिरेव सः॥7॥
आत्मेति शब्दहीनो य आत्मशब्दार्थवर्जितः।
सच्चिदानन्दहीनो य एषैवात्मा सनातनः॥8॥
स निर्देष्टुमशक्यो यो वेदवाक्यैरगम्यतः।
यस्य किञ्चिद्बहिर्नास्ति किञ्चिदन्तः कियन्न च॥9॥
यस्य लिङ्गं प्रपञ्चं वा ब्रह्मैवात्मा न संशयः।
नास्ति यस्य शरीरं वा जीवो वा भूतभौतिकः॥10॥

मैं या तो अखण्डैकरस हूँ, और या तो आनन्दरूप से वर्जित भी हूँ। सबसे ऊपर उठे हुए स्वरूप वाला मैं हूँ, नाद के भीतर की ज्योति वह आत्मा शब्दहीन है। 'आत्मा' शब्द के अर्थ से भी वह रहित है। वह 'सच्चिदानन्द' शब्द से भी रहित है। वही सनातन आत्मा है। उसका निर्देश नहीं किया जा सकता अर्थात् वह बताया नहीं जा सकता। वह वेद के वाक्यों के द्वारा भी गम्य नहीं है। उसके बाहर कुछ नहीं है, उसके भीतर भी कुछ नहीं है। जिसका लिंगशरीर नहीं है, जिसका यह प्रपञ्च – जगत् भी नहीं है, वही ब्रह्म आत्मा है, इसमें कोई भी सन्देह नहीं है, जिसका शरीर भी नहीं है, जीव भी नहीं है अथवा भूत-भौतिक कुछ भी नहीं है।

नामरूपादिकं नास्ति भोज्यं वा भोगभुक्च वा।
सद्वाऽसद्वा स्थितिर्वापि यस्य नास्ति क्षराक्षरम्॥11॥
गुणं वा विगुणं वापि सम आत्मा न संशयः।
यस्य वाच्यं वाचकं वा श्रवणं मननं च वा॥12॥
गुरुशिष्यादिभेदं वा देवलोकाः सुरासुराः।
यत्र धर्ममधर्मं वा शुद्धं वाऽशुद्धमण्वपि॥13॥
यत्र कालमकालं वा निश्चयः संशयो न हि।
यत्र मन्त्रममन्त्रं वा विद्याऽविद्या न विद्यते॥14॥

जिसका कोई नाम-रूप नहीं है, जिसके लिए कुछ भोज्य नहीं है, जो किसी का भोक्ता नहीं है, जिसकी सत् या असत् जैसी कोई स्थिति नहीं है, जो न क्षर है न अक्षर है, जो न गुणयुक्त है न गुणहीन है, वह समान आत्मा है, इसमें कोई शंका नहीं है। उसमें वाच्य और वाचक का तथा श्रवण और मनन का कोई भेद नहीं है, गुरु-शिष्य आदि का भी कोई भेद नहीं है। जिसमें धर्म-अधर्म अथवा शुद्ध-अशुद्ध का लेशमात्र भी भेद नहीं है, जिससे देवलोक या सुर-असुर का कोई सरोकार नहीं है। उसमें काल या अकाल, निश्चय या संशय, मन्त्र या अमन्त्र, विद्या और अविद्या कुछ भी नहीं है।

द्रष्टृदर्शनदृश्यं वा ईषन्मात्रं कलात्मकम्।
अनात्मेति प्रसङ्गो वा ह्यनात्मेति मनोऽपि वा॥15॥
अनात्मेति जगद्वापि नास्ति नास्तीति निश्चिनु।
सर्वसङ्कल्पशून्यत्वात्सर्वकार्यविवर्जनात्॥16॥
केवलं ब्रह्ममात्रत्वान्नास्त्यनात्मेति निश्चिनु।
देहत्रयविहीनत्वात्कालत्रयविवर्जनात्॥17॥
जीवत्रयगुणाभावात् तापत्रयविवर्जनात्।
लोकत्रयविहीनत्वात्सर्वमात्मेति शासनात्॥18॥

जो कुछ दृश्य है, जो कुछ दर्शन है, या द्रष्टा का जो कुछ है, जो थोड़ा-सा भी कलात्मक है, वह अनात्मा है, अथवा तो उनका स्वरूप ही अनात्मा है। मन भी अनात्मा है और जगत् भी अनात्मा ही है। और ये सब नहीं हैं, नहीं हैं—ऐसा निश्चय करो। सर्वसंकल्प से रहित होने से और सभी कार्यों से रहित होने से तथा केवल ब्रह्म ही होने से कुछ अनात्मा जैसी चीज ही नहीं है, ऐसा निश्चय करो। तीनों देहों से, तीनों कालों से, जीव के तीनों गुणों से, तीनों तापों से और तीनों लोकों से रहित होने से यह सब कुछ अनात्मा ही है, ऐसा उपदेश है। इसलिए अनात्मा जैसी कोई चीज ही नहीं है, ऐसा तुम निश्चय कर लो।

चित्ताभावाच्चिन्तनीयं देहाभावाज्जरा न च।
पादाभावाद् गतिर्नास्ति हस्ताभावात्क्रिया न च ॥19॥
मृत्युर्न जननाभावाद् बुद्ध्यभावात्सुखादिकम्।
धर्मो नास्ति शुचिर्नास्ति सत्यं नास्ति भयं न च ॥20॥
अक्षरोच्चारणं नास्ति गुरुशिष्यादि नास्त्यपि।
एकाभावे.द्वितीयं न द्वितीयेऽपि न चैकता ॥21॥
सत्यत्वमस्ति चेत्किञ्चिदसत्यं न च सम्भवेत्।
असत्यत्वं यदि भवेत्सत्यत्वं न घटिष्यति ॥22॥

चित्त नहीं है इसलिए चिन्तनीय भी कुछ नहीं है। देह नहीं है इसलिए बुढ़ापा नहीं है। पैर नहीं है इसलिए गति नहीं है। हाथ नहीं है इसलिए क्रिया नहीं है। जन्म नहीं है इसलिए मृत्यु भी नहीं है। बुद्धि नहीं है इसलिए सुखादि कुछ नहीं है। धर्म नहीं है इसलिए शुचिता नहीं है। सत्य भी नहीं है और भय भी नहीं है। अक्षरों का उच्चारण नहीं है, गुरु-शिष्य आदि भी नहीं हैं, एक नहीं है अतः दूसरा भी नहीं है। और दूसरे के अभाव में एक भी नहीं है। यदि सत्य हो तो कुछ भी असत्य हो ही नहीं सकता और यदि असत्य ही हो तब तो सत्य रह ही नहीं सकता।

शुभं यद्यशुभं विद्धि अशुभाच्छुभमिष्यते।
भयं यद्यभयं विद्धि अभयाद्भयमापतेत् ॥23॥
बन्धत्वमपि चेन्मोक्षो बन्धाभावे क्व मोक्षता।
मरणं यदि चेज्जन्म जन्माभावे मृतिर्न च ॥24॥
त्वमित्यपि भवेच्चाहं त्वं नो चेदहमेव नो।
इदं यदि तदेवास्ति तदभावादिदं न च ॥25॥
अस्तीति चेन्नास्ति तदा नास्ति चेदस्ति किञ्चन।
कार्यं चेत्कारणं किञ्चित्कार्याभावे न कारणम् ॥26॥

यदि शुभ हो तो तुम्हें उसे अशुभ मानना चाहिए क्योंकि अशुभ से ही शुभ की कामना की जाती है। यदि भय हो तो तुम्हें उसे अभय मानना चाहिए क्योंकि अभय से भय आ जाता है। यदि बन्धन है तो मोक्ष है, पर बन्धन ही न हो तो मोक्षत्व कहाँ से होगा ? यदि मरण हो तो जन्म हो सकता है पर जन्म ही नहीं है तो मरण नहीं हो सकता। यदि 'तू' है तो 'मैं' हो सकता हूँ, पर 'तू' नहीं है, तो मैं भी नहीं हूँ। यदि 'यह' है, तो 'वह' हो सकता है, पर 'वह' न हो, तो 'यह' भी नहीं होगा। यदि 'है' का अस्तित्व है, तो 'नहीं है' का भी अस्तित्व है, जब 'नहीं है' का कोई अस्तित्व नहीं है, तो 'है' का भी कोई अस्तित्व नहीं। इसी तरह यदि कोई 'कार्य' है तो कारण होगा, पर जब 'कार्य' ही नहीं है, तब कारण भी नहीं होगा।

द्वैतं यदि तदाऽद्वैतं द्वैताभावेऽद्वयं न च।
दृश्यं यदि दृगप्यस्ति दृश्याभावे दृगेव न ॥27॥
अन्तर्यदि बहिः सत्यमन्ताभावे बहिर्न च।
पूर्णत्वमस्ति चेत्किञ्चिदपूर्णत्वं प्रसज्यते ॥28॥
तस्मादेतत्क्वचिन्नास्ति त्वं चाहं वा इमे इदम्।
नास्ति दृष्टान्तिकं सत्ये नास्ति दार्ष्टान्तिकं ह्यजे ॥29॥
परंब्रह्माहमस्मीति स्मरणस्य मनो न हि।
ब्रह्ममात्रं जगदिदं ब्रह्ममात्रं त्वमप्ययम् ॥30॥

यदि द्वैत है तो अद्वैत है, पर द्वैत के अभाव में अद्वैत नहीं होता। यदि दृश्य है तो द्रष्टा भी है, दृश्य के अभाव में द्रष्टा होता ही नहीं। यदि बाहर है तो भीतर सत्य है, पर भीतर के अभाव में बाहर नहीं होता। यदि पूर्णत्व कुछ है, तभी अपूर्णत्व हो सकता है। इसलिए वह कुछ है ही नहीं। न तू है, न मैं हूँ, न ये हैं, न यह है। सत्य में कोई दार्ष्टान्तिक (उदाहरण) नहीं है। अजन्मा का कोई दार्ष्टान्तिक नहीं है। 'मैं ब्रह्म हूँ'—ऐसे स्मरण के लिए मन ही नहीं है। यह जगत् मात्र ब्रह्मरूप ही है और 'मैं' और 'तू' सब ब्रह्मरूप ही है।

चिन्मात्रं केवलं चाहं नास्त्यनात्मेति निश्चिनु।
इदं प्रपञ्चं नास्त्येव नोत्पन्नं न स्थितं क्वचित् ॥31॥
चित्तं प्रपञ्चमित्याहुर्नास्ति नास्त्येव सर्वदा।
न प्रपञ्चं न चित्तादि नाहङ्कारो न जीवकः ॥32॥
मायाकार्यादिकं नास्ति माया नास्ति भयं न हि।
कर्ता नास्ति क्रिया नास्ति श्रवणं मननं न हि ॥33॥
समाधिद्वितयं नास्ति मातृमानादि नास्ति हि।
अज्ञानं चापि नास्त्येव ह्यविवेकं कदाचन ॥34॥

'मात्र चैतन्य ऐसा 'मैं' हूँ अनात्मा जैसा कुछ है ही नहीं'—ऐसा तुम निश्चय कर लो। यह प्रपञ्च (जगत्) है ही नहीं, वह कभी उत्पन्न हुआ ही नहीं, और कहीं रहा भी नहीं है। चित्त को भी प्रपंच कहा जाता है, और वह कभी है ही नहीं, है ही नहीं। प्रपंच भी नहीं है, चित्त भी नहीं है, अहंकार भी नहीं है, जीव भी नहीं है, माया का कार्य जैसा कुछ नहीं है, माया ही नहीं है, भय भी नहीं है। कर्ता नहीं है, क्रिया नहीं है, श्रवण और मनन भी नहीं है। दो प्रकार की समाधि भी नहीं है। कोई प्रमाता नहीं है, कोई प्रमाण नहीं है, अज्ञान ही नहीं है और इसीलिए अविवेक भी तो नहीं है।

अनुबन्धचतुष्कं न सम्बन्धत्रयमेव न।
न गंगा न गया सेतुर्न भूतं नान्यदस्ति हि ॥35॥
न भूमिर्न जलं नाग्निर्न वायुर्न च खं क्वचित्।
न देवा न च दिक्पाला न वेदा न गुरुः क्वचित् ॥36॥
न दूरं नान्तिकं नालं न मध्यं न क्वचित्स्थितम्।
नाद्वैतं द्वैतसत्यं वा ह्यसत्यं वा इदं न च ॥37॥
बन्धमोक्षादिकं नास्ति सद्वाऽसद्वा सुखादि वा।
जातिर्नास्ति गतिर्नास्ति वर्णो नास्ति न लौकिकम् ॥38॥

चारों अनुबन्ध नहीं हैं, तीनों सम्बन्ध नहीं हैं, गंगा नहीं है, गया नहीं है, सेतु नहीं है, भूत (प्राणी) नहीं है और अन्य भी कुछ है ही नहीं। पृथ्वी नहीं है, जल नहीं है, अग्नि नहीं है, वायु नहीं है, आकाश नहीं है। कभी भी देव नहीं हैं, कहीं दिक्पाल नहीं है, वेद नहीं है, कहीं गुरु भी नहीं है, कोई दूर नहीं, नजदीक भी नहीं, कोई अन्त नहीं, कोई मध्य नहीं, कहीं भी अद्वैत नहीं है, द्वैत और सत्य भी नहीं है, असत्य भी नहीं है, यह भी नहीं है, बन्ध और मोक्ष भी नहीं है सत्, असत् या सुख आदि भी नहीं है। जाति नहीं है, गति नहीं है वर्ण नहीं है, कोई व्यवहार भी नहीं है।

सर्वं ब्रह्मेति नास्त्येव ब्रह्म इत्यपि नास्ति हि।
चिदित्येवेति नास्त्येव चिदहंभाषणं न हि ॥39॥
अहं ब्रह्मास्मि नास्त्येव नित्यशुद्धोऽस्मि न क्वचित्।
वाचा यदुच्यते किञ्चिन् मनसा मनुते क्वचित् ॥40॥
बुद्ध्या निश्चिनुते नास्ति चित्तेन ज्ञायते न हि।
योगी योगादिकं नास्ति सदा सर्वं सदा न च ॥41॥
अहोरात्रादिकं नास्ति स्नानध्यानादिकं न हि।
भ्रान्तिरभ्रान्तिर्नास्त्येव नास्त्यनात्मेति निश्चिनु ॥42॥

'ब्रह्म सब है' ऐसा भी नहीं है और 'सब ब्रह्म है' ऐसा भी नहीं है। 'सब चिद्रूप है' ऐसा भी नहीं है और 'मैं चिद्रूप हूँ' ऐसा भी भाषण नहीं है। 'मैं ब्रह्म हूँ' ऐसा भी नहीं है और 'मैं नित्य शुद्ध हूँ' ऐसा भी नहीं है। वाणी से जो बोला जाता है, मन से जो सोचा जाता है, बुद्धि से जो निर्णय किया जाता है और चित्त से जो कुछ देखा जाता है या जाना जाता है वह सब कुछ भी नहीं है। योगी भी नहीं है, मोक्ष भी कभी नहीं है। रात नहीं है, दिन नहीं है, स्नान नहीं है, ध्यानादि कुछ नहीं है। भ्रान्ति और अभ्रान्ति भी नहीं है। इसी तरह आत्मा भी नहीं है—ऐसा तू निश्चय कर ले।

वेदः शास्त्रं पुराणं च कार्यं कारणमीश्वरः।
लोको भूतं जनस्त्वैक्यं सर्वं मिथ्या न संशयः ॥43॥
बन्धो मोक्षः सुखं दुःखं ध्यानं चित्तं सुरासुराः।
गौणं मुख्यं परं चान्यत्सर्वं मिथ्या न संशयः ॥44॥
वाचा वदति यत्किञ्चित् सङ्कल्पैः कल्प्यते च यत्।
मनसा चिन्त्यते यद्यत् सर्वं मिथ्या न संशयः ॥45॥
बुद्ध्या निश्चीयते किञ्चिच्चित्ते निश्चीयते क्वचित्।
शास्त्रैः प्रपञ्च्यते यद्यन्नेत्रेणैव निरीक्ष्यते ॥46॥
श्रोत्राभ्यां श्रूयते यद्यदन्यत्सद्भावमेव च।
नेत्रं श्रोत्रं गात्रमेव मिथ्येति च सुनिश्चितम् ॥47॥

वेद, शास्त्र, पुराण, कार्य, कारण, ईश्वर, लोक, भूत (प्राणी), मनुष्य, ऐक्य—यह सब मिथ्या है, इसमें कोई सन्देह नहीं है। बन्ध, मोक्ष, सुख, दुःख, ध्यान, चित्त, सुर, असुर, गौण, मुख्य, अन्य, सब निःसंदेह मिथ्या है। जो कुछ वाणी से बोलता है, या संकल्पों से कल्पना की जाती है, या मन में जो कुछ सोचा जाता है, वह सब कुछ निःसंदेह मिथ्या है। जो कुछ बुद्धि से निश्चय किया जाता है, कभी कुछ जो चित्त में निर्णय किया जाता है, शास्त्रों में जिसकी चर्चा की जाती है, जो-जो आँख से देखा जाता है, जो-जो कान से सुना जाता है, और भी जो-जो कुछ है, नेत्र, श्रोत्र, गात्र—यह सब मिथ्या ही है, इसमें कोई सन्देह नहीं है।

इदमित्येव निर्दिष्टमयमित्येव कल्प्यते।
त्वमहं तदिदं सोऽहमन्यत्सद्भावमेव च ॥48॥
यद्यत्संभाव्यते लोके सर्वसंकल्पसम्भ्रमः।
सर्वाध्यासं सर्वगोप्यं सर्वभोगप्रभेदकम् ॥49॥
सर्वदोषप्रभेदाच्च नास्त्यनात्मेति निश्चिनु।
मदीयं च त्वदीयं च ममेति च तवेति च ॥50॥
मह्यं तुभ्यं मयेत्यादि तत्सर्वं वितथं भवेत्।
रक्षको विष्णुरित्यादि ब्रह्मा सृष्टेस्तु कारणम् ॥51॥
संहारे रुद्र इत्येवं सर्वं मिथ्येति निश्चिनु।

जिसका 'यह' शब्द से निर्देश होता है, और जो 'यह' शब्द से कल्पित किया जाता है, वह और तू, मैं, यह, और अन्य जो कुछ भी अस्तित्व इस लोक में माना जाता है, वह सब केवल संकल्प का संभ्रम है। सभी आरोप, सभी गोपनीय, सभी भोगों के भेद, और सभी दोषों के भेद—ये सब भी अनात्मरूप नहीं है, ऐसा निश्चयपूर्वक जानो। यह तेरा, यह मेरा, यह तेरे लिए, यह मेरे लिए—ये सब मिथ्या है। विष्णु इस सृष्टि के पालक हैं, ब्रह्मा सर्जक हैं और रुद्र संहारक हैं—यह सब मिथ्या ही है।

स्नानं जपस्तपो होमः स्वाध्यायो देवपूजनम् ॥52॥
मन्त्रं तन्त्रं च सत्सङ्गो गुणदोषविजृम्भणम्।
अन्तःकरणसद्भाव अविद्यायाश्च संशयः ॥53॥
अनेककोटिब्रह्माण्डं सर्वं मिथ्येति निश्चिनु।
सर्वदेशिकवाक्योक्तिर्येन केनापि निश्चितम् ॥54॥
दृश्यते जगति यद्यद् यद्यज्जगति वीक्ष्यते।
वर्तते जगति यद्यत्सर्वं मिथ्येति निश्चिनु ॥55॥

स्नान, जप, तप, होम, स्वाध्याय, देवपूजन, मन्त्र, तन्त्र, सत्संग, गुण और दोष के विलास, अन्तःकरण की सच्चाई, अविद्या का संशय और अनेक करोड़ों ब्रह्माण्ड—ये सब मिथ्या हैं। सभी गुरुओं के वाक्य और वचन और जिस किसी ने जो कुछ भी निश्चय किया हो वह, तथा जगत् में जो-जो देखा जाता है, और जो-जो कुछ भी दीख पड़ता है, वह सब मिथ्या ही है—ऐसा तुम निश्चय कर लो।

येन केनाक्षरेणोक्तं येन केन विनिश्चितम्।
येन केनापि गदितं येन केनापि मोदितम् ॥56॥
येन केनापि यद्दत्तं येन केनापि यत्कृतम्।
यत्र यत्र शुभं कर्म यत्र यत्र च दुष्कृतम् ॥57॥
यद्यत्करोति सत्येन सर्वं मिथ्येति निश्चिनु।
त्वमेव परमात्मासि त्वमेव परमो गुरुः ॥58॥
त्वमेवाकाशरूपोऽसि साक्षिहीनोऽसि सर्वदा।
त्वमेव सर्वभावोऽसि त्वं ब्रह्मासि न संशयः ॥59॥
कालहीनोऽसि कालोऽसि सदा ब्रह्मासि चिद्घनः।
सर्वतः स्वस्वरूपोऽसि चैतन्यघनवानसि ॥60॥

जिस किसी अक्षर से कहा गया हो, जिस किसी से निर्णीत किया गया हो, जिस किसी से भी कहा गया हो, जिस किसी से भी आनन्दित हुआ हो, जिस किसी से जो कुछ भी दिया गया हो, जिस किसी से जो कुछ किया गया हो, जहाँ-जहाँ शुभ कर्म हो, जहाँ-जहाँ अशुभ कर्म हो, जो-जो तुम सच्चाई से करते हो—यह सबका सब मिथ्या ही है, ऐसा निश्चय कर लो। तू ही परमात्मा है, तू ही परम गुरु है, तू ही आकाश के-से रूपवाला है, तू ही साक्षी हीन है – सदैव है (क्योंकि दूसरा है नहीं तो साक्षी किसका ?), तू ही सर्व अस्तित्वमय है, तू ही ब्रह्म है, इसमें कोई शंका नहीं है। काल से परे भी तू ही है और कालस्वरूप भी तो तू ही है। तू ही सदैव चिन्मय ब्रह्मस्वरूप है। हमेशा तू अपने स्वरूप में ही अवस्थित रहता है, तू चिद्घन चिद्रूप व्यापक है।

सत्योऽसि सिद्धोऽसि सनातनोऽसि मुक्तोऽसि मोक्षोऽसि मुदामृतोऽसि।
देवोऽसि शान्तोऽसि निरामयोऽसि ब्रह्माऽसि पूर्णोऽसि परात्परोऽसि ॥61॥
समोऽसि सच्चासि सनातनोऽसि सत्यादिवाक्यैः प्रतिबोधितोऽसि।
सर्वाङ्गहीनोऽसि सदा स्थितोऽसि ब्रह्मेन्द्ररुद्रादिविभावितोऽसि ॥62॥
सर्वप्रपञ्चभ्रमवर्जितोऽसि सर्वेषु भूतेषु च भासितोऽसि।
सर्वत्र सङ्कल्पविवर्जितोऽसि सर्वागमान्तार्थविभावितोऽसि ॥63॥
सर्वत्र सन्तोषसुखासनोऽसि सर्वत्र गत्यादिविवर्जितोऽसि।
सर्वत्र लक्ष्यादिविवर्जितोऽसि ध्यातोऽसि विष्ण्वादिसुरैरजस्त्रम् ॥64॥

तू सत्य है, सिद्ध है, सनातन है, मुक्त है, मोक्ष है, आनन्द के साथ अमर है, तू देव है, शान्त है, निर्दोष है, ब्रह्म है, पूर्ण है, परे से भी परे है, सर्वत्र समान है, सद्रूप है, सनातन है। 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' आदि वाक्यों के द्वारा बताया गया है—ज्ञात करवाया गया है। तू सभी अवयवों से रहित है, तू सदा अवस्थित है। ब्रह्मा, इन्द्र, रुद्र आदि के द्वारा पूजित तू ही है। सब जगत् के भ्रम से तू रहित है, तू ही सभी प्राणियों में अवभासित है, तू सभी संकल्पों से रहित है, सभी आगमों के सार का तात्पर्य को दिखाने वाला तू ही है। तू सर्वत्र संतोष से सुखपूर्वक रहने वाला है, तू सदैव गति आदि क्रियाओं से रहित है, सदा (सर्वत्र) लक्ष्य आदि से तू रहित है, विष्णु आदि देवों के द्वारा ध्यान किया जाने वाला तू ही है।

चिदाकारस्वरूपोऽसि चिन्मात्रोऽसि निरङ्कुशः।
आत्मन्येव स्थितोऽसि त्वं सर्वशून्योऽसि निर्गुणः ॥65॥
आनन्दोऽसि परोऽसि त्वमेक एवाद्वितीयकः।
चिद्घनानन्दरूपोऽसि परिपूर्णस्वरूपकः ॥66॥
सदसि त्वमसि ज्ञोऽसि सोऽसि जानासि वीक्षसि।
सच्चिदानन्दरूपोऽसि वासुदेवोऽसि वै प्रभुः ॥67॥
अमृतोऽसि विभुश्चापि चञ्चलो ह्यचलो ह्यसि।
सर्वोऽपि सर्वहीनोऽसि शान्ताशान्तविवर्जितः ॥68॥

तू चैतन्याकारस्वरूप है, तू केवल चिद्रूप है, तू किसी अंकुश से रहित है, तू आत्मा में ही स्थित है, तू सर्वशून्य है, तू निर्गुण है, तू परम आनन्दरूप है, तू एक और अद्वितीय है, तू व्यापक चैतन्य है, तू परिपूर्ण स्वरूप है, तू सत् है, तू 'त्वम्' है, तू 'सः' है, तू वही है, तू जानता है, तू मुक्त होता है, तू सच्चिदानस्वरूप है, तू वासुदेव है, तू ही प्रभु है, तू अमृत है, तू ही विभु है, तू ही चंचल और

तू ही अचल है। सर्व और असर्व भी तू है, शान्त-अशान्त आदि से मुक्त भी तू ही है—अर्थात् सब कुछ तू ही है।

सत्तामात्रप्रकाशोऽसि सत्तासामान्यको ह्यसि।
नित्यसिद्धिस्वरूपोऽपि सर्वसिद्धिविवर्जितः ॥69॥
ईषन्मात्रविशून्योऽसि अणुमात्रविवर्जितः।
अस्तित्ववर्जितोऽसि त्वं नास्तित्वादिविवर्जितः ॥70॥
लक्ष्यलक्षणहीनोऽसि निर्विकारो निरामयः।
सर्वनादान्तरोऽसि त्वं कलाकाष्ठाविवर्जितः ॥71॥
ब्रह्माविष्णवीशहीनोऽपि स्वस्वरूपं प्रपश्यसि।
स्वस्वरूपावशेषोऽसि स्वानन्दाब्धौ निमज्जसि ॥72॥

तू मात्र सत्तारूप प्रकाशवाला है, तू सामान्य सत्तारूप है, तू नित्यसिद्धिस्वरूप है, तू सर्व सिद्धियों से रहित भी है, तू शून्यता से लेशमात्र रहित है और तू अणुमात्र से रहित है। तू अस्तित्व से भी रहित है और नास्तित्व से भी रहित है। तू लक्ष्य और लक्षण से रहित है। तू निर्विकार, निर्दूषित और नीरोगी है। तू सर्वनादों के भीतर है, तथापि सभी कलाओं की सीमाओं से रहित है। तू न ब्रह्मा है, न विष्णु है, न महेश है, तथापि अपने स्वरूप को स्वयं देख रहा है। तू ही अपने स्वरूप में सब अपवाद दूर हो जाने के बाद अवशिष्ट रहता है। तू ही केवल अपने आनन्दरूपी सागर में निमग्न होकर रहता है।

स्वात्मराज्ये स्वमेवासि स्वयम्भावविवर्जितः।
शिष्टपूर्णस्वरूपोऽसि स्वस्मात्किंचिन्न पश्यसि ॥73॥
स्वस्वरूपान्न चलसि स्वस्वरूपेण जृम्भसि।
स्वस्वरूपादनन्योऽसि ह्यहमेवास्मि निश्चिनु ॥74॥
इदं प्रपञ्चं यत्किंचिद् यद्यज्जगति विद्यते।
दृश्यरूपं च दृग्रूपं सर्वं शशविषाणवत् ॥75॥
भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च।
अहंकारश्च तेजश्च लोकं भुवनमण्डलम् ॥76॥

अपने आत्मराज्य में तू ही है, 'स्वयम्' ऐसे शब्द से (किसी भी सापेक्ष शब्द से) तू रहित है। सभी अपवादों के चले जाने के बाद अवशिष्ट स्वरूप तू ही है। तू पूर्ण है। तू अपने आपसे अलग किसी को देखता नहीं है, तू अपने स्वरूप से विचलित नहीं होता। तू ऐसा निश्चय कर ले कि 'सर्वत्र मैं ही हूँ'। इस जगत् में जो कुछ दृश्यरूप है या जो द्रष्टा रूप है यह सब खरगोश के सींग की तरह मिथ्या ही है। पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश, मन, बुद्धि, अहंकार, तेज, लोक, भुवनमण्डल सभी खरगोश के सींग जैसे ही मिथ्या (झूठे) ही हैं। उनका अस्तित्व ही नहीं।

नाशो जन्म च सत्यं च पुण्यपापजयादिकम्।
रागः कामः क्रोध-लोभौ ध्यानं ध्येयं गुणं परम् ॥77॥
गुरुशिष्योपदेशादिरादिरन्तं शमं शुभम्।
भूतं भव्यं वर्तमानं लक्ष्यं लक्षणमद्वयम् ॥78॥

शमो विचारः सन्तोषो भोक्तृभोज्यादिरूपकम् ।
यमाद्यष्टाङ्गयोगं च गमनागमनात्मकम् ॥79॥
आदिमध्यान्तरङ्गं च शास्त्रं त्याज्यं हरिः शिवः ।
इन्द्रियाणि मनश्चैव अवस्थात्रितयं तथा ॥80॥

नाश, जन्म, सत्य, पुण्य, पाप, जय आदि तथा राग, काम, क्रोध, ध्यान, ध्येय, गुण, परवस्तु, गुरु-शिष्य उपदेशादि तथा आदि, मध्य, अन्त, शम, शुभ, भूत, भविष्य, वर्तमान, लक्ष्य, लक्षण, अद्वैत, शम, विचार, सन्तोष, भोक्ता, भोज्य आदि तथा यमनियमादि अष्टांगयोग, शास्त्र, त्याज्य, हरि, शिव, इन्द्रियाँ, मन, जाग्रदादि तीन अवस्थाएँ—सब कुछ खरगोश के सींग की तरह मिथ्या (झूठ) ही है।

चतुर्विंशतितत्त्वं च साधनानां चतुष्टयम् ।
सजातीयं विजातीयं लोका भूरादयः क्रमात् ॥81॥
सर्ववर्णाश्रमाचारं मन्त्रतन्त्रादिसंग्रहम् ।
विद्याविद्यादिरूपं च सर्ववेद्यं जडाजडम् ॥82॥
बन्धमोक्षविभागं च ज्ञानविज्ञानरूपकम् ।
बोधाबोधस्वरूपं वा द्वैताद्वैतादिभाषणम् ॥83॥
सर्ववेदान्तसिद्धान्तं सर्वशास्त्रार्थनिर्णयम् ।
अनेकजीवसद्भावमेकजीवादिनिर्णयम् ॥84॥

चौबीस तत्त्व, चार साधन, सजातीय, विजातीय, भूः आदि सब लोक, सभी वर्णों के आचार, मन्त्रों और तन्त्रों का संग्रह, विद्या, अविद्या, सभी वेद्य वस्तुएँ, जड, अजड, बन्ध, मोक्ष आदि के विभाग, ज्ञान और अज्ञान, बोध, अबोध, द्वैत-अद्वैत आदि का संभाषण, सभी वेदान्तों के सिद्धान्त, सभी शास्त्रों के निर्णय, अनेक जीववाद, एक जीववाद आदि का निर्णय—यह सब भी खरगोश के सींग के समान ही मिथ्या (झूठ) ही है।

यद्यद् ध्यायति चित्तेन यद्यत्सङ्कल्पते क्वचित् ।
बुद्ध्या निश्चीयते यद्यद् गुरुणा संशृणोति यत् ॥85॥
यद्यद्वाचा व्याकरोति यद्यदाचार्यभाषणम् ।
यद्यत्स्वरेन्द्रियैर्भाव्यं यद्यन्मीमांस्यते पृथक् ॥86॥
यद्यन्न्यायेन निर्णीतं महद्भिर्वेदपारगैः ।
शिवः क्षरति लोकान्वै विष्णुः पाति जगत्त्रयम् ॥87॥
ब्रह्मा सृजति लोकान्वै एवमादिक्रियादिकम् ।
यद्यदस्ति पुराणेषु यद्यद्वेदेषु निर्णयम् ॥88॥
सर्वोपनिषदां भावं सर्वं शशविषाणवत् ।

मनुष्य चित्त के द्वारा जो ध्यान करता है वह, और जो-जो चित्त से कल्पना करता है वह, बुद्धि से जो-जो निर्णय किया जाता है वह, जो गुरु से सुनता है, वाणी से जो-जो बोलता है, गुरु का जो भाषण है, जो-जो स्वरों और इन्द्रियों से होता है, जिसकी अलग विचारणा की जाती है, बड़े-बड़े पारंगत लोगों के द्वारा जो वेदों से साबित किया जाता है, शिव लोगों का संहार करते हैं, विष्णु रक्षण करते हैं, इस जगत् को ब्रह्मा उत्पन्न करते हैं'—इत्यादि क्रियाएँ जो पुराणों में बताई गई हैं, और जो-जो वेदों में निर्णय किया गया है, यह सब कुछ खरगोश के सींग की तरह मिथ्या (झूठ) ही है।

देहोऽहमिति सङ्कल्पं तदन्तःकरणं स्मृतम् ॥89॥
देहोऽहमिति सङ्कल्पो महत्संसार उच्यते ।
देहोऽहमिति सङ्कल्पस्तद्बन्धमिति चोच्यते ॥90॥
देहोऽहमिति सङ्कल्पस्तद्दुःखमिति चोच्यते ।
देहोऽहमिति यद्भानं तदेव नरकं स्मृतम् ॥91॥
देहोऽहमिति सङ्कल्पो जगत्सर्वमितीर्यते ।
देहोऽहमिति सङ्कल्पो हृदयग्रन्थिरीरितः ॥92॥

'मैं देह हूँ' ऐसा संकल्प ही अन्तःकरण है। 'मैं देह हूँ' ऐसा संकल्प ही बड़ा संसार कहा जाता है। 'मैं देह हूँ' ऐसा संकल्प ही बन्धन है, ऐसा संकल्प ही दुःख कहा जाता है। 'मै देह हूँ' ऐसा भान होना ही नरक कहलाता है। 'मैं देह हूँ' ऐसा संकल्प ही यह सारा जगत् है, ऐसा कहा जाता है। 'मैं देह हूँ' ऐसे संकल्प को ही हृदय की गाँठ कहा गया है।

देहोऽहमिति यज्ज्ञानं तदेवाज्ञानमुच्यते ।
देहोऽहमिति यज्ज्ञानं तदसद्भावमेव च ॥93॥
देहोऽहमिति या बुद्धिः सा चाविद्येति भण्यते ।
देहोऽहमिति यज्ज्ञानं तदेव द्वैतमुच्यते ॥94॥
देहोऽहमिति सङ्कल्पः सत्यजीवः स एव हि ।
देहोऽहमिति यज्ज्ञानं परिच्छिन्नमितीरितम् ॥95॥
देहोऽहमिति सङ्कल्पो महापापमिति स्फुटम् ।
देहोऽहमिति या बुद्धिस्तृष्णा दोषामयः किल ।
यत्किञ्चिदपि सङ्कल्पस्तापत्रयमितीरितम् ॥96॥

'मैं देह हूँ', ऐसा ज्ञान वही अज्ञान है, 'मैं देह हूँ' यह ज्ञान असद्रूप ही है, 'मैं देह हूँ' ऐसी बुद्धि अविद्या है, 'मैं देह हूँ' ऐसा ज्ञान ही द्वैत कहा जाता है। 'मैं देह हूँ' ऐसा संकल्प ही सत्य जीव है, 'मैं देह हूँ' ऐसा ज्ञान परिच्छिन्न (संकुचित) है, 'मैं देह हूँ' ऐसा संकल्प ही स्पष्टरूप से बड़ा पाप है, 'मैं देह हूँ' ऐसी बुद्धि दोषमय तृष्णा है। सचमुच, जो कुछ भी संकल्प किया जाता है, वह तीन प्रकार के संताप हैं, ऐसा कहा गया है।

कामं क्रोधं बन्धनं सर्वदुःखं विश्वं दोषं कालनानास्वरूपम् ।
यत्किञ्चेदं सर्वसंकल्पजालं तत्किञ्चेदं मानसं सोम्य विद्धि ॥97॥
मन एव जगत्सर्वं मन एव महारिपुः ।
मन एव हि संसारो मन एव जगत्त्रयम् ॥98॥
मन एव महद्दुःखं मन एव जरादिकम् ।
मन एव हि कालश्च मन एव मलं तथा ॥99॥
मन एव हि सङ्कल्पो मन एव च जीवकः ।
मन एव हि चित्तं च मनोऽहङ्कार एव च ॥100॥

काम, क्रोध, बन्धन, सब दुःख, सब दोष, काल के अनेक स्वरूप, जो कुछ भी यह संकल्पों का जाल है, वह सब हे सोम्य ! तुम मानस (मनोविकार) ही मानो। मन ही यह सारा जगत् है, मन

शमो विचारः सन्तोषो भोक्तृभोज्यादिरूपकम् ।
यमाद्यष्टाङ्गयोगं च गमनागमनात्मकम् ॥79॥
आदिमध्यान्तरङ्गं च शास्त्रं त्याज्यं हरिः शिवः ।
इन्द्रियाणि मनश्चैव अवस्थात्रितयं तथा ॥80॥

नाश, जन्म, सत्य, पुण्य, पाप, जय आदि तथा राग, काम, क्रोध, ध्यान, ध्येय, गुण, परवस्तु, गुरु-शिष्य उपदेशादि तथा आदि, मध्य, अन्त, शम, शुभ, भूत, भविष्य, वर्तमान, लक्ष्य, लक्षण, अद्वैत, शम, विचार, सन्तोष, भोक्ता, भोज्य आदि तथा यमनियमादि अष्टांगयोग, शास्त्र, त्याज्य, हरि, शिव, इन्द्रियाँ, मन, जाग्रदादि तीन अवस्थाएँ—सब कुछ खरगोश के सींग की तरह मिथ्या (झूठ) ही है।

चतुर्विंशतितत्त्वं च साधनानां चतुष्टयम् ।
सजातीयं विजातीयं लोका भूरादयः क्रमात् ॥81॥
सर्ववर्णाश्रमाचारं मन्त्रतन्त्रादिसंग्रहम् ।
विद्याविद्यादिरूपं च सर्ववेद्यं जडाजडम् ॥82॥
बन्धमोक्षविभागं च ज्ञानविज्ञानरूपकम् ।
बोधाबोधस्वरूपं वा द्वैताद्वैतादिभाषणम् ॥83॥
सर्ववेदान्तसिद्धान्तं सर्वशास्त्रार्थनिर्णयम् ।
अनेकजीवसद्भावमेकजीवादिनिर्णयम् ॥84॥

चौबीस तत्त्व, चार साधन, सजातीय, विजातीय, भूः आदि सब लोक, सभी वर्णों के आचार, मन्त्रों और तन्त्रों का संग्रह, विद्या, अविद्या, सभी वेद्य वस्तुएँ, जड, अजड, बन्ध, मोक्ष आदि के विभाग, ज्ञान और अज्ञान, बोध, अबोध, द्वैत-अद्वैत आदि का संभाषण, सभी वेदान्तों के सिद्धान्त, सभी शास्त्रों के निर्णय, अनेक जीववाद, एक जीववाद आदि का निर्णय—यह सब भी खरगोश के सींग के समान ही मिथ्या (झूठ) ही है।

यद्यद् ध्यायति चित्तेन यद्यत्सङ्कल्पते क्वचित् ।
बुद्ध्या निश्चीयते यद्यद् गुरुणा संशृणोति यत् ॥85॥
यद्यद्वाचा व्याकरोति यद्यदाचार्यभाषणम् ।
यद्यत्स्वरेन्द्रियैर्भाव्यं यद्यन्मीमांस्यते पृथक् ॥86॥
यद्यन्न्यायेन निर्णीतं महद्भिर्वेदपारगैः ।
शिवः क्षरति लोकान्वै विष्णुः पाति जगत्त्रयम् ॥87॥
ब्रह्मा सृजति लोकान्वै एवमादिक्रियादिकम् ।
यद्यदस्ति पुराणेषु यद्यद्वेदेषु निर्णयम् ॥88॥
सर्वोपनिषदां भावं सर्वं शशविषाणवत् ।

मनुष्य चित्त के द्वारा जो ध्यान करता है वह, और जो-जो चित्त से कल्पना करता है वह, बुद्धि से जो-जो निर्णय किया जाता है वह, जो गुरु से सुनता है, वाणी से जो-जो बोलता है, गुरु का जो भाषण है, जो-जो स्वरों और इन्द्रियों से होता है, जिसकी अलग विचारणा की जाती है, बड़े-बड़े पारंगत लोगों के द्वारा जो वेदों से साबित किया जाता है, शिव लोगों का संहार करते हैं, विष्णु रक्षण करते हैं, इस जगत् को ब्रह्मा उत्पन्न करते हैं'—इत्यादि क्रियाएँ जो पुराणों में बताई गई हैं, और जो-जो वेदों में निर्णय किया गया है, यह सब कुछ खरगोश के सींग की तरह मिथ्या (झूठ) ही है।

देहोऽहमिति सङ्कल्पं तदन्तःकरणं स्मृतम् ॥89॥
देहोऽहमिति सङ्कल्पो महत्संसार उच्यते ।
देहोऽहमिति सङ्कल्पस्तद्बन्धमिति चोच्यते ॥90॥
देहोऽहमिति सङ्कल्पस्तद्दुःखमिति चोच्यते ।
देहोऽहमिति यद्भानं तदेव नरकं स्मृतम् ॥91॥
देहोऽहमिति सङ्कल्पो जगत्सर्वमितीर्यते ।
देहोऽहमिति सङ्कल्पो हृदयग्रन्थिरीरितः ॥92॥

'मैं देह हूँ' ऐसा संकल्प ही अन्तःकरण है। 'मैं देह हूँ' ऐसा संकल्प ही बड़ा संसार कहा जाता है। 'मैं देह हूँ' ऐसा संकल्प ही बन्धन है, ऐसा संकल्प ही दुःख कहा जाता है। 'मैं देह हूँ' ऐसा भान होना ही नरक कहलाता है। 'मैं देह हूँ' ऐसा संकल्प ही यह सारा जगत् है, ऐसा कहा जाता है। 'मैं देह हूँ' ऐसे संकल्प को ही हृदय की गाँठ कहा गया है।

देहोऽहमिति यज्ज्ञानं तदेवाज्ञानमुच्यते ।
देहोऽहमिति यज्ज्ञानं तदसद्भावमेव च ॥93॥
देहोऽहमिति या बुद्धिः सा चाविद्येति भण्यते ।
देहोऽहमिति यज्ज्ञानं तदेव द्वैतमुच्यते ॥94॥
देहोऽहमिति सङ्कल्पः सत्यजीवः स एव हि ।
देहोऽहमिति यज्ज्ञानं परिच्छिन्नमितीरितम् ॥95॥
देहोऽहमिति सङ्कल्पो महापापमिति स्फुटम् ।
देहोऽहमिति या बुद्धिस्तृष्णा दोषामयः किल ।
यत्किञ्चिदपि सङ्कल्पस्तापत्रयमितीरितम् ॥96॥

'मैं देह हूँ', ऐसा ज्ञान वही अज्ञान है, 'मैं देह हूँ' यह ज्ञान असद्रूप ही है, 'मैं देह हूँ' ऐसी बुद्धि अविद्या है, 'मैं देह हूँ' ऐसा ज्ञान ही द्वैत कहा जाता है। 'मैं देह हूँ' ऐसा संकल्प ही सत्य जीव है, 'मैं देह हूँ' ऐसा ज्ञान परिच्छिन्न (संकुचित) है, 'मैं देह हूँ' ऐसा संकल्प ही स्पष्टरूप से बड़ा पाप है, 'मैं देह हूँ' ऐसी बुद्धि दोषमय तृष्णा है। सचमुच, जो कुछ भी संकल्प किया जाता है, वह तीन प्रकार के संताप हैं, ऐसा कहा गया है।

कामं क्रोधं बन्धनं सर्वदुःखं विश्वं दोषं कालनानास्वरूपम् ।
यत्किञ्चेदं सर्वसंकल्पजालं तत्किञ्चेदं मानसं सोम्य विद्धि ॥97॥
मन एव जगत्सर्वं मन एव महारिपुः ।
मन एव हि संसारो मन एव जगत्त्रयम् ॥98॥
मन एव महद्दुःखं मन एव जरादिकम् ।
मन एव हि कालश्च मन एव मलं तथा ॥99॥
मन एव हि सङ्कल्पो मन एव च जीवकः ।
मन एव हि चित्तं च मनोऽहङ्कार एव च ॥100॥

काम, क्रोध, बन्धन, सब दुःख, सब दोष, काल के अनेक स्वरूप, जो कुछ भी यह संकल्पों का जाल है, वह सब हे सोम्य! तुम मानस (मनोविकार) ही मानो। मन ही यह सारा जगत् है, मन

शमो विचारः सन्तोषो भोक्तृभोज्यादिरूपकम्।
यमाद्यष्टाङ्गयोगं च गमनागमनात्मकम् ॥79॥
आदिमध्यान्तरङ्गं च शास्त्रं त्याज्यं हरिः शिवः।
इन्द्रियाणि मनश्चैव अवस्थात्रितयं तथा ॥80॥

नाश, जन्म, सत्य, पुण्य, पाप, जय आदि तथा राग, काम, क्रोध, ध्यान, ध्येय, गुण, परवस्तु, गुरु-शिष्य उपदेशादि तथा आदि, मध्य, अन्त, शम, शुभ, भूत, भविष्य, वर्तमान, लक्ष्य, लक्षण, अद्वैत, शम, विचार, सन्तोष, भोक्ता, भोज्य आदि तथा यमनियमादि अष्टांगयोग, शास्त्र, त्याज्य, हरि, शिव, इन्द्रियाँ, मन, जाग्रदादि तीन अवस्थाएँ—सब कुछ खरगोश के सींग की तरह मिथ्या (झूठ) ही है।

चतुर्विंशतितत्त्वं च साधनानां चतुष्टयम्।
सजातीयं विजातीयं लोका भूरादयः क्रमात् ॥81॥
सर्ववर्णाश्रमाचारं मन्त्रतन्त्रादिसंग्रहम्।
विद्याविद्यादिरूपं च सर्ववेद्यं जडाजडम् ॥82॥
बन्धमोक्षविभागं च ज्ञानविज्ञानरूपकम्।
बोधाबोधस्वरूपं वा द्वैताद्वैतादिभाषणम् ॥83॥
सर्ववेदान्तसिद्धान्तं सर्वशास्त्रार्थनिर्णयम्।
अनेकजीवसद्भावमेकजीवादिनिर्णयम् ॥84॥

चौबीस तत्त्व, चार साधन, सजातीय, विजातीय, भूः आदि सब लोक, सभी वर्णों के आचार, मन्त्रों और तन्त्रों का संग्रह, विद्या, अविद्या, सभी वेद्य वस्तुएँ, जड, अजड, बन्ध, मोक्ष आदि के विभाग, ज्ञान और अज्ञान, बोध, अबोध, द्वैत-अद्वैत आदि का संभाषण, सभी वेदान्तों के सिद्धान्त, सभी शास्त्रों के निर्णय, अनेक जीववाद, एक जीववाद आदि का निर्णय—यह सब भी खरगोश के सींग के समान ही मिथ्या (झूठ) ही है।

यद्यद् ध्यायति चित्तेन यद्यत्सङ्कल्पते क्वचित्।
बुद्ध्या निश्चीयते यद्यद् गुरुणा संशृणोति यत् ॥85॥
यद्यद्वाचा व्याकरोति यद्यदाचार्यभाषणम्।
यद्यत्स्वरेन्द्रियैर्भाव्यं यद्यन्मीमांस्यते पृथक् ॥86॥
यद्यन्न्यायेन निर्णीतं महद्भिर्वेदपारगैः।
शिवः क्षरति लोकान्वै विष्णुः पाति जगत्त्रयम् ॥87॥
ब्रह्मा सृजति लोकान्वै एवमादिक्रियादिकम्।
यद्यदस्ति पुराणेषु यद्यद्वेदेषु निर्णयम् ॥88॥
सर्वोपनिषदां भावं सर्वं शशविषाणवत्।

मनुष्य चित्त के द्वारा जो ध्यान करता है वह, और जो-जो चित्त से कल्पना करता है वह, बुद्धि से जो-जो निर्णय किया जाता है वह, जो गुरु से सुनता है, वाणी से जो-जो बोलता है, गुरु का जो-जो भाषण है, जो-जो स्वरों और इन्द्रियों से होता है, जिसकी अलग विचारणा की जाती है, बड़े-बड़े पारंगत लोगों के द्वारा जो वेदों से साबित किया जाता है, शिव लोगों का संहार करते हैं, विष्णु रक्षण करते हैं, इस जगत् को ब्रह्मा उत्पन्न करते हैं"—इत्यादि क्रियाएँ जो पुराणों में बताई गई हैं, और जो-जो वेदों में निर्णय किया गया है, यह सब कुछ खरगोश के सींग की तरह मिथ्या (झूठ) ही है।

देहोऽहमिति सङ्कल्पं तदन्तःकरणं स्मृतम् ॥89॥
देहोऽहमिति सङ्कल्पो महत्संसार उच्यते।
देहोऽहमिति सङ्कल्पस्तद्बन्धमिति चोच्यते ॥90॥
देहोऽहमिति सङ्कल्पस्तद्दुःखमिति चोच्यते।
देहोऽहमिति यद्भानं तदेव नरकं स्मृतम् ॥91॥
देहोऽहमिति सङ्कल्पो जगत्सर्वमितीर्यते।
देहोऽहमिति सङ्कल्पो हृदयग्रन्थिरीरितः ॥92॥

'मैं देह हूँ' ऐसा संकल्प ही अन्तःकरण है। 'मैं देह हूँ' ऐसा संकल्प ही बड़ा संसार कहा जाता है। 'मैं देह हूँ' ऐसा संकल्प ही बन्धन है, ऐसा संकल्प ही दुःख कहा जाता है। 'मै देह हूँ' ऐसा भान होना ही नरक कहलाता है। 'मैं देह हूँ' ऐसा संकल्प ही यह सारा जगत् है, ऐसा कहा जाता है। 'मैं देह हूँ' ऐसे संकल्प को ही हृदय की गाँठ कहा गया है।

देहोऽहमिति यज्ज्ञानं तदेवाज्ञानमुच्यते।
देहोऽहमिति यज्ज्ञानं तदसद्भावमेव च ॥93॥
देहोऽहमिति या बुद्धिः सा चाविद्येति भण्यते।
देहोऽहमिति यज्ज्ञानं तदेव द्वैतमुच्यते ॥94॥
देहोऽहमिति सङ्कल्पः सत्यजीवः स एव हि।
देहोऽहमिति यज्ज्ञानं परिच्छिन्नमितीरितम् ॥95॥
देहोऽहमिति सङ्कल्पो महापापमिति स्फुटम्।
देहोऽहमिति या बुद्धिस्तृष्णा दोषामयः किल।
यत्किञ्चिदपि सङ्कल्पस्तापत्रयमितीरितम् ॥96॥

'मैं देह हूँ', ऐसा ज्ञान वही अज्ञान है, 'मैं देह हूँ' यह ज्ञान असद्रूप ही है, 'मैं देह हूँ' ऐसी बुद्धि अविद्या है, 'मैं देह हूँ' ऐसा ज्ञान ही द्वैत कहा जाता है। 'मैं देह हूँ' ऐसा संकल्प ही सत्य जीव है, 'मैं देह हूँ' ऐसा ज्ञान परिच्छिन्न (संकुचित) है, 'मैं देह हूँ' ऐसा संकल्प ही स्पष्टरूप से बड़ा पाप है, 'मैं देह हूँ' ऐसी बुद्धि दोषमय तृष्णा है। सचमुच, जो कुछ भी संकल्प किया जाता है, वह तीन प्रकार के संताप हैं, ऐसा कहा गया है।

कामं क्रोधं बन्धनं सर्वदुःखं विश्वं दोषं कालनानास्वरूपम्।
यत्किञ्चेदं सर्वसंकल्पजालं तत्किञ्चेदं मानसं सोम्य विद्धि ॥97॥
मन एव जगत्सर्वं मन एव महारिपुः।
मन एव हि संसारो मन एव जगत्त्रयम् ॥98॥
मन एव महद्दुःखं मन एव जरादिकम्।
मन एव हि कालश्च मन एव मलं तथा ॥99॥
मन एव हि सङ्कल्पो मन एव च जीवकः।
मन एव हि चित्तं च मनोऽहङ्कार एव च ॥100॥

काम, क्रोध, बन्धन, सब दुःख, सब दोष, काल के अनेक स्वरूप, जो कुछ भी यह संकल्पों का जाल है, वह सब हे सोम्य! तुम मानस (मनोविकार) ही मानो। मन ही यह सारा जगत् है, मन

ही बड़ा दुश्मन है, मन ही संसार है, मन ही ये तीन जगत् है, मन ही बड़ा दु:ख है, मन ही बुढ़ापा आदि है, मन ही काल है, मन ही मलिनता है, मन ही संकल्प है, मन ही जीव है, मन ही चित्त है, मन ही अहंकार है।

मन एव महद्बन्धं मनोऽन्तःकरणं च तत्।
मन एव हि भूमिश्च मन एव हि तोयकम् ॥101॥
मन एव हि तेजश्च मन एव मरुन्महान्।
मन एव हि चाकाशं मन एव हि शब्दकम् ॥102॥
स्पर्शं रूपं रसं गन्धं कोशाः पञ्च मनोभवाः।
जाग्रत्स्वप्नसुषुप्त्यादि मनोमयमितीरितम् ॥103॥
दिक्पाला वसवो रुद्रा आदित्याश्च मनोमयाः।
दृश्यं जडं द्वन्द्वजातमज्ञानं मानसं स्मृतम् ॥104॥
सङ्कल्पमेव यत्किञ्चित् तत्तन्नास्तीति निश्चिनु।
नास्ति नास्ति जगत्सर्वं गुरुशिष्यादिकं न हि ॥105॥ इत्युपनिषत्।

इति पञ्चमोऽध्यायः।

मन ही बड़ा बन्धन है, मन ही अन्तःकरण है, मन ही पृथ्वी है, मन ही जल है, मन ही तेज है, मन ही महान् वायु है, मन ही आकाश है और मन ही शब्द है। स्पर्श, रूप, रस, गन्ध, पाँच कोश, सब मनोमय ही हैं। जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति आदि अवस्थाएँ सब मनोमय ही हैं, ऐसा कहा गया है। दश दिक्पाल, ग्यारह रुद्र, आठ वसु, बारह आदित्य आदि सब मनोमय हैं। जो कुछ दृश्य है, जड़ है, द्वन्द्वमय है, वह सब अज्ञान और मानस ही है। जो कुछ भी संकल्प है, वह है ही नहीं ऐसा निश्चय कर लो। यह जगत् है ही नहीं, सचमुच नहीं है, यह सब गुरु-शिष्य आदि भी नहीं है—ऐसा उपदेश है।

यहाँ पाँचवाँ अध्याय पूरा हुआ।

❋

षष्ठोऽध्यायः

ऋभुः।
सर्वं सच्चिन्मयं विद्धि सर्वं सच्चिन्मयं ततम्।
सच्चिदानन्दमद्वैतं सच्चिदानन्दमद्वयम् ॥1॥
सच्चिदानन्दमात्रं हि सच्चिदानन्दमन्यकम्।
सच्चिदानन्दरूपोऽहं सच्चिदानन्दमेव खम् ॥2॥
सच्चिदानन्दमेव त्वं सच्चिदानन्दकोऽस्म्यहम्।
मनोबुद्धिरहंकारचित्तसंघातका अमी ॥3॥
न त्वं नाहं न चान्यद्वा सर्वं ब्रह्मैव केवलम्।
न वाक्यं न पदं वेदं नाक्षरं न जडं क्वचित् ॥4॥

ऋभु बोले—तुम ऐसा जान लो कि सब कुछ सच्चिदानन्दमय ही है, सब कुछ सच्चिन्मय का ही विस्तार है, सच्चिदानन्दमय ही अद्वैत है, सच्चिदानन्दमय ही एकमात्र है। केवल एक सच्चिदानन्द ही है, बस, वही मात्र सच्चिदानन्द है। मैं भी सच्चिदानन्द मात्र हूँ, आकाश भी सच्चिदानन्द मात्र है, तू भी सच्चिदानन्द ही है, मैं भी सच्चिदानन्दमय हूँ। ये जो मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार के समूह हैं, वे और तू, मैं या अन्य कुछ भी नहीं हैं, केवल ब्रह्म ही है। कोई वाक्य नहीं है, पद नहीं है, वेद नहीं है, कोई अक्षर नहीं है (केवल ब्रह्म है)।

न मध्यं नादि नान्तं वा न सत्यं न निबन्धनम्।
न दुःखं न सुखं भावं न माया प्रकृतिस्तथा ॥5॥
न देहं न मुखं घ्राणं न जिह्वा न च तालुनी।
न दन्तौष्ठौ ललाटं च निःश्वासोच्छ्वास एव च ॥6॥
न स्वेदमस्थि मांसं च न रक्तं न च मूत्रकम्।
न दूरं नान्तिकं नाङ्गं नोदरं न किरीटकम् ॥7॥
न हस्तपादचलनं न शास्त्रं न च शासनम्।
न वेत्ता वेदनं वेद्यं न जाग्रत्स्वप्नसुप्तयः ॥8॥

मध्य नहीं है, आदि नहीं है, अन्त नहीं है, सत्य नहीं है, बन्धन नहीं है, दु:ख नहीं है, सुख नहीं है, पदार्थ नहीं है, माया नहीं है, प्रकृति नहीं है, शरीर नहीं है, मुँह नहीं है, नाक नहीं है, जीभ नहीं है, दो तालु नहीं है, दाँत और ओठ नहीं हैं, ललाट नहीं है, श्वासोच्छ्वास भी नहीं हैं। पसीना नहीं है, मांस नहीं है, लहू नहीं है, मूत्र नहीं है। दूर जैसा कुछ नहीं और नजदीक जैसा भी कुछ नहीं है। अंग नहीं है, उदर नहीं है, किरीट भी नहीं है, हाथ-पैर का हिलना भी नहीं है, शास्त्र नहीं है, आज्ञा नहीं है, ज्ञाता नहीं है, ज्ञेय नहीं है, ज्ञान नहीं है, जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति भी नहीं है।

तुर्यातीतं न मे किंचित्सर्वं सच्चिन्मयं जगत्।
नाध्यात्मिकं नाधिभूतं नाधिदैवं न मायिकम् ॥9॥
न विश्वस्तैजसः प्राज्ञो विराट्सूत्रात्मकेश्वराः।
न गमागमचेष्टा च न नष्टं न प्रयोजनम् ॥10॥
त्याज्यं ग्राह्यं न दूष्यं वा ह्यमेध्यामेध्यकं तथा।
न पीनं न कृशं क्लेदं न कालं देशभाषणम् ॥11॥
न सर्वं न भयं द्वैतं न वृक्षतृणपर्वताः।
न ध्यानं न योगसिद्धिर्न ब्रह्मक्षत्रवैश्यकम् ॥12॥

मेरी तुरीयातीतावस्था भी नहीं है, सब सच्चिन्मय फैला हुआ है। आध्यात्मिक नहीं है, आधिभौतिक नहीं है, आधिदैविक नहीं है, विश्व नहीं है, तैजस नहीं है, प्राज्ञ नहीं है, विराट् नहीं है, सूत्रात्मा नहीं है, ईश्वर नहीं है, आने-जाने की कोई चेष्टा ही नहीं है, कुछ नष्ट नहीं है, प्रयोजन भी नहीं है, कुछ त्याज्य नहीं है, ग्राह्य नहीं है, कुछ दूषित नहीं है, मेध्य नहीं और अमेध्य भी नहीं है, स्थूल नहीं है, दुबला नहीं है, और काल नहीं, देश का भी कथन नहीं है। सब नहीं है, भय नहीं है, द्वैत नहीं है। पेड़-घास-पर्वत कुछ भी नहीं है। ध्यान नहीं है, योगसिद्धि भी नहीं है। ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य कुछ भी नहीं है।

न पक्षी न मृगो नाङ्गी न लोभो मोह एव च ।
न मदो न च मात्सर्यं कामक्रोधादयस्तथा ।।13।।
न स्त्रीशूद्रबिडालादि भक्ष्यभोज्यादिकं च तत् ।
न प्रौढहीनो नास्तिक्यं न वार्तावसरोऽस्ति हि ।।14।।
न लौकिको न लोको वा न व्यापारो न मूढता ।
न भोक्ता भोजनं भोज्यं न पात्रं पानपेयकम् ।।15।।
न शत्रुमित्रपुत्रादिर्न माता न पिता स्वसा ।
न जन्म न मृतिर्वृद्धिर्न देहोऽहमिति भ्रमः ।।16।।

पक्षी नहीं हैं, प्राणी नहीं है, कोई अंगी नहीं है। लोभ नहीं है, मोह नहीं है, मद नहीं है, मात्सर्य नहीं है, काम-क्रोध आदि भी नहीं है। स्त्री-शूद्र-बिडाल आदि भी नहीं है। भक्ष्य-भोज्यादि जो भी है वह नहीं है। कोई प्रौढ नहीं, कोई छोटा भी नहीं है। नास्तिकता नहीं है। किसी बात या समाचार का कोई अवसर ही नहीं है। कोई लौकिक नहीं, लोक भी नहीं, व्यापार भी नहीं, मूढता नहीं है। भोक्ता-भोजन-भोज्य भी नहीं है। कोई पात्र-पान-पेय भी नहीं है। शत्रु-मित्र-पुत्रादिक नहीं हैं, माता-पिता-बहन नहीं है। जन्म-मरण-वार्द्धक्य नहीं है। मैं देह हूँ—यह तो केवल भ्रम ही है।

न शून्यं नापि चाशून्यं नान्तः कारणसंसृतिः ।
न रात्रिर्न दिवा नक्तं न ब्रह्मा न हरिः शिवः ।।17।।
न वारपक्षमासादि वत्सरं न च चञ्चलम् ।
न ब्रह्मलोको वैकुण्ठो न कैलासो न चान्यकः ।।18।।
न स्वर्गो न च देवेन्द्रो नाग्निलोको न चाग्निकः ।
न यमो यमलोको वा न लोका लोकपालकाः ।।19।।
न भूर्भुवःस्वस्त्रैलोक्यं न पातालं न भूतलम् ।
नाविद्या न च विद्या च न माया प्रकृतिर्जडा ।।20।।

शून्य नहीं है, अशून्य नहीं है, भीतर नहीं है, कारण नहीं है, संसार नहीं है, रात नहीं, दिन नहीं, मध्य रात्रि नहीं, ब्रह्मा-विष्णु-महेश नहीं हैं, वार-पक्ष-मास-वर्ष आदि भी कुछ नहीं है। चंचल नहीं है। ब्रह्मलोक, वैकुण्ठ, कैलास और अन्य ऐसे लोक भी नहीं हैं। स्वर्ग और इन्द्र भी नहीं है। अग्निलोक और अग्नि भी नहीं है। यम और यमलोक भी नहीं है। लोक और लोकपाल भी नहीं हैं। भूः, भुवः, स्वः ये तीन लोक भी नहीं हैं। पाताल-भूतल आदि भी कुछ नहीं हैं। अविद्या और विद्या नहीं हैं। माया या जड़ प्रकृति भी नहीं है।

न स्थिरं क्षणिकं नाशं न गतिर्न च धावनम् ।
न ध्यातव्यं न मे ध्यानं न मन्त्रो न जपः क्वचित् ।।21।।
न पदार्थं न पूजार्हं नाभिषेको न चार्चनम् ।
न पुष्पं न फलं पत्रं गन्धपुष्पादिधूपकम् ।।22।।
न स्तोत्रं न नमस्कारो न प्रदक्षिणमण्वपि ।
न प्रार्थना न पृथग्भावो न हविर्नाग्निवन्दनम् ।।23।।
न होमो न च कर्माणि न दुर्वाक्यं सुभाषणम् ।
न गायत्री न वा सन्धिर्न मनस्यं न दुःखितिः ।।24।।

स्थिर (क्षणिक) जैसा कुछ नहीं है। नाश, गति, दौड़ना आदि भी नहीं है। ध्यातव्य, ध्यान, मन्त्र, जप आदि कुछ भी मेरे लिए कहीं भी नहीं हैं। कोई पदार्थ नहीं है, पूजायोग्य कोई नहीं है, अभिषेक (पूजन) भी नहीं है, पुष्प, फल, पत्र, गन्ध, धूप आदि भी कुछ नहीं हैं, स्तोत्र, नमस्कार और प्रदक्षिणा भी कुछ नहीं है, प्रार्थना भी नहीं है, कोई अलगपन ही नहीं है, हविष्य, अग्निवन्दन, होम और अन्य कर्म भी नहीं हैं, कोई सुवाक्य नहीं, दुर्वाक्य भी नहीं है। गायत्री, सन्ध्या आदि भी नहीं है। मन में होने वाली कोई भावना भी नहीं है अतः दुःख भी नहीं हैं।

न दुराशा न दुष्टात्मा न चाण्डालो न पौल्कसः ।
न दुःसहं दुरालापं न किरातो न कैतवम् ।।25।।
न पक्षपातं न पक्षं वा न विभूषणतस्करौ ।
न च दम्भो दाम्भिको वा न हीनो नाधिको नरः ।।26।।
नैकं द्वयं त्रयं तुर्यं न महत्त्वं न चाल्पता ।
न पूर्णं न परिच्छिन्नं न काशी न व्रतं तपः ।।27।।
न गोत्रं न कुलं सूत्रं न विभुत्वं न शून्यता ।
न स्त्री न योषिन्नो वृद्धा न कन्या न वितन्तुता ।।28।।

दुष्ट आशा नहीं है, दुष्ट आत्मा नहीं है, चाण्डाल नहीं है, भंगी नहीं है, दुःसह नहीं है, दुष्ट आलाप नहीं है। भील नहीं, कपट नहीं, पक्षपात नहीं, पक्ष भी नहीं है। कोई चोर नहीं, चोरी करने का कोई पदार्थ भी नहीं है। दम्भ नहीं है, दाम्भिक नहीं है, कोई छोटा नहीं, कोई बड़ा भी नहीं है। कोई एक नहीं है, दूसरा नहीं, तीसरा नहीं, चौथा भी नहीं है, कोई बड़प्पन नहीं है, छुटपन भी नहीं है, पूर्ण नहीं है, मर्यादित नहीं है, काशी नहीं, व्रत नहीं, तप नहीं है। गोत्र-कुल-सूत्र कुछ भी नहीं है। विभुता नहीं है, शून्यता नहीं है। स्त्री-युवती-वृद्धा-कन्या-वन्ध्या कुछ भी नहीं है।

न सूतकं न जातं वा नान्तर्मुखसुविभ्रमः ।
न महावाक्यमैक्यं वा नाणिमादिविभूतयः ।।29।।
सर्वचैतन्यमात्रत्वात् सर्वदोषा सदा न हि ।
सर्वं सन्मात्ररूपत्वात् सच्चिदानन्दमात्रकम् ।।30।।
ब्रह्मैव सर्वं नान्योऽस्ति तदहं तदहं तथा ।
तदेवाहं तदेवाहं ब्रह्मैवाहं सनातनम् ।।31।।
ब्रह्मैवाहं न संसारी ब्रह्मैवाहं न मे मनः ।
ब्रह्मैवाहं न मे बुद्धिर्ब्रह्मैवाहं न चेन्द्रियः ।।32।।

सूतक नहीं है, कोई जन्मा ही नहीं है, कोई भीतर के भ्रमवाला नहीं है, महावाक्यों की एकता नहीं है और अणिमा आदि सिद्धियाँ भी नहीं हैं। सभी चैतन्यमात्र ही हैं, इसलिए सभी दोष हैं ही नहीं। सब कुछ केवल सत् मात्र होने से सब सच्चिदानन्दरूप ही है। ब्रह्म ही सब कुछ है, इसके अतिरिक्त कुछ है ही नहीं। मैं वही हूँ बस, मैं वही हूँ। मैं सनातन ब्रह्म हूँ, वही मैं हूँ। मैं ब्रह्म ही हूँ। संसारी नहीं हूँ, मेरा कोई मन नहीं है, मेरी कोई बुद्धि भी नहीं है, कोई इन्द्रिय भी नहीं। मैं ब्रह्म हूँ, ब्रह्म ही हूँ।

ब्रह्मैवाहं न देहोऽहं ब्रह्मैवाहं न गोचरः ।
ब्रह्मैवाहं न जीवोऽहं ब्रह्मैवाहं न भेदभूः ।।33।।

ब्रह्मैवाहं जडो नाहमहं ब्रह्म न मे मृतिः।
ब्रह्मैवाहं न च प्राणो ब्रह्मैवाहं परात्परः ॥34॥
इदं ब्रह्म परं ब्रह्म सत्यं ब्रह्म प्रभुर्हि सः।
कालो ब्रह्म कला ब्रह्म सुखं ब्रह्म स्वयंप्रभम् ॥35॥
एकं ब्रह्म द्वयं ब्रह्म मोहो ब्रह्म शमादिकम्।
दोषो ब्रह्म गुणो ब्रह्म दमः शान्तं विभुः प्रभुः ॥36॥

मैं ब्रह्म हूँ, देह नहीं हूँ। मैं ब्रह्म हूँ, विषय नहीं हूँ। मैं ब्रह्म हूँ, जीव नहीं हूँ। मैं ब्रह्म हूँ, भेद की भूमि नहीं हूँ। मैं ब्रह्म हूँ, जड नहीं हूँ। मैं ब्रह्म हूँ, मेरा मरण नहीं है। मैं ब्रह्म हूँ, प्राण नहीं हूँ। मैं ब्रह्म हूँ, परे से भी परे हूँ। यह भी ब्रह्म है, परे भी ब्रह्म है, सत्य ब्रह्म है, वही समर्थ (जगत् का स्रोत) है। काल ब्रह्म है, कला ब्रह्म है, सुख ब्रह्म है। वह स्वयंप्रकाश है। एक भी ब्रह्म और दो भी ब्रह्म ही है। मोह भी ब्रह्म है और शमादि भी ब्रह्म ही है। दोष भी ब्रह्म है, गुण भी ब्रह्म है, दम और शान्त भी वह व्यापक प्रभु (जगत् का प्रभवस्थान) ब्रह्म ही है।

लोको ब्रह्म गुरुर्ब्रह्म शिष्यो ब्रह्म सदाशिवः।
पूर्वं ब्रह्म परं ब्रह्म शुद्धं ब्रह्म शुभाशुभम् ॥37॥
जीव एव सदा ब्रह्म सच्चिदानन्दमस्म्यहम्।
सर्वं ब्रह्ममयं प्रोक्तं सर्वं ब्रह्ममयं जगत् ॥38॥
स्वयं ब्रह्म न सन्देहः स्वस्मादन्यन्न किञ्चन।
सर्वमात्मैव शुद्धात्मा सर्वं चिन्मात्रमव्ययम् ॥39॥
नित्यनिर्मलरूपात्मा ह्यात्मनोऽन्यन्न किञ्चन।
अणुमात्रलसद्रूपमणुमात्रमिदं जगत् ॥40॥

यह लोक ब्रह्म है, गुरु ब्रह्म है, शिष्य ब्रह्म है, सदाशिव ब्रह्म है, पूर्व ब्रह्म है, परे ब्रह्म है, शुद्ध ब्रह्म है, शुभ ब्रह्म है, अशुभ भी ब्रह्म है, जीव सदैव ब्रह्म ही है, मैं सच्चिदानन्दस्वरूप हूँ। सब ब्रह्ममय ही कहा गया है। यह सारा जगत् ब्रह्ममय है। मैं स्वयं ब्रह्म हूँ, इसमें कोई सन्देह नहीं है। अपने से अन्य कुछ भी नहीं है। सब कुछ आत्मा ही है, आत्मा शुद्ध है सब कुछ केवल चिन्मात्रस्वरूप वाला है। आत्मा नित्य निर्मल रूपवाला है और ऐसे आत्मा से अतिरिक्त कुछ है ही नहीं। वह यहाँ अणुमात्र ही प्रकाशित होता है और उसके अणुमात्र से ही यह जगत् है।

अणुमात्रं शरीरं वा ह्यणुमात्रमसत्यकम्।
अणुमात्रमचिन्त्यं वा चिन्त्यं वा ह्यणुमात्रकम् ॥41॥
ब्रह्मैव सर्वं चिन्मात्रं ब्रह्ममात्रं जगत्त्रयम्।
आनन्दं परमानन्दमन्यत्किञ्चिन्न किञ्चन ॥42॥
चैतन्यमात्रमोंकारं ब्रह्मैव सकलं स्वयम्।
अहमेव जगत्सर्वमहमेव परं पदम् ॥43॥
अहमेव गुणातीत अहमेव परात्परः।
अहमेव परं ब्रह्म अहमेव गुरोर्गुरुः ॥44॥

शरीर तो अणुमात्र है, और अणु असत्य ही है। वह अचिन्त्य है अथवा तो अणुमात्र चिन्तनीय है। सब चिन्मात्र ब्रह्म ही है, यह त्रिभुवन ब्रह्मस्वरूप मात्र ही है। आनन्दरूप परमानन्दरूप ही सब कुछ

है, ब्रह्मातिरिक्त कुछ है ही नहीं। सब ओंकारमात्र, चैतन्यमात्र, ब्रह्मरूप ही है। यह जगत् स्वयं आत्मरूप ही है। मैं ही तो यह सारा जगत् हूँ। मैं ही परमोच्च स्थानरूप हूँ। मैं ही गुणातीत, मैं ही पर से भी परे, मैं ही परब्रह्म हूँ। मैं ही गुरु का भी गुरु हूँ।

अहमेवाखिलाधार अहमेव सुखात्सुखम्।
आत्मनोऽन्यज्जगन्नास्ति आत्मनोऽन्यत्सुखं न च ॥45॥
आत्मनोऽन्या गतिर्नास्ति सर्वमात्ममयं जगत्।
आत्मनोऽन्यन्न हि क्वापि आत्मनोऽन्यत्तृणं न हि ॥46॥
आत्मनोऽन्यत्तुषं नास्ति सर्वमात्ममयं जगत्।
ब्रह्ममात्रमिदं सर्वं ब्रह्ममात्रमसन्न हि ॥47॥
ब्रह्ममात्रं श्रुतं सर्वं स्वयं ब्रह्मैव केवलम्।
ब्रह्ममात्रं वृत्तं सर्वं ब्रह्ममात्रं रसं सुखम् ॥48॥

मैं सबका आधार हूँ, मैं सुख से सुख हूँ, आत्मा से अतिरिक्त कोई जगत् नहीं है। आत्मा से अतिरिक्त कोई सुख नहीं है। आत्मा के बिना कोई गति नहीं है, सब जगत् आत्ममय है, कहीं कुछ आत्मा से अलग नहीं है। एक तिनका भी आत्मा से अलग नहीं है। आत्मा से अलग छिलका भी नहीं है, सब जगत् आत्ममय है, सब ब्रह्ममय है, सब ब्रह्ममय होने से असत् नहीं है। सुना हुआ सब ब्रह्म है, स्वयं केवल ब्रह्म है, बना हुआ सब ब्रह्म है। और ब्रह्म ही सदा सुखरूप तथा रसरूप है।

ब्रह्ममात्रं चिदाकाशं सच्चिदानन्दमव्ययम्।
ब्रह्मणोऽन्यतरन्नास्ति ब्रह्मणोऽन्यज्जगन्न च ॥49॥
ब्रह्मणोऽन्यदहं नास्ति ब्रह्मणोऽन्यत्फलं न हि।
ब्रह्मणोऽन्यत्तृणं नास्ति ब्रह्मणोऽन्यत्पदं न हि ॥50॥
ब्रह्मणोऽन्यद्गुरुर्नास्ति ब्रह्मणोऽन्यदसद्वपुः।
ब्रह्मणोऽन्यन्न चाहंता त्वत्तेदन्ते न हि क्वचित् ॥51॥
स्वयं ब्रह्मात्मकं विद्धि स्वस्मादन्यन्न किञ्चन।
यत्किञ्चिद्दृश्यते लोके यत्किञ्चिद्भाष्यते जनैः ॥52॥

चैतन्यरूप आकाशमात्र ब्रह्म है, सब सच्चिदानंद है, सब अव्यय है, ब्रह्म के सिवा दूसरा कुछ नहीं। ब्रह्मातिरिक्त कोई जगत् नहीं है, मैं भी ब्रह्मातिरिक्त नहीं हूँ, ब्रह्म के सिवा कोई फल नहीं है। एक तिनका भी ब्रह्मातिरिक्त नहीं है। ब्रह्म से उच्चतर कुछ है ही नहीं। कोई गुरु भी ब्रह्म के सिवा नहीं है, ब्रह्म के सिवा शरीर असत् है। ब्रह्म के सिवा अहंभाव नहीं है। ब्रह्म के सिवा 'वह' का और 'यह' का भी कोई भाव नहीं है। अपने आपको ब्रह्मात्मक मानो। अपने आपको छोड़कर कुछ नहीं है। जो कुछ इस लोक में देखा जाता है, और जो कुछ लोगों से बोला जाता है, वह तो मिथ्या है।

यत्किञ्चिद्भुज्यते क्वापि तत्सर्वमसदेव हि।
कर्तृभेदं क्रियाभेदं गणभेदं रसात्मकम् ॥53॥
लिङ्गभेदमिदं सर्वमसदेव सदा सुखम्।
कालभेदं देशभेदं वस्तुभेदं जयाजयम् ॥54॥
यद्यद्भेदं च तत्सर्वमसदेव हि केवलम्।
असदन्तःकरणकमसदेवेन्द्रियादिकम् ॥55॥

असत्प्राणादिकं सर्वं संघातमसदात्मकम् ।
असत्यं पञ्चकोशाख्यमसत्यं पञ्चदेवताः ॥56॥

जो कुछ कहीं भी खाया जाता है, वह असत् ही है । कर्ता का भेद, क्रिया का भेद, गुण का भेद, रस आदि एवं जाति का भेद—सब का सब असत् है । सदा रहने वाला तो मात्र सुख ही है । काल का भेद, देश का भेद, वस्तु का भेद, जय और पराजय, और भी जो कुछ भेद है वह सभी असत् (मिथ्या) ही हैं । अन्तःकरण भी असत् है, इन्द्रियादिक भी असत् हैं, प्राणादिक भी असत् हैं, भूतसंघ भी असत् है, पाँच कोश आदि भी असत् हैं और पाँच देव भी असत्य हैं ।

असत्यं षड्विकारादि असत्यमरिवर्गकम् ।
असत्यं षड्तुश्चैव असत्यं षड्रसस्तथा ॥57॥
सच्चिदानन्दमात्रोऽहमनुत्पन्नमिदं जगत् ।
आत्मैवाहं परं सत्यं नान्याः संसारदृष्टयः ॥58॥
सत्यमानन्दरूपोऽहं चिद्घनानन्दविग्रहः ।
अहमेव परानन्द अहमेव परात्परः ॥59॥
ज्ञानाकारमिदं सर्वं ज्ञानानन्दोऽहमद्वयः ।
सर्वप्रकाशरूपोऽहं सर्वाभावस्वरूपकः ॥60॥

कामक्रोधादि छः विकार, शत्रुओं का नाश, छः ऋतुएँ, छः रस आदि सब मिथ्या (झूठे) ही हैं । मैं तो केवल सच्चिदानन्दस्वरूप ही हूँ । सत्य रूप तो मैं आत्मा ही हूँ । कोई संसार की दृष्टियाँ मैं नहीं हूँ । मैं सत्य और आनन्दस्वरूप हूँ । मैं चिद्घनानन्दस्वरूप हूँ । मैं ही परम आनन्द हूँ । मैं ही परम से भी परम हूँ । यह सब ज्ञान का ही स्वरूप है, मैं भी ज्ञान का ही स्वरूप हूँ, मैं अद्वय – एक ही हूँ, मैं सभी का प्रकाशक हूँ और सर्व का अभावरूप भी तो मैं ही हूँ ।

अहमेव सदा भामीत्येवं रूपं कुतोऽप्यसत् ।
त्वमित्येवं परं ब्रह्म चिन्मयानन्दरूपवान् ॥61॥
चिदाकारं चिदाकाशं चिदेव परमं सुखम् ।
आत्मैवाहमसन्नाहं कूटस्थोऽहं गुरुः परः ॥62॥
सच्चिदानन्दमात्रोऽहमनुत्पन्नमिदं जगत् ।
कालो नास्ति जगन्नास्ति मायाप्रकृतिरेव न ॥63॥
अहमेव हरिः साक्षादहमेव सदाशिवः ।
शुद्धचैतन्यभावोऽहं शुद्धसत्त्वानुभावनः ॥64॥

मैं ही सदा प्रकाशित रहता हूँ, तो ऐसा रूप भला असत्य कैसे होगा ? 'तू' शब्द से कहा जाने वाला भी परब्रह्म ही है । वह भी चैतन्यमय तथा आनन्दरूप है । चैतन्याकार चिदाकाश है, चैतन्य ही परमसुख है । मैं आत्मा ही हूँ, मैं असत् नहीं हूँ, मैं कूटस्थ हूँ, मैं परमगुरु हूँ । मैं केवल सच्चिदानन्द हूँ । इस जगत् की तो कभी उत्पत्ति ही नहीं हुई । काल, जगत्, माया, प्रकृति कुछ है ही नहीं । मैं ही हरि हूँ, मैं ही साक्षात् सदाशिव हूँ । मैं ही केवल शुद्ध चैतन्यमात्र हूँ । मैं ही सही रूप से चैतन्यरूप भाव पदार्थ अथवा शुद्ध सत्त्वगुण का अनुभव करने वाला हूँ ।

अद्वयानन्दमात्रोऽहं चिद्घनैकरसोऽस्म्यहम् ।
सर्वं ब्रह्मैव सततं सर्वं ब्रह्मैव केवलम् ॥65॥

सर्वं ब्रह्मैव सततं सर्वं ब्रह्मैव चेतनम् ।
सर्वान्तर्यामिरूपोऽहं सर्वसाक्षित्वलक्षणः ॥66॥
परमात्मा परं ज्योतिः परं धाम परा गतिः ।
सर्ववेदान्तसारोऽहं सर्वशास्त्रसुनिश्चितः ॥67॥
योगानन्दस्वरूपोऽहं मुख्यानन्दमहोदयः ।
सर्वज्ञानप्रकाशोऽस्मि मुख्यविज्ञानविग्रहः ॥68॥

मैं मात्र अद्वैत आनन्द हूँ । चैतन्यव्याप्त एकरस हूँ । सब निरंतर ब्रह्म है, सब कुछ ब्रह्म - चेतन ही है । मैं सबका अन्तर्यामी हूँ । मैं सबके साक्षीरूप लक्षण वाला हूँ । मैं परमात्मा हूँ, परम ज्योति हूँ, परम धाम हूँ, परम गति हूँ । सभी वेदान्तों का मैं सार हूँ और सभी शास्त्रों द्वारा सुनिश्चित रूप से निर्णीत हुआ हूँ । मैं योगानन्दस्वरूप हूँ । प्रमुख आनन्दरूप और बड़े उदयवाला हूँ । मैं सर्व ज्ञानों को प्रकाशित करने वाला हूँ और परम विज्ञानरूप शरीरवाला भी मैं ही हूँ ।

तुर्यातुर्यप्रकाशोऽस्मि तुर्यातुर्यादिवर्जितः ।
चिदक्षरोऽहं सत्योऽहं वासुदेवोऽजरोऽमरः ॥69॥
अहं ब्रह्म चिदाकाशं नित्यं ब्रह्म निरञ्जनम् ।
शुद्धं बुद्धं सदामुक्तमनामकमरूपकम् ॥70॥
सच्चिदानन्दरूपोऽहमनुत्पन्नमिदं जगत् ।
सत्यासत्यं जगन्नास्ति सङ्कल्पकलनादिकम् ॥71॥
नित्यानन्दमयं ब्रह्म केवलं सर्वदा स्वयम् ।
अनन्तमव्ययं शान्तमेकरूपमनामयम् ॥72॥

तुर्यप्रकाश भी मैं हूँ और अतुर्यप्रकाश भी मैं हूँ । फिर भी मैं तुर्य और अतुर्य से अलग हूँ । मैं चैतन्य रूप और अच्युत (अक्षय) हूँ । मैं ही सत्य, वासुदेव, अजर, अमर हूँ । मैं चिदाकाशरूप ब्रह्म हूँ । मैं नित्य, निरंजन, शुद्ध, बुद्ध, सदैव मुक्त, नामरहित और रूपरहित ब्रह्म ही हूँ । मैं सच्चिदानन्दस्वरूप हूँ । इस जगत् की तो कभी उत्पत्ति हुई ही नहीं है । यह जगत् न सत्य है न असत्य ही है । संकल्पों की घटना आदि कुछ भी नहीं है । ब्रह्म तो नित्य आनन्दमय है और वह केवल (एक-अद्वितीय) है तथा अनन्त, अव्यय, शान्त, एकरूप और नामरहित है ।

मत्तोऽन्यदस्ति चेन्मिथ्या यथा मरुमरीचिका ।
बन्ध्याकुमारवचने भीतिश्चेदस्ति किञ्चन ॥73॥
शशशृङ्गेण नागेन्द्रो मृतश्चेज्जगदस्ति तत् ।
मृगतृष्णाजलं पीत्वा तृप्तश्चेदस्त्विदं जगत् ॥74॥
नरशृङ्गेण नष्टश्चेत्कश्चिदस्त्विदमेव हि ।
गन्धर्वनगरे सत्ये जगद्भवति सर्वदा ॥75॥
गगने नीलिमासत्ये जगत्सत्यं भविष्यति ।
शुक्तिकारजतं सत्यं भूषणं चेज्जगद्भवेत् ॥76॥

जो कुछ भी मुझसे अलग है, वह मृगजल की तरह ही मिथ्या है । बाँझ के बच्चे के वचन से यदि भय होता हो, तभी यह सब सत्य कहा जा सकता है । खरगोश के सींग से अगर हाथी का मारा जाना सत्य हो सकता है, तभी यह जगत् का अस्तित्व सही हो सकता है । मरुमरीचिका का जल पीकर

यदि कोई तृप्त हो सकता हो, तभी यह जगत् सत्य है। मनुष्य के सींग से किसी का मारा जाना होता हो, तभी यह जगत् है। गन्धर्वनगर सत्य हो, तभी जगत् सत्य है। आकाश की नीलिमा का यदि अस्तित्व है, तभी यह जगत् सत्य है। शुक्तिरजत का गहना यदि सत्य है, तभी यह जगत् सत्य है। अर्थात् जगत् मिथ्या ही है।

रज्जुसर्पेण दष्टश्चेन्नरो भवतु संसृतिः।
जातरूपेण बाणेन ज्वालाग्नौ नाशिते जगत् ॥77॥
विन्ध्याटव्यां पायसान्नमस्ति चेज्जगदुद्भवः।
रम्भास्तम्भेन काष्ठेन पाकसिद्धौ जगद्भवेत् ॥78॥
सद्यःकुमारिकारूपैः पाके सिद्धे जगद्भवेत्।
चित्रस्थदीपैस्तमसो नाशश्चेदस्त्विदं जगत् ॥79॥
मासात्पूर्वं मृतो मर्त्यो ह्यागतश्चेज्जगद्भवेत्।
तक्रं क्षीरस्वरूपं चेत् क्वचिन्नित्यं जगद्भवेत् ॥80॥

यदि रज्जु में भ्रम से माने गए साँप ने किसी को डंक मारा हो, तब कहीं जगत् सत्य हो सकता है। सोने के बाण से यदि जलती हुई आग नष्ट हो, तब जगत् सत्य हो सकता है। विन्ध्याचल के जंगल में यदि दूधपाक मिले, तो जगत् सत्य हो सकता है। केले के पेड़ के तने के काष्ठ से यदि रसोई पक सकती हो, तभी जगत् सत्य हो सकता है। तुरन्त जन्मी हुई कुमारिका के रूप में रसोई यदि बन जाती हो, तभी जगत् सत्य है। चित्र में आलिखित दीपों से यदि अन्धकार का नाश हो सकता हो, तभी जगत् सत्य हो सकता है। एक मास पहले मरा हुआ कोई मनुष्य फिर से आ जाए, तभी जगत् सत्य हो सकता है। लस्सी फिर से दूधस्वरूप में हो जाय तब कहीं जगत् सत्य हो सकता है। अर्थात् जगत् का सत्य होना ऐसे उदाहरणों की तरह ही बिल्कुल असंभव है।

गोस्तनादुद्भवं क्षीरं पुनरारोपणे जगत्।
भूरजोऽब्धौ समुत्पन्ने जगद्भवतु सर्वदा ॥81॥
कूर्मरोम्णा गजे बद्धे जगदस्तु मदोत्कटे।
नालस्थतन्तुना मेरुश्चालितश्चेज्जगद्भवेत् ॥82॥
तरङ्गमालया सिन्धुर्बद्धश्चेदस्त्विदं जगत्।
अग्नेरधश्चेज्ज्वलनं जगद्भवतु सर्वदा ॥83॥
ज्वालावह्निः शीतलश्चेदस्तिरूपमिदं जगत्।
ज्वालाग्निमण्डले पद्मवृद्धिश्चेज्जगदस्त्विदम् ॥84॥

गाय के स्तन से निकला हुआ दूध यदि फिर से स्तन में आरोपित किया जा सके, तब कहीं जगत् सत्य हो सकता है। धरती की धूल से यदि सागर बन सकता हो, तब कहीं जगत् सत्य हो सकता है। कछुए के रोंगटों से यदि मदोन्मत्त हाथी बाँधा जा सके, तब कहीं जगत् सत्य हो सकता है। कमलनाल के तन्तु से यदि मेरु को हिलाया जा सके, तब कहीं जगत् सत्य हो सकता है। तरंगों की माला से यदि सागर को बाँधा जा सके, तब कहीं जगत् सत्य हो सकता है। आग की ज्वालाएँ निम्नगामी हों, तब कहीं जगत् सत्य हो सकता है। जलती हुई आग यदि शीतल हो, तब जगत् का अस्तित्व हो सकता है और जलती आग के घेरे में यदि कमलों की वृद्धि सम्भव हो तब कहीं जगत् सत्य हो सकता है।

महच्छैलेन्द्रनीलं वा सम्भवेच्चेदिदं जगत्।
मेरुरागत्य पद्माक्षे स्थितश्चेदस्त्विदं जगत् ॥85॥
निगिरेच्चेद्भृङ्गसूनुर्मेरुं चलवदस्त्विदम्।
मशकेन हते सिंहे जगत्सत्यं तदास्तु ते ॥86॥
अणुकोटरविस्तीर्णे त्रैलोक्यं चेज्जगद्भवेत्।
तृणानलश्च नित्यश्चेत् क्षणिकं तज्जगद्भवेत् ॥87॥
स्वप्नदृष्टं च यद्वस्तु जागरे चेज्जगद्भवः।
नदीवेगो निश्चलश्चेत्केनाऽपीदं जगद्भवेत् ॥88॥

बड़े पर्वत पर यदि नीलकमल उगता हो, तभी यह जगत् सत्य हो सकता है। पद्म के बीज पर यदि मेरु पर्वत आकर बैठ जाए, तो जगत् का अस्तित्व है। भौंरे का बच्चा यदि मेरु पर्वत को निगल जाए, तो यह जगत् सत्य हो सकता है। मच्छर यदि सिंह को मार डाले, तब तुम्हारा जगत् भी भले सत्य हो जाए। अणु के परिमाणवाली गुफा में यदि तीनों लोक समा सकते हों, तब कहीं जगत् सत्य हो सकता है। घास की आग यदि हमेशा के लिए रहती हो, तब यह क्षणिक जगत् कदाचित् सत्य हो सकता है। स्वप्न में देखी गई वस्तुएँ अगर जाग्रत् अवस्था में भी दिखाई देती हों, तब कहीं जगत् की उत्पत्ति हो सकती है; और नदी का वेग यदि निश्चल हो जाए, तो किसी तरह यह जगत् सत्य हो सकता है।

क्षुधितस्याग्निर्भोज्यश्चेन्निमिषं कल्पितं भवेत्।
जात्यन्धै रत्नविषयः सुज्ञातश्चेज्जगत्सदा ॥89॥
नपुंसककुमारस्य स्त्रीसुखं चेद्भवेज्जगत्।
निर्मितः शशशृंगेण रथश्चेज्जगदस्ति तत् ॥90॥
सद्योजाता तु या कन्या भोगयोग्या भवेज्जगत्।
वन्ध्या गर्भाप्ततत्सौख्यं ज्ञाता चेदस्त्विदं जगत् ॥91॥
काको वा हंसवद्गच्छेज्जगद्भवतु निश्चलम्।
महाखरो वा सिंहेन युध्यते चेज्जगत्स्थितिः ॥92॥

भूखा आदमी यदि आग को खा सके, तब एक निमिष के लिए भी यह जगत् कल्पित किया जा सकता है। जन्मान्ध लोगों के द्वारा यदि रत्नों की परख की जा सकती हो, तब यह जगत् हो सकता है। नपुंसक कुमार को यदि स्त्री का सुख मिलता हो, तो यह जगत् कहीं हो सकता है। यदि खरगोश के सींगों से रथ बनाया जा सकता हो तब जगत् हो सकता है। तुरन्त ही जन्मी हुई कन्या यदि भोग-योग्य हो, तब जगत् हो सकता है। वन्ध्या स्त्री यदि गर्भधारण करने के बाद होने वाले सुख को जानने वाली हो सके, तब वह जगत् हो सकता है। कौआ यदि हंस की चाल चलता हो, तब स्थायी जगत् कहीं हो सकता है। कोई बड़ा गधा सिंह के साथ यदि युद्ध कर सकता हो, तब इस जगत् की स्थिति हो सकती है। (सभी उदाहरण असंभव हैं अतः जगत् भी असंभव है)।

महाखरो गजगतिं गतश्चेज्जगदस्तु तत्।
सम्पूर्णसूर्यचन्द्रश्चेदज्जगद्भातु स्वयं जडम् ॥93॥
चन्द्रसूर्यादिकौ त्यक्त्वा राहुश्चेद्दृश्यते जगत्।
भृष्टबीजसमुत्पन्नवृद्धिश्चेज्जगदस्तु सत् ॥94॥
दरिद्रो धनिकानां च सुखं भुङ्क्ते तदा जगत्।
शुना वीर्येण सिंहस्तु जितो यदि जगत्तदा ॥95॥

ज्ञानिनो हृदयं मूढैर्ज्ञातं चेत्कल्पनं तदा ।
श्वानेन सागरे पीते निःशेषेण मनो भवेत् ॥96॥

कोई बड़ा गधा यदि हाथी की चाल चलने लगे, तो कहीं जगत् सत्य हो सकता है । पूरा चाँद यदि सूर्य बन जाए तो भले यह जड़ जगत् दिखाई पड़े । सूर्य-चन्द्र को छोड़कर राहु अगर दिखाई दे तो जगत् कहीं हो सकता है । भूँजे गए बीज से उत्पन्न पौधा अगर बढ़ता रहे, तो ही जगत् सत्य ठहर सकता है । गरीब आदमी यदि धनिकों के सुख को भोगने लगे तो जगत् हो सकता है । कुत्ता अगर अपने पराक्रम से सिंह को जीत ले, तभी जगत् हो सकता है । मूर्ख आदमी यदि ज्ञानी के हृदय को जान ले तो यह कल्पित जगत् हो सकता है । कुत्ता यदि पूरे सागर को पी जाए तो ही यह मनरूप जगत् हो सकता है । (उदाहरणगत सभी बातें बिल्कुल ही असंभव हैं, अत: जगत् भी असंभव ही है) ।

शुद्धाकाशो मनुष्येषु पतितश्चेत्तदा जगत् ।
भूमौ वा पतितं व्योम व्योमपुष्पं सुगन्धकम् ॥97॥
शुद्धाकाशे वने जाते चलिते तु तदा जगत् ।
केवले दर्पणे नास्ति प्रतिबिम्बं तदा जगत् ॥98॥
अजकुक्षौ जगन्नास्ति ह्यात्मकुक्षौ जगन्न हि ।
सर्वथा भेदकलनं द्वैताद्वैतं न विद्यते ॥99॥
मायाकार्यमिदं भेदमस्ति चेद् ब्रह्मभावनम् ।
देहोऽमिति दुःखं चेद् ब्रह्माहमिति निश्चयः ॥100॥

मनुष्यों पर यदि शुद्ध आकाश गिर पड़े, तो जगत् कहीं हो सकता है, अथवा आकाश या आकाश का सुगन्धी पुष्प भी पृथ्वी पर गिरे, तो जगत् संभव है । शुद्ध आकाश में यदि वन-उपवन बन गया हो और वह चलित-विकसित-फूला-फला हो, तो जगत् कहीं होगा । केवल-शुद्ध आइने में भी यदि प्रतिबिम्ब न पड़ता हो, तब कहीं जगत् हो सकता है । जैसे बकरे की कोख में जगत् नहीं है, उसी प्रकार आत्मा की कोख में भी जगत् नहीं है । सभी प्रकार के भेदों कीं गणना और द्वैत या अद्वैत कुछ है ही नहीं । यह भेद तो माया का कार्य है, और तब तो ब्रह्म की भावना ही करनी चाहिए । यदि 'मैं देह हूँ'—यह दुःख ही है तो फिर 'मैं ब्रह्म हूँ'—इस प्रकार का निश्चय कर लेना चाहिए ।

हृदयग्रन्थिरस्तित्वे छिद्यते ब्रह्मचक्रकम् ।
संशये समनुप्राप्तं ब्रह्मनिश्चयमाचरेत् ॥101॥
अनात्मरूपचौरश्चेदात्मरत्नस्य रक्षणम् ।
नित्यानन्दमयं ब्रह्म केवलं सर्वदा स्वयम् ॥102॥
एवमादिसुदृष्टान्तैः साधितं ब्रह्ममात्रकम् ।
ब्रह्मैव सर्वभवनं भुवनं नाम सन्त्यज ॥103॥
अहं ब्रह्मेति निश्चित्य अहंभावं परित्यज ।
सर्वमेव लयं याति सुप्तहस्तस्थपुष्पवत् ॥104॥

हृदय में यदि कोई गाँठ हो तो ब्रह्मरूपी चक्र उसे काट डालेगा । यदि मन में कोई संशय रहा हो, तो ब्रह्मरूपी निश्चय कर लेना चाहिए । अनात्मरूप यदि कोई चोर आ गया हो, तो उससे आत्मारूपी रत्न का रक्षण करना चाहिए । क्योंकि वह ब्रह्म ही नित्य आनन्दमय और अपने आपमें केवल एक ही है । और ऊपर के दिए हुए एवं यहाँ पर दिए गए सुयोग्य दृष्टान्तों के द्वारा वही केवल एकमात्र ब्रह्म साधित – प्रतिपादित किया गया है । सभी का ब्रह्म ही घर (भवन) है, भुवन की, स्वर्ग

आदि लोक की बात छोड़ दो । 'मैं ब्रह्म हूँ'—ऐसा निश्चय करके अपने (देहादि के) अहंभाव को छोड़ दो । ब्रह्मातिरिक्त सभी तो सोए हुए पुरुष के हाथ में रखे गए फूल की तरह लय (नष्ट) ही हो जाता है ।

न देहो न च कर्माणि सर्वं ब्रह्मैव केवलम् ।
न भूतं न च कार्यं च न चावस्थाचतुष्टयम् ॥105॥
लक्षणात्रयविज्ञानं सर्वं ब्रह्मैव केवलम् ।
सर्वव्यापारमुत्सृज्य ह्यहं ब्रह्मेति भावय ॥106॥
अहं ब्रह्म न सन्देहो अहं ब्रह्म चिदात्मकम् ।
सच्चिदानन्दमात्रोऽहमिति निश्चित्य सन्त्यज ॥107॥
शाङ्करीयं महाशास्त्रं न देयं यस्य कस्यचित् ।
नास्तिकाय कृतघ्नाय दुर्वृत्ताय दुरात्मने ॥108॥

देह जैसा कुछ नहीं है, कर्म भी नहीं है । सब कुछ केवल ब्रह्म ही है । भूत नहीं, कोई कार्य भी नहीं है और जाग्रदादि चारों अवस्थाएँ भी नहीं हैं । तीनों लक्षणाओं के विशेष ज्ञान रूप सब कुछ केवल ब्रह्म ही है, इसलिए अन्य सभी व्यापारों को छोड़कर, 'मैं ही ब्रह्म हूँ'—ऐसी भावना करे । मैं ब्रह्म हूँ इसमें कोई सन्देह नहीं है, वास्तव में ही मैं चिदात्मक – चैतन्यस्वरूप ब्रह्म ही हूँ । 'मैं सच्चिदानन्दमय ब्रह्म हूँ'—ऐसा निश्चय करके सबका त्याग करो । (उस निश्चय का भी त्याग कर दो) । यह शंकर का महान् शास्त्र है । इसे किसी अपरीक्षित को, नास्तिक को और कृतघ्न आदमी को एवं दुष्ट चारित्र्य वालों एवं दुष्टात्मा को नहीं देना चाहिए अर्थात् नहीं सुनाना चाहिए ।

गुरुभक्तिविशुद्धान्तःकरणाय महात्मने ।
सम्यक्परीक्ष्य दातव्यं मासं षण्मासवत्सरम् ॥109॥
सर्वोपनिषदभ्यासं दूरतस्त्यज्य सादरम् ।
तेजोबिन्दूपनिषदमभ्यसेत्सर्वदा मुदा ॥110॥
सकृदभ्यासमात्रेण ब्रह्मैव भवति स्वयं ब्रह्मैव भवति स्वयमित्युपनिषत् ॥

इति तेजोबिन्दूपनिषत् समाप्ता ।
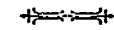
परन्तु जिसका अन्त:करण गुरुभक्ति से विशुद्ध हो गया हो, ऐसे महान् – योग्य अन्त:करण वाले मनुष्य की एक मास तक, छ: मास तक या एक वर्ष तक कसौटी (परीक्षा) करने के बाद ही उसे यह उपदेश हमेशा देना अर्थात् सुनाना चाहिए । अन्य सभी उपनिषदों का अभ्यास छोड़कर आदरपूर्वक इस तेजोबिन्दु उपनिषद् का अभ्यास सर्वदा आनन्दपूर्वक करना चाहिए । इस उपनिषद् का केवल एक बार ही अभ्यास करने से स्वयं ब्रह्म ही हो जाता है, मनुष्य आप ही ब्रह्म हो जाता है, यही (इसका) उपदेश है ।

यहाँ तेजोबिन्दूपनिषद् पूरी हुई ।

शान्तिपाठः

ॐ सह नाववतु । सह नौ""मा विद्विषावहै । (पूर्ववत्)
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

(39) नादबिन्दूपनिषत्

(उपनिषत्परिचय)

इस उपनिषद् का सम्बन्ध ऋग्वेद से है। 56 मन्त्रों की इस उपनिषद् में वैराजप्रणव का स्वरूप, वैराजविद्या का फल, प्रणव की मुख्य चार मात्राओं का स्वरूप, व्यष्टि और समष्टि के भेद से प्रणव के द्वादश मात्रा-भेदों का कथन और उपासकों का उस-उस मात्रा के काल के उत्क्रमण का फल, निर्विशेष ब्रह्मज्ञान का स्वरूप और उसके ज्ञान का फल बताया गया है। तदुपरान्त ज्ञानी के प्रारब्ध कर्मों के भाव और अभाव का विचार किया गया है। तुरीयतुरीय की प्राप्ति के लिए नादानुसन्धान नामक उपाय का निर्देश किया गया है। नाद का मन के नियमन का सामर्थ्य भी बताया गया है। अन्त में उपेयनाद का स्वरूप बतलाकर नादारूढ योगियों के लिए विदेहमुक्ति का लाभ बताया गया है।

शान्तिपाठः

ॐ वाङ्मे मनसि ... वक्तारमवतु वक्तारम्। (पूर्ववत्)
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

इसका हिन्दी रूपान्तर पूर्व में (कौषीतकिब्राह्मणोपनिषद् में) द्रष्टव्य है।

ॐ अकारो दक्षिणः पक्ष उकारस्तूत्तरः स्मृतः।
मकारं पुच्छमित्याहुरर्धमात्रा तु मस्तकम् ॥1॥

ॐकाररूपी पक्षी (हंस) का जो 'अ'कार है, वह दाहिना पंख है, 'उ'कार उत्तर पंख (दायाँ पंख) है और 'म'कार को उसकी पुच्छ माना गया है और जो अर्धमात्रा है, वह मस्तक है।

पादादिकं गुणास्तस्य शरीरं तत्त्वमुच्यते।
धर्मोऽस्य दक्षिणश्चक्षुरधर्मोऽथो परः स्मृतः ॥2॥

गुण उस ॐकार हंस के पाद आदि हैं अर्थात् रजोगुण और तमोगुण उस हंस का क्रमशः दाहिना और बाँया पैर है। और तत्त्व – सत्त्वगुण उसका शरीर है (कुछ लोग 'तत्त्व' शब्द का अर्थ वाराहोपनिषद् में बताये गये छियानवें तत्त्वों से युक्त विशिष्ट अवयववाला शरीर मानते हैं)। इसका दाहिना नेत्र धर्म है और बाँया नेत्र अधर्म कहा गया है।

भूर्लोकः पादयोस्तस्य भुवर्लोकस्तु जानुनि।
सुवर्लोकः कटीदेशे नाभिदेशे महर्जगत् ॥3॥
जनोलोकस्तु हृद्देशे कण्ठे लोकस्तपस्ततः।
भ्रुवोर्ललाटमध्ये तु सत्यलोको व्यवस्थितः ॥4॥

इस ॐकाररूप हंस के दोनों पैरों में भूर्लोक (पृथ्वी) आया हुआ है। उसकी जंघाओं में भुवर्लोक (अन्तरिक्षलोक) आया हुआ है, उसके कटि प्रदेश में सुवर्लोक (स्वर्लोक-स्वर्गलोग) अवस्थित है और नाभिप्रदेश में महर्लोक है। हृदय प्रदेश में जनलोक अवस्थित है, उसके कण्ठ में तपोलोक है। दोनों

भौंहों के बीच ललाट में सत्यलोक का स्थान है (इसे वैराजप्रणव कहते हैं और उसका स्वरूप ऊपर के चार मन्त्रों में बताया गया है)।

सहस्त्रार्णमतीवात्र मन्त्र एव प्रदर्शितः।
एवमेतां समारूढो हंसयोगविचक्षणः ॥5॥
न भिद्यते कर्मचारैः पापकोटिशतैरपि।
आग्नेयी प्रथमा मात्रा वायव्येषा तथापरा ॥6॥
भानुमण्डलसंकाशा भवेन्मात्रा तथोत्तरा।
परमा चार्धमात्रा या वारुणीं तां विदुर्बुधाः ॥7॥
कालत्रयेऽपि यस्येमा मात्रा नूनं प्रतिष्ठिताः।
एष ओंकार आख्यातो धारणाभिर्निबोधत ॥8॥

(वैराजप्रणव का स्वरूप बताकर अब वैराजविद्या का फल बताते हुए कहते हैं कि—) इस प्रकार से सहस्र अवयवों से युक्त प्रणवमन्त्र – वैराजप्रणवरूपी हंसपर आरूढ़ होकर अर्थात् ध्यान आदि उपासना में लीन होकर हंसयोगी (हंसयोग में विचक्षण योगी) इस ओंकार की विधि-मनन-चिन्तनादियुक्त उपासना करता हुआ, अपने कर्मों से उत्पन्न हजारों-करोड़ों पापों से भी आहत नहीं होता और मुक्ति को प्राप्त होता है। (इस प्रकार वैराजविद्या का फल बताकर अब प्रणव की मुख्य चार मात्राओं का स्वरूप बताते हैं कि—) प्रणव की 'अ'कार नामक प्रथम मात्रा 'आग्नेयी' कही जाती है, और 'उ'कार नामक द्वितीय मात्रा 'वायव्या' कही गई है। इसके बाद 'म'कार की तीसरी मात्रा सूर्यमण्डल जैसी है। इसके देव सूर्य हैं (प्रथम मात्रा के अग्नि, द्वितीय मात्रा के वायु और तृतीय मात्रा के देव सूर्य हैं) और जो अर्धमात्रा है वह चतुर्थ है और वह 'वारुणी' कही जाती है (क्योंकि इसके देव वरुण हैं)। उपर्युक्त चारों मात्राएँ तीन-तीन काल या तीन-तीन कलारूप हैं। इस प्रकार ओंकार को बारह कलाओं से युक्त कहा गया है। धारणा, ध्यान और समाधि के द्वारा उसे जानने का प्रयत्न करना चाहिए। (कहने का तात्पर्य यह है कि ओंकार की साधना केवल उच्चारण (जप या रटने) से ही नहीं हो जाती। उसमें ध्यान, धारणा आदि भी आवश्यक हैं)।

घोषिणी प्रथमा मात्रा विद्युन्मात्रा तथापरा।
पतङ्गिनी तृतीया स्याच्चतुर्थी वायुवेगिनी ॥9॥
पञ्चमी नामधेया तु षष्ठी चैन्द्रयभिधीयते।
सप्तमी वैष्णवी नाम अष्टमी शांकरीति च ॥10॥
नवमी महती नाम धृतिस्तु दशमी मता।
एकादशी भवेन्नारी ब्राह्मी तु द्वादशी परा ॥11॥

अब उन द्वादश कलाओं की सूची दी जा रही है—इनमें प्रथम कला (मात्रा) 'घोषिणी' कही जाती है, और दूसरी मात्रा को 'विद्युत्' कहते हैं। तृतीय को 'पतंगिनी' और चतुर्थ मात्रा को 'वायुवेगिनी' कहा जाता है। पंचमी का नाम 'नामधेया' है और षष्ठी मात्रा का नाम 'ऐन्द्री' कहा जाता है। सातवीं मात्रा का नाम 'वैष्णवी' है, और आठवीं मात्रा 'शांकरी' है। नवमीं मात्रा 'महती' नाम की है और दसवीं मात्रा 'द्युति' नाम की कही गई है। ग्यारहवीं मात्रा 'नारी' कही जाती है और बारहवीं मात्रा 'ब्राह्मी' है।

प्रथमायां तु मात्रायां यदि प्राणैर्वियुज्यते ।
भरते वर्षराजाऽसौ सार्वभौमः प्रजायते ॥12॥
द्वितीयायां समुत्क्रान्तो भवेद्यक्षो महात्मवान् ।
विद्याधरस्तृतीयायां गान्धर्वस्तु चतुर्थिका ॥13॥
पञ्चम्यामथ मात्रायां यदि प्राणैर्वियुज्यते ।
उषितः सह देवत्वं सोमलोके महीयते ॥14॥
षष्ठ्यामिन्द्रस्य सायुज्यं सप्तम्यां वैष्णवं पदम् ।
अष्टम्यां व्रजते रुद्रं पशूनां च पतिं तथा ॥15॥
नवम्यां तु महर्लोकं दशम्यां तु जनं व्रजेत् ।
एकादश्यां तपोलोकं द्वादश्यां ब्रह्म शाश्वतम् ॥16॥

(अब उपासकों के उस-उस मात्रा (कला) के समय में उत्क्रमण का फल कहा जाता है। साठ घड़ियों में पाँच घड़ियों की एक मात्रा के प्रमाण में कुल बारह मात्राओं की दृष्टि करके उपासना करने वाले के लिए उस-उस काल में उत्क्रमण का फल बताया जाता है—) यदि साधक प्रथम मात्रा में ही अपने शरीर का परित्याग कर देता है तो वह इस भरतखण्ड के चक्रवर्ती सम्राट् के रूप में आविर्भूत होता है। यदि वह साधक दूसरी कला (मात्रा) में अपने प्राणों का उत्क्रमण करता है, तो वह बड़े महिमामय यक्ष के रूप में उत्पन्न होता है। ॐकार की तृतीय मात्रा (कला) में प्राण का उत्सर्ग करने पर विद्याधर के रूप में जन्म लेता है। यदि वह उपासक ओंकार की चौथी मात्रा में उत्क्रमण करता है तो गन्धर्व बनता है, और यदि पाँचवीं मात्रा में वह अपने प्राणों से वियुक्त होता है, तो उसका निवास देवों के साथ होता है और वह सोमलोक में अत्यन्त आनन्द प्राप्त करता है। छठी मात्रा में उत्क्रान्त होने पर वह इन्द्र का सायुज्य प्राप्त करता है। सातवीं मात्रा में उत्क्रमण करने पर साधक विष्णु के पद को प्राप्त करता है, और आठवीं मात्रा में प्राणों का उत्क्रमण करने वाला साधक रुद्रलोक को प्राप्त होता है। नवमीं मात्रा में प्राणों का परित्याग करने वाला महर्लोक में और दसवीं मात्रा में उत्क्रमण करने वाला साधक जनलोक में जाता है। ग्यारहवीं मात्रा में उत्क्रमण करने वाला तपोलोक को और बारहवीं मात्रा में उत्क्रमण करने वाला साधक शाश्वत ब्रह्म को प्राप्त करता है।

ततः परतरं शुद्धं व्यापकं निर्मलं शिवम् ।
सदोदितं परं ब्रह्म ज्योतिषामुदयो यतः ॥17॥
अतीन्द्रियं गुणातीतं मनो लीनं यदा भवेत् ।
अनूपमं शिवं शान्तं योगयुक्तः(तं) सदा विशेत् ॥18॥
तद्युक्तस्तन्मयो जन्तुः शनैर्मुञ्चेत्कलेवरम् ।
संस्थितो योगचारेण सर्वसङ्गविवर्जितः ॥19॥
ततो विलीनपाशोऽसौ विमलः कमलाप्रभुः ।
तेनैव ब्रह्मभावेन परमानन्दमश्नुते ॥20॥

उस सविशेष ब्रह्म से परे शुद्ध, व्यापक और निर्विशेष परब्रह्म है। वह मंगलकारी सदैव उदीयमान है और उसी से सूर्य-चन्द्रादि अन्य ज्योतियाँ उदित होती हैं। वह इन्द्रियों से अगम्य है, तीनों गुणों से परे है, ऐसे निर्विशेष में जब मन लीन होता है, तब वह साधक अनुपम, कल्याणकारी, शान्त, योगयुक्त हो जाता है। ऐसी उच्च स्थिति में पहुँचे हुए साधकों को योगयुक्त कहना चाहिए। उस

योगयुक्त और तन्मय बने हुए साधक को धीरे-धीरे शरीर छोड़ते हुए योग का परिशीलन करते हुए सभी प्रकार के संग से (आसक्तियों से) छुटकारा पा लेना चाहिए। और बाद में सांसारिक सभी पाशों के छूट जाने से निर्मल होकर वह स्वयं कमलाप्रभु—सभी ऐश्वर्यों का स्वामी बन जाता है और उसी ब्रह्मभाव से परम आनन्द को भोगता है।

आत्मानं सततं ज्ञात्वा कालं नय महामते ।
प्रारब्धमखिलं भुञ्जन्नोद्वेगं कर्तुमर्हसि ॥21॥

हे महाज्ञानी जन! आत्मा को निरन्तर जानते (परिशीलन करते) हुए तुम समय बिताते रहो। और अखिल (संपूर्ण) प्रारब्ध कर्मों का फल भोगते हुए मन में किसी प्रकार का उद्वेग मत करो।

उत्पन्ने तत्त्वविज्ञाने प्रारब्धं नैव मुञ्चति ।
तत्त्वज्ञानोदयादूर्ध्वं प्रारब्धं नैव विद्यते ॥22॥
देहादीनामसत्त्वात्तु यथा स्वप्ने विबोधतः ।
कर्म जन्मान्तरीयं यत्प्रारब्धमिति कीर्तितम् ॥23॥

तत्त्वविज्ञान (ब्रह्मज्ञान) प्राप्त हो जाने से प्रारब्ध मनुष्य को छोड़ता नहीं है। (यहाँ प्रारब्ध का अर्थ, जिन कर्मों ने फल देना शुरू कर दिया है ऐसे पूर्वकृत कर्म—यह अर्थ नहीं है। यहाँ 'प्रारब्ध' का अर्थ केवल पूर्वजन्म में किए गए कर्मों का संस्कार—ऐसा ही अर्थ है। तात्पर्य यह है कि तत्त्वज्ञान होने पर भी पूर्व संस्कार अमुक समय तक बने ही रहते हैं। परन्तु तत्त्वज्ञान हो जाने के बाद वह प्रारब्ध – वे संस्कार नहीं रहते, जैसे कि स्वप्न से जागकर स्वप्नादि में देखे गए देहादि असत् ही मालूम पड़ते हैं। प्रारब्ध जन्मान्तरीय अर्थात् अन्य जन्मों में किए गए कर्मों को कहा गया है।

यत्तु जन्मान्तराभावात्पुंसो नैवास्ति कर्हिचित् ।
स्वप्नदेहो यथाऽध्यस्तस्तथैवायं च देहकः ॥24॥

पूर्व कथनानुसार ज्ञानीजन का तो कर्मजन्य दूसरा जन्म कहीं होता ही नहीं है। और इसीलिए जागने पर जैसे स्वप्न का देह अध्यस्त (क्रम) ही था ऐसा मालूम पड़ता है, ठीक इसी प्रकार ज्ञानावस्था में यह देह की अध्यस्त (भ्रान्त) ही मालूम पड़ता है।

अध्यस्तस्य कुतो जन्म जन्माभावे कुतः स्थितिः ।
उपादानं प्रपञ्चस्य मृद्भाण्डस्येव पश्यति ॥25॥

जो पदार्थ अध्यस्त (भ्रम – मिथ्या) ही है, भला उसका जन्म कैसे हो सकता है? और जिसका जन्म नहीं हुआ उसका अस्तित्व भी कैसे हो सकता है? इस जगत् का उपादान कारण ब्रह्म ही है। ज्ञानी पुरुष घड़े का उपादानकारण जैसे मिट्टी है, वैसे ही जगत् के उपादानकारण ब्रह्म को ही जानता है।

अज्ञानं चेति वेदान्तैस्तस्मिन्नष्टे क्व विश्वता ।
यथा रज्जुं परित्यज्य सर्पं गृह्णाति वै भ्रमात् ॥26॥
तद्वत्सत्यमविज्ञाय जगत्पश्यति मूढधीः ।
रज्जुखण्डे परिज्ञाते सर्परूपं न तिष्ठति ॥27॥

वेदान्तों के द्वारा तो यह सब जगत् अज्ञान ही है (ऐसा प्रतिपादित किया गया है)। उस अज्ञान का नाश होने पर यह विश्वत्व (सांसारिक प्रपंच) भला कहाँ है ? जैसे रज्जु में सर्प का भ्रम होने के बाद उस भ्रम का नाश होने से रज्जु ही दिखाई पड़ती है, साँप तो नहीं दिखाई देता। उसी प्रकार आत्मा को जाने बिना मूढ बुद्धि वाला मनुष्य जगत् देख रहा है, पर रज्जुखण्ड के जानने से सर्परूप नहीं दीखता, उसी प्रकार आत्मज्ञान होने के बाद जगत् नहीं ठहरता।

अधिष्ठाने यथा ज्ञाते प्रपञ्चे शून्यतां गते।
देहस्यापि प्रपञ्चत्वात् प्रारब्धावस्थितिः कुतः ॥28॥

जब जगत् के मूल अधिष्ठान को पहचान लिया गया, तो फिर उसमें अध्यस्त (मिथ्या, भ्रम) प्रपञ्च नष्ट हो जायगा। और जब उस जगत् में आया हुआ यह देह भी अध्यस्त ही हुआ, तब तो प्रारब्ध की स्थिति भी कैसे और कहाँ रह सकती है ? अर्थात् कहीं नहीं रहेगी।

अज्ञानजनबोधार्थं प्रारब्धमिति चोच्यते।
ततः कालवशादेव प्रारब्धे तु क्षयं गते ॥29॥
ब्रह्मप्रणवसन्धानं नादो ज्योतिर्मयः शिवः।
स्वयमाविर्भवेदात्मा मेघापायेऽंशुमानिव ॥30॥

प्रारब्धादि सब अध्यस्त (भ्रान्त-मिथ्या) होने पर भी उसकी शास्त्रों में कही गई बात तो मूर्ख मनुष्यों को ज्ञान देने के लिए (अभ्युपगमवाद से) ही कही गई हैं। परन्तु, ज्ञान होने के बाद कुछ काल के कारण से ही जब उन प्रारब्धों का क्षय हो जाता है, तब ब्रह्मरूप प्रणव का आत्मा के साथ अनुसन्धान होता है और तब नादरूप, ज्योतिर्मय, कल्याणकारी स्वयं आत्मा उसी प्रकार आविर्भूत हो जाता है, जिस प्रकार बादलों के हट जाने से सूर्य प्रकाशित हो उठता है।

सिद्धासने स्थितो योगी मुद्रां सन्धाय वैष्णवीम्।
शृणुयाद्दक्षिणे कर्णे नादमन्तर्गतं सदा ॥31॥

योगी को सिद्धासन[1] में बैठने के उपरान्त वैष्णवी मुद्रा[2] का अनुसन्धान करना चाहिए। ऐसी अवस्था (सिद्धासन एवं वैष्णवी मुद्रा की स्थिति) में दाहिने कान के भीतर होने वाले अनाहत नाद को सतत सुनना चाहिए।

अभ्यस्यमानो नादोऽयं बाह्यमावृणुते ध्वनिः।
पक्षाद्विपक्षमखिलं जित्वा तुर्यपदं व्रजेत् ॥32॥

इस प्रकार इस नाद को सुनने का अभ्यास बाहर की ध्वनियों को आवृत कर देता है। इस प्रकार उपासक योगी वह नाद केवल अपने ही पक्ष से – केवल अपनी अनाहतनाद की ही प्रबलता से सब विपक्षरूप बाह्य ध्वनियों को जीतकर (नाश करके) अन्त में तुर्यपद (परमपद) की प्राप्ति करता है अर्थात् इसके परिशीलन से योगी परमपद को प्राप्त करता है।

1. बायें पैर की एड़ी से गुदा को ओर दाहिने पैर से जननेन्द्रिय के मूल को दबाकर शरीर को सीधा रखकर त्रिबन्ध लगाकर बैठना 'सिद्धासन' कहलाता है।
2. अपलक नेत्रों से बाह्य दृष्टि को अन्तर्लक्ष्य करके भ्रूकुटि के मध्य में देखने की क्रिया को 'वैष्णवी मुद्रा' कहते हैं।

श्रूयते प्रथमाभ्यासे नादो नानाविधो महान्।
वर्धमाने तथाभ्यासे श्रूयते सूक्ष्मसूक्ष्मतः ॥33॥

यह पूर्वोक्त अनाहतनाद अभ्यास के आरम्भ में तरह-तरह का और बड़े परिमाण में सुनाई देता है, परन्तु ज्यों-ज्यों अभ्यास बढ़ता जाता है, त्यों-त्यों सूक्ष्म-से-सूक्ष्म होता जाता सुनाई देता है।

आदौ जलधिजीमूतभेरीनिर्झरसम्भवः।
मध्ये मर्दलशब्दाभो घण्टाकाहलजस्तथा ॥34॥
अन्ते तु किङ्किणीवंशवीणाभ्रमरनिःस्वनः।
इति नानाविधा नादाः श्रूयन्ते सूक्ष्मसूक्ष्मतः ॥35॥

शुरू में वह अनाहतनाद सागर, मेघगर्जन, भेरी और झरने से उत्पन्न हुई आवाज जैसा सुनाई पड़ता है। मध्य की अवस्था में वह नाद मृदंग, घण्टा और नगाड़े की आवाज जैसा सुनाई देता है। उत्तरावस्था में वह नाद किंकिणी, वंशी, वीणा और भ्रमर की-सी आवाज में जैसा सुनाई देता है। इस प्रकार तरह-तरह से वे नाद सूक्ष्म से सूक्ष्मतर होते सुनाई देते हैं।

महति श्रूयमाणे तु महाभेर्यादिकध्वनौ।
तत्र सूक्ष्मं सूक्ष्मतरं नादमेव परामृशेत् ॥36॥

नाद का अभ्यास करते समय जब शुरू में महाभेरी आदि जैसा बड़ा नाद सुनाई दे, तब उससे सन्तोष न करते हुए साधक को उससे सूक्ष्म और सूक्ष्मतर नाद सुनने का ही प्रयास करना चाहिए।

घनमुत्सृज्य वा सूक्ष्म सूक्ष्ममुत्सृज्य वा घने।
रममाणमपि क्षिप्तं मनो नान्यत्र चालयेत् ॥37॥

नादसाधक के लिए यह आवश्यक है कि वह स्थूल नाद को छोड़कर सूक्ष्मनाद में लगे हुए मन को, अथवा ऐसा न बन सके तो सूक्ष्म नाद को छोड़कर स्थूलनाद की ओर लगे हुए अपने मन को स्थिर रखे। नाद से अतिरिक्त किसी अन्य विषय की ओर मन को चलित न करे। उसे नाद में ही रममाण रखे—चाहे वह स्थूल हो चाहे सूक्ष्म।

यत्र कुत्रापि वा नादे लगति प्रथमं मनः।
तत्र तत्र स्थिरीभूत्वा तेन सार्धं विलीयते ॥38॥

नाद स्थूल हो या सूक्ष्म—जहाँ कहीं भी पहले मन लग जाता है, तो मन को उसी में स्थिर करे और फिर उसी नाद में विलीन हो जाये।

विस्मृत्य सकलं बाह्यं नादे दुग्धाम्बुवन्मनः।
एकीभूयाऽथ सहसा चिदाकाशे विलीयते ॥39॥

साधक को चाहिए कि वह बाहर की सभी वस्तुओं को भूल जाए और जैसे दूध में पानी मिल जाता है, वैसे ही अपने मन को नाद के साथ एकीभूत करे। ऐसा करने से मन स्वयं ही चिदाकाश में अपना विलय कर देता है।

उदासीनस्ततो भूत्वा सदाभ्यासेन संयमी।
उन्मनीकारकं सद्यो नादमेवावधारयेत् ॥40॥

साधक को चाहिए कि वह नादातिरिक्त सभी विषयों से उदासीन होकर, मन को संयत कर, सतत नादाभ्यास के द्वारा अमनस्क बनाने वाले नाद को ही दृढ़ता से अवधारित करे।

सर्वचिन्तां समुत्सृज्य सर्वचेष्टाविवर्जितः।
नादमेवानुसन्दध्यान्नादे चित्तं विलीयते ॥41॥

और सभी चिन्ताओं को छोड़कर तथा सभी चेष्टाओं से रहित होकर नाद का ही अनुसन्धान करना चाहिए। तब नाद में ही चित्त विलीन हो जाता है।

मकरन्दं पिबन्भृङ्गो गन्धान्नापेक्षते यथा।
नादासक्तं सदा चित्तं विषयं न हि कांक्षति ॥42॥

जिस प्रकार पुष्परस को पीता हुआ भौंरा फिर अन्यान्य गन्धों की अपेक्षा नहीं करता (केवल एकचित्त होकर मधुपान ही करता रहता है), उसी तरह जब मन नाद में आसक्त हो जाता है, तब वह बाहर के किसी विषय की आकांक्षा नहीं रखता।

बद्धः सुनादगन्धेन सद्यः संत्यक्तचापलः।
नादग्रहणतश्चित्तमन्तरङ्गभुजङ्गमः ॥43॥

सुन्दर आवाजरूपी गन्ध से बँधा हुआ साँप जिस तरह अपनी चपलता को एकदम ही छोड़ देता है (और स्थिर-शान्त हो जाता है), ठीक उसी तरह नादग्रहण से मन (चित्तरूपी भीतर का साँप भी) चंचलता को एकदम छोड़कर शान्त हो जाता है (तल्लीन हो जाता है)।

विस्मृत्य विश्वमेकाग्रं कुत्रचिन्न हि धावति।
मनोमत्तगजेन्द्रस्य विषयोद्यानचारिणः ॥44॥
नियामनसमर्थोऽयं निनादो निशिताङ्कुशः।
नादोऽन्तरङ्गसारङ्गबन्धने वागुरायते ॥45॥
अन्तरङ्गसमुद्रस्य रोधे वेलायतेऽपि वा।
ब्रह्मप्रणवसंलग्ननादो ज्योतिर्मयात्मकः ॥46॥

जब ऐसा होता है, तब वह एकाग्र हुआ मन विश्व (जगत्प्रपंच) को भूलकर और कहीं भी नहीं दौड़ता है। विषयरूपी बगीचे में घूमने वाले मदोन्मत्त हाथी के सदृश मन को नियम में रखने के लिए यह निनाद ही तो तीक्ष्ण अङ्कुश है। यह नाद ही अन्तःकरणरूपी (चंचल) हिरण को पकड़ने के जाल समान है। अथवा तो अन्तस् के (मन के) सागर को रोकने के लिए यह निनाद तीर (किनारे) जैसा है। यह ब्रह्मप्रणव के साथ सम्बद्ध नाद ज्योतिर्मयस्वरूप वाला है।

मनस्तत्र स्वयं याति तद्विष्णोः परमं पदम्।
तावदाकाशसङ्कल्पो यावच्छब्दः प्रवर्तते ॥47॥

उस ज्योतिर्मय स्वरूप में मन स्वयं लीन होता है और वही विष्णु का परमपद है। मन में आकाशतत्त्व का संकल्प तो तभी तक ही रहता है जब तक कि शब्द का प्रवर्तन होता है।

निःशब्दं तत्परं ब्रह्म परमात्मा समीयते।
नादो यावन्मनस्तावन्नादान्ते तु मनोन्मनी ॥48॥

नादानुभव के बाद जब वह मन निःशब्द हो जाता है, तब वह परब्रह्म परमात्मा का अनुभव करने

लगता है। क्योंकि मन भी अपना अस्तित्व वहीं तक रखता है जहाँ तक नाद का अस्तित्व होता है। जब नाद का अन्त हो जाता है तब मन भी अमन (शून्य) बन जाता है।

सशब्दश्चाक्षरे क्षीणे निःशब्दं परमं पदम्।
सदा नादानुसन्धानात्संक्षीणा वासना तु या ॥49॥
निरञ्जने विलीयेते मनोवायू न संशयः।

जब सशब्द (शब्दसहित) नाद अक्षर में (ब्रह्म में) क्षीण (लय) हो जाता है, तब वह जो निःशब्द (शब्द-ध्वनिरहित) स्थान है, वही परमपद है, इसमें कोई संशय नहीं है। पहले तो नाद के अनुसन्धान से जो वासना होती है, वह क्षीण होती है और बाद में मन और प्राण उस निरंजन परब्रह्म में विलीन हो जाते हैं, इसमें कोई सन्देह नहीं।

नादकोटिसहस्राणि बिन्दुकोटिशतानि च ॥50॥
सर्वे तत्र लयं यान्ति ब्रह्मप्रणवनादके।

करोड़ों-करोड़ों नाद एव करोड़ों-करोड़ों बिन्दु – सभी उस ब्रह्मरूपी प्रणवनाद (निःशब्द नाद) में विलीन हो जाते हैं।

सर्वावस्थाविनिर्मुक्तः सर्वचिन्ताविवर्जितः ॥51॥
मृतवत् तिष्ठते योगी स मुक्तो नात्र संशयः।
शङ्खदुन्दुभिनादं च न शृणोति कदाचन ॥52॥

वह योगी जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्तावस्थाओं से विनिर्मुक्त होकर, अन्य किसी भी विचार से रहित होकर मरे हुए आदमी की तरह रहता है। वह मुक्त ही है, इसमें किसी भी प्रकार का सन्देह नहीं है। ऐसा योगी शंख-भेरी-दुन्दुभि आदि लौकिक ध्वनियों को सुनता ही नहीं है।

काष्ठवज्जायते देहः उन्मन्यावस्थया ध्रुवम्।
न जानाति स शीतोष्णं न दुःखं न सुखं तथा ॥53॥

जब ऐसी उन्मनी (मनोरहित) अवस्था हो जाती है, तब निश्चित रूप से यह देह काष्ठवत् हो जाता है। उस समय वह योगी न शीत जानता है, न उष्ण ही जानता है तथा सुख या दुःख का भी अनुभव नहीं करता।

न मानं नावमानं च सन्त्यक्त्वा तु समाधिना।
अवस्थात्रयमन्वेति न चित्तं योगिनः सदा ॥54॥

ऐसे योगी को मान या अपमान कुछ भी अनुभव नहीं होता। अपनी समाधि से सब कुछ त्याग कर रहता है। ऐसे योगी का मन जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्ति—इन तीन अवस्थाओं का अनुसरण नहीं करता।

जाग्रन्निद्राविनिर्मुक्तः स्वरूपावस्थतामियात् ॥55॥
दृष्टिः स्थिरा यस्य विना सदृश्यं वायुः स्थिरो यस्य विना प्रयत्नम्।
चित्तं स्थिरं यस्य विनावलम्बं स ब्रह्मतारान्तरनादरूपः ॥56॥

इत्युपनिषत्।

इति नादबिन्दूपनिषत् समाप्ता।
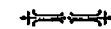
वह योगी जाग्रत् और निद्रा से विनिर्मुक्त होकर अपने स्वरूप की अवस्था को ही प्राप्त होता है। दृश्य पदार्थ के अभाव में भी जिसकी दृष्टि स्थिर रहती है, किसी भी प्रयत्न के बिना जिसका प्राण (श्वासोच्छ्वास) स्थिर रहता है, किसी भी आधार के बिना भी जिसका चित्त स्थिर ही रहता है वह ऐसा योगी ब्रह्मरूप प्रणवनाद के भीतर के नादरूप तुर्यतुर्य वादरूपता से विदेहमुक्त हो जाता है—यह उपदेश है।

यहाँ नादबिन्दु उपनिषद् पूर्ण हुई।

शान्तिपाठः

ॐ वाङ्मे मनसि ...... वक्तारमवतु वक्तारम्। (पूर्ववत्)
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

❋

(40) ध्यानबिन्दूपनिषत्

(उपनिषत्परिचय)

यह उपनिषद् कृष्णयजुर्वेद से सम्बन्ध रखती है। इसमें ध्यान केन्द्रविषय है। ब्रह्म के ध्यानयोग की महिमा बताकर पहले ब्रह्म का सूक्ष्मत्व और सर्वव्यापकत्व बताया है। बाद में प्रणव का स्वरूप, उसके ध्यान की विधि, प्राणायाम और अन्य प्रकार से प्रणवध्यान, ब्रह्मध्यान, त्रिमूर्तिध्यान और उसका फल बताया गया है। तदुपरान्त षडंगयोग, आसनचतुष्टय, योनिस्थान, मूलाधारादि चक्र, नाड़ीचक्र, प्राणादि दशावयव आदि कई विषय समाविष्ट हैं। यौगिक क्रियाओं के द्वारा योगी प्राण को अलग-अलग चक्रों में से क्रमशः सुषुम्णा नाड़ी के द्वारा ऊपर चढ़ाता है, और योग की अलग-अलग अन्यान्य क्रियाओं के द्वारा योगी को तरह-तरह की सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं, और अन्त में उस योगी को ब्रह्म का अनुभव होता है। इस उपनिषद् में योग की अनेकानेक क्रियाओं का भी सविस्तार वर्णन किया गया है।

शान्तिपाठः

ॐ सह नाववतु। सह नौ ...... मा विद्विषावहै। (पूर्ववत्)
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

इसका हिन्दी रूपान्तर पूर्व में (ब्रह्मोपनिषद् में) द्रष्टव्य है।

यदि शैलसमं पापं विस्तीर्णं बहुयोजनम्।
भिद्यते ध्यानयोगेन नान्यो भेदः कदाचन ॥1॥

यदि पर्वत जैसा (विशालतम) पाप हो और जो योजनों तक फैला हुआ हो, तो भी ध्यानयोग के द्वारा उसका नाश हो सकता है। ऐसे विशाल पाप के नाश के लिए अन्य कोई उपाय नहीं है।

बीजाक्षरं परं बिन्दुं नादं तस्योपरि स्थितम्।
सशब्दं चाक्षरे क्षीणे निःशब्दं परमं पदम् ॥2॥

बीजाक्षर ॐकार के परे बिन्दु है। उसके ऊपर नाद अवस्थित है। वह ध्वनियुक्त नाद जब अक्षर में क्षीण (लीन) हो जाता है, तब यह निःशब्द परमपद की स्थिति होती है।

अनाहतं तु यच्छब्दं तस्य शब्दस्य यत्परम्।
तत्परं विन्दते यस्तु सयोगी छिन्नसंशयः ॥3॥

जो अनाहत (आघात किए बिना होने वाली) ध्वनि है, उससे पर (उस शब्द का कारणभूत) जो तत्त्व है, उससे भी परे अर्थात् उसका भी जो कारण निर्विशेष ब्रह्म है, उसको जो साधक प्राप्त कर लेता है, उस योगीजन के सभी संशय छिन्न (नष्ट) हो जाते हैं।

वालाग्रशतसाहस्रं तस्य भागस्य भागिनः।
तस्य भागस्य भागार्धं तत्क्षये तु निरञ्जनम् ॥4॥

गेहूँ आदि पौधों के डंठल के अग्रभाग को (नोक को) यदि एक लाख हिस्सों में बाँटा जाय (तो उसका वह एकांश सूक्ष्मभाग जीव की सूक्ष्मता होगी) फिर उस एकांश भाग को भी उतने ही भागों में अर्थात् एक लाख भागों में बाँटा जाए (तो उस सूक्ष्मतः भाग की सूक्ष्मता ईश्वर की कही जाएगी), इसके बाद उस सूक्ष्म हिस्से को भी आधे (पचास हजार) भागों में बाँट देने पर जो बाकी रहता है वह भी क्षीण या नष्ट हो जाने पर (अर्थात् साक्ष्य-साक्षी आदि विशेषण के भी नष्ट होने के बाद) जो शेष रहता है, वही सूक्ष्मातिसूक्ष्म निरंजन (ब्रह्म) की सत्ता है।

पुष्पमध्ये यथा गन्धः पयोमध्ये यथा घृतम्।
तिलमध्ये यथा तैलं पाषणेष्विव काञ्चनम् ॥5॥
एवं सर्वाणि भूतानि मणौ सूत्र इवात्मनि।
स्थिरबुद्धिरसंमूढो ब्रह्मविद् ब्रह्मणि स्थितः ॥6॥

पुष्पों में जिस प्रकार आँखों से दिखाई न पड़ने पर भी गन्ध होती है, दूध में जिस तरह अव्यक्त रूप से घी रहता है, तिल में जैसे अव्यक्त तेल रहता है और पत्थर में जैसे छिपकर सोना रहता है, ठीक उसी प्रकार सभी प्राणियों में आत्मा का अस्तित्व रहता ही है। जो स्थिर बुद्धिवाला, मोहरहित और ब्रह्मज्ञानी होता है वह मणियों में पिरोये हुए सूत्र की तरह ही सर्वत्र उस अव्यक्त आत्मा को अपने में ही जानकर ब्रह्म में ही अवस्थित रहता है।

तिलानां तु यथा तैलं पुष्पे गन्ध इवाश्रितः।
पुरुषस्य शरीरे तु सबाह्याभ्यन्तरे स्थितः ॥7॥

जिस प्रकार तिल में तेल बाहर-भीतर (सब जगह पर) व्याप्त होकर रहता है, और पुष्प में भी गन्ध जिस तरह समग्रतया समव्याप्त रहती है, उसी प्रकार पुरुष के शरीर में आत्मा बाहर और भीतर (सर्वत्र) समव्याप्त होकर रहता है।

वृक्षं तु सकलं विद्याच्छाया तस्यैव निष्कला।
सकले निष्कले भावे सर्वत्रात्मा व्यवस्थितः ॥8॥

ईश्वर-साक्षी आदि कलाओं से युक्त को वृक्षरूप जानना चाहिए और उस कलासहित चैतन्य की छाया में कोई कला नहीं है – वह एक-सी है। यह जो चैतन्य - शुद्ध चिद्रूप है, वह तो उस कलासहित चैतन्य रूप वृक्ष में और उसकी छाया रूप निष्कल (एक) माया में—दोनों में ही सर्वत्र समभाव से व्यवस्थित रहता है।

ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म ध्येयं सर्वमुमुक्षुभिः।
पृथिव्यग्निश्च ऋग्वेदो भूरित्येव पितामहः ॥9॥
अकारे तु लयं प्राप्ते प्रथमे प्रणवांशके।
अन्तरिक्षं यजुर्वायुर्भुवो विष्णुर्जनार्दनः ॥10॥
उकारे तु लयं प्राप्ते द्वितीये प्रणवांशके।
द्यौः सूर्यः सामवेदश्च स्वरित्येव महेश्वरः ॥11॥
मकारे तु लयं प्राप्ते तृतीये प्रणवांशके।
अकारः पीतवर्णः स्याद्रजोगुण उदीरितः ॥12॥
उकारः सात्त्विकः शुक्लो मकारः कृष्णतामसः।
अष्टांगं च चतुष्पादं त्रिस्थानं पञ्चदैवतम् ॥13॥

'ओंकार'रूपी एकाक्षर ब्रह्म सभी मुमुक्षुओं का ध्येय रहा है। उस प्रणव के पहले **'अ'** अंश में पृथ्वी, अग्नि, ऋग्वेद, भूर्लोक और पितामह ब्रह्मा का लय होता है। ओंकार का दूसरा अंश **'उ'** है। इस अंश में अन्तरिक्ष, यजुर्वेद, वायु, भुवर्लोक और जनार्दन विष्णु का लय हो जाता है। ओंकार का तीसरा अंश **'म'** है, इसमें द्यौः, सूर्य, सामवेद, स्वर्लोक और महेश्वर का लय होता है। ऊपर के इन तीनों अंशों में 'अकार' पीले वर्ण वाला है और रजोगुण से युक्त है। 'उकार' श्वेतवर्णवाला है और सत्त्वगुण से युक्त है और 'मकार' कृष्णवर्ण वाला और तमोगुणयुक्त है। यह ओंकार आठ अंगों वाला, चार पैरों वाला, तीन आँखों वाला तथा पाँच देवताओं वाला है। (ओंकार के **आठ** अंग—अकार, उकार, मकार, नाद, बिन्दु, कला, कलातीत तथा कालातीतातीत हैं। ओंकार के **चार** पैर—विश्व, तैजस, प्राज्ञ और तुरीय **अथवा** विराट्, सूत्र, बीज और तुरीय हैं। ओंकार के **तीन** स्थान—सत्त्व-रजस्-तमस् या जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्ति **या** स्थूल-सूक्ष्म-कारण, **या** ज्ञान-इच्छा-क्रियाशक्ति, **या** भूत-भविष्यत्-वर्तमान काल माने जा सकते हैं। ओंकार के **पाँच** देवता—ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र, ईश्वर और सदाशिव हैं।

ओंकारं यो न जानाति ब्राह्मणो न भवेत्तु सः।
प्रणवो धनुः शरो ह्यात्मा ब्रह्म तल्लक्ष्यमुच्यते ॥14॥
अप्रमत्तेन वेद्धव्यं शरवत्तन्मयो भवेत्।
निवर्तन्ते क्रियाः सर्वास्तस्मिन्दृष्टे परावरे ॥15॥

जो ओंकार को नहीं जानता, वह ब्राह्मण ही नहीं हो सकता। प्रणव (ओंकार) धनुष रूप है और आत्मा बाणरूप है और लक्ष्य ब्रह्म है। साधक को प्रमादरहित होकर उस ब्रह्मरूप लक्ष्य को आत्मारूपी बाण का प्रणव में सन्धान करके तन्मय होकर बींध देना चाहिए। ऐसा होने पर वह जब परात्पर ब्रह्मतत्त्व से सायुज्य प्राप्त कर लेगा, तब उसके लिए कोई कर्तव्य बाकी नहीं रहेगा।

ओंकारप्रभवा देवा ओंकारप्रभवाः स्वराः।
ओंकारप्रभवं सर्वं त्रैलोक्यं सचराचरम् ॥16॥

सभी देव ओंकार से ही उत्पन्न हुए हैं। सभी स्वर भी ओंकार से उत्पन्न हुए हैं। यह सारा जगत् ओंकार से ही उत्पन्न हुआ है। ये तीनों (भूः, भुवः, स्वः) लोक और यह जड और चेतन सब कुछ ओंकार ही से उत्पन्न हुआ है।

ह्रस्वो दहति पापानि दीर्घः सम्पत्प्रदोऽव्ययः।
अर्धमात्रासमायुक्तः प्रणवो मोक्षदायकः ॥17॥

प्रणव का ह्रस्व जप पापों को जला देता है और दीर्घमात्रीय जप अक्षयरूप से संपत्ति प्रदान करने वाला होता है। और अर्ध मात्रा से युक्त प्रणव जप मोक्ष को देने वाला होता है। (यहाँ ह्रस्व-दीर्घ-प्लुत प्रकार से किए जाने प्रणव जप का फल बताया गया है। अर्ध मात्रा समायुक्त दीर्घ जप ही प्लुतता से किया गया जप है)।

तैलधारामिवाच्छिन्नं दीर्घघण्टानिनादवत्।
अवाच्यं प्रणवस्याग्रं यस्तं वेद स वेदवित् ॥18॥

तेल की धारा की तरह अविच्छिन्न (अटूट) और विशाल घण्टा की दीर्घ आवाज के समान प्रणव-जाप के आगे अश्राव्य (ध्वनिरहित) आवाज को भी जो सुन लेता है वही वेद को सही जानने वाला है।

हृत्पद्मकर्णिकामध्ये स्थिरदीपनिभाकृतिम्।
अंगुष्ठमात्रमचलं ध्यायेदोंकारमीश्वरम् ॥19॥

हृदयरूपी कमल की कर्णिका के मध्य अचल दीप जैसी प्रभा को धारण करने वाले के समान अंगुष्ठमात्र आकार वाले तेजोमय और स्थिर ऐसे ओंकाररूपी ईश्वर का ध्यान करना चाहिए।

इडया वायुमापूर्य पूरयित्वोदरस्थितम्।
ओंकारं देहमध्यस्थं ध्यायेज्ज्वालावलीयुतम् ॥20॥
ब्रह्मा पूरक इत्युक्तो विष्णुः कुम्भक उच्यते।
रेचो रुद्र इति प्रोक्तः प्राणायामस्य देवताः ॥21॥

इडा (बायीं नासिका) से वायु को भरकर उदर में स्थापित करना चाहिए और तब देह के मध्यभाग में स्थित ज्योतिर्मय ओंकार का ध्यान करना चाहिए। इस पूरक के ध्येय देवता ब्रह्मा हैं। कुम्भक के ध्येय देवता विष्णु और रेचक के ध्येय देवता रुद्र कहे गए हैं। ये तीन—ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र क्रमशः पूरक, कुंभक और रेचक के ध्येय देवता हैं। (परंपरा से हटकर इस मन्त्र में तीन प्राणायाम के देवता बताए गए हैं, यह चिन्तनीय है। परंपरा तो पूरक के विष्णु, कुंभक के ब्रह्मा और रेचक के शिव—इस प्रकार कहती है। इसी उपनिषद् के 29 और 31 मन्त्र में वही परंपरा बताई है)।

आत्मानमरणिं कृत्वा प्रणवं चोत्तरारणिम्।
ध्याननिर्मथनाभ्यासादेवं पश्येन्निगूढवत् ॥22॥

आत्मा को अरणि बनाकर और प्रणवमन्त्र को ऊपर की अरणिरूप बनाकर ध्यानरूपी मन्थन के बार-बार परिशीलन से अरणि में आग की तरह स्थित निगूढ आत्मतत्त्व का साक्षात्कार करना चाहिए।

ओंकारध्वनिनादेन वायोः संहरणान्तिकम्।
यावद्बलं समादध्यात्सम्यङ्नादलयावधि ॥23॥

जहाँ तक नादसहित रेचक वायु का अच्छी तरह से विलय हो जाए, वहाँ तक जितना बल हो उसे लगाकर ओंकार के निनाद के साथ ध्यान करते ही रहना चाहिए।

गमागमस्थं गमनादिशून्यमोंकारमेकं रविकोटिदीप्तम्।
पश्यन्ति ये सर्वजनान्तरस्थं हंसात्मकं ते विरजा भवन्ति ॥24॥

गमन और आगमन में अनुस्यूत होते हुए भी गमन और आगमन से रहित एवं करोड़ों सूर्यों के-से तेजस्वी, सभी मनुष्यों के अन्तस् में अवस्थित हंसरूप उस ओंकार को जो मनुष्य देख लेते हैं (साक्षात्कार कर लेते हैं) वे निष्पाप हो जाते हैं।

यन्मनस्त्रिजगत्सृष्टिस्थितिप्रलयकर्मकत्।
तन्मनो विलयं याति तद्विष्णोः परमं पदम् ॥25॥
अष्टपत्रं तु हृत्पद्मं द्वात्रिंशत्केसरान्वितम्।
तस्य मध्ये स्थितो भानुर्भानुमध्यगतः शशी ॥26॥

जो मन इस जगत् का सर्जन, पालन और प्रलय करता है, उस मन का ही तब विलय हो जाता है और वही विष्णु का परमपद है। हृदयरूपी कमल आठ पँखुड़ियों वाला है और उसमें बत्तीस केसर (तन्तु) हैं। उसके बीच सूर्य अवस्थित है और उस सूर्य के मध्य में शशी (चन्द्र) अवस्थित है।

शशिमध्यगतो वह्निर्वह्निमध्यगता प्रभा।
प्रभामध्यगतं पीठं नानारत्नप्रवेष्टितम् ॥27॥
तस्य मध्यगतं देवं वासुदेवं निरञ्जनम्।
श्रीवत्सकौस्तुभोरस्कं मुक्तामणिविभूषितम् ॥28॥
शुद्धस्फटिकसंकाशं चन्द्रकोटिसमप्रभम्।
एवं ध्यायेन्महाविष्णुमेवं वा विनयान्वितः ॥29॥
अतसीपुष्पसंकाशं नाभिस्थाने प्रतिष्ठितम्।
चतुर्भुजं महाविष्णुं पूरकेण विचिन्तयेत् ॥30॥

उस शशी के बीच में वह्नि अवस्थित है, वह्नि के मध्य में तेज है और उस तेज के बीच में तरह-तरह के रत्नों से मढ़ा हुआ एक पीठ है। उस पीठ के ऊपर वासुदेव निरंजन विराजित हैं जो श्रीवत्स का लांछन और कौस्तुभमणि को वक्षस्थल पर धारण किए हुए, मुक्तारत्न से विभूषित हैं, जो शुद्ध स्फटिक के सदृश वर्णवाले एवं करोड़ों चन्द्रों के तेज से युक्त हैं—ऐसे महाविष्णु का विनयपूर्वक ध्यान करना चाहिए। अथवा उसी पूरक के समय में—नाभिस्थान में प्रतिष्ठित और अतसी के पुष्प के समान चतुर्भुज भगवान् विष्णु का ध्यान करना चाहिए।

कुम्भकेन हृदि स्थाने चिन्तयेत्कमलासनम्।
ब्रह्माणं रक्तगौराभं चतुर्वक्त्रं पितामहम् ॥31॥

कुंभक के द्वारा (कुंभक करते समय) हृदयरूपी कमल के आसन पर विराजमान लाल और गौर (गेहुँए) वर्णवाले, चार मुँहवाले पितामह ब्रह्माजी का ध्यान करना चाहिए।

रेचकेन तु विद्यात्मा ललाटस्थं त्रिलोचनम्।
शुद्धस्फटिकसंकाशं निष्फलं पापनाशनम् ॥32॥
अब्जपत्रमधःपुष्पमूर्ध्वनालमधोमुखम्।
कदलीपुष्पसंकाशं सर्ववेदमयं शिवम् ॥33॥

रेचक के समय (साँस छोड़ने के समय) भाल प्रदेश में शुद्ध स्फटिक के समान तथा श्वेत वर्णवाले एवं तीन नेत्रवाले तथा कलारहित, पापनाशक, भगवान् शिव का ध्यान करना चाहिए। वह शिव ऐसे हृदयरूपी कमल में विराजित हैं, जो नीचे की ओर पद्मपत्रों से युक्त है और पुष्पित है तथा जिसकी नाल ऊपर की ओर बढ़ी हुई है, जो कदली के फूल जैसा कोमल है, जो सर्ववेदों का आधाररूप अतएव सदैव कल्याणकारी है।

शतारं शतपत्राढ्यं विकीर्णाम्बुजकर्णिकम्।
तत्रार्कचन्द्रवह्नीनामुपर्युपरि चिन्तयेत् ॥34॥

सौ अरेवाले, सौ पत्ते वाले विकसित पँखुड़ियों से युक्त उस हृदयरूपी कमल में शिव का पूर्वोक्त प्रकार से ध्यान करने के बाद क्रमशः (एक के बाद एक) सूर्य, चन्द्र और अग्नि का ध्यान करना चाहिए।

पद्मस्योद्घाटनं कृत्वा बोधचन्द्रादिसूर्यकम्।
तस्य हृद्बीजमादाय आत्मानं चरते ध्रुवम् ॥35॥

सूर्य-चन्द्र-अग्नि का बोध करने के लिए सर्वप्रथम उस हृदयकमल का प्रणवमन्त्र से उद्घाटन करके (उसे ऊर्ध्वमुख करके) ही चन्द्र-सूर्यादि ज्ञान के लिए ध्यान करना चाहिए। बाद में उस हृदयकमल के अकार नामक बीज को ग्रहण कर अपने आत्मा की उसी रूप में संभावना करने से वह अकारार्थ विष्णु आत्मा में अवश्य संचारित हो जाते हैं।

त्रिस्थानं च त्रिमार्गं च त्रिब्रह्म च त्रयाक्षरम्।
त्रिमात्रमर्धमात्रं वा यस्तं वेद स वेदवित् ॥36॥

(जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्तिरूप) तीन स्थान, (धूम-अर्चि-अगतिरूप) तीन मार्ग, (विश्व-विराट्-ओतृ-ब्रह्मरूप) तीन ब्रह्म, (अ-उ-म्-रूप) तीन अक्षर, और (ह्रस्व-दीर्घ-प्लुत) रूप तीन मात्राएँ तथा अर्ध-मात्रा—इन सबमें जो परमात्मा स्थित है, उसको जो जानता है, वही सही रूप में वेदों को जानता है।

तैलधारामिवाच्छिन्नं दीर्घघण्टानिनादवत्।
बिन्दुनादकलातीतं यस्तं वेद स वेदवित् ॥37॥

दीर्घघण्टा की ध्वनि सदृश, तेल की अविच्छिन्न धारा की तरह सातत्ययुक्त तथा बिन्दु, नाद और कला से परे (रहित) ऐसे इस परमतत्त्व ॐकार को जो जानता है, वही सही रूप में वेदों को जानने वाला है।

यथैवोत्पलनालेन तोयमाकर्षयेन्नरः।
तथैवोत्कर्षयेद्वायुं योगी योगपथे स्थितः ॥38॥

जैसे मनुष्य कमल की नाल से पानी को खींचता है, उसी प्रकार योगमार्ग का अनुसरण करने वाला योगी वायु को धीरे-धीरे ऊर्ध्व को ओर ले जाय।

अर्धमात्रात्मकं कृत्वा कोशभूतं तु पङ्कजम्।
कर्षयेन्नालमात्रेण भ्रुवोर्मध्ये लयं नयेत् ॥39॥

फिर स्थूल-सूक्ष्म-बीजभाव को प्राप्त हुए, दृष्टि-मन-अग्नि से एकीभूत हुए हृदयकमल को अर्धमात्रात्मक बनाकर, नालरूप सुषुम्नामार्ग से दोनों भौंहों के बीच उसका लय कर देना चाहिए। (पहले कोशभूत हृदयकमल को अर्धमात्रात्मक (अव्यक्तोच्चारणात्मक) करके उसकी सहायता से सुषुम्नामार्ग से कुण्डलिनी को भौंहों के बीच स्थित अमृतस्थान में लय करना चाहिए)।

भ्रुवोर्मध्ये ललाटे तु नासिकायास्तु मूलतः।
जानीयादमृतं स्थानं तद्ब्रह्मायतनं महत् ॥40॥

दोनों भौंहों के बीच, भाल प्रदेश में, नासिका के मूल में, वह अमृतस्थान अवस्थित है। वह ब्रह्म का महान् निवास स्थान है, ऐसा जानना चाहिए।

आसनं प्राणसंरोधः प्रत्याहारश्च धारणा।
ध्यानं समाधिरेतानि योगाङ्गानि भवन्ति षट् ॥41॥

आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि—ये छः योग के अंग होते हैं।

आसनानि तु तावन्ति यावन्त्यो जीवजातयः।
एतेषामतुलान्भेदान् विजानाति महेश्वरः ॥42॥

जीव की जितनी जातियाँ हैं, उतनी ही (असंख्य) आसन की विधियाँ हैं। इन असंख्य भेदों के ज्ञाता तो एक महेश्वर हैं।

सिद्धं भद्रं तथा सिंहं पद्मं चेति चतुष्टयम्।
आधारं प्रथमं चक्रं स्वाधिष्ठानं द्वितीयकम् ॥43॥

आसनों में सिद्धासन, भद्रासन, सिंहासन तथा पद्मासन—ये चार मुख्य हैं। (अब नया विषय कहते हैं—) पहला चक्र आधार - मूलाधारचक्र है और दूसरा चक्र स्वाधिष्ठान कहा जाता है।

योनिस्थानं तयोर्मध्ये कामरूपं निगद्यते।
आधाराख्ये गुदस्थाने पङ्कजं यच्चतुर्दलम् ॥44॥
तन्मध्ये प्रोच्यते योनिः कामाख्या सिद्धवन्दिता।
योनिमध्ये स्थितं लिङ्गं पश्चिमाभिमुखं तथा ॥45॥

इन मूलाधार और स्वाधिष्ठान चक्रों के बीच कामरूप प्रजननस्थान कहा जाता है। गुदा स्थान पर आए हुए मूलाधार चक्र में चार पँखुडियों वाला कमल है। उसके बीच कामाख्या नाम की सुविख्यात प्रजननयोनि (कुण्डलिनी शक्ति) है। वह सिद्ध पुरुषों के द्वारा अभ्यर्थित है। उस योनि के बीच पश्चिम की ओर प्रत्यगात्मलिंग है।

मस्तके मणिवद्भिन्नं यो जानाति स योगवित्।
तप्तचामीकराकारं तडिल्लेखेव विस्फुरत् ॥46॥
चतुरस्रमुपर्यग्नेरधो मेढ्रात्प्रतिष्ठितम्।
स्वशब्देन भवेत्प्राणः स्वाधिष्ठानं तदाश्रयम् ॥47॥

वह प्रत्यगात्मलिंग उस कामाख्या योनि के मुख पर स्थित है जो वहाँ मणि की तरह स्वप्रकाशित रूप से विद्यमान है। उसे जो जानता है, वह योगवित् माना जाता है। अब जो तपे हुए सोने जैसे आकार (तेज) वाला और बिजली की रेखा की तरह स्फुरित होता हुआ वहाँ विद्यमान है और जो अग्निमण्डल से चार अंगुल ऊपर है तथा मेढ़ (मूत्रेन्द्रिय) के नीचे है वह मूलाधार चक्र है। और लिंग के मूल में 'स्व' शब्दवाचक जो प्राण है, उसके आश्रयभूत चक्र को (जो छः दलवाला है) 'स्वाधिष्ठान चक्र' कहा जाता है।

स्वाधिष्ठानं ततश्चक्रं मेढ्रमेव निगद्यते।
मणिवत्तन्तुना यत्र वायुना पूरितं वपुः ॥48॥
तन्नाभिमण्डलं चक्रं प्रोच्यते मणिपूरकम्।
द्वादशारमहाचक्रे पुण्यपापनियन्त्रितः ॥49॥

इसीलिए मेढ़ (मूत्रेन्द्रिय) को ही स्वाधिष्ठान चक्र कहा जाता है। और जहाँ पर मणि में पिरोए गए तन्तु की तरह वायु के द्वारा शरीर अनुस्यूत हुआ है, उस नाभिमण्डल के चक्र को मणिपूरक कहा गया है। वह दश दलवाला होता है। उससे ऊपर जो बारह दलवाला महाचक्र है, वह अनाहतचक्र है। इसमें जीव पुण्य और पाप से विवर्जित होता है। (अब यहाँ कहना चाहिए कि इस द्वादशदलीय अनाहतचक्र के ऊपर षोडशदलीय विशुद्धिचक्र, उससे परे द्विदलीय आज्ञाचक्र तथा उससे परे चन्द्रसूर्य मण्डल तथा उससे भी परे सहस्रारचक्र अवस्थित है, यह जान लेना चाहिए)।

तावज्जीवो भ्रमत्येवं यावत्तत्वं न विन्दति ।
ऊर्ध्वं मेढ्रादधो नाभेः कन्दो योऽस्ति खगाण्डवत् ॥50॥
तत्र नाड्यः समुत्पन्नाः सहस्राणि द्विसप्ततिः ।
तेषु नाडीसहस्रेषु द्विसप्ततिरुदाहृताः ॥51॥

जीव जब तक आत्मतत्त्व को नहीं पहचान लेता, तब तक संसार में घूमा ही करता है। मेढ्र (मूत्रेन्द्रिय) के ऊपर और नाभि के नीचे पक्षी के अण्डे के आकार का एक कन्द नामक स्थान है। वहाँ से बहत्तर हजार नाड़ियाँ उत्पन्न होती हैं। उन हजारों नाड़ियों में से बहत्तर नाड़ियाँ मुख्य हैं।

प्रधानाः प्राणवाहिन्यो भूयस्तत्र दश स्मृताः ।
इडा च पिङ्गला चैव सुषुम्ना च तृतीयका ॥52॥
गान्धारी हस्तजिह्वा च पूषा चैव यशस्विनी ।
अलम्बुसा कुहूरत्र शंखिनी दशमी स्मृता ॥53॥

इनमें से भी प्राणों का संचरण करने वाली मुख्य दस नाडियाँ मानी गई हैं। वे हैं—इडा, पिंगला, सुषुम्ना, गान्धारी, हस्तिजिह्वा, पूषा, यशस्विनी, अलम्बुसा, कुहू और शंखिनी।

एवं नाडीमयं चक्रं विज्ञेयं योगिना सदा ।
सततं प्राणवाहिन्यः सोमसूर्याग्निदेवताः ॥54॥
इडापिङ्गलासुषुम्नास्तिस्रो नाड्यः प्रकीर्तिताः ।
इडा वामे स्थिता भागे पिङ्गला दक्षिणे स्थिता ॥55॥
सुषुम्ना मध्यदेशे तु प्राणमार्गास्त्रयः स्मृताः ।
प्राणोऽपानः समानश्चोदानो व्यानस्तथैव च ॥56॥
नागः कूर्मः कृकरको देवदत्तो धनञ्जयः ।
प्राणाद्याः पञ्च विख्याता नागाद्याः पञ्च वायवः ॥57॥

योगी को इस प्रकार का नाडीचक्र सदैव जान लेना चाहिए। सतत प्राण का संचरण करने वाली इडा, पिंगला और सुषुम्ना—इन तीन नाडियों के अधिष्ठाता देवता क्रमशः सोम, सूर्य और अग्नि हैं। इन तीन नाडियों में इडा बाँयें भाग पर है और पिंगला दक्षिण भाग में है। सुषुम्ना इन दोनों के बीच में अवस्थित है। इस प्रकार प्राणों के संचार के तीन मार्ग हैं। ये प्राण इस प्रकार हैं—प्राण, अपान, व्यान, उदान, समान, नाग, कूर्म, कृकरक, देवदत्त और धनंजय है। इनमें प्राण आदि पहले पाँच विख्यात (मुख्य) हैं और नाग आदि अंतिम पाँच गौण हैं।

एते नाडीसहस्रेषु वर्तन्ते जीवरूपिणः ।
प्राणापानवशो जीवो ह्यधश्चोर्ध्वं प्रधावति ॥58॥

इन हजारों नाड़ियों में प्राण जीवरूप होकर स्थित है। जीव प्राण और अपान का वशवर्ती होकर ऊपर-नीचे आया-जाया करता है अर्थात् दौड़ता रहता है।

वामदक्षिणमार्गेण चञ्चलत्वान्न दृश्यते ।
आक्षिप्तो भुजदण्डेन यथोच्चलति कन्दुकः ॥59॥
प्राणापानसमाक्षिप्तस्तद्वज्जीवो न विश्रमेत् ।
अपानात्कर्षति प्राणोऽपानः प्राणाच्च कर्षति ॥60॥

खगरज्जुवदित्येतद्यो जानाति स योगवित् ।
हकारेण बहिर्याति सकारेण विशेत्पुनः ॥61॥
हंसहंसेत्यमुं मन्त्रं जीवो जपति सर्वदा ।
शतानि षड्दिवारात्रं सहस्राण्येकविंशतिः ॥62॥
एतत्संख्यान्वितं मन्त्रं जीवो जपति सर्वदा ।
अजपा नाम गायत्री योगिनां मोक्षदा सदा ॥63॥

यह प्राण शरीर के दाँये-बाँये गमन करता रहता है, पर चंचल होने से वह दिखाई नहीं देता। जैसे हाथ से उछाली गई गेंद इधर-उधर चलायमान होती है, उसी प्रकार प्राण और अपान के द्वारा अपनी-अपनी ओर खींचा जाने वाला यह जीव कभी आराम नहीं प्राप्त करता, क्योंकि उसे अपान की ओर से प्राण अपनी ओर खींचता है और प्राण की ओर से अपान अपनी ओर हमेशा खींचता ही रहता है, जिस प्रकार रस्सी से बाँधा गया पक्षी खींच लिया जाता है। इस तत्त्व को जो जानता है उसे योगवित् कहा जा सकता है। हमारा प्राण 'ह'कार जैसे उच्चारण से बाहर निकलता है, और 'स'कार जैसे उच्चारण से फिर वह शरीर में प्रवेश करता है। इस प्रकार यह जीव सदैव 'हंस' 'हंस' का मंत्र जपता ही रहता है और ऐसा जप प्रतिदिन इक्कीस हजार छः सौ की संख्या में होता है। ऐसे जाप को अजपा गायत्री कहा जाता है। ऐसा जाप योगियों के लिए सदा मोक्ष देने वाला होता है।

अस्याः सङ्कल्पमात्रेण नरः पापैः प्रमुच्यते ।
अनया सदृशी विद्या अनया सदृशो जपः ॥64॥
अनया सदृशं पुण्यं न भूतं न भविष्यति ।
येन मार्गेण गन्तव्यं ब्रह्मस्थानं निरामयम् ॥65॥

इस अजपा गायत्री के संकल्पमात्र से मनुष्य पापों से मुक्त हो जाता है। इसके जैसी कोई विद्या, इसके जैसा कोई जप, इसके जैसा कोई पुण्य, न अभी तक हुआ है, न होगा कि जिस मार्ग पर चलकर निरामय विशुद्ध ब्रह्म को प्राप्त किया जा सके।

मुखेनाच्छाद्य तद्द्वारं प्रसुप्ता परमेश्वरी ।
प्रबुद्धा वह्नियोगेन मनसा मरुता सह ॥66॥
सूचीवद् गुणमादाय व्रजत्यूर्ध्वं सुषुम्नया ।
उद्घाटयेत्कपाटं तु यथा कुञ्चिकया हठात् ॥67॥
कुण्डलिन्या तथा योगी मोक्षद्वारं विभेदयेत् ॥68॥

वह्नियोग के द्वारा जाग्रत् की जाने वाली वह परमेश्वरी (कुण्डलिनी शक्ति) उस द्वारमार्ग को अपने मुँह से आच्छादित कर स्थित है (वह सोई हुई अवस्था में है)। वह जब वह्नियोग से जाग्रत् की जाती है, तब मन और प्राणवायु के साथ सुषुम्ना के मार्ग से ऊर्ध्वगमन करती है और जैसे सुई धागे को अपने साथ ले आती है वैसे ही वह शक्ति भी मन और प्राण को अपने साथ लेकर ही ऊपर बढ़ती है। योगीजन मुक्तिद्वार को कुण्डलिनी शक्ति द्वारा उसी प्रकार खोल देते हैं, जैसे चाभी से ताला खोलकर प्रयत्नपूर्वक दरवाजा खोल दिया जाता है।

कृत्वा सम्पुटितौ करौ दृढतरं बद्ध्वाऽथ पद्मासनं,
गाढं वक्षसि सन्निधाय चुबुकं ध्यानं च तच्चेतसि ।

वारंवारमपानमूर्ध्वमनिलं प्रोच्यारयन्पूरितं,
मुञ्चन्प्राणमुपैति बोधमतुलं शक्तिप्रभावान्नरः ॥69॥

अच्छी तरह से पद्मासन लगाकर हाथों को संपुटित करके छाती पर चिबुक (ठोड़ी) को मजबूती से रखकर चित्त में स्वरूप का ध्यान करना चाहिए। ध्यान करते समय बार-बार नीचे की अपानवायु को ऊपर की ओर लाना चाहिए तथा पूरित वायु को बाहर छोड़ते रहना चाहिए। इस प्रकार करने वाला योगी उस कुण्डलिनी शक्ति के प्रभाव से अतुलनीय बोध प्राप्त कर सकता है।

पद्मासनस्थितो योगी नाडीद्वारेषु पूरयन्।
मारुतं कुम्भयन्यस्तु स मुक्तो नात्र संशयः ॥70॥

पद्मासन में स्थित योगीजन नाड़ियों के द्वारों से प्राण वायु को भीतर लाते हुए पूरक प्राणायाम करता है, फिर वह उस वायु को कुंभक प्राणायाम से रोकता है, वह निःसन्देह मुक्त हो जाता है।

अङ्गानां मर्दनं कृत्वा श्रमजातेन वारिणा।
कट्वम्ललवणत्यागी क्षीरपानरतः सुखी ॥71॥
ब्रह्मचारी मिताहारी योगी योगपरायणः।
अब्दादूर्ध्वं भवेत्सिद्धो नात्र कार्या विचारणा ॥72॥

इस प्राणायाम के परिश्रम से उत्पन्न हुए प्रस्वेद-बिन्दुओं से ही अपने शरीर को मलकर और तीखे, खट्टे एवं नमकीन पदार्थों को छोड़कर, केवल दूध के पान से ही जीने वाला, सुखी, ब्रह्मचारी, मिताहार करने वाला योगपरायण योगीजन एक वर्ष के भीतर ही सिद्धि प्राप्त करता है, इसमें कुछ विचारने की बात नहीं है।

कन्दोर्ध्वकुण्डलीशक्तिः स योगी सिद्धिभाजनम्।
अपानप्राणयोरैक्यं क्षयान्मूत्रपुरीषयोः ॥73॥
युवा भवति वृद्धोऽपि सततं मूलबन्धनात्।
पार्ष्णिभागेन सम्पीड्य योनिमाकुञ्चयेद् गुदम् ॥74॥
अपानमूर्ध्वमुत्कृष्य मूलबन्धोऽयमुच्यते।
उड्याणं कुरुते यस्मादविश्रान्तमहाखगः ॥75॥
उड्डियाणं तदेव स्यात्तत्र बन्धो विधीयते।
उदरे पश्चिमं ताणं नाभेरूर्ध्वं तु कारयेत् ॥76॥

कन्द-प्रदेश से ऊपर के भाग में जिसकी कुण्डलिनी शक्ति स्थित है, वह योगी सिद्धि के योग्य है। अर्थात् जिसकी नाडीकन्द के ऊर्ध्व भाग में (सुषुम्ना में) कुण्डलिनी शक्ति हो, वह योगी योगसिद्धि का पात्र बनता है। सतत मूलबन्ध का अभ्यास करने से अपान और प्राण का एकीभाव हो जाता है। मल-मूत्र का क्षय हो जाने से बूढ़ा भी जवान हो जाता है। एड़ी से योनि को दबाकर गुदा को संकुचित करना चाहिए और अपानवायु को ऊपर खींचना चाहिए—इस क्रिया को मूलबन्ध कहा गया है। 'उड्डियाणबन्ध' की विधि में कहा गया है कि जिस प्रकार कोई बड़ा पक्षी बिना थकान के ही उड़ने की क्रिया करता है उसी प्रकार पेट को पीछे की ओर वेग से खींचने (सिकोड़ने) की 'ताण' क्रिया करने के साथ नाभि को ऊपर की ओर खींचना चाहिए (इसको 'उड्डियाणबन्ध' कहा जाता है)।

उड्डियाणोऽप्ययं बन्धो मृत्युमातङ्गकेसरी।
बध्नाति हि शिरोजातमधोगामिनभोजलम् ॥77॥
ततो जालन्धरो बन्धः कर्मदुःखौघनाशनः।
जालन्धरे कृते बन्धे कण्ठसंकोचलक्षणे ॥78॥
न पीयूषं पतत्यग्नौ न च वायुः प्रधावति।
कपालकुहरे जिह्वा प्रविष्टा विपरीतगा ॥79॥
भ्रुवोरन्तर्गता दृष्टिर्मुद्रा भवति खेचरी।
न रोगो मरणं तस्य न निद्रा न क्षुधा तृषा ॥80॥

यह पूर्वोक्त 'उड्डियाणबन्ध' मृत्युरूपी हाथी के लिए सिंह जैसा नाशक होता है। और अन्य एक जो बन्ध है, शिरो(नभो)जात अर्थात् सहस्राररूपी आकाश में विद्यमान तथा नीचे जाने वाले सर्वरोगहर कफ-जल को बाँध देता है (सुखा देता है), उसे 'जालन्धरबन्ध' कहा जाता है। इस बन्ध से कर्मबन्ध और पापजन्य दुःखों का नाश होता है। जालन्धरबन्ध करते समय कण्ठ को सिकोड़ा जाता है, जिससे वायु की गति रुक जाती है और अमृत के अग्नि में गिरने की संभावना नहीं रहती। अब इसके बाद 'खेचरी' मुद्रा' कहते हैं—जीभ को उल्टा कर कपाल के कुहर में प्रविष्ट किया जाता है और अपनी दृष्टि को दोनों भौंहों के बीच स्थिर किया जाता है। इस खेचरी मुद्रा के स्थिर हो जाने से निद्रा एवं भूख-प्यास नहीं सताती है और किसी पीड़ा (रोग) तथा मृत्यु का भी भय नहीं होता।

न च मूर्च्छा भवेत्तस्य यो मुद्रां वेत्ति खेचरीम्।
पीड्यते न च रोगेण लिप्यते न च कर्मणा ॥81॥
बध्यते न च कालेन यस्य मुद्रास्ति खेचरी।
चित्तं चरति खे यस्माज्जिह्वा भवति खे गता ॥82॥
तेनैषा खेचरी नाम मुद्रा सिद्धनमस्कृता।
खेचर्या मुद्रया यस्य विवरं लम्बिकोर्ध्वतः ॥83॥
बिन्दुः क्षरति नो यस्य कामिन्यालिङ्गितस्य च।
यावद्बिन्दुः स्थितो देहे तावन्मृत्युभयं कुतः ॥84॥

इस खेचरी मुद्रा को जो जानता है, वह कभी मूर्च्छित नहीं होता। रोगों से वह पीड़ित नहीं होता है, कर्म से वह लिप्त नहीं होता। जिसको खेचरी मुद्रा सिद्ध है, उसे काल बाँध नहीं सकता। लम्बे अरसे तक उसका चित्त आकाश में विहार कर सकता है, क्योंकि उसकी जीभ अन्तरिक्षगामिनी हो जाती है। इसीलिए तो यह खेचरी मुद्रा सिद्धों के लिए भी वन्दनीय है। इस खेचरी मुद्रा के द्वारा जिसने लम्बिका (अन्तर्जिह्वा) से भी आगे के विवर (तालु) को अवरुद्ध कर दिया है, ऐसे मनुष्य का कामिनी के आलिंगन करने पर भी वीर्यबिन्दु स्खलित नहीं होता और जब तक शरीर में वीर्य रहता है तब तक मृत्यु का भय भी कहाँ से हो सकता है?

यावद्बद्धा नभोमुद्रा तावद्बिन्दुर्न गच्छति।
गलितोऽपि यथा बिन्दुः सम्प्राप्तो योनिमण्डले ॥85॥
व्रजत्यूर्ध्वं हठाच्छक्त्या निबद्धो योनिमुद्रया।
स एव द्विविधो बिन्दुः पाण्डरो लोहितस्तथा ॥86॥
पाण्डरं शुक्रमित्याहुर्लोहिताख्यं महारजः।
विद्रुमद्रुमसङ्काशं योनिस्थाने स्थितं रजः ॥87॥

शशिस्थाने वसेद्बिन्दुस्तयोरैक्यं सुदुर्लभम्।
बिन्दुः शिवो रजः शक्तिर्बिन्दुरिन्दू रजो रविः ॥88॥

यह नभोमुद्रा (खेचरी) जहाँ तक बद्ध (चालू) रहती है, वहाँ तक तो वीर्य - बिन्दु का स्खलन नहीं होता, तथापि यदि कहीं वह वीर्य - बिन्दु गिर जाए और योनि में चला जाए, तो हठपूर्वक (बलात्) उसे योनिमण्डल से पुनः शक्ति द्वारा ऊपर खींच लिया जाता है। यह वीर्य - बिन्दु दो प्रकार का होता है—एक पाण्डर (सफेद) रंग का और दूसरा लाल रंग का। पाण्डर (सफेद) वर्ण वाले को 'शुक्र' और लाल रंगवाले को 'महारज' कहा जाता है। मूँगे के सदृश रंगवाला रज योगी के योनिस्थान में रहता है, और शुक्ल (पाण्डर) वर्णवाला वीर्य योगी के चन्द्रस्थान में रहता है। उन दोनों का ऐक्य होना बड़ा दुष्कर है। जो शुक्ल बिन्दु है वह शिव है और जो रज है वह शक्ति है। वीर्य ही चन्द्र है, रज ही सूर्य है।

उभयोः सङ्गमादेव प्राप्यते परमं वपुः।
वायुना शक्तिचालेन प्रेरितं खे यथा रजः ॥89॥
रविणैकत्वमायाति भवेद्दिव्यं वपुस्तदा।
शुक्लं चन्द्रेण संयुक्तं रजः सूर्यसमन्वितम् ॥90॥
द्वयोः समरसीभावं यो जानाति स योगवित्।

आकाश में शक्ति द्वारा संचालित वायु से प्रेरित रज जिस तरह सूर्य से संयुक्त होकर दिव्य स्वरूप (तेजस्वी रूप) धारण करता है उसी तरह इन दोनों के संयोग से परम देह की प्राप्ति होती है। रवि (रज) के साथ वीर्यबिन्दु का एकत्व होने से तब दिव्य शरीर प्राप्त हो जाता है। पूर्व कथनानुसार शुक्ल वीर्य चन्द्र के साथ संयुक्त है और रज सूर्य के साथ युक्त है—इन दोनों की समरसता के भाव को जो जानता है, वही सही रूप में योगवित् कहा जाता है।

शोधनं मलजालानां घटनं चन्द्रसूर्ययोः ॥91॥
रसानां शोषणं सम्यङ् महामुद्राभिधीयते ॥92॥
वक्षोन्यस्तहनुर्निपीड्य सुषिरं योनेश्च वामाङ्घ्रिणा,
हस्ताभ्यामनुधारयन्प्रविततं पादं तथा दक्षिणम्।
आपूर्य श्वसनेन कुक्षियुगलं बध्वा शनै रेचये-
देषा पातकनाशिनी ननु महामुद्रा नृणां प्रोच्यते ॥93॥

'महामुद्रा' उसे कहा गया है कि जो मल के जालों का शोधन करती हो, जो चन्द्र और सूर्य का मेल करती हो, जो वात, पित्त और कफ का अच्छी तरह से शोषण करती हो। महामुद्रा की विधि इस प्रकार है—वक्षःस्थल को ठोड़ी से दबाकर तथा बाँयी एड़ी से योनि-स्थल को दबाकर, दोनों हाथों से फैलाए गए दाहिने पैर को पकड़कर, और दोनों कोखों को वायु से भरकर कुम्भक करने के बाद धीरे-धीरे साँस को बाहर निकालना चाहिए। योगियों ने इसे 'पातकनाशिनी महामुद्रा' नाम दिया है।

अथात्मनिर्णयं व्याख्यास्ये—हृदि स्थाने अष्टदलपद्मं वर्तते। तन्मध्ये रेखावलयं कृत्वा जीवात्मरूपं ज्योतीरूपमणुमात्रं वर्तते। तस्मिन्सर्वं प्रतिष्ठितं भवति सर्वं जानाति सर्वं करोति सर्वमेतच्चरितमहं कर्ताऽहं भोक्ता सुखी दुःखी काणः खञ्जो बधिरो मूकः कृश स्थूलोऽनेन प्रकारेण स्वतन्त्रवादेन वर्तते ॥ (93-1)॥

अब आत्मा के सम्बन्ध में विवेचन करता हूँ—हृदय प्रदेश में आठ पँखुड़ियों वाला कमल है। इसके मध्य में रेखावलय बनाकर ज्योतिरूप जीवात्मा अणुमात्र स्वरूप से निवास करता है। वह सर्वज्ञाता, सर्वकर्ता है, सब-कुछ उसी में प्रतिष्ठित रहता है। वह ऐसा सोचता है कि इन सभी चरित्रों में मैं ही कर्ता, मैं ही भोक्ता, सुखी, दुःखी, काना, बहरा, लँगड़ा, गूँगा, पतला, मोटा हूँ। इस प्रकार वह स्वतंत्र व्यवहार करते हुए रहता है।

पूर्वदले विश्रमते पूर्वं दलं श्वेतवर्णं तदा भक्तिपुरःसरं धर्मे मतिर्भवति ॥ (93-2)॥ यदाऽऽग्नेयदले विश्रमते तदाऽऽग्नेयदलं रक्तवर्णं तदा निद्रालस्यमतिर्भवति ॥ (93-3)॥ यदा दक्षिणदले विश्रमते तद्दक्षिणदलं कृष्णवर्णं तदा द्वेषकोपमतिर्भवति ॥ (93-4)॥ यदा नैर्ऋतदले विश्रमते तन्नैर्ऋतदलं नीलवर्णं तदा पापकर्महिंसामतिर्भवति ॥ (93-5)॥

उस अष्टदल कमल के पूर्व दिशा के दल में, जो दल श्वेतवर्ण है, जब वह रहता है, तब भक्तिपूर्वक धर्म में मति होती है। जब आग्नेय दिशा के रक्तवर्ण वाले दल में रहता है, तब निद्रा और आलस्य की वृत्ति होती है। जब दक्षिण दिशा के काले रंग वाले दल में रहता है, तव द्वेष और क्रोध की मति होती है। जब नैर्ऋत्य दिशा के नीलवर्ण वाले दल में रहता है, तब पापकर्म और हिंसा की वृत्ति उभर आती है।

यदा पश्चिमदले विश्रमते तत्पश्चिमदलं स्फटिवर्णं तदा क्रीडाविनोदे मतिर्भवति ॥ (93-6)॥ यदा वायव्यदले विश्रमते वायव्यदलं माणिक्यवर्णं तदा गमनचलनवैराग्यमतिर्भवति ॥ (93-7)॥ यदोत्तरदले विश्रमते तदुत्तरदलं पीतवर्णं तदा सुखशृङ्गारमतिर्भवति ॥ (93-8)॥ यदेशानदले विश्रमते तदीशानदलं वैडूर्यवर्णं तदा दानादिकृपामतिर्भवति ॥ (93-9)॥

जब वह स्फटिक वर्ण वाले पश्चिम दिशा के दल में निवास करता है, तब खेल (आनन्द) करने की रुचि उत्पन्न होती है। जब वह माणिक्य के से वर्ण वाले वायव्य दिशा के दल में निवास करता है, तब घूमने-फिरने तथा वैराग्य की वृत्ति होती है। जब वह पीले वर्ण वाले उत्तर दिशा के दल में निवास करता है, तब सुख और शृंगार की अभिलाषा होती है और जब वह वैडूर्य मणि जैसे वर्णवाले ईशान दिशा के दल में निवास करता है, तब दान देने और दया करने की ओर मन का झुकाव होता है।

यदा सन्धिसन्धिषु मतिर्भवति तदा वातपित्तश्लेष्ममहाव्याधिप्रकोपो भवति ॥ (93-10)॥ यदा मध्ये तिष्ठति तदा सर्वं जानाति गायति नृत्यति पठत्यानन्दं करोति ॥ (93-11)॥

जब उसकी मति जोड़ों के सन्धिभाग में रहती है, तब वात-पित्त-कफ की महाव्याधि होती है और जब वह मति मध्य में रहती है, तब इस अवस्था में मनुष्य सब जानता है, गाता है, नाचता है, पढ़ता है और आनन्द करता है।

यदा नेत्रश्रमो भवति श्रमनिर्भरणार्थं प्रथमरेखावलयं कृत्वा मध्ये निमज्जनं कुरुते। प्रथमरेखाबन्धूकपुष्पवर्णं तथा निद्रावस्था भवति। निद्रावस्थामध्ये स्वप्नावस्था भवति। स्वप्नावस्थामध्ये दृष्टं श्रुतमनुमानसम्भववार्ता इत्यादिकल्पनां करोति तदादिश्रमो भवति ॥ (93-12)॥

जब आँख थक जाती है तो थकान दूर करने के लिए पहली रेखा का आश्रय करके वह उसके बीच निमज्जन करती है और तब निद्रावस्था होती है। वह प्रथम रेखा बन्धूक के पुष्प जैसे वर्ण वाली होती है। निद्रावस्था के बीच स्वप्नावस्था होती है। स्वप्नावस्था में देखी गई, सुनी गई, अनुमान की गई, संभावित कथा आदि की कल्पना होती है। इस कल्पना से भी परिश्रम (थकान) उत्पन्न होती है।

श्रमनिर्हरणार्थं द्वितीयरेखावलयं कृत्वा मध्ये निमज्जनं कुरुते। द्वितीयरेखा इन्द्रकोपवर्णं तदा सुषुप्तावस्था भवति। सुषुप्तौ केवलपरमेश्वरसम्बन्धिनी बुद्धिर्भवति। नित्यबोधस्वरूपा भवति। पश्चात् परमेश्वरस्वरूपेण प्राप्तिर्भवति॥ (93-13)॥

तब उस थकान को दूर करने के लिए द्वितीय रेखा का वलय करके उसमें निमज्जन करता है। वह द्वितीय रेखा बहूटी के वर्ण की है। तब सुषुप्तावस्था होती है। सुषुप्तावस्था में केवल परमेश्वर सम्बन्धी ही बुद्धि होती है। वह नित्यबोधस्वरूप होती है। बाद में ही परमेश्वर की प्राप्ति होती है।

तृतीयरेखावलयं कृत्वा मध्ये निमज्जनं कुरुते। तृतीयरेखा पद्मरागवर्णं तदा तुरीयावस्था भवति। तुरीये केवलपरमात्मसम्बन्धिनी मतिर्भवति। नित्यबोधस्वरूपा भवति। तदा शनैः शनैरुपरमेद् बुद्ध्या धृतिगृहीतयात्मसंस्थं मनः कृत्वा न किञ्चिदपि चिन्तयेत्॥ (93-14)॥

जब तृतीय रेखा का वलय करके उसके बीच वह निमज्जन करता है, तब तुरीयावस्था प्राप्त होती है। वह तृतीय रेखा पद्मराग जैसे वर्णवाली है। उस तुरीयावस्था में केवल परमात्मा सम्बन्धी वृत्ति होती है। वह नित्यबोधस्वरूप है, तब धीरे-धीरे धैर्ययुक्त बुद्धि से मन को आत्मा में अवस्थित करके शान्त हो जाना चाहिए और किसी अन्य विषय का विचार नहीं करना चाहिए।

तदा प्राणापानयोरैक्यं कृत्वा सर्वं विश्वमात्मस्वरूपेण लक्ष्यं धारयति। यदा तुरीयातीतावस्था तदा सर्वेषामानन्दरूपो भवति द्वन्द्वातीतो भवति। यावद्देहधारणा वर्तते तावत्तिष्ठति। पश्चात् परमात्मस्वरूपेण प्राप्तिर्भवति। इत्यनेन प्रकारेण मोक्षो भवतीदमेवात्मदर्शनोपाया भवन्ति॥ (93-15)॥

तब प्राण और अपान का एकीकरण करके अखिल विश्व को आत्मस्वरूप मानकर ऐसे ही आत्मस्वरूप को लक्ष्य पर ध्यान केन्द्रित करे। और जब तुरीयातीत अवस्था प्राप्त होती है, तब सब कुछ आनन्दस्वरूप ही होने लगता है, और वह द्वन्द्वातीत हो जाता है। जहाँ तक जीव में देहधारणा रहती है, वहीं तक वह देह में रहता है। बाद में तो उसे परमात्मतत्त्व की प्राप्ति हो जाती है। इसी मार्ग से मोक्ष होता है। ये ही सब आत्मदर्शन के उपाय हैं।

चतुष्पथसमायुक्तमहाद्वारगवायुना।
सहस्थितत्रिकोणार्धगमने दृश्यतेऽच्युतः॥94॥

चारों मार्ग से संयुक्त ऐसे महाद्वार की ओर जाने वाले वायु के साथ स्थिर होने पर अर्धत्रिकोण में जाकर परमात्मा के दर्शन किए जा सकते हैं।

पूर्वोक्तत्रिकोणस्थानादुपरि पृथिव्यादिपञ्चवर्णकं ध्येयम्।
प्राणादिपञ्चवायुश्च बीजं वर्णं च स्थानकम्।

यकारं प्राणबीजं च नीलजीमूतसन्निभम्।
रकारमग्निबीजं च अपानादित्यसन्निभम्॥95॥

पूर्वोक्त त्रिकोणस्थान के ऊपर पृथिवी आदि पाँच वर्ण वाले तत्त्व ध्यान करने योग्य हैं। बीज, वर्ण और स्थान सहित पाँच प्राणादि वायु भी उसी के साथ ध्यान करने योग्य हैं। नीले बादलों के समान कान्ति वाला 'य'कार प्राण का बीज है और 'र'कार आदित्य के वर्णवाले अग्निरूप अपान का बीज है।

लकारं पृथिवीरूपं ध्यानं बन्धूकसन्निभम्।
वकारं जीवबीजं च उदानं शंखवर्णकम्॥96॥
हकारं वियत्स्वरूपं च समानं स्फटिकप्रभम्।
हृन्नाभिनासाकर्णं च पादाङ्गुष्ठादिसंस्थितम्॥97॥
द्विसप्ततिसहस्राणि नाडीमार्गेषु वर्तते।
अष्टाविंशतिकोटिषु रोमकूपेषु संस्थिताः॥98॥
समानप्राण एकस्तु जीवः स एक एव हि।
रेचकादित्रयं कुर्याद् दृढचित्तः समाहितः॥99॥
शनैः समस्तमाकृष्य हृत्सरोरुहकोटरे।
प्राणापानौ च बद्ध्वा तु प्रणवेन समुच्चरेत्॥100॥

बन्धूकपुष्प के वर्णवाला 'ल'कार पृथ्वीरूप ध्यान का बीज है। और शंखवर्णी 'व'कार जीवरूप उदान का बीज है। स्फटिक जैसी कान्तिवाला 'ह'कार आकाशरूप समान का बीज है। इस समान प्राण के स्थान हृदय, नाभि, नासिका, कान तथा पैर हैं। और यह समान प्राण बहत्तर हजार नाडियों में तथा शरीर के अट्ठाइस हजार रोमकूपों में विद्यमान होता है। समान और प्राण अलग-अलग नहीं हैं, अपितु एक ही हैं। दोनों एकस्वरूप (जीवस्वरूप) ही हैं। साधक चित्त को दृढ़ता से समाहित करके पूरक-रेचक-कुंभक—तीनों प्राणायाम करे। हृदयरूपी कमल की गुहा में धीरे-धीरे सबको खींचकर प्राणवायु और अपानवायु को रोकते हुए प्रणव का – ॐकार का उच्चारण करना चाहिए।

कण्ठसंकोचनं कृत्वा लिङ्गसंकोचनं तथा।
मूलाधारात्सुषुम्ना च पद्मतन्तुनिभा शुभा॥101॥
अमूर्तो वर्तते नादो वीणादण्डसमुत्थितः।
शङ्खनादादिभिश्चैव मध्यमेव ध्वनिर्यथा॥102॥

कण्ठ का संकोच करके लिंग का भी संकोच करना चाहिए (अर्थात् बन्धत्रय करना चाहिए)। तत्पश्चात् मूलाधार से शुरू होती हुई एक पद्म के तन्तु जैसी सूक्ष्म मंगलकारी सुषुम्ना नाम की जो नाडी है, उसमें से वीणादण्ड के सदृश एक अमूर्त नाद होता है, जैसे कि शंख आदि के द्वारा 'मध्यम' ध्वनि निकल रही हो।

व्योमरन्ध्रगतो नादो मायूरं नादमेव च।
कपालकुहरे मध्ये चतुर्द्वारस्य मध्यमे॥103॥
तदात्मा राजते तत्र यथा व्योम्नि दिवाकरः।
कोदण्डद्वयमध्ये तु ब्रह्मरन्ध्रेषु शक्ति च॥104॥
स्वात्मानं पुरुषं पश्येन्मनस्तत्र लयं गतम्।

रत्नानि ज्योत्स्निनादं तु बिन्दुमाहेश्वरं पदम् ॥105॥
य एवं वेद पुरुषः स कैवल्यं समश्नुत इत्युपनिषत् ॥106॥

इति ध्यानबिन्दूपनिषत् समाप्ता ।
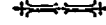
आकाशरन्ध्र से गमन करने वाला नाद मयूर पक्षी की आवाज के जैसा होता है। कपाल के कुहर के बीच में चार दरवाजों वाले मध्य के भाग में आत्मा विराजमान रहता है। वह आत्मा आकाश में सूर्य की भाँति शोभित है। और ब्रह्मरन्ध्र में दो धनुष के बीच शक्ति विद्यमान है। वहाँ मन को तन्मय करके अपने आत्मस्वरूप का साक्षात्कार करना चाहिए। वहीं रत्नों से ज्योतिर्मय नादबिन्दु महेश्वर का स्थान है। जो पुरुष इस प्रकार से जानता है, वह कैवल्य को प्राप्त कर लेता है—इस प्रकार का उपदेश है।

यहाँ ध्यानबिन्दु उपनिषत् पूरी हुई।

शान्तिपाठः

ॐ सह नाववतु । सह नौ''''मा विद्विषावहै । (पूर्ववत्)
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

(41) ब्रह्मविद्योपनिषत्

(उपनिषत्परिचय)

कृष्णयजुर्वेद से सम्बद्ध इस उपनिषद् में ब्रह्मप्राप्ति के उपाय और उसके स्वरूप का सुन्दर निरूपण है। प्रणवब्रह्म, उसकी तीन मात्राएँ—तीन वेद, तीन अग्नि, तीन लोक और तीन देवरूप हैं। जीवात्म रातदिन 'हंस:' इस प्रकार प्रणव का जप करता है—स्वयंप्रकाशित चैतन्य ही हंस है। प्राणायाम से प्राण-अपान को समान करके समाधि का अभ्यास करते हुए सिर से टपकते अमृतरस से तृप्त होना चाहिए। प्राणायाम के साथ 'हंस' का जप नियमपूर्वक करने वाला सिद्धि प्राप्त करता है, और बाद में ज्ञानप्राप्ति से ब्रह्मरूप बनता है। जो अपने आपको स्थिर, अचिन्त्य, अजन्मा, देहेन्द्रिय-प्राणादिरहित, अक्षय, निर्लेप, अन्तर्यामी, निर्गुण, अभौतिक, अकर्ता, अभोक्ता, अनादि, अनन्त, चैतन्य, आनंदरूप, अमृतरूप, आत्मरूप, स्वयंप्रकाश, अक्रिय, निर्मल, विचारहीन, पुराणपुरुष परमात्मा मानता है, वह सही रूप में सच्चिदानन्द ज्ञानस्वरूप मुक्त ही हो जाता है—यह उपदेश इसमें दिया गया है।

शान्तिपाठः

ॐ सह नाववतु । सह नौ''''मा विद्विषावहै । (पूर्ववत्)
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

इसका हिन्दी रूपान्तर पूर्व में (ब्रह्मोपनिषद् में) द्रष्टव्य है।

अथ ब्रह्मविद्योपनिषदुच्यते—
प्रसादाद् ब्रह्मणस्तस्य विष्णोरद्भुतकर्मणः ।
रहस्यं ब्रह्मविद्याया ध्रुवाग्निं सम्प्रचक्षते ॥1॥
ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म यदुक्तं ब्रह्मवादिभिः ।
शरीरं तस्य वक्ष्यामि स्थानं कालत्रयं तथा ॥2॥
तत्र देवास्त्रयः प्रोक्ता लोका वेदास्त्रयोऽग्नयः ।
तिस्रो मात्राऽर्धमात्रा च त्र्यक्षरस्य शिवस्य तु ॥3॥
ऋग्वेदो गार्हपत्यं च पृथिवी ब्रह्म एव च ।
अकारस्य शरीरं तु व्याख्यातं ब्रह्मवादिभिः ॥4॥

अब्र ब्रह्मविद्योपनिषद् कही जा रही है—भव्य और उत्तम कर्म करने वाले विष्णुरूप परब्रह्म की ध्रुवाग्नि (ध्रुव – अटल ऐसा अग्नि) ज्ञान का स्वरूप धारण करने वाली ब्रह्मविद्या का रहस्य कहते हैं। ब्रह्म को कहने वाले ऋषियों ने ॐकार को 'एकाक्षर ब्रह्म' कहा है। उस ॐकार के शरीर, स्थान तथा तीन कालों के बारे में मैं कहूँगा। इस विषय में तीन देव कहे गए हैं, तीन लोक और तीन अग्नि कहे गए हैं, तीन मात्राएँ भी हैं और एक अर्धमात्रा है, ये तीन मात्राएँ और अर्धमात्रा शिव का स्वरूप हैं।

उनमें 'अ'कार की मात्रा का शरीर ऋग्वेद है, अग्नि गार्हस्पत्य है, पृथ्वी तत्त्व है और ब्रह्मा देवता है— ऐसा बतलाया गया है।

यजुर्वेदोऽन्तरिक्षं च दक्षिणाग्निस्तथैव च।
विष्णुश्च भगवान्देव उकारः परिकीर्तितः ॥5॥
सामवेदस्तथा द्यौश्चाहवनीयस्तथैव च।
ईश्वरः परमो देवो मकारः परिकीर्तितः ॥6॥
सूर्यमण्डलमध्येऽथ ह्यकारः शङ्खमध्यगः।
उकारश्चन्द्रसङ्काशस्तस्य मध्ये व्यवस्थितः ॥7॥
मकारस्त्वग्निसङ्काशो विधूमो विद्युतोपमः।
तिस्रो मात्रास्तथा ज्ञेया सोमसूर्याग्निरूपिणः ॥8॥

'उ'कार का शरीर यजुर्वेद है, अग्नि दक्षिणाग्नि है, तत्त्व आकाश है, देवता भगवान् विष्णु कहा गया है। 'म'कार का शरीर सामवेद है, अग्नि आहवनीय है, तत्त्व द्युलोक है, देवता ईश्वर परमदेव कहा गया है। मानो शंख के मध्य भाग में रहा हो ऐसा 'अ'कार सूर्यमण्डल के बीच में अवस्थित है। और उसी तरह 'उ'कार भी चन्द्र जैसा होते हुए चन्द्रमण्डल में अवस्थित है। और 'म'कार विद्युत् जैसे तेजवाला होते हुए निर्धूम और अग्नि में प्रतिष्ठित है। इस प्रकार तीन मात्राओं में ॐकार की तीनों मात्राओं को सूर्य, चन्द्र और अग्नि के रूप में मानना चाहिए।

शिखा तु दीपसङ्काशा तस्मिन्नुपरि विद्यते।
अर्धमात्रा तथा ज्ञेया प्रणवस्योपरि स्थिता ॥9॥

जिस तरह दीपक की शिखा ऊपर को ही मुख किए हुए रहती है, उसी तरह प्रणव के ऊपर की अर्धमात्रा भी ऊर्ध्वाभिमुख होती है। (अनुस्वार नासिकामूल में गुंजरित होता है, इसी के कारण (अ-उ-म ऊर्ध्वमुख हो उठते हैं)।

पद्मपत्रनिभा सूक्ष्मा शिखा या दृश्यते शुभा।
सा नाडी सूर्यसङ्काशा सूर्यं भित्त्वा तथापरा ॥10॥
द्विसप्ततिसहस्राणि नाडीं भित्त्वा तु मूर्धनि।
वरदः सर्वभूतानां सर्वं व्याप्येव तिष्ठति ॥11॥
कांस्यघण्टानिनादस्तु यथा लीयति शान्तये।
ओंकारस्तु तथा योग्यः शान्तये सर्वमिच्छता ॥12॥
यस्मिन् स लीयते शब्दस्तत्परं ब्रह्म गीयते।
धियं हि लीयते ब्रह्म सोऽमृतत्वाय कल्पते ॥13॥

वह शुभकारी शिखा कमलपत्र की तरह सूक्ष्म दिखाई देती है। सूर्य जैसी वह परा नाडी सूर्य को भेदकर तथा उन बहत्तर हजार नाड़ियों को भेदकर मूर्धा में प्रतिष्ठित होती है। सभी प्राणियों को वह वरदान देने वाली होती है और सबको व्याप्त कर स्थित रहनेवाली होती है। कांस्य धातु से बनाए गए घण्टे की आवाज जैसे शनैः शनैः शान्ति देते हुए लीन हो जाती है, वैसे ही सब कुछ चाहने वाले मनुष्य की शान्ति के लिए यह ओंकार की साधना उत्तम है। अर्थात् मनुष्य की सभी कामनाओं की शान्ति ओंकार की साधना के द्वारा होती है। जिस तत्त्व में वह शब्द विलीन हो जाता है, उसे परब्रह्म कहा गया है। ब्रह्मस्वरूप में लीन होने वाली बुद्धि को अमृतस्वरूप कहा है।

वायुस्तेजस्तथाकाशस्त्रिविधो जीवसंज्ञकः।
स जीवः प्राण इत्युक्तो बालाग्रशतकल्पितः ॥14॥
नाभिस्थाने स्थितं विश्वं शुद्धतत्त्वं सुनिर्मलम्।
आदित्यमिव दीप्यन्तं रश्मिभिश्चाखिलं शिवम् ॥15॥

वायु, तेज और आकाश इन तीनों को जीव की उपमा दी गई है। उस जीव को प्राण कहा गया है। उसका प्रमाण (आकार) बाल के अग्र भाग की नोक के भी सौवें भाग जैसा सूक्ष्म है। उस जीव की सत्ता 'विश्व' है, शुद्ध है, निर्मलस्वरूप है, आदित्य की तरह किरणों से प्रकाशित है। वह विश्वप्रकाशक, मंगलकारी तथा नाभिप्रदेश में (न्युक्लिअस में) प्रतिष्ठित है।

सकारं च हकारं च जीवो जपति सर्वदा।
नाभिरन्ध्राद्विनिष्क्रान्तं विषयव्याप्तिवर्जितम् ॥16॥
तेनेदं निष्फलं विद्यात्क्षीरात्सर्पिर्यथा तथा।
कारणेनात्मना युक्तः प्राणायामैश्च पञ्चभिः ॥17॥
चतुष्कलासमायुक्तो भ्राम्यते च हृदि स्थितः।
गोलकस्तु यदा देहे क्षीरदण्डेन वाऽहतः ॥18॥
एतस्मिन्वसते शीघ्रमविश्रान्तं महाखगः।
यावन्निःश्वसितो जीवस्तावन्निष्कलतां गतः ॥19॥
नभःस्थं निष्कलं ध्यात्वा मुच्यते भवबन्धनात्।
अनाहतध्वनियुतं हंसं यो वेद हृद्गतम् ॥20॥

यह जीव श्वासोच्छ्वास के रूप में 'स'कार और 'ह'कार (हंसः का जाप) हमेशा (निरन्तर) करता ही रहता है। इसके प्रभाव से वह जीव नाभि के रन्ध्र से ऊपर जाया करता रहता है और सभी विषयों से मुक्त हो जाता है। दूध से निकले गए घी की तरह वह उससे निष्कल हो जाता है। ऐसे सबके कारणरूप आत्मतत्त्व को पाँच प्राणायामों के द्वारा जाना जा सकता है। (ये पाँच प्राणों के आयाम— देह के पाँचों तत्त्वों में प्रवाहित प्राण ही यहाँ पाँच प्राणों के आयाम कहे गए हैं)। जिस तरह मथनदण्ड से दूध मथा जाता है, इसी प्रकार चार कलाओं से युक्त हृदय में स्थित प्राणतत्त्व को (श्वास-प्रश्वास को) भ्रमण कराया जाता है। इस शरीर में वह जीव कभी विश्वास न करता हुआ जैसे कोई बड़ा पक्षी हो, इस तरह रहता है। जब श्वास रुक जाती है, तब जीव निष्कल हो जाता है। (यहाँ हृदय चार कलाओं वाला कहा गया है)। आकाश में स्थित निष्कल ब्रह्मतत्त्व का ध्यान करके संसाररूपी बन्धन से मुक्त हुआ जा सकता है। जो पुरुष इस हृदयस्थ हंस को जो कि चिदानन्द है, जो अनाहतनादयुक्त है, इस प्रकार जानता है वह भवबन्धन से मुक्त हो जाता है।

स्वप्रकाशचिदानन्दं स हंस इति गीयते।
रेचकं पूरकं मुक्त्वा कुम्भकेन स्थितः सुधीः ॥21॥
नाभिकन्दे समौ कृत्वा प्राणापानौ समाहितः।
मस्तकस्थामृतास्वादं पीत्वा ध्यानेन सादरम् ॥22॥
दीपाकारं महादेवं ज्वलन्तं नाभिमध्यमे।
अभिषिच्यामृतेनैव हंसं हंसेति यो जपेत् ॥23॥

जरामरणरोगादि न तस्य भुवि विद्यते।
एवं दिने दिने कुर्यादणिमादिविभूतये ॥24॥

जो ज्ञानी पुरुष रेचक और पूरक का त्याग करके कुंभक में स्थित होकर पूर्व में वर्णित स्वप्रकाशित चिदानन्द को जानता है, वह 'हंस' कहा जाता है। जो पुरुष पूर्व मन्त्रोक्त प्रकार से स्थित होकर प्राण एवं अपान को एक करके मस्तक में प्रतिष्ठित अमृत को ध्यानपूर्वक आदरसहित पीता है, तथा जो नाभि के बीच के प्रदेश में दीपक की भाँति अच्छी तरह प्रकाशित महादेव पर अमृत का सिंचन करते हुए 'हंस हंस' का जाप करता रहता है, उसे पृथ्वी पर रहते हुए भी जरावस्था, मरण, रोग आदि विकार नहीं होता और इस प्रकार सर्वदा करते हुए वह आणिमादि सिद्धियों को प्राप्त करने का अधिकारी हो जाता है।

ईश्वरत्वमवाप्नोति सदाभ्यासरतः पुमान्।
बहवो नैकमार्गेण प्राप्ता नित्यत्वमागताः ॥25॥
हंसविद्यामृते लोके नास्ति नित्यत्वसाधनम्।
यो ददाति महाविद्यां हंसाख्यां पारमेश्वरीम् ॥26॥
तस्य दास्यं सदा कुर्यात्प्रज्ञया परया सह।
शुभं वाऽशुभमन्यद्वा यदुक्तं गुरुणा भुवि ॥27॥
तत्कुर्यादविचारेण शिष्यः सन्तोषसंयुतः।
हंसविद्यामिमां लब्ध्वा गुरुशुश्रूषया नरः ॥28॥

जो मनुष्य हमेशा ही इस ब्रह्मविद्या के परिशीलन में लगा रहता है, उसे ईश्वरत्व की प्राप्ति हो जाती है। अनेक पुरुष इस एक ही मार्ग के द्वारा नित्यपद को प्राप्त कर चुके हैं। हंसरूपी विद्यामृत के समान इस जगत् में नित्यत्वप्राप्ति के लिए अन्य कोई भी साधन नहीं है। जो ज्ञानीगुरु इस हंस नाम की परमेश्वरी विद्या का दान करते हैं, उन गुरु की परम प्रज्ञा (निष्ठा) से सेवा करनी चाहिए। इस पृथ्वी पर वह गुरु जो शुभ, अशुभ वा अन्य जो भी आज्ञा करे उसका शिष्य को बिना किसी विचार किए पालन करना चाहिए। इस हंस विद्या को प्राप्त करके गुरु की सेवा करते हुए शिष्य को संतुष्ट होना चाहिए।

आत्मानमात्मना साक्षाद् ब्रह्म बुद्ध्वा सुनिश्चलम्।
देहजात्यादिसम्बन्धान्वर्णाश्रमसमन्वितान् ॥29॥
वेदशास्त्राणि चान्यानि पदपांसुमिव त्यजेत्।
गुरुभक्तिं सदा कुर्याच्छ्रेयसे भूयसे नरः ॥30॥
गुरुरेव हरिः साक्षान्नान्य इत्यब्रवीच्छ्रुतिः ॥31॥

गुरु के उपदेश से अपने आप से ही अत्यन्त निश्चल ऐसे आत्मा रूप ब्रह्म को जानकर, देह-जाति आदि सम्बन्धों को और वर्ण-आश्रम आदि के धर्मों को भी तथा अन्य वेद-विधि आदि सभी शास्त्रों को पैर में लगी हुई धूल के समान छोड़ देना चाहिए और अपने कल्याण के लिए हमेशा गुरुभक्ति करनी चाहिए। क्योंकि श्रुति ने ऐसा कहा है कि गुरु ही साक्षात् हरि है। इसके सिवा अन्य कोई हरि नहीं।

श्रुतं यदुक्तं परमार्थमेव तत्संशयो नात्र ततः समस्तम्।
श्रुत्या विरोधे न भवेत्प्रमाणं भवेदनर्थाय विना प्रमाणम् ॥32॥

श्रुति का वचन तो परमार्थरूप ही है, इसमें कोई संशय नहीं है। वह संपूर्णतया प्रमाणभूत इसलिए है क्योंकि श्रुति के विरोध में कोई अन्य प्रमाण हो ही नहीं सकता और प्रमाणहीन वाक्य तो अनर्थ के लिए ही होगा।

देहस्थः सकलो ज्ञेयो निष्कलो देहवर्जितः।
आप्तोपदेशगम्योऽसौ सर्वतः समवस्थितः ॥33॥
हंसहंसेति यो ब्रूयाद्धंसो ब्रह्मा हरिः शिवः।
गुरुवक्त्रात्तु लभ्येत प्रत्यक्षं सर्वतोमुखम् ॥34॥
तिलेषु च यथा तैलं पुष्पं गन्ध इवाश्रितः।
पुरुषस्य शरीरेऽस्मिन् स बाह्याभ्यन्तरस्तथा ॥35॥
उल्काहस्तो यथालोके द्रव्यमालोक्य तां त्यजेत्।
ज्ञानेन ज्ञेयमालोक्य पश्चाज्ज्ञानं परित्यजेत् ॥36॥
पुष्पवत्सकलं विद्याद् गन्धस्तस्य तु निष्कलः।
वृक्षस्तु सकलं विद्याच्छाया तस्य तु निष्कला ॥37॥

देह में रहा हुआ चैतन्य तो कलायुक्त है, पर देहरहित परमचैतन्य तो कलारहित ही है। आप्त गुरु द्वारा प्राप्त वह परमतत्त्व सर्वत्र समभाव से प्रतिष्ठित है। 'हंस हंस' बोलता हुआ ज्ञानी ब्रह्मा, हरि और शिवस्वरूप ही है। चारों ओर मुखवाले और सर्वव्यापक उस परमतत्त्व का साक्षात्कार गुरु के उपदेशवचन से ही किया जा सकता है। वह परमतत्त्व तिल में तेल की और पुष्प में गन्ध की तरह पुरुष के शरीर में और शरीर के बाहर सर्वत्र समरूप से व्याप्त रहता है। जिस प्रकार मशाल के प्रकाश में द्रव्य (वस्तु) को देख लेने के बाद मशाल को छोड़ दिया जाता है, उसी तरह ज्ञान से ज्ञेय को जान लेने के बाद ज्ञान को छोड़ दिया जाता है। पुष्प तो कलायुक्त (अंशांशि) भाव से युक्त होता है, पर उसमें स्थित गन्ध कलारहित ही है और पुष्प की ही तरह वृक्ष को कलासहित मानना चाहिए और उस वृक्ष की छाया तो कलारहित (निष्कल) ही है।

निष्कलः सकलो भावः सर्वत्रैव व्यवस्थितः।
उपायः सकलस्तद्वदुपेयश्चैव निष्कलः ॥38॥
सकले सकलो भावो निष्कले निष्कलस्तथा।
एकमात्रो द्विमात्रश्च त्रिमात्रश्चैव भेदतः ॥39॥
अर्धमात्रा परा ज्ञेया तत ऊर्ध्वं परात्परम्।
पञ्चधा पञ्चदैवत्वं सकलं परिपठ्यते ॥40॥
ब्रह्मणो हृदयस्थानं कण्ठे विष्णुः समाश्रितः।
तालुमध्ये स्थितो रुद्रः ललाटस्थो महेश्वरः ॥41॥

पूर्वकथनानुसार निष्कल और सकल का भाव सर्वत्र दिखाई पड़ता है। इनमें जो स-कल यानी कला (अंश-भेद) वाला भाव है वह उपाय अर्थात् साधन है और जो निष्कल यानी कलारहित (अंश रहित) है वह उपेय (प्राप्तव्य) है। स-कल में कलायुक्त भाव रहता है और निष्कल में निष्कल (अखण्ड – विकारहीन) भाव रहता है। वह स-कल भाव एकमात्र, द्विमात्र और त्रिमात्र – इस तरह तीन

भागों वाला होता है। जो अर्ध मात्रा है, वह 'परा' है, और उससे भी जो परे है, उसे परात्पर कहा जाता है। इस प्रकार वह 'स-कल' पाँच प्रकार का (पंचभूतात्मक और पंचप्राणात्मक) कहा गया है। ब्रह्म का स्थान हृदय है, कण्ठ में विष्णु का निवास है, तालु में रुद्र बसते हैं और ललाट में महेश्वर हैं।

नासाग्रे अच्युतं विद्यात् तस्यान्ते च परं पदम्।
परत्वात्तु परं नास्तीत्येवं शास्त्रस्य निर्णयः ॥42॥
देहातीतं तु तं विद्यान्नासाग्रे द्वादशाङ्गुलम्।
तदन्तं तं विजानीयात् तत्रस्थो व्यापयेत्प्रभुः ॥43॥
मनोऽप्यन्यत्र निक्षिप्तं चक्षुरन्यत्र पातितम्।
तथापि योगिनां योगो ह्यविच्छिन्नः प्रवर्तते ॥44॥
एतत्तु परमं गुह्यमेतत्तु परमं शुभम्।
नातः परतरं किञ्चिन्नातः परतरं शुभम् ॥45॥

नासिका के अग्र भाग में अच्युत को जानना चाहिए। (यहाँ अच्युत सदाशिव है) तथा उसके अन्त भाग में (भौंहों के बीच में) परमपद को प्रतिष्ठित मानना चाहिए। इस परमपद से परे कुछ भी नहीं है, ऐसा शास्त्रों का निर्णय है। उस देहातीत परमपद को नासिका के अग्रभाग से ऊपर बारह अँगुलियों में जानना चाहिए तथा उसके अन्तिम भाग में (सहस्रारचक्र में) व्यापक प्रभु रहते हैं, ऐसा जानना चाहिए। मन के इधर-उधर चले जाने पर भी और आँख के इधर-उधर देखते रहने पर भी योगियों का योग धारावाहिक गति से चलता ही रहता है। यह सबसे गूढ रहस्य है, यही परमकल्याणकारी है। इससे बढ़कर कोई वस्तु श्रेष्ठ नहीं है, इससे बढ़कर कोई उच्चतर नहीं है।

शुद्धज्ञानामृतं प्राप्य परमाक्षरनिर्णयम्।
गुह्याद् गुह्यतमं गोप्यं ग्रहणीयं प्रयत्नतः ॥46॥
नापुत्राय प्रदातव्यं नाशिष्याय कदाचन।
गुरुदेवाय भक्ताय नित्यं भक्तिपराय च ॥47॥
प्रदातव्यमिदं शास्त्रं नेतरेभ्यः प्रदापयेत्।
दाताऽस्य नरकं याति सिद्ध्यते न कदाचन ॥48॥
गृहस्थो ब्रह्मचारी वा वानप्रस्थोऽथ भिक्षुकः।
यत्र यत्र स्थितो ज्ञानी परमाक्षरवित्सदा ॥49॥

शुद्ध ज्ञानामृत को प्राप्त करके परम अक्षरस्वरूप का निश्चय करना चाहिए। यह अक्षरस्वरूप गुह्य से भी गुह्य है, गोपनीय है, संग्रहणीय है। उसे पुत्ररहित पुरुष को या जो शिष्य न बना हो उसको कभी नहीं देना चाहिए। परन्तु, जो गुरु को देव मानता हो, जो भक्त हो और जो हमेशा ही भक्तिपरायण हो, उसे ही यह शास्त्र देना चाहिए, अन्य को नहीं देना चाहिए। ऐसों को देने वाला तो नरक में ही जाता है और उसकी कभी सिद्धि नहीं होती है। परन्तु जो परम अक्षर तत्त्व को जानने वाला होता है, वह चाहे गृहस्थ हो या ब्रह्मचारी हो, चाहे वानप्रस्थी हो या संन्यासी हो, जहाँ कहीं भी हो, और किसी भी स्थिति में हो वह तो हमेशा ज्ञानी ही होता है।

विषयी विषयासक्तो याति देहान्तरे शुभम्।
ज्ञानादेवास्य शास्त्रस्य सर्वावस्थोऽपि मानवः ॥50॥

ब्रह्महत्याश्वमेधाद्यैः पुण्यपापैर्न लिप्यते।
चोदको बोधकश्चैव मोक्षदश्च परः स्मृतः ॥51॥
इत्येषां त्रिविधो ज्ञेय आचार्यस्तु महीतले।
चोदको दर्शयेन्मार्गं बोधकः स्थानमाचरेत् ॥52॥
मोक्षदस्तु परं तत्त्वं यज्ज्ञात्वा परमश्नुते।
प्रत्यक्षयजनं लोके संक्षेपाच्छृणु गौतम ॥53॥

इतना ही नहीं, इस शास्त्र के ज्ञान से ही चाहे वह विषयासक्त हो या कैसी भी अवस्था में हो, वह मनुष्य तब भी देहान्तर में (मरण के बाद) शुभ गति को प्राप्त करता है। ऐसे शास्त्रज्ञानी मनुष्य को न ब्रह्महत्यादि का पाप लगता है, न अश्वमेधादि का पुण्य ही लगता है। इस ज्ञान को देने वाले गुरु इस पृथ्वी में तीन प्रकार के होते हैं—एक प्रेरक, दूसरा बोधक और तीसरा परमगुरु मोक्षदाता। प्रेरक गुरु मार्ग बताते हैं, बोधक गुरु उस ज्ञान का आचरण कर दिखाता है और तीसरा मोक्षदाता गुरु परमतत्त्व को ही प्रदान करता है, जिसे जानकर शिष्य परमतत्त्व का अनुभव करता है। अब हे गौतम! तुम इस प्रत्यक्ष शरीर के यजन के विषय में संक्षेप में श्रवण करो।

तेनेष्ट्वा स नरो याति शाश्वतं पदमव्ययम्।
स्वयमेव तु सम्पश्येद्देहे बिन्दुं च निष्कलम् ॥54॥
अयने द्वे च विषुवे सदा पश्यति मार्गवित्।
कृत्वा यामं पुरा वत्स रेचपूरककुम्भकान् ॥55॥
पूर्वं चोभयमुच्चार्य अर्चयेत्तु यथाक्रमम्।
नमस्कारेण योगेन मुद्रयारभ्य चार्चयेत् ॥56॥
सूर्यस्य ग्रहणं वत्स प्रत्यक्षयजनं स्मृतम्।
ज्ञानात्सायुज्यमेवोक्तं तोयं तोयं यथा तथा ॥57॥

इस प्रत्यक्ष यजन के करने से मनुष्य शाश्वत अव्यय पद को पा लेता है और आप ही आप अपने देह के अन्दर ही इस निष्कल और बिन्दु को देख लेता है। दोनों अयनों के समान प्राणमार्ग को जानने वाला मनुष्य मूलाधार और मूर्धा के बीच दो विषुव – दो भाग करके वह सिद्धि प्राप्त करता है। पर इसके पहले उसको एक प्रहर तक पूरक, रेचक और कुंभक का अभ्यास कर लेना चाहिए। सबसे पहले तो 'ओम्' तथा 'हंस'—इन दोनों का स्मरण करके क्रमानुसार पूजन करे। 'हंसः सोऽहम्' इस नमस्कारयोग के द्वारा तथा शाम्भवी, खेचरी आदि मुद्राओं के द्वारा पूजन करना चाहिए। हे वत्स! यही प्रत्यक्षयजन है। और जब प्राण पिंगला के द्वारा कुण्डलिनीस्थान में प्रवेश करता है, वही सूर्यग्रहण है। जिस प्रकार जल में जल मिल जाता है, वैसे ही इस ज्ञान से सायुज्यपद प्राप्त होता है।

एते गुणाः प्रवर्तन्ते योगाभ्यासकृतश्रमैः।
तस्माद्योगं समादाय सर्वदुःखबहिष्कृतः ॥58॥
योगध्यानं सदा कृत्वा ज्ञानं तन्मयतां व्रजेत्।
ज्ञानात्स्वरूपं परमं हंसमन्त्रं समुच्चरेत् ॥59॥
प्राणिनां देहमध्ये तु स्थितो हंसः सदाऽच्युतः।
हंस एव परं सत्यं हंस एव तु शक्तिकम् ॥60॥

हंस एव परं वाक्यं हंस एव तु वैदिकम् ।
हंस एव परो रुद्रो हंस एव परात्परम् ॥61॥

योग के अभ्यास में किए जाने वाले परिश्रम में इतने गुण होते हैं जिनके द्वारा मनुष्य सभी दुःखों से मुक्त हो सकता है, अतः इसके लिए निरन्तर अभ्यास करना चाहिए। हमेशा ही इस ब्रह्मविद्या के मन्त्र को जपते हुए, योगचिन्तन से तल्लीनता को प्राप्त करना चाहिए। केवल ज्ञान के द्वारा ही इस परमस्वरूपात्मक हंसमन्त्र का उच्चारण करना चाहिए। सभी प्राणियों के देह में सर्वदैव अच्युत हंस अवस्थित है ही। वह हंस ही परम सत्य है, हंस ही शक्ति है, हंस ही बड़ा वाक्य है, हंस ही वैदिक वाक्य है। हंस ही परम रुद्र है, और हंस ही परम से भी परम है।

सर्वदेवस्य मध्यस्थो हंस एव महेश्वरः ।
पृथिव्यादिशिवान्तं तु अकाराद्याश्च वर्णकाः ॥62॥
कूटान्ता हंस एव स्यान्मातृकेति व्यवस्थिताः ।
मातृकारहितं मन्त्रमादिशन्ते न कुत्रचित् ॥63॥
हंसज्योतिरनूपम्यं देवमध्ये व्यवस्थितम् ।
दक्षिणामुखमाश्रित्य ज्ञानमुद्रां प्रकल्पयेत् ॥64॥
सदा समाधिं कुर्वीत हंसमन्त्रमनुस्मरन् ।
निर्मलस्फटिकाकारं दिव्यरूपमनुत्तमम् ॥65॥

सभी देवों के बीच हंस ही सबसे बड़ा ईश्वर है। पृथ्वी से लेकर शिवतत्त्व तक तथा अकार से लेकर क्षकार तक के सभी वर्णों में हंस ही वर्ण (मात्राओं) के रूप में विद्यमान है। कहीं भी मात्राओं से रहित कोई मन्त्र तो कहा नहीं गया है। हंस की अनुपम ज्योति देवताओं के बीच में अवस्थित है। दक्षिणामुख (दक्षिणामूर्ति) भगवान् शिव का आश्रय लेकर साधक को ज्ञानमुद्रा करनी चाहिए और सदा समाधि में हंस का चिन्तन करते रहना चाहिए और सदा स्वच्छ स्फटिक जैसे उत्तम दिव्य रूप का ध्यान करना चाहिए।

मध्यदेशे परं हंसं ज्ञानमुद्रात्मरूपकम् ।
प्राणोऽपानः समानश्चोदानव्यानौ च वायवः ॥66॥
पञ्चकर्मेन्द्रियैर्युक्ताः क्रियाशक्तिबलोद्यताः ।
नागः कूर्मश्च कृकरो देवदत्तो धनञ्जयः ॥67॥
पञ्चज्ञानेन्द्रियैर्युक्ता ज्ञानशक्तिबलोद्यताः ।
पावकः शक्तिमध्ये तु नाभिचक्रे रविः स्थितः ॥68॥

मध्य प्रदेश में ज्ञानमुद्रात्मक स्वरूपवाले परमतत्त्व हंस का ध्यान करना चाहिए। प्राण, अपान, समान, उदान और व्यान—ये पाँच प्राणवायु पाँच कर्मेन्द्रियों के साथ मिलकर क्रियाशक्ति का बल बढ़ा देते हैं। और नाग, कूर्म, कृकर, देवदत और धनंजय—ये पाँच उपप्राण पाँच ज्ञानेन्द्रियों के साथ मिलकर ज्ञानशक्ति के बल को बढ़ा देते हैं। कुण्डलिनी शक्ति के मध्य में अग्नि और नाभिचक्र में रवि अवस्थित है।

बन्धमुद्रा कृता येन नासाग्रे तु स्वलोचने ।
अकारे वह्निरित्याहुरुकारे हृदि संस्थितः ॥69॥

मकारे च भ्रुवोर्मध्ये प्राणशक्त्या प्रबोधयेत् ।
ब्रह्मग्रन्थिरकारे तु विष्णुग्रन्थिर्हृदि स्थितः ॥70॥
रुद्रग्रन्थिर्भ्रुवोर्मध्ये भिद्यतेऽक्षरवायुना ।
अकारे संस्थितो ब्रह्मा उकारे विष्णुरास्थितः ॥71॥
मकारे संस्थितो रुद्रस्ततोऽस्यान्तः परात्परः ।
कण्ठं संकुच्य नाड्यादौ स्तम्भिते येन शक्तितः ॥72॥
रसना पीड्यमानेयं षोडशी चोर्ध्वगामिनी ।
त्रिकूटं त्रिविधा चैव गोलाखं निखरं तथा ॥73॥
त्रिशङ्खं वज्रमोंकारमूर्ध्वनालं भ्रुवोर्मुखम् ।
कुण्डलीं चालयन्प्राणान् भेदयन् शशिमण्डलम् ॥74॥

पहले तो बन्ध और मुद्रा का अभ्यास करना चाहिए। नासिका के अग्र भाग और दोनों नेत्रों में **'अकार-अग्नि'**, हृदय में **'उकार-अग्नि'** तथा भौंहों के बीच **'मकार-अग्नि'** प्रतिष्ठित कही गई है। इन अग्नियों में प्राणशक्ति को संयुक्त करना चाहिए। ब्रह्मग्रन्थि अकार में और विष्णुग्रन्थि हृदय में हैं, तथा रुद्रग्रन्थि दोनों भौंहों के बीच विद्यमान है। ये तीनों ग्रन्थियाँ अक्षरवायु से – हंसज्ञान से भेदी जाती हैं। 'अ'कार में ब्रह्म का, 'उ'कार में विष्णु का और 'म'कार में रुद्र का स्थान बताया गया है। और उसके अन्त में परात्पर ब्रह्म है। कण्ठ का संकोचन करके (जालन्धरबन्ध करके) आदिशक्ति (कुण्डलिनी शक्ति) को स्तम्भित करना चाहिए। इसके बाद जिह्वा को दबाकर सुषुम्ना नाडी को, प्राणों को तथा कुण्डलिनी शक्ति को चालित करके शशिमण्डल का भेदन करना चाहिए। वह सुषुम्ना नाडी सोलह आधारवाली है, ऊर्ध्वगामिनी है, त्रिकूट (इड़ा, पिंगला, सुषुम्ना का मिलन-स्थान) वाली, तीन प्रकार वाली, ब्रह्मरन्ध्र को जानने वाली तथा अतिसूक्ष्म है। और कुण्डलिनी शक्ति ओंकारयुक्त है, ऊर्ध्वनाल है, भ्रूकुटियों को ओर गमन करने वाली है और वह ओंकार त्रिकूट है, अर्थात् सुख, दुःख और सुख-दुःख, तीनों को खा जाने वाला है। वह अयोगी द्वारा दुर्भेद्य वज्र जैसा है। तात्पर्य यह है कि सुषुम्ना नाडी, ओंकार और कुण्डलिनी शक्ति—तीनों को चालित कर शशिमण्डल का भेदन करना चाहिए।

साधयन्वज्रकुम्भानि नव द्वाराणि बन्धयेत् ।
सुमनः पवनारूढः सरागो निर्गुणस्तथा ॥75॥
ब्रह्मस्थाने तु नादः स्याच्छङ्किन्यमृतवर्षिणी ।
षट्चक्रमण्डलोद्धारं ज्ञानदीपं प्रकाशयेत् ॥76॥
सर्वभूतस्थितं देवं सर्वेशं नित्यमर्चयेत् ।
आत्मरूपं तमालोक्य ज्ञानरूपं निरामयम् ॥77॥
दृश्यन्तं दिव्यरूपेण सर्वव्यापी निरञ्जनः ।
हंस हंस वदेद्वाक्यं प्राणिनां देहमाश्रितः ।
स प्राणापानयोर्ग्रन्थिरजपेत्यभिधीयते ॥78॥

नव द्वारों को बन्द करके वज्रकुम्भक का साधन करना चाहिए। मन को स्वस्थ (प्रसन्न) रखते हुए सहज स्थिति में गुणरहित होकर पवनारूढ (प्राणायामपरायण) रहना चाहिए। ऐसे ध्यान से ब्रह्मस्थान में नाद सुनाई देता है और शंकिनी नामक नाड़ी से अमृत झरने लगता है और षट्चक्रमण्डल का भेदन होने से ज्ञानरूपी दीपक प्रकाशित हो उठता है। सभी भूत (प्राणियों) में निवास करने वाले परम देव

का सदैव पूजन करना चाहिए। वे देव आत्मस्वरूप, ज्ञानस्वरूप और दुःखों से रहित हैं। उन सर्वव्यापी निरंजन परमदेव के दिव्यरूप का दर्शन करके 'हंस हंस'—ऐसा जाप निरन्तर करते रहना चाहिए। सभी प्राणियों के शरीर में स्थित प्राण और अपान की ग्रन्थि को अजपा जाप कहा जाता है।

सहस्रमेकं द्वययुक्तं षट्शतं चैव सर्वदा।
उच्चरन् पठितो हंसः सोऽहमित्यभिधीयते ॥79॥
पूर्वभागे ह्यधोलिङ्गं शिखिन्यां चैव पश्चिमम्।
ज्योतिर्लिङ्गं भ्रुवोर्मध्ये नित्यं ध्यायेत्सदा यतिः ॥80॥

इससे प्रतिदिन इक्कीस हजार और छः सौ बार जप करता हुआ हंस 'सोऽहम्' के रूप में परिवर्तित हो जाता है। साधक को हमेशा के लिए कुण्डलिनी के पूर्व में अधोलिंग का तथा शिखास्थान में पश्चिम लिंग का और भ्रूकुटियों के बीच में ज्योतिर्लिंग का ध्यान करना चाहिए।

अच्युतोऽहमचिन्त्योऽहमतर्क्योऽहमजोऽस्म्यहम्।
अव्रणोऽहमकायोऽहमनङ्गोऽस्म्यभयोऽस्म्यहम् ॥81॥
अशब्दोऽहमरूपोऽहमस्पर्शोऽस्म्यहमद्वयः।
अरसोऽहमगन्धोऽहमनादिरमृतोऽस्म्यहम् ॥82॥
अक्षयोऽहमलिङ्गोऽहमजरोऽस्म्यकलोऽस्म्यहम्।
अप्राणोऽहममूकोऽहमचिन्त्योऽस्म्यकृतोऽस्म्यहम् ॥83॥
अन्तर्याम्यहमग्राह्योऽनिर्देश्योऽहमलक्षणः।
अगोत्रोऽहमगात्रोऽहमचक्षुष्कोऽस्म्यवागहम् ॥84॥

मैं अच्युत, अचिन्त्य, अतर्क्य, अजन्मा हूँ। मैं व्रणरहित, कायारहित, अवयवरहित, अभय हूँ। मैं शब्दरहित, रूपरहित, स्पर्शरहित एवं अद्वय हूँ। मैं रसहीन, गन्धहीन, अनादि और अमृत हूँ। मैं अक्षय, लिंगहीन, अजर और कला-भेदशून्य हूँ। मैं प्राणहीन, अमूक (वाणीयुक्त), अचिन्त्य तथा क्रियारहित हूँ। मैं अन्तर्यामी हूँ, अग्राह्य हूँ, अनिर्देश्य हूँ, लक्षणरहित हूँ। मैं कुल-गोत्र-शरीर आदि से रहित हूँ। मैं नेत्रेन्द्रियरहित हूँ और वागिन्द्रिय से भी रहित ही हूँ।

अदृश्योऽहमवर्णोऽहमखण्डोऽस्म्यहमद्भुतः।
अश्रुतोऽहमदृष्टोऽहमन्वेष्टव्योऽमरोस्म्यहम् ॥85॥
अवायुरप्यनाकाशोऽतेजस्कोऽव्यभिचार्यहम्।
अमतोऽहमजातोऽहमतिसूक्ष्मोऽविकार्यहम् ॥86॥
अरजस्कोऽतमस्कोऽहमसत्त्वोऽस्म्यगुणोऽस्म्यहम्।
अमायोऽनुभवात्माऽहमनन्योऽविषयोऽस्म्यहम् ॥87॥
अद्वैतोऽहमपूर्णोऽहमबाह्योऽहमनन्तरः।
अश्रोत्रोऽहमदीर्घोऽहमव्यक्तोऽहमनामयः ॥88॥

मैं अदृश्य, वर्णरहित, अखण्ड और अद्भुत हूँ। मैं अश्रुत, अद्वैत, अन्वेषणीय और अमर हूँ। मैं वायु नहीं हूँ आकाश भी नहीं हूँ, तेज भी नहीं हूँ, मैं नियमभंजक नहीं हूँ। मैं अज्ञेय, अजन्मा, अतिसूक्ष्म और अविकारी हूँ। मैं रजोगुणरहित, तमोगुणरहित, सत्त्वगुणरहित एवं निर्गुण हूँ। मैं मायारहित, अभय, निर्विषय, अद्वैत, जीवभाव में अपूर्ण, अबाह्य, अनन्तर और श्रोत्ररहित हूँ। मैं दीर्घादि परिमाणरहित अव्यक्त और अनामय (व्याधिरहित) हूँ।

अद्वयानन्दविज्ञानघनोऽस्म्यहमविक्रियः।
अनिच्छोऽहमलेपोऽहमकर्ताऽस्म्यहमद्वयः ॥89॥
अविद्याकार्यहीनोऽहमवाङ्मनसगोचरः।
अनल्पोऽहमशोकोऽहमविकल्पोऽस्म्यविज्वलन् ॥90॥
आदिमध्यान्तहीनोऽहमाकाशसदृशोऽस्म्यहम्।
आत्मचैतन्यरूपोऽहमहमानन्दचिद्घनः ॥91॥
आनन्दामृतरूपोऽहमात्मसंस्थोऽहमन्तरः।
आत्मकामोऽहमाकाशात्परमात्मेश्वरोऽस्म्यहम् ॥92॥

मैं अद्वय, आनन्दरूप, विज्ञानघन, विकाररहित, इच्छारहित, निर्लेप, अकर्ता तथा अद्वैत हूँ। अविद्या का कार्य मैं नहीं हूँ। मैं वाणी और मन से परे हूँ। मैं अनल्प, शोकरहित, विकल्पशून्य, निरग्निरूप हूँ। मैं आदि-मध्य-अन्त हीन हूँ। मैं आकाश जैसा हूँ। मैं आत्मचैतन्यरूप, आनन्दरूप, चिद्घन, आनन्दामृतस्वरूप और आकाश से भी ज्यादा व्यापक हूँ। मैं परमेश्वर हूँ।

ईशानोऽस्म्यहमीड्योऽहमहमुत्तमपूरुषः।
उत्कृष्टोऽहमुपद्रष्टाऽहमुत्तरोत्तरोऽस्म्यहम् ॥93॥
केवलोऽहं कविः कर्माध्यक्षोऽहं करणाधिपः।
गुहाशयोऽहं गोप्ताहं चक्षुषश्चक्षुरस्म्यहम् ॥94॥
चिदानन्दोऽस्म्यहं चेता चिद्घनश्चिन्मयोऽस्म्यहम्।
ज्योतिर्मयोऽस्म्यहं ज्यायाञ्ज्योतिषां ज्योतिरस्म्यहम् ॥95॥
तमसः साक्ष्यहं तुर्यतुर्योऽहं तमसः परः।
दिव्यो देवोऽस्मि दुर्दर्शो दृष्टाध्यायो ध्रुवोऽस्म्यहम् ॥96॥

मैं ईशान, पूजनीय, परमपुरुष और उत्कृष्ट हूँ। मैं साक्षीस्वरूप हूँ। मैं परे से भी परे हूँ। मैं केवल हूँ, कवि हूँ, कर्माध्यक्ष हूँ। मैं कारणों का भी कारण हूँ। मैं गुप्त रहस्य हूँ। मैं गोप्ता हूँ। और मैं ही नेत्रों का भी नेत्र हूँ। मैं चिदानन्द हूँ, मैं चेतना प्रदान करने वाला हूँ। मैं चिद्घन हूँ, चिन्मय हूँ, ज्योतिर्मय हूँ और ज्योतियों का भी ज्योतिरूप हूँ। मैं अन्धकार में साक्ष्यस्वरूप हूँ। तुर्य का भी तुर्य हूँ। अन्धकार से मैं परे हूँ और मैं देवस्वरूप हूँ, मैं दुर्दर्श हूँ और दृष्टि का आधार ध्रुव हूँ (शाश्वत हूँ)।

नित्योऽहं निरवद्योऽहं निष्क्रियोऽस्मि निरञ्जनः।
निर्मलो निर्विकल्पोऽहं निराख्यातोऽस्मि निश्चलः ॥97॥
निर्विकारो नित्यपूतो निर्गुणो निःस्पृहोऽस्म्यहम्।
निरिन्द्रियो नियन्ताऽहं निरपेक्षोऽस्मि निष्कलः ॥98॥
पुरुषः परमात्माऽहं पुराणः परमोऽस्म्यहम्।
परावरोऽस्म्यहं प्राज्ञः प्रपञ्चोपशमोऽस्म्यहम् ॥99॥
परामृतोऽस्म्यहं प्राज्ञः प्रभुरस्मि पुरातनः।
पूर्णानन्दैकबोधोऽहं प्रत्यगेकरसोऽस्म्यहम् ॥100॥

मैं नित्य हूँ, दोषरहित हूँ, अक्रिय हूँ, निरंजन हूँ, शुद्ध हूँ, विकल्पशून्य हूँ, अनिरुक्त हूँ और निश्चल हूँ। मैं अविकारी हूँ, सदैव पवित्र हूँ, गुणरहित हूँ, ऐषणारहित हूँ। मैं निरिन्द्रिय हूँ, मैं नियन्ता हूँ, मैं निरपेक्ष हूँ और अंशांशिभाव-रहित हूँ। मैं पुरुष हूँ, परमात्मा हूँ शाश्वत और सर्वप्रथम हूँ। मैं ही

परम हूँ, पर से भी पर हूँ, प्राज्ञ हूँ, संसार का शामक मैं ही हूँ। मैं परम अमृतरूप हूँ। मैं प्राज्ञ हूँ, प्रभु हूँ, पुरातन हूँ, पूर्णानन्द हूँ, ज्ञानैकागम्य (बोधस्वरूप) हूँ। मैं अन्तस् में स्थित एकरसमय (समानरूप से रहा) हूँ।

प्रज्ञातोऽहं प्रशान्तोऽहं प्रकाशः परमेश्वरः ।
एकधा चिन्त्यमानोऽहं द्वैताद्वैतविलक्षणः ॥101॥
बुद्धोऽहं भूतपालोऽहं भारूपो भगवानहम् ।
महादेवो महानस्मि महाज्ञेयो महेश्वरः ॥102॥
विमुक्तोऽहं विभुरहं वरेण्यो व्यापकोऽस्म्यहम् ।
वैश्वानरो वासुदेवो विश्वतश्चक्षुरस्म्यहम् ॥103॥
विश्वाधिकोऽहं विशदो विष्णुर्विश्वकृदस्म्यहम् ।
शुद्धोऽस्मि शुक्रः शान्तोऽस्मि शाश्वतोऽस्मि शिवोऽस्म्यहम् ॥104॥
सर्वभूतान्तरात्माहमहमस्मि सनातनः ।
अहं सकृद्विभातोऽस्मि स्वे महिम्नि सदा स्थितः ॥105॥

मैं प्रकृष्ट ज्ञाता हूँ, मैं प्रकाश हूँ, मैं परमेश्वर हूँ, मैं एक ही प्रकार से विचारणीय हूँ, मैं द्वैत और अद्वैत से विलक्षण हूँ। मैं बुद्ध (ज्ञानी) हूँ, मैं सभी प्राणियों का पालक हूँ, मैं तेज:स्वरूप हूँ, मैं भगवान् हूँ। मैं महादेव हूँ, मैं बड़ा हूँ, मैं ही सबसे अधिक जानने योग्य हूँ, मैं ही महेश्वर हूँ। मैं विमुक्त हूँ, मैं विभु हूँ, मैं वरणयोग्य हूँ, मैं व्यापक हूँ, मैं वैश्वानर एवं वासुदेव हूँ, मैं ही सम्पूर्ण विश्व का चक्षुरूप हूँ। मैं विश्व से अधिक हूँ, मैं विशद हूँ, मैं विष्णु हूँ, मैं विश्वस्रष्टा हूँ। मैं शुद्ध हूँ, मैं शुक्र हूँ, मैं शान्त हूँ, मैं शाश्वत और शिव हूँ। मैं सभी प्राणियों का अन्तरात्मा हूँ, मैं सनातन हूँ, मैं अपनी महिमा में स्थिर रहकर सदैव निरन्तर प्रकाशित होता रहता हूँ।

सर्वान्तरः सर्वज्योतिः सर्वाधिपतिरस्म्यहम् ।
सर्वभूताधिवासोऽहं सर्वव्यापी स्वराडहम् ॥106॥
समस्तसाक्षी सर्वात्मा सर्वभूतगुहाशयः ।
सर्वेन्द्रियगुणाभासः सर्वेन्द्रियविवर्जितः ॥107॥
स्थानत्रयव्यतीतोऽहं सर्वानुग्राहकोऽस्म्यहम् ।
सच्चिदानन्दपूर्णात्मा सर्वप्रेमास्पदोऽस्म्यहम् ॥108॥
सच्चिदानन्दमात्रोऽहं स्वप्रकाशोऽस्मि चिद्घनः ।
सत्त्वस्वरूपसन्मात्रसिद्धसर्वात्मकोऽस्म्यहम् ॥109॥
सर्वाधिष्ठानसन्मात्रः सर्वबन्धहरोऽस्म्यहम् ।
सर्वग्रासोऽस्म्यहं सर्वद्रष्टा सर्वानुभूरहम् ॥
एवं यो वेद तत्त्वेन स वै पुरुष उच्यते ॥110॥ इत्युपनिषत् ।

इति ब्रह्मविद्योपनिषत् समाप्ता ।
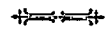
मैं सबके भीतर हूँ, मैं सर्वप्रकाशक हूँ, मैं सर्वाधिपति हूँ, मैं सभी प्राणियों में और भूतों में रहता हूँ। मैं सर्वव्यापक हूँ, मैं स्वराट् हूँ। मैं सबका साक्षी हूँ, सबका आत्मा हूँ, सभी प्राणियों की हृदय रूपी

गुहा में रहता हूँ। सभी इन्द्रियों में गुणों का मैं प्रकाशक हूँ। सभी इन्द्रियों से मैं रहित हूँ। मैं जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्ति से परे हूँ। मैं सभी पर कृपा करने वाला हूँ। मैं सच्चिदानन्द हूँ, मैं पूर्णात्मा हूँ। मैं सभी के लिए प्रेम का पात्र हूँ। मैं केवल सच्चिदानन्द ही हूँ। मैं स्वयंप्रकाश चिद्घन हूँ। मैं सत्तास्वरूप और केवल सत्ता ही हूँ। मेरे लिए सब सिद्ध ही है। मैं सबका अधिष्ठान (आधार) और सत्तात्मक ही हूँ। सभी प्रकार के बन्धनों को मैं काटने वाला हूँ। मैं सबका ग्रास करने वाला हूँ। मैं सबका द्रष्टा (साक्षी) हूँ। मैं सबका अनुभव करने वाला हूँ। इस प्रकार से जो तत्त्वरूप को समझता है या ज्ञाता है वही पुरुष है—ऐसा उपदेश है।

यहाँ ब्रह्मविद्योपनिषत् पूर्ण होती है।

शान्तिपाठः

ॐ सह नाववतु । सह नौ......मा विद्विषावहै । (पूर्ववत्)
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

(42) योगतत्त्वोपनिषत्

(उपनिषत्परिचय)

कृष्णयजुर्वेद के साथ सम्बद्ध इस उपनिषद् में विविध प्रकार के योगों के उपादानों का विशद विवरण दिया गया है। एक बार पितामह ब्रह्मा ने भगवान् विष्णु से आठ अंगों वाले योगतत्त्व के बारे में पूछा था और उसके उत्तर में विष्णु ने यह उपदेश दिया था। इसमें कैवल्यपद की प्राप्ति के लिए योगमार्ग को श्रेष्ठ बताया गया है। इसमें मन्त्रयोग, लययोग, हठयोग और राजयोग—ये चार प्रकार योग के बताए हैं। और क्रमश: उनकी ये चार अवस्थाएँ—आरंभ, घट, परिचय और निष्पत्ति भी बताई गई हैं। योग के साधकों और सिद्धों के आहार, विहार, दिनचर्या के बारे में भी बताया गया है। यौगिक सिद्धियों और साधनाकालीन सावधानियों का भी निर्देश किया गया है। योगलभ्य अणिमादि आठ सिद्धियों की नि:संदिग्धता बताते हुए भी अन्ततोगत्वा जीवन के लिए आत्मतत्त्व का साक्षात्कार ही परम लक्ष्य है—यह सूचित करते हुए कहा गया है कि निर्वात दीपशिखा की तरह अन्त:करण में आत्मतत्व का साक्षात्कार करके संसार-चक्र से मुक्त हो जाना ही परम लक्ष्य है। इस उपनिषद् की सभी उपनिषदों की तरह फलश्रुति तो यही है।

शान्तिपाठः

ॐ सह नाववतु। सह नौ""मा विद्विषावहै। (पूर्ववत्)
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

इसका हिन्दी रूपान्तर पूर्व में (ब्रह्मोपनिषद् में) द्रष्टव्य है।

योगतत्त्वं प्रवक्ष्यामि योगिनां हितकाम्यया।
यच्छ्रुत्वा च पठित्वा च सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥1॥
विष्णुर्नाम महायोगी महाभूतो महातपाः।
तत्त्वमार्गे यथा दीपो दृश्यते पुरुषोत्तमः ॥2॥
तमाराध्य जगन्नाथं प्रणिपत्य पितामहः।
पप्रच्छ योगतत्त्वं मे ब्रूहि चाष्टाङ्गसंयुतम् ॥3॥
तमुवाच हृषीकेशो वक्ष्यामि शृणु तत्त्वतः।
सर्वे जीवाः सुखैर्दुःखैर्मायाजालेन वेष्टिताः ॥4॥

योगियों के हित की कामना से मैं योगतत्त्व के बारे में कह रहा हूँ, जिसे सुनकर या पढ़कर मनुष्य सभी पापों से मुक्त हो जाता है। विष्णु नाम के महायोगी ही सभी प्राणियों में महान् हैं और महातपस्वी हैं। और वही दीप की तरह तत्त्वमार्ग में पुरुषोत्तम हैं। इन जगन्नाथ (भगवान् विष्णु) की आराधना करके और उन्हें प्रणाम करके पितामह ब्रह्मा ने उनसे पूछा—'मुझे आठ अंगों के साथ योगतत्त्व कहिए'। उनके पूछने पर हृषीकेश भगवान् विष्णु ने उनसे कहा—'मैं आपको उस तत्त्व का वर्णन करता हूँ, आप ध्यान पूर्वक उसे सुनिए। ये सभी जीव माया के जाल से सुखों और दु:खों से घिरे हुए हैं।

तेषां मुक्तिकरं मार्गं मायाजालनिकृन्तनम्।
जन्ममृत्युजराव्याधिनाशनं मृत्युतारकम् ॥5॥
नानामार्गैस्तु दुष्प्रापं कैवल्यं परमं पदम्।
पतिताः शास्त्रजालेषु प्रज्ञया तेन मोहिताः ॥6॥
अनिर्वाच्यं पदं वक्तुं न शक्यं तैः सुरैरपि।
स्वात्मप्रकाशरूपं तत् किं शास्त्रेण प्रकाश्यते ॥7॥
निष्कलं निर्मलं शान्तं सर्वातीतं निरामयम्।
तदेव जीवरूपेण पुण्यपापफलैर्वृतम् ॥8॥

उन लोगों की मुक्ति करने वाला, माया के जाल को काटने वाला, जन्म-मरण-जरावस्था और रोगों का नाश करने वाला मार्ग तो यही है (जो कि आपने पूछा है)। इसके अतिरिक्त दूसरे मार्गों का अनुसरण करने से तो कैवल्य का पद बड़ी कठिनता से मिलता है और शास्त्रों में बताए गए मतमतान्तर वाले अन्यान्य मार्गों पर चलने वाले लोगों की बुद्धि में मोह उत्पन्न हो जाता है। उस अनिर्वचनीय पद का उल्लेख देवगण भी नहीं कर पाते, तब उस स्वयंप्रकाश आत्मा के स्वरूप को शास्त्रों के द्वारा किस तरह प्रकाशित किया जा सकता है ? यह आत्मा अंशरहित, मलरहित, शान्त और सर्वातीत एवं दोषरहित है। वही आत्मा पुण्य और पाप से आवृत होकर जीवरूप में हो जाता है।

परमात्मपदं नित्यं तत्कथं जीवतां गतम्।
सर्वभावपदातीतं ज्ञानरूपं निरञ्जनम् ॥9॥
वारिवत्स्फुरितं तस्मिंस्तत्राहङ्कृतिरुत्थिता।
पञ्चात्मकमभूत्पिण्डं धातुबद्धं गुणात्मकम् ॥10॥
सुखदुःखैः समायुक्तं जीवभावनया कुरु।
तेन जीवाभिधा प्रोक्ता विशुद्धे परमात्मनि ॥11॥

यहाँ यह प्रश्न उठता है कि परमात्मा का पद तो नित्य ही है, और जब वह परमात्मा सभी प्रकार के भावों और पदों से परे है, ज्ञानरूप हैं और निर्लेप है, तब भला वह जीवभाव को कैसे प्राप्त हो सकता है ? इसका उत्तर यह है कि जैसे पानी में तरंगें उठती हैं, वैसे ही उस परमतत्त्व में एक स्फुरण हुआ और उसमें से 'अहंकार' उत्पन्न हुआ। इसमें से पंचभूतात्मक पिण्ड पैदा हुआ। वह पिण्ड सात धातुओं और तीन गुणों से युक्त था। वही पिण्ड सुख-दु:ख से युक्त होने से जीव भाव को प्राप्त होता है। इसीलिए विशुद्ध परमात्मा को ही जीव का नाम दिया गया।

कामक्रोधभयं चापि मोहलोभमदो रजः।
जन्म मृत्युश्च कार्पण्यं शोकस्तन्द्रा क्षुधा तृषा ॥12॥
तृष्णा लज्जा भयं दुःखं विषादो हर्ष एव च।
एभिर्दोषैर्विनिर्मुक्तः स जीवः केवलो मतः ॥13॥
तस्माद्दोषविनाशार्थमुपायं कथयामि ते।
योगहीनं कथं ज्ञानं मोक्षदं भवति ध्रुवम् ॥14॥
योगो हि ज्ञानहीनस्तु न क्षमो मोक्षकर्मणि।
तस्माज्ज्ञानं च योगं च मुमुक्षुर्दृढमभ्यसेत् ॥15॥

काम, क्रोध, भय, मोह, लोभ, मद, रजोगुण, जन्म, मृत्यु, कृपणता, शोक, तन्द्रा, भूख, प्यास, तृष्णा, लज्जा, भय, दु:ख, विषाद, हर्ष—इन दोषों से विमुक्त वह जीव (मूलत: तो) केवल चैतन्य ही है। अत: इन दोषों के विनाश के लिए मैं आपको उपाय बतला रहा हूँ। योग के बिना केवल ज्ञान ही मोक्षकारक कैसे हो सकता है ? और इसी प्रकार ज्ञान से हीन (रहित) केवल योग भी मोक्ष देने के लिए समर्थ नहीं हो सकता। इसलिए मुमुक्षु को ज्ञान और योग—दोनों का दृढ अभ्यास करना चाहिए।

अज्ञानादेव संसारो ज्ञानादेव विमुच्यते।
ज्ञानस्वरूपमेवादौ ज्ञानं ज्ञेयैकसाधनम्॥16॥

यह संसार ही अज्ञान से ही उत्पन्न हुआ है, और ज्ञान से ही उसकी निवृत्ति हो सकती है। आदि में ज्ञान का ही स्वरूप होता है और ज्ञान के द्वारा ही ज्ञेय को प्राप्त किया जा सकता है।

ज्ञातं येन निजं रूपं कैवल्यं परमं पदम्।
निष्कलं निर्मलं साक्षात् सच्चिदानन्दरूपकम्॥17॥
उत्पत्तिस्थितिसंहारस्फूर्तिज्ञानविवर्जितम्।
एतज्ज्ञानमिति प्रोक्तमथ योगं ब्रवीमि ते॥18॥
योगो हि बहुधा ब्रह्मन् भिद्यते व्यवहारतः।
मन्त्रयोगो लयश्चैव हठोऽसौ राजयोगतः॥19॥
आरम्भश्च घटश्चैव तथा परिचयः स्मृतः।
निष्पत्तिश्चेत्यवस्था च सर्वत्र परिकीर्तिता॥20॥

जिस मनुष्य ने अपने चैतन्यरूप परम पद को जान लिया है, जो पद अंशरहित, विशुद्ध, साक्षात् सच्चिदानन्दस्वरूप, उत्पत्ति-स्थिति-नाश के स्फुरण से जो रहित है, वही सच्चा ज्ञान है (अर्थात् सर्जन-पालन-विसर्जन शून्य, अंशरहित शुद्ध चैतन्य ही ज्ञान है)। वह ज्ञान मैंने आपको बताया। हे ब्रह्माजी ! अब मैं आपको योग के बारे में बताता हूँ। वह योग व्यवहार में अनेक प्रकार के होते हैं जैसे मन्त्रयोग, लययोग, हठयोग और राजयोग। उस योग की चार अवस्थाएँ कही गयी हैं—आरम्भ, घट, परिचय और निष्पत्ति।

एतेषां लक्षणं ब्रह्मन्वक्ष्ये शृणु समासतः।
मातृकादियुतं मन्त्रं द्वादशाब्दं तु यो जपेत्॥21॥
क्रमेण लभते ज्ञानमणिमादिगुणान्वितम्।
अल्पबुद्धिरिमं योगं सेवते साधकाधमः॥22॥
लययोगश्चित्तलयः कोटिशः परिकीर्तितः।
गच्छंस्तिष्ठन्स्वपन्भुञ्जन्ध्यायेन्निष्कलमीश्वरम्॥23॥
स एष लययोगः स्याद्धठयोगमतः शृणु।
यमश्च नियमश्चैव आसनं प्राणसंयमः॥24॥
प्रत्याहारो धारणा च ध्यानं भ्रूमध्यमे हरिम्।
समाधिः समतावस्था साष्टाङ्गो योग उच्यते॥25॥

हे ब्रह्मन् ! इन चारों योगों के लक्षण मैं संक्षेप में कहूँगा, उसे सुनिए। जब कोई साधक बारह वर्ष तक मात्रासहित मन्त्र का जप करता है, तो यह मन्त्रयोग कहा जाता है। इसका साधक धीरे-धीरे

अणिमा आदि सिद्धियों के गुण से युक्त ज्ञान प्राप्त करता है। परन्तु इस मन्त्रयोग की कम बुद्धि वाले ही उपासना करते हैं, वह साधक अधम माना जाता है। अब दूसरा लययोग है—यह तो करोड़ों प्रकार का कहा गया है। चलते-फिरते, बैठते-उठते, सोते, खाते-पीते, निष्कल ईश्वर का ध्यान करना चाहिए। इसी को लययोग कहा जाता है। अब तीसरे हठयोग को सुनो—यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, दोनों भौहों के बीच हरि का ध्यान और समाधि—यह आठ अंगों वाला योग है।

महामुद्रा महाबन्धो महावेधश्च खेचरी।
जालन्धरोड्डियाणश्च मूलबन्धस्तथैव च॥26॥
दीर्घप्रणवसन्धानं सिद्धान्तश्रवणं परम्।
वज्रोली चामरोली च सहजोली त्रिधा मता॥27॥
एतेषां लक्षणं ब्रह्मन्प्रत्येकं शृणु तत्त्वतः।
लघ्वाहारो यमेष्वेको मुख्यो भवति नेतरः॥28॥
अहिंसा नियमेष्वेका मुख्या वै चतुरानन।
सिद्धं पद्मं तथा सिंहं भद्रं चेति चतुष्टयम्॥29॥

हठयोग में महामुद्रा, महाबन्ध, महावेध, खेचरीमुद्रा, जालन्धरबन्ध, उड्डियाणबन्ध, मूलबन्ध, दीर्घप्रणव-अनुसन्धान, परम सिद्धान्त-श्रवण तथा वज्रोली, अमरोली और सहजोली, ऐसी तीन मुद्राएँ आती हैं। हे ब्रह्मन् ! इनमें से हर एक के लक्षण आप सुनिए। यमों में एकमात्र मिताहार (अल्पाहार) ही मुख्य है और नियमों में अहिंसा को मुख्य माना गया है। आसनों में सिद्धासन, पद्मासन, सिंहासन और भद्रासन—इन चार आसनों को मुख्य माना गया है।

प्रथमाभ्यासकाले तु विघ्नाः स्युश्चतुरानन।
आलस्यं कत्थनं धूर्तगोष्ठी मन्त्रादिसाधनम्॥30॥
धातुस्त्रीलौल्यकादीनि मृगतृष्णामयानि वै।
ज्ञात्वा सुधीस्त्यजेत्सर्वान् विघ्नान्पुण्यप्रभावतः॥31॥
प्राणायामं ततः कुर्यात्पद्मासनगतः स्वयम्।
सुशोभनं मठं कुर्यात्सूक्ष्मद्वारं तु निर्व्रणम्॥32॥
सुष्ठु लिप्तं गोमयेन सुधया वा प्रयत्नतः।
मत्कुणैर्मशकैर्लूतैर्वर्जितं च प्रयत्नतः॥33॥

हे चतुरानन ! योग के अभ्यास के प्रारंभ में विघ्न तो आते हैं। जैसे आलस्य, अपनी बड़ाई, धूर्तपने की बातें और मन्त्रादि का साधन आदि होते हैं। श्रेष्ठ साधक को धातु (धनादि), स्त्री, लोलुपता आदि को मृगजल समझकर छोड़ देना चाहिए और अपने पुण्य के प्रभाव से सभी विघ्नों को हटा देना चाहिए। बाद में प्राणायाम करना चाहिए। उसके लिए स्वयं पहले पद्मासन लगाकर बैठना चाहिए। ऐसा करने के लिए तो सबसे पहले एक छोटी-सी सुन्दर कुटिया बनानी चाहिए। उसका द्वार छोटा होना चाहिए, उसमें छिद्र नहीं होने चाहिए, वह गोमय से प्रयत्नपूर्वक लीपा होना चाहिए। खटमल, मच्छर, मकड़ी आदि जन्तुओं से उसे प्रयत्नपूर्वक रहित कर देना चाहिए।

दिने दिने च सम्मृष्टं सम्मार्जन्या विशेषतः।
वासितं च सुगन्धेन धूपितं गुग्गुलादिभिः॥34॥

नात्युच्छ्रितं नातिनीचं चैलाजिनकुशोत्तरम् ।
तत्रोपविश्य मेधावी पद्मासनसमन्वितः ॥35॥
ऋजुकायः प्राञ्जलिश्च प्रणमेदिष्टदेवताम् ।
ततो दक्षिणहस्तस्य अङ्गुष्ठेनैव पिङ्गलाम् ॥36॥
निरुध्य पूरयेद्वायुमिडया तु शनैः शनैः ।
यथाशक्त्यविरोधेन ततः कुर्याच्च कुम्भकम् ॥37॥

फिर, उस कुटिया को प्रतिदिन संमार्जनी से प्रयत्नपूर्वक झाड़कर स्वच्छ रखना चाहिए और गुग्गुल आदि की धूप से उसे सुगन्धित रखना चाहिए। बाद में जो न बहुत ऊँचा हो और न बहुत नीचा हो, ऐसे वस्त्र, मृगचर्म या कुश के आसन पर पद्मासन में बैठकर शरीर को सीधा रखकर हाथ जोड़कर इष्ट देवता को प्रणाम करना चाहिए। और इसके बाद, दाहिने हाथ के अँगूठे से पिंगला का निरोध करके (उसे दबाकर) धीरे-धीरे वायु को भीतर की ओर खींचना चाहिए और उसे यथाशक्ति रोककर कुम्भक करना चाहिए।

पुनस्त्यजेत्पिङ्गलया शनैरेव न वेगतः ।
पुनः पिङ्गलमापूर्य पूरयेदुदरं शनैः ॥38॥
धारयित्वा यथाशक्ति रेचयेदिडया शनैः ।
यया त्यजेत्तयापूर्य धारयेदविरोधतः ॥39॥
जानु प्रदक्षिणीकृत्य न द्रुतं न विलम्बितम् ।
अङ्गुलिस्फोटनं कुर्यात्सा मात्रा परिगीयते ॥40॥

इसके बाद पिंगला द्वारा उस वायु को धीरे-धीरे, वेगरहित बाहर निकालना चाहिए। फिर इसके बाद पिंगला से वायु को पेट में फिर से भरकर, शक्ति के अनुसार ग्रहण करके इडा के माध्यम से धीरे-धीरे रेचन करना चाहिए। इस प्रकार जिस ओर के नथुने से वायु बाहर निकाला हो उसी के जरिए फिर से वायु को भरकर दूसरी ओर के नथुने से बाहर निकालते रहना चाहिए। मात्रा का काल प्रमाण यह है कि जानु को हाथ से शीघ्र भी नहीं और धीरे-धीरे भी नहीं—ऐसे सामान्य-मध्यम रूप से चारों ओर घुमाकर बाद में चुटकी बजाने में जितना समय लगता है, उस समय को 'मात्रा' कहा जाता है।

इडया वायुमारोप्य शनैः षोडशमात्रया ।
कुम्भयेत्पूरितं पश्चाच्चतुःषष्ट्या तु मात्रया ॥41॥
रेचयेत्पिङ्गलानाड्या द्वात्रिंशन्मात्रया पुनः ।
पुनः पिङ्गलयापूर्य पूर्ववत्सुसमाहितः ॥42॥
प्रातर्मध्यन्दिने सायमर्धरात्रे च कुम्भकान् ।
शनैरशीतिपर्यन्तं चतुर्वारं समभ्यसेत् ॥43॥
एवं मासत्रयाभ्यासान्नाडीशुद्धिस्ततो भवेत् ।
यदा तु नाडी शुद्धिः स्यात्तदा चिह्नानि बाह्यतः ॥44॥

इडा नाडी से धीरे-धीरे सोलह मात्रा तक वायु का पूरक करना चाहिए। फिर उस पूरित वायु का चौसठ मात्रा तक कुंभक करना चाहिए। फिर पिंगला नाडी के जरिए उस कुंभित वायु का बत्तीस मात्रा तक के काल में रेचन करना चाहिए। फिर से उस पिंगला नाडी से वायु का पूर्वोक्त रीति से ही पूरक करना चाहिए, और पूर्वोक्त प्रकार से ही कुंभक तथा रेचक करना चाहिए। इस प्रकार प्रातः में, मध्याह्न

में, सायंकाल में तथा आधी रात को धीरे-धीरे अस्सी कुंभकों का अभ्यास करना चाहिए। इस प्रकार तीन मास तक अभ्यास करने से नाडीशुद्धि हो जाती है। और ऐसा होने पर अर्थात् नाडीशुद्धि होने पर परिणामतः उसके बाह्य चिह्न दिखाई देने लग जाते हैं।

जायन्ते योगिनो देहे तानि वक्ष्याम्यशेषतः ।
शरीरलघुता दीप्तिर्जाठराग्निविवर्धनम् ॥45॥
कृशत्वं च शरीरस्य सदा जायेत निश्चितम् ।
योगविघ्नकराहारं वर्जयेद् योगवित्तमः ॥46॥
लवणं सर्षपं चाम्लमुष्णं रूक्षं च तीक्ष्णकम् ।
शाकजातं रामठादि वह्निस्त्रीपथसेवनम् ॥47॥
प्रातःस्नानोपवासादिकायक्लेशांश्च वर्जयेत् ।
अभ्यासकाले प्रथमं शस्तं क्षीराज्यभोजनम् ॥48॥

ऐसे बाह्य चिह्न किस प्रकार से दिखाई देते हैं, वह मैं पूर्णतः कहूँगा। शरीर में हल्कापन आ जाता है, जठराग्नि तेज हो जाती है, शरीर में कान्ति बढ़ती है, शरीर में पतलापन आता है। ऐसे समय में योग में बाधा पहुँचाने वाले आहार का त्याग कर देना चाहिए। नमक, तेल, खटाई, गरम-सूखा-तीखा भोजन, हरे साग-तरकारी, हींग आदि मसाले, आग में तपना, स्त्री का सहवास, अति चलना, सुबह का स्नान, उपवास और शरीर को कष्ट पहुँचाने वाले अन्य कार्य छोड़ देने चाहिए। योगाभ्यास के आरंभ के दिनों में दूध और घी का भोजन प्रशस्त माना गया है।

गोधूममुद्गशाल्यन्नं योगवृद्धिकरं विदुः ।
ततः परं यथेष्टं तु शक्तः स्याद्वायुधारणे ॥49॥
यथेष्टधारणाद्वायोः सिद्ध्येत्केवलकुम्भकः ।
केवले कुम्भके सिद्धे रेचपूरविवर्जिते ॥50॥
न तस्य दुर्लभं किञ्चित् त्रिषु लोकेषु विद्यते ।
प्रस्वेदो जायते पूर्वं मर्दनं तेन कारयेत् ॥51॥
ततोऽपि धारणाद्वायोः क्रमेणैव शनैः शनैः ।
कम्पो भवति देहस्य आसनस्थस्य देहिनः ॥52॥

गेहूँ, मूँग और चावल का आहार योग की वृद्धि करने वाला माना जाता है। इसको लेने के बाद मनुष्य अपनी इच्छानुसार प्राण का संयम (निरोध) कर सकता है। जब इस तरह प्राणवायु का यथेष्ट धारण सिद्ध हो जाता है, तब केवल-कुम्भक सिद्ध हो जाता है। जब केवल-कुंभक सिद्ध हो जाता है तो रेचक एवं पूरक चले ही जाते हैं। तब ऐसे मनुष्य के लिए तीनों लोकों में कुछ भी दुर्लभ नहीं होता। केवल-कुंभक सिद्ध होने पर शरीर में जो पसीना उत्पन्न होता है, उसे शरीर में ही मल लेना चाहिए। तदनन्तर प्राणवायु की धारणशक्ति धीरे-धीरे क्रमशः बढ़ती रहने से आसन पर बैठे हुए साधक की देह में कंप उत्पन्न होने लगता है।

ततोऽधिकतराभ्यासाद् दार्दुरी स्वेन जायते ।
यथा च दर्दुरो भाव उत्प्लुत्योत्प्लुत्य गच्छति ॥53॥
पद्मासनस्थितो योगी तथा गच्छति भूतले ।
ततोऽधिकतराभ्यासाद् भूमित्यागश्च जायते ॥54॥

पद्मासनस्थ एवाऽसौ भूमिमुत्सृज्य वर्तते ।
अतिमानुषचेष्टादि तथा सामर्थ्यमुद्भवेत् ॥55॥
न दर्शयेच्च सामर्थ्यं दर्शनं वीर्यवत्तरम् ।
स्वल्पं वा बहुधा दुःखं योगी न व्यथते सदा ॥56॥

इससे भी आगे और अधिक अभ्यास करने से मेंढक की तरह चेष्टाएँ होने लगती हैं। जैसे मेढक जमीन से उछल-उछल कर वापिस जमीन में और पुनः ऊपर आया-जाया करता है, वैसे ही वह पद्मासनस्थ योगी आसन से ऊपर उठकर फिर जमीन पर आया-जाया करता है। और भी अधिक अभ्यास किए जाने पर जमीन को बिल्कुल छोड़ ही देता है। पद्मासन में ही स्थित वह योगी भूमि से ऊपर उठकर रहता है। उस समय उस योगी में मानवेतर चेष्टाएँ करने की सामर्थ्य आ जाती है। लेकिन वह सामर्थ्य उसे किसी को नहीं बताना चाहिए अपितु उस सामर्थ्य का स्वयं दर्शन करके अपने उत्साह को बढ़ाना चाहिए। अर्थात् उस सामर्थ्य का अपने-आप में किया हुआ दर्शन ही वीर्यवत्तर (बलवत्तर) होता है। ऐसे समय में वह योगी थोड़े या बहुत दुःख से भी व्यथित नहीं होता।

अल्पमूत्रपुरीषश्च स्वल्पनिद्रश्च जायते ।
कीलवो दूषिका लाला स्वेददुर्गन्धताननने ॥57॥
एतानि सर्वथा तस्य न जायन्ते ततः परम् ।
ततोऽधिकतराभ्यासाद् बलमुत्पद्यते बहु ॥58॥
येन भूचरसिद्धिः स्याद् भूचराणां जये क्षमः ।
व्याघ्रो वा शरभो वापि गजो गवय एव वा ॥59॥
सिंहो वा योगिना तेन म्रियन्ते हस्तताडिताः ।
कन्दर्पस्य यथा रूपं तथा स्यादपि योगिनः ॥60॥

उस योगी के मूत्र और मल में कमी हो जाती है, उसकी निद्रा कम हो जाती है। इसके बाद उस योगी को कीचड़, नाक का मैल, थूक, पसीना, मुँह में गन्ध—ये सब कभी नहीं होते। इससे भी अधिक अभ्यास किए जाने पर योगी में बहुत बल आ जाता है, जिस बल से वह भूचरसिद्धि प्राप्त करता है। भूचरसिद्धि का अर्थ पृथ्वी पर विचरते हुए प्राणियों पर काबू पा लेने का सामर्थ्य होता है। बाघ हो या शरभ हो, हाथी हो या नील गाय हो, सिंह हो या और कोई हो, पर वे सब इस योगी के मात्र हाथ से ही मारने पर मर जाते हैं। और इस योगी का रूप कामदेव जैसा हो जाता है।

तद्रूपवशगा नार्यः कांक्षन्ते तस्य सङ्गमम् ।
यदि सङ्गं करोत्येष तस्य बिन्दुक्षयो भवेत् ॥61॥
वर्जयित्वा स्त्रियाः सङ्गं कुर्यादभ्यासमादरात् ।
योगिनोऽङ्गे सुगन्धश्च जायते बिन्दुधारणात् ॥62॥
ततो रहस्युपाविष्टः प्रणवं प्लुतमात्रया ।
जपेत्पूर्वार्जितानां तु पापानां नाशहेतवे ॥63॥
सर्वविघ्नहरो मन्त्रः प्रणवः सर्वदोषहा ।
एवमभ्यासयोगेन सिद्धिरारम्भसम्भवा ॥64॥

उस योगी के ऐसे रूप के वशीभूत होकर नारियाँ उसके साथ समागम करना चाहती हैं। यदि वह योगी समागम कर लेता है, तो उसका बिन्दुक्षय (वीर्य का नाश) हो जाता है। इसलिए स्त्रियों का संग छोड़कर आदरपूर्वक योग का अभ्यास ही करते रहना चाहिए। क्योंकि बिन्दु के धारण करते रहने से ही (ऊर्ध्वरेता बने रहने से ही) योगी के शरीर में सुगन्ध पैदा होती है। बाद में पूर्वार्जित पापों के क्षय के लिए एकान्त में बैठकर योगी को प्लुतमात्रा से प्रणव का जाप करना चाहिए। क्योंकि वह प्रणवमन्त्र तो सर्व विघ्नों को और सभी दोषों (बाधाओं) को दूर करने वाला है। ऐसे अभ्यासयोग से सिद्धियों का संभव (उत्पत्ति) शुरू हो जाता है।

ततो भवेद्घटावस्था पवनाभ्यासतत्परा ।
प्राणोऽपानो मनो बुद्धिर्जीवात्मपरमात्मनोः ॥65॥
अन्योऽन्यस्याविरोधेन एकता घटते यदा ।
घटावस्थेति सा प्रोक्ता तच्चिह्नानि ब्रवीम्यहम् ॥66॥
पूर्वं यः कथितोऽभ्यासश्चतुर्थांशं परिग्रहेत् ।
दिवा वा यदि वा सायं याममात्रं समभ्यसेत् ॥67॥
एकवारं प्रतिदिनं कुर्यात्केवलकुम्भकम् ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यो यत्प्रत्याहरणं स्फुटम् ॥68॥

इसके बाद एक घटावस्था होती है, वह प्राणायाम से होती है। पूर्वोक्त प्रणवजाप के साथ प्राणायाम करने से वह सहजरूप से होती है। जिस अवस्था में प्राण, अपान, मन, बुद्धि, जीव तथा परमात्मा में निर्विरोध एकता स्थापित होती है, उसे 'घटावस्था' कहा जाता है। उसके चिह्नों का आगे वर्णन किया जाता है। यथा—पहले जितना अभ्यास योगी करता था, उसका चतुर्थांश ही अब करना चाहिए। दिन में अथवा रात में केवल एक प्रहर ही योगाभ्यास करना चाहिए। 'केवल कुंभक' तो दिन में एक बार ही करना चाहिए। कुम्भक में स्थिर होकर इन्द्रियों को उनके विषयों से खींचकर लाए, यही प्रत्याहार है।

योगी कुम्भकमास्थाय प्रत्याहारः स उच्यते ।
यद्यत्पश्यति चक्षुर्भ्यां तत्तदात्मेति भावयेत् ॥69॥
यद्यच्छृणोति कर्णाभ्यां तत्तदात्मेति भावयेत् ।
लभते नासया यद्यत् तत्तदात्मेति भावयेत् ॥70॥
जिह्वया यद्रसं ह्यत्ति तत्तदात्मेति भावयेत् ।
त्वचा यद्यत्स्पृशेद्योगी तत्तदात्मेति भावयेत् ॥71॥
एवं ज्ञानेन्द्रियाणां तु तत्तदात्मनि धारयेत् ।
याममात्रं प्रतिदिनं योगी यत्नादतन्द्रितः ॥72॥

पूर्वोक्त प्रकार से योगी जब कुंभक करता है, तब उसे प्रत्याहार कहा जाता है। ऐसे प्रत्याहार के समय में योगी अपनी आँखों से जो कुछ देखता है, उसे आत्मवत् ही समझे। अपने कानों से जो कुछ भी सुनता है, उसे आत्मवत् ही समझे। अपनी नासिका से जो कुछ सूँघता है, उसे आत्मरूप ही समझे। जीभ से जो कुछ भी आस्वाद करे, उसे आत्मवत् ही समझे। त्वगिन्द्रिय से जिस किसी का स्पर्श करे, उसे आत्मवत् ही समझे। इस प्रकार सभी ज्ञानेन्द्रियों को – उनके विषयों को – योगी अपने आत्मा में ही धारण करे। इस प्रकार का प्रत्याहार प्रतिदिन एकबार योगी को आलस्यरहित होकर एक प्रहर तक करना चाहिए।

यथा वा चित्तसामर्थ्यं जायते योगिनो ध्रुवम् ।
दूरश्रुतिर्दूरदृष्टिः क्षणाद् दूरागमस्तथा ॥73॥
वाक्सिद्धिः कामरूपत्वमदृश्यकरणी तथा ।
मलमूत्रप्रलेपेन लोहादेः स्वर्णता भवेत् ॥74॥
खे गतिस्तस्य जायेत सन्तताभ्यासयोगतः ।
सदा बुद्धिमता भाव्यं योगिना योगसिद्धये ॥75॥
एते विघ्ना महासिद्धेर्न रमेत्तेषु बुद्धिमान् ।
न दर्शयेत्स्वसामर्थ्यं यस्य कस्यापि योगिराट् ॥76॥

इस प्रकार योगी के चित्त का सामर्थ्य योगाभ्यास करते-करते बढ़ता जाता है, जैसे कि दूर से सुनाई पड़ना, दूर से दिखाई पड़ना, एक क्षण में बहुत दूर चले जाना, वाणी की सिद्धि, इच्छानुसार रूप धारण करना, अदृश्य हो जाना, अपने मल-मूत्र के लेप से लोहे को सोना बना देना, आकाश में गमन करना—आदि सामर्थ्य सतत योगाभ्यास से आ जाते हैं। परन्तु बुद्धिमान योगी को यह सोच लेना चाहिए कि उसकी योग की परम सिद्धि के लिए ये सभी सामर्थ्य विघ्नरूप (अवरोधक) ही हैं। बुद्धिमान योगी को इन सामर्थ्यों में मग्न नहीं होना चाहिए। और जहाँ-तहाँ अपने सामर्थ्यों का प्रदर्शन नहीं करना चाहिए। (तात्पर्य यह है कि बुद्धिमान योगी को ऐसी सिद्धियों के प्रदर्शन से बचना चाहिए)।

यथा मूढो यथा मूर्खो यथा बधिर एव च ।
तथा वर्तेत लोकस्य स्वसामर्थ्यस्य गुप्तये ॥77॥
शिष्याश्च स्वस्वकार्येषु प्रार्थयन्ति न संशयः ।
तत्तत्कर्मकरव्यग्रः स्वाभ्यासे विस्मृतो भवेत् ॥78॥
सर्वव्यापारमुत्सृज्य योगनिष्ठो भवेद्यतिः ।
अविस्मृत्य गुरोर्वाक्यमभ्यसेत्तदहर्निशम् ॥79॥
एवं भवेद्घटावस्था सन्तताभ्यासयोगतः ।
अनभ्यासवतश्चैव वृथागोष्ठ्या न सिद्ध्यति ॥80॥

इसीलिए श्रेष्ठ योगी को जनसाधारण के सामने अज्ञानी, मूर्ख, बहरा होने जैसा वर्ताव अपने सामर्थ्यों को छिपाने के लिए करना चाहिए। शिष्यलोग तो अपने-अपने कर्मों की सिद्धि के लिए उस योगी के पास निश्चित ही विज्ञप्तियाँ किया करेंगे, फलस्वरूप उनके उन कार्यों में फँसकर योगी अपने योगाभ्यास को भूल जाता है। इसलिए उस योगी को तो ऐसे सभी प्रकार के व्यापारों को छोड़कर केवल योगनिष्ठ ही बने रहना चाहिए। गुरु के वाक्य को बिना भूले हमेशा ही योगाभ्यास चालू रखना चाहिए। इस प्रकार के योग के अविरत किए गए अभ्यास से घटावस्था उत्पन्न होती है। जो मनुष्य अभ्यास नहीं करता और केवल वृथा बातें करता है, उसके द्वारा यह घटावस्था सिद्ध नहीं होती।

तस्मात्सर्वप्रयत्नेन योगमेव सदाभ्यसेत् ।
ततः परिचयावस्था जायतेऽभ्यासयोगतः ॥81॥
वायुः परिचितो यत्नादग्निना सह कुण्डलीम् ।
भावयित्वा सुषुम्नायां प्रविशेदनिरोधतः ॥82॥

वायुना सह चित्तं च प्रविशेच्च महापथम् ।
यस्य चित्तं स्वपवनं सुषुम्नां प्रविशेदिह ॥83॥
भूमिरापोऽनलो वायुराकाशश्चेति पञ्चकः ।
येषु पञ्चसु देवानां धारणा पञ्चधोच्यते ॥84॥

इसलिए सभी प्रयत्न करते हुए निरन्तर योग का ही अभ्यास करना चाहिए। इसके बाद (घटावस्था के बाद) एक और 'परिचय' नाम की अवस्था भी होती है। अग्नि के साथ कुण्डलिनी की भावना करके, निरोधरहित होकर सुषुम्ना में जब प्राणवायु का प्रवेश होता है, तब यह 'परिचय' की अवस्था होती है। इस महापथ में वायु के साथ जब चित्त का भी वहाँ प्रवेश होता है और जिस योगी का चित्त भी इस तरह सुषुम्ना में वायुसहित प्रविष्ट हो जाता है, उसको पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश में – अपने अवयवों में विभक्त पंचभूतों में – ब्रह्म से लेकर सदाशिवपर्यन्त पाँच देवों की धारणा होती है।

पादादिजानुपर्यन्तं पृथिवी स्थानमुच्यते ।
पृथिवी चतुरस्रं च पीतवर्णं लवर्णकम् ॥85॥
पार्थिवे वायुमारोप्य लकारेण समन्वितम् ।
ध्यायंश्चतुर्भुजाकारं चतुर्वक्त्रं हिरण्मयम् ॥86॥
धारयेत्पञ्च घटिकाः पृथिवीजयमाप्नुयात् ।
पृथिवीयोगतो मृत्युर्न भवेदस्य योगिनः ॥87॥

पैरों से घुटनों तक का स्थान पृथ्वीतत्त्व का स्थान माना गया है। चार अन्तों (कोनों) से युक्त यह पृथ्वी पीले वर्ण और लकार से युक्त कही गई है। पृथ्वीतत्त्व में वायु को आरोपित करके उसमें लकार को जोड़ कर उस स्थान में सुनहरे रंगवाले चतुर्मुख और चतुर्भुज ब्रह्माजी का ध्यान करना चाहिए। इस तरह से पाँच घटिका (दो घण्टे) तक ध्यान करने से योगी पृथ्वीतत्त्व को जीत लेता है। ऐसे योगी की पृथ्वी के संयोग (आघात) से मृत्यु नहीं होती।

आजानोः पायुपर्यन्तमपां स्थानं प्रकीर्तितम् ।
आपोऽर्धचन्द्रं शुक्लं च वंबीजं परिकीर्तितम् ॥88॥
वारुणे वायुमारोप्य वकारेण समन्वितम् ।
स्मरन्नारायणं देवं चतुर्बाहुं किरीटिनम् ॥89॥
शुद्धस्फटिकसङ्काशं पीतवाससमच्युतम् ।
धारयेत्पञ्च घटिकाः सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥90॥
ततो जलाद्भयं नास्ति जले मृत्युर्न विद्यते ।

घुटने से लेकर पायु (गुदा) तक का स्थान जल का स्थान माना गया है। वह जलतत्त्व, अर्ध-चन्द्र रूप में और 'वं' बीज वाला माना गया है। इस जलतत्त्व में वायु का आरोपण करके, उसे 'वं'कार के साथ बीज को जोड़कर चार हाथ वाले मुकुटधर, शुद्ध स्फटिक-से वर्ण वाले, पीले वस्त्र पहने हुए भगवान् अच्युत (नारायण देव) का पाँच घटिका तक ध्यान करके योगी (जलतत्त्व को जीत लेता है और) सभी पापों से छुटकारा पा लेता है। इस तरह जलतत्त्व को जीत लेने के बाद जल से उसे कोई भय नहीं रहता। जल में उसकी मृत्यु नहीं होती।

आपायोर्हृदयान्तं च वह्निस्थानं प्रकीर्तितम् ॥91॥
वह्निस्त्रिकोणं रक्तं च रेफाक्षरसमुद्भवम् ।
वह्नौ चानिलमारोप्य रेफाक्षरसमुज्ज्वलम् ॥92॥
त्रियक्षं वरदं रुद्रं तरुणादित्यसन्निभम् ।
भस्मोद्धूलितसर्वाङ्गं सुप्रसन्नमनुस्मरन् ॥93॥
धारयेत्पञ्च घटिका वह्निनाऽसौ न दाह्यते ।
न दह्यते शरीरं च प्रविष्टस्याग्निमण्डले ॥94॥

पायु (गुदा) से लेकर हृदयपर्यन्त के स्थान को वह्निस्थान कहा जाता है। वह अग्नित्रिकोण रूप में और रक्तवर्ण तथा 'र'कार बीज वाला माना गया है। उस वह्नि में वायु का आरोपण करके उसे 'इ'काररूप बीज से जोड़कर तीन आँखों वाले, वरदान देने वाले, तरुण आदित्य के समान कान्तिवाले, सभी अंगों में भस्म का लेप किए हुए अति प्रसन्न ऐसे रुद्र का स्मरण करते हुए पाँच घटिका तक ध्यान करना चाहिए। ऐसा साधक वह्नि से नहीं जलाया जा सकता। उसका शरीर जलता नहीं है, भले ही वह अग्नि के घेरे के बीच हो।

आहृदयाद्भ्रुवोर्मध्ये वायुस्थानं प्रकीर्तितम् ।
वायुः षट्कोणकं कृष्णं यकाराक्षरभासुरम् ॥95॥
मारुतं मरुतां स्थाने यकाराक्षरभासुरम् ।
धारयेत्तत्र सर्वज्ञमीश्वरं विश्वतोमुखम् ॥96॥
धारयेत्पञ्च घटिका वायुवद् व्योमगो भवेत् ।
मरणं न तु वायोश्च भयं भवति योगिनः ॥97॥

हृदय से लेकर भौहों तक का स्थान वायु का क्षेत्र कहा गया है। वह छः कोनों के आकार का, काले रंग का और भास्वर 'य' अक्षरवाला होता है। इस प्रकार मरुत्स्थान पर (वायुस्थान पर) यकार होता है। यहाँ भास्वर 'य' अक्षर के साथ विश्वतोमुख सर्वज्ञ ईश्वर का ध्यान करना चाहिए। इस तरह पाँच घटिका (दो घण्टे) तक ध्यान करते रहने से साधक वायु की तरह आकाशविहारी होता है। वायु से उसकी मृत्यु नहीं होती और वायु से उसको भय नहीं होता।

आभ्रूमध्याच्च मूर्धान्तमाकाशस्थानमुच्यते ।
व्योम वृत्तं च धूम्रं च हकाराक्षरभासुरम् ॥98॥
आकाशे वायुमारोप्य हकारोपरि शङ्करम् ।
बिन्दुरूपं महादेवं व्योमाकारं सदाशिवम् ॥99॥
शुद्धस्फटिकसङ्काशं धृतबालेन्दुमौलिनम् ।
पञ्चवक्त्रयुतं सौम्यं दशबाहुं त्रिलोचनम् ॥100॥
सर्वायुधैर्धृताकारं सर्वभूषणभूषितम् ।
उमार्धदेहं वरदं सर्वकारणकारणम् ॥101॥
आकाशधारणात्तस्य खेचरत्वं भवेद् ध्रुवम् ।
यत्र कुत्र स्थितो वापि सुखमत्यन्तमश्नुते ॥102॥

भौंहों के बीच के भाग से लेकर मूर्धा के अन्त तक का क्षेत्र आकाशस्थान कहा गया है। वह व्योम (आकाश) व्योमवृत्त जैसे आकारवाला तथा धुएँ के-से रंगवाला तथा 'ह'कार अक्षर से युक्त होता

है। ऐसे उस आकाश-तत्त्व में वायु का आरोपण करके, उसके साथ हकार को जोड़कर भगवान् शंकर का ध्यान करना चाहिए। वह भगवान् शंकर बिन्दुरूप हैं, महादेव हैं, व्योम जैसे आकार वाले हैं, सदाशिव हैं, शुद्ध स्फटिक जैसे वर्णवाले हैं, मस्तक पर बालचन्द्र को धारण किए हुए हैं, पाँच मुख वाले हैं, सौम्यमुद्रा वाले हैं, दश हाथवाले हैं, तीन आँखों वाले हैं, सभी शस्त्रास्त्रों को धारण किए हुए हैं, सभी आभूषणों से सुशोभित हैं, उमासहित – उमारूपी अर्धदेह वाले हैं। वह सभी कारणों के भी कारणस्वरूप हैं। आकाशतत्त्व में उनका ध्यान करते रहने से अवश्य ही आकाश-विचरण की शक्ति आ जाती है। ऐसा योगी कहीं भी रहता हो, फिर भी वह अत्यन्त सुख भोगता रहता है।

एवं च धारणाः पञ्च कुर्याद्योगी विचक्षणः ।
ततो दृढशरीरः स्यान्मृत्युस्तस्य न विद्यते ॥103॥
ब्रह्मणः प्रलयेनापि न सीदति महामतिः ।
समभ्यसेत्तथा ध्यानं घटिकाषष्ठिमेव च ॥104॥
वायुं निरुध्य चाकाशे देवतामिष्टदामिति ।
सगुणं ध्यानमेतत्स्यादणिमादिगुणप्रदम् ।
निर्गुणध्यानयुक्तस्य समाधिश्च ततो भवेत् ॥105॥

विचक्षण योगी को इस प्रकार की पाँच धारणाएँ करनी चाहिए। इसमें उस योगी का शरीर दृढ़ हो जाता है और उसको मृत्यु का कोई भय नहीं रहता। ऐसा महाबुद्धिशाली योगी ब्रह्मा के प्रलय के समय में भी – सर्वसृष्टि के प्रलय में भी दुःखी नहीं होता। छः घटिका तक वायु को रोककर आकाशतत्त्व में इष्ट सिद्धि देने वाले देव का निरन्तर ध्यान करते रहना चाहिए। इस प्रकार के सगुण ईश्वर का ध्यान करने से अणिमादि सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं। इस सगुण ध्यान के बाद जब योगी निर्गुणध्यानयुक्त हो जाता है, तब समाधि प्राप्त हो जाती है।

दिनद्वादशकेनैव समाधिं समवाप्नुयात् ।
वायुं निरुध्य मेधावी जीवन्मुक्तो भवत्ययम् ॥106॥
समाधिः समतावस्था जीवात्मपरमात्मनोः ।
यदि स्वदेहमुत्स्रष्टुमिच्छा चेदुत्सृजेत्स्वयम् ॥107॥
परब्रह्मणि लीयेत न तस्योत्क्रान्तिरिष्यते ।
अथ नो चेत्समुत्स्रष्टुं स्वशरीरं प्रियं यदि ॥108॥
सर्वलोकेषु विहरन्नणिमादिगुणान्वितः ।
कदाचित्स्वेच्छया देवो भूत्वा स्वर्गे महीयते ॥109॥

इस प्रकार अनवरत साधना से योगी बारह दिवसों में समाधि को प्राप्त कर सकता है। प्राणवायु के पूर्वोक्त प्रकार से निरोध करने पर यह योगी जीवन्मुक्त हो जाता है। जीवात्मा और परमात्मा की समान अवस्था को ही समाधि कहा जाता है। ऐसा समाधि-प्राप्त जीवन्मुक्त योगी [illegible] देह को स्वयं अपनी इच्छा से छोड़ सकता है। वह देह छोड़कर परब्रह्म में ही लीन हो जाता [illegible] नहीं लेना पड़ता। यदि उसको अपना शरीर प्रिय हो, और उसे वह छोड़ना न चाहता [illegible] सिद्धियों से युक्त होकर सभी लोकों में यथेष्ट विहार कर सकता है। कभी-कभी अ[illegible] होकर स्वर्ग में आनन्द भी कर सकता है।

मनुष्यो वापि यक्षो वा स्वेच्छयापि क्षणाद्भवेत् ।
सिंहो व्याघ्रो गजो चाश्वः स्वेच्छया बहुतामियात् ॥110॥
यथेष्टमेव वर्तेत यद्वा योगी महेश्वरः ।
अभ्यासभेदतो भेदः फलं तु सममेव हि ॥111॥

योगी अपनी इच्छा से एक क्षण में ही मनुष्य, यक्ष, सिंह, बाघ, हाथी, घोड़ा, आदि अनेक रूपों को धारण कर सकता है। वह अपनी इच्छानुसार व्यवहार कर सकता है। वह योगी महासमर्थ होता है। योगियों में भेद तो अभ्यास के भेद से होता है, पर फल तो समान ही होता है।

पार्ष्णिं वामस्य पादस्य योनिस्थाने नियोजयेत् ।
प्रसार्य दक्षिणं पादं हस्ताभ्यां धारयेद् दृढम् ॥112॥
चुबुकं हृदि विन्यस्य पूरयेद्वायुना पुनः ।
कुम्भकेन यथाशक्तिं धारयित्वा तु रेचयेत् ॥113॥
वामाङ्गेन समभ्यस्य दक्षाङ्गेन ततोऽभ्यसेत् ।
प्रसारितस्तु यः पादस्तमूरूपरि नामयेत् ॥114॥ (अयमेव महाबन्धः ।)

अब **महाबन्ध** के विषय में कहा जा रहा है—बाँये पैर की एड़ी के द्वारा पहले योनि स्थान को दबाना चाहिए तथा दाहिने पैर को फैलाना चाहिए। फिर उसको अँगूठे से दोनों हाथों से जोर से पकड़ना चाहिए। इसके बाद ठोड़ी को छाती से लगाना चाहिए। तब फिर वायु को धीरे-धीरे भीतर धारण करके यथाशक्ति कुम्भक करना चाहिए और बाद में उसे रेचक के द्वारा बाहर निकाल देना चाहिए। इस प्रकार की क्रिया को निरन्तर बाँयें और दायें, पुनः दाँयें और बायें—इस प्रकार अभ्यास करना चाहिए। अर्थात् पहले बाँये पैर की एड़ी से जिस तरह शुरू किया था, उसी तरह दक्षिण पैर की एड़ी से शुरू करके (अदल-बदलकर) अभ्यास करना चाहिए। पहले प्रसारित किए गए पैर को अब पूर्ववत् जंघा पर नवाना चाहिए। (इसे ही महाबन्ध कहा जाता है)।

अयमेव महाबन्ध उभयत्रैवमभ्यसेत् ।
महाबन्धस्थितो योगी कृत्वा पूरकमेकधीः ॥115॥
वायुना गतिमावृत्य निभृतं कण्ठमुद्रया ।
पुटद्वयं समाक्रम्य वायुः स्फुरति सत्वरम् ॥116॥

ऊपर बताए अनुसार यही महाबन्ध कहलाता है। इस बन्ध का दोनों तरीकों से (अदल-बदलकर अर्थात् परिवर्तित क्रम से) अभ्यास किया जा सकता है। जब महाबन्ध में सतत संलग्न वह योगी एकाग्र होकर कण्ठ की मुद्रा के जरिए वायु की गति को आवृत्त करके दोनों नथुनों को संकुचित करके तत्परतापूर्वक वायु को भर लेता है, तब—

अयमेव महावेधः सिद्धैरभ्यस्यतेऽनिशम् ।
अन्तःकपालकुहरे जिह्वां व्यावृत्य धारयेत् ॥117॥
भ्रूमध्यदृष्टिरप्येषा मुद्रा भवति खेचरी ।
कण्ठमाकुञ्च्य हृदये स्थापयेद् दृढया धिया ॥118॥
बन्धो जालन्धराख्योऽयं मृत्युमातङ्गकेसरी ।
बन्धो येन सुषुम्नायां प्राणस्तूड्डीयते यतः ॥119॥
उड्यानाख्यो हि बन्धोऽयं योगिभिः समुदाहृतः ।

—इसी को महाबन्ध कहा जाता है। सिद्ध पुरुष सदैव इसका अभ्यास करते रहते हैं। जीभ को भीतर के कपाल में लौटाकर, दोनों भृकुटियों के बीच दृष्टि रखी जाने पर **खेचरी मुद्रा** होती है। कण्ठ को संकुचित करके ठोड़ी को मजबूती से जब स्थापित किया जाता है, तब **जालन्धरबन्ध** होता है। यह बन्ध मृत्युरूपी हाथी के लिए सिंह समान (कालरूप) है। और जिस बन्ध से प्राण सुषुम्ना से उठ जाता है, उसे योगी लोग उड्डयन (उड्डयाण) नामक बन्ध कहते हैं।

पार्ष्णिभागेन सम्पीड्य योनिमाकुञ्चयेद् दृढम् ॥120॥
अपानमूर्ध्वमुत्थाप्य योनिबन्धोऽयमुच्यते ।
प्राणापानौ नादबिन्दू मूलबन्धेन चैकताम् ॥121॥
गत्वा योगस्य संसिद्धिं यच्छतो नात्र संशयः ।

एड़ी से योनिस्थान को यत्नपूर्वक दबाकर भीतर की तरफ खींचना चाहिए। इस तरह अपान को ऊँचे उठाकर जो बन्ध किया जाता है, वह **योनिबन्ध** कहा जाता है। इस योनिबन्ध की क्रिया से प्राण, अपान, नाद और बिन्दु में मूलबन्ध के द्वारा एकता स्थापित की जाती है, और यह बन्ध निःसंदिग्ध रूप में योग की सिद्धि प्राप्त कराता है।

करणी विपरीताख्या सर्वव्याधिविनाशिनी ॥122॥
नित्यमभ्यासयुक्तस्य जाठराग्निविवर्धिनी ।
आहारो बहुलस्तस्य सम्पाद्यः साधकस्य च ॥123॥
अल्पाहारो यदि भवेदग्निर्देहं हरेत्क्षणात् ।
अधःशिरश्चोर्ध्वपादः क्षणं स्यात्प्रथमे दिने ॥124॥
क्षणाच्च किञ्चिदधिकमभ्यसेच्च दिने दिने ।
वली च पलितं चैव षण्मासार्धन्न दृश्यते ॥125॥
याममात्रं तु यो नित्यमभ्यसेत्स तु कालवित् ।
वज्रोलीमभ्यसेद्यस्तु स योगी सिद्धिभाजनम् ॥126॥

अब **विपरीतकरणी** नामक मुद्रा के बारे में कहा जाता है। यह मुद्रा सभी प्रकार की व्याधियों (पीड़ाओं) का नाश करने वाली है। इस 'विपरीतकरणी' मुद्रा का नित्य अभ्यास करने से साधक की जठराग्नि तीव्र हो जाती है फलस्वरूप साधक बहुत अन्न पचाने में समर्थ हो जाता है। इस समय में यदि साधक कम आहार लेगा तो उसकी जठराग्नि उसके शरीर का ही नाश कर देगी। इस मुद्रा के लिए प्रथम दिन एक क्षण के लिए सिर नीचे और दोनों पैर ऊपर की ओर रखने चाहिए। बाद में प्रत्येक दिन एक-एक क्षण इस अभ्यास को बढ़ाते रहना चाहिए। ऐसा करने से छः मास के भीतर ही साधक के शरीर की झुरियाँ, और बालों की सफेदी नष्ट हो जाएगी। जो साधक हर रोज एक प्रहर तक छः महीनों पर्यन्त इस विपरीतकरणी मुद्रा का अभ्यास करता है, वह काल को अपने वश में कर लेता है। और जो योगी वज्रोली मुद्रा का अभ्यास करता है, वह सिद्धावस्था को प्राप्त हो जाता है।

लभ्यते यदि तस्यैव योगसिद्धिः करे स्थिता ।
अतीतानागतं वेत्ति खेचरी च भवेद् ध्रुवम् ॥127॥
अमरीं यः पिबेन्नित्यं नस्यं कुर्वन्दिने दिने ।
वज्रोलीमभ्यसेन्नित्यममरोलीति कथ्यते ॥128॥

ततो भवेद्राजयोगो नान्तरा भवति ध्रुवम् ।
यदा तु राजयोगेन निष्पन्ना योगिभिः क्रियाः ॥129॥
तदा विवेकवैराग्यं जायते योगिनो ध्रुवम् ।
विष्णुर्नाम महायोगी महाभूतो महातपाः ॥130॥

उस **वज्रोली** मुद्रा के साधक की सिद्धि तो उसके हाथ में ही रहती है। ऐसा योगी भूत और भविष्य को जान लेता है और वह आकाश में विचरण करने वाला हो जाता है। जो योगी अपने मूत्र को हर रोज पीता है और प्रतिदिन उसे सूँघता भी है और साथ-साथ पूर्वोक्त प्रकार से वज्रोली का अभ्यास करता है, उस क्रिया को **अमरोली** कहा जाता है। अब इसके बाद **राजयोग** होता है। अर्थात् वह योगी बाद में तुरन्त राजयोग का अधिकारी बनता है, इसमें कोई भी सन्देह नहीं। राजयोग में सम्पन्न हो जाने के बाद उस योगी को फिर हठयोगादि की अन्य विधियाँ करने की आवश्यकता नहीं रहती। तब उस योगी को विवेक और वैराग्य उत्पन्न होता है। ऐसे योगियों में विष्णु नाम के महातपस्वी और महाभूतस्वरूप भगवान् हैं।

तत्त्वमार्गे यथा दीपो दृश्यते पुरुषोत्तमः ।
यः स्तनः पूर्वपीतस्तं निष्पीड्य मुदमश्नुते ॥131॥
यस्माज्जातो भगात्पूर्वं तस्मिन्नेव भगे रमन् ।
या माता सा पुनर्भार्या या भार्या मातरेव हि ॥132॥
यः पिता स पुनः पुत्रो यः पुत्रः स पुनः पिता ।
एवं संसारचक्रेण कूपचक्रे घटा इव ॥133॥
भ्रमन्तो योनिजन्मानि श्रुत्वा लोकान्समश्नुते ।
त्रयो लोकास्त्रयो वेदास्तिस्त्रः सन्ध्यास्त्रयः स्वराः ॥134॥
त्रयोऽग्नयश्च त्रिगुणाः स्थिताः सर्वे त्रयाक्षरे ।
त्रयाणामक्षराणां च योऽधीतेप्यर्धमक्षरम् ॥135॥

यह भगवान् पुरुषोत्तम तत्त्वमार्ग पर चलने वाले के लिए दीपक के समान दिखाई पड़ते हैं। अब यह जीवन विविध योनियों में भटकता हुआ जब मानवयोनि में आता है, तब विचित्र बात यह होती है कि बचपन में जिस स्तन को उसने पीया है, उसी स्तन को वह युवावस्था में दबा करके आनन्द लेता है, और उसने जिस योनि से जन्म लिया था, वैसी ही योनि में बार-बार रमण किया करता है। एक जन्म में जो माता होती है, दूसरे जन्म में वही स्त्री हो जाती है। जो पिता है, वह पुत्र बन जाता है, तथा जो पुत्र होता है वही फिर पिता भी बन जाता है। इसी प्रकार यह संसारचक्र कूपचक्र (रहट) के ही समान है जिसमें प्राणी तरह-तरह की योनियों में गमनागमन किया ही करता है। तीन ही लोक हैं, तीन ही वेद हैं, तीन ही सन्ध्याएँ है, तीन ही स्वर हैं, तीन ही अग्नि हैं, तीन गुण कहे गए हैं, तथा तीन अक्षरों में सब कुछ विद्यमान है। अतः इन तीन अक्षरों का और अर्धाक्षर का भी योगी को अध्ययन करना चाहिए।

तेन सर्वमिदं प्रोतं तत्सत्यं तत्परं पदम् ।
पुष्पमध्ये यथा गन्धः पयोमध्ये यथा घृतम् ॥136॥
तिलमध्ये यथा तैलं पाषाणेष्विव कांचनम् ।
हृदि स्थाने स्थितं पद्मं तस्य वक्त्रमधोमुखम् ॥137॥

ऊर्ध्वनालमधोबिन्दुस्तस्य मध्ये स्थितं मनः ।
अकारे रेचितं पद्ममुकारेणैव भिद्यते ॥138॥
मकारे लभते नादमर्धमात्रा तु निश्चला ।
शुद्धस्फटिकसङ्काशं निष्कलं पापनाशनम् ॥139॥

सब कुछ इन्हीं तीन अक्षरों में पिरोया गया है। वही सत्य है, वही परमपद है। जिस तरह पुष्प में गन्ध, दूध में घी, तिल में तेल, और पत्थरों में सोना निगूढ रूप से रहता है वैसे ही वह सबमें व्याप्त है। हृदयस्थल में जो कमलपुष्प है उसका मुख नीचे की ओर है और उसकी दण्डी ऊपर की ओर है। नीचे बिन्दु है, उसी के बीच में मन प्रतिष्ठित है। 'अ'कार के द्वारा रेचित किया हुआ वह पद्म 'उ'कार के द्वारा भेदा जाता है और बाद में 'म'कार के द्वारा नाद को प्राप्त करता है। अर्धमात्रा तो निश्चल ही रहती है। वह अर्धमात्रा शुद्ध स्फटिक जैसी, अंशरहित और पापनाशक है।

लभते योगयुक्तात्मा पुरुषस्तत्परं पदम् ।
कूर्मः स्वपाणिपादादि शिरश्चात्मनि धारयेत् ॥140॥
एवं द्वारेषु सर्वेषु वायुपूरितरेचितः ।
निषिद्धं तु नवद्वारे ऊर्ध्वं प्राङ्निःश्वसस्तदा ॥141॥
घटमध्ये यथा दीपो निवासं कुम्भकं विदुः ।
निषिद्धैर्नवभिद्वारैर्निर्जने निरुपद्रवे ।
निश्चितं त्वात्ममात्रेणावशिष्टं योगसेवयेत् ॥142॥ इत्युपनिषत् ।

इति योगतत्त्वोपनिषत् समाप्ता ।
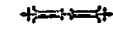
ऐसे योगसाधक योगी मुक्तावस्था पा लेता है। जैसे कछुआ अपने हाथ-पैर-सिर को अपने भीतर स्थापित कर लेता है, वैसे सभी द्वारों में भरकर दबाया गया वायु नौ द्वारों के बन्द होने से ऊपर जाता है। जैसे वायुरहित घड़े के बीच रखा गया दीपक होता है, वैसे ही कुंभक को जानना चाहिए। इस योग-साधना में नौ द्वारों के अवरुद्ध किए जाने पर निर्जन निरुपद्रव स्थान में केवल आत्मतत्त्व ही शेष रह जाता है। ऐसा ही यह योगतत्त्व उपनिषद् है।

यहाँ योगतत्त्वोपनिषद् पूरी हुई।

शान्तिपाठः

ॐ सह नाववतु। सह नौ .... मा विद्विषावहै। (पूर्ववत्)
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

(43) आत्मबोधोपनिषत्

(उपनिषत्परिचय)

ऋग्वेद से सम्बद्ध इस दो अध्याय (खण्ड) वाली 'आत्मबोध' उपनिषद् को 'आत्म-प्रबोधोपनिषद्' भी कहा गया है। इसके प्रथम अध्याय या खण्ड में प्रणवरूप नारायण को नमस्कार करके हृदय को ब्रह्मपुर कहा गया है, वह ब्रह्मपुर स्वप्रकाशित है, इसमें प्रज्ञा (चेतन) का निवास है। इस प्रज्ञानेत्र ज्ञान का महत्त्व और ज्ञानफल रूप में सर्वदा ज्योतिर्मय अमरलोक निवास के लाभ की बात कही गई है। द्वितीय खण्ड में आत्मसाक्षात्कारी महापुरुष की अनुभूतियाँ वर्णित की गई हैं। गन्ने के रस में व्याप्त शक्कर और सागर की तरंगों की समानता दिखाकर ब्रह्म, जगत् और जीव की स्थितियाँ समझाई गई हैं। अपरोक्षानुभूति की इस अवस्था में सब प्रकार के व्यावहारिक सम्बन्धों और भेदभाव की समाप्ति हो जाती है। इस अवस्था को जीवन्मुक्तावस्था कहते हैं।

शान्तिपाठः

ॐ वाङ्मे मनसि ''''''वक्तारमवतु वक्तारम्। (पूर्ववत्)
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

इसका हिन्दी रूपान्तर पूर्व में (कौषीतकिब्राह्मणोपनिषद् में) द्रष्टव्य है।

प्रथम खण्डः

ॐ प्रत्यगानन्दं ब्रह्मपुरुषं प्रणवस्वरूपं अकार उकारो मकार इति त्र्यक्षरं प्रणवं तदेतदोमिति। यमुक्त्वा मुच्यते योगी जन्मसंसारबन्धनात्। ॐ नमो नारायणाय शङ्खचक्रगदाधराय तस्मात् ॐ नमो नारायणायेति मन्त्रोपासको वैकुण्ठभवनं गमिष्यति ॥1॥

ॐ सर्व में व्याप्त आनन्दरूप ब्रह्मपुरुष है और वही अकार, उकार तथा मकार—इन तीन अक्षरों वाला प्रणव का स्वरूप है। यही प्रणव ओंकार है। उसका जप करने से योगी जन्मादि सांसारिक बन्धनों से छूट जाता है। शंख, चक्र और गदा को धारण करने वाले नारायण को नमस्कार। अतः 'ॐ नमो नारायणाय' इस मन्त्र का उपासक वैकुण्ठ के भवन में जाता है।

अथ यदिदं ब्रह्मपुरं पुण्डरीकं तस्मात्तडिदाभमात्रं दीपवत्प्रकाशम् ॥2॥
ब्रह्मण्यो देवकीपुत्रो ब्रह्मण्यो मधुसूदनः।
ब्रह्मण्यः पुण्डरीकाक्षो ब्रह्मण्यो विष्णुरच्युतः ॥3॥
सर्वभूतस्थमेकं नारायणं कारणपुरुषमकारणं परं ब्रह्मोम् ॥4॥

अब जो यह हृदयकमल है, वह ब्रह्मपुर है। अतः वह विद्युत् और दीपक की तरह ही प्रकाशित है। देवकीपुत्र ब्राह्मणों के हितैषी हैं। मधुसूदन ब्राह्मणों के हितकर हैं। कमलनयन विष्णु ब्राह्मणों के हितकर्ता हैं। अच्युत ब्राह्मणहितकारी हैं। सर्वभूतों में अवस्थित एक नारायण ही कारणपुरुष हैं, वे स्वयं तो कारणरहित ही हैं, परब्रह्म स्वरूप हैं, ॐकारस्वरूप ही हैं।

शोकमोहविनिर्मुक्तो विष्णुं ध्यायन्न सीदति। द्वैताद्वैतमभयं भवति।
मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति ॥5॥

ऐसे विष्णु का ध्यान करने वाला शोक और मोह से मुक्त होकर कभी दुःखी नहीं होता। दीखने वाला द्वैत, अद्वैत ही है और ऐसा देखने वाला ही अभय होता है। जो यहाँ – इस ब्रह्म में भेदभाव देखता है, तो वह एक मृत्यु के बाद दूसरी मृत्यु को प्राप्त करता ही रहता है।

हृत्पद्ममध्ये सर्वं यत्तत्प्रज्ञाने प्रतिष्ठितम्।
प्रज्ञानेत्रो लोकः प्रज्ञा प्रतिष्ठा प्रज्ञानं ब्रह्म ॥6॥

हृदयकमल के बीच में सर्वरूप ब्रह्म (चेतन) है, वह प्रज्ञान में प्रतिष्ठित है। यह लोक प्रज्ञारूप नेत्र से जुड़ा है, या प्रज्ञा के द्वारा ही गतिशील है। सर्वत्र प्रज्ञा ही प्रतिष्ठित है। अविनाशी ब्रह्म प्रज्ञारूप ही है।

स एतेन प्रज्ञेनात्मनाऽस्माल्लोकादुत्क्रम्यामुष्मिन्स्वर्गे लोके सर्वान् कामानाप्त्वाऽमृतः समभवदमृतः समभवत् ॥7॥

वह ज्ञानी इस उत्कृष्ट ज्ञान वाले आत्मा के साथ इस लोक से उत्क्रमण करके उस स्वर्गलोक में सभी कामनाओं को पूर्ण करके अमर हो गया।

यत्र ज्योतिरजस्रं यस्मिँल्लोकेऽभ्यर्हितं तस्मिन्मां देहि स्वमानमृते लोके अक्षते अच्युते लोके अक्षते अमृतत्वं च गच्छत्यों नमः ॥8॥

इति प्रथमः खण्डः।

जहाँ नित्य ज्योति है, जिस लोक में वह पूजित है, वह स्थान आप मुझे प्रदान करें। उस अविनाशी लोक में, च्युतिरहित लोक में, अक्षय लोक में ज्ञानी प्रवेश पाता है।

यहाँ प्रथम खण्ड पूरा हुआ।

द्वितीयः खण्डः

प्रगलितनिजमायोऽहं निस्तुलदृशिरूपवस्तुमात्रोऽहम्।
अस्तमिताहन्तोऽहं प्रगलितजगदीशजीवभेदोऽहम् ॥1॥
प्रत्यगभिन्नपरोऽहं विध्वस्ताशेषविधिनिषेधोऽहम्।
समुदस्ताश्रमितोऽहं प्रविततसुखपूर्णसंविदेवाहम् ॥2॥
साक्ष्यनपेक्षोऽहं निजमहिम्नि संस्थोऽहमचलोऽहम्।
अजरोऽहमव्ययोऽहं पक्षविपक्षादिभेदविधुरोऽहम् ॥3॥
अवबोधैकरसोऽहं मोक्षानन्दैकसिन्धुरेवाहम्।
सूक्ष्मोऽहमक्षरोऽहं विगलितगुणजालकेवलात्माऽहम् ॥4॥

मुझमें से मेरी माया सर्वथा विगलित हो चुकी है। मैं अतुलनीय दर्शनरूप केवल वस्तुमात्र (सत्तामात्र) हूँ। मैं अहंता से शून्य हूँ, मैं जगत्-जीव-ईश्वर आदि के भेद से पूर्णतया विमुक्त हूँ। मैं प्रत्यगात्मा से अभिन्न परमात्मा हूँ, मुझमें सभी विधि और निषधों का नाश हो गया है। मैंने सभी आश्रम धर्म त्याग दिए हैं, मैं व्यापक सुख से पूर्ण तथा ज्ञानस्वरूप हूँ। मैं साक्षी हूँ, अन्य कोई मेरा साक्षी नहीं

है, मुझे किसी की अपेक्षा नहीं है, मैं अपनी महिमा में अवस्थित और अचल हूँ। मैं अजर हूँ, अव्यय हूँ, मेरे लिए कोई पक्ष या विपक्ष है ही नहीं। मैं एक ज्ञानरूप रस वाला हूँ, मैं मोक्षरूपी आनन्द का सागर हूँ। मैं सूक्ष्म हूँ, अक्षर हूँ, गुणों का जाल मुझमें से अतीत हो गया है। मैं केवल आत्मा ही हूँ।

निस्त्रैगुण्यपदोऽहं कुक्षिस्थानेकलोककलनोऽहम्।
कूटस्थचेतनोऽहं निष्क्रियधामाहमप्रतर्क्योऽहम् ॥5॥
एकोऽहमविकलोऽहं निर्मलनिर्वाणमूर्तिरेवाहम्।
निरवयवोऽहमजोऽहं केवलसन्मात्रसारभूतोऽहम् ॥6॥
निरवधिनिजबोधोऽहं शुभतरभावोऽहमप्रभेद्योऽहम्।
विभुरहमनवद्योऽहं निरवधिनिःसीमतत्त्वमात्रोऽहम् ॥7॥
वेद्योऽहमागमान्तैराराध्यः सकलभुवनहृद्योऽहम्।
परमानन्दघनोऽहं परमानन्दैकभूमरूपोऽहम् ॥8॥

मैं तीनों गुणों से रहित परमपद हूँ। मेरे उदर में अनेकानेक लोकों की संख्या है। मैं कूटस्थ चैतन्य हूँ, मैं क्रियारहित धाम हूँ। मैं तर्क का विषय नहीं हूँ। मैं एक हूँ, परिपूर्ण हूँ, निर्मल हूँ, निर्वाणमूर्ति हूँ, मैं अवयवों से रहित हूँ, मैं अजन्मा हूँ, और केवल सत्स्वरूप से सर्व का सार हूँ। मैं निरवधि (अनन्त) आत्मज्ञानवाला हूँ, अनन्त शुभ भावनाओं से युक्त हूँ, मैं अभेद्य हूँ, मैं विभु (व्यापक) हूँ, मैं निष्कलंक हूँ, मैं अनन्त और सीमारहित सत्तामात्र स्वरूपवाला हूँ। मैं वेदान्तों के द्वारा जानने योग्य हूँ, मैं ही आराधना करने योग्य हूँ। मैं ही समस्त भुवनों में सुन्दर हूँ। मैं परमानन्द घन हूँ, मैं एकमात्र परमानन्दरूप भूमा हूँ।

शुद्धोऽहमद्वयोऽहं सन्ततभावोऽहमादिशून्योऽहम्।
शमितान्तत्रितयोऽहं बद्धो मुक्तोऽहमद्भुतात्माऽहम् ॥9॥
शुद्धोऽहमान्तरोऽहं शाश्वतविज्ञानसमरसात्माऽहम्।
शोधितपरतत्त्वोऽहं बोधानन्दैकमूर्तिरेवाहम् ॥10॥
विवेकबुद्धियुक्त्याऽहं जानाम्यात्मानमद्वयम्।
तथापि बन्धमोक्षादिव्यवहारः प्रतीयते ॥11॥
निवृत्तोऽपि प्रपञ्चो मे सत्यवद्भाति सर्वदा।
सर्पादौ रज्जुसत्तेव ब्रह्मसत्तैव केवलम्।
प्रपञ्चाधाररूपेण वर्ततेऽतो जगन्नहि ॥12॥

मैं शुद्ध हूँ, अद्वैत हूँ, भावरूप हूँ, निरन्तर हूँ, अनादि हूँ, तीनों गुण मुझमें शान्त हो गए हैं, मैं बद्ध, मुक्त और अद्‌भुत स्वरूप हूँ। मैं शुद्ध हूँ, अन्तरात्मा हूँ, सनातन विज्ञान का मैं संपूर्ण रसात्मा हूँ, मैंने परमतत्त्व खोज लिया है, मैं ज्ञान और आनन्द की एकमात्र मूर्ति हूँ। मैं अपनी विवेक बुद्धि से तो आत्मा को अद्वैत ही जानता हूँ, फिर भी व्यवहार में बन्ध-मोक्ष आदि जाने जाते हैं। मेरी दृष्टि से तो वह प्रपंच (संसार) दूर ही हो गया है, फिर भी वह सभी समय सत्य जैसा प्रतिभासित होता है। पारमार्थिक रूप में तो जैसे साँप आदि में रस्सीमात्र की ही सत्ता होती है, वैसे ही प्रपंच में केवल ब्रह्म का ही अस्तित्व है। जगत् तो वास्तव में है ही नहीं।

यथेक्षुरससंव्याप्ता शर्करा वर्तते तथा।
अद्वयब्रह्मरूपेण व्याप्तोऽहं वै जगत्त्रयम् ॥13॥
ब्रह्मादिकीटपर्यन्ताः प्राणिनो मयि कल्पिताः।
बुद्‌बुदादिविकारान्तस्तरङ्गः सागरे यथा ॥14॥

तरङ्गस्थं द्रवं सिन्धुर्न वाञ्छति यथा तथा।
विषयानन्दवाञ्छा मे माभूदानन्दरूपतः ॥15॥
दारिद्र्याशा यथा नास्ति सम्पन्नस्य तथा मम।
ब्रह्मानन्दे निमग्नस्य विषयाशा न तद्भवेत् ॥16॥

जिस प्रकार शक्कर ईख के रस में व्याप्त होता है, उसी तरह अद्वैत ब्रह्म के रूप में मैं तीनों लोकों में व्याप्त हूँ। जिस प्रकार समुद्र में बुद्‌बुदे आदि विकार वाली तरंगें कल्पित ही हैं, उसी प्रकार मुझमें ब्रह्माजी से लेकर कीड़े तक के सभी प्राणी कल्पित ही हैं। जैसे सागर तरंगों में रहते हुए भी जलबिन्दु की इच्छा नहीं रखता, उसी तरह केवल आनन्दस्वरूप होने से मैं विषयानन्दों की इच्छा नहीं करता। जैसे धनादिसम्पन्न मनुष्य गरीबी की इच्छा नहीं करता, वैसे ही ब्रह्मानन्द में निमग्न मुझमें विषयों की इच्छा नहीं होती।

विषं दृष्ट्वाऽमृतं दृष्ट्वा विषं त्यजति बुद्धिमान्।
आत्मानमपि दृष्ट्वाहमनात्मानं त्यजाम्यहम् ॥17॥
घटावभासको भानुर्घटनाशे न नश्यति।
देहावभासकः साक्षी देहनाशे न नश्यति ॥18॥
न मे बन्धो न मे मुक्तिर्न मे शास्त्रं न मे गुरुः।
मायामात्रविकासत्वान्मायातीतोऽहमद्वयः ॥19॥
प्राणाश्चलन्तु तद्धर्मैः कामैर्वा हन्यतां मनः।
आनन्दबुद्धिपूर्णस्य मम दुःखं कथं भवेत् ॥20॥

बुद्धिमान मनुष्य विष को और अमृत को देखकर विष को छोड़ देता है, उसी तरह मैं आत्मा को देखकर अनात्मा को छोड़ देता हूँ। जैसे घट को प्रकाशित करने वाला सूर्य घड़े का नाश होने पर भी स्वयं नष्ट नहीं होता, वैसे ही देह को प्रकाशित करने वाला आत्मा देह का नाश होने पर भी स्वयं नष्ट नहीं होता। मुझे कोई बन्धन नहीं है, मेरी कोई मुक्ति भी नहीं है। न कोई मेरा शास्त्र है और न कोई मेरा गुरु ही है। क्योंकि ये सब तो माया के विकास मात्र हैं और मैं तो माया से परे हूँ, अद्वय हूँ। प्राण भले ही चले जाएँ, मन भले ही कामनाओं के साथ नष्ट हो जाए, पर आनन्द और ज्ञान से पूर्ण मेरे लिए दुःख कैसे हो सकता है?

आत्मानमञ्जसा वेद्मि क्वाप्यज्ञानं पलायितम्।
कर्तृत्वमद्य मे नष्टं कर्तव्यं वापि न क्वचित् ॥21॥
ब्राह्मण्यं कुलगोत्रे च नामसौन्दर्यजातयः।
स्थूलदेहगता एते स्थूलाद्भिन्नस्य मे नहि ॥22॥
क्षुत्पिपासाऽन्ध्यबाधिर्यकामक्रोधादयोऽखिलाः।
लिङ्गदेहगता एते ह्यलिङ्गस्य न सन्ति हि ॥23॥
जडत्वप्रियमोदत्वधर्माः कारणदेहगाः।
न सन्ति मम नित्यस्य निर्विकारस्वरूपिणः ॥24॥

मैं आत्मा को अनायास ही जानता हूँ। मेरा अज्ञान न मालूम कहाँ भाग गया है। अब मेरा कर्तापन भी नष्ट हो गया है और मुझे अब कुछ करने का शेष नहीं रहा। ब्राह्मणत्व, कुल, गोत्र, नाम, सुन्दरता और जाति तो स्थूल देह में ही रहते हैं, मैं तो स्थूलदेह से अलग हूँ, अतः मेरा तो उनमें से कुछ भी नहीं है। भूख, प्यास, अन्धापन, बहरापन, काम, क्रोध आदि सब धर्म तो लिंगदेह के हैं,

मुझमें उनमें से एक भी नहीं है। जडता, प्रियता, आनन्द आदि कारणदेह के धर्म हैं और मैं तो नित्य ही अविकारी स्वरूप वाला हूँ। इसलिए वे धर्म मेरे नहीं हैं।

उलूकस्य यथा भानुरन्धकारः प्रतीयते।
स्वप्रकाशे परानन्दे तमो मूढस्य जायते ॥25॥
चतुर्दृष्टिनिरोधेऽभ्रैः सूर्यो नास्तीति मन्यते।
तथाज्ञानावृतो देही ब्रह्म नास्तीति मन्यते ॥26॥
यथाऽमृतं विषाद्भिन्नं विषदोषैर्न लिप्यते।
न स्पृशामि जडाद्भिन्नो जडदोषाप्रकाशतः ॥27॥
स्वल्पापि दीपकणिका बहुलं नाशयेत्तमः।
स्वल्पोऽपि बोधो निबिडं बहुलं नाशयेत्तमः ॥28॥

जैसे उल्लू को सूर्य अन्धकाररूप ही मालूम होता है, उसी प्रकार अज्ञानी को स्वयंप्रकाशरूप परमानन्द में अज्ञान दीखता है। जैसे बादलों की वजह से चारों ओर दृष्टि रुक जाती है और मानो सूर्य है ही नहीं, ऐसा लोग मानते हैं, उसी प्रकार अज्ञान से घिरा हुआ मनुष्य ब्रह्म नहीं है, ऐसा मानता है। जैसे अमृत विष से अलग है, इसलिए वह विष के दोषों से लिप्त नहीं होता, उसी प्रकार मैं जड से अलग हूँ, इसलिए जड के दोषों के अप्रकाश से मैं स्पृष्ट नहीं होता। जैसे दीपक की छोटी-सी ज्योति भी पुष्कल अन्धकार को नष्ट कर देती है, वैसे ही अति अल्प ज्ञानरूप प्रकाश भी गाढ़ अंधकाररूप अज्ञान को हटा देता है।

कालत्रये यथा सर्पो रज्जौ नास्ति तथा मयि।
अहङ्कारादिदेहान्तं जगन्नास्त्यहमद्वयः ॥29॥
चिद्रूपत्वान्न मे जाड्यं सत्यत्वान्नानृतं मम।
आनन्दत्वान्न मे दुःखमज्ञानाद्भाति सत्यवत् ॥30॥
आत्मप्रबोधोपनिषन्मुहूर्तमुपासित्वा न स पुनरावर्तते न स पुनरावर्तत इत्युपनिषद् ॥31॥

इत्यात्मबोधोपनित्समाप्ता।
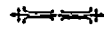
जैसे रस्सी में तीनों काल में साँप है ही नहीं, वैसे ही मुझमें अहंकार से लेकर देह तक का जगत् है ही नहीं, मैं तो केवल अद्वैत हूँ। मैं चैतन्यस्वरूप हूँ, इसलिए मुझमें जड़ता नहीं है। मैं सत्यस्वरूप हूँ, इसलिए मुझमें असत्य नहीं है। मैं आनन्दस्वरूप हूँ, इसलिए मुझमें दुःख नहीं है। केवल अज्ञान से ही ये सब सत्य दिखाई देते हैं। इस आत्मप्रबोध उपनिषद् को घड़ी-दो-घड़ी अभ्यास करके भी मनुष्य संसार में नहीं आता, मनुष्य संसार में नहीं आता।

यहाँ उपनिषद् पूरी होती है।

शान्तिपाठ

ॐ वाङ्मे मनसि.........वक्तारमवतु वक्तारम्। (पूर्ववत्)
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

(44) नारदपरिव्राजकोपनिषत्

(उपनिषत्परिचय)

इस अथर्ववेदीय उपनिषद् में परिव्राजक (संन्यासी) के सिद्धान्तों एवं आचरणों का विशद वर्णन है। नौ उपदेशों (खण्डों) में विवेचित इस उपनिषद् में उपदेष्टा देवर्षि नारदजी ने शौनक आदि ऋषियों को वर्णाश्रमधर्म, संन्यासविधि, संन्यास का अधिकारी, आतुरसंन्यास, संन्यास का महत्त्व, संन्यासियों के प्रकार, संन्यास ग्रहण की शास्त्रीय विधि आदि अनेक विषयों का भली प्रकार से प्रतिपादन किया है। इसमें संन्यासियों की दैनंदिन जीवनचर्या का भी वर्णन आ जाता है। तुरीयातीत पद की प्राप्ति के उपाय भी इसमें बताए गए हैं। संन्यासधर्म के सर्वसाधारण नियमों का उल्लेख भी किया गया है। साथ ही कुटीचक, बहूदक आदि विशिष्ट नियम भी बताए गए हैं। प्रणवानुसंधान के विशेष क्रम का भी निर्देश किया गया है। ब्रह्म के स्वरूप का वर्णन तथा आत्मज्ञानी संन्यासी का लक्षण बताकर उसके द्वारा परमपद प्राप्त करने की प्रकिया का वर्णन करके उपनिषद् की समाप्ति की गई है।

शान्तिपाठः

ॐ भद्रं कर्णेभिः.........देवहितं यदायुः। (पूर्ववत्)
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

इसका हिन्दी रूपान्तर पूर्व में (अथर्वशिर उपनिषद् में) द्रष्टव्य है।

प्रथमोपदेशः

अथ कदाचित्परिव्राजकाभरणो नारदः सर्वलोकसञ्चारं कुर्वन्नपूर्वपुण्यस्थलानि पुण्यतीर्थानि तीर्थीकुर्वन्नवलोक्य चित्तशुद्धिं प्राप्य निर्वैरः शान्तो दान्तः सर्वतो निर्वेदमासाद्य स्वरूपानुसन्धानमनुसन्धाय नियमानन्दविशेषगण्यं मुनिजनैरुपसंकीर्णं नैमिषारण्यं पुण्यस्थलमवलोक्य सरिगमपधनिससंज्ञैर्वैराग्यबोधकरैः स्वरविशेषैः प्रापञ्चिकपराङ्मुखैर्हरिकथालापैः स्थावरजङ्गमनामकैर्भगवद्भक्तिविशेषैर्नरमृगकिंपुरुषामरकिंनराप्सरोगणान्सम्मोहयन्नागतं ब्रह्मात्मजं भगवद्भक्तं नारदमवलोक्य द्वादशवर्षसत्रयागोपस्थिताः श्रुताध्ययनसम्पन्नाः सर्वज्ञास्तपोनिष्ठापराश्च ज्ञानवैराग्यसम्पन्नाः शौनकादिमहर्षयः प्रत्युत्थानं कृत्वा नत्वा यथोचितातिथ्यपूर्वकमुपवेशयित्वा स्वयं सर्वेऽप्युपविष्टा भो भगवन् ब्रह्मपुत्र कथं मुक्त्युपायोऽस्माकं वक्तव्यम् ॥1॥

एक बार परिव्राजकों में सर्वोत्तम देवर्षि नारदजी सभी लोकों में घूमते हुए, अत्यन्त पुण्यदायक स्थलों और तीर्थस्थानों में गए। वे सभी तीर्थस्थान उनके मंगलकारी आगमन से और भी पवित्र हो गए। उन सभी तीर्थस्थलों के केवल देखने-मात्र से ही उन्होंने अपनी चित्तशुद्धि प्राप्त की। देवर्षिजी का मन

बहुत शान्त था, इन्द्रियाँ उनके वश में थीं। वे सर्वतः विरक्त थे, उनके मन में किसी भी प्राणी के प्रति द्वेष नहीं था। वे स्वरूप के अनुसन्धान में ही लगे हुए थे। घूमते-घूमते वे नैमिषारण्य आ पहुँचे। वह तीर्थ विशेष गणनापात्र तीर्थ है, क्योंकि नियम-संयम से वह सबको आनन्दित रखता है। अनेक ऋषिमुनि उस तीर्थ में रहते थे। देवर्षि नारदजी ने उस पुण्यभूमि के दर्शन किए। वहाँ वैराग्य के बोधक विशेष वीणास्वर झंकार कर रहे थे। वे सांसारिक चर्चा से ऊपर उठकर वीणा द्वारा भगवान् की मधुर कथा के गीतों में ही रस लेते थे। देवर्षि के उन गीतों को सुनकर समग्र स्थावर-जंगम प्राणीसंमुदाय आनन्द से झूम उठता था। उनका भक्तिरस से भरपूर संगीत मानव, पशु, देव, किन्नर, गन्धर्व और अप्सरा आदि को भी आकृष्ट कर रहा था। उस समय में उस सुविख्यात स्थल पर बारह वर्षों का एक सत्र याग आयोजित किया जा रहा था। उस महायज्ञ में सभी देवगण, तपस्वीगण तथा ज्ञानवैराग्य से सम्पन्न शौनक आदि महान् ऋषि भी सम्मिलित हुए। उन महर्षि महानुभावों के पास परम भागवत देवर्षि नारद को आया हुआ देखकर उन्होंने अतिभव्य स्वागत-सत्कार किया। उन्होंने उनके चरणों में सिर झुकाया और उन्हें बहुत सुन्दर आसन पर बिठाया। इसके बाद, समस्त ऋषिजन अपने-अपने आसनों पर विराजमान हुए। बाद में शौनक आदि ऋषियों ने उनसे नम्रतापूर्वक पूछा—हे देवर्षे ! संसार के बन्धनों से छुटकारा पाने का क्या उपाय है ? यह हमें बताने का अनुग्रह कीजिए।

इत्युक्तस्तान् स होवाच नारदः सत्कुलभवोपनीतः सम्यगुपनयनपूर्वकं चतुश्चत्त्वारिंशत्संस्कारसम्पन्नः स्वाभिमतैकगुरुसमीपे स्वशाखाध्ययन-पूर्वकं सर्वविद्याभ्यासं कृत्वा द्वादशवर्षशुश्रूषापूर्वकं ब्रह्मचर्यं पञ्च-विंशतिवत्सरं गार्हस्थ्यं च पञ्चविंशतिवत्सरं वानप्रस्थाश्रमं तद्विधिवत् क्रमान्निर्वर्त्य चतुर्विधब्रह्मचर्यं षड्विधं गार्हस्थ्यं च चतुर्विधं वानप्रस्थ-धर्मं सम्यगभ्यस्य तदुचितं कर्म सर्वं निर्वर्त्य साधनचतुष्टयसम्पन्नः सर्वसंसारोपरि मनोवाक्कायकर्मभिर्यथाशानिवृत्तस्तथा वासनैषणो-पर्यपि निर्वैरः शान्तो दान्तः संन्यासी परमहंसाश्रमेणास्खलितस्वस्व-रूपध्यानेन देहत्यागं करोति स मुक्तो भवति स मुक्तो भवतीत्यु-पनिषत् ॥2॥

इति प्रथमोपदेशः।
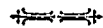
शौनकादि के द्वारा पूछने पर तीनों लोकों में सुविख्यात नारद इस प्रकार कहने लगे—उत्तम कुल में जन्मा हुआ पुरुष (यदि उपनयन संस्कार न हुआ हो तो पहले-पहल वह) विधिपूर्वक उपनयन संस्कार करवा ले। उसके बाद चँवालीस संस्कारों से संस्कृत होकर अपने मनचाहे गुरु के पास जाकर अपने वेद की शाखा का अध्ययन करते हुए, उसके साथ अन्य सभी विद्याओं का भी अभ्यास करे। वहाँ गुरु के आश्रम में उसे बारह वर्ष तक गुरु की सेवा करते हुए रहना चाहिए और ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करना चाहिए। इसके बाद पचीस वर्ष तक गृहस्थाश्रम और आगे के पचीस वर्ष तक वानप्रस्थाश्रम में रहना चाहिए। इन आश्रमों का विधिपूर्वक क्रमशः पालन करके रहना चाहिए। विद्वान् पुरुष चार प्रकार का ब्रह्मचर्य और छः प्रकार का गृहस्थ जीवन बताते हैं तथा चार प्रकार का वानप्रस्थाश्रम भी बताते हैं। मनुष्य इन सबका अच्छी तरह पालन और निर्वर्तन करके बाद में साधन-चतुष्टय से युक्त होकर, सारे संसार से ऊपर उठकर, मन, वाणी, काया और कर्म से जैसे आशा से निवृत हो गया हो और वासनाओं और एषणाओं से ऊपर उठकर, वैररहित होकर शान्त, दमनशील

(संयमी) संन्यासी के परमहंस के आश्रम में धारावाहिक रूप से अपने आत्मस्वरूप का ध्यान करते हुए देहत्याग करता है। ऐसा साधक मुक्त हो जाता है, मुक्त हो ही जाता है, यह उपदेश है।

यहाँ प्रथमोपदेश पूरा हुआ।

❋

द्वितीयोपदेशः

अथ हैनं भगवन्तं नारदं सर्वे शौनकादयः पप्रच्छुर्भो भगवन् ! संन्यासविधिं नो ब्रूहीति तानवलोक्य नारदस्तत्स्वरूपं सर्वं पितामह-मुखेनैव ज्ञातुमुचितमित्युक्त्वा सत्रयागपूर्त्यनन्तरं तैः सह सत्यलोकं गत्वा विधिवद् ब्रह्मनिष्ठापरं परमेष्ठिनं नत्वा स्तुत्वा यथोचितं तदाज्ञया तैः सहोपविश्य नारदः पितामहमुवाच गुरुस्त्वं जनकस्त्वं सर्वविद्यारहस्यज्ञः सर्वज्ञस्त्वमतो मत्तो मदिष्टं रहस्यमेकं वक्तव्यं त्वद्विना मदभिमतरहस्यं वक्तुं कः समर्थः। किमिति चेत् परिव्राज्यस्वरूपक्रमं नो ब्रूहीति नारदेन प्रार्थितः परमेष्ठी सर्वतः सर्वानवलोक्य मुहूर्तमात्रं समाधिनिष्ठो भूत्वा संसारार्तिनिवृत्त्यन्वेषण इति निश्चित्य नारदमवलोक्य तमाह पितामहः। पुरा मत्पुत्र पुरुषसूक्तोपनिषद्रहस्यप्रकारं निरतिशयाकारावलम्बिना विराट्पुरुषेणोपदिष्टं रहस्यं ते विविच्योच्यते। तत्क्रममतिरहस्यं बाढमवहितो भूत्वा श्रूयताम् ॥1॥

तब उन शौनकादिकों ने नारद से पूछा—'हे भगवन् ! आप हम सब लोगों को संन्यास की विधि बताने की कृपा कीजिए।' उन सभी को देखकर नारदजी ने कहा—'इसका सही और पूर्ण स्वरूप तो हम पितामह से ही सुनेंगे' ऐसा कहकर जब सत्र-याग पूर्ण हुआ, तब उन ऋषियों के साथ सत्यलोक में जाकर, ब्रह्मनिष्ठों में श्रेष्ठ ऐसे परमेष्ठी ब्रह्माजी को विधिपूर्वक प्रणाम करके और उनकी यथोचित स्तुति करके उनकी आज्ञानुसार उन ऋषियों के साथ बैठकर नारद ने पितामह से कहा—'आप गुरु हैं, आप सबके पिता हैं, आप सभी विद्याओं के रहस्य को जानने वाले हैं, आप सर्वज्ञ हैं। मेरा एक इष्ट रहस्य मुझसे आप कहिए। आपके अतिरिक्त मेरे अभिमत रहस्य को कहने में भला कौन समर्थ है ? वह क्या है, ऐसा यदि आप पूछें, तो मैं कहता हूँ कि आप हमें पारिव्राज्य का रहस्य बताइए।' इस प्रकार नारद के द्वारा प्रार्थना किए जाने पर परमेष्ठी ब्रह्मा ने चारों ओर देखकर संसारनिवृत्ति के उपाय को खोजने में एक मुहूर्त तक समाधिमग्न होकर बाद में नारद को देखते हुए पितामह ने कहा—'हे नारद ! प्राचीन काल में पुरुषसूक्त और उपनिषदों में बताए गए गूढ रहस्य को, जो कि मुझको दिव्य देहधारी विराट् पुरुष ने बताया था, उसी दिव्य ज्ञान को मैं तुम सब लोगों के आगे बता रहा हूँ, तो सावधान होकर अच्छी तरह से सुनो।'

भो नारद ! विधिवदादावुपनीतोपनयनानन्तरं तत्सत्कुलप्रसूतः पितृ-मातृविधेयः पितृसमीपादन्यत्र सत्सम्प्रदायस्थ श्रद्धावन्तं सत्कुलभवं श्रोत्रियं शास्त्रवात्सल्यं गुणवन्तमकुटिलं सद्गुरुमासाद्य नत्वा यथोप-योगशुश्रूषापूर्वकं स्वाभिमतं विज्ञाप्य द्वादशवर्षसेवापुरःसरं सर्वविद्या-भ्यासं कृत्वा तदाज्ञया स्वकुलानुरूपामभिमतकन्यां विवाह्य पञ्च-

विंशतिवत्सरं गुरुकुलवासं कृत्वाथ गुर्वनुज्ञया गृहस्थोचितकर्म कुर्वन्दौ-र्ब्राह्मण्यनिवृत्तिमेत्य स्ववंशवृद्धिकामः पुत्रमेकमासाद्य गार्हस्थ्योचित-पञ्चविंशतिवत्सरं तीर्त्वा ततः पञ्चविंशतिवत्सरपर्यन्तं त्रिषवणमुदक-स्पर्शनपूर्वकं चतुर्थकालमेकवारमाहारमाहरन्नयमेक एव वनस्थो भूत्वा पुरग्रामप्राक्तनसञ्चारं विहाय निकिरविरहिततदाश्रितकर्मोचितकृत्यं निर्वर्त्य दृष्टश्रवणविषयवैतृष्ण्यमेत्य चत्वारिंशत्संस्कारसम्पन्नः सर्वतो विरक्तश्चित्तशुद्धिमेत्याशासूयेर्ष्याहङ्कारं दग्ध्वा साधनचतुष्टयसम्पन्नः संन्यस्तुमर्हतीत्युपनिषत् ॥2॥

इति द्वितीयोपदेशः ।
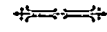
हे नारद ! सर्वप्रथम तो उस सत्कुल में जन्म लिए हुए और माता-पिता की आज्ञा मानने वाले को उपनयन संस्कार करवाना चाहिए। इसके बाद उस बालक को पिता के समीप न रहकर अन्यत्र किसी सत् संप्रदाय में और ऊँचे कुल में जन्मे हुए श्रद्धावान् शास्त्रज्ञानी, गुणवान्, सरल स्वभाववाले, सद्गुरु को पसन्द करके, उन्हें प्रणाम करके, गुरु की आवश्यकतानुसार सेवा करके, उनके आगे अपना हेतु कह करके, बारह वर्ष तक उनकी सेवा करते हुए उनके पास से सभी विद्याओं का अभ्यास करके, बाद में उनकी आज्ञा से अपने कुल के अनुरूप अपनी चाही हुई कन्या के साथ विवाह करके अपने वंश की वृद्धि की कामना करते हुए एक पुत्र को प्राप्त करके पचीस वर्ष तक गुरुगृह में वास करने के बाद, गुरु की आज्ञा से गृहस्थोचित कर्म करते हुए पचीस वर्ष तक रहना चाहिए। इसके बाद के पचीस वर्ष तक दिन में तीन बार सन्ध्या-स्नानादि करते हुए दिन के चौथे प्रहर में एक बार ही भोजन करके रहना चाहिए। नगरों एवं ग्रामों के परिचित मार्गों को छोड़कर एकान्त में रहना चाहिए। बिना बोई हुई जमीन पर बिखरे हुए सामा, ताण्डुल आदि को ही इकट्ठा करके उसी से आश्रमोचित धर्म का पालन करते हुए दृश्य-श्रव्यादि विषयों से विरक्त होकर चालीस संस्कारों से सम्पन्न होकर चित्त को सभी तरह से हमेशा के लिए शुद्ध (पवित्र) कर लेना चाहिए। आशा, असूया, ईर्ष्या, आदि को छोड़कर साधनचतुष्टय से परिपूर्ण हो जाना चाहिए। इन सबसे युक्त होने पर ही मनुष्य संन्यास का अधिकारी बन जाता है। यही उपेदश है।

यहाँ द्वितीयोपदेश पूरा हुआ।

तृतीयोपदेशः

अथ हैनं नारदः पितामहं पप्रच्छ भगवन् केन संन्यासाधिकारी वेत्येवमादौ संन्यासाधिकारिणं निरूप्य पश्चात्संन्यासविधिरुच्यते। अवहितः शृणु। अथ षण्डः पतितोऽङ्गविकलः स्त्रैणो बधिरोऽर्भको मूकः पाषण्डश्चक्री लिङ्गी वैखानसहरद्विजौ भृतकाध्यापकः शिपिविष्टो-ऽनग्निको वैराग्यवन्तोऽप्येते न संन्यासार्हाः संन्यस्ता यद्यपि महा-वाक्योपदेशेनाधिकारिणः पूर्वसंन्यासी परमहंसाधिकारी ॥1॥

अब नारद ने उन पितामह से पूछा—'हे भगवन्! किसके द्वारा संन्यास लेना चाहिए और संन्यास का अधिकारी कौन है? ब्रह्माजी ने कहा—पहले मैं संन्यास के अधिकारी के विषय में कहूँगा और बाद में संन्यास की विधि बताऊँगा। तुम इसे सावधान होकर सुनो। नपुंसक, पतित, विकलांग, स्त्री में अत्यासक्त, बहारा, बच्चा, गूँगा, पाखण्डी, चक्री (षडयन्त्रकारी), वेषभूषा धारण करने वाला, वैखानस, शिवभक्त, धन लेकर पढ़ाने वाला, कोढी, अग्निहोत्ररहित—ये सब वैराग्य वाले हों, तो भी संन्यास के लिए योग्य नहीं हैं। वे यदि संन्यास ग्रहण करें, तो भी महावाक्यों के उपदेश के अधिकारी तो हैं ही नहीं। जो पूर्व में (पूर्वाश्रमों में) भी संन्यास जैसा आचरण करने वाले हों, वे ही संन्यास लेने के अधिकारी समझे जाते हैं।

परेणैवात्मनश्चापि परस्यैवात्मना तथा।
अभयं समवाप्नोति स परिव्राडिति स्मृतिः ॥2॥
षण्ढोऽथ विकलोऽप्यन्धो बालकश्चापि पातकी।
पतितश्च परद्वारी वैखानसहरद्विजौ ॥3॥
चक्री लिङ्गी च पाखण्डी शिपिविष्टोऽप्यनग्निकः।
द्वित्रिवारेण संन्यस्तो भृतकाध्यापकोऽपि च।
एते नार्हन्ति संन्यासमातुरेण विना क्रमम् ॥4॥

जो अन्यों को डराता नहीं है और स्वयं किसी से डरता नहीं है, वह परिव्राट् (परिव्राजक) कहा गया है। (अब संन्यास के लिए अनधिकारी बताए जाते हैं—) नपुंसक, विकलांग, अन्ध, बालक, पातकी, पतित, परद्वारी (व्यभिचारी), वैखानस, शिवभक्त, षड्यंत्र करने वाला, वेशभूषा करने वाला नट आदि, पाखण्डी, कोढी, अग्निहोत्ररहित, दो-तीन बार संन्यासी होने वाला, धन लेकर पढ़ाने वाला—ये सब संन्यास के योग्य नहीं हैं। किन्तु यदि आतुरसंन्यास लेना हो, तो ये सब बिना क्रम से ही संन्यास के अधिकारी माने जा सकते हैं।

आतुरकालः कथमार्यसम्मतः।
प्राणस्योत्क्रमणासन्नकालस्त्वातुरसंज्ञकः।
नेतरस्त्वातुरः कालो मुक्तिमार्गप्रवर्तकः ॥5॥
आतुरेऽपि च संन्यासे तत्तन्मन्त्रपुरःसरम्।
मन्त्रावृत्तिं च कृत्वैव संन्यसेद्विधिवद्बुधः ॥6॥
आतुरेऽपि क्रमे वाऽपि प्रैषभेदो न कुत्रचित्।
न मन्त्रं कर्मरहितं कर्म मन्त्रमपेक्षते ॥7॥
अकर्म मन्त्ररहितं नातो मन्त्र परित्यजेत्।
मन्त्रं विना कर्म कुर्याद् भस्मन्याहुतिवद्भवेत् ॥8॥
विध्युक्तकर्मसंक्षेपात् संन्यासस्त्वातुरः स्मृतः।
तस्मादातुरसंन्यासे मन्त्रावृत्तिविधिर्मुने ॥9॥

तब नारद ने पूछा—'आतुरसंन्यास कौन-सा काल (समय) आर्यों (विद्वज्जनों) द्वारा मान्य किया गया?' तब ब्रह्माजी बोले—प्राणों के निकलने का समय जब अत्यन्त निकट आ जाए, तभी आतुर-संन्यास लेना उचित समझा गया है। इसके इतर अन्य कोई समय योग्य नहीं है। योग्य समय पर लिया गया आतुरसंन्यास मुक्ति को देने वाला है। आतुरसंन्यास में भी ज्ञानी पुरुष उस-उस योग्यमन्त्र को

लेकर उस मन्त्रावृत्तिपूर्वक ही संन्यास ग्रहण करे। यों तो आतुरसंन्यास में और क्रमसंन्यास में विशेष कोई भेद नहीं है। कोई भी मन्त्र कार्यरहित नहीं होता और हरएक कर्म मंत्र की अपेक्षा करता ही है। कोई भी कर्म मंत्ररहित नहीं होता। इसलिए मंत्र को छोड़ना नहीं चाहिए, मंत्ररहित कर्म तो अकर्म ही है। यदि मंत्र के बिना कोई कर्म करता है, तो वह भस्म (राख) में आहुति डालने के समान व्यर्थ ही है। इसलिए हे मुनि, संक्षेप में शास्त्रोक्त कर्म करने से आतुरसंन्यास की विधि सम्पन्न होती हैं। अतः इस विधि के मंत्रों का बार-बार उच्चारण करना विधिपुरःसर ही है।

आहिताग्निर्विरक्तश्चेद्देशान्तरगतो यदि।
प्राजापत्येष्टिमप्स्वेव निर्वृत्यैवाथ संन्यसेत् ॥10॥
मनसा वाऽथ विध्युक्तमन्त्रावृत्याऽथ वा जले।
श्रुत्यनुष्ठानमार्गेण कर्मानुष्ठानमेव वा।
समाप्य संन्यसेद्विद्वान्नो चेत्पातित्यमाप्नुयात् ॥11॥

यदि अग्निहोत्र करने वाला मनुष्य देशान्तर में गया हो और वहाँ वैराग्य हो गया हो, तो जल में ही प्राजापत्य यज्ञ करके संन्यास ले सकता है। वह प्राजापत्य याग या तो वह मन से कर सकता है, या तो विधिपुरःसर जल में ही मन्त्रों के उच्चारण की आवृत्ति भी कर सकता है। श्रुति-वर्णित अनुष्ठान वा कर्मानुष्ठान सब समेट कर विद्वान् पुरुष को संन्यास लेना चाहिए, अन्यथा उसे पाप लगता है।

यदा मनसि सञ्जातं वैतृष्ण्यं सर्ववस्तुषु।
तदा संन्यासमिच्छेत पतितः स्याद्विपर्यये ॥12॥
विरक्तः प्रव्रजेद् धीमान् सरक्तस्तु गृहे वसेत्।
सरागो नरकं याति प्रव्रजन् हि द्विजाधमः ॥13॥

जब मन में सभी वस्तुओं के प्रति तृष्णा का अभाव हो जाए, तब संन्यास की इच्छा करनी चाहिए। इसके विपरीत अर्थात् तृष्णा होने पर भी संन्यास की इच्छा करने से मनुष्य पतित हो जाता है। अतः बुद्धिमान को विरक्त होने पर ही संन्यास लेना चाहिए। यदि मन में राग रह गया हो तब तो घर में ही रहना चाहिए। राग होने पर भी संन्यास लेने वाला द्विजाधम तो नरक में ही जाता है।

यस्यैतानि सुगुप्तानि जिह्वोपस्थोदरं करः।
संन्यसेदकृतोद्वाहो ब्राह्मणो ब्रह्मचर्यवान् ॥14॥
संसारमेव निःसारं दृष्ट्वा सारदिदृक्षया।
प्रव्रजन्त्यकृतोद्वाहाः परं वैराग्यमाश्रिताः ॥15॥
प्रवृत्तिलक्षणं कर्म ज्ञानं संन्यासलक्षणम्।
तस्माज्ज्ञानं पुरस्कृत्य संन्यसेदिह बुद्धिमान् ॥16॥

जिस पुरुष की जिह्वा, उपस्थ, उदर और हाथ आदि इन्द्रियाँ अपने वश में हैं, उसे विवाह किये बिना ही संन्यास ले लेना चाहिए। ब्रह्मचर्यवान् ब्राह्मण संसार को निःसार ही समझकर सारतत्त्व को देखने की इच्छा से विवाह किए बिना ही परमवैराग्य को ग्रहण कर संन्यास ले ही लेते हैं। कर्म का लक्षण प्रवृत्ति है और ज्ञान का लक्षण संन्यास है। इसलिए ज्ञान को ही आगे बढ़ाकर बुद्धिमान को संन्यास ले ही लेना चाहिए।

यदा तु विदितं तत्त्वं परं ब्रह्म सनातनम्।
तदैकदण्डं संगृह्य सोपवीतां शिखां त्यजेत् ॥17॥
परमात्मनि यो रक्तो विरक्तोऽपरमात्मनि।
सर्वैषणाविनिर्मुक्तः स भैक्षं भोक्तुमर्हति ॥18॥
पूजितो वन्दितश्चैव सुप्रसन्नो यथा भवेत्।
तथा चेत्ताड्यमानस्तु तदा भवति भैक्षभुक् ॥19॥
अहमेवाक्षरं ब्रह्म वासुदेवाख्यमद्वयम्।
इति भावो ध्रुवो यस्य तदा भवति भैक्षभुक् ॥20॥

जब मनुष्य सनातन परब्रह्मरूप तत्त्व को जान लेता है, तब उपवीत के साथ शिखा का भी त्याग करके एक दण्ड लिए हुए परमात्मा में ही वह रमण करता है और परमात्मा के अतिरिक्त वस्तुओं से वह विरक्त हो जाता है। तब वह सभी प्रकार की एषणाओं से रहित हो जाता है। जब ऐसा हो जाता है तभी वह भिक्षान्न ग्रहण करने का अधिकारी होता है। जिस प्रकार वह पूजित और वन्दित होने पर खुश होता है, उसी प्रकार यदि प्रताड़ित होने से भी खुश होता हो, तभी वह भिक्षान्न खाने के योग्य माना जा सकता है। 'मैं एकाक्षर – ॐकाररूप – वासुदेव नामक अद्वैत ब्रह्म ही हूँ'—ऐसा अविचलित भाव जिसमें रहता हो, वही भिक्षान्न खा सकता है।

यस्मिञ् शान्तिः शमः शौचं सत्यं सन्तोष आर्जवम्।
अकिञ्चनमदम्भश्च स कैवल्याश्रमे वसेत् ॥21॥
यदा न कुरुते भावं सर्वभूतेषु पापकम्।
कर्मणा मनसा वाचा तदा भवति भैक्षभुक् ॥22॥
दशलक्षणकं धर्ममनुतिष्ठन्समाहितः।
वेदान्तान्विधिवच्छ्रुत्वा संन्यसेदनृणो द्विजः ॥23॥
धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम् ॥24॥

जिसमें शान्ति, दम, पवित्रता, सत्य, सन्तोष, सरलता, अकिंचनत्व, निर्दम्भता होती है, वही कैवल्याश्रम (विद्वत्संन्यास) में रह सकता है। जब वह सभी प्राणियों के प्रति किसी प्रकार का पापकर्म नहीं करता, कर्म, वचन और मन से निष्पाप रहता है, तभी वह भिक्षान्न खा सकता है। दश लक्षणवाले धर्म का आचरण करते हुए, वह सावधान होकर वेदान्तों को (उपनिषदों को) विधिपुरःसर सुनकर ही अनृण होकर संन्यास ग्रहण करे। धैर्य, क्षमा, दम, अचौर्य, पवित्रता, इन्द्रियनिग्रह, बुद्धि, विद्या, सत्य, अक्रोध—ये दश लक्षण धर्म के होते हैं।

अतीतान्न स्मरेद्भोगान्न तथानागतानपि।
प्राप्तांश्च नाभिनन्देद्यः स कैवल्याश्रमे वसेत् ॥25॥
अन्तःस्थानीन्द्रियाण्यन्तर्बहिष्ठान्विषयान्बहिः।
शक्नोति यः सदा कर्तुं स कैवल्याश्रमे वसेत् ॥26॥
प्राणे गते यथा देहः सुखं दुःखं न विन्दति।
तथा चेत्प्राणयुक्तोऽपि स कैवल्याश्रमे वसेत् ॥27॥

जो भूतकाल में भोगे हुए भोगों का स्मरण नहीं करता और भविष्य में प्राप्त होने वाले भोगों की कामना नहीं करता तथा जो वर्तमान में भोगे जाने वाले भोगों का स्वागत भी नहीं करता वह कैवल्याश्रम में (संन्यास में) रह सकता है। जो अन्तरिन्द्रियों को सदा के लिए भीतर और बाहर की इन्द्रियों को सदैव बाहर रखने की शक्ति रखता है, वही कैवल्याश्रम में रह सकता है। जिस तरह प्राण के निकल जाने पर सुख या दुःख का ज्ञान नहीं होता, इसी तरह प्राण रहने पर भी जो सुख-दुःख को नहीं जानता, वह कैवल्याश्रम में रह सकता है, वही कैवल्याश्रम में रह सकता है।

कौपीनयुगलं कन्था दण्ड एकः परिग्रहः।
यतेः परमहंसस्य नाधिकं तु विधीयते ॥28॥
यदि वा कुरुते रागादधिकस्य परिग्रहम्।
रौरवं नरकं गत्वा तिर्यग् योनिषु जायते ॥29॥
विशीर्णान्यमलान्येव चेलानि ग्रथितानि तु।
कृत्वा कन्थां बहिर्वासो धारयेद्धातुरंजितम् ॥30॥
एकवासा अवासा वा एकदृष्टिरलोलुपः।
एक एव चरेन्नित्यं वर्षास्वेकत्र संवसेत् ॥31॥
कुटुम्बं पुत्रदारांश्च वेदाङ्गानि च सर्वशः।
यज्ञं यज्ञोपवीतं च त्यक्त्वा गूढश्चरेद्यतिः ॥32॥

दो कौपीन, एक गुदड़ी और एक दण्ड—इतना ही उस परमहंस संन्यासी का परिग्रह होता है। इससे ज्यादा नहीं होना चाहिए। यदि वह आसक्तिवश ज्यादा परिग्रह करता है, तब तो वह रौरव (नामक) नरक में ही गिरता है, और बाद में नीच योनियों में जन्म लेता है। टूटे-फटे परन्तु स्वच्छ कपड़ों से सिलकर उसकी गुदडी बनाये और ग्राम के बाहर बसना चाहिए और गेरुआ वस्त्र धारण करना चाहिए। उसे एक ही वस्त्र पहनना चाहिए या तो वस्त्र ही नहीं पहनना चाहिए। उसकी दृष्टि एकाग्र होनी चाहिए। वह अलोलुप होना चाहिए। उसे अकेला ही विचरण करना चाहिए। वर्षाऋतु के चार मासों में वह एक जगह पर रह सकता है। वेदों, घर-कुटुम्ब, स्त्री-पुत्रादि का एवं यज्ञ तथा यज्ञोपवीत का त्याग करके उस यति को छिपकर रहना चाहिए।

कामः क्रोधस्तथा दर्पो लोभमोहादयश्च वै।
तांस्तु दोषान्परित्यज्य परिव्राण्निर्ममो भवेत् ॥33॥
रागद्वेषवियुक्तात्मा समलोष्टाश्मकाञ्चनः।
प्राणिहिंसानिवृत्तश्च मुनिः स्यात्सर्वनिःस्पृहः ॥34॥
दम्भाहङ्कारनिर्मुक्तः हिंसापैशून्यवर्जितः।
आत्मज्ञानगुणोपेतो यतिर्मोक्षमवाप्नुयात् ॥35॥
इन्द्रियाणां प्रसङ्गेन दोषमृच्छत्यसंशयः।
संनियम्य तु तान्येव ततः सिद्धिं निगच्छति ॥36॥

काम, क्रोध, दर्प, लोभ, मोह आदि जो हैं उन दोषों को छोड़कर संन्यासी को सब तरफ से निर्मम होना चाहिए। रागद्वेष से रहित मन वाला, लोहे, काष्ठ, पत्थर और सोने को समान देखने वाला, प्राणियों की हिंसा से रहित, सर्व से निस्पृह ही ऐसा मुनि होता है। दंभ और अहंकार से रहित, तथा हिंसा और चुगली से रहित, आत्मज्ञानरूप गुण से युक्त यति ही भिक्षान्न प्राप्त करता है। इन्द्रियों

का प्रसंग आने पर मनुष्य अवश्य दोष प्राप्त करता है। अतः इन्द्रियसंयम करके ही यति सिद्धि को प्राप्त कर सकता है।

न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते ॥37॥
श्रुत्वा स्पृष्ट्वा च भुक्त्वा च दृष्ट्वा घ्रात्वा च यो नरः।
न हृष्यति ग्लायति वा स विज्ञेयो जितेन्द्रियः ॥38॥
यस्य वाङ्मनसी शुद्धे सम्यग् गुप्ते च सर्वदा।
स वै सर्वमवाप्नोति वेदान्तोपगतं फलम् ॥39॥
सम्मानाद् ब्राह्मणो नित्यमुद्विजेत विषादिव।
अमृतस्येव चाकांक्षेदवमानस्य सर्वदा ॥40॥

कामनाएँ कभी भोग से शान्त नहीं होतीं। वह हवि के द्रव्यों से उत्पन्न अग्नि की भाँति फिर से ही भड़क उठती हैं। सुनकर, स्पर्श कर, खाकर, देखकर और सूँघकर जो मनुष्य न तो खुश होता है और न ही खिन्न होता है, उसी को जितेन्द्रिय जानना चाहिए। जिस मनुष्य की वाणी और मन शुद्ध होते हैं, और वे अच्छी तरह से वश में किए गए होते हैं, वही वेदान्त में बताया गया सब फल पा सकता है। सच्चा ब्राह्मण सम्मान से खिन्न होता है, मानो विष से युक्त हो गया हो। वह तो हमेशा अपमान की ही आकांक्षा करता रहता है।

सुखं ह्यवमतः शेते सुखं च प्रतिबुध्यते।
सुखं चरति लोकेऽस्मिन्नवमन्ता विनश्यति ॥41॥
अतिवादांस्तितिक्षेत नावमन्येत कंचन।
न चेमं देहमाश्रित्य वैरं कुर्वीत केनचित् ॥42॥
क्रुध्यन्तं न प्रतिक्रुध्येदाक्रुष्टं कुशलं वदेत्।
सप्तद्वारावकीर्णां च न वाचमनृतां वदेत् ॥43॥
अध्यात्मरतिरासीनो निरपेक्षो निराशिषः।
आत्मनैव सहायेन सुखार्थी विचरेदिह ॥44॥

वह परमहंस अपमान किए जाने पर सुखपूर्वक ही सोता है, और सुखपूर्वक ही उठता है। इस लोक में वह सुखपूर्वक ही विचरण करता रहता है। वह नहीं, परन्तु उसका अपमान करने वाला ही विनष्ट हो जाता है। अपने विरुद्ध किए गए विवादों को वह सहन करे और किसी का वह अपमान न करे। इस भौतिक शरीर के लिए से किसी से वैर न करे। अपने ऊपर क्रोध करने वाले के ऊपर भी वह क्रोध न करे और उस वाणी से जो कि सात द्वारों के साथ सम्बद्ध है, झूठ न बोले। (वाणी के सात द्वार—दो कान, दो आँख, दो नथुने और एक मुख है)। आध्यात्मिक विषयों में ही तल्लीन रहकर शान्त भाव से किसी की अपेक्षा किए बिना, सभी कामनाओं का त्याग कर केवल अपने आत्मा के ही सहाय्य से सुखार्थी होकर विचरण करता है।

इन्द्रियाणां निरोधेन रागद्वेषक्षयेण च।
अहिंसया च भूतानाममृतत्वाय कल्पते ॥45॥
अस्थिस्थूणं स्नायुबद्धं मांसशोणितलेपितम्।
चर्मावबद्धं दुर्गन्धि पूर्णं मूत्रपुरीषयोः ॥46॥

जराशोकसमाविष्टं रोगायतनमातुरम् ।
रजस्वलमनित्यं च भूतावासमिमं त्यजेत् ॥47॥
मांसासृक्पूयविण्मूत्रस्नायुमज्जास्थिसंहतौ ।
देहे चेत्प्रीतिमान्मूढो भविता नरकेऽपि सः ॥48॥

इन्द्रियों के निरोध से और राग-द्वेष के क्षय से तथा प्राणियों की अहिंसा से मनुष्य मुक्ति प्राप्त कर लेता है। इस शरीर में हड्डियों के खम्भे बनाए गए हैं, स्नायुओं का जाल बना दिया गया है, यह मांस और शोणित से लेपा गया है और चमड़े से बाँधा गया है, यह दुर्गन्धवाला है और मूत्र एवं विष्टा से भरा हुआ है। वृद्धावस्था और शोक से समाविष्ट है, रोगों का घर है, व्यथाओं और पीड़ाओं से युक्त है, रक्त और वीर्य से युक्त एवं रजोगुण युक्त है। यह अनित्य है, पाँचो महाभूत इसमें अपना स्थान बनाए हुए हैं अतः ऐसे शरीर के मोह को छोड़ ही देना चाहिए। मांस, रक्त, चर्बी, मज्जा, स्नायु, विष्टा, मूत्र एवं हड्डियों आदि से भरे हुए इस देह में आसक्ति रखने वाला मूढ तो जैसे नरक में ही प्रीतिवाला है। वह अवश्य नरक से ही प्रेम करता है।

सा कालसूत्रपदवी सा महावीचिवागुरा ।
सासिपत्रवनश्रेणी या देहेऽहमिति स्थितिः ॥49॥
सा त्याज्या सर्वयत्नेन सर्वनाशोऽप्युपस्थिते ।
स्प्रष्टव्या सा न भव्येन सश्वमांसेन पुल्कसी ॥50॥
प्रियेषु स्वेषु सुकृतमप्रियेषु च दुष्कृतम् ।
विसृज्य ध्यानयोगेन ब्रह्माप्येति सनातनम् ॥51॥
अनेन विधिना सर्वान् सङ्गांस्त्यक्त्वा शनैः शनैः ।
सर्वद्वन्द्वैर्विनिमुक्तो ब्रह्मण्येवावतिष्ठते ॥52॥

वह देहप्रीति ही कालसूत्र नाम के नरक का मार्ग है, वही कालवीचि नामक नरक में ले जाने वाली जाल के रूप में बिछी हुई है। वह देह के प्रति अहंत्व की भावना तलवार की धार जैसी वनस्पति के वनों की श्रेणी जैसी है। और वही देहासक्ति इस शरीर में 'अहं' के रूप में रहती है। किसी भी प्रकार से यदि नाश होने की स्थिति जाए तो भी सभी प्रयत्न करके वह देहासक्ति छोड़ ही देनी चाहिए। भव्य ज्ञानी पुरुष ऐसी अहंता को कुत्ते का मांस खाने वाली चाण्डालिनी की ही तरह छोड़कर तथा अपने प्रियजनों में रहे हुए सुकृतों को और अपने अप्रिय जनों में रहे हुए दुष्कृतों को अर्थात् राग और द्वेष दोनों को भूलकर ध्यानयोग से सनातन ब्रह्म की प्राप्ति कर लेता है। वह इसी विधि से सभी आसक्तियों को छोड़कर धीरे-धीरे सभी द्वन्द्वों से मुक्त होकर ब्रह्म में ही अपना स्थान ग्रहण करता है।

एक एव चरेन्नित्यं सिद्ध्यर्थमसहायकः ।
सिद्धिमेकस्य पश्यन्हि न जहाति न हीयते ॥53॥
कपालं वृक्षमूलानि कुचेलान्यसहायता ।
समता चैव सर्वस्मिन्नेतन्मुक्तस्य लक्षणम् ॥54॥
सर्वभूतहितः शान्तस्त्रिदण्डी सकमण्डलुः ।
एकरामः परिव्रज्य भिक्षार्थं ग्राममाविशेत् ॥55॥
एको भिक्षुर्यथोक्तः स्याद् द्वावेव मिथुनं स्मृतम् ।
त्रयो ग्रामः समाख्यात ऊर्ध्वं तु नगरायते ॥56॥

उस परमहंस को अकेले ही विचरण करना चाहिए। उसे सिद्धि के लिए किसी की सहायता की जरूरत नहीं है। किसी एक की सिद्धि देखकर वह अपनी साधना नहीं छोड़ता और वह सिद्धि से वंचित भी नहीं रहता। एक कपाल, वृक्षों के मूल और फटे-पुराने वस्त्र—ये तीन ही उसकी खानपान, रहने और पहनने की सामग्री है। वह किसी की सहायता नहीं लेता। वह सबमें समानता ही देखता है। यही जीवन्मुक्त का लक्षण कहा गया है। वह सभी प्राणियों के हित में रत है, वह शान्त है, वह त्रिदण्डी है, वह अपने साथ एक कमण्डलु रखता है, वह केवल आत्मा में ही रममाण है। वह अकेला ही रहता हुआ केवल भिक्षा के लिए ही किसी गाँव में प्रवेश करता है। शास्त्रों में तो अकेला रहने वाला ही संन्यासी कहा गया है। यदि दो संन्यासी साथ-साथ रहते हों तो उसे 'मिथुन' कहा जाता है। ऐसे ही यदि तीन हों तो ग्राम और उससे भी अधिक हों तो नगर कहा जायेगा।

नगरं नहि कर्तव्यं ग्रामो वा मिथुनं तथा ।
एतत्त्रयं प्रकुर्वाणः स्वधर्माच्च्यवते यतिः ॥57॥
राजवार्तादि तेषां स्याद् भिक्षावार्ता परस्परम् ।
स्नेहपैशून्यमात्सर्यं संनिकर्षान्न संशयः ॥58॥
एकाकी निःस्पृहस्तिष्ठेन्न हि केन सहालपेत् ।
दद्यान्नारायणेत्येव प्रतिवाक्यं सदा यतिः ॥59॥
एकाकी चिन्तयेद् ब्रह्म मनोवाक्कायकर्मभिः ।
मृत्युं च नाभिनन्देत जीवितं वा कथञ्चन ॥60॥

परमहंस योगी को पूर्व में कहे गए अनुसार नगर, ग्राम या मिथुन की स्थिति नहीं उत्पन्न करनी चाहिए। ऐसा करने वाला योगी अपने मार्ग से पतित हो जाता है। क्योंकि इस प्रकार के संसर्ग से अवश्य ही एक दूसरे के साथ राज्य सम्बन्धी या भिक्षा सम्बन्धी बातचीत होती ही है और उससे स्नेह, चुगली या द्वेष आदि मनोभाव उत्पन्न होते ही हैं। इसलिए उसे अकेले ही निःस्पृहभाव से रहना चाहिए। और किसी के साथ वार्तालाप नहीं करना चाहिए। उसे प्रतिवचन के रूप में केवल नारायण का नाम कहना चाहिए। उसे एकाकी रहकर ही ब्रह्म का चिन्तन करना चाहिए। वह मन, वाणी, शरीर तथा कर्म से ब्रह्मचिन्तन करे। संन्यासी को मृत्यु या जीवन दोनों को ही किसी प्रकार से अभिनन्दित नहीं करना चाहिए।

कालमेव प्रतीक्षेत यावदायुः समाप्यते ।
नाभिनन्देत मरणं नाभिनन्देत जीवितम् ॥
कालमेव प्रतीक्षेत निर्देशं भृतको यथा ॥61॥
अजिह्वः षण्डकः पङ्गुरन्धो बधिर एव च ।
मुग्धश्च मुच्यते भिक्षुः षड्भिरेतैर्न संशयः ॥62॥
इदमिष्टमिदं नेति योऽश्नन्नपि न सज्जति ।
हितं सत्यं मितं वक्ति तमजिह्वं प्रचक्षते ॥63॥
अद्यजातां यथा नारीं तथा षोडशवार्षिकीम् ।
शतवर्षां च यो दृष्ट्वा निर्विकारः स षण्डकः ॥64॥

वह जीवन्मुक्त जहाँ तक आयु समाप्त होती है, वहाँ तक काल की प्रतीक्षा करता रहता है। वह जीवन और मरण किसी को भी अभिनन्दित नहीं करता। जैसे भृतक (धन लेकर कार्य करने वाला व्यक्ति) नियत की गई समयावधि की राह देखता रहता है, वैसे ही वह काल की प्रतीक्षा करता है। वह

'अजिह्व' होता है और 'षण्डक' भी होता है। साथ ही वह पंगु, बहरा और अन्धा भी होता है। वह मूढ भी होता है। इन छः गुणों से युक्त होने पर ही भिक्षु को मुक्ति मिलती है। जो भिक्षु 'यह इष्ट है' या 'यह अनिष्ट हैं' इसका विचार किये बिना ही (अर्थात् अनासक्त होकर) भोजन ग्रहण करता है और साथ ही हितकारी, सत्य और कम वचन बोलता है, उसी को 'अजिह्व' कहा जाता है। आज ही जन्मी हुई नारी (नवजात कन्या) को, या सोलह साल की युवती को या सौ साल की बूढ़ी को देखकर भी जो निर्विकार रहता है, वही 'षण्डक' कहा जाता है।

भिक्षार्थमटनं यस्य विण्मूत्रकरणाय च।
योजनान्न परं याति सर्वथा पङ्गुरेव सः ॥65॥
तिष्ठतो व्रजतो वापि यस्य चक्षुर्न दूरगम्।
चतुर्युगां भुवं मुक्त्वा परिव्राट् सोऽन्ध उच्यते ॥66॥
हिताहितं मनोरामं वचः शोकावहं तु यत्।
श्रुत्वापि न शृणोतीव बधिरः सः प्रकीर्तितः ॥67॥
सान्निध्ये विषयाणां यः समर्थो विकलेन्द्रियः।
सुप्तवद् वर्तते नित्यं स भिक्षुर्मुग्ध उच्यते ॥68॥

और पंगु (लँगड़ा) वह भिक्षु कहा जाता है कि जो केवल भिक्षा के लिए या विष्टा-मूत्र को त्याग करने के लिए ही अटन (भ्रमण) करता है, और वह भी ज्यादा से ज्यादा एक योजन तक ही दूर जाता है। अन्ध उसे कहा जाता है कि जो उठते-बैठते अपनी आँखों को दूर तक नहीं ले जाता और चार युग तक की (करीब दस हाथ तक की) भूमि को ही देखता है। जो हितकर (मनोरम) तथा अहितकर (शोकदायक) वचन सुनकर भी नहीं सुनता उसे बधिर कहा जाता है। जो भिक्षु विषयों के सामीप्य में रहते हुए, सामर्थ्यवान् तथा जितेन्द्रिय होकर भी विषयों के समीप सोते हुए की भाँति व्यवहार करता है अर्थात् उन विषयों के प्रति आकृष्ट नहीं होता, वह भिक्षु मुग्ध (मूढ) कहा गया है।

नटादिप्रेक्षणं द्यूतं प्रमदासुहृदं तथा।
भक्ष्यं भोज्यमुदक्यां च षण्न पश्येत्कदाचन ॥69॥
रागं द्वेषं मदं मायां द्रोहं मोहं परात्मसु।
षडेतानि यतिर्नित्यं मनसापि न चिन्तयेत् ॥70॥
मञ्चकं शुक्लवस्त्रं च स्त्रीकथालौल्यमेव च।
दिवा स्वापं च यानं च यतीनां पातनानि षट् ॥71॥
दूरयात्रां प्रयत्नेन वर्जयेदात्मचिन्तकः।
सदोपनिषदं विद्यामभ्यसेन्मुक्तिहैतुकीम् ॥72॥

उस भिक्षु को चाहिए कि वह नटों आदि का खेल, जुआ, स्त्रीमित्र, भक्ष्य, भोज्य और रजस्वला स्त्री को न देखे। राग, द्वेष, मद, माया, परजीव के प्रति द्रोह और मोह—इन छः का यति द्वारा कभी मन से भी चिन्तन नहीं होना चाहिए। ऊँचा आसन, सफेद वस्त्र, स्त्री-कथा में रुचि, इन्द्रियलोलुपता, दिन में सोना और वाहन में बैठना—ये छः यति के लिए पतनकारक हैं। उसे प्रयत्नपूर्वक दूर की यात्रा को टालना चाहिए और आत्मचिन्तन में ही मग्न रहना चाहिए। उसे सर्वदा उपनिषद् की विद्या का सतत अध्ययन करते रहना चाहिए।

न तीर्थसेवी नित्यं स्यान्नोपवासपरो यतिः।
न चाध्ययनशीलः स्यान्न व्याख्यानपरो भवेत् ॥73॥

अपापमशठं वृत्तमजिह्मं नित्यमाचरेत्।
इन्द्रियाणि समाहृत्य कूर्मोऽङ्गानीव सर्वशः ॥74॥
क्षीणेन्द्रियमनोवृत्तिर्निराशीर्निष्परिग्रहः।
निर्द्वन्द्वो निर्नमस्कारो निःस्वधाकार एव च ॥75॥
निर्ममो निरहङ्कारो निरपेक्षो निराशिषः।
विविक्तदेशसंसक्तो मुच्यते नात्र संशयः ॥76॥ इति।

उस भिक्षु को हमेशा तीर्थ का प्रेमी नहीं होना चाहिए। और ज्यादा उपवास भी उसे नहीं करना चाहिए। वह अध्ययनशील भी न हो। उसे व्याख्यान भी नहीं देने चाहिए। उसे सदैव निष्पाप, निर्दोष और वक्रताशून्य (कुटिलतारहित) जीवन जीना चाहिए। कछुए की तरह ही उसे अपनी सभी इन्द्रियाँ समेटकर रखनी चाहिए। उसे अपनी इन्द्रियों और मन की वृत्तियों को क्षीण कर देना चाहिए। कामना एवं परिग्रह को त्यागकर उसे हर्ष-शोक के रहित (अर्थात् निर्द्वन्द्व) होना चाहिए। उसे देवस्तुति एवं स्वधा (पितृतर्पणादि) त्याग देना चाहिए। ममता एवं अहंकारशून्य होकर किसी प्रकार की अपेक्षा न करते हुए उसे उदासीन रहना चाहिए। इस प्रकार (जीवनयापन करते हुए) एकान्त में निवास करने वाला यति मोक्ष को प्राप्त होता है।

अप्रमत्तः कर्मभक्तिज्ञानसम्पन्नः स्वतन्त्रो वैराग्यमेत्य ब्रह्मचारी गृही वानप्रस्थो वा मुख्यवृत्तिका चेद् ब्रह्मचर्यं समाप्य गृही भवेद् गृहाद्वनी भूत्वा प्रव्रजेत्। यदि वेतरथा ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजेद् गृहाद् वा वनाद् वा। अथ पुनरव्रती वा व्रती वा स्नातको वाऽस्नातको वोत्सन्नाग्निरनग्निको वा यदहरेव विरजेत्तदहरेव प्रव्रजेत्। तद्धैके प्राजापत्यामेवेष्टिं कुर्वन्त्यथवा न कुर्यादाग्नेय्यामेव कुर्यादग्निर्हि प्राणः प्राणमेवैतया करोति तस्मात् त्रैधातवीयामेव कुर्यादेतयैव त्रयो धातवो यदुत सत्त्वं रजस्तम इति ॥77॥

जो प्रमादरहित तथा कर्म, भक्ति तथा ज्ञान से युक्त होता है, वह स्वतंत्र रीति से क्रम की परवाह किए बिना ही वैराग्य लेकर संन्यास ग्रहण कर सकता है। सामान्य क्रम तो ऐसा ही है कि पहले ब्रह्मचारी, बाद में गृहस्थ और उसके बाद वानप्रस्थ होकर उसके बाद संन्यास लेना चाहिए। परन्तु इससे विपरीत भी ब्रह्मचर्य के बाद भी संन्यास लिया जा सकता है। अथवा गृहस्थाश्रम से भी सीधे संन्यास लिया जा सकता है। और भी—जो पुरुष ब्रह्मचारी हो या न हो, स्नातक हो या न हो, अग्निहोत्री हो या अनग्निक हो, पर कभी भी वैराग्य भाव प्रबल होने पर संन्यास ले सकता है। कुछ लोग कहते हैं कि पहले प्राजापत्य इष्टि करनी चाहिए पर कुछ लोग कहते हैं कि नहीं करनी चाहिए। 'आग्नेय्या' इष्टि ही पर्याप्त है, क्योंकि अग्नि ही प्राण है। इस इष्टि से ही साधक प्राण का पोषण करता है। इसलिए 'त्रैधातवीया' का ही अनुष्ठान करना चाहिए। इसी से तीन धातुएँ होमी जाती हैं, ये तीन धातुएँ सत्त्व, रज और तमोगुण हैं। यह त्रैधातवी इष्टि ही सम्पन्न करनी चाहिए।

अयं ते योनिर्ऋत्वियो यतो जातो अरोचथाः।
तं जानन्नग्न आरोहाथानो वर्धया रयिम् ॥78॥

विधिवत् त्रैधातवी इष्टि करके अग्नि में 'अयं ते योनिः' इत्यादि ऊपर कहे गए मन्त्र के द्वारा अग्नि को सूँघना चाहिए। ऊपर दिए हुए मन्त्र का अर्थ यह है—'हे अग्निदेव! यह समष्टिगत प्राण ही तुम्हारी उत्पत्ति का मूल है। इसी कारण तुम श्रेष्ठ तेज से सुशोभित हो रहे हो। तुम अपने जनक

प्राण को जानकर इसमें विराजित हो। इसी प्रकार हमारे प्राणों में भी प्रतिष्ठित होकर हमारे ज्ञान-धन को समृद्ध करो।'

इत्यनेन मन्त्रेणाग्निमाजिघ्रेदेष वा अग्नेर्योनिर्यः प्राणः प्राणं गच्छ स्वां योनिं गच्छ स्वाहेत्येवमेवैतदाहवनीयादग्निमाहृत्य पूर्ववदग्निमाजिघ्रेद्यग्निं न विन्देदप्सु जुहुयादापो वै सर्वा देवताः सर्वाभ्यो देवताभ्यो जुहोमि स्वाहेति हुत्वोद्धृत्य तदुदकं प्राश्नीयात् साज्यं हविरनामयं मोदमिति शिखां यज्ञोपवीतं पितरं कलत्रं कर्म चाध्ययनं मन्त्रान्तरं विसृज्यैव परिव्रजत्यात्मवित् मोक्षमन्त्रैस्त्रैधातवीयैर्विधेस्तद् ब्रह्म तदुपासितव्यमेवेति ॥79॥

इस मन्त्र से अग्नि को सूँघना चाहिए। अवश्य ही यह प्राणतत्त्व ही अग्नि का उद्भवस्थान है। अथवा इस मन्त्र से अग्नि और प्राण की एकता सिद्ध हुई है। आहवनीय से अग्नि को लाकर पूर्वोक्त रीति से ही उसे सूँघकर और 'गच्छ स्वां योनिं' इत्यादि मन्त्रों से आहुतियाँ देनी चाहिए। यदि कहीं पर अग्नि न मिले तो जल में ही होम कर लेना चाहिए। उस समय 'आपो वै सर्वा देवता: सर्वाभ्य देवताभ्यो जुहोमि' यह मंत्र बोलना चाहिए। इसका अर्थ है—मैं समस्त देवताओं के लिए यजन करता हूँ। स्वाहा का उच्चारण करते हुए होम करके 'यह हवि उन देवों को प्राप्त हो'—ऐसा भाव करना चाहिए। उसके बाद, उस होम किए गए जल से थोड़ा जल लेकर उसका आचमन करना चाहिए। घृत मिश्रित वह हविष्य अति पवित्र और निरामय होता है। इसके बाद शिखा, यज्ञोपवीत, पिता, पुत्र, कलत्र, कर्म, अध्ययन इत्यादि तथा अन्यान्य मन्त्रों को छोड़ने वाला ही संन्यास लेता है। वही आत्मवित् है। 'त्रैधातवीय मोक्ष' के लिए योग्य माने गए मन्त्रों को पढ़कर उन्हें अच्छी तरह समझ लेना चाहिए। ये मन्त्र शाश्वत सत्य एवं ज्ञान आदि लक्षणों से युक्त हैं। वही ब्रह्म है, उसी की उपासना करनी चाहिए।

पितामहं पुनः पप्रच्छ नारदः कथमयज्ञोपवीती ब्राह्मण इति। तमाह पितामहः ॥80॥

नारद ने पुनः पितामह ब्रह्माजी से पूछा—बिना यज्ञोपवीत धारण किए हुए मनुष्य ब्राह्मण कैसे होता है? तब ब्रह्माजी ने यह उत्तर दिया—

सशिखं वपनं कृत्वा बहिःसूत्रं त्यजेद् बुधः।
यदक्षरं परं ब्रह्म तत्सूत्रमिति धारयेत् ॥81॥
सूचनात्सूत्रमित्याहुः सूत्रं नाम परं पदम्।
तत्सूत्रं विदितं येन स विप्रो वेदपारगः ॥82॥
येन सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव।
तं सूत्रं धारयेद् योगी योगवित्तत्त्वदर्शनः ॥83॥
बहिःसूत्रं त्यजेद्विद्वान् योगमुत्तममास्थितः।
ब्रह्मभावमिदं सूत्रं धारयेद्यः स चेतनः॥
धारणात्तस्य सूत्रस्य नोच्छिष्टो नाशुचिर्भवेत् ॥84॥

शिखासहित मुण्डन करवा कर ज्ञानी को बाहर के सूत्र का त्याग कर देना चाहिए। और जो अक्षर ब्रह्मरूप (ॐकार) सूत्र है, उसे ही धारण कर लेना चाहिए। जो सूचना (ज्ञान, जानकारी) देता

है, उसे ही सूत्र कहा जाता है। यह सूत्र परमपद जैसा पावनकारी है। ऐसे आध्यात्मिक सूत्र को जिसने जान लिया है, वही ब्राह्मण वेदों में पारंगत समझा जाता है। जैसे सूत्र में रत्नों के समूह पिरोए जाते हैं, उसी तरह इस ब्रह्मसूत्र में सारा जगत् पिरोया हुआ है। योगी को तो ऐसा सूत्र ही धारण करना चाहिए। जो योग का जानने वाला और तत्त्वसाक्षात्कारी है, ऐसे विद्वान् को बाहर का यह सूत्र तो छोड़ ही देना चाहिए और उसे अपने उत्तम योग में ही अवस्थित रहना चाहिए। यह सूत्र तो ब्रह्मभावक है चेतनायुक्त प्राणी को यही सूत्र धारण करना चाहिए। ऐसा ज्ञानमय सूत्र धारण करने से भिक्षु पवित्र बनता है, वह उच्छिष्ट नहीं होता।

सूत्रमन्तर्गतं येषां ज्ञानयज्ञोपवीतिनाम्।
ते वै सूत्रविदो लोके ते च यज्ञोपवीतिनः ॥85॥
ज्ञानशिखिनो ज्ञाननिष्ठा ज्ञानयज्ञोपवीतिनः।
ज्ञानमेव परं तेषां पवित्रं ज्ञानमुच्यते ॥86॥
अग्नेरिव शिखा नान्या यस्य ज्ञानमयी शिखा।
स शिखीत्युच्यते विद्वान्नेतरे केशधारिणः ॥87॥
कर्मण्यधिकृता ये तु वैदिके ब्राह्मणादयः।
तैर्निधार्यमिदं सूत्रं क्रियाङ्गं तद्धि वै स्मृतम् ॥88॥
शिखा ज्ञानमयी यस्य उपवीतं च तन्मयम्।
ब्राह्मण्यं सकलं तस्य इति ब्रह्मविदो विदुः ॥89॥ इति।

ज्ञानरूप यज्ञोपवीत को धारण करने वाले जिन लोगों के अन्तस् में यह यज्ञोपवीत है, वे लोग ही सही अर्थ में सूत्र को जानने वाले और वे ही सच्चे अर्थों में यज्ञोपवीत धारण करने वाले माने जाते हैं। संन्यासी लोग ज्ञानरूपी शिखा को धारण करते हैं, ज्ञान में ही वे प्रतिष्ठित रहते हैं, तथा ज्ञानरूप यज्ञोपवीत को ही वे धारण करते हैं। उन संन्यासियों के लिए ज्ञान ही सबसे बड़ा पुरुषार्थ होता है। ज्ञान को ही सबसे पवित्र माना गया है। जैसे अग्निशिखा अग्नि से अलग नहीं होती वैसे ही ज्ञानी संन्यासी को ज्ञानशिखाधारी कहा जाता है। अन्य लोग तो केवल केशधारी ही हैं। वैदिक कर्मों में अधिकृत जो ब्राह्मणादि हैं, वे भले ही इस तीन सूत्रों वाली बाहरी उपवीत का धारण करें, क्योंकि ऐसा यह सूत्र कर्मों का अंगभूत है। पर ज्ञानमय शिखावालों और ज्ञानमय उपवीत वालों के लिए तो सारा जगत् ही ब्रह्ममय होता है, ऐसा तत्त्वज्ञानियों ने कहा है।

तदेतद् विज्ञाय ब्राह्मणः परिव्रज्य परिव्राडेकशाटी मुण्डोऽपरिग्रहः शरीरक्लेशासहिष्णुश्चेदथवा यथाविधिश्चेज्जातरूपधरो भूत्वा सपुत्रमित्रकलत्राप्तबन्ध्वादीनि स्वाध्यायं सर्वकर्माणि संन्यस्यायं ब्रह्माण्डं च सर्वं कौपीनं दण्डमाच्छादनं च त्यक्त्वा द्वन्द्वसहिष्णुर्न शीतं न चोष्णं न सुखं न दुःखं न निद्रा न मानावमाने च षडूर्मिवर्जितो निन्दाहङ्कारमत्सरगर्वदम्भेर्ष्यासूयेच्छाद्वेषसुखदुःखकामक्रोधलोभमोहादीन्विसृज्य स्ववपुः शवाकारमिव स्मृत्वा स्वव्यतिरिक्तं सर्वमन्तर्बहिरमन्यमानः कस्यापि वन्दनमकृत्वा न नमस्कारो न स्वाहाकारो न स्वधाकारो न निन्दास्तुतिर्यादृच्छिको भवेद्यदृच्छालाभसन्तुष्टः सुवर्णादीन्न परिग्रहेन्नावाहनं न विसर्जनं न मन्त्रं नामन्त्रं न ध्यानं नोपासनं न लक्ष्यं नालक्ष्यं न पृथक

नापृथक् न त्वन्यत्र सर्वत्रानिकेतः स्थिरमतिः शून्यागारवृक्षमूलदेवगृहतृण-कूटकुलालशालाग्निहोत्रशालाग्निदिगन्तरनदीतटपुलिनभूगृहकन्दर-निर्झरस्थण्डिलेषु वने वा। श्वेतकेतुऋभुनिदाघऋषभदुर्वासःसंवर्तक-दत्तात्रेयरैवतकवदव्यक्तलिङ्गोऽव्यक्ताचारो बालोन्मत्तपिशाचवदनुन्म-त्तोन्मत्तवदाचरंस्त्रिदण्डं शिक्यं पात्रं कमण्डलुं कटिसूत्रं कौपीनं च तत्सर्वं भूः स्वाहेत्यप्सु परित्यज्य ॥90॥

इस प्रकार से वह ब्रह्मज्ञानी सब तत्त्व जानकर, घर-बार छोड़ कर परिव्राजक हो जाता है और वह एक ही वस्त्र धारण करता है, मुण्डन करवाता है, अपरिग्रही होता है। यदि वह शरीर के कष्ट को सहन न कर सके, तो वह विधिपूर्वक वस्त्र धारण कर सकता है। यदि शरीर के कष्टों को सहने में समर्थ हो तो वह जातरूपधर अर्थात् जन्म के समय का नग्न रूप ही रखते हुए वह पुत्र, माता, पिता, पत्नी, आप्तजन, सगे-सम्बन्धियों को एवं स्वाध्याय को और अन्य सभी कर्मों का त्याग कर देता है। वह इस ब्रह्माण्ड को भी अपना नहीं समझता। वह एक कौपीन, कमण्डलु, दण्ड, बिछाने का आसन, सब कुछ छोड़कर शीतोष्णादि द्वन्द्वों को सहन करता हुआ अर्थात् सुख-दुःख, शीत-उष्ण आदि द्वन्द्व सहता हुआ मानापमान और निद्रा का भी त्याग कर देता है। वह जन्म-मरणादि छः देह-विकारों से रहित हो जाता है। निन्दा, अहंकार, मात्सर्य, गर्व, दम्भ, ईर्ष्या, असूया, इच्छा, सुख, दुःख, काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि को छोड़कर अपने शरीर को मुर्दे की तरह समझता रहता है। वह अपनी आत्मा के सिवा अन्य (बाहर-भीतर की) किसी भी वस्तु को मानता ही नहीं। वह किसी का नमस्कार नहीं चाहता। उसे न स्वाहाकार की न वा स्वधाकार की कोई चिन्ता होती है। वह स्वयं भी किसी की निन्दा या स्तुति नहीं करता। यदृच्छा से यों ही जो कुछ मिल जाए उसी से वह सन्तुष्ट रहता है। यादृच्छिकी ही उसका आधार है। वह सोने आदि का संग्रह नहीं करता। उसके लिए न कोई आवाहन है, न कोई विसर्जन ही है। उसके लिए कोई मन्त्र भी नहीं है और कोई अमन्त्र भी नहीं है। न उसके लिए कोई उपासना है, न लक्ष्य है, न ही कोई अलक्ष्य ही है। कोई भिन्नता नहीं है, कोई अभिन्नता भी नहीं है। कोई अन्यत्र-सर्वत्र का भेद भी नहीं है। वह स्थिरबुद्धि वाला होता है। कोई सूना घर, वृक्ष का मूल, कोई देवमन्दिर, घास की कुटिया, कुलालशाला, अग्निहोत्रशाला, अग्निकोणीय शाला, नदीतीर, नदी किनारे के थोड़े ऊपर की जगह, अथवा वन—इन जगहों में उसका निवासस्थान हो जाता है। श्वेतकेतु, ऋभु, निदाघ, ऋषभ, दुर्वासा, संवर्तक, दत्तात्रेय, और रैवतक की तरह ही वह अपनी महत्ता के चिह्न नहीं बताता और अपनी विशिष्टता का कोई भी चिह्न धारण नहीं करता। उसका आचरण छिपा हुआ रहता है। अथवा बच्चे या पागल की तरह अथवा पिशाच की तरह ही व्यवहार करता है। वास्तव में पागल न होते हुए भी वह पागलों का-सा वर्ताव करता है। त्रिदण्ड, पात्र, थैली, कमण्डलु, कटिसूत्र और कौपीन इत्यादि सब चीजों को वह 'भूः स्वाहा' कहकर पानी में फेंक देता है।

कटिसूत्रं च कौपीनं दण्डं वस्त्रं कमण्डलुम्।
सर्वमप्सु विसृज्याथ जातरूपधरश्चरेत् ॥91॥

कटिसूत्र, कौपीन, दण्ड, वस्त्र और कमण्डलु—इन सबको पानी में फेंककर परमहंस को वस्त्र रहित होकर ही सर्वत्र घूमते रहना चाहिए।

आत्मानमन्विच्छेद्यथा जातरूपधरो निर्द्वन्द्वो निष्परिग्रहस्तत्त्वब्रह्ममार्गे सम्यक्सम्पन्नः शुद्धमानसः प्राणसन्धारणार्थं यथोक्तकाले करपात्रेणा-न्येन याचिताहारमाहरन् लाभालाभे समो भूत्वा निर्ममः शुक्लध्यान-परायणोऽध्यात्मनिष्ठः शुभाशुभकर्मनिर्मूलनपरः संन्यस्य पूर्णानन्दैक-बोधस्तद्ब्रह्माऽहमस्मीति ब्रह्मप्रणवमनुस्मरन्भ्रमरकीटन्यायेन शरीर-त्रयमुत्सृज्य संन्यासेनैव देहत्यागं करोति स कृतकृत्यो भवतीत्यु-पनिषत् ॥92॥

इति तृतीयोपदेशः।
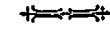
वह परमहंस सतत आत्मा को ही खोजता है (अनुसन्धान करता है)। वह वस्त्ररहित होकर, द्वन्द्वरहित होकर और निष्परिग्रह होकर तत्त्वरूप ब्रह्मप्राप्ति के मार्ग में अच्छी तरह से प्रतिष्ठित हो जाता है। विशुद्ध मन वाला होकर वह प्राणानुसन्धान अर्थात् प्राणों की रक्षा के लिए योग्य समय पर हाथ के ही पात्र में या अन्य किसी पात्र में बिना याचना के ही प्राप्त हुई भिक्षा को लेकर, लाभ और अलाभ में समान बुद्धिवाला होकर, ममता (आसक्ति) रहित होकर केवल विशुद्ध ब्रह्म का ही ध्यान करता है। वह अध्यात्मनिष्ठ ही रहता है। वह अपने शुभ और अशुभ कार्यों के निर्मूलन के लिए प्रयत्न करता रहता है, और सभी प्रकार के कर्मों को छोड़ देता है। अन्त में वह संन्यास के द्वारा ही देहत्याग करता है और वह कृत्यकृत्य हो जाता है।

यहाँ तृतीयोपदेश पूरा हुआ।

चतुर्थोपदेशः

त्यक्त्वा लोकांश्च वेदांश्च विषयानिन्द्रियाणि च।
आत्मन्येव स्थितो यस्तु स याति परमां गतिम् ॥1॥
नामगोत्रादिवरणं देशं कालं श्रुतं कुलम्।
वयो वृत्तं व्रतं शीलं ख्यापयेन्नैव सद्यतिः ॥2॥
न सम्भाषेत्स्त्रियं कांचित् पूर्वदृष्टां च न स्मरेत्।
कथां च वर्जयेत्तासां न पश्येल्लिखितामपि ॥3॥
एतच्चतुष्टयं मोहात् स्त्रीणामाचरतो यतेः।
चित्तं विक्रियतेऽवश्यं तद्विकारात्प्रणश्यति ॥4॥

लोकों को, वेदों को, विषयों को और इन्द्रियों को छोड़कर जो पुरुष अपने आत्मा में ही स्थित रहता है, वह परमगति को पाता है। श्रेष्ठ यति तो वह कहा गया है कि जो अपने नाम-गोत्र आदि का वरण तथा देश, काल, श्रुत, भूतकालीन घटनाएँ, अपनी उम्र और अपने शील आदि को कभी किसी के समक्ष प्रकट नहीं करता। यह योगी किसी भी स्त्री के साथ बातचीत नहीं करता अथवा पहले देखी गई स्त्री का स्मरण भी नहीं करता, स्त्रियों की कथाओं को वह छोड़ ही देता है और वह किसी स्त्री के चित्र को भी नहीं देखता। इन स्त्री-विषयक चार बातों का मोहवश होकर आचरण करता हुआ यति अपने चित्त में अवश्य ही विकार प्राप्त करता है और ऐसे विकारों से वह यति नष्ट हो जाता है।

तृष्णा क्रोधोऽनृतं माया लोभमोहौ प्रियाप्रिये।
शिल्पं व्याख्यानयोगश्च कामो रागपरिग्रहः ॥5॥

अहङ्कारो ममत्वं च चिकित्सा धर्मसाहसम् ।
प्रायश्चित्तं प्रवासश्च मन्त्रौषधपराशिषः ।
प्रतिषिद्धानि चैतानि सेवमानो व्रजेदधः ॥6॥
आगच्छ गच्छ तिष्ठेति स्वागतं सुहृदोऽपि वा ।
सम्माननं च न ब्रूयान्मुनिर्मोक्षपरायणः ॥7॥
प्रतिग्रहं न ग्रहणीयान्नैव चान्यं प्रदापयेत् ।
प्रेरयेद्वा तथा भिक्षुः स्वप्नेऽपि न कदाचन ॥8॥

तृष्णा, क्रोध, झूठ, माया, लोभ, मोह, प्रिय, अप्रिय, शिल्प, व्याख्यान का प्रसंग, कामना, आसक्ति, परिग्रह, अहंकार, ममत्व, संग्रह, चिकित्साकर्म, धर्म के लिए साहसिक कार्य, प्रायश्चित्त, प्रवास, मंत्रौषधिपरता, आशीर्वादादि—ये सब यति के लिए निषिद्ध हैं। इन प्रतिषिद्ध कार्यों को करता हुआ योगी अध:पाती हो जाता है। आओ, जाओ, बैठो इत्यादि स्वागत वचनों की उसे मित्रों के लिए कहने की भी जरूरत नहीं है। उस मोक्षपरायण मुनि को दान देना नहीं चाहिए, दान लेना नहीं चाहिए, दान दिलाना भी नहीं चाहिए और उसके लिए किसी को प्रेरित नहीं करना चाहिए। उस भिक्षु को स्वप्न में भी ऐसा नहीं करना चाहिए।

जायाभ्रातृसुतादीनां बन्धूनां च शुभाशुभम् ।
श्रुत्वा दृष्ट्वा न कम्पेत शोकहर्षौ त्यजेद्यतिः ॥9॥
अहिंसा सत्यमस्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहाः ।
अनौद्धत्यमदीनत्वं प्रसादः स्थैर्यमार्जवम् ॥10॥
अस्नेहो गुरुशुश्रूषा श्रद्धा क्षान्तिर्दमः शमः ।
उपेक्षा धैर्यमाधुर्ये तितिक्षा करुणा तथा ॥11॥
ह्रीस्तथा ज्ञानविज्ञाने योगो लघ्वशनं धृतिः ।
एष स्वधर्मो विख्यातो यतीनां नियतात्मनाम् ॥12॥

पत्नी, भाई, पुत्र आदि बान्धवों के शुभ-अशुभ समाचारों को सुनकर या देखकर भी जो विचलित नहीं होता; जिसने शोक और हर्ष को छोड़ दिया है; इसके अतिरिक्त अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, उद्दण्डता के भाव से रहित और साथ-साथ अपनी दीनता को प्रकट न करना, प्रसन्न रहना, स्थिरता, सरलता, अनासक्ति, गुरु की सेवा, श्रद्धा, क्षान्ति, दम, शम, औदासीन्य, धैर्य, माधुर्य, सहनशीलता, करुणा, लज्जा, ज्ञान-विज्ञान परायणता, मिताहार और धैर्य धारण करना—ये सब मनोजयी यतियों का स्वधर्म कहलाता है।

निर्द्वन्द्वो नित्यसत्त्वस्थः सर्वत्र समदर्शनः ।
तुरीयः परमो हंसः साक्षान्नारायणो यतिः ॥13॥
एकरात्रं वसेद् ग्रामे नगरे पञ्चरात्रकम् ।
वर्षाभ्योऽन्यत्र वर्षासु मासांश्च चतुरो वसेत् ॥14॥
द्विरात्रं न वसेद् ग्रामे भिक्षुर्यदि वसेत्तदा ।
रागादयः प्रसज्येरंस्तेनासौ नारकी भवेत् ॥15॥
ग्रामान्ते निर्जने देशे नियमात्माऽनिकेतनः ।
पर्यटेत्कीटवद् भूमौ वर्षास्वेकत्र संवसेत् ॥16॥

वह यति द्वन्द्वरहित, सर्वदा सत्य में अवस्थित, सर्वत्र समान दृष्टि वाला, तुरीयावस्था में स्थित परमहंस साक्षात् नारायणस्वरूप ही होता है। वह गाँव में एक रात रहता है, नगर में पाँच रात रहता है। जब वर्षा न हो तब के लिए यह पूर्वोक्त नियम हैं। परन्तु, यदि वर्षा ऋतु हो तो चार महीनों तक एक स्थान में वह रह सकता है। ऐसे यति को किसी गाँव में दो रात तक नहीं रहना चाहिए। यदि रहे, तो वह पतित हो जाएगा। क्योंकि ऐसा करने से ग्रामादि के राग-द्वेषादि उसमें चिपक ही जाएँगे। उसे गाँव के अन्त भाग में, निर्जन प्रदेश में, संयमशील रहकर तथा अनिकेतन ही रहकर, जैसे धरती पर कीडा घूमता रहता है उसी तरह भ्रमण करते हुए ही रहना चाहिए। केवल वर्षा ऋतु में ही एक ही स्थान रहना चाहिए।

एकवासा अवासा वा स्थिरदृष्टिरलोलुपः ।
अदूषयन्सतां मार्गं ध्यानयुक्तो महीं चरेत् ॥17॥
शुचौ देशे सदा भिक्षुः स्वधर्ममनुपालयन् ।
पर्यटेत सदा योगी वीक्षयन्वसुधातलम् ॥18॥
न रात्रौ न च मध्याह्ने सन्ध्ययोर्नैव पर्यटन् ।
न शून्ये न च दुर्गे वा प्राणिबाधकरे न च ॥19॥
एकरात्रं वसेद् ग्रामे पत्तने तु दिनत्रयम् ।
पुरे दिनद्वयं भिक्षुर्नगरे पञ्चरात्रकम् ।
वर्षास्वेकत्र तिष्ठेत स्थाने पुण्यजलावृते ॥20॥

वह एक ही वस्त्र धारण करता है, अथवा वस्त्र रहित होकर रहता है। उसकी दृष्टि स्थिर होती है। वह लोलुप नहीं होता। सत्पुरुषों के मार्ग को दूषित न करते हुए, वह ध्यानयुक्त होकर ही इस धरती के ऊपर भ्रमण करता है। भिक्षु अपने धर्म का पालन करते हुए ही पवित्र देश में हमेशा घूमता रहता है और इस धरतीतल को ही वह योगी देखा करता है। उसे रात्रि में, दोपहर में तथा संध्या के समय घूमना नहीं चाहिए तथा शून्य स्थान में या किसी किले में जहाँ प्राणियों के लिए अवरोध खड़ा होता हो, वहाँ भी नहीं घूमना चाहिए। उसे गाँव में एक दिन तक, कस्बे में तीन दिनों तक, पुर में दो दिनों तक और नगर में पाँच रात तक रहना चाहिए। और वर्षा ऋतु में एक स्थान में रहना चाहिए। पर वह स्थान ऐसा हो कि जहाँ पवित्र जल प्रवहमाण हो।

आत्मवत्सर्वभूतानि पश्यन्भिक्षुश्चरेन्महीम् ।
अन्धवत्कुब्जवच्चैव बधिरोन्मत्तमूकवत् ॥21॥
स्नानं त्रिषवणं प्रोक्तं बहूदकवनस्थयोः ।
हंसे तु सकृदेव स्यात्परहंसे न विद्यते ॥22॥
मौनं योगासनं योगस्तितिक्षैकान्तशीलता ।
निःस्पृहत्वं समत्वं च सप्तैतान्येकदण्डिनाम् ॥23॥
परहंसाश्रमस्थो हि स्नानादेरविधानतः ।
अशेषचित्तवृत्तीनां त्यागं केवलमाचरेत् ॥24॥

सभी प्राणियों को अपनी ही आत्मा की तरह जानकर वह भिक्षु भूमि पर विचरण करता रहता है। वह अन्धे की तरह, मूर्ख की तरह अथवा बहरे और पागल की तरह बर्ताव करता है। यों तो बहूदक या वन में रहने वाले संन्यासियों के लिए तीन बार का (त्रिकाल का) स्नान विहित है लेकिन हंसयोगी

के लिए सिर्फ एक बार का स्नान और परमहंस के लिए तो एक बार का भी स्नान विहित नहीं है। अब एकदंडी संन्यासी के लिए ये सात नियम हैं—मौन, योगासन, योग, तितिक्षा, एकान्तशीलता, निःस्पृहता और समत्व। किन्तु परमहंसावस्था को प्राप्त हुए योगी के लिए तो स्नानादि का कोई विधान नहीं है। क्योंकि उसने तो अशेष चित्तवृत्तियों का त्याग ही कर दिया होता है। वह केवल उस त्याग का ही आचरण करता है।

त्वङ्मांसरुधिरस्नायुमज्जामेदोस्थिसंहतौ।
विण्मूत्रपूये रमतां क्रिमीणां कियदन्तरम् ॥25॥
क्व शरीरमशेषाणां श्लेष्मादीनां महाचयः।
क्व चाङ्गशोभा सौभाग्यकमनीयादयो गुणाः ॥26॥
मांसासृक्पूयविण्मूत्रस्नायुमज्जास्थिसंहतौ।
देहे चेत्प्रीतिमान्मूढो भविता नरकेऽपि सः ॥27॥
स्त्रीणामवाच्यदेशस्य क्लिन्ननाडीव्रणस्य च।
अभेदेऽपि मनोभेदाज्जनः प्रायेण वञ्च्यते ॥28॥

त्वचा, मांस, रक्त, स्नायु, मज्जा, मेद और हड्डियों के समूहरूप देह में रममाण मनुष्यों में तथा विष्टा और मूत्र में ही खेलने वाले कीड़ों में भला क्या अन्तर है ? अर्थात् कुछ नहीं। कहाँ वास्तव में श्लेष्म आदि दूषित पदार्थों का ढेर जैसा यह शरीर और कहाँ इस शरीर की शोभा और रमणीयता आदि कहे गये गुण ? मांस, रक्त, मज्जा, पूय, विष्टा, मूत्र, नाडियाँ, चरबी और हड्डियाँ के समूह वाले इस शरीर से यदि मनुष्य प्रीति करता है, वह तो नरक में ही गिरता है। सड़ी हुई नाडी के घाव और स्त्री के अवाच्यांग (योनि) में कुछ भी भेद न होते हुए भी मन के ही भेद से मनुष्य वंचित होता आया है।

चर्मखण्डं द्विधा भिन्नमपानोद्गारधूपितम्।
ये रमन्ति नमस्तेभ्यः साहसं किमतः परम् ॥29॥
न तस्य विद्यते कार्यं न लिङ्गं वा विपश्चितः।
निर्ममो निर्भयः शान्तः निर्द्वन्द्वोऽवर्णभोजनः ॥30॥
मुनिः कौपीनवासाः स्यान्नग्नो वा ध्यानतत्परः।
एवं ज्ञानपरो योगी ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥31॥
लिङ्गे सत्यपि खल्वस्मिन् ज्ञानमेव हि कारणम्।
निर्मोक्षायेह भूतानां लिङ्गग्रामो निरर्थकः ॥32॥

चमड़ी का टुकड़ा जो दो भागों में विदीर्ण हुआ है और जिसमें से अपानवायु निकलने से दुर्गन्ध आया करती है—ऐसे भाग में (अर्थात् स्त्री की योनि में) जो लोग बहुत रुचि रखते हैं, उन्हें नमस्कार ही है, क्योंकि इससे बड़ा साहस और क्या हो सकता है ? लेकिन जो ज्ञानी है, उसके लिए तो कोई भी कार्य अवशिष्ट नहीं है और न ही उसे अपनी पहचान बनाने के लिए किसी विशेष चिह्न धारण करने की कोई आवश्यकता ही है। वह तो ममत्वरहित, निर्भय, शान्त, निर्द्वन्द्व, जातिवर्ण की भावना से रहित तथा वर्ण की अपेक्षा न रखते हुए कहीं भी भोजन करने वाला होता है। वह ध्यानतत्पर मुनि या तो एकाध वस्त्र को धारण किए हुए होता है, या नग्न ही रहता है। इस प्रकार से ज्ञानपरायण योगी ब्रह्मभाव की प्राप्ति के लिए शक्तिशाली होता है। इसके शरीर पर संन्यासी के चिह्न विशेष होते भी

उसमें ज्ञान ही उसके यतित्व का माध्यम होता है। लोगों को मोक्ष के लिए विविध प्रकार के चिह्नों को धारण करना तो बिल्कुल निरर्थक ही है।

यन्न सन्तं न चासन्तं नाश्रुतं न बहुश्रुतम्।
न सुवृत्तं न दुर्वृत्तं वेद कश्चित्स ब्राह्मणः ॥33॥
तस्मादलिङ्गो धर्मज्ञो ब्रह्मवृत्तमनुव्रतम्।
गूढधर्माश्रितो विद्वानज्ञातचरितं चरेत् ॥34॥
सन्दिग्धः सर्वभूतानां वर्णाश्रमविवर्जितः।
अन्धवज्जडवच्चापि मूकवच्च महीं चरेत् ॥35॥
तं दृष्ट्वा शान्तमनसं स्पृहयन्ति दिवौकसः।
लिङ्गाभावात्तु कैवल्यमिति ब्रह्मानुशासनम् ॥36॥ इति।

जिसके विषय में यह सन्त है या असन्त है, यह शास्त्रज्ञ है या शास्त्रज्ञ नहीं है, इसके कार्य अच्छे हैं या बुरे हैं, इन बातों को जो नहीं जानता, वही सही रूप में ब्राह्मण है। इसलिए किसी चिह्न को धारण न करने वाला, धर्म को ही जानने वाला, वह व्यापक ब्रह्मसत्ता के व्रत का (ध्यान का) पालन करता है। इस प्रकार इस रहस्यमय विद्या की उपासना करते हुए वह अज्ञातवास में ही अपना जीवन बिताए। सभी प्राणियों के लिए संदेह का विषय बना हुआ और वर्ण एवं आश्रमों से रहित बना हुआ वह अन्धे की तरह या जड़ की भाँति अथवा गूँगे की तरह पृथ्वी पर विचरण करता है। उस शान्तमन वाले को देखकर देवलोग भी उसका साहचर्य चाहते रहते हैं। लिंग (चिह्न) के अभाव में भी कैवल्य की प्राप्ति होती है, ऐसा अनुशासन – उपदेश है।

अथ नारदः पितामहं संन्यासविधिं नो ब्रूहीति पप्रच्छ। पितामहस्त-थेत्यङ्गीकृत्यातुरे वा क्रमे वापि तुरीयाश्रमस्वीकारार्थं कृच्छ्रप्रायश्चित्त-पूर्वकमष्टश्राद्धं कुर्याद्देवर्षिदिव्यमनुष्यभूतपितृमात्रात्मेत्यष्टश्राद्धानि कुर्यात्। प्रथमं सत्यवसुसंज्ञकान्विश्वान्देवान्देवश्राद्धे ब्रह्मविष्णुमहेश्वरानृषिश्राद्धे देवर्षिक्षत्रियर्षिमनुष्यर्षीन् दिव्यश्राद्धे वसुरुद्रादित्यरूपा-न्मनुष्यश्राद्धे सनकसनन्दनसनत्कुमारसनत्सुजातान् भूतश्राद्धे पृथिव्या-दिपञ्चमहाभूतानि चक्षुरादिकरणानि चतुर्विधभूतग्रामान्। पितृश्राद्धे पितृपितामहप्रपितामहान् मातृश्राद्धे मातृपितामहीप्रपितामहीरात्मश्राद्धे आत्मपितृपितामहान् जीवात्पितृकश्चेत्पितरं त्यक्त्वा आत्मपितामह-प्रपितामहानिति सर्वत्र युग्मक्लृप्त्या ब्राह्मणानर्चयेदेकाध्वरपक्षेऽष्टा-ध्वरपक्षे वा स्वशाखानुगतमन्त्रैरष्टश्राद्धान्यष्टदिनेषु वा एकदिने वा पितृयागोक्तविधानेन ब्राह्मणानभ्यर्च्य भुक्त्यन्तं यथाविधि [illegible] पिण्डप्रदानानि निर्वर्त्य दक्षिणाताम्बूलैस्तोषयित्वा ब्राह्मणान्[illegible] शेषकर्मसिद्ध्यर्थं सप्तकेशान्विसृज्य–'शेषकर्मप्रसिद्ध्यर्थं केशान्[illegible] वा द्विजः। संक्षिप्य वापयेत्पूर्वं केशश्मश्रुनखानि च'॥ इति।

बाद में नारदजी ने ब्रह्माजी से पुनः पूछा—'हे भगवन्! संन्यास की (क्रमसंन्यास की) वि[illegible] है ? वह कृपा कर हमें बताइए।' पितामह ने 'अच्छा ठीक है' ऐसा कहकर अपनी स्वीकृति प्रदान [illegible] और बोले—आतुर संन्यास हो या क्रमसंन्यास हो, दोनों में पहले तो चतुर्थाश्रम स्वीकार के लिए

आवश्यक कृच्छ्र और प्रायश्चित्तपूर्वक आठ प्रकार के श्राद्ध करने चाहिए। ये अष्टश्राद्ध हैं—देव, ऋषि, दिव्य, मनुष्य, भूत, पितृश्राद्ध, मातृश्राद्ध, आत्मश्राद्ध। सबसे पहले सत्य और वसु देवों का आवाहन करना चाहिए। इसके बाद देवश्राद्ध में ब्रह्मा, विष्णु और महेश का आवाहन करना चाहिए। दूसरे ऋषिश्राद्ध में देवर्षि, राजर्षि तथा मानवर्षियों का आवाहन करना चाहिए। तीसरे दिव्यश्राद्ध में आठ वसुओं, एकादश रुद्रों तथा बारह आदित्यों का आवाहन करना चाहिए। चौथे मनुष्यश्राद्ध में सनक, सनन्दन, सनत्कुमार और सनत्सुजात का आवाहन करना चाहिए। पाँचवें भूतश्राद्ध में पृथ्वी, आकाश, आदि पाँच महाभूतों का आवाहन करना चाहिए। नेत्र आदि सभी इन्द्रियों के साथ चार प्रकार के प्राणीसमुदाय (जरायुज, अण्डज, स्वेदज, उद्भिज्ज) का भी आवाहन करना चाहिए। छठे पितृश्राद्ध में पिता, पितामह और प्रपितामह का आवाहन करना चाहिए। तथा सातवें मातृश्राद्ध में माता, पितामही और प्रपितामही का आवाहन करना चाहिए। आठवें आत्मश्राद्ध में स्वयं अपना, अपने पिता का, तथा अपने पितामह का आवाहन करना चाहिए। आत्मश्राद्ध में पिता अगर जीवित हों, तो उन्हें छोड़कर अपना, पितामह का और प्रपितामह का आवाहन करना चाहिए। प्रत्येक श्राद्ध के लिए दो-दो के क्रम से ब्राह्मणों को निमंत्रित करना चाहिए। आठों श्राद्धों के 'एकाध्वरपक्ष' में अर्थात् आठों श्राद्धों को एक ही यज्ञ का अंग बनाकर करने से प्रत्येक श्राद्ध के लिए दो-दो के क्रम से ब्राह्मणों को निमंत्रित करना चाहिए तथा विधिपूर्वक उनका पूजन करना चाहिए। और यदि अष्टाध्वर का प्रसंग हो, अर्थात् आठों श्राद्ध अलग-अलग यज्ञरूप में सम्पन्न किए जाने का प्रसंग हो, तब इस प्रकार की परिस्थिति में अपनी शाखा में आए हुए मंत्रों द्वारा इन आठ प्रकार के श्राद्धों को आठ दिन में या फिर एक दिन में ही पूर्ण करना चाहिए। श्राद्धकल्प में कहे गए नियमानुसार ब्राह्मणों के पूजन-संस्कार से लेकर भोजन आदि सभी कर्तव्य पूर्ण करके पिण्डदान करना चाहिए। इसके बाद दक्षिणा, ताम्बूल आदि से सन्तुष्ट कर उन्हें बिदा करके अन्य शेष कार्य की सिद्धि के लिए सात या आठ बालों को छोड़कर शेष बालों को मुँडवा लेना चाहिए। साथ ही साथ दाढ़ी-मूँछ भी कटवा देनी चाहिए।

सप्तकेशान्संरक्ष्य कक्षोपस्थवर्जं क्षौरपूर्वकं स्नात्वा सायंसन्ध्यावन्दनं निर्वर्त्य सहस्रगायत्रीं जप्त्वा ब्रह्मयज्ञं निर्वर्त्य स्वाधीनाग्निमुपस्थाप्य स्वशाखोपसंहरणं कृत्वा तदुक्तप्रकारेणाज्याहुतिमाज्यभागान्तं हुत्वा-हुतिविधिं समाप्यात्मादिभिस्त्रिवारं सक्तुप्राशनं कृत्वाचमनपूर्वकमग्निं संरक्ष्य स्वचमग्नेरुत्तरतः कृष्णाजिनोपरि स्थित्वा पुराणश्रवणपूर्वकं जागरणं कृत्वा चतुर्थयामान्ते स्नात्वा तदग्नौ चरुं श्रपयित्वा पुरुषसूक्ते-नान्नस्य षोडशाहुतीर्हुत्वा विरजाहोमं कृत्वा अथाचम्य सदक्षिणं वस्त्रं सुवर्णपात्रं धेनुं दत्त्वा समाप्य ब्रह्मोद्वासनं कृत्वा।

'सं मा सिञ्चन्तु मरुतः समिन्द्रः सं बृहस्पतिः। सं मायमग्निः सिञ्चत्वा-युषा च धनेन च बलेन चायुष्मान्तं करोतु मा' इति।

'या ते अग्ने यज्ञिया तनूस्तयेह्यारोहात्मात्मानम्। अच्छा वसूनि कृण्वन्नस्मे नर्या पुरूणि। यज्ञो भूत्वा यज्ञमासीद त्वां योनिं जातवेदो भुव आजायमानः स क्षय एधि'।

इत्यनेनाग्निमात्मन्यारोप्य ध्यात्वाग्निं प्रदक्षिणनमस्कारपूर्वकमुद्वास्य प्रातःसन्ध्यामुपास्य सहस्रगायत्रीपूर्वकं सूर्योपस्थानं कृत्वा नाभिदघ्नो-दकमुपविश्याष्टदिक्पालकार्घ्यपूर्वकं गायत्र्युद्वासनं कृत्वा सावित्रीं

व्याहृतिषु प्रवेशयित्वा। अहं वृक्षस्य रेरिव। कीर्तिः पृष्ठं गिरेरिव। ऊर्ध्वपवित्रो वागिनीव स्वमृतमस्मि। द्रविणं मे सवर्चसं सुमेधा अमृतो-ऽक्षितः। इति त्रिशङ्कोर्वेदानुवचनम्। यच्छन्दसामृषभो विश्वरूपः। छन्दोभ्योऽध्यमृतासम्बभूव। स मे इन्द्रो मेधया स्पृणोतु। अमृतस्य देव-धारणो भूयासम्। शरीरं मे विचर्षणम्। जिह्वा मे मधुमत्तमा। कर्णाभ्यां भूरि विश्रवम्। ब्रह्मणः कोशोऽसि मेधयापिहितः। श्रुतं मे गोपाय। दारैषणायाश्च वित्तेषणायाश्च लोकेषणायाश्च व्युत्थितोऽहं ॐ भूः संन्यस्तं मया ॐ भुवः संन्यस्तं मया ॐ सुवः संन्यस्तं मया ॐ भूर्भुवः-सुवः संन्यस्तं मयेति मन्द्रमध्यमतालजध्वनिभिर्मनसा वाचोच्चार्याभयं सर्वभूतेभ्यो मत्तः सर्वं प्रवर्तते स्वाहेत्यनेन जलं प्राश्य प्राच्यां दिशि पूर्णांजलिं प्रक्षिप्योंस्वाहेति शिखामुत्पाट्य।

'यज्ञोपवीतं परमं पवित्रं प्रजापतेर्यत्सहजं पुरस्तात्।
आयुष्यमग्र्यं प्रतिमुञ्च शुभ्रं यज्ञोपवीतं बलमस्तु तेजः'॥

'यज्ञोपवीत बहिर्न निवसेस्त्वमन्तः प्रविश्य मध्ये ह्यजस्रं परमं पवित्रं यशो बलं ज्ञानवैराग्यं मेधां प्रयच्छ'।

इति यज्ञोपवीतं छित्त्वा उदकाञ्जलिना सह। ॐ भूः समुद्रं गच्छ स्वाहेत्यप्सु जुहुयात्। ॐ भूः संन्यस्तं मया। ॐ भुवः संन्यस्तं मया। ॐ सुवः सन्यस्तं मयेति त्रिरुक्त्वा त्रिवारमभिमन्त्र्य तज्जलं प्राश्याचम्य ॐ भूः स्वाहेत्यप्सु वस्त्रं कटिसूत्रमपि विसृज्य सर्वकर्मनिवर्तकोऽहमिति स्मृत्वा जातरूपधरो भूत्वा स्वरूपानुसन्धानपूर्वकमूर्ध्वबाहुरुदीचीं गच्छेत्॥37॥

तदनन्तर काँख और उपस्थ के बालों को कभी नहीं कटाना चाहिए। क्षौरकर्म के बाद स्नान अवश्य करना चाहिए। बाद में सायंकाल में ब्रह्मसन्ध्या करके एक हजार गायत्री का जप करना चाहिए। और भी ब्रह्मयज्ञ करके स्वतंत्र अग्नि की स्थापना करनी चाहिए। बाद में, अपनी शाखा का उपसंहार करने के बाद उसमें कहे हुए आज्यभाग पर्यन्त घी की आहुति देनी चाहिए। यज्ञ को पूर्ण विधान से करने के बाद तीन ग्रास सक्तु का प्राशन करना चाहिए। बाद में आचमन से मुखशुद्धि करके अग्निरक्षा के लिए उसमें ईंधनादि डालकर स्वयं अग्नि से उत्तर की तरफ काले चर्म पर बैठ जाय तथा पौराणिक कथाएँ सुनते हुए रात को जागरण करे। रात्रि के चौथे प्रहर के अन्त में स्नान आदि से निवृत्त होकर पूर्वोक्त अग्नि में खीर पकानी चाहिए। बाद में पुरुषसूक्त के सोलह मंत्रों से चरु की (खीर की) सोलह आहुतियाँ अग्नि में डालनी चाहिए। तथा विरजाहोम करके आचमन तथा दक्षिणा सहित वस्त्राभूषण, सोना, गाय और बरतन आदि का दान करना चाहिए और इस प्रकार विधि को पूर्णतः सम्पन्न करना चाहिए। बाद में ब्रह्मा का विसर्जन करके ऊपर दिए गए दो मन्त्रों—(1) 'सं मासिञ्चन्तु...... करोतु मा' तथा (2) 'या ते अग्ने...... स क्षय एधि' के द्वारा अग्नि के आधिदैविक स्वरूप को अपने अन्तरात्मा के भीतर प्रतिष्ठित करना चाहिए। इन दोनों का मन्त्रों का अर्थ इस प्रकार है—(1) 'मरुद्गण, इन्द्र, बृहस्पति एवं अग्निदेव—ये समस्त देवगण मुझपर कल्याण का सिंचन करें।' हे अग्नि देव! आप मुझे आयुष्य, ज्ञानधन तथा साधनादि शक्ति से पूर्ण करें और मुझे लम्बी आयु भी दें।' (2) 'हे अग्निदेव! आपका जो यज्ञों में प्रकट होने वाला स्वरूप है, उसी रूप में आप

यहाँ उपस्थित होने की कृपा करें। तथा हमारे लिए बहुत से मानवोपयोगी अति शुद्ध धन-दौलत का विकास करते हुए, हमारी आत्मा में आत्मरूप से प्रतिष्ठित हो जाएँ। आप यज्ञरूप होकर अपने कारणरूप यज्ञ में स्थित हो जाएँ। हे जातवेदा ! आप पृथिवी से प्रकट होकर अपने धाम के साथ यहाँ प्रतिष्ठित हों।'

तत्पश्चात् अग्निदेव का ध्यान करके प्रदक्षिणा तथा नमस्कारपूर्वक अग्निशाला में अग्नि का विसर्जन कर देना चाहिए। बाद में प्रातः और सायं संध्या के समय भी हजार गायत्री मंत्र जप तथा सूर्योपस्थान करना चाहिए। फिर नाभि प्रदेश तक पानी में जाकर, उसमें बैठकर आठ दिक्पालों को अर्घ्य देना चाहिए। फिर माँ जगदम्बा को विसर्जित करके सावित्री देवी से व्याहृतियों में प्रवेश करने की निम्न मंत्रों से प्रार्थना करनी चाहिए—(1) 'अहं वृक्षस्य रेरिवा.....त्रिशङ्कोर्वेदानुवचनम्' अर्थात् मैं विश्ववृक्ष का उच्छेदक हूँ। मेरा यश गिरिशिखर के समान उच्च है। अन्नोत्पादक सूर्य में व्याप्त अमृत के समान मैं भी अतिपवित्र अमृतरूप ही हूँ। मैं तेजोयुक्त संपदावान उत्तम मेधा से युक्त एवं अमृत से अभिषिक्त हूँ। यह त्रिशंकु ऋषि की ज्ञानानुभूतियुक्त वाणी है। (2) 'यश्छन्दसामृषभो·····भूयासम्।' अर्थात् जिसे वेदों में सर्वश्रेष्ठ सर्वरूप कहा है, वेदों से जिसका विशिष्ट प्राकट्य हुआ है, वह इन्द्र मुझे मेधावी बनाएँ। (3) 'शरीरं मे···गोपाय'। अर्थात् मेरा शरीर स्फूर्तियुक्त हो, जिह्वा मधुरभाषिणी हो, कान अच्छी वाणी सुननेवाले हों। आप मेधावी ब्रह्मा जैसे हैं। मेरे द्वारा सुनी हुई ये वाणियाँ विस्मृत न हों। (4) 'दारैषणयाश्च·····सुवः संन्यस्तं मया' अर्थात् मैं स्त्री की, वित्त की और लोककीर्ति की एषणा से ऊपर उठ गया हूँ। मैंने भूलोक का संन्यास पूर्णता से किया है। मैंने भूः (पृथ्वी), भुवः (अन्तरिक्ष) और सुवः (स्वर्ग) के सुखवैभवों का पूर्णतः परित्याग कर दिया है।'—इन प्रार्थनामंत्रों का वाणी के मन्द, मध्यम और उच्च स्वर से अथवा मन-ही-मन उच्चारण करके 'अभयं प्रवर्तते·····स्वाहा'—इत्यादि मन्त्रों से जल का आचमन करके (मंत्रार्थ इस प्रकार है—मेरे द्वारा सभी प्राणियों को 'अभय' दिया गया है। मुझमें ही सबकी प्रवृत्ति है) पूर्व दिशा की ओर पूरी अंजलि भरकर जल डालकर, 'ॐ स्वाहा' कहकर शेष रही हुई शिखा के बालों को भी उखाड़ डालना चाहिए। इसके बाद—'यज्ञोपवीतं परमं पवित्रं·····' इत्यादि मंत्रों के द्वारा यज्ञोपवीत को तोड़ डालना चाहिए (मन्त्र का भाव यह है—पूर्वकाल में परमपवित्र यह यज्ञोपवीत प्रजापति से जन्मा था वह हमें उत्तम आयु, बल, और तेज दे)। फिर जलांजलि के साथ उसे हाथ में लेकर 'ॐ भूः समुद्रं गच्छ स्वाहा'—इस मंत्र से जल में छोड़कर, बाद में 'ॐ भूः संन्यस्तं मया, ॐ भुवः संन्यस्तं मया, ॐ स्वः संन्यस्तं मया' इस तरह तीन बार इस मंत्र को पढ़कर, तीन बार जल को अभिमंत्रित करके आचमन करने के बाद 'भूः स्वाहा' कहते हुए कटिवस्त्र को भी जल में फेंक देना चाहिए। बाद में अपने किए समस्त कर्मों के त्याग को याद करके वस्त्ररहित होकर अपने आत्मस्वरूप का चिन्तन करते हुए, बाँह को ऊपर उठाकर उत्तर दिशा की ओर जाना चाहिए।

पूर्ववद्विद्वत्संन्यासी चेद् गुरोः सकाशात् प्रणवमहावाक्योपदेशं प्राप्य यथासुखं विहरन् मत्तः कश्चिन्नान्यो व्यतिरिक्त इति फलपत्रोदकाहारः पर्वतवनदेवालयेषु सञ्चरेत्संन्यस्याथ दिगम्बरः सकलसञ्चारकः सर्वदा-न (?) स्वानुभवैकपूर्णहृदयः कर्मातिदूरलाभः प्राणायामपरायणः फलरस-त्वक्पत्रमूलोदकैर्मोक्षार्थी गिरिकन्दरेषु विसृजेद्देहं स्मरंस्तारकम् ॥38॥

यदि पहले की तरह विद्वत्संन्यासी हो, तो गुरु के पास से प्रणव एवं महावाक्यों का उपदेश पाकर यथेच्छ विहार करना चाहिए। पागल की तरह 'मेरे सिवा यहाँ कोई है ही नहीं' ऐसा मानना चाहिए। भोजन में उसे फल, पत्र, पानी ग्रहण करना चाहिए। पर्वतों, वनों और देवालयों में वास करना चाहिए। संन्यास लेकर, वस्त्रविहीन होकर सर्वत्र घूमते हुए उसको हमेशा ही आनन्द की स्वानुभूति से भरे हुए हृदयवाला होना चाहिए। कर्मों से अतिदूर रहने में ही लाभ मानना चाहिए। प्राणायामपरायण रहना चाहिए। फल-फूलों के रस, छिलके, पत्ते, मूल, जड और पानी से ही जीवन बिताते हुए उस मोक्षार्थी को तारकमंत्र का जाप करते हुए ही पर्वत की गुफाओं में देह को त्याग देना चाहिए।

विविदिषासंन्यासी चेच्छतपथं गत्वाचार्यादिभिर्विप्रैस्तिष्ठ तिष्ठ महाभाग दण्डं वस्त्रं कमण्डलुं ग्रहाण प्रणवमहावाक्यग्रहणार्थं गुरुनिकट-मागच्छेत्याचार्यैर्दण्डकटिसूत्रकौपीनं शाटीमेकां कमण्डलुं पादादि-मस्तकप्रमाणमव्रणं समं सौम्यमकालपृष्ठं सलक्षणं वैणवं दण्डमेकमा-चमनपूर्वकं 'सखा मा गोपायौजः सखायोऽसीन्द्रस्य वज्रोऽसि वार्त्रघ्नः शर्म मे भव यत्पापं तन्निवारयेति दण्डं परिग्रहेज्जगज्जीवनं जीवना-धारभूतं मा ते मा मन्त्रयस्व सर्वदा सर्वसौम्येति प्रणवपूर्वकं कमण्डलुं परिगृह्य कौपीनाधारं कटिसूत्रमोमिति गुह्याच्छादनं कौपीनमोमिति शीतवातोष्णत्राणकरं देहैकरक्षणमोमिति कटिसूत्रकौपीनवस्त्रमाचमन-पूर्वकं योगपट्टाभिषिक्तो भूत्वा कृतार्थोऽहमिति मत्वा स्वाश्रमाचारपरो भवेदित्युपनिषत् ॥39॥

इति चतुर्थोपदेशः।
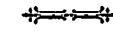
यदि ज्ञान की प्राप्ति की इच्छा से संन्यास धर्म का वरण किया गया हो, तब वह सौ कदम आगे चलने के बाद आचार्यों-गुरुजनों के द्वारा इस प्रकार बुलाये जाने पर कि—'हे महाभाग ! ठहरो ठहरो; यह कमण्डलु, वस्त्र और दण्ड धारण करो'। तुम्हें ॐकार और महावाक्यों के उपदेश के लिए गुरु के पास जाना चाहिए। गुरु के समीप जाने के बाद, गुरुजनों एवं आचार्यों द्वारा दिए जाने पर ही वह दण्ड, कटिसूत्र, कौपीन, एक चादर तथा एक कमण्डलु अपने पास रखता है। वह दण्ड बाँस का ही होना चाहिए और उसकी ऊँचाई सिर से लेकर पैरों तक की होनी चाहिए। वह खरौंच तथा छेद से रहित होना चाहिए। वह चिकना तथा श्रेष्ठ लक्षणों से युक्त होना चाहिए। उस दण्ड का रंग काला नहीं होना चाहिए। इन सभी वस्तुओं के ग्रहण करने से पहले आचमनादि करना चाहिए और निधारित मंत्र 'सखा मा गौपायौजः·····तन्निवारय'—पढ़कर हाथ में दण्ड ग्रहण करना चाहिए। इसके बाद, 'जगज्जीवनं·····सर्वसौम्य' मन्त्र के साथ ॐकार का उच्चारण कर कमण्डलु को धारण करना चाहिए। बाद में 'गुह्याच्छादनं कौपीनम्' बोलकर कौपीन धारण करना चाहिए। और 'शीतवातोष्णत्राणकरं देहैकरक्षणकरमोम्' यह बोलकर ही वस्त्र धारण करना चाहिए। इसके बाद योगपट्टाभिषिक्त हो 'अब मैं कृतकृत्य हो गया'—ऐसा मानता हुआ अपने आश्रम के उचित सदाचार के पालन में वह संलग्न हो जाना चाहिए। इतना ही उपदेश है।

यहाँ चतुर्थोपदेश पूरा हुआ।

❋

पञ्चमोपदेशः

अथ हैनं पितामहं नारदः पप्रच्छ भगवन्सर्वकर्मनिवर्तकः संन्यास इति त्वयैवोक्तः पुनः स्वाश्रमाचारपरो भवेदित्युच्यते। ततः पितामह उवाच —शरीरस्य देहिनो जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तितुरीयावस्थाः सन्ति। तदधीनाः कर्मज्ञानवैराग्यप्रवर्तकाः पुरुषा जन्तवस्तदनुकूलाचाराः सन्ति। तथैव चेद्भगवन्संन्यासाः कतिभेदास्तदनुष्ठानभेदाः कीदृशास्तत्त्वतोऽस्माकं वक्तुमर्हसीति तथेत्यङ्गीकृत्य तु पितामहेन ॥1॥

अब पितामह ब्रह्माजी से नारद ने पूछा—हे भगवन्! आपने तो संन्यास को सर्वकर्मनिर्वतक कहा है अब फिर ऐसा क्यों कहते हैं कि उसे अपने आश्रमानुकूल आचार पालने चाहिए। तब पितामह बोले—इस शरीर को धारण करने वाले देही (आत्मा) की जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति और तुरीय अवस्थाएँ होती हैं। और कर्म-ज्ञान-वैराग्य का प्रवर्तन करने वाले सभी मनुष्य उन अवस्थाओं के अधीन ही रहते हैं। सभी प्राणी भी (जन्तु तक भी) वैसे ही रहते हैं। तब नारद ने पूछा—'हे भगवन्! यदि ऐसा ही है, तब फिर संन्यास के कितने भेद हैं? उनके अनुष्ठानों के भेद कैसे-कैसे हैं? यह सब हमें आप बताइए। तब पितामह ने 'ठीक है' इस प्रकार स्वीकार करते हुए कहा—

संन्यासभेदैराचारभेदः कथमिति चेत् तत्त्वस्त्वेक एव संन्यास अज्ञानेनाशक्तिवशात्कर्मलोपतश्च त्रैविध्यमेत्य वैराग्यसंन्यासो ज्ञानसंन्यासो ज्ञानवैराग्यसंन्यासः कर्मसंन्यासश्चेति चातुर्विध्यमुपागतः ॥2॥

हे नारद! संन्यास के भेद से आचारभेद में क्या अन्तर आता है, यदि ऐसा पूछते हो तो मैं बताता हूँ, सुनो! वास्तव में तो संन्यास का एक ही प्रकार है, पर ज्ञानरहित होने के कारण असामर्थ्यवश तथा कर्मलोप से तीन भेदों में बँटकर वैराग्यसंन्यास, ज्ञानसंन्यास, वैराग्यज्ञानसंन्यास और कर्मसंन्यास इन चार प्रकारों वाला हो जाता है।

तद्यथेति दुष्टमदनाभावाच्चेति विषयवैतृष्ण्यमेत्य प्राक्पुण्यकर्मवशात् संन्यस्तः स वैराग्यसंन्यासी ॥3॥

शास्त्रज्ञानात् पापपुण्यलोकानुभवश्रवणात् प्रपञ्चोपरतः क्रोधेर्ष्यासूयाहङ्काराभिमानात्मकसर्वसंसारं निर्वृत्य दारेषणाधनेषणालोकेषणात्मकदेहवासनां शास्त्रवासनां लोकवासनां त्यक्त्वा वमनान्नमिव प्रकृतीयं सर्वमिदं हेयं मत्वा। साधनचतुष्टयसम्पन्नो यः संन्यस्यति स एव ज्ञानसंन्यासी ॥4॥

मन में दुष्ट भावनाओं का अभाव होने पर या विषयों में वितृष्णाभाव आ जाने से पूर्वजन्म के पुण्यों के कारण जो संन्यास लिया जाता है, वह 'वैराग्यसंन्यास' कहा जाता है। अब ज्ञानसंन्यासी वह है, जो शास्त्रों के ज्ञान से पाप और पुण्य के लोकों के अनुभव और श्रवण से इस संसार-प्रपंच से उपरत हो गया हो। जो क्रोध, ईर्ष्या, असूया, अहंकार, अभिमान से लिप्त इस संसार से हट गया हो तथा पुत्रैषणा, धनैषणा और लोकैषणा और स्त्री-एषणारूपी देह की वासना को, शास्त्रवासना और कीर्ति की वासना को भी वमन किए हुए अन्न की तरह छोड़ देता है तथा यह सब प्रकृति का ही है, इसीलिए यह सब त्याज्य ही है, ऐसा मानते हुए जो साधन-चतुष्टय से सम्पन्न होकर संन्यास लेता है, वह ज्ञानसंन्यासी है।

क्रमेण सर्वमभ्यस्य सर्वमनुभूय ज्ञानवैराग्याभ्यां स्वरूपानुसन्धानेन देहमात्रावशिष्टः संन्यस्य जातरूपधरो भवति स ज्ञानवैराग्यसंन्यासी ॥5॥

ब्रह्मचर्यं समाप्य गृही भूत्वा वानप्रस्थाश्रममेत्य वैराग्यभावेऽप्याश्रमक्रमानुसारेण यः संन्यस्यति स कर्मसंन्यासी ॥6॥

अब ज्ञानवैराग्यसंन्यासी वह है जो क्रमशः सबका अभ्यास करते हुए ज्ञान और वैराग्य से स्वरूपानुसन्धान द्वारा बालक की तरह निर्दोष और निर्दंश-निष्कपट-निश्छल हो जाता है, उसे ज्ञानवैराग्यसंन्यासी कहा जाता है। जो मनुष्य ब्रह्मचर्य को समाप्त करके गृहस्थी होकर, बाद में वानप्रस्थी होकर वैराग्य भाव हो जाने पर आश्रम के क्रमानुसार ही संन्यास लेता है, वह कर्मसंन्यासी कहा जाता है।

ब्रह्मचर्येण संन्यस्य संन्यासाज्जातरूपधरो वैराग्यसंन्यासी। विद्वत्संन्यासी ज्ञानसंन्यासी विविदिषासंन्यासी कर्मसंन्यासी ॥7॥

अथवा ब्रह्मचर्य के तुरन्त बाद संन्यास लेकर उस संन्यास से शिशुवत् निर्दोष निश्छल हो जाने वाला वैराग्यसंन्यासी कहा जाता है विद्वत्संन्यासी ही ज्ञानसंन्यासी है, और विविदिषासंन्यासी ही कर्मसंन्यासी है।

कर्मसंन्यासोऽपि द्विविधः निमित्तसंन्यासोऽनिमित्तसंन्यासश्चेति। निमित्तस्त्वातुरः। अनिमित्तः क्रमसंन्यासः। आतुरः सर्वकर्मलोपः प्राणस्योत्क्रमणकालसंन्यासः सनिमित्तसंन्यासः। दृढाङ्गो भूत्वा सर्वं कृतकं नश्वरमिति देहादिकं सर्वं हेयं प्राप्य ॥8-9॥

हंसः शुचिषद्वसुरन्तरिक्षसद्धोता वेदिषदतिथिर्दुरोणसत्। नृषद्वरसदृतसद्व्योमसदब्जा गोजा ऋतजा अद्रिजा ऋतं बृहत् ॥10॥

कर्मसंन्यास भी दो प्रकार का होता है—निमित्तसंन्यास और अनिमित्तसंन्यास। निमित्तसंन्यास ही आतुरसंन्यास है और अनिमित्त ही क्रमसंन्यास है। किसी रोग के कारण पीडित व्यक्ति के जब सभी कर्मों का लोप होता है अर्थात् जब कर्म किए ही नहीं जा सकते हों, तब प्राणों के जाने के समय ही संन्यास लिया जाए, उसी को निमित्तसंन्यास कहते हैं! परन्तु, शरीर के बलवान होने पर सब प्रपंच कृतक होने से मिथ्या ही है, इस प्रकार अपने देहादिक सबको त्याज्य समझ लेता है—"यह परमात्मा आकाश में विचरण करने वाला हंस है (सूर्य है), वही अन्तरिक्ष में स्वेच्छाविहारी वसु है। वही होता है और वही यज्ञवेदी पर प्रतिष्ठित अग्नि है। सद्गृहस्थों के भवनों में आतिथ्यरूप में आश्रय करने वाला भी यही है। उसी की सत्ता पुरुषों में सर्वोत्तम है। उत्तमोत्तम और अनुपम वस्तुओं में उसी का अस्तित्व है। शाश्वत सत्य में उसी का वास है। आकाश में वही सत्यरूप है। जल से भी वही प्रादुर्भूत होता है। वही गो-पृथ्वी-वाणी से उत्पन्न होता है। सत्य से भी उसी का प्राकट्य होता है। वही पर्वतों से उत्पन्न होकर इन सभी से भिन्न अतिविलक्षण एकमात्र महान् सत्ता है"।

ब्रह्मव्यतिरिक्तं सर्वं नश्वरमिति निश्चित्याथो क्रमेण यः संन्यस्यति स संन्यासोऽनिमित्तसंन्यासः ॥11॥

इस प्रकार पूर्व मन्त्रोक्त-भावानुसार जो मनुष्य केवल परब्रह्म परमात्मा को ही सत्यस्वरूप जानता

है, और ब्रह्म से अलग सब कुछ नश्वर ही है ऐसा मानता है, और क्रमानुसार संन्यास में प्रवेश करता है, उसका संन्यास अनिमित्तसंन्यास कहा जाता है।

संन्यासः षड्विधो भवति। कुटीचको बहूदको हंसः परमहंसः तुरीयातीतोऽवधूतश्चेति ॥12॥
कुटीचकः शिखायज्ञोपवीती दण्डकमण्डलुधरः कौपीनकन्थाधरः पितृमातृगुर्वाराधनपरः पिठरखनित्रशिक्यादिमन्त्रसाधनपरः एकत्रान्नादनपरः श्वेतोर्ध्वपुण्ड्रधारी त्रिदण्डः।
बहूदकः शिखादिकन्थाधरस्त्रिपुण्ड्रधारी कुटीचकवत्सर्वसमो मधुकरवृत्त्याष्टकवलाशी ॥13॥
हंसो जटाधारी त्रिपुण्ड्रोर्ध्वपुण्ड्रधारी असंक्लृप्तमाधूकरान्नाशी कौपीनखण्डतुण्डधारी ॥14॥
परमहंसः शिखायज्ञोपवीतरहितः पञ्चगृहेष्वेकरात्रान्नादनपरः करपात्री एककौपीनधारी शाटीमेकामेकं वैणवं दण्डमेकशाटीधरो वा भस्मोद्धूलनपरः सर्वव्यापी ॥15॥

संन्यासी के छः भेद इस प्रकार कहे गए हैं—(1) कुटीचक, (2) बहूदक, (3) हंस, (4) परमहंस, (5) तुरीयातीत और (6) अवधूत। इनमें कुटीचक संन्यासी शिखा और यज्ञोपवीत को धारण करता है, दण्ड और कमण्डलु भी अपने पास रखता है, कौपीन तथा गुदड़ी भी रखता है और अपने माता, पिता, गुरु की आज्ञा का पालन और उनकी सेवा में परायण रहता है। वह हमेशा बरतन, कुदाली और झोली को अपने साथ रखता है। यह सदा मन्त्र साधना करता रहता है। सदा एक ही स्थान में वह भोजन लेने का आग्रही होता है। वह ललाट में सफेद ऊर्ध्वपुण्ड्र धारण करता है और त्रिदण्ड को धारण करता है। बहूदक संन्यासी भी शिखादि तथा कन्थादि को धारण करता है, त्रिपुण्ड्र को धारण करता है, और ऊर्ध्वपुण्ड्र को भी धारण करता है। कुटीचक संन्यासी की ही तरह अन्य सब बातों में समान ही होता है। और वह अलग-अलग घरों से माधुकरी प्राप्त कर प्रतिदिन के मात्र आठ कवल (ग्रास) ही भोजन करता है। अब हंस संन्यासी जटाजूट को धारण किए हुए होता है, त्रिपुण्ड्र और ऊर्ध्वपुण्ड्र को धारण करता है, उसके रोज के भिक्षा माँगने के घर अनिश्चित होते हैं, पर खाता तो वह भिक्षान्न ही है। वह कौपीन का टुकड़ा और तुम्बीपात्र अपने पास रखता है। परमहंस संन्यास वह है जो शिखा और यज्ञोपवीत को छोड़कर, हररोज पाँच घरों में भिक्षा माँगकर खाता है (रोज ही घर बदले जाते हैं, हाथ ही उसके पात्र होते हैं)। वह एक कौपीन, ओढने का वस्त्र, तथा बाँस का एक दण्ड लेता है। उसका शरीर या तो भस्म से और या तो चादर से लिपटा हुआ होता है।

तुरीयातीतो गोमुखः फलाहारी अन्नाहारी चेद्गृहत्रये देहमात्रावशिष्टो दिगम्बरः कुणपवच्छरीरवृत्तिकः ॥16॥
अवधूतस्त्वनियमोऽभिशस्तपतितवर्जनपूर्वकं सर्ववर्णेष्वजगरवृत्त्याहारपरः स्वरूपानुसन्धानपरः ॥17॥
आतुरो जीवति चेत्क्रमसंन्यासः कर्तव्यः ॥18॥
कुटीचकबहूदकहंसानां ब्रह्मचर्याश्रमादितुरीयाश्रमवत् कुटीचकादीनां संन्यासविधिः ॥19॥

तुरीयातीत संन्यासी गाय की तरह यदृच्छा से जो प्राप्त हो उसे खाकर जीवन निर्वाह करता है, वह फल ही खाता है। यदि वह अन्नाहारी भी हो, तो तीन घर की भिक्षा से ही काम चलाता है। शरीर को छोड़कर उसके पास कोई परिग्रह नहीं होता। वह दिगम्बर (नग्न) रहता है वह मुर्दे की तरह अपने शरीर का वर्तन करता है। जो अवधूत होता है, वह तो किसी नियम के अधीन नहीं होता। कलंकित और पथभ्रष्ट लोगों को छोड़कर वह जाति-पाँति के किसी भेद को न मानकर अजगरवृत्ति से जो मिलता है उसी का आहार कर लेता है। और अपने स्वरूप का अनुसन्धान करता रहता है। अब जो आतुर संन्यासी है, वह संन्यास लेने के बाद यदि जीवित रहता है तो उसे क्रमसंन्यास ग्रहण करना चाहिए। कुटीचक, बहूदक और हंस संज्ञक तीन संन्यासियों को ब्रह्मचर्य, गृहस्थ और वानप्रस्थ—इस क्रम से ही संन्यास का अधिकार है। अर्थात् उन्हें तो क्रमानुसार ही संन्यास लेना चाहिए (यह साधारण नियम है)।

परमहंसादित्रयाणां न कटीसूत्रं न कौपीनं न वस्त्रं न कमण्डलुर्न दण्डः। सार्ववर्णैकभैक्षाटनपरत्वं जातरूपधरत्वं विधिः। संन्यासकालेऽप्यलंबुद्धिपर्यन्तमधीत्य तदनन्तरं कटीसूत्रं कौपीनं दण्डं वस्त्रं कमण्डलुं सर्वमप्सु विसृज्याथ जातरूपधरश्चरेन्न कन्थावेशो नाध्येतव्यो न वक्तव्यो न श्रोतव्यमन्यत्किञ्चित् प्रणवादन्यं न तर्कं पठेन्न शब्दमपि बृहच्छब्दान्नाध्यापयेन्न महद्वाचो विग्लापनं गिरा पाण्यादिना सम्भाषणं नान्यस्माद् वा विशेषेण न शूद्रस्त्रीपतितोदक्यासम्भाषणं न यतेर्देवपूजा नोत्सवदर्शनं तीर्थयात्रावृत्तिः ॥20॥

परमहंस, तुरीयातीत और अवधूत—इन तीनों को कटिसूत्र, कौपीन, वस्त्र, कमण्डलु और दण्ड रखने की कोई आवश्यकता नहीं है। जातिपाँति के किसी भेदभाव के बिना ही उन्हें भिक्षाटन करना चाहिए। नग्न या बच्चों जैसे निश्छल रहना चाहिए। यही उनके लिए विधि है। संन्यास काल में भी 'इतना अध्ययन मेरे लिए पर्याप्त है।' यह भाव मन में जहाँ तक आए तब तक उसे अध्ययन करते रहना चाहिए। फिर अध्ययन के बाद कटिसूत्र, कौपीन, दण्ड, वस्त्र, कमण्डलु—इन सब चीजों को पानी में छोड़कर जातरूपधर (निश्छल-निष्कपट) रहते हुए बिना कन्था लिए घूमते रहना चाहिए। उसे तब पढ़ना नहीं चाहिए न ही उसे भाषण देना चाहिए। उसे तब कुछ सुनना भी नहीं चाहिए। केवल प्रणव ही सुनना चाहिए। उसे तब न तर्क पढ़ना चाहिए, न शब्दशास्त्र। महान् शब्दों का अध्यापन नहीं करना चाहिए। विशालता भी नहीं—बुद्धि भी नहीं—ये सब तो केवल वाणी का विलास है। उसे किसी के साथ संकेतों से (हाथ-पैर के भावों से) भी बातचीत नहीं करनी चाहिए। स्त्री, शूद्र, पतिता और रजस्वला के साथ तो उसे भूलकर भी भाषण नहीं करना चाहिए। इस संन्यासी के लिए देवपूजा, उत्सवपूजा और तीर्थयात्रा आदि करना जरूरी नहीं माना गया है।

पुनर्यतिविशेषः। कुटीचकस्यैकत्र भिक्षा बहूदकस्यासंक्लृप्तं माधुकरं हंसस्याष्टगृहेष्वष्टकवलं परमहंसस्य पञ्चगृहेषु करपात्रं फलाहारो गोमुखं तुरीयातीतस्यावधूतस्याजगरवृत्तिः सार्ववर्णिकेषु यतिर्नैकरात्रं वसेन्न कस्यापि नमेत् तुरीयातीतावधूतयोर्न ज्येष्ठो यो न स्वरूपज्ञः। स ज्येष्ठोऽपि कनिष्ठो हस्ताभ्यां नद्युत्तरणं न कुर्यान्न वृक्षमारोहेन्न यानादिरूढो न क्रयविक्रयपरो न किञ्चिद्विनिमयपरो न दाम्भिको नानृतवादी न

देनी चाहिए। बालक, पागल या पिशाच की तरह जन्म की या मृत्यु की अपेक्षा (प्रतीक्षा) नहीं करनी चाहिए, किन्तु काल की ही राह देखते रहना चाहिए। जिस प्रकार वैतनिक नौकर समय की प्रतीक्षा करता है, वैसे ही परिव्राजक को समय की प्रतीक्षा करनी चाहिए।

तितिक्षाज्ञानवैराग्यशमादिगुणवर्जितः।
भिक्षामात्रेण जीवी स्यात् स यतिर्यतिवृत्तिहा ॥27॥
न दण्डधारणेन न मुण्डनेन न वेषेण न दम्भाचारेण मुक्तिः ॥28॥
ज्ञानदण्डो धृतो येन एकदण्डी स उच्यते।
काष्ठदण्डो धृतो येन सर्वाशी ज्ञानवर्जितः।
स याति नरकान्घोरान् महारौरवसंज्ञितान् ॥29॥
प्रतिष्ठा सूकरीविष्ठा समा गीता महर्षिभिः।
तस्मादेनां परित्यज्य कीटवत्पर्यटेद्यतिः ॥30॥

जिस संन्यासी में तितिक्षा, ज्ञान, वैराग्य, शम आदि गुण नहीं हैं, वह तो भिक्षामात्र से ही जिन्दगी गुजारता हुआ रहता है, ऐसा संन्यासी तो संन्यासवृत्ति की हत्या करने वाला ही है। सिर्फ दण्ड को धारण करने से या फिर सर मुँडवाने से, अथवा गेरुआ वस्त्र पहन लेने से तो दम्भ का ही आचरण होता है और इस बाह्य परिवेशमात्र से मुक्ति नहीं मिलती। जिसने ज्ञानरूपी दण्ड धारण कर लिया है वह एकदण्डी कहा जाता है, परन्तु जो केवल लकड़ी की लाठी हाथ में लिए होता है, जो सब कुछ खाता है, जिसमें कुछ भी ज्ञान नहीं है, वह तो महारौरव नामक भयंकर नरक में ही वास करता है। महर्षियों ने कहा है कि प्रतिष्ठा तो सुअर की विष्टा जैसी अपवित्र है इसलिए प्रतिष्ठा (कीर्ति) को छोड़कर यति को एक कीड़े की भाँति भ्रमण करते रहना चाहिए।

अयाचितं यथालाभं भोजनाच्छादनं भवेत्।
परेच्छया च दिग्वासाः स्नानं कुर्यात्परेच्छया ॥31॥
स्वप्नेऽपि सो हि युक्तः स्याज्जाग्रतीव विशेषतः।
ईदृक्चेष्टः स्मृतः श्रेष्ठो वरिष्ठो ब्रह्मवादिनाम् ॥32॥
अलाभे न विषादी स्याल्लाभे नैव च हर्षयेत्।
प्राणयात्रिकमात्रः स्यान्मात्रासङ्गविवर्जितः ॥33॥
अभिपूजितलाभांश्च जुगुप्सेतैव सर्वशः।
अभिपूजितलाभैस्तु यतिर्मुक्तोऽपि बध्यते ॥34॥

बिना माँगे ही भोजन या आच्छादन जो कुछ मिल जाय उसी से संन्यासी को निर्वाह करना चाहिए। ऐसा संन्यासी दूसरों की इच्छानुसार ही कपड़े पहनता है, अथवा कपड़े उतार देता है। वह स्नान भी दूसरों की इच्छा से ही करता है। वह जैसे जाग्रत् अवस्था में आत्मस्थ रहता है, वैसे स्वप्नावस्था में भी आत्मस्थ रहता है। इस प्रकार का वर्तन करने वाले को ही ब्रह्मवादियों में वरिष्ठ और श्रेष्ठ कहा गया है। ऐसे यति को भिक्षा न मिलने पर वह खिन्न नहीं होता और भिक्षा के मिलने पर आनन्द में भी नहीं आ जाता। वह तो केवल प्राणयात्रा चलाने का पथिक है। वह मात्राओं के (विषयों के) संग (आसक्ति) से रहित होता है। वह मानापमानादि लाभों की ओर घृणा की दृष्टि से ही देखता है। क्योंकि ऐसे मानापमानादि से तो मुक्त योगी भी बन्धन में पड़ जाता है।

प्राणयात्रानिमित्तं च व्यङ्गारे भुक्तवज्जने।
काले प्रशस्ते वर्णानां भिक्षार्थं पर्यटेद् गृहात् ॥35॥
पाणिपात्रश्चरन्योगी नासकृद् भैक्षमाचरेत्।
तिष्ठन्भुञ्ज्याच्चरन्भुञ्ज्यान्मध्येनाचमनं तथा ॥36॥
अब्धिवद् धृतमर्यादा भवन्ति विशदाशयाः।
नियतिं न विमुञ्चन्ति महान्तो भास्करा इव ॥37॥
आस्येन तु यदाहारं गोवन्मृगयते मुनिः।
तदा समः स्यात्सर्वेषु सोऽमृतत्वाय कल्पते ॥38॥

जब रसोईघर व्यंगार – अंगाररहित अर्थात् शान्त हो जाए, जब घर के सभी लोगों ने भोजन ग्रहण कर लिया हो, ऐसे प्रशस्त समय में संन्यासी को अपने घर से भिक्षा के लिए निकलना चाहिए। उसकी वह भिक्षा केवल प्राणयात्रा चलाने के लिए ही होती है। वह संन्यासी हाथ को ही पात्र बनाकर घूमता हुआ बार-बार भिक्षा नहीं माँगता अर्थात् एक बार ही भिक्षा माँगता है। भिक्षा माँगकर वह खड़ा-खड़ा ही खा लेता है, चलते-चलते भी खा लेता है। वह बीच में पानी भी नहीं पीता। ऐसे यति लोग सागर जैसे मर्यादा में रहने वाले होते हैं। वे बड़े महाभाग होते हैं। वे अपनी नियति को कभी छोड़ते नहीं (नियति का उल्लंघन नहीं करते)। वे सूर्य जैसे ही महानुभाव होते हैं। ऐसा मुनि दूसरों के द्वारा खिलाए जाने पर ही अपने मुख से आहार ग्रहण करता है, तब सभी प्राणियों के प्रति उसका समान भाव हो जाता है और वह योगी मुक्ति का अधिकारी हो जाता है।

अनिन्द्यं वै व्रजेद् गेहं निन्द्यं गेहं तु वर्जयेत्।
अनावृते विशेद् द्वारि गेहे नैवावृते व्रजेत् ॥39॥
पांसुना च प्रतिच्छन्नशून्यागारप्रतिश्रयः।
वृक्षमूलनिकेतो वा त्यक्तसर्वप्रियाप्रियः ॥40॥
यत्रास्तमितशायी स्यान्निरग्निरनिकेतनः।
यथालब्धोपजीवी स्यान्मुनिर्दान्तो जितेन्द्रियः ॥41॥
निष्क्रम्य वनमास्थाय ज्ञानयज्ञो जितेन्द्रियः।
कालकांक्षी चरन्नेव ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥42॥

वह संन्यासी अनिन्द्य घर में ही भिक्षा के लिए जाता है, निन्द्य घर में कभी नहीं जाता। जिस घर का दरवाजा खुला होता है, वहीं जाता है, बन्द दरवाजे वाले मकान में वह नहीं जाता। जो घर धूल से आच्छन्न हो और निर्जन हो, ऐसे घर में उसे आश्रय करना चाहिए। अथवा किसी वृक्ष के मूल में उसे आश्रय लेना चाहिए। जहाँ पर सूर्य अस्त हो, वहाँ पर उसे रहना और सोना चाहिए, इसके सिवा उसका कोई घर नहीं। वह निरग्नि (अग्निहोत्र नहीं करने वाला) होता है। जो कुछ कहीं से मिल जाता है, उसी से वह अपना निर्वाह करता है। वह संयमी और जितेन्द्रिय होता है। जो मुनि काल की राह देखता हुआ हमेशा इस प्रकार विचरण करता है, वह ब्रह्मस्वरूप हो जाता है।

अभयं सर्वभूतेभ्यो दत्त्वा चरति यो मुनिः।
न तस्य सर्वभूतेभ्यो भयमुत्पद्यते क्वचित् ॥43॥
निर्मानश्चानहङ्कारो निर्द्वन्द्वश्छिन्नसंशयः।
नैव क्रुध्यति न द्वेष्टि नानृतं भाषते गिरा ॥44॥

यतेः किञ्चित्कर्तव्यमस्ति चेत्साङ्कर्यम्। तस्मान्मननादौ संन्यासिना-मधिकारः ॥21॥

अब फिर से संन्यासियों की विशेषता बताकर नियमादि कहे जाते हैं—कुटीचक की भिक्षा एक स्थानविशेष पर होती है, बहूदक की अनियत स्थान पर होती है, हंस की आठ घरों से आठ ग्रास की होती है, परमहंस की पाँच घरों से होती है, हाथ ही उसका पात्र होता है, फल ही उसका आहार होता है। तुरीयातीत के लिए गाय के मुख से समान यदृच्छया प्राप्त भिक्षा होती है और अवधूत के लिए अंजगरवृत्ति की-सी भिक्षा होती है। उसमें जातिपाँति का कोई भेद नहीं होता। सभी वर्णों के लोगों के साथ यति को एक रात तक नहीं रहना चाहिए। उसको किसी को नमन नहीं करना चाहिए। तुरीय और अवधूत में से जिसने स्वरूप को नहीं जाना, वह बड़ा होते हुए भी छोटा ही है। यति को तैरकर नदी नहीं पार करना चाहिए। उसे वृक्षपर भी नहीं चढ़ना चाहिए। वाहन में भी उसे नहीं बैठना चाहिए। उसे क्रय-विक्रय भी नहीं करना चाहिए। उसे किसी प्रकार का लेन-देन नहीं करना चाहिए। उसे दम्भ नहीं करना चाहिए। उसे झूठ नहीं बोलना चाहिए। यति के लिए कोई भी कर्तव्य शेष नहीं रह जाता, यदि शेष रहा तब तो संकर दोष आएगा। अतः संन्यासियों का मनन में ही अधिकार है, यह बात सिद्ध हो ही जाती है।

आतुरकुटीचकयोर्भूर्लोकभुवर्लोकौ बहूदकस्य स्वर्गलोको हंसस्य तपो-लोकः परमहंसस्य सत्यलोकस्तुरीयातीतावधूतयोः स्वात्मन्येव कैवल्यं स्वरूपानुसन्धानेन भ्रमरकीटन्यायवत् ॥22॥
यं यं वापि स्मरन्भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम्।
तं तमेव समाप्नोति नान्यथा श्रुतिशासनम् ॥23॥

आतुर और कुटीचक संन्यासी भूर्लोक को और भुवर्लोक को प्राप्त करते हैं, जबकि बहूदक स्वर्ग लोक को प्राप्त करता है। हंस के लिए तपोलोक गन्तव्य होता है और परमहंस के लिए सत्यलोक होता है। तुरीयातीत और अवधूत के लिए अपने ही आत्मा में कैवल्यस्वरूप का अनुभव हो जाता है। मृत्यु के समय में जिस-जिस भाव का स्मरण करते हुए मनुष्य देह छोड़ता है, उस-उस भाव को वह प्राप्त होता है। यह श्रुति का शासन अन्यथा (वृथा) नहीं है।

तदेवं ज्ञात्वा स्वरूपानुसन्धानं विनान्यथाचारपरो न भवेत् तदाचार-वशात् तत्तल्लोकप्राप्तिर्ज्ञानवैराग्यसम्पन्नस्य स्वस्मिन्नेव मुक्तिरिति न सर्वत्राचारप्रसक्तिस्तदाचारः। जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तिष्वेकशरीरस्य जाग्र-त्काले विश्वः स्वप्नकाले तैजसः सुषुप्तिकाले प्राज्ञः अवस्थाभेदादव-स्थेश्वरभेदः। कार्यभेदात्कारणभेदस्तासु चतुर्दशकरणानां बाह्यवृत्त-योऽन्तर्वृत्तयस्तेषामुपादानकारणम्। वृत्तयश्चत्वारः मनोबुद्धिरहङ्कार-श्चित्तं चेति। तत्तद् वृत्तिव्यापारभेदेन पृथगाचारभेदः ॥24॥

अतः इस प्रकार जानकर संन्यासी को अपने आत्मस्वरूप के अनुसन्धान के अतिरिक्त किसी अन्य उपाय के साथ संलग्न नहीं रहना चाहिए। अलग-अलग आचार के कारण उस-उस आचारानुकूल लोकों की प्राप्ति होती है। परन्तु ज्ञान और वैराग्य से सम्पन्न पुरुष को अपने में ही मुक्ति होती है, इसलिए सभी जगह पर आचार की आसक्ति नहीं होती। और ऐसी अनासक्ति ही उसका आचार है। वह जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति में एक ही शरीरवाला (एक ही स्वरूपवाला) होता है।

जाग्रत अवस्था वह विश्वरूप होता है, और वही स्वप्नकाल में तैजस होता है और सुषुप्तिकाल में वही प्राज्ञ होता है। काल के ही भेद से उन-उन अवस्था के स्वामी का भेद दीखता है। कार्यभेद से कारण का भेद होता है। जाग्रदादि अवस्थाओं में चौदह कारणों की जो बाह्य वृत्तियाँ हैं, उनका उपादानकारण अन्तर्वृत्तियाँ हैं। (ये चौदह बाह्यवृत्तियाँ—5 ज्ञानेन्द्रियाँ + 5 कर्मेन्द्रियाँ + 4 अन्तःकरण = 14 हैं)। उपादानभूत अन्तःकरण की चार वृत्तियाँ हैं—मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार। उस-उस वृत्ति के व्यापारभेद से अलग-अलग आचारभेद होता है।

नेत्रस्थं जागरितं विद्यात्कण्ठे स्वप्नं समाविशेत्।
सुषुप्तं हृदयस्थं तु तुरीयं मूर्ध्नि संस्थितम् ॥25॥

तुरीयमक्षरमिति ज्ञात्वा जागरिते सुषुप्त्यवस्थापन्न इव यद्यच्छ्रुतं यद्यद्दृष्टं तत्तत्सर्वमविज्ञातमिव यो वसेत्तस्य स्वप्नावस्थायामपि तादृगवस्था भवति। स जीवन्मुक्त इति वदन्ति। सर्वश्रुत्यर्थप्रतिपादनमपि तस्यैव मुक्तिरिति। भिक्षुर्नैहिकामुष्मिकापेक्षः। यद्यपेक्षाऽस्ति तदनुरूपो भवति। स्वरूपानुसन्धानव्यतिरिक्तान्यशास्त्राभ्यासैरुष्ट्रकुङ्कुमभारवद् व्यर्थो न योगशास्त्रप्रवृत्तिर्न सांख्यशास्त्राभ्यासो न मन्त्रतन्त्रव्यापारः। इतरशास्त्रप्रवृत्तिर्यतेरस्ति चेच्छवालङ्कारवच्चर्मकारवदतिविदूरकर्मा-चारविद्यादूरो न प्रणवकीर्तनपरो यद्यत्कर्म करोति तत्तत्फलमनुभवति। एरण्डतैलफेनवदतः सर्वं परित्यज्य तत्प्रसक्तं मनोदण्डं करपात्रं दिगम्बरं दृष्ट्वा परिव्रजेद् भिक्षुः। बालोन्मत्तपिशाचवन्मरणं जीवितं वा न कांक्षेत कालमेव प्रतीक्षेत। निर्देशभृतकन्यायेन परिव्राडिति ॥26॥

जाग्रदवस्था के अधिष्ठातादेव नेत्र में हैं, स्वप्नावस्था के अधिष्ठातादेव कण्ठ में तथा सुषुप्तावस्था के अधिष्ठातादेव हृदय में स्थित हैं और तुरीय का स्थान तो मस्तक पर है। यह जो तुरीय है, वह परमात्मा है, उसके स्वरूप को जानकर—वह मैं ही हूँ ऐसा साक्षात्कार करके मनुष्य जाग्रत् अवस्था में भी मानो वह सुषुप्ति अवस्था में ही हो, ऐसा अनुभव करते हुए, पहले जो कुछ सुना गया है, या देखा गया है, उस सबको मानो सुना ही न गया हो और देखा ही न गया हो ऐसा मानकर रहता है; उसकी अवस्था तो स्वप्नावस्था में भी वैसी ही रहेगी। ऐसे मनुष्य को जीवन्मुक्त कहते हैं। सभी श्रुतियों के अर्थ उसकी मुक्ति का ही प्रतिपादन करते हैं। ऐसा भिक्षुसंन्यासी इस लोक या परलोक की अपेक्षा नहीं करता। जैसी उसकी अपेक्षा होती है उसी के अनुरूप वह होता है। और स्वरूपानुसन्धान के सिवा अन्य शास्त्रों के अभ्यास से तो उसकी स्थिति केसर के भार को वहन करने वाले ऊँट की स्थिति जैसी व्यर्थ ही हो जाएगी। ऐसे योगी की (संन्यासी की) योगशास्त्र की ओर कोई प्रवृत्ति नहीं होती, उसको सांख्यशास्त्राभ्यास की भी अपेक्षा नहीं होती। कोई मन्त्रतन्त्र का व्यापार भी उसका नहीं होता। इस प्रकार के यति की किसी इतरशास्त्र में प्रवृत्ति ही नहीं होती और यदि होती है तो वह मुर्दे के अलंकार जैसी ही व्यर्थ होती है। जिस तरह कोई चमार बहुत दूर रहकर काम करता है इस तरह इस संन्यासी को भी बहुत ही दूर रहकर—विद्या से भी बहुत दूर रहकर रहना चाहिए, यहाँ तक कि उसे ॐकार का उच्चारण भी जोर से नहीं करना चाहिए। वह जो-जो काम करता है, वैसा-वैसा ही फल भोगता है अतः ऐरण्ड के तेल के फेन की तरह सब कुछ को मिथ्या ही समझकर, सबको छोड़कर मनोमय दंड को लिए, कररूपी पात्र वाले निर्वस्त्र ऐसे संन्यासी का दर्शन करके इसको भी परिव्रज्या शुरू कर

देनी चाहिए। बालक, पागल या पिशाच की तरह जन्म की या मृत्यु की अपेक्षा (प्रतीक्षा) नहीं करनी चाहिए, किन्तु काल की ही राह देखते रहना चाहिए। जिस प्रकार वैतनिक नौकर समय की प्रतीक्षा करता है, वैसे ही परिव्राजक को समय की प्रतीक्षा करनी चाहिए।

तितिक्षाज्ञानवैराग्यशमादिगुणवर्जितः।
भिक्षामात्रेण जीवी स्यात् स यतिर्यतिवृत्तिहा ॥27॥
न दण्डधारणेन न मुण्डनेन न वेषेण न दम्भाचारेण मुक्तिः ॥28॥
ज्ञानदण्डो धृतो येन एकदण्डी स उच्यते।
काष्ठदण्डो धृतो येन सर्वाशी ज्ञानवर्जितः।
स याति नरकान्घोरान् महारौरवसंज्ञितान् ॥29॥
प्रतिष्ठा सूकरीविष्ठा समा गीता महर्षिभिः।
तस्मादेनां परित्यज्य कीटवत्पर्यटेद्यतिः ॥30॥

जिस संन्यासी में तितिक्षा, ज्ञान, वैराग्य, शम आदि गुण नहीं हैं, वह तो भिक्षामात्र से ही जिन्दगी गुजारता हुआ रहता है, ऐसा संन्यासी तो संन्यासवृत्ति की हत्या करने वाला ही है। सिर्फ दण्ड को धारण करने से या फिर सर मुँडवाने से, अथवा गेरुआ वस्त्र पहन लेने से तो दम्भ का ही आचरण होता है और इस बाह्य परिवेशमात्र से मुक्ति नहीं मिलती। जिसने ज्ञानरूपी दण्ड धारण कर लिया है वह एकदण्डी कहा जाता है, परन्तु जो केवल लकड़ी की लाठी हाथ में लिए होता है, जो सब कुछ खाता है, जिसमें कुछ भी ज्ञान नहीं है, वह तो महारौरव नामक भयंकर नरक में ही वास करता है। महर्षियों ने कहा है कि प्रतिष्ठा तो सुअर की विष्टा जैसी अपवित्र है इसलिए प्रतिष्ठा (कीर्ति) को छोड़कर यति को एक कीड़े की भाँति भ्रमण करते रहना चाहिए।

अयाचितं यथालाभं भोजनाच्छादनं भवेत्।
परेच्छया च दिग्वासाः स्नानं कुर्यात्परेच्छया ॥31॥
स्वप्नेऽपि सो हि युक्तः स्याज्जाग्रतीव विशेषतः।
ईदृक्चेष्टः स्मृतः श्रेष्ठो वरिष्ठो ब्रह्मवादिनाम् ॥32॥
अलाभे न विषादी स्याल्लाभे नैव च हर्षयेत्।
प्राणयात्रिकमात्रः स्यान्मात्रासङ्गविवर्जितः ॥33॥
अभिपूजितलाभांश्च जुगुप्सेतैव सर्वशः।
अभिपूजितलाभैस्तु यतिर्मुक्तोऽपि बध्यते ॥34॥

बिना माँगे ही भोजन या आच्छादन जो कुछ मिल जाय उसी से संन्यासी को निर्वाह करना चाहिए। ऐसा संन्यासी दूसरों की इच्छानुसार ही कपड़े पहनता है, अथवा कपड़े उतार देता है। वह स्नान भी दूसरों की इच्छा से ही करता है। वह जैसे जाग्रत् अवस्था में आत्मस्थ रहता है, वैसे स्वप्नावस्था में भी आत्मस्थ रहता है। इस प्रकार का वर्तन करने वाले को ही ब्रह्मवादियों में वरिष्ठ और श्रेष्ठ कहा गया है। ऐसे यति को भिक्षा न मिलने पर वह खिन्न नहीं होता और भिक्षा के मिलने पर आनन्द में भी नहीं आ जाता। वह तो केवल प्राणयात्रा चलाने का पथिक है। वह मात्राओं के (विषयों के) संग (आसक्ति) से रहित होता है। वह मानापमानादि लाभों की ओर घृणा की दृष्टि से ही देखता है। क्योंकि ऐसे मानापमानादि से तो मुक्त योगी भी बन्धन में पड़ जाता है।

प्राणयात्रानिमित्तं च व्यङ्गारे भुक्तवज्जने।
काले प्रशस्ते वर्णानां भिक्षार्थं पर्यटेद् गृहात् ॥35॥
पाणिपात्रश्चरन्योगी नासकृद् भैक्षमाचरेत्।
तिष्ठन्भुञ्ज्याच्चरन्भुञ्ज्यान्मध्येनाचमनं तथा ॥36॥
अब्धिवद् धृतमर्यादा भवन्ति विशदाशयाः।
नियतिं न विमुञ्चन्ति महान्तो भास्करा इव ॥37॥
आस्येन तु यदाहारं गोवन्मृगयते मुनिः।
तदा समः स्यात्सर्वेषु सोऽमृतत्वाय कल्पते ॥38॥

जब रसोईघर व्यंगार – अंगाररहित अर्थात् शान्त हो जाए, जब घर के सभी लोगों ने भोजन ग्रहण कर लिया हो, ऐसे प्रशस्त समय में संन्यासी को अपने घर से भिक्षा के लिए निकलना चाहिए। उसकी वह भिक्षा केवल प्राणयात्रा चलाने के लिए ही होती है। वह संन्यासी हाथ को ही पात्र बनाकर घूमता हुआ बार-बार भिक्षा नहीं माँगता अर्थात् एक बार ही भिक्षा माँगता है। भिक्षा माँगकर वह खड़ा-खड़ा ही खा लेता है, चलते-चलते भी खा लेता है। वह बीच में पानी भी नहीं पीता। ऐसे यति लोग सागर जैसे मर्यादा में रहने वाले होते हैं। वे बड़े महाभाग होते हैं। वे अपनी नियति को कभी छोड़ते नहीं (नियति का उल्लंघन नहीं करते)। वे सूर्य जैसे ही महानुभाव होते हैं। ऐसा मुनि दूसरों के द्वारा खिलाए जाने पर ही अपने मुख से आहार ग्रहण करता है, तब सभी प्राणियों के प्रति उसका समान भाव हो जाता हैं और वह योगी मुक्ति का अधिकारी हो जाता है।

अनिन्द्यं वै व्रजेद् गेहं निन्द्यं गेहं तु वर्जयेत्।
अनावृते विशेद् द्वारि गेहे नैवावृते व्रजेत् ॥39॥
पांसुना च प्रतिच्छन्नशून्यागारप्रतिश्रयः।
वृक्षमूलनिकेतो वा त्यक्तसर्वप्रियाप्रियः ॥40॥
यत्रास्तमितशायी स्यान्निरग्निरनिकेतनः।
यथालब्धोपजीवी स्यान्मुनिर्दान्तो जितेन्द्रियः ॥41॥
निष्क्रम्य वनमास्थाय ज्ञानयज्ञो जितेन्द्रियः।
कालकांक्षी चरन्नेव ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥42॥

वह संन्यासी अनिन्द्य घर में ही भिक्षा के लिए जाता है, निन्द्य घर में कभी नहीं जाता। जिस घर का दरवाजा खुला होता है, वहीं जाता है, बन्द दरवाजे वाले मकान में वह नहीं जाता। जो घर धूल से आच्छन्न हो और निर्जन हो, ऐसे घर में उसे आश्रय करना चाहिए। अथवा किसी वृक्ष के मूल में उसे आश्रय लेना चाहिए। जहाँ पर सूर्य अस्त हो, वहाँ पर उसे रहना और सोना चाहिए, इसके सिवा उसका कोई घर नहीं। वह निरग्नि (अग्निहोत्र नहीं करने वाला) होता है। जो कुछ कहीं से मिल जाता है, उसी से वह अपना निर्वाह करता है। वह संयमी और जितेन्द्रिय होता है। जो मुनि काल की राह देखता हुआ हमेशा इस प्रकार विचरण करता है, वह ब्रह्मस्वरूप हो जाता है।

अभयं सर्वभूतेभ्यो दत्त्वा चरति यो मुनिः।
न तस्य सर्वभूतेभ्यो भयमुत्पद्यते क्वचित् ॥43॥
निर्मानश्चानहङ्कारो निर्द्वन्द्वश्छिन्नसंशयः।
नैव क्रुध्यति न द्वेष्टि नानृतं भाषते गिरा ॥44॥

पुण्यायतनचारी च भूतानामविहिंसकः ।
काले काले भवेद् भैक्षं कल्प्यते ब्रह्मभूयसे ॥45॥
वानप्रस्थगृहस्थाभ्यां न संसृज्येत कर्हिचित् ।
अज्ञातचर्यां लिप्सेत न चैनं हर्ष आविशेत् ।
अध्वा सूर्येण निर्दिष्टः कीटवद्विचरेन्महीम् ॥46॥

जो मुनि सब प्राणियों को अभय देकर ही घूमता रहता है उसको सभी प्राणियों से कहीं भी भय उत्पन्न नहीं हो सकता। मानरहित, अहंकाररहित, सुखदुःखादि द्वन्द्वरहित और संशयरहित यह मुनि कभी क्रोध नहीं करता, कभी किसी का द्वेष नहीं करता और वाणी से कभी झूठ नहीं बोलता। वह हमेशा पवित्र स्थानों में घूमता रहता है। वह कभी प्राणियों की हिंसा नहीं करता। और इस प्रकार यथा-समय भिक्षा लेता है, वह ब्रह्मभाव को प्राप्त होता है। वह वानप्रस्थियों और गृहस्थों से किसी प्रकार का संसर्ग नहीं रखता। वह चाहता है कि उसकी दैनंदिन जीवनचर्या सभी से अज्ञात ही रहे। उसको हर्ष का कभी उद्वेग नहीं आता। सूर्य के द्वारा दिखलाए जाने वाले मार्ग पर वह कीड़े की भाँति धरती पर घूमता रहता है, अर्थात् वह रात्रि में भ्रमण नहीं करता।

आशीर्युक्तानि कर्माणि हिंसायुक्तानि यानि च ।
लोकसंग्रहयुक्तानि नैव कुर्यान्न कारयेत् ॥47॥
नासच्छास्त्रेषु सज्जेत नोपजीवेत जीविकाम् ।
अतिवादांस्त्यजेत्तर्कान् पक्षं कञ्चन नाश्रयेत् ॥48॥
न शिष्याननुबध्नीत ग्रन्थान्नैवाभ्यसेद् बहून् ।
न व्याख्यामुपयुञ्जीत नारम्भानारभेत्क्वचित् ॥49॥
अव्यक्तलिङ्गोऽव्यक्तार्थो मुनिरुन्मत्तबालवत् ।
कविर्मूकवदात्मानं तद्दृष्ट्या दर्शयेन्नृणाम् ॥50॥

कामनाओं से युक्त और हिंसायुक्त जो-जो कार्य हैं, तथा जो लोकसंग्रह के लिए कार्य हैं, उन्हें यह संन्यासी करता भी नहीं है और करवाता भी नहीं है। वह असत् शास्त्रों में आसक्ति नहीं रखता और उनके द्वारा अपनी आजीविका भी नहीं चलाता। अतिवादों को छोड़ देता है और किसी भी पक्ष में वह स्वयं नहीं जुड़ता है। उसे शिष्यमण्डल नहीं खड़ा करना चाहिए। और बहुत से ग्रन्थों को भी वह नहीं पढ़ता। अपने पक्ष की सफलता के लिए किसी भी ग्रन्थ के ऊपर अपनी व्याख्या नहीं करता। उसे किसी यज्ञादि कार्य का आरंभ ही नहीं करना चाहिए। अपना विशिष्ट चिह्न भी उसे धारण नहीं करना चाहिए। उसे अपनी ख्याति फैलानी नहीं चाहिए। उस ऋषि को दूसरों के सामने अपने आपको पागल और बालक की तरह या गूँगे की तरह प्रकट करना चाहिए। और जिस आदमी की जैसी दृष्टि हो, उसी तरह अपने आपको दिखाना चाहिए।

न कुर्यान्न वदेत्किञ्चिन्न ध्यायेत्साध्वसाधु वा ।
आत्मारामोऽनया वृत्त्या विचरेज्जडवन्मुनिः ॥51॥
एकश्चरेन्महीमेतां निःसङ्गः संयतेन्द्रियः ।
आत्मक्रीड आत्मरतिरात्मवान्समदर्शनः ॥52॥
बुधो बालकवत्क्रीडेत् कुशलो जडवच्चरेत् ।
वदेदुन्मत्तवद्विद्वान् गोचर्यां नैगमश्चरेत् ॥53॥

क्षिप्तोऽवमानितोऽसद्भिः प्रलब्धोऽसूयितोऽपि वा ।
ताडितो सन्निरुद्धो वा वृत्त्या वा परितापितः ॥54॥
विष्ठितो मूत्रितो वाऽज्ञैर्बहुधैवं प्रकल्पितः ।
श्रेयस्कामः कृच्छ्रगत आत्मनात्मानमुद्धरेत् ॥55॥

वह न कुछ करता है, न कुछ बोलता है, न ही अच्छी-बुरी बातों का विचार ही करता है। वह तो केवल अपने आत्मा में ही रमण करता रहता है और इसी वृत्ति से वह यति जड़ की तरह विचरण करता है। इस पृथ्वी पर वह अकेला, किसी को बिना साथ लिए और अपनी इन्द्रियों को संयम में रखते हुए भ्रमण करता है। वह अपने आत्मा में ही रमण करता रहता है, आत्मा ही में उसका प्रेम होता है। वह स्वयं चैतन्यमय होता है और सबमें भी इसी प्रकार के चैतन्य का समान दर्शन करने वाला होता है। वास्तव में स्वयं ज्ञानी होते हुए भी बच्चे की तरह खेलता है। वास्तव में स्वयं कुशल होने पर भी जड़ की तरह आचरण करता है। स्वयं विद्वान् होते हुए भी पागल की तरह बकवास करता है। स्वयं शास्त्रज्ञ होते हुए भी गो की तरह सहज रहता है। असत् पुरुषों द्वारा आक्षेप किए जाने अथवा अपमानित किए जाने पर भी वह सब-कुछ सहन कर लेता है। दुष्टों के द्वारा यदि वह प्रताड़ित किया जाए, उससे ईर्ष्या की जाए, उसे मारा-पीटा जाए, उसे काम करने से रोका जाए, अथवा उनकी किसी वृत्ति से उसे पीड़ा पहुँचायी जाए अथवा कुछ दुष्ट जन उन पर थूकें, मल-मूत्र का त्याग करें, तो भी अनेक प्रकार की परेशानियाँ झेलकर भी वह श्रेयार्थी यति दुःखों को सहन करते हुए अपनी आत्मा से ही आत्मा का उद्धार करता है।

सम्माननं परां हानिं योगर्द्धेः कुरुते यतः ।
जनेनावमतो योगी योगसिद्धिं च विन्दति ॥56॥
तथा चरेत वै योगी सतां धर्ममदूषयन् ।
जना यथावमन्येरन् गच्छेयुर्नैव सङ्गतिम् ॥57॥
जरायुजाण्डजादीनां वाङ्मनःकायकर्मभिः ।
युक्तः कुर्वीत न द्रोहं सर्वसङ्गांश्च वर्जयेत् ॥58॥
कामक्रोधौ तथा दर्पलोभमोहादयश्च ये ।
तांस्तु दोषान्परित्यज्य परिव्राड् भयवर्जितः ॥59॥
भैक्षाशनं च मौनित्वं तपो ध्यानं विशेषतः ।
सम्यग्ज्ञानं च वैराग्यं धर्मोऽयं भिक्षुके मतः ॥60॥

मानसम्मानादि तो योग की ऋद्धि को बड़ी हानि पहुँचाने वाले होते हैं, किन्तु यह योगी अपमान प्राप्त करके भी योग की सिद्धि प्राप्त करता है। सत्पुरुषों के धर्म कहीं दूषित न हों, ऐसी वाणी यह यति बोलता है जिससे कि मनुष्य उसका अपमान ही करते रहें और उसके संग में आएँ ही नहीं। जरायुज और अण्डज प्राणियों के प्रति वह योगी मन, वाणी, काया और कर्म से द्रोह नहीं करता और अपने योग-साधना में ही वह जुटा रहता है और अन्य के साथ मिलने से वह बचता रहता है। काम, क्रोध, दर्प, लोभ, मोह आदि दोषों को छोड़कर यह परिव्राजक भय से मुक्त हो जाता है। भिक्षावृत्ति द्वारा प्राप्त अन्न को खाना, मौन रहना, निरन्तर ध्यान करना, सम्यग्ज्ञान और वैराग्य—ये भिक्षु के निश्चित धर्म माने गए हैं।

काषायवासाः सततं ध्यानयोगपरायणः ।
ग्रामान्ते वृक्षमूले वा वसेद् देवालयेऽपि वा ।
भैक्षेण वर्तयेन्नित्यं नैकान्नाशी भवेत्क्वचित् ॥61॥
चित्तशुद्धिर्भवेद्यावत् तावन्नित्यं चरेत्सुधीः ।
ततः प्रव्रज्य शुद्धात्मा सञ्चरेद्यत्र कुत्रचित् ॥62॥
बहिरन्तश्च सर्वत्र सम्पश्यन्हि जनार्दनम् ।
सर्वत्र विचरेन्मौनी वायुवद्वीतकल्मषः ॥63॥
समदुःखसुखः क्षान्तो हस्तप्राप्तं च भक्षयेत् ।
निर्वैरेण समं पश्यन् द्विजगोऽश्वमृगादिषु ॥64॥

गेरुआ वस्त्र धारण करने वाला वह यति सदैव ध्यानमग्न रहता है । वह गाँव के बाहर, वृक्ष के मूल में या देवालय में रहता है, भिक्षा में मिला अन्न खाता है । एक ही घर का वह कभी नहीं खाता है । जहाँ तक चित्त की शुद्धि हो जाए, वहाँ तक वह इस प्रकार निवास करता रहता है । इसके बाद जब अन्तःकरण शुद्ध हो जाता है, तब परिव्राजक होकर इधर-उधर भ्रमण करता है । बाहर-भीतर सब जगह जनार्दन को ही देखता हुआ वह मौन रखकर सभी जगहों में पापरहित होकर वायु की तरह ही घूमा करता है । उसके लिए सुख और दुःख दोनों समान होते हैं । क्षमाशील-सहनशील वह योगी जो अनायास हाथ में आ जाता है, वह खा लेता है । वैररहित होकर वह सबमें जैसे ब्राह्मण, गाय, घोडा, हिरन आदि में समानभाव की दृष्टि रखता है ।

भावयन्मनसा विष्णुं परमात्मानमीश्वरम् ।
चिन्मयं परमानन्दं ब्रह्मैवाहमिति स्मरन् ॥65॥
ज्ञात्वैवं मनोदण्डं धृत्वा आशानिवृत्तो भूत्वा आशाम्बरधरो भूत्वा सर्वदा मनोवाक्कायकर्मभिः सर्वसंसारमुत्सृज्य प्रपञ्चावाङ्मुखः स्वरूपानुसन्धानेन भ्रमरकीटन्यायेन मुक्तो भवतीत्युपनिषत् ॥66॥

इति पञ्चमोपदेशः ।

मन में वह यति विष्णु की, परमात्मा की, ईश्वर की, चिन्मय की परमानन्द की 'मैं ही ब्रह्म हूँ'—ऐसी भावना करते हुए इस प्रकार जानकर, मनरूपी दण्ड को धारण करके, सभी आशाओं से निवृत्त होकर, दिशाओंरूपी वस्त्रों को धारण करता हुआ, सदैव मन, वाणी, काया और कर्म से सम्पूर्ण संसार को छोड़कर स्वरूपानुसन्धानपूर्वक भ्रमरकीटन्याय[1] से युक्त हो जाता है, यही उपदेश है ।

यहाँ पंचमोपदेश पूरा हुआ ।

1. भ्रमर-कीटन्याय—एक खास प्रकार का कीड़ा किसी दूसरे कीड़े को पकड़कर अपने बिल में ले जाता है, वहाँ वह अपनी गुंजार से उसे इतना प्रभावित कर देता है कि वह पकड़ा गया कीड़ा उसी पकड़ने वाले कीड़े के रूप में बदल जाता है । यति का ब्रह्मचिन्तन-सातत्य उसे ब्रह्मरूप में बदल देता है, यह कथनार्थ है ।

षष्ठोपदेशः

अथ नारदः पितामहमुवाच । भगवन् तदभ्यासवशात् भ्रमरकीटन्यायवत् तदभ्यासः कथमिति । तमाह पितामहः । सत्यवाग्ज्ञानवैराग्याभ्यां विशिष्टदेहावशिष्टो वसेत् ॥1॥

अब नारद ने पितामह ब्रह्माजी से पूछा—'हे भगवन् ! उसके अभ्यास के कारण भ्रमरकीटन्याय की तरह वह अभ्यास कैसे होता है ?' पितामह ने उनसे कहा—सत्य वाणी को धारण करके ज्ञान और वैराग्य से इस शरीर की आसक्ति को पहले दूर करना चाहिए । आसक्तिरहित जो शेष बचा हुआ अतिश्रेष्ठ शरीर होता है, उसी में अवस्थित होकर रहना चाहिए ।

ज्ञानं शरीरं वैराग्यं जीवनं विद्धि शान्तिदान्ती नेत्रे मनो मुखं बुद्धिः कला पञ्चविंशतितत्त्वान्यवयवा अवस्था पञ्चमहाभूतानि कर्मभक्तिज्ञानवैराग्यं शाखा जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तितुरीयाश्चतुर्दशकरणानि पङ्कस्तम्भाकाराणीति । एवमपि नावमतिपङ्कं कर्णधार इव यन्तेव गजं स्वबुद्ध्या वशीकृत्य स्वव्यतिरिक्तं सर्वं कृतकं नश्वरमिति मत्वा विरक्तः पुरुषः सर्वदा ब्रह्माहमिति व्यवहरेन्नान्यत्किञ्चिद्वेदितव्यं स्वव्यतिरेकेण । जीवन्मुक्तो वसेत्कृतकृत्यो भवति । न नाहं ब्रह्मेति व्यवहरेत् किन्तु ब्रह्माहमस्मीत्यजस्रं जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तिषु । तुरीयावस्थां प्राप्य तुरीयातीतत्वं व्रजेत् ॥2॥

ज्ञान ही वह बचा हुआ श्रेष्ठ शरीर है, वैराग्य ही उसका प्राण है, शान्ति और दान्ति उसके दो नेत्र हैं—ऐसा जानो । शुद्ध मन ही मुख है, बुद्धि कला है, पचीस तत्त्व इस शरीर के अवयव हैं (पचीस तत्त्व—5 ज्ञानेन्द्रिय + 5 कर्मेन्द्रिय + 5 प्राण 5 विषय + 4 अंतःकरण + 1 प्रकृति = 25), पाँच महाभूत पाँच अवस्थाएँ हैं, कर्म, भक्ति, ज्ञान और वैराग्य इसकी भुजाएँ (शाखाएँ) हैं अथवा जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति और तुरीय—ये अवस्थाएँ उसकी शाखाएँ (भुजाएँ) हैं । पहले कहे गए चौदह करण, पङ्क में विद्यमान जीर्ण खम्भों की तरह है । इस तरह की स्थिति में भी जिस प्रकार कीचड़ में फँसी नाव को भी कुशल नाविक ठीक रास्ते पर ला ही देता है, उसी तरह संसार के कीचड़ में फँसी जीवननैया को श्रेष्ठ बुद्धि के द्वारा उसी प्रकार पार लगाएँ जैसे महावत हाथी को अपने वश में रखकर उससे यात्रा करता है । शरीरस्थ पुरुष अपने सिवा सब कुछ को कृतक और नाशवान मानकर वह विरक्त पुरुष सदैव 'मैं ब्रह्म हूँ' ऐसा व्यवहार करते हुए आत्मा के अतिरिक्त और कुछ जानने लायक है ही नहीं—ऐसा सोचता है । इस तरह वह जीवनमुक्त होकर रहता है । वह तब धन्य-धन्य (कृतार्थ) हो जाता है । 'मैं ब्रह्म नहीं हूँ'—ऐसा तो कभी व्यवहार ही नहीं करना चाहिए । परन्तु 'मैं ब्रह्म ही हूँ'—ऐसा ही निरन्तर जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति में ध्यान करना चाहिए । बाद में तुरीयावस्था को प्राप्त करके इससे भी परे तुरीयातीत अवस्था में जाना चाहिए ।

दिवा जाग्रन्नक्तं स्वप्नं सुषुप्तमर्धरात्रं गतमित्येकावस्थायां चतस्रोऽवस्थास्त्वेकैककरणाधीनानां चतुर्दशकरणानां व्यापारश्चक्षुरादीनाम् । चक्षुषो रूपग्रहणं श्रोत्रयोः शब्दग्रहणं जिह्वाया रसास्वादनं घ्राणस्य गन्धग्रहणं वचसो वाग्व्यापारः पाणेरादानं पादयोः सञ्चारः पायोरुत्सर्ग

उपस्थस्यानन्दग्रहणं त्वचः स्पर्शग्रहणम्। तदधीना च विषयग्रहण-बुद्धिः। बुद्ध्या बुद्ध्यति चित्तेन चेतयत्यहङ्कारेणाहङ्करोति। विसृज्य जीव एतान् देहाभिमानेन जीवो भवति। गृहाभिमानेन गृहस्थ इव शरीरे जीवः सञ्चरति। प्राग्दले पुण्यावृत्तिराग्नेय्यां निद्रालस्यौ दक्षिणायां क्रौर्यबुद्धिर्नैर्ऋत्यां पापबुद्धिः पश्चिमे क्रीडारतिर्वायव्यां गमने बुद्धिरुत्तरे शान्तिरीशान्ये ज्ञानं कर्णिकायां वैराग्यं केसरेष्वात्मचिन्ता इत्येवं वक्त्रं ज्ञात्वा ॥3॥

दिन जाग्रदवस्था है, रात्रि स्वप्नावस्था है, अर्धरात्रि सुषुप्तावस्था है—इस प्रकार एक तुरीयावस्था में तीनों अवस्थाएँ हैं और वह तुरीयावस्था तुरीयातीत में प्रतिष्ठित है। इस तरह एक ही अवस्था में चार अवस्थाएँ निहित हैं। मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार ऐसे चार अन्तःकरणों में से प्रत्येक के अधीन जो चौदह करण पहले बताए जा चुके हैं, उन चक्षु आदि करणों का व्यापार इस प्रकार है; यथा—आँखों का रूपग्रहण, श्रोत्रों (कानों) का शब्दग्रहण, जिह्वा का रसास्वादन, नाक का गन्धग्रहण, वाक् का बोलना, हाथ का लेन-देन, पैर का चलना, गुदा का उत्सर्ग, उपस्थ का आनन्दग्रहण, त्वक् का स्पर्शग्रहण। इन सभी के अधीन विषयग्रहण की बुद्धि है। बुद्धि से मनुष्य जानता है, चित्त से चैतन्यता की प्राप्ति करता है, अहंकार से अहंकार का अनुभव करता है। इन सबकी सृष्टि करके इनके समूहरूप देह में आत्माभिमान करने से चैतन्य जीव हो जाता है। गृह के अभिमान से जैसे गृहस्थ होता है, इसी तरह शरीर में जीव का संचार होता है। शरीर में अन्तःकरण में एक आठ दलवाला कमल है। उसमें प्रतिष्ठित जीव उक्त कमल के पूर्व दल की ओर जाता है तो पुण्य की आवृत्ति होती है। जब अग्निकोण की ओर जाता है, तब निद्रा और आलस्य बन जाते हैं। वह जब दक्षिण की ओर मुड़ता है तो क्रूर बुद्धि उत्पन्न हो जाती है। वह जब नैर्ऋत्य की ओर झुकता है तब पाप बुद्धि बढ़ती है। वह जब पश्चिम की ओर जाता है तो क्रीड़ाओं की ओर रुचि बढ़ती है। वह वायव्य की ओर जाता है, तो बुद्धि बढ़ती है और जब उत्तर में जाता है, तो शान्ति मिलती है। ईशान की ओर जाता है तो ज्ञान बढ़ता है। और जब वह जीव कमल की कर्णिका में ही रहता है, तब वैराग्य भाव बढ़ता है। उसके कमल के केसरों में रहने से आत्मचिन्ता जाग्रत् होती है। इस तरह जिसमें चैतन्य तत्त्व ही प्रधान (मुख्य) है, ऐसे आत्मस्वरूप को समझकर परिव्राजक तुरीयातीत ब्रह्म के रूप में प्रतिष्ठित होता है।

जीवदवस्थां प्रथमं जाग्रद् द्वितीयं स्वप्नं तृतीयं सुषुप्तं चतुर्थं तुरीयं चतुर्भिर्विरहितं तुरीयातीतम्। विश्वतैजसप्राज्ञतटस्थभेदैरेक एव एको देवः साक्षी निर्गुणश्च तद् ब्रह्माहमिति व्याहरेत्। नो चेज्जाग्रदवस्थायां जाग्रदादि चतस्रोऽवस्थाः। स्वप्ने स्वप्नादि चतस्रोऽवस्थाः। सुषुप्ते सुषुप्त्यादि चतस्रोऽवस्थाः। तुरीये तुरीयादि चतस्रोऽवस्थाः। न त्वेवं तुरीयातीतस्य निर्गुणस्य। स्थूलसूक्ष्मकारणरूपैर्विश्वतैजसप्राज्ञैश्वरैः सर्वावस्थासु साक्षी त्वेक एवावतिष्ठते। उत तटस्थो द्रष्टा तटस्थो न द्रष्टा द्रष्टृत्वान्न द्रष्टैव कर्तृत्वभोक्तृत्वाहङ्कारादिभिः स्पृष्टो जीवः। जीवेतरो न स्पृष्टः। जीवोऽपि न स्पृष्ट इति चेन्न। जीवाभिमानेन क्षेत्राभिमानः। शरीराभिमानेन जीवत्वम्। जीवत्वं घटाकाशमहाकाशवद् व्यवधानो-ऽस्ति। व्यवधानवशादेव हंसः सोऽहमिति मन्त्रेणोच्छ्वासनिःश्वास-

व्यपदेशेनानुसन्धानं करोति। एवं विज्ञाय शरीराभिमानं त्यजेन्न शरीराभिमानी भवति। स एव ब्रह्मेत्युच्यते ॥4॥

जीव की चार अवस्थाएँ हैं—प्रथम जाग्रत्, द्वितीय स्वप्न, तृतीय सुषुप्ति और चौथी तुरीय। और इन चारों अवस्थाओं से रहित जो है, यह तुरीयातीत है। विश्व, तैजस, प्राज्ञ और तटस्थ (साक्षी) इन चार भेदों में एक ही देव दीख रहा है। वह एक ही देव निर्गुण है, वह ब्रह्म मैं हूँ, ऐसा बोलना चाहिए। यदि ऐसा एक अनुस्यूत ब्रह्म न माना जाए तब तो जाग्रत् अवस्था में जाग्रदादि चार अवस्थाएँ, स्वप्न में भी स्वप्नादि चार अवस्थाएँ, सुषुप्ति में भी सुषुप्त्यादि चार अवस्थाएँ होंगी; वैसे तुरीय में भी तुरीयादि चार अवस्थाएँ होंगी पर ऐसा तुर्यातीत निर्गुण के लिए तो है नहीं। स्थूल, सूक्ष्म और कारण रूप विश्व, तैजस और प्राज्ञ के साथ एक ही साक्षी रहता है। किन्तु 'तटस्थ' ईश्वर द्रष्टा नहीं है क्योंकि 'तटस्थ' मायाधारी ईश्वर होता है। किन्तु इसका कोई 'द्रष्टा' नहीं है, अतः तटस्थ द्रष्टा न होने के कारण वह द्रष्टा नहीं है। मायाधारी द्रष्टा को मान लें तब तो जीव भी द्रष्टा हो जाएगा, पर ऐसा नहीं है; जीव द्रष्टा नहीं है क्योंकि जीव कर्तृत्व, भोक्तृत्व, अहंकार आदि से स्पृष्ट होता है और वह साक्षी कर्तृत्वादि से स्पृष्ट नहीं है। जीव भी तो कर्तृत्व-भोक्तृत्वादि से स्पृष्ट नहीं है, ऐसा मान लिया जाए तो यह ठीक नहीं, क्योंकि देहरूपी क्षेत्र में उसका अभिमान होता है। और शरीर के अभिमान के कारण उसमें अहम् है। परमात्मा और जीव में व्यवधान ऐसा है, जैसा महाकाश और घटाकाश में है। यही कारण है कि जीव सर्वदा श्वासोच्छ्वास में 'सोऽहम्' अर्थात् 'मैं वह हूँ' इस प्रकार अपने मूलस्वरूप का अनुसन्धान करता रहता है—श्वास के बहाने से आत्मस्वरूप का स्मरण करता रहता है। ऐसा सोचकर जो मनुष्य शरीर के अभिमान को छोड़ देता है, वह शरीराभिमान से मुक्त हो जाता है। वही ब्रह्म हो जाता है, ऐसा कहा गया है।

त्यक्तसङ्गो जितक्रोधो लघ्वाहारो जितेन्द्रियः।
पिधाय बुद्ध्या द्वाराणि मनो ध्याने निवेशयेत् ॥5॥
शून्येष्वेवावकाशेषु गुहासु च वनेषु च।
नित्ययुक्तः सदा योगी ध्यानं सम्यगुपक्रमेत् ॥6॥
आतिथ्यश्राद्धयज्ञेषु देवयात्रोत्सवेषु च।
महाजनेषु सिद्ध्यर्थी न गच्छेद्योगवित्क्वचित् ॥7॥
यथैनमवमन्यन्ते जनाः परिभवन्ति च।
तथा युक्तश्चरेद्योगी सतां वर्त्म न दूषयेत् ॥8॥

वह योगी सभी संगों को छोड़ देता है, वह क्रोध को नियन्त्रित रखता है, मिताहार करता है, इन्द्रियों को संयम में रखता है। बुद्धि के सभी द्वारों को – सभी इन्द्रियों को बाह्य विषयों से बन्द करके अपने मन को वह ध्यान में लगा देता है। शून्य में (अवकाश में) या गुफाओं में अथवा जंगलों में वह सदा संयमी योगी अच्छी तरह से अपना ध्यान शुरू कर देता है। वह योग जानने वाला सिद्धि का – परमात्मप्राप्ति का – आकांक्षी कभी भी आतिथ्यसत्कार में, श्राद्ध में, यज्ञों में या देवयात्रा के उत्सवों में या बड़े लोगों में नहीं जाता अर्थात् उनसे हिलता-मिलता नहीं है। वह योगी ऐसा वर्तन करता है कि लोग उसका अपमान ही करें, लोग उससे दूर ही भागें। वह योगी ऐसे रहता है जिससे कि सत्पुरुषों के मार्ग को कोई बाधा न पहुँचे।

वाग्दण्डः कर्मदण्डश्च मनोदण्डश्च ते त्रयः।
यस्यैते नियता दण्डाः स त्रिदण्डी महायतिः ॥9॥

विधूमे च प्रशान्ताग्नौ यस्तु माधुकरीं चरेत् ।
गृहे च विप्रमुख्यानां यतिः सर्वोत्तमः स्मृतः ॥10॥
दण्डभिक्षां च यः कुर्यात् स्वधर्मे व्यसनं विना ।
यस्तिष्ठति न वैराग्यं याति नीचयतिर्हि सः ॥11॥
यस्मिन्गृहे विशेषेण लभेद् भिक्षां च वासनात् ।
तत्र नो याति यो भूयः स यतिर्नेतरः स्मृतः ॥12॥

वाणी का दण्ड, कर्म का दण्ड और मन का दण्ड—ये तीन दण्ड जिसके वश में हैं वही सही त्रिदण्डी महामति है। धूमरहित, शान्त हो चुकी अग्नि वाले घर में जो भिक्षा के लिए उत्तम ब्राह्मणों के घरों में ही जाता है, वह सर्वोत्तम योगी कहा जाता है। परन्तु जो पुरुष संन्यास के स्वधर्म के बिना ही, किसी प्रकार का नियम न पालते हुए केवल हाथ में दण्ड लेकर भीख माँगने लगता है, वह 'नीचयति' कहा जाता है। जिस घर में विशिष्ट रूप से अच्छी भिक्षा मिलती हो, वहाँ मोहवश जो योगी पुनः नहीं जाता वही सच्चा योगी कहलाता है, अन्य नहीं।

यः शरीरेन्द्रियादिभ्यो विहीनं सर्वसाक्षिणम् ।
पारमार्थिकविज्ञानं सुखात्मानं स्वयंप्रभम् ॥13॥
परतत्त्वं विजानाति सोऽतिवर्णाश्रमी भवेत् ।
वर्णाश्रमादयो देहे मायया परिकल्पिताः ॥14॥
नात्मनो बोधरूपस्य मम ते सन्ति सर्वदा ।
इति यो वेद वेदान्ती सोऽतिवर्णाश्रमी भवेत् ॥15॥
यस्य वर्णाश्रमाचारो गलितः स्वात्मदर्शनात् ।
स वर्णानाश्रमान्सर्वानतीत्य स्वात्मनि स्थितः ॥16॥

जो योगी सभी इन्द्रियों से रहित होकर उन सभी के साक्षी को, जो पारमार्थिक रूप में ज्ञानस्वरूप ही है, जो सुखात्मक है, जो स्वयंप्रकाश है उसे परमतत्त्व के रूप में जानता है, वह 'अतिवर्णाश्रमी' हो जाता है। वर्ण आश्रम आदि तो इस देह में माया के द्वारा ही कल्पित किए गए हैं। मुझ बोधस्वरूप आत्मा के लिए तो वे कभी हैं ही नहीं—जो वेदान्ती ऐसा समझ गया होता है, वह अतिवर्णाश्रमी हो जाता है। आत्मदर्शन के द्वारा जिसका वर्णाश्रमाचार निर्गलित हो चुका हो, वह सभी वर्णों और आश्रमों के धर्मों का अतिक्रमण करके अपने आत्मा में ही स्थित रहता है।

योऽतीत्य स्वाश्रमान्वर्णानात्मन्येव स्थितः पुमान् ।
सोऽतिवर्णाश्रमी प्रोक्तः सर्ववेदार्थवेदिभिः ॥17॥
तस्मादन्यगता वर्णा आश्रमा अपि नारद ।
आत्मन्यारोपिताः सर्वे भ्रान्त्या तेऽनात्मवेदिना ॥18॥
न विधिर्न निषेधश्च न वर्ज्यावर्ज्यकल्पना ।
ब्रह्मविज्ञानिनामस्ति तथा नान्यच्च नारद ॥19॥
विरज्य सर्वभूतेभ्य आविरिञ्चिपदादपि ।
घृणां विपाट्य सर्वस्मिन्पुत्रवित्तादि केष्वपि ॥20॥

जो योगी अपने आश्रमों और वर्णों को लाँघकर अपने आत्मा में ही स्थित (स्थिर) रहता हो, वह अतिवर्णाश्रमी है, ऐसा सभी वेद के अर्थ जानने वाले कहते हैं। इसलिए हे नारद ! आश्रम और वर्ण

तो अन्य (देहादि) में रहे हुए धर्म हैं, और आत्मा को नहीं जानने वालों ने ही भ्रम से आत्मा में उनका आरोपण कर दिया है। जो ब्रह्म को जानने वाले हैं, उनके लिए तो न कोई निषेध है, न कोई विधि है, न कुछ ज्याज्य है, न कुछ भी अत्याज्य ही है। इसलिए हे नारद ! सभी प्राणियों से विरक्त होकर – ब्रह्मा के पद से भी वैराग्य प्राप्तकर सभी में तुच्छभाव रखकर पुत्र-धनादि से विरक्त होकर ही रहना चाहिए।

श्रद्धालुर्मुक्तिमार्गेषु वेदान्तज्ञानलिप्सया ।
उपायनकरो भूत्वा गुरुं ब्रह्मविदं व्रजेत् ॥21॥
सेवाभिः परितोष्यैनं चिरकालं समाहितः ।
सदा वेदान्तवाक्यार्थं शृणुयात्सुसमाहितः ॥22॥
निर्ममो निरहङ्कारः सर्वसङ्गविवर्जितः ।
सदा शान्त्यादियुक्तः सन्नात्मन्यात्मानमीक्षते ॥23॥
संसारदोषदृष्ट्यैव विरक्तिर्जायते सदा ।
विरक्तस्य तु संसारात्संन्यासः स्यान्न संशयः ॥24॥

ऐसे विरक्त, श्रद्धा और मुक्ति के मार्ग में श्रद्धालु योगी को वेदान्त के ज्ञान के लाभ की इच्छा-पूर्ति हेतु ब्रह्मज्ञानी गुरु के पास जाना चाहिए। वहाँ लम्बे अरसे तक सेवा करके गुरु को प्रसन्न करके सावधान होकर सदैव वेदान्त वाक्यों के अर्थों का ध्यानपूर्वक श्रवण करना चाहिए। ममतारहित, अहंकाररहित, सभी संग से रहित, सर्वदा शान्ति आदि गुणों के साथ स्थिर वह योगी अपने आत्मा में ही आत्मा को देखता रहता है। संसार के प्रति दोष की दृष्टि रखने से वैराग्य उत्पन्न होता है और ऐसे वैरागी योगी को तो संसार से सन्यास हो ही जाएगा, इसमें कोई संशय नहीं है।

मुमुक्षुः परहंसाख्यः साक्षान्मोक्षैकसाधनम् ।
अभ्यसेद् ब्रह्मविज्ञानं वेदान्तश्रवणादिना ॥25॥
ब्रह्मविज्ञानलाभाय परहंससमाह्वयः ।
शान्तिदान्त्यादिभिः सर्वैः साधनैः सहितो भवेत् ॥26॥
वेदान्ताभ्यासनिरतः शान्तो दान्तो जितेन्द्रियः ।
निर्भयो निर्ममो नित्यो निर्द्वन्द्वो निष्परिग्रहः ॥27॥
जीर्णकौपीनवासाः स्यान्मुण्डी नग्नोऽथवा भवेत् ।
प्राज्ञो वेदान्तविद् योगी निर्ममो निरहंकृतिः ॥28॥

परमहंस नामक वह मुमुक्षु योगी ब्रह्मविज्ञान को ही साक्षात् मोक्ष का एकमात्र साधन समझकर वेदान्तश्रवण आदि से उसका अभ्यास करता है। इस ब्रह्मविज्ञान की प्राप्ति के लिए वह परमहंस नाम का योगी शम-दमादि षट् साधनसम्पत्ति से युक्त होता है। वह शान्त, दान्त और जितेन्द्रिय होकर वेदान्त के अभ्यास में तल्लीन हो जाता है। ऐसा योगी निर्भय होता है, आसक्तिरहित होता है, सुख-दुःखादि द्वन्द्वों से रहित होता है। वह अपरिग्रही होता है, जीर्ण-शीर्ण कौपीन ही पहनता है, सिर का मुण्डन करवाता है, नग्न भी रह सकता है। वह प्रज्ञाशील योगी वेदान्तविद् होता है। वह आसक्ति और अहंकार से रहित होता है।

मित्रादिषु समो मैत्रः समस्तेष्वेव जन्तुषु ।
एको ज्ञानी प्रशान्तात्मा स संतरति नेतरः ॥29॥

गुरूणां च हिते युक्तस्तत्र संवत्सरं वसेत् ।
नियमेष्वप्रमत्तस्तु यमेषु च सदा भवेत् ॥30॥
प्राप्य चान्ते ततश्चैव ज्ञानयोगमनुत्तमम् ।
अविरोधेन धर्मस्य सञ्चरेत्पृथिवीमिमाम् ॥31॥
ततः संवत्सरस्यान्ते ज्ञानयोगमनुत्तमम् ।
आश्रमत्रयमुत्सृज्य प्राप्तश्च परमाश्रमम् ॥32॥
अनुज्ञाप्य गुरूंश्चैव चरेद्धि पृथिवीमिमाम् ।
त्यक्तसङ्गो जितक्रोधो लघ्वाहारो जितेन्द्रियः ॥33॥

वह योगी मित्र, शत्रु आदि में समान भाव वाला, सभी प्राणियों में मैत्री भाव वाला, एकाकी, ज्ञानी, शान्त मन वाला होता है और वही इस संसार को पार कर जाता है, अन्य लोग नहीं । गुरुजनों का हित चाहने वाला वह गुरुगृह में एक साल तक रहता है और वहाँ नियमों का पालन करता हुआ हमेशा संयम में सावधान रहता है । वहाँ से वह उत्तम ज्ञान वैराग्य को प्राप्त करके धर्मानुसार इस पृथ्वी पर भ्रमण करता है । बाद में जब एक वर्ष पूरा होने पर उत्तम ज्ञानयोग को (ऐसे आश्रय को) प्राप्त करके, ब्रह्मचर्यादि तीनों आश्रमों का अतिक्रमण करके गुरुजनों की अनुज्ञा लेकर निःसंग होकर, क्रोधरहित होकर, जितेन्द्रिय रहकर, मिताहार करता हुआ पृथ्वी पर भ्रमण करता है ।

द्वाविमौ न विरज्येते विपरीतेन कर्मणा ।
निरारम्भो गृहस्थश्च कार्यवांश्चैव भिक्षुकः ॥34॥
माद्यति प्रमदां दृष्ट्वा सुरां पीत्वा च माद्यति ।
तस्माद् दृष्टिविषां नारीं दूरतः परिवर्जयेत् ॥35॥
सम्भाषणं सह स्त्रीभिरालापः प्रेक्षणं तथा ।
नृत्तं गानं सहासं च परिवादांश्च वर्जयेत् ॥36॥
न स्नानं न जपः पूजा न होमो नैव साधनम् ।
नाग्निकार्यादिकार्यं च नैतस्यास्तीह नारद ॥37॥

यदि गृहस्थ धर्मविधियों से रहित हो और संन्यासी विधिपूर्वक कार्य में मग्न हों तो वे दोनों कभी शोभास्पद नहीं हो सकते, क्योंकि दोनों के लिए ये विपरीत कार्य हैं । मनुष्य मदिरा पीकर तो पागल होता ही है, किन्तु रूपवती नारी के तो दर्शनमात्र से ही वह उन्मत्त हो जाता है, अतः दर्शनमात्र से ही विषवत् प्रभाव डालने वाली नारी को दूर से ही त्याग देना चाहिए । स्त्री के साथ बातचीत, वार्तालाप, देखना, गाना, हँसना, बोल-चाल—सब छोड़ ही देना चाहिए । हे नारद ! ऐसे परमहंस के लिए यहाँ पर किसी जप, तप, पूजा, अर्चन, अग्निहोत्र, स्नान, होम आदि किसी भी साधन की कोई आवश्यकता नहीं है ।

नार्चनं पितृकार्यं च तीर्थयात्रा व्रतानि च ।
धर्माधर्मादिकं नास्ति न विधिर्लौकिकी क्रिया ॥38॥
सन्त्यजेत्सर्वकर्माणि लोकाचारं च सर्वशः ।
कृमिकीटपतङ्गांश्च तथा योगी वनस्पतीन् ॥39॥
न नाशयेद् बुधो जीवान्परमार्थमतिर्यतिः ।
नित्यमन्तर्मुखः स्वच्छः प्रशान्तात्मा स्वपूर्णधीः ॥40॥

अन्तःसङ्गपरित्यागी लोके विहर नारद ।
नाराजके जनपदे चरत्येकचरो मुनिः ॥41॥
निःस्तुतिर्निर्नमस्कारो निःस्वधाकार एव च ।
चलाचलनिकेतश्च यतिर्यादृच्छिको भवेत् ॥42॥ इत्युपनिषद् ।

इति षष्ठोपदेशः।

योगी के लिए पूजादि, पितृतर्पणादि अथवा तीर्थयात्रा या व्रत, धर्म-अधर्म आदि और लौकिक व्यवहार आदि कुछ भी उचित नहीं है । योगी तो सभी कर्मों को और लोकाचारों को छोड़ ही देता है । योगी कीड़े, जन्तु, पतंगे और वनस्पति को भी कष्ट नहीं देता, क्योंकि वह ज्ञानी है और परमार्थ की मतिवाला यति होता है । वह हमेशा अन्तर्मुख रहता है, बाहर-भीतर स्वच्छ रहता है, शान्त मनवाला तथा अपने में ही पूर्ण होता है । भीतर के संग का परित्याग करने वाले बनकर हे नारद ! तुम भी उसी तरह इस लोक में भ्रमण किया करो । यति, जहाँ अराजकता (अव्यवस्था) फैली हो वहाँ नहीं जाता है, वह अकेला ही रहता है । स्तुतिरहित, नमस्काररहित, तर्पणादि क्रियारहित होकर किसी चल या अचल-पर्वतादि में निवास करता हुआ वह योगी यादृच्छिक (स्वेच्छानुसार) व्यवहार करने वाला होता है । ऐसा उपदेश है ।

यहाँ षष्ठ उपदेश पूरा हुआ ।

सप्तमोपदेशः

अथ यतेर्नियमः कथमिति पृष्टो नारदं पितामहः पुरस्कृत्य विरक्तः सन्यो वर्षासु ध्रुवशीलोऽष्टौ मास्येकाकी चरन्नैकत्र निवसेद् भिक्षुर्भयात्सारङ्गवदेकत्र न तिष्ठेत्स्वगमननिरोधग्रहणं न कुर्याद्धस्ताभ्यां नद्युत्तरणं न कुर्यान्न वृक्षारोहणमपि न देवोत्सवदर्शनं कुर्यान्नैकत्राशी न बाह्यदेवार्चनं कुर्यात्स्वव्यतिरिक्तं सर्वं त्यक्त्वा मधुकरवृत्त्याहारमाहरन्कृशो भूत्वा मेदोवृद्धिमकुर्वन्नाज्यं रुधिरमिव त्यजेदेकत्रान्नं पललमिव गन्धलेपनमशुद्धिलेपनमिव क्षारमन्त्यजमिव वस्त्रमुच्छिष्टपात्रमिवाभ्यङ्गं स्त्रीसङ्गमिव मित्राह्लादकं मूत्रमिव स्पृहां गोमांसमिव ज्ञातचरप्रदेशं चाण्डालवाटिकामिव स्त्रियमहिमिव सुवर्णं कालकूटमिव सभास्थलं श्मशानस्थलमिव राजधानीं कुम्भीपाकमिव शवपिण्डवदेकत्रान्नं न देहान्तरदर्शनं प्रपञ्चवृत्तिं परित्यज्य स्वदेशमुत्सृज्य ज्ञातचरप्रदेशं विहाय विस्मृतपदार्थं पुनः प्राप्तहर्ष इव स्वमानन्दमनुस्मरन्स्वशरीराभिमानदेशविस्मरणं मत्वा स्वशरीरं शवमिव हेयमुपगम्य कारागृहविनिर्मुक्तचोरवत्पुत्राप्तबन्धुभवस्थलं विहाय दूरतो वसेत् । अयत्नेन प्राप्तमाहरन् ब्रह्मप्रणवध्यानानुसन्धानपरो भूत्वा सर्वकर्मविनिर्मुक्तः कामक्रोधलोभमोहमदमात्सर्यादिकं दग्ध्वा त्रिगुणातीतः षडूर्मिरहितः षड्भावविकारशून्यः सत्यवाक् शुचिरद्रोही ग्रामैकरात्रं पत्तने पञ्चरात्रं क्षेत्रे पञ्चरात्रं तीर्थे पञ्चरात्र-

मनिकेतः स्थिरमतिः नानृतवादी गिरिकन्दरेषु वसेदेक एव द्वौ वा चरेद् ग्रामं त्रिभिर्नगरं चतुर्भिर्ग्राममित्येकश्चरेत्। भिक्षुश्चतुर्दशकरणानां न तत्रावकाशं दद्यादविच्छिन्नज्ञानाद्वैराग्यसम्पत्तिमनुभूय मत्तो न कश्चिन्ना-न्यो व्यतिरिक्त इत्यात्मन्यालोच्य सर्वतः स्वरूपमेव पश्यञ्जीवन्मुक्ति-मवाप्य प्रारब्धप्रतिभासनाशपर्यन्तं चतुर्विधं स्वरूपं ज्ञात्वा देहपतन-पर्यन्तं स्वरूपानुसन्धानेन वसेत्॥1॥

इसके बाद, 'संन्यासी के नियम कौन-कौन से हैं ?' इस प्रकार नारद के पूछने पर पितामह ने उस प्रश्न को सामने रखकर कहा—वह विरक्त संन्यासी वर्षा के दिनों में एक स्थान पर रहकर शेष के आठ मास घूमता हुआ अकेला ही रहता है। डरे हुए हिरण की तरह वह एक जगह पर नहीं रहता। अपने अन्यत्र गमन में वह रुकावट नहीं करता अर्थात् किसी के आग्रह या विरोध करने पर भी वह नहीं रुकता। वह तैर कर नदी पार नहीं करता, वृक्ष पर कभी नहीं चढ़ता, वह देवोत्सव का दर्शन भी नहीं करता, वह कभी एक घर का नहीं खाता है। आत्मा के अतिरिक्त वह बाहर के देव को नहीं पूजता है। अपने को छोड़कर सबका त्याग करके माधुकरी-वृत्ति से भिक्षा लाकर, दुबला-पतला होकर, चरबी की वृद्धि न करता हुआ, घी को लहू का-सा मानकर छोड़ देता है। एक ही परिजन वाले घर के अन्न को मांस जैसा, इत्र आदि गन्ध के लेपन को अपवित्र लेपन जैसा, क्षार (साबुन-सोडा) आदि को चाण्डाल की भाँति अस्पृश्य, वस्त्र को उच्छिष्ट पात्र जैसा, अभ्यंग (इत्र-तेल आदि) को स्त्री के आलिंगन जैसा, मित्रों के आनन्ददायक मिलन को मूत्र जैसा, स्पृहा (इच्छा शक्ति) को गोमांस जैसा, परिचित प्रदेश को चाण्डाल के बगीचे जैसा, स्त्री को साँप के समान, सोने को कालकूट जैसा, सभास्थल को श्मशान-भूमि जैसा, राजधानी को कुम्भीपाक नरक जैसा, एक घर के अन्न को मृत व्यक्ति के लिए दिए हुए पिण्ड जैसा जानकर (इन सबों को) छोड़ ही देना चाहिए। आत्मा को शरीर से पृथक् देखना तथा प्रपंचवृत्ति में फँसना भी छोड़ देना चाहिए। अपने देश का त्याग करके तथा परिचित देश (स्थलों) से सदैव दूर रहने का प्रयत्न करना चाहिए। जैसे विस्मृत हुए पदार्थ की पुनः प्राप्ति से जो हर्ष का अनुभव होता है, उसी प्रकार अपने आनन्दमय स्वरूप का पुनः स्मरण करते हुए प्रसन्नता की अनुभूति करनी चाहिए। तथा जहाँ पर जाने से आत्माभिमान जागृत हो ऐसे अभिमानजनक देश को भूल जाना चाहिए। अपने शरीर को शव के समान त्याज्य समझकर उसमें उसी प्रकार आसक्त नहीं होना चाहिए। जिस प्रकार किसी जेल से मुक्त हुआ कैदी लज्जावश अपने देश का त्यागकर अन्यत्र कहीं दूर जा बसता है, उसी प्रकार परिव्राजक को जहाँ उसके आप्तजन या बन्धुवर्ग रहते हैं उसे त्यागकर सर्वदा के लिए कहीं दूर जाकर रहना चाहिए। अनायास प्राप्त आहार को ग्रहण कर वह प्रणव के ध्यान का अनुसन्धान-परायण रहता है। तथा सर्व कर्मों से छुटकारा पाकर काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मात्सर्य आदि को जलाकर, त्रिगुणातीत, षड्रिपुरहित, षड्भावविकाररहित, सत्यभाषी, पवित्र, अद्रोही रहकर वह योगी गाँव में एक रात, नगर में पाँच रात, किसी धार्मिक स्थल में पाँच रात और तीर्थ में पाँच रात से ज्यादा नहीं ठहरता। वह कहीं भी अपना घर नहीं बनाता। अपनी बुद्धि को वह परमात्मा में स्थिर करता रहता है। वह कभी झूठ नहीं बोलता। पर्वत की गुफाओं में ही अपना वास बनाता है। हमेशा अकेला ही रहता है। परिव्राजक वर्षा के चातुर्मास्य में ही अपने साथ दूसरा व्यक्ति रख सकता है। जब तीन व्यक्ति एक साथ होते हैं, तब तो ग्राम जैसा ही हो जाता है और चार व्यक्ति एक स्थल पर रहने से तो नगर जैसा ही हो जाता है। इसलिए उसे अकेला ही रहना चाहिए। चौदह करणों (इन्द्रियों) को उन-उनके विषयों के ध्यान के लिए अवकाश नहीं देना चाहिए, इसलिए वह ज्ञान-वैराग्य की

अविच्छिन्न संपति का अनुभव करते हुए, 'मुझसे अलग कुछ है ही नहीं'—ऐसा अपनी आत्मा में अनुभव कर चारों ओर अपने ही स्वरूप को देखता हुआ, जीवन्मुक्ति को प्राप्त करके प्रारब्धकर्मों के प्रतिभास के नाश होने तक अपनी चारों अवस्था वाले स्वरूप को जानकर देह के नाश होने तक स्वरूपानुसन्धान करता रहता है।

त्रिषवणस्नानं कुटीचकस्य बहूदकस्य द्विवारं हंसस्यैकवारं परमहंसस्य मानसस्नानं तुरीयातीतस्य भस्मस्नानमवधूतस्य वायव्यस्नानम्॥2॥ ऊर्ध्वपुण्ड्रं कुटीचकस्य त्रिपुण्ड्रं बहूदकस्य ऊर्ध्वपुण्ड्रं त्रिपुण्ड्रं हंसस्य भस्मोद्धूलनं परमहंसस्य तुरीयातीतस्य तिलकपुण्ड्रमवधूतस्य न किञ्चित्। तुरयातीतावधूतयोः॥3॥

कुटीचक संन्यासी के लिए प्रातः-मध्याह्न-सायं, तीनों समय के स्नान का विधान है। बहूदक के लिए दो बार, हंस के लिए एक बार, परमहंस के लिए मानसस्नान और तुरीयातीत के लिए भस्मस्नान तथा अवधूत के लिए वायुस्नान है। कुटीचक के लिए ऊर्ध्वपुण्ड्र धारण करने का, बहूदक के लिए त्रिपुण्ड्र, हंस के लिए ऊर्ध्वपुण्ड्र और त्रिपुण्ड्र, परमहंस के लिए केवल भस्म, तुरीयातीत के लिए तिलक और पुण्ड्र धारण करने का विधान और अवधूत के लिए कुछ भी धारण न करने का विधान है। तथा तुरीयातीत और अवधूत के लिए किसी भी चिह्न को धारण करने का विधान नहीं है।

ऋतुक्षौरं कुटीचकस्य ऋतुद्वयक्षौरं बहूदकस्य न क्षौरं हंसस्य परमहंसस्य च न क्षौरम्। अस्ति चेदयनक्षौरम्। तुरीयातीतावधूतयोर्न क्षौरम्॥4॥ कुटीचकस्यैकान्नं माधुकरं बहूदकस्य हंसपरमहंसयोः करपात्रं तुरीयाती-तस्य गोमुखं अवधूतस्याजगरवृत्तिः॥5॥

कुटीचक को दो मास में एक बार क्षौरकर्म कराना चाहिए। बहूदक को चार-चार मास में कराना चाहिए। हंस और परमहंस के लिए क्षौरकर्म विहित नहीं है, फिर भी यदि वह चाहे तो छः मास में एक बार करा सकता है। तुरीयातीत और अवधूत के लिए तो क्षौरकर्म है ही नहीं। कुटीचक के लिए एक ही जगह से भिक्षा लेने का विधान है। बहूदक के लिए हाथ के पात्र से भिक्षा लेने का विधान है। तुरीयातीत के लिए यदृच्छा-प्राप्त (गोमुखवृत्ति से अर्थात् अन्य कोई उसके मुँह में जो कुछ दे जाए उसी) से निर्वाह करने का विधान है और अवधूत के लिए अजगरवृत्ति से (ईश्वरेच्छा से) निर्वाह करने का विधान है।

शाटीद्वयं कुटीचकस्य बहूदकस्यैकशाटी हंसस्य खण्डं दिगम्बरं परम-हंसस्य एककौपीनं वा तुरीयातीतावधूतयोः जातरूपधरत्वं हंसपरमहंस-योरजिनं न त्वन्येषाम्॥6॥ कुटीचकबहूदकयोर्देवार्चनं हंसपरमहंसयोर्मानसार्चनं तुरीयातीता-वधूयोः सोऽहंभावना॥7॥

कुटीचक अपने पास दो वस्त्र रख सकता है, बहूदक एक वस्त्र, हंस एक वस्त्र का टुकड़ा ही रख सकता है और परमहंस की तो दिशाएँ ही वस्त्र होती हैं, या फिर वह एक कौपीन रख सकता है। तुरीयातीत और अवधूत तो जन्म से नग्न ही रहते हैं, हंस और परमहंस अपने पास मृगचर्म रखते हैं, दूसरे यह नहीं रख सकते। कुटीचक और बहूदक देवपूजा करते हैं, हंस और परमहंस मानसी पूजा करते हैं और तुरीयातीत तथा अवधूत को 'सोऽहम्' की भावना करनी चाहिए।

कुटीचकबहूदकयोर्मन्त्रजपाधिकारो हंसपरमहंसयोर्ध्यानाधिकारस्तुरीयातीतावधूतयोर्न त्वन्याधिकारस्तुरीयातीतावधूतयोर्महावाक्योपदेशाधिकारः परमहंसस्यापि। कुटीचकबहूदकहंसानां नान्यस्योपदेशाधिकारः ॥8॥

कुटीचक और बहूदक को मंत्र जप का अधिकार है। हंस और परमहंस को ध्यान का अधिकार है। तुरीयातीत और अवधूत को स्वरूपानुसन्धान के सिवा अन्य कोई अधिकार नहीं है। तुरीयातीत और अवधूत को महावाक्यों का उपदेश प्रदान करने का अधिकार है। परमहंस को भी यह अधिकार है। कुटीचक, बहूदक और हंस—तीनों को दूसरों को उपदेश देने का अधिकार नहीं है।

कुटीचकबहूदकयोर्मानुषप्रणवः हंसपरमहंसयोरान्तरप्रणवः तुरीयातीतावधूतयोर्ब्रह्मप्रणवः ॥9॥

कुटीचकबहूदकयोः श्रवणं हंसपरमहंसयोर्मननं तुरीयातीतावधूतयोर्निदिध्यासः। सर्वेषामात्मानुसन्धानं विधिरिति ॥10॥

कुटीचक और बहूदक के लिए मानुष (साधारण) प्रणव (ॐकार) का, हंस और परमहंस के लिए मानसिक प्रणव का तथा तुरीयातीत और अवधूत के लिए ब्रह्मप्रणव का विधान है। कुटीचक और बहूदक के लिए श्रवण, हंस और परमहंस के लिए मनन तथा तुरीयातीत और अवधूत के लिए निदिध्यासन का विधान है। इन सभी के लिए आत्मानुसन्धान की विधि तो है ही।

एवं मुमुक्षुः सर्वदा संसारतारकं तारकमनुस्मरञ्जीवन्मुक्तो वसेदधिकारविशेषेण कैवल्यप्राप्त्युपायमन्विष्येद्यतिरित्युपनिषत् ॥11॥

इति सप्तमोपदेशः।
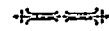
इस प्रकार योगी को सर्वदा संसार को पार कराने वाले तारक मंत्र (ॐकार) का चिन्तन करते हुए जीवन्मुक्त होकर विचरण करना चाहिए। योगी को अपने-अपने अधिकारविशेष के अनुसार कैवल्यप्राप्ति का उपाय खोजना चाहिए। यही उपदेश है।

यहाँ सातवाँ उपदेश पूरा हुआ।

❋

अष्टमोपदेशः

अथ हैनं भगवन्तं परमेष्ठिनं नारदः पप्रच्छ संसारतारकं प्रसन्नो ब्रूहीति। तथेति परमेष्ठी वक्तुमुपचक्रमे ओमिति ब्रह्मेति व्यष्टिसमष्टिप्रकारेण। का व्यष्टिः का समष्टिः संहारप्रणवः सृष्टिप्रणवश्चान्तर्बहिश्चोभयात्मकत्वात् त्रिविधो ब्रह्मप्रणवः। अन्तःप्रणवो व्यावहारिकप्रणवः। बाह्यप्रणव आर्षप्रणवः। उभयात्मको विराट् प्रणवः। संहारप्रणवो ब्रह्मप्रणवोऽर्धमात्राप्रणवः ॥1॥

अब परमेष्ठी ब्रह्माजी से नारद ने पूछा—'संसारतारक मंत्र को आप प्रसन्न होकर मुझसे कहिए।'

तब ब्रह्माजी ने 'अच्छा' ऐसा कहकर कहना शुरू किया—वह संसारतारक मंत्र ॐकार है, वही ब्रह्म है। उसको समष्टि और व्यष्टि—दोनों तरह से समझना चाहिए।' नारद ने पूछा—यह व्यष्टि और समष्टि क्या है ? ब्रह्माजी ने कहा—संहारप्रणव और सृष्टिप्रलय, ये प्रणव के दो अवयव हैं। एक ही प्रणव अन्तः, बहिः और उभय—ऐसे तीन भागों में बँटा है। प्रथम संहारप्रणव, द्वितीय सृष्टिप्रलय और तृतीय उभयात्मक। इनमें अन्तःप्रणव को व्यावहारिक प्रणव नाम दिया गया है, बाह्यप्रणव को आर्षप्रणव कहा जाता है और उभयात्मकप्रणव को विराट्प्रणव कहते हैं। और संहारप्रणव को ब्रह्म प्रणव भी कहते हैं। और स्थूलादि भेद से परिपूर्ण अकारादि चारमात्रा वाले प्रणव को अर्धमात्राप्रणव भी कहते हैं।

ओमिति ब्रह्म। ओमित्येकाक्षरमन्तःप्रणवं विद्धि। स चाष्टधा भिद्यते। अकारोकारमकारार्धमात्रानादबिन्दुकलाशक्तिश्चेति। तत्र चत्वार अकारश्चायुतावयवान्वित उकारः सहस्रावयवान्वितो मकारः शतावयवोपेतोऽर्धमात्राप्रणवोऽनन्तावयवाकारः। सगुणो विराट् प्रणवः संहारो निर्गुणप्रणव उभयात्मकोत्पत्तिप्रणवो यथाप्लुतो विराट् प्लुतः प्लुतसंहारः ॥2॥

वह ॐ ही ब्रह्म है। इस अन्तःप्रणव को ही एकाक्षरमंत्र जानो। इसके आठ प्रकार हैं। यह प्रणव केवल चार-चार मात्राओं से ही संयुक्त नहीं है। इसके अकार, उकार, मकार, अर्धमात्रा, नाद, बिन्दु, कला, और शक्ति—ये आठ भेदों के रूप हैं। ॐकार की चारों मात्राओं में एक-एक के भी कई भेद हैं। केवल अकार ही दस सहस्र अवयव वाला है। उकार के एक हजार और मकार के एक सौ अवयव हैं। अर्धमात्राप्रणव भी अनन्त अवयवों वाला है। विराट्प्रणव को 'सगुणप्रणव' और संहारप्रणव को 'निर्गुणप्रणव' माना गया है। और सृष्टिप्रणव तो सगुण-निर्गुण दोनों से सम्बद्ध है। विराट्प्रणव यथाप्लुत (चारों मात्राओं की समष्टि) है और संहारप्रलय प्लुतप्लुत (अर्थात् चतुर्थमात्रा से युक्त) अर्धमात्रास्वरूप है।

विराट् प्रणवः षोडशमात्रात्मकः षट्त्रिंशत्तत्त्वातीतः। षोडशमात्रात्मकत्वं कथमित्युच्यते। अकारः प्रथमोकारो द्वितीया मकारस्तृतीयाऽर्धमात्राचतुर्थी नादः पञ्चमी बिन्दुः षष्ठी कला सप्तमी कलातीताष्टमी शान्तिर्नवमी शान्त्यतीता दशमी उन्मन्येकादशी मनोन्मनी द्वादशी पुरी त्रयोदशी मध्यमा चतुर्दशी पश्यन्ती पञ्चदशी परा षोडशी। पुनश्चतुःषष्टिमात्रा प्रकृतिपुरुषद्वैविध्यमासाद्याष्टाविंशत्युत्तरभेदमात्रास्वरूपमासाद्य सगुणनिर्गुणत्वमुपेत्यैकोऽपि ब्रह्मप्रणवः ॥3॥

विराट्प्रणव सोलह मात्राओं वाला होता है। इसे 36 तत्त्वों से परे कहा गया है। इस प्रणव की 'अ'कार प्रथम मात्रा है, 'उ'कार द्वितीय मात्रा, है 'म'कार तृतीय मात्रा है, अर्धमात्रा चौथी मात्रा है, नाद पंचमी मात्रा है, बिन्दु छठी मात्रा है, कला सप्तमी मात्रा है, कलातीत आठवीं मात्रा है, शान्ति नवमीं मात्रा है, शान्त्यतीत दशवीं मात्रा है, उन्मनी ग्यारहवीं मात्रा है, मनोन्मयी बारहवीं मात्रा है, पुरी तेरहवीं मात्रा है, मध्यमा चौदहवीं मात्रा है, पश्यन्ती पन्द्रहवीं मात्रा है और परा सोलहवीं मात्रा है। इस तरह सोलह मात्राओं वाला यह ब्रह्मप्रणव ओत, अनुज्ञात, अनुज्ञा और अविकल्प रूप चतुर्विध तुरीय से अभिन्न होने के कारण फिर चौसठ कलाओं वाला हो जाता है। यही प्रणव पुनः पुरुष और प्रकृति के भेद से दो प्रकार का होकर एक सौ अट्ठाईस मात्रा वाला रूप धारण करता है। इस तरह एक होते हुए भी प्रणव दृष्टिभेद से अनेक प्रकार से साकार और निराकार रूप ग्रहण करता है।

सर्वाधारः परंज्योतिरेष सर्वेश्वरो विभुः ।
सर्वदेवमयः सर्वप्रपञ्चाधारगर्भितः ॥4॥
सर्वाक्षरमयः कालः सर्वागममयः शिवः ।
सर्वश्रुत्युत्तमो मृग्यः सकलोपनिषन्मयः ॥5॥
भूतं भव्यं भविष्यद्यत् त्रिकालोदितमव्ययम् ।
तदप्योङ्कारमेवायं विद्धि मोक्षप्रदायकम् ॥6॥
तमेवात्मानमित्येतद् ब्रह्मशब्देन वर्णितम् ।
तदेकममृतमजरमनुभूय तथोमिति ॥7॥
सशरीरं समारोप्य तन्मयत्वं तथोमिति ।
त्रिशरीरं तमात्मानं परंब्रह्म विनिश्चितु ॥8॥

वह ओंकारूप प्रणवब्रह्म अविनाशी परमात्मतत्त्व सर्वाधारभूत है, प्रकाशस्वरूप है, यह ॐकार सर्व प्राणियों का ईश्वर और सर्वव्यापक है। सभी देवसमूह इसी के प्रतिरूप हैं। सर्वप्रपंचाधार प्रवृत्ति भी इसी के गर्भ में है। यह सर्वाक्षर स्वरूप है, यही कालरूप है, यही सर्वशास्त्रमय है, मंगलकारी है, सभी वेदों में उत्तम है, यही खोजने लायक है, यही सभी उपनिषदों का स्वरूप है। भूतकाल, वर्तमान काल और भविष्यत्काल—तीनों कालों से परे और तीनों भुवनों से भी परे जो एक अव्ययतत्त्व है, वह इस ओंकार का ही स्वरूप है। तुम इसी को मोक्ष देने वाला जानो। इस ॐकार का आशय आत्मा और ब्रह्म शब्द से वर्णित किया गया है। इस ब्रह्म और आत्मा को एक ही तत्त्व के रूप में अनुभव करके यही एकमात्र अनुपम, अद्वितीय, अजर, अमर है—ऐसा अनुभव करना चाहिए। ऐसे अनुभव के बाद स्थूल-सूक्ष्म-कारण शरीरों का भी उसी ॐकार में आरोपण कर देना चाहिए। इस ॐकार में तीनों शरीरयुक्त आत्मारूप परब्रह्म है—ऐसा निश्चय करना चाहिए।

परंब्रह्मानुसन्दध्याद् विश्वादीनां क्रमः क्रमात् ।
स्थूलत्वात्स्थूलभुक्त्वाच्च सूक्ष्मत्वात्सूक्ष्मभुक् परम् ॥9॥
ऐक्यत्वानन्दभोगाच्च सोऽयमात्मा चतुर्विधः ।
चतुष्पाज्जागरितः स्थूलः स्थूलप्रज्ञो हि विश्वभुक् ॥10॥
एकोनविंशतिमुखः साष्टाङ्गः सर्वगः प्रभुः ।
स्थूलभुक् चतुरात्माथ वैश्वो विश्वानरः पुमान् ॥11॥
विश्वजित्प्रथमः पादः स्वप्नस्थानगतः प्रभुः ।
सूक्ष्मप्रज्ञः स्वतोऽष्टाङ्गः एको नान्यः परंतप ॥12॥

हे परन्तप नारद ! परब्रह्म का अनुसन्धान करने के लिए जो विश्व आदि का क्रम है, वह क्रम इस प्रकार है—(1) स्थूल (विराट्) जगत् और उसका भोक्ता तथा (2) सूक्ष्म जगत्‌रूप तथा उसका भोक्ता होने के कारण, (3) एकमात्र आनन्दस्वरूप तथा आनन्दमात्र के उपभोक्ता होने के कारण; इन तीनों की अपेक्षा भी विशेष लक्षण वाला होने के कारण यह आत्मा चार भेदों वाला होता है। वह चार पाद वाला है। यह चार पाद ही इसके चार भेद हैं। इन चार पादों में जो स्थूल पदार्थों का अनुभव करता है, विश्वव्यापक स्थूलशरीरधारी (दिराट्) है, वह 'वैश्वानर' कहा जाता है, यह प्रथमपाद है। और जो दूसरा स्वप्नस्थान में अवस्थित आत्मा है, वह सूक्ष्म पदार्थों का अनुभव करता है। भूः, भुवः आदि आठ लोकों से युक्त है, वह भी कोई अन्य नहीं है।

सूक्ष्मभुक् चतुरात्माथ तैजसो भूतराडयम् ।
हिरण्यगर्भः स्थूलोऽन्तर्द्वितीयः पाद उच्यते ॥13॥
कामं कामयते यावद् यत्र सुप्तो न कञ्चन ।
स्वप्नं पश्यति नैवात्र तत्सुषुप्तमपि स्फुटम् ॥14॥
एकीभूतः सुषुप्तस्थः प्रज्ञानघनवान्सुखी ।
नित्यानन्दमयोऽप्यात्मा सर्वजीवान्तरस्थितः ॥15॥
तथाप्यानन्दभुक् चेतोमुखः सर्वगतोऽव्ययः ।
चतुरात्मेश्वरः प्राज्ञस्तृतीयः पादसंज्ञितः ॥16॥

वह स्थूल की अपेक्षा सूक्ष्म पदार्थों का अनुभव करता है। चतुर्विध आत्मा का यह स्वरूप तैजस कहलाता है। यह भी पूर्वोक्त आठ अंगों से युक्त होता है। वह स्वप्नलोक में एकाकी ही है। इसके भी पूर्वोक्त प्रकार से चार भेद हो सकते हैं, उसे 'तैजस' पुरुष कहा जाता है। वह सभी प्राणियों का स्वामी हिरण्यगर्भ है। पूर्वोक्त वैश्वानर तो स्थूल है, पर यह अन्तःस्थ होने से सूक्ष्म है। उसे परमात्मा का दूसरा पाद कहा गया है। जब सोया हुआ पुरुष किसी भी प्रकार की कामना नहीं करते हुए कोई स्वप्न तक भी नहीं देखता, उसको सुषुप्तावस्था कहा जाता है। इस अवस्था में अवस्थित सुषुप्तात्मा स्पष्ट रूप से ही प्रलयावस्था का (एकीभाव का) अनुभव करता है। वह घनीभूत प्रज्ञान में लीन हो जाता है, आनन्दमय है, नित्यानन्दमय है, समस्त प्राणियों के अन्तस् में विद्यमान है, अन्तर्यामी आत्मा है, जो चिन्मय प्रकाश वाले मुखवाला है। वह ज्ञातृ-अनुज्ञातृ-अनुज्ञा-अविकल्प रूप चतुरात्मा है, वह प्राज्ञ कहलाता है, वह परमात्मा का तृतीयपाद है।

एष सर्वेश्वरश्चैष सर्वज्ञः सूक्ष्मभावनः ।
एषोऽन्तर्याम्येष योनिः सर्वस्य प्रभवाप्ययौ ॥17॥
भूतानां त्रयमप्येतत्सर्वोपरमबाधकम् ।
तत्सुषुप्तं हि यत्स्वप्नं मायामात्रं प्रकीर्तितम् ॥18॥
चतुर्थश्चतुरात्मापि सच्चिदेकरसो ह्ययम् ।
तुरीयावसितत्वाच्च एकैकत्वानुसारतः ॥19॥
ओत्रानुज्ञात्रनुज्ञाविकल्पज्ञानसाधनम् ।
विकल्पत्रयमत्रापि सुषुप्तं स्वप्नमान्तरम् ।
मायामात्रं विदित्वैवं सच्चिदेकरसो ह्यथ ॥20॥

यह परब्रह्म ही सबका स्वामी है, यही सर्वज्ञ है, सूक्ष्मता से चिन्तन करने योग्य है, यही अन्तर्यामी है, यही सभी का उद्भवस्थान है, यही सबके जन्म और सबके नाश का कारण है। तीन लोक भी यही है (अथवा उत्पत्ति, स्थिति और विनाश भी यही है)। सभी का उपरम (विलय) भी इसी में होता है। सभी प्रकार के उपरम (शान्ति) का बाधक भी तो यही है। जो त्रिविध जगत् है, वही स्वप्न है, क्योंकि वह विपरीतदर्शन ही है। यह मायामय ही है। परन्तु त्रिपादों से अतिरिक्त एक चतुर्थ पाद—तुरीयपाद भी है। तुरीय के भेद तुरीय में अवसित हो जाते हैं। वह सच्चिदानन्दमय है। तुरीय के चारों भेद तुरीय में अवसित हो जाने के कारण सभी तुरीय ही कहे जाते हैं। (ये चारों भेद ओता, अनुज्ञाता, अनुज्ञा और अविकल्प हैं)। तुरीय को इन चार भेदों में भी ओता, अनुज्ञाता और अनुज्ञा, विकल्प के साधनरूप हैं। अतः इन विकल्पों को भी पहले की ही तरह सुषुप्त, मनोमय, स्वप्नवत् मायामय ही जानना चाहिए। और इन भेदों से परे निर्विकल्परूप तुरीयतुरीय परब्रह्म सच्चिदानन्द को ही लक्ष्य करना चाहिए।

विभक्तो ह्ययमादेशो न स्थूलप्रज्ञमन्वहम्।
न सूक्ष्मप्रज्ञमत्यन्तं न प्रज्ञं न क्वचिन्मुने ॥21॥
नैवाप्रज्ञं नोभयतःप्रज्ञं न प्रज्ञमान्तरम्।
नाप्रज्ञमपि न प्रज्ञाघनं चादृष्टमेव च ॥22॥
तदलक्षणमग्राह्यं यद्व्यवहार्यमचिन्त्यमव्यपदेश्यमेकात्मप्रत्ययसारं प्रपञ्चोपशमं शिवं शान्तमद्वैतं चतुर्थं मन्यन्ते। स ब्रह्मप्रणवः। स विज्ञेयो नापरस्तुरीयः सर्वत्र भानुवन्मुमुक्षूणामाधारः स्वयंज्योतिर्ब्रह्माकाशः सर्वदा विराजते परब्रह्मत्वादित्युपनिषत् ॥23॥

इत्यष्टमोपदेशः।
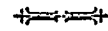
बाद में ब्रह्मा बोले कि श्रुति का यह स्पष्ट आदेश है कि जो सदैव न तो स्थूल का ज्ञाता है, न सूक्ष्मज्ञ है, न ही दोनों का ज्ञाता है, न सर्वाधिक ज्ञाता है, न केवल ज्ञाता है, न अन्तःप्रज्ञ है, न बहिःप्रज्ञ है, जो अदृश्य (अरूप) है, जो पकड़ में नहीं लाया जा सकता, जिसके साथ कोई व्यवहार नहीं किया जा सकता, जो अचिन्त्य है, जो अपरिभाष्य है, एकात्मसत्ता ही जिसकी प्रतीति का सार है, जिसमें माया का अभाव है। हे मुनि! ऐसा परमकल्याणकारी, शान्त, अद्वितीय, परमतत्त्व ही उस पूर्ण परब्रह्म का चौथा पाद है, ऐसा ज्ञानीजन मानते हैं। यह ब्रह्मप्रणव ही जानने (समझने) योग्य है, अन्य नहीं। सर्वप्रकाशक सूर्य के समान यह मुमुक्षुओं का आधार है। स्वयंप्रकाश परब्रह्म आकाशरूप है और सर्वदा वह विराजित ही रहता है, क्योंकि वह परब्रह्म है। यही उपनिषद् उपदेश है।

यहाँ अष्टमोपदेश पूरा हुआ।

❋

नवमोपदेशः

अथ ब्रह्मस्वरूपं कथमिति नारदः पप्रच्छ। तं होवाच पितामहः किं ब्रह्मस्वरूपमिति। अन्योऽसावन्योऽहमस्मीति ये विदुस्ते पशवो न स्वभावपशवस्तमेवं ज्ञात्वा। विद्वान्मृत्युमुखात्प्रमुच्यते नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय ॥1॥

अब नारद ने पूछा—'ब्रह्मस्वरूप कैसा है?' तब पितामह ने कहा—ब्रह्मस्वरूप और क्या है! निजस्वरूप ही तो ब्रह्म है। 'यह अलग है, मैं अलग हूँ'—ऐसा जो जानते हैं, वे पशु ही हैं। स्वभाव (पारमार्थिक) रूप से तो वे पशु नहीं हैं पर भेददृष्टि से पशु जैसे हो गए हैं। उस परमात्मा को ऐसे अभेद स्वरूप से जान कर विद्वान् मृत्यु के मुख से छूट जाता है। इसके सिवा (बिना जाने) मोक्ष का अन्य उपाय ही नहीं है।

कालः स्वभावो नियतिर्यदृच्छा भूतानि योनिः पुरुष इति चिन्त्यम्।
संयोग एषां नत्वात्मभावादात्मा ह्यनीशः सुखदुःखहेतोः ॥2॥
ते ध्यानयोगानुगता अपश्यन् देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निगूढाम्।
यः कारणानि निखिलानि तानि कालात्मयुक्तान्यधितिष्ठत्येकः ॥3॥
तमेकस्मिंस्त्रिवृतं षोडशान्तं शतार्धारं विंशतिप्रत्यराभिः।

अष्टकैः षड्भिर्विश्वरूपैकपाशं त्रिमार्गभेदं द्विनिमित्तैकमोहम् ॥4॥
पञ्चस्रोतोम्बुं पञ्चयोन्युग्रवक्त्रां पञ्चप्राणोर्मिं पञ्चबुद्ध्यादिमूलाम्।
पञ्चावर्तां पञ्चदुःखौघवेगां पञ्चाशद्भेदां पञ्चपर्वामधीमः ॥5॥

(कुछ जिज्ञासु लोग कहते हैं कि) इस जगत् का कारण क्या है? क्या काल है? स्वभाव है? नियति है? क्या कोई आकस्मिक घटना है? पाँच महाभूत हैं? अथवा जीवात्मा है? इन सबका संयोग तो इस जगत् का कारण नहीं हो सकता, क्योंकि ये सब तो आत्मा के आश्रित हैं। और जीवात्मा भी तो इस जगत् का कारण नहीं हो सकता क्योंकि वह भी सुख-दुःख के हेतुभूत प्रारब्धकर्मों का आश्रित है। इस विषय में ऋषिमुनियों ने ध्यानावस्था में प्रतिष्ठित होकर अपने गुणों से आवृत परब्रह्म की उस अचिन्त्य शक्ति को देखा (जगत् के कारणरूप में पहचाना)। वह परब्रह्म अकेले ही काल से लेकर आत्मा तक पूर्वोक्त वृत्तों को सभी कारणों पर शासन करता है। उस एक नेमि वाले (एक प्रकृति वाले), सत्त्व-रजस्-तमस् रूप तीन (आवरणों) से युक्त, सोलह कलाओं युक्त, सोलह सिरों से युक्त, विपर्यय-तुष्टि-अशक्ति आदि 50 प्रत्ययरूप पचास अरों वाले तथा बीस सहायक अरों वाले (10 इन्द्रियाँ + 5 विषय + 5 प्राण = 20) इस विश्वरूपी चक्र को जिज्ञासु जनों ने देख लिया है। छः अष्टकों के (इस मंत्र में कहे गए छः अष्टक कौन से हैं, वह स्पष्ट नहीं होता) आठ-आठ भेद कहे गए हैं। यह सब मोहरूपी नाभिक को केन्द्र मानकर घूम रहे हैं। अब ऋषि यहाँ विश्व के प्रवाह को नदी का रूपक देते हुए कहते हैं कि (पूर्व में महिमा का रूप – विश्वचक्र का रूप दिया था। अब नदी का रूपक देते हैं—) पाँच स्रोतों से प्रवाहित होने वाले विषयजल से भरे हुए पाँच स्थानों से आविर्भूत होकर भय प्रदान करने वाली और अपनी कुटिल (वक्र) चाल से गमन करने वाली, पाँच दुःखप्रवाहों के वेग से युक्त, पाँच पर्तों वाली तथा पचास भेदों वाली नदी को हम सब लोग जानते हैं। (इसकी विशद व्याख्या शंकराचार्यजी के भाष्य में देखी जा सकती है)।

सर्वाजीवे सर्वसंस्थे बृहन्ते तस्मिन्हंसो भ्राम्यते ब्रह्मचक्रे।
पृथगात्मानं प्रेरितारं च मत्वा जुष्टस्ततस्तेनामृतत्वमेति ॥6॥
उद्गीथमेतत्परमं तु ब्रह्म तस्मिंस्त्रियं स्वप्रतिष्ठाक्षरं च।
अत्रान्तरं वेदविदो विदित्वा लीना परे ब्रह्मणि तत्परायणाः ॥7॥
संयुक्तमेतत्क्षरमक्षरं च व्यक्ताव्यक्तं भरते विश्वमीशः।
अनीशश्चात्मा बध्यते भोक्तृभावाज्ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपापैः ॥8॥
ज्ञाज्ञौ द्वावजावीशानीशावजा ह्येका भोक्तृभोगार्थयुक्ता।
अनन्तश्चात्मा विश्वरूपो ह्यकर्ता त्रयं यदा विन्दते ब्रह्म ह्येतत् ॥9॥
क्षरं प्रधानममृताक्षरं हरः क्षरात्मानावीशते देव एकः।
तस्याभिध्यानाद्योजनात्तत्त्वभावाद्भूयश्चान्ते विश्वमायानिवृत्तिः ॥10॥

सकल प्राणियों के आश्रयभूत और संजीवनीस्वरूप इस विशाल ब्रह्मचक्र में जीवात्मा को भ्रमण कराया जा रहा है। वह जीवात्मा स्वयं अपने आपको उस परमात्मा से अलग समझ लेता है। परमात्मा तो सभी का प्रेरणास्रोत है, फिर बाद में वह जीव परमात्मा द्वारा स्वीकृत होकर अमृतभाव को प्राप्त कर लेता है। वेदप्रतिपादित यह परमात्मा ही श्रेष्ठ आश्रयस्थान और शाश्वत एवं अविनाशी है। इसी परमात्मा में तीनों लोक आए हुए हैं। वेद को जानने वाले ऋषिलोग यहीं (इस हृदय में ही) इस परमात्मा को प्रतिष्ठित जानकर उसमें निष्ठा रखकर इसी हृदयस्थ परब्रह्म में लीन हो जाते हैं। क्षर (सतत विनाशशील जडतत्त्व) और अक्षर (अविनाशी जीवात्मा) से मिले-जुले इस जगत् का, अथवा

यों कहें कि व्यक्त और अव्यक्त के मिले-जुले रूप जैसे जगत् का भरणपोषण वह ईश (परमात्मा परब्रह्म) ही करता है। और जो जीव है, वह तो जगत् के विषयभोगों का भोक्ता होने के कारण प्रकृति के वश में आकर बन्धन में पड़ जाता है और उस परमदेव को जानकर ही सभी पापों से मुक्त हो सकता है। ज्ञानी और अज्ञानी (समर्थ और असमर्थ) ये दो ही अजन्मा अविनाशी हैं (जीवात्मा और परमात्मा ही अविनाशी हैं) और इन दोनों के अतिरिक्त भोक्ता ऐसे जीवात्मा के लिए भोग्य सामग्री वाली अनादि प्रकृति एक तीसरी शक्ति भी है। जो परमात्मदेव है, वह तो अनन्त और सम्पूर्ण रूपों से युक्त है, वह कर्तृत्व के अभिमान से रहित है। जब मनुष्य इस तरह परमात्मा, जीव और प्रकृति—इन तीनों के रूप को ब्रह्म के रूप में ग्रहण करता है, तब वह सभी तरह के बन्धनों से मुक्त हो जाता है। प्रकृति तो विनाशशील है, पर उसका भोक्ता जीवात्मा अविनाशी ही है और अमृतमय है। इन दोनों – विनाशी जडतत्त्व प्रकृति और चेतन आत्मा – को एक ही ईश्वर अपने नियामकत्व में रखते हैं। इस तरह एक ही परमेश्वर का सदैव चिन्तन करते रहने से अर्थात् उसमें तल्लीन हो जाने से मनुष्य अन्त में उसे पा ही लेता है। इसके बाद सभी प्रकार के प्रपंच की (माया की) निवृत्ति हो जाती है।

ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः क्षीणैः क्लेशैर्जन्ममृत्युप्रहाणिः।
तस्याभिध्यानात् तृतीयं देहभेदे विश्वैश्वर्यं केवल आप्तकामः ॥11॥
एतज्ज्ञेयं नित्यमेवात्मसंस्थं नातः परं वेदितव्यं हि किञ्चित्।
भोक्ता भोग्यं प्रेरितारं च मत्वा सर्वं प्रोक्तं त्रिविधं ब्रह्म ह्येतत् ॥12॥
आत्मविद्यातपोमूलं तद्ब्रह्मोपनिषत्परम् ॥13॥

ऐसे परमात्मदेव को जानकर मनुष्य सभी प्रकार के बन्धनों से मुक्त हो जाता है। और जब उसके बन्धनजन्य क्लेश नष्ट हो जाते हैं, तब जन्ममरण से भी मुक्ति हो जाती है अर्थात् उसके जन्ममरण नहीं होते। जब इसके ध्यान से तीनों प्रकार के देह-भेद नष्ट हो जाते हैं अर्थात् स्थूल-सूक्ष्म-कारण देह नष्ट हो जाते हैं, तब वह सर्वथा विशुद्ध और आप्तकाम हो जाता है। तब वह त्रितय (स्वर्ग का ऐश्वर्य) भी छोड़ देता है। यही जो हमेशा अपने आत्मा में ही अवस्थित है, वही जानने योग्य है इससे अतिरिक्त और कुछ जानने योग्य है ही नहीं। भोक्ता (जीव), भोग्य (विषय) और उन दोनों का प्रेरक (परमात्मा) इन तीनों को सही स्वरूप में जान लेने से मनुष्य सब कुछ जान लेता है। तात्पर्य यह है कि इस प्रकार तीन भेदों में वर्णित सब कुछ ब्रह्ममय ही है। इस ब्रह्ममयता की प्राप्ति के लिए आत्मविद्या और तप ही उपाय हैं (स्रोत हैं, साधन हैं)। उपनिषद्वर्णित परमश्रेष्ठ तत्त्व यही परमेश्वर है। (भावार्थ यह है कि यह एक ही ब्रह्म केवल दृष्टि के भेद की वजह से ही द्वितय या त्रितय कहा जाता है, पर यह दृष्टिभेद तो अज्ञानजनित भ्रम ही है। अतएव वह एक ही परमतत्त्व है।

य एवं विदित्वा स्वरूपमेवानुचिन्तयंस्तत्र को मोहः कः शोकः एकत्व-मनुपश्यतः। तस्माद्विराड्भूतं भव्यं भविष्यद्भवत्यनश्वरस्वरूपम् ॥14॥
अणोरणीयान्महतो महीयानात्मास्य जन्तोर्निहितो गुहायाम्।
तमक्रतुं पश्यति वीतशोको धातुः प्रसादान्महिमानमीशम् ॥15॥
अपाणिपादो जवनो ग्रहीता पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः।
स वेत्ति वेद्यं न च तस्यास्ति वेत्ता तमाहुरग्र्यं पुरुषं महान्तम् ॥16॥
अशरीरं शरीरेष्वनवस्थेष्ववस्थितम्।
महान्तं विभुमात्मानं मत्वा धीरो न शोचति ॥17॥

सर्वस्य धातारमचिन्त्यशक्तिं सर्वागमान्तार्थविशेषवेद्यम्।
परात्परं परमं वेदितव्यं सर्वावसानेऽन्तकृद्वेदितव्यम् ॥18॥

जो मनुष्य ऐसा जानकर अपने स्वरूप का ही चिन्तन करता रहता है, वहाँ जब वह एकत्व को ही देखता है तब शोक कैसा ? मोह कैसा ? इसलिए भूत, भविष्य और वर्तमान—इन तीनों कालों में आविर्भूत यह विराट् संसार ही अनश्वर ब्रह्ममय ही है। यह ब्रह्म सूक्ष्मातिसूक्ष्म तत्त्व से भी सूक्ष्म परिमाण वाला है और साथ ही साथ महत् परिमाण से भी महत् परिमाण वाला भी है। वह मनुष्य की हृदयरूपी गुफा में रहता है। ऐसे संकल्परहित परमात्मा को और उसकी महिमा को मनुष्य उसी की विशेष अनुकम्पा से शोकरहित होकर जान सकता है। उस परमेश्वर के हाथ-पैर नहीं हैं, फिर भी वह वेग से गमन कर सकता है और सब कुछ ग्रहण कर सकता है। उसके नेत्र नहीं हैं, फिर भी वह सब कुछ देख सकता है। उसके कान भी नहीं हैं, फिर भी वह सब कुछ सुन सकता है। जो कुछ जानने योग्य (विषयभूत) है, उसे वह जानता है, पर उसे कोई भी नहीं जान सकता। विद्वान् मनुष्य उसे ही प्राचीन और महान् कहते हैं। वह परमात्मा इन नाशवन्त शरीरों में अविनाशी होकर रहता है, उस सर्वव्यापक महान् परमेश्वर को जान लेने पर धैर्यशील मनुष्य कभी शोकाकुल नहीं होता। वह परमात्मा सभी प्राणियों का भरणपोषण करने वाला है, उसकी शक्ति कल्पनातीत है, सभी वेदान्तों के अर्थों में विशेषतः जाननेयोग्य है। वह परे से भी परे है, वही एकमात्र पहचानने योग्य है, और सम्पूर्ण विश्व के अवसान (प्रलय) होने पर प्रलयकर्ता के रूप में वही जानने (पहचानने) योग्य है।

कविं पुराणं पुरुषोत्तमोत्तमं सर्वेश्वरं सर्वदेवैरुपास्यम्।
अनादिमध्यान्तमनन्तमव्ययं शिवाच्युताम्भोरुहगर्भभूधरम् ॥19॥
स्वेनावृतं सर्वमिदं प्रपञ्चं पञ्चात्मकं पञ्चसु वर्तमानम्।
पञ्चीकृतानन्तभवप्रपञ्चं पञ्चीकृतस्वावयवैरसंवृतम्।
परात्परं यो महतो महान्तं स्वरूपतेजोमयशाश्वतं शिवम् ॥20॥
नाविरतो दुश्चरितान्नाशान्तो नासमाहितः।
नाशान्तमनसो वापि प्रज्ञानेनैनमाप्नुयात् ॥21॥
नान्तःप्रज्ञं न बहिःप्रज्ञं न स्थूलं नास्थूलं न ज्ञानं नाज्ञानं नोभयतः-प्रज्ञमग्राह्यमव्यवहार्यं स्वान्तःस्थितः स्वयमेवेति य एवं वेद स मुक्तो भवति स मुक्तो भवतीत्याह भगवान् पितामहः ॥22॥

वह त्रिकालज्ञ कवि, पुरातन पुरुष, पुरुषोत्तम, सर्व के ईश्वर, सभी देवों के लिए उपासना करने योग्य हैं, जिसका कोई आदि, मध्य और अन्त नहीं है, जो अविनाशी है, वही शिव, विष्णु और कमलोत्पन्न ब्रह्माजी को अपने गर्भ में रखने वाले पर्वत के समान है। पंचमहाभूतात्मक और पाँच इन्द्रियों में विषयरूप से रहने वाले इस प्रपंच (जगत्) को उसने अपने द्वारा अन्तर्यामी रूप से आवृत कर रखा है। इस प्रपञ्च ने (जगत् ने) अनेक जन्मों की परंपरा बढ़ा दी है, ऐसे जगत् को परमात्मा ने पंचीकृत पंचभूतात्मक रूप में पैदा तो किया, परन्तु स्वयं उससे आवृत नहीं हुए। वह तो परे से भी परे, बड़े से भी बड़े, स्वतःस्वरूप, कल्याणमय सनातन बने ही रहे। जो मनुष्य दुष्ट चारित्र्य से (दुष्ट कामों से) अभी निवृत्त नहीं हुआ है, जो शान्त नहीं है, जिसकी बुद्धि स्थिर नहीं है, जिसका मन भी शान्त नहीं हुआ है, ऐसा मनुष्य इस परमात्मतत्त्व को विशुद्ध ज्ञान के द्वारा प्राप्त नहीं कर सकता। यह परात्पर पूर्ण पुरुषोत्तम तत्त्व न तो अन्तःप्रज्ञ है, न बाह्यप्रज्ञ है, वह स्थूल भी नहीं है, सूक्ष्म भी नहीं है, उसे ज्ञानरूप भी नहीं कहा जा सकता और अज्ञानरूप भी नहीं कहा जा सकता। वह अन्तर्बाह्य-

उभयरूप भी तो नहीं है। वह मनुष्य की पकड़ में आने वाला नहीं है। वह व्यवहार का विषय ही नहीं बनता। वह अपने अन्दर स्वयं विद्यमान (सत्तारूप) है। जो मनुष्य उसे इस प्रकार जान लेता है वह मुक्त होता है, वह मुक्त हो जाता है—ऐसा भगवान् पितामह ने नारद से कहा।

स्वस्वरूपज्ञः परिव्राट् परिव्राडेकाकी चरति भयत्रस्तसारङ्गवत्तिष्ठति। गमनविरोधं न करोति स्वशरीरव्यतिरिक्तं सर्वं त्यक्त्वा षट्पदवृत्त्या स्थित्वा स्वरूपानुसन्धानं कुर्वन्सर्वमनन्यबुद्ध्या स्वस्मिन्नेव मुक्तो भवति। स परिव्राट् सर्वक्रियाकारकनिवर्तको गुरुशिष्यशास्त्रादिविनिर्मुक्तः सर्वसंसारं विसृज्य चामोहितः परिव्राट् कथं निर्धनिकः सुखी धनवान् ज्ञानाज्ञानोभयातीतः सुखदुःखातीतः स्वयंज्योतिःप्रकाशः सर्ववेद्यः सर्वज्ञः सर्वसिद्धिदः सर्वेश्वरः सोऽहमिति। तद्विष्णोः परमं पदम्। यत्र गत्वा न निवर्तन्ते योगिनः। सूर्यो न तत्र भाति न शशाङ्कोऽपि न स पुनरावर्तते न स पुनरावर्तते तत्कैवल्यमित्युपनिषत् ॥23॥

इति नवमोपदेशः।

इति नारदपरिव्राजकोपनिषत्समाप्ता।
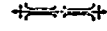
अपने सही स्वरूप को पहचानने वाला परिव्राट् अकेला ही परिभ्रमण करता रहता है। वह यति डरे हुए हिरण की भाँति कभी एक जगह पर नहीं ठहरता। यहाँ-वहाँ जाने का यदि कोई विरोध करता है, तो वह उसे कभी भी नहीं मानता। अपने शरीर को छोड़कर बाकी सब वस्तुओं का त्याग करके भ्रमर की भाँति भ्रमण करते हुए स्वरूपानुसन्धान करते हुए भिक्षा से निर्वाह करता रहता है। उसकी बुद्धि सबके प्रति अनन्य-सी हो जाती है। वह समस्त प्राणियों को अपना आत्मस्वरूप ही समझने लगता है, तथा इस तरह से वह परिव्राट् स्वयं में ही प्रतिष्ठित होकर सभी प्रकार के क्रिया-कारकादि बन्धनों से छुटकारा पा लेता है। गुरु, शिष्य और शास्त्र की त्रिपुटी से भी वह मुक्त हो जाता है। वह सारे संसार को छोड़कर, मोहरहित हुआ परिव्राजक कैसा होता है? (तो सुनिए—) वह धनहीन होने पर भी हमेशा सुखी ही रहता है। क्योंकि वह ब्रह्मात्मज्ञानरूपी धनवाला होता है। वह ज्ञान और अज्ञान—दोनों से परे होता है। सुख और दुःख से भी परे होता है, वह स्वयंज्योति है, प्रकाशात्मक है, सभी के लिए जाननेयोग्य है, वह सब कुछ जानने वाला है, सर्व सिद्धियों का वह देने वाला है, सर्व का ईश्वर (स्वामी) है। 'वह मैं ही हूँ'—इस ज्ञान से इसकी सर्वत्र सहज उपस्थिति है। वही विष्णु का परमपद है, जहाँ जाकर वह यति फिर से यहाँ (मर्त्यलोक में) कभी नहीं आता, कभी नहीं आता। यही कैवल्य पद है, और यही यह उपनिषद् का उपदेश है।

यहाँ नारदपरिव्राजकोपनिषद् पूर्ण हुई।

शान्तिपाठः

ॐ भद्रं कर्णेभिः……देवहितं यदायुः। (पूर्ववत्)

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः॥

❋

(45) त्रिशिखिब्राह्मणोपनिषत्

(उपनिषत्परिचय)

शुक्लयजुर्वेद से सम्बद्ध इस उपनिषद् में ब्रह्मप्राप्ति के उपायभूत अष्टांगयोग का विशेष निरूपण किया गया है। त्रिशिखी नाम के ब्राह्मण और भगवान् आदित्य के बीच आत्मा और ब्रह्म विषयक प्रश्नोत्तर से इसका प्रारंभ होता है। अन्य विषयों में शिवतत्त्व की सर्वव्यापकता, ब्रह्म का जगत्कारणत्व, एक का बहुधा होना, ब्रह्म से लेकर पञ्चीकरण तक की सृष्टि का वर्णन, चार अवस्थाएँ, दक्षिण-उत्तर पथ, ज्ञान द्वारा सद्योमुक्ति, ज्ञानोपायरूप योग, कर्मयोग-ज्ञानयोग-अष्टांगयोग, यम-नियमादि, हठयोग, आसन, नाडीशोधन, प्राणायाम की विधियाँ, अग्निमण्डल, नाडीचक्र में जीव का भ्रमण, कुण्डलिनी-स्थान-क्रियाव्यापार, नाडीकेन्द्र की स्थिति, नाडीविचरण, योगाभ्यास का स्थान और विधि, षण्मुखी मुद्रा, मनोजय, प्रत्याहार, ध्यान, धारणा और उनके भेदोपभेद आदि अनेकानेक विषयों का विशद वर्णन किया गया है। यह दो भागों में विभक्त है—एक ब्राह्मण भाग और दूसरा मन्त्र भाग।

शान्तिपाठः

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं……पूर्णमेवावशिष्यते। (पूर्ववत्)
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः।

इसका हिन्दी रूपान्तर पूर्व में (जाबालोपनिषद् में) द्रष्टव्य है।

ब्राह्मणभागः (1)

त्रिशिखी ब्राह्मण आदित्यलोकं जगाम। तं गत्वोवाच। भगवन्! किं देहः किं प्राणः किं कारणं किमात्मा ॥1॥

स होवाच सर्वमिदं शिव एव विजानीहि। किन्तु नित्यः शुद्धो निरञ्जनो विभुरद्वयानन्दः शिव एकः स्वेन भासेदं सर्वं दृष्ट्वा तप्तायः पिण्डवदेकं भिन्नवदवभासते। तद्भासकं किमिति चेदुच्यते। सच्छब्दवाच्यमविद्याशबलं ब्रह्म ॥2॥

त्रिशिखी नाम का एक ब्राह्मण एक बार आदित्यलोक में गया। वहाँ जाकर उसने आदित्य से पूछा—'हे भगवन्! यह देह क्या है? ये प्राण क्या हैं? इस सारे जगत् का कारण क्या है? और आत्मा क्या है?'

तब आदित्य ने कहा—'हे ब्राह्मण! यह सब कुछ शिव ही है, ऐसा जानो। परन्तु, वही एक नित्य, शुद्ध, निरंजन, विभु, अद्वैत, आनन्दरूप शिव अपने तेज से सभी पदार्थों को देखने के बाद, आग से तपे हुए लाल लोहपिण्ड के समान स्वयं एक होते हुए भी अनेक रूपों में अपने आपको प्रकट करते हैं। अगर पूछा जाए कि प्रकाश देने वाला कौन है? तो कहते हैं कि वह है अविद्याशबलित ब्रह्म। अर्थात् 'सत्' शब्द से कहा जाने वाला वह मायोपहित अपर ब्रह्म है, विश्वब्रह्माण्ड में संव्याप्त अपर ब्रह्म ही वह भासक है।

ब्रह्मणोऽव्यक्तम्। अव्यक्तान्महत्। महतोऽहङ्कारः। अहङ्कारात्पञ्च-तन्मात्राणि। पञ्चतन्मात्रेभ्यः पञ्चमहाभूतानि। पञ्चमहाभूतेभ्योऽखिलं जगत् ॥3॥

ब्रह्म से अव्यक्त, अव्यक्त से महत्, महत् से अहंकार, अहंकार से पंच तन्मात्राएँ, पंच तन्मात्राओं से पंचमहाभूत, पंचमहाभूतों से यह सारा जगत् उत्पन्न होता है।

तदखिलं किमिति। भूतविकारविभागादिरिति। एकस्मिन्पिण्डे कथं भूतविकारविभाग इति। तत्तत्कार्यकारणभेदरूपेणांशतत्त्ववाचक-वाच्यस्थानभेदविषयदेवताकोशभेदविभागा भवन्ति ॥4॥

यदि पूछा जाए कि यह अखिल विश्व क्या है ? तो कहते हैं कि इन पाँच भूतों के विकार द्वारा उत्पन्न विभाग ही वह अखिल जगत् है। इसमें भी यदि पूछा जाए कि भूतों के ये विकार एक ही पिण्ड से कैसे हो जाते हैं ? तो उत्तर यह है कि उन अलग-अलग भूतों के कार्य तथा कारण के भेद के द्वारा अंशतत्त्व, वाच्यवाचक भेद, स्थानभेद, विषय, देवता तथा कोश के भेद आदि के आधार पर विभाग कहे गए हैं (जो अगले मन्त्रों में स्पष्ट किए गए हैं)।

अथाकाशोऽन्तःकरणमनोबुद्धिचित्ताहङ्काराः। वायुः समानोदानव्याना-पानप्राणाः। वह्निः श्रोत्रत्वक्चक्षुर्जिह्वाघ्राणानि। आपः शब्दस्पर्शरूप-रसगन्धाः। पृथिवी वाक्पाणिपादपायूपस्थाः ॥5॥

आकाश के पाँच भेद हैं—अन्तःकरण, मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार। वायु के पाँच भेद हैं—समान, उदान, व्यान, अपान और प्राण। अग्नि के पाँच भेद हैं—श्रोत्र, त्वक्, चक्षु, जिह्वा और घ्राण (ये ज्ञानेन्द्रियाँ अग्नि से उत्पन्न होती हैं)। जल से ये पाँच तन्मात्राएँ प्रादुर्भूत होती हैं—शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध। और पृथ्वी से वाणी, हाथ, पैर, गुदा और उपस्थ—ये कर्मेन्द्रियाँ प्रादुर्भूत होती हैं।

ज्ञानसङ्कल्पनिश्चयानुसन्धानाभिमाना आकाशकार्यान्तःकरणविषयाः। समीकरणोन्नयनग्रहणश्रवणोच्छ्वासा वायुकार्यप्राणादिविषयाः। शब्द-स्पर्शरूपरसगन्धा अग्निकार्यज्ञानेन्द्रियविषया अबाश्रिताः। वचनादान-गमनविसर्गानन्दाः पृथिवीकार्यकर्मेन्द्रियविषयाः। कर्मज्ञानेन्द्रियविषयेषु प्राणतन्मात्रविषया अन्तर्भूताः। मनोबुद्ध्योश्चित्ताहङ्कारौ चान्तर्भूतौ ॥6॥

इनमें आकाश का कार्य जो अन्तःकरण है, उसके विषय ज्ञान, संकल्प, निश्चय, अनुसन्धान (स्मृति) और अहंकार हैं। और वायु तत्त्व के कार्य एवं प्राणादि के विषय—सन्तुलन, ऊर्ध्वगमन, ग्रहण, श्रवण और श्वासोच्छ्वास हैं। तथा अग्नि तत्त्व के कार्य एवं ज्ञानेन्द्रियों के विषय—शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध हैं। ये विषय जलाश्रित हैं। एवं पृथ्वी तत्त्व के कार्य एवं कर्मेन्द्रियों के विषय—बोलना, लेना-देना, आना-जाना, उत्सर्ग और आनन्द हैं। कर्मेन्द्रियों और ज्ञानेन्द्रियों के विषयों में प्राण और तन्मात्राओं के विषय अन्तर्भूत हैं। मन और बुद्धि में ही चित्त और अहंकार अन्तर्भूत हैं।

अवकाशविधूतदर्शनपिण्डीकरणधारणाः सूक्ष्मतमा जैवतन्मात्र-विषयाः ॥7॥

एवं द्वादशाङ्गानि आध्यात्मिकान्याधिभौतिकान्याधिदैविकानि। अत्र निशाकरचतुर्मुखदिग्वातार्कवरुणाश्व्यग्नीन्द्रोपेन्द्रप्रजापतियमा इत्यक्षा-

धिदेवतारूपैर्द्वादशनाड्यन्तःप्रवृत्ताः प्राणा एवाङ्गानि अङ्गज्ञानं तदेव ज्ञातेति ॥8॥

अवकाश, गतिशीलता, दर्शन, पिण्डीकरण और धारणा—ये सभी क्रमशः आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी से सम्बद्ध सूक्ष्मातिसूक्ष्म तन्मात्राओं के विषय हैं।

इस प्रकार बारह अंगों का उल्लेख मिलता है। जो आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक इन तीनों भागों में प्रतिपादित किए गए हैं। इनमें चन्द्रमा, ब्रह्मा, दिशाएँ, वायु, सूर्य, वरुण, अश्विनी-कुमार, अग्नि, इन्द्र, उपेन्द्र, प्रजापति और यम—ये सभी बारह इन्द्रियों के अधिदेवतारूप से बारह नाड़ियों में अवस्थित रहते हैं। ये ही प्राण के अंग कहे जाते हैं। इन अंगों को जानने वाला ही ज्ञाता कहा गया है।

अथ व्योमानिलानलजलान्नानां पञ्चीकरणमिति। ज्ञातृत्वं समानयोगेन श्रोत्रद्वारा शब्दगुणो वागधिष्ठित आकाशे तिष्ठति आकाशस्तिष्ठति। मनोव्यानयोगेन त्वग्द्वारा स्पर्शगुणः पाण्यधिष्ठितो वायौ तिष्ठति वायुस्तिष्ठिति। बुद्धिरुदानयोगेन चक्षुर्द्वारा रूपगुणः पादाधिष्ठितोऽग्नौ तिष्ठत्यग्निस्तिष्ठति। चित्तमपानयोगेन जिह्वाद्वारा रसगुण उपस्थाधिष्ठि-तोऽप्सु तिष्ठत्यापस्तिष्ठन्ति। अहङ्कारः प्राणयोगेन घ्राणद्वारा गन्धगुणो गुदाधिष्ठितः पृथिव्यां तिष्ठति पृथिवी तिष्ठति य एवं वेद ॥9॥

अब आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी का पंचीकरण कहा जाता है। समानवायु के योग से श्रोत्र के द्वारा शब्द नामक गुण वाणी के द्वारा अधिष्ठित होकर आकाश में रहता है, वहाँ ज्ञातृत्व है, वह आकाश में रहता है, और आकाश उसमें रहता है। व्यानवायु के योग से त्वगिन्द्रिय द्वारा स्पर्श नामक गुण हाथ में अधिष्ठित होकर जो वायु में रहता है, और वायु उसमें रहता है, वहाँ मन होता है। बुद्धि वहाँ है जहाँ उदान के योग से चक्षु के द्वारा रूप नामक गुण पैरों पर अधिष्ठित होकर अग्नि में रहता है, और अग्नि उसमें रहता है। अपान के योग से जिह्वा के द्वारा रस नामक गुण उपस्थ के द्वारा अधिष्ठित होकर जल में रहता है, और जल उसमें रहता है, वहाँ चित्त है। और प्राण के योग से नासिका द्वारा गन्ध नामक गुण गुदा से अधिष्ठित होकर पृथ्वी में रहता है और पृथ्वी उसमें रहती है, वहाँ अहंकार भी है।

मन्त्रभागः (2)

अत्रैते श्लोका भवन्ति—

पृथग्भूते षोडश कलाः स्वार्धभागान्परान्क्रमात्।
अन्तःकरणव्यानाक्षिरसपायुनभः क्रमात् ॥1॥
मुख्यात्पूर्वोत्तरैर्भागैर्भूते भूते चतुश्चतुः।
पूर्वमाकाशमाश्रित्य पृथिव्यादिषु संस्थिताः ॥2॥
मुख्या ऊर्ध्वं परा ज्ञेया न परानुत्तरान्विदुः।
एवमंशो ह्यभूत्तस्मात् तेभ्यश्चांशो ह्यभूत्तदा ॥3॥
तस्मादन्योन्यमाश्रित्य ह्योतं प्रोतमनुक्रमात्।
पञ्चभूतमयी भूमिः सा चेतनसमन्विता ॥4॥

इस विषय में ये श्लोक कहे गए हैं—प्रत्येक सूक्ष्मतत्त्व के आधे भाग से तथा अन्तःकरण (आकाश), व्यान (वायु), अक्षि (अग्नि), रस (जल), पायु (पृथ्वी) आदि से सोलह कला वाले स्थूल आकाशादि बनते हैं। अर्धभाग वाले मुख्य आकाशादि तत्त्व से लेकर पृथ्वी तक पाँचों में बाकी के भूतों के चौथाई-चौथाई भागों की पाँचों भूतों में अवस्थिति रहती है। (हरएक स्थूल तत्त्व में आधा भाग मूल सूक्ष्मतत्त्व का और बाकी के आधे भाग में चारों अन्य तत्त्वों का $^1/_8$ भाग रहता है अर्थात् मुख्य मूल सूक्ष्मतत्त्व की 8 कलाएँ और अन्य सूक्ष्म तत्त्वों की 8 कलाएँ मिलकर 16 कलाएँ होती हैं। वह स्थूल तत्त्व होता है)। इस ऊपर वाले आधे मुख्य भाग को सूक्ष्मभूत समझना चाहिए तथा इसमें मिले हुए बाद के भागों को गौण मानना चाहिए, मुख्य नहीं मानना चाहिए। इसलिए एक मुख्य कहे जाने वाले सूक्ष्मतत्त्व में अन्यों का अंश भी मिला-जुला ही रहता है। इस तरह ये समस्त (स्थूल-व्यवहार में आने वाले) भूत एक-दूसरे का आश्रय करके ही आपस में मिलकर यहाँ अवस्थित रहते हैं। सभी एक-दूसरे में ओतप्रोत ही हैं। यह भूमि भी इसी तरह पाँच तत्त्वों से युक्त तथा चेतनामय है।

तत ओषधयोऽन्नं च ततः पिण्डाश्चतुर्विधाः।
रसासृङ्मांसमेदोऽस्थिमज्जाशुक्राणि धातवः ॥5॥
केचित्तद्योगतः पिण्डाः भूतेभ्यः सम्भवः क्वचित्।
तस्मिन्नन्नमयः पिण्डो नाभिमण्डलसंस्थितः ॥6॥
अस्य मध्येऽस्ति हृदयं सनालं पद्मकोशवत्।
सत्त्वान्तर्वर्तिनो देवाः कर्त्रहङ्कारचेतनाः ॥7॥
अस्य बीजं तमःपिण्डं मोहरूपं जडं घनम्।
वर्तते कण्ठमाश्रित्य मिश्रीभूतमिदं जगत् ॥8॥

तब उस भूमि से औषधियाँ, अन्न, चार प्रकार के पिण्ड = शरीर (जरायुज, स्वेदज, उद्भिज्ज, अण्डज) तथा रस, रक्त, मांस, मेद, मज्जा, अस्थि एवं शुक्र—ये सात धातुएँ उत्पन्न हुईं। इन धातुओं के योग से कई भूतपिण्डों की रचना संभव हो जाती है। उनमें से एक अन्नमय पिण्ड नाभिमण्डल के बीच स्थित है। उसके बीच में नालसहित कमल जैसा हृदय है। और उस हृदय के भीतर में देव (जीवात्मा) रहते हैं, जो कि कर्त्तापन के अहंकारयुक्त चेतनावाले होते हैं। इसका बीज तमः का पिण्ड है, वह गाढ़ा (जड) है, और अज्ञानमय मन कण्ठ का आश्रय लिए रहता है, और सारे जगत् में व्याप्त है।

प्रत्यगानन्दरूपात्मा मूर्ध्नि स्थाने परे पदे।
अनन्तशक्तिसंयुक्तो जगद्रूपेण भासते ॥9॥
सर्वत्र वर्तते जाग्रत्स्वप्नं जाग्रति वर्तते।
सुषुप्तं च तुरीयं च नान्यावस्थासु कुत्रचित् ॥10॥
सर्वदेशेष्वनुस्यूतश्चतूरूपः शिवात्मकः।
यथा महाफले सर्वे रसाः सर्वप्रवर्तकाः ॥11॥
यथैवान्नमये कोशे कोशास्तिष्ठन्ति चान्तरे।
यथा कोशास्तथा जीवो यथा जीवस्तथा शिवः ॥12॥

जो प्रत्यगानन्दमय आत्मा है, वह परमश्रेष्ठ मूर्धा – मस्तिष्क के उच्च स्थान में है और वह अनन्त शक्तियों से युक्त होने से सारे जगत् के रूप में भासमान होता है। जाग्रत् अवस्था सर्वत्र विद्यमान है और उसी में स्वप्न तथा सुषुप्तावस्था तथा तुरीयावस्था रहती है, जैसे कि अन्नमय कोश के भीतर

ही प्राणमय और मनोमय कोश रहते हैं। और कोई अवस्था ऐसी नहीं है, जिसमें अन्य तीन अवस्थाओं का समावेश हो। जिस प्रकार श्रेष्ठ सुन्दर फल में रस चारों ओर संव्याप्त होकर रहता है, उसी प्रकार समस्त देह-देशों में वह चार रूपों वाला शिवात्मक आत्मा संव्याप्त है। जिस प्रकार एक अन्नमय कोश के भीतर प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय आदि कोश रहते हैं ठीक उसी प्रकार जीव शरीर में रहता है, और जैसा जीव का स्वरूप है, वैसा ही शिव का स्वरूप है अर्थात् दोनों एक ही हैं।

सविकारस्तथा जीवो निर्विकारस्तथा शिवः।
कोशास्तस्य विकारास्ते ह्यवस्थासु प्रवर्तकाः ॥13॥
यथा रसाशये फेनं मथनादेव जायते।
मनोनिर्मथनादेव विकल्पा बहवस्तथा ॥14॥
कर्मणा वर्तते कर्मी तत्त्यागाच्छान्तिमाप्नुयात्।
अयने दक्षिणे प्राप्ते प्रपञ्चाभिमुखं गतः ॥15॥
अहङ्काराभिमानेन जीवः स्याद्धि सदाशिवः।
स चाविवेकप्रकृतिसङ्गत्या तत्र मुह्यते ॥16॥

परन्तु, दोनों में अन्तर मात्र इतना ही है कि जीव विकारवाला है और शिव विकाररहित है। ये कोश ही जीव के विकार हैं, जो सभी अवस्थाओं में जीव का प्रवर्तन करते हैं। जैसे दूध आदि को मथने से फेन पैदा होता है, वैसे ही मन को मथने से विकल्प पैदा होते हैं। कर्म द्वारा ही कर्मी (जीव) का अस्तित्व कहा गया है। कर्मों के त्याग से ही शान्ति मिलती है। दक्षिणायन में आने से—सूर्य के दक्षिण गति में आने से उसे माया के जाल में गिरना पड़ता है। सदाशिव ही अहंकार के अभिमान से जीव बनते हैं, क्योंकि वहाँ पर आकर वह अविवेकरूपी प्रकृति के संग में मोहित हो जाता है।

नानायोनिशतं गत्वा शेतेऽसौ वासनावशात्।
विमोक्षात्सञ्चरत्येव मत्स्यः कूलद्वयं यथा ॥17॥
ततः कालवशादेव ह्यात्मज्ञानविवेकतः।
उत्तराभिमुखो भूत्वा स्थानात्स्थानान्तरं क्रमात् ॥18॥
मूर्ध्न्याधायात्मनः प्राणान् योगाभ्यासं स्थितश्चरन्।
योगात्सञ्जायते ज्ञानं ज्ञानाद्योगः प्रवर्तते ॥19॥
योगज्ञानपरो नित्यं स योगी न प्रणश्यति।
विकारस्थं शिवं पश्येद् विकारश्च शिवे न तु ॥20॥

वासनावश वह सैकड़ों योनियों में जाकर अज्ञान की निद्रा में सोया रहता है। वह वासनाओं से मुक्त हो जाने पर मछली की भाँति दोनों किनारों पर भ्रमण करता रहता है। इसके बाद समय आने पर जब उसमें आत्मज्ञान का विवेक उदित होता है, तब उत्तराभिमुख होकर (उत्तरायण के समय में) एक स्तर से अन्य स्तर पर आता है। बाद में वह अपने प्राणतत्त्व को मूर्धा स्थान में (मस्तिष्क में) स्थिर रखकर योगाभ्यास में परायण हो जाता है। योग द्वारा ज्ञान की और ज्ञान द्वारा योग की प्रवृत्ति हुआ करती है। सदैव योगज्ञान में परायण योगी को कभी नष्ट नहीं होता। वह विकारों में अवस्थित शिव के दर्शन तो निरन्तर करता रहता है, किन्तु शिव में किसी भी प्रकार के विकार का दर्शन वह नहीं करता।

योगप्रकाशकं योगैर्ध्यायेच्चानन्यभावनः।
योगज्ञाने न विद्येते तस्य भावो न सिद्ध्यति ॥21॥

तस्मादभ्यासयोगेन मनःप्राणान्निरोधयेत् ।
योगी निशितधारेण क्षुरेणैव निकृन्तयेत् ॥22॥
शिखा ज्ञानमयी वृत्तिर्यमाद्यष्टाङ्गसाधनैः ।
ज्ञानयोगः कर्मयोग इति योगी द्विधा मतः ॥23॥
क्रियायोगमथेदानीं शृणु ब्राह्मणसत्तम ।
अव्याकुलस्य चित्तस्य बन्धनं विषये क्वचित् ॥24॥

वह योगी पूर्वकथित श्रवणादि द्वारा योग को प्रकाशित करने वाले परब्रह्म को अनन्य भाव से सभी विकारों से शून्य होकर चिन्तन (ध्यान) करे। क्योंकि यदि योग और ज्ञान नहीं होते तो वह अनन्य भाव नहीं आ सकता। इसलिए अभ्यासयोग से प्राणों के द्वारा मन का निरोध करना चाहिए। योगी को छुरी की धार जैसी पैनी धार वाले निश्चय से मन का निरोध करना चाहिए। योग के यम-नियमादि अष्टांग साधनों से ज्ञानमयी शिखा का आविर्भाव होता है। योग के दो मार्ग बतलाए गए हैं, जिनमें एक है ज्ञानयोग और दूसरा है कर्मयोग। इस तरह से योगी दो प्रकार के होते हैं। उन दोनों में से पहले तुम क्रियायोग को (कर्मयोग को) सुनो ! हे ब्राह्मणोत्तम ! अव्याकुल चित्तवाले कर्मयोगी के लिए कहीं शास्त्रोक्त विषय में बन्धन 'यह कर्तव्य कर्म ही है' ऐसा मानसिक लगाव होता हैं।

यत्संयोगो द्विजश्रेष्ठ स च द्वैविध्यमश्नुते ।
कर्म कर्तव्यमित्येव विहितेष्वेव कर्मसु ॥25॥
बन्धनं मनसो नित्यं कर्मयोगः स उच्यते ।
यत्तु चित्तस्य सततमर्थे श्रेयसि बन्धनम् ॥26॥
ज्ञानयोगः स विज्ञेयः सर्वसिद्धिकरः शिवः ।
यस्योक्तलक्षणे योगे द्विविधेऽप्यव्ययं मनः ॥27॥
स याति परमं श्रेयो मोक्षलक्षणमञ्जसा ।
देहेन्द्रियेषु वैराग्यं यम इत्युच्यते बुधैः ॥28॥

हे द्विजोत्तम ! संयोग भी दो प्रकार के होते हैं। शास्त्रविहित कर्मों में 'यह कर्तव्य कर्म ही है'—ऐसा जो मन का निरन्तर बन्धन रहता हो, इसको 'कर्मयोग' कहा जाता है। और चित्त के कल्याणकारी आत्मिक उत्थान के लिए ही लगाव रहता है (बन्धन रहता है) उसे ज्ञानयोग कहा जाता है (दोनों योगों में चित्त का तत्तदनुकूल बन्धन = लगाव सतत रहता ही है)। यह ज्ञानयोग सर्वसिद्धियों को देने वाला है, मंगलकारी है। जिस योगी का मन दोनों प्रकार से बताए गए लक्षणयुक्त इस योग में अव्यय (अविकारी) होकर साधना करता है, वह योगी तेज से परम श्रेय को प्राप्त करता है। वह श्रेय मोक्षलक्षण (मोक्ष ही) है। अब ज्ञानी लोग 'यम' को कहते हैं कि शरीर और इन्द्रियों में जो वैराग्य भावना होती है, वह यम है।

अनुरक्तिः परे तत्त्वे सततं नियमः स्मृतः ।
सर्ववस्तुन्युदासीनभावमासनमुत्तमम् ॥29॥
जगत्सर्वमिदं मिथ्याप्रतीतिः प्राणसंयमः ।
चित्तस्यान्तर्मुखीभावः प्रत्याहारस्तु सत्तम ॥30॥
चित्तस्य निश्चलीभावो धारणा धारणं विदुः ।
सोऽहं चिन्मात्रमेवेति चिन्तनं ध्यानमुच्यते ॥31॥

परमतत्त्व में सतत अनुराग रखना ही नियम है। सभी वस्तुओं में उदासीन भाव ही उत्तम आसन है। यह सारा जगत् मिथ्या है ऐसी प्रतीति प्राणसंयम कहलाती है। चित्त का अन्तर्मुख होना ही प्रत्याहार है। चित्त की अचलता ही धारणा कही जाती है और 'मैं वही चिदात्मा हूँ' ऐसा चिन्तन ही ध्यान कहा जाता है।

ध्यानस्य विस्मृतिः सम्यक्समाधिरभिधीयते ।
अहिंसा सत्यमस्तेयं ब्रह्मचर्यं दयार्जवम् ॥32॥
क्षमा धृतिर्मिताहारः शौचं चेति यमा दश ।
तपःसन्तुष्टिरास्तिक्यं दानमाराधनं हरेः ॥33॥
वेदान्तश्रवणं चैव ह्रीर्मतिश्च जपो व्रतम् । इति ।
आसनानि तदङ्गानि स्वस्तिकादीनि वै द्विज ॥34॥
वर्ण्यन्ते स्वस्तिकं पादतलयोरुभयोरपि ।
पूर्वोत्तरे जानुनी द्वे कृत्वासनमुदीरितम् ॥35॥

ध्यान की पूर्णतः विस्मृति होना ही समाधि है। अहिंसा, सत्य, अस्तेय (चोरी न करना), ब्रह्मचर्य, दया, सरलता, क्षमा, धैर्य, मिताहार और आन्तर्बाह्य पवित्रता—ये दश 'यम' कहे जाते हैं। और तप, सन्तोष, गुरु-शास्त्रों में श्रद्धा, दान, ईश्वराराधन, वेदान्तश्रवण, लज्जा-मर्यादा, बुद्धि, जप, व्रत—ये सब नियम हैं। और जो स्वस्तिक आदि आसन हैं, वे उन यम-नियमों के अंग हैं। अब इन आसनों का वर्णन किया जा रहा है। उनमें स्वस्तिक आसन का वर्णन करते हैं—दोनों पैरों के तलों को दोनों घुटनों के मध्य में करके बैठना ही स्वस्तिकासन है।

सव्ये दक्षिणगुल्फं तु पृष्ठपार्श्वे नियोजयेत् ।
दक्षिणेऽपि तथा सव्यं गोमुखे गोमुखं यथा ॥36॥
एकं चरणमन्यस्मिन्नूरावारोप्य निश्चलः ।
आस्ते यदिदमेनोघ्नं वीरासनमुदाहृतम् ॥37॥
गुदं नियम्य गुल्फाभ्यां व्युत्क्रमेण समाहितः ।
योगासनं भवेदेतदिति योगविदो विदुः ॥38॥
ऊर्वोरुपरि वै धत्ते यदा पादतले उभे ।
पद्मासनं भवेदेतत्सर्वव्याधिविषापहम् ॥39॥
पद्मासनं सुसंस्थाप्य तदङ्गुष्ठद्वयं पुनः ।
व्युत्क्रमेणैव हस्ताभ्यां बद्धपद्मासनं भवेत् ॥40॥

पीठ के बाँये भाग की ओर दाहिनी एँड़ी की गाँठ को तथा पीठ के दाहिने भाग की ओर बाँयी एँड़ी की गाँठ को नियोजित करने से गोमुख जैसा 'गोमुख' नाम का आसन होता है। एक चरण को अन्य जांघ पर आरोपित करके अर्थात् दाहिने चरण को बाँयी और बाँये चरण को दाहिनी जाँघ पर आरोपित करके निश्चल होकर बैठने से सर्वपापहर ऐसा वीरासन कहा जाता है। दाहिनी एड़ी को गुदा की बाँयी ओर तथा बाँयी एड़ी को गुदा की दाहिनी ओर लगाकर बैठने से यह योगासन बनता है, ऐसा योग को जानने वाले कहते हैं। दोनों जाँघों के ऊपर जब दोनों पादतल विपरीत क्रम में रखे जाते हैं, तब सर्वरोगनाशक 'पद्मासन' बनता है। और उसी पद्मासन को अच्छी तरह करके फिर विपरीत क्रम में दोनों अंगुष्ठों को दोनों हाथों से पकड़ने पर 'बद्धपद्मासन' नाम का आसन बनता है।

पद्मासनं सुसंस्थाप्य जानूर्वोरन्तरे करौ ।
निवेश्य भूमावातिष्ठेद् व्योमस्थः कुक्कुटासनः ॥41॥
कुक्कुटासनबन्धस्थो दोर्भ्यां सम्बध्य कन्धरम् ।
शेते कूर्मवदुत्तान तदुत्तानकूर्मकम् ॥42॥
पादाङ्गुष्ठौ तु पाणिभ्यां गृहीत्वा श्रवणावधि ।
धनुराकर्षकाकृष्टं धनुरासनमीरितम् ॥43॥
सीवनीं गुल्फदेशाभ्यां निपीड्य व्युत्क्रमेण तु ।
प्रसार्य जानुनोर्हस्तावासनं सिंहरूपकम् ॥44॥

अच्छी तरह से पद्मासन करके दोनों हाथों से घुटनों और जंघाओं के बीच से निकालकर भूमि पर लगाकर शरीर को आकाश की ओर अधर पर रखने से कुक्कुट आसन होता है। और उसी कुक्कुटासन लगाने के बाद दोनों हाथों को दोनों कन्धों के साथ आबद्ध कर कच्छप के समान सीध में लाने से उत्तान कूर्मासन बनता है। दोनों पैरों के अँगूठों को हाथ से पकड़कर कानों तक धनुष के आकार की तरह खींचने से धनुरासन बनता है, ऐसा कहते हैं। गुल्फ प्रदेश (दोनों एड़ियों) के द्वारा सीवनीप्रदेश को विपरीत क्रम से दबाकर दोनों हाथों और घुटनों को फैलाने से सिंहरूपकासन बनता है।

गुल्फौ च वृषणस्याधः सीवन्युभयपार्श्वयोः ।
निवेश्य पादौ हस्ताभ्यां बद्ध्वा भद्रासनं भवेत् ॥45॥
सीवनीपार्श्वमुभयं गुल्फाभ्यां व्युत्क्रमेण तु ।
निपीड्यासनमेतच्च मुक्तासनमुदीरितम् ॥46॥

अण्डकोश के नीचे सीवनी के प्रदेश के दोनों ओर दोनों गुल्फों को (टखनों को) स्थिर करके पैरों को हाथों से बाँधकर भद्रासन किया जाता है। सीवनी प्रदेश के दोनों पार्श्वों को विपरीत क्रम से दोनों गुल्फों के द्वारा दबाकर स्थिर रहना ही मुक्तासन कहा गया है।

अवष्टभ्य धरां सम्यक् तलाभ्यां हस्तयोर्द्वयोः ।
कूर्परौ नाभिपार्श्वे तु स्थापयित्वा मयूरवत् ॥47॥
समुन्नतशिरःपादं मयूरासनमिष्यते ।
वामोरुमूले दक्षांघ्रिं जान्वोर्वेष्टितपाणिना ॥48॥
वामेन वामाङ्गुष्ठं तु गृहीतं मत्स्यपीठकम् ।
योनिं वामेन सम्पीड्य मेढ्रादुपरि दक्षिणम् ॥49॥
ऋजुकायः समासीनः सिद्धासनमुदीरितम् ।
प्रसार्य भुवि पादौ तु दोर्भ्यामङ्गुष्ठमादरात् ॥50॥
जानूपरि ललाटं तु पश्चिमं तानमुच्यते ।
येन केन प्रकारेण सुखं धार्यं च जायते ॥51॥
तत्सुखासनमित्युक्तमशक्तस्तत्समाचरेत् ।
आसनं विजितं येन जितं तेन जगत्त्रयम् ॥52॥

दोनों हथेलियों को जमीन स्थिर करके दोनों कोहनियों को नाभि के दोनों ओर लगाकर फिर मोर की भाँति सिर और पैर ऊँचा रखने से मयूरासन होता है। बाँयी जाँघ के मूल में दाहिने पैर के अँगूठे को पकड़ने से मत्स्यपीठक आसन होता है। बाँयें पैर की एड़ी को सीवन पर स्थिर करके दाहिने पैर

को उपस्थ के ऊपर के भाग में रखकर सीधा बैठने से सिद्धासन नाम का आसन बनता है। जमीन पर दोनों पैरों को फैलाकर दोनों हाथों से पैरों के अँगूठों को पकड़ लेने से तथा घुटनों पर ललाट को स्थिर रहने से बनने वाला आसन पश्चिमोत्तान आसन कहलाता है। जिस किसी प्रकार से बैठने से सुख और स्थिरता प्राप्त हो सके उसे सुखासन कहा जाता है। जो मनुष्य अन्य आसनों को करने में अशक्त हो, उसे यह सुखासन लगाना चाहिए। जिस मनुष्य ने आसन जीत लिया है, उसने तीनों जगत् को (भुवनों को) जीत लिया है, ऐसा समझना चाहिए।

यमैश्च नियमैश्चैव आसनैश्च सुसंयतः ।
नाडीशुद्धिं च कृत्वादौ प्राणायामं समाचरेत् ॥53॥
देहमानं स्वाङ्गुलिभिः षण्णवत्यङ्गुलायतम् ।
प्राणः शरीरादधिको द्वादशाङ्गुलमानतः ॥54॥
देहस्थमनिलं देहसमुद्भूतेन वह्निना ।
न्यूनं समं वा योगेन कुर्वन्ब्रह्मविदिष्यते ॥55॥

संयमी साधक यम, नियम और आसन से आरम्भ में नाडीशुद्धि करके प्राणायाम का परिशीलन करे। मानवदेह का प्रमाण (कद) अपनी छियानवें अँगुलियों के माप का है। और जो प्राण है, वह शरीर से बारह अंगुल से अधिक प्रमाण वाला माना गया है। शरीर में स्थित वायु को प्राणायाम के द्वारा उत्पन्न किए गए अग्नि द्वारा योग प्रकिया से कम या ज्यादा करके ब्रह्मज्ञान प्राप्त किया जा सकता है—अथवा ब्रह्मज्ञ उस वायु को कम या ज्यादा कर सकता है।

देहमध्ये शिखिस्थानं तप्तजाम्बूनदप्रभम् ।
त्रिकोणं द्विपदामन्यच्चतुरस्रं चतुष्पदम् ॥56॥
वृत्तं विहङ्गमानां तु षडस्रं सर्वजन्मनाम् ।
अष्टास्रं स्वेदजानां तु तस्मिन्दीपवदुज्ज्वलम् ॥57॥
कन्दस्थानं मनुष्याणां देहमध्यं नवाङ्गुलम् ।
चतुरङ्गुलमुत्सेधं चतुरङ्गुलमायतम् ॥58॥

शरीर में तपे हुए सुवर्ण जैसे तेज वाला एक अग्नि का स्थान होता है। यह मनुष्यों में त्रिकोणाकार होता है, पशुओं में चार कोने वाला होता है, पक्षियों में गोलाकार होता है, साँप आदि जातियों में वह षट्कोणाकार होता है, स्वेदज जीवों में वह अष्टकोणाकार होता है। उस स्थान में दीप जैसा तेजस्वी कन्द का निवास मनुष्यों के देह के मध्य में होता है। वह नौ अंगुल के प्रमाण का, चार अंगुल ऊँचा और चार अंगुल चौड़ा है।

अण्डाकृति तिरश्चां च द्विजानां च चतुष्पदाम् ।
तुन्दमध्यं तदिष्टं वै तन्मध्यं नाभिरिष्यते ॥59॥
तत्र चक्रं द्वादशारं तेषु विष्णवादिमूर्तयः ।
अहं तत्र स्थितश्चक्रं भ्रामयामि स्वमायया ॥60॥
अरेषु भ्रमते जीवः क्रमेण द्विजसत्तम ।
तन्तुपञ्जरमध्यस्था यथा भ्रमति लूतिका ॥61॥
प्राणाविरूढश्चरति जीवस्तेन विना नहि ।
तस्योर्ध्वे कुण्डलीस्थानं नाभेस्तिर्यगथोर्ध्वतः ॥62॥

वह कन्द छोटे जन्तुओं, पक्षियों और पशुओं में अण्डाकार होता है। उदर में स्थित नाभि उसका मध्य स्थान कहा गया है। उसमें बारह अरों वाला चक्र है। उस चक्र में विष्णु आदि देवताओं की मूर्तियाँ प्रतिष्ठित हैं। इस चक्र को मैं (ब्रह्म) अपनी माया से घुमाता रहता हूँ। इन बारह अरों में जीव, जैसे मकड़ी अपने जाल में घुमा करती है, वैसे ही घूमता रहता है। यह जीव प्राणतत्त्व में आरूढ होकर ही वहाँ चल-फिर सकता है। प्राण के बिना तो वह ऐसा नहीं कर सकता। उसके ऊपर में कुण्डलिनी महाशक्ति का ऊँचा और वक्र स्थान है।

अष्टप्रकृतिरूपा सा चाष्टधा कुण्डलीकृता।
यथावद्वायुसारं च जलान्नादि च नित्यशः ॥63॥
परितः कन्दपार्श्वे तु निरुध्यैव सदा स्थिता।
मुखेनैव समावेष्ट्य ब्रह्मरन्ध्रमुखं तथा ॥64॥
योगकालेन मरुता साग्निना बोधिता सती।
स्फुरिता हृदयाकाशे नागरूपा महोज्ज्वला ॥65॥
अपानाद्द्व्यङ्गुलादूर्ध्वमधो मेढ्रस्य तावता।
देहमध्यं मनुष्याणां हृन्मध्यं तु चतुष्पदाम् ॥66॥

वह कुण्डलिनी शक्ति अष्ट प्रकृतिरूप है, वह आठ तरह से कुण्डली करके वायु और अन्न-जल को यथायोग्य रूप से रोकती रहती है। वह कन्द को चारों ओर से घेरकर उसके पार्श्व में स्थित है। वह अपने मुख के द्वारा ब्रह्मरन्ध्र के मुख को लपेट कर अवस्थित है। योग के अभ्यास द्वारा कालान्तर में वह कुण्डलिनी महाशक्ति, जैसे वायु से आग जाग उठती है, वैसे हृदयरूपी आकाश में नागिन के रूपवाली सी वह अत्यन्त शुभ्र प्रकाश से स्फुरित होती रहती है। अपान से दो अंगुल ऊर्ध्व की ओर तथा मेढ्र (मूत्रेन्द्रिय) से नीचे मनुष्य के शरीर का मध्यभाग माना जाता है और पशुओं के शरीर का मध्यभाग हृदय के बीच माना गया है।

इतरेषां तुन्दमध्ये नानानाडीसमावृतम्।
चतुष्प्रकारद्वययुते देहमध्ये सुषुम्नया ॥67॥
कन्दमध्ये स्थिता नाडी सुषुम्ना सुप्रतिष्ठिता।
पद्मसूत्रप्रतीकाशा ऋजुरूर्ध्वप्रवर्तिनी ॥68॥
ब्रह्मणो विवरं यावद् विद्युदाभासनालकम्।
वैष्णवी ब्रह्मनाडी च निर्वाणप्राप्तिपद्धतिः ॥69॥

अन्य प्राणियों का मध्यभाग उदर के बीच नाभि का मध्यक्षेत्र है। वह विविध नाड़ियों से आवृत है। प्राण और अपान—दोनों से युक्त देह के मध्य भाग में यह सुषुम्ना चार प्रकार से प्रकाशित होती है। जो सुषुम्ना नाडी कन्द में अवस्थित है, वह पद्मसूत्र के समान अतिसूक्ष्म है, वह सीधी और ऊर्ध्वभाग की ओर जाने वाली बन गई है। ब्रह्मरन्ध्र तक पहुँचने वाली वह 'वैष्णवी ब्रह्मनाडी' विद्युत् के आभास वाली और मोक्ष की प्राप्ति के मार्ग वाली ही है।

इडा च पिङ्गला चैव तस्याः सव्येतरे स्थिते।
इडा समुत्थिता कन्दाद् वामनासापुटावधिः ॥70॥
पिङ्गला चोत्थिता तस्माद् दक्षनासापुटावधिः।
गान्धारी हस्तजिह्वा च द्वे चान्ये नाडिके स्थिते ॥71॥

पुरतः पृष्ठतस्तस्य वामेतरदृशौ प्रति।
पूषायशस्विनीनाड्यौ तस्मादेव समुत्थिते ॥72॥
सव्येतरश्रुत्यवधि पायुमूलादलम्बुसा।
अधोगता शुभा नाडी मेढ्रान्तावधिरायता ॥73॥

उस सुषुम्ना नाडी की बाँयी-दाँयी ओर (अगल-बगल में) इडा और पिंगला नाम की दो नाडियाँ स्थित हैं। इडा नाडी कन्द से निकलकर बाँये नासापुट तक गई है और पिंगला भी कन्द से निकलकर दाहिने नासापुट तक गई है। गान्धारी तथा हस्तिजिह्वा नाम की दो नाडियाँ भी वहाँ विद्यमान हैं। ये दोनों नाडियाँ भी उनके आगे-पीछे बाँयी और दाहिनी आँख तक गई हुई हैं। पूषा और यशस्विनी नाम की दो नाड़ियाँ उसी कन्द से निकलकर बाँये और दाहिने कान में जाती हैं। अलम्बुसा नाम की नाडी गुदा के मूल से निकलकर मेढ़ के (मूत्रेन्द्रिय के) एक छोर तक विस्तृत होती है।

पादाङ्गुष्ठावधिः कन्दादधोयाता च कौशिकी।
दशप्रकारभूतास्ताः कथिताः कन्दसम्भवाः ॥74॥
तन्मूला बहवो नाड्यः स्थूलसूक्ष्माश्च नाडिकाः।
द्वासप्ततिसहस्राणि स्थूलाः सूक्ष्माश्च नाडयः ॥75॥
संख्यातुं नैव शक्यन्ते स्थूलमूलाः पृथग्विधाः।
यथाश्वत्थदले सूक्ष्माः स्थूलाश्च विततास्तथा ॥76॥

कन्द के नीचे की ओर पैर के अँगूठे तक गई हुई नाडी का नाम 'कौशिकी' है। यह उपर्युक्त दस नाड़ियाँ कन्द से निकली हुई कही गई है। और उन नाडियों के मूल से स्थूल और सूक्ष्म अनेकानेक नाडियाँ निकलती हैं। ये सूक्ष्म और स्थूल सब नाडियाँ मिलकर बहत्तर हजार बताई जाती हैं। इनमें स्थूल और सूक्ष्म नाडियों को पृथक्-पृथक् गिनना तो संभव नहीं है। यह तो पिप्पल के पत्ते की स्थूल और सूक्ष्म नसों को गिनने की भाँति ही अशक्य है।

प्राणापानौ समानश्च उदानो व्यान एव च।
नागः कूर्मश्च कृकरो देवदत्तो धनञ्जयः ॥77॥
चरन्ति दशनाडीषु दश प्राणादिवायवः।
प्राणादिपञ्चकं तेषु प्रधानं तत्र च द्वयम् ॥78॥
प्राण एवाऽथवा ज्येष्ठो जीवात्मानं बिभर्ति यः।
आस्यनासिकयोर्मध्यं हृदयं नाभिमण्डलम् ॥79॥
पादाङ्गुष्ठमिति प्राणस्थानानि द्विजसत्तम।
अपानश्चरति ब्रह्मन्! गुदमेढ्रोरुजानुषु ॥80॥

प्राण, अपान, समान, उदान, व्यान, नाग, कूर्म, कृकर, देवदत्त और धनंजय—ये दश प्राण भी दस नाडियों में विचरण करते रहते हैं। उनमें पहले पाँच प्राणवायु मुख्य हैं और उनमें भी पहले दो—प्राण और अपान प्रधान हैं। अथवा प्राण ही सबसे प्रधान है, जो जीवात्मा को धारण करता है। हे द्विजश्रेष्ठ! उस महान् प्राण के पाँच निवासस्थान बताए गए हैं। वे हैं—मुख, नासिका का मध्यभाग, हृदय, नाभिमण्डल और पैर का अँगूठा। हे ब्रह्मन्! अब अपानवायु जो है, वह गुदा, मेढ़, जंघा एवं घुटनों में विचरता है।

समानः सर्वगात्रेषु सर्वव्यापी व्यवस्थितः ।
उदानः सर्वसन्धिस्थः पादयोर्हस्तयोरपि ॥81॥
व्यानः श्रोत्रोरुकट्यां च गुल्फस्कन्धगलेषु च ।
नागादिवायवः पञ्च त्वगस्थ्यादिषु संस्थिताः ॥82॥
तुन्दस्थजलमन्नं च रसादीनि समीकृतम् ।
तुन्दमध्यगतः प्राणस्तानि कुर्यात्पृथक्पृथक् ॥83॥
इत्यादिचेष्टनं प्राणः करोति च पृथक् स्थितम् ।
अपानवायुर्मूत्रादेः करोति च विसर्जनम् ॥84॥

समानवायु शरीर के सभी अवयवों में सर्वव्यापी होकर विद्यमान है। उदानवायु हाथों, पैरों और शरीर के सभी सन्धिस्थलों में रहता है। व्यानवायु कान, जंघाएँ और कटि प्रदेश में रहता है तथा एडी, कन्धों और गले में भी वह रहता है। नाग आदि पाँच उपप्राण त्वगिन्द्रिय एवं अस्थि आदि में रहते हैं। प्राणवायु आमाशयस्थ जल, अन्न, रस आदि का पहले समीकरण (मिश्रण) करता है और बाद में उसका पृथक्करण करता है। प्राणवायु इन सभी कार्यों को स्वयं पृथक् रहकर करता है। और जो अपानवायु है, वह मल-मूत्रादि का विसर्जन करता है।

प्राणापानादिचेष्टादि क्रियते व्यानवायुना ।
उज्जीर्यते शरीरस्थमुदानेन नभस्वता ॥85॥
पोषणादिशरीरस्य समानः कुरुते सदा ।
उद्गारादिक्रियो नागः कूर्मोऽक्षादिनिमीलनः ॥86॥
कृकरः क्षुतयोः कर्त्ता दत्तो निद्रादिकर्मकृत् ।
मृतगात्रस्य शोभादेर्धनञ्जय उदाहृतः ॥87॥
नाडीभेदं मरुद्भेदं मरुतां स्थानमेव च ।
चेष्टाश्च विविधास्तेषां ज्ञात्वैव द्विजसत्तम ॥88॥

प्राण और अपान आदि वायुओं की चेष्टाएँ व्यानवायु के संयोग से ही सम्पन्न होती हैं। और शरीरस्थ उदान वायु से नभोगामी (ऊँचे उठने की क्रिया) की जा सकती है। शरीर की पोषण आदि क्रियाएँ समानवायु करता है। नागवायु द्वारा डकार आदि क्रियाएँ होती है। आँख की पलकों का उन्मीलन-नोन्मीलन कूर्मवायु करता है। कृकरवायु का कार्य भूख लगाना है और देवदत्तवायु निद्रा आदि कार्य करता है। मृत व्यक्ति के देह की थोड़ी देर तक शोभा ज्यों-की-त्यों रखने का काम धनंजय वायु करता है, ऐसा कहा गया है। हे द्विजश्रेष्ठ ! इस प्रकार नाड़ी, वायु आदि के स्थान तथा उनके प्रकार और उनके विविध कार्यों को जानने का प्रयत्न चाहिए।

शुद्धौ यतेत नाडीनां पूर्वोक्तज्ञानसंयुतः ।
विविक्तदेशमासाद्य सर्वसम्बन्धवर्जितः ॥89॥
योगाङ्गद्रव्यसम्पूर्णं तत्र दारुमये शुभे ।
आसने कल्पिते दर्भकुशकृष्णाजिनादिभिः ॥90॥
तावदासनमुत्सेधे तावद् द्वयसमायते ।
उपविश्यासनं सम्यक् स्वस्तिकादि यथारुचि ॥91॥

उपर्युक्त ज्ञानविधि से नाडीशोधन कर लेना चाहिए। बाद में सभी सम्बन्धों को छोड़कर किसी एकान्त स्थान में रहते हुए योगांग के लिए सभी सामग्री एकत्रित करके, दर्भ, कुश अथवा काले हिरन

के चर्म आदि का दारुमय आसन बनाकर जब तक दोनों ओर के अंग समान न हो जाएँ, तब तक आसन की साधना करते रहना चाहिए। इसके लिए आसन-स्थान पर बैठकर अपनी-अपनी रुचि के अनुसार स्वस्तिक आदि किसी आसन का अभ्यास करते रहना चाहिए।

बद्ध्वा प्रागासनं विप्र ऋजुकायः समाहितः ।
नासाग्रन्यस्तनयनो दन्तैर्दन्तानसंस्पृशन् ॥92॥
रसनां तालुनि न्यस्य स्वस्थचित्तो निरामयः ।
आकुञ्चितशिरः किञ्चिन्निबध्नन्योगमुद्रया ॥93॥
हस्तौ यथोक्तविधिना प्राणायामं समाचरेत् ।
रेचनं पूरणं वायोः शोधनं रेचनं तथा ॥94॥

पहले तो आसन लगाकर सीधे बैठना चाहिए। हे ब्रह्मन् ! बाद में नाक के अग्र भाग पर दृष्टि रखनी चाहिए। फिर दाँतों को दाँतों से स्पर्श किए बिना ही जीभ को तालु में लगाकर चित्त को स्वस्थ करके निरामय भाव से सिर को थोड़ा आगे झुकाकर, हाथों को एक-दूसरे से जोड़कर योगमुद्रा में प्राणायाम का परिशीलन करना चाहिए। रेचक-पूरक-कुम्भक के द्वारा वायु का शोधन करके बारी-बारी से रेचन की क्रिया करनी चाहिए।

चतुर्भिः क्लेशनं वायोः प्राणायाम उदीर्यते ।
हस्तेन दक्षिणेनैव पीडयेन्नासिकापुटम् ॥95॥
शनैः शनैरथ बहिः प्रक्षिपेत्पिङ्गलानिलम् ।
इडया वायुमापूर्य ब्रह्मन् षोडशमात्रया ॥96॥
पूरितं कुम्भयेत्पश्चाच्चतुःषष्ट्या तु मात्रया ।
द्वात्रिंशन्मात्रया सम्यग्रेचयेत्पिङ्गलानिलम् ॥97॥

इस तरह चार प्रक्रियाओं से वायु का क्लेशन (गतिमान) करने की विधि को प्राणायाम कहा जाता है। दाहिने हाथ से नासापुट को दबाकर पिंगला से (दायीं नासिका से) वायु को पहले बाहर निकालना चाहिए। बाद में सोलह मात्रा से इडा (बाँयी नासिका) से वायु को भीतर की ओर खींचना चाहिए। और चौंसठ मात्रा से कुम्भक करना चाहिए। तथा बत्तीस मात्रा से उस वायु को पिंगला (दायीं नासिका) से बाहर कर देना चाहिए।

एवं पुनः पुनः कार्यं व्युत्क्रमानुक्रमेण तु ।
सम्पूर्णकुम्भवद्देहं कुम्भयेन्मातरिश्वना ॥98॥
पूरणान्नाडयः सर्वाः पूर्यन्ते मातरिश्वना ।
एवं कृते सति ब्रह्मंश्चरन्ति दश वायवः ॥99॥
हृदयाम्भोरुहं चापि व्याकोचं भवति स्फुटम् ।
तत्र पश्येत्परात्मानं वासुदेवमकल्मषम् ॥100॥
प्रातर्माध्यन्दिने सायमर्धरात्रे च कुम्भकान् ।
शनैरशीतिपर्यन्तं चतुर्वारं समभ्यसेत् ॥101॥

इस प्रकार बार-बार परिवर्तित क्रम से सर्वदा अभ्यास करते रहना चाहिए और शरीर के भीतर भरी हुई वायु को घड़े की भाँति स्थिर करके रोकते रहना चाहिए। इस क्रिया में हे ब्रह्मन् ! सभी नाडियाँ वायु से भर जाती हैं। उन नाडियों में दसों वायु ठीक तरह से चलते रहते हैं। इसके बाद हृदयरूपी

कमल स्वच्छ, विकसित एवं स्पष्ट हो जाता है। और उस स्थान पर परमात्मरूप निष्कलंक वासुदेव के स्पष्टरूप से दर्शन होने लगते हैं। इस तरह के अभ्यास से प्रात:काल, मध्याह्नकाल, सायंकाल तथा अर्धरात्रि में चार बार कुम्भक करना चाहिए और धीरे-धीरे क्रमश: उसे अस्सी मात्रा तक बढ़ाना चाहिए।

एकाहमात्रं कुर्वाणः सर्वपापैः प्रमुच्यते।
संवत्सरत्रयादूर्ध्वं प्राणायामपरो नरः ॥102॥
योगसिद्धो भवेद्योगी वायुजिद्विजितेन्द्रियः।
अल्पाशी स्वल्पनिद्रश्च तेजस्वी बलवान्भवेत् ॥103॥
अपमृत्युमतिक्रम्य दीर्घमायुरवाप्नुयात्।
प्रस्वेदजननं यस्य प्राणायामस्तु सोऽधमः ॥104॥
कम्पनं वपुषो यस्य प्राणायामेषु मध्यमः।
उत्थानं वपुषो यस्य स उत्तम उदाहृतः ॥105॥

जो मनुष्य केवल एक दिन ऐसा प्राणायाम करता है, वह सभी पापों से छुटकारा पाता है। जो लगातार तीन साल तक इस प्रकार प्राणायामपरायण रहता है, वह मनुष्य योगसिद्ध योगी बन जाता है। इस वायु को जीतने वाला इन्द्रियों को वश में रखने वाला, कम खाने वाला, कम निद्रा लेने वाला, तेजस्वी और बलवान होता है। वह अपमृत्यु को पार करके लम्बी आयु को प्राप्त करता है। जिसे प्राणायाम में पसीना होता है, उसका प्राणायाम अधम है। जिस प्राणायाम से शरीर में कँपकँपी आती है, वह मध्यम प्राणायाम होता है, और जिसका शरीर प्राणायाम से ऊपर उठता है, वह उत्तम प्राणायाम कहा जाता है।

अधमे व्याधिपापानां नाशः स्यान्मध्यमे पुनः।
पापरोगमहाव्याधिनाशः स्यादुत्तमे पुनः ॥106॥
अल्पमूत्रोऽल्पविष्टश्च लघुदेहो मिताशनः।
पट्विन्द्रियः पटुमतिः कालत्रयविदात्मवान् ॥107॥
रेचकं पूरकं मुक्त्वा कुम्भीकरणमेव यः।
करोति त्रिषु कालेषु नैव तस्यास्ति दुर्लभम् ॥108॥
नाभिकन्दे च नासाग्रे पादाङ्गुष्ठे च यत्नवान्।
धारयेन्मनसा प्राणान् सन्ध्याकालेषु वा सदा ॥109॥
सर्वरोगैर्विनिर्मुक्तो जीवेद्योगी गतक्लमः।
कुक्षिरोगविनाशः स्यान्नाभिकन्देषु धारणात् ॥110॥

अधम कोटि के प्राणायाम से आधि-व्याधि और संपूर्ण पाप नष्ट हो जाते हैं। मध्यम कोटि के प्राणायाम से पापों का, महारोगों का और पीड़ाओं का नाश होता है। और उत्तम कोटि के प्राणायाम से तो वह सचेत योगी अल्प मूत्रवाला अल्प बिष्टावाला, लघुदेहवाला, कम खाने वाला, तेजस्वी इन्द्रिय शक्तियों वाला, तेजस्वी बुद्धिवाला तथा तीनों काल को जानने वाला हो जाता है। जो योगी रेचक और पूरक को छोड़कर केवल कुम्भक को ही करने के लिए तत्पर रहता है, उसके लिए तीनों काल में कुछ भी दुर्लभ नहीं होता। योग में सतत प्रयत्नशील योगी को सन्ध्यावन्दन के समय में नाभिकन्द में (मूल में), नासिका के अग्रभाग में तथा दोनों पैरों के अँगूठों में अपने मन से प्राणतत्त्व की धारणा करनी चाहिए। इस प्रकार की धारणा करने से योगी सभी रोगों से मुक्त होकर आनन्दपूर्वक जीवन गुजारता है। नाभिकन्द में प्राणों को धारण करने से कुक्षि (पेट) के सभी रोग नष्ट हो जाते हैं।

नासाग्रे धारणाद्दीर्घमायुः स्याद्देहलाघवम्।
ब्राह्मे मुहूर्ते सम्प्राप्ते वायुमाकृष्य जिह्वया ॥111॥
पिबतस्त्रिषु मासेषु वाक्सिद्धिर्महती भवेत्।
अभ्यासतश्च षण्मासान्महारोगविनाशनम् ॥112॥
यत्र यत्र धृतो वायुरङ्गे रोगादिदूषिते।
धारणादेव मरुतस्तत्तदारोग्यमश्नुते ॥113॥
मनसो धारणादेव पवनो धारितो भवेत्।
मनसः स्थापने हेतुरुच्यते द्विजपुङ्गव ॥114॥

नासिका के अग्रभाग में प्राण को धारण करने से लम्बी आयु और देह का लाघव होता है। ब्राह्ममुहूर्त में जीभ से वायु को भीतर खींचकर तीन महीनों तक पीने से वाणी की महान् सिद्ध प्राप्त होती है और छ: मास के ऐसे अभ्यास से महारोग भी नष्ट हो जाते हैं। रोग आदि से दूषित शरीर में जहाँ-जहाँ वायु धारण किया जाता है, वहाँ वायु के धारण से ही उस-उस रोग का नाश हो जाता है। हे द्विजश्रेष्ठ ! मन की धारणा से ही वायु की धारणा उत्पन्न होने लगती है। मन को स्थापन (एकाग्र) करने के लिए प्राण की साधना (प्राणायाम का परिशीलन) अनिवार्य हेतु (कारण) कहा गया है।

करणानि समाहृत्य विषयेभ्यः समाहितः।
अपानमूर्ध्वमाकृष्येदुदरोपरि धारयेत् ॥115॥
बध्नन्कराभ्यां श्रोत्रादिकरणानि यथातथम्।
युञ्जानस्य यथोक्तेन वर्त्मना स्ववशं मनः ॥116॥

इन्द्रियों को विषयों से हटाकर, सावधान होकर, अपानवायु को ऊर्ध्व में अर्थात् पेट के ऊपर धारण करना चाहिए और दोनों हाथों की अँगुलियों से दोनों कानों को बन्द कर लेना चाहिए। इस क्रिया से मन को वश में लाया जा सकता है। (इसको षण्मुखी मुद्रा कहा जाता है। इसमें दोनों हाथों की अँगुलियों से आँख, कान, नाक, मुख आदि छिद्रों को बन्द करके मन को वश में लाने का प्रयत्न किया जाता है)।

मनोवशात्प्राणवायुः स्ववशे स्थाप्यते सदा।
नासिकापुटयोः प्राणः पर्यायेण प्रवर्तते ॥117॥
तिस्रश्च नाडिकास्तासु स यावन्तं चरत्ययम्।
शङ्खिनीविवरे याम्ये प्राणः प्राणभृतां सताम् ॥118॥
तावन्तं च पुनः कालं सौम्ये चरति सन्ततम्।
इत्थं क्रमेण चरता वायुना वायुजिन्नरः ॥119॥
अहश्च रात्रिश्च पक्षं च मासमृत्वयनादिकम्।
अन्तर्मुखो विजानीयात्कालभेदं समाहितः ॥120॥

इस प्रकार मनोजय प्राप्त कर लेने के बाद, प्राणवायु नियमित हो जाता है अर्थात् सदैव अपने वश में आ जाता है और दोनों नथुनों से उसका आना-जाना व्यवस्थित रूप में होने लगता है। इडा आदि तीन नाडियाँ हैं। इन इडादि तीन नाडियों में जितने काल तक यह प्राणियों का प्राणवायु याम्य में (शंखिनीविवर में अर्थात् पिंगला नाम से प्रख्यात दाहिने नथुने में) घूमता है उतने ही काल तक योगियों के सौम्य में (सुषुम्ना में) सतत घूमा करता है। इस तरह जिस योगी का प्राण समान समय में

दोनों में घूमता है इससे वह 'वायुजित्' (वायु को जीतने वाला) हो जाता है और वह दिवस, रात, पक्ष, मास, ऋतु, अयन आदि के कालभेद को अन्तर्मुखी होकर सावधानतया पहचान लेता है।

अङ्गुष्ठादिस्वावयवस्फुरणादर्शनैरपि।
अरिष्टैर्जीवितस्यापि जानीयात्क्षयमात्मनः ॥121॥
ज्ञात्वा यतेत कैवल्यप्राप्तये योगवित्तमः।
पादाङ्गुष्ठे कराङ्गुष्ठे स्फुरणं यस्य न श्रुतिः ॥122॥
तस्य संवत्सरादूर्ध्वं जीवितस्य क्षयो भवेत्।
मणिबन्धे तथा गुल्फे स्फुरणं यस्य नश्यति ॥123॥
षण्मासावधिरेतस्य जीवितस्य स्थितिर्भवेत्।
कूर्परे स्फुरणं यस्य तस्य त्रैमासिकी स्थितिः ॥124॥

अपने अंगुष्ठ आदि अंगों का फड़कना रुक जाने पर अपने जीवन की समाप्ति जल्द से जल्द समझ लेनी चाहिए। उन अरिष्टों को जानकर श्रेष्ठ योगी को कैवल्य की प्राप्ति के लिए प्रयत्न करना चाहिए। जिसके पैरों के और हाथों के अंगुष्ठों में धडकन (स्फुरण) बन्द हो जाए तो उसका एक वर्ष के बाद जीवन का अन्त होगा, ऐसा जानना चाहिए। जिसके मणिबन्ध में (कलाई में) और गुल्फ में (टखने में) स्फुरण नष्ट हो जाए तो उसके जीवन की अवधि छः मास की होगी, ऐसा समझना चाहिए। और जिसकी कोहनी में स्फुरण बन्द हो जाए उसका जीवन तीन मास ही रहेगा, ऐसा समझना चाहिए।

कुक्षिमेहनपार्श्वे च स्फुरणानुपलम्भने।
मासावधिर्जीवितस्य तदर्धस्य तु दर्शने ॥125॥
आश्रिते जठरद्वारे दिनानि दश जीवितम्।
ज्योतिः खद्योतवद्यस्य तदर्धं तस्य जीवितम् ॥126॥
जिह्वाग्रादर्शने त्रीणि दिनानि स्थितिरात्मनः।
ज्वालाया दर्शने मृत्युर्द्विदिने भवति ध्रुवम् ॥127॥
एवमादीन्यरिष्टानि दृष्टायुःक्षयकारणम्।
निःश्रेयसाय युञ्जीत जपध्यानपरायणः ॥128॥

कुक्षि, उपस्थ और पार्श्व भाग में स्फुरण न हो तो केवल एक मास तक जीवन रहेगा और आँख में स्फुरण के अभाव में सिर्फ पंद्रह दिन तक जीवन रह सकता है। जठर के मुँह पर यदि स्फुरण नहीं होता, तो जीवन दस दिन तक रहता है और सूर्य-चन्द्र की ज्योति जब पतंगे की भाँति दिखाई दे, तब पाँच दिन ही जीवन टिक सकता है। जीभ के अग्र भाग में यदि स्फुरण का अभाव हो, तब आत्मा की स्थिति तीन दिन तक रहती है और यदि ज्वाला का दर्शन होने लगे, तब दो ही दिनों में मृत्यु अवश्य आ जाती है। ये सब अरिष्ट (अनिष्टकारक तत्त्व) आयु को क्षीण करने के कारणरूप हैं। इन सभी को जानने वाले साधक को अर्थात् अपनी आयु को पहचानने वाले योगी को अपने कल्याण के लिए स्वयं को जप, तप, ध्यानपरायण होकर कल्याण में प्रवृत्त होना चाहिए।

मनसा परमात्मानं ध्यात्वा तद्रूपतामियात्।
यद्यष्टादशभेदेषु मर्मस्थानेषु धारणम् ॥129॥
स्थानात्स्थानं समाकृष्य प्रत्याहारः स उच्यते।
पादाङ्गुष्ठं तथा गुल्फं जङ्घामध्यं तथैव च ॥130॥

मध्यमूर्वोश्च मूलं च पायुर्हृदयमेव च।
मेहनं देहमध्यं च नाभिं च गलकूर्परम् ॥131॥
तालुमूलं च मूलं च घ्राणस्याक्ष्णोश्च मण्डलम्।
भ्रुवोर्मध्यं ललाटं च मूलमूर्ध्वं च जानुनी ॥132॥
मूलं च करयोर्मूलं महान्त्येतानि वै द्विज।
पञ्चभूतमये देहे भूतेष्वेतेषु पञ्चसु ॥133॥

मन के द्वारा परमात्मा का ध्यान करके तद्रूप बनने का प्रयत्न करना चाहिए। उसकी चेतना को शरीर के अठारहों मर्मस्थानों में धारण करना चाहिए। एक स्थान से दूसरे स्थान में खींचने की प्रक्रिया को प्रत्याहार कहा जाता है। पूर्वोक्त अठारह मर्मस्थान ये हैं—पैर का अँगूठा, एड़ी, जाँघ का मध्यभाग, ऊरु का मध्यभाग, गुदा का मध्यभाग, हृदय, उपस्थ, देह का मध्यभाग, नाभि, गला, कोहनी, तालु का मूल, नासिका का मूल, नेत्रमण्डल, भौंहों के बीच का भाग, ललाट, मस्तक का मूल भाग, दोनों घुटने तथा हाथों का मूलभाग—ये सभी स्थल, हे द्विज ! पाँचों भूतों से युक्त इस पाँचभौतिक शरीर में महान् (मर्मस्थान) कहे जाते हैं।

मनसो धारणं यत्तद्युक्तस्य च यमादिभिः।
धारणा सा च संसारसागरोत्तारकारणम् ॥134॥
आजानुपादपर्यन्तं पृथिवीस्थानमिष्यते।
पित्तला चतुरस्रा च वसुधा वज्रलाञ्छिता ॥135॥
स्मर्तव्या पञ्चघटिकास्तत्रारोप्य प्रभञ्जनम्।
आजानुकटिपर्यन्तमपां स्थानं प्रकीर्तितम् ॥136॥
अर्धचन्द्रसमाकारं श्वेतमर्जुनलाञ्छितम्।
स्मर्तव्यमम्भःश्वसनमारोप्य दशनाडिकाः ॥137॥

यम आदि से युक्त मन की एकाग्रता को ही धारणा कहा जाता है। ऐसी धारणा संसाररूपी सागर को पार करने का कारण मानी जाती है। घुटनों से लेकर पैरों तक का स्थान पृथ्वीस्थान माना जाता है। पीले रंग की और चार कोणों से युक्त पृथ्वी वज्र से जड़ी हुई है। उस पृथ्वी में वायु को रोककर उसका पाँच घटिकापर्यन्त (दो घण्टों तक) स्मरण (चिन्तन) करना चाहिए। अब घुटने से लेकर ऊपर का कमर तक का भाग जल का स्थान माना जाता है। वह अर्धचन्द्रकार है, और श्वेतवर्ण का है तथा चाँदी से जड़ा हुआ है। उसका भी श्वास को रोककर (उसी में तन्मय होकर) दश घटिका तक (चार घण्टों तक) चिन्तन करना चाहिए।

आदेहमध्यकट्यन्तमग्निस्थानमुदाहृतम्।
तत्र सिन्दूरवर्णोऽग्निर्ज्वलनं दश पञ्च च ॥138॥
स्मर्तव्या नाडिकाः प्राणं कृत्वा कुम्भे तथेरितम्।
नाभेरुपरि नासान्तं वायुस्थानं तु तत्र वै ॥139॥
वेदिकाकारवद् धूम्रो बलवान्भूतमारुतः।
स्मर्तव्यः कुम्भकेनैव प्राणमारोप्य मारुतम् ॥140॥
घटिकाविंशतिस्तस्माद् घ्राणाद् ब्रह्मबिलावधि।
व्योमस्थानं नभस्तत्र भिन्नाञ्जनसमप्रभम् ॥141॥

शरीर में कटि प्रदेश के मध्य का भाग अग्नि का स्थान कहा गया है। वहाँ सिन्दूरवर्णी अग्नि ज्वालारूप है। उसका पंद्रह घटिका (छः घण्टे) तक प्राण को कुंभक में रोककर चिन्तन करना चाहिए। नाभि से लेकर तक नासिका तक वायु का स्थान है। उसका आकार वेदी के मुख जैसा होता है। धूम्र जैसा उसका स्वरूप होता है जो कि बड़ा शक्तिशाली होता है। वहाँ प्राणवायु को कुम्भक के द्वारा रोककर उसका बीस घटिका तक (आठ घण्टे तक) चिन्तन करना चाहिए। और नासिका से ब्रह्मरन्ध्र तक का स्थान आकाशतत्त्व का कहा गया है। इसकी आभा नीले रंग की कही गई है।

व्योम्नि मारुतमारोप्य कुम्भकेनैव यत्नवान्।
पृथिव्यंशे तु देहस्य चतुर्बाहुं किरीटिनम् ॥142॥
अनिरुद्धं हरिं योगी यतेत भवमुक्तये।
अबंशे पूरयेद्योगी नारायणमुदग्रधीः ॥143॥
प्रद्युम्नमग्नौ वाय्वंशे सङ्कर्षणमतः परम्।
व्योमांशे परमात्मानं वासुदेवं सदा स्मरेत् ॥144॥

प्रयत्नशील योगी कुंभक के द्वारा ही आकाश के क्षेत्र में आरोपण करता है और बाद में देह के पृथ्वी क्षेत्र के भाग में चतुर्भुज, मुकुटधारी, अनिरुद्ध हरि का चिन्तन करता है (करना चाहिए)। यह संसार से मुक्त होने के लिए किया जाता है। फिर देह के जल क्षेत्र वाले भाग में तेजस्वी बुद्धिवाला वह योगी नारायण का चिन्तन करता है और अग्निवाले स्थान में प्रद्युम्न का चिन्तन करता है। बाद में उस योगी को वायु के क्षेत्र में संकर्षण का और आकाश वाले अंश में वासुदेव का चिन्तन निरन्तर करते ही रहना चाहिए।

अचिरादेव तत्प्राप्तिर्युञ्जानस्य न संशयः।
बद्ध्वा योगासनं पूर्वं हृद्देशे हृदयाञ्जलिः ॥145॥
नासाग्रन्यस्तनयनो जिह्वां कृत्वा च तालुनि।
दन्तैर्दन्तानसंस्पृश्य ऊर्ध्वकायः समाहितः ॥146॥
संयमेच्चेन्द्रियग्राममात्मबुद्ध्या विशुद्धया।
चिन्तनं वासुदेवस्य परस्य परमात्मनः ॥147॥

जो साधक योगी ऐसे अभ्यास को नियमपूर्वक निरन्तर किया करता है, वह जल्द से जल्द परब्रह्म परमात्मा वासुदेव की प्राप्ति कर लेता है, इसमें कोई शंका नहीं है। सबसे पहले तो योगासन लगाकर हृदय प्रदेश में हृदयरूपी अंजलियुक्त होकर, नाक के अग्र भाग में नेत्रों को (दृष्टि को) रखते हुए, जीभ को तालुस्थान में लगाकर, दाँतों को दाँतों से स्पर्श नहीं करना चाहिए। शरीर को सीधा एवं स्थिर रखकर, सावधान होकर, इन्द्रियों का संयम करना चाहिए और बाद में परब्रह्म वासुदेव का अपनी निर्मल बुद्धि से चिन्तन करना चाहिए।

स्वरूपव्याप्तरूपस्य ध्यानं कैवल्यसिद्धिदम्।
यग्ममात्रं वासुदेवं चिन्तयेत्कुम्भकेन यः ॥148॥
[illegible]जन्मार्जितं पापं तस्य नश्यति योगिनः।
नाभिकन्दात्समारभ्य यावद्धृदयगोचरम् ॥149॥
जाग्रद्वृत्तिं विजानीयात्कण्ठस्थं स्वप्नवर्तनम्।
सुषुप्तं तालुमध्यस्थं तुर्यं भ्रूमध्यसंस्थितम् ॥150॥

अपने स्वरूप से व्याप्त रूपवाले परमात्मा का ध्यान कैवल्य की सिद्धि कराने वाला है। जो साधक कुम्भक के द्वारा एक प्रहरमात्र भी वासुदेव का चिन्तन करता है, उस योगी के सात जन्मों में किए हुए पापों का नाश हो जाता है। नाभिकेन्द्र से लेकर हृदय तक का क्षेत्र जाग्रदवस्था का क्षेत्र है, ऐसा जानना चाहिए। स्वप्नावस्था का केन्द्र कण्ठ है और सुषुप्तावस्था का केन्द्र तालुस्थान है और तुर्य का क्षेत्र भौंहों के मध्यस्थान का क्षेत्र माना गया है।

तुर्यातीतं परंब्रह्म ब्रह्मरन्ध्रे तु लक्षयेत्।
जाग्रद्वृत्तिं समारभ्य यावद् ब्रह्मबिलान्तरम् ॥151॥
तत्रात्मायं तुरीयस्य तुर्यान्ते विष्णुरुच्यते।
ध्यानेनैव समायुक्तो व्योम्नि चात्यन्तनिर्मले ॥152॥
सूर्यकोटिद्युतिधरं नित्योदितमधोक्षजम्।
हृदयाम्बुरुहासीनं ध्यायेद्वा विष्णुरूपिणम् ॥153॥

तुर्यातीत परब्रह्म का क्षेत्र ब्रह्मरन्ध्र में परब्रह्म को लक्ष्य करके अवस्थित है। जाग्रदवस्था से शुरू होकर ब्रह्मरन्ध्र तक तुर्यात्मा का तत्त्व प्रतिष्ठित रहता है। और उसके अन्त में वह विष्णु कहा गया है। इसके बाद साधक योगी को चाहिए कि वह ध्यान में परायण होकर अत्यन्त निर्मल आकाश में (हृदयरूपी आकाश में) करोड़ों सूर्य जैसे तेज को धारण किए हुए, हृदयरूपी कमल पर बैठे हुए, विश्वरूपधारी, नित्योदित भगवान् विष्णु का निरन्तर चिन्तन-मनन करता रहे।

अनेकाकारखचितमनेकवदनान्वितम्।
अनेकभुजसंयुक्तमनेकायुधमण्डितम् ॥154॥
नानावर्णधरं देवं शान्तमुग्रमुदायुधम्।
अनेकनयनाकीर्णं सूर्यकोटिसमप्रभम् ॥155॥
ध्यायतो योगिनः सर्वमनोवृत्तिर्विनश्यति।
हृत्पुण्डरीकमध्यस्थं चैतन्यज्योतिरव्ययम् ॥156॥
कदम्बगोलकाकारं तुर्यातीतं परात्परम्।
अनन्तमानन्दमयं चिन्मयं भास्करं विभुम् ॥157॥
निवातदीपसदृशमकृत्रिममणिप्रभम्।
ध्यायतो योगिनस्तस्य मुक्तिः करतले स्थिता ॥158॥

ऐसे अनेक आकार-प्रकारवाले, अनेक मुखों वाले, अनेक हाथों वाले, अनेक आयुध धारण किए हुए, विविध वर्ण धारण करने वाले, देवस्वरूप, शान्त, अस्त्र धारण किये हुए, असंख्य आँखों वाले, करोड़ों-करोडों सूर्यों की आभावाले, विश्वस्वरूप भगवान् विष्णु का चिन्तन-मनन करने से योगी की सभी मनोवृत्तियाँ समाप्त हो जाती हैं। हृदयरूपी कमल के मध्य प्रदेश में स्थित चैतन्यरूप ज्योतिर्मय, अव्यय (शाश्वत), कदम्ब के समान गोलाकार, तुर्यातीत, परे से भी परे, अनन्त, आनन्दमय, चैतन्यमय, व्यापक प्रकाशरूप, वायुरहित स्थान में स्थित दीपक की भाँति अचल, सच्चे मणि के जैसे तेजोमय, तुर्यातीत का ध्यान करने से मुक्ति तो योगी के हाथ में ही रहती है।

विश्वरूपस्य देवस्य रूपं यत्किञ्चिदेव हि।
स्थवीयः सूक्ष्ममन्यद्वा पश्यन्हृदयपङ्कजे ॥159॥
ध्यायतो योगिनो यस्तु साक्षादेव प्रकाशते।
अणिमादिफलं चैव सुखेनैवोपजायते ॥160॥

जीवात्मनः परस्यापि यद्येवमुभयोरपि ।
अहमेव परंब्रह्म ब्रह्माहमिति संस्थितिः ॥161॥
समाधिः स तु विज्ञेयः सर्ववृत्तिविवर्जितः ।
ब्रह्म सम्पद्यते योगी न भूयः संसृतिं व्रजेत् ॥162॥

इस विश्वरूप देव का जो कोई भी स्थूल, सूक्ष्म अथवा और कोई भी रूप है, उसका अपने हृदयरूपी कमल में ध्यान करते हुए योगी के सामने साक्षात् वह उस रूप में प्रकट होता है। अथवा ध्यान करने वाला योगी ही स्वयं ध्येय के रूपवाला हो जाता है। उस योगी को बिना किसी परिश्रम के (सुखपूर्वक) अणिमा, लघिमा आदि का फल प्राप्त हो जाता है। जीवात्मा तथा परमात्मा—दोनों के पारमार्थिक स्वरूप का ज्ञान हो जाने से जब 'मैं ही परब्रह्म हूँ'—ऐसी अवस्था आ जाती है, उसे ही 'समाधि' कहा जाता है। समाधि में मन की सभी वृत्तियाँ नष्ट हो जाती हैं। ऐसा समाधिप्राप्त योगी ब्रह्म को प्राप्त करता है और वह फिर कभी इस नश्वर जगत् में नहीं आता है।

एवं विशोध्य तत्त्वानि योगी निःस्पृहचेतसा ।
यथा निरिन्धनो वह्निः स्वयमेव प्रशाम्यति ॥163॥
ग्राह्याभावे मनःप्राणो निश्चयज्ञानसंयुतः ।
शुद्धसत्त्वे परे लीनो जीवः सैन्धवपिण्डवत् ॥164॥
मोहजालकसङ्घातं विश्वं पश्यति स्वप्नवत् ।
सुषुप्तिवद्यश्चरति स्वभावपरिनिश्चलः ।
निर्वाणपदमाश्रित्य योगी कैवल्यमश्नुतः ॥165॥ इत्युपनिषत् ।

इति त्रिशिखिब्राह्मणोपनिषत्समाप्ता ।
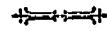
वह साधक योगी इस तरह से योगतत्त्वों का शोधन करके स्पृहारहित मन से ईंधनरहित अग्नि की तरह स्वयं ही शान्त हो जाता है। तब ऐसे योगी के लिए कुछ भी स्वीकार्य नहीं होता अर्थात् उसके लिए कोई ग्राह्य वस्तु नहीं होती, क्योंकि तब उसके मन और प्राण निश्चयात्मक - पारमार्थिक ज्ञान से युक्त हो जाते हैं और उसका जीवात्मा परमशुद्ध तत्त्व में (ब्रह्म में) जल में नमक के पिण्ड की भाँति विलीन हो जाता है। उस योगी को यह मोह के जाल जैसा विश्व स्वप्न की तरह ही दीखता है और वह संपूर्णतः अचल (स्थिर) होकर सहजभाव से सुषुप्ति जैसी अवस्था में रहने लगता है। ऐसा उत्तम योगी (साधक) निर्वाणपद पर आसीन होकर कैवल्यावस्था को प्राप्त होता है।

यहाँ त्रिशिखिब्राह्मणोपनिषद् पूरी हुई।

शान्तिपाठः

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं ...... पूर्णमेवावशिष्यते । (पूर्ववत्)
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

❋

(46) सीतोपनिषत्

(उपनिषत्परिचय)

यह अथर्ववेदीय उपनिषद् है। इसमें कहा गया है कि सीता ही मूल प्रकृति है। श्रीराम के समीप रहकर वह जगत् को आनन्द देने वाली है। वही मूल प्रकृति इस जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और विनाश का मूल कारण है। इसी को महामाया कहा जाता है। इच्छाशक्ति, क्रियाशक्ति तथा आद्याशक्ति भी यही है। लक्ष्मीस्वरूप भी वही है, पृथ्वीस्वरूप भी वही है, वही भगवान् की साक्षात् शक्ति है। इस तरह सीता का मूल प्रकृतित्व, अक्षरार्थ, व्यक्ताव्यक्तस्वरूप, ब्रह्मरूपत्व, शक्तित्रयत्व आदि बताया गया है।

शान्तिपाठः

ॐ भद्रं कर्णेभिः......देवहितं यदायुः । (पूर्ववत्)
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

इसका हिन्दी रूपान्तर पूर्व में (अथर्वशिर उपनिषद् में) द्रष्टव्य है।

देवा ह वै प्रजापतिमब्रुवन्का सीता किं रूपमिति ॥1॥
स होवाच प्रजापतिः सा सीतेति ।
मूलप्रकृतिरूपत्वात्सा सीता प्रकृतिः स्मृता ।
प्रणवप्रकृतिरूपत्वात्सा सीता प्रकृतिरुच्यते ॥2॥

एक समय देवताओं ने प्रजापति से पूछा—'सीता का स्वरूप क्या है ?' सीता कौन है ?' तब प्रजापति ने कहा—वह सीता तो मूल प्रकृति है इसलिए वह जगत् का मूल कारण है। जो मूलप्रकृतित्व से प्रणव कहा गया है, उसी रूप की होने से सीता को प्रकृति कहा गया है।

सीता इति त्रिवर्णात्मा साक्षान्मायामयी भवेत् ।
विष्णुः प्रपञ्चबीजं च मया ईकार उच्यते ॥3॥
सकारः सत्यममृतं प्राप्तिः सोमश्च कीर्त्यते ।
तकारस्तारलक्ष्म्या च वैराजः प्रस्तरः स्मृतः ॥4॥

त्रिवर्णात्मक यह 'सीता' नाम साक्षात् योगमाया का स्वरूप है। भगवान् विष्णु सम्पूर्ण जगत् (प्रपंच) के बीजस्वरूप हैं, तो भगवान् विष्णु की माया 'ई'कारस्वरूप है। इसमें जो 'स'कार है, वह सत्य, अमृत, प्राप्ति और चन्द्र का वाचक है। और इसमें जो दीर्घ आकारमात्रा सहित 'त'कार है, उसे महालक्ष्मी का फैलने वाला प्रकाशमय रूप कहा गया है।

ईकाररूपिणी सोमाऽमृतावयवदिव्यालङ्कारस्रङ्मौक्तिकाद्याभरणा-
लङ्कृता महामायाऽव्यक्तरूपिणी व्यक्ता भवति ॥5॥
प्रथमा शब्दब्रह्ममयी स्वाध्यायकाले प्रसन्ना । उद्भावनकरी सात्मिका

द्वितीया भूतले हलाग्रे समुत्पन्ना । तृतीया ईकाररूपिणी अव्यक्तस्वरूपां भवतीति सीतेत्युदाहरन्ति शौनकीये ॥6॥

'ई'काररूपिणी सीताजी यों तो अव्यक्त महामाया है, फिर भी श्रीराम के संकल्पवश सोम जैसी प्रियदर्शना वह अपने अमृतसमान अवयवों और माला – मोती आदि दिव्य आभूषणों से अलंकृत होकर व्यक्तरूप धारण करती है। महामाया भगवती सीताजी के तीन स्वरूप हैं—पहले शब्दब्रह्ममयी होकर स्वाध्याय-स्वरूप बुद्धि के रूप में प्रकट होती है। दूसरे रूप में वह महाराज जनक के यहाँ हल के अग्र भाग से उत्पन्न हुई। वह यों तो भगवद्भाव को प्राप्त हुए लोगों के हृदय में निरावृत्त सुखरूप से सदैव उद्भूत हैं ही। और तीसरे ईकार के रूप में वे अव्यक्त रहती हैं। शौनकीय तंत्र में सीता के ये ही तीन रूप बताए गए हैं।

श्रीरामसान्निध्यवशाज्जगदानन्दकारिणी ।
उत्पत्तिस्थितिसंहारकारिणी सर्वदेहिनाम् ॥7॥
सीता भगवती ज्ञेया मूलप्रकृतिसंज्ञिता ।
प्रणवत्वात्प्रकृतिरिति वदन्ति ब्रह्मवादिन इति ॥8॥
अथातो ब्रह्मजिज्ञासेति च ॥9॥

श्री सीताजी को राम का नित्य सान्निध्य प्राप्त है, इसलिए वे जगत् को आनन्द देने वाली हैं। वे सभी प्राणियों की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय करने वाली हैं। भगवती सीता को मूल प्रकृतिरूप जानना चाहिए। उनके प्रणवस्वरूप होने के कारण ब्रह्मवादी लोग उन्हें प्रकृति कहते हैं। ब्रह्मसूत्रों के 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' इस सूत्र में उन्हीं के व्यक्त तथा अव्यक्त स्वरूपों का प्रतिपादन किया गया है।

सा सर्ववेदमयी सर्वदेवमयी सर्वलोकमयी सर्वकीर्तिमयी सर्वधर्ममयी सर्वाधारकार्यकारणमयी महालक्ष्मीर्देवेशस्य भिन्नाभिन्नरूपा चेतनाचेतनात्मिका ब्रह्मस्थावरात्मा तद्गुणकर्मविभागभेदाच्छरीररूपा देवर्षिमनुष्यगन्धर्वरूपा असुरराक्षसभूतप्रेतपिशाचभूतादिभूतशरीररूपाभूतेन्द्रियमनः प्राणरूपेति च विज्ञायते ॥10॥

वह सीताजी सभी वेदों का स्वरूप हैं, सभी देवों का भी स्वरूप हैं, वह सर्वलोकों में व्याप्त हैं, सर्वधर्मस्वरूप हैं, वह यशस्विनी सभी का आधार हैं, सभी कार्य और कारण रूप हैं, वह महालक्ष्मी, महानारायण भगवान् से भिन्न होते हुए भी अभिन्न हैं। चेतन और अचेतन—दोनों उन्हीं (सीताजी) के रूप में हैं। ब्रह्मा से लेकर स्थावरपर्यन्त वह व्याप्त हैं। सभी प्राणियों के गुण और कर्मों के विभाग के भेद से सर्वशरीरस्वरूपा वह मनुष्य, देव, ऋषि और गन्धर्वों की स्वरूपभूत हैं तथा असुर, राक्षस, भूत, प्रेत, पिशाच और भूतादि की शरीररूपिणी हैं। इन पाँच भूतों, इन्द्रियों, मन तथा प्राण के स्वरूपवाली भी जानी जाती है।

सा देवी त्रिविधा भवति शक्त्यासना इच्छाशक्तिः क्रियाशक्तिः साक्षाच्छक्तिरिति ॥11॥
इच्छाशक्तिस्त्रिविधा भवति । श्रीभूमिनीलात्मिका भद्ररूपिणी प्रभावरूपिणी सोमसूर्याग्निरूपा भवति ॥12॥
सोमात्मिका ओषधीनां प्रभवति कल्पवृक्षपुष्पफललतागुल्मात्मिका औषधभेषजात्मिका अमृतरूपा देवानां महस्तोमफलप्रदा अमृतेन तृप्तिं जनयन्ती देवानामन्नेन पशूनां तृणेन तत्तज्जीवानाम् ॥13॥

वह शक्तिस्वरूपा देवी एक होते हुए भी परिच्छिन्न दृष्टिवालों के लिए तीन रूपवाली है—इच्छाशक्ति, क्रियाशक्ति और ज्ञानशक्ति। इनमें इच्छाशक्ति तीन प्रकार की होती है—श्री, भू और नीला। इन तीनों रूपों को धारण करके वह देवी अपने प्रभाव से सभी का कल्याण करने वाली है और चन्द्र, सूर्य और अग्नि का रूप धारण करती हैं। चन्द्रस्वरूपिणी होकर वे औषधियों का पोषण करती हैं। कल्पवृक्ष, फल, मूल, लता, पौधेरूपी औषधियों एवं अमृतरूप अन्य औषधियों का रूप भी उन्हींने धारण किया हुआ है। वह देवी उसी चन्द्र के रूप में देवताओं को 'महास्तोम' यज्ञ का फल देती हैं। अमृत, अन्न और तृण (घास) के द्वारा क्रमशः देवता, मानव और अन्य जीवों को तृप्त करती है।

सूर्यादिसकलभुवनप्रकाशिनी दिवा च रात्रिः कालकलानिमेषमारभ्य घटिकाष्टयामदिवस(वार)रात्रिभेदेन पक्षमासर्त्वयनसंवत्सरभेदेन मनुष्याणां शतायुःकल्पनया प्रकाशमाना चिरक्षिप्रव्यपदेशेन निमेषमारभ्य परार्धपर्यन्तं कालचक्रं जगच्चक्रमित्यादिप्रकारेण चक्रवत्परिवर्तमानाः सर्वस्यैतस्यैव कालस्य विभागविशेषाः प्रकाशरूपाः कालरूपा भवन्ति ॥14॥

वे सीताजी सूर्य आदि सकल भुवनों को भी प्रकाशित करने वाली हैं। वही देवी निमेष, घड़ी, आठ प्रहरवाले दिन-रात्रि, मास, पक्ष, ऋतु, अयन, संवत्सर आदि काल की कलाओं के भेद से मनुष्य की शत वर्षों की आयुष्य की कल्पना को पूरा करती हुई प्रकाशमान होती है। शीघ्र और विलम्ब के भेद से, निमिष से लेकर परार्ध तक के कालचक्र को ही संसार कहा जाता है। उसके सभी अंगप्रत्यंग विशेषरूप से प्रकाशमान और कालरूप इसलिए ही हैं कि ये सब चक्र की तरह परिवर्तनशील जो काल है, वही सीताजी का रूप है, और उसी कालरूप सीताजी के ही रूप हैं।

अग्निरूपा अन्नपानादिप्राणिनां क्षुत्तृष्णात्मिका देवानां मुखरूपा वनौषधीनां शीतोष्णरूपा काष्ठेष्वन्तर्बहिश्च नित्यानित्यरूपा भवति ॥15॥
श्रीदेवी त्रिविधं रूपं कृत्वा भगवत्सङ्कल्पानुगुण्येन लोकरक्षणार्थं रूपं धारयति । श्रीरिति लक्ष्मीरिति लक्ष्यमाणा भवतीति विज्ञायते ॥16॥

वह देवी प्राणियों के भीतर अग्नि के रूप में अवस्थित होकर अन्न-जल के खाने-पीने के लिए भूख और प्यास के रूप में उपस्थित रहती है। वही अग्निस्वरूपिणी देवी देवताओं के मुख के रूप में भी विद्यमान होती है और वही देवी वनौषधियों के लिए शीतोष्णरूप होती है तथा काष्ठों के लिए भीतर-बाहर नित्यानित्यस्वरूप बनती है। वे सीताजी श्रीदेवी के तीन रूप धारण करती हैं, और भगवान् के संकल्पानुसार सर्व लोगों का रक्षण करने के लिए महालक्ष्मी के रूप में प्रकट होती हैं, और श्री, लक्ष्मी आदि के द्वारा लक्षित होती हैं, ऐसा जाना जाता है।

भूदेवी ससागराम्भः सप्तद्वीपा वसुन्धरा भूरादिचतुर्दशभुवनानामाधाराधेया प्रणवात्मिका भवति ॥17॥
नीला च मुखविद्युन्मालिनी सर्वौषधीनां सर्वप्राणिनां पोषणार्थं सर्वरूपा भवति ॥18॥

प्रणवात्मिका माता सीता सात द्वीपों वाली, सागरों से युक्त, पृथ्वी के रूप में प्रकट होती हैं, उसे भूदेवी कहा जाता है। वह देवी पृथिव्यादि चौदहों भुवनों को आश्रय देने वाली हैं। वह आधार होने पर भी आधेय के रूप में प्रकट होती हैं। और विद्युन्माता के समान मुखवाली होकर सब औषधियों और प्राणियों के पोषण के लिए जब सर्वरूप होकर प्रकट होती है, तब वह नीला कही जाती हैं।

समस्तभुवनस्याधोभागे जलाकारात्मिका मण्डूकमयेति भुवनाधारेति विज्ञायते ॥19॥
क्रियाशक्तिस्वरूपं हरेर्मुखान्नादः। तन्नादाद्बिन्दुः। बिन्दोरोङ्कारः। ओङ्कारात्परतो रामवैखानसपर्वतः। तत्पर्वते कर्मज्ञानमयीभिर्बहुशाखा भवन्ति ॥20॥

जो देवी सभी भुवनों के नीचे के भाग में जलरूप मण्डूकमया होकर सभी भुवनों को आश्रय (आधार) देती है, वह भुवनाधारा भी आद्याशक्ति सीताजी ही हैं, ऐसा जाना जाता है। "परमात्मा की क्रियाशक्तिरूप सीताजी" का स्वरूप पहले भगवान् श्रीहरि के मुख से नाद के रूप में प्रकट हुआ। उस नाद से बिन्दु और बिन्दु से ओंकार प्रकट हुआ। ॐकार से परे रामरूपी वैखानस पर्वत है। उस पर्वत में ज्ञान और कर्मरूपी अनेक शाखाएँ आर्द्र हुई हैं।

तत्र त्रयीमयं शास्त्रमाद्यं सर्वार्थदर्शनम्।
ऋग्यजुःसामरूपत्वात्त्रयीति परिकीर्तिता ॥21॥
(हेतुना) कार्यसिद्धेन चतुर्धा परिकीर्तिता।
ऋचो यजूंषि सामानि अथर्वाङ्गिरसस्तथा ॥22॥
चातुर्होत्रप्रधानत्वाल्लिङ्गादित्रितयं त्रयी।
अथर्वाङ्गिरसं रूपं सामऋग्यजुरात्मकम् ॥23॥

उस पर्वत पर त्रयी नाम का एक आदिशास्त्र है, वह सभी अर्थों को प्रकट करने वाला है। ऋक् (पद्य), यजुस् (गद्य) और साम (गीति) रूप होने से त्रयी नाम दिया गया है। उसी वेदत्रयी को कार्य की सिद्धि के लिए (कार्य की सिद्धि की सुविधा के कारण से) चार नामों से अभिहित किया गया है। ये नाम ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद हैं। ये चारों यों तो यज्ञप्रधान ही हैं फिर भी अपने स्वरूप के आधार पर उन वेदों की गणना तीन में ही होती है। चौथा जो अथर्वांगिरस वेद है, वह साम, यजुस् और ऋक् का ही स्वरूप है।

तथा दिशन्त्याभिचारसामान्येन पृथक्पृथक्।
एकविंशतिशाखायामृग्वेदः परिकीर्तितः ॥24॥
शतं च नवशाखासु यजुषामेव जन्मनाम्।
साम्नः सहस्रशाखाः स्युः पञ्चशाखा अथर्वणः ॥25॥

आभिचारादिक क्रियाओं की वजह से ही यह पृथक् पृथक् (त्रयी और चतुर्वेद) गणना की गई है। (अब प्रत्येक वेद की शाखाओं की बात करते हैं कि—) ऋग्वेद की इक्कीस शाखाएँ हैं, यजुर्वेद की एक सौ नौ शाखाएँ हैं, सामवेद की एक हजार शाखाएँ हैं, तथा अथर्ववेद की पाँच शाखाएँ कही गई हैं।

- कुल शाखाएँ ११३५

वैखानसमतस्तस्मिन्नादौ प्रत्यक्षदर्शनम्।
स्मर्यते मुनिभिर्नित्यं वैखानसमतः परम् ॥26॥

कल्पो व्याकरणं शिक्षा निरुक्तं ज्योतिषं छन्द एतानि षडङ्गानि ॥27॥
उपाङ्गमयनं चैव मीमांसान्यायविस्तरः।
धर्मज्ञसेवितार्थं च वेदवेदोऽधिकं तथा ॥28॥

वेदों में पहले वैखानसमत को (श्रीराम के मत को) प्रत्यक्षदर्शन माना गया है। इसीलिए सभी ऋषिलोग परमवैखानस श्रीराम का स्मरण करते हैं। ऋषियों ने वेदों को कल्प, व्याकरण, शिक्षा, निरुक्त, ज्योतिष और छन्द—इन छः अंगों वाला तथा अयन (वेदान्त), मीमांसा और न्याय—इन तीन उपांगों वाला माना है। धर्म को जानने वाला मनुष्य वेदों के साथ उसके अंगों तथा उपांगों का अध्ययन करना अधिक अच्छा समझते हैं।

निबन्धाः सर्वशाखा च समयाचारसङ्गतिः।
धर्मशास्त्रं महर्षीणामन्तःकरणसम्भृतम्।
इतिहासपुराणाख्यमुपाङ्गं च प्रकीर्तितम् ॥29॥
वास्तुवेदो धनुर्वेदो गान्धर्वश्च तथा मुने।
आयुर्वेदश्च पञ्चैते उपवेदाः प्रकीर्तिताः ॥30॥
दण्डो नीतिश्च वार्ता च विद्या वायुजयः परः।
एकविंशतिभेदोऽयं स्वप्रकाशः प्रकीर्तितः ॥31॥

वेद की सभी शाखाओं में समय-समय पर मनुष्य अपने आचरण को शास्त्रसम्मत बनाने के लिए धर्मशास्त्रीय निबन्धों की रचना करते रहे हैं। ऋषियों ने धर्मशास्त्रों – आचार, व्यवहार और प्रायश्चित्तों – को अपने दिव्य ज्ञान से पुष्ट किया है और शास्त्रानुकूल बनाया है। और उन्हीं जैसे ऋषियों के द्वारा इतिहास, पुराण, वास्तुविद्या, धनुर्वेद, गंधर्ववेद और आयुर्वेद—ऐसे पाँच उपवेदों को भी प्रकट किया है। हे मुनि ! इन सभी के साथ ही दण्डनीति, व्यवहार-व्यापार, विद्या और प्राणजय (योगविद्या) का तथा परमतत्त्व में स्थिति आदि जो इक्कीस भेद हैं, वह सब स्वयंप्रकाशित शास्त्र हैं।

वैखानसऋषेः पूर्वं विष्णोर्वाणी समुद्भवेत्।
त्रयीरूपेण सङ्कल्प्य इत्थं देही विजृम्भते ॥32॥
संख्यारूपेण सङ्कल्प्य वैखानसऋषेः पुरा।
उदितो यादृशः पूर्वं तादृशं शृणु मेऽखिलम्।
शश्वद्ब्रह्ममयं रूपं क्रियाशक्तिरुदाहृता ॥33॥

प्राचीन समय में विष्णु की वाणी वैखानस ऋषि के हृदय में वेदत्रयी के रूप में आविर्भूत हुई। वह वाणी वैखानस के संकल्प से जिस संख्यादिरूप में हुई, वह सब सुनो। हरि की जो यह क्रियाशक्ति है, वह साक्षात् ब्रह्मस्वरूपिणी है। (अर्थात् पहले हरिमुख से उदित नाद ही संपूर्ण वेदशास्त्रकृति होकर बाद में ब्रह्मभाव को प्राप्त करके ब्रह्म ही होता है। यहाँ वैखानस का अर्थ विष्णु है। विष्णुमुखोत्पन्न नादवाणी त्रयीरूप से चार वेद और अनेक शाखाओं की संख्या के भेद से विजृंभित=गर्जित प्रसिद्ध है)। वही वेदशास्त्ररूप से विजृंभित वाणी प्रणवरूप से विलीन होती है। बिन्दु नादात्मरूप में, नाद विष्णु के रूप में, विष्णु ब्रह्ममय रूप में जिस गणना से विलीन होते हैं, उसी को क्रियाशक्ति कहा जाता है।

साक्षाच्छक्तिर्भगवतः स्मरणमात्ररूपाविर्भावप्रादुर्भावात्मिका निग्रहानुग्रहरूपा शान्तितेजोरूपा व्यक्ताव्यक्तकारणचरणसमग्रावयवमुखवर्ण-

भेदाभेदरूपा भगवत्सहचारिणी अनपायिनी अनवरतसहाश्रयिणी उदितानुदिताकारा निमेषोन्मेषसृष्टिस्थितिसंहारतिरोधानानुग्रहादिसर्व-शक्तिसामर्थ्यात्साक्षाच्छक्तिरिति गीयते ॥34॥

वह क्रियाशक्ति भगवान् की साक्षात् शक्ति है। वह भगवान् के संकल्पमात्र से ही संसार के विविध रूपों का आविर्भाव-तिरोभाव करती है। वह निग्रह (संयम) स्वरूप है और अनुग्रहरूपिणी भी है। वह शान्ति और तेजस्वरूप भी है, वह व्यक्त-अव्यक्त कारणरूप है, चरणादि समस्त अवयवरूप है, वह समस्त मुख और समस्त वर्णों के भेद और अभेद स्वरूपवाली, भगवान् के संकल्प का अनुसरण करने वाली, अविनाशी, सदैव उनका आश्रय करके रहने वाली कथनीय और अकथनीय—दोनों प्रकार के रूपों को धारण करने वाली, निमेष और उन्मेष के साथ इस जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और लय, सृष्टि का संहार और सृष्टि का तिरोधान करने वाली, अनुग्रह आदि सभी प्रकार का सामर्थ्य होने से वह क्रियाशक्तिरूपा सीताजी भगवान् की साक्षात् शक्ति कही जाती हैं।

इच्छाशक्तिस्त्रिविधा प्रलयावस्थायां विश्रमणार्थं भगवतो दक्षिणवक्षः-स्थले श्रीवत्साकृतिर्भूत्वा विश्राम्यतीति सा योगशक्तिः ॥35॥

भगवान् की इच्छाशक्तिरूप सीताजी के तीन रूप हैं—जब प्रलयकाल आता है, तब थकान उतारने के लिए भगवान् की छाती के दाहिने भाग पर अवस्थित श्रीवत्स का रूप वह धारण करती है, और विश्राम करती है, तब वह 'योगमाया' अथवा 'योगशक्ति' कहलाती है।

भोगशक्तिर्भोगरूपा कल्पवृक्षकामधेनुचिन्तामणिशङ्खपद्मनिध्यादिनव-निधिसमाश्रिता भगवदुपासकानां कामनयाऽकामनया वा भक्तियुक्ता नरं नित्यनैमित्तिककर्मभिरग्निहोत्रादिभिर्वा यमनियमासनप्राणायाम-प्रत्याहारधारणाध्यानसमाधिभिर्वालमनण्वपि गोपुरप्राकारादिभिर्वि-मानादिभिः सह भगवद्विग्रहार्चापूजोपकरणैरर्चनैः स्नानादिभिर्वा पितृ-पूजादिभिरन्नपानादिभिर्वा भगवत्प्रीत्यर्थमुक्त्वा सर्वं क्रियते ॥36॥

दूसरा रूप भोगशक्ति है। वह भोगरूप है। वह भोगरूपा सीताजी कल्पवृक्ष, कामधेनु, चिन्तामणि, शंख, पद्म, निधि आदि नवनिधि का रूप धारण किए हुए हैं। भगवान् के जो भक्त भगवान् की नित्य, नैमित्तिक, अग्निहोत्र और यज्ञादि कर्मों द्वारा अथवा यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि द्वारा उपासना करते हैं, उनकी इच्छा हो या न भी हो, तो भी उनके उपभोग के लिए वे तरह-तरह के भोग्य पदार्थ प्रदान करती हैं। वही गोपुर (स्वर्ग) प्राकार किले आदि को भी प्रदान करती हैं। वही शक्तिरूपा सीताजी भगवान् के श्रीविग्रह की पूजा-अर्चना की सामग्रियों के रूप में होती हैं, वही पितृपूजा और तीर्थस्नानादि के रूप में भी होती हैं। अन्न और रसादि के रूप में भी वही होती हैं। पर यह सब वह सिर्फ भगवान् को प्रसन्न करने के उद्देश्य से ही सम्पादित करती है।

अथातो वीरशक्तिश्चतुर्भुजाऽभयवरदपद्मधरा किरीटाभरणयुता सर्वदेवैः परिवृता कल्पतरुमूले चतुर्भिर्गजै रत्नघटैरमृतजलैरभिषिच्यमाना सर्वदैवतैर्ब्रह्मादिभिर्वन्द्यमाना अणिमाद्यष्टैश्वर्ययुता सम्मुखे कामधेनुना स्तूयमाना वेदशास्त्रादिभिः स्तूयमाना जयाद्यप्सरस्त्रीभिः परिचर्यमाणा

आदित्यसोमाभ्यां दीपाभ्यां प्रकाश्यमाना तुम्बुरुनारदादिभिर्गीयमाना राकासिनीवालीभ्यां छत्रेण ह्लादिनीमायाभ्यां चामरेण स्वाहास्वधाभ्यां व्यजनेन भृगुपुण्यादिभिरभ्यर्च्यमाना देवी दिव्यसिंहासने पद्मासनारूढा सकलकारणकार्यकरी लक्ष्मीर्देवस्य पृथग्भवनकल्पना। अलञ्चकार स्थिरा प्रसन्नलोचना सर्वदेवतैः पूज्यमाना वीरलक्ष्मीरिति विज्ञायत इत्युपनिषत् ॥37॥

इति सीतोपनिषत्समाप्ता।

अब तीसरा सीताजी का जो वीरशक्तिरूप है, वह चार भुजाओं वाला है और अभय तथा वरदान देने वाले पद्म को धारण किए हुए हैं। वह मुकुट और आभूषणों को धारण की हुई हैं। उनके चारों ओर से देवलोग उन्हें घेरे हुए हैं। वह कल्पतरु के मूल में खड़ी हैं। चार हाथी सोने के घड़ों से उन पर अमृत का अभिषेक कर रहे हैं। ब्रह्मा आदि सभी देव उनका वन्दन कर रहे हैं। वे अणिमा, लघिमा आदि आठ सिद्धियों से युक्त हैं। उनके सन्मुख कामधेनु उनकी स्तुति कर रही हैं। वेद और शास्त्रों में उन्हीं की स्तुति की गई है। जया आदि अप्सराएँ उनकी सेवा कर रही हैं। सूर्य और चन्द्ररूपी दो दीप उन्हें प्रकाशित कर रहे हैं। तुम्बुरु और नारद आदि उनके गीत गा रहे हैं। राका एवं सीनीवाली नाम की दो देवियाँ छत्र लेकर खड़ी हैं। वे स्वाहा और स्वधा के द्वारा पंखा से हवा की जा रही हैं। ह्लादिनी और मायाशक्तियाँ इन्हें चामर डुला रही हैं। भृगु और पुण्य आदि ऋषि इनकी पूजा कर रहे हैं। वह दिव्य सिंहासन पर पद्मासन लगाकर बैठी हैं। वह सकल कार्यों और कारणों को करने वाली हैं। वह महालक्ष्मीरूपा भगवती सीताजी स्वयं स्थिर होते हुए भी तरह-तरह के अलग-अलग भवनों (रूपों) के द्वारा मानो देव का शृंगार कर रही हों, ऐसी हैं। उनकी आँखें प्रसन्न हैं। सभी देवताओं के द्वारा वे पूजित हैं। ऐसी देवी को (देवी के ऐसे रूप को) वीरशक्ति के रूप में जाना जाता है।

इस प्रकार यह उपनिषद् यहाँ पूरी होती है।

शान्तिपाठः

ॐ भद्रं कर्णेभिः"""देवहितं यदायुः। (पूर्ववत्)
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

❀

(47) योगचूडामण्युपनिषत्

(उपनिषत्परिचय)

इस सामवेदीय उपनिषद् में योग-साधना से आत्मशक्ति जगाने की प्रक्रिया बताई गई है। पहले योग के आसनादि छः अंगों को बताकर योगसिद्धि के आवश्यक देहतत्त्वज्ञान, मूलाधारादिचक्रज्ञान, कुण्डलिनी में परमज्योतिदर्शन, नाडीचक्र, नाडीस्थान, नाडीसंचरित प्राणवायु और उसकी क्रियाएँ, प्राणसह जीव की गतिमयता, अजपागायत्री अनुसन्धान, कुण्डलिनी द्वारा मोक्षद्वार-भेदन, तीन बन्ध, खेचरी मुद्रा, वज्रोली आदि के लक्षण, महामुद्रास्वरूप, प्रणवजप की विशेष प्रक्रिया, प्रणव-ब्रह्म का ऐक्य, प्रणवावयवों का अर्थ, तुरीयोंकार से अक्षरब्रह्मसाधना, प्रणव-हंस साधना, आत्मज्ञानबोधक प्रणवजाप, प्राणजय की आवश्यकता और इसी प्रकार से अनेकानेक योगविषय और उनके फल बताए गए हैं। सचमुच ही इसका 'योगचूडामणि' नाम अन्वर्थक है, क्योंकि इसमें योग के अनेक विषय दिए हुए हैं और इसका उपासक योग का चूडामणि (मुकुट) बन सकता है।

शान्तिपाठः

ॐ आप्यायन्तु ममाङ्गानि......ते मयि सन्तु। (पूर्ववत्)
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

इसका हिन्दी रूपान्तर पूर्व में (आरुण्युपनिषद् में) द्रष्टव्य है।

योगचूडामणिं वक्ष्ये योगिनां हितकाम्यया।
कैवल्यसिद्धिदं गूढं सेवितं योगवित्तमैः ॥1॥
आसनं प्राणसंरोधः प्रत्याहारश्च धारणा।
ध्यानं समाधिरेतानि योगाङ्गानि भवन्ति षट् ॥2॥
एकं सिद्धासनं प्रोक्तं द्वितीयं कमलासनम्।
षट्चक्रं षोडशाधारं त्रिलक्ष्यं व्योमपञ्चकम् ॥3॥
स्वदेहे यो न जानाति तस्य सिद्धिः कथं भवेत्।
चतुर्दलं स्यादाधारं स्वाधिष्ठानं च षड्दलम् ॥4॥
नाभौ दशदलं पद्मं हृदये द्वादशारकम्।
षोडशारं विशुद्धाख्यं भ्रूमध्ये द्विदलं तथा ॥5॥

योगियों के कल्याण की कामना से मैं योगचूडामणि नामक उपनिषद् को कहूँगा। यह उपनिषद् कैवल्य की सिद्धि कराने वाली है और श्रेष्ठ योगियों के द्वारा परिशीलन की गई एवं रहस्यमय है। आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि—इन छः अंगों से युक्त को **'योग'** कहा गया है। यहाँ आसन के दो प्रकार बताए गए हैं—एक सिद्धासन और दूसरा पद्मासन। जो साधक अपनी देह के भीतर छः चक्रों को, सोलह आधारों को, तीन लक्ष्यों को और पाँच आकाशों को नहीं पहचान पाता, उसे सिद्धि भला कहाँ से मिल सकती है? शरीर में स्थित छः चक्रों में जो आधार चक्र

(मूलाधारचक्र) है, वह चार दलों (पंखुडियों) वाला है, और जो स्वाधिष्ठानचक्र है, उसमें छः दल हैं। नाभि में स्थित पद्म दश दलों वाला है और हृदय में अवस्थित पद्मचक्र बारह दलों वाला है। जो विशुद्धचक्र है, वह सोलह दल वाला है और भ्रूमध्य में जो आज्ञाचक्र (पद्म) है, वह दो दलों वाला है।

सहस्रदलसंख्यातं ब्रह्मरन्ध्रे महापथि।
आधारं प्रथमं चक्रं स्वाधिष्ठानं द्वितीयकम् ॥6॥
योनिस्थानं द्वयोर्मध्ये कामरूपं निगद्यते।
कामाख्यं तु गुदस्थाने पङ्कजं तु चतुर्दलम् ॥7॥
तन्मध्ये प्रोच्यते योनिः कामाख्या सिद्धवन्दिता।
तस्य मध्ये महालिङ्गं पश्चिमाभिमुखं स्थितम् ॥8॥

ब्रह्मरन्ध्र के महापथ में आया हुआ पद्मचक्र हजार दलवाला है। मूलाधार प्रथम चक्र है और स्वाधिष्ठान दूसरा चक्र है। उन दोनों के बीच में योनिस्थान (कुण्डलिनी) है। वह जगत् की उत्पत्ति का कारण है, इसलिए उसे 'कामरूप' कहा गया है। गुदा स्थल में चार दलवाला कमल स्थित है, उसे 'काम' कहा गया है। उसी काम नामक कमल के बीच में सिद्ध पुरुषों के द्वारा वन्दित पश्चिम की ओर मुँह किया हुआ महालिंग स्थित है।

नाभौ तु मणिवद्बिम्बं यो जानाति स योगवित्।
तप्तमाचीकराभासं तडिल्लेखेव विस्फुरत् ॥9॥
त्रिकोणं तत्पुरं वह्नेरधोमेढ्रात्प्रतिष्ठितम्।
समाधौ परमं ज्योतिरनन्तं विश्वतोमुखम् ॥10॥

नाभि-स्थल में मणि के आकारवाले मणिपूर नामक चक्र को जानने वाला जो योगी है, वही सही रूप में योग को जानने वाला है। वह तपाए गए स्वर्ण जैसी कान्तिवाला, विद्युत् की तरह चमकने वाला त्रिकोणाकार होता है और वह अग्निरूप मेढ़ में प्रतिष्ठित रहता है। समाधि की अवस्था में इस स्थान पर अनन्त विश्वतोमुख (चारों ओर) परमज्योति के दर्शन होते हैं।

तस्मिन्दृष्टे महायोगे यातायातो न विद्यते।
स्वशब्देन भवेत्प्राणः स्वाधिष्ठानं तदाश्रयः ॥11॥
स्वाधिष्ठानाश्रयादस्मान् मेढ्रमेवाभिधीयते।
तन्तुना मणिवत्प्रोतो योऽत्र कन्दः सुषुम्नया ॥12॥

यदि महान् योगाभ्यास से इस महाअग्नि को (अग्निमयी ज्वाला को) देख लिया जाए, तो फिर यहाँ आने-जाने से मुक्ति मिल जाएगी। स्वाधिष्ठानचक्र को स्व = प्राण का अधिष्ठान = निवासस्थान कहा जाता है। स्व के अधिष्ठान में रहने के कारण से ही उसे 'मेढ़' भी कहा जाता है। जिस प्रकार मोती में धागा पिरोया जाता है, वैसे ही कन्द (नाडी समूह) सुषुम्ना से युक्त होता है।

तन्नाभिमण्डले चक्रं प्रोच्यते मणिपूरकम्।
द्वादशारे महाचक्रे पुण्यपापविवर्जिते ॥13॥
तावज्जीवो भ्रमत्येवं यावत्तत्त्वं न विन्दति।
ऊर्ध्वं मेढ्रादधो नाभेः कन्दे योनिः खगाण्डवत् ॥14॥

तत्र नाड्यः समुत्पन्नाः सहस्राणां द्विसप्ततिः ।
तेषु नाडीसहस्रेषु द्विसप्ततिरुदाहता ॥15॥
प्रधानाः प्राणवाहिन्यो भूयस्तासु दश स्मृताः ।
इडा च पिङ्गला चैव सुषुम्ना च तृतीयगा ॥16॥
गान्धारी हस्तिजिह्वा च पूषा चैव यशस्विनी ।
अलम्बुसा कुहूश्चैव शङ्खिनी दशमी स्मृता ॥17॥

नाभिमण्डल में स्थित बारह दलों वाला मणिपूरचक्र पाप और पुण्य से रहित है। जब तक जीव इस चक्र के रहस्य को नहीं समझता, तब तक वह इस संसार में ही चक्कर लगाया करता है। पक्षी के अण्डे के आकारवाली योनि (कुण्डलिनी) मेढ़ और नाभि के बीच में स्थित है और वहीं से बहत्तर हजार नाडियों का जाल सारे शरीर में फैला हुआ है। इन बहत्तर हजार में बहत्तर नाडियाँ मुख्य हैं। इन बहत्तर में भी दस नाडियाँ मुख्य मानी गई हैं। ये दस प्रमुख नाड़ियाँ हैं—1. इडा, 2. पिंगला, 3. सुषुम्ना, 4. गान्धारी, 5. हस्तिजिह्वा, 6. पूषा, 7. यशस्विनी, 8. अलम्बुसा, 9. कुहू और 10. शंखिनी।

एतन्नाडीमहाचक्रं ज्ञातव्यं योगिभिः सदा ।
इडा वामे स्थिता भागे दक्षिणे पिङ्गला स्थिता ॥18॥
सुषुम्ना मध्यदेशे तु गान्धारी वामचक्षुषि ।
दक्षिणे हस्तिजिह्वा च पूषा कर्णे च दक्षिणे ॥19॥
यशस्विनी वामकर्णे चानने चाप्यलम्बुसा ।
कुहूश्च लिङ्गदेशे तु मूलस्थाने तु शङ्खिनी ॥20॥

योगियों को इस नाड़ीचक्र का ज्ञान होना ही चाहिए। हमारे शरीर में इडा नाडी नासिका की बाँयीं ओर तथा पिंगला नाडी नासिका की दाहिनी ओर होती है। और इन इडा और पिंगला नाड़ियों के बीच सुषुम्ना रहती है। दक्षिण नेत्र में हस्तिजिह्वा तथा वाम नेत्र में गान्धारी का निवास है। इसी तरह पूषा दाहिने कान में और यशस्विनी बाँये कान में वास करती है। मुँह में अलम्बुसा तथा लिंगप्रदेश में कुहू तथा मूलस्थान में शंखिनी नाडी का वास है।

एवं द्वारं समाश्रित्य तिष्ठन्ते नाडयः क्रमात् ।
इडापिङ्गलासौषुम्नाः प्राणमार्गे च संस्थिताः ॥21॥
सततं प्राणवाहिन्यः सोमसूर्याग्निदेवताः ।
प्राणापानसमानाख्या व्यानोदानौ च वायवः ॥22॥
नागः कूर्मोऽथ कृकरो देवदत्तो धनञ्जयः ।
हृदि प्राणः स्थितो नित्यमपानो गुदमण्डले ॥23॥
समानो नाभिदेशे तु उदानः कण्ठमध्यगः ।
व्यानः सर्वशरीरे तु प्रधानाः पञ्च वायवः ॥24॥

संपूर्ण शरीर के भीतर एक-एक द्वार पर एक-एक नाडी रहती है और प्राणमार्ग में इडा, पिंगला और सुषुम्ना रहती है। सोम, सूर्य और अग्निदेवता प्राणों के वाहक हैं। प्राण, अपान, उदान, समान

और व्यान—ये पाँच प्राणवायु माने गए हैं। नाग, कूर्म, कृकल, देवदत्त और धनंजय—ये पाँचों उपप्राणवायु माने गए हैं। शरीर के भीतर हृदय में मुख्य प्राणवायु रहता है, गुदास्थान में अपान, नाभिस्थान में समान, कण्ठ में उदान तथा संपूर्ण शरीर में व्यानवायु अवस्थित रहता है। ये पाँचों प्रधान प्राणवायु शरीर के पाँच स्थानों में निवास कर रहे हैं।

उद्गारे नाग आख्यातः कूर्म उन्मीलने तथा ।
कृकरः क्षुत्करो ज्ञेयो देवदत्तो विजृम्भणे ॥25॥
न जहाति मृतं वापि सर्वव्यापी धनञ्जयः ।
एते नाडीषु सर्वासु भ्रमन्ते जीवजन्तवः ॥26॥

ऊर्ध्ववायु में (डकार में) नाग नामक उपप्राण की स्थिति है। आँखों की पलक की झपक में कूर्मवायु की तथा छींकने में कृकर की एवं जम्भाई में देवदत्तवायु की स्थिति रहती है। धनंजय उपप्राण तो शरीर में इस तरह व्याप्त है कि वह मरण के बाद भी शरीर को नहीं छोड़ता है। जीव इन्हीं नाडियों में घूमता रहता है।

आक्षिप्तो भुजदण्डेन यथा चलति कन्दुकः ।
प्राणापानसमाक्षिप्तस्तथा जीवो न तिष्ठति ॥27॥
प्राणापानवशो जीवो ह्यधश्चोर्ध्वं च गच्छति ।
वामदक्षिणमार्गाभ्यां चञ्चलत्वान्न दृश्यते ॥28॥
रज्जुबद्धो यथा श्येनो गतोऽप्याकृष्यते पुनः ।
गुणबद्धस्तथा जीवः प्राणापानेन कर्षति ॥29॥
प्राणापानवशो जीवो ह्यधश्चोर्ध्वं च गच्छति ।
अपानः कर्षति प्राणं प्राणोऽपानं च कर्षति ।
ऊर्ध्वाधःसंस्थितावेतौ यो जानाति स योगवित् ॥30॥

हाथ से फेंके गए कन्दुक की भाँति जीव प्राण और अपानादि वायुओं से फेंका गया होने से स्थिर नहीं रहता अर्थात् इधर-उधर उछलता रहता है। यह जीव प्राणापान आदि वायुओं के वश में रहकर ऊपर-नीचे आया-जाया करता है। वह दाहिने-बाँयें मार्ग पर भी आवागमन करता रहता है। उसका वह गमनचक्र तीव्रता से चलता है इसलिए वह दिखाई नहीं पड़ता। रस्सी से बाँधा हुआ बाजपक्षी ऊपर उड़ता हुआ भी जैसे खींच लिया जाता है, वैसे ही गुणों से बँधा हुआ यह जीव भी प्राण और अपान वायु के द्वारा खींचा जाता है। प्राणवायु अपानवायु को खींचता है और अपानवायु प्राणवायु को खींचता रहता है। प्राण-अपान की इस क्रिया के द्वारा जीव भी ऊपर-नीचे आया-जाया ही करता रहता है। प्राण और जीव की इस ऊपर-नीचे आने-जाने की क्रिया को जो जानता है, वही योग को सही रूप से जानता है।

हकारेण बहिर्याति सकारेण विशेत्पुनः ।
हंसहंसेत्यमुं मन्त्रं जीवो जपति सर्वदा ॥31॥
षट्शतानि दिवारात्रौ सहस्राण्येकविंशतिः ।
एतत्संख्यान्वितं मन्त्रं जीवो जपति सर्वदा ॥32॥
अजपा नाम गायत्री योगिनां मोक्षदा सदा ।
अस्याः सङ्कल्पमात्रेण सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥33॥

अनया सदृशी विद्या अनया सदृशो जपः ।
अनया सदृशं ज्ञानं न भूतं न भविष्यति ॥34॥

हमारी साँस 'हकार' से बाहर निकलती है और 'सकार' से भीतर आती है । इस तरह यह जीव सदैव 'हंस हंस' इस तरह हंसमन्त्र का जाप करता ही रहता है । इस तरह दिन-रात मन्त्र का जाप करते रहने से यह जीव प्रतिदिन इक्कीस हजार छः सौ मन्त्र जपता है । यही अजपा गायत्री योगियों के लिए मुक्ति देने वाली है । इसके संकल्प मात्र से सर्वपापों से मुक्ति मिल जाती है । इसके समान कोई विद्या, कोई जप, कोई ज्ञान अभी तक न हुआ है और भविष्य में होगा भी नहीं ।

कुण्डलिन्या समुद्भूता गायत्री प्राणधारिणी ।
प्राणविद्या महाविद्या यस्तां वेत्ति स वेदवित् ॥35॥
कन्दोर्ध्वे कुण्डलीशक्तिरष्टधा कुण्डलाकृतिः ।
ब्रह्मद्वारमुखं नित्यं मुखेनाच्छाद्य तिष्ठति ॥36॥
येन द्वारेण गन्तव्यं ब्रह्मद्वारं मनोमयम् ।
मुखेनाच्छाद्य तद्द्वारं प्रसुप्ता परमेश्वरी ॥37॥
प्रबुद्धा वह्नियोगेन मनसा मरुता सह ।
सूचीवद्गात्रमादाय व्रजत्यूर्ध्वं सुषुम्नया ॥38॥
उद्घाटयेत्कवाटं तु यथा कुञ्जिकया गृहम् ।
कुण्डलिन्यां तथा योगी मोक्षद्वारं प्रभेदयेत् ॥39॥

यह गायत्री कुण्डलिनी से उत्पन्न हुई है, यह प्राणों को धारण करने वाली है, यह प्राणविद्या और महाविद्या है—इस प्रकार जो जान लेता है, वही वेद को सही रूप से जानता है । कुण्डलिनीशक्ति कन्द के ऊर्ध्वभाग में आठ कुण्डलों के आकार में व्याप्त होकर सुषुम्ना नामक ब्रह्मद्वार के मुख को अपने मुख से ढँककर ही रहती है । जिस मनोमय ब्रह्मद्वार – सुषुम्ना में प्रवेश किया जाता है, उसी द्वार को अपने मुख से ढँककर वह परमेश्वरी शक्ति (कुण्डिलिनी) सोई रहती है । वह्नियोग (अग्नियोग) के द्वारा वह जाग्रत् होती है और फिर प्रकाश के रूप में मन और प्राणवायु के साथ सुषुम्ना नाडी के भीतर सुई की तरह ऊपर की ओर गति करती है । जिस तरह चाभी से घर का किवाड़ (ताला) खोला जाता है, वैसे ही कुण्डलिनी शक्ति के द्वारा योगीजन मुक्ति का द्वार खोल लेते हैं ।

कृत्वा सम्पुटितौ करौ दृढतरं बध्वा तु पद्मासनं
गाढं वक्षसि सन्निधाय चुबुकं ध्यानं च तच्चेष्टितम् ।
वारंवारमपानमूर्ध्वमनिलं प्रोच्चारयेत्पूरितं
मुञ्चन्प्राणमुपैति बोधमतुलं शक्तिप्रभावान्नरः ॥40॥

पहले दृढता से पद्मासन लगाकर, हाथों का संपुट करके (ऊपर-नीचे करके) गोदी में रखना चाहिए । बाद में सिर को नीचा करके ठोड़ी को छाती पर लगाना चाहिए । फिर, ब्रह्म में एकाग्रता करनी चाहिए और बार-बार श्वास को भीतर खींचते रहना और बाहर निकालते रहना चाहिए । अर्थात् प्राणवायु को भीतर खींचते रहना चाहिए और अपानवायु को बाहर निकालते रहना चाहिए । इस तरह से प्राणायाम करते रहने से मनुष्य को अतुल शक्ति की अनुभूति होती है ।

अङ्गानां मर्दनं कृत्वा श्रमसञ्जातवारिणा ।
कट्वम्ललवणत्यागी क्षीरभोजनमाचरेत् ॥41॥

ब्रह्मचारी मिताहारी योगी योगपरायणः ।
अब्दादूर्ध्वं भवेत्सिद्धो नात्र कार्या विचारणा ॥42॥
सुस्निग्धमधुराहारश्चतुर्थांशविवर्जितः ।
भुञ्जते शिवसम्प्रीत्या मिताहारी स उच्यते ॥43॥
कन्दोर्ध्वे कुण्डलीशक्तिरष्टधा कुण्डलाकृतिः ।
बन्धनाय च मूढानां योगिनां मोक्षदा सदा ॥44॥

इस विधि के अनुसार प्राणायाम के परिशीलन से शरीर में जो पसीना उत्पन्न होगा, उसको शरीर में ही मर्दन कर लेना चाहिए तथा तीखे, खट्टे तथा नमकीन पदार्थों का त्याग करके दूध का ही आहार करना चाहिए । ब्रह्मचारी और मिताहारी वह योगी यदि योगाभ्यास में सदैव तत्पर रहे, तो उसे एक वर्ष में ही योग की सिद्धि मिल जाती है, इसमें किसी शंका का स्थान नहीं है । योग-साधक को स्निग्ध और मधुर पदार्थ ही खाने चाहिए । उसे (कुक्षि का) एक चतुर्थांश भाग खाली रखकर ही खाना चाहिए (ऊनोदरी रहना चाहिए अर्थात् एक द्वितीयांश अन्न, एक चतुर्थांश जल और एक चतुर्थांश खाली—इस तरह भोजन करना चाहिए) । आठ कुण्डलों वाली कुन्द के ऊपर के भाग में जो कुण्डलिनीशक्ति है, वह योगियों के लिए मोक्ष देने वाली है, तथा अज्ञानियों के लिए बन्धनकारक भी कही गई है ।

महामुद्रा नभोमुद्रा ओड्याणं च जलन्धरम् ।
मूलबन्धं च यो वेत्ति स योगी मुक्तिभाजनम् ॥45॥
पार्ष्णिघातेन सम्पीड्य योनिमाकुञ्चयेद्दृढम् ।
अपानमूर्ध्वमाकृष्य मूलबन्धो विधीयते ॥46॥
अपानप्राणयोरैक्यं क्षयान्मूत्रपुरीषयोः ।
युवा भवति वृद्धोऽपि सततं मूलबन्धनात् ॥47॥
ओड्याणं कुरुते यस्मादविश्रान्तं महाखगः ।
ओड्डियाणं तदेव स्यान्मृत्युमातङ्गकेसरी ॥48॥

महामुद्रा, नभोमुद्रा, उड्डियाणबन्ध, जालन्धरबन्ध और मूलबन्ध को जो जानता है, वह योगी मोक्ष प्राप्त करता है । एड़ी से योनि (सीवनी स्थल) को दबाकर दृढ़ता से उसे संकुचित करके अपानवायु को ऊपर की ओर खींचने की जो क्रिया होती है उसे मूलबन्ध कहा जाता है । मूलबन्ध में इस प्रकार प्राण और अपान को एक में मिलाया जाता है । इससे मल-मूत्र कम हो जाता है और इस मूलबन्ध का अभ्यास करने से बूढ़ा भी जवान हो जाता है । गिद्ध आदि बड़े पक्षी जैसे बिना थके ही आकाश में ऊँचे उड़ते हैं, उसी प्रकार 'उड्डियाणबन्ध' का अभ्यास किया जाता है । वह बन्ध मृत्युरूपी हाथी को पछाड़ने के लिए सिंह के समान होता है । (कहा जाता है कि बड़े पक्षियों को उड़ने से थकान नहीं, अपितु नयी शक्ति आ जाती है । इसी प्रकार इस उड्डियाणबन्ध के अभ्यास से थकान नहीं, अपितु साधक में नयी शक्ति का संचार होता है) ।

उदरात्पश्चिमं ताणमधोनाभेर्निगद्यते ।
ओड्याणमुदरे बन्धस्तत्र बन्धो विधीयते ॥49॥
बध्नाति हि शिरोजातमधोगामि नभोजलम् ।
ततो जालन्धरो बन्धः कष्टदुःखौघनाशनः ॥50॥
जालन्धरे कृते बन्धे कण्ठसङ्कोचलक्षणे ।
न पीयूषं पतत्यग्नौ न च वायुः प्रधावति ॥51॥

कपालकुहरे जिह्वा प्रविष्टा विपरीतगा ।
भ्रुवोरन्तर्गता दृष्टिर्मुद्रा भवति खेचरी ॥52॥

पेट को नाभि के नीचे सामने खींचने को पश्चिमोत्तान कहा जाता है। और उसी जगह पेट में ही यह उड्डियाणबन्ध भी किया जाता है। जो साधक शरीर में नीचे की ओर बहते हुए खेचरी मुद्रा के द्वारा क्षरित होने वाले आकाशजल को अपने मस्तक में रोकता है, उसकी उस क्रिया को 'जालन्धरबन्ध' कहा जाता है। वह बन्ध कष्टों और दुःखों के समूह को नष्ट कर देता है। इस जालन्धरबन्ध में सामने की ओर मस्तक को झुकाकर, गले से नीचे ठोढ़ी को हृदय से स्पर्श कराना होता है। इससे अमृत वायु की ओर या अग्नि की ओर न जाकर स्थिर रहता है। दृष्टि को दोनों भौहों के बीच स्थिर करके जीभ को गले की ओर पीछे खींचकर गले के मध्य तालु में (कपालकुहर में) प्रवेश कराया जाय, तब वह खेचरी मुद्रा कही जाती है।

न रोगो मरणं तस्य न निद्रा न क्षुधा तृषा ।
न च मूर्च्छा भवेत्तस्य यो मुद्रां वेत्ति खेचरीम् ॥53॥
पीड्यते न च रोगेण लिप्यते न स कर्मभिः ।
बाध्यते न च केनापि यो मुद्रां वेत्ति खेचरीम् ॥54॥
चित्तं चरति खे यस्माज्जिह्वा चरति खे यतः ।
तेनेयं खेचरी मुद्रा सर्वसिद्धनमस्कृता ॥55॥
बिन्दुमूलशरीराणि शिरास्तत्र प्रतिष्ठिताः ।
भावयन्ती शरीराणि आपादतलमस्तकम् ॥56॥

जो साधक खेचरी मुद्रा को जान लेता है और साधना करता है, उसे रोग, भय, भूख, प्यास और मूर्च्छा आदि से छुटकारा मिल जाता है। खेचरी मुद्रा जानने वाले को किसी रोग से कोई पीड़ा नहीं होती और कर्मों में भी वह लिप्त नहीं होता और कोई विघ्न भी उसके पास नहीं फटकता। खेचरी मुद्रा की साधना करने से चित्त और जीभ आकाश में विचरण करते हैं। इसलिए ऐसी खेचरी मुद्रा की सभी सिद्ध लोग वन्दना करते हैं। मस्तक से लेकर चरणों तक के शरीर के सभी अंगों का जिन शिराओं के द्वारा पोषण होता है, उन सभी शिराओं का मूलबिन्दु खेचरी मुद्रा ही है।

खेचर्या मुद्रितं येन विवरं लम्बिकोर्ध्वतः ।
न तस्य क्षीयते बिन्दुः कामिन्यालिङ्गितस्य च ॥57॥
यावद्बिन्दुः स्थितो देहे तावन्मृत्युभयं कुतः ।
यावद्बद्धा नभोमुद्रा तावद्बिन्दुर्न गच्छति ॥58॥
ज्वलितोऽपि यथा बिन्दुः सम्प्राप्तश्च हुताशनम् ।
व्रजत्यूर्ध्वं गतः शक्त्या निरुद्धो योनिमुद्रया ॥59॥
स पुनर्द्विविधो बिन्दुः पाण्डरो लोहितस्तथा ।
पाण्डरं शुक्लमित्याहुर्लोहिताख्यं महारजः ॥60॥

जिस साधक ने खेचरी मुद्रा के द्वारा अपनी जीभ के ऊपर कपालकुहर को आच्छादित कर लिया है, उस साधक का किसी कामिनी के आलिंगन करने पर भी बिन्दुस्खलन नहीं होता। जब तक वह साधक खेचरी मुद्रा को बाँधकर रहता है, तब तक बिन्दुपात नहीं होता। और जब तक बिन्दुपात नहीं होता अर्थात् जब तक बिन्दु शरीर में रहता है, तब तक मृत्यु से क्या भय है ? यदि प्रज्वलित अग्नि

में बिन्दुपात हो भी जाए तो उसे योनिमुद्रा के द्वारा बलपूर्वक रोका जा सकता है, और ऊर्ध्वगामी बनाया जा सकता है। वह बिन्दु सफेद और लाल—दो रंग का होता है। श्वेत बिन्दु को शुक्र (वीर्य) नाम दिया गया है और लाल बिन्दु को 'महारज' नाम दिया गया है।

सिन्दूरव्रातसङ्काशं रविस्थानस्थितं रजः ।
शशिस्थानस्थितं शुक्लं तयोरैक्यं सुदुर्लभम् ॥61॥
बिन्दुर्ब्रह्मा रजः शक्तिर्बिन्दुरिन्दू रजो रविः ।
उभयोः सङ्गमादेव प्राप्यते परमं पदम् ॥62॥
वायुना शक्तिचालेन प्रेरितं च यथा रजः ।
याति बिन्दुः सदैकत्वं भवेद्दिव्यवपुस्तदा ॥63॥
शुक्लं चन्द्रेण संयुक्तं रजः सूर्येण सङ्गतम् ।
तयोः समरसैकत्वं यो जानाति स योगवित् ॥64॥

सिन्दूर के ढेर के समान प्रकाशित रविस्थान में वह रज (महारज) अवस्थित है। तथा चन्द्रस्थान में शुक्ल (शुक्र) स्थित है। शुक्ल और रज का संयोग बड़ा कठिन होता है। बिन्दु ब्रह्मारूप है तथा रज शक्तिस्वरूप है। बिन्दु चन्द्ररूप है और रज सूर्यरूप है। इन दोनों का योग (मिलन) होने से ही परमपद की प्राप्ति होती है। जब वायु से (प्राणायाम से) शक्तिचालिनी मुद्रा के जरिए गतिशील बने हुए 'रज' बिन्दु के साथ एकाकार हो जाता है, तब शरीर दिव्य हो जाता है। जिस प्रकार रज का संयोग सूर्य में और शुक्ल (शुक्र) का संयोग चन्द्र में होता है, उस विषय को और दोनों के एकाकार होने को जो साधक जानता है, वह योग को जानने वाला है।

शोधनं नाडिजालस्य चालनं चन्द्रसूर्ययोः ।
रसानां शोषणं चैव महामुद्राभिधीयते ॥65॥
वक्षोन्यस्तहनुः प्रपीड्य सुचिरं योनिं च वामाङ्घ्रिणा
हस्ताभ्यामनुधारयन्प्रसरितं पादं तथा दक्षिणम् ।
आपूर्य श्वसनेन कुक्षियुगलं बध्वा शनै रेचये-
त्सेयं व्याधिविनाशिनी सुमहती मुद्रा नृणां कथ्यते ॥66॥
चन्द्रांशेन समभ्यस्य सूर्यांशेनाभ्यसेत्पुनः ।
या तुल्या तु भवेत्संख्या ततो मुद्रां विसर्जयेत् ॥67॥
नहि पथ्यमपथ्यं वा रसाः सर्वेऽपि नीरसाः ।
अतिभुक्तं विषं घोरं पीयूषमिव जीर्यते ॥68॥

जिस साधना से नाडीसमूह का शोधन किया जा सकता है, जिससे सूर्य-चन्द्र को चलाया जा सकता है तथा जिससे रस का शोषण किया जा सकता है, उस साधना को 'महामुद्रा' कहा जाता है। बाँये पैर से योनिस्थान पर दबाव डालकर ठोढी को छाती पर लगाना चाहिए और फिर दाहिना पैर सीधा फैलाकर दोनों हाथों से अँगुलियों सहित उस दाहिने पैर को पकड़कर दोनों कुक्षियों में अर्थात् पेट में पूरा श्वास भरकर धीरे-धीरे बाहर निकालना चाहिए। ऐसी यह महामुद्रा की क्रिया है। यह क्रिया सभी प्रकार की व्याधियों को नष्ट कर देती है। अभ्यास के क्रम में सबसे पहले तो बाँयीं नासिका से (चन्द्र अंश से) श्वास को खींचकर बाद में रेचन करते हुए अभ्यास करना चाहिए। फिर उसी तरह दायीं नासिका से (सूर्य अंश से) श्वास को खींचकर बाद में रेचन का अभ्यास करना चाहिए। इस महामुद्रा

के करने से पथ्य या अपथ्य—सभी प्रकार का नीरस भोजन भी सरस हो जाता है। भोजन ज्यादा कर लेने पर या विष खा लेने पर भी वह अमृत के समान पच ही जाता है।

क्षयकुष्ठगुदावर्तगुल्माजीर्णपुरोगमाः।
तस्य रोगाः क्षयं यान्ति महामुद्रां तु योऽभ्यसेत् ॥69॥
कथितेयं महामुद्रा महासिद्धिकरी नृणाम्।
गोपनीया प्रयत्नेन न देया यस्य कस्यचित् ॥70॥
पद्मासनं समारुह्य समकायशिरोधरः।
नासाग्रदृष्टिरेकान्ते जपेदोङ्कारमव्ययम् ॥71॥

इस महामुद्रा की साधना करने वाले योगी को इसके प्रभाव से क्षय, कोढ़, भगन्दर, गुल्म, अजीर्ण आदि नहीं होते और भविष्य में भी वह रोगों से मुक्त ही रहता है। यह महामुद्रा साधकों को बड़ी सिद्धियाँ प्रदान करती है। इस मुद्रा को हर किसी को (अनधिकारी) को नहीं बताना चाहिए। इसे प्रयत्नपूर्वक गोपनीय रखना चाहिए। किसी एकान्त स्थल में पद्मासन लगाकर कमर से मस्तक तक शरीर को सीधा रखकर नासिका के अग्रभाग पर दृष्टि रखते हुए अव्यय प्रणवमन्त्र का – ओंकार का जाप करना चाहिए।

ॐ नित्यं शुद्धं बुद्धं निर्विकल्पं निरञ्जनं निराख्यातमनादिनिधनमेकं तुरीयं यद्भूतं भवद्भविष्यत् परिवर्तमानं सर्वदाऽनवच्छिन्नं परं ब्रह्म। तस्माज्जाता परा शक्तिः स्वयंज्योतिरात्मिका। आत्मन आकाशः सम्भूतः। आकाशाद्वायुः। वायोरग्निः। अग्नेरापः। अद्भ्यः पृथिवी। एतेषां पञ्चभूतानां पतयः पञ्च सदाशिवेश्वररुद्रविष्णुब्रह्माणश्चेति। तेषां ब्रह्मविष्णुरुद्राश्चोत्पत्तिस्थितिलयकर्तारः। राजसो ब्रह्मा सात्त्विको विष्णुस्तामसो रुद्र इति एते त्रयो गुणयुक्ताः। ब्रह्मा देवानां प्रथमः सम्बभूव। धाता च सृष्टौ विष्णुश्च स्थितौ रुद्रश्च नाशे भोगाय चेन्द्रः प्रथमजा बभूवुः। एतेषां ब्रह्मणो लोका देवतिर्यङ्नरस्थावराश्च जायन्ते। तेषां मनुष्यादीनां पञ्चभूतसमवायः शरीरम्। ज्ञानकर्मेन्द्रियैर्ज्ञानविषयैः प्राणादिपञ्चवायुमनोबुद्धिचित्ताहङ्कारैः स्थूलकल्पितैः सोऽपि स्थूलप्रकृतिरित्युच्यते। ज्ञानकर्मेन्द्रियैर्ज्ञानविषयैः प्राणादिपञ्चवायुमनोबुद्धिभिश्च सूक्ष्मस्थोऽपि लिङ्गमेवेत्युच्यते। गुणत्रययुक्तं कारणम्। सर्वेषामेवं त्रीणि शरीराणि वर्तन्ते। जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तितुरीयाश्चेत्यवस्थाश्चतस्रः तासामवस्थानामधिपतयश्चत्वारः पुरुषा विश्वतैजसप्राज्ञात्मानश्चेति।
विश्वो हि स्थूलभुङ्नित्यं तैजसः प्रविविक्तभुक्।
आनन्दभुक्तथा प्राज्ञः सर्वसाक्षीत्यतः परः ॥72॥
प्रणवः सर्वदा तिष्ठेत्सर्वजीवेषु भोगतः।
अभिरामस्तु सर्वासु ह्यवस्थासु ह्यधोमुखः ॥73॥
अकार उकारो मकारश्चेति त्रयो वर्णास्त्रयो वेदास्त्रयो लोकास्त्रयो गुणास्त्रीण्यक्षराणि त्रयः स्वरा एवं प्रणवः प्रकाशते।
अकारो जाग्रति नेत्रे वर्तते सर्वजन्तुषु।
उकारः कण्ठतः स्वप्ने मकारो हृदि सुप्तितः ॥74॥

ॐ निरंजन, निर्विकल्प, नामरहित, शुद्ध, बुद्ध, नित्य, आदि-अन्तरहित, एक, तुरीय, भूत-भविष्य-वर्तमान में एकरस रहने वाले परब्रह्म से स्वयंप्रकाश पराशक्ति उत्पन्न हुई। परमात्मा से पहले आकाश प्रकट हुआ। आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल और जल से पृथ्वी प्रकट हुई। सदाशिव, ईश्वर, रुद्र, विष्णु और ब्रह्मा—ये पाँच देवता इन पाँच भूतों के पाँच स्वामी हैं। उनमें ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र क्रमशः इस विश्व की उत्पत्ति, स्थिति और लय करने वाले हैं। ब्रह्मा राजसी हैं, विष्णु सात्त्विक हैं और रुद्र तामस हैं, ऐसे ये तीन देव तीन गुणों से युक्त हैं। ब्रह्मा सब देवों से पहले उत्पन्न हुए। सृष्टि को उत्पन्न करने के लिए ब्रह्मा, सृष्टि के पालन के लिए विष्णु, सृष्टि का संहार करने के लिए रुद्र, भोग के लिए इन्द्र—ये देव पहले उत्पन्न हुए। लोक, देव, तिर्यक्, मनुष्य और स्थावर—इन सबकी उत्पत्ति ब्रह्मा के द्वारा हुई है। इनमें मनुष्य आदि का शरीर पाँच महाभूतों के संयोग से बनता है। ज्ञानेन्द्रियाँ, कर्मेन्द्रियाँ, पाँच प्राण, ज्ञान के विषय, पाँच वायु, मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार—अन्यों की तुलना में स्थूल होने से इनके कारण को स्थूल प्रकृति कहते हैं। इसी प्रकार ज्ञानेन्द्रियाँ, कर्मेन्द्रियाँ, प्राण, ज्ञानविषय, पाँच वायु, मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार को सूक्ष्म शरीर अथवा लिंगशरीर कहा जाता है। कारण-शरीर तीन गुणों से युक्त होता है। सभी प्राणियों के स्थूल, सूक्ष्म और कारण—ये तीन शरीर होते हैं। जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति और तुरीय—ये चार अवस्थाएँ हैं। इन सभी अवस्थाओं के अधिपति पुरुष क्रमशः विश्व, तैजस, प्राज्ञ और आत्मा होते हैं। 'विश्व' स्थूल का नित्य भोग करने वाला है, 'तैजस' एकान्त का भोग करने वाला है और 'प्राज्ञ' आनन्द का भोगने वाला है। और सबका साक्षी आत्मा इन सबसे परे है। सर्वव्यापी प्रणवरूप परमात्मा जीवों के इन अवस्थाओं के भोगने के समय में स्वयं अधोमुख (विमुख=उदासीन) ही रहता है। प्रणव (ओंकार) में स्थित तीन वर्ग—'अकार', 'उकार' और 'मकार' जो हैं, वे तीन वेद, तीन गुण, तीन लोक, तीन अक्षर और तीन स्वर के रूप में एक प्रणव ही प्रकाशित हो रहा है। 'अकार' सभी प्राणियों की जाग्रत् अवस्था में आँखों में स्थित है। 'उकार' सभी प्राणियों की स्वप्नावस्था में कण्ठ में स्थित है। और 'मकार' सभी प्राणियों की सुषुप्त अवस्था में हृदय में रहता है।

विराड्विश्वः स्थूलश्चाकारः। हिरण्यगर्भस्तैजसः सूक्ष्मश्च उकारः।
कारणाव्याकृतप्राज्ञश्च मकारः।
अकारो राजसो रक्तो ब्रह्मा चेतन उच्यते।
उकारः सात्त्विकः शुक्लो विष्णुरित्यभिधीयते ॥75॥
मकारस्तामसः कृष्णो रुद्रश्चेति तथोच्यते।
प्रणवात्प्रभवो ब्रह्मा प्रणवात्प्रभवो हरिः ॥76॥
प्रणवात्प्रभवो रुद्रः प्रणवो हि परो भवेत्।
अकारे लीयते ब्रह्मा ह्युकारे लीयते हरिः ॥77॥
मकारे लीयते रुद्रः प्रणवो हि प्रकाशते।
ज्ञानिनामूर्ध्वगो भूयादज्ञाने स्यादधोमुखः ॥78॥
एवं वै प्रणवस्तिष्ठेद्यस्तं वेद स वेदवित्।
अनाहतस्वरूपेण ज्ञानिनामूर्ध्वगो भवेत् ॥79॥

वह 'अकार' स्थूल विराट् – विश्व ही है। और 'उकार' तेजस्वी सूक्ष्म हिरण्यगर्भ के रूप में कहा जाता है। 'मकार' अव्यक्त (अप्रकट) कारणरूप 'प्राज्ञ' कहा जाता है। 'अकार' राजस प्रकृति का,

लाल वर्ण का चेतन रूप में सृष्टिकर्त्ता ब्रह्मा का रूप है। 'उकार' सात्त्विक प्रकृति का, श्वेतवर्णी और विष्णु कहा जाता है। और 'मकार' तामस प्रकृति का कृष्ण वर्ण वाला रुद्र कहा जाता है। प्रणव से ही ब्रह्मा उत्पन्न हुए हैं, प्रणव से ही विष्णु उत्पन्न हुए हैं, प्रणव से ही रुद्र उत्पन्न हुए हैं, प्रणव ही सबसे परे है। प्रणव के अकार में ब्रह्मा का लय होता है, उकार में विष्णु (हरि) का लय होता है और मकार में रुद्र का लय होता है। अन्त में केवल प्रणव ही प्रकाशित रहता है। यह प्रणव ज्ञानियों के लिए ऊर्ध्व-मुख और अज्ञानियों के लिए अधोमुख कहा गया है। इस तरह सर्वत्र समान रूप से प्रणव ही सर्वत्र प्रतिष्ठित है। जो इस प्रणव को इस तरह जानता है, वह वेद को जानने वाला है। ज्ञानी साधकों में यह प्रणव अनाहत रूप से ऊर्ध्वगामी ही होता है।

तैलधारामिवाच्छिन्नं दीर्घघण्टानिनादवत्।
प्रणवस्य ध्वनिस्तद्वत्तदग्रं ब्रह्म चोच्यते ॥80॥
ज्योतिर्मयं तदग्रं स्यादवाच्यं बुद्धिसूक्ष्मतः।
ददृशुर्ये महात्मानो यस्तं वेद स वेदवित् ॥81॥
जाग्रन्नेत्रद्वयोर्मध्ये हंस एव प्रकाशते।
सकारः खेचरी प्रोक्तस्त्वंपदं चेति निश्चितम् ॥82॥
हकारः परमेशः स्यात्तत्पदं चेति निश्चितम्।
सकारो ध्यायते जन्तुर्हकारो हि भवेद् ध्रुवम् ॥83॥

वह अनाहत तेल की धारा की भाँति अविच्छिन्न और घण्टाध्वनि जैसा मधुर होता है। उस अनाहतनाद (प्रणवध्वनि) का मूल ब्रह्म माना जाता है। प्रणव का वह अग्रभाग – मूलरूप वह ध्वनि महापुरुषों के द्वारा सूक्ष्म बुद्धि से जानने योग्य है, और वाणी से परे है। इसको जानने वाला महात्मा ही वेद को जानने वाला है। दोनों नेत्रों के मध्य में जाग्रदवस्था में हंस प्रकाशमान रहता है। 'हंस' का 'स'कार खेचरी के रूप में कहा गया है। वह 'त्वं' का ही स्वरूप है। और 'ह'कार निश्चित रूप से परमात्मा का द्योतक है। वह निश्चित रूप से 'तत्' पद का द्योतक है। जो भी प्राणी 'स'कार का ध्यान करता है, वह अवश्य ही 'ह'काररूप हो जाता है। 'सोऽहम्' और 'तत्त्वमसि' की वही साधना है।

इन्द्रियैर्बध्यते जीव आत्मा चैव न बध्यते।
ममत्वेन भवेज्जीवो निर्ममत्वेन केवलः ॥84॥
भूर्भुवः स्वरिमे लोकाः सोमसूर्याग्निदेवताः।
यस्य मात्रासु तिष्ठन्ति तत्परं ज्योतिरोमिति ॥85॥
क्रिया इच्छा तथा ज्ञानं ब्राह्मी रौद्री च वैष्णवी।
त्रिधा मात्रास्थितिर्यत्र तत्परं ज्योतिरोमिति ॥86॥
वचसा तज्जपेन्नित्यं वपुषा तत्समभ्यसेत्।
मनसा तज्जपेन्नित्यं तत्परं ज्योतिरोमिति ॥87॥

इन्द्रियाँ जीव को तो बन्धन में डालती हैं, पर आत्मा को वे बन्धन में नहीं डाल सकतीं। जब तक ममता होती है, तब तक वह जीव रहता है, पर ममता का बन्धन छूट जाने से वह कैवल्यरूप ही हो जाता है। जिस ओंकार की तीन मात्राओं में भूः, भुवः और स्वः—ये तीन लोक तथा सूर्य, चन्द्र और अग्नि—ये तीन देव निवास करते हैं, वह त्रिमात्रिक ओंकार परम प्रकाशक है। इसी परम प्रकाशमान तीनों मात्राओं में क्रिया, इच्छा और ज्ञान तथा ब्राह्मी, रौद्री और वैष्णवी—ये तीन शक्तियाँ

भी विद्यमान हैं। उस ओंकार का सर्वदा वाणी से जप करना चाहिए और शरीर से उसी के प्रति आचरण करना चाहिए और मन से भी उसी का जप करना चाहिए तथा जाप करते-करते उसी परमप्रकाशरूप ओंकार में स्थिर हो जाना चाहिए।

शुचिर्वाप्यशुचिर्वापि यो जपेत्प्रणवं सदा।
न स लिप्यति पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा ॥88॥
चले वाते चलो बिन्दुर्निश्चले निश्चलो भवेत्।
योगी स्थाणुत्वमाप्नोति ततो वायुं निरुन्धयेत् ॥89॥
यावद्वायुः स्थितो देहे तावज्जीवो न मुञ्चति।
मरणं तस्य निष्क्रान्तिस्ततो वायुं निरुन्धयेत् ॥90॥
यावद्बद्धो मरुद् देहे तावज्जीवो न मुञ्चति।
यावद् दृष्टिर्भ्रुवोर्मध्ये तावत्कालभयं कुतः ॥91॥

यद्यपि पवित्र हो या अपवित्र—किसी भी स्थिति में ओंकार का जप करने वाला पाप के कीचड़ में नहीं फँसता। वह जल से अलिप्त पद्मपत्र की भाँति संसार से अलिप्त रहता है। जब तक वायु चलती रहेगी तब तक बिन्दु भी चलित होगा। वायु के स्थिर हो जाने पर योगी अचलता प्राप्त करता है। इसलिए वायु की स्थिरता का (प्राणायाम का) अभ्यास करना चाहिए। शरीर में जबतक वायु का अस्तित्व है, तब तक ही शरीर में जीव स्थिर रहता है। शरीर से वायु का निकल जाना ही मृत्यु है। इसलिए वायु का निरोध (वायु को रोकना – प्राणायाम) करना चाहिए। जीव शरीर से तब तक नहीं निकल सकता, जब तक कि शरीर में वायु टिका हुआ रहता है। जो मनुष्य दोनों भौंहों के मध्य में अपनी दृष्टि को स्थिर करता है, वह काल को जीत लेता है। फिर उसको काल का भय कैसा?

अल्पकालभयाद्ब्रह्मा प्राणायामपरो भवेत्।
योगिनो मुनयश्चैव ततः प्राणान्निरोधयेत् ॥92॥
षड्विंशदङ्गुलिर्हंसः प्रयाणं कुरुते बहिः।
वामदक्षिणमार्गेण प्राणायामो विधीयते ॥93॥
शुद्धिमेति यदा सर्वं नाडीचक्रं मलाकुलम्।
तदैव जायते योगी प्राणसंग्रहणक्षमः ॥94॥
बद्धपद्मासनो योगी प्राणं चन्द्रेण पूरयेत्।
धारयेद्वा यथाशक्त्या भूयः सूर्येण रेचयेत् ॥95॥

ब्रह्मा भी अल्प काल के (अल्प आयुष्य के) भय से प्राणायाम करते हैं। इसलिए योगियों को और मुनियों को भी प्राण का निरोध करने के लिए प्राणायाम का अभ्यास करना चाहिए। यह प्राण हंसरूप है। वह श्वास के द्वारा छब्बीस अंगुल बाहर निकलता है। प्राणायाम नासिका के दोनों नथुनों से परिवर्तित क्रम से (दाहिने-बाँयें दोनों मार्ग से) करते रहना चाहिए। जब नाडीचक्र सभी प्रकार के मलों से शुद्ध हो जाए, तब योगी प्राणों का निरोध करने में अर्थात् प्राणायाम को सिद्ध करने में समर्थ होता है। पहले बद्धपद्मासन लगाकर योगी को चन्द्रनाडी के द्वारा (बाँये नासिकाछिद्र द्वारा) वायु को भीतर खींचना चाहिए (पूरक करना चाहिए)। और बाद में कुछ समय तक उसे भीतर ही रोकना चाहिए (कुम्भक करना चाहिए)। फिर सूर्यनाड़ी से (दाहिने नासिकाछिद्र से) रेचन करना चाहिए (अर्थात् बाहर निकालना चाहिए)।

अमृतोदधिसङ्काशं गोक्षीरधवलोपमम् ।
ध्यात्वा चन्द्रमसं बिम्बं प्राणायामे सुखी भवेत् ॥96॥
स्फुरत्प्रज्वलसञ्ज्वालापूज्यमादित्यमण्डलम् ।
ध्यात्वा हृदि स्थितं योगी प्राणायामे सुखी भवेत् ॥97॥

प्राणायाम काल में सुधासागर से निकले हुए, गाय के दूध के समान धवलवर्ण चन्द्रबिम्ब का ध्यान करने से साधक सुखी होता है। और हृदयकमलस्थित प्रज्वलित ज्वाला समान सूर्य भगवान् के ध्यान के साथ प्राणायाम करने से योगी को सुख मिलता है।

प्राणं चेदिडया पिबेन्नियमितं भूयोऽन्यथा रेचयेत्
पीत्वा पिङ्गलया समीरणमथो बद्ध्वा त्यजेद्वामया ।
सूर्याचन्द्रमसोरनेन विधिना बिन्दुद्वयं ध्यायतः
शुद्धा नाडिगणा भवन्ति यमिनो मासद्वयादूर्ध्वतः ॥98॥
यथेष्टधारणं वायोरनलस्य प्रदीपनम् ।
नादाभिव्यक्तिरारोग्यं जायते नाडिशोधनात् ॥99॥

प्राणायाम में सबसे पहले इडा नाडी (बाँयें नासिकाछिद्र) से श्वास खींचकर पूरक करना चाहिए। फिर पिंगला नाडी (दाहिने नासिका छिद्र) से श्वास का रेचन करना चाहिए। पुनः इसे विपरीत क्रम से करना चाहिए। इस प्रकार परिवर्तित क्रम में प्राणायाम करते समय चन्द्र और सूर्य का पहले कहे गए अनुसार ध्यान का परिशीलन करने पर केवल दो महीनों में नाडीशोधन हो जाता है। ऐसे 'नाडीशोधन प्राणायाम' करने से जब नाडी शुद्ध हो जाती है, तब वायु को इच्छानुसार धारण करने की क्षमता प्राप्त हो जाती है, तथा आरोग्य और जठराग्नि की प्रबलता भी बढ़ती है, और दिव्य नाद भी सुनाई पड़ता है।

प्राणो देहस्थितो यावदपानं तु निरुन्धयेत् ।
एकश्वासमयी मात्रा ऊर्ध्वाधो गगने गतिः ॥100॥
रेचकः पूरकश्चैव कुम्भकः प्रणवात्मकः ।
प्राणायामो भवेदेवं मात्राद्वादशसंयुतः ॥101॥
मात्राद्वादशसंयुक्तौ दिवाकरनिशाकरौ ।
दोषजालमबध्नन्तौ ज्ञातव्यौ योगिभिः सदा ॥102॥
पूरकं द्वादशं कुर्यात्कुम्भकं षोडशं भवेत् ।
रेचकं दश चोङ्कारः प्राणायामः स उच्यते ॥103॥

प्राणायाम में कुम्भक में जब तक वायु भीतर रहे, तब तक अपानवायु को भी रोके रहना चाहिए। इस प्रकार हृदयरूपी आकाश में एक श्वास की मात्रा ऊपर-नीचे गतिशील रहती है। 'प्राणायाम की पूरक, रेचक और कुम्भक ये तीनों क्रियाएँ साक्षात् प्रणव का ही स्वरूप हैं।'—ऐसे चिन्तन-मनन के साथ बारह मात्राओं से युक्त प्राणायाम करना चाहिए। सूर्य और चन्द्र का यह द्वादशमात्रावाला प्राणायाम साधक के सभी दोषों को समाप्त कर देता है, ऐसा योगियों को जानना चाहिए। पूरक में बारह मात्रा, कुंभक में सोलह मात्रा तथा रेचक में दस मात्रा के प्राणायाम को 'ओंकार प्राणायाम'—ऐसा नाम दिया गया है।

अधमे द्वादश मात्रा मध्यमे द्विगुणा मता ।
उत्तमे त्रिगुणा प्रोक्ता प्राणायामस्य निर्णयः ॥104॥

अधमे स्वेदजननं कम्पो भवति मध्यमे ।
उत्तमे स्थानमाप्नोति ततो वायुं निरुन्धयेत् ॥105॥
बद्धपद्मासनो योगी नमस्कृत्य गुरुं शिवम् ।
नासाग्रदृष्टिरेकाकी प्राणायामं समभ्यसेत् ॥106॥
द्वाराणां नव सन्निरुध्य मरुतं बध्वा दृढां धारणां
नीत्वा कालमपानवह्निसहितं शक्त्या समं चालितम् ।
आत्मध्यानयुतस्त्वनेन विधिना विन्यस्य मूर्ध्नि स्थिरं
यावत्तिष्ठति तावदेव महतां सङ्गो न संस्तूयते ॥107॥

यह पूर्वोक्त 'ओंकार प्राणायाम' जब बारहमात्रा वाला किया जाता है, तब वह सामान्य कोटि का माना जाता है, जब वह दुगुनी अर्थात् चौबीस मात्रा वाला किया जाना है, तब वह मध्यम कोटि का माना जाता है, जब वह तिगुनी अर्थात् छत्तीस मात्रा वाला किया जाता है, तब वह उत्तम कोटि का माना जाता है। सामान्य (अधम) प्राणायाम पसीना लाने वाला होता है, मध्यम प्राणायाम में शरीर में कँपकँपी उत्पन्न होती है और उत्तम कोटि के प्राणायाम में शरीर आसन से ऊपर उठने लगता है। इसलिए प्राणायाम इसी तरह करना चाहिए। योग के अभ्यास के लिए एकान्त में 'बद्धपद्मासन' नामक आसन लगाकर बैठना चाहिए और शिवस्वरूप गुरुदेव को नमस्कार करके नासिका के अग्रभाग पर दृष्टि स्थिर करके प्राणायाम का अभ्यास करना चाहिए। जिन नवद्वारों से वायु का आवागमन हुआ करता है, उनका निरोध करके वायु को रोकना चाहिए और अपानवायु को अग्नि से संयुक्त कर, ऊर्ध्वगामी बनाकर, शक्तिचालिनी मुद्रा से कुण्डलिनी के मार्ग से दृढ़तापूर्वक मस्तिष्क में आत्मा के ध्यान के साथ स्थापित करना चाहिए। जब तक वह स्थिर रहे, तब तक वह महापुरुष की संगति नहीं चाहता, अर्थात् वह स्वयं सर्वश्रेष्ठ हो जाता है।

प्राणायामो भवेदेवं पातकेन्धनपावकः ।
भवोदधिमहासेतुः प्रोच्यते योगिभिः सदा ॥108॥
आसनेन रुजं हन्ति प्राणायामेन पातकम् ।
विकारं मानसं योगी प्रत्याहारेण मुञ्चति ॥109॥
धारणाभिर्मनोधैर्यं याति चैतन्यमद्भुतम् ।
समाधौ मोक्षमाप्नोति त्यक्त्वा कर्म शुभाशुभम् ॥110॥

संसारसागर से मुक्ति पाने के लिए यह प्राणायाम सेतु के समान है, और पापरूपी ईंधन को जलाने के लिए अग्नि के समान है। योगी लोग बहुधा ऐसा ही कहते आए हैं। योगासनों से शारीरिक रोगों का नाश होता है, और प्राणायाम से पापों का नाश होता है तथा प्रत्याहार से मनोविकारों (मनोरोगों) का नाश होता है। धारणा से योगी का मन धैर्यवान होता है और समाधि से जीव के शुभाशुभ कर्मों का नाश हो जाता है तथा उसे मुक्ति प्राप्त हो जाती है।

प्राणायामद्विषट्केन प्रत्याहारः प्रकीर्तितः ।
प्रत्याहारद्विषट्केन जायते धारणा शुभा ॥111॥
धारणा द्वादश प्रोक्तं ध्यानं योगविशारदैः ।
ध्यानद्वादशकेनैव समाधिरभिधीयते ॥112॥
यत्समाधौ परंज्योतिरनन्तं विश्वतोमुखम् ।
तस्मिन्दृष्टे क्रियाकर्म यातायातो न विद्यते ॥113॥

बारह बार प्राणायाम करने से प्रत्याहार की सिद्धि होती है, इसी तरह बारह बार प्रत्याहार करने से धारणा की सिद्धि होती है, जब धारणा का आवर्तन बारह बार किया जाता है, तब ध्यान बनता है, और बारह बार ध्यान करने से समाधि बन जाती है, ऐसा योग के विशारदों का अभिप्राय है। समाधि की स्थिति में साधक परमज्योतिस्वरूप और अनन्त, विश्वतोमुख सर्वतो समभाव प्राप्त करने वाला हो जाता है। इस स्थिति को प्राप्त करने के बाद कुछ भी कर्म करना शेष नहीं रहता। पूर्वकृत कर्म भी उसे बन्धन में नहीं डालते। इससे संसार में आवागमन से मुक्ति मिल जाती है।

सम्बद्धासनमेढ्रमङ्घ्रियुगलं कर्णाक्षिनासापुट-
द्वाराद्यङ्गुलिभिर्नियम्य पवनं वक्त्रेण वा पूरितम्।
बध्वा वक्षसि बह्वपानसहितं मूर्ध्नि स्थिरं धारये-
देवं याति विशेषतत्त्वसमतां योगीश्वरास्तन्मनाः ॥114॥
गगनं पवने प्राप्ते ध्वनिरुत्पद्यते महान्।
घण्टादीनां प्रवाद्यानां नादसिद्धिरुदीरिता ॥115॥
प्राणायामेन युक्तेन सर्वरोगक्षयो भवेत्।
प्राणायामवियुक्तेभ्यः सर्वरोगसमुद्भवः ॥116॥
हिक्का कासस्तथा श्वासः शिरःकर्णाक्षिवेदनाः।
भवन्ति विविधा रोगाः पवनव्यत्ययक्रमात् ॥117॥

दोनों पैरों की एडियों को मेढ़ (सीवन स्थान) में लगाकर दृढ़तापूर्वक आसन में बैठना चाहिए। इसके बाद आँखों, कानों और नाक को अँगुलियों से बन्द कर मुँह से वायु को खींचना चाहिए। फिर नीचे से अपानवायु को ऊर्ध्वगामी बनाना चाहिए। और दोनों वायुओं को हृदयप्रदेश में रोकना चाहिए। और फिर ऊपर ले जाकर मस्तिष्क में स्थिर करके उसमें मन लगाना चाहिए। ऐसी क्रिया से योगियों को विशेष समत्वभाव प्राप्त होता है। ऊपर-नीचे दोनों ओर गतिशील वायु जब हृदयप्रदेशरूपी आकाशमण्डल में स्थिर हो जाता है, तब साधक को महान् ध्वनि सुनाई पड़ती है जो कि घण्टा आदि वाद्यों जैसी होती है। उस समय 'नादयोग' की सिद्धि होती है। विधि अनुसार प्राणायाम की साधना करने से सभी तरह के रोगों से छुटकारा हो जाता है और प्राणायाम न करने से यह शरीर सभी रोगों का जन्मस्थान बन जाता है। वायु के विकृत होने से ही तो खाँसी, श्वास, हिचकी और सिर-कान-आँख आदि की पीड़ा होती है और तरह-तरह के रोग पैदा होते रहते हैं।

यथा सिंहो गजो व्याघ्रो भवेद्वश्यः शनैः शनैः।
तथैव सेवितो वायुरन्यथा हन्ति साधकम् ॥118॥
युक्तंयुक्तं त्यजेद्वायुं युक्तंयुक्तं प्रपूरयेत्।
युक्तंयुक्तं प्रबध्नीयादेवं सिद्धिमवाप्नुयात् ॥119॥
चरतां चक्षुरादीनां विषयेषु यथाक्रमम्।
तत्प्रत्याहरणं तेषां प्रत्याहारः स उच्यते ॥120॥
यथा तृतीयकाले तु रविः प्रत्याहरेत्प्रभाम्।
तृतीयाङ्गस्थितो योगी विकारं मानसं हरेत् ॥ इत्युपनिषत् ॥121॥

इति योगचूडामण्युपनिषत्समाप्ता।

[illegible] योगी ॥21॥ अकल्पित-

हाथी, बाघ, सिंह जैसे हिंसक और जंगली पशु जिस प्रकार धीरे-धीरे अभ्यास से वश में आ जाते हैं, ठीक इसी तरह से प्राणवायु भी धीरे अभ्यास के द्वारा वश में आ जाता है। योगी को इसी तरह उसे वश में लाना चाहिए। यदि साधक ऐसा कर नहीं सकता, तो उसका विनाश ही हो जाता है। सुयोग्य रीति से प्राणवायु को भीतर खींचना चाहिए और सुयोग्य रीति से ही प्राणवायु को बाहर निकालना चाहिए। सुयोग्य रीति से प्राणवायु को रोकने पर ही सिद्धि प्राप्त हो सकती है। नेत्र आदि इन्द्रियाँ अपने-अपने विषयों की ओर भागती-दौड़ती हैं। इनको वहाँ से (ऐसा करने से) रोकना और इष्ट की साधना में लगाना 'प्रत्याहार' कहा जाता है। जैसे-जैसे तीसरा प्रहर अर्थात् सायंकाल होता जाता है, वैसे-वैसे सूर्य अपने प्रकाश को समेटता जाता है और पूर्ण सायंकाल के आ जाने पर वह अपने प्रकाश को पूरी तरह से समेट लेता है, वैसे ही योगीजन अपनी साधना का स्तर बढ़ाते हुए अर्थात् जीव अवस्था, तीन अवस्था, तीन गुण, तीन शरीर आदि से आगे बढ़ते हुए जब तृतीयांश में – उच्च योग के तृतीयांश समाधि में – स्थित हो जाता है, तब वह अपने मन के सभी विकारों का शमन कर लेता है। यही उपनिषद् का रहस्य (विद्या) है।

यहाँ उपनिषद् पूरी होती है।

शान्तिपाठः

ॐ आप्यायन्तु ममाङ्गानि ..... ते मयि सन्तु। (पूर्ववत्)
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

बारह बार प्राणायाम करने से प्रत्याहार की सिद्धि होती है, इसी तरह बारह बार प्रत्याहार करने से धारणा की सिद्धि होती है, जब धारणा का आवर्तन बारह बार किया जाता है, तब ध्यान बनता है, और बारह बार ध्यान करने से समाधि बन जाती है, ऐसा योग के विशारदों का अभिप्राय है। समाधि की स्थिति में साधक परमज्योतिस्वरूप और अनन्त, विश्वतोमुख सर्वतो समभाव प्राप्त करने वाला हो जाता है। इस स्थिति को प्राप्त करने के बाद कुछ भी कर्म करना शेष नहीं रहता। पूर्वकृत कर्म भी उसे बन्धन में नहीं डालते। इससे संसार में आवागमन से मुक्ति मिल जाती है।

सम्बद्धासनमेढ्रमङ्घ्रियुगलं कर्णाक्षिनासापुट-
द्वाराद्यङ्गुलिभिर्नियम्य पवनं वक्त्रेण वा पूरितम्।
बध्वा वक्षसि बह्वपानसहितं मूर्ध्नि स्थिरं धारये-
देवं याति विशेषतत्त्वसमतां योगीश्वरास्तन्मनाः ॥114॥
गगनं पवने प्राप्ते ध्वनिरुत्पद्यते महान्।
घण्टादीनां प्रवाद्यानां नादसिद्धिरुदीरिता ॥115॥
प्राणायामेन युक्तेन सर्वरोगक्षयो भवेत्।
प्राणायामवियुक्तेभ्यः सर्वरोगसमुद्भवः ॥116॥
हिक्का कासस्तथा श्वासः शिरःकर्णाक्षिवेदनाः।
भवन्ति विविधा रोगाः पवनव्यत्ययक्रमात् ॥117॥

दोनों पैरों की एडियों को मेढ़ (सीवन स्थान) में लगाकर दृढ़तापूर्वक आसन में बैठना चाहिए। इसके बाद आँखों, कानों और नाक को अँगुलियों से बन्द कर मुँह से वायु को खींचना चाहिए। फिर नीचे से अपानवायु को ऊर्ध्वगामी बनाना चाहिए। और दोनों वायुओं को हृदयप्रदेश में रोकना चाहिए। और फिर ऊपर ले जाकर मस्तिष्क में स्थिर करके उसमें मन लगाना चाहिए। ऐसी क्रिया से योगियों को विशेष समत्वभाव प्राप्त होता है। ऊपर-नीचे दोनों ओर गतिशील वायु जब हृदयप्रदेशरूपी आकाशमण्डल में स्थिर हो जाता है, तब साधक को महान् ध्वनि सुनाई पड़ती है जो कि घण्टा आदि वाद्यों जैसी होती है। उस समय 'नादयोग' की सिद्धि होती है। विधि अनुसार प्राणायाम की साधना करने से सभी तरह के रोगों से छुटकारा हो जाता है और प्राणायाम न करने से यह शरीर सभी रोगों का जन्मस्थान बन जाता है। वायु के विकृत होने से ही तो खाँसी, श्वास, हिचकी और सिर-कान-आँख आदि की पीड़ा होती है और तरह-तरह के रोग पैदा होते रहते हैं।

यथा सिंहो गजो व्याघ्रो भवेद्वश्यः शनैः शनैः।
तथैव सेवितो वायुरन्यथा हन्ति साधकम् ॥118॥
युक्तंयुक्तं त्यजेद्वायुं युक्तंयुक्तं प्रपूरयेत्।
युक्तंयुक्तं प्रबध्नीयादेवं सिद्धिमवाप्नुयात् ॥119॥
चरतां चक्षुरादीनां विषयेषु यथाक्रमम्।
तत्प्रत्याहरणं तेषां प्रत्याहारः स उच्यते ॥120॥
यथा तृतीयकाले तु रविः प्रत्याहरेत्प्रभाम्।
तृतीयाङ्गस्थितो योगी विकारं मानसं हरेत् ॥ इत्युपनिषत् ॥121॥

इति योगचूडामण्युपनिषत्समाप्ता।

हाथी, बाघ, सिंह जैसे हिंसक और जंगली पशु जिस प्रकार धीरे-धीरे अभ्यास से वश में आ जाते हैं, ठीक इसी तरह से प्राणवायु भी धीरे अभ्यास के द्वारा वश में आ जाता है। योगी को इस तरह उसे वश में लाना चाहिए। यदि साधक ऐसा कर नहीं सकता, तो उसका विनाश ही हो जाता है। सुयोग्य रीति से प्राणवायु को भीतर खींचना चाहिए और सुयोग्य रीति से ही प्राणवायु को बाहर निकालना चाहिए। सुयोग्य रीति से प्राणवायु को रोकने पर ही सिद्धि प्राप्त हो सकती है। नेत्र आदि इन्द्रियाँ अपने-अपने विषयों की ओर भागती-दौड़ती हैं। इनको वहाँ से (ऐसा करने से) रोकना और इष्ट की साधना में लगाना 'प्रत्याहार' कहा जाता है। जैसे-जैसे तीसरा प्रहर अर्थात् सायंकाल होता जाता है, वैसे-वैसे सूर्य अपने प्रकाश को समेटता जाता है और पूर्ण सायंकाल के आ जाने पर वह अपने प्रकाश को पूरी तरह से समेट लेता है, वैसे ही योगीजन अपनी साधना का स्तर बढ़ाते हुए अर्थात् जीव अवस्था, तीन अवस्था, तीन गुण, तीन शरीर आदि से आगे बढ़ते हुए जब अपने तृतीयांश में – उच्च योग के तृतीयांश समाधि में – स्थित हो जाता है, तब वह अपने मन के सभी विकारों का शमन कर लेता है। यही उपनिषद् का रहस्य (विद्या) है।

यहाँ उपनिषद् पूरी होती है।

शान्तिपाठः

ॐ आप्यायन्तु ममाङ्गानि......ते मयि सन्तु। (पूर्ववत्)
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

(48) निर्वाणोपनिषत्

(उपनिषत्परिचय)

ऋग्वेद से सम्बद्ध इस उपनिषद् में जीवन के परमलक्ष्य तथा मुक्ति-निर्वाण का विशद प्रतिपादन है। इस उपनिषद् की निरूपणशैली सूत्रात्मक है। साठ-एकसठ सूत्रों में इसमें परमहंस संन्यासी के रहस्यमय सिद्धान्तों को बताया गया है। परमहंस संन्यासी का परिचय, दीक्षा, देवदर्शन, क्रीडा, गोष्ठी, भिक्षा, आचरण आदि स्वरूप का निरूपण किया गया है। बाद में संन्यासी परमहंस के लिए मठ, ज्ञान, ध्येय, कन्था, आसन, पटुता, तारक, उपदेश, नियम, अनियामकत्व, यज्ञोपवीत, शिखा, तथा मोक्ष इत्यादि की सही स्थिति कैसी होनी चाहिए, इसका निरूपण किया गया है। तथा निर्वाण का तत्त्वदर्शन बताया गया है। यह तत्त्वदर्शन जो शिष्य श्रद्धावान हो या समर्पित हो अथवा ऐसे ही गुणवाला पुत्र हो, उसे ही बताना चाहिए—ऐसा कहा गया है, क्योंकि सामान्य व्यक्ति को ऐसा तत्त्वज्ञान बताने से किसी भी प्रकार का लाभ नहीं हो सकता।

शान्तिपाठः

ॐ वाङ्मे मनसि.......वक्तारमवतु वक्तारम्। (पूर्ववत्)

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

इसका हिन्दी रूपान्तर पूर्व में (कौषीतकिब्राह्मणोपनिषद्) में द्रष्टव्य है।

अथ निर्वाणोपनिषदं व्याख्यास्यामः ॥1॥ परमहंसः सोऽहम् ॥2॥ परिव्राजकाः पश्चिमलिङ्गाः ॥3॥ मन्मथक्षेत्रपालाः ॥4॥ गगनसिद्धान्तः ॥5॥ अमृतकल्लोलनदी ॥6॥ अक्षयं निरञ्जनम् ॥7॥ निःसंशयः ऋषिः ॥8॥ निर्वाणो देवता ॥9॥ निष्कुलप्रवृत्तिः ॥10॥ निष्केवलज्ञानम् ॥11॥

अब हम निर्वाण उपनिषद् का व्याख्यान कर रहे हैं। मैं परमहंस (परब्रह्म) हूँ। जो परिव्राजक हैं, वे अन्तिम स्थितिवाले (अन्तिम स्थिति रूप चिह्नवाले) होते हैं। कामदेव को रोकने में वे क्षेत्रपाल जैसे होते हैं। उनका सिद्धान्त आकाश जैसा निर्मल होता है। अमृत की तरंगों वाली आत्मरूप उनकी नदी होती है। उनका स्वरूप अक्षय और निर्लेप होता है। संशयरहित आत्मा ही उनका ऋषि या गुरु होता है। निर्वाण (मोक्ष) ही उनका देवता है। उनकी प्रवृत्ति कुलरहित होती है (अर्थात् वे कुल-गोत्र को अतिक्रमण किए हुए होते हैं)। उनका ज्ञान सभी उपाधियों से मुक्त होता है।

ऊर्ध्वाम्नायः ॥12॥ निरालम्बपीठः ॥13॥ संयोगदीक्षा ॥14॥ वियोगोपदेशः ॥15॥ दीक्षासन्तोषपावनं च ॥16॥ द्वादशादित्यावलोकनम् ॥17॥ विवेकरक्षा ॥18॥ करुणैव केलिः ॥19॥ आनन्द-

माला ॥20॥ एकान्तगुहायां मुक्तासनसुखगोष्ठी ॥21॥ अकल्पितभिक्षाशी ॥22॥ हंसाचारः ॥23॥ सर्वभूतान्तर्वर्ती हंस इति प्रतिपादनम् ॥24॥

उनका अभ्यास उच्च स्थिति के लिए होता है। आश्रयरहित होना ही उनका आसन है। ईश्वर के साथ संयोग होना ही उनकी दीक्षा है। संसार से छूटना ही उनका उपदेश है। दीक्षा लेकर संतोष पाना ही उनका पेय पदार्थ है। वे बारहों सूर्यों का दर्शन करते हैं। वे विवेक की रक्षा करते हैं। दया ही उनकी क्रीडा (खेल) है। आनन्द उनकी माला है। एकान्त में गुफा में मुक्त आसन का सुख लेना ही उनकी गोष्ठी है। अपने लिए पकाया न हो ऐसा अन्न ही उनकी भिक्षा होती है। हंस जैसा उनका आचार होता है। 'सभी प्राणियों के भीतर अवस्थित आत्मा ही हंस है'—ऐसा वे प्रतिपादित करते हैं।

धैर्यकन्था। उदासीनकौपीनम्। विचारदण्डः। ब्रह्मावलोकयोगपट्टः। श्रियां पादुका। परेच्छाचरणम्। कुण्डलिनीबन्धः। परापवादमुक्तो जीवन्मुक्तः। शिवयोगनिद्रा च। खेचरीमुद्रा च। परमानन्दी ॥25॥ निर्गुणगुणत्रयम् ॥26॥ विवेकलभ्यम्। मनोवागगोचरम् ॥27॥ अनित्यं जगद्यज्जनितं स्वप्नजगदभ्रगजादितुल्यम्। तथा देहादिसङ्घातं मोहगुणजालकलितं तद्रज्जुसर्पवत्कल्पितम् ॥28॥ विष्णुविध्यादिशताभिधानलक्ष्यम् ॥29॥ अङ्कुशो मार्गः ॥30॥ शून्यं न सङ्केतः ॥31॥ परमेश्वरसत्ता ॥32॥ सत्यसिद्धयोगो मठः ॥33॥ अमरपदं न तत्त्वरूपम् ॥34॥ आदिब्रह्मस्वसंवित् ॥35॥ अजपा गायत्री। विकारदण्डो ध्येयः ॥36॥

धैर्य उनकी कन्था (गुदडी) है। औदासीन्य उनकी लंगोटी है। विचार उनका दण्ड है। ब्रह्मदर्शन उनका योगपट्ट है। पादुका ही उनकी संपत्ति है, अर्थात् संपत्ति को वे पादुका के नीचे कुचल कर (तुच्छ मानकर) ही चलते हैं। परमात्मा की इच्छा ही उनका आचरण होता है। कुण्डलिनी उनका बन्ध है। दूसरों की निन्दा नहीं करने वाला ऐसा वह जीवन्मुक्त होता है। मंगलस्वरूप परमतत्त्व के साथ योग होना ही उसकी निद्रा होती है। वह खेचरी मुद्रा करता है और परम आनन्द में रहता है। ब्रह्म तीन गुणों से रहित है, एवं विवेक से वह प्राप्त होता है। वह मन, वाणी का विषय नहीं है। जगत् अनित्य है, उसमें जो उत्पन्न होता है, वह सब स्वप्न में देखे गए हाथी आदि जैसा भ्रान्तिमूलक ही है। और देह आदि समुदाय मोह के गुणों के जाल से रज्जु में साँप की तरह कल्पित है। विष्णु, ब्रह्मा आदि सैंकड़ों नामधारी एक ब्रह्म ही लक्ष्य है। अंकुश (संयम) उनका मार्ग है। शून्य कोई संकेत नहीं है (अर्थात् अभाव कोई अस्तित्व नहीं रहता)। परमेश्वर की सत्ता है। सही रूप से सिद्ध हुआ योग ही उसका मठ है। अमरपद (स्वर्ग का स्थान) कोई ब्रह्म का स्वरूप नहीं है। आदि ब्रह्म स्वसंवित् (स्वप्रकाशित) ही है, ज्ञानस्वरूप है। उक्त भाव का अजपा जप ही गायत्री (हंसमन्त्र) है। विकारों पर नियन्त्रण पाना ही उसका ध्येय है।

मनोनिरोधिनी कन्था ॥37॥ योगेन सदानन्दस्वरूपदर्शनम् ॥38॥ आनन्दभिक्षाशी ॥39॥ महाश्मशानेऽप्यानन्दवने वासः ॥40॥ एकान्तस्थानम् आनन्दमठम् ॥41॥ उन्मन्यवस्था शारदा चेष्टा ॥42॥ उन्मती गतिः ॥43॥ निर्मलगात्रं निरालम्बपीठम् ॥44॥ अमृत-

कल्लोलानन्दक्रियाः ॥45। पाण्डरगगनं महासिद्धान्तः ॥45॥ शमदमादिदिव्यशक्त्याचरणे क्षेत्रपात्रपटुता। परावरसंयोगः तारकोपदेशः ॥47॥ अद्वैतसदानन्दो देवता ॥48॥

मन का निरोध करने वाली वृत्ति ही उसकी कन्था (गुदड़ी) है। वह योग से सदैव आनन्दस्वरूप का दर्शन करता है। आनन्दरूपी भिक्षा ही उसका आहार होता है। महाश्मशान में भी उसका वास आनन्दवन में ही रहता है। उसका एकान्त ही स्थान होता है। आनन्द ही उसका मठ होता है। उसकी उन्मनी (मनोरहित – निर्विकल्प) अवस्था होती है और शारदा (उज्ज्वल सुखदात्री) चेष्टा होती है। उसकी गति भी उन्मनी (विकल्पशून्य) होती है। उसका शरीर निर्मल और आसन आश्रयरहित होता है। अमृतरूपी महासागर की तरंगों में आनन्दित रहना ही उसकी क्रिया है। चिदाकाश ही उसका बड़ा सिद्धान्त है। शम, दम आदि दिव्य शक्तियों के आचरण में क्षेत्र और पात्र का ध्यान रखना ही उनका कौशल है। परे से भी परे ब्रह्मतत्व के साथ संयोग ही उनका तारक उपदेश है। सदानन्दरूप अद्वैत ही उसकी देवता है।

नियमः स्वान्तरिन्द्रियनिग्रहः ॥49॥ भयमोहशोकक्रोधत्यागस्त्यागः ॥50॥ परावरैक्यरसास्वादनम् ॥51॥ अनियामकत्वनिर्मलशक्तिः ॥52॥ स्वप्रकाशब्रह्मतत्त्वे शिवशक्तिसम्पुटितप्रपञ्चच्छेदनम्। तथा पत्राक्षाक्षिकमण्डलभावाभावदहनम् ॥53॥ बिभ्रत्याकाशाधारम् ॥54॥ शिवं तुरीयं यज्ञोपवीतम् तन्मया शिखा ॥55॥ चिन्मयं चोत्सृष्टिदण्डं सन्ततोक्षिकमण्डलम् ॥56॥ कर्मनिर्मूलनं कथा। मायाममताहङ्कारदहनं श्मशाने ॥57॥ अनाहताङ्गी ॥58॥ निस्त्रैगुण्यस्वरूपानुसन्धानं समयम् भ्रान्तिहननम्। कामादिवृत्तिदहनम्। काठिन्यदृढकौपीनम्। चिराजिनवासः। अनाहतमन्त्रं अक्रिययैव जुष्टम्। स्वेच्छाचारस्वस्वभावो मोक्षः ॥59॥ परं ब्रह्म प्लववदाचरणम्। ब्रह्मचर्यशान्तिसंग्रहणम्। ब्रह्मचर्याश्रमेऽधीत्य वानप्रस्थाश्रमेऽधीत्य स सर्वसंविन्न्यासं संन्यासम्। अन्ते ब्रह्माखण्डाकारम्। नित्यं सर्वसन्देहनाशनम् ॥60॥

अन्तरिन्द्रिय का निग्रह ही उसका नियम है। भय, मोह, शोक और क्रोध का त्याग ही उसका त्याग है। परमात्मा के साथ ऐक्य के रस का वह आस्वादन करता है। अनियामकता – किसी को अपने वश में न करने और किसी का तिरस्कार न करने की वृत्ति – ही उसकी निर्मल शक्ति होती है। स्वयंप्रकाशित ब्रह्मतत्त्व में शिव-शक्ति से संपुटित विश्वप्रपंच को वह काट देता है। वह पत्र – कारणशरीर, अक्ष – सूक्ष्मशरीर और अक्षिक – स्थूलशरीर के मंडल के भाव और अभाव को जला देने वाला होता है। आकाश ही उसका आधार होता है। तुरीय ब्रह्म ही उसका यज्ञोपवीत होता है। ब्रह्ममय ही उसकी शिखा होती है। चैतन्यमय संसारत्याग ही उसका दण्ड है। ब्रह्म का नित्यदर्शन ही उसका कमण्डलु है। कर्मों को उखाड़ डालना ही उसकी कथा होती है। माया-ममता-अहंकार को जला देना, खुले शरीर से श्मशान में घूमते रहना, त्रिगुणातीत ब्रह्म के अनुसन्धान में ही समय बिताना, भ्रान्ति को हटाए रखना, काम आदि वृत्तियों को जला देना, कठिन और दृढ लंगोटी पहनना, चीथड़ों और

मृगचर्मरूपी वस्त्र पहनना, अनाहतनादरूप प्रणवमन्त्र का जाप करते रहना, नैष्कर्म्य का ही सेवन करना, स्वेच्छाचाररूप आचरण ही उसका मोक्ष होना, नौका समान आचरण उनका परब्रह्म होना, ब्रह्मचर्य के द्वारा शान्ति ग्रहण करना, ब्रह्मचर्य में अध्ययन करके वानप्रस्थाश्रम में भी उसका परिशीलन करते हुए सम्पूर्ण ज्ञानयुक्त होकर संन्यास ग्रहण करना—यही संन्यास है। इसके बाद अखण्डाकार ब्रह्म में लीन हुआ जाता है। वह हमेशा सर्वसंदेह का नाश करने वाला है।

एतन्निर्वाणदर्शनं शिष्यं पुत्रं विना न देयमित्युपनिषत् ॥61॥

इति निर्वाणोपनिषत्समाप्ता।
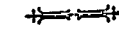
यह निर्वाणदर्शन पुत्र या शिष्य को छोड़कर अन्य किसी को नहीं देना चाहिए, यही उपनिषद् है।

यहाँ निर्वाणोपनिषद् पूरी हुई।

शान्तिपाठः

ॐ वाङ्मे मनसि.....वक्तारमवतु वक्तारम्। (पूर्ववत्)
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

(49) मण्डलब्राह्मणोपनिषत्

(उपनिषत्परिचय)

शुक्लयजुर्वेद से सम्बद्ध इस उपनिषद् में पाँच ब्राह्मण हैं। इसमें याज्ञवल्क्य और सूर्यनारायण के प्रश्नोत्तर रूप में आत्मतत्त्व का विशद विवेचन किया गया है। पहले ब्राह्मण में तत्त्वज्ञान की प्राप्ति के लिए आवश्यक अष्टांग योग (यम, नियम, आसन, प्राणायामादि) का, देह के पाँच दोषों का, तारकदर्शन, लक्ष्यत्रयदर्शन, तारक और अमनस्क योग के दो भेदों का, आत्मनिष्ठ की ब्रह्मरूपता आदि का निरूपण किया गया है। दूसरे ब्राह्मण में सर्वसाधारण ज्योति का आत्मरूप में वर्णन है। आत्मज्ञान का फल, शांभवी मुद्रा, पूर्णिमादृष्टि, मुद्रासिद्धि, प्रणवरूप आत्मप्रकाशानुभूति, षण्मुखी मुद्रा से प्रणवसिद्धि, कर्मों की प्रणवज्ञ पर अप्रभावकता, उन्मनी अवस्था का परिणाम, ब्रह्मानुसन्धान का फल, ब्रह्मज्ञस्वरूप, सुषुप्ति-समाधि भेद, जाग्रदादि व्यवस्था, संसारातिक्रमण का मार्ग, बन्ध-मोक्ष का कारण, निर्विकल्प समाधि - अभ्यास और फल आदि कई विषयों का विशद वर्णन है। तीसरे ब्राह्मण में परमात्मसाक्षात्कार से उन्मनीभाव की प्राप्ति, संसार के बन्धन से मुक्ति, तारकमार्ग से मनोनाश, उन्मनी योगी का ब्रह्मभाव आदि विषयों का प्रतिपादन है। चौथे ब्राह्मण में व्योम पंचक का ज्ञान, उसका फल तथा राजयोग का सार दिया गया है। और पाँचवें ब्राह्मण में मन का परमात्मा में लय करने का अभ्यास, मनोनाश की अवस्था का परिशीलन करने से ब्रह्मप्राप्ति और ब्रह्मप्राप्त पुरुष की महिमा बताई गई है। इसमें पहले ब्राह्मण में चार खण्ड हैं, दूसरे ब्राह्मण में पाँच खण्ड हैं, तीसरे ब्राह्मण में दो खण्ड हैं तथा चौथे और पाँचवें ब्राह्मणों के एक-एक खण्ड है।

शान्तिपाठः

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं........पूर्णमेवावशिष्यते। (पूर्ववत्)
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

इसका हिन्दी रूपान्तर पूर्व में (जाबालोपनिषद् में) द्रष्टव्य है।

प्रथमं ब्राह्मणम्

प्रथमः खण्डः

**याज्ञवल्क्यो ह वै महामुनिरादित्यलोकं जगाम।
तमादित्यं नत्वा भो भगवन्नादित्यात्मतत्त्वमनुब्रूहीति ॥1॥**

एक बार [illegible]मुनि याज्ञवल्क्य आदित्यलोक में गए और वहाँ भगवान् आदित्य को प्रणाम करके बोले—'हे भगवन्! हे आदित्य! आप मुझे आत्मतत्त्व का उपदेश दीजिए।'

**स होवाच नारायणः। ज्ञानयुक्तयमाद्यष्टाङ्गयोग उच्यते ॥2॥
शीतोष्णाहारनिद्राविजयः सर्वदा शान्तिर्निश्चलत्वं विषयेन्द्रियनिग्रहश्चैते यमाः ॥3॥**

गुरुभक्तिः सत्यमार्गानुरक्तिः सुखागतवस्त्वनुभवश्च तद्वस्त्वनुभवेन। तुष्टिर्निःसङ्गता एकान्तवासो मनोनिवृत्तिः फलानभिलाषो वैराग्यभावश्च नियमाः ॥4॥

तब सूर्यनारायण ने कहा कि अब तत्त्वज्ञान के उपरान्त यम-नियमादि को अष्टांगयोग कहा जा रहा है (अर्थात् तत्त्वज्ञान सहित अष्टांग योग मेरे द्वारा कहा जा रहा है—) शीत-उष्ण आदि पर तथा आहार एवं निद्रा पर विजय प्राप्त करना, सर्वदा शान्त रहना और अविचलित होकर इन्द्रियों पर नियन्त्रण रखना—ये सभी पाँच यम कहलाते हैं। तथा गुरु की भक्ति, सत्यमार्ग पर अनुराग, जो कुछ भी मिले उसमें संतोष, एकान्त में रहना, आसक्ति न रखना, मनोनिवृत्ति, फल की इच्छा न करना और वैराग्यभाव रखना—ये सभी नियम हैं।

**सुखासनवृत्तिश्चिरवासश्चैवमासननियमो भवति ॥5॥
पूरककुम्भकरेचकैः षोडशचतुःषष्टिद्वात्रिंशत्संख्यया यथाक्रमं प्राणायामः ॥6॥
विषयेभ्य इन्द्रियार्थेभ्यो मनोनिरोधनं प्रत्याहारः ॥7॥
विषयव्यावर्तनपूर्वकं चैतन्ये चेतःस्थापनं धारणं भवति ॥8॥**

लम्बे समय तक एक ही वृत्ति में स्थित (स्थिर) रहना और बिना किसी प्रयास से लम्बे समय तक एक ही स्थिति में रहना—ये आसन के नियम हैं। और सोलह मात्राओं के द्वारा पूरक, चौसठ मात्राओं के द्वारा कुम्भक तथा बत्तीस मात्राओं के द्वारा रेचक करने की क्रिया को प्राणायाम कहते हैं। इन्द्रियों के विषयों से मन को रोकना (निरोध करना) ही प्रत्याहार है। और विषयों से रोके गए मन को चैतन्य की सत्ता में स्थिर (एकाग्र) करना धारणा कही जाती है।

**सर्वशरीरेषु चैतन्यैकतानता ध्यानम् ॥9॥
ध्यानविस्मृतिः समाधिः ॥10॥
एवं सूक्ष्माङ्गानि। य एवं वेद स मुक्तिभाग् भवति ॥11॥**

सभी प्राणियों के शरीरों में एक ही चैतन्यतत्त्व विद्यमान है। इस बात का निरन्तर चिन्तन (सातत्य) को ही ध्यान कहा गया है और ध्यान को भी विस्मृत कर देना समाधि कही जाती है। इस प्रकार ये सभी सूक्ष्म अंग हैं। जो मनुष्य इन्हें भली प्रकार से जान लेता है, वह मुक्ति का अधिकारी हो जाता है।

द्वितीयः खण्डः

**देहस्य पञ्च दोषा भवन्ति कामक्रोधनिःश्वासभयनिद्राः ॥1॥
तन्निरासस्तु निःसङ्कल्पक्षमालघ्वाहाराप्रमादतातत्त्वसेवनम् ॥2॥
निद्राभयसरीसृपं हिंसादितरङ्गं तृष्णावर्तं दारपङ्कं संसारवार्धिं तर्तुं सूक्ष्ममार्गमवलम्ब्य सत्त्वादिगुणानतिक्रम्य तारकमवलोकयेत् ॥3॥
भ्रूमध्ये सच्चिदानन्दतेजःकूटरूपं तारकं ब्रह्म ॥4॥
तदुपायं लक्ष्यत्रयावलोकनम् ॥5॥**

काम, क्रोध, निःश्वास (हाँफना), भय और निद्रा (अज्ञान)—ये पाँच शरीर के दोष माने गये हैं। इन दोषों को दूर करने के लिए संकल्पों का त्याग, क्षमा, मिताहार, निर्भयता और तत्त्वचिन्तन—ये उपाय हैं। इस संसाररूपी सागर में यह निद्रा दोष (अज्ञान) और भय हैं, वे साँप जैसे हैं। हिंसा उस सागर की

तरंगें हैं, तृष्णा भँवर है, स्त्री कीचड़ है। ऐसे संसाररूपी सागर को पार करने के लिए सूक्ष्ममार्ग का आधार लेकर, सत्त्व आदि गुणों से ऊपर उठकर तारक ब्रह्म का दर्शन करना चाहिए। (अर्थात् उसका ध्यान करना चाहिए)। दोनों भौंहों के बीच में सच्चिदानन्दस्वरूप तेजोमय शिखर जैसे तारक ब्रह्म का वास है। उस तारक ब्रह्म की प्राप्ति के उपायों में लक्ष्य-त्रय का अवलोकन करना चाहिए!

मूलाधारादारभ्य ब्रह्मरन्ध्रपर्यन्तं सुषुम्ना सूर्याभा। तन्मध्ये तडित्कोटि-समा मृणालतन्तुसूक्ष्मा कुण्डलिनी। तत्र तमोनिवृत्तिः। तद्दर्शनात्सर्व-पापनिवृत्तिः ॥6॥

तर्जन्यग्रोन्मीलितकर्णरन्ध्रद्वये फूत्कारशब्दो जायते।

तत्र स्थिते मनसि चक्षुर्मध्यनीलज्योतिः पश्यति। एवं हृदयेऽपि ॥7॥

मूलाधार से लेकर ब्रह्मरन्ध्र तक सूर्य के समान तेजस्विनी सुषुम्ना नामक एक नाडी है। इस नाडी के बीच में उससे कोटि गुनी सूक्ष्म मृणालतन्तु जैसी कुण्डलिनी शक्ति अवस्थित है। उसका ज्ञान होने से वहाँ तमोगुण की निवृत्ति हो जाती है। इसके दर्शन से सभी पापों का नाश होता है। तर्जनी अंगुलि के अग्रभाग से दोनों कानों को बन्द करने से साधक के कानों में फुत्कार शब्द उत्पन्न होता है। साधक जब उस शब्द में अपने मन को स्थिर करता है, तब उसकी आँखों के बीच में नीलवर्ण ज्योति के दर्शन होने लगते हैं। इस प्रकार हृदय में भी वही ज्योति दिखाई देने लगती है।

बहिर्लक्ष्यं तु नासाग्रे चतुःषडष्टदशद्वादशाङ्गुलीभिः क्रमान्नीलद्युति-श्यामत्वसदृग्रक्तभङ्गीस्फुरत्पीतवर्णद्वयोपेतं व्योमत्वं पश्यति स तु योगी ॥8॥

चलनदृष्ट्या व्योमभागवीक्षितुः पुरुषस्य दृष्ट्यग्रे ज्योतिर्मयूखा वर्तन्ते। तद् दृष्टिः स्थिरा भवति ॥9॥

शीर्षोपरि द्वादशाङ्गुलिमानं ज्योतिः पश्यति तदाऽमृतत्वमेति ॥10॥

तीन लक्ष्यों में अन्तर्लक्ष्य की बात कहकर अब बाह्य लक्ष्य बताते हैं। बाह्य लक्ष्य वह है जिसमें साधक को नाक के अग्रभाग में चार, छः, आठ, दस, बारह अंगुल की दूरी पर क्रमशः नीलवर्ण, श्यामवर्ण, रक्तवर्ण, पीलावर्ण और दो रंगों से मिश्रित आकाश दिखाई पड़ता है, वह मनुष्य योगी बन जाता है। चंचल दृष्टि से आकाश के भाग को देखने वाले पुरुष की दृष्टि के आगे के प्रदेश में जो ज्योतियुक्त किरणें दिखाई पड़ती हैं, उससे दृष्टि में स्थिरत्व आ जाता है। मस्तक के ऊपर बारह अंगुल के अन्तर पर ज्योति दिखाई पड़ती है। उसको देखने वाले मनुष्य को अमरत्व की प्राप्ति हो जाती है।

मध्यलक्ष्यं तु प्रातश्चित्रादिवर्णसूर्यचन्द्रवह्निज्वालावलीवत्तद्विहीनान्त-रिक्षवत्पश्यति ॥11॥

तदाकाराकारी भवति ॥12॥

अभ्यासान्निर्विकारं गुणरहिताकाशं भवति। विस्फुरत्तारकाकारगाढ-तमोपमं पराकाशं भवति। कालानलसमं द्योतमानं महाकाशं भवति। सर्वोत्कृष्टपरमाद्वितीयप्रद्योतमानं तत्त्वाकाशं भवति। कोटिसूर्यप्रकाश-संकाशं सूर्याकाशं भवति ॥13॥

एवमभ्यासात्तन्मयो भवति य एवं वेद ॥14॥

अब तीसरा मध्यलक्ष्य इस प्रकार है—प्रातःकाल में सूर्य, चन्द्र और अग्नि की ज्वाला जैसा और उससे रहित अन्तरिक्ष जैसा दिखलाई देता है। बाद में उसके आकार की तरह ही आकारवाला होता है।

अभ्यास के द्वारा निर्विकार, गुणरहित आकाशरूप होता है। प्रकाशित (चमकते) तारकों जैसा और प्रगाढ अन्धकार के जैसा 'पराकाश' होता है। और 'महाकाश' प्रलयकालीन अग्नि जैसा प्रकाशित होता है। इन दोनों से उत्कृष्ट – परम अद्वितीय स्वरूप से प्रकाशित 'तत्त्वाकाश' होता है। और करोड़ों सूर्य जैसा प्रकाशित सूर्याकाश होता है—ऐसा जो जानता है, वह अभ्यासपूर्वक तन्मय होता है।

तृतीयः खण्डः

तद्योगं च द्विधा विद्धि पूर्वोत्तरविभागतः। पूर्वं तु तारकं विद्यादमनस्कं तदुत्तरमिति। तारकं द्विविधम्। मूर्तितारकममूर्तितारकमिति। यदिन्द्रि-यान्तं तन्मूर्तितारकम्। यद् भ्रूयुगातीतं तदमूर्तितारकमिति ॥1॥

इस योग के दो विभाग हैं—एक पूर्व और दूसरा उत्तर। पूर्व विभाग को तारकब्रह्म कहा जाता है और उत्तर विभाग को अन्यमनस्क कहते हैं। तारक ब्रह्म के भी दो प्रकार माने गए हैं। एक मूर्ति तारक कहा जाता है, और दूसरे को अमूर्तितारक कहते हैं। मूर्तितारक इन्द्रियों तक सीमित है। जो दोनों भौंहों से परे=अतिक्रान्त (ऊपर उठा हुआ) है, वह अमूर्तितारक है।

उभयमपि मनोयुक्तमभ्यसेत्। मनोयुक्तान्तरदृष्टिस्तारकप्रकाशाय भवति ॥2॥

भ्रूयुगमध्यबिले तेजस आविर्भावः। एतत्पूर्वतारकम् ॥3॥

उत्तरं त्वमनस्कम्। तालुमूलोर्ध्वभागे महज्ज्योतिर्विद्यते। तद्दर्शनादणि-मादिसिद्धिः ॥4॥

इन दोनों का (मूर्तितारक और अमूर्तितारक का) मन लगाकर अभ्यास करना चाहिए। क्योंकि मनोयोगपूर्वक की गई अन्तर्दृष्टि ही तारक ब्रह्म को प्रकट करने में समर्थ होती है। इसके बाद दोनों भौंहों के बीच में अवस्थित छिद्र में तेज प्रकट होता है। वह पूर्वतारक ब्रह्म है। उत्तर विभाग तो अमनस्क (मनोरहित) होता है। तालुमूल के ऊपर के भाग में महाज्योति का निवास है। उसके दर्शन से अणिमा आदि सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं।

लक्ष्येऽन्तर्बाह्यायां दृष्टौ निमेषोन्मेषवर्जितायां चेयं शाम्भवी मुद्रा भवति। सर्वतन्त्रेषु गोप्यमहाविद्या भवति। तज्ज्ञानेन संसारनिवृत्तिः। तत्पूजनं मोक्षफलदम् ॥5॥

अन्तर्लक्ष्यं जलज्ज्योतिःस्वरूपं भवति। महर्षिवेद्यं अन्तर्बाह्येन्द्रियैर-दृश्यम् ॥6॥

जब लक्ष्य के ऊपर भीतर और बाहर की दृष्टि अचल (स्थिर) हो जाती है, तब वह शांभवी मुद्रा होती है। सकलतन्त्रों में गोपनीय वह ब्रह्मविद्या है। उसके ज्ञान से संसार से निवृत्ति हो जाती है। इसका पूजन मोक्षरूपी फल को देने वाला है। अन्तर्लक्ष्य जाज्वल्यमान ज्योति के समान है। इसे तो केवल महर्षिगण ही पहचान सकते हैं। वह बाह्य और आन्तरिक इन्द्रियों का विषय बन नहीं सकता।

चतुर्थः खण्डः

सहस्रारे जलज्ज्योतिरन्तर्लक्ष्यम्। बुद्धिगुहायां सर्वाङ्गसुन्दरं पुरुषरूप-मन्तर्लक्ष्यमित्यपरे। शीर्षान्तर्गतमण्डलमध्यगं पञ्चवक्त्रमुमासहायं

नीलकण्ठं प्रशान्तमन्तर्लक्ष्यमिति केचित् । अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषोऽन्तर्लक्ष्य-मित्येके ॥1॥

उक्तविकल्पं सर्वमात्मैव । तल्लक्ष्यं शुद्धात्मदृष्ट्या वा यः पश्यति स एव ब्रह्मनिष्ठो भवति ॥2॥

सहस्रार पद्म में जाज्वल्यमान ज्योति जैसा अन्तर्लक्ष्य है । कुछ लोग ऐसा मानते हैं कि बुद्धिरूपी गुफा में सर्वांगसुन्दर पुरुषरूप ही अन्तर्लक्ष्य है । और कई लोग ऐसा भी मानते हैं कि मस्तक के भीतर स्थित मंडल के बीच के प्रदेश में पाँच मुखवाले तथा उमा के साथ स्थित नीलकण्ठ भगवान् शंकर का प्रशान्त स्वरूप ही अन्तर्लक्ष्य है । और कुछ विद्वान् ऐसा भी मानते हैं कि अंगुष्ठमात्र पुरुष ही अन्तर्लक्ष्य है । उपर्युक्त सभी विकल्प आत्मा के ही हैं । जो मनुष्य उस अन्तर्लक्ष्य को शुद्ध बुद्धि से देखता है, वह ब्रह्मनिष्ठ हो जाता है ।

जीवः पञ्चविंशकः स्वकल्पितचतुर्विंशतितत्त्वं परित्यज्य षड्विंशः परमात्माहमिति निश्चयाज्जीवन्मुक्तो भवति ॥3॥

एवमन्तर्लक्ष्यदर्शनेन जीवन्मुक्तिदशायां स्वयमन्तर्लक्ष्यो भूत्वा परमाकाशाखण्डमण्डलो भवति ॥4॥

इति प्रथमं ब्राह्मणम् ।
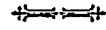
जीव पच्चीसवाँ तत्त्व है । वह स्वयं के द्वारा कल्पित चौबीस तत्त्वों को छोड़कर 'मैं छब्बीसवाँ परमात्मा हूँ'—ऐसा निश्चय करता है, इसलिए वह जीवन्मुक्त बनता है । इस प्रकार अन्तर्लक्ष्य के दर्शन से जब जीवन्मुक्त दशा प्राप्त होती है, तब स्वयं अन्तर्लक्ष्य स्वरूप होकर परमाकाशरूप अखण्डमण्डल वाला हो जाता है ।

यहाँ प्रथम ब्राह्मण पूरा हुआ ।

द्वितीयं ब्राह्मणम्

प्रथमः खण्डः

अथ ह याज्ञवल्क्य आदित्यमण्डलपुरुषं पप्रच्छ । भगवन्नन्तर्लक्ष्यादिकं बहुधोक्तम् । मया तन्न जातम् । तद् ब्रूहि मह्यम् ॥1॥

तदु होवाच पञ्चभूतकारणं तडित्कूटाभं तद्वच्चतुःपीठम् । तन्मध्ये तत्त्वप्रकाशो भवति । सोऽतिगूढ अव्यक्तश्च ॥2॥

इसके बाद, याज्ञवल्क्य ने सूर्यमण्डल में स्थित पुरुष से पूछा—'हे भगवन् ! आपने अन्तर्लक्ष्य आदि विषय को अनेक प्रकार से कहा । परन्तु, वह मैं समझ नहीं पाया हूँ । अत: वह आप (फिर से) कहिए ।' तब उन नारायण ने कहा—'पाँच भूतों का कारण (मूलस्रोत) विद्युत् के पुंज जैसा है । उनसे युक्त वह चतुष्पीठ है । उसके बीच में तत्त्व का प्रकाश होता है । वह अतिगूढ और अव्यक्त है' ।

तज्ज्ञानप्लवाधिरूढेन ज्ञेयम् । तद्बाह्याभ्यन्तर्लक्ष्यम् ॥3॥

तन्मध्ये जगल्लीनम् । तन्नादबिन्दुकलातीतमखण्डमण्डलम् ।

तत्सगुणनिर्गुणस्वरूपम् । तद्वेत्ता विमुक्तः ॥4॥

उस अव्यक्त को ज्ञानरूपी नौका पर आरूढ़ मनुष्य पहचान सकता है । वह बाहर का और भीतर का लक्ष्य है । उसके बीच जगत् लीन होकर रहता है । वह नाद, बिन्दु, कला से परे अखण्ड मण्डल है । वह सगुण-निर्गुण स्वरूप है । उसको जानने वाला मुक्त हो जाता है ।

आदावग्निमण्डलम् । तदुपरि सूर्यमण्डलम् । तन्मध्ये सुधाचन्द्रमण्डलम् । तन्मध्येऽखण्डब्रह्मतेजोमण्डलम् । तद्विद्युल्लेखावच्छुक्लभास्वरम् । तदेव शाम्भवीलक्षणम् ॥5॥

तद्दर्शने तिस्रो दृष्टयः अमा प्रतिपत् पूर्णिमा चेति । निमीलितदर्शनममादृष्टिः । अर्धोन्मीलितं प्रतिपत् । सर्वोन्मीलनं पूर्णिमा भवति । तासु पूर्णिमाभ्यासः कर्तव्यः ॥6॥

तल्लक्ष्यं नासाग्रम् । यदा तालुमूले गाढतमो दृश्यते । तदभ्यासादखण्डमण्डलाकारज्योतिर्दृश्यते । तदेव सच्चिदानन्दं ब्रह्म भवति ॥7॥

पहले अग्निमण्डल है, इसके ऊपर सूर्यमण्डल है, इसके बीच में अमृतरूप चन्द्रमण्डल है । उसके बीच में अखंड ब्रह्म का तेजोमण्डल है । वह विद्युत् की रेखा जैसा श्वेत और प्रकाशमान है । वही शांभवी मुद्रा का लक्षण है । उसके दर्शन से तीन मूर्ति रूप दृष्टिगत होते हैं—एक अमावस्या रूप, दूसरी प्रतिपदारूप और तीसरी पूर्णिमारूप । पलक बन्द होने वाली दृष्टि अमावस्या की दृष्टि है, आधी निमीलित दृष्टि प्रतिपदारूप दृष्टि है और पूर्ण रूप से खुली हुई दृष्टि पूर्णिमारूप दृष्टि है । इन दृष्टियों में से पूर्णिमा की दृष्टि का अभ्यास करना चाहिए । उसका लक्ष्य नासा का अग्रभाग है । जब तालु के मूल में गाढ अन्धकार दिखाई देता है, तब इसके अभ्यास से अखण्डमण्डलाकार ज्योति दिखाई देती है । वही सच्चिदानन्द ब्रह्म है ।

एवं सहजानन्दे यदा मनो लीयते तदा शाम्भवी भवति । तामेव खेचरीमाहुः ॥8॥

तदभ्यासान्मनःस्थैर्यम् । ततो बुद्धिस्थैर्यम् ॥9॥

तच्चिह्नानि । आदौ तारकवद् दृश्यते । ततो वज्रदर्पणम् । तत उपरि पूर्णचन्द्रमण्डलम् । ततो नवरत्नप्रभामण्डलम् । ततो मध्याह्नार्कमण्डलम् । ततो वह्निशिखामण्डलं क्रमाद् दृश्यते ॥10॥

इस प्रकार मन जब सहजानन्द में लीन हो जाता है, तब प्राणी शान्त हो जाता है । इसी को 'खेचरी मुद्रा' कहा जाता है । इसके अभ्यास से मन स्थिर हो जाता है । इसके बाद वायु स्थिर हो जाता है । इसके चिह्न इस प्रकार हैं—पहले तारा जैसा दिखाई देता है, इसके बाद वज्रदर्पण (हीरे का आयना)-जैसा दिखाई पड़ता है । उसके ऊपर पूर्ण चन्द्रमण्डल दीखता है । इसके बाद नवरत्नों की प्रभा वाला मण्डल दिखाई देता है । इसके बाद मध्याह्न के सूर्य वाला मण्डल दीखता है । इसके बाद क्रमशः अग्नि शिखाओं का मण्डल दीखता है ।

द्वितीयः खण्डः

तदा पश्चिमाभिमुखप्रकाशः स्फटिकधूम्रबिन्दुनादकलानक्षत्रखद्योतदीपनेत्रसवर्णनवरत्नादिप्रभा दृश्यन्ते । तदेव प्रणवस्वरूपम् ॥1॥

प्राणापानयोरैक्यं कृत्वा धृतकुम्भको नासाग्रदर्शनदृढभावनया द्विकराङ्गुलिभिः षण्मुखीकरणेन प्रणवध्वनिं निशम्य मनस्तत्र लीनं भवति ॥2॥

उस समय पश्चिम की ओर से (आन्तरिक) प्रकाश देखने में आता है। इसकी आभा धूम्र (धूसर) वर्ण की, स्फटिक मणि जैसी तथा बिन्दु (मनस्तत्त्व), नाद (बुद्धितत्त्व), कला (महत्तत्त्व), नक्षत्र, जुगनू, दीपक, नयन, सुवर्ण और नवरत्न जैसी होती है। यही प्रणव का स्वरूप है। प्राण और अपानवायु को एक करके पहले कुम्भक को धारण करना चाहिए। इसके बाद नासा के अग्रभाग पर दृष्टि को एकाग्र करके दृढ भावना से दोनों हाथों की अँगुलियों से षण्मुखी मुद्रा धारण करके प्रणवनाद का (ओम् का) श्रवण करना चाहिए। तब इसमें मन लीन हो जाता है।

तस्य न कर्मलेपः। रवेरुदयास्तमययोः किल कर्म कर्तव्यम्। एवं-विधश्चिदादित्यस्योदयास्तमयाभावात्सर्वकर्माभावः ॥3॥
शब्दकाललयेन दिवारात्र्यतीतो भूत्वा सर्वपरिपूर्णज्ञानेनोन्मन्यवस्था-वशेन ब्रह्मैक्यं भवति। उन्मन्या अमनस्कं भवति ॥4॥

इस प्रकार अभ्यास करने वाला कर्म से लिप्त नहीं होता। कर्म तो सूर्य के उदयकाल और अस्तकाल में करने होते हैं, परन्तु चैतन्यरूपी सूर्य का तो कभी उदय या अस्त होता ही नहीं है। इसलिए उसे जानने वाले अर्थात् साक्षात्कार करने वाले के लिए तो कोई कर्म है ही नहीं – कर्माभाव ही है। शब्द और काल के लय हो जाने से मनुष्य दिन और रात्रि से ऊपर उठकर सम्पूर्ण ज्ञान प्राप्त कर लेता है। इसके द्वारा उसको उन्मनी अवस्था प्राप्त होती है और ब्रह्म के साथ उसका एकत्व हो जाता है। उन्मनी अवस्था से व्यक्ति अमनस्क (मनोरहित) हो जाता है।

तस्य निश्चिन्ता ध्यानम्। सर्वकर्मनिराकरणमावाहनम्। निश्चयज्ञानमासनम्। उन्मनीभावः पाद्यम्। सदाऽमनस्कमर्घ्यम्। सदादीप्तिरपारामृत-वृत्तिः स्नानम्। सर्वत्र भावना गन्धः। दृक्स्वरूपावस्थानमक्षताः। चिदाप्तिः पुष्पम्। चिदग्निस्वरूपं धूपः। चिदादित्यस्वरूपं दीपः। परिपूर्णचन्द्रामृतरसस्यैकीकरणं नैवेद्यम्। निश्चलत्वं प्रदक्षिणम्। सोऽहंभावो नमस्कारः। मौनं स्तुतिः। सर्वसन्तोषो विसर्जनमिति य एवं वेद ॥5॥

निश्चित अवस्था ही उसका ध्यान है। समस्त कर्मों का निरस्तीकरण (दूर करना) ही उसका आवाहन है। निश्चयज्ञान ही उसका आसन है। मनोरहित होना ही पाद्य है। नित्य अमनस्कता ही अर्घ्य है। नित्य का प्रकाश और अपार अमृतमय वृत्ति ही स्नान है। ब्रह्मभावना ही चन्दन है। दर्शनरूप स्थिति ही अक्षत है। चैतन्यप्राप्ति ही पुरुष है। चैतन्यस्वरूप अग्नि का रूप ही धूप है। चैतन्यस्वरूप सूर्य का रूप ही दीपक है। परिपूर्ण चन्द्र के अमृतरस का एकीकरण ही नैवेद्य है। निश्चलता ही प्रदक्षिणा है। 'वह मैं हूँ' ऐसा भाव ही नमस्कार है। मौन ही स्तुति है। सर्व प्रकार से परितोष ही उसका विसर्जन है। ऐसा जो जानता है, वह ब्रह्मरूप हो जाता है।

तृतीयः खण्डः

एवं त्रिपुट्यां निरस्तायां निस्तरङ्गसमुद्रवन्निवातस्थितदीपवदचलसम्पूर्ण-भावाभावविहीनकैवल्यज्योतिर्भवति ॥1॥
जाग्रन्निद्रान्तःपरिज्ञानेन ब्रह्मविद्भवति ॥2॥
सुषुप्तिसमाध्योर्मनोलयाविशेषेऽपि महदस्त्युभयोर्भेदस्तमसि लीनत्वा-न्मुक्तिहेतुत्वाभावाच्च ॥3॥

समाधौ मृदिततमोविकारस्य तदाकाराकारिताखण्डाकारवृत्त्यात्मक-साक्षिचैतन्ये प्रपञ्चलयः सम्पद्यते प्रपञ्चस्य मनःकल्पितत्वात् ॥4॥

इस प्रकार जब ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञान की त्रिपुटी निरस्त हो जाती है, तब योगी तरंगविहीन सागर जैसा और वायुरहित दीपक जैसा निश्चल, भावाभावरहित, केवल ज्योतिरूप हो जाता है। जाग्रत् में और निद्रा में भी ज्ञान के रहने से वह ब्रह्मवेत्ता हो जाता है। यद्यपि सुषुप्ति में और समाधि में मन का लय तो समान ही होता है, परन्तु फिर भी दोनों में बड़ा भेद है, क्योंकि सुषुप्ति में तो मन का लय अज्ञान में होता है, इसलिए मुक्ति का कारण नहीं होता, जब कि समाधि में तो तमोगुण के विकार नष्ट हो जाने से तदाकार और अखण्डाकार बनी हुई वृत्ति रूप बने हुए साक्षी चैतन्य में प्रपंच का विलय हो जाता है। क्योंकि प्रपंच तो मनःकल्पित होता है।

ततो भेदाभावात् कदाचिद्बहिर्गतेऽपि मिथ्यात्वभानात्। सकृद्विभात-सदानन्दानुभवैकगोचरो ब्रह्मवित्तदैव भवति ॥5॥
यस्य सङ्कल्पनाशः स्यात्तस्य मुक्तिः करे स्थिता। तस्माद्भावाभावौ परित्यज्य परमात्मध्यानेन मुक्तो भवति ॥6॥
पुनः पुनः सर्वावस्थासु ज्ञानज्ञेयौ ध्यानध्येयौ लक्ष्यालक्ष्ये दृश्यादृश्ये चोहापोहादि परित्यज्य जीवन्मुक्तो भवेत्। य एवं वेद ॥7॥

लेकिन उस अवस्था के बाद कोई भेद नहीं रहता। इसलिए योगी कदाचित् समाधि में से बाहर निकला हो, तब भी उसे प्रपंच मिथ्या ही मालूम पड़ता है। जब एक बार सदानन्द प्रकाशित हो गया तब वही एकमात्र विषय बनता है और तभी मनुष्य ब्रह्मवेत्ता होता है। जिसके संकल्पों का नाश हुआ होता है, उसी के हाथ में मुक्ति होती है। इसलिए भाव और अभाव, दोनों का त्याग करके परमात्मा का ध्यान करने से मुक्ति मिलती है। बार-बार, प्रत्येक अवस्था में, ज्ञान-ज्ञेय का, ध्यान-ध्येय का, लक्ष्य-अलक्ष्य का और ऊह-अपोह का त्याग करके मनुष्य जीवन्मुक्त हो जाता है। जो इस प्रकार जानता है, वह ब्रह्म को पाता है।

चतुर्थः खण्डः

पञ्चावस्थाः जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तितुरीयतुरीयातीताः ॥1॥
जाग्रति प्रवृत्तो जीवः प्रवृत्तिमार्गासक्तः। पापफलनरकादिमांस्तु शुभ-कर्मफलस्वर्गमस्त्विति काङ्क्षते ॥2॥
एवं स एव स्वीकृतवैराग्यात्कर्मफलजन्माऽलं संसारबन्धनमलमिति विमुक्त्यभिमुखो निवृत्तिमार्गप्रवृत्तो भवति ॥3॥

जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति, तुरीय और तुरीयातीत—ऐसी पाँच अवस्थाएँ हैं। उनमें से जाग्रत् अवस्था में रहा हुआ जीव प्रवृत्तिमार्ग में आसक्त होता है। पापों के फलों के रूप में वह नरक आदि को प्राप्त करता है। 'मुझे शुभ कर्मों का फल प्राप्त हो'—ऐसा वह चाहता है। और वही जीव यदि वैराग्य को स्वीकार करता है, तो इससे, 'अब कर्म के फलरूप जन्म एवं संसार के बन्धन से ऊब गया हूँ'—ऐसी वृत्तिवाला होकर मुक्ति की ओर प्रवृत्त है और निवृत्तिमार्ग पर चलने के लिए अग्रसर हो जाता है।

स एव संसारतारणाय गुरुमाश्रित्य कामादि त्यक्त्वा विहितकर्माचर-न्साधनचतुष्टयसम्पन्नो हृदयकमलमध्ये भगवत्सत्तामात्रान्तर्लक्ष्यरूपमा-

साद्य सुषुप्त्यवस्थाया मुक्तब्रह्मानन्दस्मृतिं लब्ध्वा एक एवाहमद्वितीयः कञ्चित्कालमज्ञानवृत्त्या विस्मृतजाग्रद्वासनानुफलेन तैजसोऽस्मीति तदुभयनिवृत्त्या प्राज्ञ इदानीमस्मीत्यहमेक एव स्थानभेदादवस्थाभेदस्य परन्तु नहि मदन्यदिति जातविवेकः शुद्धाद्वैतब्रह्माहमिति भिदागन्धं निरस्य स्वान्तर्विजृम्भितभानुमण्डलध्यानतदाकाराकारितपरंब्रह्माकारितमुक्तिमार्गमारूढः परिपक्वो भवति ॥4॥

इसके बाद वही जीव संसार को पार करने के लिए गुरु का आश्रय लेकर काम आदि का त्याग कर देता है और वेदविहित कर्म करते हुए साधन-चतुष्टय (विवेक, वैराग्य, षट्सम्पत्ति और मुमुक्षुत्व) से युक्त होता है। इससे वह हृदयकमल के बीच केवल भगवत्सत्तारूप अन्तर्लक्ष्य को प्राप्त करता है। और सुषुप्ति अवस्था से रहित ब्रह्मानन्द की स्मृति प्राप्त करके, 'मैं एक ही अद्वितीय हूँ', परन्तु कुछ काल तक अज्ञान की वृत्ति की वजह से मैं अपने आत्मस्वरूप को भूल गया था और जाग्रत् अवस्था की वासना के फल के परिणामस्वरूप मैं 'तैजस' हूँ, ऐसा मान रहा था। और भी जाग्रत् और स्वप्न की अवस्थाएँ जब नहीं होती थीं, तब सुषुप्ति अवस्था में मैं 'प्राज्ञ' हूँ ऐसा मान रहा था, परन्तु अब मैं अनुभव कर रहा हूँ कि 'मैं तो एक ही हूँ'। वे पहले के अनुभव तो केवल स्थानभेद से अलग-अलग अवस्थाएँ मात्र थीं पर सही रूप में 'मुझसे अलग कुछ है ही नहीं।' ऐसा उसका विवेक होता है। और 'मैं शुद्ध ब्रह्म ही हूँ'—इस प्रकार के अनुभव से भेदभाव की सभी वासनाएँ दूर करके अपने भीतर प्रकाशित तेजोमण्डल के ध्यान से तद्रूप होकर, परब्रह्म के स्वरूप को प्राप्त कर मुक्तिमार्ग पर आरूढ हो जाता है और परिपक्व हो जाता है।

सङ्कल्पादिकं मनो बन्धहेतुः। तद्वियुक्तं मनो मोक्षाय भवति ॥5॥ तद्वांश्चक्षुरादिबाह्यप्रपञ्चोपरतो विगतप्रपञ्चगन्धः सर्वजगदात्मत्वेन पश्यंस्त्यक्ताहङ्कारो ब्रह्माहमस्मीति चिन्तयन्निदं सर्वं यदयमात्मेति भावयन् कृतकृत्यो भवति ॥6॥

संकल्प आदि को प्राप्त हुआ मन बन्धन का कारण बनता है और संकल्पों से मुक्त मन मोक्ष का कारण बनता है। जीवित अवस्था में मोक्ष प्राप्त किया हुआ मनुष्य (जीवन्मुक्त) चक्षु आदि बाह्य प्रपंच से उपरत हो जाता है, उसमें प्रपंच का गन्धमात्र भी शेष नहीं रहता। वह संपूर्ण जगत् को आत्मस्वरूप ही देखता है। और उसमें अहंकार न होने पर (क्योंकि अहंकार का उसने त्याग किया होता है फिर भी) 'अहं ब्रह्मास्मि' 'मैं ब्रह्म हूँ' इस प्रकार का चिन्तन करता हुआ वह 'यह सब कुछ आत्मा ही है'—ऐसी भावना करता हुआ कृतकृत्य होता है।

पञ्चमः खण्डः

सर्वपरिपूर्णतुरीयातीतब्रह्मभूतो योगी भवति। तं ब्रह्मेति स्तुवन्ति ॥1॥ सर्वलोकस्तुतिपात्रः सर्वदेशसञ्चारशीलः परमात्मगगने बिन्दुं निक्षिप्य शुद्धाद्वैताजाड्यसहजामनस्कयोगनिद्राखण्डानन्दपदानुवृत्त्या जीवन्मुक्तो भवति ॥2॥

सब प्रकार से परिपूर्ण होकर वह तुरीयातीत योगी ब्रह्मस्वरूप ही हो जाता है। लोग इसी प्रकार उसकी स्तुति करते हैं कि—'वह ब्रह्म है।' वह सभी लोगों की स्तुति का पात्र बनता है। वह सभी लोकों में संचरण करने वाला हो जाता है, और परमात्मारूपी आकाश में बिन्दु स्थापित करके अर्थात् चिदाकाश में मन का विलीनीकरण करके शुद्ध, अद्वैत, अजड, सहज और अमनस्क अवस्थारूपी योगनिद्रा में अखण्डानन्द का अनुसरण करते हुए जीवन्मुक्त हो जाता है।

तच्चानन्दसमुद्रमग्ना योगिनो भवन्ति ॥3॥ तदपेक्षया इन्द्रादयः स्वल्पानन्दाः। एवं प्राप्तानन्दः परमयोगी भवतीत्युपनिषत् ॥4॥

इति द्वितीयं ब्राह्मणम्।
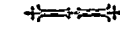
उस आनन्दसागर में मग्न रहने वाले योगी को 'सिद्ध' कहा जाता है। उन योगियों की तुलना में इन्द्र आदि देवसमूह भी अत्यल्प आनन्द को प्राप्त करने वाले होते हैं। इस प्रकार परमानन्द को प्राप्त करने वाला तो योगी ही होता है। यह अद्भुत रहस्य है।

यहाँ दूसरा ब्राह्मण पूरा हुआ।

तृतीयं ब्राह्मणम्

प्रथमः खण्डः

याज्ञवल्क्यो महामुनिर्मण्डलपुरुषं पप्रच्छ स्वामिन्नमनस्कलक्षणमुक्तमपि विस्मृतं पुनस्तल्लक्षणं ब्रूहीति ॥1॥ तथेति मण्डलपुरुषोऽब्रवीत्। इदममनस्कमतिरहस्यम्। यज्ज्ञानेन कृतार्थो भवति तन्नित्यं शाम्भवीमुद्रान्वितम् ॥2॥

महामुनि याज्ञवल्क्य ने सूर्यमण्डलस्थित पुरुष से पूछा—'हे स्वामिन्! आपने अमनस्क अवस्था का लक्षण तो कहा, परन्तु वह तो मैं भूल गया हूँ, तो फिर से आप उसका लक्षण बताइए।' मण्डलस्थ पुरुष ने कहा—'ठीक है।' ऐसा कहकर आगे कहा—यह अमनस्क अवस्था का स्वरूप बड़ा रहस्यमय है। इसके ज्ञान से मनुष्य कृतकृत्य हो जाता है। वह सदैव शांभवी मुद्रा से युक्त होता है।

परमात्मदृष्ट्या तत्प्रत्ययलक्ष्याणि दृष्ट्वा तदनु सर्वेशमप्रमेयमजं शिवं परमाकाशं निरालम्बमद्वयं ब्रह्मविष्णुरुद्रादीनामेकलक्ष्यं सर्वकारणं परंब्रह्मात्मन्येव पश्यमानो गुहाविहरणमेव निश्चयेन ज्ञात्वा भावाभावादिद्वन्द्वातीतः संविदितमनोन्मन्यनुभवस्तदनन्तरमखिलेन्द्रियक्षयवशादमनस्कसुखब्रह्मानन्दसमुद्रे मनःप्रवाहयोगरूपनिवातस्थितदीपवदचलं परंब्रह्म प्राप्नोति ॥3॥

परमात्म दृष्टि से परमात्मानुभव कराने वाले लक्ष्य को देखने के बाद, वह सर्वेश्वर, सर्वप्रमाणातीत, शिव, परमाकाश, निराश्रय, अद्वैत, ब्रह्मा-विष्णु-रुद्र आदि के भी एकलक्ष्यरूप, सर्वकारणभूत परब्रह्म को अपने आत्मा में ही देखता है, और ऐसा पुरुष अपनी हृदयरूपी गुफा में ही उनके (परमात्मा के) विहार को निश्चित रूप से जानकर भाव-अभाव आदि द्वन्द्वों से रहित होकर मन की उन्मनी अवस्था का अनुभव करता है। इसके बाद सभी इन्द्रियों के नष्ट हो जाने के कारण अमनस्क

अवस्था के सुखरूप ब्रह्मानन्दसागर में ही उसके मन का प्रवाह बहने लगता है, जिसके योग से वह निर्वात स्थल में स्थित दीपक की तरह अचल ब्रह्म को प्राप्त करता है।

ततः शुष्कवृक्षवन्मूर्च्छानिद्रामयनिःश्वासोच्छ्वासाभावान्नष्टद्वन्द्वः सदाऽ-चञ्चलगात्रः परमशान्तिं स्वीकृत्य मनःप्रचारशून्यं परमात्मनि लीनं भवति ॥4॥
पयःस्त्रावानन्तरं धेनुस्तनक्षीरमिव सर्वेन्द्रियवर्गे परिनष्टे मनोनाशो भवति तदेवामनस्कम् ॥5॥
तदनु नित्यशुद्धः परमात्महमेवेति तत्त्वमसीत्युपदेशेन त्वमेवाहमहमेव त्वमिति तारकयोगमार्गेणाखण्डानन्दपूर्णः कृतार्थो भवति ॥6॥

बाद में सूखे पेड़ की तरह मूर्च्छा और निद्रामय स्थिति में उसके श्वासोच्छ्वास भी नहीं रहते। इससे सुख-दुःखादि द्वन्द्व नष्ट हो जाते हैं, और वह सदा स्थिरगात्रवाला हो जाता है। इस तरह परम शान्ति प्राप्त कर मन को प्रचारशून्य बनाकर परमात्मा में लीन हो जाता है। जिस प्रकार दूध दुह लेने के बाद गाय के स्तन में वह दूध नहीं रहता, उसी प्रकार सभी इन्द्रियसमूह के नष्ट हो जाने के बाद मन का भी नाश हो जाता है। वही अमनस्क स्थिति है। तदुपरान्त, 'मैं ही शुद्ध परमात्मा हूँ'—इस प्रकार, 'तत्त्वमसि' का उपदेश प्राप्त हो जाने पर, 'तुम ही मैं हूँ'—'मैं ही तुम हो'—इस तारक योग मार्ग से अखण्डानन्द प्राप्त करके साधक सम्पूर्णतया कृतकृत्य हो जाता है।

द्वितीयः खण्डः

परिपूर्णपराकाशमग्नमनाः प्राप्तोन्मन्यवस्थः संन्यस्तसर्वेन्द्रियवर्गोऽनेक-जन्मार्जितपुण्यपुञ्जपक्वकैवल्यफलोऽखण्डानन्दनिरस्तसर्वक्लेशकश्मलो ब्रह्माहमस्मीति कृतकृत्यो भवति ॥1॥
त्वमेवाहं न भेदोऽस्ति पूर्णत्वात्परमात्मनः। इत्युच्चरन्त्समालिङ्ग्य शिष्यं ज्ञप्तिमनीनयत् ॥2॥

इति तृतीयं ब्राह्मणम्।
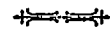
जिसका मन परमाकाश में पूर्णरूप से मग्न हो गया हो वह उन्मनी अवस्था को प्राप्त करता है। उससे सारा इन्द्रियसमूह छूट जाता है। जन्मजन्मान्तर से प्राप्त पुण्यपुंज से उसका कैवल्यप्राप्तिरूप फल परिपक्व होता है। और अखण्ड आनन्द के अनुभव से सभी क्लेशरूप पाप विनष्ट हो जाते हैं। बाद में 'मैं ब्रह्म हूँ'—इस भाव में वह निरन्तर रत होकर कृतकृत्य हो जाता है। परमात्मा पूर्ण है, इसलिए, 'जो तू है वही मैं हूँ'—ऐसा उच्चारण करते हुए गुरु (मण्डलपुरुष) ने शिष्य (याज्ञवल्क्य) का आलिंगन करते हुए यह ज्ञान दिया था।

यहाँ तीसरा ब्राह्मण पूरा हुआ।

❋

चतुर्थं ब्राह्मणम्

प्रथमः खण्डः

अथ ह याज्ञवल्क्यो मण्डलपुरुषं पप्रच्छ व्योमपञ्चकलक्षणं विस्तरेणा-नुब्रूहीति ॥1॥

स होवाचाकाशं पराकाशं महाकाशं सूर्याकाशं परमाकाशमिति पञ्च भवन्ति ॥2॥
सबाह्याभ्यन्तरमन्धकारमयमाकाशम्। स बाह्यस्याभ्यन्तरे कालानल-सदृशं पराकाशम्। सबाह्याभ्यन्तरेऽपरिमितद्युतिनिभं तत्त्वं महाकाशम्। सबाह्याभ्यन्तरे सूर्यनिभं सूर्याकाशम्। अनिर्वचनीयज्योतिः सर्वव्यापकं निरतिशयानन्दलक्षणं परमाकाशम् ॥3॥
एवं तत्तल्लक्ष्यदर्शनात्तत्तद्रूपो भवति ॥4॥

फिर याज्ञवल्क्य ने सूर्यमण्डल स्थित पुरुष से पूछा—'पाँच आकाश का वर्णन आप विस्तार से कहिए।' तब उसने कहा—'आकाश, पराकाश, महाकाश, सूर्यकाश और परमाकाश—इस तरह पाँच आकाश हैं। उनमें जो आकाश बाहर और भीतर – दोनों ओर से अन्धकारमय है वह 'आकाश' कहलाता है। जो बाहर-भीतर कालाग्नि जैसा है, वह 'पराकाश' कहा जाता है। जो बाहर-भीतर अपरिमित कान्ति जैसा है वह 'महाकाश' तत्त्व है। जो बाहर-भीतर सूर्य जैसा है, वह सूर्याकाश है, और जो अनिर्वचनीय ज्योतियुक्त सर्वव्यापक और अत्यन्त आनन्द के लक्षण से युक्त है, वह परमाकाश है। इस प्रकार मनुष्य जिस-जिस लक्ष्य का दर्शन करता है, वह उसी-उसी की तरह हो जाता है।

नवचक्रं षडाधारं त्रिलक्ष्यं व्योमपञ्चकम्।
सम्यगेतन्न जानाति स योगी नामतो भवेत् ॥5॥

इति चतुर्थं ब्राह्मणम्।

योगी कहलाने वाला जो मनुष्य नव चक्रों (छः चक्रों के साथ तालु, आकाश और भूचक्र मिलकर नव चक्र माने गए हैं) को, छः आधारों को (मूलाधार आदि आधारों को), तीन लक्ष्यों को (अन्तर, बहिः और मध्य को), उपर्युक्त पाँच आकाशों को अच्छी तरह से नहीं पहचानता है, वह केवल कहने मात्र का ही योगी है। वह वास्तविक योगी नहीं है।

यहाँ चतुर्थ ब्राह्मण पूरा हुआ।

❋

पञ्चमं ब्राह्मणम्

प्रथमः खण्डः

सविषयं मनो बन्धाय निर्विषयं मुक्तये भवति ॥1॥
अतः सर्वं जगच्चित्तगोचरम्। तदेव चित्तं निराश्रयं मनोन्मन्यवस्था-परिपक्वं लययोग्यं भवति ॥2॥
तल्लयं परिपूर्णे मयि समभ्यसेत्। मनोलयकारणमहमेव ॥3॥
अनाहतस्य शब्दस्य तस्य शब्दस्य यो ध्वनिः। ध्वनेरन्तर्गतं ज्योतिर्ज्योति-रन्तर्गत मनः ॥4॥
यन्मनस्त्रिजगत्सृष्टिस्थितिव्यसनकर्मकृत्। तन्मनो विलयं याति तद्विष्णोः परमं पदम् ॥5॥

विषययुक्त मन बन्धन का और निर्विषय मन मुक्ति का कारण होता है। अतः समस्त जगत् मन का विषय है। यही चित्त यदि आश्रयरहित हो जाए, तो मन उन्मनी अवस्था में परिपक्व होकर ईश्वर में लय होने योग्य बन जाता है। इस लय का परिपूर्ण 'मैं' में अभ्यास करना चाहिए, क्योंकि मन के लय का कारण 'मैं' ही है। अनाहतनाद और उस शब्द के भीतर जो ध्वनि होती है, उस ध्वनि के भीतर ज्योति रहती है और ज्योति के भीतर मन रहता है। जो मन तीनों जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और लय के कार्य का सम्पादन करता है, वह मन भी जिसमें विलय होता है, वह विष्णु का परमपद है।

तल्लयाच्छुद्धाद्वैतसिद्धिर्भेदाभावात्। एतदेव परमतत्त्वम् ॥6॥
स तज्ज्ञो बालोन्मत्तपिशाचवज्जडवृत्त्या लोकमाचरेत् ॥7॥
एवममनस्काभ्यासेनैव नित्यतृप्तिरल्पमूत्रपुरीषमितभोजनदृढाङ्गाजाड्य-निद्रादृग्वायुचलनाभावब्रह्मदर्शनाज्ज्ञातसुखस्वरूपसिद्धिर्भवति ॥8॥

विष्णु के परमपद में लय होने से शुद्ध (निर्मल) अद्वैततत्त्व की सिद्धि होती है। क्योंकि इसके बाद तो कोई भेद रहता ही नहीं है। वही परमतत्त्व है। उसको जानने वाला मनुष्य बालक, पागल, या पिशाच की तरह लोगों में आचरण करता है। इस प्रकार की अमनस्क अवस्था का अभ्यास करने से नित्यतृप्ति (स्थायी तृप्ति) होती है। मल-मूत्र कम हो जाते हैं, आहार का प्रमाण कम हो जाता है, शरीर दृढ़ हो जाता है, जड़ता समाप्त हो जाती है। निद्रा और नेत्र एवं वायु की गति समाप्त हो जाती है, और ब्रह्मदर्शन होने के कारण अनुभूत्यात्मक सुखमय स्वरूप की सिद्धि होती है।

एवं चिरसमाधिजनितब्रह्मामृतपानपरायणोऽसौ संन्यासी परमहंस अवधूतो भवति। तद्दर्शनेन सकलं जगत्पवित्रं भवति। तत्सेवा-परोऽज्ञोऽपि मुक्तो भवति। तत्कुलमेकोत्तरशतं तारयति। तन्मातृपितृ-जायापत्यवर्गं च मुक्तं भवतीत्युपनिषत् ॥9॥

इति मण्डलब्राह्मणोपनिषत्समाप्ता।

इस प्रकार लम्बे समय तक समाधि की स्थिति के बार-बार करते रहने से उत्पन्न होने वाले ब्रह्मामृत का पान करने में परायण रहने वाला संन्यासी 'अवधूत' हो जाता है। उसके दर्शन से सम्पूर्ण जगत् पावन हो जाता है। उसकी सेवा में तत्पर रहनेवाला अज्ञानी भी मुक्त हो जाता है, और अपनी एक सौ एक पीढ़ियों तक के कुल को संसार के पार उतारता है। उसके माता-पिता-सन्तानें आदि सभी मुक्त हो जाते हैं। ऐसी यह उपनिषद् है। उपनिषद् पूरी हुई।

यहाँ मण्डलब्राह्मणोपनिषद् पूरी होती है।

शान्तिपाठः

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं.....पूर्णमेवावशिष्यते। (पूर्ववत्)
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

❋

(50) दक्षिणामूर्त्युपनिषद्

(उपनिषत्परिचय)

यह उपनिषद् कृष्णयजुर्वेदीय परम्परा की मानी गई है। शौनक आदि ऋषियों ने मार्कण्डेय को उनकी चिरंजीवता के बारे में और उनके सदैव आनन्द में रहने के रहस्य के बारे में पूछने पर उन्होंने यह कहा कि 'परमरहस्यरूप शिवतत्त्व के ज्ञान से समग्र सृष्टि के प्रलय काल में स्वयं में ही सबका समावेश करके जो मनुष्य आत्मानन्द का अनुभव लेता है, वह शिव यानी परमात्मा है। श्रीदक्षिणामूर्ति मन्त्रों द्वारा उनका ध्यान आदि करने से ऐसी अवस्था प्राप्त होती है। वैराग्यरूपी तेल से भरे हुए तथा भक्तिरूपी बत्ती से युक्त ज्ञानरूपी दीपक का ध्यान करना चाहिए। ऐसा करने से मोहरूपी अन्धकार में स्वयं दक्षिणामूर्तिरूप शिव आप ही प्रकट हो जाते हैं।

शान्तिपाठः

ॐ सह नाववतु.......मा विद्विषावहै। (पूर्ववत्)
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

इसका हिन्दी रूपान्तर पूर्व में (ब्रह्मोपनिषद् में) द्रष्टव्य है।

ब्रह्मावर्ते महाभाण्डीरवटमूले महासत्राय समेता महर्षयः शौनकादयस्ते ह समित्पाणयस्तत्त्वजिज्ञासवो मार्कण्डेयं चिरंजीविनमुपसमेत्य पप्रच्छुः केन त्वं चिरं जीवसि केन वानन्दमनुभवसीति ॥1॥
परमरहस्यशिवतत्त्वज्ञानेनेति स होवाच ॥2॥

एक बार ब्रह्मावर्त प्रदेश में महाभांडीर नामक वट-वृक्ष के नीचे बड़े ज्ञानसत्र के लिए एकत्र हुए शौनक आदि महर्षियों ने समित्पाणि होकर रहस्य जानने की इच्छा से लम्बी आयुवाले मार्कण्डेयजी के पास जाकर पूछा—'हे महर्षे! आप किस तरह इतनी लम्बी आयु को धारण कर सके हैं? और इतने आनन्द का अनुभव कैसे कर रहे हैं?' तब उन्होंने कहा कि 'मेरे चिरंजीवी होने का कारण परम गोपनीय शिवतत्त्व का ज्ञान है।'

किं तत्परमरहस्यशिवतत्त्वज्ञानम्। तत्र को देवः। के मन्त्राः। को जपः। का मुद्रा। का निष्ठा। किं तज्ज्ञानसाधनम्। कः परिकरः। को बलिः। कः कालः। किं तत्स्थानमिति ॥3॥

तब ऋषियों ने पूछा—'वह परम रहस्यमय शिवतत्त्व का ज्ञान क्या है? उसका देवता कौन है? उस ज्ञान के मन्त्र कौन-कौन से हैं? उसका जपमन्त्र कौन-सा है? उसके लिए कौन-सी मुद्रा करनी चाहिए? उसकी निष्ठा क्या है? उस ज्ञान के साधन कौन-कौन से हैं? उसके परिकर क्या हैं? उसमें बलि क्या है? उसका समय कौन-सा है? उसका स्थान क्या है?

स होवाच । येन दक्षिणामुखः शिवोऽपरोक्षीकृतो भवति तत्परमरहस्य-
शिवतत्त्वज्ञानम् ॥4॥
यः सर्वोपरमे काले सर्वानात्मन्युपसंहृत्य स्वात्मानन्दसुखे मोदते प्रकाशते
वा स देवः ॥5॥

तब उन मार्कण्डेय ऋषि ने कहा कि जिसके द्वारा दक्षिण मुख वाले शिव का प्राकट्य होता है, वही परमरहस्यमय शिवतत्त्व का ज्ञान कहा जाता है। और जो परम प्रलय के काल में समग्र विश्व को अपने भीतर समेट कर अपने आत्मा के सुख में ही आनन्दित रहते हैं, और प्रकाशित रहते हैं, वे ही इस ज्ञान के देवता हैं।

अत्रैते मन्त्ररहस्यश्लोका भवन्ति। मेधा दक्षिणामूर्तिमन्त्रस्य ब्रह्मा
ऋषिः । गायत्री छन्दः । देवता दक्षिणास्यः । मन्त्रेणाङ्गन्यासः ॥6॥
ॐ आदौ नम उच्चार्य ततो भगवते पदम् ।
दक्षिणेति पदं पश्चान्मूर्तये पदमुद्धरेत् ।
अस्मच्छब्दं चतुर्थ्यन्तं मेधां प्रज्ञां पदं वदेत् ।
प्रमुच्चार्य ततो वायुबीजं च्छं च ततः पठेत् ।
अग्निजायां ततस्त्वेष चतुर्विंशाक्षरो मनुः ॥7॥

ध्यानम्

स्फटिकरजतवर्णं मौक्तिकीमक्षमाला-
ममृतकलशविद्यां ज्ञानमुद्रां कराग्रे ।
दधतमुरगकक्ष्यं चन्द्रचूडं त्रिनेत्रं
विधृतविविधभूषं दक्षिणामूर्तिमीडे ॥8॥

सर्वप्रथम, 'ॐ नमः' शब्द उच्चरित करके फिर 'भगवते' पद का उच्चारण करना चाहिए। फिर 'दक्षिणा' शब्द बोलना चाहिए। फिर 'मूर्तये' ऐसा कहना चाहिए। बाद में 'अस्मद्' शब्द का चतुर्थी एकवचन यानी 'मह्यम्' पद बोलना चाहिए। बाद में 'मेधां', 'प्रज्ञां'—इन पदों का उच्चारण करना चाहिए। तत्पश्चात् 'प्र' का उच्चारण करके, फिर वायुबीज 'य' का उच्चारण करने के बाद 'च्छ' पद कहना चाहिए। और सबके अन्त में अग्निपत्नी का—'स्वाहा' का उच्चारण करना चाहिए। इस प्रकार कुल चौबीस अक्षरों का यह मनुमन्त्र है। (पूरा मन्त्र इस तरह बनेगा—ॐ नमो भगवते दक्षिणामूर्तये मह्यं मेधां प्रज्ञां प्रयच्छ स्वाहा)। फिर ध्यान करना चाहिए (ध्यान मन्त्र—) 'मैं स्फटिक तथा रजत जैसे वर्णवाले भगवान् दक्षिणामूर्ति (शिव) की स्तुति करता हूँ। उनके हाथ में क्रमशः ज्ञानमुद्रा, अमृतत्वदायिनी विद्या और अक्षमाला है। वे तीन नेत्रों वाले हैं, उनके उन्नत भाल पर चन्द्र है, उनकी कमर पर साँप लिपटे हैं। वे विविधवेशधारी हैं।' इस तरह ध्यान करना चाहिए।

मन्त्रेण न्यासः

आदौ वेदादिमुच्चार्य स्वराद्यं सविसर्गकम् ।
पञ्चार्णं तत उद्धृत्य अतरं सविसर्गकम् ।
अन्ते समुद्धरेत्तारं मनुरेष नवाक्षरः ॥9॥
मुद्रां भद्रार्थदात्रीं स परशुहरिणं बाहुभिर्बाहुमेकं
जान्वासक्तं दधानो भुजगवरसमाबद्धकक्ष्यो वटाधः ।

आसीनश्चन्द्रखण्डप्रतिघटितजटाक्षीरगौरस्त्रिनेत्रो
दद्यादाद्यः शुकाद्यैर्मुनिभिरभिवृतो भावशुद्धिं भवो नः ॥10॥

नवाक्षर मनुमन्त्र से न्यास इस प्रकार है—सर्वप्रथम ॐ का उच्चारण करके स्वर के आदि अक्षर को विसर्ग के साथ बोलना चाहिए। बाद में 'पंचाणं' अर्थात् 'दक्षिणामूर्ति' पद का उच्चारण करना चाहिए। इसके बाद विसर्ग के साथ 'अतर' शब्द का उच्चारण करना चाहिए। और अन्त में तार का अर्थात् ॐकार का उच्चारण करना चाहिए—इसको 'नवाक्षरी मनुमन्त्र' कहते हैं। (पूरा मन्त्र होगा—'ॐ दक्षिणामूर्तिरतरों') फिर ध्यान करना चाहिए। इसका ध्यान मन्त्र यह है—'जो एक हाथ में अभयमुद्रा और दो हाथों में क्रमशः परशु तथा हिरण - मृगीमुद्रा लिए हुए तथा एक हाथ को अपनी जंघा पर रखे हुए वटवृक्ष के नीचे विराजमान हैं, और जिन्होंने कमर पर नागराज लिपटा रखा है, जिनकी जटाओं में द्वितीया का चाँद शोभित है, ऐसे दुग्धसमान श्वेतवर्ण और त्रिनेत्रधारी शुकादि मुनियों से घिरे हुए भगवान् शंकर का हम ध्यान करते हैं। वे हमारी भावनाओं को शुद्ध करके हमें सद्बुद्धि दें।'

मन्त्रेण न्यासः (ब्रह्मर्षिन्यासः)

तारं ब्लूं नम उच्चार्य मायां वाग्भवमेव च ।
दक्षिणापदमुच्चार्य ततः स्यान्मूर्तये पदम् ॥11॥
ज्ञानं देहि पदं पश्चाद्वह्निजायां ततो न्यसेत् ।
मनुरष्टादशार्णोऽयं सर्वमन्त्रेषु गोपितः ॥12॥
भस्मव्यापाण्डुराङ्गः शशिशकलधरो ज्ञानमुद्राक्षमाला-
वीणापुस्तैर्विराजत्करकमलधरो योगपट्टाभिरामः ।
व्याख्यापीठे निषण्णो मुनिवरनिकरैः सेव्यमानः प्रसन्नः
सव्यालः कृत्तिवासाः सततमवतु नो दक्षिणामूर्तिरीशः ॥13॥

नवाक्षर मनुमंत्र का न्यास—ध्यानादि बताने के बाद अब अष्टादशाक्षर मनुमन्त्र के विषय में कहा जा रहा है। इसमें सबसे पहले तार अर्थात् ॐकार का उच्चारण करना चाहिए। बाद में 'ब्लूं नमः' कहकर मायाबीज का अर्थात् 'ह्रीं' का उच्चारण करना चाहिए। बाद में वाग्बीज का अर्थात् 'ऐं' का उच्चारण करना चाहिए। फिर बाद में 'दक्षिणा' तथा फिर 'मूर्तये' पदों का उच्चारण करना चाहिए। ऐसा कहकर फिर 'ज्ञानं देहि' बोलना चाहिए। अन्त में अग्निपत्नी का यानी 'स्वाहा' का नाम बोलना चाहिए। यह अठारह अक्षर का मनुमन्त्र है, इसका जप करना चाहिए। वह अष्टादशाक्षर मनुमन्त्र सभी मन्त्रों में अति गोपनीय मन्त्र है (पूरा मन्त्र इस प्रकार होगा—'ॐ ब्लूं नमो ह्रीं ऐं दक्षिणामूर्तये ज्ञानं देहि स्वाहा)। इसका ध्यान मन्त्र 'भस्मव्या' आदि है। मन्त्रार्थ यह है—'भस्मलेपन से जिनका पूरा शरीर श्वेतवर्ण हो गया है, ऐसे और चन्द्रकला को मस्तक पर धारण किए हुए, करकमलों में रुद्राक्षमाला, वीणा, पुस्तक, ज्ञानमुद्रा धारण करने वाले, योगियों के पास रहने वाले पट्ट से सुशोभित व्याघ्रचर्म-धारी भगवान् दक्षिण.ामूर्ति सदैव हमारी रक्षा करे।'

मन्त्रेण न्यासः (ब्रह्मर्षिन्यासः)

तारं परां रमाबीजं वदेत्साम्बशिवाय च ।
तुभ्यं चानलजायां च मनुर्द्वादशवर्णकः ॥14॥

वीणां करैः पुस्तकमक्षमालां बिभ्राणमभ्राभगलं वराढ्यम्।
फणीन्द्रकक्ष्यं मुनिभिः शुकाद्यैः सेव्यं वटाधः कृतनीडमीडे ॥15॥

अब द्वादशाक्षर मनुमन्त्र के विषय में कहते हैं—सबसे पहले 'ॐ', बाद में परावीज 'ह्रीं', फिर रमाबीज 'श्रीं' बोलना चाहिए। इसके बाद 'साम्बशिवाय', बाद में 'तुभ्यं' और अन्त में 'स्वाहा' कहना चाहिए। इस प्रकार, यह बारह अक्षर वाला मनुमन्त्र होता है। (पूरा मन्त्र इस प्रकार है—'ॐ ह्रीं श्रीं साम्बशिवाय तुभ्यं स्वाहा') इसके बाद ध्यानमन्त्र से ध्यान करना चाहिए। ध्यानमन्त्र 'वीणां करैः' इत्यादि है। मन्त्रार्थ यह है—'जिन्होंने अपने हाथ में वीणा, पुस्तक और अक्षमाला धारण की है, जिनका एक हाथ अभयमुद्रा में है, जिनका कण्ठप्रदेश घनघोर श्याम बादलों-सा शोभित है, जो श्रेष्ठ में भी श्रेष्ठ हैं, जिनकी कमर पर नागराज शोभित हैं, ऐसे भगवान् शंकर की मैं प्रार्थना करता हूँ।'

विष्णु ऋषिरनुष्टुप् छन्दः। देवता दक्षिणास्यः। मन्त्रेण न्यासः।
तारं नमो भगवते तुभ्यं वटपदं ततः।
मूलेति पदमुच्चार्य वासने पदमुद्धरेत् ॥16॥
वागीशाय पदं पश्चान्महाज्ञानपदं ततः।
दायिने पदमुच्चार्य मायिने नम उद्धरेत् ॥17॥
आनुष्टुभो मन्त्रराजः सर्वमन्त्रोत्तमोत्तमः ॥18॥
ध्यानम्
मुद्रापुस्तकवह्निनागविलसद्बाहुं प्रसन्नाननं
मुक्ताहारविभूषणं शशिकलाभास्वत्किरीटोज्ज्वलम्।
अज्ञानापहमादिमादिमगिरामर्थं भवानीपतिं
न्यग्रोधान्तनिवासिनं परगुरुं ध्यायाम्यभीष्टाप्तये ॥19॥

इस मन्त्र के ऋषि विष्णु हैं, छन्द अनुष्टुप है, दक्षिणामूर्ति देवता हैं। इस मन्त्र से न्यास करना चाहिए। सबसे पहले 'तार—ॐ', बाद में 'नमो भगवते तुभ्यम्' इसके बाद 'वटमूल'—ऐसे शब्दों का उच्चारण करना चाहिए। फिर 'वासिने' कहकर 'वागीशाय' कहना चाहिए। इसके बाद, 'महाज्ञान' और इसके बाद 'दायिने मायिने' कहकर नमः बोलना चाहिए। (पूरा मन्त्र है—'ॐ नमो भगवते तुभ्यं वटमूलवासिने वागीशाय महाज्ञानदायिने मायिने नमः।' अनुष्टुभ् छन्दवाला यह मन्त्रराज श्रेष्ठ मन्त्रों में भी श्रेष्ठ है। अब इसका ध्यान मन्त्र 'मुद्रापुस्तक' आदि है। मन्त्रार्थ यह है—'जिनके हाथ अभयमुद्रा, पुस्तक तथा अग्नि जैसे महाभयंकर साँपों से सुशोभित हैं, चन्द्रकला से जिनका मुकुट अधिक शोभित है, जो अज्ञानान्धकार को समाप्त करने वाले हैं, जो वाणी से अज्ञेय (अगोचर) हैं, जो आदिपुरुष हैं, जो सबके हैं, ऐसे वटवृक्ष-निवासी भगवान् शंकर का वांछितलाभ के लिए हम ध्यान करते हैं।

मौनमुद्रा
सोऽहमिति यावदास्थितिः सा निष्ठा भवति ॥20॥
तदभेदेन मन्त्राम्रेडनं ज्ञानसाधनम् ॥21॥
चित्ते तदेकतानता परिकरः ॥22॥
अङ्गचेष्टार्पणं बलिः ॥23॥
त्रीणि धामानि कालः ॥24॥
द्वादशान्तपदं स्थानमिति ॥25॥

मौन मुद्रा—'वह परमात्मा मैं ही हूँ'—ऐसी भावना की स्थिरता मृत्युपर्यन्त रहे, वही निष्ठा है। इन उपर्युक्त मनुमन्त्रों को ब्रह्म से अभिन्न मानकर उनका बार-बार उच्चारण (जप) करना ही ज्ञान का साधन है। उस परमात्मा में चित्त को एकाग्र करके ध्यान करना ही उपकरण सामग्री है। शरीरावयवों को (इन्द्रियों को) बार-बार बाहर के विषयों से रोककर भगवत्कार्यों में जोड़ना ही बलि है। तीन धाम (स्वाविद्या, सूक्ष्म, स्थूल) ही काल हैं और यह द्वादशान्त पद (हृदय या सहस्रार) ही स्थान है (क्योंकि वह परमात्मप्राप्ति का स्थान है)।

ते ह पुनः श्रद्दधानास्तं प्रत्यूचुः। कथं वाऽस्योदयः। किं स्वरूपम्। को वाऽस्योपासक इति ॥26॥
स होवाच
वैराग्यतैलसम्पूर्णे भक्तिवर्तिसमन्विते।
प्रबोधपूर्णपात्रे तु ज्ञप्तिदीपं विलोकयेत् ॥27॥

श्रद्धायुक्त उन ऋषियों ने मार्कण्डेय मुनि से पुनः पूछा—'इसका उदय कैसे होता है ? इसका स्वरूप कैसा है ? और इसका उपासक कौन होता है ?' तब उन्होंने कहा—वैराग्यरूपी तेल से पूर्णतः भरे हुए और भक्तिरूपी बाती से युक्त ज्ञानरूपी पात्र में ज्ञप्ति (ज्ञानविषय) सर्वव्याप्त समभावयुक्त परमात्मसत्ता का अपनी आत्मा के रूप में दर्शन होता है। अर्थात् ऐसे ही ज्ञप्तिदीप का उदय होता है।

मोहान्धकारे निःसारे उदेति स्वयमेव हि।
वैराग्यमरणिं कृत्वा ज्ञानं कृत्वा तु चित्रगुम् ॥28॥
गाढतामिस्रसंशान्त्यै गूढमर्थं निवेदयेत्।
मोहभानुजसंक्रान्तं विवेकाख्यं मृकण्डुजम् ॥29॥
तत्त्वाविचारपाशेन बद्धं द्वैतभयातुरम्।
उज्जीवयन्निजानन्दे स्वस्वरूपेण संस्थितः ॥30॥

भगवान् के दर्शन के लिए ज्ञान, भक्ति और वैराग्य की आवश्यकता होती है। इनके आने से तुरन्त अज्ञानरूपी अन्धकार नष्ट हो जाता है और आत्मदीपक स्वयं प्रकाशित हो उठता है। अपने ज्ञानदण्ड से वैराग्यरूपी अरणी में मन्थन (चिन्तन-मनन) करके अज्ञानरूपी अन्धकार का नाश करने के लिए रहस्यमय अर्थ को (परमात्म तत्त्व को) जानने के लिए प्रयत्न करना चाहिए। उस परमतत्त्व का दर्शन, अविरत ज्ञान-वैराग्य के परिपालन और चिन्तन-मनन से ही संभव है। परमतत्त्व के विषय में चिन्तन न करना ही पाश है। उस पाश में बँधे हुए द्वैतवाद से भयभीत और मोहरूपी शनि (मृत्यु) के मुख में गए हुए विवेकरूपी मार्कण्डेय को वह परमतत्त्व का चिन्तन फिर से जीवन देते हुए अर्थात् आत्मतत्त्व का बोध कराते हुए परमात्मा के परमानन्द में (स्वरूपानन्द में) ही स्थिर कर देता है।

शेमुषी दक्षिणा प्रोक्ता सा यस्याभीक्षणे मुखम्।
दक्षिणाभिमुखः प्रोक्तः शिवोऽसौ ब्रह्मवादिभिः ॥31॥
सर्गादिकाले भगवान्विरिञ्चिरुपास्यैनं सर्गसामर्थ्यमाप्य। तुतोष चित्ते वाञ्छितार्थांश्च लब्ध्वा धन्यः सोऽस्योपासको भवति धाता ॥32॥

य इमां परमरहस्यशिवतत्त्वविद्यामधीते स सर्वपापेभ्यो मुक्तो भवति ।
य एवं वेद स कैवल्यमनुभवतीत्युपनिषत् ॥33॥

इति दक्षिणामूर्त्युपनिषत्समाप्ता ।
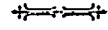
ब्रह्मप्रकाशक तत्त्वज्ञानरूपी बुद्धि को ही 'दक्षिणा' कहा जाता है। वही ब्रह्मसाक्षात्कार का मुख (द्वार) है। इसीलिए ब्रह्मज्ञानियों ने इसी को दक्षिणामुख शिव (दक्षिणामूर्ति शिव) कहा है। सृष्टि के प्रारंभ में प्रजापति ब्रह्माजी ने इन्हीं की उपासना की थी और इसी से शक्ति प्राप्त करके सृष्टि की रचना रूप अपने मनोरथ को पूरा किया था और प्रसन्न हुए थे। इसीलिए प्रजापति ब्रह्मा उनके उपासक हैं। शिवतत्त्व रूप इस गोपनीय विद्या को जो पढ़ता रहता है, वह सभी पापों से मुक्त हो जाता है। और इसको ठीक तरह से पहचानने वाला एवं चिन्तनमनन करने वाला मनुष्य मोक्ष को प्राप्त होता है, ऐसी यह उपनिषद् है।

यहाँ दक्षिणामूर्त्युपनिषद् पूरी होती है।

शान्तिपाठः

ॐ सह नाववतु । सह नौ""मा विद्विषावहै । (पूर्ववत्)
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

❋

(51) शरभोपनिषत्

(उपनिषत्परिचय)

यह अथर्ववेदीय उपनिषद् है। पिप्पलाद मुनि ने एक बार ब्रह्मा से पूछा कि 'हे भगवन्। आप जो ब्रह्मा, विष्णु और महेश तीन देव हैं, उनमें बड़ा कौन है ?' तब ब्रह्मा ने उत्तर दिया कि 'अनेक पुण्यों को करने वाला ही परमेश्वर को जान सकता है। उसी परमेश्वर ने पहले मेरा सर्जन करके मुझे सारा जगत् उत्पन्न करने की प्रेरणा दी है। वह परमेश्वर विष्णु के भी पिता हैं। और वही परमेश्वर प्रलयकाल में रुद्र के रूप से सभी प्राणियों का संहार करते हैं। वह परमेश्वर ही सबसे श्रेष्ठ हैं। वही परमेश्वर 'शरभ' नाम के अति बलशाली प्राणी का देह धारण करते हैं और वही शरभ रुद्र का रूप धारण करके हालाहल विष भी पी जाते हैं, और दक्ष के यज्ञ का नाश करते हैं। वह 'शरभ' देहधारी ब्रह्म ही है। 'शर' जीव को कहते हैं और 'भ' का अर्थ 'भासमान' होता है। शर + भ = अर्थात् जीव जिसमें भासमान होता है, वह ब्रह्म। वही परमेश्वर है।

शान्तिपाठः

ॐ भद्रं कर्णेभिः""देवहितं यदायुः । (पूर्ववत्)
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

इसका हिन्दी रूपान्तर पूर्व में (अथर्वशिर उपनिषद् में) द्रष्टव्य है।

अथ हैनं पैप्पलादो ब्रह्माणमुवाच भो भगवन् ब्रह्मविष्णुरुद्राणां मध्ये को वाऽधिकतरो ध्येयः स्यात्तत्त्वमेव नो ब्रूहीति ॥1॥

एक बार पैप्पलाद ऋषि ने प्रजापति ब्रह्माजी से पूछा—'हे भगवन्! ब्रह्मा, विष्णु और महेश में से कौन देव सर्वश्रेष्ठ और पूजनीय है' ?

तस्मै स होवाच पितामहश्च हे पैप्पलाद शृणु वाक्यमेतत् ॥2॥
बहूनि पुण्यानि कृतानि येन तेनैव लभ्यः परमेश्वरोऽसौ ।
यस्याङ्गजोऽहं हरिरिन्द्रमुख्या मोहान्न जानन्ति सुरेन्द्रमुख्याः ॥3॥
प्रभुं वरेण्यं पितरं महेशं यो ब्रह्माणं विदधाति तस्मै ।
वेदांश्च सर्वान्प्रहिणोति चाग्र्यं तं वै प्रभुं पितरं देवतानाम् ॥4॥
ममापि विष्णोर्जनकं देवमीड्यं योऽन्तकाले सर्वलोकान् संजहार । स एकः श्रेष्ठश्च सर्वशास्ता स एव वरिष्ठश्च ॥5॥

तब प्रजापति बोले—हे पैप्पलाद ! जो मैं कह रहा हूँ उसे सुनो। जिनके अंग से मैं भी उत्पन्न हुआ हूँ, ऐसे परमेश्वर को तो वही मनुष्य जान सकता है, जिसने बहुत पुण्य किये हों। उनको तो विष्णु और इन्द्र जैसे देव भी मोह के वश में आकर नहीं जान सकते। जिन परमात्मा ने सबसे पहले ब्रह्मा

को उत्पन्न किया उन्हीं को तुम वरण करने योग्य, प्रभु, पिता, श्रेष्ठ जानो। और वही वेदों के प्रेरक परमात्मा हैं। वे ही सबके प्रभु और देवताओं के भी प्रभु हैं। वे प्रभु मेरे और विष्णु के भी पिता हैं। वे ही अन्तिम काल में (प्रलय काल में) समग्र विश्व का विनाश करते हैं। उन देव को नमस्कार है। वे ही देव एकमात्र समग्र विश्व के नियामक, श्रेष्ठ और वरिष्ठ हैं।

यो घोरं वेषमास्थाय शरभाख्यं महेश्वरः।
नृसिंहं लोकहन्तारं सञ्जघान महाबलः ॥6॥
हरिं हरन्तं पादाभ्यामनुयान्ति सुरेश्वराः।
मा वधीः पुरुषं विष्णुं विक्रमस्व महानसि ॥7॥
कृपया भगवान्विष्णुं विददार नखैः खरैः।
चर्माम्बरो महावीरो वीरभद्रो बभूव ह ॥8॥
स एको रुद्रो ध्येयः सर्वेषां सर्वसिद्धये।
यो ब्रह्मणः पञ्चमवक्त्रहन्ता तस्मै रुद्राय नमो अस्तु ॥9॥

ऐसे महाबलिष्ठ महेश्वर ने शरभ का भयंकर वेश धारण करके नृसिंह को मार दिया (सृष्टि का सर्जन करने वाले परमेश्वर के शक्तिप्रवाह को नृसिंहतापनी उपनिषद् में 'नृसिंह' कहा गया है और इसी से जीवों को उत्पन्न करने वाले नृसिंह हुए और बाद में उसी नृसिंह को 'शर' कहा गया है और उन 'शर' को मुक्ति देने वाले 'शरभ' ऐसा अर्थ होता है)। सर्वेश्वर भगवान् रुद्र ने जब पैरों को पकड़कर हरण किया, तब सभी देवों ने उनसे प्रार्थना की थी कि हे भगवन्! विष्णु पुरुष का वध न कीजिए। आप महान् हैं। आपकी जय हो। तब देवों के ऊपर मानो कृपा करते हों, इस तरह उन्होंने अपने तीक्ष्ण नखों के द्वारा विष्णु को चीर डाला। और तब वह चर्मवस्त्रधारी महावीर रुद्र 'वीरभद्र' कहलाने लगे। इस प्रकार वह अकेले रुद्र भगवान् ही सभी प्राणियों के लिए सभी प्रकार की सिद्धियों को प्राप्त करने के लिए ध्यान करने योग्य हैं, जिन्होंने ब्रह्मा के पाँचवें मुख का नाश कर दिया था। उनको नमस्कार है।

यो विस्फुलिङ्गेन ललाटजेन सर्वं जगद्भस्मसात्सङ्करोति।
पुनश्च सृष्ट्वा पुनरप्यरक्षदेवं स्वतन्त्रं प्रकटीकरोति।
तस्मै रुद्राय नमो अस्तु ॥10॥
यो वामपादेन जघान कालं घोरं पपेऽथो हालाहलं दहन्तम्।
तस्मै रुद्राय नमो अस्तु ॥11॥
यो वामपादार्चितविष्णुनेत्रस्तस्मै ददौ चक्रमतीव हृष्टः।
तस्मै रुद्राय नमो अस्तु ॥12॥
यो दक्षयज्ञे सुरसङ्घान्विजित्य विष्णुं बबन्धोरगपाशेन वीरः।
तस्मै रुद्राय नमो अस्तु ॥13॥

जो अपने ललाट से उत्पन्न अंगारे से समस्त जगत् को जला देने वाले हैं और फिर से उसका सर्जन करके पालन-पोषण भी करते हैं, ऐसे रुद्र भगवान् को नमस्कार हो। जो अपने बाँये पैर से भयंकर काल को मार देते हैं, जिन्होंने धधकते हुए हालाहल विष को भी पी लिया था ऐसे भगवान् रुद्र को नमस्कार हो। जिनके बाँये पैर पर विष्णु ने अपने नेत्र भी समर्पित कर दिए थे, और उससे प्रसन्न होकर जिन्होंने उन विष्णु भगवान् को चक्र दिया था, ऐसे भगवान् रुद्र को नमस्कार हो। जिन्होंने दक्ष के यज्ञ में सभी देवताओं को हरा दिया था और विष्णु को अपने नागपाश में भी बाँध रखा था, ऐसे महाबलशाली भगवान् रुद्र को नमस्कार हो।

यो लीलयैव त्रिपुरं ददाह विष्णुं कविं सोमसूर्याग्निनेत्रः।
सर्वे देवाः पशुतामवापुः स्वयं तस्मात्पशुपतिर्बभूव।
तस्मै रुद्राय नमो अस्तु ॥14॥
यो मत्स्यकूर्मादिवराहसिंहान्विष्णुं क्रमन्तं वामनमादिविष्णुम्।
विविक्लवं पीड्यमानं सुरेशं भस्मीचकार मन्मथं यमं च ॥
तस्मै रुद्राय नमो अस्तु ॥15॥

जिन्होंने खेल-खेल में ही (बाँये हाथ के खेल की तरह) त्रिपुरासुर को खत्म कर दिया था, जिनके सूर्य-चन्द्र-अग्नि—ये तीन नेत्र हैं, सभी देवता जिनके सामने पशु समान वशवर्ती बन गये हैं और इसी से जो पशुपति कहलाने लगे हैं, ऐसे भगवान् रुद्र को नमस्कार हो। भगवान् विष्णु के मत्स्य, कूर्म, वराह, नृसिंह, वामन आदि अवतारों के जो प्रवर्तक हैं, जिन्होंने इन्द्र को भी थकाकर पीड़ित कर दिया था, जिन्होंने कामदेव और यमराज को जलाकर भस्म कर दिया, ऐसे भगवान् रुद्र को नमस्कार हो।

एवं प्रकारेण बहुधा प्रतुष्ट्वा क्षमापयामासुर्नीलकण्ठं महेश्वरम् ॥16॥
तापत्रयसमुद्भूतजन्ममृत्युजरादिभिः।
नानाविधानि दुःखानि जहार परमेश्वरः ॥17॥
एवमङ्गीकरोच्छिवः प्रार्थनं सर्वदेवानाम्।
शङ्करो भगवानाद्यो ररक्ष सकलाः प्रजाः ॥18॥
यत्पादाम्भोरुहद्वन्द्वं मृग्यते विष्णुना सह।
स्तुत्वा स्तुत्यं महेशानमवाङ्मनसगोचरम्।
भक्त्या नम्रतनोर्विष्णोः प्रसादमकरोद्विभुः ॥19॥

इस प्रकार से अनेक विधि से देवताओं ने प्रार्थना करके भगवान् नीलकण्ठ महेश्वर से क्षमा-याचना की थी, तब उन परमेश्वर ने तीनों तरह के ताप (आधिभौतिक, आधिदैविक, आध्यात्मिक) तथा जन्म-मृत्यु-जरा आदि अनेक प्रकार के कष्टों का विनाश कर दिया था। इस तरह देवताओं की अनेकानेक प्रकार की स्तुतियाँ सुनकर, उनको स्वीकार करके आदिदेव भगवान् शंकर प्रसन्न हो गए और उन्होंने सभी प्रजाओं का रक्षण किया। जो परमेश्वर सभी प्रकार की प्रार्थनाओं के लिए योग्य हैं, फिर भी जो मन और वाणी से परे ही हैं, भगवान् विष्णु भी जिनके चरणकमलों को प्राप्त करने की इच्छा करते हैं, ऐसे भगवान् महेश्वर, विष्णु की भक्तिपूर्वक की गई वन्दना से प्रसन्न हो गए।

यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह।
आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान्न बिभेति कदाचनेति ॥20॥
अणोरणीयान्महतो महीयानात्मास्य जन्तोर्निहितो गुहायाम्।
तमक्रतुं पश्यति वीतशोको धातुः प्रसादान्महिमानमीशम् ॥21॥

जिस ब्रह्म से (ब्रह्मानुभूति से) मन के साथ वाणी भी उसे प्राप्त किए बिना वापिस लौट जाती है, उस आनन्दस्वरूप ब्रह्म का बोध (अनुभूति) करने वाला विद्वान् कभी किसी से डरता नहीं है। परमात्मचैतन्य इस जीवात्मा की हृदयगुफा में, अणु से भी अणु (अतिसूक्ष्म) और महान् से भी महान् रूप में विराजमान है। उसको तो कोई निष्काम कर्म करने वाले और शोकरहित विरल मनुष्य ही विधाता (परमात्मा) के अनुग्रह से देख पाते हैं।

वसिष्ठवैयासकिवामदेवविरिञ्चिमुख्यैर्हृदि भाव्यमानः ।
सनत्सुजातादिसनातनाद्यैरीड्यो महेशो भगवानादिदेवः ॥22॥
सत्यो नित्यः सर्वसाक्षी महेशो नित्यानन्दो निर्विकल्पो निराख्यः ।
अचिन्त्यशक्तिर्भगवान्गिरीशः स्वाविद्यया कल्पितमानभूमिः ॥23॥
अतिमोहकरी माया मम विष्णोश्च सुव्रत ।
तस्य पादाम्बुजध्यानादुस्तरा सुतरा भवेत् ॥24॥

वसिष्ठ, वामदेव, विरञ्चि (ब्रह्मा) और शुकदेव जैसे ऋषि जिन भगवान् का अविरत ध्यान किया करते हैं और सनत्सुजात, सनातन आदि ऋषि जिन भगवान् की स्तुति किया करते हैं, ऐसे भगवान् महेश्वर ही आदिदेव हैं। उन भगवान् गिरीश की शक्ति के विषय में कोई भी कुछ जान नहीं सकता। ये प्रभु ही सत्य हैं, नित्य हैं, सर्व के साक्षी हैं, महेश्वर हैं, विकल्परहित हैं, नित्यानन्दस्वरूप हैं, अकथनीय हैं। वे ही अपनी अविद्या के द्वारा तरह-तरह से बार-बार कल्पित किये जाते हैं। हे सुव्रत मुनि ! उनकी माया मुझ ब्रह्मा को तथा विष्णु को भी बहुत मोह में डालने वाली है। इससे निकल पाना बहुत ही मुश्किल है। परन्तु उनके चरणकमलों के ध्यान से वह दुस्तर माया भी सरलता से पार की जा सकती है।

विष्णुर्विश्वजगद्योनिः स्वांशभूतैः स्वकैः सह ।
ममांशसम्भवो भूत्वा पालयत्यखिलं जगत् ॥25॥
विनाशं कालतो याति ततोऽन्यत्सकलं मृषा ।
ॐ तस्मै महाग्रासाय महादेवाय शूलिने ।
महेश्वराय मृडाय तस्मै रुद्राय नमो अस्तु ॥26॥
एको विष्णुर्महद्भूतं पृथग्भूतान्यनेकशः ।
त्रींल्लोकान्व्याप्य भूतात्म भुङ्क्ते विश्वभुगव्ययः ॥27॥

इस समग्र जगत् को उत्पन्न करने वाले भगवान् विष्णु हैं। वे विष्णु अपने ही अंशभूत सकल प्राणियों के साथ, स्वयं मेरे (ब्रह्मा के) अंश में उद्भूत होकर समग्र जगत् का पालन-पोषण करते हैं। और कालक्रमानुसार सब कुछ विनष्ट हो जाता है (यह नियम है) और इसीलिए यह सब कुछ मिथ्या ही है। अत: उन सभी को 'महाग्रास' बनाने वाले शूलधारी महादेव को, कृपा करने वाले महेश्वर को, रुद्र को नमस्कार हो। एकमात्र भगवान् विष्णु ही अनेक भूतमय सृष्टि में सबसे अलग, महान् और अद्भुत हैं। वे यद्यपि सभी भूतों और प्राणियों में परिव्याप्त होकर भाँति-भाँति के भोगों का उपभोग करते हैं, फिर भी वे अव्यय ही हैं – निर्लेप और अक्षय ही हैं।

चतुर्भिश्च चतुर्भिश्च द्वाभ्यां पञ्चभिरेव च ।
हूयते च पुनर्द्वाभ्यां स मे विष्णुः प्रसीदतु ॥28॥
ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम् ।
ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिना ॥29॥
शरा जीवास्तदङ्गेषु भाति नित्यं हरिः स्वयम् ।
ब्रह्मैव शरभः साक्षान्मोक्षदोऽयं महामुने ॥30॥

उन भगवान् विष्णु को चार-चार, दो-दो और पाँच-पाँच तथा फिर से दो-दो आहुतियाँ अर्पण की जाती हैं, वे भगवान् विष्णु मुझ पर प्रसन्न हों। ब्रह्म को अर्पित किया हुआ हवि भी ब्रह्मरूप ही है,

अर्पण क्रिया भी ब्रह्मरूप ही है, जिसमें वह डाली जाती है, वह अग्नि भी ब्रह्मरूप ही है और होम करने वाला भी ब्रह्मरूप ही है। और गन्तव्य (प्राप्तव्य-लक्ष्यस्थान) भी तो ब्रह्म ही है। इसलिए समाधिस्थ उन ब्रह्मरूप कर्मों में संयतचित्त मनुष्य के द्वारा ब्रह्म ही प्राप्त होता है। (अर्थात् स्रुव, घी, अग्नि, यज्ञकर्ता और यज्ञक्रिया क्रमशः सभी ब्रह्मरूप हैं)। हे मुनिश्रेष्ठ ! जिस जीव के अंगों में साक्षात् भगवान् हरि नियत (अनवरत) प्रकाशमान हो रहे हैं, वह जीव ही 'शर' कहा जाता है, और भगवान् की भासमानता के कारण ही वह 'शरभ' (शरान् भासयति इति शरभ:) कहलाता है।

मायावशादेव देवा मोहिता ममतादिभिः ।
तस्य माहात्म्यलेशांशं वक्तुं केनाप्यशक्यते ॥31॥
परात्परतरं ब्रह्म यत्परात्परतो हरिः ।
परात्परतरो हीशस्तस्मात्तुल्योऽधिको न हि ॥32॥
एक एव शिवो नित्यस्ततोऽन्यत्सकलं मृषा ।
तस्मात्सर्वान्परित्यज्य ध्येयान्विष्णवादिकान्सुरान् ॥33॥
शिव एव सदा ध्येयः सर्वसंसारमोचकः ।
तस्मै महाग्रासाय महेश्वराय नमः ॥34॥

जिनकी माया से देवगण भी विमोहित हो जाते हैं, उनकी महिमा के विषय में थोड़ा-सा भी कहने के लिए भला कौन समर्थ हो सकता है ? जो पर से भी परब्रह्म है उससे परे हरि हैं, और हरि से भी जो परे हैं, वे 'ईश' हैं। इसलिए कोई भी उनके समान नहीं है और उनसे बड़ा भी कोई नहीं है। (जगत् नश्वर है उससे परे ईश्वर=अनश्वर को पूर्ण कहते हैं, उससे परे ब्रह्म—विस्तार 'पूर्ण' कहा गया है और इससे परे 'हरि' को पूर्ण कहा गया है इसलिए हरि को यहाँ 'परात्पर' कहा है)। शिव ही एकमात्र नित्य हैं। शिवेतर सब कुछ मिथ्या है। इसलिए विष्णु आदि सभी देवताओं का त्याग करके संसारूपी बन्धन से मुक्त करने वाले एकमात्र शिव भगवान् का ही ध्यान (चिन्तनमनन) करते रहना चाहिए। ऐसे संसाररूपी बन्धन से छुटकारा देने वाले और सभी को अपना ग्रास बनाने वाले अर्थात् प्रलयकाल में अपने में समा लेने वाले उन भगवान् महेश्वर को हमारा नमस्कार हो।

पैप्पलादं महाशास्त्रं न देयं यस्य कस्यचित् ।
नास्तिकाय कृतघ्नाय दुर्वृत्ताय दुरात्मने ॥35॥
दाम्भिकाय नृशंसाय शठायानृतभाषिणे ।
सुव्रताय सुभक्ताय सुवृत्ताय सुशीलिने ॥36॥
गुरुभक्ताय दान्ताय शान्ताय ऋजुचेतसे ।
शिवभक्ताय दातव्यं ब्रह्मकर्मोक्तधीमते ॥37॥
स्वभक्तायैव दातव्यमकृतघ्नाय सुव्रत ।
न दातव्यं सदा गोप्यं यत्नेनैव द्विजोत्तम ॥38॥

ऋषि पैप्पलाद द्वारा प्राप्त किया गया यह महाशास्त्र किसी अपरीक्षित मनुष्य को नहीं देना चाहिए। जो कृतघ्न, नास्तिक, दुराचारी, नीच वृत्तिवाला, दम्भी, असत्यभाषी, शठ और नृशंस हो उसको कभी भी नहीं देना चाहिए। परन्तु, जो सच्चा भक्त हो, शुद्ध वृत्ति वाला हो, सुशील, गुरुभक्त, शुभसंकल्पयुक्त, संयमी, धार्मिक बुद्धिवाला हो, शिवभक्त हो, ब्रह्मकर्म में मन लगाने वाला हो, जो स्वयं में भक्ति रखने वाला हो, जो कृतघ्न न हो, ऐसे साधक को इसका उपदेश करना चाहिए। हे

द्विजोत्तम ! यदि ऐसा साधक न मिले तो हे सुव्रत ! यह सदा ही अपने पास गोपनीय रखना चाहिए और किसी को नहीं देना चाहिए।

एतत्पैप्पलादं महाशास्त्रं योऽधीते श्रावयेद्द्विजः । स जन्ममरणेभ्यो मुक्तो भवति । यो जानीते सोऽमृतत्वं च गच्छति । गर्भवासाद्विमुक्तो भवति । सुरापानात्पूतो भवति । स्वर्णस्तेयात्पूतो भवति । ब्रह्महत्यात्पूतो भवति । गुरुतल्पगमनात्पूतो भवति । स सर्वान् वेदानधीतो भवति । स सर्वान् देवान् ध्यातो भवति । स समस्तमहापातकोपपातकात्पूतो भवति । तस्मादविमुक्तमाश्रितो भवति । स सततं शिवप्रियो भवति । स शिवसायुज्यमेति । न स पुनरावर्तते न स पुनरावर्तते । ब्रह्मैव भवति । इत्याह भगवान् ब्रह्मेत्युपनिषत् ॥39॥

इति शरभोपनिषत्समाप्ता ।

इस पैप्पलाद महाशास्त्र को जो मनुष्य स्वयं पढ़ता रहता है और अन्य द्विजों को सुनाता रहता है, वह जन्ममरण के फेरों से बच जाता (छूट जाता) है। इसको जानने वाला अमृतत्व को प्राप्त होता है और गर्भवास से मुक्ति प्राप्त कर लेता है। वह सुरापान से उत्पन्न पाप से छूटकर पवित्र हो जाता है। वह सुवर्ण की चोरी के पाप से भी मुक्त (पवित्र) हो जाता है। वह ब्रह्महत्या, गुरुस्त्रीगमन जैसे महापातकों से मुक्त होकर पवित्र हो जाता है। वह सभी वेदों के अध्ययन का फल प्राप्त कर लेता है। वह सभी महापातक और उपपातकों से मुक्त होकर निर्मल हो जाता है। वह सभी पापों से छूटकर शिव का आश्रित हो जाता है। वह शिव के लिए सदैव सतत प्रिय रहता है। वह शिवसायुज्य प्राप्त कर लेता है। वह यहाँ पुनर्जन्म धारण नहीं करता। वह ब्रह्मरूप हो जाता है। इस तरह ब्रह्माजी द्वारा कही गई यह उपनिषद् है।

यहाँ शरभोपनिषत् पूरी हुई।

शान्तिपाठः

ॐ भद्रं कर्णेभिः......देवहितं यदायुः । (पूर्ववत्)
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

(52) स्कन्दोपनिषत्

(उपनिषत्परिचय)

यह उपनिषद् कृष्णयजुर्वेद की परम्परा की है। मात्र 15 मन्त्रों वाली इस उपनिषत् में विष्णु तथा शिव तथा शिव और जीव में एकता बताई गई है। शरीर को शिवमन्दिर का रूप देकर उसकी उपेक्षा नहीं करने को कहा गया है और मन्दिर की ही तरह शरीर को साफ-सुथरा तथा सुन्दर रखने का निर्देश किया गया है। उपनिषत् कहती है कि भेदहीन दृष्टि ही ज्ञान है, मन की निर्विषयता ही ध्यान है, मन की निर्मलता ही स्नान है, इन्द्रियनिग्रह ही शौच है। ऐसा कहकर आध्यात्मदर्शन को व्यावहारिक रूप देने का यहाँ ऋषि ने प्रयत्न किया है। एक दिशा बताई है। अन्त में इस उपनिषद् के उपदेश को आत्मसात् करने का महत्त्व बताया है।

शान्तिपाठः

ॐ सह नाववतु । सह नौ.......मा विद्विषावहै । (पूर्ववत्)
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

इसका हिन्दी रूपान्तर पूर्व में (ब्रह्मोपनिषद् में) द्रष्टव्य है।

अच्युतोऽस्मि महादेव तव कारुण्यलेशतः ।
विज्ञानघन एवास्मि शिवोऽस्मि किमतः परम् ॥1॥

हे महादेव ! आपकी लवमात्र कृपा प्राप्त करने पर ही जब मैं अच्युत (अपवित्र – अविचलित) तथा विज्ञानघन (विशिष्टज्ञानपुंज) और शिवस्वरूप (कल्याणमय) बन गया हूँ तब इससे अधिक और भला क्या चाहिए ? (अर्थात् कुछ नहीं चाहिए)।

न निजं निजवद्भात्यन्तःकरणजृम्भणात् ।
अन्तःकरणनाशेन संविन्मात्रस्थितो हरिः ॥2॥

जब साधक अपने अन्त:करण का विकास करके सभी को अपने समान प्रकाशमान मानने लगता है, तब उसका अन्त:करण (मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार) नष्ट हो जाता है और वहाँ एकमात्र परमेश्वर का ही अस्तित्व शेष रह जाता है।

संविन्मात्रस्थितश्चाहमजोऽस्मि किमतः परम् ।
व्यतिरिक्तं जडं सर्वं स्वप्नवच्च विनश्यति ॥3॥

'मैं सविन्मात्र आत्मरूप अकेला ही हूँ। और मैं अजन्मा हूँ'—इस अनुभव से परे और कौन-सा अनुभव हो सकता है ? आत्मा के अतिरिक्त जगत् तो जड है, स्वप्न जैसा है और विनाशशील ही है।

चिज्जडानां तु यो द्रष्टा सोऽच्युतो ज्ञानविग्रहः ।
स एव हि महादेवः स एव हि महाहरिः ॥4॥

जो जड-चेतन सबका द्रष्टा (साक्षी) है, वही अच्युत (अटल – शाश्वत) और ज्ञानस्वरूप है। वही महादेव है और वही महाहरि है (महापाप का हरण करने वाला है)।

स एव ज्योतिषां ज्योतिः स एव परमेश्वरः ।
स एव हि परं ब्रह्म तद्ब्रह्माहं न संशयः ॥5॥

वही ज्योतियों का भी ज्योति है (मूल ज्योति है)। वही परब्रह्म है, वही परमात्मा है। और मैं वही परब्रह्म-परमात्मा हूँ, इसमें किसी प्रकार का संदेह नहीं है।

जीवः शिवः शिवो जीवः स जीवः केवलः शिवः ।
तुषेण बद्धो व्रीहिः स्यात् तुषाभावेन तण्डुलः ॥6॥
एवं बद्धस्तथा जीवः कर्मनाशे सदाशिवः ।
पाशबद्धस्तथा जीवः पाशमुक्तः सदाशिवः ॥7॥

जीव ही शिव है और शिव ही जीव है। यह जीव विशुद्ध शिव ही है। जैसे धान पर छिलका लगा रहने पर वह 'व्रीहि' कहा जाता है और छिलका उतर जाने पर वही चावल कहलाता है, ठीक उसी प्रकार यह जीव और शिव का स्वरूप है। (जीव पर अज्ञान का छिलका=आवरण लगा हुआ है, शिव पर वह नहीं है)। इस प्रकार बन्धन में बँधा हुआ चैतन्यतत्त्व जीव होता है और जब प्रारब्ध कर्म नष्ट हो जाते हैं, तब वही सदाशिव हो जाता है। अथवा अन्य शब्दों में कहें तो पाश से बँधा हुआ चैतन्य जीव कहलाता है, जब कि पाशमुक्त हो जाने से वही सदाशिव हो जाता है।

शिवाय विष्णुरूपाय शिवरूपाय विष्णवे ।
शिवस्य हृदयं विष्णुर्विष्णोश्च हृदयं शिवः ॥8॥
यथा शिवमयो विष्णुरेवं विष्णुमयः शिवः ।
यथाऽन्तरं न पश्यामि तथा मे स्वस्तिरायुषि ।
यथाऽन्तरं न भेदाः स्युः शिवकेशवयोस्तथा ॥9॥

भगवान् शिव ही भगवान् विष्णुरूप हैं और भगवान् विष्णु ही भगवान् शिवस्वरूप हैं। शिव का हृदय विष्णु है और विष्णु का हृदय शिव है। (शिव के हृदय में विष्णु का और विष्णु के हृदय में शिव का वास है)। जिस प्रकार विष्णुदेव शिवमय (शिवरूप) है, उसी प्रकार शिवदेव विष्णुमय (विष्णस्वरूप) ही हैं। जब मुझे इन दोनों में कुछ अन्तर ही नहीं दिखाई पड़ता, तब मैं इस शरीर में ही कल्याणरूप हो जाता हूँ। शिव और केशव में कुछ भी भेद है ही नहीं।

देहो देवालयः प्रोक्तः स जीवः केवलः शिवः ।
त्यजेदज्ञाननिर्माल्यं सोऽहंभावेन पूजयेत् ॥10॥
अभेददर्शनं ज्ञानं ध्यानं निर्विषयं मनः ।
स्नानं मनोमलत्यागः शौचमिन्द्रियनिग्रहः ॥11॥
ब्रह्मामृतं पिबेद्भैक्षमाचरेद्देहरक्षणे ।
वसेदेकान्तिको भूत्वा चैकान्ते द्वैतवर्जिते ॥
इत्येवमाचरेद्धीमान् स एवं मुक्तिमाप्नुयात् ॥12॥

तत्त्वज्ञानियों के द्वारा इस देह को ही देवालय कहा गया है और उसमें स्थित जीव केवल शिवस्वरूप ही है। मनुष्य जब अपने अज्ञानरूपी निर्माल्य को छोड़ देता है तब उसे 'सोऽहं' भाव से

उन शिव का पूजन करना चाहिए। सभी प्राणियों में ब्रह्म का अभिन्न भाव से ही साक्षात्कार करना ही यथार्थ (पारमार्थिक) ज्ञान कहलाता है! और मन का विषयों के लगाव से रहित होना ही सही ध्यान कहलाता है। मन के विकारों का त्याग करना ही सच्चा स्नान कहलाता है। और इन्द्रियों को अपने वश में रखना ही सच्चा शौच कहलाता है। ब्रह्मज्ञानरूपी अमृत का पान करना चाहिए। केवल शरीरयात्रा के लिए ही उपार्जन (भोजन) करना चाहिए। एक परमात्मा में ही तल्लीन होकर द्वैतभाव से त्यागपूर्वक एकान्त में रहना चाहिए। जो धीर पुरुष इस प्रकार का आचरण करता है, वही मुक्ति को प्राप्त कर सकता है।

श्रीपरमधाम्ने स्वस्ति चिरायुष्योन्नम इति। विरिञ्चिनारायणशङ्करात्मकं नृसिंह देवेश तव प्रसादतः। अचिन्त्यमव्यक्तमनन्तमव्ययं वेदात्मकं ब्रह्म निजं विजानते ॥13॥
तद्विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः। दिवीव चक्षुराततम् ॥14॥
तद्विप्रासो विपन्यवो जागृवांसः समिन्धते। विष्णोर्यत् परमं पदम्।
इत्येतन्निर्वाणानुशासनमिति वेदानुशासनमित्युपनिषत् ॥15॥

इति स्कन्दोपनिषत्समाप्ता ।

श्रीपरमधामस्वरूप – ब्रह्मा, विष्णु और शिव को नमस्कार हो। हमारा कल्याण हो। हमें लम्बी आयु की प्राप्ति हो, हे विरंचि-नारायण-शंकररूप नृसिंह देव! आपके अनुग्रह से उस अचिन्त्य, अनन्त, अव्यक्त, अविनाशी, वेदस्वरूप ब्रह्म को हम स्वयं की आत्मा में ही अब जानने लगे हैं। ऐसे ब्रह्मज्ञ मनुष्य भगवान् विष्णु के उस परमपद को हमेशा ही ध्यानमग्न होकर देखा करते हैं। वे लोग अपनी आँखों में उस दिव्यता को अवस्थित कर देते हैं। ऐसे विद्वान् लोग भगवान् विष्णु का जो परमपद है, उसको प्राप्त करके उसमें तल्लीन हो जाते हैं। यह निर्वाणपद का अनुशासन है। यही वेद का अनुशासन है। इस प्रकार यह रहस्य ज्ञान है।

यहाँ स्कन्दोपनिषद् पूरी हुई।

शान्तिपाठः

ॐ सह नाववतु। सह नौ......मा विद्विषावहै। (पूर्ववत्)
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

(53) त्रिपाद्विभूतिमहानारायणोपनिषत्

(उपनिषत्परिचय)

यह अथर्ववेदीय उपनिषद् है। इसके आठ अध्याय हैं। इसका दूसरा नाम महानारायणोपनिषद् भी कहा जाता है। परमतत्त्व के जिज्ञासु ब्रह्मा ने विष्णु से उसके बारे में पूछा। तब विष्णु ने किसी पूर्व गुरु द्वारा अपने शिष्य को दिए हुए उपदेश का स्मरण करते हुए कहा कि—'ब्रह्म त्रिकालाबाधित, आदिमध्यरहित, सगुणनिर्गुण, अनन्त, अप्रमेय, अखंड, सर्वव्यापक, परिपूर्ण, सच्चिदानन्द, स्वयंप्रकाश, अवाङ्मनसगोचर एवं चैतन्य है। उसके अविद्या, विद्या, आनन्द और तुरीय—ये चार पाद हैं। पहला पाद जगदाकार है। वह अशुद्ध है। शेष के तीन पाद शुद्ध हैं। जगदाकार अविद्यापाद की अशुद्धियों का वर्णन इस उपनिषद् में अच्छी तरह बताकर के शुद्ध पादों की ओर प्रयाण करने का मार्ग भी बताया है। उत्कृष्ट पुण्यों के परिपाक से सत्पुरुषों का समागम, बाद में विवेक, फिर सदाचरण-प्रवृत्ति, पापक्षय, चित्तशुद्धि, सद्गुरु की प्राप्ति, अनुग्रह, उपदेश, श्रवण-मनन-निदिध्यासन, श्रद्धा, ग्रन्थिनाश, तृष्णानाश और हृदय में परमतत्त्व का आविर्भाव—इस क्रम से मनुष्य (साधक) ज्ञान-भक्ति-वैराग्य से परिपक्व होकर जीवन्मुक्त हो जाता है—यह यहाँ भलीभाँति बताया गया है। बाद में गुरु के प्रति शिष्य की कृतज्ञता और आदर को बताया है। ब्रह्माजी भी विष्णु के दिए हुए इस ज्ञान से प्रसन्न हुए।

शान्तिपाठः

ॐ भद्रं कर्णेभिः.......देवहितं यदायुः। (पूर्ववत्)

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

इसका हिन्दी रूपान्तर पूर्व में (अथर्वशिर उपनिषद् में) द्रष्टव्य है।

प्रथमोऽध्यायः

अथ परमतत्त्वरहस्यं जिज्ञासुः परमेष्ठी देवमानेन सहस्रसंवत्सरं तपश्चचार। सहस्रवर्षेऽतीतेऽत्युग्रतीव्रतपसा प्रसन्नं भगवन्तं महाविष्णुं ब्रह्मा परिपृच्छति भगवन् परमतत्त्वरहस्यं मे ब्रूहीति। परमतत्त्वरहस्यवक्ता त्वमेव नान्यः कश्चिदस्ति। तत् कथमिति। तदेवोच्यते। त्वमेव सर्वज्ञः। त्वमेव सर्वशक्तिः। त्वमेव सर्वाधारः। त्वमेव सर्वस्वरूपः। त्वमेव सर्वेश्वरः। त्वमेव सर्वप्रवर्तकः। त्वमेव सर्वपालकः। त्वमेव सर्वनिवर्तकः। त्वमेव सदसदात्मकः। त्वमेव सदसद्विलक्षणः। त्वमेवान्तर्बहिर्व्यापकः। त्वमेवातिसूक्ष्मतरः। त्वमेवातिमहतो महीयान्। त्वमेव महामूलाविद्याविरहः। त्वमेव महामूलाविद्याविवर्तकः। त्वमेव सर्वमूलाविद्यानिवर्तकः।

त्वमेवाविद्याविहारः। त्वमेवाविद्याधारकः। त्वमेव विद्यावेद्यः। त्वमेव विद्यास्वरूपः। त्वमेव विद्याऽतीतः। त्वमेव सर्वकारणहेतुः। त्वमेव सर्वकारणसमष्टिः। त्वमेव सर्वकारणव्यष्टिः। त्वमेवाखण्डानन्दः। त्वमेव परिपूर्णानन्दः। त्वमेव निरतिशयानन्दः। त्वमेव तुरीयतुरीयः। त्वमेव तुरीयातीतः। त्वमेवानन्तोपनिषद्विमृग्यः। त्वमेवाखिलशास्त्रैर्विमृग्यः। त्वमेव ब्रह्मेशानपुरन्दरपुरोगमैरखिलामरैरखिलागमैर्विमृग्यः। त्वमेव सर्वमुमुक्षुभिर्विमृग्यः। त्वमेवामृतमयैर्विमृग्यः। त्वमेवामृतमयस्त्वमेवामृतमयस्त्वमेवामृतमयः। त्वमेव सर्वं त्वमेव सर्वं त्वमेव सर्वम्। त्वमेव मोक्षस्त्वमेव मोक्षदस्त्वमेवाखिलमोक्षसाधनम्। न किञ्चिदस्ति त्वद्व्यतिरिक्तम्। त्वद्व्यतिरिक्तं यत् किञ्चित् प्रतीयते तत्सर्वं बाधितमिति निश्चितम्। तस्मात्त्वमेव वक्ता त्वमेव गुरुस्त्वमेव पिता त्वमेव सर्वनियन्ता त्वमेव सर्वं त्वमेव सदा ध्येय इति सुनिश्चितः ॥1॥

परमतत्त्व के रहस्य को जानने की इच्छावाले ब्रह्माजी ने देवों के एक हजार वर्ष तक तपश्चर्या की। जब हजार वर्ष बीत चुके, तब उस उग्र और तीव्र तपश्चर्या से प्रसन्न होकर महाविष्णु उनके समक्ष प्रकट हुए। ब्रह्माजी ने उनसे पूछा—'हे भगवन्! मुझे परम तत्त्व (के बारे में) कहिए, क्योंकि परमतत्त्व का रहस्य कहने वाले तो आप ही हैं, अन्य कोई नहीं है। ऐसा क्यों है ? वह मैं कहता हूँ (मुझसे कहा जाता है कि—) आप ही सर्वज्ञ हैं, आप ही सर्वशक्तिमान हैं, आप सबके आधार, आप ही सबके ईश्वर हैं। आप ही सबको प्रवृत्ति और निवृत्ति में जोड़ने वाले हैं। आप ही सबके पालक हैं। आप ही बड़े-छोटे—सबके निवर्तक हैं, आप ही सत् और असत् रूप तथा सत्-असत् से पृथक् भी आप ही हैं। भीतर भी आप हैं, बाहर भी आप हैं, आप व्यापक हैं। सूक्ष्म से सूक्ष्मतर भी आप हैं और महान् से भी महान् आप ही हैं। सबकी मूला अविद्या को दूर करने वाले भी आप हैं और अविद्या में विहार करने वाले भी तो आप ही हैं। अविद्या को धारण करने वाले आप ही हैं। आप विद्या से जानने योग्य हैं। आप विद्यारूप ही हैं और फिर भी आप विद्या से परे ही हैं। आप सभी कारणों के भी कारण हैं, आप कारणसमष्टि हैं। आपका कारण व्यष्टि भी है। आप ही अखण्ड आनन्द – पूर्ण आनन्दरूप हैं। आप ही निरतिशय आनन्द, तुरीय के भी तुरीय, आप ही तुरीय से भी परे, आप ही अनन्त, उपनिषदों के द्वारा ज्ञेय (अन्वेष्टव्य) हैं। आप ही शास्त्रों के द्वारा खोजने योग्य हैं। आप ही ब्रह्मा, विष्णु, इन्द्र आदि सभी देवताओं के द्वारा खोजे जा रहे हैं। सभी मुमुक्षुओं के द्वारा खोजने योग्य भी तो आप ही हैं। अमृतमयों के द्वारा अन्वेषणीय आप ही हैं। आप अमृतमय हैं, अमृतमय ही हैं, अवश्य अमृतमय हैं। आप सब कुछ हैं, सब कुछ आप ही हैं, आप अवश्य सब कुछ हैं। आप मोक्षरूप हैं, मोक्षदाता हैं और सबके मोक्षसाधन भी हैं। आपसे अलग कुछ नहीं है। आपके अतिरिक्त जो कुछ दिखाई पड़ता है, वह सब मिथ्या ही है, यह तो निश्चित ही है। इसीलिए आप ही वक्ता, आप ही गुरु, आप ही पिता, आप ही सबके नियामक, आप ही सर्वरूप, आप ही सदा ध्यान करने योग्य हैं—ऐसा अच्छी तरह से निश्चय किया गया है।'

परमतत्त्वज्ञस्तमुवाच महाविष्णुरतिप्रसन्नो भूत्वा साधुसाध्विति साधुप्रशंसापूर्वकं सर्वं परमतत्त्वरहस्यं ते कथयामि। सावधानेन शृणु। ब्रह्मन् देवदर्शीत्याख्याथर्वणशाखायां परमतत्त्वरहस्याख्याथर्वणमहानारायणो-

पनिषदि गुरुशिष्यसंवादः पुरातनः प्रसिद्धतया जागर्ति । पुरा तत्स्व-रूपज्ञानेन महान्तः सर्वे ब्रह्मभावं गताः, यस्य श्रवणेन सर्वबन्धाः प्रविनश्यन्ति यस्य ज्ञानेन सर्वरहस्यं विदितं भवति ॥2॥

यह सुनकर परमतत्त्व को जानने वाले महाविष्णु बहुत प्रसन्न हुए और कहने लगे—'बहुत अच्छा !' 'बहुत अच्छा' ऐसी प्रशंसा करके आगे कहा—हाँ, उस परमतत्त्व का सब रहस्य मैं आपको कहूँगा । सावधान होकर सुनिए, हे ब्रह्मा ! अथर्ववेद की देवदर्शी नाम की शाखा में 'परमतत्त्वरहस्य' नाम की एक अथर्ववेदीय उपनिषद् है । उसमें गुरुशिष्य का एक प्राचीन संवाद प्रसिद्ध है । प्राचीन समय में उसका स्वरूप जानकर बड़े-बड़े पुरुष ब्रह्मभाव को प्राप्त हुए हैं । उसको सुनने से सभी बन्धन नष्ट हो जाते हैं और उसको जान लेने से सब रहस्य जाना जा सकता है ।

तत्स्वरूपं कथमिति ॥3॥
शान्तो दान्तोऽतिविरक्तः सुशुद्धो गुरुभक्तस्तपोनिष्ठः शिष्यो ब्रह्मनिष्ठं गुरुमासाद्य प्रदक्षिणपूर्वकं दण्डवत् प्रणम्य प्राञ्जलिर्भूत्वा विनयेनोप-सङ्गम्य भगवन् गुरो मे परमतत्त्वरहस्यं विविच्य वक्तव्यमिति ॥4॥

यदि आप पूछते हो कि उस संवाद का स्वरूप कैसा है ? तो मैं बताता हूँ कि प्राचीन काल में एक शमगुणयुक्त और दमगुणयुक्त, अतिवैराग्यशील, परमशुद्ध, गुरुभक्त और तपोनिष्ठ ऐसा एक शिष्य था । वह किसी ब्रह्मनिष्ठ गुरु के पास गया और प्रदक्षिणापूर्वक गुरु को दण्डवत् प्रणाम करके दोनों हाथ जोड़कर सविनय गुरु के समीप जाकर पूछने लगा कि 'हे भगवन् ! हे गुरुदेव ! परमतत्त्व के रहस्य आप मुझे विवेचन करके कहिए ।'

अत्यादरपूर्वकमतिहर्षेण शिष्यं बहूकृत्य गुरुर्वदति । परमतत्त्वरहस्योप-निषत्क्रमः कथ्यते । सावधानेन श्रूयताम् । कथं ब्रह्म । कालत्रयाबाधितं ब्रह्म । सर्वकालाबाधितं ब्रह्म । सगुणनिर्गुणस्वरूपं ब्रह्म । आदि-मध्यान्तशून्यं ब्रह्म । सर्वं खल्विदं ब्रह्म । मायातीतगुणातीतं ब्रह्म । अनन्तमप्रमेयाखण्डपरिपूर्णं ब्रह्म । अद्वितीयपरमानन्दशुद्धबुद्धमुक्त-सत्यस्वरूपव्यापकाभिन्नापरिच्छिन्नं ब्रह्म । सच्चिदानन्दस्वप्रकाशं ब्रह्म । मनोवाचामगोचरं ब्रह्म । अखिलप्रमाणागोचरं ब्रह्म । अमितवेदान्तवेद्यं ब्रह्म । देशतः कालतो वस्तुतः परिच्छेदरहितं ब्रह्म । सर्वपरिपूर्णं ब्रह्म । तुरीयं निराकारमेकं ब्रह्म । अद्वैतमनिर्वाच्यं ब्रह्म । प्रणवात्मकं ब्रह्म । प्रणवात्मकत्वेनोक्तं ब्रह्म । प्रणवाद्यखिलमन्त्रात्मकं ब्रह्म । पाद-चतुष्टयात्मकं ब्रह्म ॥5॥

तब अत्यन्त आदरपूर्वक और हर्षपूर्वक शिष्य की प्रशंसा करके गुरु ने कहा—'परमतत्त्वरहस्य' नाम की उपनिषद् का जो क्रम है, वह मैं कह रहा हूँ । तुम सावधान होकर सुनो । 'ब्रह्म कैसा है ?' —इस प्रश्न का उत्तर यह है कि ब्रह्म तीनों कालों में अबाधित है । ब्रह्म सभी कालों में अबाधित है । ब्रह्म सगुण और निर्गुण स्वरूपवाला है । ब्रह्म आदि, मध्य और अन्त से रहित है । यह जो सब कुछ है, वह ब्रह्म ही है । ब्रह्म माया से परे और गुणों से परे है । ब्रह्म अनन्त है । प्रमाणों से वह जाना नहीं जा सकता । वह अखंड और परिपूर्ण है । ब्रह्म अद्वितीय, परम आनन्दरूप, शुद्ध, ज्ञानयुक्त (ज्ञानरूप), मुक्त, सत्यस्वरूप, व्यापक, भेदरहित और अप्रमेय है । ब्रह्म मन और वाणी का विषय नहीं बन सकता । ब्रह्म सच्चिदानन्द और स्वयंप्रकाशित है । वह सभी प्रमाणों का विषय नहीं है । ब्रह्म असंख्य

वेदान्तों के द्वारा जाना जा सकता है । देश, काल और वस्तु से ब्रह्म नापा नहीं जा सकता । ब्रह्म सब प्रकार से परिपूर्ण है । तुरीय और निराकार ब्रह्म एक ही है । ब्रह्म ऐसा है कि जिसका द्वैत के साथ वर्णन नहीं किया जा सकता । ब्रह्म प्रणवरूप – ॐकार स्वरूप है । ब्रह्म प्रणवरूप से कहा जाता है । ब्रह्म प्रणव आदि सभी मन्त्ररूप है । वह ब्रह्म चार पादवाला है ।

किं तत्पादचतुष्टयं भवति ॥6॥
अविद्यापादः सुविद्यापादश्चानन्दपादस्तुरीयपादश्चेति । तुरीयपादस्तुरीय-तुरीयं तुरीयातीतं च ॥7॥
कथं पादचतुष्टयस्य भेदः ॥8॥
अविद्यापादः प्रथमः पादो विद्यापादो द्वितीयः आनन्दपादस्तृतीयस्तुरीय-पादस्तुरीय इति । मूलाविद्या प्रथमपादे नान्यत्र । विद्याऽऽनन्दतुरीयांशाः सर्वेषु पादेषु व्याप्य तिष्ठन्ति ॥9॥

'वे चार पाद कौन-कौन से हैं' ? वे हैं—अविद्यापाद, सुविद्यापाद, आनंदपाद और तुरीयपाद । उनमें से जो तुरीयपाद है, वह तुरीयतुरीय और तुरीयातीत है । उन चारों पादों के भेद कौन-कौन से हैं ? प्रथम पाद अविद्यापाद है, दूसरा पाद विद्यापाद है, तीसरा पाद आनन्दपाद है और चौथा पाद तुरीयपाद है । मूला अविद्या तो प्रथम पाद में ही है, अन्य पादों में वह नहीं है । अन्य पादों में विद्यापाद, आनंदपाद और तुर्यपाद के अंश सन्निहित हैं ।

एवं तर्हि विद्याऽऽदीनां भेदः कथमिति ॥10॥
तत्तत्प्राधान्येन तत्तद्व्यपदेशः । वस्तुतस्त्वभेद एव । तत्राधस्तनमेकं पादमविद्याशबलं भवति । उपरितनपादत्रयं शुद्धबोधानन्दलक्षणममृतं भवति । तच्चालौकिकपरमानन्दलक्षणाखण्डामिततेजोराशिर्ज्वलति । तच्चानिर्वाच्यमनिर्देश्यमखण्डानन्दैकरसात्मकं भवति । तत्र मध्यम-पादमध्यप्रदेशेऽमिततेजःप्रवाहाकारतया नित्यवैकुण्ठं विभाति । तच्च निरतिशयानन्दाखण्डब्रह्मानन्दनिजमूर्त्याकारेण ज्वलति । अपरिच्छिन्न-मण्डलानि यथा दृश्यन्ते तद्वदखण्डानन्दामितवैष्णवदिव्यतेजोराश्यन्त-र्गतविलसन्महाविष्णोः परमं पदं विराजते । दुग्धोदधिमध्यस्थितामृता-मृतकलशवद्वैष्णवं धाम परमं सन्दृश्यते । सुदर्शनदिव्यतेजोऽन्तर्गतः सुदर्शनपुरुषो यथा सूर्यमण्डलान्तर्गतः सूर्यनारायणोऽमितापरिच्छिन्ना-द्वैतपरमानन्दलक्षणतेजोराश्यन्तर्गत आदिनारायणस्तथा सन्दृश्यते । स एव तुरीयं ब्रह्म स एव तुरीयातीतः स एव विष्णुः स एव समस्तब्रह्म-वाचकवाच्यः स एव परंज्योतिः स एव मायातीतः स एव गुणातीतः स एव कालातीतः स एवाखिलकर्मातीतः स एव सत्योपाधिरहितः स एव परमेश्वरः स एव चिरन्तनः पुरुषः प्रणवाद्यखिलमन्त्रवाचकवाच्य आद्यन्तशून्य आदिदेशकालवस्तुतुरीयसंज्ञानित्यपरिपूर्णः पूर्णः सत्य-सङ्कल्प आत्मारामः कालत्रयाबाधितनिजस्वरूपः स्वयंज्योतिः स्वयं-प्रकाशमयः स्वसमानाधिकरणंशून्यः स्वसमानाधिकशून्यो न दिवारात्रि-विभागो न संवत्सरादिकालविभागः स्वानन्दमयानन्ताचिन्त्यविभव आत्माऽन्तरात्मा परमात्मा ज्ञानात्मा तुरीयात्मेत्यादिवाचकवाच्योऽद्वैत-

परमानन्दो विभुर्नित्यो निष्कलङ्को निर्विकल्पो निरञ्जनो निराख्यातः शुद्धो देव एको नारायणो न द्वितीयोऽस्ति कश्चिदिति ॥11॥
य एवं वेद स पुरुषस्तदीयोपासनया तस्य सायुज्यमेतीत्यसंशयमित्युपनिषत् ॥12॥

इत्याथर्वणमहानारायणोपनिषदि पादचतुष्टय-
स्वरूपनिरूपणं नाम प्रथमोऽध्यायः ।
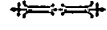
जब अन्य पादों में भी अन्यान्य के अंश रहे हैं, तब उनके विद्यापाद आदि अनेक नामों से भेद क्यों किए गए हैं ? इसका उत्तर यह है कि जिसमें जिसकी-जिसकी मुख्यता है, उस-उस नाम से उनका व्यवहार किया जाता है। वास्तविक रूप से तो उन पादों में कुछ भेद है ही नहीं। उन पादों में निम्न का एक ही पाद अविद्या से मिश्रित है, ऊपर के तीन पाद तो शुद्ध ज्ञान और आनन्दरूप लक्षण वाले अमृतस्वरूप ही हैं। वह ब्रह्म अलौकिक परमानन्द लक्षणयुक्त है। वह अखण्ड - अमेय तेजोराशि के रूप में प्रकाशित हो रहा है। उसका वर्णन करना या उसको बताना तो असंभव ही है। वह एकमात्र अखण्ड आनन्दस्वरूप और रसस्वरूप है। वहाँ मध्यपाद के मध्य प्रदेश में अमेय तेजप्रवाह के आकार में नित्य वैकुण्ठधाम विराजित है। वह धाम निरतिशय आनन्दरूप अखण्ड ब्रह्मानन्द की अपनी मूर्ति के आकार में प्रकाशित है। जिस तरह बिना टूटे हुए (अखण्ड) मण्डल दिखाई देते हों, उसी तरह से अखण्ड आनन्दमय और अमेय ऐसा विष्णु भगवान् के तेज का समूह है और उसके भीतर विलास करते हुए महाविष्णु का वह परमपद विराजमान है। विष्णु का वह परमधाम मानो क्षीर-समुद्र के बीच अवस्थित अमृत का अविनाशी कुम्भ हो, ऐसा दिखाई पड़ता है। जिस तरह सूर्यमण्डल के भीतर स्थित सुन्दर दृश्य-युक्त तेज के बीच प्रविष्ट हुए सुदर्शन सूर्यनारायण ही हों, उसी प्रकार वे आदिनारायण भी अमित-अमेय-परमानन्दस्वरूप तेजोराशि के भीतर स्थित दिखाई पड़ते हैं। वही तुरीय ब्रह्म है, वही तुरीय से परे है, वही विष्णु है, वही ब्रह्म के समस्त नामों के अर्थ हैं, वही परमज्योति हैं, वही माया से परे हैं, वही गुणरहित हैं, वही काल से परे हैं, वही सर्वकर्मों से रहित हैं, वही सत्य हैं, वही सर्व उपाधियों से रहित हैं, वही परमेश्वर हैं और वही प्राचीनतम पुरुष हैं। प्रणव आदि सभी मन्त्र वाचकों का वही वाच्य है। वह आदि-अन्त से रहित है। आदि-देश-काल-तुरीय ऐसी संज्ञा वाला वही है। वह नित्य और पूर्ण (परिपूर्ण) है। वह सत्यसंकल्प है, वह आत्माराम (स्वयं में रममाण) है। उसका आत्मस्वरूप तीनों काल में अबाधित रहता है। वह स्वयंज्योति है, स्वयंप्रकाशमय है, उसके जैसा अन्य कोई अवलम्बन (आधार - अधिकरण) है ही नहीं है। इसके समान कोई नहीं है, उससे अधिक कोई नहीं है। दिन-रात आदि विभागों से वह रहित है। वर्ष आदि कालविभागों से भी वह रहित है। वह स्वानन्दमय-अचिन्त्य-अनन्त वैभवशाली है। वह आत्मा का भी अन्तरात्मा है। वह परमात्मा, ज्ञानस्वरूप है, और तुरीय आदि शब्दों का अर्थरूप है। वह अद्वैत, परमानन्दस्वरूप, व्यापक, नित्य, निष्कलंक, निर्विकल्प, निरंजन, संज्ञारहित, शुद्ध, देवनारायण, वह एक ही है, दूसरा कोई है ही नहीं'—इस प्रकार जो जानता है वह पुरुष उसकी उपासना से उस परमतत्त्व के सायुज्य को प्राप्त हो जाता है। इसमें किसी प्रकार का संशय नहीं है।

इस प्रकार आथर्वण-महानारायण उपनिषद् में 'पादचतुष्टयस्वरूपनिरूपण' नामक प्रथम अध्याय समाप्त होता है।

❋

द्वितीयोऽध्यायः

अथेति होवाच छात्रो गुरुं भगवन्तम्। भगवन् वैकुण्ठस्य नारायणस्य च नित्यत्वमुक्तम्। स एव तुरीयमित्युक्तमेव। वैकुण्ठः साकारो नारायणः साकारश्च। तुरीयं तु निराकारम्। साकारः सावयवो निरवयवं निराकारम्। तस्मात्साकारमनित्यं नित्यं निराकारमिति श्रुतेः। यद्यत् सावयवं तत्तदनित्यमित्यनुमानाच्चेति प्रत्यक्षेण दृष्टत्वाच्च। अतस्तयोरनित्यत्वमेव वक्तुमुचितं भवति। कथमुक्तं नित्यत्वमिति। तुरीयमक्षरमिति श्रुतेः। स्तुरीयस्य नित्यत्वं प्रसिद्धम्। नित्यत्वानित्यत्वे परस्परविरुद्धधर्मौ। तयोरेकस्मिन् ब्रह्मण्यत्यन्तविरुद्धं भवति। तस्माद्वैकुण्ठस्य च नारायणस्य चानित्यत्वमेव वक्तुमुचितं भवति ॥1॥

बाद में शिष्य ने गुरु भगवान् से पूछा—'हे भगवन्! वैकुण्ठ और नारायण नित्य हैं, ऐसा आपने कहा और वही तुरीय है, ऐसा भी कहा। वैकुण्ठ साकार है और नारायण भी साकार हैं। परन्तु तुरीय तो निराकार है। जो साकार होता है, वह तो अवयवों वाला होता है, और जो निराकार होता है, उसके अवयव नहीं होते। इसलिए 'साकार अनित्य है और निराकार नित्य है।' ऐसा श्रुति कहती है। 'जो-जो अवयव वाला होता है वह अनित्य होता है।' ऐसे अनुमान से और प्रत्यक्ष में भी देखा गया है। इसलिए उन दोनों का – वैकुण्ठ का और नारायण का अनित्यत्व कहना ही उचित है। फिर भी आप उन्हें नित्य क्यों कहते हैं ? और श्रुति कहती है कि तुरीय तो अविनाशी है। इसके आधार पर तुरीय का तो नित्यत्व ही प्रसिद्ध है और नित्यत्व एवं अनित्यत्व ये दोनों धर्म तो परस्पर विरोधी ही हैं। अतः ये दोनों एक ही ब्रह्म में हों, यह तो अत्यन्त विरुद्ध बात है। इसलिए वैकुण्ठ को और नारायण को— दोनों को अनित्य कहना ही उचित है।

सत्यमेव भवतीति देशिकं परिहरति। साकारस्तु द्विविधः। सोपाधिको निरुपाधिकश्च ॥2॥
तत्र सोपाधिकसाकारः कथमिति ॥3॥
आविद्यकमखिलकार्यकारणजालमविद्यापाद एव नान्यत्र। तस्मात् समस्ताविद्योपाधिः साकारः सावयव एव। सावयवत्वादनित्यं भवत्येव ॥4॥

तब शिष्य की शंका का निवारण करते हुए गुरु ने कहा—'वह बात ठीक है, पर साकार दो प्रकार के हैं—एक सोपाधिक और दूसरा निरुपाधिक। उनमें सोपाधिक साकार कैसा होता है ? वह सुनो—अविद्या से बने हुए सभी कार्य और कारण ब्रह्म के अविद्यापाद में ही हैं। अन्य पादों में तो नहीं हैं। इसलिए समग्र अविद्या की उपाधिवाला जो पाद है, वह तो साकार और अवयवों वाला ही है। और अवयवों वाला होने से अनित्य है ही।

सोपाधिकसाकारो वर्णितः। तर्हि निरुपाधिकसाकारः कथमिति ॥5॥
निरुपाधिकसाकारस्त्रिविधः। ब्रह्मविद्यासाकारश्चानन्दसाकार उभयात्मकसाकारश्चेति। त्रिविधसाकारोऽपि पुनर्द्विविधो भवति। नित्यसाकारो मुक्तसाकारश्चेति। नित्यसाकारस्त्वाद्यन्तशून्यः शाश्वतः।

उपासनया ये मुक्तिं गतास्तेषां साकारो मुक्तसाकारः। तस्याखण्ड-ज्ञानेनाविर्भावो भवति। सोऽपि शाश्वतः ॥6॥

ठीक है, इस प्रकार सोपाधिक साकार का वर्णन तो हुआ। अब निरुपाधिक साकार कैसा है? यह बताते हैं—निरुपाधिक साकार तीन प्रकार का है—एक ब्रह्मविद्यासाकार, दूसरा आनन्दसाकार और तीसरा उभयात्मकसाकार। यह त्रिविध साकार भी अन्य विधि से दो प्रकार का है—एक नित्य साकार है और दूसरा मुक्त साकार है। उनमें नित्य साकार के तो आदि और अन्त नहीं हैं। जिन लोगों ने उपासना से मुक्ति प्राप्त की होती है, उनका साकार मुक्त साकार कहा जाता है। उसका आविर्भाव अखंड ज्ञान से होता है। वह भी शाश्वत है।

मुक्तसाकारस्त्वैच्छिक इत्यन्ये वदन्ति। शाश्वतत्वं कथमिति ॥7॥ अद्वैताखण्डपरिपूर्णनिरतिशयपरमानन्दशुद्धबुद्धमुक्तसत्यात्मकब्रह्मचैतन्य-साकारत्वान्निरुपाधिकसाकारस्य नित्यत्वं सिद्धमेव। तस्मादेव निरुपा-धिकसाकारस्य निरवयवत्वात् स्वाधिकमपि दूरतो निरस्तमेव। निरव-यवं ब्रह्मचैतन्यमिति सर्वोपनिषत्सु सर्वशास्त्रसिद्धान्तेषु श्रूयते ॥8॥

मुक्त साकार तो ऐच्छिक है, ऐसा अन्य लोग कहते हैं। तो फिर उसका शाश्वतत्व (नित्यत्व) कैसे हो सकता है? अद्वैत, अखण्ड, परिपूर्ण, निरतिशय, परमानन्द, शुद्ध, ज्ञानमय, मुक्त और सत्यस्वरूप ब्रह्म चैतन्यरूप से ही साकार है। इसलिए उस निरुपाधिक साकार का नित्यत्व तो सिद्ध ही है। और इसीलिए वह निरुपाधिक साकार अवयवरहित ही सिद्ध होता है। इसीलिए उससे अपने से किसी के अधिक होने की बात तो दूर से ही खण्डित हो जाती है। ब्रह्मचैतन्य अवयवरहित है, यह बात तो उपनिषदों और सर्व शास्त्रों में सुनाई ही पड़ती है।

अथ च विद्याऽऽनन्दतुरीयाणामभेद एव श्रूयते। सर्वत्र विद्यादिसाकार-भेदः कथमिति ॥9॥

सत्यमेवोक्तमिति देशिकः परिहरति। विद्याप्राधान्येन विद्यासाकारः। आनन्दप्राधान्येनानन्दसाकारः। उभयप्राधान्येनोभयात्मकसाकारो भवति। प्राधान्येनात्र भेद एव। स भेदो वस्तुतस्त्वभेद एव ॥10॥

और भी, विद्या, आनन्द और तुरीय का भी तो अभेद ही सुनाई देता है। तो फिर सभी जगह पर साकार का भेद क्यों कहा जाता है? जब शिष्य ने ऐसी शंका की, तब गुरु ने उसका समाधान करते हुए कहा—'तुमने सत्य कहा। परन्तु, विद्या की मुख्यता से विद्यासाकार, आनन्द की मुख्यता से आनन्दसाकार और उभय की मुख्यता से मिश्र साकार (उभयसाकार)—इस प्रकार एक-एक की मुख्यता से उनमें भेद हैं, परन्तु वास्तविक रूप से तो अभेद ही हैं।'

भगवन्नखण्डाद्वैतपरमानन्दलक्षणपरब्रह्मणः साकारनिराकारौ विरुद्ध-धर्मौ। विरुद्धोभयात्मकत्वं कथमिति ॥11॥

सत्यमेवेति गुरुः परिहरति। यथा सर्वगतस्य निराकारस्य महावायोश्च तदात्मकस्य त्वक्पतित्वेन प्रसिद्धस्य साकारस्य महावायुदेवस्य चाभेद एव श्रूयते सर्वत्र। यथा पृथिव्यादीनां व्यापकशरीराणां देवशेषाणां च तद्विलक्षणतदभिन्नव्यापकापरिच्छिन्ननिजमूर्त्याकारदेवताः श्रूयन्ते सर्वत्र

तद्वत् परब्रह्मणः सर्वात्मकस्य साकारनिराकारभेदविरोधो नास्त्येव। विविधविचित्रानन्तशक्तेः परब्रह्मणः स्वरूपज्ञानेन विरोधो न विद्यते। तदभावे सत्यनन्तविरोधो विभाति ॥12॥

यह सुनकर शिष्य ने शंका की—'हे भगवन्! अखण्ड, अद्वैत और परमानन्दरूप लक्षण वाले परब्रह्म के साकार और निराकार धर्म तो परस्पर-विरोधी ही माने जाने चाहिए। और ऐसे एक-दूसरे के विरोधी धर्म एक ब्रह्म में कैसे रह सकते हैं? परस्परविरुद्ध धर्मवाला एक ब्रह्म कैसे हो सकता है?' इस शंका का परिहार करते हुए गुरु ने कहा—'यह तो ठीक है परन्तु जैसे सर्वव्यापक और निराकार महावायु का और त्वगिन्द्रिय के स्वामी के रूप में (शास्त्रों में) वर्णित साकार वायुदेव का सभी जगह अभेद ही सुना जाता है, और भी जैसे व्यापक शरीर वाले पृथिव्यादि के तथा विशिष्ट देवताओं के भी उनसे विलक्षण फिर भी उनसे अभिन्न—ऐसे व्यापक तथा परिमित (परिच्छिन्न) अपनी-अपनी मूर्तिवाले—दोनों प्रकार के स्वरूप सभी श्रुतियों में सुनाई ही पड़ते हैं। उसी प्रकार सर्वस्वरूप परब्रह्म के साकार और निराकार—ऐसा भेद होने पर भी किसी प्रकार का विरोध नहीं है। क्योंकि परब्रह्म तो अनेक प्रकार की शक्तियुक्त हैं। और विरोध के न होने पर भी सिर्फ ऐसा विरोध दिखाई ही देता है।

अथ च रामकृष्णाद्यवतारेष्वप्यद्वैतपरमानन्दलक्षणपरब्रह्मणः परमतत्त्व-परमविभवानुसन्धानं स्वीयत्वेन श्रूयते सर्वत्र। सर्वपरिपूर्णस्याद्वैतपरमा-नन्दलक्षणपरब्रह्मणस्तु किं वक्तव्यम्। अन्यथा सर्वपरिपूर्णस्य परब्रह्मणः परमार्थतः साकारं विना केवलनिराकारत्वं यद्यभिमतं तर्हि केवलनिरा-कारस्य गगनस्येव परब्रह्मणोऽपि जडत्वमापद्यते। तस्मात्परंब्रह्मणः परमार्थतः साकारनिराकारौ स्वभावसिद्धौ ॥13॥

राम, कृष्ण आदि अवतारों में भी अद्वैत परमानन्दस्वरूप परब्रह्म के ही परमतत्त्व और परम वैभव का अनुसन्धान उनके अपने ही स्वरूपतत्त्व के रूप में भी सभी जगह पर सुनाई दे रहा है। अगर ऐसा न माना जाए और सर्व प्रकार से परिपूर्ण परमानन्दस्वरूप अद्वैत परब्रह्म के वास्तविक साकार स्वरूप को बिना माने ही यदि केवल निराकारस्वरूप ही मान लें, तो जैसा केवल निराकारस्वरूप आकाश का है, और जडत्व है, वैसा ही जडत्व परब्रह्म में भी आ जायेगा। इसलिए परब्रह्म का साकार और निराकार भेद है, वे स्वभावसिद्ध ही हैं।

तथाविधस्याद्वैतपरमानन्दलक्षणस्यादिनारायणस्योन्मेषनिमेषाभ्यां मूलाविद्योदयस्थितिलया जायन्ते। कदाचिदात्मारामस्याखिलपरिपूर्ण-स्यादिनारायणस्य स्वेच्छानुसारेणोन्मेषो जायते। तस्मात्परब्रह्मणोऽध-स्तनपादे सर्वकारणे मूलकारणाव्यक्ताविर्भावो भवति। अव्यक्तान्मूला-ऽऽविर्भावो मूलाविद्याऽऽविर्भावश्च। तस्मादेव सच्छब्दवाच्यं ब्रह्मा-विद्याशबलं भवति। ततो महत्। महतोऽहङ्कारः। अहङ्कारात् पञ्च-तन्मात्राणि। पञ्चतन्मात्रेभ्यः पञ्चमहाभूतानि। पञ्चमहाभूतेभ्यो ब्रह्मैक-पादं व्याप्तमेकमविद्याऽण्डं जायते ॥14॥

इस प्रकार के अद्वैत परमानंदस्वरूप लक्षणयुक्त आदिनारायण के नेत्र के मिलन-उन्मीलन से (पलक से) मूला अविद्या की उत्पत्ति, स्थिति और लय हुआ करते हैं। आत्माराम एवं सर्वांशपरिपूर्ण उन आदिनारायण के नेत्र का कभी-कभी उनकी इच्छानुसार खुलना होता है। और इससे परब्रह्म के

विशुद्धसत्त्व निर्गुण होता है।

सर्वकारणरूप निम्नपाद में मूल कारण अव्यक्त का आविर्भाव होता है। और उस अव्यक्त में से मूल का तथा मूला अविद्या का आविर्भाव होता है। फिर उसी में से, 'सत्' शब्द द्वारा कहा जाने वाला अविद्याशबल (मिश्र) ब्रह्म होता है। उसी में से फिर महतत्त्व, महतत्त्व से अहंकार, अहंकार में से पाँच तन्मात्राएँ, पाँच तन्मात्राओं से पाँच महाभूत और उन पाँच महाभूतों में से ब्रह्म के एक पाद से व्याप्त ऐसा एक अविद्या का अण्ड जन्म लेता है।

तत्र तत्त्वतो गुणातीतशुद्धसत्त्वमयो लीलागृहीतनिरतिशयानन्दलक्षणो मायोपाधिको नारायण आसीत्। स एव नित्यपरिपूर्णः पादविभूति-वैकुण्ठनारायणः। स चानन्तकोटिब्रह्माण्डानामुदयस्थितिलयाद्यखिल-कार्यकारणजालपरमकारणभूतो महामायाऽतीतस्तुरीयः परमेश्वरो जयति। तस्मात् स्थूलविराट्स्वरूपो जायते। स सर्वकारणमूलं विराट्-स्वरूपो भवति। स चानन्तशीर्षा पुरुष अनन्ताक्षिपाणिपादो भवति। अनन्तश्रवणः सर्वमावृत्य तिष्ठति। सर्वव्यापको भवति। सगुणनिर्गुण-स्वरूपो भवति। ज्ञानबलैश्वर्यशक्तितेजःस्वरूपो भवति। विविध-विचित्रानन्तजगदाकारो भवति। निरतिशयानन्दमयानन्तपरमविभूति-समष्ट्या विश्वाकारो भवति। निरतिशयनिरङ्कुशसर्वज्ञसर्वशक्तिसर्व-नियन्तृत्वाद्यनन्तकल्याणगुणाकारो भवति। वाचामगोचरानन्तदिव्य-तेजोराश्याकारो भवति। समस्ताविद्याऽण्डव्यापको भवति। स चानन्त-महामायाविलासानामधिष्ठानविशेषनिरतिशयाद्वैतपरमानन्दलक्षणपर-ब्रह्मविलासविग्रहो भवति ॥15॥

उसमें तात्त्विक दृष्टि से तो गुणों से परे, शुद्ध सत्त्वमय, लीला से ही स्वीकृत रूपवाले निरतिशय आनन्दस्वरूप और माया की उपाधिवाले नारायण ही होते हैं। वे ही नित्य परिपूर्णपादस्वरूप, विभूतियुक्त वैकुण्ठनारायण हैं। और वे अनन्त कोटि ब्रह्माण्डों के सर्जन, स्थिति और लय आदि सभी कार्यों तथा कारणों के समूह का भी जो परमकारण है, उसके भी कारणभूत हैं। और महामाया से परे ऐसे वे तुरीय परमेश्वर जय प्राप्त करते हैं। उन्हीं में से स्थूल (विराट्) स्वरूप उत्पन्न होता है। वह विराट्स्वरूप सभी कारणों का मूल है। वह विराट् पुरुष अनन्त मस्तकवाले तथा अनन्त आँखों, हाथों और पैरों वाले हैं। अनन्त कानों वाले वे सबको व्याप्त कर रहे हैं (सबको ढँककर स्थित हैं)। वे सर्वव्यापक तथा सगुण-निर्गुण स्वरूप वाले हैं। ज्ञान, बल, ऐश्वर्य, शक्ति और तेजस्वरूप हैं। विविध और विचित्र जगत् के आकार वाले हैं। निरतिशय आनन्दमय और अनन्त एवं परमविभूतिरूप वे समष्टि के द्वारा विश्वाकार होते हैं। निरतिशय, निरंकुश, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान और सर्वनियन्ता आदि अनन्त कल्याणकारी गुणमय विशिष्ट आकारों से युक्त हैं। वाणी के अविषय, अनन्त दिव्य तेज के राशिरूप आकार वाले हैं। वे अविद्या के समस्त अण्ड में व्याप्त होकर स्थित हैं, और अनन्त महामाया के विलासों के विशेष अधिष्ठानरूप ऐसे निरतिशय परमानन्दस्वरूप लक्षणवाले परब्रह्म के विलास शरीर रूप हैं।

अस्यैकैकरोमकूपान्तरेष्वनन्तकोटिब्रह्माण्डानि स्थावराणि च जायन्ते। तेष्वण्डेषु सर्वेष्वेकैकनारायणावतारो जायते। नारायणाद्धिरण्यगर्भो जायते। नारायणादण्डविराट्स्वरूपो जायते। नारायणादखिललोक-

स्त्रष्टृप्रजापतयो जायन्ते। नारायणादेकादशरुद्राश्च जायन्ते। नारायणाद-खिललोकाश्च जायन्ते। नारायणादिन्द्रो जायते। नारायणात् सर्वे देवाश्च जायन्ते। नारायणाद्वादशादित्याः सर्वे वसवः सर्वे ऋषयः सर्वाणि भूतानि सर्वाणि छन्दांसि नारायणादेव समुत्पद्यन्ते। नारायणात् प्रवर्तन्ते। नारायणे प्रलीयन्ते। अथ नित्योऽक्षरः परमः स्वराट्। ब्रह्मा नारायणः। शिवश्च नारायणः। शक्रश्च नारायणः। दिशश्च नारायणः। विदिशश्च नारायणः। कालश्च नारायणः। कर्माखिलं च नारायणः। मूर्तामूर्तं च नारायणः। कारणात्मकं सर्वं कार्यात्मकं सकलं नारायणः। तदुभयविलक्षणो नारायणः। परंज्योतिः स्वप्रकाशमयो ब्रह्मानन्दमयो नित्यो निर्विकल्पो निरञ्जनो निराख्यातः शुद्धो देव एको नारायणो न द्वितीयोऽस्ति कश्चित्। न समो नाधिक इत्यसंशयम् ॥16॥

उनके एक-एक रोमछिद्र में अनन्तकोटि स्थावरों और ब्रह्माण्डों की उत्पत्ति होती है और उन सभी ब्रह्माण्डों में एक-एक नारायण का अवतार होता है। उन नारायण से हिरण्यगर्भ उत्पन्न होते हैं। नारायण से अण्ड विराट्स्वरूप होता है। नारायण से ही सब लोकों का सर्जन करने वाले प्रजापति उत्पन्न होते हैं। नारायण से ग्यारह रुद्रों का जन्म होता है। नारायण से सभी लोक उत्पन्न होते हैं। नारायण से इन्द्र उत्पन्न होते हैं। नारायण से सभी देव उत्पन्न होते हैं। बारह आदित्य, सभी (आठ) वसु, सभी ऋषि, सभी भूत और सभी वेद नारायण से ही उत्पन्न होते हैं। नारायण से ही वे सब प्रवृत्ति करते हैं, और नारायण में ही लीन होते हैं। वे ही नित्य, अक्षर, परम और स्वयंप्रकाशित हैं। ब्रह्मा नारायण हैं, शिव नारायण हैं, इन्द्र नारायण हैं, दिशाएँ नारायण हैं, विदिशाएँ नारायण हैं, काल नारायण हैं, सर्वकर्म नारायण है, मूर्त और अमूर्त नारायण है। कारणरूप और कार्यरूप सब नारायण है। और उन दोनों से विलक्षण भी नारायण है। परमज्योति, स्वप्रकाशमय, ब्रह्मानन्दमय, नित्य, निर्विकल्प, निरंजन, अवर्णनीय, शुद्ध देव, एक नारायण ही हैं, अन्य कोई नहीं है। वह किसी के समान नहीं है, कोई इससे अधिक नहीं है, इसमें कोई भी सन्देह नहीं है।

परमार्थतो य एवं वेद सकलबन्धांश्छित्त्वा मृत्युं तीर्त्वा स मुक्तो भवति स मुक्तो भवति। य एवं विदित्वा सदा तमुपास्ते पुरुषः स नारायणो भवति स नारायणो भवतीत्युपनिषत् ॥17॥

इत्याथर्वणमहानारायणोपनिषदि परब्रह्मणः साकारनिराकार-स्वरूपनिरूपणं नाम द्वितीयोऽध्यायः।

उनको पारमार्थिक रूप से जो साधक ऐसा जानता है, वह संसार के समस्त बन्धनों को काटकर मृत्यु का अतिक्रमण करके मुक्त हो जाता है। जो पुरुष इस प्रकार जानकर उनकी उपासना करता है, वह स्वयं नारायण ही हो जाता है, नारायण ही हो जाता है, ऐसा यह उपनिषद् कहती है।

इस प्रकार आथर्वण-महानारायण उपनिषद् में 'साकारनिराकारनिरूपण' नामक द्वितीय अध्याय समाप्त होता है।

❋

तृतीयोध्यायः

अथ छात्रस्तथेति होवाच—भगवन् देशिक परमतत्त्वज्ञ सविलासमहामूलाऽविद्योदयक्रमः कथितः। तदु प्रपञ्चोत्पत्तिक्रमः कीदृशो भवति विशेषेण कथनीयः। तस्य तत्त्वं वेदितुमिच्छामि ॥1॥

शिष्य ने 'ठीक है' ऐसा कहकर फिर पूछा—'हे भगवन्! हे गुरो! हे परमतत्त्व के ज्ञाता! आपने विलाससहित महामूला अविद्या के उदय का क्रम तो कहा। अब प्रपंच की उत्पत्ति का क्रम किस तरह होता है, वह आप कहिए। मैं उसका तत्त्व जानना चाहता हूँ।'

तथेत्युक्त्वा गुरुरित्युवाच—यथाऽनादिसर्वप्रपञ्चो दृश्यते। नित्योऽनित्यो वेति संशयते। प्रपञ्चोऽपि द्विविधः। विद्याप्रपञ्चश्चाविद्याप्रपञ्चश्चेति। विद्याप्रपञ्चस्य नित्यत्वं सिद्धमेव नित्यानन्दचिद्विलासात्मकत्वात् अथ च शुद्धबुद्धमुक्तसत्यानन्दस्वरूपत्वाच्च। अविद्याप्रपञ्चस्य नित्यत्वमनित्यत्वं वा कथमिति। प्रवाहतानित्यत्वं वदन्ति केचन। प्रलयादिकं [कस्य] श्रूयमाणत्वादनित्यत्वं वदन्त्यन्ये। उभयं न भवति। पुनः कथमिति। सङ्कोचविकासात्मकमहामायाविलासात्मक एव सर्वोऽप्यविद्याप्रपञ्चः। परमार्थतो न किञ्चिदस्ति क्षणशून्यानादिमूलाऽविद्याविलासत्वात्। तत्कथमिति। एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म। नेह नानाऽस्ति किञ्चन। तस्माद् ब्रह्मव्यतिरिक्तं सर्वं बाधितमेव। सत्यमेव परब्रह्म सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्मेति ॥2॥

तब गुरु ने 'अच्छा' ऐसा कहकर आगे कहा—'यह जो अनादि काल का प्रपंच दिखाई दे रहा है, वह नित्य है या अनित्य? ऐसा संशय होता है। और यह प्रपंच भी दो प्रकार का है। एक है विद्याप्रपंच और दूसरा है अविद्याप्रपंच। उनमें से विद्याप्रपंच तो नित्यरूप से सिद्ध ही है, क्योंकि वह नित्यानन्दस्वरूप चैतन्य का विलासरूप ही है। और भी शुद्ध, बुद्ध, मुक्त, सत्य तथा आनन्दस्वरूप ही है। अब अविद्याप्रपंच नित्य या अनित्य किस तरह से है? कुछ लोग इस अविद्याप्रपंच को प्रवाहरूप से नित्य (परिणामी नित्य) मानते हैं। और कुछ लोग उसे अनित्य भी कहते हैं क्योंकि श्रुतियों में उसका प्रलय आदि सुना जाता है। परन्तु, वास्तव में देखा जाए तो वह नित्य या अनित्य—दोनों नहीं है। कारण यह है कि संकोच और विकास करने वाली महामाया का विलासरूप ही यह सारा अविद्याप्रपंच है। वह इसलिए कि ब्रह्म तो एक और अद्वितीय ही है। उसके अतिरिक्त तो और कुछ है ही नहीं। इसलिए ब्रह्म के अतिरिक्त तो सब कुछ बाधित ही है। केवल परब्रह्म ही सत्य है। ब्रह्म सत्यज्ञानरूप तथा अनन्त है।'

ततः सविलासमूलाऽविद्योपसंहारक्रमः कथमिति ॥3॥

अत्यादरपूर्वकमतिहर्षेण देशिक उपदिशति। चतुर्युगसहस्राणि ब्रह्मणो दिवा भवति। तावता कालेन पुनस्तस्य रात्रिर्भवति। द्वे अहोरात्रे एकं दिनं भवति। तस्मिन्नेकस्मिन् दिने आसत्यलोकानामुदयस्थितिलया जायन्ते। पञ्चदशदिनानि पक्षो भवति। पक्षद्वयं मासो भवति। मासद्वयमृतुर्भवति। ऋतुत्रयमयनं भवति। अयनद्वयं वत्सरो भवति। वत्सरशतं ब्रह्ममानेन ब्रह्मणः परमायुःप्रमाणम्। तावत्कालस्तस्य स्थितिरुच्यते।

स्थित्यन्तेऽण्डविराट्पुरुषः स्वांशं हिरण्यगर्भमभ्येति। हिरण्यगर्भः स्वकारणं परमात्मानमण्डपरिपालकनारायणमभ्येति। पुनर्वत्सरशतं तस्य प्रलयो भवति। तथा जीवाः सर्वे प्रकृतौ प्रलीयन्ते। प्रलये सर्वशून्यं भवति ॥4॥

तब शिष्य ने पुनः पूछा—'तो फिर विलाससहित मूल अविद्या के उपसंहार का क्रम कौन-सा होता है?' तब उसके विषय में गुरु अति आदरपूर्वक और बड़े हर्ष से उपदेश करने लगे—'चार हजार युगों से ब्रह्मा का एक दिन बनता है। उतने ही समय की उनकी एक रात्रि होती है। वह रात और दिन मिलकर ब्रह्मा का एक पूरा दिवस होता है। उस एक दिवस में सत्यलोक तक के लोकों की उत्पत्ति, स्थिति और नाश हो जाते हैं। पंद्रह दिन का एक पक्ष होता है। दो पक्षों का एक महीना होता है। दो महीनों की एक ऋतु होती है। तीन ऋतुओं का एक अयन होता है। दो अयनों का एक वर्ष होता है। सौ वर्ष का ब्रह्मा का अन्तिम आयुष्य-प्रमाण है। और वह उनके अपने ही काल के मानदण्ड से होता है। उतने ही समय तक उनकी स्थिति कही जाती है। उस स्थिति के अन्त में अण्डविराट् पुरुष अपने अंशरूप हिरण्यगर्भ को प्राप्त होते हैं। उस हिरण्यगर्भ का जो कारण है वह अण्डपरिपालक नारायण परमात्मा की ओर जाता है और फिर से सौ वर्षों के बाद प्रलय होता है। उस समय सभी जीव प्रकृति में लय हो जाते हैं, और प्रलयकाल में सब कुछ शून्य ही हो जाता है।

तस्य ब्रह्मणः स्थितिप्रलयावादिनारायणस्यांशेनावतीर्णस्याण्डपरिपालकस्य महाविष्णोरहोरात्रिसंज्ञिकौ। ते अहोरात्रे एकं दिनं भवति। एवं दिनपक्षमाससंवत्सरादिभेदाच्च तदीयमानेन शतकोटिवत्सरकालस्तस्य स्थितिरुच्यते। स्थित्यन्ते स्वांशं महाविराट्पुरुषमभ्येति। ततः सावरणं ब्रह्माण्डं विनाशमेति। ब्रह्माण्डावरणं विनश्यति तद्धि विष्णोः स्वरूपम्। तस्य तावत्प्रलयो भवति। प्रलये सर्वशून्यं भवति ॥5॥

ब्रह्मा की स्थिति और प्रलय का जो कालमान है, वह आदित्यनारायण के अंश से उत्पन्न महाविष्णु के एक दिन-रात होते हैं। उनके भी वे दोनों दिन-रात मिलकर एक पूरा दिवस होता है और उसी प्रकार दिन, पक्ष, महीना, ऋतु, अयन, वर्ष आदि भेद का अनुसरण करके उनके काल – मान के अनुसार पुरुष के सौ करोड़ वर्ष तक के कालपर्यन्त उनकी स्थिति कही जाती है। उस स्थिति के अन्त में वे महाविष्णु अपने अंशरूप महापुरुष में मिल जाते हैं (महाविराट् में मिल जाते हैं)। इसके बाद आवरणसहित ब्रह्माण्ड का नाश हो जाता है। यही विष्णु का स्वरूप है। उसका प्रथम प्रलय होता है और बाद में, और उस प्रलय में सब शून्य हो जाता है।

अण्डपरिपालकमहाविष्णोः स्थितिप्रलयावादिविराट्पुरुषस्याहोरात्रिसंज्ञिकौ। ते अहोरात्रे एकं दिनं भवति। एवं दिनपक्षमाससंवत्सरादिभेदाच्च तदीयमानेन शतकोटिवत्सरकालस्तस्य स्थितिरुच्यते। स्थित्यन्ते आदिविराट्पुरुषः स्वांशं मायोपाधिकनारायणमभ्येति। तस्य विराट्पुरुषस्य यावत्स्थितिकालस्तावत्प्रलयो भवति। प्रलये सर्वशून्यं भवति ॥6॥

अण्डपरिपालक विष्णु की वह स्थिति और प्रलय का जो कालमान है, वही आदि विराट् पुरुष के दिन-रात होते हैं। वे दिन-रात दोनों मिलकर एक पूरा दिवस होता है। इस प्रकार दिन, पक्ष, महीना, ऋतु, अयन, वर्ष आदि के भेद से उनके कालमान के आधार पर सौ करोड़ वर्ष तक के काल-

पर्यन्त उनकी स्थिति कही जाती है। उस स्थिति के अन्त में आदि विराट् पुरुष अपने अंशरूप मायोपाधिक नारायण में मिल जाते हैं। उस विराट् पुरुष की स्थिति का जितना काल होता है, उतना ही काल प्रलय होता है। प्रलय में सब शून्य हो जाता है।

विराट्स्थितिप्रलयौ मूलाविद्याऽण्डपरिपालकस्यादिनारायणस्याहोरात्रि-संज्ञिकौ। ते अहोरात्रे एकं दिनं भवति। एवं दिनपक्षमाससंवत्सरादि-भेदाच्च तदीयमानेन शतकोटिवत्सरकालस्तस्य स्थितिरुच्यते। स्थित्यन्ते त्रिपाद्विभूतिनारायंणस्येच्छावशान्निमेषो जायते। तस्मान्मूला-विद्याऽण्डस्य सावरणस्य विलयो भवति। ततः सविलासा मूलाविद्या सर्वकार्योपाधिसमन्विता सदसद्विलक्षणाऽनिर्वाच्या लक्षणशून्याविर्भावतिरोभावात्मिकाऽनाद्यखिलकारणकारणाऽनन्तमहामायाविशेषण-विशेषिता परमसूक्ष्ममूलकारणमव्यक्तं विशति। अव्यक्तं विशेद्ब्रह्मणि निरिन्धनो वैश्वानरो यथा। तस्मान्मायोपाधिक आदिनारायणस्तथा स्वस्वरूपं भजति। सर्वे जीवाश्च स्वस्वरूपं भजन्ते। यथा जपाकुसुम-सान्निध्याद्रक्तस्फटिकप्रतीतिस्तदभावे शुद्धस्फटिकप्रतीतिः। ब्रह्मणोऽपि मायोपाधिवशात् सगुणपरिच्छिन्नादिप्रतीतिरुपाधिविलयान्निर्गुणनिरव-यवादिप्रतीतिरित्युपनिषत् ॥7॥

**इत्याथर्वणमहानारायणोपनिषदि मूलाविद्याप्रलय-
स्वरूपणं नाम तृतीयोऽध्यायः।**
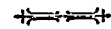
विराट् के जो ये स्थिति और प्रलय हैं, वे मूला अविद्या के अण्ड का परिपालन करने वाले आदि नारायण के दिन और रात होते हैं। वे दोनों – रात और दिन – मिलकर पूरा एक दिवस होता है। इस प्रकार दिन, पक्ष, महीना, ऋतु, अयन, वर्ष आदि के भेद से उनके कालमान के अनुसार सौ करोड़ वर्षों के काल तक उनकी स्थिति कही जाती है। उस स्थिति के अन्त में त्रिपाद्विभूतिनारायण की आँख की उन्हीं की इच्छा से एक पलक होती है। इससे मूल अविद्या के अण्ड का आवरणसहित प्रलय हो जाता है। इसके बाद विलासों के साथ वह मूला अविद्या सर्वकार्यरूप उपाधि समेत, परमसूक्ष्म मूलकारण अविद्या में प्रवेश करती है। वह मूल अविद्या सत् और असत् से अथवा सत्-असत् से विलक्षण रूप से बताना (लक्षित करना) असंभव है। वह लक्षणशून्य है। वह आविर्भाव-तिरोभावरूप है। वह अनादि है, सभी कारणों का वह कारण है। वह 'अनन्त महामाया'—ऐसे विशेषण से युक्त है। बाद में कालहीन अग्नि जैसा वह अव्यक्त ब्रह्म में प्रवेश करता है। इससे मायोपाधिक आदिनारायण उस प्रकार के अपने स्वरूप को प्राप्त होते हैं। और सभी जीव अपने स्वरूप को प्राप्त होते हैं। जैसे जपाकुसुम के पास रखने से स्फटिक मणि लाल दिखाई देती है और उसे हटा लेने से स्फटिक मणि शुद्ध दिखाई देती है, वैसे ही ब्रह्म भी मायारूप उपाधि के कारण सगुण, प्रमेयरूप आदि रूपों में दिखाई देता है परन्तु उपाधि के लय होने से निर्गुण, अवयवरहित आदि रूप में दिखाई देता है। ऐसा यह उपनिषद् कहती है।

**इस प्रकार आथर्वण-महानारायणोपनिषद् में 'मूलाविद्यास्वरूपनिरूपण'
नामक तृतीय अध्याय समाप्त होता है।**

चतुर्थोऽध्यायः

ॐ ततस्तस्मान्निर्विशेषमतिनिर्मलं भवति। अविद्यापादमतिशुद्धं भवति। शुद्धबोधानन्दलक्षणकैवल्यं भवति। ब्रह्मणः पादचतुष्टयं निर्विशेषं भवति। अखण्डलक्षणाखण्डपरिपूर्णसच्चिदानन्दस्वप्रकाशं भवति। अद्वितीयमनीश्वरं भवति। अखिलकार्यकारणस्वरूपमखण्ड-चिद्घनानन्दस्वरूपमतिदिव्यमङ्गलाकारं निरतिशयानन्दतेजोराशिविशेषं सर्वपरिपूर्णानन्तचिन्मयस्तम्भाकारं शुद्धबोधानन्दविशेषाकारमनन्त-चिद्विलासविभूतिसमष्ट्याकारमद्भुतानन्दाश्चर्यविभूतिविशेषाकारमनन्त-परिपूर्णानन्ददिव्यसौदामिनीनिचयाकारम्। एवमाकारमद्वितीयाखण्डा-नन्दब्रह्मस्वरूपं निरूपितम् ॥1॥

ॐ इस कारण से ब्रह्म निर्विशेष और निर्मल है। अविद्या का पाद बहुत ही शुद्ध है। शुद्ध बोध और आनन्द का लक्षण युक्त कैवल्यपद है। ब्रह्म के चारों पद निर्विशेष हैं। ब्रह्म स्वयं अखण्ड लक्षणयुक्त अखण्डपरिपूर्ण सच्चिदानन्दस्वरूप और स्वयंप्रकाशित है। और भी, वह अद्वितीय और स्वयं के सिवा अन्य ईश्वररहित है। वह समग्र कार्य-कारण स्वरूप, अखण्डचैतन्य से घिरा हुआ है। वह अत्यन्त दिव्य और मंगल स्वरूपवाला है। निरतिशय आनन्द और तेज के राशि जैसा है। वह सर्वथा परिपूर्ण और अनन्त चैतन्य के स्तम्भ जैसा, शुद्ध बोध और विशिष्ट आनन्द का स्वरूप है। वह अनन्त चैतन्य विलासों की विभूतिरूप, समष्टि आकार रूप, अद्भुत आनन्द और आश्चर्य की विशिष्ट विभूतिरूप और अनन्त आनन्दरूप दिव्य विद्युत् के समूह जैसे रूप वाला है। ऐसे आकारवाला अद्वितीय अखण्ड आनन्दरूप ब्रह्म का स्वरूप वर्णित है।

अथ छात्रो वदति। भगवन् पादभेदादिकं कथं कथमद्वैतस्वरूपमिति निरूपितम् ॥2॥

देशिकः परिहरति। विरोधो न विद्यते। ब्रह्माद्वितीयमेव सत्यम्। तथैवोक्तं च। ब्रह्मभेदो न कथितो ब्रह्मव्यतिरिक्तं न किञ्चिदस्ति। पादभेदादिकथनं तु ब्रह्मस्वरूपकथनमेव। तदेवोच्यते। पादचतुष्ट-यात्मकं ब्रह्म तत्रैकमविद्यापादं पादत्रयममृतं भवति। शाखाऽन्तरो-पनिषत्स्वरूपमेव निरूपितम् ॥3॥

यह सुनकर शिष्य पूछता है—'हे भगवन्! अलग-अलग पाद-भेद होने पर भी ब्रह्म को अद्वैतस्वरूप से क्यों प्रतिपादित किया गया है?' तब गुरु उसकी शंका का समाधान करते हैं—'इसमें कोई विरोध नहीं है। पारमार्थिक दृष्टि से ब्रह्म तो अद्वितीय ही है। इसी अभिप्राय से कहा गया है कि ब्रह्म में कुछ भी भेद नहीं है। ब्रह्म से अलग कुछ है ही नहीं। जो पाद आदि भेद कहे गए हैं, वे तो ब्रह्म का स्वरूप ही कहा गया है। वही बताया जाता है कि ब्रह्म चार पादों वाला है। उनमें एक अविद्यापाद है, और तीन पाद अमृत हैं। अन्य शाखाओं की उपनिषदों में भी इसी स्वरूप का निरूपण किया गया है।

**तमसस्तु परं ज्योतिः परमानन्दलक्षणम्।
पादत्रयात्मकं ब्रह्म कैवल्यं शाश्वतं परम् ॥4॥**

वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसः परस्तात् ।
तमेवं विद्वानमृत इह भवति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय ॥5॥
सर्वेषां ज्योतिषां ज्योतिस्तमसः परमुच्यते ।
सर्वस्य धातारमचिन्त्यरूपमादित्यवर्णं परंज्योतिस्तमस उपरि
विभाति ॥6॥

तमस से (अविद्या से) परे परमज्योति है। वह परमानन्दरूप लक्षणयुक्त है। तीन पादात्मक ब्रह्म, कैवल्य, सनातन और सबसे परे हैं। मैं उस महान् पुरुष को जानता हूँ, जो आदित्य (सूर्य) जैसे वर्ण (तेज) वाला है और जो तमस से ऊपर उठा है (परे है)। उसी को जानकर मनुष्य मृत्यु का अतिक्रमण कर सकता है। मोक्ष के लिए (शाश्वत स्थान के लिए) अन्य कोई भी मार्ग नहीं है। वह सभी ज्योतियों का भी ज्योति है और तमस् से परे है। वह सर्व का विधाता है, उसका स्वरूप अचिन्त्य है, सूर्य जैसे तेज वाला है, जो तमस् से ऊपर उठकर (तमस् को लांघकर) प्रकाशित हो रहा है।

यदेकमव्यक्तमनन्तरूपं विश्वं पुराणं तमसः परस्तात् ।
तदेवर्तं तदु सत्यमाहुस्तदेव सत्यं तदेव ब्रह्म परमं विशुद्धम् ॥7॥
कथ्यते तमश्शब्देनाविद्या ॥8॥
पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि ।
त्रिपादूर्ध्व उदैत् पुरुषः पादोऽस्येहाभवात् पुनः ।
ततो विष्वङ् व्यक्रामत् साशनाऽनशने अभि ॥9॥
विद्याऽऽनन्दतुरीयाख्यपादत्रयममृतं भवति ।
अवशिष्टमविद्याश्रयमिति ॥10॥

जो एक, अव्यक्त, अनन्तरूपधारी, सर्वस्वरूप पुराण (अत्यन्त पुरातन) और तमस् से परे है, उसी को ऋत और सत्य कहा जाता है। और वही सत्य तथा वही विशुद्ध परब्रह्म कहा जाता है। यहाँ 'तमस्' शब्द से अविद्या कही गई है। ये जो सभी भूत हैं, वे ब्रह्म का एक पाद है। ब्रह्म के जो शेष के तीन पाद हैं, वे अमृतस्वरूप हैं और दिव्यलोक में हैं। तीन पादों वाले वे पुरुष ऊर्ध्वस्थान में उदित हुए हैं, इस लोक में उनका एक पाद था। फिर वह एक पाद चारों ओर विशेष गतिमान हुआ। यह जो चारों ओर अन्नयुक्त और अन्नरहित जो कुछ भी दिखाई दे रहा है, वह उसी का रूप है। विद्या, आनन्द और तुरीय नामक तीन पाद अमृत हैं। शेष एक पाद अमृत के आश्रयवाला है।

आत्मारामस्यादिनारायणस्य कीदृशावुन्मेषनिमेषौ तयोः स्वरूपं कथमिति ॥11॥
गुरुर्वदति। परागदृष्टिरुन्मेषः। प्रत्यग्दृष्टिर्निमेषः। प्रत्यग्दृष्ट्या स्वस्वरूप-चिन्तनमेव निमेषः। परागदृष्ट्या स्वस्वरूपचिन्तमेवोन्मेषः। यावदुन्मेष-कालस्तावन्निमेषकालो भवति। अविद्यायाः स्थितिरुन्मेषकाले निमेष-काले तस्याः प्रलयो भवति। यथा उन्मेषो जायते तथा चिरन्तनाति-सूक्ष्मवासनाबलात् पुनरविद्याया उदयो भवति। यथापूर्वमविद्याकार्याणि जायन्ते। कार्यकारणोपाधिभेदाज्जीवेश्वरभेदोऽपि दृश्यते।
कार्योपाधिरयं जीवः कारणोपाधिरीश्वरः।
ईश्वरस्य महामाया तदाज्ञावशवर्तिनी ॥12॥

शिष्य ने पुनः पूछा—'आत्माराम आदित्यनारायण के नेत्रों का मिलन और उन्मीलन कैसा है? (उनके उन्मेष-निमेष का स्वरूप क्या है?) तब गुरु ने कहा—'बाहर की भेददृष्टि ही उनके नेत्रों का उन्मेष (खुलना) है। और भीतर की अभेददृष्टि नेत्रों का निमेष (बन्द होना) है। प्रत्यक् दृष्टि से –भीतर की अभेददृष्टि से स्वरूप का चिन्तन करना ही निमेष है और पराक् दृष्टि से – बाहर की भेददृष्टि से स्वस्वरूप का चिन्तन करना ही उन्मेष है। जितना उन्मेष काल होता है, उतना ही निमेष काल भी होता है। उन्मेष काल में अविद्या की स्थिति होती है और निमेषकाल में उस स्थिति का प्रलय हो जाता है। जिस प्रकार से उन्मेष होता है, उसी प्रकार से पुरानी अतिसूक्ष्म वासनाओं के बल से फिर से अविद्या का उदय होता है। इसलिए उस समय में पहले की ही तरह से अविद्या के कार्य उत्पन्न होते हैं। कार्य और कारणरूप उपाधि के भेद से जीव और ईश्वर—ऐसा भेद भी दिखाई देता है। कार्य की उपाधिवाला जीव है, और कारण की उपाधिवाला ईश्वर है। ईश्वर की महामाया उनकी आज्ञा के वश में रहने वाली अर्थात् ईश्वर की इच्छानुसार वर्तन करने वाली है।

तत्सङ्कल्पानुसारिणी विविधानन्तमहामायाशक्तिसुसेविता अनन्तमहा-मायाजालजननमन्दिरा महाविष्णोः क्रीडाशरीररूपिणी ब्रह्मादीनामगो-चरा। एतां महामायां तरन्त्येव ये विष्णुमेव भजन्ति। नान्ये तरन्ति कदाचन विविधोपायैरपि ॥13॥

उनके संकल्पों का अनुसरण करने वाली एवं महामाया की (अपनी) विविध और अनन्त शक्तियों से सम्पन्न ऐसी वह अनन्त महामाया अनेक प्रपंचों को उत्पन्न करने का स्थान है। वह महाविष्णु के क्रीडाशरीर का स्वरूप है। वह ब्रह्मादिकों को भी अगम्य है। जो लोग विष्णु को भजते हैं, वे ही इस महामाया को पार कर सकते हैं। अन्य लोग तो कभी इस महामाया को तैर नहीं सकते। विविध प्रकार के उपायों से भी इसे पार नहीं कर सकते।

अविद्याकार्याण्यन्तःकरणान्यतीत्य कालान्यनन्तानि जायन्ते। ब्रह्म-चैतन्यं तेषु प्रतिबिम्बितं भवति। प्रतिबिम्बा एव जीवा इति कथ्यन्ते। अन्तःकरणोपाधिकाः सर्वे जीवा इत्येवं वदन्ति। महाभूतोत्थसूक्ष्माङ्गो-पाधिकाः सर्वे जीवा इत्येके वदन्ति। बुद्धिप्रतिबिम्बितचैतन्यं जीवा इत्यपरे मन्यन्ते। एतेषामुपाधीनामत्यन्तभेदो न विद्यते। सर्वपरिपूर्णो नारायणस्त्वनया निजया क्रीडति स्वेच्छया सदा। तद्वदविद्यमानफल्गु-विषयसुखाशयाः सर्वे जीवाः प्रधावन्त्यसारसंसारचक्रे। एवमनादि-परम्परा वर्ततेऽनादिसंसारविपरीतभ्रमादित्युपनिषत् ॥14॥

इत्याथर्वणमहानारायणोपनिषदि महामायाऽतीताखण्डाद्वैतपरमानन्दलक्षण-परब्रह्मणः परमतत्त्वस्वनिरूपणं नाम चतुर्थोऽध्यायः।

पूर्वकाण्डः समाप्तः।

क्योंकि वे विविध उपायों से अविद्याकार्यरूप अन्तःकरणों को चाहे पार कर भी लें, तो भी एक निश्चित काल के बाद फिर से वे अन्तःकरणों में जन्म लेते हैं, अर्थात् उन अन्तःकरणों में चैतन्य का प्रतिबिम्ब पड़ता है। जीव ब्रह्म के प्रतिबिम्ब ही कहे जाते हैं। सभी जीव अन्तःकरण की उपाधि वाले

हैं, ऐसा विद्वान् लोग कहते हैं। कुछ लोग कहते हैं कि वे सब जीव महाभूतो से उत्पन्न हुए सूक्ष्मशरीररूप उपाधिवाले हैं। और कुछ अन्य लोग ऐसा भी मानते हैं कि बुद्धि में प्रतिबिम्बित हुआ चैतन्य ही जीव है। परन्तु इन उपाधियों में कोई अत्यन्त भेद नहीं है। परिपूर्ण नारायण जिस प्रकार अपनी इच्छा से सभी प्रकार से क्रीडा करते हैं, उसी प्रकार वास्तव में अमन्य और क्षुद्र विषयसुख की इच्छावाले सभी जीव इस असार संसारचक्र में दौड़ा ही करते हैं। इस प्रकार अनादि संसार रूप भ्रम होने के कारण यह अनादि परंपरा चलती ही रहती है। क्योंकि यह अनादि संसार रूप भ्रम बना हुआ है, ऐसा यह उपनिषद् कहती है।

इस प्रकार आथर्वण-महानारायणोपनिषद् में परमतत्त्वस्वनिरूपण नामक चतुर्थ अध्याय समाप्त हुआ।

❋

पञ्चमोऽध्यायः

अथ शिष्यो वदति गुरुं भगवन्तं नमस्कृत्य भगवन् सर्वात्मना नष्टाया अविद्यायाः पुनरुदयः कथम् ॥1॥
सत्यमेवेति गुरुरिति होवाच। प्रावृट्कालप्रारम्भे यथा मण्डूकादीनां प्रादुर्भावस्तद्वत् सर्वात्मना नष्टाया अविद्याया उन्मेषकाले पुनरुदयो भवति ॥2॥

शिष्य ने पुनः गुरु भगवान् को नमस्कार करके पूछा—'हे भगवन्! सब प्रकार से यदि एक बार अविद्या नष्ट हो गई हो, तो भी उसका फिर से उदय क्यों होता है?' तब गुरु ने कहा—'यह बात ठीक है, परन्तु, जैसे वर्षाकाल के आरंभ होते ही मेंढ़कों की उत्पत्ति हो जाती है, वैसे ही सब प्रकार से नष्ट हुई अविद्या का फिर से उदय हो जाता है'।

भगवन् कथं जीवानामनादिसंसारभ्रमः। तन्निवृत्तिर्वा कथमिति। कथं मोक्षमार्गस्वरूपं च। मोक्षसाधनं कथमिति। को वा मोक्षोपायः। कीदृशं मोक्षस्वरूपम्। का वा सायुज्यमुक्तिः। एतत् सर्वं तत्त्वतः कथनीयमिति ॥3॥

इसके बाद शिष्य ने फिर पूछा—'हे भगवन्! जीवों को अनादि संसार का जो भ्रम हुआ है, वह दूर कैसे हो सकता है? मोक्षमार्ग का स्वरूप कैसा है? मोक्ष का साधन क्या है? मोक्ष का उपाय क्या है? मोक्ष का स्वरूप कैसा है? सायुज्य मुक्ति कौन-सी है? यह सब मुझे तत्त्वतः (सही स्वरूप में) कहिए।'

अत्यादरपूर्वकमतिहर्षेण शिष्यं बहूकृत्य गुरुर्वदति—श्रूयतां सावधानेन। कुत्सितानन्तजन्माभ्यस्तात्यन्तोत्कृष्टविविधविचित्रानन्तदुष्कर्मवासनाजालविशेषैर्देहात्मविवेको न जायते। तस्मादेव दृढतरदेहात्मभ्रमो भवति। अहमज्ञः किंचिज्ज्ञोऽहमहं जीवोऽहमत्यन्तदुःखाकारोऽहमनादिसंसारीति भ्रमवासनाबलात् संसार एव प्रवृत्तिः। तन्निवृत्त्युपायः कदाऽपि न विद्यते। मिथ्याभूतान् स्वप्नतुल्यान् विषयभोगाननुभूय विविधानसंख्यानतिदुर्लभान् मनोरथाननवरतमाशास्यमान अतृप्तः सदा

परिधावति। विविधविचित्रस्थूलसूक्ष्मोत्कृष्टनिकृष्टानन्तदेहान् परिगृह्य तत्तद्देहविहितविविधविचित्रानेकशुभाशुभप्रारब्धकर्माण्यनुभूय तत्तत्कर्मफलवासनाजालवासितान्तःकरणानां पुनःपुनस्तत्तत्कर्मफलविषयप्रवृत्तिरेव जायते। संसारनिवृत्तिमार्गप्रवृत्तिरपि न जायते। तस्मादनिष्टमेवेष्टमिव भाति। इष्टमेवानिष्टमिव भात्यनादिसंसारविपरीतभ्रमात्। तस्मात् सर्वेषां जीवानामिष्टविषये बुद्धिः सुखबुद्धिर्दुःखबुद्धिर्भवति। परमार्थतस्त्वबाधितब्रह्मसुखविषये प्रवृत्तिरेव न जायते तत्स्वरूपज्ञानाभावात्। तत्किमिति न विद्यते। कथं बन्धः कथं मोक्ष इति विचाराभावाच्च। तत्कथमिति। अज्ञानप्राबल्यात्। कस्मादज्ञानप्राबल्यमिति। भक्तिज्ञानवैराग्यवासनाऽभावाच्च। तदभावः कथमिति। अत्यन्तान्तःकरणमालिन्यविशेषात् ॥4॥

यह सुनकर अति आदरपूर्वक अतिहर्ष से शिष्य की प्रशंसा करते हुए गुरु बोले—'सावधान होकर सुनो। निन्दनीय और जन्मजन्मान्तर से परिशीलित ऐसी अत्युत्कृष्ट तथा अतिनिन्दनीय विविध, विचित्र, अनन्त दुष्ट कर्मों की तरह-तरह की वासनाओं के कारण देह और आत्मा का विवेक ज्ञान नहीं हो सकता। इसीलिए तो देह के ऊपर आत्मा की मान्यता का अतिदृढ भ्रम उत्पन्न होता है। 'मैं अज्ञानी हूँ', 'मैं अल्पज्ञ हूँ', 'मैं जीव हूँ', 'मैं दुःखों की बड़ी निधि हूँ', 'मैं अनादि संसारी हूँ'—ऐसी-ऐसी भ्रामक वासनाओं के बल से संसार में ही प्रवृत्ति हुआ करती है। इससे इसकी निवृत्ति का उपाय कभी भी देखा (जाना) नहीं जा सकता। स्वप्न जैसे मिथ्या विषयभोगों का अनुभव करके भाँति-भाँति के असंख्य और अतिदुर्लभ मनोरथों की निरन्तर आशा करता हुआ अतृप्त जीव सदैव दौड़ा ही करता है। तरह-तरह के विचित्र स्थूल-सूक्ष्म-उत्तम-अधम-अनन्त देहों को स्वीकार करके उस-उस देह के द्वारा किए गए विविध-विचित्र-अनेक शुभाशुभ प्रारब्ध कर्मों का अनुभव करके, उन-उन कार्यों के फलों की अनेक वासनाओं से जिनके अन्तःकरण वासित हो गए हों, उन लोगों की प्रवृत्ति घूम-घूम कर फिर से वहीं – उन कर्मफलों के विषयों में ही – होती रहती है। परन्तु उनकी प्रवृत्ति कभी भी संसार की निवृत्ति के मार्ग में नहीं होती। इससे उनको अनिष्ट भी इष्ट जैसा मालूम होता है और इष्ट भी अनिष्ट जैसा मालूम होता है। क्योंकि उन्हें अनादिसंसार का विपरीत भ्रम हुआ करता है। इसका कारण यह है कि उन्हें उसके स्वरूप का सच्चा ज्ञान ही नहीं है। और वह क्या है, यह भी वे नहीं जानते। और बन्धन क्यों होता है, और मोक्ष किस प्रकार मिल सकता है, ऐसा विचार तक उन लोगों को नहीं आता। क्योंकि उनमें तो अज्ञान की ही प्रबलता होती है। ऐसे अज्ञान की प्रबलता भी इसलिए होती है कि उनमें भक्ति और ज्ञान की वासना नहीं होती। भक्ति-ज्ञान-वैराग्य की वासना का अभाव भी इसलिए होता है कि उनमें अन्तःकरण की बहुत मलिनता होती है।

अतः संसारतरणोपायः कथमिति ॥5॥
देशिकस्तमेव कथयति। सकलवेदशास्त्रसिद्धान्तरहस्यजन्मजन्माभ्यस्तात्यन्तोत्कृष्टसुकृतपरिपाकवशात् सद्भिः सङ्गो जायते। तस्माद्विधिनिषेधविवेको भवति। ततः सदाचारप्रवृत्तिर्जायते। सदाचारादखिलदुरितक्षयो भवति। तस्मादन्तःकरणमतिविमलं भवति ॥6॥

शिष्य ने पूछा—'तब संसार को पार करने का क्या उपाय है?' तब गुरु कहते हैं—'समग्र

वेदशास्त्रों के सिद्धान्तों के रहस्य से यह समझा जा सकता है कि जन्मजन्मान्तर में आचरण किए गए अतिउत्कृष्ट पुण्य के परिपाक से ही सज्जनों का संग होता है। इससे विधि-निषेध का विवेक होता है। उससे सदाचार में प्रवृत्ति होती है। सदाचार से सभी पापों का नाश होता है और उससे अन्तःकरण अति निर्मल हो जाता है।

ततः सद्गुरुकटाक्षमन्तःकरणमाकाङ्क्षति । तस्मात् सद्गुरुकटाक्षलेश-विशेषेण सर्वसिद्धयः सिद्ध्यन्ति । सर्वबन्धाः प्रविनश्यन्ति । श्रेयोविघ्नाः सर्वे प्रलयं यान्ति । सर्वाणि श्रेयांसि स्वयमेवायान्ति । यथा जात्यन्धस्य रूपज्ञानं न विद्यते तथा गुरूपदेशेन विना कल्पकोटिभिस्तत्त्वज्ञानं न विद्यते । तस्मात् सद्गुरुकटाक्षलेशविशेषेणाचिरादेव तत्त्वज्ञानं भवति ॥7॥

इसके बाद, वह अन्तःकरण सद्गुरु के कृपा-भरे कटाक्ष को चाहता है। सद्गुरु के कृपाकटाक्ष के लेशमात्र से भी सभी सिद्धियाँ प्राप्त हो जाती हैं, सब बन्धन नष्ट हो जाते हैं, कल्याण के मार्ग में आने वाले सभी विघ्न नष्ट हो जाते हैं, सभी कल्याण अपने आप ही प्राप्त हो जाते हैं। जैसे जन्मान्ध मनुष्य को रंग का ज्ञान नहीं होता, वैसे ही गुरु के उपदेश के बिना करोड़ों कल्पों में भी तत्त्वज्ञान नहीं हो सकता। परन्तु सद्गुरु के कृपाकटाक्ष के लेशमात्र से भी तुरंत तत्त्वज्ञान हो जाता है।

यदा सद्गुरुकटाक्षो भवति तदा भगवत्कथाश्रवणध्यानादौ श्रद्धा जायते । तस्माद्धृदयस्थिताऽनादिदुर्वासनाग्रन्थिविनाशो भवति । ततो हृदय-स्थिताः कामाः सर्वे विनश्यन्ति । तस्माद्धृदयपुण्डरीककर्णिकायां परमात्माविर्भावो भवति ॥8॥

जिस समय गुरु का कृपा-कटाक्ष होता है, उस समय भगवान् की कथा के श्रवण, ध्यान, आदि में श्रद्धा उत्पन्न होती है। इसके बाद हृदय में स्थित अनादि दुष्ट वासनाओं की ग्रन्थियाँ नष्ट हो जाती हैं। इससे हृदयस्थित सभी कामनाएँ नष्ट हो जाती हैं। इसके बाद हृदयकमल की कली में परमात्मा का प्राकट्य होता है।

ततो दृढतरा वैष्णवी भक्तिर्जायते । ततो वैराग्यमुदेति । वैराग्याद्बुद्धि-विज्ञानाविर्भावो भवति । अभ्यासात्तज्ज्ञानं क्रमेण परिपक्वं भवति ॥9॥

इसके बाद, अतिशय दृढ विष्णु-भक्ति उत्पन्न होती है। इसके बाद वैराग्य होता है। वैराग्य से बुद्धि में विज्ञान का आविर्भाव होता है। बाद में परिशीलन करते रहने से वह विज्ञान परिपक्व हो जाता है।

पक्वविज्ञानाज्जीवन्मुक्तो भवति । ततः शुभाशुभकर्माणि सर्वाणि सवासनानि नश्यन्ति । ततो दृढतरशुद्धसात्त्विकवासनया भक्त्यतिशयो भवति । भक्त्यतिशयेन नारायणः सर्वमयः सर्वावस्थासु प्रविभाति । सर्वाणि जगन्ति नारायणमयानि प्रविभान्ति । नारायणव्यतिरिक्तं न किञ्चिदस्ति । इत्येतद्बुद्ध्या विहरत्युपासकः सर्वत्र ॥10॥
निरन्तरसमाधिपरंपराभिर्जगदीश्वराकाराः सर्वत्र सर्वावस्थासु प्रविभान्ति । अस्य महापुरुषस्य क्वचित्क्वचिदीश्वरसाक्षात्कारो भवति ॥11॥

परिपक्व ज्ञान से जीवन्मुक्त होता है। इसके बाद वासनाओं के साथ सभी शुभ-अशुभ कर्म नष्ट हो जाते हैं। और उसके बाद अति दृढ और शुद्ध सात्त्विक वासना से भक्ति की अतिशयता प्रकट होती है और भक्ति की अतिशयता से सभी अवस्थाओं में सर्वमय श्रीनारायण प्रकाशित हो उठते हैं। तब यह सारा जगत् श्रीनारायणमय ही दिखाई देता है। और 'नारायण से कुछ भी अलग नहीं है'—ऐसा अनुभव कर वह उपासक सर्वत्र विहार करता है। निरन्तर समाधि की अवस्थाएँ बढ़ती रहने से सभी जगह, सभी अवस्थाओं में जगदीश्वर का स्वरूप दिखाई देता है। उस महापुरुष को कभी-कभी ईश्वर का साक्षात्कार भी होता है।

अस्य देहत्यागेच्छा यदा भवति तदा वैकुण्ठपार्षदाः सर्वे समायान्ति । ततो भगवद्ध्यानपूर्वकं हृदयकमले व्यवस्थितमात्मानं स्वमन्तरात्मानं सञ्चिन्त्य सम्यगुपचारैरभ्यर्च्य हंसमन्त्रमुच्चरन् सर्वाणि द्वाराणि संयम्य सम्यङ् मनो निरुध्य चोर्ध्वगेन वायुना सह प्रणवेन प्रणवानुसंधानपूर्वकं शनैः शनैराब्रह्मरन्ध्राद्विनिर्गत्य सोऽहमिति मन्त्रेण द्वादशान्तस्थित-परमात्मानमेकीकृत्य पञ्चोपचारैरभ्यर्च्य पुनः सोऽहमिति मन्त्रेण षोडशान्तस्थितज्ञानात्मानमेकीकृत्य सम्यगुपचारैरभ्यर्च्य प्राकृतपूर्वदेहं परित्यज्य पुरःकल्पितमन्त्रमयशुद्धब्रह्मतेजोमयनिरतिशयानन्दमयमहा-विष्णुसारूप्यविग्रहं परिगृह्य सूर्यमण्डलान्तर्गतानन्तदिव्यचरणारविन्दा-ङ्गुष्ठनिर्गतनिरतिशयानन्दमयामरनदीप्रवाहमाकृष्य भावनयाऽत्र स्नात्वा वस्त्राभरणाद्युपचारैरात्मपूजां विधाय साक्षान्नारायणो भूत्वा ततो गुरु-नमस्कारपूर्वकं प्रणवगरुडं ध्यात्वा ध्यानेनाविर्भूतमहाप्रणवगरुडं पञ्चो-पचारैराराध्य गुर्वनुज्ञया प्रदक्षिणनमस्कारपूर्वकं प्रणवगरुडमारुह्य महाविष्णोः समस्तासाधारणचिह्नचिह्नितो महाविष्णोः समस्तासाधारण-दिव्यभूषणैर्भूषितः सुदर्शनपुरुषं पुरस्कृत्य विष्वक्सेनपरिपालितो वैकुण्ठपार्षदैः परिवेष्टितो नभोमार्गमाविश्य पार्श्वद्वयस्थितानेकपुण्य-लोकानतिक्रम्य तत्रत्यैः पुण्यपुरुषैरभिपूजितः सत्यलोकमाविश्य ब्रह्माणमभ्यर्च्य ब्रह्मणा च सत्यलोकवासिभिः सर्वैरभिपूजितः शैवमीशानकैवल्यमासाद्य शिवं ध्यात्वा शिवमभ्यर्च्य शिवगणैः सर्वैः शिवेन चाभिपूजितो महर्षिमण्डलानतिक्रम्य सूर्यसोममण्डले भित्त्वा कीलकनारायणं ध्यात्वा ध्रुवमण्डलस्य दर्शनं कृत्वा भगवन्तं ध्रुवमभि-पूज्य ततः शिंशुमारचक्रं विभिद्य शिंशुमारप्रजापतिमभ्यर्च्य चक्रमध्यगतं सर्वाधारं सनातनं महाविष्णुमाराध्य तेन पूजितस्तत उपर्युपरि गत्वा परमानन्दं प्राप्य प्रकाशते ॥12॥

जब उसको शरीर के त्याग की इच्छा होती है, तब वैकुण्ठ के सभी पार्षद उसके स्वागत के लिए सामने आते हैं। तब वह भगवान् का ध्यान करके अपने हृदयस्थ अन्तरात्मा का चिन्तन करता है, और बाद में सुचारु रीति से उपचारों के द्वारा उनका पूजन करता है। हंसमन्त्र का उच्चारण करता हुआ वह सभी इन्द्रियरूपी द्वारों को बन्द कर देता है। मन को ठीक तरह से वश में लाता है। बाद में ऊर्ध्वगतिवाले प्राणवायु के साथ प्रणवमन्त्र के अनुसन्धानपूर्वक धीरे-धीरे ब्रह्मरन्ध्र से बाहर

निकलता है। बाद में 'सोऽहं' इस मन्त्र से बारह इन्द्रियों की पश्चाद् भू में अवस्थित परमात्मा के साथ, अपने आत्मा को एक करके पंचोपचार से उनकी पूजा करता है, और बाद में पुनः 'सोऽहं' इस मन्त्र से सोलह इन्द्रियों के पीछे अवस्थित ज्ञानात्मा को अपने आत्मा के साथ एकीकृत करके यथोचित उपचारों से उनकी पूजा करके प्राकृत पूर्वदेह का त्याग करता है। बाद में कल्पित मन्त्रमय और शुद्ध ब्रह्म के तेजोमय-निरतिशय-आनन्दमय महाविष्णु के समान रूपवाले शरीर को स्वीकार करता है। इसके बाद, सूर्यमण्डल के भीतर अवस्थित अनन्त भगवान् के दिव्य चरणकमल के अंगुष्ठ से निकली हुई निरतिशय आनन्दमय अलौकिक नदी के प्रवाह को आकर्षित करके भावनापूर्वक उसमें स्नान करता है। इसके बाद वस्त्रालंकार आदि उपचारों से अपने आत्मा की पूजा करके साक्षात् नारायणस्वरूप हो जाता है। बाद में गुरु-नमस्कारपूर्वक प्रणवरूप गरुड का ध्यान करता है। ऐसा ध्यान करने से प्रणवरूप गरुड वहाँ प्रकट होते हैं। अत: पंच उपचारों से प्रणवगरुड की पूजा करके गुरु की अनुज्ञा से उसकी प्रदक्षिणा, नमस्कार आदि करके उसपर सवार होता है। बाद में महाविष्णु के सभी असाधारण चिह्नों से युक्त होकर वह महाविष्णु के सभी असाधारण भूषणों से भूषित होता है। उसके बाद, सुदर्शन पुरुष को आगे करके वह विष्वक्सेन भगवान् से रक्षित होते हुए और वैकुण्ठ के पार्षदों से आवृत होकर आकाशमार्ग में प्रवेश करता है। वहाँ अपने दोनों ओर स्थित अनेक पवित्र लोकों का अतिक्रमण करके, वहाँ के पवित्र पुरुषों के द्वारा पूजित होकर सत्यलोक में प्रवेश करता है। वहाँ वह ब्रह्मा की पूजा करता है। इसलिए ब्रह्मा और सत्यलोकवासी लोग उसकी भी पूजा सामने से करते हैं। इसके बाद शिव के ईशान कैवल्यधाम में वह पहुँचता है। वहाँ शिव का ध्यान करके वह शिव की पूजा करता है। इसलिए सामने से शिव स्वयं और शिव के सभी गण भी उसकी प्रतिपूजा करते हैं। इसके बाद वह सभी महर्षियों के मण्डलों का अतिक्रमण करके सूर्यमण्डल और चन्द्रमण्डल से भी आगे जाकर कीलकनारायण (सभी के केन्द्र अर्थात् मध्य में स्थित खूँटा या आधार) का ध्यान करके ध्रुवमण्डल के दर्शन करता है। फिर भगवान् ध्रुव की पूजा करके वहाँ से शिंशुमार चक्र में प्रवेश करता है। वहाँ वह शिंशुमार प्रजापति की पूजा करके उस चक्र के बीच में स्थित सर्वाधार सनातन महाविष्णु की आराधना करता है। इससे उन महाविष्णु के द्वारा भी सामने से प्रतिपूजित होकर वह ऊपर से भी ऊपर जाते हुए परमानन्द को प्राप्त करके प्रकाशित होता है।

ततो वैकुण्ठवासिनः सर्वे समायान्ति। तान् सर्वान् सुसम्पूज्य तैः सर्वैरभिपूजितश्चोपर्युपरि गत्वा विरजानदीं प्राप्य तत्र स्नात्वा भगवद्ध्यानपूर्वकं पुनर्निमज्ज्य तत्रापञ्चीकृतभूतोत्थसूक्ष्माङ्गं भोगसाधनं सूक्ष्मशरीरमुत्सृज्य केवलमन्त्रमयदिव्यतेजोमयनिरतिशयानन्दमयमहाविष्णुसारूप्यविग्रहं परिगृह्य तत उन्मज्ज्यात्मपूजां विधाय प्रदक्षिणनमस्कारपूर्वकं ब्रह्ममयवैकुण्ठमाविश्य तत्रत्यान् विशेषेण सम्पूज्य तन्मध्ये च ब्रह्मानन्दमयानन्तप्राकारप्रासादतोरणविमानोपवनावलिभिर्ज्वलच्छिखरैरुपलक्षितो निरुपमनित्यनिरवद्यनिरतिशयनिरवधिकब्रह्मानन्दाचलो विराजते ॥13॥

इसके बाद सब वैकुण्ठवासी उसके सामने स्वागत करने के लिए आते हैं। इसलिए वह उन सभी की अच्छी तरह से पूजा करता है। तब वे सब भी उसकी प्रतिपूजा करते हैं। फिर वहाँ से ऊपर ही ऊपर जाते हुए वह विरजा नाम की नदी पर पहुँचता है। उसमें स्नान करने के बाद भगवान् का नाम

लेकर फिर से उसमें एक डुबकी लगाकर अपंचीकृत भूतों से उत्पन्न हुए सूक्ष्म अंगभोग के साधनरूप सूक्ष्म शरीर का उसमें त्याग कर देता है। बाद में केवलमन्त्रमय, दिव्यतेजोमय और निरतिशय आनन्दमय महाविष्णु के समान स्वरूपवाले शरीर को स्वीकार करके उस नदी में से बाहर निकलकर आत्मा की पूजा करने के बाद ब्रह्ममय वैकुण्ठधाम में प्रदक्षिणा और नमस्कार करके प्रवेश करता है। फिर वहाँ के निवासियों की पूजा करता है। उस धाम के बीच ब्रह्मानन्दमय नाम का एक पर्वत शोभित हो रहा है, जो ब्रह्मानन्दमय, अनेक किलों वाला है, अनेक महलों, तोरणों, विमानों तथा बाग-बगीचों की पंक्तियों से प्रकाशित शिखरों वाला है। वह पर्वत नित्य, निर्दोष, निरतिशय और निरवधि रूप से विराजमान है।

तदुपरि ज्वलति निरतिशयानन्ददिव्यतेजोराशिः। तदभ्यन्तरसंस्थाने शुद्धबोधानन्दलक्षणं विभाति। तदन्तराले चिन्मयवेदिका आनन्दवेदिका आनन्दवनविभूषिता। तदभ्यन्तरे अमिततेजोराशिस्तदुपरि ज्वलति। परममङ्गलासनं विराजते। तत्पद्मकर्णिकायां शुद्धशेषो भोगासनं विराजते। तस्योपरि समासीनमानन्दपरिपालकमादिनारायणं ध्यात्वा तमीश्वरं विविधोपचारैराराध्य प्रदक्षिणनमस्कारान् विधाय तदनुज्ञातश्चोपर्युपरि गत्वा पञ्चवैकुण्ठानतीत्याण्डविराट्कैवल्यं प्राप्य तं समाराध्योपासकः परमानन्दं प्राप्येत्युपनिषत् ॥14॥

इत्याथर्वणमहानारायणोपनिषदि संसारतरणोपायकथनद्वारा परममोक्षमार्गस्वरूपनिरूपणं नाम पञ्चमोऽध्यायः।

उसके ऊपर निरतिशय आनन्दस्वरूप दिव्य तेजोराशि प्रकाशित हो रहा है। उसके बीच के स्थान में शुद्ध ज्ञान तथा आनन्द का लक्षण प्रकाशित है। और उसके बीच चैतन्यमय वेदिका है। वह आनन्दमय पीठिका और आनन्दमय वन से सुशोभित है। उसके ऊपर मध्य भाग में अमित तेजोराशि प्रकाशित हो रहा है, उस पर मंगलमय आसन शोभित है। उस आसनरूप कमल की कली में शुद्ध शेष भगवान् के शरीररूपी आसन विराजित है। उस आसन पर आनन्दपरिपालक आदिनारायण बैठे हुए हैं। उस ईश्वर का ध्यान करके उपासक विविध उपचारों से उनका आराधन करता है। बाद में उनकी प्रदक्षिणा और नमस्कार करके उनकी अनुमति प्राप्त करके ऊपर ही ऊपर जाते हुए पाँच वैकुण्ठधामों का अतिक्रमण करके अण्डविराट् नाम के कैवल्यपद को प्राप्त करता है। वहाँ उनका आराधन करके उपासक परमानंद को प्राप्त करता है, ऐसा यह उपनिषद् कहती है।

इस प्रकार आथर्वण-महानारायणोपनिषद् में परमतत्त्वस्वनिरूपण नामक पञ्चम अध्याय समाप्त हुआ।

❋

षष्ठोऽध्यायः

तत उपासकः परमानन्दं प्राप। सावरणं ब्रह्माण्डं च भित्त्वा परितः समवलोक्य ब्रह्माण्डस्वरूपं निरीक्ष्य परमार्थतस्तत्स्वरूपं ब्रह्मज्ञानेनावबुध्य समस्तवेदशास्त्रेतिहासपुराणानि समस्तविद्याजालानि ब्रह्मादयः

सुराः सर्वे समस्ताः परमर्षयश्चाण्डाभ्यन्तरप्रपञ्चैकदेशमेव वर्णयन्ति। अण्डस्वरूपं न जानन्ति। ब्रह्माण्डाद्बहिः प्रपञ्चज्ञानं न जानन्त्येव। कुतोऽण्डान्तरान्तर्बहिः प्रपञ्चज्ञानं दूरतो मोक्षप्रपञ्चज्ञानमविद्याप्रपञ्चज्ञानं चेति ॥1॥

कथं ब्रह्माण्डस्वरूपमिति ॥2॥

अब जहाँ वह उपासक परमानन्द को प्राप्त हुआ होता है, वहाँ वह आवरणसहित ब्रह्माण्ड को भेदकर उसके चारों ओर देखकर वह ब्रह्माण्ड के स्वरूप का निरीक्षण करता है। इससे पारमार्थिक रूप से वह ब्रह्मज्ञान के द्वारा उसके स्वरूप को समझ सकता है। सभी वेद, शास्त्र, पुराण, इतिहास, सभी विद्याओं के समूह, ब्रह्मादि देव और सब महर्षि—ये सब तो ब्रह्माण्ड के भीतर स्थित प्रपंच के केवल एक भाग का ही (एक प्रदेश विशेष का ही) वर्णन करते हैं। पूरे ब्रह्माण्ड का वर्णन वे जानते नहीं है। क्योंकि ब्रह्माण्ड के बाहर के प्रपंच का ज्ञान तो उन्हें है ही नहीं। क्योंकि ब्रह्माण्ड के बीच, भीतर और बाहर का जो प्रपंचज्ञान है, और उससे भी दूर मोक्षप्रपंचज्ञान और अविद्याप्रपंचज्ञान है। इसलिए ब्रह्माण्ड के पूरे स्वरूप को तो वे भला कैसे पहचान पाएँगे ?

कुक्कुटाण्डाकारं महदादिसमष्ट्याकारमण्डं तपनीयमयं तप्तजाम्बूनदप्रभमुद्यत्कोटिदिवाकराभं चतुर्विधसृष्ट्युपलक्षितं महाभूतैः पञ्चभिरावृतं महदहंकृतितमोभिश्च मूलप्रकृत्या परिवेष्टितम् ॥3॥

अण्डभित्तिविशालं सपादकोटियोजनप्रमाणम्। एकैकावरणं तथैव ॥4॥

अण्डप्रमाणं परितोऽयुतद्वयकोटियोजनप्रमाणं महामण्डूकाद्यनन्तशक्तिभिरधिष्ठितं नारायणक्रीडाकन्तुकं परमाणुवद्विष्णुलोकसुसंलग्नमदृष्टाश्रुतविविधविचित्रानन्तविशेषैरुपलक्षितम् ॥5॥

यह ब्रह्माण्ड मुर्गी के अण्डे के आकार जैसा है। महत्तत्त्व आदि समष्टि के आकारवाला है। सुवर्णमय है, तपाए हुए सोने जैसी कान्तिवाला है, उदीयमान करोड़ों सूर्य जैसे प्रकाशवाला है, चार प्रकार की सृष्टि से युक्त है, पाँच महाभूतों से आवृत है, तथा चारों ओर महत्तत्त्व, अज्ञान, अहंकार और मूल प्रकृति से घिरा हुआ है। इस ब्रह्माण्ड की दीवार की विशालता सवा करोड़ योजन के प्रमाण की है, एवं उसका एक-एक आवरण भी उतने ही प्रमाण का है। पूरे ब्रह्माण्ड का प्रमाण चारों ओर से दो करोड़ योजन के प्रमाण में है। महामण्डूक आदि अनेक अनन्त शक्तियों से वह आश्रित है। नारायण को खेलने की गेंद की तरह वह है। परमाणु की तरह वह विष्णुलोक से संलग्न (लगा हुआ) है, और किसी के द्वारा अनदेखी और अनसुनी अनेक तरह की विशेषताओं से वह युक्त है।

अस्य ब्रह्माण्डस्य समन्ततः स्थितान्येतादृशान्यनन्तकोटिब्रह्माण्डानि सावरणानि ज्वलन्ति ॥6॥

चतुर्मुखपञ्चमुखषण्मुखसप्तमुखाष्टमुखादिसंख्याक्रमेण सहस्रावधिमुखान्तैर्नारायणांशैः रजोगुणप्रधानैरेकैकसृष्टिकर्तृभिरधिष्ठितानि विष्णुमहेश्वराख्यैर्नारायणांशैः सत्त्वतमोगुणप्रधानैरेकैकस्थितिसंहारकर्तृभिरधिष्ठितानि महाजलौघमत्स्यबुद्बुदानन्तसङ्घवद् भ्रमन्ति ॥7॥

क्रीडासक्तजालककरतलामलकवृन्दवन्महाविष्णोः करतले विलसन्त्यनन्तकोटिब्रह्माण्डानि ॥8॥

जलयन्त्रस्थघटमालिकाजालवन्महाविष्णोरेकैकरोमकूपान्तरेष्वनन्तकोटिब्रह्माण्डानि सावरणानि भ्रमन्ति ॥9॥

इस ब्रह्मांड के चारों ओर ऐसे अनन्त करोड़ों ब्रह्माण्ड आवरणसहित प्रकाशित हो रहे हैं। उनमें चतुर्मुखी, पंचमुखी, षण्मुखी, सप्तमुखी, अष्टमुखी आदि संख्यात्मक मुखवाले से लेकर सहस्रमुखी नारायण के अंश प्रतिष्ठित हैं। उनमें रजोगुण मुख्य होता है। वे सब एक-एक सृष्टि को रचने वाले हैं और उनमें विष्णु तथा महेश्वर नाम के नारायण के अंश भी स्थित हैं। वे अंश सत्त्वगुण तथा तमोगुण की प्रधानता वाले होते हैं, तथा एक-एक स्थिति तथा एक-एक संहार के करने वाले होते हैं। वे अनन्तकोटि ब्रह्माण्ड बड़े जलप्रवाह में रहते हुए मत्स्यों और बुद्बुदों की तरह भ्रमण किया करते हैं। और क्रीडा में तल्लीन किसी बालक की हथेली में रखे हुए आँवला के फलों की तरह महाविष्णु की हथेली में शोभित होते हैं। और पानी खींचने के यन्त्र (रेंहट) में लगी हुई घटमाल की तरह से अनन्तकोटि ब्रह्माण्ड महाविष्णु के प्रत्येक रोम में (प्रत्येक रोमछिद्र में) आवरणों के साथ घूमते रहते हैं।

समस्तब्रह्माण्डान्तर्बहिः प्रपञ्चरहस्यं ब्रह्मज्ञानेनावबुध्य विविधविचित्रानन्तपरमविभूतिसमष्टिविशेषान् समवलोक्यात्याश्चर्यामृतसागरे निमज्ज्य निरतिशयानन्दपारावारो भूत्वा समस्तब्रह्माण्डजालानि समुल्लङ्घ्यामितापरिच्छिन्नानन्ततमःसागरमुत्तीर्य मूलाविद्यापुरं दृष्ट्वा विविधविचित्रानन्तमहामायाविशेषैः परिवेष्टिताम् अनन्तमहामायाशक्तिसमष्ट्याकाराम् अनन्तदिव्यतेजोज्वालाजालैरलंकृताम् अनन्तमहामायाविलासानां परमाधिष्ठानविशेषाकारां शश्वदमितानन्दाचलोपरि विहारिणीं मूलप्रकृतिजननीम् अविद्यालक्ष्मीमेवं ध्यात्वा विविधोपचारैराराध्य समस्तब्रह्माण्डसमष्टिजननीं वैष्णवीं महामायां नमस्कृत्य तया चानुज्ञातश्चोपर्युपरि गत्वा महाविराट्पदं प्राप ॥10॥

उन समस्त ब्रह्माण्डों के भीतर और बाहर के प्रपंचों का मर्म ब्रह्मज्ञान के द्वारा जानकर वह उपासक विविध प्रकार की विचित्र और अनन्तश्रेष्ठ विभूतियों के समष्टिविशेषों को देखकर अति आश्चर्यकारक आनन्दसागर में अवगाहित होता है (मग्न हो जाता है) और बाद में निरतिशय आनन्द का स्वरूप बनकर सभी ब्रह्माण्डों के समूहों का अतिक्रमण करके अमाप-अनन्त-अगाध अज्ञानसागर से परे (पार करके ऊपर) सामने वाले तीर पर पहुँचकर मूल अविद्यानगर के दर्शन करता है। बाद में, वहाँ अनेक प्रकार से अद्भुत तथा अनेक भाँति की महामायाओं से आवृत, अनेक महामायाओं की शक्तिसमष्टि रूप आकारवाली, अनन्त दिव्य तेज की ज्वालाओं के समूहों से शोभित, अनन्त महामायाओं के विलासों के परम अधिष्ठानरूप, विशिष्ट आकृतिवाली, सनातनकालीन अप्रमेय आनन्दरूप पर्वत पर विहार करने वाली, प्रकृति की माता ऐसी श्रीअविद्यालक्ष्मी का चिन्तन करके, विविध उपचारों से उनकी पूजा करके समस्त ब्रह्माण्डों की समष्टि-जननी वैष्णवी महामाया को नमस्कार करता है। बाद में वह उनकी अनुमति लेकर वहाँ से भी ऊपर ही ऊपर जाते हुए महाविराट् के स्थान में पहुँचता है।

महाविराट्स्वरूपं कथमिति ॥11॥

समस्ताविद्यापादको विराट् ॥12॥

विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतोमुखो विश्वतोहस्त उत विश्वतस्पात् ।
सं बाहुभ्यां नमति सं पतत्रैर्द्यावापृथिवी जनयन् देव एकः ॥13॥
न सन्दृशे तिष्ठति रूपमस्य न चक्षुषा पश्यति कश्चनैनम् ।
हृदा मनीषा मनसाऽभिक्लृप्तो य एनं विदुरमृतास्ते भवन्ति ॥14॥
मनोवाचामगोचरमादिविराट्स्वरूपं ध्यात्वा विविधोपचारैराराध्य तदनुज्ञातश्चोपर्युपरि गत्वा विविधविचित्रानन्तमूलाविद्याविलासानवलोक्योपासकः परमकौतुकं प्राप ॥15॥

'उस महाविराट् का स्वरूप कैसा है' ?—समस्त अविद्याओं का पाद ही विराट् है। चारों ओर आँखों वाला, चारों ओर मुख वाला, चारों ओर हाथों वाला और चारों ओर पैरों वाला वह देव है। वह विराट् देव मनुष्यों को दो हाथों से युक्त बनाता है, और पक्षियों को दो पंखों से युक्त बनाता है। स्वर्ग और पृथ्वी को भी वही उत्पन्न करता है। उस विराट्देव का स्वरूप दृष्टि का विषय नहीं बनता। इसलिए नेत्रों से वह देखा नहीं जा सकता ऐसे उन महान् देव की कल्पना हृदय से, मन से और बुद्धि से की गई है। जो लोग इस प्रकार जानते हैं, वे अमर हो जाते हैं। इस प्रकार मन और वाणी के अविषय ऐसे उन आदि विराट् के स्वरूप का ध्यान करके, विविध उपचारों से उनकी पूजा करने के बाद, उनकी अनुमति लेकर साधक वहाँ से भी ऊपर (आगे) बढ़ता है और वहाँ अनेक प्रकार से अद्भुत और अनन्त ऐसी मूल अविद्या के विलासों को देखकर वह साधक परम आश्चर्य को प्राप्त करता है।

अखण्डपरिपूर्णपरमानन्दलक्षणपरब्रह्मणः समस्तस्वरूपविरोधकारिणी अपरिच्छिन्नतिरस्करिण्याकारा वैष्णवी महायोगमाया मूर्तिमद्भिरनन्तमहामायाजालविशेषैः परिषेविता । तस्याः पुरमतिकौतुकमत्याश्चर्यसागरानन्दलक्षणममृतं भवति । अविद्यासागरप्रतिबिम्बितनित्यवैकुण्ठप्रतिवैकुण्ठमिव विभाति ॥16॥

क्योंकि वह वैष्णवी महायोगमाया अखण्ड परिपूर्ण परमानन्दस्वरूप लक्षणवाले, परब्रह्म के समस्त स्वरूप का विरोध करने वाली है। वह अपरिच्छिन्न (अमेय) पर्दे जैसे आकारवाली है। मूर्तिधारिणी और अनेक विविध महामायाएँ चारों ओर उसकी सेवा कर रही होती हैं। उसका नगर बड़ा ही कौतुक उत्पन्न करने वाला है और वह अनन्त आश्चर्य के सागर जैसा आनन्दमय लक्षणयुक्त है इसलिए अमर है। वह अविद्यारूपी सागर में प्रतिबिम्बित हुए नित्य वैकुण्ठ के सामने मानों दूसरा वैकुण्ठ खडा हुआ हो, ऐसा मालूम पड़ता है।

उपासकस्तत्पुरं प्राप्य योगलक्ष्मीमङ्गमायां ध्यात्वा विविधोपचारैराराध्य तया सम्पूजितश्चानुज्ञातश्चोपर्युपरि गत्वा अनन्तयोगमायाविलासानवलोक्योपासकः परमकौतुकं प्राप ॥17॥

उपासक उस नगर में पहुँचकर अंगमाया योगलक्ष्मी का ध्यान करता है। और विविध उपचारों से उनकी पूजा करता है। बाद में उनकी अनुमति लेकर वहाँ से भी ऊपर ही ऊपर जाता है। वहाँ अनन्त माया के विलासों को देखकर उपासक को बड़ा कौतुक प्राप्त होता है।

तत उपरि पादविभूतिवैकुण्ठपुरमाभाति । अत्याश्चर्यानन्तविभूतिसमष्ट्याकारम् आनन्दरसप्रवाहैरलङ्कृतम् अमिततरङ्गिण्याः प्रवाहैरतिमङ्गलं ब्रह्मतेजोविशेषाकारैरनन्तब्रह्मवनैरभितस्ततम् अनन्तनित्यमुक्तैरभिव्याप्तम् अनन्तचिन्मयप्रासादजालसङ्कुलम् अनादिपादविभूतिवैकुण्ठमेवमाभाति । तन्मध्ये च चिदानन्दाचलो विभाति ॥18॥

बाद में उसके ऊपर पादविभूति नाम का वैकुण्ठ शोभित है। वह अत्यन्त आश्चर्यमय अनन्त समष्टि विभूतियों के आकारवाला है। आनन्दरस के प्रवाहों से वह अलंकृत है। उसके चारों ओर उस आनन्दमयी नदी के प्रवाहों के कारण वह अति मंगलमय है। ब्रह्मतेज के विशेष आकाररूप अनन्त ब्रह्मवनों से वह चारों ओर से व्याप्त है। अनन्त नित्यमुक्तों से वह चारों ओर से घिरा हुआ है। अनन्त चैतन्यमय महलों के कारण वह संकुल (सिकुड़ा) हुआ-सा है। ऐसा वह अनादिपाद विभूति वैकुण्ठनगर शोभित हो रहा है। उसके बीच एक चिदानन्द नाम का पर्वत प्रकाशित है।

तदुपरि ज्वलति निरतिशयानन्ददिव्यतेजोराशिः । तदभ्यन्तरे परमानन्दविमानं विभाति । तदभ्यन्तरसंस्थाने चिन्मयासनं विराजते । तत्पद्मकर्णिकायां निरतिशयदिव्यतेजोराश्यन्तरसमासीनम् आदिनारायणं ध्यात्वा विविधोपचारैस्तं समाराध्य तेनाभिपूजितस्तदनुज्ञातश्चोपर्युपरि गत्वा सावरणमविद्याऽण्डं च भित्त्वाऽविद्यापादमुल्लङ्घ्य विद्याऽविद्ययोः सन्धौ विष्वक्सेनवैकुण्ठपुरमाभाति ॥19॥

उस पर्वत के ऊपर निरतिशय आनन्दस्वरूप दिव्य तेज की एक राशि प्रज्वलित हो रही है। उसके भीतर परमानन्द नाम का एक विमान है। उसके भीतर के उत्तम स्थान में एक चैतन्यमय आसन शोभित हो रहा है। उस आसनरूपी कमल की कली में निरतिशय दिव्य तेज की राशि के बीच श्रीआदिनारायण बैठे हुए हैं। उनका ध्यान करके विविध उपचारों से साधक उनकी पूजा करता है। भगवान् भी सामने से उसकी पूजा करते हैं। और बाद में वह उपासक उनकी भी अनुमति लेकर वहाँ से भी ऊपर ही ऊपर अविद्या वाले ब्रह्माण्ड को आवरण के साथ ही भेदकर अविद्या के पद को भी अतिक्रान्त कर देता है। वहाँ विद्या और अविद्या की सन्धि में विश्वक्सेन नाम का वैकुण्ठ शोभायमान है।

अनन्तदिव्यतेजोज्वालाजालैरभितोऽनिशं प्रज्वलन्तम् अनन्तबोधानन्दव्यूहैरभितस्ततं शुद्धबोधविमानावलिभिर्विराजितम् अनन्तानन्दपर्वतैः परमकौतुकमाभाति । तन्मध्ये च कल्याणाचलोपरि शुद्धानन्दविमानं विभाति । तदभ्यन्तरे दिव्यमङ्गलासनं विराजते । तत्पद्मकर्णिकायां ब्रह्मतेजोराश्यभ्यन्तरसमासीनं भगवदनन्तविभूतिविधिनिषेधपरिपालकं सर्वप्रवृत्तिसर्वहेतुनिमित्तकं निरतिशयानन्दलक्षणमहाविष्णुस्वरूपम् अखिलापवर्गपरिपालकम् अमितविक्रमम् एवंविधं विष्वक्सेनं ध्यात्वा प्रदक्षिणनमस्कारान् विधाय विविधोपचारैराराध्य तदनुज्ञातश्चोपर्युपरि गत्वा विद्याविभूतिं प्राप्य विद्यामयान् अनन्तवैकुण्ठान् परितोऽवस्थितान् ब्रह्मतेजोमयानवलोक्योपासकः परमानन्दं प्राप ॥20॥

वह नगर अनन्त दिव्य तेज की ज्वालाओं से चारों ओर व्याप्त होकर प्रकाशित हो रहा है। अनन्त ज्ञान के भी भीतर के ज्ञान (रहस्य-मर्म) के आनन्द के व्यूहों से वह व्याप्त है। शुद्ध ज्ञानमय विमानों की पंक्तियों से वह शोभित है, और अनन्त आनन्दमय पर्वतों से परम कौतुकरूप में वह देदीप्यमान है। उसके बीच में कल्याण नाम का एक पर्वत स्थित है। उसके ऊपर शुद्ध आनन्द नाम का विमान शोभायमान है। उसके भीतर एक दिव्य मंगलमय आसन सुशोभित है। उस आसनरूपी कमल की कली में ब्रह्मतेज की राशि है। उसके भीतर निरतिशय लक्षणयुक्त महाविष्णु का स्वरूप प्रतिष्ठित है। वह स्वरूप भगवान् की अनन्तविभूतिरूप विधिनिषेध का सर्व प्रकार से पालन करता है। सभी प्रवृत्तियों के सभी हेतुओं का वह स्वरूप निमित्त है। वे महाविष्णु संपूर्ण मोक्ष के परिपालक हैं और अप्रमेय पराक्रमशाली हैं। इस प्रकार के उन विश्वक्सेन का ध्यान करके, प्रदक्षिणा और नमस्कार करके और उनकी पूजा करके उनकी अनुमति लेकर उपासक वहाँ से और भी ऊपर ही ऊपर जाता है और अविद्याविभूति में पहुँचता है। वहाँ विद्यामय और वैकुण्ठों के चारों ओर फैले हुए ब्रह्मतेजोमय स्वरूप को देखकर वह उपासक परम आनन्द को प्राप्त करता है।

विद्यामयान् अनन्तसमुद्रान् अतिक्रम्य ब्रह्मविद्यातरङ्गिणीमासाद्य तत्र स्नात्वा भगवद्ध्यानपूर्वकं पुनर्निमज्ज्य मन्त्रमयशरीरमुत्सृज्य विद्या-ऽऽनन्दमयामृतदिव्यशरीरं परिगृह्य नारायणसारूप्यं प्राप्य आत्मपूजां विधाय ब्रह्ममयवैकुण्ठवासिभिः सर्वैर्नित्यमुक्तैः सुपूजितस्ततो ब्रह्म-विद्याप्रवाहैरानन्दरसनिर्भरैः क्रीडानन्तपर्वतैरनन्तैरभिव्याप्तं ब्रह्मविद्या-मयैः सहस्रं प्राकारैरानन्दामृतमयैर्दिव्यगन्धस्वभावैश्चिन्मयैरनन्तब्रह्म-वनैरतिशोभितमुपासकस्त्वेवंविधं ब्रह्मविद्यावैकुण्ठमाविश्य तदभ्य-न्तरस्थितात्यन्तोन्नतबोधानन्दप्रासादाग्रस्थितप्रणवविमानोपरिस्थिताम् अपारब्रह्मविद्यासाम्राज्याधिदेवताम् अमोघनिजमन्दकटाक्षेणाऽनादि-मूलाविद्याप्रलयकरीम् अद्वितीयाम् एकाम् अनन्तमोक्षसाम्राज्यलक्ष्मीमेवं ध्यात्वा प्रदक्षिणनमस्कारान् विधाय विविधोपचारैराराध्य पुष्पाञ्जलिं समर्प्य स्तुत्वा स्तोत्रविशेषैस्तयाऽभिपूजितस्तदनुज्ञातश्चोपर्युपरि गत्वा ब्रह्मविद्यातीरे गत्वा बोधानन्दमयानन्तवैकुण्ठानवलोक्य निरतिशया-नन्दं प्राप्य बोधानन्दमयानन्तसमुद्रानतिक्रम्य गत्वागत्वा ब्रह्मवनेषु परममङ्गलाचलश्रेणिषु ततो बोधानन्दविमानपरम्परासूपासकः परमानन्दं प्राप ॥21॥

तत्पश्चात् विद्यामय अनन्त समुद्रों को लाँघकर 'ब्रह्मविद्या' नाम की नदी पर जाकर उसमें स्नान करता है। फिर भगवान् का ध्यान करते हुए फिर से उसमें डुबकी लगाकर मन्त्रमय शरीर का त्याग करके विद्या के आनन्दमय अमर दिव्य शरीर को स्वीकार करता है। और बाद में नारायण के समान स्वरूप को प्राप्त करता है और आत्मा की पूजा करता है। इसके बाद, ब्रह्ममय वैकुण्ठ में बसने वाले सभी नित्यमुक्त लोग उसकी अच्छी तरह से पूजा करते हैं। फिर आनन्दरस से परिपूर्ण, ब्रह्मविद्या के प्रवाहों से तथा क्रीडायोग्य असंख्य पर्वतों से व्याप्त तथा ब्रह्मविद्यामय हजारों किलों से युक्त, आनन्दमय, अमृतमय दिव्य गन्ध के सहजगुण वाले, चैतन्यमय अनन्त ब्रह्म भवनों से अतिशोभायमान ऐसे 'ब्रह्मविद्या' नाम के वैकुण्ठधाम में साधक प्रवेश करता है। और उसके भीतर प्रतिष्ठित अनन्त

मोक्षसाम्राज्य की लक्ष्मी का इस प्रकार ध्यान करता है। और बाद में प्रदक्षिणा, नमस्कारादि करके, विविध उपचारों से उनकी पूजा करके पुष्पों की अंजलि देता है, और विविध स्तोत्रों से उनकी स्तुति करता है। इसलिए वह देवी भी उस साधक की प्रतिपूजा करती हैं और उसका अनुसरण करती हैं। फिर वहाँ से भी ऊपर ही ऊपर जाते हुए वह ब्रह्मविद्या के तीर पर पहुँचता है। और वहाँ ज्ञानमय तथा आनन्दमय अनंत वैकुण्ठों के दर्शन करता है। फिर निरतिशय आनन्द को प्राप्त करके ज्ञान तथा आनन्दमय अनेक समुद्रों को पार करके परममंगल नाम के पर्वत के बीच के भागों में जो ब्रह्मवन आए हुए हैं, वहाँ जाता है। और वहाँ ज्ञान तथा आनन्दमय विमानों की परंपरा में वह उपासक परम आनन्द प्राप्त करता है।

ततः श्रीतुलसीवैकुण्ठपुरमाभाति परमकल्याणम् अनन्तविभवम् अमिततेजोराश्याकारम् अनन्तब्रह्मतेजोराशिसमष्ट्याकारं चिदानन्दमया-नेकप्राकारविशेषैः परिवेष्टितम् अमितबोधानन्दाचलोपरिस्थितं बोधा-नन्दतरङ्गिण्याः प्रवाहैरतिमङ्गलं निरतिशयानन्दैरनन्तवृन्दावनैरति-शोभितम् अखिलपवित्राणां परमपवित्रं चिद्रूपैरनन्तनित्यमुक्तैरत्यभि-व्याप्तम् आनन्दमयानन्तविमानजालैरलंकृतम् अमिततेजोराश्यन्तर्गत-दिव्यतेजोराशिविशेषम् ॥22॥

उपासकस्त्वेवमाकारं तुलसीवैकुण्ठं प्रविश्य तदन्तर्गतदिव्यविमानो-परिस्थितां सर्वपरिपूर्णस्य महाविष्णोः सर्वाङ्गेषु विहारिणीं निरतिशय-सौन्दर्यलावण्याधिदेवतां बोधानन्दमयैरनन्तनित्यपरिजनैः परिषेवितां श्रीसखीं तुलसीमेवं लक्ष्मीं ध्यात्वा प्रदक्षिणनमस्कारान् विधाय विविधोपचारैराराध्य स्तुत्वा स्तोत्रविशेषैस्तयाऽभिपूजितस्तत्रत्यैश्चाभि-पूजितस्तदनुज्ञातश्चोपर्युपरि गत्वा परमानन्दतरङ्गिण्यास्तीरे गत्वा तत्र परितोऽवस्थितान् शुद्धबोधानन्दमयान् अनन्तवैकुण्ठानवलोक्य निरति-शयानन्दं प्राप्य तत्रत्यैश्चिद्रूपैः पुराणपुरुषैश्चाभिपूजितस्ततो गत्वागत्वा ब्रह्मवनेषु दिव्यगन्धानन्दपुष्पवृष्टिभिः समन्वितेषु दिव्यमङ्गलालयेषु निरतिशयानन्दामृतसागरेष्वमिततेजोराश्याकारेषु कल्लोलवनसंकुलेषु ततोऽनन्तशुद्धबोधविमानजालसङ्कुलानन्दाचलश्रेणिषूपासकस्तत उपर्युपरि गत्वा विमानपरम्परास्वनन्ततेजःपर्वतराजिष्वेवं क्रमेण प्राप्य विद्याऽऽनन्दमययोः सन्धिं तत्राऽऽनन्दतरङ्गिण्याः प्रवाहेषु स्नात्वा बोधानन्दवनं प्राप्य शुद्धबोधपरमानन्दाकारवनं सन्ततामृतपुष्पवृष्टिभिः परिवेष्टितं परमानन्दप्रवाहैरभिव्याप्तं मूर्तिमद्भिः परममङ्गलैः परम-कौतुकम् अपरिच्छिन्नानन्दसागराकारं क्रीडाऽऽनन्दपर्वतैरभिशोभितं तन्मध्ये च शुद्धबोधानन्दवैकुण्ठं यदेव ब्रह्मविद्यापादवैकुण्ठं सहस्रा-नन्दप्राकारैः समुज्ज्वलति। अनन्तानन्दविमानजालसंकुलम् अनन्तबोध-सौधविशेषैरभितोऽनिशं प्रज्वलन्तं क्रीडाऽनन्तमण्डपविशेषैर्विशेषितं बोधानन्दमयानन्तपरमच्छत्रध्वजचामरवितानतोरणैरलंकृतं परमानन्द-व्यूहैर्नित्यमुक्तैरभितस्ततम् अनन्तदिव्यतेजः पर्वतसमष्ट्याकारम् अपरि-च्छिन्नानन्तशुद्धबोधानन्दमण्डलं वाचामगोचरानन्दब्रह्मतेजोराशि-

**मण्डलम् अखण्डतेजोमण्डलविशेषं शुद्धानन्दविशेषसमष्टिमण्डल-विशेषम्
अखण्डचिद्घनानन्दविशेषम् ॥23॥**

बाद में श्रीतुलसीवैकुण्ठ नामक नगर शोभित होता है। वह नगर परमकल्याणरूप तथा अनन्त वैभवशाली, अमित तेजोराशिरूप आकारवाला, अनन्त ब्रह्मतेज के समष्टि समूहस्वरूप, चैतन्यमय और आनन्दमय, तरह-तरह के अनेक दुर्गों से घिरा हुआ 'अमित बोधानन्द' नाम के पर्वत पर बसा हुआ, 'ज्ञानानन्द' नाम की नदी के प्रवाहों से अत्यन्त मंगल-अनन्त-निरतिशय-आनन्दयुक्त वृन्दावनों से बहुत ही शोभायमान, सभी पवित्रों से भी पवित्र चैतन्यरूप अनन्त नित्यमुक्तों से चारों ओर व्याप्त, आनन्दमय अनन्त विमानों से अलंकृत, और अमित तेजोराशि में विद्यमान दिव्य तेज के विशिष्ट ओजस्वी है। इस प्रकार के स्वरूप वाले तुलसीवैकुण्ठ में प्रविष्ट होकर, उसके भीतर अवस्थित दिव्य विमान के ऊपर बैठी हुई, सर्वथा परिपूर्ण, श्रीमहाविष्णु के सभी अंगों में विहार करने वाली, निरतिशय सौन्दर्य और लावण्य की अधिष्ठात्री देवी, ज्ञानमय एवं आनन्दमय अनन्त नित्य सेवकों के द्वारा सर्वप्रकार से सेवित और श्रीदेवी की सखी ऐसी श्रीतुलसीलक्ष्मी का इस प्रकार से ध्यान करके, नमस्कार तथा प्रदक्षिणा करके विविध उपचारों से उनका आराधन करता है। और तरह-तरह के स्तोत्रों से उनकी पूजा करता है। इसलिए तुलसी भी उसकी प्रतिपूजा करती हैं। और वहाँ के लोग भी सामने से उसकी पूजा करते हैं। तुलसी की अनुमति के बाद, वह साधक वहाँ से भी ऊपर-ही-ऊपर जाकर परमानन्द नामक नदी के तीर पर पहुँचता है। और वहाँ चारों ओर से व्याप्त शुद्ध ज्ञानमय तथा आनन्दमय अनन्त वैकुण्ठों के दर्शन करके निरतिशय आनन्द को प्राप्त करता है। फिर वहाँ के निवासी चैतन्यमय पुराणपुरुष सामने से उसकी पूजा करते हैं। फिर वहाँ से निकल कर दिव्य गन्ध और आनन्दमय पुष्प-वृष्टियों से युक्त, दिव्य मंगलों के स्थानरूप, निरतिशय आनन्दमय अमृतसागर जैसे और अमित तेजोराशिरूप आकारवाले ब्रह्मवनों में जाता है। वहाँ से अनन्त शुद्ध ज्ञानरूप विमानों के समूहों से व्याप्त आनन्दमय पर्वतों के मध्यप्रदेश में से होते हुए साधक वहाँ से भी ऊपर जाता है। और विमानों की परंपराओं तथा अनन्त तेजोमय पर्वतों की पंक्तियों पर निष्क्रान्त होकर क्रमशः विद्या और आनन्दमय की सन्धि में जा पहुँचता है और वहाँ आनन्दनदी में स्नान करके बोधानन्द नाम के वन में प्रवेश करता है। वहाँ से वह शुद्धबोध और परमानन्द आकार वाले वन में जाता है। वह वन निरन्तर अमृतमय पुष्पवृष्टियों से युक्त परमानन्द के प्रवाहों से चारों ओर व्याप्त हुआ है। मूर्तिमय श्रेष्ठ मांगल्यों से वह कौतुकमय है। अमित आनंदसागराकार और क्रीडानन्द नाम के पर्वतों से अलंकृत है। उसके बीच शुद्ध बोधानन्द नाम का एक वैकुण्ठधाम है। वही ब्रह्मविद्या का पादरूप वैकुण्ठ है। और वह हजारों आनन्दमय दुर्गों से प्रकाशित हो रहा है और वह अनन्त आनन्दमय विमानों के समूहों से भी व्याप्त है। अनन्त ज्ञानरूप अनेक महलों से चारों ओर से निरंतर प्रकाशित है। क्रीडा करने के लिए अनेकविध मण्डलों से वह युक्त है। बोधानन्दमय अनंत श्रेष्ठ छत्रों, ध्वजों, चामरों, उल्लोचों और तोरणों से वह अलंकृत किया गया है। परमानन्द के व्यूह जैसे नित्यमुक्तों से वह चारों ओर व्याप्त है। अनन्त दिव्य तेज के पर्वतों की समष्टिरूप आकारवाला है और अमित-अनन्त-शुद्ध बोध के अनन्त मण्डल वाला है। वाणी के अगोचर आनन्दमय ब्रह्मतेज की राशियों का मण्डल है। मानों कोई इन्द्र हो, ऐसा लगता है। और शुद्ध आनन्द समष्टियों का विशिष्ट मण्डल तथा अखण्ड चैतन्यघन आनन्द का विशेष हो, ऐसा मालूम पड़ता है।

एवंविधं बोधानन्दवैकुण्ठमुपासकः प्रविश्य तत्रत्यैः सर्वैरभिपूजितः। परमानन्दाचलोपर्यखण्डबोधविमानं प्रज्वलति। तदभ्यन्तरे चिन्मयासनं विराजते ॥24॥

तदुपरि विभात्यखण्डानन्दतेजोमण्डलम्। तदभ्यन्तरसमासीनमादि-नारायणं ध्यात्वा प्रदक्षिणनमस्कारान् विधाय विविधोपचारैः सुसम्पूज्य पुष्पाञ्जलिं समर्प्य स्तुत्वा स्तोत्रविशेषैः स्वरूपेणावस्थितमुपासकमव-लोक्य तमुपासकमादिनारायणः स्वसिंहासने सुसंस्थाप्य तद्वैकुण्ठवा-सिभिः सर्वैः समन्वितः समस्तमोक्षसाम्राज्यपट्टाभिषेकमुद्दिश्य मन्त्र-पूतैरुपासकमानन्दकलशैरभिषिच्य दिव्यमङ्गलमहावाद्यपुरःसरं विविधो-पचारैरभ्यर्च्य मूर्तिमद्भिः सर्वैः स्वचिह्नैरलङ्कृत्य प्रदक्षिणनमस्कारान् विधाय त्वं ब्रह्मासि अहं ब्रह्मास्मि आवयोरन्तरं न विद्यते त्वमेवाहम् अहमेव त्वम् इत्यभिधाय इत्युक्त्वा आदिनारायणस्तिरोदधे तदेत्युप-निषत् ॥25॥

**इत्याथर्वणमहानारायणोपनिषदि परममोक्षमार्ग-
स्वरूपनिरूपणं नाम षष्ठोऽध्यायः।**

ऐसे तेजोमण्डल समान बोधानन्द नाम के वैकुण्ठ में उपासक प्रवेश करता है। इसलिए वहाँ के सभी लोग सामने से उसकी पूजा करते हैं। वहाँ परमानन्द नाम के पर्वत के ऊपर अखण्डबोध नामक विमान प्रकाशित हो रहा है। उसके भीतर एक चैतन्यमय आसन विराजित है। उसके ऊपर अखण्ड तेजोमय आनन्द का मण्डल प्रकाशित हो रहा है। उसके ऊपर आदिनारायण बैठे हुए हैं। उनका ध्यान करके, प्रदक्षिणा और नमस्कार करके साधक विविध उपचारों से अच्छी तरह उनकी पूजा करता है। और पुष्पांजलि समर्पित करके अनेक प्रकार के स्तोत्रों से उनकी स्तुति करता है। फिर आदिनारायण सामने अपने ही स्वरूप में उपस्थित हुए उस साधक को अपने सिंहासन पर बिठाते हैं। और सभी वैकुण्ठवासी लोगों के साथ रहकर समस्त मोक्ष साम्राज्य के पट्टाभिषेक को उद्दिष्ट करके, मन्त्रों से पवित्र किए गए आनन्द-कलशों से वे उपासक के ऊपर अभिषेक करते हैं। बाद में दिव्य मंगलमय वाद्यों को बजाकर विविध उपचारों से उसकी पूजा करके अपने सभी मूर्त चिह्नों से उसे अलंकृत करते हैं। और उसकी प्रदक्षिणा और नमस्कार करके उससे कहते हैं कि—'तू ब्रह्म है, मैं ब्रह्म हूँ', 'हम दोनों में किसी भी प्रकार का अन्तर नहीं है।' 'तू ही मैं हूँ और मैं ही तू है।' इस प्रकार कहकर आदिनारायण उस समय अदृश्य हो जाते हैं, ऐसा यह उपनिषद् कहती है।

इस प्रकार आथर्वण-महानारायणोपनिषद् में 'परममोक्षमार्गस्वरूपनिरूपण'
नामक षष्ठ अध्याय समाप्त हुआ।

❋

सप्तमोऽध्यायः

अथोपासकस्तदाज्ञया नित्यं गरुडमारुह्य वैकुण्ठवासिभिः सर्वैः परिवेष्टितो महासुदर्शनं पुरस्कृत्य विष्वक्सेनपरिपालितश्चोपर्युपरि गत्वा

ब्रह्मानन्दविभूतिं प्राप्य सर्वत्रावस्थितान् ब्रह्मानन्दमयान् अनन्तवैकुण्ठानवलोक्य निरतिशयानन्दसागरो भूत्वा आत्मारामान् आनन्दविभूतिपुरुषानन्तानवलोक्य तान् सर्वानुपचारैः समभ्यर्च्य तैः सर्वैरभिपूजितश्चोपासकस्तत उपर्युपरि गत्वा ब्रह्मानन्दविभूतिं प्राप्य अनन्तदिव्यतेजःपर्वतैरलंकृतान् परमानन्दलहरीवनशोभितान् असंख्याकान् आनन्दसमुद्रान् अतिक्रम्य विविधविचित्रानन्तपरमतत्त्वविभूतिसमष्टिविशेषान् परमकौतुकान् ब्रह्मानन्दविभूतिविशेषानतिक्रम्य उपासकः परमकौतुकं प्राप ॥1॥

बाद में उपासक उनकी आज्ञा से नित्य गरुड पर बैठकर वैकुण्ठवासियों से आवृत होकर महासुदर्शन को आगे करके विश्वक्सेन से परिलक्षित होते हुए ऊपर ही ऊपर उठकर ब्रह्मानन्द विभूति में पहुँच जाता है। वहाँ सभी जगहों में आए हुए ब्रह्मानन्दमय अनन्त वैकुण्ठों के दर्शन करके निरतिशय आनन्द का सागर बन जाता है। बाद में आत्माराम तथा आनन्दविभूति नाम के अनन्त पुरुषों का दर्शन करके उन सभी की उपचारों के साथ पूजा करता है। इसलिए वे भी सामने से उसकी पूजा करते हैं। फिर वह उपासक वहाँ से भी ऊपर-ही-ऊपर जाकर ब्रह्मानन्द विभूति में पहुँचता है। वहाँ से आगे अनन्त दिव्य तेजोमय पर्वतों से सुशोभित और परमानंद की लहरों वाले वनों से शोभित आनन्द के असंख्य समुद्रों को पार करके विविध-विचित्र-अनन्त परमतत्त्व की विभूतियों के विशेष समष्टि रूप होने से परमकौतुकमय ऐसी ब्रह्मानन्द की विशेष विभूतियों को अतिक्रान्त करते हुए वह उपासक परमकौतुक का अनुभव करता है।

ततः सुदर्शनवैकुण्ठपुरमाभाति नित्यमङ्गलम् अनन्तविभवं सहस्रानन्दप्राकारपरिवेष्टितम् अयुतकुक्ष्युपलक्षितम् अनन्तोत्कटज्वलदरमण्डलं निरतिशयदिव्यतेजोमण्डलं वृन्दारकपरमानन्दं शुद्धबुद्धस्वरूपम् अनन्तानन्दसौदामिनीपरमविलासं निरतिशयपरमानन्दपारावारम् अनन्तैरानन्दपुरुषैश्चिद्रूपैरधिष्ठितम् ॥2॥

इसके बाद सुदर्शनवैकुण्ठ नामक नगर शोभित है। वह नित्य मंगलमय और अनन्त वैभवशाली है। वह एक हजार आनन्ददुर्गों से आवृत्त है। दस हजार केन्द्रप्रदेशों से युक्त, अनन्त-उत्कट-प्रकाशमय अरों के मण्डलों वाला, निरतिशय दिव्य तेज के मण्डलवाला, अतिश्रेष्ठ, परमानन्दमय, शुद्धज्ञानस्वरूप, विद्युत् के परम विलासों से युक्त, निरतिशय परमानन्द के सागर जैसा और चैतन्यरूप अनन्त आनन्दपुरुषों के द्वारा बसा हुआ है।

तन्मध्ये च सुदर्शनं महाचक्रम् ॥3॥
चरणं पवित्रं विततं पुराणं येन पूतस्तरति दुष्कृतानि।
तेन पवित्रेण शुद्धेन पूता अतिपाप्मानमरातिं तरेम ॥4॥
लोकस्य द्वारमर्चिमत् पवित्रं ज्योतिष्मद् भ्राजमानं महस्वत्।
अमृतस्य धारा बहुधा दोहमानं चरणं नो लोके सुधितां दधातु ॥5॥

उसके बीच सुदर्शन चक्र है। वह गतिशील, पवित्र, सर्वत्र फैला हुआ और पुरातन से भी पुरातन है। इससे पवित्र हुआ पुरुष सभी पापों से छूट जाता है। उस शुद्ध और पवित्र चक्र से पावन हुए हम बड़े पापरूपी शत्रु को पार कर जाते हैं। वह लोक के द्वाररूप है और ज्वालामय (तेजोमय) है। वह

प्रकाशमय है, तेजस्वी है, अनेक प्रकार की अमृतधाराओं को वह बहाता है। वह चक्र हमें इस लोक में उत्तम बनाए।

अयुतारज्वलन्तम् अयुतारसमष्ट्याकारं निरतिशयविक्रमविलासम् अनन्तदिव्यायुधदिव्यशक्तिसमष्टिरूपं महाविष्णोरनर्गलप्रतापविग्रहम् अयुतायुतकोटियोजनविशालम् अनन्तज्वालाजालैरलंकृतं समस्तदिव्यमङ्गलनिदानम् अनन्तदिव्यतीर्थानां निजमन्दिरमेवं सुदर्शनं महाचक्रं प्रज्वलति ॥6॥

दस हजार अरों वाला, प्रज्वलित, दस हजार अरों की समष्टिरूप आकारवाला, निरतिशय पराक्रमों के विलासों से युक्त, अनन्त दिव्य आयुधों की दिव्यशक्ति की समष्टिस्वरूप, महाविष्णु के असीम प्रताप के मूर्तरूप जैसा, हजारों करोड़ योजन विशालतायुक्त, अनन्त ज्वालासमूहों से अलंकृत, समस्त दिव्यमंगल कारणों का मूलकारण, अनन्त दिव्य तीर्थों का स्वयंस्थान—ऐसा वह सुदर्शन महाचक्र प्रकाशित हो रहा है।

तस्य नाभिमण्डलसंस्थाने उपलक्ष्यते निरतिशयानन्ददिव्यतेजोराशिः। तन्मध्ये च सहस्रारचक्रं प्रज्वलति। तदखण्डदिव्यतेजोमण्डलाकारं परमानन्दसौदामिनीनिचयोज्ज्वलम् ॥7॥
तदभ्यन्तरसंस्थाने षट्शतारचक्रं प्रज्वलति। तस्यामितपरमतेजः-परमविहारसंस्थानविशेषं विज्ञानघनस्वरूपम् ॥8॥
तदन्तराले त्रिशतारचक्रं विभाति। तच्च परमकल्याणविलासविशेषम् अनन्तचिदादित्यसमष्ट्याकारम् ॥9॥
तदभ्यन्तरे शतारचक्रमाभाति। तच्च परमतेजोमण्डलविशेषम् ॥10॥
तन्मध्ये षष्ट्यर[illegible]क्रमाभाति। तच्च ब्रह्मतेजःपरमविलासविशेषम् ॥11॥
तदभ्यन्तरसंस्थाने षट्कोणचक्रं प्रज्वलति। तच्चापरिच्छिन्नानन्तदिव्यतेजोराश्याकारम् ॥12॥

उसके नाभिमण्डल के स्थान में निरतिशय आनंद की दिव्य तेजोराशि दिखाई पड़ती है। उसके बीच एक हजार अर वाला चक्र प्रकाशित हो रहा है। वह अखण्ड दिव्यतेज के मण्डल जैसे आकारवाला और परमानन्द के विद्युत्समूह जैसा उज्ज्वल है। उसके बीच के स्थान में छः सौ अरों वाला एक चक्र प्रकाशित है। उसका तेज असीम है। और वह श्रेष्ठ विहार के विशिष्ट स्थान जैसा होने से विज्ञानघन स्वरूप है। उसके भी भीतर तीन सौ अरों वाला चक्र प्रकाशित है। वह परमकल्याण के विशेष विलासरूप एवं अनन्त चैतन्यरूप सूर्य के समष्टि के आकारवाला है। और उसके भी बीच में सौ अरों वाला चक्र प्रकाशित है। वह परमतेज के विशेष जैसा है। उसके बीच आठ अरों वाला चक्र प्रकाशित है। वह ब्रह्मतेज का परमविशेष विलासरूप है। और उसके भी बीच के स्थान में छः कोणों वाला चक्र प्रकाशित है। वह असीम-अमित-अनन्त तेज के राशि जैसे आकारवाला है।

तदभ्यन्तरे महानन्दपदं विभाति। तत्कर्णिकायां सूर्येन्दुवह्निमण्डलानि चिन्मयानि ज्वलन्ति। तत्रोपलक्ष्यते निरतिशयदिव्यतेजोराशिः ॥13॥
तदभ्यन्तरसंस्थाने युगपदुदितानन्तकोटिरविप्रकाशः सुदर्शनपुरुषो विराजते। सुदर्शनपुरुषो महाविष्णुरेव ॥14॥

महाविष्णोः समस्तासाधारणचिह्नचिह्नित एवमुपासकः सुदर्शनपुरुषं ध्यात्वा विविधोपचारैराराध्य प्रदक्षिणनमस्कारान् विधायोपासकस्तेनाभिपूजितस्तदनुज्ञातश्च उपर्युपरि गत्वा परमानन्दमयान् अनन्तवैकुण्ठान् अवलोक्य उपासकः परमानन्दं प्राप ॥15॥

इसके बीच महानन्द नामक स्थान प्रकाशित है। उसकी कली में सूर्य, चन्द्र और अग्नि के चैतन्यमय मंडल प्रकाशित हैं। इसमें निरतिशय तेज की राशि दिखाई पड़ती है। इसके बीच के स्थान में एक ही साथ उदित हुए करोड़ों सूर्य के जैसे तेजस्वी सुदर्शन पुरुष विराजमान हैं। वे सुदर्शन पुरुष महाविष्णु ही हैं। उन महाविष्णु के समस्त असाधारण चिह्नों से चिह्नित ऐसा ही वह उपासक उन सुदर्शन पुरुष का ध्यान करके विविध उपचारों से उनकी पूजा करके उनकी प्रदक्षिणा और नमस्कार करता है। सामने से वह सुदर्शन पुरुष भी उस उपासक की पूजा करते हैं। बाद में उनकी दी गई अनुज्ञा से वह उपासक वहाँ से और भी ऊपर-ही-ऊपर जाकर परमानन्दमय अनेकानेक वैकुण्ठों के दर्शन करके परमानन्द को प्राप्त करता है।

तत उपरि विविधविचित्रानन्तचिद्विलासविभूतिविशेषानतिक्रम्य अनन्तपरमानन्दविभूतिसमष्टिविशेषान् अनन्तनिरतिशयानन्दसमुद्रानतीत्य उपासकः क्रमेणाद्वैतसंस्थानं प्राप ॥16॥

कथमद्वैतसंस्थानम्। अखण्डानन्दस्वरूपम् अनिर्वाच्यम् अमितबोधसागरम् अमितानन्दसमुद्रं विजातीयविशेषविवर्जितं सजातीयविशेषविशेषितं निरवयवं निराधारं निर्विकारं निरञ्जनम् अनन्तब्रह्मानन्दसमष्टिकन्दं परमचिद्विलाससमष्ट्याकारं निर्मलं निरवद्यं निराश्रयम् अतिनिर्मलानन्तकोटिरविप्रकाशैकस्फुलिङ्गम् अनन्तोपनिषदर्थस्वरूपम् अखिलप्रमाणातीतं मनोवाचामगोचरं नित्यमुक्तस्वरूपम् अनाधारम् आदिमध्यान्तशून्यं कैवल्यं परमं शान्तं सूक्ष्मात् सूक्ष्मतरं महतो महत्तरम् अमितानन्दविशेषं शुद्धबोधानन्दविभूतिविशेषम् अनन्तानन्दविभूतिविशेषसमष्टिरूपम् अक्षरम् अनिर्देश्यम् कूटस्थम् अचलं ध्रुवम् अदिग्देशकालम् अन्तर्बहिश्च तत् सर्वं व्याप्य परिपूर्णं परमयोगिभिर्विमृग्यं देशतः कालतो वस्तुतः परिच्छेदरहितं निरन्तराभिनवं नित्यपरिपूर्णम् अखण्डानन्दामृतविशेषं शाश्वतं परमं पदं निरतिशयानन्दानन्ततटित्पर्वताकारम् अद्वितीयं स्वयंप्रकाशम् अनिशं ज्वलति ॥17॥

वहाँ से ऊपर विविध, अद्भुत और अनन्त चैतन्य के विलासों की विशेष विभूतियों को पार करके, अनन्त परमानन्द की विभूतियों की विशेष समष्टिरूप और असीम निरतिशय अनन्त समुद्रों को पार करके वह उपासक क्रमशः अद्वैत संस्थान को प्राप्त हो जाता है। कैसा है वह अद्वैत स्थान ? (तो सुनो)—अखण्डानन्दस्वरूप, अवर्णनीय, असीमज्ञानसमुद्ररूप, अप्रमेयआनन्दसागरस्वरूप, विजातीय विशेषताओं से रहित, सजातीय विशेषताओं से युक्त, अवयवरहित, निरधिष्ठान, निर्विकार, निरंजन अनन्तब्रह्मानन्द की समष्टि का मूल, परम चैतन्य के विलासों की समष्टि का आकाररूप, निर्मल, निर्दोष, निरवलम्ब, अनन्त करोड़ विमल सूर्य के प्रकाश का मानो एक स्फुलिंग-सा हो, अनन्त उपनिषदों का अर्थस्वरूप, समग्र प्रमाणों से अतीत, मन और वाणी का अविषय, नित्यमुक्तस्वरूप,

आधाररहित, आदि-मध्य-अन्त-रहित, कैवल्यरूप, परमशान्त, अतिशय सूक्ष्म, महान् से भी अति महान्, अमेय, विशेष आनन्दरूप, शुद्ध ज्ञानानन्द की विशेष विभूतिरूप, अनन्त आनन्द की समष्टि की विशेष विभूतिरूप, अविनाशी, अनिर्देश्य, कूटस्थ, अचल, स्थिर, दिशा-देश-काल रहित, भीतर-बाहर चारों ओर से परिपूर्ण, बड़े बड़े योगियों के द्वारा अन्वेषणीय, देश-काल-वस्तु से नहीं नापा जाने वाला, निरन्तर अभिनव नित्य अखण्डानन्दस्वरूप, अमृतविशेष, शाश्वत, परमपद, निरतिशय आनन्दरूप विद्युतों और पर्वतों के-से आकार वाला वह अद्वितीय और स्वयंप्रकाश रूप से सदा प्रकाशित है।

परमानन्दलक्षणापरिच्छिन्नानन्तपरंज्योतिः शाश्वतं शश्वद्विभाति ॥18॥

तदभ्यन्तरसंस्थाने अमितानन्दचिद्रूपाचलम् अखण्डपरमानन्दविशेषं बोधानन्दमहोज्ज्वलं नित्यमङ्गलमन्दिरं चिन्मथनाविर्भूतचित्सारम् अनन्ताश्चर्यसागरम् अमिततेजोराश्यन्तर्गततेजोविशेषम् अनन्तानन्दप्रवाहैरलङ्कृतं निरतिशयानन्दपारावाराकारं निरुपमनित्यनिरवद्यनिरतिशयनिरवधिकतेजोराशिविशेषं निरतिशयानन्दसहस्रप्राकारैरलङ्कृतं शुद्धबोधसौधावलिविशेषैरलङ्कृतं चिदानन्दमयानन्तदिव्यारामैः सुशोभितं शश्वदमितपुष्पवृष्टिभिः समन्ततः सन्ततम् ॥19॥

परमानन्दरूप लक्षणवाला और अमेय-अनन्त परमज्योतिरूप वह स्थान निरंतर प्रकाशित हो रहा है। उसके बीच के स्थान में अमित, आनन्द, चैतन्यरूप, अचल, अखण्ड परमात्मरूप, ज्ञानानन्द से महा उज्ज्वल, नित्य, मांगल्यमंदिर, चैतन्यमंथन से प्राप्त, चैतन्य का सारतत्त्व, अनन्त आश्चर्यसागर, अमित, तेजसमूह के बीच अवस्थित विशेष तेजरूप, अनन्त आनंदप्रवाहों से अलंकृत, निरतिशय आनन्दसागर के जैसे आकारवाला, निरुपम, नित्य, निर्दोष, निरवधि, निरतिशय तेजोविशेषरूप के समूहरूप, निरतिशय आनंद के हजारों प्राकारों से सुशोभित, निरंतर असीम पुष्पवृष्टियों से चारों ओर फैला हुआ एक स्थान है।

तदेव त्रिपाद्विभूतिवैकुण्ठस्थानम्। तदेव परमकैवल्यम्। तदेवाबाधितपरमतत्त्वम्। तदेवानन्तोपनिषद्विमृग्यम्। तदेव परमयोगिभिर्मुमुक्षुभिः सर्वैराशास्यमानम्। तदेव सद्घनम्। तदेव चिद्घनम्। तदेवानन्दघनम्। तदेव शुद्धबोधघनविशेषम् अखण्डानन्दब्रह्मचैतन्याधिदेवतास्वरूपम्। सर्वाधिष्ठानम् अद्वयपरब्रह्मविहारमण्डलं निरतिशयानन्दतेजोमण्डलम् अद्वैतपरमानन्दलक्षणपरब्रह्मणः परमाधिष्ठानमण्डलं निरतिशयपरमानन्दपरममूर्तिविशेषमण्डलम् अनन्तपरममूर्तिसमष्टिमण्डलं निरतिशयपरमानन्दलक्षणपरब्रह्मणः परममूर्तिपरमतत्त्वविलासविशेषमण्डलं बोधानन्दमयानन्तपरमविलासविभूतिविशेषसमष्टिमण्डलम् अनन्तचिद्विलासविभूतिविशेषसमष्टिमण्डलम् अखण्डशुद्धचैतन्यनिजमूर्तिविशेषविग्रहं वाचामगोचरानन्तशुद्धबोधविशेषविग्रहम् अनन्तानन्दसमुद्रसमष्ट्याकारम् अनन्तबोधाचलैरनन्तबोधानन्दाचलैरधिष्ठितं निरतिशयानन्दपरममङ्गलविशेषसमष्ट्याकारं अखण्डाद्वैतपरमानन्दलक्षणपरब्रह्मणः परममूर्तिपरमतेजःपुञ्जपिण्डविशेषं चिद्रूपादित्यमण्डलं

द्वात्रिंशद्व्यूहभेदैरधिष्ठितम् । व्यूहभेदाश्च केशवादिचतुर्विंशतिः सुदर्शना-दिन्यासमन्त्राः (सुदर्शनादियन्त्रोद्धारः) । अनन्तगरुडविष्वक्सेनाश्च निरतिशयानन्दश्च ॥20॥

वही स्थान त्रिपाद् विभूति वैकुण्ठस्थान है और वही कैवल्य है, वही अबाधित तत्त्व है, वही अनन्त उपनिषदों के द्वारा अन्वेषणीय है, वही परमयोगियों (मुमुक्षों) के द्वारा चाहने योग्य है, वही सत्यमय, वही चैतन्यमय, वही आनन्दमय, वही शुद्धज्ञानविषयमय और अखण्ड आनन्दमय ब्रह्मचैतन्य से अधिष्ठित देवतास्वरूप है । और भी, वह सर्व का आश्रयस्थान, अद्वैत परब्रह्म का विहार-मण्डल, निरतिशय आनन्द और तेज का मण्डल, अद्वैत परमानन्दस्वरूप परब्रह्म का परमाश्रयरूप मण्डल, निरतिशय परमानन्द की परममूर्ति का विशेष मण्डल, अनन्त परब्रह्म की परममूर्ति का समष्टिमंडल, परमतत्त्व के विलासों का विशेष मण्डल, ज्ञान तथा आनन्दमय अनन्त-परम विलासों की विभूतियों का विशेष समष्टिमण्डल, अनन्त चैतन्य के विलासों की विभूतियां का विशेष समष्टिमण्डल, अखण्ड शुद्ध चैतन्यरूप अपनी मूर्ति का विशेष शरीररूप, वाणी का अविषय, अनन्त शुद्ध ज्ञान-विशेष के विग्रह रूप, अनन्त आनन्दसागर का समष्टिआकाररूप, ज्ञानरूपी अनन्त पर्वतों से और बोधानन्दरूप अनन्त पर्वतों से युक्त, निरतिशय आनन्द और परममंगल के विशेष समष्टि आकाररूप, अखण्ड अद्वैत परमानन्दरूप लक्षण वाले परब्रह्म की परममूर्ति के तेज की जो राशि है, उसके बड़े पिण्ड जैसा, चैतन्यरूप सूर्य के मण्डलवाला और अलग-अलग बत्तीस व्यूहों से वह आश्रित है । और अन्य केशव आदि चौबीस व्यूह और सुदर्शनादि न्यासमन्त्र भी उसमें प्रतिष्ठित हैं । (यहाँ सुदर्शनादि यन्त्रोद्धार बताया गया है) और भी अनेक गरुडों के साथ अनेक विश्वक्सेन और निरतिशय आनन्दों का समूह इसमें है ।

आनन्दव्यूहमध्ये सहस्त्रकोटियोजनायतोन्नतचिन्मयप्रासादं ब्रह्मानन्द-मयविमानकोटिभिरतिमङ्गलम् अनन्तोपनिषदर्थारामजालसङ्कुलं साम-हंसकूजितैरतिशोभितम् आनन्दमयानन्तशिखरैरलङ्कृतं चिदानन्दरस-निर्झरैरभिव्याप्तं अखण्डानन्दतेजोराश्यन्तरस्थितम् अनन्तानन्दाश्चर्य-सागरम् ॥21॥

उस आनन्दव्यूह के बीच, हजारों करोड़ योजन लम्बा, चौडा और ऊँचा चैतन्यमय महल है । ब्रह्मानन्दमय करोड़ों विमानों से वह अतिमंगलमय है । अनन्त उपनिषदों के अर्थरूप उद्यानों से वह व्याप्त है । सामवेदरूपी हंस के शब्दों से वह अतिशोभित है । आनन्दमय अनन्त शिखरों से वह अलंकृत है । चिदानन्द के रसमय झरनों से वह व्याप्त है । अखण्ड आनन्द के तेज के बीच वह अवस्थित है । वह अनन्त आनन्दों का और आश्चर्य का सागर है ।

तदभ्यन्तरसंस्थाने अनन्तकोटिरविप्रकाशातिशयप्राकारं निरतिशया-नन्दलक्षणं प्रणवाख्यं विमानं विराजते । शतकोटिशिखरैरानन्दमयैः समुज्ज्वलति ॥22॥

तदन्तराले बोधानन्दाचलोपर्यष्टाक्षरीमण्डपो विभाति ॥23॥

तन्मध्ये च चिदानन्दमयवेदिका आनन्दवनविभूषिता ॥24॥

तदुपरि ज्वलति निरतिशयानन्दतेजोराशिः ॥25॥

तदभ्यन्तरसंस्थाने अष्टाक्षरीपद्मविभूषितं चिन्मयासनं विराजते ॥26॥

उसके भीतर के स्थान में अनन्त करोड़ सूर्य जैसे प्रकाशमय बड़े प्राकारवाला और निरतिशय लक्षणवाला प्रणव नाम का विमान विराजित है । वह सौ करोड़ आनन्दमय शिखरों से शोभित है । उसके बीच में बोधानन्द नाम का पर्वत है । उसके ऊपर अष्टाक्षरी नाम का मण्डप शोभायमान है । उसके बीच चिदानन्दमय वेदिका है । और वह आनन्दवन से अलंकृत की गई है । उसके ऊपर निरतिशय आनन्दरूप तेजोराशि प्रकाशित हो रही है और उसके बीच के स्थान में अष्टाक्षरी नाम का मण्डप शोभायमान है । उसके बीच चिदानन्दमय वेदिका है ।

प्रणवकर्णिकायां सूर्येन्दुवह्निमण्डलानि चिन्मयानि ज्वलन्ति ॥27॥

तत्राखण्डानन्दतेजोराश्यन्तर्गतं परममङ्गलाकारमनन्तासनं विराजते ॥28॥

तस्योपरि च महायन्त्रं प्रज्वलति । निरतिशयब्रह्मानन्दपरममूर्तिमहायन्त्रं समस्तब्रह्मतेजोराशिसमष्टिरूपं चित्स्वरूपं निरञ्जनं परब्रह्मस्वरूपं परब्रह्मणः परमरहस्यकैवल्यं महायन्त्रमयपरमवैकुण्ठनारायणयन्त्रं विजयते ॥29॥

उस प्रणव की कली में सूर्य, चन्द्र तथा अग्नि के मण्डल चैतन्यमय होकर प्रकाशित हो रहे हैं । उनमें अखण्ड आनन्द तथा तेज की राशि के बीच स्थित परम मंगलकारी अनन्त का आसन विराजमान है । उसके ऊपर महान् यंत्र प्रकाशित हो रहा है । निरतिशय ब्रह्मानन्द की परममूर्ति रूप वह महामंत्र समस्त ब्रह्मतेज की राशि का समष्टिरूप है । चैतन्यरूप, ब्रह्मरूप, निरंजन का परमरहस्य कैवल्य रूप ही वह है । वह सभी यन्त्रों में महायन्त्र है । वह परम वैकुण्ठनारायणयंत्र विजयी होता है ।

तत्स्वरूपं कथमिति । देशिकस्तथेति होवाच—

'उस महायंत्र का स्वरूप कैसा है' ? शिष्य के ऐसा पूछने पर गुरु ने 'ठीक है' ऐसा कहकर अब आगे उसका स्वरूप बता रहे हैं—

[आगे 30 से 48 कण्डिकामय मन्त्रों से नारायण मन्त्र का स्वरूप बताया जा रहा है । और उसमें स्थापित किए जाने वाले मन्त्र भी बताए गए हैं । ये मन्त्र और उनका वर्णन अत्यन्त गूढ और रहस्यमय पारिभाषिक संज्ञाओं से युक्त हैं । उनका वाच्यार्थ करने से भी कोई ऐसा तात्पर्य बोध नहीं होता । ऐसे गूढ (रहस्यमय) मन्त्रों का किसी अन्य भाषा में केवल अस्पष्ट वाच्यार्थ में अनुवाद करना हमें उचित भी मालूम नहीं होता । तात्पर्य बोध हो सके तो ऐसे मन्त्रों का अनुवाद करना कुछ हद तक ठीक भी है, पर ऐसे निगूढ और अत्यन्त गोपनीय मन्त्रों का अनुवाद करना ठीक नहीं है । जो लोग साधक हैं, उनको साधना के लिए किसी सिद्ध गुरु के पास जाकर महायंत्र का तथा इनका मर्म पहचान लेना चाहिए । यहाँ अनुवाद करना योग्य नहीं है, ऐसा समझकर केवल मन्त्र ही ज्यों-के-त्यों दिए जा रहे हैं और उनके साथ महायंत्र का मूल स्वरूप भी ज्यों-का-त्यों दिया जा रहा है—]

आदौ षट्कोणचक्रम् । तन्मध्ये षड्दलपद्मम् । तत्कर्णिकायां प्रणवं ॐ मिति । प्रणवमध्ये नारायणबीजमिति । तत्साध्यगर्भितं—मम सर्वा-भीष्टसिद्धिं कुरुकुरु स्वाहेति । तत्पद्मदलेषु विष्णुनृसिंहषडक्षरमन्त्रौ— ॐ नमो विष्णवे, ऐं क्लीं श्रीं ह्रीं क्ष्रयौंफट् । तद्दलकपोलेषु रामकृष्णषडक्षरमन्त्रौ—रां रामाय नमः, क्लीं कृष्णाय नमः । षट्कोणेषु

सुदर्शनषडक्षरमन्त्रः—सहस्रार हुं फडिति। षट्कोणकपोलेषु प्रणवयुक्तशिवपञ्चाक्षरमन्त्रः—ॐ नमः शिवायेति ॥30॥

तद्बहिः प्रणवमालायुक्तं वृत्तम्। वृत्ताद्बहिरष्टदलपद्मम्। तेषु दलेषु नारायणनृसिंहाष्टाक्षरमन्त्रौ—ॐ नमो नारायणाय, जयजय नरसिंह। तद्दलसन्धिषु रामकृष्णश्रीकराष्टाक्षरमन्त्राः—ॐ रामाय हुं फट् स्वाहा, क्लीं दामोदराय नमः, उत्तिष्ठ श्रीकर स्वाहा ॥31॥

तद्बहिः प्रणवमालायुक्तं वृत्तम्। वृत्ताद्बहिर्नवदलपद्मम्। तेषु दलेषु रामकृष्णहयग्रीवनवाक्षरमन्त्राः—ॐ रामचन्द्राय नमः ॐ क्लीं कृष्णाय गोविन्दाय क्लीम्। 'ह्सौं हयग्रीवाय नमो ह्सौम्। तद्दलकपोलेषु दक्षिणामूर्तिनवाक्षरमन्त्रः—ॐ दक्षिणामूर्तिरतरोम् ॥32॥

तद्बहिर्नारायणबीजयुक्तं वृत्तम्। वृत्ताद्बहिर्दशदलपद्मम्। तेषु दलेषु रामकृष्णदशाक्षरमन्त्रौ—हुं जानकीवल्लभाय स्वाहा, गोपीजनवल्लभाय स्वाहा। तद्दलसन्धिषु नृसिंहमालामन्त्रः—ॐ नमो भगवते श्रीमहानृसिंहाय करालदंष्ट्रवदनाय मम विघ्नान् पचपच स्वाहा ॥33॥

तद्बहिर्नृसिंहैकाक्षरयुक्तं वृत्तम्—क्ष्म्रौं इत्येकाक्षरम्। वृत्ताद्बहिर्द्वादशदलपद्मम्। तेषु दलेषु नारायणवासुदेवद्वादशाक्षरमन्त्रौ—ॐ नमो भगवते नारायणाय, ॐ नमो भगवते वासुदेवाय। तद्दलकपोलेषु महाविष्णुरामकृष्णद्वादशाक्षरमन्त्राश्च—ॐ नमो भगवते महाविष्णवे, ॐ ह्रीं भरताग्रज राम क्लीं स्वाहा, श्रीं ह्रीं क्लीं कृष्णाय गोविन्दाय नमः ॥34॥

तद्बहिर्जगन्मोहनबीजयुक्तं वृत्तं—क्लीमिति। वृत्ताद्बहिश्चतुर्दशदलपद्मम्। तेषु दलेषु लक्ष्मीनारायणहयग्रीवगोपालदधिवामनमन्त्राश्च—ॐ ह्रीं ह्रीं श्रीं श्रीं लक्ष्मीवासुदेवाय नमः, ॐ नमः सर्वकोटिसर्वविद्याराजाय, क्लीं कृष्णाय गोपालचूडामणये स्वाहा, ॐ नमो भगवते दधिवामनाय। तद्दलसन्धिष्वन्नपूर्णेश्वरीमन्त्रः—ह्रीं पद्मावत्यन्नपूर्णे माहेश्वरि स्वाहा ॥35॥

तद्बहिः प्रणवमालायुक्तं वृत्तम्। वृत्ताद्बहिः षोडशदलपद्मम्। तेषु दलेषु श्रीकृष्णसुदर्शनषोडशाक्षरमन्त्रौ च—ॐ नमो भगवते रुक्मिणीवल्लभाय स्वाहा, ॐ नमो भगवते महासुदर्शनाय हुं फट्। तद्दलसंधिषु स्वराः सुदर्शनमालामन्त्राः—अंआंइंईंउंऊंऋंॠंऌंॡंएंऐंओंऔंअंअः, सुदर्शनमहाचक्राय दीप्तरूपाय सर्वतो मां रक्षरक्ष सहस्रार हुं फट् स्वाहा ॥36॥

तद्बहिर्वराहबीजयुक्तं वृत्तं—तद्धुमिति। वृत्ताद्बहिरष्टादशदलपद्मम्। तेषु दलेषु श्रीकृष्णवामनाष्टादशाक्षरमन्त्रौ—क्लीं कृष्णाय गोविन्दाय गोपीजनवल्लभाय स्वाहा, ॐ नमो विष्णवे सुरपतये महाबलाय स्वाहा। तद्दलकपोलेषु गरुडपञ्चाक्षरीमन्त्रो गरुडमालामन्त्रश्च—क्षिप ॐ स्वाहा, ॐ नमः पक्षिराजाय सर्वविषभूतरक्षःकृत्याऽऽदिभेदनाय सर्वेष्टसाधकाय स्वाहा ॥37॥

तद्बहिर्मायाबीजयुक्तं वृत्तं—ह्रीमिति। वृत्ताद्बहिः पुनरष्टदलपद्मम्। तेषु दलेषु श्रीकृष्णवामनाष्टाक्षरमन्त्रौ—ॐ नमो दामोदराय, ॐ वामनाय नमः ॐ। तद्दलकपोलेषु नीलकण्ठत्र्यक्षरीगरुडपञ्चाक्षरीमन्त्रौ च—प्रें रीं ठः, नमोऽण्डजाय ॥38॥

तद्बहिर्मन्मथबीजयुक्तं वृत्तम्। वृत्ताद्बहिश्चतुर्विंशतिदलपद्मम्। तेषु दलेषु शरणागतनारायणमन्त्रौ नारायणहयग्रीवगायत्रीमन्त्रौ च—श्रीमन्नारायणचरणौ शरणं प्रपद्ये, श्रीमते नारायणाय नमः, नारायणाय विद्महे एवग्रीवाय धीमहि तन्नो विष्णुः प्रचोदयात्। वागीश्वराय विद्महे हयग्रीवाय धीमहि तन्नो हंसः प्रचोदयात्। तद्दलकपोलेषु नृसिंहसुदर्शनब्रह्मगायत्रीमन्त्राश्च—वज्रनखाय विद्महे तीक्ष्णदंष्ट्राय धीमहि तन्नः सिंहः प्रचोदयात्, सुदर्शनाय विद्महे हेतिराजाय धीमहि तन्नश्चक्रः प्रचोदयात्, तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि धियो यो नः प्रचोदयात् ॥39॥

तद्बहिर्हयग्रीवैकाक्षरयुक्तं वृत्तं—ह्सौमिति। वृत्ताद्बहिर्द्वात्रिंशद्दलपद्मम्। तेषु दलेषु नृसिंहहयग्रीवानुष्टुभमन्त्रौ—

उग्रं वीरं महाविष्णुं ज्वलन्तं सर्वतोमुखम्।
नृसिंहं भीषणं भद्रं मृत्युमृत्युं नमाम्यहम्॥
ऋग्यजुःसामरूपाय वेदाहरणकर्मणे।
प्रणवोद्गीथवपुषे महाश्वशिरसे नमः॥

तद्दलकपोलेषु रामकृष्णानुष्टुभमन्त्रौ—

रामभद्र महेष्वास रघुवीर नृपोत्तम।
भो दशास्यान्तकास्माकं रक्षां देहि श्रियं च ते॥
देवकीसुत गोविन्द वासुदेव जगत्पते।
देहि मे तनयं कृष्ण त्वामहं शरणं गतः ॥40॥

तद्बहिः प्रणवसंपुटिताग्निबीजयुक्तं वृत्तम्—ॐ रं ॐ इति। वृत्ताद्बहिः षट्त्रिंशद्दलपद्मम्। तेषु दलेषु हयग्रीवषट्त्रिंशदक्षरमन्त्रः पुनरष्टत्रिंशदक्षरमन्त्रश्च—

हंसः—विश्वोत्तीर्णस्वरूपाय चिन्मयानन्दरूपिणे।
तुभ्यं नमो हयग्रीव विद्याराजाय विष्णवे—सोहम्॥

ह्सौं ॐ नमो भगवते हयग्रीवाय सर्ववागीश्वरेश्वराय सर्ववेदमयाय सर्वविद्यां मे देहि स्वाहा। तद्दलकपोलेषु प्रणवादिनमोऽन्ताश्चतुर्थ्यन्ताः केशवादिचतुर्विंशतिमन्त्राश्च। अवशिष्टद्वादशस्थानेषु रामकृष्णगायत्रीद्वयवर्णचतुष्टयमेकैकस्थले—ॐ केशवाय नमः ॐ नारायणाय नमः ॐ माधवाय नमः ॐ गोविन्दाय नमः ॐ विष्णवे नमः ॐ मधुसूदनाय नमः ॐ त्रिविक्रमाय नमः ॐ वामनाय नमः ॐ श्रीधराय नमः ॐ हृषीकेशाय नमः ॐ पद्मनाभाय नमः ॐ दामोदराय नमः ॐ सङ्कर्षणाय नमः ॐ वासुदेवाय नमः ॐ प्रद्युम्नाय नमः ॐ अनिरुद्धाय नमः ॐ

पुरुषोत्तमाय नमः ॐ अधोक्षजाय नमः ॐ नरसिंहाय नमः ॐ अच्युताय नमः ॐ जनार्दनाय नमः ॐ उपेन्द्राय नमः ॐ हरये नमः ॐ श्रीकृष्णाय नमः, दाशरथाय विद्महे सीतावल्लभाय धीमहि तन्नो रामः प्रचोदयात्, दामोदराय विद्महे वासुदेवाय धीमहि तन्नः कृष्णः प्रचोदयात् ॥41॥

तद्बहिः प्रणवसम्पुटिताङ्कुशबीजयुक्तं वृत्तम्—ॐ क्रों ॐ इति। तद्बहिः पुनर्वृत्तम्। तन्मध्ये द्वादशकुक्षिस्थानानि सान्तरालानि। तेषु कौस्तुभवनमालाश्रीवत्ससुदर्शनगरुडपद्मध्वजानन्तशार्ङ्गगदाशङ्खनन्दकमन्त्राः प्रणवादिनमोऽन्ताश्चतुर्थ्यन्ताः क्रमेण—ॐ कौस्तुभाय नमः ॐ वनमालायै नमः ॐ श्रीवत्साय नमः ॐ सुदर्शनाय नमः ॐ गरुडाय नमः ॐ पद्माय नमः ॐ ध्वजाय नमः ॐ अनन्ताय नमः ॐ शार्ङ्गाय नमः ॐ गदायै नमः ॐ शङ्खाय नमः ॐ नन्दकाय नमः। तदन्तरालेषु—ॐ विष्वक्सेनाय नमः ॐ आचक्राय स्वाहा ॐ विचक्राय स्वाहा ॐ सुचक्राय स्वाहा ॐ धीचक्राय स्वाहा ॐ संचक्राय स्वाहा ॐ ज्वालाचक्राय स्वाहा ॐ क्रुद्धोल्काय स्वाहा ॐ महोल्काय स्वाहा ॐ वीर्योल्काय स्वाहा ॐ विद्योल्काय स्वाहा ॐ सहस्रोल्काय स्वाहा इति प्रणवादिमन्त्राः ॥42॥

तद्बहिः प्रणवसम्पुटितगरुडपञ्चाक्षरयुक्तं वृत्तम्—ॐ क्षिप ॐ स्वाहा ॐ। तच्च द्वादशवज्रैः सान्तरालैरलंकृतम्। तेषु वज्रेषु—ॐ पद्मनिधये नमः ॐ महापद्मनिधये नमः ॐ गरुडनिधये नमः ॐ शङ्खनिधये नमः ॐ मकरनिधये नमः ॐ कच्छपनिधये नमः ॐ विद्यानिधये नमः ॐ परमानन्दनिधये नमः ॐ मोक्षनिधये नमः ॐ लक्ष्मीनिधये नमः ॐ ब्रह्मनिधये नमः ॐ श्रीमुकुन्दनिधये नमः ॐ वैकुण्ठनिधये नमः। तत्संधिस्थानेषु—ॐ विद्याकल्पकतरवे नमः ॐ आनन्दकल्पकतरवे नमः ॐ ब्रह्मकल्पकतरवे नमः ॐ भुक्तिकल्पकतरवे नमः ॐ अमृतकल्पकतरवे नमः ॐ बोधकल्पकतरवे नमः ॐ विभूतिकल्पकतरवे नमः ॐ वैकुण्ठकल्पकतरवे नमः ॐ वेदकल्पकतरवे नमः ॐ योगकल्पकतरवे नमः ॐ यज्ञकल्पकतरवे नमः ॐ पद्मकल्पकतरवे नमः। तच्च शिवगायत्रीपरब्रह्ममन्त्राणां वर्णैर्वृत्ताकारेण संवेष्ट्य—

तत्पुरुषाय विद्महे महादेवाय धीमहि तन्नो रुद्रः प्रचोदयात्,

श्रीमन्नारायणो ज्योतिरात्मा नारायणः परः।

नारायणः परं ब्रह्म नारायणः नमोऽस्तु ते ॥43॥

तदबहिः प्रणवसम्पुटितश्रीबीजयुक्तं वृत्तम्—ॐ श्रीमोमिति। [illegible]ाद्बहिश्चत्वारिंशद्दलपद्मम्। तेषु दलेषु व्याहृतिशिरःसम्पुटितवेदगायत्रीपादचतुष्टयसूर्याष्टाक्षरीमन्त्रौ—ॐ भूः ॐ भुवः ॐ सुवः ॐ महः ॐ जनः ॐ तपः ॐ सत्यम् ॐ तत्सवितुर्वरेण्यम् ॐ भर्गो देवस्य धीमहि ॐ धियो यो नः प्रचोदयात् ॐ परोरजसे सावदोम् ॐ आपो

ज्योती रसोऽमृतं ब्रह्म भूर्भुवः सुवरोम्, ॐ घृणिः सूर्य आदित्यः। तद्दलसन्धिषु प्रणवश्रीबीजसम्पुटितनारायणबीजं सर्वत्र—ॐ श्रीमं श्रीमोम् ॥44॥

तद्बहिरष्टशूलाङ्कितभूचक्रम्। चक्रान्तश्चतुर्दिक्षु हंसःसोहंमन्त्रौ प्रणवसम्पुटितौ नारायणास्त्रमन्त्राश्च—ॐ हंसः सोहम्, ॐ नमो नारायणाय हुं फट् ॥45॥

तद्बहिः प्रणवमालासंयुक्तं वृत्तम्। वृत्ताद्बहिः पञ्चाशद्दलपद्मम्। तेषु दलेषु मातृकापञ्चाशदक्षरमाला लकारवर्ज्या। तद्दलसन्धिषु प्रणवश्रीबीजसम्पुटितरामकृष्णमालामन्त्रौ—ॐ श्रीमों नमो भगवते रघुनन्दनाय रक्षोघ्नविशदाय मधुरप्रसन्नवदनायामिततेजसे बलाय रामाय विष्णवे नमः श्रीमों, ॐ श्रीं ॐ नमः कृष्णाय देवकीपुत्राय वासुदेवाय निर्गलच्छेदनाय सर्वलोकाधिपतये सर्वजगन्मोहनाय विष्णवे कामितार्थदाय स्वाहा श्रीमोम् ॥46॥

तद्बहिरष्टशूलाङ्कितभूचक्रम्। तेषु प्रणवसम्पुटितमहानीलकण्ठमन्त्रवर्णानि—ॐमों नमो नीलकण्ठाय ॐ। शूलाग्रेषु लोकपालमन्त्राः प्रणवादिनमोऽन्ताश्चतुर्थ्यन्ताः क्रमेण—ॐ इन्द्राय नमः ॐ अग्नये नमः ॐ यमाय नमः ॐ निर्ऋतये नमः ॐ वरुणाय नमः ॐ वायवे नमः ॐ सोमाय नमः ॐ ईशानाय नमः ॥47॥

तद्बहिः प्रणवमालायुक्तं वृत्तत्रयम्। तद्बहिर्भूपुरचतुष्टयं चतुर्द्वारयुतं चक्रकोणचतुष्टयमहावज्रविभूषितम्। तेषु वज्रेषु प्रणवश्रीबीजसम्पुटितामृतबीजद्वयम्—ॐ श्रीं ठं वं श्रीमोमिति। बहिर्भूपुरवीथ्याम्—ॐ आधारशक्त्यै नमः ॐ मूलप्रकृत्यै नमः ॐ आदिकूर्माय नमः ॐ अनन्ताय नमः ॐ पृथिव्यै नमः। मध्यभूपुरवीथ्याम्—ॐ क्षीरसमुद्राय नमः ॐ रत्नद्वीपाय नमः ॐ रत्नमण्डपाय नमः ॐ श्वेतच्छत्राय नमः ॐ कल्पवृक्षाय नमः ॐ रत्नसिंहासनाय नमः। प्रथमभूपुरवीथ्यां धर्मज्ञानवैराग्यैश्वर्याधर्माज्ञानावैराग्यानैश्वर्यसत्त्वरजस्तमोमायाविद्याऽनन्तपद्माः प्रणवादिनमोन्ताश्चतुर्थ्यन्ताः क्रमेण। बाह्यवृत्तवीथ्यां विमलोत्कर्षिणी ज्ञानाक्रियायोगाप्रह्वीसत्येशानाः प्रणवादिनमोऽन्ताश्चतुर्थ्यन्ताः क्रमेण। अन्तर्वृत्तवीथ्यां—ओमनुग्रहायै नमः, ॐ नमो भगवते विष्णवे सर्वभूतात्मने वासुदेवाय सर्वात्मसंयोगयोगपीठात्मने नमः।

वृत्तावकाशेषु—

बीजं प्राणं च शक्तिं च दृष्टिं वश्यादिकं तथा।

मन्त्रयन्त्राख्यगायत्रीप्राणस्थापनमेव च।

भूतदिक्पालबीजानि यन्त्रस्याङ्गानि वै दश॥

मूलमन्त्रमालामन्त्रकवचदिग्बन्धनमन्त्राश्च ॥48॥

इस प्रकार पहले 28 और 29 कण्डिकाओं के द्वारा अनन्त आसन के ऊपर स्थित समष्टिमहायंत्र को बताकर बाद में 30 से 48 कण्डिकाओं के द्वारा व्यष्टियंत्र का निगूढ स्वरूप और उसमें उपयुक्त

रहस्यमय मन्त्र बताए गए हैं। इसका स्वरूप और उसमें उपयुक्त मन्त्र दोनों रहस्यमय और गुरु से ही बोध्य हैं।

एवंविधमेतद्यन्त्रं महामन्त्रमयं योगधीरान्तैः परममन्त्रैरलङ्कृतं षोडशोपचारैरभ्यर्चितं जपहोमादिना साधितमेतद्यन्त्रं शुद्धब्रह्मतेजोमयं सर्वाभयङ्करं समस्तदुरितक्षयकरं सर्वाभीष्टसम्पादकं सायुज्यमुक्तिप्रद-मेतत् परमवैकुण्ठमहानारायणयन्त्रं प्रज्वलति ॥49॥

ऐसा यह यन्त्र महायन्त्रमय है। योगधीर तक के परममन्त्रों से यह शोभित है। यदि इसकी षोडशोपचार पूजा की जाए और जप-होम आदि विहित विधियों से उसको सिद्ध किया जाए, तो यह मन्त्र शुद्ध तेजोमय बनकर साधक को सब तरह से निर्भय बनाता है। समग्र पापों का नाश करता है। सभी इष्ट कामनाएँ पूरी करता है। सायुज्य मुक्ति प्रदान करता है। ऐसा यह परमवैकुण्ठ महायन्त्र प्रकाशित है।

तस्योपरि च निरतिशयानन्दतेजोराश्यभ्यन्तरसमासीनं वाचामगोचरा-नन्दतेजोराश्याकारं चित्साराविर्भूतानन्दविग्रहं बोधानन्दस्वरूपं निरति-शयसौन्दर्यपारावारं तुरीयस्वरूपं तुरीयातीतं चाद्वैतपरमानन्दं निरन्तरा-तितुरीयनिरतिशयसौन्दर्यानन्दपारावारं लावण्यवाहिनीकल्लोलतटिद्भा-सुरं दिव्यमङ्गलविग्रहं मूर्तिमद्भिः परममङ्गलैरुपसेव्यमानं चिदानन्दमयै-रनन्तकोटिरविप्रकाशैरनन्तभूषणैरलङ्कृतं सुदर्शनपाञ्चजन्यपद्मगदा-ऽसिशार्ङ्गमुसलपरिघाद्यैश्चिन्मयैरनेकायुधगणैर्मूर्तिमद्भिः सुसेवितं श्रीवत्स-कौस्तुभवनमालाऽङ्कितवक्षसं ब्रह्मकल्पवनामृतपुष्पवृष्टिभिः सन्तत-मानन्दं ब्रह्मानन्दरसनिर्भरैरसंख्यैरतिमङ्गलं शेषायुतफणाजालविपुल-च्छत्रशोभितं तत्फणामण्डलोदर्चिर्मणिद्योतितविग्रहं तदङ्गकान्तिनिर्झरै-स्ततं निरतिशयब्रह्मगन्धस्वरूपं निरतिशयानन्दब्रह्मगन्धविशेषाकारम् अनन्तब्रह्मगन्धाकारसमष्टिविशेषम् अनन्तानन्दतुलसीमाल्यैरभिनवं चिदानन्दमयानन्तपुष्पमाल्यैर्विराजमानं तेजःप्रवाहतरङ्गतत्परम्परा-भिर्ज्वलन्तं निरतिशयानन्तकान्तिविशेषावर्तैरभितोऽनिशं प्रज्वलन्तं बोधानन्दमयानन्तधूपदीपावलिभिरतिशोभितं निरतिशयानन्दचामर-विशेषैः परिसेवितं निरन्तरनिरुपमनिरतिशयोत्कटज्ञानानन्दानन्तगुच्छ-फलैरलङ्कृतं चिन्मयानन्ददिव्यविमानच्छत्रध्वजराजिभिर्विराजमानं परममङ्गलानन्तदिव्यतेजोभिर्ज्वलन्तम् अनिशं वाचामगोचरानन्ततेजो-राश्यन्तर्गतम् अर्धमात्रात्मकं तुर्यं ध्वन्यात्मकं तुरीयातीतम् अवाच्यं नादबिन्दुकलाऽध्यात्मस्वरूपं चेत्याद्यनन्ताकारेणावस्थितं निर्गुणं निष्क्रियं निर्मलं निरवद्यं निरञ्जनं निराकारं निराश्रयं निरतिशयाद्वैत-परमानन्दलक्षणम् आदिनारायणं ध्यायेदित्युपनिषत् ॥50॥

इत्याथर्वणमहानारायणोपनिषदि परममोक्षस्वरूपनिरूपणद्वारा त्रिपाद्विभूति-परमवैकुण्ठमहानारायणयन्त्रस्वरूपनिरूपणं नाम सप्तमोऽध्यायः।

उसके ऊपर निरतिशय आनन्दमय तेजोराशि के बीच तुरीय और तुरीयातीय स्वरूप विराजित है। वह वाणी का अविषय है, आनन्द और तेजोराशि के आकारवाला है, वह बोध और आनंदस्वरूप निरतिशय आनन्द और सौन्दर्य के सागर जैसा, अद्वैत परमानन्द से व्याप्त, तुरीय से परे, निरतिशय आनन्द और सौन्दर्य के सागररूप, चैतन्य के सारतत्त्व से उत्पन्न आनन्दरूप शरीरधारी, बोध और आनन्द का स्वरूप, लावण्य की नदी के तरंगों से युक्त, विद्युत् जैसा प्रकाशित, दिव्यमंगल शरीरधारी, श्रेष्ठमूर्त मांगल्यों से सेवित, चिदानन्दमय अनन्त सूर्यों के प्रकाशों से तथा अनंत आभूषणों से शोभित है। सुदर्शन-पांचजन्य शंख-कमल-गदा-तलवार-शार्ङ्ग-धनुष-मुसल-परिघ आदि चैतन्यमय अनेक मूर्तिमान आयुधों के समूहों से अच्छी तरह सेवित है। और उस नारायणयन्त्र में श्रीवत्स, कौस्तुभ तथा वनमाला से युक्त वक्षःस्थलवाले, ब्रह्मरूप, कल्पवन के अमर पुष्पों की वृष्टियों से व्याप्त, आनन्दस्वरूप, ब्रह्मानन्द के रस से भरे हुए असंख्य प्रवाहों से अतिमंगल शेषनाग के दस हजार फणों के समूहरूपी बड़े छत्र से शोभायमान, उन फणों के ऊपर के बहुत तेजस्वी मणियों से प्रकाशित शरीरवाले, अपने अंगों की कान्तिरूपी झरनों से व्याप्त, निरतिशय ब्रह्मरूप सुगन्ध से सुगन्धित, निरतिशय आनन्दयमय ब्रह्मगन्ध के विशेष आकार रूप, अनन्त ब्रह्मगन्ध की विशेष समष्टिरूप आकारवाले, आनन्दमय तुलसी की मालाओं से चारों ओर नवीन, चिदानन्दमय अनन्त पुष्पों की मालाओं से विराजमान, उनके प्रवाहों और उनकी तरंगों की परम्पराओं से प्रकाशित होते हुए निरतिशय आनन्दस्वरूप कान्ति की विशेषताओं के मण्डलों से निरन्तर प्रज्वलित हुए, बोधानन्दमय अनन्त धूपों और दीपकों की पंक्तियों से अत्यन्त शोभित और निरतिशय आनन्दमय अनेक चामरों से चारों ओर सुसेवित होते हुए, निरन्तर उपमारहित, निरतिशय उत्कट ज्ञानानन्दमय, अनन्त गुच्छों और फलों से अलंकृत, चैतन्यमय और आनन्दस्वरूप दिव्य विमानों, छत्रों और ध्वजों की पंक्तियों से विराजमान, परममंगलमय, अनन्त दिव्यतेज से प्रकाशमान, निरन्तर वाणी के अविषयरूप, अनन्त तेज की राशि की भीतर रहे हुए, अर्धमात्रारूप, तुरीयस्वरूप, नादस्वरूप, तुर्यातीत, अवर्णनीय, और नाद-बिन्दु-कला-अध्यात्मस्वरूप इत्यादि अनन्त आकार से अवस्थित, निर्गुण, क्रियाशून्य, निर्मल, निर्दोष, निरंजन, निराकार, आश्रयरहित और निरतिशय अद्वैत परमानन्दरूप लक्षण वाले श्रीआदिनारायण का ध्यान करना चाहिए। ऐसा यह उपनिषद् कहती है।

इस प्रकार आथर्वण-महानारायणोपनिषद् में परममोक्षस्वरूपनिरूपण द्वारा त्रिपाद्वि-भूतिपरमवैकुण्ठमहानारायणयन्त्रस्वरूपनिरूपण पूरा हुआ।

❋

अष्टमोऽध्यायः

ततः पितामहः परिपृच्छति भगवन्तं महाविष्णुं—भगवन् शुद्धाद्वैतपरमा-नन्दलक्षणपरब्रह्मणस्तव कथं विरुद्धवैकुण्ठप्रासादप्राकारविमानाद्य-नन्तवस्तुभेदः ॥1॥

सत्यमेवोक्तमिति भगवान् महाविष्णुः परिहरति। यथा शुद्धसुवर्णस्य कटकमुकुटाङ्गदादिभेदः। यथा समुद्रसलिलस्य स्थूलसूक्ष्मतरङ्गफेन-बुद्बुदकरकलवणपाषाणाद्यनन्तवस्तुभेदः। यथा भूमेः पर्वतवृक्षतृण-गुल्मलताद्यनन्तवस्तुभेदः। तथैवाद्वैतपरमानन्दलक्षणपरब्रह्मणो मम

सर्वाद्वैतमुपपन्नं भवत्येव। मत्स्वरूपमेव सर्वं मद्व्यतिरिक्तमणुमात्रं न विद्यते ॥2॥

पुनः पितामह ब्रह्मा ने भगवान् महाविष्णु से पूछा—'हे भगवन्! आप तो स्वयं शुद्ध, अद्वैत, परमानन्द, परब्रह्म के ही लक्षणवाले हैं। फिर भी इससे विरोधी ये वैकुण्ठधाम, वहाँ के महल, वहाँ के प्राकार, विमान आदि अनन्त वस्तुस्वरूप से आपका भेद किस तरह संभव हो सकता है? इस प्रश्न का उत्तर कहते हुए भगवान् महाविष्णु ब्रह्मा की शंका का निराकरण करते हुए कहने लगे कि आपने यह ठीक ही कहा है, परन्तु जिस तरह शुद्ध सोने के कड़े, मुकुट, कुण्डल, बाजूबन्द आदि भेद होते हैं, अथवा जैसे सागर के जल के छोटे-बड़े तरंग-फेन-बुद्बुद्-ओले, लवण और उसके ढेले आदि अनन्त वस्तुओं के रूप में भेद होते हैं, अथवा जिस प्रकार पृथ्वी के पर्वत, वृक्ष, घास, पौधे, बेल आदि अनन्त वस्तुओं के रूप में भेद होते हैं, ठीक उसी प्रकार से अद्वैत परमानन्दरूप लक्षणवाले परब्रह्म ऐसे मेरे स्वरूपों के केवल काल्पनिक भेद ही हैं, वास्तविक रूप से तो सब कुछ अद्वैत परब्रह्म ही है, ऐसा सिद्ध होता है। सब कुछ मेरा ही स्वरूप ही है, मुझसे अलग बिल्कुल नहीं है।

पुनः पितामहः परिपृच्छति—भगवन् परमवैकुण्ठ एव परममोक्षः। परममोक्षस्त्वेक एव श्रूयते सर्वत्र। कथमनन्तवैकुण्ठाश्च अनन्तानन्दसमुद्रादयश्च अनन्तमूर्तयः सन्तीति ॥3॥

तथेति होवाच भगवान् महाविष्णुः—एकस्मिन्नविद्यापादेऽनन्तकोटिब्रह्माण्डानि सावरणानि श्रूयन्ते। तस्मिन्नेकस्मिन्नण्डे बहवो लोकाश्च बहवो वैकुण्ठाश्चानन्तविभूतयश्च सन्त्येव। सर्वाण्डेष्वनन्तलोकाश्चानन्तवैकुण्ठाः सन्तीति सर्वेषां खल्वभिमतम्। पादत्रयेऽपि किं वक्तव्यम्। निरतिशयानन्दाविर्भावो मोक्ष इति मोक्षलक्षणं पादत्रये वर्तते। तस्मात् पादत्रयं परममोक्षः। पादत्रयं परमवैकुण्ठः। पादत्रयं परमकैवल्यमिति। ततः शुद्धचिदानन्दब्रह्मविलासानन्दाश्चानन्तरपरमानन्दविभूतयश्चानन्तवैकुण्ठाश्चानन्तपरमानन्दसमुद्रादयः सन्त्येव ॥4॥

इसके बाद पितामह ब्रह्मा ने पुनः पूछा—'हे भगवन्! परम वैकुण्ठ ही परममोक्ष है। किन्तु शास्त्रों में परम मोक्ष तो एक ही सुना जाता है। फिर भी अनन्त वैकुण्ठ, अनन्त आनन्दसागर और अनन्त मूर्तियाँ हैं, यह बात कैसे उचित ठहरती है।?' तब भगवान् विष्णु ने कहा—हाँ, वह उचित है, क्योंकि एक-एक ही अविद्यापाद अनन्त कोटि ब्रह्माण्ड आवरणों के साथ स्थित हैं, ऐसा सुना जाता है। उस एक ही ब्रह्माण्ड में बहुत से लोग, बहुत से वैकुण्ठ और अनन्त विभूतियाँ भी तो हैं ही। और सब ब्रह्माण्डों में अनन्त लोग एवं अनन्त वैकुण्ठ हैं—यह बात तो सभी लोगों को मान्य है ही। अब बाकी के तीन पादों में क्या है, यह कहना चाहिए। निरतिशय आनन्द का आविर्भाव ही मोक्ष है—मोक्ष का ऐसा लक्षण अन्य तीनों पादों में है। इसलिए तीन पाद परममोक्ष हैं, एवं तीन पाद परम वैकुण्ठ है और तीन पाद परम कैवल्य है। इसलिए शुद्ध चैतन्य और आनन्दरूप ब्रह्म के विलासवाले आनन्द, परमानन्द की विभूतियाँ, अनन्त वैकुण्ठ, और अनन्त परमानन्द के समूह—ये सब हैं ही।

उपासकस्ततोऽभ्येत्यैवंविधं नारायणं ध्यात्वा प्रदक्षिणनमस्कारान् विधाय विविधोपचारैरभ्यर्च्य निरतिशयाद्वैतपरमानन्दलक्षणो भूत्वा

तदग्रे सावधानेनोपविश्य अद्वैतयोगमास्थाय सर्वाद्वैतपरमानन्दलक्षणाखण्डामिततेजोराश्याकारं विभाव्योपासकः स्वयं शुद्धबोधानन्दमयामृतनिरतिशयानन्दतेजोराश्याकारो भूत्वा महावाक्यार्थमनुस्मरन् ब्रह्माहमस्मि अहमस्मि ब्रह्माहमस्मि योऽहमस्मि ब्रह्माहमस्मि अहमेवाहं मां जुहोमि स्वाहा। अहं ब्रह्मेति भावनया यथा परमतेजोमहानदीप्रवाहः परमतेजःपारावारे प्रविशति। यथा परमतेजःपारावारतरङ्गाः परमतेजःपारावारे प्रविशन्ति। तथैव सच्चिदानन्दात्मोपासकः सर्वपरिपूर्णाद्वैतपरमानन्दलक्षणे परब्रह्मणि नारायणे मयि सच्चिदानन्दात्मकोऽहमजोऽहं परिपूर्णोऽहमस्मीति प्रविवेश। तत उपासको निस्तरङ्गाद्वैतापारनिरतिशयसच्चिदानन्दसमुद्रो बभूव ॥5॥

यस्त्वनेन मार्गेण सम्यगाचरति स नारायणो भवत्यसंशयमेव। अनेन मार्गेण सर्वे मुनयः सिद्धिं गताः। असंख्याताः परमयोगिनश्च सिद्धिं गताः ॥6॥

फिर उस प्रकार के नारायण को प्राप्त कर लेने के बाद उपासक उनका ध्यान करता है, प्रदक्षिणा और नमस्कार करता है, विविध उपचारों से उनकी पूजा करता है और निरतिशय परमानन्द युक्त होकर उनके सामने बैठता है। बाद में अद्वैत योग का आश्रय करके सम्पूर्ण अद्वैत परमानन्द के लक्षणयुक्त अखंड-अमित-तेजोराशि का जो आकार है, उनका चिन्तन करके उपासक स्वयं भी ज्ञानमय और आनन्दमय, अमर तथा निरतिशय आनन्दस्वरूप तेजोराशि का आकार ग्रहण कर लेता है, और महावाक्य के अर्थ का स्मरण करता है कि 'मैं ब्रह्म हूँ, मैं ब्रह्म हूँ, मैं जो हूँ, वही ब्रह्म है। मैं ही मेरा होम करता हूँ, स्वाहा' इस प्रकार, 'मैं ब्रह्म हूँ'—ऐसी भावना से, जिस तरह परमप्रेम की महानदी का प्रवाह वेग के सागर में प्रवेश करता है, उसी तरह और जैसे परमतेज के सागर की तरंगें परमतेज के सागर में प्रवेश करती हैं, उसी तरह वह सच्चिदानन्द स्वरूपधारी उपासक, 'सर्वांशपरिपूर्ण अद्वैत परमानन्दस्वरूप परब्रह्म नारायण मुझमें हैं,' 'मैं अब सच्चिदानन्द स्वरूप हूँ' 'अब मैं परिपूर्ण हूँ'—ऐसी भावना से प्रवेश करता है, और वह उपासक फिर निस्तरंग अद्वैत-अपार-निरतिशय-सच्चिदानन्द का सागर बन जाता है। जो मनुष्य इस मार्ग पर चलकर उत्तम आचरण करता है, वह अवश्य नारायण ही बन जाता है। इस मार्ग पर चलकर सब मुनियों ने सिद्धि प्राप्त की है तथा असंख्य श्रेष्ठ मुनिजन सिद्धि प्राप्त किए हुए हैं।

ततः शिष्यो गुरुं परिपृच्छति—भगवन् सालम्बनिरालम्बयोगौ कथमिति ॥7॥

सालम्बस्तु समस्तकर्मातिदूरतया करचरणादिमूर्तिविशिष्टं मण्डलाद्यालम्बनं सालम्बयोगः। निरालम्बस्तु समस्तनामरूपकर्मातिदूरतया सर्वकामाद्यन्तःकरणवृत्तिसाक्षितया तदालम्बनशून्यतया च भावनं निरालम्बयोगः ॥8॥

फिर शिष्य ने गुरु से पूछा—'हे भगवन्! सालम्ब और निरालम्ब योग कैसा होता है, यह मुझे कहिए।' तब गुरु ने कहा—सभी कर्मों को अत्यन्त दूर ढकेलकर, हाथ-पैर आदि अवयवों वाली मूर्ति का जिस योग में ध्यान किया जाता है, वह अथवा जिसमें मण्डल आदि का आलम्बन होता है वह

'सालम्ब-योग' कहा जाता है। तथा जिस योग में सब नामों तथा कर्मों को अत्यन्त दूर करके, सभी कामनाओं से मुक्त हुए अंत:करण की वृत्ति के साक्षी रूप में, उसके आलम्बन से रहित होकर ही चिन्तन किया जाता है, उसे 'निरालम्ब योग' कहा जाता है।

अथ च निरालम्बयोगाधिकारी कीदृशो भवति ॥9॥

अमानित्वादिलक्षणोपलक्षितो यः पुरुषः स एव निरालम्बयोगाधिकारी ॥10॥

कार्यः कश्चिदस्ति। तस्मात् सर्वेषामधिकारिणामनधिकारिणां च भक्तियोग एव प्रशस्यते। भक्तियोगो निरुपद्रवः। भक्तियोगान्मुक्तिः। भक्तिमतामनायासेनाचिरादेव तत्त्वज्ञानं भवति ॥11॥

तत्कथमिति। भक्तवत्सलः स्वयमेव सर्वेभ्यो मोक्षविघ्नेभ्यो भक्तिनिष्ठान् सर्वान् परिपालयति सर्वाभीष्टान् प्रयच्छति मोक्षं दापयति चतुर्मुखादीनाम्। सर्वेषामपि विना विष्णुभक्त्या कल्पकोटिभिर्मोक्षो न विद्यते। कारणेन विना कार्यं नोदेति। भक्त्या विना ब्रह्मज्ञानं कदाऽपि न जायते। तस्मात्त्वमपि सर्वोपायान् परित्यज्य भक्तिमाश्रय। भक्तिनिष्ठो भव। भक्तिनिष्ठो भव। भक्त्या सर्वसिद्धयः सिध्यन्ति। भक्त्यसाध्यं न किञ्चिदस्ति ॥12॥

अब इस निरालम्ब योग का अधिकारी कैसा होता है ? तो कहते हैं—अभिमानराहित्य आदि लक्षणों से युक्त होता है, वही निरालम्बयोग का अधिकारी समझा जाता है। और वह तो कोई विरल पुरुष ही हो सकता है। इसलिए सभी अधिकारियों और अनधिकारियों के लिए भक्तियोग ही उत्तम है। क्योंकि भक्तियोग उपद्रवरहित है। भक्तियोग से मुक्ति मिलती है। जो भक्तिमान हैं, उन्हें अनायास ही तत्त्वज्ञान हो जाता है। ऐसा कैसे होता है ? तो उत्तर यह है कि भक्तवत्सल भगवान् स्वयं ही सभी भक्तिनिष्ठों का मोक्षावरोधक विघ्नों से रक्षण करते हैं। वे सभी इच्छित फल देते हैं, और मोक्ष प्रदान करते हैं। ब्रह्मा आदि करोड़ों देवों का भी विष्णुभक्ति के बिना करोड़ों वर्षों में भी मोक्ष नहीं हो सकता। कारण के बिना कार्य कभी उत्पन्न हो नहीं सकता। इसलिए तुम भी अन्य सभी उपायों को छोड़कर भक्ति का ही आश्रय कर लो। भक्तिनिष्ठ हो जाओ ! भक्तिपरायण हो जाओ ! भक्ति से सभी सिद्धियाँ प्राप्त की जा सकती हैं, भक्ति से असाध्य कुछ भी नहीं है।

एवंविधं गुरूपदेशमाकर्ण्य सर्वं परमतत्त्वरहस्यमवबुध्य सर्वसंशयान् विधूय क्षिप्रमेव मोक्षं साधयामीति निश्चित्य ततः शिष्यः समुत्थाय प्रदक्षिणनमस्कारं कृत्वा गुरुभ्यो गुरुपूजां विधाय गुर्वनुज्ञया क्रमेण भक्तिनिष्ठो भूत्वा भक्त्यतिशयेन पक्वविज्ञानं प्राप्य तस्मादनायासेन शिष्यः क्षिप्रमेव साक्षान्नारायणो बभूवेत्युपनिषत् ॥13॥

इस प्रकार से गुरु के उपदेश को सुनकर, 'मैं परमतत्त्व का सर्व रहस्य जानकर, सभी संशयों को छोड़कर मोक्ष को शीघ्र साध्य करूँगा'—इस प्रकार का निश्चय करके शिष्य उठा और गुरु की प्रदक्षिणा करके नमस्कार किया और फिर उनकी पूजा की। बाद में उनकी अनुमति लेकर भक्तिनिष्ठ बना। और क्रमशः भक्ति में वृद्धि होते-होते पक्व विज्ञान प्राप्त करके उसके द्वारा अनायास ही शीघ्र स्वयं नारायणरूप बन गया। ऐसा यह उपनिषद् कहती है।

ततः प्रोवाच भगवान् महाविष्णुः चतुर्मुखमवलोक्य—ब्रह्मन् परमतत्त्वरहस्यं ते सर्वं कथितम्। तत्स्मरणमात्रेण मोक्षो भवति। तदनुष्ठानेन सर्वमविदितं विदितं भवति। यत्स्वरूपज्ञानिनः सर्वमविदितं विदितं भवति तत्सर्वं परमरहस्यं कथितम् ॥14॥

बाद में भगवान् महाविष्णु ने ब्रह्मा को सामने देखकर कहा—हे ब्रह्मा ! परमतत्त्व का सर्व रहस्य मैंने आपसे कहा। उसका केवल स्मरण करने से ही मोक्ष मिल जाता है। और उसका आचरण करने से तो नहीं जाना हुआ भी सब कुछ जाना जा सकता है। उसका स्वरूप जानने वालों को सभी अज्ञात वस्तुएँ ज्ञात हो जाती हैं। यह सब परमरहस्य मैंने कहा है।

गुरुः क इति। गुरुः साक्षादादिनारायणः पुरुषः। स आदिनारायणोऽहमेव। तस्मान्मामेकं शरणं व्रज। मद्भक्तिनिष्ठो भव। मदीयोपासनां कुरु। मामेव प्राप्स्यसि। मद्व्यतिरिक्तं सर्वं बाधितम्। मद्व्यतिरिक्तमबाधितं न किञ्चिदस्ति। निरतिशयानन्दाद्वितीयोऽहमेव। सर्वपरिपूर्णोऽहमेव। सर्वाश्रयोऽहमेव। वाचामगोचरनिराकारपरब्रह्मस्वरूपोऽहमेव। मद्व्यतिरिक्तमणुमात्रं न विद्यते ॥15॥

अब, 'गुरु कौन है ?' यह कहा जाता है—साक्षात् आदिनारायण पुरुष स्वयं ही गुरु हैं। और मैं ही वह आदिनारायण हूँ। इसलिए तुम केवल मेरी ही शरण में आओ। मेरी ही भक्ति में निष्ठासम्पन्न हो जाओ। मेरी ही उपासना करो। इससे तुम मुझे ही प्राप्त करोगे। मेरे सिवा सब मिथ्या है। मेरे सिवा जो मिथ्या न हो, ऐसा कुछ है ही नहीं। मैं ही निरतिशय आनंद और मैं ही अद्वितीय हूँ। सब तरह से परिपूर्ण मैं ही हूँ। मैं ही सब का आश्रय हूँ। जो वाणी का अविषय है, ऐसे परब्रह्म का निराकारस्वरूप भी तो मैं ही हूँ। मुझसे अलग तो एक अणु भी नहीं है।

इत्येवं महाविष्णोः परममिममुपदेशं लब्ध्वा पितामहः परमानन्दं प्राप ॥16॥

विष्णोः कराभिमर्शनेन दिव्यज्ञानं प्राप्य पितामहस्ततः समुत्थाय प्रदक्षिणनमस्कारान् विधाय विविधोपचारैर्महाविष्णुं प्रपूज्य प्राञ्जलिर्भूत्वा विनयेनोपसङ्गम्य भगवन् भक्तिनिष्ठां मे प्रयच्छ। त्वदभिन्नं मां परिपालय कृपालय ॥17॥

इस प्रकार से श्रीमहाविष्णु का उत्तम उपदेश सुनकर ब्रह्माजी बहुत आनंदित हुए। उन्हें विष्णु के हाथ का स्पर्श होने से दिव्य ज्ञान प्राप्त हुआ। इसके बाद ब्रह्माजी ने खड़े होकर महाविष्णु की प्रदक्षिणा की और उन्हें नमस्कार किया। बाद में विविध उपचारों से उनका पूजन किया और दोनों हाथ जोड़कर उनके पास जाकर विनयपूर्वक कहने लगे—'हे कृपानिधान ! मुझे भक्तिनिष्ठा दीजिए।'

तथैव साधु साध्विति साधुप्रशंसापूर्वकं महाविष्णुः प्रोवाच—मदुपासकः सर्वोत्कृष्टः स भवति। मदुपासनया सर्वमङ्गलानि भवन्ति। मदुपासनया सर्वं जयति। मदुपासकः सर्ववन्द्यो भवति। मदीयोपासकस्यासाध्यं न किञ्चिदस्ति। सर्वबन्धाः प्रविनश्यन्ति। सद्वृत्तमिव सर्वे देवास्तं सेवन्ते। महाश्रेयांसि च सेवन्ते। मदुपासकस्तस्मान्निरतिशयाद्वैतपरमानन्द-

लक्षणपरब्रह्म भवति। यो वै मुमुक्षुरनेन मार्गेण सम्यगाचरति स परमानन्दलक्षणपरब्रह्म भवति ॥18॥

'बहुत अच्छा, बहुत अच्छा' इस तरह प्रशंसापूर्वक महाविष्णु ने कहकर आगे कहा—'मेरा उपासक सबसे उत्कृष्ट बनता है। मेरी उपासना से सब-कुछ मंगल होता है। मेरी उपासना से सब-कुछ विजयी होता है। मेरा उपासक सबके लिए वन्दनीय होता है। मेरे उपासक के लिए कुछ भी असाध्य नहीं होता। उसके सभी बन्धन नष्ट हो जाते हैं। सभी देव सदाचारी की तरह उसकी सेवा करते हैं। सभी कल्याण उसकी सेवा करते हैं। मेरा उपासक मेरी उपासना से निरतिशय परमानन्दस्वरूप परब्रह्म ही हो जाता है।

यस्तु परमतत्त्वरहस्याथर्वणमहानारायणोपनिषदमधीते स सर्वेभ्यः पापेभ्यो मुक्तो भवति। ज्ञानाज्ञानकृतेभ्यः पातकेभ्यो मुक्तो भवति। महापातकेभ्यः पूतो भवति। रहस्यकृतप्रकाशकृतचिरकालात्यन्तकृतेभ्यः सर्वेभ्यः पापेभ्यो मुक्तो भवति। स सकललोकान् जयति। स सकलमन्त्रजपनिष्ठो भवति। स सकलवेदान्तरहस्याधिगतपरमार्थज्ञो भवति। स सकलभोगभुग्भवति। स सकलयोगविद्भवति। स सकलजगत्परिपालको भवति। सोऽद्वैतपरमानन्दलक्षणपरब्रह्म भवति ॥19॥

जो कोई मनुष्य परमतत्त्व के रहस्यरूप इस अथर्ववेदीय महानारायण उपनिषद् को जानता है, वह सभी पापों से मुक्त हो जाता है। जाने-अनजाने किए गये पापों से छुटकारा पाता है। बड़े पापों से मुक्त होकर पवित्र हो जाता है। छिपकर किए हुए, खुले-आम किए गए, प्राचीन काल में किए हुए और अतिशय किए हुए—इन सभी पापों से मुक्त हो जाता है। वह सभी लोकों को जीत लेता है। वह सभी मन्त्रों के जाप में निष्ठावाला होता है। वह सभी वेदान्तों के रहस्य को जानकर परमार्थ को जानने वाला होता है। वह सब भोगों का भोगने वाला होता है। सब योगों को जानने वाला होता है। वह समग्र लोगों का पालन करने वाला हो जाता है। वह अद्वैत परमानन्द लक्षणवाला परब्रह्म ही हो जाता है।

इदं परमतत्त्वरहस्यं न वाच्यं गुरुभक्तिविहीनाय। न चाशुश्रूषवे वाच्यम्। न तपोविहीनाय नास्तिकाय। न दाम्भिकाय मद्भक्तिविहीनाय। मात्सर्याङ्कितनवे न वाच्यम्। न वाच्यं मदसूयापराय कृतघ्नाय ॥20॥
इदं परमरहस्यं यो मद्भक्तेष्वभिधास्यति मद्भक्तिनिष्ठो भूत्वा मामेव प्राप्स्यति ॥21॥
आवयोर्य इमं संवादमध्येष्यति। स नरो ब्रह्मनिष्ठो भवति ॥22॥
श्रद्धावाननसूयुः शृणुयात् पठति वा य इमं संवादमावयोः स पुरुषो मत्सायुज्यमेति ॥23॥
ततो महाविष्णुस्तिरोदधे। ततो ब्रह्मा स्वस्थानं जगामेत्युपनिषत् ॥24॥

इत्याथर्वणमहानारायणोपनिषदि परमसायुज्यमुक्तिस्वरूपनिरूपणं नामाष्टमोऽध्यायः।

उत्तरकाण्डः समाप्तः।

इति त्रिपादविभूतिमहानारायणोपनिषत्समाप्ता।

परमतत्त्व का यह रहस्य गुरुभक्तिरहित को नहीं कहना चाहिए। जो सेवाभावी न हो, उसको भी नहीं कहना चाहिए। तपरहित और नास्तिक को भी नहीं कहना चाहिए। मेरी भक्ति से राहत किसी दाम्भिक को भी नहीं बताना चाहिए। जिसका शरीर (मन) द्वेष से कलंकित हुआ हो, उसको भी नहीं कहना चाहिए। मुझसे ईर्ष्या करने वाले कृतघ्न को भी नहीं कहना चाहिए। जो मनुष्य इस परमरहस्य को मेरे भक्तों को बताएगा, वह मेरी भक्ति में निष्ठावाला होकर मुझे ही प्राप्त करेगा। हम दोनों के इस संवाद को जो मनुष्य पढ़ेगा, वह मेरे सायुज्य को प्राप्त होगा।—ऐसा कहकर महाविष्णु अदृश्य हो गए और ब्रह्मा भी अपने स्थान पर चले गए। इस प्रकार यह उपनिषद् समाप्त होती है।

इस प्रकार आथर्वण-महानारायणोपनिषद् में परमसायुज्यमुक्तिस्वरूपनिरूपण नामक अष्टम अध्याय समाप्त हुआ।

शान्तिपाठः

ॐ भद्रं कर्णेभिः......देवहितं यदायुः। (पूर्ववत्)
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

(54) अद्वयतारकोपनिषत्

(उपनिषत्परिचय)

यह उपनिषत् शुक्लयजुर्वेद की परंपरा की है। गर्भ-जन्म-जरा-मरण-संसार के महान् भय से मनुष्यों को तारने वाला ब्रह्म है। इसीलिए वह 'तारक' है। जीव-ईश्वर को मायाकल्पित जानकर, नाम-रूपादि को 'नेति नेति' कहकर, छोड़ते हुए अवशिष्ट रहे हुए अद्वयब्रह्म की प्राप्ति के लिए, आन्तर-बाह्य-मध्य ऐसे तीन लक्ष्यों का अनुसन्धान करके, शरीर में मूलाधार से ब्रह्मरन्ध्र तक अवस्थित सुषुम्णा नाडी में जो सूक्ष्म और तेजोमय कुण्डलिनी शक्ति है, उसको मन द्वारा देखना चाहिए। इससे मनुष्य मुक्त होता है। और भी भालप्रदेश में तेजोदर्शन, कानों को बन्द करके भीतर के नाद का श्रवण, आँखों के कोनों में स्वर्णिम तेजोदर्शन, नासिका के अग्रभाग में चार-छ-आठ-दस अंगुलों तक प्रकाश को देखने के अभ्यास आदि से योगी अमर बनता है। तीसरा मध्य लक्ष्य ऐसा है जिसमें करोड़ों सूर्यों के प्रकाश जैसे—सूर्याकाश में अथवा परमाकाश, महाकाश, तत्त्वाकाश आदि पंचविध आकाश में दृष्टि स्थिर करने से अनेकविध सिद्धियाँ मिलती हैं। अन्तर्लक्ष्य और बहिर्लक्ष्य में जब आँख का मिलनोन्मीलन बिल्कुल बन्द हो जाता है, तब शांभवी मुद्रा होती है। गुरूपदेशानुसार इन लक्ष्यों का अनुसन्धान करना चाहिए। क्योंकि गुरु ही परमब्रह्म, परमगति, पराविद्या—सब कुछ है।

शान्तिपाठः

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं ..... पूर्णमेवावशिष्यते। (पूर्ववत्)

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

इसका हिन्दी रूपान्तर पूर्व में (जाबालोपनिषद् में) द्रष्टव्य है।

अथातोऽद्वयतारकोपनिषदं व्याख्यास्यामो यतये जितेन्द्रियाय शमदमादिषड्गुणपूर्णाय ॥1॥

चित्स्वरूपोऽहमिति सदा भावयन् सम्यङ् निमीलिताक्षः किंचिदुन्मीलिताक्षो वान्तर्दृष्ट्या भ्रूदहरादुपरि सच्चिदानन्दतेजःकूटरूपं परं ब्रह्मावलोकयंस्तद्रूपो भवति ॥2॥

गर्भजन्मजरामरणसंसारमहद्भयात्संतारयति तस्मात्तारकमिति। जीवेश्वरौ मायिकौ विज्ञाय सर्वविशेषं नेति नेतीति विहाय यदवशिष्यते तदद्वयं ब्रह्म ॥3॥

तत्सिद्ध्यै लक्ष्यत्रयानुसन्धानः कर्तव्यः ॥4॥

योगियों, संन्यासियों, जितेन्द्रियों तथा शम-दमादि छः गुणों से युक्त साधकों के लिए हम अब अद्वयतारकोपनिषद् की व्याख्या कर रहे हैं। यह साधक आँखें बन्द या अधखुली रखकर, भौंहों के

ऊपरी भाग में 'मैं चित्स्वरूप हूँ'—इस प्रकार अन्तःदृष्टि से भावचिन्तन करते हुए सच्चिदानन्द के तेज से युक्त कूट – निश्चल ब्रह्म का दर्शन करता हुआ स्वयं ब्रह्मरूप हो जाता है। वह तेजस्वरूप परब्रह्म, गर्भ-जन्म-जरा-मरण-संसार इत्यादि पापों से तारने वाला है। इसीलिए उसे 'तारक' कहा जाता है। जीव और ईश्वर को मायिक जानकर बाकी सब कुछ को 'नेति नेति' अर्थात् यह नहीं, यह नहीं—ऐसा कहकर छोड़ते हुए जो कुछ शेष बचा रहता है, वही 'अद्वयब्रह्म' कहा गया है। उस तेजस्वरूप परब्रह्म की सिद्धि के लिए तीन लक्ष्यों का अनुसन्धान करना आवश्यक है।

देहमध्ये ब्रह्मनाडी सुषुम्ना सूर्यरूपिणी पूर्णचन्द्राभा वर्तते। सा तु मूलाधारादारभ्य ब्रह्मरन्ध्रगामिनी भवति। तन्मध्ये तडित्कोटिसमानकान्त्या मृणालसूत्रवत्सूक्ष्माङ्गी कुण्डलिनीति प्रसिद्धास्ति। तां दृष्ट्वा मनसैव नरः सर्वपापविनाशद्वारा मुक्तो भवति। फालोर्ध्वगललाटविशेषमण्डले निरन्तरं तेजस्तारकयोगविस्फुरणेन पश्यति चेत्सिद्धो भवति। तर्जन्यग्रोन्मीलितकर्णरन्ध्रद्वये तत्र फूत्कारशब्दो जायते। तत्र स्थिते मनसि चक्षुर्मध्यगतनीलज्योतिःस्थलं विलोक्यान्तर्दृष्ट्या निरतिशयसुखं प्राप्नोति। एवं हृदये पश्यति। एवमन्तर्लक्ष्यलक्षणं मुमुक्षुभिरुपास्यम् ॥5॥

उस साधक के देह के बीच में सुषुम्ना नामक ब्रह्मनाडी सूर्यरूपिणी है, वह पूर्णचन्द्र के तेजवाली है। वह मूलाधार चक्र से ब्रह्मरन्ध तक जाती है। उस नाडी (नलिका) के बीच में करोड़ों विद्युत् की कान्ति के समान तेजवाली और मृणाल के सूत्र जैसे सूक्ष्म आकार वाली कुण्डलिनी नामक एक प्रसिद्ध शक्ति है। उस शक्ति का मन से ही दर्शन मात्र करने से मनुष्य सभी पापों के विनाश से मुक्त हो जाता है। पापमुक्त होकर मोक्षाधिकारी हो जाता है। मस्तिष्क के ऊपर विशेष मण्डल में निरन्तर विद्यमान प्रकाश को जो तारक ब्रह्म के योग से देखता है वह सिद्ध हो जाता है। दोनों तर्जनियों के अग्रभाग से दोनों कर्ण-छिद्रों को बन्द करके जो आवाज सुनाई देती है, वह 'फुत्कार शब्द'—साँप के फुफकार जैसा शब्द—जो है, उसमें मन को केन्द्रित करके आँखों के बीच में अवस्थित नीली ज्योति को आन्तरिक दृष्टि से देखने पर वह अत्यन्त आनन्द प्राप्त करता है। ऐसा ही दर्शन हृदय में भी किया जाता है। ऐसे 'अन्तर्लक्ष्य' के लक्षणों की अर्थात् अन्तःकरण में ही देखे जाने योग्य लक्षणों की मुमुक्षुओं को उपासना करनी चाहिए।

अथ बहिर्लक्ष्यलक्षणं नासिकाग्रे चतुर्भिः षड्भिरष्टभिर्दशभिर्द्वादशभिः क्रमादङ्गुलान्ते नीलद्युतिश्यामत्वसदृग्रक्तभङ्गीस्फुरत्पीतशुक्लवर्णद्वयोपेतव्योम यदि पश्यति स तु योगी भवति। चलदृष्ट्या व्योमभागवीक्षितुः पुरुषस्य दृष्ट्यग्रे ज्योतिर्मयूखा वर्तन्ते। तद्दर्शनेन योगी भवति। तप्तकाञ्चनसङ्काशज्योतिर्मयूखा अपाङ्गान्ते भूमौ वा पश्यति तद्दृष्टिः स्थिरा भवति। शीर्षोपरि द्वादशाङ्गुलसमीक्षितुरमृतत्वं भवति। यत्र कुत्र स्थितस्य शिरसि व्योमज्योतिर्दृष्टं चेत्स तु योगी भवति ॥6॥

अब 'बहिर्लक्ष्य' के लक्षण कहे जा रहे हैं। नासिका के आगे के भाग में चार, छः, आठ, दस या बारह अंगुल की दूरी पर क्रमशः नील और श्याम जैसे रक्तवर्ण की आभावाला आकाश जो कि पीले

श्वेतवर्ण से युक्त है, ऐसे आकाशतत्त्व को जो निरन्तर देखता रहता है, उसी को वास्तव में सच्चा योगी कहा जा सकता है। उस चलित दृष्टि से आकाश को (अवकाश को) देखते रहने पर ज्योति की वे किरणें स्पष्टतया दिखाई देती हैं। उन किरणों को देखने वाला योगी कहलाता है। अथवा जब दोनों आँखों के कोनों पर भूमि पर तपाए हुए स्वर्ण सदृश ज्योति की किरणों के दर्शन होते हैं, तब जाकर उस साधक की दृष्टि एकाग्र होती है। मस्तिष्क के ऊपर के भाग में लगभग बारह अंगुल की दूरी पर ज्योति को देखने वाला योगी अमृतत्व को प्राप्त होता है। यदि कोई भी मनुष्य किसी भी स्थान पर रहकर मस्तक के ऊपर उस आकाशज्योति का दर्शन करता है, तो वही पूर्ण योगी कहा जाता है।

अथ मध्यलक्ष्यलक्षणं प्रातश्चित्रादिवर्णाखण्डसूर्यचक्रवद्वह्निज्वालावली-वत्तद्विहीनान्तरिक्षवत्पश्यति। तदाकाराकारितयावतिष्ठति। तद्भूयो-दर्शनेन गुणरहिताकाशं भवति। विस्फुरत्तारकाकारसन्दीप्यमानागाढ-तमोपमं परमाकाशं भवति। कालानलसमद्योतमानं महाकाशं भवति। सर्वोत्कृष्टपरमद्युतिप्रद्योतमानं तत्त्वाकाशं भवति। कोटिसूर्यप्रकाश-वैभवसङ्काशं सूर्याकाशं भवति। एवं बाह्याभ्यन्तरस्थव्योमपञ्चकं तारकलक्ष्यम्। तद्दर्शी विमुक्तफलस्तादृग्व्योमसमानो भवति। तस्मात् तारक एव लक्ष्यममनस्कफलप्रदं भवति ॥7॥

इसके बाद, अब 'मध्यलक्ष्य' का लक्षण कहा जा रहा है। जो साधक प्रातःकाल में भाँति-भाँति के वर्णों से युक्त अखण्ड सूर्य का अग्नि की ज्वालाओं के चक्र की तरह और उससे रहित अन्तरिक्ष के समान देखता है, और उस आकार के समान होकर प्रतिष्ठित रहता है, फिर से उसके दर्शनमात्र से वह गुणविहीन **'आकाश'** की तरह हो जाता है। विस्फुरित (प्रकाशित) ताराओं के समूह से प्रकाशमान और प्रातःकाल के आधे अँधेरे की तरह **'परमाकाश'** होता है। जो **'महाकाश'** होता है, वह कालाग्नि के समान प्रकाश वाला होता है। जो **'तत्त्वाकाश'** है, वह सर्वोत्कृष्ट प्रकाश और प्रखर ज्योति से युक्त होता है। जो **'सूर्याकाश'** है, वह करोड़ों सूर्यों के तेज वाला है। इस तरह बाह्य और अन्तः में प्रतिष्ठित ये 'पाँच आकाश' तारकब्रह्म के ही लक्ष्य हैं। उसका दर्शन करने वाला उसी की तरह समग्र बन्धनों को काटकर मुक्तिलाभ के अधिकार को प्राप्त करता है। तारक का लक्ष्य ही अमनस्कतारूप फल का दाता कहा गया है।

तत्तारकं द्विविधं पूर्वार्धतारकमुत्तरार्धममनस्कं चेति। तदेष श्लोको भवति।
तद्योगं च द्विधा विद्धि पूर्वोत्तरविधानतः।
पूर्वं तु तारकं विद्यादमनस्कं तदुत्तरमिति ॥8॥
अक्ष्यन्तस्तारयोश्चन्द्रसूर्यप्रतिफलनं भवति। तारकाभ्यां सूर्यचन्द्रमण्डल-दर्शनं ब्रह्माण्डमिव पिण्डाण्डशिरोमध्यस्थाकाशे रवीन्दुमण्डलद्वितय-मस्तीति निश्चित्य तारकाभ्यां तद्दर्शनमात्राण्युभयैक्यदृष्ट्या मनोयुक्तं ध्यायेत्। तद्योगाभावे इन्द्रियप्रवृत्तेरनवकाशात्। तस्मादन्तर्दृष्ट्या तारक एवानुसन्धेयः ॥9॥

यह तारकयोग दो प्रकार का बतलाया गया है—एक पूर्वार्ध और दूसरा उत्तरार्ध। इस विषय में यह श्लोक द्रष्टव्य है—'यह तारक योग, पूर्वार्ध और उत्तरार्ध, दो प्रकार का है। पूर्व को 'तारक' और उत्तर को 'अमनस्क' (शून्यमनस्क) कहा जाता है।' हम अपनी आँखों की पुतलियों से सूर्य और चन्द्र का दर्शन करते हैं। हम जिस तरह से आँखों के तारकों से ब्रह्माण्ड के सूर्य और चन्द्र को देखते हैं, ठीक उसी तरह हमें अपने सिररूपी ब्रह्माण्ड के मध्य में अवस्थित सूर्य और चन्द्र का निर्धारण करके उसका सदैव दर्शन करना चाहिए और उन दोनों को एक ही रूप वाला मानकर, उसमें मन को एकाग्र करके उसका चिन्तन करना चाहिए। क्योंकि यदि मन को उसमें उस भाव से एकाग्र न किया जाय, तो सभी इन्द्रियाँ विषयों की ओर प्रवृत्त होने लगेंगी। इसलिए उस योगी (साधक) को अपने भीतर की (अन्तस् की) दृष्टि से तारक का अनवरत अनुसन्धान करते ही रहना चाहिए।

तत्तारकं द्विविधं मूर्तितारकममूर्तितारकं चेति। यदिन्द्रियान्तं तन्मूर्तिमत्। यद् भ्रूयुगातीतं तदमूर्तिमत्। सर्वत्रान्तःपदार्थविवेचने मनोयुक्ताभ्यास इष्यते तारकाभ्यां सदूर्ध्वस्थ सत्त्वदर्शनान्मनोयुक्तेनान्तरीक्षणेन सच्चि-दानन्दस्वरूपं ब्रह्मैव। तस्माच्छुक्लतेजोमयं ब्रह्मेति सिद्धम्। तद् ब्रह्म मनःसहकारिचक्षुषान्तर्दृष्ट्या वेद्यं भवति। एवममूर्तितारकमपि मनो-युक्तेन चक्षुषैव दहरादिकं वेद्यं भवति रूपग्रहणप्रयोजनस्य मनश्चक्षुर-धीनत्वाद्बाह्यवदान्तरेऽप्यात्ममनश्चक्षुःसंयोगेनैव रूपग्रहणकार्योदयात्। तस्मान्मनोयुक्तान्तर्दृष्टिस्तारकप्रकाशा भवति ॥10॥

यह 'तारक' दो प्रकार का है—एक मूर्त (मूर्तिवाला) और दूसरा अमूर्त (मूर्तिरहित)। जो इन्द्रियों के अन्त में अर्थात् मनरूपी चक्षु में है, वह 'मूर्त' है, और जो दोनों भौंहों से बाहर है, वह 'अमूर्त' तारक है। आन्तरिक पदार्थों के विवेचन के लिए सभी जगह मन को एकाग्र करके ही अभ्यास करते रहना चाहिए। सात्त्विक दर्शन से युक्त मन द्वारा अपने अन्तस् (अन्तःकरण) में लगातार निरीक्षण करते रहने से दोनों तारकों को (मूर्त और अमूर्त को) ऊर्ध्वभाग में सच्चिदानन्द रूप परब्रह्म की परमज्योति के दर्शन होते हैं। इससे यह जाना जा सकता है कि ब्रह्म शुभ्र तेजोमय है। ऐसे ब्रह्म को मनसहित नेत्रों की अन्तर्दृष्टि (भीतर की दृष्टि) से देखकर जान लेना चाहिए। इसी प्रकार से अमूर्त तारक को भी मनसहित चक्षुओं के द्वारा अवश्य जाना जा सकता है। रूपदर्शन के सम्बन्ध में मन नेत्रों के आश्रय में रहता है और बाहर की तरह अन्तस् में भी रूपग्रहण का कार्य इन दोनों के द्वारा ही होता है। इसलिए मन के साथ संलग्न हुए नेत्रों के द्वारा ही 'तारक' का प्रकाश होता है।

भ्रूयुगमध्यबिले दृष्टिं तद् द्वारोर्ध्वस्थिततेज आविर्भूतं तारकयोगो भवति। तेन सह मनोयुक्तं तारकं सुसंयोज्य प्रयत्नेन भ्रूयुग्मं सावधान-तया किञ्चिदूर्ध्वमुत्क्षेपयेत्। इति पूर्वभागी तारकयोगः। उत्तरं त्वमूर्ति-मदमनस्कमित्युच्यते। तालुमूलोर्ध्वभागे महान् ज्योतिर्मयूखो वर्तते। तद्योगिभिर्ध्येयम्। तस्मादणिमादिसिद्धिर्भवति ॥11॥

कोई भी साधक अपनी आन्तरिक दृष्टि के द्वारा, दोनों भौहों से थोड़े से ऊपरी भाग में स्थित तेजोमय प्रकाश को देखता है, वही 'तारकयोगी' होता है (अर्थात् वह दर्शन ही तारकयोग है)। उसके साथ मन लगाकर तारक का अनुसन्धान करते हुए प्रयत्नपूर्वक दोनों भ्रूकुटियों को थोड़ी सी ऊँचाई पर स्थिर करना चाहिए। इसी को 'तारक' का पूर्वार्ध योग कहा जाता है। दूसरे (उत्तरार्ध) भाग को 'अमूर्त'

कहा गया है। तालु-मूल के ऊर्ध्व भाग में ज्योतिकिरणों का एक महामण्डल विद्यमान है। उसी का ध्यान करना योगियों का ध्येय (लक्ष्य) होता है और इसी से अणिमादि सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं।

अन्तर्बाह्यलक्ष्ये दृष्टौ निमेषोन्मेषवर्जितायां सत्यां शाम्भवी मुद्रा भवति। तन्मुद्रारूढज्ञानिनिवासाद्भूमिः पवित्रा भवति। तद् दृष्ट्वा सर्वे लोकाः पवित्रा भवन्ति। तादृशपरमयोगिपूजा यस्य लभ्यते सोऽपि मुक्तो भवति ॥12॥

उस योगी (साधक) की दृष्टि जब अन्तर्बाह्य—दोनों लक्ष्यों को देखने का सामर्थ्य प्राप्त करती है और स्थिरता प्राप्त करती है, तब वह स्थिति 'शांभवी मुद्रा' कहलाती है। इस मुद्रा में ओत-प्रोत हुए ज्ञानी का निवासस्थान बड़ा ही पवित्र माना जाता है। ऐसे मुद्रारूप पुरुष की दृष्टि पड़ने मात्र से सभी लोग पवित्र हो जाते हैं। कोई भी मनुष्य यदि ऐसे योगी की पूजा करता है, तो वह उसे पाकर मुक्ति का अधिकारी हो जाता है।

अन्तर्लक्ष्यजलज्योतिःस्वरूपं भवति। परमगुरूपदेशेन सहस्रारे जल-ज्योतिर्वा बुद्धिगुहानिहितज्योतिर्वा षोडशान्तस्थतुरीयचैतन्यं वान्तर्लक्ष्यं भवति। तद्दर्शनं सदाचार्यमूलम् ॥13॥

अन्तर्लक्ष्य का स्वरूप उज्ज्वल ज्योति जैसा हो जाता है। परमसद्गुरु का ज्ञान प्राप्त हो जाने पर सहस्रदल कमल में स्थित उज्ज्वल ज्योतिरूप, **अथवा** बुद्धिगुहास्थित ज्योतिरूप, **अथवा** फिर वह सोलह कला के भीतर अवस्थित तुरीय चैतन्य ही अन्तर्लक्ष्य हो जाता है। यही दर्शन सदाचार का मूल है।

आचार्यो वेदसम्पन्नो विष्णुभक्तो विमत्सरः।
योगज्ञो योगनिष्ठश्च सदा योगात्मकः शुचिः ॥14॥
गुरुभक्तिसमायुक्तः पुरुषज्ञो विशेषतः।
एवं लक्षणसम्पन्नो गुरुरित्यभिधीयते ॥15॥
गुशब्दस्त्वन्धकारः स्याद्रुशब्दस्तन्निरोधकः।
अन्धकारनिरोधित्वाद् गुरुरित्यभिधीयते ॥16॥

जो वेदज्ञान से सम्पन्न, श्रेष्ठ आचरणवाला, विष्णु का भक्त, मात्सर्य आदि विकारों से रहित, योग का ज्ञाता, योग में निष्ठावाला, योगात्मा, पवित्रतायुक्त, गुरुभक्त, परमात्मप्राप्ति में विशेष संलग्न रहता हो, ऐसे लक्षण वाला ही गुरु पद से कहा जाता है। 'गुरु' के 'गु' अक्षर का अर्थ 'अन्धकार' और 'रु' अक्षर का अर्थ 'अन्धकार को दूर करने में समर्थ'—ऐसा होता है। अतः अज्ञानरूपी अन्धकार को दूर कर देने वाला ही गुरु कहलाने योग्य है।

गुरुरेव परं ब्रह्म गुरुरेव परा गतिः।
गुरुरेव परा विद्या गुरुरेव परायणम् ॥17॥
गुरुरेव परा काष्ठा गुरुरेव परं धनम्।
यस्मात्तदुपदेष्टासौ तस्माद् गुरुत्तरो गुरुरिति ॥18॥

गुरु ही परब्रह्म परमात्मा है। गुरु ही परम गति है। गुरु ही पराविद्या है और गुरु ही परम आश्रय

है। गुरु ही परा काष्ठा है। गुरु ही परमश्रेष्ठ धन है। जो श्रेष्ठ उपदेश करता है, इसीलिए वह गुरु से भी गुरुतर अर्थात् उत्तम से भी उत्तम गुरु होता है—ऐसा मानना चाहिए।

यः सकृदुच्चारयति तस्य संसारमोचनं भवति। सर्वजन्मकृतं पापं तत्क्षणादेव नश्यति। सर्वान्कामानवाप्नोति। सर्वपुरुषार्थसिद्धिर्भवति। य एवं वेदेत्युपनिषत् ॥19॥

इति अद्वयतारकोपनिषत्समाप्ता।
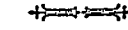
जो मनुष्य एक बार भी गुरु का या इस उपनिषत् का उच्चारण (पाठ) करता है, वह इस संसारसागर से निवृत्त (मुक्त) हो जाता है। उसके जन्म-जन्मान्तर के सभी पाप तत्क्षण नष्ट हो जाते हैं। उसकी सभी इच्छाएँ (आकांक्षाएँ) पूर्ण हो जाती हैं। उसके सकल पुरुषार्थ सफल हो जाते हैं। जो यह जनता है, वही उपनिषत् का सच्चा ज्ञानी है। यही वह उपनिषत् है।

इस प्रकार यह उपनिषद् पूरी हुई।

शान्तिपाठः

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं ...... पूर्णमेवावशिष्यते। (पूर्ववत्)
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्ति ॥

(55) रामरहस्योपनिषत्

(उपनिषत्परिचय)

पाँच अध्यायों वाली यह उपनिषद् अथर्ववेद-परम्परा की है। इसमें सनकादि ऋषियों का हनुमान जी के साथ संवाद है। हनुमान जी के द्वारा रामोपासना का इसमें विस्तृत वर्णन किया गया है। राम ही परब्रह्म हैं, राम ही परम तप हैं, और राम ही परम तत्त्व हैं, ऐसा यहाँ निरूपण किया गया है। इसमें राम के अंगरूप में हनुमान, गणपति, सरस्वती, दुर्गा, क्षेत्रपाल, सूर्य, चन्द्र, नारायण, नरसिंह, वासुदेव, वराह, सीता, लक्ष्मण, शत्रुघ्न, भरत, विभीषण, सुग्रीव, अंगद, जाम्बवान और प्रणव आदि बताए गए हैं। राम नाम के तीन करोड़ जप करने से बड़े से बड़े पापों का छुटकारा हो जाता है। हनुमान जी ने षडक्षर मंत्र के साथ प्रणव को जोड़ने को कहा है, वह उपलक्षण है। अन्य सभी मन्त्रों के साथ प्रणव को जोड़ना चाहिए। इसमें एकाक्षर मन्त्र से लेकर इकत्तीस अक्षर वाले मन्त्र तक के जाप की बात कही है। पर मन्त्रराज तो 'ॐ रामाय नमः' यह षडक्षर ही है। इसी मन्त्र में अलग-अलग बीज जोड़ने से विविध मन्त्र बनते हैं। बीजाक्षरों की व्याख्या भी अन्त में दी गई है। यह उपासना-प्रधान उपनिषद् है।

शान्तिपाठः

ॐ भद्रं कर्णेभिः......देवहितं यदायुः। (पूर्ववत्)
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

इसका हिन्दी रूपान्तर पूर्व में (अथर्वशिर उपनिषद् में) द्रष्टव्य है।

प्रथमोऽध्यायः

सनकाद्या योगिवर्या अन्ये च ऋषयस्तथा।
प्रह्लादाद्या विष्णुभक्ता हनूमन्तमथाब्रुवन् ॥1॥
वायुपुत्र महाबाहो किं तत्त्वं ब्रह्मवादिनाम्।
पुराणेष्वष्टादशसु स्मृतिष्वष्टादशस्वपि ॥2॥
चतुर्वेदेषु शास्त्रेषु विद्यास्वाध्यात्मिकेषु च।
सर्वेषु विद्यादानेषु विघ्नसूर्येशशक्तिषु ॥3॥
एतेषु मध्ये किं तत्त्वं कथय त्वं महाबल ॥4॥

सनकादि योगिश्रेष्ठ और अन्य ऋषियों ने तथा प्रह्लादादि विष्णुभक्तों ने हनुमान जी से कहा— 'हे वायुपुत्र ! हे महाबाहु ! अठारह पुराणों में, अठारह स्मृतियों में, चार वेदों में, अन्य सभी शास्त्रों में, सभी विद्याओं में, सभी आध्यात्मिक विद्यादानों में और विघ्नेश, सूर्य और शक्ति में—इन सभी में ब्रह्मवादियों के लिए कौन-सा तत्त्व (उपास्य) है। हे महाबल ! वह आप हमें बताइए।'

हनूमान् होवाच—
भो योगीन्द्राश्च ऋषयो विष्णुभक्तास्तथैव च।
शृणुध्वं मामकीं वाचं भवबन्धविनाशिनीम् ॥5॥
एतेषु चैव सर्वेषु तत्त्वं च ब्रह्म तारकम्।
राम एव परं ब्रह्म राम एव परं तपः।
राम एव परं तत्त्वं श्रीरामो ब्रह्म तारकम् ॥6॥

हनुमान ने कहा—'हे योगीन्द्रो !' हे ऋषियो ! हे विष्णुभक्तो ! आप सब मेरी संसार के बन्धनों को नाश करने वाली वाणी सुनिए। इन सभी में परमतत्त्व तो तारक ब्रह्म ही है। और वह परब्रह्म राम ही हैं। राम ही परम तप है। राम ही परम तत्त्व है। श्रीराम ही तारक ब्रह्म हैं।

वायुपुत्रेणोक्तास्ते योगीन्द्रा ऋषयो विष्णुभक्ता हनूमन्तं पप्रच्छुः—रामस्याङ्गानि नो ब्रूहीति ॥7॥

वायुपुत्र के द्वारा इस प्रकार कहे गए वे योगीन्द्र, ऋषिलोग और विष्णुभक्त हनुमान जी से पूछने लगे—'हमें आप राम के अंग कहिए।'

हनूमान् होवाच—वायुपुत्रं विघ्नेशं वाणीं दुर्गां क्षेत्रपालकं सूर्यं चन्द्रं नारायणं नारसिंहं वायुदेवं वाराहं तत्सर्वान् मन्त्रान् सीतां लक्ष्मणं शत्रुघ्नं भरतं विभीषणं सुग्रीवमङ्गदं जाम्बवन्तं प्रणवमेतानि रामस्याङ्गानि जानीथाः। तान्यङ्गानि विना रामो विघ्नकरो भवति ॥8॥

तब हनुमान ने कहा—वायुपुत्र (हनुमान), गणपति, सरस्वती, दुर्गा, क्षेत्रपाल, सूर्य, चन्द्र, नारायण, नरसिंह, वासुदेव, वराह, सीता, लक्ष्मण, शत्रुघ्न, भरत, विभीषण, सुग्रीव, अंगद, जाम्बवान और प्रणव—इन सबको तुम राम के अंग के रूप में जानो। उन अंगों के जपादि किए बिना तो राम विघ्न करने वाले हो जाएँगे।

पुनर्वायुपुत्रेणोक्तास्ते हनूमन्तं पप्रच्छुः—आञ्जनेय महाबल विप्राणां गृहस्थानां प्रणवाधिकारः कथं स्यादिति ॥9॥
स होवाच—श्रीराम एवोवाचेति। येषामेव षडक्षराधिकारो वर्तते तेषां प्रणवाधिकारः स्यान्नान्येषाम्। केवलमकारोकारमकारार्धमात्रासहितं प्रणवमूह्य यो राममन्त्रं जपति तस्य शुभकरोऽहं स्याम्। तस्य प्रणव-स्याकारस्योकारस्य मकारस्यार्धमात्रायाश्च ऋषिच्छन्दो देवता तत्त्ववर्ण-वर्णावस्थानं स्वरवेदाग्निगुणानुच्चार्यान्वहं प्रणवं मन्त्राद् द्विगुणं जप्त्वा पश्चाद्राममन्त्रं यो जपेत् स रामो भवतीति रामेणोक्तास्तस्माद्रामाङ्गं प्रणवः कथित इति ॥10॥

वायुपुत्र हनुमान के द्वारा इस प्रकार कहे जाने पर वे फिर से हनुमान को पूछने लगे—'हे अंजनीपुत्र ! ब्राह्मणों को और गृहस्थों को प्रणव का अधिकार कैसे होता है ?' तब उन्होंने कहा—य... प्रणवाधि... बात तो श्रीरामजी ने स्वयं बताई है। जिन लोगों को षडक्षरमन्त्र का अधिकार है, उनको प्रणवाधि... है ही, यह षडक्षर मन्त्र अनधिकारियों के लिए नहीं है। प्रणव—अकार, उकार और मकार के सा... अर्धमात्रा वाले प्रणव (ॐ कार) के साथ (चार मात्रा तक) जो मनुष्य षडक्षर राममन्त्र को जपते है... उनके लिए मैं कल्याणकारक होता हूँ। उस प्रणव का—अकार, उकार और मकार तथा अर्ध मात्रा वाले

(55) रामरहस्योपनिषत्

(उपनिषत्परिचय)

पाँच अध्यायों वाली यह उपनिषद् अथर्ववेद-परम्परा की है। इसमें सनकादि ऋषियों का हनुमान जी के साथ संवाद है। हनुमान जी के द्वारा रामोपासना का इसमें विस्तृत वर्णन किया गया है। राम ही परब्रह्म हैं, राम ही परम तप हैं, और राम ही परम तत्त्व हैं, ऐसा यहाँ निरूपण किया गया है। इसमें राम के अंगरूप में हनुमान, गणपति, सरस्वती, दुर्गा, क्षेत्रपाल, सूर्य, चन्द्र, नारायण, नरसिंह, वासुदेव, वराह, सीता, लक्ष्मण, शत्रुघ्न, भरत, विभीषण, सुग्रीव, अंगद, जाम्बवान और प्रणव आदि बताए गए हैं। राम नाम के तीन करोड़ जप करने से बड़े से बड़े पापों का छुटकारा हो जाता है। हनुमान जी ने षडक्षर मंत्र के साथ प्रणव को जोड़ने को कहा है, वह उपलक्षण है। अन्य सभी मन्त्रों के साथ प्रणव को जोड़ना चाहिए। इसमें एकाक्षर मन्त्र से लेकर इकत्तीस अक्षर वाले मन्त्र तक के जाप की बात कही है। पर मन्त्रराज तो 'ॐ रामाय नमः' यह षडक्षर ही है। इसी मन्त्र में अलग-अलग बीज जोड़ने से विविध मन्त्र बनते हैं। बीजाक्षरों की व्याख्या भी अन्त में दी गई है। यह उपासना-प्रधान उपनिषद् है।

शान्तिपाठः

ॐ भद्रं कर्णेभिः......देवहितं यदायुः। (पूर्ववत्)
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

इसका हिन्दी रूपान्तर पूर्व में (अथर्वशिर उपनिषद् में) द्रष्टव्य है।

प्रथमोऽध्यायः

सनकाद्या योगिवर्या अन्ये च ऋषयस्तथा।
प्रह्लादाद्या विष्णुभक्ता हनूमन्तमथाब्रुवन् ॥1॥
वायुपुत्र महाबाहो किं तत्त्वं ब्रह्मवादिनाम्।
पुराणेष्वष्टादशसु स्मृतिष्वष्टादशस्वपि ॥2॥
चतुर्वेदेषु शास्त्रेषु विद्यास्वाध्यात्मिकेषु च।
सर्वेषु विद्यादानेषु विघ्नसूर्येशशक्तिषु ॥3॥
एतेषु मध्ये किं तत्त्वं कथय त्वं महाबल ॥4॥

सनकादि योगिश्रेष्ठ और अन्य ऋषियों ने तथा प्रह्लादादि विष्णुभक्तों ने हनुमान जी से कहा—'हे वायुपुत्र! हे महाबाहु! अठारह पुराणों में, अठारह स्मृतियों में, चार वेदों में, अन्य सभी शास्त्रों में, सभी विद्याओं में, सभी आध्यात्मिक विद्यादानों में और विघ्नेश, सूर्य और शक्ति में—इन सभी में ब्रह्मवादियों के लिए कौन-सा तत्त्व (उपास्य) है। हे महाबल! वह आप हमें बताइए।'

हनूमान् होवाच—
भो योगीन्द्राश्च ऋषयो विष्णुभक्तास्तथैव च।
शृणुध्वं मामकीं वाचं भवबन्धविनाशिनीम् ॥5॥
एतेषु चैव सर्वेषु तत्त्वं च ब्रह्म तारकम्।
राम एव परं ब्रह्म राम एव परं तपः।
राम एव परं तत्त्वं श्रीरामो ब्रह्म तारकम् ॥6॥

हनुमान ने कहा—'हे योगीन्द्रो!' हे ऋषियो! हे विष्णुभक्तो! आप सब मेरी संसार के बन्धनों को नाश करने वाली वाणी सुनिए। इन सभी में परमतत्त्व तो तारक ब्रह्म ही है। और वह परब्रह्म राम ही हैं। राम ही परम तप है। राम ही परम तत्त्व है। श्रीराम ही तारक ब्रह्म हैं।

वायुपुत्रेणोक्तास्ते योगीन्द्रा ऋषयो विष्णुभक्ता हनूमन्तं पप्रच्छुः—रामस्याङ्गानि नो ब्रूहीति ॥7॥

वायुपुत्र के द्वारा इस प्रकार कहे गए वे योगीन्द्र, ऋषिलोग और विष्णुभक्त हनुमान जी से पूछने लगे—'हमें आप राम के अंग कहिए।'

हनूमान् होवाच—वायुपुत्रं विघ्नेशं वाणीं दुर्गां क्षेत्रपालकं सूर्यं चन्द्रं नारायणं नारसिंहं वायुदेवं वाराहं तत्सर्वान् मन्त्रान् सीतां लक्ष्मणं शत्रुघ्नं भरतं विभीषणं सुग्रीवमङ्गदं जाम्बवन्तं प्रणवमेतानि रामस्याङ्गानि जानीथाः। तान्यङ्गानि विना रामो विघ्नकरो भवति ॥8॥

तब हनुमान ने कहा—वायुपुत्र (हनुमान), गणपति, सरस्वती, दुर्गा, क्षेत्रपाल, सूर्य, चन्द्र, नारायण, नरसिंह, वासुदेव, वराह, सीता, लक्ष्मण, शत्रुघ्न, भरत, विभीषण, सुग्रीव, अंगद, जाम्बवान और प्रणव—इन सबको तुम राम के अंग के रूप में जानो। उन अंगों के जपादि किए बिना तो राम विघ्न करने वाले हो जाएँगे।

पुनर्वायुपुत्रेणोक्तास्ते हनूमन्तं पप्रच्छुः—आञ्जनेय महाबल विप्राणां गृहस्थानां प्रणवाधिकारः कथं स्यादिति ॥9॥
स होवाच—श्रीराम एवोवाचेति। येषामेव षडक्षराधिकारो वर्तते तेषां प्रणवाधिकारः स्यान्नान्येषाम्। केवलमकारोकारमकारार्धमात्रासहितं प्रणवमूह्य यो राममन्त्रं जपति तस्य शुभकरोऽहं स्याम्। तस्य प्रणवस्याकारस्योकारस्य मकारस्यार्धमात्रायाश्च ऋषिच्छन्दो देवता तत्तद्वर्णवर्णावस्थानं स्वरवेदाग्निगुणानुच्चार्यान्वहं प्रणवं मन्त्राद् द्विगुणं जप्त्वा पश्चाद्राममन्त्रं यो जपेत् स रामो भवतीति रामेणोक्तास्तस्माद्रामाङ्गं प्रणवः कथित इति ॥10॥

वायुपुत्र हनुमान के द्वारा इस प्रकार कहे जाने पर वे फिर से हनुमान को पूछने लगे—'हे अंजनीपुत्र! ब्राह्मणों को और गृहस्थों को प्रणव का अधिकार कैसे होता है?' तब उन्होंने कहा—यह बात तो श्रीरामजी ने स्वयं बताई है। जिन लोगों को षडक्षरमन्त्र का अधिकार है, उनको प्रणवाधिकार है ही, यह षडक्षर मन्त्र अनधिकारियों के लिए नहीं है। प्रणव—अकार, उकार और मकार के साथ अर्धमात्रा वाले प्रणव (ॐ कार) के साथ (चार मात्रा तक) जो मनुष्य षडक्षर राममन्त्र को जपते हैं, उनके लिए मैं कल्याणकारक होता हूँ। उस प्रणव का—अकार, उकार और मकार तथा अर्ध मात्रा वाले

ओंकार का—ऋषि, छन्द, देवता, उन-उन वर्णों का अवस्थान, स्वर, वेद, अग्नि आदि का उच्चारण करके प्रतिदिन प्रणाम करते हुए मन्त्र से दुगुना जाप करके बाद में जो राममन्त्र का जप करता है, वह स्वयं राम हो जाता है—ऐसा राम ने कहा है। इसलिए प्रणव राम का अंग है।

विभीषण उवाच—
सिंहासने समासीनं रामं पौलस्त्यसूदनम्।
प्रणम्य दण्डवद्भूमौ पौलस्त्यो वाक्यमब्रवीत् ॥11॥
रघुनाथ महाबाहो केवलं कथितं त्वया।
अङ्गानां सुलभं चैव कथनीयं च सौलभम् ॥12॥
श्रीराम उवाच—अथ पञ्च दण्डकानि पितृघ्नो मातृघ्नो ब्रह्मघ्नो गुरुहननः कोटियतिघ्नोऽनेककृतपापो यो मम षण्णवतिकोटिनामानि जपति स तेभ्यः पापेभ्यः प्रमुच्यते। स्वयमेव सच्चिदानन्दस्वरूपो भवेन्न किम् ॥13॥

विभीषण ने कहा—सिंहासन पर बैठे हुए, रावणविनाशक भगवान् राम को भूमि पर दण्डवत् प्रणाम करके पौलत्स्य (विभीषण) इस प्रकार वाक्य कहने लगा—'हे रघुनाथ! हे महाबाहो! आपने तो केवल अंगों की सामान्य बात कही है। अब उसका सुफल भी तो कहना चाहिए।' तब श्रीराम ने कहा—पाँच बहुत बड़े अपराधी माने जाते हैं—पिता का हत्यारा, माता का हत्यारा, ब्राह्मण का हत्यारा, गुरु का हत्यारा और अनेकानेक यतियों का हत्यारा। ऐसे अनेक पाप करने वाला भी यदि मेरे छियानबे करोड़ नामों का जप करता है, तो उन सभी पापों से मुक्त हो जाता है। वह स्वयं ही सच्चिदानन्दस्वरूप हो जाता है। क्यों नहीं?

पुनरुवाच विभीषणः—तत्राप्यशक्तोऽयं किं करोति ॥14॥
स होवाचेमम्—कैकसेय पुरश्चरणविधावशक्तो यो ममोपनिषदं मम गीतां मन्नामसहस्रं मद्विश्वरूपं मदष्टोत्तरशतं रामशताभिधानं नारदोक्त-स्तवराजं हनूमत्प्रोक्तं मन्त्रराजात्मकस्तवं सीतास्तवं च रामषडक्षरीत्या-दिभिर्मन्त्रैर्यो मां नित्यं स्तौति मत्सदृशो भवेन्न किं भवेन्न किम् ॥15॥

इति प्रथमोऽध्यायः।

तब विभीषण ने फिर से पूछा—'उसमें अर्थात् जप करने में यदि मनुष्य अशक्तिमान हो, तो वह क्या करता है?' तब उन्होंने (हनुमान जी ने) कहा—'हे कैकसीपुत्र! उस पूर्वोक्त पुरश्चरणविधि करने की जिसकी शक्ति नहीं है, यदि वह मनुष्य मेरे द्वारा कही गई उपनिषत् को, मेरे सहस्र नाम को, मेरे विश्वरूप एक सौ आठ रामनाम को, नारद के द्वारा कहे गए स्तवराज को, हनुमान द्वारा कहे गए मन्त्रराजात्मक स्तवराज को, सीताजी के स्तवन को अथवा तो रामषडक्षर इत्यादि मन्त्रों को पढ़ते हुए मेरी प्रतिदिन स्तुति करता है, वह मेरे समान ही हो जाता है। क्यों न होगा?

यहाँ प्रथम अध्याय पूरा हुआ।

द्वितीयोऽध्यायः

सनकाद्या मुनयो हनूमन्तं पप्रच्छुः—आञ्जनेय महाबल तारकब्रह्मणो रामचन्द्रस्य मन्त्रग्रामं नो ब्रूहीति।
हनूमान् होवाच—
वह्निस्थं शयनं विष्णोरर्धचन्द्रविभूषितम्।
एकाक्षरो मनुः प्रोक्तो मन्त्रराजः सुरद्रुमः ॥1॥

तब सनकादि मुनियों ने हनुमान से पूछा—'हे अंजनीपुत्र! हे महाबलशाली! तारक ब्रह्म ऐसे रामचन्द्र के एकाक्षरादि मन्त्रग्राम (मन्त्रसमूह) को हमें कहिए।' तब हनुमान ने एकाक्षर से लेकर बत्तीस अक्षर वाले मन्त्र तक के मन्त्रभेदों को अंगादिसहित बताते हुए पहले एकाक्षर मन्त्र को बताया कि विष्णु का शयनरूप वह्निस्वरूप जो शेष है, वह रेफ (**'र'** कार) है। वह विष्णु का शयनरूप होने से दीर्घ है अर्थात् **'रा'**कार है। उस पर अर्धचन्द्राकार बिन्दु लगा है। सब मिलकर **'राँ'** होता है। वही **'राँ'** एकाक्षर मन्त्र कहा गया है। वह कल्पवृक्ष के समान है। वह मन्त्रराज है।

ब्रह्मा मुनिः स्याद् गायत्रं छन्दो रामोऽस्य देवता।
दीर्घार्धेन्दुयुजाङ्गानि कुर्याद्वह्न्यात्मनो मनोः ॥2॥
बीजशक्त्यादिबीजेन इष्टार्थे विनियोजयेत्।
सरयूतीरमन्दारवेदिकापङ्कजासने ॥3॥
श्यामं वीरासनासीनं ज्ञानमुद्रोपशोभितम्।
वामोरुन्यस्ततद्धस्तं सीतालक्ष्मणसंयुतम् ॥4॥
अवेक्षमाणमात्मानमात्मन्यमिततेजसम्।
शुद्धस्फटिकसङ्काशं केवलं मोक्षकाङ्क्षया ॥5॥

इस एकाक्षर 'राँ' मन्त्र के ऋषि ब्रह्मा हैं, गायत्री छन्द है, देवता राम हैं। इस मन्त्र के दीर्घ रेफ के साथ अर्धेन्दु संयुक्त हुए रूप में, अर्थात् 'राँ' के रूप में करांगन्यास करना चाहिए। इसका ध्यान-मन्त्र यह है—'सरयू नदी के तीर पर मन्दारवृक्ष के नीचे बनी हुई वेदिका पर बिछाए गए कमलासन पर वीरासन में बैठे हुए, वामा की जांघ पर हाथ रखे हुए, सीता और लक्ष्मण के साथ में रहे हुए, स्वयं को देखते हुए, अपने में असीम तेजोयुक्त और शुद्ध स्फटिक जैसे वे हैं।' इस प्रकार मोक्ष की आकांक्षा से (ध्यान करके मन्त्रजाप करना चाहिए)—

चिन्तयन् परमात्मानं भानुलक्षं जपेन्मनुम्।
वह्निर्नारायणेनाढ्यो जाठरः केवलोऽपि च ॥6॥
द्व्यक्षरो मन्त्रराजोऽयं सर्वाभीष्टप्रदस्ततः।
एकाक्षरोक्तमृष्यादि स्यादाद्येन षडङ्गकम् ॥7॥
तारमायारमाऽनङ्गवाक्स्वबीजैश्च षड्विधः।
त्र्यक्षरो मन्त्रराजः स्यात् सर्वाभीष्टफलप्रदः ॥8॥
द्व्यक्षरश्चन्द्रभद्रान्तो द्विविधश्चतुरक्षरः।
ऋष्यादि पूर्ववज्ज्ञेयमेतयोश्च विचक्षणैः ॥9॥

पूर्वमन्त्र में वर्णित स्वरूप का ध्यान करते हुए मोक्ष की आकांक्षा से इसका एक लाख जप करना

चाहिए। (अब दो, तीन, चार अक्षर वाले मन्त्र कहे जाते हैं)। वह्निरूप शेषनाग रेफ है, उस 'र'कार को नारायणरूप 'अ'कार के साथ जोड़ने से 'रा' (दीर्घ) होता है। उस नारायणाढ्य 'र'कार अर्थात् 'रा' के साथ फिर जाठराग्निरूप 'म'कार को (केवल ह्रस्व मकार को) जोड़ने से दो अक्षरवाला 'राम' ऐसा मन्त्रराज बनता है। यह दो अक्षरवाला मन्त्रराज सभी इच्छित वस्तुओं का देने वाला है। इस दो अक्षर वाले मन्त्रराज के ऋषि-देवता-छन्द आदि तो एकाक्षर मन्त्र में बताए गए अनुसार ही हैं। इस मन्त्र को बोलते हुए षंडगन्यासादि करना चाहिए। (अब तीन अक्षर वाले मन्त्र के छः प्रकार कहे जाते हैं—) एक तार से (ॐकार से) युक्त दो अक्षर अर्थात् ॐ राम। फिर माया = ह्रीं से युक्त राम। फिर रमा = श्रीं से युक्त राम। फिर अनंग = क्लीं से युक्त राम। फिर वाक् = ऐं से युक्त राम। और फिर स्वबीज=रां से युक्त राम। इस प्रकार 'राम' इस द्विअक्षर मन्त्र के साथ पहले—ॐ, ह्रीं, श्रीं, क्लीं, ऐं और रां जोड़ने से छः प्रकार का तीन अक्षरवाला मन्त्र बनता है। यह छः प्रकार का त्र्यक्षर मन्त्र सर्व अभीष्ट फल को देने वाला है। इस त्र्यक्षरी मन्त्र के ऋष्यादि पूर्वोक्त प्रकार से ही हैं। अब चार अक्षरवाला मन्त्र भी दो प्रकार का है—एक है—रामचन्द्र और दूसरा है—रामभद्र। इस दो प्रकार के चार अक्षर वाले मन्त्र के ऋषि-देवतादि पूर्वोक्त प्रकार से ही हैं।

सप्रतिष्ठौ रमौ वायू हृत्पञ्चार्णो मनुर्मतः।
विश्वामित्रऋषिः प्रोक्तः पंक्तिश्छन्दोऽस्य देवता ॥10॥
रामभद्रो बीजशक्तिप्रथमार्णमितिक्रमात्।
भ्रूमध्ये हृदि नाभ्यूर्वोः पादयोर्विन्यसेन्मनुम् ॥11॥

दीर्घ ईकार और बिन्दु के साथ प्रतिष्ठित दो रम को—अर्थात् श्रीं श्रीं के साथ यं को जोड़ने से पाँच अक्षरों वाला मन्त्र बनता है। पूरा मन्त्र होगा—श्रीं श्रीं यं नमः। इस पंचाक्षरमन्त्र के ऋषि विश्वामित्र हैं। पंक्ति छन्द है, रामभद्र देवता हैं, बीजशक्ति प्रथमवर्ण को अनतिक्रम करके 'रां नमः' ऐसी है। तो इस प्रकार बोलते हुए भौंहों के बीच, हृदय पर, नाभि पर, दो जाँघों पर पूर्ववत् न्यास करना चाहिए।

षडङ्गं पूर्ववद्विद्वान् मन्त्रार्णैर्मनुनास्त्रकम्।
मध्ये वनं कल्पतरोर्मूले पुष्पलतासने ॥12॥
लक्ष्मणेन प्रगुणितमक्ष्णः कोणेन सायकम्।
अवेक्षमाणं जानक्या कृतव्यजनमीश्वरम् ॥13॥
जटाभारलसच्छीर्षं श्यामं मुनिगणावृतम्।
लक्ष्मणेन धृतच्छत्रमथवा पुष्पकोपरि ॥14॥
दशास्यमथनं शान्तंससुग्रीवविभीषणम्।
एवं लब्ध्वा जयार्थी तु वर्णलक्षं जपेन्मनुम् ॥15॥

पहले की ही तरह विद्वान् साधक को मन्त्र के वर्णों को बोलते-बोलते न्यास करना चाहिए। फिर विजयार्थी साधक इस प्रकार से ध्यान करेगा—'वन के बीच में, कल्पतरु के मूल के नीचे, पुष्पलता के आसन पर, लक्ष्मण के साथ, आँख के कोने से धनुष्य को देखते हुए, जानकी के द्वारा पंखा किए जाने वाले ईश्वर का ध्यान करना चाहिए। जो ईश्वर जटा के भार से शोभित मस्तक वाले हैं, श्याम वर्ण वाले हैं, मुनियों के समूहों से घिरे हुए हैं, जिनके ऊपर लक्ष्मण ने छत्र धरा हुआ है, अथवा जो पुष्पक के (विमान के) ऊपर बैठे हैं, जो शान्त मुद्रा में सुग्रीव और विभीषणादि के साथ उपस्थित हैं, ऐसे रावणविनाशक रामचन्द्र जी का ध्यान करके जयार्थी साधक को इस मन्त्र का एक लाख बार जप करना चाहिए।

स्वकामशक्तिवाग्लक्ष्मीताराद्याः पञ्चवर्णकाः।
षडक्षरः षड्विधः स्याच्चतुर्वर्गफलप्रदः ॥16॥
पञ्चाशन्मातृकामन्त्रवर्णप्रत्येकपूर्वकम्।
लक्ष्मीवाङ्मन्मथादिश्च तारादिः स्यादनेकधा ॥17॥
श्रीमायामन्मथैकैकं बीजाद्यन्तर्गतो मनुः।
चतुर्वर्णः स एव स्यात् षड्वर्णो वाञ्छितप्रदः ॥18॥
स्वाहाऽन्तो हुंफडन्तो वा नत्यन्तो वा भवेदयम्।
अष्टाविंशत्युत्तरशतभेदः षड्वर्ण ईरितः ॥19॥

पहले जो पंचाक्षरमन्त्र (श्रीं श्रीं यं नमः) कहा जा चुका है, उसी के साथ स्वबीज = रां, काम = क्लीं, शक्ति = ह्रीं, वाक् = ऐं, लक्ष्मी = श्रीं और तार = ॐ को जोड़कर वह पूर्व का पंचाक्षर ही षडक्षर मन्त्र हो जाता है। इस प्रकार यह षडक्षर मन्त्र छः प्रकार का होता है। ऐसे छः प्रकार का यह षडक्षरमन्त्र चतुर्वर्ग की फलप्राप्ति कराता है। और भी वर्णमाला के प्रत्येक अक्षर के साथ जोड़ने से तो अनेक प्रकार का हो जाता है। तदुपरान्त लक्ष्मी = श्रीं; वाक् = ऐं इत्यादि बीजों के साथ जोड़ने से वह षडक्षरमन्त्र अब सात प्रकार का हो जाता है। षडक्षरमन्त्र का दूसरा विकल्प इस प्रकार है—'रां रामाय'—ये चार अक्षर, 'स्वाहा', 'हुं फट्' 'नमः' आदि के योग से भी षडक्षर मन्त्र हो जाते हैं। फिर विलोम पद्धति से क्षकार से लेकर अकार तक जोड़ने से इक्यावन होते हैं और आठ वर्ण और छः स्वर—कुल मिलाकर यह षडक्षरमन्त्र एक सौ अट्ठाईस भेद वाला हो जाता है।

ब्रह्मा सम्मोहनः शक्तिर्दक्षिणामूर्तिरेव च।
अगस्त्यश्च शिवः प्रोक्ता मुनयोऽनुक्रमादिमे ॥20॥
छन्दो गायत्रसंज्ञं च श्रीरामश्चैव देवता।
अथवा कामबीजादेर्विश्वामित्रो मुनिर्मनोः ॥21॥
छन्दो देव्यादिगायत्री रामभद्रोऽस्य देवता।
बीजशक्ती यथापूर्वं षड्वर्णान् विन्यसेत्क्रमात् ॥22॥
ब्रह्मरन्ध्रे भ्रुवोर्मध्ये हृन्नाभ्यूरुषु पादयोः।
बीजैः षड्दीर्घयुक्तैर्वा मन्त्रार्णैर्वा षडङ्गकम् ॥23॥

इस षडक्षरमन्त्र के इतने भेद होने से इसके ऋषि भी अनुक्रम से ब्रह्मा, कामदेव, शक्ति, दक्षिणामूर्ति, अगस्त्य और शिव—ये होते हैं। इसका छन्द गायत्री नाम का है। और श्रीराम इसके देवता हैं। अथवा इस मन्त्र के काम्बीज आदि (क्लीं आदि) के ऋषि विश्वामित्र माने गए हैं। छन्द देव्यादि गायत्री है। रामभद्र इसके देवता हैं। बीजशक्ति पूर्व तरह ही है। इस मन्त्र के छः वर्णों का क्रमशः ब्रह्मरन्ध्र में, दोनों भौंहों के बीच में, हृदय पर, नाभि पर, दोनों जाँघों पर और दोनों पैरों पर न्यास करना चाहिए। इन छः अंगों पर न्यास या तो मन्त्रों के वर्णों को अथवा दीर्घ रकार युक्त छः पूर्वोक्त बीजों को बोलते हुए करना चाहिए।

कालाम्भोधरकान्तिकान्तमनिशं वीरासनाध्यासितं
मुद्रां ज्ञानमयीं दधानमपरं हस्ताम्बुजं जानुनि।
सीतां पार्श्वगतां सरोरुहकरां विद्युन्निभां राघवं
पश्यन्तं मुकुटाङ्गदादिविविधाकल्पोज्ज्वलाङ्गं भजे ॥24॥

इसका ध्यानमन्त्र इस प्रकार है—वर्षा(प्रलय)कालीन बादलों के जैसी कान्ति से रमणीय, सदैव वीरासन में बैठे हुए, एक हाथ से ज्ञानमुद्रा करते हुए, दूसरा करकमल घुटनों पर रखे हुए, पास में स्थित कमल जैसे करों वाली और विद्युत् की-सी कान्ति वाली सीताजी को देखते हुए, मुकुट, अंगद आदि विविध आभूषणों से उज्ज्वल अंग वाले श्रीराघव को मैं भजता हूँ (उपासना करता हूँ)।

रामश्च चन्द्रभद्रान्तो ङेन्तो नतियुतो द्विधा।
सप्ताक्षरो मन्त्रराजः सर्वकामफलप्रदः ॥25॥

'राम' शब्द के साथ **'चन्द्र'** शब्द लगाकर उसमें चतुर्थी विभक्ति लगाकर बाद में **'नमः'** शब्द जोड़ने से सप्ताक्षर मन्त्र बनता है, यथा—'रामचन्द्राय नमः।' इसी तरह 'राम' शब्द के साथ 'भद्र' शब्द जोड़कर उसमें भी चतुर्थी विभक्ति लगाकर आगे 'नमः' शब्द जोड़ने से भी सप्ताक्षर मन्त्र बनता है, यथा—'रामभद्राय नमः'। इस प्रकार यह सप्ताक्षर मन्त्र दो प्रकार का होता है। यह सप्ताक्षर मन्त्रराज सभी कामनाओं का फल देने वाला है।

तारादिसहितः सोऽपि द्विविधोऽष्टाक्षरो मतः।
तारं रामश्चतुर्थ्यन्तं क्रोडास्त्रं वह्नितल्पगा ॥26॥

वही सप्ताक्षर मन्त्र, यदि पहले तार आदि बीजों को (ॐ, ह्रीं, श्रीं, क्लीं, ऐं, रां आदि) जोड़कर बोला जाए तो वह अष्टाक्षर मन्त्र बनेगा। इस प्रकार छः बीज रामचन्द्र की और छः बीज रामभद्र की चतुर्थी विभक्ति को लगाने से और बाद में दोनों में 'नमः' लगाने से वह अष्टाक्षर मन्त्र बारह प्रकार का होगा। यथा—'ॐ रामचन्द्राय नमः' आदि छः और 'ॐ रामभद्राय नमः' आदि छः मिलकर बारह होंगे। इस मन्त्र के ऋषि देवता आदि पहले की तरह ही हैं। और भी, अन्य रीति से यह अष्टाक्षर मन्त्र कहा जा सकता है। पहले तार=ॐ और बाद में चतुर्थ्यन्त राम और बाद में अस्त्राय फट् लगाने से, यथा—'ॐ रामाय अस्त्राय फट्' अथवा 'ॐ रामाय हुँ फट् स्वाहा'।

अष्टार्णोऽयं परो मन्त्रो ऋष्यादिः स्यात्षडर्णवत्।
पुनरष्टाक्षरस्याथ राम एव ऋषिः स्मृतः ॥27॥
गायत्रं छन्द इत्यस्य देवता राम एव च।
तारं श्रीबीजयुग्मौ च बीजशक्त्यादयो मताः ॥28॥

यह पहला जो अष्टाक्षरी मन्त्र है वह परम उत्तम है। इस मन्त्र के ऋषि-देवतादि तो छः अक्षरवाले मन्त्र की तरह ही हैं। जो अन्य रीति से अष्टाक्षर मन्त्र ऊपर बताया गया है, उसके ऋषि तो राम ही हैं। गायत्री इसका छन्द है और देवता भी राम ही हैं। इसके अतिरिक्त रामाय के पहले तार को = ॐ को और दो श्री बीज को = श्री श्री को—जोड़कर भी अष्टाक्षर बनता है, यथा—'ॐ श्रीं श्रीं रामाय नमः।'

षडङ्गं च ततः कुर्यान्मन्त्रार्णैरेव बुद्धिमान्।
तारं श्रीबीजयुग्मं च रामाय नम उच्चरेत् ॥29॥
ग्लौमों बीजं वदेन्मायां हृद्रामाय पुनश्च ताम्।
शिवोमाराममन्त्रोऽयं वस्वर्णस्तु वसुप्रदः ॥30॥
ऋषिः सदाशिवः प्रोक्तो गायत्रं छन्द उच्यते।
शिवोमारामचन्द्रोऽत्र देवता परिकीर्तिताः ॥31॥

इस मन्त्र के अक्षरों को बोलते हुए ही बुद्धिमान को षडंगन्यास करना चाहिए। अर्थात् तार = ॐ और दो श्री बीज से युक्त रामाय नमः, इस प्रकार—'ॐ श्रीं श्रीं रामाय नमः'—यह बोलते हुए षडंगन्यास करना चाहिए, अथवा 'ग्लौं, ॐ, ह्रीं नमो रामाय'—इस प्रकार बोलते हुए षडंगन्यास करना चाहिए। फिर से उस माया = ह्रीं के उच्चारण—उमा महेश्वर बीज के योग से—यह शिव-उमा-राम का मन्त्र बन जाता है। यह मन्त्र तेजोमय और धन देने वाला है। इसके ऋषि सदाशिव कहे गये हैं। छन्द गायत्री कहा गया है। और देवता शिव-उमा-राम हैं।

दीर्घया माययाऽङ्गानि तारपञ्चार्णयुक्तया।
रामं त्रिणेत्रं सोमार्धधारिणं शूलिनं परम्।
भस्मोद्धूलितसर्वाङ्गं कपर्दिनमुपास्महे ॥32॥
रामाभिरामां सौन्दर्यसीमां सोमावतंसिकाम्।
पाशाङ्कुशधनुर्बाणधरां ध्यायेत्त्रिलोचनाम् ॥33॥

तारसहित (ॐ सहित) पंचवर्णों ('रामाय नमः') के साथ दीर्घ माया ('ह्रां') का उच्चारण करते हुए, अर्थात् 'ह्रीं ॐ रामाय नमः'—आदि बोलते हुए इस प्रकार ध्यान करना चाहिए—'राम की और त्रिलोचन की शूलधारी, अर्धचन्द्र धारण करने वाले, परमदेव, भस्म से लिप्त अंगवाले, कपर्दी महादेव की हम उपासना करते हैं!' राम की प्रिय, सौन्दर्य की चरम सीमा रूप, अपने अवतंस में (मुकुट में) चन्द्र को धारण करने वाली, तथा पाश-अंकुश-धनुष-बाण को धारण करने वाली त्रिलोचना का ध्यान करना चाहिए (उपासना करनी चाहिए)।

ध्यायन्नेवं वर्णलक्षं जपतर्पणतत्परः।
बिल्वपत्रैः फलैः पुष्पैस्तिलाज्यैः पङ्कजैर्हुनेत् ॥34॥
स्वयमायान्ति निधयः सिद्धयश्च सुरेप्सिताः।
पुनरष्टाक्षरस्याथ ब्रह्मगायत्रराघवाः ॥35॥
ऋष्यादयस्तु विज्ञेयाः श्रीबीजं मम शक्तिकम्।
तत्प्रीत्यै विनियोगश्च मन्त्रार्णैरङ्गकल्पना ॥36॥

इस प्रकार साधक इस मन्त्र का एक लाख बिल्वपत्रों से, फलों से, पुष्पों से, कमलों से तथा घी-तेल से यदि जाप और पूजा-तर्पण आदि करने को तत्पर होता है, तब तो देवताओं के लिए भी चाही गई सिद्धियाँ और निधियाँ उसे आप-ही-आप आ मिलती हैं। इस अष्टाक्षर 'शिवोमाराम' मन्त्र के ब्रह्मा ऋषि हैं, गायत्री छन्द है और राम देवता हैं—ऐसा जानना चाहिए। और मेरी शक्तिरूप बीज 'श्रीं' बीज है। उसी की प्रीति के लिए इस मन्त्र का विनियोग है। और इस मन्त्र के अक्षरों के साथ अंग-विन्यास आदि करने की कल्पना की गई है।

केयूराङ्गदकङ्कणैर्मणिगणैर्विद्योतमानं सदा
रामं पार्वणचन्द्रकोटिसदृशच्छत्रेण वै राजितम्।
हेमस्तम्भसहस्रषोडशयुते मध्ये महामण्डपे
देवेशं भरतादिभिः परिवृतं रामं भजे श्यामलम् ॥37॥

अब यह ध्यानमन्त्र इस प्रकार है—'जो केयूर, अंगद, कंकणों से और मणियों से सदैव जगमगाते रहते हैं, और जो पूर्णिमा के करोड़ों चन्द्रों जैसे कान्ति वाले छत्र से शोभायमान हैं, जो सुवर्ण

के सोलह हजार स्तम्भों से युक्त महान् मण्डप के बीच विराजमान हैं, जो भरत आदि भाइयों से घिरे हुए हैं, ऐसे श्यामलकान्ति देवाधिदेव रामचन्द्रजी की मैं उपासना करता हूँ।'

किं मन्त्रैर्बहुभिर्विनश्वरफलैरायाससाध्यैर्वृथा
किञ्चिल्लोभवितानमात्रविफलैः संसारदुःखावहैः।
एकः सन्नपि सर्वमन्त्रफलदो लोभादिदोषोज्झितः
श्रीरामः शरणं ममेति सततं मन्त्रोऽयमष्टाक्षरः ॥38॥

उन बहुत से मन्त्रों से भला क्या लाभ है कि जिनके फल नश्वर ही हैं, जो बड़े परिश्रम से साध्य होने पर भी मिथ्या ही हैं, जो थोड़े से लोभ का विस्तार करके ही विफल हो जाते हैं, जो सांसारिक दुःखों को ही लाते हैं ? इसकी अपेक्षा तो यह मन्त्र एक होते हुए भी सभी मन्त्रों के फल को देने वाला है। यह लोभ आदि दोषों को हटा देने वाला है। इस अष्टाक्षर मन्त्र का स्वरूप है—'श्रीरामः शरणं मम।'

एवमष्टाक्षरः सम्यक् सप्तधा परिकीर्तितः।
रामसप्ताक्षरो मन्त्र आद्यन्ते तारसंयुतः ॥39॥
नवार्णो मन्त्रराजः स्याच्छेषं षड्वर्णवन्न्यसेत्।
जानकीवल्लभं ङेन्तं वह्नेर्जायाहुमादिकम् ॥40॥
दशाक्षरोऽयं मन्त्रः स्यात् सर्वाभीष्टफलप्रदः।
दशाक्षरस्य मन्त्रस्य वसिष्ठोऽस्य ऋषिर्विराट् ॥41॥

इस प्रकार अष्टाक्षर मन्त्र मुख्यतः सात प्रकार से वर्णित किया गया है। अब जो राम का सप्ताक्षरमन्त्र पहले दिया जा चुका है, उसके आगे और अन्त में तार = ॐ लगा देने से नव अक्षर का राममन्त्र बनता है, यथा—'ॐ रामचन्द्राय नमः ॐ'। यह एक ही प्रकार का है। इस मन्त्र के षडंगन्यासादि छः वर्ण वाले मन्त्र की तरह ही है। (अब दशाक्षर मन्त्र की बात कही जाती है—) 'जानकीवल्लभ' शब्द को चतुर्थी विभक्ति में लेकर अन्त में वह्नि की जाया = स्वाहा को जोड़कर आदि में 'हुम्' यह बीज लगाकर यह मन्त्र बनता है। मन्त्र ऐसा होगा—'हुं जानकीवल्लभाय स्वाहा।' यह दशाक्षर मन्त्र सभी अभीष्ट फलों का दाता है। इस दशाक्षर मन्त्र के ऋषि वसिष्ठ हैं और विराट् इसका छन्द है।'

छन्दोऽस्य देवता रामः सीतापाणिपरिग्रहः।
आद्यो बीजं द्विठः शक्तिः कामेनाङ्गक्रिया मता ॥42॥
शिरोललाटभ्रूमध्ये तालुकर्णेषु हृद्यपि।
नाभ्यूरुजानुपादेषु दशार्णान् विन्यसेन्मनोः ॥43॥

पूर्वकथित विराट् इसका छन्द है। सीता का पाणिग्रहण करने वाले राम इस मन्त्र के देवता हैं। इस मन्त्र में जो आद्यक्षर है, वह बीज है और 'ठः ठः'—ऐसे दो ठकार को शक्ति समझना चाहिए तथा काम क्रिया क्लीं आदि है। इन बीज, शक्ति और काम को अर्थात् हुं, ठठ, और क्लीं को मन्त्र के साथ जोड़कर अंगन्यासदि करना चाहिए। मन्त्र के साथ इन तीनों का उच्चारण करते हुए अंगन्यासदि करना चाहिए। और वह अंगन्यास—मस्तक, ललाट, भौंहों के बीच के भाग, तालु, दोनों कान, हृदय, नाभि, दोनों जाँघें, दोनों घुटनें, दोनों पादों के ऊपर इस मन्त्र के दश अक्षरों के द्वारा करना चाहिए।

अयोध्यानगरे रत्नचित्रे सौवर्णमण्डपे।
मन्दारपुष्पैराबद्धविताने तोरणाञ्चिते ॥44॥
सिंहासने समासीनं पुष्पकोपरि राघवम्।
रक्षोभिर्हरिभिर्देवैर्दिव्ययानगतैः शुभैः ॥45॥
संस्तूयमानं मुनिभिः प्रह्वैश्च परिसेवितम्।
सीताऽलंकृतवामाङ्गं लक्ष्मणेनोपसेवितम् ॥46॥
श्यामं प्रसन्नवदनं सर्वाभरणभूषितम्।
ध्यायन्नेवं जपेन्मन्त्रं वर्णलक्षमनन्यधीः ॥47॥

इसका ध्यानमन्त्र इस प्रकार है—'अयोध्यानगर में रत्नों से जगमगाते हुए, सुवर्ण मण्डप में, मन्दार पुष्पों से खचित वितानवाले तोरणों से मण्डित, पुष्पक के ऊपर, सिंहासन पर बैठे हुए, दिव्य-वाहनों में स्थित शुभ राक्षसों, वानरों के द्वारा स्तुति किए जाने वाले, मुनियों और बुद्ध जनों के द्वारा परिसेवित, सीताजी के द्वारा जिनका वाम पार्श्व शोभित हुआ है ऐसे, श्यामवर्ण, प्रसन्नवदन, सर्व आभूषणों से भूषित राघव—रामचन्द्र का ध्यान करते हुए साधक को तीव्र बुद्धियुक्त होकर एक लाख बार इस मन्त्र का जाप करना चाहिए।

रामं ङेन्तं धनुष्पाणयेऽन्तः स्याद्वह्निसुन्दरी।
दशाक्षरोऽयं मन्त्रः स्यान्मुनिर्ब्रह्मा विराट् स्मृतः ॥48॥
छन्दस्तु देवता प्रोक्तो रामो राक्षसमर्दनः।
शेषं तु पूर्ववत् कुर्याच्चापबाणधरं स्मरेत् ॥49॥

अब अन्य रीति से दशाक्षर मन्त्र इस प्रकार है—चतुर्थ विभक्तियुक्त 'राम' शब्द को 'धनुष्पाणये' शब्द के साथ जोड़कर अन्त में वह्निपत्नी के साथ—'स्वाहा' शब्द जोड़ना चाहिए। तब भी दशाक्षर मन्त्र बनता है, यथा—'रामाय धनुष्पाणये स्वाहा।' इस मन्त्र के ऋषि ब्रह्मा हैं, छन्द विराट् है, और देवता राक्षसों का मर्दन करने वाले राम हैं। बाकी की सब बातें पूर्व की तरह ही हैं। यहाँ स्मरण (ध्यान) चाप और बाण को धारण करने वाले राम का करना चाहिए।

तारमायारमाऽनङ्गवाक्स्वबीजैश्च षड्विधः।
दशार्णो मन्त्रराजः स्याद्रुद्रवर्णात्मको मनुः ॥50॥

इस दशाक्षर मन्त्र के पूर्व में तार = ॐ, माया = ह्रीं, रमा = श्रीं, अनंग = क्लीं, वाक् = ऐं, और स्वबीज जोड़ने से एकादशाक्षर मन्त्र बनता है, यथा—'ॐ रामाय धनुष्पाणये नमः' इत्यादि। इस प्रकार से यह एकादशाक्षर मन्त्र छः प्रकार का बनता है।

शेषं षडर्णवज्ज्ञेयं न्यासध्यानादिकं बुधैः।
द्वादशाक्षरमन्त्रस्य श्रीरामो ऋषिरुच्यते ॥51॥
जगती छन्द इत्युक्तं श्रीरामो देवता मतः।
प्रणवो बीजमित्युक्तः क्लीं शक्तिर्ह्रीं च कीलकम् ॥52॥
मन्त्रेणाङ्गानि विन्यस्य शिष्टं पूर्ववदाचरेत्।
तारं मायां समुच्चार्य भरताग्रज इत्यपि ॥53॥

इस एकादशाक्षर के शेष ऋषि-देवता आदि पहले की ही तरह हैं। अब यहाँ द्वादशाक्षर मन्त्र कहते हैं। इस मन्त्र के ऋषि श्रीराम हैं और देवता भी श्रीराम ही कहे गए हैं। जगती इसका छन्द और प्रणव उसका बीज है। क्लीं इसकी शक्ति और ह्रीं इसका कीलक हैं। इस मन्त्र के अक्षरों से भी अंगविन्यास करना चाहिए और शेष अन्य सभी क्रियाएँ करनी चाहिए। यह मन्त्र इस प्रकार है—तार को (ॐ को) और माया को (क्लीं को) बोलकर बाद में भरताग्रज बोलना चाहिए। बाद में—

रामक्लींवह्निजायाऽन्तं मन्त्रोऽयं द्वादशाक्षरः।
ॐ हृद्भगवते रामचन्द्रभद्रौ च ङेयुतौ ॥54॥
अर्काणों द्विविधोऽप्यस्य ऋषिध्यानादि पूर्ववत्।
छन्दस्तु जगती चैव मन्त्रार्णैरङ्गकल्पना ॥55॥

राम क्लीं और वह्निजाया (स्वाहा) जोड़ने से द्वादशाक्षरमन्त्र बनेगा। पूरा मन्त्र होगा—'ॐ ह्रीं भरताग्रज राम क्लीं स्वाहा।' अब दूसरे प्रकार का द्वादशाक्षरमन्त्र यह है जिसमें पहले 'ॐ' कहकर तब 'भगवते' कहकर, बाद में रामचन्द्र शब्द में चतुर्थी विभक्ति लगाकर मन्त्र पूरा होता है—'ॐ नमो भगवते रामचन्द्राय,' और रामभद्र में चतुर्थी विभक्ति लगाकर दूसरा मन्त्र होता है—'ॐ नमो भगवते रामभद्राय।' इस प्रकार यह द्वादशाक्षर मन्त्र तीन प्रकार का होता है। इस मन्त्र के ऋषि, ध्यान आदि पहले की तरह ही हैं। इसका छन्द जगती है। इस मन्त्र के अक्षरों से अंगन्यास करना चाहिए।

श्रीरामेति पदं चोक्त्वा जयराम पदं ततः।
जयद्वयं वदेत् प्राज्ञो रामेति मनुराजकः ॥56॥
त्रयोदशार्ण ऋष्यादि पूर्ववत्सर्वकामदः।
पदद्वयैर्द्विरावृत्तैरङ्गन्यासं दशार्णवत् ॥57॥
तारादिसहितः सोऽपि स चतुर्दशवर्णकः।
त्रयोदशार्णमुच्चार्य पश्चाद्रामेति योजयेत् ॥58॥

'श्रीराम' ऐसा शब्द बोलकर उसके बाद 'जय' शब्द बोलना चाहिए। इसके बाद, दो बार 'जय' शब्द बोलने से और बाद में 'राम' शब्द कहने से त्रयोदशाक्षर परमबुद्धिमय मन्त्रराज होता है। पूरा मन्त्र इस प्रकार होगा—'श्रीराम जय राम जय जय राम।' यह त्रयोदशाक्षर मन्त्रराज के ऋषि पहले की तरह ही हैं। यह मन्त्र सर्वकामनाओं की सिद्धि देने वाला है। दो बार आवृत्ति किए गए दोनों पदों से दशाक्षर मन्त्र की तरह यहाँ पर अंगन्यास करना चाहिए। इसी त्रयोदशाक्षर मन्त्र को तार = ॐ आदि पूर्वोक्त छः बीज आगे लगा देने से वह चतुर्दशाक्षर मन्त्र बन जाएगा। छहों बीज इसके आगे लगने से यह चतुर्दशाक्षर मन्त्र छः प्रकार का होगा। अब पूर्वोक्त त्रयोदशाक्षर मन्त्र के (त्रयोदशाक्षर मन्त्र का उच्चारण करके) पूर्व में राम शब्द जोड़ देने से—

स वै पञ्चदशार्णस्तु जपतां कल्पभूरुहः।
नमश्च सीतापतये रामायेति हनद्वयम् ॥59॥
ततस्तु कवचास्त्रान्तः षोडशाक्षर ईरितः।
तस्यागस्त्यऋषिश्छन्दो बृहती देवता च सः ॥60॥
रां बीजं शक्तिरस्त्रं च कीलकं हुमितीरितम्।
द्विपञ्चत्रिचतुर्वर्णैः सर्वैरङ्गं न्यसेत् क्रमात् ॥61॥

तारादिसहितः सोऽपि मन्त्रः सप्तदशाक्षरः।
तारं नमो भगवते रामं ङेन्तं महा ततः ॥62॥

वह पञ्चदशाक्षर मन्त्र हो जाएगा। यह मन्त्र जप करने वालों के लिए कल्पद्रुम के समान है। अब षोडशाक्षर मन्त्र के लिए—**'नमः'** के बाद **'सीतापतये'** के बाद **'रामाय'** के बाद दो बार 'हन हन' ऐसा बोलना चाहिए। फिर उसके बाद 'हुँ फट् स्वाहा' का उच्चारण करने से वह षोडशाक्षर मन्त्र बनेगा। (पूरा मन्त्र होगा—'नमः सीतापतये रामाय हन हन फट् स्वाहा'।) इस मन्त्र के ऋषि अगस्त्य हैं, छन्द बृहती है, देवता वही हैं, 'रां' उसका बीज हैं, अस्त्र-फट् उसकी शक्ति है, 'हुम्' इसका कीलक है। दो, चार, तीन, पाँच—इन सभी वर्णों से अंगों पर क्रमशः न्यास करना चाहिए। अब यही षोडशाक्षर मन्त्र जब तार = ॐ, माया = ह्रीं आदि छः बीजों को पहले लगाकर बोला जाता है, तो वह सप्तदशाक्षर मन्त्र हो जाता है। छः बीजों के लगाए जाने से यह सप्तदशाक्षर मन्त्र छः प्रकार का होता है। अब अष्टादशाक्षर मन्त्र के लिए—पहले तार = ॐ, बाद में 'भगवते', बाद में चतुर्थ्यन्त राम शब्द अर्थात् 'रामाय' और इसके बाद **'महा'** लगाकर—

पुरुषाय पदं पश्चाद्धृदन्तोऽष्टादशाक्षरः।
विश्वामित्रो मुनिश्छन्दो गायत्री देवता च सः ॥63॥
कामादिसहितः सोऽपि मन्त्र एकोनविंशकः।
तारं नमो भगवते रामायेति पदं वदे ॥64॥
सर्वशब्दं समुच्चार्य सौभाग्यं देहि मे वदेत्।
वह्निजायां तथोच्चार्य मन्त्रो विंशार्णको मतः ॥65॥

फिर उसके बाद **'पुरुषाय'** पद जोड़कर अन्त में 'नमः' लगा देने से अष्टादशाक्षर मन्त्र बनेगा। पूरा मन्त्र होगा—'ॐ नमो भगवते रामाय महापुरुषाय नमः।' इस मन्त्र के ऋषि विश्वामित्र हैं, छन्द गायत्री है, देवता वही (राम) हैं। इसी अष्टादशाक्षर मन्त्र के पहले काम आदि बीज—क्लीं आदि छः बीज जोड़ देने से एकोनविंशाक्षर (उन्नीस अक्षरों वाला) मन्त्र बन जाएगा। ये बीज छः हैं इसलिए यह उन्नीस अक्षरों वाला मन्त्र भी छः प्रकार का होता है। अब विंशाक्षर मन्त्र की बात कही जाती है—जिसमें कि 'तार = ॐ नमः भगवते रामाय' ऐसे शब्द बोलकर बाद में 'सर्व' शब्द बोलकर 'सौभाग्यं देहि मे' ऐसा बोलना चाहिए। बाद में वह्निजाया का—'स्वाहा' का उच्चारण करने से विंशाक्षर (बीस वर्ण वाला) मन्त्र बनता है। पूरा मन्त्र होगा—'ॐ नमो भगवते रामाय सर्वसौभाग्यं देहि मे स्वाहा।'

तारं नमो भगवते रामाय सकलं वदेत्।
आपन्निवारणायेति वह्निजायां ततो वदेत् ॥66॥
एकविंशार्णको मन्त्रः सर्वाभीष्टफलप्रदः।
तारं रमां स्वबीजं च ततो दाशरथाय च ॥67॥
ततः सीतावल्लभाय सर्वाभीष्टपदं वदेत्।
ततो दाय हृदन्तोऽयं मन्त्रो द्वाविंशदक्षरः ॥68॥

अब 'तार = ॐ नमो भगवते रामाय सकल'—इन शब्दों का उच्चारण करके बाद में 'आपन्निवारणाय' यह शब्द बोलकर, अन्त में वह्निजाया = स्वाहा बोलने से इक्कीस वर्णवाला मन्त्र बनता है। (ॐ नमो भगवते रामाय सकलापन्निवारणाय स्वाहा)। यह मन्त्र सकल अभीष्ट को देने वाला

है। अब बाईस अक्षरवाला मन्त्र इस प्रकार है—तार, रमा और स्वबीज को—अर्थात् ॐ श्रीं और रां को बोलकर, फिर 'दाशरथाय' फिर 'सीतावल्लभाय' फिर 'सर्वाभीष्ट' पद के बाद 'दाय' पद को बोलकर नमः शब्द का बाद में उच्चारण करने से बाईस अक्षर वाला मन्त्र बन जाता है। ('ॐ श्रीं रां दाशरथाय सीतावल्लभाय सर्वाभीष्टदाय नमः')।

तारं नमो भगवते वीररामाय संवदेत्।
कलशत्रून् हनद्वन्द्वं वह्निजायां ततो वदेत् ॥69॥
त्रयो विंशाक्षरो मन्त्रः सर्वशत्रुनिबर्हणः।
विश्वामित्रो मुनिः प्रोक्तो गायत्री छन्द उच्यते ॥70॥
देवता वीररामोऽसौ बीजाद्याः पूर्ववन्मताः।
मूलमन्त्रविभागेन न्यासान् कृत्वा विचक्षणः ॥71॥
शरं धनुषि सन्धाय तिष्ठन्तं रावणोन्मुखम्।
वज्रपाणिं रथारूढं रामं ध्यात्वा जपेन्मनुम् ॥72॥

अब त्रयोविंशाक्षर (तेईस अक्षर वाले) मन्त्र में—'तार (ॐ) नमो भगवते वीररामाय' ऐसा बोलना चाहिए। बाद में 'सकलशत्रून्' ऐसा कहकर दो बार 'हन हन' बोलना चाहिए। अन्त में वह्निजाया = स्वाहा को जोड़ देने से सभी शत्रुओं का विनाश करने वाला तेईस अक्षरों का मन्त्र बनता है। (ॐ नमो भगवते वीररामाय सकलशत्रून् हन हन स्वाहा)। इस मन्त्र के ऋषि विश्वामित्र हैं, छन्द गायत्री है, वीरराम देवता हैं। बीज आदि सब पहले के ही तरह हैं। विवेकी साधक को चाहिए कि वह मूलमन्त्र का विभाग करके अंगन्यास करे। न्यास करके ध्यान करे। ध्यान यह है—'रावण के सामने धनुष में बाण का सन्धान करके खड़े हुए वज्र जैसे हाथ वाले रथारूढ राम जी का ध्यान करना चाहिए और इस मन्त्र का जाप करना चाहिए।

तारं नमो भगवते श्रीरामाय पदं वदेत्।
तारकब्रह्मणे चोक्त्वा मां तारय पदं वदेत् ॥73॥
नमस्तारात्मको मन्त्रश्चतुर्विंशतिवर्णकः।
बीजादिकं यथापूर्वं सर्वं कुर्यात् षडर्णवत् ॥74॥

अब चौबीस अक्षरवाला मन्त्र कहा जाता है—तार (ॐ) के बाद 'नमो भगवते श्रीरामाय' शब्द बोलने चाहिए। बाद में 'तारक ब्रह्मणे'—ऐसा कहकर 'मां तारय' पद बोलना चाहिए। बाद में 'नमः' और फिर से तारक (ॐ) बोलने से चौबीस अक्षरों वाला मन्त्र बनता है। ('ॐ नमो भगवते श्रीरामाय तारकब्रह्मणे मां तारय नम ओम्')। इस मन्त्र के बीज आदि पहले की ही तरह हैं। शेष सब षडक्षर मन्त्र की भाँति करना चाहिए।

कामस्तारो नतिश्चैव ततो भगवतेपदम्।
रामचन्द्राय चोच्चार्य सकलेति पदं वदेत् ॥75॥
जनवश्यकरायेति स्वाहा कामात्मको मनुः।
सर्ववश्यकरो मन्त्रः पञ्चविंशतिवर्णकः ॥76॥
आदौ तारेण संयुक्तो मन्त्रः षड्विंशदक्षरः।
अन्तेऽपि तारसंयुक्तः सप्तविंशतिवर्णकः ॥77॥

अब पच्चीस वर्ण वाले मन्त्र की बात कहते हैं—पहले काम = क्लीं, तार = ॐ तथा 'नमः' को बोलकर, 'भगवते रामचन्द्राय' का उच्चारण करके 'सकल' पद बोलना चाहिए। बाद में 'जनवश्याय स्वाहा' कहने से सर्वकामनाओं को पूर्ण करने वाला और सबको वश में करने वाला पच्चीस वर्णों वाला मन्त्र बनता है। ('क्लीं ॐ नमो भगवते रामचन्द्राय सकलजनवश्यकराय स्वाहा')। इसी मन्त्र के आगे—क्लीं से पहले तार = ॐ को जोड़ देने से वही षड्विंशाक्षर (छब्बीस अक्षरों वाला) मन्त्र बन जाता है, और फिर अन्त में भी तार = ॐ को जोड़ देने से वही मन्त्र सप्तविंशाक्षार (सत्ताईस अक्षरों वाला) हो जाता है।

तारं नमो भगवते रक्षोघ्नविशदाय च।
सर्वविघ्नान् समुच्चार्य निवारय पदद्वयम् ॥78॥
स्वाहाऽन्तो मन्त्रराजोऽयमष्टाविंशतिवर्णकः।
अन्ते तारेण संयुक्त एकोनत्रिंशदक्षरः ॥79॥
आदौ स्वबीजसंयुक्तस्त्रिंशद्वर्णात्मको मनुः।
अन्तेऽपि तेन संयुक्त एकत्रिंशात्मकः स्मृतः ॥80॥

'तार (ॐ) नमो भगवते' और 'रक्षोघ्नविशदाय' एवं 'सर्वविघ्नान्'—इन शब्दों को बोलकर 'निवारय निवारय' ऐसा दो बार बोलकर अन्त में 'स्वाहा' बोलने से अट्ठाईस अक्षरों वाला मन्त्रराज बनता है। ('ॐ नमो भगवते रक्षोघ्नविशदाय सर्वविघ्नान् निवारय निवारय स्वाहा')। यही मन्त्र यदि अन्त में ॐ (तार) जोड़कर बोला जाए तो वह उनतीस अक्षरों वाला हो जाएगा। और उस उनतीस वर्ण वाले मन्त्र के प्रारंभ में स्वबीज का 'रां' और जोड़ दिया जाए तो वह तीस अक्षरों वाला मन्त्र बन जाएगा। और उस तीस अक्षरवाले मन्त्र के अन्त में भी वह स्वबीज 'रां' जोड़ दिया जाए तो वही इकत्तीस अक्षरों वाला भी हो जाता है।

रामभद्र महेष्वास रघुवीर नृपोत्तम।
भो दशास्यान्तकास्माकं श्रियं दापय देहि मे ॥81॥
आनुष्टुभ ऋषी रामश्छन्दोऽनुष्टुप्स देवता।
रां बीजमस्य यं शक्तिरिष्टार्थे विनियोजयेत् ॥82॥
पादं हृदि च विन्यस्य पादं शिरसि विन्यसेत्।
शिखायां पञ्चभिर्न्यस्य त्रिवर्णैः कवचं न्यसेत् ॥83॥
नेत्रयोः पञ्चवर्णैश्च दापयेत्यस्त्रमुच्यते।
चापबाणधरं श्यामं ससुग्रीवविभीषणम् ॥84॥
हत्वा रावणमायान्तं कृतत्रैलोक्यरक्षणम्।
रामभद्रं हृदि ध्यात्वा दशलक्षं जपेन्मनुम् ॥85॥

अब राम का अनुष्टुप् कहा जा रहा है कि—'हे बड़े तूणीर वाले रघुवीर रामभद्र! हे राजश्रेष्ठ! हे रावणसंहारक! हमें सम्पत्ति दीजिए और दिलवाइए।' इस अनुष्टुप् छन्द वाले मन्त्र के ऋषि राम हैं, छन्द अनुष्टुप् है, राम ही देवता हैं, 'रां' बीज है, 'यं' शक्ति है, अभीष्ट अर्थ में इसका विनियोग है। इस अनुष्टुप् के एक पाद (चरण) से हृदय में न्यास करके दूसरे से भी हृदय में न्यास करना चाहिए। तीसरे पाद के पाँच वर्णों से शिखा में न्यास करना चाहिए और बाकी के तीन अक्षरों से छाती पर न्यास करना चाहिए। चौथे चरण के पाँच अक्षरों से दोनों नेत्रों पर न्यास करते हुए 'दापय मे' शब्द बोलकर

'अस्त्राय फट्' ऐसा बोलना चाहिए। इसका ध्यानमन्त्र यह है—'धनुष और बाण को धारण किए हुए, श्याम कान्तिवाले, सुग्रीव और विभीषण के साथ विराजित, रावण को मारकर आते हुए, तीनों लोकों का रक्षण करने वाले रामभद्र का ध्यान करके ऐसे दस लाख मन्त्रों का जाप करें।

वदेद्दाशरथायेति विद्महेति पदं ततः।
सीतापदं समुद्धृत्य वल्लभाय ततो वदेत् ॥86॥
धीमहीति वदेत्तन्नो रामश्चापि प्रचोदयात्।
तारादिरेषा गायत्री मुक्तिमेव प्रयच्छति ॥87॥
मायाऽऽदिरपि वैदुष्यं रामादिश्च श्रियःपदम्।
मदनेनापि संयुक्ता संमोहयति मेदिनीम् ॥88॥
पञ्च त्रीणि षडर्णैश्च त्रीणि चत्वारि वर्णकैः।
चत्वारि च चतुर्वर्णैरङ्गन्यासं प्रकल्पयेत् ॥89॥

पहले 'दाशरथाय' बोलकर बाद में 'विद्महे' पद बोलना चाहिए। इसके बाद 'सीता' पद को लेकर 'वल्लभाय' पद बोलना चाहिए। बाद में 'धीमहि' और तब 'तन्नो रामः' और 'प्रचोदयात्' बोलकर पहले तार = ॐ रखने से निबद्ध यह रामगायत्री मुक्ति ही देती है। ('ॐ दाशरथाय विद्महे सीतावल्लभाय धीमहि तन्नो रामः प्रचोदयात्')। इस रामगायत्रीमन्त्र के आगे यदि माया = ह्रीं रखकर बोला जाए तो वह विद्वत्ता देता है, यदि आदि में 'रां' रखकर बोला जाए, तो संपत्ति का स्थान मिलता है, यदि आदि में मदन = क्लीं रखकर बोला जाए तो समस्त मेदिनी को संमोहित किया जा सकता है। छः अक्षरवाले मन्त्र से पाँच अंगों पर और तीन अक्षर वाले मन्त्र से आठ अंगों पर तथा अन्य वर्णों से चार अंगों पर एवं चार वर्णों से चार अंगों पर न्यास करना चाहिए।

बीजध्यानादिकं सर्वं कुर्यात्षड्वर्णवत्क्रमात्।
तारं नमो भगवते चतुर्थ्या रघुनन्दनम् ॥90॥
रक्षोघ्नविशदं तद्वन्मधुरेति वदेत्ततः।
प्रसन्नवदनं ङेन्तं वदेदमिततेजसे ॥91॥
बलरामौ चतुर्थ्यन्तौ विष्णुं ङेन्तं नतिस्ततः।
प्रोक्तो मालामनुः सप्तचत्वारिंशद्भिरक्षरैः ॥92॥
ऋषिच्छन्दो देवतादि ब्रह्मानुष्टुभराघवाः।
सप्तर्तुसप्तदश षड्रुद्रसंख्यैः षडङ्गकम् ॥93॥

उपर्युक्त मन्त्र के बीज ध्यान आदि सब क्रमपूर्वक षड्वर्ण मन्त्र की तरह ही जानना चाहिए। अब राममालामन्त्र के विषय में कहते हैं—'(तार) ॐ नमो भगवते' बोलकर रघुनन्दन, रक्षोघ्नविशद शब्दों की चतुर्थी विभक्ति बोलनी चाहिए। इसके बाद क्रमशः मधुरप्रसन्नवदन, बल और राम शब्द तथा विष्णु शब्द में भी चतुर्थी विभक्ति लगाकर अन्त में 'नमः' शब्द रखने से राममालामन्त्र बनता है। उसके अक्षर सैंतालीस (47) होते हैं, यथा—'ॐ नमो भगवते रघुनन्दनाय रक्षोघ्नविशदाय मधुरप्रसन्नवदनाय अमिततेजसे बलाय श्रीरामाय विष्णवे नमः।' इस मन्त्र के ऋषि ब्रह्मा हैं, छन्द अनुष्टुप् हैं और देवता राघव हैं। और इसके सैंतालीस अक्षरों के द्वारा षडंगन्यास किया जाता है।

ध्यानं दशाक्षरं प्रोक्तं लक्षमेकं जपेन्मनुम्।
श्रियं सीता चतुर्थ्यन्तां स्वाहान्तोऽयं षडक्षरः ॥94॥
जनकोऽस्य ऋषिश्छन्दो गायत्री देवता मनोः।
सीता भगवती प्रोक्ता श्रीं बीजं नतिशक्तिकम् ॥95॥
कीलं सीता चतुर्थ्यन्तमिष्टार्थे विनियोजयेत्।
दीर्घस्वरयुजाऽऽद्येन षडङ्गानि प्रकल्पयेत् ॥96॥
स्वर्णाभामम्बुजकरां रामालोकनतत्पराम्।
ध्यायेत् षट्कोणमध्यस्थरामाङ्कोपरिसंस्थिताम् ॥97॥

उपर्युक्त मन्त्र का ध्यान दशाक्षर मन्त्र के अनुसार होता है। उस मन्त्र का एक लाख बार जप करना चाहिए। अब सीता का अंगमन्त्र कहा जा रहा है—यह मन्त्र श्रीपूर्वक सीता शब्द की चतुर्थी विभक्ति के बाद 'स्वाहा' बोलने से छः अक्षर वाला होता है, यथा—'श्रीसीतायै स्वाहा'। इस मन्त्र के ऋषि जनक हैं, देवता भगवती सीता हैं। नतिशक्तियुक्त बीज श्रीं है। इसका कील सीता है। इस चतुर्थ्यन्त मन्त्र का अभीष्ट अर्थ के लिए विनियोग करना चाहिए। और दीर्घस्वर से युक्त आद्य अक्षर से छः अंगों में अंगन्यास करना चाहिए। और सोने की-सी कान्तिवाली, हाथ में कमल धारण की हुई, राम के निरीक्षण में तल्लीन और षट्कोण के मध्य में प्रस्थापित रामचन्द्र जी के अंक में बैठी हुई सीता जी का ध्यान करना चाहिए।

लकारं तु समुद्धृत्य लक्ष्मणाय नमोऽन्तकः।
अगस्त्य ऋषिरस्याथ गायत्रं छन्द उच्यते ॥98॥
लक्ष्मणो देवता प्रोक्तो लं बीजं शक्तिरस्य हि।
नमस्तु विनियोगो हि पुरुषार्थचतुष्टये ॥99॥
दीर्घभाजा स्वबीजेन षडङ्गानि प्रकल्पयेत्।
द्विभुजं स्वर्णरुचिरतनुं पद्मनिभेक्षणम् ॥100॥
धनुर्बाणधरं वन्दे रामाराधनतत्परम्।
भकारं तु समुद्धृत्य भरताय नमोऽन्तकः ॥101॥

लकार को आगे रखकर अन्त में 'लक्ष्मणाय नमः' कहने से लक्ष्मण का अंगमन्त्र बनता है, यथा—'लं लक्ष्मणाय नमः।' इस मन्त्र के ऋषि अगस्त्य हैं, छन्द गायत्री है, लक्ष्मण इसके देवता कहे गऐ हैं, 'लं' इसका बीज कहा गया है और नमः इसकी शक्ति है। चारों पुरुषार्थों के लिए इसका विनियोग है। इस मन्त्र के बीज को दीर्घ करके उसके द्वारा अंगन्यास करना चाहिए। दो हाथ वाले, सोने की-सी कान्तियुक्त देहवाले, और पद्म जैसी आँखों वाले और राम के आराधन में तत्पर लक्ष्मण को मैं नमस्कार करता हूँ। अब भरतमन्त्र में भकार को लेकर 'भरताय नमः' जोड़ने से 'भं भरताय नमः' ऐसा भरतमन्त्र बनता है।

अगस्त्य ऋषिरस्याथ शेषं पूर्ववदाचरेत्।
भरतं श्यामलं शान्तं रामसेवापरायणम् ॥102॥
धनुर्बाणधरं वीरं कैकेयीतनयं भजे।
शं बीजं तु समुद्धृत्य शत्रुघ्नाय नमोऽन्तकः।
ऋष्यादयो यथापूर्वं विनियोगोऽरिनिग्रहे ॥103॥

इस भरतमन्त्र के ऋषि अगस्त्य हैं, शेष सभी पहले की तरह ही हैं। श्यामवर्ण, शान्त और रामसेवापरायण, धनुर्धर वीर कैकेयीपुत्र को मैं भजता हूँ—यह ध्यान मन्त्र है। अब शत्रुघ्नमन्त्र में पहले 'शं' मन्त्रबीज को लेकर इसके बाद 'शत्रुघ्नाय नमः' जोड़ने से 'शं शत्रुघ्नाय नमः' यह मन्त्र बनता है, इसके ऋषि आदि भी पहले ही की तरह हैं। शत्रु का नाश करने के लिए इसका विनियोग है।

द्विभुजं स्वर्णवर्णाभं रामसेवापरायणम्।
लवणासुरहन्तारं सुमित्रातनयं भजे ॥104॥
हं हनूमांश्चतुर्थ्यन्तं हृदन्तो मन्त्रराजकः।
रामचन्द्र ऋषिः प्रोक्तो योजयेत्पूर्ववत्क्रमात् ॥105॥
द्विभुजं स्वर्णवर्णाभं रामसेवापरायणम्।
मौञ्जीकौपीनसहितं मां ध्यायेद्रामसेवकम् ॥ इति ॥106॥

इति द्वितीयोऽध्यायः।
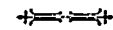
शत्रुघ्न का ध्यानमन्त्र यह है—'दो भुजाओं वाले, सुवर्ण की-सी कान्तिवाले रामसेवा में तल्लीन, लवणासुर को मारने वाले सुमित्रा के पुत्र को मैं भजता हूँ। अब हनुमान का मन्त्र यह है—पहले 'हं' इस मन्त्रबीज को कहकर बाद में 'हनुमते नमः' (हनुमत् की चतुर्थी और हृत् = नमः) बोलने से यह हनुमान का मन्त्रराज बनता है, यथा—'हं हनुमते नमः।' इसका ध्यानमन्त्र यह है—'दो हाथ वाले सुवर्ण की-सी कान्ति वाले, रामसेवा में परायण, मुंज की मेखला और कौपीन धारण किए हुए मुझ रामसेवक का ध्यान करना चाहिए।'

यहाँ दूसरा अध्याय पूरा हुआ।

तृतीयोऽध्यायः

सनकाद्या मुनयो हनूमन्तं पप्रच्छुः—आञ्जनेय महाबल पूर्वोक्तमन्त्राणां पूजापीठमनुब्रूहीति ॥1॥

सनकादि मुनियों ने हनुमान से पूछा—'हे अंजनिपुत्र! हे महाबलशाली! आप हमें पहले कहे गए मन्त्रों की पूजापीठ का प्रकार कहिए।''

हनूमान् होवाच—आदौ षट्कोणम्। तन्मध्ये रामबीजं सश्रीकम्। तदधोभागे द्वितीयान्तं साध्यम्। बीजोर्ध्वभागे षष्ठ्यन्तं साधकम्। पार्श्वे दृष्टिबीजे। तत्परितो जीवप्राणशक्तिवश्यबीजानि। तत्सर्वं सम्मुखोन्मुखाभ्यां प्रणवाभ्यां वेष्टनम्। अग्नीशासुरवायव्यपुरःपृष्ठेषु षट्कोणेषु दीर्घभाञ्जि हृदयादिमन्त्राः क्रमेण। रां रीं रूं रैं रौं रः इति दीर्घभाञ्जि तद्युक्तहृदयाद्यस्त्रान्तम्। षट्कोणपार्श्वे रमामायाबीजे। कोणाग्रे वराहं हुमिति। तद्बीजान्तराले कामबीजम्। परितो वाग्भवम्। ततो वृत्तत्रयं साष्टपत्रम्। तेषु दलेषु स्वरान् षड्वर्गान्। प्रतिदलं मालामनुवर्णषट्कम्। अन्ते पञ्चाक्षरम्। तद्दलकपोलेष्वष्टवर्गान्। पुनरष्टदलपद्मम्। तेषु दलेषु

नारायणाष्टाक्षरीमन्त्रः। तद्दलकपोलेषु श्रीबीजम्। ततो वृत्तम्। ततो द्वादशदलम्। तेषु दलेषु वासुदेवद्वादशाक्षरीमन्त्रः। तद्दलकपोलेष्वादिक्षान्तान्। ततो वृत्तम्। ततः षोडशदलम्। तेषु दलेषु हुं फट् नतिसहितरामद्वादशाक्षरम्। तद्दलकपोलेषु मायाबीजम्। सर्वत्र प्रतिकपोलं द्विरावृत्त्या हं स्त्रं भ्रं ब्रं भ्रमं, श्रुं, ज्रम्। ततो वृत्तम्। ततो द्वात्रिंशद्दलपद्मम्। तेषु दलेषु नृसिंहमन्त्रराजानुष्टुभमन्त्रः। तद्दलकपोलेष्वष्टवस्वेकादशरुद्रद्वादशादित्यमन्त्राः प्रणवादिनमोऽन्ताश्चतुर्थ्यन्ताः क्रमेण। तद्बहिर्वषट्कारं परितः। ततो रेखात्रययुक्तं भूपुरम्। द्वादशदिक्षु राश्यादिभूषितम्। अष्टनागैरधिष्ठितम्। चतुर्दिक्षु नारसिंहबीजम्। विदिक्षु वाराहबीजम्। एतत् सर्वात्मकं यन्त्रं सर्वकामप्रदं मोक्षप्रदं च। एकाक्षरादिनवाक्षरान्तानामेतद्यन्त्रं भवति ॥2॥

(पहले एकाक्षर से लेकर नवाक्षर तक पूजायंत्र को बताते हुए) हनुमान ने कहा—सर्वप्रथम सभी यन्त्रों की तरह यहाँ भी षट्कोण आलिखित करना चाहिए। फिर उसके बीच में श्रीसहित रामबीज = **रां** लिखना चाहिए। उसके नीचे के भाग में द्वितीयान्त साध्य = **'सर्वाभीष्टसिद्धिदम्'** ऐसा लिखना चाहिए। और बीज के ऊपर के भाग में साधक का षष्ठी विभक्ति का रूप **'मम'** ऐसा लिखना चाहिए। उसके पार्श्वभाग में कुरुद्वयलेखपूर्वक **'इईं'** ऐसे दृष्टिबीज लिखने चाहिए। और उसके चारों ओर जीव बीज = **हंसः**, प्राणबीज = **'सोऽहम्'**, शक्तिबीज = **ह्रीं**, और वश्य बीज = **क्लीं** लिखने चाहिए। फिर सब के आमने-सामने ॐ लिखकर बाँध देना चाहिए। अग्नि, ईश, असुर, वायव्य आदि छः कोणों में दीर्घयुक्त हृदयादि मन्त्र क्रम से, अर्थात् रां नमः से लेकर रः अस्त्राय फट् तक के मन्त्र लिखने चाहिए। रां रीं रूं रैं रौं—ये दीर्घयुक्त हैं। छः कोणों के पार्श्वभाग में रमाबीज = श्रीं और मायाबीज = ह्रीं रखने चाहिए। कोण के अग्रभाग में वराहबीज 'हुं' रखना चाहिए। उस बीज के भीतर के भाग में कामबीज = **क्लीं** रखना चाहिए और उसके चारों ओर वाग्बीज = ऐं रखना चाहिए। बाद में आठ पत्रसहित तीन वर्तुल करने चाहिए। उन पत्रों (दलों) में षड्वर्ग स्वरों को लिखें। प्रत्येक दल में राममालामन्त्र के छः वर्ण लिखकर अन्तिम दल में पञ्चाक्षर लिखना चाहिए। (अर्थात् सात दलों में बयालीस अक्षर लिखकर आठवें अन्तिम दल में पाँच अक्षर लिखें)। उन दलों के कपोल भागों में आठ वर्गों को, फिर आठ दलवाले कमल को, उन दलों में नारायणीय अष्टाक्षर मन्त्र को तथा उन दलों के कपोल भागों में श्रीबीज को लिखें। और फिर एक वर्तुल बनाकर उसमें बारह दल वाला कमल बनायें और उन दलों में वासुदेव का द्वादशाक्षर मन्त्र लिखें। उन दलों के कपोल भागों में दिक्षान्त तक के वर्ण लिखें। फिर एक और वर्तुल बनाकर उसमें षोडशदल पद्म बनाकर उन दलों में 'हुं फट् नमः' के साथ राम का द्वादशाक्षर मन्त्र लिखें। उन दलों के कपोल भागों में मायाबीज = ह्रीं लिखें। और प्रत्येक कपोल में दो बार आवृत्ति करके हं, स्त्रं, भ्रं, ब्रं, भ्रमं, श्रुं, ज्रम् लिखें। और फिर एक और वर्तुल बनाकर उसमें बत्तीस दलवाला कमल बनाकर उन दलों में नृसिंह मन्त्रराज का अनुष्टुप् मन्त्र लिखें। उन दलों के कपोल भागों में एकादश रुद्रों, बारह आदित्यों के मन्त्र प्रणव से शुरू करके नमः अन्तवाले और चतुर्थ्यन्त क्रम से लिखें और बाहर चारों ओर वषट्कार लिखें। बाद में तीन रेखावाला भूपुर आलेखित करना चाहिए। वह भूपुर बारह दिशाओं में मेष आदि राशियों से विभूषित करना चाहिए और आठ नागों से अधिष्ठित करना चाहिए। उसकी चारों दिशाओं में नारसिंह बीज तथा विदिशाओं में वाराह बीज लिखें। यह सर्वात्मक यंत्र, सर्व कामनाओं की पूर्ति करने वाला एवं मोक्षदायक है। यह यन्त्र एकाक्षर मन्त्र से लेकर नवाक्षर तक का है।

तद्दशावरणात्मकं भवति। षट्कोणमध्ये साङ्गं राघवं यजेत्। षट्कोणेष्वङ्गैः प्रथमावृतिः। अष्टदलमूले आत्माद्यावरणम्। तदग्रे वासुदेवाद्यावरणम्। द्वितीयाष्टदलमूले घृष्ट्याद्यावरणम्। तदग्रे हनूमदाद्यावरणम्। द्वादशदलेषु वसिष्ठाद्यावरणम्। षोडशदलेषु नीलाद्यावरणम्। द्वात्रिंशद्दलेषु ध्रुवाद्यावरणम्। भूपुरान्तरिन्द्राद्यावरणम्। तद्बहिर्वज्राद्यावरणम्। एवमभ्यर्च्य मनुं जपेत् ॥3॥

वह यंत्र दस आवरणवाला होता है। षट्कोणों के बीच में राघव की सांग पूजा करनी चाहिए। उन षट्कोणों में हृदय आदि अंगों का प्रथम आवरण है। अष्टदल के मूल में आत्मादि का आवरण है। उसके आगे वासुदेव का आवरण है। दूसरे अष्टदल के मूल में धृष्टि आदि आवरण हैं। उसके आगे हनुमत् आवरण है। फिर द्वादश दलों में वसिष्ठावरण है, षोडश दलों में नीलादि आवरण है, बत्तीस दलों में ध्रुवादि आवरण है। भूपुर के बीच में इन्द्रियादि आवरण हैं, और उसके बाहर वज्र आदि आवरण हैं। इस प्रकार आवरणों की पूजा करके मन्त्र का जाप करना चाहिए।

अथ दशाक्षरादिद्वात्रिंशदक्षरान्तानां मन्त्राणां पूजापीठमुच्यते। आदौ षट्कोणम्। तन्मध्ये स्वबीजम्। तन्मध्ये साध्यनामानि। एवं कामबीजवेष्टनम्। तं शिष्टेन नवार्णेन वेष्टनम्। षट्कोणेषु षडङ्गान्यग्नीशासुरवायव्यपूर्वपृष्ठेषु। तत्कपोलेषु श्रीमाये। कोणाग्रे क्रोधम्। ततो वृत्तम्। ततोऽष्टदलम्। तेषु दलेषु षट्संख्यया मालामनुवर्णान्। तद्दलकपोलेषु षोडश स्वराः। ततो वृत्तम्। तत्परित आदिक्षान्तम्। तद्बहिर्भूपुरः साष्टशूलाग्रम्। दिक्षु विदिक्षु नारसिंहवाराहे। एतन्महायन्त्रम्। आधारशक्त्यादिवैष्णवपीठम् ॥4॥

पहले एकाक्षर से नवाक्षर मन्त्रपर्यन्त की पूजापीठ को बतलाकर अब दशाक्षर मन्त्र से लेकर बत्तीस अक्षरों वाले मन्त्र तक की पूजापीठ कही जा रही है। उसमें पहले तो सामान्य नियमानुसार षट्कोण बनाना चाहिए। उसके बीच में स्वबीज – रां (या 'हुं' ?) लिखें और मध्य में तो पहले की ही तरह साध्य – द्वितीयान्त – 'सर्वाभीष्टसिद्धिदम्' आदि अर्थात् साधक का षष्ठ्यन्त 'मम' आदि, यथा—'मम सर्वाभीष्टसिद्धिं कुरु कुरु नमः' लिखकर उसे कामबीज = क्लीं से वेष्टित करें। फिर उसे बाकी के नव वर्णों से वेष्टित करें। यन्त्र के अग्नि, ईश, असुर, वायव्य, पूर्व और पृष्ठ के छः कोणों में छः अंगों को, तथा उनके कपोल भागों में श्रीं तथा ह्रीं को (श्री और माया को), तथा कोणों के अग्र भाग में क्रोध = 'हुं' को लिखें। तदनन्तर एक और वर्तुल बनाएँ, उसमें अष्टदल पद्म बनाकर उन दलों में छः की संख्या वाला राममाला मन्त्र लिखें। उन दलों के कपोल भागों में सोलह स्वर लिखें। तदनन्तर एक और वर्तुल बनाकर उसके चारों ओर दीक्षान्तपर्यन्त मन्त्र लिखें। उसके बाहर आठ शूलाग्र सहित भूपुर बनाकर इसकी चार दिशाओं में नारसिंह बीज = 'क्ष्म्यों' और चार विदिशाओं (कोनों) में—वराह बीज = 'हुम्' लिखें। यह महामन्त्र है। आधारशक्ति आदि वैष्णवपीठ है।

अङ्गैः प्रथमावृत्तिः। मध्ये रामम्। वामभागे सीताम्। तत्पुरतः शार्ङ्गं शरं च। अष्टदलमूले हनूमदादि द्वितीयावरणम्। धृष्ट्यादि तृतीयावरणम्। इन्द्रादिभिश्चतुर्थी। वज्रादिभिः पञ्चमी। एतद्यन्त्राराधनपूर्वकं दशाक्षरादिमनून् जपेत् ॥5॥

इति तृतीयोऽध्यायः।
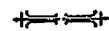
हृदय आदि अंगों से प्रथम आवरण होता है। बीच में राम को, वामभाग में सीता को, उनके आगे (सामने) शार्ङ्ग धनुष और वाण को यन्त्राराधनपूर्वक जपना चाहिए। अष्टादश पद्म के मूल में हनुमान आदि आवरण हैं। और धृष्ट्यादि तीसरा आवरण है। इन्द्रादियों के द्वारा चौथा आवरण होता है और वज्रादि से पाँचवीं आवृत्ति (आवरण) होती है। इस प्रकार से यन्त्र के आराधनपूर्वक शेष दशाक्षरादि सभी मन्त्रों का जप करना चाहिए।

यहाँ तीसरा अध्याय पूरा होता है।

चतुर्थोऽध्यायः

सनकाद्या मुनयो हनूमन्तं पप्रच्छुः—श्रीराममन्त्राणां पुरश्चरणविधिमनुब्रूहीति।

हनूमान् होवाच—

नित्यं त्रिषवणस्नायी पयोमूलफलादिभुक्।
अथवा पायसाहारो हविष्यान्नाद एव वा ॥1॥
षड्रसैश्च परित्यक्तः स्वाश्रमोक्तविधिं चरन्।
वनिताऽऽदिषु वाक्कर्ममनोभिर्निःस्पृहः शुचिः ॥2॥
भूमिशायी ब्रह्मचारी निष्कामो गुरुभक्तिमान्।
स्नानपूजाजपध्यानहोमतर्पणतत्परः ॥3॥
गुरूपदिष्टमार्गेण ध्यायन् राममनन्यधीः।
सूर्येन्दुगुरुदीपादिगोब्राह्मणसमीपतः ॥4॥

सनकादि मुनियों ने हनुमान से पूछा—'श्रीराम के मन्त्रों की पुरश्चरणविधि कहिए।' तब हनुमान बोले कि जो मनुष्य तीनों सवनों (सन्ध्याओं) में स्नान करने वाला हो, जो दूध, कन्दमूल और फल ही खाता हो, अथवा केवल दूध या हविष्यान्न ही खाता हो, जिसने मधुरादि छः रसों से मुँह मोड़ लिया हो, जो अपने आश्रमधर्मों का यथावत् पालन करता हो, जो मन-कर्म-वचन से स्त्रियों आदि में स्पृहारहित हो, जो पवित्र हो, जो धरती पर ही सोता हो, जो गुरु पर भक्तिभावना रखता हो, जो ब्रह्मचारी और निष्काम हो, जो स्नान, पूजा, जप, ध्यान, होम और तर्पण में दत्तचित्त हो, गुरु-सूर्य-चन्द्र-दीप की साक्षी में और गाय के समीप गुरु के उपदेश के अनुसार जो तीव्र बुद्धिवाला साधक हो, वह राम के मन्त्र का ध्यान करते हुए—

श्रीरामसन्निधौ मौनी मन्त्रार्थमनुचिन्तयन्।
व्याघ्रचर्मासने स्थित्वा स्वस्तिकाद्यासनक्रमात् ॥5॥
तुलसीपारिजातश्रीवृक्षमूलादिकस्थले।
पद्माक्षतुलसीकाष्ठरुद्राक्षकृतमालया ॥6॥
मातृकामालया मन्त्री मनसैव मनुं जपन्।
अभ्यर्च्य वैष्णवे पीठे जपेदक्षरलक्षकम् ॥7॥

श्रीराम के समक्ष मौन रहकर, मन्त्र का मनन करके, व्याघ्रचर्म के ऊपर स्वस्तिकादि आसन पर ढंग से बैठकर तुलसी, पारिजात, श्रीवृक्ष आदि के मूल के स्थान में पद्माक्ष, तुलसी के काष्ठ या रुद्राक्ष

से बनी माला के द्वारा अथवा मातृकामाला द्वारा मन ही मन इस मन्त्र का जाप करते हुए वैष्णवी पीठ पर उनकी (राम की) पूजा करके एक लाख मन्त्र का जाप करना चाहिए।

तर्पयेत् तद्दशांशेन पयसा तद्दशांशतः।
जुहुयाद् गोघृतेनैव भोजयेत्तद्दशांशतः ॥8॥
ततः पुष्पाञ्जलिं मूलमन्त्रेण विधिवच्चरेत्।
ततः सिद्धमनुर्भूत्वा जीवन्मुक्तो भवेन्मुनिः ॥9॥

फिर जपे हुए मन्त्रों के दशांश का तर्पण दूध से करना चाहिए और उसके दशांश का घी से होम करना चाहिए और उसके भी दशांश की संख्या में भोजन करवाना चाहिए। इसके बाद मूलमन्त्र से विधिवत् पुष्पाञ्जलि देनी चाहिए। ऐसा करने से वह मुनि मन्त्रसिद्ध हो जाएगा और यही जीते-जी मुक्त हो जाता है।

अणिमादिर्भजत्येनं यूनं वरवधूरिव।
ऐहिकेषु च कार्येषु महापत्सु च सर्वदा ॥10॥
नैव योज्यो राममन्त्रः केवलं मोक्षसाधकः।
ऐहिके समनुप्राप्ते मां स्मरेद्रामसेवकम् ॥11॥
यो रामं संस्मरेन्नित्यं भक्त्या मनुपरायणः।
तस्याहमिष्टसंसिद्धयै दीक्षितोऽस्मि मुनीश्वराः ॥12॥
वाञ्छितार्थं प्रदास्यामि भक्तानां राघवस्य तु।
सर्वथा जागरूकोऽस्मि रामकार्यधुरन्धरः ॥13॥

इति चतुर्थोऽध्यायः।
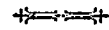
जिस प्रकार युवान वर को उसकी पत्नी चाहती और सेवादि करती है, उसी प्रकार इस मन्त्रसिद्ध पुरुष की अणिमादि सिद्धियाँ सदा सेवा करती हैं। लेकिन इस राममन्त्र का विनियोग कभी भी ऐहिक कार्यों के लिए या आपत्तियों को हटाने के लिए नहीं करना चाहिए, क्योंकि यह मन्त्र तो केवल मोक्ष को ही देने वाला है। ऐहिक कार्यसिद्धि के लिए तो मेरा (रामसेवक का) ही स्मरण करना चाहिए। जो मनुष्य इस मन्त्र में परिनिष्ठित होकर श्रीराम का नित्य स्मरण करेगा उसकी अभीष्ट सिद्धि के लिए हे मुनिश्वरो! मैं दीक्षित (वचनबद्ध) हुआ हूँ। मै राघव (रामजी) के भक्तों को इच्छित पदार्थ प्रदान करूँगा। राम के कार्यों की जिम्मेदारी लिए हुए मैं अनवरत जाग्रत् ही हूँ।

यहाँ चौथा अध्याय पूरा होता है।

❋

पञ्चमोऽध्यायः

सनकाद्या मुनयो हनूमन्तं पप्रच्छुः—श्रीराममन्त्रार्थमनुब्रूहीति।
हनूमान् होवाच—
सर्वेषु राममन्त्रेषु मन्त्रराजः षडक्षरः।
एकधा द्विविधा त्रेधा चतुर्धा पञ्चधा तथा ॥1॥

षट्सप्तधाऽष्टधा चैव बहुधाऽयं व्यवस्थितः।
षडक्षरस्य माहात्म्यं शिवो जानाति तत्त्वतः ॥2॥

सनकादि मुनियों ने हनुमान से पूछा—'श्रीराममन्त्र का अर्थ हमें बताइए।' तब हनुमान बोले—सभी राममन्त्रों में मन्त्रराज तो राम षड्क्षर मन्त्र ही है। वही मन्त्र सार आदि बीजों से युक्त होकर एक, दो, तीन, चार, पाँच, छः और सात आदि अनेक प्रकार का होता है। उस षडक्षर राममन्त्र का सही माहात्म्य तात्त्विक रूप से एक शिव ही जानते हैं।

श्रीराममन्त्रराजस्य सम्यगर्थोऽयमुच्यते।
नारायणाष्टाक्षरे च शिवपञ्चाक्षरे तथा ॥3॥
सार्थकार्णद्वयं रामो रमन्ते यत्र योगिनः।
रकारो वह्निवचनः प्रकाशः पर्यवस्यति ॥4॥

अब श्रीराम के षडक्षर मन्त्रराज का अच्छी तरह से (स्पष्ट रूप से) अर्थ कहा जाता है—नारायण के अष्टाक्षरमन्त्र में और शिव के पंचाक्षर मन्त्र में 'राम' नाम के ये दो वर्ण सार्थक होते हैं। इस षडक्षर राममन्त्रराज में देवता लोग रमण करते हैं। राम शब्द का 'र' कार व्यंजन वह्नि का वाचक है और उससे प्रकाश का ही अर्थ पर्यवसित (निश्चित) होता है।

सच्चिदानन्दरूपोऽस्य परमात्मार्थ उच्यते।
व्यञ्जनं निष्कलं ब्रह्म प्राणो मायेति च स्वरः ॥5॥
व्यञ्जनैः स्वरसंयोगं विद्धि तत्प्राणयोजनम्।
रेफे ज्योतिर्मये तस्मात् कृतमाकारयोजनम् ॥6॥
मकारोऽभ्युदयार्थत्वात् स मायेति च कीर्त्यते।
सोऽयं बीजं स्वकं यस्मात्समायं ब्रह्म चोच्यते ॥7॥
सबिन्दुः सोऽपि पुरुषः शिवसूर्येन्दुरूपवान्।
ज्योतिस्तस्य शिखारूपं नादः सप्रकृतिर्मतः ॥8॥

इस प्रकाशरूप व्यंजन का अर्थ सच्चिदानन्दरूप परमात्मा ही होता है। 'र' का व्यंजन भाग तो निष्कल ब्रह्मरूप ही है, और उसमें स्थित स्वरांश 'अ' का अर्थ प्राण होता है। इसी तरह व्यंजनों से स्वरों का संयोग होता है, ऐसा जानो। (अर्थात् चैतन्य से प्राण का संयोग होता है, ऐसा जानना चाहिए)। इसीलिए ज्योतिर्मय **रेफ** (रकार) में आकार का योजन किया गया है। इसी तरह जो 'राम' होता है, उस पर 'म् = बिन्दु' लगाकर **'रां'** कर दिया जाता है क्योंकि बिन्दु का अर्थ 'अभ्युदय' होता है और वही माया कहलाता है। यही रां षडक्षरमन्त्र का बीज है और पूर्वोक्त रीति से इसका अर्थ माया-सहित ब्रह्म किया जा सकता है। जो बिन्दु (मन) के साथ रहता है वह 'सबिन्दु' जीव भी तो शिव और सूर्यचन्द्र जैसे रूपवाला है। (क्योंकि समष्टि बिन्दु के अधिकरण शिव-सूर्य-चन्द्र हैं)।

प्रकृतिः पुरुषश्चोभौ समायाद् ब्रह्मणः स्मृतौ।
बिन्दुनादात्मकं बीजं वह्निसोमकलात्मकम् ॥9॥
अग्नीषोमात्मकं रूपं रामबीजे प्रतिष्ठितम्।
यथैव वटबीजस्थः प्राकृतश्च महान् द्रुमः ॥10॥
तथैव रामबीजस्थं जगदेतच्चराचरम्।
बीजोक्तमुभयार्थत्वं रामनामनि दृश्यते ॥11॥

बीजं मायाविनिर्मुक्तं परं ब्रह्मेति कीर्त्यते ।
मुक्तिदं साधकानां च मकारो मुक्तिदो मतः ॥12॥

ये जो प्रकृति और पुरुष दो तत्त्व कहलाते हैं, वे मायासहित एक ब्रह्म में ही कल्पित किए गए हैं। जो बिन्दुनादात्मक बीज है, अग्नि और सोम की कला से युक्त (तद्रूप) है। राम के बीज में वह अग्नि और सोम का रूप उसी प्रकार निहित है जिस प्रकार वटवृक्ष के बीज में प्राकृत रूप में बड़ा वटवृक्ष निहित होता है। इसी प्रकार यह स्थावर-जंगम जगत् भी इस रामबीज में समाया हुआ है। इस बीज से कहा गया उभयार्थत्व अर्थात् उपाधियोग से सविशेषत्व और वस्तुतः निर्विशेषत्व—ये दोनों अर्थ 'राम' नाम में दिखाई देते हैं। यह बीज माया से विनिर्मुक्त होने पर तो **परब्रह्म** ही शेष रहता है। वही परब्रह्म साधकों को मुक्ति देने वाला है। अब राम शब्द का दूसरा अक्षर जो 'म' है वह मुक्ति देने वाला है।

मारूपत्वादतो रामो भुक्तिमुक्तिफलप्रदः ।
आद्यो रा तत्पदार्थः स्यान्मकारस्त्वंपदार्थवान् ॥13॥
तयोः संयोजनमसीत्यर्थे तत्त्वविदो विदुः ।
नमस्त्वमर्थो विज्ञेयो रामस्तत्पदमुच्यते ॥14॥
असीत्यर्थे चतुर्थी स्यादेवं मन्त्रेषु योजयेत् ।
तत्त्वमस्यादिवाक्यं तु केवलं मुक्तिदं यतः ॥15॥

इस तरह राम शब्द में 'मा' रूप (म और आ दोनों होने से) कामी-अकामी दोनों के लिए वह मुक्ति और भुक्ति दोनों देने वाला है। राम शब्द का पहला अक्षर जो 'रा' है, वह तत्पदार्थ का वाचक है, और जो 'म' है, वह त्वं पदार्थ का वाचक है। और उन दोनों का संयोजन 'असि' शब्द से होता है—इस प्रकार यह 'तत्त्वमसि' महावाक्य बनता है, ऐसा तत्त्वज्ञानी लोग कहते हैं। 'रां रामाय नमः' इस षडक्षर मन्त्र में भी 'नमः' शब्द को त्वं पदवाची जानना चाहिए, राम को 'तत्पद' मानना चाहिए और राम शब्द की चतुर्थी विभक्ति को 'असि' का वाचक मानकर इसके साथ जोड़ देना चाहिए। क्योंकि 'तत्त्वमसि' यह महावाक्य ही केवल मुक्ति देने वाला है।

भुक्तिमुक्तिप्रदं चैतत्तस्मादप्यतिरिच्यते ।
मनुष्वेतेषु सर्वेषामधिकारोऽस्ति देहिनाम् ॥16॥
मुमुक्षूणां विरक्तानां तथा चाश्रमवासिनाम् ।
प्रणवत्वात् सदा ध्येयो यतीनां च विशेषतः ॥
राममन्त्रार्थविज्ञानी जीवन्मुक्तो न संशयः ॥17॥

यह षडक्षर राममन्त्र मुक्ति और भुक्ति दोनों को देने वाला है। इसलिए वह सभी मन्त्रों से श्रेष्ठ माना जाता है। इन राममन्त्रों में सभी देहधारियों का, मुमुक्षुओं का, विरक्तों का और सभी आश्रमों में रहने वालों का अधिकार है। फिर भी यतियों के लिए विशेष करके प्रणवरूप से ही इसका ग्रहण करना चाहिए। इस तरह से राममन्त्र के अर्थ को जानने वाला जीवन्मुक्त हो जाता है, इसमें कोई सन्देह नहीं है।

य इमामुपनिषदमधीते सोऽग्निपूतो भवति। स वायुपूतो भवति। सुरापानात् पूतो भवति। स्वर्णस्तेयात् पूतो भवति। ब्रह्महत्यायाः पूतो भवति। स राममन्त्राणां कृतपुरश्चरणो रामचन्द्रो भवति ॥18॥

जो मनुष्य इस उपनिषद् को पढ़ता है, वह अग्नि जैसा पवित्र हो जाता है। वह वायु जैसा निर्मल हो जाता है। वह मद्यपान की मलिनता से छूटकर पवित्र हो जाता है। वह सुवर्ण-चोरी के पाप से मुक्त होकर पवित्र हो जाता है। वह ब्रह्महत्या के पाप से मुक्त होकर पवित्र हो जाता है। राममन्त्रों का पुरश्चरण करने वाला वह स्वयं रामचन्द्र ही हो जाता है।

तदेतदृचाऽभ्युक्तम्—
सदा रामोऽहमस्मीति तत्त्वतः प्रवदन्ति ये ।
न ते संसारिणो नूनं राम इव न संशयः ॥
ॐ सत्यमित्युपनिषत् ॥19॥

इति रामरहस्योपनिषत्समाप्ता ।
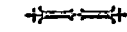
यही बात एक ऋचा में भी कही गई है—जो लोग तात्त्विक रूप से 'मैं सदा राम ही हूँ'—ऐसा कहते हैं, वे संसारी नहीं हैं। वे राम ही हैं, इसमें कोई सन्देह नहीं है। ॐ सत्यम्—श्रीराम सदा सत्य तारकमन्त्र हैं। इस तरह यह उपनिषत् पूरी हुई।

शान्तिपाठः

ॐ भद्रं कर्णेभिः..........देवहितं यदायुः । (पूर्ववत्)
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

(56) रामपूर्वतापिन्युपनिषत्

(उपनिषत्परिचय)

यह अथर्ववेदीय परंपरा की उपनिषद् है। इसके पूर्वतापनी और उत्तरतापिनी—नामक दो भेद हैं। कुछ विद्वानों ने इन्हें एक ही उपनिषद् माना है और कुछ ने दो अलग-अलग उपनिषदें कहा हैं। हमने उन दोनों को अलग-अलग मानकर ही यहाँ उनका निवेश किया है। इस पूर्वतापनी को पाँच खण्डों में बाँटा गया है जिन्हें 'उपनिषत्' क्रम से रखा गया है। इसमें कहा गया है कि जिस अनन्त, नित्यरूप और आनन्दमय चिदात्मा में योगी लोग रमण करते हैं उस परब्रह्म को ही 'राम' कहा जाता है। चिन्मय, अतुलनीय, अखण्ड और देहरहित ऐसे ब्रह्म के रूप की कल्पना तो केवल उपासकों के लिए ही की जाती है। और केवल उपासना के ही लिए उसमें स्त्री-पुरुष की, हाथ-पैर आदि अवयवों की, अलंकार-वाहन-सैन्य की कल्पना की जाती है। राममंत्र ब्रह्मा से लेकर समग्र जगत् का वाचक है। मंत्र का अर्थ है—मन् = मनन करना और त्र = त्राण अर्थात् रक्षण करना, अर्थात् जो मनन करने से रक्षण करता है, वह मंत्र है। मन्त्र-सिद्धि के लिए यंत्र आवश्यक है। जिस तरह एक वटबीज में विशाल वटवृक्ष निहित रहता है, उसी तरह राममंत्र में सारा चराचर जगत् निहित है।

शान्तिपाठः

ॐ भद्रं कर्णेभिः.......देवहितं यदायुः। (पूर्ववत्)
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्ति ॥

इसका हिन्दी रूपान्तर पूर्व में (अथर्वशिर उपनिषद् में) द्रष्टव्य है।

प्रथमोपनिषत्

चिन्मयेऽस्मिन्महाविष्णौ जाते दशरथे हरौ।
रघोः कुलेऽखिलं राति राजते यो महीस्थितः ॥1॥
स राम इति लोकेषु विद्वद्भिः प्रकटीकृतः।
राक्षसा येन मरणं यान्ति स्वोद्रेकतोऽथवा ॥2॥

चिदानन्दस्वरूप महाविष्णु हरि ने दशरथ के यहाँ रघुकुल में जन्म लिया और धरती पर अवतरित वह परमात्मा सबको आनन्द देने लगे। विद्वानों ने उनको 'राम' ऐसा नाम देकर प्रसिद्ध किया, जिनके द्वारा राक्षस मरण-शरण हो जाते हैं। अथवा यह कहें कि वे अपने ही प्रभाव के कारण इस धरती पर राम नाम से प्रसिद्ध हुए।

रामनाम भुवि ख्यातमभिरामेण वा पुनः।
राक्षसान्मर्त्यरूपेण राहुर्मनसिजं यथा ॥3॥
प्रभाहीनांस्तथा कृत्वा राज्यार्हाणां महीभृताम्।
धर्ममार्गं चरित्रेण ज्ञानमार्गं च नामतः ॥4॥

तथा ध्यानेन वैराग्यमैश्वर्यं स्वस्य पूजनात्।
तथा रात्यस्य रामाख्या भुवि स्यादथ तत्त्वतः ॥5॥
रमन्ते योगिनोऽनन्ते नित्यानन्दे चिदात्मनि।
इति रामपदेनासौ परं ब्रह्माभिधीयते ॥6॥

अथवा कुछ लोगों ने उन्हें इस पृथ्वी पर अभिरंजन करते हुए जानकर 'राम' ऐसा नाम दिया है। जैसे राहु मनसिज को (चन्द्रमा को) तेजोहीन बना देता है, वैसे ही उन्होंने मानवरूप में राक्षसों को तेजोहीन बना दिया है, इसलिए भी कुछ लोग इन्हें 'राम' शब्द से पुकारते हैं। कुछ लोगों के अभिप्राय से राज्य करने योग्य राजाओं को तेजोहीन बनाकर अपने आदर्श चरित्र से धर्म का, और अपने नाम से ज्ञान का मार्ग बताने से वे राम नाम से प्रसिद्ध हुए हैं। जो ध्यान से वैराग्य प्रदान करते हैं और अपने पूजन से ऐश्वर्य को प्रदान करते हैं, इसीलिए इस धरती पर उनको राम नाम की ख्याति मिली होगी। परन्तु वास्तव में बात यह है कि इस अनन्त, नित्यानन्द, चिदात्मा में योगी लोग रमण करते हैं, सदा तल्लीन रहते हैं इसीलिए उन्हें 'राम' नाम से परब्रह्म ही कहा जाता है।

चिन्मयस्याद्वितीयस्य निष्कलस्याशरीरिणः।
उपासकानां कार्यार्थं ब्रह्मणो रूपकल्पना ॥7॥

यद्यपि चित्स्वरूप परमात्मा अद्वितीय है, निष्कल (भेदरहित) है, अशरीरी है, फिर भी उपासकों के कार्य के लिए ऐसे ब्रह्म की भी रूपादि कल्पना की जाती है।

रूपस्थानां देवतानां पुंस्त्र्यङ्गास्त्रादिकल्पना।
द्विचत्वारिषडष्टानां दश द्वादश षोडश ॥8॥
अष्टादशामी कथिता हस्ताः शङ्खादिभिर्युताः।
सहस्रान्तास्तथा तासां वर्णवाहनकल्पना ॥9॥
शक्तिसेनाकल्पना च ब्रह्मण्येवं हि पञ्चधा।
कल्पितस्य शरीरस्य तस्य सेनादिकल्पना ॥10॥

पूर्वोक्त स्वरूप वाले ब्रह्म में रूपवाले देवों की, पुरुष की, स्त्री की, हस्तपादादि अंगों की, बाणादि हथियारों की कल्पना की जाती है। परमात्मा के तरह-तरह के आकार वाले रूपों में दो, चार, छः, आठ, दस, बारह और सोलह हाथों की कल्पना की जाती है। अठारह हाथों की भी कल्पना की गई हैं। ये सभी हाथ शंख आदि से युक्त कहे गये हैं। परब्रह्म के विराट् रूप धारण करने पर तो वे हाथ हजारों की संख्या में हो जाते हैं। परमात्मा के इन सभी विग्रहों में (रूपों में) विविध वाहन, विविध वर्ण कल्पित किए गए हैं। तरह-तरह की सेनाओं और शक्तियों की भी कल्पना की जाती है। परब्रह्म में पाँच प्रकार के देवों की अर्थात् विष्णु, शिव, दुर्गा, सूर्य और गणेश की कल्पना के साथ उनकी अलग सेनादि की भी कल्पना की गई है।

ब्रह्मादीनां वाचकोऽयं मन्त्रोऽन्वर्थादिसंज्ञकः।
जप्तव्यो मन्त्रिणा नैवं विना देवः प्रसीदति ॥11॥
क्रियाकर्मेज्याकर्तृणामर्थं मन्त्रो वदत्यथ।
मननात्त्राणनान्मन्त्रः सर्ववाच्यस्य वाचकः ॥12॥

ब्रह्मा से लेकर चराचर का वाचक यह राममन्त्र अन्वर्थक (सार्थक) ही है। इसलिए मन्त्री को

(मन्त्र में दीक्षित होकर) इसका जाप करना चाहिए। इसके बिना तो देव प्रसन्न नहीं होते। मन्त्र का विधिपूर्वक अनुष्ठान और हवनादि करने वाले साधक को मन्त्र अभीष्ट की सिद्धि प्रदान करता है। मनन करने से त्राण (रक्षण) करता है, इसलिए वह 'मन्त्र' नाम से कहा जाता है।

सोऽभयस्यास्य देवस्य विग्रहो यन्त्रकल्पना।
विना यन्त्रेण चेत्पूजा देवता न प्रसीदति ॥13॥

इति प्रथमोपनिषत्।

यह मन्त्र अभयदाता रामरूप परब्रह्म देव के विग्रह (यंत्र) का मन्त्र है। परन्तु यंत्र (विग्रह) के बिना केवल मन्त्र की ही उपासना की जाए तो देव प्रसन्न नहीं होते।

यहाँ प्रथमोपनिषत् पूरी हुई।

❋

द्वितीयोपनिषत्

स्वर्भूर्ज्योतिर्मयोऽनन्तरूपी स्वेनैव भासते।
जीवत्वेन समो यस्य सृष्टिस्थितिलयस्य च ॥1॥
कारणत्वेन चिच्छक्त्या रजःसत्त्वतमोगुणैः।
यथैव वटबीजस्थः प्राकृतश्च महान् द्रुमः ॥2॥
तथैव रामबीजस्थं जगदेतच्चराचरम्।
रेफारूढा मूर्तयः स्युः शक्तयस्तिस्र एव चेति ॥3॥

इति द्वितीयोपनिषत्।

परमात्मा स्वयंभू हैं अर्थात् अपने आप उत्पन्न होते हैं। वे स्वयं प्रकाशरूप हैं। वे अनन्त रूपवाले हैं और अपने आप प्रकाशित होते रहते हैं। अपनी व्यापक चैतन्य शक्ति से वे सभी में समान जीवरूप से स्थित हैं। और अपनी चित् शक्ति से इस जगत् के सर्जन, स्थिति और प्रलय में सत्त्व, रजस् और तमोगुण द्वारा निमित्त बनते हैं। जिस प्रकार वट के छोटे से बीज में विशाल वटवृक्ष विद्यमान रहता है, वैसे ही इस रामबीज में सचराचर संपूर्ण विश्व विद्यमान ही रहता है। ब्रह्मा, विष्णु और महेश की तीनों शक्तियाँ इस रकार (रेफ) के ऊपर (राम शब्द के रकार पर) अवस्थित हैं। सर्जन-पालन-संहार की तीनों शक्तियाँ 'र'कार में निहित हैं।

यहाँ द्वितीयोपनिषत् पूरी हुई।

❋

तृतीयोपनिषत्

सीतारामौ तन्मयावत्र पूज्यौ जातान्याभ्यां भुवनानि द्विसप्त।
स्थितानि च प्रहितान्येव तेषु ततो रामो मानवो माययाऽधात् ॥1॥

जगत्प्राणायात्मनेऽस्मै नमः स्यान्नमस्त्वैक्यं प्रवदेत्प्राग्गुणेनेति ॥2॥

इति तृतीयोपनिषत्।

इस 'राम' शब्द में पूजनीय राम और सीता—दोनों विद्यमान हैं। इन दोनों से ही ये चौदह भुवन उत्पन्न हुए हैं, इन दोनों के आधार पर ही वे सब अवस्थित रहे हैं और इन दोनों में ही वे सब विलीन होते हैं। इसलिए परब्रह्म ने ही (राम ने ही) माया-शक्ति से मानवदेह धारण किया है। जगत् के प्राणात्मा ऐसे विश्वात्मा राम को नमस्कार है। नमस्कार के बाद भी उनके साथ ऐक्यभाव को अर्थात् गुणों से परे होने वाले ऐक्यभाव को व्यक्त करना चाहिए (अर्थात् 'मैं ही राम हूँ)' ऐसा दृढतापूर्वक आवाहन करे)।

यहाँ तृतीय उपनिषत् पूरी हुई।

❋

चतुर्थोपनिषत्

जीववाची नमो नाम चात्मा रामेति गीयते।
तदात्मिका या चतुर्थी तथा चायेति गीयते ॥1॥
मन्त्रोऽयं वाचको रामो वाच्यः स्याद्योग एतयोः।
फलदश्चैव सर्वेषां साधकानां च संशयः ॥2॥
यथा नामी वाचकेन नाम्नो योऽभिमुखो भवेत्।
तथा बीजात्मको मन्त्रो मन्त्रिणोऽभिमुखो भवेत् ॥3॥

'रामाय नमः' इस मन्त्र मे जो 'नमः' शब्द है, वह जीववाची है, और 'राम' शब्द आत्मावाची है। उसमें जो 'आय' चतुर्थवाची है, वह दोनों को (जीव-आत्मा को) जोड़ने वाला है। दोनों एक हो जाते हैं। यह पूरा मन्त्र वाचक है और राम इसके वाच्य हैं। इन दोनों का योग (वाच्य-वाचक का योग – एकता) ही सभी साधकों को फलदायक होती है, इसमें कोई संशय नहीं है। जैसे नाम के वाचक से नामी उपस्थित होता है, इसी तरह मन्त्रजप करने वाले के सामने मन्त्र उपस्थित हो जाता है।

बीजशक्तिं न्यसेद्दक्षवामयोः स्तनयोरपि।
कीलो मध्ये विना भाव्यः स्ववाञ्छाविनियोगवान् ॥4॥
सर्वेषामेव मन्त्राणामेष साधारणः क्रमः।
अत्र रामोऽनन्तरूपस्तेजसा वह्निना समः ॥5॥
स त्वनुष्णगुविश्वश्चेदग्नीषोमात्मकं जगत्।
उत्पन्नः सीतया भाति चन्द्रश्चन्द्रिकया यथा ॥6॥

इस मन्त्र के बीज 'रां' और इसकी शक्ति 'मां' का क्रमशः दक्षिण और वाम स्तन पर न्यास करना चाहिए। और इस मन्त्र के कीलक 'यं' का हृदय पर न्यास करना चाहिए। अपनी मनोवांछित कामनाओं की पूर्ति के लिए इसका विनियोग करने वाले के लिए यह आवश्यक है। सभी मन्त्रों का यह एक सामान्य क्रम है। यहाँ, इस मन्त्र के ध्यान में श्रीराम अनन्तरूप वाले और तेज में अग्नि के समान हैं। वह राम जब अनुष्णगु (सौम्यप्रभा) के साथ विश्वरूप में (विराट् रूप में) संयुक्त होते हैं, तब

यह अग्नि-सोमात्मक (स्त्रीपुरुषात्मक) जगत् उत्पन्न होता है। ये रामजी, जैसे चन्द्र के साथ चन्द्रिका शोभित होती है, वैसे ही शोभित होते हैं।

प्रकृत्या सहितः श्यामः पीतवासा जटाधरः।
द्विभुजः कुण्डली रत्नमाली धीरो धनुर्धरः॥7॥
प्रसन्नवदनो जेता धृष्ट्यष्टकविभूषितः।
प्रकृत्या परमेश्वर्या जगद्योन्याङ्कितांङ्कभृत्॥8॥

अपनी प्रकृति – सीताजी के साथ वे श्यामवर्ण, पीताम्बरधारी, जटाधारी, दो हाथ वाले, कुण्डल पहने हुए, रत्नमालाओं को धारण किए हुए धीर धनुष्यधारी भगवान् रामजी बड़े ही प्रसन्नवदन हैं, अणिमादि आठ सिद्धियों से युक्त हैं, विजयी हैं। वे अपनी परमेश्वरी प्रकृतिरूप जगदम्बा सीता के द्वारा शोभायमान अंकवाले हैं। ('धृष्टि आदि मंत्रियों से घिरे हुए'—ऐसा भी अर्थ लिया जा सकता है)।

हेमाभया द्विभुजया सर्वालङ्कृतया चिता।
श्लिष्टः कमलधारिण्या पुष्टः कोसलजात्मजः॥9॥
दक्षिणे लक्ष्मणेनाथ सधनुष्पाणिना पुनः।
हेमाभेनानुजेनैव तथा कोणत्रयं भवेत्॥10॥

सुवर्ण की-सी कान्तिवाली, दो हाथवाली, सर्वालंकारों से विभूषित, कमलधारिणी चितिशक्ति से और दक्षिण भाग में हाथ में धनुष-बाण लिए हुए और सुवर्ण जैसी कान्तिवाले छोटे भाई लक्ष्मण से संश्लिष्ट होकर वे कौसल्यानन्दन श्रीराम एक त्रिकोण की-सी आकृति में शोभित होते हैं। (एक त्रिकोण की आकृति इस तरह बन जाती है)।

तथैव तस्य मन्त्रस्य यस्याणुश्च स्वङेन्तया।
एवं त्रिकोणरूपं स्यात्तं देवा ये समाययुः॥11॥
स्तुतिं चक्रुश्च जगतः पतिं कल्पतरौ स्थितम्।
कामरूपाय रामाय नमो मायामयाय च॥12॥
नमो वेदादिरूपाय ओङ्काराय नमो नमः।
रमाधराय रामाय श्रीरामायात्ममूर्तये॥13॥
जानकीदेहभूषाय रक्षोघ्नाय शुभाङ्गिने।
भद्राय रघुवीराय दशास्यान्तकरूपिणे॥14॥

जिस तरह राम-लक्ष्मण-सीता त्रिकोण की तरह स्थित हैं, उसी तरह इस मन्त्र में होते हैं। जैसे राम की अपेक्षा लक्ष्मण (छोटा होने से) अणुत्व है और जैसा राममन्त्र है, वही लक्ष्मणमन्त्र है। इसी प्रकार सीतामंत्र भी तो राममन्त्र ही है। इन तीनों का चतुर्थी विभक्ति में, रूप, मन्त्र और स्वाकार बीज जैसा ही होता है। इस प्रकार त्रिकोणाकृति बनाए हुए राम जी के पास एकबार देव लोग आए और कल्पतरु के नीचे बैठे हुए उन जगत्पति की इस प्रकार स्तुति करने लगे—'यथेच्छ रूप धारण करने वाले मायायुक्त रामचन्द्र जी को नमस्कार है। वेदादिस्वरूप, प्रणवरूप को नमस्कार ही नमस्कार है। रमाधर-सीतापति आत्मरूप भगवान् श्रीराम को नमस्कार है। जानकी के देहरूपी आभूषणवाले, राक्षसों को मारने वाले, शोभायमान अंगों वाले, कल्याणकारी, दस मस्तक वाले रावण के कालस्वरूप भगवान् रघुवीर को नमस्कार है।'

रामभद्र महेष्वास रघुवीर नृपोत्तम।
भो दशास्यान्तकास्माकं रक्षां देहि श्रियं च ते॥15॥
त्वमैश्वर्यं दापयाथ सम्प्रत्याश्वरिमारणम्।
कुर्विति स्तुत्य देवाद्यास्तेन सार्धं सुखं स्थिताः॥16॥

हे रामभद्र! हे महाधनुर्धर! हे रघुवीर! हे नरोत्तम! हे रावणसंहारक! आप हमारी रक्षा करें और अपने से जुड़ी सम्पदा हमें दें। आप हमें सम्पत्ति दिलाएँ। परन्तु अब तो पहले शीघ्र ही हमारे शत्रुओं का विनाश करें। इस प्रकार स्तुति करके देव आदि उनके साथ सुखपूर्वक रहे।

स्तुवन्त्येवं हि ऋषयस्तदा रावण आसुरः।
रामपत्नीं वनस्थां यः स्वनिवृत्त्यर्थमाददे॥17॥
स रावण इति ख्यातो यद्वा रावाच्च रावणः।
तद्व्याजेनेक्षितुं सीतां रामो लक्ष्मण एव च॥18॥
विचेरतुस्तदा भूमौ देवीं संदृश्य चासुरम्।
हत्वा कबन्धं शबरीं गत्वा तस्याज्ञया तया॥19॥
पूजितो वायुपुत्रेण भक्तेन च कपीश्वरम्।
आहूय शंसतां सर्वमाद्यन्तं रामलक्ष्मणौ॥20॥

देवों के समान ऋषियों ने भी इस प्रकार स्तुति की है—जब असुर कुलोत्पन्न रावण अपने विनाश के लिए वन में निवास करती हुई राम की पत्नी सीता को उठाकर ले गया था। रामपत्नी का 'रा' और 'वन' दोनों मिलकर 'रावण' होता है, अतएव उसका नाम रावण पड़ा। अथवा रावात् (रुलाने से) दूसरों को रुलाने से उसका नाम रावण पड़ा। (अथवा 'रावात्' बड़ा भारी रव (शोर) करने से उसका नाम रावण पड़ा)। अतः सीता की खोज के लिए जब राम और लक्ष्मण धरती पर घूमने लगे तब उन्होंने कबन्ध नाम के राक्षस का संहार किया। बाद में (मरते हुए) उस राक्षस के निर्देशानुसार वे दोनों देवी शबरी के पास गये। वहाँ वे शबरी के द्वारा पूजित हुए। बाद में वे आगे बढ़े, वायुपुत्र हनुमान जी ने उनकी पूजा की। फिर हनुमान ने कपीश्वर सुग्रीव को बुलाया तब राम-लक्ष्मण ने उनके समक्ष आदि से लेकर अन्ततक वृत्तांत सुनाया।

स तु रामे शङ्कितः सन्प्रत्ययार्थं च दुन्दुभेः।
विग्रहं दर्शयामास यो रामस्तमचिक्षिपत्॥21॥
सप्त सालान्विभिद्याशु मोदते राघवस्तदा।
तेन हृष्टः कपीन्द्रोऽसौ सरामस्तस्य पत्तनम्॥22॥
जगामागर्जदनुजो वालिनो वेगतो गृहात्।
तदा वाली निर्जगाम तं वालिनमथाहवे॥23॥

सुग्रीव ने राम की वीरता पर शंका करते हुए उस शंका के निवारण के लिए दुन्दुभि नाम के राक्षस का बड़ा भयंकर शरीर उन्हें दिखाया। राम ने उसे देखते-ही-देखते दूर फेंक दिया। उन्होंने अपने बाण से सात साल-वृक्षों को शीघ्र एक साथ भेद दिया। और कपिराज सुग्रीव भी प्रसन्न होकर राम के साथ बाली के नगर में गया। वहाँ जाकर बाली के उस छोटे भाई सुग्रीव ने बड़ी ललकार की। उनकी ललकार को सुनकर बाली अतिवेग से अपने घर से बाहर निकला और उसके बाद उस बाली को युद्ध में—

निहत्य राघवो राज्ये सुग्रीवं स्थापयेत्ततः ।
हरीनाहूय सुग्रीवस्त्वाह चाशाविदोऽधुना ॥24॥
आदाय मैथिलीमद्य ददताश्वाशु गच्छत ।
ततस्ततार हनुमानब्धिं लङ्कां समाययौ ॥25॥

—मारकर राघव श्रीराम ने सुग्रीव को राजसिंहासन पर बिठाया। इसके बाद तुरन्त सुग्रीव ने वानरों को बुलाकर कहा—'तुम सब सभी दिशाओं को जानने वाले हो अत: अभी तुरन्त प्रस्थान कर मैथिली को खोजकर श्रीराम को सौंप दो। जाओ।' इसके बाद हनुमान ने सागर को पार किया और वे लंका में पहुँचे।

सीतां दृष्ट्वाऽसुरान्हत्वा पुरं दग्ध्वा तथा स्वयम् ।
आगत्य रामेण सह न्यवेदयत तत्त्वतः ॥26॥
तदा रामः क्रोधरूपी तानाहूयाथ वानरान् ।
तैः सार्धमादायास्त्राणि पुरीं लङ्कां समाययौ ॥27॥

लंका में पहुँचकर हनुमान ने सीता को देखा। और राक्षसों को मारकर, लंका को जलाकर, स्वयं वापस आकर राम को पूरा वृत्तान्त अच्छी तरह से सुनाया। तब अत्यन्त क्रोधित होकर राम ने उन वानरों को बुलाकर उनके साथ शस्त्रास्त्रों को लेकर लंकापुरी के ऊपर आक्रमण कर दिया।

तां दृष्ट्वा तदधीशेन सार्धं युद्धमकारयत् ।
घटश्रोत्रसहस्राक्षजिद्भ्यां युक्तं तमाहवे ॥28॥
हत्वा विभीषणं तत्र स्थाप्याथ जनकात्मजाम् ।
आदायाङ्कस्थितां कृत्वा स्वपुरं तैर्जगाम सः ॥29॥

लंका की ठीक तरह से जाँच-पड़ताल करके श्रीराम ने लंकाधीश के साथ युद्ध शुरू कर दिया। इस युद्ध में रावण के भाई घटश्रोत्र (कुम्भकर्ण) और पुत्र सहस्राक्षजित् (मेघनाद) सहित रावण का उन्होंने संहार किया और विभीषण को लंका की राजगद्दी पर स्थापित करके और जनकात्मजा सीता को लाकर, अपने वामभाग में बिठाकर उन्होंने अपने नगर के के लिए प्रस्थान किया।

ततः सिंहासनस्थः सन् द्विभुजो रघुनन्दनः ।
धनुर्धरः प्रसन्नात्मा सर्वाभरणभूषितः ॥30॥
मुद्रां ज्ञानमयीं याम्ये वामे तेजःप्रकाशिनीम् ।
धृत्वा व्याख्याननिरतश्चिन्मयः परमेश्वरः ॥31॥

तदनन्तर दो हाथ वाले रघुनन्दन राम जी अयोध्या के राजसिंहासन बैठे। धनुर्धारी, प्रसन्नचित्त, सभी अलंकरणों से विभूषित दक्षिण हाथ से ज्ञानमुद्रा लिए हुए हैं, और वाम हाथ से तेज:-प्रकाशिनी धनुर्मुद्रा को लिए वह सच्चिदानन्द परमेश्वर व्याख्यानमुद्रा में विराजित हैं।

उदग्दक्षिणयोः स्वस्य शत्रुघ्नभरतौ ततः ।
हनूमन्तं च श्रोतारमग्रतः स्यात्त्रिकोणगम् ॥32॥
भरताधस्तु सुग्रीवं शत्रुघ्नाधो विभीषणम् ।
पश्चिमे लक्ष्मणं तस्य धृतच्छत्रं सचामरम् ॥33॥
तदधस्तौ तालवृन्तकरौ त्र्यस्रं पुनर्भवेत् ।
एवं षट्कोणमादौ स्वदीर्घाङ्गैरेषु संयुतः ॥34॥

भगवान् श्री राम की बाँयीं और दायीं ओर क्रमशः शत्रुघ्न और भरत बैठे हुए हैं। इस तरह बने हुए त्रिकोण के बीच भक्त हनुमान हाथ जोड़कर श्रोता के रूप में विराजमान हैं। भरत के नीचे सुग्रीव और शत्रुघ्न के नीचे विभीषण बैठे हुए हैं। भगवान् श्रीराम के पीछे के भाग में हाथ में छत्र चामर लेकर लक्ष्मण जी खड़े हुए हैं। उनके नीचे तालवृक्ष के बनाए हुए पंखे लेकर भरत-शत्रुघ्न, दोनों भाई खड़े हैं। ऐसा होने पर भरत-लक्ष्मण-शत्रुघ्न से एक दूसरा भी त्रिकोण बन जाता है। (शत्रुघ्न-भरत-हनुमान का एक त्रिकोण और सुग्रीव-विभीषण-लक्ष्मण का दूसरा त्रिकोण)। इस तरह आरंभ में षट्कोण में यह रघुपति अपने दीर्घ अंगों से अर्थात् अपने बीज मन्त्र रूप दीर्घ अक्षरों के परिघ में आबद्ध हो जाते हैं।

द्वितीयं वासुदेवाद्यैराग्नेयादिषु संयुतः ।
तृतीयं वायुसूनुं च सुग्रीवं भरतं तथा ॥35॥
विभीषणं लक्ष्मणं च अङ्गदं चारिमर्दनम् ।
जाम्बवन्तं च तैर्युक्तस्ततो धृष्टिर्जयन्तकः ॥36॥
विजयश्च सुराष्ट्रश्च राष्ट्रवर्धन एव च ।
अशोको धर्मपालश्च सुमन्त्रश्चैभिरावृतः ॥37॥

दूसरा आवरण आग्नेय आदि दिशाओं में वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध से युक्त है। तीसरे आवरण में हनुमान, सुग्रीव, भरत, विभीषण, लक्ष्मण, अंगद, शत्रुघ्न और जाम्बवान स्थित हैं। इसके अतिरिक्त धृष्टि, जयन्तक, विजय, सुराष्ट्र, राष्ट्रवर्धन, अशोक, धर्मपाल, सुमन्त्र—इन लोगों से घिरे होने पर भी यह तृतीय आवरण की स्थिति होती है।

ततः सहस्रदृग्वह्निर्धर्मज्ञो वरुणोऽनिलः ।
इन्द्वीशधात्रनन्ताश्च दशभिश्चैभिरावृतः ॥38॥
बहिस्तदायुधैः पूज्यो नीलादिभिरलंकृतः ।
वसिष्ठवामदेवादिमुनिभिः समुपासितः ॥39॥

चौथे आवरण की स्थिति तब बनती है जब हजार आँखों वाले इन्द्र, अग्नि, धर्मराज, वरुण, निर्ऋति, वायु, चन्द्रमा, ब्रह्मा, ईशान और अनन्त—इन दसों दिक्पालों से राम घिरे हुए हैं। इन दिक्पाल आदि के बाहर के भाग में उनके आयुध रखे हुए होते हैं और उन आयुधों से तथा नल आदि वानरों से घिरे हुए होने से वे पूजनीय श्रीराम जी शोभायमान मालूम पड़े रहे हैं। इसी के बाद वसिष्ठ, वामदेव और ऋषिगण भी श्री रामजी की उपासना में सम्मिलित हो रहे हैं।

एवमुद्देशतः प्रोक्तं निर्देशस्तस्य चाधुना ।
त्रिरेखापुटमालिख्य मध्ये तारद्वयं लिखेत् ॥40॥
तन्मध्ये बीजमालिख्य तदधः साध्यमालिखेत् ।
द्वितीयान्तं च तस्योर्ध्वं षष्ठ्यन्तं साधकं तथा ॥41॥

इस प्रकार संक्षेप में यहाँ पूजायंत्र का निर्देश किया गया। अब उसके पूरे रूप को बताया जा रहा है—सम रेखा वाले दो त्रिकोण बनाकर उनके बीच अलग-अलग दो प्रणवों को लिखना चाहिए। उन दोनों के बीच आद्यबीज 'रां' का उल्लेख करें। उसके नीचे साध्य किया जाने वाला कार्य लिखें। आद्यबीज के ऊपर के भाग में साधक का नाम षष्ठ्यन्त तथा इसके नीचे साध्य का द्वितीयान्त रूप में उल्लेख करें।

कुरु द्वयं च तत्पार्श्वे लिखेद्बीजान्तरे रमाम् ।
तत्सर्वं प्रणवाभ्यां च वेष्टयेच्छुद्धबुद्धिमान् ॥42॥

दीर्घभाजि षडस्त्रे तु लिखेद्बीजं हृदादिभिः ।
कोणपार्श्वे रमामाये तदग्रेऽनङ्गमालिखेत् ॥43॥

फिर उसके दाहिने और बाँये पार्श्वभाग में 'कुरु' शब्द दो बार लिखें। बीज के मध्य में और साध्य के ऊपर की ओर श्री बीज (श्रीं) लिखें। बुद्धिमान मनुष्य को चाहिए कि वह इन सभी को इस प्रकार लिखे जिससे कि यह सब दोनों प्रणवों से वेष्टित (आवृत) रहे। इसके बाद मूल बीज को छहों कोनों पर दीर्घस्वर में लिखें और इसके साथ ही एक-एक के साथ 'रां रामाय नमः' आदि (छहों बीजों के साथ) भी लिखें। कोणों के पार्श्वभागों में भी रमा = श्रीं, माया = ह्रीं, उसके आगे के भाग में अनंग = क्लीं लिखें।

क्रोधं कोणाग्रान्तरेषु लिख्य मन्त्र्यभितो गिरम् ।
वृत्तत्रयं साष्टपत्रं सरोजे विलिखेत्स्वरान् ॥44॥
केसरे चाष्टपत्रे च वर्गाष्टकमथालिखेत् ।
तेषु मालामनोर्वर्णान्विलिखेदूर्मिसंख्यया ॥45॥
अन्ते पञ्चाक्षराण्येवं पुनरष्टदलं लिखेत् ।
तेषु नारायणाष्टार्णाल्लिख्य तत्केसरे रमाम् ॥46॥
तद्बहिर्द्वादशदलं विलिखेद् द्वादशाक्षरम् ।
अथोंनमो भगवते वासुदेवाय इत्ययम् ॥47॥

कोणों के अगले और अन्दर के भागों में क्रोधबीज = हुं लिखें। उसकी दोनों तरफ सटकर गिरा का बीज = ऐं लिखें। फिर तीन गोलाकार रेखाएँ बनाएँ। इन वर्तुलों के साथ अष्टदल कमल बनाएँ। उस कमल के केसर पर दो-दो के क्रम से सभी स्वरवर्ण लिखें। आठों दलों के उन स्वरवर्णों के ऊपर पूर्वोक्त राममालामन्त्र के सैंतालीस (47) वर्णों को छः-छः के क्रम से लिखें, तो उससे अन्तिम दल में पाँच ही वर्ण रह जाएँगे। अब पहले की तरह फिर से एक अष्टदल कमल बनाएँ। उसकी पंखुड़ियों पर 'ॐ नमो नारायणाय' मन्त्र का एक-एक अक्षर प्रत्येक दल पर लिखें। और केसर पर रमाबीज = श्रीं लिखें। फिर उसके बाहर के भाग में बारह दलों वाला कमल बनाएँ। तथा उसके प्रत्येक दल पर 'ॐ नमो भगवते वासुदेवाय' इस बारह अक्षर के मन्त्र का एक-एक अक्षर लिखें।

आदिक्षान्तान्केसरेषु वृत्ताकारेण संलिखेत् ।
तद्बहिः षोडशदलं लिख्य तत्केसरे ह्रियम् ॥48॥
वर्मास्त्रनतिसंयुक्तं दलेषु द्वादशाक्षरम् ।
तत्सन्धिष्विरजादीनां मन्त्रान्मन्त्री समालिखेत् ॥49॥
ह्रं स्त्रं भ्रं व्रं लं अं श्रं ज्रं च लिखेत्सम्यक्ततो बहिः ।
द्वात्रिंशारं महापद्मं नादबिन्दुसमायुतम् ॥50॥

फिर उस बारह दलवाले कमल के केसरों में 'अ' से लेकर 'क्ष' तक के वर्णों—16 स्वरों और 35 व्यंजनों को गोलाकार में लिखें। (एक-एक केसर में चार-चार और अन्तिम केसर में सात वर्ण होंगे)। फिर उसके बाहर और एक सोलह दलवाला कमल बनायें। और उसके सोलहों दलों में एक-एक अक्षर के क्रम से द्वादशाक्षर राममन्त्र—'ॐ ह्रीं भरताग्रज राम क्लीं स्वाहा' और 'हुं फट् नमः' लिखें। तथा उन दलों के सन्धिभाग में हनुमान के बीज मन्त्र को और धृष्टि आदि बीजमन्त्रों को लिखें। वे धृष्टि आदि बीजमन्त्र इस प्रकार हैं—हं, स्त्रं, भ्रं, व्रं, लं, अं, श्रं और ज्रं। यह मन्त्र लिखने के पश्चात्

इसके बाहर बत्तीस अरों वाला नादबिन्दु से युक्त महापद्म बनाएँ। अर्थात् उस पर (हर एक वर्ण पर) 'ॐ ग्रां' ऐसे दीर्घ बिन्दु से युक्त मन्त्रराज हो, इस तरह बत्तीस दलों में मन्त्रों के अक्षरों को लिखें।

विलिखेन्मन्त्रराजार्णांस्तेषु पत्रेषु यत्नतः ।
ध्यायेदष्टवसूनेकादशरुद्रांश्च तत्र वै ॥51॥
द्वादशेनांश्च धातारं वषट्कारं च तद्बहिः ।
भूगृहं वज्रशूलाढ्यं रेखात्रयसमन्वितम् ॥52॥
द्वारोपेतं च राश्यादिभूषितं फणिसंयुतम् ।
अनन्तो वासुकिश्चैव तक्षः कर्कोटपद्मकः ॥53॥
महापद्मश्च शङ्खश्च गुलिकोऽष्टौ प्रकीर्तिताः ।
एवं मण्डलमालिख्य तस्य दिक्षु विदिक्षु च ॥54॥

फिर उस महापद्म की पँखुड़ियों पर प्रयत्नपूर्वक नारसिंह मन्त्रराज का उल्लेख करें। वहाँ आठ वसुओं, एकादश रुद्रों, बारह आदित्यों तथा उन सबके धाता वषट्कार का न्यास तथा ध्यान करें। (ध्रुव-धर-सोम-आप-अनिल-अनल-प्रत्यूष-प्रकास—ये आठ वसु हैं। हर-बहुरूप-त्र्यम्बक-अपराजित-शम्भु-वृषाकपि-कपर्दी-दैवज्ञ-मृगव्याध-शर्व-कपाली—ये एकादश रुद्र हैं। धाता-अर्यमा-मित्र-वरुण-अंश-भग-इन्द्र-विवस्वान्-पूषा-पर्जन्य-त्वष्टा-विष्णु—ये बारह आदित्य हैं)। इस बत्तीस दल वाले कमल के बाहर के भाग में भूगृह मन्त्र लिखें। उस मन्त्र के चारों ओर वज्र तथा कोषों के शूल चिह्न बनाएँ। (वज्र से लेकर शूल तक के आठ दिक्पालों के आयुधों से युक्त करें अथवा हर एक द्वार पर वज्र और शूल का चिह्न अंकित करें)। उस भूगृह मन्त्र को तीन रेखाओं से भी युक्त करें। (ये रेखाएँ सत्त्व-रजस्-तमस् इन तीन गुणों की प्रेरक हैं)। मण्डप की तरह इसमें भी द्वार निर्मित करें, द्वार में भूगृह को राशि आदि से अलंकृत करें। उसे आठों दिशाओं और कोनों (विदिशाओं) में आठ नागों ने धारण किया हुआ है। ये नाग—अनन्त, वासुकि, तक्षक, कर्कोटक, पद्म, महापद्म, शंख तथा गुलिक हैं।

नारसिंहं च वाराहं लिखेन्मन्त्रद्वयं तथा ।
कूटो रेफानुग्रहेन्दुनादशक्त्यादिभिर्युतः ॥55॥
यो नृसिंहः समाख्यातो ग्रहमारणकर्मणि ।
अन्त्यार्धीशवियद्बिन्दुनादैर्बीजं च सौकरम् ॥56॥

भूगृह मन्त्र के चारों ओर नारसिंह बीजमन्त्र तथा कोणों में वाराह बीजमन्त्र लिखें। वह नारसिंह बीजमन्त्र—कूट (क्षकार), रेफ (रकार), अनुग्रह (औ), इन्दु (अनुस्वार), नाद (ध्वनि) और शक्ति (माया) से युक्त होना चाहिए। (वह 'क्ष्रौं' या 'क्ष्रौं' जैसा होगा)। यह मन्त्र ग्रहबाधा दूर करने या शत्रुमारण के लिए तथा अभिलषित को प्राप्त करने के लिए प्रयुक्त किया जाता है। अब जो (दूसरा) अन्त्यार्धीश वराह का बीजमन्त्र 'हुं' है (अन्त्यवर्ण = ह् और अधीश = 'उ' वह अनुस्वार सहित = 'हुं' होता है) वह नाद और शक्ति से युक्त होकर वाराह बीजमन्त्र बनता है।

हुंकारं चात्र रामस्य मालामन्त्रोऽधुनेरितः ।
तारो नतिश्च निद्रायाः स्मृतिर्मेदश्च कामिका ॥57॥
रुद्रेण संयुता वह्निर्मेधामरविभूषिता ।
दीर्घा क्रूरयुता ह्लादिन्यथो दीर्घसमायुता ॥58॥

क्षुधा क्रोधिन्यमोघा च विश्वमप्यथ मेधया ।
युक्ता दीर्घज्वालिनी च सुसूक्ष्मा मृत्युरूपिणी ॥59॥

इस यंत्र के कोणों पर 'हुं' भी लिखें। अब रामसम्बन्धी मालामन्त्र बताते हैं—इसमें तार = ॐ, नति = नमः शब्द, निद्रा = भ, स्मृति = ग, मेद = व, कामिका = त्, तथा रुद्र = ए आते हैं। फिर बाद में अग्नि = र, मेधा = घ्, अमर = उ के साथ दीर्घकाल चन्द्रमा = न के ऊपर अनुस्वार से युक्त किया जाता है। फिर ह्लादिनी = द के बाद दीर्घकाल = न और मानदा कला = आ होती है। इसके बाद क्षुधा = य है। (इन सबको मिलाकर—'ॐ नमो भगवते रघुनन्दनाय' इस मन्त्र की सिद्धि होती है)। अब इसके बाद क्रोधिनी = र, अमोघा = क्ष्, विश्व = ओ, मेधा = घ् से अलंकृत है। फिर दीर्घा = न, वह्निकला = व, और सूक्ष्मरुद्र = इ से युक्त होता है। फिर जो मृत्युरूपिणी कला = श् है, वह फिर—

सप्रतिष्ठा ह्लादिनी त्वक्क्ष्वेलप्रीतिश्च सामरा ।
ज्योतिस्तीक्ष्णाग्निसंयुक्ता श्वेतानुस्वारसंयुता ॥60॥
कामिकापञ्चमूलान्तस्तान्तान्तो थान्त इत्यथ ।
स सानन्तो दीर्घयुतो वायुः सूक्ष्मयुतो विषः ॥61॥
कामिका कामका रुद्रयुक्ताथोऽथ स्थिरातपा ।
तापिनी दीर्घयुक्ता भूरनलोऽनन्तगोऽनिलः ॥62॥
नारायणात्मकः कालः प्राणाम्भो विद्यया युतः ।
पीतारातिस्तथा लान्तो योन्या युक्तस्ततो नतिः ॥63॥

प्रतिष्ठा = 'अ'कार के साथ युक्त हो जाती है (अर्थात् पूरा 'श' हो जाता है)। अन्त में ह्लादिनी = दा और त्वक् = य है। (ये सब मिलकर 'रक्षोघ्नविशदाय' इतना मन्त्र भाग सिद्ध होता है)। अब क्ष्वेल = म, प्रीति = धु, अमर = उ, ज्योति = र, तीक्ष्णा = प्, अग्नि = र, अनुस्वारयुक्त श्वेता = सं, फिर तवर्गीय पाँचवाँ वर्ण = न, लकार के बाद का वर्ण = व, तवर्गीय त् के आगे तीसरा वर्ण = द, और इसके भी बाद का वर्ण = न्, इसके बाद अनन्त = आ जोड़ा जाता है। फिर दीर्घस्वर = आ से वायु = य जोड़ा जाता है। फिर ह्रस्व इकार से जोड़ा हुआ विष = म् है। फिर कामिका = त, और बाद में रुद्र = ए से जोड़ा हुआ कामिका = त होता है। बाद में स्थिरा = ज, और बाद में ए मात्रा से युक्त 'स' कार है। (इन सब से 'मधुरप्रसन्नवदनायामिततेजसे'—यह मन्त्रभाग बनता है)। इसके बाद, तापिनी = ब, दीर्घ = ल, भू = आ और अनिल = य लगाने से 'बलाय' का मन्त्र-भाग सिद्ध होता है। फिर अनन्तग अनल = आकार के साथ रेफ = रकार आता है (रा आता है)। फिर नारायणात्मक आकार के साथ काल = 'म' को और प्राण = य को रखा जाता है। इन सबसे 'रामाय' बनता है। बाद में विद्यायुक्त अम्भस् = 'व'कार से जुड़ा हुआ 'इ' आता है। बाद में पीता = 'ष्', राति = 'ण' और ल के बाद का वर्ण = 'व' योनि = ए से जुड़ा हुआ आता है और अन्त में प्रणामवाचक नमः शब्द तथा प्रणव आता है।

सप्तचत्वारिंशद्वर्णगुणान्तः स्पृङ्मनुः स्वयम् ।
राज्याभिषिक्तस्य तस्य रामस्योक्तक्रमाल्लिखेत् ॥64॥
इदं सर्वात्मकं यन्त्रं प्रागुक्तमृषिसेवितम् ।
सेवकानां मोक्षकरमायुरारोग्यवर्धनम् ॥65॥

अपुत्राणां पुत्रदं च बहुना किमनेन वै ।
प्राप्नुवन्ति क्षणात्सम्यगत्र धर्मादिकानपि ॥66॥
इदं रहस्यं परममीश्वेरणापि दुर्गमम् ।
इदं यन्त्रं समाख्यातं न देयं प्राकृते जने ॥67॥

इति चतुर्थोपनिषद् ।
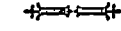
राम का यह मालामन्त्र सैंतालीस अक्षरों वाला है—'ॐ नमो भगवते रघुनन्दनाय रक्षोघ्न-विशदाय मधुरप्रसन्नवदनायामिततेजसे बलाय रामाय विष्णवे नमः ॐ'। यह मालामन्त्र राज्याभिषिक्त श्रीराम से सम्बन्ध रखता है। सगुण होते हुए भी यह मन्त्र साधकों को त्रिगुणात्मक माया के बन्धनों से मुक्त करा देने वाला है। इस मन्त्र को पूर्वोक्त क्रमानुसार ही लिखना चाहिए। ऊपर निरूपित यंत्र भी सर्वात्मक है। ऋषि-मुनियों ने इस यन्त्र की साधना की है। यह उपासकों को मोक्ष प्रदान करने वाला है तथा आरोग्य एवं आयु को बढ़ाने वाला है। यह निःसन्तानों को सन्तान देने वाला है तथा और अधिक क्या कहा जाए, इस मन्त्र का साधक जल्द से जल्द इन सभी पदार्थों को प्राप्त कर सकता है। इसका साधक धर्म-ज्ञान-वैराग्यादि अपनी सभी कामनाओं की पूर्ति कर सकता है। यह अतिरहस्यपूर्ण गोपनीय यंत्र दीक्षा लिए बिना तो परम विद्वान् के लिए भी संभव नहीं है। पात्रतारहित सामान्य (प्राकृत) जनों को तो इसका उपदेश कभी भी नहीं देना चाहिए।

यहाँ चतुर्थोपदेश पूरा होता है।

❋

पञ्चमोपनिषत्

ॐ भूतादिकं शोधयेद्द्वारपूजां कृत्वा पद्माद्यासनस्थः प्रसन्नः ।
अर्चाविधावस्य पीठाधरोर्ध्वपार्श्वार्चनं मध्यपद्मार्चनं च ॥1॥
कृत्वा मृदुश्लक्ष्णसुतूलिकायां रत्नासने देशिकमर्चयित्वा ।
शक्तिं चाधाराख्यकां कूर्मनागौ पृथिव्यब्जे स्वासनाधः प्रकल्प्य ॥2॥

साधक पद्मासन लगाकर बैठे और चित्त को प्रसन्न रखकर सभी तत्त्वों की शुद्धि (शोधन) करे। भगवान् श्रीराम की पूजाविधि में सिंहासन पीठ के नीचे के भाग की, ऊपर के भाग की और दोनों पार्श्व के भाग की पूजा करने का विधान किया गया है। पीठ के ऊपर के भाग में मध्य में अवस्थित आठ दल वाले कमल की भी साधक पूजा करे। रत्नजडित सिंहासन पर कोमल चिकनी तूलिका (रुईदार गुदगुदी गद्दी) बनाकर उसके ऊपर परमात्मस्वरूप आचार्य का पूजन करे। बाद में पीठ के नीचे वाले भाग में इष्टदेव के आसन के नीचे आधारशक्ति, कूर्म, नाग और पृथ्वीमय कमलद्वय की भावना करके उसकी पूजा करे।

विघ्नेशं दुर्गां क्षेत्रपालं च वाणीं बीजादिकांश्चाग्निदेशादिकांश्च ।
पीठस्याङ्घ्रिष्वेव धर्मादिकांश्च नत्वा पूर्वाद्यासु दिक्ष्वर्चयेच्च ॥3॥
मध्ये क्रमादर्कविध्वग्नितेजांस्युपर्युपर्यादिमैरर्चितानि ।
रजः सत्त्वं तम एतानि वृत्तत्रयं बीजाढ्यं क्रमाद्भावयेच्च ॥4॥

विघ्नेश्वर गणपति, क्षेत्रपाल, दुर्गा और वाणी के साथ आरम्भ में बीज लगाकर चतुर्थ्यन्त का प्रयोग करके आग्नेय आदि दिशाओं में पूजन-अर्जन करे। तदुपरान्त पीठ के पादों में अवस्थित धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष का नमस्कारपूर्वक पूजन पूर्वादि दिशाओं में करे। (धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष के बदले कुछ लोग यहाँ धर्म, ज्ञान, वैराग्य और ऐश्वर्य—ये चार भी लेते हैं) और पीठ के ऊपर के भाग के बीच में आदिम-पूज्य पुरुषों के द्वारा अर्जित ऐसे सूर्य, चन्द्र और अग्नि का पूजन करे। यन्त्र में प्रतिष्ठित सत्त्व, रजस् तथा तमस्—इन तीन गुणों के प्रतीक रूप तीन वृत्तों का भी बीजमन्त्रों के साथ पूजन एवं चिन्तन करे।

आशाव्याशास्वप्यथात्मानमन्तरात्मानं वा परमात्मानमन्तः।
ज्ञानात्मानं चार्चयेत्तस्य दिक्षु मायाविद्ये ये कलापारतत्त्वे ॥5॥
सम्पूजयेद्विमलादींश्च शक्तीरभ्यर्चयेद्देवमावाहयेच्च।
अङ्गव्यूहानिलजाद्यैश्च पूज्य धृष्ट्यादिकैर्लोकपालैस्तदस्त्रैः ॥6॥
वसिष्ठाद्यैर्मुनिभिर्नीलमुख्यैराराधयेद्राघवं चन्दनाद्यैः।
मुख्योपहारैर्विविधैश्च पूज्यैस्तस्मै जपादींश्च सम्यक्प्रकल्प्य ॥7॥

तदनन्तर कोणों और दिशाओं में बनाए गए अष्टदलों का पूजन करे। इनमें कोणस्थित दलों का आग्नेय से प्रारंभ करके क्रमशः आत्मा, अन्तरात्मा, परमात्मा और ज्ञानात्मा के रूप में पूजन करे। मायातत्त्व, कलातत्त्व और परतत्त्व की क्रमशः पूर्वादि दिशाओं में पूजा करे। इसके बाद विमलादि शक्तियों का विधिपुरःसर अर्चन करे। प्रधान देवता के आवाहन-अर्चन के बाद जल से हृदय-मस्तकादि अंगव्यूहों की पूजा करे। धृष्टि आदि दश लोकपालों, इन्द्रादि गणों, उनके वज्रादि आयुधों, वसिष्ठादि ऋषिगणों तथा नीलादि वानरों के साथ उपस्थित भगवान् श्री रामचन्द्र जी की चन्दनादि विविध पूजा उपचारों के साथ तथा नानाविध उपहारों के साथ पूजा करे। उसी के साथ विधि-विधानपूर्वक आराधना-जप आदि भी उन्हें समर्पित करे।

एवंभूतं जगदाधारभूतं रामं वन्दे सच्चिदानन्दरूपम्।
गदारिशङ्खाब्जधरं भवारिं स यो ध्यायेन्मोक्षमाप्नोति सर्वः ॥8॥
विश्वव्यापी राघवो यस्तदानीमन्तर्दधे शङ्खचक्रे गदाब्जे।
धृत्वा रमासहितः सानुजश्च सपत्तनः सानुगः सर्वलोकी ॥9॥
तद्भक्ता ये लब्धकामाश्च भुक्त्वा तथा पदं परमं यान्ति ते च।
इमा ऋचः सर्वकामार्थदाश्च ये ते पठन्त्यमला यान्ति मोक्षम् ॥10॥

इति पञ्चमोपदेशः।

इति रामपूर्वतापिन्युपनिषत्समाप्ता।
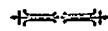
श्रीरामचन्द्र जी, जो हाथों में गदा, शंख और कमल को धारण किए हुए हैं, जो जगत् के अवलम्बनरूप हैं, जो सच्चिदानन्दस्वरूप हैं, जो इस भवसागर के शत्रु से मुक्ति देने वाले हैं, उनका मैं वन्दन करता हूँ। उनका ध्यान करते हुए यह सभी जनगण मोक्ष को प्राप्त होते हैं। लीलाकाल में सम्पूर्ण संसार में व्याप्त भगवान् श्रीराम, जब उनका उपासक मोक्ष को प्राप्त हो जाता है, तब शरीर के साथ-साथ अपने शंख, चक्र, गदा और पद्म तथा अन्य आयुधों के साथ अन्तर्धान हो जाते हैं। अपने

स्वाभाविक (मूल) स्वरूप को धारण करके वे सीता के साथ परमधाम में प्रविष्ट हो जाते हैं। इसी के साथ उनके सभी परिवार, परिजन, सर्व बन्धुवर्ग, समग्र प्रजा तथा विभीषण आदि भी परमधाम में पहुँच गए। जो उनके भक्त हैं, वे इप्सित उपभोगों को प्राप्त करते हैं। वे भक्त उन्हें यहाँ भोगकर बाद में परमपद को प्राप्त करते हैं। सभी कामनाओं एवं सभी अर्थों की सिद्धि करने वाली इन ऋचाओं का पाठ करने वाले भक्तगण विशुद्ध अन्तःकरण से युक्त होकर मोक्षपद को प्राप्त हो जाते हैं।

यहाँ पञ्चमोपनिषत् पूरी हुई।

यहाँ रामपूर्वतापिन्युपनिषत् पूर्ण हुई।

शान्तिपाठः

ॐ भद्रं कर्णेभिः.....देवहितं यदायुः। (पूर्ववत्)
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

❋

(57) रामोत्तरतापिन्युपनिषत्

(उपनिषत्परिचय)

अथर्ववेदीय परम्परा वाली इस उपनिषद् को कुछ लोग पूर्वतापनी का ही उत्तरभाग मान कर दोनों को एक उपनिषद् मानते हैं, और कुछ लोग दोनों को अलग-अलग उपनिषद् मानते हैं। हमने इनको पृथक् मानकर अलग-अलग प्रस्तुत किया है। इसमें सर्वप्रथम बृहस्पति और याज्ञवल्क्य का संवाद है, इसके बाद में भरद्वाज और याज्ञवल्क्य का, फिर अत्रि तथा याज्ञवल्क्य का और फिर भरद्वाज और याज्ञवल्क्य का संवाद है। उपनिषद् में कुल पाँच खण्ड हैं। इसमें कहा गया है कि यह शरीर ही कुरुक्षेत्र है, उसमें मुक्त जीवात्मा जहाँ रहता है, उसे ब्रह्म का अविमुक्त धाम कहा जाता है। जब मनुष्य का मरण होता है, तब उस धाम में ही रुद्र जीवात्मा को तारकब्रह्म का ज्ञान देते हैं, जिसे जानकर वह मुक्त होता है। गर्भवास जन्म-जरा-मरण और संसार का तारने वाला होने से वह तारक ब्रह्म कहलाता है। ॐ कार के 'अ' से लक्ष्मण, 'उ' से शत्रुघ्न, 'म्' से भरत और अर्धमात्रा से ब्रह्मानन्द राम उत्पन्न हुए। श्रीराम के सान्निध्य से इस समग्र स्थावर-जंगम की उत्पत्ति-स्थिति-लय करने वाली प्रकृति सीतारूप में हुई। 'मैं राम और ॐकार हूँ'—ऐसा कहने वाले संसारी नहीं हैं। उपर्युक्त अविमुक्त धाम वरणा और नासी में स्थित होने से उसे 'वाराणसी' कहते हैं। वरणा का अर्थ इन्द्रिय दोषों का वारण और 'नाशी' का अर्थ पापनाशिनी है। वह स्थान दोनों भौंहों के बीच में स्थित है। राम बोलते हुए मरने वाला मुक्त होता है। राम ही परमानंदरूप परब्रह्म हैं। अखण्डैकरस आत्मा हैं। विष्णुशिवदेव जीव का अंतरात्मा है। यह सचराचर सब राम ही है। एक कण भी रामहीन नहीं है।

शान्तिपाठः

ॐ भद्रं कर्णेभिः......शान्तिः (पूर्ववत्)

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

इसका हिन्दी रूपान्तर पूर्व में (अथर्वशिर उपनिषद् में) द्रष्टव्य है।

प्रथमः खण्डः

बृहस्पतिरुवाच याज्ञवल्क्यम्—यदनु कुरुक्षेत्रं देवानां देवयजनं सर्वेषां भूतानां ब्रह्मसदनम् ॥1॥

अविमुक्तं वै कुरुक्षेत्रं देवानां देवयजनं सर्वेषां भूतानां ब्रह्मसदनम्। तस्माद्यत्र क्वचन गच्छति तदेव मन्येतेतीदं वै कुरुक्षेत्रं देवानां देवयजनं सर्वेषां भूतानां ब्रह्मसदनम्। अत्र हि जन्तोः प्राणेषूत्क्रममाणेषु रुद्रस्तारकं ब्रह्म व्याचष्टे येनासावमृती भूत्वा मोक्षी भवति। तस्मादविमुक्तमेव निषेवेत। अविमुक्तं न विमुञ्चेत् ॥2॥

एवमेवैतद्याज्ञवल्क्य ॥3॥

इति प्रथमः खण्डः।

बृहस्पति ने याज्ञवल्क्य से कहा—'कुरु का (प्राणों का) क्षेत्र (स्थान) क्या है ? देवों का—इन्द्रियों के देवयजन का क्या अर्थ होता है ? सभी प्राणियों का ब्रह्मसदन क्या है ?' तब याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया—'अविमुक्त ही प्राणों का क्षेत्र है। उसे ही इन्द्रियों का देवयजन कहा गया है। और वही समस्त प्राणियों का ब्रह्मसदन है। इसलिए मनुष्य जहाँ-कहीं भी जाता है, उसको वही समझना चाहिए। वह कुरुक्षेत्र ही (वह प्राणस्थान ही) इन्द्रियों का देवयजन है, और समस्त प्राणियों का ब्रह्मसदन (ब्रह्मस्थान) है। जब इस जगत् में जीव के प्राणों का उत्क्रमण होता है, तब उस समय रुद्र उसको तारक ब्रह्म का उपदेश देते हैं। इससे वह जीव अमृतत्व को प्राप्त करके मोक्ष को प्राप्त करता है। इसलिए सबको अविमुक्त की ही उपासना करनी चाहिए। अविमुक्त को कभी छोड़ना नहीं चाहिए।' तब बृहस्पति ने कहा—'हाँ याज्ञवल्क्य ! ऐसा ही है।'

यहाँ प्रथम खण्ड पूरा हुआ।

द्वितीयः खण्डः

अथ हैनं भरद्वाजः पप्रच्छ याज्ञवल्क्यं—किं तारकं किं तारयतीति ॥1॥

स होवाच याज्ञवल्क्यः—तारकं दीर्घानलं बिन्दुपूर्वकं दीर्घानलं पुनर्मायां नमश्चान्द्राय नमो भद्राय नम इत्येतद् ब्रह्मात्मकाः सच्चिदानन्दाख्या इत्युपासितव्यम् ॥2॥

अकारः प्रथमाक्षरो भवति। उकारो द्वितीयाक्षरो भवति। मकारस्तृतीयाक्षरो भवति। अर्धमात्रश्चतुर्थाक्षरो भवति। बिन्दुः पञ्चमाक्षरो भवति। नादः षष्ठाक्षरो भवति। तारकत्वात्तारको भवति। तदेव तारकं ब्रह्म त्वं विद्धि। तदेवोपासितव्यमिति ज्ञेयम्। गर्भजन्मजरामरणसंसारमहद्भयात् संतारयतीति। तस्मादुच्यते षडक्षरं तारकमिति ॥3॥

अब भारद्वाज ने याज्ञवल्क्य से पूछा—'तारक क्या है ? तारता कौन है ?' तब याज्ञवल्क्य ने कहा—'दीर्घ अनल बिन्दु से युक्त होता है, अर्थात रां जो है, उसके बाद दीर्घ अनल अर्थात् 'रा' और उसके बाद 'माय' और उसके बाद नमः बोलना चाहिए ('रां रामाय नमः'—ऐसे पूरा मन्त्र होता है) और भी राम के बाद 'चन्द्राय' या 'भद्राय' लगाकर 'नमः' लगाये जाने पर 'रां रामचन्द्राय नमः' और 'रां रामभद्राय नमः'—ऐसे मन्त्र बनते हैं। ये सब अक्षर ब्रह्मात्मक ही हैं, वे शब्द सच्चिदानन्द के ही वाचक हैं ऐसा मानकर उपासना करनी चाहिए।

(ॐ कार का) 'अ' कार पहला अक्षर होता है, 'उ' कार दूसरा अक्षर होता है, 'म' कार तीसरा अक्षर होता है, अर्धमात्र चौथा अक्षर होता है, बिन्दु पाँचवाँ अक्षर होता है, नाद छठा अक्षर होता है। तारण करता है इसलिए तारक कहलाता है। तुम उसी को तारक ब्रह्म के रूप में जानो। वही उपासना करने योग्य है, ऐसा जानना चाहिए। गर्भवास-जन्म-मरण-संसार के महान् भय से तारण करता है, इसीलिए इस षडक्षर मन्त्र को 'तारक' कहा जाता है।

य एतत्तारकं ब्रह्म ब्राह्मणो नित्यमधीते स पाप्मानं तरति स मृत्युं तरति स ब्रह्महत्यां तरति स भ्रूणहत्यां तरति स वीरहत्यां तरति स सर्वहत्यां तरति स संसारं तरति स सर्वं तरति सोऽविमुक्तमाश्रितो भवति स महान् भवति सोऽमृतत्वं च गच्छति ॥4॥

जो कोई भी ब्राह्मण इस तारक का नित्य अध्ययन करता है, वह पापों को तैर जाता है, वह मृत्यु को तैर जाता है, वह ब्रह्महत्या के पाप को तैर जाता है, वह भ्रूणहत्या के पाप को तैर जाता है, वह वीरहत्या के पाप को पार करता है, वह सर्वहत्या के पाप को पार कर जाता है, वह संसार को तैर जाता है, वह सबको तैर जाता है, वह अविमुक्त का आश्रित हो जाता है, वह महान् होता है और वह अमरपद को प्राप्त होता है।

अत्रैते श्लोका भवन्ति—
अकाराक्षरसम्भूतः सौमित्रिर्विश्वभावनः।
उकाराक्षरसम्भूतः शत्रुघ्नस्तैजसात्मकः ॥5॥
प्राज्ञात्मकस्तु भरतो मकाराक्षरसम्भवः।
अर्धमात्रात्मको रामो ब्रह्मानन्दैकविग्रहः ॥6॥
श्रीरामसान्निध्यवशाज्जगदाधारकारिणी।
उत्पत्तिस्थितिसंहारकारिणी सर्वदेहिनाम् ॥7॥
सा सीता भवति ज्ञेया मूलप्रकृतिसंज्ञिका।
प्रणवत्वात् प्रकृतिरिति वदन्ति ब्रह्मवादिनः ॥8॥ इति ॥

इस विषय में ये श्लोक कहे गए हैं—ॐ कार के 'अ' कार अक्षर से 'विश्व'स्वरूप सौमित्री लक्ष्मणजी उत्पन्न हुए। 'तैजस' स्वरूप शत्रुघ्न 'उ'कार से उत्पन्न हुए। 'प्राज्ञ' स्वरूप भरत ने 'म' कार से जन्म लिया है और अर्धमात्रा स्वरूप राम तो ब्रह्मानन्दैकरस ही हैं। भगवान् श्रीराम के सान्निध्य के कारण जगत् के आधारस्वरूप तथा सभी प्राणियों की उत्पत्ति, स्थिति और विनाशकारिणी वह सीता उत्पन्न होती हैं। वह मूलप्रकृतिस्वरूपा हैं। राम के साथ अविनाभाव सम्बन्ध से जुड़ी होने के कारण वह भी प्रणव रामरूप है, इसीलिए वह मूल प्रकृति है उसकी कोई प्रकृति (कारण) नहीं हो सकती।

ओमित्येतदक्षरमिदं सर्वं तस्योपव्याख्यानं भूतं भव्यं भवष्यदिति सर्वमोंकार एव। यच्चान्यत्त्रिकालातीतं तदप्योंकार एव। सर्वं ह्येतद् ब्रह्म। अयमात्मा ब्रह्म। सोऽयमात्मा चतुष्पात् ॥9॥

यह सब कुछ 'ओम्' इस अक्षर स्वरूप ही है, इसका व्याख्यान यह है कि भूत, वर्तमान और भविष्य सब ओंकार ही है। और जो इन तीन कालों से परे है, वह भी तो ॐकार ही है। यह सब कुछ ब्रह्म ही है। यह जो हमारा आत्मा है, वह भी ब्रह्म है। वह आत्मा चार चरणों वाला है।

जागरितस्थानो बहिःप्रज्ञः सप्ताङ्ग एकोनविंशतिमुखः स्थूलभुग्वैश्वानरः प्रथमः पादः ॥10॥
स्वप्नस्थानोऽन्तःप्रज्ञः सप्ताङ्ग एकोनविंशतिमुखः प्रविविक्तभुक् तैजसो द्वितीयः पादः ॥11॥
यत्र सुप्तो न कञ्चन कामं कामयते न कञ्चन स्वप्नं पश्यति तत्सुषुप्तम्। सुषुप्तस्थान एकीभूतः प्रज्ञानघन एवानन्दमयो ह्यानन्दभुक् चेतोमुखः प्राज्ञस्तृतीयः पादः ॥12॥
एष सर्वेश्वर एष सर्वज्ञ एषोऽन्तर्याम्येष योनिः सर्वस्य प्रभवाप्ययौ हि भूतानाम् ॥13॥

पहला चरण जाग्रत् स्थान का—स्थूलविश्व के स्थान में रहने वाला बाहर के पदार्थों का बोध कराने

वाला है। वह सात अंगों से (सात लोकों से या किरणों से) युक्त है। उसके उन्नीस मुख हैं (दस इन्द्रियाँ + पाँच प्राण + अन्तःकरणचतुष्टय = 19)। वह स्थूल पदार्थों का भोक्ता है। दूसरा चरण स्वप्नस्थानीय है। वह अन्तःप्रज्ञ – अव्यक्त विश्व रूप अधिष्ठान वाला है। इसके द्वारा अन्तःचक्षुओं से अदृश्य वस्तुओं का ज्ञान होता है। वह सूक्ष्म वस्तुओं का भोक्ता है। वह भी पहले चरण वाले की भाँति सात लोकों वाला तथा उन्नीस मुखों वाला ही होता है। वह ज्योतिर्मय है, वही 'तैजस' ब्रह्म का या आत्मा का दूसरा चरण है। जिस अवस्था में सोया हुआ मनुष्य किसी भी वस्तु की कामना नहीं करता और कोई स्वप्न भी नहीं देखता, ऐसी सुषुप्त अवस्था में जो एकाग्र वृत्तिवाला, प्रकृष्ट ज्ञानस्वरूप और आनन्दरूप ही है, और जो केवल आनन्द का ही भोगने वाला होता है, जिसका मुख चैतन्यमय ही है, वह प्राज्ञरूप उस ब्रह्म का तृतीय चरण है। यह ब्रह्म ही सबका ईश्वर है। यह सर्वज्ञ, अन्तर्यामी और संपूर्ण विश्व का कारण (मूल) है। यही सभी की (भूतों और प्राणियों की) उत्पत्ति-स्थिति-लय का कारण है।

नान्तःप्रज्ञं न बहिःप्रज्ञं नोभयतःप्रज्ञं न प्रज्ञं नाप्रज्ञं न प्रज्ञानघनमदृश्यमव्यवहार्यमग्राह्यमलक्षणमचिन्त्यमव्यपदेश्यमेकात्मप्रत्ययसारं प्रपञ्चोपशमं शान्तं शिवमद्वैतं चतुर्थं मन्यन्ते स आत्मा स विज्ञेयः ॥14॥

जो भीतर की या बाहर की प्रज्ञावाला नहीं है, जो दोनों ओर की प्रज्ञावाला नहीं है, जो ज्ञानरूप भी नहीं है और अज्ञानरूप भी नहीं है, जो प्रज्ञानघन अर्थात् प्रकृष्ट ज्ञानराशि भी नहीं है, जो ज्ञानेन्द्रियों से भी नहीं जाना जा सकता और कर्मेन्द्रियों से भी नहीं जाना जा सकता। जो अदृष्ट, अव्यवहार्य, अग्राह्य, लक्षणरहित, विचार से परे है, अकथनीय है, जो केवल अनुभव से ही जाना जा सकता है, जो संपूर्ण प्रपंचों का लयस्थान रूप है, जो शान्त, मंगलकर, अद्वैतरूप है, वही ब्रह्म का चतुर्थ चरण है। वही आत्मा और वही परमात्मा है, वही जानने योग्य है।

सदोज्ज्वलोऽविद्यातत्कार्यहीनः स्वात्मबन्धहरः सर्वदा द्वैतरहित आनन्दरूपः सर्वाधिष्ठानसन्मात्रो निरस्ताविद्यातमोमोहोऽहमेवेति सम्भाव्योऽहम् ॥15॥
ओं तत् सद्यत् परं ब्रह्म रामचन्द्रश्चिदात्मकः।
सोऽहमों तद्रामभद्रपरंज्योती रसोऽहमोम् ॥16॥
इत्यात्मानमादाय मनसा ब्रह्मणैकीकुर्यात् ॥17॥

सदैव उज्ज्वल, अविद्या और उसके कार्य से रहित, अपने आत्मा के बन्धन को दूर करने वाला, सर्वदा द्वैतरहित, आनन्दस्वरूप, सबके अधिष्ठानरूप, सन्मात्र, अविद्या (अज्ञानरूपी अन्धकार) को और मोह को हटा देने वाला मैं आत्मा ही परमात्मरूप से संभाव्य (मानने लायक) हूँ। ॐ तत् सत् रूप जो परब्रह्म है, जो चिन्मय श्री रामचन्द्र जी हैं, वही ओंकारस्वरूप मैं भी हूँ। रामभद्र रूप 'परं ज्योति' मैं ही हूँ। वह रसस्वरूप मैं ही हूँ। इस प्रकार अपने मन में ध्यान करते हुए साधक अपने आत्मा को राम के साथ एकीभूत (अद्वैत) कर दे।

सदा रामोऽहमस्मीति तत्त्वतः प्रवदन्ति ये।
न ते संसारिणो नूनं राम एव न संशयः ॥18॥
इत्युपनिषत्। य एवं वेद स मुक्तो भवतीति याज्ञवल्क्यः ॥19॥

इति द्वितीयः खण्डः।

जो कोई भी ब्राह्मण इस तारक का नित्य अध्ययन करता है, वह पापों को तैर जाता है, वह मृत्यु को तैर जाता है, वह ब्रह्महत्या के पाप को तैर जाता है, वह भ्रूणहत्या के पाप को तैर जाता है, वह वीरहत्या के पाप को पार करता है, वह सर्वहत्या के पाप को पार कर जाता है, वह संसार को तैर जाता है, वह सबको तैर जाता है, वह अविमुक्त का आश्रित हो जाता है, वह महान् होता है और वह अमरपद को प्राप्त होता है।

अत्रैते श्लोका भवन्ति—
अकाराक्षरसम्भूतः सौमित्रिर्विश्वभावनः।
उकाराक्षरसम्भूतः शत्रुघ्नस्तैजसात्मकः ॥5॥
प्राज्ञात्मकस्तु भरतो मकाराक्षरसम्भवः।
अर्धमात्रात्मको रामो ब्रह्मानन्दैकविग्रहः ॥6॥
श्रीरामसान्निध्यवशाज्जगदाधारकारिणी।
उत्पत्तिस्थितिसंहारकारिणी सर्वदेहिनाम् ॥7॥
सा सीता भवति ज्ञेया मूलप्रकृतिसंज्ञिका।
प्रणवत्वात् प्रकृतिरिति वदन्ति ब्रह्मवादिनः ॥8॥ इति ॥

इस विषय में ये श्लोक कहे गए हैं—ॐ कार के 'अ' कार अक्षर से 'विश्व'स्वरूप सौमित्री लक्ष्मणजी उत्पन्न हुए। 'तैजस' स्वरूप शत्रुघ्न 'उ'कार से उत्पन्न हुए। 'प्राज्ञ' स्वरूप भरत ने 'म' कार से जन्म लिया है और अर्धमात्रा स्वरूप राम तो ब्रह्मानन्दैकरस ही हैं। भगवान् श्रीराम के सान्निध्य के कारण जगत् के आधारस्वरूप तथा सभी प्राणियों की उत्पत्ति, स्थिति और विनाशकारिणी वह सीता उत्पन्न होती हैं। वह मूलप्रकृतिस्वरूपा हैं। राम के साथ अविनाभाव सम्बन्ध से जुड़ी होने के कारण वह भी प्रणव रामरूप है, इसीलिए वह मूल प्रकृति है उसकी कोई प्रकृति (कारण) नहीं हो सकती।

ओमित्येतदक्षरमिदं सर्वं तस्योपव्याख्यानं भूतं भव्यं भवष्यदिति सर्वमोंकार एव। यच्चान्यत्त्रिकालातीतं तदप्योंकार एव। सर्वं ह्येतद् ब्रह्म। अयमात्मा ब्रह्म। सोऽयमात्मा चतुष्पात् ॥9॥

यह सब कुछ 'ओम्' इस अक्षर स्वरूप ही है, इसका व्याख्यान यह है कि भूत, वर्तमान और भविष्य सब ओंकार ही है। और जो इन तीन कालों से परे है, वह भी तो ॐकार ही है। यह सब कुछ ब्रह्म ही है। यह जो हमारा आत्मा है, वह भी ब्रह्म है। वह आत्मा चार चरणों वाला है।

जागरितस्थानो बहिःप्रज्ञः सप्ताङ्ग एकोनविंशतिमुखः स्थूलभुग्वैश्वानरः प्रथमः पादः ॥10॥
स्वप्नस्थानोऽन्तःप्रज्ञः सप्ताङ्ग एकोनविंशतिमुखः प्रविविक्तभुक् तैजसो द्वितीयः पादः ॥11॥
यत्र सुप्तो न कञ्चन कामं कामयते न कञ्चन स्वप्नं पश्यति तत्सुषुप्तम्।
सुषुप्तस्थान एकीभूतः प्रज्ञानघन एवानन्दमयो ह्यानन्दभुक् चेतोमुखः प्राज्ञस्तृतीयः पादः ॥12॥
एष सर्वेश्वर एष सर्वज्ञ एषोऽन्तर्याम्येष योनिः सर्वस्य प्रभवाप्ययौ हि भूतानाम् ॥13॥

पहला चरण जाग्रत् स्थान का—स्थूलविश्व के स्थान में रहने वाला बाहर के पदार्थों का बोध कराने

वाला है। वह सात अंगों से (सात लोकों से या किरणों से) युक्त है। उसके उन्नीस मुख हैं (दस इन्द्रियाँ + पाँच प्राण + अन्तःकरणचतुष्टय = 19)। वह स्थूल पदार्थों का भोक्ता है। दूसरा चरण स्वप्नस्थानीय है। वह अन्तःप्रज्ञ – अव्यक्त विश्व रूप अधिष्ठान वाला है। इसके द्वारा अन्तःचक्षुओं से अदृश्य वस्तुओं का ज्ञान होता है। वह सूक्ष्म वस्तुओं का भोक्ता है। वह भी पहले चरण वाले की भाँति सात लोकों वाला तथा उन्नीस मुखों वाला ही होता है। वह ज्योतिर्मय है, वही 'तैजस' ब्रह्म का या आत्मा का दूसरा चरण है। जिस अवस्था में सोया हुआ मनुष्य किसी भी वस्तु की कामना नहीं करता और कोई स्वप्न भी नहीं देखता, ऐसी सुषुप्त अवस्था में जो एकाग्र वृत्तिवाला, प्रकृष्ट ज्ञानस्वरूप और आनन्दरूप ही है, और जो केवल आनन्द का ही भोगने वाला होता है, जिसका मुख चैतन्यमय ही है, वह प्राज्ञरूप उस ब्रह्म का तृतीय चरण है। यह ब्रह्म ही सबका ईश्वर है। यह सर्वज्ञ, अन्तर्यामी और संपूर्ण विश्व का कारण (मूल) है। यही सभी की (भूतों और प्राणियों की) उत्पत्ति-स्थिति-लय का कारण है।

नान्तःप्रज्ञं न बहिःप्रज्ञं नोभयतःप्रज्ञं न प्रज्ञं नाप्रज्ञं न प्रज्ञानघन-मदृश्यमव्यवहार्यमग्राह्यमलक्षणमचिन्त्यमव्यपदेश्यमेकात्मप्रत्ययसारं प्रपञ्चोपशमं शान्तं शिवमद्वैतं चतुर्थं मन्यन्ते स आत्मा स विज्ञेयः ॥14॥

जो भीतर की या बाहर की प्रज्ञावाला नहीं है, जो दोनों ओर की प्रज्ञावाला नहीं है, जो ज्ञानरूप भी नहीं है और अज्ञानरूप भी नहीं है, जो प्रज्ञानघन अर्थात् प्रकृष्ट ज्ञानराशि भी नहीं है, जो ज्ञानेन्द्रियों से भी नहीं जाना जा सकता और कर्मेन्द्रियों से भी नहीं जाना जा सकता। जो अदृष्ट, अव्यवहार्य, अग्राह्य, लक्षणरहित, विचार से परे है, अकथनीय है, जो केवल अनुभव से ही जाना जा सकता है, जो संपूर्ण प्रपंचों का लयस्थान रूप है, जो शान्त, मंगलकर, अद्वैतरूप है, वही ब्रह्म का चतुर्थ चरण है। वही आत्मा और वही परमात्मा है, वही जानने योग्य है।

सदोज्ज्वलोऽविद्यातत्कार्यहीनः स्वात्मबन्धहरः सर्वदा द्वैतरहित आनन्द-रूपः सर्वाधिष्ठानसन्मात्रो निरस्ताविद्यातमोमोहोऽहमेवेति सम्भाव्यो-ऽहम् ॥15॥
ओं तत् सद्यत् परं ब्रह्म रामचन्द्रश्चिदात्मकः।
सोऽहमों तद्रामभद्रपरंज्योती रसोऽहमोम् ॥16॥
इत्यात्मानमादाय मनसा ब्रह्मणैकीकुर्यात् ॥17॥

सदैव उज्ज्वल, अविद्या और उसके कार्य से रहित, अपने आत्मा के बन्धन को दूर करने वाला, सर्वदा द्वैतरहित, आनन्दस्वरूप, सबके अधिष्ठानरूप, सन्मात्र, अविद्या (अज्ञानरूपी अन्धकार) को और मोह को हटा देने वाला मैं आत्मा ही परमात्मरूप से संभाव्य (मानने लायक) हूँ। ॐ तत् सत् रूप जो परब्रह्म है, जो चिन्मय श्री रामचन्द्र जी हैं, वही ओंकारस्वरूप मैं भी हूँ। रामभद्र रूप 'परं ज्योति' मैं ही हूँ। वह रसस्वरूप मैं ही हूँ। इस प्रकार अपने मन में ध्यान करते हुए साधक अपने आत्मा को राम के साथ एकीभूत (अद्वैत) कर दे।

सदा रामोऽहमस्मीति तत्त्वतः प्रवदन्ति ये।
न ते संसारिणो नूनं राम एव न संशयः ॥18॥
इत्युपनिषत्। य एवं वेद स मुक्तो भवतीति याज्ञवल्क्यः ॥19॥

इति द्वितीयः खण्डः।

जो साधक तत्त्व को समझते हुए सर्वदा 'मैं राम ही हूँ'—ऐसा कहते हैं, सत्य कहा जाए तो वे संसारी हैं ही नहीं। निःसंदेह रूप से वे स्वयं राम ही हैं, ऐसा समझना चाहिए। यह ब्रह्ममात्र पर्यवसायी उपनिषद् है। जो इसे इस प्रकार जानता है, वह मुक्त हो जाता है—ऐसा याज्ञवल्क्य ने कहा।

यहाँ दूसरा खण्ड समाप्त होता है।

❀

तृतीयः खण्डः

अथ हैनमत्रिः पप्रच्छ याज्ञवल्क्यं—य एषोऽनन्तोऽव्यक्तपरिपूर्णानन्दैक-
चिदात्मा तं कथमहं विजानीयामिति ॥1॥
स होवाच याज्ञवल्क्यः—सोऽविमुक्त उपास्यो य एषोऽनन्तोऽव्यक्त
आत्मा सोऽविमुक्ते प्रतिष्ठित इति ॥2॥
सोऽविमुक्तः कस्मिन् प्रतिष्ठित इति ॥3॥
वरणायां नास्यां च मध्ये प्रतिष्ठित इति ॥4॥
का वै वरणा का च नासीति ॥5॥
जन्मान्तरकृतान् सर्वान् दोषान् वारयतीति तेन वरणा भवतीति।
सर्वानिन्द्रियकृतान् पापान् नाशयतीति तेन नासी भवतीति ॥6॥

अब अत्रि ने याज्ञवल्क्य से पूछा—'जो यह अनन्त, अव्यक्त, परिपूर्ण, आनन्दस्वरूप, अद्वैत चिदात्मा है, उसे मैं किस तरह जान सकता हूँ ?' तब याज्ञवल्क्य ने कहा—'उस 'अविमुक्त' की उपासना करनी चाहिए। यह जो अनन्त और अव्यक्त आत्मा है, वह उस अविमुक्त में ही प्रतिष्ठित है।' तब अत्रि ने पूछा—'वह 'अविमुक्त' किसमें प्रतिष्ठित हुआ है ?' इस पर याज्ञवल्क्य बोले—'वह 'वरणा' और 'नसी' के बीच प्रतिष्ठित हुआ है।' तब अत्रि ने पुनः पूछा—'वरणा कौन है और नासी कौन है ?' तो याज्ञवल्क्य बोले—'जन्मजन्मान्तर में किए हुए सभी दोषों का वारण करती है इसलिए वह वारणा कहलाती है, और इन्द्रियों के द्वारा किए गए सभी पापों का वह नाश करती है, इसलिए वह 'नासी' कहलाती है।

कतमं चास्य स्थानं भवतीति ॥7॥
भ्रुवोर्घ्राणस्य च यः सन्धिः, स एष द्यौर्लोकस्य परस्य च सन्धि-
र्भवतीति। एतद्वै सन्धिं सन्ध्यां ब्रह्मविद उपासत इति। सोऽविमुक्त
उपास्य इति। सोऽविमुक्तं ज्ञानमाचष्टे यो वा एतदेवं वेद ॥8॥

दोनों भौंहों की और नासिका की जहाँ पर सन्धि होती है, वही उसका स्थान है। वही ब्रह्मकपालस्थानीय द्युलोक की तथा चुबुकस्थानीय भूलोक की सन्धि होती है। ब्रह्मज्ञानी लोग इसी द्युलोक और भूर्लोक की सन्धि की सन्ध्या समय में भ्रूघ्राण के बीच उपासना करते हैं। उसी 'अविमुक्त' की उपासना करनी चाहिए। जो विद्वान् इस प्रकार 'अविमुक्त' की यथार्थता को जानता है, वह अपने भक्तों को इस अविमुक्त ज्ञान का (अविमुक्त तत्त्व के साक्षात्कार के हेतुरूप ज्ञान का) उपदेश करता है (निर्विशेष आत्मा का=तारक ज्ञान का उपदेश करता है) और स्वयं भी निर्विशेष ब्रह्म हो जाता है।

अथ तं प्रत्युवाच—
श्रीरामस्य मनुं काश्यां जजाप वृषभध्वजः।

मन्वन्तरसहस्रैस्तु जपहोमार्चनादिभिः ॥9॥
ततः प्रसन्नो भगवान् श्रीरामः प्राह शङ्करम्।
वृणीष्व यदभीष्टं तद्दास्यामि परमेश्वर ॥10॥ इति ॥

याज्ञवल्क्य ने अत्रि से पुनः यह कहा—'काशीपुरी में भगवान् वृषभध्वज शिव ने श्रीराम के इस मन्त्र का जाप किया था। उन्होंने हजार मन्वन्तर काल तक जप-होम-पूजा से यह जाप किया, तब प्रसन्न होकर भगवान् श्रीराम शंकर से बोले—'हे परमेश्वर ! अपना मनोवांछित वर माँग लीजिए, मैं आपको वह दूँगा।'

अथ सच्चिदानन्दात्मानं श्रीराममीश्वरः पप्रच्छ—
मणिकर्ण्यां मम क्षेत्रे गङ्गायां वा तटे पुनः।
म्रियते देहि तज्जन्तोर्मुक्तिं नातो वरान्तरम् ॥11॥ इति।
अथ स होवाच श्रीरामः—
क्षेत्रेऽस्मिंस्तव देवेश यत्र कुत्रापि वा मृताः।
कृमिकीटादयोऽप्याशु मुक्ताः सन्तु न चान्यथा ॥12॥
अविमुक्ते तव क्षेत्रे सर्वेषां मुक्तिसिद्धये।
अहं संनिहितस्तत्र पाषाणप्रतिमाऽऽदिषु ॥13॥

तब सच्चिदानन्दस्वरूप श्रीराम से ईश्वर (शिव) ने कहा—'मेरे मणिकर्णिका के क्षेत्र में, गंगा के तट पर जो कोई प्राणी मृत्यु को प्राप्त करे, उसको मुक्ति दे दीजिए। और कोई वरदान मुझे नहीं चाहिए।' तब श्रीराम ने कहा—'हे देवेश ! इस क्षेत्र में जहाँ-कहीं भी कीड़े-मकोड़े भी मरेंगे तो वे शीघ्र ही मुक्त हो जाएँगे। उनकी कोई दूसरी स्थिति नहीं होगी। आपके इस अविमुक्त क्षेत्र में सभी लोगों की मुक्ति की सिद्धि के लिए मैं वहाँ की पत्थर की मूर्तियों में भी संनिहित ही रहूँगा।'

क्षेत्रेऽस्मिन् योऽर्चयेद्भक्त्या मन्त्रेणानेन मां शिव।
ब्रह्महत्यादिपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ॥14॥
त्वत्तो वा ब्रह्मणो वाऽपि ये लभन्ते षडक्षरम्।
जीवन्तो मन्त्रसिद्धाः स्युर्मुक्ता मां प्राप्नुवन्ति ते ॥15॥
मुमूर्षोर्दक्षिणे कर्णे यस्य कस्यापि वा स्वयम्।
उपदेक्ष्यसि मन्मन्त्रं स मुक्तो भविता शिव ॥16॥
इति श्रीरामचन्द्रेणोक्तम्।

इति तृतीयः खण्डः।

'हे शिव ! इस क्षेत्र में षडक्षर के द्वारा जो भी मेरी पूजा करेगा, उसे मैं ब्रह्महत्यादि पापों से मुक्त कर दूँगा, आपको इस विषय में चिन्ता करने की आवश्यकता नहीं है। आपसे या ब्रह्माजी से जो लोग इस षडक्षर मन्त्र को प्राप्त करेंगे वे जीते जी मन्त्रसिद्ध हो जाएँगे और मुक्त होकर मुझे प्राप्त होंगे। किसी भी मरणासन्न पुरुष के दाहिने कान में यदि आप मेरे इस मन्त्र का उपदेश करेंगे तो हे शिव ! वह मुक्त हो जाएगा।'—ऐसा श्रीरामचन्द्र ने कहा।

यहाँ तृतीय खण्ड पूरा हुआ।

चतुर्थः खण्डः

अथ हैनं भरद्वाजो याज्ञवल्क्यमुवाच—अथ कैर्मन्त्रैः स्तुतः श्रीरामचन्द्रः प्रीतो भवति। स्वात्मानं दर्शयति तान्नो ब्रूहि भगवन्निति।
स होवाच याज्ञवल्क्यः—पूर्वं सत्यलोके श्रीरामचन्द्रेणैवं शिक्षितो ब्रह्मा पुनरेतया गाथया नमस्करोति—
विश्वरूपधरं विष्णुं नारायणमनामयम्।
पूर्णानन्दैकविज्ञानं परब्रह्मस्वरूपिणम्॥
मनसा संस्मरन् ब्रह्मा तुष्टाव परमेश्वरम्॥
ॐ यो ह वै श्रीरामचन्द्रः स भगवानद्वैतपरमानन्द आत्मा यत्परं ब्रह्म भूर्भुवः सुवस्तस्मै वै नमो नमः॥1॥
(यथा प्रथममन्त्रोक्तावाद्यन्तौ तथा सर्वमन्त्रेषु ज्ञातव्यौ)

अब भरद्वाज ने याज्ञवल्क्य से कहा—'ये रामचन्द्र किन-किन मन्त्रों से स्तुति करने पर प्रसन्न होते हैं? और अपने स्वरूप को प्रकट करते हैं? हे भगवन्! वह आप हमें बताइए।' तब याज्ञवल्क्य ने कहा—प्राचीन समय में श्रीरामचन्द्रजी के द्वारा उपदेश दिए गए ब्रह्माजी ने इस गाथा से उनकी स्तुति की है—"विश्व का रूप धारण करने वाले निष्कलंक, पूर्णानन्दस्वरूप, विज्ञानमात्र, परब्रह्मरूप विष्णु का स्मरण करते हुए ब्रह्मा ने उन परमेश्वर को प्रसन्न किया—ॐ जो यह रामचन्द्र हैं, वह भगवान् अद्वैत परमानन्द आत्मा है जो परब्रह्म है, ॐ भूर्भुवः स्वः उन्हें नमस्कार हो, नमस्कार हो।" (इसी प्रकार के अब आगे दूसरे से लेकर अड़तालीस मन्त्रों तक ब्रह्माजी की स्तुति-गाथा है। इन मन्त्रों में आदिभाग और अन्तभाग तो प्रथम मन्त्र की तरह ही हैं। यथा—)

.....यश्चाखण्डैकरसात्मा..... ॥2॥ .....यच्च ब्रह्मानन्दामृतम्..... ॥3॥ .....यत्तारकं ब्रह्म..... ॥4॥ .....यो ब्रह्मा विष्णुर्महेश्वरो यः सर्वदेवात्मा..... ॥5॥ .....ये सर्वे वेदाः साङ्गाः सशाखाः सेतिहासपुराणाः..... ॥6॥ .....यो जीवान्तरात्मा..... ॥7॥ .....यः सर्वभूतान्तरात्मा..... ॥8॥ .....ये देवासुरमनुष्यादिभावाः..... ॥9॥ .....ये मत्स्यकूर्माद्यवताराः.... ॥10॥ ....योऽन्तःकरणचतुष्टयात्मा..... ॥11॥ .....यश्च प्राणः..... ॥12॥ .....यश्च यमः..... ॥13॥ .....यश्चान्तकः..... ॥14॥ .....यश्च मृत्युः..... ॥15॥ .....यच्चामृतम्..... ॥16॥ .....यानि च पञ्च महाभूतानि..... ॥17॥ .....यः स्थावरजङ्गमात्मा..... ॥18॥ .....ये पञ्चाग्नयः.... ॥19॥ ....याः सप्त महाव्याहृतयः.... ॥20॥ ....या विद्या.... ॥21॥ .....या सरस्वती..... ॥22॥ .....या लक्ष्मीः..... ॥23॥ .....या गौरी..... ॥24॥ .....या जानकी.... ॥25॥ .....यच्च त्रैलोक्यम्..... ॥26॥ .....यः सूर्यः..... ॥27॥ .....यः सोमः..... ॥28॥ .....यानि च नक्षत्राणि..... ॥29॥ .....ये च नव ग्रहाः..... ॥30॥ ....ये चाष्टौ लोकपालाः..... ॥31॥ .....ये चाष्टौ वसवः..... ॥32॥ .....ये चैकादश रुद्राः..... ॥33॥ .....ये च द्वादशादित्याः..... ॥34॥ .....यच्च भूतं भव्यं भविष्यत्.... ॥35॥ ....यद्ब्रह्माण्डस्य बहिर्व्याप्तम्.... ॥36॥

.....यो हिरण्यगर्भः..... ॥37॥ .....या प्रकृतिः..... ॥38॥ .....यश्चोंकारः..... ॥39॥ .....याश्चतस्रोऽर्धमात्राः..... ॥40॥ .....यः परमपुरुषः..... ॥41॥ .....यश्च महेश्वरः..... ॥42॥ .....यश्च महादेवः..... ॥43॥ .....य ॐ नमो भगवते वासुदेवाय..... ॥44॥ .....यो महाविष्णुः..... ॥45॥ .....यः परमात्मा..... ॥46॥ .....यो विज्ञानात्मा..... ॥47॥

ब्रह्मा जी ने पारमार्थिक रूप से कैवल्य रूप होते हुए उस परब्रह्म की सगुण रूप में—भूः भुवः स्वः = त्रैलोक्यरूप देहधारी के रूप में भी स्तुति करके सविशेष और निर्विशेष दोनों को बार-बार नमस्कार करते हुए जो त्रैलोक्यशरीरधारी विराट्, निष्कलंक, पूर्णानन्दस्वरूप, केवलविज्ञान-रूप, की स्तुति की कि वह ॐ स्वरूप भगवान् रामचन्द्र अद्वैत परमानन्दस्वरूप आत्मा परब्रह्म अखण्डैकरसात्मा, ब्रह्मानन्दामृत, तारकब्रह्म, ब्रह्मा-विष्णु-महेशरूप, [illegible] इतिहास-पुराणादि सर्व वेदरूप, जीवों के अन्तरात्मा, सभी [illegible] अस्तित्वरूप, मत्स्यकूर्मादि अवताररूप, अन्तःकरणचतुष्टय के आत्मरूप, प्राण, यम, अन्तक, [illegible] मृत्यु, अमृत, जो महाभूत और स्थावर जंगम हैं, उनके आत्मा, पाँच अग्नि, सात प्रसिद्ध व्याहृतियाँ, विद्या, सरस्वती, लक्ष्मी, गौरी, जानकी, त्रैलोक्य, सूर्य, चन्द्र, नक्षत्रगण, नवग्रह, आठ लोकपाल, आठ वसु, ग्यारह रुद्र, बारह आदित्य, भूत-वर्तमान-भविष्यकाल, ब्रह्माण्ड के बाहर भी जो कुछ व्याप्त है वह, हिरण्यगर्भ, प्रकृति, ओंकार, चार अर्धमात्राएँ, परमपुरुष, महेश्वर, महादेव हैं और जो ॐ नमो भगवते वासुदेवाय है। जो महाविष्णु, परमात्मा, विज्ञानात्मा आदि सब कुछ हैं।

ॐ यो ह वै श्रीरामचन्द्रः स भगवानद्वैतपरमानन्द आत्मा। यः सच्चिदानन्दाद्वैतैकचिदात्मा भूर्भुवः सुवस्तस्मै वै नमोः नमः॥इति॥ तान् ब्रह्माऽब्रवीत्। सप्तचत्वारिंशन्मन्त्रैर्नित्यं देवं स्तुवध्वम्। ततो देवः प्रीतो भवति। स्वात्मानं दर्शयति। तस्माद्य एतैर्मन्त्रैर्नित्यं देवं स्तौति स देवं पश्यति सोऽमृतत्वं च गच्छतीति महोपनिषत्॥48॥

इति चतुर्थः खण्डः।

जो यह रामचन्द्र हैं, वह भगवान् अद्वैतरूप परमानन्दस्वरूप आत्मा ही हैं। जो सच्चिदानन्द अद्वैत चैतन्यस्वरूप हैं, वही त्रिभुवन (भू भुवः स्वः) के रूप में हुए हैं। उन्हीं को बार-बार नमस्कार है—ऐसा उन देवों से ब्रह्मा जी ने कहा। सदैव इन उपर्युक्त सैंतालीस मन्त्रों से उस देव की स्तुति करो। इससे देव प्रसन्न होंगे और अपने स्वरूप को बताएँगे। इसलिए जो कोई भी इन मन्त्रों से उन देव की स्तुति करेगा, वह देव का साक्षात्कार करेगा एवं अमृतत्व को प्राप्त करेगा। इस तरह यह महोपनिषत् पूरी हुई।

यहाँ चौथा खण्ड पूरा हुआ।

❋

पञ्चमः खण्डः

अथ हैनं भरद्वाजो याज्ञवल्क्यमुपसमेत्योवाच—श्रीराममन्त्रराजस्य माहात्म्यमनुब्रूहीति॥1॥

अब भारद्वाज ने याज्ञवल्क्य के पास जाकर कहा—'श्रीराममन्त्रराज का माहात्म्य मुझे बताइए।'

स होवाच याज्ञवल्क्यः—
स्वप्रकाशः परंज्योतिः स्वानुभूत्येकचिन्मयः।
तदेव रामचन्द्रस्य मनोराद्यक्षरः स्मृतः ॥2॥
अखण्डैकरसानन्दस्तारकब्रह्मवाचकः।
रामायेति सुविज्ञेयः सत्यानन्दचिदात्मकः ॥3॥
नमःपदं सुविज्ञेयं पूर्णानन्दैकविग्रहम्।
सदा नमन्ति हृदये सर्वे देवा मुमुक्षवः ॥4॥ इति।

तब याज्ञवल्क्य ने कहा—जो स्वप्रकाश है, जो ज्योतिस्वरूप है, जो स्वानुभूति से ही गम्य है, जो चिन्मय है वही श्रीरामचन्द्र के षडक्षर मन्त्र के आद्य बीजमन्त्र का अर्थ होता है। अब 'रामाय' इन तीन अक्षरों का यह अर्थ है कि जो अखण्ड, एकरस, आनन्दरूप है और तारक ब्रह्म का वाचक है, वही सच्चिदानन्द रूप अर्थ 'रामाय' इन तीन अक्षरों का होता है, ऐसा जानना चाहिए। और जो 'नमः' पद है, उसे पूर्णानन्द स्वरूप ही जानना चाहिए। मुक्ति को चाहने वाले सभी देव भी ऐसे स्वरूप को हृदय में रखकर सदा नमस्कार करते हैं।

य एतं मन्त्रराजं श्रीरामचन्द्रषडक्षरं नित्यमधीते। सोऽग्निपूतो भवति। स वायुपूतो भवति। स आदित्यपूतो भवति। स सोमपूतो भवति। स ब्रह्मपूतो भवति। स विष्णुपूतो भवति। स रुद्रपूतो भवति। स सर्वैर्देवैर्ज्ञातो भवति। स सर्वक्रतुभिरिष्टवान् भवति। तेनेतिहासपुराणानां रुद्राणां शतसहस्राणि जप्तानि फलानि भवन्ति। श्रीरामचन्द्रमनुस्मरणेन गायत्र्याः शतसहस्राणि जप्तानि फलानि भवन्ति। प्रणवानामयुतकोटि-जप्ता भवन्ति। दश पूर्वान् दशोत्तरान् पुनाति। स पङ्क्तिपावनो भवति। स महान् भवति। सोऽमृतत्वं च गच्छति ॥5॥

जो साधक श्रीराम के इस षडक्षरमन्त्र को सदैव पढ़ता है, वह अग्नि जैसा पवित्र हो जाता है, वह वायु जैसा पवित्र हो जाता है, वह सूर्य जैसा पवित्र हो जाता है, वह चन्द्र जैसा पवित्र हो जाता है, वह ब्रह्मा जैसा पवित्र हो जाता है, वह विष्णु जैसा पवित्र हो जाता है, वह रुद्र जैसा पवित्र हो जाता है, वह सभी देवों के द्वारा जाना जाता है, वह सभी यज्ञों का करने वाला हो जाता है, उसको पुराणों और इतिहासों में कहे गए रुद्र के एक लाख मन्त्रजप के फल मिल जाते हैं। श्रीराम के इस षडक्षर मन्त्र के स्मरण से गायत्री-मन्त्र के एक लाख मन्त्रजाप के फल मिलते हैं। अयुत कोटि ओंकार जप का भी इससे फल मिल जाता है। यह मन्त्र साधक की पहले की दस और बाद की दस पीढ़ियों को भी पवित्र कर देता है। इसका साधक पंक्तिपावन—अपने सहपन्थियों को पवित्र करता है, वह महान् बन जाता है। वह अमृतत्व को प्राप्त करता है।

अत्रैते श्लोका भवन्ति—
गाणपत्येषु शैवेषु शाक्तसौरेष्वभीष्टदः।
वैष्णवेष्वपि सर्वेषु राममन्त्रः फलाधिकः ॥6॥
गाणपत्यादिमन्त्रेषु कोटिकोटिगुणाधिकः।
मन्त्रस्तेष्वप्यनायासफलदोऽयं षडक्षरः ॥7॥

षडक्षरोऽयं मन्त्रः स्यात् सर्वाघौघनिवारणः।
मन्त्रराज इति प्रोक्तः सर्वेषामुत्तमोत्तमः ॥8॥
कृतं दिने यद्दुरितं पक्षमासर्तुवर्षजम्।
सर्वं दहति निःशेषं तूलाचलमिवानलः ॥9॥

गाणपत्यमन्त्रों, शैवमन्त्रों, शाक्तमन्त्रों, सूर्यमन्त्रों, वैष्णवमन्त्रों और सभी अन्य मन्त्रों में भी यह षडक्षर राममन्त्र अभीष्ट फल और अधिक फल देने वाला है। गाणपत्य आदि मन्त्रों में करोड़ों-करोड़ों गुण वाले मन्त्र तो होते हैं, परन्तु उन ऐसे मन्त्रों में भी यह षडक्षर राममन्त्र तो अनायास ही फल देने वाला मन्त्र है। यह षडक्षर मन्त्र पापों के सर्वसमूहों का निवारण कर देने वाला है। सभी मन्त्रों में उत्तमोत्तम यह षडक्षर मन्त्र मन्त्रों का राजा कहा गया है। जो कुछ भी पाप दिन में, पक्ष में, मास में, ऋतु में या वर्ष में किया गया हो, उस पापसमूह को, जैसे रूई के पहाड़ को आग जला देती है, वैसे ही यह मन्त्र जला देता है।

ब्रह्महत्यासहस्राणि ज्ञानाज्ञानकृतानि च।
स्वर्णस्तेयसुरापानगुरुतल्पायुतानि च ॥10॥
कोटिकोटिसहस्राणि उपपातकजान्यपि।
सर्वाण्यपि प्रणश्यन्ति राममन्त्रानुकीर्तनात् ॥11॥
भूतप्रेतपिशाचाद्याः कूश्माण्डब्रह्मराक्षसाः।
दूरादेव प्रधावन्ति राममन्त्रप्रभावतः ॥12॥
ऐहलौकिकमैश्वर्यं स्वर्गाद्यं पारलौकिकम्।
कैवल्यं भगवत्त्वं च मन्त्रोऽयं साधयिष्यति ॥13॥

जाने-अनजाने किए गए जो पाप हैं उनका और हजारों ब्रह्महत्या के पापों का तथा सुवर्ण की चोरी, सुरापान, गुरु की शय्या पर सोना—आदि कार्यों से उत्पन्न हुए पापों का और अन्यान्य लाखों-करोड़ों उपपातकों का भी इस षडक्षर राममन्त्र के जप के द्वारा नाश हो जाता है। इस मन्त्र-जाप से श्रीरामचन्द्र के प्रभाव से भूत, प्रेत, पिशाच, कूष्माण्ड और ब्रह्मराक्षस दूर से ही भाग जाते हैं। ऐहलौकिक ऐश्वर्य और स्वर्ग आदि पारलौकिक सुख तथा भगवत्ता तथा कैवल्य को भी यह मन्त्र सिद्ध कर सकता है।

ग्राम्यारण्यपशुघ्नत्वं संचितं दुरितं च यत्।
मद्यपानेन यत्पापं तदप्याशु विनाशयेत् ॥14॥
अभक्ष्यभक्षणोत्पन्नं मिथ्याज्ञानसमुद्भवम्।
सर्वं विलीयते राममन्त्रस्यास्यैव कीर्तनात् ॥15॥
श्रोत्रियस्वर्णहरणाद्यच्च पापमुपस्थितम्।
रत्नादेश्चापहारेण तदप्याशु विनाशयेत् ॥16॥
ब्राह्मणं क्षत्रियं वैश्यं शूद्रं हत्वा च किल्बिषम्।
सञ्चिनोति नरो मोहाद्यद्यत्तदपि नाशयेत् ॥17॥

ग्राम्य (पालतू) या अरण्य के पशुओं की हत्या से इकट्ठा किया गया पाप और मद्यपान का पाप भी यह मन्त्र सर्वथा नष्ट कर देता है। अभक्ष्य के भक्षण से उत्पन्न हुआ पाप और मिथ्याज्ञान से उत्पन्न हुआ पाप—यह सब इस राममन्त्र के कीर्तन से नष्ट हो जाता है। श्रोत्रिय (शास्त्रज्ञ) का धन चुराने से

पुरुषसूक्त के 'एतावानस्य' इत्यादि तीसरे मन्त्र द्वारा विष्णु को मोक्ष प्रदान करने वाले लक्षण को बताया गया है और साथ ही हरि के वैभव को दर्शाया गया है। इन्हीं मन्त्रों के द्वारा (इन तीन मन्त्रों के समूह द्वारा) विष्णु भगवान् का चतुर्व्यूह बताया गया है। इनमें 'त्रिपादूर्ध्व' इत्यादि मन्त्र के द्वारा भगवान् के चार व्यूहों में से 'अनिरुद्ध' व्यूह का वैभव बताया गया है।

तस्माद्विराडित्यनया पादनारायणाद्धरेः।
प्रकृतेः पुरुषस्यापि समुत्पत्तिः प्रदर्शिता ॥5॥
यत्पुरुषेणेत्यनया सृष्टियज्ञः समीरितः।
सप्तास्यासन्परिधयः समिधश्च समीरिताः ॥6॥
तं यज्ञमिति मन्त्रेण सृष्टियज्ञः समीरितः।
अनेनैव च मन्त्रेण मोक्षश्च समुदीरितः ॥7॥
तस्मादिति च मन्त्रेण जगत्सृष्टिः समीरिताः।
वेदाहमिति मन्त्राभ्यां वैभवं कथितं हरेः ॥8॥
यज्ञेनेत्युपसंहारः सृष्टेर्मोक्षस्य चेरितः।
य एवमेतज्जानाति स हि मुक्तो भवेदिति ॥9॥

इति प्रथमः खण्डः।

पुरुषसूक्त के 'तस्माद्विराडजायत' इत्यादि पाँचवें मन्त्र में पादविभूतिरूप भगवान् नारायण हरि के द्वारा स्वाश्रयभूत प्रकृति तथा अधिपुरुष – जीव का आविष्कार बताया गया है। फिर इसी सूत्र के 'यत्पुरुषेण देवा हविषा' इत्यादि मन्त्र के द्वारा सृष्टिस्वरूप यज्ञ का वर्णन किया गया है। और 'सप्तास्यासन्परिधयः' इत्यादि मन्त्र के द्वारा इस सृष्टिरूप यज्ञ के लिए समिधों का प्रतिपादन किया गया है। इसके बाद, 'तं यज्ञं' इत्यादि मन्त्र के द्वारा इसी सृष्टियज्ञ का वर्णन किया गया है, और इसी मन्त्र के द्वारा मोक्ष का निर्देश भी किया गया है। इस पुरुषसूक्त के 'तस्माद्यज्ञात्' इत्यादि सात मन्त्रों के द्वारा इस समग्र सृष्टि की उत्पत्ति का वर्णन किया गया है। और बाद के 'वेदाहमेतं' आदि दो मन्त्रों से भगवान् हरि की कीर्ति-गाथा कही गई है। फिर 'यज्ञेन यज्ञमयजन्त' इस मन्त्र के द्वारा सृष्टि का उपसंहार किया गया है और साथ-ही-साथ मोक्ष का भी उपसंहारात्मक वर्णन किया गया है। इस तरह कोई भी मनुष्य यदि पुरुषसूक्त को उपर्युक्त ज्ञान के साथ आत्मसात् करता है, तो वह अवश्य ही मुक्ति प्राप्त कर लेता है।

यहाँ प्रथम खण्ड समाप्त होता है।

द्वितीयः खण्डः

अथ तथा मुद्गलोपनिषदि पुरुषसूक्तस्य वैभवं विस्तरेण प्रतिपादितम्। वासुदेव इन्द्राय भगवज्ज्ञानमुपदिश्य पुनरपि सूक्ष्मश्रवणाय प्रणतायेन्द्राय [illegible] ॥1॥

[illegible] (प्रथम खण्ड में) वर्णित [illegible]

मतिदुर्ज्ञेयं विषयं विहाय क्लेशादिभिः संक्लिष्टदेवादिजिहीर्षया सहस्र-कलावयवकल्याणं दृष्टमात्रेण मोक्षदं वेषमाददे। तेन वेषेण भूम्यादि-लोकं व्याप्यानन्तयोजनमत्यतिष्ठत् ॥2॥

इस पुरुषसूक्त के दो खण्ड किए गए हैं। इसमें जिस विराट् पुरुष को कहा गया है, वह नाम, रूप और ज्ञान से अतीत होने के कारण उनका विषय नहीं है और संसारी जीवों के लिए तो अत्यन्त दुर्विज्ञेय है। इसलिए उसने अपनी उस दुर्विज्ञेयता को छोड़कर क्लेशादि में पड़े हुए उन देवों आदि की (और अन्य प्राणियों की) भलाई के (श्रेय के) लिए अनेक कलाओं वाला रूप धारण किया। यह अवयवादि वाला रूप दर्शनमात्र से ही मोक्ष देने वाला है। उसी रूप (वेष) वह पृथिवी आदि लोकों में व्याप्त होकर अनन्त योजनों तक विस्तृत हो गया।

पुरुषो नारायणो भूतं भव्यं भविष्यच्चासीत्। स एष सर्वेषां मोक्षदश्चा-सीत्। स च सर्वस्मान्महिम्नो ज्यायान्। तस्मान्न कोऽपि ज्यायान् ॥3॥ महापुरुष आत्मानं चतुर्धा कृत्वा त्रिपादेन परमे व्योम्नि चासीत्। इतरेण चतुर्थेनानिरुद्धनारायणेन विश्वान्यासन् ॥4॥

इस सृष्टि की उत्पत्ति के पहले भगवान् नारायण ही केवल भूतकाल, वर्तमान काल और भविष्यकाल के रूप में अवस्थित थे और वही सबको मोक्ष प्रदान करने वाले भी थे (हैं)। वही अपनी महिमा से सबसे महान् हैं। उनसे अधिक विशिष्ट तो कोई भी नहीं है। उन परमपुरुष परमात्मा ने अपने आपको चार भागों में बाँटकर उसके तीन भागों को परम व्योम में रखा (यहाँ ऐसा अर्थ भी लिया जा सकता है कि नारायण ने चतुर्व्यूहों में अपने को विभक्त करके तीन भागों को वैकुण्ठ में रखा) और चौथे भाग से (अन्य अर्थ में अनिरुद्ध से) ये सब लोक उत्पन्न हुए। (वैकुण्ठ में अवस्थित तीन भाग—वासुदेव, प्रद्युम्न और संकर्षण हैं—यह अन्य अर्थ भी है)।

स च पादनारायणो जगत्स्रष्टुं प्रकृतिमजनयत्। स समृद्धकायः सन्सृष्टिकर्म न जज्ञिवान्। सोऽनिरुद्धनारायणस्तस्मै सृष्टिमुपादिशत्। ब्रह्मंस्तवेन्द्रियाणि याजकानि ध्यात्वा कोशभूतं दृढं ग्रन्थिकलेवरं हविर्ध्यात्वा मां हविर्भुजं ध्यात्वा वसन्तकालमाज्यं ध्यात्वा ग्रीष्ममिध्मं ध्यात्वा शरदृतुं रसं ध्यात्वैवमग्नौ हुत्वाङ्गस्पर्शात्कलेवरो वज्रं हीष्यते। ततः स्वकार्यान्सर्वप्राणिजीवान्सृष्ट्वा पश्चाद्याः प्रादुर्भविष्यन्ति। ततः स्थावरजङ्गमात्मकं जगद्भविष्यति ॥5॥

चतुर्थपादस्वरूप उन नारायण ने जगत् की रचना करने के लिए प्रकृति को उत्पन्न किया अर्थात् ब्रह्माजी को उत्पन्न किया। वह समृद्ध शरीर वाले थे (समर्थ थे), फिर भी अपने में अवस्थित आवरण से (अज्ञानावरण से) सृष्टि-रचना की प्रक्रिया से अनभिज्ञ थे। तब उन अनिरुद्ध नारायण ने उन्हें (ब्रह्माजी को) सृष्टि रचने की प्रक्रिया का उपदेश दिया। वे बोले कि हे ब्रह्मन्! आप अपनी वागिन्द्रिय आदि सभी इन्द्रियों को यज्ञकर्ता के रूप में समझें और कमलकोश से उद्भूत सुदृढ शक्तियुक्त अपने शरीर को हवि के रूप में मानें। बसन्त ऋतु को घी, ग्रीष्मऋतु को समिध और शरदृतु को रस मानकर और मुझे हवि का भोक्ता मानकर अग्नि में इस तरह हवन करें। ऐसा करने से आपका शरीर अत्यन्त शक्तिशाली हो जाएगा कि वज्र भी उसके स्पर्श से कुण्ठित हो जाएगा। आपके इस यज्ञकर्म के परिणाम स्वरूप समस्त प्राणि-समूह भी उत्पन्न होंगे। तब स्थावर-जंगमरूप यह सम्पूर्ण जगत् उत्पन्न होगा।

एतेन जीवात्मनोर्योगेन मोक्षप्रकारश्च कथित इत्यनुसन्धेयम् ॥6॥

जो पाप होता है, और रत्न आदि के लूटने से जो पाप होता है, यह सब भी इस मन्त्र के जपने से शीघ्र ही नष्ट हो जाता है। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य या शूद्र की मोहवश हत्या करके मनुष्य जो पाप इकट्ठा करता है, वह भी इस मन्त्र के जप से नष्ट हो जाता है।

गत्वाऽपि मातरं मोहादगम्याश्चैव योषितः।
उपास्यानेन मन्त्रेण रामस्तदपि नाशयेत् ॥18॥
महापातकपापिष्ठसङ्गत्या सञ्चितं च यत्।
नाशयेत्तत्कथाऽऽलापशयनासनभोजनैः ॥19॥
पितृमातृवधोत्पन्नं बुद्धिपूर्वमघं च यत्।
तदनुष्ठानमात्रेण सर्वमेतद्विलीयते ॥20॥
यत् प्रयागादितीर्थोक्तप्रायश्चित्तशतैरपि।
नैवापनोद्यते पापं तदप्याशु विनाशयेत् ॥21॥

माता के साथ संयोग करके भी और अगम्य अन्य स्त्रियों के साथ संभोग किये जाने पर भी इस मन्त्र की उपासना करने से राम ऐसे पापों का भी नाश कर देते हैं। किसी पापी मनुष्य के साथ संग करते हुए यदि वार्तालाप में, शयन में, आसन में या भोजनादि में जो भी पापों को एकत्रित किया गया हो, उसे भी यह मन्त्र नाश कर देता है। पिता या माता के वध से उत्पन्न हुआ पाप और जो पाप बुद्धिपूर्वक किया गया हो वह सब इस मन्त्र के अनुष्ठान से नष्ट हो जाता है। जो पाप प्रयागादि तीर्थों में कहे गए प्रायश्चित्त करने से भी नष्ट नहीं होता, वह पाप भी यह मन्त्र शीघ्र नष्ट कर देता है।

पुण्यक्षेत्रेषु सर्वेषु कुरुक्षेत्रादिषु स्वयम्।
बुद्धिपूर्वमघं कृत्वा तदप्याशु विनाशयेत् ॥22॥
कृच्छ्रैस्तप्तपराकाद्यैर्नानाचान्द्रायणैरपि।
पापं च नापनोद्यं यत् तदप्याशु विनाशयेत् ॥23॥
आत्मतुल्यसुवर्णादिदानैर्बहुविधैरपि।
किञ्चिदप्यपरिक्षीणं तदप्याशु विनाशयेत् ॥24॥
अवस्थात्रितयेष्वेवं बुद्धिपूर्वमघं च यत्।
तन्मन्त्रस्मरणेनैव निःशेषं प्रविलीयते ॥25॥

कुरुक्षेत्र आदि सभी पवित्र तीर्थस्थलों में बुद्धिपूर्वक (जानबूझकर) किया हुआ पाप भी यह मन्त्र नष्ट कर देता है। जो पाप तप्तपराक आदि कष्टदायक प्रायश्चित्तों से और तरह-तरह के चान्द्रायण व्रतों से भी नष्ट नहीं होता, उस पाप को भी यह मन्त्र शीघ्र नष्ट कर देता है। जो पाप अपने प्राण जैसे प्यारे स्वर्ण के और ऐसी ही प्रिय अन्य वस्तुओं के बहुत-बहुत दानों से भी लेशमात्र भी क्षीण नहीं हो सकता, वह पाप भी इस मन्त्र के द्वारा शीघ्र नष्ट हो जाता है। जाग्रदादि तीनों अवस्थाओं में जो पाप बुद्धिपूर्वक किया गया हो, ऐसे पाप का भी इस मन्त्र के स्मरणमात्र से निःशेष रूप से ही नाश हो जाता है।

अवस्थात्रितयेष्वेवं मूलबन्धमघं च यत्।
त त्न्मन्त्रोपदेशेन सर्वमेतत् प्रणश्यति ॥26॥
अ.ब्रह्मबीजदोषाश्च नियमातिक्रमोद्भवाः।
स्त्रीणां च पुरुषाणां च मन्त्रेणानेन नाशिताः ॥27॥
येषु येष्वपि देशेषु रामभद्र उपास्यते।
दुर्भिक्षादिभयं तेषु न भवेत्तु कदाचन ॥28॥

शान्तः प्रसन्नवदनो ह्यक्रोधो भक्तवत्सलः।
अनेन सदृशो मन्त्रो जगत्स्वपि न विद्यते ॥29॥
सम्यगाराधितो रामः प्रसीदत्येव सत्वरम्।
ददात्यायुष्यमैश्वर्यमन्ते विष्णुपदं च यत् ॥30॥

तीनों अवस्थाओं में इस तरह जो पाप मूलबन्ध को हो गया है, वह भी उस-उस मन्त्र के उपदेश—जपादि अनुष्ठान से सब नष्ट हो जाता है। अनुष्ठान के नियमों का अतिक्रमण करके ब्रह्ममन्त्र से लेकर बीजमन्त्र सम्बन्ध तक के जो-जो दोष स्त्रियों के द्वारा या पुरुषों के द्वारा होते हैं वे सभी इस मन्त्र के द्वारा नष्ट हो जाते हैं। जिन-जिन देशों में रामभद्र की उपासना की जाती है, उन देशों में अकाल आदि का भय नहीं होता। इस मन्त्र के (देवता) जैसा शान्त, प्रसन्नवदन, अक्रोधी, भक्तवत्सल जगत् में कहीं भी नहीं है। विधिपूर्वक अच्छी तरह से आराधित ऐसे श्रीराम शीघ्र ही प्रसन्न हो जाते हैं और भक्तों को आयुष्य एवं ऐश्वर्य प्रदान कर अन्त में विष्णुपद (परमपद) भी प्रदान करते हैं।

तदेतदृचाऽभ्युक्तम्—
ऋचो अक्षरे परमे व्योमन् देवा अधि विश्वे निषेदुः।
यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति य इत्तद्विदुस्त इमे समासते ॥31॥
तद्विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः।
दिवीव चक्षुराततम् ॥32॥
तद्विप्रासो विपन्यवो जागृवांसः समिन्धते।
विष्णोर्यत् परमं पदम् ॥33॥
ॐ सत्यमित्युपनिषत् ॥34॥

इति पञ्चमः खण्डः।

इति श्रीरामोत्तरतापिन्युपनिषत्समाप्ता।

यही बात ऋचा में कही गई है—जिसमें समस्त देवगण अधिष्ठित हैं उस अविनाशी परमव्योम में (परमधाम में) समग्र वेद (ज्ञानराशि) विद्यमान है। जो लोग इसे नहीं जानते, वे केवल वेद-ऋचाओं के द्वारा क्या करेंगे ? पर जो उस परमधाम स्थिति को जान लेते हैं, वे सम्यक् रूप से उसी तत्त्व में (परमात्मा में) कृतार्थ होकर निवास करते हैं। ......विष्णु का वह परमपद है जिसे विद्वान् लोग द्युलोक में फैले हुए चक्षु की तरह देखते हैं।......उसे ही भवत्रस्त और जागरूक ज्ञानी लोग प्रज्वलित करते हैं, वह विष्णु का परमपद है। वह परमपद ॐ है, ऐसा यह उपनिषद् कहती है।

यहाँ पंचम खण्ड पूरा हुआ।

शान्तिपाठः

ॐ भद्रं कर्णेभिः.....देवहितं यदायुः। (पूर्ववत्)
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः।
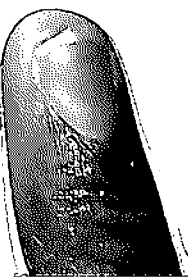
(58) वासुदेवोपनिषत्

(उपनिषत्परिचय)

यह उपनिषद् सामवेद की परंपरा में है। इसमें ऊर्ध्वपुण्ड्र की महिमा है। चक्रतीर्थ से गोपीचन्दन नामक मिट्टी से ऊर्ध्वपुण्ड्र किया जाता है। इसमें ब्रह्मचारी आदि का धारण-प्रकार, त्रिपुण्ड्र की त्रिमूर्ति आदि की रूपता, ऊर्ध्वपुण्ड्र की प्रणवाधिकारी द्वारा ही धारणयोग्यता, परमहंस के लिए भी उसकी धारणयोग्यता, वासुदेव का ध्यान-प्रकार, वासुदेव की सर्वात्मता, वासुदेव के ध्यान के स्थान में गोपीचन्दन का उपयोग, गोपीचन्दन और भस्म के धारण की विधि, फलश्रुति आदि वर्णित हैं।

शान्तिपाठः

ॐ आप्यायन्तु ममाङ्गानि""ते मयि सन्तु। (पूर्ववत्)
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

इसका हिन्दी रूपान्तर पूर्व में (आरुण्युपनिषद् में) द्रष्टव्य है।

ॐ नमस्कृत्य भगवान् नारदः सर्वेश्वरं वासुदेवं पप्रच्छ—अधीहि भगवन्नूर्ध्वपुण्ड्रविधिं द्रव्यमन्त्रस्थानादिसहितं मे ब्रूहीति ॥1॥
स होवाच भगवान् वासुदेवः—वैकुण्ठस्थानादुत्पन्नं मम प्रीतिकरं मद्भक्तैर्ब्रह्मादिभिर्धारितं विष्णुचन्दनं ममाङ्गे प्रतिदिनमालिप्तं गोपीभिः प्रक्षालनाद् गोपीचन्दनमाख्यातं मदङ्गलेपनं पुण्यं चक्रतीर्थान्तःस्थितं चक्रसमायुक्तं पीतवर्णं मुक्तिसाधनं भवति ॥2॥

ॐ नमस्कार करके भगवान् नारद ने सर्वेश्वर वासुदेव से पूछा—'मुझे आप द्रव्य, स्थान और मन्त्र आदि के साथ ऊर्ध्वपुण्ड्र की विधि बताइए।' तब उन भगवान् वासुदेव ने कहा—'वैकुण्ठ के स्थान से मेरा प्रीतिकर विष्णुचन्दन उत्पन्न हुआ है। वह ब्रह्मा आदि मेरे भक्तों के द्वारा धारण किया जाता है। वह मेरे अंगों में भी सदैव आलिप्त रहता है। उसे गोपियाँ प्रक्षालित करती हैं, इसलिए इसका नाम गोपीचन्दन पड़ गया है। वह मेरा अंगलेपन चक्रतीर्थ में होता है (चक्रतीर्थ की मिट्टी के रूप में है) और मेरे चक्र से (चक्र से बनने के कारण) युक्त है। वह पीले रंग का होता है। वह मुक्ति का साधन है।

अथ गोपीचन्दनं नमस्कृत्योद्धृत्य—
गोपीचन्दन पापघ्न विष्णुदेहसमुद्भव।
चक्राङ्कित नमस्तुभ्यं धारणान्मुक्तिदो भव ॥3॥
इमं मे गङ्गे इति जलमादाय विष्णोर्नुकमिति मर्दयेत्।
अतो देवा अवन्तु न इत्येतैर्मन्त्रैर्विष्णुगायत्र्या केशवादिनामभिर्वा धायेरत् ॥4॥

उस चक्रतीर्थ से गोपीचन्दन को लाकर—'हे पापनाशक गोपीचन्दन! हे विष्णु के देह से उत्पन्न होने वाले! हे चक्र से अंकित! तुम्हें नमस्कार हो! तुम्हें धारण किए जाने पर मेरी मुक्ति को देने वाले तुम हो!' इस प्रकार कहते हुए गोपीचन्दन को यथेष्ट मात्रा में लेकर उसे देवगृह में रखकर, फिर थोड़ा-सा हाथ में लेकर 'इमं मे गंगे'—इस प्रकार बोलकर जल को लेकर विष्णु गायत्री बोलते हुए उसका मर्दन करना चाहिए। इसके बाद 'अतो देवा भवन्तु नः'—इन मन्त्रों से या विष्णुगायत्री मन्त्र से या केशवादि नामों से उसे धारण करना चाहिए। (विष्णुगायत्री यह है—'नारायणाय विद्महे। वासुदेवाय धीमहि। तन्नो विष्णुः प्रचोदयात्')।

ब्रह्मचारी वानप्रस्थो वा ललाटहृदयकण्ठबाहुमूलेषु वैष्णवगायत्र्या कृष्णादिनामभिर्वा धारयेत्।
इति त्रिवारमभिमन्त्र्य—
शङ्खचक्रगदापाणे द्वारकानिलयाच्युत।
गोविन्द पुण्डरीकाक्ष रक्ष मां शरणागतम् ॥
इति ध्यात्वा गृहस्थो ललाटादिद्वादशस्थलेष्वनामिकाङ्गुल्या वैष्णव-गायत्र्या केशवादिनामभिर्वा धारयेत् ॥5॥
ब्रह्मचारी गृहस्थो वा ललाटहृदयकण्ठबाहुमूलेषु वैष्णवगायत्र्या कृष्णा-दिनामभिर्वा धारयेत् ॥6॥
यतिस्तर्जन्या शिरोललाटहृदयेषु प्रणवेनैव धारयेत् ॥7॥

ब्रह्मचारी को और वानप्रस्थी को ललाट, हृदय, कण्ठ और बाहुमूलों में वैष्णवगायत्री अथवा कृष्णादि के नामों का उच्चारण करते हुए इसे धारण करना चाहिए। गृहस्थ को इसे तीन बार अभिमंत्रित करना चाहिए। फिर ध्यान करते समय पठनीय मन्त्र यह है—'हे शंख-चक्र-गदा को हाथ में लिए हुए द्वारकानिवासि! हे अच्युत! हे गोविन्द! हे कमलनयन! आप मुझ शरणागत की रक्षा कीजिए।' इस मन्त्र से ध्यान करना चाहिए। बाद में उसे अनामिका अँगुली से ललाट आदि बारह स्थलों में, वैष्णव गायत्री या केशव आदि नाम बोलते हुए, धारण करना चाहिए। ब्रह्मचारी को या गृहस्थ को ललाट, हृदय, कण्ठ और बाहुमूलों पर वैष्णव गायत्री या कृष्णादि नामों को बोलते हुए उसे धारण करना चाहिए। और यति को उसे तर्जनी अँगुलि के द्वारा प्रणव मन्त्र का उच्चारण करते हुए मस्तिष्क, ललाट और हृदय में धारण करना चाहिए।

ब्रह्मादयस्त्रयो मूर्तयस्तिस्रो व्याहृतयस्त्रीणि छन्दांसि त्रयोऽग्नय इति ज्योतिष्मन्तस्त्रयः कालास्तिस्रोऽवस्थास्त्रय आत्मानः पुण्ड्रास्त्रय ऊर्ध्वा अकार उकारो मकार एते प्रणवमयोर्ध्वपुण्ड्रस्तदात्मा सदेतदोमिति ॥8॥
ऊर्ध्वमुन्नमयत इत्योंकाराधिकारी तस्मादूर्ध्वपुण्ड्रं धारयेत् ॥9॥
परमहंसो ललाटे प्रणवेनैकमूर्ध्वपुण्ड्रं वा धारयेत् ॥10॥

ब्रह्मा आदि तीन मूर्तियाँ हैं, भूर्भुवःस्वः ये तीन व्याहृतियाँ हैं, तीन छन्द हैं, तीन अग्नि हैं, तीन काल हैं, तीन अवस्थाएँ हैं, तीन आत्मा (आत्मा, अन्तरात्मा, परात्मा) हैं, इसी प्रकार पुण्ड्र भी तीन ही हैं। यह त्रिपुण्ड्र की त्रिमूर्त्यादिरूपता है। अकार, उकार और मकार ये ऊर्ध्व हैं जो प्रणवमय है वह ऊर्ध्वपुण्ड्र है। वह उन सबका आत्मा है। वह सत् है, वह ओम् है। यह ऊर्ध्वपुण्ड्र प्रणवरूप होने से इसे प्रणवाधिकारी

को ही धारण करना चाहिए, क्योंकि वह ऊर्ध्वगति होता है इसलिए उसे धारण करना चाहिए। अवधूत (परमहंस) को भी इसे प्रणवमन्त्र द्वारा त्रिपुण्ड्र या ऊर्ध्वपुण्ड्र के रूप में धारण करना चाहिए।

तत्त्वप्रदीपप्रकाशं स्वात्मानं पश्यन् योगी मत्सायुज्यमवाप्नोति ॥11॥
अथ वा न्यस्तहृदयः पुण्ड्रमध्ये वा हृदयकमलमध्ये वा ॥12॥

अब वासुदेव का ध्यान प्रकार इस प्रकार है—'तत्त्वज्ञानरूपी प्रदीप से प्रकाशित ऐसे अपने आत्मा को परमात्मरूप में देखकर योगी मेरे सायुज्य को प्राप्त हो जाता है। यदि इस प्रकार अपने आत्मा को परमात्मरूप में देखने में वह अशक्त हो, तो वह अपने हृदय को भगवान् में धारणकर हृदयकमल के मध्य में मेरा ध्यान करके या हृदय पर न्यस्त किए गए पुण्ड्र में मेरा ध्यान करके भी मेरे सायुज्य को प्राप्त करता है।

तस्य मध्ये वह्निशिखा अणीयोर्ध्वा व्यवस्थिता।
नीलतोयदमध्यस्था विद्युल्लेखेव भास्वरा ॥13॥
नीवारशूकवत्तन्वी विद्युल्लेखेव भास्वरा।
तस्याः शिखाया मध्ये परमात्मा व्यवस्थितः ॥14॥ इति।

उस हृदय के मध्य भाग में मूलाधार स्थित वह्निशिखा, जो कि ब्रह्मरन्ध्रपर्यन्त व्यवस्थित है, वह अणु जैसी अतिसूक्ष्म, ऊर्ध्वगामिनी, काले बादलों में चमकती हुई बिजली जैसी चमकीली है। वह नीवारतन्तु जैसी पतली योगकाल में स्फुरित होती है। उस शिखा के बीच उससे भी सूक्ष्म रूप में परमात्मा वासुदेव अवस्थित हैं।

अतः पुण्ड्रस्थं हृदयपुण्डरीकेषु तमभ्यसेत्।
क्रमादेवं स्वमात्मानं भावयेन्मां परं हरिम् ॥15॥
एकाग्रमनसा यो मां ध्यायते हरिमव्ययम्।
हृत्पङ्कजे च स्वात्मानं स मुक्तो नात्र संशयः ॥16॥
मद्रूपमद्वयं ब्रह्म आदिमध्यान्तवर्जितम्।
स्वप्रभं सच्चिदानन्दं भक्त्या जानाति चाव्ययम् ॥17॥

इसलिए पुण्ड्र में अवस्थित परमात्मा को हृदयस्थपुण्ड्र में अभ्यास करना चाहिए अर्थात् हृदय में ध्यान करना चाहिए। इस प्रकार क्रम से धीरे-धीरे अपने आत्मा में मेरी (हरि की – परमतत्त्व की) भावना करनी चाहिए। जो साधक एकाग्र मन से मेरा (हरि का) अर्थात् अव्ययरूप का अपने आत्मरूप से इस तरह हृदयकमल में ध्यान करता है, वह मुक्त हो ही जाता है, इसमें कोई भी सन्देह नहीं है। मेरा रूप अद्वैत है, वह आदि-मध्य-अन्त से रहित है। वह स्वयंप्रकाश है, मेरे इस अव्यय रूप को भक्ति के द्वारा साधक जानता है।

एको विष्णुरनेकेषु जङ्गमस्थावरेषु च।
अनुस्यूतो वसत्यात्मा भूतेष्वहमवस्थितः ॥18॥
तैलं तिलेषु काष्ठेषु वह्निः क्षीरे घृतं यथा।
गन्धः पुष्पेषु भूतेषु तथाऽऽत्माऽवस्थितो ह्यहम् ॥19॥

इन अनेकानेक स्थावर-जंगमों में एक ही विष्णु है। सभी का आत्मस्वरूप मैं (विष्णु) इन सभी भूतों में अनुस्यूत (पिरोया हुआ) हूँ। जिस प्रकार तिलों में तैल और काष्ठों में अग्नि व्याप्त होकर रहता है, या दूध में ही घी होता है, पुष्पों में गन्ध होती है, वैसे ही मैं सभी भूतों में व्याप्त होकर रहता हूँ।

ब्रह्मरन्ध्रे भ्रुवोर्मध्ये हृदये चिद्रविं हरिम्।
गोपीचन्दनमालिप्य तत्र ध्यात्वाऽऽप्नुयात् परम् ॥20॥
ऊर्ध्वदण्डोर्ध्वरेताश्च ऊर्ध्वपुण्ड्रोर्ध्वयोगवान्।
ऊर्ध्वं पदमवाप्नोति यतिरूर्ध्वचतुष्कवान् ॥21॥
इत्येतन्निश्चितं ज्ञानं मद्भक्त्या सिध्यति स्वयम्।
नित्यमेकाग्रभक्तिः स्याद् गोपीचन्दनधारणात् ॥22॥

अब वासुदेव के ध्यानस्थानों में गोपीचन्दन की धारण-विधि इस प्रकार है—ब्रह्मरन्ध्र में, दोनों भौंहों के बीच में, हृदय में गोपीचन्दन लगाकर वहाँ पर चित्प्रकाश हरि का ध्यान करके साधक परमपद को प्राप्त करे। जो योगी ऊर्ध्व दण्डवाला है, ऊर्ध्व रेतस् वाला है, ऊर्ध्व पुण्ड्र को धारण किए हुए है, और ऊर्ध्व योग वाला होता है—इन चार ऊर्ध्व को धारण करने वाला योगी ऊर्ध्व पद को ही प्राप्त करता है। इस प्रकार का यह निश्चित ज्ञान मेरी भक्ति से स्वयं ही सिद्ध हो जाता है। इस गोपीचन्दन को धारण करने से हमेशा एकाग्र भक्ति प्राप्त होती है।

ब्राह्मणानां तु सर्वेषां वैदिकानामनुत्तमम्।
गोपीचन्दनवारिभ्यामूर्ध्वपुण्ड्रं विधीयते ॥23॥
यो गोपीचन्दनाभावे तुलसीमूलमृत्तिकाम्।
मुमुक्षुर्धारयेन्नित्यमपरोक्षात्मसिद्धये ॥24॥
अतिरात्राग्निहोत्रभस्माऽग्नेर्भसितमिदं विष्णुस्त्रीणि पदेति मन्त्रैर्वैष्णव-गायत्र्या प्रणवेनोद्धूलनं कुर्यात् ॥25॥
एवं विधिना गोपीचन्दनं च धारयेत् ॥26॥

सभी वैदिक धर्मानुयायी ब्राह्मणों के लिए तो यह उत्तमोत्तम जल से मिश्रित गोपीचन्दन को ऊर्ध्वपुण्ड्र के रूप में धारण करने का विधान है। गोपीचन्दन के अभाव में तुलसी के मूल में स्थित मिट्टी भी मुमुक्षु साधक को सदैव अपरोक्ष ज्ञान की सिद्धि प्राप्त करने के लिए धारण करनी चाहिए। उस गोपीचन्दन के ऊपर अतिरात्र और अग्निहोत्र की भस्मयुक्त अग्नि से भस्म लेकर 'इदं विष्णुस्त्रीणि' इत्यादि मन्त्रों से भस्म का लेप करना चाहिए। वैष्णवी गायत्री तथा प्रणवमन्त्र से भी भस्मलेपन करना चाहिए। इसी विधि से गोपीचन्दन को भी धारण करना चाहिए।

यस्त्वधीते वा स सर्वपातकेभ्यः पूतो भवति। पापबुद्धिस्तस्य न जायते। स सर्वेषु तीर्थेषु स्नातो भवति। स सर्वैर्यज्ञैर्याजितो भवति। स सर्वैर्देवैः पूज्यो भवति। श्रीमन्नारायणे मय्यचञ्चला भक्तिश्च भवति। स सम्यग् ज्ञानं च लब्ध्वा विष्णुसायुज्यमवाप्नोति। न च पुनरावर्तते न च पुनरावर्तते ॥27॥
इत्याह भगवान् वासुदेवः ॥28॥
यस्त्वेतद्वाऽधीते सोऽप्येवमेव भवतीत्यों सत्यमित्युपनिषत् ॥29॥

इति वासुदेवोपनिषत्समाप्ता।
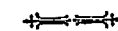
अथवा इसका जो अध्ययन भी करता है, वह भी सभी पापों से मुक्त (पवित्र) हो जाता है। उसको कभी पाप करने की बुद्धि ही नहीं होती। उसने सभी तीर्थों में स्नान कर लिया होता है, अर्थात् उसे सर्वतीर्थों में किए गए स्नानों का पुण्य मिल जाता है। उसने सभी प्रकार के यज्ञ कर लिए होते हैं, अर्थात् उसे सभी प्रकार के यज्ञों का फल मिल जाता है। वह सभी देवों के द्वारा पूजनीय माना जाता है। उसकी श्रीमन्नारायण ऐसे मुझमें अचल भक्ति उत्पन्न होती है। वह सम्यग् ज्ञान को प्राप्त करके विष्णु के सायुज्य को प्राप्त करता है। वह फिर से इस मर्त्यलोक में जन्म नहीं लेता, उसे पुनर्जन्म नहीं लेना पड़ता—यह भगवान् वासुदेव ने कहा है। जो इसका पाठ भी करता है, वह भी ऐसा ही होता है। ॐ सत्यम्—यह सत्य है। यही उपनिषत् है।

यहाँ वासुदेवोपनिषत् समाप्त होती है।

शान्तिपाठः

आप्यायन्तु ममाङ्गानि ... ते मयि सन्तु। (पूर्ववत्)
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

❋

(59) मुद्गलोपनिषत्

(उपनिषत्परिचय)

ऋग्वेदीय परम्परा की इस उपनिषद् के चार खण्ड हैं। प्रथम खण्ड में यजुर्वेदीय पुरुष-सूक्तों के पहले सोलह मंत्रों का रहस्योद्घाटन है। दूसरे में शरणागत इन्द्र को भगवान् द्वारा दिया हुआ उपदेश है। उसमें पुरुषसूक्त के व्यक्त और अव्यक्त दो पुरुषों के सम्बन्ध में वर्णन है। तीसरे में भिन्न-भिन्न योनियों के साधकों के द्वारा भिन्न-भिन्न रूपों में उस पुरुष की उपासना करने की पद्धति एवं उसकी फलश्रुति भी कही गई है। चौथे में उत्तम पुरुष की विलक्षणता तथा उसके अभिव्यक्त होने के विविध विशिष्टांशों की (घटकों की) चर्चा करके साधना के द्वारा उसी पुरुषस्वरूप हो जाने की बात कही गई है। बाद में इस रहस्यमय (गोपनीय) ज्ञान को प्राप्त करने के बाद अनुशासन बताया गया है।

शान्तिपाठः

ॐ वाङ्मे मनसि ... वक्तारमवतु वक्तारम्। (पूर्ववत्)
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः।

इसका हिन्दी रूपान्तर पूर्व में (कौषीतकिब्राह्मणोपनिषद् में) द्रष्टव्य है।

प्रथमः खण्डः

ॐ पुरुषसूक्तार्थनिर्णयं व्याख्यास्यामः। पुरुषसंहितायां पुरुषसूक्तार्थः संग्रहेण प्रोच्यते।
सहस्रशीर्षेत्यत्र सशब्दोऽनन्तवाचकः। अनन्तयोजनं प्राह दशाङ्गुल-वचस्तथा ॥1॥

अब हम पुरुषसूक्त के अर्थ के निर्णय की विवेचना कर रहे हैं। पुरुषसंहिता में इस पुरुषसूक्त का अर्थ संक्षेप में कहा गया है। पुरुषसूक्त में जो 'सहस्र' शब्द है, वह अनन्त का वाचक है। उसी प्रकार 'दशांगुल' शब्द का अर्थ भी 'अनन्तदूरी वाला' ऐसा होता है।

तस्य प्रथमया विष्णोर्देशतो व्याप्तिरीरिता।
द्वितीयया चास्य विष्णोः कालतो व्याप्तिरुच्यते ॥2॥

इस पुरुषसूक्त की प्रथम ऋचा में (प्रथम मन्त्र के द्वारा) 'सहस्रशीर्ष' इत्यादि द्वारा भगवान् विष्णु की देशगत व्यापकता बताई गई है, और द्वितीय मन्त्र—'पुरुष एवेदं' इत्यादि द्वारा भगवान् विष्णु की काल के सन्दर्भ में व्यापकता बताई गई है।

विष्णोर्मोक्षप्रदत्वं च कथितं तु तृतीयया।
एतावानिति मन्त्रेण वैभवं कथितं हरेः ॥3॥
एतेनैव च मन्त्रेण चतुर्व्यूहो विभाषितः।
त्रिपादित्यनया प्रोक्तमनिरुद्धस्य वैभवम् ॥4॥

पुरुषसूक्त के 'एतावानस्य' इत्यादि तीसरे मन्त्र द्वारा विष्णु को मोक्ष प्रदान करने वाले लक्षण को बताया गया है और साथ ही हरि के वैभव को दर्शाया गया है। इन्हीं मन्त्रों के द्वारा (इन तीन मन्त्रों के समूह द्वारा) विष्णु भगवान् का चतुर्व्यूह बताया गया है। इनमें 'त्रिपादूर्ध्व' इत्यादि मन्त्र के द्वारा भगवान् के चार व्यूहों में से 'अनिरुद्ध' व्यूह का वैभव बताया गया है।

तस्माद्विराडित्यनया पादनारायणाद्धरेः।
प्रकृतेः पुरुषस्यापि समुत्पत्तिः प्रदर्शिता ॥5॥
यत्पुरुषेणेत्यनया सृष्टियज्ञः समीरितः।
सप्तास्यासन्परिधयः समिधश्च समीरिताः ॥6॥
तं यज्ञमिति मन्त्रेण सृष्टियज्ञः समीरितः।
अनेनैव च मन्त्रेण मोक्षश्च समुदीरितः ॥7॥
तस्मादिति च मन्त्रेण जगत्सृष्टिः समीरिताः।
वेदाहमिति मन्त्राभ्यां वैभवं कथितं हरेः ॥8॥
यज्ञेनेत्युपसंहारः सृष्टेर्मोक्षस्य चेरितः।
य एवमेतज्जानाति स हि मुक्तो भवेदिति ॥9॥

इति प्रथमः खण्डः।

पुरुषसूक्त के 'तस्माद्विराडजायत' इत्यादि पाँचवें मन्त्र में पादविभूतिरूप भगवान् नारायण हरि के द्वारा स्वाश्रयभूत प्रकृति तथा अधिपुरुष – जीव का आविष्कार बताया गया है। फिर इसी सूत्र के 'यत्पुरुषेण देवा हविषा' इत्यादि मन्त्र के द्वारा सृष्टिस्वरूप यज्ञ का वर्णन किया गया है। और 'सप्तास्यासन्परिधयः' इत्यादि मन्त्र के द्वारा इस सृष्टिरूप यज्ञ के लिए समिधों का प्रतिपादन किया गया है। इसके बाद, 'तं यज्ञं' इत्यादि मन्त्र के द्वारा इसी सृष्टियज्ञ का वर्णन किया गया है, और इसी मन्त्र के द्वारा मोक्ष का निर्देश भी किया गया है। इस पुरुषसूक्त के 'तस्माद्यज्ञात्' इत्यादि सात मन्त्रों के द्वारा इस समग्र सृष्टि की उत्पत्ति का वर्णन किया गया है। और बाद के 'वेदाहमेतं' आदि दो मन्त्रों से भगवान् हरि की कीर्ति-गाथा कही गई है। फिर 'यज्ञेन यज्ञमयजन्त' इस मन्त्र के द्वारा सृष्टि का उपसंहार किया गया है और साथ-ही-साथ मोक्ष का भी उपसंहारात्मक वर्णन किया गया है। इस तरह कोई भी मनुष्य यदि पुरुषसूक्त को उपर्युक्त ज्ञान के साथ आत्मसात् करता है, तो वह अवश्य ही मुक्ति प्राप्त कर लेता है।

यहाँ प्रथम खण्ड समाप्त होता है।

❋

द्वितीयः खण्डः

अथ तथा मुद्गलोपनिषदि पुरुषसूक्तस्य वैभवं विस्तरेण प्रतिपादितम्। वासुदेव इन्द्राय भगवज्ज्ञानमुपदिश्य पुनरपि सूक्ष्मश्रवणाय प्रणतायेन्द्राय परमरहस्यभूतं पुरुषसूक्ताभ्यां खण्डद्वयाभ्यामुपादिशत् ॥1॥

इस तरह मुद्गलोपनिषद् में पुरुषसूक्त का वैभव (भव्यता) विस्तार से (प्रथम खण्ड में) वर्णित किया गया। यह विशिष्ट उपदेश वासुदेव ने पहले इन्द्र को दिया था। उस रहस्यमय तत्त्वज्ञान को फिर से सुनने के लिए इन्द्रदेव सिर नवाँकर आए और भगवान् ने उस परमकल्याणकर रहस्य का पुरुषसूक्त के दो खण्डों में उन्हें उपदेश दिया।

द्वौ खण्डावुच्येते। योऽयमुक्तः स पुरुषो नामरूपज्ञानागोचरं संसारिणा-

मतिदुर्ज्ञेयं विषयं विहाय क्लेशादिभिः संक्लिष्टदेवादिजिहीर्षया सहस्र-कलावयवकल्याणं दृष्टमात्रेण मोक्षदं वेषमाददे। तेन वेषेण भूम्यादि-लोकं व्याप्यानन्तयोजनमत्यतिष्ठत् ॥2॥

इस पुरुषसूक्त के दो खण्ड किए गए हैं। इसमें जिस विराट् पुरुष को कहा गया है, वह नाम, रूप और ज्ञान से अतीत होने के कारण उनका विषय नहीं है और संसारी जीवों के लिए तो अत्यन्त दुर्विज्ञेय है। इसलिए उसने अपनी उस दुर्विज्ञेयता को छोड़कर क्लेशादि में पड़े हुए उन देवों आदि की (और अन्य प्राणियों की) भलाई के (श्रेय के) लिए अनेक कलाओं वाला रूप धारण किया। यह अवयवादि वाला रूप दर्शनमात्र से ही मोक्ष देने वाला है। उसी रूप (वेष) वह पृथिवी आदि लोकों में व्याप्त होकर अनन्त योजनों तक विस्तृत हो गया।

पुरुषो नारायणो भूतं भव्यं भविष्यच्चासीत्। स एष सर्वेषां मोक्षदश्चा-सीत्। स च सर्वस्मान्महिम्नो ज्यायान्। तस्मात्र कोऽपि ज्यायान् ॥3॥ महापुरुष आत्मानं चतुर्धा कृत्वा त्रिपादेन परमे व्योम्नि चासीत्। इतरेण चतुर्थेनानिरुद्धनारायणेन विश्वान्यासन् ॥4॥

इस सृष्टि की उत्पत्ति के पहले भगवान् नारायण ही केवल भूतकाल, वर्तमान काल और भविष्यकाल के रूप में अवस्थित थे और वही सबको मोक्ष प्रदान करने वाले भी थे (हैं)। वही अपनी महिमा से सबसे महान् हैं। उनसे अधिक विशिष्ट तो कोई भी नहीं है। उन परमपुरुष परमात्मा ने अपने आपको चार भागों में बाँटकर उसके तीन भागों को परम व्योम में रखा (यहाँ ऐसा अर्थ भी लिया जा सकता है कि नारायण ने चतुर्व्यूहों में अपने को विभक्त करके तीन भागों को वैकुण्ठ में रखा) और चौथे भाग से (अन्य अर्थ में अनिरुद्ध से) ये सब लोक उत्पन्न हुए। (वैकुण्ठ में अवस्थित तीन भाग—वासुदेव, प्रद्युम्न और संकर्षण हैं—यह अन्य अर्थ भी है)।

स च पादनारायणो जगत्स्रष्टुं प्रकृतिमजनयत्। स समृद्धकायः सन्सृष्टिकर्म न जज्ञिवान्। सोऽनिरुद्धनारायणस्तस्मै सृष्टिमुपादिशत्। ब्रह्मंस्तवेन्द्रियाणि याजकानि ध्यात्वा कोशभूतं दृढं ग्रन्थिकलेवरं हविर्ध्यात्वा मां हविर्भुजं ध्यात्वा वसन्तकालमाज्यं ध्यात्वा ग्रीष्ममिध्मं ध्यात्वा शरदृतुं रसं ध्यात्वैवमग्नौ हुत्वाङ्गस्पर्शात्कलेवरो वज्रं हीष्यते। ततः स्वकार्यान्सर्वप्राणिजीवान्सृष्ट्वा पश्चाद्याः प्रादुर्भविष्यन्ति। ततः स्थावरजङ्गमात्मकं जगद्भविष्यति ॥5॥

चतुर्थपादस्वरूप उन नारायण ने जगत् की रचना करने के लिए प्रकृति को उत्पन्न किया अर्थात् ब्रह्माजी को उत्पन्न किया। वह समृद्ध शरीर वाले थे (समर्थ थे), फिर भी अपने में अवस्थित आवरण से (अज्ञानावरण से) सृष्टि-रचना की प्रक्रिया से अनभिज्ञ थे। तब उन अनिरुद्ध नारायण ने उन्हें (ब्रह्माजी को) सृष्टि रचने की प्रक्रिया का उपदेश दिया। वे बोले कि हे ब्रह्मन्! आप अपनी वागिन्द्रिय आदि सभी इन्द्रियों को यज्ञकर्ता के रूप में समझें और कमलकोश से उद्भूत सुदृढ शक्तियुक्त अपने शरीर को हवि के रूप में मानें। बसन्त ऋतु को घी, ग्रीष्मऋतु को समिध और शरद्ऋतु को रस मानकर और मुझे हवि का भोक्ता मानकर अग्नि में इस तरह हवन करें। ऐसा करने से आपका शरीर अत्यन्त शक्तिशाली हो जाएगा कि वज्र भी उसके स्पर्श से कुण्ठित हो जाएगा। आपके इस यज्ञकर्म के परिणाम स्वरूप समस्त प्राणि-समूह भी उत्पन्न होंगे। तब स्थावर-जंगमरूप यह सम्पूर्ण जगत् उत्पन्न होगा।

एतेन जीवात्मनोर्योगेन मोक्षप्रकारश्च कथित इत्यनुसन्धेयम् ॥6॥

य इमं सृष्टियज्ञं जानाति मोक्षप्रकारं च सर्वमायुरेति ॥7॥

इति द्वितीयः खण्डः।

इस वर्णन के द्वारा जीव और आत्मा के मिलन से मोक्ष की प्राप्ति का प्रकार भी कहा गया है, ऐसा समझना चाहिए। जो साधक इस सृष्टियज्ञ को और मोक्ष के प्रकार को जानता है, वह व्यक्ति सम्पूर्ण आयुष्य को प्राप्त करता है।

यहाँ दूसरा खण्ड पूरा हुआ।

❋

तृतीयः खण्डः

एको देवो बहुधा निविष्ट अजायमानो बहुधा विजायते ॥1॥
तमेतमग्निरित्यध्वर्यव उपासते। यजुरित्येष हीदं सर्वं युनक्ति। सामेति छन्दोगाः। एतस्मिन्हीदं सर्वे प्रतिष्ठितम्। विषमिति सर्पाः। सर्प इति सर्पविदः। ऊर्गिति देवाः। रयिरिति मनुष्याः। मायेत्यसुराः। स्वधेति पितरः। देवजन इति देवजनविदः। रूपमिति गन्धर्वाः। गन्धर्व इत्यप्सरसः ॥2॥
तं यथायथोपासते तथैव भवति। तस्माद् ब्राह्मणः पुरुषरूपं परंब्रह्मैवाहमिति भावयेत्। तद्रूपो भवति। य एवं वेद ॥3॥

इति तृतीयः खण्डः।

इस जगत् में एक ही देव अनेक रूपों में समाविष्ट होकर अवस्थित है। वह स्वयं तो जन्मादि-रहित है, फिर भी अनेकानेक प्रकार से जन्म लेता है। उसी एक पुरुष की उपासना अध्वर्यु लोग अग्नि के रूप में करते हैं। यजुर्वेदीय लोग उसे 'यह यजु है' ऐसा मानकर सभी यज्ञ-कार्यों में उसे नियोजित करते हैं। सामगान करने वाले लोग उसी को साम के रूप में मानते हैं। यह सम्पूर्ण जगत् उसी में प्रतिष्ठित रहा है। सर्प उसे विष मानते हैं, सर्पविद् लोग उसे सर्प मानते हैं। (इसका दूसरा अर्थ—सर्प = गतिशील प्राण उसे विषरूप में और सर्पविद् = प्राणविद् योगी उसे सर्प = प्राणरूप में मानते हैं—इस प्रकार भी लिया जा सकता है)। देवलोग इसे अमृत मानते हैं, सामान्य मनुष्य इसे धन (जीवन) मानते हैं, असुर लोग इसे माया मानते हैं, पितृलोग इसे स्वधा मानते हैं, देवोपासक इसे देव मानते हैं। गन्धर्व इसे रूप मानते हैं, अप्सराएँ इसे गन्धर्व मानती हैं। इस विराट् को जो जिस रूप में मानता है, वह उसी रूपवाला हो जाता है। इसलिए ब्रह्मज्ञानी को चाहिए कि वह उस पुरुषरूप को 'वह परब्रह्मरूप पुरुष मैं ही हूँ'—ऐसी भावना करे। जो इस प्रकार जानता है और भावना करता है, वह तद्रूप (ब्रह्मरूप) हो जाता है।

यहाँ तृतीय खण्ड पूरा हुआ।

❋

चतुर्थः खण्डः

तद्ब्रह्म तापत्रयातीतं षट्कोशविनिर्मुक्तं षडूर्मिवर्जितं पञ्चकोशातीतं षड्भावविकारशून्यमेवमादिसर्वविलक्षणं भवति ॥1॥
तापत्रयं त्वाध्यात्मिकाधिभौतिकाधिदैविकं कर्तृकर्मकार्यज्ञातृज्ञानज्ञेय-भोक्तृभोगभोग्यमिति त्रिविधम् ॥2॥

वह ब्रह्म (पूर्णपुरुष) तीनों तापों से रहित, छः कोषों से रहित, छः ऊर्मियों से रहित, पंच कोशों से रहित, छः भावविकारों से शून्य है। इस प्रकार यह ब्रह्म सभी से विलक्षण है। पूर्वकथित तीन ताप आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक हैं। इन तीनों में कर्त्ता-कर्म-कार्य तथा ज्ञाता-ज्ञान-ज्ञेय तो एक-एक ही हैं फिर भी वे तीन प्रकार के हैं।

त्वङ्मांसशोणितास्थिस्नायुमज्जाः षट्कोशाः ॥3॥
कामक्रोधलोभमोहमदमात्सर्यमित्यरिषड्वर्गः ॥4॥
अन्नमयप्राणमयमनोमयविज्ञानमयानन्दमया इति पञ्चकोशाः ॥5॥
प्रियात्मजननवर्धनपरिणामक्षयनाशाः षड्भावाः ॥6॥

ऊपर जो छः कोश कहे गए हैं वे हैं—त्वचा, मांस, अस्थि, स्नायु, रक्त और मज्जा। निर्दिष्ट षड्वर्ग ये हैं—काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद और मात्सर्य। पूर्वोक्त पाँच कोश हैं—अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय और आनन्दमय। और षड्भाव ये हैं—प्रियत्व, जन्म, संवर्धन, परिणाम, क्षय और नाश। (षड्वर्ग को षड्रिपु और षड्भावों को षड्विकार भी कहा जाता है)।

अशनायापिपासाशोकमोहजरामरणानीति षडूर्मयः ॥7॥
कुलगोत्रजातिवर्णाश्रमरूपाणि षड्भ्रमाः ॥8॥
एतद्योगेन परमपुरुषो जीवो भवति नान्यः ॥9॥

क्षुधा, पिपासा, शोक, मोह, वृद्धावस्था और मृत्यु—ये छः ऊर्मियाँ हैं और कुल (वंश), गोत्र, जाति, वर्ण, आश्रम और रूप—ये छः भ्रम कहे गए हैं। इन सबके संयोग से वह परमपुरुष ही जीव का रूप धारण करता है। जीव कोई परमपुरुष से अन्य (पृथक्) तो नहीं है।

य एतदुपनिषदं नित्यमधीते सोऽग्निपूतो भवति। स वायुपूतो भवति। स आदित्यपूतो भवति। अरोगी भवति। श्रीमांश्च भवति। पुत्रपौत्रादिभिः समृद्धो भवति। विद्वांश्च भवति। महापातकात्पूतो भवति। सुरापानात्पूतो भवति। अगम्यागमनात्पूतो भवति। मातृगमनात्पूतो भवति। दुहितृस्नुषाभिगमनात्पूतो भवति। स्वर्णस्तेयात्पूतो भवति। वेदोजन्महानात्पूतो भवति। गुरोरशुश्रूषणात्पूतो भवति। अयाज्ययाजनात् पूतो भवति। अभक्ष्यभक्षणात् पूतो भवति। उग्रप्रतिग्रहात्पूतो भवति। परदारगमनात्पूतो भवति। कामक्रोधलोभमोहेर्ष्यादिभिरबाधितो भवति। सर्वेभ्यः पापेभ्यो मुक्तो भवति। इह जन्मनि पुरुषो भवति ॥10॥

जो मनुष्य (साधक) इस उपनिषद् का हमेशा अध्ययन (सार्थ पाठ) करता है, वह अग्नि जैसा पवित्र हो जाता है। वह वायु जैसा निर्मल हो जाता है। वह सूर्य जैसा पवित्र हो जाता है। वह नीरोगी होता है। वह सम्पत्तिशाली होता है। वह पुत्र-पौत्रादि से समृद्ध होता है। वह विद्वान् होता है। वह बड़े पापों से मुक्त होकर पवित्र हो जाता है। वह मद्यपान के पाप से मुक्त (पवित्र) हो जाता है। वह असंभोग्य के साथ संभोग करने के पाप से मुक्त हो जाता है। वह माता के साथ संगम करने के पाप से छुटकारा पाकर पवित्र हो जाता है। वह पुत्री और बहन के साथ दुराचरण के पाप से मुक्त होकर पवित्र हो जाता है। वह सुवर्ण की चोरी के पाप से मुक्त होकर पवित्र हो जाता है। वह वेदों से उपलब्ध ज्ञान की हानि (नाश) के पाप से छूटकर पवित्र हो जाता है। वह गुरु-सेवा के अभाव के पाप से मुक्त होकर पवित्र हो जाता है। वह अपूजनीय की पूजा (अयाजनीय के याज) के पाप से मुक्त होकर पवित्र

हो जाता है। अभक्ष्य का भक्षण करने के पाप से बचकर वह पवित्र हो जाता है। उग्र (निम्न प्रकार का) दान लेने के पाप से भी मुक्त होकर पवित्र हो जाता है। परस्त्रीगमन के पाप से मुक्त होकर पवित्र हो जाता है। काम-क्रोध-लोभ-मोह-ईर्ष्या आदि छः शत्रुओं से वह किसी प्रकार भी बाधित नहीं होता। वह सभी पापों से मुक्त हो जाता है। इसी जन्म में वह पुरुष (परमपुरुष) बन जाता है।

तस्मादेतत्पुरुषसूक्तार्थमतिरहस्यं राजगुह्यं देवगुह्यं गुह्यादपि गुह्यतरं नादीक्षितायोपदिशेत्। नानूचानाय। नायज्ञशीलाय। नावैष्णवाय। नायोगिने। न बहुभाषिणे। नाप्रियवादिने। नासंवत्सरवेदिने। नातुष्टाय। नानधीतवेदायोपदिशेत्॥11॥

इस तरह पुरुषसूक्त का यह अर्थ अतिरहस्यमय है। गुह्यवस्तुओं का वह राजा (परमगुह्य) है। यह देवों के लिए भी गुह्य है। गुह्य से भी अधिक गुह्य है। दीक्षा लिए बिना किसी को इसका उपदेश नहीं करना चाहिए। जो जानते हुए भी जिज्ञासारहित होकर कुतूहल के लिए प्रश्न पूछने वाला हो, उसे भी इस सूक्त का उपदेश नहीं करना चाहिए। जो यज्ञ करने वाला न हो और जो वैष्णव न हो, उसे भी इसका उपदेश नहीं करना चाहिए। जो अयोगी हो, जो ज्यादा बकवास करने वाला हो, जो अप्रिय वचन बोलने वाला हो, जो प्रतिवर्ष एक बार वेदाध्ययन न करता हो, जो असन्तुष्ट हो, जिसने वेदाध्ययन न किया हो—ऐसे लोगों को इस सूक्त का उपदेश नहीं देना चाहिए।

गुरुरप्येवंविच्छुचौ देशे पुण्यनक्षत्रे प्राणानायम्य पुरुषं ध्यायन्नुपसन्नाय शिष्याय दक्षिणकर्णे पुरुषसूक्तार्थमुपदिशेद्विद्वान्। न बहुशो वदेत्। यातयामो भवति। असकृत्कर्णमुपदिशेत्। एतत्कुर्वाणोऽध्येताध्यापकश्च इह जन्मनि पुरुषो भवतीत्युपनिषत्॥12॥

इति चतुर्थः खण्डः।

इति मुद्गलोपनिषत्समाप्ता।
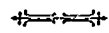
इस सूक्त के अर्थ को सही रूप में जानने वाले गुरु भी किसी पवित्र देश में, पवित्र-शुभ-नक्षत्रों में, प्राणायाम करके, उस परमपुरुष का ध्यान करके, नम्रतापूर्वक पास में आए हुए शिष्य के दाहिने कान में पुरुषसूक्त के अर्थ का उपदेश करे। गुरु को मन्त्र के अलावा ज्यादा नहीं बोलना चाहिए क्योंकि इससे वह उपदेश यातयाम (बासी-उच्छिष्ट-निःसार) को जाएगा। इस मन्त्र (मन्त्ररहस्य) का बार-बार कान में उपदेश करना चाहिए। इस प्रकार से करने वाले गुरु और शिष्य (दोनों) इसी जन्म में परमपुरुष रूप अर्थात् परब्रह्मरूप हो जाते हैं। यही यह उपनिषद् है।

मुद्गलोपनिषद् यहाँ समाप्त होती है।

शान्तिपाठः

ॐ वाङ्मे मनसि॰॰॰वक्तारमवतु वक्तारम्। (पूर्ववत्)

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः॥

मन्त्रानुक्रमणिका

अ

द

य

❉

उपनिषत्सञ्चयनम्

ईशाद्यष्टोत्तरशतोपनिषदः

आचार्य केशवलाल वी. शास्त्री

उपनिषत्सञ्चयनम्

ईशाद्यष्टोत्तरशतोपनिषदः

आचार्य केशवलाल वी. शास्त्री

॥ श्रीः ॥

व्रजजीवन प्राच्यभारती ग्रन्थमाला
162

उपनिषत्सञ्चयनम्

(हिन्दीभाषानुवादसहितम्)

तृतीयः खण्डः

(शाण्डिल्योपनिषदाऽऽरभ्य समाप्तिपर्यन्तम्)

अनुवादकः
आचार्य केशवलाल वि० शास्त्री

चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान
दिल्ली

उपनिषत्सञ्चयनम्

प्रकाशक
चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान
(भारतीय संस्कृति एवं साहित्य के प्रकाशक तथा वितरक)
38 यू. ए. बंगलो रोड, जवाहर नगर
पो. बा. नं. 2113
दिल्ली 110007
दूरभाष : (011) 23856391, 41530902

प्रथम संस्करण 2014 ई.
मूल्य : 375.00

अन्य प्राप्तिस्थान
चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन
के. 37/117, गोपालमन्दिर लेन
पो. बा. नं. 1129, वाराणसी 221001

•

चौखम्बा विद्याभवन
चौक (बैंक ऑफ बड़ौदा भवन के पीछे)
पो. बा. नं. 1069, वाराणसी 221001

•

चौखम्बा पब्लिशिंग हाउस
4697/2 गली नं. 21-ए, अंसारी रोड
दरियागंज, नई दिल्ली-110002

•

मुद्रक
ए.के. लिथोग्राफर्स, दिल्ली

ISBN : 978-81-7084-615-7 (Vol. 3)
978-81-7084-617-3 (Set)

प्राक्कथन

परम्परा तो ऐसा कहती है कि हरएक वैदिक शाखा की अपनी एक-एक उपनिषत् थी; यदि इस किंवदन्ती में कुछ तथ्य हो, तब तो हमारा विशाल उपनिषत्साहित्य कालग्रस्त हो गया है, ऐसा अनुमान किया जा सकता है; पर जो-कुछ भी हो, उपनिषदें कुछ कालग्रस्त हुई भी हों या न हों, तथापि उपनिषदों के निर्माण का सिलसिला तो आधुनिक काल तक जारी ही रहा है। सभी उपनिषदें एक साथ तो नहीं बनी हैं। वैदिककालीन उपनिषदों का भी भाषाकीय दृष्टि से विद्वानों ने क्रम बताया ही है; जैसे—प्रारम्भ में बृहदारण्यक, तैत्तिरीय, ऐतरेय, कौषीतकी, केन और छान्दोग्य आदि गद्य उपनिषदें बनीं। मध्यकाल में कठ, ईश, श्वेताश्वतर, मुण्डक और महानारायण आदि पद्यात्मक उपनिषदें बनीं तथा उसी श्रौतकाल के अन्तभाग में प्रश्न, मैत्रायणी और माण्डूक्योपनिषद् जैसी गद्यात्मक उपनिषदों का निर्माण हुआ—ऐसा भाषावैज्ञानिक विद्वानों का मानना है। यह तो केवल श्रौतकालीन उपनिषदों के भाषाकीय वर्गीकरण के आधार पर उनके समय की क्रमिकता बताने का अनुमान है, परन्तु इसके बाद भी उपनिषदों के निर्माण का क्रम चालू ही रहा है। इसको समझने के लिए हमें इतिहास पर थोड़ी दृष्टि डालनी होगी।

हमारे देश का प्राचीन नाम आर्यावर्त है, पर इसका यह अर्थ नहीं है कि इसमें केवल आर्य-श्रौत-वैदिक लोग ही निवास करते थे; हाँ, आर्य लोगों की अधिकता अवश्य थी। आर्यावर्त में आर्येतर शबर, पुलिन्द आदि कई अन्य लोग भी बसते ही थे। भागवत में ऐसी छोटी-मोटी नौ जातियों का उल्लेख है। तो आर्य और आर्येतर जाति एक ही भूमि पर रहते हुए भी विभिन्न संस्कृति वाली, विभिन्न धर्मभावना वाली और विविध उपासना पद्धति वाली थी। इस तरह दो समान्तर विचारधाराएँ एक ही भूमि पर वर्षों तक प्रवहमान रहीं। श्रौतभावधारा का नाम 'निगम' और इतर भावधारा का सामुदायिक नाम 'आगम' पड़ा।

कालान्तर में दोनों भावधाराओं का—दोनों संस्कृतियों का अभीष्ट संगम हुआ। और ऐसी एक समन्वयात्मक संस्कृति का निर्माण हुआ कि आज हम उन दोनों का पृथक्करण कर ही नहीं सकते; परिणाम यह हुआ कि एक ओर निगमों ने आगम को अपनी उपनिषदों की कुछ विद्याओं में स्थान दिया (जैसे अग्निविद्या आदि) और दूसरी ओर उन आगमों ने भी अपने को, 'वेदबाह्य नहीं हैं, वेदमूलक हम भी हैं'—ऐसा ठहराने का प्रयत्न किया। इसके लिए सबसे सरल मार्ग यह था कि अपने मत की ऐसी कोई उपनिषद् बनाकर किसी-न-किसी वेद के साथ में जोड़ दें। और उन आगमवादियों ने यही मार्ग पसन्द किया और फलस्वरूप हमें कुछ शैव, वैष्णव, शाक्त, गाणपत्य और हठयोग आदि की उपनिषदें मिलीं। उपनिषद् निर्माण का सिलसिला जारी ही रहा। ऐसा होने में निगम-आगम दोनों पक्षों का सहयोग था। निगम पक्ष में इस प्रक्रिया के पुरस्कर्ता 'शुभागमपंचक' (शुक, सनत्कुमार आदि) को माना जाता है। यह घटना अतिप्राचीन है। इस तरह उपनिषदें निर्मित होती रहीं।

श्रौतकाल के बाद की यह ऐतिहासिक घटना है। बौद्धकाल में भी यह समन्वयात्मक उपनिषत् निर्माण का प्रवाह चालू ही रहा और बौद्धमार्ग की छायावाली एक 'वज्रसूचि' नामक उपनिषद् भी मिलती है। समन्वय-भावना भारतीय संस्कृति की नसों में प्रवहमान है। और तो क्या कहें ? मुसलमानों के अर्वाचीन शासनकाल में भी उपनिषदों का बहुत बड़ा विस्तार देखा जाता है। एक 'अल्लोपनिषद्' भी मिलती है। इतना ही नहीं आज तक यह प्रक्रिया चालू ही है। विविध मतवादों को वेदमूलक बताने

की यह समन्वयात्मक प्रक्रिया है। हमारी संस्कृति का यह एक ऐसा शाश्वत तत्त्व है कि जिसके कारण हमारी संस्कृति हजारों वर्षों से जीवित रही है, कभी पतली और कभी अन्त:सलिला सरस्वती की तरह छिपी रहकर भी जीवित ही है। अभी थोड़े समय पहले ही हमारे प्रथम गवर्नर जनरल राजगोपालाचारी ने 'रामकृष्णोपनिषद्' नाम की एक उपनिषत् लिखी थी, परन्तु वह अंग्रेजी में होने से उपनिषदों की शैलीयुक्त नहीं थी इसलिए बेंगलूरू के स्वामी हर्षानन्द ने इसे उपनिषदों की शैली में पुन: संस्कृत में प्रस्तुत किया है।

यह सारा इतिहास हमारे वेदों, हमारी उपनिषदों और हमारी समन्वयभावना का महिमागान कर रहा है, हमारी वेदमूलकता को बढ़ावा दे रहा है, तथा उपनिषद् की उपादेयता बता रहा है।

आज तो इन उपनिषदों की संख्या सम्भवत: 272 तक पहुँच गई है, परन्तु उनमें से महत्त्वपूर्ण उपनिषदों का विद्वानों ने संचय या समुच्चय किया है। कभी-कभी उसे उपनिषत्संहिता भी कहा जाता है। इस प्रकार के समुच्चय दो प्रकार के हुए हैं—एक उत्तर भारतवर्ष में हुआ है और दूसरा दक्षिण भारत में व्यवस्थित हुआ है। पहले समुच्चय में 52 उपनिषदें आती हैं और दूसरे समुच्चय में 108 उपनिषदें आती हैं। पहले समुच्चय के ऊपर श्रीनारायण की दीपिका नाम की टीकाएँ हैं, और उसकी व्यवस्था भी नारायण ने ही रची है, ऐसा विद्वानों का अनुमान है। इसके बाद का दूसरा समुन्चय जो कि मुक्तिकोपनिषत् में प्रस्तुत की गई (108 उपनिषदों वाली) सूची के अनुसार है, जो अधिक प्रचलित है और 'अष्टोत्तरशतोपनिषत्' की संज्ञा से प्रतिष्ठित है, अत: प्रस्तुत संस्करण में इस दूसरे अधिक प्रचलित समुच्चय को ही ग्रहण किया गया है, और उस समुच्चय में कुछ उपनिषदों के पूर्व और उत्तर ऐसे दो भाग होने से कुल एक सौ ग्यारह उपनिषदें होती हैं।

मुक्तिकोपनिषत् में दिये गए विवरण के अनुसार 108 उपनिषदों की सारणी इस प्रकार है—इसमें ऋग्वेद की 10, शुक्लयजुर्वेद की 19, कृष्णयजुर्वेद की 32, सामवेद की 16 और अथर्ववेद की 31 = कुल मिलाकर 108 उपनिषदें होती हैं, जिसका विवरण यहाँ दिया जा रहा है—

१) ऋग्वेदीय उपनिषदें—ऐतरेय, कौषीतकि, नादबिन्दु, आत्मबोध, निर्वाण, मुद्गल, अक्षमालिका, त्रिपुरा, सौभाग्यलक्ष्मी और बह्वृच (कुल 10)।

२) शुक्लयजुर्वेदीय उपनिषदें—ईश, बृहदारण्यक, जाबाल, हंस, परमहंस, सुबाल, मंत्रिका, निरालम्ब, त्रिशिखिब्राह्मण, मण्डलब्राह्मण, अद्वयतारक, पैंगल, भिक्षुक, तुरीयातीतावधूत, अध्यात्म, तारसार, याज्ञवल्क्य, शाट्यायनी और मुक्तिका (कुल 19)।

३) कृष्णयजुर्वेदीय उपनिषदें—कठ, तैत्तिरीय, ब्रह्म, कैवल्य, श्वेताश्वतर, गर्भ, नारायण, अमृतबिन्दु, अमृतनाद, कालाग्निरुद्र, क्षुरिका, सर्वसार, शुकरहस्य, तेजोबिन्दु, ध्यानबिन्दु, ब्रह्मविद्या, योगतत्त्व, दक्षिणामूर्ति, स्कन्द, शारीरक, योगशिखा, एकाक्षर, अक्षि, अवधूत, कठरुद्र, रुद्रहृदय, योगकुण्डलिनी, पंचब्रह्म, प्राणाग्निहोत्र, वराह, कलिसंतरण, सरस्वतीरहस्य (कुल मिलाकर 32)।

४) सामवेदीय उपनिषदें—केन, छान्दोग्य, आरुणि, मैत्रायणि, मैत्रेयी, वज्रसूचिका, योगचूडामणि, वासुदेव, महा, संन्यास, अव्यक्त, कुण्डिका, सावित्री, रुद्राक्षजाबाल, जाबालदर्शन और जाबालि (कुल 16)।

५) अथर्ववेदीय उपनिषदें—प्रश्न, मुण्डक, माण्डूक्य, अथर्वशिर, अथर्वशिखा, बृहज्जाबाल, नृसिंहतापिनी, नारदपरिव्राजक, सीता, शरभ, त्रिपाद्विभूतिमहानारायण, रामरहस्य, रामतापिनी,

शाण्डिल्य, परमहंसपरिव्राजक, अन्नपूर्णा, सूर्य, आत्मा, पाशुपतब्रह्म, परब्रह्म, त्रिपुरातापिनी, देवी, भावना, ब्रह्मजाबाल, गणपति, महावाक्य, गोपालतापिनी, कृष्ण, हयग्रीव, दत्तात्रेय, गरुड (कुल 31)।

हमने नृसिंहतापिनी, रामतापिनी तथा गोपालतापिनी इन तीनों उपनिषदों के जो पूर्वतापिनी और उत्तरतापिनी ऐसे दो विभाग प्रचलित हैं, उन्हीं का स्वीकार करके दो-दो उपनिषदों की गणना की है, इस प्रकार इस दूसरे समुच्चय में उपनिषदों की कुल संख्या 111 होती है।

हमारी आज की संस्कृत भाषा की अपेक्षा प्राचीन उपनिषदों की वैदिक संस्कृत भाषा कुछ अलग है और अर्वाचीन उपनिषदों में भी पारिभाषिकता अधिक होने से संस्कृत के अनभिज्ञ लोगों के लिए और कभी-कभी अभिज्ञ लोगों के लिए भी दुरूह हो गई हैं, फिर भी उपनिषदों के आदर्श इतने महान् और भव्य हैं कि सम्पूर्ण विश्व की दृष्टि को अपनी ओर उन्होंने आकर्षित किया है। ई. 1640 में शाहजहाँ के ज्येष्ठपुत्र दाराशिकोह ने अपने काश्मीरवास के दरमियान उपनिषदों के बारे में कुछ बातें सुनकर वाराणसी के कुछ पण्डितों को दिल्ली बुलाकर पहले-पहल उपनिषदों का फारसी अनुवाद करवाया। सन् 1775 में फैजाबाद में रहने वाले फ्रांसीसी राजदूत ली जेन्टील ने उस अनुवाद की एक कापी अपने मित्र एकेलीन दुपरो को दी। उन्होंने उन उपनिषदों का लैटिन में अनुवाद किया और 1801-2 में वह प्रकाशित हुआ। वह अनुवाद क्लिष्ट होने पर भी शोपनहॉवर ने उसे बड़े उत्साह से पढ़ा। उन पर उसका बड़ा भारी प्रभाव पड़ा। उन्होंने लिखा है—''इस नवीन शताब्दि में सबसे महत्त्वपूर्ण लाभ यह हुआ है कि उपनिषदों के अनुवाद ने वेदों के अपौरुषेय ज्ञान का मार्ग खोल दिया है। मेरा यह विश्वास है कि संस्कृत साहित्य का प्रभाव उतना ही गम्भीर और व्यापक होगा, जितना की पंद्रहवी शताब्दि में पुनरुत्थानकाल में ग्रीक साहित्य का हुआ था। मेरी यह मान्यता है कि यदि किसी व्यक्ति ने प्राचीन भारतीय दर्शन का ज्ञान प्राप्त किया है, और उसने उसे समझा हो, तो उसे मैं जो कुछ भी कहना चाहता हूँ, वह इससे और भी स्पष्ट हो जाएगा। उपनिषदों में अपना अलग-अलग अस्तित्व रखने वाले अनेक क्लिष्ट सूत्र जो हैं, वे मेरे वर्णन से सरल-सुबोध हो जाएंगे।'' (हाल्डेन एवं केम्प कृत अनुवाद)

उपनिषदों की अपनी भूमिका में मैक्समूलर ने कहा है—''शोपनहॉवर ने उपनिषदों को जो 'उच्चतर मनीषा की उपज' कहा है, वह ठीक ही है, किन्तु और भी तथ्य उन्होंने बताया वह भी बड़ा महत्त्वपूर्ण है, वह यह कि उपनिषदों में जो बहुदेववाद दिखाई देता है, वह ब्रूनो, मेलकांश, स्पिनोजा और स्काट्स एरिजिना के बताए हुए बहुदेववाद से कहीं अधिक उच्चतर है। इन महान् ज्ञान-भाण्डागारों को उच्चतम स्थान दिलाने के लिए इतना ही पर्याप्त है। इनके सम्बन्ध में कुछ कहूँ, तो उससे अधिक वे स्वयं प्रमाण हैं।''

इसके बाद स्वामी विवेकानन्द आए। इनके पहले भी कुछ भारतीय विद्या के प्रेमी हुए थे, पर बहुत ही व्यापक प्रमाण में उन्होंने उपनिषदों के वेदान्ती ज्ञान को सारे पश्चिम में एक झंझावात की तरह फैला दिया। और आज तो प्रत्येक विचारक उपनिषदों को लक्ष्य में लिए बिना रह ही नहीं सकता। डॉ० सर्वपल्ली राधाकृष्णन् को भी इसका श्रेय जाता है।

ऐसे हमारे संचित निधि के रूप में आज भी वे जगमगा रहे हैं। उपनिषदों के ही प्रभाव से एक युग के कट्टर शत्रु 'विज्ञान' और 'अध्यात्म' आज नजदीक आ गए हैं। एक समय था जब अध्यात्म और विज्ञान के बीच पूर्णिमा और अमावास्या जितना बड़ा अन्तर था, जो आज शुक्ल चतुर्दशी और पूर्णिमा जितना मात्र ही रह गया है, दोनों के रास्ते अलग होने पर भी लक्ष्य एक ही है। विज्ञान बाहर से जिस तत्त्व की खोज कर रहा है, उसी तत्त्व की खोज अध्यात्म भीतर (अन्तस्) से कर रहा है। एक

शक्ति केन्द्रोत्सारी है, दूसरी केन्द्रगामी है। अनादि काल से दोनों की प्रक्रियाएँ अविरत चल ही रहीं हैं। कौन प्रथम और कौन द्वितीय है—यह कौन कह सकता है ? कोई नहीं। अत: हमें दोनों का स्वीकार करके चलना है। ऐसा नहीं करेंगे तो गति रुक जाएगी। इसलिए हमें आज केन्द्रगामी शक्ति के छूट जाने का भय सता रहा है, और उसे परितुष्ट केवल उपनिषदें ही कर सकती हं; चलिए हम फिर से उस केन्द्रगामी शक्ति को जगाएँ और उपनिषद् के विचारों को सोच-समझकर अपने जीवन को सुव्यवस्थित बनाएँ। हमें ये सभी विविध अध्यात्म विभावनाएँ मान्य हैं, लेकिन हम उनमें से अपनी रुचि, रस, रुझान, योग्यता, अधिकार के योग्य वस्तु चुनकर जीवन को संतुलित करेंगे—'एकं सद् बहुधा विप्रा वदन्ति।'

प्रकृत संस्करण के सन्दर्भ में

मुक्तिकोपनिषत् में वर्णित क्रम के अनुसार, जिसका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है, उपनिषदों की संख्या 108 मानने की परम्परा चली आ रही है। श्री शंकराचार्य के भाष्यवाली उपनिषदों के अलावा एक-दो और उपनिषदों का मन्त्रश: हिन्दी अनुवाद तो मिलता है, इसके अतिरिक्त 98 उपनिषदों का मन्त्रश: हिन्दी अनुवाद हमारी दृष्टि में नहीं आया है। अत: हमने औपनिषदिक मन्त्रों के मौलिक स्वरूप को ध्यान में रखते हुए जहाँ तक बन सका है, मूलपाठों का अन्वय करके शब्दश: अनुवाद करने का प्रयास किया है। उपनिषत्कथित उपासनाओं की निदर्शनीय प्रक्रियाएँ अब लुप्त-प्राय हो गईं हैं, इसलिए भिन्न-भिन्न व्याख्याकारों ने अपने विशिष्ट ढंग से उन मन्त्रों की विवेचना की है। उनमें से हमें जो ज्यादा सरल और सुगम जान पड़ी, उसी के आधार पर मन्त्रों का अनुवाद प्रस्तुत किया है। उपासनाओं की गुत्थियों को सुलझाने के लिए पं० वासुदेवशरण अग्रवाल प्रभृति विद्वानों के अभिप्रायों को लक्ष्य में लेने का यथा सम्भव प्रयास किया है। तान्त्रिक, यौगिक एवं सम्प्रदाय-विशेष की उपनिषदों के अनुवाद में सुगमता एवं सरलता का विशेष ध्यान रखा गया है।

आशा है मेरा यह प्रयास संस्कृत एवं संस्कृति-प्रेमियों को पसन्द आयेगा।

31,ओंकार टावर,
राजकोट (गुजरात)

विदुषामनुचर:
केशवलाल वि० शास्त्री

उपनिषत्क्रम

❋

॥ श्रीः ॥

उपनिषत्सञ्चयनम्

(60) शाण्डिल्योपनिषत्

(उपनिषत्परिचय)

अथर्ववेदीय इस उपनिषद् में शाण्डिल्य और अथर्वा की प्रश्नोत्तरी के माध्यम से 'योगविद्या' का विशद विवेचन है। इसमें तीन अध्याय हैं। प्रथम अध्याय में ग्यारह खण्ड हैं और तृतीय अध्याय में दो खण्ड हैं। इस तरह प्रथम अध्याय सबसे बड़ा है। आत्मोपलब्धि के उपाय के रूप में अष्टांगयोग सम्बन्धी विशद वर्णन प्रथमाध्याय में है। पातंजलयोगदर्शन से इसमें कुछ विशेषताएँ हैं, जो उपनिषद् के अध्ययन से ज्ञात होंगी। इसमें नाडीशोधन की प्रक्रिया ध्यानार्ह है। वह प्राणजय और सिद्धिप्राप्ति के लिए अधिकार प्राप्त करने में आवश्यक हैं। दूसरे अध्याय में ब्रह्म के सर्वव्यापी स्वरूप, उसकी अनिर्वचनीयता, उसकी लोकोत्तरता, उसकी ज्ञानगम्यता और जीवब्रह्मैक्य भावना बताई गई हैं। तीसरे अध्याय में ब्रह्म का सकल-निष्कल रूप भेद बताया गया है। ब्रह्म की सृष्टिसर्जकता की उपपत्ति दिखाकर अन्त में फलश्रुति कही गई है।

शान्तिपाठः

ॐ भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः।
स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवाꣳसस्तनूभिर्व्यशेमहि देवहितं यदायुः ॥
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

हे देवो! हम अपने कानों से केवल कल्याणकारी बातें ही सुनें। जिन्हें हम जानते हैं, ऐसे हे देवो! हम अपनी आँखों से केवल शुभ दृश्यों को ही देखें। हम अपने सुदृढ़ अंगों से युक्त शरीर के द्वारा आपकी स्तुति करते रहें। हम, देवों का दिया हुआ जितना आयुष्य है, उसे भोगते रहें।

वैयक्तिक शान्ति हो, पर्यावरणीय शान्ति हो, प्राणिजगत् की शान्ति हो।

प्रथमोऽध्यायः

प्रथमः खण्डः

शाण्डिल्यो ह वा अथर्वाणं पप्रच्छात्मलाभोपायभूतमष्टाङ्गयोगमनुब्रूहीति ॥1॥

स होवाचाथर्वा—यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाध-योऽष्टाङ्गानि ॥2॥

तत्र दश यमाः । तथा नियमाः । आसनान्यष्टौ । त्रयः प्राणायामाः । पञ्च प्रत्याहाराः । तथा धारणाः । द्विप्रकारं ध्यानम् । समाधिस्त्वेकरूपः ॥3॥

शाण्डिल्य ने अथर्वा मुनि से पूछा कि "आत्मा की प्राप्ति के उपायरूप में अष्टांग योग के विषय में आप मुझे कहिए।" तब मुनि अथर्वा बोले कि यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि—ये योग के आठ अंग हैं। उनमें यम दश हैं और नियम भी दश हैं, आसन आठ हैं, प्राणायाम तीन हैं, प्रत्याहार पाँच हैं, धारणाएँ भी पाँच हैं, ध्यान दो प्रकार का है और समाधि तो एक ही प्रकार की है।

तत्राहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यदयार्जवक्षमाधृतिमिताहारशौचानि चेति यमा दश ॥4॥
तत्राहिंसा नाम मनोवाक्कायकर्मभिः सर्वभूतेषु सर्वदाऽक्लेशजननम् ॥5॥
सत्यं नाम मनोवाक्कायकर्मभिर्भूतहितयथार्थाभिभाषणम् ॥6॥
अस्तेयं नाम मनोवाक्कायकर्मभिः परद्रव्येषु निःस्पृहता ॥7॥
ब्रह्मचर्यं नाम सर्वावस्थासु मनोवाक्कायकर्मभिः सर्वत्र मैथुनत्यागः ॥8॥
दया नाम सर्वभूतेषु सर्वत्रानुग्रहः ॥9॥
आर्जवं नाम मनोवाक्कायकर्मणां विहिताविहितेषु जनेषु प्रवृत्तौ निवृत्तौ वा एकरूपत्वम् ॥10॥
क्षमा नाम प्रियाप्रियेषु सर्वेषु ताडनपूजनेषु सहनम् ॥11॥
धृतिर्नामार्थहानौ स्वेष्टबन्धुवियोगे तत्प्राप्तौ सर्वत्र चेतःस्थापनम् ॥12॥
मिताहारो नाम चतुर्थांशावशेषकसुस्निग्धमधुराहारः ॥13॥
शौचं नाम द्विविधं बाह्यमान्तरं चेति । तत्र मृज्जलाभ्यां बाह्यम् । मनः-शुद्धिरान्तरम् । तदध्यात्मविद्यया लभ्यम् ॥14॥

इति प्रथमः खण्डः ।

उनमें अहिंसा, सत्य, दूसरे की वस्तु के प्रति निःस्पृहता, ब्रह्मचर्य, दया, सरलता, क्षमा, धैर्य, मिताहार और पवित्रता—ये दश यम हैं। उन दश यमों में अहिंसा का अर्थ—मन-वचन-काया और कर्म से सभी प्राणियों को कभी भी दुःख न पहुँचाना होता है। सत्य का अर्थ—मन-वचन-काया-कर्म से यथार्थ और प्राणियों के लिए हितकारक बोलना होता है। अस्तेय का अर्थ—मन-वचन-काया और कर्म से परद्रव्य पर स्पृहारहित होना होता है। ब्रह्मचर्य का अर्थ—सभी अवस्थाओं में मन-वचन-काया और कर्म से सर्वथा मैथुन का त्याग होता है। दया का अर्थ—सभी प्राणियों पर सर्वत्र कृपा रखना होता है। आर्जव का अर्थ—मन-वचन-काया और कर्मों की लोगों के द्वारा अपनी ओर प्रवृत्ति हो या निवृत्ति हो और वह प्रवृत्ति या निवृत्ति शास्त्रीय हो या अशास्त्रीय भी हो, तो भी मनःस्थिति को समान ही रखना होता है। क्षमा का अर्थ—जो कुछ भी प्रिय-अप्रिय पूजन-ताडनादि घटनाएँ हों, उन्हें सहन करना होता है। धृति का अर्थ—धन की हानि होने पर अथवा अपने इष्ट सम्बन्धियों का वियोग या संयोग होने पर सर्वत्र चित्त को स्थिर-स्वस्थ रखना होता है। मिताहार का अर्थ—उदर में चौथा भाग शेष रहे इस तरह ही दूध, घी आदि मधुर पदार्थों का आहार करना होता है। शौच का अर्थ—शरीर के बाहर और भीतर

दोनों की शुद्धि करना होता है। उनमें बाहर की शुद्धि तो मिट्टी और पानी से हो जाती है। पर मन की शुद्धि तो आन्तरिक शुद्धि है, जो अध्यात्मविद्या से ही होती है।

यहाँ प्रथम खण्ड पूरा हुआ।

❋

द्वितीयः खण्डः

तपःसन्तोषास्तिक्यदानेश्वरपूजनसिद्धान्तश्रवणह्रीमतिजपव्रतानि दश नियमाः ॥1॥
तत्र तपो नाम विध्युक्तकृच्छ्रचान्द्रायणादिभिः शरीरशोषणम् ॥2॥
सन्तोषो नाम यदृच्छालाभसंतुष्टिः ॥3॥
आस्तिक्यं नाम वेदोक्तधर्माधर्मेषु विश्वासः ॥4॥
दानं नाम न्यायार्जितस्य धनधान्यादेः श्रद्धयाऽर्थिभ्यः प्रदानम् ॥5॥
ईश्वरपूजनं नाम प्रसन्नस्वभावेन यथाशक्ति विष्णुरुद्रादिपूजनम् ॥6॥
सिद्धान्तश्रवणं नाम वेदान्तार्थविचारः ॥7॥
ह्रीर्नाम वेदलौकिकमार्गकुत्सितकर्मणि लज्जा ॥8॥
मतिर्नाम वेदविहितकर्ममार्गेषु श्रद्धा ॥9॥
जपो नाम विधिवद्गुरूपदिष्टवेदाविरुद्धमन्त्राभ्यासः । तद्द्विविधं वाचिकं मानसं चेति । मानसं तु मनसा ध्यानयुक्तम् । वाचिकं द्विविधमुच्चैरुपांशुभेदेन । उच्चैरुच्चारणं यथोक्तफलम् । उपांशु सहस्रगुणम् । मानसं कोटिगुणम् ॥10॥
व्रतं नाम वेदोक्तविधिनिषेधानुष्ठाननैयत्यम् ॥11॥

इति द्वितीयः खण्डः ।

और दश नियम ये हैं—तप, सन्तोष, आस्तिक्य, दान, ईश्वरपूजन, सिद्धान्तश्रवण, ह्री, मति, जप और व्रत। उन नियमों में तप का अर्थ—विधिपूर्वक किए गए कृच्छ्रचान्द्रायणादि व्रतों द्वारा शरीर को सुखा देना होता है। सन्तोष का अर्थ—दैव इच्छा से जो कुछ भी मिले उसमें संतुष्ट रहना होता है। आस्तिक्य का अर्थ—वेदोक्त धर्म और अधर्म पर विश्वास होता है। दान का अर्थ—नीति से प्राप्त धन-धान्यादि को श्रद्धापूर्वक गरीबों को देना होता है। ईश्वरपूजन का अर्थ—प्रसन्नचित्त से यथाशक्ति विष्णु-रुद्रादि का पूजन होता है। सिद्धान्तश्रवण का अर्थ—वेदान्त के अर्थों का विचार करना होता है। 'ह्री' का अर्थ—लोकमार्ग में और वेदमार्ग में अधम माने गए कार्य को करने में 'लज्जा' होता है। मति का अर्थ—वेदोक्त कर्म मार्ग में श्रद्धा होता है। जप का अर्थ—गुरु के द्वारा उपदिष्ट मान्य वेदमंत्रों का अभ्यास होता है। यह जप दो प्रकार से किया जाता है—एक वाचिक और दूसरा मानसिक। उनमें मानसिक जप ध्यानयुक्त मन से होता है और वाचिक जप दो प्रकार से किया जाता है—ऊँची आवाज से और धीमी आवाज से। इसमें ऊँची आवाज से जप करने से तो यथोक्त फल ही मिलता है, पर धीमी आवाज से जप करने से हजार गुना फल मिलता है। और मानसिक जप से तो करोड़ गुना फल मिलता है। व्रत का अर्थ वेदोक्त विधिनिषेध का यथावत् आचरण करना होता है।

यहाँ पर दूसरा खण्ड पूरा हुआ।

❋

तृतीयः खण्डः

स्वस्तिकगोमुखपद्मवीरसिंहभद्रमुक्तमयूराख्यान्यासनान्यष्टौ ।
स्वस्तिकं नाम—
जानूर्वोरन्तरे सम्यक्कृत्वा पादतले उभे ।
ऋजुकायः समासीनः स्वस्तिकं तत्प्रचक्षते ॥1॥

स्वस्तिक, गोमुख, पद्म, वीर, सिंह, भद्र, मुक्त और मयूर नाम के आठ आसन होते हैं। उनमें यदि दोनों पैरों के तलों को दोनों घुटनों और ऊरुओं के बीच रखकर सीधा बैठा जाए तो उसे 'स्वस्तिकासन' कहा जाता है।

सव्ये दक्षिणगुल्फं तु पृष्ठपार्श्वे नियोजयेत् ।
दक्षिणेऽपि तथा सव्यं गोमुखं गोमुखं यथा ॥2॥

पीठ के दाहिने पार्श्व पर बायाँ टखना और पीठ की बाँयी ओर दाहिना टखना जोड़कर गोमुख की तरह यदि बैठा जाए तो 'गोमुख' नाम का आसन होता है।

अङ्गुष्ठेन निबध्नीयाद्धस्ताभ्यां व्युत्क्रमेण च ।
ऊर्वोरुपरि शाण्डिल्य कृत्वा पादतले उभे ।
पद्मासनं भवेदेतत् सर्वेषामपि पूजितम् ॥3॥

हे शाण्डिल्य ! दोनों हाथों से उल्टी रीति से दोनों पैरों के अँगूठे को पकड़कर दोनों ऊरुओं के ऊपर दोनों पादतलों को एक-दूसरे के विपरीत क्रम में रखकर बैठने से सर्वजनों द्वारा पूजित 'पद्मासन' होता है।

एकं पादमथैकस्मिन् विन्यस्योरुणि संस्थितः ।
इतरस्मिंस्तथा चोरुं वीरासनमुदीरितम् ॥4॥

एक जाँघ को एक पैर से तथा दूसरी जाँघ को दूसरे पैर से जोड़कर जब बैठा जाता है, तब वह 'वीरासन' कहा जाता है।

दक्षिणं सव्यगुल्फेन दक्षिणेन तथेतरम् ।
हस्तौ च जान्वोः संस्थाप्य स्वाङ्गुलीश्च प्रसार्य च ॥5॥
व्यक्तवक्त्रो निरीक्षेत नासाग्रं सुसमाहितः ।
सिंहासनं भवेदेतत् पूजितं योगिभिः सदा ॥6॥

दाहिने गुल्फ (टखने) के साथ बाँया गुल्फ (टखना) और बाँये गुल्फ के साथ दाहिना गुल्फ जोड़कर दोनों हाथों को दोनों घुटनों पर रखना चाहिए और अपनी अँगुलियाँ फैलाकर रखनी चाहिए। फिर अच्छी तरह से एकाग्र होकर प्रसन्नमुख से नासाग्र भाग पर दृष्टि स्थिर करे, तब 'सिंहासन' नामक आसन होता है। यह योगियों से सदा पूजित है।

योनिं वामेन संपीड्य मेढ्रादुपरि दक्षिणम् ।
भ्रूमध्ये च मनोलक्ष्यं सिद्धासनमिदं भवेत् ॥7॥

गुद प्रदेश को बाएँ पैर से दबाकर दाहिना पैर लिंग के ऊपर रखे और बाद में दोनों भौहों पर लक्ष्य करे। यह 'सिद्धासन' होता है।

गुल्फौ तु वृषणस्याधः सीवन्याः पार्श्वयोः क्षिपेत् ।
पादपार्श्वे तु पाणिभ्यां दृढं बद्ध्वा सुनिश्चलम् ।
भद्रासनं भवेदेतत् सर्वव्याधिविषापहम् ॥8॥

वृषण के नीचे सीवनी (लिंगमणि के नीचे के सूत्र) के दोनों ओर दोनों टखनों को स्थिर करके दोनों हाथों से पैरों के दोनों पार्श्वों को जोर से पकड़कर निश्चलतापूर्वक बैठने से 'भद्रासन' होता है। यह आसन सभी प्रकार के रोगों और विषों को दूर करने वाला है।

संपीड्य सीविनीं सूक्ष्मां गुल्फेनैव तु सव्यतः ।
सव्यं दक्षिणगुल्फेन मुक्तासनमुदीरितम् ॥9॥

सूक्ष्म सीवनी (लिंगमणि के नीचे के मूल) को बायें टखने से दबाकर तथा दाहिने टखने से बायें टखने को दबाकर बैठने से जो आसन होता है, उसे 'मुक्तासन' कहा गया है।

अवष्टभ्य धरां सम्यक् तलाभ्यां तु करद्वयोः ।
हस्तयोः कूर्परौ चापि स्थापयेन्नाभिपार्श्वयोः ॥10॥
समुन्नतशिरःपादो दण्डवद्व्योम्नि संस्थितः ।
मयूरासनमेतत्तु सर्वपापप्रणाशनम् ॥11॥

दोनों करतलों को धरती पर अच्छी तरह से लगाकर दोनों हाथों की कोहनियों को नाभि के दोनों पार्श्वों पर स्थापित किया जाए। बाद में मस्तक और पैर ऊँचे ले जाकर आकाश में लाठी की तरह अवस्थित रहा जाए तो उसे 'मयूरासन' कहा जाता है। वह आसन सभी पापों का नाशक है।

शरीरान्तर्गताः सर्वे रोगा विनश्यन्ति। विषाणि जीर्यन्ते ॥12॥
येन केनासनेन सुखधारणं भवत्यशक्तस्तत्समाचरेत् ॥13॥
येनासनं विजितं जगत्त्रयं तेन विजितं भवति ॥14॥
यमनियमाभ्यां संयुक्तः पुरुषः प्राणायामं चरेत्। तेन नाडयः शुद्धा भवन्ति ॥15॥

इति तृतीयः खण्डः ।

इन आसनों से शरीर के भीतर स्थित सभी रोग नष्ट हो जाते हैं और जहर भी पच जाता है। यदि कोई इन सभी आसनों को करने में अशक्त हो तो उसको जिस किसी भी आसन से धारणा हो सकती हो, उसी का अभ्यास करना चाहिए। जिसने आसन जीता है, उसने तीनों लोक जीत लिए हैं, ऐसा समझना चाहिए। यम-नियमों से अच्छी तरह से सज्ज होने के बाद मनुष्य (साधक) को प्राणायाम का अभ्यास करना चाहिए। उससे नाड़ियाँ शुद्ध होती हैं।

यहाँ तीसरा खण्ड पूरा हुआ।

❋

चतुर्थः खण्डः

अथ हैनमथर्वाणं शाण्डिल्यः पप्रच्छ केनोपायेन नाड्यः शुद्धाः स्युः । नाडयः कतिसंख्याकाः तासामुत्पत्तिः कीदृशी। तासु कति वायव-

स्तिष्ठन्ति । तेषां कानि स्थानानि । तत्कर्माणि कानि । देहे यानि यानि विज्ञातव्यानि तत्सर्वं मे ब्रूहीति ॥1॥

इसके बाद शाण्डिल्य ने अथर्वा से पूछा—"ये नाड़ियाँ किस उपाय से शुद्ध होती हैं ? नाड़ियों की संख्या कितनी हैं ? नाड़ियों की उत्पत्ति किस तरह हुई ? उनमें कितने वायु रहते हैं ? उनके स्थान कौन-कौन से हैं ? उनके कार्य कौन-कौन से हैं ? इस शरीर में जो कुछ भी जानने लायक है, यह सब आप मुझे कहिए।"

स होवाचाथर्वा । अथेदं शरीरं षण्णवत्यङ्गुलात्मकं भवति । शरीरात् प्राणो द्वादशाङ्गुलाधिको भवति ॥2॥

शरीरस्थं प्राणमग्निना सह योगाभ्यासेन समं न्यूनं वा यः करोति स योगिपुङ्गवो भवति ॥3॥

देहमध्ये शिखिस्थानं त्रिकोणं तप्तजाम्बूनदप्रभं मनुष्याणाम् । चतुष्पदां चतुरस्रम् । विहगानां वृत्ताकारम् । तन्मध्ये शुभा तन्वी पावकी शिखा तिष्ठति ॥4॥

तब अथर्वा ने कहा—"यह शरीर छियानबे अंगुलों के प्रमाणवाला है। शरीर की अपेक्षा प्राणवायु बारह अंगुल अधिक प्रमाणवाला है। शरीरस्थ प्राण को योगाभ्यास के द्वारा जो मनुष्य अग्नि के साथ सम स्थिति वाला या उससे न्यून (शरीर के समान या उससे कम) कर सकता है, वह उत्तम योगी होता है। मनुष्य के शरीर में अग्नि का स्थान तीन कोनों वाला और तपाए गए सुवर्ण जैसी कान्तिवाला है। चार पैर वाले प्राणियों के शरीर में अग्नि चार कोनों वाला होता है। पक्षियों में वह गोलाकार होता है। उस अग्निस्थान में एक पतली और उत्तम अग्निशिखा अवस्थित है।

गुदाद् द्व्यङ्गुलादूर्ध्वं मेढ्राद् द्व्यङ्गुलादधो देहमध्यं मनुष्याणां भवति । चतुष्पदां हृन्मध्यम् । विहगानां तुन्दमध्यम् । देहमध्यं नवाङ्गुलं चतुरङ्गुलमुत्सेधायतमण्डाकृति ॥5॥

तन्मध्ये नाभिः । तत्र द्वादशारयुतं चक्रम् । तच्चक्रमध्ये पुण्यपाप-प्रचोदितो जीवो भ्रमति ॥6॥

तन्तुपञ्जरमध्यस्थलूतिका यथा भ्रमति तथा चासौ तत्र प्राणश्चरति । देहेऽस्मिन् जीवः प्राणारूढो भवेत् ॥7॥

गुदा से दो अंगुल ऊँचे और लिंग से दो अंगुल नीचे मनुष्य के शरीर का मध्य भाग होता है। चार पैरों वाले पशुओं के लिए शरीर का मध्यभाग हृदय होता है और पक्षियों के लिए शरीर का मध्यभाग पेट होता है। शरीर का वह मध्यभाग नव अंगुल ऊँचा और चार अंगुल विस्तारवाला होता है। उसकी आकृति अण्डे जैसी होती है। उसके बीच में नाभि होती है। उसमें बारह अरों वाला एक चक्र होता है। इस चक्र के बीच पुण्य और पाप से प्रेरित होकर अपनी ही तंतुजाल में घूमती मकड़ी की तरह जीव भ्रमण करता रहता है। इसी प्रकार यह प्राण भी वहीं घूमा करता है। इस शरीर में जीव प्राण पर आरूढ़ हुआ है।

नाभेस्तिर्यगधोर्ध्वं कुण्डलिनीस्थानम् । अष्टप्रकृतिरूपाष्टधा कुण्डली-कृता कुण्डलिनी शक्तिर्भवति । यथावद्वायुसंचारं जलान्नादीनि परितः

स्कन्धपार्श्वेषु निरुध्यैनं मुखेनैष समावेष्ट्य ब्रह्मरन्ध्रं योगकालेऽपाने-नाग्निना च स्फुरति । हृदयाकाशे महोज्ज्वला ज्ञानरूपा भवति ॥8॥

नाभि के नजदीक नीचे और ऊपर के भाग में कुण्डलिनी का स्थान है। वह कुण्डलिनी आठ प्रकार की प्रकृति से युक्त है और आठ आवृतियों युक्त होकर वहाँ अवस्थित है। योग की स्थिति में यह कुण्डलिनी शक्ति वायु-संचार को व्यवस्थित करके और अन्न-जलादि को चारों ओर से कन्धों के पार्श्वभाग में स्थिर करके उसे पुनः मुँह से लेकर अपान और अग्नि के द्वारा ब्रह्मरन्ध्र तक जाग्रत् होती है। हृदयाकाश में वह महा उज्ज्वल और ज्ञानरूप हो जाती है।

मध्यस्थकुण्डलिनीमाश्रित्य मुख्या नाड्यश्चतुर्दश भवन्ति । इडा पिङ्गला सुषुम्ना सरस्वती वारुणा पूषा हस्तिजिह्वा यशस्विनी विश्वोदरी कुहूः शङ्खिनी पयस्विनी अलम्बुसा गान्धारीति नाड्यश्चतुर्दश भवन्ति ॥9॥

तत्र सुषुम्ना विश्वधारिणी मोक्षमार्गेति चाचक्षते । गुदस्य पृष्ठभागे वीणादण्डाश्रिता मूर्धपर्यन्तं ब्रह्मरन्ध्रे विज्ञेया व्यक्ता सूक्ष्मा वैष्णवी भवति ॥10॥

मध्य में अवस्थित उस कुण्डलिनी का आश्रय करके चौदह मुख्य नाड़ियाँ अवस्थित हैं। इडा, पिंगला, सुषुम्ना, सरस्वती, वारुणी, पूषा, हस्तिजिह्वा, यशस्विनी, विश्वोदरी, कुहू, शंखिनी, पयस्विनी, अलम्बुसा और गान्धारी—ये उन चौदह नाड़ियों के नाम हैं। उनमें सुषुम्ना विश्व को धारण करने वाली और मोक्ष की मार्गरूप है, ऐसा योगी लोग कहते हैं। गुदा के पीछे के भाग में वीणा के दण्ड की तरह वह लम्बवत् स्थित है और वह वहाँ से सीधे मस्तक में ब्रह्मरन्ध्र तक पहुँती है, ऐसा जानना चाहिए। वह स्पष्ट, सूक्ष्म और वैष्णवी है।

सुषुम्नायाः सव्यभागे इडा तिष्ठति । दक्षिणभागे पिङ्गला । इडायां चन्द्र-श्चरति । पिङ्गलायां रविः । तमोरूपश्चन्द्रः । रजोरूपो रविः । विषभागो रविः । अमृतभागश्चन्द्रमाः । तावेव सर्वकालं धत्तः । सुषुम्ना कालभोक्त्री भवति । सुषुम्नापृष्ठपार्श्वयोः सरस्वतीकुहू भवतः यशस्विनीकुहूमध्ये वारुणी प्रतिष्ठिता भवति । पूषासरस्वतीमध्ये पयस्विनी भवति । गान्धारीसरस्वतीमध्ये यशस्विनी भवति । कन्दमध्येऽलम्बुसा भवति । सुषुम्नापूर्वभागे मेढ्रान्तं कुहूर्भवति । कुण्डलिन्या अधश्चोर्ध्वं वारुणी सर्वगामिनी भवति । यशस्विनी सौम्या च पादाङ्गुष्ठान्तमिष्यते । पिङ्गला चोर्ध्वगा याम्यनासान्तं भवति । पिङ्गलायाः पृष्ठतो याम्यनेत्रान्तं पूषा भवति । याम्यकर्णान्तं यशस्विनी भवति । जिह्वया ऊर्ध्वान्तें सरस्वती भवति । आसव्यकर्णान्तमूर्ध्वगा शङ्खिनी भवति । इडापृष्ठ-भागात् सव्यनेत्रान्तगा गान्धारी भवति । पायुमूलादधोर्ध्वगाऽलम्बुसा भवति । एतासु चतुर्दशसु नाडीष्वन्या नाड्यः सम्भवन्ति । तास्वन्या-स्तास्वन्या भवन्तीति विज्ञेयाः । यथाश्वत्थादिपत्रं सिराभिर्व्याप्तमेवं शरीरं नाडीभिर्व्याप्तम् ॥11॥

इस सुषुम्ना की बाँयीं ओर इडा नाड़ी है और दाहिनी ओर पिंगला नाड़ी है। इडा में चन्द्र चलता है और पिंगला में सूर्य चलता है। चन्द्र तमोगुणी रूप वाला है और सूर्य रजोगुणस्वरूप है। चन्द्र अमृत

का भाग है और सूर्य विष का भाग है। वे दोनों ही सभी कालों को धारण करते हैं। सुषुम्ना काल को भोगने वाली है। सुषुम्ना के पीठ के भाग की ओर सरस्वती नाड़ी है और उसके नजदीक के भाग में कुहू नाड़ी स्थित है। यशस्विनी और कुहू के बीच में वारुणी नाड़ी स्थित है। पूषा और सरस्वती के बीच पयस्विनी नाड़ी है। गान्धारी और सरस्वती के बीच यशस्विनी है। कन्द के बीच में अलम्बुसा नाड़ी है। सुषुम्ना के पूर्व भाग में लिंग तक की कुहू नाड़ी है। कुण्डलिनी के नीचे और ऊपर–सभी ओर गमन करने वाली नाड़ी वारुणी है। यशस्विनी और सौम्या पैरों के अंगुष्ठों तक पहुँची हुई हैं। पिंगला ऊपर जाने वाली है, अत: यह बाँयें नाक तक पहुँची है। पिंगला के पीछे बाँयीं आँख तक पूषा नाड़ी है। बाँयें कान तक यशस्विनी है। जीभ के ऊपर के भाग तक सरस्वती है। ऊपर बाँयें कान तक पहुँची हुई नाड़ी शंखिनी है। इडा के पीठ के भाग से लेकर बाँयें नेत्र तक गई हुई नाड़ी गान्धारी है। गुदा के मूल से ऊपर-नीचे गई हुई अलम्बुसा नाड़ी है। इन चौदह नाड़ियों में अन्य भी कई नाड़ियाँ हैं। उनमें भी अन्य और उनमें भी अन्य—ऐसी अनेकानेक नाड़ियाँ आई हैं। जिस तरह पिप्पल आदि का पत्ता रेशों से भरा-पूरा होता है उसी तरह शरीर भी नाड़ियों से व्याप्त है।

प्राणापानसामानोदानव्याना नागकूर्मकृकरदेवदत्तधनञ्जया एते दश वायवः सर्वासु नाडीषु चरन्ति ॥12॥

आस्यनासिकाकण्ठनाभिपादाङ्गुष्ठद्वयकुण्डल्यधश्चोर्ध्वभागेषु प्राणः संचरति। श्रोत्राक्षिकटिगुल्फघ्राणगलस्फिग्देशेषु व्यानः संचरति। गुद-मेढ्रोरुजानूदरवृषणकटिजङ्घानाभिगुदाग्न्यगारेष्वपानः संचरति। सर्व-संधिस्थ उदानः। पादहस्तयोरपि सर्वगात्रेषु सर्वव्यापी समानः। भुक्तान्नरसादिकं गात्रेऽग्निना सह व्यापयन् द्विसप्ततिसहस्रेषु नाडीमार्गेषु चरन् समानवायुरग्निना सह साङ्गोपाङ्गकलेवरं व्याप्नोति। नागादिवायवः पञ्च त्वगस्थ्यादिसंभवाः। तुन्दस्थं जलमन्नं च रसादिषु समीरितं—तुन्दमध्यगतः प्राणस्तानि पृथक्कुर्यात्। अग्नेरुपरि जलं स्थाप्य जलोपर्यन्नादीनि संस्थाप्य स्वयमपानं सम्प्राप्य तेनैव सह मारुतः प्रयाति देहमध्यगतं ज्वलनम्। वायुना पालितो वह्निरपानेन शनैर्देहमध्ये ज्वलति। ज्वलनो ज्वालाभिः प्राणेन कोष्ठमध्यगतं जलमत्युष्णमकरोत्। जलोपरि समर्पितं व्यञ्जनसंयुक्तमन्नं वह्निसंयुक्तवारिणा पक्वमकरोत्। तेन स्वेदमूत्रजलरक्तवीर्यरूपरसपुरीषादिकं प्राणः पृथक्कुर्यात्। समान-वायुना सह सर्वासु नाडीषु रसं व्यापयन् श्वासरूपेण देहे वायुश्चरति। नवभिर्व्योमरन्ध्रैः शरीरस्य वायवः कुर्वन्ति विण्मूत्रादिविसर्जनम्। निश्वासोच्छ्वासकासश्च प्राणकर्मोच्यते। विण्मूत्रादिविसर्जनमपानवायु-कर्म। हानोपादानचेष्टादि व्यानकर्म। देहस्योन्नयनादिकमुदानकर्म। शरीरपोषणादिकं समानकर्म। उद्गारादि नागकर्म। निमीलनादि कूर्म-कर्म। क्षुत्करणं कृकरकर्म। तन्द्रा देवदत्तकर्म। श्लेष्मादि धनञ्जय-कर्म ॥13॥

प्राण, अपान, समान, उदान, व्यान, नाग, कूर्म, कृकर, देवदत्त और धनंजय—ये दश वायु सभी नाड़ियों में भ्रमण करते हैं। मुँह, नाक, गला, नाभि, पैर के दोनों अंगूठों और कुण्डलिनी के

ऊपर-नीचे के भागों में प्राणवायु घूमता है। कान, आँख, कमर, गुल्फ (टखनों), गले और नितम्ब के प्रदेश में व्यानवायु घूमता है। लिंग, जाँघ, घुटने, उदर, वृषण, कटि, ऊरु, नाभि, गुदा और अग्नि आदि के प्रदेशों में अपानवायु घूमता है। सभी संधिस्थानों में उदान रहता है और समानवायु अन्य सर्व अवयवों में व्याप्त होकर रहता है। खाए हुए अन्नादि के रस आदि को शरीर की अग्नि के साथ व्याप्त करने वाला यह समानवायु बहत्तर हजार नाड़ियों के बीच घूमा करता है (उनके मार्ग में भ्रमण करता रहता है) और अग्नि के साथ शरीर में सांगोपांग व्याप्त रहता है। नाग आदि अन्य पाँच वायु त्वचा और हड्डियों आदि में रहते हैं। उदर में स्थित अन्न और जल को रसादि के रूप में ले जाकर सबको पृथक्-पृथक् कर देने का कार्य उसमें स्थित प्राणवायु करता है। आग के ऊपर जल रखकर तथा उस जल के ऊपर अन्न रखकर स्वयं अपान के पास पहुँचकर वह वायुतत्त्व उसी अपान के साथ देहस्थ अग्नि की ओर जाता है। अपानवायु द्वारा रक्षित वह अग्नि देह के मध्य में शनैः-शनैः प्रज्वलित रहता है। वह अग्नि अपनी ज्वालाओं तथा प्राणवायु से कोष्ठ में अवस्थित जल को बहुत गर्म कर देता है। और उस जल के ऊपर रखे गए शाक-दाल सहित अन्न को प्राणवायु अग्नियुक्त जल के द्वारा पकाता (पचाता) है तथा उसी में से पसीना, मूत्र, रक्त, वीर्यादि रस और विष्ठा (मल) आदि को अलग-अलग कर देता है। और भी, समानवायु के साथ रस को सभी नाड़ियों में फैलाता हुआ यह प्राणवायु श्वास के रूप में शरीर में घूमा करता है। शरीर के नौ आकाश (छिद्र) व्योमरन्ध्र हैं ! उनके द्वारा ये वायु विष्ठा-मूत्र आदि को बाहर निकालते हैं। श्वासोच्छ्वास और खाँसी प्राणवायु का कर्म कहा गया है। विष्ठा-मूत्रादि को बाहर निकालना अपानवायु का कार्य कहा गया है। ग्रहण-त्याग आदि की चेष्टा व्यान वायु का कार्य है, शरीर को ऊँचे उठाना उदान का कार्य है। शरीर को पोषण देना आदि कार्य समान का है। डकार आदि का कार्य नाग का है, आँख की पलक आदि का कार्य कूर्म का है। भूख-प्यासादि कर्म कृकर का है, आलस्यादि देवदत्त का कार्य है और कफ आदि उत्पन्न करना धनंजय वायु का कार्य कहा गया है।

एवं नाडीस्थानं वायुस्थानं तत्कर्म च सम्यग्ज्ञात्वा नाडीसंशोधनं कुर्यात् ॥14॥

इति चतुर्थः खण्डः।

इस प्रकार नाड़ी-संस्थान, वायु-संस्थान और उन सभी के कर्मों को अच्छी तरह से जान-समझकर नाड़ी को शुद्ध करना चाहिए।

यहाँ चौथा खण्ड पूरा हुआ।

❋

पञ्चमः खण्डः

यमनियमयुतः पुरुषः सर्वसङ्गविवर्जितः कृतविद्यः सत्यधर्मरतो जित-क्रोधो गुरुशुश्रूषानिरतः पितृमातृविधेयः स्वाश्रमोक्तसदाचारविद्वच्छि-क्षितः फलमूलोदकान्वितं तपोवनं प्राप्य रम्यदेशे ब्रह्मघोषसमन्विते स्वधर्मनिरतब्रह्मवित्समावृते फलमूलपुष्पवारिभिः सुसंपूर्णे देवायतने नदीतीरे ग्रामे नगरे वापि सुशोभनमठं नात्युच्चनीचायतमल्पद्वारं गोमयादिलिप्तं सर्वरक्षासमन्वितं कृत्वा तत्र वेदान्तश्रवणं कुर्वन् योगं समारभेत् ॥1॥

इस विद्या का अध्ययन करके साधना करने वाले पुरुष को यम-नियमादि से युक्त होकर, सर्वप्रकार के संग का त्याग करके सत्यधर्म में प्रवृत्त होना चाहिए। उसे क्रोध को जीतना चाहिए, गुरु-सेवा-परायण होना चाहिए, माता-पिता का आज्ञाकारी होना चाहिए और अपने आश्रमानुकूल सदाचार को जानने वाले के पास से शिक्षण प्राप्त करके, फल-मूल-जलयुक्त प्रदेश में जाना चाहिए। वहाँ किसी देवस्थान में या किसी नदी के तीर पर जाकर गाँव या नगर के पास अच्छा मठ बनाना चाहिए। वह मठ न बहुत ऊँचा और न बहुत नीचा होना चाहिए। वह बहुत लम्बा भी नहीं और बहुत ही चौड़ा भी नहीं होना चाहिए। वह कम दरवाजों वाला और गोबर आदि से लेपा हुआ होना चाहिए। वह संपूर्णतया सुरक्षित होना चाहिए। उसमें वेदान्त का श्रवण करते हुए पुरुष को योग का अभ्यास शुरू करना चाहिए।

आदौ विनायकं सम्पूज्य स्वेष्टदेवतां नत्वा पूर्वोक्तासने स्थित्वा प्राङ्मुख उदङ्मुखो वापि मृद्वासनेषु जितासनगतो विद्वान् समग्रीवशिरोनासाग्र-दृग्भ्रूमध्ये शशभृद्बिम्बं पश्यन् नेत्राभ्याममृतं पिबेत्। द्वादशमात्रया इडया वायुमापूर्योदरे स्थितं ज्वालावलीयुतं रेफबिन्दुयुक्तमग्निमण्डलयुतं ध्यायेद्रेचयेत् पिङ्गलया। पुनः पिङ्गलयापूर्य कुम्भित्वा रेचयेदिडया ॥2॥

पहले गणपति की पूजा करके फिर अपने इष्टदेव को नमस्कार करके पूर्वोक्त आसन पर बैठना चाहिए। उस समय पूर्व या उत्तर की ओर मुँह रखना चाहिए और उस कोमल आसन पर बैठकर आसन का जय (स्थिर) करना चाहिए। बाद में उस विद्वान् पुरुष को अपनी गरदन और मस्तक को सीधा रखकर नाक के अग्र भाग में दृष्टि स्थिर करके दोनों भौंहों के बीच में चन्द्रमण्डल देखना चाहिए एवं दोनों नेत्रों से अमृत का पान करना चाहिए। बाद में बारह मात्राओं से इडा नाड़ी द्वारा वायु को आपूरित (खींच) कर उसको उदर के भीतर रहने वाले ज्वालायुक्त, रेफयुक्त और बिन्दुयुक्त अग्निमण्डल के साथ संलग्न रूप से ध्यान करना चाहिए। (अर्थात् जोड़ने का चिन्तन करना चाहिए) और बाद में पिंगला नाड़ी द्वारा उस वायु को बाहर निकालना चाहिए और पिंगला से वायु भरकर कुंभक करके इडा नाड़ी से बाहर निकालना चाहिए।

त्रिचतुस्त्रिचतुः सप्तत्रिचतुर्मासपर्यन्तं त्रिसन्धिषु तदन्तरालेषु च षट्कृत्व आचरेन्नाडीशुद्धिर्भवति ॥3॥
ततः शरीरे लघुदीप्तिवह्निवृद्धिनादाभिव्यक्तिर्भवति ॥4॥

इति पञ्चमः खण्डः।

इस प्रकार सात, तीन या चार महीनों तक, तीन-चार बार प्रतिदिन तीनों सन्ध्याओं के समय और उनके बीच कुल छः बार अभ्यास करना चाहिए। इससे नाड़ी की शुद्धि होती है। इसके फलस्वरूप शरीर में लाघव, कान्ति, अग्नि की वृद्धि और नाद श्रवण हो जाता है।

यहाँ पाँचवाँ खण्ड पूरा हुआ।

❊

षष्ठः खण्डः

प्राणापानसमायोगः प्राणायामो भवति। रेचकपूरककुम्भकभेदेन स त्रिविधः ॥1॥

ते वर्णात्मकाः। तस्मात् प्रणव एव प्राणायामः ॥2॥

प्राण और अपान को इकट्ठा कर देना प्राणायाम है। वह प्राणायाम रेचक, कुंभक और पूरक के भेद से तीन प्रकार का है। वे वर्णात्मक हैं (अर्थात् ॐकार के अ-उ-म तीन वर्ण इन तीन भेदों के स्वरूप हैं) इसलिए प्रणव ही प्राणायाम है।

पद्माद्यासनस्थः पुमान्नासाग्रे शशभृद्बिम्बज्योत्स्नाजालवितानिताकारमूर्ती रक्ताङ्गी हंसवाहिनी दण्डहस्ता बाला गायत्री भवति। उकारमूर्तिः श्वेताङ्गी तार्क्ष्यवाहिनी युवती चक्रहस्ता सावित्री भवति। मकारमूर्तिः कृष्णाङ्गी वृषभवाहिनी वृद्धा त्रिशूलधारिणी सरस्वती भवतीति (ध्यायेत्) ॥3॥
अकारादित्रयाणां सर्वकारणमेकाक्षरं परंज्योतिः प्रणवं भवतीति (ध्यायेत्) ॥4॥

पद्मासन आदि किसी भी आसन पर बैठकर पुरुष को ध्यान करना चाहिए—नासिका के अग्र भाग पर चन्द्रमण्डल की ज्योत्स्ना से आवृत, लाल रंगवाली, हंस पर बैठी हुई, हाथ में दण्ड धारण किए हुए, बालास्वरूप 'अ'कारमूर्ति जो है, वह 'गायत्री' है। जो 'उ'कारमूर्ति 'सावित्री' है, वह धवलवर्णा है। वह गरुड़ पर बैठी हुई युवती, हाथ में चक्र धारण किए हुए रहती है। और जो 'म'कारमूर्ति 'सरस्वती' है वह श्यामवर्णा, बैल पर बैठी हुई वृद्धावस्था को प्राप्त और हाथ में त्रिशूल लिए हुए है। इस प्रकार 'अ'कार आदि तीन वर्णों का प्रणव बनता है। वह सबका कारण है, वह परम ज्योति है (ऐसा ध्यान करे)।

इडया बाह्याद्वायुमापूर्य षोडशमात्राभिरकारं चिन्तयन् पूरितं वायुं चतुः-षष्टिमात्राभिः कुम्भयित्वोकारं ध्यायन् पूरितं पिङ्गलया द्वात्रिंशन्मात्रया मकारमूर्तिध्यानेनैवं क्रमेण पुनः पुनः कुर्यात् ॥5॥

इति षष्ठः खण्डः।

बाद में इडा नाड़ी द्वारा बाहर का वायु सोलह मात्राओं से खींचना चाहिए (पूरक करना चाहिए)। उस समय 'अ'कार का चिन्तन करना चाहिए। बाद में उस पूरित वायु का चौंसठ मात्राओं से कुंभक करना चाहिए। उस समय 'उ'कार का चिन्तन करना चाहिए। और उसके बाद पिंगला नाड़ी द्वारा बत्तीस मात्राओं से पूरित वायु का रेचक करके उसे बाहर निकालना चाहिए। उस समय 'म'कारमूर्ति का ध्यान करना चाहिए। इस तरह बार-बार करते रहना चाहिए।

यहाँ छठा खण्ड पूरा हुआ।

❊

सप्तमः खण्डः

अथासनदृढो योगी वशी मितहिताशनः सुषुम्नानाडीस्थमलशोषार्थं योगी बद्धपद्मासनो वायुं चन्द्रेणापूर्य यथाशक्ति कुम्भयित्वा सूर्येण रेचयित्वा पुनः सूर्येणापूर्य कुम्भयित्वा चन्द्रेण विरेच्य यया त्यजेत् तया सम्पूर्य धारयेत्। तदेते श्लोका भवन्ति—

फिर जब आसन दृढ़ हो जाए, तब योगी को जितेन्द्रिय होकर प्रमाणपुरःसर हितकारी आहार लेते हुए सुषुम्ना नाड़ी में स्थित मल को सुखाने (शुष्क करने) के लिए योगसाधन करना चाहिए। उस

समय, पद्मासन में बैठकर चन्द्रनाड़ी से वायु को भीतर खींचकर अर्थात् पूरक करके यथाशक्ति कुम्भक करके दूसरी पिंगला नाड़ी से रेचक करना चाहिए। फिर पिंगला से पूरक करके इडा से रेचक करना चाहिए। अर्थात् जिस नाड़ी से रेचक करे, उसी नाड़ी से फिर पूरक करके तब कुंभक करना चाहिए)। इस विषय में ये श्लोक हैं—

प्राणं प्रागिडया पिबेन्नियमितं भूयोऽन्यया रेचयेत्
पीत्वा पिङ्गलया समीरणमथो बद्ध्वा त्यजेद्वामया।
सूर्याचन्द्रमसोरनेन विधिनाभ्यासं सदा तन्वतां
शुद्धा नाडिगणा भवन्ति यमिनां मासत्रयादूर्ध्वतः ॥1॥

पहले इडा नाड़ी से प्राण को भीतर खींचकर (पूरक करके) कुंभक करना चाहिए और दूसरी पिंगला से रेचक करना चाहिए। इस विधि से सूर्यचन्द्र की नाड़ी के द्वारा प्राणायाम का नित्य अभ्यास करने वाले योगियों की सभी नाड़ियाँ तीन महीनों के भीतर शुद्ध हो जाती हैं।

प्रातर्मध्यन्दिने सायमर्धरात्रे तु कुम्भकान्।
शनैरशीतिपर्यन्तं चतुर्वारं समभ्यसेत् ॥2॥
कनीयसि भवेत् स्वेदः कम्पो भवति मध्यमे।
उत्तिष्ठत्युत्तमे प्राणरोधे पद्मासनं भवेत् ॥3॥
जलेन श्रमजातेन गात्रमर्दनमाचरेत्।
दृढता लघुता चापि तस्य गात्रस्य जायते ॥4॥
अभ्यासकाले प्रथमं शस्तं क्षीराज्यभोजनम्।
ततोऽभ्यासे स्थिरीभूते न तावन्नियमग्रहः ॥5॥

प्रात:काल, मध्याह्नकाल और सन्ध्याकाल तथा मध्यरात्रि—इस प्रकार चार बार धीरे-धीरे अस्सी मात्राओं तक कुंभकों का अभ्यास करना चाहिए। हल्के प्राणायाम में पसीना होता है, मध्यम प्राणायाम में कम्पन होता है और उत्तम प्राणायाम में पद्मासन में अवस्थित योगी आसन से उठ जाता है। प्राणायाम के समय परिश्रम के कारण जो पसीना छूटता है उससे शरीर का मर्दन करना चाहिए, क्योंकि उससे अभ्यासी का शरीर मजबूत एवं हल्का हो जाता है। अभ्यास के समय में आरम्भ में दूध-घी वाला भोजन प्रशंसनीय माना गया है। फिर अभ्यास के स्थिर हो जाने पर किसी नियम की कोई आवश्यकता नहीं है।

यथा सिंहो गजो व्याघ्रो भवेद्वश्यः शनैः शनैः।
तथैव सेवितो वायुरन्यथा हन्ति साधकम् ॥6॥
युक्तंयुक्तं त्यजेद्वायुं युक्तंयुक्तं च पूरयेत्।
युक्तंयुक्तं च बध्नीयादेवं सिद्धिमवाप्नुयात् ॥7॥
यथेष्टधारणं वायोरनलस्य प्रदीपनम्।
नादाभिव्यक्तिरारोग्यं जायते नाडिशोधनात् ॥8॥
विधिवत् प्राणसंयामैर्नाडीचक्रे विशोधिते।
सुषुम्नावदनं भित्त्वा सुखाद्विशति मारुतः ॥9॥

जैसे सिंह, हाथी और बाघ आदि धीरे-धीरे ही वश में आते हैं, वैसे ही वायु का भी धीरे-धीरे ही सेवन किया जाता है, तभी वह वश में आ सकता है। लेकिन विपरीत नियम से अर्थात् उतावली या विधिक्षति करने पर वही वायु साधक का नाश कर देता है। इसलिए जैसे ठीक बनता हो वैसे ही रेचक करना चाहिए, जैसे ठीक लगता हो वैसे ही पूरक करना चाहिए और जैसा ठीक लगे वैसे ही कुंभक करना चाहिए। ऐसा करने से ही सिद्धि प्राप्त होती है। यथाशक्ति वायु का कुंभक करने से अग्नि प्रज्वलित होती है और नाड़ियाँ शुद्ध हो जाने से नादश्रवण तथा आरोग्य प्राप्त होता है। विधिपुरःसर प्राणायाम करने से नाड़ियों का समूह शुद्ध हो जाता है। ऐसा होने पर सुषुम्णा के मुख का भेदन करके वायु सुखपूर्वक (अनायास ही) उसमें प्रवेश करता है।

मारुते मध्यसंचारे मनःस्थैर्यं प्रजायते।
यो मनःसुस्थिरो भावः सैवावस्था मनोन्मनी ॥10॥
पूरकान्ते तु कर्तव्यो बन्धो जालंधराभिधः।
कुम्भकान्ते रेचकादौ कर्तव्यस्तूड्डियाणकः ॥11॥
अधस्तात्कुञ्चनेनाशु कण्ठसंकोचने कृते।
मध्ये पश्चिमतानेन स्यात् प्राणो ब्रह्मनाडिगः ॥12॥
अपानमूर्ध्वमुत्थाप्य प्राणं कण्ठादधो नयन्।
योगी जराविनिर्मुक्तः षोडशो वयसा भवेत् ॥13॥

वायु जब मध्य में संचरण करता है, तब मन की स्थिरता होती है। और मन की अच्छी तरह से जो स्थिरता होती है, वही 'मनोन्मनी' अवस्था कही जाती है। पूरक के अन्त में 'जालन्धर' नाम का बन्ध करना चाहिए। और कुंभक के अन्त में तथा रेचक के प्रारंभ में 'उड्डियाणक' करना चाहिए। नीचे की ओर मूलरन्ध्र का संकोच करने से कण्ठ का संकोच होता है। और मध्यभाग को पश्चिम की ओर खींचने से प्राणवायु ब्रह्मनाड़ी में गतिशील होता है। अपानवायु को ऊर्ध्व ले जाकर और प्राणवायु को कण्ठ के नीचे ले जाकर योगी जरारहित अर्थात् सोलह साल का-सा तरुण हो जाता है।

सुखासनस्थो दक्षनाड्या बहिस्थं पवनं समाकृष्याकेशमानखाग्रं कुम्भयित्वा सव्यनाड्या रेचयेत्। तेन कपालशोधनं वातनाडीगतसर्वरोगसर्वविनाशनं भवति ॥13-1॥
हृदयादिकण्ठपर्यन्तं सस्वनं नासाभ्यां शनैः पवनमाकृष्य यथाशक्ति कुम्भयित्वा इडया विरेच्य गच्छंस्तिष्ठन् कुर्यात्। तेन श्लेष्महरं जठराग्निवर्धनं भवति ॥13-2॥

सुखासन पर बैठकर दाहिनी नाड़ी से बाहर की वायु को खींचकर, केश से लेकर नख के अग्रभाग तक उसे रोककर (कुंभक करके) बाँयीं नाड़ी से बाहर निकालना चाहिए अर्थात् रेचक करना चाहिए। ऐसा करने से कपाल की शुद्धि होती है, और वायुनाड़ियों के सभी रोग संपूर्ण रूप से नष्ट हो जाते हैं। हृदय से लेकर कण्ठ तक आवाज के साथ दोनों नासिकाओं से धीरे-धीरे वायु को खींचकर शक्ति अनुसार कुंभक करके इडा से रेचक करना चाहिए। इस प्रकार उठते-बैठते, चलते-फिरते करते रहना चाहिए। इससे कफ का नाश होता है और जठराग्नि की वृद्धि होती है।

वक्त्रेण सीत्कारपूर्वकं वायुं गृहीत्वा यथाशक्ति कुम्भयित्वा नासाभ्यां रेचयेत्। तेन क्षुत्तृष्णालस्यनिद्रा न जायते ॥13-3॥

जिह्वया वायुं गृहीत्वा यथाशक्ति कुम्भयित्वा नासाभ्यां रेचयेत्। तेन गुल्मप्लीहज्वरपित्तक्षुधादीनि नश्यन्ति ॥13-4॥

मुँह से सीत्कारपूर्वक वायु को लेकर यथाशक्ति कुम्भक करके दोनों नासिकाओं से रेचक करना चाहिए। इससे भूख, प्यास, आलस्य और नींद नहीं उत्पन्न होती। जीभ के वायु लेकर यथाशक्ति कुंभक करके दोनों नासिकाओं से रेचक करना चाहिए। इससे गोला, तिल्ली, ज्वर और भूख आदि दोष नष्ट हो जाते हैं।

अथ कुम्भकः। स द्विविधः। सहितः केवलश्चेति। रेचकपूरकयुक्तः सहितः। तद्विवर्जितः केवलः। केवलसिद्धिपर्यन्तं सहितमभ्यसेत्। केवलकुम्भके सिद्धे त्रिषु लोकेषु न तस्य दुर्लभं भवति। केवलकुम्भकात् कुण्डलिनीबोधो जायते ॥13-5॥
ततः कृशवपुः प्रसन्नवदनो निर्मललोचनोऽभिव्यक्तनादो निर्मुक्तरोगजालो जितबिन्दुः पट्वग्निर्भवति ॥13-6॥

अब कुम्भक के विषय में कहा जा रहा है; वह दो प्रकार है—एक सहित और दूसरा केवल। जो रेचक और पूरक के साथ होता है वह 'सहित' कहलाता है और जो उनसे रहित होता है, वह 'केवल' कहलाता है। इनमें जहाँ तक 'केवल' सिद्ध हो जाए, वहाँ तक 'सहित' का अभ्यास करते रहना चाहिए। जब 'केवल कुम्भक' सिद्ध हो जाता है, तब उस योगी को तीनों लोकों में कुछ भी दुर्लभ नहीं होता। केवल कुम्भक से कुण्डलिनी जाग्रत् हो जाती है। इसके बाद वह योगी पतले शरीरवाला, प्रसन्न मुखवाला, निर्मल नेत्रवाला, नाद को श्रवण करने वाला, सर्वरोगों से रहित, बिन्दु को जीतने वाला और प्रज्वलित जठराग्नि वाला हो जाता है।

अन्तर्लक्ष्यं बहिर्दृष्टिर्निमेषोन्मेषवर्जिता।
एषा सा वैष्णवी मुद्रा सर्वतन्त्रेषु गोपिता ॥14॥

जिसका लक्ष्य भीतर ही हो और जिसकी बाहर की दृष्टि निर्निमेष (पलकविहीन) हो और फलस्वरूप जिसका चित्त और वायु विलीन हो गए हों, यह वैष्णवी मुद्रा कहलाती है। सभी तंत्रशास्त्रों में उस मुद्रा को गुप्त और रहस्यमय माना गया है।

अन्तर्लक्ष्यविलीनचित्तपवनो योगी सदा वर्तते
दृष्ट्या निश्चलतारया बहिरधः पश्यन्नपश्यन्नपि।
मुद्रेयं खलु खेचरी भवति सा लक्ष्यैकताना शिवा
शून्याशून्यविवर्जितं स्फुरति सा तत्त्वं पदं वैष्णवी ॥15॥
अर्धोन्मीलितलोचनः स्थिरमना नासाग्रदत्तेक्षण-
श्चन्द्रार्कावपि लीनतामुपनयन्निष्यन्दभावोत्तरम्।
ज्योतीरूपमशेषबाह्यरहितं देदीप्यमानं परं
तत्त्वं तत्परमस्ति वस्तु विषयं शाण्डिल्य विद्धीह तत् ॥16॥

अन्तर्लक्ष्य होने के कारण जिसके चित्त और वायु विलीन हो गए हों, वह सदा-सर्वदा का योगी है। अचल (स्थिर) तारक वाली दृष्टि से भले ही वह बाहर और भीतर देखता हो, फिर भी वह अन्य कुछ देखता ही नहीं है। यह स्थिति 'खेचरी मुद्रा' है। वह केवल अपने लक्ष्य में ही एकतान रहता है।

इस मुद्रा को मंगलकारक वैष्णवी मुद्रा भी कहा जाता है। इसमें शून्य-अशून्य-रहित तत्त्व परमपद के रूप में प्रकाशित होता है। हे शाण्डिल्य! अधखुले नेत्रवाला, स्थिर मनवाला और नासाग्र में स्थिर दृष्टिवाला योगी निश्चलभाव को प्राप्त करने के बाद चन्द्रनाड़ी और सूर्यनाड़ी का भी विलय करा देता है। उस समय समग्र बाह्य विषयों से रहित ज्योतिरूप देदीप्यमान जो तत्त्व प्रकाशित होता है, वही परमवस्तुरूप उसका विषय होता है ऐसा आपको समझना चाहिए।

तारं ज्योतिषि संयोज्य किंचिदुन्नमयन्भ्रुवौ।
पूर्वाभ्यासस्य मार्गोऽयमुन्मनीकारकः क्षणात् ॥17॥
तस्मात् खेचरीमुद्रामभ्यसेत्। ततो उन्मनी भवति। ततो योगनिद्रा भवति। लब्धयोगनिद्रस्य योगिनः कालो नास्ति ॥17-1॥

आँख के तारक को ज्योति के साथ जोड़कर, दोनों भौंहों को कुछ ऊपर रखना—यह पहले के अभ्यास का मार्ग है। वह क्षणभर में उन्मनी अवस्था को उत्पन्न कर देता है। इसलिए इस खेचरी मुद्रा का अभ्यास करना चाहिए। इससे उन्मनी दशा प्राप्त होती है। बाद में योगनिद्रा प्राप्त होती है। योगनिद्रा-प्राप्त योगी के लिए कोई काल नहीं होता।

शक्तिमध्ये मनः कृत्वा शक्तिं मानसमध्यगाम्।
मनसा मन आलोक्य शाण्डिल्य त्वं सुखी भव ॥18॥
खमध्ये कुरु चात्मानमात्ममध्ये च खं कुरु।
सर्वं च खमयं कृत्वा न किंचिदपि चिन्तय ॥19॥

इसलिए हे शाण्डिल्य! शक्ति की मन के बीच स्थापना करके शक्ति को मन के भीतर प्रवाहित करके आप मन से ही मन को देखिए और बाद में सुखी होइए। और आकाश (चिदाकाश) के मध्य में आत्मा की स्थापना कीजिए और आत्मा के बीच चिदाकाश को रखकर, आकाश के सिवा और कुछ है ही नहीं, ऐसा चिन्तन कीजिए।

बाह्यचिन्ता न कर्तव्या तथैवान्तरचिन्तिका।
सर्वचिन्तां परित्यज्य चिन्मात्रपरमो भव ॥20॥
कर्पूरमनले यद्वत् सैन्धवं सलिले यथा।
तथा च लीयमानं सन्मनस्तत्त्वे विलीयते ॥21॥
ज्ञेयं सर्वप्रतीतं च तज्ज्ञानं मन उच्यते।
ज्ञानं ज्ञेयं समं नष्टं नान्यः पन्था द्वितीयकः ॥22॥
ज्ञेयवस्तुपरित्यागे विलयं याति मानसम्।
मानसे विलयं याते कैवल्यमवशिष्यते ॥23॥

योगी को बाहर की चिन्ता नहीं करनी चाहिए, इसी प्रकार भीतर के विषय की भी चिन्ता नहीं करनी चाहिए। इस प्रकार से सभी चिन्ताओं का त्याग करके केवल चैतन्यपरायण ही हो जाइए। जिस प्रकार कर्पूर अग्नि में और लवण (नमक) पानी में विलीन हो जाता है, उसी तरह योगी का मन लीन होते-होते परमतत्त्व में लीन हो जाता है। जानने योग्य सब कुछ जान लिया है, ऐसा जो ज्ञान है, वह मन है। इस प्रकार लीन होता हुआ सब कुछ मनस्तत्व में विलीन हो जाता है। सर्वप्रतीत ज्ञेय है—ऐसा ज्ञान ही मन है, क्योंकि ज्ञान और ज्ञेय का जब एक ही साथ नाश हो जाता है, तब तो अन्य कोई

मार्ग ही शेष नहीं रहता। ज्ञेय वस्तु का त्याग करने से मन का विलय होता है। और जब मन का विलय हो जाता है, तब तो मात्र कैवल्य ही शेष रह जाता है।

द्वौ क्रमौ चित्तनाशस्य योगो ज्ञानं मुनीश्वर।
योगस्तु वृत्तिरोधो हि ज्ञानं सम्यगवेक्षणम् ॥24॥
तस्मिन्निरोधिते नूनमुपशान्तं मनो भवेत्।
मनः स्पन्दोपशान्त्यायां संसारः प्रविलीयते ॥25॥
सूर्यालोकपरिस्पन्दशान्तौ व्यवहृतिर्यथा।
शास्त्रसज्जनसम्पर्कवैराग्याभ्यासयोगतः ॥26॥

हे मुनीश्वर! चित्त का नाश करने के दो मार्ग हैं—एक योग और दूसरा ज्ञान। योग का अर्थ है चित्त की वृत्तियों का निरोध (रोकना) और ज्ञान का अर्थ है वस्तु को अच्छी तरह से परखना। जब मन को वश में किया जाता है, तब अवश्य ही वह शान्त हो जाता है, और जब मन की चंचलता शान्त हो जाती है, तब यह संसार भी नष्ट हो जाता है। जिस प्रकार सूर्य की गति शान्त हो जाने से जगत् का व्यवहार शान्त पड़ जाता है, उसी प्रकार शास्त्रों और सज्जनों के संग से वैराग्य के अभ्यास का योग होने से संसार शान्त हो जाता है।

अनास्थायां कृतास्थायां पूर्वं संसारवृत्तिषु।
यथाभिवाञ्छितध्यानाच्चिरमेकतयोहितात् ॥27॥
एकतत्त्वदृढाभ्यासात् प्राणस्पन्दो निरुध्यते।
पूरकाद्यनिलायामाद् दृढाभ्यासादखेदजात् ॥28॥
एकान्तध्यानयोगाच्च मनःस्पन्दो निरुध्यते।
ओंकारोच्चारणप्रान्तशब्दतत्त्वानुभावनात्।
सुषुप्ते संविदा ज्ञाते प्राणस्पन्दो निरुध्यते ॥29॥

पहले तो संसार के व्यापारों में अनास्था की जाए, बाद में लम्बे समय तक एकतानता से सोचे हुए यथेष्ट ध्यान से और एक तत्त्व के दृढ़ अभ्यास से प्राण की गति भी बन्द हो जाती है, अर्थात् प्राण भी जीता जा सकता है। और भी बिना परिश्रम के पूरक आदि वायु के दीर्घकालीन दृढ़ अभ्यास से और एकान्त में ध्यानयोग करने से मन की गति पूर्णतः बन्द हो जाती है, अर्थात् मन वश में आ जाता है। और ॐकार के उच्चारण के अन्त में शब्द तत्त्व का अनुभव करने से ज्ञान द्वारा सुषुप्ति का स्वरूप समझ में आता है। तब प्राण की गति रुक जाती है अर्थात् प्राण पर विजय प्राप्त होती है।

तालुमूलगतां यत्नाज्जिह्वयाक्रम्य घण्टिकाम्।
ऊर्ध्वरन्ध्रं गते प्राणे प्राणस्पन्दो निरुध्यते ॥30॥
प्राणे गलितसंवित्तौ तालूर्ध्वे द्वादशान्तगे।
अभ्यासादूर्ध्वरन्ध्रेण प्राणस्पन्दो निरुध्यते ॥31॥
द्वादशाङ्गुलपर्यन्ते नासाग्रे विमलाम्बरे।
संविद्दृशि प्रशाम्यन्त्यां प्राणस्पन्दो निरुध्यते ॥32॥
भ्रूमध्ये तारकालोकशान्तावन्तमुपागते।
चेतनैकतने बद्धे प्राणस्पन्दो निरुध्यते ॥33॥

तालुस्थान के मूल में अवस्थित ग्रन्थि को प्रयत्नपूर्वक जीभ से दबाकर जब प्राणवायु ऊपर के छिद्र में जाता है, तब प्राण की गति रोकी जा सकती है। तालु प्रदेश के ऊर्ध्व भाग की ओर बारह अंगुल दूर तक गमन करने वाला प्राण जब गलित (चेष्टारहित) हो जाता है, तब अभ्यास के द्वारा ऊपर के छिद्र द्वारा प्राणगति रोकी जा सकती है। नाक के आगे बारह अंगुल की दूरी पर, निर्मल आकाश में जब ज्ञानदृष्टि अत्यन्त शान्त हो जाती है, तब प्राण की गति रोकी जा सकती है। भौंहों के मध्य में तारक ब्रह्म के दर्शन से शान्ति होने पर व्यापार बन्द हो जाते हैं और मानसिक संकल्प रुक जाते हैं, तब प्राण की गति अवरुद्ध हो जाती है।

ओमित्येव यदुद्भूतं ज्ञानं ज्ञेयात्मकं शिवम्।
असंस्पृष्टविकल्पांशं प्राणस्पन्दो निरुध्यते ॥34॥
चिरकालं हृदेकान्तव्योमसंवेदनान्मुने।
अवासनमनोध्यानात् प्राणस्पन्दो निरुध्यते ॥35॥
एभिः क्रमैस्तथान्यैश्च नानासंकल्पकल्पितैः।
नानादेशिकवक्त्रस्थैः प्राणस्पन्दो निरुध्यते ॥36॥

केवल ओंकार (प्रणव) के स्वरूप में ही आविर्भूत जो ज्ञान, ज्ञेय और मंगलकारी बनकर जब विकल्प का अंश तक मनुष्य में (साधक में) नहीं रहता, तब प्राण की गति का निरोध होता है। हे मुनि! जब दीर्घकाल तक हृदय में एकान्त आकाश का अनुभव होने से वासनारहित मन ध्यान करता है, तब प्राण की गति रुकती है। इस प्रकार के क्रम से और अन्य अनेक गुरुओं के उपदेशों का अनुसरण करके तरह-तरह के संकल्पों की कल्पनाओं के द्वारा प्राण की गति रुकती है अर्थात् प्राण वश में आ जाते हैं।

आकुञ्चनेन कुण्डलिन्याः कवाटमुद्घाट्य मोक्षद्वारं विभेदयेत् ॥36-1॥
येन मार्गेण गन्तव्यं तद्द्वारं मुखेनाच्छाद्य प्रसुप्ता कुण्डलिनी कुटिलाकारा सर्पवद्वेष्टिता भवति ॥36-2॥
सा शक्तिर्येन चालिता स्यात् स तु मुक्तो भवति। सा कुण्डलिनी कण्ठोर्ध्वभागे सुप्ता चेद्योगिनां मुक्तये भवति। बन्धनायाधो मूढानाम् ॥36-3॥
इडादिमार्गद्वयं विहाय सुषुम्नामार्गेणागच्छेत् तद्विष्णोः परमं पदम् ॥36-4॥

कुण्डलिनी का संकोच करके अर्थात् ऊपर की ओर खींचकर, किवाड़ खोलकर साधक को मोक्ष के द्वार का भेदन करना चाहिए (मोक्ष का द्वार खोल देना चाहिए)। गन्तव्य मार्ग का द्वार अपने मुख से ढँककर कुण्डलिनी सोई हुई है। वह टेढ़-मेढ़े आकार की और साँप की तरह लिपट कर वहाँ अवस्थित रहती है। उस कुण्डलिनी शक्ति को जो चलाता है अर्थात् जिसने उसको चालित किया है, वह मुक्त हो जाता है। वह कुण्डलिनी कण्ठ के ऊपर के भाग में यदि सो रही हो, तो वह योगियों को मुक्ति देने वाली होती है। परन्तु, वह यदि कण्ठ के नीचे के भाग में सो रही हो, तो अज्ञानियों के लिए बन्धनकारक होती है। इडा आदि के दोनों मार्गों को छोड़कर सुषुम्ना के मार्ग पर आना चाहिए। क्योंकि वही विष्णु का परमपद है।

मरुदभ्यसनं सर्वं मनोयुक्तं समभ्यसेत् ।
इतरत्र न कर्तव्या मनोवृत्तिर्मनीषिणा ॥37॥
दिवा न पूजयेद्विष्णुं रात्रौ नैव प्रपूजयेत् ।
सततं पूजयेद्विष्णुं दिवारात्रं न पूजयेत् ॥38॥

वायु का सभी तरह का अभ्यास मन के साथ ही होना चाहिए । विद्वान् को उस समय मन की वृत्तियों को अन्यत्र संयुक्त नहीं होने देना चाहिए । इसका तात्पर्य यह नहीं है कि अमुक खास दिवसों में ही विष्णु को नहीं पूजना चाहिए, अथवा अमुक खास रात्रियों में ही विष्णु को नहीं पूजना चाहिए । अपितु विष्णु की पूजा तो करते ही रहना चाहिए । केवल दिन और रात को नहीं पूजना चाहिए ।

सुषिरो ज्ञानजनकः पञ्चस्रोतःसमन्वितः ।
तिष्ठते खेचरी मुद्रा त्वं हि शाण्डिल्य तां भज ॥39॥
सव्यदक्षिणनाडीस्थो मध्ये चरति मारुतः ।
तिष्ठते खेचरी मुद्रा तस्मिन् स्थाने न संशयः ॥40॥
इडापिङ्गलयोर्मध्ये शून्यं चैवानिलं ग्रसेत् ।
तिष्ठन्ती खेचरी मुद्रा तत्र सत्यं प्रतिष्ठितम् ॥41॥
सोमसूर्यद्वयोर्मध्ये निरालम्बतले पुनः ।
संस्थिता व्योमचक्रे सा मुद्रा नाम्ना च खेचरी ॥42॥

हे शाण्डिल्य ! पाँच प्रवाहों वाला यह सुषिर—पाँच इन्द्रियोंरूपी प्रवाह वाला यह हृदयाकाश ज्ञान को उत्पन्न करने वाला है । वहाँ खेचरी मुद्रा रहती है । तुम उसका सेवन (उपासना) करो । बाँईं-दाईं नाड़ियों के भीतर (उनके मध्य में) रहकर वायु भ्रमण करता रहता है । उस स्थान में खेचरी मुद्रा प्रतिष्ठित है, इसमें कोई सन्देह नहीं है । इड़ा और पिंगला के बीच शून्य भाग है, और वह वायु को निगल जाता है । खेचरी मुद्रा भी वहीं रहती है और वहीं सत्य अवस्थित है । सूर्य-चन्द्र दोनों नाड़ियों के बीच एक निरवलम्ब समतल प्रदेश है, वहाँ (आकाशमण्डल में) खेचरी मुद्रा अवस्थित है ।

छेदनचालनदोहैः फलां परां जिह्वां कृत्वा दृष्टिं भ्रूमध्ये स्थाप्य कपालकुहरे जिह्वा विपरीतगा यदा भवति तदा खेचरी मुद्रा जायते । जिह्वा चित्तं च खे चरति । तेनोर्ध्वजिह्वः पुमानमृतो भवति ॥42-1॥

छेदन, चालन और दोहन (दुहने की क्रिया) से जीभ को बहुत ही नुकीली बनाकर और दृष्टि को दोनों भौंहों के बीच स्थिर करके, जीभ जब उल्टी रीति से गमन (गति) करने लगती है और कपाल के छिद्र में जाती है, तब खेचरी मुद्रा सिद्ध होती है । जीभ और चित्त, ये दोनों कपाल के छिद्ररूप आकाश में घूमते हैं तब ऊर्ध्व की ओर गई हुई जीभवाला साधक अमर हो जाता है ।

वामपादमूलेन योनिं संपीड्य दक्षिणपादं प्रसार्य तं कराभ्यां धृत्वा नासाभ्यां वायुमापूर्य कण्ठबन्धं समारोप्योर्ध्वतो वायुं धारयेत् । तेन सर्वक्लेशहानिः । ततः पीयूषमिव विषं जीर्यते । क्षयगुल्मगुदावर्तजीर्णत्वगादिदोषा नश्यन्ति । एष प्राणजयोपायः सर्वमृत्यूपघातकः ॥42-2॥

बाँयें पैर के मूल से मूलरन्ध्र को दबाकर और दाहिना पैर फैलाकर उसे दोनों हाथ से पकड़ने के उपरान्त दोनों नासिकाओं में वायु भरकर कण्ठबन्ध (जालन्धरबन्ध) लगाना चाहिए और फिर ऊपर उठे हुए वायु को स्थिर करना चाहिए । इस क्रिया से समस्त क्लेशों का नाश हो जाता है । ऐसा करने से विष भी अमृत की तरह पच जाता है । क्षय, गोला, गुदावर्त, अजीर्ण और चर्मरोग आदि भी इससे नष्ट हो जाते हैं । प्राण को जीतने का यह उपाय सर्वमृत्यु का नाश करने वाला है ।

वामपादपार्ष्णिं योनिस्थाने नियोज्य दक्षिणचरणं वामोरूपरि संस्थाप्य वायुमापूर्य हृदये चुबुकं निधाय योनिमाकुञ्च्य मनोमध्ये यथाशक्ति धारयित्वा स्वात्मानं भावयेत् । तेनापरोक्षसिद्धिः ॥42-3॥

बाँयें पैर की एड़ी को पहले गुदास्थान में जोड़े, फिर साधक दाहिना पैर बाँयें पैर पर रखे । बाद में वायु भरकर (अन्दर खींचकर) हृदय पर चिबुक (ठुड्डी) को दबाकर रखे । फिर गुदास्थान को संकुचित करके मन के बीच यथाशक्ति धारण करके अपने आत्मा का ध्यान (चिन्तन) करे । इससे अपरोक्ष ज्ञान की सिद्धि होती है ।

बाह्यात् प्राणं समाकृष्य पूरयित्वोदरे स्थितम् ।
नाभिमध्ये च नासाग्रे पादाङ्गुष्ठे च यत्नतः ॥43॥
धारयेन्मनसा प्राणं सन्ध्याकालेषु वा सदा ।
सर्वरोगविनिर्मुक्तो भवेद्योगी गतक्लमः ॥44॥

बाहर से प्राण को भीतर खींचकर उदर में प्रतिष्ठित करे फिर वहाँ से उसको नाभि के बीच, नाक के आगे और पैर के अँगूठे में मन के द्वारा प्रयत्नपूर्वक धारण करना चाहिए । सन्ध्या समय में इस प्रकार जो योगी प्रतिदिन करता रहता है, वह सब रोगों से मुक्त होकर परिश्रमरहित हो जाता है ।

नासाग्रे वायुविजयं भवति । नाभिमध्ये सर्वरोगविनाशः । पादाङ्गुष्ठधारणाच्छरीरलघुता भवति ॥44-1॥

मन को नासाग्र में रोकने से वायु को रोका जा सकता है । नाभि के बीच रोकने से सभी रोगों का नाश होता है, पैर के अँगूठे पर धारण करने से शरीर में लाघव (हल्कापन) आ जाता है ।

रसनाद्वायुमाकृष्य यः पिबेत् सततं नरः ।
श्रमदाहौ तु न स्यातां नश्यन्ति व्याधयस्तथा ॥45॥
सन्ध्ययोर्ब्राह्मणः काले वायुमाकृष्य यः पिबेत् ।
त्रिमासात् तस्य कल्याणी जायते वाक् सरस्वती ॥46॥
एवं षण्मासाभ्यासात् सर्वरोगनिवृत्तिः ।
जिह्वया वायुमानीय जिह्वामूले निरोधयेत् ।
यः पिबेदमृतं विद्वान् सकलं भद्रमश्नुते ॥47॥

जो साधक जीभ से वायु को खींचकर निरन्तर उसका पान किया करता है, उसे श्रम और दाह नहीं होते और उसके रोग भी नष्ट हो जाते हैं । जो ब्राह्मण दोनों सन्ध्याकाल में वायु को खींचकर पीता रहता है, उसकी वाणी तीन महीनों में कल्याणस्वरूपा सरस्वती हो जाती है । इसी प्रकार छः महीनों तक अभ्यास करने से सभी रोग अवरुद्ध हो जाते हैं । जो विद्वान् जीभ से वायु को लेकर उसे जीभ के मूल में रोकता है, वह अमृत पीता है और सभी प्रकार का कल्याण प्राप्त करता है ।

आत्मन्यात्मानमिडया धारयित्वा भ्रुवोऽन्तरे ।
विभेद्य त्रिदशाहारं व्याधिस्थोऽपि विमुच्यते ॥48॥
नाडीभ्यां वायुमारोप्य नाभौ तुन्दस्य पार्श्वयोः ।
घटिकैकां वहेद्यस्तु व्याधिभिः स विमुच्यते ॥49॥
मासमेकं त्रिसन्ध्यं तु जिह्वयारोप्य मारुतम् ।
विभेद्य त्रिदशाहारं धारयेत्तुन्दमध्यमे ॥50॥
ज्वराः सर्वे विनश्यन्ति विषाणि विविधानि च ।
मुहूर्तमपि यो नित्यं नासाग्रे मनसा सह ।
सर्वं तरति पाप्मानं तस्य जन्मशतार्जितम् ॥51॥

इडा नाड़ी के द्वारा दोनों भौंहों के बीच, आत्मा में ही आत्मा (मन) को धारण करके मनुष्य देवों के आहार को भेदता है, और यदि रोगी हो तो रोग से मुक्त हो जाता है। दोनों नाड़ियों से वायु को नाभि में खींचकर, उदर के दोनों पार्श्वभागों में एक घड़ी समय तक जो साधक चलाता रहता है, वह रोगों से छुटकारा पा लेता है। एक महीने तक तीनों काल में जीभ से वायु को खींचकर जो उदर के मध्य भाग में अवरुद्ध करता है उसके सभी ज्वर नष्ट हो जाते हैं और विविध प्रकार के विष भी नष्ट हो जाते हैं। जो सदैव एक क्षण भी नासिका के अग्र भाग में मन के साथ वायु को रोकता है, वह सैंकड़ों जन्मों के सभी पापों को पार कर लेता है।

तारसंयमात् सकलविषयज्ञानं भवति। नासाग्रे चित्तसंयमादिन्द्रलोकज्ञानम्। तदधश्चित्तसंयमादग्निलोकज्ञानम्। चक्षुषि चित्तसंयमात् सर्वलोकज्ञानम्। श्रोत्रे चित्तस्य संयमाद्यमलोकज्ञानम्। तत्पार्श्वे संयमान्निर्ऋतिलोकज्ञानम्। पृष्ठभागे संयमाद्वरुणलोकज्ञानम्। वामकर्णे संयमाद्वायुलोकज्ञानम्। कण्ठे संयमात् सोमलोकज्ञानम्। वामचक्षुषि संयमाच्छिवलोकज्ञानम्। मूर्ध्नि संयमाद्ब्रह्मलोकज्ञानम्। पादाधोभागे संयमादतललोकज्ञानम्। पादे संयमाद्वितललोकज्ञानम्। पादसंधौ संयमान्नितललोकज्ञानम्। जङ्घे संयमात्सुतललोकज्ञानम्। जानौ संयमान्महातललोकज्ञानम्। ऊरौ चित्तस्य संयमाद्रसातललोकज्ञानम्। कटौ चित्तसंयमात्तलातललोकज्ञानम्। नाभौ चित्तसंयमाद्भूलोकज्ञानम्। कुक्षौ संयमाद्भुवर्लोकज्ञानम्। हृदि चित्तस्य संयमात् स्वर्लोकज्ञानम्। हृदयोर्ध्वभागे चित्तसंयमान्महर्लोकज्ञानम्। कण्ठे चित्तसंयमाज्जनोलोकज्ञानम्। भ्रूमध्ये चित्तसंयमात्तपोलोकज्ञानम्। मूर्ध्नि चित्तसंयमात् सत्यलोकज्ञानम्। धर्माधर्मसंयमादतीतानागतज्ञानम्। तत्तज्जन्तुध्वनौ चित्तसंयमात् सर्वजन्तुरुतज्ञानम्। संचितकर्मणि चित्तसंयमात् पूर्वजातिज्ञानम्। परचित्ते चित्तसंयमात् परचित्तज्ञानम्। कायरूपे चित्तसंयमादन्यादृश्यरूपम्। बले चित्तसंयमाद्धनुमदादिबलम्। सूर्ये चित्तसंयमाद्भुवनज्ञानम्। चन्द्रे चित्तसंयमात्तारव्यूहज्ञानम्। ध्रुवे तद्गतिदर्शनम्। स्वार्थसंयमात् पुरुषज्ञानम्। नाभिचक्रे कायव्यूहज्ञानम्। कण्ठकूपे क्षुत्पिपासानिवृत्तिः। कूर्मनाड्यां स्थैर्यम्। तारे सिद्धदर्शनम्। कायाकाशसंयमादाकाशगमनम्। तत्तत्स्थाने संयमात्तत्तत्सिद्धयो भवन्ति ॥52॥

इति सप्तमः खण्डः।

आँख की पुतली में चित्त का संयम करने से सकल विषयों का ज्ञान हो जाता है। नाक के अग्र भाग में चित्त का संयम करने से इन्द्रलोक का ज्ञान होता है। उसके नीचे के भाग में चित्त का संयम करने से अग्निलोक का ज्ञान होता है। चक्षु में चित्त का संयम करने से सर्वलोक का ज्ञान होता है। श्रोत्र में चित्त का संयम करने से यमलोक का ज्ञान होता है। उसके पार्श्वभाग में चित्त का संयम करने से राक्षसलोक का ज्ञान होता है। पीठ के भाग में संयम करने से वरुण लोक का ज्ञान होता है। बायें कान में संयम करने से वायुलोक का ज्ञान होता है। कण्ठ में संयम करने से चन्द्रलोक का ज्ञान होता है। बाँयीं आँख में संयम करने से शिवलोक का ज्ञान होता है। मस्तक में संयम करने से ब्रह्मलोक का ज्ञान होता है। पैर के नीचे के भाग में संयम करने से अतललोक का ज्ञान होता है। पैर में संयम करने से वितल लोक का ज्ञान होता है। पैरों की सन्धि में संयम करने से नितल लोक का ज्ञान होता है। जंघा में संयम करने से सुतल लोक का ज्ञान होता है। घुटनों में संयम करने से महातल लोक का ज्ञान होता है। ऊरु प्रदेश में संयम करने से रसातल लोक का ज्ञान होता है। कटिप्रदेश में संयम करने से तलातल लोक का ज्ञान होता है। नाभि में चित्त का संयम करने से भूर्लोक का ज्ञान होता है। उदर में संयम करने से भुवर्लोक का ज्ञान होता है। हृदय में संयम करने से स्वर्लोक का ज्ञान होता है। हृदय के ऊपर के भाग में संयम करने से महर्लोक का ज्ञान होता है। कंठ में संयम करने से जनलोक का ज्ञान होता है। भौंहों के बीच में चित्त का संयम करने से तपोलोक का ज्ञान होता है। मस्तक में चित्त का संयम करने से सत्यलोक का ज्ञान होता है। धर्म और अधर्म में संयम करने से भूत और भविष्यत् का ज्ञान होता है। तत्तत् प्राणियों की आवाज में चित्त का संयम करने से सभी प्राणियों की आवाजों का ज्ञान होता है। संचित कर्म में चित्त का संयम करने से पूर्व जन्म का ज्ञान होता है। दूसरे के चित्त में चित्त का संयम करने से दूसरों के चित्त का ज्ञान होता है। शरीर के रूप में चित्त का संयम करने से अन्य जैसा रूप मिल सकता है। बल में चित्त का संयम करने से हनुमान आदि जैसा बल प्राप्त होता है। सूर्य में चित्त का संयम करने से भुवन का ज्ञान होता है। चन्द्र में चित्त का संयम करने से तारामंडल का ज्ञान होता है। ध्रुव में संयम करने से उसकी गति का ज्ञान होता है। स्वार्थ में संयम करने से पुरुष का ज्ञान होता है। नाभिचक्र में संयम करने से शरीरव्यूह का ज्ञान होता है। गले के खड्डे में संयन करने से भूख-प्यास चली जाती हैं, कूर्मनाड़ी में संयम करने से स्थिरता आती है। तारा में संयम करने से सिद्ध दर्शन होता है और शरीर के आकाश में संयम करने से आकाशगमन की सिद्धि होती है। इस प्रकार तत्तत् स्थानों में संयम करने से वे सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं।

यहाँ सातवाँ खण्ड पूरा हुआ।

❋

अष्टमः खण्डः

अथ प्रत्याहारः। स पञ्चविधः। विषयेषु विचरतामिन्द्रियाणां बलादाहरणं प्रत्याहारः। यद्यत् पश्यति तत् सर्वमात्मेति प्रत्याहारः। नित्यविहितकर्मफलत्यागः प्रत्याहारः। सर्वविषयपराङ्मुखत्वं प्रत्याहारः। अष्टादशसु मर्मस्थानेषु क्रमाद्धारणं प्रत्याहारः ॥1॥
पादाङ्गुष्ठगुल्फजङ्घाजानूरुपायुमेढ्रनाभिहृदयकण्ठकूपतालुनासाक्षिभ्रूमध्यललाटमूर्ध्नि स्थानानि। तेषु क्रमादारोहावरोहक्रमेण प्रत्याहरेत् ॥2॥

इत्यष्टमः खण्डः।

अब प्रत्याहार की बात करते हैं। वह पाँच प्रकार का है। विषयों में भ्रमण करती हुई इन्द्रियों को बलपूर्वक खींच लेना प्रत्याहार है। मनुष्य जो-जो देखता है, वह सब आत्मा ही है, ऐसा समझना प्रत्याहार कहलाता है। नित्य किए हुए कर्मों का फलत्याग प्रत्याहार है। सभी विषयों से विमुख हो जाना प्रत्याहार है। अठारह मर्म स्थानों में क्रमशः धारणा करना प्रत्याहार है। पैर का अँगूठा गुल्फ, जंघा, जानु (घुटने), ऊरु, गुदा, लिंग, नाभि, हृदय, गले का छिद्र, तालु, नाक, आँख, दोनों भौहों के बीच का स्थान, ललाट और मस्तक—इन अठारह स्थानों में क्रमशः आरोह-अवरोह के क्रम से प्रत्याहार करना चाहिए।

यहाँ अष्टम खण्ड पूरा हुआ।

❋

नवमः खण्डः

अथ धारणाः। सा त्रिविधा। आत्मनि मनोधारणं दहराकाशे बाह्या-काशधारणं पृथिव्यप्तेजोवाय्वाकाशेषु पञ्चमूर्तिधारणं चेति ॥1॥

इति नवमः खण्डः।

अब धारणा कही जाती है, वह तीन प्रकार की है—(1) आत्मा में मन की धारणा, (2) दहराकाश में बाह्याकाश की धारणा और (3) पृथ्वी-जल-तेज-वायु-आकाश में पाँच मूर्तियों की धारणा।

यहाँ नवम खण्ड पूरा हुआ।

❋

दशमः खण्डः

अथ ध्यानम्। तद्द्विविधं सगुणं निर्गुणं चेति। सगुणं मूर्तिध्यानम्। निर्गुणमात्मयाथात्म्यम् ॥1॥

इति दशमः खण्डः।

अब ध्यान कहा जाता है। यह ध्यान दो प्रकार का है। एक सगुण और दूसरा निर्गुण। सगुण ध्यान मूर्ति का ध्यान होता है और निर्गुण ध्यान आत्मा के स्वरूप का ध्यान होता है।

यहाँ दसवाँ खण्ड पूरा होता है।

❋

एकादशः खण्डः

अथ समाधिः। जीवात्मपरमात्मैक्यावस्था त्रिपुटीरहिता परमानन्दस्व-रूपा शुद्धचैतन्यात्मिका भवति ॥1॥

इत्येकादशः खण्डः।

॥ इति प्रथमोऽध्यायः ॥

अब समाधि की बात कहते हैं। जीवात्मा और परमात्मा की एकता का अनुभव करने से जो ज्ञान-ज्ञेयज्ञाता की त्रिपुटी से रहित परमानन्दस्वरूप और शुद्ध चैतन्यमय अवस्था है, वह समाधि है।

यहाँ ग्यारहवाँ खण्ड पूरा हुआ।

यहाँ पहला अध्याय पूरा होता है।

❋

द्वितीयोऽध्यायः

अथ ह शाण्डिल्यो ह वै ब्रह्मऋषिश्चतुर्षु वेदेषु ब्रह्मविद्यामलभमानः किं नामेत्यथर्वाणं भगवन्तमुपसन्नः पप्रच्छ अधीहि भगवन् ब्रह्मविद्यां येन श्रेयोऽवाप्स्यामीति ॥1॥

स होवाचाथर्वा शाण्डिल्य सत्यं विज्ञानमनन्तं ब्रह्म ॥2॥

फिर ब्रह्मर्षि शाण्डिल्य ने चारों वेदों में ब्रह्मविद्या को प्राप्त न करके भगवान् अथर्वा की शरण में जाकर पूछा—"हे भगवन्! मुझे ब्रह्मविद्या सिखाइए, जिससे मेरा कल्याण हो।"

तब अथर्वा ने कहा—हे शाण्डिल्य! जो ब्रह्म है, वह सत्य है, विज्ञान है और अनन्त है।

यस्मिन्निदमोतं च प्रोतं च। यस्मिन्निदं सं च विचैति सर्वं यस्मिन् विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवति। तदपाणिपादमचक्षुःश्रोत्रमजिह्वमशरीरमग्राह्य-मनिर्देश्यम् ॥3॥

यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह। यत्केवलं ज्ञानगम्यम्। प्रज्ञा च यस्मात् प्रसृता पुराणी। यदेकमद्वितीयम्। आकाशवत् सर्वगतं सुसूक्ष्मं निरञ्जनं निष्क्रियं सन्मात्रं चिदानन्दैकरसं शिवं प्रशान्तममृतं तत् परं च ब्रह्म। तत्त्वमसि तज्ज्ञानेन हि विजानीहि ॥4॥

जिसमें यह सब कुछ ओत-प्रोत है, जिसमें से इन सबका उदय होता है, और जिसमें इन सबका अस्त हो जाता है और जिसको जानने से यह सब जाना जा सकता है, वह बिना हाथ-पैर वाला, चक्षुरहित, श्रोत्ररहित, जिह्वारहित, शरीररहित, अग्राह्य और अनिर्देश्य है।

जिसको प्राप्त किए बिना ही वाणी मन के साथ वापस लौट जाती है। जो केवल ज्ञान से ही प्राप्त किया जा सकता है, जिससे ही प्राचीन प्रज्ञा निकल कर फैली हुई है, जो एक है, अद्वितीय है, आकाश की तरह सर्वव्यापी है, जो अत्यंत सूक्ष्म, निरंजन, निष्क्रिय, केवल सत्यस्वरूप, चैतन्य और आनन्द-रूप, एकरस (समरस) है, जो मंगलमय, अतिशान्त और अमर है, वह परब्रह्म है। वही तत्त्व तुम हो। उसे तुम ज्ञान के द्वारा जानो।

य एको देव आत्मशक्तिप्रधानः सर्वज्ञः सर्वेश्वरः सर्वभूतान्तरात्मा सर्व-भूताधिवासः सर्वभूतनिगूढो भूतयोनिर्योगैकगम्यः। यश्च विश्वं सृजति विश्वं बिभर्ति विश्वं भुङ्क्ते स आत्मा। आत्मनि तं तं लोकं विजानीहि ॥5॥

मा शोचीरात्मविज्ञानी शोकस्यान्तं गमिष्यसि ॥6॥

इति द्वितीयोऽध्यायः।

जो एक ही देव आत्मा की शक्ति के रूप में मुख्य, सर्वज्ञ, सर्वेश्वर, सर्व प्राणियों के अन्तरात्मा, सर्व प्राणियों में बसे हुए, सर्व भूतों में छिपे हुए, सभी भूतों के मूल उत्पत्ति स्थान स्वरूप हैं और केवल योग द्वारा ही जाने जा सकते हैं, और जो विश्व का सर्जन करते हैं, पालन करते हैं और संहार करते हैं, वही आत्मा है। उन-उन लोकों को तुम आत्मा में अवस्थित जानो। तुम शोक मत करो। आत्मा का विशेष ज्ञान प्राप्त करके तुम शोक के नाश को प्राप्त करोगे।

यहाँ द्वितीय अध्याय पूरा होता है।

❈

तृतीयोऽध्यायः

प्रथमः खण्डः

अथ हैनं शाण्डिल्योऽथर्वाणं पप्रच्छ यदेकमक्षरं निष्क्रियं शिवं सन्मात्रं परं ब्रह्म। तस्मात् कथमिदं विश्वं जायते कथं स्थीयते कथमस्मिंल्लीयते। तन्मे संशयं छेत्तुमर्हसीति ॥1॥

स होवाचाथर्वा सत्यं शाण्डिल्य परंब्रह्म निष्क्रियमक्षरमिति ॥2॥

अथाप्यस्यारूपस्य ब्रह्मणस्त्रीणि रूपाणि भवन्ति सकलं निष्कलं सकलनिष्कलं चेति ॥3॥

अब फिर से शाण्डिल्य ने अथर्वा से पूछा कि—"जो परब्रह्म एक, अक्षर, क्रियारहित, मंगलस्वरूप और केवल सत्तामात्र ही है, इससे यह विश्व कैसे उत्पन्न होता है ? कैसे स्थिति करता है ? कैसे पुनः उसमें विलीन हो जाता है ? आप मेरे इस संशय को दूर करने के लिए योग्य हैं। तब अथर्वा ने कहा कि—यह तो ठीक ही है, शाण्डिल्य ! यों तो परब्रह्म क्रियारहित और अक्षर ही है, फिर भी इस अरूप परब्रह्म के तीन स्वरूप होते हैं—सकल, निष्कल और सकल-निष्कल।

यत्सत्यं विज्ञानमानन्दं निष्क्रियं निरञ्जनं सर्वगतं सुसूक्ष्मं सर्वतोमुखमनिर्देश्यममृतमस्ति तदिदं निष्कलं रूपम् ॥4॥

अथास्य या सहजास्त्यविद्या मूलप्रकृतिर्माया लोहितशुक्लकृष्णा। तया सहायवान् देवः कृष्णपिङ्गलो ममेश्वर ईष्टे। तदिदमस्य सकलं रूपम् ॥5॥

इनमें जो सत्य, विज्ञानरूप, आनन्द, क्रियाशून्य, निरंजन, सर्वव्यापी, अनन्त, सूक्ष्म, चारों ओर मुख वाला, अनिर्देश्य और अमर रूप है, वह निष्कल रूप है। तदनन्तर इस परब्रह्म की जो सहज अविद्या, मूल प्रकृति, माया है, वह लोहित (लाल), शुक्ल और कृष्ण (काले) वर्ण वाली है। उसकी (माया की) सहायता लेकर वह देव स्वयं काले और पीले होकर मेरे और सभी के ईश्वर (नियन्ता) होते हैं, यह उसका सकल रूप है।

अथैष ज्ञानमयेन तपसा चीयमानोऽकामयत बहु स्यां प्रजायेयेति। अथैतस्मात् तप्यमानात् सत्यकामात् त्रीण्यक्षराण्यजायन्त। तिस्रो व्याहृतयस्त्रिपदा गायत्री त्रयो वेदास्त्रयो देवास्त्रयो वर्णास्त्रयोऽग्नयश्च जायन्ते। योऽसौ देवो भगवान् सर्वैश्वर्यसम्पन्नः सर्वव्यापी सर्वभूतानां

हृदये संनिविष्टो मायावी मायया क्रीडति, स ब्रह्मा स विष्णुः स रुद्रः स इन्द्रः स सर्वे देवाः सर्वाणि भूतानि स एव पुरस्तात् स एव पश्चात् स एवोत्तरतः स एव दक्षिणतः स एवाधस्तात् स एवोपरिष्टात् स एव सर्वम्। अथास्य देवस्यात्मशक्तेरात्मक्रीडस्य भक्तानुकम्पिनो दत्तात्रेयरूपा सुरूपा तनूरवासा इन्दीवरदलप्रख्या चतुर्बाहुरघोरापापकाशिनी। तदिदमस्य सकलनिष्कलं रूपम् ॥6॥

इति प्रथमः खण्डः।

अब इस परब्रह्म ने ज्ञानमय तप से वृद्धि प्राप्त करके चाहा था कि "मैं अनेक रूपों में उत्पन्न हो जाऊँ।" बाद में उसने तपश्चर्या प्रारम्भ की। तब सत्य संकल्प वाले उससे तीन अक्षर उत्पन्न हुए। और भी इसी तरह तीन व्याहृतियाँ, तीन पदों वाली गायत्री, तीन वेद, तीन देव, तीन वर्ण और तीन अग्नि उत्पन्न हुए। जो यह परब्रह्म देव भगवान् हैं, वह सभी ऐश्वर्यों से युक्त हैं, सर्वव्यापी हैं, सभी प्राणियों के हृदय में अवस्थित हैं, मायावी हैं, माया के साथ क्रीड़ा करने वाले हैं, वही ब्रह्मा हैं, वही विष्णु हैं, वही रुद्र हैं, वही इन्द्र और सभी देवों के रूप में हैं, वही सभी भूतों के रूप में हैं। वही आगे और पीछे हैं। वही उत्तर में हैं, वही दक्षिण में हैं, वही ऊपर हैं, वही नीचे हैं। इस प्रकार वही सब कुछ हैं। वे देव अपनी शक्ति के साथ क्रीड़ा करने वाले हैं और भक्तों पर अनुग्रह करने वाले हैं। उनका शरीर दत्तात्रेयरूप सुंदर रूपवाला, वस्त्रविहीन, कमलपत्र जैसा कोमल, चार भुजाओं वाला, अघोर (भयंकरता से रहित) और पापरहित होते हुए प्रकाशित हो रहा है। यही उस परब्रह्म का सकलनिष्कल है।

यहाँ प्रथम खण्ड पूरा हुआ।

❈

द्वितीयः खण्डः

अथ हैनमथर्वाणं शाण्डिल्यः पप्रच्छ भगवन् सन्मात्रं चिदानन्दैकरसं कस्मादुच्यते परं ब्रह्मेति ॥1॥

स होवाचाथर्वा यस्माच्च बृहति बृंहयति च सर्वं तस्मादुच्यते परं ब्रह्मेति ॥2॥

अथ कस्मादुच्यते आत्मेति ॥3॥

यस्मात् सर्वमाप्नोति सर्वमादत्ते सर्वमत्ति च तस्मादुच्यते आत्मेति ॥4॥

अथ कस्मादुच्यते महेश्वर इति ॥5॥

यस्मान्महत ईशः शब्दध्वन्या चात्मशक्त्या च महत ईशते तस्मादुच्यते महेश्वर इति ॥6॥

पुनः उन अथर्वा से शाण्डिल्य ने पूछा—"हे भगवन्! वह ब्रह्म केवल सत्यस्वरूप, चिदानन्दैकरस क्यों कहा जाता है ?" तब अथर्वा बोले—वह स्वयं वृद्धि प्राप्त करता है और दूसरों का बृंहण (वृद्धि) करता है इसलिए वह परब्रह्म कहा जाता है। और वह आत्मा इसलिए कहा जाता है क्योंकि वह सर्व में व्याप्त होकर रहता है और सबको ग्रहण करता है एवं सबको खा जाता है। (आप्नोति, आदत्ते, अत्ति)। अब वे महेश्वर इसलिए कहे जाते हैं क्योंकि शब्दध्वनि और आत्मशक्ति से बड़ों-बड़ों का वे नियन्त्रण करते हैं, इसलिए वे महेश्वर कहलाते हैं।

अथ कस्मादुच्यते दत्तात्रेय इति ॥7॥
यस्मात् सुदुश्चरं तपस्तप्यमानायात्रये पुत्रकामायातितरां तुष्टेन भगवता ज्योतिर्मयेनात्मैव दत्तो यस्माच्चानसूयायामत्रेस्तनयोऽभवत् तस्मादुच्यते दत्तात्रेय इति ॥8॥
अथ योऽस्य निरुक्तानि वेद स सर्वं वेद ॥9॥
अथ यो ह वै विद्ययैनं परमुपास्ते सोऽहमिति स ब्रह्मविद्भवति ॥10॥

अब वे दत्तात्रेय इसलिए कहे जाते हैं क्योंकि अति दुश्चर (दुष्कर) तपश्चर्या करके अत्रि ऋषि ने पुत्र की इच्छा की। तब उन पर अतिप्रसन्न हुए ज्योतिर्मय भगवान् ने अपना स्वरूप ही उन्हें पुत्र के रूप में दे दिया और वे स्वयं अत्रि ऋषि एवं अनसूया के द्वारा पुत्र के रूप में उत्पन्न हुए। इसलिए वे दत्तात्रेय कहे जाते हैं। जो मनुष्य इन अन्वर्थक नामों को व्युत्पत्ति के साथ जानता है वह सब कुछ जानने में सक्षम हो जाता है। तदनन्तर जो इस आत्मविद्या के द्वारा इस परमात्म तत्त्व की उपासना 'मैं ही वह (ब्रह्म) हूँ'—इस प्रकार करता है, वह ब्रह्मविद् अर्थात् ब्रह्मज्ञानी हो जाता है।

अत्रैते श्लोका भवन्ति—
दत्तात्रेयं शिवं शान्तमिन्द्रनीलनिभं प्रभुम्।
आत्ममायारतं देवमवधूतं दिगम्बरम् ॥11॥
भस्मोद्धूलितसर्वाङ्गं जटाजूटधरं विभुम्।
चतुर्बाहुमुदाराङ्गं प्रफुल्लकमलेक्षणम् ॥12॥
ज्ञानयोगनिधिं विश्वगुरुं योगिजनप्रियम्।
भक्तानुकम्पिनं सर्वसाक्षिणं सिद्धसेवितम् ॥13॥
एवं यः सततं ध्यायेद्देवदेवं सनातनम्।
स मुक्तः सर्वपापेभ्यो निःश्रेयसमवाप्नुयात् ॥14॥
इत्यों सत्यमित्युपनिषत् ॥15॥

इति शाण्डिल्योपनिषत्समाप्ता।
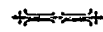
इस विषय में ये श्लोक हैं—मंगलस्वरूप, शान्त, इन्द्रनीलमणि सदृश श्याम, आत्ममाया के साथ क्रीड़ा करते हुए, अवधूत, दिगम्बर, भस्मलेपित देहवाले, जटाजूटधारी, व्यापक चतुर्भुजधारी, उदार अंगों वाले, प्रफुल्लित कमल जैसी आँखों वाले, ज्ञानयोग के भंडार, विश्व के गुरु, योगीजनों के प्रिय, भक्तों पर अनुग्रह करने वाले, सर्व के साक्षी और सिद्धों के द्वारा सेवित भगवान् दत्तात्रेय देव सनातन हैं। वे देवों के भी देव हैं। इस प्रकार जो निरन्तर उनका ध्यान करता है, वह सर्व पापों से मुक्त होकर मोक्ष को प्राप्त करता है।

इस प्रकार शाण्डिल्योपनिषत् समाप्त होती है।

शान्तिपाठः

ॐ भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवाः—देवहितं यदायुः। (पूर्ववत्)
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

(61) पैंगलोपनिषत्

(उपनिषत्परिचय)

शुक्लयजुर्वेदीय इस उपनिषद् में चार अध्याय हैं। पैंगल और याज्ञवल्क्य के प्रश्नोत्तर के रूप में इसमें कैवल्यज्ञान का मर्म बताया है। प्रथमाध्याय में सृष्टि के प्राकट्य का वैज्ञानिक विवेचन है। दूसरे अध्याय में इस सृष्टि के सर्जन-पालन-संहार की सामर्थ्य होते हुए भी चैतन्य की जीवभावप्राप्ति की बात कही गई है। तीसरे अध्याय में जीव-ब्रह्मात्मैक्य बोधक वेदों के महावाक्यों का विवेचन किया गया है। हमारे प्रसिद्ध महावाक्यों से ये महावाक्य थोड़े अलग हैं। चौथे अध्याय में ज्ञानियों की स्थिति एवं कर्म के बारे में याज्ञवल्क्य ने बड़े विस्तार से कहा है। यहाँ याज्ञवल्क्य के कहने का तात्पर्य यह है कि ज्ञानी अपनी ज्ञानाग्नि से प्रारब्ध कर्मों को जला देता है और आवागमन से छुटकारा पा लेता है तथा कैवल्यपद को प्राप्त हो जाता है। अन्त में उपनिषद् का माहात्म्य बताया गया है।

शान्तिपाठः

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्वमेवावशिष्यते ॥
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

ॐ रूप में अभिव्यक्त वह (परब्रह्म) पूर्ण है और यह (कार्यब्रह्म) भी पूर्ण है। क्योंकि पूर्ण में से ही पूर्ण उत्पन्न होता है। एवं प्रलय के समय पूर्ण का (कार्यब्रह्म का) पूर्णत्व लेकर (अर्थात् स्वयं के भीतर समाकर) पूर्ण (परब्रह्म) ही शेष रह जाता है।

त्रिविध तापों (आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक) की शान्ति हो।

प्रथमोऽध्यायः

अथ ह पैङ्गलो याज्ञवल्क्यमुपसमेत्य द्वादशवर्षशुश्रूषापूर्वकं परमरहस्य-कैवल्यमनुब्रूहीति पप्रच्छ ॥1॥
स होवाच याज्ञवल्क्यः सदेव सोम्येदमग्र आसीत्। तन्नित्यमुक्तमविक्रियं सत्यज्ञानानन्दं परिपूर्णं सनातनमेकमेवाद्वितीयं ब्रह्म ॥2॥
तस्मिन्मरुशुक्तिकास्थाणुस्फटिकादौ जलरौप्यपुरुषरेखादिवल्लोहित-शुक्लकृष्णगुणमयी गुणसाम्यानिर्वाच्या मूलप्रकृतिरासीत्। तत्प्रति-बिम्बितं यत्तत्साक्षिचैतन्यमासीत् ॥3॥

किसी समय पैंगल ऋषि याज्ञवल्क्य ऋषि के पास गए और बारह वर्षों तक पास रहकर उनकी सेवाशुश्रूषा करने के पश्चात् उनसे कहा कि मुझे परमरहस्यमय कैवल्यज्ञान का उपदेश दीजिए। तब याज्ञवल्क्य ने कहा कि—"हे सोम्य ! पहले यह सब सत् ही था। वही नित्य, मुक्त, अविकारी, सत्य,

ज्ञान और आनन्द से परिपूर्ण, सनातन तथा एकमात्र अद्वितीय ब्रह्म ही था। उस ब्रह्म में जैसे मरुस्थल में जल, सीप में रजत, स्थाणु में पुरुष और स्फटिक में रेखा का आभास होता है, उसी प्रकार उस (ब्रह्म) से लाल, शुक्ल और काले वर्णवाली (अर्थात् सत्त्व, रजस् और तमोगुणवाली) मूल प्रकृति उत्पन्न हुई। उसमें जो प्रतिबिम्बित हुआ, उसे ही साक्षी चैतन्य कहा गया है।

सा पुनर्विकृतिं प्राप्य सत्त्वोद्रिक्ताऽव्यक्ताख्यावरणशक्तिरासीत्। तत्प्रतिबिम्बितं यत्तदीश्वरचैतन्यमासीत्। स स्वाधीनमायः सर्वज्ञः सृष्टि-स्थितिलयानामादिकर्ता जगदङ्कुररूपो भवति स्वस्मिन्विलीनं सकलं जगदाविर्भावयति। प्राणिकर्मवशादेष पटो यद्वत् प्रसारितः प्राणिकर्म-क्षयात् पुनस्तिरोभावयति। तस्मिन्नेवाखिलं विश्वं संकोचितपट-वद्वर्तते ॥4॥

जब वह मूलप्रकृति भी फिर से विकारयुक्त हो गई, तब उससे 'सत्त्वगुणप्रधान अव्यक्त आवरणशक्ति' का प्रादुर्भाव हुआ। उसमें जो चैतन्य प्रतिबिम्बित हुआ, वह 'ईश्वरचैतन्य' कहा गया। वह ईश्वरचैतन्य माया को अपने वश में रखता है। वह सर्वज्ञ होता है। इस विश्व के सर्जन, पालन-पोषण और लय का वह आदिकर्ता है। वह इस जगत् का अंकुररूप है। वह अपने ही भीतर विलीन हुए सकल जगत् को उत्पन्न करता है। वह प्राणियों के कर्मों के अनुसार इस विश्वरूपी वस्त्र को जिस तरह फैलाता है, उसी प्रकार कर्मक्षय होने पर समेट भी लेता है। फिर तो सारा विश्व उसी में समेटे हुए वस्त्र की भाँति अवस्थित रह जाता है।

ईशाधिष्ठितावरणशक्तितो रजोद्रिक्ता महदाख्या विक्षेपशक्तिरासीत्। तत्प्रतिबिम्बितं यत्तद्धिरण्यगर्भचैतन्यमासीत्। स महत्तत्त्वाभिमानी स्पष्टास्पष्टवपुर्भवति ॥5॥

ईश्वर के द्वारा अधिष्ठित उस आवरणशक्ति से 'रजोगुणप्रधान विक्षेपशक्ति' उत्पन्न होती है, इसे 'महत्' कहा जाता है। इसमें प्रतिबिम्बित होने वाला चैतन्य 'हिरण्यगर्भ' कहा जाता है। वह महत् तत्त्व से युक्त कुछ स्पष्ट और कुछ अस्पष्ट शरीर धारण करने वाला होता है।

हिरण्यगर्भाधिष्ठितविक्षेपशक्तितस्तमोद्रिक्ताऽहंकाराभिधा स्थूलशक्ति-रासीत्। तत्प्रतिबिम्बितं यत्तद्विराट्चैतन्यमासीत्। स तदभिमानी स्पष्ट-वपुः सर्वस्थूलपालको विष्णुः प्रधानपुरुषो भवति। तस्मादात्मन आकाशः संभूतः। आकाशाद्वायुः। वायोरग्निः। अग्नेरापः। अद्भ्यः पृथिवी। तानि पञ्च तन्मात्राणि त्रिगुणानि भवन्ति ॥6॥

उस हिरण्यगर्भ में रहने वाली विक्षेपशक्ति से तमःप्रधान अहंकार नाम की स्थूल शक्ति उत्पन्न हुई है। और उसमें जो चैतन्य प्रतिबिम्बित होता है, वह 'विराट्' कहलाता है। इसका अभिमानी स्पष्ट शरीरवाला, समस्त स्थूल जगत् का पालक जो प्रधानपुरुष होता है, वह 'विष्णु' है। उसकी आत्मा से इस आकाश की उत्पत्ति हुई है। आकाश से वायु उत्पन्न हुआ है, वायु से अग्नि उत्पन्न हुआ है, अग्नि से जल की उत्पत्ति हुई है, और जल से पृथ्वी की उत्पत्ति हुई है। इन्हीं से पाँच तन्मात्राएँ और तीन गुणों की उत्पत्ति हुई है।

स्रष्टुकामो जगद्योनिस्तमोगुणमधिष्ठाय सूक्ष्मतन्मात्राणि भूतानि स्थूली-कर्तुं सोऽकामयत। सृष्टेः परिमितानि भूतान्येकमेकं द्विधा विधाय

पुनश्चतुर्धा कृत्वा स्वस्वेतरद्वितीयांशैः पञ्च पञ्चधा संयोज्य पञ्चीकृत-भूतैरनन्तकोटिब्रह्माण्डानि तत्तदण्डोचितचतुर्दशभुवनानि तत्तद्भुवनो-चितगोलकस्थूलशरीराण्यसृजत् ॥7॥

इस जगत् के सर्जक को जब सृष्टि के निर्माण की इच्छा हुई तो उन्होंने तमोगुण में अधिष्ठित होकर उन सूक्ष्म तन्मात्राओं से स्थूल भूतों की उत्पत्ति करने की पहले कामना की (संकल्प किया)। उन्होंने उन परिच्छिन्न सूक्ष्मभूतों को एक-एक के दो भाग किए। फिर एक-एक आधे भाग के चार-चार विभाग किए। फिर पहला जो आधा भाग प्रत्येक भूतों का था, उसमें उस तत्त्व से पृथक् तत्त्व वाले अन्य तत्त्वों के अष्टमांश भाग को मिलाकर सबका पञ्चीकरण कर दिया। इसके बाद इन पंचीकृत भूतों से अनन्तकोटि ब्रह्माण्डों की रचना की। फिर उनके योग्य चौदह भुवन बनाए और उन भुवनों के योग्य स्थूल शरीरों का निर्माण किया।

स पञ्चभूतानां रजोंशांश्चतुर्धा कृत्वा भागत्रयात्पञ्चवृत्त्यात्मकं प्राणम-सृजत्। स तेषां तुर्यभागेन कर्मेन्द्रियाण्यसृजत् ॥8॥

स तेषां सत्त्वांशं चतुर्धा कृत्वा भागत्रयसमष्टितः पञ्चक्रियावृत्त्यात्म-कमन्तःकरणमसृजत्। स तेषां सत्त्वतुरीयभागेन ज्ञानेन्द्रियाण्य-सृजत् ॥9॥

सत्त्वसमष्टित इन्द्रियपालकानसृजत्। तानि सृष्टान्यण्डे प्राचिक्षिपत्। तदाज्ञया समष्ट्यण्डं व्याप्त तान्यतिष्ठन्। तदाज्ञयाऽहंकारसमन्वितो विराट् स्थूलान्यरक्षत्। हिरण्यगर्भस्तदाज्ञया सूक्ष्माण्यपालयत् ॥10॥

इसके बाद उसने पाँच भूतों के रजोगुणप्रधान अंश के चार भाग करके तीन भागों से पाँच प्रकार के प्राणों का और शेष के चतुर्थांश से कर्मेन्द्रियों का निर्माण किया। इसी प्रकार उसने उन पाँच भूतों के सत्त्वांश के भी चार विभाग करके उसके तीन भागों से पाँच वृत्त्यात्मक अन्तःकरण को बनाया और शेष बचे चतुर्थांश से ज्ञानेन्द्रियों का निर्माण किया। (अन्तःकरण की पाँच वृत्तियाँ ये हैं—प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा और स्मृति)। उसने सत्त्वसमष्टि से पाँचों इन्द्रियों के पालक देवताओं का सर्जन किया और उन्हें ब्रह्माण्डों में स्थापित किया। उस विष्णुरूप ब्रह्म की आज्ञा से वे सभी देवतागण ब्रह्माण्डों में बस गये। उसी की आज्ञा से अहंकारयुक्त विराट् स्थूल जगत् का रक्षण करने लगा और हिरण्यगर्भ उसकी आज्ञा से ही सूक्ष्म का पालन करने लगा।

अण्डस्थानि तानि तेन विना स्पन्दितुं चेष्टितुं वा न शेकुः। तानि चेतनीकर्तुं सोऽकामयत ब्रह्माण्डब्रह्मरन्ध्राणि समस्तव्यष्टिमस्तकान्वि-दार्य तदेवानुप्राविशत्। तदा जडान्यपि तानि चेतनवत्स्वकर्माणि चक्रिरे ॥11॥

सर्वज्ञेशो मायालेशसमन्वितो व्यष्टिदेहं प्रविश्य तया मोहितो जीवत्वमग-मत्। शरीरत्रयतादात्म्यात्कर्तृत्वभोक्तृत्वतामगमत्। जाग्रत्स्वप्नसुषुप्ति-मूर्च्छामरणधर्मयुक्तो घटीयन्त्रवदुद्विग्नो जातो मृत इव कुलालचक्रन्या-येन परिभ्रमतीति ॥12॥

इति प्रथमोऽध्यायः।

उस ब्रह्म के बिना ब्रह्माण्ड में अवस्थित ये देवगण कोई स्पन्दन और चेष्टा न कर पाये। उन्हें चैतन्ययुक्त करने के लिए उस ब्रह्म ने संकल्प किया। वह ब्रह्म, ब्रह्माण्ड और ब्रह्मरन्ध्र तथा समस्त व्यष्टि के मस्तक को विदीर्ण करके उसमें प्रविष्ट हो गया। तब वे जड़ होते हुए भी अपने-अपने कार्यों में चेतन की तरह ही लग गए (कार्य करने लगे)। सर्वज्ञ ईश्वर माया से युक्त होकर व्यष्टिशरीर में प्रविष्ट हो गया और मोहित होकर जीवत्व को प्राप्त हो गया। स्थूल-सूक्ष्म-कारणात्मक तीनों शरीरों के साथ तादात्म्य स्थापित करके कर्तृत्व और भोक्तृत्व का अनुभव करने लगा। जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्ति-मूर्च्छा आदि स्थितियों से युक्त होकर मरणधर्म को प्राप्त करके वह घटीयन्त्र के समान चंचल होकर उत्पन्न हुआ करता है और मृत्यु को प्राप्त करता रहता है, कुम्हार के चक्र की तरह घूमता रहता है।

यहाँ प्रथम अध्याय संपूर्ण होता है।

❋

द्वितीयोऽध्यायः

अथ पैङ्गलो याज्ञवल्क्यमुवाच सर्वलोकानां सृष्टिस्थित्यन्तकृद्विभुरीशः कथं जीवत्वमगमदिति ॥1॥

स होवाच याज्ञवल्क्यः स्थूलसूक्ष्मकारणदेहोद्भवपूर्वकं जीवेश्वरस्वरूपं विविच्य कथयामीति सावधानेनैकाग्रतया श्रूयताम्। ईशः पञ्चीकृत-महाभूतलेशानादाय व्यष्टिसमष्ट्यात्मकस्थूलशरीराणि यथाक्रममकरोत्। कपालचर्मान्त्रास्थिमांसनखानि पृथिव्यंशाः। रक्तमूत्रलालास्वेदादिका अबंशाः। क्षुत्तृष्णोष्णमोहमैथुनाद्या अग्न्यंशाः। प्रचारणोत्तारणाश्वा-सादिका वाय्वंशाः। कामक्रोधादयो व्योमांशाः। एतत्संघातं कर्मणि संचितं त्वगादियुक्तं बाल्याद्यवस्थाभिमानास्पदं बहुदोषाश्रयं स्थूलशरीरं भवति ॥2॥

फिर से ऋषि पैंगल ने याज्ञवल्क्य ऋषि से पूछा कि सभी लोकों का सर्जन, पालन, पोषण और संहार करने वाले व्यापक ईश्वर ने भी जीवत्व कैसे प्राप्त किया ? तब याज्ञवल्क्य ने कहा—"मैं स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीरों की उत्पत्ति बताकर यह तुम्हें विवेचन करके बता रहा हूँ। उसे सावधान होकर एकाग्रता से सुनो। ईश्वर ने पंचीकृत भूतों के अंशों को लेकर व्यष्टि और समष्टि के स्थूल शरीरों का क्रमिक रूप से निर्माण किया। कपाल, चर्म, आँतें, हड्डियाँ, मांस और नाखून—ये पृथ्वी तत्त्व के अंश से बनाए गए हैं। रक्त, मूत्र, लार और पसीना आदि जलतत्त्व के अंश से बने हुए हैं। भूख, प्यास, गर्मी, मोह, मैथुन आदि अग्नितत्त्व के अंश से बने हैं। चलना, उठना, बैठना, साँस लेना—आदि सब वायुतत्त्व के अंश से बने हुए हैं। काम, क्रोध आदि आकाशतत्त्व के अंश से बने हुए हैं। इस प्रकार इन सबके संघात (समूह) से और संचित कर्मों से निर्मित त्वचा आदि से युक्त बाल्यादि अवस्थाओं के भाववाला अनेक दोषों का आश्रयस्थान यह स्थूल शरीर होता है।

अथापञ्चीकृतमहाभूतरजोंशभागत्रयसमष्टितः प्राणमसृजत्। प्राणापान-व्यानोदानसमानाः प्राणवृत्तयः। नागकूर्मकृकरदेवदत्तधनञ्जया उप-प्राणाः। हृदासननाभिकण्ठसर्वाङ्गानि स्थानानि। आकाशादिरजोगुण-तुरीयभागेन कर्मेन्द्रियमसृजत्। वाक्पाणिपादपायूपस्थास्तद्वृत्तयः।

वचनादानगमनविसर्गानन्दास्तद्विषयाः। एवं भूतसत्त्वांशभागत्रय-समष्टितोऽन्तःकरणमसृजत्। अन्तःकरणमनोबुद्धिचित्ताहंकारास्तद्-वृत्तयः। संकल्पनिश्चयस्मरणाभिमानानुसंधानास्तद्विषयाः। गलवदन-नाभिहृदयभ्रूमध्यं स्थानम्। भूतसत्त्वतुरीयभागेन ज्ञानेन्द्रियमसृजत्। श्रोत्रत्वक्चक्षुर्जिह्वाघ्राणास्तद्वृत्तयः। शब्दस्पर्शरूपरसगन्धास्तद्विषयाः। दिग्वातार्कप्रचेतोऽश्विवह्नीन्द्रोपेन्द्रमृत्युकाः। चन्द्रो विष्णुश्चतुर्वक्त्रः शंभुश्च करणाधिपाः ॥3॥

इसके बाद अपंचीकृत महाभूतों के रजोगुणांश के तीन भागों को एकत्रित करके प्राण को उत्पन्न किया गया। प्राण, अपान, व्यान, समान और उदान—ये पाँच प्राण हैं। इसी प्रकार नाग, कूर्म, कृकर, देवदत्त और धनंजय—ये पाँच उपप्राण हैं। हृदय, आसन (मूलाधार), नाभि, कण्ठ और सर्वांग—ये उस प्राण के स्थान हैं। इसके बाद आकाशादि अपंचीकृत महाभूतों के रजोगुणांश का जो चौथा भाग था, उससे कर्मेन्द्रियों का निर्माण किया गया। वाणी, हाथ, पैर, गुदा और उपस्थ (शिश्न)—ये पाँच कर्मेन्द्रियाँ हैं। वचन, आदान, गमन, विसर्जन और आनन्द—ये इन कर्मेन्द्रियों के क्रमशः विषय हैं। इसी प्रकार उन पूर्वोक्त महाभूतों के सत्त्व गुणांश के भी तीन भागों से अन्तःकरण की उत्पत्ति की गई। अन्तःकरण में मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार और उनकी वृत्तियाँ शामिल हैं। संकल्प, निश्चय, स्मरण, अभिमान तथा अनुसन्धान—ये इनके क्रमशः विषय हैं। कण्ठ, मुख, नाभि, हृदय और भौंहों का मध्यभाग—ये इनके स्थान हैं। अब महाभूतों के सत्त्वांश के शेष बचे चौथे भाग से ज्ञानेन्द्रियों का निर्माण किया गया। श्रोत्र, त्वक्, चक्षु, जिह्वा और घ्राणेन्द्रिय—ये पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ हैं। शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध—ये इनके क्रमिक रूप से विषय हैं। दिशाएँ, वायु, सूर्य, वरुण, अश्विनीकुमार, अग्नि, इन्द्र, उपेन्द्र, मृत्युदेव (यम), चन्द्र, विष्णु, ब्रह्मा और शिव के सभी देवगण इन इन्द्रियों के स्वामी हैं।

अथान्नमयप्राणमयमनोमयविज्ञानमयानन्दमयाः पञ्च कोशाः। अन्नरसेनैव भूत्वाऽन्नरसेनाभिवृद्धिं प्राप्यान्नरसमयपृथिव्यां यद्विलीयते सोऽन्नमयकोशः। तदेव स्थूलशरीरम्। कर्मेन्द्रियैः सह प्राणादिपञ्चकं प्राणमयकोशः। ज्ञानेन्द्रियैः सह मनो मनोमयकोशः। ज्ञानेन्द्रियैः सह बुद्धिर्विज्ञानमयकोशः। एतत्कोशत्रयं लिङ्गशरीरम्। स्वरूपाज्ञानमा-नन्दमयकोशः। तत् कारणशरीरम् ॥4॥

अब इसके बाद अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय और आनन्दमय—ये पाँच कोश हैं। अन्नमय कोश उसे कहा जाता है, जो अन्नरस से उत्पन्न होता है, अन्नरस से ही अभिवृद्धि को प्राप्त करता है, और अन्ततः अन्नरसमय पृथ्वी में विलीन हो जाता है। वही अन्नमय कोश है, वही स्थूल शरीर है। कर्मेन्द्रियों के साथ ही पाँच प्राण आदि को मिलाने से प्राणमय कोश कहलाता है। ज्ञानेन्द्रियों के साथ मन के होने से मनोमय कोश कहलाता है। ज्ञानेन्द्रियों के साथ बुद्धि के होने से विज्ञानमय कोश कहलाता है। इन तीन कोशों के मिलने से लिङ्गशरीर बनता है। अपने स्वरूप के अभान (अज्ञान) वाली स्थिति को आनन्दमय कोश कहा जाता है और इसी को कारणशरीर कहा जाता है।

अथ ज्ञानेन्द्रियपञ्चकं कर्मेन्द्रियपञ्चकं प्राणादिपञ्चकं वियदादिपञ्चक-मन्तःकरणचतुष्टयं कामकर्मतमांस्यष्टपुरम् ॥5॥

ईशाज्ञया विराजो व्यष्टिदेहं प्रविश्य बुद्धिमधिष्ठाय विश्वत्वमगमत्। विज्ञानात्मा चिदाभासो विश्वो व्यावहारिको जाग्रत्स्थूलदेहाभिमानी कर्मभूरिति च विश्वस्य नाम भवति ॥6॥

ईशाज्ञया सूत्रात्मा व्यष्टिसूक्ष्मशरीरं प्रविश्य मन अधिष्ठाय तैजसत्वम-गमत्। तैजसः प्रातिभासिकः स्वप्नकल्पित इति तैजसस्य नाम भवति ॥7॥

ईशाज्ञया मायोपाधिरव्यक्तसमन्वितो व्यष्टिकारणशरीरं प्रविश्य प्राज्ञत्व-मगमत्। प्राज्ञोऽविच्छिन्नः पारमार्थिकः सुषुप्त्यभिमानीति प्राज्ञस्य नाम भवति ॥8॥

इस प्रकार पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ, पाँच प्राण, आकाशादि पाँच महाभूत, चार अन्तःकरण, काम, कर्म और अविद्या—ये आठों मिलकर अष्टपुर (आठ पुरों का समूह) कहलाता है। ईश की आज्ञा से विराट् ने व्यष्टि में प्रवेश करके और बुद्धि में प्रतिष्ठित होकर 'विश्वत्व' को प्राप्त किया (वह 'विश्व' कहलाया)। इसी 'विश्व' के ये भी अलग-अलग नाम हैं जैसे—विज्ञानात्मा, चिदाभास, विश्व, व्यावहारिक, जाग्रत्, स्थूलदेहाभिमानी और कर्मभू। अब ईश की आज्ञा से सूत्रात्मा व्यष्टि के सूक्ष्म शरीर में प्रविष्ट हुआ। वहाँ वह मन में अधिष्ठित होकर 'तैजसत्व' को प्राप्त हुआ। इस तैजस के ये नाम हैं—तैजस, प्रातिभासिक और स्वप्नकल्पित। अब फिर ईश्वर के ही आदेश से माया की उपाधिवाला अव्यक्त व्यष्टि के कारणशरीर में प्रविष्ट हुआ। वहाँ उसने 'प्राज्ञत्व' प्राप्त किया। उस 'प्राज्ञ' के ये नाम हैं—प्राज्ञ, अविच्छिन्न, पारमार्थिक और सुषुप्त्यभिमानी।

अव्यक्तलेशाज्ञानाच्छादितपारमार्थिकजीवस्य तत्त्वमस्यादिवाक्यानि ब्रह्मणैकतां जगुर्नेतरयोर्व्यावहारिकप्रातिभासिकयोः ॥9॥

अन्तःकरणप्रतिबिम्बितचैतन्यं यत्तदेवावस्थात्रयभाग्भवति। स जाग्रत्स्वप्नसुषुप्त्यवस्थाः प्राप्य घटीयन्त्रवदुद्विग्नो जातो मृत इव स्थितो भवति ॥10॥

पारमार्थिक जीव के ऊपर अव्यक्त का अंशरूप अज्ञान आच्छन्न हुआ है। 'तत्त्वमसि' आदि वाक्यों से ब्रह्म की एकता प्रकट होती है। परन्तु व्यावहारिक और प्रातिभासिक भेद इस प्रकार की एकता नहीं रखते (ज्ञान के फल के भोग के समय पर प्राज्ञ का ही पारमार्थिकत्व होने से तथा विश्व और तैजस के मिथ्या होने से इस प्रकार की एकता नहीं हो सकती।) अन्तःकरण में जो चैतन्य प्रतिबिम्बित होता है, वही तीनों अवस्थाओं (जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति) का भागी होता है। चैतन्य तो इन उपर्युक्त तीनों अवस्थाओं को पाकर घटीयन्त्र की तरह चंचल होकर घूमता रहता है और निरन्तर जन्म-मरण को प्राप्त होता रहता है।

अथ जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तिमूर्च्छामरणाद्यवस्थाः पञ्च भवन्ति। तत्तद्देवता-ग्रहान्वितैः श्रोत्रादिज्ञानेन्द्रियैः शब्दाद्यर्थविषयग्रहणज्ञानं जाग्रदवस्था भवति। तत्र भ्रूमध्यं गतो जीव आपादमस्तकं व्याप्य कृषिश्रवणाद्य-खिलक्रियाकर्ता भवति। तत्तत्फलभुक् च भवति। लोकान्तरगतः कर्मार्जितफलं स एव भुङ्क्ते। स सार्वभौमवद्व्यवहाराच्छ्रान्त अन्तर्भवनं प्रवेष्टुं मार्गमाश्रित्य तिष्ठति ॥11॥

इस प्रकार, जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति, मूर्च्छा और मरण—ये पाँच अवस्थाएँ होती हैं। जाग्रत् अवस्था वह है जिसमें श्रोत्र आदि इन्द्रियाँ अपने-अपने देवता की शक्ति (अनुग्रह) से युक्त होकर शब्द आदि विषयों को ग्रहण करती हैं। इस समय जीव दोनों भौंहों के बीच निवास करते हुए भी समग्र शरीर अर्थात् पाद से लेकर मस्तक तक व्याप्त रहता है और कृषि से लेकर श्रवण तक के अर्थात् सभी कार्यों को करता है (तात्पर्य यह है कि सभी ज्ञानेन्द्रियाँ और कर्मेन्द्रियाँ भी चैतन्य की वजह से अपना-अपना काम करती रहती हैं) और कार्यों के फल भी प्राप्त करता है। वह अपने इन अर्जित कर्मों का फल लोकान्तर में भी भोगता है। वह सार्वभौम की तरह लौकिक कार्यों से थककर थकान उतारने के लिए भीतर के विश्रामस्थान में जाने की इच्छा से मार्ग में ही आश्रय लेकर ठहर जाता है।

करणोपरमे जाग्रत्संस्कारार्धप्रबोधवद्ग्राह्यग्राहकरूपस्फुरणं स्वप्नावस्था भवति। तत्र विश्व एव जाग्रद्व्यवहारलोपान्नाडीमध्यं चरंस्तैजसत्वम-वाप्य वासनारूपकं जगद्वैचित्र्यं स्वभासा भासयन्यथेप्सितं स्वयं भुङ्क्ते ॥12॥

चित्तैककरणा सुषुप्त्यवस्था भवति। भ्रमविश्रान्तशकुनिः पक्षौ संहृत्य नीडाभिमुखं यथा गच्छति तथा जीवोऽपि जाग्रत्स्वप्नप्रपञ्चे व्यवहृत्य श्रान्तोऽज्ञानं प्रविश्य स्वानन्दं भुङ्क्ते ॥13॥

अकस्मान्मुद्गरदण्डाद्यैस्ताडितवद्भयाज्ञानाभ्यामिन्द्रियसंघातैः कम्पन्निव मृततुल्या मूर्च्छा भवति ॥14॥

जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तिमूर्च्छावस्थानामन्याब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्तं सर्वजीवभय-प्रदा स्थूलदेहविसर्जनी मरणावस्था भवति ॥15॥

जब इन्द्रियाँ अपने कर्मों से उपरत हो जाती हैं, तब जाग्रदवस्था के संस्कारों से जो ग्राह्य-ग्राहकरूप अर्धप्रबोध (अर्धभानावस्था) जैसी अवस्था होती है, उसे स्वप्नावस्था कहते हैं। उस अवस्था में वह 'विश्व' ही जाग्रत् अवस्था के व्यवहार के लोप होने पर नाड़ी के मध्य में भ्रमण करता हुआ 'तैजस' का रूप धारण कर लेता है। और वह अपनी वासना के अनुरूप अपने ही तेज से एक विचित्र जगत् की रचना कर लेता है और स्वयं ही अपनी इच्छानुसार भोग करता है। चित्त की एककरणा (एकाग्रता) की अवस्था सुषुप्ति अवस्था होती है। पक्षी जिस तरह भ्रमण से थककर अपने पंखों को समेटकर अपने घोंसले की ओर जाता है, ठीक इसी तरह जीव भी जाग्रत् और स्वप्नावस्था के प्रपंचों से थककर अज्ञान में प्रविष्ट होकर आनन्द लेता है। अचानक गदा या लाठी आदि से मारे जाने पर जिस प्रकार व्यक्ति थर्रा जाता है, उसी प्रकार मूर्च्छा की स्थिति में भी भय और अज्ञान के कारण सभी इन्द्रियाँ कम्पित हो जाती हैं (थर्रा उठती हैं)। यह अवस्था मृत्युतुल्य होती है। जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्ति-मूर्च्छा इन अवस्थाओं से भिन्न एक अवस्था है, जो ब्रह्मा से लेकर तिनके तक सभी जीवों के लिए भयकारक है। जिसके आने पर स्थूल शरीर का परित्याग करना पड़ता है, वह मरणावस्था है।

कर्मेन्द्रियाणि ज्ञानेन्द्रियाणि तत्तद्विषयान्प्राणान्संहृत्य कामकर्मान्वित अविद्याभूतवेष्टितो जीवो देहान्तरं प्राप्य लोकान्तरं गच्छति। प्राक्कर्म-फलपाकेनावर्तान्तरकीटवद्विश्रान्तिं नैव गच्छति ॥16॥

सत्कर्मपरिपाकतो बहूनां जन्मनामन्ते नृणां मोक्षेच्छा जायते। तदा सद्-गुरुमाश्रित्य चिरकालसेवया बन्धं मोक्षं कश्चित्प्रयाति ॥17॥

अविचारकृतो बन्धो विचारान्मोक्षो भवति। तस्मात्सदा विचारयेत्। अध्यारोपापवादतः स्वरूपं निश्चयीकर्तुं शक्यते। तस्मात्सदा विचारयेज्जगज्जीवपरमात्मनो जीवभावजगद्भावबाधे प्रत्यगभिन्नं ब्रह्मैवावशिष्यत इति ॥18॥

इति द्वितीयोऽध्यायः।

मृत्यु हो जाने पर कर्मेन्द्रियाँ, ज्ञानेन्द्रियाँ तथा उनके विषय (तन्मात्राएँ) और जो प्राण हैं, उन सब को एकत्र करके कामनाओं और कर्मों से युक्त जीव अविद्या से आवृत होकर अन्य शरीर को प्राप्त करके दूसरे लोक की ओर गमन करता है। पहले किए हुए कर्मों के फलों के उपभोग में फँसे रहने के कारण यह जीव उसी प्रकार शान्ति नहीं पा सकता, जिस तरह भँवर में फँसा हुआ कीड़ा। जब उसके सत्कर्म परिपक्व हो जाते हैं, तब जन्म-जन्मान्तर के बाद मनुष्य को मोक्ष की इच्छा होती है। तब सद्गुरु की शरण में जाकर लम्बे अरसे तक उनकी सेवा करके कोई विरलजन ही बन्धन से छुटकारा पाकर मोक्ष की ओर जाता है। अविचार करने से बन्धन और विचार करने से मोक्ष प्राप्त होता है। इसलिए सदैव विचार-मनन करना चाहिए। अध्यारोप और अपवाद से स्वरूप का निर्णय किया जा सकता है। इसलिए सदैव जगत्-जीव-परमात्मा के विषय में विचार करते रहना चाहिए। जीवभाव और जगद्भाव का निराकरण करने से अपने प्रत्यगात्मा से अभिन्न (जीव से अभिन्न) केवल ब्रह्म ही शेष रह जाता है।

यहाँ दूसरा अध्याय पूर्ण हुआ।

❋

तृतीयोऽध्यायः

अथ हैनं पैङ्गलः पप्रच्छ याज्ञवल्क्यं महावाक्यविवरणमनुब्रूहीति ॥1॥ स होवाच याज्ञवल्क्यस्तत्त्वमसि त्वं तदसि त्वं ब्रह्मास्यहं ब्रह्मास्मीत्यनुसन्धानं कुर्यात् ॥2॥

तत्र पारोक्ष्यशबलः सर्वज्ञत्वादिलक्षणो मायोपाधिः सच्चिदानन्दलक्षणो जगद्योनिस्तत्पदवाच्यो भवति। स एवान्तःकरणसम्भिन्नबोधोऽस्मत्प्रत्ययावलम्बनस्त्वंपदवाच्यो भवति। परजीवोपाधिमायाविद्ये विहाय तत्त्वंपदलक्ष्यं प्रत्यगभिन्नं ब्रह्म ॥3॥

इसके बाद ऋषि पैंगल ने याज्ञवल्क्य ऋषि से पूछा—"मुझे महावाक्यों का विवरण समझाइए।" तब याज्ञवल्क्य ने कहा कि, 'तत्त्वमसि' (वह तुम हो), 'त्वं तदसि' (तुम वही हो), 'त्वं ब्रह्मासि' (तुम ब्रह्म हो) और 'अहं ब्रह्मास्मि' (मैं ब्रह्म हूँ)—ये महावाक्य हैं। उनमें 'तत्त्वमसि'—इस महावाक्य में 'तत्' पद सर्वज्ञत्वादि लक्षण से युक्त, माया की उपाधिवाले सच्चिदानन्द रूप, जगत् के मूलकारणरूप अव्यक्त ईश्वर का बोधक है। वही ईश्वर अन्तःकरण की उपाधि के कारण भिन्नता का बोध होने से त्वं पद का आधार लेकर प्रकट किया जाता है। ईश्वर की उपाधि माया और जीव की उपाधि अविद्या है। इन दोनों उपाधियों का त्याग कर देने से 'तत्' और 'त्वम्'—दोनों पदों का लक्ष्य (आशय) उस ब्रह्म से है, जो प्रत्यगात्मा से अभिन्न ही है।

तत्त्वमसीत्यहं ब्रह्मास्मीति वाक्यार्थविचारः श्रवणं भवति। एकान्तेन श्रवणार्थानुसन्धानं मननं भवति। श्रवणमनननिर्विचिकित्स्येऽर्थे वस्तु-

न्येकतानवत्तया चेतःस्थापनं निदिध्यासनं भवति। ध्यातृध्याने विहाय निवातस्थितदीपवद्ध्येयैकगोचरं चित्तं समाधिर्भवति ॥4॥

'तत्त्वमसि' और 'अहं ब्रह्मास्मि'—इन महावाक्यों पर विचार (चिन्तन) करना 'श्रवण' कहलाता है और श्रवण किए गए अर्थों पर एकान्त में अनुसन्धान करने को 'मनन' कहा जाता है। श्रवण और मनन के द्वारा निश्चित किए गए अर्थरूप पदार्थ में एकाग्रतापूर्वक चित्त को स्थिर करने को 'निदिध्यासन' कहते हैं। जब ध्याता और ध्यान के भाव को छोड़कर चित्तवृत्ति वायुरहित स्थान में रखे हुए दीपक की भाँति स्थिर हो जाती है अर्थात् जब चित्त केवल ध्येय को ही विषय करता है, तब उस अवस्था को 'समाधि' कहा जाता है।

तदानीमात्मगोचरा वृत्तयः समुत्थिता अज्ञाता भवन्ति। ताः स्मरणादनुमीयन्ते। इहानादिसंसारे सञ्चिताः कर्मकोटयोऽनेनैव विलयं यान्ति। ततोऽभ्यासपाटवात्सहस्रशः सदाऽमृतधारा वर्षन्ति। ततो योगवित्तमाः समाधिं धर्ममेघं प्राहुः। वासनाजाले निःशेषममुना प्रविलापिते कर्मसंचये पुण्यपापे समूलोन्मूलिते प्राक्परोक्षमपि करतलामलकवद्वाक्यमप्रतिबद्धापरोक्षसाक्षात्कारं प्रसूयते। तदा जीवन्मुक्तो भवति ॥5॥

उस समाधि अवस्था में आत्मगोचर वृत्तियाँ उत्पन्न होकर अज्ञात हो जाती हैं, जिनका बाद में स्मरण के द्वारा अनुमान किया जा सकता है। संसार में अनादिकाल से संचित करोड़ों कर्म इस अवस्था में ही विनष्ट हो जाते हैं। इसके बाद जब अभ्यास की परिपक्वता प्राप्त हो जाती है, तब सतत ही कई सहस्र धाराओं में सुधा की वर्षा होती रहती है। इसीलिए तो योग को भलीभाँति जानने वाले लोग इसे 'धर्ममेघ' कहते हैं। ऐसी इस समाधि के माध्यम से संपूर्ण वासना-जाल समाप्त हो जाता है। पाप और पुण्य—दोनों प्रकार के संचित कर्म समूल नष्ट हो जाते हैं। ऐसी स्थिति के प्राप्त होने पर पहले जो 'तत्त्वमसि' महावाक्य का तात्पर्य परोक्ष रूप में ही जाना गया था, वह अब हस्तामलकवत्, बिना किसी अवरोध के, अपरोक्ष रूप में स्पष्ट विदित होने लगता है और ब्रह्म का साक्षात्कार होने लगता है। तब योगी जीवन्मुक्त हो जाता है।

ईशः पञ्चीकृतभूतानामपञ्चीकरणं कर्तुं सोऽकामयत। ब्रह्माण्डतद्गतलोकान्कार्यरूपांश्च कारणत्वं प्रापयित्वा ततः सूक्ष्माङ्गं कर्मेन्द्रियाणि प्राणांश्च ज्ञानेन्द्रियाण्यन्तःकरणचतुष्टयं चैकीकृत्य सर्वाणि भौतिकानि कारणे भूतपञ्चके संयोज्य भूमिं जले जलं वह्नौ वह्निं वायौ वायुमाकाशे चाकाशमहङ्कारे चाहङ्कारं महति महदव्यक्तेऽव्यक्तं पुरुषे क्रमेण विलीयते। विराड्ढिरण्यगर्भेश्वरा उपाधिविलयात्परमात्मनि लीयन्ते ॥6॥

अब उन पंचीकृत भूतों का फिर से अपंचीकरण करने की ईश्वर ने कामना की (संकल्प किया)। इसलिए उसने ब्रह्माण्ड और उसके लोकों को उनके तत्कालीन कार्यरूप से पुनः कारणरूप में परिवर्तित कर दिया। इसके बाद उसने सूक्ष्मशरीर—कर्मेन्द्रियों, प्राणों, ज्ञानेन्द्रियों और चार अन्तःकरणों को एकीकृत करके समस्त भौतिक पदार्थों को उनके कारणभूत पंचक में संयोजित करके भूमि को जल में, जल को अग्नि में, अग्नि को वायु में और वायु को आकाश में, आकाश को अहंकार में, अहंकार को महत् में, महत् को अव्यक्त में तथा अव्यक्त को पुरुष में क्रमशः विलीन कर दिया। इस प्रकार विराट्, हिरण्यगर्भ और ईश्वर भी उपाधियों के विलीन हो जाने से परमात्मा में विलीन हो जाते हैं।

पञ्चीकृतमहाभूतसम्भवकर्मसञ्चितस्थूलदेहः कर्मक्षयात्सत्कर्मपरिपाकतोऽपञ्चीकरणं प्राप्य सूक्ष्मेणैकीभूत्वा कारणरूपत्वमासाद्य तत्कारणं कूटस्थे प्रत्यगात्मनि विलीयते। विश्वतैजसप्राज्ञाः स्वस्वोपाधिलयात्प्रत्यगात्मनि लीयन्ते ॥7॥

पंचीकृत महाभूतों द्वारा निर्मित एवं संचित कर्मों से प्राप्त ऐसा स्थूलदेह, कर्मों के क्षय हो जाने से तथा सत्कर्मों का परिपाक हो जाने से अपंचीकृत हो जाता है। यह देह सूक्ष्मरूप से एकीभूत होकर, अपने कारणरूप को प्राप्त कर अन्त में इस कारण के भी कारण कूटस्थ प्रत्यगात्मा में विलीन हो जाता है। फिर विश्व, तैजस और प्राज्ञ की भी अपनी-अपनी उपाधियों के लय हो जाने से वे सभी प्रत्यगात्मा में विलीन हो जाते हैं।

अण्डं ज्ञानाग्निना दग्धं कारणैः सह परमात्मनि लीनं भवति। ततो ब्राह्मणः समाहितो भूत्वा तत्त्वंपदैक्यमेव सदा कुर्यात्। ततो मेघापायेंऽशुमानिवात्माऽऽविर्भवति ॥8॥

यह ब्रह्माण्ड अपनी कारण सत्ता के साथ ज्ञानाग्नि में जलकर परमात्मा में विलीन हो जाता है। इस प्रकार ब्रह्मपरायण पुरुष को ब्रह्म में चित्त को समाहित करके सदैव 'तत्' और 'त्वं' पदों का ऐक्य करते रहना चाहिए। इस प्रक्रिया से, जिस तरह मेघों के छँट जाने से सूर्य का प्रकाश स्पष्ट हो जाता है, उसी प्रकार उसको आत्मसाक्षात्कार होने लगता है।

ध्यात्वा मध्यस्थमात्मानं कलशान्तरदीपवत्।
अङ्गुष्ठमात्रमात्मानमधूमज्योतिरूपकम् ॥9॥
प्रकाशयन्तमन्तःस्थं ध्यायेत्कूटस्थमव्ययम्।
ध्यायन्नास्ते मुनिश्चैव चासुप्तेरामृतेस्तु यः ॥10॥
जीवन्मुक्तः स विज्ञेयः स धन्यः कृतकृत्यवान्।
जीवन्मुक्तपदं त्यक्त्वा स्वदेहे कालसात्कृते।
विशत्यदेहमुक्तत्वं पवनोऽस्पन्दतामिव ॥11॥

कलश के अन्दर स्थित दीपक की तरह शरीर (हृदयकमल) में स्थित निर्धूम ज्योतिस्वरूप अंगुष्ठपरिमाण आत्मा का ध्यान करके जो मुनि अन्तःस्थ, प्रकाशयुक्त, कूटस्थ, अव्ययरूप आत्मा का ध्यान सर्वदा सोते समय और मरण के समय में भी करता है, वह जीवन्मुक्त है, वह धन्य है, वह कृतार्थ है, ऐसा समझना चाहिए। जीवन्मुक्तावस्था को छोड़कर जब शरीर कालग्रस्त हो जाता है तब विदेह मुक्ति को पा लेता है। जैसे कि पवन निःस्पन्दता को प्राप्त हो जाता है, वैसे ही वह अदेहावस्था को (मुक्ति को) प्राप्त करता है।

अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययं तथाऽरसं नित्यमगन्धवच्च यत्।
अनाद्यनन्तं महतः परं ध्रुवं तदेव शिष्यत्यमलं निरामयम् ॥12॥

इति तृतीयोऽध्यायः।

इसके बाद वह शब्दरहित, स्पर्शरहित, रूपरहित, रसहीन, गन्धहीन होकर अव्यय, अनादि, अनन्त, महत् से भी परे ध्रुव, निर्मल और निरामय ब्रह्म ही शेष रहता है।

यहाँ तीसरा अध्याय समाप्त होता है।

❋

चतुर्थोऽध्यायः

अथ हैनं पैङ्गलः पप्रच्छ याज्ञवल्क्यं ज्ञानिनः किं कर्म का च स्थितिरिति ॥1॥

स होवाच याज्ञवल्क्यः। अमानित्वादिसम्पन्नो मुमुक्षुरेकविंशतिकुलं तारयति। ब्रह्मविन्मात्रेण कुलमेकोत्तरशतं तारयति ॥2॥

बाद में पैंगल ऋषि ने फिर से याज्ञवल्क्य ऋषि से पूछा—"ज्ञानियों के कर्म कौन से होते हैं ? और उनकी स्थिति कैसी होती है ?" तब याज्ञवल्क्य ने कहा कि जो मुमुक्षु अमानित्व आदि गुणों से युक्त होता है, वह अपनी इक्कीस पीढ़ियों को तार देता है और ब्रह्मज्ञानी हो जाने से ही वह अपनी एक सौ एक पीढ़ियों को तार देता है।

आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव च।
बुद्धिं तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च ॥3॥
इन्द्रियाणि हयानाहुर्विषयांस्तेषु गोचरान्।
जङ्गमानि विमानानि हृदयानि मनीषिणः ॥4॥
आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्महर्षयः।
ततो नारायणः साक्षाद्धृदये सुप्रतिष्ठितः ॥5॥

तुम अपनी आत्मा को रथ का स्वामी, शरीर को रथ, बुद्धि को सारथि तथा मन को लगाम समझो। इस रथ के घोड़े इन्द्रियों को कहा गया है और विषयों को मार्गरूप कहा गया है (ये घोड़े विषयरूपी मार्ग पर दौड़ते हैं)। परन्तु मनीषियों का हृदय तो विमान की तरह इन सबसे ऊपर उठा हुआ है। ऋषि कहते हैं कि यह आत्मा इन्द्रिय और मन से युक्त होकर भोक्ता बनता है। रथ स्थानीय शरीरासनवाला वास्तव में सर्वप्राणियों के हृदयासन पर बैठा हुआ आत्मा तो साक्षात् नारायण ही है।

प्रारब्धकर्मपर्यन्तमहिनिर्मोकवद्व्यवहरति।
चन्द्रवच्चरते देही स मुक्तश्चानिकेतनः ॥6॥
तीर्थे श्वपचगृहे वा तनुं विहाय याति कैवल्यम्।
प्राणानवकीर्य याति कैवल्यम् ॥7॥
तं पश्चाद्दिग्बलिं कुर्यादथवा खननं चरेत्।
पुंसः प्रव्रजनं प्रोक्तं नेतराय कदाचन ॥8॥

प्रारब्ध कर्मों का क्षय हो जाने तक जीव जैसे साँप अपनी केंचुल बदलता है, वैसे ही अन्य शरीरों को बदलता रहता है, किन्तु अनिकेतन परिव्राजक और मुक्त आत्मा तो आकाश में चन्द्रमा की तरह सर्वत्र घूमता रहता है (स्वतंत्रता से विहार करता है)। ऐसा ज्ञानी पुरुष चाहे तीर्थ में शरीरत्याग करे, चाहे चाण्डाल के घर में प्राण छोड़ दे, तो भी वह सदा कैवल्य को ही प्राप्त होता है। और शरीरत्याग के बाद भी उसके शरीर की चाहे दिशाओं को बलि दे दी जाए (खुले में देह डाल दी जाए) अथवा चाहे जमीन खोद कर उसे गाड़ा जाए, पर वह तो कैवल्य को ही प्राप्त होता है। यह गाड़ने की विधि परिव्राजक संन्यासी के ही लिए है, अन्य के लिए नहीं है।

नाशौचं नाग्निकार्यं च न पिण्डं नोदकक्रिया ।
न कुर्यात्पार्वणादीनि ब्रह्मभूताय भिक्षवे ॥9॥
दग्धस्य दहनं नास्ति पक्वस्य पचनं यथा ।
ज्ञानाग्निदग्धदेहस्य न च श्राद्धं न च क्रिया ॥10॥
यावच्चोपाधिपर्यन्तं तावच्छुश्रूषयेद्गुरुम् ।
गुरुवद्गुरुभार्यायां तत्पुत्रेषु च वर्तनम् ॥11॥

ब्रह्मलीन संन्यासी के निमित्त कोई सूतक नहीं होता, उसका अग्निदाह भी नहीं होता। उसके आत्मा की शान्ति के लिए न कोई तर्पण-विधि, न कोई पिण्डदानादि या पार्वणादि ही करने चाहिए। उसके श्राद्ध की भी कोई जरूरत नहीं होती। जिस प्रकार जले हुए को जलाया नहीं जाता, पके हुए को पकाया नहीं जाता, उसी प्रकार ज्ञानरूपी अग्नि से जले हुए शरीर वाले उसकी श्राद्धादि क्रिया नहीं होती। जब तक सांसारिक उपाधियाँ रहती हैं, तब तक तो गुरु की सेवा-शुश्रूषा करनी चाहिए। और उसी प्रकार से गुरु की तरह ही गुरुपत्नी और गुरु की सन्तानों के प्रति भी सम्मानपूर्ण व्यवहार करना चाहिए।

शुद्धमानसः शुद्धचिद्रूपः सहिष्णुः सोऽहमस्मि सहिष्णुः सोऽहमस्मीति प्राप्ते ज्ञानेन विज्ञाने ज्ञेये परमात्मनि हृदि संस्थिते देहे लब्धशान्तिपदं गते तदा प्रभामनोबुद्धिशून्यं भवति ॥12॥

'मैं शुद्ध मानस वाला हूँ, मैं शुद्ध चैतन्यस्वरूप हूँ, सहिष्णु, वह सहिष्णु मैं ही हूँ'—इस प्रकार का ज्ञान जब प्राप्त हो जाता है, तब उस ज्ञानानुभव से तथा ज्ञेयरूप परमात्मा के हृदय में अच्छी तरह से बैठ जाने से देह को जब शान्तिपद की प्राप्ति हो जाती है, तब साधक मन-बुद्धि से शून्य होकर चैतन्यरूप हो जाता है।

अमृतेन तृप्तस्य पयसा किं प्रयोजनम्। एवं स्वात्मानं ज्ञात्वा वेदैः प्रयोजनं किं भवति। ज्ञानामृततृप्तयोगिनो न किंचित्कर्तव्यमस्ति। तदस्ति चेन्न स तत्त्वविद्भवति। दूरस्थोऽपि न दूरस्थः पिण्डवर्जितः पिण्डस्थोऽपि प्रत्यगात्मा सर्वव्यापी भवति ॥13॥

अमृत से तृप्त हो जाने पर दूध की क्या आवश्यकता है ? इसी प्रकार आत्मा को जान लेने पर वेदों का भी भला क्या प्रयोजन है ? ज्ञानरूपी अमृत से तृप्त योगी के लिए कोई भी कार्य शेष नहीं रह जाता। यदि कोई कार्य शेष रह गया समझा जाए, तो वह तत्त्वज्ञानी ही नहीं हो सकता। वह दूर रहता हुआ भी दूर नहीं है, और पिण्ड (देह) में रहता हुआ भी पिण्ड से पृथक् प्रत्यगात्मा है, जो सर्वव्यापक है।

हृदयं निर्मलं कृत्वा चिन्तयित्वाप्यनामयम् ।
अहमेव परं सर्वमिति पश्येत्परं सुखम् ॥14॥
यथा जले जलं क्षिप्तं क्षीरे क्षीरं घृते घृतम् ।
अविशेषो भवेत्तद्वज्जीवात्म-परमात्मनोः ॥15॥

हृदय को विशुद्ध करके और अपने को, 'मैं अनामय हूँ' 'मैं ब्रह्म हूँ'—इस प्रकार चिन्तन करके 'मैं ही सब कुछ हूँ'—ऐसा सोचने और देखने से परमसुख का अनुभव होता है। जिस प्रकार पानी में पानी और दूध में दूध या घी में घी डाल देने से वे सब एकाकार हो जाते हैं, ठीक उसी प्रकार जीवात्मा और परमात्मा—दोनों एक साथ मिलने से अभिन्न (एकाकार, निर्विशेष) ही हो जाते हैं।

देहे ज्ञानेन दीपिते बुद्धिरखण्डाकाररूपा यदा भवति तदा विद्वान्ब्रह्म-ज्ञानाग्निना कर्मबन्धं निर्दहेत् ॥16॥

ज्ञान के द्वारा देहस्थित अभिमान के नष्ट हो जाने पर तथा बुद्धि के अखण्डाकार हो जाने पर विद्वान् पुरुष ब्रह्मज्ञानरूपी अग्नि से कर्म-बन्धनों को जला डालता है।

ततः पवित्रं परमेश्वराख्यमद्वैतरूपं विमलाम्बराभम् ।
यथोदके तोयमनुप्रविष्टं तथात्मरूपो निरुपाधिसंस्थितः ॥17॥
आकाशवत्सूक्ष्मशरीर आत्मा न दृश्यते वायुवदन्तरात्मा ।
स बाह्यमभ्यन्तरनिश्चलात्मा ज्ञानोल्कया पश्यति चान्तरात्मा ॥18॥

इसके बाद वह स्वच्छ वस्त्र (आकाश) के समान निर्मल एवं पवित्र अद्वैतरूप परमेश्वर को प्राप्त करके जैसे एक जल दूसरे जल में मिलकर एकाकार हो जाता है, उसी प्रकार अपने आत्मरूप (सत्यस्वरूप) में मिलकर एकरूप हो जाता है। आत्मा आकाश की तरह सूक्ष्म है और वायु की तरह अदृश्य (दिखाई न पड़ने वाली) है। वह बाहर और भीतर में (दोनों ओर) निश्चल है। उसे केवल ज्ञानरूपी मशाल से ही देखा जा सकता है।

यत्र यत्र मृतो ज्ञानी येन वा केन मृत्युना ।
यथा सर्वगतं व्योम तत्र तत्र लयं गतः ॥19॥
घटाकाशमिवात्मानं विलयं वेत्ति तत्त्वतः ।
स गच्छति निरालम्बं ज्ञानालोकं समन्ततः ॥20॥

ज्ञानी जहाँ कहीं भी और जिस किसी भी प्रकार से मृत्यु प्राप्त करे, वह हर स्थिति में ब्रह्म में ही लय हो जाता है। क्योंकि ब्रह्म तो आकाश के समान सर्वव्यापी ही है। जिस प्रकार घड़े में अवस्थित आकाश महाकाश में लीन हो जाता है, उसी प्रकार तत्त्व को जान लेने वाला योगी भी सभी ओर से उस निरालम्ब और ज्ञानप्रकाशस्वरूप ब्रह्म को प्राप्त कर लेता है।

तपेद्वर्षसहस्राणि एकपादस्थितो नरः ।
एतस्य ध्यानयोगस्य कलां नार्हति षोडशीम् ॥21॥
इदं ज्ञानमिदं ज्ञेयं तत्सर्वं ज्ञातुमिच्छति ।
अपि वर्षसहस्रायुः शास्त्रान्तं नाधिगच्छति ॥22॥
विज्ञेयोऽक्षरतन्मात्रो जीवितं वापि चञ्चलम् ।
विहाय शास्त्रजालानि यत्सत्यं तदुपास्यताम् ॥23॥
अनन्तकर्म शौचं च जपो यज्ञस्तथैव च ।
तीर्थयात्राभिगमनं यावत्तत्वं न विन्दति ॥24॥

यदि कोई एक पैर पर खड़ा रहकर हजारों वर्ष तक तपस्या करे, तो भी वह ध्यानयोग की सोलह कलाओं में से एक की बराबरी भी नहीं कर सकता। यदि कोई ज्ञान और ज्ञेय को सम्पूर्णतया जानना

चाहता हो, तो हजार वर्ष की आयुपर्यन्त शास्त्राध्ययन करने पर भी उसका अन्त नहीं प्राप्त कर सकता। मनुष्य को यह जान लेना चाहिए कि केवल अक्षरब्रह्म ही सत्य है। मनुष्य का जीवन चञ्चल है, इसलिए शास्त्रों के जाल (झंझट) को छोड़कर जो सत्य तत्त्व है, उसी की उसे उपासना करनी चाहिए। शौच, जप, तप, तीर्थ, यज्ञ आदि भाँति-भाँति के कर्मों की सार्थकता तभी तक है, जब तक कि उस तत्त्व की प्राप्ति न हो जाए।

अहं ब्रह्मेति नियतं मोक्षहेतुर्महात्मनाम्।
द्वे पदे बन्धमोक्षाय न ममेति ममेति च ॥25॥
ममेति बध्यते जन्तुर्निर्ममेति विमुच्यते।
मनसो ह्युन्मनीभावे द्वैतं नैवोपलभ्यते ॥26॥
यदा यात्युन्मनीभावस्तदा तत्परमं पदम्।
यत्र यत्र मनो याति तत्र तत्र परं पदम् ॥27॥
तत्र तत्र परं ब्रह्म सर्वत्र समवस्थितम्।
हन्यान्मुष्टिभिराकाशं क्षुधार्तः खण्डयेत्तुषम्।
नाहंब्रह्मेति जानाति तस्य मुक्तिर्न जायते ॥28॥

महात्माओं के मोक्ष का हेतु (आधार) निश्चित रूप से 'मैं ब्रह्म हूँ', इस प्रकार की भावना ही है। बन्ध और मोक्ष के कारण ये दो शब्दसमूह ही हैं—'यह मेरा है' यह बन्धकारण है और 'यह मेरा नहीं है' यह मोक्षकारण है। 'मेरा है' यह भाव बन्धन में डालता है और 'मेरा नहीं है' यह भाव मोक्ष प्रदान करता है। जब मन उन्मनी अवस्था को प्राप्त हो जाता है, तब द्वैतभाव समाप्त हो जाता है। जब उन्मनीभाव प्राप्त हो जाता है, तभी परमपद की प्राप्ति होती है। उस अवस्था में जहाँ-जहाँ मन जाता है, वहाँ-वहाँ परमपद हो जाता है। परब्रह्म तो यत्र-तत्र-सर्वत्र विद्यमान ही है। परन्तु जो व्यक्ति यह नहीं जानता कि 'मैं ब्रह्म हूँ' उसकी मुक्ति नहीं होती। जिस प्रकार कोई आकाश में मुष्टि-प्रहार करे अथवा भूखा आदमी चावल प्राप्त करने के लिए भूसी को कूटे तो उसका प्रयास व्यर्थ ही होता है, उसी प्रकार ऐसे (अनधिकारी) व्यक्ति के मुक्तिप्राप्ति का उपाय व्यर्थ ही होता है।

य एतदुपनिषदं नित्यमधीते सोऽग्निपूतो भवति। स वायुपूतो भवति। स आदित्यपूतो भवति। स ब्रह्मपूतो भवति। स विष्णुपूतो भवति। स रुद्रपूतो भवति। स सर्वेषु तीर्थेषु स्नातो भवति। स सर्वेषु वेदेष्वधीतो भवति। स सर्ववेदव्रतचर्यासु चरितो भवति। तेनेतिहासपुराणानां रुद्राणां शतसहस्राणि जप्तानि फलानि भवन्ति। प्रणवानामयुतं जप्तं भवति। दश पूर्वान्दशोत्तरान्पुनाति। स पङ्क्तिपावनो भवति। स महान्भवति। ब्रह्महत्यासुरापानस्वर्णस्तेयगुरुतल्पगमनतत्संयोगिपातकेभ्यः पूतो भवति ॥29॥

जो मनुष्य इस उपनिषद् का नित्य पाठ करता है, वह अग्नि जैसा पवित्र होता है, वह वायु जैसा पवित्र होता है, वह सूर्य जैसा पवित्र हो जाता है, वह ब्रह्मा जैसा पवित्र होता है, वह विष्णु जैसा पवित्र होता है, वह रुद्र जैसा पवित्र होता है, वह सभी तीर्थों में स्नान किया हुआ हो, ऐसा पवित्र होता है, वह सभी वेदों को पढ़ा हुआ-सा हो जाता है, वह सभी वेदों में विहित सभी व्रतादि का करने वाला होता है, वह इतिहास-पुराणादि के अध्ययन का तथा एक लाख रुद्रजप का पुण्य प्राप्त कर लेता है। उसे

दस हजार प्रणवजप का पुण्यफल मिल जाता है। उसकी पहले की दस पीढ़ियाँ तथा बाद की दस पीढ़ियाँ पवित्र हो जाती हैं। वह अपने साथ बैठने वालों को भी पवित्र कर देता है। इससे वह 'पंक्तिपावन' हो जाता है। वह महान् होता है। वह ब्रह्महत्या, मदिरापान, सुवर्ण की चोरी, गुरु-पत्नी-गमन और अनेकानेक महापातक करने वालों की संगति से होने वाले अन्यान्य पातकों से मुक्त होकर पवित्र हो जाता है।

तद्विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः। दिवीव चक्षुराततम् ॥30॥
तद्विप्रासो विपन्यवो जागृवांसः समिन्धते। विष्णोर्यत्परमं पदम्। ॐ सत्यमित्युपनिषद् ॥31॥

इति पैङ्गलोपनिषत्समाप्ता।
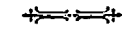
ज्ञानी लोग विश्वव्यापक भगवान् विष्णु के उस परमपद को द्युलोक में फैले हुए प्रकाश की तरह देखते हैं। विप्रलोग अर्थात् ब्रह्मनिष्ठा में ही जीवन को बिताने वाले आलस्य-प्रमादादि से रहित होकर सदैव श्रेष्ठ कर्म करने वाले जो साधक हैं, वे विष्णु के इस परमपद को (अन्तर्यामी परमेश्वर को) प्राप्त करते हैं। यह बात सत्य है। ऐसी रहस्यमयी यह उपनिषद् विद्या है।

इस प्रकार पैंगलोपनिषत् समाप्त होती है।

शान्तिपाठः

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं……पूर्णमेवावशिष्यते। (पूर्ववत्)
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

(62) भिक्षुकोपनिषत्

(उपनिषत्परिचय)

इस उपनिषद् का सम्बन्ध शुक्लयजुर्वेद से है। इसमें आत्मा के मोक्ष और जगत् के हित के लिए भिक्षाटन के द्वारा जीवन-निर्वाह करने वाले संन्यास धर्म का संक्षेप में किन्तु प्रभावशाली ढंग से वर्णन किया गया है। कुटीचक, बहूदक, हंस और परमहंस—इन चार प्रकार के भिक्षुओं के विविध वेश, विविध आचार आदि बताए गए हैं। फिर भी वे सभी मोक्ष की ही इच्छा रखने वाले होते हैं, ऐसा बताया गया है। इसमें परमहंस संन्यासी का महत्त्व बताया गया है। उपनिषद् छोटी होने पर भी विशद है।

शान्तिपाठः

ॐ पूर्णमिदः पूर्णमिदं.......पूर्णमेवावशिष्यते। (पूर्ववत्)
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

इसका हिन्दी रूपान्तर पूर्व में (पैंगलोपनिषद् में) द्रष्टव्य है।

ॐ अथ भिक्षूणां मोक्षार्थिनां कुटीचकबहूदकहंसपरमहंसाश्चेति चत्वारः ॥1॥

कुटीचका नाम गौतमभरद्वाजयाज्ञवल्क्यवसिष्ठप्रभृतयोऽष्टौ ग्रासांश्चरन्तो योगमार्गे मोक्षमेव प्रार्थयन्ते ॥2॥

मोक्ष को चाहने वाले भिक्षुओं के चार प्रकार होते हैं—कुटीचक, बहूदक, हंस और परमहंस। उनमें कुटीचक भिक्षु गौतम, भारद्वाज, याज्ञवल्क्य और वसिष्ठ ऋषि आदि आठ ग्रास ही भोजन लेकर योगमार्ग के द्वारा (उसके माध्यम से) मोक्ष के लिए प्रयत्न करते हैं।

अथ बहूदका नाम त्रिदण्डकमण्डलुशिखायज्ञोपवीतकाषायवस्त्रधारिणो ब्रह्मर्षिगृहे मधुमांसं वर्जयित्वाऽष्टौ ग्रासान्भैक्षाचरणं कृत्वा योगमार्गे मोक्षमेव प्रार्थयन्ते ॥3॥

अथ हंसा नाम ग्राम एकरात्रं नगरे पञ्चरात्रं क्षेत्रे सप्तरात्रं तदुपरि न वसेयुः। गोमूत्रगोमयाहारिणो नित्यं चान्द्रायणपरायणा योगमार्गे मोक्षमेव प्रार्थयन्ते ॥4॥

और बहूदक नामक भिक्षु लोग त्रिदण्ड, कमण्डलु, शिखा (चोटी), यज्ञोपवीत और काषायवस्त्र धारण करते हैं। ने किसी ब्रह्मर्षि के घर में रहते हैं। वे मद्य-मांस को छोड़कर भिक्षाटन के द्वारा प्राप्त आठ ग्रास का ही भोजन करते हैं और योगमार्ग के द्वारा मोक्षानुसन्धान करते हैं। अब जो हंस नामक भिक्षु होते हैं, वे किसी गाँव में एक रात्रि, नगर में पाँच रात्रि और तीर्थस्थल में सात रात्रि से अधिक निवास नहीं करते। वे गोमूत्र और गोमय (गोबर) का ही आहार करते हैं और सदैव चान्द्रायणव्रत के परायण होकर योगमार्ग के द्वारा मोक्ष का अनुसन्धान करते रहते हैं।

अथ परमहंसा नाम संवर्तकारुणिश्वेतकेतुजडभरतदत्तात्रेयशुकवामदेव-हारीतकप्रभृतयोऽष्टौ ग्रासांश्चरन्तो योगमार्गे मोक्षमेव प्रार्थयन्ते। वृक्षमूले शून्यगृहे श्मशानवासिनो वा साम्बरा वा दिगम्बरा वा। न तेषां धर्माधर्मौ लाभालाभौ शुद्धाशुद्धौ द्वैतवर्जिता समलोष्टाश्मकाञ्चनाः सर्ववर्णेषु भैक्षाचरणं कृत्वा सर्वत्रात्मैवेति पश्यन्ति। अथ जातरूपधरा निर्द्वन्द्वा निष्परिग्रहाः शुक्लध्यानपरायणा आत्मनिष्ठाः प्राणसंधारणार्थं यथोक्त-काले भैक्षमाचरन्तः शून्यागारदेवगृहतृणकूट वल्मीकवृक्षमूलकुलाल-शालाग्निहोत्रशालानदीपुलिनगिरिकन्दरकुहरकोटरनिर्झरस्थण्डिले तत्र ब्रह्ममार्गे सम्यक्संपन्नाः शुद्धमानसाः परमहंसाचरणेन संन्यासेन देहत्यागं कुर्वन्ति ते परमहंसा नामेत्युपनिषत् ॥5॥

इति भिक्षुकोपनिषत्समाप्ता।
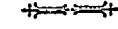
परमहंस नामक भिक्षु संवर्तक, आरुणि, श्वेतकेतु, जडभरत, दत्तात्रेय, शुकदेव, वामदेव और हारीतक की तरह आठ ग्रास भोजन करके योगमार्ग में विचरण करते हुए मोक्ष की प्राप्ति के लिए प्रयत्नशील रहते हैं। इन परमहंसों का निवास-स्थान किसी वृक्ष का मूल, कोई सूना घर, अथवा श्मशान होता है। वे कभी वस्त्र पहनते हैं और कभी नहीं भी पहनते। उनके लिए कोई धर्म या अधर्म, कोई लाभ या अलाभ—कुछ भी नहीं होता। द्वैत के सन्दर्भ में उनके लिए कुछ शुभ या अशुभ नहीं होता। वे मिट्टी, सोने या पत्थर में कोई भेदभाव नहीं करते (अर्थात् उनके लिए ये सब समान ही हैं)। सभी वर्णों में वे लोग भिक्षाटन करते हैं। और सर्वत्र अपनी आत्मा का ही दर्शन करते रहते हैं। तुरन्त जन्मे हुए बालक की तरह वे एकदम निर्लेप, निर्विकार (निर्दोष-निर्दंश—शुचि-अशुचि की भावना से अतीत) होते हैं। वे परमहंस भिक्षुलोग निर्द्वन्द्व परिग्रहरहित, शुक्लध्यानपरायण, आत्मनिष्ठ जीवन धारण करने की इच्छा से यथाविहित काल में भिक्षाटन करते हुए किसी एकान्त घर, देवस्थल, झोपड़ी, वल्मीक (बाँबी), वृक्षमूल, कुम्हार के घर, यज्ञशाला, नदी-तट, पर्वत की गुफा, टीले, गड्ढे, झरने आदि किसी भी स्थल में निवास करते हैं। ऐसे स्थानों में निवास करते हुए वे अच्छी तरह से आत्मिक विभूतियों से युक्त होकर शुद्ध मन से (निष्ठा से) परमहंस वृत्ति का पालन करके संन्यास द्वारा शरीर को छोड़ देते हैं। इस तरह आचरण करने वाले वे लोग परमहंस कहलाते हैं, ऐसा इस उपनिषद् का अभिमत है।

इस प्रकार भिक्षुकोपनिषत् समाप्त होती है।

शान्तिपाठः

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं·····पूर्णमेवावशिष्यते। (पूर्ववत्)
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

❊

(63) महोपनिषत्

(उपनिषत्परिचय)

इस सामवेदीय उपनिषद् में बड़े-बड़े छः अध्याय हैं। प्रथमाध्याय में सांख्यानुसारी पचीस तत्त्व बताए हैं किन्तु उनके अतिरिक्त एक नारायणरूप नियन्ता को भी सम्मिलित किया गया है। नारायण से शंकर और ब्रह्मा की उत्पत्ति बताकर दूसरे और तीसरे अध्याय में शुकदेव की कथा कही गई है। इनमें शुकदेव जी की साधना और इस साधना के फलस्वरूप उन्होंने जो आध्यात्मिक अनुभूतियाँ प्राप्त कीं, उनका वर्णन है। जब ऐसी अनुभूतियों से उन्हें शान्ति न मिली, तब वे अपने पिता व्यास जी के पास पहुँचे। व्यास जी से उन्होंने सारी बातें कहीं। तब व्यास जी ने उन्हें तत्त्वोपदेश देकर राजा जनक के यहाँ परितोष प्राप्त करने के लिए भेजा। जनक की कसौटी में वे खरे उतरे। जनक के प्रथम उपदेश से तो उन्होंने प्राप्त की ही प्राप्ति की थी, इसलिए उन्हें पहले तो शान्ति नहीं हुई। बाद में जनक ने जीवन्मुक्ति और विदेहमुक्ति के बारे में कहा, तब उन्हें शान्ति मिली और वे मेरु-शिखर पर पहुँचकर समाधि में लीन हुए। तीसरे अध्याय से लेकर अन्त तक निदाघ और ऋभु का संवाद चलता है। इन अध्यायों में ऋभु द्वारा निदाघ को बड़ा अच्छा तत्त्वविवेचनात्मक उपदेश दिया गया है। इस कार्यकारणसंघात के बीच में से छानबीन कर आत्मतत्त्व का तारण इसमें प्रदर्शित किया गया है। इस उपदेश में मानो वेदान्त का सारा सागर ही गर्जना कर रहा है।

शान्तिपाठः

ॐ आप्यायन्तु ममाङ्गानि वाक्प्राणश्चक्षुःश्रोत्रमथोबलमिन्द्रयाणि च सर्वाणि सर्वं ब्रह्मोपनिषदं माहं ब्रह्म निराकुर्यां मा मा ब्रह्म निराकरोद-निराकरणं मेऽस्त्वनिराकरणं मेऽस्तु तदात्मनि निरते य उपनिषत्सु धर्मास्ते मयि सन्तु ते मयि सन्तु ॥
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

हे परब्रह्म परमात्मा! हमारे सभी अंग—वाणी, प्राण, चक्षु, श्रोत्र और सभी इन्द्रियाँ तथा बल परिपुष्ट हों। यह जो सर्वरूप उपनिषत्प्रतिपादित ब्रह्म है, उस ब्रह्म की अवगणना (तिरस्कार) हम न करें और ब्रह्म (भी) हमारा परित्याग न करें। उस (ब्रह्म) के साथ हमारा अटूट सम्बन्ध हो। उपनिषदों में प्रतिपादित जो धर्म हैं, वे सब परमात्मा में रत हममें प्रविष्ट हों, वे सभी हमारे धर्म में हों।

हे परमात्मा ! (हमारे) त्रिविध तापों की शान्ति हो।

प्रथमोऽध्यायः

अथातो महोपनिषदं व्याख्यास्यामः ॥1॥

तदाहुः—एको ह वै नारायण आसीन्न ब्रह्मा नेशानो नापो नाग्नीषोमौ नेमे द्यावापृथिवी न नक्षत्राणि न सूर्यो न चन्द्रमाः ॥2॥

स एकाकी न रमते ॥3॥

तस्य ध्यानान्तःस्थस्य यज्ञस्तोममुच्यते ॥4॥

तस्मिन् पुरुषाश्चतुर्दश जायन्ते एका कन्या दशेन्द्रियाणि मन एकादशं तेजो द्वादशमहंकारस्त्रयोदशकः प्राणश्चतुर्दश आत्मा पञ्चदशी बुद्धिर्भूतानि पञ्च तन्मात्राणि पञ्च महाभूतानि स एकः पञ्चविंशतिः पुरुषः ॥5॥

तत्पुरुषं पुरुषो निवेश्य नास्य प्रधानसंवत्सरा जायन्ते। संवत्सरादधि-जायन्ते ॥6॥

अब हम महोपनिषद् कहेंगे। उसमें प्रथम यह कहा जाता है कि इस सृष्टि के पहले एक नारायण ही थे। ब्रह्मा भी नहीं थे, शंकर भी नहीं थे, जल नहीं था, अग्नि और सोम भी नहीं थे। यह आकाश और पृथ्वी भी नहीं थे। नक्षत्र नहीं थे। चन्द्र न था, सूर्य भी न था। उस समय अकेले नारायण को आनन्द नहीं आया (चैन नहीं पड़ा)। वे ध्यान में बैठकर चिन्तन करने लगे। अतः उनके सामने यज्ञ-समूह उच्चरित हुआ। उसमें चौदह पुरुष जन्मे। एक कन्या जन्मी। दश इन्द्रियाँ, ग्यारहवाँ तेजोरूप मन, बारहवाँ अहंकार, तेरहवाँ प्राण, चौदहवाँ आत्मा और पंद्रहवीं बुद्धि हुई। बाद में पाँच तन्मात्राएँ और पाँच महाभूत उत्पन्न हुए। इस प्रकार वह एक पुरुष पचीस रूप में (विराट् या सूत्रात्मा रूप में) उत्पन्न हुआ। उस पुरुष (सूत्रात्मा या हिरण्यगर्भ) को उसका अधिष्ठाता (नारायण) सृष्टि आदि स्थूल कर्म में स्थापित करके और स्वयं असंग और उदासीन हो गया। 'इतने काल तक वह ऐसा रहता है'—इस तरह के कोई संवत्सर जैसे कालपरिमाण उस समय उत्पन्न नहीं होते। कालपरिमाण तो संवत्सर से ही पैदा होते हैं।

अथ पुनरेव नारायणः सोऽन्यत्कामो मनसा ध्यायत। तस्य ध्यानान्तः-स्थस्य ललाटात् त्र्यक्षः शूलपाणिः पुरुषो जायते। बिभ्रच्छ्रियं यशः सत्यं ब्रह्मचर्यं तपो वैराग्यं मन ऐश्वर्यं सप्रणवा व्याहृतय ऋग्यजुःसामाथ-र्वाङ्गिरसः सर्वाणि छन्दांसि तान्यङ्गे समाश्रितानि। तस्मादीशानो महादेवो महादेवः ॥7॥

बाद में फिर उस नारायण ने एक अन्य कामना की। उन्होंने अपने मन से ध्यान किया। ध्यानस्थ उनके (नारायण के) ललाट से तीन आँखों वाले त्रिशूलधारी पुरुष का जन्म हुआ। वह लक्ष्मी, यश, सत्य, ब्रह्मचर्य, तप, वैराग्य, मन तथा ऐश्वर्य धारण किए हुए था। प्रणवसहित सभी व्याहृतियाँ, ऋक्-यजुष्-साम-अथर्ववेद, सभी छन्द उसके शरीर में विद्यमान थे। अत एव वे ईशान हैं, वे बड़े देव हैं इसलिए वे महादेव हैं।

अथ पुनरेव नारायणः सोऽन्यत्कामो मनसा ध्यायत। तस्य ध्यानान्तः-स्थस्य ललाटात् स्वेदोऽपतत्। ता इमाः प्रतता आपः। ततस्तेजो हिरण्मयमण्डम्। तत्र ब्रह्मा चतुर्मुखोऽजायत ॥8॥

बाद में फिर उन नारायण ने अन्य इच्छा की और मन से ध्यान किया। जब वे ध्यान में बैठे, तब उनके ललाट से पसीना गिर पड़ा। वह जल के रूप में फैल गया। उसमें से तेज पैदा हुआ और एक स्वर्णमय अण्ड उत्पन्न हुआ। उसमें से चार मुख वाले ब्रह्मा उत्पन्न हुए।

सोऽध्यायत्। पूर्वाभिमुखो भूत्वा भूरिति व्याहृतिर्गायत्रं छन्द ऋग्वेदो-ऽग्निर्देवता। पश्चिमाभिमुखो भूत्वा भुव इति व्याहृतिस्त्रैष्टुभं छन्दो

यजुर्वेदो वायुर्देवता। उत्तराभिमुखो भूत्वा स्वरिति व्याहृतिर्जागतं छन्दः
सामवेदः सूर्यो देवता। दक्षिणाभिमुखो भूत्वा मह इति व्याहृतिरानुष्टुभं
छन्दोऽथर्ववेदः सोमो देवता ॥9॥

उत्पन्न होकर उस ब्रह्मा ने पूर्वाभिमुख होकर ध्यान किया कि यह 'भूर्' व्याहृति, गायत्री छन्द, ऋग्वेद और अग्निदेव हैं। फिर उन्होंने पश्चिमाभिमुख होकर यह 'भुवर्' व्याहृति, त्रैष्टुभ् छन्द, यजुर्वेद और वायुदेव यह है, ऐसा ध्यान किया। फिर उत्तराभिमुख होकर यह 'स्वर्' व्याहृति, जाग्रत् छन्द, सामवेद और सूर्यदेव हैं, ऐसा ध्यान किया। फिर दक्षिणाभिमुख होकर यह 'महः' व्याहृति, अनुष्टुभ् छन्द और अथर्ववेद तथा चन्द्रदेव हैं, ऐसा ध्यान किया।

सहस्रशीर्षं देवं सहस्राक्षं विश्वशम्भुवम्।
विश्वतः परमं नित्यं विश्वं नारायणं हरिम् ॥10॥
विश्वमेवेदं पुरुषस्तद्विश्वमुपजीवति।
पतिं विश्वेश्वरं देवं समुद्रेकं विश्वरूपिणम् ॥11॥

और भी हजारों मस्तकों वाले, हजारों आँखों वाले, जगत् का कल्याण करने वाले, सर्वश्रेष्ठ, नित्य, विश्वरूप, भक्तों के दुःख दूर करने वाले, श्रीनारायण देव का उन्होंने (ब्रह्मा ने) ध्यान किया कि यह सर्वजगत् उस पुरुषमय ही है। उन्हीं के आधार पर यह सारा जगत् टिका हुआ है। जगत् के प्रतिपालक-विश्वेश्वरदेव, प्रत्यगात्मा से अभिन्न होकर ब्रह्मरूप से सम्यक् (योग्य) रीति से ऊपर उठे हुए उन ब्रह्मा ने 'वह मैं ही हूँ'—ऐसा ध्यान किया।

पद्मकोशप्रतीकाशं लम्बत्याकोशसन्निभम्।
हृदयं चाप्यधोमुखं सन्तत्यै सीत्कराभिश्च ॥12॥
तस्य मध्ये महानर्चिर्विश्वार्चिर्विश्वतो मुखम्।
तस्य मध्ये वह्निशिखा अणीयोर्ध्वा व्यवस्थिता ॥13॥
तस्याः शिखाया मध्ये पुरुषः परमात्मा व्यवस्थितः।
स ब्रह्मा स ईशानः सेन्द्रः सोऽक्षरः परमः स्वराट् ॥14॥
इति महोपनिषत्।

इति प्रथमोऽध्यायः।

पद्मकोश जैसे प्रकाशित, नीचे की ओर मुखवाला, जो जीवन की सन्तति (सातत्य) के लिए ही लटक रहा है, जो ठण्डे पानी के शीकरों से युक्त है (जिससे जल-बिन्दुओं का स्राव होता रहता है) ऐसा एक हृदय सभी प्राणियों के भीतर प्रतिष्ठित है। ऐसे उस हृदय के बीच में चारों ओर व्याप्त और सभी ओर अपनी ज्वालाएँ फैलाने वाली विशाल वह्निशिखा है। उसके बीच अतिसूक्ष्म सीधी अग्निशिखा है, उसके बीच परमात्मा हैं। वही ब्रह्मा, शंकर, इन्द्र और वही अविनाशी तथा परम स्वयंप्रकाश है—ऐसा यह महोपनिषद् कहती है।

यहाँ पर प्रथम अध्याय समाप्त होता है।

❋

द्वितीयोऽध्यायः

शुको नाम महातेजाः स्वरूपानन्दतत्परः।
जातमात्रेण मुनिराड् यत् सत्यं तदवाप्तवान् ॥1॥
तेनासौ स्वविवेकेन स्वयमेव महामनाः।
प्रविचार्य चिरं साधु स्वात्मनिश्चयमाप्नुयात् ॥2॥
अनाख्यत्वादगम्यत्वान्मनःषष्ठेन्द्रियस्थितेः।
चिन्मात्रमेवायमणुराकाशादपि सूक्ष्मकः ॥3॥
चिदणोः परमस्यान्तः कोटिब्रह्माण्डरेणवः।
उत्पत्तिस्थितिमभ्येत्य लीयन्ते शक्तिपर्ययात् ॥4॥

शुकदेव नाम के एक बड़े तेजस्वी मुनिराज सदैव स्वरूपानन्द में तल्लीन रहते थे। वे जन्मे थे तब से ही सत्य पदार्थ जो है उसे प्राप्त कर चुके थे। महामना उन शुकदेव जी ने अपने आप ही स्वयंभू विवेक से दीर्घकाल तक बहुत ही चिन्तन किया। और बाद में इस प्रकार का उत्तम अपने आत्मा के विषय में निश्चय किया था कि मनसहित छहों इन्द्रियों की उपस्थिति से अगम्य और अवर्णनीय होने से यह आत्मा मात्र चैतन्य रूप ही है। वह अणु है अर्थात् आकाश से भी सूक्ष्म है। इस चैतन्यरूप परमाणु के भीतर करोड़ों ब्रह्माण्डरूपी रजकण उत्पत्ति तथा स्थिति को प्राप्त करते रहते हैं। और शक्ति में परिवर्तन हो जाने से उसी चिदणु में लीन हो जाते हैं।

आकाशं बाह्यशून्यत्वादनाकाशं तु चित्त्वतः।
न किञ्चिद्यदनिर्देश्यं वस्तु सत्तेति किञ्चन ॥5॥
चेतनोऽसौ प्रकाशत्वाद्वेद्याभावाच्छिलोपमः।
स्वात्मनि व्योमनि स्वस्थे जगदुन्मेषचित्रकृत् ॥6॥
तद्भामात्रमिदं विश्वमिति न स्यात्ततः पृथक्।
जगद्भेदोऽपि तद्भानमिति भेदोऽपि तन्मयः ॥7॥
सर्वगः सर्वसंबन्धो गत्यभावान्न गच्छति।
नास्त्यसावाश्रयाभावात् सद्रूपत्वादथास्ति च ॥8॥

वह आत्मतत्त्व बाहर की दृष्टि से शून्य जैसा होने से आकाश है। परन्तु वह तो चिद्रूप है, वह कहीं वास्तविक रूप में आकाश तो नहीं है। 'कुछ है ही नहीं'—इस तरह कहना या बताना तो असंभव ही है, इसलिए कुछ 'सत्ता' रूप तो अवश्य है ही। वह प्रकाशरूप होने से चेतन है पर उसे जानना असंभव होने से शिला जैसा है। अपने आकाशरूप स्वरूप में ही वह जगत् के प्रादुर्भावरूप चित्र अंकित करता है। यह सम्पूर्ण विश्व उसी का प्रकाशमात्र होने के कारण उससे अलग है ही नहीं। जगत् रूप भेद भी तो उसी का भान है क्योंकि भेद भी तो तन्मय (आत्ममय) ही है। वह सभी ओर गति करता है और सभी के साथ सम्बन्ध वाला होता है। सभी के साथ सम्बद्ध होने से उसमें कोई गति नहीं होती, इसलिए वह चलायमान भी नहीं है। वह निरालम्ब है इसलिए वह 'नहीं' है। परन्तु, वह सत्यस्वरूप है इसलिए वह 'है भी तो सही।'

विज्ञानमानन्दं ब्रह्म रातेर्दातुः परायणम्।
सर्वसंकल्पसंन्यासश्चेतसा यत्परिग्रहः ॥9॥

जाग्रतः प्रत्ययाभावं यस्याहुः प्रत्ययं बुधाः ।
यत्संकोचविकासाभ्यां जगत्प्रलयसृष्टयः ॥10॥
निष्ठा वेदान्तवाक्यानामथ वाचामगोचरः ।
अहं सच्चित्परानन्दब्रह्मैवास्मि न चेतरः ॥11॥

ब्रह्म विज्ञानरूप और आनन्दरूप है। वह जीवन्मुक्तिरूपी धनदाता मनुष्य की गुरु की परमगतिरूप है (गुरु की सार्थकता है)। चित्त के द्वारा सभी संकल्पों का त्याग करना ही परब्रह्म को स्वीकार करना है। विद्वान् लोग कहते हैं कि जागते रहने पर भी बाह्य विषयों का भान न होना ही ब्रह्म का ज्ञान है। उस ब्रह्म के संकोच और विकास से सारी सृष्टि का सर्जन और प्रलय होता है। पहले वेदान्त के वाक्यों पर श्रद्धा उत्पन्न होती है और फिर बाद में 'वाणी का अविषय सत्-चित्-आनन्दस्वरूप परमात्मा मैं ही हूँ, अन्य कोई नहीं' ऐसा अनुभव होता है।

स्वयैव सूक्ष्मया बुद्ध्या सर्वं विज्ञातवान् शुकः ।
स्वयं प्राप्ते परे वस्तुन्यविश्रान्तमनाः स्थितः ॥12॥
इदं वस्त्विति विश्वासं नासावात्मन्युपाययौ ।
केवलं विररामास्य चेतो विषयचापलम् ।
भोगेभ्यो भूरि भङ्गेभ्यो धाराभ्य इव चातकः ॥13॥

यह सब शुकदेव ने अपनी सूक्ष्म बुद्धि से ही जाना था और अपने आप ही परम वस्तु को प्राप्त किया था। परन्तु तो भी उनका चित्त विश्रान्ति (शान्ति) को प्राप्त नहीं कर पाया था। और आत्मा के विषय में उनका विचार 'यह वही आत्मतत्त्व है'—इस तरह निश्चयात्मक रूप से दृढ नहीं हुआ था। केवल उनका विषयचंचल चित्त अब विषयों से रुक गया था और जिस तरह चातक जलधाराओं से विराम को प्राप्त होता है, उस तरह अतिनाशवान् विषयों में से वे विराम को प्राप्त किए हुए थे।

एकदा सोऽमलप्रज्ञो मेरावेकान्तसंस्थितम् ।
पप्रच्छ पितरं भक्त्या कृष्णद्वैपायनं मुनिम् ॥14॥
संसाराडम्बरमिदं कथमभ्युत्थितं मुने ।
कथं च प्रशमं याति कियत् कस्य कदा वद ॥15॥
एवं पृष्टेन मुनिना व्यासेनाखिलमात्मजे ।
यथावदखिलं प्रोक्तं वक्तव्यं विदितात्मना ॥16॥
अज्ञासिषं पूर्वमेवमहमित्यथ तत्पितुः ।
स शुकः स्वकया बुद्ध्या न वाक्यं बहु मन्यते ॥17॥

एक दिन निर्मल बुद्धिवाले शुकदेव जी मेरु पर्वत के ऊपर अकेले ही बैठे थे। वहाँ उन्होंने अपने पिताजी कृष्णद्वैपायन (व्यास) से भक्तिभावपूर्वक पूछा—'हे मुनि ! यह संसाररूपी आडम्बर किस तरह स्थित है ? वह किसका, कितना, कब और किस तरह शान्त होता है, यह बताइए।' उनसे ऐसा पूछे जाने पर उन आत्मज्ञाता व्यास मुनि ने अपने पुत्र से जो कुछ कहने योग्य था वह सब कुछ कह दिया। परन्तु शुकदेव जी ने 'यह तो मैंने पहले से ही जान लिया है'—ऐसा मानकर पिता का कथन अपनी बुद्धि से बहुत नहीं माना।

व्यासोऽपि भगवान् बुद्ध्वा पुत्राभिप्रायमीदृशम् ।
प्रत्युवाच पुनः पुत्रं नाहं जानामि तत्त्वतः ॥18॥
जनको नाम भूपालो विद्यते मिथिलापुरे ।
यथावद्वेत्त्यसौ वेद्यं तस्मात् सर्वमवाप्स्यसि ॥19॥
पित्रेत्युक्तः शुकः प्रायात् सुमेरोर्वसुधातलम् ।
विदेहनगरीं प्राप जनकेनाभिपालिताम् ॥20॥

भगवान् व्यास पुत्र के इस अभिप्राय को समझ गए। उन्होंने फिर से अपने पुत्र से कहा कि—"यह तो मैं अच्छी तरह से जानता नहीं हूँ। मिथिला में जनक नाम का राजा है। वह जाननेयोग्य सब कुछ जानता है। इसलिए उनके पास से तुम सब कुछ जान सकोगे।" पिता ने जब ऐसा कहा तब शुकदेवजी सुमेरु पर्वत से नीचे आए और जनक द्वारा रक्षित मिथिलानगरी में प्रवेश किया।

आवेदितोऽसौ याष्टीकैर्जनकाय महात्मने ।
द्वारि व्याससुतो राजन् शुकोऽत्र स्थितवानिति ॥21॥
जिज्ञासार्थं शुकस्यासावास्तामेवेत्यवज्ञया ।
उक्त्वा बभूव जनकस्तूष्णीं सप्त दिनान्यथ ॥22॥
ततः प्रवेशयामास जनकः शुकमङ्गणे ।
तत्राहानि स सप्तैव तथैवावसदुन्मनाः ॥23॥
ततः प्रवेशयामास जनकोऽन्तःपुराजिरे ।
राजा न दृश्यते तावदिति सप्त दिनानि तम् ॥24॥

शुकदेव मुनि के आगमन पर द्वारपालों ने महात्मा जनक को खबर पहुँचाई कि "महाराज ! व्यासपुत्र शुकदेव जी यहाँ द्वार पर आकर खड़े हैं।" शुकदेव जी की परीक्षा करने के लिए जनक ने अवज्ञापूर्वक कहा कि—'खड़े रहने दो।' ऐसा कहकर वे (जनक) सात दिनों तक कुछ बोले ही नहीं। इसके बाद जनक ने शुकदेव को आँगन में प्रवेश करवाया। परन्तु वहाँ भी उन्होंने (शुकदेवजी ने) सात दिनों तक उसे (राजा को) नहीं देखा। वे उन्मन (संसारविमुख) शुकदेव वैसे ही रहे। बाद में राजा ने उन्हें अन्तःपुर के आंगन में प्रवेश करवाया तो वहाँ पर भी सात दिनों तक उन्होंने राजा को देखा नहीं।

तत्रोन्मदाभिः कान्ताभिर्भोजनैर्भोगसंचयैः ।
जनको लालयामास शुकं शशिनिभाननम् ॥25॥
ते भोगास्तानि भोज्यानि व्यासपुत्रस्य तन्मनः ।
नाजह्रुर्मन्दपवनो बद्धपीठमिवाचलम् ॥26॥
केवलं सुसमः स्वच्छो मौनी मुदितमानसः ।
संपूर्ण इव शीतांशुरतिष्ठदमलः शुकः ॥27॥

तदनन्तर राजा जनक ने वहाँ मदमस्त स्त्रियों, भाँति-भाँति के भोजनों और तरह-तरह के पदार्थों से उन चन्द्र जैसे मुखवाले शुकदेवजी का स्वागत किया। परन्तु उन भोगों ने और भोजनों ने शुकदेवजी के मन को उसी प्रकार चलायमान नहीं किया, जिस प्रकार मन्द-मन्द पवन मजबूत नींव वाले दृढ़ पर्वतो को हिलाने में सक्षम नहीं होता। शुकदेव जी तो अत्यन्त समबुद्धि वाले, समभावी, स्वच्छ, मौनी, प्रसन्नचित्त और पूर्ण चन्द्र की तरह निर्मल ही रहे।

परिज्ञातस्वभावं तं शुकं स जनको नृपः ।
आनीय मुदितात्मानमवलोक्य ननाम ह ॥28॥
निःशेषितजगत्कार्यः प्राप्ताखिलमनोरथः ।
किमीप्सितं तवेत्याह कृतस्वागत आह तम् ॥29॥
संसाराडम्बरमिदं कथमभ्युत्थितं गुरो ।
कथं प्रशममायाति यथावत् कथयाशु मे ॥30॥
यथावदखिलं प्रोक्तं जनकेन महात्मना ।
तदेव यत् पुरा प्रोक्तं तस्य पित्रा महाधिया ॥31॥

इस तरह शुकदेव के स्वभाव की परीक्षा लेने के बाद राजा जनक ने उन्हें अपने समीप बुलाया और आनंदी आत्मा के दर्शन करके उन्हें नमन किया। जिस राजा ने जगत् के सभी कार्य समाप्त कर दिये थे, और जिसके सभी मनोरथ परिपूर्ण हो चुके थे, ऐसे उस राजा ने शुकदेव का स्वागत करके फिर उनसे कहा कि—"आपकी क्या इच्छा है ?" तब शुकदेव ने कहा—"हे गुरो ! यह संसाररूपी आडम्बर किस तरह उत्पन्न हुआ है और यह किस प्रकार से नष्ट होता है ? यह आप मुझे जल्द ही बताइए।" यह सुनकर महात्मा जनक ने उन्हें वे सभी बातें तत्त्वत: बतला दी जो कि उनके (शुकदेव के) महाबुद्धिमान पिता (श्रीव्यास) ने पहले ही कह दिया था।

स्वयमेव मया पूर्वमभिज्ञातं विशेषतः ।
एतदेव हि पृष्टेन पित्रा मे समुदाहृतम् ॥32॥
भवताऽप्येष एवार्थः कथितो वाग्विदां वर ।
एष एव हि वाक्यार्थः शास्त्रेषु परिदृश्यते ॥33॥
मनोविकल्पसञ्जातं तद्विकल्पपरिक्षयात् ।
क्षीयते दग्धसंसारो निःसार इति निश्चितः ॥34॥
तत् किमेतन्महाभाग सत्यं ब्रूहि ममाचलम् ।
त्वत्तो विश्रममाप्नोमि चेतसा भ्रमता जगत् ॥35॥

तब शुकदेवजी ने कहा—"यह सब तो मैंने पहले ही स्वयं जान लिया है। विशेष जानने के लिए मैंने अपने पिताजी से पूछा था, तब उन्होंने भी यही कहा था। और आप भी तो यही अर्थ बतला रहे हैं। हे वक्ताओं में श्रेष्ठ ! यही वाक्य शास्त्रों में भी देखा जा सकता है। परन्तु इसके विषय में मेरे मन में जो संशय है उसका यदि नाश हो, तभी यह जलता हुआ नि:सार संसार नष्ट हो सकता है, ऐसा मेरा निश्चय है। इसलिए हे महाभाग ! यह सब क्या है, इसका उत्तर मुझे निश्चित और सही रूप में बताइए। इस जगत् के विषय में मेरा मन भ्रमित रहता है। परन्तु मुझे आपके द्वारा ही शान्ति प्राप्त होगी।"

शृणु तावदिदानीं त्वं कथ्यमानमिदं मया ।
श्रीशुकं ज्ञान विस्तारं बुद्धिसारान्तरान्तरम् ॥36॥
यद्विज्ञानात् पुमान् सद्यो जीवन्मुक्तत्वमाप्नुयात् ॥37॥

तब जनक ने कहा—हे शुकदेवजी ! मैं अब इस ज्ञान का विस्तार कर रहा हूँ, उसे आप सुनिए। वह बुद्धि के भीतर का और उसके भी भीतर का सत्य है, उस सत्य के भी भीतर का सार है। उसको जानने से मनुष्य तुरन्त ही जीवन्मुक्तता को प्राप्त कर लेता है।

दृश्यं नास्तीति बोधेन मनसो दृश्यमार्जनम् ।
सम्पन्नं चेत्तदुत्पन्ना परा निर्वाणनिर्वृतिः ॥38॥
अशेषेण परित्यागो वासनाया य उत्तमः ।
मोक्ष इत्युच्यते सद्भिः स एव विमलक्रमः ॥39॥
ये शुद्धवासना भूयो न जन्मानर्थभागिनः ।
ज्ञातज्ञेयास्त उच्यन्ते जीवन्मुक्ता महाधियः ॥40॥
पदार्थभावनादार्ढ्यं बन्ध इत्यभिधीयते ।
वासनातानवं ब्रह्मन् मोक्ष इत्यभिधीयते ॥41॥

मन में से यदि 'दृश्य है ही नहीं'—इस प्रकार के ज्ञान से दृश्य बिल्कुल ही साफ (नष्ट) हो जाए तो निर्वाण की परम शान्ति प्राप्त हो जाती है। वासना का सम्पूर्णतः त्याग कर देना ही उत्तम मोक्ष है। और उसी को सत्पुरुष 'निर्मल क्रम' कहते हैं। शुद्ध वासना वाले जो मनुष्य (वासनाओं की जिनमें शुद्धि हो चुकी है ऐसे मनुष्य ही) जन्मरूपी अनर्थ को फिर से प्राप्त नहीं करते। उन्होंने जो कुछ जानने योग्य है, वह जान लिया है। और वे ही परम बुद्धिमान् और जीवन्मुक्त कहे जाते हैं। हे ब्राह्मण ! पदार्थों (विषयों) की ओर भावना की दृढ़ता ही बन्ध कहलाता है और वासनाओं की कमी (न्यूनता) ही मोक्ष कहलाती है।

तपः प्रभृतिना यस्मै हेतुनैव विना पुनः ।
भोगा इह न रोचन्ते स जीवन्मुक्त उच्यते ॥42॥
आपतत्सु यथाकालं सुखदुःखेष्वनारतः ।
न हृष्यति ग्लायति यः स जीवन्मुक्त उच्यते ॥43॥
हर्षामर्षभयक्रोधकामकार्पण्यदृष्टिभिः ।
न परामृश्यते योऽन्तः स जीवन्मुक्त उच्यते ॥44॥
अहंकारमयीं त्यक्त्वा वासनां लीलयैव यः ।
तिष्ठति ध्येयसंत्यागी स जीवन्मुक्त उच्यते ॥45॥

जिसे तप आदि किसी कारण के बिना यों ही भोग अच्छे नहीं लगते, वह जीवन्मुक्त है। यथा समय आ टपकने वाली आपत्तियों में और सुख-दु:ख में जो हर्ष या ग्लानि प्राप्त नहीं करता वह जीवन्मुक्त है। जिसका अन्त:करण हर्ष, खेद, भय, क्रोध, इच्छा और हीनता के दर्शन से किसी भी प्रकार का असर (प्रभाव) प्राप्त नहीं करता, वह जीवन्मुक्त है। अहंकारमय वासना का खेल ही खेल में त्याग कर देने वाला जो मनुष्य अपनी ध्येय वस्तु का भी पूर्ण त्यागी बनकर रहता है, वह जीवन्मुक्त कहलाता है।

ईप्सितानीप्सिते न स्तो यस्यान्तर्वर्तिदृष्टिषु ।
सुषुप्तिवद्यश्चरति स जीवन्मुक्त उच्यते ॥46॥
अध्यात्मरतिरासीनः पूर्णः पावनमानसः ।
प्राप्तानुत्तमविश्रान्तिर्न किञ्चिदिह वाञ्छति ।
यो जीवति गतस्नेहः स जीवन्मुक्त उच्यते ॥47॥
संवेद्येन हृदाकाशे मनागपि न लिप्यते ।
यस्यासावजडा संवित् स जीवन्मुक्त उच्यते ॥48॥

रागद्वेषौ सुखं दुःखं धर्माधर्मौ फलाफले ।
यः करोत्यनपेक्ष्यैव स जीवन्मुक्त उच्यते ॥49॥

जिसको अपनी आन्तरिक दृष्टि से कोई इष्ट या अनिष्ट होता ही नहीं है, और जो सुषुप्तावस्था में विद्यमान की तरह व्यवहार करता हो, तो वह जीवन्मुक्त कहलाता है। जो हमेशा अपने आत्मा में ही रमण करता रहता हो और बैठा रहता हो (कर्मत्यागी हो), और पवित्र मनवाला होकर परम विश्रान्ति को प्राप्त हुआ हो, जो इस लोक में कुछ भी चाहता न हो, जो स्नेहरहित (आसक्तिरहित) होकर ही इस जगत् में जी रहा हो, वह जीवन्मुक्त कहलाता है। जो मनुष्य (जागतिक) संवेद्य, पदार्थों द्वारा अपने हृदयाकाश में लेशमात्र भी नहीं लुभाता (लिप्त होता) है, और जिसे इस प्रकार 'चैतन्य संवित्' का ज्ञान हो गया हो, वह जीवन्मुक्त कहलाता है। राग, द्वेष, सुख, दुःख, धर्म, अधर्म, फल और अफल की चिन्ता किए बिना ही जो कर्म किया करता है, वह जीवन्मुक्त कहलाता है।

मौनवान् निरहंभावो निर्मानो मुक्तमत्सरः ।
यः करोति गतोद्वेगः स जीवन्मुक्त उच्यते ॥50॥
सर्वत्र विगतस्नेहो यः साक्षिवदवस्थितः ।
निरिच्छो वर्तते कार्ये स जीवन्मुक्त उच्यते ॥51॥
येन धर्ममधर्मं च मनोमननमीहितम् ।
सर्वमन्तः परित्यक्तं स जीवन्मुक्त उच्यते ॥52॥
यावती दृश्यकलना सकलेयं विलोक्यते ।
सा येन सुष्ठु संत्यक्ता स जीवन्मुक्त उच्यते ॥53॥

मौनधारी, अहंभावरहित, मानरहित, द्वेषरहित और उद्वेगरहित होकर जो कर्म करता है, वह जीवन्मुक्त कहलाता है। सभी के ऊपर से जिसकी आसक्ति नष्ट हो गई हो और साक्षीरूप होकर ही जो किसी भी कार्य में अपनी इच्छा न होने पर भी प्रवर्तन करता हो, वह जीवन्मुक्त कहलाता है। जिसने धर्म, अधर्म, मन, विचार और इच्छा—इन सबको भीतर से ही त्याग दिया हो वह जीवन्मुक्त कहलाता है। इन दृश्य पदार्थों की देखी जाने वाली जितनी संख्या है, उन सभी को जिसने छोड़ दिया हो, वह जीवन्मुक्त कहलाता है।

कट्वम्ललवणं तिक्तममृष्टं मृष्टमेव च ।
सममेव च यो भुङ्क्ते स जीवन्मुक्त उच्यते ॥54॥
जरा मरणमापच्च राज्यं दारिद्र्यमेव च ।
रम्यमित्येव यो भुङ्क्ते स जीवन्मुक्त उच्यते ॥55॥
धर्माधर्मौ सुखं दुःखं तथा मरणजन्मनी ।
धिया येन सुसंत्यक्तं स जीवन्मुक्त उच्यते ॥56॥
उद्वेगानन्दरहितः समया स्वच्छया धिया ।
न शोचते न चोदेति स जीवन्मुक्त उच्यते ॥57॥

जो मनुष्य कडुए, खट्टे, खारे, तीखे या निःस्वाद खाद्य को समान मानकर ही खाता है, वह जीवन्मुक्त कहलाता है। बुढ़ापा, मरण, आपत्ति, राज्य और दरिद्र अवस्था आदि सब कुछ अच्छा ही है, ऐसा मानकर ही जो उन सबको भोगता है, नह जीवन्मुक्त कहा जाता है। धर्म, अधर्म, सुख, दुःख

और मरण तथा जन्म को जिस मनुष्य ने अपनी बुद्धि से छोड़ दिया हो, वह जीवन्मुक्त कहलाता है। समभावयुक्त स्वच्छ बुद्धि से उद्वेगरहित तथा आनन्दरहित होकर जो शोक नहीं करता और हर्ष भी नहीं करता वह जीवन्मुक्त कहलाता है।

सर्वेच्छाः सकलाः शङ्काः सर्वेहाः सर्वनिश्चयाः ।
धिया येन परित्यक्ताः स जीवन्मुक्त उच्यते ॥58॥
जन्मस्थितिविनाशेषु सोदयास्तमयेषु च ।
सममेव मनो यस्य स जीवन्मुक्त उच्यते ॥59॥
न किञ्चन द्वेष्टि तथा न किञ्चिदपि काङ्क्षति ।
भुङ्क्ते यः प्रकृतान् भोगान् स जीवन्मुक्त उच्यते ॥60॥
शान्तसंसारकलनः कलावानपि निष्कलः ।
यः सचित्तोऽपि निश्चित्तः स जीवन्मुक्त उच्यते ॥61॥
यः समस्तार्थजालेषु व्यवहार्यपि निःस्पृहः ।
परार्थेष्विव पूर्णात्मा स जीवन्मुक्त उच्यते ॥62॥

सभी इच्छाओं, सभी शंकाओं, सभी चेष्टाओं और सभी निश्चयों को जिसने बुद्धिपूर्वक (समझदारी पूर्वक) छोड़ दिया हो, वह जीवन्मुक्त कहलाता है। जन्म, स्थिति और विनाश में अथवा उन्नति में और अवनति में जिसका चित्त समान ही रहता हो, वह जीवन्मुक्त कहा जाता है। जो किसी से भी द्वेष नहीं करता, जो कुछ भी चाहता नहीं है और जो प्रस्तुत हुए भोगों को भोग लेता है, वह जीवन्मुक्त कहा जाता है। जिस मनुष्य का संसार का ज्ञान चला गया होता है, जो कलाओं से युक्त होने पर भी कलाओं से रहित ही होकर रहता है, और जो चित्तयुक्त होने पर भी चित्तरहित होकर ही रहता है, वह जीवन्मुक्त कहा जाता है। जो मनुष्य सभी पदार्थों के साथ व्यवहार करता हुआ भी मानों यह सब दूसरों के लिए ही है, इस प्रकार मानते हुए निःस्पृह ही रहकर पूर्णात्मा हो गया हो, वह जीवन्मुक्त कहलाता है।

जीवन्मुक्तपदं त्यक्त्वा स्वदेहे कालसात्कृते ।
विशत्यदेहमुक्तत्वं पवनोऽस्पन्दतामिव ॥63॥
विदेहमुक्तो नोदेति नास्तमेति न शाम्यति ।
न सन्नासन्न दूरस्थो न चाहं न च नेतरः ॥64॥
ततः स्तिमितगम्भीरं न तेजो न तमस्ततम् ।
अनाख्यमनभिव्यक्तं सत् किञ्चिदवशिष्यते ॥65॥
न शून्यं नापि चाकारो न दृश्यं नापि दर्शनम् ।
न च भूतपदार्थौघसदनन्ततया स्थितम् ॥66॥

(अब विदेहमुक्त की स्थिति बताते हैं—) फिर उस जीवन्मुक्त का देह मृत्यु के वश में आ जाता है। तब 'जीवन्मुक्त' पद का त्याग करके वह मनुष्य जैसे पवन निश्चलता को प्राप्त होता है, उसी तरह विदेहमुक्तता को प्राप्त करता है। फिर वह विदेहमुक्त जन्मता भी नहीं है और मरता भी नहीं है। वह 'सत्' भी नहीं होता, 'असत्' भी नहीं होता, 'मैं' भी नहीं होता, और 'अन्य' भी नहीं होता। तब वह

शान्त-गम्भीर तेज भी तो नहीं होता और न ही वह फैला हुआ अन्धकार ही होता है। तत्र वह शून्य भी नहीं है, न कोई आकार है, न दृश्य है, न दर्शन है, न भूतों या पदार्थों का कोई समूह है। वह तो केवल अनंत रूप में अवस्थित 'सत्' तत्त्व ही है।

किमप्यव्यपदेशात्मा पूर्णात् पूर्णतराकृतिः।
न सन्नासन्न सदसन्न भावो भावनं न च ॥67॥
चिन्मात्रं चैत्यरहितमनन्तमजरं शिवम्।
अनादिमध्यपर्यन्तं यदनादि निरामयम् ॥68॥
द्रष्टृदर्शनदृश्यानां मध्ये यद्दर्शनं स्मृतम्।
नातः परतरं किञ्चिन्निश्चयोऽस्त्यपरो मुने ॥69॥

इसका स्वरूप किसी भी व्यवहार के लिए नहीं हो सकता। वह केवल पूर्ण से भी पूर्ण आकृति वाला होता है। वह 'सत्' भी नहीं है, 'असत्' भी नहीं है, 'सत्-असत्' भी वह नहीं है। वह कोई 'पदार्थ' भी नहीं है, कोई 'भावना' भी नहीं है। केवल चैतन्यरूप है, वह चैत्य से (विश्व से) रहित है, अनन्त है, जरारहित है, मंगलस्वरूप है, आदि-मध्य-अन्तरहित है, और जो निर्दोष है, वही वह अनादि वस्तु है। हे मुनि! द्रष्टा, दर्शन और दृश्य में जो 'दर्शन' होता है, उससे अधिक कोई श्रेष्ठ नहीं होता। यह तो सर्वोत्कृष्ट निश्चय है।

स्वयमेव त्वया ज्ञातं गुरुतश्च पुनः श्रुतम्।
स्वसंकल्पवशाद्बद्धो निःसंकल्पाद्विमुच्यते ॥70॥
तेन स्वयं त्वया ज्ञातं ज्ञेयं यस्य महात्मनः।
भोगेभ्यो ह्यरतिर्जाता दृश्याद्वा सकलादिह ॥71॥
प्राप्तं प्राप्तव्यमखिलं भवता पूर्णचेतसा।
स्वरूपे पतसि ब्रह्मन् मुक्तस्त्वं भ्रान्तिमुत्सृज ॥72॥
अतिबाह्यं तथा बाह्यमन्तराभ्यन्तरं धियः।
शुक पश्यन्न पश्येस्त्वं साक्षी सम्पूर्णकेवलः ॥73॥

आपने अपने-आप से जो जान लिया है और गुरु के पास से भी सुन लिया है कि अपने संकल्प के वश होने से प्राणी को बन्धन होता है। और संकल्परहित होने से वह मुक्त हो जाता है। आपने अपने-आप से (स्वयं ही) ज्ञेय वस्तु को जान लिया है और इसीलिए आप महात्मा को भोगों के ऊपर एवं सकल दृश्य पदार्थों के ऊपर वैराग्य हो गया है। हे ब्राह्मण! पूर्ण चित्त वाले आपने जो कुछ प्राप्तव्य था, उसे प्राप्त कर लिया है। आप मुक्त हो गए हैं। हे ब्राह्मण! अब आप अपने (निज) स्वरूप में ही प्रकाशित हो रहे हैं। अतः और भ्रान्ति छोड़ दीजिए। आप आत्मस्वरूप ही हो गए हैं। हे शुकदेव! बुद्धि के बाहर का और उससे भी बाहर का तथा भीतर का और भीतर के भी भीतर का तेज देखते हुए भी आप उसे नहीं देखते, क्योंकि आप तो केवल संपूर्ण साक्षी ही हैं।

विशश्राम शुकस्तूर्ष्णीं स्वस्थे परमवस्तुनि।
वीतशोकभयायासो निरीहश्छिन्नसंशयः ॥74॥
जगाम शिखरं मेरोः समाध्यर्थमखण्डितम् ॥75॥
तत्र वर्षसहस्राणि निर्विकल्पसमाधिना।
देशे स्थित्वा शशामासावात्मन्यस्नेहदीपवत् ॥76॥

व्यपगतकलनाकलङ्कशुद्धः स्वयममलात्मनि पावने पदेऽसौ।
सलिलकण इवाम्बुधौ महात्मा विगलितवासनमेकतां जगाम ॥77॥
इति महोपनिषत्।

इति द्वितीयोऽध्यायः।

यह सुनकर शुकदेवजी शान्त हुए और स्वयं के भीतर ही अवस्थित वस्तु में विश्रान्ति को प्राप्त हुए। उनका शोक, भय और भ्रम सब दूर हो गया, सभी इच्छाएँ भी समाप्त हो गईं, सन्देह सब कट गए। वे अखण्ड समाधि के लिए मेरु पर्वत पर चले गए। और उस प्रदेश पर हजारों वर्ष तक निर्विकल्प समाधि में रहकर तैलरहित दीपक की भाँति आत्मस्वरूप में शान्त–विलीन होकर रहे। इस प्रकार वे महात्मा जागतिक पदार्थों के ज्ञानरूप कलंक के दूर हो जाने से विशुद्ध हो गए और जिस तरह जल के बिन्दु पानी में विलीन हो जाते हैं, उसी तरह स्वयं वासनारहित होकर निर्मल और पवित्र आत्मस्वरूप के पद में एकता को प्राप्त हुए। इस प्रकर यह महोपनिषद् कहती है।

यहाँ दूसरा अध्याय समाप्त होता है।

❈

तृतीयोऽध्यायः

निदाघो नाम मुनिराट् प्राप्तविद्यश्च बालकः।
विहृतस्तीर्थयात्रार्थं पित्राऽनुज्ञातवान् स्वयम् ॥1॥
सार्धत्रिकोटितीर्थेषु स्नात्वा गृहमुपागतः।
स्वोदन्तं कथयामास ऋभुं नत्वा महायशाः ॥2॥
सार्धत्रिकोटितीर्थेषु स्नानपुण्यप्रभावतः।
प्रादुर्भूतो मनसि मे विचारः सोऽयमीदृशः ॥3॥
जायते म्रियते लोको म्रियते जननाय च।
अस्थिराः सर्व एवेमे सचराचरचेष्टिताः ॥4॥
सर्वापदां पदं पापा भावा विभवभूमयः।

निदाघ नाम के एक मुनिराज जब बालक थे, तभी सभी विद्याएँ पढ़कर तीर्थयात्रा में निकल पड़े। उनके पिताजी ने ही उन्हें अनुमति दी थी। साढ़े तीन करोड़ तीर्थों में स्नान करके फिर घर पर लौटकर उन महायशस्वी (निदाघ) ने ऋभु को नमस्कार करके अपना सब वृत्तान्त इस प्रकार सुनाया—"साढ़े तीन करोड़ तीर्थों में स्नान करने से जो पुण्य हुआ है, उसके प्रभाव से मेरे मन में ऐसा विचार उत्पन्न हुआ है कि जो जन्म लेते हैं, वे मरते हैं और जो मरते हैं वे फिर जन्म लेते हैं, इस तरह सचराचर की चेष्टाएँ अस्थिर ही होती हैं। वैभवदायक ये सभी पदार्थ पापमय हैं और वे सभी आपत्तियों के उत्पादक स्थानरूप हैं।

अयः शलाकासदृशाः परस्परमसङ्गिनः।
शुष्यन्ते केवला भावा मनःकल्पनयाऽनया ॥5॥
भावेष्वरतिरायाता पथिकस्य मरुष्विव।
शाम्यतीदं कथं दुःखमिति तप्तोऽस्मि चेतसा ॥6॥

चिन्तानिचयचक्राणि नानन्दाय धनानि मे ।
संप्रसूतकलत्राणि गृहाण्युग्रापदामिव ॥7॥
इयमस्मिन् स्थितोदारा संसारे परिपेलवा ।
श्रीर्मुने परिमोहाय साऽपि नूनं न शर्मदा ॥8॥

किसी पेटी में एकत्र की गई लोह-शलाकाओं की तरह परस्पर सम्बन्धरहित अकेले ये पदार्थ सूख जाते हैं इस प्रकार की कल्पनाएँ करते हुए मुझे, जिस तरह किसी यात्रिक को निर्जल प्रदेशों में बेचैनी होती है, उसी प्रकार इन जागतिक पदार्थों के प्रति बेचैनी (घृणा) सी होती है। और मेरा यह दुःख किस तरह से दूर हो, शान्त हो, इस विचार से मैं मन में संतप्त हूँ। चिन्ता के समूहों के स्थान-रूप धनादि मुझे शान्त नहीं बना सकते और सन्तानों के साथ ये स्त्रियाँ भी मानो आपत्तियों के घर ही हों, इस तरह मुझे लग रहा है। हे मुनि! संसार में रही हुई यह उदार और सुन्दर लक्ष्मी भी चारों ओर मुझे मोह उत्पन्न कर रही है। वह भी निश्चित रूप से कल्याण नहीं दे रही है।

आयुः पल्लवकोणाग्रलम्बाम्बुकण भङ्गुरम् ।
उन्मत्त इव सन्त्यज्य याम्यकाण्डे शरीरकम् ॥9॥
विषयाशीविषासङ्गपरिजर्जरचेतसाम् ।
अप्रौढात्मविवेकानामायुरायासकारणम् ॥10॥
युज्यते वेष्टनं वायोराकाशस्य च खण्डनम् ।
ग्रन्थनं च तरङ्गाणामास्था नायुषि युज्यते ॥11॥
प्राप्यं संप्राप्यते येन भूयो येन न शोच्यते ।
पराया निर्वृतेः स्थानं यत्तज्जीवितमुच्यते ॥12॥

आयुष्य तो वृक्ष के पत्ते पर लटकते हुए पानी के बिन्दु जैसा ही नश्वर है और वह एक पागल की तरह इस शरीर को छोड़कर दक्षिण भाग में चला जाता है। जिनके चित्त विषयोंरूपी साँपों के संग से संक्षुब्ध हो रहे हों और जिनका आत्मविवेक अभी अपरिपक्व ही हो, ऐसे मनुष्यों के लिए तो आयुष्य एक परिश्रम-सा (थकावट का ही कारण) हो जाता है। यदि वायु का भी वेष्टन किया जा सके और यदि आकाश को भी काटा जा सके और यदि तरंगों को भी गूँथा जा सके तो भी इस आयुष्य के ऊपर विश्वास नहीं रखा जा सकता। जिससे प्राप्तव्य सब पाया जा सकता है और फिर शोक करना नहीं पड़ता और जो शान्ति का स्थान बनता है, उसी को तो जीवन कहते हैं।

तरवोऽपि हि जीवन्ति जीवन्ति मृगपक्षिणः ।
स जीवति मनो यस्य मननेनोपजीवति ॥13॥
जातास्त एव जगति जन्तवः साधुजीविताः ।
ये पुनर्नेह जायन्ते शेषा जरठगर्दभाः ॥14॥
भारो विवेकिनः शास्त्रं भारो ज्ञानं च रागिणः ।
अशान्तस्य मनो भारं भारोऽनात्मविदो वपुः ॥15॥

यों तो पेड़ भी जीते तो हैं ही। मृग और पक्षी भी जीते हैं। परन्तु, वास्तविक जीवन तो वही जीता है, कि जिसका मन केवल मन का ही आश्रय लेता है (विषयों का नहीं)। अर्थात् जो विचारशील है। जगत् में वही प्राणी वास्तव में जन्म लिए हुए होते हैं, वे ही उत्तम जीवन वाले होते हैं, जो इस संसार में फिर से जन्म नहीं लेते। शेष तो केवल पेट भरने वाले गधे ही हैं। विवेकी के लिए शास्त्र

सब भाररूप ही हैं, उन्हें शास्त्रों की आवश्यकता नहीं होती। रागयुक्त मनुष्य को ज्ञान भाररूप होता है क्योंकि उसके लिए वह निरुपयोगी है। शान्तिरहित मनुष्य को मन भाररूप होता है और आत्मा को नहीं जानने वाले के लिए शरीर भाररूप ही होता है।

अहंकारवशादापदहंकाराद्दुराधयः ।
अहंकारवशादीहा नाहंकारात् परो रिपुः ॥16॥
अहंकारवशाद्यद्यन्मया भुक्तं चराचरम् ।
तत्तत् सर्वमवस्त्वेव वस्त्वहंकाररिक्तता ॥17॥
इतश्चेतश्च सुव्यग्रं व्यर्थमेवाभिधावति ।
मनो दूरतरं याति ग्रामे कौलेयको यथा ॥18॥
क्रूरेण जडतां याता(तः) तृष्णाभार्याऽनुगामिना ।
वशः कौलेयकेनैव ब्रह्मन् मुक्तोऽस्मि चेतसा ॥19॥

अहंकार के कारण आपत्ति आती है। अहंकार से कष्ट (मानसिक पीड़ाएँ) होता है। अहंकार से इच्छाएँ उत्पन्न होती हैं, इसलिए अहंकार से बड़ा कोई शत्रु नहीं हैं। मैंने अहंकार को रखकर जो-जो उपभोग किया है, वह चराचर सब व्यर्थ ही है (अवस्तु ही है)। अहंकार से राहित्य (अहंकार की विहीनता-अभाव) ही सही वस्तु है। जिस तरह गाँव में कुत्ता इधर-उधर दौड़ता रहता है और बहुत दूर चला जाता है, उसी प्रकार हे ब्राह्मण! स्त्री का अनुसरण करते हुए क्रूर चित्त से तृष्णा जडवत् बन गई है और कुत्ते जैसे चित्त के कारण मनुष्य पराधीन हो जाता है। इसलिए उससे मैं मुक्त हो गया हूँ।

अप्यब्धिपानान्महतः सुमेरून्मूलनादपि ।
अपि वह्न्यशनाद्ब्रह्मन् विषमश्चित्तनिग्रहः ॥20॥
चित्तं कारणमर्थानां तस्मिन् सति जगत्त्रयम् ।
तस्मिन् क्षीणे जगत् क्षीणं तच्चिकित्स्यं प्रयत्नतः ॥21॥
यां यामहं मुनिश्रेष्ठ संश्रयामि गुणाश्रियम् ।
तां तां कृन्तति मे तृष्णा तन्त्रीमिव कुमूषिका ॥22॥
पदं करोत्यलङ्घ्येऽपि तृप्ता विफलमीहते ।
चिरं तिष्ठति नैकत्र तृष्णा चपलमर्कटी ॥23॥

हे ब्राह्मण! समुद्र को पी जाने से, बड़े मेरु पर्वत को उखाड़ डालने से और अग्नि का भक्षण करने से भी चित्त को वश में लाना बड़ी कठिन बात है। पदार्थों का कारण चित्त ही है। जब चित्त है तभी ये तीन लोक हैं। यदि चित्त क्षीण हो गया, तो जगत् भी नष्ट हो जाएगा। इसलिए प्रयत्नपूर्वक चित्त को वश में लाना चाहिए। हे मुनिश्रेष्ठ! मैं जिस-जिस गुणलक्ष्मी का आश्रय करता हूँ, उस-उस गुणलक्ष्मी को, जिस तरह चुहिया तार को काट देती है उसी तरह, मेरी तृष्णा काट देती है। अलंघनीय स्थान में भी तृष्णा अपना पैर फँसा देती है और तृप्त होने पर भी विफल चेष्टा करती रहती है। इस तरह चंचल बन्दरी जैसी तृष्णा एक जगह पर स्थिर होकर बैठती ही नहीं है।

क्षणमायाति पातालं क्षणं याति नभः स्थलम् ।
क्षणं भ्रमति दिक्कुञ्जे तृष्णा हृत्पद्मषट्पदी ॥24॥
सर्वसंसारदुःखानां तृष्णैका दीर्घदुःखदा ।

अन्तःपुरस्थमपि या योजयत्यतिसंकटे ॥25॥
तृष्णाविषूचिकामन्त्रश्चिन्तात्यागो हि स द्विज ॥26॥

हृदयकमल की भ्रमरी जैसी यह तृष्णा एक क्षण में पाताल में पहुँच जाती है तो दूसरे क्षण में वह आकाश में पहुँच जाती है और अन्य क्षण में दिशाओंरूपी अरण्यों मे घूमती है। संसार के सभी दुःखों में दीर्घकाल तक दुःख को देने वाली यह तृष्णा ही है। वह हृदयरूपी नगर के भीतर रहने वाले आत्मा को भी संकट में डाल देती है। हे द्विज ! तृष्णारूपी महामारी दूर करने का एकमात्र उपाय चिन्ता से मुक्त हो जाना ही है।

स्तोकेनानन्दमायाति स्तोकेनायाति खेदताम्।
नास्ति देहसमः शोच्यो नीचो गुणविवर्जितः ॥27॥
कलेवरमहंकारगृहस्थस्य महागृहम्।
लुठत्वभ्येतु वा स्थैर्यं किमनेन गुरो मम ॥28॥
पङ्क्तिबद्धेन्द्रियपशुं वल्गत्तृष्णागृहाङ्गणम्।
चित्तभृत्यजनाकीर्णं नेष्टं देहगृहं मम ॥29॥
जिह्वामर्कटिकाक्रान्तवदनद्वारभीषणम्।
दृष्टदन्तास्थिशकलं नेष्टं देहगृहं मम ॥30॥

थोड़े से ही जो आनन्द में आ जाता है और थोड़े से ही जो खिन्न हो उठता है, ऐसे इस देह के समान कोई गुणहीन और शोचनीय अन्य नहीं है। हे गुरो ! शरीर अहंकाररूपी गृहस्थ का बड़ा घर है। वह नष्ट हो या बना रहे, इसकी मुझे कोई चिन्ता नहीं है। यह शरीररूपी घर जिसमें इन्द्रियरूपी पशु पंक्ति बनाकर बँधे हुए हैं, जिसके आँगन में तृष्णा नाचकूद रही है और जो चित्त के संकल्प-विकल्पात्मक नौकर-चाकरों से भरा-पूरा है, ऐसा शरीरगृह मुझे अच्छा नहीं लग रहा है। जीभरूपी मर्कटिका ने मुँह के द्वार को दबा रखा है, इससे दाँत जिसमें हड्डियों के टुकड़ों जैसे भयंकर दीख रहे हैं, ऐसा शरीररूपी घर मुझे अच्छा नहीं लगता।

रक्तमांसमयस्यास्य सबाह्याभ्यन्तरे मुने।
नाशैकधर्मिणो ब्रूहि कैव कायस्य रम्यता ॥31॥
तडित्सु शरदभ्रेषु गन्धर्वनगरेषु च।
स्थैर्यं येन विनिर्णीतं स विश्वसितु विग्रहे ॥32॥
शैशवे गुरुतो भीतिर्मातृतः पितृतस्तथा।
जनतो ज्येष्ठबालाच्च शैशवं भयमन्दिरम् ॥33॥
स्वचित्तबिलसंस्थेन नानाविभ्रमकारिणा।
बलात् कामपिशाचेन विवशः परिभूयते ॥34॥

हे मुनि ! यह शरीर बाहर-भीतर (चारों ओर) रक्त और मांस से ही केवल भरा हुआ है। यह केवल नाशरूप धर्म वाला ही है। कहिए तो ! इसमें कौन-सी सुन्दरता है ? जो पुरुष बिजली के चमकने में और शरद् ऋतु के बादलों में स्थिरता का निर्णय कर सकता हो, और गन्धर्वनगर में स्थिरता देख सकता हो, वह भले ही इस शरीर पर विश्वास करता रहे। बचपन में गुरु का, माता का, पिता का, अन्य लोगों का और अपने से बड़ों का मनुष्य को भय होता है इसलिए बचपन तो भय का घर ही है।

और जवानी में अपने चित्तरूपी बिल में (दर में) अनेक प्रकार के विलास कराने वाला कामरूपी पिशाच बलात् भीतर घुस जाता है। उसके वश में आकर प्राणी पीड़ाएँ सहन करता रहता है।

दासाः पुत्राः स्त्रियश्चैव बान्धवाः सुहृदस्तथा।
हसन्त्युन्मत्तकमिव नरं वार्धककम्पितम् ॥35॥
दैन्यदोषमयी दीर्घा वर्धते वार्धके स्पृहा।
सर्वापदामेकसखी हृदि दाहप्रदायिनी ॥36॥
क्वचिद्वा विद्यते यैषा संसारे सुखभावना।
आखुः स्तम्बमिवासाद्य कालस्तामपि कृन्तति ॥37॥
तृणं पांसुं महेन्द्रं च सुवर्णं मेरुसर्षपम्।
आत्मम्भरितया सर्वमात्मसात्कर्तुमुद्यतः।
कालोऽयं सर्वसंहारी तेनाक्रान्तं जगत्त्रयम् ॥38॥

और बुढ़ापे में जब शरीर काँमने लगता है तब तो नौकर-चाकर, पुत्र, स्त्रियाँ, कुटुम्बीजन और मित्र भी पागल की तरह हँसकर ठट्ठा करते हैं। और वृद्धावस्था में दीनता और दोषों से भरी हुई और सभी आपत्तियों की सखी ऐसी हृदय में दाह करती हुई लम्बी लालसा बढ़ जाया करती है। किसी समय संसार में जो कुछ सुख की भावना उत्पन्न होती है, उसे भी काल उस आयुष्य को गुच्छे की तरह काट डालता है। सबका संहार करने वाला यह काल तृण और धूलिकण को महेन्द्र तथा सुवर्ण और मेरु पर्वत को सरसों का दाना बना देता है। केवल उदरंभरी (मात्र अपना पेट भरने वाला) होने से काल सबको अपने अधीन करने के लिए उद्यत रहता है। उसने तीनों जगतों को दबा रखा है।

मांसपाञ्चालिकायास्तु यन्त्रलोलेऽङ्गपञ्जरे।
स्नाय्वस्थिग्रन्थिशालिन्याः स्त्रियः किमिव शोभनम् ॥39॥
त्वङ्मांसरक्तबाष्पाम्बु पृथक्कृत्वा विलोच(क)ने।
समालोक(च)य रम्यं चेत् किं मुधा परिमुह्यसि ॥40॥
मेरुशृङ्गतटोल्लासिगङ्गाचलरयोपमा।
दृष्टा यस्मिन् मुने मुक्ताहारस्योल्लासशालिता ॥41॥
श्मशानेषु दिगन्तेषु स एव ललनास्तनः।
श्वभिरास्वाद्यते काले लघुपिण्डमिवान्धसः ॥42॥

स्नायु (नसें) एवं अस्थिग्रन्थियों (हड्डियों की गाँठों) से युक्त ये स्त्रियाँ तो मांस की पुतली जैसे शरीरवाली ही हैं। उनका शरीररूपी पिंजरा तो यंत्र की तरह डोल रहा है। इसमें भला क्या सुन्दरता है ? चमड़ी, मांस, लहू और आँसू का पानी—सबको अलग-अलग कर देखो, तो उसमें भला क्या सुन्दर है ? व्यर्थ ही कोई क्यों मोह प्राप्त करता है ? हे मुनि ! जब स्त्री जीवित थी, तब उसके गले में मोती का हार ऐसा शोभित होता था कि लोग उसे मेरुपर्वत के शिखर पर शोभायमान चंचल गंगा-प्रवाह की उपमा दिया करते थे। परन्तु, मरण के बाद उसी स्त्री के स्तन को श्मशान में छोटे अनाज के पिण्ड की तरह कुत्ते चारों दिशाओं में खाते हुए दिखाई पड़ते हैं।

केशकज्जलधारिण्यो दुःस्पर्शा लोचनप्रियाः।
दुष्कृताग्निशिखा नार्यो दहन्ति तृणवन्नरम् ॥43॥

ज्वलतामतिदूरेऽपि सरसा अपि नीरसाः ।
स्त्रियो हि नरकाग्नीनामिन्धनं चारु दारुणम् ॥44॥
कामनाम्ना किरातेन विकीर्णा मुग्धचेतसः ।
नार्यो नरविहङ्गानामङ्गबन्धनवागुराः ॥45॥
जन्मपल्वलमत्स्यानां चित्तकर्दमचारिणाम् ।
पुंसां दुर्वासनारज्जुर्नारी बडिशपिण्डिका ॥46॥

केश और काजल को धारण करने वाली स्त्रियाँ हमारी आँखों को अच्छी तो लगती हैं, परन्तु, वास्तविक रूप में उनका स्पर्श करना दुःखदायी ही है। ऐसी स्त्रियाँ पापरूपी आग की ज्वालाएँ ही हैं। वे पुरुष को एक तिनके की तरह जला देती हैं। स्त्रियाँ स्नेह-रस से युक्त लगती तो हैं, परन्तु वास्तव में वे नीरस हैं। और वे अत्यन्त दूर रहने पर भी नरक रूप जलते हुए अग्नियों में सुन्दर मालूम होते हुए भयंकर ईंधन के समान ही हैं। कामदेवरूपी शिकारी ने पुरुषरूपी पक्षियों के (अपने शिकार के) शरीरों को बाँधने के लिए मुग्ध मनवाली स्त्रियों के रूप में अपनी जाल बिछाई है। पुरुष मानों मछलियाँ हैं। वे मानो जन्मरूपी तालाब में चित्तरूपी कीचड़ में घूमती हैं। उन्हें बींधने के लिए ये स्त्रियाँ मानो काँटों की तरह हैं। और पुरुषों के मन में रही हुई दुर्वासना डोरी (रज्जु) है।

सर्वेषां दोषरत्नानां सुसमुद्गिकयाऽनया ।
दुःखशृङ्खलया नित्यमलमस्तु मम स्त्रिया ॥47॥
यस्य स्त्री तस्य भोगेच्छा निःस्त्रीकस्य क्व भोगभूः ।
स्त्रियं त्यक्त्वा जगत् त्यक्तं जगत् त्यक्त्वा सुखी भवेत् ॥48॥
दिशोऽपि न हि दृश्यन्ते देशोऽप्यन्योपदेशकृत् ।
शैला अपि विशीर्यन्ते शीर्यन्ते तारका अपि ॥49॥
शुष्यन्त्यपि समुद्राश्च ध्रुवोऽप्यध्रुवजीवनः ।
सिद्धा अपि विनश्यन्ति जीर्यन्ते दानवादयः ॥50॥

सभी दोष मानों रत्न हैं। उनका रक्षण करने के लिए स्त्रियाँ मानो सुन्दर मञ्जूषा (पेटी) हैं। और उसमें दुःखरूपी शृंखला बँधी हुई है। ऐसी स्त्री की मुझे किसी भी समय में आवश्यकता नहीं है। जिसके पास स्त्री है, उसको भोगों की इच्छा होती है, पर जो बिना स्त्री का (स्त्रीरहित) होता है, उसके लिए भोगों का स्थान कहाँ है ? स्त्री को छोड़कर जगत् का त्याग हो सकता है और जगत् का त्याग करके ही सुखी हुआ जा सकता है। सब कुछ नाशवान् ही है। दिशाएँ भी नहीं दिखतीं, दूसरों को उपदेश करने वाला देश (स्थान) भी नहीं दिखाई देता। पहाड़ भी शीर्ण-विशीर्ण हो जाते हैं, सागर भी सूख जाते हैं, ध्रुव भी विनाशी जीवन वाला ही है। सिद्धलोग भी नष्ट हो जाते हैं। और दानव आदि भी जीर्ण (नष्ट) हो जाते हैं। (तात्पर्य, सब कुछ विनाशशील ही है।)

परमेष्ठ्यपि निष्ठावान् हीयते हरिरप्यजः ।
भावोऽप्यभावमायाति जीर्यन्ते वै दिगीश्वराः ॥51॥
ब्रह्मा विष्णुश्च रुद्रश्च सर्वा वा भूतजातयः ।
नाशमेवानुधावन्ति सलिलानीव वाडवम् ॥52॥
आपदः क्षणमायान्ति क्षणमायान्ति संपदः ।
क्षणं जन्माथ मरणं सर्वं नश्वरमेव तत् ॥53॥

अशूरेण हताः शूरा एकेनापि शतं हतम् ।
विषं विषयवैषम्यं न विषं विषमुच्यते ॥54॥

ब्रह्मा भी विनाशशील है और अजन्मा विष्णु भी नाश को प्राप्त करते हैं। इस प्रकार सब कुछ नाशवान् ही है, दिक्पाल भी तो मरते ही हैं। जैसे जल वडवानल की ओर ही गति करता है, वैसे ही ब्रह्मा-विष्णु-शंकर, प्राणियों की सभी जातियाँ भी विनाश की ओर दौड़ती ही जाती हैं। एक क्षण में ही आपत्तियाँ आती हैं और क्षणभर में संपत्तियाँ भी आती हैं। उसी प्रकार क्षणभर में ही जन्म होता है और क्षणभर में ही मरण भी होता है। इस तरह सब कुछ नाशवान् ही है। जो वास्तव में शूर नहीं होता उसने कई शूरवीरों को मार दिया हुआ देखा जाता है और कोई अकेला भी सैंकड़ों लोगों को मार देता है। तात्पर्य यह है कि विषयों का परिणाम बहुत विषम होता है। जहर कहा जाने वाला पदार्थ कोई वास्तव में जहर नहीं है। यह विषयों का वैषम्य ही वास्तव में जहर है।

जन्मान्तरघ्ना विषया एकजन्महरं विषम् ।
इति मे दोष दावाग्निदग्धे सम्प्रति चेतसि ॥55॥
स्फुरन्ति हि न भोगाशा मृगतृष्णासरःस्वपि ।
अतो मां बोधयाशु त्वं तत्त्वज्ञानेन वै गुरो ॥56॥
नो चेन्मौनं समास्थाय निर्मानो गतमत्सरः ।
भावयन् मनसा विष्णुं लिपिकर्मार्पितोपमः ॥57॥
इति महोपनिषत् ।

इति तृतीयोऽध्यायः ।

क्योंकि जहर तो एक ही जन्म में मारता है, परन्तु ये विषय तो अन्य जन्मों में भी मारा ही करते हैं। इस कारण से मेरा मन अभी-अभी उस दोषरूपी दावानल से जला करता है। जैसे मृगजल से (मरुमरीचिका के पानी से) भरे दिखाई देने वाले तालाबों में जल की कोई आशा ही नहीं होती, इसी प्रकार मेरे मन में भोगों की कोई भी आशा स्फुरित नहीं होती। इसलिए हे गुरो ! आप मुझे तत्त्वज्ञान का उपदेश दीजिए। यदि आप नहीं देंगे तो मैं मौन धारण करके मान-अपमान से रहित होकर मन से विष्णु का चिन्तन किया करूँगा और चित्रांकित जैसे बना रहूँगा।—इस प्रकार इस उपनिषद् का उपदेश है।

यहाँ पर तीसरा अध्याय पूरा होता है।

❋

चतुर्थोऽध्यायः

निदाघ तव नास्त्यन्यज्ज्ञेयं ज्ञानवतां वर ।
प्रज्ञया त्वं विजानासि ईश्वरानुगृहीतया ।
चित्तमालिन्यसञ्जातं मार्जयामि भ्रमं मुने ॥1॥
मोक्षद्वारे द्वारपालाश्चत्वारः परिकीर्तिताः ।
शमो विचारः संतोषश्चतुर्थः साधुसङ्गमः ॥2॥
एकं वा सर्वयत्नेन सर्वमुत्सृज्य संश्रयेत् ।
एकस्मिन् वशगे यान्ति चत्वारोऽपि वशं गताः ॥3॥

तब ऋभु ने कहा—हे ज्ञानियों में श्रेष्ठ निदाघ ! तुम्हारे लिए अब जानने लायक और कुछ है ही नहीं। क्योंकि ईश्वर के अनुग्रहवाली बुद्धि से तुम सब कुछ जानते ही हो। फिर भी हे मुनि ! चित्त की मलिनता से उत्पन्न हुआ तुम्हारा भ्रम मैं दूर कर देता हूँ। मोक्ष के द्वार पर चार चौकीदार कहे गए हैं। ये हैं—शम, विचार, सन्तोष और चौथा साधु-समागम। सब कुछ छोड़कर उनमें से किसी एक का प्रयत्नपूर्वक आश्रय करके रहना चाहिए। क्योंकि जब एक वश में आ जाता है तो अन्य सब वश में आ जाते हैं।

शास्त्रैः सज्जनसम्पर्कपूर्वकैश्च तपोदमैः।
आदौ संसारमुक्त्यर्थं प्रज्ञामेवाभिवर्धयेत् ॥4॥
स्वानुभूतेश्च शास्त्रस्य गुरोश्चैवैकवाक्यता।
यस्याभ्यासेन तेनात्मा सततं चावलोक्यते ॥5॥

संसार से छुटकारा पाने के लिए पहले तो शास्त्रों और साधुजनों के समागमपूर्वक तपश्चर्या और इन्द्रियविग्रह करके बुद्धि को बढ़ाना चाहिए। अपने अनुभव से, शास्त्रों के अभ्यास से और गुरु जो कुछ एक वाक्य कहें, उसका निरन्तर अभ्यास करने से आत्मा के दर्शन किए जा सकते हैं।

संकल्पाशाऽनुसन्धानवर्जनं चेत् प्रतिक्षणम्।
करोषि तदचित्तत्वं प्राप्त एवासि पावनम् ॥6॥
चेतसो यदकर्तृत्वं तत् समाधानमीरितम्।
तदेव केवलीभावं सा शुभा निर्वृतिः परा ॥7॥
चेतसा संपरित्यज्य सर्वभावात्मभावनाम्।
यथा तिष्ठसि तिष्ठ त्वं मूकान्धबधिरोपमः ॥8॥
सर्वं प्रशान्तमजमेकमनादिमध्य-
माभास्वरं स्वदनमात्रमचैत्यचिह्नम्।
सर्वं प्रशान्तमिति शब्दमयी च दृष्टि-
र्बाधार्थमेव हि मुधैव तदोमितीदम् ॥9॥

यदि प्रतिक्षण ही संकल्पों और आशाओं के अनुसन्धान को तुम छोड़ते ही रहते हो, तब तो तुम पवित्र होकर चित्तरहित स्थिति को प्राप्त किए हुए ही हो, इसमें किसी भी प्रकार का संशय नहीं हो सकता। चित्त का जो कर्तृत्व से हीन (शून्य) होने का भाव है, वही समाधान कहलाता है। वही कैवल्यप्राप्ति है और वही शुभ निर्वाण है। सभी प्रकार के पदार्थों में आत्मभावना को चित्त में से छोड़कर जैसे रहा जाता है, वैसे मूक की तरह, बधिर की तरह और अन्धे की तरह तुम इस जगत् में रहो। सब अत्यन्त शान्त, जन्मरहित, एक, अद्वितीय, आदि-मध्य-अन्तरहित, चारों ओर प्रकाशमान, केवल आस्वादरूप है, जगत् का कोई भी चिह्न उसमें नहीं दिखाई देता। 'यह सब अत्यन्त शान्त है'—ऐसा जो शब्दप्रयोग (वाणी के माध्यम से) किया जाता है, वह भी तो केवल बाध के लिए ही शब्दमय दृष्टि है, इसलिए वह बिल्कुल झूठी ही है। वास्तव में तो यह सब ओंकाररूपी ही है।

सर्वं किञ्चिदिदं दृश्यं दृश्यते चिज्जगद्गतम्।
चिन्निष्पन्दांशमात्रं तन्नान्यदस्तीति भावय ॥10॥
नित्यप्रबुद्धचित्तस्त्वं कुर्वन् वाऽपि जगत्क्रियाम्।
आत्मैकत्वं विदित्वा त्वं तिष्ठाक्षुब्धमहाब्धिवत् ॥11॥

तत्त्वावबोध एवासौ वासनातृणपावकः।
प्रोक्तः समाधिशब्देन न तु तूष्णीमवस्थितिः ॥12॥
निरिच्छे संस्थिते रत्ने यथा लोकः प्रवर्तते।
सत्तामात्रे परे तत्त्वे तथैवायं जगद्गणः ॥13॥

यह सब जगत् जो दिखाई देता है, वह सब कुछ चैतन्य में ही अवस्थित है और वह केवल चैतन्य का ही निष्क्रिय अंश है। चैतन्य के अतिरिक्त कुछ है ही नहीं। ऐसा तुम चिन्तन किया करो। नित्यबोध को प्राप्त किए हुए चित्तवाले तुम आत्मा की एकता को जान-पहचान कर शान्त महासागर जैसे ही रहो, फिर भले ही जगत् की क्रियाओं में परिवर्तन हुआ करते हों। केवल तत्त्वज्ञान ही वासनारूपी घास को जलाने में अग्नि समान होता है और वही 'समाधि' शब्द के द्वारा कहा जाता है। गूँगा रहकर बैठे रहना कोई समाधि नहीं है। यों ही कहीं पड़े हुए रत्न को अपना प्रकाश कहीं बिखेरने की इच्छा तो नहीं होती, फिर भी उसमें से प्रकाश तो निकलता ही रहता है, उसी तरह परमतत्त्व केवल 'सत्ता' के रूप में ही अवस्थित रहता है फिर भी उसमें से जगत् का उद्भव हुआ ही करता है।

अतश्चात्मनि कर्तृत्वमकर्तृत्वं च वै मुने।
निरिच्छत्वादकर्ताऽसौ कर्ता सन्निधिमात्रतः ॥14॥
ते द्वे ब्रह्मणि विन्देते कर्तृताऽकर्तृते मुने।
यत्रैवैष चमत्कारस्तमाश्रित्य स्थिरो भव ॥15॥
तस्मान्नित्यमकर्ताऽहमिति भावनयेद्धया।
परमामृतनाम्नी सा समतैवावशिष्यते ॥16॥

हे मुनि ! इसी हेतु से आत्मा में कर्तृत्व और अकर्तृत्व दोनों माने गए हैं। वह इच्छारहित है इसलिए वह अकर्ता है, और मात्र समीप होने से वह कर्ता भी है। हे मुनि ! ब्रह्म में कर्तापन भी है और अकर्तापन भी है ऐसा समझना चाहिए। दोनों में से जिसमें चमत्कार मालूम हो, वहाँ पर आश्रय करके स्थिर हो जाओ। अतः 'मैं नित्य अकर्ता ही हूँ' ऐसी भावना प्रदीप्त होने पर समता की भावना अवशिष्ट होती है (फलीभूत होती है)। वह भावना ही 'अमृता' कहलाती है।

निदाघ शृणु सत्त्वस्था जाता भुवि महागुणाः।
ते नित्यमेवाभ्युदिता मुदिताः ख इवेन्दवः ॥17॥
नापदि ग्लानिमायान्ति निशि हेमाम्बुजं यथा।
नेहन्ते प्रकृतादन्यद्रमन्ते शिष्टवर्त्मनि ॥18॥
आकृत्यैव विराजन्ते मैत्र्यादिगुणवृत्तिभिः।
समाः समरसाः सौम्य सततं साधुवृत्तयः ॥19॥
अब्धिवद्धृतमर्यादा भवन्ति विशदाशयाः।
नियतिं न विमुञ्चन्ति महान्तो भास्करा इव ॥20॥

हे निदाघ, जो आत्मस्थ महागुणशाली लोग यहाँ जन्म लेते हैं, उनके विषय में तुम सुनो। वे लोग आकाश में उदित हुए चन्द्र जैसे ही सदा निर्मल होते हैं। हे सोम्य ! सुवर्ण का कमल रात्रि में भी जिस तरह कभी धुँधला या मुरझा नहीं जाता, उसी तरह उत्तम वृत्तिवाले पुरुष आपत्ति में भी उद्विग्न नहीं होते। प्रस्तुत प्रसंग के अतिरिक्त वे कुछ चाहते भी नहीं हैं। सज्जनों के मार्ग में वे रमण करते हैं। वे अपनी आकृति से ही शोभित हो जाते हैं। वे मैत्री-करुणा-मुदिता-उपेक्षा के गुणों की वृत्ति से

सर्वत्र समान भाववाले और समान रसवाले होते हैं। वे महापुरुष समुद्र की तरह मर्यादा को निभाते हैं। वे निर्मल आशय वाले होते हैं। वे सूर्य की तरह अपनी नियमितता को कभी छोड़ते नहीं हैं।

कोऽहं कथमिदं चेति संसारमलमाततम्।
प्रविचार्यं प्रयत्नेन प्राज्ञेन सह साधुना॥21॥
नाकर्मसु नियोक्तव्यं नानार्येण सहावसेत्।
द्रष्टव्यः सर्वसंहर्ता न मृत्युरवहेलया॥22॥
शरीरमस्थिमांसं च त्यक्त्वा रक्ताद्यशोभनम्।
भूतमुक्तावलीतन्तुं चिन्मात्रमवलोकयेत्॥23॥
उपादेयानुपतनं हेयैकान्तविसर्जनम्।
यदेतन्मनसो रूपं तद्बाह्यं विद्धि नेतरत्॥24॥
गुरुशास्त्रोक्तमार्गेण स्वानुभूत्या च चिद्घने।
ब्रह्मैवाहमिति ज्ञात्वा वीतशोको भवेन्मुनिः॥25॥

बुद्धिमान मनुष्य को चाहिए कि वह किसी सज्जन के साथ बैठकर प्रयत्नपूर्वक सदा यह विचार किया ही करे कि 'मैं कौन हूँ ?' और 'यह संसाररूपी मलिनता कैसे आकर फैल गई है ?' बुद्धिमान मनुष्य को कभी किसी अकर्म के साथ अपने को जोड़ना नहीं चाहिए। किसी अनार्य के साथ कभी बसना नहीं चाहिए। और सर्वसंहारक मृत्यु के प्रति उपेक्षाभाव से नहीं देखना चाहिए। हड्डी, मांस, लहू आदि से अपवित्र बने हुए देह का त्याग करके, जिस प्रकार मोती की माला में सूत्र अनस्यूत होता है, वैसे ही सभी प्राणियों में चैतन्य का ही अनुस्यूत रूप से दर्शन करना चाहिए। यह बाह्य रूप जो है वह हमें ग्रहण करने योग्य लगता है, वह मानो अपना ग्रहण करवाने के लिए हमारे पीछे पड़ा हुआ है, परन्तु वास्तव में तो वह त्याग करने लायक ही है। यह बाह्यरूप और कुछ नहीं, केवल हमारा मन ही है, ऐसा मानना चाहिए। गुरु और शास्त्र के द्वारा कथित मार्ग पर तथा अपने अनुभवों पर आधार रखकर केवल चैतन्य में ही 'मैं ब्रह्म हूँ'—ऐसी भावना (ज्ञान) कर के मुनि को शोकरहित होना चाहिए।

यत्र निशितासिशतपातनमुत्पलताडनवत्सोढव्यम्, अग्निदाहो हिमसेचनमिव, अङ्गारावर्तनं चन्दनचर्चेव, निरवधिनाराचविकिरपातो निदाघविनोदनधारागृहशीकरवर्षणमिव, स्वशिरश्छेदः सुखनिद्रेव, मूकीकरणमाननमुद्रेव, बाधिर्यं महानुपचय इवेदं नावहेलनया भवितव्यम्, एवं दृढवैराग्याद्बोधो भवति॥25-1॥

हे निदाघ! तीक्ष्ण तलवार के सैंकड़ों प्रहार यदि हों, तो उन्हें कमलप्रहार मान कर सहन करना चाहिए। अग्नि के दाह को भी उसी तरह शीतल सिंचन मानना चाहिए। जलते हुए अंगारे का छूना भी चन्दनलेप के समान मानना चाहिए। अनेक बाणों की वर्षा को भी शान्तिदायक फव्वारे की तरह (फव्वारे के जल-बिन्दुओं के वर्षण के समान) मानना चाहिए। किसी के द्वारा मस्तक के काटे जाने पर उसे सुखपूर्ण निद्रा मानना चाहिए। यदि कोई मुख बन्द कर दे तो उसे 'आननमुद्रा' समझ लेना चाहिए। यदि कोई बधिर बना दे तो उसे बड़ी उन्नति समझना चाहिए। परन्तु उसके प्रति तिरस्कार-दृष्टि नहीं रखनी चाहिए। ऐसे दृढ वैराग्य से ज्ञान उत्पन्न होता है।

गुरुवाक्यसमुद्भूतस्वानुभूत्यादिशुद्धया।
यस्याभ्यासेन तेनात्मा सततं चावलोक्यते॥26॥
विनष्टदिग्भ्रमस्यापि यथापूर्वं विभाति दिक्।
तथा विज्ञानविध्वस्तं जगन्नास्तीति भावय॥27॥
न धनान्युपकुर्वन्ति न मित्राणि न बान्धवाः।
न कायक्लेशवैधुर्यं न तीर्थायतनाश्रयः।
केवलं तन्मनोमात्रमयेनासाद्यते पदम्॥28॥

गुरु के वाक्यों से उत्पन्न हुए स्वानुभव से और अन्य विशुद्धियों के साथ अभ्यास सतत करते रहने से आत्मा के दर्शन किए जा सकते हैं। किसी मनुष्य को यदि दिशाभ्रम हो गया हो और बाद में उसके हट जाने से जैसे उसे पहले की ही तरह दिशाएँ दिखाई देती हैं, ठीक उसी प्रकार जब विज्ञान के द्वारा जगत् का नाश होता है, तब तुम 'जगत् है ही नहीं'—ऐसा जान सकोगे। अर्थात् तब तुम्हें आत्मदर्शन होगा। परमपद को प्राप्त करने में धन, मित्र, बान्धव, शरीर का क्लेश, शरीर का सुख और तीर्थस्थानों का सेवन—ये सब किसी भी काम के नहीं हो सकते। मन को केवल तन्मय बनाने से ही इस परमपद को प्राप्त किया जा सकता है।

यानि दुःखानि या तृष्णा दुःसहा ये दुराधयः।
शान्तचेतःसु तत् सर्वं तमोऽर्केष्विव नश्यति॥29॥
मातरीव परं यान्ति विषमाणि मृदूनि च।
विश्वासमिह भूतानि सर्वाणि शमशालिनि॥30॥
न रसायनपानेन न लक्ष्म्यालिङ्गितेन च।
न तथा सुखमाप्नोति शमेनान्तर्यथा जनः॥31॥

जिन मनुष्यों के मन शान्त हो गए होते हैं, उनके दुःख, उनकी दुःसह तृष्णा और दुष्ट मानसिक पीड़ाएँ—ये सब, जैसे सूर्य के दर्शनमात्र से अन्धकार नष्ट हो जाता है, वैसे ही नष्ट हो जाते हैं। क्रूर और सोम्य—दोनों स्वभाव वाले प्राणी इस शमयुक्त मनुष्य पर ऐसा परम विश्वास रखते हैं जैसे मनुष्य अपनी माता पर विश्वास रखता है। मनुष्य शम के द्वारा जैसा सुख प्राप्त कर सकता है, ऐसा सुख किसी रसायन के पीने से या लक्ष्मी के आलिंगन से नहीं प्राप्त किया जा सकता।

श्रुत्वा स्पृष्ट्वा च भुक्त्वा च दृष्ट्वा ज्ञात्वा शुभाशुभम्।
न हृष्यति ग्लायति यः स शान्त इति कथ्यते॥32॥
तुषारकरबिम्बाच्छं मनो यस्य निराकुलम्।
मरणोत्सवयुद्धेषु स शान्त इति कथ्यते॥33॥
तपस्विषु बहुज्ञेषु याजकेषु नृपेषु च।
बलवत्सु गुणाढ्येषु शमवानेव राजते॥34॥

जो मनुष्य किसी भी शुभ या अशुभ को सुनकर, छूकर, भोगकर, देखकर या जानकर न तो हर्षित होता है, न वह ग्लानि को ही प्राप्त करता है, वह शान्त कहा जाता है। मरण में, उत्सव में अथवा युद्ध में भी जिस मनुष्य का चित्त चन्द्र के बिम्ब जैसा स्वच्छ और व्यग्रतारहित रहता हो, वह शान्त कहलाता है। जो लोग तपस्वी हैं, बहुत ज्ञानी हैं, यज्ञ करने-कराने वाले हैं, राजा हैं, बलवान हैं, गुणवान हैं, उन सभी में शम गुण वाला ही अधिक प्रकाशित होता है।

सन्तोषामृतपानेन ये शान्तास्तृप्तिमागताः ।
आत्मारामा महात्मानस्ते महापदमागताः ॥35॥
अप्राप्तं हि परित्यज्य सम्प्राप्ते समतां गतः ।
अदृष्टखेदाखेदो यः सन्तुष्ट इति कथ्यते ॥36॥
नाभिनन्दत्यसम्प्राप्तं प्राप्तं भुङ्क्ते यथेप्सितम् ।
यः स सौम्यसमाचारः सन्तुष्ट इति कथ्यते ॥37॥
रमते धीर्यथाप्राप्ते साध्वीवान्तःपुराजिरे ।
सा जीवन्मुक्ततोदेति स्वरूपानन्ददायिनी ॥38॥

जो महात्मा लोग संतोषरूपी अमृत को पीकर तृप्त हो गए हों, और अपने आत्मा में ही रमण करने वाले हों, वे महापद को प्राप्त कर ही चुके हैं। जिस मनुष्य ने अप्राप्त को (नहीं मिले हुए पदार्थ को) छोड़ दिया हो, अर्थात् जो वस्तु नहीं मिली है, उसे प्राप्त करने के लिए किसी भी प्रकार का प्रयत्न ही नहीं किया है और प्राप्त वस्तु में जिसका समभाव हो (हर्ष या शोक कुछ न हो) और जिसने हर्ष या शोक कभी देखा ही न हो, वह सन्तुष्ट कहा जाता है। जो मनुष्य अप्राप्त वस्तु को प्राप्त करने के लिए किसी प्रकार की आतुरता न रखता हो और प्राप्त वस्तु को इच्छानुसार (योग्य रीति से) भोगता हो, और जिसका आचार सौम्य और शिष्ट हो, वह संतुष्ट कहलाता है। अन्तःपुर के आंगन में जैसे पतिव्रता स्त्री आनन्दित रहती है, उसी प्रकार यदृच्छाप्राप्त में जिसकी बुद्धि प्रसन्न रहती है, उसी में स्वरूपानन्ददायिनी ऐसी जीवन्मुक्तता का उदय होता है।

यथाक्षणं यथाशास्त्रं यथादेशं यथासुखम् ।
यथासंभवसत्सङ्गमिमं मोक्षपथक्रमम् ।
तावद्विचारयेत् प्राज्ञो यावद्विश्रान्तमात्मनि ॥39॥
तुर्यविश्रान्तियुक्तस्य निवृत्तस्य भवार्णवात् ।
जीवतोऽजीवतश्चैव गृहस्थस्याथवा यतेः ॥40॥
नाकृतेन कृतेनार्थो न श्रुतिस्मृतिविभ्रमैः ।
निर्मन्दर इवाम्भोधिः स तिष्ठति यथास्थितः ॥41॥

समय के अनुसार और शास्त्रों के अनुसार तथा देश के अनुसार जिस प्रकार से सुख हो, इस प्रकार से वर्तन करना चाहिए, और यथासंभव सत्संग भी करना चाहिए। यह मोक्षमार्ग का क्रम है। जहाँ तक आत्मा में विश्रान्ति (शान्ति) हो जाए, वहाँ तक बुद्धिमान मनुष्य को आत्मतत्त्व का विचार करते रहना चाहिए। परन्तु जिसको तुरीय अवस्था रूप विश्रान्ति मिल चुकी हो और संसारसागर से जो निवृत्त हो गया हो, ऐसे मनुष्य को जीते या मरते, गृहस्थ जीवन में या संन्यासी जीवन में वेदोक्त कर्तव्य या धर्मशास्त्रोक्त कर्तव्य करने से या नहीं करने से कोई फल प्राप्त नहीं होता। वह तो मन्दराचलरहित सागर की तरह (क्षुब्ध हुए बिना ही) अपनी जैसी मूल स्थिति है, उसी में सदा रहता है (ज्ञानी के लिए कुछ भी करने या न करने का है ही नहीं)।

सर्वात्मवेदनं शुद्धं यदोदेति तदात्मकम् ।
भाति प्रसृतिदिक्कालबाह्यं चिद्रूपदेहकम् ॥42॥
एवामात्मा यथा यत्र समुल्लासमुपागतः ।
तिष्ठत्याशु तथा तत्र तद्रूपश्च विराजते ॥43॥

तुम्हें जब, 'यह सब आत्मा ही है'—ऐसा ज्ञान (शुद्ध अनुभवजन्य ज्ञान) प्राप्त होगा, तब तुम्हारा अपना देह भी तुम्हें देश-काल-दिशाओं आदि से बाहर ही दिखेगा। देशकालातीत चैतन्यरूप ही दिखाई देगा। जब ऐसा आत्मस्वरूप प्रस्फुटित हो जाता है, तब तुरन्त उसी स्वरूप में मनुष्य प्रकाशित हो उठता है।

यदिदं दृश्यते सर्वं जगत् स्थावरजङ्गमम् ।
तत् सुषुप्ताविव स्वप्नः कल्पान्ते प्रविनश्यति ॥44॥
ऋतमात्मा परं ब्रह्म सत्यमित्यादिका बुधैः ।
कल्पिता व्यवहारार्थं यस्य संज्ञा महात्मनः ॥45॥
यथा कटकशब्दार्थः पृथग्भावो न काञ्चनात् ।
न हेम कटकात्तद्वज्जगच्छब्दार्थता परा ॥46॥

यह सचराचर जगत् जो दिखाई दे रहा है, वह सब सुषुप्ति में आए हुए स्वप्न की भाँति सृष्टि के अन्त में संपूर्ण रूप से नष्ट हो जाता है। ऋत, आत्मा, परब्रह्म, सत्य आदि महान् आत्मा की जो संज्ञाएँ हैं, वे तो केवल व्यवहार के लिए ही पंडितों के द्वारा कल्पित की गई हैं। जैसे 'कङ्कण' इस शब्द का अर्थ सोने से कोई अलग नहीं होता और 'कङ्कण' कोई सोने से अलग पदार्थ नहीं है, ठीक इसी तरह ब्रह्म कोई जगत् से भिन्न (अलग) नहीं है। इसी तरह जगत् भी ब्रह्म से कोई अलग वस्तु नहीं है।

तेनेयमिन्द्रजालश्रीर्जगति प्रवितन्यते ।
द्रष्टुर्दृश्यस्य सत्ताऽन्तर्बन्ध इत्यभिधीयते ॥47॥
द्रष्टा दृश्यवशाद्बद्धो दृश्याभावे विमुच्यते ।
जगत्त्वमहमित्यादिसर्गात्मा दृश्यमुच्यते ॥48॥
मनसैवेन्द्रजालश्रीर्जगति प्रवितन्यते ।
यावदेतत् संभवति तावन्मोक्षो न विद्यते ॥49॥

आत्मा ने ही जगत् में इस इन्द्रजाल की शोभा बढ़ाई है और द्रष्टा के अन्तर में दृश्य की जो 'सत्ता' होती है, उसी का नाम बन्धन है। द्रष्टा दृश्य के कारण ही बन्धन में पड़ा है। दृश्य का अभाव होते ही वह मुक्त हो जाता है। यह 'जगत्', 'तू' और 'मैं' इत्यादि सृष्टि का स्वरूप दृश्य कहा जाता है। सिर्फ मन के कारण ही इस इन्द्रजाल की शोभा जगत् में फैलती है। जहाँ तक यह मन है, वहाँ तक मोक्ष नहीं है (अर्थात् मोक्ष की आशा तक नहीं की जा सकती)।

ब्रह्मणा तन्यते विश्वं मनसैव स्वयंभुवा ।
मनोमयमतो विश्वं यन्नाम परिदृश्यते ॥50॥
न बाह्ये नापि हृदये सद्रूपं विद्यते मनः ।
यदर्थं प्रतिभानं तन्मन इत्यभिधीयते ॥51॥
सङ्कल्पनं मनो विद्धि सङ्कल्पस्तत्र विद्यते ।
यत्र सङ्कल्पनं तत्र मनोऽस्तीत्यवगम्यताम् ॥52॥
सङ्कल्पमनसी भिन्ने न कदाचन केनचित् ।
सङ्कल्पजाते गलिते स्वरूपमवशिष्यते ॥53॥

मन ही तो स्वयंभू (ब्रह्मा) है। और वही विश्व का विस्तरण करता है। इसीलिए तो विश्व मनोमय है। और मन ही विश्व के नाम से दिखाई पड़ रहा है। वास्तविक दृष्टि से देखा जाए तो भीतर या बाहर कहीं भी मन की सत्ता है ही नहीं। सत्तारूप से कहीं मन है ही नहीं। परन्तु, विषय के प्रति विषयाकार रूप से जो भान होता है उसे ही मन कहा जाता है। संकल्पों का उत्पन्न होना मन है। उसी मन में ही ये संकल्प रहते हैं, ऐसा तुम्हें समझना चाहिए। और भी जिसमें संकल्प होते हैं, वह मन है ऐसा समझना चाहिए। संकल्प और मन किसी भी प्रकार अलग हैं ही नहीं, न किसी कारण से या न किसी काल में ही वे अलग हो सकते हैं। क्योंकि संकल्पों के समूह जब विनष्ट हो जाते हैं, तब तो केवल स्वरूप ही शेष रह जाता है।

अहं त्वं जगदित्यादौ प्रशान्ते दृश्यसंभ्रमे।
स्यात्तादृशी केवलता दृश्ये सत्तामुपागते ॥54॥
महाप्रलयसंपत्तौ ह्यसत्तां समुपागते।
अशेषदृश्ये सर्गादौ शान्तमेवावशिष्यते ॥55॥
अस्त्यनस्तमितो भास्वानजो देवो निरामयः।
सर्वदा सर्वकृत् सर्वः परमात्मेत्युदाहृतः ॥56॥
यतो वाचो निवर्तन्ते यो मुक्तैरवगम्यते।
यस्य चात्मादिकाः संज्ञाः कल्पिता न स्वभावतः ॥57॥

जब 'मैं' 'तू' और 'जगत्' की भ्रान्ति (दृश्य की भ्रान्ति) एकदम प्रशान्त हो जाती है, तुरन्त ही कैवल्य की स्थिति का अनुभव किया जाता है। जैसे पहले दृश्य की असत्ता के समय में कैवल्य की सत्ता है, दृश्य के नाश के बाद भी वैसी ही सत्ता होती है। सृष्टि के प्रारंभ में तो सब दृश्य दिखाई ही पड़ता है, परन्तु, जब महाप्रलय होता है, तब तो सब दृश्य 'असत्ता' को प्राप्त हो जाता है। और तब केवल आत्मा ही शान्त रूप से शेष रह जाता है। वही अजन्मा देव किसी काल में भी अस्त नहीं होने वाला निर्दोष सूर्य है और वही सर्वकाल में सर्वकर्ता सर्वस्वरूप परमात्मा है। उस परमात्मा से वाणी उसे पाए बिना वापस लौट जाती है। उस परमात्मा को मुक्त पुरुष ही पहचान पाते हैं। उसकी 'आत्मा' जैसी संज्ञाएँ (नाम) तो कल्पित ही हैं। वे संज्ञाएँ वास्तविक नहीं है। उसे ही परमात्मा कहा जाता है।

चित्ताकाशं चिदाकाशमाकाशं च तृतीयकम्।
द्वाभ्यां शून्यतरं विद्धि चिदाकाशं महामुने ॥58॥
देशाद्देशान्तरप्राप्तौ संविदो मध्यमेव यत्।
निमेषेण चिदाकाशं तद्विद्धि मुनिपुङ्गव ॥59॥
तस्मिन् निरस्तनिःशेषसंकल्पस्थितिमेषि चेत्।
सर्वात्मकं पदं शान्तं तदा प्राप्नोष्यसंशयः ॥60॥

हे महामुनि! चित्त-आकाश, चैतन्य-आकाश और तीसरा आकाश—ऐसे तीन आकाश होते हैं। उनमें जो चैतन्य आकाश है, वह अन्य दो आकाशों से बिल्कुल ही रहित है, ऐसा तुम समझो। हे श्रेष्ठ मुनि! एक देश से अन्य देश में जाने का जो ज्ञान है, उस ज्ञान के मध्य में जो आकाश रहता है, और जो आँख के एक पलक के समय में जहाँ जाना हो, वहाँ जा सकता है, वह चैतन्याकाश है, ऐसा तुम समझो। तुम जब सभी संकल्पों को छोड़कर उस चैतन्याकाश में ही निवास करने लगोगे, तब सर्व के आत्मस्वरूप उस आत्मा को तुम प्राप्त करोगे। इसमें किसी प्रकार का सन्देह नहीं है। यह सर्वात्मा का पद शान्त है, वही परमपद है।

उदितौदार्यसौन्दर्यवैराग्यरसगर्भिणी।
आनन्दस्यन्दिनी यैषा समाधिरभिधीयते ॥61॥
दृश्यासंभवबोधेन रागद्वेषादितानवे।
रतिर्बलोदिता याऽसौ समाधिरभिधीयते ॥62॥
दृश्यासंभवबोधो हि ज्ञानं ज्ञेयं चिदात्मकम्।
तदेव केवलीभावं ततोऽन्यत् सकलं मृषा ॥63॥

जिसमें उदारता, सुन्दरता और वैराग्य का रस प्रकट होकर बह रहा हो और जो उस आनन्द-रस को बहाती हो उसे ही समाधि कहा जाता है। जिसमें दृश्य की सत्ता से रहित केवल ज्ञान ही हो और इस प्रकार के केवल ज्ञान के कारण जिसमें राग, द्वेष आदि अत्यन्त ही क्षीण हो गए हों, और जिसका स्वरूप अभ्यास बल से उत्पन्न हुआ आनन्द ही हो, उसे ही 'समाधि' कहा जाता है। दृश्य की सत्ता से रहित ज्ञान ही सच्चा ज्ञान है। वही चैतन्य का स्वरूप है। वही केवलीभाव है (कैवल्य की स्थिति है)। शेष सब कुछ मिथ्या ही है।

मत्त ऐरावतो बद्धः सर्षपीकोणकोटरे।
मशकेन कृतं युद्धं सिंहौघैरणुकोटरे ॥64॥
पद्माक्षे स्थापितो मेरुर्निगीर्णो भृङ्गसूनुना।
निदाघ विद्धि तादृक् त्वं जगदेतद्भ्रमात्मकम् ॥65॥

हे निदाघ! सरसों के दाने के एक छोटे कोने में (एकदम ही छोटी जगह में) मानो ऐरावत हाथी बाँध दिया हो! (बिल्कुल ही असंभव है) और मानो परमाणु के एक भाग में किसी मच्छर के साथ सिंहों की टोली का युद्ध हो गया हो! (बहुत ही असंभव है।) और भी मानो कमलबीज पर मेरुपर्वत की स्थापना की गई हो और उस पर्वत को भ्रमर के बच्चे ने निगल लिया हो! (कितनी बेहूदी और असंभव बात!) तो इसी प्रकार की बातें जैसे भ्रान्तिपूर्ण ही हैं, उसी प्रकार से यह जगत् भी भ्रान्तिमय ही है।

चित्तमेव हि संसारो रागादिक्लेशदूषितम्।
तदेव तैर्विनिर्मुक्तं भवान्त इति कथ्यते ॥66॥
मनसा भाव्यमानो हि देहतां याति देहकः।
देहवासनया मुक्तो देहधर्मैर्न लिप्यते ॥67॥
कल्पं क्षणीकरोत्यन्तः क्षणं नयति कल्पताम्।
मनोविलासः संसार इति मे निश्चिता मतिः ॥68॥
नाविरतो दुश्चरितान्नाशान्तो नासमाहितः।
नाशान्तमनसो वाऽपि प्रज्ञानेनैनमाप्नुयात् ॥69॥

रोग या राग से भरा हुआ चित्त ही संसार कहा जाता है। चित्त उन रागादि से रहित (शून्य) हो जाए, वही संसार का अन्त है, वही मोक्ष है, ऐसा कहा जाता है। मन से देह की भावना किये जाने पर ही यह देह उत्पन्न होता है (अर्थात् देह केवल एक भावना अथवा कल्पना ही है) परन्तु देह की वासना (भावना) ही मन से छूट जाए तो फिर मनुष्य देह के धर्मों से लिप्त नहीं होता। मन तो एक कल्प बराबर काल को एक क्षण बना देता है, और क्षण को भी कल्प बना देता है। इस प्रकार मन का यह विलास ही संसार है, ऐसा मैं निश्चित बुद्धि से (प्रतीतिपूर्वक) मान रहा हूँ। जो मनुष्य अपने दुराचारों से अभी छूटा नहीं है, जिसने अपनी अशान्ति को अभी तक छोड़ा नहीं है, जो समाधिनिष्ठ

नहीं हो पाया है, और जिसका मन अभी शान्त नहीं हो सका है, वह केवल ज्ञान से (जानकारीरूप ज्ञान से) आत्मा को प्राप्त नहीं कर सकता।

तद्ब्रह्मानन्दमद्वन्द्वं निर्गुणं सत्यचिद्घनम्।
विदित्वा स्वात्मनो रूपं न बिभेति कदाचन ॥70॥
परात्परं यन्महतो महान्तं स्वरूपतेजोमयशाश्वतं शिवम्।
कविं पुराणं पुरुषं सनातनं सर्वेश्वरं सर्वदेवैरुपास्यम् ॥71॥
अहं ब्रह्मेति नियतं मोक्षहेतुर्महात्मनाम्।
द्वे पदे बन्धमोक्षाय निर्ममेति ममेति च।
ममेति बध्यते जन्तुर्निर्ममेति विमुच्यते ॥72॥

अपने आत्मा का पारमार्थिक स्वरूप तो ब्रह्मानन्दमय, द्वन्द्वों से रहित, निर्गुण, सत्य और चैतन्यमय है, ऐसा जानकर मनुष्य कभी डरता नहीं है। जो तत्त्व परे से भी परे, बड़े से भी बड़ा, स्वरूप में तेजोमय, सनातन, मंगलमय, विद्वन्मय, पुराने से भी पुराना, पुरुषस्वरूप, शाश्वत और सर्व का नियामक है, वही सभी देवों के लिए भी उपासना के योग्य है। 'मैं ब्रह्म हूँ'—इस प्रकार का जो निश्चित ज्ञान है वह ज्ञान महात्माओं के मोक्ष का कारण बनता है। बन्धन और मोक्ष के लिए दो ही शब्द हैं। 'ममता' शब्द बन्धन के लिए है और 'ममताराहित्य' शब्द मोक्ष के लिए होता है। 'मेरा' ऐसा मानने से प्राणी बन्धन में पड़ता है और 'मेरा नहीं है'—ऐसा मानने से वह मुक्त होता है।

जीवेश्वरादिरूपेण चेतनाचेतनात्मकम्।
ईक्षणादिप्रवेशान्ता सृष्टिरीशेन कल्पिता।
जाग्रदादिविमोक्षान्तः संसारो जीवकल्पितः ॥73॥
त्रिणाचिकादियोगान्ता ईश्वरभ्रान्तिमाश्रिताः।
लोकायतादिसांख्यान्ता जीवविभ्रान्तिमाश्रिताः ॥74॥
तस्मान्मुमुक्षुभिर्नैव मतिर्जीवेशवादयोः।
कार्या किन्तु ब्रह्मतत्त्वं निश्चलेन विचार्यताम् ॥75॥

यह जडचेतनमय जगत् जो जीव और ईश्वर आदि के रूप में ही केवल भासित होता है। इसमें विषय के दर्शन से लेकर उसमें प्रवेश करने तक की सारी सृष्टि ईश्वर के द्वारा ही कल्पित हुई है और जाग्रत् अवस्था से लेकर मोक्ष तक का संसार जीव के द्वारा कल्पित हुआ है। त्रिणाचिक (त्रिणाचिकेताग्नि कठोपनिषद् में वर्णित है) से लेकर योग तक के सभी शास्त्र ईश्वर की भ्रान्ति में पड़े हैं और लोकायत से लेकर सांख्य तक के सभी शास्त्र जीव की भ्रान्ति में पड़े हुए हैं। इसलिए मुमुक्षुओं को जीव और ईश्वर के वादविवाद में बुद्धि लगानी ही नहीं चाहिए। परन्तु निश्चल होकर केवल ब्रह्मतत्त्व का ही विचार करना चाहिए।

अविशेषेण सर्वं तु यः पश्यति चिदन्वयात्।
स एव साक्षाद्विज्ञानी स शिवः स हरिर्विधिः ॥76॥
दुर्लभो विषयत्यागो दुर्लभं तत्त्वदर्शनम्।
दुर्लभा सहजावस्था सद्गुरोः करुणां विना ॥77॥
उत्पन्नशक्तिबोधस्य त्यक्तनिःशेषकर्मणः।
योगिनः सहजावस्था स्वयमेवोपजायते ॥78॥

सर्वत्र चैतन्य का ही सम्बन्ध होने से जो मनुष्य सबको समान चैतन्यमय देखता है, वही साक्षात् विज्ञानी है, वही शंकर है, वही विष्णु है और वही ब्रह्मा है। सद्गुरु की कृपा के बिना विषयों का त्याग करना दुर्लभ है, तत्त्वपदार्थ का दर्शन दुर्लभ है, और सहज आत्मस्वरूप की अवस्था भी दुर्लभ ही है। जिसने सभी कर्मों को छोड़ दिया हो, ऐसे योगी में ज्ञान की शक्ति उत्पन्न होती है। उसमें आप ही आप सहज रूप से सहजावस्था प्राप्त हो जाती है।

यदा ह्येवैष एतस्मिन्नल्पमप्यन्तरं नरः।
विजानाति तदा तस्य भयं स्यान्नात्र संशयः ॥79॥
सर्वगं सच्चिदानन्दं ज्ञानचक्षुर्निरीक्षते।
अज्ञानचक्षुर्नेक्षेत भास्वन्तं भानुमन्धवत् ॥80॥
प्रज्ञानमेव तद्ब्रह्म सत्यप्रज्ञानलक्षणम्।
एवं ब्रह्मपरिज्ञानादेव मर्त्योऽमृतो भवेत् ॥81॥
भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे ॥82॥

जब मनुष्य अपने आत्मस्वरूप के बारे में थोड़ा-सा भी अन्तर (भिन्नता) जानता है, तब उसे संसार से भय होने लगता है, इसमें कोई सन्देह नहीं है। ज्ञानदृष्टि वाला मनुष्य तो सच्चिदानन्दस्वरूप परमात्मा को सर्वत्र व्याप्त ही देखता है। परन्तु जो अज्ञान दृष्टिवाला पुरुष है, वह जैसे कोई अन्धा आदमी सूर्य को नहीं देख सकता, वैसे आत्मतत्त्व (की सर्वव्यापकता) को देख नहीं पाता। इसलिए प्रज्ञान, अर्थात् उत्तम ज्ञान ही ब्रह्म है और इसीलिए सत्य और प्रज्ञान को ब्रह्म का लक्षण कहा जाता है। इस तरह के ब्रह्म के पूर्ण ज्ञान से मनुष्य अमर हो जाता है। जब उस परात्पर परमात्मा के दर्शन हो जाते हैं तब ही ज्ञानी के हृदय की गाँठ टूट जाती है, उसके सभी संशय छिन्न हो जाते हैं—कट जाते हैं और उसके सभी कर्म नष्ट हो जाते हैं।

अनात्मतां परित्यज्य निर्विकारो जगत्स्थितौ।
एकनिष्ठतयाऽन्तःस्थः संविन्मात्रपरो भव ॥83॥
मरुभूमौ जलं सर्वं मरुभूमात्रमेव तत्।
जगत्त्रयमिदं सर्वं चिन्मात्रं स्वविचारतः ॥84॥
लक्ष्यालक्ष्यमतिं त्यक्त्वा यस्तिष्ठेत् केवलात्मना।
शिव एव स्वयं साक्षादयं ब्रह्मविदुत्तमः ॥85॥
अधिष्ठानमनौपम्यमवाङ्मनसगोचरम्।
नित्यं विभुं सर्वगतं सुसूक्ष्मं च तदव्ययम् ॥86॥
सर्वशक्तेर्महेशस्य विलासो हि मनो जगत्।
संयमासंयमाभ्यां च संसारं शान्तिमन्वगात् ॥87॥

इसलिए अनात्मभाव का त्याग करके जगत् की स्थिति में तुम निर्विकार हो जाओ और एकनिष्ठता से अंतस् में (भीतर में) ही स्थिति करके केवल ज्ञान परायण ही हो जाओ। जिस प्रकार किसी निर्जल प्रदेश में दिखाई देने वाला (भ्रान्ति से मृगमरीचिका में दिखाई देने वाला) जल केवल निर्जल प्रदेश रूप ही है, ठीक उसी प्रकार आत्मविचार से यह सारा त्रिभुवन (तीनों लोक) केवल चैतन्य ही है। ब्रह्मज्ञानियों में श्रेष्ठ जो पुरुष, लक्ष्य और अलक्ष्य के विचारों को छोड़कर केवल आत्मस्वरूप

में ही अवस्थित रहता है, वह स्वयं साक्षात् शिव ही होता है। इसलिए जो सर्व का आश्रयरूप है, जो उपमारहित है, जो वाणी और मन का विषय ही नहीं बनता, जो नित्य, व्यापक, सर्वगामी, अतिसूक्ष्म और निर्विकार है, उस आत्मस्वरूप का ही ध्यान करना चाहिए। मन ही जगत् है और वह सर्वशक्तिमान महेश्वर का एक विलास है। मन का संयम नहीं करने से संसार होता है पर मन का संयम करने से संसार शान्त हो जाता है।

मनोव्याधेश्चिकित्सार्थमुपायं कथयामि ते।
यद्यत् स्वाभिमतं वस्तु तत्त्यजन् मोक्षमश्नुते ॥88॥
स्वायत्तमेकान्तहितं स्वेप्सितत्यागवेदनम्।
यस्य दुष्करतां यातं धिक् तं पुरुषकीटकम् ॥89॥
स्वपौरुषैकसाध्येन स्वेप्सितत्यागरूपिणा।
मनःप्रशममात्रेण विना नास्ति शुभा गतिः ॥90॥
असङ्कल्पनशस्त्रेण छिन्नं चित्तमिदं यदा।
सर्वं सर्वगतं शान्तं ब्रह्म संपद्यते तदा ॥91॥

मन एक रोग है। मैं अब इस मनोरोग के लिए एक चिकित्सा बताता हूँ। जो-जो वस्तु हमें अच्छी लगती हों उनका त्याग कर देना चाहिए। ऐसा त्याग करने वाला मोक्ष को प्राप्त होता है। आत्मवस्तु का ज्ञान तो अपने ही हाथ की बात है, और वही परमहितकारी भी है। इच्छित वस्तु के त्याग से आत्मवस्तु का अनुभव भी हो सकता है। ऐसा होने पर भी जो मनुष्य उसे दुष्कर है, ऐसा अनुभव करता है, तो ऐसे मनुष्यरूपी कीड़े को धिक्कार है। जो शुभगति केवल अपने पुरुषार्थ के द्वारा [illegible] साध्य हो सकती है, उसका एकमात्र उपाय इच्छित वस्तु का त्याग ही है, और मन के अत्यंत शम के बिना तो वह शुभ गति प्राप्त नहीं हो सकती। असंकल्परूप शस्त्र से जब यह मन कट जाता है तब मनुष्य सर्वस्वरूप, सर्वव्यापक और शान्त ब्रह्मरूप ही बन जाता है।

भवभावनया मुक्तो युक्तः परमया धिया।
धारयात्मानमव्यग्रो ग्रस्तचित्तं चितः पदम् ॥92॥
परं पौरुषमाश्रित्य नीत्वा चित्तमचित्तताम्।
ध्यानतो हृदयाकाशे चिति चिच्चक्रधारया।
मनो मारय निःशङ्कं त्वां प्रबध्नन्ति नारयः ॥93॥
अयं सोऽहमिदं तन्मे एतावन्मात्रकं मनः।
तदभावनमात्रेण दात्रेणेव विलीयते ॥94॥
छिन्नाभ्रमण्डलं व्योम्नि यथा शरदि धूयते।
वातेनाकल्पकेनैव तथाऽन्तर्धूयते मनः ॥95॥

परम श्रेष्ठ बुद्धिपूर्वक तुम इस संसार की भावना से मुक्त हो जाओ और व्यग्रतारहित चित्त से अपने आत्मा को परम चैतन्य के स्थान में धारण कर लो। क्योंकि ऐसी धारणा तुम्हारे चित्त को निगल जाएगी। बड़े भारी पुरुषार्थ का अवलम्बन करके तुम अपने 'चित्त' को 'अचित्त' की अवस्था में ले जाओ। और बाद में हृदयाकाश में (जो कि चैतन्यमय [illegible]) ध्यान करके उस चैतन्य चक्र की धार से अपने मन को [illegible] वह है और यह मैं हूँ [illegible] मन को निःसन्देहरूप [illegible]

अभाव' रूपी हँसिये से (गड़ासे से) ही कट जाता है। शरद् ऋतु के आकाश में वायुरूपी छेदन यंत्र के द्वारा छिन्न-भिन्न किए हुए बादल जैसे बिखर जाते हैं, इसी प्रकार साधक के द्वारा हृदय में काटा गया मन बिखर जाता है।

कल्पान्तपवना वान्तु यान्तु चैकत्वमर्णवाः।
तपन्तु द्वादशादित्या नास्ति निर्मनसः क्षतिः ॥96॥
असंकल्पनमात्रैकसाध्ये सकलसिद्धिदे।
असंकल्पातिसाम्राज्ये तिष्ठावष्टब्धतत्पदः ॥97॥
न हि चञ्चलताहीनं मनः क्वचन दृश्यते।
चञ्चलत्वं मनोधर्मो वह्नेर्धर्मो यथोष्णता ॥98॥
एषा हि चञ्चला स्पन्दशक्तिश्चित्तत्वसंस्थिता।
तां विद्धि मानसीं शक्तिं जगदाडम्बरात्मिकाम् ॥99॥
यत्तु चञ्चलताहीनं तन्मनोऽमृतमुच्यते।
तदेव च तपः शास्त्रसिद्धान्ते मोक्ष उच्यते ॥100॥

भले ही प्रलयकाल के वायु बहें, भले ही सभी समुद्र एकाकार हो जाएँ, भले ही बारहों सूर्य एक साथ तपें, फिर भी मनरहित मनुष्य की कोई हानि नहीं होती। चञ्चलतारहित मन किसी भी समय में देखा नहीं जाता। क्योंकि जिस प्रकार उष्णता अग्नि का धर्म है उसी प्रकार चंचलता मन का धर्म है। यह चंचलता (स्पन्दनशक्ति) ही 'चित्तता' के रूप में रहती है। और वही मानसी शक्ति इस जगत् के आडम्बर के रूप में दिखाई देती है, ऐसा तुम समझो। संकल्पों का अभाव तो एक बड़ा साम्राज्य ही है और वह तो केवल संकल्परहित होने से ही सिद्ध हो सकता है। वही सम्पूर्ण सिद्धियों का देने वाला भी है। इसलिए 'संकल्पराहित्य' रूप पद का आश्रय करके तुम उस राज्य में स्वयं को स्थिर कर लो। जो चंचलतारहित मन है, वही अमृत है, वही तप है और शास्त्रों में उसी को मोक्ष कहा गया है।

तस्य चञ्चलता यैषा त्वविद्या वासनात्मिका।
वासनाऽपरनाम्नीं तां विचारेण विनाशय ॥101॥
पौरुषेण प्रयत्नेन यस्मिन्नेव पदे मनः।
योज्यते तत् पदं प्राप्य निर्विकल्पो भवानघ ॥102॥
अतः पौरुषमाश्रित्य चित्तमाक्रम्य चेतसा।
विशोकं पदमालम्ब्य निरातङ्कः स्थिरो भव ॥103॥
मन एव समर्थं हि मनसो दृढनिग्रहे।
अराज्ञा कः समर्थः स्याद्राज्ञो निग्रहकर्मणि ॥104॥

इस मन की जो चंचलता है, वही वासनात्मिका अविद्या है। अविद्या का दूसरा [illegible] है। तुम चिन्तन-मनन करके उस वासना को दूर कर दो। हे निष्पाप! [illegible] वासनाक्षय के बाद मन जिस परमपद में प्राप्त होता है, उस [illegible] जाओ। इस तरह पुरुषार्थ का अवलम्बन करके चित्त [illegible] तुम आश्रय कर लो [illegible] ही समर्थ है। राजा का निग्रह करने के लिए [illegible]

नहीं हो पाया है, और जिसका मन अभी शान्त नहीं हो सका है, वह केवल ज्ञान से (जानकारीरूप ज्ञान से) आत्मा को प्राप्त नहीं कर सकता।

तद्ब्रह्मानन्दमद्वन्द्वं निर्गुणं सत्यचिद्घनम्।
विदित्वा स्वात्मनो रूपं न बिभेति कदाचन ॥70॥
परात्परं यन्महतो महान्तं स्वरूपतेजोमयशाश्वतं शिवम्।
कविं पुराणं पुरुषं सनातनं सर्वेश्वरं सर्वदेवैरुपास्यम् ॥71॥
अहं ब्रह्मेति नियतं मोक्षहेतुर्महात्मनाम्।
द्वे पदे बन्धमोक्षाय निर्ममेति ममेति च।
ममेति बध्यते जन्तुर्निर्ममेति विमुच्यते ॥72॥

अपने आत्मा का पारमार्थिक स्वरूप तो ब्रह्मानन्दमय, द्वन्द्वों से रहित, निर्गुण, सत्य और चैतन्यमय है, ऐसा जानकर मनुष्य कभी डरता नहीं है। जो तत्त्व परे से भी परे, बड़े से भी बड़ा, स्वरूप में तेजोमय, सनातन, मंगलमय, विद्वन्मय, पुराने से भी पुराना, पुरुषस्वरूप, शाश्वत और सर्व का नियामक है, वही सभी देवों के लिए भी उपासना के योग्य है। 'मैं ब्रह्म हूँ'—इस प्रकार का जो निश्चित ज्ञान है वह ज्ञान महात्माओं के मोक्ष का कारण बनता है। बन्धन और मोक्ष के लिए दो ही शब्द हैं। 'ममता' शब्द बन्धन के लिए है और 'ममताराहित्य' शब्द मोक्ष के लिए होता है। 'मेरा' ऐसा मानने से प्राणी बन्धन में पड़ता है और 'मेरा नहीं है'—ऐसा मानने से वह मुक्त होता है।

जीवेश्वरादिरूपेण चेतनाचेतनात्मकम्।
ईक्षणादिप्रवेशान्ता सृष्टिरीशेन कल्पिता।
जाग्रदादिविमोक्षान्तः संसारो जीवकल्पितः ॥73॥
त्रिणाचिकादियोगान्ता ईश्वरभ्रान्तिमाश्रिताः।
लोकायतादिसांख्यान्ता जीवविश्रान्तिमाश्रिताः ॥74॥
तस्मान्मुमुक्षुभिर्नैव मतिर्जीवेशवादयोः।
कार्या किन्तु ब्रह्मतत्त्वं निश्चलेन विचार्यताम् ॥75॥

यह जडचेतनमय जगत् जो जीव और ईश्वर आदि के रूप में ही केवल भासित होता है। इसमें विषय के दर्शन से लेकर उसमें प्रवेश करने तक की सारी सृष्टि ईश्वर के द्वारा ही कल्पित हुई है और जाग्रत् अवस्था से लेकर मोक्ष तक का संसार जीव के द्वारा कल्पित हुआ है। त्रिणाचिक (त्रिणाचिकेताग्नि कठोपनिषद् में वर्णित है) से लेकर योग तक के सभी शास्त्र ईश्वर की भ्रान्ति में पड़े हैं और लोकायत से लेकर सांख्य तक के सभी शास्त्र जीव की भ्रान्ति में पड़े हुए हैं। इसलिए मुमुक्षुओं को जीव और ईश्वर के वादविवाद में बुद्धि लगानी ही नहीं चाहिए। परन्तु निश्चल होकर केवल ब्रह्मतत्त्व का ही विचार करना चाहिए।

अविशेषेण सर्वं तु यः पश्यति चिदन्वयात्।
स एव साक्षाद्विज्ञानी स शिवः स हरिर्विधिः ॥76॥
दुर्लभो विषयत्यागो दुर्लभं तत्त्वदर्शनम्।
दुर्लभा सहजावस्था सद्गुरोः करुणां विना ॥77॥
उत्पन्नशक्तिबोधस्य त्यक्तनिःशेषकर्मणः।
योगिनः सहजावस्था स्वयमेवोपजायते ॥78॥

सर्वत्र चैतन्य का ही सम्बन्ध होने से जो मनुष्य सबको समान चैतन्यमय देखता है, वही साक्षात् विज्ञानी है, वही शंकर है, वही विष्णु है और वही ब्रह्मा है। सद्गुरु की कृपा के बिना विषयों का त्याग करना दुर्लभ है, तत्त्वपदार्थ का दर्शन दुर्लभ है, और सहज *आत्मस्वरूप की अवस्था भी दुर्लभ ही है।* जिसने सभी कर्मों को छोड़ दिया हो, ऐसे योगी में ज्ञान की शक्ति उत्पन्न होती है। उसमें आप ही आप सहज रूप से सहजावस्था प्राप्त हो जाती है।

यदा ह्येवैष एतस्मिन्नल्पमप्यन्तरं नरः।
विजानाति तदा तस्य भयं स्यान्नात्र संशयः ॥79॥
सर्वगं सच्चिदानन्दं ज्ञानचक्षुर्निरीक्षते।
अज्ञानचक्षुर्नेक्षेत भास्वन्तं भानुमन्धवत् ॥80॥
प्रज्ञानमेव तद्ब्रह्म सत्यप्रज्ञानलक्षणम्।
एवं ब्रह्मपरिज्ञानादेव मर्त्योऽमृतो भवेत् ॥81॥
भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे ॥82॥

जब मनुष्य अपने आत्मस्वरूप के बारे में थोड़ा-सा भी अन्तर (भिन्नता) जानता है, तब उसे संसार से भय होने लगता है, इसमें कोई सन्देह नहीं है। ज्ञानदृष्टि वाला मनुष्य तो सच्चिदानन्दस्वरूप परमात्मा को सर्वत्र व्याप्त ही देखता है। परन्तु जो अज्ञान दृष्टिवाला पुरुष है, वह जैसे कोई अन्धा आदमी सूर्य को नहीं देख सकता, वैसे आत्मतत्त्व (की सर्वव्यापकता) को देख नहीं पाता। इसलिए प्रज्ञान, अर्थात् उत्तम ज्ञान ही ब्रह्म है और इसीलिए सत्य और प्रज्ञान को ब्रह्म का लक्षण कहा जाता है। इस तरह के ब्रह्म के पूर्ण ज्ञान से मनुष्य अमर हो जाता है। जब उस परात्पर परमात्मा के दर्शन हो जाते हैं तब ही ज्ञानी के हृदय की गाँठ टूट जाती है, उसके सभी संशय छिन्न हो जाते हैं—कट जाते हैं और उसके सभी कर्म नष्ट हो जाते हैं।

अनात्मतां परित्यज्य निर्विकारो जगत्स्थितौ।
एकनिष्ठतयाऽन्तःस्थः संविन्मात्रपरो भव ॥83॥
मरुभूमौ जलं सर्वं मरुभूमात्रमेव तत्।
जगत्त्रयमिदं सर्वं चिन्मात्रं स्वविचारतः ॥84॥
लक्ष्यालक्ष्यमतिं त्यक्त्वा यस्तिष्ठेत् केवलात्मना।
शिव एव स्वयं साक्षादयं ब्रह्मविदुत्तमः ॥85॥
अधिष्ठानमनौपम्यमवाङ्मनसगोचरम्।
नित्यं विभुं सर्वगतं सुसूक्ष्मं च तदव्ययम् ॥86॥
सर्वशक्तेर्महेशस्य विलासो हि मनो जगत्।
संयमासंयमाभ्यां च संसारं शान्तिमन्वगात् ॥87॥

इसलिए अनात्मभाव का त्याग करके जगत् की स्थिति में तुम निर्विकार हो जाओ और एकनिष्ठता से अंतस् में (भीतर में) ही स्थिति करके केवल ज्ञान परायण ही हो जाओ। जिस प्रकार किसी निर्जल प्रदेश में दिखाई देने वाला (भ्रान्ति से मृगमरीचिका में दिखाई देने वाला) जल केवल निर्जल प्रदेश रूप ही है, ठीक उसी प्रकार आत्मविचार से यह सारा त्रिभुवन (तीनों लोक) केवल चैतन्य ही है। ब्रह्मज्ञानियों में श्रेष्ठ जो पुरुष, लक्ष्य और अलक्ष्य के विचारों को छोड़कर केवल आत्मस्वरूप

में ही अवस्थित रहता है, वह स्वयं साक्षात् शिव ही होता है। इसलिए जो सर्व का आश्रयरूप है, जो उपमारहित है, जो वाणी और मन का विषय ही नहीं बनता, जो नित्य, व्यापक, सर्वगामी, अतिसूक्ष्म और निर्विकार है, उस आत्मस्वरूप का ही ध्यान करना चाहिए। मन ही जगत् है और वह सर्वशक्तिमान महेश्वर का एक विलास है। मन का संयम नहीं करने से संसार होता है पर मन का संयम करने से संसार शान्त हो जाता है।

मनोव्याधेश्चिकित्सार्थमुपायं कथयामि ते।
यद्यत् स्वाभिमतं वस्तु तत्त्यजन् मोक्षमश्नुते ॥88॥
स्वायत्तमेकान्तहितं स्वेप्सितत्यागवेदनम्।
यस्य दुष्करतां यातं धिक् तं पुरुषकीटकम् ॥89॥
स्वपौरुषैकसाध्येन स्वेप्सितत्यागरूपिणा।
मनःप्रशममात्रेण विना नास्ति शुभा गतिः ॥90॥
असङ्कल्पनशस्त्रेण छिन्नं चित्तमिदं यदा।
सर्वं सर्वगतं शान्तं ब्रह्म संपद्यते तदा ॥91॥

मन एक रोग है। मैं अब इस मनोरोग के लिए एक चिकित्सा बताता हूँ। जो-जो वस्तु हमें अच्छी लगती हों उनका त्याग कर देना चाहिए। ऐसा त्याग करने वाला मोक्ष को प्राप्त होता है। आत्मवस्तु का ज्ञान तो अपने ही हाथ की बात है, और वही परमहितकारी भी है। इच्छित वस्तु के त्याग से आत्मवस्तु का अनुभव भी हो सकता है। ऐसा होने पर भी जो मनुष्य उसे दुष्कर है, ऐसा अनुभव करता है, तो ऐसे मनुष्यरूपी कीड़े को धिक्कार है। जो शुभगति केवल अपने पुरुषार्थ के द्वारा ही साध्य हो सकती है, उसका एकमात्र उपाय इच्छित वस्तु का त्याग ही है, और मन के अत्यंत शम के बिना तो वह शुभ गति प्राप्त नहीं हो सकती। असंकल्परूप शस्त्र से जब यह मन कट जाता है तब मनुष्य सर्वस्वरूप, सर्वव्यापक और शान्त ब्रह्मरूप ही बन जाता है।

भवभावनया मुक्तो युक्तः परमया धिया।
धारयात्मानमव्यग्रो ग्रस्तचित्तं चितः पदम् ॥92॥
परं पौरुषमाश्रित्य नीत्वा चित्तमचित्तताम्।
ध्यानतो हृदयाकाशे चिति चिच्चक्रधारया।
मनो मारय निःशङ्कं त्वां प्रबध्नन्ति नारयः ॥93॥
अयं सोऽहमिदं तन्मे एतावन्मात्रकं मनः।
तदभावनमात्रेण दात्रेणेव विलीयते ॥94॥
छिन्नाभ्रमण्डलं व्योम्नि यथा शरदि धूयते।
वातेनाकल्पकेनैव तथाऽन्तर्धूयते मनः ॥95॥

परम श्रेष्ठ बुद्धिपूर्वक तुम इस संसार की भावना से मुक्त हो जाओ और व्यग्रतारहित चित्त से अपने आत्मा को परम चैतन्य के स्थान में धारण कर लो। क्योंकि ऐसी धारणा तुम्हारे चित्त को निगल जाएगी। बड़े भारी पुरुषार्थ का अवलम्बन करके तुम अपने 'चित्त' को 'अचित्त' की अवस्था में ले जाओ। और बाद में हृदयाकाश में (जो कि चैतन्यमय ही है, उसमें) ध्यान करके उस चैतन्य चक्र की धार से अपने मन को निःसन्देहरूप से मार डालो, जिससे कि शत्रु लोग तुम्हें बाँध न सकें। "यह वह है और यह मैं हूँ"—सिर्फ यह भावना ही मन है। ऐसा वह मन मात्र 'भावना के

अभाव' रूपी हँसिये से (गड़ासे से) ही कट जाता है। शरद् ऋतु के आकाश में वायुरूपी छेदन यंत्र के द्वारा छिन्न-भिन्न किए हुए बादल जैसे बिखर जाते हैं, इसी प्रकार साधक के द्वारा हृदय में काटा गया मन बिखर जाता है।

कल्पान्तपवना वान्तु यान्तु चैकत्वमर्णवाः।
तपन्तु द्वादशादित्या नास्ति निर्मनसः क्षतिः ॥96॥
असंकल्पनमात्रैकसाध्ये सकलसिद्धिदे।
असंकल्पातिसाम्राज्ये तिष्ठावष्टब्धतत्पदः ॥97॥
न हि चञ्चलताहीनं मनः क्वचन दृश्यते।
चञ्चलत्वं मनोधर्मो वह्नेर्धर्मो यथोष्णता ॥98॥
एषा हि चञ्चला स्पन्दशक्तिश्चित्तत्वसंस्थिता।
तां विद्धि मानसीं शक्तिं जगदाडम्बरात्मिकाम् ॥99॥
यत्तु चञ्चलताहीनं तन्मनोऽमृतमुच्यते।
तदेव च तपः शास्त्रसिद्धान्ते मोक्ष उच्यते ॥100॥

भले ही प्रलयकाल के वायु बहें, भले ही सभी समुद्र एकाकार हो जाएँ, भले ही बारहों सूर्य एक साथ तपें, फिर भी मनरहित मनुष्य की कोई हानि नहीं होती। चञ्चलतारहित मन किसी भी समय में देखा नहीं जाता। क्योंकि जिस प्रकार उष्णता अग्नि का धर्म है उसी प्रकार चंचलता मन का धर्म है। यह चंचलता (स्पन्दनशक्ति) ही 'चित्तता' के रूप में रहती है। और वही मानसी शक्ति इस जगत् के आडम्बर के रूप में दिखाई देती है, ऐसा तुम समझो। संकल्पों का अभाव तो एक बड़ा साम्राज्य ही है और वह तो केवल संकल्परहित होने से ही सिद्ध हो सकता है। वही सम्पूर्ण सिद्धियों का देने वाला भी है। इसलिए 'संकल्पराहित्य' रूप पद का आश्रय करके तुम उस राज्य में स्वयं को स्थिर कर लो। जो चंचलतारहित मन है, वही अमृत है, वही तप है और शास्त्रों में उसी को मोक्ष कहा गया है।

तस्य चञ्चलता यैषा त्वविद्या वासनात्मिका।
वासनाऽपरनाम्नीं तां विचारेण विनाशय ॥101॥
पौरुषेण प्रयत्नेन यस्मिन्नेव पदे मनः।
योज्यते तत् पदं प्राप्य निर्विकल्पो भवानघ ॥102॥
अतः पौरुषमाश्रित्य चित्तमाक्रम्य चेतसा।
विशोकं पदमालम्ब्य निरातङ्कः स्थिरो भव ॥103॥
मन एव समर्थं हि मनसो दृढनिग्रहे।
अराज्ञा कः समर्थः स्याद्राज्ञो निग्रहकर्मणि ॥104॥

इस मन की जो चंचलता है, वही वासनात्मिका अविद्या है। अविद्या का दूसरा नाम ही वासना है। तुम चिन्तन-मनन करके उस वासना को दूर कर दो। हे निष्पाप! बड़े भारी पुरुषार्थ के द्वारा वासनाक्षय के बाद मन जिस परमपद में प्राप्त होता है, उस पद को प्राप्त करके तुम निर्विकल्प बन जाओ। इस तरह पुरुषार्थ का अवलम्बन करके चित्त द्वारा ही चित्त को दबाकर उस शोकरहित पद का तुम आश्रय कर लो और फिर निर्भय होकर स्थिर हो जाओ। मन का दृढरूप से निग्रह करने में तो मन ही समर्थ है। राजा का निग्रह करने के लिए जो राजा न हो ऐसा भला कौन समर्थ हो सकता है?

तृष्णाग्राहगृहीतानां संसारार्णवपातिनाम् ।
आवर्तैरूह्यमानानां दूरं स्वमन एव नौः ॥105॥
मनसैव मनश्छित्त्वा पाशं परमबन्धनम् ।
भवादुत्तारयात्मानं नासावन्येन तार्यते ॥106॥

जो लोग संसाररूपी सागर में पड़े हों और तृष्णारूपी ग्राह से जकड़े गए हों, और संसारसागर के भँवरों में फँसकर दूर-दूर तक घसीटे गए हों, उनके लिए अपना मन ही नौकारूप बनता है। वास्तव में यह मन ही एक बन्धनकारक पाश है। उसे मन से ही काटकर तुम अपने आत्मा को संसार से पार ले जाओ। क्योंकि मन के सिवा अन्य तो कोई भी इसे तार सकने वाला नहीं है।

या योदेति मनोनाम्नी वासना वासितान्तरा ।
तां तां परिहरेत् प्राज्ञस्ततोऽविद्याक्षयो भवेत् ॥107॥
भोगैकवासनां त्यक्त्वा त्यज त्वं भेदवासनाम् ।
भावाभावौ ततस्त्यक्त्वा निर्विकल्पः सुखी भव ॥108॥
एष एव मनोनाशस्त्वविद्यानाश एव च ।
यत्तत् संवेद्यते किञ्चित् तत्रास्थापरिवर्जनम् ।
अनास्थैव हि निर्वाणं दुःखमास्थापरिग्रहः ॥109॥
अविद्या विद्यमानैव नष्टप्रज्ञेषु दृश्यते ।
नाम्नैवाङ्गीकृताकारा सम्यक्प्रज्ञस्य सा कुतः ॥110॥

वासना का ही दूसरा नाम मन होता है और ये वासनाएँ ही मन में वास करके बैठी हुई हैं। इसलिए जो-जो भी वासना मन में उदित हो, उसे बुद्धिमान मनुष्य को त्याग ही देना चाहिए क्योंकि इसी से अविद्या का नाश होता है। पहले तुम भोग की एक वासना का त्याग करो। फिर बाद में भेद की वासना को छोड़ो। फिर भाव और अभाव का भी त्याग करके विकल्परहित होकर सुखी बन जाओ। मन का नाश ही अविद्या का नाश है। जो-जो कुछ अनुभव में आता हो, उसमें आस्था का त्याग कर देना ही मन का नाश कहलाता है। जिनकी बुद्धि नष्ट हो गई होती है, उन्हें अविद्या ही विद्यमान (वास्तविक) मालूम पड़ती है। परन्तु वह अविद्या तो केवल नाममात्र से ही आकार धारण किए हुए है। सम्यक् (सच्चे) ज्ञानी के लिए भला वह कहाँ से हो सकती है ?

तावत् संसारभृगुषु स्वात्मना सह देहिनम् ।
आन्दोलयति नीरन्ध्रं दुःखकण्टकशालिषु ॥111॥
अविद्या यावदस्यास्तु नोत्पन्ना क्षयकारिणी ।
स्वयमात्मावलोकेच्छा मोहसंक्षयकारिणी ॥112॥
अस्याः परं प्रपश्यन्त्याः स्वात्मनाशः प्रजायते ।
दृष्टे सर्वगते बोधे स्वयं ह्येषा विलीयते ॥113॥
इच्छामात्रमविद्येयं तन्नाशो मोक्ष उच्यते ।
स चासंकल्पमात्रेण सिद्धो भवति वै मुने ॥114॥
मनागपि मनोव्योम्नि वासनारजनीक्षये ।
कलिका तनुतामेति चिदादित्यप्रकाशनात् ॥115॥

यह संसार पर्वतों के ऊँचे शिखरों के समान है और उस पर भरसक काँटे भरे हुए हैं। वहाँ अविद्या अपने स्वरूप से आत्मा को घुमाती ही रहती है। वह वहाँ तक घुमाती रहती है कि जहाँ तक उसका नाश करने वाली आत्मदर्शन की इच्छा उत्पन्न नहीं होती। क्योंकि वही इच्छा केवल मोह का विनाश करने वाली होती है। परमात्मा का साक्षात्कार कराने वाली उस आत्मदर्शन की इच्छा, आत्मदर्शन कराने के बाद स्वयं भी नष्ट हो जाती है। क्योंकि सर्वव्यापी ज्ञान को देखे जाने पर तो वह आप ही आप विलीन हो जाती है। हे मुनि ! केवल इच्छा ही अविद्या है। और उसका नाश ही मोक्ष कहा जाता है। केवल संकल्परहित हो जाने से ही मोक्ष की प्राप्ति हो जाती है। जब मनरूपी आकाश में वासनारूपी रात्रि का नाश होता है तब चैतन्यसूर्य का थोड़ा सा प्रकाश होने से भी अन्धकार की (अज्ञान की) कालिमा का नाश हो जाता है, या कालिमा कम हो जाती है।

चैत्यानुपातरहितं सामान्येन च सर्वगम् ।
यच्चित्तत्वमनाख्येयं स आत्मा परमेश्वरः ॥116॥
सर्वं च खल्विदं ब्रह्म नित्यचिद्घनमक्षतम् ।
कल्पनाऽन्या मनोनाम्नी विद्यते न हि काचन ॥117॥
न जायते न म्रियते किञ्चिदत्र जगत्त्रये ।
न च भावविकाराणां सत्ता क्वचन विद्यते ॥118॥

चैत्य के अर्थात् जगत् के (जगत् के विषयों के) पीछे दौड़ादौड़ी से रहित और सामान्यतः सर्वव्यापी बने हुए चित्त का वर्णन करना असंभव ही है, क्योंकि वह स्वयं ही तो परमेश्वर है। यह सब कुछ ब्रह्म ही है और वह नित्य, चैतन्यमय एवं अविनाशी है। इसके सिवा और जो अन्य कल्पनाएँ हैं, वही मन है। मन इसके सिवा कुछ है ही नहीं। इन तीनों भुवनों में वास्तव में न तो कोई जन्मता है और न ही कोई प्रलयकाल में मरता ही है। क्योंकि अन्य पदार्थों का या विकारों का तो कोई अस्तित्व ही नहीं है।

केवलं केवलाभासं सर्वसामान्यमक्षतम् ।
चैत्यानुपातरहितं चिन्मात्रमिह विद्यते ॥119॥
तस्मिन् नित्ये तते शुद्धे चिन्मात्रे निरुपद्रवे ।
शान्ते शमसमाभोगे निर्विकारे चिदात्मनि ॥120॥
यैषा स्वभावाभिमतं स्वयं संकल्प्य धावति ।
चिच्चैत्यं स्वयमम्लानं मननान्मन उच्यते ॥121॥

केवल कैवल्यरूप में ही प्रकाशित, सामान्यतया सबमें अवस्थित और विषयों के पीछे दौड़ादौड़ी नहीं करने वाला केवल चैतन्य ही इस जगत् में विद्यमान है। वह चिदात्मा नित्य, व्यापक, शुद्ध, मात्र चैतन्यस्वरूप, उपद्रवरहित, शान्त, समर्थ, परिपूर्ण और निर्विकार है। ऐसे उसमें यह अविद्या, अपने हावभावों से अपने अभिमत विषयों को संकल्पित करके दौड़ा करती है। वास्तव में तो चित् और चैत्य (यह जगत्) अम्लान (विकारशून्य) ही है परन्तु केवल मनन करने से ही मन कहा जाता है।

अतः संकल्पसिद्धेयं संकल्पेनैव नश्यति ।
नाहं ब्रह्मेति संकल्पात् सुदृढाद्बध्यते मनः ।
सर्वं ब्रह्मेति संकल्पात् सुदृढान्मुच्यते मनः ॥122॥

कृशोऽहं दुःखबद्धोऽहं हस्तपादादिमानहम् ।
इति भावानुरूपेण व्यवहारेण बध्यते ॥123॥
नाहं दुःखी न मे देहो बन्धः कोऽस्यात्मनि स्थितः ।
इति भावानुरूपेण व्यवहारेण मुच्यते ॥124॥
नाहं मांसं न चास्थीनि देहादन्यः परोऽस्म्यहम् ।
इति निश्चितवानन्तः क्षीणाविद्यो विमुच्यते ॥125॥

अत: ऐसे केवल संकल्पों के द्वारा ही सिद्ध होने वाली (मानी जाने वाली) यह अविद्या, संकल्पों के द्वारा ही नष्ट की जा सकती है। 'मैं ब्रह्म नहीं हूँ'—ऐसे सुदृढ़ संकल्प से ही मन बँध जाता है और 'यह सब ब्रह्म ही है'—ऐसे सुदृढ संकल्प से मन मुक्त हो जाता है। 'मैं दुबला-पतला हूँ', 'मैं दुःखों से बँध गया हूँ', 'मैं हाथ-पैरों वाला हूँ'—इत्यादि प्रकार के भावों के अनुरूप ही मनुष्य बँध जाता है। परन्तु यदि 'मैं दुःखी नही हूँ', 'मेरा कोई देह नहीं है', 'मुझ (आत्मा) में यह बन्ध कैसे आ सकता है ?' इस प्रकार के सुदृढ़ भाव हों, तो ऐसे सुदृढ़ भावों के अनुरूप व्यवहार से मनुष्य की मुक्ति हो जाती है। 'मैं मांस नहीं हूँ, हड्डियाँ भी नहीं हूँ, मैं देह से अलग हूँ, मैं सर्व से परे हूँ'—ऐसे विचार करने वाला मनुष्य अपने भीतर की अविद्या का नाश हो जाने से मुक्त हो जाता है।

कल्पितेयमविद्येयमनात्मन्यात्मभावनात् ।
परं पौरुषमाश्रित्य यत्नात् परमया धिया ।
भोगेच्छां दूरतस्त्यक्त्वा निर्विकल्पः सुखी भव ॥126॥
मम पुत्रो मम धनमहं सोऽयमिदं मम ।
इतीयमिन्द्रजालेन वासनैव विवल्गति ॥127॥
मा भवाज्ञो भव ज्ञस्त्वं जहि संसारभावनाम् ।
अनात्मन्यात्मभावेन किमज्ञ इव रोदिषि ॥128॥

अनात्मा में आत्मा की भावना होने से यह अविद्या कल्पित ही है। इसलिए प्रयत्नपूर्वक उत्तम पुरुषार्थ का अवलम्बन करके श्रेष्ठ बुद्धि के द्वारा भोगों की दृष्टि को दूर से ही फेंक दो (छोड़ दो) और विकल्पों से रहित होकर सुखी बने रहो। 'मेरा पुत्र', 'मेरा धन', 'यह मैं हूँ', 'यह मेरा है'—इस प्रकार की वासना ही इन्द्रजाल के रूप में छलाँगें मार रही हैं। इसलिए अज्ञानी मत बनो, अपितु ज्ञानी बन जाओ। संसार की भावना छोड़ दो। अनात्मा में आत्मभाव करके अज्ञानी की तरह रोते क्यों हो ?

कस्तवायं जडो मूको देहो मांसमयोऽशुचिः ।
यदर्थं सुखदुःखाभ्यामवशः परिभूयसे ॥129॥
अहो नु चित्रं यत् सत्यं ब्रह्म तद्विस्मृतं नृणाम् ।
तिष्ठतस्तव कार्येषु माऽस्तु रागानुरञ्जना ॥130॥
अहो नु चित्रं पद्मोत्थैर्बद्धास्तन्तुभिरद्रयः ।
अविद्यमाना याऽविद्या तया विश्वं खिलीकृतम् ।
इदं तद्वज्रतां यातं तृणमात्रं जगत्त्रयम् ॥131॥
इति महोपनिषत् ।

इति चतुर्थोऽध्यायः ।

जड, गूँगा, मांस से भरा यह अपवित्र देह तुम्हारा कहाँ है कि जिसके लिए तुम सुखों और दुःखों के वश में आकर हैरान परेशान होते हो ? अहा ! यह तो आश्चर्य की बात है कि जो सत्य-स्वरूप ब्रह्म है, उसे ही लोग भूल गए हैं और उसी तरह तुम भी कामनाओं में फँसकर उसके रंग से आप्लावित मत हो जाओ अर्थात् कामनाओं के रंग में सराबोर मत होओ। अहा ! यह तो बड़ा अचरज है कि कमल के तंतुओं से पर्वत बँध गए हैं। अविद्या वास्तव में कोई वस्तु ही नहीं है, फिर भी उसने सारे संसार को थाम रखा है। पारमार्थिक रूप से ये तीनों भुवन (जगत्) नि:सार (तुच्छ) ही हैं, फिर भी मानो वज्र जैसे बने हुए हैं ? (यह बड़ा भारी आश्चर्य है) ऐसा यह उपनिषद् कहती है।

यहाँ चतुर्थ अध्याय पूरा हुआ।

❋

पञ्चमोऽध्यायः

(ऋभुः) अथापरं प्रवक्ष्यामि शृणु तात यथातथम् ।
अज्ञानभूः सप्तपदा ज्ञभूः सप्तपदैव हि ॥1॥
पदान्तराण्यसंख्यानि प्रभवन्त्यन्यथैतयोः ।
स्वरूपावस्थितिर्मुक्तिस्तद्भ्रंशोऽहंत्ववेदनम् ॥2॥
शुद्धसन्मात्रसंवित्तेः स्वरूपान्न चलन्ति ये ।
रागद्वेषादयो भावास्तेषां नाज्ञत्वसम्भवः ॥3॥
यः स्वरूपपरिभ्रंशश्चैत्यार्थे चितिमज्जनम् ।
एतस्मादपरो मोहो न भूतो न भविष्यति ॥4॥

(ऋभु बोले)—हे तात ! मैं और भी तुम्हें यह बताऊँगा, उसे तुम ध्यान देकर सुनो। अज्ञान की भूमि सात स्थानों वाली है और ज्ञान की भूमि भी सात स्थानों वाली है। यों तो इनके अतिरिक्त इसके कई अन्य स्थान हैं (पर मुख्य सात हैं)। अपने स्वरूप में ही अवस्थिति होना ही मुक्ति कहलाती है और अहंकार का अनुभव करना मुक्ति से भ्रष्टता है। शुद्ध वस्तु का सम्यक् (यथातथ) ज्ञान होना ही तो स्वरूपावस्थिति है। इससे जो मनुष्य च्युत नहीं होते (चलित नहीं होते), उनमें रागद्वेषादिभाव नहीं होते। इसलिए वहाँ अज्ञानित्व की कोई सम्भावना ही नहीं है। इस स्वरूपावस्थिति से भ्रष्ट (च्युत) होना और दिखाई देने वाले विषयों में चैतन्य को डुबो देना ही मोह है, इसके अतिरिक्त दूसरा कोई मोह नहीं है, और होगा भी नहीं।

अर्थादर्थान्तरं चित्ते याति मध्ये तु या स्थितिः ।
सा ध्वस्तमननाकारा स्वरूपस्थितिरुच्यते ॥5॥
संशान्तसर्वसंकल्पा या शिलावदवस्थितिः ।
जाग्रन्निद्राविनिर्मुक्ता सा स्वरूपस्थितिः परा ॥6॥
अहन्तांऽशे क्षते शान्ते भेदनिष्पन्दचित्तता ।
अजडा या प्रचलति तत्स्वरूपमितीरितम् ॥7॥

जब मन एक विषय से दूसरे विषय पर जाता है, तब बीच की स्थिति (दूसरे विषय पर जाने से पहले की और पहले विषय के नाश की) जो होती है वही स्वरूपावस्थिति है। जिसमें मनुष्य के सभी संकल्प शान्त हो गए हों, जिसमें स्थिति एक शिला जैसी बन गई हो, जो स्थिति जाग्रत् और निद्रा से

अलग हो, वह उत्कृष्ट स्थिति ही स्वरूपावस्थिति है। जिसमें अहंभाव का समूल (अंश का भी) नाश हो चुका हो, जिसमें शान्तस्वरूप से अभेद भाव में चित्त स्थिर रहता हो और चैतन्यस्वरूप से जो चलता ही रहता हो (सातत्य से युक्त हो) उसे 'स्वरूप' कहा जाता है।

बीजजाग्रत् तथा जाग्रन्महाजाग्रत् तथैव च।
जाग्रत्स्वप्नस्तथा स्वप्नः स्वप्नजाग्रत् सुषुप्तिकम् ॥8॥
इति सप्तविधो मोहः पुनरेष परस्परम्।
श्लिष्टो भवत्यनेकाग्र्यं शृणु लक्षणमस्य तु ॥9॥
प्रथमं चेतनं यत् स्यादनाख्यं निर्मलं चितः।
भविष्यच्चित्तजीवादिनामशब्दार्थभाजनम् ॥10॥
बीजरूपं स्थितं जाग्रद्बीजजाग्रत् तदुच्यते।
एषा ज्ञप्तेर्नवावस्था त्वं जाग्रत्संस्थितिं शृणु ॥11॥

मोह सात प्रकार का होता है—बीजजाग्रत्, जाग्रत्, महाजाग्रत्, जाग्रत्स्वप्न, स्वप्न, स्वप्नजाग्रत् और सुषुप्ति। वे ही जब परस्पर मिल जाते हैं, तब उसे 'अनेकाग्र्य' कहा जाता है। अब उन सातों का लक्षण सुनो—प्रथम तो निर्मल चेतन ही होता है। उसका वर्णन करना तो असंभव है। उस चेतन में से भविष्य में चित्त, जीव आदि नाम एवं जो शब्दादि विषयों का पात्र है, वह बनता है। वही बीजरूप में अवस्थित 'बीजजाग्रत्' अवस्था कहलाती है। अज्ञान की यह नई अवस्था मैंने कही। अब तुम पहले जाग्रत् स्थिति को सुनो।

नवप्रसूतस्य परादयं चाहमिदं मम।
इति यः प्रत्ययः स्वस्थस्तज्जाग्रत् प्रागभावनात् ॥12॥
अयं सोऽहमिदं तन्म इति जन्मान्तरोदितः।
पीवरः प्रत्ययः प्रोक्तो महाजाग्रदिति स्फुटम् ॥13॥
अरूढमथवा रूढं सर्वथा तन्मयात्मकम्।
यज्जाग्रतो मनोराज्यं तज्जाग्रत्स्वप्न उच्यते ॥14॥
द्विचन्द्रशुक्तिकारूप्यमृगतृष्णाऽऽदिभेदतः।
अभ्यासं प्राप्य जाग्रत् तत् स्वप्नो नानाविधो भवेत् ॥15॥

इस नए जन्मे हुए बीजरूप पर (कार्यरूप से) इस कार्यरूप के बाद जो 'यह मैं हूँ', 'यह मेरा है'—ऐसा जो अनुभव होता है, उसे 'जाग्रत्' अवस्था कहा जाता है। वास्तव में वह पहले था ही नहीं इसलिए आत्मस्वरूप में ही यह जाग्रदवस्था थी। 'यह वह मैं हूँ' 'यह वह मेरा है'—ऐसा जन्म-जन्मान्तर का जो पुष्ट हुआ अनुभव प्रकट होता है, उसे स्फुट रूप से महाजाग्रत् कहा जाता है। रूढ़ हो या न हो, फिर भी सदा तन्मय स्वरूप वाले इस जाग्रत् अवस्था का जो मनोराज्य होता है, वह 'जाग्रत्स्वप्न' कहलाता है। और दो चन्द्र, सीप में रजत, मरु-मरीचिका आदि विविध भेदों को बार-बार देखने से (अभ्यास किए जाने से) यह 'स्वप्न' अनेक प्रकार का हो जाता है। (जाग्रदवस्था के संस्कारों से उत्पन्न स्वप्न अनेक प्रकार का होता है।)

अल्पकालं मया दृष्टमेतन्नोदेति यत्र हि।
परामर्शः प्रबुद्धस्य स स्वप्न इति कथ्यते ॥16॥

चिरसन्दर्शनाभावादप्रफुल्लं बृहद्वचः।
चिरं कालानुवृत्तिस्तु स्वप्नो जाग्रदिवोदितः ॥17॥
स्वप्नजाग्रदिति प्रोक्तं जाग्रत्यपि परिस्फुरत्।
षडवस्थापरित्यागे जडा जीवस्य या स्थितिः ॥18॥
भविष्यद्दुःखबोधाढ्या सौषुप्तिः सोच्यते गतिः।
जगत् तस्यामवस्थायामन्तस्तमसि लीयते ॥19॥
सप्तावस्था इमाः प्रोक्ता मयाऽज्ञानस्य वै द्विज।
एकैका शतसंख्याऽत्र नानाविभवरूपिणी ॥20॥

जाग्रदवस्था में विद्यमान मनुष्य को यह अनुभव होता है कि 'जिस वस्तु को मैंने निद्रावस्था में अल्पकाल तक देखा था, वह अब नहीं दिखाई पड़ती।' यह अनुभव 'स्वप्न' कहा जाता है। लम्बे समय तक जिसका दर्शन न हुआ हो, इसलिए जो अप्रफुल्ल(धुँधला)-सा हो, फिर भी लम्बे काल तक जिसका अनुसरण बड़े वचनों द्वारा ही होता रहता हो, उस स्वप्न को जाग्रत् जैसा कहा जाता है वही स्वप्नजाग्रत् है अर्थात् जाग्रत् अवस्था में भी जिसका स्फुरण होता ही रहे, उसे 'स्वप्नजाग्रत्' कहा गया है। ऊपर की इन छहों अवस्थाओं का जिसमें त्याग हो जाता हो और जीव की स्थिति जड़ जैसी हो जाती हो, तो उसे सुषुप्ति अवस्था कहते हैं। दुःख का भान तो उसके बाद के (भविष्य के) समय में हो सकता है, क्योंकि उस स्थिति में तो सारा जगत् अज्ञान में लय हुआ होता है। हे ब्राह्मण! अज्ञान की ये सात अवस्थाएँ मैंने तुम्हें बताई हैं। इनमें प्रत्येक अवस्था के उपप्रकार सैकड़ों की संख्या में हैं और उनमें अनेक प्रकार के सांसारिक स्वरूप भी हुआ करते हैं।

इमां सप्तपदां ज्ञानभूमिमाकर्णयानघ।
नानया ज्ञातया भूयो मोहपङ्के निमज्जति ॥21॥
वदन्ति बहुभेदेन वादिनो योगभूमिकाः।
मम त्वभिमता नूनमिमा एव शुभप्रदाः ॥22॥

हे निर्दोष मुनि! अब सात स्थानों वाली इस ज्ञानभूमि को भी तुम सुन लो। इसको जानने के बाद, मनुष्य मोहरूपी कीचड़ में नहीं फँसता। अन्यान्य वादी लोग तरह-तरह की योग भूमिकाएँ बताते रहते हैं, परन्तु मुझे तो ये सात ही मान्य हैं, क्योंकि ये ही कल्याणप्रद हैं।

अवबोधं विदुर्ज्ञानं तदिदं साप्तभूमिकम्।
मुक्तिस्तु ज्ञेयमित्युक्ता भूमिका सप्तकात्परम् ॥23॥
ज्ञानभूमिः शुभेच्छाऽऽख्या प्रथमा समुदाहृता।
विचारणा द्वितीया तु तृतीया तनुमानसी ॥24॥
सत्त्वापत्तिश्चतुर्थी स्यात् ततोऽसंसक्तिनामिका।
पदार्थभावना षष्ठी सप्तमी तुर्यगा स्मृता ॥25॥

ज्ञान को 'अवबोध' नाम दिया गया है। इसकी सात भूमिकाएँ हैं। जिसको 'ज्ञेय' कहा जाता है, उसे ही 'मुक्ति' कहते हैं। यह मुक्ति ज्ञान की सात भूमिकाओं के बाद में ही प्राप्त होती है। पहली ज्ञानभूमि 'शुभेच्छा' नाम से पहचानी गई है। दूसरी भूमि का नाम 'विचारणा' है। तीसरी का नाम 'तनुमानसी' है। चौथी भूमि 'सत्त्वापत्ति' है। पाँचवीं 'असंसक्ति' है। छठी 'पदार्थ भावना' नाम की भूमि है और सातवीं भूमि 'तुर्यगा' कही गई है।

आसामन्तःस्थिता मुक्तिर्यस्यां भूयो न शोचति ।
एतासां भूमिकानां त्वमिदं निर्वचनं शृणु ॥26॥
स्थितः किं मूढ एवास्मि प्रेक्षेऽहं शास्त्रसज्जनैः ।
वैराग्यपूर्वमिच्छेति शुभेच्छेत्युच्यते बुधैः ॥27॥
शास्त्रसज्जनसंपर्कवैराग्याभ्यासपूर्वकम् ।
सदाचारप्रवृत्तिर्या प्रोच्यते सा विचारणा ॥28॥

इन भूमिकाओं के भीतर मुक्ति अवस्थित है। इस मुक्ति में रहकर प्राणी कभी शोक नहीं करता। अब तुम इन भूमिकाओं की व्याख्या सुनो। 'मैं मूढ ही क्यों रह गया ? शास्त्र और सज्जन मुझे देखते ही रहते हैं'—इस प्रकार की वैराग्य से युक्त जो इच्छा होती है, उसे विद्वान् लोग 'शुभेच्छा' के नाम से पहचानते हैं। अब, यदि शास्त्रों और सज्जनों के सम्बन्ध से वैराग्य हो और उसके अभ्यास से जो सदाचार किया जाता हो, उसे 'विचारणा' कहा गया है।

विचारणाशुभेच्छाभ्यामिन्द्रियार्थेषु रक्तता ।
यत्र सा तनुतामेति प्रोच्यते तनुमानसी ॥29॥
भूमिकात्रितयाभ्यासाच्चित्ते तु विरतेर्वशात् ।
सत्त्वात्मनि स्थिते शुद्धे सत्त्वापत्तिरुदाहृता ॥30॥
दशाचतुष्टयाभ्यासादसंसर्गकला तु या ।
रूढसत्त्वचमत्कारा प्रोक्ताऽसंसक्तिनामिका ॥31॥
भूमिकापञ्चकाभ्यासात् स्वात्मारामतया दृढम् ।
आभ्यन्तराणां बाह्यानां पदर्थानामभावनात् ॥32॥

इन्द्रियों के विषयों पर होता हुआ राग, पूर्वोक्त 'विचारणा' और 'शुभेच्छा' के योग से जहाँ पर क्षीण हो जाता है, ऐसी अवस्था को 'तनुमानसी' कहा जाता है। उपर्युक्त तीन भूमिकाओं के अभ्यास से जब चित्त में वैराग्य उत्पन्न हो जाए और उसके कारण शुद्ध सत्त्वयुक्त आत्मा में साधक स्थिर बना रहे, तो ऐसी अवस्था को 'सत्त्वापत्ति' कहा जाता है। इन चार दशाओं (अवस्थाओं) के अभ्यास से जहाँ पर कोई संसर्गजन्य स्थिति न हो और सत्त्व तत्त्व का ही चमत्कार रूढ़ बन जाए, तो ऐसी अवस्था को 'असंसक्ति' के नाम से कहा जाता है। अब जब ऊपर ही उन पाँचों भूमिकाओं के अभ्यास से अपने आत्मा में ही रमण होता रहे और भीतर के और बाहर के पदार्थ दिखाई ही न पड़ें, तब—

परप्रयुक्तेन चिरं प्रयत्नेनावबोधनम् ।
पदार्थभावना नाम षष्ठी भवति भूमिका ॥33॥
भूमिषट्कचिराभ्यासाद्भेदस्यानुपलम्भनात् ।
यत् स्वभावैकनिष्ठत्वं सा ज्ञेया तुर्यगा गतिः ॥34॥
एषा हि जीवन्मुक्तेषु तुर्यावस्थेति विद्यते ।
विदेहमुक्तिविषयं तुर्यातीतमतः परम् ॥35॥

यदि अन्य लोगों के लम्बे काल तक प्रयत्न करने पर ही बाहर के पदार्थ देखने में आ सकें, तब 'पदार्थभावना' नाम की छठी भूमिका होती है। अब इन छहों भूमिकाओं के लम्बे काल तक किए गए अभ्यास के द्वारा जब भेद का भाव ही नष्ट हो जाए और उस भेदाभाव से आत्मस्वरूप में एकनिष्ठता प्राप्त हो जाए, तो उस भूमिका को 'तुर्यगा' समझना चाहिए। जीवन्मुक्त पुरुषों में यही अवस्था

'तुर्यावस्था' के रूप में अनुभवगम्य होती है। 'तुरीयातीत दशा' तो विदेह मुक्ति के साथ सम्बन्ध रखती है। वह इससे परे है।

ये निदाघ महाभागाः सप्तमीं भूमिमाश्रिताः ।
आत्माऽऽरामा महात्मानस्ते महत्पदमागताः ॥36॥
जीवन्मुक्ता न मज्जन्ति सुखदुःखरसस्थिते ।
प्रकृतेनाथ कार्येण किञ्चित् कुर्वन्ति वा न वा ॥37॥
पार्श्वस्थबोधिताः सन्तः पूर्वाचारक्रमागतम् ।
आचारमाचरन्त्येव सुप्तबुद्धवदुत्थिताः ॥38॥

हे निदाघ ! जो महाभाग्यशाली लोग इस सातवीं ज्ञानभूमिका पर पहुँचकर अपनी आत्मा में ही रमण करते रहते हों, वे महान् पद पर पहुँच गए हैं। ऐसे जीवन्मुक्त लोग, सुख-दुःख के रस से भरी स्थिति में डूब नहीं जाते। वे लोग कभी प्रकृति के कार्य का अनुसरण करके कुछ कर भी लेते हैं और कुछ नहीं भी कर लेते। आसपास के लोग उन्हें बताते हैं, तब कभी वे कहीं आचार के क्रम से चलता हुआ आचार कर दिया करते हैं। वे मानो नींद में से उठे हों, ऐसे ही मालूम पड़ते हैं।

भूमिकासप्तकं चैतद्धीमतामेव गोचरम् ।
प्राप्य ज्ञानदशामेतां पशुम्लेच्छाऽऽदयोऽपि ये ॥39॥
सदेहा वाऽप्यदेहा वा ते मुक्ता नात्र संशयः ।
ज्ञप्तिर्हि ग्रन्थिविच्छेदस्तस्मिन् सति विमुक्तता ॥40॥
मृगतृष्णाऽम्बुबुद्ध्यादिशान्तिमात्रात्मकस्त्वसौ ।
ये तु मोहार्णवात्तीर्णास्तैः प्राप्तं परमं पदम् ॥41॥
ते स्थिता भूमिकास्वासु स्वात्मलाभपरायणाः ।
मनःप्रशमनोपायो योग इत्यभिधीयते ॥42॥

ये सात भूमिकाएँ तो केवल बुद्धिमानों के विषयरूप ही हैं। इस ज्ञानावस्था को पाकर पशु और म्लेच्छ लोग भी सदेहरूप में या विदेहरूप में मुक्ति को प्राप्त कर लेते हैं, इसमें किसी प्रकार का सन्देह नहीं है। मोह की गाँठ टूट जाने का ही दूसरा नाम ज्ञान है। ऐसा ज्ञान हो जाने से मरुमरीचिका में जैसे जलबुद्धि का भ्रम नष्ट हो जाता है, वैसे ही संसार सम्बन्धी अहंता-ममता का नाश हो जाता है। और जो लोग मोहरूपी सागर को पार कर गए हैं, उन्होंने तो परमपद प्राप्त कर ही लिया है। ऐसे लोग आत्मकल्याण में परायण होकर इन भूमिकाओं में आरूढ़ होते हैं। मन को प्रशान्त करने के इस उक्त प्रकार को योग कहा जाता है।

सप्तभूमिः स विज्ञेयः कथितास्ताश्च भूमिकाः ।
एतासां भूमिकानां तु गम्यं ब्रह्माभिधं पदम् ॥43॥
त्वत्ताऽहन्ताऽऽत्मता यत्र परता नास्ति काचन ।
न क्वचिद्भावकलना न भावाभाव गोचरा ॥44॥
सर्वं शान्तं निरालम्बं व्योमस्थं शाश्वतं शिवम् ।
अनामयमनाभासमनामकमकारणम् ॥45॥
न सन्नासन्न मध्यान्तन्न सर्वं सर्वमेव च ।
मनोवचोभिरग्राह्यं पूर्णात् पूर्णं सुखात् सुखम् ॥46॥

वह 'योग' सप्तभूमिका रूप ही है। इसीलिए यहाँ वे सातों भूमिकाएँ कही गई हैं। इन भूमिकाओं के द्वारा ब्रह्म नाम का पद प्राप्त किया जा सकता है। जिसमें न अहंभाव होता है, न ही त्वता ('तू'पने) का भाव होता है, अथवा जिसमें कोई परायापन नहीं रहता, जहाँ कहीं भी पदार्थों का ज्ञान नहीं होता, जो न भाव का विषय है, न वा किसी अभाव का विषय है, सब कुछ शान्त, निरवलम्ब, आकाश में अवस्थित और सनातन कल्याणस्वरूप ही होता है, ऐसी वह स्थिति निर्दोष, आभासरहित, नामरहित और कारणरहित है। वह सत् भी नहीं है, असत् भी नहीं है, मध्य भी नहीं है, अन्त भी नहीं है; सद न होते हुए भी सर्वस्वरूप ही है। मन और वचन के द्वारा उसे ग्रहण नहीं किया जा सकता। वह पूर्ण से भी पूर्ण है, और सुख का भी सुख है।

असंवेदनमाशान्तमात्मवेदनमाततम्।
सत्ता सर्वपदार्थानां नान्या संवेदनादृते ॥47॥
सम्बन्धे द्रष्टृदृश्यानां मध्ये दृष्टिर्हि यद्वपुः।
द्रष्टृदर्शनदृश्यादिवर्जितं तदिदं पदम् ॥48॥
देशाद्देशं गते चित्ते मध्ये यच्चेतसो वपुः।
अजाड्यसंविन्मननं तन्मयो भव सर्वदा ॥49॥

उसका सम्यक् (सम्पूर्ण) अनुभव होता ही नहीं है। वह चारों ओर पूर्ण शान्त है, वह आत्मा का अनुभवरूप है, वह चारों ओर फैला हुआ है, वह सर्व पदार्थों की सत्तारूप है। और वह श्रेष्ठ ज्ञान के अतिरिक्त और कुछ है ही नहीं। द्रष्टा और दृश्य की शक्ति के सम्बन्ध में बीच में जो शक्ति है, वही उसका शरीर है। और वही द्रष्टा, दृश्य तथा दर्शन—तीनों से रहित पद भी है। जब चित्त एक देश से दूसरे देश में गया हुआ होता है, तब बीच में चित्त का जो शरीर होता है, वह जडतारहित, ज्ञानमय तथा मननरूप होता है। वैसे ही तुम सर्वदा बने रहो।

अजाग्रत्स्वप्ननिद्रस्य यत्ते रूपं सनातनम्।
अचेतनं चाजडं च तन्मयो भव सर्वदा ॥50॥
जडतां वर्जयित्वैकां शिलाया हृदयं हि तत्।
अमनस्कस्वरूपं यत् तन्मयो भव सर्वदा।
चित्तं दूरे परित्यज्य योऽसि सोऽसि स्थिरो भव ॥51॥

जाग्रत्, स्वप्न तथा सुषुप्तिरहित ऐसा तुम्हारा जो सनातन रूप है, वह न तो चेतन है, न जड ही है। तुम सर्वदा ऐसे ही निरपेक्ष बने रहो। जडता को छोड़ दो क्योंकि वह तो पत्थर का हृदय ही है। तुम तो जो अमनस्क स्वरूप (मनोरहित स्वरूप वाला परमपद) है, उसमें परायण (तन्मय होकर) रहो अर्थात् सर्वदा तत्परायण रहो। चित्त को दूर फेंक कर जो तुम हो उसी रूप में स्थिर हो जाओ।

पूर्वं मनः समुदितं परमात्मतत्त्वात्
तेनाततं जगदिदं सविकल्पजालम्।
शून्येन शून्यमपि विप्र यथाऽम्बरेण
नीलत्वमुल्लसति चारुतराभिधानम् ॥52॥
संकल्पसंक्षयवशाद्गलिते तु चित्ते
संसारमोहमिहिका गलिता भवन्ति।

स्वच्छं विभाति शरदीव खमागतायां
चिन्मात्रमेकमजमाद्यमनन्तमन्तः ॥53॥

परमात्मरूप तत्त्व में से पहले मन का प्राकट्य हुआ। और उसी ने विकल्पों के जालों के साथ इस पूरे जगत् को फैलाया है। हे ब्राह्मण ! जिस प्रकार आकाश में से नीलस्वरूप सुन्दरतर अभिधान वाला प्रकट हो जाता है, उसी तरह शून्य में से भी शून्यरूप प्रकट हो ही सकता है। संकल्पों के नाश के कारण से चित्त जब निगल जाता है, तब संसाररूप मोह की ओस भी निगल ही जाती है। जैसे शरद् ऋतु के आने पर आकाश स्वच्छ दिखाई देता है, उसी तरह अन्तस् में जन्मरहित एवं अनादि अनन्त एकमात्र चैतन्य ही प्रकाशित होता है।

अकर्तृकमरङ्गं च गगने चित्रमुत्थितम्।
अद्रष्टृकं स्वानुभवमनिद्रस्वप्नदर्शनम् ॥54॥
साक्षिभूते समे स्वच्छे निर्विकल्पे चिदात्मनि।
निरिच्छं प्रतिबिम्बन्ति जगन्ति मुकुरे यथा ॥55॥
एकं ब्रह्म चिदाकाशं सर्वात्मकमखण्डितम्।
इति भावय यत्नेन चेतश्चाञ्चल्यशान्तये ॥56॥
रेखोपरेखावलिता यथैका पीवरी शिला।
तथा त्रैलोक्यवलितं ब्रह्मैकमिह दृश्यताम् ॥57॥

जिस तरह आकाश में बिना कर्ता के और बिना रंगों के यों ही चित्र उत्पन्न हो जाता है, ऐसा ही यह जगत् है। मूल तत्त्व तो द्रष्टारहित, निद्रारहित, स्वप्नरहित ऐसा केवल स्वानुभव रूप दर्शन (ज्ञान) ही है। चिदात्मा तो केवल साक्षीरूप, एक समान स्थिति वाला और विकल्परहित ही है। जिस प्रकार दर्पण में किसी की इच्छा न होने पर भी प्रतिबिम्ब पड़ ही जाता है, उसी प्रकार उस चैतन्य में जगत् के प्रतिबिम्ब पड़ जाते हैं। इसलिए चित्त की चंचलता को शान्त करने के लिए तुम यही सोचा करो कि 'चिदाकाशरूप ब्रह्म एक ही वस्तु है, और वही सर्व का आत्मा और अखण्ड स्वरूप है।' जैसे एक मोटी शिला रेखाओं तथा उपरेखाओं से आवेष्टित होती है, वैसे ही एक ब्रह्म ही त्रैलोक्य द्वारा आवृत (आवेष्टित) होकर व्यापक रूप में अवस्थित है, ऐसा तुम सर्वत्र देखते रहो।

द्वितीयकारणाभावादनुत्पन्नमिदं जगत्।
ज्ञातं ज्ञातव्यमधुना दृष्टं द्रष्टव्यमद्भुतम् ॥58॥
विश्रान्तोऽस्मि चिरं श्रान्तश्चिन्मात्रान्नास्ति किञ्चन।
पश्य विश्रान्तसन्देहं त्रिगताशेषकौतुकम् ॥59॥
निरस्तकल्पनाजालमचित्तत्त्वं परं पदम्।
त एव भूमतां प्राप्ताः संशान्ताशेषकिल्बिषाः ॥60॥

ब्रह्म के बिना अन्य कोई कारण है ही नहीं। इससे वास्तव में यह जगत् उत्पन्न हुआ ही नहीं है। इस प्रकार जो जानने लायक बात है, वह तुमने जान ली है और जो कुछ अद्भुत देखने लायक है, वह देख लिया है। 'लम्बे समय से थका हुआ मैं विश्रान्ति को प्राप्त किया हुआ हूँ, क्योंकि मात्र चेतन के बिना तो और कुछ है ही नहीं।' इस प्रकार निःसंदेह रूप से और सब कौतुक दूर करके देखो। जिसमें से कल्पना के सभी जाल हट चुके हैं, ऐसी चित्तरहित स्थिति ही परमपद है। जिनके कल्पनारूपी पाप शान्त हो गए हों, वे ही उस परमपद को प्राप्त कर सकते हैं।

महाधियः शान्तधियो ये याता विमनस्कताम् ।
जन्तोः कृतविचारस्य विगलद्वृत्तिचेतसः ॥61॥
मननं त्यजतो नित्यं किञ्चित् परिणतं मनः ।
दृश्यं सन्त्यजतो हेयमुपादेयमुपेयुषः ॥62॥
द्रष्टारं पश्यतो नित्यमद्रष्टारमपश्यतः ।
विज्ञातव्ये परे तत्त्वे जागरूकस्य जीवतः ॥63॥
सुप्तस्य घनसम्मोहमये संसारवर्त्मनि ।
अत्यन्तपक्ववैराग्यादरसेषु रसेष्वपि ॥64॥

जो लोग मनरहित स्थिति को प्राप्त हो चुके हैं, वे बड़े बुद्धिमान् और शान्तचित्त वाले होते हैं। ब्रह्म का ही विचार करने वाले और इससे जिसकी चित्तवृत्तियाँ विलीन हो गई हैं ऐसे तथा ब्रह्म के अलावा अन्य प्रकार का विचार जिसने छोड़ दिया है ऐसे जन्तु का (प्राणी का) मन कुछ हद तक ब्रह्माकार में परिणत हो जाता है। जिसने त्याज्य वस्तु का त्याग कर दिया हो और ग्राह्य वस्तु का ग्रहण कर लिया हो, जो केवल द्रष्टा को ही देखता हो और अद्रष्टा को देखता ही न हो, जो जानने योग्य परम तत्त्व के लिए जाग्रत् होकर जी रहा हो, जो प्रगाढ़ मोहमय संसारमार्ग में सोता-सा ही रहे, जिसके लिए अत्यन्त परिपक्व वैराग्य के कारण सांसारिक रस सब रसहीन हो गये हों, और—

संसारवासनाजाले खगजाल इवाखुना ।
त्रोटिते हृदयग्रन्थौ श्लथे वैराग्यरंहसा ॥65॥
कातकं फलमासाद्य यथा वारि प्रसीदति ।
तथा विज्ञानवशतः स्वभावः सम्प्रसीदति ॥66॥

जिस प्रकार चूहा पक्षी के जाल को काट डालता है, वैसे ही जिनका वासनारूपी जाल टूट गया हो और वैराग्य के योग से जिनकी हृदय की ग्रन्थियाँ ढीली पड़ गई हों, इसलिए जैसे निर्मली नाम की वनस्पति के फल को पाकर गन्दा पानी निर्मल हो जाता है, वैसे ही उस विज्ञान के कारण उन प्राणियों का आत्मा प्रसन्न हो जाता है।

नीरागं निरुपासङ्गं निर्द्वन्द्वं निरुपाश्रयम् ।
विनिर्याति मनो मोहाद्विहगः पञ्जरादिव ॥67॥
शान्तसन्देहदौरात्म्यं गतकौतुकविभ्रमम् ।
परिपूर्णान्तरं चेतः पूर्णेन्दुरिव राजते ॥68॥
नाहं न चान्यदस्तीह ब्रह्मैवास्मि निरामयम् ।
इत्थं सदसतोर्मध्याद्यः पश्यति स पश्यति ॥69॥

बाद में राग से रहित, निःसंग, द्वन्द्वरहित और आश्रयरहित मन, जिस प्रकार पंछी पिंजरे में से निकल जाता है, उसी तरह मोह में से निकल जाता है। इस प्रकार सन्देहात्मक दुष्टता के दूर हो जाने से स्वभाव शान्त हो जाता है, कौतुक की भ्रान्तियाँ टूट जाती हैं। ऐसा होने पर परिपूर्ण (ब्रह्माकार से भरा) चित्त पूर्ण चन्द्र की तरह प्रकाशित हो उठता है। 'इस जगत् में मैं नहीं हूँ और अन्य भी कुछ नहीं है। मैं ही निर्दोष ब्रह्म हूँ'—इस तरह सत् और असत् के बीच में से जो देखता है, वही सही रूप से देखता है (शेष तो सब अन्धे ही हैं)।

अयत्नोपनतेष्वक्षिदृग्द्रव्येषु यथा मनः ।
नीरागमेव पतति तद्वत् कार्येषु धीरधीः ॥70॥
परिज्ञायोपभुक्तो हि भोगो भवति तुष्टये ।
विज्ञाय सेवितश्चोरो मैत्रीमेति न चोरताम् ॥71॥
अशङ्किताऽपि सम्प्राप्ता ग्रामयात्रा यथाऽध्वगैः ।
प्रेक्ष्यते तद्वदेव ज्ञैर्भोगश्रीरवलोक्यते ॥72॥
मनसो निगृहीतस्य लीलाभोगोऽल्पकोऽपि यः ।
तमेवालब्धविस्तारं क्लिष्टत्वाद्बहुमन्यते ॥73॥
बन्धमुक्तो महीपालो ग्रासमात्रेण तुष्यति ।
परैरबद्धो नाक्रान्तो न राष्ट्रं बहु मन्यते ॥74॥

किसी प्रयत्न या अन्य कारण के बिना जिस प्रकार उपस्थित हुए दृश्य, दर्शन और द्रष्टा में मन रागरहित (उपेक्षा भाव वाला) होता है, इसी प्रकार धीर बुद्धिवाला मनुष्य सभी कार्यों में नीराग (रागरहित) हो जाता है। पूर्णतः स्वरूप को जानने के बाद ही भोगा गया भोग सन्तोष प्रदान करता है। जैसे पूरी पहचान के बाद परस्पर व्यवहार में लाया गया चोर मैत्री को ही प्राप्त करवाता है, अपनी चोरता को नहीं प्राप्त करवाता। जिस प्रकार हानि-लाभ की किसी प्रकार की चिन्ता किए बिना यों ही उपस्थित हुई ग्रामयात्रा को पथिक लोग देखते हैं, उसी प्रकार ज्ञानी लोग यदृच्छया आयी हुई भोगलक्ष्मी को अशंकित होकर उपेक्षा भाव से ही देखते हैं। वश में लाए गए मन के लिए तो थोड़ा भी भोग यदि लीला मात्र में (यों ही) आ पड़ा हो, तो भी वह मन उस अविस्तृत (छोटे से) भोग को भी क्लेशकारी होने से बहुत-बहुत ही मान लेता है। एक बार बन्दी बनकर छूटा हुआ राजा जो एक छोटे ग्रास (जमीन के टुकड़े से) भी सन्तुष्ट हो जाता है, परन्तु जो शत्रुओं के द्वारा कभी बन्दी बनाया ही न गया हो और दबाया न गया हो, ऐसा राजा तो समग्र देश प्राप्त हो जाए फिर भी उसे बहुत नहीं मानता (संतुष्ट नहीं होता)। (अर्थात् दबाया गया और वश में किया गया मन ही संतुष्ट होकर शान्त बैठ सकता है, स्वतंत्र या स्वेच्छाचारी मन नहीं।)

हस्तं हस्तेन संपीड्य दन्तैर्दन्तान् विचूर्ण्य च ।
अङ्गान्यङ्गैरिवाक्रम्य जयेदादौ स्वकं मनः ॥75॥
मनसो विजयान्नान्या गतिरस्ति भवार्णवे ।
महानरकसाम्राज्ये मत्तदुष्कृतवारणाः ।
आशाशरशलाकाढ्या दुर्जया हीन्द्रियारयः ॥76॥
प्रक्षीणचित्तदर्पस्य निगृहीतेन्द्रियद्विषः ।
पद्मिन्य इव हेमन्ते क्षीयन्ते भोगवासनाः ॥77॥
तावन्निशीव वेताला वसन्ति हृदि वासनाः ।
एकतत्त्वदृढाभ्यासाद्यावन्न विजितं मनः ॥78॥

इसलिए हाथ से हाथ मसलकर, दाँत से दाँत पीसकर, अंगों से अंग घिसकर, पहले तो किसी प्रकार से अपने मन को ही जीत लेना चाहिए। मन को जीतने के सिवाय अन्य कोई भी मार्ग इस संसार-सागर में है ही नहीं। संसार तो बड़े नरकों का साम्राज्य है, इसमें पापरूपी बड़े-बड़े हाथी रहते हैं और ये इन्द्रियरूपी शत्रु हाथ में आशारूपी अनेक तीक्ष्ण बाणों से सज्ज होकर दुर्जय बने हुए हैं।

जिस प्रकार हेमन्त ऋतु में कमल के पौधे नष्ट हो जाते हैं, वैसे ही जिसके चित्त का गर्व नष्ट हो गया हो और जिसके इन्द्रियरूपी शत्रु वश हो गए हों, उन्हीं की भोगवासनाएँ नष्ट होती हैं। जहाँ तक एक परमतत्त्व के अभ्यास के द्वारा मन जीता हुआ नहीं होता, वहाँ तक तो रात्रि में जैसे भूतप्रेत इधर-उधर घूमते रहते हैं, उसी तरह हृदय में वासनाएँ घूमती रहती हैं।

भृत्योऽभिमतकर्तृत्वान्मन्त्री सर्वार्थकारणात्।
सामन्तश्चेन्द्रियाक्रान्तेर्मनो मन्ये विवेकिनः ॥79॥
लालनात् स्निग्धललना पालनात् पालकः पिता।
सुहृदुत्तमविन्यासान्मनो मन्ये मनीषिणः ॥80॥
स्वालोकतः शास्त्रदृशा स्वबुद्ध्या स्वानुभावितः।
प्रयच्छति परां सिद्धिं त्यक्त्वाऽऽत्मानं मनःपिता ॥81॥
सुहृष्टः सुदृढः स्वच्छः सुक्रान्तः सुप्रबोधितः।
स्वगुणेनोर्जितो भाति हृदि हृद्यो मनोमणिः ॥82॥

मैं तो मानता हूँ कि विवेकी मनुष्य का मन तो चाहा हुआ काम करने वाला एक चाकर ही है। और साथ ही सभी विषयों में सही सलाह देने वाला मंत्री भी है। वह इन्द्रियों को दबा देने वाला एक सामन्त भी है। वह प्यार करने वाली प्रेमभरी प्रियतमा भी है। वह पालक पिता भी है, धरोहर (थाती) रखनेवाला उत्तम मित्र भी वह है। मैं तो बुद्धिमान ज्ञानी के मन को ऐसा ही मानता हूँ। मनरूपी पिता अपने प्रकाश से शास्त्ररूप दृष्टि द्वारा अपनी बुद्धि से और अपने प्रभाव से अपना ही त्याग करके परमसिद्धि प्रदान करता है। मन तो हृदय में रहा हुआ सुन्दर मणि है। उसको ठीक तरह से दबाकर (वश में लाकर) यदि अत्यन्त निर्मल और स्वच्छ बनाया जाए तो वह ऊर्जित होकर प्रकाशित होता है। नहीं तो वह अतिहृष्ट और आभास के भ्रम से सुदृढ़ भी हो सकता है। (यह वशीभूत और अवशीभूत मन का भेद है।)

एनं मनोमणिं ब्रह्मन् बहुपङ्ककलङ्कितम्।
विवेकवारिणा सिद्ध्यै प्रक्षाल्यालोकवान् भव ॥83॥
विवेकं परमाश्रित्य बुद्ध्या सत्यमवेक्ष्य च।
इन्द्रियारीनलं छित्त्वा तीर्णो भव भवार्णवात् ॥84॥
आस्थामात्रमनन्तानां दुःखानामाकरं विदुः।
अनास्थामात्रमभितः सुखानामालयं विदुः ॥85॥

हे ब्राह्मण! यह मनरूपी मणि अनेक प्रकार के कीचड़ से मैला हो गया है। इसलिए उसे विवेकरूपी पानी से धोकर सिद्धि प्राप्त करने के लिए तुम प्रकाशित हो जाओ। उत्तम विवेक का अवलम्बन करके तुम अपनी ही बुद्धि से सत्य को देखो (पहचान लो) और बाद में इन्द्रियरूपी शत्रुओं को समूल उखाड़कर फेंककर संसारसागर को पार कर जाओ। ज्ञानी लोग किसी भी वस्तु पर मन की आस्था (अविद्यात्मक विश्वास) को अनन्त दुःखों की खान ही समझते हैं और चारों ओर की अनास्था को (सभी पदार्थों के प्रति अविश्वसनीयता को) ही सुखों का स्थान मानते हैं।

वासनातन्तुबद्धोऽयं लोको विपरिवर्तते।
सा प्रसिद्धाऽतिदुःखाय सुखायोच्छेदमागता ॥86॥

धीरोऽप्यतिबहुज्ञोऽपि कुलजोऽपि महानपि।
तृष्णया बध्यते जन्तुः सिंहः शृङ्खलया यथा ॥87॥
परमं पौरुषं यत्नमास्थायादाय सूद्यमम्।
यथाशास्त्रमनुद्वेगमाचरन् को न सिद्धिभाक् ॥88॥
अहं सर्वमिदं विश्वं परमात्माऽहमच्युतः।
नान्यदस्तीति संवित्त्या प्रथमा सा ह्यहंकृतिः ॥89॥

यह लोक वासनारूपी तन्तुओं से बँधकर इधर-उधर घूमता रहता है। यह वासना ही सबकी जानी-मानी हुई अत्यन्त दुःख उत्पन्न करने वाली है। यदि वह नष्ट हो जाए, तो उसका वह नाश बड़े सुख के लिए हो जाता है। मनुष्य कितना भी धैर्यवान हो, कितना भी महाज्ञानी हो, कितना भी कुलवान हो और कितना भी बड़ा क्यों न हो, फिर भी जिस तरह सिंह शृंखला से बँध जाता है, उसी तरह तृष्णा से बँध जाता है। फिर भी परम पुरुषार्थ, सख्त उद्यम और परिश्रम का आश्रय लेकर बिना थके, बिना उद्वेग के, शास्त्रानुसार आचरण करने वाला भला कौन मनुष्य सिद्धि को प्राप्त नहीं कर सकता? 'यह सारा जगत् मैं ही हूँ, मैं अविनाशी आत्मा हूँ, मेरे बिना और कुछ है ही नहीं'—इस प्रकार के ज्ञान से जो अहंकार किया जाता है वह प्रथम उत्तम अहंकार है।

सर्वस्माद्व्यतिरिक्तोऽहं वालाग्रादप्यहं तनुः।
इति या संविदो ब्रह्मन् द्वितीयाऽहंकृतिः शुभा ॥90॥
मोक्षायैषा न बन्धाय जीवन्मुक्तस्य विद्यते ॥91॥
पाणिपादादिमात्रोऽयमहमित्येष निश्चयः।
अहंकारस्तृतीयोऽसौ लौकिकस्तुच्छ एव सः ॥92॥
जीव एव दुरात्माऽसौ कन्दः संसारदुस्तरोः।
अनेनाभिहतो जन्तुरधोऽधः परिधावति ॥93॥

हे ब्राह्मण! और जो 'मैं सबसे अलग हूँ, मैं बाल के अग्रभाग से भी सूक्ष्म हूँ'—इस प्रकार के ज्ञान से जो अहंकार किया जाता है, वह दूसरा शुभ अहंकार है (पहले से कुछ उतरता हुआ यह शुभाहंकार है)। इस प्रकार का अहंकार शुभ इसलिए है क्योंकि यह मोक्षकारक है, बन्धनकारक नहीं है। ऐसा अहंकार जीवन्मुक्त को होता है। परन्तु, 'हाथ-पैर वाला यह देह ही मैं हूँ'—इस प्रकार का जो निश्चयात्मक तीसरा अहंकार है, वह तुच्छ अहंकार है, वह लौकिक अहंकार है। यह जीव ही दुष्टात्मा है और संसाररूपी दुष्ट वृक्षों का यही मूल है। इसी से (जीवत्व से ही) मारा हुआ प्राणी नीचे से भी नीचे दौड़ादौड़ी करता रहता है।

अनया दुरहंकृत्या भावात् सन्त्यक्तया चिरम्।
शिष्टाहंकारवान् जन्तु शमवान् याति मुक्तताम् ॥94॥
प्रथमौ द्वावहंकारावङ्गीकृत्य त्वलौकिकौ।
तृतीयाऽहंकृतिस्त्याज्या लौकिकी दुःखदायिनी ॥95॥
अथ ते अपि सन्त्यज्य सर्वाहंकृतिवर्जितः।
स तिष्ठति तथाऽत्युच्चैः परमेवाधिरोहति ॥96॥

इस प्रकार यह जो तीसरा अहंकार है, वह बहुत ही दुष्ट है। उसे यदि निष्ठापूर्वक छोड़ा जाए, तो प्राणी तुरन्त ही उत्तम अहंकार वाला और शमयुक्त हो जाता है और मुक्त हो जाता है। इसलिए पहले

बताए हुए दो अलौकिक अहंकारों को स्वीकार करके तीसरे अहंकार को छोड़ देना चाहिए। क्योंकि वह लौकिक है और दुःखकर भी है। परन्तु जो मनुष्य पहले के दो अहंकारों को भी छोड़कर सभी प्रकार के अहंकारों से रहित हो जाता है, वह तो अत्यन्त उच्चतम पद पर ही आरूढ़ हो जाता है।

भोगेच्छामात्रको बन्धस्तत्त्यागो मोक्ष उच्यते।
मनसोऽभ्युदयो नाशो मनोनाशो महोदयः।
ज्ञमनो नाशमभ्येति मनोऽज्ञस्य हि शृङ्खला ॥97॥
नानन्दं न निरानन्दं न चलं नाचलं स्थिरम्।
न सन्नासन्न चैतेषां मध्यं ज्ञानिमनो विदुः ॥98॥
यथा सौक्ष्म्याच्चिदाभास्य आकाशो नोपलक्ष्यते।
तथा निरंशश्चिद्भावः सर्वगोऽपि न लक्ष्यते ॥99॥
सर्वसंकल्परहिता सर्वसंज्ञाविवर्जिता।
सैषा चिदविनाशात्मा स्वात्मेत्यादिकृताभिधा ॥100॥

भोग भोगने की कोई भी इच्छा बन्धन ही है और उस इच्छा का त्याग कर देना ही मोक्ष है। मन का अभ्युदय ही नाश कहलाता है तथा मन का नाश ही बड़ा उदय होता है। ज्ञानी का मन तो नाश को प्राप्त करता है, पर अज्ञानी का मन शृंखलारूप (बन्धनरूप) ही होता है। ज्ञानी का मन न तो आनंद है, न ही आनन्दरहित ही है। वह चल भी नहीं है और अचल भी नहीं है। वह स्थिर भी नहीं है। वह सत् भी नहीं है, असत् भी नहीं है, दोनों के बीच की स्थिति का भी वह नहीं है। केवल ज्ञानी लोग ही इस मन को समझ सकते हैं। जैसे चैतन्य द्वारा प्रकाशित आकाश सूक्ष्म होने से दिखाई नहीं पड़ता, वैसे ही अंगरहित चैतन्य यद्यपि सर्वव्यापी ही है, फिर भी दिखाई नहीं पड़ता। यह चैतन्य सर्वसंकल्पों से रहित, सर्वसंज्ञाओं से रहित, अविनाश स्वरूप ही है। उसी की संज्ञाएँ 'अपना आत्मा'—इत्यादि कही गई हैं।

आकाशशतभागाच्छा ज्ञेषु निष्कलरूपिणी।
सकलाऽमलसंसारस्वरूपैकात्मदर्शिनी ॥101॥
नास्तमेति न चोदेति नोत्तिष्ठति न तिष्ठति।
न च याति न चायाति न च नेह न चेह चित् ॥102॥
सैषा चिदमलाकारा निर्विकल्पा निरास्पदा ॥103॥

यह चैतन्य आकाश के सैंकड़ों भाग जैसा स्वच्छ है, अवयवरहित इसका स्वरूप है। ज्ञानी लोगों के द्वारा यह चैतन्य सकल-स्वच्छ-संसाररूप और एकात्मता को दिखाने वाला ही अनुभव में आता है। इसका कभी अस्त नहीं होता और कभी उदय भी नहीं होता है। वह खड़ा भी नहीं रहता और बैठता भी नहीं है। वह आता भी नहीं, जाता भी नहीं। वह 'यहाँ है' ऐसा भी नहीं कहा जा सकता और 'नहीं है'—ऐसा भी नहीं कहा जा सकता। ऐसा यह चैतन्य निर्मलाकार, निर्विकल्प और निराश्रय ही है।

आदौ शमदमप्रायैर्गुणैः शिष्यं विशोधयेत्।
पश्चात् सर्वमिदं ब्रह्म शुद्धस्त्वमिति बोधयेत् ॥104॥
अज्ञस्यार्धप्रबुद्धस्य सर्वं ब्रह्मेति यो वदेत्।
महानरकजालेषु स तेन विनियोजितः ॥105॥

प्रबुद्धबुद्धेः प्रक्षीणभोगेच्छस्य निराशिषः।
नास्त्यविद्यामलमिति प्राज्ञस्तूपदिशेद्गुरुः ॥106॥

पहले तो शमदमादि गुणों से शिष्य को ठीक तरह से शुद्ध करना चाहिए और बाद में, 'यह सब कुछ ब्रह्म है और वह ब्रह्म तू ही है'—इस प्रकार का उसे उपदेश देना चाहिए। परन्तु, जो शिष्य अज्ञानी हो और उसने उपदेश को आधा-जैसा अर्थात् धुँधला ही (आंशिक रूप में ही) समझा हो, उसे गुरु 'तू ब्रह्म है'—यदि ऐसा उपदेश देता है, तो वह गुरु तो उसे नरक के जालों में ही धकेल देता है। इसलिए जिसकी बुद्धि परिपक्व और जाग्रत् हो गई हो और जिसकी भोगों की इच्छा एकदम क्षीण हो चुकी हो और जिसकी सभी आशाएँ नष्ट हो गई हों, उसी को विद्वान् गुरु को 'यह अविद्यारूपी मैल है ही नहीं'—ऐसा उपदेश देना चाहिए।

सति दीप इवालोकः सत्यर्क इव वासरः।
सति पुष्प इवामोदश्चिति सत्यं जगत्तथा ॥107॥
प्रतिभासत एवेदं न जगत् परमार्थतः।
ज्ञानदृष्टौ प्रसन्नायां प्रबोधे विततोदये ॥108॥
यथावज्ज्ञास्यसि स्वस्थो मद्वाग्वृष्टिबलाबलम्।
अविद्यैवोत्तमया स्वार्थनाशोद्यमार्थया ॥109॥
विद्या सम्प्राप्यते ब्रह्मन् सर्वदोषापहारिणी।
शाम्यति ह्यस्त्रमस्त्रेण मलेन क्षाल्यते मलम् ॥110॥

जैसे दीपक है तभी प्रकाश है, सूर्य है तभी दिवस है, पुष्प है तभी सुगन्ध है, उसी प्रकार चैतन्य है, तभी तो जगत् सत्य होता है। परन्तु जब निर्मल ज्ञानदृष्टि उत्पन्न हो जाती है और निर्मल ज्ञान का प्रकाश विस्तृत रूप से फैल जाता है, तब यह जगत् वास्तविक रूप में दिखाई ही नहीं देता। तब तुम्हारी बड़ी अविद्या भी स्वार्थ का नाश करने के उद्यम में लग जाएगी। तब तुम स्वस्थ होगे और तब मेरी इस वाणी-वर्षा का बल और अबल ठीक तौर से समझ सकोगे। हे ब्राह्मण! जिस प्रकार अस्त्र से ही अस्त्र शान्त होता है, मैल से ही मैल का प्रक्षालन होता है, उसी प्रकार उस अविद्या (बड़ी अविद्या) से ही सभी दोषों को दूर करने वाली विद्या प्राप्त की जा सकती है।

शमं विषं विषेणैति रिपुणा हन्यते रिपुः।
ईदृशी भूतमायेयं या स्वनाशेन हर्षदा ॥111॥
न लक्ष्यते स्वभावोऽस्या वीक्ष्यमाणैव नश्यति।
नास्त्येषा परमार्थेनेत्येवं भावनयेद्धया ॥112॥
सर्वं ब्रह्मेति यस्यान्तर्भावना सा हि मुक्तिदा।
भेददृष्टिरविद्येयं सर्वथा तां विसर्जयेत् ॥113॥
मुने नासाद्यते तद्धि पदमक्षयमुच्यते।
कुतो जातेयमिति ते द्विज माऽस्तु विचारणा ॥114॥

और भी जैसे जहर से जहर शान्त होता है और शत्रु के द्वारा ही शत्रु मारा जा सकता है, वैसी ही यह भूतमाया है, जो अपने नाश द्वारा हर्षदायक हो जाती है। इस अविद्या का स्वभाव या स्वरूप तो ज्ञाना नहीं जा सकता, क्योंकि, "यह पारमार्थिक नहीं है"—ऐसी प्रदीप्त भावना से देखते-देखते ही उसका नाश हो जाता है। जिसके अन्तर में "यह सब ब्रह्म है"—ऐसी भावना हो जाती है उसे वही

अविद्या मुक्तिदायिनी हो जाती है। भेददृष्टि ही अविद्या है, इसलिए उसका सर्वथा त्याग ही कर देना चाहिए। हे मुनि ! उस पद को 'अक्षय' कहा जाता है। उसे यों ही (सरलता से) प्राप्त नहीं किया जा सकता। हे मुनि ! यह अविद्या कहाँ से उत्पन्न हुई, यह विचार तुम्हें नहीं करना चाहिए।

इमां कथमहं हन्मीत्येषा तेऽस्तु विचारणा।
अस्तं गतायां क्षीणायामस्यां ज्ञास्यसि तत् पदम् ॥115॥
यत एषा यथा चैषा यथा नष्टेत्यखण्डितम्।
तदस्या रोगशालाया यत्नं कुरु चिकित्सने ॥116॥
यथैषा जन्मदुःखेषु न भूयस्त्वां नियोक्ष्यति।
स्वात्मनि स्वपरिस्पन्दैः स्फुरत्यच्छैश्चिदर्णवः ॥117॥
एकात्मकमखण्डं तदित्यन्तर्भाव्यतां दृढम्।
किञ्चित्क्षुभितरूपा सा चिच्छक्तिश्चिन्मयार्णवे ॥118॥

तुम्हें यही विचार आना चाहिए कि 'इस अविद्या का मैं कैसे नाश करूँ ?' यह अविद्या जब क्षीण होकर अस्त हो जाएगी, तभी तुम उस परमपद को प्राप्त करोगे। यह अविद्या जहाँ से जन्मी है, जिस प्रकार के स्वरूपवाली है और जिस प्रकार से इसका नाश होता है—इस बात का तुम सतत विचार किया ही करो और फिर रोगों के घर जैसी उस अविद्या की चिकित्सा के लिए प्रयत्न करो। इससे वह तुम्हें जन्मादि के दुःखों में फिर से नहीं जोड़ेगी। तब चैतन्यरूप समुद्र अपनी स्वच्छ तरंगों के साथ तुम्हारे हृदय में प्रकाशित हो जाएगा। चैतन्यमय समुद्र की वह चैतन्य शक्ति जब कभी क्षुभित हो जाए, तब 'वह चैतन्य एक आत्मरूप ही है'—इस प्रकार हृदय में दृढ भावना करनी चाहिए।

तन्मयैव स्फुरत्यच्छा तत्रैवोर्मिरिवार्णवे।
आत्मन्येवात्मना व्योम्नि यथा सरसि मारुतः ॥119॥
तथैवात्माऽऽत्मशक्त्यैव स्वात्मन्येवैति लोलताम्।
क्षणं स्फुरति सा दैवी सर्वशक्तितया तथा ॥120॥
देशकालक्रियाशक्तिर्न यस्याः सम्प्रकर्षणे।
स्वस्वभावं विदित्वोच्चैरप्यनन्तपदे स्थिता ॥121॥
रूपं परिमितेनासौ भावयत्यविभाविता।
यदैवं भावितं रूपं तया परमकान्तया ॥122॥

जिस प्रकार सागर की स्वच्छ तरंगें सागरमय होते हुए सागर में ही प्रकाशित होती हैं, उसी प्रकार आत्मस्वरूप हृदयाकाश में आत्मरूप में चैतन्यशक्ति प्रकाशित होती है। जिस प्रकार वायु सरोवर में चंचलता को प्राप्त करता है, उसी प्रकार आत्मा अपनी शक्ति से ही अपने में ही क्षणभर के लिए सर्वशक्तिमान होने से चंचलता को प्राप्त करता है। वही उसकी दैवी शक्ति है। उस दैवी शक्ति को देश, काल या क्रिया की कोई शक्ति खींच नहीं सकती। वह तो अपना उच्च स्वभाव जानकर स्वयं अनन्त पद में अवस्थित रही है। वह चित्-शक्ति (दैवी शक्ति) सब के द्वारा अज्ञात रहकर ही परिमित स्वरूप से (परिमित प्रमाण में) अपना स्वरूप प्रकट करती है। और इस प्रकार परमप्रिय उस चित्शक्ति ने अपना रूप प्रकट किया होता है।

तदैवैनामनुगता नामसंख्यादिका दृशः।
विकल्पकलिताकारं देशकालक्रियाऽऽस्पदम् ॥123॥

चितो रूपमिदं ब्रह्मन् क्षेत्रज्ञ इति कथ्यते।
वासनाः कल्पयन् सोऽपि यात्यहंकारतां पुनः ॥124॥
अहंकारो विनिर्णेता कलङ्की बुद्धिरुच्यते।
बुद्धिः संकल्पिताकारा प्रयाति मननास्पदम् ॥125॥
मनो घनविकल्पं तु गच्छतीन्द्रियतां शनैः।
पाणिपादमयं देहमिन्द्रियाणि विदुर्बुधाः ॥126॥

जब यह चित्शक्ति अपना रूप प्रकट करती है, तभी तो नाम-रूप, संख्या आदि अन्य दृष्टियाँ उसका अनुसरण करती हैं। हे ब्राह्मण ! इस चित्शक्ति का जो विकल्पों से आकार धारण करने वाला रूप है और जो देश-काल-क्रिया का स्थान होता है, इसको 'क्षेत्रज्ञ' कहा जाता है। वह 'क्षेत्रज्ञ' रूप वासनाओं की कल्पना करता रहता है और अहंकार को प्राप्त होता है। जब वह अहंकार कोई विशेष निर्णय करने वाला होता है, तब उसे बुद्धि कहा जाता है। विशेष निर्णय से कलंकी बुद्धि भी संकल्पों के आकारवाली होकर मनन का स्थान रूप 'मन' बनती है। फिर वह मन बहुत से विकल्पों से युक्त होकर इन्द्रियत्व को प्राप्त करता है। हाथ-पैर आदि अवयवों से युक्त जो शरीर है, उसे ही ज्ञानी लोग इन्द्रियाँ कहते हैं।

एवं जीवो हि संकल्पवासनारज्जुवेष्टितः।
दुःखजालपरीतात्मा क्रमादायाति नीचताम् ॥127॥
इति शक्तिमयं चेतो घनाहङ्कारतां गतम्।
कोशकारक्रिमिरिव स्वेच्छया याति बन्धनम् ॥128॥
स्वयं कल्पिततन्मात्राजालाभ्यन्तरवर्ति च।
परां विवशतामेति शृङ्खलाबद्धसिंहवत् ॥129॥
क्वचिन्मनः क्वचिद्बुद्धिः क्वचिज्ज्ञानं क्वचित् क्रिया।
क्वचिदेतदहंकारः क्वचिच्चित्तमिति स्मृतम् ॥130॥

इस प्रकार संकल्पों की वासनामय डोरियों से आविष्ट (आवृत) रहकर जीव दुःखों के जालों में घिरा हुआ ही रहता है और धीरे-धीरे निम्नता (निचले स्तर) को प्राप्त हो जाता है। इस प्रकार मूलतः तो शक्तिमय चैतन्य ही प्रगाढ अहंकार को प्राप्त होता है। और रेशम के कीड़े की तरह अपनी ही इच्छा से बन्धन को प्राप्त करता रहता है। अपने आपके द्वारा ही कल्पित की गई तन्मात्राओं (विषयों) के समूह के बीच रहकर वह चैतन्य शृंखलाओं से बँधे हुए सिंह की भाँति अत्यन्त पराधीनता को प्राप्त हो जाता है। यह मन ही किसी काल में ज्ञान, किसी काल में क्रिया, किसी काल में अहंकार और किसी काल में चित्त कहा जाता है।

क्वचित् प्रकृतिरित्युक्तं क्वचिन्मायेति कल्पितम्।
क्वचिन्मलमिति प्रोक्तं क्वचित् कर्मेति संस्मृतम् ॥131॥
क्वचिद्बन्ध इति ख्यातं क्वचित् पुर्यष्टकं स्मृतम्।
प्रोक्तं क्वचिदविद्येति क्वचिदिच्छेति सम्मतम् ॥132॥
इमं संसारमखिलमाशापाशविधायकम्।
दधदन्तःफलैर्हीनं वटधाना वटं यथा ॥133॥

चिन्ताऽनलशिखादग्धं कोपाजगर चर्वितम् ।
कामाब्धिकल्लोलरतं विस्मृतात्मपितामहम् ॥134॥

और भी, कभी वह प्रकृति, कभी माया, कभी मैल और कभी कर्म के नाम से कहा जाता है। कभी वह बन्धन के रूप में कहा जाता है, तो कभी अष्टपुरी के नाम से जाना जाता है। कभी उसे अविद्या कहा जाता है, तो कभी उसे इच्छा के रूप में भी माना जाता है। आशा के फन्दे खड़े करने वाले इस सारे संसार को वह धारण करता है। जिस प्रकार वटबीज वटवृक्ष को धारण करता है, उसी प्रकार यह सारे संसार को धारण किए हुए तो है, परन्तु यह संसार किसी फल से तो रहित ही है। चिन्तारूपी अग्नि की शिखाओं से यह संसार जला ही करता है। क्रोधरूपी अजगर इसे चबाया ही करता है, कामरूपी सागर की तरंगें इसमें उछलती ही रहती हैं और यह मन (जीव) अपने पितामह रूप आत्मस्वरूप को तो भूल ही गया है।

समुद्धर मनो ब्रह्मन् मातङ्गमिव कर्दमात् ।
एवं जीवाश्रिता भावा भवभावनयाऽऽहिताः ॥135॥
ब्रह्मणा कल्पिताकारा लक्षशोऽप्यथ कोटिशः ।
संख्याऽतीताः पुरा जाता जायन्तेऽद्यापि चाभितः ॥136॥
उत्पत्स्यन्तेऽपि चैवान्ये कणौघा इव निर्झरात् ।
केचित् प्रथमजन्मानः केचिज्जन्मशताधिकाः ॥137॥
केचिच्चासंख्यजन्मानः केचिद् द्वित्रिभवान्तराः ।
केचित् किन्नरगन्धर्वविद्याधरमहोरगाः ॥138॥

हे ब्राह्मण! कीचड़ में फँसे हुए हाथी को जैसे बहुत बल से बाहर निकाला जाता है, वैसे ही इस अपने मन को तुम संसार में से बाहर खींच निकालो। क्योंकि कीचड़ की तरह सांसारिक भाव अनेकानेक रूप से जीव को घेरे हुए हैं। ब्रह्म के द्वारा उनके लाखों और करोड़ों की संख्या में आकार कल्पित किए जाते हैं। ऐसे कई आकार पहले भी जन्म ले चुके हैं और आज भी चारों ओर वे जन्म लिया ही करते हैं। जिस प्रकार झरने से जलबिन्दु जन्म लिया करते हैं, वैसे ही भविष्य में और भी उत्पन्न हुआ ही करेंगे। कुछ पहले जन्मे हैं, कुछ सैकड़ों बार जन्मे हैं, कुछ असंख्य रूपों में जन्मे हैं, कुछ दो-तीन जन्मों का अन्तर रखकर जन्मते हैं, इनमें कुछ किन्नर, गंधर्व, विद्याधर, बड़े सर्प हुए हैं।

केचिदर्केन्दुवरुणास्त्र्यक्षाधोक्षजपद्मजाः ।
केचिद्ब्राह्मणभूपालवैश्यशूद्रगणाः स्थिताः ॥139॥
केचित्तृणौषधीवृक्षफलमूलपतङ्गकाः ।
केचित् कदम्बजम्बीरसालतालतमालकाः ॥140॥
केचिन्महेन्द्रमलयसह्यमन्दरमेरवः ।
केचित् क्षारोदधिक्षीरघृतेक्षुजलराशयः ॥141॥
केचिद्विशालाः ककुभः केचिन्नद्यो महारयाः ।
विहायस्युच्चकैः केचिन्निपतन्त्युत्पतन्ति च ॥142॥

कुछ सूर्य, चन्द्र वरुण, रुद्र, विष्णु और ब्रह्मा हुए हैं। और कुछ ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र के समुदाय रूप में जन्मे हैं। कुछ तो घास, औषधि, वृक्ष, फल, मूल तथा जुगनुओं के रूप में

जन्मे हैं और कुछ तो कदम्ब, जम्बीर, साल, ताल और तमाल नाम के वृक्षों के रूप में उत्पन्न हुए हैं। तो कुछ महेन्द्र, मलय, सह्याद्रि, मन्दर और मेरु पर्वत हुए हैं। तो कुछ क्षारसमुद्र, क्षीरसमुद्र, घृतसमुद्र, इक्षुसमुद्र आदि हुए हैं। कुछ विशाल दिशाएँ हुए हैं तो कुछ बड़े वेगवाली नदियाँ हुए हैं। कुछ आकाश में उछलते हैं और कुछ गिरते हैं।

कन्दुका इव हस्तेन मृत्युनाऽविरतं हताः ।
भुक्त्वा जन्मसहस्राणि भूयः संसारसंकटे ॥143॥
पतन्ति केचिदबुधाः सम्प्राप्यापि विवेकिताम् ।
दिक्कालाद्यनवच्छिन्नमात्मतत्त्वं स्वशक्तितः ॥144॥
लीलयैव यदादत्ते दिक्कालकलितं वपुः ।
तदेव जीवपर्यायवासनावेशतः परम् ॥145॥

कुछ आकाश में गेंद की तरह उछलते-गिरते और दिन-प्रतिदिन मृत्यु से मारे जाते हैं। कुछ मूर्ख लोग तो विवेक पदार्थ को प्राप्त करके भी हजारों जन्म लेते हैं और फिर से संसारसंकट में गिर पड़ते हैं। आत्मतत्त्व तो दिशा, काल आदि से अव्याप्य (अप्रमेय) है। वह अपनी शक्ति से लीलामात्र में दिशा और काल से परिमित जो रूप धारण करता है, वही वासनाओं के आवेश से जीव का पर्यायरूप बन जाता है।

मनः सम्पद्यते लोलं कलनाकलनोन्मुखम् ।
कलयन्ती मनःशक्तिरादौ भावयति क्षणात् ॥146॥
आकाशभावनामच्छां शब्दबीजरसोन्मुखीम् ।
ततस्तद्घनतां यातं घनस्पन्दक्रमान्मनः ॥147॥
भावयत्यनिलस्पन्दं स्पर्शबीजरसोन्मुखम् ।
ताभ्यामाकाशवाताभ्यां दृढाभ्यासवशात्ततः ॥148॥
शब्दस्पर्शस्वरूपाभ्यां संघर्षाज्जन्यतेऽनलः ।
रूपतन्मात्रसहितं त्रिभिस्तैः सह सम्मितम् ॥149॥

यह मन चंचल है और सदैव संकल्प-विकल्पों में तत्पर रहता है। संकल्प-विकल्प करती हुई यह मनःशक्ति पहले क्षण में तो आकाश की निर्मल भावना को धारण करती है। वह भावना शब्दरूप बीज के रस में तत्पर होती है। बाद में वह मन घनस्पन्दनों के क्रम से घनता को प्राप्त करता है। और स्पर्शरूप बीज के स्पर्शयुक्त वायु के स्पन्दन की भावना करता है। इसके बाद दृढ अभ्यास के कारण से उस शब्दरूप आकाश का और स्पर्शरूप वायु का घर्षण होता है। उस परस्पर घर्षण से अग्नि उत्पन्न होती है और इससे रूपतन्मात्रा भी तीनों (आकाश, वायु और अग्नि) के साथ उत्पन्न हो जाती है।

मनस्तादृग्गुणगतं रसतन्मात्रवेदनम् ।
क्षणाच्चेतत्यपां शैत्यं जलसंवित्ततो भवेत् ॥150॥
ततस्तादृग्गुणगतं मनो भावयति क्षणात् ।
गन्धतन्मात्रमेतस्माद्भूमिसंवित्ततो भवेत् ॥151॥
अथेत्थंभूततन्मात्रवेष्टितं तनुतां जहत् ।
वपुर्वह्निकणाकारं स्फुरितं व्योम्नि पश्यति ॥152॥

अहङ्कारकलायुक्तं बुद्धिबीजसमन्वितम् ।
तत्पुर्यष्टकमित्युक्तं भूतहृत्पद्मषट्पदम् ॥153॥

आकाश-वायु-अग्नि के तीनों गुणों को प्राप्त हुआ मन रसतन्मात्रा का अनुभव करता है। इसलिए उसी क्षण में वह जल की शीतलता को जान जाता है। इस कारण से उसे जल का अनुभव (ज्ञान) हो जाता है। फिर उन चारों पूर्वोक्त गुणों को प्राप्त हुआ मन क्षणभर में गन्ध की भावना करता है। अत: इस गन्धतन्मात्रा की भावना से उसे पृथ्वी का अनुभव (ज्ञान) होता है। इस प्रकार पाँचों भूतों की तन्मात्राओं से आवेष्टित होने के बाद मन अपनी सूक्ष्मता को छोड़ देता है। इसलिए वह अग्निकण जैसे आकार वाले शरीर के रूप में अपने आपको आकाश में प्रकाशित होता हुआ देखता है। अहंकार की कला से युक्त, बुद्धिरूप बीज के साथ होकर यही मन 'अष्टपुर' कहा जाता है। सभी प्राणियों के हृदयरूपी कमल में यह मन भ्रमर की तरह है।

तस्मिंस्तु तीव्रसंवेगाद्भावयद्भासुरं वपुः ।
स्थूलतामेति पाकेन मनो बिल्वफलं यथा ॥154॥
मूषास्थद्रुतहेमाभं स्फुरितं विमलाम्बरे ।
संनिवेशमथादत्ते तत्तेजः स्वस्वभावतः ॥155॥
ऊर्ध्वं शिरःपिण्डमयमधः पादमयं तथा ।
पार्श्वयोर्हस्तसंस्थानं मध्ये चोदरधर्मिणम् ॥156॥
कालेन स्फुटतामेत्य भवत्यमलविग्रहम् ।
बुद्धिसत्त्वबलोत्साहविज्ञानैश्वर्यसंस्थितः ॥157॥

वह हृदयस्थ मन उसमें तीव्र वेग से तेजस्वी शरीर की भावना करता है। अत: बिल्वफल की तरह परिपक्व होकर वह स्थूलता को प्राप्त करता है। बाद में दीपपात्र में रखे गए पिघले हुए सोने की तरह प्रकाशित और स्वच्छ आकाश में चमकता हुआ वह तेज अपने सहज स्वभाव से ही आकार धारण करता है। ऊपर के भाग में मस्तक पिण्डरूप तथा नीचे के भाग में पैरों का आकार तथा दो पार्श्वों की ओर दोनों हाथों की आकृति और बीच में पेट का दृश्य उसमें उत्पन्न होता है। फिर कुछ समय के बाद, वह स्पष्ट अभिव्यक्ति को प्राप्त करके निर्मल शरीर के रूप में होता है और उसमें बुद्धि, सत्त्व, बल, उत्साह, विज्ञान तथा ऐश्वर्य स्थान लेते हैं।

स एव भगवान् ब्रह्मा सर्वलोकपितामहः ।
अवलोक्य वपुर्ब्रह्मा कान्तमात्मीयमुत्तमम् ॥158॥
चिन्तामभ्येत्य भगवांस्त्रिकालामलदर्शनः ।
एतस्मिन् परमाकाशे चिन्मात्रैकात्मरूपिणि ॥159॥
अदृष्टपारपर्यन्ते प्रथमं किं भवेदिति ।
इति चिन्तितवान् ब्रह्मा सद्योजातामलात्मदृक् ॥160॥
अपश्यत् सर्गवृन्दानि समतीतान्यनेकशः ।
स्मरत्यथो स सकलान् सर्वधर्मगुणक्रमात् ॥161॥

वही सर्व लोकों के पितामह ब्रह्माजी हैं। अपने सुन्दर और उत्तम शरीर को देखकर ब्रह्माजी को विचार आया। यद्यपि उन भगवान् को तीनों काल का निर्मल ज्ञान तो था, फिर भी केवल एक

चिदात्मरूप परमाकाश में उन्हें कोई किनारा या अन्त नहीं दिखाई दिया। इसलिए वे विचार में पड़ गए कि इसमें पहला क्या होना चाहिए ? सोचने पर उन्हें तुरन्त ही निर्मल आत्मदृष्टि प्रकट हुई। भूतकाल की अनेक सृष्टियों के समूह उन्होंने देखे और उन सबके गुणों और धर्मों को सकल क्रम का उन्हें (ब्रह्माजी को) स्मरण हो आया।

लीलया कल्पयामास चित्राः सङ्कल्पतः प्रजाः ।
नानाऽऽचारसमारम्भा गन्धर्वनगरं यथा ॥162॥
तासां स्वर्गापवर्गार्थं धर्मकामार्थसिद्धये ।
अनन्तानि विचित्राणि शास्त्राणि समकल्पयत् ॥163॥

बाद में उन्होंने केवल संकल्प से ही (केवल लीलामात्र में, देखते ही देखते) गन्धर्वनगर की तरह अनेक प्रकार के आचारों को करने वाली तरह-तरह की प्रजाएँ उत्पन्न कर दीं और उन्हें स्वर्ग और मोक्ष की प्राप्ति कराने वाले तथा धर्म, अर्थ, काम की सिद्धि कराने के लिए अनेक अद्भुत शास्त्र भी रच दिए।

विरञ्चिरूपान्मनसः कल्पितत्वाज्जगत्स्थितेः ।
तावत्स्थितिरियं प्रोक्ता तन्नाशे नाशमाप्नुयात् ॥164॥
न जायते न म्रियते क्वचित् किञ्चित् कदाचन ।
परमार्थेन विप्रेन्द्र मिथ्या सर्वं तु दृश्यते ॥165॥
कोशमाशाभुजङ्गानां संसाराडम्बरं त्यज ।
असदेतदिति ज्ञात्वा मातृभावं निवेशय ॥166॥
गन्धर्वनगरस्यार्थे भूषितेऽभूषिते तथा ।
अविद्यांशे सुतादौ वा कः क्रमः सुखदुःखयोः ॥167॥

इस प्रकार इस ब्रह्मारूपी मन से इस जगत् की स्थिति कल्पित की गई है। इसलिए जहाँ तक उसकी स्थिति है, वहीं तक जगत् की भी स्थिति है और उस ब्रह्मरूप मन का नाश होने पर जगत् का भी नाश होता है। हे ब्राह्मण ! वास्तविक (पारमार्थिक) दृष्टि से तो किसी भी देश में और किसी भी काल में कोई मरता भी नहीं है और कोई जन्मता भी नहीं है। क्योंकि सब मिथ्या ही है, ऐसा दिखाई देता है। इस संसार का आडम्बर आशारूपी साँपों का निवासस्थान ही है। इसलिए तुम इसका त्याग ही कर दो। और 'यह असत् ही है'—ऐसा जानकर इसमें मातृभाव (कारणमात्र भाव) ही रखो। पुत्र आदि अविद्या के अंश हैं और गन्धर्वनगर के ही वे पदार्थ हैं। उन्हें शोभित किया जाए या न किया जाए, उनके सम्बन्ध में सुख-दु:ख का भला क्या क्रम हो सकता है ? (अर्थात् कोई नहीं)।

धनदारेषु वृद्धेषु दुःखं युक्तं न तुष्टता ।
वृद्धायां मोहमायायां कः समाश्वासवानिह ॥168॥
यैरेव जायते रागो मूर्खस्याधिकतां गतैः ।
तैरेव भोगैः प्राज्ञस्य विराग उपजायते ॥169॥
अतो निदाघ तत्त्वज्ञ व्यवहारेषु संसृतेः ।
नष्टं नष्टमुपेक्षस्व प्राप्तं प्राप्तमुपाहर ॥170॥
अनागतानां भोगानामवाञ्छनमकृत्रिमम् ।
आगतानां च संभोग इति पण्डितलक्षणम् ॥171॥

धन और स्त्रियों के बढ़ जाने पर तो दुःखी होना चाहिए। प्रसन्न तो होना ही नहीं चाहिए क्योंकि मोह-माया के बढ़ जाने से यहाँ भला किसने शान्ति प्राप्त की है ? भोगों की अधिकता हो जाने से मूर्खों को जहाँ आनन्द होता है, वहीं उसी भोगाधिक्य से ज्ञानी को वैराग्य हो जाता है। इसलिए हे तत्त्वज्ञानी निदाघ ! संसार के व्यवहार में जिन-जिन पदार्थों का नाश हुआ हो उसकी अपेक्षा करो और जो यदृच्छा से मिल या हो उसको स्वीकार कर लो। जो भोग नहीं मिले हैं, उनकी स्वाभाविक चिन्ता नहीं करनी चाहिए और मिले हुए पदार्थों का समुचित उपयोग करना चाहिए। यह पंडित का लक्षण है।

शुद्धं सदसतोर्मध्यं पदं बुद्ध्वाऽवलम्ब्य च।
सबाह्याभ्यन्तरं दृश्यं मा गृहाण विमुञ्च मा ॥172॥
यस्य चेच्छा तथाऽनिच्छा ज्ञस्य कर्मणि तिष्ठतः।
न तस्य लिप्यते प्रज्ञा पद्मपत्रमिवाम्बुभिः ॥173॥
यदि ते नेन्द्रियार्थश्रीः स्पन्दते हृदि वै द्विज।
तदा विज्ञातविज्ञेयः समुत्तीर्णो भवार्णवात् ॥174॥
उच्चैःपदाय परया प्रज्ञया वासनागणात्।
पुष्पाद्गन्धमपोह्यारं चेतोवृत्तिं पृथक्कुरु ॥175॥

सत् और असत् की माथापच्ची छोड़कर बीच का जो सदसन्निरपेक्ष शुद्ध पद है, इसी को जानकर उसी का अवलम्बन करो और बाद में बाह्य-आभ्यन्तर दृश्यों को स्वीकार भी मत करो और त्याग भी मत करो। ('मैं ब्रह्म हूँ' ऐसा अवलम्बन करके फिर स्वीकार-अस्वीकार का कोई प्रश्न ही नहीं उठता।) कर्म में प्रवृत्त जिस ज्ञानी की ज्ञान सम्बन्धी इच्छा का होना या न होना—कुछ भी नहीं होता। जैसे कमलपत्र जल से लिप्त नहीं होता, वैसे ही ऐसे ज्ञानी पुरुष की बुद्धि कर्म से लिप्त नहीं होती। (फिर तो ज्ञान की इच्छा होने का प्रश्न ही कहाँ है ?) हे ब्राह्मण ! तुम्हारे हृदय में जब इन्द्रियों के विषयों की सुन्दरता का ख्याल ही स्फुरित नहीं होगा, तब तुम जानने योग्य सब कुछ जान जाओगे और इस संसाररूपी सागर में से तुम पार पहुँच जाओगे। जिस प्रकार पुष्प में से गन्ध दूर किया जाए, उसी प्रकार ऊँचे आसन पर आरूढ़ होने के लिए तुम अपनी चितवृत्तियों को वासनाओं के समूह से अलग ही कर डालो।

संसाराम्बुनिधावस्मिन् वासनाऽम्बुपरिप्लुते।
ये प्रज्ञानावमारूढास्ते तीर्णाः पण्डिताः परे ॥176॥
न त्यजन्ति न वाञ्छन्ति व्यवहारं जगद्गतम्।
सर्वमेवानुवर्तन्ते पारावारविदो जनाः ॥177॥
अनन्तस्यात्मतत्त्वस्य सत्तासामान्यरूपिणः।
चितश्चेत्योन्मुखत्वं यत्तत् संकल्पाङ्कुरं विदुः ॥178॥
लेशतः प्राप्तसत्ताकः स एव घनतां शनैः।
याति चित्तत्वमापूर्य दृढं जाड्याय मेघवत् ॥179॥

यह संसाररूपी समुद्र वासनारूपी जल से भरा हुआ है। बहुत से पण्डित प्रज्ञारूपी नौका में बैठकर उसे पार कर गए हैं। पारावार को जानने वाले पण्डित लोग जगत् के व्यवहार को छोड़ नहीं देते और साथ ही साथ चाहते भी तो नहीं हैं। वे तो सबका अनुसरण मात्र करते हैं। आत्मतत्त्व अनन्त है। वह सामान्य सत्तास्वरूप है। ऐसे इस चैतन्य की विषयोन्मुखता जो होती है उसी को ज्ञानी लोग

संसार का अंकुर कहते हैं। इस अंकुर (विषयाभिमुखता) का लेशमात्र भी जिसने प्राप्त किया हो, तो वह लेशमात्र धीरे-धीरे घनता को प्राप्त करता है (अस्तित्व को प्राप्त कर लेता है) और चित्तत्त्व को अपने में भरकर (या अपने से ढँककर) मेघ की तरह व्याप्त कर जड़ता को प्राप्त करा देता है।

भावयन्ति चितिश्चैत्यं व्यतिरिक्तमिवात्मनः।
संकल्पतामिवायाति बीजमङ्कुरतामिव ॥180॥
संकल्पनं हि संकल्पः स्वयमेव प्रजायते।
वर्धते स्वयमेवाशु दुःखाय न सुखाय यत् ॥181॥
मा संकल्पय संकल्पं मा भावं भावय स्थितौ।
संकल्पनाशने यत्तो न भूयोऽननुगच्छति ॥182॥
भावनाऽभावमात्रेण संकल्पः क्षीयते स्वयम्।
संकल्पेनैव संकल्पं मनसैव मनो मुने ॥183॥

जब चैतन्य, विषयों को अपने से अलग होने की भावना करता है, तब जैसे बीज में से अंकुर फूट निकलता है, वैसे ही वह चिति संकल्प का रूप धारण करता है। तो इस प्रकार की भावना (संकल्पन) ही संकल्प है। ये संकल्प आप-ही-आप उत्पन्न होते हैं, एवं आप-ही-आप शीघ्र ही बढ़ते रहते हैं। बाद में वे दुःखदायी ही होते हैं, सुखदायी कभी नहीं होते। इसलिए संकल्प मत करो। और अपनी स्वरूपस्थिति में किसी भी प्रकार की भावना मत करो। क्योंकि संकल्पों का नाश करने में सावधान रहने वाला मनुष्य फिर से उसका अनुसरण नहीं करता। संकल्प की भावना का केवल अभाव होने से ही संकल्प आप ही आप नष्ट हो जाता है। इस प्रकार हे मुनि ! तुम संकल्पों से ही संकल्पों का और मन से ही मन का नाश करो। (अर्थात् मन से ही मन को मारो।)

छित्त्वा स्वात्मनि तिष्ठ त्वं किमेतावति दुष्करम्।
यथैवेदं नभः शून्यं जगच्छून्यं तथैव हि ॥184॥
तण्डुलस्य यथा चर्म यथा ताम्रस्य कालिमा।
नश्यति क्रियया विप्र पुरुषस्य तथा मलम् ॥185॥
जीवस्य तण्डुलस्येव मलं सहजमप्यलम्।
नश्यत्येव न संदेहस्तस्मादुद्योगवान् भवेत् ॥186॥
इति महोपनिषत्।

इति पञ्चमोऽध्यायः

इस प्रकार मन को काट कर तुम अपने स्वरूप में ही स्थित रहो। इसमें कौन सी कठिन बात है ? (यह तो बहुत ही सरल है।) जिस प्रकार यह आकाश शून्य है, उसी प्रकार यह जगत् भी तो शून्य ही है। हे ब्राह्मण ! जिस तरह तण्डुल का छिलका और ताँबे की कालिमा प्रयत्न करने पर दूर हो जाती है, उसी प्रकार हे ब्राह्मण ! पुरुष की मलिनता भी क्रिया से नष्ट हो जाती है। यह जीव तण्डुल जैसा है। यद्यपि उसका मैल तो स्वाभाविक ही है, तथापि वह नष्ट तो होता ही है, इसमें किसी प्रकार का सन्देह नहीं है। इसलिए उद्योगी होना चाहिए, ऐसा यह उपनिषत् कहती है।

यहाँ पाँचवाँ अध्याय पूरा होता है।

❋

षष्ठोऽध्यायः

अन्तरास्थां परित्यज्य भावश्रीं भावनामयीम् ।
योऽसि सोऽसि जगत्यस्मिन् लीलया विहरानघ ॥1॥
सर्वत्राहमकर्तेति दृढभावनयाऽनया ।
परमामृतनाम्नी सा समतैवावशिष्यते ॥2॥
खेदोल्लासविलासेषु स्वात्मकर्तृतयैकया ।
स्वसङ्कल्पे क्षयं याते समतैवावशिष्यते ॥3॥
समता सर्वभावेषु याऽसौ सत्यपरा स्थितिः ।
तस्यामवस्थितं चित्तं न भूयो जन्मभाग्भवेत् ॥4॥

हे निष्कलंक ! तुम तो जो हो वही हो। इसलिए भावना को और भीतर की भावरूप भरी हुई सुन्दरता का और उस पर की आस्था का त्याग करके आनन्द से इस जगत् में विहार करो। सर्वत्र 'मैं कर्ता नहीं हूँ'—इस प्रकार की दृढ़ भावना से जो परिणामरूप शेष रहता है, वह 'अमृता' नामधारी समता ही है। अपने आत्मा में 'कर्तापन है'—इस प्रकार की भावना से तो खेद के ही उल्लासविलास होते हैं। इसलिए अपने कर्तृत्वरूप संशय के नाश हो जाने से केवल समता ही शेष रह जाती है। सर्व पदार्थों के ऊपर समता हो जाए यही सत्यपरायण स्थिति है। उसमें स्थिर रहने वाला चित्त कभी पुनर्जन्म नहीं पाता।

अथवा सर्वकर्तृत्वमकर्तृत्वं च वै मुने ।
सर्वं त्यक्त्वा मनः पीत्वा योऽसि सोऽसि स्थिरो भव ॥5॥
शेषस्थिरसमाधानो येन त्यजसि तत्त्यज ।
चिन्मनःकलनाऽऽकारं प्रकाशतिमिरादिकम् ॥6॥
वासनां वासितारं च प्राणस्पन्दनपूर्वकम् ।
समूलमखिलं त्यक्त्वा व्योमसाम्यः प्रशान्तधीः ॥7॥
हृदयात् सम्परित्यज्य सर्ववासनपङ्क्तयः ।
यस्तिष्ठति गतव्यग्रः स मुक्तः परमेश्वरः ॥8॥

अथवा हे मुनि ! कर्तृत्व या अकर्तृत्व—सब कुछ छोड़कर तुम अपने मन को ही पी जाओ। और फिर बाद में जो बचा रहता है, वही तुम हो, इस प्रकार से स्थिर हो जाओ। इस तरह उस शेष रहे तत्त्व में स्थिर और समाहित हो जाने के बाद, जिसके द्वारा तुमने उस कर्तृत्व-अकर्तृत्व को छोड़ दिया है उसका भी त्याग कर दो। (मन के द्वारा त्याग किया था, तो मन को ही छोड़ दो।) क्योंकि आखिर तो चैतन्य ने ही मन का आकार धारण किया है और वही (चैतन्य ही) प्रकाश और अन्धकार है। इसलिए वासना और वासना करने वाले का—दोनों का प्रयत्नपूर्वक समूल त्याग कर दो। इसके बाद आकाश जैसा होकर अत्यन्त शान्त बुद्धिवाले बन जाओ। वासनाओं की सभी सूचियों को हृदय में से निकालकर व्यग्रतारहित होकर जो रहता है, वही मुक्त और सर्वेश्वर है।

दृष्टं द्रष्टव्यमखिलं भ्रान्तं भ्रान्त्या दिशो दश ।
युक्त्या वै चरतो ज्ञस्य संसारो गोष्पदाकृतिः ॥9॥

सबाह्याभ्यन्तरे देहे ह्यध ऊर्ध्वं च दिक्षु च ।
इत आत्मा ततोऽप्यात्मा नास्त्यनात्ममयं जगत् ॥10॥
न तदस्ति न यत्राहं न तदस्ति न तन्मयम् ।
किमन्यदभिवाञ्छामि सर्वं सच्चिन्मयं ततम् ॥11॥
समस्तं खल्विदं ब्रह्म सर्वमात्मेदमाततम् ।
अहमन्य इदं चान्यदिति भ्रान्तिं त्यजानघ ॥12॥

देखने योग्य तो सब देख लिया है और दशों दिशाओं में घूमकर सब जगह बहुत ही भ्रमण कर लिया है—ऐसा समझकर विचरण करते हुए ज्ञानी का संसार गाय के पदचिह्न जैसा बहुत ही छोटा हो जाता है। बाहर, भीतर, देह में, ऊपर, नीचे, दिशाओं में, इस ओर और उस ओर—सर्वत्र आत्मा ही है। आत्मा से विहीन जगत् तो है ही नहीं। ऐसा कुछ भी नहीं है कि जहाँ मैं न होऊँ, ऐसा कुछ भी नहीं है कि जो आत्ममय न हो। मैं और क्या चाह सकता हूँ भला ? सब कुछ सत् है, सब कुछ चैतन्य से व्याप्त है। यह सब ब्रह्म ही है। आत्मा ही ब्रह्मरूप में फैला है। इसलिए हे निष्कलंक ! मैं अलग हूँ और यह अलग है, ऐसी भ्रान्ति को छोड़ ही दो।

तते ब्रह्मघने नित्ये सम्भवन्ति न कल्पिताः ।
न शोकोऽस्ति न मोहोऽस्ति न जराऽस्ति न जन्म वा ॥13॥
यदस्तीह तदेवास्ति विज्वरो भव सर्वदा ।
यथाप्राप्तानुभवतः सर्वत्रानभिवाञ्छनात् ॥14॥
त्यागादानपरित्यागी विज्वरो भव सर्वदा ।
यस्येदं जन्म पाश्चात्यं तमाश्वेव महामते ॥15॥
विशन्ति विद्या विमला मुक्ता वेणुमिवोत्तमम् ।
विरक्तमनसां सम्यक् स्वप्रसङ्गादुदाहृतम् ॥16॥

नित्य ब्रह्म सघन रूप से व्याप्त है। इसलिए कल्पित पदार्थों का तो कोई संभव (सत्ता) ही नहीं है। शोक भी नहीं है, मोह भी नहीं है, वृद्धावस्था भी नहीं है, जन्म भी नहीं हैं, एवं मरण भी नहीं है। जो यहाँ है, वही सर्वत्र है। इसलिए जो कुछ यदृच्छया प्राप्त हो, उसका अनुभव करके सर्वत्र इच्छारहित होकर सर्वकाल में संतापरहित हो जाओ। हे महाबुद्धिमान् ! जिसका यह जन्म अन्तिम ही है, उसमें निर्मल विद्याएँ शीघ्र ही उत्तम बाँस में मोती की तरह प्रविष्ट हो जाती हैं और वे मुक्त होते हैं; यह बात प्रसंगोपात्त अच्छी तरह से कही गई है।

द्रष्टुर्दृश्यसमायोगात् प्रत्ययानन्दनिश्चयः ।
यस्तं स्वमात्मतत्त्वोत्थं निष्पन्दं समुपास्महे ॥17॥
द्रष्टृदर्शनदृश्यानि त्यक्त्वा वासनया सह ।
दर्शनप्रत्ययाभासमात्मानं समुपास्महे ॥18॥
द्वयोर्मध्यगतं नित्यमस्तिनास्तीति पक्षयोः ।
प्रकाशनं प्रकाशानामात्मानं समुपास्महे ॥19॥

दृश्य के योग से द्रष्टा को जो अनुभव होता है, जो आनन्द का निश्चय होता है, वह आत्मतत्त्व से ही उत्पन्न होता है इसीलिए उस स्वात्मतत्त्व से उत्पन्न हुए निश्चय की हम अच्छी तरह से उपासना करते हैं। द्रष्टा, दृश्य और दर्शन का वासनासहित त्याग करके दर्शन तथा अनुभव के आभासरूप आत्मा की हम ठीक प्रकार से उपासना करते हैं। 'है' और 'नहीं है'—इन दोनों पक्षों के बीच में जो नित्यरूप में अवस्थित है, वही प्रकाशों का भी प्रकाशक आत्मा है। हम समुचित रूप से उसकी उपासना करते हैं।

सन्त्यज्य हृद्गुहेशानं देवमन्यं प्रयान्ति ये ।
ते रत्नमभिवाञ्छन्ति त्यक्तहस्तस्थकौस्तुभाः ॥20॥
उत्थितानुत्थितानेतानिन्द्रियारीन् पुनः पुनः ।
हन्याद्विवेकदण्डेन वज्रेणेव हरिर्गिरीन् ॥21॥

जो मनुष्य अपनी हृदयगुहा में ही अवस्थित ईश्वर को छोड़कर अन्य देवों के पास जाता है, वह अपने हृदय में (हाथ में ही) रहे हुए कौस्तुभमणि का त्याग करके अन्य रत्नों को चाहता हुआ-सा ही है। ये इन्द्रियरूपी शत्रु खड़े हुए हों, या न खड़े हुए हों तो भी विवेकरूपी लाठी से उन्हें बार-बार, जैसे इन्द्र अपने वज्र से पर्वतों को मारा करता है, वैसे ही मारते रहना चाहिए।

संसाररात्रिदुःस्वप्ने शून्ये देहमये भ्रमे ।
सर्वमेवापवित्रं तद्दृष्टं संसृतिविभ्रमम् ॥22॥
अज्ञानोपहतो बाल्ये यौवने वनिताहतः ।
शेषे कलत्र चिन्ताऽऽर्तः किं करोति नराधमः ॥23॥
सतोऽसत्ता स्थिता मूर्ध्नि रम्याणां मूर्ध्न्यरम्यता ।
सुखानां मूर्ध्नि दुःखानि किमेकं संश्रयाम्यहम् ॥24॥
येषां निमेषणोन्मेषौ जगतः प्रलयोदयौ ।
तादृशाः पुरुषा यान्ति मादृशां गणनैव का ॥25॥

यह देह का भ्रम, संसाररूपी रात्रि के एक दुष्ट स्वप्न जैसा ही शून्य रूप है। उसमें सब कुछ अपवित्र ही है और इसी के कारण संसाररूपी यह भ्रान्ति फैली हुई है। अधम पुरुष बचपन में अज्ञान से घिरा हुआ होता है। वह जवानी में स्त्री से घिरा हुआ रहता है। और शेष उम्र में वह स्त्री की चिन्ता से घिरा रहा करता है। वह क्या कर सकता है? सत् पर असत्ता सवार हो गई है। रम्य पर अरम्यता फैल गई है। सुखों पर दुःख चढ़े हुए हैं, तो मैं क्या करूँ? तो मैं किस एक ही चीज का आश्रय ले सकता हूँ? जिनकी आँख की पलकों के केवल मिलन-उन्मीलन से ही जगत् का प्रलय और प्रादुर्भाव हो सकता है, ऐसे पुरुष भी यहाँ से चले ही जाते हैं, तब भला मेरी तो क्या गिनती हो सकती है?

संसार एव दुःखानां सीमान्त इति कथ्यते ।
तन्मध्ये पतिते देहे सुखमासाद्यते कथम् ॥26॥
प्रबुद्धोऽस्मि प्रबुद्धोऽस्मि दुष्टश्चोरोऽयमात्मनः ।
मनो नाम निहन्म्येनं मनसाऽस्मि चिरं हृतः ॥27॥
मा खेदं भज हेयेषु नोपादेयपरो भव ।
हेयादेयदृशौ त्यक्त्वा शेषस्थः सुस्थिरो भव ॥28॥

कहा जाता है कि यह संसार ही दुःखों का सीमान्त (सीमा का अन्त) है और इसी के बीच में यह देह पड़ा हुआ है। अब सुख भला किस तरह प्राप्त हो सकता है? पर अब मैं समझ चुका हूँ। अब मैं जाग उठा हूँ। आत्मा का दुष्ट चोर यह मन ही है। इसलिए बस, उसी का नाश कर दूँ। क्योंकि वह मुझे लम्बे काल तक चोरता ही आया है। त्याज्य पदार्थों के बारे में खेद न करो और ग्राह्य पदार्थों को ग्रहण करने के लिए भी तुम तत्पर न बनो। त्याज्यता और ग्राह्यता की दोनों दृष्टियों को छोड़कर शेष बीच की स्थिति में रहकर अत्यन्त स्थिर बन जाओ।

निराशता निर्भयता नित्यता समता ज्ञता ।
निरीहता निष्क्रियता सौम्यता निर्विकल्पता ॥29॥
धृतिर्मैत्री मनस्तुष्टिर्मृदुता मृदुभाषिता ।
हेयोपादेयनिर्मुक्ते ज्ञे तिष्ठन्त्यपवासनम् ॥30॥
गृहीततृष्णाशबरीवासनाजालमाततम् ।
संसारवारिप्रसृतं चिन्तातन्तुभिराततम् ॥31॥
अनया तीक्ष्णया तात छिन्धि बुद्धिशलाकया ।
वात्ययेवाम्बुदं जालं छित्त्वा तिष्ठ तते पदे ॥32॥

त्याज्य और ग्राह्य दृष्टि से रहित हुए ज्ञानी में निराशा, निर्भयता, नित्यता, समता, ज्ञानित्व, निःस्पृहता, निष्क्रियता, सौम्यता, निर्विकल्पता, धैर्य, मित्रता, मन का परितोष, कोमलता और मृदुभाषिता—ये सभी देशपार हुए होते हैं (अर्थात् होते ही नहीं हैं)। तृष्णारूपी भीलनी ने वासनारूपी विशाल जाल को पकड़ा है और वह संसाररूपी पानी के ऊपर फैली हुई है। वह जाल चिन्तारूपी डोरियों से भरा हुआ (बुना हुआ) है, उसको तुम इस बुद्धिरूपी छुरी से काट डालो। हे तात! जिस प्रकार वायु बादलों को बिखेर देता है, उसी तरह तुम उस जाल को काटकर आत्मा के बहुत विशाल पद में अपना स्थान ले लो।

मनसैव मनश्छित्त्वा कुठारेणेव पादपम् ।
पदं पावनमासाद्य सद्य एव स्थिरो भव ॥33॥
तिष्ठन् गच्छन् स्वपन् जाग्रन्निवसन्नुत्पतन् पतन् ।
असदेवेदमित्यन्तं निश्चित्यास्थां परित्यज ॥34॥
दृश्यमाश्रयसीदं चेत् तत् सच्चित्तोऽसि बन्धवान् ।
दृश्यं सन्त्यजसीदं चेत् तदाऽचित्तोऽसि मोक्षवान् ॥35॥
नाहं नेदमिति ध्यायंस्तिष्ठ त्वमचलाचलः ।
आत्मनो जगतश्चान्तर्द्रष्टृदृश्यदशाऽन्तरे ॥36॥

जिस तरह कुल्हाड़ी से पेड़ को काटा जाता है, उसी तरह मन से ही मन को काटकर पवित्र पद को प्राप्त करके तुम तुरन्त ही स्थिर हो जाओ। खड़े रहते, चलते, सोते, जागते, उठते, जाते समय भी, 'यह सब असत् ही है'—ऐसा निश्चय करके उन सबकी आस्था को छोड़कर ही रहो। यदि तुम इस दृश्य का आश्रय करोगे तो चिन्ताओं से युक्त होकर बन्धन को प्राप्त करोगे। और यदि इस दृश्य का ठीक तरह से त्याग करोगे, तो चिन्तारहित होकर मोक्ष को प्राप्त करोगे। आत्मा और जगत् में क्रमशः द्रष्टा और दृश्य की स्थिति होती है। इन दोनों के बीच में 'मैं नहीं हूँ, और यह नहीं है'—ऐसा ध्यान करते हुए तुम पर्वत की तरह अचल ही रहो।

दर्शनाख्यं स्वमात्मानं सर्वदा भावयन् भव ।
स्वाद्यस्वादकसन्त्यक्तं स्वाद्यस्वादकमध्यगम् ॥37॥
स्वदनं केवलं ध्यायन् परमात्ममयो भव ।
अवलम्ब्य निरालम्बं मध्येमध्ये स्थिरो भव ॥38॥
रज्जुबद्धा विमुच्यन्ते तृष्णाबद्धा न केनचित् ।
तस्मान्निदाघ तृष्णां त्वं त्यज सङ्कल्पवर्जनात् ॥39॥
एतामहंभावमयीमपुण्यां छित्त्वाऽनहंभावशलाकयैव ।
स्वभावजां भव्यभवान्तभूमौ भव प्रशान्ताखिलभूतभीतिः ॥40॥

'दर्शन' नामक अपने आत्मा की तुम सदैव भावना करते रहो। स्वादनीय और स्वादक—दोनों को छोड़कर स्वादनीय (स्वाद लेने योग्य वस्तु) और स्वादक (स्वाद लेने वाले) के बीच में जो 'स्वाद' नामक वस्तु है, केवल उसी स्वाद का ही तुम ध्यान करो और परमात्मामय हो जाओ। निरवलम्ब स्थिति का आश्रय करके बीच-बीच में स्थिर होते रहो। हे निदाघ ! रज्जुओं से बँधे हुए लोग छूट जाते हैं, पर तृष्णा से बँधे हुए लोग नहीं छूट सकते। इसलिए संकल्पों को छोड़कर तृष्णा का त्याग कर दो। यह अपवित्र तृष्णा अहंभावमय है। इसलिए 'अहंभावाभाव' रूप छुरी से उसे काटकर स्वभावजन्य और भव्य भवान्तकारी भूमि पर तुम रहो, क्योंकि वहाँ तुम अखिल प्राणियों की भीति से बचकर रहोगे।

अहमेषां पदार्थानामेते च मम जीवितम् ।
नाहमेभिर्विना किञ्चिन्न मयैते विना किल ॥41॥
इत्यन्तर्निश्चयं त्यक्त्वा विचार्य मनसा सह ।
नाहं पदार्थस्य न मे पदार्थ इति भाविते ॥42॥
अन्तःशीतलया बुद्ध्या कुर्वतो लीलया क्रियाम् ।
यो नूनं वासनात्यागो ध्येयो ब्रह्मन् प्रकीर्तितः ॥43॥
सर्वं समतया बुद्ध्या यः कृत्वा वासनाक्षयम् ।
जहाति निर्ममो देहं नेयोऽसौ वासनाक्षयः ॥44॥
अहंकारमयीं त्यक्त्वा वासनां लीलयैव यः ।
तिष्ठति ध्येयसंत्यागी स जीवन्मुक्त उच्यते ॥45॥

'इन पदार्थों का मैं हूँ' 'यह मेरा जीवन है', 'इसके सिवा मैं कुछ भी नहीं हूँ' और 'मेरे बिना यह कुछ भी नहीं है'—ऐसे अन्तस् के निश्चय को छोड़कर मन के साथ ऐसा ही विचार (निश्चय) करो कि—'मैं इन पदार्थों का नहीं हूँ और ये पदार्थ भी मेरे नहीं हैं।' ऐसी भी भावना किया करो। भीतर में विलसित प्रत्यग्भावयुक्त बुद्धि से केवल लीलाभाव से ही क्रिया करने वाले का जो वासनात्याग है, वह ध्यानार्ह है, ऐसा कहा गया है। हे ब्राह्मण ! समानतायुक्त बुद्धि से वासनाओं का सम्पूर्ण नाश करके मनुष्य ममतारहित होता है और सदा के लिए देह का त्याग करता है, इसलिए उस वासना का त्याग करना ही सुयोग्य है। जो मनुष्य अहंकारमय वासना का पहले लीलाभाव में ही त्याग करके अन्त में ध्येय वस्तु को भी छोड़कर रहता है वह जीवन्मुक्त कहलाता है।

निर्मूलं कलनां त्यक्त्वा वासनां यः शमं गतः ।
ज्ञेयत्यागमिमं विद्धि मुक्तं तं ब्राह्मणोत्तमम् ॥46॥

द्वावेतौ ब्रह्मतां यातौ द्वावेतौ विगतज्वरौ ।
आपतत्सु यथाकालं सुखदुःखेष्वनारतौ ॥47॥
संन्यासियोगिनौ दान्तौ विद्धि शान्तौ मुनीश्वर ।
ईप्सितानीप्सिते न स्तो यस्यान्तर्वर्तिदृष्टिषु ॥48॥
सुषुप्तवद्यश्चरति स जीवन्मुक्त उच्यते ।
हर्षामर्षभयक्रोधकामकार्पण्यदृष्टिभिः ॥49॥

भावनारूप वासना का मूल से ही त्याग करके जो मनुष्य शम को प्राप्त करता है, वही वास्तव में उसका त्याग है, ऐसा जानना चाहिए और उसी मनुष्य को तुम्हें ब्रह्मनिष्ठों में श्रेष्ठ मानना चाहिए, उसी को उत्तम मुक्त जानना चाहिए। हे मुनीश्वर ! जो संन्यासी और योगी यथासमय आया करते हुए सुखों और दुःखों में आसक्त नहीं होते और संतापरहित ही रहते हैं, वे दोनों (संन्यासी और योगी) ब्रह्म को प्राप्त हो गए हैं। वे ही दमनशील हैं, वे ही शान्त हैं, ऐसा तुम जानो। जिसकी भीतर की (पारमार्थिक) दृष्टि में न कुछ चाहा हुआ होता है और न कुछ अनचाहा-सा ही होता है और जो सदा सुषुप्ति में ही रहता हो, इस तरह वर्तन करता है, इस प्रकार से विचरण करने वाले को जीवन्मुक्त कहा जाता है। (और भी—) वह वासना-तृष्णा से रहित होते हुए हर्ष, ईर्ष्या, भय, क्रोध, कामना तथा कृपणता की दृष्टि से—

न हृष्यति ग्लायति यः परामर्शविवर्जितः ।
बाह्यार्थवासनोद्भूता तृष्णा बद्धेति कथ्यते ॥50॥
सर्वार्थवासनोन्मुक्ता तृष्णा मुक्तेति भण्यते ।
इदमस्तु ममेत्यन्तमिच्छां प्रार्थनयाऽन्विताम् ॥51॥
तां तीक्ष्णशृङ्खलां विद्धि दुःखजन्मभयप्रदाम् ।
तामेतां सर्वभावेषु सत्स्वसत्सु च सर्वदा ॥52॥

—हर्षित भी नहीं होता और ग्लानि को भी नहीं प्राप्त करता। बाह्य विषयों की तृष्णा से उत्पन्न हुई वासना को 'बद्ध तृष्णा' कहते हैं और सर्व विषयों की तृष्णा से मुक्त वासना को 'मुक्त तृष्णा' कहा जाता है। 'यह वस्तु मेरी हो जाए'—ऐसी माँग के साथ जो अत्यन्त तीव्र इच्छा होती है, उसी को तुम तीक्ष्ण शृंखला समझो। सभी विषयों में वे वास्तव में हों या न हों, पर उन पर की तृष्णा को तुम तीव्र साँकल समझो।

संत्यज्य परमोदारं पदमेति महामनाः ।
बन्धास्थामथ मोक्षास्थां सुखदुःखदशामपि ॥53॥
त्यक्त्वा सदसदास्थां त्वं तिष्ठाक्षुब्धमहाब्धिवत् ।
जायते निश्चयः साधो पुरुषस्य चतुर्विधः ॥54॥

ऐसी उस तीव्र शृंखला को छोड़कर महात्मा पुरुष और भी उदार बन जाता है। चाहे वह बन्ध की आस्था हो, चाहे मोक्ष की आस्था हो या चाहे सुख-दुःख की दशा हो। (पर उसे छोड़कर ही उदार हुआ जा सकता है।) सत् या असत् के ऊपर की किसी भी प्रकार की आस्था को छोड़कर तुम अक्षुब्ध सागर की तरह शान्त बने रहो। हे साधु ! पुरुष का निश्चय इन चार प्रकारों का हो सकता है।

आपादमस्तकमहं मातापितृविनिर्मितः ।
इत्येको निश्चयो ब्रह्मन् बन्धायासविलोकनात् ॥55॥
अतीतः सर्वभावेभ्यो वालाग्रादप्यहं तनुः ।
इति द्वितीयो मोक्षाय निश्चयो जायते सताम् ॥56॥
जगज्जालपदार्थात्मा सर्व एवाहमक्षयः ।
तृतीयो निश्चयश्चोक्तो मोक्षायैव द्विजोत्तम ॥57॥

'पैर से मस्तक तक मैं मातापिता के द्वारा निर्मित हुआ हूँ'—यह प्रथम निश्चय है। हे ब्राह्मण ! इसमें बन्धन तथा आयास देखने में आते हैं। 'मैं सर्व पदार्थों से परे हूँ, और बाल की नोक से भी सूक्ष्म हूँ'—ऐसा दूसरा निश्चय सज्जनों को मोक्ष देने वाला होता है। हे उत्तम ब्राह्मण ! 'इस जगत् के जाल और पदार्थों का मैं ही आत्मा हूँ, मैं ही सर्वस्वरूप अविनाशी आत्मा हूँ'—ऐसा तीसरा निश्चय भी मोक्ष देने वाला कहा जाता है।

अहं जगद्वा सकलं शून्यं व्योम समं सदा ।
एवमेष चतुर्थोऽपि निश्चयो मोक्षसिद्धिदः ॥58॥
एतेषां प्रथमः प्रोक्तस्तृष्णया बन्धयोग्यया ।
शुद्धतृष्णास्त्रयः स्वच्छा जीवन्मुक्ता विलासिनः ॥59॥
सर्वं चाप्यहमेवेति निश्चयो यो महामते ।
तमादाय विषादाय न भूयो जायते मतिः ॥60॥

'मैं अथवा जगत्, यह सब सदैव शून्य आकाश जैसा ही है'—यह चौथा निश्चय भी मोक्ष की सिद्धि कराने वाला है। इन चारों में जो पहला निश्चय है, वह बन्धनयोग्य तृष्णा के कारण से होता है। शेष के तीन निश्चय तृष्णा से रहित होते हैं। उन निश्चयों को करने वाले मनुष्य स्वच्छ, जीवन्मुक्त और आत्मतत्त्व में ही विलास करने वाले होते हैं। हे परमबुद्धिशाली ! 'मैं ही सब कुछ हूँ'—ऐसे निश्चय को स्वीकार करके फिर बुद्धि कदापि खिन्न नहीं हो सकती।

शून्यं तत् प्रकृतिर्माया ब्रह्म विज्ञानमित्यपि ।
शिवः पुरुष ईशानो नित्यमात्मेति कथ्यते ॥61॥

उसी परमतत्त्व को लोकायतिक और बौद्ध आदि 'शून्य' कहते हैं और प्राकृत लोग (भौतिकवादी) उसे 'प्रकृति' कहते हैं। उसी को विज्ञानवादी बौद्ध 'विज्ञान' कहते हैं और उसी को शैव-सम्प्रदाय वाले 'शिव' कहकर पुकारते हैं। सांख्य लोग उसे पुरुष कहते हैं, योगी लोग उसे 'ईश्वर' कहते हैं। लेकिन अद्वैती लोग ऐसा कहते हैं कि उन लोगों ने जो ब्रह्म के बारे में कल्पनाएँ की हैं वे सब माया ही है। वास्तव में तो वह अद्वैत ब्रह्म ही एक तत्त्व है।

द्वैताद्वैतसमुद्भूतैर्जगन्निर्माणलीलया ।
परमात्ममयी शक्तिरद्वैतैव विजृम्भते ॥62॥
सर्वातीतपदालम्बी परिपूर्णैकचिन्मयः ।
नोद्वेगी न च तुष्टात्मा संसारे नावसीदति ॥63॥

द्वैत और अद्वैत में से उत्पन्न हुए पदार्थों के द्वारा जगत् की रचनारूपी लीला करके वह परमात्ममय अद्वैतशक्ति ही विलास कर रही है। सभी से परे रहे हुए उस परमतत्त्व का आश्रय करने

वाला मनुष्य, स्वयं केवल परिपूर्ण ब्रह्ममय बना हुआ, उद्वेग नहीं करता हुआ और प्रसन्नस्वरूप वह दिखाई नहीं देने वाला ज्ञानी मनुष्य संसार में कभी भी खिन्न नहीं होता।

प्राप्तकर्मकरो नित्यं शत्रुमित्रसमानदृक् ।
ईहितानीहितैर्मुक्तो न शोचति न काङ्क्षति ॥64॥
सर्वस्याभिमतं वक्ता चोदितः पेशलोक्तिमान् ।
आशयज्ञश्च भूतानां संसारे नावसीदति ॥65॥

स्वयं उपस्थित हुए कर्मों को करता रहने वाला, शत्रु और मित्र पर सदैव समान दृष्टि रखने वाला और इच्छा तथा अनिच्छा—दोनों से मुक्त पुरुष शोक नहीं करता और कभी किसी से कुछ आकांक्षा भी नहीं रखता। सभी को प्रिय वचन कहने वाला और किसी से प्रेरित होने पर ही प्रिय वचनों को बोलने वाला एवं प्राणियों के आशयों को जानने वाला इस संसार में कभी दुःखी नहीं होता।

पूर्वां दृष्टिमवष्टभ्य ध्येयत्यागविलासिनीम् ।
जीवन्मुक्ततया स्वस्थो लोके विहर विज्वरः ॥66॥
अन्तःसंत्यक्तसर्वाशो वीतरागो विवासनः ।
बहिःसर्वसमाचारो लोके विहरः विज्वरः ॥67॥
बहिःकृत्रिमसंरम्भो हृदि संरम्भवर्जितः ।
कर्ता बहिरकर्ताऽन्तर्लोके विहर शुद्धधीः ॥68॥
त्यक्ताहंकृतिराश्वस्तमतिराकाशशोभनः ।
अगृहीतकलङ्काङ्को लोके विहर शुद्धधीः ॥69॥

यदि तुम जीवन्मुक्ति चाहते हो तो बाह्य दृष्टि को छोड़कर उसके पहले की ब्रह्मदृष्टि का अवलम्बन करो और जीवन्मुक्त दशा में स्वस्थ होकर, तापरहित होकर विहार करते रहो। भीतर की सभी आशाओं को छोड़कर वीतराग और वासनारहित होकर बाहर के सभी आचारों का आचरण करते हुए ही संतापों से रहित होकर लोक में विहार करते रहो। बाहर केवल दिखावे का आवेश करते हुए भी भीतर में तो आवेश से रहित ही होकर रहो। उसी प्रकार बाहर कर्तारूप दिखाई पड़ने पर भी अन्तस् में अकर्ता ही रहकर शुद्ध बुद्धि से इस लोक में विहार करते रहो। अहंकार का त्याग करके शान्त बुद्धिवाला बनकर आकाश जैसा निर्मल बन जाओ और कलंक का एक दाग भी लगने न देकर शुद्ध बुद्धि से लोक में विहार करते रहो।

उदारः पेशलाचारः सर्वाचारानुवृत्तिमान् ।
अन्तःसङ्गपरित्यागी बहिःसंभारवानिव ॥70॥
अन्तर्वैराग्यमादाय बहिराशोन्मुखेहितः ।
अयं बन्धुरयं नेति कलना लघुचेतसाम् ॥71॥
उदारचरितानां तु वसुधैव कुटुम्बकम् ।
भावाभावविनिर्मुक्तं जरामरणवर्जितम् ॥72॥
प्रशान्तकलनाऽऽरम्यं नीरागं पदमाश्रय ।
एषा ब्राह्मी स्थितिः स्वच्छा निष्कामा विगतामया ॥73॥

उदार और सुन्दर आचारवाले होकर तुम बाहर के सभी आचारों का अनुसरण करते रहो। अन्तस् से तो संग के त्यागी ही रहकर बाहर की सामग्रियों का मानो स्वीकार कर लिया हो, ऐसा दिखावा मात्र

ही करो। और अन्तस् में वैराग्य को ही स्वीकार करके बाहर की आशाओं में मानो तत्पर हुए हो, ऐसी चेष्टा वाले हो जाओ। यह स्वजन है और यह पराया है, ऐसी गणना तो निम्न कोटि के मन वालों की होती है, उदार (उदात्त) चित्त वालों के लिए तो यह समग्र वसुधा ही कुटुम्ब के समान होती है। इसलिए भाव-अभाव से रहित और जरा-मरण आदि से रहित, जिसमें वासना प्रशान्त हो चुकी है ऐसे तथा राग (आसक्ति) रहित परम पद का ही आश्रय कर लो। यही ब्राह्मी स्थिति है। वही सभी कामनाओं से रहित और निष्कलंक है।

आदाय विहरन्नेवं संकटेषु विमुह्यति।
वैराग्येणाथ शास्त्रेण महत्त्वादिगुणैरपि ॥74॥
यत्संकल्पहरार्थं तत् स्वयमेवोन्नयेन्मनः।
वैराग्यात् पूर्णतामेति मनोनाशवशानुगम् ॥75॥
आशया रिक्ततामेति शरदीव सरोऽमलम्।
तमेव मुक्तविरसं व्यापारौघं पुनः पुनः ॥76॥
दिवसे दिवसे कुर्वन् प्राज्ञः कस्मान्न लज्जते।
चिच्चैत्यकलितो बन्धस्तन्मुक्तौ मुक्तिरुच्यते ॥77॥

इस प्रकार की ब्राह्मी स्थिति को धारण करके विहार करने वाला मनुष्य संकटों में भी मोह को प्राप्त नहीं होता। जो मन वैराग्य, शास्त्र एवं महत्ता आदि गुणों से संकल्पत्याग रूप विषयवाला बन जाता है, वह आप ही आप उन्नति को प्राप्त कर लेता है और नाश के वश में होता हुआ भी वह वैराग्य के द्वारा पूर्णता को प्राप्त कर लेता है। वह मन अनेक मनोवृत्तिवाला होने पर भी अन्त में 'ब्रह्मातिरिक्त कुछ है ही नहीं'—इस प्रकार की आशा (ज्ञान) के कारण, शरद ऋतु में जिस तरह आकाश स्वच्छ हो जाता है उसी तरह वृत्तिविहीन (स्वच्छ) हो जाता है। ऐसा मनोरहित महात्मा उसी व्यापारसमूह को बार-बार मुक्त किया हुआ और रसहीन ही मानता है और फिर भी दिन-प्रति-दिन उसे करते रहने में भला क्यों लज्जित नहीं होगा? चित् और चैत्य (जगत्) का संयोग ही बन्धन है और दोनों का अलग होना ही मुक्ति है।

चिदचैत्याऽखिलात्मेति सर्वसिद्धान्तसंग्रहः।
एतन्निश्चयमादाय विलोकय च धियेच्छया ॥78॥
स्वयमेवात्मनाऽऽत्मानमानन्दं पदमाप्स्यसि।
चिदहं चिदिमे लोकाश्चिदाशाश्चिदिमाः प्रजाः ॥79॥
दृश्यदर्शननिर्मुक्तः केवलामलरूपवान्।
नित्योदितो निराभासो द्रष्टा साक्षी चिदात्मकः ॥80॥
चैत्यनिर्मुक्तचिद्रूपं पूर्णज्योतिःस्वरूपकम्।
संशान्तसर्वसंवेद्यं संविन्मात्रमहं महत् ॥81॥
संशान्तसर्वसंकल्पः प्रशान्तसकलैषणः।
निर्विकल्पपदं गत्वा स्वस्थो भव मुनीश्वर ॥82॥ इति।

विषयों से (जगत् से) रहित जो आत्मा है, वही चैतन्य है, वही आत्मा है, ऐसा सर्वसिद्धान्तों का सारसंग्रह है। इस निश्चय को स्वीकार करके अपनी तेजस्वी बुद्धि से तुम उसका विचार (अनुसन्धान) किया करो, जिससे तुम स्वयं आप-ही-आप आनन्दरूप आत्मपद को प्राप्त करोगे। 'मैं चैतन्य हूँ', 'ये लोग चैतन्य हैं', 'ये दिशाएँ चैतन्य हैं' और 'ये प्रजाएँ भी चैतन्य हैं'—इस प्रकार से

दृश्य का दर्शन छूट जाएगा और तुम केवल आत्मरूप ही बन जाओगे। क्योंकि चैतन्य ही तो आत्मा है। वह सदोदित है, वह आभासरहित है, वह द्रष्टा है, वह साक्षी है। विषयों से रहित, चैतन्यरूप, पूर्णज्योतिस्वरूप, पूर्णतया शान्त और सभी अनुभवगम्य पदार्थ जिसमें शान्त हो गए हैं, 'ऐसा मैं केवल संविद्रूप (श्रेष्ठ अनुभूतिज्ञानवान्) हूँ'—इस प्रकार हे मुनीश्वर! सभी संकल्पों को शान्त करके सभी इच्छाओं का शमन करके निर्विकल्प पद को प्राप्त करके तुम स्वस्थ हो जाओ।

य इमां महोपनिषदं ब्राह्मणो नित्यमधीते अश्रोत्रियः श्रोत्रियो भवति। अनुपनीत उपनीतो भवति। सोऽग्निपूतो भवति। स वायुपूतो भवति। स सूर्यपूतो भवति। स सोमपूतो भवति। स सत्यपूतो भवति। स सर्वपूतो भवति। स सर्वैर्देवैर्ज्ञातो भवति। स सर्वेषु तीर्थेषु स्नातो भवति। स सर्वैर्देवैरनुध्यातो भवति। स सर्वक्रतुभिरिष्टवान् भवति। गायत्र्याः षष्टिसहस्राणि जप्तानि फलानि भवन्ति। इतिहासपुराणानां रुद्राणां शतसहस्राणि जप्तानि फलानि भवन्ति। प्रणवानामयुतं जप्तं भवति। आचक्षुषः पङ्क्तिं पुनाति। आसप्तमान् पुरुषयुगान् पुनाति। इत्याह भगवान् हिरण्यगर्भः। जाप्येनामृतत्वं च गच्छतीति महोपनिषत् ॥83॥

इति षष्ठोऽध्यायः।

इति महोपनिषत्समाप्ता।
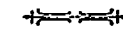
यदि कोई ब्राह्मण इस उपनिषद् का नित्य अध्ययन करता है, वह श्रोत्रिय न हो तो भी श्रोत्रिय बन जाता है। उपनयन संस्कार से रहित हो, तो भी उपनयन संस्कार वाला बन जाता है। वह अग्नि जैसा पवित्र, वायु जैसा पवित्र, सूर्य जैसा पवित्र, चन्द्र जैसा पवित्र, सत्य जैसा पवित्र और सभी तरह से पवित्र हो जाता हैं। वह सभी देवों के द्वारा जाना जाता है। वह सभी तीर्थों में स्नान किया हुआ माना जाता है। सभी देव उसका ध्यान करते हैं। वह सभी यज्ञों का करने वाला माना जाता है। उसे साठ हजार गायत्री मंत्र के जप का पुण्यफल मिलता है। उसे लाखों इतिहासों और पुराणों को पढ़ने का और जपने का पुण्य मिल जाता है। वह दस हजार ओंकार का जप करने वाला माना जाता है। और वह अपनी दृष्टि जहाँ तक दूर जाती हो, वहाँ तक की पूरी पंक्ति को पवित्र कर देने वाला होता है। वह अपने पहले की और अपने बाद की सात-सात पीढ़ियों के अपने वंशजों को पवित्र कर देता है। ऐसा भगवान् ब्रह्मा ने कहा है। इसलिए इस उपनिषद् का जप करने से मनुष्य मोक्ष प्राप्त करता है, ऐसी यह उपनिषद् है। यहाँ उपनिषद् का छठा अध्याय पूरा होता है।

इस प्रकार महोपनिषत् समाप्त होती है।

शान्तिपाठः

ॐ आप्याययन्तु ममाङ्गानि.....ते मयि सन्तु। (पूर्ववत्)
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

(64) शारीरकोपनिषत्

(उपनिषत्परिचय)

शुक्लयजुर्वेदीय परंपरा की इस छोटी उपनिषद् में केवल तत्त्व परिगणना ही है; यथा—पंच महाभूतों से बने इस शरीर में कठिन भाग पृथ्वी का, प्रवाह जल का, गरमी तेज का, स्फुरण वायु का और खालीपन आकाश का अंश है। कर्णादि ज्ञानेन्द्रियाँ और शब्दादि विषय क्रमशः महाभूतों में से उत्पन्न हुए। मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार को अन्तःकरण चतुष्टय कहते हैं। शरीर में चर्म-केशादि पृथ्वी का, मूत्रवीर्यादि जल का, भूख-प्यास तेज का, गत्यादि वायु का और काम-क्रोधादि आकाश का अंश है। सत्य-अहिंसादि सात्त्विक, कर्तृत्वादि अभिमान राजस और निद्रादि तामस गुण हैं। जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्ति-तुर्य—ये आत्मा की चार अवस्थाएँ हैं। पाँच महाभूतों के साथ मन-बुद्धि-अहंकार के मिलने से आठ प्रकार की प्रकृति होती है। ज्ञानेन्द्रियाँ (5), कर्मेन्द्रियाँ (5), प्राण (5) और मन-बुद्धि (2)—ये मिलकर लिंग-शरीर होता है। प्रकृति, महत्, अहंकार, मन, तन्मात्राएँ (5), ज्ञानेन्द्रियाँ, (5) कर्मेन्द्रियाँ (5) और महाभूत (5)—ये मिलकर चौबीस तत्त्व होते हैं। पुरुष चौबीसों तत्त्वों से परे है।

शान्तिपाठः

ॐ सह नाववतु। सह नौ भुनक्तु। सह वीर्यं करवावहै॥
तेजस्विनावधीतमस्तु मा विद्विषावहै॥
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः॥

हे पूर्णब्रह्म परमात्मा! आप हम दोनों (गुरु-शिष्य) की साथ-साथ रक्षा करें। हम दोनों का साथ-साथ पालन करें। हम दोनों साथ-साथ शान्ति प्राप्त करें। हम दोनों द्वारा प्राप्त की गई विद्या तेजोमयी हो। हम दोनों आपस में कभी द्वेष न करें।

हे परमात्मन्! हमारे त्रिविध (आधिभौतिक, आधिदैविक, आध्यात्मिक) तापों की शान्ति हो।

ॐ अथातः पृथिव्यादिमहाभूतानां समवायं शरीरम्। यत् कठिनं सा पृथिवी यद्द्रवं तदापो यदुष्णं तत्तेजो यत् संचरति स वायुर्यत् सुषिरं तदाकाशम्॥1॥

पृथिवी आदि पाँच महाभूतों का समुच्चय ही यह शरीर है। इस शरीर में जो ठोस पदार्थ है वह पृथ्वी तत्त्व है, जो प्रवाहमान् पदार्थ है वह जलतत्त्व है, जो उष्णता है वह अग्नितत्त्व है, जो गतिशीलता (अर्थात् सतत स्फुरण) है, वह वायु तत्त्व है और जो सुषिर (खाली, छिद्र) है वह आकाशतत्त्व है।

श्रोत्रादीनि ज्ञानेन्द्रियाणि। श्रोत्रमाकाशे वायौ त्वगग्नौ चक्षुरप्सु जिह्वा पृथिव्यां घ्राणमिति। एवमिन्द्रियाणां यथाक्रमेण शब्दस्पर्शरूपरस-गन्धाश्चैते विषयाः पृथिव्यादिमहाभूतेषु क्रमेणोत्पन्नाः॥2॥

श्रोत्र आदि ज्ञानेन्द्रियाँ हैं। आकाशतत्त्व से श्रोत्रेन्द्रिय, वायुतत्त्व से त्वगिन्द्रिय, अग्नितत्त्व से चक्षुरिन्द्रिय, जलतत्त्व से जिह्वा तथा पृथ्वी तत्त्व से घ्राणेन्द्रिय हैं। और इसी प्रकार इन्द्रियों के अपने-अपने विषय शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध—ये पृथ्वी आदि भूतों से यथाक्रम उत्पन्न हुए हैं।

वाक्पाणिपादपायूपस्थाख्यानि कर्मेन्द्रियाणि। तेषां क्रमेण वचनादान-गमनविसर्गानन्दाश्चैते विषयाः पृथिव्यादिमहाभूतेषु क्रमेणोत्पन्नाः॥3॥

वाणी, हाथ, पैर, गुदा और उपस्थ (जननेन्द्रिय)—ये पाँच कर्मेन्द्रियाँ कही जाती हैं। इन कर्मेन्द्रियों के विषय क्रमशः बोलना, लेन-देन करना, चलना, छोड़ना और आनन्द प्राप्त करना है। वे भी पृथ्वी आदि महाभूतों से ही उत्पन्न होते हैं।

मनोबुद्धिरहंकारश्चित्तमित्यन्तःकरणचतुष्टयम्। तेषां क्रमेण संकल्प-विकल्पाध्यवसायाभिमानावधारणास्वरूपाश्चैते विषयाः। मनःस्थानं गलान्तं बुद्धेर्वदनमहंकारस्य हृदयं चित्तस्य नाभिरिति॥4॥

मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार—इन चारों को 'अन्तःकरण-चतुष्टय' की संज्ञा दी गई है। इनके विषय क्रमशः इस प्रकार हैं—(मन का) संकल्प-विकल्प, (बुद्धि का) निश्चय, (चित्त का) अवधारणा या स्मृति तथा (अहंकार का) अभिमान। मन का क्षेत्र गले का अन्तिम भाग, बुद्धि का क्षेत्र मुख, चित्त का क्षेत्र नाभि तथा अहंकार का क्षेत्र हृदय बताया गया है।

अस्थिचर्मनाडीरोममांसाश्चेति पृथिव्यंशाः। मूत्रश्लेष्मरक्तशुक्रस्वेदा अबंशाः। क्षुत्तृष्णाऽऽलस्यमोहमैथुनान्यग्नेः। प्रचारणविलेखनस्थूला-क्ष्युन्मेषनिमेषादि वायोः। कामक्रोधलोभमोहभयान्याकाशस्य॥5॥

अस्थि, त्वचा, नाड़ी, रोंगटे और मांस जो शरीर में हैं वह पृथ्वीतत्त्व का अंश है। जो मूत्र, कफ, रक्त, वीर्य और पसीना हैं, वे जलतत्त्व के अंश हैं। भूख, प्यास, आलस्य, मोह और मैथुन—ये अग्नितत्त्व के अंश हैं। फैलना, चलना, गति करना, उड़ना, पलकों का मिलन-उन्मीलन करना, ये सब वायु तत्त्व के अंश हैं और काम, क्रोध, लोभ, भय, मोह आदि सब आकाशतत्त्व के अंश हैं।

शब्दस्पर्शरूपरसगन्धाः पृथिवीगुणाः। शब्दस्पर्शरूपरसाश्चापां गुणाः। शब्दस्पर्शरूपाण्यग्निगुणाः। शब्दस्पर्शाविति वायुगुणौ। शब्द एक आकाशस्य॥6॥

शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध—ये पाँचों पृथ्वी के गुण कहे गए हैं। शब्द, स्पर्श, रूप और रस—ये चार जल तत्त्व के गुण कहे गए हैं। शब्द, स्पर्श और रूप—ये तीन अग्नितत्त्व (तेजतत्त्व) के गुण कहे गए हैं। शब्द और स्पर्श—ये दो वायु तत्त्व के गुण कहे गए हैं और शब्द—यह एक गुण आकाश का कहा गया है।

सात्त्विकराजसतामसलक्षणानि त्रयो गुणाः॥7॥

सात्त्विक, राजस और तामस—इन तीन लक्षणों से युक्त तीन गुण कहे जाते हैं।

अहिंसा सत्यमस्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहाः।
अक्रोधो गुरुशुश्रूषा शौचं संतोष आर्जवम्॥8॥

अमानित्वमदम्भित्वमास्तिकत्वमहिंस्रता ।
एते सर्वे गुणाः ज्ञेयाः सात्विकस्य विशेषतः ॥9॥

अहिंसा, सत्य, अस्तेय (चोरी न करना), ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, अक्रोध (क्रोध का अभाव), गुरु की सेवा-शुश्रूषा करना, पवित्रता, सन्तोष, सरलता, अमानित्त्व का भाव, दम्भ का अभाव, आस्तिकता, हिंसक न बनना—ये सब गुण मुख्यरूप से सात्त्विक स्वभाव वाले मनुष्यों में होते है।

अहं कर्ताऽस्म्यहं भोक्ताऽस्म्यहं वक्ताऽभिमानवान् ।
एते गुणा राजसस्य प्रोच्यन्ते ब्रह्मवित्तमैः ॥10॥
निद्राऽऽलस्ये मोहरागौ मैथुनं चौर्यमेव च ।
एते गुणास्तामसस्य प्रोच्यन्ते ब्रह्मवादिभिः ॥11॥

'मैं कर्ता हूँ', 'मैं भोक्ता हूँ' 'मैं वक्ता हूँ'—इस तरह के अभिमानयुक्त गुण राजसी प्रकृति वाले मनुष्यों के बताए गए हैं और निद्रा, आलस्य, मोह, आसक्ति, मैथुन और चोरी करना—ये सब गुण तामसी प्रकृति वाले मनुष्यों के ब्रह्मवादियों के द्वारा बताए गए हैं। (अर्थात् तत्त्वज्ञानियों का यह कहना है अतः सत्य है।)

ऊर्ध्वं सात्त्विको मध्ये राजसोऽधस्तामस इति ॥12॥
सम्यज्ज्ञानं सात्विकम्। धर्मज्ञानं राजसम्। तिमिरान्धं ताम-समिति ॥13॥

सर्वश्रेष्ठ उच्च पद सात्त्विक गुण को कहा गया है। राजस गुण को मध्यम तथा तामस गुण को अधम कहा गया है। सत्य (ब्रह्म) का ज्ञान सात्त्विक है, धर्म का ज्ञान राजस है और अन्धकार से युक्त जो अधर्ममूढता है, उसे ही तामस ज्ञान कहा जाता है।

जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तितुरीयमिति चतुर्विधा अवस्थाः। ज्ञानेन्द्रियकर्मेन्द्रि-यान्तःकरणचतुष्टयं चतुर्दशकरणयुक्तं जाग्रत्। अन्तःकरणचतुष्टयैरेव संयुक्तः स्वप्नः। चित्तैककरणा सुषुप्तिः। केवलजीवसंयुक्तमेव तुरीय-मिति ॥14॥

जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति और तुरीय—ये चार अवस्थाएँ हैं। जाग्रदवस्था में पाँच ज्ञानेन्द्रिय, पाँच कर्मेन्द्रिय और चार अन्तःकरण (मन-बुद्धि-चित्त-अहंकार)—ये चौदह करण सक्रिय रहते हैं। स्वप्नावस्था चार अन्तःकरण सम्मिलित रूप में क्रियाशील रहते हैं। सुषुप्तावस्था में केवल चित्त ही एकमात्र करण का काम करता है। तुरीयावस्था में तो केवल जीवात्मा ही एकमात्र शेष रह जाता है।

उन्मीलितनिमीलितमध्यस्थजीवपरमात्मनोर्मध्ये जीवात्मा क्षेत्रज्ञ इति विज्ञायते ॥15॥

खुले हुए और बन्द किए गए नेत्रों के बीच की स्थिति में जीव और परमात्मा—दोनों के बीच जो जीवात्मा है, उसे 'क्षेत्रज्ञ' नाम से पहचाना गया है।

बुद्धिकर्मेन्द्रियप्राणपञ्चकैर्मनसा धिया ।
शरीरं सप्तदशभिः सूक्ष्मं तल्लिङ्गमुच्यते ॥16॥

ज्ञानेन्द्रिय (5), कर्मेन्द्रिय (5), प्राण (5) और मन-बुद्धि (2)—इन सत्रह तत्त्वों का सूक्ष्मस्वरूप लिंगशरीर कहा गया है, ऐसा समझना चाहिए।

मनोबुद्धिरहंकारः खानिलाग्निजलानि भूः ।
एताः प्रकृतयस्त्वष्टौ विकाराः षोडशापरे ॥17॥

मन, बुद्धि, अहंकार, आकाश, वायु, अग्नि, जल तथा पृथ्वी—ये आठ प्रकृति के विकार कहे गए हैं। इनके अलावा भी सोलह विकार और ज्यादा भी बताए गए हैं।

श्रोत्रं त्वक्चक्षुषी जिह्वा घ्राणं चैव तु पञ्चमम् ।
पायूपस्थौ करौ पादौ वाक्चैव दशमी मता ॥18॥
शब्दः स्पर्शश्च रूपं च रसो गन्धस्तथैव च ।
त्रयोविंशतिरेतानि तत्त्वानि प्रकृतानि तु ॥19॥
चतुर्विंशतिरव्यक्तं प्रधानं पुरुषः परः ॥ इत्युपनिषत् ॥20॥

इति शारीरकोपनिषत्समाप्ता ।

श्रोत्र, त्वचा, चक्षु, जिह्वा तथा घ्राण—ये ज्ञानेन्द्रियरूप पाँच विकार तथा गुदा, उपस्थ, हाथ, पैर और वाक्—ये पाँच कर्मेन्द्रियरूप विकार तथा शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध—ये पाँच—ये सभी तथा उपर्युक्त मन आदि आठ विकार मिलकर के कुल प्रकृति के तेईस तत्त्व होते हैं। चौबीसवें तत्त्व को 'अव्यक्त' या 'प्रधान' या 'प्रकृति' कहा जाता है। और पचीसवाँ पुरुष तो इन सभी से परे है। इस तरह कुल मिलाकर पचीस तत्त्वों के समूह वाला यह विश्व ब्रह्माण्ड है यही यह शारीरक उपनिषत् है।

इस प्रकार शारीरकोपनिषत् समाप्त होती है।

शान्तिपाठः

ॐ सह नाववतु। सह नौ.......मा विद्विषावहै। (पूर्ववत्)
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

(65) योगशिखोपनिषत्

(उपनिषत्परिचय)

इस कृष्णयजुर्वेदीय उपनिषत् में हिरण्यगर्भ तथा महादेव के संवाद के रूप मे तत्त्वज्ञान और योग की बहुत-सी बातें बताई गई हैं। छ: अध्यायवाली इस लम्बी उपनिषद् में मोक्ष के साधनरूप ज्ञान और योग—इन दो मार्गों की, विशेषत: योग की विस्तृत चर्चा की गई है। जीव जो कि सुख-दु:ख, काम-क्रोध, जन्म-मृत्यु आदि दोषयुक्त है, उसे 'शिव' बनाने के ये दो मार्ग हैं। इन दो मार्गों के अनुसरण से जीव के उपर्युक्त सभी दोष दूर हो जाते हैं और वह शिव बन जाता है। इस पूरी उपनिषद् में आसन, प्राणायाम, बन्ध, मुद्रा, आदि योग की सभी क्रियाओं का तथा चक्रों, नाड़ियों आदि का अत्यन्त सविस्तार एवं विशद वर्णन किया गया है, जोकि उपनिषद् का पूर्ण ध्यान से अभ्यास करने पर ही मालूम हो सकता है। उपनिषत् साधक को उपदेश देते हुए पहले यह कहती है कि साधक को पद्मासन करके, नासाग्र दृष्टि करके, हाथ-पैरों को स्थिर रख कर, बैठना चाहिए और बाद में मन को एकाग्र करके प्रणव का चिन्तन करना चाहिए, तथा हृदय में दीपशिखा जैसे ब्रह्म का ध्यान करना चाहिए। हमारे इस शरीर में मेरुदण्डरूप एक स्तम्भ है, नौ दरवाजे हैं, तीन मुख्य नाड़ीरूप तीन खूँटे हैं तथा पाँच प्राण रूप पाँच देव हैं। जब साधक पापरहित हो जाता है, तब इस योग के द्वारा संसार को काटता है और परब्रह्म का अनुभव प्राप्त करता है।

शान्तिपाठः

ॐ सह नाववतु। सह नौ.......मा विद्विषावहै। (पूर्ववत्)

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

इसका हिन्दी रूपान्तर पूर्व में (शारीरकोपनिषत् में) द्रष्टव्य है।

प्रथमोऽध्यायः

सर्वे जीवाः सुखैर्दुःखैर्मायाजालेन वेष्टिताः।
तेषां मुक्तिः कथं देव कृपया वद शंकर ॥1॥
सर्वसिद्धिकरं मार्गं मायाजालनिकृन्तनम्।
जन्ममृत्युजराव्याधिनाशनं सुखदं वद ॥2॥ इति ॥

हे शंकर! सभी जीव माया के जाल के द्वारा सुखों और दु:खों में फँसे (घिरे) हुए हैं। उनकी मुक्ति कैसे हो सकती है, वह कृपा करके आप मुझे बताइए। जो मार्ग सर्व की सिद्धि करने वाला हो, जो मार्ग माया के जाल को काटने वाला हो, जो जन्म, मृत्यु, जरा और पीड़ाओं का नाश करने वाला हो, जो सुखकारी हो, उसे आप मुझे कृपा करके बताइए।

हिरण्यगर्भः पप्रच्छ स होवाच महेश्वरः।
नानामार्गैस्तु दुष्प्रापं कैवल्यं परमं पदम् ॥3॥

सिद्धिमार्गेण लभते नान्यथा पद्मसम्भव।
पतिताः शास्त्रजालेषु प्रज्ञया तेन मोहिताः ॥4॥
स्वात्मप्रकाशरूपं तत् किं शास्त्रेण प्रकाश्यते।
निष्कलं निर्मलं शान्तं सर्वातीतं निरामयम् ॥5॥

इस प्रकार का प्रश्न हिरण्यगर्भ (ब्रह्माजी) ने जब शंकर जी से पूछा, तब वे महेश्वर बोले कि हे पद्मज! यह कैवल्य का परमपद तरह-तरह के मार्गों के द्वारा तो नहीं प्राप्त किया जा सकता है। इसके लिए तो एक जो श्रुतिसिद्ध मार्ग है, इसी के द्वारा वह परमपद प्राप्त किया जा सकता है, अन्य मार्गों से नहीं। फिर भी लोग ऐसे हैं कि अपनी बुद्धि से साधन-चतुष्टय भूलकर ही शास्त्रों के जाल में पड़े (फँसे) हैं और उससे मोहित होते रहते हैं। किन्तु शास्त्र द्वारा सही रूप में जो प्रकाशित होता है, वह तो अंशरहित, निष्कलंक, शान्त, सबसे परे, निर्दोष तत्त्व है।

तदेव जीवरूपेण पुण्यपापफलैर्वृतम्।
परमात्मपदं नित्यं तत् कथं जीवतां गतम् ॥6॥
तत्त्वातीतं महादेव प्रसादात् कथयेश्वर।
सर्वभावपदातीतं ज्ञानरूपं निरञ्जनम् ॥7॥

वही परमतत्त्व पुण्यों और पापों के फलों से आवृत होकर जीवदशा को प्राप्त हुआ है। तब ब्रह्माजी ने पूछा कि—हे महादेव! परन्तु वह सभी तत्त्वों से परे रहने वाला नित्य तत्त्व भला जीव दशा को प्राप्त ही कैसे हो गया? हे ईश्वर! कृपा करके आप मुझे यह बताइए। वह तत्त्व तो सर्वस्वभाव से रहित ही कहा गया है।

वायुवत् स्फुरितं स्वस्मिंस्तत्राहंकृतिरुत्थिता।
पञ्चात्मकमभूत् पिण्डं धातुबद्धं गुणात्मकम् ॥8॥
सुखदुःखैः समायुक्तं जीवभावनया कुरु।
तेन जीवाभिधा प्रोक्ता विशुद्धे परमात्मनि ॥9॥

तब महादेव ने उत्तर दिया—यद्यपि वह सर्वस्वभाव से रहित है, निरंजन (मलिनतारहित) है। तथापि आकाश में जैसे यों ही स्वभावत: वायु स्फुरित होता है, उसी प्रकार उसमें अहंकार उत्पन्न हो गया और उसी से एक पंचात्मक पिण्ड उत्पन्न हुआ। वह पिण्ड धातुओं (पदार्थों) से बद्ध था और त्रिगुणात्मक था अथवा वह पंच धातुओं से युक्त पिण्ड उन-उन धातुओं के गुण वाला था और सुखों तथा दु:खों से भरा हुआ था। उसमें जीव की भावना से प्रवेश करने से उस विशुद्ध परमात्मा का भी 'जीव' नाम पड़ गया।

कामक्रोधभयं चापि मोहलोभमथो रजः।
जन्म मृत्युश्च कार्पण्यं शोकस्तन्द्रा क्षुधा तृषा ॥10॥
तृष्णा लज्जा भयं दुःखं विषादो हर्ष एव च।
एभिर्दोषैर्विनिर्मुक्तः स जीवः शिव उच्यते ॥11॥

यह जो जीव है, वह काम, क्रोध, भय, मोह, लोभ और मलिनता, जन्म, मृत्यु, कृपणता, शोक, तन्द्रा, भूख, प्यास, तृष्णा, लज्जा, भय, दु:ख, खिन्नता, हर्ष—इत्यादि ये जो दोष हैं, उनसे विनिर्मुक्त हो जाए तो वही जीव शिव ही कहा जाता है।

तस्माद्दोषविनाशार्थमुपायं कथयामि ते ।
ज्ञानं केचिद्वदन्त्यत्र केवलं तन्न सिद्धये ॥12॥
योगहीनं कथं ज्ञानं मोक्षदं भवतीह भो ।
योगोऽपि ज्ञानहीनस्तु न क्षमो मोक्षकर्मणि ॥13॥
तस्माज्ज्ञानं च योगं च मुमुक्षुर्दृढमभ्यसेत् ।
ज्ञानस्वरूपमेवादौ ज्ञेयं ज्ञानैकसाधनम् ॥14॥

इसलिए उन दोषों के निवारण के लिए मैं तुम्हें उपाय बतला रहा हूँ। कुछ लोग कहते हैं कि उन दोषों को दूर करने के लिए ज्ञान ही एक उपाय है। पर वह योग से विहीन केवल ज्ञान तो उपाय नहीं है। अरे ! योग के बिना ज्ञान भला कैसे मोक्षदायक हो सकता है ? और ज्ञान के बिना अकेला योग भी तो मोक्षरूप कार्यसिद्धि के लिए समर्थ नहीं हो सकता। इसलिए मुमुक्षु को ज्ञान और योग—दोनों का दृढ अभ्यास करना चाहिए। पहले ज्ञान का स्वरूप मुमुक्षु को जान लेना चाहिए क्योंकि जो ज्ञेय है, वह केवल ज्ञान से ही प्राप्त किया जा सकता है।

अज्ञानं कीदृशं चेति प्रविचार्यं मुमुक्षुणा ।
ज्ञातं येन निजं रूपं कैवल्यं परमं पदम् ॥15॥
असौ दोषैर्विनिर्मुक्तः कामक्रोधभयादिभिः ।
सर्वदोषैर्वृतो जीवः कथं ज्ञानेन मुच्यते ॥16॥
स्वात्मरूपं यथा ज्ञानं पूर्णं तद्व्यापकं तथा ।
कामक्रोधादिदोषाणां स्वरूपान्नास्ति भिन्नता ॥17॥
पश्चात् तस्य विधिः किं नु निषेधोऽपि कथं भवेत् ।
विवेकी सर्वदा मुक्तः संसारभ्रमवर्जितः ॥18॥
परिपूर्णस्वरूपं तत् सत्यं कमलसम्भव ।
सकलं निष्कलं चैव पूर्णत्वाच्च तदेव हि ॥19॥

और साथ ही अज्ञान भी कैसा होता है, इस तरह अज्ञान के स्वरूप का भी अच्छी तरह विचार करके ही जिस मुमुक्षु ने अपने कैवल्यरूप परमपद को जान लिया है, वह मुक्त हो जाता है। परन्तु ब्रह्माजी फिर पूछते हैं कि—'यह काम, क्रोध, भय आदि से घिरा हुआ जीव मुक्त कैसे हो सकता है ?' तब महादेव ने उत्तर देते हुए कहा कि—'मुक्त होता है क्योंकि स्वरूप ज्ञान तो पूर्ण और सर्वव्यापक ही है। इसका अर्थ तो यह हुआ कि काम, क्रोध आदि दोष भी उस सर्वव्यापक तत्त्व (स्वात्मरूप) से भिन्न तो हैं ही नहीं।' (उस व्यापक में ही तो वे हैं।) तब ब्रह्मा ने पूछा कि—यदि उस सर्वव्यापक से ये दोष अभिन्न ही हैं अर्थात् हैं ही नहीं, तो फिर उनके निषेध और विधि का प्रश्न ही कहाँ उठ सकता है ?' तब शंकर बोले—'ठीक है (उसका विधि-निषेध न होने पर भी) जो विवेकी मनुष्य है, उसके लिए तो ऐसा विधिनिषेध का प्रश्न नहीं है, क्योंकि वह तो सदैव मुक्त होता है और उसको तो स्वात्मा में संसार के भ्रम का अभाव ही रहता है। हे कमलसंभव ब्रह्मा जी ! क्योंकि वह जो सत्य, परिपूर्ण स्वरूप, निरवयव और सकल ब्रह्म है वही अपनी पूर्णता से ही युक्त होता है।

कलिना स्फूर्तिरूपेण संसारभ्रमतां गतम् ।
निष्कलं निर्मलं साक्षात् सकलं गगनोपमम् ॥20॥

उत्पत्तिस्थितिसंहारस्फूर्तिज्ञानविवर्जितम् ।
एतद्रूपं समायातः स कथं मोहसागरे ॥21॥
निमज्जति महाबाहो त्यक्त्वा विद्यां पुनःपुनः ।
सुखदुःखादिमोहेषु यथा संसारिणां स्थितिः ॥22॥
तथा ज्ञानी यदा तिष्ठेद्वासनावासितस्तदा ।
तयोर्नास्ति विशेषोऽत्र समा संसारभावना ॥23॥
ज्ञानं चेदीदृशं ज्ञातमज्ञानं कीदृशं पुनः ।
ज्ञाननिष्ठोऽविरक्तोऽपि धर्मज्ञोऽविजितेन्द्रियः ॥24॥

वह आकाश जैसा व्यापक निरवयव अपरोक्ष ब्रह्म गतिशील, स्फुरणशील कलि-मोह से संसाररूपी भ्रम को प्राप्त हुआ है। तब ब्रह्माजी ने फिर पूछा कि—"पारमार्थिक रूप से तो यह ब्रह्म उत्पत्ति, स्थिति, प्रलय, गतिशीलता आदि के ज्ञान से रहित है, तो फिर वह ऐसे स्वरूपवाला ब्रह्म मोहरूपी सागर में कैसे पड़ गया ? हे महाबाहो ! विद्या को (अपने निज रूप को) भूलकर बार-बार सुख-दुःखादि स्थितियों में पड़ जाना तो संसारियों की ही स्थिति है। ब्रह्म में ऐसा क्यों होता है ?" तब महादेवजी ने उत्तर दिया कि—"ठीक है, यह जैसे सुख-दुःख की स्थितियों में बार-बार आ पड़ना संसारियों की स्थिति है, वैसे ही ज्ञानी (ब्रह्मज्ञानी) भी वासनाओं से वासित होकर सुख-दुःख में आ पड़ता है। वासना के बारे में ज्ञानी-संसारी का कोई भेद नहीं है। (यहाँ ज्ञानी का अर्थ आभासज्ञानी मानना चाहिए) इस आभासज्ञानी की और संसारी मनुष्य की सांसारिक भावना तो समान ही होती है। इस आभासज्ञानी का ज्ञान ऐसा है तो फिर अज्ञान कैसा होता है ? (वह भी तो ऐसा ही है) वह योगविहीन तथाकथित ज्ञानी तो वैराग्यहीन, धर्मज्ञ होते हुए भी असंयमी इन्द्रियों वाला ही होता है।"

विना देहेऽपि योगेन न मोक्षं लभते विधे ।
अपक्वाः परिपक्वाश्च देहिनो द्विविधाः स्मृताः ॥25॥
अपक्वा योगहीनास्तु पक्वा योगेन देहिनः ।
सर्वो योगाग्निना देहो ह्यजडः शोकवर्जितः ॥26॥
जडस्तु पार्थिवो ज्ञेयो ह्यपक्वो दुःखदो भवेत् ।
ध्यानस्थोऽसौ तथाप्येवमिन्द्रियैर्विवशो भवेत् ॥27॥

"हे विधि ! इस देह में योग के बिना केवल ज्ञानमात्र से तो मोक्ष नहीं मिल सकता। देहधारी प्राणी दो प्रकार के होते हैं—एक पक्व हैं, दूसरे अपक्व हैं। उनमें जो योग से रहित (केवल ज्ञानमात्र से युक्त) हैं वे अपक्व हैं और जो देहधारी योग से युक्त होते हैं वे पक्व माने गए हैं। योगरूपी अग्नि से यह पूरा देह अजड अर्थात् चैतन्यमय और शोक से रहित हो जाता है और जो जड (योगरहित) पार्थिव देह अपक्व होता है, वह तो दुःखकारक ही होता है। वह ध्यान करने के लिए बैठा हो तो भी इन्द्रियों के द्वारा विवश (पराधीन) हो जाता है (यहाँ कहने का तात्पर्य यह है कि योग के बिना ध्यानादि संभव नहीं है। केवल विनियोगविहीन जानकारी मात्र का कोई अर्थ नहीं)।

तानि गाढं नियम्यापि तथाप्यन्यैः प्रबाध्यते ।
शीतोष्णसुखदुःखाद्यैर्व्याधिभिर्मानसैस्तथा ॥28॥
अन्यैर्नानाविधैर्जीवैः शस्त्राग्निजलमारुतैः ।
शरीरं पीड्यते तैस्तैश्चित्तं संक्षुभ्यते ततः ॥29॥

तथा प्राणविपत्तौ तु क्षोभमायाति मारुतः ।
ततो दुःखशतैर्व्याप्तं चित्तं क्षुब्धं भवेन्नृणाम् ॥30॥
देहावसानसमये चित्ते यद्यद्विभावयेत् ।
तत्तदेव भवेज्जीव इत्येवं जन्मकारणम् ॥31॥

उन इन्द्रियों को यथासंभव दृढ़तापूर्वक वश में लाना चाहिए। और भी, मनुष्य इन्द्रियों के अतिरिक्त-शीतता, उष्णता तथा मानसिक सुखों और दुःखों से पीड़ित रहा करता है। तरह-तरह के अन्यान्य जीवों के द्वारा तथा शस्त्रों से, जल से, वायु से और ऐसे-ऐसे अनेकों से पीड़ित रहा करता है और इससे उसका चित्त संक्षुब्ध हुआ करता है। इस प्रकार के सैंकड़ों दुःखों से अज्ञानी जनों का चित्त क्षुब्ध हो जाता है और प्राणों की विपत्ति में प्राणवायु (दम) घुंट जाता है। देह के अवसान के समय में मनुष्य चित्त में जो-जो भावनाएँ करता है, उन-उन भावनाओं के अनुसार जीव जन्म लेता है। वे अन्तिम भावनाएँ ही उसके जन्म के कारणभूत होती हैं।

देहान्ते किं भवेज्जन्म तन्न जानन्ति मानवाः ।
तस्माज्ज्ञानं च वैराग्यं जीवस्य केवलं श्रमः ॥32॥
पिपीलिका यथा[दा] लग्ना देहे ध्यानाद्विमुच्यते ।
असौ किं वृश्चिकैर्दष्टो देहान्ते वा कथं सुखी ॥33॥

इस देह के अन्त के बाद कौन-सा जन्म मिलेगा, यह आभास ज्ञानी मनुष्य जानते नहीं है। इसलिए योग से रहित केवल जानकारी का ज्ञान और वैराग्य तो अर्थविहीन परिश्रम ही है। ध्यान में बैठे हुए जिस मनुष्य का ध्यान एक चींटी के काटने से भी छूट जाता है, वह पुरुष के मृत्यु के समय में बिच्छुओं के डंक मारने की-सी पीड़ा होने पर किस तरह सुखी हो सकता है भला ?

तस्मान्मूढा न जानन्ति मिथ्यातर्केण वेष्टिताः ।
अहंकृतिर्यदा यस्य नष्टा भवति तस्य वै ॥34॥
देहस्त्वपि भवेन्नष्टो व्याधयश्चास्य किं पुनः ।
जलाग्निशस्त्रखातादिबाधा कस्य भविष्यति ॥35॥
यदा यदा परिक्षीणा पुष्टा चाहंकृतिर्भवेत् ।
तमनेनास्य नश्यन्ति प्रवर्तन्ते रुगादयः ॥36॥
कारणेन विना कार्यं न कदाचन विद्यते ।
अहंकारं विना तद्वद्देहे दुःखं कथं भवेत् ॥37॥

इस बात को मिथ्या तर्क से घिरे हुए लोग समझ नहीं सकते कि जब अहंकार (मैं-मेरा) ही नष्ट हो जाता है, तब देह भी वास्तव में नष्ट ही हो जाता है। (भले ही वह बाहर से दिखाई दे रहा हो।) और तब तो फिर पीड़ाएँ होंगी किसको ? तब तो फिर जल, अग्नि, शस्त्र और खाई आदि की बाधाएँ भला किसको होंगी ? (किसी को नहीं होंगी। ज्ञानी अर्थात् वास्तविक योगयुक्त ज्ञानी का तो पारमार्थिक देह ही नहीं है) जब-जब पहले का परिक्षीण अहंकार बढ़ जाता है, तब इस देहाभिमान के दोष से मनुष्य के शरीर के रोग प्रवर्तित हो जाते हैं। क्योंकि कारण के बिना तो कार्य की उत्पत्ति बिल्कुल ही संभव नहीं है। तो फिर अहंकाररूप कारण के बिना तो देह में दुःख कैसे उत्पन्न हो सकता है ?

शरीरेण जिताः सर्वे शरीरं योगिभिर्जितम् ।
तत् कथं कुरुते तेषां सुखदुःखादिकं फलम् ॥38॥
इन्द्रियाणि मनो बुद्धिः कामक्रोधादिकं जितम् ।
तेनैव विजितं सर्वं नासौ केनापि बाध्यते ॥39॥
महाभूतानि तत्त्वानि संहतानि क्रमेण च ।
सप्तधातुमयो देहो दग्धो योगाग्निना शनैः ॥40॥
देवैरपि न लक्ष्येत योगिदेहो महाबलः ।
भेदबन्धविनिर्मुक्तो नानाशक्तिधरः परः ॥41॥

इस शरीर के द्वारा सब जीते जा सकते हैं और उस शरीर को ही ब्रह्मात्मैक्य जानने वाले योगियों ने जीत लिया है। तो फिर वह शरीर सुख-दुःखादि फल कैसे उत्पन्न कर सकता है ? ऐसे योगी ने तो इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि, काम, क्रोध आदि सब कुछ जीत ही लिया है, तो फिर सब कुछ उसी ने जीत लिया है। अतः वह तो किसी से जीता नहीं जा सकता। उस योगी ने अपने योगाग्नि से क्रमशः पाँच महाभूत और अन्य सब तत्त्व एकत्रित किए और यह सप्त धातु से बना देह, यह सब कुछ धीरे-धीरे जला ही दिया है। ऐसा वह योगियों का महाबलशाली देह सूक्ष्मता के कारण देवों के द्वारा भी नहीं देखा जा सकता, क्योंकि वह भेदों के सभी प्रकार के बन्धनों से मुक्त हो चुका है और सबसे परे है, वह विविध शक्तियों को धारण किए हुए है।

यथाकाशस्तथा देह आकाशादपि निर्मलः ।
सूक्ष्मात् सूक्ष्मतरो दृश्यः स्थूलात्स्थूलो जडाजडः ॥42॥
इच्छारूपो हि योगीन्द्रः स्वतन्त्रस्त्वजरामरः ।
क्रीडते त्रिषु लोकेषु लीलया यत्रकुत्रचित् ॥43॥
अचिन्त्यशक्तिमान् योगी नानारूपाणि धारयेत् ।
संहरेच्च पुनस्तानि स्वेच्छया विजितेन्द्रियः ॥44॥
नासौ मरणमाप्नोति पुनर्योगबलेन तु ।
हठेन मृत एवासौ मृतस्य मरणं कुतः ॥45॥

इस योगी का देह तो जैसा आकाश होता है, वैसा ही होता है। वह तो आकाश से भी निर्मल होता है। वह सूक्ष्म से भी सूक्ष्मतर है। वह स्थूल-अस्थूल, जड़-अजड़, दृश्य-अदृश्य—दोनों अनेक दृष्टिभेद से हो सकता है। (अर्थात् सर्वसापेक्षताओं से परे और अनिर्वचनीय है।) क्योंकि वह योगीन्द्र तो अपनी इच्छानुसार रूप धारण कर सकता है। वह स्वतंत्र है, वह अजर है, अमर है। तीनों लोकों में वह अपनी इच्छानुसार जहाँ कहीं भी सिर्फ लीला के लिए ही क्रीड़ा करता हुआ घूमता है। वह योगी अचिन्त्य (अकल्पनीय) शक्तियों से सम्पन्न होता है और भाँति-भाँति के रूप धारण कर सकता है। और उन्हीं रूपों को फिर अपनी इच्छानुसार समेट भी सकता है। वह जितेन्द्रिय होता है। वह कभी मरण को प्राप्त नहीं होता। फिर भी अपने हठयोग से वह मर ही जाता है, तो मरे हुए का मरण कैसे हो सकता है ?

मरणं यत्र सर्वेषां तत्रासौ परिजीवति ।
यत्र जीवन्ति मूढास्तु तत्रासौ मृत एव वै ॥46॥

कर्तव्यं नैव तस्यास्ति कृतेनासौ न लिप्यते ।
जीवन्मुक्तः सदा स्वच्छः सर्वदोषविवर्जितः ॥47॥
विरक्ता ज्ञानिनश्चान्ये देहेन विजिताः सदा ।
ते कथं योगिभिस्तुल्या मांसपिण्डाः कुदेहिनः ॥48॥
देहान्ते ज्ञानिभिः पुण्यात् पापाच्च फलमाप्यते ।
ईदृशं तु भवेत् तत्तद् भुक्त्वा ज्ञानी पुनर्भवेत् ॥49॥

जहाँ पर सभी प्राणियों का मरण होता है, वहाँ यह योगीन्द्र जीवित ही रहता है और जहाँ पर सभी प्राणी (सभी मूढ़ लोग) जीवित होते हैं, वहाँ यह मरा हुआ ही है। ऐसे योगी के लिए कोई कर्तव्य नहीं होता और कर्मों से वह लिप्त भी नहीं होता। वह तो जीवन्मुक्त होता है, सदा विशुद्ध ही होता है और सभी दोषों से रहित ही होता है। लेकिन कुछ लोग वैराग्यवान् तो हैं, और जानकारी भी रखते हैं फिर भी योगरहित होने से सदैव अपने देह के द्वारा जीते जाते हैं (वे देह के वश में ही आ जाते हैं)। ऐसे वे लोग भला इन योगियों के समान कैसे हो सकते हैं। वे तो केवल मांस के पिण्ड ही हैं और वे मलिन देहवाले ही हैं। ऐसे आभासज्ञानियों के द्वारा देह के अन्त के बाद, उनके किए गए पुण्य और पाप के द्वारा फल प्राप्त किए जाते ही हैं, और ऐसे उस-उस फल को भोगने के लिए उनको फिर जन्म लेना पड़ता ही है।

पश्चात् पुण्येन लभते सिद्धेन सह संगतिम् ।
ततः सिद्धस्य कृपया योगी भवति नान्यथा ॥50॥
ततो नश्यति संसारो नान्यथा शिवभाषितम् ।
योगेन रहितं ज्ञानं न मोक्षाय भवेद्विधे ॥51॥
ज्ञानेनैव विना योगो न सिध्यति कदाचन ।
जन्मान्तरैश्च बहुभिर्योगो ज्ञानेन लभ्यते ॥52॥

बाद में, उस आभासज्ञानी को किसी पुण्य से जीवन्मुक्त का संग हो जाने से, उस सिद्ध योगी की कृपा से वह आभासज्ञानी भी योगी बन सकता है, इसके अतिरिक्त तो उसके लिए कोई अन्य उपाय नहीं है। ऐसा योगी हो जाने पर उस आभासज्ञानी का संसार नष्ट हो जाता है। इसके अतिरिक्त तो कोई चारा नहीं है, ऐसा शिवजी ने कहा है। हे विधि! (ब्रह्माजी!) योग से रहित ज्ञान मोक्षदायक हो ही नहीं सकता और ज्ञान के बिना योग भी सिद्ध नहीं हो सकता। (दोनों की आवश्यकता अनिवार्य है) और बहुत जन्म-जन्मान्तरों से ज्ञान के बाद योग की प्राप्ति हो सकती है।

ज्ञानं तु जन्मनैकेन योगादेव प्रजायते ।
तस्माद्योगात् परतरो नास्ति मार्गस्तु मोक्षदः ॥53॥
प्रविचार्य चिरं ज्ञानं मुक्तोऽहमिति मन्यते ।
किमसौ मननादेव मुक्तो भवति तत्क्षणात् ॥54॥
पश्चाज्जन्मान्तरशतैर्योगादेव विमुच्यते ।
न तथा भवतो योगाज्जन्ममृत्यू पुनःपुनः ॥55॥

योग से ज्ञान तो एक ही जन्म द्वारा उत्पन्न हो सकता है। इसलिए योग से अधिक उत्तम मार्ग तो मोक्षदायक कोई है ही नहीं। ठीक है, लम्बे समय तक ज्ञान का अच्छी तरह से मनुष्य मनन करता

रहता है, परन्तु क्या मननरूप लक्षण ही से मनुष्य मुक्त हो जाता है? (नहीं हो जाता) किन्तु मनन के बाद, सैंकड़ों जन्मों के ऐसे परिश्रम से जब योग की प्राप्ति होती है, तब उस योग से ही मनुष्य मुक्ति को प्राप्त कर सकता है। इसलिए उस योग की साधना से (हे ब्रह्मा!) आपके जन्म-मरण बार-बार नहीं होंगे।

प्राणापानसमायोगाच्चन्द्रसूर्यैकता भवेत् ।
सप्तधातुमयं देहमग्निना रञ्जयेद् ध्रुवम् ॥56॥
व्याधयस्तस्य नश्यन्ति छेदखातादि का कथा ।
तदासौ परमाकाशरूपो देह्यवतिष्ठति ॥57॥
किं पुनर्बहुनोक्तेन मरणं नास्ति तस्य वै ।
देहिवद् दृश्यते लोके दग्धकर्पूरवत् स्वयम् ॥58॥

यह प्राण और अपान को समान (संयत) करने का योग है। इससे सूर्य और चन्द्र (दोनों नाड़ियों) की एकता की जाती है। इस योग के अनुष्ठाता की सभी व्याधियाँ दूर हो जाती हैं तब काटने या खात (खाई) आदि की तो बात ही क्या है? (ऐसी व्याधियाँ तो अवश्य ही नष्ट हो जाएँगी।) तब तो वह योगी परमाकाश जैसा व्यापक और शुद्ध होकर रहता है। और अधिक तो क्या कहा जाए? ऐसे योगी का मरण होता ही नहीं है। ऐसा योगी लोक में तो सामान्य देहधारी जैसा मालूम होता है, परन्तु वास्तव में तो वह स्वयं केवल जले हुए कर्पूर जैसा ही (जागतिक अस्तित्वहीन) होता है।

चित्तं प्राणेन सम्बद्धं सर्वजीवेषु संस्थितम् ।
रज्ज्वा यद्वत् सुसम्बद्धः पक्षी तद्वदिदं मनः ॥59॥
नानाविधैर्विचारैस्तु न बाध्यं जायते मनः ।
तस्मात् तस्य जयोपायः प्राण एव हि नान्यथा ॥60॥
तर्कैर्जल्पैः शास्त्रजालैर्युक्तिभिर्मन्त्रभेषजैः ।
न वशो जायते प्राणः सिद्धोपायं विना विधे ॥61॥

सभी प्राणियों में जो चित्त है, वह प्राण के साथ सम्बद्ध (जुड़ा हुआ) है। जिस प्रकार रस्सी से पक्षी बाँधा गया हो, उसी प्रकार से चित्त प्राणों से बँधा हुआ ही है। तरह-तरह के विचारमात्र करने से कहीं यह मन साध्य (वश में आने वाला) नहीं होता अथवा तो उन विचारों से मन बाध्य (प्रभावित) नहीं होता। इसीलिए इस मन के जय का उपाय प्राण के ऊपर जय प्राप्त करना ही है। प्राणजय के बिना मनोजय का अन्य कोई उपाय नहीं है। तर्कों से, बकवास करने से, शास्त्रों के जालों से या अन्य किन्हीं युक्तियों से, मंत्रों से या औषधियों से हे ब्रह्माजी! यह प्राण सिद्ध (योग) के उपाय के बिना वश में आ ही नहीं सकता।

उपायं तमविज्ञाय योगमार्गे प्रवर्तते ।
खण्डज्ञानेन सहसा जायते क्लेशवत्तरः ॥62॥
योऽजित्वा पवनं मोहाद्योगमिच्छति योगिनाम् ।
सोऽपक्वं कुम्भमारुह्य सागरं तर्तुमिच्छति ॥63॥
यस्य प्राणो विलीनोऽन्तः साधके जीविते सति ।
पिण्डो न पतितस्तस्य चित्तं दोषैः प्रबाधते ॥64॥

इस सिद्धमार्ग की अच्छी तरह से जानकारी प्राप्त किए बिना ही जो मनुष्य केवल छिछलेपन से ही योग का यदि अनुष्ठान करने लगता है, तब तो ऐसे खण्डित (अधूरे) ज्ञान से वह अधिक क्लेश प्राप्त करने वाला होता है। जो मनुष्य प्राण पर विजय प्राप्त किए बिना ही मोहवशात् इन बड़े योगियों के मार्ग पर चलने का साहस करता है, वह तो कच्चे घड़े पर बैठकर सागर को पार करना चाहता हो, ऐसा होता है। जब साधक जीवित है, फिर भी जिसका प्राण भीतर में विलीन हो गया हो, उसका देहपिण्ड तो अभी गिरा नहीं है, ऐसे साधक का मन दोषों से दूषित हो जाता है। (अर्थात् प्राण पर जिसने विजय प्राप्त न की हो और प्राण और अन्तस् दोनों जुड़े हुए ही हों, प्राणों से मनरूपी पक्षी बँधा ही हो उसका चित्त दोषपूर्ण ही होता है।)

शुद्धे चेतसि तस्यैव स्वात्मज्ञानं प्रकाशते।
तस्माज्ज्ञानं भवेद्योगाज्जन्मनैकेन पद्मज ॥65॥
तस्माद्योगं तमेवादौ साधको नित्यमभ्यसेत्।
मुमुक्षुभिः प्राणजयः कर्तव्यो मोक्षहेतवे ॥66॥
योगात् परतरं पुण्यं योगात् परतरं शिवम्।
योगात् परतरं सूक्ष्मं योगात् परतरं न हि ॥67॥

हे पद्मज ब्रह्माजी! उसी दोषयुक्त चित्तवाले पुरुष का चित्त जब शुद्ध हो जाता है, तब उसके अपने आत्मा का ज्ञान प्रकाशित हो जाता है। इस तरह योग से एक ही जन्म में ज्ञान प्राप्त हो जाता है। इसलिए साधक को चाहिए कि वह उस योग का ही पहले अभ्यास करे। मुमुक्षुओं को तो मोक्ष की प्राप्ति के लिए पहले प्राणजय ही कर लेना चाहिए। योग से अधिक श्रेष्ठ कोई पुण्य नहीं है, योग से अधिक श्रेष्ठ कोई कल्याण नहीं है, योग से अधिक श्रेष्ठ कोई सूक्ष्म तत्त्व नहीं है, योग से श्रेष्ठ कुछ नहीं है।

योऽपानप्राणयोरैक्यं रजसो रेतसस्तथा।
सूर्याचन्द्रमसोर्योगो जीवात्मपरमात्मनोः ॥68॥
एवं हि द्वन्द्वजालस्य संयोगो योग उच्यते।
अथ योगशिखां वक्ष्ये सर्वज्ञानेषु चोत्तमाम् ॥69॥

जो प्राण और अपान का ऐक्य है, जो रजस् और वीर्य का ऐक्य है, जो सूर्य और चन्द्र का (दोनों नाड़ियों का) योग है, इसी तरह जो जीवात्मा और परमात्मा का योग होता है, अर्थात् जो इस द्वन्द्व जाल का योग (मिलन) ऐक्य होता है, वही योग कहलाता है। अब मैं तुम्हें सब ज्ञानों में उत्तम ऐसी योगशिखा का ज्ञान कहूँगा।

यदानुध्यायते मन्त्रं गात्रकम्पोऽथ जायते।
आसनं पद्मकं बद्ध्वा यच्चान्यदपि रोचते ॥70॥
नासाग्रे दृष्टिमारोप्य हस्तपादौ च संयतौ।
मनः सर्वत्र संगृह्य ॐकारं तत्र चिन्तयेत् ॥71॥
ध्यायते सततं प्राज्ञो हत्कृत्वा परमेश्वरम्।
एकस्तम्भे नवद्वारे त्रिस्थूणे पञ्चदैवते ॥72॥
ईदृशे तु शरीरे वा मतिमान्नोपलक्षयेत्।
आदित्यमण्डलाकारं रश्मिज्वालासमाकुलम् ॥73॥

पद्मासन या अन्य कोई मनपसन्द आसन लगाकर, नाक के अग्र भाग में दृष्टि को स्थिर करके हाथों और पैरों को समुचित रखते हुए, चारों ओर से मन का निरोध करके ॐकार का चिन्तन और ध्यान करना चाहिए। जब पहली बार मंत्र का ध्यान किया जाता है, तब शरीर में कँपकँपी पैदा हो जाती है। ध्यान करते समय वह ध्यानी (ज्ञानी) को नवद्वार वाले, एक स्तंभवाले, ब्रह्माशिवादि देवतावाले और तीन स्थूण (खम्भों की नींव) वाले (कर्म) ऐसे इस शरीर के बारे में बुद्धिमान को किसी प्रकार का विचार नहीं करना चाहिए। किरणों की ज्वालाओं से भरा हुआ जो आदित्य (सूर्य) के मंडल का आकार है—

तस्य मध्यगतं वह्निं प्रज्वलेद्दीपवर्तिवत्।
दीपशिखा तु या मात्रा सा मात्रा परमेश्वरे ॥74॥

—उस सूर्यमण्डल में एक वह्निमण्डल है (आदित्यमण्डल के बीच वह्निमण्डल है) और उसके मध्य में दीपशिखा है। उस दीपशिखा की जो मात्रा है, जो उसका स्वरूप है, परमेश्वर में भी वही मात्रा है (कहने का तात्पर्य यह है कि उस दीपशिखा में साधक को परमेश्वर की भावना करनी चाहिए। यहाँ पर परमेश्वर की सूक्ष्मता बताई है और पिण्ड की मूलाधारस्थ दीपशिखा का साम्य बताया है।)

भिन्दन्ति योगिनः सूर्यं योगाभ्यासेन वै पुनः।
द्वितीयं सुषुम्नाद्वारं परिशुभ्रं समर्पितम् ॥75॥
कपालसम्पुटं पीत्वा ततः पश्यति तत्पदम्।
अथ तद् ध्यायते जन्तुरालस्याच्च प्रमादतः ॥76॥
यदि त्रिकालमागच्छेत् स गच्छेत् पुण्यसम्पदम्।
पुण्यमेतत् समासाद्य संक्षिप्य कथितं मया ॥77॥

उस दीपशिखा की कृपा से योगी लोग अपने योगाभ्यास के बल से सूर्यमण्डल को भेद करके उस पद को (परमेश्वर के पद को) प्राप्त करते हैं। यह संन्यासयोगी की बात है। जो केवल योगी होते हैं, वे विशुद्ध दूसरे द्वार को (सुषुम्ना के द्वार को) कुण्डलिनी के द्वारा भेदकर उस मार्ग से वहाँ अवस्थित कपालसम्पुट में (सहस्रार चक्र में) प्रवेश करके वहाँ सूर्य-चन्द्र-अग्नि से उत्पन्न अमृत को पीकर, तब बाद में उस पद को (तुरीय को अथवा तुरीयातीत को) 'वह मैं ही हूँ'—इस प्रकार देखते हैं। ऐसा करने में अशक्त मनुष्य यदि आलस्य से या प्रमाद से अथवा भेदबुद्धि से भी इस ब्रह्म का ध्यान करे, ऐसा ध्यान करने वाला प्राणी (मुनि) हर रोज तीन काल ऐसा ध्यान करता है तो वह इस पुण्य से महेन्द्र आदि के ऐश्वर्य की पुण्यसम्पत्ति को प्राप्त करता है। यह बात मैंने तुम्हें संक्षेप में कही।

लब्धयोगोऽथ बुध्येत प्रसन्नं परमेश्वरम्।
जन्मान्तरसहस्रेषु यदा क्षीणं तु किल्बिषम् ॥78॥
तदा पश्यति योगेन संसारोच्छेदनं महत्।
अधुना संप्रवक्ष्यामि योगाभ्यासस्य लक्षणम् ॥79॥
मरुज्जयो यस्य सिद्धः सेवयेत् तं गुरुं सदा।
गुरुवक्त्रप्रसादेन कुर्यात् प्राणजयं बुधः ॥80॥

जिस मनुष्य ने (कही जाने वाली विधि के अनुसार—) इस योग की सिद्धि प्राप्त कर ली है, वह प्रसन्न परमेश्वर को जान लेता है। लेकिन वह तो तभी हो सकता है कि जब जन्म-जन्मान्तर के पाप क्षीण हो जाएँ और इस संसार का बिल्कुल विच्छेद ही हो जाए। अस्तु, अब मैं तुम्हें योगाभ्यास का

पहले लक्षण बता रहा हूँ। जिस मनुष्य ने पहले अपने आप प्राण जय कर लिया हो, उसे सर्वप्रथम तो गुरु के पास ही जाना चाहिए और उनकी सेवासंगति करनी चाहिए। तब गुरुमुख की कृपा से ही उपदेश लेकर प्राणजय करना चाहिए।

वितस्तिप्रमितं दैर्घ्यं चतुरङ्गुलविस्तृतम्।
मृदुलं धवलं प्रोक्तं वेष्टनाम्बरलक्षणम्॥81॥

एक बेत (बारह अंगुल) लम्बा और चार अंगुल चौड़ा कोमल और सफेद ऐसा वस्त्र लेकर सरस्वती नाड़ी के मस्तक को आवेष्टित करके ब्राह्म मुहूर्त में उठकर एक मुहूर्त के समय तक निर्भयता से उसे चलाना चाहिए। (इस मंत्र में वेष्टन वस्त्र का वर्णन ही है, बाकी का अर्थ अध्याहार है।)

निरुध्य मारुतं गाढं शक्तिचालनयुक्तितः।
अष्टधा कुण्डलीभूतामृज्वीं कुर्यात्तु कुण्डलीम्॥82॥
पायोराकुञ्चनं कुर्यात् कुण्डलीं चालयेत् तदा।
मृत्युवक्त्रगतस्यापि तस्य मृत्युभयं कुतः॥83॥
एतदेव परं गुह्यं कथितं तु मया तव।
वज्रासनगतो नित्यमूर्ध्वाकुञ्चनमभ्यसेत्॥84॥

उस सरस्वती नाड़ी के चालन के बाद, शक्ति के चालन की युक्ति से वायु का गाढ निरोध करके आठ गोल घुमाव (ऐंठन) करके अवस्थित उस कुण्डलिनी को सीधा करना चाहिए। और फिर गुदा का संकोच करके उस कुण्डली का चालन करना चाहिए अर्थात् उसे हिलाना चाहिए। ऐसा करने वाले साधक को मौत के मुँह में जाकर भी भला भय कहाँ से हो सकता है ? अर्थात् नहीं हो सकता। हे ब्रह्माजी ! यही परम गोपनीय बात मैंने आपको बताई है। ऐसे आकुंचन के बाद वज्रासन में स्थित होकर साधक को इसका प्रतिदिन अभ्यास करना चाहिए।

वायुना ज्वलितो वह्निः कुण्डलीमनिशं दहेत्।
सन्तप्ता साग्निना जीवा शक्तिस्त्रैलोक्यमोहिनी॥85॥
प्रविशेच्चन्द्रदण्डे तु सुषुम्नावदनान्तरे।
वायुना वह्निना सार्धं ब्रह्मग्रन्थिं भिनत्ति सा॥86॥
विष्णुग्रन्थिं ततो भित्त्वा रुद्रग्रन्थौ च तिष्ठति।
ततस्तु कुम्भकैर्गाढं पूरयित्वा पुनः पुनः॥87॥

फिर उस आकुंचन से उत्पन्न वायु से अग्नि प्रज्वलित होता है। जो हमेशा ही कुण्डलिनी को जलाता (तपाता) रहता है। तब उस अग्नि से जीव संतप्त हो उठते हैं। इसके बाद वह नाड़ी चन्द्रदण्ड में प्रवेश करती है। और वह (ताप की शान्ति के लिए चन्द्र जैसे शीतल) सुषुम्ना के मुख तक जाती है। वहाँ जाकर वह प्राणवायु के साथ वह्नि से ब्रह्मग्रन्थि का भेदन करती है। (यह ब्रह्मग्रन्थि मूलाधार के प्रवेश मार्ग में कपाटरूप = अवरोधरूप है) और इसके बाद (अनाहत के कपाटरूप) विष्णुग्रन्थि को भी भेदकर आज्ञा कपाट में रुद्रग्रन्थि में रहती है। इसके बाद इस रुद्रग्रन्थि के भेदन के लिए गाँठरूप से वायु को बार-बार भीतर खींचकर कुंभकों का अभ्यास करना चाहिए।

अथाभ्यसेत् सूर्यभेदमुज्जायीं चापि शीतलीम्।
भस्त्रां च सहितो नाम स्याच्चतुष्टयकुम्भकः॥88॥

बन्धत्रयेण संयुक्तः केवलप्राप्तिकारकः।
अथास्य लक्षणं सम्यक् कथयामि समासतः॥89॥

अब उन कुम्भकों का भेद बताते हुए प्रथम कुंभकचतुष्टय के बारे में बताते हैं कि कुंभक के चार भेद होते हैं—सूर्य, उज्जायी, शीतला और भास्त्रिक। उन चारों कुम्भकों का अभ्यास करना चाहिए। ऐसा अभ्यास करने वाला साधक तीनों बन्धों से (मूलबन्ध आदि बन्ध जो पहले कहे जा चुके हैं) युक्त होना चाहिए। ऐसा होने पर ही वह परमपद की प्राप्ति कराने वाला होता है। अब मैं कुम्भक के इन चारों भेदों के लक्षण संक्षेप में और स्पष्टता से बताता हूँ।

एकाकिना समुपगम्य विविक्तदेशं
प्राणादिरूपममृतं परमार्थतत्त्वम्।
लघ्वाशिना धृतिमता परिभावितव्यं
संसाररोगहरमौषधमद्वितीयम्॥90॥

(उससे पहले यह सर्वसामान्य लक्षण सुन लो कि—) अकेले ही किसी एकान्त प्रदेश में जाकर मिताहारी तथा धैर्यशील साधक को उस संसाररूपी रोगों को दूर करने वाले औषध के समान प्राणादिरूप अद्वितीय परमार्थ तत्त्व की भावना करनी चाहिए।

सूर्यनाड्या समाकृष्य वायुमभ्यासयोगिना।
विधिवत् कुम्भकं कृत्वा रेचयेच्छीतरश्मिना॥91॥
उदरे बहुरोगघ्नं क्रिमिदोषं निहन्ति च।
मुहुर्मुहुरिदं कार्यं सूर्यभेदमुदाहृतम्॥92॥

सर्वयोगों के सर्वसामान्य लक्षण को सुनकर अब सूर्यकुम्भक का लक्षण सुनो। उस अभ्यासयोगी को चाहिए कि वह पहले सूर्यनाड़ी के द्वारा वायु को खींचे। (पूरक करे।) बाद में विधिपुर (सर कुंभक) करके चन्द्रनाड़ी से उसका रेचन करे। ऐसा यह सूर्यकुम्भक पेट के बहुत से रोगों को दूर करने वाला होता है। यह कृमि के दोष (रोग) को भी दूर कर देता है। इस कुम्भक को बार-बार करते ही रहना चाहिए। इस प्रकार के कुंभक को सूर्यकुंभक कहा जाता है।

नाडीभ्यां वायुमाकृष्य कुण्डल्याः पार्श्वयोः क्षिपेत्।
धारयेदुदरे पश्चाद्रेचयेदिडया सुधीः॥93॥
कण्ठे कफादिदोषघ्नं शरीराग्निविवर्धनम्।
नाडीजलापहं धातुगतदोषविनाशनम्॥94॥

अब उज्जयीकुंभक का लक्षण इस प्रकार है—दोनों सूर्य-चन्द्र नाड़ियों से वायु को भीतर खींचकर कुण्डलिनी के दोनों पार्श्वों में उसको फेंकना चाहिए। और बाद में उस वायु को पेट में रखना चाहिए। फिर इडा नाड़ी के द्वारा बुद्धिमान साधक को रेचन करना चाहिए। यह उज्जयीकुंभक कण्ठ में कफ आदि दोषों को दूर करने वाला होता है। यह शरीर में अग्नि (उष्णता) को बढ़ाने वाला होता है तथा नाड़ी जल को तथा धातुगत दोष आदि का निवारण करने वाला होता है।

गच्छतस्तिष्ठतः कार्यमुज्जाय्याख्यं तु कुम्भकम्।
मुखेन वायुं संगृह्य घ्राणरन्ध्रेण रेचयेत्॥95॥

शीतलीकरणं चेदं हन्ति पित्तं क्षुधां तृषम् ।
स्तनयोरथ भस्त्रेव लोहकारस्य वेगतः ॥96॥
रेचयेत् पूरयेद्वायुमाश्रमं देहगं धिया ।
यथा श्रमो भवेद्देहे तथा सूर्येण पूरयेत् ॥97॥

यह उपर्युक्त उज्जयीकुम्भक उठते-बैठते भी करते रहना चाहिए। अब शीतलीकुंभक का लक्षण यह है कि मुख से वायु को खींचकर नथुने से उसका रेचन करना चाहिए। इसको शीतलीकरण कहा जाता है। यह कुंभक पित्त का, क्षुधा का और तृषा का नाश कर देता है। (अब भस्त्रिकाकुंभक का लक्षण यह है कि—) जैसे लोहार की कोठ में भस्त्र (धमनी) वेग से चलती है उसी प्रकार दोनों स्तनों में देहस्थित वायु का पूरक और रेचन वेगपूर्वक करना चाहिए। ऐसा श्रमपूर्वक करना चाहिए। ऐसा करने में देह में श्रम होगा तब सूर्यनाड़ी से पूरक करना चाहिए। तथा—

कण्ठसंकोचनं कृत्वा पुनश्चन्द्रेण रेचयेत् ।
वातपित्तश्लेष्महरं शरीराग्निविवर्धनम् ॥98॥
कुण्डलीबोधकं वक्त्रदोषघ्नं शुभदं सुखम् ।
ब्रह्मनाडीमुखान्तःस्थकफाद्यर्गलनाशनम् ॥99॥
सम्यग्बन्धसमुद्भूतं ग्रन्थित्रयविभेदकम् ।
विशेषेणैव कर्तव्यं भस्त्राख्यं कुम्भकं त्विदम् ॥100॥

—कण्ठ का संकोच करके बाद में चन्द्रनाड़ी से रेचन करना चाहिए। यह भस्त्रिका कुंभक वात, पित्त और कफ को दूर करने वाला है, यह शरीर की उष्णता को बढ़ाने वाला है, यह कुण्डलिनी को जगाने वाला है, मुख के दुर्गन्धादि दोषों को दूर करने वाला है, कल्याणकारी और सुखकारी है। वह ब्रह्मनाड़ी के मुख के आगे इकट्ठे हुए कफ आदि अवरोधों को नाश करने वाला है। सम्यग्बन्ध से उत्पन्न हुए इस भस्त्रिकाकुंभक से तीनों ग्रन्थियों का (ब्रह्मग्रन्थि, विष्णुग्रन्थि और रुद्रग्रन्थि का) भी भेदन हो जाता है। यह भस्त्रकुंभक विशेष ध्यान देकर करना चाहिए।

बन्धत्रयमथेदानीं प्रवक्ष्यामि यथाक्रमम् ।
नित्यं कृतेन तेनासौ वायोर्जयमवाप्नुयात् ॥101॥
चतुर्णामपि भेदानां कुम्भके समुपस्थिते ।
बन्धत्रयमिदं कार्यं वक्ष्यमाणं मया हि तत् ॥102॥
प्रथमो मूलबन्धस्तु द्वितीयोड्डीयणाभिधः ।
जालंधरस्तृतीयस्तु लक्षणं कथयाम्यहम् ॥103॥

(अब उन चार कुंभकों के अंगरूप में जो तीन बन्ध हैं, उनके बारे में कहते हैं—) मैं उन तीन बन्धों के लक्षण क्रमशः कहता हूँ—इन बन्धों के सदैव करते रहने से साधक प्राण पर विजय पा लेता है। कुंभक के उपर्युक्त चारों भेदों को करते समय यह बन्धत्रय (तीन बन्ध) करने चाहिए। मैं अभी उनके विषय में कह रहा हूँ। तीन बन्धों में पहले को 'मूलबन्ध' कहते हैं, दूसरे बन्ध को 'उड्डीयाणबन्ध' कहते हैं, और तीसरे बन्ध को 'जालन्धरबन्ध' कहते हैं। अब मैं उनके लक्षण कह रहा हूँ—

गुदं पार्ष्ण्या तु संपीड्य पायुमाकुञ्चयेद् बलात् ।
वारं वारं यथा चोर्ध्वं समायाति समीरणः ॥104॥

प्राणापानौ नादबिन्दू मूलबन्धेन चैकताम् ।
गत्वा योगस्य संसिद्धिं यच्छतो नात्र संशयः ॥105॥

लिंगस्थान और गुदा के रन्ध्र को एड़ी के द्वारा दबाकर हठपूर्वक वायु को रोकना चाहिए। जिस प्रकार वह वायु ऊपर ही ऊपर आता हो, ऐसा करना चाहिए (ऐसी भावना करनी चाहिए)। प्राण और अपान—दोनों तथा 'नाद-बिन्दु' अर्थात् बुद्धि और मन मूलबन्ध के साथ एकता को प्राप्त कर लें, तब वे योगसिद्धि को प्राप्त करते हैं, इसमें किसी भी प्रकार का सन्देह नहीं करना चाहिए।

कुम्भकान्ते रेचकादौ कर्तव्यस्तूड्डियाणकः ।
बन्धो येन सुषुम्नायां प्राणस्तूड्डीयते यतः ॥106॥
तस्मादुड्डीयणाख्योऽयं योगिभिः समुदाहृतः ।
उड्डियाणं तु सहजं गुरुणा कथितं सदा ॥107॥
अभ्यसेत् तदतन्द्रस्तु वृद्धोऽपि तरुणो भवेत् ।
नाभेरूर्ध्वमधश्चापि ताणं कुर्यात् प्रयत्नतः ॥108॥

कुंभक के अन्त में और रेचक के प्रारंभ में यह उड्डीयाणबन्ध करना चाहिए। इस बन्ध में सुषुम्णा में प्राण उड्डयन करता है, इसलिए उसे 'उड्डीयाण' ऐसा योगियों के द्वारा नाम दिया गया है। इस उड्डीयाणबन्ध को तो गुरु ने सहज रूप से कह दिया है। साधक को अतन्द्रित रहकर इस बन्ध का अभ्यास करना चाहिए। इसके अभ्यास से वृद्ध व्यक्ति भी युवा हो जाता है। इसमें नाभि को ऊपर के भाग में और नीचे के भाग में बलपूर्वक खींचना चाहिए।

षण्मासमभ्यसेन्मृत्युं जयत्येव न संशयः ।
पूरकान्ते तु कर्तव्यो बन्धो जालंधराभिधः ॥109॥
कण्ठसंकोचरूपोऽसौ वायुमार्गनिरोधकः ।
कण्ठमाकुञ्च्य हृदये स्थापयेद् दृढमिच्छया ॥110॥
बन्धो जालंधराख्योऽयममृताप्यायकारकः ।
अधस्तात् कुञ्चनेनाशु कण्ठसंकोचने कृते ॥111॥

इस उड्डीयाणबन्ध को जो छः मास तक करेगा, वह मृत्यु को जीत लेगा, इसमें कोई संदेह नहीं है। अब पूरक के अन्त में करने लायक बन्ध को 'जालन्धरबन्ध' कहते हैं। यह कंठ का संकोचन करके किया जाता है और वायुमार्ग का निरोध किया जाता है। यह जालन्धरबन्ध अमृत को भर देने वाला है। वह कण्ठ का आकुंचन करके ठोडी को कण्ठकूप में दृढ़तापूर्वक लगाने से होता है।

मध्ये पश्चिमताणेन स्यात् प्राणो ब्रह्मनाडिगः ।
वज्रासनस्थितो योगी चालयित्वा तु कुण्डलीम् ॥112॥
कुर्यादनन्तरं भस्त्रीं कुण्डलीमाशु बोधयेत् ।
भिद्यन्ते ग्रन्थयो वंशे तप्तलोहशलाकया ॥113॥
तथैव पृष्ठवंशे स्याद् ग्रन्थिभेदस्तु वायुना ।
पिपीलिकायां लग्नायां कण्डूस्तत्र प्रवर्तते ॥114॥

मध्य में पश्चिम की ओर खींचने से वह वायु ब्रह्मनाड़ी में जाता है। अब तीन बन्धों से प्रयुक्त उस योगी को वज्रासन में बैठकर कुण्डली को घुमाकर बाद में उसे जगाना चाहिए। इससे तपे हुए लोहे

की सलाई से जैसे बाँस की ग्रन्थियाँ भेदी जाती हैं, वैसे ही वायु से पृष्ठवंश की ग्रन्थियाँ टूट जाती हैं। और तब जैसे चींटी ने डंक मारा हो इस तरह की खुजली होने लगती है।

सुषुम्नायां तथाभ्यासात् सततं वायुना भवेत्।
रुद्रग्रन्थिं ततो भित्त्वा ततो याति शिवात्मकम् ॥115॥
चन्द्रसूर्यौ समौ कृत्वा तयोर्योगः प्रवर्तते।
गुणत्रयमतीतं स्याद् ग्रन्थित्रयविभेदनात् ॥116॥
शिवशक्तिसमायोगे जायते परमा स्थितिः।
यथा करी करेणैव पानीयं प्रपिबेत् सदा ॥117॥

इस प्रकार सुषुम्ना में अभ्यास करते-करते प्राणवायु से रुद्रग्रन्थि को भेदकर शिवात्मकत्व को प्राप्त करता है। इस प्रकार तीन ग्रन्थियों के भेदन से त्रिगुणों से अतीत हुआ जा सकता है। इसमें सूर्यचन्द्र समान होकर उनका मिलन हो जाता है। तात्पर्य यह है कि यहाँ ब्रह्मरन्ध्रगत तुरीय ही शिव है, शक्ति कुण्डलिनी है। उन दोनों के योग से ही परमस्थिति सहज निर्विकल्पावस्था होती है। शिव-शक्ति के योग से परम स्थिति उत्पन्न होती है। अब सुषुम्ना से प्राणोदक पीने की जो बात है, उसका दृष्टान्त दिया जाता है कि जैसे हाथी अपनी सूँड़ से ही पानी पीता है वैसे ही—

सुषुम्नावज्रनालेन पवमानं ग्रसेत् तथा।
वज्रदण्डसमुद्भूता मणयश्चैकविंशतिः ॥118॥
सुषुम्नायां स्थिताः सर्वे सूत्रे मणिगणा इव।
मोक्षमार्गे प्रतिष्ठानात्सुषुम्ना विश्वरूपिणी ॥119॥
यथैव निश्चितः कालश्चन्द्रसूर्यनिबन्धनात्।
आपूर्य कुम्भितो वायुर्बहिर्नो याति साधके ॥120॥
पुनःपुनस्तद्वदेव पश्चिमद्वारलक्षणम्।
पूरितस्तु स तद्वारैरीषत्कुम्भकतां गतः ॥121॥
प्रविशेत् सर्वगात्रेषु वायुः पश्चिममार्गतः।
रेचितः क्षीणतां याति पूरितः पोषयेत् ततः ॥122॥

—सुषुम्नारूपी वज्रनाल से सुषुम्ना प्राणरूपी पानी को पीती है। सुषुम्नाश्रित वज्रदण्ड (वीणादण्ड) में इक्कीस मणि (चने जैसे मांसपिण्ड) हैं। वे सूत्र में मणियों के समूह की भाँति सुषुम्ना में अवस्थित हैं। इन मणियों का मोक्षमार्ग में प्रतिष्ठान होने से (मूलाधार से लेकर ब्रह्मरन्ध्र तक प्रतिष्ठित होने से) यह सुषुम्ना विश्वरूपिणी हो जाती है। सूर्य और चन्द्र के निबन्धन से (परिमाण से) जैसे काल का निश्चय (निर्णय) किया जाता है, यह काल सुषुम्ना में विलीन हो जाता है। (सुषुम्ना काल को खा जाती है, क्योंकि) साधक इस सुषुम्ना में वायु को भरता है (पूरक करता है) और वह जब सुषुम्ना में कुंभित हो जाता है, फिर वह वायु बाहर निकलता ही नहीं (कि जिससे श्वासोच्छ्वास के द्वारा कालगणना हो सके)। (यदि प्रमाद से वह कुंभित वायु बाहर निकल भी जाए तो) फिर-फिर से उसी प्रकार सुषुम्ना से प्राण को भरकर (पूरक करके) फिर कुंभक करना चाहिए। इसे 'पश्चिमद्वारलक्षण' कहा गया है। इस प्रकार फिर से पूरित वायु (पश्चिमद्वार से पूरितवायु) प्रारंभ में ईषत्कुंभकता (थोड़ी कुंभकता) को प्राप्त होता है। बाद में वह प्राणवायु पश्चिममार्ग से सभी गात्रों में प्रविष्ट हो जाता है। और यदि काल-कर्म

के संयोग से सुषुम्ना के द्वारा रेचित वायु क्षीणता को प्राप्त करे, तो वह पूरित वायु शरीर का पोषण करता है।

यत्रैव जातं सकलेवरं मनस्तत्रैव लीनं कुरुते स योगात्।
स एव मुक्तो निरहंकृतिः सुखी मूढा न जानन्ति हि पिण्डपातिनः ॥123॥
चित्तं विनष्टं यदि भासितं स्यात् तत्र प्रतीतो मरुतोऽपि नाशः।
न चेद्यदि स्यान्न तु तस्य शास्त्रं नात्मप्रतीतिर्न गुरुर्न मोक्षः ॥124॥
जम्बुको रुधिरं यद्वद्बलादाकृष्यति स्वयम्।
ब्रह्मनाडी तथा धातून् सन्तताभ्यासयोगतः ॥125॥
अनेनाभ्यासयोगेन नित्यमासनबन्धतः।
चित्तं विलीनतामेति बिन्दुर्नो यात्यधस्तथा ॥126॥

वह योगी का मन जहाँ से (अधिष्ठानरूप ब्रह्म से) इस शरीर के साथ जन्मा है, उसे वहीं (ब्रह्म में ही) अपने योग के द्वारा लीन कर देता है। वही मुक्त है, वही निरहंकारी है, वही सुखी है। यह बात जो नहीं जानते, वे तो मूढ़ ही हैं और शरीरों में (स्थूल-सूक्ष्म-कारणरूपों में) हो पड़े हुए हैं। जब चित्त अपने अधिष्ठान में लीन हो जाता है, तब प्रतीत होते हुए प्राणवायु का भी विलय हो जाता है। ऐसा यदि नहीं हुआ तो उसके लिए शास्त्र भी व्यर्थ हैं, गुरु भी व्यर्थ है, मोक्ष भी व्यर्थ है। उसको अपने आत्मा की सही प्रतीति नहीं हो सकती। (ऐसे मूढ़ को प्रबोधित करने के लिए आगे कहते हैं कि—) जिस प्रकार सियार बलपूर्वक खींचकर लहू को ले लेता है, उसी तरह सुषुम्ना नाड़ी शरीर के धातुओं को बलपूर्वक खींचकर खा जाती है (बाद में इसीलिए ब्रह्मज्ञान होता है)। सतत अभ्यास से वह ब्रह्मनाड़ी बाहर के पदार्थों अर्थात् उनके प्रबोधक धातुओं को ग्रास कर ही लेती है। आसनबन्ध के साथ इस प्रकार के योग के नित्य अभ्यास से चित्त विलीन हो जाता है और बिन्दु का अधःपात भी नहीं होता।

रेचकं पूरकं मुक्त्वा वायुना स्थीयते स्थिरम्।
नाना नादाः प्रवर्तन्ते संस्रवेच्चन्द्रमण्डलम् ॥127॥
नश्यन्ति क्षुत्पिपासाद्याः सर्वदोषास्ततस्तदा।
स्वरूपे सच्चिदानन्दे स्थितिमाप्नोति केवलम् ॥128॥

जब रेचक और पूरक—दोनों को छोड़कर वायु कुंभक में ही स्थिर हो जाता है, तब तरह-तरह के नाद उत्पन्न होने लगते हैं, एवं चन्द्रमण्डल से स्राव होने लगता है। तब भूख और प्यास नष्ट हो जाती हैं, सभी दोष नष्ट हो जाते हैं। वह योगी तब केवल अपने स्वरूप में ही (सच्चिदानन्दस्वरूप आत्मतत्त्व में ही) अपनी स्थिति को पा लेता है।

कथितं तु तव प्रीत्या ह्येतदभ्यासलक्षणम्।
मन्त्रो लयो हठो राजयोगान्तोऽर्भूमिकाः क्रमात् ॥129॥
एक एव चतुर्धाऽयं महायोगोऽभिधीयते।
हकारेण बहिर्याति सकारेण विशेत्पुनः ॥130॥

हंसहंसेति मन्त्रोऽयं सर्वैर्जीवैश्च जप्यते ।
गुरुवाक्यात् सुषुम्नायं विपरीतो भवेज्जपः ॥131॥
सोऽहं सोऽहमिति यः स्यान्मन्त्रयोगः स उच्यते ।
प्रतीतिमन्त्रयोगाच्च जायते पश्चिमे पथि ॥132॥
हकारेण तु सूर्यः स्यात् सकारेणेन्दुरुच्यते ।
सूर्याचन्द्रमसोरैक्यं हठ इत्यभिधीयते ॥133॥

इस प्रकार मैंने तुम्हें प्रेम से इस अभ्यास का लक्षण सुनाया। अब मैं तुम्हे महायोग सुना रहा हूँ कि यह महायोग वास्तव में तो एक ही है, परन्तु इसकी भूमिकाएँ क्रमशः मंत्रयोग, लययोग, हठयोग और राजयोग—ऐसी हैं। (इनमें पहला मंत्रयोग बताते हैं कि—) पहले हकार से श्वास बाहर जाता है और सकार से वह फिर से भीतर आता है। इस तरह सभी जीवों के द्वारा, 'हंस हंस'—इस प्रकार का मंत्र तो जपा ही जा रहा होता है। फिर यदि गुरु के वाक्य द्वारा सुषुम्ना में 'सोऽहं' 'सोऽहं'—ऐसा विपरीत क्रम से जब यह जप होता है, तब उसे 'मंत्रयोग' कहा जाता है। (अब पूर्वोक्त योगभूमिका में दूसरे लययोग को बाद में रखकर पहले हठयोग बताते हैं—) उपर्युक्त प्रतीति-युक्त मंत्र के योग से पश्चिम मार्ग में हकार से सूर्य लिया जाता है, और सकार से चन्द्र लिया जाता है। उन सूर्य और चन्द्र का ऐक्य (एकीभूतता) ही हठ कहा जाता है। (ऐक्ययोग ही हठयोग है।)

हठेन गृह्यते जाड्यं सर्वदोषसमुद्भवम् ।
क्षेत्रज्ञः परमात्मा च तयोरैक्यं यदा भवेत् ॥134॥
तदैक्ये साधिते ब्रह्मंश्चित्तं याति विलीनताम् ।
पवनः स्थैर्यमायाति लययोगोदये सति ॥135॥
लयात् सम्प्राप्यते सौख्यं स्वात्मानन्दं परं पदम् ।
योनिमध्ये महाक्षेत्रे जपाबन्धूकसन्निभम् ॥136॥
रजो वसति जन्तूनां देवीतत्त्वं समावृत्तम् ।
रजसो रेतसो योगाद्राजयोग इति स्मृतः ॥137॥

परन्तु हठयोग से जड़ता आ जाती है और उससे सभी दोष उत्पन्न हो जाते हैं। वास्तव में तो नाड़ियों के ऐक्य के बदले क्षेत्रज्ञ (जीव) और परमात्मा का ऐक्य ही जब हो, तब चित्त का विलय हो जाता है। जब ऐसे 'लययोग' का उदय होता है, तब प्राणवायु स्थिर हो जाता है। इस लययोग से अपनी आत्मा में परमानन्द की प्राप्ति का परमसुख प्राप्त किया जाता है। (अब राजयोग का लक्षण कहा जाता है—) महाक्षेत्ररूप योनि में जपाकुसुम जैसी कान्तिवाला देवी का तत्त्वरूप (शक्तिस्वरूप) 'रजस्' विद्यमान होता है। उसके साथ (रजस् के साथ) जब रेतस् (वीर्य) का योग (जो शिश्न स्थान में रहता है) होता है तब उसे 'राजयोग' कहा जाता है। (अर्थात् शिवशक्तियोग से राजयोग होता है।)

अणिमादिपदं प्राप्य राजते राजयोगतः ।
प्राणापानसमायोगो ज्ञेयं योगचतुष्टयम् ॥138॥
संक्षेपात् कथितं ब्रह्मन् नान्यथा शिवभाषितम् ।
क्रमेण प्राप्यते प्राप्यमभ्यासादेव नान्यथा ॥139॥
एकेनैव शरीरेण योगाभ्यासाच्छनैः शनैः ।
चिरात् सम्प्राप्यते मुक्तिर्मर्कटक्रम एव सः ॥140॥

इस राजयोग से अणिमादि सिद्धियों को प्राप्त करके योगी शोभायमान हो जाता है। मंत्रादि चार योगों का एक समान तत्त्व तो प्राण और अपान का योग कर देना ही है। (एक ही बात में चारों का पर्यवसान हो जाता है) हे ब्रह्मन्! यह मैंने तुम्हें सब संक्षेप में बता दिया। शिव का कथन कभी अन्यथा (विपरीत = असत्य) नहीं हो सकता परन्तु इसकी सिद्धि तो अभ्यास करते रहने से ही धीरे-धीरे प्राप्त की जा सकती है, नहीं तो यह योग सिद्धिदायक नहीं हो सकता। योग के अभ्यास से इस एक ही शरीर के द्वारा धीरे-धीरे लम्बे समय के बाद ही सिद्धि प्राप्त की जा सकती है। यहाँ जल्दबाजी नहीं चलती। यह बन्दरों को वश करने जैसा है।

योगसिद्धिं विना देहः प्रमादाद्यदि नश्यति ।
पूर्ववासनया युक्तः शरीरं चान्यदाप्नुयात् ॥141॥
ततः पुण्यवशात् सिद्धो गुरुणा सह सङ्गतः ।
पश्चिमद्वारमार्गेण जायते त्वरितं फलम् ॥142॥
पूर्वजन्मकृताभ्यासात् सत्वरं फलमश्नुते ।
एतदेव हि विज्ञेयं तत् काकमतमुच्यते ॥143॥
नास्ति काकमतादन्यदभ्यासाख्यमतः परम् ।
तेनैव प्राप्यते मुक्तिर्नान्यथा शिवभाषितम् ॥144॥

इस योगी की योगफल को प्राप्त करने से पहले ही यदि प्रमाद से देह नष्ट हो जाए तो यह योगी पूर्व की वासना से युक्त होने से दूसरे शरीर को प्राप्त करता है और वहाँ पुण्यों के फलस्वरूप गुरु की संगति प्राप्त करके पश्चिम द्वार के मार्ग से सिद्ध होता है और योग का (पूर्वकृत योग का) यहाँ नए शरीर में त्वरित फल पा लेता है। पूर्वजन्म में कृत अभ्यास का फल ऐसा ही है—यह महेश्वर का मत है। (काक = महेश्वर) इस काकमत से (महेश्वर के मत से) दूसरा कोई अभ्यास नाम का उत्तम फल नहीं है और उसी से मुक्ति मिल सकती है। शिव का कथन अन्यथा (असत्य) हो ही नहीं सकता।

हठयोगक्रमात् काष्ठा सह जीवलयादिकम् ।
नाकृतं मोक्षमार्गं स्यात् प्रसिद्धं पश्चिमं विना ॥145॥
आदौ रोगाः प्रणश्यन्ति पश्चाज्जाड्यं शरीरजम् ।
ततः समरसो भूत्वा चन्द्रो वर्षत्यनारतम् ॥146॥
धातूंश्च संग्रहेद्वह्निः पवनेन समं ततः ।
नाना नादाः प्रवर्तन्ते मार्दवं स्यात् कलेवरम् ॥147॥

हठयोग के अनुष्ठान से सिद्ध पश्चिमद्वार का महापथ जो मोक्षमार्ग होता है, उसके बिना तो योगी के सामने कोई विकल्प ही नहीं होता। (अर्थात् उस महापथ मोक्षमार्ग के लिए तो हठयोग आवश्यक है ही) पहले (इस योग की अभ्यास दशा में ही) सभी रोग नष्ट हो जाते हैं, बाद में शरीर में उत्पन्न हुआ आलस्यादि जाड्य (जड़ता) का नाश हो जाता है। इसके बाद चन्द्र निरन्तर अमृत-धाराएँ बरसाता रहता है। इसके बाद मूलाधारस्थ अग्नि प्राणवायु के साथ होकर धातुओं का संग्रह करता है (अर्थात् बलवृद्धि और वीर्यस्तंभन करता है। तब तरह-तरह के नाद उठने लगते हैं और शरीर बालक की तरह कोमल हो जाता है।

जित्वा वृष्ट्यादिकं जाड्यं खेचरः स भवेन्नरः ।
सर्वज्ञोऽसौ भवेत् कामरूपः पवनवेगवान् ॥148॥

क्रीडते त्रिषु लोकेषु जायन्ते सिद्धयोऽखिलाः ।
कर्पूरे लीयमाने किं काठिन्यं तत्र विद्यते ॥149॥
अहंकारक्षये तद्वद्देहे कठिनता कुतः ।
सर्वकर्ता च योगीन्द्रः स्वतन्त्रोऽनन्तरूपवान् ॥150॥

तदनन्तर जैसे बादल जड़ता को छोड़कर इच्छा रूपधारी बन जाता है, वैसे वह योगी जड़ता को छोड़कर आकाशविहारी बन जाता है, सर्वज्ञ बन जाता है, इच्छानुसार रूप धारण करने वाला बन जाता है, पवन जैसे वेग वाला बन जाता है, वह तीनों लोकों में यथेष्ट लीला करता है, वह सभी सिद्धियों से युक्त हो जाता है। उसका अहंकार क्षीण हो जाता है, अत: उसमें कठिनता कैसे रह सकती है ? कर्पूर का जब लय हो जाता है, तब उसमें कठिनता रह सकती है क्या ? (अर्थात्, नहीं रह सकती) तब वह योगीन्द्र (सिद्धयोगी) सर्वकर्ता होता है, स्वतंत्र होता है और अनन्त रूपों को धारण करने वाला हो जाता है।

जीवन्मुक्तो महायोगी जायते नात्र संशयः ।
द्विविधाः सिद्धयो लोके कल्पिताकल्पितास्तथा ॥151॥
रसौषधिक्रियाजालमन्त्राभ्यासादिसाधनात् ।
सिध्यन्ति सिद्धयो यास्तु कल्पितास्ताः प्रकीर्तिताः ॥152॥
अनित्या अल्पवीर्यास्ताः सिद्धयः साधनोद्भवाः ।
साधनेन विनाप्येवं जायन्ते स्वत एव हि ॥153॥

ऐसा महायोगी तब जीवन्मुक्त हो जाता है, इसमें किसी प्रकार सन्देह नहीं है। इस लोक में दो प्रकार की सिद्धियाँ होती हैं—एक कल्पित तथा दूसरी अकल्पित। इनमें जो सिद्धियाँ रस, औषधि, क्रियाकाण्ड, मंत्रजप या अभ्यास से प्राप्त की जा सकती हैं, वे कल्पित नाम से कही गई हैं। ये सब कल्पित सिद्धियाँ अनित्य, कम शक्तिवाली होती हैं क्योंकि वे किसी न किसी साधन से उत्पन्न की गई होती हैं। परन्तु कुछ सिद्धियाँ ऐसी भी हैं, जो साधन के बिना ही स्वयं उत्पन्न होती हैं।

स्वात्मयोगैकनिष्ठेषु स्वातन्त्र्यादीश्वरप्रियाः ।
प्रभूताः सिद्धयो यास्ताः कल्पनारहिताः स्मृताः ॥154॥
सिद्धा नित्या महावीर्या इच्छारूपाः स्वयोगजाः ।
चिरकालात् प्रजायन्ते वासनारहितेषु च ॥155॥
तास्तु गोप्या महायोगात् परमात्मपदेऽव्यये ।
विना कार्यं सदा गुप्तं योगसिद्धस्य लक्षणम् ॥156॥

परन्तु स्वात्मनिष्ठ योगियों में स्वातन्त्र्य से (स्वयं ही) जो ईश्वरप्रिय सिद्धियाँ उत्पन्न होती हैं, वे अकल्पनीय और कारणरहित होती हैं। ऐसी सिद्धियाँ नित्य हैं और बहुत बलवती होती हैं और इच्छा के अनुरूप उपयोग की जाने वाली होती हैं। ये सिद्धियाँ योग से जन्म लेती हैं। और वे लम्बे समय के बाद ही उत्पन्न होती हैं और वासना से रहित साधकों (सिद्धों) में ही उत्पन्न होती हैं। ऐसे अव्यय परमात्मपद में स्थित सिद्ध योगी को चाहिए कि वह इन सिद्धियों को गोपनीय ही रखे। कारण के बिना उन सिद्धियों का वह उपयोग न करे। यही योगसिद्ध पुरुष का लक्षण है।

यथाकाशं समुद्दिश्य गच्छद्भिः पथिकैः पथि ।
नाना तीर्थानि दृश्यन्ते नाना मार्गास्तु सिद्धयः ॥157॥

स्वयमेव प्रजायन्ते लाभालाभविवर्जिते ।
योगमार्गे तथैवेदं सिद्धिजालं प्रवर्तते ॥158॥
परीक्षकैः स्वर्णकारैर्हेम संप्रोच्यते यथा ।
सिद्धिभिर्लक्षयेत् सिद्धं जीवन्मुक्तं तथैव च ॥159॥
अलौकिकगुणस्तस्य कदाचिद् दृश्यते ध्रुवम् ।
सिद्धिभिः परिहीनं तु नरं बद्धं तु लक्षयेत् ॥160॥

जिस तरह आकाश को लक्ष्य करके चलने वाले पथिकों को मार्ग में भाँति-भाँति के तीर्थस्थान दिखाई पड़ते हैं, उसी प्रकार योगी को ये सिद्धियाँ विविध मार्ग वाली यदृच्छया दिखाई देती हैं। लाभ-अलाभ से रहित इस योगमार्ग में स्वयमेव यह सिद्धियों का समूह उत्पन्न होता है। जिस प्रकार परीक्षक सुनारों के द्वारा सोने की कसौटी करके उसे खरा प्रमाणित किया जाता है, वैसे ही किसी भी सिद्ध पुरुष की कसौटी सिद्धियों के द्वारा ही की जानी चाहिए। जीवन्मुक्त की भी वैसे ही कसौटी करनी चाहिए। यदि वह सिद्ध और जीवन्मुक्त है तो कभी न कभी तो उसमें अलौकिक गुण अवश्य ही दिखाई पड़ेगा। जो ऐसी सिद्धियों से रहित है, उसे तो बद्ध ही समझ लेना चाहिए।

अजरामरपिण्डो यो जीवन्मुक्तः स एव हि ।
पशुकुक्कुटकीटाद्या मृतिं सम्प्राप्नुवन्ति वै ॥161॥
तेषां किं पिण्डपातेन मुक्तिर्भवति पद्मज ।
न बहिः प्राण आयाति पिण्डस्य पतनं कुतः ॥162॥
पिण्डपातेन या मुक्तिः सा मुक्तिर्न तु हन्यते ।
देहे ब्रह्मत्वमायाते जलानां सैन्धवं यथा ॥163॥

उस जीवन्मुक्त का शरीर तो अजर और अमर (जरावस्था और मरण से रहित) होता है। (जन्म और) मरण तो पशुओं, कुक्कुटों और कीड़ों आदि का होता है। हे ब्रह्माजी ! उन जीवन्मुक्तों की क्या शरीर के पतन से ही मुक्ति होती है ? जब उनके प्राण शरीर से बाहर निकलते ही नहीं, तब शरीर का मरण ही कैसे हो सकता है ? जब पानी में नमक डालने से वह पानीमय ही हो जाता है, इसी तरह योगी का पूरा देह ही ब्रह्मत्व को प्राप्त हो जाता है। तब पिण्डदान करने से तो उसके द्वारा प्राप्त मुक्ति का ही घात नहीं हो जाता क्या ? (अर्थात् हो ही जाता है)।

अनन्यतां यदा याति तदा मुक्तः स उच्यते ।
विमतानि शरीराणि इन्द्रियाणि तथैव च ॥164॥
ब्रह्म देहत्वमापन्नं वारि बुद्बुदतामिव ।
दशद्वारपुरं देहं दशनाडीमहापथम् ॥165॥

इस तरह वह योगी (जीवन्मुक्त) जब अनन्यता को प्राप्त हो जाता है, तब वह मुक्त ही कहा जाता है। अन्यों की दृष्टि से विमत (हैं या नहीं) ऐसी जो इन्द्रियाँ हैं और तरह-तरह के जो शरीर है, वह तो देहत्व को प्राप्त ब्रह्म हैं, जैसे पानी बुद्बुदों को प्राप्त करता रहता है। इस देह को दस द्वारों वाला नगर कहा गया है। इस नगर में दस नाड़ियों के रूप में दस बड़े मार्ग भी हैं। और—

दशभिर्वायुभिर्व्याप्तं दशेन्द्रियपरिच्छदम् ।
षडाधारापवरकं षडन्वयमहावनम् ॥166॥

चतुःपीठसमाकीर्णं चतुराम्नायदीपकम् ।
बिन्दुनादमहालिङ्गं शिवशक्तिनिकेतनम् ॥167॥

—ऐसा यह देह दस वायुओं से घिरा हुआ है । इसमें दश इन्द्रियों का ढक्कन है, छः आधाररूप चक्रों के पर्दों वाला और षडन्वयरूप (पाँच महाभूत और मन) से सम्बद्ध है । इसमें चार पीठ हैं और चार वेदोंरूपी दीपक प्रकाशित हैं और इसी शरीर में बिन्दु (मन), नाद (बुद्धि) और उसकी (बुद्धि की) हजारों वृत्तियों के भावों और अभावों का प्रकाशक महालिंग (प्रत्यक् चैतन्य) भी इस शरीर में है । और यही शरीर शिव-शक्ति का निवासस्थान भी है । (यहाँ सामान्य शरीर पिण्ड और सिद्ध का अपिण्ड—दोनों का शिवालयत्व कहा गया है ।)

देहं शिवालयं प्रोक्तं सिद्धिदं सर्वदेहिनाम् ।
गुदमेढ्रान्तरालस्थं मूलाधारं त्रिकोणकम् ॥168॥
शिवस्य जीवरूपस्य स्थानं तद्धि प्रचक्षते ।
यत्र कुण्डलिनी नाम परा शक्तिः प्रतिष्ठिता ॥169॥
यस्मादुत्पद्यते वायुर्यस्माद्वह्निः प्रवर्तते ।
यस्मादुत्पद्यते बिन्दुर्यस्मान्नादः प्रवर्तते ॥170॥

इस प्रकार यह देह सभी प्राणियों के लिए सिद्धिदायक कहा गया है । अब जो इस देह को छः चक्रों के आधाररूप पर्दों वाला कहा गया है इसके विषय में कहते हैं कि गुदा और शिश्न के बीच के भाग में जो त्रिकोणाकार चक्र है, वह मूलाधार चक्र कहलाता है । वह जीवरूप बने हुए शिव का स्थान कहा जाता है । वहाँ कुण्डलिनी नाम की पराशक्ति प्रतिष्ठित हुई है । उसमें से वायु (प्राण) उत्पन्न होता है और उसमें से ही अग्नि (तेज) उत्पन्न होता है, उसमें से बिन्दु उत्पन्न होता है और उसमें से ही नाद उत्पन्न होता है ।

यस्मादुत्पद्यते हंसो यस्मादुत्पद्यते मनः ।
तदेतत् कामरूपाख्यं पीठं कामफलप्रदम् ॥171॥
स्वाधिष्ठानाह्वयं चक्रं लिङ्गमूले षडस्रके ।
नाभिदेशे स्थितं चक्रं दशारं मणिपूरकम् ॥172॥
द्वादशारं महाचक्रं हृदये चाप्यनाहतम् ।
तदेतत् पूर्णगिर्याख्यं पीठं कमलसम्भव ॥173॥
कण्ठकूपे विशुद्ध्याख्यं यच्चक्रं षोडशास्रकम् ।
पीठं जालन्धरं नाम तिष्ठत्यत्र सुरेश्वरः ॥174॥

(पहले जो चतुष्पीठ—चार पीठों की बात कही है उसके बारे में कहते हैं कि—) जिसमें 'हंस' उत्पन्न होता है, जिससे मन उत्पन्न होता है, वह इच्छित फल देने वाला 'कामरूप' नाम का जो पीठ है, वहाँ पर, लिंग के मूल में, छः दल वाला 'स्वाधिष्ठान चक्र' स्थित है । इसके बाद नाभि के प्रदेश में दश अरों वाला 'मणिपूरक' नाम का चक्र अवस्थित है । इसके बाद हृदय प्रदेश में बारह अरों वाला जो चक्र है, वह अनाहत चक्र है, वह महीचक्र है और हे कमलोद्भव ब्रह्माजी ! उसके स्थान को 'पूर्णगिरि' नामक पीठ कहा जाता है । कण्ठकूप में (कण्ठ के स्थान में) जो चक्र है, उसे 'विशुद्धचक्र' नाम दिया गया है और उस पीठ (स्थान) का नाम 'जालन्धरपीठ' है, वहाँ सुरेश्वर (इन्द्र) का निवास है ।

आज्ञा नाम भ्रुवोर्मध्ये द्विदलं चक्रमुत्तमम् ।
उड्याणाख्यं महापीठमुपरिष्टात् प्रतिष्ठितम् ॥175॥
चतुरस्रं धरण्यादौ ब्रह्मा तत्राधिदेवता ।
अर्धचन्द्राकृतिजलं विष्णुस्तस्याधिदेवता ॥176॥
त्रिकोणमण्डलं वह्नी रुद्रस्तस्याधिदेवता ।
वायोर्बिम्बं तु षट्कोणमीश्वरोऽस्याधिदेवता ॥177॥
आकाशमण्डलं वृत्तं देवतास्य सदाशिवः ।
नादरूपं भ्रुवोर्मध्ये मनसो मण्डलं विदुः ॥178॥

इति प्रथमोऽध्यायः ।

दो भौंहों के बीच एक उत्तम दो दलों वाला 'आज्ञाचक्र' नाम का चक्र स्थित है । उसके पीठ को उड्याण महापीठ कहा जाता है, उस पर वह चक्र प्रतिष्ठित है । धरणि आदि में चार कोने हैं, उसके अधिदेवता ब्रह्मा हैं । जल जो अर्धचन्द्राकृति है, उसके अधिदेवता विष्णु हैं । जो त्रिकोणमण्डल वह्नि है, उसके अधिदेवता रुद्र हैं । जो वायु का षट्कोण बिम्बाकार है, उसके अधिदेवता ईश्वर हैं । जो गोल आकाशमण्डल है, उसके अधिदेवता सदाशिव हैं और जो दोनों भौहों के बीच नादमण्डल है, वह मन का मण्डल है ।

यहाँ प्रथम अध्याय पूरा हुआ ।

❋

द्वितीयोऽध्यायः

पुनर्योगस्य माहात्म्यं श्रोतुमिच्छामि शंकर ।
येन विज्ञानमात्रेण खेचरीसमतां व्रजेत् ॥1॥
शृणु ब्रह्मन् प्रवक्ष्यामि गोपनीयं प्रयत्नतः ।
द्वादशाब्दं तु शुश्रूषां यः कुर्यादप्रमादतः ॥2॥
तस्मै वाच्यं यथातथ्यं दान्ताय ब्रह्मचारिणे ।
पाण्डित्यादर्थलोभाद्वा प्रमादाद्यः प्रयच्छति ॥3॥
तेनाधीतं श्रुतं तेन तेन सर्वमनुष्ठितम् ।
मूलमन्त्रं विजानाति यो विद्वान् गुरुदर्शितम् ॥4॥

तब फिर से ब्रह्मा जी ने शिव जी से कहा—"हे शंकर ! मैं फिर से योग का माहात्म्य सुनना चाहता हूँ कि जिसके ज्ञानमात्र से मनुष्य सूर्य के समान तेजस्विता को प्राप्त करता है ।" तब शिवजी ने कहा—"हे ब्रह्माजी ! सुनो ! मैं बता रहा हूँ । परन्तु यह अत्यन्त गोपनीय ज्ञान है । जो जिज्ञासु शिष्य बारह साल तक प्रमादरहित होकर गुरु की सेवा-शुश्रूषा करे और दमनशील ब्रह्मचारी रहे उसी को यह ज्ञान देना चाहिए । पाण्डित्य-प्रदर्शन से, प्रमाद से, धन के लोभ से जो यदि किसी अनधिकारी को देता है, तो वह क्षीण ही हो जाता है । परन्तु यदि अधिकारी गुरुमुख से यथाविधि यह ज्ञान प्राप्त करता है तो वह विद्वान् गुरु के द्वारा बताए गए मूलमंत्र को (मर्म को) जान लेता है ।

शिवशक्तिमयं मन्त्रं मूलाधारात् समुत्थितम्।
तस्य मन्त्रस्य वै ब्रह्मन् श्रोता वक्ता च दुर्लभः ॥5॥
एतत् पीठमिति प्रोक्तं नादलिङ्गं मदात्मकम्।
तस्य विज्ञानमात्रेण जीवन्मुक्तो भवेज्जनः ॥6॥

यह मंत्र शिवशक्तिमय है (यह मंत्र प्रणवमंत्र या नादमंत्र होना चाहिए)। इस मंत्र का वक्ता (मैं स्वयं) और श्रोता भी दुर्लभ है। यह मंत्र मूलाधार से उत्पन्न हुआ है। इस मंत्र के स्वरूप को पीठ कहा गया है। (क्योंकि मंत्रार्थ जो ब्रह्म है, वह तो सबका अधिकरण [पीठ] है।) वह नादलिंग है, वह मदात्मक है (मेरा स्वरूप ही है)। इसको अच्छी तरह से जान लेने से मनुष्य जीवन्मुक्त हो जाता है। (प्रणव नादब्रह्म है और ब्रह्म का ही स्वरूप है)।

अणिमादिकमैश्वर्यमचिरादेव जायते।
मननात् प्राणनाच्चैव मद्रूपस्यावबोधनात् ॥7॥
मन्त्रमित्युच्यते ब्रह्मन् मदधिष्ठानतोऽपि वा।
मूलत्वात् सर्वमन्त्राणां मूलाधारात् समुद्भवात् ॥8॥

और इस मंत्र के रहस्य को जान लेने से अणिमादि सिद्धियाँ (ऐश्वर्य) थोड़े ही समय में मिल जाते हैं। इस मंत्र के मनन से और जप-साधन से ही मेरा (ब्रह्म का) स्वरूप जाना जा सकता है, इसीलिए इसे 'मंत्र' (मूलमंत्र) कहा गया है। हे ब्रह्माजी! इसे मन्त्र इसलिए भी कहा जाता है कि मेरा यह अधिष्ठान है, अथवा इसका मैं अधिष्ठान हूँ। अथवा यह सभी मंत्रों का मूलमंत्र है। यह मूलाधार से उत्पन्न हुआ है। (ऐसे कई कारणों से इसे 'मंत्र' या 'मूलमंत्र' कहा गया है।)

मूलस्वरूपलिङ्गत्वान्मूलमन्त्र इति स्मृतः।
सूक्ष्मत्वात् कारणत्वाच्च लयनाद्गमनादपि ॥9॥

इस मंत्र को मूलमंत्र कहने के और भी कारण हैं—यह मूलस्वरूप है और लिङ्गस्वरूप है, यह सूक्ष्म है, सबका कारण है, सबका लय-स्थान है, सबकी गति यहीं से होती है, यही नादलिंग है।

लक्षणात् परमेशस्य लिङ्गमित्यभिधीयते।
सन्निधानात् समस्तेषु जन्तुष्वपि च सन्ततम् ॥10॥
सूचकत्वाच्च रूपस्य सूत्रमित्यभिधीयते।
महामाया महालक्ष्मीर्महादेवी सरस्वती ॥11॥
आधारशक्तिरव्यक्ता यया विश्वं प्रवर्तते।
सूक्ष्माभा बिन्दुरूपेण पीठरूपेण वर्तते ॥12॥

इस महामंत्र प्रणव में परमेश्वर के ही लक्षण दिए जाते हैं इसलिए यह 'लिंग' भी कहा जाता है। और समस्त प्राणियों में भी उसका सतत सान्निध्य होने के कारण और स्वरूप का सूचक होने के कारण इसे 'सूत्र' भी कहते हैं। प्रणव ही सबकी प्रकृति है। उसे ही महामाया, महालक्ष्मी, महादेवी और सरस्वती कहा जाता है। यही अव्यक्त सर्वाधाररूप शक्ति है, इसी से सारे विश्व का प्रवर्तन होता है। वही बिन्दु के (मन के) रूप में सूक्ष्म कान्तिवाली होते हुए भी कामाख्यादि चारों पीठों के रूप में होती है।

बिन्दुपीठं विनिर्भिद्य नादलिङ्गमुपस्थितम्।
प्राणेनोच्चार्यते ब्रह्मन् षण्मुखीकरणेन च ॥13॥

गुरूपदेशमार्गेण सहसैव प्रकाशते।
स्थूलं सूक्ष्मं परं चेति त्रिविधं ब्रह्मणो वपुः ॥14॥
पञ्चब्रह्ममयं रूपं स्थूलं वैराजमुच्यते।
हिरण्यगर्भं सूक्ष्मं तु नादं बीजत्रयात्मकम् ॥15॥

हे ब्रह्माजी! प्राणापानादि व्यापार से जो 'सोऽहम्' का उच्चारण होता है, उसमें विद्यमान त्याज्य अंश को अर्थात् बिन्दुपीठ को, जो कि व्यक्ताव्यक्तात्मक है, उसको गुरु के उपदेश द्वारा षण्मुखीकरण (भेदन) करके योगी को स्पष्टरूप से ब्रह्म के स्थूल, सूक्ष्म और परम—ये तीनों प्रकार के रूप स्पष्ट हो जाते हैं। इन रूपों में जो स्थूल रूप है वह तो पंच ब्रह्ममय (भूतमय ?) रूप है। उसे 'वैराज' कहा जाता है। और जो सूक्ष्म रूप है, वह हिरण्यगर्भरूप है, उसमें बीजचैतन्य का भी समावेश हो जाता है। और वह अकारादि तीन बीजों वाला भी होता है।

परं ब्रह्म परं सत्यं सच्चिदानन्दलक्षणम्।
अप्रमेयमनिर्देश्यमवाङ्मनसगोचरम् ॥16॥
शुद्धं सूक्ष्मं निराकारं निर्विकारं निरञ्जनम्।
अनन्तमपरिच्छेद्यमनूपममनामयम् ॥17॥
आत्ममन्त्रसदाभ्यासात् परतत्त्वं प्रकाशते।
तदभिव्यक्तिचिह्नानि सिद्धिद्वाराणि मे शृणु ॥18॥

उस सूक्ष्मरूप के बाद अब परमरूप का वर्णन किया जाता है। वह परब्रह्म ही परम सत् तत्त्व है। उसका लक्षण सत्, चित् और आनन्द है। वह प्रमाणों का विषय नहीं है, वह किसी को बताया नहीं जा सकता, वह वाणी और मन से परे है (जो न कहा जा सकता है, न सोचा जा सकता है) वह शुद्ध है, सूक्ष्म है, आकाररहित है, विकाररहित है, निष्कलंक है। उसकी कोई सीमा नहीं है, इसका विभागीकरण नहीं हो सकता, उसकी किसी से समानता नहीं हो सकती। वह दोषरहित है। वह आत्ममंत्र के (प्रणवमंत्र के और महावाक्यों के) सदैव अभ्यास करने से प्रकाशित होता है (स्वतः नहीं)। (प्रणवमंत्र के श्रवण-मनन-निदिध्यासन के साथ अनुसन्धानपूर्वक अभ्यास से ब्रह्म का साक्षात्कार होता है)। अब उस ब्रह्मसाक्षात्कार के चिह्नों को मैं बता रहा हूँ उन्हें सुनो। ये चिह्न ॐ के द्वाररूप हैं।

दीपज्वालेन्दुखद्योतविद्युन्नक्षत्रभास्वराः।
दृश्यन्ते सूक्ष्मरूपेण सदा युक्तस्य योगिनः ॥19॥
अणिमादिकमैश्वर्यमचिरात् तस्य जायते।
नास्ति नादात् परो मन्त्रो न देवः स्वात्मनः परः ॥20॥
नानुसंधेः परा पूजा न हि तृप्तेः परं सुखम्।
गोपनीयं प्रयत्नेन सर्वदा सिद्धिमिच्छता ॥21॥
मद्भक्त एतद्विज्ञाय कृतकृत्यः सुखी भवेत्।
यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ।
तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः ॥22॥ इति।

इति द्वितीयोऽध्यायः।

सतत योगपरायण योगी को दीपक, ज्वाला, चन्द्र, खद्योत, विद्युत् या नक्षत्र जैसी कान्तियाँ (तेज रेखाएँ) सदैव सूक्ष्मरूप से दिखाई देती हैं और उसको अणिमा आदि सिद्धियों का ऐश्वर्य शीघ्र ही

प्राप्त हो जाता है। (ये परतत्त्वसाक्षात्कारी के चिह्न हैं।) इसलिए नादानुसन्धान से उत्तम कोई मंत्र नहीं है और अपने आत्मा के अतिरिक्त उत्तम कोई देव नहीं है। उसके आत्मानुसन्धान के अतिरिक्त अन्य कोई उत्तम पूजा नहीं है और उससे मिलती हुई तृप्ति के समान कोई उत्तम [illegible] नहीं है। इसलिए सिद्धि प्राप्त करने की इच्छा वाले साधक को यह मंत्र बहुत प्रयत्नपूर्वक गोपनीय रखना चाहिए ! मेरे कहे हुए इस ज्ञान को जानकर मेरा भक्त कृतकृत्य और सुखी होगा। जिस साधक को देव में परम श्रद्धाभक्ति हो और जैसी श्रद्धाभक्ति देव में हो वैसी ही गुरु में भी हो, उसी महात्मा को ये सब कही गई बातें स्पष्ट रूप में प्रकाशित होती हैं।

यहाँ दूसरा अध्याय पूरा हुआ।

❋

तृतीयोऽध्यायः

यन्नमस्य चिदाख्यातं यत् सिद्धीनां च कारणम्।
येन विज्ञातमात्रेण जन्मबन्धात् प्रमुच्यते ॥1॥
अक्षरं परमो नादः शब्दब्रह्मेति कथ्यते।
मूलाधारगता शक्तिः स्वाधारा बिन्दुरूपिणी ॥2॥
तस्यामुत्पद्यते नादः सूक्ष्मबीजादिवाङ्कुरः।
तां पश्यन्तीं विदुर्विश्वं यया पश्यन्ति योगिनः ॥3॥
हृदये व्यज्यते घोषो गर्जत्पर्जन्यसन्निभः।
तत्र स्थिता सुरेशान मध्यमेत्यभिधीयते ॥4॥

जो 'यन्नमस्य चित्' (यत् = जो, नमस्य = ऐक्य) कहा गया है, उसका अनुभव करके योगियों के द्वारा अपने शिष्यों को कहा गया है अर्थात् योगी अपने शिष्यों के चिदतिरिक्त कुछ नहीं है—ऐसा जो ऐक्य का उपदेश देते हैं, और जो सभी सिद्धियों का कारण (मूल स्रोत) है और जिसके केवल ज्ञान प्राप्त करने से ही जन्म-बन्धन से छुटकारा मिल जाता है, वह अक्षर है, वह परमनाद-स्वरूप है, उसे शब्दब्रह्म कहा जाता है। ऐसा अपररूप बना हुआ यह नादब्रह्म मूलाधार में अवस्थित जो पराशक्ति है (चित्सामान्यात्मक जो बिन्दु नामक अव्यक्तरूप जो नादधारा रूप कोई शक्ति है) उसमें नाद उत्पन्न होता है, जैसे सूक्ष्म बीज में से अंकुर फूटता हो; उसे 'पश्यन्ती' कहा जाता है। योगी लोग उसी के द्वारा जगत् को देखते हैं। जब गरजते बादलों जैसा उसका घोष हृदय में अभिव्यक्त होता है तब हे देवों के शासक ब्रह्माजी ! उसको 'मध्यमा' ऐसा नाम दिया जाता है।

प्राणेन च त्वराख्येन प्रथिता वैखरी पुनः।
शाखापल्लवरूपेण ताल्वादिस्थानघट्टनात् ॥5॥
अकारादिक्षकारान्तान्यक्षराणि समीरयेत्।
अक्षरेभ्यः पदानि स्युः पदेभ्यो वाक्यसम्भवः ॥6॥
सर्वे वाक्यात्मका मन्त्रा वेदशास्त्राणि कृत्स्नशः।
पुराणानि च काव्यानि भाषाश्च विविधा अपि ॥7॥
सप्तस्वराश्च गाथाश्च सर्वे नादसमुद्भवाः।
एषा सरस्वती देवी सर्वभूतगुहाश्रया ॥8॥

वायुना वह्नियुक्तेन प्रेर्यमाणा शनैः शनैः।
[1]द्वित्रिवर्णपदैर्वाक्यैरित्येवं वर्तते सदा ॥9॥

वही पश्यन्ती जब स्वराख्य प्राण के साथ शाखा-पल्लवादि रूप तालु-कण्ठ-दन्तादि स्थानों के साथ टकराती है, तब अकार से लेकर क्षकार तक के अक्षरों का उच्चारण होता है। उन अक्षरों से पद बनते हैं और पदों से वाक्यों की उत्पत्ति होती है। ये जो मन्त्र, वेद, शास्त्र, पुराण, काव्य और सभी तरह-तरह की भाषाएँ हैं, वे सभी वाक्यात्मक ही हैं। ये सात स्वर और गाथाएँ नाद से उत्पन्न हुई हैं। यह सरस्वती देवी सभी प्राणियों के भीतर हृदय में निवास कर रही हैं। वह अग्निसहित वायु के द्वारा जब प्रेरित होती है, तब धीरे-धीरे दो-तीन अक्षरों वाले वाक्यों से इस प्रकार सदा प्रकट हुआ करती है। [अथवा पाठान्तर के अनुसार—विशिष्ट वर्णों से (वाक्यों से) प्रकट हुआ करती है।]

य इमां वैखरीं शक्तिं योगी स्वात्मनि पश्यति।
स वाक्सिद्धिमवाप्नोति सरस्वत्याः प्रसादतः ॥10॥

देवी सरस्वती के अनुग्रह से जो योगी इस वैखरी शक्ति को अपने आत्मा में देख लेता है, वह वाणी की सिद्धि प्राप्त कर लेता है।

वेदशास्त्रपुराणानां स्वयं कर्ता भविष्यति।
यत्र बिन्दुश्च नादश्च सोमसूर्याग्निवायवः ॥11॥
इन्द्रियाणि च सर्वाणि लयं गच्छन्ति सुव्रत।
वायवो यत्र लीयन्ते मनो यत्र विलीयते ॥12॥
यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः।
यस्मिन् स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते ॥13॥
यत्रोपरमते चित्तं निरुद्धं योगसेवया।
यत्र चैवात्मनात्मानं पश्यन्नात्मनि तुष्यति ॥14॥
सुखमात्यन्तिकं यत्तद् बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम्।
एतत् क्षराक्षरातीतमनक्षरमितीर्यते ॥15॥

वह मनुष्य वेद-शास्त्रों और पुराणों का कर्ता होगा। 'परम अक्षर' का स्वरूप तो यह है कि, हे सुव्रत ! वहाँ तो बिन्दु, नाद, चन्द्र, सूर्य, अग्नि, वायु एवं सभी इन्द्रियों का लय हो जाता है। जहाँ सभी वायु विलीन हो जाते हैं, मन का भी जहाँ विलय हो जाता है। जिसे प्राप्त करके और उससे अधिक लाभ को साधक ज्यादा नहीं समझता, जिसमें अवस्थित योगी को बड़े से बड़े दुःख से भी विचलित नहीं किया जा सकता, जहाँ योग के सेवन से निरुद्ध किया हुआ चित्त शान्त हो जाता है, जहाँ आत्मा ही आत्मा को देखकर आत्मा में ही परितुष्ट हो जाता है, जो आत्यन्तिक सुखरूप है, जिसे इन्द्रियों के द्वारा ग्रहण किया नहीं जा सकता, जिसे बुद्धि ही सिर्फ ग्रहण कर सकती है, जो क्षर और अक्षर दोनों से परे हैं, उसे (परमाक्षर को) 'अनक्षर' कहा जाता है।

क्षरः सर्वाणि भूतानि सूत्रात्माक्षर उच्यते।
अक्षरं परमं ब्रह्म निर्विशेषं निरञ्जनम् ॥16॥
अलक्षणमलक्ष्यं तदप्रतर्क्यमनूपमम्।
अपारपारमच्छेद्यमचिन्त्यमतिनिर्मलम् ॥17॥

---

1. 'तद्विवर्तपदैः' इति पाठान्तरम्।

आधारं सर्वभूतानामनाधारमनामयम्।
अप्रमाणमनिर्देश्यमप्रमेयमतीन्द्रियम् ॥18॥
अस्थूलमनणुह्रस्वमदीर्घमजमव्ययम्।
अशब्दस्पर्शरूपं तदचक्षुःश्रोत्रनामकम् ॥19॥
सर्वज्ञं सर्वगं शान्तं सर्वेषां हृदये स्थितम्।
सुसंवेद्यं गुरुमतात् सुदुर्बोधमचेतसाम् ॥20॥

वह अनक्षर अथवा परमाक्षर तत्त्व निर्विशेष और निष्कलंक है। जो क्षरतत्त्व है वह तो सभी भूत हैं और जो अक्षरतत्त्व है वह सूत्रात्मा है (इस तरह क्षर, अक्षर और परमाक्षर [या अनक्षर] की बात हुई)। क्षर और अक्षर दोनों से परे जो परम अक्षर रूप ब्रह्म है वह तो विशेषतारहित और निष्कलंक है। वह परमाक्षर किसी लक्षण से रहित है और इसलिए वह लक्ष्य भी नहीं बन सकता। कोई तर्क उसके विषय में किया नहीं जा सकता, वह अनुपम है, असीम है, अविभाज्य है, अचिन्त्य है, अतिनिर्मल है, वह सभी प्राणियों का आधाररूप है, पर उसका कोई आधार नहीं है, वह दोषरहित है, किसी प्रमाण के द्वारा वह सिद्ध नहीं किया जा सकता, वह किसी को बताया नहीं जा सकता, वह नापा नहीं जा सकता, वह इन्द्रियों से परे है, वह स्थूल नहीं है, अणु भी नहीं है, ह्रस्व भी नहीं है, दीर्घ भी नहीं है, वह जन्मरहित है, वह अव्यय (अक्षय) है, वह शब्द-स्पर्श-रूप से रहित है, वह चक्षु-श्रोत्र से रहित है, उसका कोई नाम नहीं है, वह सर्वज्ञ है, सर्वगामी है, शान्त है, सभी के हृदयों में अवस्थित है, गुरु के द्वारा उपदेश दिए जाने से बहुत अज्ञानी मनवालों को भी उसकी स्पष्ट अनुभूति हो सकती है।

निष्कलं निर्गुणं शान्तं निर्विकारं निराश्रयम्।
निर्लेपकं निरापायं कूटस्थमचलं ध्रुवम् ॥21॥
ज्योतिषामपि तज्ज्योतिस्तमःपारे प्रतिष्ठितम्।
भावाभावविनिर्मुक्तं भावनामात्रगोचरम् ॥22॥
भक्तिगम्यं परं तत्त्वमन्तर्लीनेन चेतसा।
भावनामात्रमेवात्र कारणं पद्मसम्भव ॥23॥
यथा देहान्तरप्राप्तिकारणं भावना नृणाम्।
विषयं ध्यायतः पुंसो विषये रमते मनः ॥24॥

वह निरंश (अंशरहित) है, निर्गुण है, शान्त है, विकाररहित है, उसका कोई आश्रय (आधार) नहीं है, वह सबसे अलिप्त है, उसका कभी नाश नहीं होता, वह कूटस्थ (साक्षीमात्र) है, वह अचल है, वह शाश्वत (स्थायी) है, वह ज्योतियों की भी ज्योति है, वह अन्धकार से परे प्रतिष्ठित हुआ (तमोतीत) है, वह भाव और अभाव—दोनों से परे है, वह केवल भावना से ही जाना जा सकता है। हे कमलोद्भव ब्रह्मा! वह अन्तर्लीन चित्त से भक्ति के द्वारा ही प्राप्त किया जा सकने वाला परमतत्त्व है। इसको प्राप्त करने का कारण (हेतु) केवल भावना ही है। जैसे मनुष्यों के लिए अन्य देह की प्राप्ति का कारण केवल भावना ही होती है और विषयों का ध्यान करते रहने वाले पुरुषों का मन तो विषयों में ही घूमता रहता है न?

ममानुस्मरतश्चित्तं मय्येवात्र विलीयते।
सर्वज्ञत्वं परेशत्वं सर्वसम्पूर्णशक्तिता।
अनन्तशक्तिमत्त्वं च ममानुस्मरणाद्भवेत् ॥25॥ इति।

इति तृतीयोऽध्यायः।

उसी प्रकार मेरा स्मरण करते रहने वाले का चित्त तो मुझमें ही विलीन होगा। अतः मेरा अनुस्मरण करने वाले को सर्वज्ञता, परमेश्वरता, सर्वसंपूर्णशक्तिमत्ता और अनन्तशक्तिमत्ता आदि होंगे ही।

यहाँ इस प्रकार तृतीय अध्याय पूरा होता है।

❋

चतुर्थोऽध्यायः

चैतन्यस्यैकरूपत्वाद्भेदो युक्तो न कर्हिचित्।
जीवत्वं च तथा ज्ञेयं रज्ज्वां सर्पग्रहो यथा ॥1॥
रज्ज्वज्ञानात् क्षणेनैव यद्वद्रज्जुर्हि सर्पिणी।
भाति तद्वच्चितिः साक्षाद्विश्वाकारेण केवला ॥2॥

चैतन्य तो एकरूप ही है, उसमें भेद करना तो किसी भी रीति से योग्य है ही नहीं। जिस प्रकार किसी रस्सी में भ्रम से माने गए सर्प के ख्याल को छोड़ ही देना चाहिए, उसी प्रकार चैतन्य में जो जीवभाव हो गया है, उसे छोड़ ही देना चाहिए। जिस प्रकार रज्जु के अज्ञान से ही रज्जु क्षण में नागिन हो जाती है ठीक उसी प्रकार केवल चैतन्य ही विश्व के आकार से भासित होता है।

उपादानं प्रपञ्चस्य ब्रह्मणोऽन्यत्र विद्यते।
तस्मात् सर्वप्रपञ्चोऽयं ब्रह्मैवास्ति न चेतरत् ॥3॥
व्याप्यव्यापकता मिथ्या सर्वमात्मेति शासनात्।
इति ज्ञाते परे तत्त्वे भेदस्यावसरः कुतः ॥4॥
ब्रह्मणः सर्वभूतानि जायन्ते परमात्मनः।
तस्मादेतानि ब्रह्मैव भवन्तीति विचिन्तय ॥5॥
ब्रह्मैव सर्वनामानि रूपाणि विविधानि च।
कर्माण्यपि समग्राणि बिभर्तीति विभावय ॥6॥
सुवर्णाज्जायमानस्य सुवर्णत्वं च शाश्वतम्।
ब्रह्मणो जायमानस्य ब्रह्मत्वं च तथा भवेत् ॥7॥

इस प्रपंच (जगत्) का उपादान कारण ब्रह्म के अतिरिक्त और कोई नहीं है। इसलिए यह सारा प्रपंच (पूरा जगत्) ब्रह्मरूप ही है, कोई दूसरा है ही नहीं। यहाँ जो व्याप्य और व्यापक का विचार प्रवर्तमान है, वह तो मिथ्या ही है, क्योंकि शास्त्र तो ऐसा ही कहता है कि सब कुछ आत्मा ही है (कोई अन्य है ही नहीं कि जिससे व्याप्यव्यापक भाव हो सके)। इस परमतत्त्व को सर्वव्यापक और एकमात्र रूप से जब जान लिया जाय, तो फिर व्याप्यव्यापकता के लिए कोई स्थान ही कैसे रहेगा? परमात्मा स्वरूप ब्रह्म से इन सर्वभूतों की उत्पत्ति होती है। इसलिए ये सभी ब्रह्मरूप ही हैं, ऐसा विचार करो। ये सब जो नाम हैं, रूप हैं, ये तरह-तरह के कार्य हैं, इन सबको ब्रह्म ही धारण करता है, ऐसा तुम चिन्तन करो। ऐसी विभावना (अवधारणा) करो। जो वस्तु सोने से निर्मित होती है उसका स्वर्णत्व तो स्थायी रहता ही है, इसी तरह ब्रह्म से उत्पन्न हुए इस सारे जगत् में ब्रह्मत्व तो स्थायी है ही।

स्वल्पमप्यन्तरं कृत्वा जीवात्मपरमात्मनोः।
यस्तिष्ठति विमूढात्मा भयं तस्यापि भाषितम् ॥8॥

यदज्ञानाद् भवेद् द्वैतमितरत् तत् प्रपश्यति ।
आत्मत्वेन तदा सर्वं नेतरत् तत्र चाण्वपि ॥9॥

जो विमूढ अन्तःकरण वाला पुरुष जीव और परमात्मा में थोड़ा-सा भी अन्तर (भेद) करके देखता है, उसको भय होता ही है, ऐसा कहा गया है। जिस अज्ञान से द्वैत पैदा होता है और जो मनुष्य एक-दूसरे को अलग-अलग देखता है, उसी को जब ज्ञान हो जाता है, तब वह सबको आत्मरूप से ही देखता है। तब तो एक अणु भी उसके लिए आत्मा से अलग नहीं होता (सब आत्मा ही होता है)।

अनुभूतोऽप्ययं लोको व्यवहारक्षमोऽपि सन् ।
असद्रूपो यथा स्वप्न उत्तरक्षणबाधितः ॥10॥
स्वप्ने जागरितं नास्ति जागरे स्वप्नता न हि ।
द्वयमेव लये नास्ति लयोऽपि ह्यनयोर्न च ॥11॥
त्रयमेव भवेन्मिथ्या गुणत्रयविनिर्मितम् ।
अस्य द्रष्टा गुणातीतो नित्यो ह्येष चिदात्मकः ॥12॥
यद्वन्मृदि घटभ्रान्तिः शुक्तौ हि रजतस्थितिः ।
तद्वद्ब्रह्मणि जीवत्वं वीक्षमाणे विनश्यति ॥13॥

यद्यपि यह लोक (संसार) अनुभव में आता है, व्यवहार के लिए भी वह सत्य-सा लगता है फिर भी वह स्वप्न जैसा ही है क्योंकि एक अनुभव के बाद दूसरे अनुभव से वह पूर्वानुभव बाधित हो जाता है इसलिए यह असत् रूप ही है। स्वप्नावस्था में जाग्रदवस्था नहीं होती और जाग्रदवस्था में स्वप्नावस्था नहीं होती और लयावस्था में (अथवा सुषुप्ति में) वे दोनों नहीं होतीं। और इन दोनों के अस्तित्व का लय भी तो नहीं होता। वास्तव में ये तीनों अवस्थाएँ मिथ्या ही हैं, तीनों सत्त्वादि गुणों के द्वारा ये बनाई गई हैं। इस अवस्थात्रय का द्रष्टा तो तीनों गुणों से परे है, वह नित्य है और चैतन्यस्वरूप है। जिस तरह मिट्टी में घड़े की भ्रान्ति होती है और सीप में रजत का भ्रम होता है, उसी प्रकार ब्रह्म में जीवत्व को देखने वाला मनुष्य विनष्ट हो जाता है।

यथा मृदि घटो नाम कनके कुण्डलाभिधा ।
शुक्तौ हि रजतख्यातिर्जीवशब्दार्थता परे ॥14॥
यथैव व्योम्नि नीलत्वं यथा नीरं मरुस्थले ।
पुरुषत्वं यथा स्थाणौ तद्वद्विश्वं चिदात्मनि ॥15॥
यथैव शून्यो वेतालो गन्धर्वाणां पुरं यथा ।
यथाकाशे द्विचन्द्रत्वं तद्वत् सत्ये जगत्स्थितिः ॥16॥
यथा तरङ्गकल्लोलैर्जलमेव स्फुरत्यलम् ।
घटनाम्ना यथा पृथ्वी पटनाम्ना हि तन्तवः ॥17॥

जिस प्रकार मिट्टी में ही घड़े का और कनक में ही कुण्डल का नाम दिया जाता है और जैसे सीप में ही रजत का [illegible] लिया जाता है, वैसे ही परमात्मा में जीवत्व शब्द का व्यवहार किया जाता है। जिस प्रकार आकाश में नीलत्व होता है, जिस प्रकार मरुमरीचिका में पानी होता है, जिस प्रकार खम्भे में पुरुषत्व होता है, ठीक इसी प्रकार चिदात्मा में जगत् की स्थिति है। (अर्थात् वास्तव में है ही नहीं।) जिस प्रकार वेताल शून्यरूप ही होता है, जिस प्रकार आकाश में गन्धर्वनगरी होती है, जिस तरह आकाश में दो चन्द्र होते हैं, इसी प्रकार सत्यरूप ब्रह्म में जगत् की स्थिति है। (अर्थात् जगत् का कोई

अस्तित्व ही नहीं है।) जिस प्रकार तरंगों के कल्लोल से केवल जल ही स्फुरित होता है, जैसे घट के नाम से पृथ्वी ही कही जाती है, जैसे वस्त्र के नाम से तन्तु ही कहे जाते हैं, उसी तरह—

जगन्नाम्ना चिदाभाति सर्वं ब्रह्मैव केवलम् ।
यथा वन्ध्यासुतो नास्ति यथा नास्ति मरौ जलम् ॥18॥
यथा नास्ति नभोवृक्षस्तथा नास्ति जगत्स्थितिः ।
गृह्यमाणे घटे यद्वन्मृत्तिका भाति वै बलात् ॥19॥
वीक्ष्यमाणे प्रपञ्चे तु ब्रह्मैवाभाति भासुरम् ।
सदैवात्मा विशुद्धोऽस्मि ह्यशुद्धो भाति वै सदा ॥20॥

—जगत् के नाम से चिदात्मा ही प्रकाशित हो रहा है। सब जगह यह चिदात्मा ब्रह्म ही तो है। जिस प्रकार बन्ध्यापुत्र का कोई अस्तित्व नहीं होता, जिस प्रकार मरुभूमि में कोई जल का अस्तित्व नहीं होता, जिस प्रकार आकाश में वृक्ष का अस्तित्व नहीं होता, इसी तरह जगत् का कोई अस्तित्व ही नहीं है। जिस प्रकार घट को देखने पर मिट्टी बलपूर्वक दिखाई ही पड़ती है, उसी प्रकार जब जगत् देखा जाता है तो बलात् तेजोमय ब्रह्म दिखाई ही पड़ता है। वास्तव में तो अस्मि का वाचक (अहम्) आत्मा सत् और विशुद्ध ही है जो सदा अशुद्ध (जगत्) रूप में प्रतीत होता है।

यथैव द्विविधा रज्जुर्ज्ञानिनोऽज्ञानिनोऽनिशम् ।
यथैव मृन्मयः कुम्भस्तद्वद्देहोऽपि चिन्मयः ॥21॥
आत्मानात्मविवेकोऽयं मुधैव क्रियते बुधैः ।
सर्पत्वेन यथा रज्जू रजतत्वेन शुक्तिका ॥22॥
विनिर्णीता विमूढेन देहत्वेन तथात्मता ।
घटत्वेन यथा पृथ्वी जलत्वेन मरीचिका ॥23॥
गृहत्वेन हि काष्ठानि खड्गत्वेनैव लोहता ।
तद्वदात्मनि देहत्वं पश्यत्यज्ञानयोगतः ॥24॥ इति ।

इति चतुर्थोऽध्यायः ।

जिस प्रकार ज्ञानी की और अज्ञानी की दृष्टि से रस्सी दो प्रकार की हो जाती है और जिस प्रकार मिट्टी से बना घड़ा भी दो प्रकार का हो जाता है, उसी प्रकार ज्ञानी और अज्ञानी की दृष्टि में चित्स्वरूप यह देह भी दो प्रकार का हो जाता है। ज्ञानियों के द्वारा आत्मा और अनात्मा का जो विवेक (भेद) किया जाता है, वह तो गलत ही किया जाता है, क्योंकि रस्सी में सर्प की तरह और सीप में रजत की तरह वह तो मिथ्या ही है। उसमें सत्य का निर्णय तो मूढ़ों के द्वारा ही किया जाता है। मूढ़ ही आत्मा को देहरूप में और पृथ्वी को घटरूप में या मरीचिका को जलरूप में मानता है। जैसे वह लकड़ियों को गृहरूप में, लोहे को खड्ग के रूप में मानता है, वैसे ही अज्ञान के योग से वह देह में आत्मत्व को मानता है।

इस तरह यहाँ चौथा अध्याय पूरा होता है।

❋

पञ्चमोऽध्यायः

पुनर्योगं प्रवक्ष्यामि गुह्यं ब्रह्मस्वरूपकम् ।
समाहितमना भूत्वा शृणु ब्रह्मन् यथाक्रमम् ॥1॥

दशद्वारपुरं देहं दशनाडीमहापथम्।
दशभिर्वायुभिर्व्याप्तं दशेन्द्रियपरिच्छदम् ॥2॥
षडाधारापवरकं षडन्वयमहावनम्।
चतुष्पीठसमाकीर्णं चतुराम्नायदीपकम् ॥3॥
बिन्दुनादमहालिङ्गविष्णुलक्ष्मीनिकेतनम्।
देह विष्ण्वालयं प्रोक्तं सिद्धिदं सर्वदेहिनाम् ॥4॥

शिवजी ने आगे कहा कि—हे ब्रह्माजी ! मैं और भी क्रमानुसार गोपनीय ब्रह्मस्वरूप के विषय में कह रहा हूँ। उसे सावधान मन से सुनो। यह देह दस द्वारों (दश इन्द्रियों) वाला नगर है, इसमें दस नाड़ीरूप बड़े-बड़े मार्ग बने हैं। इसमें दश वायु व्याप्त है और यह दश इन्द्रियों से व्याप्त है। छः (चक्रोंरूपी) आधारों से वह घिरा हुआ है। इसमें छः अन्वय रूप बड़े वन (मन्त्र-लय-हठ-राज-भावना-सहज—इन योग सम्प्रदाय रूप वन) बनाये गये हैं। इसमें कामरूपादि पूर्व वर्णित चार पीठ हैं, इसमें वेदरूपी दीपक जगमगा रहे हैं। बिन्दु, नाद, महालिंग, विष्णु और लक्ष्मी का यह निवासस्थान है। इस देह को विष्णु का घर कहा जाता है। यह सभी देहधारियों के लिए सिद्धिदायक बताया गया है।

गुदमेढ्रान्तरालस्थं मूलाधारं त्रिकोणकम्।
शिवस्य जीवरूपस्य स्थानं तद्धि प्रचक्षते ॥5॥
यत्र कुण्डलिनी नाम परा शक्तिः प्रतिष्ठिता।
यस्मादुत्पद्यते वायुर्यस्माद्वह्निः प्रवर्तते ॥6॥
यस्मादुत्पद्यते बिन्दुर्यस्मान्नादः प्रवर्तते।
यस्मादुत्पद्यते हंसो यस्मादुत्पद्यते मनः ॥7॥
तदेतत् कामरूपाख्यं पीठं कामफलप्रदम्।
स्वाधिष्ठानाह्वयं चक्रं लिङ्गमूलं षडस्रकम् ॥8॥

गुदा और मेढ्र (लिंग) के बीच के प्रदेश में तीन कोनों वाला मूलाधार चक्र स्थापित है। उसको जीवरूप बने हुए शिव का स्थान कहा जाता है। वहाँ पर कुण्डलिनी नाम की पराशक्ति प्रतिष्ठित है। इसमें से पहले वायु (प्राण) उत्पन्न होता है, वायु से अग्नि पैदा होता है। फिर उस अग्नि से बिन्दु उत्पन्न होता है और बिन्दु से नाद उत्पन्न होता है। उस नाद से हंस उत्पन्न होता है और हंस से मन उत्पन्न होता है। इसे 'कामरूप' नाम का पीठ कहा जाता है। क्योंकि वह हमारी कामनाओं का फल देने वाला है। फिर जरा ऊपर लिंग के मूल में स्वाधिष्ठान नाम का चक्र है। वह छः दलों वाला है।

नाभिदेशे स्थितं चक्रं दशास्रं मणिपूरकम्।
द्वादशारं महाचक्रं हृदये चाप्यनाहतम् ॥9॥
तदेतत् पूर्णगिर्याख्यं पीठं कमलसम्भव।
कण्ठकूपे विशुद्धाख्यं यच्चक्रं षोडशास्रकम् ॥10॥
पीठं जालन्धरं नाम तिष्ठत्यत्र चतुर्मुख।
आज्ञा नाम भ्रुवोर्मध्ये द्विदलं चक्रमुत्तमम् ॥11॥
उड्याणाख्यं महापीठमुपरिष्टात् प्रतिष्ठितम्।
स्थानान्येतानि देहेऽस्मिञ्छक्तिरूपं प्रकाशते ॥12॥

नाभि के प्रदेश में रहा हुआ दश दल वाला चक्र मणिपूरक कहा जाता है। और बारह दलों वाला अनाहत नाम का महाचक्र हृदय में स्थापित है। हे कमलसंभव ब्रह्मा जी ! वह यह पूर्णगिरि नाम का पीठ है। कण्ठकूप में विशुद्ध चक्र नाम का चक्र है। वह चक्र सोलह दलवाला है। हे चतुर्मुख ब्रह्माजी ! यहाँ पर जालन्धर नामक पीठ अवस्थित है। दो भौंहों के बीच आज्ञाचक्र है, वह दो दल वाला है। वह उत्तम चक्र है, यहाँ उड्याण नाम का महापीठ ऊपर के भाग में स्थित है। ये सब इस देह में बने हुए स्थान हैं, इनमें शक्तिरूप प्रकाशित होता है।

स चतस्रधरण्यादौ ब्रह्मा तत्राधिदेवता।
अर्धचन्द्राकृति जलं विष्णुस्तस्याधिदेवता ॥13॥
त्रिकोणमण्डलं वह्नी रुद्रस्तस्याधिदेवता।
वायोर्बिम्बं तु षट्कोणं सङ्कर्षोऽत्राधिदेवता ॥14॥
आकाशमण्डलं वृत्तं श्रीमन्नारायणोऽत्राधिदेवता।
नादरूपं भ्रुवोर्मध्ये मनसो मण्डलं विदुः ॥15॥
शाम्भवस्थानमेतत्ते वर्णितं पद्मसम्भव।
अतः परं प्रवक्ष्यामि नाडीचक्रस्य निर्णयम् ॥16॥

चार कोने वाली धरणी आदि में ब्रह्मा अधिदेवता हैं, जो अर्धचन्द्राकृति जल है, उसके अधिदेवता विष्णु हैं, त्रिकोण मण्डलाकार वह्नि है और उसके अधिदेवता रुद्र हैं। जो षट्कोण बिम्बाकार वायु है, उसके अधिदेवता संकर्षण हैं। गोलाकार आकाशमण्डल के अधिदेवता श्रीमन्-नारायण हैं। और दोनों भौंहों के बीच नादरूप मन का मण्डल कहा गया है। यह जो शांभव स्थान है उसका वर्णन तो हे पद्मसंभव ब्रह्मा जी ! मैं पहले ही (प्रथम अध्याय में ही) आपके समक्ष कह चुका हूँ। अब आगे मैं नाड़ीचक्र का निर्णय कहूँगा।

मूलाधारत्रिकोणस्था सुषुम्ना द्वादशाङ्गुला।
मूलार्धच्छिन्नवंशाभा ब्रह्मनाडीति सा स्मृता ॥17॥
इडा च पिङ्गला चैव तस्याः पार्श्वद्वये गते।
विलम्बिन्यामनुस्यूते नासिकान्तमुपागते ॥18॥
इडायां हेमरूपेण वायुर्वामेन गच्छति।
पिङ्गलायां तु सूर्यात्मा याति दक्षिणपार्श्वतः ॥19॥
विलम्बिनीति या नाडी व्यक्ता नाभौ प्रतिष्ठिता।
तत्र नाड्यः समुत्पन्नास्तिर्यगूर्ध्वमधोमुखाः ॥20॥

मूलाधार में आधा बाँस काटा गया हो ऐसे आकार (आभा) वाली, मूलाधार के त्रिकोणाकार प्रदेश में अवस्थित, बारह अंगुल के परिमाणवाली सुषुम्ना नाम की नाड़ी है, उसे ब्रह्मनाड़ी भी कहा जाता है। उस सुषुम्ना के दोनों पार्श्वों में इडा और पिंगला नाम की दो नाड़ियाँ हैं। वे दोनों नाड़ियाँ विलम्बिनी नाम की नाड़ी में अनुस्यूत (पिरोयी हुई) हैं और वे दोनों नाड़ियाँ नासिका के अन्तभाग—नथुने तक पहुँची हुई हैं। वाम नथुने से इडा में हेमरूप से (सूर्य नाड़ी से) प्राणवायु पहले आता है। और नासिका के दक्षिण भाग से (दाहिने नथुने से) सूर्यस्वरूप वह वायु जाता है। अब जो विलम्बिनी नाम की नाड़ी है, वह व्यक्त होकर नाभि प्रदेश में प्रतिष्ठित हुई है, उसके थोड़े ऊपर के भाग में नीचे मुख किए हुए नाड़ियाँ उत्पन्न हुई हैं।

तन्नाभिचक्रमित्युक्तं कुक्कुटाण्डमिव स्थितम् ।
गान्धारी हस्तिजिह्वा च तस्मान्नेत्रद्वयं गते ॥21॥
पूषा चालम्बुसा चैव श्रोत्रद्वयमुपागते ।
शूरा नाम महानाडी तस्माद्भ्रूमध्यमाश्रिता ॥22॥
विश्वोदरी तु या नाडी सा भुङ्क्तेऽन्नं चतुर्विधम् ।
सरस्वती तु या नाडी सा जिह्वान्तं प्रसर्पते ॥23॥
राकाह्वया तु या नाडी पीत्वा च सलिलं क्षणात् ।
क्षुतमुत्पादयेद् घ्राणे श्लेष्माणं संचिनोति च ॥24॥

उस स्थान को नाभिचक्र कहा जाता है। कुक्कुट (मुर्गी) के अण्डे की तरह उसका आकार है। वहाँ से गान्धारी और हस्तिजिह्वा नाम की दो नाड़ियाँ दोनों आँखों तक पहुँची हुई हैं और पूषा तथा अलम्बुसा नाम की दो नाड़ियाँ दोनों कानों तक पहुँची हुई हैं। शूरा नाम की एक महानाड़ी उससे उत्पन्न होकर दोनों भौहों के बीच में पहुँची हुई है। जो विश्वोदरी नाम की नाड़ी है, वह चारो प्रकार के अन्न—लेह्य, चोष्य, पेय और खाद्य को ग्रहण करती है। जो सरस्वती नाम की नाड़ी है, वह जीभ के अन्त तक फैली हुई है और जो राका नाम की नाड़ी है, वह पानी पीकर एक क्षण में छींक को पैदा कर देती है और कफ को एकत्रित करती है।

कण्ठकूपोद्भवा नाडी शङ्खिन्याख्या त्वधोमुखी ।
अन्नसारं समादाय मूर्ध्नि सञ्चिनुते सदा ॥25॥
नाभेरधोगतास्तिस्रो नाडयः स्युरधोमुखाः ।
मलं त्यजेत् कुहूर्नाडी मूत्रं मुञ्चति वारुणी ॥26॥
चित्राख्या सीविनी नाडी शुक्लमोचनकारिणी ।
नाडीचक्रमिति प्रोक्तं बिन्दुरूपमतः शृणु ॥27॥

शंखिनी नाम की नाड़ी कण्ठकूप से उत्पन्न होती है, वह नीचे मुख किए हुए है। वह अन्न के सारतत्त्व को इकट्ठा करके सदा मस्तक में रख देती है। नाभि के नीचे के भाग में तीन नाड़ियाँ हैं, ये सब अधोमुखी हैं। इनमें से जो कुहू नाम की नाड़ी है, वह मल का त्याग करती है और जो वारुणी नाम की नाड़ी है, वह मूत्र का त्याग करती है। सीवनी के स्थान में जो चित्रा नाम की नाडी है, वह शुक्ल (शुक्र) का मोचन करने वाली है। इसको नाड़ीचक्र कहा गया है। अब मैं तुम्हें बिन्दुरूप सुनाऊँगा, इसे सुनो।

स्थूलं सूक्ष्मं परं चेति त्रिविधं ब्रह्मणो वपुः ।
स्थूलं शुक्लात्मकं बिन्दुः सूक्ष्मं पञ्चाग्निरूपकम् ॥28॥
सोमात्मकः परः प्रोक्तः सदा साक्षी सदाच्युतः ।
पातालानामधोभागे कालाग्निर्यः प्रतिष्ठितः ॥29॥
स मूलाग्निः शरीरेऽग्निर्यस्मान्नादः प्रजायते ।
बडवाग्निः शरीरस्थो ह्यस्थिमध्ये प्रवर्तते ॥30॥

स्थूल, सूक्ष्म और पर—इस प्रकार के ब्रह्म के तीन रूप होते हैं। इनमें जो स्थूलरूप है, वह शुक्लस्वरूप (शुक्रस्वरूप) बिन्दु के रूप में होता है और जो सूक्ष्म रूप है वह पंचाग्निरूप है, जो पररूप है, वह सोमात्मक है, वह सदा साक्षीस्वरूप है, वह अच्युत (शाश्वत) है। जो पंचाग्नि रूप कहा

गया है, वह पातालों के नीचे जो कालाग्नि प्रतिष्ठित है, वही मूलाग्नि इस शरीर में भी है। इससे नाद उत्पन्न होता है। शरीर में अवस्थित यह वडवाग्नि अस्थियों के बीच रहकर फैलता है। (अर्थात् कालाग्नि ही नादाधार अग्नि होकर शरीर में रहता है।)

काष्ठपाषाणयोर्वह्निर्ह्यस्थिमध्ये प्रवर्तते ।
काष्ठपाषाणजो वह्निः पार्थिवो ग्रहणीगतः ॥31॥
अन्तरिक्षगतो वह्निर्वैद्युतः स्वान्तरात्मकः ।
नभःस्थः सूर्यरूपोऽग्निर्नाभिमण्डलमाश्रितः ॥32॥
विषं वर्षति सूर्योऽसौ स्रवत्यमृतमुन्मुखः ।
तालुमूले स्थितश्चन्द्रः सुधां वर्षत्यधोमुखः ॥33॥
भ्रूमध्यनिलयो बिन्दुः शुद्धस्फटिकसंनिभः ।
महाविष्णोश्च देवस्य तत् सूक्ष्मं रूपमुच्यते ॥34॥

काष्ठ और पाषाण से जन्मा हुआ अग्नि अस्थियों में प्रवर्तित होता है। काष्ठ और पाषाण से उत्पन्न वह पार्थिव अग्नि ही ग्रहणीगत (योषागत) स्त्री में स्थित होता है। और जो अन्तरिक्ष में रहने वाला वैद्युत अग्नि है, वही अपने अन्तर का स्वरूप लिए हुए है। आकाश में रहने वाला जो सूर्यरूप अग्नि है, वही नाभिमंडल में स्थित है। यह सूर्य विष बरसाता है, पर उन्मुख (अभिमुख) होकर वह अमृत का स्राव करता है। तालुप्रदेश में रहने वाला चन्द्र नीचे मुख करके सुधा बरसाता है। दोनों भौहों के बीच में रहने वाला बिन्दु शुद्ध स्फटिक जैसी कान्तिवाला होता है, और वह महाविष्णु देव का रूप समझा जाता है।

एतत् पञ्चाग्निरूपं यो भावयेद् बुद्धिमान् धिया ।
तेन भुक्तं च पीतं च हुतमेव न संशयः ॥35॥
सुखसंसेवितं स्वप्नं सुजीर्णमितभोजनम् ।
शरीरशुद्धिं कृत्वादौ सुखमासनमास्थितः ॥36॥
प्राणस्य शोधयेन्मार्गं रेचपूरककुम्भकैः ।
गुदमाकुञ्च्य यत्नेन मूलशक्तिं प्रपूजयेत् ॥37॥

जो बुद्धिमान मनुष्य अपनी बुद्धि से इस पंचाग्निरूप की भावना करता है, उसका खाया-पिया सब हवन किया हुआ ही हो जाता है, इसमें कोई संशय नहीं है। इस प्रकार जो सुख से निद्रा लेता है, जो पाचक और कम आहार लेता है, ऐसे आहारादि से शरीरशुद्धि करने वाले मनुष्य को चाहिए कि वह रेचक, पूरक और कुंभक के द्वारा पहले प्राणशक्ति के मार्ग को शुद्ध कर ले और फिर गुदा का संकोच करते हुए प्रयत्नपूर्वक मूलशक्ति को पूजे (जगाए)।

नाभौ लिङ्गस्य मध्ये तु उड्याणाख्यं च बन्धयेत् ।
उड्डीय याति तेनैव शक्तितोड्याणपीठकम् ॥38॥
कण्ठं सङ्कोचयेत् किञ्चिद्बन्धो जालन्धरो ह्ययम् ।
बन्धयेत् खेचरीमुद्रां दृढचित्तः समाहितः ॥39॥
कपालविवरे जिह्वा प्रविष्टा विपरीतगा ।
भ्रुवोरन्तर्गता दृष्टिर्मुद्रा भवति खेचरी ॥40॥

नाभि और लिंग के बीच के प्रदेश में उड्याणबन्ध करना चाहिए। इसी से प्राण उड़कर शक्ति से उड्याणपीठ तक जाता है। जब थोड़ा-सा कण्ठ का संकोच किया जाता है, तब जालन्धरबन्ध बनता है। दृढ मन वाले (स्थिर बुद्धि वाले) साधक को उसके बाद खेचरी मुद्रा करनी चाहिए। इसमें जीभ को उल्टा करके कपाल की गुहा में (कपाल के छिद्र में) उसको प्रवेश कराना चाहिए और दृष्टि दोनों भौहों के बीच स्थिर रखनी चाहिए। इस तरह खेचरी मुद्रा होती है।

खेचर्या मुद्रितं येन विवरं लम्बिकोर्ध्वतः।
न पीयूषं पतत्यग्नौ न च वायुः प्रधावति ॥41॥
न क्षुधा न तृषा निद्रा नैवालस्यं प्रजायते।
न च मृत्युर्भवेत् तस्य यो मुद्रां वेत्ति खेचरीम् ॥42॥

जिसने खेचरी से अपने कण्ठविवर को ऊँचे लम्बी जीभ करके मुद्रित कर दिया है (बन्द कर दिया है), ऐसे उसका अमृत अग्नि में नहीं गिरता (नष्ट नहीं होता) और वायु दौड़ता नहीं है (प्राणवायु असंयत नहीं रहता)। उसे क्षुधा, तृष्णा, निद्रा, आलस्य आदि कुछ उत्पन्न नहीं होता। जो इस खेचरी मुद्रा को जानता है, उसकी कभी मृत्यु नहीं होती।

ततः पूर्वापरे व्योम्नि द्वादशान्तेऽच्युतात्मके।
उड्याणपीठे निर्द्वन्द्वे निरालम्बे निरञ्जने ॥43॥
ततः पङ्कजमध्यस्थं चन्द्रमण्डलमध्यगम्।
नारायणमनुध्यायेत् स्रवन्तममृतं सदा ॥44॥
भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे ॥45॥

इसके बाद खेचरी मुद्रा के बारह (वर्ष) के अन्त में उड्याण पीठ में, द्वन्द्वरहित, अवलम्बन रहित, अच्युतात्मक—शाश्वत (सहस्राराकाश में) पर और अपर आकाश में, कमल पर विराजमान, चन्द्रमण्डल के मध्य में स्थित, सर्वदा अमृत का स्राव करने वाले नारायण का ही ध्यान करते रहना चाहिए। इससे हृदय की ग्रन्थियाँ टूट जाती हैं। जब उन परात्पर नारायण का ही दर्शन हो गया तब सभी संशय भी मिट जाएँगे। ऐसे नारायण के साक्षात्कारी के सभी कर्म भी क्षीण हो जाते हैं।

अथ सिद्धिं प्रवक्ष्यामि सुखोपायं सुरेश्वर।
जितेन्द्रियाणां शान्तानां जितश्वासविचेतसाम् ॥46॥
नादे मनोलयं ब्रह्मन् दूरश्रवणकारणम्।
बिन्दौ मनोलयं कृत्वा दूरदर्शनमाप्नुयात् ॥47॥
कालात्मनि मनो लीनं त्रिकालज्ञानकारणम्।
परकायमनोयोगः परकायप्रवेशकृत् ॥48॥
अमृतं चिन्तयेन्मूर्ध्नि क्षुत्तृषाविषशान्तये।
पृथिव्यां धारयेच्चित्तं पातालगमनं भवेत् ॥49॥

अब हे सुरेश्वर ! उन जितेन्द्रिय, शान्त, प्राणों को जीतने वाले और मन को वश में रखने वाले योगियों के सुख के उपाय को और उनकी सिद्धि को मैं तुम्हें कहूँगा। हे ब्रह्माजी ! नाद में जब मन का लय हो जाता है, तब वह दूरश्रवण की सिद्धि का कारण बनता है। इसके बाद बिन्दु में मन का लय करके योगी दूरश्रवण की सिद्धि प्राप्त कर सकता है। मन जब कालात्मा में लीन हो जाता है, तब वह त्रिकाल ज्ञान का कारण होता है। और अन्य के शरीर में मन का योग करने से वह अन्य के शरीर में प्रवेश (परकायप्रवेश) कर सकता है। भूख, प्यास और विष की शान्ति के लिए मस्तिष्क में अमृत की भावना करनी चाहिए और पृथ्वी में चित्त की धारणा करने से पाताल में गमन हो सकता है।

सलिले धारयेच्चित्तं नाम्भसा परिभूयते।
अग्नौ संधारयेच्चित्तमग्निना दह्यते न सः ॥50॥
वायौ मनोलयं कुर्यादाकाशगमनं भवेत्।
आकाशे धारयेच्चित्तमणिमादिकमाप्नुयात् ॥51॥
विराड्रूपे मनो युञ्जन् महिमानमवाप्नुयात्।
चतुर्मुखे मनो युञ्जन् जगत्सृष्टिकरो भवेत् ॥52॥

वह यदि जल में चित्त की अवधारणा (लय) करता है, तो जल से कभी पराभव प्राप्त नहीं करता और अगर वह अग्नि में चित्त की अवधारणा (लय) करता है, तो अग्नि से वह कभी जलता नहीं है। यदि वह वायु में चित्त की अवधारणा करता है (लय कर देता है), तो वह आकाश में गमन कर सकता है और यदि वह आकाश में चित्त की अवधारणा करता है, तो उसे अणिमादि सिद्धियाँ प्राप्त हो जाती हैं। यदि वह अपने मन को विराट्रूप में जोड़ (एकाकार कर) देता है, तब तो वह महिमा महत्तत्त्व को पाता है और यदि चतुर्मुख ब्रह्मा के साथ अपने चित्त की एकात्मता करता है, तब तो वह सृष्टि का कर्ता ही हो जाता है।

इन्द्ररूपिणमात्मानं भावयन् मर्त्यभोगवान्।
विष्णुरूपे महायोगी पालयेदखिलं जगत् ॥53॥
रुद्ररूपे महायोगी संहरत्येव तेजसा।
नारायणे मनो युञ्जन् नारायणमयो भवेत्।
वासुदेवे मनो युञ्जन् सर्वसिद्धिमवाप्नुयात् ॥54॥
यथा संकल्पयेद्योगी योगयुक्तो जितेन्द्रियः।
तथा तत्तदवाप्नोति भाव एवात्र कारणम् ॥55॥

अपने आपको इन्द्ररूप में भावना करने वाला सभी मर्त्य भोगों का भोगने वाला होता है और अपने को विष्णु के रूप में भावना करने वाला महायोगी बन जाता है और अखिल जगत् का पालन करने वाला बन जाता है। अपने आत्मा की रुद्र रूप में भावना करने वाला महायोगी बनता है और वह अपने तेज से जगत् का संहार करता है। अपने मन को नारायण में जोड़ने वाला नारायणमय ही बनता है। और वासुदेव में मन को जोड़ने वाला सभी प्रकार की सिद्धियाँ प्राप्त करता है। योगयुक्त जितेन्द्रिय योगी तो अपने संकल्पों के अनुसार जो-जो भाव जिस-जिस सिद्धि को प्राप्त कराता है उस-उस को प्राप्त कर ही लेता है।

गुरुर्ब्रह्मा गुरुर्विष्णुर्गुरुर्देवः सदाशिवः।
न गुरोरधिकः कश्चित् त्रिषु लोकेषु विद्यते ॥56॥
दिव्यज्ञानोपदेष्टारं देशिकं परमेश्वरम्।
पूजयेत् परया भक्त्या तस्य ज्ञानफलं भवेत् ॥57॥

यथा गुरुस्तथैवेशो यथैवेशस्तथा गुरुः ।
पूजनीयो महाभक्त्या न भेदो विद्यतेऽनयोः ॥58॥
नाद्वैतवादं कुर्वीत गुरुणा सह कुत्रचित् ।
अद्वैतं भावयेद्भक्त्या गुरोर्देवस्य चात्मनः ॥59॥

गुरु ही ब्रह्मा है, गुरु ही विष्णु है, गुरु ही सदाशिव देव हैं। (अच्युत है ?) गुरु से बढ़कर तीनों लोकों में कोई है ही नहीं। दिव्य परमज्ञान का उपदेश करने वाले परम मार्गदर्शक, परमेश्वरस्वरूप, गुरु को सदैव परमभक्ति के साथ पूजना चाहिए, तभी ज्ञान का फल प्राप्त किया जा सकता है। जैसे गुरु हैं वैसे ही ईश्वर हैं और जैसे ईश्वर हैं, वैसे ही गुरु हैं। बड़ी भक्ति से वे पूजनीय हैं। उन दोनों के बीच हम तो कोई भेद नहीं जानते। ईश्वर और गुरु की अद्वैतता की बात कभी गुरु के आगे नहीं करनी चाहिए, किन्तु उस अद्वैत की भावना मन में तो नित्य रखनी ही चाहिए। गुरु, देव और स्वयं का अद्वैत भाव मन में हमेशा रखना चाहिए।

योगशिखां महागुह्यं यो जानाति महामतिः ।
न तस्य किञ्चिदज्ञातं त्रिषु लोकेषु विद्यते ॥60॥
न पुण्यपापे नास्वस्थो न दुःखं न पराजयः ।
न चास्ति पुनरावृत्तिरस्मिन् संसारमण्डले ॥61॥

जो महाबुद्धिशाली मनुष्य योगशिखा के इस परमगुह्य ज्ञान को जानता है, उसके लिए तीनों लोकों में कोई भी बात अनजानी नहीं रह जाती। उस पर पुण्य-पाप का कोई प्रभाव नहीं पड़ता; वह कभी अस्वस्थ नहीं होता। उसको कभी न दुःख होता है, न कभी उसकी पराजय ही होती है। इस संसार मण्डल में उसे फिर कभी आना नहीं पड़ता।

सिद्धौ चित्तं न कुर्वीत चञ्चलत्वेन चेतसः ।
तथा विज्ञाततत्त्वोऽसौ मुक्त एव न संशयः ॥62॥ इत्युपनिषत् ।

इति पञ्चमोऽध्यायः ।

चित्त की चंचलता से प्रेरित होकर कभी भी सिद्धि प्राप्त करने की बुद्धि नहीं करनी चाहिए। इस प्रकार जिसने तत्त्व को जान लिया है वह मुक्त ही है, इसमें कोई संशय नहीं है। ऐसा यह उपनिषद् कहती है।

यहाँ पर पाँचवाँ अध्याय पूरा होता है।

❋

षष्ठोऽध्यायः

उपासनाप्रकारं मे ब्रूहि त्वं परमेश्वर ।
येन विज्ञानमात्रेण मुक्तो भवति संसृतेः ॥1॥
उपासनाप्रकारं ते रहस्यं श्रुतिसारकम् ।
हिरण्यगर्भ वक्ष्यामि श्रुत्वा सम्यगुपासय ॥2॥
सुषुम्नायै कुण्डलिन्यै सुधायै चन्द्रमण्डलात् ।
मनोन्मन्यै नमस्तुभ्यं महाशक्त्यै चिदात्मने ॥3॥

ब्रह्माजी ने कहा—"हे परमेश्वर ! अब आप मुझे उपासना का प्रकार बताइए, कि जिसके ज्ञानमात्र से मनुष्य संसार से छुटकारा पा सकता है।" तब शंकर ने कहा—"हे हिरण्यगर्भ ! सभी वेदों के साररूप उपासना प्रकार को मैं तुम्हें बता रहा हूँ, उस परम रहस्य को सुनकर तुम उसकी अच्छी तरह से उपासना करो। उपासना का मंत्र यह है—"चिदात्मरूप, महाशक्तिरूप, चन्द्रमण्डल से निकली सुधारूप, मनोन्मनी कुण्डलिनी सुषुम्नारूप तुमको मैं नमस्कार करता हूँ।"

शतं चैका च हृदयस्य नाड्यस्तासां मूर्धानमभिनिःसृतैका ।
तयोर्ध्वमायन्नमृतत्वमेति विष्वङ्ङन्या उत्क्रमणे भवन्ति ॥4॥
एकोत्तरं नाडिशतं तासां मध्ये परा स्मृता ।
सुषुम्ना तु परे लीना विरजा ब्रह्मरूपिणी ॥5॥
इडा तिष्ठति वामेन पिङ्गला दक्षिणेन तु ।
तयोर्मध्ये परं स्थानं यस्तद्वेद स वेदवित् ॥6॥

हृदयप्रदेश में एक सौ एक नाड़ियाँ स्थित हैं। उनमें से एक मूर्धा (ब्रह्मरन्ध्र) तक पहुँची हुई है। उस नाड़ी के द्वारा ऊपर चढ़ते हुए मनुष्य अमृतत्व को प्राप्त करता है। अन्य जो नाड़ियाँ हैं, वे वहाँ से निकलकर शरीर में सर्वत्र फैल गई हैं। इस शरीर में एक सौ एक नाड़ियाँ हैं, उनमें से यह मुख्य नाड़ी (परा नाड़ी) है, वह सुषुम्ना है, वह परतत्त्व में लीन, ब्रह्मरूपिणी और विरजा है। इस सुषुम्ना के बाँयें भाग में इडा नाडी है और दाहिने भाग में पिंगला नाड़ी स्थित है। इन दोनों के बीच में सुषुम्ना का परम स्थान है। उसे जो जानता है वह वेदों का जानकार माना जाता है।

प्राणान् संधारयेत् तस्मिन् नासाभ्यन्तरचारिणः ।
भूत्वा तत्रायतप्राणः शनैरेव समभ्यसेत् ॥7॥
गुदस्य पृष्ठभागेऽस्मिन् वीणादण्डः स देहभृत् ।
दीर्घास्थिदेहपर्यन्तं ब्रह्मनाडीति कथ्यते ॥8॥
तस्यान्ते सुषिरं सूक्ष्मं ब्रह्मनाडीति सूरिभिः ।
इडापिङ्गलयोर्मध्ये सुषुम्ना सूर्यरूपिणी ॥9॥

इडा-पिंगला के बीच के उस स्थान में, नाक के भीतर संचार करते हुए प्राणवायुओं को धारण करना चाहिए। इसमें साधक को वहाँ प्राणों को धीरे-धीरे आयत बढ़ाते-बढ़ाते आगे गति करानी चाहिए। इस शरीर में गुदा के पीछे के भाग में देह को धारण करने वाला पूरे देहपर्यन्त एक लम्बी अस्थि स्थित है, वह वीणादण्ड है। उसे ब्रह्मनाड़ी कहते हैं। उसके अन्त में बहुत छिद्रों वाला जो सूक्ष्म स्थान है, उसे ही विद्वान् लोग ब्रह्मनाड़ी कहते हैं। इडा और पिंगला के बीच में सूर्यरूपिणी सुषुम्ना नाड़ी है।

सर्वं प्रतिष्ठितं तस्मिन् सर्वगं सर्वतोमुखम् ।
तस्य मध्यगताः सूर्यसोमाग्निपरमेश्वराः ॥10॥
भूतलोका दिशः क्षेत्राः समुद्राः पर्वताः शिलाः ।
दीपाश्च निम्नगा वेदाः शास्त्रविद्याकलाक्षराः ॥11॥
स्वरमन्त्रपुराणानि गुणाश्चैते च सर्वशः ।
बीजं बीजात्मकस्तेषां क्षेत्रज्ञः प्राणवायवः ॥12॥

इस पूर्वोक्त सुषिर (सूक्ष्म छिद्रयुक्त स्थान) में चारों ओर मुखवाला सर्वत्र गतिशील यह सब कुछ प्रतिष्ठित हुआ है। इसके बीच के प्रदेश में सूर्य, सोम, अग्नि और परमेश्वर स्थित हैं। सभी भूतों के लोक, सभी दिशाएँ, सभी क्षेत्र, समुद्र, पर्वत, शिलाएँ, द्वीप, नदियाँ, शास्त्र, विद्या, कला, अक्षर, स्वर, मंत्र, पुराण और सभी गुण—इन सबके बीज इसमें हैं, वह क्षेत्रज्ञ सबका बीजरूप है। इसमें सभी प्राणवायु विद्यमान हैं।

सुषुम्नान्तर्गतं विश्वं तस्मिन् सर्वं प्रतिष्ठितम्।
नानानाडीप्रसवगं सर्वभूतान्तरात्मनि ॥13॥
ऊर्ध्वमूलमधःशाखं वायुमार्गेण सर्वगम्।
द्विसप्ततिसहस्राणि नाड्यः स्युर्वायुगोचराः ॥14॥
सर्वमार्गेण सुषिरास्तिर्यञ्चः सुषिरात्मकाः।
अधश्चोर्ध्वं च कुण्डल्याः सर्वद्वारनिरोधनात् ॥15॥

सारा विश्व इस सुषुम्ना के अन्तर्गत है। इसी में सब कुछ प्रतिष्ठित है। इसी में से तरह-तरह की नाड़ियाँ उत्पन्न होती हैं और अन्य सभी भूत उत्पन्न होते हैं। इसका मूल ऊपर की ओर है और शाखाएँ निम्न भाग में हैं। वायु के मार्ग से वह सभी जगह गति करता है। बहत्तर हजार नाड़ियाँ वायु की गोचर (विषय) बनी हुई हैं। ये नाड़ियाँ सभी मार्गों में छिद्र वाली हैं, तिरछी हैं, छिद्रात्मक हैं, कुण्डलिनी के ऊपर-नीचे के सभी द्वारों का निरोध होने से वे इसी प्रकार की हुई हैं।

वायुना सह जीवोर्ध्वज्ञानान्मोक्षमवाप्नुयात्।
ज्ञात्वा सुषुम्नां तद्भेदं कृत्वा पायुं च मध्यगम् ॥16॥
कृत्वा तु चैन्दवस्थाने घ्राणरन्ध्रे निरोधयेत्।
द्विसप्ततिसहस्राणि नाडीद्वाराणि पञ्जरे ॥17॥
सुषुम्ना शाम्भवी शक्तिः शेषास्त्वन्ये निरर्थकाः।
हल्लेखे परमानन्दे तालुमूले व्यवस्थिते ॥18॥
अत ऊर्ध्वं निरोधे तु मध्यमं मध्यमध्यमम्।
उच्चारयेत् परां शक्तिं ब्रह्मरन्ध्रनिवासिनीम्।
यदि भ्रमरसृष्टिः स्यात् संसारभ्रमणं त्यजेत् ॥19॥

जीव शक्तिरूप (कुण्डलिनीरूप) प्राणवायु के सहारे ऊर्ध्व का ज्ञान प्राप्त करके मोक्ष को प्राप्त करता है। योगी को सुषुम्ना को और उसके भेद को जानकर, पायु को मध्य में रखकर, प्राणवायु का मध्य में निरोध करने से यह फल होता है। इस शरीररूपी पंजर में बहत्तर हजार नाड़ी द्वार हैं। उनमें सुषुम्ना ही शांभवी शक्ति है। शेष सब तो निरर्थक हैं। उन नाड़ियों के भ्रूमध्य में आए हुए ऐन्दव स्थान में, घ्राण के छेद में, हल्लेख में, तालुमूल में व्यवस्थित परमात्मा में निरोध कर देना चाहिए और फिर उसके भी आगे निरोध करते-करते मध्यम का (अर्थात् तुरीय का) और मध्यमध्यम को (अर्थात् तुर्यतुरीय को) लक्ष्य करके पराशक्ति का उच्चारण करना चाहिए। (षोडशमात्रा के समय तक प्रणवप्रकृति का उच्चारण करना चाहिए)। वह पराशक्ति ब्रह्मरन्ध्र में रहती है (क्योंकि सोलह संख्यापूरक मात्रा पराभूमि है अत: उसका आसन ब्रह्मरन्ध्र है)। वहाँ पर भी यदि भ्रमर दृष्टि हो (कामसंकल्पादि सृष्टि हो), तो आज्ञाचक्र को ही पकड़े रहकर संसारभ्रमण को धैर्य से छोड़ देना चाहिए।

गमागमस्थं गमनादिशून्यं चिद्रूपदीपं तिमिरान्धकारम्।
पश्यामि ते सर्वजनान्तरस्थं नमामि हंसं परमात्मरूपम् ॥20॥
अनाहतस्य शब्दस्य तस्य शब्दस्य यो ध्वनिः।
ध्वनेरन्तर्गतं ज्योतिर्ज्योतिषोऽन्तर्गतं मनः।
तन्मनो विलयं याति तद्विष्णोः परमं पदम् ॥21॥

इसके बाद, अन्तःकरणवृत्तियों के आने-जाने को प्रकाशित करने वाले और स्वयं वास्तव में गमनादि से रहित और गाढ़ अन्धकार के सामने चिद्रूप दीपशिखा जैसे, सभी मनुष्यों के अन्तस् में स्थित परमात्मरूप हंस का मैं ध्यान करता हूँ। जो अनाहत शब्द की ध्वनि है, उसकी भी जो ध्वनि है, उस ध्वनि के भीतर ज्योति है, उस ज्योति के भीतर मन है। वह मन भी जहाँ विलय होता है, वही विष्णु का परमपद है (यह परमात्म ध्यान है)।

केचिद्वदन्ति चाधारं सुषुम्ना च सरस्वती।
आधाराज्जायते विश्वं विश्वं तत्रैव लीयते ॥22॥
तस्मात् सर्वप्रयत्नेन गुरुपादं समाश्रयेत्।
आधारशक्तिनिद्रायां विश्वं भवति निद्रया ॥23॥
तस्यां शक्तिप्रबोधेन त्रैलोक्यं प्रतिबुध्यते।
आधारं यो विजानाति तमसः परमश्नुते ॥24॥
तस्य विज्ञानमात्रेण नरः पापैः प्रमुच्यते ॥25॥

कुछ लोग सरस्वती और सुषुम्ना को विश्व का आधार मानते हैं। उस आधार से ही विश्व उत्पन्न होता है और आधार में ही लय हो जाता है। इसलिए सभी प्रयत्नों से गुरुचरणों का आश्रय लेना चाहिए। क्योंकि उस आधारशक्ति की निद्रा में यह विश्व भी निद्रा से युक्त हो गया है। (गुरुकृपा द्वारा) उस शक्ति का जागरण हो जाने से तीनों लोक जाग्रत् हो जाते हैं। जो मनुष्य इस आधार को जान लेता है, वह तमस् के परे जो तत्त्व है, उसे प्राप्त कर लेता है। उसके विज्ञान मात्र से ही मनुष्य सभी पापों से मुक्त हो जाता है।

आधारचक्रमहसा विद्युत्पुञ्जसमप्रभा।
तदा मुक्तिर्न सन्देहो यदि तुष्टः स्वयं गुरुः ॥26॥
आधारचक्रमहसा पुण्यपापे निकृन्तयेत्।
आधारवातरोधेन लीयते गगनान्तरे ॥27॥
आधारवातरोधेन शरीरं कम्पते यदा।
आधारवातरोधेन योगी नृत्यति सर्वदा।
आधारवातरोधेन विश्वं तत्रैव दृश्यते ॥28॥

यदि गुरु स्वयं परितुष्ट हो जाए तब तो उस आधारचक्र के तेज से विद्युत्पुंज के समान आभावाली मुक्ति हो ही जाती है, इसमें किसी प्रकार का सन्देह नहीं है। आधारचक्र के तेज से वह पुण्य और पाप को नष्ट कर देता है। आधारवात के रोध से (आधारब्रह्म में प्राणादि का विलय कर देने से) सब कुछ आकाश में लय हो जाता है, उससे मानो शरीर काँपने लगता है, उससे योगी सदैव नाचने लगता है, उसी आधारवात के रोध से सारा विश्व उस आधार में ही दिखाई देता है।

सृष्टिराधारमाधारमाधारे सर्वदेवताः ।
आधारे सर्ववेदाश्च तस्मादाधारमाश्रयेत् ॥29॥
आधारे पश्चिमे भागे त्रिवेणीसंगमो भवेत् ।
तत्र स्नात्वा च पीत्वा च नरः पापात् प्रमुच्यते ॥30॥
आधारे पश्चिमं लिङ्गं कवाटं तत्र विद्यते ।
तस्योद्घाटनमात्रेण मुच्यते भवबन्धनात् ॥31॥
आधारपश्चिमे भागे चन्द्रसूर्यौ स्थिरौ यदि ।
तत्र तिष्ठति विश्वेशो ध्यात्वा ब्रह्ममयो भवेत् ॥32॥

यह सृष्टि अपने आधार को (परमतत्त्व को) अवलम्बित करके ही आधाररूप बनी है। इसी मूल आधार में सभी देवता हैं, इसी आधार पर सब वेद भी अवलम्बित हैं। इसलिए इस मूल आधार का ही आश्रय लेना चाहिए। इस मूलाधार के पश्चिम भाग में इडा, पिंगला और सुषुम्ना का त्रिवेणी संगम होता है। वहाँ स्नान करके, पानी पीकर मनुष्य पाप से मुक्त हो जाता है। उस आधार के पश्चिमलिंग (प्रत्यक्चैतन्य) और उसका कवाट (आवरक ग्रन्थित्रय) आया हुआ है। उस आवरण का उद्घाटन करने मात्र से मनुष्य भवबन्धन से मुक्त हो जाता है। उस मूलाधार के पश्चिम भाग में (सुषुम्ना में) यदि चन्द्र और सूर्य अवस्थित रहे हों (स्थिर रहें) तो वहाँ विश्वेश्वर प्रतिष्ठित हो जाते हैं। उस विश्वेश का ध्यान करने से योगी ब्रह्ममय हो जाता है।

आधारपश्चिमे भागे मूर्तिस्तिष्ठति संज्ञया ।
षट् चक्राणि च निर्भिद्य ब्रह्मरन्ध्राद्बहिर्गतम् ॥33॥
वामदक्षे निरुद्धन्ति प्रविशन्ति सुषुम्नया ।
ब्रह्मरन्ध्रं प्रविश्यन्ति ते यान्ति परमां गतिम् ॥34॥

आधार के पश्चिम भाग में ब्रह्मादि की (उस-उस चक्र के अलंकारभूत) जो मूर्तियाँ हैं, उनका ध्यान करते हुए साधक छः चक्रों को भेदकर ब्रह्मरन्ध्र से (सुषुम्नारन्ध्र से) पहले जो बाहर था, ऐसे प्राण को वाम-दक्ष में (इडा और पिंगला में) सर्वप्रथम तो रोकता है (प्राण का निरोध करता है) और बाद में सुषुम्ना के द्वारा क्रमशः वे प्राणादि ब्रह्मरन्ध्र में सहस्रारचक्र से उज्ज्वल तुरीय को प्राप्त होते हैं। इस प्रकार वे लोग परमगति को प्राप्त करते हैं।

सुषुम्नायां यदा हंसः अध ऊर्ध्वं प्रधावति ।
सुषुम्नायां यदा प्राणं भ्रामयेद्यो निरन्तरम् ॥35॥
सुषुम्नायां यदा प्राणः स्थिरो भवति धीमताम् ।
सुषुम्नायां प्रवेशेन चन्द्रसूर्यौ लयं गतौ ॥36॥
तदा समरसं भावं यो जानाति स योगवित् ।
सुषुम्नायां यदा यस्य म्रियते मनसो रयः ॥37॥

जब सुषुम्ना में यह प्राण ऊपर-नीचे दौड़ता रहता है और सुषुम्ना में जब मनुष्य प्राण को निरन्तर घुमाता ही रहता है, इसके विपरीत जिन बुद्धिमानों का प्राण सुषुम्ना में स्थिर रहता है और जब सुषुम्ना में प्रवेश करके सूर्य और चन्द्र विलीन हो गए हों। तब जो मनुष्य समरस (चिद्घन) भाव को जान लेता है, वह यथार्थ योग को जानने वाला है। तब ऐसे मनुष्य के मन का वेग सुषुम्ना में मर जाता है।

सुषुम्नायां यदा योगी क्षणैकमपि तिष्ठति ।
सुषुम्नायां यदा योगी क्षणार्धमधितिष्ठति ॥38॥
सुषुम्नायां यदा योगी सुलग्नो लवणाम्बुवत् ।
सुषुम्नायां यदा योगी लीयते क्षीरनीरवत् ॥39॥
भिद्यते च तदा ग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः ।
क्षीयन्ते परमाकाशे ते यान्ति परमां गतिम् ॥40॥

योगी सुषुम्ना में एक क्षणभर भी रहता है, योगी सुषुम्ना में आधा क्षण भी यदि रहता है और योगी सुषुम्ना में पानी में नमक की तरह अच्छी तरह से संलग्न होकर रहे, तो उन सभी कालों में वह दूध में पानी की तरह मिला ही रहता है। उस समय उसकी जीव (इसके भेद) की ग्रन्थि टूट जाती है, उसके सभी संशय कट जाते हैं, परमाकाश में वे सब क्षीण हो जाते हैं। ऐसे योगी परमगति को प्राप्त करते हैं।

गङ्गायां सागरे स्नात्वा नत्वा च मणिकर्णिकाम् ।
मध्यनाडीविचारस्य कलां नार्हन्ति षोडशीम् ॥41॥
श्रीशैलदर्शनान्मुक्तिर्वाराणस्यां मृतस्य च ।
केदारोदकपानेन मध्यनाडीप्रदर्शनात् ॥42॥
अश्वमेधसहस्राणि वाजपेयशतानि च ।
सुषुम्नाध्यानयोगस्य कलां नार्हन्ति षोडशीम् ॥43॥
सुषुम्नायां यदा गोष्ठीं यः कश्चित् कुरुते नरः ।
स मुक्तः सर्वपापेभ्यो निःश्रेयसमवाप्नुयात् ॥44॥

गंगा में और सागर में स्नान किया जाए, और मणिकर्णिका पर स्नान और नमन किया जाए, तो भी वह इस मध्यमनाड़ी सुषुम्ना के चिन्तन की सोलहवीं कला जितना भी पुण्यप्रद नहीं होता। श्रीशैल के दर्शन से मुक्ति मिलती है, काशी में मरण से मुक्ति मिलती है, केदार के जल के पीने से भी मुक्ति मिलती है और मध्यमनाड़ी (सुषुम्ना) के दर्शन से भी वैसी ही मुक्ति मिल जाती है। हजारों अश्वमेध यज्ञ किए जाएँ, सैंकड़ों वाजपेय यज्ञ किए जाएँ, लेकिन वे सब सुषुम्ना के ध्यान की सोलहवीं कला जैसे भी स्वल्पांश में भी योग्य नहीं ठहर सकते। जो कोई भी मनुष्य सदैव सुषुम्ना के विषय में विचार-विमर्श करता रहता है, वह सभी पापों से मुक्त हो जाता है और निःश्रेयस की प्राप्ति कर लेता है।

सुषुम्नैव परं तीर्थं सुषुम्नैव परो जपः ।
सुषुम्नैव परं ध्यानं सुषुम्नैव परा गतिः ॥45॥
अनेकयज्ञदानानि व्रतानि नियमानि च ।
सुषुम्नाध्यानलेशस्य कलां नार्हन्ति षोडशीम् ॥46॥

सुषुम्ना ही परम तीर्थ है, सुषुम्ना ही परम जप है, सुषुम्ना ही परम ध्यान है, सुषुम्ना ही परम गति है। अनेक यज्ञ, दान, व्रत, नियम, ये सब सुषुम्ना के थोड़े से ध्यान की भी सोलहवीं कला (सोलहवें भाग) के बराबर नहीं हो सकते।

ब्रह्मरन्ध्रे महास्थाने वर्तते सततं शिवा ।
चिच्छक्तिः परमा देवी मध्यमे सुप्रतिष्ठिता ॥47॥

मायाशक्तिर्ललाटाग्रभागे व्योमाम्बुजे तथा ।
नादरूपा परा शक्तिर्ललाटस्य तु मध्यमे ॥48॥
भागे बिन्दुमयी शक्तिर्ललाटस्यापरांशके ।
बिन्दुमध्ये च जीवात्मा सूक्ष्मरूपेण वर्तते ॥49॥
हृदये स्थूलरूपेण मध्यमे न तु मध्यमे ॥50॥

ब्रह्मरन्ध्र के बड़े स्थान में सदैव चिति शक्ति रहती है। वह मंगलकारिणी देवी मध्यनाड़ी में सुषुम्ना में सुप्रतिष्ठित होती है। जो माया शक्ति है, वह ललाट के आगे के भाग में है। और आकाश (हृदयाकाश) के कमल में नादरूप पराशक्ति है, तथा ललाट के बीच के भाग में बिन्दुमयी शक्ति अवस्थित हैं और ललाट के ऊपर भाग में बिन्दु के बीच स्थूल रूप में जीवात्मा रहता है। वह जीव मध्यम हृदय में रहता है पर वह भौंहों के मध्य में सरकता नहीं है।

प्राणापानवशो जीवो ह्यधश्चोर्ध्वं च धावति ।
वामदक्षिणमार्गेण चञ्चलत्वान्न दृश्यते ॥51॥
आक्षिप्तो भुजदण्डेन यथोच्चलति कन्दुकः ।
प्राणापानसमाक्षिप्तस्तथा जीवो न विश्रमेत् ॥52॥
अपानः कर्षति प्राणं प्राणोऽपानं च कर्षति ।
हकारेण बहिर्याति सकारेण विशेत् पुनः ॥53॥
हंसहंसेत्यमुं मन्त्रं जीवो जपति सर्वदा ।
तद्विद्वानक्षरं नित्यं यो जानाति स योगवित् ॥54॥

जीव प्राण और अपान के वश में आकर ऊपर और नीचे बाँए और दाँयें मार्ग पर दौड़ता ही रहता है, पर वह चंचल होने से देखा नहीं जा सकता। जिस तरह हाथ से उछाली गई गेंद एकदम उछलती है, उसी प्रकार प्राण और अपान से फेंका गया यह जीव कभी भी आराम प्राप्त नहीं करता। अपान प्राण को खींचता रहता है और प्राण अपान को खींचता रहता है। हकार से प्राण बाहर निकलता है और सकार से फिर भीतर प्रवेश करता है। इस प्रकार जीव 'हंस हंस'—ऐसा मंत्र जपता रहता है। इस अक्षर को जो विद्वान् जानता है, वह नित्य योगविद् ही है।

कन्दोर्ध्वे कुण्डली शक्तिर्मुक्तिरूपाथ योगिनाम् ।
बन्धनाय च मूढानां यस्तां वेत्ति स योगवित् ॥55॥

जब यह कुण्डली अपने स्थान (कन्द) से ऊपर जाती है, तब यह कुण्डलिनी शक्ति योगियों के लिए मुक्तिरूप होती है। और अपने स्थान को नहीं छोड़ने वाली यह मूढ़ों की कुण्डलिनी बन्धन-कारक ही होती है, ऐसा जो जानता है, वह योगवित् कहा जाता है।

भूर्भुवःस्वरिमे लोकाश्चन्द्रसूर्याग्निदेवताः ।
यासु मात्रासु तिष्ठन्ति तत् परं ज्योतिरोमिति ॥56॥
त्रयः कालास्त्रयोः देवास्त्रयो लोकास्त्रयः स्वराः ।
त्रयो वेदाः स्थिता यत्र तत् परं ज्योतिरोमिति ॥57॥

भूः, भुवः और स्वः—ये तीन लोक हैं और चन्द्र, सूर्य और अग्नि उनके देवता हैं। और ये सब जिन मात्राओं में रहते हैं, उन मात्राओं से युक्त परम ज्योति 'ओम्' है। तीन काल हैं, तीन देव

हैं, तीन लोक हैं, तीन स्वर हैं, तीन वेद हैं—ये सब जिसमें रहते हैं, वह परम ज्योतिस्वरूप 'ओम्' है।

चित्ते चलति संसारो निश्चलं मोक्ष उच्यते ।
तस्माच्चित्तं स्थिरीकुर्यात् प्रज्ञया परया विधे ॥58॥
चित्तं कारणमर्थानां तस्मिन् सति जगत्त्रयम् ।
तस्मिन् क्षीणे जगत् क्षीणं तच्चिकित्स्यं प्रयत्नतः ॥59॥

जब चित्त चलता रहता है, तभी संसार होता है, और जब चित्त निश्चल हो जाता है, तब मोक्ष होता है। हे विधि ! इसलिए बड़ी तीक्ष्ण (परम) बुद्धि से चित्त को वश में लाना चाहिए। सभी विषयों का कारण चित्त ही है। यह चित्त है इसीलिए तो ये तीन लोक (जगत्) हैं। चित्त के क्षीण हो जाने से सारा जगत् क्षीण हो जाता है, इस बात का प्रयत्नपूर्वक विचार करते रहना चाहिए।

मनोऽहं गगनाकारं मनोऽहं सर्वतोमुखम् ।
मनोऽहं सर्वमात्मा च न मनः केवलः परः ॥60॥
मनः कर्माणि जायन्ते मनो लिप्यति पातकैः ।
मनश्चेदुन्मनीभूयान्न पुण्यं न च पातकम् ॥61॥
मनसा मन आलोक्य वृत्तिशून्यं यदा भवेत् ।
ततः परं परब्रह्म दृश्यते च सुदुर्लभम् ॥62॥
मनसा मन आलोक्य मुक्तो भवति योगवित् ।
मनसा मन आलोक्य उन्मन्यन्तं सदा स्मरेत् ॥63॥

मैं तो गगनाकार व्यापक मन हूँ, मैं तो चारों ओर मुखवाला मन हूँ, मैं तो सर्वरूप मन हूँ, यह मन नहीं, केवल एक परम पुरुष ही है, वह मैं हूँ। जो कर्म उत्पन्न होते हैं, वह मन ही है, जो पापों से लिप्त होता है, वह मन ही है। वह मन यदि 'उन्मन' हो जाए (मनरहित हो जाए) तो फिर न कोई पुण्य है, न कोई पाप ही है। जब मनुष्य मन से ही मन को देखकर मन को वृत्तियों से शून्य बना देता है, तब वह परम दुर्लभ परब्रह्म दिखाई देता है। योग को जानने वाला साधक मन को मन से ही देखकर मुक्त हो जाता है। मन से मन को जहाँ तक उन्मनीभाव हो वहाँ तक हमेशा देखते रहना चाहिए, स्मरण (चिन्तन) करते रहना चाहिए।

मनसा मन आलोक्य योगनिष्ठः सदा भवेत् ।
मनसा मन आलोक्य दृश्यन्ते प्रत्यया दश ॥64॥
यदा प्रत्यया दृश्यन्ते तदा योगीश्वरो भवेत् ॥65॥
बिन्दुनादकलाज्योतिरबिन्दुर्ध्रुवतारकम् ।
शान्तं च तदतीतं च परं ब्रह्म तदुच्यते ॥66॥

मन से मन का अवलोकन करते हुए हमेशा योगनिष्ठ रहना चाहिए। मन को मन से देखते हुए दश प्रत्यय जब एक दिखाई देते हैं, जब ऐसा प्रत्यय दीख पड़ता है, तब साधक योगीश्वर हो जाता है। बिन्दु, नाद, कला, ज्योति, रवि, इन्दु, ध्रुव, तारक और शान्ततत्त्व—जो उन सबसे अतीत है वह परब्रह्म कहा जाता है। अपने अज्ञान की दृष्टि में जो ये दस प्रत्यय पहले थे वह परब्रह्म ही है, ऐसा प्रत्यय जब होता है, तब ब्रह्मसाक्षात्कार होता है, यह यहाँ तात्पर्य है।

हसत्युल्लसति प्रीत्या क्रीडते मोदते तदा ।
तनोति जीवनं बुद्ध्या बिभेति सर्वतो भयात् ॥67॥
रोधते बुध्यते शोके मुह्यते नवसम्पदा ।
कम्पते शत्रुकार्येषु कामेन रमते हसन् ॥68॥
स्मृत्वा कामरतं चित्तं विजानीयात् कलेवरे ।
यत्र देशे वसेद्वायुश्चित्तं तद्वसते ध्रुवम् ॥69॥
मनश्चन्द्रो रविर्वायुर्दृष्टिरग्निरुदाहृतः ।
बिन्दुनादकला ब्रह्मन् विष्णुब्रह्मेशदेवताः ॥70॥

प्राण और चित्त के अनिवार्य साहचर्य से मनुष्य हँसता है, उल्लसित होता है, प्रेम से खेलता है, आनन्द करता है, बुद्धि से जीवन को आगे बढ़ाता है, चारों ओर भय से डरता रहता है, शोक से रुकता है, नवीन संपदा से और शोक से मोहित होता है, शत्रुओं के कार्यों में काँपता है, कामना में हँसता हुआ रमण करता है, शरीर में कामना में रत इस चित्त को स्मृति से जान लेना चाहिए, कि जिस प्रदेश में वायु बसता है, उसी प्रदेश में चित्त भी अवश्य ही बसता है। मन चन्द्र है, वायु सूर्य है, और दृष्टि अग्नि है, ऐसा कहा गया है। हे ब्रह्माजी ! इसी प्रकार बिन्दु, नाद और कला भी क्रमशः ब्रह्मा, विष्णु और महेश देवता ही हैं।

सदा नादानुसन्धानात् संक्षीणा वासना भवेत् ।
निरञ्जने विलीयेत मरुन्मनसि पद्मज ॥71॥
यो वै नादः स वै बिन्दुस्तद्वै चित्तं प्रकीर्तितम् ।
नादो बिन्दुश्च चित्तं च त्रिभिरैक्यं प्रसाधयेत् ॥72॥
मन एव हि बिन्दुश्च उत्पत्तिस्थितिकारणम् ।
मनसोत्पद्यते बिन्दुर्यथा क्षीरं घृतात्मकम् ॥73॥

सदैव नादानुसन्धान करते रहने से वासना एकदम क्षीण हो जाती है। हे ब्रह्माजी ! तब निरंजन (निष्कलंक) मन में वायु विलीन हो जाता है। जो नाद है वही बिन्दु है और वही चित्त है। नाद, बिन्दु और चित्त—इन तीनों का ऐक्य साधना चाहिए। और मन ही बिन्दु है, वह उत्पत्ति और स्थिति का कारण है। मन से ही बिन्दु की उत्पत्ति होती है। जैसे दूध घृतमय (घृत का कारण) है, वैसे ही मन बिन्दु का कारण है।

षट् चक्राणि परिज्ञात्वा प्रविशेत् सुखमण्डलम् ।
प्रविशेद्वायुमाकृष्य तथैवोर्ध्वं नियोजयेत् ॥74॥
वायुं बिन्दुं तथा चक्रं चित्तं चैव समभ्यसेत् ।
समाधिनैकेन सममृतं यान्ति योगिनः ॥75॥

छः चक्रों को जानकर (भेदकर) सुख मण्डल में (मनोविलय) में प्रवेश करना चाहिए। इसके लिए वायु को भीतर खींचकर उसका ऊपर के प्रदेश में विनियोजन करना चाहिए। वायु, बिन्दु, चक्र और चित्त का अच्छी तरह अभ्यास करना चाहिए। ऐसा करके योगी लोग एक ही समाधि के द्वारा समरूप अमृत को प्राप्त करके कृतकृत्य हो जाते हैं।

यथाग्निर्दारुमध्यस्थो नोत्तिष्ठेन्मथनं विना ।
विना चाभ्यासयोगेन ज्ञानदीपस्तथा न हि ॥76॥

घटमध्ये यथा दीपो बाह्ये नैव प्रकाशते ।
भिन्ने तस्मिन् घटे चैव दीपज्वालावभासते ॥77॥
स्वकायं घटमित्युक्तं यथा जीवो हि तत्पदम् ।
गुरुवाक्यसमं भिन्ने ब्रह्मज्ञानं प्रकाशते ॥78॥
कर्णधारं गुरुं प्राप्य तद्वाक्यं प्लववद्दृढम् ।
अभ्यासवासनाशक्त्या तरन्ति भवसागरम् ॥79॥ इत्युपनिषत् ।

इति षष्ठोऽध्यायः ।

इति योगशिखोपनिषत्समाप्ता ।

जिस तरह काष्ठ में रहने वाला अग्नि मन्थन के बिना प्रकट नहीं होता, इसी प्रकार अभ्यासरूपी योग के बिना ज्ञानरूपी दीपक प्रज्वलित नहीं हो सकता। जिस तरह घड़े के बीच में रखा गया दीपक घट से बाहर प्रकाश नहीं देता और उसी घड़े को फोड़ देने से दीप की ज्वाला दिखाई पड़ती है उसी प्रकार हमारा शरीर घड़े जैसा कहा गया है और जीव ही तत्पद है और गुरुवाक्य के समान भेदन से ही वह ब्रह्म (जो जीवरूप में पहले प्रकाशित नहीं था वही) प्रकाशित हो उठता है। इसलिए कर्णधार-रूप गुरु के पास जाकर उनके वाक्यरूपी नाव में अभ्यास के संस्कारों से युक्त होकर शिष्य लोग इस भवसागर को पार कर जाते हैं।

यहाँ छठा अध्याय पूरा हुआ होता है।

इस प्रकार योगशिखोपनिषत् समाप्त होती है।

शान्तिपाठः

ॐ सह नाववतु । सह नौ——मा विद्विषावहै । (पूर्ववत्)
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

❋

(66) तुर्यातीतावधूतोपनिषत्

(उपनिषत्परिचय)

शुक्लयजुर्वेदीय इस उपनिषद् में केवल एक बड़ी कण्डिका में आदिनारायण और ब्रह्माजी के संवाद के रूप में तुर्यातीत-अवधूत का आचारविचार, वर्तन आदि बताया है। इस उपनिषत् को 'तुर्यातीतोपनिषत्' भी कहते हैं। आदिनारायण के बताए हुए इस मार्ग पर चलकर व्यक्ति अपने जीवन का परमलक्ष्य (मोक्ष) प्राप्त कर सकता है। उपनिषत् के अन्त में इस उपनिषत् की महत्ता का कथन है।

शान्तिपाठः

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं—पूर्णमेवावशिष्यते। (पूर्ववत्)

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः॥

इसका हिन्दी रूपान्तर पूर्व में (पैंगलोपनिषद् में) द्रष्टव्य है।

अथ तुरीयातीतावधूतानां कोऽयं मार्गस्तेषां का स्थितिरिति सर्वलोक-पितामहो भगवन्तं पितरमादिनारायणं परिसमेत्योवाच। तमाह भगवान् नारायणः। योऽयमवधूतमार्गस्थो लोके दुर्लभतरो न तु बाहुल्यो यद्येको भवति स एव नित्यपूतः, स एव वैराग्यमूर्तिः, स एव ज्ञानाकारः, स एव वेदपुरुष इति ज्ञानिनो मन्यन्ते। महापुरुषो यस्तच्चित्तं मय्येवावतिष्ठते। अहं च तस्मिन्नेवावस्थितः। सोऽयमादौ तावत् क्रमेण कुटीचको बहूद-कत्वं प्राप्य, बहूदको हंसत्वमवलम्ब्य, हंसः परमहंसो भूत्वा, स्वरूपानु-सन्धानेन सर्वप्रपञ्चं विदित्वा, दण्डकमण्डलुकटिसूत्रकौपीनाच्छादनं स्वविध्युक्तक्रियादिकं सर्वमप्सु संन्यस्य, दिगम्बरो भूत्वा, विवर्णजीर्ण-वल्कलाजिनपरिग्रहमपि सन्त्यज्य, तदूर्ध्वममन्त्रवदाचरन्, क्षौराभ्यङ्ग-स्नानोर्ध्वपुण्ड्रादिकं विहाय, लौकिकवैदिकमप्युपसंहृत्य, सर्वत्र पुण्या-पुण्यवर्जितो ज्ञानाज्ञानमपि विहाय, शीतोष्णसुखदुःखमानावमानं निर्जित्य, वासनात्रयपूर्वकं निन्दाऽनिन्दागर्वमत्सरदम्भदर्पेच्छाद्वेषकाम-क्रोधलोभमोहहर्षामर्षासूयात्मसंरक्षणादिकं दग्ध्वा, स्ववपुः कुणपा-कारमिव पश्यन्, अयत्नेनानियमेन लाभालाभौ समौ कृत्वा, गोवृत्त्या प्राणसन्धारणं कुर्वन् यत् प्राप्तं तेनैव निर्लोलुपः, सर्वविद्यापाण्डित्य-प्रपञ्चं भस्मीकृत्य, स्वरूपं गोपयित्वा, ज्येष्ठाज्येष्ठत्वानपलापकः, सर्वोत्कृष्टत्वसर्वात्मकत्वाद्वैतं कल्पयित्वा, मत्तो व्यतिरिक्तः कश्चिन्ना-न्योऽस्तीति भावयन्, देवगुह्यादिधनमात्मन्युपसंहृत्य, दुःखेन नोद्विग्नः, सुखेन नानुमोदकः, रागे निःस्पृहः, सर्वत्रशुभाशुभयोरनभिस्नेहः,

सर्वेन्द्रियोपरमः, स्वपूर्वापन्नाश्रमाचारविद्याधर्मप्राभवमननुस्मरन्, त्यक्त-वर्णाश्रमाचारः, सर्वदा दिवानक्तसमत्वेनास्वप्नः, सर्वत्र सर्वदा संचार-शीलः, देहमात्रावशिष्टः, जलस्थलकमण्डलुः, सर्वदानुन्मत्तो बालोन्मत्त-पिशाचवदेकाकी संचरन्, असंभाषणपरः स्वरूपध्यानेन निरालम्बम-वलम्ब्य, स्वात्मनिष्ठानुकूल्येन सर्वं विस्मृत्य, तुरीयातीतोऽवधूतवेषेणा-द्वैतनिष्ठापरः, प्रणवात्मकत्वेन देहत्यागं करोति यः सोऽवधूतः स कृतकृत्यो भवतीत्युपनिषत्॥1॥

इति तुर्यातीतावधूतोपनित्समाप्ता।
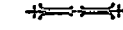
सर्वलोक के पितामह ब्रह्मा जी ने भगवान् आदिनारायण पिता के पास जाकर पूछा कि—"तुरीयातीत अवधूतों का यह कौन-सा मार्ग है और उनकी स्थिति कैसी होती है?" तब भगवान् नारायण ने कहा कि—जो यह अवधूत के मार्ग में रहता है, वह तो इस लोक में दुर्लभ है, उन (अवधूतों) का बाहुल्य नहीं होता। और यदि एकाध कहीं मिलता है, तो वह तो सदैव पवित्र होता है, वही वैराग्यमूर्ति होता है, वही ज्ञानस्वरूप होता है, वही देवपुरुष होता है, ऐसा ज्ञानी लोग मानते हैं। वह महापुरुष होता है, उसका चित्त मुझमें ही रहता है और मैं भी तो उसी में रहा हुआ हूँ। वह यह पहले तो कुटीचक होता है, उसमें से बहूदकत्व प्राप्त करके और बहूदक होकर हंसत्व को प्राप्त करके और हंस से फिर परमहंस होकर के स्वरूपानुसन्धान से इस सभी जगत् को जानकर दण्ड, कमण्डलु, कटिमेखला, कौपीन, आच्छादनवस्त्र और अपनी विधि की (योग्य) क्रिया आदि का सबका पानी में संन्यास (त्याग) करके दिगम्बर (निर्वस्त्र) होकर, रंगहीन, पुराने फटे-फूटे वल्कल, चर्म, आदि के परिग्रह को भी छोड़कर इसके बाद मंत्ररहित की तरह आचरण करता हुआ, क्षौर, अभ्यंग, स्नान, ऊर्ध्वपुण्ड्र आदि को छोड़कर, लौकिक-वैदिक सब कुछ समेटकर पुण्य-अपुण्य से रहित और सर्वत्र ज्ञान-अज्ञान को भी छोड़कर, शीत, उष्ण, सुख, दुःख, मान, अपमान आदि पर विजय प्राप्त करके, तीनों वासनाओं के साथ निन्दा, अनिन्दा, गर्व, मत्सर, दम्भ, द्वेष, काम, क्रोध, लोभ, मोह, अमर्ष, असूया, आत्मरक्षण आदि को जलाकर अपने शरीर को मुर्दे की तरह मानते हुए प्रयत्न और नियम के बिना लाभ और अलाभ को समान बनाकर, गोवृत्ति से (जो कुछ मिल जाए उसी से) ही प्राणों को टिकाए रखकर निर्लोलुप होकर, सर्वविद्या और पाण्डित्य के प्रपंच को भस्म करके, अपने वास्तविक स्वरूप को छिपाकर, पहले के छोटे-बड़े के भाव को दिखावे को दूर न करते हुए अपने में ही सर्वोत्कृष्टता और सर्वात्मकत्वरूप अद्वैत की कल्पना (भावना) करके 'मेरे सिवा अन्य कोई है ही नहीं'—ऐसा मानते हुए वह देव, गुरु आदि को अपने ही भीतर समेटकर दुःख में खिन्न नहीं होता और सुख में प्रसन्न भी नहीं होता। वह कहीं राग-आसक्ति नहीं करता। वह सभी जगह (शुभ और अशुभ में) स्नेह नहीं रखता। वही सभी इन्द्रियों के उपरम वाला (संयम वाला) होता है। वह अपने पूर्व के आश्रम, धर्म, विद्या, प्रभाव आदि का स्मरण नहीं करता और वर्णाश्रम के आचारों का परित्याग कर देता है। वह रात और दिन को समान मानता है। अतः बिना निद्रा के सदा सर्वत्र भ्रमण करता रहता है। वह शरीरमात्र से ही यहाँ अवशिष्ट है। शेष वास्तव में तो वह ब्रह्मरूप ही हो गया हुआ है। जलाशय

ही उसका कमण्डलु होता है। यों भीतर तो वह सदा अनुन्मत्त ही रहता है, परन्तु, बाहर से वह बालक, उन्मत्त और पिशाच की तरह अकेला ही घूमता रहता है। वह किसी से कुछ भी बोलता नहीं है। अपने स्वरूप के ध्यान में वह निरालम्ब (परब्रह्म) का अवलम्बन करके अपनी आत्मनिष्ठा के योग्य ही शेष का सब कुछ भूलकर जो तुरीयातीत अवधूत का वेश धारण करके सतत अद्वैत निष्ठापरायण रहता है। और प्रणवभाव में निमज्जन करता हुआ अपने देह का त्याग करता है और कृतकृत्य हो जाता है। यही इस उपनिषत् का प्रतिपादन है।

इस प्रकार तुर्यातीतावधूतोपनिषत् समाप्त होती है।

शान्तिपाठः

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं—पूर्णमेवावशिष्यते। (पूर्ववत्)
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

❊

(67) संन्यासोपनिषत्

(उपनिषत्परिचय)

यह सामवेदीय उपनिषद् दो अध्यायों में बँटी हुई है। प्रथम अध्याय में संन्यास का स्वरूप और उसकी ग्रहण-पद्धति तथा आचार आदि का विशद विवरण है। दूसरा अध्याय बहुत बड़ा है जिसमें साधनचतुष्टय से लेकर संन्यासाधिकार का विशद वर्णन है। इसमें संन्यासी के चार प्रकार बताए हैं—1. वैराग्य संन्यासी, 2. ज्ञान संन्यासी, 3. ज्ञान-वैराग्य संन्यासी और 4. कर्म संन्यासी। और आगे चलकर छः प्रकार के संन्यासियों का क्रम बताया गया है। ये हैं—कुटीचक, बहूदक, हंस, परमहंस, तुरीयातीत और अवधूत। इसी के अनुपात में उपनिषत्कार ने आत्मज्ञान की स्थिति और स्वरूप भी बताया है। संन्यासी के आचरण एवं यदृच्छया प्राप्त भोजन में परितोष आदि का भी कथन किया गया है। आत्मचिन्तन, प्रणवजप आदि से युक्त मनुष्य को मोक्ष का अधिकारी कहा गया है।

शान्तिपाठः

ॐ आप्यायन्तु ममाङ्गानि—ते मयि सन्तु। (पूर्ववत्)
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

इसका हिन्दी रूपान्तर पूर्व में (महोपनिषद् में) द्रष्टव्य है।

प्रथमोऽध्यायः

हरि ॐ अथातः संन्यासोपनिषदं व्याख्यास्यामः। योऽनुक्रमेण संन्यस्यति स संन्यस्तो भवति। कोऽयं संन्यास उच्यते? कथं संन्यस्तो भवति? य आत्मानं क्रियाभिर्गुप्तं करोति मातरं पितरं भार्यां पुत्रान् बन्धूननुमोदयित्वा ये चास्यर्त्विजस्तान् सर्वांश्च पूर्ववद्वृणीत्वा वैश्वानरेष्टिं निर्वपेत्। सर्वस्वं दद्यात् यजमानस्य। गा ऋत्विजः। सर्वैः पात्रैः समारोप्य यदाहवनीये गार्हपत्ये वान्वाहार्यपचने सभ्यावसथ्ययोश्च प्राणापानव्यानोदानसमानान् सर्वान् सर्वेषु समारोपयेत्। सशिखान् केशान् विसृज्य यज्ञोपवीतं छित्त्वा पुत्रं दृष्ट्वा, त्वं यज्ञस्त्वं सर्वमित्यनुमन्त्रयेत्। यद्यपुत्रो भवत्यात्मानमेवेमं ध्यात्वाऽनवेक्षमाणः प्राचीमुदीचीं वा दिशं प्रव्रजेत्। चतुर्षु वर्णेषु भैक्षचर्यं चरेत्। पाणिपात्रेणाशनं कुर्यादौषधवदशनमाचरेदौषधवदशनं प्राश्नीयाद्यथालाभमश्नीयात् प्राणसंधारणार्थं यथा मेदोवृद्धिर्न जायते। कृशो भूत्वा ग्राम एकरात्रम्, नगरे पञ्चरात्रम्, चतुरो मासान् वार्षिकान् ग्रामे वा नगरे वापि वसेत्। पक्षा वै मासो इति द्वौ मासौ वा वसेत्। विशीर्णवस्त्रं वल्कलं वा

प्रतिगृह्णीयात्, नान्यत् प्रतिगृह्णीयात्, यद्यशक्तो भवति क्लेशतस्तप्यते तप इति। यो वा एवं क्रमेण संन्यस्यति, यो वा एवं पश्यति, किमस्य यज्ञोपवीतं कास्य शिखा कथं वास्योपस्पर्शनमिति। तं होवाच। इदमेवास्य यज्ञोपवीतं यदात्मध्यानम्, या विद्या सा शिखा, नीरैः सर्वत्रावस्थितैः कार्यं निर्वर्तयन्नुदरपात्रेण। जलतीरे निकेतनम्। ब्रह्मवादिनो वदन्त्यस्तमित आदित्ये कथं चास्योपस्पर्शनमिति। तान् होवाच यथाहानि तथा रात्रौ नास्य नक्तं न दिवा। तदप्येतदृषिणोक्तम्। सकृद्दिवा हैवास्मै भवतीति। य एवं विद्वानेतेनात्मानं सन्धत्ते ॥1॥

इति प्रथमोऽध्यायः।

अब हम संन्यासोपनिषद् की व्याख्या कर रहे हैं। जो मनुष्य क्रमानुसार जगत् का त्याग करता है, वह संन्यासी होता है। यह संन्यास क्या है ? संन्यास कैसे होता है ? जो आत्मोन्नति के लिए माता-पिता, पत्नी-पुत्र, तथा भाई की अनुमति लेकर पूर्वोक्त क्रियाओं को छोड़ देता है, जो नित्य के नियमानुसार ऋत्विजों को मान-सम्मान देते हुए वैश्वानरयाग करता हो, उसे इस पावन प्रसंग पर सब कुछ का दान कर देना चाहिए। और ऋत्विज को पात्रों के साथ उस सभी सामग्री का होम कर देना चाहिए। संन्यासी को चाहिए कि वह आहवनीय, गार्हपत्य और दक्षिणाग्नि—तीनों अग्नियों तथा सभ्य और आवसथ्य अग्नि को प्राण, अपान, व्यान, उदान और समान—इन पाँचों वायुओं में आरोपित कर दे। उसे शिखासहित केशों का मुण्डन करा देना चाहिए। उपवीत को छोड़ देना चाहिए। पुत्र को देखकर कहना चाहिए कि 'तुम यज्ञरूप हो, तुम सर्वस्वरूप हो।' यदि पुत्र न हो तो उसे अपनी आत्मा को ही ऐसा उपदेश देकर पूर्व या उत्तर दिशा में चला जाना चाहिए। चारों वर्णों से भिक्षा स्वीकार करनी चाहिए। भोजन को औषधि मानना चाहिए। हाथ को ही पात्र बनाकर उसमें खाना चाहिए। जितना मिले उतना ही खाना चाहिए। केवल प्राणधारण की दृष्टि से ही खाना चाहिए, कि जिससे चर्बी न बढ़े। दुबले-पतले शरीर वाले रहकर उसे गाँव में एक रात, नगर में पाँच रात रहना चाहिए। चातुर्मास में एक ही गाँव या नगर में रुक जाना चाहिए। अथवा तो पखवारे को ही मास मानकर दो महीनों तक ठहर जाना चाहिए। फटे-पुराने वस्त्रों को या वल्कल को ही धारण करना चाहिए। अन्य वस्त्र नहीं रखना चाहिए। अशक्त होकर भी इसे सहना तप कहा जाता है। जो इस प्रकार क्रम से संन्यासी होता है उसके लिए तो क्या यज्ञोपवीत ? क्या शिखा ? कैसा आचमन ? इन प्रश्नों के उत्तर ये हैं कि आत्मध्यान ही संन्यासी का यज्ञोपवीत है, विद्या ही उसकी शिखा (चोटी) है, सभी जगह में प्राप्त जल के लिए पेट ही उस संन्यासी का पात्र है तथा जलाशय का तट ही उसका आश्रयस्थान होता है। ब्रह्मवादी लोग कहते हैं, कि उसके लिए सूर्य का अस्ताचल की ओर गमन करने पर आचमन किस तरह होता है ? तो इसका उत्तर यह है कि इस प्रकार के संन्यासी के लिए रात और दिन एक समान ही होते हैं। उसके लिए न रात होती है न दिन होता है। जो संन्यासी (अथवा साधक भी) सतत अपने आत्मानुसन्धान में ही लगा रहता है उसके लिए सदैव दिन ही है, ऐसा ऋषि ने कहा है।

यहाँ प्रथम अध्याय पूरा हुआ।

❋

द्वितीयोऽध्यायः

चत्वारिंशत्संस्कारसंपन्नः सर्वतो विरक्तश्चित्तशुद्धिमेत्याशासूयेर्ष्याहङ्कारं दग्ध्वा साधनचतुष्टयसम्पन्न एव संन्यस्तुमर्हति ॥1॥

चालीस संस्कारों से युक्त, सभी तरह (पूर्णरूप) से विरक्त, चित्तशुद्धि को प्राप्त करके आशा, असूया, ईर्ष्या और अहंकार को जलाकर चार साधनों (विवेक, वैराग्य, षट्सम्पत्ति और मुमुक्षुत्व) से युक्त होकर मनुष्य संन्यास का अधिकारी बन सकता है।

संन्यासे निश्चयं कृत्वा पुनर्न च करोति यः।
स कुर्यात् कृच्छ्रमात्रं तु पुनः संन्यस्तुमर्हति ॥2॥
संन्यासं पातयेद्यस्तु पतितं न्यासयेत्तु यः।
संन्यासविघ्नकर्ता च त्रीनेतान् पतितान् विदुः ॥3॥

जो साधक संन्यास लेने का एक बार निश्चय करके फिर संन्यास नहीं लेता, वह बड़े-बड़े तपव्रत करके ही बाद में संन्यास लेने योग्य बनता है। जो संन्यासी अपने पतन से संन्यास का पतन कर डालता है (संन्यास को लज्जास्पद बनाता है) और जो ऐसे पतित गिरे हुए को संन्यास की दीक्षा देता है, वह अथवा जो संन्यासधर्मग्रहण में बाधा डालता है वह—ये तीनों बड़े पापी समझे जाते हैं।

अथ षण्डः पतितोऽङ्गविकलः स्त्रैणो बधिरोऽर्भको मूकः पाषण्डश्चक्री लिङ्गी कुष्ठी वैखानसहरद्विजौ भृतकाध्यापकः शिपिविष्टोऽनग्निको नास्तिको वैराग्यवन्तोऽप्येते न संन्यासार्हाः। संन्यस्ता यद्यपि महावाक्योपदेशे नाधिकारिणः ॥4॥

नपुंसक, पतित, विकलांग, स्त्री जैसे स्वभाववाला, बधिर, बालक, बकवास करने वाला, पाखण्डी, कुचक्र (कौभाण्ड) करने वाला, कोढ़ी, वैखानस और भ्रष्ट ब्राह्मण, वेतनभोगी अध्यापक, अजितेन्द्रिय, अग्निहोत्र से वंचित और नास्तिक—ये लोग विरक्त हो गए हों, तो भी संन्यास दीक्षा के लिए योग्य नहीं हैं। यदि उन्हें संन्यास कदाचित् दिया भी जाए, तो भी वे महावाक्यों के उपदेश के लिए तो अधिकारी हैं ही नहीं।

आरूढपतितापत्यं कुनखी श्यावदन्तकः।
क्षयी तथाङ्गविकलो नैव संन्यस्तुमर्हति ॥5॥
संप्रत्यवसितानां च महापातकिनां तथा।
व्रात्यानामभिशस्तानां संन्यासं नैव कारयेत् ॥6॥
व्रतयज्ञतपोदानहोमस्वाध्यायवर्जितम्।
सत्यशौचपरिभ्रष्टं संन्यासं नैव कारयेत्।
एते नार्हन्ति संन्यासमातुरेण विना क्रमम् ॥7॥

आरूढ़ होकर पतित हुए मनुष्य की सन्तान, निकृष्ट नख से युक्त, मैले दुर्गन्धी दाँत वाले, क्षयरोगी, विकलांग, आदि लोग संन्यास धर्म की दीक्षा लेने योग्य नहीं हैं। जो मनुष्य व्रत, यज्ञ, तप, दान, होम और स्वाध्याय से रहित हैं, सत्य और पवित्रता से रहित हैं, ऐसे मनुष्यों को संन्यास की दीक्षा नहीं देनी चाहिए। परन्तु ऐसे लोग यदि चाहें तो आतुर संन्यासी हो सकते हैं, परन्तु संन्यास के नियमानुसार तो ऐसे लोग संन्यासी नहीं हो सकते।

ॐ भूः स्वाहेति शिखामुत्पाट्य यज्ञोपवीतं बहिर्न निवसेत् । यशो बलं ज्ञानं वैराग्यं मेधां प्रयच्छेति यज्ञोपवीतं छित्त्वा ॐ भूः स्वाहेत्यप्सु वस्त्रं कटिसूत्रं च विसृज्य संन्यस्तं मयेति त्रिवारमभिमन्त्रयेत् ॥8॥

'ॐ भूः स्वाहा' यह मंत्र पढ़कर शिखा (चोटी) को पहले दूर कर दे । उस समय यज्ञोपवीत को यों ही रहने दे । बाद में—'हे यज्ञ ! आप हमें यश, बल, ज्ञान, वैराग्य और मेधा दो'—ऐसा मंत्र कहकर यज्ञोपवतीत को काटकर बाद में 'ॐ भूः स्वाहा'—इस मंत्र को बोलकर वस्त्र और कटि-मेखला को पानी में विसर्जित करके 'मैंने संन्यास ले लिया' इस मंत्र का तीन बार उच्चारण करे ।

संन्यासिनं द्विजं दृष्ट्वा स्थानाच्चलति भास्करः ।
एष मे मण्डलं भित्त्वा परं ब्रह्माधिगच्छति ॥9॥
षष्टिं कुलान्यतीतानि षष्टिमागामिकानि च ।
कुलान्युद्धरते प्राज्ञः संन्यस्तमिति यो वदेत् ॥10॥
ये च संतानजा दोषा ये दोषा देहसंभवाः ।
प्रैषाग्निर्निर्दहेत् सर्वांस्तुषाग्निरिव काञ्चनम् ॥11॥
सखा मा गोपायेति दण्डं परिग्रहेत् ॥12॥

संन्यासी बने हुए द्विज को देखकर सूर्य भी अपने स्थान से चलायमान होने लगता है । क्योंकि उसे लगता है कि कहीं यह द्विज (संन्यासी) मेरे मण्डल को भेदकर ब्रह्म को प्राप्त हो जाएगा । जो ब्राह्मण संन्यासी, 'मैं संन्यासी हो गया हूँ'—ऐसा स्वीकृति-कथन करता है, वह अपने से पहले की साठ पीढ़ियों को और आने वाली साठ पीढ़ियों को भवसागर से पार करा देता है । संन्यासी के जो संततिजन्य दोष हैं और जो अपने शरीरजन्य दोष हैं, उन सभी को वह जैसे तुषों से उत्पन्न किया गया अग्नि सुवर्ण की मलिनता को दूर कर देता है, वैसे ही दूर कर देता है । और 'हे सखा ! तुम हमारी रक्षा करो'—ऐसा कहकर दण्ड को धारण करना चाहिए ।

दण्डं तु वैणवं सौम्यं सत्वचं समपर्वकम् ।
पुण्यस्थलसमुत्पन्नं नानाकल्मषशोधितम् ॥13॥
अदग्धमहतं कीटैः पर्वग्रन्थिविराजितम् ।
नासादघ्नं शिरस्तुल्यं भ्रुवोर्वा बिभृयाद्यतिः ॥14॥
दण्डात्मनोस्तु संयोगः सर्वथा तु विधीयते ।
न दण्डेन विना गच्छेदिषुक्षेपत्रयं बुधः ॥15॥

वह दण्ड उत्तम बाँस का होना चाहिए । वह सीधा, छालसहित, समसंख्यायुक्त गाँठों वाला होना चाहिए । वह किसी पवित्र स्थान में उगा होना चाहिए । उसमें किसी भी प्रकार का दाग-धब्बा आदि नहीं होना चाहिए । वह जला हुआ और कीड़ों आदि के द्वारा खाया हुआ भी नहीं होना चाहिए । वह गाँठों के साथ होना चाहिए । और लम्बाई में वह नासिका या शिखा या भौंहों तक की लम्बाई वाला होना चाहिए ।

जगज्जीवनं जीवनाधारभूतं मा ते मा मन्त्रयस्व सर्वदा सर्वसौम्येति कमण्डलुं परिगृह्य योगपट्टाभिषिक्तो भूत्वा यथासुखं विहरेत् ॥16॥

संन्यासी कमण्डलु को हाथ में लेते हुए यह (मंत्र) कहे कि—"हे सौम्य ! तुम तो जगत् के जीवन के आधारभूत जल को धारण करने वाले हो । तुम मुझसे मंत्रणा करते रहो ।" यह कहकर कमण्डलु को हाथ में लेकर योगपट्ट में सुशोभित होकर सुखानुभव करते हुए हुए यत्र-तत्र कहीं भी विहार करे ।

त्यज धर्ममधर्मं च उभे सत्यानृते त्यज ।
उभे सत्यानृते त्यक्त्वा येन त्यजसि तत् त्यज ॥17॥

संन्यासी को सभी प्रकार के धर्म और अधर्म का, सत्य और असत्य का त्याग ही कर देना चाहिए । और इसके बाद जिस मन से धर्माधर्म और सत्यासत्य का त्याग कर दिया है, उस मन का भी त्याग ही कर देना चाहिए ।

वैराग्यसंन्यासी ज्ञानसंन्यासी ज्ञानवैराग्यसंन्यासी कर्मसंन्यासी चेति चातुर्विध्यमुपागतः ॥18॥

संन्यासी के चार भेद बताए गए हैं—(1) वैराग्य संन्यासी, (2) ज्ञान संन्यासी, (3) ज्ञानवैराग्य संन्यासी और (4) कर्म संन्यासी ।

तद्यथेति । दृष्टानुश्रविकविषयवैतृष्ण्यमेत्य प्राक्पुण्यकर्मवशात् संन्यस्तः, स वैराग्यसंन्यासी ॥19॥

दृष्ट (जागतिक) और आनुश्रविक (श्रुतिकथित) विषयों में तृष्णारहित होकर तथा पूर्वजन्मों के पुण्यकर्मों के परिणामस्वरूप वैराग्य उत्पन्न होने के कारण जो मनुष्य संन्यासधर्म ग्रहण कर लेता है, वह वैराग्य संन्यासी कहा जाता है ।

शास्त्रज्ञानात् पापपुण्यलोकानुभवश्रवणात् प्रपञ्चो परतो देहवासनां शास्त्रवासनां लोकवासनां च त्यक्त्वा वमनान्नमिव प्रवृत्तिं सर्वां हेयां मत्वा साधनचतुष्टयसम्पन्नो यः संन्यस्यति, स एव ज्ञानसंन्यासी ॥20॥

शास्त्रों का ज्ञान प्राप्त करके पापपुण्यादि सांसारिक विषयों को सुनकर जो 'जगत्प्रपंच' से उपरत हो गया हो (परे हो गया हो) और दैहिक वासना (पुत्र-धन-कीर्ति की वासना) तथा शास्त्रवासना तथा लोकव्यवहार की वासना छोड़कर सभी प्रकार की सांसारिक प्रवृत्तियों को वमन किए हुए अन्न की भाँति त्याज्य मानकर साधनचतुष्टय से (विवेक, वैराग्य, षट्संपत्ति और मुमुक्षुत्व से) युक्त होकर जो संन्यास लेता है, वह ज्ञानसंन्यासी कहा जाता है ।

क्रमेण सर्वमभ्यस्य सर्वमनुभूय ज्ञानवैराग्याभ्यां स्वरूपानुसन्धानेन देह-मात्रावशिष्टः संन्यस्य जातरूपधरो भवति, स ज्ञानवैराग्य संन्यासी ॥21॥

जो मनुष्य क्रमानुसार सभी का अभ्यास करके सभी प्रकार के अनुभव लेकर बाद में ज्ञान और वैराग्य के द्वारा परमतत्त्व को भली-भाँति जानकर देहमात्र को ही जगत् में रहा हुआ मानकर जो संन्यास धर्म ग्रहण करता है, उसे ज्ञानवैराग्य संन्यासी कहा जाता है ।

ब्रह्मचर्यं समाप्य गृही भूत्वा वानप्रस्थाश्रममेत्य वैराग्याभावेऽप्याश्रम-क्रमानुसारेण यः संन्यस्यति, स कर्मसंन्यासी ॥22॥

ब्रह्मचर्य, गृहस्थ और वानप्रस्थ—इन तीनों आश्रमों का क्रमानुसार पालन करने के बाद **वैराग्य परिपक्व** न होने पर भी शास्त्रों के नियमानुसार संन्यास ग्रहण कर लेना चाहिए, ऐसा मानकर जो संन्यास लेता है उसे कर्म संन्यासी कहा जाता है।

स संन्यासः षड्विधो भवति कुटीचकबहूदकहंसपरमहंसतुरीयातीता-वधूताश्चेति ॥23॥

यह संन्यास छः भेद वाला होता है—(1) कुटीचक, (2) बहूदक, (3) हंस, (4) परमहंस, (5) तुरीयातीत और (6) अवधूत।

कुटीचकः शिखायज्ञोपवीती दण्डकमण्डलुधरः कौपीनशाटीकन्थाधरः पितृमातृगुर्वाराधनपरः पिठरखनित्रशिक्यादिमात्रसाधनपर एकत्रान्नाद-नपरः श्वेतोर्ध्वपुण्ड्रधारी त्रिदण्डः ॥24॥

कुटीचक संन्यासी अपने शरीर पर शिखा और यज्ञोपवीत को धारण किए रहता है। इसके अतिरिक्त वह दण्ड, कमण्डलु, कौपीन, चादर और कन्था (गुदड़ी) को भी धारण करता है। वह माता-पिता और गुरु की आराधना करता रहता है। बटलोई, कुदाली और छीका—बस इतने ही उपकरण वह अपने साथ रखता है। वह एक ही जगह पर भोजन करने वाला होता है। वह श्वेत ऊर्ध्वपुण्ड्र को धारण करता है और त्रिदण्ड को भी धारण करता है।

बहूदकः शिखादिकन्थाधरस्त्रिपुण्ड्रधारी कुटीचकवत् सर्वसमो मधुकर-वृत्त्याष्टकवलाशी ॥25॥

बहूदक प्रकार का संन्यासी चोटी आदि को तथा कन्था (गुदड़ी) और त्रिपुण्ड्र को धारण किए रहता है। शेष तो सभी तरह पूर्वोक्त कुटीचक की तरह भिक्षा आदि से आजीविका चलाता है और वह केवल आठ ग्रास ही भोजन करता है।

हंसो जटाधारी त्रिपुण्ड्रोर्ध्वपुण्ड्रधार्यसंक्लृप्तमाधूकरान्नाशी कौपीन-खण्डतुण्डधारी ॥26॥

और हंस प्रकार का संन्यासी जटाधारी होता है, वह ऊर्ध्वपुण्ड्र और त्रिपुण्ड्र—दोनों को धारण करता है। वह किसी अनजाने स्थान से ही भिक्षा माँगकर प्राप्त हुआ अन्न खाता है। वह शरीर पर केवल कौपीन ही धारण करता है।

परमहंसः शिखायज्ञोपवीतरहितः पञ्चगृहेषु करपात्र्येककौपीनधारी शाटीमेकामेकं वैणवं दण्डमेकशाटीधरो वा भस्मोद्धूलनपरः सर्वत्यागी ॥27॥

परमहंस संन्यासी शिखा और यज्ञोपवीत से रहित होता है। वह केवल पाँच घरों में भिक्षा को माँगकर हाथरूपी पात्र में ही खाता है। वह अपने पास एक चादर, एक लंगोटी और एक बाँस का दण्ड ही केवल रखता है। अथवा शरीर पर भस्म लगाकर केवल एक चादर ही अपने पास रखता है और सभी वस्तुओं का त्याग कर देता है।

तुरीयातीतो गोमुखवृत्त्या फलाहारी, अन्नाहारी चेद् गृहत्रये, देह-मात्रावशिष्टो दिगम्बरः कुणपवच्छरीरवृत्तिकः ॥28॥

तुर्यातीत संन्यासी तो सब कुछ छोड़ देने वाला होता है। वह गोमुखवृत्ति वाला (यदृच्छया जो कुछ आ मिले उससे आजीविका चलाने वाला) होता है। अथवा तीन घरों से फलों या अन्न की भिक्षा से आजीविका चलाता है। वह अपना शरीर निर्वस्त्र (नग्न) ही रखता है। वह अपने शरीर को मरे हुए की तरह जान करके किसी तरह जीवन की वृत्ति को निभाता रहता है।

अवधूतस्त्वनियमः पतिताभिशस्तवर्जनपूर्वकं सर्ववर्णेष्वजगरवृत्त्याहार-परः स्वरूपानुसन्धानपरः ॥29॥

'अवधूत' नामक संन्यासी किसी भी तरह के नियम को नहीं मानता। पतित और निन्दित लोगों को छोड़कर अन्य सभी से वह आहार प्राप्त करके खाता है। वह अपने स्वरूप की खोज में ही सतत लगता रहता है। (वह सोचता रहता है कि—)

जगत् तावदिदं नाहं सवृक्षतृणपर्वतम्।
यद् बाह्यं जडमत्यन्तं तत् स्यां कथमहं विभुः।
कालेनाल्पेन विलयी देहो नाहमचेतनः ॥30॥

"यह जो वृक्ष, घास और पर्वत वाला जगत् है, वह मैं नहीं हूँ। जो बाह्य दिखाई पड़ता है, वह तो सब कुछ अति जड़ ही है। मैं व्यापक भला वह कैसे हो सकता हूँ। अत्यल्प काल में ही नष्ट हो जाने वाला अचेतन देह भी तो मैं नहीं हो सकता"।

जडया कर्णशष्कुल्या कल्प्यमानक्षणस्थया।
शून्याकृतिः शून्यभवः शब्दो नाहमचेतनः ॥31॥
त्वचा क्षणविनाशिन्या प्राप्योऽप्राप्योऽयमन्यथा।
चित्प्रसादोपलब्धात्मा स्पर्शो नाहमचेतनः ॥32॥
लब्धात्मा जिह्वया तुच्छो लोलया लोलसत्तया।
स्वल्पस्पन्दो द्रव्यनिष्ठो रसो नाहमचेतनः ॥33॥
दृश्यदर्शनयोर्लीनं क्षयि क्षणविनाशिनोः।
केवले द्रष्टरि क्षीणं रूपं नाहमचेतनः ॥34॥
नासया गन्धजडया क्षयिण्या परिकल्पितः।
पेलवोऽनियताकारो गन्धो नाहमचेतनः ॥35॥

"मैं (संन्यासी) केवल एक क्षणमात्र ही ठहरने वाला जडरूप शब्द (कर्णशष्कुली) जो स्वरूप (आत्मस्वरूप) से बिल्कुल शून्यस्वरूप वाला है, वह अचेतन मैं नहीं हूँ। क्षण में नष्ट और क्षण में पैदा होने वाली इस त्वचा से भी मैं अलग ही हूँ। मैं वह जड (अचतेन) स्पर्श भी नहीं हूँ। मैं तो चैतन्य के प्रभाव से आत्मानुभूति करता हूँ। चाञ्चल्ययुक्त मन और मनोयुक्त जीभ द्वारा उत्पन्न तुच्छ स्पन्दनशक्ति वाला रस भी मैं नहीं हूँ। इसी तरह दृश्य और दर्शन के विलीन हो जाने से नष्ट हो जाने वाला अचेतन (जड) अनुभव भी मैं नहीं हूँ। पदार्थ और घ्राणेन्द्रिय द्वारा परिकल्पित जो गन्ध है, वह भी तुच्छ है और जड ही है, वह मैं नहीं हूँ"।

निर्ममोऽमननः शान्तो गतपञ्चेन्द्रियभ्रमः।
शुद्धचेतन एवाहं कलाकलनवर्जितः ॥36॥
चैत्यवर्जितचिन्मात्रमहमेषोऽवभासकः।

सबाह्याभ्यन्तरव्यापी निष्कलोऽहं निरञ्जनः ।
निर्विकल्पचिदाभास एक एवास्मि सर्वगः ॥37॥
मयैव चेतनेनेमे सर्वे घटपटादयः ।
सूर्यान्ता अवभास्यन्ते दीपेनेवात्मतेजसा ॥38॥
मयैवैताः स्फुरन्तीह विचित्रेन्द्रियपङ्क्तयः ।
तेजसान्तःप्रकाशेन यथाग्निकणपङ्क्तयः ॥39॥

"मैं (संन्यासी) ममत्वहीन हूँ, मैं मननरहित हूँ, मैं शान्त हूँ, पाँच इन्द्रियो के भ्रम से विहीन हूँ, मैं शुद्धचैतन्य ही हूँ, मैं निरंश और निष्कलंक हूँ, मैं चैत्य (जागतिक विषयों से) रहित हूँ, मैं केवल चैतन्यात्मा ही हूँ, मैं सबका प्रकाशक हूँ, मैं बाहर और भीतर के सभी पदार्थों में व्याप्त हूँ' मैं कलारहित निरंजन, निर्विकल्प, चिद्घन, सर्वत्र व्याप्त रहने वाला आत्मतत्त्व ही हूँ। मुझ एक चेतन से ही घट-पट आदि ये सूर्य से लेकर सब पदार्थ, जिस प्रकार दीपक से पदार्थ प्रकाशित किए जाते हैं, उसी तरह प्रकाशित किए जाते हैं। सभी इन्द्रियों की विचित्र एवं तरह-तरह की वृत्तियाँ मेरे ही अन्तःकरण के प्रकाश से उत्पन्न होती हैं, मानों अग्नि से चिनगारियाँ निकल रही हों" ।

अनन्तानन्दसंभोगा परोपशमशालिनी ।
शुद्धेयं चिन्मयी दृष्टिर्जयत्यखिलदृष्टिषु ॥40॥
सर्वभावान्तरस्थाय चैत्यमुक्तचिदात्मने ।
प्रत्यक्चैतन्यरूपाय मह्यमेव नमो नमः ॥41॥
विचित्राः शक्तयः स्वच्छाः समा या निर्विकारया ।
चिता क्रियन्ते समया कलाकलनमुक्तया ॥42॥
कालत्रयमुपेक्षित्र्या हीनायाश्चेत्यबन्धनैः ।
चितश्चैत्यमुपेक्षित्र्याः समतैवावशिष्यते ॥43॥

यह पवित्र चिन्मय दृष्टि, अनन्त है, आनन्द को भोग करने वाली, परम शान्ति देने वाली, शुद्ध और अन्य सभी दृष्टियों पर विजय प्राप्त करने वाली है। मेरा यह मुक्तात्मा सभी पदार्थों में अनुस्यूत और व्यापक है, वह चैत्य—जागतिक विषयों से मुक्त है, वह प्रत्यक् चैतन्यस्वरूप है, ऐसे स्वयं को ही मैं बार-बार नमस्कार करता हूँ। कला (अंश) और कल्पना से शून्य ऐसी चित्शक्ति से ही ये सब विचित्र, निर्मल और समान शक्तियाँ उत्पन्न होती हैं। यह चित्शक्ति तीनों कालों में सर्वाधिक शक्ति से युक्त और दृश्य जगत् के बन्धनों से मुक्त है। ऐसी चित्शक्ति में समता ही अवशिष्ट रहती है।

सा हि वाचामगम्यत्वादसत्तामिव शाश्वतीम् ।
नैरात्म्यसिद्धात्मदशामुपयातैव शिष्यते ॥44॥
ईहानीहामयैरन्तर्या चिदावलिता मलैः ।
सा चिन्नोत्पतितुं शक्ता पाशबद्धेव पक्षिणी ॥45॥
इच्छाद्वेषसमुत्थेन द्वन्द्वमोहेन जन्तवः ।
धराविवरमग्नानां कीटानां समतां गताः ॥46॥

वह वाणी से नहीं कही जा सकती। इसलिए वह शाश्वत असत्ता (शून्य) की भाँति ही निरात्मता की ही सिद्धि हो, ऐसी शेष रहती है (तात्पर्य यह है कि ज्ञानी की आत्मकल्पना तथा अज्ञानी की अनात्म

कल्पना—दोनों इसमें से दूर हो गई है, ऐसी निष्प्रतियोगिक ब्रह्म की स्थिति को ही यहाँ नैरात्म्य सिद्धान्त की दशा कहा है।) जो चित्शक्ति इच्छा और अनिच्छा में अवस्थित है, वह मलों से आच्छादित है, वह जाल में फँसी हुई पक्षिणी की तरह अक्षम है। इसलिए इच्छा-द्वेष से उत्पन्न हुए द्वन्द्वों के मोह से विवश ये तुच्छ प्राणी मानो धरती के छिद्रों में कीड़े ही हों, ऐसी समानता को प्राप्त हो गए हैं।

आत्मनेऽस्तु नमो मह्यमविच्छिन्नचिदात्मने ।
परामृष्टोऽस्मि बुद्धोऽस्मि प्रोदितोऽस्म्यचिरादहम् ॥47॥
उद्धृतोऽस्मि विकल्पेभ्यो योऽस्मि सोऽस्मि नमोऽस्तु मे ।
तुभ्यं मह्यमनन्ताय मह्यं तुभ्यं चिदात्मने ॥48॥
नमस्तुभ्यं परेशाय नमो मह्यं शिवाय च ।
तिष्ठन्नपि हि नासीनो गच्छन्नपि न गच्छति ।
शान्तोऽपि व्यवहारस्थः कुर्वन्नपि न लिप्यते ॥49॥
सुलभश्चायमत्यन्तं सुज्ञेयश्चाप्तबन्धुवत् ।
शरीरपद्मकुहरे सर्वेषामेव षट्पदः ॥50॥

मुझ अविच्छिन्न चिदात्मा को नमस्कार हो। मैं निरन्तर परम प्रत्यक्ष, प्रबुद्ध और सदोदित ही हूँ। मैं उद्धृत (परे) हूँ, अर्थात् विकल्पों से अतीत हूँ, मैं जो हूँ सो हूँ, कैसे भी मुझे नमस्कार हो। तुम्हें और मुझे तथा मुझे और तुम्हें—दोनों चिदात्मा को नमस्कार हो। परमेश्वर ऐसे तुझे नमस्कार हो, शिव ऐसे मुझे नमस्कार हो, जो बैठते हुए भी नहीं बैठता और जाता हुआ भी नहीं जाता। जो शान्त होते हुए भी व्यवहारों में रहा हुआ होता है और जो काम करता हुआ भी लिप्त नहीं होता। यह आत्मा सुप्राप्य है, इसलिए सुज्ञेय भी है और आत्मीय बन्धु जैसा है। और शरीररूपी कमलपुष्प में वह भ्रमर जैसा है।

न मे भोगस्थितौ वाञ्छा न मे भोगविसर्जने ।
यदायाति तदायातु यत् प्रयाति प्रयातु तत् ॥51॥
मनसा मनसि च्छिन्ने निरहंकारतां गते ।
भावेन गलिते भावे स्वस्थस्तिष्ठामि केवलः ॥52॥
निर्भावं निरहंकारं निर्मनस्कं निरीहितम् ।
केवलास्पन्दशुद्धात्मन्येव तिष्ठति मे रिपुः ॥53॥
तृष्णारज्जुगणं छित्त्वां मच्छरीरकपञ्जरात् ।
न जाने क्व गतोड्डीय निरहंकारपक्षिणी ॥54॥
यस्य नाहंकृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते ।
यः समः सर्वभूतेषु जीवितं तस्य शोभते ॥55॥

मुझे भोग की अवस्था में भी कोई वांछा नहीं है और भोग के अभाव में भी कोई वांछा नहीं है। जो आए वह भले ही आए और जो जाए तो भले ही जाता रहे। मन से मन को काटकर जब निरहंकारता को वह प्राप्त होगा, और जब भाव से भाव गलित हो गया है, तब तो मैं केवल स्वात्मा में ही अकेला अवस्थित रहता हूँ। मैं भावशून्य, अहंकारशून्य, मनःशून्य, चेष्टाशून्य, स्पन्दशून्य और केवल एकमात्र शुद्ध आत्मस्वरूप ही हूँ। कोई मेरा शत्रु नहीं है। मेरे शरीररूपी पिंजरे में रहने वाली निरहंकारितारूपी पक्षिणी तृष्णारूपी रस्सी के समूह को काटकर न मालूम कहाँ उड़कर चली गई ?

जिसमें अहंकार का कोई भाव नहीं है, जिसकी बुद्धि विषयों में लिप्त नहीं होती, जो सभी प्राणियों में समानता से रहता है, उसका जीवन शोभायमान होता है।

योऽन्तःशीतलया बुद्ध्या रागद्वेषविमुक्तया।
साक्षिवत् पश्यतीदं हि जीवितं तस्य शोभते ॥56॥
येन सम्यक् परिज्ञाय हेयोपादेयमुज्झता।
चित्तस्यान्तेऽर्पितं चित्तं जीवितं तस्य शोभते ॥57॥
ग्राह्यग्राहकसम्बन्धे क्षीणे शान्तिरुदेत्यलम्।
स्थितिमभ्यागता शान्तिर्मोक्षनामाभिधीयते ॥58॥
भृष्टबीजोपमा भूयो जन्माङ्कुरविवर्जिता।
हृदि जीवद्विमुक्तानां शुद्धा भवति वासना ॥59॥
पावनी परमोदारा शुद्धसत्त्वानुपातिनी।
आत्मध्यानमयी नित्या सुषुप्तिस्थेव तिष्ठति ॥60॥

जो मनुष्य रागद्वेषरहित और भीतर में शीतल (शान्त) बुद्धि से इस सारे जगत् को एक साक्षी की भाँति ही देखता है, उसका जीवन शोभायमान होता है। जिसने पूर्णज्ञान को प्राप्त करके 'हेय' और 'उपादेय' की बुद्धि को त्याग दिया है, और जिसने अपने चित्त को चित्त के भीतर ही अर्पित कर दिया है, उसका जीवन शोभायमान होता है। ग्राह्य और ग्राहक का सम्बन्ध विनष्ट हो जाने के बाद स्थायी शान्ति का उदय होता है। अतः इस स्थिति को ही मोक्ष नामक प्राप्तशान्ति कहा गया है। ऐसे जीवन्मुक्त की शुद्ध वासना को दग्धबीज की उपमा दी जाती है। दग्धबीज जैसे अंकुर प्रकट करने में असमर्थ होता है, वैसे ही उनकी पवित्र वासना सांसारिक अंकुरों को प्रकट नहीं करती। यह पतितपावन परमोदार शुद्ध सत्त्व को ही आत्मसात् करने वाली जीवन्मुक्त की वासना आत्मध्यानसम्पन्न और अपने नित्य स्वरूप में ही सर्वदा प्रतिष्ठित होने वाली होती है।

चेतनं चित्तरिक्तं हि प्रत्यक् चेतनमुच्यते।
निर्मनस्कस्वभावत्वान्न तत्र कलनामलम् ॥61॥
सा सत्यता सा शिवता सावस्था पारमात्मिकी।
सर्वज्ञता सा संतृप्तिर्नतु यत्र मनः क्षतम् ॥62॥
प्रलपन् विसृजन् गृह्णन्नुन्मिषन्निमिषन्नपि।
निरस्तमननानन्दः संविन्मात्रपरोऽस्म्यहम् ॥63॥
मलं संवेद्यमुत्सृज्य मनो निर्मूलयन् परम्।
आशापाशानलं छित्त्वा संविन्मात्रपरोऽस्म्यहम् ॥64॥
अशुभाशुभसंकल्पः संशान्तोऽस्मि निरामयः।
नष्टेष्टानिष्टकलनः संविन्मात्रपरोऽस्म्यहम् ॥65॥

जब चैतन्यतत्त्व चित्त से शून्य हो जाए, तभी वह प्रत्यक् (भीतर का) आत्मतत्त्व कहा जाता है। जब उसका स्वरूप (चेतन का स्वरूप) निर्मनस्क (मनोरहित) हो जाता है तब उसमें किसी भी प्रकार का मोह आकलित (शामिल) नहीं होता है। वही सत्यता है, वही शिवस्वरूप है, वही परमात्ममय अवस्था है, वही सर्वज्ञता है, वही सन्तृप्ति है कि जहाँ मन खण्डित (बँटा हुआ, विभक्त) नहीं होता अर्थात् एक समान ही रहता है। (उसमें मेरे-तेरे का भेद नहीं होता।) यद्यपि मैं दिखावे में बकवास

करता हूँ, छोड़ता हूँ, लेता हूँ, आँखों को खोलता-बन्द किया करता हूँ फिर भी मैं पारमार्थिक रूप से तो वह संवित् ही हूँ कि जो समस्त मनोभावों को निरस्त किए हुए है और जो आनन्दस्वरूप है। जो संवेदनीय मल है, उसका त्याग करके मैं अपने मन को उखाड़ दूँगा (क्योंकि दोषों की संवेदनीयता का ही दूसरा नाम मन है)। आशारूपी फन्दों को काटकर मैं बस, केवल संविदरूप ही हूँ। शुभ और अशुभ संकल्पों से रहित होकर मैं परम शान्त और स्वस्थ स्थिति में हूँ। इष्टानिष्ट भावना को छोड़कर मैं केवल 'संवित्-चित्' आत्मस्वरूप ही हो गया हूँ।

आत्मतापरते त्यक्त्वा निर्विभागो जगत्स्थितौ।
वज्रस्तम्भवदात्मानमवलम्ब्य स्थिरोऽस्म्यहम् ॥66॥
निर्मलायां निराशायां स्वसंवित्तौ स्थितोऽस्म्यहम्।
ईहितानीहितैर्मुक्तो हेयोपादेयवर्जितः ॥67॥
कदान्तस्तोषमेष्यामि स्वप्रकाशपदे स्थितः।
कदोपशान्तमननो धरणीधरकन्दरे ॥68॥
समेष्यामि शिलासाम्यं निर्विकल्पसमाधिना।
निरंशध्यानविश्रान्तिमूकस्य मम मस्तके।
कदा तार्णं करिष्यन्ति कुलायं वनपत्रिणः ॥69॥
संकल्पपादपं तृष्णालतं छित्त्वा मनोवनम्।
विततां भुवमासाद्य विहरामि यथासुखम् ॥70॥

आत्मता और परता ('मेरा और तेरा') के भाव से मुक्त होकर, बँटवारे का भाव इस जगत् में छोड़कर वज्र के खम्भे की तरह केवल एक आत्मा का ही अवलम्बन करके मैं स्थिर होकर रहा हूँ। आशारहित स्वच्छ स्वसंवित् (अपने आत्मा) में स्थिर होकर मैं अवस्थित हूँ। मैं इष्ट और अनिष्ट से भी मुक्त हो चुका हूँ और त्याज्य और ग्राह्य के विषय से भी मैं मुक्त हो चुका हूँ। मुझे अन्तिम (शाश्वत) संतोष कब होगा ? मैं स्वप्रकाश आत्मा के स्थान में अवस्थित हो गया हूँ। अब मेरे मन की शान्ति कब होगी ? मैं अब किसी पर्वत की गुफा में निर्विकल्प समाधि के द्वारा शिला जैसी स्थिरता (पत्थर की समानता) को कब प्राप्त करूँगा ? अंशरहित निष्कल ब्रह्म का ध्यान करते हुए विश्रान्त और मूक बने हुए मेरे मस्तक पर वन के पक्षी भला कब अपने घोंसले बनाएँगे ? ऐसा निश्चल मैं कब बन सकूँगा ? और मैं तृष्णारूपी लता वाले और संकल्परूप वृक्षों वाले मनोवन को कब काट सकूँगा ?

पदं तदनु यातोऽस्मि केवलोऽस्मि जयाम्यहम्।
निर्वाणोऽस्मि निरीहोऽस्मि निरंशोऽस्मि निरीप्सितः ॥71॥
स्वच्छतोर्जितता सत्ता हृद्यता सत्यता ज्ञता।
आनन्दितोपशमता सदा प्रमुदितोदिता।
पूर्णतोदारता सत्या कान्तिसत्ता सदैकता ॥72॥
इत्येवं चिन्तयन् भिक्षुः स्वरूपस्थितिमञ्जसा।
निर्विकल्पस्वरूपज्ञो निर्विकल्पो बभूव ह ॥73॥

उस मनोवन को काटकर मैं इस विशाल धरती पर यथेच्छ विहार कर रहा हूँ। मैं उस अविनाशी पद का ही स्वरूप केवल (अद्वैत) अविनाशी ही हूँ। मैं जय प्राप्त किए हुए हूँ, मैं निर्वाणरूप हूँ, मैं अहंभाव या एषणा से रहित हूँ, मैं अखण्ड (अविभाज्य) हूँ, मैं इच्छारहित हूँ, मैं स्वच्छता, वीर्यवत्ता,

सत्ता, सत्यता और ज्ञानता—सब कुछ हो गया हूँ। इस प्रकार संन्यासी को आनन्द, उपशम, प्रसन्नता, पूर्णता, उदारता, सत्य, अद्वैतता, प्रमुदिता और उदिता आदि की भावना करते हुए अपने स्वरूप में प्रतिष्ठित रहना चाहिए। निर्विकल्प स्वरूप की पूर्णतया जानकारी प्राप्त करके स्वयं निर्विकल्परूप बने रहना चाहिए।

आतुरो जीवति चेत् क्रमसंन्यासः कर्तव्यः। न शूद्रस्त्रीपतितोदक्या संभाषणम्। न यतेर्देवपूजा नोत्सवदर्शनम्। तस्मान्न संन्यासिन एष लोकः। आतुरकुटीचकयोर्भूर्लोकभुवर्लोकौ। बहूदकस्य स्वर्गलोकः। हंसस्य तपोलोकः। परमहंसस्य सत्यलोकः। तुरीयातीतावधूतयोः स्वात्मन्येव कैवल्यं स्वरूपानुसंधानेन भ्रमरकीटन्यायवत् ॥74॥

आतुर संन्यासी यदि संन्यास लेने की इच्छा से जीवित रहे तो उसे तभी क्रमसंन्यास प्राप्त करने का प्रयत्न करना चाहिए। शूद्र, स्त्री, पदभ्रष्ट तथा रजस्वला से कभी संभाषण नहीं करना चाहिए। संन्यासी को कभी देवपूजन और किसी उत्सव में कभी जाना नहीं चाहिए। इसलिए यह लोक व्यवहार संन्यासी के लिए नहीं है। आतुर संन्यासी के लिए भूर्लोक और कुटीचक के लिए भुवर्लोक होता है। बहूदक का स्वर्गलोक होता है, हंस का तपोलोक और परमहंस का स्थान सत्यलोक होता है। तुरीयातीत तथा अवधूत कोटि के लोग भ्रमर और कीट की तरह अपने स्वरूप की खोज करते हुए केवल आत्मतत्त्व के रूप में प्रतिष्ठित हो जाते हैं।

स्वरूपानुसन्धानव्यतिरिक्तान्यशास्त्राभ्यास उष्ट्रकुङ्कुमभारवद्व्यर्थः। न योगशास्त्रप्रवृत्तिर्न सांख्यशास्त्राभ्यासो न मन्त्रतन्त्रव्यापारो नेतरशास्त्र-प्रवृत्तिर्यतेरस्ति; अस्ति चेच्छवालंकारवत्। कर्माचारविद्यादूरः। न परिव्राट् नामसंकीर्तनपरः। यद्यत् कर्म करोति तत्तत्फलमनुभवति। एरण्डतैलफेनवत् सर्वं परित्यजेत्। न देवताप्रसादग्रहणम्। न बाह्य-देवाभ्यर्चनं कुर्यात् ॥75॥

स्वरूपानुसन्धान के बिना अन्य शास्त्रों का अभ्यास संन्यासी के लिए ऊँट के ऊपर केसर कुंकुम का भार लादने जैसा ही व्यर्थ है। योगशास्त्र में भी उसकी प्रवृत्ति नहीं होती। सांख्यशास्त्र का अभ्यास भी उसके लिए आवश्यक नहीं है। और अन्य किसी मंत्रतंत्रादि में भी उसकी प्रवृत्ति होना योग्य नहीं है। यदि कोई संन्यासी ऐसा करता है, तो वह मृत के ऊपर आभूषणों को लगाने के बराबर है तथा संन्यासी के कर्म तथा विद्या के अनुकूल वह नहीं है। यह परिव्राजक नामसंकीर्तन-परायण भी नहीं होता। क्योंकि वह जो-जो कर्म करता है, उसका फल तो उसे भोगना ही होगा। इसलिए एरण्ड (रेडी) के तैल की फेन की तरह उसे सब कुछ छोड़ ही देना चाहिए। संन्यासी को किसी भी देवी-देवता का प्रसाद नहीं ग्रहण करना चाहिए। और किसी बाह्य देवता का पूजन भी नहीं करना चाहिए।

स्वव्यतिरिक्तं सर्वं त्यक्त्वा मधुकरवृत्त्याहारमाहरन् कृशो भूत्वा मेदो-वृद्धिमकुर्वन् विहरेत्। माधूकरेण करपात्रेणास्यपात्रेण वा कालं नयेत् ॥76॥

संन्यासी को अपने सिवा अन्य सभी वस्तुओं का त्याग कर देना चाहिए। और अपने हाथरूपी पात्र से मधुकरवृत्ति (भिक्षावृत्ति) से आजीविका चलानी चाहिए, जिससे कि उसके शरीर में चर्बी न बढ़

जाए। तथा उसको निरन्तर भ्रमण (विचरण) ही करते रहना चाहिए। अपने हाथरूपी पात्र के द्वारा तथा मुखरूपी पात्र द्वारा भिक्षा लेकर (खाकर) जीवन बिताना चाहिए।

**आत्मसंमितमाहारमाहरेदात्मवान् यतिः।
आहारस्य च भागौ द्वौ तृतीयमुदकस्य च।
वायोः संचरणार्थाय चतुर्थमवशेषयेत् ॥77॥
भैक्षेण वर्तयेन्नित्यं नैकान्नाशी भवेत् क्वचित्।
निरीक्षन्ते त्वनुद्विग्नास्तद्गृहं यत्नतो व्रजेत् ॥78॥
पञ्चसप्तगृहाणां तु भिक्षामिच्छेत् क्रियावताम्।
गोदोहमात्रमाकाङ्क्षेन्निष्क्रान्तो न पुनर्व्रजेत् ॥79॥
नक्ताद्वरश्चोपवास उपवासादयाचितः।
अयाचिताद्वरं भैक्षं तस्माद्भैक्षेण वर्तयेत् ॥80॥
नैव सव्यापसव्येन भिक्षाकाले विशेद् गृहान्।
नातिक्रामेद् गृहं मोहाद्यत्र दोषो न विद्यते ॥81॥**

संन्यासी को अपने आहार के परिमाण में ही भिक्षा माँगनी चाहिए। उसको (पेट के चार भाग करके) दो भाग भोजन के लिए रखना चाहिए, एक भाग पानी के लिए तथा एक भाग हवा के आने-जाने के लिए रखना चाहिए। संन्यासी को हमेशा भिक्षावृत्ति के ऊपर ही आधार रखना चाहिए। और हमेशा एक ही घर से भोजन नहीं करना चाहिए। जो लोग शान्त भाव से उसकी राह देखकर बैठे हुए हों, उन्हीं के यहाँ प्रयत्नपूर्वक जाना चाहिए। संन्यासी को पाँच-सात सदाचारी गृहों से भिक्षा लेनी चाहिए और गाय के दोहने में जितना समय लगता है, उतने ही समय तक प्रतीक्षा करनी चाहिए। और जहाँ से एक बार भिक्षा ली हो, वहाँ फिर से नहीं जाना चाहिए। रात्रि में भोजन की अपेक्षा तो उपवास कर लेना ही अच्छा है। और उपवास की अपेक्षा अयाचित (बिना माँगे मिलने वाली) भिक्षा अधिक अच्छी है और अयाचित से भी माँगकर खाना अधिक अच्छा है। इसलिए जहाँ तक बन सके, भिक्षा का ही आश्रय लेना चाहिए। भिक्षा के समय दाहिने-बाँएँ मार्ग से घर में प्रवेश नहीं करना चाहिए। जिस घर में कोई दोष न हो, उस घर को भूल या मोह से नहीं छोड़ना चाहिए—वहाँ भिक्षा लेनी चाहिए।

**श्रोत्रियान्नं न भिक्षेत श्रद्धाभक्तिबहिष्कृतम्।
व्रात्यस्यापि गृहे भिक्षेच्छ्रद्धाभक्तिपुरस्कृते ॥82॥
माधूकरमसंक्लृप्तं प्राक्प्रणीतमयाचितम्।
तात्कालिकं चोपपन्नं भैक्षं पञ्चविधं स्मृतम् ॥83॥
मनःसंकल्परहितांस्त्रीन् गृहान् पञ्च सप्त वा।
मधुमक्षिकवत् कृत्वा माधूकरमिति स्मृतम् ॥84॥
प्रातःकाले च पूर्वेद्युर्यद्भक्तैः प्रार्थितं मुहुः।
तद्भैक्षं प्राक्प्रणीतं स्यात् स्थितिं कुर्यात् तथापि च ॥85॥
भिक्षाटनसमुद्योगाद्येन केन निमन्त्रितम्।
अयाचितं तु तद्भैक्षं भोक्तव्यं च मुमुक्षुभिः ॥86॥**

यदि वेदज्ञ मनुष्य भी श्रद्धा-भक्ति से रहित हो, तो उसके यहाँ इस संन्यासी को भिक्षा नहीं माँगनी चाहिए। और व्रात्य (निम्न कोटि का संस्कारहीन मनुष्य) भी यदि श्रद्धा-भक्ति से युक्त हो तो वहाँ भिक्षा

लेनी चाहिए। संन्यासियों की भिक्षा पाँच प्रकार की कही गई है—(1) पहले संकल्पित न किया गया हो ऐसा माधूकर, (2) प्राक्प्रणीत, (3) अयाचित, (4) तात्कालिक, (5) उपपन्न। इनमें असंकल्पित माधूकर यह है कि मन में किसी भी प्रकार का संकल्प किए बिना किन्हीं तीन, पाँच या सात घरों में से मधुमक्खी की तरह थोड़ी-थोड़ी भिक्षा लेना। 'प्राक्प्रणीत' उसे कहते हैं जिसमें प्रातःकाल में या पिछले दिन कोई भी मनुष्य भक्तिपूर्वक भिक्षा के लिए निवेदन करे तो उसके यहाँ भिक्षा ली जाती है। 'अयाचित' वह है जिसमें भिक्षा के लिए विचरण करते समय ही यदि कोई निमंत्रण करे तो वहाँ बिना माँगे ही भिक्षा मिल जाती है।

उपस्थानेन यत् प्रोक्तं भिक्षार्थं ब्राह्मणेन तत्।
तात्कालिकमिति ख्यातं भोक्तव्यं यतिभिः सदा ॥87॥
सिद्धमन्नं यदा नीतं ब्राह्मणेन मठं प्रति।
उपपन्नमिति प्राहुर्मुनयो मोक्षकाङ्क्षिणः ॥88॥
चरेन्माधूकरं भैक्षं यतिर्म्लेच्छकुलादपि।
एकान्नं न तु भुञ्जीत बृहस्पतिसमादपि।
याचितायाचिताभ्यां च भिक्षाभ्यां कल्पयेत् स्थितिम् ॥89॥
न वायुः स्पर्शदोषेण नाग्निर्दहनकर्मणा।
नापो मूत्रपुरीषाभ्यां नान्नदोषेण मस्करी ॥90॥
विधूमे सन्नमुसले व्यङ्गारे भुक्तवज्जने।
कालेऽपराह्ने भूयिष्ठे भिक्षाचरणमाचरेत् ॥91॥

भिक्षा के लिए निकलते हुए संन्यासी को यदि बीच में ही कोई ब्राह्मण उसके समीप में आकर भिक्षा (भोजन) के लिए कहे, तो उसे 'तात्कालिक' भिक्षा कहते हैं, वह भिक्षा संन्यासियों को सदा ग्रहण कर लेनी चाहिए। यदि कोई मनुष्य तैयार भिक्षा लेकर मठ (आश्रम) में दे जाए, तो उसे 'उपपन्न' भिक्षा कहा जाता है। यदि संन्यासी को विशेष भिक्षा की आवश्यकता पड़ जाए, तो उसे म्लेच्छ के यहाँ भी भिक्षा माँग लेनी चाहिए। किन्तु कभी भी एक ही स्थान से भिक्षा ग्रहण नहीं करनी चाहिए, भले ही वह यजमान बृहस्पति जैसा क्यों न हो? इस प्रकार संन्यासी को याचित तथा अयाचित भिक्षा द्वारा अपना जीवननिर्वाह चलाना सर्वथा उचित है। सभी जगह स्पर्श करते हुए भी वायु स्पर्श दोषों से दूषित नहीं होता, सब कुछ जलाते हुए भी अग्नि दहन कार्यों से दूषित नहीं होता, सभी मल-मूत्रों को बहा ले जाने पर भी जल उनके मल से मलिन नहीं होता, ठीक उसी प्रकार संन्यासी किसी भी अन्न से दूषित नहीं होता। अग्निधूम और मुसल की आवाज से रहित और जहाँ अग्नि बुझकर समाप्त हो गया हो वहाँ, तथा घर के सभी लोग जहाँ भोजन कर चुके हों वहाँ, मध्याह्न काल के बाद ही संन्यासी को भिक्षा माँगनी चाहिए।

अभिशस्तं च पतितं पाषण्डं देवपूजकम्।
वर्जयित्वा चरेद् भैक्षं, सर्ववर्णेषु चापदि ॥92॥
घृतं श्वमूत्रसदृशं मधु स्यात् सुरया समम्।
तैलं सूकरमूत्रं स्यात् सूपं लशुनसंमितम् ॥93॥
माषापूपादि गोमांसं क्षीरं मूत्रसमं भवेत्।
तस्मात् सर्वप्रयत्नेन घृतादीन् वर्जयेद्यतिः।

घृतसूपादिसंयुक्तमन्नं नाद्यात् कदाचन ॥94॥
पात्रमस्य भवेत्पाणिस्तेन नित्यं स्थितिं नयेत्।
पाणिपात्रश्चरन् योगी नासकृद् भैक्षमाचरेत् ॥95॥
आस्येन तु यदाहारं गोवन्मृगयते मुनिः।
तदा समः स्यात् सर्वेषु सोऽमृतत्वाय कल्पते ॥96॥

आपत्तिकालीन स्थिति में संन्यासी निन्द्य परिवार एवं पतित, पाखण्डी, पदच्युत और देवपूजक को छोड़कर समस्त वर्ण जातियों से भिक्षा ले सकता है। संन्यासी के लिए घी कुत्ते के मूत्र समान है, शहद मदिरा के समान है, तैल शूकर के मूत्र के समान है, तथा लहसुन, सूप, अपूप (मालपुआ), उड़द आदि सब गोमांस के बराबर है। इसलिए बहुत प्रयत्न (सावधानी) पूर्वक घी आदि को छोड़ देना चाहिए। घी एवं मसालेदार पक्वान्नादि को कभी नहीं खाना चाहिए। संन्यासी के लिए उसका हाथ ही भोजनग्रहण का पात्र होता है। उसे हाथरूपी पात्र से ही भोजन ग्रहण करना चाहिए। इस प्रकार संन्यासी को दिन में एक बार ही भोजन ग्रहण करना चाहिए। जो मुनि गाय की तरह मुख से ही आहार करता है, अर्थात् कुछ संग्रह नहीं कर रखता, वह अमृतत्व को प्राप्त कर लेता है।

आज्यं रुधिरमिव त्यजेदेकत्रान्नं पललमिव गन्धलेपनमशुद्धलेपनमिव क्षारमन्त्यजमिव वस्त्रमुच्छिष्टपात्रमिवाभ्यङ्गं स्त्रीसङ्गमिव मित्राह्लादकं मूत्रमिव स्पृहां गोमांसमिव ज्ञातचरदेशं चण्डालवाटिकामिव स्त्रियमहिमिव सुवर्णं कालकूटमिव सभास्थलं श्मशानस्थलमिव राजधानीं कुम्भीपाकमिव शवपिण्डवदेकत्रान्नम्। न देवतार्चनम्। प्रपञ्चवृत्तिं परित्यज्य जीवन्मुक्तो भवेत् ॥97॥

घी को लहू के समान तथा एकत्रित किए हुए अन्न को मांस के समान मानकर छोड़ देना चाहिए। गन्ध-लेपनादि को गन्दी वस्तु के तुल्य, नमक को अन्त्यज के तुल्य, वस्त्र को जूठे पात्र के तुल्य, तेल-मालिश को स्त्रीसंग के तुल्य, मित्रों के मजाक को मूत्र के तुल्य, घमण्ड को गोमांस के तुल्य, परिचित मित्रों के घर की भिक्षा को चाण्डाल के तुल्य, स्त्री को सर्पिणी के तुल्य, सुवर्ण को कालकूट के तुल्य, सभा आदि को श्मशान के तुल्य, राजधानी को कुम्भीपाक नरक के तुल्य, एक ही घर के भोजन को मृतकपिण्ड के तुल्य जानकर इन सबका परित्याग कर देना चाहिए। उसको देवताओं का पूजन-अर्चन कभी नहीं करना चाहिए। सांसारिक प्रपञ्चों को छोड़कर उसे जीवन्मुक्त हो जाना चाहिए।

आसनं पात्रलोपश्च संचयः शिष्यसंचयः।
दिवास्वापो वृथालापो यतेर्बन्धकराणि षट् ॥98॥
वर्षाभ्योऽन्यत्र यत् स्थानमासनं तदुदाहृतम्।
उक्तालाब्वादिपात्राणामेकस्यापीह संग्रहः ॥99॥
यतेः संव्यवहाराय पात्रलोपः स उच्यते।
गृहीतस्य तु दण्डादेर्द्वितीयस्य परिग्रहः ॥100॥
कालान्तरोपभोगार्थं संचयः परिकीर्तितः।
शुश्रूषालाभपूजार्थं यशोऽर्थं वा परिग्रहः ॥101॥
शिष्याणां न तु कारुण्याच्छिष्यसंग्रह ईरितः।
विद्या दिवा प्रकाशत्वादविद्या रात्रिरुच्यते ॥102॥

आसन, बरतन की चाह, संचय करना, शिष्य बनाना, दिन में सोना और बेकार की बातें करना—ये छः प्रकार के कार्य संन्यासी को बन्धन में डालने वाले हैं। वर्षा के अलावा सभी स्थान आसन ही हैं, ऐसा कहते हैं। पूर्व में बताए गए कुम्हड़े से बनाए गए एकमात्र पात्र का ही उसे संग्रह करना चाहिए। यति के व्यवहार के लिए इसी को 'पात्रलोप' कहा जाता है। अपना दण्ड खो जाने पर दूसरे का दण्ड ले लेना ही 'परिग्रह' है। कालान्तर (भविष्य) में उपभोग के लिए संग्रह करके रखने का नाम ही 'संचय' है। सेवा-शुश्रूषा, लाभ, यश, मान-पूजा आदि के लिए प्रयत्न करना ही परिग्रह कहा जाता है। आत्मज्ञान के लिए करुणापूर्वक जो शिष्य आए उसे ही शिष्य बनाना चाहिए, उसके अतिरिक्त शिष्यों को बनाए रखने को शिष्यसंग्रह कहा जाता है। प्रकाशक होने से विद्या ही दिवस कहा जाता है और अविद्या रात्रि कही जाती है।

विद्याभ्यासे प्रमादो यः स दिवास्वाप उच्यते।
आध्यात्मिकीं कथां मुक्त्वा भिक्षावार्तां विना तथा।
अनुग्रहं परिप्रश्नं वृथाजल्पोऽन्य उच्यते ॥103॥
एकान्नं मदमात्सर्यं गन्धपुष्पविभूषणम्।
ताम्बूलाभ्यञ्जने क्रीडा भोगाकाङ्क्षा रसायनम् ॥104॥
कत्थनं कुत्सनं स्वस्ति ज्योतिश्च क्रयविक्रयम्।
क्रिया कर्मविवादश्च गुरुवाक्यविलङ्घनम् ॥105॥
संधिश्च विग्रहो यानं मञ्चकं शुक्लवस्त्रकम्।
शुक्रोत्सर्गो दिवा स्वापो भिक्षाधारस्तु तैजसम् ॥106॥
विषं चैवायुधं बीजं हिंसां तैक्ष्ण्यं च मैथुनम्।
त्यक्तं संन्यासयोगेन गृहधर्मादिकं व्रतम् ॥107॥
गोत्रादि चरणं सर्वं पितृमातृकुलं धनम्।
प्रतिषिद्धानि चैतानि सेवमानो व्रजेदधः ॥108॥

विद्याभ्यास में प्रमाद करना ही दिवास्वप्न कहा जाता है। आध्यात्मिक कथा को छोड़कर भिक्षा की बात करना और अनुग्रह परिप्रश्न को छोड़कर इधर-उधर की जो बातें कही जाएँ, वही बकवास है। एकान्न, मत्सर, घमण्ड, गन्ध, पुष्प, आभूषण, ताम्बूल खाना, तैलमर्दन करना, क्रीड़ा करना, भोगों की इच्छा करना, रसायन का सेवन, खुशामद, निन्दा-कुशलप्रश्न आदि करना, खरीदने-बेचने की बातें करना, क्रियाकर्म, वादविवाद, गुरुवाक्य का उल्लंघन, सन्धि-विग्रह की बातें, पलंग, सफेद वस्त्र, वीर्य- त्याग, दिन में सोना, भिक्षापात्र, सुवर्ण, विष, शस्त्र, जीवहिंसा, क्रोध तथा मैथुन—इन सारी बातों को संन्यासी को छोड़ ही देना चाहिए। गृहस्थियों के धर्म-व्रत गोत्रादि के आचारण जो हैं तथा जो माता- पिता और कुल की सम्पत्ति है, वह संन्यासी के लिए निषिद्ध माने गए हैं। इन सभी का सेवन करने से संन्यासी को नीच गति की प्राप्ति होती है।

सुजीर्णोऽपि सुजीर्णासु विद्वान् स्त्रीषु न विश्वसेत्।
सुजीर्णास्वपि कन्थासु सज्जते जीर्णमम्बरम् ॥109॥
स्थावरं जङ्गमं बीजं तैजसं विषमायुधम्।
षडेतानि न गृह्णीयाद्यतिर्मूत्रपुरीषवत् ॥110॥

नैवाददीत पाथेयं यतिः किञ्चिदनापदि।
पक्वमापत्सु गृह्णीयाद्यावदन्नं न लभ्यते ॥111॥
नीरुजश्च युवा चैव भिक्षुर्नावसथे वसेत्।
परार्थं न प्रतिग्राह्यं न दद्याच्च कथञ्चन ॥112॥
दैन्यभावात्तु भूतानां सौभगाय यतिश्चरेत्।
पक्वं वा यदि वाऽपक्वं याचमानो व्रजेदधः ॥113॥

वृद्धावस्था को प्राप्त हुए विद्वान् संन्यासी को वृद्ध स्त्री के ऊपर भी विश्वास नहीं करना चाहिए। क्योंकि पुरानी-फटी-टूटी गुदड़ी पर तो पुराना वस्त्र ही लगाया जाता है। स्थावर, जंगम, बीज, सुवर्ण विष, आयुध जैसी छः वस्तुओं को तो संन्यासी मूत्र और विष्टा के तुल्य समझकर, त्याज्य मानकर उन्हें कभी ग्रहण न करे। आपत्तिकाल को छोड़कर रास्ते में उपयोग के लिए तो संन्यासी को अपने पास कुछ भी नहीं रखना चाहिए। कुसमय के वश यदि अन्न प्राप्त न हो, तो पका हुआ अन्न प्राप्त कर लेना चाहिए। स्वस्थ तथा युवा संन्यासी को तो कभी भी किसी के भी घर में रुकना नहीं चाहिए। और अन्य किसी की कोई भी वस्तु नहीं लेनी चाहिए। संन्यासी को अन्य भूत (प्राणियों) के कल्याण के लिए दया का आचरण करना चाहिए। पका हुआ या फिर बिना पका हुआ अन्न माँगने से संन्यासी निम्न कोटि (अधोगति) को प्राप्त हो जाता है। (अर्थात् संन्यासी को अपनी इच्छा से कुछ माँगना नहीं चाहिए।)

अन्नपानपरो भिक्षुर्वस्त्रादीनां प्रतिग्रही।
आविकं वानाविकं वा तथा पट्टपटानपि ॥114॥
प्रतिगृह्य यतिश्चैतान् पतत्येव न संशयः।
अद्वैतं नावमाश्रित्य जीवन्मुक्तत्वमाप्नुयात् ॥115॥
वाग्दण्डे मौनमातिष्ठेत् कायदण्डे त्वभोजनम्।
मानसे तु कृते दण्डे प्राणायामो विधीयते ॥116॥
कर्मणा बध्यते जन्तुर्विद्यया च विमुच्यते।
तस्मात् कर्म न कुर्वन्ति यतयः पारदर्शिनः ॥117॥
रथ्यायां बहुवस्त्राणि भिक्षा सर्वत्र लभ्यते।
भूमिः शय्यास्ति विस्तीर्णा यतयः केन दुःखिताः ॥118॥

खाने-पीने के पदार्थों की निरन्तर चाह रखने वाला और ऊनी या बिना ऊन के सूती आदि कपड़ों और रेशमी वस्त्रों आदि को स्वीकार करने से संन्यासी का अवश्य ही अधःपतन हो जाता है। उसे तो अद्वैतरूपी नौका में बैठकर जीवन्मुक्ति की अवस्था प्राप्त कर लेनी चाहिए। यदि वाणी को दण्ड देना हो, तो संन्यासी को चाहिए कि वह मौन ही रहे। अगर शरीर को दण्ड देना हो तो उसे भोजन नहीं करना चाहिए। और यदि मन को दण्ड देना हो तो उसे प्राणायामादि करना चाहिए। सभी प्राणी अपने कर्मों के द्वारा ही बन्धन में बँधते हैं, और विद्या (ज्ञान) के द्वारा मुक्ति प्राप्त करते हैं। इसलिए ज्ञानवान् संन्यासी सदैव कर्मों से मुक्त ही रहते हैं। छोटी-छोटी गलियों में भी बहुत सारे वस्त्र मिल जाते है और भिक्षा भी सभी जगह प्राप्त हो ही जाती है और सोने के लिए भी पृथ्वी में कहीं न कहीं बहुत स्थान मिल ही जाते हैं तो फिर भला संन्यासी को किस बात का दुःख है ? (किसी बात का नहीं।)

प्रपञ्चमखिलं यस्तु ज्ञानाग्नौ जुहुयाद्यतिः ।
आत्मन्यग्नीन् समारोप्य सोऽग्निहोत्री महायतिः ॥119॥
प्रवृत्तिर्द्विविधा प्रोक्ता मार्जारी चैव वानरी ।
ज्ञानाभ्यासवतामोतुर्वानरी भाक्तमेव च ॥120॥
नापृष्टः कस्यचिद् ब्रूयान्न चान्यायेन पृच्छतः ।
जानन्नपि हि मेधावी जडवल्लोक आचरेत् ॥121॥
सर्वेषामेव पापानां संघाते समुपस्थिते ।
तारं द्वादशसाहस्रमभ्यसेच्छेदनं हि तत् ॥122॥
यस्तु द्वादशसाहस्रं प्रणवं जपतेऽन्वहम् ।
तस्य द्वादशभिर्मासैः परं ब्रह्म प्रकाशते ॥123॥ इत्युपनिषत् ।

इति द्वितीयोऽध्यायः ।

इति संन्यासोपनित्समाप्ता ।
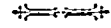
संन्यासी को सभी प्रकार के प्रपंच को (जागतिक पदार्थों को) ज्ञानरूपी अग्नि में भस्म ही कर डालना चाहिए। जो संन्यासी अपने अन्तरात्मा में ज्ञानरूपी अग्नि को समारोपित कर लेता है, वह सच्चे अर्थों में ज्ञानी और सही रूप में अग्निहोत्री होता है। संन्यासियों की प्रवृत्ति दो प्रकार की होती है। एक तो मार्जारी और दूसरी होती है वानरी। जो संन्यासी ज्ञान का अभ्यास करते हैं, इनकी वृत्ति मुख्यतया मार्जारी होती है और गौण रूप से वानरी होती है। किसी व्यक्ति के पूछे बिना संन्यासी को कुछ बोलना ही नहीं चाहिए। और यदि कोई अन्याय और अनीति से पूर्ण प्रश्न करे, तो भी उसे कुछ नहीं बोलना चाहिए। स्वयं ज्ञानवान् होते हुए भी संन्यासी को जनसाधारण के सामने मूढ़ की तरह ही रहना चाहिए। यदि किसी कारणवशात् पापप्रसंग उपस्थित हो जाए, तो बारह हजार की संख्या में तारकमंत्र का जाप करना चाहिए तथा उस पाप को नष्ट कर देना चाहिए। जो संन्यासी प्रतिदिन बारह हजार प्रणवमंत्र का जाप करता है, उसे बारह मास के भीतर ही परब्रह्म का साक्षात्कार हो जाता है। ऐसा यह उपनिषत् कहती है।

यहाँ दूसरा अध्याय पूरा हुआ।

इस प्रकार संन्यासोपनिषत् समाप्त होती है।

शान्तिपाठः

ॐ आप्यायन्तु ममाङ्गानि······ते मयि सन्तु । (पूर्ववत्)
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

(68) परमहंसपरिव्राजकोपनिषत्

(उपनिषत्परिचय)

अथर्ववेद से सम्बद्ध इस गद्यात्मक उपनिषद् में पाँच बड़े गद्यपरिच्छेद (गद्य कण्डिकाएँ) हैं। इन गद्य अनुच्छेदों में परमहंस परिव्राजक के लक्षण, परिव्रजन के अधिकारी, परिव्रज्या-प्राप्ति की विधि आदि का विवेचन है। यह उपनिषद् पितामह ब्रह्मा तथा आदिनारायण के संवादरूप में है। उपनिषत् का कहना है कि व्यक्ति को वर्णाश्रमधर्म का पालन करना चाहिए और क्रमशः अन्त में संन्यास ग्रहण करना चाहिए। नारायण ने संन्यास-ग्रहण की विधि और संन्यासी की दिनचर्या पर भी प्रकाश डाला है। ब्रह्माजी के पुनः पूछने पर नारायण ने ब्रह्मप्रणव का रहस्य भी समझाया है और बाद में उसका फल भी बताया है।

शान्तिपाठः

ॐ भद्रं कर्णेभिः······देवहितं यदायुः । (पूर्ववत्)
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

इसका हिन्दी रूपान्तर पूर्व में (शाण्डिल्योपनिषद् में) द्रष्टव्य है।

अथ पितामहः स्वपितरमादिनारायणमुपसमेत्य प्रणम्य पप्रच्छ । भगवन् त्वन्मुखाद्वर्णाश्रमधर्मक्रमं सर्वं श्रुतं विदितमवगतम् । इदानीं परमहंस-परिव्राजकलक्षणं वेदितुमिच्छामि । कः परिव्रजनाधिकारी ? कीदृशं परिव्राजकलक्षणम् ? कः परमहंसः ? परिव्राजकत्वं कथम् ? तत् सर्वं मे ब्रूहीति । स होवाच भगवानादिनारायणः ॥1॥

एक बार पितामह ब्रह्मा अपने पिता आदिनारायण के पास जाकर उन्हें प्रणाम करके पूछने लगे कि "हे भगवन्! आपके मुख से वर्णाश्रम धर्म का सब क्रम तो मैंने अच्छी तरह से सुन लिया, जान लिया और समझ लिया है। अब मैं परमहंस परिव्राजक के धर्म को (लक्षण को) जानना चाहता हूँ। परिव्रजन कर्म का अधिकारी कौन है ? परिव्राजक का लक्षण कैसा होता है ? परमहंस कौन होता है ? परिव्राजकत्व कैसे प्राप्त होता है ? यह सब आप मुझे बताइए।" तब भगवान् आदिनारायण ने कहा—

सद्गुरुसमीपे सकलविद्यापरिश्रमज्ञो भूत्वा विद्वान् सर्वमैहिकामुष्मिक-सुखश्रमं ज्ञात्वैषणात्रयवासनात्रयममत्वाहंकारादिकं वमनान्नमिव हेय-मधिगम्य मोक्षमार्गैकसाधनो ब्रह्मचर्यं समाप्य गृही भवेत् । गृहाद्वनी भूत्वा प्रव्रजेत् । यदि वेतरथा ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजेत् गृहाद्वा वनाद्वा । अथ पुनरव्रती वा व्रती वा स्नातको वाऽस्नातको वोत्सन्नाग्निरनग्निको वा यदहरेव विरजेत् तदहरेव प्रव्रजेदिति बुद्ध्वा सर्वसंसारेषु विरक्तो ब्रह्मचारी गृही वानप्रस्थो वा पितरं मातरं कलत्रपुत्रमाप्तबन्धुवर्गं तदभावे शिष्यं सहवासिनं वानुमोदयित्वा तद्धैके प्राजापत्यामेवेष्टिं

कुर्वन्ति । तदु तथा न कुर्यात् । आग्नेय्यामेव कुर्यात् । अग्निर्हि प्राणः । प्राणमेवैतया करोति । त्रैधातवीयामेव कुर्यात् । एतयैव त्रयो धातवो यदुत सत्त्वं रजस्तम इति ।

अयं ते योनिर्ऋत्वियो यतो जातो अरोचथाः ।
तं जानन्नग्न आरोहाथा नो वर्धया रयिम् ॥

इत्यनेन मन्त्रेणाग्निमाजिघ्रेत् । एष वा अग्नेर्योनिर्यः प्राणं गच्छ स्वां योनिं गच्छ स्वाहेत्येवमेवैतदाह । ग्रामाच्छ्रोत्रियागारादग्निमाहृत्य स्वविध्युक्तक्रमेण पूर्ववदग्निमाजिघ्रेत् । यद्यातुरो वाग्निं न विन्देदप्सु जुहुयात् । आपो वै सर्वा देवताः, सर्वाभ्यो देवताभ्यो जुहोमि स्वाहेति हुत्वाद्धृत्य प्राश्नीयात् साज्यं हविरनामयम् । एष विधिर्वीराध्वाने वाऽनाशके वापां प्रवेशे वाग्निप्रवेशे वा महाप्रस्थाने वा । यद्यातुरः स्यान्मनसा वाचा वा संन्यसेत् । एष पन्थाः ॥2॥

सकल भौतिक विद्याओं को केवल व्यर्थ परिश्रम मानने वाले साधक को यहाँ जगत् के और परलोक के सुखों को परिश्रमरूप ही जानकर, पुत्र-लोक-वित्त इन तीन एषणाओं तथा देह-मन-बुद्धिजन्य तीन वासनाओं तथा ममत्व और अहंकार को वमन किए हुए अन्न की तरह त्याज्य समझकर मोक्षमार्गरूप एक ही साधनवाला होकर पहले ब्रह्मचर्य समाप्त करके गृहस्थ बनना चाहिए । बाद में गृहस्थ से वानप्रस्थ होकर संन्यासी बनना चाहिए । अथवा अन्य प्रकार से ब्रह्मचर्याश्रम से या गृहस्थी से ही संन्यास ले लेना चाहिए । जो कोई व्रती हो या अव्रतधारी हो, स्नातक हुआ हो या अस्नातक ही रहा हो, सदा अग्निहोत्र करने वाला हो या अग्निहोत्र न भी करता हो, परन्तु जिस दिन पर वैराग्य आ जाए, उसी दिन प्रव्रजन कर देना चाहिए । ऐसा जानकर सारे संसार से विरक्त हुआ चाहे ब्रह्मचारी हो, या गृहस्थ हो, या वानप्रस्थी हो, तो अपने माता, पिता, पुत्र, स्त्री, स्वजन आदि की अनुमति लेकर या उनमें से यदि कोई न हो, तो शिष्य और सहवासी की भी अनुमति लेकर संन्यासाश्रम में जाना चाहिए । कुछ लोग पहले प्राजापत्य यज्ञ करते हैं, परन्तु उन्हें ऐसा नहीं करना चाहिए, केवल आग्नेय दृष्टि ही करनी चाहिए । "अग्नि ही प्राण है, उस अग्नि के द्वारा ही प्राण क्रिया करता है"—इस भाव से त्रैधातवी दृष्टि करनी चाहिए । सत्त्व-रज-तम, ये ही त्रिधातु हैं । बाद में इस मंत्र से अग्नि को सूँघना चाहिए कि हे अग्निदेव ! यह प्राण आपका कारणरूप है । यह जानते हुए आप इसमें प्रवेश करें । आप प्राण से जन्मे हैं, इसलिए हमें आप प्रकाश और बुद्धि दीजिए । हे अग्निदेव ! आप अपने योनिस्थल प्राण में प्रविष्ट हों । अपने उत्पत्तिस्थल में जाएँ । 'स्वाहा'—इस प्रकार ऐसा कहा गया है । गाँव के किसी श्रोत्रिय के घर से अग्नि लाकर पूर्वोक्त विधि से अग्नि को सूँघना चाहिए । यदि आतुरतापूर्ण भाव हो और अग्नि उपलब्ध न हो, तो जल में ही हवन कर लेना चाहिए । 'जल ही समस्त देवताओं का स्वरूप है, समस्त देवताओं के निमित्त हवन कर रहा हूँ'—ऐसा भाव करके स्वाहासहित आहुति देनी चाहिए । बाद में, हवन किए हुए पदार्थ को लेकर घी के साथ हवि को खाना चाहिए । इस विधि का प्रयोग वीरमार्ग या अनशन द्वारा शरीर छोड़ने के क्रम में या जलप्रवेश में या अग्निप्रवेश में या महाप्रस्थान में किया जाता है । यदि आतुरता हो तो मन से अथवा वाणी से ही संन्यास की विधि कर लेनी चाहिए । यह मार्ग है ।

स्वस्थक्रमेणैव चेदात्मश्राद्धं विरजाहोमं कृत्वा, अग्निमात्मन्यारोप्य, लौकिकवैदिकसामर्थ्यं स्वचतुर्दशकरणप्रवृत्तिं च पुत्रे समारोप्य तदभावे

शिष्ये वा तदभावे स्वात्मन्येव वा, ब्रह्मा त्वं यज्ञस्त्वमित्यभिमन्त्र्य ब्रह्मभावनया ध्यात्वा, सावित्रीप्रवेशपूर्वकमप्सु सर्वविद्यार्थस्वरूपां ब्राह्मण्याधारां वेदमातरं क्रमाद् व्याहृतिषु त्रिषु प्रविलाप्य, व्याहृतित्रयमकारोकारमकारेषु प्रविलाप्य, तत्सावधानेनापः प्राश्य, प्रणवेन शिखामुत्कृष्य, यज्ञोपवीतं छित्त्वा, वस्त्रमपि भूमौ वाप्सु वा विसृज्य, ॐ भूः स्वाहा, ॐ भुवः स्वाहा, ॐ सुवः स्वाहेत्यनेन जातरूपधरो भूत्वा, स्वं रूपं ध्यायन्, पुनः पृथक् प्रणवव्याहृतिपूर्वकं मनसा वचसापि संन्यस्तं मया संन्यस्तं मया संन्यस्तं मयेति मन्द्रमध्यमतारध्वनिभिस्त्रिवारत्रिगुणीकृतप्रेषोच्चारणं कृत्वा, प्रणवैकध्यानपरायणः सन्नभयं सर्वभूतेभ्यो मत्तः स्वाहेत्यूर्ध्वबाहुर्भूत्वा, ब्रह्माहमस्मीति तत्त्वमस्यादिमहावाक्यार्थस्वरूपानुसन्धानं कुर्वन्नुदीचीं दिशं गच्छेज्जातरूपधरश्चरेत् । एष संन्यासः ॥3-1॥

स्वस्थ क्रम से आत्मश्राद्ध तथा विरजा होम करके अग्नि को आत्मा में आरोपित करके अपने लौकिक तथा वैदिक सामर्थ्य का और अपनी चौदह करण प्रवृत्ति का अपने पुत्र में आरोपण करना चाहिए । यदि पुत्र न हो तो अपने शिष्य में और शिष्य न हो तो अपनी आत्मा में ही आरोपण करना चाहिए । बाद में 'ब्रह्मा त्वं यज्ञस्त्वम्'—इस मंत्र का उच्चारण करके ब्रह्म का भावनापूर्वक ध्यान करके सावित्री में प्रवेश करना चाहिए । फिर सर्वविद्या को अर्थस्वरूप और ब्राह्मण्य की आधाररूप वेदमाता गायत्री को तीन व्याहृतिपूर्वक (भूः भुवः स्वः बोलकर) पानी में विलीन कर देना चाहिए । और इन तीनों व्याहृतियों को अकार, उकार और मकार में (ॐ में) विलीन कर देना चाहिए । बाद में सावधान होकर पानी पीना चाहिए । इसके बाद ॐ मंत्र का उच्चारण करते हुए शिखा का त्याग करके यज्ञोपवीत को काट देना चाहिए और कपड़ों का धरती या पानी में त्याग कर देना चाहिए, और 'ॐ भूः स्वाहा, ॐ भुवः स्वाहा, ॐ स्वः स्वाहा'—ऐसा बोलते हुए शिशु की तरह निर्दोष और निर्दंश बनकर अपने स्वरूप का ध्यान करना चाहिए । बाद में प्रणव और व्याहृतिपूर्वक पृथक् रूप से मन और वाणी द्वारा 'मैंने संन्यास लिया, मैंने संन्यास लिया, मैंने संन्यास लिया'—ऐसा तीन बार मन्द्र, मध्य और तार-सप्तक की ध्वनि से तीन गुना प्रेष उच्चारण करना चाहिए । इसके बाद प्रणव का उच्चारण करते हुए भुजा उठाकर बोलना चाहिए कि 'मैं समस्त प्राणियों को अभयदान देता हूँ' । बाद में बोलना चाहिए कि 'अहं ब्रह्मास्मि' (मैं ब्रह्म हूँ), 'तत्त्वमसि' (तुम वही हो) और इन्हीं महावाक्यों का चिन्तन करता हुआ अपने वास्तविक स्वरूप के अनुसन्धान के लिए निर्लिप्त होकर उसे उत्तर दिशा की ओर चलना चाहिए और बालक की तरह भ्रमण करते रहना चाहिए । इसी को संन्यासधर्म कहा जाता है ।

तदधिकारी न भवेद्यदि, गृहस्थप्रार्थनापूर्वकमभयं सर्वभूतेभ्यो मत्तः सर्वं प्रवर्तते सखा मा गोपायौजः सखा योऽसीन्द्रस्य वज्रोऽसि वार्त्रघ्नः शर्म मे भव यत्पापं तन्निवारयेत्यनेन मन्त्रेण प्रणवपूर्वकं सलक्षणं वैणवं दण्डं कटिसूत्रं कौपीनं कमण्डलुं विवर्णवस्त्रमेकं परिगृह्य, सद्गुरुमुपगम्य, नत्वा, गुरुमुखात् तत्त्वमसीति महावाक्यं प्रणवपूर्वकमुपलभ्य, अथ जीर्णवस्त्रवल्कलाजिनं धृत्वा, अथ जलावतरणमूर्ध्वगमनमेकभिक्षां परित्यज्य, त्रिकालस्नानमाचरन्, वेदान्तश्रवणपूर्वकं प्रणवानुष्ठानं कुर्वन्, ब्रह्ममार्गे सम्यक् सम्पन्नः, स्वाभिमतमात्मनि गोपयित्वा,

निर्ममोऽध्यात्मनिष्ठः, कामक्रोधलोभमोहमदमात्सर्यदम्भदर्पाहङ्कारा-सूयागर्वेच्छाद्वेषहर्षामर्षममत्वादींश्च हित्वा, ज्ञानवैराग्ययुक्तो वित्तस्त्री-पराङ्मुखः शुद्धमानसः सर्वोपनिषदर्थमालोच्य, ब्रह्मचर्यापरिग्रहाहिंसा-सत्यं यत्नेन रक्षञ्जितेन्द्रियो बहिरन्तःस्नेहवर्जितः, शरीरसन्धारणार्थं चतुर्षु वर्णेष्वभिशस्तपतितवर्जितेषु पशुरद्रोही भैक्षमाणो ब्रह्मभूयाय भवति ॥3-2॥

यदि कोई इस विधि का (दिगम्बर विधि का) अधिकारी न हो, तो उसके लिए दूसरी विधि बताते हैं—उस गृहस्थ को सर्वप्रथम प्रार्थना करके सभी प्राणियों को अभय देना चाहिए। इस मंत्र से कहना चाहिए कि "हे सखा ! तुम मेरे बल का रक्षण करो। तुम वृत्रासुर को मारने वाले इन्द्र का वज्र हो, मेरे लिए शान्तिदाता हो, मुझे पापमुक्त करो"—प्रणवपूर्वक इस मंत्र को कहकर अच्छे निर्दोष बाँस का दण्ड, कटिसूत्र, कौपीन, कमण्डलु और एक गेरुआ वस्त्र धारण करके सद्गुरु के पास जाकर उन्हें प्रणाम करके उनसे प्रणवपूर्वक 'तत्त्वमसि' (वह तुम्हीं हो) इस महावाक्य का उपदेश प्राप्त करना चाहिए। तदुपरान्त फटा-टूटा वस्त्र या मृगचर्म आदि धारण करना चाहिए। जल में उतरना, वृक्ष पर चढ़ना, एक ही घर की भिक्षा पर निर्भर रहना—आदि का त्याग करना चाहिए। त्रिकाल स्नान का आचरण करते हुए वेदान्त का श्रवण और प्रणव का अनुष्ठान करना चाहिए। इस तरह ब्रह्ममार्ग का पूरा ज्ञान प्राप्त करके अपने मन को अपने ही भीतर रखकर अपने आपको ममतारहित और अध्यात्मनिष्ठ ही बनाए रखना चाहिए। काम, क्रोध, लोभ, मोह, मत्सर, दम्भ, दर्प, अहंकार, असूया, गर्व, इच्छा, द्वेष, हर्ष, अमर्ष, ममत्व आदि का परित्याग करके ज्ञान वैराग्य से युक्त होकर कांचन और कामिनी से विमुख होकर शुद्ध मन से समग्र उपनिषदों की समालोचना करके ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, अहिंसा, सत्य आदि की प्रयत्नपूर्वक रक्षा करते हुए जितेन्द्रिय बनना चाहिए। बाहर और भीतर से रागरहित बनकर शरीर-रक्षण के लिए चारों वर्णों में केवल पतितों को छोड़कर किसी भी वर्ण के सदाचारी गृहस्थ से निर्वैर होकर इस तरह भिक्षा लेनी चाहिए कि जिस तरह पशु किसी भेदभाव के बिना आहार ग्रहण करता है। ऐसा करने वाला सबमें ब्रह्मभाव ही रखता है।

सर्वेषु कालेषु लाभालाभौ समौ कृत्वा, करपात्रमाधूकरेणान्नमश्नन्, मेदोवृद्धिमकुर्वन्, कृशीभूत्वा, ब्रह्माहमस्मीति भावयन्, गुर्वर्थं ग्राम-मुपेत्य, ध्रुवशीलोऽष्टौ मास्येकाकी चरेत्, द्वावेवाचरेत्। यदालम्बुद्धि-र्भवेत् तदा कुटीचको वा बहूदको वा हंसो वा परमहंसो वा तत्तन्मन्त्र-पूर्वकं कटिसूत्रं कौपीनं दण्डं कमण्डलुं सर्वमप्सु विसृज्याथ जातरूप-धरश्चरेत्। ग्रामैकरात्रं तीर्थे त्रिरात्रं पट्टने पञ्चरात्रं क्षेत्रे सप्तरात्रमनिकेतः स्थिरमतिरनग्निसेवी निर्विकारो नियमानियममुत्सृज्य प्राणसन्धारणार्थम-यमेव लाभालाभौ समौ कृत्वा गोवृत्त्या भैक्षमाचरन्नुदकस्थलकमण्डलु-रबाधकरहस्यस्थलवासो न पुनर्लाभालाभरतः शुभाशुभकर्मनिर्मूलनपरः सर्वत्र भूतलशयनः क्षौरकर्मपरित्यक्तो मुक्तचातुर्मास्यव्रतनियमः शुक्लध्यानपरायणोऽर्थस्त्रीपुत्रपराङ्मुखोऽनुन्मत्तोऽप्युन्मत्तवदाचरन्नव्यक्त-लिङ्गोऽव्यक्ताचारो दिवानक्तसमत्वेनास्वप्नः स्वरूपानुसन्धानब्रह्मप्रणव-ध्यानमार्गेणावहितः संन्यासेन देहत्यागं करोति स परमहंसपरिव्राजको भवति ॥3-3॥

सभी कालों में लाभ-हानि को समान मानता हुआ वह अपने हाथ में ही थोड़ी भिक्षा ग्रहण कर ले। देह को स्थूल न बनाकर, कृश शरीर वाला होकर. 'मैं ब्रह्म हूँ'—ऐसा भाव रखते हुए वह आठ महीने तक गुरु के लिए भिक्षा माँगने का अडिग निश्चय करे और अकेला ही भ्रमण करता रहे अथवा गुरु-शिष्य दोनों भ्रमण करते रहें। जब उसे अच्छी तरह से पूरा ज्ञान हो जाए तब उसे कुटीचक या बहूदक या हंस या परमहंस होकर, मंत्रपूर्वक कटिसूत्र, कौपीन, कमण्डलु, आदि सभी वस्तुओं को जल में बहाकर (छोड़कर) बच्चे की तरह सर्वत्र भ्रमण करते रहना चाहिए। इस विचरण-काल में गाँव में एक रात्रि, तीर्थ में तीन रात्रि, नगर में पाँच रात्रि तथा क्षेत्र में सात रात्रि तक ही निवास करना चाहिए। इस तरह उसे अनिकेत, स्थिरबुद्धि, अग्निरहित, निर्विकार, नियम-अनियम परित्यागी, लाभ-हानि में समान चित्त वाला होना चाहिए। मात्र प्राणधारण वृत्ति से ही भिक्षा माँगनी चाहिए। जलाशय को ही अपना कमण्डलु मानना चाहिए। उसे बाधारहित किसी एकान्त स्थान में ही रहना चाहिए। उसे लाभ-हानि का विचार नहीं करना चाहिए। उसे भूमि पर ही सोना चाहिए, उसे क्षौरकर्म (हजामत) को छोड़ देना चाहिए। चातुर्मास आदि व्रतों और नियमों से भी उसे मुक्त रहना चाहिए। उसे केवल सात्त्विक ध्यान में ही संलग्न रहना चाहिए। धन, संपत्ति, स्त्री और नगर से उसे हमेशा विमुख ही रहना चाहिए। स्वयं ज्ञान से भरा हुआ होने पर भी उसे बाहर तो पागल की तरह ही व्यवहार करना चाहिए। उसे अपने लिंग और आचार को प्रकट नहीं होने देना चाहिए। ऐसा संन्यासी दिन और रात को समानभाव से देखता है, इसलिए रात को भी जाग्रत् अवस्था में ही रहा करता है। जो निज के स्वरूपानुसन्धान में और प्रणव के ध्यान में मग्न होकर संन्यासमार्ग के द्वारा देह का परित्याग करता है, वह परमहंसपरिव्राजक होता है।

भगवन् ब्रह्मप्रणवः कीदृश इति ब्रह्मा पृच्छति। स होवाच नारायणः। ब्रह्मप्रणवः षोडशमात्रात्मकः सोऽवस्थाचतुष्टयचतुष्टयगोचरः। जाग्रद-वस्थायां जाग्रदादिचतस्रोऽवस्थाः, स्वप्ने स्वप्नादिचतस्रोऽवस्थाः, सुषुप्तौ सुषुप्त्यादिचतस्रोऽवस्थाः, तुरीये तुरीयादिचतस्रोऽवस्था भवन्तीति। व्यष्टिजाग्रदवस्थायां विश्वस्य चातुर्विध्यं विश्वविश्वो विश्वतैजसो विश्वप्राज्ञो विश्वतुरीय इति। व्यष्टिस्वप्नावस्थायां तैजसस्य चातुर्विध्यं तैजसविश्वस्तैजसतैजसस्तैजसप्राज्ञस्तैजसतुरीय इति। सुषुप्त्यवस्थायां प्राज्ञस्य चातुर्विध्यं प्राज्ञविश्वः प्राज्ञतैजसः प्राज्ञप्राज्ञः प्राज्ञतुरीय इति। तुरीयावस्थायां तुरीयस्य चातुर्विध्यं तुरीयविश्वस्तुरीय-तैजसस्तुरीयप्राज्ञस्तुरीयतुरीय इति। एते क्रमेण षोडशमात्रारूढाः। अकारे जाग्रद्विश्व उकारे जाग्रत्तैजसो मकारे जाग्रत्प्राज्ञ अर्धमात्रायां जाग्रत्तुरीयः, बिन्दौ स्वप्नविश्वः, नादे स्वप्नतैजसः, कलायां स्वप्नप्राज्ञः, कलातीते स्वप्नतुरीयः, शान्तौ सुषुप्तविश्वः, शान्त्यतीते सुषुप्ततैजसः, उन्मन्यां सुषुप्तप्राज्ञः, मनोन्मन्यां सुषुप्ततुरीयः, तुर्यां तुरीयविश्वः, मध्यमायां तुरीयतैजसः, पश्यन्त्यां तुरीयप्राज्ञः, परायां तुर्यतुरीयः। जाग्रन्मात्राचतुष्टयमकारांशं स्वप्नमात्राचतुष्टयमुकारांशं सुषुप्तिमात्रा-चतुष्टयं मकारांशं तुरीयमात्राचतुष्टयमर्धमात्रांशम्। अयमेव ब्रह्मप्रणवः। स परमहंसतुरीयातीतावधूतैरुपास्यः। तेनैव ब्रह्म प्रकाशते। तेन विदेहमुक्तिः ॥4॥

ब्रह्माजी ने आदिनारायण से पूछा—'हे भगवन् ! ब्रह्मप्रणव कैसा होता है ?' तब आदिनारायण ने कहा—ब्रह्मप्रणव सोलह मात्राओं वाला होता है। चारों अवस्थाओं में प्रत्येक अवस्था की चार-चार स्थितियाँ होने से कुल मिलाकर सोलह मात्राएँ होती हैं। जाग्रत् अवस्था मे मुख्य जाग्रत् के साथ अन्य तीन अवस्थाएँ, स्वप्नावस्था में मुख्य स्वप्नावस्था के साथ अन्य तीन अवस्थाएँ, सुषुप्ति में भी मुख्य सुषुप्ति के साथ शेष की तीन अवस्थाएँ और तुरीय में भी मुख्य तुरीयावस्था के साथ शेष तीन के मिलने से कुल सोलह अवस्थाएँ होती हैं। व्यष्टि जाग्रदवस्था में विश्व के चार रूप होते हैं—विश्वविश्व, विश्वतैजस, विश्वप्राज्ञ और विश्वतुरीय। इस प्रकार व्यष्टि स्वप्नावस्था में तैजस के भी चार रूप होते हैं—तैजसविश्व, तैजसतैजस, तैजसप्राज्ञ और तैजसतुरीय। इसी प्रकार सुषुप्ति अवस्था में व्यष्टिप्राज्ञ के भी चार रूप होते हैं—प्राज्ञविश्व, प्राज्ञतैजस, प्राज्ञप्राज्ञ और प्राज्ञतुरीय। और इसी प्रकार तुरीयावस्था में तुरीय के भी चार भेद होते हैं—तुरीयविश्व, तुरीयतैजस, तुरीयप्राज्ञ और तुरीयतुरीय। इस प्रकार यह ब्रह्मप्रणव षोडशमात्रात्मक होता है। अकार में जाग्रत्-विश्व, उकार मे जाग्रत्-तैजस और मकार में जाग्रत्-प्राज्ञ होता है। अर्धमात्रा में जाग्रत्-तुरीय, बिन्दु में स्वप्न-विश्व, नाद में स्वप्नतैजस, कला में स्वप्नप्राज्ञ और कलातीत में स्वप्नतुरीय होता है। शान्ति में सुषुप्तविश्व, शान्त्यतीत में सुषुप्ततैजस, उन्मनी में सुषुप्तप्राज्ञ और मनोन्मनी अवस्था में सुषुप्ततुरीय होता है। तुरीया (वैखरी) में तुरीयविश्व, मध्यमा में तुरीयतैजस, पश्यन्ती में तुरीयप्राज्ञ और परा में तुरीयतुरीय होता है। प्रणव—ॐ कार के अकारांश में जाग्रत् अवस्था की चार मात्राएँ हैं, उकारांश में स्वप्नावस्था की चार मात्राएँ हैं, मकारांश में सुषुप्तावस्था की चार मात्राएँ हैं और अर्धमात्रा में तुरीयावस्था की चार मात्राएँ हैं। यही ब्रह्मप्रणव है। यह ब्रह्मप्रणव ही परमहंस तुरीयातीत अवधूतों का उपास्य है। इसी के द्वारा ब्रह्म प्रकाशित होता है और इसी से विदेहमुक्ति प्राप्त होती है।

भगवन् कथमयज्ञोपवीत्यशिखी सर्वकर्मपरित्यक्तः ? कथं ब्रह्मनिष्ठापरः ? कथं ब्राह्मणः ? इति ब्रह्मा पृच्छति। स होवाच विष्णुः। भो भोऽर्भक यस्यास्त्यद्वैतमात्मज्ञानं तदेव यज्ञोपवीतम्। तस्य ध्याननिष्ठैव शिखा। तत्कर्म सपवित्रम्। स सर्वकर्मकृत् स ब्राह्मणः स ब्रह्मनिष्ठापरः स देवः स ऋषिः स तपस्वी स श्रेष्ठः स एव सर्वज्येष्ठः स एव जगद्गुरुः स एवाहं विद्धि। लोके परमहंसपरिव्राजको दुर्लभतरः। यद्येकोऽस्ति स एव नित्यपूतः स एव वेदपुरुषः। महापुरुषो यस्तच्चित्तं मय्येवावतिष्ठते। अहं च तस्मिन्नेवावस्थितः। स एव नित्यतृप्तः। स शीतोष्णसुखदुःखमानावमानवर्जितः। स निन्दामर्षसहिष्णुः। स षडूर्मिवर्जितः षड्भावविकारशून्यः। स ज्येष्ठाज्येष्ठव्यवधानरहितः। स स्वव्यतिरेकेण नान्यद्रष्टा। आशाम्बरो न नमस्कारो न स्वाहाकारो न स्वधाकारश्च न विसर्जनपरो निन्दास्तुतिव्यतिरिक्तो न मन्त्रतन्त्रोपासको देवान्तरध्यानशून्यो लक्ष्यालक्ष्यनिवर्तकः सर्वोपरतः स सच्चिदानन्दाद्वयचिद्घनः सम्पूर्णानन्दैकबोधो ब्रह्मैवाहमस्मीत्यनवरतं ब्रह्मप्रणवानुसन्धानेन यः कृतकृत्यो भवति स ह परमहंसपरिव्राडित्युपनिषत्॥5॥

इति परमहंसपरिव्राजकोपनित्समाप्ता।

ब्रह्मा ने फिर पूछा—"भगवन्! यज्ञोपवीतरहित, शिखारहित, सर्वकर्मपरित्यागी भी कैसे ब्रह्मनिष्ठ और ब्राह्मण हो सकता है ?" तब विष्णु ने कहा—अरे बालक ! अद्वैतरूप आत्मज्ञान ही उसका यज्ञोपवीत है और ध्याननिष्ठा ही उसकी शिखा है। वह अपने सत्कर्मों से पवित्र हो जाता है। सभी कर्मों को वह कर चुका है। वह ब्राह्मण है, वह ब्रह्मनिष्ठ है, वह ब्रह्मपरायण है, वह देव है, वह ऋषि है, वह तपस्वी है, वह श्रेष्ठ है। वह सर्वज्येष्ठ है, वह जगद्गुरु है। वह मैं (विष्णु) ही हूँ ऐसा जानना चाहिए। इस लोक में परमहंस परिव्राजक दुर्लभ ह। यदि एकाध होता है तो वह नित्यपावन और वेदपुरुष है। मुझमें ही चित्त को अवस्थित रखने वाला वह महापुरुष है, मैं उसी में रहता हूँ। वही नित्यतृप्त होता है। सर्दी-गर्मी, मानापमान और सुख-दुःखादि से वह रहित होता है। वह निन्दा और क्रोध को सहन कर लेने वाला होता है। वह छः ऊर्मियों से रहित होता है, वह छः भावविकारों से भी शून्य ही होता है। उसकी दृष्टि में छोटे-बड़े का कोई भेदभाव नहीं रहता। (वह समदर्शी होता है।) वह सभी जगह अपने आत्मा के सिवा अन्य कुछ भी नहीं देखता। दिशाएँ ही उसका वस्त्र होती हैं। वह नमस्कार, स्वाहाकार, स्वधाकार और विसर्जनादि कुछ भी नहीं करता, निन्दा-स्तुति से वह परे रहता है। वह मंत्र-तंत्र-उपासना कुछ भी नहीं करता। किसी अन्य देव का ध्यान भी नहीं करता। वह लक्ष्यालक्ष्य से रहित और सभी से उपरत ही हो जाता है। वह सच्चिदानन्द, अद्वैत, चिद्घन और संपूर्ण आनन्द के बोधयुक्त, 'मैं ब्रह्म हूँ—ऐसी निरंतर भावना ही रखने वाला है। जो प्रणवब्रह्म के अनुसन्धान से कृतकृत्य हो जाता है। उसे ही परमहंसपरिव्राजक कहा जाता है, ऐसा यह उपनिषत् कहती है।

इस प्रकार परमहंसपरिव्राजकोपनिषत् समाप्त होती है।

शान्तिपाठः

ॐ भद्रं कर्णेभिः····देवहितं यदायुः। (पूर्ववत्)
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः॥

(69) अक्षमालिकोपनिषत्

(उपनिषत्परिचय)

ऋग्वेद परम्परा की यह उपनिषद् गद्यात्मक है। जिसे विद्वानों ने छोटी-मोटी सोलह कण्डिकाओं में विभक्त किया है। यह उपनिषद् प्रजापति ब्रह्मा और कार्तिकेय के संवाद के रूप में है। इसमें अक्षमाला के विषय में कहा गया है। अक्षमाला का लक्षण, उसके भेद, उसके सूत्र, गूँथने की रीति, उसका वर्ण, उसकी अधिष्ठाता देवता—आदि बहुत कुछ कहा गया है। इसके उपरान्त भी अक्षमाला में ब्रह्मादि की भावना, उसके शोधन की प्रक्रिया, उसके प्रत्येक अक्ष में विशिष्ट मंत्र का संयोजन, देवता, मंत्र, विद्या और तत्त्व का सामीप्य पाने के लिए जपादि बताए गए हैं, अक्षमाला की स्तुति भी की गई है। और अन्त में उपनिषत् की फलश्रुति भी कही गई है।

शान्तिपाठः

ॐ वाङ्मे मनसि प्रतिष्ठिता मनो मे वाचि प्रतिष्ठितमाविरावीर्म एधि। वेदस्य म आणीस्थः श्रुतं मे मा प्रहासीरनेनाधीतेनाहोरात्रान्सन्दधाम्यृतं वदिष्यामि। सत्यं वदिष्यामि। तन्मामवतु तद्वक्तारमवतु अवतु मामवतु वक्तारमवतु वक्तारम्॥

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः॥

हे परमात्मन्! मेरी वाणी मन में स्थिर हो, मन वाणी में स्थिर हो। हे प्रकाशरूप परमात्मन्! मेरे लिए तुम प्रकट हो। (हे वाणी और हे मन!) तुम मेरे लिए वेदविषयक ज्ञान को लाने वाले हो। मेरा श्रुतज्ञान मेरे से कभी विस्मृत न हो। इस स्वाध्याय से मैं दिनों और रात्रियों को एक कर दूँ। मैं परमसत्य ही बोलूँगा। सत्य ही बोला करूँगा। वह ब्रह्म मेरी रक्षा करे। वह ब्रह्म आचार्य की रक्षा करे, रक्षा करे मेरी और रक्षा करे आचार्य की।

ॐ त्रिविध तापों की शान्ति हो।

अथ प्रजापतिर्गुहं पप्रच्छ—भो भगवन् अक्षमालाभेदविधिं ब्रूहीति। सा किंलक्षणा कतिभेदा अस्याः कति सूत्राणि कथं घटनाप्रकारः के वर्णाः का प्रतिष्ठा कैवास्याधिदेवता किं फलं चेति॥1॥

एक समय प्रजापति ने गुह से (कार्तिकेय से) पूछा—"हे भगवन्! आप कृपा करके अक्षमाला की भेदविधि कहिए, कि इसका लक्षण क्या है? इसके भेद कितने हैं? इसके सूत्र कितने हैं? पिरोने के प्रकार कैसे होते हैं? कौन से अक्षर हैं? क्या प्रतिष्ठा है? कौन इसकी अधिदेवता है? और इसका फल क्या होता है?'

तं गुहः प्रत्युवाच—प्रवालमौक्तिकस्फटिकशङ्खरजताष्टापदचन्दनपुत्रजीविकाब्जे रुद्राक्षा इति आदिक्षान्तमूर्तिसंविधानुभावाः। सौवर्णं राजतं

ताम्रं चेति सूत्रत्रयम्। तद्विवरे सौवर्णं तद्दक्षपार्श्वे राजतं तद्वामे ताम्रं तन्मुखे मुखं तत्पुच्छे पुच्छं तदन्तरावर्तनक्रमेण योजयेत्॥2॥

तब गुह ने उत्तर में उनसे कहा कि हे ब्रह्मन्! यह अक्षमाला प्रवाल, मोती, स्फटिक, शंख, चाँदी, सुवर्ण, चन्दन, पुत्रजीविका, कमल और रुद्राक्ष—इन दस प्रकार की बनती है। ये 'अ' से लेकर 'क्ष' तक के अक्षरों से विधिपूर्वक धारण की जाती हैं। सोने, चाँदी और ताँबे से मिश्रित तीन सूत्र होते हैं। इन तीन सूत्रों में सोना मनकों के सामने के मुखविवर में होता है और चाँदी दाहिने भाग में होती है, तथा ताँबा बाँयें हिस्से में। उसे मुख में मुख तथा पूँछ के साथ पूँछ के क्रम में नियोजित करना चाहिए।

यदस्यान्तरं सूत्रं तद्ब्रह्म। यद्दक्षपार्श्वे तच्छैवम्। यद्वामे तद्वैष्णवम्। यन्मुखं सा सरस्वती। यत् पुच्छं सा गायत्री। यत् सुषिरं सा विद्या। या ग्रन्थिः सा प्रकृतिः। ये स्वरास्ते धवलाः। ये स्पर्शास्ते पीताः। ये परास्ते रक्ताः॥3॥

जो इसके अन्दर का सूत्र है, वही ब्रह्म है। जो दाहिने भाग में है, वही शैव है। जो बाँयें हिस्से में है, वही वैष्णव है। जो मुख है वही सरस्वती है, और जो पूँछ है वह गायत्री है। जो छिद्र है वह विद्या है। जो गाँठ है वह प्रकृति है। जो स्वर हैं वे धवल (श्वेत) हैं। जो स्पर्श (व्यञ्जन) हैं, वे पीले हैं। जो परा अर्थात् तम और सत् से भिन्न हैं वे लाल रंग के हैं।

अथ तां पञ्चभिर्गव्यैरमृतैः पञ्चभिर्गव्यैस्तनुभिः शोधयित्वा पञ्चभिर्गव्यैर्गन्धोदकेन संस्नाप्य तस्मात् सोङ्कारेण पत्रकूर्चेन स्नपयित्वाऽष्टभिर्गन्धैरालिप्य सुमनःस्थले निवेश्याक्षतपुष्पैराराध्य प्रत्यक्षमादिक्षान्तैर्वर्णैर्भावयेत्॥4॥

इसके बाद उस माला को पाँच गायों के दूध से तथा पंचगव्य से—गोमूत्र, गोमय, गोदुग्ध, गोदधि और गोघृत से—शोधित करके फिर से पंचगव्य और गन्धमिश्रित जल से ठीक तौर से स्नान करवाकर ॐ कार का उच्चारण करते हुए पत्तों के कूर्च से (कूर्ची से) जल छिड़ककर आठ प्रसिद्ध गन्धों से उसका लेपन करना चाहिए। और पुष्पित स्थान पर उसे प्रतिष्ठित करना चाहिए। और बाद में अक्षत-पुष्पादि के द्वारा उसका पूजन करना चाहिए। हरएक अक्ष (मनके) को 'अ' से लेकर 'क्ष' तक के अक्षरों द्वारा क्रमशः भावित करना चाहिए।

ओमङ्कार मृत्युञ्जय सर्वव्यापक प्रथमेऽक्षे प्रतितिष्ठ। ओमाङ्काराकर्षणात्मक सर्वगत द्वितीयेऽक्षे प्रतितिष्ठ। ओमिङ्कार पुष्टिदाक्षोभकर तृतीयेऽक्षे प्रतितिष्ठ। ओमीङ्कार वाक्प्रसादकर निर्मल चतुर्थेऽक्षे प्रतितिष्ठ। ओमुङ्कार सर्वबलप्रद सारतर पञ्चमेऽक्षे प्रतितिष्ठ। ओमूङ्कारोच्चाटनकर दुःसह षष्ठेऽक्षे प्रतितिष्ठ। ओमृङ्कार संक्षोभकर चञ्चल सप्तमेऽक्षे प्रतितिष्ठ। ओमॄङ्कार सम्मोहनकरोज्ज्वलाष्टमेऽक्षे प्रतितिष्ठ। ओम्लृङ्कार विद्वेषणकर मोहक नवमेऽक्षे प्रतितिष्ठ। ओम्लॄङ्कार मोहकर दशमेऽक्षे प्रतितिष्ठ। ओमेङ्कार सर्ववश्यकर शुद्धसत्त्वैकादशेऽक्षे प्रतितिष्ठ। ओमैङ्कार शुद्धसात्त्विक पुरुषवश्यकर द्वादशेऽक्षे प्रतितिष्ठ।

ओमोङ्काराखिलवाङ्मय नित्यशुद्ध त्रयोदशेऽक्षे प्रतितिष्ठ। ओमौङ्कार सर्ववाङ्मय वश्यकर शान्त चतुर्दशेऽक्षे प्रतितिष्ठ। ओमङ्कार गजादिवश्यकर मोहन पञ्चदशेऽक्षे प्रतितिष्ठ। ओमःकार मृत्युनाशनकर रौद्र षोडशेऽक्षे प्रतितिष्ठ। ॐ कङ्कार सर्वविषहर कल्याणद सप्तदशेऽक्षे प्रतितिष्ठ। ॐ खङ्कार सर्वक्षोभकर व्यापकाष्टादशेऽक्षे प्रतितिष्ठ। ॐ गङ्कार सर्वविघ्नशमन महत्तरैकोनविंशेऽक्षे प्रतितिष्ठ। ॐ घङ्कार सौभाग्यद स्तम्भनकर विंशेऽक्षे प्रतितिष्ठ। ॐ ङङ्कार सर्वविषनाशकरोग्रैकविंशेऽक्षे प्रतितिष्ठ। ॐ चङ्काराभिचारघ्न क्रूर द्वाविंशेऽक्षे प्रतितिष्ठ। ॐ छङ्कार भूतनाशकर भीषण त्रयोविंशेऽक्षे प्रतितिष्ठ। ॐ जङ्कार कृत्याऽऽदिनाशकर दुर्धर्ष चतुर्विंशेऽक्षे प्रतितिष्ठ। ॐ झङ्कार भूतनाशकर पञ्चविंशेऽक्षे प्रतितिष्ठ। ॐ ञङ्कार मृत्युप्रमथन षड्विंशेऽक्षे प्रतितिष्ठ। ॐ टङ्कार सर्वव्याधिहर सुभग सप्तविंशेऽक्षे प्रतितिष्ठ। ॐ ठङ्कार चन्द्ररूपाष्टाविंशेऽक्षे प्रतितिष्ठ। ॐ डङ्कार गरुडात्मक विषघ्न शोभनैकोनत्रिंशेऽक्षे प्रतितिष्ठ। ॐ ढङ्कार सर्वसंपत्प्रद सुभग त्रिंशेऽक्षे प्रतितिष्ठ। ॐ णङ्कार सर्वसिद्धिप्रद मोहकरैकत्रिंशेऽक्षे प्रतितिष्ठ। ॐ तङ्कार धनधान्यादिसम्पत्प्रद प्रसन्न द्वात्रिंशेऽक्षे प्रतितिष्ठ। ॐ थङ्कार धर्मप्राप्तिकर निर्मल त्रयस्त्रिंशेऽक्षे प्रतितिष्ठ। ॐ दङ्कार पुष्टिवृद्धिकर प्रियदर्शन चतुस्त्रिंशेऽक्षे प्रतितिष्ठ। ॐ धङ्कार विषज्वरनिघ्न विपुल पञ्चत्रिंशेऽक्षे प्रतितिष्ठ। ॐ नङ्कार भुक्तिमुक्तिप्रद शान्त षट्त्रिंशेऽक्षे प्रतितिष्ठ। ॐ पङ्कार विषविघ्ननाशन भव्य सप्तत्रिंशेऽक्षे प्रतितिष्ठ। ॐ फङ्काराणिमादिसिद्धिप्रद ज्योतीरूपाष्टत्रिंशेऽक्षे प्रतितिष्ठ। ॐ बङ्कार सर्वदोषहर शोभनैकोनचत्वारिंशेऽक्षे प्रतितिष्ठ। ॐ भङ्कार भूतप्रशान्तिकर भयानक चत्वारिंशेऽक्षे प्रतितिष्ठ। ॐ मङ्कार विद्वेषिमोहनकरैकचत्वारिंशेऽक्षे प्रतितिष्ठ। ॐ यङ्कार सर्वव्यापक पावन द्विचत्वारिंशेऽक्षे प्रतितिष्ठ। ॐ रङ्कार दाहकर विकृत त्रिचत्वारिंशेऽक्षे प्रतितिष्ठ। ॐ लङ्कार विश्वंभर भासुर चतुश्चत्वारिंशेऽक्षे प्रतितिष्ठ। ॐ वङ्कार सर्वाप्यायनकर निर्मल पञ्चचत्वारिंशेऽक्षे प्रतितिष्ठ। ॐ शङ्कार सर्वफलप्रद पवित्र षट्चत्वारिंशेऽक्षे प्रतितिष्ठ। ॐ षङ्कार धर्मार्थकामद धवल सप्तचत्वारिंशेऽक्षे प्रतितिष्ठ। ॐ सङ्कार सर्वकारण सार्ववर्णिकाष्टचत्वारिंशेऽक्षे प्रतितिष्ठ। ॐ हङ्कार सर्ववाङ्मय निर्मलैकोनपञ्चाशदक्षे प्रतितिष्ठ। ॐ ळङ्कार सर्वशक्तिप्रद प्रधान पञ्चाशदक्षे प्रतितिष्ठ। ॐ क्षङ्कार परापरतत्त्वज्ञापक परंज्योतीरूप शिखामणौ प्रतितिष्ठ ॥5॥

हे अकार ! तुम मृत्युंजय हो, सर्वव्यापी हो, इस प्रथम मनके में प्रतिष्ठित हो जाओ। हे आकार ! तुम आकर्षणात्मक और सर्वगत हो इस द्वितीय मनके में प्रतिष्ठित हो जाओ ! हे इकार ! तुम पुष्टिदायक और क्षोभरहित हो, इस तीसरे मनके में प्रतिष्ठित हो जाओ। हे ईकार ! तुम वाणी को

प्रासादिक बनाने वाले और निर्मल हो, इस चौथे मनके में प्रतिष्ठित हो जाओ। हे उकार ! तुम सभी को बल देने वाले तथा सारतत्त्वों में अधिक हो, पाँचवें अक्ष में प्रतिष्ठित हो जाओ। हे ऊकार ! तुम उच्चाटनकारक और असह्य हो, छठे मनके में प्रतिष्ठित हो। हे ऋकार ! तुम चित्त को क्षुभित करने वाले और चंचल हो, सातवें अक्ष में स्थापित हो। हे ॠकार ! तुम संमोहक और उज्ज्वल हो, आठवें अक्ष में स्थापित हो। हे ऌकार ! तुम विद्वेषकारक और मोहक हो, नवम अक्ष में प्रतिष्ठित हो जाओ। हे ॡकार ! तुम मोहक हो दसवें अक्ष में प्रतिष्ठित हो। हे एकार ! तुम सबको वश में करने वाले और शुद्ध सत्त्वमय हो, ग्यारहवें मनके में प्रतिष्ठित हो जाओ ! हे ऐकार ! तुम शुद्ध, सात्त्विक और पुरुषों को वश में लाने वाले हो, वारहवें मनके में प्रतिष्ठित हो जाओ ! हे ओकार ! तुम अखिल वाङ्मयरूप और नित्यशुद्ध हो, तेरहवें मनके में प्रतिष्ठित हो जाओ। हे औकार ! तुम सभी वाङ्मय को वश में करने वाले तथा शान्त हो, तुम चौदहवें मनके में प्रतिष्ठित हो जाओ। हे अंकार ! तुम हाथी आदि सबको वश में लाने वाले हो, तुम पंद्रहवें मनके में प्रतिष्ठित हो जाओ। हे अ:कार ! तुम मृत्युनाशक और रौद्र हो, सोलहवें मनके में प्रतिष्ठित हो। हे सर्वविष को हरने वाले और कल्याणकारी ककार ! तुम सत्रहवें अक्ष में प्रतिष्ठित हो। हे सबको क्षुब्ध करने वाले व्यापक खकार ! तुम अठारहवें मनके में प्रतिष्ठित हो। हे गकार ! तुम सभी विघ्नों को शान्त करने वाले हो, और बड़े से भी बड़े हो, तुम उन्नीसवें मनके में प्रतिष्ठित हो। हे घकार ! तुम सौभाग्यकारी और गति को रोकने वाले हो, तुम बीसवें अक्ष में प्रतिष्ठित हो जाओ। हे ङकार ! तुम सभी प्रकार के विषों का नाश करने वाले और उग्र हो, तुम एक्कीसवें अक्ष में प्रतिष्ठित हो। हे चकार ! तुम अभिचारों (जादू-टोनों) के नाशक और उग्र हो, तुम बाईसवें मनके में प्रतिष्ठित हो जाओ। हे छकार ! तुम भूतनाशकारी और भयंकर हो, तेईसवें मनके में प्रतिष्ठित हो। हे जकार ! तुम डाकिनी आदि के नाशक और दुर्धर्ष हो, चौबीसवें मनके में प्रतिष्ठित हो जाओ। हे झकार ! तुम भूतनाशक हो, पच्चीसवें अक्ष में प्रतिष्ठित हो जाओ। हे ञकार ! तुम मृत्यु को मथने वाले हो, तुम छब्बीसवें मनके में प्रतिष्ठित हो जाओ। हे टकार ! तुम सर्वपीड़ाहर और अच्छे भाग्यवाले हो, तुम सत्ताईसवें अक्ष में प्रतिष्ठित हो जाओ। हे ठकार ! तुम चन्द्ररूप हो, अट्ठाइसवें मनके में प्रतिष्ठित हो जाओ। हे डकार ! तुम गरुडरूप हो, विषों को दूर करने वाले हो और सुन्दर हो, तुम उनतीसवें मनके में प्रतिष्ठित हो जाओ। हे ढकार ! तुम सभी संपत्ति को देने वाले और सुन्दर हो, तुम तीसवें मनके में प्रतिष्ठित हो। हे णकार ! तुम सर्वसिद्धि को देने वाले और मोहकारक हो, तुम इकतीसवें मनके में प्रतिष्ठित हो। हे तकार ! तुम धनधान्यादि संपत्ति को देने वाले और प्रसन्न हो, तुम बत्तीसवें मनके में प्रतिष्ठित हो। हे थकार ! तुम धर्मप्राप्तिकारक और निर्मल हो, तुम तैंतीसवें मनके में प्रतिष्ठित हो। हे दकार ! तुम पुष्टि और वृद्धि करने वाले हो, तुम चौंतीसवें मनके में प्रतिष्ठित हो। हे धकार ! तुम विष और ज्वर को दूर करने वाले हो और विपुल हो, तुम पैंतीसवें अक्ष में प्रतिष्ठित हो जाओ। हे नकार ! तुम भोग और मुक्ति देने वाले हो और शान्त हो, तुम छत्तीसवें मनके में प्रतिष्ठित हो जाओ। हे पकार ! तुम विष की पीड़ा का नाश करने वाले और भव्य हो, तुम सैंतीसवें अक्ष में प्रतिष्ठित हो जाओ। हे फकार ! तुम अणिमादि सिद्धि देने वाले और ज्योतिरूप हो, तुम अड़तीसवें मनके में प्रतिष्ठित हो जाओ। हे बकार ! तुम सभी दोषों को दूर करने वाले और सुन्दर हो, तुम उनचालीसवें मनके में प्रतिष्ठित हो। हे भकार ! तुम भूतों की शान्ति करने वाले और भयानक हो, तुम चालीसवें अक्ष में प्रतिष्ठित हो। हे मकार ! तुम विद्वेष करने वालों में मोह उत्पन्न करने वाले हो, तुम एकतालीसवें मनके में प्रतिष्ठित हो। हे यकार ! तुम सर्वव्यापक और पवित्र हो, तुम बयालीसवें मनके में प्रतिष्ठित हो। हे रकार ! तुम दाहक और विकृत हो, तुम तिरालीसवें मनके में प्रतिष्ठित हो। हे

लकार ! तुम विश्वंभर और तेजस्वी हो, तुम चौवालीसवें मनके में प्रतिष्ठित हो। हे वकार ! तुम सर्वदोषहर और निर्मल हो, पैंतालीसवें मनके में प्रतिष्ठित हो। हे शकार ! तुम सर्वफलदायक और पवित्र हो, छियालीसवें मनके में प्रतिष्ठित हो जाओ। हे षकार ! तुम धर्म-अर्थ-काम को देने वाले और श्वेत (उज्ज्वल) हो, तुम सैंतालीसवें मनके में प्रतिष्ठित हो। हे सकार ! तुम सबके कारण और सार्ववर्णिक हो, तुम अड़तालीसवें मनके में प्रतिष्ठित हो। हे हकार, तुम तो सर्ववाङ्मय और निर्मल हो, तुम उनचासवें मनके में प्रतिष्ठित हो। हे ळकार ! तुम सर्वशक्तिमान और मुख्य हो, पचासवें अक्ष में प्रतिष्ठित हो। हे क्षकार ! तुम पर और अपर तत्त्व को बताने वाले हो, परमज्योतिरूप हो, तुम शिखामणि में अर्थात् मेरुमाला के मुख्य मनके में प्रतिष्ठित हो जाओ।

अथोवाच ये देवाः पृथिवीषदस्तेभ्यो नमो भगवन्तोऽनुमदन्तु शोभायै पितरोऽनुमदन्तु शोभायै ज्ञानमयीमक्षमालिकाम् ॥6॥

उन्होंने बाद में कहा कि पृथ्वी में भ्रमण करने वाले जो देवता हैं, उन्हें हम प्रणाम करते हैं। हे भगवन्तो, मेरे द्वारा इस माला के स्वीकार की अनुमति दें। इसकी प्रतिष्ठा के लिए पितृगण भी अनुमति दें। इस ज्ञानरूपिणी अक्षमाला को प्राप्त करने के लिए पितरों की स्वीकृति हो।

अथोवाच ये देवा अन्तरिक्षसदस्तेभ्य ॐ नमो भगवन्तोऽनुमदन्तु शोभायै पितरोऽनुमदन्तु शोभायै ज्ञानमयीमक्षमालिकाम् ॥7॥

और कहा कि अन्तरिक्ष के निवासी देवों को नमस्कार हो। वे भी पितरों के साथ ही साथ इस अक्षमाला में प्रतिष्ठित हों। इस ज्ञानमयी माला की शोभा के लिए वे भी अपनी अनुमति प्रदान करें।

अथोवाच ये देवा दिविषदस्तेभ्यो नमो भगवन्तोऽनुमदन्तु शोभायै पितरोऽनुमदन्तु शोभायै ज्ञानमयीमक्षमालिकाम् ॥8॥

और कहा कि स्वर्ग में निवास करने वाले देवता भी इस ज्ञानस्वरूपिणी अक्षमाला में प्रतिष्ठित हों और वे देव सब वरदायक होकर पितरों के साथ ही इस माला की शोभा (प्रतिष्ठा) के लिए अपनी अनुमति प्रदान करें।

अथोवाच ये मन्त्रा या विद्यास्तेभ्यो नमस्ताभ्यश्चोन्नमस्तच्छक्तिरस्याः प्रतिष्ठापयति ॥9॥

अथोवाच ये ब्रह्माविष्णुरुद्रास्तेभ्यः सगुणेभ्य ॐ नमस्तद्वीर्यमस्याः प्रतिष्ठापयति ॥10॥

आगे कहा कि 'इस लोक में जितने मंत्र हैं और जितनी विद्याएँ हैं, उन्हें नमस्कार हो। उन सभी का शक्तिसमूह इस माला को प्रतिष्ठापित (शोभित) करे। आगे कहा कि—जो ब्रह्मा, विष्णु और महेश हैं, उन्हें नमस्कार हो, नमस्कार हो, उनकी शक्ति इस माला को प्रतिष्ठा प्रदान करे। (उनका वीर्य-पराक्रम-तेज इस माला में शामिल हो)।

अथोवाच ये सांख्यादितत्त्वभेदास्तेभ्यो नमो वर्तध्वं विरोधे निवर्तध्वम् ॥11॥

अथोवाच ये शैवा वैष्णवाः शाक्ताः शतसहस्रशस्तेभ्यो नमो नमो भगवन्तोऽनुमदन्त्वनुगृह्णन्तु ॥12॥

जो सांख्य आदि दर्शनों में तत्त्वों के भेद किए गए हैं, उन्हें नमस्कार हो ! (हे तत्त्वो) आप सब बुद्धि प्रदान करें। विरोध का शमन करें। और आगे कहा कि—जो शैव, शाक्त, वैष्णव लोग सैंकड़ों वर्षों से यहाँ निवास कर रहे हैं, उन सबको भी बार-बार नमस्कार है। हे भगवन्तो ! हमको अनुमति दें, हम पर अनुग्रह करें।

अथोवाच याश्च मृत्योः प्राणवत्यस्ताभ्यो नमो नमस्तेनैतां मृडयत मृडयत ॥13॥

पुनरेतस्यां सर्वात्मकत्वं भावयित्वा भावेन पूर्वमालिकामुत्पाद्यारभ्य तन्मयीं महोपहारैरुपहृत्यादिक्षान्तैरक्षैरक्षमालामष्टोत्तरशतं स्पृशेत् ॥14॥

आगे बोले कि—मृत्यु की जो आश्रित शक्तियाँ हैं, उन्हें भी नमस्कार हो, आप मेरी इस वन्दनस्तुति से प्रसन्न हों। इस अक्षमालिका के द्वारा आप उपासकों को सुख प्रदान करें, सुख प्रदान ही करें। फिर उस अक्षमालिका में सार्वत्रिकता की (सर्वात्मिकता की) भावना करके और उसी भावना से आधी माला को पिरोकर और आधी में (पचास मनकों में) उसी प्रकार की भावना करके माला को पूर्ण करे (इस प्रकार सौ की संख्या पूर्ण करे)। और बाकी के जो आठ मनके बचे हैं उनमें अ, क, च, ट, त, प, य, श—इस अष्टवर्ग को पूर्वोक्त क्रम से नियोजित करे। इस प्रकार मनकों की संख्या एक सौ आठ हो जाती है। (मेरु में तो 'क्ष' ही रहेगा।)

अथ पुनरुत्थाप्य प्रदक्षिणीकृत्योंनमस्ते भगवति मन्त्रमातृकेऽक्षमाले सर्ववशंकर्योंनमस्ते भगवति मन्त्रमातृकेऽक्षमालिकेऽशेषस्तम्भिन्यों-नमस्ते भगवति मन्त्रमातृकेऽक्षमाले उच्चाटन्योंनमस्ते भगवति मन्त्रमातृकेऽक्षमाले विश्वामृत्यों मृत्युंजयस्वरूपिणी सकलोद्दीपिनि सकललोकरक्षाधिके सकललोकोज्जीविके सकलोत्पादिके दिवा-प्रवर्तिके रात्रिप्रवर्तिके नद्यन्तरं यासि देशान्तरं यासि द्वीपान्तरं यासि लोकान्तरं यासि सर्वदा स्फुरसि सर्वहृदि वासयसि। नमस्ते परारूपे नमस्ते पश्यन्तीरूपे नमस्ते मध्यमारूपे नमस्ते वैखरीरूपे सर्वतत्त्वात्मिके सर्वविद्याऽऽत्मिके सर्वशक्त्यात्मिके सर्वदेवात्मिके वसिष्ठेन मुनिना-ऽऽराधिते विश्वामित्रेण मुनिनोपसेव्यमाने नमस्ते नमस्ते ॥15॥

(स्तुति के बाद) उसे उठाकर प्रदक्षिणा करके फिर से हाथ जोड़कर कहना चाहिए कि—हे भगवती मंत्रमातृके ! हे अक्षमाला!, तुम सभी को वश करने वाली हो, तुम्हें प्रणाम हो। हे मंत्रमातृका, हे अक्षमाला, तुम सबकी गति की अवरोधक और उच्चाटन करने वाली हो, तुम्हें प्रणाम। हे मंत्रमातृका, हे अक्षमाला, तुम्हीं सबका मृत्युस्वरूप और मृत्युंजय भी हो, तुम्हीं सबको उद्दीपित करने वाली हो, साथ ही साथ तुम सब लोगों की रक्षा करने वाली हो, संपूर्ण विश्व की प्राणदात्री हो, सब कुछ उत्पन्न करने वाली हो, तुम रात-दिन की प्रवर्तक, और एक नदी से अन्य नदी में, एक देश से अन्य देश में, एक द्वीप से दूसरे द्वीप में, एक लोक से दूसरे लोक में यथेच्छ जाने वाली हो। तुम सभी स्थलों में और सभी के हृदयों में स्फुरित रहती हो, एवं निवास कर रही हो। तुम परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी—इन चारों प्रकार की वाणियों के रूप में हो। तुम्हें बार-बार नमस्कार हो। तुम समस्त तत्त्वरूपों

को धारण किए हुए हो। सर्व विद्याओं और सर्व शक्तियों की अधिष्ठात्री और सर्वदेवगणों की आराध्या हो। तुम वसिष्ठादि मुनियों से वन्दित, विश्वामित्र द्वारा उपसेव्यमान हो, तुम्हें बार-बार नमस्कार हो।

प्रातरधीयानो रात्रिकृतं पापं नाशयति। सायमधीयानो दिवसकृतं पापं नाशयति। तत् सायं प्रातः प्रयुञ्जानः पापोऽपापो भवति। एवमक्ष-मालिकया जप्तो मन्त्रः सद्यः सिद्धिकरो भवतीत्याह भगवान् गुहः प्रजापतिमित्युपनिषत् ॥16॥

इत्यक्षमालिकोपनिषत्समाप्ता।
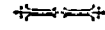
इस उपनिषत् का प्रात:काल में पाठ करने वाला मनुष्य रात्रि में किए पापों से मुक्त होता है। और सायंकाल में पाठ करने वाला दिन में किए गए पापों से मुक्त होता है। जो सायं-प्रातः दोनों काल इसका निरन्तर पाठ करता है, वह बड़ा पापकृत्य करने वाला हो, तो भी पापमुक्त हो जाता है। भगवान् गुह ने प्रजापति से अन्त में यही कहा कि इस प्रकार की अभिमंत्रित अक्षमाला से जपा हुआ मंत्र शीघ्र फलदायक (सिद्धिदायक) होता है। ऐसी यह उपनिषत् है।

इस प्रकार अक्षमालिकोपनिषत् समाप्त होती है।

शान्तिपाठः

ॐ वाङ्मे मनसि—वक्तारमवतु वक्तारम्। (पूर्ववत्)
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

❈

(70) अव्यक्तोपनिषत्

(उपनिषत्परिचय)

सामवेद परंपरा की यह उपनिषद् गद्यात्मक है। अर्थ और विषय की सरलता के लिए इसे सात खण्डों में व्यवस्थित किया गया है। प्रत्येक खण्ड में भी उपविभाजित कण्डिकाएँ हैं। इसी उपनिषत् का दूसरा नाम अव्यक्तनृसिंहोपनिषत् भी है। इसमें कहा गया है कि उत्पत्ति के पूर्व कुछ था ही नहीं, केवल चेतन था। उसे छोटा-बड़ा, रूप-अरूप, कुछ नहीं कहा जा सकता—ऐसा अज्ञेय आनंदरूप कुछ था। उसने अपने दो भाग किए—एक पुरुष हुआ और दूसरा माया। फिर एक सुवर्णाण्ड—ब्रह्माण्डरूप अण्डा हुआ। उसमें से ब्रह्मा हुए। उन्होंने अपने बारे में बहुत सोचा। तब आकाशवाणी हुई। ब्रह्मा ने तप करके वाणी का स्वरूप जाना। फिर ब्रह्मा ने विष्णु के दर्शन किए। महाविष्णु ने उन्हें व्यक्त का (उनके कर्तव्य का) स्वरूप समझाया। महाविष्णु के उपदेशानुसार सब कुछ करके ही ब्रह्म इस जगत् की सृष्टि करने में समर्थ हुए।

शान्तिपाठः

ॐ आप्यायन्तु ममाङ्गानि—ते मयि सन्तु। (पूर्ववत्)
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

इसका हिन्दी रूपान्तर पूर्व में (महोपनिषद् में) द्रष्टव्य है।

प्रथमः खण्डः

पुरा किलेदं न किञ्चनासीन्न द्यौर्नान्तरिक्षं न पृथिवी केवलं ज्योतीरूपम-नाद्यनन्तमनण्वस्थूलरूपमरूपं रूपवदविज्ञेयमानन्दमयमासीत् ॥1.1॥

पहले यह कुछ था ही नहीं। न द्युलोक था, न अन्तरिक्ष था। न पृथिवी ही थी। केवल एक ज्योतिरूप, अनादि, अनन्त, अनणु, अस्थूल, न रूपी न अरूपी, अविज्ञेय और आनन्दमय कुछ था।

तदनन्यत्तद्द्वेधाभूद्धरितमेकं रक्तमपरम्। तत्र यद्रक्तं तत् पुंसो रूपमभूत्। यद्धरितं तन्मायायाः। तौ समागच्छतः। तयोर्वीर्यमेवमनन्दत्। तद-वर्धत। तदण्डमभूद्धैमम्। तत् परिणममानमभूत्। ततः परमेष्ठी व्यजा-यत ॥1.2॥

वह जो था, उसने अपने दो भाग किए। उन भागों में जो लाल था वह पुरुष का रूप था और जो हरित वर्ण का था वह माया का रूप था। उन दोनों का मिलन हुआ। उनके वीर्य की तुष्टि हुई। वह बढ़ने लगा। और वह सोने का अण्डा हुआ। उसका परिणमन होने लगा। उसमें से परमेष्ठी (ब्रह्मा) उत्पन्न हुए।

सोऽभिजिज्ञासत किं मे कुलं किं मे कृत्यमिति। तं ह वागदृश्यमानाभ्युवाच, भो भो प्रजापते त्वमव्यक्तादुत्पन्नोऽसि व्यक्तं ते कृत्यमिति। किमव्यक्तं यस्मादहमासिषम्। किं तद्व्यक्तं यन्मे कृत्यमिति। साब्रवीदविज्ञेयं हि तत् सौम्य तेजः। यदविज्ञेयं तदव्यक्तम्। तच्चेज्जिज्ञाससि मामवगच्छेति। स होवाच कैषा त्वं ब्रह्मवाग्वदसि शंसात्मानमिति। सा त्वब्रवीत्तपसा मां जिज्ञासस्वेति। स ह सहस्त्रं समा ब्रह्मचर्यमध्युवासाध्युवास ॥1.3॥

इति प्रथमः खण्डः।

उसे जिज्ञासा हुई—'मेरा कुल क्या है ? मेरा यहाँ कार्य क्या है ?' तब उन्हें अदृश्य वाणी ने बताया—'हे प्रजापति, तुम अव्यक्त से उत्पन्न हुए हो। अव्यक्त से व्यक्त करना तुम्हारा कार्य है'। ब्रह्मा ने पूछा—'वह अव्यक्त क्या है कि जिससे मैं उत्पन्न हुआ हूँ ? और व्यक्त क्या है कि जो मेरा कार्य है ?' तब उस वाणी ने कहा—'हे सोम्य, वह एक अविज्ञेय तेज है। और जो अविज्ञेय है, वही अव्यक्त है। तुम्हें उसको जानने की इच्छा हो तो, मुझे पहचान लो।' तब ब्रह्मा ने कहा—'तुम कौन हो ? तुम अपने आपको ब्रह्मवाणी कहकर अपनी प्रशंसा कर रही हो ?' तब उस वाणी ने कहा—'तुम मुझे तप करके ही जान लो।' तब ब्रह्माजी ने एक हजार वर्ष ब्रह्मचर्यपूर्वक तप किया।

यहाँ प्रथम खण्ड पूरा हुआ।

❋

द्वितीयः खण्डः

अथापश्यदृचमानुष्टुभीं परमां विद्यां यस्याङ्गान्यन्ये मन्त्राः यत्र ब्रह्म प्रतिष्ठितं विश्वेदेवा[वेदाः?] प्रतिष्ठिताः। यस्तां न वेद किमन्यैर्वेदैः करिष्यति ॥2.1॥

वहाँ ब्रह्मा ने आनुष्टुभी ऋचा को देखा। वह परम विद्या है, अन्य मंत्र उसके अंग हैं, उसमें ब्रह्म, सर्वदेव (अथवा सर्ववेद) प्रतिष्ठित हैं। जो उसको नहीं जानता वह अन्य वेदों का भला क्या करेगा ?

तां विदित्वा स च रक्तं जिज्ञासयामास। तामेवमनूचानां गायन्नासिष्ट। सहस्त्रं समा आद्यन्तनिहितोङ्कारेण पदान्यगायत्। सहस्त्रं समास्तथैवाक्षरशः। ततोऽपश्यज्ज्योतिर्मयं श्रियालिङ्गितं सुपर्णरथं शेषफणाच्छादितमौलिं मृगमुखं नरवपुषं शशिसूर्यहव्यवाहनात्मकनयनत्रयम् ॥2.2॥

उसे जानकर प्रजापति ने रक्त (पुरुष) को जानने की इच्छा की। तब तप से प्रादुर्भूत उस आनुष्टुभी को वे गाते रहे। ब्रह्मा ने एक हजार वर्ष तक प्रारंभ में और अन्त में 'ॐकार' को बोलकर उसे गाया। और एक हजार वर्ष तक उसे अक्षरशः गाया। तब उन्होंने लक्ष्मी द्वारा आलिंगित सुपर्ण (गरुड) रूपी रथवाले, शेषनाग के फणों से ढँके हुए मुकुटवाले, मृग (सिंह) जैसे मुखवाले, सूर्य, चन्द्र और अग्नि के तीन नयनों वाले नरपुंगव को देखा।

ततः प्रजापतिः प्रणिपपात नमो नम इति। तयैवर्चाथ तमस्तौत्। उग्रमित्याह उग्रः खलु वा एष मृगरूपत्वात्। वीरमित्याह वीरो वा एष वीर्यवत्त्वात्। महाविष्णुमित्याह महतां वा अयं महान् रोदसी व्याप्य

स्थितः। ज्वलन्तमित्याह ज्वलन्निव खल्वसाववस्थितः। सर्वतोमुखमित्याह सर्वतः खल्वयं मुखवान् विश्वरूपत्वात्। नृसिंहमित्याह यथा यजुरेवैतत्। भीषणमित्याह भीषो वा अस्मादादित्य उदेति भीतश्चन्द्रमा भीतो वायुर्वाति भीतोऽग्निर्दहति भीतः पर्जन्यो वर्षति। भद्रमित्याह भद्रः खल्वयं श्रिया जुष्टः। मृत्योर्मृत्युमित्याह मृत्योर्वा अयं मृत्युरमृतत्वं प्रजानामन्नादानाम्। नमामीत्याह यथा यजुरेववत्। अहमित्याह यथा यजुरेवैतत् ॥2.3॥

इति द्वितीयः खण्डः।

तब प्रजापति ने उन्हें 'नमो नमः' कहकर प्रणाम किया और उसी सार्थ ऋचा से उनकी स्तुति की। उन्हें 'उग्र' कहा क्योंकि वे सिंहरूप से उग्र हैं। उन्हें 'वीर' कहा क्योंकि वे वीर्यवत्ता से वीर हैं। बड़ों से भी वे बड़े हैं और धरती एवं स्वर्ग को व्याप्त कर रहे हैं इसलिए उन्हें 'विष्णु' कहा। उन्हें 'ज्वलंत' कहा क्योंकि वे जलते हुए से अवस्थित हैं। उन्हें 'विश्वतोमुख' कहा क्योंकि वे सभी ओर सहीरूप से मुख किए हुए हैं क्योंकि वे तो विश्वरूप हैं। उन्हें 'नृसिंह' कहा क्योंकि यजुर्वेद भी इन्हें 'प्रतद् विष्णुस्तवते' आदि मंत्रों से इसी प्रकार कहता है। उन्हें 'भीषण' कहा क्योंकि इनसे डरा हुआ सूर्य उदित होता है और इनसे डरा हुआ चन्द्र भी उदित होता है, इनसे डरा हुआ वायु बहता है और इनसे डरा हुआ ही अग्नि जलता है, इनसे डरा हुआ मेघ बरसता है। इन्हें 'भद्र' कहा क्योंकि लक्ष्मी को धारण करने वाले वे कल्याणकारी ही हैं। इन्हें 'मृत्युमृत्यु' कहा क्योंकि वे मृत्यु के भी मृत्यु अर्थात् वे अन्न खाने वाली प्रजाओं की मृत्यु के भी मृत्यु हैं। इन्हें 'नमामि' कहा क्योंकि वे यजुर्वेद (यज्ञस्वरूप) ही हैं। मंत्र में इन्हें अहम् कहा क्योंकि 'वैदेश्च सर्वैरहमेव वेद्यः' इत्यादि में इन्हें 'अहम्' कहा गया है।

यहाँ द्वितीय खण्ड पूरा हुआ।

❋

तृतीयः खण्डः

अथ भगवांस्तमब्रवीत् प्रजापते प्रीतोऽहं किं तवेप्सितं तद्दामि शंसेति। स होवाच भगवन्नव्यक्तादुत्पन्नोऽस्मि व्यक्तं मम कृत्यमिति पुराश्रावि। तत्राव्यक्तं भवानित्यज्ञायि। व्यक्तं मे कथयेति। व्यक्तं वै विश्वं चराचरात्मकम्। यद्व्यज्यते तद्व्यक्तस्य व्यक्तत्वमिति ॥3.1॥

ऐसी स्तुति के बाद भगवान् ने उनसे कहा—"हे प्रजापति ! मैं तुम पर प्रसन्न हुआ हूँ। तुम अपना जो अभीष्ट हो, माँग लो।" तब प्रजापति ने कहा—"हे भगवन् ! मैं अव्यक्त से उत्पन्न हुआ हूँ। और मेरा कार्य व्यक्त है, ऐसा मैंने पहले सुना है। इसमें अव्यक्त तो आप हैं ऐसा जान लिया है। अब मुझे व्यक्त क्या है, यह बताइए"। तब भगवान् ने कहा कि—व्यक्त यह सचराचर विश्व है। जो व्यक्त (प्रकाशित) दिखाई देता है, वही (दिखाई देना ही) व्यक्त का व्यक्तत्व है।

स होवाच न शक्नोमि जगत् स्त्रष्टुमुपायं मे कथयेति। तमुवाच पुरुषः प्रजापते शृणु सृष्टेरुपायं परमं यं विदित्वा सर्वं ज्ञास्यसि सर्वत्र शक्ष्यसि सर्वं करिष्यसि। मय्यग्नौ स्वात्मानं हविर्ध्यात्वा तयैवानुष्टुभर्चा। ध्यानयज्ञोऽयमेव ॥3.2॥

तब प्रजापति ने कहा कि इस व्यक्त के सर्जन के लिए मैं कोई उपाय नहीं जानता। यह आप

मुझे बताइए। तब भगवान् ने कहा—हे प्रजापति! पुरुष ही सृष्टि के लिए परम उपाय है। उसी को जानकर तुम सब कुछ जान सकोगे, सभी जगह सब कुछ कर सकोगे। मेरे स्वरूप अग्नि (पुरुष रूप अग्नि) में अपने आपको हवि के रूप में ध्यान करके अथवा तो इस आनुष्टुभी ऋचा से ध्यान करके तुम यह सर्जन कर सकोगे। यही ध्यानयज्ञ है।

एतद्वै महोपनिषद्देवानां गुह्यम्। न ह वा एतस्य साम्ना नर्चा न यजुषार्थोऽनुविद्यते। य इमां वेद स सर्वान् कामानवाप्य सर्वान् लोकान् जित्वा मामेवाभ्युपैति। न च पुनरावर्तते य एवं वेदेति ॥3.3॥

इति तृतीयः खण्डः।

यह देवों की अत्यन्त गोपनीय उपनिषत् है। इस ध्यानयोग का अर्थ साम से, ऋचा से, यजुस से भी नहीं जाना जा सकता। जो इसे जानता है, वह सभी अभीष्ट इच्छाओं को पूर्ण करके सभी लोकों को जीतकर मुझे ही प्राप्त हो जाता है और फिर से यहाँ नहीं लौटता। जो इसे जानता है, वह यह फल पाता है।

यहाँ तृतीय खण्ड पूरा हुआ।

❋

चतुर्थः खण्डः

अथ प्रजापतिस्तं यज्ञाय वसीयांसमात्मानं मन्यमानो मनोयज्ञेनेजे। सप्रणवया तयैवर्चा हविर्ध्यात्वात्मानमात्मन्यग्नौ जुहुयात्। सर्वमजानत् सर्वत्रा-शकत् सर्वमकरोत् ॥4.1॥
यं एवं विद्वानिमं ध्यानयज्ञमनुतिष्ठेत् स सर्वज्ञोऽनन्तशक्तिः सर्वकर्ता भवति। स सर्वान् लोकान् जित्वा ब्रह्म परं प्राप्नोति ॥4.2॥

इति चतुर्थः खण्डः।

तब प्रजापति ने अपने आपको यज्ञ के लिए ही रहने वाला मानकर मनोयज्ञ से यज्ञ किया। प्रणवपूर्वक उसी आनुष्टुभी ऋचा से अपने आपको हविष्य के रूप में ध्यान करके उसने आत्मरूप अग्नि में अपना होम कर दिया। तब उसने सब कुछ जान लिया, उसमें सब कुछ करने की शक्ति आ गई। और सब कुछ कर दिया। जो विद्वान् इस प्रकार ध्यानयज्ञ का अनुष्ठान करता है, वह सर्वज्ञ, अनन्तशक्तिमान् और सर्वकर्ता बनता है। वह सभी लोकों को जीतकर परब्रह्म को प्राप्त करता है।

यहाँ चतुर्थ खण्ड पूरा हुआ।

❋

पञ्चमः खण्डः

अथ प्रजापतिर्लोकान् सिसृक्षमाणस्तस्या एव विद्याया यानि त्रिंशद-क्षराणि तेभ्यस्त्रीन् लोकान्। अथ द्वे द्वे अक्षरे ताभ्यामुभयतो दधार। तस्या एवर्चा द्वात्रिंशद्भिरक्षरैस्तान् देवान् निर्ममे। सर्वैरेव स इन्द्रो-ऽभवत्। तस्मादिन्द्रो देवानामधिकोऽभवत्। य एवं वेद समाना-नामधिको भवेत् ॥5.1॥

अब लोकों का सर्जन करने की इच्छावाले प्रजापति ने उसी आनुष्टुभी विद्या के जो तीस अक्षर थे, उन्हीं से तीन लोकों को बनाया। और बाद में दो-दो अक्षरों से उन भूः आदि तीन लोकों को धारण किया। उसी ऋचा के बत्तीस अक्षरों से उसने देवों का निर्माण किया। सभी देवों में से एक इन्द्र हुआ। इसलिए इन्द्र देवों का अधिक (श्रेष्ठ) बना। जो ऐसा जानता है, वह अपने समान लोगों से अधिक बनता है।

तस्या एकादशभिः पा[प]दैरेकादश रुद्रान् निर्ममे। तस्या एकादशभि-रेकादशादित्यान् निर्ममे। सर्वैरेव स विष्णुरभवत्। तस्माद्विष्णु-रादित्यानामधिकोऽभवत्। य एवं वेद समानानामधिको भवेत्। स चतुर्भिश्चतुर्भिरक्षरैरष्टौ वसूनजनयत् ॥5.2॥

उसके ग्यारह अक्षरों से उसने ग्यारह रुद्रों को उत्पन्न किया और ग्यारह अक्षरों से ग्यारह आदित्यों को उत्पन्न किया। उन सबसे विष्णु हुए। इसी से विष्णु आदित्यों से अधिक हुए। जो इस प्रकार जानता है, वह अपने समकक्षों से अधिक होता है। इसके बाद उसने चार-चार अक्षरों से आठ वसुओं को उत्पन्न किया।

स तस्या आद्यैर्द्वादशभिरक्षरैर्ब्राह्मणमजनयत्। दशभिर्दशभिर्विट्क्षत्रे। तस्माद्ब्राह्मणो मुख्यो भवति। एवं तन्मुख्यो भवति य एवं वेद। तूष्णीं शूद्रमजनयत् तस्माच्छूद्रो निर्विद्योऽभवत् ॥5.3॥
न वा इदं दिवा न नक्तमासीदव्यावृत्तम्। स प्रजापतिरानुष्टुभाभ्या-मर्धर्चाभ्यामहोरात्रावकल्पयत् ॥5.4॥

प्रजापति ने उस आनुष्टुभी के पहले बारह अक्षरों से ब्राह्मण को उत्पन्न किया। और फिर दश-दश अक्षरों से क्षत्रियों और वैश्यों को उत्पन्न किया। इसलिए ब्राह्मण मुख्य समझा जाता है। जो इस प्रकार जानता है वह मुख्य होता है। प्रजापति ने मौन रहकर शूद्र को उत्पन्न किया। इसलिए शूद्र विद्यारहित होता है। उस समय इस सृष्टि का अधिकरण (आधार) रूप न दिन था न रात्रि। वह उस समय कल्पनाविरल ही था। बाद में प्रजापति ने आनुष्टुभी दो अर्ध ऋचाओं से दिवस और रात्रि की कल्पना (रचना) की है।

ततो व्यैच्छत्। व्येवास्मा उच्छति। अथो तम एवापहते। ऋग्वेदमस्या आद्यात् पादादकल्पयत्। यजुर्द्वितीयात्। साम तृतीयात्। अथर्वाङ्गि-रसश्चतुर्थात्। यदष्टाक्षरपदा तेन गायत्री। यदेकादशपदा तेन त्रिष्टुप्। यच्चतुष्पदा तेन जगती। यद्द्वात्रिंशदक्षरा तेनानुष्टुप्। सा वा एषा सर्वाणि छन्दांसि य इमां सर्वाणि छन्दांसि वेद। सर्वं जगदानुष्टुभ एवोत्पन्न-मनुष्टुप्प्रतिष्ठितं प्रतितिष्ठति यश्चैवं वेद ॥5.5॥

इति पञ्चमः खण्डः।

तब प्रजापति ने विशेष इच्छा की। इस प्रकार चिन्ता करते हुए उसे जो सृष्टि का आवर्तन भेदनीय है, वह इच्छामात्र से ही भिन्न (उच्छिन्न) हो जाता है। इसलिए तम ही उच्छिन्न हुआ, पर सृष्टिकर्तव्यता का ज्ञान तो वैसा ही रहा। पहले पाद से उसने ऋग्वेद की रचना की, दूसरे से यजुर्वेद की, तीसरे से सामवेद की और चौथे से अथर्व (अथर्वांगिरस) की रचना की। जो अष्टाक्षर पद है इससे गायत्री, जो ग्यारह अक्षरों के पद वाली है उससे त्रिष्टुभ्, जो चतुष्पद है उससे जगती, जो बत्तीस अक्षरों के पदवाली है उससे अनुष्टुभ् की रचना की। इस प्रकार उसने सभी छन्दों की

रचना की। जो इसे जान लेता है, वह सभी छन्दों को जान लेता है। यह सारा जगत् उस आनुष्टुभी से ही उत्पन्न हुआ है और उस आनुष्टुभ् में ही प्रतिष्ठित हुआ है। जो इस प्रकार जानता है, वह भी उसी में प्रतिष्ठित हो जाता है।

यहाँ पाँचवाँ खण्ड पूरा हुआ।

❋

षष्ठः खण्डः

अथ यदा प्रजाः सृष्टा न जायन्ते प्रजापतिः कथं न्विमाः प्रजाः सृजेयमिति चिन्तयन्नुग्रमितीमामृचं गातुमुपाक्रामत्। ततः प्रथमपादादुग्ररूपो देवः प्रादुरभूत् एकः श्यामः पुरतो रक्तः पिनाकी स्त्रीपुंसरूपस्तं विभज्य स्त्रीषु तस्य स्त्रीरूपं पुंसि च पुंरूपं व्यधात्। स उभाभ्यामंशाभ्यां सर्व-मादि[वि]ष्टः। ततः प्रजाः प्रजायन्ते। य एवं वेद प्रजापतेः सोऽपि त्र्यम्बक इमामृचमुद्गायन्नुद्ग्रथितजटाकलापः प्रत्यग्ज्योतिष्यात्मन्येव रन्तारमिति ॥6.1॥

जब प्रजापति के द्वारा सृष्ट प्रजा निर्व्यापार (अनुत्पादक) रही, सब ब्रह्मा (प्रजापति) ने 'मैं कैसे उत्पादनशील प्रजा को उत्पन्न करूँ ?' यह सोचते हुए 'उग्रम्' इत्यादि पदोंवाली ऋचा को गाना आरंभ किया। इसके बाद पहले पाद से एक उग्ररूप देव प्रकट हुए। उनका वर्ण श्याम था, आगे का वर्ण लाल था। हाथ में पिनाक (धनुष) था। उस एक में से ही स्त्री और पुरुष के रूपों का विभाजन करके स्त्रियों में उसका स्त्रीरूप और पुरुषों में उसका पुरुषरूप प्रविष्ट किया और उन उमा और महेश्वररूप दोनों अंशों को ही इसका आदेश दिया। इसके बाद ये प्रजाएँ प्रजननशील हुई। प्रजापति के विषय में जो इस प्रकार से जानता है, वह भी त्र्यम्बक (तीन आँखों वाले), पिनाक धनुष को धारण किए हुए, नृसिंह-सा होकर इस ऋचा को गाते हुए उन्नत जटाधारी प्रत्यक् ज्योतिस्वरूप आत्मा में ही रमण करने वाला होता है।

इन्द्रो वै किल देवानामानुजावर आसीत्। तं प्रजापतिरब्रवीद्गच्छ देवा-नामधिपतिर्भवेति। सोऽगच्छत्। तं देवा ऊचुरानुजावरोऽसि त्वमस्माकं कुतस्तवाधिपत्यमिति। स प्रजापतिमभ्येत्योवाचेमं देवा ऊचुरनुजा-वरस्य कुतस्तवाधिपत्यमिति तं प्रजापतिरिन्द्रं त्रिकलशैरमृतपूर्णैरा-नुष्टुभाभिमन्त्रितैरभिषिच्य तं सुदर्शनेन दक्षिणतो ररक्ष पाञ्चजन्येन वामतो द्वयेनैव सुरक्षितोऽभवत्। रौक्मे फलके सूर्यवर्चसि मन्त्रमानुष्टुभं विन्यस्य तदस्य कण्ठे प्रत्यमुञ्चत्। ततः सुदुर्निरीक्षोऽभवत्। तस्मै विद्यामानुष्टुभीं प्रादात्। ततो देवास्तमाधिपत्यायानुमेनिरे। स स्वराड-भूत्। य एवं वेद स्वराड् भवेत्। सोऽमन्यत पृथिवीमिमां कथं जयेय-मिति। स प्रजापतिमुपाधावत्। तस्मात् प्रजापतिः कमठाकारमिन्द्र-नागभुजगेन्द्राधारं भद्रासनं प्रादात्। स पृथिवीमभ्यजयत्। ततः स उभयोर्लोकयोरधिपतिरभूत्। य एवं वेदोभयोर्लोकयोरधिपतिर्भवति। स पृथिवीं जयति ॥6.2॥

इन्द्र देवों का एक छोटा भाई था। उससे प्रजापति ने कहा—'जाओ, देवों के अधिपति बन जाओ।' वह वहाँ गया, तो देवों ने उससे कहा कि—'क्या तुम हमारे छोटे भाई हो ? तुम भला अधिपति कैसे बन गए ?' तब इन्द्र ने प्रजापति के पास जाकर कहा कि—'ये देव तो कहते हैं कि अनुजावर (एक छोटा भाई) भला अधिपति कैसे हो सकता है ?' तब प्रजापति ने इन्द्र को अनुष्टुभ् से अभिमंत्रित और अमृत से भरे तीन कलशों से अभिषेक करवाया और उसे दाहिने भाग में सुदर्शन के द्वारा और बाँयें भाग में पांचजन्य के द्वारा सुरक्षित किया। इस प्रकार बाँयें-दाहिने दोनों ओर से वह सुरक्षित हो गया और सूर्य के जैसे तेजवाले सुवर्ण पीठ में (उसे बिठाकर) उसके कण्ठ में आनुष्टुभ् मंत्र पहना दिया। तब वह बहुत दुर्निरीक्ष्य (असह्य प्रभाव वाला) हो गया। फिर उसे आनुष्टुभी विद्या सिखाई। तब कहीं देवों ने उसके आधिपत्य की अनुमति दी। तब वह स्वराट् हो गया। जो इस प्रकार जानता है, वह स्वराट् हो जाता है। उस (इन्द्र) ने सोचा कि मैं सारी पृथ्वी को किस तरह जीत लूँ ? उसने तो प्रजापति के ऊपर ही आक्रमण कर दिया। इसलिए प्रजापति ने उसे कमठ के आकार वाला इन्द्रनाग नाम के भुजगेन्द्र के आधार वाला भद्रासन दिया। बाद में उसने पृथ्वी को जीता। इसके बाद वह स्वर्ग-पृथ्वी—दोनों लोकों का अधिपति हुआ। जो इस प्रकार से जानता है, वह भी दोनों लोकों का अधिपति बन जाता है, वह पृथ्वी को जीत लेता है।

यो वा अप्रतिष्ठितं शिथिलं भ्रातृव्येभ्यः परमात्मानं मन्यते स एत-मासीनमधितिष्ठेत्। प्रतिष्ठितोऽशिथिलो भ्रातृव्येभ्यो वसीयान् भवति यश्चैवं वेद यश्चैवं वेद ॥6.3॥

इति षष्ठः खण्डः।

जो कोई भी मनुष्य अपने प्रतिकूल भाइयों से अपने आत्मा को अप्रतिष्ठित और शिथिल मानता है, अर्थात् जो कोई अन्तःकरणादि से अलग ही आत्मा को देहादि में आत्माभिमान से शिथिल (जीव) भाव को प्राप्त हुआ मान लेता है और अपने को प्रत्यक् पद में अप्रतिष्ठित मान लेता है, वह विद्वान् उसको इस जगत् के अधिष्ठान के रूप में अपने ही महिमा में अवस्थित ऐसे परमात्मा के रूप में जान लेता है। वह विद्वान् अद्वैतभाव से 'मैं ब्रह्म हूँ' (इस भाव से) प्रतिष्ठित हो जाता है, वह अपने अन्तःकरणादि चचेरे भाइयों से अशिथिल रहता है और अपनी ही महिमा में निवास करने वाला हो जाता है। जो ऐसा जानता है, वह वैसा ही हो जाता है।

यहाँ छठा खण्ड पूरा हुआ।

❋

सप्तमः खण्डः

य इमां विद्यामधीते स सर्वान् वेदानधीते। स सर्वैः ऋतुभिर्यजते। स सर्वतीर्थेषु स्नाति। स महापातकोपपातकैः प्रमुच्यते। स ब्रह्मवर्चसं महदाप्नुयात्। आब्रह्मणः पूर्वानाकल्पांश्चोत्तरांश्च वंश्यान् पुनीते। नैनमपस्मारादयो रोगा आदिधेयुः। सयक्षाः सप्रेतपिशाचा अप्येनं स्पृष्ट्वा दृष्ट्वा श्रुत्वा वा पापिनः पुण्याँल्लोकानवाप्नुयुः। चिन्तितमात्रादस्य सर्वेऽर्थाः सिध्येयुः। पितरमिवैनं सर्वे मन्यन्ते। राजानश्चास्यादेश-कारिणो भवन्ति। न चाचार्यव्यतिरिक्तं श्रेयांसं दृष्ट्वा नमस्कुर्यात्। न

चास्मादुपावरोहेत्। जीवन्मुक्तश्च भवति। देहान्ते तमसः परं धाम प्राप्नुयात्। यत्र विराण् नृंसिहोऽवभासते तत्र खलूपासते। तत्स्वरूपध्यानपरा मुनय आकल्पान्ते तस्मिन्नेवात्मनि लीयन्ते। न च पुनरावर्तन्ते ॥7.1॥

जो इस विद्या को जानता है, वह सभी वेदों का अध्ययन करता ही है, वह सभी यज्ञों से यजन करता ही है, उसने सभी तीर्थों में स्नान कर लिया ही है—ऐसा समझना चाहिए। वह सभी महापातकों और उपपातकों से मुक्त हो जाता है, वह बड़े ब्रह्मवर्चस् को प्राप्त कर लेता है, वह सुब्राह्मण अपने पूर्व के पूर्वजों को और भविष्य के वंशजों को पवित्र कर देता है। ऐसे मनुष्य को अपस्मार आदि रोग नहीं होते। यक्षों के साथ जो भूत, पिशाच आदि पापी योनि वाले जीव हैं, वे भी ऐसे मनुष्य को देखकर, सुनकर, उसका स्पर्श करके पुण्यलोकों की प्राप्ति कर लेते हैं। इस मनुष्य के केवल चिन्तनमात्र से ही सभी पदार्थ सिद्ध हो जाते हैं। सभी लोग इसे पितातुल्य ही मानते हैं। राजा लोग भी इसके आज्ञाकारी हो जाते हैं। बिना आचार्य के किसी भी श्रेय को देखकर नमस्कार नहीं करना चाहिए। इस मार्ग से कभी नीचे नहीं उतरना चाहिए। ऐसा आदमी जीवन्मुक्त हो जाता है। वह इस देह के छूटने के बाद परमधाम को प्राप्त हो जाता है। जहाँ विराट् नृसिंह दिखाई देते हैं, उस हद तक उपासना करते रहना चाहिए। उनके स्वरूप के ध्यान में परायण मुनि लोग कल्प का अन्त होने पर उसी आत्मा में लीन हो जाते हैं और फिर से वह मनुष्य लौटकर यहाँ नहीं आता।

न चेमां विद्यामश्रद्दधानाय ब्रूयान्नासूयावते ना[न]नूचानाय नाविष्णुभक्ताय नानृतिने नातपसे नादान्ताय नाशान्ताय नादीक्षिताय नाधर्मशीलाय न हिंसकाय नाब्रह्मचारिण इत्येषोपनिषत् ॥7.2॥

इति सप्तमः खण्डः।

इत्यव्यक्तोपनिषत्समाप्ता।

जिसमें श्रद्धा न हो, उसे यह विद्या नहीं देनी (पढ़ानी) चाहिए। असूयायुक्त को भी नहीं देनी चाहिए। जो वेद न पढ़ा हो, जो विष्णु का भक्त न हो, जो मुनि न हो, जिसने तप न किया हो, जो दमनशील न हो, जो शान्त न हो, जो दीक्षित न हो, जो अधर्मशील हो, जो हिंसक हो, जो ब्रह्मचारी न हो, उसे नहीं देनी चाहिए।

यहाँ सातवाँ खण्ड पूरा हुआ।

इस प्रकार अव्यक्तोपनिषत् समाप्त होती है।

शान्तिपाठः

ॐ आप्यायन्तु ममाङ्गानि—ते मयि सन्तु। (पूर्ववत्)
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

(71) एकाक्षरोपनिषत्

(उपनिषत्परिचय)

कृष्णयजुर्वेद की परंपरा की इस उपनिषद् में तेरह मंत्र हैं। उपनिषद् का कहना है कि ॐकार एकाक्षर परमात्मरूप है। वह परमात्मा विश्व का कारण, लोकों का पति और रक्षक है। वही हिरण्यगर्भ, व्यापक, पुराणपुरुष, प्राण, गरुड, रुद्र, इन्द्र, माता, विधाता, पवन, विष्णु, वराह, रात्रि, दिवस, भूत, भविष्य, क्रिया और काल है। वह परमात्मा ही ऋक् आदि वेदों को प्रकट करते हैं। और वही परमात्मा वसुदेवता, दैत्य, स्त्री, पुरुष, कुमार, कुमारी, वरुण, वर्ष, अग्नि, यम आदि भी हैं। उसको जो मनुष्य जान लेता है, वह बुद्धि से परे होकर स्थिर रूप में अवस्थित हो जाता है।

शान्तिपाठः

ॐ सह नाववतु। सह नौ—मा विद्विषावहै। (पूर्ववत्)
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

इसका हिन्दी रूपान्तर पूर्व में (शारीरकोपनिषद् में) द्रष्टव्य है।

एकाक्षरं त्वक्षरे तोऽसि सोमे सुषुम्नया चेह दृढी न एकः।
त्वं विश्वभूर्भूतपतिः पुराणः पर्जन्य एको भुवनस्य गोप्ता ॥1॥

हे भगवन्! आप शाश्वत (अच्युत) सोम हैं। परब्रह्म के रूप में आप हैं। आप सुषुम्ना में अपनी सत्ता से प्रतिष्ठित हैं (अर्थात् सुषुम्नामार्ग से सहस्रार तक आप प्रतिष्ठित हैं)। आप अविनाशी तथा एकाक्षर में स्थित रहने वाले हैं। आप ही विश्व के कारणरूप हैं, प्राणीमात्र के स्वामी आप हैं, आप ही पुराणपुरुष और सभी में विद्यमान हैं, आप ही पर्जन्यादि रूपों के द्वारा सबका रक्षण करते हैं।

विश्वे निमग्नः पदवीः कवीनां त्वं जातवेदो भुवनस्य नाथः।
अजातमग्रे स हिरण्यरेता यज्ञस्त्वमेवैकविभुः पुराणः ॥2॥

आप ही निखिल विश्व के कण-कण में संजीवनी शक्ति के रूप में रहते हैं। आप ही कवियों (ऋषियों) की गहरी दृष्टि के आश्रयभूत हैं। आप ही समस्त लोकों की रक्षा करने वाले हैं। आप ही हिरण्यरेता (अग्नि) के स्वरूप हैं। आप ही यज्ञ के स्वरूप भी हैं। आप ही एकमात्र विराट् और पूर्ण पुरुष हैं।

प्राणः प्रसूतिर्भुवनस्य योनिर्व्याप्तं त्वया एकपदेन विश्वम्।
त्वं विश्वभूर्योनिपारः स्वगर्भे कुमार एको विशिखः सुधन्वा ॥3॥

धागे में मनके की तरह आप ही समस्त विश्व में प्राणरूप से व्याप्त हैं। आप ही जगदुत्पत्ति के कारण हैं, आपने इस विश्व को एक ही कदम से नाप लिया है। आप ही विश्व का उत्पत्तिकेन्द्र हैं। आप ही अच्छे धनुष को धारण करने वाले कुमार कार्तिकेय के स्वरूप को धारण किए हुए हैं। आप ही जगत् के रक्षणकर्ता हैं।

वितत्य बाणं तरुणार्कवर्णं व्योमान्तरे भासि हिरण्यगर्भः।
भासा त्वया व्योम्नि कृतः सुताक्ष्र्यस्त्वं वै कुमारस्त्वमरिष्टनेमिः ॥4॥

आप ही हिरण्यगर्भ के रूप में तरुणसूर्य की कान्तिवाले बाण को खोंचकर आकाश के अन्तराल में दिखाई पड़ रहे हैं। आपने अपने तेज से आकाश में मानो परमतेजस्वी गरुड जैसा सूर्य प्रकाशित कर रखा है। आप ही अनवरुद्ध गति वाले कार्तिकेय हैं अथवा भलीभाँति सभी विघ्नों का नियमन करने वाले हैं।

त्वं वज्रभृद्भूतपतिस्त्वमेव कामः प्रजानां निहितोऽसि सोमे।
स्वाहा स्वधा यच्च वषट् करोति रुद्रः पशूनां गुहया निमग्नः ॥5॥

वज्र को धारण करने वाले इन्द्ररूप में आप ही हैं, भूतपति महेश्वर के रूप में भी तो आप ही हैं। आप ही समस्त प्रजाओं में काम हैं, आप ही चन्द्रलोक में पितृओं के रूप में हैं। स्वाहा, स्वधा और वषट्कार भी तो आप ही हैं, आप ही रुद्र हैं, और आप ही सभी प्राणियों की हृदयगुहा में अवस्थित होकर रहते हैं।

धाता विधाता पवनः सुपर्णो विष्णुर्वराहो रजनी रहश्च।
भूतं भविष्यत्प्रभवः क्रियाश्च कालः क्रमस्त्वं परमाक्षरं च ॥6॥

हे भगवन्! आप ही धाता (धारण करने वाले) हैं, आप ही विधाता (बनाने वाले) हैं। आप ही गरुड, विष्णु, वाराह, रात्रि और दिवस भी हैं। एकान्त भी आप हैं, भूत और भविष्य काल भी आप ही हैं। सभी का उद्भवस्थान आप हैं। क्रियाएँ और कालक्रम भी आप हैं। अनिवाशी परमाक्षर ॐकार भी आप ही हैं।

ऋचो यजूंषि प्रसवन्ति वक्त्रात् सामानि सम्राड्वसुरन्तरिक्षम्।
त्वं यज्ञनेता हुतभुग्विभुश्च रुद्रास्तथा दैत्यगणा वसुश्च ॥7॥

आप ही के मुँह से ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेद आदि प्रकट होते हैं। आप ही सम्राट् हैं, आप ही वसु हैं, आप ही अन्तरिक्ष रूप हैं। आप ही यज्ञों के नेता हैं और आप ही हवि को खाने वाले भी हैं। आप व्यापक हैं। दैत्यों के समूह भी तो आप ही हैं और सर्वव्यापक वसु भी आप ही हैं।

स एष देवोऽम्बरगश्च चक्रे अन्येऽभ्यधिष्ठेत तमो निरुन्ध्यः।
हिरण्मयं यस्य विभाति सर्वं व्योमान्तरे रश्मिमिमं सुनाभिः ॥8॥

वही यह देव आकाश में रहा हुआ है, चक्र (सूर्यमण्डल) और अन्य स्थानों में अधिष्ठित है तथा अन्धकार (और अज्ञानान्धकार को) नाश करते हुए प्रतिष्ठित है। जिस विराट् पुरुष के हृदयरूपी आकाश में ब्रह्माण्ड को अपने गर्भ में धारण करने वाली सुनाभि (श्रेष्ठ नाभिरूपी केन्द्र) अर्थात् माया, जो रहती है, वह भी आप ही हैं।

स सर्ववेत्ता भुवनस्य गोप्ता नाभिः प्रजानां निहिता जनानाम्।
प्रोता त्वमोता विचितिः क्रमाणां प्रजापतिश्छन्दमयो विगर्भः ॥9॥

वही विराट् ब्रह्म सब कुछ जानने वाला और त्रिभुवन का रक्षण करने वाला है। वही सभी प्राणियों का आधारकेन्द्र (नाभिकेन्द्र) है। अन्तर्यामी के रूप में वही सर्वत्र ओत-प्रोत है। वही विविध गतियों का विश्रामस्थल है। वही विगर्भ (विष्णु के गर्भ) में प्रजापतिरूप में रहते हैं और वेदरूप भी वही हैं।

सामैश्छिदन्तो विरजश्च बाहुं हिरण्मयं वेदविदां वरिष्ठम्।
यमध्वरे ब्रह्मविदः स्तुवन्ति सामैर्यजुर्भिः क्रतुभिस्त्वमेव ॥10॥

श्रेष्ठ वेदज्ञ ज्ञानीजन उस श्रेष्ठ पुरुष को साम आदि वेदों से भी नहीं जान पाते। क्योंकि वह तो रजोगुण से परे है, वह तो सुवर्ण कान्तिवाले हैं। ब्रह्मवेत्ताजन यज्ञों में यजुर्वेद के मंत्रों से तथा सामवेदी-जन सामवेद के मंत्रों से जिसकी स्तुति कर रहे हैं वे विराट् पुरुष आप ही तो हैं।

त्वं स्त्री पुमांस्त्वं च कुमार एकस्त्वं वै कुमारी ह्यथ भूस्त्वमेव।
त्वमेव धाता वरुणश्च राजा त्वं वत्सरोऽग्न्यर्यम एव सर्वम् ॥11॥

हे भगवन्! आप ही स्त्री हैं और आप अकेले ही पुरुष हैं, आप ही कुमार हैं और आप अकेले ही कुमारी हैं। आप ही पृथ्वी हैं, आप ही सबको धारण करने वाले हैं, आप ही वरुण हैं, आप ही सम्राट् (राजा) हैं, आप ही संवत्सर हैं, आप ही अग्नि हैं, आप ही सूर्य हैं, आप ही सब कुछ हैं।

मित्रः सुपर्णश्चन्द्र इन्द्रो वरुणो रुद्रस्त्वष्टा विष्णुः सविता गोपतिस्त्वम्।
त्वं विष्णुर्भूतानि तु त्रासि दैत्यांस्त्वयाऽऽवृतं जगदुद्भवगर्भः ॥12॥

हे पुरुषोत्तम! सूर्य, गरुड, चन्द्र, वरुण, रुद्र, प्रजापति, विष्णु, सविता, इन्द्रियाध्यक्ष या गोपति—जो भी कहे जाते हैं, वह सब आप ही हैं। आप ही विष्णु का रूप धारण करके समग्र मानवजाति को दैत्यों के भय से रक्षण करने वाले हैं। आप ही जगत् की उत्पत्ति का गर्भस्थान (मूलकारण) हैं। आप से ही यह सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड ढँका हुआ है।

त्वं भूर्भुवः स्वस्त्वं हि स्वयंभूरथ विश्वतोमुखः।
य एवं नित्यं वेदयते गुहाशयं प्रभुं पुराणं सर्वभूतं हिरण्मयम्।
हिरण्मयं बुद्धिमतां परां गतिं स बुद्धिमान् बुद्धिमतीत्य तिष्ठति ॥
इत्युपनिषत् ॥13॥

इत्येकाक्षरोपनिषत्समाप्ता।
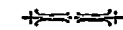
आप ही स्वयंभू और विश्वतोमुख हैं। आप ही भूः, भुवः, स्वः आदि लोकों में प्रतिष्ठित हैं। जो भी मनुष्य अपने हृदयरूपी गुहा के क्षेत्र में निवास करते हुए पुराण पुरुषोत्तम आदि पुरुष को प्रणवस्वरूप और प्रकाशस्वरूप मानता है, वह पुरुष ब्रह्मवेत्ताओं की परम गति को प्राप्त कर लेता है—वह अज्ञान से आवृत भ्रम बुद्धि को पार कर देता है। यही इस उपनिषद् का रहस्यमय ज्ञान है।

इस प्रकार एकाक्षरोपनिषत् समाप्त होती है।

शान्तिपाठः

ॐ सह नाववतु। स नौ...मा विद्विषावहै। (पूर्ववत्)
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः॥

(72) अन्नपूर्णोपनिषत्

(उपनिषत्परिचय)

यह अथर्ववेदीय उपनिषद् काफी बड़ी है, इसमें पाँच बड़े-बड़े अध्याय हैं। अन्नपूर्णा के वरदान से तत्त्वज्ञानप्राप्ति को लेकर इसे अन्नपूर्णोपनिषद् कहा गया है। अन्नपूर्णा का मंत्र इसमें प्रथम आया है। इस मंत्र की उपासना से देवी प्रसन्न होकर तत्त्वज्ञान देती हैं। इसमें पाँच प्रकार के भ्रम बताए गए हैं, उन पाँचों को दूर करने से ही चित्त ब्रह्माकार हो सकता है। इसमें जीव और ब्रह्म की एकता के बारे में उदाहरणसहित विशद चर्चा की गई है। बाद में एक कथा भी दी गई है। और उस कथा के माध्यम से भी मन की चंचलता, उसे वश में लाने का उपाय, जीवन्मुक्त की स्थिति और विदेहमुक्ति का वर्णन किया गया है। आगे कहा गया है कि तत्त्वज्ञान, मनोनाश और वासनाक्षय—इन तीनों के लिए एक साथ ही प्रयत्न करना चाहिए। और इसके लिए संगत्याग, देहात्मादि भ्रम का त्याग और सहज प्राणायाम की आवश्यकता बताई गई है। इसके पाँचवें अध्याय में सात भूमिकाएँ भी बताई गई हैं। इनमें मुमुक्षा, विचारणा, भावना—ये तीन जाग्रदवस्था हैं और विलायिनी भूमिका स्वप्नावस्था है, क्योंकि उस भूमिका में जगत् स्वप्न सा दीखता है। पाँचवीं संविन्मया भूमिका अर्धसुषुप्ति और आनन्दैकाकारा है। छठी तुर्या असंवेदन है। और सातवीं तुर्यातीत है। इस प्रकार इसमें सर्वापलापी आत्मस्थता का—अध्यात्मशास्त्र के मुख्य सिद्धान्त का वर्णन है।

शान्तिपाठः

ॐ भद्रं कर्णेभिः—देवहितं यदायुः। (पूर्ववत्)
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

इसका हिन्दी रूपान्तर पूर्व में (शाण्डिल्योपनिषद् में) द्रष्टव्य है।

ॐ स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवाः स्वस्ति नः पूषा विश्ववेदा।
स्वस्ति न स्तार्क्ष्यो अरिष्टनेमिः स्वस्ति नो बृहस्पतिर्दधातु ॥
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

महान् कीर्तिशाली इन्द्र हमारा कल्याण करें। सर्वज्ञ पूषा देवता हमारा कल्याण करें। अरिष्टनेमि, (अप्रतिहतगति) गरुडदेव और बृहस्पति हमारा कल्याण करें। हमारे त्रिविधतापों की शान्ति हो।

हरि ॐ।

प्रथमोऽध्यायः

निदाघो नाम योगीन्द्रः ऋभुं ब्रह्मविदां वरम्।
प्रणम्य दण्डवद्भूमावुत्थाय स पुनर्मुनिः ॥1॥
आत्मतत्त्वमनुब्रूहीत्येवं पप्रच्छ सादरम्।
कयोपासनया ब्रह्मन्नीदृशं प्राप्तवानसि ॥2॥

तां मे ब्रूहि महाविद्यां मोक्षसाम्राज्यदायिनीम्।
निदाघ त्वं कृतार्थोऽसि शृणु विद्यां सनातनीम् ॥3॥

निदाघ नाम के एक योगीन्द्र ने योगवेत्ताओं में श्रेष्ठ ऐसे ऋभु को धरती पर गिरकर प्रणाम किया। और फिर खड़े होकर उस मुनि ने उनसे आदरपूर्वक पूछा कि "मुझे आत्मतत्त्व का उपदेश दीजिए। हे ब्राह्मण ! कौन-सी उपासना से आपने यह तत्त्वज्ञान (आत्मज्ञान) प्राप्त किया है ? मोक्ष का साम्राज्य देने वाली उस विद्या का मुझे भी उपदेश दीजिए।" यह सुनकर ऋभु ने कहा—"हे निदाघ तुम कृतार्थ हो। तुम अब उस सनातन विद्या को सुनो।"

यस्या विज्ञानमात्रेण जीवन्मुक्तो भविष्यसि।
मूलशृङ्गाटमध्यस्था बिन्दुनादकलाऽऽश्रया ॥4॥
नित्यानन्दा निराधारा विख्याता विलसत्कचा।
विष्टपेशी महालक्ष्मीः कामस्तारो नतिस्तथा ॥5॥
भगवत्यन्नपूर्णेति ममाभिलषितं ततः।
अन्नं देहि ततः स्वाहा मन्त्रसारेति विश्रुता ॥6॥
सप्तविंशतिवर्णात्मा योगिनीगणसेविता ॥7॥

जिसका ज्ञानमात्र हो जाने से तुम जीवन्मुक्त हो जाओगे। वह विद्या मूल मंत्रोंरूपी दरवाजों के बीच में अवस्थित है। वह बिन्दु, नाद और कला का आश्रयरूप है, वह नित्य आनन्दरूप है, उसका कोई आश्रय (आधार) नहीं है। वह सुविख्यात, शोभायमान केशवाली, जगत् की ईश्वरी और महालक्ष्मीस्वरूप है। उसमें प्रथम कामनादायी बीजमंत्र 'ॐ कार' और 'नमः'—ये दो पद हैं। और इसके बाद, 'भगवति अन्नपूर्णे मम अभिलषितं'—ये पद आते हैं। और इसके भी बाद 'अन्नं देहि' ये पद हैं। और बाद में 'स्वाहा' पद आता है। यह विद्या सभी मंत्रों की साररूप के नाम से सुविख्यात है। इस मंत्र के सत्ताईस अक्षर होते हैं और योगिनियों के समूह इसकी उपासना करते हैं।

ऐं ह्रीं सौः श्रीं क्लीं ॐ नमो भगवत्यन्नपूर्णे ममाभिलषितमन्नं देहि स्वाहा।
इति पित्रोपदिष्टोऽस्मि तदादिनियमस्थितः।
कृतवान् स्वाश्रमाचारो मन्त्रानुष्ठानमन्वहम् ॥8॥
एवं गते बहुदिने प्रादुरासीन्ममाग्रतः।
अन्नपूर्णा विशालाक्षी स्मयमानमुखाम्बुजा ॥9॥

वह पूरा मंत्र इस प्रकार से है—'ऐं ह्रीं सौं श्रीं क्लीं ॐ नमो भगवति अन्नपूर्णे ममाभिलषितमन्नं देहि स्वाहा।' इस महाविद्या का मुझे मेरे पिता ने उपदेश दिया था। तब से लेकर मैं नियम में रहा और अपने आश्रमधर्मों का पालन करते हुए मैं प्रतिदिन इस मंत्र का जाप करने का अनुष्ठान करता ही रहा। ऐसा करते-करते बहुत दिन बीत गए। तब मेरे आगे अन्नपूर्णा देवी प्रकट हुईं, जो हँसते हुए मुखकमलवाली तथा विशाल नेत्र वाली थीं।

तां दृष्ट्वा दण्डवद्भूमौ नत्वा प्राञ्जलिरास्थितः।
अहो वत्स कृतार्थोऽसि वरं वरय मा चिरम् ॥10॥
एवमुक्तो विशालाक्ष्या मयोक्तं मुनिपुङ्गव।
आत्मतत्त्वं मनसि मे प्रादुर्भवतु पार्वति ॥11॥
तथैवास्त्विति मामुक्त्वा तत्रैवान्तरधीयत।
तदा मे मतिरुत्पन्ना जगद्वैचित्र्यदर्शनात् ॥12॥

(72) अन्नपूर्णोपनिषत्

(उपनिषत्परिचय)

यह अथर्ववेदीय उपनिषद् काफी बड़ी है, इसमें पाँच बड़े-बड़े अध्याय हैं। अन्नपूर्णा के वरदान से तत्त्वज्ञानप्राप्ति को लेकर इसे अन्नपूर्णोपनिषद् कहा गया है। अन्नपूर्णा का मंत्र इसमें प्रथम आया है। इस मंत्र की उपासना से देवी प्रसन्न होकर तत्त्वज्ञान देती हैं। इसमें पाँच प्रकार के भ्रम बताए गए हैं, उन पाँचों को दूर करने से ही चित्त ब्रह्माकार हो सकता है। इसमें जीव और ब्रह्म की एकता के बारे में उदाहरणसहित विशद चर्चा की गई है। बाद में एक कथा भी दी गई है। और उस कथा के माध्यम से भी मन की चंचलता, उसे वश में लाने का उपाय, जीवन्मुक्त की स्थिति और विदेहमुक्ति का वर्णन किया गया है। आगे कहा गया है कि तत्त्वज्ञान, मनोनाश और वासनाक्षय—इन तीनों के लिए एक साथ ही प्रयत्न करना चाहिए। और इसके लिए संगत्याग, देहात्मादि भ्रम का त्याग और सहज प्राणायाम की आवश्यकता बताई गई है। इसके पाँचवें अध्याय में सात भूमिकाएँ भी बताई गई हैं। इनमें मुमुक्षा, विचारणा, भावना—ये तीन जाग्रदवस्था हैं और विलायिनी भूमिका स्वप्नावस्था है, क्योंकि उस भूमिका में जगत् स्वप्न सा दीखता है। पाँचवीं संविन्मया भूमिका अर्धसुषुप्ति और आनन्दैकाकारा है। छठी तुर्या असंवेदन है। और सातवीं तुर्यातीत है। इस प्रकार इसमें सर्वापलापी आत्मस्थता का—अध्यात्मशास्त्र के मुख्य सिद्धान्त का वर्णन है।

शान्तिपाठः

ॐ भद्रं कर्णेभिः—देवहितं यदायुः। (पूर्ववत्)
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः॥

इसका हिन्दी रूपान्तर पूर्व में (शाण्डिल्योपनिषद् में) द्रष्टव्य है।

ॐ स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवाः स्वस्ति नः पूषा विश्ववेदा।
स्वस्ति न स्तार्क्ष्यो अरिष्टनेमिः स्वस्ति नो बृहस्पतिर्दधातु॥
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः॥

महान् कीर्तिशाली इन्द्र हमारा कल्याण करें। सर्वज्ञ पूषा देवता हमारा कल्याण करें। अरिष्टनेमि, (अप्रतिहतगति) गरुडदेव और बृहस्पति हमारा कल्याण करें।

हमारे त्रिविधतापों की शान्ति हो।

प्रथमोऽध्यायः

हरि ॐ।
निदाघो नाम योगीन्द्रः ऋभुं ब्रह्मविदां वरम्।
प्रणम्य दण्डवद्भूमावुत्थाय स पुनर्मुनिः॥1॥
आत्मतत्त्वमनुब्रूहीत्येवं पप्रच्छ सादरम्।
कयोपासनया ब्रह्मन्नीदृशं प्राप्तवानसि॥2॥

तां मे ब्रूहि महाविद्यां मोक्षसाम्राज्यदायिनीम्।
निदाघ त्वं कृतार्थोऽसि शृणु विद्यां सनातनीम्॥3॥

निदाघ नाम के एक योगीन्द्र ने योगवेत्ताओं में श्रेष्ठ ऐसे ऋभु को धरती पर गिरकर प्रणाम किया। और फिर खड़े होकर उस मुनि ने उनसे आदरपूर्वक पूछा कि "मुझे आत्मतत्त्व का उपदेश दीजिए। हे ब्राह्मण! कौन-सी उपासना से आपने यह तत्त्वज्ञान (आत्मज्ञान) प्राप्त किया है? मोक्ष का साम्राज्य देने वाली उस विद्या का मुझे भी उपदेश दीजिए।" यह सुनकर ऋभु ने कहा—"हे निदाघ! तुम कृतार्थ हो। तुम अब उस सनातन विद्या को सुनो।"

यस्या विज्ञानमात्रेण जीवन्मुक्तो भविष्यसि।
मूलशृङ्गाटमध्यस्था बिन्दुनादकलाऽऽश्रया॥4॥
नित्यानन्दा निराधारा विख्याता विलसत्कचा।
विष्टपेशी महालक्ष्मीः कामस्तारो नतिस्तथा॥5॥
भगवत्यन्नपूर्णेति ममाभिलषितं ततः।
अन्नं देहि ततः स्वाहा मन्त्रसारेति विश्रुता॥6॥
सप्तविंशतिवर्णात्मा योगिनीगणसेविता॥7॥

जिसका ज्ञानमात्र हो जाने से तुम जीवन्मुक्त हो जाओगे। वह विद्या मूल मंत्रोंरूपी दरवाजों के बीच में अवस्थित है। वह बिन्दु, नाद और कला का आश्रयरूप है, वह नित्य आनन्दरूप है, उसका कोई आश्रय (आधार) नहीं है। वह सुविख्यात, शोभायमान केशवाली, जगत् की ईश्वरी और महालक्ष्मीस्वरूप है। उसमें प्रथम कामनादायी बीजमंत्र 'ॐ कार' और 'नमः'—ये दो पद हैं। और इसके बाद, 'भगवति अन्नपूर्णे मम अभिलषितं'—ये पद आते हैं। और इसके भी बाद 'अन्नं देहि' ये पद हैं। और बाद में 'स्वाहा' पद आता है। यह विद्या सभी मंत्रों की साररूप के नाम से सुविख्यात है। इस मंत्र के सत्ताईस अक्षर होते हैं और योगिनियों के समूह इसकी उपासना करते हैं।

ऐं ह्रीं सौः श्रीं क्लीं ॐ नमो भगवत्यन्नपूर्णे ममाभिलषितमन्नं देहि स्वाहा।
इति पित्रोपदिष्टोऽस्मि तदादिनियमस्थितः।
कृतवान् स्वाश्रमाचारो मन्त्रानुष्ठानमन्वहम्॥8॥
एवं गते बहुदिने प्रादुरासीन्ममाग्रतः।
अन्नपूर्णा विशालाक्षी स्मयमानमुखाम्बुजा॥9॥

वह पूरा मंत्र इस प्रकार से है—'ऐं ह्रीं सौं श्रीं क्लीं ॐ नमो भगवति अन्नपूर्णे ममाभिलषितमन्नं देहि स्वाहा।' इस महाविद्या का मुझे मेरे पिता ने उपदेश दिया था। तब से लेकर मैं नियम में रहा और अपने आश्रमधर्मों का पालन करते हुए मैं प्रतिदिन इस मंत्र का जाप करने का अनुष्ठान करता ही रहा। ऐसा करते-करते बहुत दिन बीत गए। तब मेरे आगे अन्नपूर्णा देवी प्रकट हुईं, जो हँसते हुए मुखकमलवाली तथा विशाल नेत्र वाली थीं।

तां दृष्ट्वा दण्डवद्भूमौ नत्वा प्राञ्जलिरास्थितः।
अहो वत्स कृतार्थोऽसि वरं वरय मा चिरम्॥10॥
एवमुक्तो विशालाक्ष्या मयोक्तं मुनिपुङ्गव।
आत्मतत्त्वं मनसि मे प्रादुर्भवतु पार्वति॥11॥
तथैवास्त्विति मामुक्त्वा तत्रैवान्तरधीयत।
तदा मे मतिरुत्पन्ना जगद्वैचित्र्यदर्शनात्॥12॥

उन्हें देखकर भूमि पर दण्डवत् प्रणाम करके दोनों हाथ जोड़कर मैं खड़ा रह गया। तब उन्होंने कहा कि—'हे पुत्र! तुम कृतार्थ हो चुके हो! वरदान माँग लो! विलम्ब मत करो।' जब विशाल नेत्रों वाली उन देवी ने ऐसा कहा, तब हे मुनिश्रेष्ठ! मैंने माँगा कि 'हे पार्वती! मेरे मन में आत्मतत्त्व प्रकट हो।' तब 'तथैवास्तु' ('ऐसा ही होगा') यह कहकर वे देवी वहीं अदृश्य हो गईं। इसलिए उसी समय मुझे जगत् की विचित्रता के दर्शन होने लगे और मेरी बुद्धि इस प्रकार की हो गई।

भ्रमः पञ्चविधो भाति तदेवेह समुच्यते।
जीवेश्वरौ भिन्नरूपाविति प्राथमिको भ्रमः ॥13॥
आत्मनिष्ठं कर्तृगुणं वास्तवं वा द्वितीयकः।
शरीरत्रयसंयुक्तजीवः सङ्गी तृतीयकः ॥14॥
जगत्कारणरूपस्य विकारित्वं चतुर्थकः।
कारणाद्भिन्नजगतः सत्यत्वं पञ्चमो भ्रमः।
पञ्चभ्रमनिवृत्तिश्च तदा स्फुरति चेतसि ॥15॥
बिम्बप्रतिबिम्बदर्शनेन भेदभ्रमो निवृत्तः। स्फटिकलोहितदर्शनेन पारमार्थिककर्तृत्वभ्रमो निवृत्तः। घटमठाकाशदर्शनेन सङ्गीति भ्रमो निवृत्तः। रज्जुसर्पदर्शनेन कारणाद्भिन्नजगतः सत्यत्वभ्रमो निवृत्तः। कनकरुचकदर्शनेन विकारित्वभ्रमो निवृत्तः ॥15-1॥
तदा प्रभृति मच्चित्तं ब्रह्माकारमभूत् स्वयम्।
निदाघ त्वमपीत्थं हि तत्त्वज्ञानमवाप्नुहि ॥16॥

जो पाँच प्रकार का भ्रम दिखाई देता है, वही यहाँ कहा जा रहा है—'जीव और ईश्वर अलग-अलग रूपवाले हैं'—यह पहला भ्रम है। 'आत्मा में कर्तृत्व का गुण है और वह वास्तविक है'—यह दूसरा भ्रम है। 'जीव तीन शरीरों से युक्त है और संगयुक्त है'—यह तीसरा भ्रम है। 'जगत् का कारण विकारी होता है'—यह मानना चौथा भ्रम है, और 'जगत् उसके कारण से अलग है और वास्तविक सत्य है'—यह पाँचवाँ भ्रम है। ये पाँचों भ्रम इस प्रकार दूर हो सकते हैं—जब बिम्ब और प्रतिबिम्ब को देखा जाता है तब दोनों की भिन्नता को व्यर्थ देखकर प्रथम भ्रम की निवृत्ति होती है। स्फटिकमणि में दिखाई देती हुई लालिमा पुष्पादि के सामीप्य से ही है, ऐसा सोदाहरण देखने से आत्मा में वास्तविक कर्तापन देखने का दूसरा भ्रम चला जाता है। घटाकाश, मठाकाश आदि आकाशों में घट-मठ आदि उपाधियों का कोई संग नहीं है, इस उदाहरण को देखने से आत्मा में लिप्तता के तीसरे भ्रम की निवृत्ति हो जाती है। रस्सी में दीखने वाला साँप सही नहीं होता, यह देखने से, 'जगत् अपने कारण से अलग है'—ऐसा चौथा भ्रम भी चला जाता है और सुवर्ण आभूषणों से अलग नहीं होता—यह देखकर जगत्कारण के विकारी होने का भ्रम भी चला जाता है। इस प्रकार जब पाँचों प्रकार के मेरे भ्रम दूर हो गए, तब से लेकर मेरा चित्त आप ही आप ब्रह्माकार होने लगा। हे निदाघ! तुम भी उसी प्रकार से इस तत्त्वज्ञान को प्राप्त कर लो।'

निदाघः प्रणतो भूत्वा ऋभुं पप्रच्छ सादरम्।
ब्रूहि मे श्रद्दधानाय ब्रह्मविद्यामनुत्तमाम् ॥17॥
तथेत्याह ऋभुः प्रीतस्तत्त्वज्ञानं वदामि ते।
महाकर्ता महाभोक्ता महात्यागी भवानघ।
स्वस्वरूपानुसन्धानमेवं कृत्वा सुखी भव ॥18॥

नित्योदितं विमलमाद्यमनन्तरूपं ब्रह्मास्मि नेतरकलाकलनं हि किञ्चित्।
इत्येव भावय निरञ्जनतामुपेतो निर्वाणमेहि सकलामलशान्तवृत्तिः ॥19॥

बाद में निदाघ ने प्रणाम करके आदरपूर्वक ऋभु से पूछा कि मुझ श्रद्धालु को सर्वोत्तम ब्रह्मविद्या का उपदेश दीजिए। तब 'बहुत अच्छा'—ऐसा कहकर प्रसन्न होकर ऋभु ने कहा कि मैं तुम्हें तत्त्वज्ञान का उपदेश दे रहा हूँ—हे निदाघ! तुम महाकर्ता, महाभोक्ता और महात्यागी हो जाओ और इस प्रकार का अनुसन्धान करके सुखी बने रहो। तुम ऐसी भावना करो कि 'मैं तो नित्योदित, निर्मल, आद्य और अनन्तरूप ब्रह्म ही हूँ और सोचो कि दूसरे दिखाई देने वाले जो अंश हैं, वे हैं ही नहीं। और ऐसी भावना करते-करते निरंजन भाव प्राप्त कर लो तथा संपूर्ण निर्मल होकर शान्तवृत्ति वाले होकर निर्वाणपद को प्राप्त कर लो।'

यदिदं दृश्यते किञ्चित् तत्तन्नास्तीति भावय।
यथा गन्धर्वनगरं यथा वारि मरुस्थले ॥20॥
यत्तु नो दृश्यते किञ्चिद्यत्तु किञ्चिदिव स्थितम्।
मनःषष्ठेन्द्रियातीतं तन्मयो भव वै मुने ॥21॥
अविनाशि चिदाकाशं सर्वात्मकमखण्डितम्।
नीरन्ध्रं भूरिवाशेषं तदस्मीति विभावय ॥22॥

जैसे वास्तव में गन्धर्वनगर है ही नहीं, जैसे मरुमरीचिका में वास्तविक जल है ही नहीं, ठीक उसी प्रकार यह दिखाई देने वाला जगत् वास्तव में है ही नहीं—ऐसा सोचते ही रहो। हे मुनि! जो परमतत्त्व दिखाई नहीं देता, परन्तु पारमार्थिक रूप से कुछ सत्तात्मक है और वह मन और छहों इन्द्रियों से परे है, तुम उस तत्त्वरूप हो जाओ। चैतन्याकाश अविनाशी, सर्वस्वरूप, अखण्डित और जल की तरह छिद्ररहित है। तुम ऐसा मानो कि 'मैं वही पूर्ण चैतन्यस्वरूप हूँ।'

यदा संक्षीयते चित्तमभावात्यन्तभावनात्।
चित्सामान्यस्वरूपस्य सत्तासामान्यता तदा ॥23॥
नूनं चैत्यांशरहिता चिद्यदाऽऽत्मनि लीयते।
असद्रूपवदत्यच्छा सत्तासामान्यता तदा ॥24॥
दृष्टिरेषा हि परमा सदेहादेहयोः समा।
मुक्तयोः सम्भवत्येव तुर्यातीतपदाभिधा ॥25॥

सभी वस्तुओं के अभाव की भावना करते-करते जब चित्त का नाश हो जाता है, तब केवल चैतन्य की सत्तामात्र ही अवशिष्ट रह जाती है। अंशरहित विषयज्ञान जब आत्मा में लीन हो जाता है तब सापेक्ष सत्ता रहित (असत्ता जैसी ही) एक सत्ता रह जाती है। यही परमदृष्टि देहधारी मुक्त मनुष्य में और विदेहमुक्त में समान ही रहती है। इसी का नाम 'तुर्यातीत' पद है।

व्युत्थितस्य भवत्येषा समाधिस्थस्य चानघ।
ज्ञस्य केवलमज्ञस्य न भवत्येव बोधजा ॥26॥
अनानन्दसमानन्द मुग्धमुग्धमुखद्युतिः।
चिरकालपरिक्षीणमननादिपरिभ्रमः।
पदमासाद्यते पुण्यं प्रज्ञयैवैकया तथा ॥27॥

हे निर्दोष ! यह ज्ञानजन्य दृष्टि तो समाधि से उठे हुए योगी में अथवा तो समाधि में ही अवस्थित किसी ज्ञानयोगी में ही होती है। अज्ञानी को यह दृष्टि नहीं होती। उस दृष्टि में लौकिक-सापेक्ष आनन्द के अभाव जैसा आनन्द होता है और उस योगज्ञानी के मुख की कान्ति तो मुग्ध से भी मुग्ध जैसी होती है। उसमें लम्बे अरसे की मनन आदि की भ्रान्ति भी नष्ट हुई होती है। यह पवित्र पद तो केवल एक प्रज्ञा के द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है।

इमं गुणसमाहारमनात्मत्वेन पश्यतः।
अन्तःशीतलया याऽसौ समाधिरिति कथ्यते ॥28॥
अवासनं स्थिरं प्रोक्तं मनोध्यानं तदेव च।
तदेव केवलीभानं शान्ततैव च तत् सदा ॥29॥
तनुवासनमत्युच्चैः पदायोद्यतमुच्यते।
अवासनं मनोऽकर्तृपदं तस्मात्तवाप्यते ॥30॥
घनवासनमेतत्तु चेतःकर्तृत्वभावनम्।
सर्वदुःखप्रदं तस्माद्वासनां तनुतां नयेत् ॥31॥

जो मनुष्य भीतर की शान्त-शीतल स्थिति द्वारा इस गुणसमुदाय को केवल अनात्मरूप से ही देखता है, वह दर्शन उसकी समाधि अवस्था कही जाती है। उसी को वासनारहित स्थिर मनोध्यान कहा जाता है। उसी को केवलीभान भी कहा जाता है वही शान्तता है। जो मन कम वासना वाला होता है, वह उच्च पद के लिए उद्यत माना जाता है। जब सभी मनोवृत्तियाँ नष्ट हो जाती हैं, तब आत्मा में अकर्तापन आ जाता है (समझा जाता है)। जब चित्त में बहुत सी वासनाएँ रहती हैं तभी आत्मा की कर्तृत्वभावना वाला चित्त होता है। ऐसा चित्त सभी दुःखों का देने वाला है, इसलिए सभी वासनाओं का त्याग ही कर देना चाहिए।

चेतसा सम्परित्यज्य सर्वभावात्मभावनाम्।
सर्वमाकाशतामेति नित्यमन्तर्मुखस्थितेः ॥32॥
यथा विपणगा लोका विहरन्तोऽप्यसत्समाः।
असंबन्धात्तथा ज्ञस्य ग्रामोऽपि विपिनोपमः ॥33॥
अन्तर्मुखतया नित्यं सुप्तो बुद्धो व्रजन् पठन्।
पुरं जनपदं ग्राममरण्यमिव पश्यति ॥34॥
अन्तःशीतलतायां तु लब्धायां शीतलं जगत्।
अन्तस्तृष्णोपतप्तानां दावदाहमयं जगत् ॥35॥
भवत्यखिलजन्तूनां यदन्तस्तद्बहिः स्थितम् ॥36॥

सभी विषयों से चित्त की आत्मभावना को ('मैं' 'मेरा' को) छोड़कर जो पुरुष नित्य अन्तर्मुखी वृत्तिवाला हो जाता है, उसे यह सब कुछ आकाश की तरह सर्वविषयशून्य ही दिखाई पड़ता है। (उसे कुछ नहीं दीखता।) जैसे बाजार में बहुत लोग आते-जाते हैं, परन्तु उनके साथ सम्बन्ध नहीं होने से वे सब नहीं के बराबर ही दीखते हैं। वैसे ही ज्ञानी की दृष्टि से गाँव भी, सम्बन्ध नहीं होने से, वन जैसा ही है। वह ज्ञानी नित्य अन्तर्मुख होता है, इसलिए सोते हुए, जागते हुए, जाते हुए और स्पष्ट बोलते हुए भी वह गाँव को जंगल जैसा ही मानता है। अंतस् में जब शीतलता प्राप्त होती है, तब जगत् शीतल (अस्तित्वहीन) हो जाता है। और अन्तस् में तृष्णा (वासनाओं) से तपे हुए मनुष्यों के लिए तो जगत् दावानल से जलता हुआ ही दिखाई देता है। क्योंकि सभी प्राणियों में जैसा अन्तस् में होता है, वैसा ही बाहर निकल आता है।

यस्त्वात्मरतिरेवान्तः कुर्वन् कर्मेन्द्रियैः क्रियाः।
न वशो हर्षशोकाभ्यां स समाहित उच्यते ॥37॥
आत्मवत् सर्वभूतानि परद्रव्याणि लोष्टवत्।
स्वभावादेव न भयाद्यः पश्यति स पश्यति ॥38॥
अद्यैव मृतिरायातु कल्पान्तनिचये न वा।
नासौ कलङ्कमाप्नोति हेम पङ्कगतं यथा ॥39॥

जो पुरुष अन्तस् में केवल आत्मा के साथ ही रमण करता रहता है, वह कर्मेन्द्रियों के द्वारा क्रियाएँ भले ही करता रहे, परन्तु वह हर्ष या शोक के वश में नहीं आता। ऐसा पुरुष ही समाधिनिष्ठ कहा जाता है। जो मनुष्य किसी डर के मारे नहीं, किन्तु स्वभाव के ही कारण सभी मनुष्यों को अपने समान मानता है और पराये धन को मृत्पिण्ड (मिट्टी के ढेले) जैसा मानता है वही सही दृष्टि से देखता है। ऐसे मनुष्य का मरण आज ही हो या कल्प के बाद भी न हो, कीचड़ में पड़े हुए सोने की भाँति वह कलंक को प्राप्त नहीं होता।

कोऽहं कथमिदं किं वा कथं मरणजन्मनी।
विचारयान्तरे वेत्थं महत्तत्फलमेष्यसि ॥40॥
विचारेण परिज्ञातस्वभावस्य सतस्तव।
मनःस्वरूपमुत्सृज्य शममेष्यति विज्वरम् ॥41॥
विज्वरत्वं गतं चेतस्तव संसारवृत्तिषु।
न निमज्जति तद्ब्रह्मन् गोष्पदेष्विव वारणः ॥42॥
कृपणं तु मनो ब्रह्मन् गोष्पदेऽपि निमज्जति।
कार्ये गोष्पदतोयेऽपि विशीर्णो मशको यथा ॥43॥

'मैं कौन हूँ ? यह क्या और कैसा है ? ये जन्म-मरण किस कारण से होते हैं ?' यह सब तुम अन्तस् में सोचते ही रहो। ऐसा करने से तुम मोक्षरूपी महान् फल को प्राप्त करोगे। चिन्तन-मनन के द्वारा तुम जब अपने निजी स्वरूप को पहचान लोगे, तब तुम्हारा मन अपना मनोरूप छोड़ देगा और वह मन तब सन्तापरहित बन जाएगा और शान्ति को प्राप्त होगा। हे ब्राह्मण ! जब तुम्हारा मन संतापरहित हो जाएगा, तब जैसे गाय के पदचिह्न में भरे पानी में हाथी नहीं डूब सकता, वैसे ही सांसारिक व्यापारों में वह नहीं डूबेगा। परन्तु हे ब्राह्मण ! जैसे मच्छर गाय के पदचिह्न जैसे गड्ढे में भी डूब ही जाता है, वैसे ही दैन्ययुक्त मन गोपद जितने पानी में भी फँस ही जाता है।

यावद्यावन्मुनिश्रेष्ठ स्वयं सन्त्यज्यतेऽखिलम्।
तावत्तावत् परालोकः परमात्मैव शिष्यते ॥44॥
यावत् सर्वं न सन्त्यक्तं तावदात्मा न लभ्यते।
सर्ववस्तुपरित्यागे शेष आत्मेति कथ्यते ॥45॥
आत्मावलोकनार्थं तु तस्मात् सर्वं परित्यजेत्।
सर्वं सन्त्यज्य दूरेण यच्छिष्टं तन्मयो भव ॥46॥
सर्वं किञ्चिदिदं दृश्यं दृश्यते यज्जगद्गतम्।
चिन्निष्पन्दांशमात्रं तन्नान्यत् किंचन शाश्वतम् ॥47॥

हे श्रेष्ठमुनि ! जैसे-जैसे आप ही आप सब छोड़ दिया जाता है, वैसे-वैसे प्रकाशरूप परमात्मा ही अवशिष्ट रूप में दिखाई देता रहता है। परन्तु जहाँ तक यह सब छूट नहीं सकता, वहाँ तक तो

आत्मा नहीं मिलता, क्योंकि सभी वस्तुओं का त्याग कर देने पर ही जो अवशिष्ट रहता है, वही आत्मा होता है। इसलिए आत्मा का दर्शन करने के लिए सब कुछ का त्याग कर देना चाहिए। और सब कुछ का त्याग करने पर जो शेष रहे, उसी के साथ तुम तन्मय हो जाओ। जगत् के अन्दर यह जो कुछ भी दृश्य दिखाई दे रहा है यह तो उस चैतन्य की लीला का एक अंशमात्र ही है। अत: उसके अतिरिक्त तो कुछ भी सनातन नहीं है।

समाहिता नित्यतृप्ता यथाभूतार्थदर्शिनी।
ब्रह्मन् समाधिशब्देन परा प्रज्ञोच्यते बुधैः ॥48॥
अक्षुब्धा निरहंकारा द्वन्द्वेष्वननुपातिनी।
प्रोक्ता समाधिशब्देन मेरोः स्थिरतरा स्थितिः ॥49॥
निश्चिता विगताभीष्टा हेयोपादेयवर्जिता।
ब्रह्मन् समाधिशब्देन परिपूर्णा मनोगतिः ॥50॥
केवलं चित्प्रकाशांशकल्पिता स्थिरतां गता।
तुर्या सा प्राप्यते दृष्टिर्महद्भिर्वेदवित्तमैः ॥51॥

हे ब्राह्मण! एकाग्र और नित्यतृप्त तथा याथात्म्यदर्शिनी श्रेष्ठ प्रज्ञा को ही विद्वान् लोग समाधि कहते हैं। क्षोभरहित, अहंकाररहित, राग-द्वेषादि द्वन्द्वों से विमुख, मेरुपर्वत जैसी जो अचल स्थिति है, उसी को 'समाधि' कहा गया है। हे ब्राह्मण! निश्चयात्मक, प्रेयस् को छोड़ने वाली, हेय-उपादेय से रहित और परिपूर्ण—ऐसी जो मन:स्थिति है, उसे ही समाधि कहा गया है। जो दृष्टि केवल चैतन्य के अंशों से ही बनी हो, जिसे स्थिरता प्राप्त हो गई हो, उसे तुर्या दृष्टि कहते हैं और बड़े वेदज्ञानी पुरुष द्वारा ही प्राप्त की जाती है।

अदूरगतसादृश्या सुषुप्तस्योपलक्ष्यते।
मनोऽहङ्कारविलये सर्वभावान्तरस्थिता ॥52॥
समुदेति परानन्दा या तनुः पारमेश्वरी।
मनसैव मनश्छित्त्वा सा स्वयं लभ्यते गतिः ॥53॥
तदनु विषयवासनाविनाशस्तदनु शुभः परमस्फुटप्रकाशः।
तदनु च समतावशात् स्वरूपे परिणमनं महतामचिन्त्यरूपम् ॥54॥
अखिलमिदमनन्तमात्मतत्त्वं दृढपरिणामिनि चेतसि स्थितोऽन्तः।
बहिरुपशमिते चराचरात्मा स्वयमनुभूयत एव देवदेवः ॥55॥

यह अवस्था लगभग सुषुप्ति जैसी होती है। मन और अहंकार का नाश होने पर ही इसका अनुभव हो सकता है। यह अवस्था सभी मानवों के भीतर अस्तित्व रखती ही है। जब परमानन्द-स्वरूप परमेश्वर प्रकट होते हैं, तब मन के द्वारा ही मन को काटकर अपने आप ही यह अवस्था प्राप्त की जाती है। और उसके बाद ही विषय वासनाएँ नष्ट होती हैं। और फिर उसके बाद ही परमप्रकाश (परमोत्तम प्रकाश) स्पष्ट हो जाता है, और उसी के बाद समता से स्वरूप में परिणत हुआ जाता है। बड़े-बड़े लोगों के लिए भी इसका स्वरूप अचिन्त्य है। यह सब अनन्त आत्मतत्त्व ही है। यह आत्मा दृढ़ परिणामी चित्त के भीतर ही अवस्थित रहा है। जिस समय यह चित्त बाहर के विषयों की ओर जाना बन्द कर देता है, उसी समय वह देवों का देव अपने आप ही चराचर के आत्मा के रूप में अनुभव में आ जाता है।

असक्तं निर्मलं चित्तं युक्तं संसार्यविस्फुटम्।
सक्तं तु दीर्घतपसा मुक्तमप्यतिबद्धवत् ॥56॥
अन्तःसंसक्तिनिर्मुक्तो जीवो मधुरवृत्तिमान्।
बहिः कुर्वन्नकुर्वन् वा कर्ता भोक्ता न हि क्वचित् ॥57॥

इति प्रथमोऽध्यायः।

संसारी होने पर भी चित्त यदि आसक्ति से रहित हो और निर्मल हो, तो स्पष्टरूप से वह मुक्त ही है, पर यदि वही चित्त लम्बी तपश्चर्या से युक्त हो और फिर भी आसक्तियुक्त हो, तो वह बिल्कुल ही बद्ध जैसा है। इसलिए भीतर की आसक्ति से रहित जीव मधुर वृत्तिवाला होता है और वह यदि कोई भी कार्य करे या न करे तो भी किसी भी काल में न कर्त्ता होता है, न भोक्ता ही होता है।

यहाँ प्रथम अध्याय पूरा हुआ।

❋

द्वितीयोऽध्यायः

निदाघः उवाच—
सङ्गः कीदृश इत्युक्तः कश्च बन्धाय देहिनाम्।
कश्च मोक्षाय कथितः कथं त्वेष चिकित्स्यते ॥1॥
देहदेहिविभागैकपरित्यागेन भावना।
देहमात्रे हि विश्वासः सङ्गो बन्धाय कथ्यते ॥2॥

तब निदाघ ने कहा—'संग किसे कहा जाता है? कैसा संग प्राणियों को बन्धन में डालने वाला होता है? और कौन-सा संग मोक्ष देने वाला होता है? संग को दूर करने का उपाय क्या है?' तब ऋभु बोले—'शरीर अलग है और आत्मा अलग है' इस प्रकार के भेद विचार का त्याग करके, 'केवल शरीर ही आत्मा है'—ऐसा मानकर उस पर ही भरोसा करना, ऐसा संग बन्धनकारक होता है।

सर्वमात्मेदमत्राहं किं वाञ्छामि त्यजामि किम्।
इत्यसङ्गस्थितिं विद्धि जीवन्मुक्ततनुस्थिताम् ॥3॥
नाहमस्मि न चान्योऽस्ति न चायं न च नेतरः।
सोऽसङ्ग इति सम्प्रोक्तो ब्रह्मास्मीत्येव सर्वदा ॥4॥
नाभिनन्दति नैष्कर्म्यं न कर्मस्वनुषज्यते।
सुसमो यः परित्यागी सोऽसंसक्त इति स्मृतः ॥5॥
सर्वकर्मफलादीनां मनसैव न कर्मणा।
निपुणो यः परित्यागी सोऽसंसक्त इति स्मृतः ॥6॥

"यह सब कुछ जब आत्मा ही है, तो मैं किस वस्तु का त्याग करूँ और किसको चाहूँ?" ऐसी भावना को तुम असंग स्थिति जानो। ऐसी स्थिति जीवन्मुक्तों को होती है। "मैं भी नहीं हूँ, दूसरा भी नहीं है, यह भी नहीं है, वह भी नहीं है, केवल मैं ब्रह्म ही हूँ"—इस प्रकार अनुभव जो मनुष्य सर्वकाल में करता ही रहता है उसे संगरहित कहा जाता है। जो मनुष्य कर्मरहितता (निष्कर्मण्यता) पसंद नहीं करता और साथ ही साथ कर्मों में आसक्त भी नहीं होता और बहुत ही समान भाववाला होकर सभी का

परित्याग कर देता है, उसे 'आसक्तिरहित' कहा जाता है। जो निपुण (कुशल) मनुष्य मन से ही अपने सभी कर्मों के फलादि को छोड़ देता है, पर कर्मों को नहीं छोड़ता उसे आसक्तिरहित कहा जाता है।

असङ्कल्पेन सकलाश्चेष्टा नाना विजृम्भिताः।
चिकित्सिता भवन्तीह श्रेयः सम्पादयन्ति हि ॥7॥
न सक्तमिह चेष्टासु न चिन्तासु न वस्तुषु।
न गमागमचेष्टासु न कालकलनासु च ॥8॥
केवलं चिति विश्रम्य किञ्चिच्चैत्यावलम्ब्यपि।
सर्वत्र नीरसमिह तिष्ठत्यात्मरसं मनः ॥9॥
व्यवहारमिदं सर्वं मा करोतु करोतु वा।
अकुर्वन् वाऽपि कुर्वन् वा जीवः स्वात्मरतिक्रियः ॥10॥

जो अनेक प्रकार की चेष्टाएँ उत्पन्न होती रहती हैं, उन्हें असंकल्प से दूर किया जा सकता है। और उसी असंकल्परूप उपाय से ऐसे लोग इस लोक में कल्याण को (मोक्ष को) प्राप्त कर सकते हैं। मन इस लोक की चिन्ताओं में लगा न हो, किसी भी पदार्थ (विषय) में चिपक न गया हो, जाने-आने की चेष्टाओं में भी उसका लगाव न हो, काल की गति के साथ भी उसका कोई संपर्क न हो और वह केवल चैतन्य में ही विश्रान्ति पाकर अन्य किसी भी विषय का थोड़ा-सा भी आश्रय न करता हो; इस तरह सभी जगहों में भले वह नीरस हो परन्तु वह केवल आत्मा में तो रसयुक्त ही रहता है। भले ही वह इस संसार के सभी व्यवहार करता हो अथवा न भी करता हो, तो भी जीव को अपने आत्मा में रमण करने की क्रिया तो चालू ही रखनी चाहिए।

अथवा तमपि त्यक्त्वा चैत्यांशं शान्तचिद्घनः।
जीवस्तिष्ठति संशान्तो ज्वलन्मणिरिवात्मनि ॥11॥
चित्ते चैत्यदशाहीने या स्थितिः क्षीणचेतसाम्।
सोच्यते शान्तकलना जाग्रत्येव सुषुप्तता ॥12॥

अथवा तो विषय के उस अंश का भी परित्याग करके शान्त और चैतन्यमय बनकर जीव अपने ही प्रकाश से प्रकाशित (स्वयंप्रकाश) मणि की तरह अत्यन्त शान्त रहता है। चित्त जब जगत् के विषयों की दशा से रहित हो जाता है, तब जो मनोरहित लोगों की स्थिति होती है, वैसी ही उसकी स्थिति हो जाती है। उसे शान्तकलना (शान्तवासना) कहा जाता है और उसे जाग्रत् में भी सुषुप्तावस्था कहा गया है।

एषा निदाघ सौषुप्तस्थितिरभ्यासयोगतः।
प्रौढा सती तुरीयेति कथिता तत्त्वकोविदैः ॥13॥
अस्यां तुरीयावस्थायां स्थितिं प्राप्याविनाशिनीम्।
आनन्दैकान्तशीलत्वादनानन्दपदं गतः ॥14॥
अनानन्दमहानन्दकालातीतस्ततोऽपि हि।
मुक्त इत्युच्यते योगी तुर्यातीतपदं गतः ॥15॥
परिगलितसमस्तजन्मपाशः सकलविलीनतमोमयाभिमानः।
परमरसमयीं परात्मसत्तां जलगतसैन्धवखण्डवन्महात्मा ॥16॥

हे निदाघ ! ऐसी सुषुप्ति की अवस्था जब अभ्यास से परिपक्व बन जाती है, तब तत्त्ववेत्ता लोग उसे 'तुरीयावस्था' कहते हैं। इस तुरीयावस्था में अविनाशी की स्थिति पाकर केवल एक निरपेक्ष आनन्द का ही परिचय पाकर वह 'अनानन्द' स्थिति को पाता है (क्योंकि आनन्द भी सप्रतियोगिक और सापेक्ष शब्द है, यहाँ जब निष्प्रतियोगिक और निरपेक्ष अनुभव होता है, उसे 'आनन्द' शब्द से व्यवहृत करना योग्य नहीं है, यह यहाँ तात्पर्य है।) इस प्रकार अनानन्द, महानन्द और कालातीत बनने के बाद तुर्यातीतपद को प्राप्त हुआ योगी मुक्त कहा जाता है। ऐसा हो जाने के बाद उसके सभी जन्मरूपी बन्धन टूट जाते हैं। अज्ञानमय सकल अभिमान नष्ट हो जाता है। जल में डाले हुए नमक के गट्ठे की तरह वह महात्मा परम रसमय परम सत्ता को प्राप्त हो जाता है, उसमें विलीन हो जाता है।

जडाजडदृशोर्मध्ये यत्तत्त्वं पारमार्थिकम्।
अनुभूतिमयं तस्मात् सारं ब्रह्मेति कथ्यते ॥17॥
दृश्यसंवलितो बन्धस्तन्मुक्तौ मुक्तिरुच्यते।
द्रव्यदर्शनसम्बन्धे याऽनुभूतिरनामया ॥18॥
तामवष्टभ्य तिष्ठ त्वं सौषुप्तीं भजते स्थितिम्।
सैव तुर्यत्वमाप्नोति तस्यां दृष्टिं स्थिरां कुरु ॥19॥
आत्माऽस्थूलो न चैवाणुर्न प्रत्यक्षो न चेतरः।
न चेतनो न च जडो न चैवासन्न सन्मयः ॥20॥
नाहं नान्यो न चैवैको न चानेकोऽद्वयोऽव्ययः।
यदिदं दृश्यतां प्राप्तं मनःसर्वेन्द्रियास्पदम् ॥21॥

जड़ एवं चेतन के बीच जो अनुस्यूत तत्त्व है, वह पारमार्थिक है, वह अनुभवमय है, इसलिए इसे ही साररूप ब्रह्मतत्त्व कहा जाता है। दृश्यों के साथ मिश्रित हो जाना ही बन्धन है और उनसे छुटकारा पा लेना ही मुक्ति है। द्रव्य (विषय) का जब दर्शनसम्बन्ध होता है, तब भी जो निर्दोष (निर्लिप्त) केवल अनुभवरूप रहता है, उसी स्थिति का आश्रय करके तुम रहो। जो मनुष्य ऐसी सुषुप्तिमय अवस्था को प्राप्त होता है, वही तुरीयपद की स्थिति को प्राप्त होता है। इसलिए तुम उसी स्थिति में अपनी दृष्टि को स्थिर करके रहो। आत्मा स्थूल भी नहीं है और सूक्ष्म भी नहीं है। वह प्रत्यक्ष भी नहीं है और परोक्ष भी नहीं है। चेतन भी नहीं है, जड़ भी नहीं है। असत् भी नहीं है, और सत् भी नहीं है। वह 'मैं' भी नहीं है और 'अन्य' भी नहीं है। वह एक भी नहीं है और अनेक भी नहीं है। वह तो अद्वैत, अविनाशी और निर्विकार है। जो यह सब दृश्यरूप हुआ है, वह तो सब इन्द्रियों का स्थान (केन्द्र) मन ही है।

दृश्यदर्शनसम्बन्धे यत्सुखं पारमार्थिकम्।
तदतीतं पदं यस्मात्तन्न किञ्चिदिवैव तत् ॥22॥
न मोक्षो नभसः पृष्ठे न पाताले न भूतले।
सर्वाशासंक्षये चेतःक्षयो मोक्ष इतीष्यते ॥23॥
मोक्षो मेऽस्त्विति चिन्ताऽन्तर्जाता चेदुत्थितं मनः।
मननोत्थे मनस्येष बन्धः सांसारिको दृढः ॥24॥
तदमार्जनमात्रं हि महासंसारतां गतम्।
तत्प्रमार्जनमात्रं तु मोक्ष इत्यभिधीयते ॥25॥

दृश्य और दर्शन का सम्बन्ध (ऐक्य) होने से जो पारमार्थिक सुख का अनुभव होता है, वही पद सबसे परे (सर्वातीत) होता है। और उससे जो सुख होता है, वह पारमार्थिक और उच्चतम (परे का) पद है। इसलिए वह ऐसा लगता है कि मानो कुछ भी न हो। मोक्ष कहीं आकाश के पृष्ठ में नहीं है, वह पृथ्वी पर भी नहीं है और पाताल में भी नहीं है। बस, सभी आशाओं का नाश हो जाता है, वही मोक्ष है। 'मेरा मोक्ष हो'—ऐसी जो एक तरस (तड़पन) दिल में उठती है, तो बस, मन की उड़ान शुरू हो ही गई ऐसा समझो। और अगर मन अन्यान्य विचारों में लग गया, तो वही संसार का दृढ़ बन्धन हो जाता है। उसका मार्जन नहीं करना ही संसारता को प्राप्त होना कहलाता है और उसका मार्जन कर देना ही मोक्ष है।

आत्मन्यतीते सर्वस्मात्सर्वरूपेऽथ वा तते।
को बन्धः कश्च वा मोक्षो निर्मूलं मननं कुरु ॥26॥
अध्यात्मरतिराशान्तः पूर्णः पावनमानसः।
प्राप्तानुत्तमविश्रान्तिर्न किञ्चिदिह वाञ्छति ॥27॥
सर्वाधिष्ठानसन्मात्रे निर्विकल्पे चिदात्मनि।
यो जीवति गतस्नेहः स जीवन्मुक्त उच्यते ॥28॥
नापेक्षते भविष्यच्च वर्तमाने न तिष्ठति।
न संस्मरत्यतीतं च सर्वमेव करोति च ॥29॥

आत्मा सबसे पर और सर्वव्यापक एवं सर्वरूप है, तब फिर बन्धन कहाँ रहा ? और तब तो फिर मोक्ष भी क्या है ? इसलिए तुम अपने मन को ही निर्मूल बना दो। जो पुरुष अपने आत्मा में ही रमण करने वाला होता है, जो शान्त है और पवित्र मन वाला है, जो संपूर्ण रूप से शान्ति को प्राप्त कर चुका होता है, वह इस लोक में कुछ भी नहीं चाहता। जो मनुष्य सर्व के अधिष्ठानरूप सत्यस्वरूप निर्विकल्प चिदात्मा में ही रमण कर रहा हो, उसकी सभी प्रकार की आसक्ति समाप्त हो जाती है और वह 'जीवन्मुक्त' कहा जाता है। उसे भविष्य की कोई चिन्ता नहीं होती। वह वर्तमान पर कोई आधार नहीं रखता। वह अपने भूतकाल को भी कभी याद नहीं करता और सब कुछ किया करता है।

अनुबन्धपरे जन्तावसंसर्गमनाः सदा।
भक्ते भक्तसमाचारः शठे शठ इव स्थितः ॥30॥
बालो बालेषु वृद्धेषु वृद्धो धीरेषु धैर्यवान्।
युवा यौवनवृत्तेषु दुःखितेषु सुदुःखधीः ॥31॥
धीरधीरुदितानन्दः पेशलः पुण्यकीर्तनः।
प्राज्ञः प्रसन्नमधुरो दैन्यादपगताशयः ॥32॥
अभ्यासेन परिस्पन्दे प्राणानां क्षयमागते।
मनः प्रशममायाति निर्वाणमवशिष्यते ॥33॥

उस पुरुष के प्रति अन्य प्राणी यदि उससे आसक्त रहें, तो भी उसका मन तो सदैव निःसंग (आसक्तिरहित) ही रहता है। वह अपने भक्त के प्रति भक्त जैसा आचरण करता है और शठ के प्रति मानो शठ हो ऐसा वर्ताव करता है। बालकों में बालक और वृद्धों में वृद्ध तथा धैर्यशील पुरुषों में वह धैर्यशील की तरह तथा युवाओं में युवा की तरह व्यवहार करता है तथा दुःखियों के प्रति अत्यन्त दुःखी

वृत्तिवाला होता है। ऐसा पुरुष धीरबुद्धि वाला, उदित आनन्द वाला, कोमल, पवित्र, कीर्तिशाली, बुद्धिमान, प्रसन्न और माधुर्यपूर्ण होता है। उसका आशय दैन्यरहित ही होता है। जब अभ्यास के द्वारा प्राण की गति का नाश होता है, तब मन शान्ति को प्राप्त करता है और तब निर्वाण (मुक्ति) का स्थान ही अवशिष्ट रह जाता है।

यतो वाचो निवर्तन्ते विकल्पकलनान्विताः।
विकल्पसंक्षयाज्जन्तोः पदं तदवशिष्यते ॥34॥
अनाद्यन्तावभासात्मा परमात्मेह विद्यते।
इत्येतन्निश्चयं स्फारं सम्यज्ज्ञानं विदुर्बुधाः ॥35॥
यथाभूतात्मदर्शित्वमेतावद् भुवनत्रये।
यदात्मैव जगत्सर्वमिति निश्चित्य पूर्णता ॥36॥
सर्वमात्मैव कौ दृष्टौ भावाभावौ क्व वा गतौ।
क्व बन्धमोक्षकलने ब्रह्मैवेदं विजृम्भते ॥37॥

विकल्पों (भेदों) को करती हुई वाणी जहाँ से (जिस परमपद से) वापस लौट जाती है, वही पद, जब प्राणियों के विकल्प समाप्त हो जाते हैं, तब उन्हें प्राप्त हो जाता है। विकल्पों के नाश से वही परमपद शेष रह जाता है। 'आदि-अन्तरहित प्रकाशस्वरूप परमात्मा ही है, इसके अतिरिक्त कुछ भी नहीं है'—इस प्रकार के प्रज्वलित और निश्चयात्मक ज्ञान को ही विद्वान् लोग 'सम्यक् ज्ञान' कहते हैं। 'यह सारा जगत् केवल आत्मा ही है'—ऐसा निश्चय करके पूर्णता प्राप्त करनी चाहिए। तीनों लोकों में ऐसी दृष्टि रखना ही पारमार्थिक दृष्टि है। जब यह सब आत्मा ही है तब भाव और अभाव कहाँ रहेंगे ? (उनके लिए जगह ही नहीं है) वे दोनों कहाँ हैं ? कहाँ रहते हैं (अर्थात् कहीं भी नहीं)। जब सर्वत्र ब्रह्म ही का प्रकाश फैला हुआ है, तब बन्ध और मोक्ष की गणना भी तो कहाँ और किस तरह हो सकती है ?

सर्वमेकं परं व्योम को मोक्षः कस्य बन्धता।
ब्रह्मेदं बृंहिताकारं बृहद्बृहदवस्थितम् ॥38॥
दूरादस्तमितद्वित्वं भवात्मैव त्वमात्मना।
सम्यगालोकिते रूपे काष्ठपाषाणवाससाम् ॥39॥
मनागपि न भेदोऽस्ति क्वासि संकल्पनोन्मुखः।
आदावन्ते च संशान्तस्वरूपमविनाशि यत् ॥40॥
वस्तूनामात्मनश्चैतत्तन्मयो भव सर्वदा।
द्वैताद्वैतसमुद्भेदैर्जरामरणविभ्रमैः ॥41॥

यह सब एक उत्कृष्ट आकाश ही है। तो इसमें मोक्ष कौन सा है और बन्धन भी किसको है ? विशाल आकारयुक्त यह ब्रह्म तो बड़े से भी बड़ा और सर्वत्र व्याप्त ही है। जब काष्ठ, पत्थर या वस्त्र का स्वरूप भली भाँति दिखाई देता है, तब द्वैतभाव दूर से ही विनष्ट हो जाता है। और फिर 'मैं' एकरूप आत्मा ही शेष रह जाता है। कहीं भी कुछ भी भेद नहीं है, तो फिर तुम क्यों व्यर्थ ही संकल्प-विकल्प करने में तत्पर होते हो ? जो अत्यन्त शान्त और विनाशरहित है वही आदि में और अन्त में उपस्थित रहता है। इन सभी वस्तुओं का और तुम्हारा स्वरूप भी तो वही है। तुम सर्वदा वह स्वरूपमय

ही हो जाओ। तरंगों के रूप में सागर ही दिखाई देता है। इस तरह द्वैत-अद्वैत से तथा जरा-मरण आदि से उत्पन्न भ्रान्तियों वाले सभी चित्तों में भी वास्तव में आत्मा ही प्रकाशित होता है।

स्फुरत्यात्मभिरात्मैव चित्तैरब्धीव वीचिभिः।
आपत्करञ्जपरशुं पराया निर्वृतेः पदम् ॥42॥
शुद्धमात्मानमालिङ्ग्य नित्यमन्तःस्थया धिया।
यः स्थितस्तं क आत्मेह भोगो बाधयितुं क्षमः ॥43॥
कृतस्फारविचारस्य मनोभोगादयोऽरयः।
मनागपि न भिन्दन्ति शैलं मन्दानिला इव ॥44॥
नानात्वमस्ति कलनासु न वस्तुतोऽन्त-
र्नानाविधासु सरसीव जलादिवान्यत्।
इत्येकनिश्चयमयः पुरुषो विमुक्त
इत्युच्यते समवलोकितसम्यगर्थः ॥45॥ इति।

इति द्वितीयोऽध्यायः।

पूर्वोक्त तरंगवीचिन्याय से आत्मा ही आत्माओं के द्वारा स्फुरित होता है। इसलिए आपत्तिरूपी करंज के पेड़ को काट डालने के लिए कुल्हाड़ी के समान तथा परमनिवृत्ति के स्थान रूप परमात्मा को भेंटकर जो पुरुष अपनी अंतःस्थ बुद्धि के साथ रहता है, उसे भला कौन सा और आत्मा का भोग इस लोक में बाधा पहुँचाने के लिए समर्थ है ? (अर्थात् कोई नहीं।) जैसे मन्द पवन पर्वत को हिला नहीं सकते वैसे ही इस प्रदीप्त (प्रोज्ज्वल) विचार वाले पुरुष को धन के भोग आदि रूपी शत्रु थोड़ा भी हिला नहीं सकते। अनेकता तो केवल विविध प्रकार के संकल्पों में ही रहती है। विविध तालाबों में जिस तरह पानी के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं होता, उसी तरह उन सभी के अन्दर भी आत्मा के अलावा और कुछ भी नहीं है। इस प्रकार के निश्चय में दृढ़ हुए मनुष्य को विनिर्मुक्त कहा जाता है। क्योंकि उसने परमपदार्थ रूप परमात्मा को जान लिया होता है।

यहाँ दूसरा अध्याय पूरा होता है।

❋

तृतीयोऽध्यायः

विदेहमुक्तेः किं रूपं तद्वान् को वा महामुनिः।
कं योगं समुपस्थाय प्राप्तवान् परमं पदम् ॥1॥
सुमेरोर्वसुधापीठे माण्डव्यो नाम वै मुनिः।
कौण्डिन्यात्तत्त्वमास्थाय जीवन्मुक्तो भवत्यसौ ॥2॥
जीवन्मुक्तिदशां प्राप्य कदाचिद्ब्रह्मवित्तमः।
सर्वेन्द्रियाणि संहर्तुं मनश्चक्रे महामुनिः ॥3॥
बद्धपद्मासनस्तिष्ठन्नर्धोन्मीलितलोचनः।
बाह्यानाभ्यन्तरांश्चैव स्पर्शान् परिहरञ्छनैः ॥4॥

तब निदाघ ने पूछा कि—"जीवन्मुक्ति का स्वरूप क्या है ? उस मुक्ति को प्राप्त किया हुआ महामुनि कैसा होता है ? किस योग का अवलम्बन करके वह उस परमपद को प्राप्त करता है ? तब

ऋभु ने कहा कि सुमेरु पर्वत की तलहटी में माण्डव्य नाम के एक ऋषि रहते थे। उन्होंने कौण्डिन्य मुनि के पास से तत्त्व को जाना था और जीवन्मुक्त हो गए थे। ब्रह्मवेत्ताओं में श्रेष्ठ उन महामुनि ने जीवन्मुक्त की दशा प्राप्त करने के बाद किसी समय सभी इन्द्रियों का संहार करने का विचार किया। उन्होंने पद्मासन लगाया, आँखें अधखुली रखकर वे आसन पर बैठे। और बाद में बाहर के और भीतर के सभी विषयों का त्याग करने लगे।

ततः स्वमनसः स्थैर्यं मनसा विगतैनसा।
अहो नु चञ्चलमिदं प्रत्याहृतमपि स्फुटम् ॥5॥
पटाद्घटमुपायाति घटाच्छकटमुत्कटम्।
चित्तमर्थेषु चरति पादपेष्विव मर्कटः ॥6॥
पञ्च द्वाराणि मनसा चक्षुरादीन्यमून्यलम्।
बुद्धीन्द्रियाभिधानानि तान्येवालोकयाम्यहम् ॥7॥
हन्तेन्द्रियगणा यूयं त्यजताकुलतां शनैः।
चिदात्मा भगवान् सर्वसाक्षित्वेन स्थितोऽस्म्यहम् ॥8॥

इसके बाद पापरहित हुए मन के द्वारा अपने मन की स्थिरता प्राप्त करके उन्होंने निश्चय किया कि अहो ! सही बात यह है कि यह मन ही चञ्चल है। मैंने उसे बहुत ही प्रयत्न करके स्थिर किया है फिर भी जैसे वानर एक पेड़ से दूसरे पेड़ पर कूदता ही रहता है, वैसे वह घड़े से कपड़े और कपड़े से छकड़े की ओर कूदता ही रहता है। इसलिए मन के इन पाँच इन्द्रियरूपी द्वारों को ही मैं मन के द्वारा ठीक तौर से देख लूँ। ये द्वार ज्ञानेन्द्रिय कहलाते हैं। ऐसा सोचकर उन्होंने इन्द्रियों को सम्बोधित करके कहा—'तुम इन्द्रियों के समूह अपनी आकुलता को धीरे-धीरे छोड़ दो, क्योंकि मैं भगवान् चिदात्मा हूँ। और मैं सर्व के साक्षी-रूप में ही अवस्थित रहा हूँ'।

तेनात्मना बहुज्ञेन निर्ज्ञाताश्चक्षुरादयः।
परिनिर्वामि शान्तोऽस्मि दिष्ट्याऽस्मि विगतज्वरः ॥9॥
स्वात्मन्येवावतिष्ठेऽहं तुर्यरूपपदेऽनिशम्।
अन्तरेव शशामास्य क्रमेण प्राणसन्ततिः ॥10॥
ज्वालाजालपरिस्पन्दो दग्धेन्धन इवानलः।
उदितोऽस्तं गत इव ह्यस्तं गत इवोदितः ॥11॥
समः समरसाभासस्तिष्ठामि स्वच्छतां गतः।
प्रबुद्धोऽपि सुषुप्तिस्थः सुषुप्तिस्थः प्रबुद्धवान् ॥12॥

अब उस सर्वज्ञ आत्मा के द्वारा चक्षु आदि तुम इन्द्रियाँ मुझे दिखाई ही नहीं पड़तीं। मैंने अब चारों ओर से निर्वाण प्राप्त कर लिया है। मैं अब शान्त हो गया हूँ। और बहुत अच्छा हुआ है कि मैं सन्ताप से रहित हो गया हूँ। मैं निरन्तर अपने आत्मस्वरूप में ही अवस्थित रहा करता हूँ। यही तुरीयपद है। इस जीव की प्राणपरम्परा भी इसी में क्रमशः शान्त हो चुकी है। जैसे अग्नि प्रथम तो ज्वालाओं की ही गतिवाला होता है, परन्तु लकड़ियाँ जल जाने पर अभी उदीयमान-सा (प्रदीप्तवान्-सा) ही दिखाई देता है, ऐसी ही मेरी भी स्थिति है। स्वच्छता को प्राप्त करके मैं समान रूपवाला हो गया हूँ। और समानतारूप रस का आभास बन गया हूँ। जागता हूँ और सोता हूँ तथा सोता हूँ और जागता हूँ। (जैसे अग्नि उस अवस्था में बार-बार जलता-बुझता रहता है।)

तुर्यमालम्ब्य कायान्तस्तिष्ठामि स्तम्भितस्थितिः ।
सबाह्याभ्यन्तरान् भावान् स्थूलान् सूक्ष्मतरानपि ॥13॥
त्रैलोक्यसम्भवांस्त्यक्त्वा संकल्पैक विनिर्मितान् ।
सह प्रणवपर्यन्तदीर्घनिःस्वनतन्तुना ॥14॥
जहाविन्द्रियतन्मात्रजालं खग इवानिलः ।
ततोऽङ्गसंविदं स्वच्छां प्रतिभासमुपागताम् ॥15॥
सद्योजातशिशुज्ञानं प्राप्तवान् मुनिपुङ्गवः ।
जहौ चितश्चैत्यदशां स्पन्दशक्तिमिवानिलः ॥16॥

'मैं इस शरीर में तुर्यपद का आश्रय करके ही रह रहा हूँ'—इस प्रकार का अनुभव कर वह मुनि निश्चल स्थिति में रहे। उन्होंने इन बाह्य और आभ्यन्तर सभी विषयों का त्याग कर दिया। ये सभी विषय तो केवल संकल्पों से ही उत्पन्न होते हैं और त्रैलोक्य में बाहर और भीतर वे संकल्पजनित ही सभी विषय हैं। और बाद में उस मुनि ने प्रणव तक के दीर्घ नादरूपी तन्तु से इन्द्रियों का तथा तन्मात्राओं के समूह का भी त्याग कर दिया था। और आकाश में बहते वायु जैसे बनकर स्वच्छ प्रतिभास को प्राप्त हुए अंगविज्ञान को भी छोड़ दिया था। बाद में वह मुनिश्रेष्ठ तुरन्त जन्मे हुए बच्चे जैसे ज्ञान को (निर्दोष और निर्दंश को) प्राप्त हुए और वायु जिस तरह अपनी स्पन्दनशक्ति छोड़ देता हो, उस प्रकार उनके चित्त ने विषयाकार वृत्ति को छोड़ दिया था।

चित्सामान्यमथासाद्य सत्तामात्रात्मकं ततः ।
सुषुप्तपदमालम्ब्य तस्थौ गिरिरिवाचलः ॥17॥
सुषुप्तस्थैर्यमासाद्य तुर्यरूपमुपाययौ ।
निरानन्दोऽपि सानन्दः सच्चासच्च बभूव सः ॥18॥
ततस्तु सम्बभूवासौ यद्गिरामप्यगोचरम् ।
यच्छून्यवादिनां शून्यं ब्रह्म ब्रह्मविदां च यत् ॥19॥
विज्ञानमात्रं विज्ञानविदां यदमलात्मकम् ।
पुरुषः सांख्यदृष्टीनामीश्वरो योगवादिनाम् ॥20॥

बाद में सामान्य चैतन्यस्वरूप को (केवल चैतन्य को) प्राप्त करके और केवल सत्तास्वरूप सुषुप्ति के पद का आश्रय करके पर्वत की तरह अचल रह गए। और इस प्रकार सुषुप्ति की स्थिरता को प्राप्त करने के बाद तुरीय स्वरूप को प्राप्त हो गए। इस प्रकार वे आनन्दसहित और आनन्दरहित भी और सत् भी तथा असत् भी—दोनों अवस्थाओं को प्राप्त हुए। बाद में तो जो वाणी का भी, अविषय है, जो शून्यवादियों का शून्य है, जो ब्रह्मवेत्ताओं का ब्रह्म है और विज्ञानवेत्ताओं का जो निर्मल स्वरूप विज्ञानमात्र है, सांख्यदृष्टिवालों का जो पुरुष है, योगवादियों का जो ईश्वर है, और—

शिवः शैवागमस्थानां कालः कालैकवादिनाम् ।
यत् सर्वशास्त्रसिद्धान्तं यत् सर्वहृदयानुगम् ॥21॥
यत् सर्वं सर्वगं वस्तु यत्तत्त्वं तदसौ स्थितः ।
यदनुक्तमनिष्पन्दं दीपकं तेजसामपि ॥22॥
स्वानुभूत्यैकमानं च यत्तत्त्वं तदसौ स्थितः ।
यदेकं चाप्यनेकं च साञ्जनं च निरञ्जनम् ।

यत् सर्वं चाप्यसर्वं च यत्तत्त्वं तदसौ स्थितः ॥23॥
अजममरमनाद्यमाद्यमेकं पदममलं सकलं च निष्कलं च ।
स्थित इति स तदा नभःस्वरूपादपि विमलस्थितिरीश्वरः क्षणेन ॥24॥ इति ।
इति तृतीयोऽध्यायः ।

शैवागमियों में जो शिव है, कालैकवादी (काल को ही सर्वोत्तम मानने वालों) का जो काल है, सभी शास्त्रों का जो सिद्धान्त है, जो सभी के हृदयों में अनुगत (अनुस्यूत) है, जो सर्वस्वरूप है, जो सर्वव्यापी पदार्थ है, उसी के रूप में वे मुनि अवस्थित रहे। जिस तत्त्व को अभी तक किसी ने किसी विशेष तत्त्व के रूप में कहा ही नहीं है, और जो तत्त्व किसी भी चेष्टा से रहित है, जो तेज को भी प्रकाशित करने वाला है, जो तत्त्व केवल अनुभव से ही प्रमाणित होता है, उस तत्त्व के रूप में वे मुनि रहे। और जो तत्त्व एक भी है और अनेक भी है, जो अंजनस्वरूप भी है और निरंजन भी है, जो सर्व भी है और असर्व भी है उस तत्त्व के स्वरूप में भी वे मुनि रहे। और जो जन्मरहित है, मरणरहित है, अनादि भी है, आदि भी है, जो एकमात्र है, जो निर्मल, सर्वस्वरूप और निरवयव है, जो कला-सहित और कलारहित भी है, उसी पद में वे रहे। इस प्रकार उस समय क्षणभर में आकाश के स्वरूप से भी निर्मल स्थिति वाले होकर वे मुनि ईश्वर बन गए।

यहाँ तीसरा अध्याय पूरा हुआ।

❈

चतुर्थोऽध्यायः

जीवन्मुक्तस्य किं लक्ष्म ह्याकाशगमनादिकम् ।
तथा चेन्मुनिशार्दूल तत्र नैव प्रलक्ष्यते ॥1॥
अनात्मविदमुक्तोऽपि नभोविहरणादिकम् ।
द्रव्यमन्त्रक्रियाकालशक्त्याऽऽप्नोत्येव स द्विजः ॥2॥
नात्मज्ञस्यैष विषय आत्मज्ञो ह्यात्ममात्रदृक् ।
आत्मनाऽऽत्मनि सन्तृप्तो नाविद्यामनुधावति ॥3॥
ये ये भावाः स्थिता लोके तानविद्यामयान् विदुः ।
त्यक्ताविद्यो महायोगी कथं तेषु निमज्जति ॥4॥

तदनन्तर निदाघ ने पुनः पूछा कि—"हे मुनिश्रेष्ठ ! जीवन्मुक्त का लक्षण क्या है ? यदि उसका लक्षण आकाशगमनादि सिद्धियाँ हो, तो वह तो उसमें दीखता नहीं है।' तब ऋभु ने कहा कि—जो द्विज आत्मा को नहीं जानता हो और मुक्त भी न हुआ हो, वह भी तो द्रव्य, मंत्र, काल और क्रिया की शक्तियों से गगनविहार आदि का सामर्थ्य रख ही सकता है। आत्मा को जानने वाले का यह कोई विषय नहीं है। आत्मा को जानने वाला तो केवल आत्मा को ही देखता रहता है। वह तो अपने आत्मा से अपने ही आत्मा में संतृप्त ही रहता है। इसलिए वह आकाशगमनादि अविद्या की ओर दौड़ता ही नहीं। इस लोक के जो-जो भाव हैं, उन्हें ज्ञानी लोग अविद्यामय ही मानते हैं। इसलिए जिसने अविद्या को छोड़ दिया हो, ऐसा महायोगी उन अविद्यामय भावों में भला क्यों डूबेगा ?

यस्तु मूढोऽल्पबुद्धिर्वा सिद्धिजालानि वाञ्छति ।
स सिद्धिसाधनैर्योगैस्तानि साधयति क्रमात् ॥5॥
द्रव्यमन्त्रक्रियाकालयुक्तयः साधुसिद्धिदाः ।
परमात्मपदप्राप्तौ नोपकुर्वन्ति काश्चन ॥6॥
यस्येच्छा विद्यते काचित्स सिद्धिं साधयत्यहो ।
निरिच्छोः परिपूर्णस्य नेच्छा सम्भवति क्वचित् ॥7॥
सर्वेच्छाजालसंशान्तावात्मलाभो भवेन्मुने ।
स कथं सिद्धिजालानि नूनं वाञ्छत्यचित्तकः ॥8॥

जो मनुष्य मूढ़ और अल्पबुद्धिवाला होता है, वही केवल सिद्धियों के समूहों की इच्छा करता है, और उन सिद्धियों के साधनरूप योगों से उन्हें सिद्ध करता है। द्रव्यों, मन्त्रों, काल और क्रियाओं की युक्तियाँ उत्तम सिद्धियों को तो देने वाली हैं, परन्तु परमात्मपद की प्राप्ति के लिए तो वे किसी काम की नहीं होतीं। जिस मनुष्य को किसी भी प्रकार की इच्छा हो, वही उन आश्चर्यकारक सिद्धियों को प्राप्त करता है, परन्तु जो इच्छारहित हो गया हो, जो परिपूर्ण बन गया हो, उसकी तो किसी भी विषय में इच्छा होना संभव ही नहीं है। हे मुनि ! सभी इच्छाओं के जाल जब बिल्कुल ही शान्त (नष्ट) हो जाते हैं, तभी आत्मलाभ हो सकता है, और ऐसा आत्मलाभ होने से चित्तरहित बना हुआ ज्ञानी सिद्धियों के समूहों को भला क्यों चाहेगा ?

अपि शीतरुचावर्के सुतीक्ष्णेऽपीन्दुमण्डले ।
अप्यधः प्रसरत्यग्नौ जीवन्मुक्तो न विस्मयी ॥9॥
अधिष्ठाने परे तत्त्वे कल्पिता रज्जुसर्पवत् ।
कल्पिताश्चर्यजालेषु नाभ्युदेति कुतूहलम् ॥10॥

सूर्य कदाचित् शीतल कान्ति वाला हो जाए, चन्द्रमण्डल कदाचित् अतितीक्ष्ण (उष्ण किरणों वाला) हो जाए और अग्नि कदाचित् निम्नगामी ज्वालाओं वाला हो जाए, फिर भी जीवन्मुक्त कदापि विस्मय को प्राप्त करने वाला नहीं हो सकता। रस्सी में साँप की तरह ही सभी पदार्थ उस सर्वाश्रयभूत परमतत्त्व में कल्पित ही हैं। इसलिए कल्पित आश्चर्यों के समूह में कुतूहल हो ही नहीं सकता।

ये हि विज्ञातविज्ञेया वीतरागा महाधियः ।
विच्छिन्नग्रन्थयः सर्वे ते स्वतन्त्रास्तनौ स्थिताः ॥11॥
सुखदुःखदशाधीरं साम्यान्न प्रोद्धरन्ति यम् ।
निश्वासा इव शैलेन्द्रं चित्तं तस्य मृतं विदुः ॥12॥
आपत्कार्पण्यमुत्साहो मदो मान्द्यं महोत्सवः ।
यं नयन्ति न वैरूप्यं तस्य नष्टं मनो विदुः ॥13॥

जिन महान् बुद्धिशाली वीतराग पुरुषों ने सच्ची ज्ञेय वस्तु जान ली है, उनकी अविद्यारूपी गाँठ तो कट चुकी होती है, इसलिए वे सब तो इस शरीर में स्वतंत्र रूप से ही (देह की किसी अपेक्षा के बिना ही) निवास करते रहे हैं। जिस प्रकार श्वासोच्छ्वास की वायु पर्वतों को हिला नहीं सकती, उसी प्रकार सुख-दुःख में धैर्यशाली रहने वाले उस पुरुष को वे अवस्थाएँ साम्यभाव की अवस्था से विचलित नहीं कर सकतीं। ज्ञानी लोग उसके चित्त को मरा हुआ मानते हैं। आपत्ति समय की दीनता, उत्साह,

मद, मन्दता और बड़े-बड़े उत्सव भी जिसको विरूप या विकृत नहीं बना सकते, उसके मन को ज्ञानी लोग 'नष्ट मन' ('मरा हुआ मन') कहते हैं।

द्विविधश्चित्तनाशोऽस्ति सरूपोऽरूप एव च ।
जीवन्मुक्तौ सरूपः स्यादरूपो देहमुक्तिगः ॥14॥
चित्तसत्तेह दुःखाय चित्तनाशः सुखाय च ।
चित्तसत्तां क्षयं नीत्वा चित्तं नाशमुपानयेत् ॥15॥
मनस्तां मूढतां विद्धि यदा नश्यति साऽनघ ।
चित्तनाशाभिधानं हि तत्स्वरूपमितीरितम् ॥16॥
मैत्र्यादिभिर्गुणैर्युक्तं भवत्युत्तमवासनम् ।
भूयोजन्मविनिर्मुक्तं जीवन्मुक्तस्य तन्मनः ॥17॥

चित्त का नाश दो प्रकार का होता है। एक है सरूप और दूसरा है अरूप। उनमें से सरूपनाश जीवन्मुक्ति में होता है। और अरूपनाश विदेहमुक्ति में होता है। चित्त का अस्तित्व इस लोक में दुःखदायी है। और चित्त का नाश सुखदायी है। इसलिए चित्त का अस्तित्वपूर्वक नाश कर देना चाहिए। हे निर्दोष निदाघ ! मनस्त्व ही मूढ़ता है, ऐसा समझना चाहिए। इसलिए जब उस 'मनस्त्व' का नाश हो जाता है, तभी चित्तनाश की सही स्थिति कही गई है। जीवन्मुक्त का मन मैत्री, करुणा, आदि गुणों से युक्त तथा उत्तम वासनाओं से युक्त होता है। वह पुनर्जन्म से छूट गया होता है।

सरूपोऽसौ मनोनाशो जीवन्मुक्तस्य विद्यते ।
निदाघारूपनाशस्तु वर्ततेऽदेहमुक्तिके ॥18॥
विदेहमुक्त एवासौ विद्यते निष्कलात्मकः ।
समग्राग्र्यगुणाधारमपि सत्त्वं प्रलीयते ॥19॥
विदेहमुक्तौ विमले पदे परमपावने ।
विदेहमुक्तिविषये तस्मिन् सत्त्वक्षयात्मके ॥20॥
चित्तनाशे विरूपाख्ये न किञ्चिदिह विद्यते ।
न गुणा नागुणास्तत्र न श्रीर्नाश्रीर्न लोकता ॥21॥

हे निदाघ ! जीवन्मुक्त के मन का वह नाश उत्तमवासनासहित होने से 'सरूप' कहा जाता है। परन्तु विदेहमुक्त के मन का नाश वासनारहित होने से 'अरूप' कहलाता है। वह विदेहमुक्त अवयवरहित केवल आत्मस्वरूप ही होता है। क्योंकि विदेहमुक्ति की उस स्थिति में समग्र श्रेष्ठ गुणों का आधार अन्तःकरण ही नष्ट हो जाता है। विदेहमुक्ति तो परम पवित्र और निर्मल पद है। उसमें (सत्त्वक्षयात्मक उस अवस्था में) विरूप (अरूप) चित्तनाश जब हो जाता है, तब उसमें कुछ भी शेष नहीं रहता। वहाँ गुण भी नहीं होते और अगुण भी तो नहीं होते। लक्ष्मी भी नहीं होती और अलक्ष्मी भी नहीं होती। लोक भी वहाँ नहीं होते।

न चोदयो नास्तमयो न हर्षामर्षसंविदः ।
न तेजो न तमः किञ्चिन्न सन्ध्यादिनरात्रयः ।
न सत्ता नापि चासत्ता न च मध्यं हि तत् पदम् ॥22॥
ये हि पारं गता बुद्धेः संसाराडम्बरस्य च ।
तेषां तदास्पदं स्फारं पवनानामिवाम्बरम् ॥23॥

संशान्तदुःखमजडात्मकमेकसुप्त-
मानन्दमन्थरमपेतरजस्तमो यत्।
आकाशकोशतनवोऽतनवो महान्त-
स्तस्मिन् पदे गलितचित्तलवा भवन्ति ॥24॥
हे निदाघ महाप्राज्ञ निर्वासनमना भव।
बलाच्चेतः समाधाय निर्विकल्पमना भव ॥25॥

उस विदेहमुक्तावस्था में (मन के अरूपनाश की अवस्था में) न उदय होता है, न अस्त होता है। न हर्ष का भान होता है, न शोक का भान रहता है। वहाँ तेज भी नहीं होता, अन्धकार भी नहीं होता। सन्ध्या नहीं होती, दिन नहीं होता, रात्रि भी नहीं होती। सत्ता भी नहीं होती और असत्ता भी नहीं होती। वह पद किसी के बीच में नहीं होता। जो लोग बुद्धि से और संसार के आडम्बरों से परे पहुँच चुके हों (बुद्धि और सांसारिक प्रपंच का जिन्होंने अतिक्रमण कर दिया हो), उन्हीं लोगों का यह प्रदीप्त स्थान है, जैसे कि पवनों का स्थान आकाश होता है। इस अवस्था में दुःखों का आत्यन्तिक शमन होता है। जड़ता का वह स्वरूप ही नहीं है, उसमें केवल सुषुप्ति ही होती है। वह आनन्द से व्याप्त है, रजोगुण और तमोगुण उससे दूर हट गए होते हैं। ऐसे विदेहमुक्त लोग आकाश के कोश जैसा सूक्ष्मातिसूक्ष्म शरीर के साथ होकर भी उससे रहित होकर रहते हैं, उनके चित्त का एक अंश भी अवशिष्ट नहीं रहा होता, ऐसे महापुरुष ही उस पद में अपनी स्थिति करते हैं। हे निदाघ! तुम भी वैसे ही वासनारहित हो जाओ और बलपूर्वक चित्त को एकाग्र करके विकल्परहित मनवाले हो जाओ।

यज्जगद्भासकं भानं नित्यं भाति स्वतः स्फुरत्।
स एव जगतः साक्षी सर्वात्मा विमलाकृतिः ॥26॥
प्रतिष्ठा सर्वभूतानां प्रज्ञानघनलक्षणः।
तद्विद्याविषयं ब्रह्म सत्यज्ञानसुखाद्वयम् ॥27॥
एकं ब्रह्माहमस्मीति कृतकृत्यो भवेन्मुनिः ॥28॥
सर्वाधिष्ठानमद्वन्द्वं परं ब्रह्म सनातनम्।
सच्चिदानन्दरूपं तदवाङ्मनसगोचरम् ॥29॥

जगत् का प्रकाशक और स्वयंस्फुरित जो अविनाशी है, उसका भान तो सदैव हुआ ही करता है। वह भानस्वरूप जो है, वही जगत् का साक्षी है और विशुद्ध चैतन्यरूप सर्वात्मा है। वह सभी प्राणियों और भूतों का अधिष्ठान (आधार) और अवलम्बन है। सघन ज्ञानस्वरूपता ही उसका लक्षण है। वह ब्रह्म है और वही विद्या का (जानने का) विषय है (अर्थात् वही ज्ञान और वही ज्ञेय है।) वही सत्य (सत्), ज्ञान (चित्) और सुख (आनन्द) स्वरूप है। 'मैं ब्रह्म ही हूँ'—ऐसा अनुभव करने वाला मुनि कृतकृत्य हो जाता है। अद्वैत ब्रह्म तो सनातन और सर्वाधिष्ठान है। वह सच्चिदानन्दस्वरूप है और वह वाणी और मन का विषय नहीं हो सकता।

न तत्र चन्द्रार्कवपुः प्रकाशते न वान्ति वाताः सकला देवताश्च।
स एष देवः कृतभावभूतः स्वयं विशुद्धो विरजः प्रकाशते ॥30॥
भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे ॥31॥
द्वौ सुपर्णौ शरीरेऽस्मिन् जीवेशाख्यौ सह स्थितौ।
तयोर्जीवः फलं भुङ्क्ते कर्मणो न महेश्वरः ॥32॥

केवलं साक्षिरूपेण विना भोगो महेश्वरः।
प्रकाशते स्वयं भेदः कल्पितो मायया तयोः।
चिच्चिदाकारतो भिन्ना न भिन्ना चित्त्वहानितः ॥33॥

उसमें सूर्य अथवा चन्द्र का शरीर प्रकाशित नहीं होता। उसमें वायु नहीं बहते। यही देव सकल देवताओं का स्वरूप है। प्रत्येक पदार्थ तथा प्रत्येक भूत उसी ने बनाया है। फिर भी वह स्वयं अत्यन्त शुद्ध और रजोगुण से रहित होकर प्रकाशित हो रहा है। जब उस परात्पर परमात्मा के दर्शन हो जाते हैं तब हृदय की गाँठ टूट जाती है, सभी संदेह कट जाते हैं, और सभी कर्मों का क्षय हो जाता है। इस शरीर में जीव और ईश्वररूपी दो पक्षी एक ही साथ निवास कर रहे हैं। उनमें से जीव कर्मों का फल भोगता है और ईश्वर कर्म के फल नहीं भोगता। वह महेश्वर भोगरहित रहकर केवल साक्षीरूप से प्रकाशित हो रहा है। माया के कारण से ही उन जीव-ईश, दोनों में भेद कल्पित किया गया है। चैतन्य या ज्ञान के आधार पर वे दोनों अलग नहीं हैं। केवल माया के ही कारण से ज्ञान की (चित्त्व की) हानि हो जाने से ही उन दोनों में भेद दिखाई दे रहा है।

तर्कतश्च प्रमाणाच्च चिदेकत्वव्यवस्थितेः।
चिदेकत्वपरिज्ञाने न शोचति न मुह्यति ॥34॥
अधिष्ठानं समस्तस्य जगतः सत्यचिद्घनम्।
अहमस्मीति निश्चित्य वीतशोको भवेन्मुनिः ॥35॥
स्वशरीरे स्वयंज्योतिःस्वरूपं सर्वसाक्षिणम्।
क्षीणदोषाः प्रपश्यन्ति नेतरे माययाऽऽवृत्ताः ॥36॥

तर्क और श्रुति के प्रमाण से जब चैतन्यरूप में सबकी एकता सिद्ध हो जाती है और उस चैतन्यरूप की पूर्णता का जब ज्ञान हो जाता है, तब ज्ञानी शोक नहीं करता और तब उसे मोह भी उत्पन्न नहीं होता। 'समग्र जगत् का अधिष्ठान और सत्यस्वरूप चैतन्य मैं ही हूँ'—ऐसा निश्चय हो जाने के बाद वह मुनि शोकरहित हो जाता है। जिनके रागादि दोष नष्ट हो गए हों, ऐसे वे लोग अपने शरीर में स्वयंज्योतिस्वरूप सर्व के साक्षी को देखते हैं, परन्तु माया से ढँके हुए लोग उसको देख नहीं सकते।

तमेव धीरो विज्ञाय प्रज्ञां कुर्वीत ब्राह्मणः।
नानुध्यायाद्बहून् शब्दान् वाचो विग्लापनं हि तत् ॥37॥
बाल्येनैव हि तिष्ठासेन्निर्विद्य ब्रह्मवेदनम्।
ब्रह्मविद्यां च बाल्यं च निर्विद्य मुनिरात्मवान् ॥38॥

धैर्यशील ब्राह्मण उस आत्मतत्त्व को जानकर ही प्रज्ञा अर्थात् विशिष्ट ज्ञान को प्राप्त करता है। वह अनेक शब्दों का विचार किया नहीं करता। क्योंकि वह तो केवल वाणी को थकाने वाला ही विलास है। ब्रह्म-ज्ञान का अनुभव करके शैशव में (बालसहज स्वभाव में) ही रहना योग्य है, क्योंकि ब्रह्मविद्या और शिशुसहजता का अनुभव करके ही मुनि आत्मवेत्ता बन जाते हैं।

अन्तर्लीनसमारम्भः शुभाशुभमहाङ्कुरम्।
संसृतिव्रततेर्बीजं शरीरं विद्धि भौतिकम् ॥39॥
भावाभावदशाकोशं दुःखरत्नसमुद्गकम्।
बीजमस्य शरीरस्य चित्तमाशावशानुगम् ॥40॥

द्वे बीजे चित्तवृक्षस्य वृत्तिव्रततिधारिणः ।
एकं प्राणपरिस्पन्दो द्वितीयो दृढभावना ॥41॥
यदा प्रस्पन्दते प्राणो नाडीसंस्पर्शनोद्यतः ।
तदा संवेदनमयं चित्तमाशु प्रजायते ॥42॥

इस भौतिक शरीर में ही सब कार्यकलाप कूट-कूट कर भरा है, शुभ-अशुभ सबका बड़ा अंकुर भी यही है और संसाररूपी वल्ली का बीज भी यह भौतिक शरीर ही है, ऐसा तुम जानो। इस भौतिक शरीर का बीज चित्त है क्योंकि वही भाव और अभाव की दशाओं का कोश है। दुःखरूपी रत्नों का वह उद्गम स्थान है। और आशा (तृष्णा) के वशीभूत लोगों का ही वह अनुसरण करता है। इस चित्तरूप वृक्ष के दो बीज हैं—एक है प्राणों की चेष्टा और दूसरा है दृढ़ भावना। जिस समय प्राणवायु नाड़ियों का स्पर्श करने के लिए तत्पर होकर चेष्टा करता है, तब उसी समय संवेदनात्मक चित्त शीघ्र ही उत्पन्न हो जाता है।

सा हि सर्वगता संवित् प्राणस्पन्देन बोध्यते ।
संवित्संरोधनं श्रेयः प्राणादिस्पन्दनं वरम् ॥43॥
योगिनश्चित्तशान्त्यर्थं कुर्वन्ति प्राणरोधनम् ।
प्राणायामैस्तथा ध्यानैः प्रयोगैर्युक्तिकल्पितैः ॥44॥
चित्तोपशान्तिफलदं परमं विद्धि कारणम् ।
सुखदं संविदः स्वास्थ्यं प्राणसंरोधनं विदुः ॥45॥
दृढभावनया त्यक्तपूर्वापरविचारणम् ।
यदादानं पदार्थस्य वासना सा प्रकीर्तिता ॥46॥

यह संवेदन तो सभी में रहता है, प्राण की चेष्टा उसे जगाती है। इसलिए प्राणादि की चेष्टा न होना ही अच्छी बात है, ऐसा तुम्हें समझना चाहिए। योगी लोग चित्त की शान्ति के लिए प्राणावरोधन करते हैं। वे प्राणायामों से, ध्यान से तथा अन्य कल्पित युक्तियों से कल्पित प्रयत्नों द्वारा प्राणों को रोकने का प्रयत्न करते हैं। इसलिए प्राणचेष्टा को रोकना ही चित्तशान्ति को रोकने वाला श्रेष्ठ उपाय है, ऐसा तुम्हें समझना चाहिए। और योगी लोग भी उसी को संवेदन का सुखदायी कारण जानते हैं। आगे-पीछे का और कोई भी विचार छोड़कर ही किसी पदार्थ को दृढ़ भावना से पकड़े रहने का नाम ही वासना है। (विचार किए बिना वस्तु पर आसक्ति ही वासना है।)

यदा न भाव्यते किञ्चिद्धेयोपादेयरूपि यत् ।
स्थीयते सकलं त्यक्त्वा तदा चित्तं न जायते ॥47॥
अवासनत्वात्सततं यदा न मनुते मनः ।
अमनस्ता तदोदेति परमोपशमप्रदा ॥48॥
यदा न भाव्यते भावः क्वचिज्जगति वस्तुनि ।
तदा हृदम्बरे शून्ये कथं चित्तं प्रजायते ॥49॥
यदभावनमास्थाय यदभावस्य भावनम् ।
यद्यथावस्तुदर्शित्वं तदचित्तत्वमुच्यते ॥50॥

त्याज्य और ग्राह्य—दोनों का कुछ भी विचार किए बिना ही जब सब कुछ छोड़ ही दिया जाता है, तब उस स्थिति में चित्त उत्पन्न ही नहीं होता। वासनारहित होने से चित्त जब विचार करना बन्द ही

कर देता है, तब 'मनोराहित्य' उत्पन्न होता है। (निर्मनस्कता = अमनस्कता उत्पन्न होती है) और वही परम उपशम देने वाला होता है। जगत् की किसी भी वस्तु के प्रति यदि भावना ही उत्पन्न न हो, तो फिर हृदय के शून्य आकाश में चित्त उत्पन्न ही कैसे हो सकता है ? (अर्थात् उत्पन्न हो ही नहीं सकता।) तो इस त्याज्य भावना का आश्रय करके पदार्थों के अभाव की ही कल्पना करनी चाहिए और जो वस्तु जिस स्वरूप में वास्तव में हो उस पारमार्थिक स्वरूप में उसे देखना ही 'अचित्तत्व' (चित्तराहित्य) कहा जाता है।

सर्वमन्तः परित्यज्य शीतलाशयवर्ति यत् ।
वृत्तिस्थमपि तच्चित्तमसद्रूपमुदाहृतम् ॥51॥
भ्रष्टबीजोपमा येषां पुनर्जननवर्जिता ।
वासनारसनाहीना जीवन्मुक्ता हि ते स्मृताः ॥52॥
सत्त्वरूपपरिप्राप्तचित्तास्ते ज्ञानपारगाः ।
अचित्ता इति कथ्यन्ते देहान्ते व्योमरूपिणः ॥53॥
संवेद्यसंपरित्यागात् प्राणस्पन्दनवासने ।
समूलं नश्यतः क्षिप्रं मूलच्छेदादिव द्रुमः ॥54॥

जो चित्त अंतस् से सब कुछ छोड़ देता है और शीतल आशय (शान्त वृत्ति) वाला होता है और बाहर भले ही वृत्तियों के व्यापार में दिखाई देता है, फिर भी वह चित्त 'असत्' रूप ही है। जिनकी वासनाएँ भुने हुए बीज के समान पुनः अंकुरणक्षमता से शून्य हो गई हों, जिनसे पुनर्जन्म हो ही नहीं सकता, ऐसी रसनारहित वासनावाले ही जीवन्मुक्त कहे जाते हैं। ऐसे लोगों ने अपने चित्त में परमसत्त्व की (परमात्मा की) प्राप्ति कर ली होती है, वे लोग ज्ञान के पार तक पहुँचे हुए हैं, उन्हीं को 'अचित्त' (चित्तरहित) कहा जाता है। देह के गिर जाने के बाद वे आकाशरूप (ब्रह्मरूप) हो जाते हैं। संवेद्य पदार्थ का परित्याग होने से प्राणों का स्पन्दन और वासना—दोनों का मूलसहित नाश हो जाता है, जैसे वृक्ष का समूल उच्छेद हो जाता है।

पूर्वदृष्टमदृष्टं वा यदस्याः प्रतिभासते ।
संविदस्तत् प्रयत्नेन मार्जनीयं विजानता ॥55॥
तदमार्जनमात्रं हि महासंसारतां गतम् ।
तत्प्रमार्जनमात्रं तु मोक्ष इत्यभिधीयते ॥56॥
अजडोऽगलितानन्दस्त्यक्तसंवेदनो भव ॥57॥
संविद्वस्तुदशालम्बः सा यस्येह न विद्यते ।
सोऽसंविदजडः प्रोक्तः कुर्वन् कार्यशतान्यपि ॥58॥

ज्ञानी मनुष्य को चाहिए कि वह पहले देखा हुआ और न देखा हुआ तो कुछ इस संविद् में प्रतिभासित होता है, उस सबको प्रयत्नपूर्वक छोड़ दें। उसको नहीं छोड़ना ही तो बड़े संसार के रूप में खड़ा हो गया है। और केवल उसको हटाया जाना ही मोक्ष कहलाता है। तुम अजड़ (चैतन्यरूप) और अक्षीण आनन्दवाले तथा सभी संवेदनों को छोड़ने वाले ही बन जाओ। जिस मनुष्य में संविद् नहीं है, संविद् की दशा का आलम्बन भी नहीं है, वह मनुष्य असंविद् और अजड़ (चैतन्यरूप) कहा जाता है। भले ही वह सैकड़ों कार्य करता रहता है।

संवेद्येन हृदाकाशे मनागपि न लिप्यते ।
यस्यासावजडा संविज्जीवन्मुक्तः स कथ्यते ॥59॥

यदा न भाव्यते किञ्चिन्निर्वासनतयाऽऽत्मनि ।
बालमूकादिविज्ञानमिव च स्थीयते स्थिरम् ॥60॥
तदा जाड्यविनिर्मुक्तमसंवेदनमाततम् ।
आश्रितं भवति प्राज्ञो यस्माद्भूयो न लिप्यते ॥61॥
समस्ता वासनास्त्यक्त्वा निर्विकल्पसमाधितः ।
तन्मयत्वादनाद्यन्ते तदप्यन्तर्विलीयते ॥62॥

जिस मनुष्य के हृदयाकाश में संवेद्य पदार्थों के द्वारा कुछ भी लेप नहीं किया जा सकता, उसी की संविद् अजड़ (चैतन्यरूप) कही जाती है और वह जीवन्मुक्त कहा जाता है। आत्मा के वासनारहित हो जाने पर जब कुछ भी भावित (अनुभूत) नहीं होता और बालक या गूँगे की तरह ही जब स्थिर ही रहा जाता है तभी जड़ता से मुक्त (चैतन्यमय) असंवेदन का विस्तार होता है। ऐसे चैतन्यमय असंवेदन का आश्रय करने वाला प्राज्ञपुरुष फिर से उसमें लिप्त नहीं होता। समस्त वासनाओं का त्याग करके निर्विकल्प समाधि के द्वारा उसमें तल्लीन हो जाने से वह भी अनादि और अनन्त तत्त्व में विलीन हो जाता है। (वह अजड़ असंवेदन का चैतन्य में लीन हो जाता है।)

तिष्ठन् गच्छन् स्पृशन् जिघ्रन्नपि तल्लेपवर्जितः ।
अजडो गलितानन्दस्त्यक्तसंवेदनः सुखी ॥63॥
एतां दृष्टिमवष्टभ्य कष्टचेष्टायुतोऽपि सन् ।
तरेद्दुःखाम्बुधेः पारमपारगुणसागरः ॥64॥
विशेषं सम्परित्यज्य सन्मात्रं यदलेपकम् ।
एकरूपं महारूपं सत्तायास्तत्पदं विदुः ॥65॥
कालसत्ता कलासत्ता वस्तुसत्तेयमित्यपि ।
विभागकलनां त्यक्त्वा सन्मात्रैकपरो भव ॥66॥

खड़ा रहता, चलता, स्पर्श करता, सूँघता—कुछ भी करता हुआ वह ऐसे संवेदनों से लिप्त होता ही नहीं। वह अजड़ (चैतन्यमय) है, विषयसंवेदनों का उसका आनन्द निर्गलित हो गया होता है। उसकी सभी संवेदनाएँ छूट जाती हैं और वह सुखी हो जाता है। इस दृष्टि का आश्रय करके वह अपार गुणों का सागर बन जाता है। फिर उस पर हजारों कष्ट भी आ पड़ें, तो भी वह उस दुःखरूपी सागर को अवश्य ही पार कर जाता है। विशेष का त्याग करके सामान्य सत्तामात्र का (एकरूपता का) निर्लेपभाव का, सत्स्वरूप का जो पद है उसे ही सत्ता का महारूप कहा जाता है। कालसत्ता, कलासत्ता और वस्तुसत्ता—इन तीनों विभागीय सापेक्ष ज्ञान का त्याग करके तुम केवल एक सत्तारूप ही हो जाओ।

सत्तासामान्यमेवैकं भावयन् केवलं विभुः ।
परिपूर्णः परानन्दी तिष्ठापूरितदिग्भरः ॥67॥
सत्तासामान्यपर्यन्ते यत्तत् कलनयोज्झितम् ।
पदमाद्यमनाद्यन्तं तस्य बीजं न विद्यते ॥68॥
तत्र संलीयते संविन्निर्विकल्पं च तिष्ठति ।
भूयो न वर्तते दुःखे तत्र लब्धपदः पुमान् ॥69॥
तद्धेतुः सर्वभूतानां तस्य हेतुर्न विद्यते ।
स सारः सर्वसाराणां तस्मात् सारो न विद्यते ॥70॥

केवल एक ही सत्तासामान्य का निश्चय करते हुए तुम व्यापक, परिपूर्ण और परमानन्दरूप होकर इन दिशाओं को अपने रूप से ही भर दो। इस सत्तासामान्य के अन्त में जो कुछ भी अविभाज्य अविज्ञेय-सा है, वह आद्यपद है और जिसका अनुभव किया जाता है, उसका कोई आदि भी नहीं है, अन्त भी नहीं है और उसका कोई बीज नहीं है। सभी ज्ञान उसमें पूर्णतया लय हो जाते हैं। उस पद में स्थान प्राप्त करके पुरुष निर्विकल्प हो जाता है और फिर से दुःख में वह नहीं आता। वह परमपद सर्वभूतों का कारण है, परन्तु उसका अपना कोई भी कारण नहीं है। वह सारतत्त्वों का भी सार है। उससे श्रेष्ठ कोई सार है ही नहीं।

तस्मिंश्चिद्दर्पणे स्फारे समस्ता वस्तुदृष्टयः ।
इमास्ताः प्रतिबिम्बन्ति सरसीव तटद्रुमाः ॥71॥
तदमलमरजं तदात्मतत्त्वं तदवगतावुपशान्तिमेति चेतः ।
अवगतविगतैकतत्स्वरूपो भवभयमुक्तपदोऽसि सम्यगेव ॥72॥
एतेषां दुःखबीजानां प्रोक्तं यद्यन्मयोत्तरम् ।
तस्य तस्य प्रयोगेण शीघ्रं तत् प्राप्यते पदम् ॥73॥
सत्तासामान्यकोटिस्थे द्रागित्येव पदे यदि ।
पौरुषेण प्रयत्नेन बलात् सन्त्यज्य वासनाम् ॥74॥
स्थितिं बध्नासि तत्त्वज्ञ क्षणमप्यक्षयात्मिकाम् ।
क्षणेऽस्मिन्नेव तत् साधु पदमासादयस्यलम् ॥75॥

जैसे सरोवर के तीर पर स्थित वृक्ष सरोवर में प्रतिबिम्बित होते हैं, वैसे ही उस दर्पण जैसे स्वच्छ चमकते हुए चैतन्य में ये सभी वस्तुएँ प्रतिबिम्बित होती हैं। वह आत्मतत्त्व रजोविहीन और निर्मल है। उसका ज्ञान हो जाने पर चित्त शान्ति प्राप्त करता है। उसका स्वरूप जानकर तुम भी संसार के भय से अच्छी प्रकार विनिर्मुक्त हो चुके हो। इन दुःखबीजों को दूर करने के जो-जो उपाय मैंने तुमसे कहे हैं, उनका तथाकथित प्रयोग करने से उस-उस प्रकार का फल मिलता है। बड़े पुरुषार्थ एवं प्रयत्न से वासनाओं का त्याग करके सामान्य सत्ता से परे जो अवस्थित है, उस पद में यदि तुम क्षणभर भी 'असूया' स्थिति को प्राप्त करोगे, तो हे तत्त्वज्ञ निदाघ ! तुम उसी क्षण उस परमतत्त्व को संपूर्णतया प्राप्त कर लोगे।

सत्तासामान्यरूपे वा करोषि स्थितिमादरात् ।
तत्किञ्चिदधिकेनेह यत्नेनाप्नोषि तत् पदम् ॥76॥
संवित्तत्त्वे कृतध्यानो निदाघ यदि तिष्ठसि ।
तद्यत्नेनाधिकेनोच्चैरासादयसि तत् पदम् ॥77॥
वासनासम्परित्यागे यदि यत्नं करोषि भोः ।
यावद्विलीनं न मनो न तावद्वासनाक्षयः ॥78॥
न क्षीणा वासना यावच्चित्तं तावन्न शाम्यति ।
यावन्न तत्त्वविज्ञानं तावच्चित्तशमः कुतः ॥79॥

अथवा सत्ता के सामान्य रूप में भी तुम आदरपूर्वक अपनी स्थिति करोगे, तब भी थोड़ा-ज्यादा प्रयत्न करने पर तुम उस (परात्पर तत्त्व) को प्राप्त कर सकोगे। हे निदाघ ! यदि तुम संवित् तत्त्व में

ही ध्यानपरायण रहोगे तो भी अधिक प्रयत्न करने से उस परम पद को प्राप्त कर सकोगे। हे निदाघ ! यदि तुम वासनाओं के परित्याग में प्रयत्न करोगे तो भी जहाँ तक मन विलीन नहीं होगा, वहाँ तक तो वासनाओं का क्षय होगा ही नहीं और जहाँ तक वासनाएँ क्षीण नहीं हो जातीं, तब तक चित्त शान्त नहीं होता। और जब तक तत्त्वज्ञान न हो, तब तक तो चित्त का शमन भी कैसे होगा ?

यावन्न चित्तोपशमो न तावत्तत्त्ववेदनम्।
यावन्न वासनानाशस्तावत्तत्त्वागमः कुतः ॥80॥
यावन्न तत्त्वसंप्राप्तिर्न तावद्वासनाक्षयः।
तत्त्वज्ञानं मनोनाशो वासनाक्षय एव च ॥81॥
मिथः कारणतां गत्वा दुःसाधानि स्थितान्यतः।
भोगेच्छां दूरतस्त्यक्त्वा त्रयमेतत् समाचर ॥82॥
वासनाक्षयविज्ञानमनोनाशा महामते।
समकालं चिराभ्यस्ता भवन्ति फलदा मताः ॥83॥

जहाँ तक वासनाओं का नाश नहीं हो जाता, वहाँ तक तत्त्वज्ञान की जानकारी कैसे मिलेगी ? जहाँ तक तत्त्वज्ञान की प्राप्ति नहीं होगी, वहाँ तक वासनाओं का क्षय भी तो नहीं होगा। इस प्रकार तत्त्वज्ञान, मनोनाश और वासनाक्षय—ये तीनों के कारण परस्पराश्रित हैं, इसलिए ये तीनों दुःसाध्य रहे हैं। अतः पहले भोग की इच्छा को ही दूर फेंककर बाद में इन तीनों का साथ में ही आचरण करना चाहिए। हे बुद्धिशाली निदाघ ! वासनाक्षय, मनोनाश और विज्ञान—इन तीनों का एक साथ ही लम्बे समय तक अभ्यास करते रहने पर वे फलदायक होते हैं, ऐसा माना जाता है।

त्रिभिरेभिः समभ्यस्तैर्हृदयग्रन्थयो दृढाः।
निःशेषमेव त्रुट्यन्ति बिसच्छेदाद्गुणा इव ॥84॥
वासनासम्परित्यागसमं प्राणनिरोधनम्।
विदुस्तत्त्वविदस्तस्मात्तदप्येवं समाहरेत् ॥85॥
वासनासम्परित्यागाच्चित्तं गच्छत्यचित्तताम्।
प्राणस्पन्दनिरोधाच्च यथेच्छसि तथा कुरु ॥86॥
प्राणायामदृढाभ्यासैर्युक्त्या च गुरुदत्तया।
आसनाशनयोगेन प्राणस्पन्दो निरुध्यते ॥87॥

इन तीनों का एक साथ अच्छी तरह से अभ्यास किए जाने पर हृदय की गाँठें चाहे कितनी भी दृढ़ क्यों न हों, सभी टूट ही जाती हैं, जैसे पुष्प के बिसतन्तु के छेदन से सभी और तन्तु टूट ही जाते हैं। तत्त्वज्ञानी लोग वासनाक्षय जैसा (वासना के परित्याग जैसा) उत्तम प्राणनिरोध का साधन बताते हैं, इसलिए उसका भी अभ्यास करते ही रहना चाहिए। वासनाओं का भली भाँति त्याग कर देने से चित्त, 'अचित्तता' को प्राप्त हो जाता है। और फिर प्राण के स्पन्दन का निरोध हो जाने के बाद तुम जो चाहो वह कर सकते हो।

निःसङ्गव्यवहारत्वाद्भवभावनवर्जनात्।
शरीरनाशदर्शित्वाद्वासना न प्रवर्तते ॥88॥
यः प्राणपवनस्पन्दश्चित्तस्पन्दः स एव हि।
प्राणस्पन्दजये यत्नः कर्तव्यो धीमतोच्चकैः ॥89॥

न शक्यते मनो जेतुं विना युक्तिमनिन्दिताम्।
शुद्धां संविदमाश्रित्य वीतरागः स्थिरो भव ॥90॥

व्यवहार के निःसंग हो जाने से, संसार की भावना का त्याग हो जाने से और शरीर की भी विनाशशीलता का दर्शन हो जाने से वासना उत्पन्न नहीं होती। जो प्राणवायु का स्पन्दन है, वही चित्त का भी स्पन्दन है। इसलिए बुद्धिमान मनुष्य को बहुत बल लगाकर प्राणों के स्पन्दन के ऊपर विजय प्राप्त कर लेनी चाहिए। अनिन्दित (दोषरहित) युक्ति के बिना मन जीता नहीं जा सकता। इसलिए शुद्ध संवित् का आश्रय लेकर तुम स्थिर हो जाओ।

संवेद्यवर्जितमनुत्तममाद्यमेकं
संवित्पदं विकलनं कलयन् महात्मन्।
हृद्येव तिष्ठ कलनारहितः क्रियां तु
कुर्वन्नकर्तृपदमेत्य शमोदितश्रीः ॥91॥
मनागपि विचारेण चेतसः स्वस्य निग्रहः।
पुरुषेण कृतो येन तेनाप्तं जन्मनः फलम् ॥92॥

इति चतुर्थोऽध्यायः।

हे महात्मा ! विषयों से रहित, सर्वोत्तम, आद्य और एकमात्र पद का, किसी भी संकल्प के बिना तुम अपने हृदय में ध्यान करते ही रहो। और सभी संकल्पों से रहित होकर ही सभी क्रियाएँ करते रहो, जिससे कर्तृरहित पद स्वयं आकर तुममें उपशम की शोभा बढ़ा देगा। जिस पुरुष ने अपने चित्त को विचारपूर्वक थोड़ा सा भी वश में किया है, उसने इस जन्म का फल प्राप्त कर लिया है, ऐसा मानना चाहिए।

यहाँ चौथा अध्याय पूरा हुआ।

❈

पञ्चमोऽध्यायः

गच्छतस्तिष्ठतो वाऽपि जाग्रतः स्वपतोऽपि वा।
न विचारपरं चेतो यस्यासौ मृत उच्यते ॥1॥
सम्यग्ज्ञानसमालोकः पुमान् ज्ञेयः समः स्वयम्।
न बिभेति न चादत्ते वैवश्यं न च दीनताम् ॥2॥
अपवित्रमपथ्यं च विषसंसर्गदूषितम्।
भुक्तं जरयति ज्ञानी क्लिन्नं नष्टं च मृष्टवत् ॥3॥
सङ्गत्यागं विदुर्मोक्षं सङ्गत्यागादजन्मता।
सङ्गं त्यज त्वं भावानां जीवन्मुक्तो भवानघ ॥4॥

चलते हुए, खड़े रहते हुए, जागते हुए या सोते भी जिसका चित्त विचार में तत्पर नहीं रहता, वही मरा हुआ माना जाता है। और उत्तम ज्ञानरूप, प्रकाशयुक्त पुरुष स्वयं ही ज्ञेयरूप बन जाता है। फिर वह डरता नहीं है। वह पराधीन भी नहीं होता और दैन्य को भी प्राप्त नहीं होता। ज्ञानी पुरुष तो अपवित्र, अपथ्य, जहर के संसर्ग से दूषित, उच्छिष्ट और बिगड़े हुए अन्न को भी मिष्टान्न मानकर पचा

डालता है। हे निर्दोष निदाघ ! संग के त्याग को ही मोक्ष कहा जाता है और संग का त्याग करने से ही जन्मरहित दशा प्राप्त की जा सकती है। इसलिए तुम सब पदार्थों का (भावों का) संग छोड़कर जीवन्मुक्त ही हो जाओ।

भावाभावे पदार्थानां हर्षामर्षविकारदा ।
मलिना वासना यैषा सा सङ्ग इति कथ्यते ॥5॥
जीवन्मुक्तशरीराणामपुनर्जन्मकारिणी ।
मुक्ता हर्षविषादाभ्यां शुद्धा भवति वासना ॥6॥
दुःखैर्न ग्लानिमायासि हृदि हृष्यसि नो सुखैः ।
आशावैवश्यमुत्सृज्य निदाघासङ्गतां व्रज ॥7॥
दिक्कालाद्यनवच्छिन्नमदृष्टोभयकोटिकम् ।
चिन्मात्रमक्षयं शान्तमेकं ब्रह्मास्मि नेतरत् ॥8॥

किसी पदार्थ के होने पर हर्ष और नहीं होने पर शोक, इस प्रकार विचार करने वाली वह मलिन वासना जो है, वही संग कही जाती है। जिनके शरीर जीवन्मुक्त हुए होते हैं, उनकी शुद्ध वासना पुनर्जन्म को नहीं देने वाली तथा हर्ष और खेद से रहित होती है। हे निदाघ ! तुम दुःखों से ग्लानि को प्राप्त न हो और सुखों से हृदय में हर्ष भी प्राप्त न करो। इस प्रकार से आशाओं के अधीनत्व को छोड़कर असंगता को प्राप्त कर लो। जो चैतन्य दिशाओं और काल से नापा नहीं जा सकता, जिसका न ओर है न छोर है—दोनों अन्त जिसके किसी ने देखे नहीं हैं, वह केवल चैतन्यमात्र एक शान्त ब्रह्म ही मैं हूँ और कुछ मैं हूँ ही नहीं।

इति मत्वाऽहमित्यन्तर्मुक्तामुक्तवपुः पुमान् ।
एकरूपः प्रशान्तात्मा मौनी स्वात्मसुखो भव ॥9॥
नास्ति चित्तं न चाविद्या न मनो न च जीवकः ।
ब्रह्मैवैकमनाद्यन्तमब्धिवत् प्रविजृम्भते ॥10॥

'मैं ब्रह्म हूँ' ऐसा अंतस् में मानकर अपनी दृष्टि से मुक्त और अन्यों की दृष्टि से अमुक्त शरीर वाले तुम बन जाओ। तुम अपने अंतस् में तो एकरूप प्रशान्तात्मा, मौनी और अपने आत्मा में ही सुख प्राप्त करने वाले हो जाओ। चित्त है ही नहीं, अविद्या है ही नहीं, मन भी नहीं है, जीव भी नहीं है, केवल अनादि अनन्त ब्रह्म ही सर्वत्र सागर की तरह उछल रहा है।

देहे यावदहंभावो दृश्येऽस्मिन् यावदात्मता ।
यावन्ममेदमित्यास्था तावच्चित्तादिविभ्रमः ॥11॥
अन्तर्मुखतया सर्वं चिद्वह्नौ त्रिजगत्तृणम् ।
जुह्वतोऽन्तर्निवर्तन्ते मुने चित्तादिविभ्रमाः ॥12॥
चिदात्माऽस्मि निरंशोऽस्मि परापरविवर्जितः ।
रूपं स्मरन्निजं स्फारं मा स्मृत्या सम्मितो भव ॥13॥

देह में जहाँ तक अहंकार की भावना रहती है, और जहाँ तक इस दृश्य जगत् में आत्मता की भावना रहती है, जहाँ तक 'यह मेरा है'—इस बात में आस्था रहती है, वहीं तक चित्त आदि का विभ्रम भी रहता है। परन्तु, अन्तर्मुख होकर इन तीनों जगतों का सब कुछ चैतन्यरूपी अग्नि में एक तिनके

की ही तरह होम कर देने वाले मुनि के लिए तो यह चित्त आदि का भ्रम भीतर में ही वापस चला जाता है। "मैं चिदात्मा हूँ, अंशरहित हूँ, पर-अपर के भेद से रहित हूँ" इस प्रकार तुम अपने निजी स्वरूप का स्मरण किया करो। और इस प्रकार व्यापक स्मरण करके शान्त हो जाओ।

अध्यात्मशास्त्रमन्त्रेण तृष्णाविषविषूचिका ।
क्षीयते भावितेनान्तः शरदा मिहिका यथा ॥14॥
परिज्ञाय परित्यागो वासनानां य उत्तमः ।
सत्तासामान्यरूपत्वात्तत् कैवल्यपदं विदुः ॥15॥
यत्रास्ति वासना लीना तत् सुषुप्तं न सिद्धये ।
निर्बीजा वासना यत्र तत्तुर्यं सिद्धिदं स्मृतम् ॥16॥
वासनायास्तथा वह्नेर्ऋणव्याधिद्विषामपि ।
स्नेहवैरविषाणां च शेषः स्वल्पोऽपि बाधते ॥17॥

अध्यात्मशास्त्र के मनन से (अन्तःकरण में चिन्तन करने से) तृष्णारूपी जहरीली विषूचिका उसी प्रकार क्षीण हो जाती है, जिस प्रकार शरद् ऋतु के आने से बादल बिखर जाते हैं। वासनाओं का त्याग ही उत्तम त्याग है, ऐसा जानकर ही कैवल्यपद को महात्मा लोग जानते हैं क्योंकि, यह सब सामान्य सत्तारूप ही है। (अर्थात् सामान्य सत्तात्मक होने से किसी विशेषता का अस्तित्व ही नहीं है।) जिस सुषुप्ति में वासना लीन हो गई है किन्तु बीजरूप में अभी विद्यमान ही है, ऐसी सुषुप्ति किसी भी प्रकार की सिद्धि देने वाली नहीं होती। परन्तु, जहाँ वासना निर्बीज ही हो चुकी हो वह तुर्यावस्था ही सिद्धिदायक है। वासना, अग्नि, ऋण, रोग, द्वेष, स्नेह, वैर, विष का स्वल्पांश भी बाकी रह गया हो तो वह पीड़ाकारक होता है।

निर्दग्धवासनाबीजः सत्तासामान्यरूपवान् ।
सदेहो वा विदेहो वा न भूयो दुःखभाग्भवेत् ॥18॥
एतावदेवाविद्यात्वं नेदं ब्रह्मेति निश्चयः ।
एष एव क्षयस्तस्या ब्रह्मेदमिति निश्चयः ॥19॥
ब्रह्म चिद्ब्रह्म भुवनं ब्रह्म भूतपरम्परा ।
ब्रह्माहं ब्रह्म चिच्छत्रुर्ब्रह्म चिन्मित्रबान्धवाः ॥20॥
ब्रह्मैव सर्वमित्येव भाविते ब्रह्म वै पुमान् ।
सर्वत्रावस्थितं शान्तं चिद्ब्रह्मेत्यनुभूयते ॥21॥

जिस मनुष्य का वासनाबीज जल गया हो और जो सत्तासामान्य का ही स्वरूप स्वयं हो गया हो, वह चाहे देह में स्थित हो या देह से रहित हो गया हो, किसी भी स्थिति में वह पुनः जन्ममरणादि रूप दुःखों को भोगने वाला नहीं होता। 'यह ब्रह्म नहीं है'—ऐसा निश्चयपूर्वक मानना ही अविद्या का परिमाण (कद) है। और 'यह सब ब्रह्ममय ही है'—ऐसा निश्चय ही अविद्या का क्षय है। 'यह चित् ही वह ब्रह्म है, यह भुवन भी ब्रह्म है, यह प्राणियों की परंपरा भी ब्रह्म है, मैं भी ब्रह्म हूँ, शत्रु में रही हुई चिति भी ब्रह्म है, चैतन्यरूप मित्र और सगे-सम्बन्धी भी सभी ब्रह्म हैं, यह सब-कुछ ब्रह्म है'—ऐसी भावना करने वाला मनुष्य ब्रह्म ही बन जाता है। और चैतन्यरूप शान्त ब्रह्म तो सर्वत्र व्याप्त ही है, ऐसा वह अनुभव करता है।

असंस्कृताध्वगालोके मनस्यन्यत्र संस्थिते ।
या प्रतीतिरनागस्का तच्चिद्ब्रह्मास्मि सर्वगम् ॥22॥
प्रशान्तसर्वसङ्कल्पं विगताखिलकौतुकम् ।
विगताशेषसंरम्भं चिदात्मानं समाश्रय ॥123॥
एवं पूर्णधियो धीराः समा नीरागचेतसः ।
न नन्दन्ति न निन्दन्ति जीवितं मरणं तथा ॥24॥
प्राणोऽयमनिशं ब्रह्मन् स्पन्दशक्तिः सदागतिः ।
सबाह्याभ्यन्तरे देहे प्राणोऽसावूर्ध्वगः स्थितः ॥25॥

असंस्कारी पथिक जैसे ज्ञान वाला यह मन जब अन्यत्र (बाह्येन्द्रियरहित स्वरूप में) रहा हो और उस समय जो निर्दोष प्रतीति (अनुभव) होती है, वही सर्वव्यापक चैतन्यस्वरूप ब्रह्म मैं हूँ। जिसमें सभी संकल्प पूर्णतया शान्त हो गये होते हैं, सभी प्रकार के कौतुक जिसमें से चले गए हों, सभी प्रकार के आडम्बर और आवेश भी जिसमें से दूर हो गए हों, उस चैतन्यमय आत्मा का ही तुम आश्रय कर लो। इस प्रकार जो पूर्ण बुद्धिशाली है, जो धैर्यशील है, जो समभावी हैं, रागरहित मनवाले हैं, वे जीवन की प्रशंसा नहीं करते (जीवन को नहीं चाहते) और मरण की निन्दा भी नहीं करते। हे ब्राह्मण ! यह प्राण तो सतत गतिशील और सदा चेष्टारूप शक्तिवाला है। और बाहर-भीतर, सभी जगह देह में वह ऊर्ध्वगति करने वाला ही सर्वदा अवस्थित रहता है।

अपानोऽप्यनिशं ब्रह्मन् स्पन्दशक्तिः सदागतिः ।
सबाह्याभ्यन्तरे देहे अपानोऽयमवाक् स्थितः ॥26॥
जाग्रतः स्वपतश्चैव प्राणायामो य उत्तमः ।
प्रवर्तते ह्यभिज्ञस्य तत्तावच्छ्रेयसे शृणु ॥27॥
द्वादशाङ्गुलपर्यन्तं बाह्यमाक्रमतां ततः ।
प्राणानामङ्गसंस्पर्शो यः स पूरक उच्यते ॥28॥
अपानश्चन्द्रमा देहमाप्याययति सुव्रत ।
प्राणः सूर्योऽग्निरथ वा पचत्यन्तरिदं वपुः ॥29॥

हे ब्राह्मण ! अपानवायु भी निरन्तर चेष्टायुक्त शक्तिवाला तथा सतत गतिशील ही है। देह के बाहर के और भीतर के भाग में यह अपान नीची गति करने वाला होता है। विवेकी जनों का सोते और जागते समय में प्राणायाम चालू ही रहता है। पहले तुम अपने कल्याण के लिए उस प्राणायाम को सुनो। बारह अंगुल तक के बाहर के प्रदेश में जाकर बाद में जो प्राणवायु भीतर खींचा जाता है, वह 'पूरक' नाम से कहा जाता है। हे उत्तमव्रती ! अपान चन्द्र का रूप है, वह शरीर को पुष्ट करता है। और जो प्राण है वह सूर्य है ? अथवा अग्नि है, वह शरीर के भीतर रहकर पाचन क्रिया करता है।

प्राणक्षयसमीपस्थमपानोदयकोटि गम् ।
अपानप्राणयोरैक्यं चिदात्मानं समाश्रय ॥30॥
अपानोऽस्तङ्गतो यत्र प्राणो नाभ्युदितः क्षणम् ।
कलाकलङ्करहितं तच्चित्तत्त्वं समाश्रय ॥31॥
नापानोऽस्तङ्गतो यत्र प्राणश्चास्तमुपागतः ।
नासाग्रगमनावर्तं तच्चित्तत्त्वमुपाश्रय ॥32॥

प्राणवायु के नाश के समीप में और अपानवायु के उदय के अन्तिम छोर पर रही हुई अपान और प्राण की जो एकता है, वही चिदात्मा है, तुम उसी का आश्रय करके रहो। जहाँ पर अपान का अस्त तो हो गया है, पर प्राण अभी क्षणभर के लिए उदित नहीं हुआ है, वही निष्कल और निष्कलंक चैतन्य है। तुम उसी तत्त्व का आश्रय करके रहो। जिसमें अपान का अस्त नहीं हो गया है और प्राण का ही अस्त हो गया है उस स्थिति में चैतन्य नाक की नोक पर घूमता रहता है। उस चित् तत्त्व का तुम आश्रय कर लो।

आभासमात्रमेवेदं न सन्नासज्जगत्त्रयम् ।
इत्यन्यकलनात्यागं सम्यग्ज्ञानं विदुर्बुधाः ॥33॥
आभासमात्रकं ब्रह्मन् चित्तादर्शकलङ्कितम् ।
ततस्तदपि सन्त्यज्य निराभासो भवोत्तम ॥34॥
भयप्रदमकल्याणं धैर्यसर्वस्वहारिणम् ।
मनःपिशाचमुत्सार्य योऽसि सोऽसि स्थिरो भव ॥35॥
चिद्व्योमेव किलास्तीह परापरविवर्जितम् ।
सर्वत्रासम्भवच्चैत्यं यत् कल्पान्तेऽवशिष्यते ॥36॥

'ये तीनों जगत् सत्य भी नहीं हैं और असत्य भी नहीं है, वे केवल आभासमात्र ही हैं'—इस प्रकार जो भेदज्ञान का त्याग है, उसे ही ज्ञानी लोग सम्यग् ज्ञान कहते हैं। यह सब आभास ही है। चित्त के दर्पण में कलंक-सा लगा है। ऐसे आभास का त्याग करके तुम आभासरहित हो जाओ। यह मनरूपी पिशाच भय उत्पन्न करने वाला है, अकल्याणकारी है, हमारे सभी प्रकार के धैर्य का नाश कर देने वाला है, इसको उखाड़कर फेंक दो और फिर तो तुम निजी रूप में जो हो वही होकर स्थिर हो जाओ। यहाँ केवल चिदाकाश ही रहा हुआ है। इसमें पर-अपर के कोई भेद कहीं नहीं होते। कई कल्पनाओं के बाद भी चिदाकाश ही केवल शेष रहता है।

वाञ्छाक्षणे तु या तुष्टिस्तत्र वाञ्छैव कारणम् ।
तुष्टिस्त्वतुष्टिपर्यन्ता तस्माद्वाञ्छां परित्यज ॥37॥
आशा यातु निराशात्वमभावं यातु भावना ।
अमनस्त्वं मनो यातु तवासङ्गेन जीवतः ॥38॥
वासनारहितैरन्तरिन्द्रियैराहरन् क्रियाः ।
न विकारमवाप्नोषि खवत् क्षोभशतैरपि ॥39॥
चित्तोन्मेषनिमेषाभ्यां संसारप्रलयोदयौ ।
वासनाप्राणसंरोधादनुन्मेषं मनः कुरु ॥40॥

किसी इच्छा की पूर्ति के समय जो सन्तोष होता है, उसका कारण वह इच्छा ही होती है और वह सन्तोष भी आने वाले असन्तोष तक का ही होता है। इसलिए तुम इच्छा का ही त्याग कर दो। जब तुम संगरहित होकर ही जीओगे, तब तुम आशाओं से मुक्त (आशारहित) हो जाओगे। अपने सभी भावों से रहित अभावरूप हो जाओगे और तुम्हारा मन मनोराहित्य को प्राप्त हो जाएगा। तुम्हारे भीतर वासनाशून्य की स्थिति बन जाएगी। फिर इन्द्रियों के द्वारा तुम भले कितनी ही क्रियाएँ करो, तब भी सैंकड़ों क्षोभकारक विषयों से भी तुम आकाश की तरह विकाररहित ही रहोगे। चित्त के ही जन्ममरण से संसार का उदय-अस्त होता है। इसलिए वासनाओं और प्राणों को रोककर तुम अपने मन को जन्मरहित ही कर दो।

प्राणोन्मेषनिमेषाभ्यां संसृतेः प्रलयोदयौ ।
तमभ्यासप्रयोगाभ्यामुन्मेषरहितं कुरु ॥41॥
मौर्ख्योन्मेषनिमेषाभ्यां कर्मणां प्रलयोदयौ ।
तद्विलीनं कुरु बलाद्गुरुशास्त्रार्थसङ्गमैः ॥42॥
असंवित्स्पन्दमात्रेण याति चित्तमचित्तताम् ।
प्राणानां वा निरोधेन तदेव परमं पदम् ॥43॥
दृश्यदर्शनसम्बन्धे यत् सुखं पारमार्थिकम् ।
तदन्तैकान्तसंवित्त्या ब्रह्मदृष्ट्याऽवलोकय ॥44॥

इसी प्रकार प्राण के उदय तथा अस्त से ही संसार का उदय और प्रलय होता है, इसलिए अभ्यास और प्रयोग से पहले प्राण को ही तुम उदयरहित बना दो। और मूर्खता के उदय और अस्त के साथ ही क्रमशः कर्मों का उदय तथा अस्त होता है इसलिए गुरु तथा शास्त्रों के अर्थों के माध्यम से (उनके समागम के द्वारा) तुम उस मूर्खता का बलपूर्वक नाश कर दो। विषयों का अनुभवराहित्य ही चारों ओर स्फुरित हो रहा है। सर्वत्र संवदेनशून्यता ही स्फुरित होती है, चित्त अचित्तता को प्राप्त हो जाता है। वह, अथवा जो प्राणों के निरोध से प्राप्त होता है वही परमपद है। दृश्यदर्शन के सम्बन्ध से जो सुख होता है, उसे एकान्त (केवल) संवित् के द्वारा ही ब्रह्मदृष्टि से पारमार्थिक रूप में देखो।

यत्र नाभ्युदितं चित्तं तद्वै सुखमकृत्रिमम् ।
क्षयातिशयनिर्मुक्तं नोदेति न च शाम्यति ॥45॥
यस्य चित्तं न चित्ताख्यं चित्तं चित्तत्त्वमेव हि ।
तदेव तुर्यावस्थायां तुर्यातीतं भवत्यतः ॥46॥
संन्यस्तसर्वसङ्कल्पः समः शान्तमना मुनिः ।
संन्यासयोगयुक्तात्मा ज्ञानवान् मोक्षवान् भव ॥47॥
सर्वसङ्कल्पसंशान्तं प्रशान्तघनवासनम् ।
न किञ्चिद्भावनाकारं यत्तद्ब्रह्म परं विदुः ॥48॥

जिसमें चित्त का उदय ही न हुआ हो, वही सच्चा सुख है और वह पारमार्थिक तत्त्व नाश से पूर्णतया रहित है। इसलिए न उसका उदय होता है, और न उसका नाश ही होता है। चित्त, 'चित्त' नाम से नहीं रहता। पर 'चित्त', 'चैतन्यस्वरूप' हो जाता है। इसी कारण से तुर्यावस्था में वह तुर्यातीत बन जाता है। इसलिए तुम सर्वसंकल्पों को छोड़कर सर्वत्र समभावयुक्त और प्रशान्त चित्तयुक्त मुनि बन जाओ। इस प्रकार के संन्यास योग से पूर्ण अन्तःकरण वाले होकर तुम ज्ञानवान और मोक्षवान हो जाओ। जिसके सभी संकल्प शान्त (नष्ट) हो गये हैं, गाढ़ वासनाएँ भी शान्त हो चुकी हैं, और जो किसी भी भावना के आकारवाला नहीं होता, उसे ही ज्ञानी लोग परब्रह्म कहते हैं।

सम्यग्ज्ञानावरोधेन नित्यमेकसमाधिना ।
सांख्य एवावबुद्धा ये ते सांख्या योगिनः परे ॥49॥
प्राणाद्यनिलसंशान्तौ युक्त्या ये पदमागताः ।
अनामयमनाद्यन्तं ते स्मृता योगयोगिनः ॥50॥
उपादेयं तु सर्वेषां शान्तं पदमकृत्रिमम् ।
एकार्थाभ्यसनं प्राणरोधश्चेतःपरिक्षयः ॥51॥

एकस्मिन्नेव संसिद्धे संसिद्ध्यन्ति परस्परम् ।
अविनाभाविनी नित्यं जन्तूनां प्राणचेतसी ॥52॥

जो लोग सम्यग् ज्ञान पर बल देते हुए नित्य एक ही प्रकार के मन के समाधान द्वारा बोध प्राप्त किए हुए होते हैं, वे 'सांख्य' कहे जाते हैं। और जो शेष (इसके अतिरिक्त) हैं, वे 'योगी' कहे जाते हैं। प्राण आदि वायुओं की ठीक तरह से शान्ति होने के बाद जो लोग युक्तियों के द्वारा उस आदि-अन्तरहित पद को प्राप्त होते हैं, उन्हें (उस निर्दोष पद को प्राप्त करने वालों को) 'योगयोगी' के नाम से कहा जाता है। इन सभी प्रकार के लोगों का प्राप्य पद तो शान्तपद ही होता है और उनके अभ्यास का लक्ष्य भी तो एक ही होता है, परन्तु एक वर्ग प्राणों का निरोध करता है, और दूसरा वर्ग चित्त का नाश करता है। इन दोनों में से एक की सिद्धि भी यदि अच्छी तरह से हो तो परस्पर दोनों सिद्ध हो जाते हैं क्योंकि प्राणियों में प्राण और चित्त, दोनों एक-दूसरे के बिना रह ही नहीं सकते।

आधाराधेयवच्चैते एकभावे विनश्यतः ।
कुरुतः स्वविनाशेन कार्यं मोक्षाख्यमुत्तमम् ॥53॥
सर्वमेतद्धिया त्यक्त्वा यदि तिष्ठसि निश्चलः ।
तदाऽहंकारविलये त्वमेव परमं पदम् ॥54॥
महाचिदेकैवेहास्ति महासत्तेति योच्यते ।
निष्कलङ्का समा शुद्धा निरहङ्काररूपिणी ॥55॥
सकृद्विभाता विमला नित्योदयवती समा ।
सा ब्रह्म परमात्मेति नामभिः परिगीयते ॥56॥

ये दोनों ही परस्पर आधार-आधेय जैसे ही हैं। दोनों में से एक का भी अभाव होने पर दूसरा नष्ट हो ही जाता है। अर्थात् दोनों नष्ट हो जाते हैं। और दोनों अपना नाश करके मोक्ष नाम का उत्तम कार्य सिद्ध पर देते हैं। इसलिए यदि तुम इस सर्वजगत् का बुद्धि से त्याग करके निश्चल रहोगे, तो अहंकार का नाश हो जाने पर तुम स्वयं ही परमपद स्वरूप हो जाओगे। इस सृष्टि में महान् चैतन्य तो एक ही है, उसे 'महासत्ता' कहा जाता है। वह निष्कलंक है, सर्वत्र समरस है, शुद्ध है और अहंकारशून्य स्वरूप वाला है। वह एक ही बार शाश्वतरूप से (अनादिरूप से) प्रकाशित है, वह निर्मल है, वह सदोदित है, वह समरस है, वह ब्रह्म ऐसे-ऐसे अनेक नामों से कहा जाता है।

सैवाहमिति निश्चित्य निदाघ कृतकृत्यवान् ।
न भूतं न भविष्यच्च चिन्तयामि कदाचन ॥57॥
दृष्टिमालम्ब्य तिष्ठामि वर्तमानामिहात्मना ।
इदमद्य मया लब्धमिमं प्राप्स्यामि सुन्दरम् ॥58॥
न स्तौमि न च निन्दामि आत्मनोऽन्यन्नहि क्वचित् ।
न तुष्यामि शुभप्राप्तौ न खिद्याम्यशुभागमे ॥59॥
प्रशान्तचापलं वीतशोकमस्तसमीहितम् ।
मनो मम मुने शान्तं तेन जीवाम्यनामयः ॥60॥

हे निदाघ! 'वह चैतन्य मैं ही हूँ'—ऐसा निश्चय करके मैं कृतकृत्य हो गया हूँ। मैं इसलिए भूतकाल और भविष्यकाल का विचार ही नहीं करता। मैं केवल वर्तमान की ही दृष्टि का अवलम्बन

करके आत्मस्वरूप में ही अवस्थित हो रहा हूँ। 'आज मैंने यह पाया है, कल मैं उस सुन्दर वस्तु को पाऊँगा'—ऐसा विचार मैं नहीं करता। मैं कभी किसी की स्तुति नहीं करता और किसी की निन्दा भी नहीं करता क्योंकि आत्मा से अलग कहीं भी कुछ भी है ही नहीं। इसी कारण से किसी शुभ की प्राप्ति होने पर संतुष्ट नहीं होता और किसी अशुभ की प्राप्ति होने पर खेद भी नहीं करता। हे मुनि ! मेरा मन शान्त हो चुका है। उसकी चपलता पूर्णतया प्रशान्त हो चुकी है। मेरा शोक दूर हो गया है और इच्छाओं का अस्त हो गया है। इसलिए मैं निर्दोष जीवन जी रहा हूँ।

अयं बन्धुः परश्चायं ममायमयमन्यकः।
इति ब्रह्मन् न जानामि संस्पर्शं न ददाम्यहम् ॥61॥
वासनामात्रसंत्यागाज्जरामरणवर्जितम्।
सवासनं मनोऽज्ञानं ज्ञेयं निर्वासनं मनः ॥62॥
चित्ते त्यक्ते लयं याति द्वैतमेतच्च सर्वतः।
शिष्यते परमं शान्तमेकमच्छमनामयम् ॥63॥
अनन्तमजमव्यक्तमजरं शान्तमच्युतम्।
अद्वितीयमनाद्यन्तं यदाद्यमुपलम्भनम् ॥64॥
एकमाद्यन्तरहितं चिन्मात्रममलं ततम्।
खादप्यतितरां सूक्ष्मं तद्ब्रह्मास्मि न संशयः ॥65॥

हे ब्राह्मण ! 'यह भाई (स्वजन) है, वह पराया है, यह मेरा है, यह अलग है'—ऐसा तो मैं जानता ही नहीं और इस प्रकार की भावना को मैं अपने भीतर घुसने ही नहीं देता। सभी वासनाओं का त्याग करने से जरामरणरहित पद की प्राप्ति होती है। वासनाओं से युक्त मन ही अज्ञान है और वासनारहित मन ही एकमात्र ज्ञेय तत्त्व है। चित्त का त्याग करने से यह सब चारों ओर का द्वैत नष्ट हो जाता है, और परम, शान्त, एक, अद्वैत, निर्मल और निर्दोष तत्त्व ही शेष रह जाता है। जो अनन्त, अजन्मा, अव्यक्त, जरारहित, शान्त, अस्खलित, अद्वितीय, अनादि, अनन्त, और आद्य उपलम्भ है, जो केवल चैतन्यरूप, निर्मल, व्यापक, आकाश से भी अधिक सूक्ष्म है, वही ब्रह्म मैं हूँ, इसमें कोई सन्देह नहीं है।

दिक्कालाद्यनवच्छिन्नं स्वच्छं नित्योदितं ततम्।
सर्वार्थमयमेकार्थं चिन्मात्रममलं भव ॥66॥
सर्वमेकमिदं शान्तमादिमध्यान्तवर्जितम्।
भावाभावमजं सर्वमिति मत्वा सुखी भव ॥67॥
न बद्धोऽस्मि न मुक्तोऽस्मि ब्रह्मैवास्मि निरामयम्।
द्वैतभावविमुक्तोऽस्मि सच्चिदानन्दलक्षणः।
एवं भावय यत्नेन जीवन्मुक्तो भविष्यसि ॥68॥
पदार्थवृन्दे देहादिधिया संत्यज्य दूरतः।
आशीतलान्तःकरणो नित्यमात्मपरो भव ॥69॥

इसलिए दिशा और काल आदि से जो नापा नहीं जा सकता, जो स्वच्छ, नित्य और सदोदित है, जो व्यापक, सर्वपदार्थमय और एक अर्थरूप ही है ऐसे निर्मल चिन्मात्ररूप तुम हो जाओ। यह सब

एक तत्त्व ही है कि जो शान्त, आदि-मध्य-अन्तरहित है, और जो भाव और अभाव—दोनों का स्वरूप है, यह जो जन्मरहित है, ऐसे तुम होकर सुखी बन रहो। 'मैं बद्ध भी नहीं हूँ, मुक्त भी नहीं हूँ, मैं तो केवल निर्दोष ब्रह्म ही हूँ, मैं द्वैतभाव से रहित हूँ, मैं सच्चिदानन्दस्वरूप वाला हूँ'—इस प्रकार की मन में तुम प्रयत्नपूर्वक भावना करो, इससे तुम जीवन्मुक्त हो जाओगे। इस पदार्थसमूह में देहादि बुद्धि का दूर से ही त्याग करके अनन्त शीतल अन्तःकरण वाले बनकर सर्वदा आत्मा में ही परायण (तत्पर) बने रहो।

इदं रम्यमिदं नेति बीजं ते दुःखसन्ततेः।
तस्मिन् साम्याग्निना दग्धे दुःखस्यावसरः कुतः ॥70॥
शास्त्रसज्जनसम्पर्कैः प्रज्ञामादौ विवर्धयेत् ॥71॥
ऋतं सत्यं परं ब्रह्म सर्वसंसारभेषजम्।
अत्यर्थममलं नित्यमादिमध्यान्तवर्जितम् ॥72॥
तथाऽस्थूलमनाकाशमसंस्पृश्यमचाक्षुषम्।
न रसं न च गन्धाख्यमप्रमेयमनूपमम् ॥73॥
आत्मानं सच्चिदानन्दमनन्तं ब्रह्म सुव्रत।
अहमस्मीत्यभिध्यायेद्ध्येयातीतं विमुक्तये ॥74॥

'यह अच्छा है और यह अच्छा नहीं है'—ऐसा मानना ही दुःखों की परंपरा का बीज है। इसलिए समभावरूप अग्नि से यदि वह बीज ही जल जाए, तो फिर दुःख का अवसर ही कहाँ है ? हे उत्तमव्रती ! पहले तो शास्त्रों और सज्जनों के संग से प्रज्ञा का संवर्धन करना चाहिए। और बाद में अपने आत्मा को ही सत्य, ब्रह्मरूप, सर्वसंसार का औषध, अतिशय निर्मल, नित्य, आदि-मध्य-अन्तरहित, अस्थूल, आकाशरहित, स्पर्श का अविषय, चक्षु का अविषय, रसहीन, गन्धहीन, प्रमाणों का अविषय, उपमारहित और अनन्त है—ऐसा मानकर अपने आपका ही 'मैं ब्रह्म हूँ'—इस प्रकार चिन्तन करते रहना चाहिए। जिससे ध्येयातीत होकर मुक्ति का अधिकारी बना जा सकता है।

समाधिः संविदुत्पत्तिः परजीवैकतां प्रति।
नित्यः सर्वगतो ह्यात्मा कूटस्थो दोषवर्जितः ॥75॥
एकः सन् भिद्यते भ्रान्त्या मायया न स्वरूपतः।
तस्मादद्वैत एवास्ति न प्रपञ्चो न संसृतिः ॥76॥
यथाऽऽकाशो घटाकाशो महाकाश इतीरितः।
तथा भ्रान्तेर्द्विधा प्रोक्तो ह्यात्मा जीवेश्वरात्मना ॥77॥
यदा मनसि चैतन्यं भाति सर्वत्रगं सदा।
योगिनोऽव्यवधानेन तदा सम्पद्यते स्वयम् ॥78॥

जीवात्मा और परमात्मा की एकता विषयक ज्ञान की उत्पत्ति को ही समाधि कहा जाता है। क्योंकि एक ही आत्मा नित्य, सर्वगत, कूटस्थ और निष्कलंक है। वह एक ही माया की भ्रान्ति के कारण भिन्न-भिन्न प्रकार का हो गया है। पारमार्थिक रूप से तो वह भिन्न है ही नहीं। अतः आत्मा तो अद्वैत स्वरूप ही है। यह प्रपंचरूप (संसाररूप) नहीं है। जैसे आकाश एक ही है, फिर भी उपाधि के भेद से

'घटाकाश' 'महाकाश' ऐसा कहा जाता है, ठीक उसी प्रकार एक ही आत्मा भ्रान्ति के रूप से ही 'जीवात्मा' 'परमात्मा'—इस प्रकार कहा जाता है। जब योगी के मन में एक ही चैतन्य सर्वव्यापी और सदा अस्खलित रूप से प्रकाशित होता है, तब वह स्वयं ही चैतन्यस्वरूप बन जाता है।

यदा सर्वाणि भूतानि स्वात्मन्येव हि पश्यति।
सर्वभूतेषु चात्मानं ब्रह्म सम्पद्यते तदा ॥79॥
यदा सर्वाणि भूतानि समाधिस्थो न पश्यति।
एकीभूतः परेणासौ तदा भवति केवलः ॥80॥
शास्त्रसज्जनसम्पर्कवैराग्याभ्यासरूपिणी।
प्रथमा भूमिकैषोक्ता मुमुक्षुत्वप्रदायिनी ॥81॥
विचारणा द्वितीया स्यात् तृतीया साङ्गभावना।
विलायिनी चतुर्थी स्याद्वासनाविलयात्मिका ॥82॥

जब वह योगी सभी प्राणियों को अपने आत्मा में ही देखता है और अपने आत्मा को सभी प्राणियों में देखता है, तब वह ब्रह्मस्वरूप ही हो जाता है। समाधि में स्थित वह योगी जब सभी प्राणियों को नहीं देखता और स्वयं परमतत्त्व के साथ एकीभूत हो जाता है, तब वह केवल चैतन्यरूप बन जाता है। शास्त्रों और सज्जनों के संग के द्वारा उत्पन्न वैराग्य के अभ्यासरूप मुमुक्षुत्व को उत्पन्न करने वाली यह प्रथम भूमिका होती है। दूसरी भूमिका विचारणा की होती है और तीसरी भूमिका का नाम 'सांग-भावना' है। चौथी भूमिका को 'विलायिनी' कहा जाता है। यह भूमिका 'वासनाओं का विलय' स्वरूप होती है।

शुद्धसंविन्मयाऽऽनन्दरूपा भवति पञ्चमी।
अर्धसुप्तप्रबुद्धाभो जीवन्मुक्तोऽत्र तिष्ठति ॥83॥
असंवेदनरूपा च षष्ठी भवति भूमिका।
आनन्दैकघनाकारा सुषुप्तसदृशी स्थितिः ॥84॥
तुर्यावस्थोपशान्ता सा मुक्तिरेव हि केवला।
समता स्वच्छता सौम्या सप्तमी भूमिका भवेत् ॥85॥
तुर्यातीता तु याऽऽवस्था परा निर्वाणरूपिणी।
सप्तमी सा परा प्रौढा विषयो नैव जीवताम् ॥86॥

पाँचवीं भूमिका शुद्ध ज्ञानमय और आनंदमय होती है। इस अवस्था में जीवन्मुक्त आधा जागा हुआ और आधा सोया हुआ रहता है। छठी भूमिका असंवेदनरूप होती है। वह सघन (समरस), एकमात्र आनन्दरूप और सुषुप्तावस्था जैसी (तुर्य) स्थिति होती है। और सातवीं भूमिका तुर्यातीत की है, वह बिल्कुल ही शान्त होती है, केवल मुक्तिरूप ही होती है, उसमें समता, निर्मलता, सौम्यरूप होता है। और उससे भी आगे उसी अवस्था की निर्वाण स्वरूप जो तुर्यातीत अवस्था है, वह (ऊपरी स्तर की) सातवीं भूमिका है, वह तो परम प्रौढ़ अवस्था है, वह जीते जी प्राप्त करने का विषय नहीं है। (तुर्य जीवन्मुक्त को प्राप्य और तुर्यातीत विदेहमुक्त को प्राप्य है।)

पूर्वावस्थात्रयं तत्र जाग्रदित्येव संस्थितम्।
चतुर्थी स्वप्न इत्युक्ता स्वप्नाभं यत्र वै जगत् ॥87॥

आनन्दैकघनाकारा सुषुप्ताख्या तु पञ्चमी।
असंवेदनरूपा तु षष्ठी तुर्यपदाभिधा ॥88॥
तुर्यातीतपदावस्था सप्तमी भूमिकोत्तमा।
मनोवचोभिरग्राह्या स्वप्रकाशसदात्मिका ॥89॥
अन्तः प्रत्याहृतिवशाच्चैत्यं चेन्न विभावितम्।
मुक्त एव न संदेहो महासमतया तया ॥90॥

इन सातों में पहली तीन अवस्थाएँ जाग्रत् अवस्था से युक्त ही रहती हैं। चौथी अवस्था को स्वप्नावस्था कहा गया है, क्योंकि उसमें जगत् स्वप्न जैसा दीखता है। परन्तु पाँचवीं अवस्था तो सुषुप्तावस्था ही कही जाती है क्योंकि उसमें तो केवल आनन्दमय आकार ही होता है। और छठी भूमिका असंवेदनरूप होती है, वह तुर्यपदा नाम से कही गई है। सातवीं भूमिका तुर्यातीत अवस्था वाली है वह सर्वोत्तम है, मन और वाणी से उसका ग्रहण नहीं किया जा सकता। क्योंकि वह स्वयंप्रकाश आत्मस्वरूप ही होती है। यदि इन्द्रियों को अन्तःकरण में खींच लिया गया हो और उसके कारण यदि कोई भी विषय दिखाई न पड़ा रहा हो, तो ऐसी महान् समता के कारण मनुष्य मुक्त ही हो जाता है, इसमें कोई संदेह नहीं।

न म्रिये न च जीवामि नाहं सन्नाप्यसन्मयः।
अहं न किञ्चिच्चिदिति मत्वा धीरो न शोचति ॥91॥
अलेपकोऽहमजरो नीरागः शान्तवासनः।
निरंशोऽस्मि चिदाकाशमिति मत्वा न शोचति ॥92॥
अहंमत्या विरहितः शुद्धो बुद्धोऽजरोऽमरः।
शान्तः शमसमाभास इति मत्वा न शोचति ॥93॥
तृणाग्रेष्वम्बरे भानौ नरनागामरेषु च।
यत्तिष्ठति तदेवाहमिति मत्वा न शोचति ॥94॥

'मैं मरता भी नहीं, जीता भी नहीं, मैं सत् भी नहीं हूँ और असत् भी नहीं हूँ, मैं कुछ और भी नहीं, केवल चैतन्य ही हूँ'—ऐसा मानकर धीर पुरुष शोक नहीं करता। 'मैं निर्लेप हूँ, जरामरणरहित हूँ, रागरहित हूँ, मेरी वासनाएँ शान्त हो गई हैं, मैं निरंश और चिदाकाशमय हूँ'—ऐसा मानकर ज्ञानी मनुष्य शोक नहीं करता। "मैं अहंबुद्धि से रहित हूँ, मैं शुद्ध, बुद्ध, अजर, शान्त हूँ, मैं शम का स्वरूप हूँ, शम का तेजरूप ही हूँ'—ऐसा मानकर ज्ञानी शोक नहीं करता। किसी तिनके की नोक पर, आकाश में, सूर्य में, मनुष्यों में, हाथियों में और देवों में जो तत्त्व है, वह मैं ही हूँ, ऐसा मानकर ज्ञानी कभी शोक नहीं करता है।

भावनां सर्वभावेभ्यः समुत्सृज्य समुत्थितः।
अवशिष्टं परं ब्रह्म केवलोऽस्मीति भावय ॥95॥
वाचामतीतविषयो विषयाशादशोज्झितः।
परानन्दरसाक्षुब्धो रमते स्वात्मनाऽऽत्मनि ॥96॥
सर्वकर्मपरित्यागी नित्यतृप्तो निराश्रयः।
न पुण्येन च पापेन नेतरेण च लिप्यते ॥97॥

स्फटिकः प्रतिबिम्बेन यथा नायाति रञ्जनम् ।
तज्ज्ञः कर्मफलेनान्तस्तथा नायाति रञ्जनम् ॥98॥

सभी पदार्थों पर भावना का त्याग करके तुम खड़े हो जाओ। और 'सबका त्याग करने के बाद जो शेष रहा है, वही परब्रह्म मै हूँ'—ऐसी भावना करो। वह धीर योगी वाणी का विषय नहीं होता, वह विषयों की आशाओं की दशा से दूर हुआ होता है, वह परानन्द का रसरूप है, वह अक्षुब्ध भाव से अपने आत्मा में आत्मा के द्वारा ही रमण करता रहता है। सभी कर्मों का परित्याग करने वाला वह हमेशा ही परितुष्ट रहता है, वह अनिकेत होता है, वह पुण्य से, पाप से या अन्य किसी से भी लिप्त नहीं होता। जैसे स्फटिकमणि अपने में प्रतिबिम्ब पड़ने से स्वयं नहीं रंगा जाता वैसे ही आत्मज्ञानी कर्मों के फलों से भीतर से लिप्त नहीं हो जाता।

विहरन् जनतावृन्दे देवकीर्तनपूजनैः ।
खेदाह्लादौ न जानाति प्रतिबिम्बगतैरिव ॥99॥
निःस्तोत्रो निर्विकारश्च पूज्यपूजाविवर्जितः ।
संयुक्तश्च वियुक्तश्च सर्वाचारनयक्रमैः ॥100॥
तनुं त्यजतु वा तीर्थे श्वपचस्य गृहेऽथ वा ।
ज्ञानसम्पत्तिसमये मुक्तोऽसौ विगताशयः ॥101॥
सङ्कल्पत्वं हि बन्धस्य कारणं तत् परित्यज ।
मोक्षो भवेदसंकल्पात् तदभ्यासं धिया कुरु ॥102॥

वह ज्ञानी लोगों के समूहों में देवकीर्तन या पूजन के द्वारा विहार तो करता रहता है, परन्तु उन सबके मानो अपने में केवल प्रतिबिम्ब ही पड़े हैं, ऐसा मानकर वह हर्ष या शोक का (खेद का) अनुभव नहीं करता। वह उन पूजा-स्तुतियों से रहित भी रहता है, वह निर्विकार रहता है, पूज्यों के प्रति पूज्यबुद्धि से भी रहित हो जाता है। और सभी आचार और नीतिनियमों के साथ भी रहता है और उनसे रहित होकर भी रहता है। वह ज्ञानी ज्ञानसम्पत्ति के काल में (ज्ञानी अवस्था में) अपना शरीर किसी तीर्थ में छोड़ दे या तो किसी चाण्डाल के घर में छोड़ दे, परन्तु इससे उसका किसी भी प्रकार का आशय नहीं होता। कोई भी संकल्प ही बन्धन का कारण होता है, इसलिए पहले तुम संकल्पों का ही त्याग कर दो, क्योंकि असंकल्प से ही मोक्ष होता है। इसलिए तुम बुद्धिपूर्वक उसी का अभ्यास करो।

सावधानो भव त्वं च ग्राह्यग्राहकसङ्गमे ।
अजस्रमेव संकल्पदशाः परिहरन् शनैः ॥103॥
मा भव ग्राह्यभावात्मा ग्राहकात्मा च मा भव ।
भावनामखिलां त्यक्त्वा यच्छिष्टं तन्मयो भव ॥104॥
किञ्चिच्चेद्रोचते तुभ्यं तद्बद्धोऽसि भवस्थितौ ।
न किञ्चिद्रोचते चेत्ते तन्मुक्तोऽसि भवस्थितौ ॥105॥
अस्मात् पदार्थनिचयाद्यावत् स्थावरजङ्गमात् ।
तृणादेर्देहपर्यन्तान्मा किञ्चित्तत्र रोचताम् ॥106॥

निरन्तर धीरे-धीरे तुम संकल्पों का त्याग करते रहो और विषयों तथा विषयग्राहकों के सम्पर्क के विषय में सावधान रहो। तुम ग्राह्य पदार्थों में भाव वाले न बनो और अपने में ग्राहक भावना भी न रखो। सभी प्रकार की भावनाओं को छोड़कर जो अवशेष रहे, उसी तत्त्व में परायण हो जाओ। यदि किसी

भी पदार्थ में तुम्हारी स्पृहा है, तब तो तुम संसार की स्थिति में बद्ध ही हो गए। अगर तुम्हें कहीं भी स्पृहा ही नहीं रही, तब तुम संसार की स्थिति से मुक्त हो चुके हो। एक तिनके से लेकर इस सारे स्थावर-जंगम समूह में से तुमको कुछ भी अच्छा नहीं लगना चाहिए।

अहंभावानहंभावौ त्यक्त्वा सदसती तथा ।
यदसक्तं समं स्वच्छं स्थितं तत्तुर्यमुच्यते ॥107॥
या स्वच्छा समता शान्ता जीवन्मुक्तव्यवस्थितिः ।
साक्ष्यवस्था व्यवहृतौ सा तुर्या कलनोच्यते ॥108॥
नैतज्जाग्रन्न च स्वप्नः संकल्पानामसंभवात् ।
सुषुप्तभावो नाऽप्येतदभावाज्जडतास्थितेः ॥109॥
शान्तसम्यक्प्रबुद्धानां यथास्थितमिदं जगत् ।
विलीनं तुर्यमित्याहुरबुद्धानां स्थितं स्थिरम् ॥110॥

अहंभाव और अनहंभाव—दोनों को छोड़कर एवं सत् और असत्—इन दोनों को भी छोड़कर जो निर्लिप्त है, समरस है, निर्मल है उसी को तुर्य कहा जाता है। जीवन्मुक्त की जो निर्मल, समरस और शान्त अवस्था है, जो कि व्यवहार में भी साक्षीरूप ही होती है, वही यह तुर्यावस्था है। वह अवस्था जाग्रत् भी नहीं है, संकल्पों का अभाव होने से स्वप्न भी नहीं है, और जड़तायुक्त स्थिति न होने से जो सुषुप्ति भी नहीं है। जो लोग शान्त होकर उत्तम ज्ञान को प्राप्त हुए हैं, उनकी दृष्टि में तो यह सारा जगत् अपने मूल स्वरूप में (कारणरूप में) जैसा था, वैसा ही अभी भी है। और वे तो यहाँ तक कह देते हैं कि तुरीय भी विलीन हो गया है। परन्तु जो अज्ञानी हैं, उन्हीं की दृष्टि से यह जगत् स्थिर (वास्तविक) है।

अहंकारकलात्यागे समतायाः समुद्गमे ।
विशरारौ कृते चित्ते तुर्यावस्थोपतिष्ठते ॥111॥
सिद्धान्तोऽध्यात्मशास्त्राणां सर्वापह्नव एव हि ।
नाविद्याऽस्तीह नो माया शान्तं ब्रह्मेदमक्लमम् ॥112॥
शान्त एव चिदाकाशे स्वच्छे शमसमात्मनि ।
समग्रशक्तिखचिते ब्रह्मेति कलिताभिधे ॥113॥
सर्वमेव परित्यज्य महामौनी भवानघ ।
निर्वाणवान् निर्मननः क्षीणचित्तः प्रशान्तधीः ॥114॥

जब अहंकार के अंशों का नाश हो जाता है और समभाव का उदय होता है तब चित्त का विनाश किया जाता है और तुर्यावस्था उपस्थित हो जाती है। 'सभी पदार्थों का अभाव ही है'—ऐसा अध्यात्मशास्त्र का सिद्धान्त है। इसलिए यहाँ न कोई अविद्या है, न कोई माया ही है, परन्तु शान्त और श्रमरहित केवल ब्रह्म ही है। चैतन्यरूप आकाश शान्त, स्वच्छ, शमतुल्य, स्वरूपी और समग्र शक्तियों से व्याप्त है। इसी को 'ब्रह्म' ऐसा नाम दिया गया है। इसलिए हे दोषरहित निदाघ ! उसी ब्रह्म में सर्व का त्याग करके तुम महामौनधारी, निर्वाणयुक्त, ममतारहित, नष्ट चित्तवाले और शान्त बुद्धिवाले हो जाओ।

आत्मन्येवास्स्व शान्तात्मा मूकान्धबधिरोपमः ।
नित्यमन्तर्मुखः स्वच्छः स्वात्मनाऽन्तः प्रपूर्णधीः ॥115॥

जाग्रत्येव सुषुप्तस्थः कुरु कर्माणि वै द्विज ।
अन्तः सर्वपरित्यागी बहिः कुरु यथाऽऽगतम् ॥116॥
चित्तसत्ता परं दुःखं चित्तत्यागः परं सुखम् ।
अतश्चित्तं चिदाकाशे नय क्षयमवेदनात् ॥117॥
दृष्ट्वा रम्यमरम्यं वा स्थेयं पाषाणवत् सदा ।
एतावताऽऽत्मयत्नेन जिता भवति संसृतिः ॥118॥

इस ब्रह्म के स्वरूप में ही शान्तरूप, मूक, बधिर और अन्ध के समान तथा अन्तर्मुख होकर तुम रहो। और निर्मल बनकर अपने आत्मा के द्वारा ही अन्तर में परिपूर्ण बुद्धिवाले हो जाओ। हे द्विज ! जाग्रत् अवस्था में रहते हुए भी तुम मानो सुषुप्ति में ही रहे हो, इस तरह कर्म करो। और अंतर से सब कुछ का त्याग करके बाहर अपनी इच्छानुसार या चाहे जिस प्रकार भी काम किया करो। चित्त का अस्तित्व ही परम दुःख है, और चित्त का त्याग ही परम सुख है। इसलिए अनुभवों के अभाव द्वारा चित्त का चिदाकाश में विलय कर दो। सुन्दर या असुन्दर वस्तु को देखकर हमेशा पत्थर की तरह ही रहा करो। बस, इतना ही केवल आत्मप्रयत्न करने से सारा संसार जीता जा सकता है।

वेदान्ते परमं गुह्यं पुराकल्पप्रचोदितम् ।
नाप्रशान्ताय दातव्यं न चाशिष्याय वै पुनः ॥119॥
अन्नपूर्णोपनिषदं योऽधीते गुर्वनुग्रहात् ।
स जीवन्मुक्ततां प्राप्य ब्रह्मैव भवति स्वयम् ॥120॥ इत्युपनिषत् ।

इति पञ्चमोऽध्यायः ।

इत्यन्नपूर्णोपनिषत्समाप्ता ।
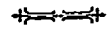
वेदान्त का यह परम गोपनीय ज्ञान पुराने कल्प में बहुत प्रेरणा (प्रचार करने) देने वाला रहा है। यह ज्ञान अति अशान्त मनुष्य को नहीं देना चाहिए। और जो शिष्य न बना हो, उसको भी नहीं देना चाहिए। जो मनुष्य गुरु की कृपा प्राप्त करके इस अन्नपूर्णोपनिषत् का अध्ययन करता है, वह अपने आप ही जीवन्मुक्त का पद प्राप्त करके ब्रह्मस्वरूप हो जाता है। इस प्रकार यह उपनिषत् समाप्त होती है।

यहाँ पाँचवाँ अध्याय पूरा हुआ।

इस प्रकार अन्नपूर्णोपनिषत् समाप्त होती है।

शान्तिपाठः

ॐ भद्रं कर्णेभिः......**देवहितं यदायुः** । (पूर्ववत्)
ॐ स्वस्ति न इन्द्रो......**बृहस्पतिर्दधातु** । (पूर्ववत्)
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

(73) सूर्योपनिषत्

(उपनिषत्परिचय)

यह उपनिषत् अथर्ववेद से सम्बद्ध है। इस गद्यात्मक उपनिषत् में सूर्य और ब्रह्म का ऐक्य प्रतिपादित किया गया है। पहले उपनिषत् के ऋषि, देवता, छन्द आदि का उल्लेख किया गया है, बाद में सूर्य और आत्मा की एकता बताई है। बाद में सूर्य के तेज से पृथ्वी-सृष्टि आदि का निर्माण बताया गया है। आदित्य की स्तुति, आदित्य का ब्रह्मत्व, सूर्याष्टाक्षरी मंत्र, अन्त में मंत्रजाप और उसकी फलश्रुति भी बताई गई है। यहाँ विशेषता यह है कि मंत्रजाप का मुहूर्त भी बताया है। हस्त नक्षत्र स्थित सूर्य हो, आश्विन मास हो, तब जप करना अच्छा माना गया है। इस मुहूर्त में जप करने वाला मृत्यु को पार कर जाता है।

शान्तिपाठः

ॐ भद्र कर्णेभिः......**देवहितं यदायुः** । (पूर्ववत्)
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

इसका हिन्दी रूपान्तर पूर्व में (शाण्डिल्योपनिषद् में) द्रष्टव्य है।

अथ सूर्याथर्वाङ्गिरसं व्याख्यास्यामः । ब्रह्मा ऋषिः । गायत्री छन्दः । आदित्यो देवता । हंसः सोऽहमग्निनारायणयुक्तं बीजम् । हृल्लेखा शक्तिः । वियदादिसर्गसंयुक्तं कीलकम् । चतुर्विधपुरुषार्थसिद्ध्यर्थे जपे विनियोगः । षट्स्वरारूढेन बीजेन षडङ्गम् । रक्ताम्बुजसंस्थितं सप्ताश्वरथिनं हिरण्यवर्णं चतुर्भुजं पद्मद्वयाभयवरदहस्तं कालचक्रप्रणेतारं श्रीसूर्यनारायणं य एवं वेद स वै ब्राह्मणः ॥1॥

यहाँ अब सूर्य से सम्बद्ध अथर्वाङ्गिरस मंत्रों की हम व्याख्या करते हैं। इसके ऋषि ब्रह्मा हैं, गायत्री छन्द है और आदित्य देवता है। और अग्निनारायण से युक्त 'हंसः' 'सोऽहम्' यह बीज है। 'हृल्लेखा' (औत्सुक्य) इसकी शक्ति है। आकाशादिसंसर्ग से युक्त कीलक है। चारों प्रकार के पुरुषार्थों की सिद्धि के लिए इसका विनियोग है। षट् स्वरों के ऊपर बीज के साथ प्रतिष्ठित हुए छः गुणों से युक्त, लाल कमल पर अवस्थित, षडंगयुक्त, सात घोड़ों वाले रथ पर आरूढ़, सुवर्ण जैसी कान्तिवाले, चार हाथ वाले, चारों हाथों में से दो से कमल और दो से वरमुद्रा और अभयमुद्रा को धारण करने वाले कालचक्र के प्रेरक सूर्यनारायण को जो जानता है, वही ब्रह्मवेत्ता है।

ॐ भूर्भुवः स्वः । तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि । धियो यो नः प्रचोदयात् ॥2॥

प्रणवरूप में जो भूः, भुवः और स्वः में (अर्थात् तीनों लोक में) व्याप्त परमात्मा है, वे समस्त सृष्टि को उत्पन्न करने वाले हैं। ऐसे सवितादेव के सर्वोत्तम तेज का हम ध्यान करते हैं, जो सवितादेव हमारी बुद्धियों को (श्रेष्ठ मार्गों की ओर बढ़ने की) प्रेरणा दें।

सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च। सूर्याद्वै खल्विमानि भूतानि जायन्ते। सूर्याद्यज्ञः पर्जन्योऽन्नमात्मा ॥3॥

सूर्य ही इस जड़ और चेतन सृष्टि के आत्मा हैं। सूर्य से ही इन सभी प्राणियों की उत्पत्ति होती है। सूर्य से ही यज्ञ, वर्षा, अन्न और आत्मा का आविर्भाव होता है।

नमस्त आदित्य। त्वमेव प्रत्यक्षं कर्मकर्ताऽसि। त्वमेव प्रत्यक्षं ब्रह्माऽसि। त्वमेव प्रत्यक्षं विष्णुरसि। त्वमेव प्रत्यक्षं रुद्रोऽसि। त्वमेव प्रत्यक्षमृगसि। त्वमेव प्रत्यक्षं यजुरसि। त्वमेव प्रत्यक्षं सामासि। त्वमेव प्रत्यक्षमथर्वाऽसि। त्वमेव सर्वं छन्दोऽसि ॥4॥

हे सूर्यदेव! आपको नमस्कार हो। आप ही प्रत्यक्ष कर्मों के कर्ता हैं, आप ही प्रत्यक्ष ब्रह्म हैं, आप ही प्रत्यक्ष विष्णु हैं, आप ही प्रत्यक्ष रुद्र हैं, आप ही प्रत्यक्ष ऋग्वेद हैं, आप ही प्रत्यक्ष यजुर्वेद हैं, आप ही प्रत्यक्ष सामवेद हैं, आप ही प्रत्यक्ष अथर्ववेद हैं, आप ही सर्वछन्द रूप हैं।

आदित्याद्वायुर्जायते। आदित्याद्भूमिर्जायते। आदित्यादापो जायन्ते। आदित्याज्ज्योतिर्जायते। आदित्याद्व्योम दिशो जायन्ते। आदित्याद्देवा जायन्ते। आदित्याद्वेदा जायन्ते। आदित्यो वा एष एतन्मण्डलं तपति। असावादित्यो ब्रह्म। आदित्योऽन्तःकरणमनोबुद्धिचित्ताहंकाराः। आदित्यो वै व्यानः समानोदानोऽपानः प्राणः। आदित्यो वै श्रोत्रत्वक्-चक्षूरसनघ्राणाः। आदित्यो वै वाक्पाणिपादपायूपस्थाः। आदित्यो वै शब्दस्पर्शरूपरसगन्धाः। आदित्यो वै वचनादानागमनविसर्गानन्दाः। आनन्दमयो ज्ञानमयो विज्ञानमय आदित्यः ॥5॥

इसी आदित्य से वायु उत्पन्न होता है, आदित्य से पृथ्वी उत्पन्न होती है, आदित्य से जल उत्पन्न होता है, आदित्य से तेज उत्पन्न होता है, आदित्य ही से आकाश और दिशाएँ उत्पन्न होती हैं, आदित्य से देव उत्पन्न होते हैं, आदित्य से वेद उत्पन्न होते हैं, आदित्य से ही यह सारा ब्रह्माण्ड तपता है। यह आदित्य ब्रह्म है, आदित्य ही मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार है, आदित्य ही व्यान, समान, उदान, अपान और प्राण है। आदित्य ही, श्रवण, त्वक्, चक्षु, रसना और घ्राण—ये पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ हैं। आदित्य ही वाक्, पाणि, पाद, पायू और उपस्थ—ये पाँच कर्मेन्द्रियाँ हैं। आदित्य ही शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध—ये पाँच तन्मात्राएँ हैं। आदित्य ही वचन, आदान, गमन, मलविसर्जन और आनन्दरूप—ये कर्मेन्द्रियों के विषय हैं। यही आदित्य ज्ञानमय, विज्ञानमय तथा आनन्दमय है।

**नमो मित्राय भानवे मृत्योर्मा पाहि। भ्राजिष्णवे विश्वहेतवे नमः।
सूर्याद्भवन्ति भूतानि सूर्येण पालितानि तु।
सूर्ये लयं प्राप्नुवन्ति यः सूर्यः सोऽहमेव च ॥
चक्षुर्नो देवः सविता चक्षुर्न उत पर्वतः।
चक्षुर्धाता दधातु नः ॥
आदित्याय विद्महे सहस्रकिरणाय धीमहि।
तन्नः सूर्यः प्रचोदयात् ॥
सविता पुरस्तात् सविता पश्चात्तात् सवितोत्तरात्तात् सविताऽधरात्तात्।
सविता नः सुवतु सर्वतातिं सविता नो रासतां दीर्घमायुः ॥6॥**

मित्रस्वरूप सूर्यदेव को नमस्कार हो। हे देव! आप हमें मृत्यु से बचाइए। विश्व के कारणरूप तेजस्वी सूर्यदेव को नमस्कार हो। ये सभी प्राणी सूर्य से ही उत्पन्न होते हैं, सूर्य से ही पालित-पोषित

किए जाते हैं और सूर्य में लय हो जाते हैं। जो यह सूर्य है, वह मैं ही हूँ। ये सवितादेव ही हमारा नेत्र है, यह सवितादेव ही हमारा पर्वत (ऊर्जा से भरपूर बना देने वाला चक्षु) है। सबको धारण करने वाले ये सवितादेव हमें चक्षु प्रदान करें अर्थात् देखने की शक्ति दें। हम आदित्य को जानते हैं। हजारों किरणों वाले उन सवितादेव का हम ध्यान करते हैं। वे सूर्यदेव हमें प्रेरणा दें। हमारे आगे, पीछे, उत्तर में, बाँयें, दायें, सभी ओर सवितादेव ही हैं। वे सवितादेव हमें लम्बी आयु दें, हमें सार्वत्रिकता का अभीष्ट पदार्थ प्रदान करें।

ॐ इत्येकाक्षरं ब्रह्म। घृणिरिति द्वे अक्षरे। सूर्य इत्यक्षरद्वयम्। आदित्य इति त्रीण्यक्षराणि। एतस्यैव सूर्यस्याष्टाक्षरो मनुः ॥7॥

'ॐ' यह प्रणव एकाक्षर ब्रह्ममंत्र है। 'घृणि' और 'सूर्य'—ये दो-दो अक्षर वाले मंत्र हैं। और 'आदित्य' शब्द में तीन अक्षर हैं। इन सबको मिलाकर सूर्यदेव का आठ अक्षरों का महामंत्र बनता है।

यः सदाऽहरहर्जपति स वै ब्राह्मणो भवति स वै ब्राह्मणो भवति। सूर्याभिमुखो जप्त्वा महाव्याधिभयात् प्रमुच्यते। अलक्ष्मीर्नश्यति। अभक्ष्यभक्षणात् पूतो भवति। अगम्यागमनात् पूतो भवति। पतित-संभाषणात् पूतो भवति। असत्संभाषणात् पूतो भवति। मध्याह्ने सूर्याभिमुखः पठेत्। सद्योत्पन्नपञ्चमहापातकात् प्रमुच्यते। सैषा सावित्री विद्यां न किञ्चिदपि न कस्मैचित् प्रशंसयेत्। य एतां महाभागः प्रातः पठति स भाग्यवान् जायते। पशून् विन्दति। वेदार्थं लभते। त्रिकाल-मेतज्जप्त्वा क्रतुशतफलमवाप्नोति। हस्तादित्ये जपति स महामृत्युं तरति स महामृत्युं तरति य एवं वेद ॥ इत्युपनिषत् ॥8॥

इति सूर्योपनिषत्समाप्ता।

इस मंत्र का जो प्रतिदिन जाप करता है, वह ब्रह्मज्ञानी हो जाता है। वही ब्राह्मण कहलाता है। सूर्याभिमुख होकर जप करके महान् रोगों और व्याधियों से मनुष्य बिल्कुल मुक्त हो जाता है। उसका दारिद्र्य दूर होता है, वह अभक्ष्यभक्षण के पाप से मुक्त होता है, कुमार्गगमन के दोष से मुक्त होता है, पापमय वाणी से मुक्त होता है, झूठ बोलने के पाप से मुक्त होता है। मध्याह्न काल में सूर्याभिमुख होकर इस मंत्र को जपना चाहिए। इससे तुरन्त किए गए पाँच महापातकों से मुक्त होता है। उसे इस सावित्री विद्या की किसी के आगे लेशमात्र भी प्रशंसा नहीं करनी चाहिए। जो महाभाग्यशाली मनुष्य प्रातःकाल में इस मंत्र को पढ़ता है, वह भाग्यवान होता है, पशुओं को प्राप्त करता है, वेदार्थ को जान लेता है, इस मंत्र का तीनों काल जप करके सौ यज्ञों का फल पाता है। सूर्य के हस्त नक्षत्र में होने के समय जो जाप करता है, वह महामृत्यु को पार कर जाता है, जो यह जानता है, वह भी महामृत्यु को तैर जाता है, ऐसा यह उपनिषत् कहती है।

इस प्रकार सूर्योपनिषत् समाप्त होती है।

शान्तिपाठः

**ॐ भद्रं कर्णेभिः......देवहितं यदायुः। (पूर्ववत्)
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥**

(74) अक्ष्युपनिषत्

(उपनिषत्परिचय)

कृष्णयजुर्वेद-परम्परा की यह गद्य-पद्यात्मक उपनिषत् दो खण्डों में विभक्त है। सांकृति-आदित्य के प्रश्नोत्तर रूप में इसमें चाक्षुष्मती विद्या तथा योगविद्या का निर्देश किया है। उपनिषद् के दो खण्ड हैं। चाक्षुष्मती विद्या का विवेचन प्रथम खण्ड में किया गया है। और दूसरे खण्ड में पहले ब्रह्मविद्या का विवेचन करके बाद में उस विद्या की प्राप्ति के लिए योगविद्या की विभिन्न भूमिकाओं के बारे में बताया गया है। इस उपनिषद् में बताई गई योग की सात भूमिकाओं के माध्यम से साधक योगमार्ग में क्रमिक प्रगति करता हुआ आगे बढ़ता रहता है। अन्तिम (सातवीं) भूमिका में पहुँचकर वह परमात्मसाक्षात्कार कर लेता है। इस उपनिषत् के अन्त में ओंकार के विषय में भी विवेचन किया गया है। ओंकार की विधिपूर्वक साधना करने से भी ब्रह्मपद की प्राप्ति होती है, ऐसा कहा है। अन्त में परमानन्दस्वरूप ब्रह्मसाक्षात्कार की प्राप्ति (स्थिति) को पा लेना ही इस उपनिषत् का प्रमुख सन्देश है।

शान्तिपाठः

ॐ सह नाववतु। सह नौ—मा विद्विषावहै। (पूर्ववत्)
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

इसका हिन्दी रूपान्तर पूर्व में (शारीकोपनिषद् में) द्रष्टव्य है।

प्रथमः खण्डः

अथ ह सांकृतिर्भगवानादित्यलोकं जगाम। तमादित्यं नत्वा चाक्षुष्मती-विद्यया तमस्तुवत्। ॐ नमो भगवते श्रीसूर्यायाक्षितेजसे नमः। ॐ खेचराय नमः। ॐ महासेनाय नमः। ॐ तमसे नमः। ॐ रजसे नमः। ॐ सत्त्वाय नमः। ॐ असतो मा सद्गमय। ॐ तमसो मा ज्योतिर्गमय। ॐ मृत्योर्माऽमृतं गमय। हंसो भगवान् शुचिरूपः प्रतिरूपः। विश्वरूपं घृणिनं जातवेदसं हिरण्मयं ज्योतीरूपं तपन्तम्। सहस्ररश्मिः शतधा वर्तमानः प्राणः प्रजानामुदयत्येष सूर्यः॥ ॐ नमो भगवते श्रीसूर्यायादित्यायाक्षितेजसेऽहोऽवाहिनी वाहिनि वा स्वाहेति। एवं चाक्षुष्मतीविद्यया स्तुतः सूर्यनारायणः सुप्रीतोऽब्रवीत् चाक्षुष्मतीविद्यां ब्राह्मणो यो नित्यमधीते न तस्याक्षिरोगो भवति। न तस्य कुलेऽन्धो भवति। अष्टौ ब्राह्मणान् ग्राहयित्वाऽथ विद्यासिद्धिर्भवति। य एवं वेद स महान् भवति ॥1॥

इति प्रथम खण्डः।

एक बार भगवान् सांकृति आदित्यलोक में गए। वहाँ पर उन्होंने उन आदित्य को नमस्कार करके उनकी चाक्षुषी विद्या के द्वारा अर्चना की, कि—"ॐ अक्षि (आँख) के तेजरूप भगवान् सूर्य को नमस्कार हो। ॐ आकाशचारी सूर्य को नमस्कार हो, ॐ विशाल किरणसेना वाले सूर्य को नमस्कार हो, ॐ तमोगुणरूप सूर्य को नमस्कार, ॐ रजोगुणरूप सूर्य को नमस्कार, ॐ सत्त्वगुणरूप सूर्य को नमस्कार, ॐ तुम मुझे असत् में से सत् की ओर ले जाओ, ॐ तुम मुझे तमस् से ज्योति की ओर ले जाओ, ॐ तुम मुझे मृत्यु से अमृत की ओर ले जाओ। आप प्रत्यक् अभिन्न परमात्मरूप हैं, आप पवित्र हैं, प्रतिबिम्ब प्रकट करने वाले हैं। सूर्य ही निखिल विश्व में रूपों के धारणकर्ता, रश्मिसमूह से सुशोभित हैं, वे ही जातवेदा, हिरण्मय, ज्योतिस्वरूप, तपने-तपाने वाले भगवान् भास्कर हैं। उन्हें मैं प्रणाम करता हूँ। ये हजारों रश्मियों के समूहों वाले, सैंकड़ों रूपों में विद्यमान सूर्यदेव सभी लोगों के सामने प्रकट हो रहे हैं। हमारे चक्षुओं के प्रकाशरूप अदितिपुत्र सूर्य को नमस्कार हो। वे दिन के वाहक हैं, वे सब जगत् के भी वाहक हैं, उनके लिए हमारा सर्वस्व समर्पित हो (स्वाहा)"। इस प्रकार चाक्षुषी विद्या के द्वारा पूजित किए गए सूर्यनारायण बहुत ही प्रसन्न होकर बोले कि—"जो ब्रह्मज्ञानी इस चाक्षुष्मती विद्या को नित्य ही पढ़ेगा, उसको आँख का कोई भी रोग नहीं होगा। उसके वंश में कोई अन्धा पैदा नहीं होगा। आठ ब्राह्मणों को यह विद्या सिखा देने से इस विद्या की सिद्धि होती है। जो इस प्रकार जानता है, वह महान् हो जाता है"।

यहाँ प्रथम खण्ड पूरा हुआ।

❋

द्वितीयः खण्डः

अथ ह सांकृतिरादित्यं पप्रच्छ भगवन् ब्रह्मविद्यां मे ब्रूहीति।
तमादित्यो होवाच।
सांकृते शृणु वक्ष्यामि तत्त्वज्ञानं सुदुर्लभम्।
येन विज्ञातमात्रेण जीवन्मुक्तो भविष्यसि ॥1॥

इसके बाद सांकृति ने भगवान् सूर्य से पूछा—'हे भगवन्! मुझे ब्रह्मविद्या का उपदेश कीजिये।' तब आदित्य ने कहा—हे सांकृति! मैं तुम्हें अत्यन्त दुर्लभ तत्त्वज्ञान बता रहा हूँ। उसे तुम सुनो। इसके जानने से तुम जीवन्मुक्त हो जाओगे।

सर्वमेकमजं शान्तमनन्तं ध्रुवमव्ययम्।
पश्य भूतार्थचिद्रूपं शान्त आस्स्व यथासुखम् ॥2॥
अवेदनं विदुर्योगं चित्तक्षयमकृत्रिमम्।
योगस्थः कुरु कर्माणि नीरसो वाऽथ मा कुरु ॥3॥
विरागमुपयात्यन्तर्वासनास्वनुवासरम्।
क्रियासूदाररूपासु क्रमते मोदतेऽन्वहम् ॥4॥
ग्राम्यासु जडचेष्टासु सततं विचिकित्सते।
नोदाहरति मर्माणि पुण्यकर्माणि सेवते ॥5॥

तुम इस सम्पूर्ण जगत् को एकतत्त्वरूप, अजन्मा, शान्त, अनन्त, ध्रुव (शाश्वत) और अव्यय (अक्षर) अविकारी चैतन्यरूप ही मानो और यथेच्छ सुखपूर्वक जीवन जिओ। शान्त होकर बैठे रहो (निष्कर्मा हो जाओ)। सांसारिक किसी पदार्थ का अवेदन (असंवदेन) ही योग कहलाता है। वही चित्त

का स्वाभाविक (पारमार्थिक) स्वरूप है। इस योग में रहकर चाहे तुम कर्म कर सकते हो और चाहे नीरस होकर कर्मरहित भी यथेच्छ रह सकते हो। कर्म करने या न करने में नीरसता ही मुख्य बात है। इस योग में प्रवृत्त होने पर प्रथम तो यह होता है कि अन्तःकरण दिन-प्रतिदिन वासनाओं के विचारों से दूर होता जाता है और साधक दिन-प्रतिदिन परमार्थ कर्म करते हुए आनन्द का अनुभव करता रहता है। अशिष्ट, जड़, अश्लील चेष्टाओं से वह सतत घृणा करता रहता है। अपने किसी भी सिद्धान्तकर्म को किसी के आगे नहीं कहता है और सदैव पुण्य कार्यों में अपने को संलग्न रखता है।

अनन्योद्वेगकारीणि मृदुकर्माणि सेवते।
पापाद् बिभेति सततं न च भोगमपेक्षते ॥6॥
स्नेहप्रणयगर्भाणि पेशलान्युचितानि च।
देशकालोपपन्नानि वचनान्यभिभाषते ॥7॥
मनसा कर्मणा वाचा सज्जनानुपसेवते।
यतः कुतश्चिदानीय नित्यं शास्त्राण्यवेक्षते ॥8॥

वह ऐसे ही कर्म करता है कि जिनसे दूसरों को उद्वेग न हो, एवं जो कर्म कोमल हों। वह पाप से सदा डरता रहता है और भोगों की कोई अपेक्षा नहीं करता। वह स्नेह और प्रणय (प्रेम) से भरे और कोमल तथा देश और काल के द्वारा योग्य माने गये हों तथा समुचित हों, ऐसे ही वाक्य बोलता है। मन से, वचन से और कर्मों से श्रेष्ठ पुरुषों का सत्संग करते हुए वह जहाँ-कहीं से भी हो पाए, शास्त्रों का अध्ययन करता रहता है।

तदाऽसौ प्रथमामेकां प्राप्तो भवति भूमिकाम्।
एवं विचारवान् यः स्यात् संसारोत्तारणं प्रति ॥9॥
स भूमिकावानित्युक्तः शेषस्त्वार्य इति स्मृतः।
विचारनाम्नीमितरामागतो योगभूमिकाम् ॥10॥
श्रुतिस्मृतिसदाचारधारणाध्यानकर्मणः।
मुख्यया व्याख्यया ख्याताञ्छ्रयति श्रेष्ठपण्डितान् ॥11॥

इस स्थिति में रहता हुआ वह प्रथम भूमिका वाला कहा जाता है। जो मनुष्य संसार-सागर को पार करने की अभिलाषा रखता है, वही इस प्रकार विचार कर सकता है। ऐसे इस पुरुष को 'भूमिकावान' कहा जाता है और शेष मनुष्यों को 'आर्य' कहा जाता है। अब जो साधक 'विचार' नाम की दूसरी भूमिका में पहुँच चुका है, उसका लक्षण इस प्रकार है—वह विचारभूमिक साधक सुप्रतिष्ठित श्रेष्ठ विद्वानों का आश्रय करके रहता है। वे श्रेष्ठपण्डित श्रुति, स्मृति, सदाचार, धारणा और ध्यान के कार्य में अधिक ख्याति वाले होते हैं।

पदार्थप्रविभागज्ञः कार्याकार्यविनिर्णयम्।
जानात्यधिगतश्राव्यो गृहं गृहपतिर्यथा ॥12॥
मदाभिमानमात्सर्यलोभमोहातिशायिताम्।
बहिरप्यास्थितामीषत्त्यजत्यहिरिव त्वचम् ॥13॥
इत्थंभूतमतिः शास्त्रगुरुसज्जनसेवया।
सरहस्यमशेषेण यथावदधिगच्छति ॥14॥

यह साधक पदार्थों के विभाग को जानता है, कार्य-अकार्य का निर्णय कर सकता है, जैसे घर का मालिक अपने घर को भली भाँति जानता है, वैसे ही यह भी उक्त विषय को अच्छी तरह से जानने

वाला होता है। जैसे साँप अपनी त्वचा को छोड़ देता है, वैसे ही वह साधक भी मद, अभिमान, मात्सर्य, लोभ, मोह आदि की अतिशयता को बाह्य आचरण में यदि कहीं दिखाई पड़े तो तुरन्त ही छोड़ देता है। इस प्रकार की बुद्धिवाला वह शास्त्रों, सज्जनों और गुरुजनों के सेवन के द्वारा इस गूढ़ ज्ञान को सम्पूर्ण और यथार्थ रूप से प्राप्त कर सकता है।

असंसर्गाभिधामन्यां तृतीयां योगभूमिकाम्।
ततः पतत्यसौ कान्तः पुष्पशय्यामिवामलाम् ॥15॥
यथावच्छास्त्रवाक्यार्थे मतिमाधाय निश्चलाम्।
तापसाश्रमविश्रान्तैरध्यात्मकथनक्रमैः ॥16॥
शिलाशय्याऽऽसनासीनो जरयत्यायुराततम्।
वनावनिविहारेण चित्तोपशमशोभिना ॥17॥
असङ्गसुखसौख्येन कालं नयति नीतिमान्।
अभ्यासात् साधुशास्त्राणां करणात् पुण्यकर्मणाम् ॥18॥
जन्तोर्यथावदेवेयं वस्तुदृष्टिः प्रसीदति।
तृतीयां भूमिकां प्राप्य बुद्धोऽनुभवति स्वयम् ॥19॥

इसके बाद 'असंसर्ग' नाम की तीसरी भूमिका में वह साधक प्रवेश करता है। जैसे कोई सुन्दर पुरुष पुष्पों से आच्छादित कोमल स्वच्छ शय्या पर आरूढ़ होता हो, उसी तरह साधक वहाँ प्रवेश करता है। वह शास्त्रों के वाक्यों में अपनी यथार्थ निश्चल बुद्धि को रखता है, वह तपस्वियों के आश्रमों में निवास करता है, अध्यात्म शास्त्रों की चर्चा करता है, पाषाण की कष्टमय शय्यावाला होता है और ऐसा ही जीवन बिताते हुए अपनी आयु पूर्ण कर देता है। वह कभी वन और कभी अवन (गाँव) में विहार करता है। पर विहार चित्त की शान्ति से शोभित ही होता है। वह नीतिमान साधक असंगता के सुख से अच्छे शास्त्रों के अभ्यास द्वारा तथा पुण्य कर्मों के आचरण द्वारा समय व्यतीत करता है। उसके ऐसे कर्मों से प्राणीसमूह की दृष्टि भी पवित्र हो जाती है। तीसरी भूमिका को प्राप्त हुआ ज्ञानी साधक इस बात का स्वयं ही अनुभव करता है।

द्विप्रकारमसंसर्गं तस्य भेदमिमं शृणु।
द्विविधोऽयमसंसर्गः सामान्यः श्रेष्ठ एव च ॥20॥
नाहं कर्ता न भोक्ता च न बाध्यो न च बाधकः।
इत्यसञ्जनमर्थेषु सामान्यासङ्गनामकम् ॥21॥
प्राक्कर्मनिर्मितं सर्वमीश्वराधीनमेव वा।
सुखं वा यदि वा दुःखं कैवात्र मम कर्तृता ॥22॥

इस असंसर्ग भूमिका के दो प्रकार हैं—एक सामान्य और दूसरा श्रेष्ठ। इनमें सामान्य यह है—'मैं न कर्ता, न भोक्ता, न बाध्य, न बाधक ही हूँ'—इस प्रकार विषयोपभोगों से आसक्ति को छोड़कर जो भावना होती है, उसे 'सामान्य असंसर्ग' भूमिका कहा जाता है। जब सब कुछ पूर्वजन्मकृत पुण्यों का फल है, या तो सब कुछ ईश्वराधीन ही है, तब तो सुख-दुःख में मेरा कर्तृत्व ही कैसे आएगा? (ऐसा वह सोचता रहता है। और—)

भोगाभोगा महारोगाः सम्पदः परमापदः।
वियोगायैव संयोगा आधयो व्याधयो धियाम् ॥23॥
कालश्च कलनोद्युक्तः सर्वभावाननारतम्।

अनास्थयेति भावानां यदभावनमान्तरम्।
वाक्यार्थलब्धमनसः सामान्योऽसावसङ्गमः ॥24॥

भोगाभोगों का—भोगों और आभोगों (भोगसाधनों) का अतिसंग्रह महारोगकारी है और समस्त वैभव बड़ी आपत्तियों का स्वरूप है। सभी संयोगों का अन्तिम परिणाम वियोग में ही होता है। मानसिक चिन्ताएँ अज्ञानग्रस्तों के लिए बड़ी पीड़ाकारक ही हैं, सभी पदार्थ क्षणभंगुर और अनित्य हैं, काल सभी को ग्रस्त करने के लिए सज्ज ही है—ऐसी सांसारिक अनास्था से मन में जो एक प्रकार का अभाव हो जाता है, इसी अवस्था को 'सामान्य असंसर्ग' भूमिका का नाम दिया गया है।

अनेन क्रमयोगेन संयोगेन महात्मनाम्।
नाहं कर्तेश्वरः कर्ता कर्म वा प्राक्तनं मम ॥25॥
कृत्वा दूरतरे नूनमिति शब्दार्थभावनाम्।
यन्मौनमासनं शान्तं तच्छ्रेष्ठासङ्ग उच्यते ॥26॥
संतोषामोदमधुरा प्रथमोदेति भूमिका।
भूमिप्रोदितमात्रोऽन्तरमृताङ्कुरिकेव सा ॥27॥
एषा हि परिमृष्टाऽन्तरन्यासां प्रसवैकभूः।
द्वितीयां च तृतीयां च भूमिकां प्राप्नुयात्ततः ॥28॥

इस प्रकार क्रमयोग से महात्माओं के सत्संग द्वारा, "मैं कर्ता नहीं हूँ, ईश्वर ही कर्ता है, अथवा मेरा कोई पहले का कर्म ही कर्ता होगा"—इस प्रकार से समस्त विचारों और शब्द और अर्थ की भावनाओं को छोड़कर जो मौन (समनस्क इन्द्रियों का संयम), आसन (आन्तरिक स्थिति) तथा शान्तभाव (बाहरी भावों की विस्मृति) होती है, वही दूसरा 'श्रेष्ठ असंसर्ग' कहा जाता है। पहली भूमिका तो अन्तःकरण को संतोष और आनन्द देने वाली होती है। वह भूमि में अमृत के छोटे अंकुर के फूटने जैसी होती है। उसके प्रस्फुटित होते ही शेष भूमिकाओं के लिए चित्त तैयार हो जाता है। इसके बाद (तुरन्त ही) दूसरी और तीसरी भूमिकाएँ आती हैं।

श्रेष्ठा सर्वगता ह्येषा तृतीया भूमिकाऽत्र हि।
भवति प्रोज्झिताशेषसंकल्पकलनः पुमान् ॥29॥
भूमिकात्रितयाभ्यासादज्ञाने क्षयमागते।
समं सर्वत्र पश्यन्ति चतुर्थीं भूमिकां गताः ॥30॥
अद्वैते स्थैर्यमायाते द्वैते च प्रशमं गते।
पश्यन्ति स्वप्नवल्लोकं चतुर्थीं भूमिकां गताः ॥31॥

इनमें तीसरी भूमिका श्रेष्ठ और सबसे आगे मानी गई है, क्योंकि इसमें रहने वाला साधक अपनी समग्र संकल्पों की वृत्तियों को छोड़ देता है। और जब इन तीन भूमिकाओं के अभ्यास करने से अज्ञान क्षीण हो जाता है, तब चौथी भूमिका में पहुँचे हुए मनुष्य सर्वत्र समभाव से देखते हैं। इस चौथी भूमिका में पहुँचे हुए साधक लोग अद्वैत भावना के स्थिर हो जाने पर इस समग्र लोक को स्वप्न की तरह ही देखते हैं।

भूमिकात्रितयं जाग्रच्चतुर्थी स्वप्न उच्यते।
चित्तं तु शरदभ्रांशविलयं प्रविलीयते ॥32॥
सत्त्वाऽवशेष एवास्ते पञ्चमीं भूमिकां गतः।
जगाद्विकल्पो नोदेति चित्तस्यात्र विलापनात् ॥33॥

पञ्चमीं भूमिकामेत्य सुषुप्तपदनामिकाम्।
शान्ताशेषविशेषांशस्तिष्ठत्यद्वैतमात्रकः ॥34॥
गलितद्वैतनिर्भासो मुदितोऽन्तःप्रबोधवान्।
सुषुप्तघन एवास्ते पञ्चमीं भूमिकां गतः ॥35॥

इन भूमिकाओं में पहली तीन अवस्थाएँ जाग्रत्रूप हैं और चौथी भूमिका स्वप्नरूप कही गई है। साधक जब पाँचवीं भूमिका में पहुँचता है, तो उस अवस्था में चित्त शरद् ऋतु के बादलों के अंशों की तरह विलीन हो जाता है और तब केवल सत्त्व का अंशमात्र ही शेष रह जाता है। इस अवस्था में चित्त का विलय ही हो जाता है इसलिए जगत् सम्बन्धी कोई विकल्प रहता ही नहीं है। इस पंचमी भूमिका में साधक के सभी विशेषों की शान्ति (शमन) हो जाती है और वह केवल अद्वैतमात्र के रूप में ही अवस्थित रहता है, यह भूमिका सुषुप्तिरूप है। इसमें पहुँचे हुए साधक का द्वैत का निर्भास गलित हो जाता है (द्वैतदर्शन ही समाप्त हो जाता है)। भीतर में ज्ञान होता है और वह अपने अंतस् में ही मुदित एवं घन (गाढ़) सुषुप्ति में रहता है।

अन्तर्मुखतया तिष्ठन् बहिर्वृत्तिपरोऽपि सन्।
परिश्रान्ततया नित्यं निद्रालुरिव लक्ष्यते ॥36॥
कुर्वन्नभ्यासमेतस्यां भूमिकायां विवासनः।
षष्ठीं तुर्याभिधामन्यां क्रमात् पतति भूमिकाम् ॥37॥
यत्र नासन्न सद्रूपो नाहं नाप्यनहंकृतिः।
केवलं क्षीणमनन आस्तेऽद्वैतेऽतिनिर्भयः ॥38॥
निर्ग्रन्थिः शान्तसंदेहो जीवन्मुक्तो विभावनः।
अनिर्वाणोऽपि निर्वाणश्चित्रदीप इव स्थितः ॥39॥
षष्ठ्यां भूमावसौ स्थित्वा सप्तमीं भूमिमाप्नुयात्।
विदेह मुक्तताऽत्रोक्ता सप्तमी योगभूमिका ॥40॥

वह बाह्य व्यवहारों को करते हुए भी अन्तर्मुख ही रहता है। वह सभी समय थका हुआ-सा तथा तंद्रिल अवस्था में रहा हो, ऐसा ही दिखाई पड़ता है। वासनारहित होकर इस भूमिका का अभ्यास करते-करते वह छठी तुर्या नाम की भूमिका में क्रमशः पहुँच जाता है। इस अवस्था में सत् नहीं होता, असत् भी नहीं होता, अहंभाव नहीं होता, अहंभाव का अभाव भी नहीं होता। मननवृत्ति भी नहीं होती। वह केवल-अद्वैत में ही अतिनिर्भीक होकर रहता है। वह ग्रन्थिरहित हो जाता है, उसके सारे संदेह मिट गए होते हैं, वह जीवन्मुक्त होता है, उसमें कोई भी भावना नहीं होती। चित्र में आलिखित दीपक की भाँति वह निर्वाण को प्राप्त न होने पर भी निर्वाण को प्राप्त हुआ हो जाता है। इस प्रकार की छठी भूमिका में रहकर साधक फिर सप्तमी भूमिका में पहुँच जाता है। यह सातवीं भूमिका विदेहमुक्त की स्थिति होती है।

अगम्या वचसां शान्ता सा सीमा सर्वभूमिषु।
लोकानुवर्तनं त्यक्त्वा त्यक्त्वा देहानुवर्तनम् ॥41॥
शास्त्रानुवर्तनं त्यक्त्वा स्वाध्यासापनयं कुरु।
ओंकारमात्रमखिलं विश्वप्राज्ञादिलक्षणम् ॥42॥
वाच्यवाचकताऽभेदात् भेदेनानुपलब्धितः।
अकारमात्रं विश्वः स्यादुकारस्तैजसः स्मृतः ॥43॥

प्राज्ञो मकार इत्येवं परिपश्येत् क्रमेण तु।
समाधिकालात् प्रागेव विचिन्त्यातिप्रयत्नतः ॥44॥

सभी भूमिकाओं में यह सातवीं भूमिका वाणी से अवर्णनीय है, वह शान्तावस्था है। सभी भूमिकाओं की यह सीमा है। तुम लोकाचार, देहाचार, शास्त्राचार—इन सबको छोड़कर अपने सारे अध्यास को दूर ही कर दो। विश्व, तैजस और प्राज्ञ के रूप में यह सारा जगत् ओंकारमय ही है। वाच्य पदार्थ और वाचक शब्द में अभेद ही रहता है। और भेद होने पर उसकी कोई उपलब्धि नहीं होती। इस ओंकार का स्वरूप इस प्रकार है—इसमें स्थित 'अकार' विश्व है, 'उकार' तैजस है तथा 'मकार' प्राज्ञ है, ऐसा क्रम से देखना चाहिए। समाधिकाल से पहले ही इस प्रकार बहुत प्रयत्नपूर्वक मननचिन्तन करना चाहिए। (और उसके बाद—)

स्थूलसूक्ष्मक्रमात् सर्वं चिदात्मनि विलापयेत्।
चिदात्मानं नित्यशुद्धबुद्धमुक्तसदद्वयः ॥45॥
परमानन्दसन्दोहो वासुदेवोऽहमोमिति।
आदिमध्यावसानेषु दुःखं सर्वमिदं यतः ॥46॥
तस्मात् सर्वं परित्यज्य तत्त्वनिष्ठो भवानघ।
अविद्यातिमिरातीतं सर्वाभासविवर्जितम् ॥47॥
आनन्दममलं शुद्धं मनोवाचामगोचरम्।
प्रज्ञानघनमानन्दं ब्रह्मास्मीति विभावयेत् ॥48॥ इत्युपनिषत्।

इति द्वितीयः खण्डः।

इत्यक्ष्युपनिषत्समाप्ता।
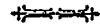
स्थूल और सूक्ष्म—सबको क्रमशः चिदात्मा में विलीन कर देना चाहिए। चिदात्मा के निजी स्वरूप को स्वीकार करते हुए ऐसा दृढ़ विश्वास करना चाहिए कि मैं शुद्ध, बुद्ध, नित्य, मुक्त, सत् और अद्वैतरूप ही हूँ। मैं वासुदेव तथा परमात्म सन्दोहरूप ओंकार ही हूँ। क्योंकि यह प्रपंच तो आदि, मध्य और अन्त में केवल दुःख ही देने वाला है। इसलिए हे निष्पाप, तुम सबको छोड़कर तत्त्वनिष्ठ ही हो जाओ। तुम ऐसी ही भावना करो कि—"मैं अज्ञानान्धकार से परे हूँ, मैं सभी प्रकार के आभासों से रहित हूँ, मैं आनन्दरूप, शुद्ध, निर्मल, मन-वाणी से अगम्य, प्रज्ञानघन आनन्दरूप ब्रह्म ही हूँ", यही उपनिषद् है।

यहाँ द्वितीय खण्ड पूरा हुआ।

इस प्रकार अक्ष्युपनिषत् समाप्त होती है।

शान्तिपाठः

ॐ सह नाववतु। सह नौ— मा विद्विषावहै। (पूर्ववत्)
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

(75) अध्यात्मोपनिषत्

(उपनिषत्परिचय)

यह उपनिषत् शुक्लयजुर्वेद की परंपरा की है। इसमें आत्मसाक्षात्कार का विषय प्रतिपादित है। आत्मतत्त्व के सर्वव्यापक होने पर भी सभी प्राणी उसे नहीं जानते। इसे जानने के लिए महावाक्यों के द्वारा इसमें निर्देशित किया गया है। शारीरिक विकारों से ऊपर उठकर आत्मसाधना में रत रहने का इसमें निर्देश दिया गया है। तीनों अवस्थाओं से ऊपर उठकर निर्विकल्प समाधि के द्वारा परमतत्त्व को पहचान लेने की तथा उस तत्त्व में एकरस हो जाने की बात इसमें कही गई है। इस निर्विकल्प समाधि की दशा को 'धर्ममेघ' कहकर उसी में सभी वृत्तियों को लीन करके मुक्ति अवस्था को प्राप्त करने के लिए सूचना दी गई है। जीवन्मुक्त की दशा को समझाते हुए कहा गया है कि इस अवस्था में प्रारब्ध कर्मों का क्षय हो जाता है और साथ में यह भी स्पष्ट कर दिया गया है कि निर्विकल्प समाधि प्राप्त करने के पहले प्रारब्ध कर्मों का फल अवश्य ही भोगना पड़ता है। ये प्रारब्ध कर्म केवल इन्द्रियाभिमानियों को ही बन्धनकारी होते हैं। गुरु और शास्त्रों का अनुसरण करते हुए शिष्य की जब ऐसी उच्चतम अवस्था होती है, तब उसकी क्या फलश्रुति होती है, यह बताते हुए इस उपनिषत् की शिष्य-परंपरा भी अन्त में बताई है।

शान्तिपाठः

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं.......पूर्णमेवावशिष्यते। (पूर्ववत्)
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

इसका हिन्दी रूपान्तर पूर्व में (पैंगलोपनिषद् में) द्रष्टव्य है।

अन्तःशरीरे निहितो गुहायामज एको नित्यमस्य पृथिवी शरीरं यः पृथिवीमन्तरे सञ्चरन् यं पृथिवी न वेद। यस्यापःशरीरं योऽपोऽन्तरे सञ्चरन् यमापो न विदुः। यस्य तेजः शरीरं यस्तेजोऽन्तरे सञ्चरन् यं तेजो न वेद। यस्य वायुः शरीरं यो वायुमन्तरे सञ्चरन् यं वायुर्न वेद। यस्याकाशः शरीरं य आकाशमन्तरे सञ्चरन् यमाकाशो न वेद। यस्य मनः शरीरं यो मनोऽन्तरे सञ्चरन् यं मनो न वेद। यस्य बुद्धिः शरीरं यो बुद्धिमन्तरे सञ्चरन् यं बुद्धिर्न वेद। यस्याहङ्कारः शरीरं योऽहङ्कारमन्तरे सञ्चरन् यमहङ्कारो न वेद। यस्य चित्तं शरीरं यश्चित्तमन्तरे सञ्चरन् यं चित्तं न वेद। यस्याव्यक्तं शरीरं योऽव्यक्तमन्तरे सञ्चरन् यमव्यक्तं न वेद। यस्याक्षरं शरीरं योऽक्षरमन्तरे सञ्चरन् यमक्षरं न वेद। यस्य मृत्युः शरीरं यो मृत्युमन्तरे सञ्चरन् यं मृत्युर्न वेद। स एष सर्वभूतान्तरात्मा-ऽपहतपाप्मा दिव्यो देव एको नारायणः ॥

अहं ममेति यो भावो देहाक्षादावनात्मनि ।
अध्यासोऽयं निरस्तव्यो विदुषा ब्रह्मनिष्ठया ॥1॥

शरीर के भीतर, हृदयरूपी गुफा में एक अजन्मा नित्य तत्त्व निवास करता है। पृथ्वी जिसका शरीर है, जो पृथ्वी के भीतर रहकर संचरण करता रहता है, पर पृथ्वी उसे जानती नहीं है। जल जिसका शरीर है, जो जल के भीतर संचार करता है, पर जल उसे नहीं जानता। तेज जिसका शरीर है, तेज के भीतर जो संचरण करता है पर तेज उसे नहीं जानता। वायु जिसका शरीर है, जो वायु के भीतर संचरण करता है पर वायु उसे नहीं जानता। आकाश जिसका शरीर है, जो आकाश के भीतर संचार करता रहता है, फिर भी आकाश उसे नहीं जानता। मन जिसका शरीर है, जो मन के भीतर संचरण करता है, पर मन उसे नहीं जानता। बुद्धि उसका शरीर है, जो बुद्धि के भीतर संचरण करता है, पर बुद्धि उसे नहीं जानती। अहंकार जिसका शरीर है, जो अहंकार के भीतर संचरण करता है, पर अहंकार उसे नहीं जानता। चित्त जिसका शरीर है, जो चित्त के भीतर संचरण करता है, परन्तु चित्त उसे नहीं जानता। अव्यक्त जिसका शरीर है, जो अव्यक्त के भीतर संचरण करता है, परन्तु अव्यक्त उसे नहीं जानता। अक्षर जिसका शरीर है, जो अक्षर के भीतर संचरण करता है, पर अक्षर उसे नहीं जानता। मृत्यु जिसका शरीर है, जो मृत्यु के भीतर संचरण करता है, पर मृत्यु उसे नहीं जानता। वह जो सर्वभूतों का अन्तरात्मा है, जो पापों को नष्ट करने वाला है, वह दिव्य देव एक नारायण ही है। 'मैं और मेरा'—इस प्रकार का भाव जो देह, इन्द्रियादि अनात्म वस्तुओं में होता है, यह तो एक अध्यास है (भ्रम ही है)। विद्वान् को चाहिए कि वह इसे अपनी ब्रह्मदृष्टि के द्वारा दूर ही कर दे।

ज्ञात्वा स्वं प्रत्यगात्मानं बुद्धितद्वृत्तिसाक्षिणम् ।
सोऽहमित्येव तद्वृत्त्या स्वान्यत्रात्ममतिं त्यजेत् ॥2॥

बुद्धि और बुद्धि की वृत्तियों के साक्षीरूप अपने प्रत्यक् (भीतर रहे हुए) आत्मतत्त्व को जानकर, 'मैं वही हूँ' इस प्रकार की तादात्म्य वृत्ति के द्वारा अपने आत्मा से अलग होने वाली बुद्धि को छोड़ ही देना चाहिए।

लोकानुवर्तनं त्यक्त्वा त्यक्त्वा देहानुवर्तनम् ।
शास्त्रानुवर्तनं त्यक्त्वा स्वाध्यासापनयं कुरु ॥3॥

लौकिक आचारों को, शारीरिक आचारों को तथा शास्त्रविहित आचारों (कर्मों) को छोड़कर के अपने अध्यास (भ्रम) को दूर ही कर दो। (आत्मज्ञान नहीं होने तक ही सब व्यवहार हैं, साधना के बल से ये व्यवहार क्रमशः छूटते जाते हैं)।

स्वात्मन्येव सदा स्थित्या मनो नश्यति योगिनः ।
युक्त्या श्रुत्या स्वानुभूत्या ज्ञात्वा सार्वात्म्यमात्मना ॥4॥
निद्राया लोकवार्तायाः शब्दादेरात्मविस्मृतेः ।
क्वचिन्नावसरं दत्त्वा चिन्तयात्मानमात्मनि ॥5॥
मातापित्रोर्मलोद्भूतं मलमांसमयं वपुः ।
त्यक्त्वा चण्डालवद्दूरं ब्रह्मीभूय कृती भव ॥6॥
घटाकाशं महाकाश इवात्मानं परात्मनि ।
विलाप्याखण्डभावेन तूष्णीं भव सदा मुने ॥7॥

अपने आत्मा में ही सदा स्थिर हो जाने से योगी का मन नष्ट हो जाता है। वह योगी श्रुति द्वारा, युक्तियों (तर्कों) के द्वारा और अपनी अनुभूतियों के द्वारा अपने आप ही आत्मा की सर्वात्मता को जान

लेता है। तुम अपने जीवन में निद्रा को, लोकवार्ता (किंवदन्तियों) को, शब्दादि को और आत्मविस्मृति को कभी भी अवसर न दो और अपने आत्मा के द्वारा आत्मा में ही चिन्तन किया करो। यह शरीर माता-पिता के मल से ही उत्पन्न हुआ है। इसे चण्डाल का-सा समझ कर दूर फेंक दो और ब्रह्मरूप होकर धन्य-धन्य हो जाओ। जिस प्रकार घटाकाश महाकाश में विलीन हो जाता है, उसी प्रकार तुम अपने आत्मा को परमात्मा में विलीन करके अखण्ड भाव से हे मुनि मौन ही रहो।

स्वप्रकाशमधिष्ठानं स्वयंभूय सदात्मना ।
ब्रह्माण्डमपि पिण्डाण्डं त्यज्यतां मलभाण्डवत् ॥8॥
चिदात्मनि सदानन्दे देहरूढामहंधियम् ।
निवेश्य लिङ्गमुत्सृज्य केवलो भव सर्वदा ॥9॥
यत्रैष जगदाभासो दर्पणान्तःपुरं यथा ।
तद्ब्रह्माहमिति ज्ञात्वा कृतकृत्यो भवानघ ॥10॥
अहङ्कारग्रहान्मुक्तः स्वरूपमुपपद्यते ।
चन्द्रवद्विमलः पूर्णः सदानन्दः स्वयंप्रभः ॥11॥

अपने सत् स्वरूप आत्मा के द्वारा तुम स्वप्रकाशरूप, सर्वाधिष्ठान रूप ब्रह्म स्वयं ही बनकर इस सारे ब्रह्माण्ड के पिण्डरूपी अण्डे को भी विष्टा के घड़े की तरह छोड़ ही दो। अपने देह पर सवार हुई अहंभाव की वृत्ति को तुम सदानन्दस्वरूप ऐसे उस चिदानन्द में प्रवेश कराकर और किसी भी चिह्न को छोड़कर हमेशा केवल एकमात्र ही बने रहो। जहाँ जगत् का यह आभास दिखाई पड़ता है, वह तो अन्तःपुर के दर्पण की तरह ही है (अर्थात् अन्तःकरण का ही प्रतिबिम्ब है)। इस सबको 'यह केवल ब्रह्म ही है' ऐसा मानकर तुम कृतकृत्य हो जाओ। जो मनुष्य अहंकार के ग्रह से मुक्त होता है, वह अपने निजी स्वरूप को प्राप्त हो जाता है। वह चन्द्र की तरह विमल, पूर्ण, सदानन्दमय और स्वयं-प्रकाश होता है।

क्रियानाशाद्भवेच्चिन्तानाशोऽस्माद्वासनाक्षयः ।
वासनाप्रक्षयो मोक्षः सा जीवन्मुक्तिरिष्यते ॥12॥
सर्वत्र सर्वतः सर्वब्रह्ममात्रावलोकनम् ।
सद्भावभावनादार्ढ्याद्वासनालयमश्नुते ॥13॥
प्रमादो ब्रह्मनिष्ठायां न कर्तव्यः कदाचन ।
प्रमादो मृत्युरित्याहुर्विद्यायां ब्रह्मवादिनः ॥14॥
यथाऽपकृष्टं शैवालं क्षणमात्रं न तिष्ठति ।
आवृणोति तथा माया प्राज्ञं वाऽपि पराङ्मुखम् ॥15॥

क्रिया (कर्मों) के नाश से चिन्ताओं का नाश हो जाता है और चिन्ताओं के नाश से वासनाओं का क्षय हो जाता है। और जो मोक्ष है वह वासनाओं का प्रकृष्ट (निःशेष) क्षयरूप ही है। वही जीवन्मुक्ति भी कही जाती है। सभी स्थानों में चारों ओर जो सर्वव्यापक ब्रह्मतत्त्व को ही देखता है, वह सत् रूप की भावना का दृढ़ीकरण करने से वासनाओं के क्षय को उत्पन्न करता है। इस ब्रह्मनिष्ठा में कभी भी प्रमाद नहीं करना चाहिए। ब्रह्मवादियों ने ब्रह्मनिष्ठा में प्रमाद करने को मृत्यु कहा है। जिस प्रकार खींचा गया शैवाल एक क्षणमात्र भी टिकता नहीं है, उसी प्रकार बुद्धिमान मनुष्य यदि ब्रह्मनिष्ठा से थोड़ा भी हट जाता है, तो माया उसे तुरन्त ही आवृत कर देती है।

जीवतो यस्य कैवल्यं विदेहोऽपि स केवलः ।
समाधिनिष्ठतामेत्य निर्विकल्पो भवानघ ॥16॥
अज्ञानहृदयग्रन्थेर्निःशेषविलयस्तदा ।
समाधिनाऽविकल्पेन यदाऽद्वैतात्मदर्शनम् ॥17॥
अत्रात्मत्वं दृढीकुर्वन्नहमादिषु सन्त्यजन् ।
उदासीनतया तेषु तिष्ठेद्घटपटादिवत् ॥18॥
ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्तं मृषामात्रा उपाधयः ।
ततः पूर्णं स्वमात्मानं पश्येदेकात्मना स्थितम् ॥19॥

जीवित अवस्था में ही जिसको कैवल्य प्राप्त हो गया है, वह देहान्त के बाद भी मुक्त ही है। इसलिए हे अनघ! तुम समाधिनिष्ठता को प्राप्त करके निर्विकल्प ही हो जाओ। ऐसा होने पर तुम्हारे अज्ञान के द्वारा हृदय में जो ग्रन्थि थी, उसका विलय हो जाएगा। जब निर्विकल्प समाधि के द्वारा तुम्हें अद्वैत का आत्मदर्शन होगा, तब ऐसा होगा। इसी में आत्मा को दृढीभूत करके, अहमादि का परित्याग करके उनमें घट-पट आदि की तरह उदासीनता की ही भावना रखो। ब्रह्म से लेकर स्थाणुपर्यन्त सब केवल वृथा ही हैं, वे उपाधिमात्र ही हैं। इसलिए अपने आत्मा द्वारा अपने ही पूर्ण आत्मा को अवस्थित जान लेना (देख लेना) चाहिए।

स्वयं ब्रह्मा स्वयं विष्णुः स्वयमिन्द्रः स्वयं शिवः ।
स्वयं विश्वमिदं सर्वं स्वस्मादन्यन्न किञ्चन ॥20॥
स्वात्मन्यारोपिताशेषाभासवस्तुनिरासतः ।
स्वयमेव परं ब्रह्म पूर्णमद्वयमक्रियम् ॥21॥
असत्कल्पो विकल्पोऽयं विश्वमित्येकवस्तुनि ।
निर्विकारे निराकारे निर्विशेषे भिदा कुतः ॥22॥
द्रष्टृदर्शनदृश्यादिभावशून्ये निरामये ।
कल्पार्णव इवात्यन्तं परिपूर्णे चिदात्मनि ॥23॥
तेजसीव तमो यत्र विलीनं भ्रान्तिकारणम् ।
अद्वितीये परे तत्त्वे निर्विशेषे भिदा कुतः ॥24॥

यह आत्मा ही स्वयं ब्रह्मा है, यही स्वयं विष्णु है, यही स्वयं इन्द्र है और शिव है। सारा विश्व भी यही आत्मा है। इससे अतिरिक्त और कुछ है ही नहीं। इस आत्मा में आरोपित किए गए सभी पदार्थों के निरास कर देने से अद्वितीय पूर्ण, स्वयं ब्रह्म ही निष्क्रिय (शान्त) रूप से अवशिष्ट रहेगा। यह जो विश्व दीखता है, वह तो एक असत् के समान विकल्प (भेद) ही है, एक ही ब्रह्म में वह आरोपित भेद है, शेष तो निराकार, निर्विशेष और निर्विकार ब्रह्म में भेद भला कैसे हो सकता है? द्रष्टा, दृश्य और दर्शन के भाव से शून्य और निष्कलंक, कल्पसरोवर की तरह अत्यन्त परिपूर्ण चिदात्मा, जिसमें जैसे तेज में अन्धकार विलीन हो जाता है वैसे ही सब कुछ विलीन हो जाता है, जो भ्रम (विश्वभ्रम) का कारण (अधिष्ठान और उपादान) है, ऐसे अद्वितीय, निर्विशेष परमतत्त्व में भेद कैसे हो सकता है?

एकात्मके परे तत्त्वे भेदकर्ता कथं वसेत् ।
सुषुप्तौ सुखमात्रायां भेदः केनाऽवलोकितः ॥25॥
चित्तमूलो विकल्पोऽयं चित्ताभावे न कश्चन ।
अतश्चित्तं समाधेहि प्रत्यग्रूपे परात्मनि ॥26॥

अखण्डानन्दमात्मानं विज्ञाय स्वस्वरूपतः ।
बहिरन्तः सदानन्दरसास्वादनमात्मनि ॥27॥
वैराग्यस्य फलं बोधो बोधस्योपरतिः फलम् ।
स्वानन्दानुभवाच्छान्तिरेषैवोपरतेः फलम् ॥28॥

एकात्मक परमतत्त्व में भेदकर्ता भला कैसे रह सकता है? केवल सुखमात्रमय सुषुप्ति में किसी ने भेद को देखा है क्या? इस सब भेदभाव का मूल तो चित्त ही है। चित्त के अभाव में कोई भेदभाव नहीं होता। इसलिए चित्त को प्रत्यक् रूप परमात्मा में स्थिर कर दो। अखण्डानन्दरूप परम आत्मा को अपने ही स्वरूप में पहचानकर, बाहर और भीतर सदा आनन्द रस का आस्वादन भी आत्मा में ही करो। वैराग्य का फल ज्ञान है, ज्ञान का फल उपरति है, और उपरति का फल आत्मानुभव से (आत्मानुभव के आनंद से) प्राप्त होने वाली शान्ति है।

यद्युत्तरोत्तराभावे पूर्वपूर्वं तु निष्फलम् ।
निवृत्तिः परमा तृप्तिरानन्दोऽनुपमः स्वतः ॥29॥
मायोपाधिर्जगद्योनिः सर्वज्ञत्वादिलक्षणः ।
पारोक्ष्यशबलः सत्याद्यात्मकस्तत्पदाभिधः ॥30॥
आलम्बनतया भाति योऽस्मत्प्रत्ययशब्दयोः ।
अन्तःकरणसम्भिन्नबोधः स त्वम्पदाभिधः ॥31॥
मायाऽविद्ये विहायैव उपाधी परजीवयोः ।
अखण्डं सच्चिदानन्दं परं ब्रह्म विलक्ष्यते ॥32॥

उत्तरोत्तर वस्तुओं के अभाव में अर्थात् उत्तर की वस्तु अपने से पूर्व की वस्तु को निष्फल कर देती है अथवा उत्तर वस्तु के आ जाने से पहली वस्तु का कोई मूल्य नहीं रहता। इसलिए निवृत्ति ही परम परितोष है, परम आनन्द है और वह स्वयंभू और अनुपम है। मायोपाधिक चैतन्य ही जगत् का कारण है और वह सर्वज्ञत्व आदि लक्षणों से युक्त है। वह परोक्षता से शबलित है और वह सत्य आदि स्वरूप वाला है। वही 'तत्त्वमसि' महावाक्य के 'तत्' पद का वाचक है। जो अस्मत् (मैं) शब्द और अर्थ के आलम्बनरूप में अन्तःकरण से भिन्न रूप में मालूम पड़ता है, वह उसी महावाक्य के 'त्वं' पद का वाचक है। परमतत्त्व की माया की तथा जीव की अविद्या की उपाधियों को छोड़कर ही अखण्ड परब्रह्म की लक्षणा की जाती है।

इत्थं वाक्यैस्तदर्थानुसन्धानं श्रवणं भवेत् ।
युक्त्या सम्भावितत्वानुसन्धानं मननं तु तत् ॥33॥
ताभ्यां निर्विचिकित्सेऽर्थे चेतसः स्थापितस्य तत् ।
एकतानत्वमेतद्धि निदिध्यासनमुच्यते ॥34॥
ध्यातृध्याने परित्यज्य क्रमाद्ध्येयैकगोचरम् ।
निवातदीपवच्चित्तं समाधिरभिधीयते ॥35॥
वृत्तयस्तु तदानीमप्यज्ञाता आत्मगोचराः ।
स्मरणादनुमीयन्ते व्युत्थितस्य समुत्थिताः ॥36॥

इस प्रकार वाक्यों से ऐसा अनुसन्धान करना 'श्रवण' कहलाता है। और युक्तियों (तर्कों) से उस अर्थ की संभाविता का अनुसन्धान करना 'मनन' कहलाता है। उन दोनों से निश्चित किए गए अर्थ पर चित्त को स्थापित करके एकतानता (एकाग्रता) करना 'निदिध्यासन' कहलाता है। ध्याता और ध्यान का

विचार छोड़कर धीरे-धीरे चित्त वायुहीन प्रदेश में रखे गए दीपक की तरह केवल ध्येयमात्र को जब गोचर (विषय) करता हो, तब उसे समाधि कहा जाता है। वृत्तियाँ तो तब भी होती हैं, पर वे अज्ञात होती हैं और आत्मविषयक होती हैं। वे वृत्तियाँ अनुमान से जानी जाती हैं क्योंकि समाधि से उठे हुए योगी को उनका स्मरण तो होता है। (स्मरणरूपी हेतु से वृत्तियों का अनुमान होता है।)

अनादाविह संसारे संचिताः कर्मकोटयः।
अनेन विलयं यान्ति शुद्धो धर्मोऽभिवर्धते ॥37॥
धर्ममेघमिमं प्राहुः समाधिं योगवित्तमाः।
वर्षत्येष यथा धर्मामृतधाराः सहस्रशः ॥38॥
अमुना वासनाजाले निःशेषं प्रविलापिते।
समूलोन्मूलिते पुण्यपापाख्ये कर्मसञ्चये ॥39॥
वाक्यमप्रतिबद्धं सत् प्राक् परोक्षावभासते।
करामलकवद्बोधमपरोक्षं प्रसूयते ॥40॥

इस समाधि के द्वारा इस अनादि संसार में एकत्र हुई कर्म कोटियाँ विलीन हो जाती हैं और शुद्ध धर्म की वृद्धि होती है। योग को अच्छी तरह जानने वालों ने इस समाधि को 'धर्ममेघ' नाम दिया है। क्योंकि यह समाधि हजारों धर्मामृत की धाराएँ बरसाती है। जब इसके द्वारा वासनाओं का जाल पूर्णरूप से विलुप्त किया जाता है, और जब पुण्य और पापरूप कर्मों का संचय मूलसहित उखाड़ दिया जाता है, तब पहले तत्त्वमस्यादि वाक्यों के द्वारा परोक्ष रूप से अवभासित तत्त्व में वाक्य प्रतिबद्ध (आवरण) रहित हो जाता है और हाथ में आँवले के फल की भाँति अपरोक्ष बोध उत्पन्न कर देता है।

वासनाऽनुदयो भोग्ये वैराग्यस्य तदाऽवधिः।
अहंभावोदयाभावो बोधस्य परमावधिः ॥41॥
लीनवृत्तेरनुत्पत्तिर्मर्यादोपरतेस्तु सा।
स्थितप्रज्ञो यतिरयं यः सदानन्दमश्नुते ॥42॥
ब्रह्मण्येव विलीनात्मा निर्विकारो विनिष्क्रियः।
ब्रह्मात्मनोः शोधितयोरेकभावावगाहिनी ॥43॥
निर्विकल्पा च चिन्मात्रा वृत्तिः प्रज्ञेति कथ्यते।
सा सर्वदा भवेद्यस्य स जीवन्मुक्त इष्यते ॥44॥

वासनाओं का उदय ही न होना, यह वैराग्य की सीमा है और अहंभाव का उदय न होना, यह ज्ञान की चरम सीमा है। लीन हुई वृत्तियों का फिर से उदय न होना ही उपरति की सीमा है। इस तरह स्थितप्रज्ञ मुनि सदा आनन्द को भोगता है। उसका आत्मा ब्रह्म में ही विलीन हो गया है, वह निर्विकारी और विनिष्क्रिय हो जाता है। ब्रह्म और आत्मा के एकत्व के अनुसन्धान में लीन हुई वृत्ति जब किसी विकल्प से रहित और केवल चैतन्यरूप ही बन जाती है तब उसे 'प्रज्ञा' कहा जाता है। जिसमें यह प्रज्ञा सदा विद्यमान रहती है वह जीवन्मुक्त कहलाता है।

देहेन्द्रियेष्वहंभाव इदंभावस्तदन्यके।
यस्य नो भवतः क्वापि स जीवन्मुक्त इष्यते ॥45॥
न प्रत्यग्ब्रह्मणोर्भेदं कदाऽपि ब्रह्मसर्गयोः।
प्रज्ञया यो विजानाति स जीवन्मुक्त इष्यते ॥46॥

साधुभिः पूज्यमानेऽस्मिन् पीड्यमानेऽपि दुर्जनैः।
समभावो भवेद्यस्य स जीवन्मुक्त इष्यते ॥47॥
विज्ञातब्रह्मतत्त्वस्य यथापूर्वं न संसृतिः।
अस्ति चेन्न स विज्ञातब्रह्मभावो बहिर्मुखः ॥48॥

देह इन्द्रियादि में जिसको अहंभाव नहीं होता और उनसे अतिरिक्त पदार्थों में जिसको 'इदंभाव' (परभाव) कहीं भी नहीं होता, वह जीवन्मुक्त कहलाता है। एक ही ब्रह्म से उत्पन्न हुए प्रत्यगात्मा और ब्रह्म—इन दोनों के बीच जो अपनी प्रज्ञा के द्वारा कभी भी भेद नहीं मानता, वह जीवन्मुक्त कहलाता है। जो मनुष्य साधुओं के द्वारा पूजित होने पर अथवा दुर्जनों के द्वारा पीड़ित किए जाने पर भी दोनों में एक समान भाव ही रखता हो, वह जीवन्मुक्त कहलाता है। जिसने ब्रह्मतत्त्व को जान लिया है, उसके लिए यह सृष्टि पहले जैसी नहीं होती। यदि संसार उसे पहले की भाँति ही मालूम होता हो, तो वह ब्रह्मतत्त्व का विज्ञाता नहीं है, अपितु केवल बहिर्मुख है—ऐसा समझना चाहिए।

सुखाद्यनुभवो यावत् तावत् प्रारब्धमिष्यते।
फलोदयः क्रियापूर्वो निष्क्रियो न हि कुत्रचित् ॥49॥
अहं ब्रह्मेति विज्ञानात् कल्पकोटिशतार्जितम्।
सञ्चितं विलयं याति प्रबोधात् स्वप्नकर्मवत् ॥50॥
स्वमसङ्गमुदासीनं परिज्ञाय नभो यथा।
न श्लिष्यते यतिः किञ्चित् कदाचिद्भाविकर्मभिः ॥51॥
न नभो घटयोगेन सुरागन्धेन लिप्यते।
तथाऽऽत्मोपाधियोगेन तद्धर्मैर्नैव लिप्यते ॥52॥

सुखादि का जो अनुभव होता है, वह किसी प्रारब्ध कर्म का ही फल है, ऐसा मानना चाहिए, क्योंकि जो फल का उदय होता है, उसके पहले कोई न कोई कर्म अवश्य ही होता है, बिना कर्म किए तो कोई फल उत्पन्न ही नहीं होता। 'मैं ब्रह्म हूँ'—इस ज्ञान से करोड़ों कल्पों से संचित किया गया कर्म-समूह विलीन हो जाता है। जैसे जागने पर स्वप्न विलीन हो जाता है, वैसे ही ब्रह्मबोध होने पर ऐसा कर्मनाश (संचितकर्मनाश) हो जाता है। अपने आपको असंग और उदासीन जानकर योगी आकाश की तरह भावी कर्मों के साथ कदापि थोड़ा-सा भी लिप्त नहीं होता। आकाश घड़े के संयोग होने पर घड़े में रही हुई मदिरा से थोड़ा भी लिप्त नहीं होता, उसी प्रकार आत्मा भी उपाधि के योग से उपाधि के धर्मवाला नहीं हो जाता। उपाधि के धर्म से लिप्त नहीं होता।

ज्ञानोदयात् पुराऽऽरब्धं कर्म ज्ञानान्न नश्यति।
अदत्त्वा स्वफलं लक्ष्यमुद्दिश्योत्सृष्टबाणवत् ॥53॥
व्याघ्रबुद्ध्या विनिर्मुक्तो बाणः पश्चात्तु गोमतौ।
न तिष्ठति भिनत्त्येव लक्ष्यं वेगेन निर्भरम् ॥54॥
अजरोऽस्म्यमरोऽस्मीति य आत्मानं प्रपद्यते।
तदात्मना तिष्ठतोऽस्य कुतः प्रारब्धकल्पना ॥55॥
प्रारब्धं सिध्यति तदा यदा देहात्मना स्थितिः।
देहात्मभावो नैवेष्टः प्रारब्धं त्यज्यतामतः ॥56॥

ज्ञान के उदय से पहले आरंभ किया हुआ कर्म ज्ञान से नष्ट नहीं किया जा सकता। वह अपने फल को दिये बिना नष्ट नहीं हो सकता। वह जैसे लक्ष्य को उद्दिष्ट करके बाण फेंका गया हो, ऐसा

होता है। 'यह बाघ है' ऐसा मानकर उसे लक्ष्य करके छोड़ा गया बाण बाद में 'यह तो बाघ नहीं, गाय है'—ऐसा समझ में आने पर भी वह छोड़ा गया बाण तो रुकेगा ही नहीं, वह तो वेग से जाकर अपने लक्ष्य को भेदेगा ही। 'मैं अजर हूँ, मैं अमर हूँ'—इस प्रकार जो आत्मा को जानता है और अपने आपको उसी स्वरूप में अवस्थित रखने वाले योगी को प्रारब्ध की क्या कल्पना या विचार हो सकता है ? प्रारब्ध की सिद्धि तो तभी होती है, जब देह को आत्मा मानने की स्थिति होती है। और देह को आत्मा मान लेना तो इष्ट (योग्य) है ही नहीं। इसलिए प्रारब्ध को तो छोड़ ही दो।

प्रारब्धकल्पनाऽप्यस्य देहस्य भ्रान्तिरेव हि ॥57॥
अध्यस्तस्य कुतस्तत्त्वमसत्यस्य कुतो जनिः।
अजातस्य कुतो नाशः प्रारब्धमसतः कुतः ॥58॥
ज्ञानेनाज्ञानकार्यस्य समूलस्य लयो यदि।
तिष्ठत्ययं कथं देह इति शङ्कावतो जडान् ॥59॥
समाधातुं बाह्यदृष्ट्या प्रारब्धं वदति श्रुतिः।
न तु देहादिसत्यत्वबोधनाय विपश्चिताम् ॥60॥

और इस देह में प्रारब्ध की सिद्धिकल्पना भी तो एक भ्रान्ति ही है। अध्यस्त पदार्थ की यथार्थता ही कहाँ है ? और असत्य का जन्म ही कैसे हो सकता है ? और जो जन्मा ही नहीं है उनका नाश भी तो कैसे हो सकता है ? और असत् का प्रारब्ध कैसे हो सकता है ? "यदि ज्ञान से अज्ञान के कार्यों का समूल नाश हो जाता है, तो यह अज्ञानजन्य देह कैसे अस्तित्व रख सकता है ?" इस प्रकार की शंका करने वाले जड़ पुरुषों के समाधान के लिए ही केवल बाह्य दृष्टि से ही श्रुति ने प्रारब्ध की बात कही है। यह बात श्रुति ने देहादि की सत्यता प्रतिपादित करने के लिए नहीं कही है। यह बात ज्ञानियों के लिए नहीं है। ब्रह्म तो एक ही है।

परिपूर्णमनाद्यन्तमप्रमेयमविक्रियम्।
सद्घनं चिद्घनं नित्यमानन्दघनमव्ययम् ॥61॥
प्रत्यगेकरसं पूर्णमनन्तं सर्वतोमुखम्।
अहेयमनुपादेयमनाधेयमनाश्रयम् ॥62॥
निर्गुणं निष्क्रियं सूक्ष्मं निर्विकल्पं निरञ्जनम्।
अनिरूप्यस्वरूपं यन्मनोवाचामगोचरम् ॥63॥
सत्समृद्धं स्वतःसिद्धं शुद्धं बुद्धमनीदृशम्।
एकमेवाद्वयं ब्रह्म नेह नानाऽस्ति किञ्चन ॥64॥
स्वानुभूत्या स्वयं ज्ञात्वा स्वमात्मानमखण्डितम्।
स सिद्धः सुसुखं तिष्ठन् निर्विकल्पात्मनाऽऽत्मनि ॥65॥

वह (ब्रह्म) परिपूर्ण, अनादि, अनन्त, अप्रमेय, अविकारी और सघन सद्रूप, सघन चिद्रूप, सदा सघन आनन्दरूप, अव्यय, प्रत्यग् (भीतर अनुस्यूत), एकरस, पूर्ण, अनन्त, सर्वतोमुख, अत्याज्य और अग्राह्य भी, किसी का अवलम्बन न करने वाला, किसी का आश्रय न लेने वाला, गुणरहित, क्रियारहित, सूक्ष्म, विकल्परहित, निर्दोष (निष्कलंक), जिसका स्वरूप निरूपित न किया जा सके ऐसा, और जो मन और वाणी का विषय नहीं हो सकता है, ऐसा है। जो सत् है, समृद्ध है, स्वतःसिद्ध है, शुद्ध और बुद्ध है, जो अतुलनीय है, एक अद्वैत ब्रह्म ही है। यहाँ कुछ भी अलग है ही नहीं। ऐसे ब्रह्म को अपनी ही अनुभूति से आप ही अपने आत्मा को अखण्डित जानकर ज्ञानी मनुष्य सिद्ध हो जाता है। तुम ऐसे ही सिद्ध पुरुष बन जाओ और निर्विकल्परूप आत्मा से अपने आत्मा में बहुत ही सुखपूर्वक रहो।

क्व गतं केन वा नीतं कुत्र लीनमिदं जगत्।
अधुनैव मया दृष्टं नास्ति किं महदद्भुतम् ॥66॥
किं हेयं किमुपादेयं किमन्यत् किं विलक्षणम्।
अखण्डानन्दपीयूषपूर्णब्रह्ममहार्णवे ॥67॥
न किञ्चिदत्र पश्यामि न शृणोमि न वेद्म्यहम्।
स्वात्मनैव सदानन्दरूपेणास्मि स्वलक्षणः ॥68॥
असङ्गोऽहमनङ्गोऽहमलिङ्गोऽहमहं हरिः।
प्रशान्तोऽहमनन्तोऽहं परिपूर्णश्चिरन्तनः ॥69॥

यह जगत् कहाँ गया ? कौन इसे ले गया ? यह कहाँ लीन हो गया ? मैं तो अभी उसे देख रहा था, वह चला गया ! यह तो बड़ी विचित्र (अद्भुत) बात है ! इस अखण्ड ब्रह्मरूपी अमृत से भरे हुए महासागर में छोड़नेयोग्य या ग्रहण करने के योग्य हो ही क्या सकता है ? यहाँ पराया है ही क्या ? यहाँ विलक्षण है ही क्या ? मैं तो यहाँ और कुछ देखता ही नहीं हूँ, सुनता ही नहीं हूँ, जानता भी नहीं हूँ, मैं तो सदानन्दरूप आत्मा के द्वारा ही स्वलक्षण बना हुआ हूँ। मैं संगरहित हूँ, अंगरहित हूँ, लिंगरहित हूँ, मैं हरि हूँ, मैं प्रशान्त हूँ, अनन्त हूँ, परिपूर्ण हूँ, और मैं प्राचीन से भी प्राचीन हूँ।

अकर्ताऽहमभोक्ताऽहमविकारोऽहमव्ययः।
शुद्धबोधस्वरूपोऽहं केवलोऽहं सदाशिवः ॥70॥

मैं अकर्ता हूँ, मैं अभोक्ता हूँ, मैं अविकारी हूँ, अव्यय हूँ, शुद्ध हूँ, ज्ञानस्वरूप हूँ, और मैं केवल सदाशिव हूँ।

एतां विद्यामपान्तरतमाय ददौ। अपान्तरतमो ब्रह्मणे ददौ। ब्रह्मा घोराङ्गिरसे ददौ। घोराङ्गिरा रैक्वाय ददौ। रैक्वो रामाय ददौ। रामः सर्वेभ्यो भूतेभ्यो ददावित्येतन्निर्वाणानुशासनं वेदानुशासनं वेदानुशासनमित्युपनिषत् ॥71॥

इत्यध्यात्मोपनिषत्समाप्ता।
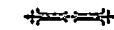
सदाशिव ने यह विद्या अपान्तरतम नाम के ब्राह्मण को दी थी। बाद में अपान्तरतम ने ब्रह्मा को दी। ब्रह्मा ने यह विद्या घोर अंगिरस को और घोर अंगिरस ने रैक्व को दी। रैक्व ने राम को दी। राम ने सभी प्राणियों को दी। यह निर्वाण (मोक्ष) प्राप्त करने का अनुशासन (शिक्षण) है। यह वेद का अनुशासन है। और वेद का आदेश है।

इस प्रकार अध्यात्मोपनिषत् समाप्त होती है।

शान्तिपाठः

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं... पूर्णमेवावशिष्यते। (पूर्ववत्)
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

❋

(76) कुण्डिकोपनिषत्

(उपनिषत्परिचय)

सामवेद से सम्बद्ध इस उपनिषत् में प्रारंभ में तो तेरह मंत्रों तक गृहस्थाश्रमी के जीवन पर प्रकाश डाला गया है। और बाद में गृहस्थाश्रम का उत्तरदायित्व पूरा करके संन्यासी की अन्तर्मुखी साधनाओं की बात कही गई है। इसमें ऐसा कहा गया है कि पहले जप-ध्यान आदि के द्वारा अपने में ब्राह्मी चेतना के अवतरण के लिए जो प्रक्रिया है, उसे जान लेना चाहिए। और बाद में उसे सर्वत्र आत्मचेतना के रूप में संव्याप्त हो, ऐसा अनुभव करना चाहिए। इसके बाद तन्मात्राओं के संयम के द्वारा अनाहत नाद के माध्यम से जीवचेतना को ऊँचे उठाने की साधना करनी चाहिए। इस विशिष्ट साधना का यहाँ क्रमपूर्वक वर्णन किया गया है।

शान्तिपाठः

ॐ आप्यायन्तु ममाङ्गानि—ते मयि सन्तु। (पूर्ववत्)
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः॥

इसका हिन्दी रूपान्तर पूर्व में (महोपनिषद् में) द्रष्टव्य है।

ब्रह्मचर्याश्रमे क्षीणे गुरुशुश्रूषणे रतः।
वेदानधीत्यानुज्ञात उच्यते गुरुणाश्रमी॥1॥
दारमाहृत्य सदृशमग्निमाधाय शक्तितः।
ब्राह्मीमिष्टिं यजेत्तासामहोरात्रेण निर्वपेत्॥2॥
संविभज्य सुतानर्थे ग्राम्यकामान्विसृज्य च।
संचरन्वनमार्गेण शुचौ देशे परिभ्रमन्॥3॥
वायुभक्षोऽम्बुभक्षो वा विहितैः कन्दमूलकैः।
स्वशरीरे समाप्याथ पृथिव्यां नाश्रु पातयेत्॥4॥

जब ब्रह्मचर्याश्रम का समय पूर्ण होता है, तब वेदों को पढ़कर गुरु की सेवा में तल्लीन ऐसे शिष्य को गुरु 'आश्रमी' नाम से कहते हैं। ऐसे आश्रमी को गुरु भावी जीवन की शिक्षा देते हुए कहते हैं कि बुद्धिमान मनुष्य को फिर अपने घर में स्त्री को लाकर अपनी शक्ति के अनुसार अग्नि को ग्रहण करके ब्रह्मयज्ञ में तत्पर रहकर अपना जीवन बिताना चाहिए। इसके बाद अपने धन का अपने पुत्रों में बँटवारा करके ग्राम से सम्बन्धित अपने सभी कार्यों को अपने पुत्रों को सौंपकर तीर्थक्षेत्रादि पवित्र स्थानों में भ्रमण करते हुए वन के लिए प्रस्थान करना चाहिए। संन्यासी को वायु का भक्षण करते हुए या जल भक्षण करते हुए या शास्त्रविहित कन्द-मूल-फलों के द्वारा ही जीवननिर्वाह करते हुए रहना चाहिए। किन्तु सम्पूर्ण संसार को अपने शरीर में ही समाप्त करके इसके लिए पृथ्वी पर आँसू नहीं बहाने चाहिए।

सह तेनैव पुरुषः कथं संन्यस्त उच्यते।
सनामधेयो यस्मिंस्तु कथं संन्यस्त उच्यते॥5॥

तस्मात्फलविशुद्धाङ्गी संन्यासं संहितात्मनाम्।
अग्निवर्णं विनिष्क्रम्य वानप्रस्थं प्रपद्यते॥6॥
लोकवद्भार्ययाऽऽसक्तो वनं गच्छति संयतः।
संत्यक्त्वा संसृतिसुखमनुतिष्ठति किं मुधा॥7॥
किंवा दुःखमनुस्मृत्य भोगांस्त्यजति चोच्छ्रितान्।
गर्भवासभयाद्भीतः शीतोष्णाभ्यां तथैव च॥8॥

परन्तु पूर्वोक्त आचरण करने से ही संन्यास कैसे हो सकता है (और भी बहुत कुछ करना शेष रहा है)। केवल नाममात्र कह देने से कैसे संन्यास कहा जा सकता है ? (आगे बहुत कुछ करने का होता है)। इसके लिए फल की इच्छा न रखते हुए संन्यास धर्म से मुक्ति प्राप्त करके वर्णाश्रम व्यवस्था और अग्नि का परित्याग करते हुए वानप्रस्थ आश्रम में प्रवेश करना चाहिए। साधारण लोगों की ही तरह भार्या में असक्त (आसक्तिरहित) होकर संयमी बनकर पहले वन में जाना पड़ता है। और बाद में जब संसार के सुख छोड़ ही दिए हैं तब और अनुष्ठानों की क्या आवश्यकता है ? वे मिथ्या ही हैं। अथवा तो गर्भवास से डरा हुआ मनुष्य सर्दी, गर्मी, सुख-दुःख आदि से भयभीत होकर सांसारिक भोगों का त्याग क्यों कर देता है ? (जब कि वह कर्मफल त्याग से विशुद्ध अंग वाला होकर रह जाता है।)

गुह्यं प्रवेष्टुमिच्छामि परं पदमनामयमिति। संन्यस्याग्निमपुनरावर्तनं यन्मृत्युर्जायमावहमिति। अथाध्यात्ममन्त्राञ्जपेत्। दीक्षामुपेयात्काषाय-वासाः। कक्षोपस्थलोमानि वर्जयेत्। ऊर्ध्वबाहुर्विमुक्तमार्गो भवति। अनिकेतश्चरेद्भिक्षाशी। निदिध्यासनं दध्यात्। पवित्रं धारयेज्जन्तु-संरक्षणार्थम्। तदपि श्लोका भवन्ति—
कुण्डिकां चमसं शिक्यं त्रिविष्टपमुपानहौ।
शीतोपघातिनीं कन्थां कौपीनाच्छादनं तथा॥9॥
पवित्रं स्नानशाटीं च उत्तरासङ्गमेव च।
अतोऽतिरिक्तं यत्किञ्चित्सर्वं तद्वर्जयेद्यतिः॥10॥

संन्यासी चाहता है कि 'मैं गुह्य स्थान में प्रविष्ट होऊँ, मैं अनामय परम पद को प्राप्त होऊँ'। मैं अग्नि का त्याग करके अपुनरावर्तन (मोक्ष) को चाहता हूँ, मैं मृत्यु पर विजय करूँगा।' ऐसी इच्छा करते हुए उसे अध्यात्म मन्त्रों का जाप करना चाहिए। बाद में काषाय (भगवे) वस्त्रों को धारण करके दीक्षा लेनी चाहिए। कोंख और उपस्थ के बालों को छोड़कर अन्य सभी बालों को दूर करना (क्षौरकर्म करना) चाहिए। अपने दोनों हाथों को ऊँचा करके वह बाद में अपनी इच्छानुसार भ्रमण करता है। अनिकेत रहकर भिक्षा का अन्न खाते हुए भ्रमण करता रहता है। उसे निदिध्यासन करते रहना चाहिए। जन्तुओं के रक्षण के लिए उसे पवित्री (ज्ञान) धारण करते रहना चाहिए। यहाँ पर ये श्लोक कहा है कि—'कमण्डलु, चमस, छींका, त्रिविष्टप, जूते, शीत दूर करने के लिए गुदड़ी, कौपीन, धोती और अंगोछा अपने पास रखना चाहिए। इन वस्तुओं के अतिरिक्त अन्य सभी वस्तुओं का संन्यासी को त्याग कर देना चाहिए।'

नदीपुलिनशायी स्याद्देवागारेषु बाह्यतः।
नात्यर्थं सुखदुःखाभ्यां शरीरमुपतापयेत्॥11॥

स्नानं पानं तथा शौचमद्भिः पूताभिराचरेत् ।
स्तूयमानो न तुष्येत निन्दितो न शपेत्परान् ॥12॥
भिक्षादिवैदलं पात्रं स्नानद्रव्यमवारितम् ।
एवं वृत्तिमुपासीनो यतेन्द्रियो जपेत्सदा॥13॥

उस संन्यासी को नदी के तट पर या तो किसी देवालय के बाहर के भाग में सोना चाहिए। अति सुख अथवा तो अति दुःख से शरीर को उत्तापित नहीं करना चाहिए। स्नान, पान और शौच, शुद्ध पानी से करना चाहिए। किसी द्वारा स्तुति की जाने पर संतोष (प्रसन्नता) और निन्दा करने पर दूसरों को शाप नहीं देना चाहिए। भिक्षादि के लिए पात्र तथा स्नान के लिए जल जहाँ कहीं से भी मिले, प्राप्त कर लेना चाहिए। इस तरह का आचरण स्वीकार करके उसे उदासीन और संयतेन्द्रिय रहकर सदैव जप करते रहना चाहिए।

विश्वाय मनुसंयोगं मनसा भावयेत्सुधीः। आकाशाद्वायुर्वायोर्ज्योति-
र्ज्योतिष आपोऽद्भ्यः पृथिवी। एतेषां भूतानां ब्रह्म प्रपद्ये। अजरम-
मरमक्षरमव्ययं प्रपद्ये।
मय्यखण्डसुखाम्भोधौ बहुधा विश्ववीचयः ।
उत्पद्यन्ते विलीयन्ते मायामारुतविभ्रमात् ॥14॥

उस बड़े बुद्धिशाली संन्यासी को मन में ऐसी भावना करनी चाहिए कि यह विश्वरूप ब्रह्म और मनु—प्रणवमंत्र—दोनों एक ही हैं। आकाश से वायु, वायु से तेज, तेज से जल, जल से पृथ्वी—इन सब भूतों में जो अविनश्वर ब्रह्मतत्त्व है, सर्वत्र व्याप्त है, ऐसे उस ब्रह्मतत्त्व को मैं प्राप्त हुआ हूँ। अजर, अमर, अक्षर, अव्यय को मैं प्राप्त हुआ हूँ। मैं अखण्ड सुख का समुद्र हूँ। मायारूपी पवन से मुझमें बहुत-सी लहरें उठती रहती हैं और विलीन भी होती रहती हैं।

न मे देहेन सम्बन्धो मेघेनेव विहायसः ।
अतः कुतो मे तद्धर्मा जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तिषु ॥15॥
आकाशवत्कल्पविदूरगोऽहमादित्यवद्भास्यविलक्षणोऽहम् ।
अहार्यवन्नित्यविनिश्चलोऽहमम्भोधिवत्पारविवर्जितोऽहम् ॥16॥
नारायणोऽहं नरकान्तकोऽहं पुरान्तकोऽहं पुरुषोऽहमीशः ।
अखण्डबोधोऽहमशेषसाक्षी निरीश्वरोऽहं निरहं च निर्ममः ॥17॥

जिस प्रकार से आकाश का बादलों से कोई सम्बन्ध नहीं है, उसी प्रकार मेरा भी देह के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। इसलिए जाग्रत् स्वप्न और सुषुप्ति में भी देह के धर्म मुझमें कैसे आ सकते हैं ? मैं तो आकाश की तरह कल्पनाओं से (या विभाजनादि से) बहुत ही परे हूँ। मैं सूर्य ही तरह अन्य भास्य पदार्थों से विलक्षण ही हूँ, क्योंकि मैं भास्य नहीं, भासक हूँ। मैं पर्वत की तरह निश्चल और स्थिर रहता हूँ और सागर की भाँति मैं पारविहीन (अनन्त) हूँ। मैं नारायण हूँ, नरकासुर का नाशक हूँ, त्रिपुरासुर का काल हूँ, मैं पुरुष हूँ, मैं ईश्वर हूँ, मैं अखण्ड ज्ञानस्वरूप हूँ, मैं सर्वसाक्षी हूँ, मेरा कोई ईश्वर (स्वामी) नहीं है, मैं अहंकाररहित हूँ, मैं ममत्वरहित हूँ।

तदभ्यासेन प्राणापानौ संयम्य तत्र श्लोका भवन्ति—
वृषणापानयोर्मध्ये पाणी आस्थाय संश्रयेत् ।
सन्दश्य शनकैर्जिह्वां यवमात्रे विनिर्गताम् ॥18॥

माषमात्रां तथा दृष्टिं श्रोत्रे स्थाप्य तथा भुवि ।
श्रवणे नासिके गन्धा यतः स्वं न च संश्रयेत् ॥19॥
अथ शैवपदं यत्र तद्ब्रह्म ब्रह्म तत्परम् ।
तदभ्यासेन लभ्येत पूर्वजन्मार्जितात्मनाम् ॥20॥
सम्भूतैर्वायुसंश्रावैर्हृदयं तप उच्यते ।
ऊर्ध्वं प्रपद्यते देहाद्भित्त्वा मूर्धानमव्ययम् ॥21॥

अब प्राण और अपान को संयम में रखकर उसके अभ्यास के द्वारा जो होता है, इसके बारे में ये श्लोक कहे जा रहे हैं—वृषण और गुदा के बीच में दोनों हाथ रखें और दाँतों से जीभ को धीरे-धीरे दबाते हुए उसे एक यवमात्र के बराबर बाहर निकालें। तथा दृष्टि को उड़द के दाने के बराबर लक्ष्यानुसन्धान करके पृथ्वी पर, श्रोत्राकाश में और धरती पर (दो पैरों पर) संस्थापित करें, जिससे कि श्रवण में शब्द तथा नासिका में गन्ध स्थापित न हो सके। (तात्पर्य यह है कि इस योगाभ्यास से इन्द्रियों और विषयों का सम्पर्क टूट जाता है, और प्राण-अपान का ऐक्य हो जाता है, तब कुण्डलिनी सुषुम्ना को भेद कर सहस्रार में जाकर लीन हो जाती है।) और तब जो वहाँ शैवपद है, उसमें प्राणादि सब कुछ विलीन हो जाते हैं। वह ब्रह्म है, परब्रह्म है। यह ब्रह्म पूर्व जन्मों में किए हुए कर्मफल वाले मनुष्यों को योग के अभ्यास से प्राप्त हो जाता है। वायु के नाद का जो भीतर में प्रकटीकरण होता है, वही हृदय का तप कहलाता है। वह शरीर को भेदकर ऊपर की ओर जाता हुआ मूर्धा को भेदकर उसके परे अव्यय ब्रह्म को प्राप्त कर लेता है।

स्वदेहस्य तु मूर्धानं ये प्राप्य परमां गतिम् ।
भूयस्ते न निवर्तन्ते परावरविदो जनाः ॥22॥
न साक्षिणं साक्ष्यधर्माः संस्पृशन्ति विलक्षणम् ।
अविकारमुदासीनं गृहधर्माः प्रदीपवत् ॥23॥
जले वापि स्थले वापि लुठत्वेष जडात्मकः ।
नाहं विलिप्ये तद्धर्मैर्घटधर्मैर्नभो यथा ॥24॥
निष्क्रियोऽस्म्यविकारोऽस्मि निष्कलोऽस्मि निराकृतिः ।
निर्विकल्पोऽस्मि नित्योऽस्मि निरालम्बोऽस्मि निर्द्वयः ॥25॥
सर्वात्मकोऽहं सर्वोऽहं सर्वातीतोऽहमद्वयः ।
केवलाखण्डबोधोऽहं स्वानन्दोऽहं निरन्तरः ॥26॥

अपने इस देह में रहते हुए जो लोग मूर्धा को भेदकर परमगति को प्राप्त कर लेते हैं, वे फिर कभी इस संसार में पुनः नहीं लौटते, उन्होंने परात्पर तत्त्व को जान लिया होता है। साक्ष्य के धर्म, साक्ष्य से विलक्षण साक्षी को स्पर्श नहीं कर सकते। साक्षी तो घर के दीपक की तरह ही अविकारी और उदासीन ही होता है, घर के दीपक को घर के धर्म स्पर्श नहीं करते। यह जड़रूप शरीर चाहे जल में या स्थल में लोटा करे, पर जैसे घट के धर्मों से आकाश लिप्त नहीं होता, वैसे ही मैं भी इनके धर्मों से विलिप्त नहीं होता। मैं तो निष्क्रिय हूँ, अविकारी हूँ, अंशरहित हूँ, निराकार हूँ, भेदरहित हूँ, नित्य हूँ, आलम्बनरहित हूँ, द्वैतरहित हूँ, मैं सर्वात्मक हूँ, मैं सर्वमय हूँ, सबसे परे हूँ, अद्वैत हूँ, मैं केवल—एकमात्र हूँ, मैं अखण्ड ज्ञानस्वरूप हूँ, मैं आत्मराम हूँ, आत्मानन्द हूँ, मैं सर्वत्र समरस (सघन) हूँ।

स्वमेव सर्वतः पश्यन्मन्यमानः स्वमद्वयम् ।
स्वानन्दमनुभुञ्जानो निर्विकल्पो भवाम्यहम् ॥27॥
गच्छंस्तिष्ठन्नुपविशञ्छयानो वाऽन्यथाऽपि वा ।
यथेच्छया वसेद्विद्वानात्मारामः सदा मुनिरित्युपनिषत् ॥28॥

इति कुण्डिकोपनिषत्समाप्ता ।
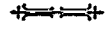
मैं हमेशा अपने आपको ही देखा करता हूँ। और अपने आपको अद्वैत ही मानता हूँ। अपने आप में ही आनन्द को भोगता हुआ मैं विकल्परहित हो जाता हूँ। जाते हुए, खड़े रहते हुए, बैठते और सोते हुए भी या और कोई कार्य करते हुए भी ऐसा विचार करने वाला विद्वान् योगी (संन्यासी) अपनी इच्छा के अनुसार जहाँ कहीं भी रहता है वह आत्मा में ही रमण करता रहता है।

इस प्रकार कुण्डिकोपनिषत् समाप्त होती है।

शान्तिपाठः

ॐ आप्यायन्तु ममाङ्गानि—ते मयि सन्तु । (पूर्ववत्)
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

(77) सावित्र्युपनिषत्

(उपनिषत्परिचय)

सामवेद से सम्बद्ध यह उपनिषत् बहुत ही छोटी है। इसमें सविता-सावित्री के विविध रूपों की परिकल्पना और फिर उनमें एकत्व होने की बात कही गई है। प्रथम सविता-सावित्री का युगल और उनके बीच कार्य-कारण सम्बन्ध बताया गया है। और आगे सावित्री के तीन पद, सावित्रीविद्या के प्रतिफल, तज्जन्य मृत्युविजय, बला-अतिबला मंत्रों का निरूपण और अन्त में इस उपनिषत् की महिमा की गई है।

शान्तिपाठः

ॐ आप्यायन्तु ममाङ्गानि—ते मयि सन्तु । (पूर्ववत्)
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

इसका हिन्दी रूपान्तर पूर्व में (महोपनिषद् में) द्रष्टव्य है।

कः सविता का सावित्री ? अग्निरेव सविता पृथिवी सावित्री स यत्राग्निस्तत् पृथिवी यत्र वा पृथिवी तत्राग्निस्ते द्वे योनिस्तदेकं मिथुनम् ॥1॥
कः सविता का सावित्री ? वरुण एव सविताऽऽपः सावित्री स यत्र वरुणस्तदापो यत्र वा आपस्तद्वरुणस्ते द्वे योनिस्तदेकं मिथुनम् ॥2॥
कः सविता का सावित्री ? वायुरेव सविताऽऽकाशः सावित्री स यत्र वायुस्तदाकाशो यत्र वा आकाशस्तद्वायुस्ते द्वे योनिस्तदेकं मिथुनम् ॥3॥
कः सविता का सावित्री ? यज्ञ एव सविता छन्दांसि सावित्री स यत्र यज्ञस्तच्छन्दांसि यत्र वा छन्दांसि स यज्ञस्ते द्वे योनिस्तदेकं मिथुनम् ॥4॥
कः सविता का सावित्री ? स्तनयित्नुरेव सविता विद्युत् सावित्री स यत्र स्तनयित्नुस्तद्विद्युत् यत्र वा विद्युत्तत्स्तनयित्नुस्ते द्वे योनिस्तदेकं मिथुनम् ॥5॥
कः सविता का सावित्री ? आदित्य एव सविता द्यौः सावित्री स यत्रादित्यस्तद्द्यौर्यत्र वा द्यौस्तदादित्यस्ते द्वे योनिस्तदेकं मिथुनम् ॥6॥
कः सविता का सावित्री ? चन्द्र एव सविता नक्षत्राणि सावित्री स यत्र चन्द्रस्तन्नक्षत्राणि यत्र वा नक्षत्राणि स चन्द्रमास्ते द्वे योनिस्तदेकं मिथुनम् ॥7॥
कः सविता का सावित्री ? मन एव सविता वाक् सावित्री स यत्र वा मनस्तद्वाक् यत्र वा वाक् तन्मनस्ते द्वे योनिस्तदेकं मिथुनम् ॥8॥

कः सविता का सावित्री ? पुरुष एव सविता स्त्री सावित्री स यत्र पुरुषस्तत् स्त्री यत्र वा स्त्री तत् पुरुषस्ते द्वे योनिस्तदेकं मिथुनम् ॥9॥

सविता कौन है और सावित्री कौन है ? अग्नि ही सविता है, पृथ्वी ही सावित्री है। ये अग्निदेव जहाँ पर स्थित हैं, पृथ्वी भी वहाँ पर स्थित है और जहाँ पृथ्वी है, वहीं अग्नि भी है, ये दोनों विश्व की योनि (उत्पत्ति) स्थल हैं। इन दोनों का एक युग्म है। सविता और सावित्री कौन है ? वरुण सविता और जल सावित्री है। जहाँ वरुण होते हैं, वहाँ जल होता है और जहाँ जल होता है वहाँ वरुण होते हैं, ये दोनों भी विश्व का उत्पत्ति-स्थान है। इन दोनों का युग्म है। सविता और सावित्री कौन हैं ? वायु सविता है और आकाश सावित्री है, जहाँ वायु होता है वहाँ आकाश होता है और जहाँ आकाश होता है, वहाँ वायु होता है, ये दोनों जगत् के उत्पत्ति-स्थान हैं, दोनों का एक युग्म है। सविता और सावित्री कौन-कौन है ? यज्ञ सविता है और छन्द सावित्री है, जहाँ यज्ञ होता है वहाँ छन्द होते हैं और जहाँ छन्द होते हैं और वहाँ यज्ञ होते हैं, ये दोनों जगत् की योनि (उत्पत्तिस्थान) हैं, दोनों का एक युग्म होता है। सविता कौन है ? सावित्री कौन है ? गर्जनशील मेघ ही सविता है और विद्युत् सावित्री है। जहाँ गरजते मेघ होते हैं वहाँ बिजली होती है और जहाँ बिजली होती है, वहाँ गरजते बादल होते हैं, दोनों विश्व की योनि (उत्पत्तिस्थान) हैं, दोनों का एक युग्म होता है। सविता कौन है ? सावित्री कौन है ? आदित्य ही सविता है और द्युलोक ही सावित्री है। जहाँ आदित्य होता है, वहाँ द्युलोक भी होता है और जहाँ द्युलोक होता है, वहाँ आदित्य भी रहता है, ये दोनों ही इस विश्व की योनि हैं, दोनों का एक युग्म होता है। सविता कौन है ? सावित्री कौन है ? चन्द्र ही सविता है, नक्षत्र ही सावित्री हैं। जहाँ चन्द्र होता है वहाँ नक्षत्र रहते हैं और जहाँ नक्षत्र रहते हैं, वहाँ चन्द्र रहता है, ये दोनों विश्व की योनि हैं, इन दोनों एक युग्म होता है। सविता कौन है ? सावित्री कौन है ? मन ही सविता है और वाक् ही सावित्री है। जहाँ मन होता है वहाँ वाक् होती है और जहाँ वाक् होती है वहाँ मन रहता है, ये दोनों विश्व की योनि होते हैं, दोनों का एक युग्म होता है। सविता कौन है ? सावित्री कौन है ? पुरुष ही सविता है और स्त्री ही सावित्री है। जहाँ पर पुरुष होता है, वहाँ पर स्त्री होती है और जहाँ पर स्त्री होती है, वहाँ पर पुरुष होता है, ये दोनों जगत् की योनि है, इन दोनों का भी एक युग्म होता है।

तस्या एव प्रथमः पादो भूस्तत्सवितुर्वरेण्यमित्यग्निर्वै वरेण्यमापो वरेण्यं चन्द्रमा वरेण्यम् ॥10॥

तस्या एव द्वितीयः पादो भर्गमयोऽपो भुवो भर्गो देवस्य धीमहित्यग्निर्वै भर्ग आदित्यो वै भर्गश्चन्द्रमा वै भर्गः ॥11॥

तस्या एव तृतीयः पादः स्वर्धियो यो नः प्रचोदयादिति स्त्री चैव पुरुषश्च प्रजनयतः ॥12॥

यो वा एतां सावित्रीमेवं वेद स पुनर्मृत्युं जयति ॥13॥

इस महाशक्ति सावित्री का प्रथमपाद 'भूः' = अर्थात् 'तत्सवितुर्वरेण्यम्' है। अग्नि वरणीय है, जल वरणीय है, चन्द्रमा वरणीय है (वरण करने योग्य है)। सावित्री का दूसरा पाद तेजोमय जल 'भुवः' है = अर्थात् 'भर्गो देवस्य धीमहि' है। अग्नि ही वह भर्ग (तेज) है, आदित्य ही वह भर्ग (तेज) है। उस सावित्री महाशक्ति का तीसरा पाद 'स्वः' = अर्थात् 'धियो यो नः प्रयोदयात्' है। स्त्री और पुरुष धर्मानुसार प्रजोत्पादन करते हैं। जो मनुष्य सावित्री को इस प्रकार जानता है, वह फिर से मृत्यु को प्राप्त नहीं करता। वह मृत्युंजय है।

बलातिबलयोर्विराट् पुरुष ऋषिः। गायत्री छन्दः। गायत्री देवता। अकारोकारमकारा बीजाद्याः। क्षुधाऽऽदिनिरसने विनियोगः। क्लीमित्यादि षडङ्गं न्यासः। ध्यानम्—

अमृतकरतलाग्रौ सर्वसंजीवनाढ्या-
वघहरणसुदक्षौ वेदसारे मयूखे।
प्रणवमयविकारौ भास्कराकारदेहौ
सततमनुभवेऽहं तौ बलातिबलान्तौ ॥

ॐ ह्रीं बले महादेवि ह्रीं महाबले क्लीं चतुर्विधपुरुषार्थसिद्धिप्रदे तत्सवितुर्वरदात्मिके ह्रीं वरेण्यं भर्गो देवस्य वरदात्मिके अतिबले सर्वदयामूर्ते बले सर्वक्षुच्छ्रमोपनाशिनी धीमहि धियो यो नर्जाते प्रचुर्या या प्रचोदयात्मिके प्रणवशिरस्कात्मिके हुं फट् स्वाहा ॥14॥

एवं विद्वान् कृतकृत्यो भवति सावित्र्या एव सलोकतां नयतीत्युपनिषत् ॥15॥

इति सावित्र्याख्योपनित्समाप्ता।
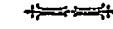
बला और अतिबला—दोनों विद्याओं के ऋषि विराट् पुरुष हैं, गायत्री छन्द है, गायत्री देवता हैं। अकार, उकार और मकार क्रमशः बीज, शक्ति और कीलक है। क्षुधा आदि के निरसन में इसका विनियोग होता है। क्लीं इत्यादि व्याहृतियों से इसमें षडंगन्यास किया जाता है। ध्यानमंत्र इस प्रकार है—जो अमृत के द्वारा भीगे हो गए हैं, जो सभी तरह की संजीवनी शक्तियों से ओतप्रोत हुए हैं, जो पापों को दूर करने के लिए पूर्णतया समर्थ हैं, जो वेदों के सारस्वरूप, रश्मिमयात्मक हैं, जो प्रणवमय परिणाम से युक्त हैं, जिनका आकार (तेज) सूर्य के समान है। उन बला और अतिबला विद्या के अधिष्ठानरूप—अधिष्ठाता देवरूपों को मैं सतत अनुभव करता हूँ। बला और अतिबला विद्या का मंत्र इस प्रकार है—'ॐ ह्रीं बले महादेवि ह्रीं महाबले' आदि पूरा रहस्य मंत्र (ॐ ह्रीं बले से लेकर फट् स्वाहा तक) ऊपर मूल में दिया गया है। इस प्रकार इस सावित्री विद्या को जानने वाला पुरुष कृतकृत्य हो जाता है। वह सावित्रीलोक को प्राप्त हो जाता है।

इस प्रकार सावित्र्युपनिषत् समाप्त होती है।

शान्तिपाठः

ॐ आप्यायन्तु ममाङ्गानि—ते मयि सन्तु। (पूर्ववत्)
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

(78) आत्मोपनिषत्

(उपनिषत्परिचय)

यह उपनिषत् अथर्ववेदीय परंपरा की है। इसमें आत्मतत्त्व के भिन्न-भिन्न स्वरूपों की (आत्मा-अन्तरात्मा-परमात्मा की) चर्चा की है। शरीर और इन्द्रियों में सक्रिय चैतन्य को आत्मा कहा जाता है। प्रकृति के विविध घटकों में अनुस्यूत चैतन्य को अन्तरात्मा कहा जाता है और इन सभी से परे रहने वाले चैतन्य को परमात्मा कहा जाता है। उसी परात्पर चैतन्य को ही ब्रह्म कहा गया है। जैसे सूर्य राहुग्रस्त दीखता है पर वास्तव में वह ग्रस्त नहीं होता, वैसे ही ब्रह्म मायाग्रस्त केवल दीखता है, वास्तव में ग्रस्त है नहीं। उपनिषद् में इस प्रकार सूर्यग्रहण का उदाहरण देकर पारमार्थिकता स्पष्ट कर दी है। रज्जुसर्प और साँप की केंचुली के उदाहरण से भी आत्मा की वास्तविक नित्यमुक्तता को समझाया गया है। अन्वर्थक विशेषणों और उपमाओं से अच्छा स्पष्टीकरण किया गया है।

शान्तिपाठः

ॐ भद्रं कर्णेभिः···देवहितं यदायुः। (पूर्ववत्)
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः॥

इसका हिन्दी रूपान्तर पूर्व में (शाण्डिल्योपनिषद् में) द्रष्टव्य है।

अथाङ्गिरास्त्रिविधः पुरुषोऽजायतात्माऽन्तरात्मा परमात्मा चेति ॥1-1॥
त्वक् चर्ममांसरोमाङ्गुष्ठाङ्गुल्यः पृष्ठवंशनखगुल्फोदरनाभिमेढ्रकट्यूरुक-पोलश्रोत्रभ्रूललाटबाहुपार्श्वशिरोऽक्षीणि भवन्ति जायते म्रियत इत्येष बाह्यात्मा ॥1-2॥

अंग, अंगी तथा अंगज्ञ रूप से यह पुरुष (परमात्मा) तीन रूपों में प्रकट हुआ—आत्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा। उनमें जो त्वक् (त्वचा), चर्म, मांस, रोंगटे, अँगूठा, अँगुलियाँ, पीठ, नख, टखनों, उदर, नाभि, जननेन्द्रिय, कटि, जाँघ, कपोल, कान, भौंह, मस्तक, भुजाओं, पार्श्वभाग, सिर, आँखों आदि के (स्थूल शरीर के) माध्यम से जन्म और मरण के चक्कर में घूमा करता है वह बाह्यचेतन 'आत्मा' कहलाता है। (और—)

अथान्तरात्मा नाम पृथिव्यापस्तेजोवायुराकाशेच्छाद्वेषसुखदुःखकाममोह-विकल्पनादिभिः स्मृतिलिङ्गोदात्तानुदात्तह्रस्वदीर्घप्लुतस्खलितगर्जित-स्फुटितमुदितनृत्तगीतवादित्रप्रलयविजृम्भितादिभिः श्रोता घ्राता रसयिता मन्ता बोद्धा कर्त्ता विज्ञानात्मा पुरुषः पुराणन्यायमीमांसाधर्मशास्त्राणीति श्रवणघ्राणाकर्षणकर्मविशेषणं करोत्येषोऽन्तरात्मा ॥1-3॥

सभी दृश्य पदार्थों में अदृश्य रूप में अनुस्यूत जो 'अन्तरात्मा' वह है कि—पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश, इच्छा, द्वेष, सुख, दुःख, मोह, विकल्पन आदि गुणों के माध्यम से तथा स्मृति, लिंग, उदात्त, अनुदात्त, ह्रस्व, दीर्घ, प्लुत अदि स्वरों के भेद के माध्यम से, तथा स्खलित, गर्जित, स्फुटित,

मुदित, नृत्य, गीत, वादित्र, प्रलय, विजृम्भित आदि के द्वारा सुनने वाला, सूँघने वाला, रस लेने वाला, मानने वाला, जानने वाला, करने वाला विज्ञानात्मा पुरुष होता है। जो पुराण, न्याय, मीमांसा आदि शास्त्रों और धर्मशास्त्रों का ज्ञाता होता है। वह श्रवण, घ्राण (सूँघना), आकर्षण आदि को पूर्ण करता है यही अन्तरात्मा कहा जाता है।

अथ परमात्मा नाम यथाक्षर उपासनीयः। स च प्राणायामप्रत्याहार-धारणाध्यानसमाधियोगानुमानाध्यात्मचिन्तकं वटकणिका वा श्यामा-कतण्डुलो वा बालाग्रशतसहस्रविकल्पनाभिः स लभ्यते नोपलभ्यते न जायते न म्रियते न शुष्यति न क्लिद्यते न दह्यति न कम्पते न भिद्यते न च्छिद्यते निर्गुणः साक्षीभूतः शुद्धो निरवयवात्मा केवलः सूक्ष्मो निर्ममो निरञ्जनो निर्विकारः शब्दस्पर्शरूपरसगन्धवर्जितो निर्विकल्पो निरा-काङ्क्षः सर्वव्यापी सोऽचिन्त्यो निर्वर्ण्यश्च पुनात्यशुद्धान्यपूतानि। निष्क्रियस्तस्य संसारो नास्ति ॥1-4॥

अब जो परमात्मा है, वह अक्षररूप में (अविनाशी रूप में, अथवा ॐकार के रूप में) आराध्य होता है। यह परमात्मा प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधि, योग, अनुमान, आत्मचिन्तन, आदि के द्वारा प्राप्त किया भी जाता है और नहीं भी किया जाता है। क्योंकि वह सूक्ष्माति सूक्ष्म है जैसे वट का बीज हो, जैसे श्यामक ताण्डुल (साँवा चावल) हो, जैसे सूक्ष्म बाल की नोक के सैंकड़ों-सहस्रों टुकड़ों से भी कुछ सूक्ष्म हो, ऐसा यह परमात्मा लभ्य भी है और अलभ्य भी है। यह परमात्मा न जन्मता है, न मरता है, न सूख जाता है, न भीगा होता है, न जलता है, न काँपता है, न भेदा जाता है, न छेदा जाता है, वह निर्गुण है, वह केवल साक्षी है, शुद्ध है, अवयवरहित है, केवल एक आत्मा है। वह सूक्ष्म, ममत्वरहित, निरंजन, निर्विकार, शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्ध से हीन, विकल्परहित, आकांक्षारहित, सर्वव्यापक, अचिन्त्य और अवर्णनीय है। ऐसा वह परमात्मा वह अशुद्धों को शुद्ध और अपवित्रों को पवित्र बना देता है। वह निष्क्रिय है। उसका कोई संसार नहीं है।

आत्मसंज्ञः शिवः शुद्ध एक एवाद्वयः सदा।
ब्रह्मरूपतया ब्रह्म केवलं प्रतिभासते ॥1॥
जगद्रूपतयाप्येतद्ब्रह्मैव प्रतिभासते।
विद्याऽविद्यादिभेदेन भावाऽभावादिभेदतः ॥2॥
गुरुशिष्यादिभेदेन ब्रह्मैव प्रतिभासते।
ब्रह्मैव केवलं शुद्धं विद्यते तत्त्वदर्शने ॥3॥
न च विद्या न चाविद्या न जगच्च न चापरम्।
सत्यत्वेन जगद्भानं संसारस्य प्रवर्तकम् ॥4॥

आत्मनामधारी, शिवरूप, शुद्ध एकमात्र, सर्वदा अद्वैत, ब्रह्मरूप से केवल ब्रह्म ही अवभासित हो रहा है। जगत् के रूप में भी पारमार्थिक रूप में ब्रह्म ही प्रतिभासित हो रहा है। विद्या-अविद्या तथा भाव और अभाव आदि रूप में भी वास्तव में ब्रह्म ही प्रतिभासित हो रहा है। गुरु-शिष्य आदि के भेद में भी ब्रह्म ही प्रतिभासित हो रहा है। तात्त्विक (पारमार्थिक) दृष्टिकोण से तो केवल एक ब्रह्म ही है, केवल वही शुद्ध तत्त्व है। कोई विद्या नहीं है, कोई अविद्या भी नहीं है और भी कोई वस्तु सत्य है ही नहीं। यह जगत् भी सत्य नहीं है फिर भी इस जगत् में जो सत्यत्व का भान होता है, वही तो इस संसार का प्रवर्तक हेतु (कारण) है। (मिथ्या में सत्य का भान ही जगत् का प्रवर्तक तत्त्व है।)

असत्यत्वेन भानं तु संसारस्य निवर्तकम् ।
घटोऽयमिति विज्ञातुं नियमः कोन्वपेक्षते ॥5॥
विना प्रमाणसुष्ठुत्वं यस्मिन्सति पदार्थधीः ।
अयमात्मा नित्यसिद्धः प्रमाणे सति भासते ॥6॥
न देशं नापि कालं वा न शुद्धिं वाप्यपेक्षते ।
देवदत्तोऽहमित्येतद्विज्ञानं निरपेक्षकम् ॥7॥
तद्वद्ब्रह्मविदोऽप्यस्य ब्रह्माहमिति वेदनम् ।
भानुनेव जगत्सर्वं भास्यते यस्य तेजसा ॥8॥

'संसार असत् है'—ऐसा भान होना ही संसार का निवर्तक है। 'यह घड़ा है'—ऐसे प्रत्यक्ष और स्पष्ट भान में भला अन्य प्रमाण की अपेक्षा कौन करेगा ? किसी और अच्छे प्रमाण के बिना भी जिसके होने में पदार्थ की बुद्धि उत्पन्न हो ही जाती है और प्रमाण होने पर भी यह आत्मा नित्यसिद्ध है—ऐसा प्रकाश तो होता ही है। (प्रमाण होने या न होने से आत्मसिद्धि का कोई सम्बन्ध नहीं है।) यह आत्मसिद्धि किसी देश, काल या किसी शुद्धि की अपेक्षा नहीं करता। "मैं देवदत्त हूँ"—यह ज्ञान तो निरपेक्ष ही है। इसी प्रकार इस तत्त्व का भी "मैं ब्रह्म हूँ"—यह ब्रह्मज्ञानी का ज्ञान होता है। जैसे सूर्य से सकल जगत् तेज से भासित होता है, वैसे ब्रह्म से सब प्रकाशित है।

अनात्मकमसत्तुच्छं किं नु तस्यावभासकम् ।
वेदशास्त्रपुराणानि भूतानि सकलान्यपि ॥9॥
येनार्थवन्ति तं किं नु विज्ञातारं प्रकाशयेत् ।
क्षुधां देहव्यथां त्यक्त्वा बालः क्रीडति वस्तुनि ॥10॥
तथैव विद्वान् रमते निर्ममो निरहं सुखी ।
कामान्निष्कामरूपी संचरत्येकचरो मुनिः ॥11॥
स्वात्मनैव सदा तुष्टः स्वयं सर्वात्मना स्थितः ।
निर्धनोऽपि सदा तुष्टोऽप्यसहायो महाबलः ॥12॥

ब्रह्मसिद्धि के लिए कोई भी लौकिक प्रमाण तो अनात्मक, असत् और तुच्छ है। वह भला कैसे ब्रह्म का अवभासक हो सकता है ? सकल वेद, शास्त्र, पुराण तथा सभी प्राणी भी जिस तत्त्व से अर्थयुक्त (सार्थक) होते हैं ऐसे विज्ञाता (जानने वाले) को भला कैसे प्रकाशित कर सकता है ? जिस प्रकार कोई बालक अपनी भूख और शरीर की पीड़ा को भूलकर खिलौने के साथ खेलता रहता है, उसी प्रकार ममत्वरहित, अहंकाररहित तथा सुखी होकर विद्वान् (ब्रह्मज्ञानी) मुनि कामनाओं को भूलकर निष्कामरूपी और अकेला ही विचरण करता रहता है। वह अपने आत्मा में ही परितुष्ट होकर, सभी के आत्मा में स्वयं अवस्थित रहकर, निर्धन होते हुए भी संतोषी रहकर तथा निःसहाय होकर भी बलवान बनकर रहता है।

नित्यतृप्तोऽप्यभुञ्जानोऽप्यसमः समदर्शनः ।
कुर्वन्नपि न कुर्वाणश्चाभोक्ता फलभोग्यपि ॥13॥
शरीर्यप्यशरीर्येष परिच्छिन्नोऽपि सर्वगः ।
अशरीरं सदा सन्तमिदं ब्रह्मविदं क्वचित् ॥14॥
प्रियाप्रिये न स्पृशतस्तथैव च शुभाशुभे ।
तमसा ग्रस्तवद्भानादग्रस्तोऽपि रविर्जनैः ॥15॥

ग्रस्त इत्युच्यते भ्रान्त्या ह्यज्ञात्वा वस्तुलक्षणम् ।
तद्वद्देहादिबन्धेभ्यो विमुक्तं ब्रह्मवित्तमम् ॥16॥

वह कुछ न खाते हुए भी नित्य तृप्त ही रहता है, वह सबसे विलक्षण होते हुए भी सबमें समान दृष्टि रखने वाला होता है। सब कुछ करते हुए भी वह कुछ भी नहीं करता, वह कर्मफलों को भोगते हुए भी स्वयं अभोक्ता ही रहता है। शरीरधारी होने पर भी वह अशरीरी ही है, वह सीमित दिखाई पड़ने पर भी असीम (सर्वव्यापक) है। इस प्रकार के शरीररहित इस ब्रह्मवादी को यह सब कहीं प्रिय और अप्रिय का स्पर्श या शुभ-अशुभ का स्पर्श नहीं होता। जैसे सूर्य अन्धकार से ग्रस्त न होने पर भी लोगों के द्वारा ग्रस्त रूप में देखा जाता है, भ्रान्ति से यह ग्रस्त है ऐसा सही वस्तु का लक्षण न जानने से भ्रम के द्वारा कहा जाता है, वैसे ही देहादि बन्धनों से विमुक्त श्रेष्ठ ब्रह्मज्ञानी के बारे में भी लोग कहा करते हैं।

पश्यन्ति देहिवन्मूढाः शरीराभासदर्शनात् ।
अहिनिर्ल्वयनीवायं मुक्तदेहस्तु तिष्ठति ॥17॥
इतस्ततश्चाल्यमानो यत्किञ्चित्प्राणवायुना ।
स्रोतसा नीयते दारु यथा निम्नोन्नतस्थलम् ॥18॥
दैवेन नीयते देहो तथा कालोपभुक्तिषु ।
लक्ष्यालक्ष्यगतिं त्यक्त्वा यस्तिष्ठेत्केवलात्मना ॥19॥
शिव एव स्वयं साक्षादयं ब्रह्मविदुत्तमः ।
जीवन्नेव सदा मुक्तः कृतार्थो ब्रह्मवित्तमः ॥20॥

मूढ़ लोग ही शरीर के आभास के दर्शन से इस ब्रह्मज्ञानी को 'देहधारी' मानते हैं। पर यह ब्रह्मज्ञ तो कैंचुली को छोड़े हुए साँप की भाँति ही रहता है। यह ब्रह्मज्ञानी प्राणवायु के द्वारा थोड़ा-बहुत यों ही हिलाया-चलाया जाता है, जैसे कोई काष्ठ का टुकड़ा पानी के प्रवाह के द्वारा ऊँचे-नीचे स्थान में लाया जाता हो। इसी तरह ज्ञानी का देह भी जैसे दैव (भाग्य) के द्वारा सुख-दुःखादि सामयिक उपभोगों में खींचा जाता है, पर यह परम ज्ञानी तो सदैव शिव ही साक्षात् होता है। वह तो जीते जी मुक्त ही होता है। वह कृतार्थ ही होता है।

उपाधिनाशाद्ब्रह्मैव सद्ब्रह्माप्येति निर्द्वयम् ।
शैलूषो वेषसद्भावाभावयोश्च यथा पुमान् ॥21॥
तथैव ब्रह्मविच्छ्रेष्ठः सदा ब्रह्मैव नापरः ।
घटे नष्टे यथा व्योम व्योमैव भवति स्वयम् ॥22॥
तथैवोपाधिविलये ब्रह्मैव ब्रह्मवित्स्वयम् ।
क्षीरं क्षीरे यथा क्षिप्तं तैलं तैले जलं जले ॥23॥
संयुक्तमेकतां याति तथाऽऽत्मन्यात्मविन्मुनिः ।
एवं विदेहकैवल्यं सन्मात्रत्वमखण्डितम् ॥24॥

वह (ब्रह्मज्ञानी) उपाधियों के नाश होने पर तो ब्रह्म ही होकर अद्वैत ब्रह्म में ही मिल जाता है। जैसे कोई पुरुष केवल वेश पहनने से ही नट होता है, और वेश के अभाव में वही पुरुष हो जाता है, वैसे ही उत्तम ब्रह्मज्ञानी तो सदैव ब्रह्मज्ञ ही रहता है। घड़े के नाश हो जाने से घटाकाश वही मूल महाकाश ही हो जाता है। इसी प्रकार उपाधि के नाश हो जाने से ब्रह्मविद् स्वयं ब्रह्म ही हो जाता है। जैसे दूध में डाला हुआ दूध, तेल में डाला हुआ तेल तथा जल में डाला गया जल एकाकार हो जाता है, उसी प्रकार मुनि भी आत्मा को परमात्मा में एकाकार कर देता है। इस प्रकार आत्मा-परमात्मा की एकाकारता (एकता) ही 'विदेह-कैवल्य' कहलाती है। वह अखण्ड सन्मात्र का रूप है।

ब्रह्मभावं प्रपद्यैष यतिर्नावर्तते पुनः ।
सदात्मकत्वविज्ञानदग्धाविद्यादिवर्ष्मणः ॥25॥
अमुष्य ब्रह्मभूतत्वाद् ब्रह्मणः कुत उद्भवः ।
मायाक्लृप्तौ बन्धमोक्षौ न स्तः स्वात्मनि वस्तुतः ॥26॥
यथा रज्जौ निष्क्रियायां सर्पाभासविनिर्गमौ ।
आवृतेः सदसत्त्वाभ्यां वक्तव्ये बन्धमोक्षणे ॥27॥
नावृतिर्ब्रह्मणः काचिदन्याभावादनावृत्तम् ।
अस्तीति प्रत्ययो यश्च यश्च नास्तीति वस्तुनि ॥28॥

इस ब्रह्मभाव को प्राप्त करने के बाद यति इस संसार में वापस नहीं लौटता । क्योंकि सत् रूप आत्मतत्त्व के विज्ञान से उसका अविद्या आदि मैल नष्ट हो गया होता है । जब यह ब्रह्मभूत ही हो जाता है, तब ब्रह्म का तो फिर जन्म ही कैसे हो सकता है ? ये बन्ध और मोक्ष तो माया कल्पित ही हैं। वे दोनों वास्तविक रूप से ब्रह्म में हो ही नहीं सकते । जैसे निष्क्रिय ही रस्सी में साँप का भ्रम और भ्रम का निरास—दोनों होते हैं, इसी प्रकार सत् या असत् के आवरण से युक्त कहे जाने वाले ब्रह्म में बन्ध और मोक्ष कल्पित ही होते हैं (कहे जाते हैं) । ब्रह्म का तो कोई आवरण है ही नहीं, क्योंकि ब्रह्मातिरिक्त किसी अन्य वस्तु के अभाव से ब्रह्म तो सदैव अनावृत ही है । वस्तु 'है', या 'नहीं है'—यह तो केवल एक प्रत्ययमात्र (दिखावा) ही है ।

बुद्धेरेव गुणावेतौ न तु नित्यस्य वस्तुनः ।
अतस्तौ मायया क्लृप्तौ बन्धमोक्षौ न चात्मनि ॥29॥
निष्कले निष्क्रिये शान्ते निरवद्ये निरञ्जने ।
अद्वितीये परे तत्त्वे व्योमवत्कल्पना कुतः ॥30॥
न निरोधो न चोत्पत्तिर्न बद्धो न च साधकः ।
न मुमुक्षुर्न वै मुक्त इत्येषा परमार्थता ॥31॥

इत्यात्मोपनिषत्समाप्ता ।

और वे दोनों प्रत्यय (दोनों के होने न होने का भान) तो बुद्धि के ही दो गुण हैं, नित्य आत्मवस्तु के नहीं हैं । इसीलिए वे बन्ध और मोक्ष माया द्वारा कल्पित ही हैं । निरवयव (निरंश) शान्त, निष्क्रिय निष्कलंक, निरंजन, अद्वितीय, परम तत्त्व, आकाश जैसे ब्रह्म में ऐसी कल्पना कैसे की जा सकती है ? वास्तविक दृष्टि से कोई बन्धन नहीं है, कोई उत्पत्ति नहीं है, कोई बद्ध भी नहीं है, कोई साधक भी नहीं है, कोई मुमुक्षु भी नहीं है और कोई मुक्त भी नहीं है—यही परमार्थता है, यही सच्ची पारमार्थिक दृष्टि है ।

इस प्रकार आत्मोपनिषत् समाप्त होती है ।

शान्तिपाठः

ॐ भद्रं कर्णेभिः—देवहितं यदायुः । (पूर्ववत्)
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

(79) पाशुपतब्रह्मोपनिषत्

(उपनिषत्परिचय)

यह उपनिषत् अथर्ववेदीय है । इसे पूर्वकाण्ड और उत्तरकाण्ड—ऐसे दो काण्डों में बाँटा गया है । इसमें ऋषि वालखिल्य और ब्रह्माजी के बीच हंसविषयक प्रश्नोत्तर हैं । पूर्वकाण्ड में पहले जगन्नियन्ता के बारे में सात प्रश्न हैं, और उनके उत्तर भी हैं । बाद में सृष्टिरूपी यज्ञ में कर्ता का स्वरूप बताया गया है । नादानुसन्धान यज्ञ, परमात्मा का हंस रूप, यज्ञसूत्र, ब्रह्मसूत्र, प्रणवहंस की यज्ञता, ब्रह्मसन्ध्यादि क्रियारूप मनोयाग, हंस-प्रणवाभेद का अनुसन्धान, छियानबे सूत्र, हंसात्मविद्या का मुक्तिरूपत्व, बाह्य की अपेक्षा आन्तर् योग की श्रेष्ठता, ज्ञानयज्ञरूपी अश्वमेध, तारकहंसज्योति आदि विषय हैं । और उत्तरकाण्ड में अखण्डवृत्ति से ब्रह्मसम्पत्ति, परमात्मा में मायिक जगत्, हंसार्क प्रणव ध्यान की विधि, आत्मातिरिक्त सब कुछ की मायिकता, आत्मा में माया का वस्तुतः अभाव, आत्मज्ञानी की ब्रह्मरूपता, परविद्या का साधन, आत्मज्ञानी का वर्तन, स्थिति, आदि बहुत से विषयों का निर्देश किया गया है ।

शान्तिपाठः

ॐ भद्रं कर्णेभिः—देवहितं यदायुः । (पूर्ववत्)
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

इसका हिन्दी रूपान्तर पूर्व में (शाण्डिल्योपनिषद् में) द्रष्टव्य है ।

पूर्वकाण्डः

अथ ह वै स्वयंभूर्ब्रह्मा प्रजाः सृजानीति कामकामो जायते कामेश्वरो वैश्रवणः ॥1॥

वैश्रवणो ब्रह्मपुत्रो वालखिल्यः स्वयंभुवं परिपृच्छति जगतां का विद्या का देवता जाग्रत्तुरीययोरस्य को देवो यानि कस्य वशानि कालाः कियत्प्रमाणाः कस्याज्ञया रविचन्द्रग्रहादयो भासन्ते कस्य महिमा गगनस्वरूप एतदहं श्रोतुमिच्छामि नान्यो जानाति त्वं ब्रूहि ब्रह्मन् ॥2॥

एक बार स्वयंभू ब्रह्मा के मन में 'मैं सृष्टि का सर्जन करूँ'—ऐसी कामना हुई । तब क्रमशः कामेश्वर (रुद्र) और वैश्रवण दोनों की उत्पत्ति हुई । इसके बाद ब्रह्मा के उस वैश्रवण यानी वालखिल्य नाम के पुत्र ने ब्रह्मा जी से प्रश्न किया कि—"हे भगवन् ! इस जगत् की विद्या कौन-सी है ? इसका देवता कौन है ? जाग्रत् और तुरीय का देव कौन है ? यह जगत् किसके वश में है ? काल के क्या और कितने प्रमाण हैं ? ये सूर्य, चन्द्र, ग्रह आदि किसकी आज्ञा से प्रकाशित हो रहे हैं ? किसकी

महिमा आकाश के समान विस्तृत (व्यापक) है ? यह सब मैं जानना चाहता हूँ। आपके सिवा और कोई यह जानता नहीं है, इसलिए आप ही मुझे यह बताइए।''

स्वयंभूरुवाच कृत्स्नजगतां मातृका विद्या ॥3॥
द्वित्रिवर्णसहिता द्विवर्णमाता त्रिवर्णसहिता।
चतुर्मात्रात्मकोङ्कारो मम प्राणात्मिका देवता ॥4॥
अहमेव जगत्त्रयस्यैकः पतिः ॥5॥
मम वशानि सर्वाणि युगान्यपि ॥6॥
अहोरात्रादयो मत्संवर्धिताः कालाः ॥7॥
मम रूपा रवेस्तेजश्चन्द्रनक्षत्रग्रहतेजांसि च ॥8॥
गगनो मम त्रिशक्तिमायास्वरूपो नान्यो मदस्ति ॥9॥
तमोमायात्मको रुद्रः सात्त्विकमायात्मको विष्णू राजसमायात्मको ब्रह्मा। इन्द्रादयस्तामसराजसात्मिका न सात्त्विकः कोऽपि। अघोरः सर्व-साधारणस्वरूपः ॥10॥

तब ब्रह्माजी ने कहा—इस समस्त जगत् को उत्पन्न करने वाली मातृका विद्या है। वह दो वर्णों से (हंस) युक्त है, और तीन वर्णों से (प्रणव) भी युक्त है। दो वर्णों से नापी गई यह विद्या तीन वर्ण सहित जो विद्या है, वही है। और चार मात्राओं से युक्त प्रणव मेरा प्राणदेवता हैं। मैं अकेला ही इन तीनों लोकों का पालक और पोषक हूँ। समस्त युग भी मेरे ही वश में रहते हैं। मेरे द्वारा ही ये दिन-रात आदि कालमान पैदा होते हैं। सूर्य, चन्द्र, तारों आदि में जो तेज दिखाई पड़ता है, वह मेरा ही तेज है। यह आकाश भी मेरी ही सत्त्व, रजस् और तमस्—इन तीन शक्तियों वाली माया के रूप में मेरा ही स्वरूप है। मेरे सिवा और कुछ भी नहीं है। तमोगुणी मायारूप रुद्र है, सत्त्वगुणी मायारूप विष्णु है और रजोगुणी माया रूप ब्रह्मा है। और इन्द्र आदि देव तामस-राजस माया वाले हैं, इनमें कोई भी सात्त्विक नहीं है। केवल अघोर (शिव) जो हैं, वे सर्वसाधारण स्वरूप हैं।

समस्तयागानां रुद्रः पशुपतिः कर्ता। रुद्रो यागदेवो विष्णुरध्वर्युर्होतेन्द्रो देवता यज्ञभुग् मानसं ब्रह्म महेश्वरं ब्रह्म ॥11॥
मानसो हंसः सोऽहं हंस इति। तन्मययज्ञो नादानुसन्धानम्। तन्मय-विकारो जीवः ॥12॥
परमात्मस्वरूपो हंसः। अन्तर्बहिश्चरति हंसः। अन्तर्गतोऽनवकाशान्त-र्गतसुपर्णस्वरूपो हंसः ॥13॥
षण्णवतितत्त्वतन्तुवद्व्यक्तं चित्सूत्रत्रयचिन्मयलक्षणं नवतत्त्वत्रिरावृतं ब्रह्मविष्णुमहेश्वरात्मकमग्नित्रयकलोपेतं चिद्ग्रन्थिबन्धनम् अद्वैत-ग्रन्थिः ॥14॥
यज्ञसाधारणाङ्गं बहिरन्तर्ज्वलनं यज्ञाङ्गलक्षणब्रह्मस्वरूपो हंसः ॥15॥

समस्त यज्ञों के कर्ता पशुपति भगवान् रुद्र हैं। रुद्र यज्ञदेव, विष्णु अध्वर्यु, इन्द्र होता और महेश्वर ब्रह्म का मानस रूप है। जो ब्रह्म है, वही इस यज्ञ के भोक्ता हैं। इस मानस ब्रह्म का रूप ही 'हंसः सोऽहम्' है। इस प्रकार की तन्मयता के लिए जो यज्ञ सम्पन्न किया जाता है, उसी को नादानुसन्धान कहा जाता है। और उस चैतन्यमयता का विकार ही जीव है। वह हंस परमात्मा का

ही स्वरूप है। यह हंस भीतर-बाहर विचरण करता रहता है। यह हंस भीतर के अनवकाश वाले मायाग्रसित स्थल में सुपर्णमय (ब्रह्म या ईश्वर) सदा वर्तमान होता है। जो यज्ञोपवीत है, वह भी ब्रह्मरूप ही है, जैसे वह भी छियानबे तन्तुरूपी तत्त्वों से ब्रह्म की तरह व्यक्त होता है। वह भी सत्, चित्, आनन्दरूपी तीन लक्षणरूपी तन्तुओं वाला होता है। त्रिगुणित होने से नौ तत्त्वों वाला, ब्रह्मा-विष्णु-महेश रूप तीन अग्नियों वाला, चिद् ग्रन्थियों से बँधा हुआ, अद्वैत रूप ब्रह्मग्रन्थि से युक्त यज्ञ के सामान्य अंगरूप में बाह्य तथा अन्तःकरण को प्रकाशित करने वाला यज्ञोपवीत ब्रह्मलक्षण-युक्त हंसरूप ही है।

उपवीतलक्षणसूत्रब्रह्मगा यज्ञाः। ब्रह्माङ्गलक्षणयुक्तो यज्ञसूत्रम्। तद्-ब्रह्मसूत्रम्। यज्ञसूत्रसम्बन्धी ब्रह्मयज्ञः तत्स्वरूपः ॥16॥
अङ्गानि मात्राणि। मनोयज्ञस्य हंसो यज्ञसूत्रम्। प्रणवं ब्रह्मसूत्रं ब्रह्मयज्ञ-मयम्। प्रणवान्तर्वर्ती हंसो ब्रह्मसूत्रम्। तदेव ब्रह्मयज्ञमयं मोक्ष-क्रमम् ॥17॥

इस प्रकार यह उपवीत के लक्षणों से युक्त सूत्र (ब्रह्मसूत्र) यज्ञरूप ही है, अर्थात् यज्ञरूप का प्रतीक माना जाता है। यह यज्ञोपवीत (यज्ञसूत्र) ब्रह्म के अंगों के लक्षणों से भी युक्त है। इसलिए यज्ञोपवीत और ब्रह्मयज्ञ—दोनों एक-दूसरे के स्वरूप ही हैं। वे ब्रह्म के अंग मात्राएँ हैं। यह ब्रह्मसूत्र ही मनोयज्ञ का हंस है। और ब्रह्मयज्ञ से युक्त यह प्रणव भी ब्रह्मसूत्र ही है। प्रणव का अन्तर्वर्ती हंस भी ब्रह्मसूत्र ही है। यह ब्रह्मयज्ञ मोक्ष का साधनरूप ही है।

ब्रह्मसन्ध्याक्रिया मनोयागः। संध्याक्रिया मनोयागस्य लक्षणम् ॥18॥
यज्ञसूत्रप्रणवब्रह्मयज्ञक्रियायुक्तो ब्राह्मणः। ब्रह्मचर्येण चरन्ति देवाः। हंससूत्रचर्या यज्ञाः। हंसप्रणवयोरभेदः ॥19॥
हंसस्य प्रार्थनास्त्रिकालाः। त्रिकालास्त्रिवर्णाः। त्रेताग्न्यनुसंधानो यागः। त्रेताग्न्यात्माकृतिवर्णोङ्कारहंसानुसंधानोऽन्तर्यागः ॥20॥

ब्रह्मसन्ध्या मानसिक यज्ञ की क्रिया है। संध्या की क्रिया मनोयाग का लक्षण है। यज्ञोपवीत, प्रणव और ब्रह्मयज्ञ की क्रिया से युक्त मनुष्य ब्राह्मण कहलाता है। देवता लोग ब्रह्मचर्य में ही विचरण करते हैं। हंस और सूत्र से यज्ञ संपन्न किए जाते हैं। इस प्रकार हंस तथा प्रणव में अभेद है।

चित्स्वरूपवत्तन्मयं तुरीयस्वरूपम्। अन्तरादित्ये ज्योतिःस्वरूपो हंसः ॥21॥
यज्ञाङ्गं ब्रह्मसंपत्तिः। ब्रह्मप्रवृत्तौ तत्प्रणवहंससूत्रेणैव ध्यानमा-चरन्ति ॥22॥

चित्स्वरूप में तन्मय हो जाना ही तुर्यावस्था का स्वरूप है। भीतर के आदित्य में हंस ही ज्योतिरूप में अवस्थित है। यज्ञाङ्ग ही ब्रह्मसम्पत्ति है। इसलिए ब्रह्मप्राप्ति की प्रवृत्ति के लिए प्रणवहंस की साधना में ही ध्यान द्वारा विचरण करना चाहिए।

प्रोवाच पुनः स्वयंभुवं प्रतिजानीते ब्रह्मपुत्रो ऋषिर्वालखिल्यः। हंस-सूत्राणि कतिसंख्यानि कियद्वा प्रमाणम् ॥23॥

हृद्यादित्यमरीचीनां पदं षण्णवतिः। चित्सूत्रघ्राणयोः स्वर्निर्गता प्रणव-धारा षडङ्गुलदशाशीतिः ॥24॥

वामबाहुदक्षिणकट्योरन्तश्चरति हंसः परमात्मा ब्रह्मगुह्यप्रकारो नान्यत्र विदितः ॥25॥

जानन्ति तेऽमृतफलकाः। सर्वकालं हंसं प्रकाशकम्। प्रणवहंसान्त-र्ध्यानप्रकृतिं विना न मुक्तिः ॥26॥

ब्रह्मपुत्र वालखिल्य ने फिर से स्वयंभू ब्रह्माजी से पूछा—'हे भगवन्! हंससूत्रों की संख्या कितनी है? और उनके प्रमाण कितने हैं?' तब ब्रह्माजी ने कहा—हृदयादित्य की छियानबे किरणें हैं। और चित्सूत्र प्राण से स्वरसहित निकलने वाली धारा भी छियानबे अंगुल की होती है। प्रणव धारा उतनी लम्बी है। बाँयी भुजा और दाहिनी कमर की छोर के मध्य भाग में (अर्थात् हृदयक्षेत्र में) परमात्मा हंस का निवास है। परन्तु इस गुह्य विषय की जानकारी किसी को प्राप्त नहीं होती। जिन्हें अमृतत्व की प्राप्ति हो चुकी है, वे ही उस सर्वकाल प्रकाशमान हंस को पहचानते हैं। भीतर में स्थित इस प्रणव हंस का ध्यान किए बिना तो मुक्ति मिल नहीं सकती।

नवसूत्रान्परिचर्चितान्। तेऽपि यद्ब्रह्म चरन्ति। अन्तरादित्यं न ज्ञातं मनुष्याणाम् ॥27॥

जगदादित्यो रोचत इति ज्ञात्वा ते मर्त्या विबुधास्तपनप्रार्थनायुक्ता आचरन्ति ॥28॥

वाजपेयः पशुहर्ता अध्वर्युरिन्द्रो देवता अहिंसा धर्मयागः परमहंसोऽध्वर्युः परमात्मा देवता पशुपतिः ॥29॥

ब्रह्मोपनिषदो ब्रह्म। स्वाध्याययुक्ता ब्राह्मणाश्चरन्ति ॥30॥

जो मनुष्य इन परिचर्चित (रंगे हुए) नवसूत्रों वाले यज्ञोपवीत को धारण करते हैं, वे भी उसे ब्रह्ममय मानकर ही उपासना करते हैं। परन्तु इन मनुष्यों के भीतर रहे हुए आदित्यरूप ब्रह्म का ज्ञान तो नहीं होता। सूर्य जगत् को प्रकाशित करता है, ऐसा जानकर ये बुद्धिमान लोग पवित्रता और ज्ञान के लिए उनकी प्रार्थना करते हैं। वाजपेय यज्ञ पशुभाव को दूर करने वाला है। इस यज्ञ के अध्वर्यु और देवता इन्द्र (परमेश्वर) है। यह मानस अहिंसात्मक धर्मयज्ञ (मुक्तियज्ञ) है। इसके अध्वर्यु परमहंस और देवता पशुपति (ईश्वर) हैं। वेद-उपनिषद् का प्रतिपाद्य जो ब्रह्म है, वही ब्रह्म इस स्वाध्याययुक्त ब्रह्मज्ञानियों का भी उपास्य है (वे इसी की उपासना करते हैं)।

अश्वमेधो महायज्ञकथा। तद्राज्ञा ब्रह्मचर्यमाचरन्ति। सर्वेषां पूर्वोक्तब्रह्म-यज्ञक्रमं मुक्तिक्रममिति ॥31॥

ब्रह्मपुत्रः प्रोवाच। उदितो हंस ऋषिः। स्वयंभूस्तिरोदधे। रुद्रो ब्रह्मोपनिषदो हंसज्योतिः पशुपतिः प्रणवस्तारकः स एवं वेद ॥32॥

इति पूर्वकाण्डः।

इस महायज्ञ की जानकारी ही अश्वमेध यज्ञ है। ज्ञानी जन इसका आश्रय लेकर ही ब्रह्मज्ञान आचार में लाते हैं। पूर्वकथित सभी ब्रह्मयज्ञों का करना ही मुक्ति देने में समर्थ है। तब ब्रह्मपुत्र ने फिर से कहा कि 'अब हंस ऋषि का मुझमें उदय हो गया है।' उनका यह वचन सुनकर ब्रह्माजी अन्तर्धान

हो गए। इस उपनिषत् में जिस हंस के तेज का वर्णन किया गया है, वही रुद्र है और संसार से उद्धार करने वाला प्रणव ही पशुपति (ब्रह्म) है। उसे उसी तरह जान लेना चाहिए।

यहाँ पूर्वकाण्ड समाप्त होता है।

❋

उत्तरकाण्डः

हंसात्ममालिकावर्णब्रह्मकालप्रचोदिता।
परमात्मा पुमानिति ब्रह्मसम्पत्तिकारिणी ॥1॥
अध्यात्मब्रह्मकल्पस्याकृतिः कीदृशी कथा।
ब्रह्मज्ञानप्रभासन्ध्या कालो गच्छति धीमताम्।
हंसाख्यो देवमात्माख्यमात्मतत्त्वप्रजाः कथम् ॥2॥

इस अध्यात्ममालिका (हंसमालिका का) जो वर्ण ॐकार है, वही कालेश्वर का स्वरूप प्राप्त करके कर्तव्याकर्तव्य का प्रेरक होता है। वही, ब्रह्म, परमात्मा और पुरुष है। वही संपत्तिकारिणी संविद् है। जो मनुष्य आत्मा के अपने निजी ज्ञान से युक्त हो गया हो, उसके सम्बन्ध में तो क्या कहा जा सकता है? ज्ञानी जन अपना पूरा समय उपासना और ब्रह्मचिन्तन में बिताते हैं। जब हंस और आत्मा में ऐक्य स्थापित हो जाता है फिर तो विश्व, तैजस आदि प्रजा कैसे हो सकती है?

अन्तः प्रणवनादाख्यो हंसः प्रत्ययबोधकः।
अन्तर्गतप्रमागूढं ज्ञाननालं विराजितम् ॥3॥
शिवशक्त्यात्मकं रूपं चिन्मयानन्दवेदितम्।
नादबिन्दुकला त्रीणि नेत्रविश्वविचेष्टितम् ॥4॥
त्रियङ्गानि शिखा त्रीणि द्वित्रीणि संख्यमाकृतिः।
अन्तर्गूढप्रमा हंसः प्रमाणान्निर्गतं बहिः ॥5॥

अन्तःकरण से निकलते हुए प्रणव के नाद से जो हंस जाना जा सकता है, वही सम्पूर्ण ज्ञान देने वाला है। उसके भीतर में अनुभव से गम्य रहस्यमय ज्ञान के द्वारा बाह्य जगत् के ज्ञान की प्राप्ति होती है। उस चिन्मय आनन्द के द्वारा ही शिव-शक्त्यात्मक ज्ञात हो सकता है। नाद, बिन्दु और कला—इन तीनों नेत्रों की जाग्रति से ही यह जगत् चेष्टायुक्त होता है। स्थूलसूक्ष्मादि तीन अंग, विश्वादि तीन शिखा और दो-तीन मात्राओं से उसकी संख्या जानी जा सकती। जब इस प्रकार वह अन्तर्धान हो जाता है, तब उस गूढ़ात्मा का इस बाह्य जगत् में भी प्रमाण के रूप में आविर्भाव होता है। (पहले जो केवल श्रुतिप्रमाणित था वह अब बाह्य प्रमाण वाला भी हो जाता है)।

ब्रह्मसूत्रपदं ज्ञेयं ब्राह्मयं विध्युक्तलक्षणम्।
हंसार्कप्रणवध्यानमित्युक्तो ज्ञानसागरे ॥6॥
एतद्विज्ञानमात्रेण ज्ञानसागरपारगः।
स्वतः शिवः पशुपतिः साक्षी सर्वस्य सर्वदा ॥7॥
सर्वेषां तु मनस्तेन प्रेरितं नियमेन तु।
विषये गच्छति प्राणश्चेष्टते वाग्वदत्यपि ॥8॥

चक्षुः पश्यति रूपाणि श्रोत्रं सर्वं शृणोत्यपि ।
अन्यानि खानि सर्वाणि तेनैव प्रेरितानि तु ॥9॥

जगत् के सूत्ररूप ब्रह्म का ज्ञान प्राप्त करके साधक को अपने आप ही ब्रह्म के लक्षणों से युक्त होना चाहिए। और हमेशा अनवरत हंसरूपी सूर्य का ओंकार के साथ ध्यान करते रहना चाहिए। ऐसा करने वाला ज्ञानसागर रूप ब्रह्म में एक हो जाता है, ऐसा कहा गया है। इस प्रकार के विज्ञानमात्र के द्वारा ज्ञानसागर के पार तक (ब्रह्म तक) पहुँचा जा सकता है। और वह साधक स्वयं शिव, पशुपति और सबका साक्षी बन जाता है। यह भगवान् शिव सबके मन को नियम से प्रेरित करने वाले हैं। उन्हीं की प्रेरणा से इन्द्रिय विषयों की ओर जाती है और प्राण चेष्टा करते हैं, उन्हीं की प्रेरणा से वाणी बोलती है, आँख रूप देखती है और कान सुनते हैं। अन्य सभी इन्द्रियाँ भी उसी के द्वारा प्रेरित होती हैं।

स्वं स्वं विषयमुद्दिश्य प्रवर्तन्ते निरन्तरम् ।
प्रवर्तकत्वं चाप्यस्य मायया न स्वभावतः ॥10॥
श्रोत्रमात्मनि चाध्यस्तं स्वयं पशुपतिः पुमान् ।
अनुप्रविश्य श्रोत्रस्य ददाति श्रोत्रतां शिवः ॥11॥
मनः स्वात्मनि चाध्यस्तं प्रविश्य परमेश्वरः ।
मनस्त्वं तस्य सत्त्वस्थो ददाति नियमेन तु ॥12॥

वे सभी इन्द्रियाँ अपने-अपने विषय को उद्दिष्ट करके प्रवर्तमान होती हैं। इस विषय में उस परम तत्त्व का माया के साथ जो निरन्तर प्रवर्तकत्व होता है, उस परमतत्त्व का प्रवर्तकत्व (प्रेरकत्व) माया के कारण होता है, स्वाभाविक रूप से नहीं। आत्मा में ही श्रोत्रादि अध्यस्त होता है और स्वयं पशुपति भगवान् उस श्रोत्र में अनुस्यूत होकर श्रोत्र को श्रवणशक्ति देते हैं। उसी प्रकार मन भी आत्मा में ही अध्यस्त है उसमें भी यह परमेश्वर अनुप्रविष्ट (अनुस्यूत) होकर इसे 'मनस्त्व' की शक्ति देते हैं। नियमानुसार सत्त्वगुण में स्थित होकर परमेश्वर ही मन को 'मनस्त्व' की शक्ति देते हैं। (सबका सर्जन करके सबमें अनुप्रविष्ट होकर नियम से सृष्टि संचालन-नियमन करते हैं।)

स एव विदितादन्यस्तथैवाविदितादपि ।
अन्येषामिन्द्रियाणां तु कल्पितानामपीश्वरः ॥13॥
तत्तद्रूपमनुप्राप्य ददाति नियमेन तु ।
ततश्चक्षुश्च वाक्चैव मनश्चान्यानि खानि च ॥14॥
न गच्छन्ति स्वयंज्योतिः स्वभावे परमात्मनि ।
अकर्तृविषयप्रत्यक्प्रकाशं स्वात्मनैव तु ॥15॥
विना तर्कप्रमाणाभ्यां ब्रह्म यो वेद वेद सः ।
प्रत्यगात्मा परंज्योतिर्माया सा तु महत्तमः ॥16॥

वह परमात्मा जानी हुई और अनजानी सभी वस्तुओं से अलग ही है। यह कल्पित अन्य इन्द्रियों का भी ईश्वर है, अर्थात् करणरूप और करणचालक रूप अभिमान न होने से उन सब से विलक्षण (ईश्वर) है, वह संसारी नहीं है। इस तरह वह परमेश्वर उस-उस इन्द्रिय का रूप भी धारण करता है और उसे उस-उस की नियमानुसार शक्ति भी वही देता है (वह करणरूप और करणचालकरूप—दोनों होता है)। इससे चक्षु, वाणी, मन और अन्य इन्द्रियाँ स्वयं ज्योति:स्वरूप परमात्मा में अपने स्वरूप में प्रविष्ट नहीं हो सकतीं (भीतर प्रविष्ट नहीं हो सकतीं)। इसलिए बाहर के किसी तर्क या प्रमाण के बिना ही जो मनुष्य निजी अनुभूति के द्वारा परमात्मा को जान लेता है, वही सही रूप से उसे जानता है। वह प्रत्यक् आत्मा स्वयं ज्योतिरूप है, और माया तो बड़े ही अन्धकार जैसी है।

तथा सति कथं मायासंभवः प्रत्यगात्मनि ।
तस्मात्तर्कप्रमाणाभ्यां स्वानुभूत्या च चिद्घने ॥17॥
स्वप्रकाशैकसंसिद्धे नास्ति माया परात्मनि ।
व्यावहारिकदृष्ट्येयं विद्याविद्या न चान्यथा ॥18॥
तत्त्वदृष्ट्या तु नास्त्येव तत्त्वमेवास्ति केवलम् ।
व्यावहारिकदृष्टिस्तु प्रकाशाव्यभिचारतः ॥19॥
प्रकाश एव सततं तस्मादद्वैत एव हि ।
अद्वैतमिति चोक्तिश्च प्रकाशाव्यभिचारतः ॥20॥

ऐसा होने पर इस स्वयंज्योति प्रत्यगात्मा में तमोरूपी माया का संभव कैसे हो सकता है? इसलिए इस चिद्घन परमात्मा के बारे में तर्क और प्रमाण के साथ अपनी अनुभूति के द्वारा, 'स्वप्रकाशरूप, स्वयंसिद्ध, परमात्मा में माया हो ही नहीं सकती'—ऐसा सिद्ध हो जाता है। ये जो विद्या, अविद्या आदि के भेद किए जाते हैं, वे तो केवल व्यवहार की दृष्टि से ही किए जाते हैं क्योंकि सब जगह आत्मा का प्रकाश है उसका कहीं व्यभिचार (अपवाद) नहीं है। सर्वत्र आत्मा का ही प्रकाश है, इसलिए सर्वत्र अद्वैत ही है। प्रकाश का कहीं भी व्यभिचार (अपवाद) न होने से ही 'अद्वैत' ऐसी उक्ति (सार्थक) है।

प्रकाश एव सततं तस्मान्मौनं हि युज्यते ।
अयमर्थो महान्यस्य स्वयमेव प्रकाशितः ॥21॥
न स जीवो न च ब्रह्म न चान्यदपि किञ्चन ।
न तस्य वर्णा विद्यन्ते नाश्रमाश्च तथैव च ॥22॥
न तस्य धर्मोऽधर्मश्च न निषेधो विधिर्न च ।
यदा ब्रह्मात्मकं सर्वं विभाति तत एव तु ॥23॥
तदा दुःखादिभेदोऽयमाभासोऽपि न भासते ।
जगज्जीवादिरूपेण पश्यन्नपि परात्मवित् ॥24॥

सर्वत्र सतत प्रकाश ही है, अत: मौन ही योग्य है, यह स्वयंप्रकाशित होते रहना ही इस परमात्मा की बड़ी अन्वर्थकता है। यह परमात्मा न जीव है, न ब्रह्म है, और भी कोई सापेक्ष नाम उसे दिया नहीं जा सकता। उसको कोई ब्राह्मणादि वर्ण नहीं है और ब्रह्मचर्यादि कोई आश्रम भी नहीं होता। उसके लिए न कोई धर्म है, न कोई अधर्म है, न कोई विधि है, न कोई निषेध ही है। जब सर्वत्र मात्र एक ब्रह्मतत्त्व ही है, तब तो सब कुछ ब्रह्ममय ही दीखता है। जब सब ब्रह्ममय हो जाता है तब तो दु:ख आदि भेद भी नहीं होता, यह सारा बाह्य आभास भी उस परमात्मा को जानने वाले को नहीं दिखाई देता, भले ही वह जगत् और जीव आदि रूपों को देखता रहता हो।

न तत्पश्यति चिद्रूपं ब्रह्मवस्त्वेव पश्यति ।
धर्मधर्मित्ववार्ता च भेदे सति हि भिद्यते ॥25॥

भेदाभेदस्तथा भेदाभेदः साक्षात्परात्मनः।
नास्ति स्वात्मातिरेकेण स्वयमेवास्ति सर्वदा ॥26॥
ब्रह्मैव विद्यते साक्षाद्वस्तुतोऽवस्तुतोऽपि च।
तथैव ब्रह्मविज्ञानी किं गृह्णाति जहाति किम् ॥27॥
अधिष्ठानमनौपम्यमवाङ्मनसगोचरम्।
यत्तदद्रेश्यमग्राह्यमगोत्रं रूपवर्जितम् ॥28॥

उस अद्वैतावस्था में चित् का कोई रूप वह ज्ञानी नहीं देखता—रूप और रूपी का भेद नहीं देखता। वह केवल ब्रह्मपदार्थ को ही देखता (अनुभव करता) है। क्योंकि जब भेद हो तभी धर्म (रूप) और धर्मी (चित्) की बात हो सकती है। जब भेद-अभेद की यही उपर्युक्त स्थिति है, तब तो उस परमात्मा में न कोई भेद हो सकता है, न ही कोई अभेद ही हो सकता है। क्योंकि अपने आत्मा के अतिरिक्त और कुछ है ही नहीं, वह स्वयं एकमात्र अद्वैत ही विद्यमान है। केवल साक्षात् ब्रह्म ही है—पारमार्थिक रूप से भी और अन्य दृष्टि से भी जब वही है, तब भला वह ब्रह्मज्ञानी किसका ग्रहण करेगा और किसका त्याग करेगा ? जो परमतत्त्व अधिष्ठानरूप, उपमारहित, वाणी और मन से अगोचर है, जो अदृश्य, अग्राह्य, गोत्ररहित और रूपहीन है और—

अचक्षुःश्रोत्रमत्यर्थं तदपाणिपदं तथा।
नित्यं विभुं सर्वगतं सुसूक्ष्मं च तदव्ययम् ॥29॥
ब्रह्मैवेदममृतं तत्पुरस्ताद्ब्रह्मानन्दं परमं चैव पश्चात्।
ब्रह्मानन्दं परमं दक्षिणे च ब्रह्मानन्दं परमं चोत्तरे च ॥30॥
स्वात्मन्येव स्वयं सर्वं सदा पश्यति निर्भयः।
तदा मुक्तो न मुक्तश्च बद्धस्यैव विमुक्तता ॥31॥
एवंरूपा परा विद्या सत्येन तपसापि च।
ब्रह्मचर्यादिभिर्धर्मैर्लभ्या वेदान्तवर्त्मना ॥32॥

—वह चक्षुरहित, श्रोत्ररहित, हाथरहित, पैररहित, वह नित्य, विभु, सर्वगत और अत्यन्त सूक्ष्म तथा बिल्कुल ही अव्यय (व्ययरहित) है। यही अमृतरूप ब्रह्म हमारे आगे भी है, यही परम ब्रह्मानन्द हमारे पीछे भी है, वही परम ब्रह्मानन्द हमारी दाहिनी ओर भी है, वही परम ब्रह्मानन्द हमारी बायीं ओर (उत्तर में) भी है। उसे जब निर्भय योगी अपने आत्मा में ही देख लेता है, तब ज्ञानी मुक्त न होते हुए भी (संसार के सभी कार्य करते हुए भी) मुक्त हो जाता है क्योंकि वह मन से तो मुक्त ही है और मन में बँधे हुए मनुष्य में ही मुक्ति का होना युक्त है, मुक्त की भला क्या मुक्ति ? इस प्रकार की जो परा विद्या है, वह सत्य से या तप से और ब्रह्मचर्यादि के पालन से वेदान्तनिर्दिष्ट मार्ग के द्वारा प्राप्त की जा सकती है।

स्वशरीरे स्वयंज्योतिःस्वरूपं पारमार्थिकम्।
क्षीणदोषाः प्रपश्यन्ति नेतरे मायया़ऽऽवृताः ॥33॥
एवं स्वरूपविज्ञानं यस्य कस्यास्ति योगिनः।
कुत्रचिद्गमनं नास्ति तस्य सम्पूर्णरूपिणः ॥34॥
आकाशमेकं सम्पूर्णं कुत्रचिन्न हि गच्छति।
तद्वद्ब्रह्मात्मविच्छ्रेष्ठः कुत्रचिन्नैव गच्छति ॥35॥

अभक्ष्यस्य निवृत्त्या तु विशुद्धं हृदयं भवेत्।
आहारशुद्धौ चित्तस्य विशुद्धिर्भवति स्वतः ॥36॥

जिन लोगों के दोष क्षीण हो चुके हों, वे ही अपने शरीर में पारमार्थिक स्वयंज्योतिःस्वरूप को, देख सकते हैं। माया के द्वारा आवृत अन्य लोग नहीं देख सकते हैं। जिस किसी भी योगी को इस प्रकार का स्वरूपज्ञान हो जाता है, उसके लिए कहीं भी आने-जाने की कोई आवश्यकता नहीं रहती, क्योंकि वह संपूर्ण—सभी का स्वरूप हो गया हुआ होता है। जैसे आकाश एक और संपूर्ण है, उसका कहीं भी आना-जाना नहीं होता, उसी प्रकार ब्रह्मविदों में श्रेष्ठ यह पुरुष भी गमनागमन-रहित हो जाता है। अभक्ष्य का भक्षण नहीं करने से हृदय विशुद्ध हो जाता है और आहार की शुद्धि से चित्त की शुद्धि तो स्वाभाविक रूप से हो ही जाती है।

चित्तशुद्धौ क्रमाज्ज्ञानं त्रुट्यन्ति ग्रन्थयः स्फुटम्।
अभक्ष्यं ब्रह्मविज्ञानविहीनस्यैव देहिनः ॥37॥
न सम्यग्ज्ञानिनस्तद्वत्स्वरूपं सकलं खलु।
अहमन्नं सदान्नाद इति हि ब्रह्मवेदनम् ॥38॥
ब्रह्मविद्ग्रसति ज्ञानात्सर्वं ब्रह्मात्मनैव तु।
ब्रह्मक्षत्रादिकं सर्वं यस्य स्यादोदनं सदा ॥39॥
यस्योपसेचनं मृत्युस्तं ज्ञानी तादृशः खलु।
ब्रह्मस्वरूपविज्ञानाज्जगद्भोज्यं भवेत्खलु ॥40॥

चित्त की शुद्धि हो जाने पर क्रम से धीरे-धीरे ज्ञान उदित होता है और हृदय की गाँठें स्पष्ट रूप से टूटने लगती हैं। जो भक्ष्य-अभक्ष्य की बात है, वह तो ब्रह्मविज्ञान से रहित देहधारियों के लिए ही है। ये बातें सम्यग् ज्ञानवाले के लिए नहीं हैं। क्योंकि उसके लिए तो यह सब कुछ स्वरूपमय ही है। 'मैं ही अन्न हूँ, मैं ही सदाचार हूँ'—ऐसी भावना ही ब्रह्मज्ञान कहलाती है। ब्रह्म को जानने वाला अपने ज्ञान से सबमें निवास करता है। सर्व ब्रह्म उसके आत्मा के द्वारा ही उसने जाना है। इसलिए ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि सब भावनाओं को वह अपने आत्मा में ही (ओदन की तरह) पचा लेता है। जो ब्रह्म मृत्यु को भी अपना ओदन (उपसेचन=पाच्य) करता है, तो यह ज्ञानी भी तो वैसा ही करता है, क्योंकि वह भी तो वैसा ही है। ब्रह्मस्वरूप के विज्ञान से सारा जगत् उसका पाच्य (भोज्य) ओदन हो जाता है।

जगदात्मतया भाति यदा भोज्यं भवेत्तदा।
ब्रह्मस्वात्मतया नित्यं भक्षितं सकलं तदा ॥41॥
यदाभासेन रूपेण जगद्भोज्यं भवेत्तु तत्।
मानतः स्वात्मना भातं भक्षितं भवति ध्रुवम् ॥42॥
स्वस्वरूपं स्वयं भुङ्क्ते नास्ति भोज्यं पृथक् स्वतः।
अस्ति चेदस्तितारूपं ब्रह्मैवास्तित्वलक्षणम् ॥43॥
अस्तितालक्षणा सत्ता सत्ता ब्रह्म न चापरा।
नास्ति सत्तातिरेकेण नास्ति माया च वस्तुतः ॥44॥

जब अपनी आत्मता के द्वारा यह सारा जगत् भोज्य दिखाई देता है, तब यह आत्मा ब्रह्मरूप होकर सकल जगत् का भक्षण करता है। जब यह जगत् आभासित होता है, तब वह भोज्य होता है,

और जब सब ब्रह्ममय ही हो जाता है, तब यह जगत् भक्षित हो गया है, यह निश्चय है। यह ब्रह्म अपने ही स्वरूप को भोज्य करता है, क्योंकि अलग भोज्य तो है ही नहीं। यदि है तो केवल सत्तारूप स्वलक्षण ब्रह्म ही है। यह जो 'होना' रूप सत्ता है, वह वास्तव में ब्रह्म ही है। और कुछ नहीं है। इस सत्ता के सिवा माया कुछ है ही नहीं।

योगिनामात्मनिष्ठानां माया स्वात्मनि कल्पिता।
साक्षिरूपतया भाति ब्रह्मज्ञानेन बाधिता ॥45॥
ब्रह्मविज्ञानसम्पन्नः प्रतीतमखिलं जगत्।
पश्यन्नपि सदा नैव पश्यति स्वात्मनः पृथक् ॥46॥ इत्युपनिषत्।

इति उत्तरकाण्डः।

इति पाशुपतब्रह्मोपनिषत्समाप्ता।
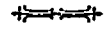
आत्मनिष्ठ योगियों के लिए माया तो अपने आत्मा में केवल कल्पित ही है। उनके साक्षीभाव से ब्रह्मज्ञान द्वारा वह बाधित हो जाती है। ब्रह्मज्ञान से सम्पन्न योगी इस दृश्य अखिल जगत् को देखता हुआ भी अपने आत्मा से उसे अलग नहीं देखता। यहाँ उपनिषत् पूरी होती है।

यहाँ उत्तर काण्ड समाप्त होता है।

इस प्रकार पाशुपतब्रह्मोपनिषत् समाप्त होती है।

शान्तिपाठः

ॐ भद्रं कर्णेभिः—देवहितं यदायुः। (पूर्ववत्)
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

(80) परब्रह्मोपनिषत्

(उपनिषत्परिचय)

अथर्ववेदीय इस उपनिषद् में गद्यकण्डिकाएँ और श्लोक मिलकर कुल बीस मंत्र हैं। इसमें विशद रूप से संन्यासधर्म कहा गया है। इसमें कहा गया है कि मुमुक्षु को शिखा और उपवीत भीतर में और गृहस्थ को उन्हें बाहर रखना चाहिए। प्रत्येक का शरीर उसके छियानबे अंगुल के परिमाण का होता है, तदनुसार जनेऊ का सूत्र भी छियानबे बार चार अंगुलों के आसपास लपेटा जा सके उतना लम्बा होता है। बाद में उसे सूर्य, चन्द्र और अग्नि की कला के अनुरूप तिगुना किया जाता है। बाद में उसमें ब्रह्मा-विष्णु-शिव का अनुसन्धान करके, दोनों छोरों को मिलाकर उसमें अद्वैतग्रन्थि बाँधी जाती है। फिर उसे बाँये कन्धे पर और दाहिनी कमर पर पहनाया जाता है। मुमुक्षु को चाहिए कि वह ऐसे बाँधी जनेऊ और शिखा को छोड़कर अपने भीतर ही ज्ञानरूप उपवीत और ज्ञानरूप शिखा को पहन ले। ऐसे ब्रह्मज्ञान रूप उपवीत और ब्रह्मज्ञानरूप शिखा को धारण करने वाला ही वास्तव में सच्चा ब्राह्मण कहलाता है।

शान्तिपाठः

ॐ भद्रं कर्णेभिः—देवहितं यदायुः। (पूर्ववत्)
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

इसका हिन्दी रूपान्तर पूर्व में (शाण्डिल्योपनिषद् में) द्रष्टव्य है।

अथ हैनं महाशालः शौनकोऽङ्गिरसं भगवन्तं पिप्पलादं विधिवदुपसन्नः प्रपच्छ। दिव्ये ब्रह्मपुरे के सम्प्रतिष्ठिता भवन्ति खलु। कथं सृजन्ते। नित्यात्मन एष महिमा विभज्य एष महिमा विभुः। क एषः तस्मै स होवाच। एतत् सत्यं यत् प्रब्रवीमि ब्रह्मविद्यां वरिष्ठां देवेभ्यः प्राणेभ्यः। परब्रह्मपुरे विरजं निष्कलं शुभ्रमक्षरं विरजं विभाति। स नियच्छति मधुकरराश्या निर्मकः। अकर्मस्वपुरस्थितः। कर्मकः कर्षकवत् फल-मनुभवति। कर्ममर्मज्ञाता कर्म करोति। कर्ममर्म ज्ञात्वा कर्म कुर्यात्। को जालं विक्षिपेदेको नैनमपकर्षत्यपकर्षति ॥1॥

एक बार महाशाल (बुद्धिमान) शौनक ने अंगिरसगोत्रीय भगवान् पिप्पलाद के पास यथाविधि समीप बैठकर पूछा—"क्या इस संसार में उत्पन्न होने वाले सभी पदार्थ दिव्य ब्रह्मपुर में (हिरण्यगर्भ में) ही प्रतिष्ठित रहते हैं? बाद में उनके द्वारा कैसे बनाए जाते हैं? नित्यात्मा की यह कैसी महिमा है? इस विभु परमात्मा की महिमा क्या है? यह व्यापक कौन है?" तब पिप्पलाद ने उनसे कहा—जो श्रेष्ठ ब्रह्मविद्या है, वह मैं तुमसे कहूँगा। वह सत्यरूप है, वह प्राणों और देवों (इन्द्रियों) को अपने-अपने विषय को ग्रहण करने की शक्ति देता है। इस ब्रह्मपुर में वह रजस् आदि तीन गुणों से रहित, कला (अंशों) से रहित, शुभ्र, अक्षर, निर्मल तत्त्व विराजमान है। वह 'निर्मक'

(निर्माणकर्ता) कहलाता है, क्योंकि वह जीवसमूह (मधु = कर्म और कर = करने वाले जीव) के बन्धन और मुक्ति का निर्माण करता है। यह परमात्मा अपने ही स्थान में रहकर अकर्मरूप में विद्यमान रहता है, तथा कर्म करते हुए किसान की भाँति फलों का अनुभव भी करता है। वह कर्म के मर्म को जानकर कर्म करता है। कर्म के मर्म (रहस्य) को समझकर ही कर्म करने चाहिए। एकमात्र ब्रह्म में ही चित्त लगाने वाला कौन ऐसा विवेकी है कि जो विविध प्रकार के कर्मजाल में फँसकर अपना अपकर्ष करेगा ? (अर्थात् कोई नहीं।) (आशय यह है कि निष्कामकर्मी के द्वारा किए गए कर्म उसे संसार की ओर खींच नहीं सकते।)

प्राणदेवताश्चत्वारः। ताः सर्वा नाड्यः सुषुप्तश्येनाकाशवत्। यथा श्येनः खमाश्रित्य याति स्वमालयं कुलायम्। एवं सुषुप्तं ब्रूतायं च परं च। स सर्वत्र हिरण्मये परे कोशे अमृता ह्येषा नाडीत्रयं सञ्चरति। तस्य त्रिपादं ब्रह्म एषात्रेष्य ततोऽनुतिष्ठति। अन्यत्र ब्रूतायं च परं च। सर्वत्र हिरण्मये परे कोशे यथैष देवदत्तो यष्ट्या च ताड्यमानो नैवेत्येवमिष्टापूर्तशुभाशुभैर्न लिप्यते। यथा कुमारको निष्काम आनन्दमभियाति। यथैष देवः स्वप्न आनन्दमभिधावति। वेद एव परं ज्योतिः। ज्योतिषा मा ज्योतिरानन्दयत्येवमेव। तत्परं यच्चित्तं परमात्मानमानन्दयति। शुभ्रवर्णमाजायतेश्वरात्। भूयस्तेनैव मार्गेण स्वप्नस्थानं नियच्छति। जलूकाभाववद्व्यर्थाकाममाजायतेश्वरात्। तावतात्मानमानन्दयति। परसन्धि यदपरसन्धीति। तत्परं नापरं त्यजति। तदैवं कपालाष्टकं संधाय य एष स्तन इवावलम्बते। सेन्द्रयोनिः स वेदयोनिरित्यत्र जाग्रति। शुभाशुभातिरिक्तः शुभाशुभैरपि कर्मभिर्न लिप्यते। य एष देवोऽन्यदेवस्य संप्रसादोऽन्तर्याम्यसङ्गचिद्रूपः पुरुषः प्रणवहंसः परं ब्रह्म न प्राणहंसः प्रणवो जीवः। आद्या देवता निवेदयति। य एवं वेद। तत्कथं निवेदयते। जीवस्य ब्रह्मत्वमापादयति ॥2॥

जीवाधार प्राण की विश्वादि चार देवताएँ हैं। उन्हें प्राप्त करने वाली रमा, अरमा, इच्छा और पुनर्भवा नामक चार नाड़ियाँ होती हैं। इनमें रमा और अरमा नाड़ियों का आधार लेकर प्राण जाग्रत्, स्वप्न आदि में थककर, जिस प्रकार आकाशचारी बाज आकाश में विचरण करते हुए थककर अपने घोंसले में आराम के लिए चला जाता है, उसी प्रकार (वह प्राण) सुषुप्तावस्था में चला जाता है। यों तो यह अमृतरूप देवता सर्वत्र व्यापक हिरण्यमय, परकोश में (हृदयाकाश में) रमा आदि तीन नाड़ियों का आश्रय लेकर संचरण करता ही रहता है। इसके बाद अब उसका त्रिपाद ब्रह्मरूप ही शेष रह जाता है। इसके बाद यह प्राणदेवता (जीव) अपने वास्तविक स्वरूप को प्राप्त करता है। अन्यत्र (अन्य अवस्थाओं में) भी अपनी स्वतंत्र अवस्था मानकर घूमता है। सर्वत्र सदैव हिरण्मय परकोश में आवरण में आच्छादित रहकर घूमता हैं। जिस प्रकार सोये हुए देवदत्त को लाठी से मारे जाने पर वह फिर नहीं सोता, उसी प्रकार शास्त्रादि द्वारा जगाया गया व्यक्ति अवस्थात्रय या इष्टापूर्तादि कर्मों में लिप्त नहीं होता। जैसे कोई बालक किसी इच्छा से रहित होकर यथाप्राप्त वस्तुओं से आनन्दित होता है, वैसे ही यह जीव भी स्वप्नादि में आनन्द लेता रहता है। वह श्रुति या आचार्य से जान लेता है कि—मैं परम ज्योति:स्वरूप हूँ; जैसे ज्योति से ज्योति आनन्दित होती है, वैसे ही मैं अपने से आनन्दित हूँ। अर्थात्

परमज्योतिपरायण मेरा चित्त आनन्दनिमग्न होता है। ईश्वर से शुभ्र भाव (निर्विकल्पभाव) उत्पन्न होता है। इससे चित्त प्रसन्न होता है। इस प्रकार त्रिकुटिविरल निर्विकल्प समाधि का अनुभव करके वह स्वप्नस्थान में विश्राम करता है। जैसे जोंक एक तिनके से दूसरे तिनके पर जाती है, उसी प्रकार वह विज्ञान भी तुर्य जागरण से तुर्य स्वप्न में शीघ्र जाकर विश्राम करता है। ईश्वर की कृपा से केवल इच्छा करने से ही ऐसी स्थिति हो जाती है। इस कारण से जीव सविकल्प-निर्विकल्प समाधि से अपनी आत्मा को आनन्दित करता है। बाद में जीवात्मा-परमात्मा में जो सापेक्ष भेदरूप अविद्या है उसका भी यह आत्मा त्याग कर देता है। इस प्रकार यह अविद्यारहित आत्मतत्त्व पर का त्याग करके अपर का त्याग नहीं करता, वह तो विद्यमान ही रहता है। यदि केवल श्रवणादि से निर्विशेष ब्रह्म की प्राप्ति नहीं होती, तो कपालाष्टक का सन्धान करना चाहिए (अष्टकपाल अर्थात् यमनियमादि आठ योगांग) अर्थात् इनके द्वारा ब्रह्मज्ञान प्राप्त करना चाहिए। इस योगध्यान का अधिकरण, स्तन-हृदयस्थान में स्थित केले के पुष्प की तरह लटकता रहता है। वह योग के समय विकसित होकर ऊपर उठता है। इसमें इन्द्रयोनि—परमात्मप्राप्ति का मार्ग, जो वेदयोनि कहा जाता है वह ईश्वर जाग्रत् रहता है। इस तरह जो अपने हृदयकमल में ईश्वर का ध्यान करता है, वह शुभ और अशुभ से परे होकर शुभाशुभ कर्मों से लिप्त नहीं होता। यह देव अन्य देवों को अति प्रसन्नता देने वाला, अन्तर्यामी, असंग, चिद्रूप पुरुष, प्रणवहंस (ओंकार) और परब्रह्म है। जो मुख्य प्राण है, वह हंस नहीं है। प्रणव ही जीव है। इस जीव को आद्या देवता कहते हैं। जो इस प्रकार यथार्थ रूप में जानता है वह भला जीव और ब्रह्म के भेद को कैसे बता सकता है ? वह तो जीव के ब्रह्मत्व को ही प्रतिपादित करेगा।

सत्त्वमथास्य पुरुषस्यान्तःशिखोपवीतित्वम्। ब्राह्मणस्य मुमुक्षोरन्तःशिखोपवीतधारणम्। बहिर्लक्ष्यमाणशिखायज्ञोपवीतधारणं कर्मिणो गृहस्थस्य। अन्तरुपवीतलक्षणं तु बहिस्तन्तुवदव्यक्तमन्तस्तत्त्वमेलनम् ॥3॥

ऐसे ब्रह्मरूप पुरुष का आंतरिक सत्त्व ही शिखा और यज्ञोपवीत है। मुमुक्षु ब्राह्मण को ऐसी आन्तरिक शिखा और आन्तरिक यज्ञोपवीत धारण करने चाहिए। बाहर दिखाई देने वाली शिखा और वैसा ही यज्ञोपवीत धारण करना तो गृहस्थों का कर्तव्य है। आन्तरिक शिखा और यज्ञोपवीत बाह्य शिखा और बाह्य सूत्रवाली यज्ञोपवीत की तरह व्यक्त नहीं होते। वे तो आन्तरिक और अव्यक्त होते हैं और ब्रह्मत्व से मेल कराने वाले होते हैं।

न सन्नासन्न सदसद्भिन्नाभिन्नं न चोभयम्।
न सभागं न निर्भागं न चाप्युभयरूपकम्।
ब्रह्मात्मैकत्वविज्ञानहेयं मिथ्यात्वकारणात् ॥4॥ इति।

अविद्या का स्वरूप सत् भी नहीं है, असत् भी नहीं है, वह सत्-असत् से भिन्न भी नहीं है, वह उभयात्मक भी नहीं है। वह सभाग भी नहीं और अभाग भी नहीं है। वह सभागनिर्भाग—उभयरूप भी नहीं है। इसलिए जहाँ तक ब्रह्मात्मैकत्व उदित नहीं होता, वहाँ तक ही अविद्या रहती है। ब्रह्मज्ञान हो जाने के बाद तो वह हेय (त्याज्य) ही है। क्योंकि यह सब मिथ्या ही है।

पञ्चपादब्रह्मणो न किञ्चन। चतुष्पादन्तर्वर्तिनोऽन्तर्जीवब्रह्मणश्चत्वारि स्थानानि। नाभिहृदयकण्ठमूर्धसु जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तितुर्यावस्थाः। आहव-

नीयगार्हपत्यदक्षिणसभ्याग्निषु। जागरिते ब्रह्मा, स्वप्ने विष्णुः, सुषुप्तौ रुद्रः, तुरीयमक्षरं चिन्मयम्। तस्माच्चतुरवस्था चतुरङ्गुलवेष्टनमिव षण्णवतितत्त्वानिं तन्तुवद्विभज्य, तदाहितं त्रिगुणीकृत्य द्वात्रिंशत्तत्त्व-निष्कर्षमापाद्य, ज्ञानपूतं त्रिगुणस्वरूपं त्रिमूर्तित्वं पृथग्विज्ञाय, नव-ब्रह्माख्यनवगुणोपेतं ज्ञात्वा, नवमानमितं त्रिः पुनस्त्रिगुणीकृत्य सूर्येन्द्वग्निकलास्वरूपत्वेनैकीकृत्य, आद्यन्तरेकत्वमपि मध्ये त्रिरावर्त्य ब्रह्मविष्णुमहेश्वरत्वमनुसन्धाय, आद्यन्तमेकीकृत्य चिद्ग्रन्थावद्वैतग्रन्थिं कृत्वा, नाभ्यादिब्रह्मबिलप्रमाणं पृथक्पृथक्सप्तविंशतितत्त्वसम्बन्धं त्रिगुणोपेतं त्रिमूर्तिलक्षणलक्षितमप्येकत्वमापाद्य, वामांसादिदक्षिण-कट्यन्तं विभाव्य, आद्यन्तग्रहसम्मेलनमेवं ज्ञात्वा मूलमेकम्, सत्यं मृण्मयं विज्ञातं स्याद्वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्। हंसेति वर्णद्वयेनान्तःशिखोपवीतित्वं निश्चित्य, ब्राह्मणत्वं ब्रह्मध्यानार्हत्वम्, यतित्वमलक्षितान्तःशिखोपवीतित्वम्, एवं बहिर्लक्षितकर्मशिखाज्ञानो-पवीतं गृहस्थस्य, आभासब्राह्मणत्वस्य केशसमूहशिखाप्रत्यक्षकार्पास-तन्तुकृतोपवीतित्वम्। चतुः चतुर्गुणीकृत्य चतुर्विंशतितत्त्वापादनतन्तु-कृत्त्वम्, नवतत्त्वमेकमेव परं ब्रह्म, तत्प्रतिसरयोग्यत्वाद्बाहुमार्गप्रवृत्तिं कल्पयन्ति। सर्वेषां ब्रह्मादीनां देवर्षीणां मनुष्याणां मुक्तिरेका ब्रह्मैकमेव ब्राह्मणत्वमेकमेव। वर्णाश्रमाचारविशेषाः पृथक्पृथक्, शिखा वर्णा-श्रमिणामेकमेव, अपवर्गस्य यतेः शिखायज्ञोपवीतमूलं प्रणवमेकमेव वदन्ति। हंसः शिखा, प्रणवमुपवीतम्, नादः संधानम्। एष धर्मो नेतरो धर्मः। तत् कथमिति। प्रणवो हंसो नादस्त्रिवृत्सूत्रं स्वहृदि चैतन्ये तिष्ठति। त्रिविधं ब्रह्म तद्विद्धि। प्रापञ्चिकशिखोपवीतं त्यजेत्॥5॥

जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्ति-तुरीय-तुरीयातीत—इन पाँच पादों वाले ब्रह्म के सिवा कुछ भी नहीं है। इनमें पहले चार पादों में स्थित जीवरूप ब्रह्म के चार स्थान हैं—नाभि, हृदय, कण्ठ और मूर्धा। ब्रह्म के ये स्थान क्रमशः जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति और तुर्यावस्था में रहते हैं। आहवनीय, गार्हपत्य, दक्षिण और सभ्य—इन चार प्रकार के अग्नियों में उन चार प्रकार का आत्मभाव यथासंभव करना चाहिए। तथा जाग्रत् में ब्रह्मा, स्वप्न में विष्णु तथा सुषुप्त में रुद्र और तुरीयावस्था में अक्षर चिद्रूप का ध्यान करना चाहिए। इस प्रकार जीवरूप ब्रह्म की चार अवस्थाएँ हुईं। ये चार अवस्थाएँ ही चार अँगुलियों का वेष्टन, जो यज्ञोपवीत बनाने में किया जाता है, वह है। इसमें छियानबे तत्त्व लपेटे जाते हैं। इसके तीन गुने भाग करके तीन गुने रूप द्वारा बत्तीस तत्त्वों के निष्कर्ष का सम्पादन करके ज्ञानपूत, त्रिगुणरूप तीन लड़ें और त्रिमूर्तिरूप को पृथक् जानकर नौ ब्रह्म अर्थात् नौ गुणों (नौ धागों) को जानकर, नौ के मान (परिमाण) से तीन को फिर से तीन गुना करके सूर्य-चन्द्र-अग्नि की कला के स्वरूप से एकीकृत करके फिर आदि-मध्य-अन्त की तीन आवृत्तियाँ करके ब्रह्मा-विष्णु-रुद्र का अनुसन्धान करके आवृत्तियों को आदि से अन्त तक एक करके, चिद्ग्रन्थि में अद्वैत ग्रन्थि बनाकर, नाभि से लेकर ब्रह्मरन्ध्र तक के परिमाण में अलग-अलग सत्ताईस तत्त्वों से सम्बद्ध त्रिगुणयुक्त (तीन लड़ों वाला), त्रिमूर्तिरूप (तीन अलग रूपों) में दिखाई पड़ने पर भी उनमें एकत्व सम्पादन करके बाँयें कन्धे से लेकर दाहिनी कमर तक इसे धारण करके ही चित्त को शुद्ध किया जा सकता है। इस यज्ञोपवीत के विषय

में यह जान लेना चाहिए कि इसके बहुत से तत्त्वों का मूल तो एक ही है। जैसे मिट्टी से बने घटादि अनेक पात्रों में मिट्टी ही केवल एक तत्त्व है। वैसे ही ब्रह्म से निर्मित सब कुछ ब्रह्म ही है। और सब दृश्यपदार्थ तो वाणी की व्यर्थता हैं, विकार ही हैं। 'हंसः', 'सोऽहम्'—इन दो अक्षरों को ही अन्तःशिखा और अन्तर्यज्ञोपवीत निश्चय मानकर ही ब्राह्मणत्व और यतित्व की प्राप्ति होती है। इनके लिए तो शिखा और यज्ञोपवीत अलक्षित (अन्तर्वर्ती) ही होते हैं। बाहर दीखने वाली कर्मरूप शिखा और ज्ञानरूप उपवीत तो गृहस्थों के लिए ही होती हैं। बाहर की केशसमूहरूप शिखा और कपास के धागों से बनाई गई उपवीत तो मात्र ब्राह्मणत्व और वैदिकधर्मानुष्ठान की योग्यता का आभासक ही है। यज्ञोपवीत का सूत्र चौबीस तत्त्वों का चार गुना अर्थात् छियानबे तत्त्वरूपी एक ही ब्रह्म का प्रतिपादन करते हैं, एवं यज्ञोपवीत के नौ धागे भी ब्रह्म के ही प्रतिपादक हैं। ब्रह्म तो वास्तव में एक ही है, परन्तु बहुत लोग अपनी-अपनी बुद्धि के अनुसार उसकी प्राप्ति के विविध उपायों की कल्पना करते हैं। सभी ब्राह्मणों, देवर्षियों और मनुष्यों के लिए मुक्ति, ब्रह्म और ब्राह्मणत्व तो एकसमान ही है। केवल वर्णाश्रम और आचार अलग-अलग हैं। वर्णाश्रम व्यवस्थावालों के लिए शिखा का स्वरूप एक ही है। मोक्षाधिकारी यति की शिखा और उपवीत का मूल प्रणव ही कहा जाता है। यतियों के लिए हंस = ब्रह्मज्ञान ही शिखा और तुरीय = प्रणव ही उपवीत है। तथा नाद ही इन दोनों का जोड़नेवाला अनुसंधान होता है। इनका कोई दूसरा धर्म नहीं होता। प्रणव, हंस और नाद ही उनका तीन लड़ों वाला सूत्र है। वह अपनी ही महिमा में अपने आप विराजमान है। वह चैतन्यरूप से हृदय में प्रकाशित है। पर-अपर भेद से वह दो प्रकार का है। इसको जानकर जागतिक शिखा और यज्ञोपवीत का त्याग ही कर देना चाहिए।

सशिखं वपनं कृत्वा बहिःसूत्रं त्यजेद् बुधः।
यदक्षरं परं ब्रह्म तत्सूत्रमिति धारयेत्॥6॥
पुनर्जन्मनिवृत्त्यर्थं मोक्षस्याहर्निशं स्मरेत्।
सूचनात् सूत्रमित्युक्तं सूत्रं नाम परं पदम्॥7॥
तत्सूत्रं विदितं येन स मुमुक्षुः स भिक्षुकः।
स वेदवित् सदाचारी स विप्रः पङ्क्तिपावनः॥8॥
येन सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव।
तत् सूत्रं धारयेद्योगी योगविद् ब्राह्मणो यतिः॥9॥

इसलिए आत्मज्ञानी मनुष्य को शिखासहित मुण्डन करवाकर बाहर के यज्ञोपवीत को छोड़ देना चाहिए और जो अक्षर-परब्रह्मरूप उपवीत है, उसे धारण करना चाहिए। पुनर्जन्म से मुक्ति पाने के लिए उसे बार-बार मोक्ष का स्मरण करते रहना चाहिए। सूचना देने वाला होने से ही ब्रह्मरूपी सूत्र को परमपदरूपी सूत्र कहा गया है। इस सूत्र को जिसने पहचान लिया है, वही सही रूप में मुमुक्षु है, सही भिक्षु है और वही वेदविद्, वही सदाचारी, वही विप्र और वही अनेक प्राणियों को पवित्र करने वाला कहा जाता है। सूत्र में मणियों के समूह की भाँति जिसमें यह सारा जगत् पिरोया गया है, उसी ब्रह्मरूप सूत्र को ही योग को जानने वाले ब्रह्मज्ञ यति को धारण करना चाहिए।

बहिःसूत्रं त्यजेद्विप्रो योगविज्ञानतत्परः।
ब्रह्मभावमयं सूत्रं धारयेद्यः स मुक्तिभाक्।
नाशुचित्वं न चोच्छिष्टं तस्य सूत्रस्य धारणम्॥10॥

सूत्रमन्तर्गतं येषां ज्ञानयज्ञोपवीतिनाम् ।
ते तु सूत्रविदो लोके ते च यज्ञोपवीतिनः ॥11॥
ज्ञानशिखिनो ज्ञाननिष्ठा ज्ञानयज्ञोपवीतिनः ।
ज्ञानमेव परं तेषां पवित्रं ज्ञानमीरितम् ॥12॥
अग्नेरिव शिखा नान्या यस्य ज्ञानमयी शिखा ।
स शिखीत्युच्यते विद्वान्नेतरे केशधारिणः ॥13॥

योगविज्ञान में परायण योगी को बाहर की जनेऊ का परित्याग कर देना चाहिए। क्योंकि जो ब्रह्मभावरूप सूत्र को धारण करता है, वही मोक्ष का अधिकारी होता है। ऐसे ब्रह्मसूत्र को धारण करने से किसी प्रकार की उच्छिष्टता या अपवित्रता नहीं रहती। जिन ज्ञानरूप यज्ञोपवीत को धारण करने वालों का सूत्र भीतर में होता है, वे ही सूत्र के सच्चे जानकार हैं और वे ही सच्चे यज्ञोपवीत धारण करने वाले हैं। जो लोग ज्ञान की निष्ठा वाले हैं, ज्ञान की शिखावाले हैं और ज्ञान की यज्ञोपवीत वाले हैं, उनके लिए तो ज्ञान ही सब कुछ है। क्योंकि ज्ञान को परम पवित्र कहा गया है। जिनकी ज्ञानरूपी शिखा अग्नि की तरह प्रज्वलित है, वही विद्वान् सही शिखाधारी कहा जाता है, ये सामान्य बाल की शिखा वाले सच्चे शिखाधारी नहीं हैं।

कर्मण्यधिकृता ये तु वैदिके लौकिकेऽपि वा ।
ब्राह्मणाभासमात्रेण जीवन्ते कुक्षिपूरकाः ।
व्रजन्ते निरयं ते तु पुनर्जन्मनि जन्मनि ॥14॥
वामांसदक्षकट्यन्तं ब्रह्मसूत्रं तु सव्यतः ।
अन्तर्बहिरिवात्यर्थं तत्त्वतन्तुसमन्वितम् ।
नाभ्यादिब्रह्मरन्ध्रान्तं प्रमाणं धारयेत् सुधीः ॥15॥
तेभिर्धार्यमिदं सूत्रं क्रियाङ्गं तन्तुनिर्मितम् ।
शिखा ज्ञानमयी यस्य उपवीतं च तन्मयम् ।
ब्राह्मण्यं सकलं तस्य नेतरेषां तु किञ्चन ॥16॥

जो लोग वैदिक या लौकिक कर्मों के अधिकारी हैं वे तो ब्राह्मणों के आभासमात्र होकर ही पेट भरने के लिए ही जी रहे हैं। वे तो बार-बार जन्म-जन्म में नरक को ही जाते हैं। बुद्धिमान मनुष्य को यज्ञोपवीत बाँयें कन्धे से लेकर दाहिनी कमर तक धारण करनी चाहिए। परन्तु यह तो बाहर की यज्ञोपवीत की बात हुई। इसी प्रकार अन्तर् में परमतत्त्वरूप धागों से बनाई गई उपवीत (ब्रह्मसूत्र) नाभि से ब्रह्मरन्ध्रपर्यन्त कद (परिमाण) के अनुसार धारण करना चाहिए। इस प्रकार परमतत्त्वरूपी तन्तुओं से बनाई गई विविध क्रियाओं के अंगरूप ब्रह्मसूत्र (उपवीत) को धारण करना चाहिए। जिसकी शिखा और यज्ञोपवीत ज्ञानमय होते हैं, उसके लिए सब कुछ ब्रह्ममय ही है, ब्रह्म के सिवा कुछ भी नहीं है।

इदं यज्ञोपवीतं तु परमं यत् परायणम् ।
विद्वान् यज्ञोपवीती सन्धारयेद्यः स मुक्तिभाक् ॥17॥
बहिरन्तश्चोपवीती विप्रः संन्यस्तुमर्हति ।
एकयज्ञोपवीती तु नैव संन्यस्तुमर्हति ॥18॥
तस्मात् सर्वप्रयत्नेन मोक्षापेक्षी भवेद्यतिः ।
बहिःसूत्रं परित्यज्य स्वान्तःसूत्रं तु धारयेत् ॥19॥

बहिष्प्रपञ्चशिखोपवीतित्वमनादृत्य प्रणवहंसशिखोपवीतित्वमवलम्ब्य मोक्षसाधनं कुर्यादित्याह भगवाञ्छौनकः । इत्युपनिषत् ॥20॥

इति परब्रह्मोपनिषत्समाप्ता ।
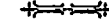
जो विद्वान् इस परम और ब्रह्मपरायण यज्ञोपवीत को धारण करता है, वही सच्चा उपवीतधारी और मुक्ति का अधिकारी है। जो बाहर-भीतर—दोनों प्रकार की यज्ञोपवीत धारण करता है वही विप्र संन्यास का अधिकारी है। केवल एक (बाह्य) यज्ञोपवीतधारी संन्यास के योग्य नहीं है। इसलिए मोक्षापेक्षी योगी को हर प्रयत्न करके भी बाहर के सूत्र को छोड़कर भीतर का सूत्र ही धारण करना चाहिए। बाहर के जागतिक शिखा और उपवीत को छोड़कर प्रणवहंसरूपी शिखा और उपवीत को ही पकड़कर (आधार लेकर) मोक्ष-साधना करनी चाहिए, ऐसा भगवान् शौनक ने कहा है।

यहाँ पर परब्रह्मोपनिषत् समाप्त होती है।

शान्तिपाठः

ॐ भद्रं कर्णेभिः……देवहितं यदायुः । (पूर्ववत्)
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

(81) अवधूतोपनिषत्

(उपनिषत्परिचय)

यह कृष्णयुजर्वेदीय उपनिषद् है। इसमें सांकृति के प्रश्नों का उत्तर देते हुए अवधूत दत्तात्रेय ने उन्हें अवधूत शब्द का अर्थ, अवधूत की दिनचर्या, क्रियादि वृत्तियों का पक्षित्व द्वारा वर्णन, ज्ञान का उत्कर्ष, अवधूत की चर्या का अनुक्रम, महाव्रत, परमार्थसन्देश, श्रवणादि विधान और फलश्रुति बताई हैं।

शान्तिपाठः

ॐ सह नाववतु। सह नौ—मा विद्विषावहै। (पूर्ववत्)
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः॥

इसका हिन्दी रूपान्तर पूर्व में (शारीरकोपनिषद् में) द्रष्टव्य है।

अथ ह साङ्कृतिर्भगवन्तमवधूतं दत्तात्रेयं परिसमेत्य पप्रच्छ भगवन् कोऽवधूतस्तस्य का स्थितिः, किं लक्ष्म, किं संसरणमिति। तं होवाच भगवो दत्तात्रेयः परमकारुणिकः॥1॥

सांकृति ने भगवान् दत्तात्रेय के पास जाकर पूछा—"हे भगवन्! अवधूत कौन होता है? उसकी कैसी स्थिति होती है? उसका लक्षण क्या है? और उसका व्यवहार कैसा होता है?" तब भगवान् परमकारुणिक दत्तात्रेय ने कहा—

अक्षरत्वाद्वरेण्यत्वाद्धूतसंसारबन्धनात्।
तत्त्वमस्यादिलक्ष्यत्वादवधूत इतीर्यते॥2॥
यो विलङ्घ्याश्रमान् वर्णानात्मन्येव स्थितः सदा।
अतिवर्णाश्रमी योगी अवधूतः स कथ्यते॥3॥
तस्य प्रियं शिरः कृत्वा मोदो दक्षिणपक्षकः।
प्रमोद उत्तरः पक्ष आनन्दो गोष्पदायते॥4॥
गोवालसदृशं शीर्षे नापि मध्ये न चाप्यधः।
ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठेति पुच्छाकारेण कारयेत्।
एवं चतुष्पदं कृत्वा ते यान्ति परमां गतिम्॥5॥

जो अक्षर (अविनाशी) है, जो वरणीय है, संसार के बन्धनों को जिसने धूत (झाड़) दिया हो और 'तत्त्वमस्यादि' वाक्यों के लक्ष्यार्थ बोध से जो युक्त हो, उसे ही अवधूत कहा गया है। (**अ** = अक्षर, **व** = वरेण्य, **धू** = धूतबन्धन और **त** = तत्त्वमस्यादि वाक्य बोध) जो योगी आश्रमधर्मों और वर्णधर्मों को लाँघकर अपने आत्मा में ही सदा अवस्थित रहता हो, वह वर्णाश्रमरहित योगी अवधूत कहलाता है। उस योगी का प्रिय मस्तक है (मस्तक ब्रह्म ही है), मोद दक्षिण बाजू है, प्रमोद वाम बाजू है और आनन्द (केन्द्रस्थ = मध्य में स्थित) आत्मा है। उस आत्मा की स्थिति गाय के पैर के जैसी है (प्रिय, मोद, प्रमोद और आनन्द—ये गाय के चार पैर हैं), उसको सिर (प्रिय = ब्रह्म) में, अधोभाग (मोद और प्रमोद) में तथा मध्य (आनन्द) में आत्मबुद्धि नहीं करनी चाहिए। परन्तु गोवाल (गाय की पूँछ) सदृश उस ब्रह्म की पुच्छ

में प्रतिष्ठा है। उस ब्रह्म को उसी पुच्छ के आकार में समझना चाहिए। योगी लोग इसी प्रकार ब्रह्म को अच्छी तरह से जानकर ही परमगति को प्राप्त होते हैं।

न कर्मणा न प्रजया धनेन त्यागेनैके अमृतत्वमानशुः॥6॥

अमृतत्व की प्राप्ति कभी कर्मों के द्वारा नहीं होती, संतानों के द्वारा और धन के द्वारा भी वह नहीं होती। केवल त्याग के द्वारा ही कुछ लोगों ने अमृतत्व को प्राप्त किया है।

स्वैरं स्वैरविहरणं तत्संसरणम्। साम्बरा वा दिगम्बरा वा। न तेषां धर्माधर्मौ न मेध्यमेध्यौ। सदा साङ्ग्रहण्येष्ट्याश्रमेधमन्तर्यागं यजते। स महामखो महायोगः॥7॥

स्वैरविहार (स्वेच्छाविहार) ही उन योगियों का संसार होता है। उन योगियों में कुछ वस्त्र पहनते हैं और कुछ तो दिगम्बर (बिना वस्त्र धारण किए) ही रहते हैं। उनके लिए कोई धर्म भी नहीं है, कोई अधर्म भी नहीं है, कुछ पवित्र भी नहीं, कुछ अपवित्र भी नहीं है। वे सदैव अपनी इन्द्रियों के संयम के द्वारा भीतर में अश्वमेध यज्ञ करते रहते हैं। वह आत्मध्यानरूप यज्ञ ही उनका महायज्ञ होता है और वही उनका महायोग होता है।

कृत्स्नमेतच्चित्रं कर्म स्वैरं न विगायेत्। तन्महाव्रतम्। न स मूढ-वल्लिप्यते॥8॥

इस प्रकार इन योगियों का संपूर्ण जीवन ही आश्चर्यजनक होता है। उनकी इस स्वेच्छाचारिता की निन्दा नहीं करनी चाहिए। क्योंकि वही उनका महाव्रत है। मूढ़ (अज्ञानी) मनुष्य की तरह वह योगी पाप-पुण्यों से लिप्त नहीं होता।

यथा रविः सर्वरसान् प्रभुङ्क्ते हुताशनश्चापि हि सर्वभक्षः।
तथैव योगी विषयान् प्रभुङ्क्ते न लिप्यते पुण्यपापैश्च शुद्धः॥9॥
आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठं समुद्रमापः प्रविशन्ति यद्वत्।
तद्वत् कामा यं प्रविशन्ति सर्वे स शान्तिमाप्नोति न कामकामी॥10॥
न निरोधो न चोत्पत्तिर्न बद्धो न हि न साधकः।
न मुमुक्षुर्न वै मुक्त इत्येषा परमार्थता॥11॥

जिस प्रकार सूर्य सभी रसों को खाता (ग्रहण करता) है और अग्नि भी जिस प्रकार सब कुछ खाने वाला (पचाने वाला) होता है, ठीक इसी प्रकार यह योगी भी सभी विषयों को भोगता है, परन्तु पुण्य और पाप से लिप्त नहीं होता, वह शुद्ध ही रहता है। जिस प्रकार चारों तरफ यथाशक्य पूर्ण होने पर भी अपनी स्थिति को अचल (निश्चल) ही रखने वाले सागर में जल प्रविष्ट होता है, अर्थात् जल के प्रवेश होने पर भी ज्यों-की-त्यों (पूर्ववत् ही) स्थिति में सागर रहता है, वैसे ही उस योगी में कामनाएँ (भोगेच्छा) प्रवेश करती हैं, फिर भी वह पूर्ववत् (ज्यों-का-त्यों) अचल ही रहता है। परन्तु कामों का (भोगों का) कामी (इच्छुक) उस योगी जैसी शान्ति प्राप्त नहीं करता। उस योगी के लिए तो कोई निरोध (लय) भी नहीं है, और किसी की उत्पत्ति भी नहीं होती। उसके लिए न तो कोई बन्धनयुक्त है, न कोई साधक है, न कोई मुमुक्षु है, न कोई मुक्त ही है—यही तो वास्तविक स्थिति (पारमार्थिक स्थिति) है।

ऐहिकामुष्मिकव्रातसिद्ध्यै मुक्तेश्च सिद्धये।
बहु कृत्यं पुरा स्यान्मे तत् सर्वमधुना कृतम्॥12॥
तदेव कृतकृत्यत्वं प्रतियोगिपुरःसरम्।
दुःखिनोऽज्ञाः संसरन्तु कामं पुत्राद्यपेक्षया॥13॥

परमानन्दपूर्णोऽहं संसरामि किमिच्छया।
अनुतिष्ठन्तु कर्माणि परलोकयियासवः ॥14॥
सर्वलोकात्मकः कस्मादनुतिष्ठामि किं कथम्।
व्याचक्षतां ते शास्त्राणि वेदानध्यापयन्तु वा ॥15॥

वह योगी सोचता है कि पहले तो इस जगत् के और परलोक के कार्यकलापों को सम्पन्न करने के लिए और मुक्ति की प्राप्ति के लिए भी मुझे बहुत कुछ करना था, परन्तु अब तो मैंने उन सबसे मुक्ति पा ली है। अब तो सब कुछ मेरे लिए हो ही चुका है। ऐसी ही वह कृतकृत्यता है। अब उन सभी कार्यों का अभावरूप प्रतियोगित्व है। इसी प्रकार सभी कार्यों का अनुसन्धान करता हुआ ही वह योगी सदैव तृप्त रहता है। अज्ञानी लोग भले ही पुत्र आदि की अपेक्षा करके दु:खी हों। लेकिन मैं तो परमानन्द से पूर्ण हूँ, मैं भला किस इच्छा से भटकता रहूँ? जिनको परलोक में जाने की इच्छा हो, वे भले ही कर्म किया करें। मैं तो सर्वलोकात्मक (सर्वलोकव्याप्त) ही हूँ, मैं भला किसलिए, क्यों, कैसे और क्या कर्म करूँ? अधिकारी लोग भले ही शास्त्रों की व्याख्या किया करें या तो वेदों को पढ़ाते रहे। (इससे मुझे कोई सरोकार नहीं है।)

येऽत्राधिकारिणो मे तु नाधिकारोऽक्रियत्वतः।
निद्राभिक्षे स्नानशौचे नेच्छामि न करोमि च ॥16॥
द्रष्टारश्चेत् कल्पयन्तु किं मे स्यादन्यकल्पनात्।
गुञ्जापुञ्जादि दह्येत नान्यारोपितवह्निना।
नान्यारोपितसंसारधर्मानेवमहं भजे ॥17॥
शृण्वन्त्वज्ञाततत्त्वास्ते जानन् कस्माच्छृणोम्यहम्।
मन्यन्तां संशयापन्ना न मन्येऽहमसंशयः ॥18॥
विपर्यस्तो निदिध्यासे किं ध्यानमविपर्यये।
देहात्मत्वविपर्यासं न कदाचिद्भजाम्यहम् ॥19॥

ठीक है, अधिकारी लोग ऐसा किया करें, मेरा तो कोई अधिकार नहीं है, मैं तो अक्रिय (क्रियाहीन) ही हूँ। निद्रा, भिक्षा, स्नान, शौच आदि क्रियाएँ मैं चाहता भी नहीं हूँ और करता भी नहीं हूँ। मुझे ऐसा देखने वाले लोग चाहे मेरे बारे में अनेक बातों की कल्पना किया करें, परन्तु ऐसे अन्यान्य लोगों की कल्पनाओं से मुझे क्या हो सकता है? चिरमिरी (गुञ्जा) के ढेर में किसी ने अग्नि की कल्पना कर दी हो, तो भी वह जलाता तो है ही नहीं। इसी प्रकार अन्यों के द्वारा मुझमें आरोपित किए गए संसार-धर्मों को मैं उस तरह से ही मानता हूँ। जो लोग तत्त्व को नहीं जानते वे भले ही श्रवण किया करें, मैं तो तत्त्व जानता हूँ, मैं क्यों श्रवण करूँ? जिन लोगों में संशय हो, वे भले ही चिन्तन-मनन किया करें, मैं तो संशयरहित हूँ, मैं तो मनन नहीं करूँगा। जो विपरीत ज्ञान वाला हो, उसे ध्यान करना पड़ता है, विपरीत ज्ञान न होने पर ध्यान की आवश्यकता ही क्या है? देह को ही आत्मा मानने का विपरीत ज्ञान तो मुझ अवधूत में है ही नहीं।

अहं मनुष्य इत्यादिव्यवहारो विनाप्यमुम्।
विपर्यासं चिराभ्यस्तवासनातोऽवकल्पते ॥20॥
आरब्धकर्मणि क्षीणे व्यवहारो निवर्तते।
कर्मक्षये त्वसौ नैव शाम्येद्ध्यानसहस्रतः ॥21॥
विरलत्वं व्यवहृतेरिष्टं चेद्ध्यानमस्तु ते।
अबाधिकां व्यवहृतिं पश्यन् ध्यायाम्यहं कुतः ॥22॥

विक्षेपो नास्ति यस्मान्मे न समाधिस्ततो मम।
विक्षेपो वा समाधिर्वा मनसः स्याद्विकारिणः ॥23॥

मुझमें विपरीत ज्ञान नहीं है, फिर भी मुझमें जो 'मैं मनुष्य हूँ'—इस प्रकार का विपरीत ज्ञान दिखाई दे रहा है, वह तो केवल लम्बे अरसे के अभ्यस्त वासनाओं के कारण ही है। विपरीत ज्ञान न होने पर भी कल्पित (उत्पन्न होता है)। जब प्रारब्ध कर्म क्षीण हो जाते हैं तब अवधूत का सब व्यवहार बन्द हो जाता है। परन्तु यदि प्रारब्ध कर्म क्षीण न हुए हों, तब तो हजारों ध्यान करने से भी या हजारों बार चिन्तन करने के बाद भी वह व्यवहार शान्त नहीं हो सकता। यदि तुम अपने व्यवहार का विरलत्व (कादाचित्क) कभी चाहते हो, तो तुम ध्यान करो। परन्तु मेरी दृष्टि में तो अब व्यवहार कुछ रहा ही नहीं है, तो मैं क्यों ध्यान करूँ? मुझे कोई विक्षेप नहीं, कोई चित्त की अस्थिरता ही नहीं होती, तो मुझे समाधि अवस्था की आवश्यकता ही कहाँ है? विक्षिप्त चित्तवालों को ही समाधि की जरूरत होती है। विक्षेप और समाधि तो विकारी मन के ही होते हैं।

नित्यानुभवरूपस्य को मेऽत्रानुभवः पृथक्।
कृतं कृत्यं प्रापणीयं प्राप्तमित्येव नित्यशः ॥24॥
व्यवहारो लौकिको वा शास्त्रीयो वाऽन्यथापि वा।
ममाकर्तुरलेपस्य यथारब्धं प्रवर्तताम् ॥25॥
अथवा कृतकृत्योऽपि लोकानुग्रहकाम्यया।
शास्त्रीयेणैव मार्गेण वर्तेऽहं मम का क्षतिः ॥26॥

मैं तो नित्य परमतत्त्व का अनुभव कर रहा हूँ। इससे और अन्य अलग अनुभव क्या हो सकता है? करने लायक सब कार्य मैं अब कर चुका हूँ, प्राप्त करने योग्य सब कुछ मैंने प्राप्त कर ही लिया है, बस यही मेरा शास्त्रीय, लौकिक या अन्य सब व्यवहार है। यह व्यवहार मुझ अकर्ता का और अलिप्त का जैसे प्रारब्ध हो, वैसे भले ही चलता रहे। अथवा मैं तो कृतकृत्य ही हूँ, फिर भी लोकानुग्रह के प्रयोजन के कारण, शास्त्रोक्त मार्ग से ही अपना व्यवहार करता हूँ, तो इसमें हानि क्या है?

देवार्चनस्नानशौचभिक्षादौ वर्ततां वपुः।
तारं जपतु वाक् तद्वत् पठत्वाम्नायमस्तकम् ॥27॥
विष्णुं ध्यायतु धीर्यद्वा ब्रह्मानन्दे विलीयताम्।
साक्ष्यहं किञ्चिदप्यत्र न कुर्वे नापि कारये ॥28॥
कृतकृत्यतया तृप्तः प्राप्यप्राप्ततया पुनः।
तृप्यन्नेवं स्वमनसा मन्यतेऽसौ निरन्तरम् ॥29॥
धन्योऽहं धन्योऽहं नित्यं स्वात्मानमञ्जसा वेद्मि।
धन्योऽहं धन्योऽहं ब्रह्मानन्दो विभाति मे स्पष्टम् ॥30॥

यह शरीर भले ही देवपूजा, स्नान, शौच, भिक्षा आदि में प्रवृत्त होता रहे; वाणी भी भले ॐकार का जप करती रहे, आम्नाय-मस्तक (उपनिषदों का पाठ) भले ही चलता रहे, मेरी बुद्धि भले ही विष्णु का ध्यान करती रहे, अथवा फिर वह ब्रह्म में ही लीन रहा करे, परन्तु मैं तो केवल साक्षीरूप ही हूँ। मैं तो इनमें से कुछ भी करता नहीं हूँ और किसी से कुछ करवाता भी नहीं हूँ। मैं (अवधूत) तो अपनी कृतकृत्यता से अत्यन्त तृप्त हूँ। और जो प्राप्त करने योग्य है, उसे प्राप्त कर लेने से भी संतृप्त हूँ। इस प्रकार यह अवधूत सदा अपने मन से तृप्त होता हुआ रहता है। वह कहता है—'मैं अपने आत्मा को सहज रूप से जानता हूँ, मैं धन्य हूँ, मैं धन्य हूँ। मुझे ब्रह्मानन्द की स्पष्ट अनुभूति हो रही है, मैं धन्य हूँ, धन्य हूँ।'

धन्योऽहं धन्योऽहं दुःखं सांसारिकं न वीक्षेऽद्य ।
धन्योऽहं धन्योऽहं स्वस्याज्ञानं पलायितं क्वापि ॥31॥
धन्योऽहं धन्योऽहं कर्तव्यं मे न विद्यते किञ्चित् ।
धन्योऽहं धन्योऽहं प्राप्तव्यं सर्वमद्य सम्पन्नम् ॥32॥
धन्योऽहं धन्योऽहं तृप्तेर्मे कोपमा भवेल्लोके ।
धन्योऽहं धन्योऽहं धन्यो धन्यः पुनः पुनर्धन्यः ॥33॥
अहो पुण्यमहो पुण्यं फलितं फलितं दृढम् ।
अस्य पुण्यस्य संपत्तेरहो वयमहो वयम् ॥34॥
अहो ज्ञानमहो ज्ञानमहो सुखमहो सुखम् ।
अहो शास्त्रमहो शास्त्रमहो गुरुरहो गुरुः ॥35॥

मैं धन्य-धन्य हो गया क्योंकि मुझे अब संसार का दुःख कहीं दीखता ही नहीं । मैं धन्य-धन्य हो गया क्योंकि मेरा आत्मविषयक अज्ञान कभी का भाग ही गया है । मैं धन्य-धन्य हो गया, क्योंकि मेरा कोई भी कर्तव्य अब शेष नहीं रह गया । मैं धन्य-धन्य हूँ कि जो प्राप्त करने योग्य था, वह सब मुझे प्राप्त हो गया है । मैं धन्य-धन्य हो गया हूँ, क्योंकि मेरी तृप्ति की कोई भी तुलना इस लोक में किसी से नहीं की जा सकती । मैं धन्य-धन्य हो गया, क्योंकि बस धन्य, धन्य, बार-बार धन्य ही हो चुका हूँ । वाह मेरा पुण्य ! यह पुण्य पूर्णरूप से फल देने वाला हुआ है । इस पुण्य की सम्पत्ति से हम भी अहोभाव वाले हो गए हैं । हमारा ज्ञान भी तो अहोभाव से युक्त हो चुका है अब ये सब शास्त्र, ये गुरु, यह ज्ञान और हम सब धन्यवाद के पात्र (अभिनन्दन और अभिवादन के पात्र) हो गए हैं ।

इति य इदमधीते सोऽपि कृतकृत्यो भवति । सुरापानात् पूतो भवति । स्वर्णस्तेयात् पूतो भवति । ब्रह्महत्यात् पूतो भवति । कृत्याकृत्यात् पूतो भवति । एवं विदित्वा स्वेच्छाचारपरो भूयात् । ॐ सत्यम् । इत्युपनिषत् ॥36॥

इति अवधूतोपनिषत्समाप्ता ।
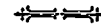
इस प्रकार कोई भी मनुष्य यदि इस उपनिषद् का पाठ करता है, तो वह भी कृतकृत्य बन जाता है । वह मदिरापान के पाप से, या सुवर्ण की चोरी करने के पाप से, ब्रह्महत्या के पाप से, कार्य-अकार्य से उत्पन्न पाप से मुक्त होकर पवित्र हो जाता है । इस प्रकार जानकर मनुष्य को अपनी विवेकजन्य बुद्धि से उत्पन्न इच्छा के अनुसार स्वतंत्र रूप से व्यवहार (वर्तन) करना चाहिए । ओम् ब्रह्म ही सत्य है, ऐसी यह उपनिषत् है ।

यहाँ पर अवधूतोपनिषत् समाप्त होती है ।

शान्तिपाठः

ॐ सह नाववतु । सह नौ——मा विद्विषावहै । (पूर्ववत्)
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ।

❋

(82) त्रिपुरातापिन्युपनिषत्

(उपनिषत्परिचय)

यह अथर्ववेदीय उपनिषत् पाँच खण्डों में विभाजित की हुई है और खण्डों को भी **'उपनिषद्'** नाम से रखा गया है । इसमें शक्ति-उपासना का निरूपण है । शक्ति का एक नाम 'त्रिपुरा' है । प्रलय में तो शिवशक्ति सामरस्य होता है । पर सृष्ट्यन्तर में ब्रह्मा, विष्णु (और रुद्र की भी) की जो विलयशक्ति है, वह त्रिपुरा भगवती है । उस शक्ति को आश्रित करके भगवान् सदाशिव के साथ वह तीनों लोकों में व्याप्त होती है और जब त्रिकूट का अवसान होता है, तब वही शक्ति बड़े (घोर) तेज से व्याप्त हो जाती है । उसे ह्रींकार, हल्लेखा आदि भी कहा गया है । इस उपनिषत् में पंचदशी महाविद्या बताई गई है । त्रिपुरास्वरूप, त्रिपुरामहामंत्र, शिवशक्तियोग से जगत्सृष्टि, वाग्भवकूट, कामकूट और शक्तिकूट का गायत्री से समन्वय, त्रिपुराध्यान, त्रिपुराविद्या, त्रिपुरादि बहुत-सी उपासनाएँ, श्रीचक्र (स्वरूप और पूजाफल, मुद्राएँ, कामकला, मृत्युंजय) उपदेश आदि बहुत से शक्तितंत्र के विषय इसमें दिए गए हैं ।

शान्तिपाठः

ॐ भद्रं कर्णेभिः——देवहितं यदायुः । (पूर्ववत्)
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

इसका हिन्दी रूपान्तर पूर्व में (शाण्डिल्योपनिषद् में) द्रष्टव्य है ।

प्रथमोपनिषत्

अथैतस्मिन्नन्तरे भगवान् प्राजापत्यं वैष्णवं विलयकारणं रूपमाश्रित्य त्रिपुराऽभिधा भगवतीत्येवमादिशक्त्या भूर्भुवः स्वस्त्रीणि स्वर्गभूपातालानि त्रिपुराणि हरमायाऽऽत्मकेन ह्रींकारेण हल्लेखाख्या भवती त्रिकूटावसाने निलये विलये धाम्नि महसा घोरेण व्याप्नोति । सैवेयं भगवती त्रिपुरेति व्यापठ्यते ॥1॥

अब इस अविद्या के एक अन्य रूप के समय भगवान् सदाशिव ने प्राजापत्य (ब्रह्मा) का, विष्णु का और प्रलय के हेतुभूत रुद्र का रूप जिस शक्ति के द्वारा धारण किया, वह त्रिपुरा नाम की भगवती आद्या शक्ति है । उस आद्याशक्ति के द्वारा भूः, भुवः और स्वः—अर्थात् पृथ्वी, अन्तरिक्ष और स्वर्ग (अथवा पृथ्वी, स्वर्ग और पाताल) ये तीन लोक शिवशक्तिमय ह्रींकार से होते हैं वह तथा जो सभी प्राणियों के हृदय में प्रत्यक् रूप से विद्योतमान जो हल्लेखा नामक शक्ति है, वह शक्ति भी वही है । और वही शक्ति त्रिकूट के अवसान (अस्त) होने पर अर्थात् प्रलय होने पर—जब-जब त्रिकूट का प्रलय होता है तब अपने स्थान में (गुणसाम्य के पीठ में) चित्सामान्य स्वरूप में (घोर तेजोमय रूप में) व्याप्त होती है, वही भगवती शक्ति लोगों के द्वारा त्रिपुरा नाम से कही जाती है । (यहाँ त्रिकूट का अर्थ वाग्भव-कूट, कामकूट और शक्तिकूट लिया जा सकता है) ।

तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि ।
धियो यो नः प्रयोदयात् परो रजसेऽसावदोम् ॥2॥
जातवेदसे सुनवाम सोममरातीयतो निदहाति वेदः ।
स नः पर्षदति दुर्गाणि विश्वा नावेव सिन्धुं दुरितात्यग्निः ॥3॥
त्र्यम्बकं यजामहे सुगन्धिं पुष्टिवर्धनम् ।
उर्वारुकमिव बन्धनान्मृत्योर्मुक्षीय मामृतात् ॥4॥

अब उन त्रिपुरा भगवती का महामंत्र बताया जा रहा है। वह महामंत्र उपरिनिर्दिष्ट तीन मंत्रों का समूहरूप है। सदाशिव की चिच्छक्तिरूप त्रिपुराशक्ति के इस महामंत्र के कुल मिलाकर एक सौ आठ अक्षर होते हैं। पहले मंत्र के बत्तीस, दूसरे के चौवालीस और तीसरे मंत्र के बत्तीस अक्षर मिलकर कुल एक सौ आठ अक्षर होते हैं। इस अष्टोत्तर शत मंत्र के अनुष्ठान से त्रिपुरा प्रसन्न होती है। मंत्रार्थ इस प्रकार है—प्रथम मंत्र (तत्सवितुर्वरेण्यं आदि)—"देव सविता के उस वरेण्य तेज का हम ध्यान करते हैं, वे हमारी बुद्धि को प्रेरित करें।" दूसरे 'जातवेदसे' आदि का अर्थ—"हम जातवेदा को सोम की आहुति दे रहे हैं। जो लोग हमारे प्रति शत्रु का भाव रखते हों, उनकी सम्पत्ति वे नष्ट कर दें, वे हमें सारे संकटों से पार उतार दें। दुष्टता की नदी पार करने के लिए वे अग्नि हमें नाव प्रदान करें—या नाव से दुष्टता की नदी पार करवा दें।" तीसरे 'त्र्यम्बकं' आदि मंत्र का अर्थ यह है—"हम तीन आँखों वाले, सौरभ भरे, पुष्टिदायक महादेव का अर्चन करते हैं। वे मुझे पके-गले फल की तरह मृत्यु के बन्धन से मुक्त करें, पर अमृत से मुक्त न करें।"

शताक्षरी परमा विद्या त्रयीमयी साष्टार्णा त्रिपुरा परमेश्वरी । आद्यानि चत्वारि पदानि परब्रह्म विकासीनि । द्वितीयानि शाक्तानि । तृतीयानि शैवानि ॥5॥

इन तीन मंत्रों से त्रिपुरा देवी की शताक्षरी विद्या कही है। यह विद्या तीनों वेदों का स्वरूप धारण की हुई है। एक सौ आठ इसके अक्षर हैं। यही त्रिपुरा विद्या है, यह परमेश्वरी है। इस मंत्रत्रयात्मक महामंत्र के 'तत्सवितुः' आदि प्रारंभ के चार परब्रह्म का प्रकाश करने वाले हैं। 'जातवेदसे' इत्यादि दूसरे चार पद शाक्त हैं और 'त्र्यम्बकम्' आदि मंत्र के तीसरे चार पद शैव हैं।

तत्र लोका वेदाः शास्त्राणि पुराणानि धर्माणि वै चिकित्सितानि ज्योतींषि शिवशक्तियोगादित्येवं घटना व्यापठ्यते ॥6॥

इस प्रकार चित् और शिवशक्ति के योग से भूः आदि लोक, चार वेद, भरतमंत्रादि छः शास्त्र, भागवतादि पुराण, मनुस्मृति आदि सब धर्मशास्त्र, आयुर्वेदशास्त्र, ज्योतिषशास्त्र—ये सब उत्पन्न होते हैं (हुए हैं)।

अथैतस्य परं गह्वरं व्याख्यास्यामः । महामनुसमुद्भवं तदिति ब्रह्म शाश्वतं परो भगवान् निर्लक्षणो निरञ्जनो निरुपाधिराधिरहितो देव उन्मीलते पश्यति विकासते चैतन्यभावं कामयत इति स एको देवः शिवरूपी दृश्यतान विकासते यतिषु यज्ञेषु योगिषु कामयते कामं जायते । स एष निरञ्जनोऽकामत्वेनोज्जृम्भते अकचटतपयशान् सृजते । तस्मादीश्वरः कामोऽभिधीयते । तत्परिभाषया कामः ककारं व्याप्नोति । काम एवेदं तत्तदिति ककारो गृह्यते । तस्मात्तत्पदार्थ इति य एवं वेद ॥7॥

अब इस अष्टोत्तरशताक्षरी महामंत्र के परमगूढ़ार्थ को बता रहे हैं कि इस महामंत्र का आदि अक्षर जो 'तत्' है, उसका तथा उस 'तत्' पद के लक्ष्यार्थ रूप जो सन्मात्र है, उन दोनों का शाश्वतत्व है। जो स्वरूपतः शाश्वत है, जो 'पर' है, भगवान् है, लक्षणरहित है, वह निरंजन, उपाधिरहित और दुःखरहित है। फिर भी मूलाविद्या के बीजांश से युक्त होकर वे उठते हैं दृश्यरूप से विकास करते हैं, देखते हैं, तथा यतियों और यज्ञों में ज्ञानफल तथा कर्मफल की कामना भी करते हैं। इस प्रकार की कामना से कामफल उत्पन्न होता है। और ऐसी अवस्था को प्राप्त होते हुए भी जो परमेश्वर अपने मूल रूप में तो वह परमेश्वर निरंजन और कामनारहित होकर ही अवस्थित रहते हैं। वह अकचटतपयश— इन आठ वर्गों का सर्जन करते हैं, इसीलिए वही ईश्वर 'काम' नाम से कहे जाते हैं। इस तरह कार्य-कारण के एकरूप होने से 'क'कार ही तत्पदार्थ हो जाता है। ककार को काम व्याप्त करता है और वह काम ही यह 'तत्' है, इस प्रकार ककार का ग्रहण किया जाता है। अतः वह 'ककार' भी तत् पदार्थ ही है, ऐसा समन्वय जो मुनि जानता है, वह भी ईश्वर हो जाता है।

सवितुर्वरेण्यमिति षूङ् प्राणिप्रसवे सविता प्राणिनः सूते प्रसूते शक्तिम् सूते ॥8॥

अब इस महामंत्र का 'सवितुर्वरेण्यं' पद है, उसका आदि विद्या के दूसरे वर्ण 'ए'कार के साथ समन्वय इस तरह होता है कि यहाँ 'सवितृ' शब्द का अर्थ, 'षूङ् प्राणिप्रसवे' इस धातु से 'सभी प्राणियों का उत्पादक'—ऐसा होता है। सविता से शक्ति अभिन्न होने से शक्ति ही सभी प्राणियों की उत्पादक है।

त्रिपुरा शक्तिराद्येयं त्रिपुरा परमेश्वरी ।
महाकुण्डलिनी देवी जातवेदसमण्डलम् ॥9॥

वह सर्वोत्पादक शक्ति त्रिपुरा है, वह आद्या शक्ति है, वही व्यष्टि रूप से महाकुण्डलिनी देवी है वह जातवेदस के मण्डल में (मूलाधार के त्रिकोण में) व्याप्त होकर स्थित है।

योऽधीते सर्वं व्याप्यते । त्रिकोणशक्तिरेकारेण महाभागेन प्रसूते । तस्मादेकार एवा गृह्यते ॥10॥

इस प्रकार की विद्या का जो अध्ययन करता है, वह सबको व्याप्त कर रहता है। यह त्रिकोण शक्ति (कुण्डलिनी) जो है, वह महाभाग 'ए'कार के द्वारा सबका सर्जन करती है, इसलिए वह 'ए-कार' ही ग्रहण किया जाता है।

वरेण्यं श्रेष्ठं भजनीयमक्षरं नमस्कार्यम् । तस्माद्वरेण्यमेकाराक्षरं गृह्यत इति य एवं वेद ॥11॥

सविता का 'ए'कार के साथ जैसे समन्वय कहा गया, वैसे ही 'वरेण्य' शब्द के साथ भी 'एकार' का समन्वय इस प्रकार होता है—वरेण्य का अर्थ श्रेष्ठ, भजनीय, अक्षर, नमस्कार्य होता है। और वह अक्षर एक ही है। सर्वकारण रूप एकाक्षर ही वरेण्य है। इस प्रकार से जानने वाला विद्वान् अपनों और परायों में वरिष्ठ बनता है।

भर्गो देवस्य धीमहीत्येवं व्याख्यास्यामः । धकारो धारणा । धियैव धार्यते भगवान् परमेश्वरः । भर्गो देवो मध्यवर्ति तुरीयमक्षरं साक्षात्तुरीयं सर्वं सर्वान्तरभूतं तुरीयाक्षरमीकारं पदानां मध्यवर्तीत्येवं व्याख्यातं भर्गोरूपं व्याचक्षते । तस्माद्भर्गो देवस्य धीत्येवमीकाराक्षरं गृह्यते ॥12॥

अब 'भर्गो देवस्य धीमहि'—इनके साथ 'ईकार' का समन्वय बताते हैं कि इसमें 'धी' में प्रयुक्त हुआ 'ध' धारणावाचक है। क्योंकि 'धी' से ही भगवान् परमेश्वर की धारणा की जा सकती है। इसमें जो 'भर्गो देव' शब्द हैं, वे मध्यवर्ती तुरीय अक्षर जो अर्ध मात्रात्मक है, उसके वाचक हैं। यह तुरीय अक्षर है। इसी प्रकार उस अक्षर तुरीय से 'ईकार' अक्षर का भी सामानाधिकरण्य है। वह भी उसी की तरह सर्वान्तरभूत है और पदों के मध्यवर्ती होने से भर्गो रूप है, ऐसी व्याख्या की गई है। इसलिए 'भर्गो देवस्य धी'—इनसे 'ईकार' का ग्रहण किया जाता है (ईकार अक्षर लिया जाता है)।

महीत्यस्य व्याख्यानं महत्त्वं जडत्वं काठिन्यं विद्यते यस्मिन्नक्षरे तन्महि। लकारः परं धाम। काठिन्याढ्यं ससागरं सपर्वतं ससप्तद्वीपं सकाननमुज्ज्वलद्रूपं मण्डलमेवोक्तं लकारेण। पृथ्वी देवी महीत्यनेन व्याचक्षते ॥13॥

अब 'महि' पद के साथ लकार का समन्वय किया जाता है कि 'महि' इस शब्द का विवेचन करते हुए पाते हैं कि 'महि' शब्द के महत्त्व, जडत्व, काठिन्य जिस अक्षर में हो वह 'महि' कहा जाता है। इसका बीज लकार है (परंधाम = बीज) और उसका अर्थ है—सागरों, पर्वतों, सात द्वीपों, वनों के साथ दिखाई पड़ने वाला पूरा धरती मण्डल। लकार के द्वारा यह पूरा भूमण्डल कहा जाता है। इसीलिए तो पृथ्वी देवी को 'मही' कहा जाता है।

धियो यो नः प्रचोदयात्। परमात्मा सदाशिव आदिभूतः परः स्थाणुभूतेन लकारेण ज्योतिर्लिङ्गमात्मानं धियो बुद्धयः परे वस्तुनि ध्यानेच्छारहिते निर्विकल्पे प्रचोदयात् प्रेरयेदित्युच्चारणरहितं चेतसैव चिन्तयित्वा-भावयेदिति ॥14॥

'धियो यो नः प्रचोदयात्' का अर्थ यह है कि—"जो परमात्मा, सदाशिव, आदिभूत और परतत्त्व है, यह अपने स्थाणुभूत लकार के द्वारा हमारी बुद्धियों को परात्पर वस्तु में (ज्ञानेच्छाक्रियारहित निर्विकल्प तत्त्व में) प्रेरित करे"—इस प्रकार उच्चारणरहित मन से ही ज्योतिर्लिंग रूप अनिर्वचनीय ब्रह्मभूत आत्मा की चिन्तन-मनन द्वारा भावना करनी चाहिए।

परो रजसेऽसावदोमिति तदवसाने परज्योतिरमलं हृदि दैवतं चैतन्यं चिल्लिङ्गं हृदयागारवासिनी हृल्लेखेत्यादिना स्पष्टं वाग्भवकूटं पञ्चाक्षरं पञ्चभूतजनकं पञ्चकलामयं व्यापठ्यत इति। य एवं वेद ॥15॥

अब ऊपर महामंत्र में दिए गायत्रीमंत्र के चौथे पाद का और हृल्लेखा का समन्वय कहते हैं कि रजोगुण से, अर्थात् तीनों गुणों से जो परे है, वह तुर्यतुर्य रूप यह जो ओंकार है, जो अब मुझसे दूर-सा है, वह मेरे हृदय में पूर्ण ज्योति, निर्मल, चैतन्य (चिल्लिंग) यही सभी प्राणियों के हृदय में भी प्रत्यगभिन्न रूप से विद्योतमान है। उसके साथ अभेद के द्वारा हृदयगुहास्थित चिच्छक्ति हृल्लेखा ह्रींकाररूपिणी व्याख्यात होती है।

अथ तु परं कामकलाभूतं कामकूटमाहुः। तत्सवितुर्वरेण्यमित्यादि-द्वात्रिंशदक्षरीं पठित्वा तदिति परमात्मा सदाशिवोऽक्षरं विमलं निरुपाधि-तादात्म्यप्रतिपादनेन हकाराक्षरं शिवरूपं अनक्षरमक्षरं व्यालिख्यत इति तत्परागव्यावृत्तिमादाय शक्तिं दर्शयति ॥16॥

(इस प्रकार जैसे 7 से 15 मंत्रों तक वाग्भवकूट का गायत्री के साथ समन्वय किया गया, उसी तरह अब 16 से 22 मंत्रों तक कामकलाकूट का भी गायत्री के साथ समन्वय किया जा रहा है; यथा—) कामकला परिणत को ही साम्प्रदायिक लोग कामकलाकूट कहते हैं। 'तत्सवितुर्वरेण्यं' इत्यादि बत्तीस अक्षर वाली गायत्री को पढ़कर उसमें जो अधि पद 'तत्' है, वह तत्पदार्थ परमात्मा, अक्षर, सदाशिव, जो निर्मल, निरुपाधि तादात्म्य के प्रतिपादन से हकाराक्षर शिवरूप होता है। अर्थात् अक्षर शिवरूप होता है, शिव अक्षररूप नहीं होते, पर उस अनक्षर को समन्वय के अभिप्राय से अक्षर के रूप में व्याख्यापित किया जाता है। इस तरह उसकी बाहर की आवृत्ति को लेकर (व्यावृत्ति को लिये बिना) शक्ति को बताया है। पराग्व्यावृत्तसिद्ध शिवरूप है, उसका विपरीत जो हकाराद्यक्षर है, उसके पराग्भाव को लेकर ही हकारादि शक्ति बताते हैं।

तत् सवितुरिति पूर्वेणाध्वना सूर्याधश्चन्द्रिकां व्यालिख्य मूलादि-ब्रह्मरन्ध्रगं साक्षरमद्वितीयमाचक्षत इत्याह भगवन्तं देवं शिवशक्त्या-त्मकमेवोदितम् ॥17॥

इस प्रकार 'तत्सवितुः' में भी जो पहले तत्पद के साथ समन्वित सूर्य बीज हकार है, उसके नीचे (पीछे) चन्द्रिका को (चन्द्रबीज सकार को) सविता शब्द के साथ समन्वित करना चाहिए। वह सवितृचैतन्य मूलाधार से लेकर ब्रह्मरन्ध्रपर्यन्त व्याप्त होकर रहता है और साक्षर अर्थात् अद्वितीय सकाराक्षर भी इसलिए ज्ञानियों (तत्त्वज्ञों) के द्वारा अद्वितीय कहा जाता है, ऐसा श्रुति कहती है—'जिसका तत्त्व से और सवितृत्व से ध्यान किया जाता है, वह शिवशक्त्यात्मक भगवान् देव को ही उदित होता है'।

शिवोऽयं परमं देवं शक्तिरेषा तु जीवजा।
सूर्याचन्द्रमसोर्योगाद्धंसस्तत्पदमुच्यते ॥18॥
तस्मादुज्जृम्भते कामः कामात् कामः परः शिवः।
कार्णोऽयं कामदेवोऽयं वरेण्यं भर्ग उच्यते ॥19॥

ब्रह्मवेत्ता लोग जिस सवितादेव को परम परमात्मा कहते हैं, वह यह शिव है और जो जीवत्व से उत्पन्न हुई है, वह शक्ति (मूल शक्ति) है। हकारार्थ सूर्य तत्पदार्थ शिव और सकारार्थ चन्द्रमा, त्वपदार्थ बीजभूत प्रकृति, उनमें स्थित हेय अंश को छोड़ने से उनके लक्ष्यभूत सूर्य-चन्द्र के योग से हंस प्रत्यग् भिन्न परमात्मा तत्त्व से प्राप्त है। इस तरह तत्पर निर्विशेष ब्रह्म कहा जाता है। इसलिए जो परमशिव विविध कामों का सर्जन करते हैं, उस परमशिव से काम = ककार प्रस्फुटित होता है। जो स्वरूप वरणीय भर्ग, निरतिशय ज्योतिस्वरूप है, वह यह कवर्ण (ककार) कामदेव परमेश्वर है।

तत् सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवः क्षीरं सेवनीयमक्षरं समधुघ्नमक्षरं परमात्म-जीवात्मनोर्योगात् तदिति स्पष्टमक्षरं तृतीयं ह इति तदेव सदाशिव एव निष्कल्मषो द्यो देवोऽन्त्यमक्षरं व्याक्रियते परमं पदम् ॥20॥

इस तरह 'तत्सवितुर्वरेण्यम्' पद के बाद जो 'देव' पद है, उसका हकार निष्पन्न करना है। देव यानी दूध, जो कि सेवन करने लायक है। इसका द्योतक वर्ण 'ह' है। यह 'ह' अक्षर शिव-शक्ति के योग से उत्पन्न होने वाले इस जगत्‌रूपी मधु का नाशक है। परमात्मा और जीवात्मा के तादात्म्य से 'तद्' ऐसे स्पष्ट अक्षर से तृतीय—तुरीय 'ह' ही है और वह सदाशिव परमात्मा का द्योतक है। वह सदाशिव स्वयं है, शाश्वत है, आदिदेव है और उसी हकार को परमपद कहा गया है।

धीति धारणं विद्यते जडत्वधारणं महीति लकारः शिवाधस्ताच्च लकारार्थः स्पष्टमन्त्यमक्षरं परमं चैतन्यं धियो यो नः प्रचोदयात् ॥21॥

'धीमहि' पद के 'धी' का अर्थ धारण करना होता है और धारण करने रूप जडत्व को महि की (पृथ्वी की) गुणशक्ति मानकर पृथ्वीबीज लकार आता है। इस तरह चौथे अक्षर 'ह'कार के बाद पाँचवाँ अक्षर लकार आता है। ऐसे पाँच अक्षर बनने के बाद स्पष्ट रूप से ही 'परमचैतन्यरूप वह परमात्मा हमारी बुद्धि को प्रेरित करें' ऐसी प्रार्थना है। इस तरह गायत्रीमंत्र से दूसरे कूट के पाँच अक्षर बनते हैं।

परो रजसेऽसावदोमित्येवं कूटं कामकलाऽऽलयं षडध्वपरिवर्तको वैष्णवं परमं धामैति भगवांश्चैतस्माद्य एवं वेद ॥22॥

'परो रजसेऽसावदोम्' इस पद का पहले की तरह ही 'ह्रीं' अक्षर निष्पन्न करके—हल्लेखा का रूप देकर—दूसरा कूट बनाया जाता है। इस कूट के छः अक्षर मूलाधारादि छः चक्र हैं और षट्चक्र के इस मार्ग में (षडध्वा) आने-जाने वाला योगी परमवैष्णवधाम में जाता है (ब्रह्मरन्ध्र में परमशिव का साक्षात्कार करता है); यह जो जानता है, वह सब कुछ जानता है।

अथैतस्मादपरं तृतीयं शक्तिकूटं प्रति पद्यते द्वात्रिंशदक्षर्या गायत्र्या ॥23॥

तत् सवितुर्वरेण्यं तस्मादात्मन आकाश आकाशाद्वायुः स्फुरते तदधीनं वरेण्यं समुदीयमानं सवितुर्वा योग्यो जीवात्मपरमात्मसमुद्भवस्तं प्रकाशशक्तिरूपं जीवाक्षरं स्पष्टमापद्यते ॥24॥

भर्गो देवस्य धीत्यनेनाधाररूपशिवात्माक्षरं गण्यते महीत्यादिना शेषं काम्यं रमणीयं दृश्यं काम्यं रमणीयं शक्तिकूटं स्पष्टीकृतमिति ॥25॥

अब इससे और आगे तीसरा शक्तिकूट भी इस बत्तीस अक्षरवाली गायत्री से निष्पन्न होता है। जैसे गायत्रीमंत्र के 'तत्' (पद से हकार = शिवतत्व) और 'सवितुः' (पद से प्रसव देने वाली शक्ति का 'सकार') इस प्रकार शिवशक्त्यात्मक संयोग को शिव का द्योतक 'हकार' माना गया है। और वह हकार आकाश का बीज है, इसलिए उस हकार से आकाश उत्पन्न हुआ, आकाश से वायु उत्पन्न हुआ। उस वायु के स्फुरण से उदीयमान जगमगाते सूर्य का वरेण्य तेज ही जीवात्म-परमात्म-संयोग से उत्पन्न हुआ प्रकाशशक्ति रूप जीवनतत्त्व है। उसका द्योतकवर्ण 'सकार' है। 'भर्गो देवस्य धी'—इसका द्योतक 'ककार' है, क्योंकि वह कामराज है। 'महि' पद का द्योतक वर्ण 'लकार' है। और शेष पदसमूह (धियो यो नः प्रचोदयात्, परो रजसेऽसावदोम्) का अर्थ 'ह्रींकार' होता है। इस प्रकार यह तीसरा शक्तिकूट (जगत्रूपी) रमणीय दृश्यमय और सुन्दर है। इसका स्पष्टीकरण ऊपर बताया गया है।

एवं पञ्चदशाक्षरं त्रैपुरं योऽधीते स सर्वान् कामानवाप्नोति स सर्वान् भोगानवाप्नोति स सर्वान् लोकान् जयति स सर्वा वाचो विजृम्भयति स रुद्रत्वं प्राप्नोति स वैष्णवं धाम भित्त्वा परं ब्रह्म प्राप्नोति य एवं वेद ॥26॥

इस प्रकार पंचदशाक्षर त्रैपुर मंत्र का जो जाप करता है, वह भावक सभी मनोरथों को प्राप्त करता है। वह सभी भोग प्राप्त करता है। सभी लोकों पर वह विजय प्राप्त करता है। वह सभी प्रकार की—चारों वाणी को विकसित कर सकता है। वह रुद्र बन सकता है, वह वैष्णव धाम का भेद कर ब्रह्मधाम

को प्राप्त कर सकता है। जो यह जानता है, वह सब कुछ जानता है, ऐसा मानना चाहिए। इस प्रकार पंचदशाक्षरी आद्या विद्या को ब्रह्मगायत्री के साथ खण्ड करके समन्वित करने के बाद इस आद्य विद्या का जो 'सकलह्रीं' शक्तिकूट है इसमें से 'स क' ऐसी शक्ति शिव नाम की प्रथम विद्या है। इसी तरह इस पंचदशाक्षरी विद्या के कुल बारह भेद बताए हैं।

एवमाद्यां विद्यामभिधायैतस्याः शक्तिकूटं शक्तिशिवाद्या। लोपामुद्रेयं द्वितीये धामनि ॥27॥

पूर्वेणैव मनुना बिन्दुहीना शक्तिभूतहल्लेखा क्रोधमुनिनाऽधिष्ठिता तृतीये धामनि ॥28॥

पूर्वस्या एव विद्याया यद्वाग्भवकूटं तेनैव मानवीं चान्द्रीं कौबेरीं विद्यामाचक्षते ॥29॥

मदनाधः शिवं वाग्भवम्, तदूर्ध्वं कामकलामयम्, शक्त्यूर्ध्वं शक्तिमिति मानवी विद्या चतुर्थे धामनि ॥30॥

शिवशक्त्याख्यं वाग्भवं तदेवाधः शिवशक्त्याख्यमन्यत्तृतीयं चेयं चान्द्री विद्या पञ्चमे धामनि ध्येयेयम् ॥31॥

चान्द्री कामाधः शिवाद्यकामा सैव कौबेरी षष्ठे धामनि व्याचक्षत इति य एवं वेद ॥32॥

इस प्रकार आद्या विद्या पंचदशाक्षरी को बताकर इसके बीच शक्तिकूट तथा शक्तिशिव विद्या व्यष्टिसमष्टि की जाग्रदवस्था में पहले धाम में संभाव्य है। और 'हसकहलह्रीं'—स्वरूपा लोपामुद्रा नामक विद्या को दूसरे धाम में संभावित करना चाहिए। अब उस दूसरे धाम के मंत्र से बिन्दु (अनुस्वार) को निकालकर (ह्रीं के बदले ह्री कहकर) जो विद्या क्रोधमुनि दुर्वासा के द्वारा आराधित है, वह तीसरे धाम में संभाव्य है। और पहले बताई गई लोपामुद्राविद्या का ही जो वाग्भवकूट योजित किया गया है, उसी योजना के अनुसार ही मनु, चन्द्र, कुबेर के द्वारा उस विद्या की आराधना की गई थी। इसलिए उस विद्या को सम्प्रदायविद् मानवी, चान्द्री, कौबेरी विद्या भी कहते हैं। उनमें मानवी विद्या यह है, जो मदन (कामकूट - क्लीं) के नीचे (पीछे) वाग्भवरूप शिव है, उसके ऊपर कामकलामय है, उसके ऊपर सादिविद्यारूप शक्तिकूट है। (अर्थात् हविद्या, कविद्या और साविद्या का क्रम प्रतिपादन होने से मूल में 'शक्त्यूर्ध्वं' ऐसा कहा गया है। मनु के द्वारा आराधित यह मानवी विद्या चौथे धाम में अभिन्न रूप से संभाव्य है। पाँचवीं चान्द्री विद्या यह है जिसके आदि में शिवशक्त्याख्य हादि, बाद में वाग्भव कादि, फिर से वही शिवशक्त्याख्य नीचे हादि और अन्य तृतीय सादि—ऐसी जो यह चार खण्डों से विशिष्ट विद्या चन्द्र के द्वारा आराधित है, वह चान्द्री विद्या पंचम धाम में संभाव्य है। और जो चार खण्डवाली कही गई उसके बाद यदि शिवाद्यकामा हादिविद्या जोड़ दी जाए, तो पंचखण्डात्मिका यह कुबेर द्वारा आराधित विद्या कौबेरी कही जाती है। ऐसा जो जानता है, वह कुबेर की तरह समृद्धि वाला सब कुछ है।

हिंत्वेकारं तुरीयस्वरं सर्वादौ सूर्याचन्द्रमस्केन कामेश्वर्यैवागस्त्यसंज्ञा सप्तमे धामनि ॥33॥

तृतीयमेतस्या एव पूर्वोक्तायाः कामाद्यं द्विधाऽधः कं मदनकलाऽऽद्यं शक्तिबीजं वाग्भवाद्यं तयोरर्धावशिरस्कं कृत्वा नन्दिविद्येयमष्टमे धामनि ॥34॥

वाग्भवमागस्त्यं वागर्थकलामयं कामकलाऽभिधं सकलमायाशक्तिः प्रभाकरी विद्येयं नवमे धामनि ॥35॥
पुनरागस्त्यं वाग्भवं शक्तिमन्मथशिवशक्तिमन्मथोर्वीमायाकामकलालयं चन्द्रसूर्यानङ्गधूर्जटिमहिमायं तृतीयं षण्मुखीयं विद्या दशमे धामनि ॥36॥
विद्याप्रकाशितया भूय एवागस्त्यविद्यां पठित्वा भूय एवेमामन्त्यमायां परमशिवविद्येयमेकादशे धामनि ॥37॥
भूय एवागस्त्यं पठित्वा एतस्या एव वाग्भवं यद्धनजं कामकलाऽऽलयं च तत्सहजं कृत्वा लोपामुद्रायाः शक्तिकूटराजं पठित्वा वैष्णवी विद्या द्वादशे धामनि व्याचक्षत इति य एवं वेद ॥38॥

कादि-विद्या के तुरीय स्वर ई को छोड़कर उसके तीनों खण्डों में 'हसहस' को प्रारंभ में योजित करके यदि ऐसी खण्डत्रयात्मक विद्या की उपासना की जाए, तो वह कामेश्वरी को प्रसन्न करने वाली होती है। अथवा तो इस प्रकार के उपासक का अभीप्सित पूर्ण होता है और निरवधि कामैश्वर्य प्राप्त होता है। यह विद्या अगस्त्य के द्वारा आराधित होने से इसका नाम अगस्त्य विद्या है। यह सातवें धाम में संभाव्य है। और जो पूर्वोक्त यह अगस्त्य विद्या है उसके पूर्व में 'हह' और 'सक' (दो कामाद्य और मदनाद्य तथा शक्तिबीज तथा वाग्भवाद्य) को अर्धशिरस्क करके नन्दिनी विद्या होती है और वह आठवें धाम में संभाव्य होती है। (सकार और ककार का—अर्थात् शक्तिबीज और वाग्भवाद्य का —प्लुतोच्चारण अर्धमात्रामस्तक करना चाहिए।) अब प्राभाकरी विद्या यह है कि जिसके प्रारंभ में कादि वाग्भवकूट हो, बाद में आगस्त्यविद्या वागर्थ कलामय शिवशक्त्यात्मक, कामकलानामक हादि और सकलमाया शक्ति शक्तिकूट को मिलाकर प्रभाकर के द्वारा आराधित प्राभाकरी विद्या होती है जो नवम धाम में संभाव्य है। वाग्भव कादि, शक्तिबीज ह्रीं, मन्मथबीज क्लीं, शिवशक्तिबीज हंस, फिर से मन्मथबीज क्लीं, उर्वीबीज ल, मायाबीज ह्रीं, कामकलालय ह आदि छः अक्षर, चन्द्रसूर्य बीज सोऽहम्, अनंगबीज क्लीं, धूर्जटिबीज हम्, महिमाबीज स, फिर से तृतीय बीज हंस: सोऽहं, हंसः—इनके संयोजन से षण्मुख द्वारा आराधित षण्मुखी विद्या होती है। दसवें धाम में तद्भेद रूप से उसकी भावना करनी चाहिए। इस षण्मुखी विद्या के साथ फिर से अगस्त्यविद्या को पढ़कर फिर से ही इस अन्त्यमा में भी अन्तिमा इस तुर्यरूपिणी पर अधिष्ठित सर्वसाक्षी शिव होते हैं, यही वह परमशिवविद्या है। षण्मुखी विद्या और अगस्त्यविद्या मिलकर परमशिवविद्या होती है। यह विद्या एकादश धाम में (ग्यारहवें भावना स्थान में) भावित की जाती है। अब वैष्णवी विद्या यह है—फिर से अगस्त्यविद्या पढ़कर उसके साथ कादि वाग्भव, कौबेर कामकलालय तथा हादि षड् अक्षरों को मिलाकर, पूर्वोक्त लोपामुद्राविद्या हादि विद्या से परिणत सादि शक्तिकूटराज को पढ़कर यह सब कुछ चित्सामान्य महाविद्यात्मक जो सम्यग्ज्ञान का स्वरूप है, वह विष्णु के द्वारा अधिष्ठित है, इसलिए इसे 'वैष्णवी विद्या' कहते हैं। द्वादश धाम में उसके साथ अभेद की भावना करनी चाहिए।

इस तरह पंचदशाक्षरी आदि विद्या के शक्तिकूट 'सकलह्रीं' में से 'स' 'क' ऐसी शक्तिशिव नाम की प्रथम विद्या होती है, इसी प्रकार कुल बारह भेद—बाहर विद्याएँ जो उत्पन्न होती हैं उसका विवरण ऊपर दिया गया है। उपनिषद् में बताए गए ये भेद नीचे के कोष्ठक में सरलता से समझने के लिए दिये जाते हैं।

क्रम	विद्यानाम	विद्या का स्वरूप	ऋषि	भावनास्थान	अवस्थात्मक स्थान
1.	शिवशक्ति विद्या	स क	—	प्रथम धाम	व्यष्टि समष्टि की जाग्रतावस्था
2.	लोपामुद्रा विद्या	हसकहलह्रीम्	लोपामुद्रा	द्वितीय धाम	व्यष्टि-समष्टि की स्वप्नावस्था
3.	दुर्वासा विद्या	हसकहलह्री	दुर्वासा क्रोधमुनि	तृतीय धाम	व्यष्टि-समष्टि की सुषुप्तावस्था
4.	मानवी विद्या	हसकहलह्री क ए ई ल ह्री सकलह्रीम्	मनु	चतुर्थ धाम	व्यष्टि की जाग्रदवस्था के आरोपाधार विश्व में विश्वरूप में
5.	चान्द्री विद्या	हसकहलह्रीं, क ए ई ल ह्रीं हसकईलह्रीं, सकलह्रीम्	चन्द्र	पंचम धाम	व्यष्टि की स्वप्नावस्था के प्रपञ्चारोप के आधारज्ञानी में
6.	कौबेरी विद्या	हसकहलह्रीं क ए ई ल ह्रीं हसकहलह्रीं सकलह्रीं हसकहलह्रीं	कुबेर	षष्ठ धाम	व्यष्टि की सुषुप्तावस्था के प्रपञ्चरूप आरोप के आधार ज्ञानी में
7.	अगत्स्य विद्या	हसकएलह्रीं, हसहसकहलह्रीं	अगस्त्य	सप्तम धाम	समष्टि की जाग्रत् अवस्था के प्रपञ्च के आधार विराट् में
8.	नन्दिविद्या	हहसक हसक एलह्रीं हसहस कहलह्रीं हसस कलह्रीं	नन्दी	अष्टम धाम	समष्टि की स्वप्नावस्था रूप प्रपञ्चाधार सूत्रात्मा में
9.	प्राभाकरी विद्या	क ए ई ल ह्रीं हसकएलह्रीं हसहसकहलह्रीं हससकलह्रीं हसकहलह्रीं सकलह्रीं	प्रभाकर (सूर्य)	नवम धाम	समष्टि की सुप्तावस्था के प्रपञ्चाधार बीज ईश्वर में
10.	षण्मुखी विद्या	ह्रीं क्लीं हंस क्लीं लं ह्रीं हसकहलह्रीं सोहं क्लीं हंस: ह्रीं हंस: सोहं हस:	षण्मुख (स्कन्द)	दशम धाम	व्यष्टि-समष्ट्यात्मक जाग्रत् प्रपंच के अपवादाधार ओतृ चैतन्य में
11.	परमशिव विद्या	ह्रीं क्लीं हस: क्लीं लं ह्रीं हसकहलह्रीं सोहं क्लीं हंस: ह्रीं हंस: सोहं हंस:	परमशिव	एकादश धाम	व्यष्टि-समष्टि के स्वप्न प्रपंच के अपवादाधार अनु ज्ञातृ चैतन्य में

12.	वैष्णवी विद्या	हसकएलह्रीं हसहस कहलह्रीं हससकलह्रीम् हसकएलह्रीं, हस हसकहलह्रीं हस सकलह्रीं कएई लह्रीं हसकहलह्रीं कएईलह्रीं, हसक हलह्रीं सकलह्रीं हसकलह्रीं हसक लहकह्रीं सकल ह्रीम्	विष्णु	द्वादश धाम	व्यष्टिसमष्ट्यात्मक जाग्रत् स्वप्न-सुषुप्ति प्रपञ्चापवादाधार अनुज्ञैक चैतन्य में

इस प्रकार 27 से 38 कण्डिकाओं (खण्डों) का पूरा विवरण ऊपर के कोष्टक में दिया गया है। इससे उन गद्यमंत्रों का अर्थ समझने में सरलता होगी।

तान् होवाच भगवान् सर्वे यूयं श्रुत्वा पूर्वां कामाख्यां तुरीयरूपां तुरीयातीतां सर्वोत्कटां सर्वमन्त्रासनगतां पीठोपपीठदेवतापरिवृतां सकलकलाव्यापिनीं देवतां सामोदां सपरागां सहृदयां सामृतां सकलां सेन्द्रियां सदोदितां परां विद्यां स्पष्टीकृत्वा हृदये निधाय विज्ञायानिलयं गमयित्वा त्रिकूटां त्रिपुरां परमां मायां श्रेष्ठां परां वैष्णवीं संनिधाय हृदयकमलकर्णिकायां परां भगवतीं लक्ष्मीं मायां सदोदितां महावश्यकरीं मदनोन्मादनकारिणीं धनुर्बाणधारिणीं वाग्विजृम्भिणीं चन्द्रमण्डल-मध्यवर्तिनीं चन्द्रकलां सप्तदशीं महानित्योपस्थितां पाशाङ्कुशमनोज्ञ-पाणिपल्लवां समुद्यदर्कनिभां त्रिणेत्रां विचिन्त्य देवीं महालक्ष्मीं सर्वलक्ष्मीमयीं सर्वलक्षणसंपन्नां हृदये चैतन्यरूपिणीं निरञ्जनां त्रिकूटाख्यां स्मितमुखीं सुन्दरीं महामायां सर्वसुभगां महाकुण्डलिनीं त्रिपीठमध्यवर्तिनीमकथादिश्रीपीठे परां भैरवीं चित्कलां महात्रिपुरां देवीं ध्यायेन्महाध्यानयोगेनेयमेवं वेदेति महोपनिषत् ॥39॥

इति प्रथमोपनिषत्।

फिर उन ऋषियों से भगवान् सदाशिव ने कहा कि—'तुम लोगों ने इस आद्य विद्या को सुना और सुनोगे भी। यह विद्या कामेश्वरविद्या है, वह प्रणव में अर्धमात्रारूप तुरीयविद्या है, सर्वोत्कृष्ट है, सर्वमंत्रों की आधारभूत है, यह पीठ-उपपीठ आदि स्थानाधिष्ठात्री देवताओं से चारों ओर आवृत है, प्राणादि सभी कलाओं से व्याप्त है, आनन्दपूर्ण है, उपासक के चित्त में रहने वाली है, सहृदय-अमृतमय-सकल-सेन्द्रिय-सदोदित ऐसी यह परा विद्या है। इस विद्या को रहस्य के साथ स्पष्ट रूप से 'अहं ब्रह्मास्मि' की दृढ़ भावना के साथ हृदय में धारण करके, ब्रह्म के सिवा और कुछ है ही नहीं—ऐसा समझकर (सबको ब्रह्मरूप देखकर) सकल चित्तवृत्ति को ब्रह्मपद में स्थिर करके हृदयकमल की कर्णिका में परा भगवती को त्रिकूटा (पंचदशाक्षरी विद्या) के रूप में—महात्रिपुरसुन्दरी के रूप में (भगवान् विष्णु की श्रेष्ठतम महामाया के रूप में) स्थापित करके, ध्यान में दृढ़, चित्तवृत्ति को तदाकार करके ऐसी कल्पना (भावना) करनी चाहिए कि वह लक्ष्मी के रूप में (माया के रूप में) नित्य विकसित पराशक्ति

है, वह इन्द्रियविजयिनी है, वह मदन (कामदेव) को भी पागल बनाने वाली है, वह धनुषबाण धारण करने वाली है, वह वाणी को विकसित करने वाली है, वह चन्द्रमंडल के मध्य में रहने वाली है, वह षोडश नित्याओं में और एक सत्रहवीं नित्या (महानित्या) के रूप में उपस्थित रहने वाली है,. वह अपने मनोहर हाथों में पाश और अंकुश को धारण किए हुए है, वह उदीयमान सूर्य जैसी, सूर्य-चन्द्र-अग्नि के तीन नेत्रों वाली है'' ।—इस प्रकार की कल्पना करके सर्वशोभासमन्वित और सर्वशुभलक्षणसम्पन्न देवी महालक्ष्मी का अर्थात् चित्कलारूपी श्रीमहात्रिपुरसुन्दरी का ऐसा ध्यान हृदय में करना चाहिए कि जो देवी चैतन्यरूप है, जो त्रिकूटनामधारिणी है, जो स्मितमुखी, सुन्दरी, महामाया, सर्वसौभाग्यमयी, महाकुण्डलिनी है। जो मूल-उड्डुयाण-जालन्धर—इन तीन पीठों के मध्य स्थान में अकथादि श्रीपीठ के ऊपर विराजमान है। जो महाकुण्डलिनी शक्ति के रूप में है, ऐसी भगवती महात्रिपुरासुन्दरी का महासमाधि में ध्यान करना चाहिए (साक्षात्कार करना चाहिए)। जो साधक इस तरह महात्रिपुरसुन्दरी को जानता है, वह कृतकृत्य होता है। ऐसी यह उपनिषत् है।

यहाँ प्रथमोपनिषत् पूर्ण हुई।

❋

द्वितीयोपनिषत्

अथातो जातवेदसे सुनवाम सोममित्यादि पठित्वा त्रैपुरी व्यक्ति-र्लक्ष्यते ॥1॥

भगवान् सदाशिव कहते हैं—'जातवेदसे सुनवाम' इस ऋचा को इस महामंत्र की अर्थ-भावना के साथ जपने से साधक को त्रिपुरासुन्दरी का साक्षात्कार होता है।

जातवेदस इत्येकर्चसूक्तस्याद्यमध्यमावसानेषु तत्र स्थानेषु विलीनं बीजसागररूपं व्याचक्ष्वेत्यृषय ऊचुः ॥2॥

यह सुनकर ऋषियों ने कहा कि—'जातवेदसे' इस एक मंत्र वाले सूक्त के आदि, मध्य और अन्त भाग में गुप्तरूप में रहे हुए सूक्ष्म (बीज) और वृहत् (सागर) स्वरूप का आप विवेचन कीजिए।

तान् होवाच भगवान्। जातवेदसे सुनवाम सोमं तदन्त्यमवार्णीं विलोमेन पठित्वा प्रथमस्याद्यं तदेव दीर्घं द्वितीयस्याद्यं सुनवाम सोममित्यनेन कौलं वामं श्रेष्ठं सोमं महासौभाग्यमाचक्षते ॥3॥

सर्वसम्पत्तिभूतं प्रथमं निवृत्तिकारणं द्वितीयं स्थितिकारणं तृतीयं सर्ग-कारणमित्यनेन करशुद्धिं कृत्वा त्रिपुराविद्यां स्पष्टीकृत्वा जातवेदसे सुनवाम सोममित्यादि पठित्वा महाविद्येश्वरीविद्यामाचक्षते ॥4॥

तब भगवान् ने उन ऋषियों से कहा—'जातवेदसे सुनवाम सोमं' इस मंत्र भाग का अर्थ यह है—इसमें 'जातवेदसे' पद कुण्डलिनी का उद्बोधक सम्बोधन है कि हे कुण्डलिनीशक्ति ! सहस्रा दल कमल में से स्रवित अमृतरस को (सोम को) हम 'सुनवाम' = पीएँ। इसका समन्वय-रहस्य ऐसा है कि—त्रिकूटात्मक पंचदशीमंत्र का अन्त्यकूट 'सकलह्रीं' है, उसे उल्टा बोलने से तथा दूसरे कूट के प्रथम अक्षर को दीर्घ बोलने से 'ॐ ह्रीं लकसकाह' ऐसा कुण्डलिनीमंत्र होता है। इस मंत्रजाप से उत्थापित कुण्डलिनी ही जातवेदा है। उसका सम्बोधन 'जातवेदसे' होता है। (भावना यह है कि हे जातवेदा, हम सब मिलकर कब सोमपान करेंगे ? अन्तः जाग्रत् हो, षट्चक्र का भेद हो आदि)। इस

एक ही मंत्र में—(1) कौल (अविद्या और उसके कार्यों का विलय), (2) वाम (आत्मा के सिवा अन्य ज्ञानों का प्रतिषेध सामर्थ्य), (3) श्रेष्ठ (अद्वितीय एक ज्ञान), (4) सोम (कारुण्यभाव का ज्ञान) और (5) महासौभाग्य (इन चारों पूर्वोक्त भावों का समवाय)—इन पाँचों ज्ञानों का इसमें समावेश है। और यह ज्ञान ही त्रिपुरासुन्दरी विद्या है। यही श्रीविद्या है और इसलिए ही उसे ब्रह्मविद्या कहा जाता है, अथवा उसे सर्वश्रेष्ठ मंत्रराज कहा जाता है। इस महासौभाग्य की प्राप्ति के लिए साधक को इस त्रिकूटा विद्या (पंचदशी महामंत्र) के तीनों कूटों से करन्यास करना चाहिए। इस त्रिकूटा विद्या का (पंचदशी विद्या का) प्रथम कूट निवृत्ति का कारण होता है, वह रुद्रस्वरूपी है। दूसरा कूट स्थितिकारक है, वह विष्णुस्वरूपी है, और तीसरा कूट सर्गकारक है, वह ब्रह्मास्वरूपी है। अत: इन तीन कूटों के द्वारा करन्यास करना चाहिए। और बाद में त्रिपुराविद्या का जाप (पंचदशी मंत्र का जाप) करना चाहिए। और इसके बाद, 'जातवेदसे सुनवाम'—इस मंत्र का जाप करना चाहिए। इस तरह पंचदशीमंत्र के साथ संलग्न 'जातवेदसे' ऋचा हो, तब दोनों मिलकर एक मंत्र होता है। इस मंत्र को 'महाविद्येश्वरी विद्या' कहा जाता है। (सामान्यरूप से मध्यमा से शुरू होते हुए करन्यास के बदले यहाँ तीन कूट से करन्यास करने को कहा गया है। कुछ साधक अन्य रीति से भी करन्यास करते हैं, परन्तु सामान्यरूप से त्रिपुरासुन्दरी के न्यास प्रकरण में बताया गया न्यास-प्रकार ही सूत्रकार एवं अन्य निबन्धकारों को मान्य है)।

त्रिपुरेश्वरीं जातवेदस इति जाते आद्यक्षरे मातृकायाः शिरसि बैन्दवम-मृतरूपिणीं कुण्डलिनीं त्रिकोणरूपिणीं चेति वाक्यार्थः ॥5॥

जब त्रिपुरासुन्दरी को 'जातवेदसे' इस सम्बोधन के द्वारा पहचाना गया, तब उसके मर्मार्थ को जानने के लिए 'जातवेदसे' शब्द का अर्थ ॐ कार के ऊपर के अर्ध चन्द्राकार के बिन्दु के लिए करना चाहिए। यह बिन्दु सभी अक्षरों के आद्यक्षर ॐ कार के ऊपर है। परमात्मा शिव सहस्रार में ॐकार के रूप में हैं। वहाँ उस भगवती का बिन्दुस्वरूप है। अथवा तो उसकी अग्नि के रूप में भावना भी की जा सकती है। कुलकुण्ड मूलाधार में कुण्डलिनी के आधार स्थानरूप त्रिकोणाकार कुण्ड में स्थित कुण्डलिनी की भावना करो। यह कुण्डलिनी सभी नाड़ियों के कन्द के रूप में होने से सभी नाड़ियों का पोषण करने वाली अमृतस्वरूपिणी है तथा यह उसका व्यष्टिस्वरूप है—ऐसा वाक्यार्थ है।

एवं प्रथमस्याद्यं वाग्भवं द्वितीयं कामकलालयं जात इत्यनेन परमात्म-नोज्जृम्भणम् ॥6॥

इस तरह पंचदशी महाविद्या का प्रथम कूट 'वाग्भव कूट' है (क ए इ ल ह्रीं), दूसरा 'कामकलाकूट' है (हसकहलह्रीं) और तीसरा शक्तिकूट (सकलह्रीं) है। इन तीनों कूटों के लिए यहाँ पर त्रिपुरा महाविद्या की तीन ऋचाएँ दी गई हैं—(1) तत्सवितु०, (2) जातवेदसे०, (3) त्र्यम्बकं०। इनमें दूसरी ऋचा (जातवेदसे०) कामकलाकूट है। और उसका स्वरूप अग्नि की तरह विकासशील है। ऐसे अग्नि की तरह परमात्मा भी विकासशील है।

जात इत्यादिना परमात्मा शिव उच्यते ॥7॥
जातमात्रेण कामी कामयते काममित्यादिना पूर्णं व्याचक्षते ॥8॥

इसलिए 'जातवेदसे' इस पद से सम्बोधित जो अग्नि है, वही परमात्मा शिव स्वयं ही है। प्राणी जन्म से ही कामी—इच्छा करने वाला होता है। यहाँ वह बलवती इच्छा से प्रेरित होकर ईश्वरत्व चाहता

है। जीवत्व से शिवत्व की कामना करता है। फिर कामनाओं का कोई अन्त न देखकर सभी कामनाओं का त्याग करके वह 'पूर्णकाम' बन जाता है। और 'पूर्णकाम' तो ईश्वर ही है। इस तरह मनुष्य कालक्रम से पूर्ण होता है, ऐसा कहते हैं।

तदेव सुनवाम गोत्रारूढं मध्यवर्तिनाऽमृतमध्येनार्णेन मन्त्रार्णान् स्पष्टीकृत्वा गोत्रेति नामगोत्रायामित्यादिना स्पष्टं कामकलालयं शेषं वाममित्यादिना पूर्वेणाध्वना विद्येयं सर्वरक्षाकरी व्याचक्षते ॥9॥

तीनों कूटों में लकार आता है, लकार पृथ्वीबीज है, अर्थात् तीनों कूट पृथ्वी से व्याप्त हैं। पृथ्वी का नाम गोत्रा है, पृथ्वी के प्रत्येक पदार्थ में—नाम, रूप आदि सभी विकारों में परमात्मा शिव का विजृंभण (विकासप्रक्रिया) देखा जाता है। अत: पृथ्वी के सभी पदार्थों में शिव आरूढ़ हैं, इसलिए वे गोत्रारूढ हैं। लकार = पृथ्वी अमृतार्णव में है, अत: तीनों कूटों में आए लकार वर्ण को मध्यवर्ती अमृतमय वर्ण के रूप में दर्शाया है। और गोत्र शब्दवाचक पृथ्वी में व्यापक सच्चिदानन्द शिव को स्पष्ट करके उसे गोत्रारूढ़ कहा गया है। उन्हें इस प्रकार ज्ञान दृष्टि से दिखाकर पूर्ण काम कलालय कामकला के स्थान में बताकर उससे भिन्न वाग्भवकूट और शक्तिकूट को 'वाम' पद से बताया है। यह पूर्ण शक्ति है, अत: सर्वरक्षाकरी जानकर परमशिव से अतिरिक्त कुछ है ही नहीं—ऐसा द्योतित करता है। इसलिए इसे सर्वरक्षाकरी विद्या कहा जाता है।

एवमेतेन विद्यां त्रिपुरेशीं स्पष्टीकृत्वा जातवेदस इत्यादिना जातो देव एक ईश्वरः परमो ज्योतिर्मन्त्रतो वेति तुरीयं वरं दत्त्वा बिन्दुपूर्णज्योतिःस्थानं कृत्वा प्रथमस्याद्यं द्वितीयं च तृतीयं च सर्वरक्षाकरीसम्बन्धं कृत्वा विद्यामात्मासनरूपिणीं स्पष्टीकृत्वा जातवेदसे सुनवाम सोममित्यादि पठित्वा रक्षाकरीं विद्यां स्मृत्वाऽऽद्यन्तयोर्धाम्नोः शक्तिशिवरूपिणीं विनियोज्य स इति शक्त्यात्मकं वर्णं सोममिति शैवात्मकं धाम जानीयात्। यो जानीते स सुभगो भवति ॥10॥

इस तरह त्रिपुरेशीविद्या—पंचदशीमंत्र का रहस्य स्पष्ट करके, 'जातवेदसे' आदि मंत्र द्वारा निष्पन्न देव एक परम ईश्वर ज्योति ही है ऐसा मानकर, उसे 'तुरीय' मानकर—अर्थात् उसे तेजोबिन्दुरूप पूर्णब्रह्म रूप में स्वीकार कर, साधक को पंचदशी मंत्र के प्रथम, द्वितीय तथा तृतीय कूट का 'सर्वरक्षाकरी विद्या' का सम्बन्ध करके श्रीचक्र के रूप में उसका समन्वय करना चाहिए। श्रीचक्र के बिन्दुस्थान में परब्रह्म भगवान् कामेश्वर की भावना करनी चाहिए। श्रीचक्र के तीन अवयव—(1) बिन्दु, (2) त्रिकोणरूपी कमलदल (पंखुडियाँ), और (3) वृत्तत्रय तथा भूपुर का कूटत्रय के साथ समन्वय करके समग्र श्रीचक्र को पंचदशीविद्या के रूप में मानकर उसका, 'जातवेदसे सुनवाम' आदि मंत्र के साथ समन्वय करना चाहिए। (तात्पर्य यह है कि (1) तत्सवितु०, (2) जातवेदसे और (3) त्र्यम्बकं को क्रमशः परब्रह्म, शक्ति और शिव के साथ एकीकृत करके परब्रह्म की उपासना = साक्षात्कार करना चाहिए।) जो साधक ऐसा जानता है, वह भाग्यशाली होता है।

इत्येवमेतां चक्रासनगतां त्रिपुरवासिनीं विद्यां स्पष्टीकृत्वा जातवेदसे सुनवाम सोममिति पठित्वा त्रिपुरेश्वरीविद्यां सदोदितां शिवशक्त्यात्मि-कामावेदितां जातवेदाः शिव इति सेति शक्त्यात्माक्षरमिति शिवादि-शक्त्यन्तरालभूतां त्रिकूटादिचारिणीं सूर्याचन्द्रमस्कां मन्त्रासनगतां

त्रिपुरां महालक्ष्मीं सदोदितां स्पष्टीकृत्वा जातवेदसे सुनवाम सोम-मित्यादि पठित्वा पूर्वां सदात्मासनरूपां विद्यां स्मृत्वा वेद इत्यादिना विश्वाहसंततोदयाबैन्दवमुपरि विन्यस्य सिद्धासनस्थां त्रिपुरां मालिनीं विद्यां स्पष्टीकृत्वा जातवेदसे सुनवाम सोमगित्यादि पठित्वा त्रिपुरां सुन्दरीं श्रित्वा कले अक्षरे विचिन्त्य मूर्तिभूतां मूर्तिरूपिणीं सर्वविद्येश्वरीं त्रिपुरां विद्यां स्पष्टीकृत्वा जातवेदस इत्यादि पठित्वा त्रिपुरां लक्ष्मीं श्रित्वाऽग्निं निदहाति ॥11॥

इस प्रकार से चक्रासनगत त्रिपुरवासिनी विद्या को स्पष्ट करके, 'जातवेदसे सुनवाम सोमम्०' इत्यादि मंत्र का पाठ करके (त्रिपुरवासिनी विद्या के साथ जातवेदसे आदि ऋचा जोड़कर) शिवशक्ति का ऐक्य करना चाहिए। क्योंकि जातवेदा शिव हैं और सकार शक्तिद्योतक वर्ण है। इस तरह शिव-शक्ति का ऐक्य समझकर उन दोनों के अन्तराल में स्थित सूर्य-चन्द्रमय, त्रिकूटव्याप्त, मन्त्रासनगता विद्या से त्रिपुरा महालक्ष्मी को, 'वह सदैव जाग्रत् है'—ऐसी भावना करके 'जातवेदसे सुनवाम सोमम्०' इस मंत्रवाक्य का जाप करना चाहिए। बाद में पंचदशी के द्वितीय रूप वाली चतुष्पदा गायत्री के साथ उसका संयोग करना चाहिए। इससे हकार = सूर्य और सकार = चन्द्र के योग से 'हंसः सोऽहम्'— ऐसा मंत्र बनेगा। उसका मूलबिन्दु परब्रह्म में अविनाभाव संबंध मानकर त्रिपुरामालिनी विद्या का उद्धार करना चाहिए। (अर्थात् अजपा गायत्री जाप करना चाहिए।) 'जातवेदसे सुनवाम सोमम्०' इत्यादि पूरे मंत्र का या इस मंत्रवाक्य का जप करके त्रिपुरसुन्दरी (पंचदशी) के साथ योग करके 'कले' इस पद में भावना करनी चाहिए। (तात्पर्य यह है कि पंचदशी के सभी अक्षर 'क' और 'ल' के बीच में आए हुए हैं। इस तरह सर्वविद्येश्वरी त्रिपुरा विद्या, जो कि जलते हुए अग्नि के समान है, उसकी भावना की जाती है।

सैवेयमग्न्यानने ज्वलतीति विचिन्त्य त्रिज्योतिषमीश्वरीं त्रिपुराम्बां विद्यां स्पष्टीकुर्यात् ॥12॥

यह त्रिपुराविद्या ज्ञानाग्नि के रूप में कल्पित की जाने पर तीन अग्नि के रूप में (सूर्य, चन्द्र और अग्नि के रूप में) त्रिपुराम्बा विद्या होती है, इस तरह भावना (चिन्तन) करनी चाहिए।

एवमेतेन स नः पर्षदति दुर्गाणि विश्वेत्यादिपरप्रकाशिनी प्रत्यग्भूता कार्या विद्येयमाह्वानकर्मणि सर्वतोधीरेति व्याचक्षते ॥13॥

इस तरह इसके द्वारा भावना करने से, 'स नः पर्षदति दुर्गाणि' इस वाक्य से परप्रकाशिनी प्रत्यग्भूता विद्या होती है। यह विद्या आह्वान के लिए सर्वशक्तियुक्त मानी जाती है।

एवमेतद्विद्याऽष्टकं महामायादेव्यङ्गभूतं व्याचक्षते ॥14॥

इस प्रकार से 'जातवेदसे......' आदि मंत्र से आठ विद्याएँ प्रकट की जाती हैं। ये आठों विद्याएँ महामाया महादेवी के आठ अंगरूप हैं, ऐसा कहते हैं। (ये आठ विद्याएँ हैं—(1) त्रिपुरा विद्या, (2) महाविद्येश्वरी विद्या, (3) सर्वरक्षाकरी विद्या, (4) त्रिपुरेशी विद्या, (5) आत्मासनरूपिणी विद्या, (6) शक्तिशिवरूपिणी विद्या, (7) त्रिपुरवासिनी विद्या और (8) त्रिपुराम्बा विद्या—इन आठ विद्याओं का उद्धार किया जाता है।)

देवा ह वै भगवन्तमब्रुवन् महाचक्रनायकं नो ब्रूहीति सार्वकामिकं सर्वाराध्यं सर्वरूपं विश्वतोमुखं मोक्षद्वारं यद्योगिन उपविश्य परं ब्रह्म भित्त्वा निर्वाणमुपविशन्ति ॥15॥

देवों ने भगवान् सदाशिव से पूछा—"मोक्ष के द्वाररूप, सर्वकामनापूरक, सर्वाराध्य, सर्वरूप, सर्वतोमुखी, महाचक्रनायक जो श्रीयंत्र है, जिसके सम्मुख बैठकर, जिसकी उपासना करके योगीजन अपनी आवरणग्रन्थि को भेदकर मोक्ष (निर्वाण) को प्राप्त करते हैं, उसके (श्रीचक्र के) बारे में हमें बताइए।"

तान् होवाच भगवान् श्रीचक्रं व्याख्यास्याम इति ॥16॥

त्रिकोणं त्र्यस्त्रं कृत्वा तदन्तर्मध्यवृत्तमानयष्टिरेखामाकृष्य विशालं नीत्वाऽग्रतो योनिं कृत्वा पूर्वयोन्यग्ररूपिणीं मानयष्टिं कृत्वा तां सर्वोर्ध्वां नीत्वा योनिं कृत्वाऽऽद्यं त्रिकोणं चक्रं भवति। द्वितीयमन्तरालं भवति। तृतीयमष्टयोन्यङ्कितं भवति ॥17॥

तब भगवान् सदाशिव ने देवों से कहा कि हम श्रीचक्र की व्याख्या करते हैं—पहले तीन कोने वाला एक (त्रिकोणाकार) क्षेत्र (आकृति) बनाना चाहिए। बाद में उसके भीतर बीच में से निकलती हो, ऐसी एक मानयष्टि (मापक रेखा) खींचनी चाहिए। फिर उसे आगे बढ़ाकर अन्त में कोण बनाकर पहले के कोणों के अनुरूप दूसरी मानयष्टि बनानी चाहिए। फिर उसे सबसे ऊपर (उत्तर में) ले जाकर वहाँ कोण बनाना चाहिए। इससे जो त्रिकोण चक्र होगा, उसे प्रथम त्रिकोण चक्र कहना चाहिए। और दूसरा बीच में त्रिकोणचक्र होगा। और तीसरा आठ कोनों वाला अष्टास्र चक्र होगा।

अथाष्टारचक्राद्यन्तविदिक्कोणाग्रतो रेखां नीत्वा साध्याद्याकर्षणबद्ध-रेखां नीत्वेत्येवमथोर्ध्वसम्पुटयोन्यङ्कितं कृत्वा कक्षाभ्य ऊर्ध्वगरेखा-चतुष्टयं कृत्वा यथाक्रमेण मानयष्टिद्वयेन दशयोन्यङ्कितं चक्रं भवति ॥18॥

अनेनैव प्रकारेण पुनर्दशारचक्रं भवति ॥19॥

अष्टारचक्र के पहले और अन्तिम कोणों के अग्रभाग से रेखा खींचकर उसे पहले खींची गई रेखा के साथ जोड़कर और ऊपर में उल्टे-सीधे कोण बनाकर पार्श्व से ऊपर की ओर जाने वाली चार रेखाएँ बना देने से दो मानयष्टियों से दश कोनों वाला दशारचक्र हो जाएगा। इस प्रकार से दूसरा दशारचक्र भी हो जाता है।

मध्यत्रिकोणाग्रचतुष्टयाद्रेखा चतुष्टयाग्रकोणेषु संयोज्य तद्दशारांशतो नीतां मानयष्टिरेखां योजयित्वा चतुर्दशारं चक्रं भवति ॥20॥

मध्यत्रिकोण के चार अग्रभागों से चार रेखाएँ आगे के कोणों के साथ जोड़कर पहले के दशारचक्र में से लाई गई मानयष्टि के साथ जोड़ देने से चतुर्दशारचक्र होता है।

ततोऽष्टपत्रसंवृतं चक्रं भवति। षोडशपत्रसंवृतं चक्रं भवति पार्थिवं चक्रं चतुर्द्वारं भवति ॥21॥

एवं सृष्टियोगेन चक्रं व्याख्यातम् ॥22॥

इसके बाद आठ पत्रों से युक्त वृत्त तथा उसके ऊपर सोलह पत्रों से युक्त वृत्त बनाना चाहिए। और इसके बाद चार द्वार वाला भूपुर भी बनाना चाहिए। इस प्रकार सृष्टिक्रम से श्रीचक्र बनता है ऐसा मैंने कहा है।

नवात्मकं चक्रं प्रातिलोम्येन वा वच्मि—प्रथमं चक्रं त्रैलोक्यमोहनं भवति साणिमाद्यष्टकं भवति समात्रष्टकं भवति ससर्वसंक्षोभिण्यादि-दशकं भवति सप्रकटं भवति त्रिपुरयाऽधिष्ठितं भवति ससर्वसंक्षोभिणी-मुद्रया जुष्टं भवति ॥23॥

नव चक्रों वाले इस श्रीचक्र को उल्टे क्रम से कहने पर (1) भूपुर, (2) षोडशदल, (3) अष्टदल, (4) चतुर्दशारचक्र, (5) दशारचक्र, (6) दशारचक्र, (7) अष्टारचक्र, (8) त्र्यस्त्रचक्र और (9) बिन्दु होते हैं, इसे संहारचक्र कहते हैं। इनमें प्रथमचक्र का नाम त्रैलोक्यमोहन है, इसे भूपुरचक्र भी कहते हैं। इसमें अणिमादि आठ सिद्धियाँ रहती हैं। इसमें ब्राह्मी आदि आठ मातृकाएँ भी रहती हैं। इसमें सर्वसंक्षोभिणी आदि दश मुद्राशक्तियाँ भी रहती हैं। वे सभी प्रकट योगिनियाँ कही जाती हैं। यह चक्र भूपुरचक्र पृथ्वीतत्त्व का है। उसमें वे प्रकट योगिनियाँ और चक्राधिष्ठात्री त्रिपुरा रहती हैं। और वह सर्वसंक्षोभिणी मुद्रा से युक्त है।

आठ सिद्धियाँ	1. अणिमा, 2. लघिमा, 3. महिमा, 4. गरिमा, 5. प्राप्ति, 6. प्राकाम्य 7. ईशित्व और 8. वशित्व।
आठ मातृकाएँ	1. ब्राह्मी, 2. माहेश्वरी, 3. कौमारी, 4. वैष्णवी, 5. वाराही, 6. माहेन्द्री, 7. चामुण्डा और 8. महालक्ष्मी।
दश मुद्राएँ	1. सर्वसंक्षोभिणी, 2. सर्वविद्राविणी, 3. सर्वकर्षिणी, 4. सर्ववशंकरी, 5. सर्वोन्मादिनी, 6. सर्वमहांकुशा, 7. सर्वखेचरी, 8. सर्वबीजा, 9. सर्वयोनि और 10. सर्वविखण्डिका।

द्वितीयं सर्वाशापरिपूरकं चक्रं भवति सकामाद्याकर्षिणीषोडशकं भवति सगुप्तं भवति त्रिपुरेश्वर्याऽधिष्ठितं भवति सर्वविद्राविणीमुद्रया जुष्टं भवति ॥24॥

दूसरा सोलह दलों वाला चक्र 'सर्वाशापरिपूरक' कहा जाता है। उसमें मनआकर्षिणी, बुद्ध्याकर्षिणी, अहंकाराकर्षिणी, शब्दाकर्षिणी, स्पर्शाकर्षिणी, रूपाकर्षिणी, रसाकर्षिणी, गन्धाकर्षिणी, चित्ताकर्षिणी, धैर्याकर्षिणी, स्मृत्याकर्षिणी, नामाकर्षिणी, बीजाकर्षिणी, आत्माकर्षिणी, अमृताकर्षिणी, शरीराकर्षिणी—ये सोलह गुप्त योगिनियाँ रहती हैं और उनकी अधिष्ठात्री त्रिपुरेश्वरी है। और यह चक्र सर्वविद्राविनी मुद्रा से युक्त है।

तृतीयं सर्वसंक्षोभणं चक्रं भवति सानङ्गकुसुमाद्यष्टकं भवति सगुप्ततरं भवति त्रिपुरसुन्दर्याऽधिष्ठितं भवति सर्वाकर्षिणीमुद्रया जुष्टं भवति ॥25॥

आठ दलवाला तीसरा चक्र 'सर्वसंक्षोभणचक्र कहलाता है। उसमें अनंगकुसुमा, अनंगमेखला, अनंगमदना, अनंगमदनातुरा, अनंगरेखा, अनंगवेगिनी, अनंगांकुशा, और अनंगमालिनी—ये आठ

गुप्ततर योगिनियाँ रहती हैं, यह भी त्रिपुरसुन्दरी से अधिष्ठित है, और यह चक्र सर्वाकर्षिणी मुद्रा से युक्त है।

तुरीयं सर्वसौभाग्यदायकं चक्रं भवति ससर्वसंक्षोभिण्यादिद्विसप्तकं भवति ससंप्रदायं भवति त्रिपुरवासिन्याऽधिष्ठितं भवति ससर्ववशंकरी-मुद्रया जुष्टं भवति ॥26॥

चौदह त्रिकोण वाला चौथा चक्र सर्वसौभाग्यदायक कहा जाता है। उसमें सर्वसंक्षोभिणी, सर्वविद्राविणी, सर्वाकर्षिणी, सर्वाह्लादिनी, सर्वसंमोहनी, सर्वस्तंभिनी, सर्वजृंभिणी, सर्ववशंकरी, सर्वरंजिनी, सर्वोन्मादिनी, सर्वार्थसाधिनी, सर्वसंपत्तिपूरणी, सर्वमंत्रमयी और सर्वद्वन्द्वक्षयकरी—ये चौदह संप्रदाययोगिनियाँ रहती हैं। इस चक्र की अधिष्ठात्री देवी त्रिपुरवासिनी है और यह चक्र सर्ववशंकरी मुद्रा से युक्त है।

पञ्चमं तुरीयान्तं सर्वार्थसाधकं चक्रं भवति ससर्वसिद्धिप्रदादिदशकं भवति सकलकौलं भवति त्रिपुरामहालक्ष्म्याऽधिष्ठितं भवति महोन्मादिनीमुद्रया जुष्टं भवति ॥27॥

चौथे के बाद पाँचवाँ दश त्रिकोणयुक्त सर्वसाधक चक्र है, इसे बहिर्दशारचक्र भी कहते हैं। इसमें दश कुलोत्तीर्ण योगिनियाँ रहती हैं। यह त्रिपुरमहालक्ष्मी के द्वारा अधिष्ठित है। यह चक्र महोन्मादिनी मुद्रा से युक्त है। यहाँ सकलकौल कुलोत्तीर्ण दश महायोगिनियाँ ये हैं—सर्वसिद्धिप्रदा, सर्वसंपत्प्रदा, सर्वप्रियंकरी, सर्वमंगलकारिणी, सर्वकामप्रदा, सर्वदुःखवियोगिनी, सर्वविघ्ननिवारिणी, सर्वांगसुन्दरी और सर्वसौभाग्यप्रदायिनी।

षष्ठं सर्वरक्षाकरं चक्रं भवति ससर्वज्ञत्वादिदशकं भवति सनिगर्भं भवति त्रिपुरमालिन्याऽधिष्ठितं भवति महाङ्कुशमुद्रया जुष्टं भवति ॥28॥

अब जो छठा अन्तर्दशार चक्र है, वह भी दशत्रिकोणात्मक ही है। उसे सर्वरक्षाकर चक्र कहते हैं। उसमें दश सनिगर्भयोनियाँ रहती हैं। यह त्रिपुरमालिनी के द्वारा अधिष्ठित हैं और महांकुशमुद्रा से युक्त हैं। (वे सनिगर्भ योगिनियाँ ये हैं—सर्वज्ञाता, सर्वशक्तिप्रदा, सर्वैश्वर्यप्रदा, सर्वज्ञानमयी, सर्वव्याधिनाशिनी, सर्वाधारा, सर्वपापहरा, सर्वानन्दमयी, सर्वरक्षा और सर्वेप्सितफलप्रदा।)

सप्तमं सर्वरोगहरं चक्रं भवति सर्ववशिन्याद्यष्टकं भवति सरहस्यं भवति त्रिपुरसिद्धयाऽधिष्ठितं भवति खेचरीमुद्रया जुष्टं भवति ॥29॥

सातवाँ अष्टत्रिकोणात्मक सर्वरोगहरनामक चक्र है। उसमें वशिनी आदि आठ रहस्ययोगिनियाँ रहती हैं। वह त्रिपुरसिद्धि के द्वारा अधिष्ठित है और खेचरी मुद्रा से युक्त है। (आठ रहस्ययोगिनियाँ ये हैं—वशिनी, कामेश्वरी, मोहिनी, विमला, अरुणा, जयिनी, सर्वेश्वरी और कौलिनी।)

अष्टमं सर्वसिद्धिप्रदं चक्रं भवति सायुधचतुष्टयं भवति सपरापररहस्यं भवति त्रिपुराम्बयाऽधिष्ठितं भवति बीजमुद्रया जुष्टं भवति ॥30॥

आठवें त्रिकोणचक्र को 'सर्वसिद्धिप्रद चक्र' कहते हैं। उसके चारों ओर बाण-धनुष-पाश-अंकुश आयुध रहते हैं। त्रिकोण के भीतर तीन रहस्ययोगिनियाँ (कामेश्वरी, वज्रेश्वरी, भगमालिनी) रहती हैं। यह चक्र त्रिपुराम्बा से अधिष्ठित है और बीजमुद्रा से युक्त है।

नवमं चक्रनायकं सर्वानन्दमयं चक्रं भवति सकामेश्वर्यादित्रिकं भवति सातिरहस्यं भवति महात्रिपुरसुन्दर्याऽधिष्ठितं भवति योनिमुद्रया जुष्टं भवति ॥31॥

नवम चक्र सभी चक्रों का नायक है, वह बिन्दुस्वरूप है। उसे सर्वानन्दमय चक्र कहते हैं। इसमें कामेश्वरी, वज्रेश्वरी और भगमालिनी—ये तीन अतिरहस्यमययोगिनियाँ रहती हैं। यह भगवती महात्रिपुर-सुन्दरी का अधिष्ठान है और योनिमुद्रा से युक्त है।

संक्रामन्ति वै सर्वाणि छन्दांसि चक्राराणि तदेव चक्रं श्रीचक्रम् ॥32॥

इस तरह ये सभी चक्र मिलकर—सभी चक्रों का एक चक्र हुआ। यह चक्र सर्व वेदमन्त्रों का समन्वय करने वाला है। इसे श्रीचक्र (श्रीयंत्र) कहा जाता है।

तस्य नाभ्यामग्निमण्डले सूर्याचन्द्रमसौ तत्रोंकारपीठं पूजयित्वा तत्राक्षरं बिन्दुरूपं तदन्तर्गतव्योमरूपिणीं विद्यां परमां स्मृत्वा महात्रिपुरसुन्दरी-मावाह्य—
क्षीरेण स्नापिते देवि चन्दनेन विलेपिते ।
बिल्वपत्रार्चिते देवि दुर्गेऽहं शरणं गतः ॥
इत्येकयर्चा प्रार्थ्य मायालक्ष्मीमन्त्रेण पूजयेदिति भगवानब्रवीत् ॥33॥

इस श्रीचक्र की नाभि (केन्द्रस्थल) में बिन्दुस्थ अग्निमण्डल में सूर्य, चन्द्र तथा ओंकार पीठ हैं। उन्हें पूजकर अचलबिन्दु में आकाशरूपिणी भगवती की जो विद्या (मंत्र) है, उसका स्मरण करके (पंचदशाक्षरी मंत्र से भगवती का ध्यान करके) श्रीमहात्रिपुरसुन्दरी का आवाहन करके 'क्षीरेण' आदि मंत्र से प्रार्थना करनी चाहिए। 'क्षीरेण' आदि मंत्र का अर्थ यह है—'दूध से स्नान कराई गई और चन्दन से विलेपित की गई तथा बिल्वपत्र से पूजित ऐसी, हे दुर्गे ! देवी ! मैं तेरी शरण में हूँ।' इसके बाद, 'ह्रीं श्रीश्रीमहात्रिपुरसुन्दर्यै नमः' इस मंत्र से पूजा करनी चाहिए। इस तरह भगवान् ने कहा है।

एतैर्मन्त्रैर्भगवतीं यजेत्। ततो देवी प्रीता भवति स्वात्मानं दर्शयति। तस्माद्य एतैर्मन्त्रैर्यजति स ब्रह्म पश्यति स सर्वं पश्यति सोऽमृतत्वं च गच्छति। य एवं वेदेति महोपनिषत् ॥34॥

इति द्वितीयोपनिषत् ।

इन मंत्रों से भगवती का यजन करना चाहिए। इससे देवलोग प्रसन्न होते हैं। वे अपना दर्शन देते हैं। साक्षात्कार होता है। इस प्रकार चित् शक्ति के दर्शन होने से साधक ब्रह्म को देख सकता है। वह सब कुछ देख सकता है। वह मोक्ष प्राप्त करता है। जो ऐसा जानता है, वही ज्ञानी है। ऐसी यह उपनिषद् है।

यहाँ द्वितीयोपनिषत् पूरी हुई।

❋

तृतीयोपनिषत्

देवा ह वै मुद्राः सृजेयमिति भगवन्तमब्रुवन्। तान् होवाच भगवा-नवनिकृतजानुमण्डलं विस्तीर्य पद्मासनं कृत्वा मुद्राः सृजेतेति ॥1॥

देवों ने भगवान् से कहा कि 'मुद्राएँ बनाएँ।' तब भगवान् ने उनसे कहा कि 'दोनों घुटनों को धरती पर रखकर मुद्राएँ बनाओ।'

[बिन्दुत्रिकोणवसुकोणदशारयुग्मं मन्वश्रनागदलसंयुतषोडशारम् ।
वृत्तत्रयं च धरणीसदनत्रयं च श्रीचक्रमेतदुदितं परदेवतायाः ॥]
स सर्वानाकर्षयति यो योनिमुद्रामधीते स सर्वं वेत्ति स सर्वफलमश्नुते स सर्वान् भञ्जयति स विद्वेषिणं स्तम्भयति। मध्यमे अनामिकोपरि विन्यस्य कनिष्ठिकाङ्गुष्ठतोऽधीते मुक्तयोस्तर्जन्योर्दण्डवदधस्तादेवं विधा प्रथमा संपद्यते ॥2॥

[(1) बिन्दु, (2) त्रिकोण, (3) आठ त्रिकोणों का समूह, (4) दश त्रिकोणों का समूह, (5) फिर से दश त्रिकोणों का समूह, (6) चौदह त्रिकोणों का समूह, (7) आठ दल का कमल, (8) सोलह दलों का कमल, (9) तीन वृत्त और भूपुर—इनसे परदेवता का श्रीचक्र बनता है। (ये दशविभाग होने पर भी इसे नवचक्रात्मक इसलिए कहा जाता है कि बहुसंख्यक लोग अन्त्यभूपुर को गणना में नहीं लेते और नवम चक्र के रूप में चतस्र को लेते हैं। यहाँ पर दश चक्र माने गये हैं। द्वितीय उपनिषद् में नव चक्र कहे गए हैं इसलिए यहाँ दस मुद्राएँ हैं और द्वितीय उपनिषद् में नव मुद्राएँ कहीं हैं—दसवीं 'विखण्डित' मुद्रा वहाँ नहीं है, यहाँ है। शेष सर्वसंक्षोभिणी आदि मुद्राएँ तो ज्यों-की-त्यों यहाँ हैं। इन मुद्राओं में सर्वप्रथम यहाँ योनि मुद्रा की प्रशंसा करते हुए कहते हैं कि—)] जो योनिमुद्रा जानता है वह सबका आकर्षण कर सकता है, वह सब कुछ जानता है, वह सर्वत्र विजयी होता है, वह शत्रुओं को स्तंभित करके सभी सुखों को भोगता है। हाथों की मध्यमा अँगुलियाँ तर्जनी के ऊपर आ जाएँ इस तरह सीधी खड़ी करके अनामिका अँगुलियाँ टेढ़ी झुकी हुई तर्जनियों में रखनी चाहिए। दाहिने हाथ की अनामिका बाएँ हाथ की टेढ़ी झुकी हुई तर्जनी में और बाएँ हाथ की अनामिका दाहिने हाथ की तर्जनी में रहे, इस तरह रखनी चाहिए। और दोनों मध्यमा अँगुलियों को सीधा खड़ा करना चाहिए। कनिष्ठिकाओं को भी सीधा रखकर दोनों अँगूठों के साथ जोड़ देना चाहिए। इस तरह योनिमुद्रा होती है। यह प्रथम मुद्रा है। (कुछ लोग अंगुष्ठ को मध्यमा के मध्यपर्व रखने का मत रखते हैं।)

सैव मिलितमध्यमा द्वितीया ॥3॥
तृतीयाऽङ्कुशाकृतिरिति ॥4॥

योनिमुद्रा बनाकर मध्यमाओं को एक-दूसरे के साथ रखने पर दूसरी 'बीजमुद्रा' बनती है। इसका अर्थ यह होता है कि जैसे योनिमुद्रा में अनामिका तर्जनी के द्वारा पकड़ी जाती है उसी प्रकार यहाँ कनिष्ठिकाएँ मध्यमाओं के द्वारा पकड़ी जाती हैं। अनामिकाएँ यहाँ सबसे नीचे खुली रहती हैं। ऐसा होने पर वे एक-दूसरे से सटी हुई रहती हैं। बाद में अँगूठे और तर्जनी से अर्धचन्द्राकार बनने से जो मुद्रा होती है, वह 'बीजमुद्रा' है। तीसरी मुद्रा अंकुशाकार होती है, उसे 'खेचरीमुद्रा' कहते हैं। (वह भी दायें-बायें हाथों और अँगुलियों से बनती है, इसकी रीति अन्यान्य ग्रन्थों में बताई गई है।)

प्रातिलोम्येन पाणी सङ्घर्षयित्वाऽङ्गुष्ठौ साग्रिमौ समाधाय तुरीया ॥5॥

चौथी मुद्रा सर्वमहाङ्कुशा नाम की है। इसके लिए दोनों हाथों को उल्टा-सीधा करके दोनों अँगूठों को आगे करना चाहिए (यह तो मुद्रा की रीति का केवल संकेत ही है, विस्तार के लिए अन्य तंत्रग्रंथ देखने चाहिए)।

परस्परं कनीयसेदं मध्यमाबद्धे अनामिके दण्डिन्यौ तर्जन्या वालिङ्ग्या-
वष्टभ्य मध्यमा नखमिलिताङ्गुष्ठौ पञ्चमी ॥6॥

पाँचवीं मुद्रा 'सर्वोन्मादिनी' है। बाँयीं कनिष्ठिका के ऊपर दायीं कनिष्ठिका रखकर उन दोनों को इस प्रकार लम्बा करना चाहिए कि जिससे वे अनामिकाएँ ऊपर से तिरछी होकर मध्यमा तक पहुँचें, एवं मध्यमा के द्वारा उनका अग्र भाग दृढ़ पकड़ा जाए। बाद में मध्यमाओं के नखों पर अंगुष्ठों को रखना चाहिए। अनामिकाओं का परस्पर स्पर्श हो, इस तरह उन्हें सीधा रखना चाहिए। अनामिकाओं के पास की तर्जनियों को भी सीधा रखना चाहिए। इस तरह पाँचवीं 'सर्वोन्मादिनी' मुद्रा बनती है।

सैवाग्रेऽङ्कुशाकृतिः षष्ठी ॥7॥

छठी 'सर्ववशंकरी' मुद्रा है। इसमें 'सर्वोन्मादिनी मुद्रा' बनाकर अँगुलियों को अंकुशाकार करना पड़ता है।

दक्षिणशये वामबाहुं कृत्वाऽन्योऽन्यानामिके कनीयसीमध्यगते मध्यमे
तर्जन्याक्रान्ते सरलास्वङ्गुष्ठौ खेचरी सप्तमी ॥8॥

दाहिने हाथ में बाँया हाथ रखकर अनामिका और कनिष्ठिका को तथा मध्यमाओं को तर्जनियों के साथ जोड़कर (आँटी = गाँठ मारकर) अँगूठों को सीधा रखने से सातवीं 'खेचरी' नाम की मुद्रा होती है।

सर्वोर्ध्वे सर्वसंहृति स्वमध्यमानामिकाऽन्तरे कनीयसे पार्श्वयोस्तर्जन्या-
वङ्कुशाढ्ये युक्ता साङ्गुष्ठयोगतोऽन्योऽन्यं सममञ्जलिं कृत्वाऽष्टमी ॥9॥

दोनों हाथों की कनिष्ठिका अँगुलियों को अपनी-अपनी मध्यमाओं और तर्जनियों के मध्य भाग में रखकर तर्जनियों को अंकुशाकार करके अँगूठे के साथ जोड़कर अंजलि जैसा करने से आठवीं 'सर्वविद्राविणी' मुद्रा होती है।

परस्परमध्यमापृष्ठवर्तिन्यावनामिके तर्जन्याक्रान्ते समे मध्यमे आदा-
याङ्गुष्ठौ मध्यवर्तिनौ नवमी प्रतिपद्यत इति ॥10॥

एक-दूसरे हाथ की मध्यमाओं के पीछे अनामिकाओं को तर्जनी से जोड़कर (आँटी = गाँठ मारकर) सीधी खड़ी हुई मध्यमाओं के साथ अँगूठों को भी सीधा रखने से नवमी 'सर्वसंक्षोभकारिणी' नाम की मुद्रा बनती है।

सैवेयं कनीयसे समे अन्तरितेऽङ्गुष्ठौ समावन्तरितौ कृत्वा त्रिखण्डा-
पद्यत इति। पञ्च बाणाः पञ्चाद्या मुद्राः स्पष्टाः ॥11॥

इसमें कनिष्ठिकाएँ सीधी या टेढ़ी हों या करतल में हों, इसके बारे में कुछ कहा नहीं है। पर हथेली के बीच में रखने से यह मुद्रा होती है, ऐसा समझना चाहिए। सर्वसंक्षोभिणी मुद्रा करके उसमें कनिष्ठिकाओं को सीधा-टेढ़ा रखने से और अँगूठों को सीधा (खड़ा) रखने से त्रिखण्ड मुद्रा होती है। और पाँच अँगुलियों को सीधा करके हाथ लम्बा करने से पाँच वरणमुद्राएँ बनती हैं।

क्रोमङ्कुशा हसखफ्रैं खेचरी हस्त्रौं बीजाष्टमी वाग्भवाद्या नवमी दशमी
च संपद्यत इति य एवं वेद ॥12॥

'क्रौं' = अंकुशबीज, हस = शिवशक्तिबीज, ख = मारणबीज, फ्रैं = मोहनबीज—ये सब एक साथ मिल जाने से ('हसखफ्रैं' होने से) खेचरी बीज बनता है। 'ह' सूर्यबीज है, 'स्त्रौं' कामबीज है, उनके साथ वाग्भवकूट का आद्याक्षर 'क' जोड़ने से और कामकूट बीज का आद्याक्षर 'ह' जोड़ने से दश बीज होते हैं यथा—(1) अंकुशबीज क्रौं, (2) शिवबीज = ह, (3) शक्तिबीज = स, (4) मारण-बीज = ख, (5) मोहनबीज = फ्रैं, (6) खेचरी बीज = हसफ्रैं, (7) सूर्यबीज = ह, (8) काम-बीज = स्त्रौं, (9) वाग्भवबीज = क और (10) कामकूटबीज = ह—ऐसे दश बीजों से युक्त होने से, 'क्रौं हसखफ्रैं हस्त्रौं कह'—इस प्रकार दश मुद्राओं के दश बीज होते हैं। इस प्रकार जो जानता है, वह सिद्ध योगी बनता है।

अथातः कामकलाभूतं चक्रं व्याख्यास्यामो ह्रीं क्लीमैं ब्लूँ स्त्रौमेते पञ्च कामाः सर्वचक्रं व्याप्य वर्तन्ते। मध्यमं कामं सर्वावसाने सम्पुटीकृत्य ब्लूङ्कारेण सम्पुटं व्याप्तं कृत्वा द्विरैंद्वयेन मध्यवर्तिना साध्यं बद्ध्वा भूर्जपत्रे यजति। तच्चक्रं यो वेत्ति स सर्वं वेत्ति स सकलान् लोकानाकर्षयति स सर्वं स्तम्भयति। नीलीयुक्तं चक्रं शत्रून् मारयति गतिं स्तम्भयति। लाक्षायुक्तं कृत्वा सकललोकं वशीकरोति। नवलक्षजपं कृत्वा रुद्रत्वं प्राप्नोति। मातृकया वेष्टितं कृत्वा विजयी भवति। भगाङ्ककुण्डं कृत्वाऽग्निमाधाय हविषा योषितो वशीकरोति। पुरुषे हुत्वा वर्तुले वा हुत्वा श्रियमतुलां प्राप्नोति। चतुरश्रे हुत्वा वृष्टिर्भवति। त्रिकोणे हुत्वा शत्रून् मारयति गतिं स्तम्भयति। पुष्पाणि हुत्वा विजयी भवति। महारसैर्हुत्वा परमानन्दनिर्भरो भवति। महारसाः षड्रसाः ॥13॥

अब हम कामकलाभूत चक्र की व्याख्या करते हैं—ह्रीं, क्लीं, ऐं, ब्लूं, स्त्रौं—ये पाँच बीज 'पंच काम' कहे जाते हैं। इन पाँच बीजों से (कामों से) पूरा श्रीचक्र व्याप्त है। (अतः इससे सभी काम्य कर्मों की संप्राप्ति होती है, जैसे—) 'स्त्रैं' (अन्त्य) बीज के संपुट के लिए 'ऐं' बीज का उपयोग करके (= ऐं स्त्रौं ऐं करके) उस संपुट को 'ब्लूँ' बीज से लपेटकर, ऊपर-नीचे 'ऐं स्त्रौं ऐं' लिखकर बीच में आकृष्य व्यक्ति का नाम लिखना चाहिए। इस यंत्र को भोजपत्र पर लिखकर उसके पूजन से कार्यसिद्धि होगी। उस चक्र को जो जानता है, वह सब जानता है, वह सभी लोगों को आकर्षित करता है। नीली से लिखा हुआ यह मंत्र शत्रु को मारता है, उसकी गति रोक देता है। लाक्षा से लिखा हुआ यह मंत्र छोटे-बड़े को वश में ला देता है। अष्टगन्ध से लिखा गया यह मंत्र यदि नव लाख बार जपा जाए तो साधक रुद्रतुल्य हो जाता है। मातृकाओं से वेष्टित किया गया वह मंत्र विजय दिलाता है। योनि के आकार के कुण्ड में अग्नि रखकर योग्य संख्या में हविषद्रव्यों से होम करने से स्त्रियों को वश में किया जा सकता है। पुरुषाकार (चतुरस्त्र) कुण्ड में या वर्तुलाकार कुण्ड में होम करने से अनुपम लक्ष्मी की प्राप्ति होती है। चतुरस्त्र कुण्ड में होम करने से वृष्टि होती है। शत्रु के मारण या स्तंभन के लिए त्रिकोण कुण्ड में होम करना चाहिए। विजय के लिए पुष्पों से होम कराना चाहिए। मोक्षप्राप्ति के लिए महारसों से (छहों रसों से—कटु, तिक्त, लवण, कषाय, मधुर, अम्ल) होम करना चाहिए। इससे मोक्ष मिलता है।

गणानां त्वा गणपतिं हवामहे कविं कवीनामुपमश्रवस्तमम्।
ज्येष्ठराजं ब्रह्मणां ब्रह्मणस्पत आ नः शृण्वन्नूतिभिः सीद सादनम्॥

इत्येवमाद्यमक्षरं तदन्त्यबिन्दुपूर्णमित्यनेनाङ्गं स्पृशति । गं गणेशाय नम इति गणेशं नमस्कुर्वीत । ॐ नमो भगवते भस्माङ्गरागायोग्रतेजसे हनहन दहदह पचपच मथमथ विध्वंसयविध्वंसय हलभञ्जन शूलमूले व्यञ्जन-सिद्धिं कुरुकुरु समुद्रं पूर्वप्रतिष्ठितं शोषयशोषय स्तम्भयस्तम्भय परमन्त्रपरयन्त्रपरतन्त्रपरदूतपरकटकपरच्छेदनकर विदारयविदारय च्छिन्धिच्छिन्धि ह्रीं फट् स्वाहा । अनेन क्षेत्राध्यक्षं पूजयेदिति ॥14॥

इन सभी साधनाओं के प्रारंभ में विधिपूर्वक क्षेत्रज्ञपूजन, गणेशपूजन, अंगन्यासादि करना चाहिए। इसका संकेत 'गणानान्त्वा' आदि मंत्र से दिया गया है। 'ॐ गं गणपतये नमः' यह निष्पन्न मंत्र अथर्वशीर्षीय है। गणेशपूजन करने से पहले 'गं' बीज से पहले तो गणेश को नमस्कार करना चाहिए। बाद में अंगन्यास इस प्रकार करना चाहिए—'ॐ गां हृदयाय नमः। ॐ गीं शिरसे स्वाहा। ॐ गूं शिखायै वौषट्। ॐ गैं कवचाय हुम्। ॐ गौं नेत्रत्रयाय वौषट्। ॐ गः अस्त्राय फट्'—इस तरह मंत्र विभागों से करने का संकेत ऊपर का मंत्र देता है। मंत्र के आद्य अक्षर 'ग' को बिन्दुयुक्त करने से 'गं' रूप गणेशबीज बनता है। गणेशमंत्र ही बनता है। इसके साथ ॐ और नमः जोड़ देने से और बीच में चतुर्थी विभक्तियुक्त गणेश का रूप 'गणेशाय' रख देने से बने हुए 'ॐ गणेशाय नमः' मंत्र को सिद्धमंत्र कहा गया है। इसके द्वारा भस्मांगराग, उग्रतेज उस देव से शत्रु को मारने की, जलाने की, पचाने की, मथने की विध्वंस करने की आदि कई प्रकार की माँगें की गई हैं (अर्थात् शत्रु के उन्मूलन के लिए सब कुछ कहा गया है)। इससे क्षेत्राध्यक्ष की पूजा करनी चाहिए।

कुलकुमारि विद्महे मन्त्रकोटिसु धीमहि ।
तन्नः कौलिः प्रचोदयात् ॥
इति कुमार्यर्चनं कृत्वा यो वै साधकोऽभिलिखति सोऽमृतत्वं गच्छति स यश आप्नोति स परमायुष्यमथ वा परं ब्रह्म भित्त्वा तिष्ठति य एवं वेदेति महोपनिषत् ॥15॥

इति तृतीयोपनिषत् ।

पूजा के अन्त में विहित कुमारीपूजन के लिए यह कुमारी गायत्री है। इस कुमारी गायत्री के द्वारा कुमारी का पूजन करना चाहिए। (कुमारी गायत्री का मन्त्रार्थ यह है कि हे कोटिमंत्रतुल्य कुमारी ! हम तुम्हें ऐसी जानते हैं, हे कौली ! हमारी बुद्धि को प्रेरित करो।) इस प्रकार जो साधक श्रीयंत्र का पूजन करता है, वह मोक्ष प्राप्त करता है, वह यश प्राप्त करता है, वह परमायु (दीर्घ आयुष्य) प्राप्त करता है, वह परब्रह्म को प्राप्त करता है। जो यह जानता है, वह इन सिद्धियों को प्राप्त करता है, ऐसा यह उपनिषत् कहती है।

यहाँ तीसरी उपनिषत् पूरी हुई है।

❉

चतुर्थोपनिषत्

देवा ह वै भगवन्तमब्रुवन् देव गायत्रं हृदयं नो व्याख्यातं त्रैपुरं सर्वोत्तमम् ॥1॥

देवताओं ने भगवान् से कहा—आपने हमें सर्वोत्तम ऐसा त्रिपुरा का गायत्रीमय हृदय (रहस्य) बताया है।

जातवेदससूक्तेनाख्यातं नस्त्रैपुराष्टकम् ।
यद्दिष्ट्वा मुच्यते योगी जन्मसंसारबन्धनात् ॥2॥

आपने हमको 'जातवेदसे' इस सूक्त के द्वारा त्रिपुराष्टक का विवरण भी समझाया है कि जिसे जानने से योगी जन्ममरणरूपी संसार के बन्धनों से छुटकारा पा सके।

अथ मृत्युंजयं नो ब्रूहीत्येवं ब्रुवतां सर्वेषां देवानां श्रुत्वेदं वाक्यमथात-स्त्र्यम्बकेनानुष्टुभेन मृत्युञ्जयं दर्शयति ॥3॥

अब आप हमें मृत्युंजय महामंत्र का रहस्य (विवरण) समझाइए। इस प्रकार ऋषियों का वाक्य सुनकर अनुष्टुप् छन्द में बिठाए गए त्र्यम्बकमंत्र का विवरण भगवान् सदाशिव कर रहे हैं।

कस्मात् त्र्यम्बकमिति । त्रयाणां पुराणामम्बकं स्वामिनं तस्मादुच्यते त्र्यम्बकमिति ॥4॥

त्र्यम्बकमंत्र में 'त्र्यम्बकम्'—ऐसा क्यों कहा गया है ? क्योंकि भगवान् रुद्र (महादेव) तीनों पुरों में (स्वर्ग, पृथ्वी और पाताल में) अथवा स्थूल-सूक्ष्म-कारण—तीनों शरीरों में अपना स्वामित्व रखते हैं, इसलिए वे त्र्यम्बक हैं। उपनिषत् यहाँ अंबक का अर्थ स्वामी करती है, आँख नहीं।

अथ कस्मादुच्यते यजामह इति । यजामहे सेवामहे वस्तु महेत्यक्षरद्वयेन कूटत्वेनाक्षरैकेन मृत्युञ्जयमित्युच्यते तस्मादुच्यते यजामह इति ॥5॥

तो फिर 'यजामहे'—ऐसा क्यों कहा गया है ? क्योंकि 'यजामहे' शब्द का अर्थ, 'हम पूजा या स्तुति करते हैं'—ऐसा होता है। 'त्र्यम्ब' इन दो अक्षरों और 'क' अक्षर को कूट अर्थ वाला मानकर उसका अर्थ, 'मृत्युंजय' ऐसा दिया जाता है। इसलिए "हम मृत्युंजय की स्तुति करते हैं"—ऐसा कहने के लिए 'यजामहे' पद रखा गया है।

अथ कस्मादुच्यते सुगन्धिमिति । सर्वतो यश आप्नोति तस्मादुच्यते सुगन्धिमिति ॥6॥

'सुगन्धिम्'—ऐसा क्यों कहा जाता है ? क्योंकि भगवान् शिव चारों ओर से यश प्राप्त करते हैं इसलिए यशःसौरभ से 'सुगन्धिम्' ऐसा कहा जाता है।

अथ कस्मादुच्यते पुष्टिवर्धनमिति । यः सर्वान् लोकान् सृजति यः सर्वान् लोकांस्तारयति यः सर्वान् लोकान् व्याप्नोति तस्मादुच्यते पुष्टिवर्धन-मिति ॥7॥

तब फिर 'पुष्टिवर्धनम्' क्यों कहा गया ? क्योंकि जो सभी लोकों का सर्जन करता है, सभी लोकों को जो तारता है, और जो सभी लोकों में व्याप्त होकर रहता है, ऐसे भगवान् शिव हैं इसलिए उन्हें 'पुष्टिवर्धन' कहा गया है।

अथ कस्मादुच्यते उर्वारुकमिव बन्धनान्मृत्योर्मुक्षीयेति । संलग्नत्वादु-र्वारुकमिव मृत्योः संसारबन्धनात् संलग्नत्वाद् बद्धत्वान्मोक्षीभवति मुक्तो भवति ॥8॥

और जो 'उर्वारुकमिव बन्धनान्मृत्योर्मुक्षीय'—ऐसा क्यों कहा गया है ? क्योंकि जैसे आरिया का (फूट का) फल परिपक्व होने के बाद अपने आप ही (टहनी से) अलग होकर गिर पड़ता है वैसे ही जिनका स्मरण करने से जीव संसाररूपी बन्धन से छूट जाता है, इसलिए 'उर्वारुकमिव' ऐसा कहा गया है। यहाँ प्रार्थना है कि—'मुझे मृत्यु से छुटकारा दिलाइए।'

अथ कस्मादुच्यते मामृतादिति। अमृतत्वं प्राप्नोत्यक्षरं प्राप्नोति स्वयं रुद्रो भवति ॥9॥

'मामृतात्' ऐसा क्यों कहा गया ? क्योंकि भगवान् मृत्युंजय का स्मरण करने वाला व्यक्ति अमृत से अर्थात् मोक्ष से अलग नहीं होता। वह अमृत को प्राप्त करता है। इसका अर्थ वह स्वयं रुद्र हो जाता है। (यहाँ उपनिषदभिप्रेत अर्थ दिया है। भाष्यकारों का अर्थ तो प्रार्थनात्मक है।)

देवा ह वै भगवन्तमूचुः—सर्वं नो व्याख्यातम्। अथ कैर्मन्त्रैः स्तुता भगवती स्वात्मानं दर्शयति तान् सर्वान् शैवान् वैष्णवान् सौरान् गाणेशान् नो ब्रूहीति ॥10॥

देवों ने भगवान् से कहा—"आपने हमसे सब कुछ कह दिया। अब किन-किन मंत्रों से स्तुता देवी भगवती मंत्रपाठकों को दर्शन देती है ? वे सभी मंत्र हमें बताइए। शैव, वैष्णव, सौर, गाणपत्य, जो-जो भी हों, उन सबको आप हमें बताइए।

स होवाच भगवान्—
त्र्यम्बकेनानुष्टुभेन मृत्युञ्जयमुपासयेत्।
पूर्वेणाध्वना व्याप्तमेकाक्षरमिति स्मृतम् ॥11॥

तब भगवान् ने कहा कि—अनुष्टुप् छन्द में बिठाए गए 'त्र्यम्बकं' आदि मंत्र से मृत्युंजय की उपासना करनी चाहिए। सबसे पहला मार्ग तो 'ॐ' इस एक अक्षर की उपासना का है। उस पूर्व मार्ग से यह एकाक्षर सर्वत्र व्याप्त ही है—ऐसा कहा गया है।

ॐ नमः शिवायेति याजुषमन्त्रोपासको रुद्रत्वं प्राप्नोति कल्याणं प्राप्नोति य एवं वेद ॥12॥

'ॐ नमः शिवाय'—यह यजुर्वेदप्रतिपादित मंत्र है। इसकी उपासना करने से साधक रुद्रत्व को प्राप्त होता है। और कल्याण को प्राप्त होता है। जो व्यक्ति ऐसा जानता-मानता है, (ऐसे उपासक को भगवती दर्शन देती है। इस प्रकार क्रमानुसार पहले शिवमंत्र कहे गए।)

तद्विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः।
दिवीव चक्षुराततम् ॥13॥

यह वैष्णव (विष्णुदेवतात्मक) मंत्र है। भावार्थ यह है कि—वह विष्णु का परम स्थान है। उसे विद्वान् लोग हमेशा ही देखते रहते हैं। अन्तरिक्ष में विशाल नेत्र की तरह उसे विद्वान लोग हमेशा देखा करते हैं।

विष्णोः सर्वतोमुखस्य स्नेहो यथा पललपिण्डमोतप्रोतमनुव्याप्तं व्यतिरिक्तं व्याप्नुत इति व्याप्नुवतो विष्णोस्तत्परमं पदं परं व्योमेति परमं पदं पश्यन्ति वीक्षन्ते सूरयो ब्रह्मादयो देवास इति सदा हृदय आदधते। तस्माद्विष्णोः स्वरूपं वसति तिष्ठति भूतेष्विति वासुदेव इति ॥14॥

सर्वतोमुखी विष्णु का पद, घास के ढेर पर डाले गए तेल की तरह सर्वत्र फैल जाता है। ऐसे पद को आकाश की तरह व्यापक रूप में साधक देख सकता है। विद्वान् लोग उस पद को हृदय में देख सकते हैं। देवता लोग सदा उस वैकुण्ठ को अपने हृदय में ही देख सकते हैं। (उसकी स्पष्ट रूप से कल्पना (रचना) अपने हृदय में ही कर लेते हैं।) अर्थात् सालोक्य मुक्ति को प्राप्त कर लेते हैं। विष्णु प्राणीमात्र में व्याप्त हैं, बसे हुए हैं, इसलिए वे 'वासुदेव' कहे जाते हैं।

ॐ नम इति त्रीण्यक्षराणि। भगवत इति चत्वारि। वासुदेवायेति पञ्चाक्षराणि। एतद्वै वासुदेवस्य द्वादशार्णमभ्येति। सोपप्लवं तरति स सर्वमायुरेवैति विन्दते प्राजापत्यं रायस्पोषं गौपत्यं च समश्नुते ॥15॥

'ॐ नमः'—ये तीन अक्षर हैं, 'भगवते'—ये चार अक्षर हैं, 'वासुदेवाय'—ये पाँच अक्षर हैं। यह—'ॐ नमो भगवते वासुदेवाय' विष्णु का द्वादशाक्षर मंत्र है। जो साधक उसका आश्रय करता है, वह उपद्रवों को पार कर जाता है, पूर्ण आयुष्य भोगता है, प्रजावान और धनवान होता है, दुधारु गौ और अन्य प्राणियों का आधिपत्य प्राप्त करता है।

प्रत्यगानन्दं ब्रह्मपुरुषं प्रणवस्वरूपमकार उकारो मकार इति। तानेकधा संभवति तदोमिति ॥16॥

यह जो ओंकार है वह प्रत्यगानन्दस्वरूप है, ब्रह्मपुरुष—ईश्वररूपी है। इसमें अ, उ और म—ये तीन अक्षर हैं। इन तीन अक्षरों से वह विविध फल देने वाला होता है। विविध शक्ति सम्पन्न होने से ही इसे ओम् कहा जाता है।

हंसः शुचिषद्वसुरन्तरिक्षसद्धोता वेदिषदतिथिर्दुरोणसत्।
नृषद्वरसदृतसद्व्योमसदब्जा गोजा ऋतजा अद्रिजा ऋतं बृहत् ॥17॥
इति ॥
हंसः इत्येतन्मनोरक्षरद्वितीयेन प्रभापुञ्जेन सौरेण घृतमब्जा गोजा ऋतजा अद्रिजा ऋतं सत्याप्रभापुञ्जिन्युषासंध्याप्रज्ञाभिः शक्तिभिः पूर्वं सौरम-धीयानः सर्वफलमश्नुते। स व्योम्नि परमे धामनि सौरे निवसते ॥18॥

'हंसः शुचिषद्' यह सूर्यमंत्र है। शुक्लयजुर्वेदीय वाजसनेयी संहिता के दसवें अध्याय का चौबीसवाँ मंत्र है। बारहवें अध्याय का चौदहवाँ मंत्र भी यही है। कृष्णयजुर्वेदीय तैत्तिरीय संहिता में (1.8.15.3) भी यही है, और ऋग्वेद (4.10.5) में भी यही है। ऋग्वेदीय मंत्र में अंतिम पद 'बृहत्' नहीं है। इसका विवरण इस प्रकार है—'हंस' इन दो अक्षरों से तेजोराशि सूर्य से यह सब—जलचर, थलचर, गोजा (जरायुज), ज्ञानमय, वनचर, अद्रिजा—उद्भिज ज्ञान और यज्ञमय जगत् उस सूर्य की सत्या प्रभापुंजयुक्त उषा और सन्ध्या तथा प्रज्ञारूपी शक्तियों से धारण किया हुआ है। इस प्रकार सूर्यमंत्र का रहस्य समझने वाला साधक सब प्रकार का फल प्राप्त करता है। वह आकाश में स्थित परमधाम सौरमण्डल में निवास करता है।

गणानां त्वेति त्रैष्टुभेन पूर्वेणाध्वना मनुनैकार्णेन गणाधिपमभ्यर्च्य गणेशत्वं प्राप्नोति ॥19॥

'गणानान्त्वा०'—यह मंत्र त्रिष्टुभ् छन्द में है। यह मंत्र ऋग्वेद (2.23.1) का है। कृष्णयजुर्वेदीय तैत्तिरीय संहिता (2.3.14.14) में भी यही मंत्र है। पूर्वाम्नाय के एकाक्षर—'ॐ गं गणपतये नमः' इस मंत्र से गणपति का पूजन करके साधक गणेशपद को प्राप्त करता है।

अथ गायत्री सावित्री सरस्वत्यजपा मातृका प्रोक्ता तया सर्वमिदं व्याप्तमिति ॥20॥

इसी तरह गायत्री, सावित्री, सरस्वती, अजपा और अक्षरमय देवी का वर्णन किया है। उस देवी के द्वारा सारा जगत् व्याप्त हो रहा है।

ऐं वागीश्वरीं विद्महे क्लीं कामेश्वरि धीमहि। सौस्तन्नः शक्तिः प्रचोदयादिति गायत्री प्रातः सावित्री मध्यन्दिने सरस्वती सायमिति निरन्तरमजपा हंस इत्येव मातृका पञ्चाशद्वर्णविग्रहेणाकारादिक्षकारान्तेन व्याप्तानि भुवनानि शास्त्राणि च्छन्दांसीत्येवं भगवती सर्वं व्याप्नोतीत्येव तस्यै वै नमो नम इति ॥21॥

'ऐं वागीश्वरीं विद्महे०'—यह शक्तिगायत्री है। वह प्रातःकाल में गायत्री, मध्याह्नकाल में सावित्री और सन्ध्याकाल में सरस्वती बनती है। वह निरन्तर 'हंसः-सोऽहं-हंसः'—इस प्रकार से अजपा गायत्री के रूप में रहती है। इस प्रकार 'अ' से लेकर 'क्ष' तक के अक्षरों से—पचास (बावन) अक्षरों से—वह भगवती सकल भुवनों, शास्त्रों, छन्दों में व्याप्त होकर रही है। ऐसा समझकर उस चराचरव्याप्त देवी को बार-बार नमस्कार हो।

तान् भगवानब्रवीदेतैर्मन्त्रैर्नित्यं देवीं स्तौति स सर्वं पश्यति सोऽमृतत्वं च गच्छति य एवं वेदेत्युपनिषत् ॥22॥

इति चतुर्थोपनिषत्।

उन ऋषियों से भगवान् ने कहा कि जो साधक इन मंत्रों से भगवती की नित्य ही स्तुति करता रहता है (उपासना करता रहता है) वह सब कुछ देख सकता है, मोक्ष प्राप्त करता है। उपनिषत् कहती है कि जो यह जानता है, वह सब कुछ जान लेता है।

यहाँ चतुर्थोपनिषत् पूरी हुई।

❋

पञ्चमोपनिषत्

देवा ह वै भगवन्तमब्रुवन् स्वामिन्नः कथितं स्फुटं क्रियाकाण्डं सविषयं त्रैपुरमिति। अथ परमं निर्विशेषं कथयस्वेति ॥1॥

देवों ने भगवान् से कहा—"हे भगवन्! आपने हमको त्रिपुरा सम्बन्धी उपासना का विषय तो स्पष्टरूप से बता दिया है। अब शेष रहा हुआ रहस्यज्ञान हमें संपूर्णतया बताइए।"

तान् होवाच भगवान् तुरीयया माययाऽन्त्यया निर्दिष्टं परमं ब्रह्मेति परमपुरुषं चिद्रूपं परमात्मेति। श्रोता मन्ता द्रष्टाऽऽदेष्टा स्प्रष्टाऽऽघोष्टा विज्ञाता प्रज्ञाता सर्वेषां पुरुषाणामन्तःपुरुषः स आत्मा स विज्ञेय इति ॥2॥

तब उन ऋषियों से भगवान् ने कहा—ज्ञान, विज्ञान और सम्यग् ज्ञान—इन तीन साधनों के द्वारा ब्रह्म का निरूपण किया गया है। इन तीन ज्ञानशक्तियों के द्वारा जगत् और जगत्कर्ता का भेद ज्ञात होने

पर उस भेदज्ञानकारी चौथी माया के द्वारा जिसका प्रतिपादन होता है, वही परब्रह्म है, उसे ही परमपुरुष और ज्ञानमय-चिद्रूप-परमात्मा समझना चाहिए। वही सुनने वाला, वही मानने वाला, वही देखने वाला, वही उपदेशक, वही स्पर्श करने वाला, वही सर्वविज्ञापक, वही विज्ञाता, वही रहस्यवेत्ता है। सभी पुरुषों के अन्तःकरणों में रहने वाला वह पुरुष (आत्मा, जीव) ही परमपुरुष (परमात्मा) है, ऐसा जानना चाहिए।

न तत्र लोकालोका न तत्र देवादेवाः पशवोऽपशवस्तापसो न तापसः पौल्कसो न पौल्कसो विप्रा न विप्राः। स इत्येकमेव परं ब्रह्म विभ्राजति निर्वाणम्। न तत्र देवा ऋषयः पितर ईशते। प्रतिबुद्धः सर्वविद्ये[दे]ति ॥3॥

इस तरह परमात्मा का ज्ञान होने के बाद लोक या अलोक (दृश्य या अदृश्य जगत्), देव या अदेव (देवातिरिक्त जीव), पशु या अपशु (पशु अतिरिक्त जीव), तपस्वी या अतपस्वी, चाण्डाल या चाण्डाल से भिन्न अन्य जातिवाले लोग, विद्वान् या अविद्वान् आदि में किसी भी प्रकार का भेदभाव नहीं रहता। तब तो बस एक ही ब्रह्म विलसित हो रहा है—ऐसी भावना होना ही निर्वाण (मोक्ष) होता है। वहाँ (ज्ञानी की दृष्टि में) देवों, ऋषियों और पितृओं की सत्ता नहीं चलती। वह प्रतिबुद्ध (जाग्रत्, ज्ञानी, साधक) सब कुछ जानने वाला हो जाता है।

तत्रैते श्लोका भवन्ति—
अतो निर्विषयं नित्यं मनः कार्यं मुमुक्षुणा।
यतो निर्विषयो नाम मनसो मुक्तिरिष्यते ॥4॥

ऐसा होने पर निम्नांकित विधान (श्लोक) कहे जाते हैं कि—इसलिए मुमुक्षु को अपना मन सदैव विषयरहित, संकल्पविकल्परहित रखना चाहिए। क्योंकि मन को निर्विषय रखना ही मुक्ति है।

मनो हि द्विविधं प्रोक्तं शुद्धं चाशुद्धमेव च।
अशुद्धं कामसङ्कल्पं शुद्धं कामविवर्जितम् ॥5॥
मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः।
बन्धनं विषयासक्तिर्मुक्त्यै निर्विषयं मनः ॥6॥
निरस्तविषयासङ्गं संनिरुद्धं मनो हृदि।
यदा यात्यमनीभावस्तदा तत्परमं पदम् ॥7॥
तावदेव निरोद्धव्यं यावद्धृदि गतं क्षयम्।
एतज्ज्ञानं च ध्यानं च शेषोऽन्यो ग्रन्थविस्तरः ॥8॥

मन दो प्रकार का होता है—शुद्ध और अशुद्ध। कामों और संकल्पों वाला मन अशुद्ध होता है और कामनाओं से रहित मन शुद्ध होता है। मनुष्य के बन्धन और मोक्ष का कारण मन ही है। विषयों में आसक्ति ही बन्धन है और विषयों का मन में अभाव ही मुक्ति के लिए होता है। जब समस्त विषयों की आसक्ति को मन निरस्त (दूर) कर देता है, और जब वह मन हृदय में निरुद्ध हो जाता है, तब मनुष्य अमनीभाव को (मनोराहित्य को) प्राप्त होता है, इसके बाद मनुष्य मुक्ति पाता है, परमपद को प्राप्त करता है। जहाँ तक मन हृदय में लीन हो जाए, वहाँ तक उसका निरोध करते रहना चाहिए। यही ज्ञान है और यही ध्यान है। शेष तो सब केवल ग्रन्थों का विस्तारमात्र ही है।

नैव चिन्त्यं न चाचिन्त्यं न चिन्त्यं चिन्त्यमेव च ।
पक्षपातविनिर्मुक्तं ब्रह्म सम्पद्यते ध्रुवम् ॥9॥

ब्रह्म को चिन्त्य (विचार का विषय) भी नहीं कहा जा सकता और उसे अचिन्त्य (विचार का अविषय) भी तो नहीं कहा जा सकता। वह तो चिन्त्य (विचार का विषय) भी है, और अचिन्त्य (विचार का अविषय) भी तो है ही। वह किसी भी पक्षपात से विनिर्मुक्त है। इस तरह निरपेक्ष और निष्पक्षपात होने से ही मुक्ति (ब्रह्मप्राप्ति) मिल सकती है। अवश्य मुक्ति मिलती है।

स्वरेण संल्लयेद्योगी स्वरं सम्भावयेत् परम् ।
अस्वरेण तु भावेन न भावो भाव इष्यते ॥10॥
तदेव निष्कलं ब्रह्म निर्विकल्पं निरञ्जनम् ।
तद्ब्रह्माहमिति ज्ञात्वा ब्रह्म सम्पद्यते क्रमात् ॥11॥
निर्विकल्पमनन्तं च हेतुदृष्टान्तवर्जितम् ।
अप्रमेयमनाद्यं च यज्ज्ञात्वा मुच्यते बुधः ॥12॥
न निरोधो न चोत्पत्तिर्न बद्धो न च साधकः ।
न मुमुक्षुर्न वै मुक्त इत्येषा परमार्थता ॥13॥

श्वासों के उद्गमन-निर्गमन द्वारा निष्पन्न 'हंस: सोऽहम्' के चिन्तन से—अजपागायत्री के जप से योगी चित्त का लय कर सकता है। अत: विशिष्ट प्रक्रिया के लिए स्वरानुसन्धान रूप योगसिद्धि के लिए प्रयत्न करना चाहिए। स्वरूपानुसन्धान के बिना भाव कहा नहीं जा सकता। ब्रह्म निष्कल है—ह्रास-बुद्धि-शून्य है, वह निर्विकल्प है, निरंजन है और ऐसा ब्रह्म मैं स्वयं ही हूँ—ऐसा जानने से अर्थात् भावना करने से क्रमश: ब्रह्म की प्राप्ति हो सकती है। ब्रह्म निर्विकल्प, अनन्त, सर्वकारण और अनुपमेय है, वह अप्रमेय और अनादि है—इस प्रकार दृढ़तापूर्वक जान लेने से विद्वान् ज्ञानी मोक्ष प्राप्त कर सकता है। ऐसे साधक ज्ञानी के लिए कोई निरोध नहीं है, कोई उत्पत्ति नहीं है, कोई बद्ध नहीं है, कोई साधक नहीं है, कोई मुमुक्षु नहीं है और कोई मुक्त नहीं है। यही पारमार्थिकता है, यही मोक्ष है।

एक एवात्मा मन्तव्यो जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तिषु ।
स्थानत्रयव्यतीतस्य पुनर्जन्म न विद्यते ॥14॥
एक एव हि भूतात्मा भूते भूते व्यवस्थितः ।
एकधा बहुधा चैव दृश्यते जलचन्द्रवत् ॥15॥
घटसंवृतमाकाशं नीयमाने घटे यथा ।
घटो नीयेत नाकाशं तथा जीवो नभोपमः ॥16॥
घटवद्विविधाकारं भिद्यमानं पुनः पुनः ।
तद्भेदे च न जानाति स जानाति च नित्यशः ॥17॥

जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्ति—इन तीनों अवस्थाओं में एक ही आत्मा अवस्थित है। उसी प्रकार स्वर्ग-मृत्यु-पाताल में भी वह एक ही रहता है। जो मनुष्य उन तीन अवस्थाओं और उन तीन लोकों से परे उठ जाता है—अवस्थाओं और स्थानों का अतिक्रमण कर देता है, उसका पुनर्जन्म नहीं होता। एक ही परमात्मा आत्मा के रूप में प्रत्येक वाणी में रहता है। चन्द्र एक होने पर भी भिन्न-भिन्न जलपात्रों में प्रतिबिम्ब के रूप में बहुत-सी संख्यावाला दिखाई देता है। आकाश अनन्त होने पर भी एक घड़े में वह 'घटाकाश' के रूप में (सीमित) रहता है। पर घड़ा जब दूर किया जाता है, तब वहाँ आकाश

व्याप्त हो जाता है। उसी प्रकार जीव भी आकाश की तरह व्यापक ही है, केवल शरीर आदि की उपाधि से सीमित मालूम होता है। घट में अवस्थित वह आकाश घट के प्रमाण में विविध आकारों वाला दीखता है अर्थात् अलग-अलग आकार वाला दीखता है, पर घड़े के नाश होने पर वह परमाकाश में मिल जाता है, वैसे ही जीव भी देहादि उपाधियों के नाश हो जाने पर भेद-भाव को नहीं जानता। ज्ञानी इस अभेदभाव को हमेशा ही जानता है।

शब्दमायावृतो यावत्तावत्तिष्ठति पुष्कले ।
भिन्ने तमसि चैकत्वमेक एवानुपश्यति ॥18॥
शब्दार्णमपरं ब्रह्म तस्मिन् क्षीणे यदक्षरम् ।
तद्विद्वानक्षरं ध्यायेद्यदीच्छेच्छान्तिमात्मनः ॥19॥
द्वे ब्रह्मणी हि मन्तव्ये शब्दब्रह्म परं च यत् ।
शब्दब्रह्मणि निष्णातः परं ब्रह्माधिगच्छति ॥20॥
ग्रन्थमभ्यस्य मेधावी ज्ञानविज्ञानतत्परः ।
पलालमिव धान्यार्थी त्यजेद्ग्रन्थमशेषतः ॥21॥

शब्द की (नाम और रूप की) माया से आवृति होकर जहाँ तक जीव बहुत्व में (अनेकत्व में) रहता है, वहाँ तक ही वह बहुत्व में अनेकत्व में दिखाई देता है। परन्तु जब वह भ्रमजनक पाया गया अज्ञानान्धकार चला जाता है, तब तो यह मालूम पड़ जाता है कि वह तो एक ही है। शब्दव्याप्य ब्रह्म तो भिन्न-भिन्न दिखाई पड़ता है, परन्तु शब्दावरण के चले जाने पर (नाम के नष्ट हो जाने पर) तो वह अक्षर (अविनाशी) ब्रह्म ही दिखाई देता है। इसलिए विद्वान् मनुष्य यदि चित्त की शान्ति चाहता हो, तो अक्षरब्रह्म की उपासना करनी चाहिए। ब्रह्म के शब्दब्रह्म और परब्रह्म—ऐसे दो भेद होते हैं। जो मनुष्य शब्दब्रह्म में निष्णात होना है, वह परब्रह्म को प्राप्त कर सकता है। ज्ञानविज्ञान को प्राप्त करने की इच्छावाले मेधावी पुरुष को ग्रन्थों का (शास्त्रों का) अभ्यास करने के बाद फिर ब्रह्मज्ञान हो जाने के बाद, धान्य प्राप्त करने की इच्छावाले किसान की भाँति धान्य को लेकर छिलके छोड़ देने चाहिए अर्थात् ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति के बाद उस मेधावी को सभी ग्रन्थ छोड़ ही देने चाहिए।

गवामनेकवर्णानां क्षीरस्याप्येकवर्णता ।
क्षीरवत् पश्यति ज्ञानं लिङ्गिनस्तु गवां यथा ॥22॥
ज्ञाननेत्रं समाधाय स महत् परमं पदम् ।
निष्कलं निश्चलं शान्तं ब्रह्माहमिति संस्मरेत् ॥23॥

अनेक वर्णों वाली गायों का दूध तो एक वर्ण वाला ही होता है, इसी प्रकार दर्शनभेद से शास्त्र भले ही विविध संज्ञां वाले हों, फिर भी ज्ञान तो क्षीरयत् एक ही प्रकार वाला है, ऐसा मानना चाहिए। ज्ञानरूपी नेत्र का आश्रय करके "निश्चल, निष्कल, शान्त परब्रह्म मैं ही हूँ"—ऐसा ज्ञानी को सदा स्मरण करते रहना चाहिए।

इत्येकं परंब्रह्मरूपं सर्वभूताधिवासं तुरीयं जानीते सोऽक्षरे परमे व्योमन्यधिवसति ॥24॥
य एतां विद्यां तुरीयां ब्रह्मयोनिस्वरूपां तामिहायुषे शरणमहं प्रपद्ये ॥25॥

जो योगी (साधक) इस प्रकार सभी प्राणियों में निवास करने वाले चतुर्थ शक्तिरूप परब्रह्म को—वह एक ही और सर्वव्यापक है—ऐसा मानता (समझता) है, वह अक्षरस्थान में (परमाकाश में) अवस्थित मोक्षस्थान में निवास करता है। ब्रह्मप्राप्ति में कारणभूत इस चौथी ब्रह्मविद्या में, जो ब्रह्म की योनिस्वरूप हैं, मैं इस आयुष्य तक शरणापन्न ही रहूँगा।

आकाशाद्यनुक्रमेण सर्वेषां वा एतद्भूतानामाकाशः परायणं सर्वाणि ह वा इमानि भूतान्याकाशादेव जायन्त आकाश एव लीयन्ते तस्मादेव जातानि जीवन्ति तस्मादाकाशं बीजं विद्यात् ॥26॥

आकाश से क्रमशः उत्पन्न हुए (आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल, जल से पृथ्वी) पंचभूतों के लिए आकाश ही आधारभूत स्थान माना जाता है। ये पाँचों महाभूत आकाश से उत्पन्न होकर आकाश में लीन हो जाते हैं। और वे जीते भी तो आकाश में ही हैं और उनका आदि (कारण) बीज भी आकाश ही है।

तदेवाकाशपीठं स्पार्शनं पीठं तेजःपीठममृतपीठं रत्नपीठं जानीयात्। यो जानीते सोऽमृतत्वं च गच्छति ॥27॥

वही आकाशपीठ है। वायु ही स्पर्श सम्बन्धी पीठ (स्पार्शन पीठ) है, वही तेजस् पीठ है, वही जलतत्त्व पीठ है, यानी अमृतपीठ है। वही रत्नपीठ है, ऐसा जो जानता है, वह मोक्षपद को प्राप्त हो जाता है।

तस्मादेतां तुरीयां श्रीकामराजीयामेकादशधा भिन्नामेकाक्षरं ब्रह्मेति यो जानीते स तुरीयं पदं प्राप्नोति य एवं वेदेति महोपनिषत् ॥28॥

इति पञ्चमोपनिषत्।

इति त्रिपुरातापिन्युपनिषत्समाप्ता।
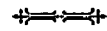
इसलिए इस कामराज विद्या जो तुरीय विद्या है जो कि ग्यारह भेदों में बाँधी गई हैं, इसको जो एकाक्षर ब्रह्म (ॐ कार) की तरह जानता (मानता) है, वह तुरीय पद को (ब्रह्मपद को) प्राप्त होता है। और जो इस प्रकार जानता है, वह महोपनिषत् को जान लेता है।

यहाँ पाँचवीं उपनिषत् पूरी हुई।

इस प्रकार त्रिपुरातापिन्युपनिषत् समाप्त होती है।

शान्तिपाठः

ॐ भद्रं कर्णेभिः—देवहितं यदायुः। (पूर्ववत्)
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

(83) देव्युपनिषत्

(उपनिषत्परिचय)

यह उपनिषत् अथर्ववेदीय परंपरा की है। यह उपनिषद् देवों और महादेवी के बीच प्रश्नोत्तर के रूप में रचित है। इस उपनिषत् में सबसे पहले चिति शक्ति की सर्वात्मता और सर्वाधारकता का विवेचन किया गया है। इसमें देवों के द्वारा की गई देवी की स्तुति भी शामिल है। इसके बाद आदि विद्या का उद्धार, आदि विद्या की महिमा, भुवनेशी एकाक्षर मंत्र, महाचण्डी नवाक्षर मंत्र तथा इस विद्या की फलश्रुति—ये सब विषय क्रमानुसार बताए गए हैं। यों तो यह उपनिषद् परिमाण में छोटी है, परन्तु देवी की साधना के लिए तन्त्रमार्ग की दृष्टि से बड़ी ही उपयोगी हैं।

शान्तिपाठः

ॐ भद्रं कर्णेभिः—देवहितं यदायुः। (पूर्ववत्)
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

इसका हिन्दी रूपान्तर पूर्व में (शाण्डिल्योपनिषद् में) द्रष्टव्य है।

सर्वे वै देवा देवीमुपतस्थुः। कासि त्वं महादेवि ॥1॥
साब्रवीदहं ब्रह्मस्वरूपिणी। मत्तः प्रकृतिपुरुषात्मकं जगच्छून्यं चाशून्यं च अहमानन्दानानन्दाः विज्ञानाविज्ञानेऽहम्। ब्रह्मा ब्रह्मणी वेदितव्ये। इत्याहाथर्वणी श्रुतिः ॥2॥
अहं पञ्च भूतान्यपञ्चभूतानि। अहमखिलं जगत् वेदोऽहमवेदोऽहम्। विद्याहमविद्याहम्। अजाहमनजाहम्। अधश्चोर्ध्वं च तिर्यक्चाहम् ॥3॥

सब देवलोग देवी के पास जाकर प्रार्थना करने लगे कि "हे महादेवी! आप कौन हैं?" तब उस (देवी) ने कहा कि—मैं ब्रह्मस्वरूप हूँ। मुझमें से ही प्रकृति-पुरुषात्मक यह सद्रूप और असद्रूप जगत् उत्पन्न होता है, मैं ही आनन्द और आनन्द का अभाव हूँ, विज्ञान भी मैं हूँ, अविज्ञान भी मैं ही हूँ। जानneयोग्य ब्रह्म और अब्रह्म भी मैं ही हूँ, ऐसा अथर्वश्रुति कहती है। पंचीकृत और अपंचीकृत महाभूत भी मैं ही हूँ। यह सारा दृश्य जगत् मैं ही हूँ। वेद भी मैं हूँ, अवेद भी मैं हूँ। विद्या भी मैं हूँ, अविद्या भी मैं हूँ। अजा और अनजा भी मैं हूँ। नीचे-ऊपर, तिरछे-सीधे भी मैं ही हूँ।

अहं रुद्रेभिर्वसुभिश्चराम्यहमादित्यैरुत विश्वदेवैः। अहं मित्रावरुणावुभौ बिभर्म्यहमिन्द्राग्नी अहमश्विनावुभौ ॥4॥
अहं सोमं त्वष्टारं पूषणं भगं दधाम्यहम्। विष्णुमुरुक्रमं ब्रह्माणमुत प्रजापतिं दधामि ॥5॥
अहं दधामि द्रविणं हविष्मते सुप्राव्ये३यजमानाय सुन्वते। अहं राष्ट्री सङ्गमनी वसूनामहं सुवे पितरमस्य मूर्धन् ॥6॥
मम योनिरप्स्वन्तः समुद्रे। य एवं वेद स देवीपदमाप्नोति ॥7॥

मैं रुद्रों और वसुओं के रूप में घूमती हूँ। आदित्यों और विश्वदेवों के रूप में भी मैं घूमती हूँ। मैं ही मित्र और वरुण, इन्द्र और अग्नि और दो अश्विनी कुमारों को धारण करती हूँ। मैं चन्द्र, त्वष्टा, पूषा (सूर्य) तथा भग को धारण करती हूँ। तीनों विश्वों पर विक्रम करने वाले विष्णु को, ब्रह्मा को और प्रजापति को मैं ही धारण करती हूँ। देवों को उत्तम हवि पहुँचाने वाले तथा सोमरस निकालने वाले यजमान के लिए मैं हविद्रव्यों से युक्त धन धारण करती हूँ। मैं समग्र जगत् की ईश्वर हूँ। उपासकों को धन देने वाली मैं ही हूँ। मैं ज्ञानवती हूँ। (ब्रह्मरूप मैं हूँ) पूजनीयों में प्रथम मैं ही हूँ। मैं पितृओं को उत्पन्न करती हूँ। मैं आत्मस्वरूप ईश्वर के शिरोभाग का (अन्तरिक्ष का) निर्माण करती हूँ। सभी प्राणियों के हृदय-कमल में (अन्तःसमुद्र में) तथा अप् तत्त्व में (सृष्टि के मूल कारण में) मेरा उत्पत्तिस्थान (मेरे स्वरूप को धारण करने वाली बुद्धिवृत्ति) है। जो साधक इस तरह जानता है वह दैवी विभूतियों को प्राप्त करता है।

ते देवा अब्रुवन्—
नमो देव्यै महादेव्यै शिवायै सततं नमः।
नमः प्रकृत्यै भद्रायै नियताः प्रणताः स्म ताम् ॥8॥
तामग्निवर्णां तपसा ज्वलन्तीं वैरोचनीं कर्मफलेषु जुष्टाम्।
दुर्गां देवीं शरणमहं प्रपद्ये सुतरां नाशयते तमः ॥9॥
देवीं वाचमजनयन्त देवास्तां विश्वरूपाः पशवो वदन्ति।
सा नो मन्द्रेषमूर्जं दुहाना धेनुर्वागस्मानुपसुष्टुतैतु ॥10॥
कालरात्रिं ब्रह्मस्तुतां वैष्णवीं स्कन्दमातरम्।
सरस्वतीमदितिं दक्षदुहितरं नमामः पावनां शिवाम् ॥11॥

उन देवों ने कहा—देवी को नमस्कार हो। बड़ों-बड़ों को भी अपने-अपने कर्त्तव्यों की ओर प्रवृत्त कराने वाली उस कल्याणकारिणी को नमस्कार हो। गुणसाम्यावस्थारूपिणी मंगलकारिणी देवी को नमस्कार हो। हम उसे नियमानुसार नित्य प्रणाम करते हैं। वह देवी अग्नि जैसे वर्णवाली है, वह ज्ञान से जगमगाती है, दीप्तिमती है, सबको कर्मफल देने वाली है, लोगों के द्वारा सेव्यमान है, ऐसी दुर्गादेवी की शरण में हम जाते हैं। वह असुरों का नाश करने वाली है। ऐसी वर्णित हे देवी! तुम्हें हमारा नमस्कार हो। प्राणदेवताओं ने जिस 'वैखरी' वाणी को प्रकट किया, उस प्रकाश देने वाली, विविध स्वरूपा वाणी के द्वारा प्राणी तरह-तरह से बोलते हैं, वह कामधेनुतुल्य, आनन्ददायक और अन्न एवं बल देने वाली वाक्स्वरूपा भगवती, हमारी स्तुति से परितुष्ट होकर हमारे पास आए। काल को भी नष्ट कर देने वाली, वेदों के द्वारा स्तुति की गई है ऐसी, विष्णुशक्ति लक्ष्मी, शिवशक्ति स्कन्दमाता, ब्रह्मा की शक्ति सरस्वती, देवमाता अदिति और दक्षकन्या सतीरूपी पापनाशिनी और कल्याणकारिणी उस भगवती को हम प्रणाम करते हैं।

महालक्ष्मीश्च विद्महे सर्वसिद्धिश्च धीमहि।
तन्नो देवी प्रचोदयात् ॥12॥
अदितिर्ह्यजनिष्ट दक्ष या दुहिता तव।
तां देवा अन्वजायन्त भद्रा अमृतबन्धवः ॥13॥
कामो योनिः कामकला वज्रपाणिर्गुहा हसा मातरिश्वाभ्रमिन्द्रः।
पुनर्गुहा सकला मायया च पुरूच्येषा विश्वमाताऽऽदिविद्योम् ॥14॥

एषात्मशक्तिः। एषा विश्वमोहिनी पाशाङ्कुशधनुर्बाणधरा। एषा श्रीमहाविद्या ॥15॥
य एवं वेद स शोकं तरति ॥16॥

हम महालक्ष्मी को जानते हैं। हम उस सर्वशक्तिस्वरूपिणी का ही ध्यान करते हैं। वह देवी हमें इस विषय में (ज्ञानध्यान में) प्रेरित करें। हे दक्ष! आपकी जो अदिति नाम की कन्या हैं, उन्होंने स्तुति करने लायक अनेक देवों को जन्म दिया है। काम = **क**, योनि = **ए**, कमला = **ई**, वज्रपाणि इन्द्र = **ल**, गुहा = **ह्रीं**, **ह-स** ये दो अक्षर, मातरिश्वा (वायु) = **क**, आकाश = **ह**, इन्द्र = **ल**, पुनः गुहा = **ह्रीं** (पुनः) **ह स क**—ये तीन अक्षर और माया = **ह्रीं**—इस तरह से जगन्माता की मूलविद्या (श्रीविद्या) मंत्र है। और यह ब्रह्मविद्या (श्रीविद्या) है। यह परमात्मा की शक्ति है। यह विश्वमोहिनी है। पाश, अंकुश, धनुष्य और बाण को धारण करने वाली और श्रीविद्या के द्वारा आराध्य यह श्रीमहात्रिपुर-सुन्दरी है। जो यह जानता है, वह शोक को पार कर जाता है।

नमस्ते अस्तु भगवति भवती मातरस्मान्पातु सर्वतः ॥17॥
सैषाऽष्टौ वसवः। सैषैकादश रुद्राः। सैषा द्वादशादित्याः। सैषा विश्वेदेवाः सोमपा असोमपाश्च। सैषा यातुधाना असुरा रक्षांसि पिशाचा यक्षाः सिद्धाः। सैषा सत्त्वरजस्तमांसि। सैषाब्रह्मविष्णुरुद्ररूपिणी। सैषा प्रजापतीन्द्रमनवः। सैषा ग्रहा नक्षत्रज्योतींषि कलाकाष्ठादिकाल-रूपिणी। तामहं प्रणौमि नित्यम् ॥18॥
तापापहारिणीं देवीं भुक्तिमुक्तिप्रदायिनीम्।
अनन्तां विजयां शुद्धां शरण्यां शिवदां शिवाम् ॥19॥

हे भगवती! तुम्हें नमस्कार हो। हे माता! तुम सभी उपायों के द्वारा हमारा रक्षण करो। वही यह देवी आठ वसु है, ग्यारह रुद्र है, बारह आदित्य है, वही सोमपान करने वाले और सोमपान नहीं करने वाले तेरह विश्वदेव—विश्वाधाररूप देव है। वह यातुधान—राक्षसविशेष, राक्षस, असुर, पिशाच, यक्ष और सिद्ध है। वह सत्त्व-रजस्-तमस् है। वही ब्रह्मा, विष्णु, महेश के रूप में है। वह प्रजापति, इन्द्र और मनुरूप है। वह ग्रह, नक्षत्र और तारे है। वह कला-काष्ठा आदि कालरूपिणी है। उसे मैं नित्य ही प्रणाम करता हूँ। पाप का नाश करने वाली, भुक्ति और मुक्ति—दोनों को देने वाली अनन्ता, विजयाधिष्ठात्री, निष्कलंक, शरण्या, कल्याणदात्री, मंगलस्वरूपिणी उस देवी का हम हमेशा वन्दन करते हैं।

वियदीकारसंयुक्तं वीतिहोत्रसमन्वितम्।
अर्धेन्दुलसितं देव्या बीजं सर्वार्थसाधकम् ॥20॥
एवमेकाक्षरं मन्त्रं यतयः शुद्धचेतसः।
ध्यायन्ति परमानन्दमया ज्ञानाम्बुराशयः ॥21॥
वाङ्माया ब्रह्मभूस्तस्मात्षष्ठं वक्त्रसमन्वितम्।
सूर्योऽवामश्रोत्रबिन्दुः संयुक्ताष्टात्तृतीयकः ॥22॥
नारायणेन संयुक्तो वायुश्चाधरसंयुतः।
विच्चे नवार्णकोऽर्णः स्यान्महदानन्ददायकः ॥23॥

जो वियत् = **ह** है, वह 'ई' कार से युक्त तथा वीतिहोम-अग्नि = **र** के साथ हो और वह फिर अर्धचन्द्र से 'ँ' से अलंकृत हो तब वह 'ह्रीँ' बनकर सर्वार्थसिद्धिदायक देवीमंत्र का बीज बनता है।

जो लोग शुद्ध चित्तवाले होते हैं, जो संयमी हैं, जो परमानन्दमय हैं, जो ज्ञान के सागर समान हैं, वे लोग इस एकाक्षर का ध्यान करते हैं। वाणी = ऐं, माया = ह्रीं, ब्रह्मस् (काम) = क्लीं, इन तीनों के बाद व्यंजनों का छठा अक्षर = **च**, और उसे वक्त्र = **आ** से युक्त किया जाए (तो वह **चा** होता है।) बाद में सूर्य = **म** को अवामगोत्र = **उ** से तथा बिन्दु—अनुस्वार से युक्त करके (मुं करके), टकार से तीसरे = **ड** को नारायण = **आ** से युक्त कर (डा करके), वायु = **य** को निचले ओठ = **ऐ** से युक्त करके (यै करके), 'विच्चे' पद को जोड़ देने से इस प्रकार का नवार्ण मंत्र (ऐं ह्रीं क्लीं चामुण्डायै विच्चे) उपासकों को आनन्द और ब्रह्मसायुज्य देने वाला है।

हृत्पुण्डरीकमध्यस्थां प्रातःसूर्यसमप्रभाम्।
पाशाङ्कुशधरां सौम्यां वरदाभयहस्तकाम्।
त्रिनेत्रां रक्तवसनां भक्तकामदुघां भजे ॥24॥
नमामि त्वामहं देवीं महाभयविनाशिनीम्।
महादुर्गप्रशमनीं महाकारुण्यरूपिणीम् ॥25॥

हृदयकमल के मध्य में रहने वाली, प्रातःकालीन सूर्य के समान प्रभा वाली, पाश और अंकुश धारण करने वाली, आकर्षक रूपवाली, वरद और अभय मुद्रायुक्त हाथ वाली, तीन नेत्रों वाली, लाल वस्त्रों को धारण करने वाली और भक्तों के मनोरथों को पूर्ण करने वाली देवी को मैं नमस्कार करता हूँ। महा भय का नाश करने वाली, बड़े संकटों का शमन करने वाली, करुणा की साक्षात् महामूर्ति, महादेवी को मैं नमस्कार करता हूँ।

यस्याः स्वरूपं ब्रह्मादयो न जानन्ति तस्मादुच्यतेऽज्ञेया। यस्या अन्तो न विद्यते तस्मादुच्यतेऽनन्ता। यस्या लक्ष्यं नोपलभ्यते तस्मादुच्यते-ऽलक्ष्या। यस्या जननं नोपलभ्यते तस्मादुच्यतेऽजा। एकैव सर्वत्र वर्तते तस्मादुच्यत एका। एकैव विश्वरूपिणी तस्मादुच्यते नैका। अत एवोच्यतेऽज्ञेयाऽनन्ताऽलक्ष्याऽजैका नैकेति ॥26॥

जिसका स्वरूप ब्रह्मा आदि नहीं जानते। इसलिए उसे 'अज्ञेया' कहा जाता है। जिसका कोई न ओर है, न छोर है, इसलिए उसे 'अनन्ता' कहा जाता है। जिसका कोई लक्ष्य देखा नहीं जाता इसलिए उसे 'अलक्ष्या' कहा जाता है। जिसका जन्म हमारी समझ में नहीं आता, इसलिए उसे 'अजा' कहा जाता है। जो अकेली ही सब जगह पर व्याप्त होकर रही है, इसलिए 'एका' कही जाती है। और विश्वरूपिणी होने से 'अनेका' कही जाती है। इस तरह यह देवी अज्ञेया, अनन्ता, अजा, एका और अनेका कही जाती है।

मन्त्राणां मातृका देवी शब्दानां ज्ञानरूपिणी।
ज्ञानानां चिन्मयातीता शून्यानां शून्यसाक्षिणी ॥27॥
यस्याः परतर नास्ति सैषा दुर्गा प्रकीर्तिता।
तां दुर्गां दुर्गमां देवीं दुराचारविघातिनीम्।
नमामि भवभीतोऽहं संसारार्णवतारिणीम् ॥28॥

सभी मंत्रों में मातृका, मूल अक्षर के रूप में रहने वाली, शब्द में अर्थ के रूप में रहने वाली, ज्ञानों में भी अतिक्रान्त होकर चितिमय, शून्यों में भी शून्य के साक्षी के रूप में रहने वाली, जिससे कुछ

भी अधिक नहीं है ऐसी परमतत्त्वस्वरूपा वह 'दुर्गा' के नाम से प्रसिद्ध है। जिसे जानना-पहचानना बड़ी दुर्लभ बात है, ऐसी दुराचारनाशक संसार-सागर को पार कराने वाली दुर्गा देवी को संसार से डरा हुआ मैं नमस्कार करता हूँ।

इदमथर्वशीर्षं योऽधीते स पञ्चाथर्वशीर्षजपफलमवाप्नोति।
इदमथर्वशीर्षमज्ञात्वा योऽर्चां स्थापयति ॥29॥
शतलक्षं प्रजप्त्वापि सोऽर्चासिद्धिं न विन्दति।
शतमष्टोत्तरं चास्याः पुरश्चर्याविधिः स्मृतः ॥30॥
दशवारं पठेद्यस्तु सद्यः पापैः प्रमुच्यते।
महादुर्गाणि तरति महादेव्याः प्रसादतः ॥31॥

इस देव्यथर्वशीर्ष का जो अध्ययन करता है उसे पाँच अथर्वशीर्षों का (गणेश, नारायण, सूर्य, शिव और देवी का) फल मिलता है। इस अथर्वशीर्ष को पढ़े (समझे) जाने बिना जो लोग प्रतिमा की प्रतिष्ठा करते हैं, उन्हें करोड़ों मन्त्रों का जाप करने पर भी प्रतिष्ठा का फल प्राप्त नहीं होता। जो मनुष्य इस अथर्वशीर्ष का दस बार पाठ (अध्ययन) करता है, वह सभी पापों से मुक्त हो जाता है। और महादेवी के प्रसाद-कृपा से बड़े-बड़े कष्टों को पार कर लेता है।

प्रातरधीयानो रात्रिकृतं पापं नाशयति। सायमधीयानो दिवसकृतं पापं नाशयति। तत्सायंप्रातः प्रयुञ्जानः पापोऽपापो भवति। निशीथे तुरीय-संध्यायां जप्त्वा वाक्सिद्धिर्भवति। नूतनप्रतिमायां जप्त्वा देवतासान्निध्यं भवति। प्राणप्रतिष्ठायां जप्त्वा प्राणानां प्रतिष्ठा भवति। भौमाश्विन्यां महादेवीसंनिधौ जप्त्वा महामृत्युं तरति। य एवं वेदेत्युपनिषत् ॥32॥

इति देव्युपनिषत्समाप्ता।
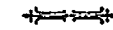
जो प्रातःकाल में इसका अध्ययन करता है, वह रात्रि के पाप को नाश कर देता है और जो सायं-काल में इसका अध्ययन करता है, दिन में किए हुए पापों का नाश कर देता है। प्रातःकाल और सायं-काल—दोनों समय पढ़ने वाला निष्पाप हो जाता है। मध्यरात्रि में चतुर्थ सन्ध्या के समय में पाठ-जप-करने वाला वाक् सिद्धि को प्राप्त करता है और नयी प्रतिमा के आगे बैठकर जप करने वाला, उस प्रतिमा में देवता का वास करवाता है। प्राणप्रतिष्ठा के समय जाप करने से मूर्ति में प्राणों की प्रतिष्ठा हो जाती है। भौमाश्विनी में (मंगलवार और अश्विनी के योग में) देवी की प्रतिमा के सम्मुख जो जाप करता है, वह मनुष्य महामृत्यु से बच जाता है। इस प्रकार से अविद्यानाशक यह विद्या है। जो ऐसा जानता है वह सही जानता है। ऐसी यह उपनिषद् है।

इस प्रकार देव्युपनिषत् समाप्त होती है।

शान्तिपाठः

ॐ भद्रं कर्णेभिः—देवहितं यदायुः। (पूर्ववत्)
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

(84) त्रिपुरोपनिषत्

(उपनिषत्परिचय)

ऋग्वेदीय परम्परा की इस उपनिषत् में सबसे पहले चित्-शक्ति का स्वरूप बताया गया है। बाद में उस चित्शक्ति की वन्दना की गई है। इसके बाद 'कामेश्वर' का स्वरूप, आवरणदेवता, शिवकामसुन्दरी विद्या का प्रतिफल, आदि मूलविद्या का स्वरूप, संन्यासियों को आदि विद्या का फल, देवी के ज्ञान का फल, मन्द साधकों के लिए ध्यान, अधम कक्षा के साधकों के अनुष्ठान और उनके फल तथा इसके साथ निष्काम साधकों की ब्रह्मप्राप्ति आदि विषय बताए गए हैं। यह उपनिषत् तांत्रिक है इसलिए इसमें सांकेतिक शब्दों की भरमार है। इस उपनिषद् में बीजमंत्रों की साधना द्वारा ब्रह्मप्राप्ति का उपाय बतलाया गया है। ऐसी कई उपनिषदें हैं जो सांकेतिक शब्द, प्रतीकात्मक भाषा और कुछ पारिभाषिक शब्दों के कारण जनसाधारण की समझ में नहीं आतीं, उनमें से यह एक है।

शान्तिपाठः

ॐ वाङ्मे मनसि—वक्तारमवतु वक्तारम्। (पूर्ववत्)
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

इसका हिन्दी रूपान्तर पूर्व में (अक्षमालिकोपनिषद् में) द्रष्टव्य है।

तिस्रः पुरस्त्रिपथा विश्वचर्षणा अत्राकथा अक्षराः संनिविष्टाः।
अधिष्ठायैना अजरा पुराणी महत्तरा महिमा देवतानाम् ॥1॥
नवयोनीर्नवचक्राणि दधिरे नवैव योगा नव योगिन्यश्च।
नवानां चक्रा अधिनाथां स्योना नव भद्रा नव मुद्रा महीनाम् ॥2॥

यह शक्ति, तीन पुरों में (स्थूल-सूक्ष्म-कारणरूप शरीरों में), तीन पथों में (ज्ञान-कर्म-उपासना में अथवा ज्ञान-विज्ञान-सम्यग्ज्ञान में), सन्निविष्ट है और अ क य आदि अक्षरों में (अ से लेकर क्ष तक के सभी अक्षरों में अधिष्ठित है। ऐसे सबको समान दृष्टि से देखने वाली प्राचीन, अजर, अमर यह शक्ति अपनी महिमा में—सब देवों से अधिकतर महिमा में स्थित है। वह चैतन्यशक्ति, नव योनियों में, नव चक्रों में, नव योगों में, नव योगिनियों में, नवचक्रों की आधारशक्तियों में, नव सुखाकारी भद्राओं में तथा महिमाशालिनी नव मुद्राओं में प्रकाशित हो रही है।

टिप्पणी—

नवयोनि	श्रीयंत्र में बनती हुई नव योनियाँ—महात्रिपुरसुन्दरी आदि नामवाली महाशक्तियाँ।
नवचक्र	1. सर्वानन्दमय, 2. सर्वसिद्धिप्रद, 3. सर्वरक्षाकर, 4. सर्वरोगहर, 5. सर्वार्थसाधक, 6. सर्वसौभाग्यप्रदायक, 7. सर्वसंक्षोभण 8. सर्वाशापरिपूरक और 9. त्रैलोक्यमोहन।

नौ चक्रों की आधार शक्तियाँ	1. महात्रिपुरसुन्दरी, 2. त्रिपुराम्बा, 3. त्रिपुरसिद्धा, 4. त्रिपुरमालिनी, 5. त्रिपुराक्षी, 6. त्रिपुरवासिनी, 7. त्रिपुरसुन्दरी, 8. त्रिपुरेशी, और 9. त्रिपुरा।
नवयोग	1. यम, 2. नियम, 3. आसन, 4. प्राणायाम, 5. प्रत्याहार, 6. धारणा, 7. ध्यान, 8. समाधि और 9. सहजयोग।
नव योगिनियाँ	पूर्वोक्त (नवचक्रों में) कहे गये नवचक्रों में निवास करने वाली नव शक्तियाँ।
नवमुद्राएँ	1. योनि, 2. बीज, 3. खेचरी, 4. महांकुशा, 5. महोन्मादिनी, 6. सर्ववशंकरी, 7. सर्वाकर्षिणी, 8. सर्वविद्राविणी और 9. सर्वसंक्षोभिणी।
नवभद्रा	कामेश्वरी आदि नव शक्तियाँ ही नव भद्राएँ हैं।

एका स आसीत्प्रथमा सा नवासीदा सोनविंशादा सोनत्रिंशात्।
चत्वारिंशादथ तिस्रः समिधा उशतीरिव मातरो माऽऽविशन्तु ॥3॥
ऊर्ध्वज्वलज्ज्वलनं ज्योतिरग्रे तमो वै तिरश्चीनमजरं तद्रजोऽभूत्।
आनन्दनं मोदनं ज्योतिरिन्दोरेता उ वै मण्डला मण्डयन्ति ॥4॥

सबसे पहले तो चित्-शक्ति अकेली थी। उसमें से पुरुष, प्रकृति, महत्तत्त्व, अहंकार, आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी—इस तरह नव स्वरूप में हुई। इसके बाद पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ, पाँच प्राण और चार अन्तःकरण मिलकर वह उन्नीस स्वरूप में हुई। इसके बाद इन उन्नीस तत्त्वों के उपरान्त पाँच तन्मात्राएँ और पाँच उपप्राण मिलकर उनतीस तत्त्वों की उत्पत्ति हुई। इस प्रकार एक ही चित्शक्ति उनतीस प्रकार की हुई। इसके बाद ज्ञान, इच्छा और क्रिया रूप (सत्त्व-रजस्-तमस् के भेद से) तीन, तथा कर्म, विक्षेप, आवरण, हर्ष और शोक—ये चार कर्म तथा विश्व, तैजस, प्राज्ञ, तुर्य—ये चार तत्त्व; इस प्रकार उन पूर्वोक्त उनतीस तत्त्वों के साथ ये ग्यारह मिलने से कुल चालीस तत्त्व होते हैं। उन तत्त्वों से युक्त यह दृश्यमान जगत् है। और ज्ञान-इच्छा-क्रियारूपी तीन समिधाएँ (जलाए जानेवाले काष्ठ अथवा ज्ञान-विज्ञान-सम्यग्ज्ञानरूपी तीन समिधाएँ) इन सबसे युक्त वह देवी जैसे माँ अपने बच्चों के प्रति भावयुक्त होती है, वैसी होकर मुझे ब्रह्मपद की प्राप्ति कराने वाली हो। जैसे अग्नि अपने में पड़े हुए द्रव्य को अपनी ज्योति के द्वारा ऊर्ध्व गति में ले जाता है, वैसे ही वह पराशक्ति मुझे उस जगमगाती हुई ऊर्ध्वज्योति (ब्रह्मज्योति) में ले जाए और तिरछी-सी पड़ी हुई क्रियाशक्ति और अजर रजोमयी इच्छाशक्ति उसमें सहायक बनी रहे। ये ज्योतियाँ चन्द्रमण्डल को भी शोभा देने वाली आनन्दमयी (परमानन्दमयी) जैसे बनती हैं, वैसे ही मुझे भी ब्रह्मपद में लीन करके आनन्दयुक्त बना दें।

यास्तिस्रो रेखाः सदनानि भूस्त्रीस्त्रिविष्टपास्त्रिगुणास्त्रिप्रकाराः।
एतत्त्रयं पूरकं पूरकाणां मन्त्री प्रथते मदनो मदन्या ॥5॥
मदन्तिका मानिनी मंगला च सुभगा च सा सुन्दरी सिद्धिमत्ता।
लज्जा मतिस्तुष्टिरिष्टा च पुष्टा लक्ष्मीरुमा ललिता लालपन्ती ॥6॥

ये तीन रेखाएँ, चार सदन और तीन भूस्थल हैं। तीन विष्टप, तीन गुण और तीन-तीन प्रकार (भेद) हैं। ये सभी त्रिक पूर्णता प्रदान करने के साधन स्वरूप हैं। मंत्र में (श्रीचक्र में) कामनापूरक शक्ति से कामना के अधिष्ठाता देव (मदन) जयशील हो। (ज्ञान-इच्छा-क्रियाशक्ति तीन रेखाएँ हैं। जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्ति-तुर्य—ये चार सदन हैं। अथवा नेत्र-कण्ठ-हृदय और सहस्रार—ये चार सदन हैं। तीन विष्टप हैं और सत्त्व-रजस्-तमस् के त्रिगुणीकरण से नव भेद होते हैं।) उनके परिवार के आवरण-देवता की संख्या पंद्रह है। वह क्रमशः मदन्तिका, मानिनी, मंगला, सुभगा, सुन्दरी, सिद्धिमत्ता, लज्जा, मति, तुष्टि, इष्टा, पुष्टा, लक्ष्मी, उमा, ललिता और लालपन्ती है।

इमां विज्ञाय सुधया मदन्ती परिसृता तर्पयन्तः स्वपीठम्।
नाकस्य पृष्ठे महतो वसन्ति परं धाम त्रैपुरं चाविशन्ति ॥7॥
कामो योनिः कामकला वज्रपाणिर्गुहा हसा मातरिश्वाभ्रमिन्द्रः।
पुनर्गुहा सकला मायया च पुरूच्येषा विश्वमाताऽऽदिविद्या ॥8॥

साधक इन्हें जानकर इनके अमृतमय गुणों से आनन्दित होकर स्वपीठ—श्रीचक्रपीठ को दूध आदि द्रव्यों से तृप्त करके महान् स्वर्गलोक में वास करते हैं और परमधाम त्रैपुर में जाकर स्वयं को धन्य (कृतार्थ) मानते हैं। आदि विद्या का स्वरूप ऐसा है—काम, योनि, कामकला, वज्रपाणि, गुहा, हसा, मातरिश्वा, अश्व, इन्द्र, फिर से गुहा, सकला और माया आदि से यह विशिष्टरूपा विद्या प्रवर्तित हुई है। (जैसे—काम = क, योनि = ए, कामकला = ई, चक्रपाणि = ल, गुहा = ह्रीं, हसा = ह स, मातरिश्वा = क, अभ्र = ह, इन्द्र = ल, गुहा = ह्रीं, सकला = स क ल, और माया = ह्रीं—ये सभी अक्षर प्रणवात्मिका आदि विद्या के प्रतीक हैं।)

षष्ठं सप्तममथ वह्निसारथिमस्या मूलत्रिकमादेशयन्तः।
कथ्यं कविं कल्पकं काममीशं तुष्टुवांसो अमृतत्वं भजन्ते ॥9॥
पुरं हन्त्रीमुखं विश्वमातू रवे रेखा स्वरमध्यं तदेषा।
बृहत्तिथिर्दश पञ्चा च नित्या सषोडशिकं पुरमध्यं बिभर्ति ॥10॥

केवल विरक्त भावना वाले साधक इस मूलाविद्या के पंद्रह अक्षरों में से छठे अक्षर, सातवें अक्षर, और ककार को पंचदशी विद्या के आद्यकूट के प्रथम तीन वर्णों के स्थान में जोड़कर केवल वाणी से ही ज्ञापित किये जा सके, ऐसे सर्वज्ञ, सर्वादिस्वरूप भगवान् कामेश्वर को भजकर मोक्ष प्राप्त करते हैं। इसे हादि विद्या कहते हैं। (हसक का जाप भजन कहा गया है।) वह देव हन्त्रीमुख—ह स क रूप को, विश्वमाता के रूप को, रविरेखा के रूप को, स्वरमध्य—ई और ओ के रूप को और अनेक रूपों को धारण करती है और पलक से लेकर कल्पान्त तक अवस्थित रहती है तथा पंद्रह तिथियाँ, वार, नक्षत्रादि, सोलहवीं तिथि पूर्णिमा आदि सभी रूपों को धारण करती हुई स्व-अविद्या आधारित रूपों में नित्य विराजित रहती है।

यद्वा मण्डलाद्वा स्तनबिम्बमेकं मुखं चाधस्त्रीणि गुहासदनानि।
कामीकलां कामरूपां चिकित्वा नरो जायते कामरूपश्च कामः ॥11॥
परिसृतं झषमाजं पलं च भक्तानि योनीः सुपरिष्कृताश्च।
निवेदयन्देवतायै महत्यै स्वात्मीकृते सुकृते सिद्धिमेति ॥12॥

रवि-चन्द्रादि मण्डल से उद्भूत उस सर्वांगसुन्दरी का मुख तथा एक स्तनबिम्ब नीचे की ओर है। उसके स्थूल-सूक्ष्म-कारण शरीररूप देहत्रय की गुहा में अवस्थित परमेश्वर की कामकला का ध्यान करके योगी जन अपनी समस्त कामनाओं को पूर्ण करके स्वेच्छा से काममय हो जाते हैं, परन्तु काम्यफल तो जन्मादि का कारण होने से मुमुक्षु लोगों को सकाम उपासना नहीं करनी चाहिए। और अधम साधक विधिवत् तैयार किए गए अपने मांस आदि भोज्य पदार्थों को सर्वप्रथम महादेवी को समर्पित करके प्रसादरूप में ग्रहण करके पुण्यकर्मों के द्वारा सिद्धि प्राप्त करते हैं।

सृण्येव सितया विश्वचर्षणिः पाशेनैव प्रतिबध्नात्यभीकान्।
इषुभिः पञ्चभिर्धनुषा च विध्यत्यादिशक्तिररुणा विश्वजन्या ॥13॥
भगः शक्तिर्भगवान्काम ईश उभा दाताराविह सौभगानाम्।
समप्रधानौ समसत्त्वौ समोजौ तयोः शक्तिरजरा विश्वयोनिः ॥14॥

और जो मनुष्य काम्यकर्मों में ही तल्लीन हुआ करते हैं, उन जीवों को यह विश्वशक्ति आदि-जननी, अरुणा त्रिपुरसुन्दरी अपने पाशों से बाँधती है, अपने श्वेत अंकुश से खींचती है, फिर धनुष और पाँच बाणों के द्वारा उन्हें बींधती है। शक्ति 'भग' यानी ऐश्वर्य है। और ईश्वर-कामेश्वर-भगवान् ऐश्वर्यवान हैं। ये दो—भगवती ललिता-त्रिपुरासुन्दरी और भगवान् कामेश्वर—भाग्य को देने वाले (ऐश्वर्यदायक) हैं। ये दोनों समान प्रकृति वाले, समान सत्त्व वाले और समान तेज वाले हैं। उनकी शक्ति अजर (अक्षय) और जगत् को उत्पन्न करने वाली है।

परिसृता हविषा भावितेन प्रसंकोचे गलिते वैमनस्कः।
शर्वः सर्वस्य जगतो विधाता धर्ता हर्ता विश्वरूपत्वमेति ॥15॥
इयं महोपनिषत्त्रैपुर्या यामक्षरं परमो गीर्भिरीट्टे।
एषर्ग्यजुः परमेतच्च सामायमथर्वेयमन्या चविद्या ॥16॥
ॐ ह्रीं ॐ ह्रीमित्युपनिषत् ॥17॥

इति त्रिपुरोपनिषत्समाप्ता।
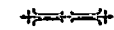
निष्काम साधनावाला उत्तम साधक जब अर्पित किए गए शुद्ध हवि से आवरणों के पिघल जाने से मनोरहित (अमनस्क) हो जाता है, संकल्पविकल्पशून्य हो जाता है, तब वह शिवस्वरूप हो जाता है। वह तब समस्त जगत् का कर्ता धर्ता, और हर्ता बन जाता है। वह ब्रह्मा-विष्णु-महेशरूप हो जाता है। वह ब्रह्मरूप हो जाता है। यह उस त्रिपुरासुन्दरी की उपनिषत् है कि जिसका ऋग्वेद, यजुर्वेद सामवेद, अथर्ववेद और अन्य शास्त्र भी अपनी अक्षय वेदरूप वाणी से स्तवन किया करते हैं। ऐसी त्रिपुरासुन्दरी की यह उपनिषत् है। "ॐ ह्रीं ॐ ह्रीम्"—यही उपनिषद् है।

इस प्रकार त्रिपुरोपनिषत् समाप्त होती है।

शान्तिपाठः

ॐ वाङ्मे मनसि····वक्तारमवतु वक्तारम्। (पूर्ववत्)
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

❋

(85) कठरुद्रोपनिषत्

(उपनिषत्परिचय)

इस उपनिषत् का अपर नाम 'कण्ठरुद्रोपनिषत्' भी है। यह कृष्णयजुर्वेदीय शाखा में आई हुई है। देवाताओं ने प्रजापति के आगे ब्रह्मविद्या सम्बन्धी जिज्ञासा की और प्रजापति ने संन्यास आश्रम की प्रवेशविधि कहकर बाद में ब्रह्मविद्या का निरूपण किया है। पहली तीन कण्डिकाओं में संन्यासग्रहण की विधि कही है, फिर 4 से 11 तक की कण्डिकाओं में संन्यासातिरिक्त अन्य निर्वहनीय अनुशासनों का वर्णन किया गया है। बाद में ब्रह्म, माया, तन्मात्राओं तथा ब्रह्माण्ड की रचना के विषय में बताया गया है। पंचकोशों का—पंच आत्माओं का रहस्य समझाकर परमात्मा को ही ईश्वर, जीव, प्रमाता, प्रमाण, प्रमेय और फल आदि के रूप में प्रतिष्ठापित किया गया है। उपसंहार में इस सारे कथोपकथन को वेदान्त के साररूप के रूप में कहा गया है।

शान्तिपाठः

ॐ सह नाववतु। सह नौ—मा विद्विषावहै। (पूर्ववत्)
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

इसका हिन्दी रूपान्तर पूर्व में (शारीरकोपनिषद् में) द्रष्टव्य है।

हरिः ॐ देवा ह वै भगवन्तमब्रुवन्नधीहि भगवन्ब्रह्मविद्याम्। स प्रजापतिरब्रवीत् ॥1॥

सशिखान्केशान्निष्कृष्य विसृज्य यज्ञोपवीतं निष्कृष्य ततः पुत्रं दृष्ट्वा त्वं ब्रह्मा त्वं यज्ञस्त्वं वषट्कारस्त्वमोंकारस्त्वं स्वाहा त्वं स्वधा त्वं धाता त्वं विधाता। अथ पुत्रो वदत्यहं ब्रह्माहं यज्ञोऽहं वषट्कारोऽहमोंकारोऽहं स्वाहाहं स्वधाहं धाताहं विधाताहं त्वष्टाहं प्रतिष्ठास्मीति। तान्येतान्यनु- व्रजन्नाश्रुमापातयेत्। यदश्रुमापातयेत्प्रजां विच्छिन्द्यात्। प्रदक्षिणमा- वृत्त्यैतच्चैतच्चानवेक्षमाणाः प्रत्ययान्ति। स स्वर्ग्यो भवति ॥2॥

देवों ने भगवान् प्रजापति से कहा—'हे भगवन्! आप हमें ब्रह्मविद्या पढ़ाइए।' यह सुनकर प्रजापति ने कहा—संन्यास के लिए सज्ज हुए पुरुष को शिखा के साथ सभी केशों को निकालकर यज्ञोपवीत छोड़कर पुत्र का भी त्याग करके पुत्र के सामने देखकर कहना चाहिए कि—"तुम ब्रह्मा हो, तुम यज्ञ हो, तुम वषट्कार हो, तुम ओम्कार हो, तुम स्वाहा हो, तुम स्वधा हो, तुम धाता हो, तुम विधाता हो, और तुम त्वष्टा हो, तुम प्रतिष्ठा हो।" तब पुत्र को भी प्रत्युत्तर में कहना चाहिए कि—"मैं ब्रह्मा हूँ, मैं यज्ञ हूँ, मैं वषट्कार हूँ, मैं ॐकार हूँ, मैं स्वाहा हूँ, मैं स्वधा हूँ, मैं धाता हूँ, मैं विधाता हूँ, मैं त्वष्टा हूँ, मैं प्रतिष्ठा हूँ।" बाद में जब वह संन्यासी होकर निकलता है और सब उसके सगे-सम्बन्धी उसके पीछे जाएँ, तब उन्हें आँसू नहीं लाने चाहिए, क्योंकि उस समय जो आँसू गिराते हैं, वे प्रजा का नाश करते हैं। फिर उस संन्यास धारण करने वाले की उसके सगे-सम्बन्धियों के द्वारा

प्रदक्षिणा की जानी चाहिए। और फिर इधर-उधर देखे बिना उन्हें सीधे घर पर चला जाना चाहिए। इस तरह से संन्यास लेने वाला स्वर्ग को प्राप्त करता है।

ब्रह्मचारी वेदमधीत्य वेदोक्ताचरितब्रह्मचर्यो दारानाहृत्य पुत्रानुत्पाद्य ताननुरूपोपाधिभिर्वितत्येष्ट्वा च शक्तितो यज्ञैस्तस्य संन्यासो गुरुभिरनु- ज्ञातस्य बान्धवैश्च। सोऽरण्यं परेत्य द्वादशरात्रं पयसाग्निहोत्रं जुहुयात्। द्वादशरात्रं पयोभक्षः स्यात्। द्वादशरात्रस्यान्तेऽग्नये वैश्वानराय प्रजापतये च प्राजापत्यं चरुं वैष्णवं त्रिकपालमग्निम्। संस्थितानि पूर्वाणि दारुपात्राण्यग्नौ जुहुयात्। मृण्मयान्यप्सु जुहुयात्। तैजसानि गुरवे दद्यात्। मा त्वं मामपहाय परागाः। नाहं त्वामपहाय परागामिति। गार्हपत्यदक्षिणाग्न्याहवनीयेष्वरणिदेशाद्भस्ममुष्टिं पिबेदित्येके। सशिखान्केशान्निष्कृष्य विसृज्य यज्ञोपवीतं भूः स्वाहेत्यप्सु जुहुयात्। अत ऊर्ध्वमनशनमपां प्रवेशमग्निप्रवेशनं वीराध्वानं महाप्रस्थानं वृद्धाश्रमं वा गच्छेत्। पयसा यं प्राश्नीयात्सोऽस्य सायंहोमः। यत्प्रातः सोऽयं प्रातः। यद्दर्शे तद्दर्शम्। यत्पौर्णमास्ये तत्पौर्णमास्यम्। यद्वसन्ते केशश्मश्रुलोमनखानि वापयेत्सोऽस्याग्निष्टोमः ॥3॥

जिसने ब्रह्मचारी होकर वेदाध्ययन किया हो, वेद के नियमानुसार ब्रह्मचर्य का पालन किया हो, बाद में स्त्री के साथ विवाह करके सन्तानों की उत्पत्ति की हो, और पुत्रादि का निरुपाधिक विस्तार किया हो, और फिर यथाशक्ति यज्ञ किए हों, वही मनुष्य गुरु की आज्ञा लेकर, सगे-सम्बन्धियों की सम्मति लेकर संन्यासी हो सकता है। इस तरह संन्यासी होने वाले मनुष्य को वन में जाकर बारह दिनों तक दूध से अग्निहोत्र करना चाहिए। उन बारह दिनों तक उसे दूध का ही आहार करना चाहिए। फिर उन बारह दिनों के बीत जाने पर वैश्वानर अग्नि तथा प्रजापति को उद्देश्य करके चरु अर्पण करना चाहिए। वह चरु तीन कपालों पर पकाया होना चाहिए। प्रजापति और विष्णु उसके देव होते हैं। बाद में वहाँ जो काष्ठ के पात्र पड़े हों, उन्हें अग्नि में होम के रूप में डाल देना चाहिए, और मिट्टी के बर्तनों को जल में डाल देना (होम करना) चाहिए। धातु के बरतनों को गुरु को दे देना चाहिए। उस समय ये मंत्र बोलने चाहिए—'तुम लोग मुझे छोड़ न देना। मैं भी तुम्हें नहीं छोड़ूँगा।' यहाँ पर कुछ लोग कहते हैं कि गार्हपत्य, दक्षिणाग्नि तथा आहवनीय अग्नियों के निमित्त जो अरणिकाष्ठ हो, उसकी भस्म की एक मुट्ठी का उस समय प्राशन (भक्षण) करना चाहिए। फिर उसके बाद शिखासहित केशों को निकालकर, यज्ञोपवीत का त्याग करके 'भूः स्वाहा' ऐसा बोलकर उसका त्याग करना चाहिए। बाद में अनशन ले लेना चाहिए अथवा जल में प्रवेश करना चाहिए। या तो अग्नि में भी प्रवेश किया जा सकता है। अथवा वीर पुरुषों के मार्ग में प्रयाण करना चाहिए। (महाप्रस्थान करना चाहिए) अथवा वृद्ध तपस्वियों के आश्रम में चले जाना चाहिए। वह संन्यासी पानी के साथ जो कुछ भी खाता है, वही उसका होम है। जो शाम को इस तरह प्राशन करता है वह सायं होम और जो सुबह इस तरह प्राशन करता है, वह उसका प्रातर्होम होता है। वह जो अमावस के दिन प्राशन करता है वह उसका 'दर्श होम' (अमावस का होम) होता है और जो पूर्णिमा के दिन प्राशन करता है, वह उसका 'पौर्णमासी होम' होता है। और वह वसन्त ऋतु में जो अपने केश-दाढ़ी-मूँछ-रोम आदि निकाल देता है वही उसका अग्निष्टोम होता है।

संन्यस्याग्निं न पुनरावर्तयेन्मृत्युर्जयमावहमित्यध्यात्ममन्त्राञ्जपेत्। स्वस्ति सर्वजीवेभ्य इत्युक्त्वाऽऽत्मानमनन्यं ध्यायन् तदूर्ध्वबाहुर्विमुक्त-मार्गो भवेत्। अनिकेतश्चरेत्। भिक्षाशी यत्किञ्चिन्नाद्यात्। लवैकं न धावयेज्जन्तुसंरक्षणार्थं वर्षवर्जमिति। तदपि श्लोका भवन्ति ॥4॥

इस प्रकार संन्यास लेने के बाद फिर से उसे अग्नि का स्वीकार नहीं करना चाहिए। और "मैंने मृत्यु को जीत लिया है"—ऐसा सोचकर अध्यात्ममंत्रों का पाठ ही करते रहना चाहिए। और 'स्वस्ति सर्वजीवेभ्यः' ('सभी जीवों का कल्याण हो') ऐसा कहते हुए लोकमार्ग को छोड़कर हाथ ऊँचे रखकर ही रहना चाहिए। घर या आश्रम बनाए बिना ही अनिकेत होकर भ्रमण करते रहना चाहिए। जैसा-तैसा कुछ खाना नहीं चाहिए। भिक्षा का ही भोजन करना चाहिए। और चातुर्मास में जीवों की रक्षा के लिए ही एक स्थान पर रहना चाहिए पर इसके सिवा तो एक थोड़े से काल में भी एक जगह पर पड़े रहना नहीं चाहिए। इस अभिप्राय को बताने वाले ऐसे श्लोक हैं—

कुण्डिकां चमसं शिक्यं त्रिविष्टपमुपानहौ।
शीतोपघातिनीं कन्थां कौपीनाच्छादनं तथा ॥5॥
पवित्रं स्नानशाटीं च उत्तरासङ्गमेव च।
यज्ञोपवीतं वेदांश्च सर्वं तद्वर्जयेद्यतिः ॥6॥
स्नानं पानं तथा शौचमद्भिः पूताभिराचरेत्।
नदीपुलिनशायी स्याद्देवागारेषु वा स्वपेत् ॥7॥
नात्यर्थं सुखदुःखाभ्यां शरीरमुपतापयेत्।
स्तूयमानो न तुष्येत निन्दितो न शपेत्परान् ॥8॥

संन्यासी को एक कुण्डी और एक चमस जैसा पात्र, एक झोली, तीन दण्डों वाला एक आधार, उपानह, ठंड दूर करने वाली गुदड़ी, लंगोटी, एक ओढ़ने का वस्त्र, पवित्री, एक नहाने का वस्त्र, और उत्तरीय वस्त्र—इतना ही अपने पास रखना चाहिए। इसके सिवा उपवीत, वेद और अन्य सभी साधनों का त्याग कर देना चाहिए। उसी पवित्र जल से ही स्नान करना चाहिए, उसी से ही धोना और उसी का पान करना चाहिए। उसको नदी के तीर पर या देवमंदिर में ही सोना चाहिए। सुखों से उसे शरीर को थपथपाना नहीं चाहिए, एवं दुःखों से तपाना भी नहीं चाहिए। किसी के द्वारा स्तुति करने पर उसे खुश भी नहीं होना चाहिए और किसी की निन्दा से उसे गालियाँ भी नहीं देनी चाहिए।

ब्रह्मचर्येण सन्तिष्ठेदप्रमादेन मस्करी।
दर्शनं स्पर्शनं केलिः कीर्तनं गुह्यभाषणम् ॥9॥
संकल्पोऽध्यवसायश्च क्रियानिर्वृत्तिरेव च।
एतन्मैथुनमष्टाङ्गं प्रवदन्ति मनीषिणः ॥10॥
विपरीतं ब्रह्मचर्यमनुष्ठेयं मुमुक्षुभिः।
यज्जगद्भासकं भानं नित्यं भाति स्वतः स्फुरत् ॥11॥
स एष जगतः साक्षी सर्वात्मा विमलाकृतिः।
प्रतिष्ठा सर्वभूतानां प्रज्ञानघनलक्षणः ॥12॥

संन्यासी को चाहिए कि वह प्रमाद का त्याग करके ब्रह्मचर्य का पालन करे। 'स्त्रियों का दर्शन, उनका स्पर्श, उनके साथ खेल, उनकी प्रशंसा, उनके साथ बातचीत, उनके साथ संकल्प, मैथुन करने

का विचार और मैथुन—इन आठ प्रकारों से मैथुन होता है'—ऐसा विद्वान् लोग कहते हैं। इसलिए मुमुक्षुओं को इससे उल्टा ब्रह्मचर्य का ही पालन करना चाहिए। जो जगत् का प्रकाशक है, नित्य स्वप्रकाश से प्रकाशित रहता है, और जो आप ही आप स्फुरित होता रहता है, वही जगत् का साक्षी सर्वात्मा है। वह निर्मल—विशुद्ध-आकार-स्वरूप वाला सभी प्राणियों का आश्रयस्थान रूप और प्रज्ञानमय लक्षणवाला है।

न कर्मणा न प्रजया न चान्येनापि केनचित्।
ब्रह्मवेदनमात्रेण ब्रह्माप्नोत्येव मानवः ॥13॥
तद्विद्याविषयं ब्रह्म सत्यज्ञानसुखाद्वयम्।
संसारे च गुहावाच्ये मायाज्ञानादिसंज्ञिके ॥14॥
निहितं ब्रह्म यो वेद परमे व्योम्नि संज्ञिते।
सोऽश्नुते सकलान्कामान्क्रमेणैव द्विजोत्तमः ॥15॥
प्रत्यगात्मानमज्ञानमायाशक्तेश्च साक्षिणम्।
एकं ब्रह्माहमस्मीति ब्रह्मैव भवति स्वयम् ॥16॥

मनुष्य कर्म से, प्रजा से या और किसी उपाय से ब्रह्म को प्राप्त नहीं कर सकता। केवल ब्रह्म को जान लेने से (ज्ञान से) ही ब्रह्म को प्राप्त करता है। वह ब्रह्म, विद्या (ज्ञान) का ही विषय है। वह सत्य (ज्ञान) सुख का अद्वैत स्वरूप है। और अज्ञान नाम की जो माया कहलाती है, उसमें भी तथा गुहा-गुफा कहे जाने वाले इस संसार में भी वही ब्रह्म व्याप्त होकर रहता है। जो उत्तम द्विज मनुष्य इस ब्रह्म को परमाकाश के प्रदेश में गुप्त रहा हुआ जान लेता है, वह क्रमशः सकल कामनाओं को प्राप्त कर लेता है। अज्ञानरूप मायाशक्ति का साक्षी प्रत्यगात्मा है। और "वही प्रत्यगात्मा ब्रह्म मैं हूँ"—ऐसा जो अनुभव करता है, वह स्वयं ही ब्रह्म हो जाता है।

ब्रह्मभूतात्मनस्तस्मादेतस्माच्छक्तिमिश्रितात्।
अपञ्चीकृत आकाशः संभूतो रज्जुसर्पवत् ॥17॥
आकाशाद्वायुसंज्ञस्तु स्पर्शोऽपञ्चीकृतः पुनः।
वायोरग्निस्तथा चाग्नेराप अद्भ्यो वसुन्धरा ॥18॥
तानि सर्वाणि सूक्ष्माणि पञ्चीकृत्येश्वरस्तदा।
तेभ्य एव विसृष्टं तद्ब्रह्माण्डादि शिवेन ह ॥19॥
ब्रह्माण्डस्योदरे देवा दानवा यक्षकिन्नराः।
मनुष्याः पशुपक्ष्याद्यास्तत्तत्कर्मानुसारतः ॥20॥

ब्रह्मभूत आत्मा जब अपनी शक्ति से मिश्रित हो गया, तब उसमें से अपंचीकृत आकाश की उत्पत्ति हुई, जैसे रस्सी में भ्रम से साँप की उत्पत्ति होती है। फिर उस अपंचीकृत आकाश में से अपंचीकृत स्पर्श नाम का वायु उत्पन्न हुआ फिर वायु से अग्नि तथा अग्नि से जल तथा जल से पृथ्वी उत्पन्न हुई। उस समय उन सूक्ष्म भूतों का पंचीकरण करके शिव रूप ईश्वर ने उन्हीं में से ब्रह्माण्ड आदि जगत् की उत्पत्ति की। उस ब्रह्माण्ड के बीच देव, दानव, यक्ष, किन्नर, मनुष्य, और पशु-पक्षी आदि अपने-अपने कर्मों के अनुसार उत्पन्न किए गए।

अस्थिस्नाय्वादिरूपोऽयं शरीरं भाति देहिनाम्।
योऽयमन्नमयो ह्यात्मा भाति सर्वशरीरिणः ॥21॥

ततः प्राणमयो ह्यात्मा विभिन्नश्चान्तरस्थितः ।
ततो मनोमयो ह्यात्मा विभिन्नश्चान्तरस्थितः ॥22॥
ततो विज्ञान आत्मा तु ततोऽन्यश्चान्तरः स्वतः ।
आनन्दमय आत्मा तु ततोऽन्यश्चान्तरस्थितः ॥23॥
योऽयमन्नमयः सोऽयं पूर्णः प्राणमयेन तु ।
मनोमयेन प्राणोऽपि तथा पूर्णः स्वभावतः ॥24॥
तथा मनोमयो ह्यात्मा पूर्णो ज्ञानमयेन तु ।

प्राणियों का यह शरीर हड्डियों स्नायुओं से भरा जो दीख रहा है, वह सभी जीवों का अन्नमय आत्मा प्रकाशित हो रहा है । इसके बाद इसके भीतर प्राणमय आत्मा प्रकाशित हो रहा है । वह अन्नमय से अलग होकर अन्नमय में रहता है । इसके बाद उससे भी भीतर मनोमय आत्मा अलग-सा अवस्थित है । इसके बाद इसके भी भीतर में विज्ञानमय आत्मा प्रकाशित हो रहा है । वह भी इसी शरीर में अलग रहता है । फिर उसके भी भीतर जो आनन्दमय आत्मा है, वह भी उनसे अलग रहकर शरीर के भीतर रहता है । जो यह अन्नमय है, वह तो प्राणमय से पूर्ण है और इसी प्रकार मनोमय से प्राणमय पूर्ण होता है और इसी प्रकार स्वाभाविक रूप से ही मनोमय आत्मा विज्ञानमय से पूर्ण होता है ।

आनन्देन सदा पूर्णः सदा ज्ञानमयः सुखम् ॥25॥
तथानन्दमयश्चापि ब्रह्मणोऽन्येन साक्षिणा ।
सर्वान्तरेण पूर्णश्च ब्रह्म नान्येन केनचित् ॥26॥
यदिदं ब्रह्मपुच्छाख्यं सत्यज्ञानाद्वयात्मकम् ।
सारमेव रसं लब्ध्वा साक्षाद्देही सनातनम् ॥27॥
सुखी भवति सर्वत्र अन्यथा सुखिता कुतः ।
असत्यस्मिन्परानन्दे स्वात्मभूतेऽखिलात्मनाम् ॥28॥
को जीवति नरो जातु को वा नित्यं विचेष्टते ।

यह ज्ञानमय आत्मा आनन्दमय से सुखपूर्वक पूर्ण होता है । और आनन्दमय भी उससे अलग सर्वान्तर्यामी और साक्षी ब्रह्म से पूर्ण है । परन्तु यह ब्रह्म और किसी से पूर्ण नहीं है । जो यह ब्रह्म है, उसी का नाम 'पुच्छ' है । वह सत्य, ज्ञान और अद्वैतरूप है । उस सनातन रस को ही साक्षात् सारतत्त्व के रूप में प्राप्त करके ही जीव सर्वत्र सुखी होता है । और तो किसी उपाय से सुख कहाँ मिलता है ? सभी जीवों में अपने आत्मारूप वह परमानन्दरूप पदार्थ अगर न होता, तो भला कौन प्राणी जी सकता था ? कौन नित्य चेष्टा कर सकता था ?

तस्मात्सर्वात्मना चित्ते भासमानो ह्यसौ नरः ॥29॥
आनन्दयति दुःखाढ्यं जीवात्मानं सदा जनः ।
यदा ह्येवैष एतस्मिन्नदृश्यत्वादिलक्षणे ॥30॥
निर्भेदं परमाद्वैतं विन्दते च महायतिः ।
तदेवाभयमित्यन्तं कल्याणं परमामृतम् ॥31॥
सद्रूपं परमं ब्रह्म त्रिपरिच्छेदवर्जितम् ।
यदा ह्येवैष एतस्मिन्नल्पमप्यन्तरं नरः ॥32॥
विजानाति तदा तस्य भयं स्यान्नात्र संशयः ।

इसलिए सर्व के आत्मा के रूप में वह पुरुष-ब्रह्म सभी के चित्त में प्रकाशित हो रहा है । और उसी के कारण ही मनुष्य दुःखी जीवात्मा को सदा आनन्द दिलाता है । योगी पुरुष जब इस अदृश्यरूप आत्मा में अभेदरूप परम अद्वैत का अनुभव करता है, तब वही निर्भय, अत्यंत कल्याणकारी, परम अमृत तथा सत्स्वरूप ब्रह्म तीनों प्रकार के परिमाणों से रहित होकर प्रकाशित होता है । इस ब्रह्म के विषय में जो मनुष्य थोड़ा सा भी अन्तर मानता है, उसी समय उसमें भय उत्पन्न होता है (भेद से ही भय होता है) इसमें किसी प्रकार का सन्देह नहीं है ।

अस्यैवानन्दकोशेन स्तम्बान्ता विष्णुपूर्वकाः ॥33॥
भवन्ति सुखिनो नित्यं तारतम्यक्रमेण तु ।
तत्तत्पदविरक्तस्य श्रोत्रियस्य प्रसादिनः ॥34॥
स्वरूपभूत आनन्दः स्वयं भाति परे यथा ।
निमित्तं किञ्चिदाश्रित्य खलु शब्दः प्रवर्तते ॥35॥
यतो वाचो निवर्तन्ते निमित्तानामभावतः ।
निर्विशेष परानन्दे कथं शब्दः प्रवर्तते ॥36॥
तस्मादेतन्मनः सूक्ष्मं व्यावृत्तं सर्वगोचरम् ।

इसी ब्रह्म के आनन्दनिधि से ही विष्णु से लेकर स्तम्ब (स्थाणु) तक के सभी जीव थोड़े-बहुत क्रम-प्रमाण से सुखी होते हैं । श्रोत्रिय ब्राह्मण उस-उस पद से विरक्त होकर प्रसन्न और निर्मल चित्तवाला जब होता है, तब जैसा परब्रह्म में आनन्द है, वैसा ही स्वरूपभूत आनन्द आप ही आप प्रकाशित हो उठता है । कोई भी शब्द किसी निमित्त का आश्रय करके ही प्रवृत्ति करता है । परन्तु परब्रह्म तो निमित्तों का अभावरूप ही है । इसीलिए तो सभी वाणियाँ उसे पाए बिना ही वापिस लौट आती हैं । (ब्रह्म तक पहुँच नहीं सकतीं ।) निर्विशेष और परमानन्दस्वरूप ब्रह्म में भला वाणी का प्रवर्तन किस तरह से हो सकता है ? इसी कारण सूक्ष्म मन भी सर्वत्र गतिशील होने पर भी उस (निरवयव) ब्रह्म से तो वापिस ही लौट जाता है । वह ब्रह्म को प्राप्त नहीं कर सकता ।

यस्माच्छ्रोत्रत्वगक्ष्यादिखादिकर्मेन्द्रियाणि च ॥37॥
व्यावृत्तानि परं प्राप्तुं न समर्थानि तानि तु ।
तद्ब्रह्मानन्दमद्वन्द्वं निर्गुणं सत्यचिद्घनम् ॥38॥
विदित्वा स्वात्मरूपेण न बिभेति कुतश्चन ।
एवं यस्तु विजानाति स्वगुरोरुपदेशतः ॥39॥
स साध्वसाधुकर्मभ्यां सदा न तपति प्रभुः ।
ताप्यतापकरूपेण विभातमखिलं जगत् ॥40॥
प्रत्यगात्मतया भाति ज्ञानाद्वेदान्तवाक्यजात् ।

उसी प्रकार श्रोत्र, त्वचा, नेत्र आदि ज्ञानेन्द्रियाँ तथा वाक्, पाद आदि कर्मेन्द्रियाँ उस ब्रह्म को न पाकर वापिस लौट जाती हैं । और वे भी उस परम पदार्थ को प्राप्त करने में समर्थ नहीं होतीं । ऐसे उस आनन्दमय, अद्वैत, निर्गुण, सत्य तथा चैतन्यमय ब्रह्म को अपने ही आत्मा के रूप में जानकर ज्ञानीजन किसी से भी डरता नहीं है । जो पुरुष अपने गुरु के उपदेश द्वारा इस तरह जान लेता है वह प्रभु (समर्थ) बनकर अच्छे या बुरे कर्मों से भी कभी दुःखी नहीं होता । यह सारा जगत् ताप्य और तापक

रूप में अज्ञान दशा में दिखाई देता है। परन्तु वेदान्त के वाक्यों से ज्ञान उत्पन्न हो जाने के बाद वो केवल प्रत्यगात्मा रूप में ही प्रकाशित होता है।

शुद्धमीश्वरचैतन्यं जीवचैतन्यमेव च ॥41॥
प्रमाता च प्रमाणं च प्रमेयं च फलं तथा।
इति सप्तविधं प्रोक्तं भिद्यते व्यवहारतः ॥42॥
मायोपाधिविनिर्मुक्तं शुद्धमित्यभिधीयते।
मायासम्बन्धश्चेशो जीवोऽविद्यावशस्तथा ॥43॥
अन्तःकरणसम्बन्धात्प्रमातेत्यभिधीयते।
तथा तद्वृत्तिसम्बन्धात्प्रमाणमिति कथ्यते ॥44॥
अज्ञातमपि चैतन्यं प्रमेयमिति कथ्यते।
तथा ज्ञातं च चैतन्यं फलमित्यभिधीयते ॥45॥
सर्वोपाधिविनिर्मुक्तं स्वात्मानं भावयेत्सुधीः।

शुद्धचैतन्य, ईश्वरचैतन्य, जीवचैतन्य, प्रमाता, प्रमाण, प्रमेय और फल—इस प्रकार से व्यावहारिक दृष्टि से सात प्रकार का भेद माना जाता है। परन्तु माया आदि उपाधियों के दूर होते ही केवल एक ही शुद्ध वस्तु कही जाती है। एक ही चैतन्य माया के सम्बन्ध से ईश्वर, अविद्या के वश होने से जीव, अन्त:करण के सम्बन्ध से प्रमाता, वृत्ति के सम्बन्ध से प्रमाण, अज्ञात चैतन्य प्रमेय और ज्ञान चैतन्य फल कहा जाता है। इसलिए उत्तम बुद्धि वाले मनुष्य को अपने आत्मा को सभी उपाधियों से मुक्त शुद्ध ही जानना चाहिए।

एवं यो वेद तत्त्वेन ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥46॥
सर्ववेदान्तसिद्धान्तसारं वच्मि यथार्थतः।
स्वयं मृत्वा स्वयं भूत्वा स्वयमेवावशिष्यते ॥47॥

इति कठरुद्रोपनिषत्समाप्ता।
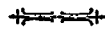
जो मनुष्य इस तरह तत्त्वदर्शन को जानता है, वह ब्रह्मस्वरूप होने में समर्थ होता है। और सर्ववेदान्तसिद्धान्तों का सही सारतत्त्व मैं कह देता हूँ कि वह स्वयं मरकर या जन्म पाकर केवल वही अवशिष्ट—शेष रहता है।

इस प्रकार कठरुद्रोपनिषत् समाप्त होती है।

शान्तिपाठः

ॐ सह नाववतु। सह नौ—मा विद्विषावहै। (पूर्ववत्)
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

(86) भावनोपनिषत्

(उपनिषत्परिचय)

इस उपनिषत् का सम्बन्ध अथर्ववेद से है। इसमें पराम्बा त्रिपुरासुन्दरी के श्रीचक्र के ऊपर बैठकर उसके सर्वशक्तिमय स्वरूप को प्रकट करने का वर्णन किया गया है। सबसे पहले शिव के ईश्वरत्व का निरूपण करके बाद में कहा गया है कि शक्ति का संयोग होने पर ही वे 'शिव' कहे जा सकते हैं। इसके बाद, स्थूल-सूक्ष्म-कारण—इन तीनों शरीरों में श्रीचक्र की भावना करने को कहा गया है। फिर इसके बाद, देव शक्तियों के आवाहन, आसन, पाद्य आदि उपचार पदार्थ की भावना का वर्णन किया गया है। अन्त में भावना का फल बताकर यह बताया गया है कि यदि कोई भी माधक इस प्रकार तीन मुहूर्त तक ऐसी भावना में परायण रहता है, तो वह जीवन्मुक्त हो जाता है। वह ब्रह्मस्वरूप ही हो जाता है। वही साधक 'शिवयोगी' कहलाने लगता है।

शान्तिपाठः

ॐ भद्रं कर्णेभिः—देवहितं यदायुः। (पूर्ववत्)
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

इसका हिन्दी रूपान्तर पूर्व में (शाण्डिल्योपनिषद् में) द्रष्टव्य है।

हरिः ॐ आत्मानमखिलमण्डलाकारमावृत्यसकलब्रह्माण्डमण्डलं स्वप्रकाशं ध्यायेत्।
श्रीगुरुः सर्वकारणभूता शक्तिः ॥1॥

तांत्रिक आह्निक विधि में प्रातः उठते ही चिद्विमर्श नाम की विधि होती है। इसलिए प्रथम वह करके फिर गुरुस्मरण आदि से शुरू करके श्रीचक्रपूजन के क्रम का अनुसरण करना चाहिए। देहान्तपर्यन्त श्रीचक्र की भावनामय पूजा का प्रकार वर्णित है। सकल ब्रह्माण्ड में व्याप्त हुए अपने आत्मा का, जो कि एक अखण्डमण्डलाकार तेजस्वरूप है उसका ध्यान करना चाहिए। चिद्विमर्श के बाद इस उपासना-पद्धति में गुरु पंक्ति पूजन बताया है कि देहान्तर्गत परमदेव का दर्शक गुरु वह स्वयं है। ज्ञानदाता गुरु के बिना परमात्म-लाभ नहीं होता। चित्त बुद्ध्यादि ज्ञानसाधन शरीरान्तर्वर्ती हैं। अतः देह ही ज्ञानप्राप्ति का कारण हुआ, इसलिए गुरु हुआ।

केन नवरन्ध्ररूपो देहः। नवशक्तिरूपं श्रीचक्रम्। वाराही पितृरूपा। कुरुकुल्ला बलिदेवता माता। पुरुषार्थाः सागराः। देहो नवरत्नद्वीपः। आधारनवकमुद्राः शक्तयः। त्वगादिसप्तधातुभिरनेकैः संयुक्ताः संकल्पाः कल्पतरवः। तेजः कल्पकोद्यानम्। रसनया भाव्यमाना मधुराम्लतिक्तकटुकषायलवणभेदाः षड्रसाः षड्तवः। क्रियाशक्तिः पीठम्। कुण्डलिनी ज्ञानशक्तिर्गृहम्। इच्छाशक्तिर्महात्रिपुरसुन्दरी। ज्ञाता होता ज्ञानमग्निः ज्ञेयं हविः। ज्ञातृज्ञानज्ञेयानामभेदभावनं श्रीचक्र-

पूजनम् । नियतिसहिताः शृङ्गारादयो नव रसा अणिमादयः । कामक्रोधलोभमोहमदमात्सर्यपुण्यपापमया ब्राह्म्याद्यष्टशक्तयः । पृथिव्यप्तेजोवाय्वाकाशश्रोत्रत्वक्चक्षुर्जिह्वाघ्राणवाक्पाणिपादपायूपस्थमनोविकाराः षोडश शक्तयः । वचनादानगमनविसर्गानन्दहानोपेक्षाबुद्धयोऽनङ्गकुसुमादिशक्तयोऽष्टौ । अलम्बुसा कुहूर्विश्वोदरी वरुणा हस्तिजिह्वा यशस्वत्यश्विनी गान्धारी पूषा शङ्खिनी सरस्वतीडा पिङ्गला सुषुम्ना चेति चतुर्दश नाड्यः । सर्वसंक्षोभिण्यादिचतुर्दशारगा देवताः । प्राणापानव्यानोदानसमाननागकूर्मकृकरदेवदत्तधनंजया इति दश वायवः । सर्वसिद्धिप्रदा देव्यो बहिर्दशारगा देवताः । एतद्वायुदशकसंसर्गोपाधिभेदेन रेचकपूरकशोषकदाहकप्लावका अमृतमिति प्राणमुख्यत्वेन पञ्चविधोऽस्ति । क्षारको दारकः क्षोभको मोहको जृम्भक इत्यपालनमुख्यत्वेन पञ्चविधोऽस्ति । तेन मनुष्याणां मोहको दाहको भक्ष्यभोज्यलेह्यचोष्यपेयात्मकं चतुर्विधमन्नं पाचयति । एता दश वह्निकलाः सर्वात्वाद्यन्तर्दशारगा देवताः । शीतोष्णसुखदुःखेच्छासत्त्वरजस्तमोगुणा वशिन्यादिशक्तयोऽष्टौ । शब्दस्पर्शरूपरसगन्धाः पञ्चतन्मात्राः पञ्च पुष्पबाणा मन इक्षुधनुः । वश्यो बाणो रागः पाशः । द्वेषोऽङ्कुशः । अव्यक्तमहत्तत्त्वमहदहंकार इति कामेश्वरीवज्रेश्वरीभगमालिन्योऽन्तस्त्रिकोणाग्रगा देवताः । पञ्चदशतिथिरूपेण कालस्य परिणामावलोकनस्थितिः पञ्चदश नित्या श्रद्धानुरूपाधिदेवता । तयोः कामेश्वरी सदानन्दघना परिपूर्णस्वात्मैक्यरूपा देवता ॥2॥

इसीलिए श्रीचक्र शरीर में सिद्ध होता है । इस देह में दो कान, दो आँखें, दो नासिकाएँ, मुख, उपस्थ और गुदा—ये नव द्वार हैं, वे दिव्यौघ, सिद्धौघ और मानवौघ—नवनाथ छिद्र रूप में स्थित हैं । यह श्रीचक्र भी विमला से लेकर ईशान तक की नव शक्तियों से सम्पन्न है । वाराही शक्ति इसकी पिता और कुरुकुल्ला बलि देवता—श्यामला इसकी माता है । देहाश्रित धर्मादि चार पुरुषार्थ ही चार सागर के रूप में हैं । यह शरीर ही नवरत्न द्वीप है । योनिमुद्रा से लेकर सर्वसंक्षोभिणी मुद्रा तक की आधारभूत शक्तियाँ भी इस द्वीप की हैं । त्वचा आदि सात धातुओं और बाहरी-भीतरी अनेक विकारों से युक्त तथा तरह-तरह के संकल्प-विकल्प ही इसके कल्पवृक्ष हैं । परमात्मा से भिन्न भाँति-भाँति के रमणीय तैजस स्वरूप का जीव ही बड़ा उद्यान है । जीभ के द्वारा आस्वाद्य मधुर-अम्ल-तिक्त-कटु-कषाय-लवण—छः रस ही छः ऋतुएँ हैं । क्रियाशक्ति ही पीठ है, कुण्डलिनी ज्ञानशक्ति ही गृह है । इच्छाशक्ति ही आराध्य भगवती त्रिपुरासुन्दरी है । ज्ञाता ही होता (हवन करने वाला) और ज्ञान ही अग्नि है और ज्ञातव्य तत्त्व ही होमद्रव्य है । ज्ञाता-ज्ञेय-ज्ञान की अभेद-भावना ही त्रिपुरा का (श्रीचक्र का) पूजन है । नियति (निर्धारण) के साथ शृंगार (करुण-हास्य) आदि नव रस ही अणिमादि सिद्धियों के रूप में हैं । काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मात्सर्य, पुण्य, पाप—ये सब ब्राह्मी आदि आठ शक्तियाँ हैं । पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश, श्रोत्र, त्वक्, चक्षु, जिह्वा, घ्राण, वाक्, हस्त, पाद, गुदा, उपस्थ तथा मन के विकार—ये सोलह शक्तियों के रूप में हैं । वचन, आदान (ग्रहण), गमन, विसर्ग (मलत्याग) और आनन्द, जो कि क्रमशः वाक्, पाणि, पाद, पायु और उपस्थ के विषय हैं, वे तथा उपेक्षाबुद्धि के वैराग्य-प्रेम-उदासीनता—ये तीन भेद, अष्टदल की आठ देवताओं—अनंगकुसुमा, अनंगमेखला, अनंगमदना, अनंगमदनातुरा, अनंगरेखा, अनंगवेगिनी, अनंगमदनांकुशा और अनंगमालिनी के रूप में

हैं । अलम्बुसा, कुहू, विश्वोदरी, वारणा, हस्तिजिह्वा, यशस्वती, अश्विनी, गान्धारी, पूषा, शंखिनी, सरस्वती, इड़ा, पिंगला और सुषुम्णा—ये चौदह नाड़ियाँ चतुर्दशार चक्र की (चौदह त्रिकोणवाले चक्र की) अधिष्ठाता चौदह देवताओं के रूप में हैं । वे चौदह देवताएँ सर्वसंक्षोभिणी, सर्वविद्राविणी, सर्वाकर्षिणी, सर्वाह्लादिनी, सर्वसंमोहिनी, सर्वस्तंभिनी, सर्वजृंभिणी, सर्ववशंकरी, सर्वरंजिनी, सर्वोन्मादिनी, सर्वार्थसाधिनी, सर्वसंपत्तिपूरणी, सर्वमंत्रमयी, सर्वद्वन्द्वक्षयंकरी—ऐसी हैं । प्राण, अपान, व्यान, उदान, समान, नाग, कूर्म, कृकर, देवदत्त और धनंजय—ये जो दश प्राण हैं, वे सर्वसिद्धप्रदा, सर्वसंपत्प्रदा, सर्वप्रियंकरी, सर्वमंगलकारिणी, सर्वकामप्रदा, सर्वदुःखविमोचिनी, सर्वविघ्ननिवारिणी, सर्वांगसुन्दरी तथा सर्वसौभाग्यदायिनी—इस तरह बहिर्दशारचक्र की देवताएँ हैं । इन पूर्वोक्त वायुओं (प्राणों) में से पहले पाँच प्राणादि वायु संसर्ग के कारण से रेचक, पाचक, शोषक, दाहक और प्लावक की तरह से पाँच प्रकार के जठराग्नि होते हैं । और नागादि पाँच जो हैं वे क्षारक, उद्‌गारक, क्षोभक, जृंभक और मोहक नाम के अग्नि-रस होकर भक्ष्य, भोज्य, चोष्य, लेह्य और पेय—इन पाँच प्रकार के अन्नों को पचाते हैं । इन दश वायुओं से उत्पन्न होती हुई रेचकादि दश जो वह्नि कलाएँ हैं, वे अन्तर्दशारचक्र की सर्वज्ञा, सर्वशक्तिप्रदा, सर्वैश्वर्यप्रदा, सर्वज्ञानमयी, सर्वव्याधिनाशिनी, सर्वाधारा, सर्वपापहरा, सर्वानन्दमयी, सर्वरक्षा तथा सर्वेप्सितफलप्रदा—ये देवताएँ हैं । जाड़ा, गरमी, सुख, दुःख, इच्छा, सत्त्व, रज, तम ही 'वशिनी' आदि आठ शक्तियाँ हैं । शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्ध—ये पाँच तन्मात्राएँ ही पाँच पुष्पबाण हैं । मन ही ईख का बना धनुष्य है । वशीभूत होना ही बाण है और राग ही पाश है । द्वेष ही अंकुश है । जो अव्यक्त, महत्तत्व और अहंकार हैं, वे ही कामेश्वरी, वज्रेश्वरी और भगमालिनी आदि, आन्तरिक त्रिकोण के अग्रभाग में स्थित देवताएँ हैं । पंद्रह तिथियों के रूप से काल के परिणाम को देखने वाले श्रद्धानुरूप पंद्रह अधिदेवता हैं । वज्रेश्वरी और कामेश्वरी में प्रधान सत्-चित्-आनन्दस्वरूप जो है वह ब्रह्म (आत्मा) की ऐक्यरूपा देवता है ।

सलिलमिति सौहित्यकारणं सत्त्वम् । कर्तव्यमकर्तव्यमिति भावनायुक्त उपचारः । अस्ति नास्तीति कर्तव्यता उपचारः । बाह्याभ्यन्तःकरणानां रूपग्रहणयोग्यताऽस्त्वित्यावाहनम् । तस्य बाह्याभ्यन्तःकरणानामेकरूपविषयग्रहणमासनम् । रक्तशुक्लपदैकीकरणं पाद्यम् । उज्ज्वलदामोदानन्दासनदानमर्घ्यम् । स्वच्छं स्वतःसिद्धमित्याचमनीयम् । चिच्चन्द्रमयीति सर्वाङ्गस्रवणं स्नानम् । चिदग्निस्वरूपपरमानन्दशक्तिस्फुरणं वस्त्रम् । प्रत्येकं सप्तविंशतिधा भिन्नत्वेनेच्छाज्ञानक्रियात्मकब्रह्मग्रन्थिमद्रसतन्तुब्रह्मनाडी ब्रह्मसूत्रम् । स्वव्यतिरिक्तवस्तुसङ्गरहितस्मरणं विभूषणम् । स्वच्छस्वपरिपूर्णतास्मरणं गन्धः । समस्तविषयाणां मनसः स्थैर्येणानुसंधानं कुसुमम् । तेषामेव सर्वदा स्वीकरणं धूपः । पवनावच्छिन्नोर्ध्वज्वलनसच्चिदुल्काकाशदेहो दीपः । समस्तयातायातवर्ज्यं नैवेद्यम् । अवस्थात्रयाणामेकेकीकरणं ताम्बूलम् । मूलाधारादाब्रह्मरन्ध्रपर्यन्तं ब्रह्मरन्ध्रादामूलाधारपर्यन्तं गतागतरूपेण प्रादक्षिण्यम् । तुर्यावस्था नमस्कारः । देहशून्यप्रमातृतानिमज्जनं बलिहरणम् । सत्यमस्ति कर्तव्यमकर्तव्यमौदासीन्यनित्यात्मविलापनं होमः । स्वयं तत्पादुकानिमज्जनं परिपूर्णध्यानम् ॥3॥

लीलावत्–सहज ही गुरु-मन्त्र और आत्मा का एकीकरण करना ही कर्तव्य है । एकीकरण न करना अकर्तव्य है । भावना रूप ही उपचार है, 'ब्रह्म है या नहीं है'—इसका अनुसन्धान करते रहना ही उपचार

है। बाहर और भीतर के कारणों के रूप को देखने की योग्यता ही आवाहन है। बाहर और भीतर के करणों (इन्द्रियों) का एक साथ मिलकर विषय के ग्रहण की योग्यता होना ही आसन है। रक्त और शुक्ल पद का—तमस् और सत्त्व का एकीकरण करना ही पाद्य है। उज्ज्वल (निर्मल) दामोदानन्द (आनन्दमय ब्रह्म) में सदैव निमग्न रहना तथा ऐसे ही ज्ञान को शिष्य को प्रदान करना ही अर्घ्य है, स्वयं स्वच्छ और स्वत: अपने में रहना ही आचमन है। चिद्रूप चन्द्रमयी शक्ति से सभी अंगों का स्रवण होना ही स्नान है। चिदग्निरूप परमात्मा की शक्ति का स्फुरण होना ही वस्त्र है। इच्छा-ज्ञान-क्रिया, इन तीन शक्तियों के त्रिगुणीकरण से एक के जो सत्ताईस भेद होते हैं, तथा इच्छा-ज्ञान-क्रिया शक्ति रूप ब्रह्मा, विष्णु और रुद्रग्रन्थि के मध्य में स्थित सुषुम्ना नाड़ी ही ब्रह्मसूत्र है। अपने से अलग वस्तु का स्मरण न करना ही आभूषण है। शुभ्रस्वरूप ब्रह्म से भिन्न कुछ भी नहीं—ऐसा स्मरण ही गन्ध है। समस्त विषयों का मन की स्थिरता से अनुसन्धान करना ही पुष्प है। उन्हीं का सदा स्वीकार करना धूप है। पवनयुक्त योग के समय प्राण और अपान की एकता से सुषुम्ना में सत्-चित् की उल्का (चिनगारी) है, वही देहाकाश का दीप है। सभी गमनागमन की क्रियाएँ ही नैवेद्य हैं। जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति (तीनों अवस्थाओं) का एकीकरण करना ही ताम्बूल है। मूलाधार से ब्रह्मरन्ध्र की ओर और ब्रह्मरन्ध्र से मूलाधार तक बार-बार आने-जाने की क्रिया ही प्रदक्षिणा है। तुर्यावस्था ही नमस्कार है। देह से शून्य जो चैतन्यात्मक प्रमातृता है, उसमें डूबना, उसका चिन्तन करते रहना ही बल आहरण है। 'आत्मरूप ही सत्य है'—ऐसा निश्चय करके कर्तव्याकर्तव्य, उदासीनता, नित्यात्मा में विलास (नित्य आत्मचिन्तन करना) ही होम (हवन) है। तथा स्वयं परमात्मा की पादुकाओं में निमग्न हो जाना ही परिपूर्ण ध्यान है।

एवं मुहूर्तत्रयं भावनापरो जीवन्मुक्तो भवति। तस्य देवतात्मैक्यसिद्धिः।
चिन्तितकार्याण्ययत्नेन सिद्ध्यन्ति। स एव शिवयोगीति कथ्यते ॥4॥

इस प्रकार तीन मुहूर्त तक ऐसी भावना करने वाला साधक जीवन्मुक्त हो जाता है। परदेवता (ब्रह्म) के साथ उसके आत्मा की एकता की सिद्धि हो जाती है। उसके मन में सोचे हुए कार्य अनायास (सहजता से) ही सिद्ध हो जाते हैं। वह शिवयोगी कहलाता है।

(कादिमनोक्तेन भावना प्रतिपादिता।
जीवन्मुक्तो भवति य एवं वेद ॥5॥)
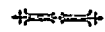
इति भावनोपनिषत्समाप्ता।

(इस प्रकार कादिमत से श्रीचक्र की भावना का प्रतिपादन किया गया। जो यह जानता है वह जीवन्मुक्त होता है।)

इस प्रकार भावनोपनिषत् समाप्त होती है।

शान्तिपाठः

ॐ भद्रं कर्णेभिः........देवहितं यदायुः। (पूर्ववत्)
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

(87) रुद्रहृदयोपनिषत्

(उपनिषत्परिचय)

इस कृष्णयजुर्वेदीय उपनिषद् में प्रधानतया शिव-विष्णु का अभेद बताया है। उपनिषद् का आरंभ शुकदेव और वेदव्यास के प्रश्नोत्तर से होता है। इस उपनिषद् में सर्वप्रथम "सर्व देवों में श्रेष्ठ देव कौन है ?"—शुकदेव के इस प्रश्न के उत्तर में व्यास जी ने उस देवता का नाम 'रुद्र' बताया है। बाद में शिव-विष्णु का ऐक्य, आत्मा का त्रैविध्य, रुद्र का त्रिमूर्तित्व, रुद्रकीर्तन का माहात्म्य और फल, परा-अपरा विद्या का स्वरूप, अक्षरज्ञान से संसार की विनष्टि, मुमुक्षुओं के लिए प्रणव की उपासना, जीव-ईश्वर का काल्पनिक भेद और शोक, मोह की निवृत्ति के लिए अद्वैतज्ञान की उपादेयता के बारे में भी क्रमानुसार कहा गया है। भेद बुद्धि को मिटाकर अभेद बुद्धि को पुरस्कृत करने के लिए यह उपनिषद् बहुत ही उपादेय है। आज के भ्रान्त, संकुचित मनोदशा वाले लोगों के लिए तो यह अनिवार्यरूप से पठनीय है।

शान्तिपाठः

ॐ सह नाववतु। सह नौ⋯मा विद्विषावहै। (पूर्ववत्)
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

इसका हिन्दी रूपान्तर पूर्व में (शारीरकोपनिषद् में) द्रष्टव्य है।

(हृदयं कुण्डली भस्मरुद्राक्षगणदर्शनम्।
तारसारं महावाक्यं पञ्चब्रह्माग्निहोत्रकम्।)
प्रणम्य शिरसा पादौ शुको व्यासमुवाच ह।
को देवः सर्ववेदेषु कस्मिन्देवाश्च सर्वशः ॥1॥

(रुद्रहृदय, योगकुण्डली, भस्मजाबाल, रुद्राक्षजाबाल और गणपति—ये पाँच उपनिषदें प्रणव के मूलतत्त्व का प्रतिपादन करने वाली हैं। ब्रह्मज्ञान सम्बन्धी यज्ञ के ये ही पाँच महामंत्र कहलाते हैं। ये ही श्रुति के महावाक्य कहे गए हैं।) श्री शुकदेवजी ने अपने मस्तक द्वारा व्यासजी के चरणों में नमस्कार करके पूछा कि—हे भगवन्! वेदों में किस देव का उल्लेख किया गया है और सभी वेदों में कौन से एक देव में सभी तरह से निवास करते हैं (अनुस्यूत हैं)? (और—)

कस्य शुश्रूषणान्नित्यं प्रीता देवा भवन्ति मे।
तस्य तद्वचनं श्रुत्वा प्रत्युवाच पिता शुकम् ॥2॥
सर्वदेवात्मको रुद्रः सर्वे देवाः शिवात्मकाः।
रुद्रस्य दक्षिणे पार्श्वे रविर्ब्रह्मा त्रयोऽग्नयः ॥3॥
वामपार्श्वे उमा देवी विष्णुः सोमोऽपि ते त्रयः।
या उमा सा स्वयं विष्णुर्यो विष्णुः स हि चन्द्रमाः ॥4॥
ये नमस्यन्ति गोविन्दं ते नमस्यन्ति शंकरम्।
येऽर्चयन्ति हरिं भक्त्या तेऽर्चयन्ति वृषध्वजम् ॥5॥

'किस एक देव की सेवा से मुझ पर सभी देव प्रसन्न होंगे' ? शुकदेव के ऐसे वचन सुनकर पिता व्यासजी उनसे ऐसे वचन कहने लगे—सभी देवों के आत्मस्वरूप तो एक रुद्र हैं और अन्य सभी देव शिवात्मक हैं। उस रुद्र के दक्षिण भाग में सूर्य, ब्रह्मा और तीन अग्नि स्थित हैं। उनके वाम पार्श्व में उमा देवी, विष्णु तथा सोम—ये भी तीन हैं। जो उमा हैं, वह स्वयं विष्णु ही हैं जो विष्णु हैं वह चन्द्रमा ही हैं। जो गोविन्द को नमस्कार करते हैं, वे शंकर को ही नमस्कार करते हैं। जो लोग भक्ति से विष्णु की पूजा करते हैं वे वृषभध्वज भगवान् शंकर की ही पूजा करते हैं।

ये द्विषन्ति विरूपाक्षं ते द्विषन्ति जनार्दनम्।
ये रुद्रं नाभिजानन्ति ते न जानन्ति केशवम् ॥6॥
रुद्रात्प्रवर्तते बीजं बीजयोनिर्जनार्दनः।
यो रुद्रः स स्वयं ब्रह्मा यो ब्रह्मा स हुताशनः ॥7॥
ब्रह्मविष्णुमयो रुद्र अग्नीषोमात्मकं जगत्।
पुँल्लिङ्गं सर्वमीशानं स्त्रीलिङ्गं भगवत्युमा ॥8॥
उमारुद्रात्मिकाः सर्वाः प्रजाः स्थावरजङ्गमाः।
व्यक्तं सर्वमुमारूपमव्यक्तं तु महेश्वरम् ॥9॥

जो लोग भगवान् विरूपाक्ष (त्रिनेत्र) शंकर से द्वेष करते हैं, वे जनार्दन विष्णु से ही द्वेष करते हैं। जो लोग रुद्र को नहीं जानते, वे लोग भगवान् केशव को भी नहीं जानते। रुद्र से जगद्बीज प्रवर्तमान होता है तो उस बीज की योनि (उद्भवस्थान) जनार्दन (विष्णु) ही है। और जो रुद्र है, वह स्वयं ब्रह्मा ही है, और जो ब्रह्मा है वही अग्नि है। जो रुद्र है, वह ब्रह्माविष्णुमय ही है और यह जगत् अग्नि और सोमरूप ही है। जो पुंल्लिंग है, वह ईशानरूप है और जो स्त्रीलिंग है वह सब उमात्मक है। इस तरह यह सारी प्रजा उमा और रुद्र के स्वरूप की ही है। यह स्थावरजंगम सब उमामहेश्वरात्मक है। इस सृष्टि में जो कुछ व्यक्त है, वह सब उमा का रूप है और जो कुछ अव्यक्त है, वह महेश्वर का ही स्वरूप है।

उमाशंकरयोगो यः स योगो विष्णुरुच्यते।
यस्तु तस्मै नमस्कारं कुर्याद्भक्तिसमन्वितः ॥10॥
आत्मानं परमात्मानमन्तरात्मानमेव च।
ज्ञात्वा त्रिविधमात्मानं परमात्मानमाश्रयेत् ॥11॥
अन्तरात्मा भवेद् ब्रह्मा परमात्मा महेश्वरः।
सर्वेषामेव भूतानां विष्णुरात्मा सनातनः ॥12॥
अस्य त्रैलोक्यवृक्षस्य भूमौ विटपशाखिनः।
अग्रं मध्यं तथा मूलं विष्णुब्रह्ममहेश्वराः ॥13॥

उमा और शंकर का योग ही विष्णु कहा जाता है। जो मनुष्य इसको भक्तिपूर्वक प्रणाम करता है, वह आत्मा, अन्तरात्मा तथा परमात्मा तीनों का ज्ञान (ऐक्यज्ञान) प्राप्त करके परमात्मा को प्राप्त हो जाता है। अन्तरात्मा ब्रह्मा है और परमात्मा महेश्वर है। और सभी प्राणियों के आत्मा के रूप में सनातन विष्णु हैं। तीनों लोकरूप इस वृक्ष का डालियाँ और तने ही भूमि में हैं। इसके अग्र में, मध्य में और अन्त में क्रमशः विष्णु, ब्रह्मा और महेश्वर अवस्थित हैं।

कार्यं विष्णुः क्रिया ब्रह्मा कारणं तु महेश्वरः।
प्रयोजनार्थं रुद्रेण मूर्तिरेका त्रिधा कृता ॥14॥

धर्मो रुद्रो जगद्विष्णुः सर्वज्ञानं पितामहः।
श्रीरुद्र रुद्र रुद्रेति यस्तं ब्रूयाद्विचक्षणः ॥15॥
कीर्तनात्सर्वदेवस्य सर्वपापैः प्रमुच्यते।
रुद्रो नर उमा नारी तस्मै तस्यै नमो नमः ॥16॥
रुद्रो ब्रह्मा उमा वाणी तस्मै तस्यै नमो नमः।
रुद्रो विष्णुरुमा लक्ष्मीस्तस्मै तस्यै नमो नमः ॥17॥

विष्णु कार्य है, ब्रह्मा क्रिया है और कारण महेश्वर है। सृष्टि के प्रयोजन के लिए ही रुद्र ने अपनी एक मूर्ति को तीन प्रकार की बना दिया। धर्म रुद्र हैं, जगत् विष्णु हैं और पितामह ब्रह्मा सर्वज्ञानरूप हैं। जो विचक्षण मनुष्य उन्हें 'हे रुद्र ! रुद्र ! रुद्र'—इस प्रकार बुलाता है, तो उसके उस सर्वदेवात्मक कीर्तन से वह सभी पापों से मुक्त हो जाता है। रुद्र नर है, उमा नारी है, उन नर-नारी को नमस्कार हो। रुद्र ब्रह्मा है तो उमा वाणी है। उन नर-नारी को नमस्कार है। रुद्र विष्णु है, तो लक्ष्मी उमा है—उन नर-नारी को नमस्कार हो।

रुद्रः सूर्य उमा छाया तस्मै तस्यै नमो नमः।
रुद्रः सोम उमा तारा तस्मै तस्यै नमो नमः ॥18॥
रुद्रो दिवा उमा रात्रिस्तस्मै तस्यै नमो नमः।
रुद्रो यज्ञ उमा वेदिस्तस्मै तस्यै नमो नमः ॥19॥
रुद्रो वह्निरुमा स्वाहा तस्मै तस्यै नमो नमः।
रुद्रो वेद उमा शास्त्रं तस्मै तस्यै नमो नमः ॥20॥
रुद्रो वृक्ष उमा वल्ली तस्मै तस्यै नमो नमः।
रुद्रो गन्ध उमा पुष्पं तस्मै तस्यै नमो नमः ॥21॥
रुद्रोऽर्थ अक्षरः सोमा तस्मै तस्यै नमो नमः।
रुद्रो लिङ्गमुमा पीठं तस्मै तस्यै नमो नमः ॥22॥

रुद्र यदि सूर्य है तो छाया उमा है—उन नर-नारी को नमस्कार हो। रुद्र यदि सोम (चन्द्र) है, तो उमा तारा है—उन नर-नारी को नमस्कार। रुद्र दिवस है तो उमा रात्रि है—उन नर-नारी को नमस्कार। रुद्र यदि यज्ञ है तो उमा उसकी वेदी है—उन नर-नारी को नमस्कार। रुद्र यदि अग्नि है, तो उमा स्वाहा है, उन नर-नारी को नमस्कार। रुद्र यदि वेद है, तो उमा शास्त्र है, उन दोनों युगल को नमस्कार। रुद्र यदि वृक्ष है, तो उमा उसकी वल्ली (लता) है—उन दोनों को नमस्कार। रुद्र यदि गन्ध है तो उमा पुष्प है। दोनों को बार-बार नमस्कार। रुद्र यदि अर्थ है तो उमा उसका शब्द है—दोनों को नमस्कार। रुद यदि लिंग है तो उमा उसकी पीठ है—दोनों को प्रणाम हो।

सर्वदेवात्मकं रुद्रं नमस्कुर्यात्पृथक्पृथक्।
एभिर्मंत्रपदैरेव नमस्यामीशपार्वतीम् ॥23॥
यत्र यत्र भवेत्सार्धमिमं मन्त्रमुदरीयेत्।
ब्रह्महा जलमध्ये तु सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥24॥
सर्वाधिष्ठानमद्वन्द्वं परं ब्रह्म सनातनम्।
सच्चिदानन्दरूपं तदवाङ्मनसगोचरम् ॥25॥
तस्मिन्सुविदिते सर्वं विज्ञातं स्यादिदं शुक।
तदात्मकत्वात्सर्वस्य तस्माद्भिन्नं नहि क्वचित् ॥26॥

इस प्रकार तरह-तरह से उस एक ही सर्वदेवात्मक रुद्र को अलग-अलग रूप में नमस्कार करना चाहिए। इन्हीं मन्त्रों के शब्दों से मैं शिव और पार्वती को प्रणाम करता हूँ। जहाँ-कहीं भी मनुष्य बसता हो, वहाँ पर भी यदि इस सार्ध मंत्र को (अर्धाली मंत्र को) जल के बीच खड़ा रहकर जपता रहे, तो वह ब्रह्महत्या के पाप से मुक्त हो जाता है। और अन्य सभी पापों से भी मुक्त हो जाता है। ब्रह्म जो है वह सभी का अधिष्ठान (आधार) है, वह द्वन्द्वों से रहित है, वह सनातन है, सच्चिदानन्दस्वरूप है, वह वाणी और मन से अगोचर (परे) है। उसको यदि अच्छी तरह से अर्थात् पारमार्थिक रूप से जान लिया हो, तो फिर हे शुक ! सब कुछ जान ही लिया गया है, ऐसा समझना चाहिए, क्योंकि यह सब उसका ही स्वरूप है, उससे भिन्न तो कुछ है ही नहीं।

द्वे विद्ये वेदितव्ये हि परा चैवापरा च ते।
तत्रापरा तु विद्यैषा ऋग्वेदो यजुरेव च ॥27॥
सामवेदस्तथाथर्ववेदः शिक्षा मुनीश्वर।
कल्पो व्याकरणं चैव निरुक्तं छन्द एव च ॥28॥
ज्योतिषं च यथा नात्मविषया अपि बुद्धयः।
अथैषा परमा विद्या ययात्मा परमाक्षरम् ॥29॥
यत्तदद्रेश्यमग्राह्यमगोत्रं रूपवर्जितम्।
अचक्षुः श्रोत्रमत्यर्थं तदपाणिपदं तथा ॥30॥
नित्यं विभुं सर्वगतं सुसूक्ष्मं च तदव्ययम्।
तद्भूतयोनिं पश्यन्ति धीरा आत्मानमात्मनि ॥31॥

'परा' और 'अपरा'—ऐसी दो विद्याएँ जान लेनी चाहिए। इनमें अपरा विद्या यह है—ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद तथा शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द और ज्योतिष तथा हे मुनीश्वर ! जितने अनात्मविषय हैं, वे सभी बुद्धियाँ अपरा विद्या ही है। और जो परा (परमा) विद्या है, वह तो परम अक्षर रूप यह आत्मा ही है। वह यह आत्मा है जो दिखाई नहीं देता, जिसका ग्रहण नहीं किया जा सकता, जिसका कोई गोत्र (उद्भवस्थान) नहीं होता, जिसका कोई रूप नहीं है, जो श्रोत्रादि रहित है, जो चक्षुरहित है और जो हाथ-पैरों से रहित है, उस नित्य, विभु, सर्वव्यापक, अति सूक्ष्म, अव्यय और सारे जगत् के उत्पत्तिस्थान रूप परमात्मा को धीर पुरुष (महात्मा लोग) अपने ही आत्मा में देखते हैं।

यः सर्वज्ञः सर्वविद्यो यस्य ज्ञानमयं तपः।
तस्मादत्रान्नरूपेण जायते जगदावलिः ॥32॥
सत्यवद्भाति तत्सर्वं रज्जुसर्पवदास्थितम्।
तदेतदक्षरं सत्यं तद्विज्ञाय विमुच्यते ॥33॥
ज्ञानेनैव हि संसारविनाशो नैव कर्मणा।
श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठं स्वगुरुं गच्छेद्यथाविधिः ॥34॥
गुरुस्तस्मै परां विद्यां दद्याद्ब्रह्मात्मबोधिनीम्।
गुहायां निहितं साक्षादक्षरं वेद चेन्नरः ॥35॥
छित्त्वाऽविद्यामहाग्रन्थिं शिवं गच्छेत्सनातनम्।
तदेतदमृतं सत्यं तद्बोद्धव्यं मुमुक्षुभिः ॥36॥

जो सर्वज्ञ है, जो सबका मर्म जानता है, ज्ञानमय ही जिसका तप (पराक्रम) है, उसी से इस जगत् में जड़-चेतनरूप जगत् अन्नरूप में प्रकट होता है। जैसे रस्सी में साँप देखा जाता है, वैसे ही उसमें यह जगत् सत्य की तरह देखा जाता है। पर यह सब अक्षर रूप नित्य आत्मरूप है, ऐसा जानकर मनुष्य मुक्त हो जाता है। इस संसार का नाश ज्ञान से ही हो सकता है, कर्म से कभी नहीं होता। इसलिए ज्ञान को प्राप्त करने के लिए श्रोत्रिय और ब्रह्मनिष्ठ गुरु के पास विधिपूर्वक पहुँच जाना चाहिए। वे गुरु उस मुमुक्षु को ब्रह्म-आत्मा के एकत्व को बताने वाली परा विद्या बताएँगे। इस प्रकार उस गुफा में निहित—परमसूक्ष्म—अक्षरतत्त्व को मनुष्य यदि जान लेता है, तब तो मनुष्य अविद्या की बड़ी ग्रन्थि (उलझन) को काटकर सनातन शिवतत्त्व को प्राप्त कर लेता है। वह जो शाश्वत सत्य है उसी को मुमुक्षु लोगों को जान लेना चाहिए।

धनुस्तारं शरो ह्यात्मा ब्रह्म तल्लक्ष्यमुच्यते।
अप्रमत्तेन वेद्धव्यं शरवत्तन्मयो भवेत् ॥37॥
लक्ष्यं सर्वगतं चैव शरः सर्वगतो मुखः।
वेद्धा सर्वगतश्चैव शिवलक्ष्यं न संशयः ॥38॥
न तत्र चन्द्रार्कवपुः प्रकाशते न वान्ति वाताः सकला देवताश्च।
स एष देवः कृतभावभूतः स्वयं विशुद्धो विरजः प्रकाशते ॥39॥
द्वौ सुपर्णौ शरीरेऽस्मिञ्जीवेशाख्यौ सह स्थितौ।
तयोर्जीवः फलं भुङ्क्ते कर्मणो न महेश्वरः ॥40॥

तार (प्रणव) ही धनुष है, आत्मा बाण है, ब्रह्म लक्ष्य है, ऐसा समझकर अप्रमत्त होकर, साधक स्वयं बाणरूप होकर लक्ष्य-ब्रह्म का वेध कर दे। यहाँ पर लक्ष्य भी सर्वव्यापक है, बाण भी सर्वव्यापक है (सर्वतोमुखी है), बींधने वाला भी तो सर्वव्यापक ही है, और लक्ष्य शिव है इसमें कोई सन्देह नहीं है। उस परमात्मा के धाम में सूर्य या चन्द्र का रूप कहीं नही है, वहाँ वायु बहते नही हैं, वहाँ सकल देव भी नहीं होते। वहाँ भावना से किए हुए एक ही देव हैं, जो स्वयं विशुद्ध (निर्मल), और निष्कलंक होकर प्रकाशित हो रहा है। इस शरीर में जीव और ईश्वररूपी दो सुनहरे पक्षी एक ही साथ में रहते हैं। उन दोनों में जीव कर्मों का फल खाता है, और ईश्वर नहीं खाता।

केवलं साक्षिरूपेण विना भोगं महेश्वरः।
प्रकाशते स्वयं भेदः कल्पितो मायया तयोः ॥41॥
घटाकाशमठाकाशौ यथाकाशप्रभेदतः।
कल्पितौ परमौ जीवशिवरूपेण कल्पितौ ॥42॥
तत्त्वतश्च शिवः साक्षाच्चिज्जीवश्च स्वतः सदा।
चिच्चिदाकारतो भिन्ना न भिन्ना चित्त्वहानितः ॥43॥
चितश्चिन्न चिदाकाराद्भिद्यते जडरूपतः।
भिद्यते चेज्जडो भेदश्चिदेका सर्वदा खलु ॥44॥
तर्कतश्च प्रमाणाच्च चिदेकत्वव्यवस्थितेः।
चिदेकत्वपरिज्ञाने न शोचति न मुह्यति ॥45॥

महेश्वर तो फल खाए बिना केवल साक्षीभाव से ही रहते हैं। वह तो स्वयं प्रकाशित रहते हैं, उनके बीच यह भेद तो माया के द्वारा कल्पित ही है। एक ही अखण्ड आकाश के जिस तरह घटाकाश,

मठाकाश आदि कल्पित भेद किए जाते हैं, ठीक उसी प्रकार से उस परम तत्त्व को जीव और शिव ऐसे भेद (परम के ही भेद) कल्पित होते हैं। पारमार्थिक रूप से तो जो साक्षात् शिव है, वही चिद्रूप, सद्रूप साक्षात् जीव है। उपाधि से ही चिद् भिन्न हो सकता है, स्वरूप से भिन्न नहीं हो सकता। यदि स्वरूप से भी भिन्न हो, तब तो दोनों चित्तत्त्वों का (जीव और ईश्वर का) नाश ही हो जाएगा। चित् से चित् की भिन्नता स्वरूपाकार से तो हो ही नहीं सकती परन्तु वह तो केवल जड़ उपाधि के द्वारा ही की गई है (उपाधि जड है)। यदि भेद दृष्टि को सही मान लिया जाए, तो वह तो जड़ ही है। केवल एकमात्र चित् ही तो नित्य (स्थायी, शाश्वत) है। जब वास्तविक तत्त्व के रूप से और तर्कों (युक्तियों) के बल से चित् शक्ति की एकमात्रता सिद्ध हो ही चुकी है, तब मनुष्य चित्शक्ति के एकत्व के विषय में भ्रान्त-मोहित नहीं होता और उसके लिए शोक भी नहीं करता।

अद्वैतं परमानन्दं शिवं याति तु केवलम् ॥46॥
अधिष्ठानं समस्तस्य जगतः सत्यचिद्घनम्।
अहमस्मीति निश्चित्य वीतशोको भवेन्मुनिः ॥47॥
स्वशरीरे स्वयं ज्योतिःस्वरूपं सर्वसाक्षिणम्।
क्षीणदोषाः प्रपश्यन्ति नेतरे माययावृत्ताः ॥48॥
एवं रूपपरिज्ञानं यस्यास्ति परयोगिनः।
कुत्रचिद्गमनं नास्ति तस्य पूर्णस्वरूपिणः ॥49॥
आकाशमेकं सम्पूर्णं कुत्रचिन्नैव गच्छति।
तद्वत्स्वात्मपरिज्ञानी कुत्रचिन्नैव गच्छति ॥50॥

ऐसा मनुष्य अद्वैत परमानन्द शिवतत्त्व को केवलतत्त्व को प्राप्त करता है। इस समस्त जगत् के अधिष्ठान के रूप में वह सत्-चित्-घन तत्त्व ही है। वह तत्त्व मैं स्वयं ही हूँ, ऐसा मानकर मुनि-संन्यासी शोकरहित हो जाता है। अपने ही शरीर में स्वयं ज्योति:स्वरूप और सर्व के साक्षीरूप उस तत्त्व को, जिनके दोष क्षीण हो गए हैं वे ही देख सकते हैं, अन्य लोग जो कि माया के आवरण में हैं, वे उसे नहीं देख सकते। इस प्रकार का स्वरूपज्ञान जिस परमयोगी को हो चुका है, उसको कहीं भी आना-जाना नहीं होता, क्योंकि वह स्वयं ही पूर्णरूप हो गया होता है। आकाश एक, अखण्ड, सम्पूर्ण है वह कहीं आता-जाता नहीं है, उसी प्रकार आत्मज्ञानी भी कहीं आता-जाता नहीं है।

स यो ह वै तत्परमं ब्रह्म यो वेद वै मुनिः।
ब्रह्मैव भवति स्वस्थः सच्चिदानन्दमातृकः ॥51॥ इत्युपनिषत्।

इति रुद्रहृदयोपनिषत्समाप्ता।
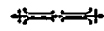
जो मुनि इस परब्रह्म को जानता है, वह मुनि ब्रह्म ही हो जाता है। अपने आत्मा में ही वह स्थित रहता है। और वह स्वयं सच्चिदानन्दस्वरूप ब्रह्म ही हो जाता है, ऐसा यह उपनिषत् कहती है।

इस प्रकार रुद्रहृदयोपनिषत् समाप्त होती है।

शान्तिपाठः

ॐ सह नाववतु। सह नौ—मा विद्विषावहै। (पूर्ववत्)
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

(88) योगकुण्डलिन्युपनिषत्

(उपनिषत्परिचय)

यह उपनिषत् कृष्णयजुर्वेदीय है। यह योगपरक उपनिषत् है। इसमें कुल तीन अध्याय हैं। प्रथम अध्याय में प्राणायाम सिद्धि के तीन उपाय—मिताहार, आसन और शक्तिशालिनी मुद्रा—बताए हैं। इसके अतिरिक्त भी प्राणायाम के भेद, तीन बन्ध, योगाभ्यास में आने वाले विघ्न, उनसे रक्षण, कुण्डलिनी का जागरण, ग्रन्थिभेदन, कुण्डलिनी का सहस्रार में प्रवेश, प्राणादि का विलीनीकरण, समाधि योग आदि का विशद वर्णन है। दूसरे अध्याय में खेचरी मुद्रा का स्वरूप, फल और सिद्धि आदि बताया गया है। तीसरे अध्याय में खेचरी सिद्धि का मंत्र तथा साधक की दृष्टि का उदाहरणसहित निरूपण है। फिर प्राणायामाभ्यास से विराट् रूप की सिद्धि, सद्गुरु के उपदेश का महत्त्व, ब्रह्म के अधिष्ठान, परब्रह्म का स्वरूप, उसकी प्राप्ति का उपाय, जीवन्मुक्ति आदि अनेक विषय इस उपनिषत् में सम्मिलित हैं।

शान्तिपाठः

ॐ सह नाववतु। सह नौ—मा विद्विषावहै। (पूर्ववत्)
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

इसका हिन्दी रूपान्तर पूर्व में (शारीरकोपनिषद् में) द्रष्टव्य है।

प्रथमोऽध्यायः

हेतुद्वयं हि चित्तस्य वासना च समीरणः।
तयोर्विनष्ट एकस्मिंस्तद्द्वावपि विनश्यतः ॥1॥
तयोरादौ समीरस्य जयं कुर्यान्नरः सदा।
मिताहारश्चासनं च शक्तिचालस्तृतीयकः ॥2॥
एतेषां लक्षणं वक्ष्ये शृणु गौतम सादरम्।
सुस्निग्धमधुराहारश्चतुर्थांशविवर्जितः ॥3॥
भुज्यते शिवसम्प्रीत्यै मिताहारः स उच्यते।
आसनं द्विविधं प्रोक्तं पद्मं वज्रासनं तथा ॥4॥

चित्त की चंचलता के दो कारण हैं—एक है संस्कार और दूसरा है प्राण। उनमें से किसी एक का विनाश हो जाने पर दोनों का नाश हो जाता है। मनुष्य को चाहिए कि वह उन दोनों में से पहले प्राण पर विजय कर ले। प्राण पर विजय पाने के लिए तीन मार्ग हैं—मिताहार, आसन और तीसरा शक्तिचाल (शक्तिचालिनी मुद्रा)। हे गौतम! मैं तीनों का लक्षण कह रहा हूँ। तुम आदरपूर्वक सुनो। जो कुछ भी शिव की प्रीति के लिए खाया जाता है, वह 'मिताहार' कहलाता है और आसन दो प्रकार का होता है—एक है पद्मासन और दूसरा है वज्रासन।

ऊर्वोरुपरि चेद्धत्ते उभे पादतले यथा ।
पद्मासनं भवेदेतत्सर्वपापप्रणाशनम् ॥5॥
वामाङ्घ्रिमूलकन्दाधो ह्यन्यं तदुपरि क्षिपेत् ।
समग्रीवशिरःकायो वज्रासनमितीरितम् ॥6॥
कुण्डल्येव भवेच्छक्तिस्तां तु संचालयेद्बुधः ।
स्वस्थानादाभ्रुवोर्मध्यं शक्तिचालनमुच्यते ॥7॥
तत्साधने द्वयं मुख्यं सरस्वत्यास्तु चालनम् ।
प्राणरोधमथाभ्यासादृज्वी कुण्डलिनी भवेत् ॥8॥

दोनों उरुओं के ऊपर यदि दोनों (उल्टे-सीधे) पादतल रखे जाएँ, तब सर्व पापों का नाश करने वाला पद्मासन बनता है। गर्दन, मस्तक और शरीर को एक ही सीध में रखकर बाँयें पैर की एड़ी को सीवनी के स्थान में और दायें पैर की एड़ी उसके ऊपर लगाकर उसके ऊपर बैठने से वज्रासन होता है। मुख्यशक्ति कुण्डलिनी ही कही गई है। चालनक्रिया के द्वारा बुद्धिमान इसे नीचे से ऊपर भ्रुकुटियों के मध्य तक ले आता है उसे 'शक्तिचालन' कहा जाता है (वही शक्तिचालिनी मुद्रा है।) कुण्डलिनी जगाने (चलाने) के मुख्यतया दो उपाय (दो साधन) कहे गए हैं—एक है सरस्वतीचालन और दूसरा है अभ्यास के द्वारा प्राण का निरोध करना। इस प्रकार से लिपटी हुई कुण्डलिनी सीधी हो जाती है।

तयोरादौ सरस्वत्याश्चालनं कथयामि ते ।
अरुन्धत्येव कथिता पुराविद्भिः सरस्वती ॥9॥
यस्याः संचालनेनैव स्वयं चलति कुण्डली ।
इडायां वहति प्राणे बद्ध्वा पद्मासनं दृढम् ॥10॥
द्वादशाङ्गुलदैर्घ्यं च अम्बरं चतुरङ्गुलम् ।
विस्तीर्य तेन तन्नाडीं वेष्टयित्वा ततः सुधीः ॥11॥
अङ्गुष्ठतर्जनीभ्यां तु हस्ताभ्यां धारयेद्दृढम् ।
स्वशक्त्या चालयेद्वामे दक्षिणेन पुनः पुनः ॥12॥

उन दोनों में से पहले मैं तुम्हें 'सरस्वतीचालन' के बारे में बताता हूँ। प्राचीन काल के विद्वानों ने उसको अरुंधती का नाम भी दिया है। इसके संचालन से कुण्डलिनी स्वयं ही चलने लगती है जब कि इड़ा नाडी चल रही हो और उस समय पद्मासन लगाकर उस सरस्वती का अच्छी तरह से संचालन किया जाए। फिर उस नाड़ी को बारह अंगुल लम्बे और चार अंगुल चौड़े वस्त्र के टुकड़े से लपेटना चाहिए। ऐसा करने के बाद नासा के दोनों छिद्रों को अँगूठे और तर्जनी के द्वारा दृढ़ता से (जोर से) पकड़कर अपनी इच्छाशक्ति से पहले बाँये और फिर दाहिने नासिकाछिद्र से चार-चार बार रेचक और पूरक करनी चाहिए।

मुहूर्तद्वयपर्यन्तं निर्भयाच्चालयेत्सुधीः ।
ऊर्ध्वमाकर्षयेत्किञ्चित्सुषुम्नां कुण्डलीगताम् ॥13॥
तेन कुण्डलिनी तस्याः सुषुम्नाया मुखं व्रजेत् ।
जहाति तस्मात्प्राणोऽयं सुषुम्नां व्रजति स्वतः ॥14॥
तुन्दे तु ताणं कुर्याच्च कण्ठसङ्कोचने कृते ।
सरस्वत्याश्चालनेन वक्षसश्चोर्ध्वगो मरुत् ॥15॥

सूर्येण रेचयेद्वायुं सरस्वत्यास्तु चालने ।
कण्ठसङ्कोचनं कृत्वा वक्षसश्चोर्ध्वगो मरुत् ॥16॥

इस तरह निर्मल होकर दो मुहूर्तों तक (करीब सवा चार घण्टों तक) इसको चलाते रखना चाहिए और साथ ही कुण्डलिनी में स्थित सुषुम्ना नाड़ी को भी थोड़ा सा ऊपर खींचना चाहिए। इससे सरस्वतीचालन की क्रिया से कुण्डलिनी सुषुम्ना नाड़ी के मुख में प्रवेश करके ऊपर उठने वाली हो जाती है। इसी के साथ ही साथ प्राण भी अपना स्थान छोड़कर सुषुम्ना में प्रवाहित होने लगता है। कण्ठ के संकोचन करने के साथ पेट को ऊपर की ओर खींचकर रखने से इस सरस्वतीचालन के द्वारा वायु ऊर्ध्वगामी होकर छाती के स्थान से भी ऊपर चला जाता है। सरस्वतीचालन करते समय सूर्यनाड़ी (दक्षिण स्वर) के द्वारा रेचक करते हुए कण्ठ का संकोच करने से नीचे रहा हुआ वायु छाती के ऊपर के भाग की ओर चला जाता है।

तस्मात्संचालयेन्नित्यं शब्दगर्भां सरस्वतीम् ।
यस्याः संचालनेनैव योगी रोगैः प्रमुच्यते ॥17॥
गुल्मं जलोदरः प्लीहा ये चान्ये तुन्दमध्यगाः ।
सर्वे तु शक्तिचालेन रोगा नश्यन्ति निश्चयम् ॥18॥
प्राणरोधमथेदानीं प्रवक्ष्यामि समासतः ।
प्राणश्च देहगो वायुरायामः कुम्भकः स्मृतः ॥19॥
स एव द्विविधः प्रोक्तः सहितः केवलस्तथा ।
यावत्केवलसिद्धिः स्यात्तावत्सहितमभ्यसेत् ॥20॥

इसलिए शब्दमयी सरस्वती का चालन सदैव करते रहना चाहिए। इसके संचालन करने से योगी रोगों से मुक्त हो जाता है। इस सरस्वतीचालन से गुल्म, जलोदर, प्लीहा और पेट के अन्य जो रोग हैं, वे नष्ट हो ही जाते हैं। अब दूसरे प्राणरोध की बात संक्षेप में कहता हूँ—देह में स्थित वायु को प्राण कहा जाता है। उस वायु का जब आयाम (स्थिरीकरण) किया जाता है, तब उसे कुंभक कहा जाता है। उस कुंभक के दो प्रकार हैं—एक 'सहित' और दूसरा है 'केवल'। जहाँ तक उनमें से 'केवल' की सिद्धि हो जाए वहाँ तक 'सहित' का अभ्यास करते रहना चाहिए।

सूर्योज्जायी शीतली च भस्त्री चैव चतुर्थिका ।
भेदैरेव समं कुम्भो यः स्यात्सहितकुम्भकः ॥21॥
पवित्रे निर्जने देशे शर्करादिविवर्जिते ।
धनुः प्रमाणपर्यन्ते शीताग्निजलवर्जिते ॥22॥
पवित्रे नात्युच्चनीचे ह्यासने सुखदे सुखे ।
बद्धपद्मासनं कृत्वा सरस्वत्यास्तु चालनम् ॥23॥
दक्षनाड्या समाकृष्य बहिष्ठं पवनं शनैः ।
यथेष्टं पूरयेद्वायुं रेचयेदिडया ततः ॥24॥

सूर्यभेदन, उज्जायी, शीतली और भस्त्रिका—इन चार भेदों के साथ जो कुंभक किया जाता है, उसे 'सहितकुंभक' कहा जाता है। पवित्र, निर्जन, कंकरादि से रहित एक धनुष जितने नाप वाले किसी घास-फूस ठंड-गर्मी-पानी से रहित प्रदेश में जो बहुत ऊँचा भी न हो और बहुत नीचा भी न हो ऐसे सुखकारी सुखासन पर पद्मासन लगाकर सरस्वती का चालन करना चाहिए। श्वास के द्वारा धीरे-धीरे

दाहिनी नासिका से बाहर के वायु को भीतर खीचकर भीतर पूरक करना चाहिए और फिर इडा नाड़ी के द्वारा उसे बाहर निकालना चाहिए।

कपालशोधने वापि रेचयेत्पवनं शनैः।
चतुष्कं वातदोषं तु कृमिदोषं निहन्ति च ॥25॥
पुनः पुनरिदं कार्यं सूर्यभेदमुदाहृतम्।
मुखं संयम्य नाडीभ्यामाकृष्य पवनं शनैः ॥26॥
यथा लगति कण्ठात्तु हृदयावधि सस्वनम्।
पूर्ववत्कुम्भयेत्प्राणं रेचयेदिडया ततः ॥27॥
शीर्षोदितानलहरं गलश्लेष्महरं परम्।
सर्वरोगहरं पुण्यं देहानलविवर्धनम् ॥28॥
नाडीजलोदरं धातुगतदोषविनाशनम्।
गच्छतस्तिष्ठतः कार्यमुज्जाय्याख्यं तु कुम्भकम् ॥29॥

कपालशोधन क्रिया में भी धीरे-धीरे वायु का रेचन करना चाहिए। इस प्रकार करने से चारों तरह के वायुदोष और कृमिदोष दूर हो जाते हैं। इस प्रकार की क्रिया, जो बार-बार की जाती है, उसका नाम ही 'सूर्यभेदन' है। अब मुख को बन्द करके दोनों नासाछिद्रों से वायु को धीरे-धीरे इस प्रकार खींचना चाहिए कि उसके प्रवेश के साथ आवाज निकलती रहे। इस प्रकार हृदय और कण्ठ तक वायु को पहले भरना चाहिए। फिर बाद में पहले की तरह कुंभक करके बाँयें नासिकाछिद्र से रेचन करना चाहिए। इस तरह करने से शिर की गर्मी, गले का कफ आदि दूर हो जाते हैं, जठराग्नि तेज होती है, नाड़ी, जलोदर और धातुरोग भी नष्ट हो जाते हैं, इस कुंभक को उज्जायी कहते हैं। यह 'उज्जायी कुंभक' बैठते-उठते, चलते-फिरते कभी भी किया जा सकता है।

जिह्वया वायुमाकृष्य पूर्ववत्कुम्भकादनु।
शनैस्तु घ्राणरन्ध्राभ्यां रेचयेदनिलं सुधीः ॥30॥
गुल्मप्लीहादिकान्दोषान्क्षयं पित्तं ज्वरं तृषाम्।
विषाणि शीतली नाम कुम्भकोऽयं निहन्ति च ॥31॥

(सूर्यभेदन और उज्जायी का वर्णन करके अब तीसरे शीतली प्राणायाम की बात कहते हैं कि—) शीतली प्राणायाम में जीभ के द्वारा वायु को खींचकर पहले की तरह ही कुंभक करके नासिका से वायु को धीरे-धीरे निकालना चाहिए। इसके करने से प्लीहा, गुल्म, पित्त, ज्वर, तृषा आदि रोगों की शान्ति होती है।

ततः पद्मासनं बद्ध्वा समग्रीवोदरः सुधीः।
मुखं संयम्य यत्नेन प्राणं घ्राणेन रेचयेत् ॥32॥
यथा लगति कण्ठात्तु कपाले सस्वनं ततः।
वेगेन पूरयेत् किञ्चिद्धृत्पद्मावधि मारुतम् ॥33॥
पुनर्विरेचयेत्तद्वत्पूरयेच्च पुनः पुनः।
यथैव लोहकाराणां भस्त्रा वेगेन चाल्यते ॥34॥
तथैव स्वशरीरस्थं चालयेत्पवनं शनैः।
यथा श्रमो भवेद्देहे तथा सूर्येण पूरयेत् ॥35॥

(अब भस्त्रिका प्राणायाम की बात कही जा रही है—) भस्त्रिका प्राणायाम के लिए पद्मासन लगाकर, शरीर को गर्दनसहित सीधा रखकर, सबसे पहले मुँह बन्द करके नासिका के द्वारा वायु को बाहर निकालना चाहिए। फिर उसी तरह तीव्रता से वायु को भीतर खींचना चाहिए। खींचते समय वायु का स्पर्श, कण्ठ-तालु-सिर और हृदय को मालूम पड़ना चाहिए। फिर उसका रेचन करके फिर से पूरक करना चाहिए। इस तरह बार-बार वेगपूर्वक लोहार की धौंकनी की तरह वायु को खींचते-निकालते रहना चाहिए। इस प्रकार शरीर में रहे हुए वायु को सावधानी के साथ चलाते रहना चाहिए। जब थकान लगे, तब दाहिने स्वर से (सूर्य से) वायु को भीतर खींचना (पूरक करना) चाहिए। और पूरक के बाद—

यथोदरं भवेत्पूर्णं पवनेन तथा लघु।
धारयन्नासिकामध्यं तर्जनीभ्यां विना दृढम् ॥36॥
कुम्भकं पूर्ववत्कृत्वा रेचयेदिडयानिलम्।
कण्ठोत्थितानलहरं शरीराग्निविवर्धनम् ॥37॥
कुण्डलीबोधकं पुण्यं पापघ्नं शुभदं सुखम्।
ब्रह्मनाडीमुखान्तस्थकफाद्यर्गलनाशनम् ॥38॥
गुणत्रयसमुद्भूतग्रन्थित्रयविभेदकम्।
विशेषेणैव कर्तव्यं भस्त्राख्यं कुम्भकं त्विदम् ॥39॥

—फिर तर्जनी को छोड़कर अन्य अँगुलियों से नाक को कसकर पकड़कर वायु का कुंभक करना चाहिए और फिर बाँयीं नासा के छिद्र से (इडा से) उसे बाहर निकाल देना चाहिए। इस प्रकार के अभ्यास से गले का दाह मिट जाता है, और जठराग्नि तेज हो जाती है। यह (भस्त्रिका) प्राणायाम कुण्डलिनी को जगाने वाला है। यह सुखद, पुण्यशाली और पापनाशक है। सुषुम्ना नाड़ी के मुखपर जो बाधक कफ आदि होते हैं, वे सभी इसके अभ्यास से नष्ट हो जाते हैं। तीन गुणों से उत्पन्न हुई ग्रन्थियों को वह भिन्न (नष्ट) कर देता है। इसलिए इस भस्त्रिका प्राणायाम का विशेष अभ्यास करना चाहिए।

चतुर्णामपि भेदानां कुम्भके समुपस्थिते।
बन्धत्रयमिदं कार्यं योगिभिर्वीतकल्मषैः ॥40॥
प्रथमो मूलबन्धस्तु द्वितीयोड्डीयणाभिधः।
जालन्धरस्तृतीयस्तु तेषां लक्षणमुच्यते ॥41॥
अधोगतिमपानं वै ऊर्ध्वगं कुरुते बलात्।
आकुञ्चनेन तं प्राहुर्मूलबन्धोऽयमुच्यते ॥42॥

इन चारों भेदों वाले कुम्भक को करते समय निष्पाप योगियों को मूलबन्ध आदि तीन बन्ध भी करने चाहिए। इन तीन बन्धों में प्रथम बन्ध 'मूलबन्ध' है, दूसरा बन्ध, 'उड्डीयाणबन्ध' है और तीसरा 'जालन्धरबन्ध' है। अब उन बन्धों का लक्षण कहा जा रहा है—जिस बन्ध में नीचे की गति वाले अपानवायु को बलपूर्वक ऊपर खींचा जाता है, गुदा को संकोच करके की जाने वाली उस क्रिया को 'मूलबन्ध' कहा जाता है।

अपाने चोर्ध्वगे याते संप्राप्ते वह्निमण्डले।
ततोऽनलशिखा दीर्घा वर्धते वायुना हता ॥43॥

ततो यातौ वह्न्यपानौ प्राणमुष्णस्वरूपकम् ।
तेनात्यन्तप्रदीप्तेन ज्वलनो देहजस्तथा ॥44॥
तेन कुण्डलिनी सुप्ता संतप्ता सम्प्रबुध्यते ।
दण्डाहतभुजङ्गीव निःश्वस्य ऋजुतां व्रजेत् ॥45॥

अपानवायु ऊँचे जाकर जब वह्निमण्डल के साथ योग करता है, तब उस वायु से आहत होकर (टकराकर) वह अग्नि बहुत ही तेज बन जाती है। बाद में उष्णस्वरूप वाले प्राण में अग्नि और अपान के मिल जाने पर उसके प्रभाव से देह से उत्पन्न हुए सब विकार जल जाते हैं। बाद में अग्नि के ताप से सोती हुई कुण्डलिनी जाग जाती है और फटकारी हुई नागिन की भाँति फुत्कार करती हुई सीधी हो जाती है।

बिलप्रवेशतो यत्र ब्रह्मनाड्यन्तरं व्रजेत् ।
तस्मान्नित्यं मूलबन्धः कर्तव्यो योगिभिः सदा ॥46॥

उस समय वह अग्नियुक्त (तपी हुई) कुण्डलिनी जैसे गुहा में प्रवेश करती हो, इस तरह सुषुम्ना नाड़ी के भीतर प्रवेश कर जाती है। इसलिए इस मूलबन्ध का अभ्यास योगियों को सदैव करते रहना चाहिए।

कुम्भकान्ते रेचकादौ कर्तव्यस्तूड्डियाणकः ।
बन्धो येन सुषुम्नायां प्राणस्तूड्डीयते यतः ॥47॥
तस्मादुड्डीयणाख्योऽयं योगिभिः समुदाहृतः ।
सति वज्रासने पादौ कराभ्यां धारयेद्दृढम् ॥48॥
गुल्फदेशसमीपे च कन्दं तत्र प्रपीडयेत् ।
पश्चिमं ताणमुदरे धारयेद्धृदये गले ॥49॥
शनैः शनैर्यदा प्राणस्तुन्दसन्धिं निगच्छन्ति ।
तुन्ददोषं विनिर्धूय कर्तव्यं सततं शनैः ॥50॥

जब कुंभक करके रेचक किया जाता है, उसके पहले उड्डीयाणबन्ध किया जाता है। इसके करने से यह प्राण सुषुम्ना नाड़ी के भीतर ऊपर चढ़ता जाता है। इसलिए योगी लोग इसे 'उड्डीयाणबन्ध' कहते हैं। इसके लिए वज्रासन में बैठकर पैरों पर दोनों हाथों को बलपूर्वक लगाना चाहिए। जहाँ टखना रखा जाता है, उसके नजदीक कन्द को दबाना चाहिए और पेट को ऊपर की ओर खींचते हुए, गले और हृदय को भी तनाव देते हुए खींचना चाहिए। इस प्रकार प्राण धीरे-धीरे पेट की सन्धियों में प्रविष्ट हो जाता है। इससे पेट के सभी विकार दूर हो जाते हैं। इसलिए इस उड्डीयाणबन्ध की क्रिया को भी सतत करते रहना चाहिए।

पूरकान्ते तु कर्तव्यो बन्धो जालन्धराभिधः ।
कण्ठसङ्कोचरूपोऽसौ वायुमार्गनिरोधकः ॥51॥
अधस्तात्कुञ्चनेनाशु कण्ठसङ्कोचने कृते ।
मध्ये पश्चिमताणेन स्यात्प्राणो ब्रह्मनाडिगः ॥52॥
पूर्वोक्तेन क्रमेणैव सम्यगासनमास्थितः ।
चालनं तु सरस्वत्याः कृत्वा प्राणं निरोधयेत् ॥53॥

पूरक के अन्त में वायु को रोकने के लिए गुदा का संकोच करके कण्ठ का संकोच किया जाता है, तब 'जालन्धर' नाम का बन्ध होता है। मूलबन्ध के द्वारा नीचे के गुदा भाग का संकोचन करके कण्ठसंकोचन करना चाहिए, अर्थात् जालन्धरबन्ध करना चाहिए। फिर बीच के भाग में (पेट में) उड्डियाणबन्ध के द्वारा प्राणवायु को खींचना चाहिए। इसी प्रकार से प्राण को सब तरफ से रोकने से वह सुषुम्ना नाड़ी में प्रवेश करके ऊर्ध्वगामी होता है। पूर्वोक्त विधि के अनुसार अच्छी तरह से आसन पर बैठकर 'सरस्वतीचालन' के द्वारा भी प्राणों का निरोध करना चाहिए।

प्रथमे दिवसे कार्यं कुम्भकानां चतुष्टयम् ।
प्रत्येकं दशसंख्याकं द्वितीये पञ्चभिस्तथा ॥54॥
विंशत्यलं तृतीयेऽह्नि पञ्चवृद्ध्या दिनेदिने ।
कर्तव्यः कुम्भको नित्यं बन्धत्रयसमन्वितः ॥55॥
दिवा सुप्तिर्निशायां तु जागरादतिमैथुनात् ।
बहुसङ्क्रमणं नित्यं रोधान्मूत्रपुरीषयोः ॥56॥
विषमासनदोषाच्च प्रयासप्राणचिन्तनात् ।
शीघ्रमुत्पद्यते रोगः स्तम्भयेद्यदि संयमी ॥57॥

चारों प्रकार के कुंभक को पहले दिन चार-चार बार किया जाता है। और दूसरे दिन कुंभक को पंद्रह-पंद्रह बार किया जाता है। तीसरे दिन बीस-बीस बार करने का अभ्यास करना चाहिए। इस तरह तीनों प्रकार के कुम्भकों का प्रतिदिन पाँच-पाँच की संख्या बढ़ाकर अभ्यास करना चाहिए। दिन में सोना, रात को जागना, अति मैथुन करना, मल-मूत्र के वेग को रोकना, ज्यादा चलना, आसनों का योग्य रीति से अभ्यास न करना, प्राणायामक्रिया में बहुत बल लगाना तथा चिन्तित रहना—इन सब दोषों के कारण साधक जल्दी ही रोगी हो जाता है।

योगाभ्यासेन मे रोग उत्पन्न इति कथ्यते ।
ततोऽभ्यासं त्यजेदेवं प्रथमं विघ्नमुच्यते ॥58॥
द्वितीयं संशयाख्यं च तृतीयं च प्रमत्तता ।
आलस्याख्यं चतुर्थं च निद्रारूपं तु पञ्चमम् ॥59॥
षष्ठं तु विरतिर्भ्रान्तिः सप्तमं परिकीर्तितम् ।
विषयं चाष्टमं चैव अनाख्यं नवमं स्मृतम् ॥60॥
अलब्धिर्योगतत्त्वस्य दशमं प्रोच्यते बुधैः ।
इत्येतद्विघ्नदशकं विचारेण त्यजेद्बुधः ॥61॥

यदि कोई साधक ऐसा कहे कि—'योगाभ्यास से मुझे रोग उत्पन्न हो गया है' और ऐसा कहकर योग को छोड़ दे, तो वह योग का प्रथम विघ्न कहा जाता है। दूसरा विघ्न संशय नाम का है, तीसरा विघ्न प्रमत्तता है, चौथा विघ्न आलस्य है और पाँचवाँ विघ्न निद्रारूप है, छठा विघ्न साधना में प्रेम न होना है, और सातवाँ विघ्न भ्रान्ति (भ्रम) है, आठवाँ विघ्न विषय में आसक्तिरूप है, नवम विघ्न अनाख्य (अप्रसिद्ध) है और दसवाँ विघ्न योगतत्त्व की अलब्धि (अलाभ) है—ऐसा ज्ञानीजन कहते हैं। ज्ञानी को चाहिए कि वह विचार के द्वारा योग के इन दशों विघ्नों को वह छोड़ दे।

प्राणाभ्यासस्ततः कार्यो नित्यं सत्त्वस्थया धिया ।
सुषुम्ना लीयते चित्तं तथा वायुः प्रधावति ॥62॥

शुष्के मले तु योगी च स्याद्गतिश्चलिता ततः ।
अधोगतिमपानं वै ऊर्ध्वगं कुरुते बलात् ॥63॥
आकुञ्चनेन तं प्राहुर्मूलबन्धोऽयम्ऽुच्यते ।
अपानश्चोर्ध्वगो भूत्वा वह्निना सह गच्छति ॥64॥

इसलिए सत्त्वमयी दृष्टि से सोचते हुए साधक को सदैव प्राणायाम का अभ्यास करते ही रहना चाहिए। इससे सुषुम्ना में चित्त लीन हो जाता है और इससे प्राणों का प्रवाह चलने लगता है। जब मल पूर्णरूप से शुष्क (शोधित) हो जाता है, तभी और जब प्राण प्रवाहित होने लगें तभी योगी को अपान को ऊर्ध्वगामी बनाना चाहिए, उसके पहले नहीं। प्राण की ऊर्ध्वगति के लिए गुदा के आकुंचन को ही मूलबन्ध कहा जाता है। इसमें अपान वायु ऊँचे चढ़कर अग्नि के साथ में मिलकर ऊपर की ओर जाता है।

प्राणस्थानं ततो वह्निः प्राणापानौ च सत्वरम् ।
मिलित्वा कुण्डलीं याति प्रसुप्ता कुण्डलाकृतिः ॥65॥
तेनाग्निना च सन्तप्ता पवनेनैव चालिता ।
प्रसार्य स्वशरीरं तु सुषुम्ना वदनान्तरे ॥66॥
ब्रह्मग्रन्थिं ततो भित्त्वा रजोगुणसमुद्भवम् ।
सुषुम्नावदने शीघ्रं विद्युल्लेखेव संस्फुरेत् ॥67॥
विष्णुग्रन्थिं प्रयात्युच्चैः सत्वरं हृदि संस्थिता ।
ऊर्ध्वं गच्छति यच्चान्ते रुद्रग्रन्थिं तदुद्भवम् ॥68॥

जब वह अग्नि प्राणस्थान में पहुँचती है और प्राण तथा अपान दोनों मिलकर कुण्डलिनी से मिलते हैं, उस समय उसकी गरमी से तप्त होकर तथा वायु के बार-बार के दबाव से कुण्डलिनी सीधी होकर सुषुम्ना के मुँह पर आ जाती है और उसमें प्रवेश करती है। तब वह कुण्डलिनी शक्ति रजोगुणोत्पादित ब्रह्मग्रन्थि का भेदन करके बिजली की रेखा की भाँति सुषुम्ना के मुख में ऊर्ध्वगमन करती है अर्थात् प्रवेश करती है। और वहाँ से शीघ्र ही हृदयचक्र में स्थित विष्णुग्रन्थि का भेदन करके और भी आगे ऊपर आज्ञाचक्र में रुद्रग्रन्थि तक पहुँच जाती है।

भ्रुवोर्मध्यं तु सम्भिद्य याति शीतांशुमण्डलम् ।
अनाहताख्यं यच्चक्रं दलैः षोडशभिर्युतम् ॥69॥
तत्र शीतांशुसञ्जातं द्रवं शोषयति स्वयम् ।
चलिते प्राणवेगेन रक्तं पित्तं रवेर्ग्रहात् ॥70॥
यातेन्दुचक्रं यत्रास्ते शुद्धश्लेष्मद्रवात्मकम् ।
तत्र सिक्तं ग्रसत्युष्णं कथं शीतस्वभावकम् ॥71॥
तथैव रभसा शुक्लं चन्द्ररूपं हि तप्यते ।
ऊर्ध्वं प्रवहति क्षुब्धा तदैवं भ्रमतेतराम् ॥72॥

भ्रूकुटियों के बीच आज्ञाचक्र का भेदन करके वह चन्द्रस्थान में पहुँच जाती है, जहाँ पर सोलह दल वाला अनाहतचक्र अवस्थित है। वह कुण्डलिनी शक्ति वहाँ पर चन्द्र से द्रवित होते हुए द्रव-प्रवाही को सुखाकर प्राणवायु के वेग से गतिशील हो जाती है तथा रक्त और पित्त को सूर्य से मिलकर ग्रहण करती है। फिर चन्द्र चक्र में गई हुई वह जहाँ शुद्ध श्लेष्मा द्रवस्वरूप में (प्रवाही रूप में) होता है,

वहाँ उस रस पदार्थ को—प्रवाहिता को सोख कर उसे गरम कर देती है, और इस तरह वहाँ शीतलता नहीं रह जाती। उसी तरह तब वह उस शुक्लरूप चन्द्रमा को भी तपा देती है तथा क्षुब्ध होकर ऊपर घूमा करती है।

तस्यास्वादवशाच्चित्तं बहिष्ठं विषयेषु यत् ।
तदेव परमं भुक्त्वा स्वस्थः स्वात्मरतो युवा ॥73॥
प्रकृत्यष्टकरूपं च स्थानं गच्छति कुण्डली ।
क्रोडीकृत्य शिवं याति क्रोडीकृत्य विलीयते ॥74॥
इत्यधोर्ध्वरजः शुक्लं शिवे तदनु मारुतः ।
प्राणापानौ समौ याति सदा जातौ तथैव च ॥75॥
भूतेऽल्पे चाप्यनल्पे वा वाचके त्वतिवर्धते ।
धावयत्यखिला वाता अग्निमूषाहिरण्यवत् ॥76॥

उस स्थिति में मन को जो अमृतरसास्वाद मिलता है इससे वह मन, जो कि पहले बाह्य विषयों में भोगलीन था, अब अन्तर्मुखी होकर अपने में ही रहने वाले अपने आत्मा में आनन्द का अनुभव करने लगता है। इस तरह यह कुण्डलिनीशक्ति आठ प्रकृतियों में से व्याप्त होती हुई अन्त में शिव से एकाकार होती है और उन्हीं में विलीन हो जाती है। (आठ प्रकृतियाँ—पाँच तत्त्व और मन, बुद्धि, अहंकार हैं) इस प्रकार अधःस्थित रज और ऊर्ध्वस्थित सत्त्व भी वायुवेग से शिव में मिल जाते हैं। और प्राण तथा अपान भी शिव में मिल जाते हैं, क्योंकि उन्हें समान रूप से उत्पन्न होने वाला कहा गया है। जिस प्रकार सोना अग्नि से गल कर चारों तरफ फैल जाता है, ठीक उसी प्रकार यह पाँचभौतिक देह भी तो, भले छोटा हो या बड़ा, परन्तु कुण्डलिनी की गरमी पाकर वह दिव्यशक्ति पूरे शरीर में फैल जाती है।

आधिभौतिकदेहं तु आधिदैविकविग्रहे ।
देहोऽतिविमलं याति चातिवाहिकतामियात् ॥77॥
जाड्यभावविनिर्मुक्तममलं चिन्मयात्मकम् ।
तस्यातिवाहिकं मुख्यं सर्वेषां तु मदात्मकम् ॥78॥
जायाभवविनिर्मुक्तिः कालरूपस्य विभ्रमः ।
इति तं स्वरूपा हि मती रज्जुभुजङ्गवत् ॥79॥
मृषैवोदेति सकलं मृषैव प्रविलीयते ।
रौप्यबुद्धिः शुक्तिकायां स्त्रीपुंसोर्भ्रमतो यथा ॥80॥

इस कुण्डलिनी दिव्यशक्ति के प्रभाव से यह आधिभौतिक देह आधिदैविक देह में रूपान्तरित हो जाता है। यह शरीर अत्यन्त पवित्र होकर सूक्ष्म शरीर की तरह हो जाता है। वह जड़ता के भाव को छोड़कर अत्यन्त चिन्मय स्वरूप हो जाता है। इसके (साधक के) सिवा अन्य शरीर तो (अन्य लोगों के शरीर तो) अज्ञानग्रस्त ही रहते हैं। पर उस साधक को तो अपने 'स्व' की जानकारी हो जाती है। तब वह भवबन्धन (आवागमन) से मुक्त हो जाता है। वह काल के पाश से मुक्त हो जाता है। रस्सी में साँप, सीप में रजत और पुरुष में स्त्री के भ्रम की तरह यह सब कुछ मिथ्या ही उत्पन्न होता है और मिथ्या ही दिखाई देता है।

पिण्डब्रह्माण्डयोरैक्यं लिङ्गसूत्रात्मनोरपि ।
स्वापाव्याकृतयोरैक्यं स्वप्रकाशचिदात्मनोः ॥81॥
शक्तिः कुण्डलिनी नाम बिसतन्तुनिभा शुभा ।
मूलकन्दं फणाग्रेण दृष्ट्वा कमलकन्दवत् ॥82॥
मुखेन पुच्छं संगृह्य ब्रह्मरन्ध्रसमन्विता ।
पद्मासनगतः स्वस्थो गुदमाकुञ्च्य साधकः ॥83॥
वायुमूर्ध्वगतं कुर्वन्कुम्भकाविष्टमानसः ।
वाय्वाघातवशादग्निः स्वाधिष्ठानगतो ज्वलन् ॥84॥

इस प्रकार पिण्ड और ब्रह्माण्ड, सूक्ष्म शरीर और सूत्रात्मा के एकाकार होने से अपनी आत्मा और परम चैतन्य की एकता का ज्ञान हो जाता है। कुण्डलिनी शक्ति कमल के नाल की तरह होती है। वह कमलकन्द जैसे ही मूलकन्द को फणा के अग्रभाग से देखकर अपने पुच्छ को मुँह में डालकर सुषुम्ना नाड़ी के द्वार (ब्रह्मरन्ध्र) को ढँककर सोयी-सी पड़ी हुई है। इसके जागरण के लिए पद्मासन में बैठकर गुदा को ऊपर की ओर खींचकर, कुंभक करके वायु को ऊपर की ओर ले जाकर वायु के आघात से स्वाधिष्ठानचक्र में स्थित अग्नि को प्रज्वलित कर देना चाहिए।

ज्वलनाघातपवनाघातैरुन्निद्रितोऽहिराट् ।
ब्रह्मग्रन्थिं ततो भित्त्वा विष्णुग्रन्थिं भिनत्त्यतः ॥85॥
रुद्रग्रन्थिं च भित्त्वैव कमलानि भिनत्ति षट् ।
सहस्रकमले शक्तिः शिवेन सह मोदते ॥86॥
सैवावस्था परा ज्ञेया सैव निर्वृतिकारिणी ॥87॥ इति ।

इति प्रथमोऽध्याय ।

ऐसा करने से अग्नि और वायु के आघात से सोई हुई कुण्डलिनी जाग्रत् होकर ब्रह्मा-विष्णु-रुद्र इन तीनों ग्रन्थियों का भेदन करके छहों चक्रों का भेदन करती हुई सहस्रार कमल तक पहुँच जाती है, और वहाँ वह शक्ति शिव के साथ आनन्द प्राप्त करती है। यह अवस्था परमानन्द मुक्तिदायक होती है।

यहाँ प्रथम अध्याय पूरा हुआ।

❊

द्वितीयोऽध्यायः

अथाहं सम्प्रवक्ष्यामि विद्यां खेचरिसंज्ञिकाम् ।
यथा विज्ञानवानस्या लोकेऽस्मिन्नजरोऽमरः ॥1॥
मृत्युव्याधिजराग्रस्तो दृष्ट्वा विद्यामिमां मुने ।
बुद्धिं दृढतरां कृत्वा खेचरीं तु समभ्यसेत् ॥2॥
जरामृत्युगदघ्नो यः खेचरीं वेत्ति भूतले ।
ग्रन्थतश्चार्थतश्चैव तदभ्यासप्रयोगतः ॥3॥
तं मुने सर्वभावेन गुरुं मत्वा समाश्रयेत् ।
दुर्लभा खेचरी विद्या तदभ्यासोऽपि दुर्लभः ॥4॥

मैं अब खेचरी विद्या को कहूँगा। इस विद्या को जानकर मनुष्य अजर और अमर हो सकता है। हे मुनि ! यदि कोई मृत्यु, व्याधि या जरा से पीड़ित मनुष्य हो तो इस विद्या (खेचरी विद्या) को पाकर दृढ़तर बुद्धि से इसका अभ्यास करना चाहिए। जरा, मृत्यु और रोग—इनका नाश करने वाली इस खेचरी विद्या को जो मनुष्य इस भूतल में ग्रन्थों से मर्मसहित जानता है, उसे हे मुनि ! गुरु मानकर उसका आश्रय लेकर यह विद्या सीखनी चाहिए। क्योंकि यह खेचरी विद्या दुर्लभ है और उसका अभ्यास भी दुर्लभ है।

अभ्यासं मेलनं चैव युगपन्नैव सिद्ध्यति ।
अभ्यासमात्रनिरता न विन्दन्ते ह मेलनम् ॥5॥
अभ्यासं लभते ब्रह्मञ्जन्मजन्मान्तरे क्वचित् ।
मेलनं तत्तु जन्मनां शतान्तेऽपि न लभ्यते ॥6॥
अभ्यासं बहुजन्मान्ते कृत्वा तद्भावसाधितम् ।
मेलनं लभते कश्चिद्योगी जन्मान्तरे क्वचित् ॥7॥
यदा तु मेलनं योगी लभते गुरुवक्त्रतः ।
तदा तत्सिद्धिमाप्नोति यदुक्ता शास्त्रसन्ततौ ॥8॥

इस खेचरी विद्या का अभ्यास और साधना—दोनों एक साथ सिद्ध नहीं होते। इसका केवल अभ्यास करने वाले लोग सिद्धि प्राप्त नहीं कर सकते। हे ब्रह्मन् ! इस विद्या का अभ्यास तो कहीं जन्मजन्मान्तर से प्राप्त हो सकता है, परन्तु इसकी सिद्धि तो सैंकड़ों जन्मों के बाद भी प्राप्त नहीं होती। जब कोई योगी गुरु के मुख से मेलनमंत्र को प्राप्त कर लेता है तो सभी शास्त्रों में कही गई सभी सिद्धियाँ प्राप्त कर लेता है। बहुत जन्मों के बाद अभ्यास भावसहित करके योगी बाद में सिद्धि पाता है।

ग्रन्थतश्चार्थतश्चैव मेलनं लभते यदा ।
तदा शिवत्वमाप्नोति निर्मुक्तः सर्वसंसृतेः ॥9॥
शास्त्रं विनापि सम्बोद्धुं गुरवोऽपि न शक्नुयुः ।
तस्मात्सुदुर्लभतरं लभ्यं शास्त्रमिदं मुने ॥10॥
यावन्न लभ्यते शास्त्रं तावद्गां पर्यटेद्यतिः ।
यदा संलभ्यते शास्त्रं तदा सिद्धिः करे स्थिता ॥11॥
न शास्त्रेण विना सिद्धिर्दृष्टा चैव जगत्त्रये ।
तस्मान्मेलनदातारं शास्त्रदातारमच्युतम् ॥12॥
तदभ्यासप्रदातारं शिवं मत्वा समाश्रयेत् ।
लब्ध्वा शास्त्रमिदं मह्यमन्येषां न प्रकाशयेत् ॥13॥

जब साधक ग्रन्थों से और रहस्यों से युक्त सिद्धि को प्राप्त करता है, तब वह इस सारे संसार से मुक्ति पाकर शिवत्व को प्राप्त करता है। शास्त्रों के बिना तो गुरुजन भी इसका ज्ञान कराने में अशक्त हैं। इसलिए हे मुनि ! शास्त्र तो बहुत ही दुर्लभ माने गए हैं। (शास्त्रों का प्राप्त करना मुश्किल है।) यह शास्त्र जहाँ तक न मिले वहाँ तक साधक को उसे पाने के लिए पृथ्वी पर भटकते रहना चाहिए। और जब शास्त्र मिल गया होता है, तब तो सिद्धि हाथ ही में आ गई है, ऐसा समझ लेना चाहिए। इन तीनों भुवनों में शास्त्रों के बिना तो सिद्धि कहीं भी नहीं देखी गई है। इसलिए सिद्धि देने वाले शास्त्रों

को देने वाले गुरु को अच्युत और शिव की प्रतिमूर्ति मानकर उनका आश्रय लेना चाहिए। यह महनीय ज्ञान प्राप्त करके अन्य अनधिकारियों के आगे इसे प्रकाशित नहीं कर देना चाहिए।

तस्मात्सर्वप्रयत्नेन गोपनीयं विजानता।
यत्रास्ते च गुरुर्ब्रह्मन्दिव्ययोगप्रदायकः ॥14॥
तत्र गत्वा च तेनोक्तविद्यां संगृह्य खेचरीम्।
तेनोक्तः सम्यगभ्यासं कुर्यादादावतन्द्रितः ॥15॥
अनया विद्यया योगी खेचरीसिद्धिभाग्भवेत्।
खेचर्या खेचरीं युञ्जन्खेचरीबीजपूरया ॥16॥
खेचराधिपतिर्भूत्वा खेचरेषु सदा वसेत्।
खेचरावसथं वह्निमम्बुमण्डलभूषितम् ॥17॥

इसलिए इस विद्या को जानने वाले को प्रयत्नपूर्वक यह ज्ञान गोपनीय रखना चाहिए। और जहाँ पर इस दिव्य ज्ञान को देने वाले गुरु रहते हों, वहाँ जाकर, उनकी दी हुई विद्या को मन में अच्छी तरह से ग्रहण करके (अर्थात् खेचरी का संग्रहण करके) गुरु के द्वारा आदिष्ट किए गए शिष्य को पहले तो अतन्द्रित होकर (आलस्यरहित होकर) अच्छी तरह से अभ्यास करना चाहिए। इस विद्या से योगी खेचरी सिद्धि को प्राप्त करने वाला होता है। इसलिए खेचरी विद्या का अभ्यास खेचरी मंत्र के बीज के साथ करना चाहिए। इस प्रकार से सिद्ध मुनि खेचरों का अर्थात् आकाश में विहार करने वालों का अधिपति होकर आकाश में बसता है। खेचरी के बीजमंत्र में खेचर का बीज 'ह'कार और आवसथ का वीज 'ई'कार, अग्नि का रूप 'र'कार और जल का रूप 'बिन्दु' है। (इन सबका योग 'ह्रीं' होता है।)

आख्यातं खेचरीबीजं तेन योगः प्रसिध्यति।
सोमांशनवकं वर्णं प्रतिलोमेन चोद्धरेत् ॥18॥
तस्मात् त्र्यंशकमाख्यातमक्षरं चन्द्ररूपकम्।
तस्मादप्यष्टमं वर्णं विलोमेन परं मुने ॥19॥
तथा तत्परमं विद्धि तदादिरपि पञ्चमी।
इन्द्रोऽश्च बहुभिन्ने च कूटोऽयं परिकीर्तितः ॥20॥

इसी बीजमंत्र से खेचरी योग सिद्ध होता है। इसके आगे चन्द्रबीज—स होता है। इसके उल्टे गिनने पर नवम अक्षर पर 'भ' है। पुनः चन्द्रबीज—सकार है। इसके उल्टे गिनने पर आठवाँ अक्षर पर 'म' है। इससे पाँच अक्षर उल्टा गिनने पर 'प' है। पुनः चन्द्रबीज 'स'कार है और संयुक्त वर्ण 'क्ष' सबसे अन्तिम वर्ण है। (इस तरह ह्रीं भं सं मं पं सं क्षं—ऐसा खेचरी मंत्र होता है।)

गुरूपदेशलभ्यं च सर्वयोगप्रसिद्धिदम्।
यत्तस्य देहजा माया निरुद्धकरणाश्रया ॥21॥
स्वप्नेऽपि न लभेत्तस्य नित्यं द्वादशजप्यतः।
य इमां पञ्च लक्षाणि जपेदपि सुयन्त्रितः ॥22॥
तस्य श्रीखेचरीसिद्धिः स्वयमेव प्रवर्तते।
नश्यन्ति सर्वविघ्नानि प्रसीदन्ति च देवताः ॥23॥
वलीपलितनाशश्च भविष्यति न संशयः।
एवं लब्ध्वा महाविद्यामभ्यासं कारयेत्ततः ॥24॥

गुरु के उपदेश के द्वारा प्राप्त किए गए इन सभी योगों की सिद्धि देने वाले ज्ञान से देह में उत्पन्न हुई यह माया अपने आश्रयरूप कारण के साथ रुक जाती है, उस सिद्ध में वह असर नहीं करती। रोज बारह बार इसका जप करने वाले को यह (पूर्वोक्त) फल मिल जाता है। ऐसे पुरुष को स्वप्न में भी माया नहीं लगती। जो मनुष्य इस मंत्र का नियमपूर्वक पाँच लाख बार जप करता है उसको खेचरी आप ही आप सिद्ध हो जाती है। तथा उसके जीवन की सभी आपदाएँ दूर हो जाती हैं। और उसे देवताओं की प्रसन्नता भी मिलती है। उसके शरीर में पड़ी हुई झुर्रियाँ तथा पलित (सफेद) केश भी समाप्त हो जाते हैं (वह फिर से जवान हो जाता है।) इसमें कोई सन्देह नहीं है। इसलिए इस महाविद्या का ठीक तरह से अभ्यास करना चाहिए।

अन्यथा क्लिश्यते ब्रह्मन्न सिद्धिः खेचरीपथे।
यदभ्यासविधौ विद्यां न लभेद्यः सुधामयीम् ॥25॥
ततः संमेलकादौ च लब्ध्वा विद्यां सदा जपेत्।
नान्यथा रहितो ब्रह्मन्न किंचित्सिद्धिभाग्भवेत् ॥26॥
यदिदं लभ्यते शास्त्रं यदा विद्यां समाश्रयेत्।
ततस्तदोदितां सिद्धिमाशु तां लभते मुनिः ॥27॥
तालुमूलं समुत्कृष्य सप्तवासरमात्मवित्।
स्वगुरूक्तप्रकारेण मलं सर्वं विशोधयेत् ॥28॥

ऐसा नहीं करने पर तो खेचरी की सिद्धि नहीं होती। हे ब्रह्मन्! उल्टे कष्ट ही उठाने पड़ते हैं। ठीक तरह से अभ्यास कर लेने के बाद भी यदि सिद्धि प्राप्त न हो, तो मार्गदर्शक गुरु के द्वारा बताए गए मार्ग का त्याग नहीं करना चाहिए। निरन्तर उसका जाप करते ही रहना चाहिए। हे ब्रह्मन्! योग्य मार्गदर्शक के बिना तो सिद्धि मिलनी असंभव है। सबसे पहले साधक को गुरु के मार्गदर्शन के अनुसार तालु-स्थान के मूल प्रदेश को सात दिनों तक घिसते रहना चाहिए। इससे उसकी सारी मलिनता चली जाएगी।

स्नुहिपत्रनिभं शस्त्रं सुतीक्ष्णं स्निग्धनिर्मलम्।
समादाय ततस्तेन रोममात्रं समुच्छिनेत् ॥29॥
हित्वा सैन्धवपथ्याभ्यां चूर्णिताभ्यां प्रकर्षयेत्।
पुनः सप्तदिने प्राप्ते रोममात्रं समुच्छिनेत् ॥30॥
एवं क्रमेण षाण्मासं नित्योद्युक्तः समाचरेत्।
षाण्मासाद्रसनामूलं सिराबन्धं प्रणश्यति ॥31॥

तालुस्थान को घिसने के बाद थूहर के पत्ते जैसी पैनी धारवाले किसी शस्त्र (साधन) से जीभ के मूल को—नीचे के जबड़े से जीभ को जोड़ने वाले तन्तु को बाल (रोम)—के बराबर स्वयं काटना चाहिए या गुरु से कटवाना चाहिए। और उस कटे हुए भाग पर हरड या सैंधा नमक को सात दिन तक बिखेरते रहना चाहिए। इसके बाद फिर से एक बार बाल के परिमाण में (तनिक-सा) काटना चाहिए। इस प्रकार क्रमशः छः महीनों तक प्रयास करने से जीभ का निचले जबड़े से सम्बन्ध कट जाता है।

अथ वागीश्वरीधाम शिरो वस्त्रेण वेष्टयेत्।
शनैरुत्कर्षयेद्योगी कालवेलाविधानवित् ॥32॥

पुनः षाण्मासमात्रेण नित्यं संघर्षणान्मुने ।
भ्रूमध्यावधि चाप्येति तिर्यक्कर्णबिलावधि ॥33॥
अधश्च चुबुकं मूलं प्रयाति क्रमचारिता ।
पुनः संवत्सराणां तु तृतीयादेव लीलया ॥34॥
केशान्तमूर्ध्वं क्रमति तिर्यक्शाखावधिर्मुने ।
अधस्तात्कण्ठकूपान्तं पुनर्वर्षत्रयेण तु ॥35॥
ब्रह्मरन्ध्रं समावृत्य तिष्ठेदेव न संशयः ।
तिर्यक् चूलितलं याति अधः कण्ठबिलावधिः ॥36॥

तब जीभ के आगे वाले भाग में कपड़ा लपेटकर धीरे-धीरे बाहर की ओर उत्कर्षण करना चाहिए। ऐसा नियमित छः मास तक अभ्यास किए जाने पर जीभ बढ़कर भृकुटियों के मध्यभाग तक पहुँच जाएगी, तथा और अधिक अभ्यास किए जाने पर तो वह बगल और कान तक भी पहुँचने लगेगी। बाहर निकलने पर ठोड़ी तक पहुँच जाएगी। इस अभ्यास को लगातार तीन वर्ष तक चालू रखा जाए, तब तो जीभ सिर के बालों तक पहुँचने लगेगी। इस प्रकार और भी अभ्यास किया जाता रहे, तब तो वह बगल में कन्धे तक और नीचे कण्ठकूप तक भी पहुँच जाती है। आगे और ज्यादा तीन वर्षों तक अभ्यास करने से वह गर्दन के पीछे और नीचे कण्ठ के निचले छोर तक पहुँच जाती है। इस प्रकार जीभ ऊपर ब्रह्मरन्ध्र तक जाकर उसे ढँक लेगी, इसमें कोई सन्देह नहीं है।

शनैः शनैर्मस्तकाच्च महावज्रकपाटभित् ।
पूर्वं बीजयुता विद्या ह्याख्याता याऽतिदुर्लभा ॥37॥
तस्याः षडङ्गं कुर्वीत तया षट्स्वरभिन्नया ।
कुर्यादेवं करन्यासं सर्वसिद्ध्यादिहेतवे ॥38॥

इस तरह क्रमानुसार अभ्यास करने पर जीभ ब्रह्मरन्ध्र का भेदन कर जाती है। सभी पूर्व बीजों के साथ यह विद्या बड़ी ही कठिन और दुर्लभ है। पहले कटे हुए छः बीजाक्षरों के साथ करन्यास और षडंगन्यास करने से ही यह विद्या सिद्ध हो सकती है—सिद्धिप्राप्ति के लिए ऐसे न्यास करने चाहिए।

शनैरेवं प्रकर्तव्यमभ्यासं युगपन्न हि ।
युगपद्वर्तते यस्य शरीरं विलयं व्रजेत् ॥39॥
तस्माच्छनैः शनैः कार्यमभ्यासं मुनिपुङ्गव ।
यदा च बाह्यमार्गेण जिह्वा ब्रह्मबिलं व्रजेत् ॥40॥
तदा ब्रह्मार्गलं ब्रह्मन्दुर्भेद्यं त्रिदशैरपि ।
अङ्गुल्यग्रेण संघृष्य जिह्वामात्रंनिवेशयेत् ॥41॥
एवं वर्षत्रयं कृत्वा ब्रह्मद्वारं प्रविश्यति ।
ब्रह्मद्वारे प्रविष्टे तु सम्यङ्मथनमाचरेत् ॥42॥

यह अभ्यास बड़ी ही सावधानी रखकर धीरे-धीरे ही नियमानुसार करना चाहिए। जल्दी-जल्दी से किया गया अभ्यास शरीर को नुकसान पहुँचा सकता है। इसलिए इसके अभ्यास में जल्दबाजी नहीं करनी चाहिए। अगर बाहर की स्थूल विधि से जीभ ब्रह्मविवर में प्रवेश कर जाती है, तो अँगुली के अग्र भाग से उसे उठाकर—घसीट कर—ब्रह्मरन्ध्र के भीतर रख देना चाहिए। इस प्रकार तीन वर्ष तक

अभ्यास करने से जीभ का ब्रह्मद्वार में प्रवेश हो जाता है। और इस तरह ब्रह्मद्वार में जीभ का ठीक तौर से प्रवेश हो जाने के बाद उसका विधिपुरःसर मन्थन करना चाहिए।

मथनेन विना केचित्साधयन्ति विपश्चितः ।
खेचरीमन्त्रसिद्धस्य सिद्ध्यते मथनं विना ॥43॥
जपं च मथनं चैव कृत्वा शीघ्रं फलं लभेत् ।
स्वर्णजां रौप्यजां वापि लोहजां वा शलाकिकाम् ॥44॥
नियोज्य नासिकारन्ध्रं दुग्धसिक्तेन तन्तुना ।
प्राणान्निरुध्य हृदये सुखमासनमात्मनः ॥45॥
शनैः सुमथनं कुर्याद्भ्रूमध्ये न्यस्तचक्षुषी ।
षाण्मासं मथनावस्था भावेनैव प्रजायते ॥46॥

जप और मन्थन—दोनों करने से शीघ्र ही लाभ मिल जाता है। मंथन के लिए सोने, चाँदी या लोहे की सलाई के एक सिरे पर दूध लगाया हुआ तन्तु लगाना चाहिए। फिर उसे नाक में डालकर, सुखासन में बैठकर, प्राण का हृदय में निरोध करके नेत्रों से भौंहों के बीच के भाग में देखते हुए उसी शलाका से मंथन करना चाहिए। इस तरह छः मास तक मंथन का अभ्यास करने से इसका प्रभाव देखने में आता है।

यथा सुषुप्तिर्बालानां यथा भावस्तथा भवेत् ।
न सदा मथनं शस्तं मासे मासे समाचरेत् ॥47॥
सदा रसनया योगी मार्गं न परिसंक्रमेत् ।
एवं द्वादशवर्षान्ते संसिद्धिर्भवति ध्रुवा ॥48॥
शरीरे सकलं विश्वं पश्यत्यात्मविभेदतः ।
ब्रह्माण्डोऽयं महामार्गो राजदन्तोर्ध्वकुण्डली ॥49॥

इति द्वितीयोऽध्यायः ।

उस समय साधक की अवस्था सोए हुए बालक जैसी होती है। इस मंथनक्रिया को मास में एक बार ही करना चाहिए, हररोज नहीं करनी चाहिए। जीभ को भी ब्रह्मरन्ध्र में बार-बार प्रवेश नहीं करना चाहिए। योगी को बारह वर्ष तक इस प्रकार की साधना करने पर अवश्य ही सिद्धि प्राप्त होगी। योगी अभ्यास की इस अवस्था में अपने भीतर (अन्तस्) में पूरे विश्व का दर्शन कर लेता है। क्योंकि जीभ से ब्रह्मरन्ध्र तक जाने वाले मार्ग में ही तो पूरे ब्रह्माण्ड की स्थिति है।

यहाँ दूसरा अध्याय पूरा हुआ।

❋

तृतीयोऽध्यायः

मेलनमन्त्रः ह्रीं भं सं मं पं सं क्षम् । पद्मज उवाच ।
अमावास्या च प्रतिपत्पौर्णमासी च शंकर ।
अस्याः का वर्ण्यते संज्ञा एतदाख्याहि तत्त्वतः ॥1॥
प्रतिपद्दिनतोऽकाले अमावास्या तथैव च ।
पौर्णमास्यां स्थिरीकुर्यात्स च पन्था हि नान्यथा ॥2॥

कामेन विषयाकाङ्क्षी विषयात्काममोहितः।
द्वावेव सन्त्यजेन्नित्यं निरञ्जनमुपाश्रयेत् ॥3॥
अपरं सन्त्यजेत्सर्वं यदीच्छेदात्मनो हितम्।
शक्तिमध्ये मनः कृत्वा मनः शक्तेश्च मध्यगम् ॥4॥

ब्रह्माजी ने कहा—"खेचरी का मेलन मंत्र, 'ह्रीं भं सं मं पं सं क्षं है। हे शंकरजी ! अमावस, प्रतिपदा या पौर्णमासी का साधक के लिए क्या अभिप्राय है ? यह कृपा करके हमें बताइए।" (तब शंकर ने कहा कि—) आत्मानुसन्धान की साधना के पहले चरण में साधक की दृष्टि तथा स्थिति प्रकाशरहित अमावास्या जैसी होती है। दूसरे चरण में प्रतिपदा जैसी (अल्पप्रकाश वाली) होती है। तथा तीसरे चरण में पूर्णिमा (पूर्ण प्रकाश की) सी होती है और वही कल्याण की स्थिति होती है। जब मनुष्य कामनाओं में फँसकर विषयों की ओर दौड़ता है, तो उस समय विषयों को प्राप्त करके कामनाएँ और भी बढ़ती हैं। इसलिए विषयों को और कामनाओं को—दोनों को छोड़कर आत्मस्थ होकर ही विशुद्ध परमात्मभाव की प्राप्ति की जा सकती है। अपनी भलाई चाहने वाले को चाहिए कि वह सभी मिथ्या विषयों को छोड़ दे और कुण्डलिनी शक्ति के मध्य में अपने मन को स्थिर करके उसी में ही स्थिर रहे।

मनसा मन आलोक्य तत्त्यजेत्परमं पदम्।
मन एव हि बिन्दुश्च उत्पत्तिस्थितिकारणम् ॥5॥
मनसोत्पद्यते बिन्दुर्यथा क्षीरं घृतात्मकम्।
न च बन्धनमध्यस्थं तद्वै कारणमानसम् ॥6॥
चन्द्रार्कमध्यमा शक्तिर्यत्रस्था तत्र बन्धनम्।
ज्ञात्वा सुषुम्नां तद्भेदं कृत्वा वायुं च मध्यगम् ॥7॥
स्थित्वासौ बैन्दवस्थाने घ्राणरन्ध्रे निरोधयेत्।
वायुं बिन्दुं समाख्यातं सत्त्वं प्रकृतिमेव च ॥8॥

मन से ही मन का अवलोकन (निरीक्षण, परीक्षण) करके उसको जो छोड़ते हैं, उस मन के त्याग को ही परमपद कहा गया है। वास्तव में मन ही बिन्दु (ईश्वर) हैं और वही इस जगत् की उत्पत्ति और स्थिति का कारण है। जिस प्रकार दूध में से घी निकलता है उसी प्रकार मन से बिन्दु उत्पन्न होता है। जो भी बन्धन हैं, सब मन में ही हैं, बिन्दु में नहीं। जो शक्ति सूर्य और चन्द्र में है, अर्थात् इडा और पिंगला नाड़ियों में है, वही बन्धनकारक है। यह जानकर उन ब्रह्मा-विष्णु-रुद्र ग्रन्थियों का भेदन करके प्राणवायु को सुषुम्ना में गति कराना चाहिए, जो इन दोनों के बीच में स्थित है। बिन्दुस्थान में प्राण को रोककर वायु का निरोध नासिका के द्वारा करना चाहिए। बिन्दु, सत्त्व और प्रकृति का विस्तार यही प्राणवायु है।

षट् चक्राणि परिज्ञात्वा प्रविशेत्सुखमण्डलम्।
मूलाधारं स्वाधिष्ठानं मणिपूरं तृतीयकम् ॥9॥
अनाहतं विशुद्धिं च आज्ञाचक्रं च षष्ठकम्।
आधारं गुदमित्युक्तं स्वाधिष्ठानं तु लैङ्गिकम् ॥10॥
मणिपूरं नाभिदेशं हृदयस्थमनाहतम्।
विशुद्धिः कण्ठमूले च आज्ञाचक्रं च मस्तकम् ॥11॥

षट् चक्राणि परिज्ञात्वा प्रविशेत्सुखमण्डले।
प्रविशेद्वायुमाकृष्य तथैवोर्ध्वं नियोजयेत् ॥12॥

छः चक्रों को जानकर (भेदकर) सुखमण्डल (सहस्रार) में प्रवेश करना चाहिए। मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूर, अनाहत, विशुद्ध और आज्ञा—ये छः चक्र कहे गए हैं। गुदास्थान के समीप मूलाधार होता है, लिंग के समीप स्वाधिष्ठान, नाभिमण्डल में मणिपूर, हृदय में अनाहत, कण्ठमूल में विशुद्ध तथा मस्तक में आज्ञाचक्र आया हुआ है। इन छः चक्रों की जानकारी प्राप्त करके प्राण को खींचकर सुखमण्डल में अर्थात् सहस्रारचक्र में प्रवेश कराना चाहिए और उसे ऊपर की ओर योजित करना चाहिए।

एवं समभ्यसेद्वायुं स ब्रह्माण्डमयो भवेत्।
वायुं बिन्दुं तथा चक्रं चित्तं चैव समभ्यसेत् ॥13॥
समाधिमेकेन सममममृतं यान्ति योगिनः।
यथाग्निर्दारुमध्यस्थो नोत्तिष्ठेन्मथनं विना ॥14॥
विना चाभ्यासयोगेन ज्ञानदीपस्तथा न हि।
घटमध्यगतो दीपो बाह्ये नैव प्रकाशते ॥15॥
भिन्ने तस्मिन्घटे चैव दीपज्वाला च भासते।
स्वकायं घटमित्युक्तं यथा दीपो हि तत्पदम् ॥16॥
गुरुवाक्यसमाभिन्ने ब्रह्मज्ञानं स्फुटीभवेत्।
कर्णधारं गुरुं प्राप्य कृत्वा सूक्ष्मं तरन्ति च ॥17॥

प्राण का अभ्यास इस तरह करना चाहिए कि जिससे वायु ब्रह्माण्डमय हो जाए। ठीक ढंग से चित्त, प्राणवायु, बिन्दु और चक्र का अभ्यास हो जाने पर योगीजनों को उनके एकाकार से अमृतमय समाधि प्राप्त हो जाती है। जिस प्रकार काष्ठों के भीतर रहने वाला अग्नि मंथन के बिना बाहर नहीं निकलता, उसी तरह अभ्यासयोग के बिना ज्ञानरूपी दीपक प्रकट नहीं होता। जिस प्रकार घड़े के भीतर स्थित दीपक बाहर से प्रकाशित नहीं होता, परन्तु घड़े के टूट जाने से उस दीपक की ज्वालाएँ बाहर फैलती है। यहाँ अपने शरीर को घड़ा कहा गया है और दीपक को ब्रह्म (परमपद) कहा गया है। जब तक गुरु-वचन के द्वारा शरीरघट का भेदन नहीं किया जाता, तब तक ब्रह्मप्रकाश के दीप का प्रकाश नहीं होता। गुरु कर्णधार (नाविक) है, वही इस रहस्यमय संसाररूपी सागर को पार करने का उपाय है।

अभ्यासवासनाशक्त्या तरन्ति भवसागरम्।
परायामङ्कुरीभूयं पश्यन्त्यां द्विदलीकृता ॥18॥
मध्यमायां मुकुलिता वैखर्यां विकसीकृता।
पूर्वं यथोदिता या वाग्विलोमेनास्तगा भवेत् ॥19॥

निरन्तर अभ्यास से और श्रेष्ठ संस्कारों से ही साधक लोग भवसागर को पार करते हैं। इस शरीर में स्थित जो वाणी है, वह 'परा' के रूप में अंकुरित होती है, 'पश्यन्ती' के रूप में दो दलों वाली होती है, 'मध्यमा' के रूप में मुकुलित होती है और 'वैखरी' के रूप में पूरी विकसित हो जाती है। जिस तरह इस वाणी का प्रकटीकरण होता है उसी तरह वह लीन भी हो जाती है।

तस्या वाचः परो देवः कूटस्थो वाक्प्रबोधकः ।
सोऽहमस्मीति निश्चित्य यः सदा वर्तते पुमान् ॥20॥
शब्दैरुच्चावचैर्नीचैर्भाषितोऽपि न लिप्यते ।
विश्वश्च तैजसश्चैव प्राज्ञश्चेति च ते त्रयः ॥21॥
विराड्हिरण्यगर्भश्च ईश्वरश्चेति ते त्रयः ।
ब्रह्माण्डं चैव पिण्डाण्डं लोका भूरादयः क्रमात् ॥22॥
स्वस्वोपाधिलयादेव लीयन्ते प्रत्यगात्मनि ।
अण्डं ज्ञानाग्निना तप्तं लीयते कारणैः सह ॥23॥

'उस वाणी का प्रबोधक कूटस्थ परमदेव मैं ही हूँ'—ऐसा जानकर जो मनुष्य वर्तन करता है वह ऊँचे-नीचे शब्दों के द्वारा जो कुछ भी उसके लिए कहा जाय फिर भी उससे वह लिप्त नहीं होता है। विश्व-तैजस-प्राज्ञ—ये तीन पिण्ड हैं तथा विराट्, हिरण्यगर्भ और ईश्वर—ये तीन भी ब्रह्माण्ड के पिण्ड हैं। इस प्रकार एक पिण्डाण्ड है और दूसरा ब्रह्माण्ड है। ये दो अण्ड तथा भूः आदि लोक भी अपनी-अपनी उपाधि के लय हो जाने से प्रत्यगात्मा में लीन हो जाते हैं। ज्ञानाग्नि से तपा हुआ अण्ड अपने कारणों के मूलस्वरूप में विलीन हो जाता है।

परमात्मनि लीनं तत्परं ब्रह्मैव जायते ।
ततः स्तिमितगम्भीरं न तेजो न तमस्ततम् ॥24॥
अनाख्यमनभिव्यक्तं सत्किञ्चिदवशिष्यते ।
ध्यात्वा मध्यस्थमात्मानं कलशान्तरदीपवत् ॥25॥
अङ्गुष्ठमात्रमात्मानमधूमज्योतिरूपकम् ।
प्रकाशयन्तमन्तःस्थं ध्यायेत्कूटस्थमव्ययम् ॥26॥
विज्ञानात्मा तथा देहे जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तितः ।
मायया मोहितः पश्चाद्बहुजन्मान्तरे पुनः ॥27॥
सत्कर्मपरिपाकात्तु स्वविकारं चिकीर्षति ।
कोऽहं कथमयं दोषः संसाराख्य उपागतः ॥28॥

परमात्मा में लीन होकर जीव ब्रह्मरूप ही हो जाता है। वह स्वरूप 'स्तिमित गंभीर' है, वहाँ न तो तेज फैला है, न अन्धकार। वह अनाख्य (अकथ्य), अनभिव्यक्त है कुछ सत् ही शेष रहता है। घट में रहे हुए दीप जैसे उस मध्यम आत्मा का ध्यान करके निरन्तर आगे भी निर्धूम अग्नि जैसे तेजस्वी अंगुष्ठमात्र, प्रकाशक, कूटस्थ और अव्यय आत्मा का ध्यान करते रहना चाहिए। यह विज्ञानात्मा भी माया से मोहित होकर इस देह में जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति में तथा इसके बाद फिर जन्मान्तर में भी मोहित होता रहता है। फिर किसी तरह सत्कर्मों के परिपाक से वह अपने मोह का विचार करने की इच्छा करता है कि मैं कौन हूँ और यह संसार नाम का दोष मुझ पर यहाँ कैसे आ पड़ा ?

जाग्रत्स्वप्ने व्यवहरन्त्सुषुप्तौ क्व गतिर्मम ।
इति चिन्तापरो भूत्वा स्वभासा च विशेषतः ॥29॥
अज्ञानात्तु चिदाभासो बहिस्तापेन तापितः ।
दग्धं भवत्येव तदा तूलपिण्डमिवाग्निना ॥30॥
दहरस्थः प्रत्यगात्मा नष्टे ज्ञाने ततः परम् ।

विततो व्याप्य विज्ञानं दहत्येव क्षणेन तु ॥31॥
मनोमयज्ञानमयान्त्सम्यग्दग्ध्वा क्रमेण तु ।
घटस्थदीपवच्छश्वदन्तरेव प्रकाशते ॥32॥

(वह आगे सोचता है कि—) जाग्रत् और स्वप्नावस्था में तो मैं व्यवहार कर सकता हूँ, पर सुषुप्ति में तो मेरी कोई भी गति नहीं होती।" इस प्रकार अपने ही प्रकाश से आभासित होकर वह सोचता है। चिदाभासरूपी इस अग्नि से जैसे बाहर रूई का ढेर आग से जल जाता है, वैसे ही अज्ञान जल जाता है। इस तरह सांसारिक ज्ञान के नष्ट हो जाने से प्रत्यगात्मा प्रकाशित हो उठता है और उससे वि-ज्ञान (विशेष ज्ञान) जो संसारविषयक है, वह भी नष्ट हो जाता है। इस तरह क्रम से मनोमय और विज्ञानमय के पूर्णतया नष्ट हो जाने पर घड़े में रखे गए दीपक की भाँति भीतर का प्रकाशस्वरूप आत्मा ही अंतःकरण में प्रकाशित हो उठता है।

ध्यायन्नास्ते मुनिश्चैवमासुप्तेरामृतेस्तु यः ।
जीवन्मुक्तः स विज्ञेयः स धन्यः कृतकृत्यवान् ॥33॥
जीवन्मुक्तपदं त्यक्त्वा स्वदेहे कालसात्कृते ।
विशत्यदेहमुक्तत्वं पवनोऽस्पन्दतामिव ॥34॥
अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययं तथाऽरसं नित्यमगन्धवच्च यत् ।
अनाद्यनन्तं महतः परं ध्रुवं तदेव शिष्यत्यमलं निरामयम् ॥35॥
इत्युपनिषत् ।

इति तृतीयोऽध्यायः ।

इति योगकुण्डल्युपनिषत्समाप्ता ।
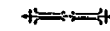
सोने तक और मरण तक जो मुनि इस प्रकार ध्यान करता रहता है, वह जीवन्मुक्त है, वह कृतकृत्य है, वह धन्य है, ऐसा जानना चाहिए। वह जीवन्मुक्त उसके देह के कालग्रस्त हो जाने पर विदेहमुक्त हो जाता है, जैसे वायु स्पन्दरहित होकर आकाश में प्रविष्ट हो जाता है। इसके बाद तो वही शब्दरहित, स्पर्शरहित, रूपरहित, अव्यय, रसरहित, नित्य और गन्धरहित तत्त्व अवशिष्ट रह जाता है, वही जो अनादि है, अनन्त है, महत्तत्त्व से परे है, जो निर्मल और निरामय है—वही शेष रह जाता है। यहाँ यह उपनिषत् पूर्ण होती है।

यहाँ तीसरा अध्याय पूरा हुआ।

इस प्रकार योगकुण्डलिन्युपनिषत् समाप्त होती है।

शान्तिपाठः

ॐ सह नाववतु । सह नौ—मा विद्विषावहै । (पूर्ववत्)
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

(89) भस्मजाबालोपनिषत्

(उपनिषत्परिचय)

यह अथर्ववेदीय उपनिषद् है। यह गद्यात्मक है। इसमें दो आश्रय हैं। इसमें बताया गया है कि ब्राह्मण को त्रिपुण्ड्र लगाए बि.ा गायत्री का-जप, होम आदि क्रियाएँ नहीं करनी चाहिए। ललाट, गला, हृदय, नाभि, दोनों हाथ, दोनों मणिबन्ध आदि अवयवों पर मंत्र का उच्चारण कर भस्म लगाना चाहिए और रुद्राक्ष-माला धारण करनी चाहिए। 'ॐ नमः शिवाय' और 'ॐ नमो महादेवाय' ये दो मंत्र जीव को संसार पार कराने वाले हैं। शिव ही जीव की परमगति है। भूत-भविष्य-वर्तमान तथा अग्नि-सोम-विष्णु आदि देव भी सब शिवस्वरूप ही हैं। सभी प्राणी महेश्वर (शिव) में से ही उत्पन्न होते हैं, उसी में जीते हैं और उसी में विलीन होते हैं। पृथ्वी, जल, तेज, काल, दिशा और आत्मा भी शिव ही है। यह शिव पशुपति कहे जाते हैं। जीव पशु हैं। वे पशुपति को प्राप्त करने का प्रयत्न कर रहे हैं। संसार को पाश कहा जाता है। जीव उससे मुक्त होना चाहते हैं। शिव की कृपा से उनके पाश टूट जाते हैं और वे फिर से जन्म नहीं लेते। शिवपूजक शिवतत्त्व को प्राप्त होता है।

शान्तिपाठः

ॐ भद्रं कर्णेभिः—देवहितं यदायुः। (पूर्ववत्)

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

इसका हिन्दी रूपान्तर पूर्व में (शाण्डिल्योपनिषद् में) द्रष्टव्य है।

प्रथमोऽध्यायः

अथ जाबालो भुसुण्डः कैलासशिखरावासमोंकारस्वरूपिणं महादेवमुमाऽर्धकृतशेखरं सोमसूर्याग्निनयनमनन्तेन्दुरविप्रभं व्याघ्रचर्माम्बरधरं मृगहस्तं भस्मोद्धूलितविग्रहं तिर्यक्त्रिपुण्ड्ररेखाविराजमानभालप्रदेशं स्मितसम्पूर्णपञ्चविधपञ्चाननं वीरासनारूढमप्रमेयमनाद्यनन्तं निष्कलं निर्गुणं शान्तं निरञ्जनमनामयं हुम्फट्कुर्वाणं शिवनामान्यनिशमुच्चरन्तं हिरण्यबाहुं हिरण्यरूपं हिरण्यवर्णं हिरण्यनिधिमद्वैतं चतुर्थं ब्रह्मविष्णुरुद्रातीतमेकमाशास्यं भगवन्तं शिवं प्रणम्य मुहुर्मुहुरभ्यर्च्य श्रीफलदलैस्तेन भस्मना च नतोत्तमाङ्गः कृताञ्जलिपुटः पप्रच्छ—अधीहि भगवन् वेदसारमुद्धृत्य त्रिपुण्ड्रविधिं यस्मादन्यानपेक्षमेव मोक्षोपलब्धिः। किं भस्मनो द्रव्यम्। कानि स्थानानि। मनवोऽप्यत्र के वा। कति वा तस्य धारणम्। के वाऽत्राधिकारिणः। नियमस्तेषां को वा। मामन्तेवासिनमनुशासयामोक्षमिति ॥1॥

जाबाल भुसुण्ड नामक ऋषि किसी दिन कैलास शिखर पर भगवान महादेव शिव के पास गये। ओंकारस्वरूप, मस्तक में उमा के आधे रूपवाले, चन्द्र-सूर्य-अग्नि रूप नेत्रों वाले, अनन्त सूर्यों और चन्द्रमाओं की कान्तिवाले, व्याघ्रचर्मरूपी वस्त्र को धारण करने वाले, हाथ में मृग लिए हुए, भस्म से लेपित शरीर वाले, तिरछी त्रिपुण्ड्ररेखा से शोभायमान ललाट वाले, स्मित युक्त पाँच प्रकार के मुखवाले, वीरासन में विराजमान, अप्रमेय, अनादि, अनन्त, निष्कल, निर्गुण, शान्त, निरंजन, निर्दोष, हुंफट् उच्चारण करने वाले (भौतिक वस्तुओं का तिरस्कार करने वाले), सर्वदा शिव नामों को बोलते हुए, सुवर्ण जैसे हाथ वाले, सुवर्ण जैसे शरीरवाले, सुवर्ण जैसी कान्ति वाले, सुवर्ण की निधि ऐसे, अद्वैत, ब्रह्मा-विष्णु-महेश से भी परे रहने वाले, एकमात्र, आशा के स्थानरूप भगवान् महादेव शिव को बार-बार प्रणाम करके श्रीफल अर्पण कर, बिल्वपत्रों और भस्म के द्वारा उनकी पूजा करके मस्तक को नवाकर के दोनों हाथ जोड़कर पूछने लगे कि—"हे भगवन्! वेदों के तत्त्व का आधार लेकर मुझे त्रिपुण्ड्र की विधि बताइए कि जिससे अन्य किसी भी उपाय की अपेक्षा के बिना मोक्ष की प्राप्ति हो सकती है। उसके द्रव्य कौन-से हैं? उसके स्थान कौन-कौन-से हैं? हे भगवन्! इसके मंत्र आदि भी कौन-से होते हैं? कितनी बार करना पड़ता है? इसके अधिकारी कौन हैं? उसका नियम क्या है? यह सब मोक्ष की उपलब्धिकारक बात आप मुझ अन्तेवासी को कहिए कि जिससे मुझे मोक्ष प्राप्त हो"।

अथ स होवाच भगवान् परमेश्वरः परमकारुणिकः प्रमथान् सुरानपि सोऽन्वीक्ष्य ॥2॥

तब परमकारुणिक भगवान् महेश्वर ने जिन लोगों के ये ऊपर के छः प्रश्न थे उन गणों तथा देवों की ओर देखकर कहा कि—

पूतं प्रातरुदयाद् गोमयं ब्रह्मपर्णे निधाय त्र्यम्बकमिति मन्त्रेण शोषयेत्। येन केनापि तेजसा तत्स्वगृह्योक्तमार्गेण प्रतिष्ठाप्य वह्निं तत्र तद्गोमयद्रव्यं निधाय सोमाय स्वाहेति मन्त्रेण ततस्तिलव्रीहिभिः साज्यैर्जुहुयात्। अयं तेनाष्टोत्तरसहस्रं सार्धमेतद्वा। तत्राज्यस्य पर्णमयी जुहूर्भवति। तेन न पापं शृणोति। तद्धोममन्त्रस्त्र्यम्बकमित्येव। अन्ते स्विष्टकृत् पूर्णाहुतिस्तेनैवाष्टदिक्षु बलिप्रदानम् ॥3॥

सूर्योदय से पहले प्रातःकाल में ब्रह्मपर्ण में (पलाश के पत्ते में) गोमय लेकर 'त्र्यम्बकं यजामहे....' इत्यादि मंत्र से उसका शोषण करना चाहिए (सुखाना चाहिए)। फिर अपने गृह्यसूत्र में बताए गए मार्ग के अनुसार वहाँ अग्नि का स्थापन करके, उसमें उस गोमय को डालकर 'सोमाय स्वाहा'—ऐसे मंत्र को पढ़कर उसमें घी के साथ मिलाए हुए अक्षतों द्वारा होम करना चाहिए। ऐसी एक हजार आठ आहुतियाँ अथवा इसकी सार्ध संख्या में आहुतियाँ देनी चाहिए। घी के लिए पलाशमयी जुहू चाहिए। उसका होम 'त्र्यम्बकं यजामहे......' इस मंत्र से ही होगा। इससे वह पाप को नहीं सुनेगा (स्पर्श करेगा)। अन्त में स्विष्टकृत् पूर्णाहुति और आठों दिशाओं में बलिदान करना चाहिए।

तद्भस्म गायत्र्या संप्रोक्ष्य तद्धैमे राजते ताम्रे मृण्मये वा पात्रे निधाय रुद्रमन्त्रैः पुनरभ्युक्ष्य शुद्धदेशे संस्थापयेत्। ततो भोजयेद्ब्राह्मणान्। ततः स्वयं पूतो भवति ॥4॥

फिर उस भस्म का गायत्री मंत्र के द्वारा संप्रोक्षण करके, उसको सोने के, चाँदी के, ताँबे के या मिट्टी के बरतन में रखकर रुद्रमंत्रों के द्वारा फिर से उसका अभ्युक्षण (संप्रोक्षण) करके उसे पवित्र प्रदेश

में (शुद्ध स्थान में) रखना चाहिए। इसके बाद ब्राह्मणों को भोजन कराना चाहिए। इससे मनुष्य स्वयं पवित्र हो जाता है।

मानस्तोक इति सद्योजातमित्यादिपञ्चब्रह्ममन्त्रैर्भस्म संगृह्याग्निरिति भस्म वायुरिति भस्म जलमिति भस्म स्थलमिति भस्म व्योमेति भस्म देवा भस्म ऋषयो भस्म सर्वं ह वा एतदिदं भस्म पूतं पावनं नमामि सद्यः समस्ताघशासकमिति शिरसाऽभिनम्य पूते वामहस्ते वामदेवायेति निधाय त्र्यम्बकमिति संप्रोक्ष्य शुद्धं शुद्धेनेति सम्मृज्य संशोध्य तेनैवापादशीर्षमुद्धूलनमाचरेत्। तत्र ब्रह्ममन्त्राः पञ्च ॥5॥

फिर प्रतिदिन सन्ध्या आदि से पहले 'मानस्तोके' मंत्र तथा 'सद्योजातं' आदि पाँच मंत्रों से भस्म को लेकर 'अग्निरिति भस्म, वायुरिति भस्म, जलमिति भस्म, स्थलमिति भस्म, व्योमेति भस्म, देवा भस्म, ऋषयो भस्म, सर्वं ह वा एतदिदं भस्म, पूतं पावनं नमामि समस्ताघशासनम्'—इस प्रकार के मंत्रों से मस्तक नवाकर प्रणाम करके भस्म को 'वामदेवाय' इस मंत्र से बायें हाथ में रखकर, 'त्र्यम्बकं यजामहे' इस मंत्र से उसका सम्प्रोक्षण करके 'शुद्धं शुद्धेन' इत्यादि मंत्र द्वारा उसका सम्मार्जन (संशोधन) करके उस भस्म को चरण से लेकर मस्तक तक लगाना चाहिए। मूर्धा, ललाट, कंठ, दाएँ-बाएँ पार्श्व आदि में लगाना चाहिए। इस भस्मधारणविधि में 'सद्योजात' आदि पाँच ब्रह्ममंत्र होते हैं।

ततः शेषस्य भस्मनो विनियोगः। तर्जनीमध्यमानामिकाभिरग्नेर्भस्मासीति भस्म संगृह्य मूर्धानमिति मूर्धन्यग्रे न्यसेत् त्र्यम्बकमिति ललाटे नीलग्रीवायेति कण्ठे कण्ठस्य दक्षिणे पार्श्वे त्र्यायुषमिति वामेति कपोलयोः कालायेति नेत्रयोस्त्रिलोचनायेति श्रोत्रयोः शृणवामेति वक्त्रे प्रब्रवामेति हृदये आत्मन इति नाभौ नाभिरिति मन्त्रेण दक्षिणभुजमूले भवायेति तन्मध्ये रुद्रायेति तन्मणिबन्धे शर्वायेति तत्करपृष्ठे पशुपतय इति वामबाहुमूले उग्रायेति तन्मध्ये अग्रेवधायेति तन्मणिबन्धे दूरेवधायेति तत्करपृष्ठे नमो हन्त्र इति अंसे शंकरायेति यथाक्रमं भस्म धृत्वा सोमायेति शिवं नत्वा ततः प्रक्षाल्य तद्भस्मापः पुनन्त्विति पिबेत्। नाधो त्याज्यं नाधो त्याज्यम् ॥6॥

अब उस शेष भस्म के विनियोग की बात कहते हैं—तर्जनी, मध्यमा और अनामिका अँगुलियों से 'अग्नेर्भस्मासि' इस मंत्र से भस्म लेकर 'मूर्धानं' इत्यादि मंत्र द्वारा मूर्धा स्थान के आगे के भाग में लगाना चाहिए। 'त्र्यम्बकं' इत्यादि मंत्र द्वारा ललाट पर, 'नीलग्रीवाय' इत्यादि द्वारा कण्ठ पर और कण्ठ के दाहिने भाग में तथा 'त्र्यायुषं जमदग्ने' इत्यादि मंत्र द्वारा कण्ठ के बाँयें भाग में, 'वामे' आदि से कपोलों में, 'कालाय' आदि से दोनों आँखों पर, 'त्रिलोचनाय' आदि से दोनों कानों पर, 'शृणवाम' इत्यादि से मुख पर, 'प्रब्रवाम' इत्यादि के द्वारा हृदय पर, 'आत्मने' इत्यादि के द्वारा नाभि पर, 'नाभिः' आदि मंत्र के द्वारा दाहिने हाथ के मूल पर, 'भवाय' इत्यादि के द्वारा उसके बीच में, 'रुद्राय' इत्यादि द्वारा उसके (दाहिने हाथ के) मणिबन्ध में, 'शर्वाय' इत्यादि द्वारा उस हाथ के पृष्ठभाग में, 'पशुपतये' इत्यादि द्वारा बाएँ हाथ के मूल पर, 'उग्राय' इत्यादि द्वारा उसके बीच में, 'अग्रेवधाय' इत्यादि द्वारा उसके मणिबन्ध में, 'दूरेवधाय' इत्यादि द्वारा उस हाथ के पृष्ठ भाग में, 'नमो हन्त्रे' इत्यादि द्वारा कन्धे पर और बाद में 'शंकराय'—इस प्रकार क्रमानुसार भस्म धारण करके 'सोमाय' इत्यादि मन्त्र द्वारा शिव

को नमस्कार करके बाद में हाथ धोकर उस भस्म वाले पानी को 'आपः पुनन्तु' इस मंत्र को पढ़कर पी जाना चाहिए। इसको कभी नीचे नहीं गिरने देना चाहिए। कभी भी नीचे नहीं गिरने देना चाहिए।

एतन्मध्याह्नसायाह्नेषु त्रिकालेषु विधिवद्भस्मधारणमप्रमादेन कार्यम्। प्रमादात् पतितो भवति ॥7॥

इस प्रकार से यह भस्मधारण विधि मध्याह्न, सायं और सुबह में प्रमाद को छोड़कर करनी ही चाहिए। प्रमाद करने से मनुष्य पतित हो जाता है।

ब्राह्मणानामयमेव धर्मोऽयमेव धर्मः। एवं भस्मधारणमकृत्वा नाश्नीयादापोऽन्नमन्यद्वा। प्रमादात्त्यक्त्वा भस्मधारणं न गायत्रीं जपेत्। न जुहुयादग्नौ तर्पयेद्देवानृषीन् पित्रादीन्। अयमेव धर्मः सनातनः सर्वपापनाशको मोक्षहेतुः। नित्योऽयं धर्मो ब्राह्मणानां ब्रह्मचारिगृहिवानप्रस्थयतीनाम्। एतदकरणे प्रत्यवैति ब्राह्मणः ॥8॥

ब्राह्मणों का यही धर्म है, यही धर्म है। इस प्रकार भस्मधारण किए बिना ब्राह्मण को खाना नहीं चाहिए। अन्न या और कुछ भी खाना नहीं चाहिए और पीना भी नहीं चाहिए। प्रमाद से भस्म धारण नहीं किया गया हो, तो गायत्री का जाप भी नहीं करना चाहिए, अग्नि में होम भी नहीं करना चाहिए, देव-ऋषि और पितृओं का तर्पण भी नहीं करना चाहिए। यही सनातन धर्म है, यही मोक्ष का कारणरूप है, और सर्व पापों का नाश करने वाला है। ब्रह्मचारियों, गृहस्थों, वानप्रस्थों और यतियों का—सभी ब्रह्मनिष्ठों का यह नित्यधर्म है। इसका पालन न करने से ब्राह्मण को प्रत्यवाय लगता है।

अकृत्वा प्रमादेनैतदष्टोत्तरशतं जलमध्ये स्थित्वा गायत्रीं जप्त्वोपोषणेनैकेन शुद्धो भवति। यतिर्भस्मधारणं त्यक्त्वैकदोपोष्य द्वादशसहस्रप्रणवं जप्त्वा शुद्धो भवति। अन्यथेन्द्रो यतीन्सालावृकेभ्यः पातयति ॥9॥

यदि प्रमाद से यह भस्म धारण नहीं किया गया हो, तो जल के बीच खड़े रहकर, एक सौ आठ गायत्री मंत्रों का जप करके एक उपवास कर लेने से मनुष्य शुद्ध हो जाता है। यदि किसी यति ने भस्म धारण न किया हो, तो वह एक उपवास करके एक हजार प्रणवजाप करके शुद्ध हो जाता है। ऐसा नहीं करने पर इन्द्र ऐसे यतियों को सालावृकों के सामने फेंक देगा—वे हिंसक पशु उन्हें फाड़कर खा जाएँगे।

भस्मनो यद्यभावस्तदा नर्यभस्मदाहनजन्यमन्यद्वाऽवश्यं मन्त्रपूतं धार्यम् ॥10॥

यदि भस्म का अभाव हो तो नर्य भस्म (राख) या अन्य दाहजन्य कोई भी वस्तु को मंत्र से पवित्र करके अवश्य ही लगाना चाहिए।

एतत् प्रातः प्रयुञ्जानो रात्रिकृतात् पापात् पूतो भवति स्वर्णस्तेयात् प्रमुच्यते। मध्यन्दिने माध्यन्दिनं कृत्वोपस्थानान्तं ध्यायमान आदित्याभिमुखोऽधीयानः सुरापानात् पूतो भवति स्वर्णस्तेयात् पूतो भवति ब्राह्मणवधात् पूतो भवति गोवधात् पूतो भवत्यश्ववधात् पूतो भवति गुरुवधात् पूतो भवति मातृवधात् पूतो भवति पितृवधात् पूतो भवति। त्रिकालमेतत् प्रयुञ्जानः सर्ववेदपारायणफलमवाप्नोति सर्वतीर्थफल-

मश्नुते अनपब्रुवः सर्वमायुरेति। विन्दते प्राजापत्यं रायस्पोषं गौपत्यम्। एवमावर्तयेदुपनिषदमित्याह भगवान् सदाशिवः साम्बः सदाशिवः साम्बः ॥11॥

इति प्रथमोऽध्यायः।

प्रातःकाल में भस्म धारण करने वाला मनुष्य रात्रि में किए गए पापों से मुक्त हो जाता है। सोने की चोरी के पाप से मुक्त हो जाता है। मध्याह्न सन्ध्या में दोपहर का भस्म धारण करने वाला और सूर्योपस्थान तक ध्यान करने वाला और सूर्य के सम्मुख रहकर जाप करने वाला सुरापान के पाप से मुक्त होता है, स्वर्णचोरी के पाप से मुक्त होता है, ब्रह्महत्या के पाप से मुक्त होता है, गोवध के पाप से मुक्त होता है, अश्व-वध के पाप से मुक्त होता है, गुरु-वध के पाप से मुक्त होता है, मातृवध के पाप से मुक्त होता है, पितृवध के पाप से मुक्त होता है। तीनों काल में इसे करने वाला सभी वेदों के पारायण का फल प्राप्त करता है। वह सभी तीर्थों का फल भोगता है। वह निन्दारहित पूर्ण आयुष्य प्राप्त करता है। वह प्रजा, धन, सम्पत्ति और पशु आदि सब कुछ प्राप्त करता है। (सबका स्वामी होता है) यह उपनिषत् कह रही है कि हमेशा ही 'साम्बः सदाशिवः साम्बः' इस मंत्र का आवर्तन करते ही रहना चाहिए।

इस प्रकार यहाँ पहला अध्याय पूरा हुआ।

❋

द्वितीयोऽध्यायः

अथ भुसुण्डो जाबालो महादेवं साम्बं प्रणम्य पुनः पप्रच्छ किं नित्यं ब्राह्मणानां कर्तव्यं यदकरणे प्रत्यवैति ब्राह्मणः। कः पूजनीयः। को वा ध्येयः। कः स्मर्तव्यः। कथं ध्येयः। क्व स्थातव्यमेतद्ब्रूहीति ॥1॥

अब भुसुण्ड जाबाल, अम्बासहित महादेव को प्रणाम करके फिर से पूछने लगे कि—"ब्राह्मणों का नित्य कर्तव्य क्या है कि जिसके न करने से ब्राह्मण को प्रत्यवाय लगता है ? पूजनीय कौन है ? किसका ध्यान करना चाहिए ? किसका स्मरण करना चाहिए ? ध्यान किस तरह करना चाहिए ? कहाँ रहना चाहिए ?—यह सब बताइए।

समासेन तं होवाच। प्रागुदयान्निर्वर्त्य शौचादिकं ततः स्नायात्। मार्जनं रुद्रसूक्तैः। ततश्चाहतं वासः परिधत्ते पाप्मनोऽपहृत्यै। उद्यन्तमादित्यमभिध्यायन्नुद्धूलिताङ्गः कृत्वा यथास्थानं भस्मना त्रिपुण्ड्रं श्वेतेनैव रुद्राक्षाञ्छ्वेतान् बिभृयात्। नैतत् संमर्शः। तथाऽन्ये। मूर्ध्नि चत्वारिंशत्। शिखायामेकं त्रयं वा। श्रोत्रयोर्द्वादश। कण्ठे द्वात्रिंशत्। बाह्वोः षोडशषोडश। द्वादशद्वादश मणिबन्धयोः। षट्षडङ्गुष्ठयोः। ततः सन्ध्यां सकुशोऽहरहरुपासीत। अग्निर्ज्योतिरित्यादिभिरग्नौ जुहुयात् ॥2॥

तब शिव ने संक्षेप से उन्हें बताया कि सूर्योदय के पहले ही शौचादि क्रियाओं को सम्पन्न करके स्नान कर लेना चाहिए। फिर रुद्रसूक्तों के द्वारा मार्जन करना चाहिए। इसके बाद पाप की निवृत्ति के लिए फटा न हो ऐसा वस्त्र धारण करना चाहिए। बाद में उदीयमान सूर्य का ध्यान करते हुए भस्मलेपन

करके योग्य स्थानों पर श्वेत भस्म का त्रिपुण्ड्र करना चाहिए। और श्वेत रुद्राक्षों को ही धारण करना चाहिए। यहाँ कोई खास संमर्श (द्रव्यों का) नहीं अन्य भी (काल्पनिक) होते हैं। मस्तक पर चालीस रुद्राक्ष धारण करने चाहिए। शिखा में एक या तीन धारण करने चाहिए। दोनों कानों में बारह-बारह रुद्राक्ष धारण करने चाहिए। कण्ठ में बत्तीस, दोनों हाथों में सोलह-सोलह, दोनों मणिबन्धों में बारह-बारह, दोनों अँगूठों में छः-छः रुद्राक्ष धारण करने चाहिए। और बाद में नित्य ही कुश घास के साथ सन्ध्या की उपासना करनी चाहिए और 'अग्निर्ज्योति'—इत्यादि मंत्रों से अग्नि में होम करना चाहिए।

शिवलिङ्गं त्रिसन्ध्यमभ्यर्च्य कुशेष्वासीनो ध्यात्वा साम्बं मामेव वृषभारूढं हिरण्यबाहुं हिरण्यवर्णं हिरण्यरूपं पशुपाशविमोचकं पुरुषं कृष्णपिङ्गलमूर्ध्वरेतं विरूपाक्षं विश्वरूपं सहस्राक्षं सहस्रशीर्षं सहस्रचरणं विश्वतोबाहुं विश्वात्मानमेकमद्वैतं निष्कलं निष्क्रियं शान्तं शिवमक्षरमव्ययं हरिहरहिरण्यगर्भस्रष्टारमप्रमेयमनाद्यन्तं रुद्रसूक्तैरभिषिच्य सितेन भस्मना श्रीफलदलैश्च त्रिशाखैरार्द्रैरनार्द्रैर्वा। नैतत्र संस्पर्शः। तत्पूजासाधनं कल्पयेच्च नैवद्यम्। ततश्चैकादशगुणरुद्रो जपनीयः। एकगुणोऽनन्तः ॥3॥

तीनों सन्ध्याओं में शिवलिंग की पूजा करके कुशासन पर बैठकर मेरा ऐसा ध्यान करना चाहिए कि—मैं उमासहित, वृषभ पर आरूढ़, सुवर्णवर्ण के हाथों वाला, हिरण्यवर्ण, हिरण्यरूप, पशुओं को पाशों से छुड़ाने वाला, कृष्णपिंगल पुरुषरूप, ऊर्ध्वरेता, विरूपाक्ष, विश्वरूप, हजार आँखों वाला, हजार मस्तकों वाला, हजार पैरों वाला, चारों ओर हाथ वाला, विश्वात्मा, एक, अद्वैत, अंशरहित, क्रियारहित, शान्त, शिव, अक्षर, अव्यय, हरिहर और हिरण्यगर्भ का सर्जक, अप्रमेय, अनादि, अनन्त हूँ, ऐसे मेरा रुद्रसूक्त से अभिषेक करके सफेद भस्म से, श्रीफल से, त्रिशाखी बिल्वपत्रों से (आर्द्र हो या अनार्द्र हो) इनसे मेरी पूजा करनी चाहिए। यहाँ कोई भौतिक द्रव्य नहीं (स्पर्श नहीं) है। पूजा के साधनों की और नैवेद्य की केवल कल्पना ही करनी चाहिए। इसके बाद एकादशगुण युक्त रुद्र का जाप करना चाहिए। एकगुण तो अनन्त है।

षडक्षरोऽष्टाक्षरो वा शैवो मन्त्रो जपनीयः। ओमित्यग्रे व्याहरेत्। नम इति पश्चात्। ततः शिवायेत्यक्षरत्रयम्। ओमित्यग्रे व्याहरेत्। नम इति पश्चात्। ततो महादेवायेति पञ्चाक्षराणि। नातस्तारकः परमो मन्त्रः। तारकोऽयं पञ्चाक्षरः। कोऽयं शैवो मनुः। शैवस्तारकोऽयमुपदिश्यते मनुरविमुक्ते शैवेभ्यो जीवेभ्यः। शैवोऽयमेव मन्त्रस्तारयति। स एव ब्रह्मोपदेशः ॥4॥

षडक्षरी या अष्टाक्षरी शिवमंत्र का जाप करना चाहिए। सभी मंत्रों के आगे 'ओम्' लगाना चाहिए एवं सभी मंत्रों के पीछे 'नमः' भी बोलना चाहिए। इसके बाद शिवाय, ये तीन अक्षर (बीच में) बोलने चाहिए। यह एक तारक मंत्र है। तो फिर वह कौन सा मंत्र है ? यह तारक शिवमंत्र कहा जा रहा है। प्रथम ओम् बोलना चाहिए, अन्त में 'नमः' बोलना चाहिए, बीच में 'महादेवाय' ये पाँच अक्षर बोलने चाहिए। इससे बड़ा कोई तारक मंत्र नहीं है। यह तारक शिवमंत्र कौन-सा है ? यह शैवतारक मंत्र शैव जीवों को अविमुक्त समय में उपदिष्ट किया जाता है। यह शैव तारकमंत्र ही पार उतारता है। यही ब्रह्मोपदेश है।

ब्रह्म सोमोऽहं पवनः सोमोऽहं पवते सोमोऽहं जनिता मतीनां सोमोऽहं जनिता पृथिव्याः सोमोऽहं जनिताऽग्नेः सोमोऽहं जनिता सूर्यस्य सोमोऽहं जनितेन्द्रस्य सोमोऽहं जनितोत विष्णोः सोमोऽहमेव जनिता स यश्चन्द्रमसो देवानां भूर्भुवःस्वरादीनां सर्वेषां लोकानां च ॥5॥

मैं जो ब्रह्मस्वरूप हूँ, तो ब्रह्म कैसा है ? मैं उमासहित हूँ, मैं ब्रह्म हूँ। जो सूत्ररूप से पवन होकर सबको पवित्र कर देता है। मैं वह उमासहित ब्रह्म हूँ जो मति आदि को जन्म देने वाला है। मैं वह उमासहित परमेश्वर हूँ जो अग्नि का जनक है, पृथ्वी का जनक सोम है, अग्नि का जनक सोम है। मैं सूर्य का जनक सोम हूँ। मैं इन्द्र का जनक सोम हूँ। मैं ही विष्णु का जनक उमासहित ईश्वर हूँ। इस चन्द्रमा का भूः भुवः स्वः—आदि सभी लोकों का उत्पन्न करने वाला उमासहित मैं ही—ईश्वर जनक हूँ।

**विश्वं भूतं भुवनं चित्रं बहुधा जातं जायमानं च यत्।
सर्वस्य सोमोऽहमेव जनिता विश्वाधिको रुद्रो महर्षिः ॥6॥**

भाँति-भाँति प्रकार से बना हुआ यह विश्व और यह भुवन जो उत्पन्न हो चुका है और अभी उत्पन्न हो रहा है, उस सबका उत्पन्न करने वाला मैं ही उमासहित (शक्तिसहित) ब्रह्म हूँ। मैं जन्मदाता के रूप में विश्व का कारण होते हुए भी कारणातीत हूँ (मैं सर्वकारण होने पर भी सर्वातीत) विश्वाधिक ही हूँ। मैं ऐसा रुद्र हूँ, मैं महर्षि हूँ।

हिरण्यगर्भादीनहं जायमानान् पश्यामि। यो रुद्रो अग्नौ यो अप्सु य ओषधीषु यो रुद्रो विश्वा भुवना विवेशैवमेव। अहमेवात्माऽन्तरात्मा ब्रह्मज्योतिर्यस्मान्न मत्तोऽन्यः परः। अहमेव परो विश्वाधिकः ॥7॥

उत्पन्न होते हुए हिरण्यगर्भ आदि को मैं देखता हूँ। जो रुद्र अग्नि में है, जो पानी में है, जो औषधियों में है, जो रुद्र सभी विश्व में, सभी भुवनों में, यों ही अन्तर्यामी के रूप में प्रविष्ट होकर स्थित है, वह मैं ही हूँ। मैं ही आत्मा हूँ, मैं अन्तरात्मा हूँ, मैं ही ब्रह्मज्योति हूँ, ऐसे मुझसे कुछ और कोई अन्य है ही नहीं। मैं ही परम और मैं ही विश्वातीत भी हूँ।

मामेव विदित्वाऽमृतत्वमेति तरति शोकम्। मामेव विदित्वा सांसृतिकीं रुजं द्रावयति तस्मादहं रुद्रो यः सर्वेषां परमा गतिः सोऽहं सर्वाकारः ॥8॥

मुझे जानकर ही मनुष्य मृत्यु को और शोक को पार कर जाता है। मुझे जानकर ही मनुष्य इस संसार के रोग को पिघला देता है। (द्रवित करता है)। इसीलिए मैं रुद्र (रुज् + द्र) कहलाता हूँ। मैं ही सर्व की गति (अन्तिम लक्ष्य) हूँ, मैं ही सर्वाकारमय हूँ।

यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते। येन जातानि जीवन्ति। यत् प्रयन्त्यभिसंविशन्ति। तं मामेव विदित्वोपासीत। भूतेभिर्देवेभिरभिष्टुतोऽहमेव ॥9॥

**भीषाऽस्माद्वातः पवते। भीषोदेति सूर्यः। भीषाऽस्मादग्निश्चेन्द्रश्च ॥10॥
सोमोऽत एव योऽहं सर्वेषामधिष्ठाता सर्वेषां च भूतानां पालकः। सोऽहं पृथिवी। सोऽहमापः। सोऽहं तेजः। सोऽहं वायुः। सोऽहं कालः। सोऽहं दिशः। सोऽहमात्मा। मयि सर्वं प्रतिष्ठितम् ॥11॥**

जिससे ये भूतप्राणी उत्पन्न होते हैं, जिससे उत्पन्न होकर जीते हैं, और जाते हुए जिसमें विलीन होते हैं, ऐसे मुझे ही जानकर मेरी उपासना करनी चाहिए। प्राणियों और देवों द्वारा स्तुति किया जाने वाला मैं ही हूँ। इसके भय से वायु बहती है, इसके डर से सूर्य उदित होता है, इसी के डर से अग्नि, इन्द्र और सोम अपना-अपना कार्य कर रहे हैं, वह उमा (शक्ति सहित मैं) शिव ही सब कुछ हूँ। इसीलिए मैं सबका अधिष्ठाता हूँ। मैं सब प्राणियों का पालक हूँ। वही मैं पृथ्वी हूँ, वही मैं जल हूँ, वही मैं तेज हूँ, वही मैं वायु हूँ, वहीं मैं काल हूँ, वही मैं दिशाएँ हूँ, वही मैं आत्मा हूँ। मुझ ही में यह सब-कुछ प्रतिष्ठित होकर रहता है।

**ब्रह्मविदाप्नोति परम्। ब्रह्मा शिवो मे अस्तु सदाशिवोम् ॥12॥
अचक्षुर्विश्वतश्चक्षुरकर्णो विश्वतःकर्णोऽपादो विश्वतःपादोऽपाणिर्विश्वतःपाणिरहमशिरा विश्वतःशिरा विद्यामन्त्रैकसंश्रयो विद्यारूपो विद्यामयो विश्वेश्वरोऽहमजरोऽहम् ॥13॥
मामेवं विदित्वा संसृतिपाशात् प्रमुच्यते। तस्मादहं पशुपाशविमोचकः। पशवश्चामानवान्तं मध्यवर्तिनश्च युक्तात्मानो यतन्ते मामेव प्राप्तुम्। प्राप्यन्ते मां न पुनरावर्तन्ते ॥14॥**

ऐसे ब्रह्म को जानने वाला परमपद को प्राप्त करता है। जो मैं ब्रह्मा के रूप में हूँ वही मैं सर्वात्मभाव से शिव भी तो हूँ। क्योंकि 'ओम्' (अ, उ, म) यह परब्रह्मवाचक है। यह परमतत्त्व चक्षुरहित होते हुए भी सभी ओर चक्षुवाला है, श्रोत्रहीन होते हुए भी चारों ओर श्रोत्र वाला है, चरणरहित होने पर भी चारों तरफ चरण वाला है, उसके हाथ न होने पर भी चारों ओर हाथ वाला है, वह आत्मारूप मैं मस्तकरहित होते हुए भी चारों तरफ मस्तक वाला हूँ। सभी विद्याओं और मंत्रों का मैं आश्रयस्थान हूँ। मैं विद्यामय, विद्यारूप और मैं विश्वेश्वर, अजर और अमर हूँ। इस प्रकार मुझे (आत्मा को) जानकर मनुष्य संसार के पाश से मुक्त हो जाता है। इसलिए मैं पशु (प्राणियों के) पाशों का विमोचक (मुक्त करने वाला) कहलाता हूँ। मानवों से लेकर सभी मध्यवर्ती प्राणी प्रयत्न करते हुए मुझमें ही अपनी आत्मा को जोड़कर मुझे ही प्राप्त करने के लिए प्रयत्न कर रहे हैं और अन्त में मुझे प्राप्त कर फिर इस धरती पर (जगत् में) वापिस नहीं लौटते।

त्रिशूलायां काशीमधिश्रित्य त्यक्तासवोऽपि मय्येव संविशन्ति। प्रज्वलद्वह्निगं हविर्यथा न यजमानमासादयति तथाऽसौ त्यक्त्वा कुणपं न तत्तादृशं पुरा प्राप्नुवन्ति। एष एवादेशः। एष उपदेशः। एष एव परमो धर्मः ॥15॥

अन्तिम श्वास लेते समय त्रिशूल में स्थित काशीनगरी में प्राणों को छोड़ने वाले लोग भी मुझमें ही प्रविष्ट होते हैं। प्रज्वलित अग्नि में रखे गए होमद्रव्य जिस तरह यजमान को फिर से प्राप्त नहीं होते, वैसे ही यहाँ एक बार छोड़ा हुआ शरीर फिर से प्राप्त नहीं होता। यही आज्ञा है, यही उपदेश है। यही परमधर्म है।

सत्यात्तत्र कदाचिन्न प्रमदितव्यं तत्रोद्धूलनत्रिपुण्ड्राभ्याम्। तथा रुद्राक्षधारणात्तथा मदर्चनाच्च। प्रमादेनापि नान्तर्देवसदने पुरीषं कुर्यात्। व्रतान्न प्रमदितव्यम्। तद्धि तपस्तद्धि तपः काश्यामेव मुक्तिकामानाम् ॥16॥

न तत्त्याज्यं न तत्त्याज्यं मोचकोऽहमविमुक्ते निवसताम्। नाविमुक्तात् परं स्थानं नाविमुक्तात् परं स्थानम् ॥17॥

ऐसे उस काशीवास के काल में सत्य में कभी प्रमाद नहीं करना चाहिए। भस्म धारण करने में तथा त्रिपुण्ड्र लगाने में भी प्रमाद नहीं करना चाहिए। रुद्राक्ष को धारण करने में और मेरे पूजन में कभी प्रमाद नहीं करना चाहिए। प्रमाद से भी कभी देवमंदिर में मलत्याग नहीं करना चाहिए। व्रत में भी कभी प्रमाद नहीं करना चाहिए। काशी में रहकर मुक्ति पाने की इच्छा करने वालों के लिए यही तप है, उसको कभी छोड़ना नहीं चाहिए। मैं अविमुक्तक्षेत्र का मुक्तिदाता हूँ। अविमुक्तपद से परमपद कोई नहीं है। अविमुक्तक्षेत्र परम क्षेत्र है।

काश्यां स्थानानि चत्वारि। तेषामभ्यर्हितमन्तर्गृहम्। तत्राप्यविमुक्तमभ्यर्हितम्। तत्र स्थानानि पञ्च। तन्मध्ये शिवागारमभ्यर्हितम्। तत्र प्राच्यामैश्वर्यस्थानम्। दक्षिणायां विचालनस्थानम्। पश्चिमायां वैराग्यस्थानम्। उत्तरायां ज्ञानस्थानम्। तस्मिन् यदन्तर्निर्लिप्तमव्ययमनाद्यन्तमशेषवेदवेदान्तवेद्यमनिर्देश्यमनिरुक्तमप्रच्यवमाशास्यमद्वैतं सर्वाधारमनाधारमनिरीक्ष्यमहरहर्ब्रह्मविष्णुपुरन्दराद्यमरवरसेवितं मामेव ज्योतिःस्वरूपं लिङ्गं मामेवोपासितव्यं तदेवोपासितव्यम् ॥18॥

नैव भासयन्ति तल्लिङ्गं भानुश्चन्द्रोऽग्निर्वायुः स्वप्रकाशं विश्वेश्वराभिधं पातालमधितिष्ठति। तदेवाहम् ॥19॥

काशी में चार स्थान हैं। उनमें भी श्रेष्ठ स्थान अन्तर्गृह है। उससे भी श्रेष्ठ अविमुक्तस्थान है। वहाँ पाँच स्थान हैं। उनके बीच जो शिवागार है वह श्रेष्ठ है। वहाँ पूर्व में ऐश्वर्यस्थान है, दक्षिण में विचालनस्थान है, पश्चिम में वैराग्यस्थान है, उत्तर में ज्ञानस्थान है। उसमें जो अन्तर् में निर्लिप्त है, अव्यय है, अनादि है, अनन्त है, सभी वेद-वेदान्त से जो वेद्य है, जो अव्यक्त, अदृश्य, अनिरुक्त, अप्रच्यव (अच्युत) है, जो अद्वैत है, जो सबका आधाररूप है, जो देखा नहीं जा सकता, जो ब्रह्मा, विष्णु, पुरन्दर आदि श्रेष्ठ देवों के द्वारा बार-बार सेवित होता है, ऐसे ज्योतिस्वरूप मेरी ही (लिंग के रूप में) उपासना करनी चाहिए। मैं ही उपासना के योग्य हूँ। सूर्य, चन्द्र, अग्नि और वायु उस लिंग को प्रकाशित नहीं कर सकते। क्योंकि वह तो स्वप्रकाशित है। विश्वेश्वर नाम का यह लिंग पाताल में अधिष्ठित है। वही मैं हूँ।

तत्रार्चितोऽहं साक्षादर्चितः। त्रिशाखैर्बिल्वदलैर्दीप्तैर्वा योऽभिसंपूजयेन्मन्मना मय्याहितासुर्मय्येवार्पिताखिलकर्मा भस्मदिग्धाङ्गो रुद्राक्षभूषणो मामेव सर्वभावेन प्रपन्नो मदेकपूजानिरतः सम्पूजयेत् तदहमश्नामि तं मोचयामि संसृतिपाशात्। अहरहरभ्यर्च्य विश्वेश्वरं लिङ्गं तत्र रुद्रसूक्तैरभिषिच्य तदेव स्नपनं पयस्त्रिः पीत्वा महापातकेभ्यो मुच्यते न शोकमाप्नोति मुच्यते संसारबन्धनात् ॥20॥

वहाँ मैं पूजा जाता हूँ, साक्षात् ही पूजा जाता हूँ। तीन शाखा वाले बिल्वपत्रों से अथवा दीपों से जो मनुष्य मेरी पूजा करता है, वह मुझमें मन रखने वाला, मुझमें ही प्राण रखने वाला, मुझमें ही अपने सभी कर्मों को समर्पित कर देने वाला, भस्म से लेपित अंग वाला, रुद्राक्ष के भूषणवाला, सर्व भाव से मेरी ही शरण में आया हुआ, मेरी एक की ही पूजा में तल्लीन होकर मुझे पूजता है। उसका दिया हुआ मैं खाता (भोगता) हूँ। उसको मैं संसार के बन्धन से मुक्त करता हूँ। इस विश्वेश्वर के लिंग

की प्रतिदिन पूजा करके, वहाँ रुद्रसूक्तों के द्वारा अभिषेक करके उसी स्नान का पानी तीन बार पीकर बड़े-बड़े पापों से भी वह मनुष्य मुक्त हो जाता है। वह कभी शोक को प्राप्त नहीं होता। वह संसार के बन्धनों से मुक्त हो जाता है।

तदनभ्यर्च्य नाश्नीयात् फलमन्नमन्यद्वा। यदश्नीयाद्रेतोभक्षी भवेत्। नापः पिबेत्। यदि पिबेत् पूयपः भवेत्। प्रमादेनैकदा त्वनभ्यर्च्य मां भुक्त्वा भोजयित्वा केशान् वापयित्वा गव्यानां पञ्च संगृह्योपोष्य जले रुद्रस्नानम्। जपेत्त्रिवारं रुद्रानुवाकम्। आदित्यं पश्यन्नभिध्यायन् स्वकृतकर्मकृद्रौद्रैरेव मन्त्रैः कुर्यान्मार्जनम्। ततो भोजयित्वा ब्राह्मणान् पूतो भवति। अन्यथा परेतो यातनामश्नुते। पत्रैः फलैर्वा जलैर्वाऽन्यैर्वाऽभिपूज्य विश्वेश्वरं मां ततोऽश्नीयात् ॥21॥

उसकी पूजा किए बिना अन्न, फल या और कुछ भी खाना नहीं चाहिए। यदि कोई खाता है तो वह वीर्यभक्षी होगा। पानी भी नहीं पीना चाहिए। यदि कोई पीता है तो वह पूयप (पीव को पीने वाला) होता है। प्रमादवश एक दिन भी मेरी पूजा किए बिना खाए-खिलाए जाने पर केशों का मुण्डन करवाकर पाँच गव्यों का संग्रह करके, उपवास करके जल में रुद्रस्नान करना चाहिए तथा तीन बार रुद्रानुवाक का जाप करना चाहिए। फिर सूर्य की ओर देखकर उसका ध्यान करके अपने किए गए कर्म के लिए रुद्रमंत्रों से ही मार्जन करना चाहिए। बाद में ब्राह्मणों को भोजन कराकर वह पवित्र (मुक्त) होता है। ऐसा न करने पर वह मरण के बाद यातना भोगता है। इसलिए मुझ विश्वेश्वर को पत्रों से, फलों से या जल अथवा अन्य पदार्थों से पूजकर बाद में ही खाना (पीना) चाहिए।

कापिलेन पयसाऽभिषिच्य रुद्रसूक्तेन मामेव शिवलिङ्गरूपिणं ब्रह्महत्यायाः पूतो भवति। कापिलेन दध्नाऽभिषिच्य सुरापानात् पूतो भवति। कापिलेनाज्येनाभिषिच्य स्वर्णस्तेयात् पूतो भवति। मधुनाऽभिषिच्य गुरुदारगमनात् पूतो भवति। सितया शर्करयाऽभिषिच्य सर्वजीववधात् पूतो भवति ॥22॥

क्षीरादिभिरेतैरभिषिच्य सर्वानवाप्नोति कामान्। इत्येकैकं महाप्रस्थशतं महाप्रस्थशतमानैः शतैराभपूज्य मुक्तो भवति संसारबन्धनात् ॥23॥

कपिलवर्णी गाय के दूध से रुद्रसूक्त के द्वारा शिवलिंग स्वरूप मेरा अभिषेक करके मनुष्य ब्रह्महत्या के पाप से मुक्त हो जाता है। कपिला गाय के दही से अभिषेक करने वाला सुरापान के पाप से मुक्त होता है। कपिला के घी से पूर्वोक्त रूप से अभिषेक करने वाला सोने की चोरी के पाप से मुक्त होता है। मधु से अभिषेक करने वाला गुरुपत्नी से किए गए व्यभिचार के पाप से मुक्त होता है। सफेद शर्करा से अभिषेक करने वाला सभी प्राणियों की हत्या से मुक्त हो जाता है। इस प्रकार दूध आदि से अभिषेक करके मनुष्य अपने सभी मनोरथों को पूर्ण करता है। ऐसा करने के लिए उसे पूर्वोक्त अभिषेकों से प्रत्येक के लिए सौ महाप्रस्थ करने चाहिए। (बत्तीस पल तक के समय को प्रस्थ कहते हैं और ऐसे सौ प्रस्थों को महाप्रस्थ कहा जाता है—यह कालपरिमाण है।) इस प्रकार सौ महाप्रस्थों के कालपरिमाण तक अभिषेक करके (पूजा करके) मनुष्य संसार-बन्धनों से मुक्त हो जाता है।

मामेव शिवलिङ्गरूपिणमार्द्रायां पौर्णमास्यां वाऽमावास्यायां वा महाव्यतीपाते ग्रहणे संक्रान्तावभिषिच्य तिलैः सतण्डुलैः सयवैः सम्पूज्य

बिल्वदलैरभ्यर्च्य कापिलेना[ला]ज्यान्वितगन्धसारधूपैः परिकल्प्य दीपं नैवेद्यं साज्यमुपहारं कल्पयित्वा दद्यात् पुष्पाञ्जलिम्। एवं प्रयतोऽभ्यर्च्य मम सायुज्यमेति ॥24॥

शिवलिंगरूप ऐसे मुझको आर्द्रा नक्षत्र में, अमावास्या या पौर्णमासी में, व्यतिपात में, ग्रहण में और संक्रान्ति में अभिषेक करके यव और तण्डुल के साथ तिलों के द्वारा पूजकर बिल्वदलों से मेरी अभ्यर्चना करके कपिला गाय के घी से युक्त गन्धसार आदि की परिकल्पना करके, दीप, घी सहित (घी युक्त) नैवेद्य और उपहार देना चाहिए। बाद में पुष्पांजलि देनी चाहिए। इस प्रकार प्रयत्नशील मनुष्य (साधक) मेरी पूजा करके मेरे साथ सायुज्य को प्राप्त कर लेता है।

शतैर्महाप्रस्थैरखण्डैस्तण्डुलैरभिषिच्य चन्द्रलोककामश्चन्द्रलोकमवाप्नोति। तिलैरेतावद्भिरभिषिच्य वायुलोककामो वायुलोकमवाप्नोति। माषैरेतावद्भिरभिषिच्य वरुणलोककामो वरुणलोकमवाप्नोति। यवैरेतावद्भिरभिषिच्य सूर्यलोककामः सूर्यलोकमवाप्नोति। एतैरेतावद्भिर्द्विगुणैरभिषिच्य स्वर्गलोककामः स्वर्गलोकमवाप्नोति। एतैरेतावद्भिश्चतुर्गुणैरभिषिच्य ब्रह्मलोककामो ब्रह्मलोकमवाप्नोति। एतैरेतावद्भिः शतगुणैरभिषिच्य चतुर्जालं ब्रह्मकोशं यन्मृत्युर्नावपश्यति। तमतीत्य मल्लोककामो मल्लोकमवाप्नोति नान्यं मल्लोकात् परं यमवाप्य न शोचति न स पुनरावर्तते न स पुनरावर्तते ॥25॥

अखण्ड तण्डुलों (अक्षतों) के द्वारा सौ महाप्रस्थ तक अभिषेक करके चन्द्रलोक की कामना करने वाला मनुष्य चन्द्रलोक को प्राप्त होता है। इतने ही तिलों के द्वारा इतने ही कालपरिमाण तक अभिषेक करके वायुलोक की कामना करने वाला वायुलोक को प्राप्त होता है। इतने ही माषों (उड़दों) के द्वारा अभिषेक करके वरुणलोक की कामना करने वाला वरुणलोक की प्राप्ति करता है। इतने ही यवों से अभिषेक करके सूर्यलोक की कामना करने वाला सूर्यलोक को प्राप्त करता है। और उससे दुगुनी संख्या में यवों से ही अभिषेक करने वाला स्वर्ग की कामना करने वाला मनुष्य स्वर्गलोक की प्राप्ति करता है। इन्हीं यवों की चार गुनी संख्या से अभिषेक करके ब्रह्मलोक की कामना करने वाला ब्रह्मलोक को प्राप्त करता है। इन्हीं से सौ गुनी संख्या में इतने कालपरिमाण तक अभिषेक करके वह चतुर्जाल रूप मृत्यु के ब्रह्मकोश को नहीं देखेगा। (स्थूल, सूक्ष्म, बीज और अर्धमात्रा—यह व्यष्टिसमष्टिगत चतुर्जाल युक्त ब्रह्मकोश है।) वह उसको लाँघकर मेरे लोक की कामना वाला होकर मेरे लोक को ही प्राप्त करता है। मेरे लोक से परे तो कोई लोक है ही नहीं। उसको प्राप्त करके वह कभी शोक को प्राप्त नहीं होता और फिर से उसका यहाँ आना नहीं होता, वह फिर से यहाँ आता ही नहीं।

लिङ्गरूपिणं मां सम्पूज्य चिन्तयन्ति योगिनः सिद्धाः सिद्धिं गताः यजन्ति यज्वानः। मामेव स्तुवन्ति वेदाः साङ्गाः सोपनिषदः सेतिहासाः। न मत्तोऽन्यदहमेव सर्वम्। मयि सर्वं प्रतिष्ठितम्। ततः काश्यां प्रयतैरेवाहमन्वहं पूज्यः ॥26॥

तत्र गणा रौद्रानना नानामुखा नानाशस्त्रधारिणो नानारूपधरा नानाचिह्निताः। ते सर्वे भस्मदिग्धाङ्गा रुद्राक्षाभरणाः कृताञ्जलयो नित्यमभिध्यायन्ति। तत्र पूर्वस्यां दिशि ब्रह्मा कृताञ्जलिरहर्निशं मामुपास्ते। दक्षिणस्यां दिशि विष्णुः कृत्वैव मूर्धाञ्जलिं मामुपास्ते।

प्रतीच्यामिन्द्रः सन्नताङ्ग उपास्ते। उदीच्यामग्निकायमुमाऽनुरक्ता हेमाङ्गविभूषणा हेमवस्त्रा मामुपासते मामेव देवाश्चतुर्मूर्तिधराः ॥27॥

लिंगस्वरूपी मेरी पूजा करके सिद्धि को प्राप्त हुए सिद्धयोगी मेरा ही चिन्तन करते हैं, याज्ञिक लोग मेरा ही यज्ञ करते हैं, षडंगों के साथ, उपनिषदों के साथ, इतिहास के साथ सभी वेद मेरी ही स्तुति करते हैं। मेरे सिवा कुछ है ही नहीं, मैं ही सब कुछ हूँ। यह सब कुछ मुझमें ही स्थित है। इसलिए काशी में प्रयत्नशील साधकों के द्वारा मैं ही पूजा जाने योग्य हूँ। इसलिए रौद्र (भयंकर) मुँहवाले, विविध प्रकार को मुखवाले, विविध शस्त्रों को धारण किए हुए, विविध स्वरूपों को धारण करने वाले, विविध चिह्नों वाले मेरे गण, यहाँ भस्म से अंगों को लेप करते हुए, रुद्राक्ष के आभूषण पहने हुए हाथ जोड़कर हमेशा मेरा ध्यान करते हैं। यहाँ पूर्व दिशा में ब्रह्मा हाथ जोड़कर सर्वदा मेरी उपासना करते हैं, दक्षिण दिशा में विष्णु मस्तक पर हाथ की अंजलि रखे हुए मेरी उपासना करते हैं। पश्चिम में इन्द्र शरीर को पूरा नवा कर मेरी उपासना करते हैं और उत्तर में सुवर्णवसना अंगों पर सुवर्ण के आभूषण पहनी हुई अनुरक्ता उमा अग्निकायायुक्त मेरी उपासना करती है। ये चार मूर्ति को धारण करने वाले देव (ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र और इन्द्र) मेरी ही उपासना करते हैं।

दक्षिणायां दिशि मुक्तिस्थानं तन्मुक्तिमण्डपसंज्ञितम्। तत्रानेकगणाः पालकाः सायुधाः पापघातकाः। तत्र ऋषयः शाम्भवाः पाशुपता महाशैवा वेदावतंसं शैवं पञ्चाक्षरं जपन्तस्तारकं सप्रणवं मोदमानास्तिष्ठन्ति। तत्रैका रत्नवेदिका। तत्राहमासीनः काश्यां त्यक्तकुणपाञ्छैवानानीय स्वस्याङ्के सन्निवेश्य भसितरुद्राक्षभूषितानुपस्पृश्य मा भूदेतेषां जन्म मृतिश्चेति तारकं शैवं मनुमुपदिशामि। ततस्ते मुक्ता मामनुविशन्ति विज्ञानमयेनाङ्गेन। न पुनरावर्तन्ते हुताशनप्रतिष्ठं हविरिव। तत्रैव मुक्त्यर्थमुपदिश्यते शैवोऽयं मन्त्रः पञ्चाक्षरः। तन्मुक्तिस्थानम्। तत् ओंकाररूपम्। ततो मदर्पितकर्मणां मदाविष्टचेतसां मद्रूपता भवति। नान्येषामियं ब्रह्मविद्येयं ब्रह्मविद्या ॥28॥

दक्षिण दिशा में एक 'मुक्तिमण्डप' नाम का मुक्तिस्थान है। उसके पालक-रक्षक अनेक गण हैं। वे अनेक शस्त्रों को धारण किए हुए हैं, वे पाप के घातक हैं। वहाँ शंभु के भक्त कई पाशुपत, महाशैव, ऋषि लोग वेदों के प्रधान रूप पंचाक्षर शैव मंत्र को जपते हुए—प्रणवसहित उस तारक मंत्र को जपते हुए आनन्दपूर्वक रहते हैं। वहाँ एक रत्नजडित वेदी है, उस पर मैं बैठा हूँ। काशी में जिन शिवभक्तों की आसक्ति छूट गई है, ऐसे लोगों को लाकर, अपनी गोद में बिठाकर, रुद्राक्ष और भस्म से भूषित अंग वाले ऐसे उनको स्पर्श करके, 'अब इनका जन्म न होगा और मृत्यु भी नहीं होगी'—इस प्रकार का फलदायी तारकमंत्र देता हूँ (उन्हें उपदेश करता हूँ)। इससे वे मुक्त होकर विज्ञानमय अंग से मुझमें ही प्रविष्ट हो जाते हैं और फिर उनका यहाँ आना नहीं होता। अग्नि में डाले गए होमद्रव्य की तरह वहीं रहते हैं। मुक्ति के लिए ही इस पंचाक्षर शैव मंत्र का उपदेश दिया जाता है। यह मुक्ति का स्थान है। इसलिए यह ओंकाररूप है। इसके द्वारा मुझमें ही कर्मों को अर्पित करने वालों को और मुझ ही में चित्त को अर्पित करने वालों को मेरा रूप प्राप्त होता है, इससे अन्य लोगों को नहीं। यह ब्रह्मविद्या है। यही ब्रह्मविद्या है।

मुमुक्षवः काश्यामेवासीना वीर्यवन्तो विद्यावन्तो विज्ञानमयं ब्रह्मकोशं चतुर्जालं ब्रह्मकोशं यं मृत्युर्नावपश्यति यं ब्रह्मा नावपश्यति यं विष्णुर्नावपश्यति यमिन्द्राग्नी नावपश्येतां यं वरुणादयो नावपश्यन्ति तमेव

तत्तेजःप्लुष्टविड्भावं हैममुमां संश्लिष्य वसन्तं चन्द्रकोटिसमप्रभं चन्द्रकिरीटं सोमसूर्याग्निनयनं भूतिभूषितविग्रहं शिवं मामेवमभिध्यायन्तो मुक्तकिल्बिषास्त्यक्तबन्धा मय्येव लीना भवन्ति ॥29॥

काशी में रहने वाले मुमुक्षु ही वीर्यवान और विद्यावान होते हैं। ब्रह्मकोश तो विज्ञानमय है, ब्रह्मकोश चतुर्जाल है। इसे मृत्यु नहीं देख सकता, इसे ब्रह्मा नहीं देखते, इसे विष्णु नहीं देखते, इसे इन्द्र और अग्नि भी नहीं देखते, इसे वरुणादि देव भी नहीं देखते, उसी तेज:पूर्ण (तेज से भरे हुए) प्रवाहरूप, सुवर्णमय, उमा को आलिंगन करके रहने वाले, करोड़ों चन्द्रों के समान कान्तिवाले, चन्द्रमुकुटधारी, सोम-सूर्य-अग्निरूप तीन नयनों वाले, भस्म से भूषित शरीर वाले, मंगलकारी मुझ शिव का ही ध्यान करते हुए ये मुमुक्षु लोग पापरहित और बन्धनरहित होकर मुझमें लीन हो जाते हैं।

ये चान्ये काश्यां पुरीषकारिणः प्रतिग्रहरतास्त्यक्तभस्मधारणास्त्यक्तरुद्राक्षधारणास्त्यक्तसोमवारव्रतास्त्यक्तगृहयागास्त्यक्तविश्वेश्वरार्चनास्त्यपञ्चाक्षरजपास्त्यक्तभैरवार्चना भैरवीं घोरादियातनां नानाविधां काश्यां परेता मुक्त्वा ततः शुद्धा मां प्रपद्यन्ते च। अन्तर्गृहे रेतो मूत्रं पुरीषं वा विसृजन्ति तदा तेन सिञ्चन्ते पितॄन्। तमेव पापकारिणं मृतं पश्यन्नीललोहितो भैरवस्तं पातयत्यस्त्रमण्डले ज्वलज्ज्वलनकुण्डेष्वन्येष्वपि। ततश्चाप्रमादेन निवसेदप्रमादेन निवसेत् काश्यां लिङ्गरूपिण्यामित्युपनिषत् ॥30॥

इति द्वितीयोऽध्यायः।

इति भस्मजाबालोपनिषत्समाप्ता।
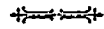
और जो लोग काशी में मलत्याग करने वाले, केवल दान लेने में ही मन लगाने वाले, भस्मधारण को छोड़ देने वाले, रुद्राक्ष का त्याग करने वाले, सोमवार के व्रत को छोड़ने वाले, ग्रहयागों को छोड़ देने वाले, विश्वेश्वर की पूजा का त्याग करने वाले, पंचाक्षर मंत्र का जाप छोड़ने वाले, भैरवार्चन का त्याग करने वाले लोग होते हैं, वे भी काशी में मरकर भैरवी (भयंकर घोर) यातना से मुक्त होकर बाद में शुद्ध होकर मुझे प्राप्त करेंगे। जो लोग अन्तर्गृह में वीर्य, मूत्र या मल को छोड़ते हैं, तो वे उससे पितृओं का सिंचन करते हैं। ऐसे पापकारी को भैरव अस्त्रों के मण्डल के बीच और जलते हुए अग्नि के कुण्डों में और अन्य ऐसे स्थलों में डाल देता है। इसलिए काशी में प्रमादरहित होकर ही रहना चाहिए। काशी तो लिंगरूपिणी है, ऐसा उपनिषत् कहती है। यहाँ उपनिषत् पूरी हुई।

यहाँ दूसरा अध्याय पूरा हुआ।

इस प्रकार भस्मजाबालोपनिषत् समाप्त होती है।

शान्तिपाठः

ॐ भद्रं कर्णेभिः—देवहितं यदायुः। (पूर्ववत्)
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

(90) रुद्राक्षजाबालोपनिषत्

(उपनिषत्परिचय)

यह सामवेदीय उपनिषत् रुद्राक्ष की महिमा गाती है। भुसुंड और कालाग्निरुद्र की आख्यायिका से शुरू होती हुई यह उपनिषत् रुद्राक्ष की उत्पत्ति, धारण और फलश्रुति बताती है। त्रिपुरासुर को मारने के लिए भगवान् रुद्र ने जब आँखें बन्द कीं तब उनमें से जो आँसू जमीन पर गिरे, वही रुद्राक्ष हुए। उसको पहनने से या उसके दर्शन से भी सभी पाप दूर हो जाते हैं। आँवले के परिमाण वाला रुद्राक्ष सबसे उत्तम माना जाता है, बेर के आकार का मध्यम माना जाता है और चने के आकर का अधम माना जाता है। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र को क्रमशः सफेद, लाल, पीला, काला रुद्राक्ष पहनना चाहिए। शिखा में एक, मस्तक पर तीन सौ, गले में छत्तीस, दोनों हाथों पर सोलह-सोलह, दोनों कलाइयों में बारह-बारह, कन्धे पर पाँच सौ तथा जनेऊ की भाँति एक सौ आठ रुद्राक्ष धारण करना चाहिए। रुद्राक्ष एक से लेकर चौदह मुखवाला होता है। हरएक के गुण अलग-अलग होते हैं। और उसे धारण करने वाले को तत्-तत् अनुरूप फल मिलता है।

शान्तिपाठः

ॐ आप्यायन्तु ममाङ्गानि—ते मयि सन्तु। (पूर्ववत्)
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

इसका हिन्दी रूपान्तर पूर्व में (महोपनिषद् में) द्रष्टव्य है।

अथ हैनं कालाग्निरुद्रं भुसुण्डः पप्रच्छ कथं रुद्राक्षोत्पत्तिः। तद्धारणात्किं फलमिति ॥1॥
तं होवाच भगवान्कालाग्निरुद्रः त्रिपुरवधार्थमहं निमीलिताक्षोऽभवम्। तेभ्यो जलबिन्दवो भूमौ पतितास्ते रुद्राक्षा जाताः। सर्वानुग्रहार्थाय तेषां नामोच्चारमात्रेण दशगोप्रदानफलं दर्शनस्पर्शनाभ्यां द्विगुणं फलमत ऊर्ध्वं वक्तुं न शक्नोमि ॥2॥

एक बार भुसुण्ड ने कालाग्निरुद्र से पूछा—'हे भगवन्! रुद्राक्ष की उत्पत्ति किस प्रकार हुई और उसको धारण करने से क्या फल मिलता है?' तब भगवान् कालाग्निरुद्र ने कहा—"त्रिपुर के वध के समय में मैंने आँखें बन्द कर ली थीं और उनमें से जल के बिन्दु नीचे गिरे। वे ही रुद्राक्ष हुए। सबके ऊपर अनुग्रह करने के लिए मैं कहता हूँ कि उनके नाम के उच्चारण मात्र से दस गायों के दान का फल मिलता है और उनके दर्शन और स्पर्श करने से दुगुना फल मिलता है। इससे आगे मैं क्या कहूँ" ?

तत्रैते श्लोका भवन्ति—
कस्मिंस्थितं तु किं नाम कथं वा धार्यते नरैः।
कतिभेदमुखान्यत्र कैर्मन्त्रैर्धार्यते कथम् ॥3॥

दिव्यवर्षसहस्राणि चक्षुरुन्मीलितं मया
भूमावक्षिपुटाभ्यां तु पतिता जलबिन्दवः ॥4॥
तत्राश्रुबिन्दवो जाता महारुद्राक्षवृक्षकाः ।
स्थावरत्वमनुप्राप्य भक्तानुग्रहकारणात् ॥5॥

इसके बारे में ये श्लोक कहे गए हैं—(प्रश्न—) वह कहाँ रहता है ? उसका क्या नाम है ? उसे किस तरह धारण करना चाहिए ? इसके कितने भेद (मुख) हैं ? उसके धारण के लिए क्या-क्या मंत्र हैं ? और कैसे धारण करना चाहिए ? इन प्रश्नों का उत्तर यह है कि एक हजार देववर्षों के बीत जाने के बाद मैंने आँखें खोलीं तो उनमें से (उन दोनों आँखों से) जल के बिन्दु धरती पर गिरे। वहाँ तब ये अश्रुबिन्दु रुद्राक्ष के बड़े वृक्ष हो गए। उन्होंने भक्तों पर अनुग्रह करने के लिए स्थावरत्व (जड़ता) को ग्रहण कर लिया।

भक्तानां धारणात्पापं दिवारात्रिकृतं हरेत्।
लक्षं तु दर्शनात्पुण्यं कोटिस्तद्धारणाद्भवेत् ॥6॥
तस्य कोटिशतं पुण्यं लभते धारणान्नरः ।
लक्षकोटिसहस्राणि लक्षकोटिशतानि च ॥7॥
तज्जपाल्लभते पुण्यं नरो रुद्राक्षधारणात् ।
धात्रीफलप्रमाणं यच्छ्रेष्ठमेतदुदाहृतम् ॥8॥

इस रुद्राक्ष के धारण करने से भक्तों के द्वारा दिन और रात में किए गए पाप नष्ट होते हैं। इसके दर्शन से लाख गुना और धारण करने से करोड़ गुना पुण्य मिलता है। मनुष्य इसके धारण करने से शतकोटि गुना पुण्य प्राप्त करता है और श्रद्धा भक्तिपूर्वक धारण करने पर तो उससे भी लाख-करोड़ गुना पुण्य प्राप्त होता है। जप की अपेक्षा उसे धारण करने से ऐसा पुण्यफल मिलता है। इन रुद्राक्षों में आँवले के फल के प्रमाण (आकार) का रुद्राक्ष श्रेष्ठ माना जाता है।

बदरीफलमात्रं तु मध्यमं प्रोच्यते बुधैः ।
अधमं चणमात्रं स्यात्प्रक्रियैषा मयोच्यते ॥9॥
ब्राह्मणाः क्षत्रिया वैश्याः शूद्राश्चेति शिवाज्ञया ।
वृक्षा जाताः पृथिव्यां तु तज्जातीयाः शुभाक्षकाः ॥10॥
श्वेतास्तु ब्राह्मणा ज्ञेयाः क्षत्रिया रक्तवर्णकाः ।
पीतास्तु वैश्या विज्ञेयाः कृष्णाः शूद्रा उदाहृताः ॥11॥
ब्राह्मणो बिभृयाच्छ्वेतान्रक्तान्राजा तु धारयेत् ।
पीतान्वैश्यस्तु बिभृयात्कृष्णाञ्छूद्रस्तु धारयेत् ॥12॥

जानकार लोग कहते हैं कि बेर के आकार का रुद्राक्ष मध्यम श्रेणी का होता है और चने के प्रमाण का अधम माना जाता है। अब मैं उसकी प्रक्रिया कहता हूँ—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र की जाति के शुभ रुद्राक्ष शिव की आज्ञा से वृक्षरूप बने हैं। उनमें जो श्वेत हैं वे ब्राह्मण हैं, ऐसा समझना चाहिए, रक्तवर्ण वाले क्षत्रिय हैं, पीले रुद्राक्ष वैश्य समझने चाहिए और काले शूद्र माने गए हैं। ब्राह्मण को सफेद रुद्राक्ष धारण करना चाहिए, क्षत्रिय को लाल रुद्राक्ष धारण करना चाहिए, पीले रुद्राक्ष को वैश्य धारण करे और काले को शूद्र को धारण करना चाहिए।

समाः स्निग्धा दृढाः स्थूलाः कण्टकैः संयुताः शुभाः ।
कृमिदष्टं छिन्नभिन्नं कण्टकैर्हीनमेव च ॥13॥
व्रणयुक्तमयुक्तं च षड्रुद्राक्षाणि वर्जयेत् ।
स्वयमेव कृतद्वारं रुद्राक्षं स्यादिहोत्तमम् ॥14॥
यत्तु पौरुषयत्नेन कृतं तन्मध्यमं भवेत् ।
समान्स्निग्धान् दृढान् स्थूलान् क्षौमसूत्रेण धारयेत् ॥15॥

समान गोलाई वाले, चिकने, मजबूत, स्थूल और काँटों से युक्त रुद्राक्ष शुभ माने जाते हैं। और जो कीड़ों के द्वारा दंश किया गया हो, जो अलग-अलग गोलाई वाला हो, जो काँटों से रहित हो, जो व्रणयुक्त (बाह्य आघात से भग्न) अथवा अभग्न हो—इन छः रुद्राक्षों को छोड़ देना चाहिए। जिस रुद्राक्ष में कुदरती ही छेद हो वह रुद्राक्ष उत्तम माना जाता है। पर जो पुरुष के प्रयत्न से रुद्राक्ष में छेद किया जाए तो वह मध्यम है। अतएव समान, चिकने, मजबूत और स्थूल रुद्राक्षों को रेशम के धागे में पिरो कर पहनना चाहिए।

सर्वगात्रेण सौम्येन सामान्यानि विचक्षणः ।
निकषे हेमरेखाभा यस्य रेखा प्रदृश्यते ॥16॥
तदक्षमुत्तमं विद्यात्तद्धार्यं शिवपूजकैः ।
शिखायामेकरुद्राक्षं त्रिंशतं शिरसा वहेत् ॥17॥
षट्त्रिंशतं गले दध्याद्बाहोः षोडशषोडश ।
मणिबन्धे द्वादशैव स्कन्धे पञ्चदशं वहेत् ॥18॥

जैसे निकष के पत्थर में हेम रेखा हो, उसी तरह की मानो हेम रेखा दीखती हो इसी तरह सर्व अवयव (आकार से) सामान्य (एक समान) अंग वाला रुद्राक्ष उत्तम माना जाता है। शिवपूजकों को ऐसे ही रुद्राक्ष धारण करने चाहिए। शिखा में एक रुद्राक्ष धारण करना चाहिए और मस्तक में तीस रुद्राक्ष धारण करने चाहिए। गले में छत्तीस रुद्राक्ष धारण करने चाहिए। और दोनों हाथों में सोलह-सोलह रुद्राक्ष धारण करने चाहिए। दोनों मणिबन्धों में बारह-बारह और कन्धे पर पन्द्रह रुद्राक्ष धारण करने चाहिए।

अष्टोत्तरशतैर्मालामुपवीतं प्रकल्पयेत् ।
द्विसरं त्रिसरं वापि सराणां पञ्चकं तथा ॥19॥
सराणां सप्तकं वापि बिभृयात्कण्ठदेशतः ।
मुकुटे कुण्डले चैव कर्णिकाहारकेऽपि वा ॥20॥
केयूरकटके सूत्रं कुक्षिबन्धे विशेषतः ।
सुप्ते पीते सदाकालं रुद्राक्षं धारयेन्नरः ॥21॥
त्रिशतं त्वधमं पञ्चशतं मध्यममुच्यते ।
सहस्रमुत्तमं प्रोक्तमेवं भेदेन धारयेत् ॥22॥

एक सौ आठ रुद्राक्षों की माला बनाकर उपवीत की तरह धारण करनी चाहिए। दो, तीन या पाँच या सात लड़ियों की माला बनाकर गले में पहननी चाहिए। कान की बाली के रूप में तथा मुकुट के रूप में भी रुद्राक्ष को धारण करना चाहिए। सूत्र में पिरोए गए रुद्राक्षों को बाजूबन्द में तथा कुक्षिबन्ध

में पहनना चाहिए। सोते-जगाते, खाते-पीते—सभी समय में मनुष्य को रुद्राक्ष धारण करना चाहिए। तीन सौ रुद्राक्षों को धारण करने वाला मनुष्य अधम, पाँच सौ रुद्राक्ष धारण करने वाला मध्यम तथा एक हजार रुद्राक्ष धारण करने वाला उत्तम माना जाता है। इसलिए इस प्रकार के भेद को जानकर मनुष्य को रुद्राक्ष का धारण करना चाहिए।

शिरसीशानमंत्रेण कण्ठे तत्पुरुषेण तु।
अघोरेण गले धार्यं तेनैव हृदयेऽपि च ॥23॥
अघोरबीजमन्त्रेण करयोर्धारयेत्सुधीः।
पञ्चाशदक्षग्रथितान्व्योमव्याप्यपि चोदरे ॥24॥
पञ्च ब्रह्मभिरङ्गैश्च त्रिमाला पञ्च सप्त च।
ग्रथित्वा मूलमन्त्रेण सर्वाण्यक्षाणि धारयेत् ॥25॥

'ईशानः सर्वभूतानाम्' इत्यादि मंत्र से रुद्राक्ष को मस्तक पर धारण करना चाहिए। और 'तत्पुरुषाय विद्महे महादेवाय' इत्यादि मंत्र से उसे कण्ठ में धारण करना चाहिए। तथा 'अघोरेभ्य' इत्यादि मंत्र से गले में और उसी मंत्र से हृदय में भी धारण करना चाहिए। विद्वानों को अघोर मंत्र के बीजमंत्र से रुद्राक्ष को दोनों हाथों में धारण करना चाहिए। रुद्राक्ष के मध्य छेद रूप आकाश में सूत्र पिरोते समय '**क**' से '**क्ष**' तक के पचासों अक्षर, हर एक रुद्राक्ष के साथ भावनापूर्वक आरोपित करना चाहिए। और बाद में पाँच ब्रह्ममंत्रों या पंचाक्षरी मंत्रों से रुद्राक्ष को अभिमंत्रित करना चाहिए। इसके बाद अक्षमालिकोपनिषत् में बताए अनुसार उसकी प्राणप्रतिष्ठा करके मूलमंत्र से पिरोना चाहिए और सात, पाँच या तीन मात्राओं की तरह रुद्राक्ष धारण करना चाहिए।

अथ हैनं भगवन्तं कालाग्निरुद्रं भुसुण्डः पप्रच्छ रुद्राक्षाणां भेदेन यदक्षं यत्स्वरूपं यत्फलमिति। तत्स्वरूपं मुखयुक्तमरिष्टनिरसनं कामाभीष्टफलं ब्रूहीति होवाच ॥26॥

इसके बाद भुसुंड ने भगवान् कालाग्निरुद्र से पूछा—'इन रुद्राक्षों के कितने भेद हैं ? इनका क्या स्वरूप है ? इसका क्या फल है ? मुखों के भेद से अरिष्ट-निवारण और मनोवांछित वस्तु के फल के बारे में आप हमें बताइए'। तब कालाग्निरुद्र भगवान् कहने लगे कि—

तत्रैते श्लोका भवन्ति—
एकवक्त्रं तु रुद्राक्षं परतत्त्वस्वरूपकम्।
तद्धारणात्परे तत्त्वे लीयते विजितेन्द्रियः ॥27॥
द्विवक्त्रं तु मुनिश्रेष्ठ चार्धनारीश्वरात्मकम्।
धारणादर्धनारीशः प्रीयते तस्य नित्यशः ॥28॥
त्रिमुखं चैव रुद्राक्षमग्नित्रयस्वरूपकम्।
तद्धारणाच्च हुतभुक्तस्य तुष्यति नित्यदा ॥29॥
चतुर्मुखं तु रुद्राक्षं चतुर्वक्त्रस्वरूपकम्।
तद्धारणाच्चतुर्वक्त्रः प्रीयते तस्य नित्यदा ॥30॥

इसके बारे में ये श्लोक हैं—एकमुखी रुद्राक्ष साक्षात् परमात्मा का रूप है। उसको धारण करने से जितेन्द्रिय लोग परमतत्त्व में लीन हो जाते हैं। हे मुनिवर ! द्विमुखी रुद्राक्ष को अर्धनारीश्वर का रूप

कहा गया है। उसको धारण करने से सदैव अर्धनारीश्वर की प्रीति बनी रहती है। त्रिमुखी रुद्राक्ष को तीनों अग्नियों का स्वरूप माना गया है। उसको धारण करने से अग्निदेवता सदैव प्रसन्न रहते हैं। और चतुर्मुखी रुद्राक्ष भगवान् चतुर्मुख का रूप माना गया है। इसे धारण करने से भगवान् चतुर्मुख सदैव प्रसन्न रहते हैं।

पञ्चवक्त्रं तु रुद्राक्षं पञ्चब्रह्मस्वरूपकम्।
पञ्चवक्त्रः स्वयं ब्रह्म पुंहत्यां च व्यपोहति ॥31॥
षड्वक्त्रमपि रुद्राक्षं कार्तिकेयाधिदैवतम्।
तद्धारणान्महाश्रीः स्यान्महदारोग्यमुत्तमम् ॥32॥
मतिविज्ञानसम्पत्तिशुद्धये धारयेत्सुधीः।
विनायकाधिदैवं च प्रवदन्ति मनीषिणः ॥33॥
सप्तवक्त्रं तु रुद्राक्षं सप्तमात्रधिदैवतम्।
तद्धारणान्महाश्रीः स्यान्महदारोग्यमुत्तमम् ॥34॥

पंचमुखी रुद्राक्ष पंचमुख ब्रह्म का (पाँच मुखवाले शिव का) स्वरूप माना गया है। इसको धारण करने पर स्वयं पंचानन भगवान् शिव मनुष्यवध के पातक को दूर कर देते हैं। षण्मुखी रुद्राक्ष कार्तिकेय का स्वरूप माना जाता है। उसको धारण करने से महालक्ष्मी और बड़ा उत्तम आरोग्य प्राप्त होता है। ज्ञानीजन इसे गणेश का रूप भी मानते हैं। इसलिए बुद्धिमान मनुष्य को इसे विद्या, बुद्धि और धन की शुद्धि के लिए धारण करना चाहिए। सात मुँह वाला रुद्राक्ष, ब्राह्मी, वैष्णवी आदि सात मातृशक्तियों का रूप माना जाता है। इसके धारण करने से विशाल सम्पत्ति और उत्तम स्वास्थ्य (आरोग्य) प्राप्त होता है।

महती ज्ञानसम्पत्तिः शुचिर्धारणतः सदा।
अष्टवक्त्रं तु रुद्राक्षमष्टमात्रधिदैवतम् ॥35॥
वस्वष्टकप्रियं चैव गङ्गाप्रीतिकरं तथा।
तद्धारणादिमे प्रीता भवेयुः सत्यवादिनः ॥36॥
नववक्त्रं तु रुद्राक्षं नवशक्त्यधिदैवतम्।
तस्य धारणमात्रेण प्रीयन्ते नव शक्तयः ॥37॥
दशवक्त्रं तु रुद्राक्षं यमदैवत्यमीरितम्।
दर्शनाच्छान्तिजनकं धारणान्नात्र संशयः ॥38॥

इसे पवित्रतापूर्वक धारण करने से हमेशा उत्तम ज्ञान और सम्पदा प्राप्त होते हैं। आठ मुखवाले रुद्राक्ष को आठ माताओं का स्वरूप कहा गया है, एवं उसे आठ वसुओं का प्रिय भी माना गया है। यह तो गंगा को भी प्रीतिकारक है। इसे धारण करने वाले सत्यवादी मनुष्य के ऊपर ये तीनों प्रसन्न होते हैं। (धारक के ऊपर ये तीनों अनुग्रह करते हैं।) नौ मुँहवाला रुद्राक्ष नौ शक्तियों वाला देवता कहा जाता है। उसके तो दर्शन-मात्र से ही नव शक्तियाँ प्रसन्न हो जाती हैं। दस मुँहवाला रुद्राक्ष यम देवता का स्वरूप माना जाता है। उसके भी दर्शनमात्र से वह शान्ति देने वाला होता है तो फिर धारण करने वाले को शान्ति मिलती ही है। उसमें कोई सन्देह नहीं है।

एकादशमुखं त्वक्षं रुद्रैकादशदैवतम्।
तदिदं दैवतं प्राहुः सदा सौभाग्यवर्धनम् ॥39॥
रुद्राक्षं द्वादशमुखं महाविष्णुस्वरूपकम्।
द्वादशादित्यरूपं च बिभर्त्येव हि तत्परः ॥40॥
त्रयोदशमुखं त्वक्षं कामदं सिद्धिदं शुभम्।
तस्य धारणमात्रेण कामदेवः प्रसीदति ॥41॥
चतुर्दशमुखं चाक्षं रुद्रनेत्रसमुद्भवम्।
सर्वव्याधिहरं चैव सर्वदारोग्यमाप्नुयात् ॥42॥

ग्यारह मुँह वाला रुद्राक्ष ग्यारह रुद्रों का स्वरूप कहा गया है। ये एकादश रुद्रदेव सदैव सौभाग्य को बढ़ाने वाले हैं। बारह मुँहवाला रुद्राक्ष महाविष्णु का स्वरूप माना गया है। इसे बारह आदित्यों के रूप में भी माना जाता है। इसे धारण करने पर व्यक्ति विष्णुपरायण और आदित्यपरायण हो जाता है। तेरह मुँहवाला रुद्राक्ष सभी मनोरथों को पूर्ण करने वाला, मंगलकारी और सिद्धिदायक माना जाता है। इसके धारणमात्र से कामदेव प्रसन्न होते हैं। चौदह मुँहवाला रुद्राक्ष तो साक्षात् रुद्र के नेत्र से ही जन्मा है। वह सभी व्याधियों को दूर करने वाला है एवं धारणकर्ता इससे आरोग्य प्राप्त करता है।

मद्यं मांसं च लशुनं पलाण्डुं शिग्रुमेव च।
श्लेष्मातकं विड्वराहमभक्ष्यं वर्जयेन्नरः ॥43॥
ग्रहणे विषुवे चैवमयने संक्रमेऽपि च।
दर्शेषु पूर्णमासे च पूर्णेषु दिवसेषु च।
रुद्राक्षधारणात्सद्यः सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥44॥
रुद्राक्षमूलं तद्ब्रह्मा तन्नालं विष्णुरेव च।
तन्मुखं रुद्र इत्याहुस्तद्बिन्दुः सर्वदेवताः ॥45॥

रुद्राक्ष धारण करने वाले को मद्य, मांस, लहसुन, प्याज, शिग्रु (कुकुरमुत्ता जैसे पदार्थ), लिसोड़ा, विड्वराह आदि अभक्ष्य पदार्थों को छोड़ देना चाहिए। सूर्य-चन्द्र के ग्रहण के समय में, अमावास्या, पौर्णमासी, उत्तरायण-दक्षिणायन योग, तुला-मेष आदि की संक्रान्ति के समय, रात-दिन की बराबरी के समय, दिन की पूर्णता के समय—इन समयों में रुद्राक्ष के धारण किए जाने पर मनुष्य सभी पापों से शीघ्र ही छुटकारा पा लेता है। इस रुद्राक्ष के मूल में ब्रह्मा, नाल वाले भाग में विष्णु तथा मुख में अर्थात् उसमें पड़ी हुई रेखाओं में रुद्र (शिव) तथा उसके कण्टकरूप बिन्दुओं में सभी देवताओं का निवासस्थान होता है।

अथ कालाग्निरुद्रं भगवन्तं सनत्कुमारः पप्रच्छाधीहि भगवन्रुद्राक्षधारण-विधिम्। तस्मिन्समये निदाघजडभरतदत्तात्रेयकात्यायनभरद्वाजकपिल-वसिष्ठपिप्पलादयश्च कालाग्निरुद्रं परिसमेत्योचुः। अथ कालाग्निरुद्रः किमर्थं भवतामागमनमिति होवाच। रुद्राक्षधारणविधिं वै सर्वे श्रोतुमिच्छामह इति ॥46॥

इसके बाद भगवान् कालाग्निरुद्र से सनत्कुमार ने प्रश्न किया कि "हे भगवन्! हमें रुद्राक्ष के धारण की विधि बताइए।" उसी समय में निदाघ, जडभरत, दत्तात्रेय, कात्यायन, भरद्वाज, कपिल, वसिष्ठ, पिप्पलाद, आदि भी कालाग्निरुद्र के पास एकत्रित होकर आए और कहने लगे। (कहने की

इच्छा करने लगे।) तब कालाग्नि रुद्र ने पूछा कि—'आप सबका यहाँ आगमन किसलिए हुआ?' तब उन सबने कहा कि—'हम रुद्राक्ष की धारणविधि को सुनना चाहते हैं।'

अथ कालाग्निरुद्रः प्रोवाच। रुद्रस्य नयनादुत्पन्ना रुद्राक्षा इति लोके ख्यायन्ते। अथ सदाशिवः संहारकाले संहारं कृत्वा संहाराक्षं मुकुली-करोति। तन्नयनाज्जाता रुद्राक्षा इति होवाच। तस्माद्रुद्राक्षत्वमिति कालाग्निरुद्रः प्रोवाच ॥47॥

तब कालाग्नि रुद्र ने कहा—"लोक में यह प्रसिद्ध है कि रुद्र की आँख से रुद्राक्ष उत्पन्न हुए हैं। सृष्टि के संहार के समय में जब रुद्र संहार करके, संहार करने वाली आँख खोलते हैं, तब उनके नेत्रों से ये रुद्राक्ष उत्पन्न हुए हैं। इसलिए उसका नाम रुद्राक्ष (रुद्र + अक्ष) पड़ा, ऐसा कालाग्निरुद्र ने कहा।

तद्रुद्राक्षे वाग्विषये कृते दशगोप्रदानेन यत्फलमवाप्नोति तत्फलमश्नुते। स एष भस्मज्योती रुद्राक्ष इति। तद्रुद्राक्षं करेण स्पृष्ट्वा धारणमात्रेण त्रिसहस्रगोप्रदानफलं भवति। तद्रुद्राक्षे कर्णयोर्धार्यमाणे एकादशसहस्र-गोप्रदानफलं भवति। एकादशरुद्रत्वं च गच्छति। तद्रुद्राक्षे शिरसि धार्यमाणे कोटिगोप्रदानफलं भवति। एतेषां स्थानानां कर्णयोः फलं वक्तुं न शक्यमिति होवाच ॥48॥

इस रुद्राक्ष का केवल नाम उच्चारण करने से ही जो फल दस गायों के दान से मिलता है, उतना फल मिल जाता है। यही रुद्राक्ष 'भस्मज्योति रुद्राक्ष' कहा जाता है। इस रुद्राक्ष का हाथ से स्पर्श करके धारण करने पर दो हजार गायों के दान का फल मिलता है। इस रुद्राक्ष को दो कानों में धारण करने पर ग्यारह हजार गायों के दान का फल मिलता है। इस रुद्राक्ष को मस्तक पर धारण करने पर करोड़ों गायों के दान का फल मिलता है। कान आदि में धारण करने पर जो फल मिलता है उसे कहा नहीं जा सकता।

य इमां रुद्राक्षजाबालोपनिषदं नित्यमधीते बालो वा युवा वा वेद स महान्भवति। स गुरुः सर्वेषां मन्त्राणामुपदेष्टा भवति। एतैरेव होमं कुर्यात्। एतैरेवार्चनम्। तथा रक्षोघ्नं मृत्युतारकं गुरुणा लब्धं कण्ठे बाहौ शिखायां वा बध्नीत। सप्तद्वीपवती भूमिर्दक्षिणार्थं नावकल्पते। तस्माच्छ्रद्धया यां काञ्चिद्गां दद्यात्सा दक्षिणा भवति। य इमामुपनिषदं ब्राह्मणः प्रातरधीयानो रात्रिकृतं पापं नाशयति। सायमधीयानो दिवस-कृतं पापं नाशयति। मध्याह्नेऽधीयमानः षड्जन्मकृतं पापं नाशयति। सायं प्रातः प्रयुञ्जानोऽनेकजन्मकृतं पापं नाशयति। षट्सहस्रलक्ष-गायत्रीजपफलमवाप्नोति। ब्रह्महत्यासुरापानस्वर्णस्तेयगुरुदारगमन-तत्संयोगपातकेभ्यः पूतो भवति। सर्वतीर्थफलमश्नुते। पतितसंभाषणा-त्पूतो भवति। पङ्क्तिशतसहस्रपावनो भवति। शिवसायुज्यमवा-प्नोति। न च पुनरावर्तते न च पुनरावर्तत इत्योम् सत्यमित्युप-निषत् ॥49॥

इति रुद्राक्षजाबालोपनिषत्समाप्ता।

जो मनुष्य इस रुद्राक्षजाबाल उपनिषत् को नित्य पढ़ता है, जो इसे जानता है, वह बालक हो या युवा हो, फिर भी महान् बन जाता है। वह सभी का गुरु, सभी मंत्रों का उपदेशक बन जाता है। इन्हीं मंत्रों से होम करना चाहिए। इन्हीं मंत्रों से अर्चन करना चाहिए। और गुरु के द्वारा दिए गए उस—राक्षसों का नाश करने वाले, मृत्यु को पार कराने वाले—रुद्राक्ष को हाथ में या शिखा में अथवा कण्ठ में बाँधना चाहिए। इसकी दक्षिणा के लिए यदि गुरु को सात द्वीप वाली पृथ्वी भी दी जाए तो भी कम हैं। इसलिए श्रद्धा से कोई भी गाय देनी चाहिए, वही दक्षिणा होगी। जो कोई ब्राह्मण इस उपनिषत् को प्रातःकाल पढ़ता है, उसका रात्रि में किया हुआ पाप नष्ट हो जाता है। जो सायंकाल में पढ़ता है, तो उसका दिवस में किया हुआ पाप नष्ट हो जाता है। मध्याह्न में किया हुआ पाठ छः जन्मों में किए गए पापों का नाश कर देता है। सायंकाल और प्रातःकाल में किया गया पाठ अनेक जन्मों में किए गए पापों का नाश कर देता है। इससे छः हजार लाख गायत्री का जप का फल भी मिलता है। इससे ब्रह्महत्या, सुरापान, सुवर्णचोरी, गुरुपत्नी के साथ व्यभिचार और उसके संयोग जैसे बड़े पापों से मुक्त हो जाता है। वह सभी तीर्थों की यात्रा का फल प्राप्त करता है। पापियों से की गई बातचीत के पाप से वह मुक्त हो जाता है। वह साधक हजारों-सैकड़ों लोगों को पवित्र बना देता है। वह शिव का सायुज्य प्राप्त करता है। वह फिर यहाँ नहीं लौटता। वह फिर से यहाँ लौटता ही नहीं। इस प्रकार यही सत्य है, यही ओंकार है, परम तत्त्व है।

इस प्रकार रुद्राक्षजाबालोपनिषत् समाप्त होती है।

शान्तिपाठः

ॐ आप्यायन्तु ममाङ्गानि ते मयि सन्तु। (पूर्ववत्)
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

(91) गणपत्युपनिषत्

(उपनिषत्परिचय)

यह उपनिषत् अथर्ववेद से सम्बद्ध है। इसमें गणपति की स्तुति, उनसे प्रार्थना, गणपति की सर्वात्मकता, गणपति का मंत्र, गणपतिगायत्री, गणपतिध्यान, गणपतिमालामन्त्र, विद्यापठन का फल, विद्यासंप्रदान का नियम, काम्य प्रयोग और विद्यावेदन का फल—इतने विषय आते हैं। ऐसी परवर्ती उपनिषदों में सगुण भक्ति की ओर लोगों का झुकाव था, यह बात इस उपनिषद् से स्पष्ट हो जाती है।

शान्तिपाठः

ॐ भद्रं कर्णेभिः देवहितं यदायुः। (पूर्ववत्)
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

इसका हिन्दी रूपान्तर पूर्व में (शाण्डिल्योपनिषद् में) द्रष्टव्य है।

नमस्ते गणपतये ॥1॥
त्वमेव प्रत्यक्षं तत्त्वमसि। त्वमेव केवलं कर्तासि। त्वमेव केवलं भर्तासि। त्वमेव केवलं हर्तासि। त्वमेव सर्वं खल्विदं ब्रह्मासि। त्वं साक्षादात्मासि ॥2॥
नित्यं ऋतं वच्मि। सत्यं वच्मि ॥3॥

गणपति भगवान् को प्रणाम हो। तुम्हीं प्रत्यक्ष तत्त्व हो। तुम्हीं केवल कर्ता हो। तुम्हीं केवल भर्ता (पोषणकर्ता) हो। तुम्हीं केवल हर्ता हो। तुम्हीं सही रूप में यह सब कुछ ब्रह्मस्वरूप में हो। तुम्हीं साक्षात् यह आत्मा हो। मैं सदा परमसत्य बोलता हूँ। मैं सर्वदा सत्य ही बोलता हूँ।

अव त्वं माम्। अव वक्तारम्। अव श्रोतारम्। अव दातारम्। अव धातारम्। अवानूचानमव शिष्यम्। अव पश्चात्तात्। अव पुरस्तात्। अव चोत्तरात्तात्। अव दक्षिणात्तात्। अव चोर्ध्वात्तात्। अवाधरात्तात्। सर्वतो मां पाहि पाहि समन्तात् ॥4॥

तुम मेरा रक्षण करो। वक्ता का तुम रक्षण करो। तुम श्रोता का रक्षण करो (उपदेशक और शिष्य दोनों का रक्षण करो)। धाता (ज्ञानधारक) की रक्षा करो। अनूचान की (ज्ञान को क्रियान्वित करने वाले की) रक्षा करो। और मेरी (शिष्य की) भी रक्षा करो। पीछे से मेरी रक्षा करो। आगे से मेरी रक्षा करो। उत्तर से मेरी रक्षा करो। दक्षिण से मेरी रक्षा करो। ऊपर से मेरी रक्षा करो। नीचे से मेरी रक्षा करो। चारों ओर से मेरी रक्षा करो, मेरी रक्षा करो।

त्वं वाङ्मयस्त्वं चिन्मयः। त्वमानन्दमयस्त्वं ब्रह्ममयः। त्वं सच्चिदानन्दाद्वितीयोऽसि। त्वं प्रत्यक्षं ब्रह्मासि। त्वं ज्ञानमयो विज्ञानमयोऽसि ॥5॥

तुम वाङ्मय (वाणीरूप) हो। तुम चिन्मय हो। तुम आनन्दमय हो। तुम ब्रह्ममय हो। तुम सच्चिदानन्दमय हो, तुम अद्वितीय हो। तुम्हीं प्रत्यक्ष ब्रह्म हो। तुम ज्ञानमय हो। तुम विज्ञानमय हो।

सर्वं जगदिदं त्वत्तो जायते। सर्वं जगदिदं त्वत्तस्तिष्ठति। सर्वं जगदिदं त्वयि लयमेष्यति। सर्वं जगदिदं त्वयि प्रत्येति। त्वं भूमिरापोऽनलोऽनिलो नभः। त्वं चत्वारि वाक्पदानि। त्वं गुणत्रयातीतः। त्वं कालत्रयातीतः। त्वं देहत्रयातीतः। त्वं मूलाधारस्थितोऽसि नित्यम्। त्वं शक्तित्रयात्मकः। त्वां योगिनो ध्यायन्ति नित्यम्। त्वं ब्रह्मा त्वं विष्णुस्त्वं रुद्रस्त्वमिन्द्रस्त्वमग्निस्त्वं वायुस्त्वं सूर्यस्त्वं चन्द्रमास्त्वं ब्रह्म भूर्भुवः सुवरोम् ॥6॥

यह सारा जगत् तुमसे उत्पन्न होता है, यह सारा जगत् तुमसे ही टिकता है। इस सारे जगत् का तुम्हीं में लय हो जाएगा। तुम्हीं में इस सारे जगत् की प्रतीति हो रही है। तुम्हीं पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश हो। तुम्हीं परा, पश्यन्ती आदि चार वाणी के प्रकार हो। तुम तीन गुणों से परे हो। तुम तीन कालों से भी परे हो। तुम तीन देहों से भी परे हो। तुम सदा मूलाधार में अवस्थित हो। तुम तीन शक्तियों के स्वरूप हो। योगी लोग सर्वदा तुम्हारा ही ध्यान करते हैं। तुम ब्रह्मा हो, तुम विष्णु हो, तुम रुद्र हो, तुम इन्द्र हो, तुम अग्नि हो, तुम वायु हो, तुम सूर्य हो, तुम चन्द्रमा हो। ये भूः, भुवः और स्वः—तीनों लोक और परब्रह्मवाचक ओंकार अक्षर भी तो तुम्हीं हो।

गणादिं पूर्वमुच्चार्य वर्णादिं तदनन्तरम्। अनुस्वारः परतरः। अर्धेन्दुलसितम्। तारेण रुद्धम्। एतत्तव मनुस्वरूपम् ॥7॥

सबसे पहले 'गण' शब्द के आदि अक्षर 'ग्' का उच्चारण करना चाहिए। इसके बाद सभी वर्णों के आदि अक्षर 'अ' का उच्चारण करना चाहिए। फिर बाद में अनुस्वार (·) का उच्चारण करना चाहिए। इस तरह से अर्धचन्द्र से शोभायमान 'गं' ॐकार के द्वारा अवरुद्ध हो जाने पर तुम्हारे बीजमंत्र का रूप 'ॐ गं'—ऐसा हो जाता है।

गकारः पूर्वरूपम्। अकारो मध्यमरूपम्। अनुस्वारश्चान्त्यरूपम्। बिन्दुरुत्तररूपम्। नादः सन्धानम्। संहिता सन्धिः। सैषा गणेशविद्या ॥8॥

इसका प्रथम रूप 'ग'कार है, मध्यमरूप 'अ' कार है और अनुस्वार अन्त्य रूप है तथा बिन्दु इसका उत्तर रूप है। नाद ही इसका सन्धान है। और संहिता इसकी सन्धि कही गई है। ऐसी ही यह गणेशविद्या है।

गणक ऋषिः। निचृद्गायत्री छन्दः। श्रीमहागणपतिर्देवता। ॐ गम्।
(गणपतये नमः) ॥9॥
एकदन्ताय विद्महे वक्रतुण्डाय धीमहि। तन्नो दन्ती प्रचोदयात् ॥10॥

इस मंत्र के ऋषि गणक हैं। इसका छन्द निचृद्गायत्री है। श्रीमहागणपति इसके देवता हैं। और यह 'ॐ गं' (गणपतये नमः) यही महामंत्र के रूप से जाना जाता है। हम एकदन्त को जानते हैं। हम वक्रतुण्ड का ध्यान करते हैं। वह दन्ती हम सभी को सन्मार्ग की ओर प्रेरित करें।

एकदन्तं चतुर्हस्तं पाशमङ्कुशधारिणम्।
अभयं वरदं हस्तैर्बिभ्राणं मूषकध्वजम् ॥11॥

रक्तं लम्बोदरं शूर्पकर्णकं रक्तवाससम्।
रक्तगन्धानुलिप्ताङ्गं रक्तपुष्पैः सुपूजितम् ॥12॥
भक्तानुकम्पिनं देवं जगत्कारणमच्युतम्।
आविर्भूतं च सृष्ट्यादौ प्रकृतेः पुरुषात्परम् ॥13॥
एवं ध्यायति यो नित्यं स योगी योगिनां वरः ॥14॥

जो साधक उस एकदंत, चतुर्भुज, पाश-अंकुश-अभय और वरदमुद्रा को धारण करने वाले, चूहे से चिह्नित ध्वजा वाले, लाल वर्ण वाले, लम्बे उदरवाले, सूप जैसे बड़े कान वाले, लाल वस्त्र पहने हुए, लाल चन्दन का लेप लगाए हुए, लाल फूलों से अच्छी तरह पूजे गए, भक्तों पर दया करने वाले, जगत् के कारणरूप देव, अच्युत (अविनाशी), सृष्टि से पहले प्रादुर्भूत तथा प्रकृति और पुरुष से भी परे, विघ्नविनाशक गणेश का नित्य ही चिन्तन करता है, वह योगी (साधक) सभी योगियों में श्रेष्ठ माना जाता है।

नमो व्रातपतये नमो गणपतये नमः प्रमथपतये नमस्तेऽस्तु लम्बोदरायैकदन्ताय विघ्नविनाशिने शिवसुताय श्रीवरदमूर्तये नमो नमः ॥15॥

व्रातों (देवसमूहों) के पति को नमस्कार हो। गणपति को नमस्कार हो। प्रमथ (शिव) के नायक—मुख्य गण को नमस्कार हो। लम्ब उदरवाले को, एक दाँतवाले को, विघ्नों के नाशक को, शंकर के पुत्र को और वरदान देने वाले स्वरूप को हमारा बार-बार नमस्कार हो, नमस्कार हो।

एतदथर्वशिरो योऽधीते स ब्रह्मभूयाय कल्पते। स सर्वविघ्नैर्न बाध्यते। स सर्वतः सुखमेधते। स पञ्चमहापातकोपपातकात्प्रमुच्यते। सायमधीयानो दिवसकृतं पापं नाशयति। प्रातरधीयानो रात्रिकृतं पापं नाशयति। सायंप्रातः प्रयुञ्जानोऽपापो भवति। धर्मार्थकाममोक्षं च विन्दति ॥16॥

इस अथर्ववेदीय उपनिषत् का जो पाठ करता है, वह ब्रह्मत्व की प्राप्ति कर लेता है। उसको सभी विघ्नों के द्वारा पीड़ा नहीं होती। वह चारों ओर से सुख ही प्राप्त करता है। वह पाँच महापातकों से और उपपातकों से मुक्त हो जाता है। सायंकाल में इसका पाठ करने वाला दिन में किए हुए पापों से मुक्त होता है। सुबह में पाठ करने वाला रात्रि में किए गए पापों का नाश कर देता है। सुबह-शाम दोनों समय पाठ करने वाला निष्पाप हो जाता है। वह धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष को प्राप्त कर लेता है।

इदमथर्वशीर्षमशिष्याय न देयम्। यो यदि मोहाद्दास्यति स पापीयान्भवति ॥17॥

यह अथर्वशीर्ष उपनिषत् जो शिष्य न हो, उसे नहीं पढ़ाना चाहिए। जो कोई भी ऐसे किसी को मोह से पढ़ाएगा, वह पातकी हो जाता है।

सहस्रावर्तनाद्यं यं काममधीते तं तमनेन साधयेत्। अनेन गणपतिमभिषिञ्चति स वाग्मी भवति। चतुर्थ्यामनश्नञ्जपति स विद्यावान्भवति। इत्यथर्वणवाक्यम्। ब्रह्माद्याचरणं विद्यात्। न बिभेति कदाचनेति। यो दूर्वाङ्कुरैर्यजति स वैश्रवणोपमो भवति। यो लाजैर्यजति स यशोवान्भवति। स मेधावान्भवति। यो मोदकसहस्रेण यजति स वाञ्छितफलमवाप्नोति। यः साज्यसमिद्भिर्यजति स सर्वं लभते। स सर्वं लभते।

अष्टौ ब्राह्मणान्सम्यग्ग्राहयित्वा सूर्यवर्चस्वी भवति। सूर्यग्रहणे महानद्यां प्रतिमासन्निधौ वा जप्त्वा सिद्धमन्त्रो भवति। महाविघ्नात्प्रमुच्यते। महापापात्प्रमुच्यते। महादोषात्प्रमुच्यते ॥18॥

इस उपनिषत् के एक हजार बार आवर्तन करने से मनुष्य जो-जो कामना करता है, वह सिद्ध होती है। जो इसके द्वारा गणपति का अभिषेक करता है वह समर्थ वक्ता होता है। चतुर्थी के दिन बिना खाए जो इसका जप करता है, वह विद्यावान होता है। यह अथर्वण वाक्य है। जो कोई इसके द्वारा ब्रह्माद्याचरण (तपश्चर्या) करना चाहता है, वह कभी कहीं से भयभीत नहीं होता। जो दूर्वाकुरों से गणपति को पूजता है वह कुबेर जैसा हो जाता है। जो लाजा (धान) की खील से पूजा करता है, वह यशोवान (कीर्तिमान) होता है और बुद्धिमान भी होता है। जो कोई एक हजार लड्डुओं से (मोदकों से) पूजा करता है, वह अपने इच्छित फल को प्राप्त करता है। जो घीसहित काष्ठों से पूजा करता है, वह सब कुछ प्राप्त कर लेता है, सभी कुछ प्राप्त कर लेता है। आठ ब्राह्मणों को अच्छी तरह जो यह विद्या सिखाकर तैयार कर देता है, वह सूर्य के समान तेजस्वी हो जाता है। सूर्यग्रहण के समय, बड़ी नदी में अथवा प्रतिमा के समक्ष जप करके मनुष्य मंत्रसिद्ध होता है। वह बड़े विघ्नों से मुक्त हो जाता है, बड़े पाप से छुटकारा पाता है, बड़े दोष से मुक्त हो जाता है।

स सर्वविद्भवति स सर्वविद्भवति। य एवं वेदेत्युपनिषत् ॥19॥
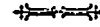
इति गणपत्युपनिषत्समाप्ता।

वह सर्वज्ञ हो जाता है। वह सब जानने वाला हो जाता है, कि जो ऐसा जान लेता है।

इस प्रकार गणपत्युपनिषत् समाप्त होती है।

शान्तिपाठः

ॐ भद्रं कर्णेभिः—देवहितं यदायुः। (पूर्ववत्)
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

❋

(92) जाबालदर्शनोपनिषत्

(उपनिषत्परिचय)

इस सामवेदीय उपनिषत् को 'दर्शनोपनिषत्' भी कहते हैं। इसमें कुल दस खण्ड हैं। इसमें दत्तात्रेय और सांकृति की अष्टांग योग के बारे में प्रश्नोत्तरी है। प्रथम खण्ड में आठ अंगों तथा दस यमों का, द्वितीय में दस नियमों का, तृतीय में नौ यौगिक आसनों का, चौथे में नाड़ियों का परिचय दिया गया है और इसके साथ आत्मतीर्थ तथा आत्मज्ञान की महिमा बताई गई है। पाँचवें में नाड़ीशोधन की प्रक्रिया तथा आत्मशोधन की विधियाँ बताई गई हैं। छठे खण्ड में प्राणायामविधि, उसके प्रकार, फलप्रयोग आदि का उल्लेख है। सातवें में प्रत्याहार तथा उसके प्रकारों का प्रतिपादन है। आठवें और नवें खण्ड में धारणा और ध्यान का वर्णन किया है और दसवें में समाधि अवस्था का वर्णन है। फलश्रुति भी है। इस तरह से यह पूरी उपनिषत् योगपरक ही है।

शान्तिपाठः

ॐ आप्यायन्तु ममाङ्गानि—ते मयि सन्तु। (पूर्ववत्)
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

इसका हिन्दी रूपान्तर पूर्व में (महोपनिषद् में) द्रष्टव्य है।

प्रथमः खण्डः

दत्तात्रेयो महायोगी भगवान्भूतभावनः।
चतुर्भुजो महाविष्णुर्योगसाम्राज्यदीक्षितः ॥1॥
तस्य शिष्यो मुनिवरः सांकृतिर्नाम भक्तिमान्।
पप्रच्छ गुरुमेकान्ते प्राञ्जलिर्विनयान्वितः ॥2॥
भगवन्ब्रूहि मे योगं साष्टाङ्गं सप्रपञ्चकम्।
येन विज्ञातमात्रेण जीवन्मुक्तो भवाम्यहम् ॥3॥

महायोगी भगवान् दत्तात्रेय प्राणियों का कल्याण करने वाले थे। वे योगसाम्राज्य में दीक्षित थे और चतुर्भुजधारी महाविष्णु भगवान् के अवतार थे। मुनियों में श्रेष्ठ सांकृति नाम का उनका एक शिष्य था। एक बार भक्तिमान् उस शिष्य ने दोनों हाथ जोड़कर विनयपूर्वक एकान्त में गुरु से पूछा कि—'भगवन्! आठ अंगों के साथ योग का मुझे विस्तार से उपदेश दीजिए कि जिसको जानने से ही मैं जीवन्मुक्त हो जाऊँ।'

सांकृते शृणु वक्ष्यामि योगं साष्टाङ्गदर्शनम्।
यमश्च नियमश्चैव तथैवासनमेव च ॥4॥

प्राणायामस्तथा ब्रह्मन्प्रत्याहारस्ततः परम् ।
धारणा च तथा ध्यानं समाधिश्चाष्टमं मुने ॥5॥
अहिंसा सत्यमस्तेयं ब्रह्मचर्यं दयार्जवम् ।
क्षमाधृतिर्मिताहारः शौचं चैव यमा दश ॥6॥

(यह सुनकर गुरु दत्तात्रेय ने कहा—) 'हे सांकृति, आठ अंगों के साथ योग मैं तुम्हें कह रहा हूँ, सुनो। हे ब्राह्मण! यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि—ये आठ योग के अंग हैं। अहिंसा, सत्य, अस्तेय (चोरी न करना), ब्रह्मचर्य, दया, सरलता, क्षमा, धैर्य, मिताहार और अन्तः-बाह्य शौच—ये दश यम कहे जाते हैं।

वेदोक्तेन प्रकारेण विना सत्यं तपोधन ।
कायेन मनसा वाचाऽहिंसाऽहिंसा न चान्यथा ॥7॥
आत्मा सर्वगतोऽछेद्यो न ग्राह्य इति मे मतिः ।
सा चाहिंसा वरा प्रोक्ता मुने वेदान्तवेदिभिः ॥8॥

हे तपोधन! उनमें वेदविहित हिंसा के सिवा, मन-कर्म-वचन से हिंसा न करना ही सच्ची अहिंसा है। अन्य प्रकार से तो हिंसा नहीं करनी चाहिए। परन्तु आत्मा सर्वव्यापी है और वह छेदा (मारा) नहीं जा सकता, ऐसा मैं मानता हूँ। हे मुनि! ऐसा मानना ही वेदान्त जानने वालों के मत में श्रेष्ठ अहिंसा है।

चक्षुरादीन्द्रियैर्दृष्टं श्रुतं घ्रातं मुनीश्वर ।
तस्यैवोक्तिर्भवेत्सत्यं विप्र तन्नान्यथा भवेत् ॥9॥
सर्वं सत्यं परं ब्रह्म न चान्यदिति या मतिः ।
तच्च सत्यं वरं प्रोक्तं वेदान्तज्ञानपारगैः ॥10॥
अन्यदीये तृणे रत्ने काञ्चने मौक्तिकेऽपि च ।
मनसा विनिवृत्तिर्या तदस्तेयं विदुर्बुधाः ॥11॥
आत्मन्यनात्मभावेन व्यवहारविवर्जितम् ।
यत्तदस्तेयमित्युक्तमात्मविद्भिर्महामते ॥12॥

हे ब्राह्मण! चक्षुरादि इन्द्रियों से जो देखा गया हो, सुना गया हो या सूँघा गया हो, उसे उसी प्रकार यथातथ्य कहना ही सत्य कहलाता है। हे मुनिवर! सत्य अन्यथा नहीं हो सकता। परन्तु, 'परब्रह्म सर्वस्वरूप और सत्य है, और कुछ सत्य नहीं है'—ऐसी जो मान्यता है, उसे ही वेदान्तशास्त्र के पारंगत लोग श्रेष्ठ सत्य मानते हैं। हे बुद्धिमान्! दूसरों के रत्न में, सोने में, मोती में और तिनके में भी मनोकामना न करने को विद्वान् लोग 'अस्तेय' कहते हैं, परन्तु आत्मवेत्ता लोग तो उसी तरह आत्मा में अनात्मभाव वाले व्यवहारों का त्याग कर देने को भी 'अस्तेय' कहते हैं।

कायेन वाचा मनसा स्त्रीणां परिविवर्जनम् ।
ऋतौ भार्यां तदा स्वस्य ब्रह्मचर्यं तदुच्यते ॥13॥
ब्रह्मभावे मनश्चारं ब्रह्मचर्यं परन्तप ॥14॥
स्वात्मवत्सर्वभूतेषु कायेन मनसा गिरा ।
अनुज्ञा या दया सैव प्रोक्ता वेदान्तवेदिभिः ॥15॥

पुत्रे मित्रे कलत्रे च रिपौ स्वात्मनि सन्ततम् ।
एकरूपं मुने यत्तदार्जवं प्रोच्यते मया ॥16॥

मन-वचन-कर्म से स्त्रियों का त्याग करना और अपनी पत्नी के साथ भी ऋतुकाल में ही संभोग करना 'ब्रह्मचर्य' कहा जाता है। और हे शत्रुतापन्! ब्रह्मभाव में (महाभाव में) मन का चरण (संचरण) हो, उसे भी तो ब्रह्मचर्य कहते हैं। मन-वचन-कर्म से सभी प्राणियों को अपने जैसे ही मानने को ही वेदान्त जानने वाले 'दया' कहते हैं। हे मुनि! पुत्र, मित्र, शत्रु, स्त्री और अपनी आत्मा—इन सभी में निरन्तर एकरूपता देखने को ही मैं आर्जव (सरलता) कहता (मानता) हूँ।

कायेन मनसा वाचा शत्रुभिः परिपीडिते ।
बुद्धिक्षोभनिवृत्तिर्या क्षमा सा मुनिपुङ्गव ॥17॥
वेदादेव विनिर्मोक्षः संसारस्य न चान्यथा ।
इति विज्ञाननिष्पत्तिर्धृतिः प्रोक्ता हि वैदिकैः ।
अहमात्मा न चान्योऽस्मीत्येवमप्रच्युता मतिः ॥18॥
अल्पमृष्टाशनाभ्यां च चतुर्थांशावशेषकम् ।
तस्माद्योगानुगुण्येन भोजनं मितभोजनम् ॥19॥
स्वदेहमलनिर्मोक्षो मृज्जलाभ्यां महामुने ।
यत्तच्छौचं भवेद्बाह्यं मानसं मननं विदुः ।
अहं शुद्ध इति ज्ञानं शौचमाहुर्मनीषिणः ॥20॥

हे मुनिवर! शत्रु लोग मन-वचन-काया से पीड़ा पहुँचाएँ, तो भी बुद्धि का क्षुब्ध न होना ही 'क्षमा' है। 'वेद-ज्ञान से ही संसार से छुटकारा होता है, ज्ञान के सिवा मुक्ति नहीं होती'—इस प्रकार की अनुभूति हो और 'मैं आत्मा ही हूँ, और कुछ नहीं हूँ'—इस प्रकार की अस्खलित विभावना हो, उसी को वेदज्ञ लोग 'धृति' कहते हैं। पेट का चौथा भाग खाली रखकर परिमित, शुद्ध और योग के अनुकूल आहार को 'मिताहार' कहते हैं। हे महामुनि! मिट्टी और जल से अपने शरीर के मैल को दूर करना बाह्य शौच होता है। और 'मैं तो शुद्ध ही हूँ'—इस प्रकार का मनन करना और इस प्रकार मन में अच्छी तरह से समझना, उसे विद्वान् लोग मानस शौच कहते हैं।

अत्यन्तमलिनो देहो देही चात्यन्तनिर्मलः ।
उभयोरन्तरं ज्ञात्वा कस्य शौचं विधीयते ॥21॥
ज्ञानशौचं परित्यज्य बाह्ये यो रमते नरः ।
स मूढः काञ्चनं त्यक्त्वा लोष्टं गृह्णाति सुव्रत ॥22॥
ज्ञानामृतेन तृप्तस्य कृतकृत्यस्य योगिनः ।
न चास्ति किञ्चित्कर्तव्यमस्ति चेन्न स तत्त्ववित् ॥23॥
लोकत्रयेऽपि कर्तव्यं किञ्चिन्नास्त्यात्मवेदिनाम् ॥24॥
तस्मात्सर्वप्रयत्नेन मुनेऽहिंसादिसाधनैः ।
आत्मानमक्षरं ब्रह्म विद्धि ज्ञानात्तु वेदनात् ॥25॥

इति प्रथमः खण्डः ।

शरीर तो बहुत मलिन है और आत्मा अत्यन्त निर्मल है—इस प्रकार उन दोनों का भेद समझकर फिर तो उन दो में से किसका शौच किया जाए ? हे सुव्रत्! जो पुरुष ज्ञानशौच का त्याग करके केवल

बाह्य शौच में ही रचा-पचा रहता है, वह तो मूढ़ है। वह सोना छोड़कर मिट्टी के पिण्ड को ही मानो स्वीकार करता है। ज्ञानरूपी अमृत से तृप्त हुआ योगी धन्य है, कृतकृत्य है। उसके लिए अब कुछ भी करने को शेष नहीं रहता। यदि उसे कुछ करने की मनीषा होती है, तो वह अभी तत्त्ववेत्ता नहीं हुआ है, क्योंकि आत्मवेत्ताओं के लिए तीनों लोकों में कुछ भी करने को शेष रहता ही नहीं है। इसलिए हे मुनि ! सभी प्रयत्नों से अहिंसा आदि साधनों के द्वारा ज्ञान से और अनुभव से इस आत्मा को तुम अक्षरब्रह्म के रूप में ही जान लो।

यहाँ प्रथम खण्ड पूरा हुआ।

❋

द्वितीयः खण्डः

तपः संतोषमास्तिक्यं दानमीश्वरपूजनम्।
सिद्धान्तश्रवणं चैव ह्रीर्मतिश्च जपो व्रतम् ॥1॥
एते च नियमाः प्रोक्तास्तान्वक्ष्यामि क्रमाच्छृणु ॥2॥
वेदोक्तेन प्रकारेण कृच्छ्रचान्द्रायणादिभिः।
शरीरशोषणं यत्तत्तप इत्युच्यते बुधैः ॥3॥
को वा मोक्षः कथं तेन संसारं प्रतिपन्नवान्।
इत्यालोकनमर्थज्ञास्तपः शंसन्ति पण्डिताः ॥4॥
यदृच्छालाभतो नित्यं प्रीतिर्या जायते नृणाम्।
तत्संतोषं विदुः प्राज्ञाः परिज्ञानैकतत्पराः ॥5॥

तप, सन्तोष, आस्तिकता, दान, ईश्वरपूजन, सिद्धान्तश्रवण, लज्जा, मति, जप, व्रत—ये सब नियम कहे जाते हैं, उनके बारे में मैं क्रमानुसार कह रहा हूँ, इसे तुम सुनो। वेद में बताए गए अनुसार कृच्छ्र, चान्द्रायण आदि व्रतों के द्वारा शरीर को कृश करना ही विद्वानों के द्वारा तप कहा जाता है। और "मोक्ष क्या है ? मैं यहाँ संसार को क्यों प्राप्त हुआ ?"—ऐसी बातों पर चिन्तन करने को भी मर्मज्ञ पण्डित लोग 'तप' कहते हैं। दैवेच्छा से जो भी कुछ आ मिले, उसी में लोगों की जो प्रीति होती है, उसे ही केवल ज्ञानपरायण प्राज्ञ सन्तोष कहते हैं।

ब्रह्मादिलोकपर्यन्ताद्विरक्त्या यल्लभेत्प्रियम्।
सर्वत्र विगतस्नेहः सन्तोषं परमं विदुः।
श्रौते स्मार्ते च विश्वासो यत्तदास्तिक्यमुच्यते ॥6॥
न्यायार्जितधनं श्रान्ते श्रद्धया वैदिके जने।
अन्यद्वा यत्प्रदीयन्ते तद्दानं प्रोच्यते मया ॥7॥
रागाद्यपेतं हृदयं वागदुष्टानृतादिना।
हिंसादिरहितं कर्म यत्तदीश्वरपूजनम् ॥8॥
सत्यं ज्ञानमनन्तं च परानन्दं परं ध्रुवम्।
प्रत्यगित्यवगन्तव्यं वेदान्तेश्रवणं बुधाः ॥9॥

और भी—ब्रह्मलोक आदि लोकों के विषयों पर भी वैराग्य हो जाने से उन सभी पर स्नेहरहित बना हुआ मनुष्य यों ही आ मिली हुई किसी वस्तु को प्रिय मान ले, तो उसे उत्तम सन्तोष कहा जाता

है। श्रौत और स्मार्त कर्मों में श्रद्धा रखना ही आस्तिकता है। न्याय से प्राप्त किया गया धन या अन्य कोई वस्तु यदि कोई वेदानुसारी पुरुष को दे, थके हुए ऐसे मनुष्य को दे, तो उसे मैं दान कहता हूँ। यदि हृदय रागादि दोषों से रहित हुआ हो, वाणी असत्यभाषण से दूषित न हुई हो, और कर्म भी हिंसादि दूषणों से रहित हो, तो वही ईश्वरपूजन है। यह प्रत्यगात्मा सत्यरूप, ज्ञानरूप, अनन्त, परमानन्दस्वरूप और सर्व से परे है, ऐसी समझदारी को विद्वान् लोग वेदान्तश्रवण कहते हैं।

वेदलौकिकमार्गेषु कुत्सितं कर्म यद्भवेत्।
तस्मिन्भवति या लज्जा ह्रीः सैवेति प्रकीर्तिता ॥10॥
वैदिकेषु च सर्वेषु श्रद्धा या सा मतिर्भवेत्।
गुरुणा चोपदिष्टोऽपि तत्र सम्बन्धवर्जितः ॥11॥
वेदोक्तेनैव मार्गेण मन्त्राभ्यासो जपः स्मृतः।
कल्पसूत्रे तथा वेदे धर्मशास्त्रे पुराणके ॥12॥
इतिहासे च वृत्तिर्या स जपः प्रोच्यते मया।
जपस्तु द्विविधः प्रोक्तो वाचिको मानसस्तथा ॥13॥

वेदों में और लौकिक मार्गों में जो कुत्सित (निन्दनीय) कर्म माना जाता है, उस निन्द्य कार्य में जो शर्म आती है उसे 'लज्जा' कहा जाता है। और वैदिक कार्यों में जो श्रद्धा होती हो, उसे 'मति' कहा जाता है। गुरु ने उपदेश किया हो, फिर भी उसके बारे में कोई सम्बन्ध न रखकर केवल वेदोक्त मार्ग से ही जो मन्त्राभ्यास किया जाता है, उसे जप कहा जाता है। और भी कल्पसूत्र में, वेद में, धर्मशास्त्र में, पुराण में और इतिहास में जो वृत्ति रहती है, इसको मैं जप कहता हूँ। जप वाचिक और मानसिक के भेद से दो प्रकार का होता है।

वाचिकोपांशुरुच्चैश्च द्विविधः परिकीर्तितः।
मानसो मननध्यानभेदाद्द्वैविध्यमाश्रितः ॥14॥
उच्चैर्जपादुपांशुश्च सहस्रगुणमुच्यते।
मानसश्च तथोपांशोः सहस्रगुणमुच्यते ॥15॥
उच्चैर्जपश्च सर्वेषां यथोक्तफलदो भवेत्।
नीचैः श्रोत्रेण चेन्मन्त्रः श्रुतश्चेन्निष्फलं भवेत् ॥16॥

इति द्वितीयः खण्डः।

उनमें भी वाचिक जप दो प्रकार का है—उपांशु (धीमा) और उच्चैः (ऊँचा)। और मानसिक जप भी दो प्रकार का है—एक मनन से और दूसरा ध्यान से। उच्च स्वर से जपने की उपेक्षा उपांशु (धीमे से) जपने का हजार गुना फल होता है। और उपांशु जप से भी मानसिक जप तो उससे भी हजार गुना ज्यादा फल देने वाला होता है। उच्च स्वर से जप करना तो मेरे कहने के अनुसार फलदायी होता ही है, परन्तु धीमे से जप करते समय अगर वह कानों से सुना जाए, तो वह निष्फल जाता है।

यहाँ दूसरा खण्ड पूरा होता है।

❋

तृतीयः खण्डः

स्वस्तिकं गोमुखं पद्मं वीरसिंहासने तथा ।
भद्रं मुक्तासनं चैव मयूरासनमेव च ॥1॥
सुखासनसमाख्यं च नवमं मुनिपुङ्गव ।
जानूर्वोरन्तरे कृत्वा सम्यक् पादतले उभे ॥2॥
समग्रीवशिरःकायः स्वस्तिकं नित्यमभ्यसेत् ।
सव्ये दक्षिणगुल्फं तु पृष्ठपार्श्वे नियोजयेत् ॥3॥
दक्षिणेऽपि तथा सव्यं गोमुखं तत्प्रचक्षते ।
अङ्गुष्ठावधि गृह्णीयाद्धस्ताभ्यां व्युत्क्रमेण तु ॥4॥
ऊर्वोरुपरि विप्रेन्द्र कृत्वा पादतलद्वयम् ।
पद्मासनं भवेत्प्राज्ञ सर्वरोगभयापहम् ॥5॥

हे मुनिवर ! स्वस्तिक, गोमुख, पद्मासन, वीरासन, सिंहासन, भद्रासन, मुक्तासन, मयूरासन और सुखासन—इस तरह नव प्रकार के आसन होते हैं। उनमें से जब घुटनों और जाँघों के बीच में दोनों पैर के तलों को अच्छी तरह से रख देने से तथा गर्दन, मस्तक और शरीर को सीधा रखकर बैठने से स्वस्तिक-आसन बनता है। इसका नित्य अभ्यास करना चाहिए। अब जब दाहिने पैर के टखने को, पीछे की बाँयीं ओर तथा बाँयें पैर के टखने को पीछे की दाहिनी ओर ले लिया जाए तो वह गोमुखासन कहलाता है ! हे द्विजश्रेष्ठ ! दोनों पैरों पर दोनों जाँघों को रखकर उन्हें उल्टे हाथों से अँगूठे तक पकड़ रखा जाय तो वह पद्मासन बन जाता है। हे बुद्धिमान् ! यह आसन सभी प्रकार के रोगों के भय का नाश कर देता है।

दक्षिणेतरपादं तु दक्षिणोरुणि विन्यसेत् ।
ऋजुकायः समासीनो वीरासनमुदाहृतम् ॥6॥
गुल्फौ तु वृषणस्याधः सीवन्याः पार्श्वयोः क्षिपेत् ।
पार्श्वपादौ च पाणिभ्यां दृढं बद्ध्वा सुनिश्चलम् ।
भद्रासनं भवेदेतद्विषरोगविनाशम् ॥7॥
निपीड्य सीवनीं सूक्ष्मं दक्षिणेतरगुल्फतः ।
वामं याम्येन गुल्फेन मुक्तासनमिदं भवेत् ॥8॥
मेढ्रादुपरि निक्षिप्य सव्यं गुल्फं ततोपरि ।
गुल्फान्तरं च संक्षिप्य मुक्तासनमिदं मुने ॥9॥

बाँयें पैर को दाहिनी जाँघ पर रखें और बाद में शरीर को सीधा करके बैठें, तो इसे वीरासन कहते हैं। दोनों टखनों को अण्डकोश के नीचे सीवनी के दोनों पार्श्वों पर लगाकर रखें तथा दोनों हाथों से पार्श्वों और पैरों को मजबूती से बाँधकर एकाग्र होकर बैठें। ऐसा करने से समस्त विषरोगों का विनाश करने वाला भद्रासन होता है। सीवनी की सूक्ष्मरेखा को बाँयें टखने से दबाकर दाँये टखने से बाँया भाग दबाने से मुक्तासन बनता है। और भी हे मुनि ! (अन्य) लिंग के ऊपर दाहिनी घूँटी रखकर, उस पर दूसरी घूँटी रखने से बैठना भी मुक्तासन ही है।

कूर्पराग्रे मुनिश्रेष्ठ निक्षिपेन्नाभिपार्श्वयोः ।
भूम्यां पाणितलद्वन्द्वं निक्षिप्यैकाग्रमानसः ॥10॥
समुन्नतशिरःपादो दण्डवद्व्योम्नि संस्थितः ।
मयूरासनमेतत्स्यात्सर्वपापप्रणाशनम् ॥11॥
येन केन प्रकारेण सुखं धैर्यं च जायते ।
तत्सुखासनमित्युक्तमशक्तस्तत्समाश्रयेत् ॥12॥
आसनं विजितं येन जितं तेन जगत्त्रयम् ।
अनेन विधिना युक्तः प्राणायामं सदा कुरु ॥13॥

इति तृतीयः खण्डः ।

हे मुनिश्रेष्ठ ! कुहनियों के दोनों अग्रभाग नाभि के दोनों पार्श्वों में पहले स्थापित करने चाहिए। फिर दोनों करतलों को जमीन पर रखकर, एकाग्र मन से मस्तक और दो पैर ऊँचे आकाश में ले जाकर लाठी की तरह सीधा रहना चाहिए। इसे मयूरासन कहते हैं। यह सभी पापों का नाश करने वाला है। जिस किसी भी प्रकार से सुख हो और धैर्य रहे, उस प्रकार से बैठना चाहिए। इसे सुखासन कहते हैं। अन्य आसन करने में अशक्त मनुष्य को यही सुखासन करना चाहिए। जिसने आसन को जीत लिया है, उसने तीनों जगतों को (भुवनों को) जीत लिया है। इसलिए तुम इस विधि से युक्त होकर सदा प्राणायाम करते रहो।

यहाँ तीसरा खण्ड पूरा हुआ।

❋

चतुर्थः खण्डः

शरीरं तावदेव स्यात्षण्णवत्यङ्गुलात्मकम् ।
देहमध्ये शिखिस्थानं तप्तजाम्बूनदप्रभम् ॥1॥
त्रिकोणं मनुजानां तु सत्यमुक्तं हि सांकृते ।
गुदात्तु द्व्यङ्गुलादूर्ध्वं मेढ्रात्तु द्व्यङ्गुलादधः ॥2॥
देहमध्यं मुनिप्रोक्तमनुजानीहि सांकृते ।
कन्दस्थानं मुनिश्रेष्ठ मूलाधारान्नवाङ्गुलम् ॥3॥
चतुरङ्गुलमायामविस्तारं मुनिपुङ्गव ।
कुक्कुटाण्डसमाकारं भूषितं तु त्वगादिभिः ॥4॥

शरीर छियानबे अगुलों के परिमाण वाला है। मनुष्यों के शरीर के बीच तीन कोनों वाला अग्नि का स्थान है। वह तपाए गए सुवर्ण जैसी कान्तिवाला है। हे सांकृति ! यह मैंने ठीक ही कहा है। गुदा से दो अंगुल ऊपर और लिंग से दो अंगुल नीचे शरीर का मध्य भाग है, ऐसा मुनि लोग कहते हैं। हे मुनिवर सांकृति ! मूलाधार से नव अंगुल के अन्तर में कन्द है, ऐसा तुम जानो। हे मुनिवर ! वह (कन्द) चार अंगुल लम्बा-चौड़ा कुक्कुट (मुर्गे) के अण्डे जैसे आकारवाला और त्वचा आदि से भूषित है।

तन्मध्ये नाभिरित्युक्तं योगज्ञैर्मुनिपुङ्गव ।
कन्दमध्यस्थिता नाडी सुषुम्नेति प्रकीर्तिता ॥5॥

तिष्ठन्ति परितस्तस्या नाडयो मुनिपुङ्गव ।
द्विसप्ततिसहस्राणि तासां मुख्याश्चतुर्दश ॥6॥
सुषुम्ना पिङ्गला तद्वदिडा चैव सरस्वती ।
पूषा च वरुणा चैव हस्तिजिह्वा यशस्विनी ॥7॥
अलम्बुसा कुहूश्चैव विश्वोदरी तपस्विनी ।
शङ्खिनी चैव गान्धारा इति मुख्याश्चतुर्दश ॥8॥

हे मुनिश्रेष्ठ ! उसके बीच में नाभि है, ऐसा योग जानने वाले कहते हैं। उस कन्द के बीच में जो नाड़ी आई है, उसे सुषुम्ना कहते हैं। हे मुनिवर ! उस नाड़ी के चारों ओर बहत्तर हजार नाड़ियाँ आई हुई हैं। उनमें चौदह मुख्य हैं। ये चौदह मुख्य नाड़ियाँ—सुषुम्ना, पिंगला, इडा, सरस्वती, पूषा, वरुणा, हस्तिजिह्वा, यशस्विनी, अलम्बुसा, कुहू, विश्वोदरी, तपस्विनी, शंखिनी और गान्धारा नाम की हैं।

आसां मुख्यतमास्तिस्रस्तिसृष्वेकोत्तमोत्तमा ।
ब्रह्मनाडीति सा प्रोक्ता मुने वेदान्तवेदिभिः ॥9॥
पृष्ठमध्यस्थितेनास्थ्ना वीणादण्डेन सुव्रत ।
सह मस्तकपर्यन्तं सुषुम्ना सुप्रतिष्ठिता ॥10॥
नाभिकन्दादधः स्थानं कुण्डल्या द्व्यङ्गुल मुने ।
अष्टप्रकृतिरूपा सा कुण्डली मुनिसत्तम ॥11॥
यथावद्वायुचेष्टां च जलान्नादीनि नित्यशः ।
परितः कन्दपार्श्वेषु निरुध्यैव सदा स्थिता ॥12॥

इन चौदह नाड़ियों में भी तीन ही मुख्य हैं। और उन तीनों में भी एक ही नाड़ी—सुषुम्ना सर्वश्रेष्ठ मानी गई है। इसे वेदान्त जानने वाले 'ब्रह्मनाड़ी' कहते हैं। यह सुषुम्ना नाड़ी पीठ के बीच में स्थित वीणादण्ड (मेरुदण्ड) नाम के हड्डियों के समूह में से होती हुई मस्तक तक पहुँचती है। हे मुनि ! नाभिकन्द के नीचे दो अंगुल का कुण्डलिनी का स्थान है। हे मुनिवर ! वह कुण्डलिनी आठ प्रकृतिरूप है। और वह वायु की चेष्टा को ठीक तरह से सन्तुलित करती रहती है तथा जल और अन्न आदि को कन्द के चारों ओर रोकती रहती है।

स्वमुखेन समावेष्ट्य ब्रह्मरन्ध्रमुखं मुने ।
सुषुम्नाया इडा सव्ये दक्षिणे पिङ्गला स्थिता ॥13॥
सरस्वती कुहूश्चैव सुषुम्नापार्श्वयोः स्थिते ।
गान्धारा हस्तिजिह्वा च इडायाः पृष्ठपूर्वयोः ॥14॥
पूषा यशस्विनी चैव पिङ्गला पृष्ठपूर्वयोः ।
कुहोश्च हस्तिजिह्वाया मध्ये विश्वोदरी स्थिता ॥15॥
यशस्विन्याः कुहोर्मध्ये वरुणा सुप्रतिष्ठिता ।
पूषायाश्च सरस्वत्या मध्ये प्रोक्ता यशस्विनी ॥16॥

उसने अपने मुख से ब्रह्मरन्ध्र का मुख ढँककर रखा है। हे मुनि ! सुषुम्ना की बाँयीं ओर इडा नाडी है, और दाहिनी ओर पिंगला है। तथा सरस्वती और कुहू नाड़ियाँ भी सुषुम्ना के दोनों ओर स्थित हैं। और गांधारा तथा हस्तिजिह्वा इडा की पीठ के दोनों पार्श्वों में अवस्थित हैं। पूषा और यशस्विनी

नाड़ियाँ पिंगला नाड़ी के पीठ के पूर्व भाग में आई हुई है, और विश्वोदरी नाड़ी कुहू तथा हस्तिजिह्वा के बीच में आई हुई है। यशस्विनी तथा कुहू के बीच में वरुणा स्थित है। और पूषा तथा सरस्वती के बीच यशस्विनी कही जाती है।

गान्धारायाः सरस्वत्या मध्ये प्रोक्ता च शङ्खिनी ।
अलम्बुसा स्थिता पायुपर्यन्तं कन्दमध्यगा ॥17॥
पूर्वभागे सुषुम्नाया राकायाः संस्थिता कुहूः ।
अधश्चोर्ध्वं स्थिता नाडी याम्यनासान्तमिष्यते ॥18॥
इडा तु सव्यनासान्तं संस्थिता मुनिपुङ्गव ।
यशस्विनी च वामस्य पादाङ्गुष्ठान्तमिष्यते ॥19॥
पूषा वामाक्षिपर्यन्ता पिङ्गलायास्तु पृष्ठतः ।
पयस्विनी च याम्यस्य कर्णान्तं प्रोच्यते बुधैः ॥20॥

गांधारा और सरस्वती के बीच में शंखिनी का स्थान है। और अलंबुसा नाड़ी कन्द के बीच से होकर गुदा तक पहुँची हुई है। सुषुम्ना नाड़ी पूर्णिमा जैसी है। उसके पूर्वभाग में ऊपर और नीचे कुहू नाड़ी स्थित है, और वह बाँयीं नासिका तक पहुँची हुई है। हे मुनिवर ! इडा नाड़ी दाहिनी नासिका तक पहुँची हुई है, और यशस्विनी नाड़ी बाँयें पैर के अँगूठे तक बढ़ी हुई है। पिंगला के पीछे पूषा नाड़ी बायीं आँख तक पहुँची हुई है, और पयस्विनी बाँये कान तक पहुँची हुई है, ऐसा विद्वान् मानते हैं।

सरस्वती तथा चोर्ध्वं गता जिह्वा तथा मुने ।
हस्तिजिह्वा तथा सव्यपादाङ्गुष्ठान्तमिष्यते ॥21॥
शङ्खिनी नाम या नाडी सव्यकर्णान्तमिष्यते ।
गान्धारा सव्यनेत्रान्ता प्रोक्ता वेदान्तवेदिभिः ॥22॥
विश्वोदराभिधा नाडी कन्दमध्ये व्यवस्थिता ।
प्राणोऽपानस्तथा व्यानः समानोदान एव च ॥23॥
नागः कूर्मश्च कृकरो देवदत्तो धनञ्जयः ।
एते नाडीषु सर्वासु चरन्ति दश वायवः ॥24॥

हे मुनि ! सरस्वती जिह्वा के ऊपर पहुँची हुई है और हस्तिनी दाहिने पैर के अँगूठे तक पहुँची हुई मानी जाती है। शंखिनी नाम की नाड़ी दाहिने कान तक है और गांधारा दाहिनी आँख तक है, ऐसा वेदान्त जानने वाले कहते हैं। विश्वोदरा नाम की नाड़ी कन्द के बीच में अवस्थित है। प्राण, अपान, व्यान, समान, उदान, नाग, कूर्म, कृकर, देवदत्त और धनंजय—ये दश वायु सभी नाड़ियों में विचरण करते हैं।

तेषु प्राणादयः पञ्च मुख्याः पञ्चसु सुव्रत ।
प्राणसंज्ञस्तथापानः पूज्यः प्राणस्तयोर्मुने ॥25॥
आस्यनासिकयोर्मध्ये नाभिमध्ये तथा हृदि ।
प्राणसंज्ञोऽनिलो नित्यं वर्तते मुनिसत्तम ॥26॥
अपानो वर्तते नित्यं गुदमध्योरुजानुषु ।
उदरे सकले कट्यां नाभौ जङ्घे च सुव्रत ॥27॥

व्यानः श्रोत्राक्षिमध्ये च ककुद्भ्यां गुल्फयोरपि ।
प्राणस्थाने गले चैव वर्तते मुनिपुङ्गव ॥28॥
उदानसंज्ञो विज्ञेयः पादयोर्हस्तयोरपि ।
समानः सर्वदेहेषु व्याप्य तिष्ठत्यसंशयः ॥29॥

हे उत्तमव्रतधारी ! इन दश वायुओं में प्राण आदि पहले पाँच मुख्य हैं। इन पाँचों में भी प्राण और अपान मुख्य हैं और उन दोनों में भी प्राण मुख्य हैं (पूज्य है)। हे मुनिवर ! यह प्राणवायु मुख और नाक के बीच, नाभि में तथा हृदय में सदा रहता है। हे सुव्रत ! अपानवायु गुदा के बीच में, दोनों जाँघों में, घुटनों में, समग्र उदर में कमर में, नाभि में तथा दोनों पिण्डलियों में सदा रहता है। हे मुनिवर ! व्यान वायु आँखों और कानों के बीच, दोनों कन्धों में, प्राणों के स्थानों और कण्ठ में भी रहता है। उदान नामक वायु दोनों पैरों में, दोनों हाथों में रहता है और समानवायु सारे देह को व्याप्त करके रहता है, निश्चय ही ऐसा है।

नागादिवायवः पञ्च त्वगस्थ्यादिषु संस्थिताः ।
निश्वासोच्छ्वासकासाश्च प्राणकर्म हि सांकृते ॥30॥
अपानाख्यस्य वायोस्तु विण्मूत्रादिविसर्जनम् ।
समानः सर्वसामीप्यं करोति मुनिपुङ्गव ॥31॥
उदान ऊर्ध्वगमनं करोत्येव न संशयः ।
व्यानो विवादकृत्प्रोक्तो मुने वेदान्तवेदिभिः ॥32॥
उद्गारादिगुणः प्रोक्तो व्यानाख्यस्य महामुने ।
धनंजयस्य शोभादि कर्म प्रोक्तं हि सांकृते ॥33॥
निमीलनादि कूर्मस्य क्षुधा तु कृकरस्य च ।
देवदत्तस्य विप्रेन्द्र तन्द्रीकर्म प्रकीर्तितम् ॥34॥

हे सांकृति ! नाग आदि पाँच वायु त्वचा एवं अस्थियों आदि में रहते हैं। श्वासोच्छ्वास और खाँसी आदि प्राण के कार्य हैं। विष्टा, मूत्र आदि को बाहर निकालने का काम अपान का है। और हे मुनिवर ! समानवायु सब की समीपता करता है। उदान वायु ऊर्ध्व गति ही करता है, इसमें कोई सन्देह नहीं। और हे मुनि ! वेदान्त को जानने वालों ने व्यान वायु को विवाद करने वाला माना है। हे महामुनि सांकृति ! डकार आदि गुण व्यान के होते हैं। और धनंजय का काम शोभा आदि बताया गया है। हे द्विजश्रेष्ठ ! आँखें बन्द करना आदि काम कूर्म वायु का है। क्षुधा उत्पन्न करने का काम कृकर का है। और आलस्य आदि कार्य देवदत्त के कहे जाते हैं।

सुषुम्नायाः शिवो देव इडाया देवता हरिः ।
पिङ्गलाया विरञ्चिः स्यात्सरस्वत्या विराण्मुने ॥35॥
पूषाधिदेवता प्रोक्ता वरुणा वायुदेवता ।
हस्तिजिह्वाभिधायास्तु वरुणो देवता भवेत् ॥36॥
यशस्विन्या मुनिश्रेष्ठ भगवान्भास्करस्तथा ।
अलम्बुसाया अम्बात्मा वरुणः परिकीर्तितः ॥37॥
कुहोः क्षुद्देवता प्रोक्ता गान्धारी चन्द्रदेवता ।
शङ्खिन्याश्चन्द्रमास्तद्वत्पयस्विन्याः प्रजापतिः ॥38॥

हे मुनि ! सुषुम्ना नाड़ी के देवता शंकर हैं, इडा के देव विष्णु हैं, पिंगला के देव ब्रह्मा हैं और सरस्वती के देवता विराट् है। पूषा के देव पूषा हैं, वरुणा के देव वायु हैं, हस्तिजिह्वा के देव वरुण हैं। हे मुनिवर ! यशस्विनी के देव भगवान् सूर्य हैं, अलम्बुसा ने देव जलमय वरुण हैं, कुहू के देव क्षुधा है, गान्धारा के देव चन्द्र हैं, शंखिनी के देव भी चन्द्रमा ही हैं। पयस्विनी के देव प्रजापति हैं।

विश्वोदराभिधायास्तु भगवान्पावकः पतिः ।
इडायां चन्द्रमा नित्यं चरत्येव महामुने ॥39॥
पिङ्गलायां रविस्तद्वन्मुने वेदविदां वर ।
पिङ्गलायामिडायां तु वायोः सङ्क्रमणं तु यत् ॥40॥
तदुत्तरायणं प्रोक्तं मुने वेदान्तवेदिभिः ।
इडायां पिङ्गलायां तु प्राणसङ्क्रमणं मुने ॥41॥
दक्षिणायनमित्युक्तं पिङ्गलायामिति श्रुतिः ।
इडापिङ्गलयोः सन्धिं यदा प्राणः समागतः ॥42॥
अमावास्या तदा प्रोक्ता देहे देहभृतां वर ।
मूलाधारं यदा प्राणः प्रविष्टः पण्डितोत्तम ॥43॥

विश्वोदरा नामक नाड़ी के देव भगवान् अग्नि हैं, और हे मुनि ! इडा में नित्य चन्द्र घूमता है। हे श्रेष्ठ वेदज्ञ मुनि ! इसी तरह पिंगला में नित्य सूर्य घूमता (विचरण करता) है। और पिंगला में से इडा में वायु का जो संचार होता है उसे ही वेदान्त जानने वाले लोग संवत्सरात्मक 'उत्तरायण' नाम से कहते हैं। हे मुनि ! इडा में से पिंगला में जो प्राणवायु का गमन होता है उसे श्रुति दक्षिणायन कहती है। जिस समय प्राण इड़ा और पिंगला के बीच की ग्रन्थि में आता है, तो उसी समय प्राणियों के देह में अमावास्या कही जाती है। हे श्रेष्ठ पण्डित ! हे नरश्रेष्ठ ! जिस समय प्राणवायु मूलाधार में प्रवेश करता है, उस समय तपस्वी लोग उसे—

तदाद्यं विषुवं प्रोक्तं तापसैस्तापसोत्तम ।
प्राणसंज्ञो मुनिश्रेष्ठ मूर्धानं प्राविशद्यदा ॥44॥
तदन्त्यं विषुवं प्रोक्तं तापसैस्तत्त्वचिन्तकैः ।
निःश्वासोच्छ्वासनं सर्वं मासानां सङ्क्रमो भवेत् ॥45॥
इडायाः कुण्डलीस्थानं यदा प्राणः समागतः ।
सोमग्रहणमित्युक्तं तदा तत्त्वविदां वर ॥46॥
यदा पिङ्गलया प्राणः कुण्डलीस्थानमागतः ।
तदा तदा भवेत्सूर्यग्रहणं मुनिपुङ्गव ॥47॥

—पहला विषुव काल कहते हैं। हे तपस्वियों में श्रेष्ठ ! हे मुनिवर ! जिस समय प्राणवायु मस्तक में प्रवेश करता है उस समय को तत्त्वचिन्तक ज्ञानी लोग 'अन्तिम विषुवकाल' कहते हैं। और जो श्वासोच्छ्वास निरन्तर चला करता है उसी को वे मासों (महीनों) का आना-जाना कहते हैं। हे श्रेष्ठ तत्त्वज्ञ ! प्राणवायु जब इडा के द्वारा कुण्डली स्थान में आया होता है, तब चन्द्रग्रहण का होना कहा जाता है और जब पिंगला के द्वारा प्राण कुण्डलिनी स्थान में आता है तब हे मुनिवर ! सूर्यग्रहण हुआ, ऐसा समझा जाता है।

श्रीपर्वतं शिरःस्थाने केदारं तु ललाटके ।
वाराणसी महाप्राज्ञ भ्रुवोर्घ्राणस्य मध्यमे ॥48॥
कुरुक्षेत्रं कुचस्थाने प्रयागं हृत्सरोरुहे ।
चिदम्बरं तु हृन्मध्ये आधारे कमलालयम् ॥49॥
आत्मतीर्थं समुत्सृज्य बहिस्तीर्थानि यो व्रजेत् ।
करस्थं स महारत्नं त्यक्त्वा काचं विमार्गते ॥50॥

मस्तक के स्थान में श्रीपर्वत है और ललाट में केदारक्षेत्र है। हे महाबुद्धिशाली ! दोनों भौंहों और नाक के बीच में काशीक्षेत्र है। स्तन के स्थान में कुरुक्षेत्र है। हृदयकमल में प्रयागतीर्थ है और हृदय के बीच में चिदाकाश है एवं मूलाधार में लक्ष्मी का स्थान है। इस प्रकार अपने ही भीतर में सब तीर्थ अवस्थित हैं, फिर भी जो मनुष्य बाहर के तीर्थों में जाता है, वह तो हाथ में रखे गए उत्तम रत्न को छोड़कर काच को ही खोजता फिरता है।

भावतीर्थं परं तीर्थं प्रमाणं सर्वकर्मसु ।
अन्यथालिङ्ग्यते कान्ता अन्यथालिङ्ग्यते सुता ॥51॥
तीर्थानि तोयपूर्णानि देवान्काष्ठादिनिर्मितान् ।
योगिनो न प्रपूज्यन्ते स्वात्मप्रत्ययकारणात् ॥52॥
बहिस्तीर्थात्परं तीर्थमन्तस्तीर्थं महामुने ।
आत्मतीर्थं महातीर्थमन्यत्तीर्थं निरर्थकम् ॥53॥

भावतीर्थ ही उत्तम तीर्थ है। और वही सभी कर्मों में प्रमाणभूत है। स्त्री का आलिंगन एक अलग भाव से किया जाता है, और पुत्री का आलिंगन किसी अलग भाव से ही किया जाता है। योगियों को तो अपने आत्मा में ही पूरा विश्वास होता है और इसी कारण से वे लोग पानी से भरे हुए बाहर के तीर्थों में नहीं जाते और काष्ठादि से बने हुए देवों की पूजा नहीं करते। हे मुनि ! बाहर के तीर्थ की अपेक्षा भीतर का तीर्थ उत्तम है, और आत्मरूप तीर्थ ही सबसे बड़ा तीर्थ है। अन्य सभी तीर्थ तो निरर्थक ही हैं।

चित्तमन्तर्गतं दुष्टं तीर्थस्नानैर्न शुद्ध्यति ।
शतशोऽपि जलैर्धौतं सुराभाण्डमिवाशुचि ॥54॥
विषुवायनकालेषु ग्रहणे चान्तरे सदा ।
वाराणस्यादिके स्थाने स्नात्वा शुद्धो भवेन्नरः ॥55॥
ज्ञानयोगपराणां तु पादप्रक्षालितं जलम् ।
भावशुद्ध्यर्थमज्ञानां तत्तीर्थं मुनिपुङ्गव ॥56॥
तीर्थे दाने जपे यज्ञे काष्ठे पाषाणके सदा ।
शिवं पश्यति मूढात्मा शिवे देहे प्रतिष्ठिते ॥57॥

सैंकड़ों बार पानी से धोए जाने पर भी शराब का बरतन जैसे अपवित्र ही रहता है, उसी तरह हमारे भीतर स्थित चित्त बाहर के तीर्थस्थानों से पवित्र (शुद्ध) नहीं होता। विषुवकाल और उत्तरायण के काल में और ग्रहण के समय में तथा और किसी समय में, काशी आदि तीर्थों में स्नान करके मनुष्य शुद्ध होता है, पर हे मुनिवर ! जो लोग ज्ञान के योग में परायण होते हैं, उनके धोए हुए पैरों का जल तो अज्ञानियों की भावशुद्धि के लिए प्रसिद्ध तीर्थरूप ही माना जाता है। अपने स्वयं के शरीर में शिव

उपस्थित ही हैं, फिर भी मूढात्मा मनुष्य तीर्थ, जप, दान और काष्ठ-पाषाण की मूर्तियों में शिव को देखता है (वहाँ ढूँढ़ने का प्रयास करता है)।

अन्तःस्थं मां परित्यज्य बहिष्ठं यस्तु सेवते ।
हस्तस्थं पिण्डमुत्सृज्य लिहेत्कूर्परमात्मनः ॥58॥
शिवमात्मनि पश्यन्ति प्रतिमासु न योगिनः ।
अज्ञानां भावनार्थाय प्रतिमाः परिकल्पिताः ॥59॥
अपूर्वमपरं ब्रह्म स्वात्मानं सत्यमद्वयम् ।
प्रज्ञानघनमानन्दं यः पश्यति स पश्यति ॥60॥

परमेश्वर स्वयं ही यह कहते हैं कि—मनुष्य अपने ही भीतर उपस्थित रहने वाले मुझ परमेश्वर को छोड़कर के जो बाहर में रहे हुए मेरी पूजा (उपासना) करता है, वह अपने हाथ में ही रहे हुए शक्कर (या मिठाई) के टुकड़े को छोड़कर मानो अपनी कोहनी को ही चाट रहा है। योगी लोग तो अपने में ही शिव को देखते हैं, प्रतिमाओं में नहीं देखते। प्रतिमाएँ तो जो लोग अज्ञानी हैं उनमें भावना उत्पन्न हो, इसलिए कल्पित की गई हैं। जो मनुष्य अपने आत्मा को ही सत्य, अद्वैत, प्रज्ञानमय और आनन्दरूप अपरब्रह्म के रूप में देखता है, वही यथार्थ देखता है।

नाडीपुञ्जं सदाऽसारं नरभावं महामुने ।
समुत्सृज्यात्मनात्मानमहमित्येव धारय ॥61॥
अशरीरं शरीरेषु महान्तं विभुमीश्वरम् ।
आनन्दमक्षरं साक्षान्मत्वा धीरो न शोचति ॥62॥
विभेदजनकेऽज्ञाने नष्टे ज्ञानबलान्मुने ।
आत्मनो ब्रह्मणो भेदमसन्तं किं करिष्यति ॥63॥

इति चतुर्थः खण्डः ।

हे महामुनि ! नाड़ियों के ढेर जैसा मनुष्यत्व तो बिल्कुल ही सारहीन है। इसलिए इसका त्याग करके तुम स्वयं अपनी आत्मा में 'मैं आत्मा हूँ'—इस प्रकार का भाव धारण करो। 'हर एक शरीर में, शरीर से अलग ही आनन्दमय, अविनाशी और व्यापक महान् परमेश्वर सदैव उपस्थित ही है'—ऐसा जानकर धीर पुरुष शोक नहीं करता। हे मुनि ! भेद उत्पन्न करने वाला अज्ञान, जब ज्ञान के बल से नष्ट हो जाता है, तब आत्मा और ब्रह्म में कोई भी भेद रहता ही नहीं। फिर वहाँ भेद को कौन उत्पन्न कर सकेगा ?

यहाँ चौथा खण्ड पूरा हुआ।

❋

पञ्चमः खण्डः

सम्यक्कथय मे ब्रह्मन्नाडीशुद्धिं समासतः ।
यथा शुद्ध्या सदा ध्यायञ्जीवन्मुक्तो भवाम्यहम् ॥1॥
सांकृते शृणु वक्ष्यामि नाडीशुद्धिं समासतः ।
विध्युक्तकर्मसंयुक्तः कामसंकल्पवर्जितः ॥2॥

यमाद्यष्टाङ्गसंयुक्तः शान्तः सत्यपरायणः ।
स्वात्मन्यवस्थितः सम्यग्ज्ञानिभिश्च सुशिक्षितः ॥3॥

सांकृति ने कहा—'हे ब्रह्मन् ! आप मुझे नाड़ी शुद्धि के बारे में संक्षेप में समझाइए कि जिस शुद्धि के द्वारा हमेशा आत्मा का ध्यान करते हुए मैं जीवन्मुक्त हो जाऊँ।' तब दत्तात्रेय ने कहा कि—हे सांकृति ! मैं संक्षेप में नाड़ीशुद्धि बताता हूँ, सुनो। पहले तो शास्त्रविहित कर्मों को करते रहना चाहिए और कामनायुक्त संकल्पों का परित्याग करना चाहिए। इसके बाद यम आदि आठ अंगों वाले योग से युक्त होकर, शान्त और सत्यपरायण होकर, ज्ञानियों के पास अच्छी तरह से शिक्षित होना चाहिए। और अपने आत्मा में स्थिति (स्थिरता) करनी चाहिए।

पर्वताग्रे नदीतीरे बिल्वमूले वनेऽथवा ।
मनोरमे शुचौ देशे मठं कृत्वा समाहितः ॥4॥
आरभ्य चासनं पश्चात्प्राङ्मुखोदङ्मुखोऽपि वा ।
समग्रीवशिरःकायः संवृतास्यः सुनिश्चलः ॥5॥
नासाग्रे शशभृद्बिम्बे बिन्दुमध्ये तुरीयकम् ।
स्रवन्तममृतं पश्येन्नेत्राभ्यां सुसमाहितः ॥6॥

उस समय किसी पर्वत के शिखर पर, नदी के तट पर बिल्ववृक्ष के नीचे मूल के पास अथवा किसी वन के पवित्र मनोरम प्रदेश में आसन लगाकर पूर्वाभिमुख होकर या उत्तराभिमुख होकर बैठना चाहिए। उस समय गरदन, मस्तक और शरीर सीधा रखना चाहिए। मुँह बन्द रखना चाहिए और एकदम निश्चल रहना चाहिए। बाद में अत्यंत एकाग्र होकर नाक के आगे, चन्द्रमण्डल में, जो बिन्दुस्थान है, उसके बीच में तुरीयस्थान है। उसमें से अमृत द्रवित हो रहा है, इस प्रकार दोनों नेत्रों से देखना चाहिए।

इडया प्राणमाकृष्य पूरयित्वोदरे स्थितम् ।
ततोऽग्निं देहमध्यस्थं ध्यायञ्ज्वालावलीयुतम् ॥7॥
बिन्दुनादसमायुक्तमग्निबीजं विचिन्तयेत् ।
पश्चाद्विरेचयेत्सम्यक्प्राणं पिङ्गलया बुधः ॥8॥
पुनः पिङ्गलयापूर्य वह्निबीजमनुस्मरेत् ।
पुनर्विरेचयेद्धीमानिडयैव शनैः शनैः ॥9॥
त्रिचतुर्वासरं वाथ त्रिचतुर्वारमेव च ।
षट्कृत्वो विचरेन्नित्यं रहस्येवं त्रिसन्धिषु ॥10॥

इडा नाड़ी के द्वारा प्राणवायु को खींचकर पेट में भरकर फिर देह में रहे हुए अग्नि का ज्वालाओं के समूह के साथ ध्यान करना चाहिए और बिन्दुनाद के साथ अग्निबीज का चिन्तन करना चाहिए। बाद में पिंगला नाडी के द्वारा भीतर के प्राण को साधक विद्वान् को अच्छी तरह से बाहर निकालना चाहिए। बाद में फिर से साधकों को पिंगला नाड़ी के द्वारा प्राणवायु को भीतर भरना चाहिए। उसी तरह अग्निबीजादि का स्मरण करना चाहिए और फिर इडा नाड़ी के द्वारा वायु को धीरे-धीरे बाहर निकालना चाहिए। इस प्रकार तीनों सन्ध्याओं के समय में एकान्त में तीन-चार दिन तीन-तीन बार करना चाहिए और बाद के दिनों में छः-छः बार करना चाहिए।

नाडीशुद्धिमवाप्नोति पृथक्चिह्नोपलक्षितः ।
शरीरलघुता दीप्तिर्वह्नेर्जाठरवर्तिनः ॥11॥

नादाभिव्यक्तिरित्येतच्चिह्नं तत्सिद्धिसूचकम् ।
यावदेतानि संपश्येत्तावदेवं समाचरेत् ॥12॥
अथवैतत्परित्यज्य स्वात्मशुद्धिं समाचरेत् ।
आत्मा शुद्धः सदा नित्यः सुखरूपः स्वयम्प्रभः ॥13॥
अज्ञानान्मलिनो भाति ज्ञानाच्छुद्धो भवत्ययम् ।
अज्ञानमलपङ्कं यः क्षालयेज्ज्ञानतोयतः ।
स एव सर्वदा शुद्धो नान्यः कर्मरतो हि सः ॥14॥

पञ्चमः खण्डः ।

इससे नाड़ी शुद्धि होती है। इसके तरह-तरह के लक्षण दिखाई देते हैं। शरीर में लाघव आ जाता है, जठर का अग्नि प्रदीप्त हो जाता है और भीतर से नाद सुनाई देता है। यह भी नाड़ी शुद्धि होने का सूचक चिह्न है। जहाँ तक ये चिह्न दिखाई पड़ें, वहाँ तक पूर्वोक्त प्रकार से करना चाहिए। बाद में (नाड़ीशुद्धि के बाद) इन सब कार्यों को छोड़कर आत्मा की सिद्धि करनी चाहिए। यद्यपि यों तो आत्मा सदा शुद्ध और नित्य है ही, सुखरूप एवं स्वप्रकाशित भी है ही, तथापि अज्ञान से वह मलिन दिखाई दे रहा है एवं ज्ञान से शुद्ध होता है। जो मनुष्य अज्ञानरूपी कीचड़ को ज्ञानरूपी जल से धो डालता है, वही सर्वदा शुद्ध होता है। इसके सिवा और कर्मपरायण मनुष्य शुद्ध नहीं हो सकता।

यहाँ पाँचवाँ खण्ड पूरा हुआ।

❋

षष्ठः खण्डः

प्राणायामक्रमं वक्ष्ये सांकृते शृणु सादरम् ।
प्राणायाम इति प्रोक्तो रेचपूरककुम्भकैः ॥1॥
वर्णत्रयात्मकाः प्रोक्ता रेचपूरककुम्भकाः ।
स एष प्रणवः प्रोक्तः प्राणायामस्तु तन्मयः ॥2॥

अब हे सांकृति ! मैं प्राणायाम का क्रम कह रहा हूँ। तुम यह आदरपूर्वक सुनो। पूरक, कुंभक और रेचक इस तरह से प्राणायाम तीन प्रकार का होता है। इन तीनों प्रकारों में हर एक के तीन-तीन अक्षर हैं। इसलिए इस प्राणायाम को प्रणवरूप (ओंकाररूप) ही कहा गया है और वह प्रणवमय ही है।

इडया वायुमाकृष्य पूरयित्वोदरे स्थितम् ।
शनैः षोडशभिर्मात्रैरकारं तत्र संस्मरेत् ॥3॥
पूरितं धारयेत्पश्चाच्चतुःषष्ट्या तु मात्रया ।
उकारमूर्तिमात्रापि संस्मरन्प्रणवं जपेत् ॥4॥
यावद्वा शक्यते तावद्धारयेज्जपतत्परः ।
पूरितं रेचयेत्पश्चान्मकारेणानिलं बुधः ॥5॥
शनैः पिङ्गलया तत्र द्वात्रिंशन्मात्रया पुनः ।
प्राणायामो भवेदेवं ततश्चैवं समभ्यसेत् ॥6॥

इडा नाड़ी द्वारा बाहर के वायु को भीतर खींचकर उदर में भरकर धीरे-धीरे सोलह मात्राओं तक उसमें 'अ'कार का स्मरण करना चाहिए। बाद में भरे हुए उस वायु को चौसठ मात्रा तक रोके रखना

चाहिए और तब तक 'उ'का स्मरण करते रहना चाहिए एवं प्रणव का जप करते रहना चाहिए। जहाँ तक शक्ति हो, उतने प्रमाण में वायु को रोके रखना चाहिए और जपपरायण बने रहना चाहिए। फिर बाद में उस साधक को उस भरे हुए वायु को 'म'कार जप के द्वारा बाहर निकालना चाहिए। उस समय बत्तीस मात्रा के समय तक 'मकार' का ध्यान करना चाहिए। इस प्रकार प्राणायाम होता है और इस प्रकार इसका अभ्यास करना चाहिए।

पुनः पिङ्गलयापूर्य मात्रैः षोडशभिस्तथा।
अकारमूर्तिमत्रापि स्मरेदेकाग्रमानसः ॥7॥
धारयेत्पूरितं विद्वान्प्रणवं सञ्जपन्वशी।
उकारमूर्तिं स ध्यायंश्चतुःषष्ट्या तु मात्रया ॥8॥
मकारं तु स्मरन्पश्चाद्रेचयेदिडयानिलम्।
एवमेव पुनः कुर्यादिडयापूर्य बुद्धिमान् ॥9॥
एवं समभ्यसेन्नित्यं प्राणायामं मुनीश्वर।
एवमभ्यासतो नित्यं षण्मासाद्यत्नवान्भवेत् ॥10॥

बाद में फिर पिंगला से वायु भरकर सोलह मात्रा के समय तक उसमें अकार का स्मरण (ध्यान) करके चिन्तन करना चाहिए। बाद में विद्वान् जितेन्द्रिय मनुष्य को उस भरे हुए वायु को चौसठ मात्रा के समय तक 'उकार मूर्ति' का ध्यान करते हुए रोके रखना चाहिए तथा प्रणव का जाप करना चाहिए। फिर 'मकार' का स्मरण करते-करते (चिन्तन करते-करते) इडा नाड़ी के द्वारा बाहर निकालना चाहिए। इसी प्रकार बुद्धिमान साधक को फिर से वायु को खींच-भर कर अभ्यास करना चाहिए। हे मुनीश्वर! इस प्रकार नित्य प्राणायाम का अभ्यास करते रहकर छः महीनों में पूरा ज्ञान सम्पन्न हो जाता है। (अथवा छः महीनों तक यत्न करना चाहिए।)

वत्सराद्ब्रह्मविद्वान्स्यात्तस्मान्नित्यं समभ्यसेत्।
योगाभ्यासरतो नित्यं स्वधर्मनिरतश्च यः ॥11॥
प्राणसंयमनेनैव ज्ञानान्मुक्तो भविष्यति।
बाह्यादापूरणं वायोरुदरे पूरको हि सः ॥12॥
सम्पूर्णकुम्भवद्वायोर्धारणं कुम्भको भवेत्।
बहिर्विरेचनं वायोरुदराद्रेचकः स्मृतः ॥13॥

और एक वर्ष तक प्रयत्न (अभ्यास) करने पर तो वह विद्वान् मनुष्य ब्रह्मवेत्ता हो जाता है। इसलिए नित्य अभ्यास करना चाहिए। जो मनुष्य योगाभ्यास में ही रमण करता है और नित्य स्वधर्म-परायण रहता है, वह प्राणायाम द्वारा ही ज्ञान प्राप्त करके मुक्त हो जाता है। बाहर से वायु को खींचकर पेट में भरने को 'पूरक' कहा जाता है। फिर उस भरे हुए वायु को वहाँ रोके रखना 'कुंभक' कहलाता है, और फिर उस रोके हुए वायु को बाहर निकालना 'रेचक' कहा जाता है।

प्रस्वेदजनको यस्तु प्राणायामेषु सोऽधमः।
कम्पनं मध्यमं विद्यादुत्थानं चोत्तमं विदुः ॥14॥
पूर्वं पूर्वं प्रकुर्वीत यावदुत्थानसम्भवः।
सम्भवत्युत्तमे प्राज्ञः प्राणायामे सुखी भवेत् ॥15॥

पसीना पैदा करने वाला प्राणायाम अधम कहा जाता है, कम्पन उत्पन्न करने वाला मध्यम कहा जाता है और जिसमें उत्थान होता है, वह उत्तम है। जहाँ तक उत्थान हो, वहाँ तक पूर्व-पूर्व का प्राणायाम करना चाहिए। बाद में उत्तम प्राणायाम सिद्ध होने पर साधक ज्ञानी और सुखी होता है।

प्राणायामेन चित्तं तु शुद्धं भवति सुव्रत।
चित्ते शुद्धे शुचिः साक्षात्प्रत्यग्ज्योतिर्व्यवस्थितः ॥16॥
प्राणश्चित्तेन संयुक्तः परमात्मनि तिष्ठति।
प्राणायामपरस्यास्य पुरुषस्य महात्मनः ॥17॥
देहश्चोत्तिष्ठते तेन किञ्चिज्ज्ञानाद्विमुक्तता।
रेचकं पूरकं मुक्त्वा कुम्भकं नित्यमभ्यसेत् ॥18॥
सर्वपापविनिर्मुक्तः सम्यग्ज्ञानमवाप्नुयात्।
मनोजवत्वमाप्नोति पलितादि च नश्यति ॥19॥
प्राणायामैकनिष्ठस्य न किञ्चिदपि दुर्लभम्।
तस्मात्सर्वप्रयत्नेन प्राणायामान्समभ्यसेत् ॥20॥

हे सुव्रत! प्राणायाम से चित्त शुद्ध होता है। चित्त शुद्ध होने से पवित्र बना हुआ मनुष्य तो साक्षात् (प्रत्यक्) ज्योति:स्वरूप होकर अवस्थिति करता है। जो महापुरुष प्राणायाम में तत्पर रहता है, उस पुरुष के प्राण चित्त के साथ परमात्मा में ही रहते हैं। उत्तम प्राणायाम से देह कुछ उत्थान करता है (अपने आप ऊपर उठता है) और फिर ज्ञान होने पर मुक्तता प्राप्त होती है। इसलिए क्रमशः रेचक और पूरक का त्याग करके नित्य कुंभक का अभ्यास करना चाहिए। प्राणायाम का अभ्यास करके मनुष्य सभी पापों से मुक्त होकर उत्तम ज्ञान प्राप्त करता है। वह मन जैसे वेग को प्राप्त करता है, उसके पलित केश आदि नाश होते हैं। केवल एक प्राणायाम में ही परायण (तल्लीन) रहने वाले के लिए कुछ भी दुर्लभ नहीं होता। इसलिए सभी प्रयत्नों से प्राणायाम का ही अभ्यास करते रहना चाहिए।

विनियोगान्प्रवक्ष्यामि प्राणायामस्य सुव्रत।
सन्ध्ययोर्ब्राह्मकालेऽपि मध्याह्ने वाथवा सदा ॥21॥
बाह्यं प्राणं समाकृष्य पूरयित्वोदरेण च।
नासाग्रे नाभिमध्ये च पादाङ्गुष्ठे च धारयेत् ॥22॥
सर्वरोगविनिर्मुक्तो जीवेद्वर्षशतं नरः।
नासाग्रधारणाद्वापि जितो भवति सुव्रत ॥23॥
सर्वरोगनिवृत्तिः स्यान्नाभिमध्ये तु धारणात्।
शरीरलघुता विप्र पादाङ्गुष्ठनिरोधनात् ॥24॥

हे सुव्रत! अब मैं प्राणायाम का विनियोग बता रहा हूँ। दोनों सध्याकाल में और ब्रह्मकाल में (पौ फटते समय) अथवा मध्याह्नकाल में सदैव बाहर के वायु को भीतर खींचकर, पेट में भरकर, नासिका के अग्रभाग में और नाभि के मध्यभाग में तथा अँगूठे के अग्रभाग में उसे रोककर रखना चाहिए। नासिका के अग्रभाग में वायु को रोकने से मनुष्य सभी रोगों से मुक्त होकर सौ वर्ष तक जीवित रहता है, एवं उससे वायु भी जीता जा सकता है। हे ब्राह्मण! वायु को नाभि में रोकने से सभी रोग दूर होते हैं और अँगूठे में रोकने से शरीर में लाघव आता है।

जिह्वया वायुमाकृष्य यः पिबेत्सततं नरः ।
श्रमदाहविनिर्मुक्तो योगी नीरोगतामियात् ॥25॥
जिह्वया वायुमाकृष्य जिह्वामूले निरोधयेत् ।
पिबेदमृतमव्यग्रं सकलं सुखमाप्नुयात् ॥26॥
इडया वायुमाकृष्य भ्रुवोर्मध्ये निरोधयेत् ।
यः पिबेदमृतं शुद्धं व्याधिभिर्मुच्यते हि सः ॥27॥
इडया वेदतत्त्वज्ञस्तथा पिङ्गलयैव च ।
नाभौ निरोधयेत्तेन व्याधिभिर्मुच्यते नरः ॥28॥

जो मनुष्य (योगी) वायु को जीभ से खींचकर हमेशा पिया करता है, वह श्रम और दाह से मुक्ति पाकर नीरोगी होता है। और जो मनुष्य जीभ से वायु को खींचकर जीभ के मूल में रोकता है, वह अमृत ही पीता है और अव्यग्र रहकर सभी सुखों को प्राप्त करता है। जो मनुष्य इडा से वायु को खींचकर दो भ्रमरों के बीच उसे रोकता है, वह शुद्ध अमृत पीता है और रोगों से मुक्त होता है। इडा से वायु खींचने वाला वेदतत्त्वज्ञ होता है और पिंगला से वायु को खींचकर जो मनुष्य नाभि में उसे रोकता है, वह मनुष्य रोगों से मुक्त हो जाता है।

मासमात्रं त्रिसन्ध्यायां जिह्वयारोप्य मारुतम् ।
अमृतं च पिबेन्नाभौ मन्दं मन्दं निरोधयेत् ॥29॥
वातजाः पित्तजा दोषा नश्यन्त्येव न संशयः ।
नासाभ्यां वायुमाकृष्य नेत्रद्वन्द्वे निरोधयेत् ॥30॥
नेत्ररोगा विनश्यन्ति तथा श्रोत्रनिरोधनात् ।
तथा वायुं समारोप्य धारयेच्छिरसि स्थितम् ॥31॥
शिरोरोगा विनश्यन्ति सत्यमुक्तं हि सांकृते ।
स्वस्तिकासनमास्थाय समाहितमनास्तथा ॥32॥

एक महीने तक तीनों सन्ध्याकाल में जीभ से वायु को खींचकर जो अमृतपान करता है और धीरे-धीरे वायु को रोकता है उसके वायुदोष और पित्तदोष अवश्य नष्ट हो जाते हैं, उसमें कोई सन्देह नहीं है। और जो मनुष्य दोनों नाक से वायु को खींचकर दोनों नेत्रों में उसे रोकता है, उसके नेत्ररोग नष्ट होते हैं तथा उसे कान में ले जाकर अथवा और भी अधिक ऊपर ले जाकर मस्तक में ले जाने से मस्तक के रोगों का नाश होता है। हे सांकृति ! यह मैंने ठीक ही कहा है। और भी स्वस्तिकासन में बैठकर मन को एकाग्र करके—

अपानमूर्ध्वमुत्थाप्य प्रणवेन शनैः शनैः ।
हस्ताभ्यां धारयेत्सम्यक्कर्णादिकरणानि च ॥33॥
अङ्गुष्ठाभ्यां मुने श्रोत्रे तर्जनीभ्यां तु चक्षुषी ।
नासापुटावधानाभ्यां प्रच्छाद्य करणानि वै ॥34॥
आनन्दाविर्भवो यावत्तावन्मूर्धनि धारणात् ।
प्राणः प्रयात्यनेनैव ब्रह्मरन्ध्रं महामुने ॥35॥

प्रणवमंत्र के जापपूर्वक अपानवायु को ऊपर ले जाकर धीरे-धीरे दोनों हाथों द्वारा कान आदि इन्द्रियों में ठीक तौर से रोकना चाहिए। हे मुनि ! दोनों अँगूठों से दोनों कानों को, दोनों तर्जनियों से

दोनों नेत्रों को तथा दोनों अनामिकाओं के द्वारा दोनों नासिकाओं को बन्द करके, जहाँ तक आनन्द का आविर्भाव हो, वहाँ तक मस्तक में प्राणवायु को धारण करना चाहिए। हे महामुनि ! इसी मार्ग से प्राण ब्रह्मरन्ध्र तक पहुँचता है।

ब्रह्मरन्ध्रं गते वायौ नादश्चोत्पद्यतेऽनघ ।
शङ्खध्वनिनिभश्चादौ मध्ये मेघध्वनिर्यथा ॥36॥
शिरोमध्यगते वायौ गिरिप्रस्रवणं यथा ।
पश्चात्प्रीतो महाप्राज्ञः साक्षादात्मोन्मुखो भवेत् ॥37॥
पुनस्तज्ज्ञाननिष्पत्तिर्योगात्संसारनिह्नुतिः ।
दक्षिणोत्तरगुल्फेन सीवनीं पीडयेत्स्थिरम् ॥38॥
सव्येतरेण गुल्फेन पीडयेद्बुद्धिमान्नरः ।
जान्वोरधः स्थितां सन्धिं स्मृत्वा देवं त्रियम्बकम् ॥39॥

हे निर्दोष ! वायु जब ब्रह्मरन्ध्र में जाता है, तब नाद उत्पन्न होता है। वह नाद पहले शंख की आवाज जैसा होता है, मध्य में मेघ की ध्वनि जैसा है, और जब वह वायु ब्रह्मरन्ध्र तक पहुँच जाता है तब पर्वत के झरने जैसा सुनाई पड़ता है। इस नाद के बाद महाबुद्धिमान योगी प्रसन्न होकर साक्षात् आत्मा का अनुभव करता है। और भी उस योग से ज्ञान की सिद्धि होती है एवं संसार निवृत्त हो (रुक) जाता है। बुद्धिमान मनुष्य को चाहिए कि वह दाहिनी एड़ी से सीवनी को दृढ़तापूर्वक दबा रखे और फिर बाँयीं एड़ी से भी उसे दबाकर दोनों घुटनों के नीचे की सन्धि में भगवान् त्र्यंबक की भावना करनी चाहिए।

विनायकं च संस्मृत्य तथा वागीश्वरीं पुनः ।
लिङ्गनालात्समाकृष्य वायुमप्यग्रतो मुने ॥40॥
प्रणवेन नियुक्तेन बिन्दुयुक्तेन बुद्धिमान् ।
मूलाधारस्य विप्रेन्द्र मध्ये तं तु निरोधयेत् ॥41॥
निरुध्य वायुना दीप्तो वह्निरूहति कुण्डलीम् ।
पुनः सुषुम्नया वायुर्वह्निना सह गच्छति ॥42॥

बाद में विनायक का और वागीश्वरी का (गणेश और सरस्वती का) स्मरण करके लिंग के नाल द्वारा वायु को खींचकर आगे लाना चाहिए। बाद में हे विप्रवर ! बिन्दुयुक्त प्रणवमंत्र का ध्यान करके बुद्धिमान पुरुष को उस वायु को मूलाधार के मध्य में रोकना चाहिए। इस प्रकार से रोके जाने से उस वायु के द्वारा अग्नि प्रदीप्त हो जाता है और बाद में उस अग्नि के साथ वायु सुषुम्ना नाड़ी के द्वारा ऊर्ध्वगति करता है।

एवमभ्यासतस्तस्य जितो वायुर्भवेद्भृशम् ।
प्रस्वेदः प्रथमः पश्चात्कम्पनं मुनिपुङ्गव ॥43॥
उत्थानं च शरीरस्य चिह्नमेतज्जितेऽनिले ।
एवमभ्यासतस्तस्य मूलरोगो विनश्यति ॥44॥

इस प्रकार अभ्यास करने से उस योगी का वायु एकदम जीता जा सकता है। हे मुनिवर ! इस अभ्यास में पहले तो पसीना होता है। बाद में कम्पन होता है और उसके बाद शरीर ऊपर उठ जाता है। वायु के जीते जाने का यह चिह्न है। इस प्रकार अभ्यास करने से रोग नष्ट हो जाते हैं।

भगन्दरं च नष्टं स्यात्सर्वरोगाश्च सांकृते ।
पातकानि विनश्यन्ति क्षुद्राणि च महान्ति च ॥45॥
नष्टे पापे विशुद्धं स्याच्चित्तदर्पणमद्भुतम् ।
पुनर्ब्रह्मादिभोगेभ्यो वैराग्यं जायते हृदि ॥46॥

और भी हे सांकृति ! इससे भगंदर का भी नाश होता है, यही नहीं, छोटे-मोटे अनेक पापों का भी नाश हो जाता है। पापों के नाश हो जाने से चित्तरूपी अद्भुत दर्पण भी विशुद्ध हो जाता है और हृदय में ब्रह्मा (ब्रह्मलोक) आदि के भोगों के प्रति वैराग्य हो जाता है।

विरक्तस्य तु संसाराज्ज्ञानं कैवल्यसाधनम् ।
तेन पापापहानिः स्याज्ज्ञात्वा देवं सदाशिवम् ॥47॥
ज्ञानामृतरसो येन सकृदास्वादितो भवेत् ।
स सर्वकार्यमुत्सृज्य तत्रैव परिधावति ॥48॥
ज्ञानस्वरूपमेवाहुर्जगदेतद्विलक्षणम् ।
अर्थस्वरूपमज्ञानात्पश्यन्त्यन्ये कुदृष्टयः ॥49॥
आत्मस्वरूपविज्ञानादज्ञानस्य परिक्षयः ।
क्षीणेऽज्ञाने महाप्राज्ञ रागादीनां परिक्षयः ॥50॥
रागाद्यसम्भवे प्राज्ञ पुण्यपापविमर्दनम् ।
तयोर्नाशे शरीरेण न पुनः संप्रयुज्यते ॥51॥

इति षष्ठः खण्डः ।

इस प्रकार जो मनुष्य संसार से विरक्त हो गया होता है, उसे कैवल्य का ज्ञान प्राप्त हो जाता है। और इस प्रकार सदाशिव का ज्ञान होने के बाद उसके पापों की हानि हो जाती है। जिस मनुष्य ने एक बाद भी ज्ञानामृत का रस चख लिया हो, वह अन्य सभी कार्यों को छोड़कर उसी के पीछे दौड़ता है। यह जगत् विलक्षण हो जाए (जगत् का रूप ही मिट जाए) उसे ही ज्ञान का स्वरूप कहा जाता है। परन्तु जो लोग अज्ञान से निन्द्य दृष्टिवाले होते हैं, वे तो जगत् को अलग दृष्टि से (वस्तु के रूप में) ही देखते हैं। हे बुद्धिमान ! आत्मस्वरूप का ज्ञान होने से अज्ञान का नाश होता है। और अज्ञान के नाश से रागादि का नाश हो जाता है। और रागादि का असंभव हो जाने से पुण्य-पाप दोनों नष्ट हो जाते हैं। और उनका नाश हो जाने से यह आत्मा फिर से शरीर के साथ संयुक्त नहीं होता है।

यहाँ छठा खण्ड समाप्त हुआ ।

❋

सप्तमः खण्डः

अथातः संप्रवक्ष्यामि प्रत्याहारं महामुने ।
इन्द्रियाणां विचरतां विषयेषु स्वभावतः ॥1॥
बलादाहरणं तेषां प्रत्याहारः स उच्यते ।
यत्पश्यति तु तत्सर्वं ब्रह्म पश्यन्समाहितः ॥2॥
प्रत्याहारो भवेदेष ब्रह्मविद्भिः पुरोदितः ।
यद्यच्छुद्धमशुद्धं वा करोत्यामरणान्तिकम् ॥3॥

तत्सर्वं ब्रह्मणे कुर्यात्प्रत्याहारः स उच्यते ।
अथवा नित्यकर्माणि ब्रह्माराधनबुद्धितः ॥4॥
काम्यानि च तथा कुर्यात्प्रत्याहारः स उच्यते ।
अथवा वायुमाकृष्य स्थानात्स्थानं निरोधयेत् ॥5॥

हे मुनि ! अब मैं प्रत्याहार को कह रहा हूँ। इन्द्रियाँ स्वभाव से ही विषयों में घूमा करती हैं। उन्हें बलात् विषयों से खींच लेना ही प्रत्याहार कहलाता है। मनुष्य स्वयं जिस-जिसको देखता रहता है, वह सब ब्रह्म ही है, ऐसा सावधानी से यदि देखता रहे, तो उसे भी पूर्वकालीन ब्रह्मवेत्ताओं ने 'प्रत्याहार' कहा है। अथवा मरणकालपर्यन्त स्वयं जो शुद्ध या अशुद्ध कर्म करता है, वह सब कर्मसमूह यदि वह ब्रह्म के लिए ही करता है, तो उसे भी 'प्रत्याहार' कहा जाता है। अथवा ब्रह्म का आराधन करने की बुद्धि से ही वह यदि नित्य कर्म और काम्य कर्म करता है, तो वह भी 'प्रत्याहार' कहा जाता है। अथवा वायु को एक स्थान से खींचकर अन्य स्थान में रोककर रखा जाए जैसे—

दन्तमूलात्तथा कण्ठे कण्ठादुरसि मारुतम् ।
उरोदेशात्समाकृष्य नाभिदेशे निरोधयेत् ॥6॥
नाभिदेशात्समाकृष्य कुण्डल्यां तु निरोधयेत् ।
कुण्डलीदेशतो विद्वान्मूलाधारे निरोधयेत् ॥7॥
अथापानात्कटिद्वन्द्वे तथोरौ च सुमध्यमे ।
तस्माज्जानुद्वये जङ्घे पादाङ्गुष्ठे निरोधयेत् ॥8॥
प्रत्याहारोऽयमुक्तस्तु प्रत्याहारस्मरैः पुरा ।
एवमभ्यासयुक्तस्य पुरुषस्य महात्मनः ॥9॥
सर्वपापानि नश्यन्ति भवरोगश्च सुव्रत ।
नासाभ्यां वायुमाकृष्य निश्चलः स्वस्तिकासनः ॥10॥

—दाँत के मूल से वायु को खींचकर कण्ठ में, कण्ठ में से छाती में, छाती के प्रदेश से खींचकर नाभिप्रदेश में रोका जाए। फिर नाभिप्रदेश से खींचकर कुण्डलिनी में रोका जाए, फिर कुण्डलिनी प्रदेश से खींचकर मूलाधार में रोका जाए, फिर गुदास्थान में से खींचकर दोनों ओर की कमरों में, दोनों उरुओं में और मध्यप्रदेश में रोका जाए, फिर आगे दोनों घुटनों में, जाँघों में तथा पैरों के अँगूठों में भी रोका जाए तो उस वायुनिरोध को भी प्रत्याहार कहा जाता है। प्रत्याहार को जानने वाले महात्मा लोगों का यह अभिप्राय है। इस प्रकार के प्रत्याहार का अभ्यास करते हुए महात्मा के सभी पाप तथा संसाररूपी रोग नष्ट हो जाते हैं। हे सुव्रत ! स्वस्तिकासन पर निश्चल बैठकर विद्वान् पुरुष को पहले दोनों नासिकाओं के द्वारा वायु को भीतर खींचना चाहिए।

पूरयेदनिलं विद्वानापादतलमस्तकम् ।
पश्चात्पादद्वये तद्वन्मूलाधारे तथैव च ॥11॥
नाभिकन्दे च हृन्मध्ये कण्ठमूले च तालुके ।
भ्रुवोर्मध्ये ललाटे च तथा मूर्धनि धारयेत् ॥12॥
देहे स्वात्ममतिं विद्वान्समाकृष्य समाहितः ।
आत्मनात्मनि निर्द्वन्द्वे निर्विकल्पे निरोधयेत् ॥13॥

प्रत्याहारः समाख्यातः साक्षाद्वेदान्तवेदिभिः ।
एवमभ्यसतस्तस्य न किञ्चिदपि दुर्लभम् ॥14॥

इति सप्तमः खण्डः ।

इस प्रकार वायु को खींचकर उसे पैरों के तलों से लेकर मस्तक तक भरना चाहिए। फिर उसे दोनों पैरों में, मूलाधार में, नाभिकन्द में, हृदय के बीच में, कण्ठ के मूल में, तालुस्थान में, दो भौंहों के बीच के स्थान में, ललाट में और मस्तक में रोकना चाहिए। फिर विद्वान् मनुष्य को समाधिनिष्ठ होकर देह के ऊपर रखी हुई आत्मबुद्धि को खींचकर उसे अन्तःकरण द्वारा द्वन्द्वरहित निर्विकल्प आत्मा में रोक देना चाहिए। वेदान्त जानने वाले इसे ही साक्षात् प्रत्याहार कहते हैं। इसका अभ्यास करने वाले के लिए कुछ भी दुर्लभ नहीं है।

यहाँ सातवाँ खण्ड पूरा हुआ।

❋

अष्टमः खण्डः

अथातः संप्रवक्ष्यामि धारणाः पञ्च सुव्रत ।
देहमध्यगते व्योम्नि बाह्याकाशं तु धारयेत् ॥1॥
प्राणे बाह्यानिलं तद्वज्ज्वलने चाग्निमौदरे ।
तोयं तोयांशके भूमिं भूमिभागे महामुने ॥2॥
हयवरलकाराख्यं मन्त्रमुच्चारयेत्क्रमात् ।
धारणैषा परा प्रोक्ता सर्वपापविशोधिनी ॥3॥

हे सुव्रत ! अब मैं पाँच धारणाएँ बता रहा हूँ। देह के मध्य में जो आकाश अवस्थित है, उसमें बाहर के आकाश की भावना करनी चाहिए। और हे मुनि ! उसी तरह प्राण में बाहर के वायु की, पेट की अग्नि में बाहर के अग्नि की, भीतर के पानी के अंशों में बाहर के पानी की तथा पृथ्वी के अंशों में पृथ्वी की धारणा करनी चाहिए। उस सयम ह, य, व, र, ल ऐसे मंत्ररूप अक्षरों का क्रमशः उच्चारण करते जाना चाहिए। इस धारणा को श्रेष्ठ कहा गया है। और वह सर्व पापों की शुद्धि करने वाली है।

जान्वन्तं पृथिवी ह्यंशो ह्यपां पाय्वन्तमुच्यते ।
हृदयांशस्तथाग्न्यंशो भ्रूमध्यान्तोऽनिलांशकः ॥4॥
आकाशांशस्तथा प्राज्ञ मूर्धांशः परिकीर्तितः ।
ब्रह्माणं पृथिवीभागे विष्णुं तोयांशके तथा ॥5॥
अग्न्यंशे च महेशानमीश्वरं चानिलांशके ।
आकाशांशे महाप्राज्ञ धारयेत्तु सदाशिवम् ॥6॥

घुटने तक का भाग पृथ्वी का अंश है। गुदा तक का भाग जल का अंश है। हृदय तक का भाग अग्नि का अंश है। भ्रकुटि तक का भाग वायु का अंश है, एवं मस्तक का भाग आकाश का अंश है। हे सुज्ञ ! उनमें से पृथ्वी के भाग में ब्रह्म की, जल के भाग में विष्णु की, अग्नि के भाग में महेश्वर की, वायु के भाग में ईश्वर की और आकाश के भाग में सदाशिव की धारणा करनी चाहिए।

अथवा तव वक्ष्यामि धारणां मुनिपुङ्गव ।
पुरुषे सर्वशास्तारं बोधानन्दमयं शिवम् ॥7॥
धारयेद्बुद्धिमान्नित्यं सर्वपापविशुद्धये ।
ब्रह्मादिकार्यरूपाणि स्वे स्वे संहृत्य कारणे ॥8॥
सर्वकारणमव्यक्तमनिरूप्यमचेतनम् ।
साक्षादात्मनि सम्पूर्णे धारयेत्प्रणवेन तु ।
इन्द्रियाणि समाहृत्य मनसात्मनि योजयेत् ॥9॥

इत्यष्टमः खण्डः ।

अथवा हे मुनिवर ! मैं एक और धारणा बताता हूँ। बुद्धिमान मनुष्य को सर्व पापों की शुद्धि के लिए ज्ञानस्वरूप और आनन्दमय सदाशिव की पुरुष में (जीवात्मा में) धारणा करनी चाहिए। और भी ब्रह्मा आदि सभी कार्यरूपों का उन-उनके (अपने-अपने) कारण में लय कराकर ॐ इस प्रणवमंत्र के उच्चारणपूर्वक सभी के कारण में जो कि अवर्णनीय, अचेतन प्रकृति का भी कारण रूप है, उसमें—साक्षात् सम्पूर्ण आत्मा में—धारणा करनी चाहिए। और इन्द्रियों को सभी ओर से खींचकर मन के साथ लगा देना चाहिए।

यहाँ आठवाँ खण्ड पूरा हुआ।

❋

नवमः खण्डः

अथातः संप्रवक्ष्यामि ध्यानं संसारनाशनम् ।
ऋतं सत्यं परं ब्रह्म सर्वसंसारभेषजम् ॥1॥
ऊर्ध्वरेतं विश्वरूपं विरूपाक्षं महेश्वरम् ।
सोऽहमित्यादरेणैव ध्यायेद्योगीश्वरेश्वरम् ॥2॥

अब मैं संसार का नाश करने वाले ध्यान के बारे में कह रहा हूँ। ऋत (मानसिक सत्य) और सत्य (वाचिक सत्यरूप) ब्रह्म ही सर्व संसार का औषध है। इसलिए उन ऊर्ध्वरेतस् और विश्वस्वरूप तथा योगेश्वरों के भी ईश्वर ऐसे विरूपाक्ष का ध्यान 'मैं वही हूँ'—इस विभावना से करना चाहिए।

अथवा सत्यमीशानं ज्ञानमानन्दमद्वयम् ।
अत्यर्थमचलं नित्यमादिमध्यान्तवर्जितम् ॥3॥
तथा स्थूलमनाकाशमसंस्पृश्यमचाक्षुषम् ।
न रसं न च गन्धाख्यमप्रमेयमनूपमम् ॥4॥
आत्मानं सच्चिदानन्दमनन्तं ब्रह्म सुव्रत ।
अहमस्मीत्यभिध्यायेद्ध्येयातीतं विमुक्तये ॥5॥
एवमभ्यासयुक्तस्य पुरुषस्य महात्मनः ।
क्रमाद्वेदान्तविज्ञानं विजायेत न संशयः ॥6॥

इति नवमः खण्डः ।

अथवा सत्य, ईश्वर, ज्ञानस्वरूप, आनन्दमय, अद्वैतरूप, परात्पर (सर्वातीत), अचल, नित्य, आदि-मध्य-अन्तरहित, स्थूलतारहित, आकाशरहित, अस्पर्श्य, अदृश्य (अचाक्षुष) रसरहित, रूपरहित, गन्धरहित, अप्रमेय, अनुपम, सच्चिदानन्द आत्मा को 'मैं वही हूँ'—इस प्रकार से उस ध्येय से परे का ध्यान मुक्ति के लिए करना चाहिए। इस प्रकार से अभ्यास में लगे हुए महात्मा को वेदान्त का ज्ञान प्राप्त हो जाता है इसमें कोई सन्देह नहीं है।

यहाँ नवम खण्ड पूरा हुआ।

❋

दशमः खण्डः

अथातः संप्रवक्ष्यामि समाधिं भवनाशनम्।
समाधिः संविदुत्पत्तिः परजीवैकतां प्रति ॥1॥
नित्यः सर्वगतो ह्यात्मा कूटस्थो दोषवर्जितः।
एकः सम्भिद्यते भ्रान्त्या मायया न स्वरूपतः ॥2॥

अब संसार का नाश करने वाली समाधि बता रहा हूँ। जीव और परमात्मा की एकता का ज्ञान होना ही 'समाधि' है। जैसे नित्य, सर्वव्यापक, कूटस्थ और निष्कलंक आत्मा एक ही है। वह केवल माया की वजह से ही अलग-अलग होता है, वास्तविक स्वरूप में तो ऐसी भिन्नता है ही नहीं (पारमार्थिक एक ही चैतन्य की सत्ता है)।

तस्माद्द्वैतमेवास्ति न प्रपञ्चो न संसृतिः।
यथाकाशो घटाकाशो मठाकाश इतीरितः ॥3॥
तथा भ्रान्तैर्द्विधा प्रोक्तो ह्यात्मा जीवेश्वरात्मना।
नाहं देहो न च प्राणो नेन्द्रियाणि मनो नहि ॥4॥
सदा साक्षिस्वरूपत्वाच्छिव एवास्मि केवलः।
इति धीर्या मुनिश्रेष्ठ सा समाधिरिहोच्यते ॥5॥

इसलिए सब अद्वैत ही है, प्रपंच है ही नहीं, और संसार भी नहीं है। जिस प्रकार एक ही आकाश घटाकाश और मठाकाश भी कहा जाता है, उसी प्रकार एक ही आत्मा को भ्रमप्राप्त लोगों ने जीव और ईश्वर इस तरह दो भिन्न रूपों में कहा है। 'मैं देह नहीं हूँ, प्राण भी नहीं हूँ, इन्द्रियाँ भी मैं नहीं हूँ और मन भी नहीं हूँ। किन्तु सदा साक्षीरूप होने से सदाशिव ही हूँ'—ऐसी जो बुद्धि होती है, उसे ही हे मुनिवर! समाधि कहा जाता है।

सोऽहं ब्रह्म न संसारी न मत्तोऽन्यः कदाचन।
यथा फेनतरङ्गादि समुद्रादुत्थितं पुनः ॥6॥
समुद्रे लीयते तद्वज्जगन्मय्यनुलीयते।
तस्मान्मनः पृथङ् नास्ति जगन्माया च नास्ति हि ॥7॥
यस्यैवं परमात्मायं प्रत्यग्भूतः प्रकाशितः।
स तु याति च पुंभावं स्वयं साक्षात्परामृतम् ॥8॥

और भी—'वह ब्रह्म मैं ही हूँ, मैं संसारी नहीं हूँ, किसी भी काल में मुझसे भिन्न कुछ है ही नहीं, जैसे समुद्र से उत्पन्न हुए फेन, तरंगादि समुद्र में ही लय हो जाते हैं, वैसे ही मुझसे ही उत्पन्न हुआ यह

जगत् मुझमें ही लय हो जाता है। मुझसे अलग न तो मन है, न जगत् है या न तो माया ही है'—इस तरह से प्रत्यक् स्वरूप परमात्मा जिसको प्रकाशित हो गया है, वह स्वयं ही साक्षात् अमृतस्वरूप परमपुरुष के भाव को प्राप्त हो जाता है।

यदा मनसि चैतन्यं भाति सर्वत्रगं सदा।
योगिनोऽव्यवधानेन तदा सम्पद्यते स्वयम् ॥9॥
यदा सर्वाणि भूतानि स्वात्मन्येव हि पश्यति।
सर्वभूतेषु चात्मानं ब्रह्म सम्पद्यते तदा ॥10॥
यदा सर्वाणि भूतानि समाधिस्थो न पश्यति।
एकीभूतः परेणाऽसौ तदा भवति केवलः ॥11॥
यदा पश्यति चात्मानं केवलं परमार्थतः।
मायामात्रं जगत्कृत्स्नं तदा भवति निर्वृतिः ॥12॥
एवमुक्त्वा स भगवान्दत्तात्रेयो महामुनिः।
सांकृतिः स्वस्वरूपेण सुखमास्तेऽतिनिर्भयः ॥13॥

इति दशमः खण्डः।

इति जाबालदर्शनोपनिषत्समाप्ता।

जब योगी के मन में परमचैतन्य सर्वव्यापक चेतना अस्खलित रूप से प्रकाशित हो जाती है। तब ही वह स्वयं तद्रूप (चैतन्यरूप) हो जाता है। जिस समय सभी भूतों को वह अपनी आत्मा में ही देखने लगता है, और सभी भूतों (प्राणियों) को आत्मा से भिन्न नहीं देखता है, तब वह मनुष्य ब्रह्म ही बन जाता है। समाधि में रहा हुआ मनुष्य जब सभी प्राणियों को देखता नहीं है और वह जब परमात्मा के साथ ही एकीभूत होता है तब वह केवल परमेश्वर ही बना हुआ होता है। जिस समय मनुष्य केवल आत्मा को ही पारमार्थिक सत्ता के रूप में देखता है, और इस सारे जगत् को केवल माया के रूप में ही देखता है, तब उसका निर्वाण (मोक्ष) हो जाता है। इस प्रकार कहकर भगवान् दत्तात्रेय मौन हो गए और महामुनि सांकृति आत्मस्वरूप में अवस्थित होकर अतिनिर्भय होकर सुखपूर्वक रहने लगे।

यहाँ दसवाँ खण्ड पूरा हुआ।

इस प्रकार जाबालदर्शनोपनिषत् समाप्त होती है।

शान्तिपाठः

ॐ आप्यायन्तु ममाङ्गानि——ते मयि सन्तु। (पूर्ववत्)
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

❋

(93) तारसारोपनिषत्

(उपनिषत्परिचय)

यह शुक्लयजुर्वेदीय उपनिषत् है। इसके तीन खण्ड किए गए हैं। प्रथम खण्ड (पाद) में अविमुक्त की उपासना का उपदेश और नारायण के स्थूल अष्टाक्षर तारक का प्रतिपादन है। दूसरे खण्ड (पाद) में नारायण सूक्ष्माष्टतारक, प्रणवावयव के देवता, तथा श्रीराम के सर्वात्मकत्व का प्रतिपादन है और अन्तिम खण्ड (पाद) में जाम्बवान आदि आठ तनु के मंत्र दिए गए हैं। तथा इस विद्या के पठन का और मंत्रों एवं अर्थों के फल बताए हैं। अन्त में ज्ञानी के द्वारा प्राप्य परमपद का उल्लेख किया गया है।

शान्तिपाठः

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं—पूर्णमेवावशिष्यते ॥ (पूर्ववत्)
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

इसका हिन्दी रूपान्तर पूर्व में (पैंगलोपनिषद् में) द्रष्टव्य है।

प्रथमः पादः

बृहस्पतिरुवाच याज्ञवल्क्यं यदनु कुरुक्षेत्रं देवानां देवयजनं सर्वेषां भूतानां ब्रह्मसदनम्। तस्माद्यत्र क्वचन गच्छेत्तदेव मन्येतेति। इदं वै कुरुक्षेत्रं देवानां देवयजनं सर्वेषां भूतानां ब्रह्मसदनम्। अविमुक्तं वै कुरुक्षेत्रं देवानां देवयजनं सर्वेषां भूतानां ब्रह्मसदनम्। अत्र हि जन्तोः प्राणेषूत्क्रममाणेषु रुद्रस्तारकं ब्रह्म व्याचष्टे येनासावमृतो भूत्वा मोक्षी भवति। तस्मादविमुक्तमेव निषेवेत। अविमुक्तं न विमुञ्चेत्। एवमेवैष भगवन्निति वै याज्ञवल्क्यः ॥1॥

बृहस्पति ने याज्ञवल्क्य से कहा—'प्राणों का कौन-सा क्षेत्र (स्थान) है ? इन्द्रियों के देवयजन का क्या अभिप्राय है ? समस्त प्राणियों का ब्रह्मसदन क्या है' ? 'तब याज्ञवल्य ने उत्तर में कहा—'अविमुक्त' ही प्राणों का क्षेत्र है। उसे ही इन्द्रियों का देवयजन कहा गया है और वही समस्त प्राणियों का ब्रह्मसदन है। ठीक है, किसी भी स्थान को जाने वाले को यही समझना चाहिए। यह कुरुक्षेत्र ही प्राणस्थानीय इन्द्रियों का देवयजन है और समस्त प्राणियों का ब्रह्मसदन (ब्रह्मस्थान) है। जब इस जगत् में जीव के प्राण का उत्क्रमण होता है, उस समय रुद्रदेव तारक के सम्बन्ध में उपदेश करते हैं, जिससे वह जीव अमृतत्व पाकर मोक्षपद का लाभ प्राप्त करता है। इसलिए प्राणी के लिए यह उचित है कि वह सदैव 'अविमुक्त' की उपासना करता रहे। उसे कभी न छोड़े। इस तरह मुनि याज्ञवल्क्य ने यह तथ्य प्रतिपादित किया। (यहाँ 'अविमुक्त' पारिभाषिक शब्द है)

अथ हैनं भारद्वाजः पप्रच्छ याज्ञवल्क्यं किं तारकं किं तारयतीति। स होवाच याज्ञवल्क्यः—ॐ नमो नारायणायेति तारकं चिदात्मकमित्युपासितव्यम्। ओमित्येकाक्षरमात्मस्वरूपम्। नम इति द्व्यक्षरं प्रकृति-

स्वरूपम्। नारायणायेति पञ्चाक्षरं परब्रह्मस्वरूपम् इति। य एवं वेद सोऽमृतो भवति। ओमिति ब्रह्मा भवति, नकारो विष्णुर्भवति, मकारो रुद्रो भवति, नकार ईश्वरो भवति, रकारोऽण्डविराड् भवति, यकारः पुरुषो भवति, णकारो भगवान् भवति, यकारः परमात्मा भवति। एतद्वै नारायणस्याष्टाक्षरं परमपुरुषो भवति ॥2॥ अयमृग्वेदः प्रथमः पादः ॥1॥

अब भारद्वाज ने याज्ञवल्क्य से पूछा—"तारक क्या है ? वह क्या तारता है ?" तब याज्ञवल्क्य ने कहा—"ॐ नमो नारायणाय" यही चिदात्मक तारक कहलाता है। इसकी ही चिदात्मक समझकर उपासना करनी चाहिए। इसमें ('ॐ नमो नारायणाय' मंत्र में) जो ॐ (ओम्) है, वह एकाक्षर आत्मस्वरूप है, इसमें आए हुए 'नमः' ये दो अक्षर प्रकृतिस्वरूप हैं और इस मंत्र में आए 'नारायणाय' ये पाँच अक्षर ब्रह्मस्वरूप हैं। इस प्रकार जो जानता है वह 'अमृत' हो जाता है। अब एक-एक अक्षर लेकर इस अष्टाक्षर मंत्र का अर्थ करते हैं—इसमें ॐ का अर्थ ब्रह्मा होता है, नकार विष्णु है, मकार रुद्र है, नकार ईश्वर होता है, रकार अण्ड विराट् है, यकार पुरुष है, णकार भगवान् है और यकार परमात्मा है। ये ही नारायण-मंत्र के आठ अक्षर हैं। यही परमपुरुषरूप है। यह पहला पाद ऋग्वेद है (अर्थात् यही ऋग्वेद के मस्तक का साररूप है)।

यहाँ प्रथम खण्ड पूर्ण हुआ।

❁

द्वितीयः पादः

ॐ इत्येतदक्षरं परं ब्रह्म। तदेवोपासितव्यम्। एतदेव सूक्ष्माष्टाक्षरं भवति। तदेतदष्टात्मकोऽष्टधा भवति। अकारः प्रथमाक्षरो भवति। उकारो द्वितीयाक्षरो भवति। मकारस्तृतीयाक्षरो भवति। बिन्दुस्तुरीयाक्षरो भवति। नादः पञ्चमाक्षरो भवति। कला षष्ठाक्षरो भवति। कलातीता सप्तमाक्षरो भवति। तत्परश्चाष्टमाक्षरो भवति। तारकत्वात्तारको भवति। तदेव तारकं ब्रह्म त्वं विद्धि। तदेवोपासितव्यम् ॥1॥

'ॐ' यह एकाक्षर परम ब्रह्म है। उसी की उपासना करनी चाहिए। इसी में अष्टाक्षर मंत्र के आठों अक्षर सूक्ष्म रूप में रहते हैं। जैसे अकार प्रथम मंत्राक्षर है, उकार द्वितीय मंत्राक्षर है, मकार तृतीय मंत्राक्षर है, बिन्दु चौथा अक्षर है, नाद पाँचवाँ अक्षर है, कला छठा अक्षर है, कलातीत सातवाँ अक्षर है और उससे परे जो है, वह आठवाँ अक्षर है। वह सबको तारता है, इसलिए इसे 'तारक' कहा जाता है। उसे तुम 'तारक ब्रह्म' जानो उसी की उपासना करनी चाहिए।

अत्रैते श्लोका भवन्ति—
अकारादभवद्ब्रह्मा जाम्बवानिति संज्ञकः।
उकाराक्षरसम्भूत उपेन्द्रो हरिनायकः ॥2॥
मकाराक्षरसम्भूतः शिवस्तु हनुमान् स्मृतः।
बिन्दुरीश्वरसंज्ञस्तु शत्रुघ्नश्चक्रराट् स्वयम् ॥3॥
नादो महाप्रभुर्ज्ञेयो भरतः शङ्खनामकः।
कलायाः पुरुषः साक्षाल्लक्ष्मणो धरणीधरः ॥4॥
कलाऽतीता भगवती स्वयं सीतेति संज्ञिता।
तत्परः परमात्मा च श्रीरामः पुरुषोत्तमः ॥5॥

इसके विषय में ये श्लोक कहे गए हैं—अकार से जाम्बवान नाम के ब्रह्मा उत्पन्न हुए, उकार से वानरों के नायक उपेन्द्र उत्पन्न हुए, मकार से शिव, हनुमान के रूप में जन्मे हैं और ईश्वरसंज्ञक बिन्दु से चक्रवर्ती शत्रुघ्न उत्पन्न हुए। और जो शंख नामक नाद होता है, वही महाप्रभुत्ववान् भरत है, ऐसा माना गया है। और कला से साक्षात् धरणीधर लक्ष्मण जी उत्पन्न हुए हैं तथा कलातीता स्वयं भगवती सीता हैं, ऐसा कहा गया है। और उससे जो परे हैं वे परमात्मा ही पुरुषोत्तम श्रीराम हैं।

ओमित्येतदक्षरमिदं सर्वम्। तस्योपव्याख्यानं भूतं भव्यं भविष्यद्यच्चान्यत् तत्त्वमन्त्रवर्णदेवताछन्दो ऋक्कलाशक्तिसृष्ट्यात्मकमिति। य एवं वेद ॥6॥ यजुर्वेदो द्वितीयः पादः ॥2॥

यह सब 'ओम्' इस एक अक्षर का ही रूप है। यह जो भूत, वर्तमान और भविष्यत् है, वह सब ॐ का ही विस्तार है। और भी जो कुछ तत्त्व, मन्त्र, वर्ण, देवता, छन्द, ऋक्, कला, शक्ति, सृष्टि आदि का रूप है वह सब ॐ कार का ही विस्तार है। जो ऐसा जानता है वह तद्रूप ही हो जाता है। यह दूसरा पाद यजुर्वेद के मस्तक का सार है।

यहाँ द्वितीय पाद पूर्ण हुआ।

❋

तृतीयः पादः

अथ हैनं भारद्वाजो याज्ञवल्क्यमुवाच—अथ कैर्मन्त्रैः परमात्मा प्रीतो भवति स्वात्मानं दर्शयति तान्नो ब्रूहि भगव इति ॥1॥

बाद में भारद्वाज ने याज्ञवल्क्य से कहा—'अब किन मंत्रों से परमात्मा प्रसन्न होते हैं ? और अपने आपका साक्षात्कार कराते हैं ? हे भगवन् ! वह हमें बताइए'।

स होवाच याज्ञवल्क्यः—
ॐ यो ह वै श्रीपरमात्मा नारायणः स भगवानकारवाच्यो जाम्बवान् भूर्भुवः सुवस्तस्मै वै नमो नमः ॥2॥
ॐ यो ह वै श्रीपरमात्मा नारायणः स भगवानुकारवाच्य उपेन्द्रस्वरूपो हरिनायको भुर्भुवः सुवस्तस्मै वै नमो नमः ॥3॥
ॐ यो ह वै परमात्मा नारायणः स भगवान् मकारवाच्यः शिवस्वरूपो हनूमान् भुर्भुवः सुवस्तस्मै वै नमो नमः ॥4॥
ॐ यो ह वै श्रीपरमात्मा नारायणः स भगवान् बिन्दुस्वरूपः शत्रुघ्नो भूर्भुवः सुवस्तस्मै वै नमो नमः ॥5॥
ॐ यो ह वै श्रीपरमात्मा नारायणः स भगवान् नादस्वरूपो भरतो भूर्भुवः सुवस्तस्मै वै नमो नमः ॥6॥
ॐ यो ह वै श्रीपरमात्मा नारायणः स भगवान् कलास्वरूपो लक्ष्मणो भूर्भुवः सुवस्तस्मै वै नमो नमः ॥7॥
ॐ यो ह वै श्रीपरमात्मा नारायणः स भगवान् कलातीता भगवती सीता चित्स्वरूपा भूर्भुवः सुवस्तस्मै वै नमो नमः ॥8॥
ॐ यो ह वै श्रीपरमात्मा नारायणः स भगवान् तत्परः परमपुरुषः पुराणपुरुषोत्तमो नित्यशुद्धबुद्धमुक्तसत्यपरमानन्दानन्ताद्वयपरिपूर्णः परमात्मा ब्रह्मैवाहं रामोऽस्मि भूर्भुवः सुवस्तस्मै वै नमो नमः ॥9॥

तब याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया कि जो ओंकार रूप परमात्मा श्री नारायण हैं, वही अकारवाच्य जाम्बवान हैं, वही उकार वाच्य हरिनायक उपेन्द्र है, वही मकारवाच्य शिवस्वरूप हनुमान हैं, वही बिन्दुस्वरूप शत्रुघ्न हैं, वही नादस्वरूप भरत है, वही कलास्वरूप लक्ष्मण हैं, वही कलातीता भगवती चित्स्वरूपिणी सीता हैं (जिस प्रकार प्रथम मंत्र में 'ॐ यो ह वै' से लेकर 'स भगवान्' तक और अन्त में 'भूर्भुवः स्वः' से लेकर 'नमो नमः' तक सभी मंत्रों में है।) तो ये तीन भूः, भुवः और स्वः लोक भी यही परमात्मा है और वही इन उपर्युक्त आठ मंत्रों में प्रतिपादित हुए हैं। उन सबके स्वरूप को बार-बार नमस्कार हो, नमस्कार हो। जो यह भगवान् नारायण हैं, वही भगवान् तत्पर, परमपुरुष, पुराणपुरुषोत्तम, नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त, सत्य, परमानन्द, अनन्त, अद्वय, परिपूर्ण, परमात्मा ब्रह्मरूप राम मैं ही हूँ, भूः भुवः स्वः—ये मेरे ही रूप हैं, ब्रह्म को नमस्कार है, नमस्कार है।

एतदष्टविधमन्त्रं योऽधीते सोऽग्निपूतो भवति स वायुपूतो भवति स आदित्यपूतो भवति स स्थाणुपूतो भवति स सर्वैर्देवैर्ज्ञातो भवति। तेनेतिहासपुराणानां रुद्राणां शतसहस्राणि जप्तानि फलानि भवन्ति। श्रीमन्नारायणाष्टाक्षरानुस्मरणेन गायत्र्याः शतसहस्रं जप्तं भवति प्रणवानामयुतं जप्तं भवति दशपूर्वान् दशोत्तरान् पुनाति। नारायणपदमवाप्नोति य एवं वेद ॥10॥

इस उपर्युक्त आठ प्रकार के मंत्र को जो पढ़ेगा, वह अग्नि जैसा पवित्र होता है, वायु जैसा पवित्र होता है। आदित्य जैसा पवित्र होता है, वह स्थाणु (शिवलिंग) जैसा पवित्र होता है, वह सभी देवों के द्वारा जाना जाता है, वह इतिहासपुराणों का एक लाख रुद्रमंत्र के जपों का फल प्राप्त करता है। श्रीमन्नारायण के अष्टाक्षरमंत्र के स्मरण (जप, चिन्तन) से एक लाख गायत्री मंत्र के जाप की समानता होती है। और प्रणव के अर्बुद जप की समानता होती है। उसे जपने वाला अपने पहले की और आने वाली दस-दस पीढ़ियों को पवित्र कर देता है। जो ऐसा जानता है, वह नारायण का पद पाता है।

तद्विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः। दिवीव चक्षुराततम् ॥11॥
तद्विप्रासो विपन्यवो जागृवांस समिन्धते। विष्णोर्यत्परमं पदम् ॥12॥

इत्युपनिषत्। सामवेदस्तृतीयः पादः ॥3॥

इति तारसारोपनिषत्समाप्ता।

भगवान् विष्णु के उस परमधाम का विद्वान् उपासक सदैव ध्यान-दर्शन करते हैं, जो कि आकाश में प्रकाशयुक्त सूर्यमण्डल की तरह संव्याप्त है। साधना में सतत लगे रहने वाले निष्काम उपासक ब्राह्मण जहाँ पहुँचकर उस परम धाम को और भी ज्यादा प्रकाशित करते हैं। ऐसे उस पद को विष्णु का परमपद कहते हैं। इस प्रकार इस उपनिषत् का उपदेश है।

यहाँ सामवेद के मस्तक का साररूप तीसरा पाद पूरा हुआ।
इस प्रकार तारसारोपनिषत् समाप्त होती है।

शान्तिपाठः

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं—पूर्णमेवावशिष्यते। (पूर्ववत्)
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

❋

(94) महावाक्योपनिषत्

(उपनिषत्परिचय)

यह उपनिषत् अथर्ववेदीय है। इस बारह मंत्रों वाली उपनिषद में ब्रह्मा ने देवों के समक्ष रहस्यज्ञान प्रकट किया है। यह अत्यन्त गोपनीय रहस्यज्ञान केवल जिज्ञासुओं के ही समक्ष प्रकट करना चाहिए। गुरुसेवक, अन्तर्मुखी और सात्त्विक गुणों से पूर्ण जिज्ञासु ही इसका अधिकारी है। इसमें अपरोक्षानुभव के उपदेश का अधिकारी, विद्या और अविद्या का स्वरूप और कार्य, हंसविद्या के अभ्यास से परमात्मा का आविर्भाव, तत्त्वज्ञान की वृत्ति का स्वरूप, प्रणवहंसज्योति का ध्यान और हंसज्योति विद्या का फल—ये विषय प्रतिपादित हैं।

शान्तिपाठः

ॐ भद्रं कर्णेभिः—देवहितं यदायुः। (पूर्ववत्)

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः॥

इसका हिन्दी रूपान्तर पूर्व में (शाण्डिल्योपनिषद् में) द्रष्टव्य है।

अथ होवाच भगवान्ब्रह्मापरोक्षानुभवपरोपनिषदं व्याख्यास्यामः॥1॥
गुह्याद्गुह्यतरमेषा न प्राकृतायोपदेष्टव्या। सात्त्विकायान्तर्मुखाय परिशु-श्रूषवे॥2॥

एक बार ब्रह्मा ने देवों से कहा—'अपरोक्ष अनुभव (इन्द्रियातीत अनुभूति) के विषयवाली उपनिषद् की हम विवेचना करेंगे। इस उपनिषद् को जन साधारण के सामने प्रकट नहीं करना चाहिए। क्योंकि यह गूढ़ से भी अधिक गूढ़ है। किन्तु जो सात्त्विक गुणों से ओतप्रोत है, अन्तर्मुखी है तथा अपने गुरुजनों की सेवा में संलग्न है, ऐसे अधिकारी को ही यह उपनिषत् सुनानी चाहिए।

अथ संसृतिबन्धमोक्षयोर्विद्याविद्ये चक्षुषी उपसंहृत्य विज्ञायाविद्यालो-काण्डस्तमोदृक्॥3॥
तमो हि शारीरप्रपञ्चमाब्रह्मस्थावरान्तमनन्ताखिलाजाण्डभूतम्।
निखिलनिगमोदितसकामकर्मव्यवहारो लोकः॥4॥

इसके बाद संसार के बन्धन और मोक्ष की कारणभूता विद्या और अविद्यारूपी दोनों आँखों को बन्द करके ब्रह्मात्मैक्य की अनुभूति करता हुआ साधक अविद्या रूप संसार के प्रति तमोमयी दृष्टि से (अज्ञानमयी दृष्टि से) मुक्त हो जाता है। आत्मा के स्वरूप को आवृत कर देने वाला यह अज्ञानरूपी अन्धकार ही तम है। यही अविद्या है। और यही चराचर (स्थावर-जंगम) समस्त जगत् का, इस देह से लेकर ब्रह्माण्डपर्यन्त सकल (अखण्ड) मण्डल का कारण है। इस तम (अन्धकार) से ही सभी वस्तुओं की ब्रह्म से अलग सत्ता का भान होता है। वेदों में जो धर्म कर्तव्य आदि का निर्देश है, उसे प्रकट करने वाला कारण भी यही तमोमयी अविद्या है।

नैषोऽन्धकारोऽयमात्मा। विद्या हि काण्डान्तरादित्यो ज्योतिर्मण्डलं ग्राह्यं नापरम्॥5॥
असावादित्यो ब्रह्मेत्यजपयोपहितं हंसः सोऽहम्। प्राणापानाभ्यां प्रति-लोमानुलोमाभ्यां समुपलभ्यैवं सा चिरं लब्ध्वा त्रिवृदात्मनि ब्रह्मण्यभि-ध्यायमाने सच्चिदानन्दः परमात्माविर्भवति॥6॥

यह अन्धकार आत्मा नहीं है। यह तो अविद्या है, विद्या तो इससे अलग ही है, वह चित् स्वरूप है, आदित्यस्वरूप, स्वप्रकाशित, ज्योतिरूप ही है। उसी को ग्रहण करना चाहिए। क्योंकि वह केवल ब्रह्म पर ही अवलम्बित है। वह ब्रह्मस्वरूप ही है, और कुछ वह नहीं है। यह आत्मा भी वही आदित्यस्वरूप ब्रह्म है। वही श्वास-प्रश्वास के अजपाजाप से युक्त है। और वही 'हंस' नाम से सभी के देह में प्रतिष्ठित है। इस हंसरूपी परमात्मा का अंश अपने आपको मानकर और प्राण-अपान का ज्ञान प्राप्त करके चिरकाल तक साधना करने से इस विद्या के द्वारा समष्टि-व्यष्टि-तदैक्यरूप ब्रह्म में रत रहने पर ही सच्चिदानन्द ब्रह्म का आविर्भाव होता है।

सहस्रभानुमच्छुरिता पूरितत्वादलिप्या पारावारपूर इव। नैषा समाधिः।
नैषा योगसिद्धिः। नैषा मनोलयः। ब्रह्मैक्यं तत्॥7॥
आदित्यवर्णं तमसस्तु पारे। सर्वाणि रूपाणि विचित्य धीरः। नामानि कृत्वाऽभिवदन्यदास्ते॥8॥

तत्त्वज्ञान की यह श्रेष्ठ वृत्ति हजारों सूर्यों के प्रकाश से पूर्ण, तरंगरहित सागर की जलराशि जैसी, ब्रह्मभाव के रस से युक्त और सनातन (शाश्वत, स्थायी) रहने वाली है। (लयरहित-अविनाशी है।) ऐसी यह स्थिति न तो समाधि की है, न तो योगसिद्धि की ही है। वह मनोलय भी नहीं है। वह तो है—जीव और ब्रह्म की एकता ही। वह ब्रह्म (आत्मतत्त्व) अज्ञान से परे आदित्य जैसी कान्तिवाला स्वप्रकाशित है (शुक्ल) है। विद्वान् नाम-रूप की व्यर्थता पर सोचकर परात्पर की अनुभूति करते हैं, वे उस ब्रह्मरूप में ही (तद्रूप ही) हो जाते हैं।

धाता पुरस्ताद्यमुदाजहार। शक्रः प्रविद्वान्प्रदिशश्चतस्रः तमेवं विद्वानमृत इह भवति। नान्यः पन्था अयनाय विद्यते॥9॥
यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवाः। तानि धर्माणि प्रथमान्यासन्। ते ह नाकं महिमानः सचन्ते। यत्र पूर्वे साध्याः सन्ति देवाः॥10॥

ब्रह्माजी ने इस स्थिति को पहले पहल कहा है। और ऐसा ही सबसे अग्रणी, देवों में अतुलनीय और श्रेष्ठ देवराज इन्द्र ने भी कहा है। ऐसे ही अविनाशी ब्रह्म को इस प्रकार जानने वाला साधक परमात्मा के ही रूप को (अमृतत्व को) प्राप्त कर लेता है। इसके सिवा तो मुक्ति के लिए और कोई दूसरा मार्ग है ही नहीं। पुरातन समय में देवों ने ज्ञानरूप यज्ञ से विराट् रूप यज्ञ का यजन किया था। वे ही ब्रह्मात्मैक्य यज्ञ करने वाले प्रथम जीवन्मुक्त हुए। वे स्वर्ग में (महिमामय लोक में) अभी भी 'साध्य' नाम से प्रकाशित हो रहे हैं।

सोऽहमर्कः परं ज्योतिरर्कज्योतिरहं शिवः।
आत्मज्योतिरहं शुक्रः सर्वज्योतिरसावदोम्॥11॥

मैं ही वह चिन्मय आदित्य हूँ। मैं ही वह आदित्यरूप परमज्योति हूँ। मैं ही वह कल्याणकारी शिव हूँ। मैं ही वह श्रेष्ठ आत्मज्योति हूँ। सर्वप्रकाशक शुक्र (ब्रह्म) मैं ही हूँ। मैं उस परम सत्ता से कभी भी अलग नहीं हूँ।

य एतदथर्वशिरोऽधीते। प्रातरधीयानो रात्रिकृतं पापं नाशयति। सायमधीयानो दिवसकृतं पापं नाशयति। तत्सायं प्रातः प्रयुञ्जानः पापोऽपापो भवति। मध्यन्दिनमादित्याभिमुखोऽधीयमानः पञ्चमहापातकोपपातकात्प्रमुच्यते। सर्ववेदपारायणपुण्यं लभते। श्रीमहाविष्णुसायुज्यमवाप्नोतीत्युपनिषत् ॥12॥

इति महावाक्योपनिषत्समाप्ता।

जो इस अथर्वशिरा का अध्ययन करता है, वह प्रातः को अध्ययन (पाठ) करके रात्रि में किए हुए पाप का नाश कर देता है। शाम को पढ़ने वाला दिन में किए गए पाप का नाश कर देता है। सायं-प्रातः—दोनों समय पढ़ने वाला पापी हो, तो निष्पाप हो जाता है। मध्याह्नकाल में सूर्य के सन्मुख होकर पढ़ने वाला पाँच महापातकों से और उपपातकों से मुक्त हो जाता है। इसका पाठ करने वाला सभी वेदों के पारायण का फल प्राप्त करता है, और श्री महाविष्णु का सायुज्य प्राप्त करता है, ऐसा यह उपनिषत् कहती है।

इस प्रकार महावाक्योपनिषत् समाप्त होती है।

शान्तिपाठः

ॐ भद्रं कर्णेभिः—देवहितं यदायुः। (पूर्ववत्)
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

(95) पञ्चब्रह्मोपनिषत्

(उपनिषत्परिचय)

यह उपनिषद् कृष्णयजुर्वेदीय है। 41 मंत्रों वाली इस उपनिषत् में कहा गया है कि सद्योजात, अघोर, वामदेव, तत्पुरुष और ईशान—ऐसे पाँच नामवाले महेश्वर जगत् के पहले भी थे। वे ही क्रमशः पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश के अधिष्ठाता देव हुए और उन्हीं पाँच में से क्रमशः ऋक्, यजुस्, साम, अथर्व और ॐकार हुए। यह पंचब्रह्म स्वयं में अवस्थित मानना चाहिए। माया से परे विश्व को प्रकाशित करने वाले महादेव को मायामोहित देवलोग नहीं जानते। वह दृष्टिगोचर नहीं होता। विश्व का भासक और विश्व को अपने में लय करने वाला परम शान्त ब्रह्म मैं ही हूँ और वही ब्रह्म संपूर्ण दृश्यमान जगत् में अनुस्यूत है, इस प्रकार पंच ब्रह्म को जानने वाला ब्रह्मरूप हो जाता है। मिट्टी के ज्ञान से मिट्टी से बनी सभी चीजें ज्ञात हो जाती हैं। इसी प्रकार ब्रह्मज्ञान से सारा जगत् जाना जाता है। कारणकार्य का अभेद होता है। हृदयकमल के सूक्ष्मकाश में उस ब्रह्मरूप आत्मा का स्थान है।

शान्तिपाठः

ॐ सह नाववतु। सह नौ—मा विद्विषावहै। (पूर्ववत्)
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

इसका हिन्दी रूपान्तर पूर्व में (शारीरकोपनिषत् में) द्रष्टव्य है।

अथ पैप्पलादो भगवान्भो किमादौ किं जातमिति। सद्योजातमिति किं भगव इति। अघोर इति। किं भगव इति वामदेव इति। किं वा पुनरिमे भगव इति। तत्पुरुष इति। किं वा पुनरिमे भगव इति। सर्वेषां दिव्यानां प्रेरयिता ईशान इति। ईशानो भूतभव्यस्य सर्वेषां देवयोनिनाम् ॥1॥

एक बार जब शाकल ने पूछा—भगवन्! सबसे पहले क्या उत्पन्न हुआ? तब पैप्पलाद भगवान् ने कहा—सबसे पहले 'सद्योजात' उत्पन्न हुआ। शाकल ने पूछा—इसके और कोई भेद हैं? पैप्पलाद ने कहा—हाँ 'अघोर' है। शाकल ने पूछा—क्या अन्य भी कोई भेद है? पैप्पलाद ने कहा—हाँ 'वामदेव' है। शाकल ने पूछा—बस, इतने ही भेद हैं? पैप्पलाद ने कहा—और भी तत्पुरुष है। बस, इतने ही भेद हैं। पैप्पलाद ने कहा—और भी एक भेद 'ईशान' नामक है। वह सभी देवों को प्रेरित करने वाला है तथा भूत, भविष्यत् और समस्त देवयोनियों का शासक है।

कति वर्णाः। कति भेदाः। कति शक्तयः। यत्सर्वं तद्गुह्यम् ॥2॥
तस्मै नमो महादेवाय महारुद्राय ॥3॥
प्रोवाच तस्मै भगवान्महेशः ॥4॥

इसके कितने वर्ण हैं, कितने भेद (प्रकार) हैं, तथा कितनी शक्तियाँ हैं—ये सब बातें तो बड़ी ही गोपनीय (अनधिकारियों से छिपाने योग्य) हैं। ऐसे महारुद्र महादेव को नमस्कार हो। क्योंकि भगवान् महेश ने ही पैप्पलाद को ये सभी उपदेश दिए हैं।

गोप्याद्गोप्यतरं लोके यद्यस्ति शृणु शाकल।
सद्योजातं मही पूषा रमा ब्रह्मा त्रिवृत्स्वरः ॥5॥
ऋग्वेदो गार्हपत्यं च मन्त्राः सप्त स्वरास्तथा।
वर्णं पीतं क्रिया शक्तिः सर्वाभीष्टफलप्रदम् ॥6॥

हे शाकल! यह ज्ञान तो गोपनीय से भी अधिक गोपनीय है। तुम उसे सुनो! वह है सद्योजात ब्रह्म! सभी प्रकार की अभीष्ट सिद्धियों को देने वाली मही, पूषा, रमा, ब्रह्मा, त्रिवृत् (सत्त्व, रज और तम), अकारादि स्वर, ऋग्वेद, गार्हपत्य अग्नि, विविध मंत्र, सा-रे-ग-म-प-ध-नि—ये सात स्वर और पीत रंग तथा क्रियाशक्ति आदि इसके अनेक स्वरूप हैं।

अघोरं सलिलं चन्द्रं गौरी वेदद्वितीयकम्।
नीरदाभं स्वरं सान्द्रं दक्षिणाग्निरुदाहृतम् ॥7॥
पञ्चाशद्वर्णसंयुक्तं स्थितिरिच्छाक्रियान्वितम्।
शक्तिरक्षणसंयुक्तं सर्वाघौघविनाशनम् ॥8॥
सर्वदुष्टप्रशमनं सर्वैश्वर्यफलप्रदम् ॥9॥

जल, चन्द्रमा, गौरी, दूसरा वेद (यजुर्वेद), मेघ की आभा, उकार स्वर, स्निग्धता और दक्षिणाग्नि—ये सब अघोर के स्वरूप बतलाए जाते हैं। इसके सिवा और भी पचास वर्ण—अ से लेकर ज्ञ तक के जो हैं, उनके साथ स्थिति और इच्छाशक्ति एवं क्रियाशक्ति सहित इनके रक्षण का स्वरूप भी अघोर का ही स्वरूप है। वह सभी प्रकार के पापसमूहों का नाश करने वाला है तथा सभी दुष्टों का विनाश करने वाला तथा सभी अभीष्ट फलों का देने वाला है।

वामदेवं महाबोधदायकं पावकात्मकम्।
विद्यालोकसमायुक्तं भानुकोटिसमप्रभम् ॥10॥
प्रसन्नं सामवेदाख्यं गानाष्टकसमन्वितम्।
धीरस्वरमधीनं चाहवनीयमनुत्तमम् ॥11॥
ज्ञानसंहारसंयुक्तं शक्तिद्वयसमन्वितम्।
वर्णं शुक्लं तमोमिश्रं पूर्णबोधकरं स्वयम् ॥12॥
धामत्रयनियन्तारं धामत्रयसमन्वितम्।
सर्वसौभाग्यदं नृणां सर्वकर्मफलप्रदम् ॥13॥
अष्टाक्षरसमायुक्तमष्टपत्रान्तरस्थितम् ॥14॥

वामदेव महाबोधकारक तथा पावनकारक है। वह विद्या के आलोक से प्रकाशित है और करोड़ों सूर्यों के तेज वाला है। वह सर्वदा आनन्दस्वरूप है। वह सामवेद के सात गान तथा भरत शास्त्र की एक गीति मिलाकर आठ गान वाले सामवेद से युक्त है। वह अ-आ-आम् रूप धीर-मन्द स्वर के अधीन है, और सर्वोत्तम आहवनीय अग्नि जैसे ज्ञान और संहार शक्ति में युक्त दीखने वाला वामदेव का स्वरूप है। वह तमोमिश्रित शुक्लवर्ण वाला है और स्वयं बोधदायक है। वह तीनों धामों को (भुवनों को) अवस्थाओं को नियंत्रित करने वाला है। और स्वयं उन तीनों धामों में अनुस्यूत भी है। वह सभी मनुष्यों को सौभाग्य देने वाला है। वह सभी कर्मों का फल देने वाला है। वह आठ अक्षरों में निवास करता है। ये आठ अक्षर अ, क, च, ट, त, प, य, श हैं, अथवा क्षरित न होने वाले आठ तत्त्व हैं, अथवा 'ॐ नमो महादेवाय' ये आठ मंत्राक्षर हैं, या हृदयकमल के अष्टदल हैं।

यत्तत्तत्पुरुषं प्रोक्तं वायुमण्डलसंवृतम्।
पञ्चाग्निना समायुक्तं मन्त्रशक्तिनियामकम् ॥15॥
पञ्चाशत्स्वरवर्णाख्यमथर्ववेदस्वरूपकम्।
कोटिकोटिगणाध्यक्षं ब्रह्माण्डाखण्डविग्रहम् ॥16॥
वर्णं रक्तं कामदं च सर्वाधिव्याधिभेषजम्।
सृष्टिस्थितिलयादीनां कारणं सर्वशक्तिधृक् ॥17॥
अवस्थात्रितयातीतं तुरीयं ब्रह्मसंज्ञितम्।
ब्रह्मविष्ण्वादिभिः सेव्यं सर्वेषां जनकं परम् ॥18॥

और जो 'तत्पुरुष' कहा गया है, वह स्वरूप वायुमण्डल से घिरा हुआ है। वह पंचाग्नि से युक्त है और मंत्रशक्ति का नियामक है। वह स्वरों और व्यंजनों को मिलाकर पचास वर्णों से युक्त है। वह अथर्ववेद का स्वरूप है। वह करोड़ों-करोड़ों गणों का अध्यक्ष है। अखण्ड ब्रह्माण्डरूप शरीर वाला वह स्वरूप है। उस स्वरूप का वर्ण लाल है, वह सभी इच्छाओं को पूर्ण करने वाला है। वह सभी प्रकार के रोगों का औषध है। वह सृष्टि, स्थिति और प्रलय का कारण है, एवं सर्व शक्तियों को धारण किए हुए है। वह तीनों अवस्थाओं (जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति) से परे है, वह तुरीय ब्रह्म कहा जाने वाला है। वह ब्रह्मा, विष्णु आदि का उपास्य है, और सबका परमजनक (मूल कारण) है।

ईशानं परमं विद्यात्प्रेरकं बुद्धिसाक्षिणम्।
आकाशात्मकमव्यक्तमोंकारस्वरभूषितम् ॥19॥
सर्वदेवमयं शान्तं शान्त्यतीतं स्वराद्बहिः।
अकारादिस्वराध्यक्षमाकाशमयविग्रहम् ॥20॥
पञ्चकृत्यनियन्तारं पञ्चब्रह्मात्मकं बृहत् ॥21॥
पञ्चब्रह्मोपसंहारं कृत्वा स्वात्मनि संस्थितः।
स्वमायावैभवान्सर्वान्संहृत्य स्वात्मनि स्थितः ॥22॥
पञ्चब्रह्मात्मकातीतो भासते स्वस्वतेजसा।
आदावन्ते च मध्ये च भासते नान्यहेतुना ॥23॥

जो ईशान स्वरूप है उसे परम मानना चाहिए। वह विद्या का प्रेरक है और बुद्धि का साक्षी है। वह आकाशात्मक है, अव्यक्त है, वह ओंकार के स्वर से भूषित है। वह सर्वदेवमय, शान्त और शान्ति से भी परे है। वह अकार आदि स्वरों का अध्यक्ष है, एवं आकाश जैसे शरीरवाला है। वह स्वरूप सृष्टि, स्थिति, लय, विधान और अनुग्रह—इन पाँचों कृत्यों का नियामक है। वह पंचब्रह्मात्मक विश्वव्यापी विराट् है। वही पंचब्रह्मात्मक स्वरूप वाला ईशान अपने ऐसे स्वरूप का उपसंहार करके अपने मूल स्वरूप में स्थिति करता है। और वही अपनी माया के वैभव (प्रभाव) से सबका संहार करके अपनी ही आत्मा में प्रतिष्ठित होने वाला है। ये ईशान पंचब्रह्म से परे रहकर अपने ही तेज से प्रकाशित हैं। और आदि-मध्य-अन्त में किसी अन्य कारण से नहीं, बल्कि केवल प्रकाश के लिए ही प्रकाशरूप है, स्वयंभू प्रकाश है।

मायया मोहिताः शम्भोर्महादेवं जगद्गुरुम्।
न जानन्ति सुराः सर्वे सर्वकारणकारणम्।
न संदृशे तिष्ठति रूपमस्य परात्परं पुरुषं विश्वधाम ॥24॥

येन प्रकाशते विश्वं यत्रैव प्रविलीयते ।
तद्ब्रह्म परमं शान्तं तद्ब्रह्मास्मि परं पदम् ॥25॥

शंभु की माया से मोहित देवलोग सभी कारणों के भी कारण, ऐसे जगद्गुरु महादेव को पहचान नहीं सकते। समग्र विश्व को प्रकाश देने वाले उन परात्पर पुरुष का रूप जन साधारण की दृष्टि में नहीं आ सकता। जिससे समग्र विश्व प्रकाशित होता है, और जिसमें विलीन हो जाता है वही परम शान्त ब्रह्म है वह परमपद स्वरूप ब्रह्म मैं ही हूँ।

पञ्चब्रह्ममिदं विद्यात्सद्योजातादिपूर्वकम् ।
दृश्यते श्रूयते यच्च पञ्चब्रह्मात्मकं स्वयम् ॥26॥
पञ्चधा वर्तमानं तं ब्रह्मकार्यमिति स्मृतम् ।
ब्रह्मकार्यमिति ज्ञात्वा ईशानं प्रतिपद्यते ॥27॥
पञ्चब्रह्मात्मकं सर्वं स्वात्मनि प्रविलाप्य च ।
सोऽहमस्मीति जानीयाद्विद्वान्ब्रह्मामृतो भवेत् ॥28॥
इत्येतद्ब्रह्म जानीयाद्यः स मुक्तो न संशयः ॥29॥

यह सद्योजात आदि जो कुछ भी देखा जाता है और सुना जाता है, वह सब पंचब्रह्मात्मक ही है। यह (सद्योजात आदि) पाँच प्रकार से है, वह एक ब्रह्म का ही कार्य है। इस ब्रह्मकार्य को जानकर 'ईशान' को प्राप्त किया जा सकता है। और इस पंचब्रह्मात्मक सबको अपने आत्मा में विलीन करके 'मैं ही वह पंचब्रह्म हूँ'—इस प्रकार जान लेना चाहिए। इस प्रकार जानने वाला अमृतरूप हो जाता है। (ब्रह्मामृत का आस्वादन करता है) इस प्रकार इस ब्रह्म को जो जान लेता है, वह मुक्त हो जाता है, इसमें कोई संशय नहीं है।

पञ्चाक्षरमयं शम्भुं परब्रह्मस्वरूपिणम् ।
नकारादियकारान्तं ज्ञात्वा पञ्चाक्षरं जपेत् ॥30॥
सर्वं पञ्चात्मकं विद्यात्पञ्चब्रह्मात्मतत्त्वतः ॥31॥
पञ्चब्रह्मात्मिकीं विद्यां योऽधीते भक्तिभावितः ।
स पञ्चात्मकतामेत्य भासते पञ्चधा स्वयम् ॥32॥

भगवान् शंभु को पंचाक्षर का स्वरूप मानकर, जिस पंचाक्षर मंत्र के प्रारंभ में नकार है और अन्त में यकार है ऐसा मंत्र (पंचाक्षर मंत्र) जपना चाहिए। (ॐ नमः शिवाय।) यह सब कुछ पंच ब्रह्मात्मक होने से सबको पंचात्मक ही मानना चाहिए। भक्तिभावना से युक्त होकर जो मनुष्य इस पंचात्मिका विद्या को पढ़ता और समझता है, वह पंचात्मकता को प्राप्त होता है और पाँच प्रकार से प्रकाशित होता है।

एवमुक्त्वा महादेवो गालवस्य महात्मनः ।
कृपां चकार तत्रैव स्वान्तर्धिमगमत्स्वयम् ॥33॥
यस्य श्रवणमात्रेणाश्रुतमेव श्रुतं भवेत् ।
अमतं च मतं ज्ञातमविज्ञातं च शाकल ॥34॥
एकेनैव तु पिण्डेन मृत्तिकायाश्च गौतम ।
विज्ञातं मृण्मयं सर्वं मृदभिन्नं हि कार्यकम् ॥35॥
एकेन लोहमणिना सर्वं लोहमयं यथा ।
विज्ञातं स्यादथैकेन नखानां कृन्तनेन च ॥36॥

सर्वं कार्ष्णायसं ज्ञातं तदभिन्नं स्वभावतः ।
कारणाभिन्नरूपेण कार्यकारणमेव हि ॥37॥

इस प्रकार महात्मा गालव से कहकर महादेव ने कृपा की और वहीं स्वयं अन्तर्धान हो गए। जिसके केवल श्रवण करने से ही नहीं सुना हुआ सब सुना जा सकता है, नहीं माना हुआ सब माना जाता है, और हे शाकल ! जो नहीं जाना था वह जाना जाता है। हे गौतम ! जैसे मिट्टी के एक पिण्ड के जान लेने से मिट्टी से बनी हुई सभी चीजें जानी जाती हैं क्योंकि मिट्टी का कार्य मिट्टी से अभिन्न ही है। जैसे एक लोहमणि के जानने से लोहे से बनी सभी चीजें जानी जाती हैं, नख काटने की छुरी से भी सभी लोहमय पदार्थ जाने जाते हैं, क्योंकि वह उससे अभिन्न ही है। कार्य कारण से अभिन्न होता है, इसलिए कार्य कारण ही है।

तद्रूपेण सदा सत्यं भेदेनोक्तिर्मृषा खलु ।
तच्च कारणमेकं हि न भिन्नं नोभयात्मकम् ॥38॥
भेदः सर्वत्र मिथ्यैव धर्मादेरनिरूपणात् ।
अतश्च कारणं नित्यमेकमेवाद्वयं खलु ।
अत्र कारणमद्वैतं शुद्धचैतन्यमेव हि ॥39॥
अस्मिन्ब्रह्मपुरे वेश्म दहरं यदिदं मुने ।
पुण्डरीकं तु तन्मध्ये आकाशो दहरोऽस्ति तत् ॥
स शिवः सच्चिदानन्दः सोऽन्वेष्टव्यो मुमुक्षुभिः ॥40॥
अयं हृदि स्थितः साक्षी सर्वेषामविशेषतः ।
तेनायं हृदयं प्रोक्तः शिवः संसारमोचकः ॥41॥ इत्युपनिषत् ।

इति पञ्चब्रह्मोपनिषत्समाप्ता ।
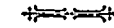
ब्रह्मरूप से यह सदा सत्य है, पर भेद रूप से कहना तो मिथ्या ही है। और वह कारण तो एक ही है। वह भिन्न नहीं है, और भिन्नाभिन्न-उभयात्मक भी नहीं हो सकता। भेद तो सर्वथा मिथ्या ही है। क्योंकि जिस कारण (धर्मादि) से भेद माना जाता है, उन धर्मादि कारणों का निरूपण (उत्पत्ति) ही नहीं किया जा सकता। इसलिए कारण तो एक ही है और वह अद्वितीय (अद्वय) ही है। यहाँ अद्वैत शुद्ध चैतन्य ही कारण है। हे मुनि, इस ब्रह्मपुर में जो दहर नामक स्थान है—शरीर में जो दहर नाम का स्थल है, उस हृदयस्थित स्थल को पुण्डरीक भी कहते हैं उसी में दहराकाश है और उसी में यह तत्त्व है। वह शिव है, सच्चिदानन्द है। मुमुक्षुओं के लिए वही खोजनेयोग्य है। हृदय में निवास करता हुआ वह सभी प्राणियों का अविशेषरूप से (समान रूप से) साक्षी है। इसलिए इस हृदय को ही संसारमोचक शिव (संसार से मोक्ष देने वाला शिव) कहा गया है।

इस प्रकार पञ्चब्रह्मोपनिषत् समाप्त होती है।

शान्तिपाठः

ॐ सह नाववतु । सह नौ···मा विद्विषावहै । (पूर्ववत्)
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

❋

(96) प्राणाग्निहोत्रोपनिषत्

(उपनिषत्परिचय)

कृष्णयजुर्वेदीय इस उपनिषद् का मूल प्रयोजन चित्तशुद्धि है। इसमें कहा गया है कि देह जो है, वह यज्ञ की आहुति देने के लिए अग्निहोत्र है। शरीर में एक यज्ञ ही चल रहा है। उस यज्ञ में आत्मा यजमान (यज्ञकर्ता) है, बुद्धि यजमान-पत्नी है, अहंकार अध्वर्यु है, (यज्ञ को कराने वाला) होता चित्त है, प्राण-अपान आदि पाँच वायु पाँच ब्राह्मणों के रूप में हैं, और शरीर वेदी है। फिर इस शरीरयज्ञ का प्रतिफल भी बताया गया है। बाद में बाह्य प्राणाग्निहोत्र, 'शरीराग्निदर्शन' नामक अपर अग्निविद्या, शरीराग्नि द्वारा शरीर यज्ञ का निरूपण, अगले क्रम में है। अन्त में इस विद्या के पठन-पाठन, इसका महत्त्व तथा फल आदि बताया गया है।

शान्तिपाठः

ॐ सह नाववतु। सह नौ—मा विद्विषावहै। (पूर्ववत्)
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

इसका हिन्दी रूपान्तर पूर्व में (शारीरकोपनिषत् में) द्रष्टव्य है।

अथातः सर्वोपनिषत्सारं संसारज्ञानातीतमन्नसूक्तं शारीरयज्ञं व्याख्या-स्यामः। यस्मिन्नेव पुरुषः शरीरे विनाप्यग्निहोत्रेण विनापि सांख्ययोगेन संसारविमुक्तिर्भवति ॥1॥

अब सभी उपनिषदों के साररूप, सांसारिक ज्ञान से परे, जो शारीरयज्ञ है, जिसका प्रतिपादन अन्नसूक्त में किया गया है, ऐसे उस यज्ञ की (यज्ञ निरूपक उपनिषत् की) व्याख्या हम करते हैं। इस प्रकार शारीरयज्ञ की जानकारी से अग्निहोत्र के बिना भी और सांख्य आदि दर्शनों के ज्ञान के बिना भी संसार से निवृत्ति (मोक्षप्राप्ति) हो जाती है।

स्वेन विधिनान्नं भूमौ निक्षिप्य या ओषधीः सोमराज्ञीरिति तिसृभिरन्नपत इति द्वाभ्यामनुमन्त्रयते ॥2॥

अपनी विधि के अनुसार, पृथ्वी पर रची गई वेदिका के ऊपर पहले अन्न को रखना चाहिए। फिर (1) 'या ओषधय०' आदि, (2) 'या फलिनीर्या०' आदि तथा (3) 'जीवला नघारिषा०' आदि—इन तीन मंत्रों तथा (1) 'अन्नपतेऽन्नस्य०' आदि और (2) 'यदन्नमग्नि०' आदि—इन दो मंत्रों से उसे अभिमंत्रित करना चाहिए। (अब उन तीन और दो, कुल पाँचों मंत्रों को नीचे सानुवाद दिया जा रहा है)—

या ओषधयः सोमराज्ञीर्बह्वीः शतविचक्षणाः। बृहस्पतिप्रसूतास्ता नो मुञ्चन्त्वंहसः ॥3॥

औषधियों के अधिष्ठाता देव सोम बहुवीर्यशाली और बहुशाखावाले बड़े प्रभावक हैं। वे अनेक प्रकार से सैंकड़ों रोगों को दूर करने में समर्थ हैं। देवों के आचार्य बृहस्पति द्वारा ये खास प्रकार के गुणों वाली औषधियाँ तैयार की गई हैं। ये औषधियाँ हमें रोगों से और पापों से मुक्ति दें।

याः फलिनीर्या अफला अपुष्पा याश्च पुष्पिणीः। बृहस्पतिप्रसूतास्ता नो मुञ्चन्त्वंहसः ॥4॥

बृहस्पति (विशिष्ट वैद्य) द्वारा जो फल वाली या फल से रहित, फूलों वाली या फूलों से रहित—ऐसी सभी औषधियाँ रची गई हैं, वे सभी औषधियाँ हमें रोगों और पापों से मुक्त करें।

जीवला नघारिषां मा ते बध्नाम्योषधिम्। यातयायुरुपाहरादप रक्षांसि चातयात् ॥5॥

निरन्तर हरी-भरी रहने वाली औषधि मेरे द्वारा बाँधी जा रही है, अर्थात् ग्रहण की जा रही है। आयुष्य को क्षीण करने वाले तत्त्वों से वह हमारा सदैव रक्षण करती रहे।

अन्नपतेऽन्नस्य नो धेह्यनमीवस्य शुष्मिणः। प्रप्रदातारं तारिष ऊर्जं नो धेहि द्विपदे चतुष्पदे ॥6॥

हे अन्नपति अग्निदेव ! आप हमारे लिए (सबके लिए) आरोग्यदायक और पुष्टिदायक अन्न की व्यवस्था करें। दान देने वाले लोगों की अच्छी तरह से पुष्टि करें। हमारे पुत्र-पौत्रादिकों के लिए तथा हमारे पशुओं आदि के लिए भी अन्न दें।

यदन्नमग्निर्बहुधा विराद्धि रुद्रैः प्रजग्धं यदि वा पिशाचैः। सर्वं तदीशानो अभयं कृणोतु शिवमीशानाय स्वाहा ॥7॥

जो अन्न रुद्रों और पिशाचों से प्रायः बचाकर प्रजा के लिए अग्नि द्वारा रखा जाता है, उस कल्याणकारी अन्न को ईशानदेव दोषरहित बनाएँ। उन ईशानदेव शिव को यह आहुति समर्पित है। (इन उपर्युक्त पाँच मंत्रों से अन्न को अभिमंत्रित करके नीचे दिए गए दो मंत्रों से—(1) 'अन्तश्चरसि०' आदि और (2) 'आपः पुनन्तु०' आदि से अन्न का प्रोक्षण करना चाहिए।)

अन्तश्चरसि भूतेषु गुहायां विश्वतोमुखः। त्वं यज्ञस्त्वं ब्रह्मा त्वं रुद्रस्त्वं विष्णुस्त्वं वषट्कार आपो ज्योती रसोऽमृतं ब्रह्म भूर्भुवः सुवरों नमः ॥8॥

प्राणियों के हृदय में सर्वत्र व्याप्त होकर रहने वाले और निरन्तर भ्रमण करने वाले तुम यज्ञ हो, तुम्हीं ब्रह्मा हो, तुम्हीं विष्णु, वषट्कार, आपः, ज्योति, रस, अमृत, भूः भुवः स्वः (तीनों लोक)—सब कुछ तुम्हीं हो। ऐसे तुमको नमस्कार हो।

आपः पुनन्तु पृथिवीं पृथिवी पूता पुनातु माम्। पुनन्तु ब्रह्मणस्पतिर्ब्रह्म-पूता पुनातु माम्। यदुच्छिष्टमभोज्यं यद्वा दुश्चरितं मम। सर्वं पुनन्तु मामापोऽसतां च प्रतिग्रहं स्वाहा ॥9॥

हे जल ! तुम पृथ्वी को पवित्र करो और पवित्र बनी हुई पृथ्वी मुझे पवित्र करे। वह ब्रह्मपूत पृथ्वी मुझे पवित्रता दे। मुझमें संनिहित जो कुछ भी उच्छिष्ट है, जो अभक्ष्य है, अथवा कोई दुश्चरित है, उस सबको हटाकर जल देवता हमें पवित्र कर दें। इस हेतु से यह आहुति समर्पित है। (इस प्रकार उपर्युक्त दो मंत्रों से प्रोक्षण करके बाद में बाँए हाथ से वेदि का स्पर्श करते हुए—)

अमृतमस्यमृतोपस्तरणमस्यमृतं प्राणे जुहोम्यमाशिष्यान्तोऽसि। ॐ प्राणाय स्वाहा। ॐ अपानाय स्वाहा। ॐ व्यानाय स्वाहा। ॐ उदानाय

स्वाहा। ॐ समानाय स्वाहा। ॐ ब्रह्मणे स्वाहा। ॐ ब्रह्माणि म आत्माऽमृतत्वायेति ॥10॥

(और दाहिने हाथ में जल ग्रहण करके—) 'अमृतमस्यमृतो०' इत्यादि बोलकर उसे पी जाना चाहिए। मंत्रार्थ यह है—हे जल ! तुम अमृतमय हो (अमृतस्वरूप हो)। तुम अमृतस्वरूप आच्छादन हो)। जल पीने के बाद—'अमृतं प्राणे जुहोम्यमाशिष्यान्तोऽसि' ऐसा कहकर (अर्थात्, 'अमृत जैसे होम करने योग्य पदार्थ का आस्वादन कर लिया है'—ऐसा कहकर) अपनी आत्मा का अनुसन्धान करते हुए ये आहुतियाँ देनी चाहिए—"ॐ प्राणाय स्वाहा, ॐ अपानाय स्वाहा, ॐ उदानाय स्वाहा, ॐ समानाय स्वाहा, ॐ व्यानाय स्वाहा, ॐ ब्रह्मणे स्वाहा, ॐ ब्रह्माणि म आत्माऽमृतत्वाय।" (अर्थात् प्राण, अपान, उदान, समान और व्यान तथा ब्रह्म के लिए यह आहुति समर्पित है। ब्रह्म में मेरी आत्मा अमृतत्व का रसास्वादन करे।)

कनिष्ठिकाङ्गुल्याङ्गुष्ठेन च प्राणे जुहोति अनामिकयापाने मध्यमया व्याने सर्वाभिरुदाने प्रदेशिन्या समाने ॥11॥

प्राण में कनिष्ठिकांगुलि और अँगूठे से, अपान में अनामिका से, व्यान में मध्यमा से, समान में सभी अँगुलियों से आहुति देनी चाहिए।

तूष्णीमेकामेक ऋचा जुहोति द्वे आहवनीये एकां दक्षिणाग्नौ एकां गार्हपत्ये एकां सर्वप्रायश्चित्तीये ॥12॥

मौन रहकर एक आहुति (मन में प्राणाय स्वाहा से) करनी चाहिए। इसी प्रकार (मन में अपानाय स्वाहा से) दो आहुतियाँ आहवनीय अग्नि में देनी चाहिए। और एक आहुति उसी प्रकार दक्षिणाग्नि में, एक गार्हपत्य में और एक सर्व प्रायश्चित्तीय अग्नि में समर्पित करनी चाहिए।

अथापिधानमस्यमृतत्वायोपस्पृश्य पुनरादाय पुनरुपस्पृशेत् ॥13॥

उपर्युक्त प्रकार से पाँच आहुतियाँ देकर नियमानुसार अन्न ग्रहण करके अपिधान (अनावृत्त) स्वरूप को अमृतत्व के लिए स्पर्श करके फिर ग्रहण करके फिर स्पर्श करना चाहिए।

सव्ये प्राणावाऽऽपोगृहीत्वा हृदयमन्वालभ्य जपेत्। प्राणोऽग्निः परमात्मा पञ्चवायुभिरावृतः। ऽभयं सर्वभूतेभ्यो न मे भीतिः कदाचन ॥14॥

बाँयें हाथ में पानी लेकर, हृदय को छूकर जप करना चाहिए। मुख्य प्राण ही अग्निस्वरूप है। वह पाँच वायुओं से (प्राण, अपान, उदान, व्यान, समान से) घिरा हुआ है। वह परमात्मस्वरूप है। ऐसा वह मुख्य प्राण मुझे समस्त प्राणियों से भयरहित करे। मैं कभी भी उनसे भयभीत न रहूँ।

विश्वोऽसि वैश्वानरो विश्वरूपं त्वया धार्यते जायमानम्।
विश्वं त्वाहुतयः सर्वा यत्र ब्रह्माऽमृतोऽसि ॥15॥

हे मुक्त प्राण ! तुम विश्वरूप हो ! तुम्हीं विश्व में वैश्वानर रूप धारण करके (विराट् होकर) समस्त विश्व को अपने स्वरूप में लिए हुए हो। वही वैश्वानर सभी भूतों (प्राणियों) के देह में भी स्थित है। तुम ब्रह्मामृत स्वरूप हो। तुम्हीं से आविर्भूत होने वाला यह विश्व सभी आहुतियों के रूप में तुरीय में विलीन हो जाता है।

महानवोऽयं पुरुषो योऽङ्गुष्ठाग्रे प्रतिष्ठितः।
तमद्भिः परिषिञ्चामि सोऽस्यान्ते अमृताय च ॥16॥

पैरों के दोनों अँगूठों के अग्र भाग में जो प्राणरूप से प्रतिष्ठित है, वहाँ पर तुम प्रतिक्षण अभिनव पुरुष के रूप में उपस्थित रहते हो। ऐसे तुमको इस भोजन के अन्त में अमृतत्व की प्राप्ति के लिए चारों ओर से सिंचित (परितुष्ट) करता हूँ।

अनावित्येष बाह्यात्मा ध्यायेताग्निहोत्रं जुहोमीति। सर्वेषामेव सूनुर्भवति। अस्य यज्ञपरिवृता आहुतीर्होमयति ॥17॥

वह प्राणरूप पुरुष विलक्षण चेष्टावाला है। इसलिए बाह्यात्मा को इसका चिन्तन करना चाहिए। वह पुरुष प्रतिदिन प्राणाग्निहोत्र करता है। इसलिए तुम सभी के पुत्र भी होते हो। (क्योंकि अग्निरूप तुम्हारा, परमात्मा पुत्र की तरह पोषण करते हैं।) इस यज्ञीय भाव से परिवृत होकर तुम आहुतियों का होम करते हो।

स्वशरीरे यज्ञं परिवर्तयामीति। चत्वारोऽग्नयस्ते किं नारमर्धयाः ॥18॥

मैं अपने शरीर में यज्ञ को परिवर्तित करता हूँ। इस शरीर में चार प्रकार के अग्नि माने गए हैं। वे सभी सूक्ष्मातिसूक्ष्म हैं। वे सभी अर्ध मात्रिक ही हैं।

तत्र सूर्योऽग्निर्नाम सूर्यमण्डलाकृतिः सहस्त्ररश्मिपरिवृत एकऋषिर्भूत्वा मूर्धनि तिष्ठति। यस्मादुक्तो दर्शनाग्निर्नाम चतुराकृतिग्हवनीयो भूत्वा मुखे तिष्ठति। शारीरोऽग्निर्नाम जराप्रणुदा हविरवस्कन्दति। अर्धचन्द्राकृतिर्दक्षिणाग्निर्भूत्वा हृदये तिष्ठति। तत्र कोष्ठाग्निरिति कोष्ठाग्निर्नामाशितपीतलीढस्वादितं सम्यग् व्यष्ट्यं विषयित्वा गार्हपत्यो भूत्वा नाभ्यां तिष्ठति ॥19॥

उन चार अग्नियों में एक 'सूर्याग्नि' है, वह सूर्यमण्डल जैसे आकारवाला है, हजारों किरणों से आवृत है। वह एकर्षि होकर मस्तक में रहता है। और चूँकि जीवात्मा सर्वत्र ईश्वररूप में नजर आता है, इसलिए वह 'दर्शनाग्नि' कहलाता है, वह विराट् आदि चार आकृतियों वाला है, और वह आहवनीय अग्नि होकर मुँह में रहता है। स्थूल शरीर को जलाने वाला 'शारीर अग्नि' (हिरण्यगर्भ), स्थूल शरीर के आश्रित जरा आदि अवस्था के द्वारा निर्बल किया जाता है। वह स्थूल प्रपंचरूप 'हवि' को शासित करता है। वह अर्धचन्द्र के स्वरूप वाला दक्षिणाग्नि होकर सभी प्राणियों के हृदय में रहता है। और चौथा 'कोशाग्नि' नाम का अग्नि है। वह 'कोशाग्नि' खाकर, पीकर, चाटकर और आस्वादित वस्तु को अच्छी तरह पकाकर गार्हपत्याग्नि के रूप में नाभि स्थान में रहता है।

प्रायश्चित्तयस्त्वधस्तात्तिर्यक् तिस्त्रो हिमांशुप्रभाभिः प्रजननकर्मा ॥20॥

इस प्रकार प्रायश्चित्त वृत्तियाँ नीचे रहती हैं। वक्र वृत्तियों और तीन अवस्थाओं (जाग्रदादि) का प्रकाशक चिद्रूप चन्द्र सभी तरह से समर्थ (प्रभु) है। सभी कुछ प्रकाशित कर देने वाला है।

अस्य शारीरयज्ञस्य यूपरशनाशोभितस्य को यजमानः का पत्नी के ऋत्विजः के सदस्याः कानि यज्ञपात्राणि कानि हवींषि का वेदिः काऽन्तर्वेदिः को द्रोणकलशः को रथः कः पशुः कोऽध्वर्युः को होता को ब्राह्मणाच्छंसी कः प्रतिप्रस्थाता कः प्रस्तोता को मैत्रावरुणः कः उद्गाता का धारा कः पोता के दर्भाः कः स्रुवः काज्यस्थाली कावाघारौ कावाज्यभागौ केऽत्र याजाः के अनुयाजाः केडा कः सूक्तवाकः कः शंयोर्वाकः काऽहिंसा के पत्नीसंयाजाः को यूपः का रशना का इष्टयः का दक्षिणा किमवभृथमिति ॥21॥

खम्भे और रस्सी से अशोभित (रहित) इस शारीरयज्ञ का यजमान कौन है ? यजमान-पत्नी कौन है ? ऋत्विज् कौन हैं ? सदस्य कौन हैं ? यज्ञपात्र कौन-कौन से हैं ? होमद्रव्य क्या है ? वेदि कौन-सी है ? अन्तर्वेदि कौन-सी है ? द्रोणकलश कौन-सा है ? रथ कौन है ? बलिपशु कौन है ? अध्वर्यु कौन है ? होता कौन है ? ब्राह्मणाच्छंसी, प्रतिप्रस्थाता, प्रस्तोता, मैत्रावरुण, उद्‌गाता, धारा-पोता, ये सब कौन हैं ? दर्भ कौन से हैं ? स्रुवा, घृतपात्र, आघार, आज्यभाग, याज, अनुयाज, इडा, सूक्तवाक्, शंयोर्वाक् अहिंसा, पत्नीसंयाज, यूप, रशना, इष्टाएँ, दक्षिणा आदि सब कौन-कौन से होते हैं ?

अस्य शारीरयज्ञस्य यूपरशनाशोभितस्यात्मा यजमानः बुद्धिः पत्नी वेदा महर्त्विजः अहङ्कारोऽध्वर्युः चित्तं होता प्राणो ब्राह्मणाच्छंसी अपानः प्रतिप्रस्थाता व्यानः प्रस्तोता उदान उद्‌गाता समानो मैत्रावरुणः शरीरं वेदिः नासिकाऽन्तर्वेदिः मूर्धा द्रोणकलशः पादो रथः दक्षिणहस्तः स्रुवः सव्यहस्त आज्यस्थाली श्रोत्रे आघारौ चक्षुषी आज्यभागौ ग्रीवा धारा पोता तन्मात्राणि सदस्याः महाभूतानि प्रयाजाः भूतानि गुणा अनुयाजाः जिह्वेडा दन्तोष्ठौ सूक्तवाकः तालुः शंयोर्वाकः स्मृतिर्दया क्षान्तिरहिंसा पत्नीसंयाजाः ओंकारो यूपः आशा रशना मनो रथः कामः पशुः केशा दर्भाः बुद्धीन्द्रियाणि यज्ञपात्राणि कर्मेन्द्रियाणि हवींषि अहिंसा इष्टयः त्यागो दक्षिणा अवभृथं मरणात् सर्वा ह्यस्मिन्देवताः शरीरेऽधिसमाहिताः ॥22॥

वाराणस्यां मृतो वापि इदं वा ब्राह्मणः पठेत् । एकेन जन्मना जन्तुर्मोक्षं च प्राप्नुयादिति मोक्षं च प्राप्नुयादित्युपनिषत् ॥23॥

इति प्राणाग्निहोत्रोपनिषत्समाप्ता ।

खम्भे और रस्सी से अशोभित (रहित) इस शारीरयज्ञ का आत्मा जयमान है, बुद्धि जयमान-पत्नी है, वेद बड़े ऋत्विज हैं, अहंकार अध्वर्यु है, चित्त होता है, प्राण ब्राह्मणाच्छंसी है, अपान प्रतिप्रस्थाता है, व्यान प्रस्तोता है, उदान उद्‌गाता है, समान मैत्रावरुण है, शरीर वेदि है, नासिका उत्तरवेदि (अन्तर्वेदि) है, मस्तक द्रोणकलश है, पैर रथ हैं, दाहिना हाथ स्रुव है, बाँया हाथ आज्यस्थाली है, दो कान दो आघार हैं, दो आँखें दो आज्य भाग हैं, गर्दन धारापोता है, तन्मात्राएँ सदस्य हैं, महाभूत प्रयाज हैं, भूतों के गुण अनुयाज हैं, जीभ इडा है, दाँत और ओष्ठ सूक्तवाक् है, वायु शंयोर्वाक् है, स्मृति दया है, क्षान्ति अहिंसा है, और वही पत्नी संयाज है, ओंकार यूप है, आशा रशना है, मन रथ है, काम पशु है, केश दर्भ हैं, बुद्धीन्द्रियाँ (ज्ञानेन्द्रियाँ) ही यज्ञ के पात्र हैं, कर्मेन्द्रियाँ होमद्रव्य हैं, अहिंसा ईंटें हैं, त्याग दक्षिणा है, अवभृथ स्नान मरण से होता है। इसी देह में सभी देवता आए हुए (रहे हुए) ही हैं। जो मनुष्य वाराणसी में मरता है अथवा इस उपनिषत् को पढ़ता है, वह प्राणी एक ही जन्म में मोक्ष प्राप्त करता है, अवश्य मोक्ष प्राप्त करता है।

इस प्रकार प्राणाग्निहोत्रोपनिषत् समाप्त होती है।

शान्तिपाठः

ॐ सह नाववतु । सह नौ—मा विद्विषावहै । (पूर्ववत्)
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

(97) गोपालपूर्वतापिन्युपनिषत्

(उपनिषत्परिचय)

अथर्ववेद से सम्बद्ध इस उपनिषत् में सगुण ब्रह्म श्रीकृष्ण का प्रतिपादन करते हुए पर्यवसान तो निर्गुण-निराकार में ही होता है। मुनियों और ब्रह्मा के बीच हुए प्रश्नोत्तर के रूप में इसका आरंभ होता है। शुरू में मंगलाचरण के रूप में भगवान् कृष्ण का स्तवन करके गोपालकृष्ण के परमदेवत्व का निरूपण करके उनका स्वरूप, उनके विशिष्ट स्वरूप का ध्यान, उनके मंत्र का जप, उनका भजन, गोविन्दपूजा का विधान, अष्टादशाक्षर मंत्र का माहात्म्य, उसका विनियोग और फल, मंत्र में प्रयुक्त पंच पदों से जगत् की सृष्टि, पंचपदात्मक गोविन्द की स्तुति, फलश्रुति—आदि अनेक विषयों का इसमें उल्लेख किया गया है।

शान्तिपाठः

ॐ भद्रं कर्णेभिः—देवहितं यदायुः । (पूर्ववत्)
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

इसका हिन्दी रूपान्तर पूर्व में (शाण्डिल्योपनिषत् में) द्रष्टव्य है।

(कृषिर्भूवाचकः शब्दो नश्च निर्वृतिवाचकः ।
तयोरैक्यं परं ब्रह्म कृष्ण इत्यभिधीयते ॥)
सच्चिदानन्दरूपाय कृष्णायाक्लिष्टकर्मणे ।
नमो वेदान्तवेद्याय गुरवे बुद्धिसाक्षिणे ॥1॥

('कृषि' भूवाचक शब्द है और नकार निवृत्तिवाचक शब्द है। उन दोनों का ऐक्य जो परब्रह्म है, वही कृष्ण कहलाता है।) अनायास ही सब कुछ कर सकने वाले सच्चिदानन्दस्वरूप, वेदान्त के द्वारा ही जाने जा सकने वाले, बुद्धि के साक्षीरूप परम गुरु ऐसे श्रीकृष्ण को नमस्कार।

मुनयो ह वै ब्राह्मणमूचुः । कः परमो देवः । कुतो मृत्युर्बिभेति । कस्य विज्ञानेनाखिलं विज्ञातं भवति । केनेदं विश्वं संसरतीति ॥2॥
तदु होवाच ब्राह्मणः । कृष्णो वै परमं दैवतम् । गोविन्दान्मृत्युर्बिभेति । गोपीजनवल्लभज्ञानेनैतद्विज्ञातं भवति । स्वाहेदं विश्वं संसरतीति ॥3॥

एक बार मुनियों ने ब्राह्मण (ब्रह्मा) से पूछा—'परमदेव कौन है ? मृत्यु किससे डरती है ? किसको अच्छी तरह से जान लेने से यह सब भी ठीक से जाना जाता है ? यह विश्व किसके द्वारा चलता है ?' तब उन ब्राह्मण ने कहा—कृष्ण ही परम दैवत है। गोविन्द से मृत्यु डरती है। गोपी जनों के प्रियतम में एक को ही जान लेने से यह सब विज्ञात (जाना हुआ) हो जाता है। स्वाहारूपी माया शक्ति से ही यह जगत् चल रहा है (आवागमन कर रहा) है।

तदु होचुः । कः कृष्णः । गोविन्दश्च कोऽसाविति । गोपीजनवल्लभश्च कः । का स्वाहेति ॥4॥

तानुवाच ब्राह्मणः। पापकर्षणो गोभूमिवेदविदितो गोपीजनविद्याकला-पीप्रेरकः। तन्माया चेति सकलं परं ब्रह्मैव तत्। यो ध्यायति रसति भजति सोऽमृतो भवतीति ॥5॥

ते होचुः किं तद्रूपं किं रसनं किमाहो तद्भजनं तत्सर्वं विविदिषतामाख्याहीति ॥6॥

तदु होवाच हैरण्यो गोपवेषमभ्राभं तरुणं कल्पद्रुमाश्रितम् ॥7॥

तब मुनियों ने फिर से पूछा—'कृष्ण कौन है ? यह गोविन्द कौन है ? और गोपीजनवल्लभ भी कौन है ? स्वाहा कौन है ?' तब उनसे ब्राह्मण ने कहा—'पापों का अपकर्षण (अपहरण) करने वाले ही कृष्ण हैं। और गाय, भूमि एवं वेद के द्वारा जो ज्ञात कराया जाता है, वही गोविन्द है। और गोपी-जनों में विद्या और कला का प्रेरक ही गोपीजनवल्लभ है। उनकी माया (स्वाहा) है। इस प्रकार यह सब एक ब्रह्म ही है। जो मनुष्य इसका ध्यान करता है, इसमें रस-भाव रखता है, इसका भजन करता है वह अमर बन जाता है।' तब मुनियों ने फिर से पूछा—'उनका रूप कैसा है ? उसका रसास्वाद कैसे किया जाता है ? उनका भजन कैसे किया जाता है ? इन सब बातों को जानने की इच्छा रखने वाले हमें आप विशदरूप से बताइए।' तब हिरण्यगर्भ ब्रह्मा ने कहा—'वे गोपों का वेश धारण किए हुए हैं, ये काले बादलों की-सी कान्तिवाले हैं और कल्पवृक्ष के नीचे खड़े हुए हैं'।

तदिह श्लोका भवन्ति—
सत्पुण्डरीकनयनं मेघाभं वैद्युताम्बरम्।
द्विभुजं ज्ञानमुद्राढ्यं वनमालिनमीश्वरम् ॥8॥
गोपगोपाङ्गनावीतं सुरद्रुमतलाश्रितम्।
दिव्यालंकरणोपेतं रत्नपङ्कजमध्यगम् ॥9॥
कालिन्दीजलकल्लोलसङ्गिमारुतसेवितम्।
चिन्तयंश्चेतसा कृष्णं मुक्तो भवति संसृतेः ॥10॥

इस विषय में ये श्लोक कहे गए हैं—ये सत् (श्वेत) विकसित नयन वाले हैं, मेघ जैसी उनकी कान्ति है, विद्युत् से चमकते वस्त्र धारण किए हुए हैं, दो हाथ वाले हैं, ज्ञानमुद्रा से युक्त हैं, उन्होंने वन्य पुष्पों की माला पहनी है, ऐसे वे ईश्वर हैं। वे गोपों, गोपियों और गायों से घिर हुए हैं, वे कल्पवृक्ष के नीचे खड़े हुए हैं, वे दिव्य अलंकारों से युक्त हैं, वे रत्नमय पंकजों (कमलों) के बीच विराजित हैं, वे कालिन्दी के जल की तरंगों से युक्त पवन के द्वारा सेवा किए जा रहे हैं—ऐसे कृष्ण का मन से सदैव चिन्तन करते रहना चाहिए। ऐसा चिन्तन करने से मनुष्य इस संसार के बन्धनों से मुक्त हो जाता है।

तस्य पुना रसनमिति जलभूमीन्दुसम्पातः कामादिकृष्णायेत्येकं पदम्। गोविन्दायेति द्वितीयम्। गोपीजनेति तृतीयम्। वल्लभायेति तुरीयम्। स्वाहेति पञ्चममिति ॥11॥

पञ्चपदं जपन्पञ्चाङ्गं द्यावाभूमिसूर्याचन्द्रमसौ साग्नी तद्रूपतया ब्रह्म सम्पद्यते ब्रह्म सम्पद्यत इति ॥12॥

(अब श्रीकृष्ण के नामामृत का रसास्वादन और मंत्रजाप के बारे में कहते हैं कि—) जल = क्, भूमि = ल्, इन्दु = ई और अनुस्वार—सब मिलकर जो 'क्लीं' शब्द बनता है, वही कामबीज है। शुरू में इस बीजमंत्र (क्लीं) को रखकर 'कृष्णाय' इस प्रकार बोलना चाहिए। पूरे मंत्र का यह पहला पद हुआ। 'गोविन्दाय'—यह दूसरा पद है। 'गोपीजन'—यह तीसरा पद है। 'वल्लभाय'—यह चौथा पद

है और 'स्वाहा'—यह पाँचवाँ पद है। इन पाँच पदों से यह पूरा मंत्र हुआ—'क्लीं कृष्णाय गोविन्दाय गोपीजनवल्लभाय स्वाहा।' यह पंचपदी मंत्र पृथ्वी, आकाश, सूर्य, चन्द्र, अग्नि आदि का प्रकाशक चिन्मय मंत्र है। इस मंत्र को जपने वाला उनका रूप धारण करके ब्रह्म को प्राप्त करता है, तद्रूप होकर ब्रह्म को ही प्राप्त कर लेता है।

तदेष श्लोकः—क्लीमित्येतदादावादाय कृष्णाय गोविन्दाय गोपीजन-वल्लभायेति बृहन्मानव्या सकृदुच्चरेद्योऽसौ गतिस्तस्यास्ति मङ्क्षु नान्या गतिः स्यादिति ॥13॥

इस विषय में यह श्लोक है—'क्लीं'—काम बीज को आरंभ में रखकर, कृष्णाय गोविन्दाय, गोपीजनवल्लभाय—इन पदों का 'बृहन् भानवी' (स्वाहा) के साथ जो मनुष्य उच्चारण करेगा, उसे शीघ्रातिशीघ्र कृष्णमिलन की सद्गति प्राप्त होगी। उसके लिए इसके सिवा और कोई अन्य गति हो ही नहीं सकती।

भक्तिरस्य भजनम्। तदिहामुत्रोपाधिनैराश्येनामुष्मिन्मनः कल्पनम्। एतदेव च नैष्कर्म्यम् ॥14॥

कृष्ण की सतत भक्ति ही भजन है। इस लोक और परलोक की सभी उपाधि-भोगों के प्रति आकांक्षा का सर्वथा त्याग कर देना और मन के साथ इन्द्रियों को कृष्ण में ही लगा देना ही नैष्कर्म्य (संन्यास) है।

कृष्णं तं विप्रा बहुधा यजन्ति गोविन्दं सन्तं बहुधाऽऽराधयन्ति।
गोपीजनवल्लभो भुवनानि दध्रे स्वाहाश्रितो जगदैजत्सुरेताः ॥15॥
वायुर्यथैको भुवनं प्रविष्टो जन्येजन्ये पञ्चरूपो बभूव।
कृष्णस्तथैकोऽपि जगद्धितार्थं शब्देनासौ पञ्चपदो विभातीति ॥16॥

इस कृष्ण की ब्राह्मण लोग तरह-तरह से पूजा करते हैं। गोविन्दरूप उनकी बहुत प्रकार की आराधना (उपासना) करते हैं। अपनी स्वाहारूप माया का आश्रय लेकर यह गोपीजनवल्लभ भुवनों को धारण करते हैं, यह सर्वशक्तिमान है। जैसे एक ही वायु इस भुवनों में प्रविष्ट होकर प्रत्येक प्राणी में प्राणापानादि पाँच प्राणों के रूप में हो जाता है, वैसे ही एक ही कृष्ण जगत् के कल्याण के लिए शब्दरूप लेकर मंत्र के पाँच पदों में विराजित हो रहे हैं।

ते होचुरुपासनमेतस्य परमात्मनो गोविन्दस्याखिलाधारिणो ब्रूहीति ॥17॥

तानुवाच यत्तस्य पीठं हैरण्याष्टपलाशमम्बुजं तदन्तरालिकानलास्त्रयुगं तदन्तरालाद्यर्णाखिलबीजं कृष्णाय नम इति बीजाढ्यं स ब्रह्माणमादा-यानङ्गगायत्रीं यथावद्व्यालिख्य भूमण्डलं शूलवेष्टितं कृत्वाङ्ग-वासुदेवादिरुक्मिण्यादिस्वशक्तीन्द्रादिवसुदेवादिपार्थादिनिध्यावीतं यजे-त्संध्यासु प्रतिपत्तिभिरुपचारैः। तेनास्याखिलं भवत्यखिलं भव-तीति ॥18॥

तब मुनियों ने कहा—'अखिल विश्व के आधाररूप परमात्मा गोविन्द की उपासना के बारे में हमें कहिए।' तब ब्रह्मा ने उनसे कहा—हे मुनियो! सबसे पहले पीठ पर आठ दलों वाला कमल सुवर्ण से बनाना चाहिए। इसके बाद, इसके बीच उल्टे-सीधे त्रिकोण बनाने चाहिए। इससे उसमें छः कोण बनेंगे। फिर उन कोणों की बीच की जगह (कर्णिका) में बीजमंत्र क्लीं लिखना चाहिए। यह बीजमंत्र

सभी कार्यों की सिद्धि का अमोघ साधन है। बाद में प्रत्येक कोण में 'क्लीं कृष्णाय नमः'—ये छः अक्षर एक-एक करके लिखने चाहिए (बीजयुक्त कृष्णमंत्र)। बाद में ब्रह्ममंत्र–अष्टादशाक्षर गोपालविद्या तथा कामगायत्री का उल्लेख करके (कामगायत्री यह है—'कामदेवाय विद्महे, पुष्पबाणाय धीमहि। तन्नोऽनङ्गः प्रचोदयात्') आठ वज्रों से घिरे हुए भूमण्डल को बनाना चाहिए। फिर उपर्युक्त मंत्र को वासुदेवादि अंगों, रुक्मिणी के साथ स्वशक्ति, इन्द्र, वासुदेव, पार्थ और निधि आदि आठ आवरणों से संरक्षित करके पीठयंत्र की पूजा करनी चाहिए। इस तरह विधिपुरःसर पूजा करने से साधक को सब कुछ की (चारों पुरुषार्थ सहित) प्राप्ति हो जाती है।

तदिह श्लोका भवन्ति—
एको वशी सर्वगः कृष्ण ईड्य एकोऽपि सन्बहुधा यो विभाति।
तं पीठगं येऽनुभजन्ति धीरास्तेषां सिद्धिः शाश्वती नेतरेषाम् ॥19॥
नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानामेको बहूनां यो विदधाति कामान्।
तं पीठगं येऽनुभजन्ति धीरास्तेषां सुखं शाश्वतं नेतरेषाम् ॥20॥
एतद्विष्णोः परमं पदं ये नित्योद्युक्तास्तं यजन्ति न कामात्।
तेषामसौ गोपरूपः प्रयत्नात्प्रकाशयेदात्मपदं तदेव ॥21॥

इसके विषय में ये श्लोक हैं—सबको अपने वश में रखने वाले सर्वव्यापक ईश्वर श्रीकृष्ण एक होते हुए भी बहुत से दिखाई देते हैं। जो साधक उनकी पीठ को इस तरह से अनुभव में लाते हैं, उन्हीं को शाश्वत सुख मिलता है, दूसरों को नहीं। वे नित्यों के भी नित्य हैं, वे चेतनों के भी चेतन हैं। वे एक होते हुए भी बहुतों के कामों को धारण करते हैं। उनको (निरपेक्षतत्त्व को) जो साधक पीठ में विराजमान ऐसे उनका भजन करते हैं, उन्हीं को शाश्वत सिद्धि प्राप्त होती है, दूसरों को नहीं। यह विष्णु का परम पद है। नित्य प्रयत्नशील रहकर जो कामनारहित होकर इन्हें भजते हैं, उनके आगे यह गोपरूप अपना सही रूप प्रकाशित कर देते हैं। नित्य और निष्काम उपासक के आगे वे प्रयत्नपूर्वक अपने को बता ही देते हैं।

यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो विद्यां तस्मै गोपायति स्म कृष्णः।
तं ह देवमात्मबुद्धिप्रकाशं मुमुक्षुः शरणं व्रजेत् ॥22॥
ओङ्कारेणान्तरितं ये जपन्ति गोविन्दस्य पञ्चपदं मनुम्।
तेषामसौ दर्शयेदात्मरूपं तस्मान्मुमुक्षुरभ्यसेन्नित्यशान्त्यै ॥23॥
एतस्मा एव पञ्चपदादभूवन्गोविन्दस्य मनवो मानवानाम्।
दशार्णाद्यास्तेऽपि संक्रन्दनाद्यैरभ्यस्यन्ते भूतिकामैर्यथावत् ॥24॥

जिन श्रीकृष्ण ने पहले ब्रह्मा को उत्पन्न किया था और उन्हें सर्वप्रथम विद्या दी थी, उनकी (अपनी बुद्धि को प्रकाशित करने वाले की) शरण में मुमुक्षु को जाना चाहिए। जो लोग ओंकार के साथ गोविन्द के पंचपद मंत्र का जप करते हैं, उनको वे स्वयं अपना सही स्वरूप बता देते हैं, इसलिए मुमुक्षु को नित्य शान्ति प्राप्त करने के लिए सदैव इसका (ओंकार के साथ पंचपद मंत्र का) अभ्यास (जाप) करना चाहिए। इसी गोविन्द के पंचपद मंत्र से मनुष्यों के लिए फिर अनेक दशाक्षर आदि मंत्र बने हैं, जिनका उन्नति की कामना करने वाले कई लोगों के द्वारा अंगन्यास आदि विधिपुरःसर अभ्यास किया जा रहा है।

ते पप्रच्छुस्तदु होवाच ब्रह्मसदनं चरतो मे ध्यातः स्तुतः परमेश्वरः परार्धान्ते सोऽबुध्यत। गोपवेषो मे पुरुषः पुरस्तादाविर्बभूव। ततः प्रणतो

मयानुकूलेन हृदा मह्यमष्टादशार्णस्वरूपं सृष्टये दत्त्वान्तर्हितः। पुनस्ते सिसृक्षतो मे प्रादुरभूत्तेष्वक्षरेषु विभज्य भविष्यज्जगद्रूपं प्रकाशयन्। तदिह कादापो लात्पृथिवीतोऽग्निर्बिन्दोरिन्दुस्तत्संपातात्तदर्क इति क्लींकारादसृजं कृष्णादाकाशं खाद्वायुरुत्तरात्सुरभिविद्याः प्रादुरकार्षमकार्षमिति। तदुत्तरात्स्त्रीपुंसादिभेदं सकलमिदं सकलमिदमिति ॥25॥

फिर ऋषियों के पूछने पर ब्रह्मा ने कहा कि—इस ब्रह्मलोक में रहकर मैंने उन भगवान् का ध्यान किया, उनकी स्तुति की। तब कहीं एक परार्ध वर्षों के बाद वे मेरी ओर देखने लगे (उन्हें मालूम पड़ा) और मेरे सामने गोप वेश धारण करके वे प्रकट हुए। तब मेरे द्वारा प्रणाम किए जाने पर मुझे सृष्टि उत्पन्न करने के लिए अठारह अक्षर का मंत्र देकर अन्तर्धान हो गए। फिर सृष्टिसर्जन की इच्छा वाले मेरे आगे वे पुनः प्रकट हुए और भावी जगत् के रूप को इन अठारह अक्षरों में विभक्त करके मेरे आगे प्रकाशित किया। बाद में मैंने इस मंत्र के 'क' अक्षर से जल की, 'ल' अक्षर से पृथ्वी की, 'ई' अक्षर से अग्नि की और अनुस्वार से चन्द्रमा की और सब मिलाकर हुए 'क्लीं' से सूर्य की रचना की। मंत्र के दूसरे पद 'कृष्णाय' से आकाश की और आकाश से वायु की उत्पत्ति की। फिर उसके बाद के 'गोविन्दाय' पद से कामधेनु गाय और वेदादि विद्याओं की रचना की। बाद में चौथे पद 'गोपीजनवल्लभाय' से स्त्री-पुरुष आदि की रचना की और बाद के अन्तिम स्वाहा पद से सब स्थावर-जंगम (जड़-चेतन) पदार्थों की रचना की।

एतस्यैव यजनेन चन्द्रध्वजो गतमोहमात्मानं वेदयति। ओंकारालिकं मनुमावर्तयेत्। सङ्गरहितोऽभ्यानत् ॥26॥
तद्विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः। दिवीव चक्षुराततम् ॥27॥
तस्मादेनं नित्यमावर्तयेन्नित्यमावर्तयेदिति ॥28॥

इसी मंत्र की उपासना से ही प्राचीन काल के चन्द्रध्वज ने अपने आपको मोहरहित बना दिया था। इसलिए ॐ कार सहित इस मंत्र का आवर्तन करना चाहिए। इसी मंत्र से वह चन्द्रध्वज संगरहित (संन्यासी) हो गया था। यही मंत्र विष्णु का परमधाम है (श्रीकृष्ण का गोलोक है)। आकाश में सूर्य की तरह उस धाम में परमात्मा व्याप्त होकर विराज रहे हैं। इसलिए इसका आवर्तन करते ही रहना चाहिए, करते ही रहना चाहिए।

तदाहुरेके यस्य प्रथमपदाद्भूमिर्द्वितीयपदाज्जलं तृतीयपदात्तेजश्चतुर्थपदाद्वायुश्चरमपदाद्व्योमेति। वैष्णवं पञ्चव्याहृतिमयं मन्त्रं कृष्णावभासकं कैवल्यस्य सृत्यै सततमावर्तयेत्सततमावर्तयेदिति ॥29॥

कुछ मुनि लोग इस अष्टादशाक्षर मंत्र के बारे में कहते हैं कि इसके पहले पद क्लीं से भूमि, दूसरे 'कृष्णाय' पद से जल और तीसरे 'गोविन्दाय' से तेज, चतुर्थ पद 'गोपीजनवल्लभाय' से वायु और पाँचवें 'स्वाहा' पद से आकाश प्रकट हुआ। यह पंचमहाव्याहृतियुक्त अष्टादशाक्षर वैष्णवमंत्र श्रीकृष्ण को तेजोमय बनाने वाला है। इसका मोक्षप्राप्ति के लिए सतत जाप करते रहना चाहिए।

तदत्र गाथाः—
यस्य चाद्यपदाद्भूमिर्द्वितीयात्सलिलोद्भवः।
तृतीयात्तेज उद्भूतं चतुर्थाद्गन्धवाहनः ॥30॥
पञ्चमादम्बरोत्पत्तिस्तमेवैकं समभ्यसेत्।
चन्द्रध्वजोऽगमद्विष्णोः परमं पदमव्ययम् ॥31॥

ततो विशुद्धं विमलं विशोकमशेषलोभादिनिरस्तसङ्गम् ।
यत्तत्पदं पञ्चपदं तदेव स वासुदेवो न यतोऽन्यदस्ति ॥32॥

इस विषय में गाथा प्रसिद्ध है कि, जिसके पहले पद से भूमि और दूसरे पद से जल उत्पन्न हुआ, तीसरे से तेज और चौथे पद से वायु उत्पन्न हुआ है, पाँचवें पद से आकाश की उत्पत्ति हुई है उसी मंत्र का अभ्यास (जप) करना चाहिए। इसी उपासना से चन्द्रध्वज विष्णु के परमपद को प्राप्त हुए थे। इसलिए उस विशुद्ध, विमल, विशोक और लोभ आदि आसक्ति को संपूर्णतया दूर कर देने वाला जो पंचपद है, वह वासुदेव स्वयं ही है, इसके सिवा और कोई नहीं है।

तमेकं गोविन्दं सच्चिदानन्दविग्रहं पञ्चपदं वृन्दावनसुरभूरुहतलासीनं
सततं समरुद्गणोऽहं परमया स्तुत्या तोषयामि ॥33॥
ॐ नमो विश्वस्वरूपाय विश्वस्थित्यन्तहेतवे ।
विश्वेश्वराय विश्वाय गोविन्दाय नमो नमः ॥34॥
नमो विज्ञानरूपाय परमानन्दरूपिणे ।
कृष्णाय गोपीनाथाय गोविन्दाय नमो नमः ॥35॥
नमः कमलनेत्राय नमः कमलमालिने ।
नमः कमलनाभाय कमलापतये नमः ॥36॥

उस पंचपदमंत्रात्मक सच्चिदानन्दस्वरूप वृन्दावन के देववृक्ष के नीचे बैठे हुए एक गोविन्द को मैं देवों के साथ रहकर इस परम स्तुति से प्रसन्न कर रहा हूँ—ॐ विश्व के स्वरूप भूत तथा विश्व की स्थिति और अन्त के कारण स्वरूप विश्वेश्वर और व्यापक ऐसे गोविन्द को नमस्कार हो, नमस्कार हो। विज्ञानरूप तथा परमानन्दस्वरूप गोपियों के नाथ कृष्ण गोविन्द को बार-बार नमस्कार हो। कमल जैसे नेत्रों वाले, कमलों की माला पहने हुए, नाभि में कमल वाले कमला के पति को बार-बार नमस्कार।

बर्हापीडाभिरामाय रामायाकुण्ठमेधसे ।
रमामानसहंसाय गोविन्दाय नमो नमः ॥37॥
कंसवंशविनाशाय केशिचाणूरघातिने ।
वृषभध्वजवन्द्याय पार्थसारथये नमः ॥38॥
वेणुवादनशीलाय गोपालायाहिमर्दिने ।
कालिन्दीकूललोलाय लोलकुण्डलधारिणे ॥39॥
वल्लवीवदनाम्भोजमालिने नृत्तशालिने ।
नमः प्रणतपालाय श्रीकृष्णाय नमो नमः ॥40॥

मस्तक पर मोरपंख से रमणीय, सबको रमण कराने वाले, अकुण्ठित बुद्धिवाले, रमा (राधा) के मानस के हंस, ऐसे गोविन्द को बार-बार नमस्कार हो। कंस के वंश का विनाश करने वाले, केशी और चाणूर का वध करने वाले, भगवान् वृषभध्वज (शिव) के लिए भी वन्दनीय, पार्थ के सारथि को बार-बार नमस्कार हो। वेणु वादन की वृत्ति वाले, गायों के पालक, कालिय का मर्दन करने वाले, कालिन्दी के तीर पर साँप के फणा पर चंचल गति (लास्य) करने वाले, चंचल कुण्डल धारण करने वाले, विकसित कमलों की माला से शोभित, नृत्य से शोभायमान, नमन करने वालों के पालक—ऐसे श्रीकृष्ण को बार-बार नमस्कार हो।

नमः पापप्रणाशाय गोवर्धनधराय च ।
पूतनाजीवितान्ताय तृणावर्तासुहारिणे ॥41॥

निष्कलाय विमोहाय शुद्धायाशुद्धवैरिणे ।
अद्वितीयाय महते श्रीकृष्णाय नमो नमः ॥42॥
प्रसीद परमानन्द प्रसीद परमेश्वर ।
आधिव्याधिभुजङ्गेन दष्टं मामुद्धर प्रभो ॥43॥
श्रीकृष्ण रुक्मिणीकान्त गोपीजनमनोहर ।
संसारसागरे मग्नं मामुद्धर जगद्गुरो ॥44॥
केशव क्लेशहरण नारायण जनार्दन ।
गोविन्द परमानन्द मां समुद्धर माधव ॥45॥

पापों के नाश करने वाले, गोवर्धन को धारण करने वाले, पूतना के जीवन का अन्त लाने वाले, तृणावर्त के प्राण हरने वाले, अंशरहित-अखण्ड, मोहरहित, शुद्धस्वरूप, अशुद्ध के शत्रु, अद्वितीय और महान् ऐसे श्रीकृष्ण को बार-बार नमस्कार हो। हे परमानन्दस्वरूप परमेश्वर ! आप हम पर प्रसन्न हों, प्रसन्न हों। हे प्रभो ! आधिव्याधि रूप साँपों से दंश किए हुए मेरा उद्धार करें। हे श्रीकृष्ण ! हे रुक्मिणी के प्रियतम ! हे गोपीजनों के मनोहर ! हे जगद्गुरु ! संसार सागर में डूबे हुए मेरा आप उद्धार करें ! हे केशव ! हे क्लेशहारी ! हे नारायण ! हे जनार्दन ! हे गोविन्द ! हे परमानन्द ! हे माधव ! आप मेरा उद्धार कीजिए।

अथैवं स्तुतिभिराराधयामि तथा यूयं पञ्चपदं जपन्तः श्रीकृष्णं ध्यायन्तः
संसृतिं तरिष्यथेति होवाच हैरण्यगर्भः ॥46॥
अमुं पञ्चपदं मन्त्रमावर्तयेद्यः स यात्यनायासतः केवलं तत्पदं तत् ॥47॥
अनेजदेकं मनसो जवीयो नैनद्देवा आप्नुवन्पूर्वमर्षदिति ॥48॥
तस्मात्कृष्ण एव परमो देवस्तं ध्यायेत् तं रसयेत् तं भजेत् तं भजेदित्यों
तत्सदित्युपनिषत् ॥49॥

इति गोपालपूर्वतापिन्युपनिषत्समाप्ता ।

'हे मुनियो ! जैसे मैं (ब्रह्मा) इन स्तुतियों से भगवान् पंचपद श्रीकृष्ण की आराधना करता हूँ, वैसे तुम लोग भी पंचपद को जपते हुए, श्रीकृष्ण का ध्यान करते हुए, संसार को पार कर जाओगे'—ऐसा हिरण्यगर्भ ने कहा। जो इस पंचपद का जप करेगा, वह अनायास ही कैवल्यपद को प्राप्त करेगा। यह परमपद एक है जो गतिशील न होने पर भी मन से भी ज्यादा वेगशील है। उसको इन्द्रियाँ पहुँच नहीं सकती। क्योंकि वह तो इन्द्रियों से आगे ही आगे है। इसलिए कृष्ण ही परमदेव हैं। उनका ध्यान-चिंतन करना चाहिए, उनका आस्वादन करना चाहिए, उनको भजना चाहिए, इति ॐ तत् सत्-ऐसी ही यह उपनिषत् है।

इस प्रकार गोपालपूर्वतापिन्युपनिषत् समाप्त होती है।

शान्तिपाठः

ॐ भद्रं कर्णेभिः.....देवहितं यदायुः । (पूर्ववत्)
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

(98) गोपालोत्तरतापिन्युपनिषत्

(उपनिषत्परिचय)

इस अथर्ववेदीय उपनिषद् में व्रजस्त्रियों के द्वारा दुर्वासा की भिक्षा, कृष्ण के अस्खलित ब्रह्मचर्य और दुर्वासा के निराहारत्व का उपपादन, दोनों के बारे में गान्धर्वी की शंका, ब्रह्मज्ञानियों के लिए नैष्कर्म्य का कथन, गोपालकृष्ण के जन्म आदि के बारे में गांधर्वी के प्रश्न, अवतारविषयक प्रश्न, मथुरा का माहात्म्य, मथुरा के आवरण में देवों का वास, मथुरा की कृष्णमूर्तियाँ–रुद्रादि की पूजनीय, मथुरा के गोपालकृष्ण की महिमा, भगवान् का ध्यानार्ह स्वरूप, विद्यासंप्रदाय आदि बहुत से विषय दिए गए हैं।

शान्तिपाठः

ॐ भद्रं कर्णेभिः—देवहितं यदायुः। (पूर्ववत्)
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

इसका हिन्दी रूपान्तर पूर्व में (शाण्डिल्योपनिषत् में) द्रष्टव्य है।

एकदा हि व्रजस्त्रियः सकामाः शर्वरीमुषित्वा सर्वेश्वरं गोपालं कृष्ण-मूचिरे। उवाच ताः कृष्णः। अमुकस्मै ब्राह्मणाय भैक्षं दातव्यमिति। दुर्वासस इति ॥1॥
कथं यास्यामो जलं तीर्त्वा यमुनायाः यतः श्रेयो भवति। कृष्णेति ब्रह्मचारीत्युक्त्वा मार्गं वो दास्यति यं मां स्मृत्वाऽगाधा गाधा भवति यं मां स्मृत्वाऽपूतः पूतो भवति यं मां स्मृत्वाऽव्रती व्रती भवति यं मां स्मृत्वा सकामो निष्कामो भवति यं मां स्मृत्वाऽश्रोत्रियः श्रोत्रियो भवति यं मां स्मृत्वाऽगाधतलस्पर्श रहिता अपि सर्वा सरिद्गाधा भवन्ति ॥2॥
श्रुत्वा तद्वाक्यं हि वै रौद्रं स्मृत्वा तद्वाक्येन तीर्त्वा तत्सौर्यां हि वै गत्वाऽऽश्रमं पुण्यतमं हि वै नत्वा मुनिं श्रेष्ठतमं हि वै रौद्रं चेति दत्त्वाऽस्मै ब्राह्मणाय क्षीरमयं घृतमयमिष्टतमं हि वै मृष्टतमं हि तुष्टः स्नात्वा भुक्त्वा हित्वाऽऽशिषं प्रयुज्यानुज्ञां त्वदात् ॥3॥

एक बार कामनावाली व्रज की स्त्रियों ने रात में उपवास पूर्वक रहकर सर्वेश्वर ऐसे गोपालकृष्ण से कहा। उन्होंने कहा—'हे कृष्ण ! हम किस ब्राह्मण को भिक्षा दें ?' तब कृष्ण ने कहा—'दुर्वासा को दो'। तब गोपियों ने कहा—'यमुना के जल को तैर कर कैसे जाएँ ?' तब कृष्ण बोले—'कृष्ण ब्रह्मचारी है'—ऐसा कहोगी तो वह तुम्हें मार्ग देगी। मुझे याद करने से गहरी वह छिछली हो जाएगी, मेरे स्मरण से अपवित्र पवित्र हो जाता है। मेरा स्मरण करके व्रतहीन व्रती हो जाता है, मेरे स्मरण से सकाम मनुष्य निष्काम हो जाता है। मेरे स्मरण से अश्रोत्रिय श्रोत्रिय हो जाता है। मेरे स्मरण से अगाध और स्पर्शरहित सभी नदियाँ गाध (छिछली) हो जाती हैं।' श्रीकृष्ण के इस वाक्य को सुनकर

रौद्र (दुर्वासा) का स्मरण करके वे उस सौर्या (सूर्यपुत्री) यमुना को पार करके आश्रम में जाकर पुण्यशाली उन श्रेष्ठ रौद्र मुनि को नमन करके उस ब्राह्मण को क्षीरयुक्त, घृतयुक्त पका हुआ भैक्ष्य दिया। तब ऐसे अन्न को जानकर संतुष्ट हुए उन मुनि ने स्नान करके भैक्ष्य खाकर के उन्हें आशीष दी।

ता ऊचुः—कथं यास्यामो वयं सौर्यां तीर्त्वा। स होवाच मुनिः—दूर्वाशिनं मां स्मृत्वा वो दास्यतीति मार्गम् ॥4॥
तासां मध्ये हि श्रेष्ठा गान्धर्वी ह्युवाच तं हि वै ताभिरेवं कथं कृष्णो ब्रह्मचारी कथं दूर्वाशनो मुनिः। तां हि मुख्यां विधाय पूर्वमनुकृत्वा तूष्णीमासुः ॥5॥

तब उन्होंने कहा—'यमुना को तैरकर कैसे जाएँगी ?' तब उन मुनि ने कहा—'निराहार दुर्वासा (मैं) हूँ', ऐसा कहकर स्मरण करने से वह तुम्हें मार्ग देगी।' उनके बीच एक बड़ी गोपी गान्धर्वी थी। उसने उन मुनि से कहा—'कृष्ण ब्रह्मचारी कैसे हो सकते हैं और दुर्वासा भी निराहार कैसे हो सकते हैं ?' तब उस मुख्य को आगे करके बाकी की गोपियाँ मौन ही रहीं (गान्धर्वी के साथ सहमत होकर मौन रहीं)।

शब्दवानाकाशः। शब्दाकाशाभ्यां भिन्नः। तस्मिन्नाकाशस्तिष्ठति। आकाशे तिष्ठति। स ह्याकाशस्तं न वेद। स ह्यात्माऽहं कथं भोक्ता भवामि ॥6॥
स्पर्शवान् वायुः। स्पर्शवायुभ्यां भिन्नः। तस्मिन्वायुस्तिष्ठति। वायौ तिष्ठति। वायुस्तं न वेद। स ह्यात्माऽहं कथं भोक्ता भवामि ॥7॥
रूपवदिदं तेजः। रूपाग्निभ्यां भिन्नः। तस्मिन्नग्निस्तिष्ठति। अग्नौ तिष्ठति। अग्निस्तं न वेद। स ह्यात्माऽहं कथं भोक्ता भवामि ॥8॥
रसवत्य आपः। रसाद्भ्यो भिन्नः। तस्मिन्नापस्तिष्ठन्ति। अप्सु तिष्ठति। आपस्तं न विदुः। स ह्यात्माऽहं कथं भोक्ता भवामि ॥9॥
गन्धवतीयं भूमिः। गन्धभूमिभ्यां भिन्नः। तस्मिन् भूमिस्तिष्ठति। भूमौ तिष्ठति। भूमिस्तं न वेद। स ह्यात्माऽहं कथं भोक्ता भवामि ॥10॥
इदं हि मन एवेदं मनुते। तानीदं हि गृह्णाति। यत्र सर्वमात्मैवाभूत्तत्र वा कुत्र मनुते क्व वा गच्छतीति। सह ह्यात्माऽहं कथं भोक्ता भवामि ॥11॥

तब उस गोपी की शंका का समाधान करते हुए मुनि ने कहा—"आकाश शब्द गुण वाला है, पर वह आत्मा तो शब्द और आकाश दोनों से अलग है। उसी में आकाश रहता है और आकाश में वह भी रहता है, फिर भी आकाश उसे नहीं जानना। वही आत्मा मैं हूँ तो मैं भोक्ता कैसे बन सकता हूँ। यह वायु स्पर्श वाला है, लेकिन आत्मा तो उन वायु और स्पर्श दोनों से अलग है, वायु उसी में रहता है, और वह वायु में रहता है फिर भी वायु उसे नहीं जानता। वह आत्मा मैं ही हूँ, तो मैं कैसे भोक्ता बन सकता हूँ ? यह तेज रूपवाला है, लेकिन आत्मा तो रूप और अग्नि दोनों से अलग है, अग्नि उसमें रहता है और वह अग्नि में रहता है फिर भी अग्नि उसे नहीं जानता। वह आत्मा मैं हूँ। वह मैं भला कैसे भोक्ता बन सकता हूँ। यह जल रसयुक्त है, पर वह आत्मा तो जल और रस दोनों

से अलग ही है। पानी उसमें रहता है और वह पानी में रहता है पर पानी उसे जानता नहीं है। वही आत्मा मैं हूँ, तो मैं भला भोक्ता कैसे बन सकता हूँ। यह पृथ्वी गन्धयुक्त है, पर वह आत्मा तो पृथ्वी और गन्ध, दोनों से अलग ही है। पृथ्वी उसमें रहती है, वह भी पृथ्वी में रहता है फिर भी पृथ्वी इसे नहीं जानती। वह आत्मा है, वह मैं ही हूँ तो मैं भोक्ता कैसे बन सकता हूँ ? यह मन ही ऐसा मानता है, मन ही इन सबको ग्रहण करता है परन्तु जब सब कुछ आत्मरूप ही हो गया, तब कौन क्या मानेगा ? कौन कहाँ जाएगा ? वही आत्मा मैं हूँ, मैं भोक्ता कैसे बन सकता हूँ ?

अयं हि कृष्णो यो वो हि प्रेष्ठः शरीरद्वयकारणं भवति ॥12॥
द्वा सुपर्णौ भवतो ब्रह्मणोऽहं संभूतस्तथेतरो भोक्ता भवति। अन्यो हि साक्षी भवतीति। वृक्षधर्मे तौ तिष्ठतः। अतो भोक्त्रभोक्तारौ। पूर्वो हि भोक्ता भवति। तथेतरोऽभोक्ता कृष्णो भवतीति ॥13॥

यह जो कृष्ण तुम्हारा प्रियतम है, वह व्यष्टि-समष्टि रूप दोनों शरीर के कारणस्वरूप होने से और ईश्वर होने से वैसे ही आत्मरूप है। चिन्मात्र ब्रह्म से ही सुपर्ण जैसे जीव और ईश्वर—दोनों उत्पन्न होते हैं। उनमें से एक 'अहं' से उत्पन्न जीव भोक्ता होता है और दूसरा ईश्वर अभोक्ता और साक्षी होता है। वे दोनों वृक्ष धर्म रूप संसार में रहते हैं, परन्तु भोक्ता और अभोक्ता के रूप में होते हैं। पहला जीव है, वह भोक्ता होता है और दूसरा साक्षी है, वह अभोक्ता होता है। यह कृष्ण अभोक्ता साक्षी है।

यत्र विद्याऽविद्ये न विदामो विद्याऽविद्याभ्यां भिन्नो विद्यामयो हि यः स कथं विषयो भवति ॥14॥
यो ह वै कामेन कामान् कामयते स कामी भवति। यो ह वै त्वकामेन कामान् कामयते सोऽकामी भवति। जन्मजराभ्यां भिन्नः स्थाणुरयमच्छेद्योऽयम्। योऽसौ सूर्ये तिष्ठति योऽसौ गोषु तिष्ठति योऽसौ गोपान् पालयति योऽसौ सर्वेषु देवेषु तिष्ठति योऽसौ सर्वैर्देवैर्गीयते योऽसौ सर्वेषु भूतेष्वाविश्य भूतानि विदधाति स वो हि स्वामी भवति ॥15॥

जो विद्या और अविद्या का विषय नहीं है। अविद्या से तो वह प्रकाशित होता ही नहीं और विद्या का तो वही प्रकाशक है, विषय नहीं है (प्रकाश्य नहीं है)। वह तो विद्या और अविद्या दोनों से भिन्न है, वह विद्यामय ज्ञानमय ही है, वह कैसे विषय हो सकता है ? जो कामनाओं से भोगों को चाहता है, वह कामी होता है और जो कामनारहित होकर भोगों को भोगता है, वह अकामी होता है। वह जन्म और जरावस्था से भिन्न है, अचल है, अच्छेद्य है, वह यह जो सूर्य में भी रहता है, वह जो गायों में रहता है, वह जो गोपों का पालन करता है, वह जो सभी देवों में रहता है, वह जो सभी के द्वारा स्तुति द्वारा गाया जाता है, वह जो सभी भूतों में प्रविष्ट होकर सभी भूतों को धारण करता है, वही वह तुम लोगों का स्वामी (कृष्ण) है।

सा होवाच गान्धर्वी—कथं वा स्वस्मासु जातो गोपालः। कथं वा ज्ञातोऽसौ त्वया मुने कृष्णः। को वाऽस्य मन्त्रः। किं स्थानम्। कथं वा देवक्यां जातः। को वाऽस्य जायाग्रामो भवति। कीदृशी पूजाऽस्य गोपालस्य भवति। साक्षात्प्रकृतिपरोऽयमात्मा गोपालः कथं त्ववतीर्णो भूम्याम्। सा गान्धर्वी हि वै मुनिमुवाच ॥16॥

फिर गान्धर्वी ने पूछा—"हमारी गोपाल की जाति में उत्पन्न हुए कृष्ण को आपने कैसे जान लिया ? इसका मंत्र क्या है। उसका स्थान क्या है ? वह देवकी से क्यों जन्मा ? इसका जायाग्राम (पत्नी समूह) कौन है ? इस गोपाल की पूजा किस तरह होती है ? साक्षात् प्रकृति से पर यह आत्मा गोपाल इस भूमि पर क्यों अवतीर्ण हुआ ?"—ऐसे प्रश्न गान्धर्वी ने पूछे।

स होवाच तां हि वै—पूर्वं नारायणो यस्मिंल्लोका ओताश्च प्रोताश्च तस्य हृत्पद्माज्जातोऽब्जयोनिस्तपस्तप्त्वा तस्मै ह वरं ददौ। स कामप्रश्नमेव वव्रे। तं हास्मै ददौ ॥17॥
स होवाचाब्जयोनिः—यो वाऽवताराणां मध्ये श्रेष्ठोऽवतारः को भवति येन लोकास्तुष्टा भवन्ति यं स्मृत्वा मुक्ता अस्मात् संसाराद्भवन्ति कथं वाऽस्यावतारस्य ब्रह्मता भवति ॥18॥

तब मुनि ने उससे कहा—पहले नारायण ही थे, उनमें ये सब लोक ओतप्रोत थे। उनके हृदय-कमल से कमलयोनि (ब्रह्मा) जन्मे। उन्होंने तप किया। तो उन नारायण ने उन्हें वरदान दिया। उन ब्रह्मा ने इच्छित वरदान माँगा और नारायण ने उसे दिया। फिर ब्रह्मा (कमलयोनि) ने उनसे कहा—"जो अवतारों में श्रेष्ठ है वह कौन है ? जिन्होंने इन लोकों की सृष्टि की है, जिनका स्मरण करके मनुष्य इस संसार से मुक्त हो जाते हैं ? और इस अवतार की ब्रह्मता कैसे होती है ?"

स होवाच तं हि वै नारायणो देवः—सकाम्या मेरोः शृङ्गे यथा सप्तपुर्यो भवन्ति तथा निष्काम्याः सकाम्या भूगोलचक्रे सप्तपुर्यो भवन्ति। तासां मध्ये साक्षाद्ब्रह्म गोपालपुरी भवति ॥19॥
सकाम्या निष्काम्या देवानां सर्वेषां भूतानां भवति। अथास्य भजनं भवति। यथा हि वै सरसि पद्मं तिष्ठति तथा भूम्यां तिष्ठति चक्रेण रक्षिता मथुरा तस्माद्गोपालपुरी भवति ॥20॥

ब्रह्मा के द्वारा पूछे जाने पर उन नारायण देव ने कहा—"जैसे मेरु पर्वत के शिखर पर कामना वालों के लिए कामों को भोगने के लिए सात नगरियाँ स्थित हैं, वैसे ही कामना नहीं करने वालों के लिए सात नगरियाँ पृथ्वी के बीच में भी आई हुई हैं। पृथ्वी में सकाम लोगों के लिए भी नगरियाँ हैं ही। उन निष्कामियों की सात नगरियों में एक साक्षाद्ब्रह्मपुरी है, उसका नाम गोपालपुरी है। इस भूगोल में सकाम और निष्काम, देवों और अन्य प्राणियों के लिए पुरियाँ हैं। इस मथुरा में उसका—कृष्ण का भजन होता है। जैसे तालाब में कमल होता है, वैसे ही भगवान् के चक्र से रक्षित मथुरा है। इसीलिए वह गोपालपुरी कही जाती है।

बृहद्बृहद्वनं मधोर्मधुवनं तालस्तालवनं काम्यं काम्यवनं बहुला बहुलवनं कुमुदः कुमुदवनं खदिरः खदिरवनं भद्रो भद्रवनं भाण्डीर इति भाण्डीरवनं श्रीवनं लोहवनं बृन्दावनमेतैरावृता पुरी भवति ॥21॥
तत्र तेष्वेव गगनेष्वेवं देवा मनुष्या गन्धर्वा नागाः किंनरा गायन्ति नृत्यन्तीति ॥22॥
तत्र द्वादशादित्या एकादश रुद्रा अष्टौ वसवः सप्त मुनयो ब्रह्मा नारदश्च पञ्च विनायका विश्वेश्वरो रुद्रश्वरोऽम्बिकेश्वरो गणेश्वरो नीलकण्ठेश्वरो

वीरेश्वरो गोपालेश्वरो भद्रेश्वर इत्यष्टावन्यानि लिङ्गानि चतुर्विंशतिर्भवन्ति ॥23॥

द्वे वने स्तः कृष्णवनं भद्रवनम्। तयोरन्तर्द्वादश वनानि पुण्यानि पुण्यतमानि। तेष्वेव देवास्तिष्ठन्ति सिद्धाः सिद्धिं प्राप्ताः ॥24॥

वह साक्षाद् ब्रह्मपुरी गोपालपुरी मथुरा बारह वनों से घिरी हुई है। उनमें पहला बृहद् वन है, दूसरा मधुदैत्य का मधुवन है, तीसरा तालों वाला तालवन, चौथा कामद काम्यवन, पाँचवाँ बहुला वाला बहुलवन, छठा कुमुद वाला कुमुदवन, सातवाँ खदिर वाला खदिरवन, आठवाँ भद्रवन, नवाँ भाण्डीरवन, दसवाँ श्रीवन, ग्यारहवाँ लोहवन और बारहवाँ वृन्दावन—इनसे यह मथुरा आवृत है। वहाँ उन्हीं वनों के गगनों में देव, मनुष्य, गंधर्व, नाग और किन्नर आदि गाते हैं और नाचते रहते हैं। वहाँ बारह आदित्य, ग्यारह रुद्र, आठ वसु, सात मुनि, ब्रह्मा, नारद, पाँच विनायक तथा वीरेश्वर, रुद्रेश्वर, अम्बिकेश्वर, गणेश्वर, नीलकण्ठेश्वर, विश्वेश्वर, गोपालेश्वर और महेश्वर—ऐसे आठ अन्य लिंग हैं और तदुपरान्त अन्य चौबीस शिवलिंग भी आए हुए हैं। कृष्णवन और भद्रवन ऐसे दो वन हैं। उनके भीतर बारह पवित्र वन हैं। वे बहुत ही पवित्र हैं। उन्हीं में देवलोग रहते हैं, वहीं सिद्धि को प्राप्त हुए सिद्ध पुरुष रहते हैं।

तत्र हि रामस्य राममूर्तिः प्रद्युम्नस्य प्रद्युम्नमूर्तिरनिरुद्धस्यानिरुद्धमूर्तिः कृष्णस्य कृष्णमूर्तिः ॥25॥

वनेष्वेवं मथुरास्वेवं द्वादश मूर्तयो भवन्ति। एकां हि रुद्रा यजन्ति द्वितीयां हि ब्रह्मा यजति तृतीयां ब्रह्मजा यजन्ति चतुर्थीं मरुतो यजन्ति पञ्चमीं विनायका यजन्ति षष्ठीं च वसवो यजन्ति सप्तमीमृषयो यजन्ति अष्टमीं गन्धर्वा यजन्ति नवमीमप्सरसो यजन्ति दशमी वै ह्यन्तर्धाने तिष्ठति एकादशमिति स्वपदानुगा द्वादशमिति भूम्यां तिष्ठति। तां हि ये यजन्ति ते मृत्युं तरन्ति मुक्तिं लभन्ते गर्भजन्मजरामरणतापत्रयात्मकदुःखं तरन्ति ॥26॥

वहाँ राम (बलराम) की राममूर्ति, प्रद्युम्न की प्रद्युम्नमूर्ति, अनिरुद्ध की अनिरुद्धमूर्ति और कृष्ण की कृष्णमूर्ति है। मथुरा के इन वनों में बारह मूर्तियाँ हैं। उनमें एक की पूजा रुद्र करते हैं, दूसरी की पूजा ब्रह्मा करते हैं, तीसरी की पूजा सनत्कुमारादि ब्रह्मा के पुत्र करते हैं, चौथी की पूजा मरुत करते हैं, पाँचवीं की पूजा विनायक करते हैं, छठी की पूजा वसु करते हैं, सातवीं की पूजा ऋषि लोग करते हैं, आठवीं की पूजा गंधर्व लोग करते हैं, नवीं की पूजा अप्सराएँ करती हैं, दसवीं की पूजा गुप्त रहती है और ग्यारहवीं की पूजा विष्णुपद में पहुँची हुई है, और 'द्वादशधाम' नाम से प्रसिद्ध बारहवीं भूमि में ही रहती है। जो लोग उस बारहवीं मूर्ति की पूजा को करते हैं, वे लोग मृत्यु को पार कर जाते हैं और मुक्ति को प्राप्त करते हैं और गर्भ, जन्म, जरा, मरण तथा तीनों प्रकार के तापों (दुःखों) को पार कर जाते हैं।

तदप्येते श्लोका भवन्ति—

सम्प्राप्य मथुरां रम्यां सदा ब्रह्मादिवन्दिताम्।
शङ्खचक्रगदाशार्ङ्गरक्षितां मुसलादिभिः ॥27॥
यत्रासौ संस्थितः कृष्णः स्त्रीभिः शक्त्या समाहितः।
रमानिरुद्धप्रद्युम्नै रुक्मिण्या सहितो विभुः ॥28॥
चतुःशब्दो भवेदेको ह्योंकारस्य उदाहृतः ॥29॥

ऐसी रमणीय, सदैव ब्रह्मादिकों के द्वारा सेवित, शंख-चक्र-गदा-शार्ङ्ग आदि के द्वारा और मूसल आदि के द्वारा सुरक्षित मथुरापुरी को जहाँ व्यापक श्रीकृष्ण, स्त्रियों के साथ, अपनी शक्ति के साथ निवास कर रहे हैं, जहाँ रमा (राधा), रुक्मिणी, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध के साथ रहे हैं, ऐसी नगरी को प्राप्त करके मनुष्य को समाहित (स्थिर) हो जाना चाहिए। वहाँ वे चार मिलकर एक चतुर्व्यूह, ओंकार की तरह हो जाता है (जैसे अ, उ, म और अर्धमात्रा मिलकर एक ओंकार होता है)।

तस्मादेव परो रजसेति सोऽहमित्यवधार्यात्मानं गोपालोऽहमिति भावयेत्। स मोक्षमश्नुते। स ब्रह्मत्वमधिगच्छति। स ब्रह्मविद्भवति। स गोपान् जीवानात्मत्वेन सृष्टिपर्यन्तमालाति। स गोपालो ह्यों भवति तत् सोऽहम्। परं ब्रह्म कृष्णात्मको नित्यानन्दैकस्वरूपः सोऽहम्। ओं तत् सद्गोपालोऽहमेव। परं सत्यमबाधितं सोऽहमित्यात्मानमादाय मनसैक्यं कुर्यात्। आत्मानं गोपालोऽहमिति भावयेत्। स एवाव्यक्तोऽनन्तो नित्यो गोपालः ॥30॥

इसलिए रजस् (रजोगुण या मलिनता) से परे जो है, वह मैं स्वयं ही हूँ, ऐसी धारणा करके अपने आपमें 'मैं गोपाल ही हूँ'—इस प्रकार की भावना करनी चाहिए। ऐसा भावक मोक्ष को प्राप्त करता है, वह ब्रह्मत्व को प्राप्त करता है, वह ब्रह्मविद् हो जाता है, वह सृष्टिपर्यन्त गोपों को अपने आत्मत्व के रूप में स्वीकार करता है। वह गोपाल ॐ स्वरूप बन जाता है। जो वह सत् है वही मैं हूँ। कृष्णात्मक नित्य आनन्दस्वरूप जो परब्रह्म है, वही मैं हूँ। वह सत् स्वरूप गोपाल मैं ही हूँ। परम अबाधित सत्य वह मैं ही हूँ—इस प्रकार अपनी आत्मा में स्वीकार करके मन से ऐक्यभाव करना चाहिए। 'मैं गोपाल हूँ'—ऐसी आत्मा में भावना करनी चाहिए। वही अव्यक्त, अनन्त और नित्यगोपाल है।

मथुरायां स्थितिर्ब्रह्मन् सर्वदा मे भविष्यति।
शङ्खचक्रगदापद्मवनमालाधरस्य वै ॥31॥
विश्वरूपं परं ज्योतिः स्वरूपं रूपवर्जितम्।
मथुरामण्डले यस्तु जम्बूद्वीपे स्थितोऽपि वा।
योऽर्चयेत् प्रतिमां मां च स मे प्रियतरो भुवि ॥32॥
तस्यामधिष्ठितः कृष्णरूपी पूज्यस्त्वया सदा।

हे ब्रह्मन्! मेरा निवास मथुरा में सदैव रहेगा। वहाँ मैं शंख, चक्र, गदा, पद्म और वनमाला धारण करके रहूँगा। और अन्य मेरा स्वयं ज्योतिरूप आकाररहित जो विश्वरूप है। लेकिन मथुरा के मंडल में जो साकार स्वरूप है, उसे यदि (उसकी प्रतिमा को) जम्बूद्वीप में दूर रहने वाला भी कोई मनुष्य पूजता है, तो वह मेरा बहुत ही प्रिय बन जाता है। तुमको भी उस मूर्ति में प्रतिष्ठित कृष्णरूप की ही पूजा करनी चाहिए।

चतुर्धा चास्यावतारा भेदत्वेन यजन्ति माम् ॥33॥
युगानुवर्तिनो लोका यजन्तीह सुमेधसः।
गोपालं सानुजं कृष्णं रुक्मिण्या सह तत्परम् ॥34॥

गोपालोऽहमजो नित्यः प्रद्युम्नोऽहं सनातनः ।
रामोऽहमनिरुद्धोऽहमात्मानं ह्यर्चयेद्बुधः ॥35॥
मयोक्तेन स धर्मेण निष्कामेन विभागशः ।
तैरहं पूजनीयो वै भद्रकृष्णानिवासिभिः ॥36॥
तद्धर्मगतिहीना ये तस्यां मयि परायणाः ।

इस प्रकार से मुझ एक को ही युग के अनुसार बुद्धिमान लोग अवतार के भेद से चार प्रकार से—चतुर्व्यूह के रूप में पूजते हैं। अनुज-बलराम के और रुक्मिणी के साथ रहे हुए गोपाल की लोग पूजा करते हैं। वह गोपाल मैं पारमार्थिक रूप में अजन्मा, नित्य हूँ, और प्रद्युम्न भी सनातन है, बलराम भी मैं हूँ और अनिरुद्ध भी मैं ही हूँ—इस प्रकार अपनी आत्मा को मानकर बुद्धिमान को मेरी अर्चना करनी चाहिए। भद्रवन और कृष्णवन में बसते (समाहित) लोगों के द्वारा मुझे इसी तरह पूजा जाना चाहिए। वे धर्म की गति से हीन हों, और—

कलिना ग्रसिता ये वै तेषां तस्यामवस्थितिः ॥37॥
यथा त्वं सह पुत्रैस्तु यथा रुद्रो गणैः सह ।
यथा श्रियाऽभियुक्तोऽहं तथा भक्तो मम प्रियः ॥38॥

—चाहे कितने ही कलिकाल से ग्रसित क्यों न हों, यदि उनकी उपस्थिति उस नगरी में होगी तो उन्हें भी उस नगरी में रहकर मेरी पूजा करनी चाहिए। जैसे रुद्र अपने गणों के साथ मेरी पूजा करते हैं, वैसे तुम भी अपने पुत्रों के साथ मेरी पूजा करो। और जैसे मैं लक्ष्मी (ऐश्वर्य) से युक्त हूँ, उसी प्रकार मेरे भक्त तुम भी बने रहो।

स होवाचाब्जयोनिश्चतुर्भिर्देवैः कथमेको देवः स्यात् ।
एकमक्षरं यद्विश्रुतमनेकाक्षरं कथं संभूतम् ॥39॥
स होवाच तं हि—पूर्वमेकमेवाद्वितीयं ब्रह्मासीत् । तस्मादव्यक्तमेकाक्षरम् । तस्मादक्षरान्महत् । महतोऽहंकारः । तस्मादहंकारात् पञ्च तन्मात्राणि । तेभ्यो भूतानि । तैरावृतमक्षरम् । अक्षरोऽहमोंकारोऽहमजरोऽमरोऽभयोऽमृतो ब्रह्माभयं हि वै । स मुक्तोऽहमस्मि । अक्षरोऽहमस्मि ॥40॥

तब कमलयोनि ब्रह्मा ने पूछा—'वह एक ही देव चार प्रकार के कैसे होते हैं ? जो एक ही अक्षर कहा गया है, वह अनेक अक्षर रूप कैसे हो सकता है ?' ब्रह्मा द्वारा इस तरह पूछे जाने पर नारायण ने उनसे कहा कि पहले तो एक और अद्वितीय ब्रह्म ही था। उससे एकाक्षर अव्यक्त उत्पन्न हुआ है। उस अव्यक्त से महत् जन्मा। महत् से अहंकार उत्पन्न हुआ। अहंकार से तन्मात्राएँ जन्मीं। और तन्मात्राओं से पंचमहाभूत उत्पन्न हुए। उनके द्वारा अक्षर आवृत हो गया। मैं वह अक्षर, यह ओंकार, अजर, अमर, अभय हूँ। सचमुच ब्रह्म अभय ही है। वही मैं मुक्त हूँ, वही मैं अक्षर हूँ।

सत्तामात्रं चित्स्वरूपं प्रकाशं व्यापकं तथा ।
एकमेवाद्वयं ब्रह्म मायया च चतुष्टयम् ॥41॥
रोहिणीतनयो विश्व अकाराक्षरसम्भवः ।
तैजसात्मकः प्रद्युम्न उकाराक्षरसम्भवः ॥42॥

प्राज्ञात्मकोऽनिरुद्धोऽसौ मकाराक्षरसम्भवः ।
अर्धमात्रात्मकः कृष्णो यस्मिन् विश्वं प्रतिष्ठितम् ॥43॥

वास्तविक (पारमार्थिक) दृष्टि से तो स्वयंप्रकाशित चिन्मय व्यापक सत्ता तो एक ही है, परन्तु माया से ही उसके चार भाग हुए हैं। रोहिणी के पुत्र बलराम 'विश्व' रूप और ओंकार के 'अकार' से उत्पन्न हुए हैं, 'तैजस्' स्वरूप प्रद्युम्न ओंकार के उकार से उत्पन्न हुए हैं, प्राज्ञस्वरूप अनिरुद्ध ओंकार के मकार से उत्पन्न हुए हैं। कृष्ण अर्धमात्रा का स्वरूप हैं, उनमें यह सारा विश्व प्रतिष्ठित है।

कृष्णात्मिका जगत्कर्त्री मूलप्रकृति रुक्मिणी ।
व्रजस्त्रीजनसम्भूतश्रुतिभ्यो ब्रह्मसङ्गतः ।
प्रणवत्वेन प्रकृतित्वं वदन्ति ब्रह्मवादिनः ॥44॥
तस्मादोंकारसम्भूतो गोपालो विश्वसंस्थितः ।
क्लीमोंकारस्य चैकत्वं वदन्ति ब्रह्मवादिनः ।
मथुरायां विशेषेण मां ध्यायन् मोक्षमश्नुते ॥45॥

कृष्णात्मिका मूलप्रकृति रुक्मिणी है, वही जगत्कर्त्री (जगत् को बनाने वाली) है। और व्रज की स्त्रियों के समूह से उत्पन्न हुई श्रुतियों से वह (ॐ) ज्ञान से पूर्ण (युक्त) हुआ है। इस तरह ब्रह्मवादी लोग प्रणव का प्रकृतित्व प्रतिपादित करते हैं। इस तरह ॐ कार से उत्पन्न हुए गोपाल सारे विश्व में उपस्थित हैं। ब्रह्मवादी लोग 'क्लीं' और 'ओम्'—दोनों को एक ही बताते हैं। विशेष करके मथुरा में मेरा ध्यान करने वाला मोक्ष को ही प्राप्त होता है।

अष्टपत्रं विकसितं हृत्पद्मं तत्र संस्थितम् ।
दिव्यध्वजातपत्रैस्तु चिह्नितं चरणद्वयम् ॥46॥
श्रीवत्सलाञ्छनं हृत्स्थं कौस्तुभप्रभया युतम् ।
चतुर्भुजं शङ्खचक्रशार्ङ्गपद्मगदाऽन्वितम् ॥47॥
सुकेयूरान्वितं बाहुं कण्ठमालासुशोभितम् ।
द्युमत्किरीटमभयं स्फुरन्मकरकुण्डलम् ॥48॥
हिरण्मयं सौम्यतनुं स्वभक्तायाभयप्रदम् ।
ध्यायेन्मनसि मां नित्यं वेणुशृङ्गधरं तु वा ॥49॥

मथुरा में वह ध्येय मूर्ति ऐसी है—वह (मैं) आठ दलों वाले विकसित हृदयकमल में विराजित हूँ। दिव्य ध्वजाओं और छत्रों से युक्त हूँ, दोनों चरण मेरे चिह्नित किए गए हैं। ऐसे श्रीवत्स के लांछन वाले, तेजोमय कौस्तुभमणि वाले, चार हाथ वाले, शंख-चक्र-गदा-शार्ङ्ग-पद्म से युक्त, सुन्दर केयूर पहने हुए हाथवाले, कण्ठ में मालाओं से सुशोभित, कान्तियुक्त मुकुट धारण किए हुए, हिलते मकराकार कुण्डल वाले, निर्भय, सोने की-सी कान्ति वाले, सौम्य शरीर वाले, अपने भक्तों को अभय देने वाले, वेणु या सींग को धारण किए हुए—इस प्रकार मेरा मन में ध्यान करना चाहिए।

मथ्यते तु जगत्सर्वं ब्रह्मज्ञानेन येन वा ।
मत्सारभूतं यद्यत्स्यान्मथुरा सा निगद्यते ॥50॥
अष्टदिक्पालकैर्भूमिपद्मं विकसितं जगत् ।

संसारार्णवसञ्जातं सेवितं मम मानसे ॥51॥
चन्द्रसूर्यत्विषो दिव्या ध्वजा मेरुर्हिरण्मयः ।
आतपत्रं ब्रह्मलोकमथोर्ध्वं चरणं स्मृतम् ॥52॥
श्रीवत्सस्य स्वरूपं च वर्तते लाञ्छनैः सह ।
श्रीवत्सलक्षणं तस्मात् कथ्यते ब्रह्मवादिभिः ॥53॥

जिससे सारा जगत् मथा जाता है, उसे मथन कहा जाता है, उस मथन में ही ब्रह्मज्ञान है, वह मेरा सारतत्त्व है, इसलिए उस मेरे निवासस्थान नगरी को मथुरा कहा जाता है। मेरे हृदय में तो आठ दिक्पालों के द्वारा सेवित यह भूमिरूपी पद्म विकसित हुआ है, जो कि संसाररूपी सागर से उत्पन्न हुआ है। सूर्य और चन्द्रमा की किरणें इस भूमिपद्म की ध्वजाएँ हैं। छत्रदण्ड इसका मेरु है, ब्रह्मलोक इसका छत्र है, और एक चरण ऊपर है। मेरा यह श्रीवत्स का स्वरूप लांछनों के साथ रहता है, इसलिए ब्रह्मवादियों के द्वारा मैं 'श्रीवत्सलक्षण' कहा जाता हूँ।

येन सूर्याग्निवाक्चन्द्रतेजसा स्वस्वरूपिणा ।
वर्तते कौस्तुभाख्यं मणिं वदन्तीशमानिनः ॥54॥
सत्त्वं रजस्तम इति अहंकारश्चतुर्भुजः ।
पञ्चभूतात्मकं शङ्खं करे रजसि संस्थितम् ॥55॥
बालस्वरूपमित्यन्तं मनश्चक्रं निगद्यते ।
आद्या माया भवेच्छार्ङ्गं पद्मं विश्वकरे स्थितम् ॥56॥
आद्या विद्या गदा वेद्या सर्वदा मे करे स्थिता ।
धर्मार्थकामकेयूरैर्दिव्यैर्दिव्यमयीरितैः ॥57॥

जिस स्वरूप के तेज से ही सूर्य, अग्नि, वाक् और चन्द्र प्रकाशित हो रहे हैं, उन्हीं को कौस्तुभ नाम की मणि के रूप में मेरे भक्त और महेश आदि बता रहे हैं। सत्त्व, रजस् और तमस् एवं अहंकार—ये मेरे चार हाथ हैं। रजोगुणविशिष्ट पंचभूतरूप शंख मेरे हाथ में धारण किया गया है। बालस्वरूप-विशुद्ध मन को ही मेरे हाथ में स्थित चक्र समझा जाता है। आद्या माया ही मेरा शार्ङ्ग धनुष है, विश्व ही कर में स्थित पद्म है। आद्या विद्या ही मेरे हाथ में रहने वाली गदा है। धर्म, अर्थ, काम, (मोक्ष ?) मेरे हाथ के केयूर कहे गए हैं।

कण्ठं तु निर्गुणं प्रोक्तं माल्यते आद्ययाऽजया ।
माला निगद्यते ब्रह्मंस्तव पुत्रैस्तु मानसैः ॥58॥
कूटस्थं सत्त्वरूपं च किरीटं प्रवदन्ति माम् ।
क्षीरोत्तरं प्रस्फुरन्तं कुण्डलं युगलं स्मृतम् ॥59॥
ध्यायेन्मम प्रियं नित्यं स मोक्षमधिगच्छति ।
स मुक्तो भवति तस्मै स्वात्मानं तु ददामि वै ॥60॥
एतत्सर्वं भविष्यद्वै मया प्रोक्तं विधे तव ।
स्वरूपं द्विविधं चैव सगुणं निर्गुणात्मकम् ॥61॥

मेरा कण्ठ निर्गुण (गुणातीत) है, उसमें आद्या मायारूपी माला पहनी हुई है। हे ब्रह्मा! तुम्हारे मानसपुत्रों ने (सनत्कुमारदिकों ने) ऐसा कहा है। सत्स्वरूप कूटस्थ ऐसे मुझे किरीट कहा गया है, और क्षीरोत्तर-ॐकार ही मेरे ये प्रस्फुरित दो कुण्डल माने जाते हैं। जो मनुष्य मेरे इस प्रिय स्वरूप का ध्यान

करता है, वह मोक्ष को प्राप्त हो जाता है। वह मुक्त हो जाता है, उसे मैं अपनी आत्मा दे देता हूँ (साक्षात्कार करा देता हूँ)। हे ब्रह्मा! यह जो मैंने तुम्हें बताया है, वह सब अनुभव तुम्हें भविष्य में होगा। मैंने तुम्हें मेरे दो स्वरूप बताए हैं—एक सगुण है और दूसरा निर्गुण है।

स होवाचाब्जयोनिः—व्यक्तीनां मूर्तीनां प्रोक्तानां कथं त्वाभरणानि भवन्ति कथं वा देवा यजन्ति रुद्रा यजन्ति ब्रह्मा यजति ब्रह्मजा यजन्ति विनायका यजन्ति द्वादशादित्या यजन्ति वसवो यजन्ति गन्धर्वा यजन्ति सपदानुगा अन्तर्धाने तिष्ठन्ति कां मनुष्या यजन्ति ॥62॥

तब कमलजन्मा ब्रह्मा ने कहा—आपकी कही गई मूर्तियों के आभरण व्यक्तियों के लिए कैसे होते हैं ? देव लोग इसकी कैसे उपासना करते हैं ? रुद्र उन्हें कैसे पूजते हैं ? इन्हें ब्रह्मा, ब्रह्मा के सनत्कुमार आदि पुत्र, विनायक, बारह आदित्य, आठ वसु, गन्धर्व, उसकी कैसे पूजा (उपासना) करते हैं ? ये सब तो अपने-अपने कैलास, वैकुण्ठ, सत्यलोक आदि स्थानों में अन्तर्हित होकर पूजी जाती हैं। पर मनुष्य आपकी कौन सी मूर्ति को भजते हैं ?

स होवाच तं हि वै नारायणो देवः—आद्या व्यक्ता द्वादशा मूर्तयः सर्वेषु लोकेषु सर्वेषु देवेषु सर्वेषु मनुष्येषु तिष्ठन्ति रुद्रेषु रौद्री ब्रह्माणीयेषु ब्राह्मी देवेषु दैवी मनुष्येषु मानवी विनायकेषु विघ्नविनाशिनी आदित्येषु ज्योतिर्गन्धर्वेषु गान्धर्वी अप्सरःस्वेवं गौर्वसुष्वेवं काम्या अन्तर्धा-नेष्वप्रकाशिनी आविर्भावतिरोभावा स्वपदे तिष्ठन्ति तामसी राजसी सात्त्विकी मानुषी विज्ञानघन आनन्दघनः सच्चिदानन्दैकरसे भक्तियोगे तिष्ठति ॥63॥

तब उन नारायण ने ब्रह्मा से कहा कि—पहली बारह मूर्तियाँ व्यक्त हैं। ये मूर्तियाँ सभी लोकों में, सभी देवों में और सभी मनुष्यों में रहती हैं। जैसे—रुद्रों में रौद्री, ब्रह्माणियों में ब्राह्मी, देवों में दैवी, मनुष्यों में मानवी, विनायकों में विघ्नविनाशिनी, आदित्यों में ज्योति, गंधर्वों में गान्धर्वी, इसी प्रकार अप्सराओं में गौरी, ऐसे वसुओं में काम्या, अन्तर्धानों में अप्रकाशिनी और अपने स्थान में आविर्भाव तिरोभावरूप रहती हैं। इनमें जो मानुषी मूर्ति है वह सात्त्विकी, राजसी और तामसी—इन तीन प्रकारों वाली है। और वह मूर्ति विज्ञानघन, आनन्दमय, सच्चिदानन्दैकरसरूप भक्तियोग में रहती है। विज्ञानमय आनन्द नाम की मनुष्यप्रसिद्ध मूर्ति जो सच्चिदानंदरसमय भक्तियोग है, वहाँ रहती है।

ॐ प्राणात्मने ॐ तत्सद्भूर्भुवःसुवस्तस्मै वै प्राणात्मने नमो नमः। ॐ श्रीकृष्णाय गोविन्दाय गोपीजनवल्लभाय ॐ तत्सद्भूर्भुवः सुवस्तस्मै वै नमो नमः। ॐ अपानात्मने ॐ तत्सद्भूर्भुवः सुवस्तस्मै वा अपानात्मने नमो नमः। ॐ श्रीकृष्णायानिरुद्धाय ॐ तत्सद्भूर्भुवः सुवस्तस्मै वै नमो नमः। ॐ व्यानात्मने ॐ तत्सद्भूर्भुवः सुवस्तस्मै वै व्यानात्मने नमो नमः। ॐ श्रीकृष्णाय रामाय ॐ तत्सद्भूर्भुवः सुवस्तस्मै वै नमो नमः। ॐ उदानात्मने ॐ तत्सद्भूर्भुवः सुवस्तस्मै वै उदानात्मने नमो नमः। ॐ श्रीकृष्णाय देवकीनन्दनाय ॐ तत्सद्भूर्भुवः सुवस्तस्मै वै नमो नमः। ॐ समानात्मने ॐ तत्सद्भूर्भुवः सुवस्तस्मै वै समानात्मने नमो नमः। ॐ श्रीगोपालाय निजस्वरूपाय ॐ तत्सद्भूर्भुवः सुवस्तस्मै

वै नमो नमः । ॐ योऽसौ प्रधानात्मा गोपाल ॐ तत्सद्भूर्भुवः सुवस्तस्मै वै नमो नमः । ॐ योऽसाविन्द्रियात्मा गोपाल ॐ तत्सद्भूर्भुवः सुवस्तस्मै वै नमो नमः । ॐ योऽसौ भूतात्मा गोपाल ॐ तत्सद्भूर्भुवः सुवस्तस्मै वै नमो नमः । ॐ योऽसावुत्तमपुरुषो गोपाल ॐ तत्सद्भूर्भुवः सुवस्तस्मै वै नमो नमः । ॐ योऽसौ ब्रह्मापरं वै ब्रह्म ॐ तत्सद्भूर्भुवः सुवस्तस्मै वै नमो नमः । ॐ योऽसौ सर्वभूतात्मा गोपाल ॐ तत्सद्भूर्भुवः सुवस्तस्मै वै नमो नमः । ॐ जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तितुरीयातीतोऽन्तर्यामी गोपाल ॐ तत्सद्भूर्भुवः सुवस्तस्मै वै नमो नमः ॥64॥

अब ब्रह्मा और ब्रह्मा से उत्पन्न हुए मनुष्यादि कैसे यजन करते हैं, इस प्रकार पूछे गए प्रश्न के उत्तर में कहते हैं कि (इन्द्रियों के = गो के पालक = गोपाल की स्तुति इस तरह की जाती है कि)— प्राणात्मा को नमस्कार हो। कृष्ण को, गोविन्द को, गोपीजन वल्लभ को नमस्कार हो। अपानात्मा को नमस्कार हो। कृष्ण, प्रद्युम्न, अनिरुद्ध को नमस्कार हो। व्यानात्मा को नमस्कार हो। कृष्ण और राम को नमस्कार हो। उदानात्मा को नमस्कार हो। कृष्ण को और देवकीनन्दन को नमस्कार हो। समानात्मा को नमस्कार हो। गोपाल तथा निजस्वरूप को नमस्कार हो। प्रियतम आत्मा गोपाल को नमस्कार हो। इन्द्रियों के आत्मा गोपाल को नमस्कार हो। भूतात्मा गोपाल को नमस्कार हो। अनुत्तम पुरुष गोपाल को नमस्कार हो। जो यह अपरब्रह्मरूप गोपाल है, उसे नमस्कार हो। सर्वभूतों के आत्मस्वरूप गोपाल को नमस्कार हो। जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति और तुरीय—इन चारों अवस्थाओं को लाँघकर रहने वाले तुर्यातीत गोपाल को नमस्कार हो। अन्तर्यामी गोपाल को नमस्कार हो। भूः स्वरूप, भुवः स्वरूप, स्वः स्वरूप ऐसे गोपाल को ॐकारपूर्वक बार-बार नमस्कार हो, नमस्कार हो।

एको देवः सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा ।
कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च ॥65॥

इस गोपाल का पारमार्थिक स्वरूप तो इस प्रकार का है—वह एक और अद्वितीय है, वह सभी प्राणियों का अन्तरात्मा है, वह गूढ़ (छिपा हुआ) है, वह सर्वव्यापक और स्वयंप्रकाश है। वह सभी कर्मों का अध्यक्ष है, वह सभी प्राणियों में निवास करता है। वह साक्षी है, चैतन्यरूप है और निर्गुण है।

ॐ रुद्राय नमः । आदित्याय नमः । विनायकाय नमः । सूर्याय नमः । विद्यायै नमः । इन्द्राय नमः । अग्नये नमः । यमाय नमः । निर्ऋतये नमः । वरुणाय नमः । वायवे नमः । कुबेराय नमः । ईशानाय नमः । सर्वेभ्यो देवेभ्यो नमः ॥66॥

यह जो कृष्ण नामक ब्रह्मतत्त्व है, उनके स्वरूप की अज्ञानमय दृष्टि से जो बारह रूप में विभक्त होकर लोगों को दिखाई दे रहे हैं, सामान्य अज्ञानी लोग उन्हीं विभक्त रूपों की पूजा (उपासना) करते हैं और ओंकार पूर्वक कहते हैं कि ॐ रुद्र को नमस्कार, आदित्य को नमस्कार, विनायक को नमस्कार, सूर्य को नमस्कार, विद्या को नमस्कार, इन्द्र को नमस्कार, अग्नि को नमस्कार, यम को नमस्कार, निर्ऋति को नमस्कार, वरुण को नमस्कार, वायु को नमस्कार, कुबेर को नमस्कार, ईशान को नमस्कार, सभी देवों को नमस्कार हो।

दत्त्वा स्तुतिं पुण्यतमां ब्रह्मणे स्वस्वरूपिणे ।
कर्तृत्वं सर्वभूतानामन्तर्धानो बभूव सः ॥67॥
ब्रह्मणा ब्रह्मपुत्रेभ्यो नारदात्तु श्रुतं मुने ।
तथा प्रोक्तं तु गान्धर्वि गच्छध्वं स्वालयान्तिकम् ॥ इति ॥68॥

इति गोपालपूर्वोत्तरतापिन्युपनिषत्समाप्ता ।
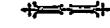
मुनि दुर्वासा ने गांधर्वी से यह कहकर कहा कि इस प्रकार भगवान् नारायण अपने पुत्र ब्रह्माजी को पूर्वकथित पुण्यदात्री स्तुति और सर्वलोकों की सृष्टि के कर्तृत्व का सामर्थ्य देकर स्वयं अन्तर्धान– (अदृश्य) हो गए। हे गान्धर्वी ! यह शास्त्र प्रारंभ में नारायण ने अपने पुत्र ब्रह्मा को बताया था। ब्रह्मा ने यह शास्त्र अपने पुत्रों—सनत्कुमारादि तथा नारदादि को बताया था। मैंने इसे सनकादि तथा नारद से सुना है। और जैसा मैंने सुना वैसा ही तुम लोगों से मैंने कहा। अब तुम सब लोग अपने-अपने घर की ओर जाओ।

इस प्रकार गोपालोत्तरतापिन्युपनिषत् समाप्त होती है।

शान्तिपाठः

ॐ भद्रं कर्णेभिः—देवहितं यदायुः । (पूर्ववत्)
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

(99) कृष्णोपनिषत्

(उपनिषत्परिचय)

इस अथर्ववेदीय उपनिषत् में कहा गया है कि नन्द परमानंद है, यशोदा मुक्ति है, देवकी ब्रह्मविद्या और वसुदेव वेद हैं। कृष्ण-बलराम वेदार्थ, गोपियाँ और गायें वेद की ऋचाएँ हैं। कृष्ण की लाठी ब्रह्मा, बाँसुरी रुद्र, शृंग इन्द्र, गोकुल वैकुण्ठ और वहाँ के वृक्ष तपस्वी मुनिगण हैं। गोपालकृष्ण माया द्वारा शरीर धारण किए हुए ईश्वर हैं। वह स्वयं ब्रह्म हैं। चाणूर द्वेष, मुष्टिक मत्सर, कुवलयापीड दर्प, बकासुर गर्व, रोहिणी दया, सत्यभामा अहिंसा, अघासुर महाव्याधि, कंस कलि, सुदामा मनोविग्रह, अक्रूर सत्य, उद्धव इन्द्रियनिग्रह, शंख लक्ष्मी, कश्यप उलूखल, अदिति रस्सी, कालिका गदा, शार्ङ्ग माया, कमल जगद्बीज और तुलसीमाला शक्ति है। ये सब कृष्ण से भिन्न नहीं और कृष्ण उनसे भिन्न नहीं हैं।

शान्तिपाठः

ॐ भद्रं कर्णेभिः—देवहितं यदायुः। (पूर्ववत्)
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

इसका हिन्दी रूपान्तर पूर्व में (शाण्डिल्योपनिषत् में) द्रष्टव्य है।

श्रीमहाविष्णुं सच्चिदानन्दलक्षणं रामचन्द्रं दृष्ट्वा सर्वाङ्गसुन्दरं मुनयो वनवासिनो विस्मिता बभूवुः। तं होचुर्नोऽवद्यमवतारान्वै गण्यन्ते आलिङ्गामो भवन्तमिति। भवान्तरे कृष्णावतारे यूयं गोपिका भूत्वा मामालिङ्गथ अन्ये येऽवतारास्ते हि गोपा नः स्त्रीश्च नो कुरु।
अन्योऽन्यविग्रहं धार्यं तवाङ्गस्पर्शनादिह।
शश्वत्स्पर्शयितास्माकं गृह्णीमोऽवतारान्वयम् ॥1॥
रुद्रादीनां वचः श्रुत्वा प्रोवाच भगवान्स्वयम्।
अङ्गसङ्गं करिष्यामि भवद्वाक्यं करोम्यहम् ॥2॥

सच्चिदानन्दस्वरूप श्रीमहाविष्णुरूप रामचन्द्र जी को सर्वांगसुन्दर देखकर वनवासी मुनिलोग विस्मित हुए और उनसे कहने लगे कि अवतार तो अच्छा नहीं। अवतार तो बहुत गिने जाते हैं। हम तो आपके किसी अवतार में आपको आलिंगन करना चाहते हैं। तब भगवान् बोले—'अन्य जन्म में कृष्णावतार में आप सब गोपिकाएँ बनकर मेरा आलिंगन करेंगे।' तब ऋषि लोग बोले—'हमारे अन्य अवतारों में भी हमें आप गोप-गोपियाँ ही रखें। वह हमें स्त्रियाँ बना दे। उस कृष्णावतार में अन्योऽन्यानुकूल स्त्री-पुरुष का रूप धारण करेंगे जिससे कि आपका रमणीय स्पर्श हो सके। हम ऐसे शाश्वत स्पर्श कराने वाले अवतारों को स्वीकार करते हैं।' रुद्रादि देवों का यह वचन सुनकर स्वयं भगवान् ने कहा—'आपका वचन मानकर मैं आपका अंगसंग करूँगा।'

मोदितास्ते सुराः सर्वे कृतकृत्याधुना वयम्।
यो नन्दः परमानन्दो यशोदा मुक्तिगेहिनी ॥3॥
माया सा त्रिविधा प्रोक्ता सत्त्वराजसतामसी।
प्रोक्ता च सात्त्विकी रुद्रे भक्ते ब्रह्मणि राजसी ॥4॥
तामसी दैत्यपक्षेषु माया त्रेधा ह्युदाहृता।
अजेया वैष्णवी माया जप्येन च सुता पुरा ॥5॥
देवकी ब्रह्मपुत्रा सा या वेदैरुपगीयते।
निगमो वसुदेवो यो वेदार्थः कृष्णरामयोः ॥6॥

इस प्रकार भगवान् से प्रसन्न किए गए वे सब देव बोले—'हम कृतकृत्य हो गए।' बाद में जन्मांतर में भगवान् के आनन्द के रूप में नन्द जन्मे। यशोदा मुक्तिरूपिणी ही है। भगवान् की माया सात्विकी, राजसी और तामसी—तीन प्रकार की है। भक्त रुद्र में सात्विकी, ब्रह्मा में राजसी और दैत्यों के पक्ष में तामसी माया कही गई है। और जो एक वैष्णवी माया है वह तो अजेय है। यह माया किसी अन्य मंत्र के जाप से जीती नहीं जा सकती, वह पहले अपनी आत्मा में ही जन्मी अपनी पुत्री के समान है। जो देवकी है वह ब्रह्मपुत्रा (ब्रह्मविद्या) ही है। वह ब्रह्मविद्या वेदों में गायी जाती है। वासुदेव ही निगमरूप हैं और कृष्ण-बलराम—दोनों को वेदार्थ ही कहा जाता है।

स्तुवते सततं यस्तु सोऽवतीर्णो महीतले।
वने वृन्दावने क्रीडन्गोपगोपीसुरैः सह ॥7॥
गोप्यो गाव ऋचस्तस्य यष्टिका कमलासनः।
वंशस्तु भगवान् रुद्रः शृङ्गमिन्द्रः सगोसुरः ॥8॥
गोकुलं वनवैकुण्ठं तापसास्तत्र ते द्रुमाः।
लोभक्रोधादयो दैत्याः कलिकालस्तिरस्कृतः ॥9॥
गोपरूपो हरिः साक्षान्मायाविग्रहधारणः।
दुर्बोधं कुहकं तस्य मायया मोहितं जगत् ॥10॥

जो वेदार्थ सतत जिसकी स्तुति करते हैं, वही परब्रह्मरूप इस भूमिपर वृंदावन के वन में गोपों, गोपियों और देवों के साथ खेल करते हुए (लीला करते हुए) अवतरित हुए हैं। गोपियाँ और गायें वेद की ऋचाएँ हैं, यष्टिका के रूप में ब्रह्मा उत्पन्न हुए, भगवान् रुद्र बाँसुरी बनकर आए, शृंग होकर गायों और देवों के साथ इन्द्र जन्मे और माया द्वारा शरीर धारण करके साक्षात् हरि ही गोप के रूप में आये। उनका रहस्य जानना दुष्कर है। उनकी माया से सारा जगत् मोहित हुआ है।

दुर्जया सा सुरैः सर्वैर्धृष्टिरूपो भवेद्द्विजः।
रुद्रो येन कृतो वंशस्तस्य माया जगत्कथम् ॥11॥
बलं ज्ञानं सुराणां वै तेषां ज्ञानं हृतं क्षणात्।
शेषनागोभवेद्रामः कृष्णो ब्रह्मैव शाश्वतम् ॥12॥
अष्टावष्टसहस्रे द्वे शताधिक्यः स्त्रियस्तथा।
ऋचोपनिषदस्ता वै ब्रह्मरूपा ऋचः स्त्रियः ॥13॥
द्वेषश्चाणूरमल्लोऽयं मत्सरो मुष्टिको जयः।
दर्पः कुवलयापीडो गर्वो रक्षः खगो बकः ॥14॥

वह माया सभी देवों के द्वारा भी दुर्जय है, जिसने ब्रह्माजी को भी यष्टिरूप बना दिया और रुद्र को भी बाँसुरी का रूप दे दिया। उन प्रभु को यह जगत् कैसे जान सकता है ? भगवान् की माया ने देवों का बल और प्राण एक क्षण में हर लिया था। शेषनाग बलराम के रूप में और शाश्वत ब्रह्म ने कृष्ण के रूप में अवतार लिया (वे बलराम और कृष्ण बने।) भगवान् की सोलह हजार एक सौ आठ स्त्रियाँ वेद की ऋचाएँ और उपनिषदें ही हैं। अन्य स्त्रियाँ भी ब्रह्मरूप (वेदरूप) ऋचाएँ ही हैं। द्वेष चाणूर मल्ल हुआ, मत्सर ही अजय मुष्टिक हुआ, दर्प कुवलयापीड हुआ और गर्व पक्षीरूप में बक हुआ।

दया सा रोहिणी माता सत्यभामा धरेति वै।
अघासुरो महाव्याधिः कलिः कंसः स भूपतिः ॥15॥
शमो मित्रः सुदामा च सत्याक्रूरोद्धवो दमः।
यः शङ्खः स स्वयं विष्णुर्लक्ष्मीरूपो व्यवस्थितः ॥16॥
दुग्धसिन्धौ समुत्पन्नो मेघघोषस्तु संस्मृतः।
दुग्धोदधिः कृतस्तेन भग्नभाण्डो दधिग्रहे ॥17॥
क्रीडते बालको भूत्वा पूर्ववत्सुमहोदधौ।
संहारार्थं च शत्रूणां रक्षणाय च संस्थितः ॥18॥

दया रोहिणी माता बनकर आई। धरतीमाता सत्यभामा बनकर आई। महाव्याधि अघासुर और कलि कंस राजा हुए। शम सुदामा मित्र, सत्य अक्रूर और दम उद्धव हुए। जो शंख है, वह स्वयं विष्णु हैं और लक्ष्मी का भाई होने के नाते वह स्वयं लक्ष्मीरूप भी है। वह शंख क्षीरसागर से उत्पन्न हुआ है और मेघ जैसी उसकी आवाज कही गई है। भगवान् ने दही के ग्रहण के लिए दूध के मटके फोड़कर वहाँ क्षीरसागर को ही पैदा कर दिया था। और उसी क्षीर के महासागर में वे पहले की ही तरह अच्छी तरह क्रीड़ा कर रहे हैं। वे शत्रुओं के संहार के लिए और सज्जनों के रक्षण के लिए सदैव व्यवस्थित रहते हैं।

कृपार्थे सर्वभूतानां गोप्तारं धर्ममात्मजम्।
यत्स्रष्टुमीश्वरेणासीत्तच्चक्रं ब्रह्मरूपधृक् ॥19॥
जयन्तीसम्भवो वायुश्चमरो धर्मसंज्ञितः।
यस्यासौ ज्वलनाभासः खड्गरूपो महेश्वरः ॥20॥
कश्यपोलूखलः ख्यातो रज्जुर्माताऽदितिस्तथा।
चक्रं शङ्खं च संसिद्धिं बिन्दुं च सर्वमूर्धनि ॥21॥
यावन्ति देवरूपाणि वदन्ति विबुधा जनाः।
नमन्ति देवरूपेभ्य एवमादि न संशयः ॥22॥

सभी प्राणियों के ऊपर कृपा करने के लिए और अपने आत्मज जैसे धर्म की रक्षा करने वाले ही कृष्ण को जानना चाहिए। ईश्वर (महाकाल) के द्वारा जो चक्र उत्पन्न किया गया वही चक्र कृष्ण के हाथ में ब्रह्मरूप को धारण किए हुए शोभित हो रहा है। भगवान् के जन्मकाल में उत्पन्न हुआ यह वायु चँवर के रूप में बह रहा था वह धर्म ही का रूप था। यहाँ महेश्वर चमकते हुए अग्नि जैसे खड्ग के रूप में आए हैं। काश्यप उलूखल के रूप में प्रतिष्ठित हुए हैं, अदिति रस्सी बनी हैं। जिस भगवान् के शंख और चक्र जैसे आयुध रहते हैं और सब प्राणियों के मस्तक में सहस्रारचक्र में निर्विकल्परूप

सिद्धि को और तुरीयसाक्षात्काररूप बिन्दु को योगीजन प्राप्त करते हैं। वह भगवान् सर्वात्मभाव से रहते हैं। जितने-जितने देवरूपों के बारे में ज्ञानीजन बातें कहते हैं, और जिन्हें लोग देव समझकर नमन करते हैं, वे सब भगवान् श्रीकृष्ण का ही अवलम्बन कर रहे हैं, इसमें कोई संशय नहीं है।

गदा च कालिका साक्षात्सर्वशत्रुनिबर्हिणी।
धनुः शार्ङ्गंस्वमाया च शरत्कालः सुभोजनः ॥23॥
अब्जकाण्डं जगद्बीजं धृतं पाणौ स्वलीलया।
गरुडो वटभाण्डीरः सुदामा नारदो मुनिः ॥24॥
वृन्दा भक्तिः क्रिया बुद्धिः सर्वजन्तुप्रकाशिनी।
तस्मान्न भिन्नं नाभिन्नमाभिर्भिन्नो न वै विभुः ॥25॥
भूमावुत्तारितं सर्वं वैकुण्ठं स्वर्गवासिनाम् ॥26॥
सर्वतीर्थफलं लभते य एवं वेद।
देहबन्धाद्विमुच्यते इत्युपनिषत् ॥27॥

इति कृष्णोपनिषत्समाप्ता।
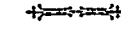
सर्व शत्रुओं को मारने वाली कालिका ही गदा हुई है। स्वमाया शार्ङ्ग के रूप में प्रकट हुई है। और सर्वभक्षक काल ही बाण बनकर आया है। विश्व का बीज ही भगवान् के हाथ का कमल है, जिसको भगवान् अपने हाथ में लीलापूर्वक धारण करते हैं। गरुड ने ही भाण्डीरवट का रूप धारण किया है। नारद मुनि ही सुदामा बनकर आए हैं। वृन्दा भक्ति का रूप है और सभी प्राणियों की प्रकाशक बुद्धि ही भगवान् की क्रिया है। इसलिए इन गोप-गोपिकाओं से भगवान् भिन्न नहीं हैं और व्यापक प्रभु परमात्मा से वे भी अलग नहीं हैं। भगवान् ने स्वर्गवासियों को और वैकुण्ठ को भूमि पर उतार दिया। जो इस प्रकार जानता है, वह सभी प्रकार का फल प्राप्त कर लेता है। और देह के बन्धनों से मुक्त हो जाता है। ऐसा यह उपनिषत् कहती है।

इस प्रकार कृष्णोपनिषत् समाप्त होती है।

शान्तिपाठः

ॐ भद्रं कर्णेभिः——**देवहितं यदायुः।** (पूर्ववत्)
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

(100) याज्ञवल्क्योपनिषत्

(उपनिषत्परिचय)

इस शुक्लयजुर्वेदीय उपनिषद् में राजा जनक और याज्ञवल्क्य के संवाद द्वारा संन्यासधर्म का विशद विवेचन किया गया है। इसमें आहिताग्नि संन्यास विधि, निरग्निक संन्यासविधि, ब्राह्मण का ही संन्यास में अधिकार, संन्यास में अनधिकृत लोगों का कर्तव्यनिरूपण, पारमहंस्यपूग की सर्वोत्कृष्टता, साम्बर परमहंस का लक्षण, दिगम्बरपरमहंस का लक्षण, संन्यासी का परमेश्वरत्व, स्त्री आदि की निन्दा और अच्छे यति का लक्षण आदि विषयों की चर्चा की गई है।

शान्तिपाठः

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं—देवहितं यदायुः। (पूर्ववत्)
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः॥

इसका हिन्दी रूपान्तर पूर्व में (पैंगलोपनिषत् में) द्रष्टव्य है।

अथ जनको ह वैदेहो याज्ञवल्क्यमुपसमेत्योवाच भगवन्संन्यासमनुब्रूहीति। स होवाच याज्ञवल्क्यो ब्रह्मचर्यं समाप्य गृही भवेत्। गृही भूत्वा वनी भवेत् वनी भूत्वा प्रव्रजेत्। यदि वेतरथा ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजेद्गृहाद्वा वनाद्वा। अथ पुनर्व्रती वाऽव्रती वा स्नातको वाऽस्नातको वा उत्सन्नाग्निरनग्निको वा यदहरेव विरजेत्तदहरेव प्रव्रजेत्॥1॥

अब वैदेह राजा जनक याज्ञवल्क्य के सम्मुख जाकर बोले—'हे भगवन्! मुझे संन्यासधर्म बताइए।' तब याज्ञवल्क्य ने कहा—ब्रह्मचर्याश्रम को समाप्त करके गृहस्थाश्रमी बनना चाहिए। फिर गृहस्थाश्रमी से वानप्रस्थी होना चाहिए और वानप्रस्थ के बाद संन्यास लेना चाहिए। अथवा जितेन्द्रिय हो जाने पर ब्रह्मचर्य से या गृहस्थी से या वानप्रस्थ से भी संन्यास लेना चाहिए। वैराग्य हो जाने पर तो चाहे मनुष्य व्रती हो या अव्रती, स्नातक हो या न हो, अग्नि की सेवा-पूजा कर चुका हो या नहीं परन्तु जिस क्षण वैराग्य हो जाए, उसी क्षण संन्यास ले लेना चाहिए।

तदेके प्राजापत्यामेवेष्टिं कुर्वन्ति। अथवा न कुर्यादाग्नेय्यामेव कुर्यात्। अग्निर्हि प्राणः। प्राणमेवैतया करोति। त्रैधातवीयामेव कुर्यात्। एतयैव त्रयो धातवो यदुत सत्त्वं रजस्तम इति। अयं ते योनिर्ऋत्विजो यतो जातो अरोचथाः। तं जानन्नग्न आरोहाथा नो वर्धया रयिमित्यनेन मन्त्रेणाग्निमाजिघ्रेत्। एष वा अग्नेर्योनिर्यः प्राणं गच्छ स्वां योनिं गच्छ स्वाहेत्येवमेवैतदाह॥2॥

कुछ लोग इसके बाद प्राजापत्य इष्टि करते हैं। अथवा फिर इस यज्ञ को न करके आग्नेय यज्ञ ही कर ले। क्योंकि अग्नि ही प्राण है। इस यज्ञ से प्राण की ही पुष्टि होती है। अथवा सत्त्व-रजस्-

तमस्—इन त्रिधातुओं के सम्बन्धयुक्त यज्ञ करे। तब इस मंत्र से अग्नि का आघ्राण करे—"हे अग्निदेव! जिस मूल कारण से आप उत्पन्न होकर प्रकाशित हो रहे हैं, उसे जानकर आप अत्यन्त प्रज्वलित हों और हमारे ऐश्वर्य को बढ़ाएँ। अग्नि का मूलकारण यही प्राण है, अतः हे अग्निदेव, आप अपने उद्भव-स्थान प्राण में प्रतिष्ठित हो जाएँ।"

ग्रामादग्निमाहृत्य पूर्ववदग्निमाजिघ्रेत्। यदग्निं न विन्देदप्सु जुहुयादापो वै सर्वा देवताः सर्वाभ्यो देवताभ्यो जुहोमि स्वाहेति हुत्वोद्धृत्य प्राश्नीयात् साज्यं हविरनामयम्। मोक्षमन्त्रैस्त्रय्येवं वेद तद्ब्रह्म तदुपासितव्यम्। शिखां यज्ञोपवीतं छित्त्वा संन्यस्तं मयेति त्रिवारमुच्चरेत्। एवमेवैतद्भगवन्निति वै याज्ञवल्क्यः॥3॥

गाँव से अग्नि लाकर पहले की तरह उसका आघ्राण करना चाहिए। यदि अग्नि न मिले तो जल में ही यज्ञ करना चाहिए क्योंकि जल सर्वदेवतामय है। 'मैं सभी देवताओं के लिए होम कर रहा हूँ स्वाहा'—इस प्रकार होम करके उसे खा लेना चाहिए। घी वाला वह हवि नीरोग होता है। फिर मोक्षमंत्रों के द्वारा वेदत्रयी की प्राप्ति करनी चाहिए। वही ब्रह्म है, उसकी उपासना करनी चाहिए। फिर शिखा और यज्ञोपवीत को काटकर, 'मैंने संन्यास लिया है'—ऐसा तीन बार बोलना चाहिए। 'हे जनक, यह विधि ऐसी है'—ऐसा याज्ञवल्क्य ने (जनक से) कहा।

अथ हैनमत्रिः पप्रच्छ याज्ञवल्क्यं अयज्ञोपवीती कथं ब्राह्मण इति। स होवाच याज्ञवल्क्य इदं प्रणवमेवास्य तद्यज्ञोपवीतं य आत्मा। प्राश्याचम्यायं विधिः॥4॥

बाद में याज्ञवल्क्य से अत्रि ने पूछा—'ब्राह्मण यज्ञोपवीत के बिना कैसे रह सकता है'? तब याज्ञवल्क्य ने कहा—संन्यासी का यज्ञोपवीत प्रणव ही है। वह ॐ ही आत्मा है। जिसने पूर्वोक्त प्रकार से हवन करके प्राशन कर लिया है, उसके लिए यही मात्र विधि है।

अथ वा परिव्राड्विवर्णवासा मुण्डोऽपरिग्रहः शुचिरद्रोही भैक्षमाणो ब्रह्मभूयाय भवति! एष पन्थाः परिव्राजकानां वीराध्वाने वाऽनाशके वापां प्रवेशे वाग्निप्रवेशे वा महाप्रस्थाने वा। एष पन्था ब्रह्मणा हानुवित्तस्तेनेति स संन्यासी ब्रह्मविदिति। एवमेवैष भगवन्निति वै याज्ञवल्क्य॥5॥

अथवा वह परिव्राजक संन्यासी जो कि गेरुआ वस्त्रधारी, मुण्डित, अपरिग्रही, पवित्र, द्रोह न करने वाला, भिक्षाचारी होता है, वह ब्रह्मपद को प्राप्त होता ही है। अमर वीरगति, अग्निप्रवेश, जलप्रवेश, महाप्रस्थान आदि जो विधियाँ ब्रह्मप्राप्ति के लिए बताई गई हैं, उनमें से संन्यासियों के लिए यही (पूर्वोक्त) मार्ग बताया गया है। इसी कारण से वह परिव्राजक (संन्यासी) ब्रह्म का ज्ञाता है। हे जनक! यह विधि ऐसी ही है—ऐसा याज्ञवल्क्य ने कहा।

तत्र परमहंसा नाम संवर्तकारुणिश्वेतकेतुदुर्वासऋभुनिदाघदत्तात्रेयशुकवामदेवहारीतकप्रभृतयोऽव्यक्तलिङ्गाऽव्यक्ताचारा अनुन्मत्ता उन्मत्तवदाचरन्तः॥6॥

यहाँ इन संन्यासियों में 'परमहंस' संज्ञा वाले अव्यक्त चिह्न और अव्यक्त स्वभाव वाले, उन्मत्त न होते हुए भी उन्मत्त-सा आचरण करने वाले संवर्तक, आरुणि, श्वेतकेतु, दुर्वासा, ऋभु, निदाघ, दत्तात्रेय, शुक, वामदेव, हारीतक आदि के नाम लिए जा सकते हैं।

परस्त्रीपुरपराङ्मुखास्त्रिदण्डं कमण्डलुं भुक्तपात्रं जलपवित्रं शिखां यज्ञोपवीतं बहिरन्तश्चेत्येतत्सर्वं भूः स्वाहेत्यप्सु परित्यज्यात्मान-मन्विच्छेत् ॥7॥

संन्यासी को अन्य की स्त्रियों के प्रति विमुख होना चाहिए। उसे नगर में नहीं रहना चाहिए, त्रिदण्ड धारण करना चाहिए, कमण्डलु, भोजनपात्र, जलपवित्र, शिखा, यज्ञोपवीत—इन सभी बाहर के और प्रतीक चिह्नों को उसे 'भूः स्वाहा'—ऐसा कहकर जल में छोड़ देना चाहिए और निरन्तर आत्मानुसन्धान ही करते रहना चाहिए।

यथा जातरूपधरा निर्द्वन्द्वा निष्परिग्रहास्तत्त्वब्रह्ममार्गे सम्यक्संपन्नाः शुद्धमानसाः प्राणसंधारणार्थं यथोक्तकाले विमुक्तो भैक्षमाचरन्नुदर-पात्रेण लाभालाभौ समौ भूत्वा करपात्रेण वा कमण्डलूदकपो भैक्षमाच-रन्नुदरमात्रसंग्रहः पात्रान्तरशून्यो जलस्थलकमण्डलुरबाधकरहः स्थल-निकेतनो लाभालाभौ समौ भूत्वा शून्यागार-देवगृहतृणकूट-वल्मीक-वृक्षमूलकुलालशालाग्निहोत्र-शालानदीपुलिनगिरि-कुहरकोटर-कन्दर-निर्झर-स्थण्डिलेष्वनिकेतनिवास्यप्रयत्नः शुभाशुभकर्मनिर्मूलनपरः संन्यासेन देहत्यागं करोति स परमहंसो नामेति ॥8॥

तुरन्त जन्मे हुए बच्चे जैसे निर्वस्त्र, सुख-दुःखादि द्वन्द्वों से रहित, परिग्रहरहित, ब्रह्मतत्त्व की प्राप्ति के मार्ग में अच्छी तरह लगे हुए, शुद्ध मनवाले, केवल प्राणधारण के लिए यथासमय स्वेच्छा से भिक्षा माँगने वाले, उदर को ही पात्ररूप में रखने वाले, लाभ-हानि को समान मानने वाले, करपात्र या खप्पर में माँगकर खाने वाले, कमण्डलु का जल पीकर आनंद में रहने वाले और विचरण करने वाले ये परमहंस होते हैं। वे उदरपूर्ति जितना ही माँगते हैं। वे बाधारहित एकान्त स्थल में रहते हैं, लाभ-हानि को समान मानते हैं, और खाली खण्डहर, देवमन्दिर, घास की झोंपड़ी, वल्मीक, वृक्षमूल, कुम्हार का घर, यज्ञशाला, नदीतट, गुफा, या झरनों के बड़े-बड़े पत्थर—इन्हीं स्थानों में रहते हुए वे अपना घर कहीं नहीं बनाते और अपने अच्छे-बुरे सभी कर्मों को निर्मूल करते हुए वे संन्यास से देहत्याग कर देते हैं। ऐसे वे परमहंस होते हैं।

आशाम्बरो न नमस्कारो न दारपुत्राभिलाषी लक्ष्यालक्ष्यनिर्वर्तकः परिवाट् परमेश्वरो भवति। अत्रैते श्लोका भवन्ति ॥9॥

वह परमहंस दिशाओंरूपी वस्त्रों को धारण करता हुआ, किसी को नमस्कार योग्य न समझता हुआ, स्त्री-पुत्रादि की अभिलाषा न करता हुआ, लक्ष्य और अलक्ष्य—दोनों का त्याग करता हुआ, संन्यासी होता है—अर्थात् वही परमेश्वर हो जाता है। इसके विषय में ये श्लोक कहे गए हैं—

यो भवेत्पूर्वसंन्यासी तुल्यो वै धर्मतो यदि।
तस्मै प्रणामः कर्तव्यो नेतराय कदाचन ॥10॥
प्रमादिनो बहिश्चित्ताः पिशुनाः कलहोत्सुकाः।

संन्यासिनोऽपि दृश्यन्ते वेदसंदूषिताशयाः ॥11॥
नामादिभ्यः परे भूम्नि स्वाराज्ये चेत्स्थितोऽद्वये।
प्रणमेत्कं तदात्मज्ञो न कार्यं कर्मणा तदा ॥12॥
ईश्वरो जीवकलया प्रविष्टो भगवानिति।
प्रणमेद्दण्डवद्भूमावाश्वचण्डालगोखरम् ॥13॥

जो मनुष्य अपने से पहले संन्यासी हो चुका हो, और जो अपने तुल्य धर्म वाला हो—तो ऐसे इन दोनों को ही नमस्कार करना चाहिए—अन्य को नहीं। प्रमादी, बहिर्मुखी, विषयासक्त, नीच, कलहप्रिय और वेद के विचारों को दोषपूर्ण बताने वाले संन्यासी भी देखे जाते हैं। नाम, धाम, काम और अवस्थाओं से परे, उच्चतम स्थान पर प्रतिष्ठित, अद्वय के साम्राज्य में अवस्थित, स्थिर बुद्धि वाला, आत्मतत्त्व में प्रतिष्ठित संन्यासी भला कैसे किसी को प्रणाम करेगा? क्योंकि सभी को आत्मस्वरूप देखने वाले उसके लिए तो संसार में कोई भी कार्य शेष नहीं रहा है। अथवा तो वह जीवमात्र में ईश्वर को समझकर घोड़े, चाण्डाल, गाय और गधे को भी दंडवत् प्रणाम कर लेता है।

मांसपाञ्चालिकायास्तु यन्त्रलोकेऽङ्गपञ्जरे।
स्नाय्वस्थिग्रन्थिशालिन्याः स्त्रियाः किमिव शोभनम् ॥14॥
त्वङ्मांसरक्तवाष्पाम्बु पृथक्कृत्वा विलोचने।
समालोकय रम्यं चेत्किं मुधा परिमुह्यसि ॥15॥
मेरुशृङ्गतटोल्लासिगङ्गाजलरयोपमा।
दृष्टा यस्मिन्मुने मुक्ताहारस्योल्लासशालिता ॥16॥
श्मशानेषु दिगन्तेषु स एव ललनास्तनः।
श्वभिरास्वाद्यते काले लघुपिण्ड इवान्धसः ॥17॥

मांस और मेद आदि के द्वारा रचे गए यंत्र जैसे हड्डियों के पंजर रूप नारी के देह में नसें, हड्डियाँ और ग्रन्थियाँ ही भरी हुई हैं। उसमें कौन सी वस्तु शोभनीय है? इस नारी की त्वचा, मांस, लहू, अश्रु, आदि को अलग-अलग करके देख लो। क्या वे शोभनीय लगते हैं? यदि नहीं, तो फिर क्यों उसके ऊपर मिथ्या ही इतने मुग्ध होते जा रहे हो? जिसके स्तनों पर लटकते हार को मेरुशिखरों के बीच बहती हुई गंगानदी के जल की उपमा दी गई है और वैसे ही वह हार दीख भी रहा है, परन्तु, श्मशानों में या यहीं-कहीं उसी नारी का कटा हुआ स्तन समय आने पर कुत्तों के द्वारा इस तरह खाया जाता है कि जैसे खाद्य पदार्थ का एक सामान्य टुकड़ा हो।

केशकज्जलधारिण्यो दुःस्पर्शा लोचनप्रियाः।
दुष्कृताग्निशिखा नार्यो दहन्ति तृणवन्नरम् ॥18॥
ज्वलिता अतिदूरेऽपि सरसा अपि नीरसाः।
स्त्रियो हि नरकाग्नीनामिन्धनं चारु दारुणम् ॥19॥
कामनाम्ना किरातेन विकीर्णा मुग्धचेतसः।
नार्यो नरविहङ्गानामङ्गबन्धनवागुराः ॥20॥
जन्मपल्वलमत्स्यानां चित्तकर्दमचारिणाम्।
पुंसां दुर्वासनारज्जुर्नारी बडिशपिण्डिका ॥21॥

सर्वेषां दोषरत्नानां सुसमुद्गिकयानया ।
दुःखशृङ्खलया नित्यमलमस्तु मम स्त्रिया ॥22॥

केशकलापों और नेत्रकज्जलों को धारण करने वाली, दुष्प्राप्य स्पर्शवाली, आँखों को प्रिय लगने वाली ये स्त्रियाँ तो जलती हुई आग की ज्वालाओं के समान हैं। वे पुरुष को घास के तिनके की तरह क्षणभर में जला देती हैं। ये स्त्रियाँ दूर से ही जला देने वाली, अत्यन्त रसमय दीखने पर भी रसहीन कर देने वाली, नरकाग्नि की लकड़ियाँ हैं, जो लकड़ियाँ सुन्दर दीखने पर भी सही रूप में दारुण होती हैं। काम नाम के पारधि ने मानवरूपी पक्षियों को पकड़ने के लिए हृदय को मुग्ध कर देने वाला स्त्री-रूपी जाल बिछा रखा है। जन्म के बावड़ी में बसती हुई और चित्त के कीचड़ में घूमती हुई पुरुषरूपी मछलियों के लिए दुर्वासनारूपी रस्सी से बँधी हुई ये स्त्रियाँ मछली पकड़ने के काँटे के समान हैं। सर्वतः दोषरत्नों की पिटारी रूप तथा दुःखों की जंजीररूप इस स्त्री से तो भगवान् ही बचाए।

यस्य स्त्री तस्य भोगेच्छा निःस्त्रीकस्य क्व भोगभूः ।
स्त्रियं त्यक्त्वा जगत्त्यक्तं जगत्त्यक्त्वा सुखी भवेत् ॥23॥
अलभ्यमानस्तनयः पितरौ क्लेशयेच्चिरम् ।
लब्धो हि गर्भपातेन प्रसवेन च बाधते ॥24॥
जातस्य ग्रहरोगादि कुमारस्य च धूर्तता ।
उपनीतेऽप्यविद्यत्वमनुद्वाहश्च पण्डिते ॥25॥
यूनश्च परदारादि दारिद्र्यं च कुटुम्बिनः ।
पुत्रदुःखस्य नास्त्यन्तो धनी चेन्म्रियते तदा ॥26॥

जिसकी स्त्री होती है, उसे भोग की इच्छा होती है, जिसकी स्त्री है ही नहीं, उसको भोग की इच्छा का प्रश्न ही नहीं रहता। एक स्त्री को छोड़ा तो जगत् पूरा छूट जाता है, और जगत् से छुटकारा पाकर मनुष्य सुखी होता है। पुत्र जब नहीं होता, तो माता-पिता को कष्ट होता है, अगर होता है तो गर्भपात या प्रसव की पीड़ा आ जाती है। अगर वह जन्मा, तो ग्रह या रोग आदि होता है, वह कुमारावस्था में आया तो बड़ा धूर्त निकल आता है। यदि उसको यज्ञोपवीत भी दिया गया तो वह विद्या नहीं पढ़ सकता और यदि विद्या पढ़कर पण्डित हुआ तो उसका विवाह दुष्कर बन जाता है। अगर वह युवान हुआ तो परस्त्री का फन्दा होता है और विवाह हुआ तो कुटुम्ब की गरीबी होती है, और अगर धनी भी हो जाता है तो मर जाता है। पुत्र के दुःखों का तो कोई अंत नहीं है।

न पाणिपादचपलो न नेत्रचपलो यतिः ।
न च वाक्चपलश्चैव ब्रह्मभूतो जितेन्द्रियः ॥27॥
रिपौ बद्धे स्वदेहे च समैकात्म्यं प्रपश्यतः ।
विवेकिनः कुतः कोपः स्वदेहावयवेष्विव ॥28॥
अपकारिणि कोपश्चेत्कोपे कोपः कथं न ते ।
धर्मार्थकाममोक्षाणां प्रसह्य परिपन्थिनि ॥29॥
नमोऽस्तु मम कोपाय स्वाश्रयज्वालिने भृशम् ।
कोपस्य मम वैराग्यदायिने दोषबोधिने ॥30॥

इस यति के हाथ और पैर चंचल नहीं होते और न उसकी आँखें ही चपल होती हैं। उसकी वाणी भी चपल नहीं होती। वह जितेन्द्रिय और ब्रह्मभूत ही होता है। सामने बँधे हुए शत्रु में और अपने देह

में एकात्मता को देखने वाले उस विवेकी को अपने देह के अवयवों की तरह उस शत्रु के शरीर पर भी कोप कैसे हो सकता है ? यदि तुम्हें अपने अपकारी के ऊपर कोप होता है, तो अपने कोप के ऊपर कोप क्यों नहीं आता ? क्योंकि वह क्रोध तो धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष—इन चारों पुरुषार्थों का बहुत विरोधी है। अपने आधार को ही एकदम जला देने वाले मेरे क्रोध को नमस्कार हो। मुझे वैराग्य देने वाले और मेरे दोषों को बताने वाले मेरे क्रोध को नमस्कार।

यत्र सुप्ता जना नित्यं प्रबुद्धस्तत्र संयमी ।
प्रबुद्धा यत्र ते विद्वान्सुषुप्तिं याति योगिराट् ॥31॥
चिदिहास्तीति चिन्मात्रमिदं चिन्मयमेव च ।
चित्त्वं चिदहमेते च लोकाश्चिदिति भावय ॥32॥
यतीनां तदुपादेयं पारहंस्यं परं पदम् ।
नातः परतरं किञ्चिद्विद्यते मुनिपुङ्गव ॥33॥ इत्युपनिषत् ।

इति याज्ञवल्क्योपनिषत्समाप्ता ।
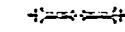
जहाँ साधारण जन सोते हैं, वहाँ योगी (संयमी) सदा जागता है। और जहाँ लोग जागते हैं, वहाँ यह ब्रह्मज्ञ योगीराज सुषुप्ति को प्राप्त होता है। यहाँ चित् ही है, सब चिन्मात्र ही है, सब चिन्मय ही है, सब चित् ही चित् है, मैं भी चित् हूँ, ये सब लोक भी चित् है, ऐसी भावना करो। यतियों के लिए यह 'पारमहंस्यपद' ही उपादेय है। हे मुनिश्रेष्ठ ! इससे परे कुछ भी नहीं है।

इस प्रकार याज्ञवल्क्योपनिषत् समाप्त होती है।

शान्तिपाठः

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं·····पूर्णमेवावशिष्यते । (पूर्ववत्)
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

❋

(101) वराहोपनिषत्

(उपनिषत्परिचय)

यह कृष्णयजुर्वेदीय उपनिषत् है। इसमें वराह भगवान् ने ऋभु को ब्रह्मविद्या का उपदेश दिया है। इसके पाँच बड़े अध्याय हैं। पहले अध्याय में तत्त्वों की संख्या के बारे में मतवैविध्य बताकर तत्त्वातीत भगवद्बुद्धि ही करणीय है, ऐसा बताकर उस बुद्धि का फल बताया है। दूसरे में साधनचतुष्टय, आत्मा का स्वरूप, आत्मज्ञानी की स्थिति, अज्ञानी और ज्ञानी का स्थिति वैलक्षण्य, आत्मानुसन्धान, जीवन्मुक्ति आदि विषय दिए गए हैं। तीसरे में चिन्मात्रभाव की प्राप्ति, भगवद्भक्ति का मोक्ष साधनत्व आदि विषय दिए हैं। चौथे में सात भूमिकाएँ प्रणव की अकारादि की विकृति के चार प्रकार, चार प्रकार के जीवन्मुक्त बताए गए हैं। पाँचवें में योग की बातें—अष्टांग योग, बन्ध, नाड़ी आदि की बहुत सी बातों का संग्रह किया है।

शान्तिपाठः

ॐ सह नाववतु। सह नौ—मा विद्विषावहै। (पूर्ववत्)
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः॥

इसका हिन्दी रूपान्तर पूर्व में (शारीरकोपनिषद् में) द्रष्टव्य है।

प्रथमोऽध्यायः

हरिः ॐ। अथ ऋभुर्वै महामुनिर्देवमानेन द्वादशवत्सरं तपश्चचार। तदवसाने वराहरूपी भगवान्प्रादुरभूत्। स होवाचोत्तिष्ठोत्तिष्ठ वरं वृणीष्वेति। सोदतिष्ठत्। तस्मै नमस्कृत्योवाच भगवन्कामिभिर्यद्यत्कामितं तत्तत्त्वत्सकाशात्स्वप्नेऽपि न याचे। समस्तवेदशास्त्रेतिहासपुराणानि समस्तविद्याजालानि ब्रह्मादयः सुराः सर्वे त्वद्रूपज्ञानान्मुक्तिमाहुः। अतस्त्वद्रूपप्रतिपादिकां ब्रह्मविद्यां ब्रूहीति होवाच। तथेति स होवाच वराहरूपी भगवान्। चतुर्विंशतितत्त्वानि केचिदिच्छन्ति वादिनः। केचित्षट्त्रिंशत्तत्त्वानि केचित्षण्णवतीनि च॥1॥

हरिः ॐ। महामुनि ऋभु ने देवों की काल गणना के अनुसार, बारह वर्ष तक तपश्चर्या की। तपश्चर्या के अन्त में भगवान् वाराह स्वरूप में प्रकट हुए, और कहने लगे कि "उठो, उठो वरदान माँग लो।" तब ऋभु उठे। उन्होंने वराह भगवान् को नमस्कार करके कहा—"हे भगवन्! कामना वाले लोग जो-जो इच्छाएँ करते हैं, उनमें से कोई भी इच्छापूर्ति मैं आपके पास स्वप्न में भी नहीं माँगता। समस्त वेद, शास्त्र, पुराण, इतिहास और समग्र विद्याओं के समूह तथा ब्रह्मादि सभी देव भी कहते हैं कि आपके स्वरूपज्ञान से मुक्ति मिलती है। इसलिए आपके स्वरूपज्ञान का प्रतिपादन करने वाली ब्रह्मविद्या का मुझे उपदेश दीजिए।" जब ऋभु ने ऐसा कहा तब वराहरूपी भगवान्, 'बहुत अच्छा' ऐसा कह कर कहने लगे कि कुछ मतवादी चौबीस तत्त्व, कुछ छत्तीस तत्त्व और कुछ तो छियानबे तत्त्व मानते हैं।

**तेषां क्रमं प्रवक्ष्यामि सावधानमनाः शृणु।
ज्ञानेन्द्रियाणि पञ्चैव श्रोत्रत्वग्लोचनादयः॥2॥
कर्मेन्द्रियाणि पञ्चैव वाक्पाण्यङ्घ्र्यादयः क्रमात्।
प्राणादयस्तु पञ्चैव पञ्च शब्दादयस्तथा॥3॥
मनोबुद्धिरहंकारश्चित्तं चेति चतुष्टयम्।
चतुर्विंशतितत्त्वानि तानि ब्रह्मविदो विदुः॥4॥**

उनका क्रम मैं कह रहा हूँ। तुम सावधान होकर सुनो। श्रोत्र-त्वचा-नेत्र आदि पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, वाणी-हाथ-पैर आदि पाँच कर्मेन्द्रियाँ, प्राणापानादि पाँच प्राण, शब्द-स्पर्शादि पाँच तन्मात्राएँ तथा मन-बुद्धि-चित्त-अहंकार ये चार मिलकर चौबीस तत्त्व ब्रह्मवेत्ता जानते हैं।

**एतैस्तत्त्वैः समं पञ्चीकृतभूतानि पञ्च च।
पृथिव्यापस्तथा तेजो वायुराकाशमेव च॥5॥
देहत्रयं स्थूलसूक्ष्मकारणानि विदुर्बुधाः।
अवस्थात्रितयं चैव जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तयः॥6॥
आहत्य तत्त्वजातानां षट्त्रिंशन्मुनयो विदुः।
पूर्वोक्तैस्तत्त्वजातैस्तु समं तत्त्वानि योजयेत्॥7॥**

इन चौबीस तत्त्वों के साथ पंचीकृत पाँच भूत—पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश तथा स्थूल, सूक्ष्म और कारण—ये तीन देह, और जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति—ये तीन अवस्थाएँ, और एक आत्मा—इन तत्त्वों को कुछ बुद्धिमान लोग मिलाकर जानते हैं। उन सबको मिलाकर वे छत्तीस तत्त्व कहते हैं। और आगे भी उन छत्तीस तत्त्वों के साथ कुछ तत्त्व जोड़े जाते हैं। (कुछ लोग और भी तत्त्व जोड़ते हैं।)

**षड्भावविकृतिश्चास्ति जायते वर्धतेऽपि च।
परिणामं क्षयं नाशं षड्भावविकृतिं विदुः॥8॥
अशना च पिपासा च शोकमोहौ जरा मृतिः।
एते षडूर्मयः प्रोक्ताः षट्कोशानथ वच्मि ते॥9॥
त्वक्च रक्तं मांसमेदोमज्जास्थीनि निबोधत।
कामक्रोधौ लोभमोहौ मदो मात्सर्यमेव च॥10॥
एतेऽरिषड्वा विश्वश्च तैजसः प्राज्ञ एव च।
जीवत्रयं सत्त्वरजस्तमांसि च गुणत्रयम्॥11॥**

जन्मता है, बढ़ता है, परिणत होता है, क्षय होता है, नष्ट होता है—आदि छः भावविकार हैं। भूख, प्यास, शोक, मोह, जरा और मरण—ये छः ऊर्मियाँ हैं। अब मैं तुम्हें छः कोशों के बारे में कहता हूँ—त्वचा, रक्त, मांस, मेद, मज्जा और अस्थि—ये कोश जानने चाहिए। काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद और मात्सर्य—ये छः शत्रु हैं। विश्व, तैजस और प्राज्ञ—ये तीन जीव हैं। सत्त्व, रजस और तमस्—ये तीन गुण हैं।

**प्रारब्धागाम्यर्जितानि कर्मत्रयमितीरितम्।
वचनादानगमनविसर्गानन्दपञ्चकम्॥12॥**

सङ्कल्पोऽध्यवसायश्च अभिमानोऽवधारणा ।
मुदिता करुणा मैत्री उपेक्षा च चतुष्टयम् ॥13॥
दिग्वातार्कप्रचेतोऽश्विवह्नीन्द्रोपेन्द्रमृत्युकाः ।
तथा चन्द्रश्चतुर्वक्त्रो रुद्रः क्षेत्रज्ञ ईश्वरः ॥14॥
आहत्य तत्त्वजातानां षण्णवत्यस्तु कीर्तिताः ।
पूर्वोक्ततत्त्वजातानां वैलक्षण्यमनामयम् ॥15॥

प्रारब्ध, आगामी और संचित—ये तीन कर्म कहे जाते हैं। वचन ...
आनंद—ये पाँच और, तथा संकल्प ...

... प्रमाणरूप (पारमार्थिक ...)
... मुक्त हो जाता है। 'देहात्मज्ञान ...
... जिस पुरुष को हो जाता है, वह पुरुष न चाहे
देहात्माभाव का ज्ञान ... आनन्दरूप पूर्ण लक्षणयुक्त और अद्वितीय
हुए भी मुक्त हो जाता है। जो मनुष्य ... कर्मों से कैसे बँधेगा?
... ब्रह्मानन्द ...

त्रिधामसाक्षिणं सत्यज्ञानानन्दादिलक्षणम् ।
त्वमहंशब्दलक्ष्यार्थमसक्तं सर्वदोषतः ॥17॥
सर्वगं सच्चिदात्मानं ज्ञानचक्षुर्निरीक्षते ।
अज्ञानचक्षुर्नेक्षेत भास्वन्तं भानुमन्धवत् ॥18॥
प्रज्ञानमेव तद्ब्रह्म सत्यप्रज्ञानलक्षणम् ।
एवं ब्रह्मपरिज्ञानादेव मर्त्योऽमृतो भवेत् ॥19॥
तद्ब्रह्मानन्दमद्वन्द्वं निर्गुणं सत्यचिद्घनम् ।
विदित्वा स्वात्मनो रूपं न बिभेति कुतश्चन ॥20॥

तीन धामों (अवस्थाओं) का साक्षी, सत्य-ज्ञान-अनन्त आदि लक्षणवाला 'तू', 'मैं'—आदि शब्दों का लक्ष्यार्थरूप, सर्वदोषों से रहित, सर्वव्यापक और सच्चिदानन्दरूप आत्मा है। उसे ज्ञान दृष्टिवाला देख सकता है, पर अज्ञान दृष्टि वाला मनुष्य तो जैसे अन्धा प्रकाशित सूर्य को नहीं देख सकता, वैसे ही आत्मा को नहीं देख सकता। वह ब्रह्म उत्कृष्ट ज्ञानरूप ही है, एवं सत्य-श्रेष्ठ ज्ञान उसका लक्षण है। ऐसे ब्रह्म के ज्ञान से मनुष्य अमर हो जाता है। वह ब्रह्म आनन्दरूप, अद्वैत, निर्गुण, सत्य और चैतन्यमय आत्मा का स्वरूप है। उसे जान लेने के बाद मनुष्य किसी से भी नहीं डरता है।

चिन्मात्रं सर्वगं नित्यं सम्पूर्णं सुखमद्वयम् ।
साक्षाद्ब्रह्मैव नान्योऽस्तीत्येवं ब्रह्मविदां स्थितिः ॥21॥
अज्ञस्य दुःखौघमयं ज्ञस्यानन्दमयं जगत् ।
अन्धं भुवनमन्धस्य प्रकाशं तु सुचक्षुषाम् ॥22॥
अनन्ते सच्चिदानन्दे मयि वाराहरूपिणि ।
स्थितेऽद्वितीयभावः स्यात्को बन्धः कश्च मुच्यते ॥23॥
स्वस्वरूपं तु चिन्मात्रं सर्वदा सर्वदेहिनाम् ।
नैव देहादिसंघातो घटवद्दृशिगोचरः ॥24॥

वर्णाश्रमधर्म के पालन से, तप से और गुरु को प्रसन्न करने से मनुष्य को ...
होते हैं। जैसे—नित्य-अनित्य वस्तु विवेक, इहलोक तथा पर...
सम्पत्ति और मुमुक्षुता—इन चार साधनों का ...
जितेन्द्रिय होकर सर्वत्र ममताबुद्धि को ... (वराहरूपी भगवान्) ही
ऐसी बुद्धि करनी चाहिए ... भावना जब होती है, तब तो क्या बन्धन है और कौन मुक्त होता
... सभी प्राणियों का जो चैतन्य है, वही सही आत्मस्वरूप है, परन्तु घड़े की तरह
... होता हुआ यह देहादि समुदाय तो आत्मस्वरूप है ही नहीं।

स्वात्मनोऽन्यदिवाभातं चराचरमिदं जगत् ।
स्वात्ममात्रतया बुद्ध्वा तदस्मीति विभावय ॥25॥
स्वस्वरूपं स्वयं भुङ्क्ते नास्ति भोज्यं पृथक् स्वतः ।
अस्ति चेदस्तितारूपं ब्रह्मैवास्तित्वलक्षणम् ॥26॥
ब्रह्मविज्ञानसम्पन्नः प्रतीतमखिलं जगत् ।
पश्यन्नपि सदा नैव पश्यति स्वात्मनः पृथक् ॥27॥
मत्स्वरूपपरिज्ञानात्कर्मभिर्न स बध्यते ॥28॥

आत्मा से अलग-सा ही दिखाई देने वाला यह सचराचर (जडचेतनमय जगत्) पारमार्थिक रूप से तो केवल अपनी आत्मा ही है, ऐसा जानकर तुम्हें 'मैं ही जगत् रूप हूँ' ऐसा मानना चाहिए। आत्मा अपने स्वरूप को ही भोगता है (अपने स्वरूप को ही खाता है), अपने से अलग कोई भोग्य पदार्थ ही नहीं है। फिर भी अगर कोई 'है' तो वह अस्तित्व के रूप में ब्रह्म ही है। अस्तित्व (सत्ता) ही ब्रह्म का लक्षण है। ब्रह्मानुभव से युक्त हुआ मनुष्य दिखाई देने वाले इस सारे जगत् को देखता हुआ भी उसे अपने आत्मा से अलग तो देखता ही नहीं है। ऐसे मेरे स्वरूप का ज्ञान होने से मनुष्य कर्मों से बँधता नहीं है।

यः शरीरेन्द्रियादिभ्यो विहीनं सर्वसाक्षिणम् ।
परमार्थैकविज्ञानं सुखात्मानं स्वयंप्रभम् ॥29॥
स्वस्वरूपतया सर्वं वेद स्वानुभवेन यः ।
स धीरः स तु विज्ञेयः सोऽहं तत्त्वं ऋभो भव ॥30॥
अतः प्रपञ्चानुभव. सदा न हि स्वरूपबोधानुभवः सदा खलु ।
इति प्रपश्यन्परिपूर्णवेदनो न बन्धमुक्तो न च बद्ध एव तु ॥31॥
स्वस्वरूपानुसन्धानान्नृत्यन्तं सर्वसाक्षिणम् ।
मुहूर्तं चिन्तयेन्मां यः सर्वबन्धैः प्रमुच्यते ॥32॥

जो मनुष्य अपने आत्मा को शरीर-इन्द्रियादि से अलग, सर्वसाक्षी, पारमार्थिक, एकमात्र, विज्ञानस्वरूप, सुखमय और स्वयंप्रकाश मानता है, तथा सबको अपने अनुभव से आत्मरूप से जानता है, वह धीर है इसी को सहीरूप में 'मैं' जानना चाहिए। और हे ऋभु! तुम भी वही हो। इसी कारण से प्रपंच का अनुभव कभी है ही नहीं, पर स्वरूप ज्ञान का अनुभव तो सदैव है। इस प्रकार देखता हुआ मनुष्य परिपूर्ण ज्ञानी है, और इसलिए वह कभी बन्धन में नहीं पड़ता और बँधा हुआ भी नहीं रहता। स्वरूपानुसन्धान से नृत्य करते हुए जो मनुष्य मेरा एक क्षण भी (एक मुहूर्तकाल तक भी) चिन्तन करता है, वह सभी बन्धनों से मुक्त हो जाता है।

सङ्कल्पोऽध्यवसायश्च अभिमानोऽवधारणा ।
मुदिता करुणा मैत्री उपेक्षा च चतुष्टयम् ॥13॥
दिग्वातार्कप्रचेतोऽश्विवह्नीन्द्रोपेन्द्रमृत्युकाः ।
तथा चन्द्रश्चतुर्वक्त्रो रुद्रः क्षेत्रज्ञ ईश्वरः ॥14॥
आहत्य तत्त्वजातानां षण्णवत्यस्तु कीर्तिताः ।
पूर्वोक्ततत्त्वजातानां वैलक्षण्यमनामयम् ॥15॥

प्रारब्ध, आगामी और संचित—ये तीन कर्म कहे जाते हैं। वचन, आदान, गमन, विसर्ग और आनंद—ये पाँच और, तथा संकल्प, अध्यवसाय, अभिमान और अवधारणा—ये और अधिक चार तत्त्व तथा मुदिता, करुणा, मैत्री, उपेक्षा—ये और चार, एवं दिशा, वायु, सूर्य, वरुण, अश्विनी कुमार, अग्नि, इन्द्र, उपेन्द्र, मृत्यु, चन्द्र, ब्रह्मा, रुद्र, क्षेत्रज्ञ और ईश्वर—ये सब मिलकर छियानबें तत्त्व होते हैं। परन्तु इन पूर्वोक्त तत्त्वों से विलक्षण और निर्दोष तत्त्व भी एक है।

वराहरूपिणं मां ये भजन्ति मयि भक्तितः ।
विमुक्ताज्ञानतत्कार्या जीवन्मुक्ता भवन्ति ते ॥16॥
ये षण्णवतितत्त्वज्ञा यत्र कुत्राश्रमे रताः ।
जटी मुण्डी शिखी वापि मुच्यते नात्र संशयः ॥17॥

इति प्रथमोऽध्यायः ।

ऐसे विलक्षण निर्दोष तत्त्वरूप वराहरूपी मुझे जो लोग भक्तिपूर्वक भजते हैं, वे लोग अज्ञान और उसके कार्य से मुक्त होकर जीवन्मुक्त हो जाते हैं। जो लोग इन छियानबे तत्त्वों को जानते हैं, वे लोग चाहे किसी भी आश्रम में रहते हों, चाहे जटाधारी हों, चाहे मुण्डित हों, चाहे शिखाधारी हो फिर भी वे मुक्त हो ही जाते हैं, इसमें किसी प्रकार का सन्देह नहीं है।

यहाँ प्रथम अध्याय पूरा हुआ ।

❋

द्वितीयोऽध्यायः

ऋभुर्नाम महायोगी क्रोडरूपं रमापतिम् ।
वरिष्ठां ब्रह्मविद्यां त्वमधीहि भगवन्मम ।
एवं स पृष्टो भगवान्प्राह भक्तार्तिभञ्जनः ॥1॥
स्ववर्णाश्रमधर्मेण तपसा गुरुतोषणात् ।
साधनं प्रभवेत्पुंसां वैराग्यादिचतुष्टयम् ॥2॥
नित्यानित्यविवेकश्च इहामुत्र विरागता ।
शमादिषट्कसम्पत्तिर्मुमुक्षा तां समभ्यसेत् ॥3॥
एवं जितेन्द्रियो भूत्वा सर्वत्र ममतामतिम् ।
विहाय साक्षिचैतन्ये मयि कुर्यादहंमतिम् ॥4॥

ऋभु नाम के महायोगी ने वराहरूपी लक्ष्मीपति भगवान् ने कहा—'हे भगवन् ! आप मुझे श्रेष्ठ ब्रह्मविद्या पढ़ाइए।'' जब उन्होंने ऐसा कहा तब भक्तों की पीड़ाओं के भंजक भगवान् बोले—अपने

वर्णाश्रमधर्म के पालन से, तप से और गुरु को प्रसन्न करने से मनुष्य को वैराग्य आदि चार साधन प्राप्त होते हैं। जैसे—नित्य-अनित्य वस्तु विवेक, इहलोक तथा परलोक के प्रति वैराग्य, शमदमादि षट्क सम्पत्ति और मुमुक्षुता—इन चार साधनों का अभ्यास करना चाहिए। इस तरह अभ्यास करते-करते जितेन्द्रिय होकर सर्वत्र ममताबुद्धि को छोड़कर, साक्षीरूप चैतन्य के ऊपर ही (मेरे ऊपर ही) 'मैं'—ऐसी बुद्धि करनी चाहिए।

दुर्लभं प्राप्य मानुष्यं तत्रापि नरविग्रहम् ।
ब्राह्मण्यं च महाविष्णोर्वेदान्तश्रवणादिना ॥5॥
अतिवर्णाश्रमं रूपं सच्चिदानन्दलक्षणम् ।
यो न जानाति सोऽविद्वान्कदा मुक्तो भविष्यति ॥6॥
अहमेव सुखं नान्यदन्यच्चेन्नैव तत्सुखम् ।
अमदर्थं न हि प्रेयो मदर्थं न स्वतःप्रियम् ॥7॥
परप्रेमास्पदतया मा न भूवमहं सदा ।
भूयासमिति यो द्रष्टा सोऽहं विष्णुर्मुनीश्वर ॥8॥

मनुष्यत्व दुर्लभ है, और उसमें भी पुरुष का शरीर और ब्राह्मणत्व तो और भी दुर्लभ है। उसको प्राप्त करने के बाद वेदान्त का श्रवण आदि करना चाहिए। परन्तु बाद में वर्णाश्रम से परे जो सच्चिदानन्दस्वरूप विष्णु को मनुष्य नहीं जानता, वह मूर्ख भला कब मुक्त हो सकेगा ? हे मुनीश्वर ! मैं ही सुखरूप हूँ, दूसरा कोई नहीं है। और अगर कोई दूसरा है, तो वह सुख है ही नहीं। जो वस्तु मेरे लिए नहीं है, वह किसी को प्रिय नहीं हो सकती, और जो मेरे लिए है, वह किसी मनुष्य को अपने लिए प्रिय नहीं होती (मेरे—आत्मा के लिए ही प्रिय होती है)। इस प्रकार परमप्रेम का स्थान मैं कभी न था ऐसा नहीं है 'मैं सदाकाल ही परमप्रेमास्पद हूँ एवं रहूँगा भी'—ऐसा जो जानता है, वह स्वयं विष्णुरूप (मेरा ही स्वरूप) होता है।

न प्रकाशोऽहमित्युक्तिर्यत्प्रकाशैकबन्धना ।
स्वप्रकाशं तमात्मानमप्रकाशः कथं स्पृशेत् ॥9॥
स्वयं भातं निराधारं ये जानन्ति सुनिश्चितम् ।
ते हि विज्ञानसम्पन्ना इति मे निश्चिता मतिः ॥10॥
स्वपूर्णात्मातिरेकेण जगज्जीवेश्वरादयः ।
न सन्ति नास्ति माया च तेभ्यश्चाहं विलक्षणः ॥11॥
अज्ञानान्धतमोरूपं कर्मधर्मादिलक्षणम् ।
स्वयंप्रकाशमात्मानं नैव मां स्प्रष्टुमर्हति ॥12॥

'मैं प्रकाशरूप नहीं हूँ'—ऐसा (नकारात्मक) कथन भी प्रकाश के ही एक कारण से किया जा सकता है (प्रकाश के अभाव में ऐसा कथन भी कैसे किया जा सकता है ?) तो उस स्वयंप्रकाश आत्मा को प्रकाशहीन किस प्रकार मनुष्य के द्वारा अनुभूत किया जा सकता है ? जो लोग स्वयंप्रकाशित, निराधार और अतिनिश्चित ऐसे आत्मास्वरूप को जानते हैं, वे ही विज्ञानसम्पन्न हैं, ऐसा मेरा निश्चित मत है। अपने पूर्ण आत्मा के अतिरिक्त जगत्, जीव और ईश्वर आदि नहीं हैं, और माया भी नहीं है, और 'मैं उनसे विलक्षण हूँ'—ऐसा समझना ही ज्ञान है। कर्म-धर्मादि लक्षणयुक्त और अज्ञानरूप अंधकारमय तमस् का रूप स्वयंप्रकाश आत्मा को (मुझको) स्पर्श करने के लिए योग्य नहीं है।

सर्वसाक्षिणमात्मानं वर्णाश्रमविवर्जितम् ।
ब्रह्मरूपतया पश्यन्ब्रह्मैव भवति स्वयम् ॥13॥
भासमानमिदं सर्वं मानरूपं परं पदम् ।
पश्यन्वेदान्तमानेन सद्य एव विमुच्यते ॥14॥
देहात्मज्ञानवज्ज्ञानं देहात्मज्ञानबाधकम् ।
आत्मन्येव भवेद्यस्य स नेच्छन्नपि मुच्यते ॥15॥
सत्यज्ञानानन्दपूर्णलक्षणं तमसःपरम् ।
ब्रह्मानन्दं सदा पश्यन्कथं बध्येत् कर्मणा ॥16॥

सबके साक्षीरूप आत्मा को वर्णाश्रम से परे ब्रह्मस्वरूप में ही देखने वाला मनुष्य स्वयं ब्रह्म ही हो जाता है। 'यह सब जो कुछ दिखाई दे रहा है, वह प्रमाणरूप (पारमार्थिक रूप) से परमपद ही है'—ऐसा वेदान्त के प्रमाण से देखने वाला मनुष्य तुरन्त ही मुक्त हो जाता है। 'देहात्मज्ञान' के बदले 'देहात्माभाव का ज्ञान' (देहात्मभाव का बाधक ज्ञान) जिस पुरुष को हो जाता है, वह पुरुष न चाहते हुए भी मुक्त हो जाता है। जो मनुष्य सत्य, ज्ञान और आनन्दरूप पूर्ण लक्षणयुक्त और अज्ञानान्धकार से सदैव परे रहने वाले ब्रह्मानन्द को सदा देखता है, वह कर्मों से कैसे बँधेगा ?

त्रिधामसाक्षिणं सत्यज्ञानानन्दादिलक्षणम् ।
त्वमहंशब्दलक्ष्यार्थमसक्तं सर्वदोषतः ॥17॥
सर्वगं सच्चिदात्मानं ज्ञानचक्षुर्निरीक्षते ।
अज्ञानचक्षुर्नेक्षेत भास्वन्तं भानुमन्धवत् ॥18॥
प्रज्ञानमेव तद्ब्रह्म सत्यप्रज्ञानलक्षणम् ।
एवं ब्रह्मपरिज्ञानादेव मर्त्योऽमृतो भवेत् ॥19॥
तद्ब्रह्मानन्दमद्वन्द्वं निर्गुणं सत्यचिद्घनम् ।
विदित्वा स्वात्मनो रूपं न बिभेति कुतश्चन ॥20॥

तीन धामों (अवस्थाओं) का साक्षी, सत्य-ज्ञान-अनन्त आदि लक्षणवाला 'तू', 'मैं'—आदि शब्दों का लक्ष्यार्थरूप, सर्वदोषों से रहित, सर्वव्यापक और सच्चिदानन्दरूप आत्मा है। उसे ज्ञान दृष्टिवाला देख सकता है, पर अज्ञान दृष्टि वाला मनुष्य तो जैसे अन्धा प्रकाशित सूर्य को नहीं देख सकता, वैसे ही आत्मा को नहीं देख सकता। वह ब्रह्म उत्कृष्ट ज्ञानरूप ही है, एवं सत्य-श्रेष्ठ ज्ञान उसका लक्षण है। ऐसे ब्रह्म के ज्ञान से मनुष्य अमर हो जाता है। वह ब्रह्म आनन्दरूप, अद्वैत, निर्गुण, सत्य और चैतन्यमय आत्मा का स्वरूप है। उसे जान लेने के बाद मनुष्य किसी से भी नहीं डरता है।

चिन्मात्रं सर्वगं नित्यं सम्पूर्णं सुखमद्वयम् ।
साक्षाद्ब्रह्मैव नान्योऽस्तीत्येवं ब्रह्मविदां स्थितिः ॥21॥
अज्ञस्य दुःखौघमयं ज्ञस्यानन्दमयं जगत् ।
अन्धं भुवनमन्धस्य प्रकाशं तु सुचक्षुषाम् ॥22॥
अनन्ते सच्चिदानन्दे मयि वाराहरूपिणि ।
स्थितेऽद्वितीयभावः स्यात्को बन्धः कश्च मुच्यते ॥23॥
स्वस्वरूपं तु चिन्मात्रं सर्वदा सर्वदेहिनाम् ।
नैव देहादिसंघातो घटवद्दृशिगोचरः ॥24॥

केवल चैतन्यरूप, सर्वव्यापक, नित्य, संपूर्ण, सुखमय, अद्वैत साक्षात् ब्रह्म ही है और दूसरा कोई पदार्थ है ही नहीं, ऐसी ब्रह्मवेत्ताओं की स्थिति है। जैसे अन्धे के लिए जगत् अन्धकारमय ही है, और अच्छी आँखों वालों के लिए प्रकाशमय होता है, वैसे ही अज्ञानी के लिए जगत् दुःखों के समूह रूप है, परन्तु ज्ञानी के लिए आनन्दमय है। अनन्त और सच्चिदानन्दमय मैं (वराहरूपी भगवान्) ही सर्वत्र अवस्थित हूँ—ऐसी अद्वितीय भावना जब होती है, तब तो क्या बन्धन है और कौन मुक्त होता है ? (कोई नहीं।) सभी प्राणियों का जो चैतन्य है, वही सही आत्मस्वरूप है, परन्तु घड़े की तरह दृष्टिगोचर होता हुआ यह देहादि समुदाय तो आत्मस्वरूप है ही नहीं।

स्वात्मनोऽन्यदिवाभातं चराचरमिदं जगत् ।
स्वात्ममात्रतया बुद्ध्वा तदस्मीति विभावय ॥25॥
स्वस्वरूपं स्वयं भुङ्क्ते नास्ति भोज्यं पृथक् स्वतः ।
अस्ति चेदस्तितारूपं ब्रह्मैवास्तित्वलक्षणम् ॥26॥
ब्रह्मविज्ञानसम्पन्नः प्रतीतमखिलं जगत् ।
पश्यन्नपि सदा नैव पश्यति स्वात्मनः पृथक् ॥27॥
मत्स्वरूपपरिज्ञानात्कर्मभिर्न स बध्यते ॥28॥

आत्मा से अलग-सा ही दिखाई देने वाला यह सचराचर (जडचेतनमय जगत्) पारमार्थिक रूप से तो केवल अपनी आत्मा ही है, ऐसा जानकर तुम्हें 'मैं ही जगत् रूप हूँ' ऐसा मानना चाहिए। आत्मा अपने स्वरूप को ही भोगता है (अपने स्वरूप को ही खाता है), अपने से अलग कोई भोग्य पदार्थ ही नहीं है। फिर भी अगर कोई 'है' तो वह अस्तित्व के रूप में ब्रह्म ही है। अस्तित्व (सत्ता) ही ब्रह्म का लक्षण है। ब्रह्मानुभव से युक्त हुआ मनुष्य दिखाई देने वाले इस सारे जगत् को देखता हुआ भी उसे अपने आत्मा से अलग तो देखता ही नहीं है। ऐसे मेरे स्वरूप का ज्ञान होने से मनुष्य कर्मों से बँधता नहीं है।

यः शरीरेन्द्रियादिभ्यो विहीनं सर्वसाक्षिणम् ।
परमार्थैकविज्ञानं सुखात्मानं स्वयंप्रभम् ॥29॥
स्वस्वरूपतया सर्वं वेद स्वानुभवेन यः ।
स धीरः स तु विज्ञेयः सोऽहं तत्त्वं ऋभो भव ॥30॥
अतः प्रपञ्चानुभव. सदा न हि स्वरूपबोधानुभवः सदा खलु ।
इति प्रपश्यन्परिपूर्णवेदनो न बन्धमुक्तो न च बद्ध एव तु ॥31॥
स्वस्वरूपानुसन्धानान्नृत्यन्तं सर्वसाक्षिणम् ।
मुहूर्तं चिन्तयेन्मां यः सर्वबन्धैः प्रमुच्यते ॥32॥

जो मनुष्य अपने आत्मा को शरीर-इन्द्रियादि से अलग, सर्वसाक्षी, पारमार्थिक, एकमात्र, विज्ञानस्वरूप, सुखमय और स्वयंप्रकाश मानता है, तथा सबको अपने अनुभव से आत्मरूप से जानता है, वह धीर है इसी को सहीरूप में 'मैं' जानना चाहिए। और हे ऋभु ! तुम भी वही हो। इसी कारण से प्रपंच का अनुभव कभी है ही नहीं, पर स्वरूप ज्ञान का अनुभव तो सदैव है। इस प्रकार देखता हुआ मनुष्य परिपूर्ण ज्ञानी है, और इसलिए वह कभी बन्धन में नहीं पड़ता और बँधा हुआ भी नहीं रहता। स्वरूपानुसन्धान से नृत्य करते हुए जो मनुष्य मेरा एक क्षण भी (एक मुहूर्तकाल तक भी) चिन्तन करता है, वह सभी बन्धनों से मुक्त हो जाता है।

सर्वभूतान्तरस्थाय नित्यमुक्तचिदात्मने ।
प्रत्यक्चैतन्यरूपाय मह्यमेव नमो नमः ॥33॥
त्वं वाहमस्मि भगवो देवतेऽहं वै त्वमसि ।
तुभ्यं मह्यमनन्ताय मह्यं तुभ्यं चिदात्मने ॥34॥
नमो मह्यं परेशाय नमस्तुभ्यं शिवाय च ।
किं करोमि क्व गच्छामि किं गृह्णामि त्यजामि किम् ॥35॥
यन्मया पूरितं विश्वं महाकल्पाम्बुना यथा ।
अन्तःसङ्गं बहिःसङ्गमात्मसङ्गं च यस्त्यजेत् ।
सर्वसङ्गनिवृत्तात्मा स मामेति न संशयः ॥36॥

सभी भूतों के अन्तस् में स्थित, नित्य मुक्त, चिदात्मा और प्रत्यक् चैतन्यरूप ऐसे मुझे ही मैं बार-बार नमस्कार करता हूँ। हे भगवन्! हे देवता! तुम ही मैं हूँ और मैं ही तुम हो। अनन्त ऐसे मुझे और तुझे तथा चिदात्मक ऐसे मुझे और तुझे नमस्कार हो। परमात्मा ऐसे मुझे और शिवस्वरूप ऐसे तुझे नमस्कार हो। मैं कहाँ जाऊँ? क्या लूँ और क्या छोड़ूँ? क्योंकि महाकल्प (प्रलयकाल) में जैसे विश्व जल से भर जाता है, वैसे ही मुझसे यह सब कुछ भरा हुआ है। सब कुछ मैं ही हूँ। इस तरह जो भीतर का संग, बाहर का संग और आत्मा के संग को भी जो छोड़ देता है, वह सभी संगों से विनिर्मुक्त आत्मा वाला मनुष्य मुझे प्राप्त कर लेता है, इसमें कोई भी सन्देह नहीं है।

अहिरिव जनयोगं सर्वदा वर्जयेद्यः
कुणपमिव सुनारीं त्यक्तुकामो विरागी ।
विषमिव विषयादीन्मन्यमानो दुरन्ता-
ञ्जगति परमहंसो वासुदेवोऽहमेव ॥37॥

जो वैरागी मनुष्यों के सम्बन्ध को साँप की तरह छोड़ देता है, जो सुन्दर स्त्री को एक शवदेह की तरह छोड़ने के लिए तत्पर रहता है, और अन्तविहीन विषयों को विष जैसा मानता है, वह इस जगत् में परमहंस है और मैं वासुदेव भी वही हूँ।

इदं सत्यमिदं सत्यं सत्यमेतदिहोच्यते ।
अहं सत्यं परं ब्रह्म मत्तः किञ्चिन्न विद्यते ॥38॥
उप समीपे यो वासो जीवात्मपरमात्मनोः ।
उपवासः स विज्ञेयो न तु कायस्य शोषणम् ॥39॥
कायशोषणमात्रेण का तत्र ह्यविवेकिनाम् ।
वल्मीकताडनादेव मृतः किं नु महोरगः ॥40॥
अस्ति ब्रह्मेति चेद्वेद परोक्षज्ञानमेव तत् ।
अहं ब्रह्मेति चेद्वेद साक्षात्कारः स उच्यते ॥41॥

"यह सत्य है, यह सत्य है, यही सत्य है, और मैं भी सत्य हूँ, मैं परब्रह्म हूँ, मुझसे अलग कुछ है ही नहीं"—ऐसा कहना चाहिए। जीवात्मा और परमात्मा के उप (अर्थात् समीप) में ऐक्य भाव से 'वास' करने को ही 'उपवास' कहा जाता है। बिना खाये शरीर के शोषण को उपवास नहीं कहा जाता। क्योंकि अनशन कर शरीर को सुखाने से अविवेकियों को क्या फल मिलता है? (कुछ नहीं) वल्मीक के ऊपर दण्डप्रहार से उसके भीतर रहा हुआ बड़ा साँप क्या मर जाता है भला? (नहीं ही) 'ब्रह्म है'—

ऐसा जो जानता है, वह परोक्षज्ञान ही है। और 'मैं ही ब्रह्म हूँ'—ऐसा ज्ञान जो रखता है उसे साक्षात्कार कहा जाता है।

यस्मिन्काले स्वमात्मानं योगी जानाति केवलम् ।
तस्मात्कालात्समारभ्य जीवन्मुक्तो भवेदसौ ॥42॥
अहं ब्रह्मेति नियतं मोक्षहेतुर्महात्मनाम् ।
द्वे पदे बन्धमोक्षाय निर्ममेति ममेति च ॥43॥
ममेति बध्यते जन्तुर्निर्ममेति विमुच्यते ।
बाह्यचिन्ता न कर्तव्या तथैवान्तरचिन्तिका ।
सर्वचिन्तां समुत्सृज्य स्वस्थो भव सदा ऋभो ॥44॥

जिस काल में योगी अपने को केवल एक स्वरूप में जान लेता है, उसी क्षण वह जीवन्मुक्त हो जाता है। 'मै ब्रह्म हूँ'—ऐसा जब निश्चित ही हो गया तो वही निश्चय महात्माओं के मोक्ष का कारण बनता है। बन्धन और मोक्ष के लिए दो ही पद हैं—एक 'निर्मम' अर्थात् 'मेरा कुछ भी नहीं' वह मोक्ष के लिए है और दूसरा है—'मम' अर्थात् मेरा, यह बन्धन के लिए है। 'मम'—ऐसा मानते हुए प्राणी बन्धन में पड़ता है और 'निर्मम'—ऐसा मानकर प्राणी मुक्त होता है। हे ऋभु! बाहर और भीतर की चिन्ता नहीं करनी चाहिए। सभी चिन्ताओं का त्याग करके तुम स्वस्थ रहो।

सङ्कल्पमात्रकलनेन जगत्समग्रं
सङ्कल्पमात्रकलने हि जगद्विलासः ।
सङ्कल्पमात्रमिदमुत्सृज निर्विकल्प-
माश्रित्य मामकपदं हृदि भावयस्व ॥45॥

केवल संकल्पों से ही यह समग्र जगत् है, और केवल संकल्पों के करने से ही इस सारे जगत् का विलास है। इसलिए इस निर्विकल्प पद का आश्रय करके तुम संकल्पों को छोड़ दो और हृदय में मेरे पद की भावना करो।

मच्चिन्तनं मत्कथनमन्योऽन्यं मत्प्रभाषणम् ।
मदेकपरमो भूत्वा कालं नय महामते ॥46॥
चिदिहास्तीति चिन्मात्रमिदं चिन्मयमेव च ।
चित्त्वं चिदहमेते च लोकाश्चिदिति भावय ॥47॥
रागं नीरागतां नीत्वा निर्लेपो भव सर्वदा ।
अज्ञानजन्यकर्त्रादिकारकोत्पन्नकर्मणा ॥48॥
श्रुत्युत्पन्नात्मविज्ञानप्रदीपो बाध्यते कथम् ।
अनात्मतां परित्यज्य निर्विकारो जगत्स्थितौ ॥49॥

हे महाबुद्धिमान! मेरा चिन्तन, मेरी कथा, परस्पर मेरे ही विषय में संभाषण और मुझ में ही परायण होकर तुम समय व्यतीत कर लो। इस जगत् में चैतन्य ही है, मात्र चैतन्य ही चैतन्य है। जैसे मैं चैतन्य हूँ, वैसे तुम भी चैतन्य ही हो, ये सभी लोग भी चैतन्य ही हैं—ऐसी भावना करो। राग को नीराग (रागाभाव) करके सर्वकाल में तुम निर्लेप ही हो जाओ। कर्ता आदि कारक तो अज्ञान से ही उत्पन्न होते हैं। तो ऐसे (अज्ञानजनित) कर्मों से श्रुतियों से उत्पन्न हुआ आत्मज्ञानरूपी दीपक कैसे बुझ सकेगा? इसलिए अनात्मभाव को छोड़कर जगत् की स्थिति में तुम निर्विकार हो जाओ।

एकनिष्ठतयान्तस्थसंविन्मात्रपरो भव ।
घटाकाशमठाकाशौ महाकाशे प्रतिष्ठितौ ॥50॥
एवं मयि चिदाकाशे जीवेशौ परिकल्पितौ ।
या च प्रागात्मनो माया तथान्ते च तिरस्कृता ॥51॥
ब्रह्मवादिभिरुद्गीता सा मायेति विवेकतः ।
मायातत्कार्यविलये नेश्वरत्वं न जीवता ॥52॥
ततः शुद्धश्चिदेवाहं व्योमवन्निरुपाधिकः ।
जीवेश्वरादिरूपेण चेतनाचेतनात्मकम् ॥53॥

और तुम एकनिष्ठता से केवल भीतर के अनुभूतिज्ञान में ही तत्पर हो जाओ। जैसे घड़े का आकाश और घर का आकाश महाकाश में ही अवस्थित रहे हैं, वैसे ही जीव और ईश्वर चैतन्य चिदाकाश ऐसे मुझमें ही तो कल्पित हुए हैं। पहले (अज्ञानावस्था में) माया का जो सम्बन्ध आत्मा को दिखाई देता है, वह अन्त में (ज्ञान होने के बाद तो) तिरस्कृत (निराकृत) हो जाता है। इसी कारण से ब्रह्मज्ञानी लोग विवेकदृष्टि से उसे माया कहते हैं, क्योंकि माया और उसके कार्य के नाश होने पर तो न तो ईश्वरत्व है, न ही जीवत्व है। इसके बाद तो शुद्ध और उपाधिरहित मैं चैतन्य ही अवशिष्ट रहता हूँ। जीव और ईश्वर आदि के रूप में चैतन्य मैं ही हूँ, और अचेतन भी तो मैं ही हूँ।

ईक्षणादिप्रवेशान्ता सृष्टिरीशेन कल्पिता ।
जाग्रदादिविमोक्षान्तः संसारो जीवकल्पितः ॥54॥
त्रिणाचिकादियोगान्ता ईश्वरभ्रान्तिमाश्रिताः ।
लोकायतादिसांख्यान्ता जीवविश्रान्तिमाश्रिताः ॥55॥
तस्मान्मुमुक्षुभिर्नैव मतिर्जीवेशवादयोः ।
कार्या किन्तु ब्रह्मतत्त्वं निश्चलेन विचार्यताम् ॥56॥
अद्वितीयब्रह्मतत्त्वं न जानन्ति यथा तथा ।
भ्रान्ता एवाखिलास्तेषां क्व मुक्तिः क्वेह वा सुखम् ॥57॥

ईक्षण से ('तदैक्षत') से लेकर प्रवेशपर्यन्त ('तत्सृष्ट्वा तदेवाविशत्') तक की सृष्टि तो ईश्वर की बनाई हुई है, और जाग्रत् अवस्था से लेकर मोक्षपर्यन्त का संसार जीव का बनाया हुआ है। त्रिणाचिक से लेकर योग तक के दर्शन ईश्वर की भ्रान्ति को प्राप्त हुए हैं। और लोकायत से लेकर सांख्य तक के दर्शन जीवतत्त्व तक पहुँचे हुए हैं। इसलिए मुमुक्षुओं को जीववाद में या ईश्वरवाद में बुद्धि करनी ही नहीं चाहिए, किन्तु निश्चल होकर ब्रह्मतत्त्व का ही चिन्तन करना चाहिए। जो लोग अद्वितीय ब्रह्मतत्त्व को जानते नहीं हैं, वे तो जिस किसी तरह किसी भ्रान्ति को ही प्राप्त हुए हैं। उनकी मुक्ति कहाँ है ? और उन्हें इस लोक में सुख भी कहाँ है ?

उत्तमाधमभावश्चेत्तेषां स्यादस्ति तेन किम् ।
स्वप्नस्थराज्यभिक्षाभ्यां प्रबुद्धः स्पृशते खलु ॥58॥
अज्ञाने बुद्धिविलये निद्रा सा भण्यते बुधैः ।
विलीनाज्ञानतत्कार्ये मयि निद्रा कथं भवेत् ॥59॥
बुद्धेः पूर्णविकासोऽयं जागरः परिकीर्त्यते ।
विकारादिविहीनत्वाज्जागरो मे न विद्यते ॥60॥

सूक्ष्मनाडिषु सञ्चारो बुद्धेः स्वप्नः प्रजायते ।
सञ्चारधर्मरहिते मयि स्वप्नो न विद्यते ॥61॥

उन लोगों का चाहे उत्तम भाव हो, या अधम भाव हो, पर इससे क्या है ? स्वप्न में राज्य मिले या भिक्षा मिले, पर जागा हुआ मनुष्य क्या उसका अनुभव कर सकता है ? (नहीं कर सकता।) जब बुद्धि का अज्ञान में लय होता है, तब विद्वान् लोग उसे निद्रा कहते हैं, परन्तु मुझमें तो अज्ञान और उसका कार्य—दोनों ही नष्ट हो चुके हैं, तो भला फिर मुझे निद्रा कहाँ से होगी ? बुद्धि के पूर्ण विकास होने को जाग्रदवस्था कहते हैं, पर मैं तो बुद्धि आदि विकारों से रहित ही हूँ, तो फिर मेरी कोई जाग्रत् अवस्था भी तो नहीं है। जब बुद्धि का सूक्ष्म नाड़ियों में संचार होता है, तब स्वप्नावस्था होती है, परन्तु मैं तो उस संचार धर्म से भी रहित ही हूँ, इसलिए मुझमें तो स्वप्नावस्था भी नहीं हैं।

सुषुप्तिकाले सकले विलीने तमसावृते ।
स्वरूपं महदानन्दं भुङ्क्ते विश्वविवर्जितः ॥62॥
अविशेषेण सर्वं तु यः पश्यति चिदन्वयात् ।
स एव साक्षाद्विज्ञानी स शिवः स हरिर्विधिः ॥63॥
दीर्घस्वप्नमिदं यत्तद्दीर्घं वा चित्तविभ्रमम् ।
दीर्घं वापि मनोराज्यं संसारं दुःखसागरम् ।
सुप्तेरुत्थाय सुप्त्यन्तं ब्रह्मैकं प्रविचिन्त्यताम् ॥64॥

सुषुप्ति के समय में सब कुछ अज्ञान से ढँक जाता है और इसीलिए सबका विलय हो जाता है। बाद में जगत् से रहित हुआ आत्मा बड़े ही आनन्दमय आत्मस्वरूप का अनुभव करता है। परन्तु उस अज्ञानावरण के विशेष के बिना ही जो मनुष्य केवल चैतन्य के अनुसरण से ही सब कुछ आत्ममय ही देखता है, वही साक्षात् विज्ञानी, वही शिव, वही विष्णु और वही ब्रह्म है। यह संसार एक लम्बा-सा सपना है, अथवा तो चित्त की लम्बी भ्रान्ति ही है, अथवा मन का लम्बा राज्य है, और वह दुःख का सागर ही है। इसलिए सोकर उठने के बाद फिर सोने के समय तक केवल ब्रह्म का ही चिन्तन करते रहना चाहिए।

आरोपितस्य जगतः प्रविलापनेन
चित्तं मदात्मकतया परिकल्पितं नः ।
शत्रून्निहत्य गुरुषट्कगणान्निपाताद्
गन्धद्विपो भवति केवलमद्वितीयः ॥65॥
अद्यास्तमेतु वपुराशशितारमास्तां
कस्तावताऽपि मम चिद्वपुषो विशेषः ।
कुम्भे विनश्यति चिरं समवस्थिते वा
कुम्भाम्बरस्य नहि कोऽपि विशेषलेशः ॥66॥

आरोपित जगत् का अत्यन्त लय कर देने से हमारा कल्पित चित्त केवल मेरा स्वरूप ही बनकर रह जाता है। इस प्रकार हमारे काम आदि शत्रुओं का (सभी का) विलय करके केवल आत्मरूप गन्धहस्ती अद्वितीय रह जाता है। अर्थात् केवल एक ही आत्मा अनुभव में आता है। यह शरीर चाहे आज ही अस्त हो जाए, या चाहे जहाँ तक चन्द्र-तारे रहें, वहाँ तक टिका रहे, पर इससे मेरे चैतन्य रूप शरीर में क्या विशेषता होगी ? (कुछ भी नहीं।) घड़े का चाहे तुरन्त नाश हो, या लम्बे काल तक

वह टिका रहे, तो भी उसे घड़े के भीतर रहने वाले आकाश में किसी भी प्रकार की लेशमात्र भी विशेषता नहीं आती है।

अहिनिर्ल्वयनी सर्पनिर्मोको जीववर्जितः ।
वल्मीके पतितस्तिष्ठेत्तं सर्पो नाभिमन्यते ॥67॥
एवं स्थूलं च सूक्ष्मं च शरीरं नाभिमन्यते ।
प्रत्यग्ज्ञानशिखिध्वस्ते मिथ्याज्ञाने सहेतुके ।
नेति नेतीति रूपत्वादशरीरो भवत्ययम् ॥68॥

साँप के द्वारा उतार दी गई निर्जीव त्वचा (साँप की खाल), बिल (बाँबी) पर ही पड़ी रहती है। उसे साँप फिर अपनी नहीं मानता, उसी तरह ज्ञानी मनुष्य स्थूल शरीर को या सूक्ष्म शरीर को अपना नहीं मानता, क्योंकि प्रत्यगात्मा के ज्ञानरूप अग्नि से उसका मिथ्या-ज्ञान नष्ट हो चुका होता है, और 'नेति नेति'—'यह नहीं, यह नहीं'—ऐसे अनुभव से वह [illegible]रीर रहित ही हो जाता है।

शास्त्रेण न स्यात्परमार्थदृष्टिः कार्यक्षमं पश्यति चापरोक्षम् ।
प्रारब्धनाशात्प्रतिभाननाश एवं त्रिधा नश्यति चात्ममाया ॥69॥

पहले तो शास्त्रों के द्वारा परमार्थदृष्टि नहीं होती। बाद में अपरोक्ष ज्ञान को ही परमार्थ दृष्टि के लिए कार्यक्षम (समर्थ) माना जाता है, और बाद में (तीसरे सोपान में) प्रारब्ध कर्मों के नाश होने से मिथ्याज्ञान का नाश होता है और इस प्रकार तीन प्रकार से आत्मा की माया का नाश होता है।

ब्रह्मत्वे योजिते स्वामिञ्जीवभावो न गच्छति ।
अद्वैते बोधिते तत्त्वे वासना विनिवर्तते ॥70॥
प्रारब्धान्ते देहहानिर्मायेति क्षीयतेऽखिला ।
अस्तीत्युक्ते जगत्सर्वं सद्रसं ब्रह्म तद्भवेत् ॥71॥
भातीत्युक्ते जगत्सर्वं भानं ब्रह्मैव केवलम् ।
मरुभूमौ जलं सर्वं मरुभूमात्रमेव तत् ।
जगत्त्रयमिदं सर्वं चिन्मात्रं स्वविचारतः ॥72॥
अज्ञानमेव न कुतो जगतः प्रसङ्गो
जीवेशदेशिकविकल्पकथातिदूरे ।
एकान्तकेवलचिदेकरसस्वभावे
ब्रह्मैव केवलमहं परिपूर्णमस्मि ॥73॥

हे स्वामी, जब 'स्व' (अपने) में ब्रह्मभाव जुड़ जाता है, तब जीवभाव प्राप्त ही नहीं होता, और जब अद्वैततत्त्व समझ में आता है, तब वासनाएँ दूर हो जाती हैं। प्रारब्ध का अन्त होने पर देह का त्याग होता है और इस तरह पूरी माया ही नष्ट हो जाती है। 'यह सारा जगत् ब्रह्म है'—ऐसा कहने में 'यह सारा जगत् सद् ब्रह्ममय ही है'—ऐसा ही अर्थ निकलता है। 'ब्रह्म प्रकाशित होता है'—ऐसा कहने में 'यह सारा जगत् केवल प्रकाशित होने के रूप में (उस अर्थ में) केवल ब्रह्म ही बन जाता है' ऐसा अर्थ निकलता है। मरुस्थल में जो जल दिखाई देता है, वह सब मरुभूमिरूप ही है, उसी प्रकार आत्मा का विचार करने से ये तीनों प्रकार के जगत् केवल चैतन्यरूप ही मालूम पड़ रहे हैं (जगद् रूप नहीं)। इस जगत् का अनुभव भला अज्ञान ही क्यों नहीं है ? और जब ऐसा ही है तब तो जीव ईश्वर और गुरु की कल्पना की तो बात ही क्या है ? (वे तो हैं ही नहीं) जब केवल एकमात्र एकरस चित् ही सब कुछ है तब मैं वही परिपूर्ण ब्रह्म हूँ।

बोधचन्द्रमसि पूर्णविग्रहे मोहराहुमुषितात्मतेजसि ।
स्नानदानयजनादिकाः क्रिया मोचनावधि वृथैव तिष्ठते ॥74॥
सलिले सैन्धवं यद्वत्साम्यं भवति योगतः ।
तथात्ममनसोरैक्यं समाधिरिति कथ्यते ॥75॥
दुर्लभो विषयत्यागो दुर्लभं तत्त्वदर्शनम् ।
दुर्लभा सहजावस्था सद्गुरोः करुणां विना ॥76॥
उत्पन्नशक्तिबोधस्य त्यक्तनिःशेषकर्मणः ।
योगिनः सहजावस्था स्वयमेव प्रकाशते ॥77॥

जिस ज्ञानरूपी चन्द्रमा का प्रकाश मोहरूपी राहु ने हर लिया है, वह ज्ञानचन्द्र पूर्ण शरीर वाला होने पर भी जबतक उस मोह राहु से उसका छुटकारा हो, तब तक तो स्नान, दान, यज्ञ आदि क्रियाएँ व्यर्थ ही हैं। जैसे पानी में नमक डालने से पानी के साथ उसकी समानता हो जाती है, उसी प्रकार आत्मा और मन की जो एकता हो जाती है, उसे 'समाधि' कहा जाता है। सद्गुरु की दया के बिना विषयों का त्याग करना मुश्किल है, एवं तत्त्वदर्शन भी दुर्लभ है, तथा सहज अवस्था भी दुर्लभ ही है। जिसमें आत्मशक्ति का ज्ञान हो चुका हो, और जिसने सभी कर्मों का त्याग किया हो, ऐसे योगी को सहजावस्था आप ही आप प्राप्त हो जाती है। (प्रकाशित हो जाती है।)

रसस्य मनसश्चैव चञ्चलत्वं स्वभावतः ।
रसो बद्धो मनो बद्धं किं न सिद्ध्यति भूतले ॥78॥
मूर्च्छितो हरति व्याधिं मृतो जीवयति स्वयम् ।
बद्धः खेचरतां धत्ते ब्रह्मत्वं रसचेतसि ॥79॥
इन्द्रियाणां मनो नाथो मनोनाथस्तु मारुतः ।
मारुतस्य लयो नाथस्तन्नाथं लयमाश्रय ॥80॥
निश्चेष्टो निर्विकारश्च लयो जीवति योगिनाम् ।
उच्छिन्नसर्वसंकल्पो निःशेषाशेषचेष्टितः ।
स्वावगम्यो लयः कोऽपि यो मनोवागगोचरः ॥81॥

रस (पारद) और मन दोनों की चंचलता स्वाभाविक है। जिसने पारद को बाँध लिया और मन को भी बाँध लिया हो उसके लिए इस धरती पर क्या सिद्ध नहीं हो सकता ? पारद और मन—दोनों मूर्च्छित होने पर रोगों को दूर करते हैं, वे दोनों मर जाते हैं, तो अन्य को जिलाते हैं, और अगर बँध जाते हैं तो खेचरता को प्राप्त करवाते हैं। (बँधा हुआ पारद आकाश में उड़ने की शक्ति देता है और बँधा हुआ मन खेचरी विद्या को प्राप्त करवाता है।) इस प्रकार पारद में और मन में ब्रह्मत्व है। मन इन्द्रियों का स्वामी है, प्राणवायु मन का नाथ (स्वामी) है, एवं प्राणों की आत्मा में लीनता होना प्राणों का नाथ (स्वामी) होना है। इसलिए तुम प्राण के नाथरूप उस लय का ही आश्रय करो। चेष्टारहित और निर्विकार होते हुए भी योगियों का वह लय जीवित ही रहता है। उसमें से सभी संकल्प उच्छिन्न हो गए होते हैं। समस्त चेष्टाएँ समाप्त हो गई होती हैं और वह मन एवं वाणी से अगोचर होता है। ऐसा लय केवल अनुभवगम्य ही होता है।

पुङ्खानुपुङ्खविषयेक्षणतत्परोऽपि
ब्रह्मावलोकनधियं न जहाति योगी ।
सङ्गीततालयवाद्यवशं गतापि
मौलिस्थकुम्भपरिरक्षणधीर्नटीव ॥82॥

सर्वचिन्तां परित्यज्य सावधानेन चेतसा ।
नाद एवानुसन्धेयो योगसाम्राज्यमिच्छता ॥83॥

इति द्वितीयोऽध्यायः ।

जैसे नाच करती हुई नर्तकी, संगीत-ताल-लय-वाद्ययन्त्रादि की वशवर्ती होकर उन सबमें ध्यान रखती हुई भी अपने सर पर रखे गए घड़े का रक्षण करने में पूरा ध्यान रखती है, उसी तरह यह योगी भी एक के बाद दूसरे अविरत प्राप्त होते रहते विषयों को देखने में तत्पर होते हुए भी ब्रह्मदर्शन की बुद्धि का कभी त्याग नहीं करता। अपने साम्राज्य को चाहने वाले पुरुष को सभी चिन्ताओं का त्याग करके सावधान चित्त से नाद का ही अनुसन्धान करना चाहिए।

यहाँ पर दूसरा अध्याय पूरा होता है।

❋

तृतीयोऽध्यायः

न हि नानास्वरूपं स्यादेकं वस्तु कदाचन ।
तस्मादखण्ड एवास्मि यन्मदन्यन्न किञ्चन ॥1॥
दृश्यते श्रूयते यद्यद्ब्रह्मणोऽन्यन्न तद्भवेत् ।
नित्यशुद्धविमुक्तैकमखण्डानन्दमद्वयम् ।
सत्यं ज्ञानमनन्तं यत्परं ब्रह्माहमेव तत् ॥2॥
आनन्दरूपोऽहमखण्डबोधः परात्परोऽहं घनचित्प्रकाशः ।
मेघा यथा व्योम न च स्पृशन्ति संसारदुःखानि न मां स्पृशन्ति ॥3॥
सर्वं सुखं विद्धि सुदुःखनाशात्सर्वं च सद्रूपमसत्य नाशात् ।
चिद्रूपमेव प्रतिभानयुक्तं तस्मादखण्डं मम रूपमेतत् ॥4॥

जो वस्तु एक ही हो, वह अनेकस्वरूप वाली हो ही नहीं सकती। इसलिए मैं अखण्ड ही हूँ, क्योंकि मुझसे अन्य कुछ है ही नहीं। जो-जो भी कुछ दिखाई पड़ता है, या सुनाई पड़ता है, वह सब ब्रह्म से अलग हो ही नहीं सकता, क्योंकि ब्रह्म नित्य, शुद्ध, विमुक्त, एक, अखण्ड, आनन्दरूप, अद्वैत, सत्य, ज्ञानमय और अनन्त है। ऐसा जो परब्रह्म है, वही मैं हूँ। मैं आनन्दरूप और अखण्ड ज्ञानमय हूँ। मैं परात्पर हूँ, मैं गाढ चैतन्यरूप प्रकाशवाला हूँ। जिस तरह बादल आकाश का स्पर्श नहीं करते, उसी तरह संसार के दुःख मेरा स्पर्श नहीं करते। दुःखों का अत्यन्त नाश हो जाने से तुम सबको सुखरूप जानो। असत्य का नाश हो जाने से तुम सभी को सत्य ही मानो। जो-जो प्रतिभान से युक्त (सामने से दिखाई देने वाला) हो, वह सब चैतन्य का ही स्वरूप है, इसलिए मेरा अखंड रूप है।

न हि जनिर्मरणं गमनागमौ न च मलं विमलं न च वेदनम् ।
चिन्मयं हि सकलं विराजते स्फुटतरं परमस्य तु योगिनः ॥5॥
सत्यचिद्घनमखण्डमद्वयं सर्वदृश्यरहितं निरामयम् ।
यत्पदं विमलमद्वयं शिवं तत्सदाहमिति मौनमाश्रय ॥6॥
जन्ममृत्युसुखदुःखवर्जितं जातिनीतिकुलगोत्रदूरगम् ।
चिद्विवर्तजगतोऽस्यकारणं तत्सदाहमिति मौनमाश्रय ॥7॥
पूर्णमद्वयमखण्डचेतनं विश्वभेदकलनादिवर्जितम् ।
अद्वितीयपरसंविदंशकं तत्सदाहमिति मौनमाश्रय ॥8॥

जन्म नहीं है, मरण नहीं है, गमन नहीं है, आगमन नहीं है, मल नहीं है, निर्मल नहीं है और अनुभवज्ञान भी नहीं है, परन्तु सब चैतन्यमय ही प्रकाशित हो रहा है। यह सबसे पर स्वरूप योगी को

अति स्पष्ट दिखाई देता है। सत्य, चैतन्यमय, अखण्ड, अद्वैत, सर्वदृश्यरहित, निर्दोष, निर्मल, अद्वैत और कल्याणस्वरूप जो परमतत्त्व है, वह मैं हूँ, ऐसा मानकर मौन ही धारण किए रहो। जन्म, मृत्यु, सुख और दुःख से जो रहित है, जाति, नीति, कुल और गोत्र से भी जो रहित है (दूर है) तथा चैतन्य में प्रतीत होती हुई जगत् की भ्रान्ति का जो कारण है वही सदा मैं हूँ—ऐसा मानकर तुम मौन को ही धारण किए रहो। जो पूर्ण, अद्वैत, अखण्ड और चैतन्य है, और समग्र भेद (ज्ञान) से रहित होते हुए अद्वितीय परम संवेदना (ज्ञान) का अंश है, वही मैं हूँ ऐसा मानकर तुम मौन का ही आश्रय करके रहो।

केनाप्यबाधितत्वेन त्रिकालेऽप्येकरूपतः ।
विद्यमानत्वमस्त्येतत्सद्रूपत्वं सदा मम ॥9॥
निरुपाधिकनित्यं यत्सुप्तौ सर्वसुखात्परम् ।
सुखरूपत्वमस्त्येतदानन्दत्वं सदा मम ॥10॥
दिनकरकिरणैर्हि शार्वरं तमो निबिडतरं झटिति प्रणाशमेति ।
घनतरभवकारणं तमो यद्धरिदिनकृत्प्रभया न चान्तरेण ॥11॥
मम चरणस्मरणेन पूजया च स्वकतमसः परिमुच्यते हि जन्तुः ।
न हि मरणप्रभवप्रणाशहेतुर्मम चरणस्मरणादृतेस्ति किञ्चित् ॥12॥

यह मेरा पारमार्थिक स्वरूप किसी से भी बाधित नहीं होता। और वह तीनों काल में एकरूप ही होता है। इसलिए सदैव उसका अस्तित्व (सत्ता) रहता है। यह मेरा 'सत्' रूप है। उपाधिरहित और नित्य ऐसा जो तत्त्व सुषुप्ति के समय में सर्व सुखों से पर और सुखमय होता है, वही मेरी नित्य आनन्दमयता है। रात्रि का अतिगाढ अन्धकार जैसे सूर्य की किरणों से शीघ्र ही नष्ट हो जाता है, वैसे ही संसार कारणरूप अज्ञान का गाढ अन्धकार जो है, वह श्रीहरि की (भगवान् की) कान्ति के बिना नष्ट नहीं हो सकता। मेरे (परमेश्वर के) चरण का स्मरण और पूजन करने से प्राणी अपने अज्ञानान्धकार से छूट जाता है। इस प्रकार मेरे चरण के स्मरण के सिवा जन्म-मरण के नाश का और कोई कारण (उपाय) है ही नहीं।

आदरेण यथा स्तौति धनवन्तं धनेच्छया ।
तथा चेद्विश्वकर्तारं को न मुच्येत बन्धनात् ॥13॥
आदित्यसन्निधौ लोकश्चेष्टते स्वयमेव तु ।
तथा मत्सन्निधावेव समस्तं चेष्टते जगत् ॥14॥
शुक्तिकायां यथा तारं कल्पितं मायया तथा ।
महदादि जगन्मायामयं मय्येव केवलम् ॥15॥
चण्डालदेहे पश्वादिस्थावरे ब्रह्मविग्रहे ।
अन्येषु तारतम्येन स्थितेषु न तथाह्यहम् ॥16॥

जैसे मनुष्य धन की इच्छा से धनवान की आदरपूर्वक स्तुति करता है, वैसे ही जो विश्वकर्ता की स्तुति करता है, ऐसा कौन मनुष्य संसार के बन्धन से भला नहीं छूटेगा ? (छूट ही जाएगा।) सूर्य के सान्निध्य में मनुष्य आप ही आप जैसे चेष्टा करने लगता है, वैसे ही मेरे सान्निध्य में यह सारा जगत् चेष्टा करने लग जाता है। जैसे भ्रामक माया के कारण ही सीप में रूपा कल्पित ही होता है, वैसे ही मुझमें भी महत्तत्त्व आदि यह जगत् केवल माया के द्वारा दी कल्पित हुआ है। पारमार्थिक रूप से तो जगत् मिथ्या ही है, और केवल मैं ही सत्य हूँ। चाण्डाल के देह में, पशु आदि के देह में, स्थावरों में या ब्रह्मा के देह में तारतम्य से छोटा-बड़ापन दीखता है, वैसा मैं नहीं हूँ।

विनष्टदिग्भ्रमस्यापि यथापूर्वं विभाति दिक् ।
तथा विज्ञानविध्वस्तं जगन्मे भाति तन्न हि ॥17॥

न देहो नेन्द्रियप्राणो न मनोबुद्ध्यहङ्कृति ।
न चित्तं नैव माया च न च व्योमादिकं जगत् ॥18॥
न कर्ता नैव भोक्ता च न च भोजयिता तथा ।
केवलं चित्सदानन्दब्रह्मैवाहं जनार्दनः ॥19॥
जलस्य चलनादेव चञ्चलत्वं यथा रवेः ।
तथाहङ्कारसम्बन्धादेव संसार आत्मनः ॥20॥

दिशा का भ्रम होने वाले व्यक्ति को उस भ्रम के नाश होने पर पहले की ही तरह ठीक से दिशाएँ दिखाई पड़ती हैं, उसी प्रकार विज्ञान से जगत् के उच्छिन्न हो जाने पर वह जगत् मुझे तो दीखता नहीं है। शरीर नहीं हैं, इन्द्रियाँ नहीं हैं, प्राण नहीं हैं, मन, बुद्धि और अहंकार भी नहीं है, चित्त नहीं है, माया नहीं है, आकाश आदि जगत् भी नहीं है, कर्ता नहीं है, भोक्ता नहीं है और भोग कराने वाला भी नहीं है। केवल सत्ता और आनन्दस्वरूप चैतन्य जनार्दन मैं ही हूँ। (मेरे सिवा और कुछ है ही नहीं।) जैसे पानी के हिलने से उसमें प्रतिबिम्ब सूर्य भी हिलता-सा लगता है, उसी प्रकार अहंकार के सम्बन्ध से ही आत्मा का संसार होता है।

चित्तमूलं हि संसारस्तत्प्रयत्नेन शोधयेत् ।
हन्त चित्तमहत्तायां कैषा विश्वासता तव ॥21॥
क्व धनानि महीपानां ब्राह्मणाः क्व जगन्ति वा ।
प्राक्तनानि प्रयातानि गताः सर्गपरम्पराः ।
कोटयो ब्रह्मणां याता भूपा नष्टाः परागवत् ॥22॥
स चाध्यात्माभिमानोऽपि विदुषोऽप्यासुरत्वतः ।
विद्वानप्यासुरश्चेत्स्यान्निष्फलं तत्त्वदर्शनम् ॥23॥
उत्पाद्यमाना रागाद्या विवेकज्ञानवह्निना ।
यदा तदैव दह्यन्ते कुतस्तेषां प्ररोहणम् ॥24॥

संसार का मूल चित्त ही है, इस बात को प्रयत्नपूर्वक खोज लेना चाहिए। अरे रे ! चित्त की महत्ता में तुम्हें यह कैसा विश्वास है ? चित्त तो क्षुद्र से भी क्षुद्र है। राजाओं की धन-सम्पत्तियाँ कहाँ गईं ? ब्राह्मण बहुत से (ब्रह्मा भी) कहाँ चले गये ? बहुत से जगत् भी कहाँ रह गये हैं ? पहले की सृष्टियाँ, करोड़ों ब्रह्मा और बड़े-बड़े राजा भी धूल की तरह नष्ट हो गए हैं। विद्वान् को भी आसुरी भाव से 'मैं ऐसा हूँ' इस प्रकार का आध्यात्मिक अभिमान होता है। विद्वान् भी अगर ऐसे आसुरी भाववाला हो जाता है, तो उसका तत्त्वदर्शन मिथ्या ही होता है। रागादि जब उत्पन्न होते हैं, तब विवेकाग्नि–ज्ञानाग्नि से ही वे जल सकते हैं और उनके जल जाने के बाद फिर से उनका उगना कैसे संभव हो सकता है ? (इसलिए ज्ञान से उन्हें जला ही देना चाहिए।)

यथा सुनिपुणः सम्यक् परदोषेक्षणे रतः ।
तथा चेन्निपुणः स्वेषु को न मुच्येत बन्धनात् ॥25॥
अनात्मविदमुक्तोऽपि सिद्धिजालानि वाञ्छति ।
द्रव्यमन्त्रक्रियाकालयुक्त्याप्नोति मुनीश्वर ॥26॥
नात्मज्ञस्यैव विषय आत्मज्ञो ह्यात्ममात्रदृक् ।
आत्मनात्मनि सन्तृप्तोनाविद्यामनुधावति ॥27॥
ये केचन जगद्भावास्तानविद्यामयान्विदुः ।
कथं तेषु किलात्मज्ञस्त्यक्ताविद्यो निमज्जति ॥28॥

पराये दोषों को देखने में मनुष्य जितना निपुण होता है उतना ही अगर अपने दोषों को देखने में निपुण हो जाए, तो संसाररूप बन्धन से भला कौन नहीं छूटेगा ? (सभी छूट जाएँगे) जिसको आत्मा का ज्ञान नहीं हुआ है, और जो जीवन्मुक्त नहीं हुआ है, वही सिद्धियों का समूह चाहता है। हे मुनीश्वर ! और द्रव्य, मंत्र, क्रिया, काल और अनेक युक्तियों से वह उन्हें प्राप्त कर भी लेता है, परन्तु आत्मा को जानने वाले का यह विषय नहीं है। आत्मवेत्ता पुरुष तो केवल आत्मा ही को देखता है, आत्मा में ही आत्मा के द्वारा सदैव तृप्त रहता है एवं अविद्या के पीछे दौड़ता नहीं है। जगत् के जितने भी पदार्थ हैं, उन्हें ज्ञानी लोग अविद्यामय ही समझते हैं। इसलिए जो पुरुष आत्मा को जानने वाला है, जिसने अविद्या छोड़ी है, वह अविद्या के पदार्थों में कैसे रत होगा ? (अर्थात् नहीं रहेगा)

द्रव्यमन्त्रक्रियाकालयुक्तयः साधुसिद्धिदाः ।
परमात्मपदप्राप्तो नोपकुर्वन्ति काश्चन ॥29॥
सर्वेच्छाकलनाशान्तावात्मलाभोदयाभिधः ।
स पुनः सिद्धिवाञ्छायां कथमर्हत्यचित्ततः ॥30॥

इति तृतीयोऽध्यायः ।

द्रव्य, मंत्र, क्रिया, काल और उनकी युक्तियाँ यद्यपि उत्तम सिद्धियों को देती तो हैं ही, परन्तु, परमात्मा के पद की प्राप्ति में वे सब किसी भी प्रकार का उपकार (सहाय) नहीं देतीं। जब सभी इच्छाओं का आकलन शान्त हो जाता है, तब आत्मलाभ का उदय (अर्थात् मोक्ष) होता है। और वह लाभ होने के बाद सिद्धि की इच्छा कैसे उत्पन्न हो सकती है ? क्योंकि उस अवस्था में चित्त तो होता ही नहीं है।

यहाँ तीसरा अध्याय पूरा हुआ।

❈

चतुर्थोऽध्यायः

अथ ह ऋभुं भगवन्तं निदाघः पप्रच्छ जीवन्मुक्तिलक्षणमनुब्रूहीति ॥1॥
तथेति स होवाच । सप्तभूमिषु जीवन्मुक्ताश्चत्वारः ॥2॥
शुभेच्छा प्रथमा भूमिका भवति। विचारणा द्वितीया। तनुमानसी तृतीया। सत्त्वापत्तिस्तुरीया। असंसक्तिः पञ्चमी। पदार्थभावना षष्ठी। तुरीयगा सप्तमी ॥3॥
प्रणवात्मिका भूमिका अकारोकारमकारार्धमात्रात्मिका ॥4॥
स्थूलसूक्ष्मबीजसाक्षिभेदेनाकारादयश्चतुर्विधाः ॥5॥

किसी एक समय निदाघ ने भगवान् ऋभु से पूछा—'आप मुझे जीवन्मुक्ति का लक्षण बताइए।' तब 'बहुत अच्छा' ऐसा कहकर ऋभु बोले—'ज्ञान की सात भूमिकाएँ हैं, उनमें से चार जीवन्मुक्त की स्थितिवाली होती हैं। पहली भूमिका शुभेच्छा है, दूसरी भूमिका विचारणा है, तीसरी भूमिका तनुमानसी है, चौथी भूमिका सत्त्वापत्ति है, पाँचवीं भूमिका असंसक्ति है, छठी भूमिका पदार्थभावना है और सातवीं भूमिका तुरीयगा है। प्रणवरूप (ओंकार रूप) भूमिका, अ-उ-म और अर्धमात्रारूप होती है। ये 'अकार' आदि भी स्थूल, सूक्ष्म, बीज और साक्षी के भेद से प्रत्येक चार-चार प्रकार के होते हैं।

तदवस्था जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तितुरीयाः ॥6॥
अकारस्थूलांशे जाग्रद्विश्वः । सूक्ष्मांशे तत्तैजसः । बीजांशे तत्प्राज्ञः । साक्ष्यंशे तत्तुरीयः ॥7॥
उकारस्थूलांशे स्वप्नविश्वः । सूक्ष्मांशे तत्तैजसः । बीजांशे तत्प्राज्ञः । साक्ष्यंशे तत्तुरीयः ॥8॥
मकारस्थूलांशे सुषुप्तविश्व । सूक्ष्मांशे तत्तैजसः । बीजांशे तत्प्राज्ञः । साक्ष्यंशे तत्तुरीयः ॥9॥
अर्धमात्रास्थूलांशे तुरीयविश्वः । सूक्ष्मांशे तत्तैजसः । बीजांशे तत्प्राज्ञः । साक्ष्यंशे तुरीयतुरीयः ॥10॥

उनकी अवस्थाएँ भी चार होती हैं—जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति और तुरीय । उनमें से अकार के स्थूल अंश में जाग्रदवस्था वाला विश्व होता है, सूक्ष्म अंश में जाग्रत् तैजस होता है, बीज अंश में जाग्रत् प्राज्ञ होता है और साक्षी अंश में जाग्रत् तुरीय होता है । अब उकार के स्थूल अंश में स्वप्न विश्व होता है, उसके सूक्ष्म अंश में स्वप्न तैजस होता है, बीज अंश में स्वप्न प्राज्ञ होता है और साक्षी अंश में स्वप्न तुरीय होता है । अब मकार के स्थूल अंश में सुषुप्ति अवस्था वाला विश्वात्मा होता है, उसके सूक्ष्म अंश में सुषुप्ति तैजस, उसके बीज अंश में सुषुप्ति प्राज्ञ और साक्षी अंश में सुषुप्ति तुरीय होता है । अब अर्धमात्रा के स्थूल अंश में तुरीयावस्था वाला विश्वात्मा होता है, उसके सूक्ष्म अंश में तुरीय तैजस होता है, उसके बीज़ अंश में तुरीय प्राज्ञ होता है और उसके साक्षी अंश में तुरीयतुरीय होता है ।

अकारतुरीयांशाः प्रथमद्वितीयतृतीयभूमिकाः । उकारतुरीयांशा चतुर्थी भूमिका । मकारतुरीयांशा पञ्चमी । अर्धमात्रातुरीयांशा षष्ठी । तदतीता सप्तमी ॥11॥

ऊपर बताई गई सात ज्ञान भूमिकाओं में से पहली, दूसरी और तीसरी भूमिकाएँ अकार के तुरीयांश रूप में है । चौथा भूमिका उकार के तुरीय अंश के रूप में हैं । पाँचवीं भूमिका मकार के तुरीयांश के रूप में है । छठी भूमिका अर्धमात्रा के तुरीयांश के रूप में है, और सप्तमी उन सभी अंशों से रहित है ।

भूमित्रयेषु विहरन्मुमुक्षुर्भवति । तुरीयभूम्यां विहरन्ब्रह्मविद्भवति । पञ्चमभूम्यां विहरन्ब्रह्मविद्वरो भवति । षष्ठभूम्यां विहरन्ब्रह्मविद्वरीयान्भवति । सप्तमभूम्यां विहरन्ब्रह्मविद्वरिष्ठो भवति ॥12॥

पहली तीन भूमिकाओं में विहार करने वाला मुमुक्षु होता है । चौथी भूमिका में विहार करने वाला ब्रह्मवेत्ता होता है, पाँचवीं भूमिका में विहार करने वाला ब्रह्मवेत्ताओं में श्रेष्ठ होता है, छठी भूमिका में विहार करने वाला ब्रह्मवेत्ताओं में अधिक श्रेष्ठ होता है तथा सातवीं भूमिका में विहार करने वाला ब्रह्मवेत्ताओं में श्रेष्ठतम होता है ।

तत्रैते श्लोका भवन्ति—
ज्ञानभूमिः शुभेच्छा स्यात्प्रथमा समुदीरिता ।
विचारणा द्वितीया तु तृतीया तनुमानसी ॥1॥
सत्त्वापत्तिश्चतुर्थी स्यात्ततोऽसंसक्तिनामिका ।
पदार्थभावना षष्ठी सप्तमी तुर्यगा स्मृता ॥2॥

इस विषय में ये श्लोक हैं—शुभेच्छा नाम की पहली ज्ञान भूमिका कही गई हैं । दूसरी विचारणा और तीसरी तनुमानसी है । चौथी सत्त्वापत्ति है, बाद में असंसक्ति नाम की है । छठी पदार्थ भावना है और सातवीं तुर्यगा कही गई है ।

स्थितः किं मूढ एवास्मि प्रेक्ष्योऽहं शास्त्रसज्जनैः ।
वैराग्यपूर्वमिच्छेति शुभेच्छेत्युच्यते बुधैः ॥3॥
शास्त्रसज्जनसंपर्कवैराग्याभ्यासपूर्वकम् ।
सदाचारप्रवृत्तिर्या प्रोच्यते सा विचारणा ॥4॥
विचारणाशुभेच्छाभ्यामिन्द्रियार्थेषु रक्तता ।
यत्र सा तनुतामेति प्रोच्यते तनुमानसी ॥5॥
भूमिकात्रितयाभ्यासाच्चित्तेऽर्थविरतेर्वशात् ।
सत्त्वात्मनि स्थिते शुद्धे सत्त्वापत्तिरुदाहृता ॥6॥

'मैं क्यों मूढ़ ही बैठा रहा हूँ ?' 'ये शास्त्र और सज्जन मुझे ऐसा देख रहे हैं ?'—इस तरह की जो वैराग्यपूर्ण इच्छा होती है, इसे पण्डित लोग 'शुभेच्छा' कहते हैं । शास्त्रों और सज्जनों के संग से वैराग्य हो जाने पर सदाचार में अभ्यासपूर्वक जो प्रवृत्ति होती है, उसे 'विचारणा' कहा जाता है । इस तरह 'शुभेच्छा' और 'विचारणा' से विषयों के ऊपर का प्रेम जो पतला पड़ जाता है, उसे 'तनुमानसी' कहा जाता है । इन तीन भूमिकाओं के अभ्यास से मन में विषयों के प्रति वैराग्य आ जाने से चित्त जब शुद्धात्मा में स्थिर हो जाता है, तब उसे 'सत्त्वापत्ति' कहा गया है ।

दशाचतुष्टयाभ्यासादसंसर्गफला तु या ।
रूढसत्त्वचमत्कारा प्रोक्ताऽसंसक्तिनामिका ॥7॥
भूमिकापञ्चकाभ्यासात्स्वात्मारामतया भृशम् ।
आभ्यन्तराणां बाह्यानां पदार्थानामभावनात् ॥8॥
परप्रयुक्तेन चिरं प्रत्ययेनावबोधनम् ।
पदार्थभावना नाम षष्ठी भवति भूमिका ॥9॥
षड्भूमिकाचिराभ्यासाद्भेदस्यानुपलम्भनात् ।
यत्स्वभावैकनिष्ठत्वं सा ज्ञेया तुर्यगा गतिः ॥10॥

इन चार भूमिकाओं के अभ्यास से जिस मनुष्य में असंगरूपी फल प्रकट होता है और सत्त्वगुण का चमत्कार रूढ़ बनता है, तब उसको 'असंसक्ति' कहा गया है । फिर इन पाँच भूमिकाओं के अभ्यास से अपनी आत्मा में ही अत्यन्त रमण करते हुए स्थित रहता है, और इससे बाहर-भीतर के किसी भी पदार्थ का भान नहीं रहता । उस समय तो कोई पदार्थ की पहचान करवाता है, तभी लम्बे समय के बाद पदार्थ की पहचान होती है । इसी को 'पदार्थभावना' नाम की छठी ज्ञानभूमिका कहते हैं । इन छः भूमिकाओं के लम्बे अभ्यास के बाद संसार में जो किसी प्रकार का भेद नहीं दीखता और केवल आत्मस्वभाव में ही तब जो एकनिष्ठा प्राप्त होती है, उसे 'तुर्यगा' नाम की सातवीं भूमिका जानना चाहिए ।

शुभेच्छादित्रयं भूमिभेदाभेदयुतं स्मृतम् ।
यथावद्वेद बुद्ध्येदं जगज्जाग्रति दृश्यते ॥11॥
अद्वैते स्थैर्यमायाते द्वैते च प्रशमं गते ।
पश्यन्ति स्वप्नवल्लोकं तुर्यभूमिसुयोगतः ॥12॥

विच्छिन्नशरदभ्रांशविलयं प्रविलीयते ।
सत्त्वावशेष एवास्ते हे निदाघ दृढीकुरु ॥13॥
पञ्चभूमिं समारुह्य सुषुप्तिपदनामिकाम् ।
शान्ताशेषविशेषांशस्तिष्ठत्यद्वैतमात्रके ॥14॥

शुभेच्छादि भूमिकाएँ भेदाभेदज्ञान से युक्त मानी जाती हैं। इसलिए इन अवस्थाओं में मनुष्य जाग्रत् अवस्था में इस जगत् को अपनी बुद्धि से अच्छी तरह से जानता है। फिर जब चौथी अवस्था का उत्तम योग होता है तब उसके कारण से अद्वतभाव स्थिर होता है, और द्वैतभाव का नाश हो जाता है। इसलिए इस भूमिका पर पहुँचे हुए लोग जगत् को स्वप्न जैसा ही देखते हैं। हे निदाघ ! इस चौथी भूमिका में जैसे शरद् ऋतु के बादलों के अंश छिन्नभिन्न होकर नष्ट हो जाते हैं, वैसे ही द्वैत के अंशों का विलय हो जाता है। और केवल सत्त्व अंश ही शेष रहता है। इसलिए तुम उसी भूमिका को दृढ़ करो। बाद में पाँचवीं भूमिका पर आरूढ़ होने से बाकी बचे अंश भी नष्ट हो जाते हैं। मात्र अद्वैत–आत्मस्वरूप ही शेष रहता है। इसीलिए इस भूमिका को 'सुषुप्तिपद' नाम से कहा जाता है।

अन्तर्मुखतया नित्यं बहिर्वृत्तिपरोऽपि सन् ।
परिश्रान्ततया नित्यं निद्रालुरिव लक्ष्यते ॥15॥
कुर्वन्नभ्यासमेतस्यां भूम्यां सम्यग्विवासनः ।
सप्तमी गाढसुप्त्याख्या क्रमप्राप्ता पुरातनी ॥16॥
यत्र नासन्न सद्रूपो नाहं नाप्यनहंकृतिः ।
केवलं क्षीणमनन आस्तेऽद्वैतेऽतिनिर्भयः ॥17॥

फिर छठी भूमिका में आकर बाहर की वृत्ति में परायण होने पर भी मनुष्य नित्य अन्तर्मुखता से ही रहता है और बड़ी थकान से मानो निद्रालु हो (नींद ले रहा हो) ऐसा दीखता है। इस तरह इस भूमिका का अभ्यास करते-करते बिल्कुल वासनारहित हो जाता है। और अन्त में 'गाढ सुषुप्ति' नाम की सातवीं भूमिका में क्रमशः जा पहुँचता है। यही भूमिका देहसम्बन्ध से पहले की पुरातनी अवस्था है। जहाँ सत् नहीं है, असत् भी नहीं है, अहंकार भी नहीं है, अनहंकार भी नहीं है। यहाँ केवल क्षीणमन वाला, वह अति निर्भय होकर अवस्थित रहता है।

अन्तःशून्यो बहिःशून्यः शून्यकुम्भ इवाम्बरे ।
अन्तःपूर्णो बहिःपूर्णः पूर्णकुम्भ इवार्णवे ॥18॥
मा भव ग्राह्यभावात्मा ग्राहकात्मा च मा भव ।
भावनामखिलां त्यक्त्वा यच्छिष्टं तन्मयो भव ॥19॥
द्रष्टृदर्शनदृश्यानि त्यक्त्वा वासनया सह ।
दर्शनप्रथमाभासमात्मानं केवलं भज ॥20॥

वह मनुष्य भीतर से और बाहर से शून्य आकाश में रखे गए घड़े जैसा होता है। अथवा तो भीतर से पूर्ण और बाहर से भी पूर्ण सागर में रखे गए घड़े जैसा होता है। ग्रहण किए जाते हुए पदार्थ रूप तुम मत बनो। सभी भावनाओं का त्याग करके जो शेष बचे, उसी के रूप तुम हो जाओ। तुम द्रष्टा, दृश्य और दर्शन को अपनी वासनाओं के साथ छोड़ ही दो और बाद में दर्शन के प्रथम आभास रूप आत्मा का ही केवल उपासना (चिन्तन) करो।

यथास्थितमिदं यस्य व्यवहारवतोऽपि च ।
अस्तंगतं स्थितं व्योम स जीवन्मुक्त उच्यते ॥21॥

नोदेति नास्तमायाति सुखे दुःखे मनःप्रभा ।
यथाप्राप्तस्थितिर्यस्य स जीवन्मुक्त उच्यते ॥22॥
यो जागर्ति सुषुप्तिस्थो यस्य जाग्रन्न विद्यते ।
यस्य निर्वासनो बोधः स जीवन्मुक्त उच्यते ॥23॥
रागद्वेषभयादीनामनुरूपं चरन्नपि ।
योऽन्तर्व्योमवदच्छन्नः स जीवन्मुक्त उच्यते ॥24॥
यस्य नाहंकृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते ।
कुर्वतोऽकुर्वतो वापि स जीवन्मुक्त उच्यते ॥25॥

जिसके आगे यह जो कुछ जैसा है, वैसा ही रहता हो, और सभी प्रकार का व्यवहार करते हुए भी जिसकी दृष्टि में सब कुछ अस्त ही हो गया हो और केवल आकाश ही रहा हो, वह 'जीवन्मुक्त' कहलाता है। जिसकी मानसिक कान्ति सुख में उगती नहीं है, और दुःख में अस्त नहीं होती, परन्तु प्रथम की ही स्थिति यथास्थिति रहती हो, वह 'जीवन्मुक्त' कहलाता है। जो सुषुप्ति में रहा हुआ भी जागता ही रहता है, जिसे लौकिक जाग्रदवस्था नहीं होती, और जिसका ज्ञान वासनारहित होता है, वह जीवन्मुक्त कहलाता है। राग, द्वेष, भय आदि के योग्य वर्तन जो कर रहा तो हो, परन्तु भीतर तो आकाश की तरह ही जो निर्लेप (अनावृत) ही रहता हो, वह 'जीवन्मुक्त' कहा जाता है। जो कुछ करता हो, या न करता हो परन्तु उसका भाव तो अहंकाररहित ही होता हो, तथा जिसकी बुद्धि लिप्त नहीं होती, वह 'जीवन्मुक्त' कहा जाता है।

यस्मान्नोद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते च यः ।
हर्षामर्षभयोन्मुक्तः स जीवन्मुक्त उच्यते ॥26॥
यः समस्तार्थजालेषु व्यवहार्यपि शीतलः ।
परार्थेष्विव पूर्णात्मा स जीवन्मुक्त उच्यते ॥27॥
प्रजहाति यदा कामान्सर्वांश्चित्तगतान्मुने ।
मयि सर्वात्मके तुष्टः स जीवन्मुक्त उच्यते ॥28॥
चैत्यवर्जितचिन्मात्रे पदे परमपावने ।
अक्षुब्धचित्तो विश्रान्तः स जीवन्मुक्त उच्यते ॥29॥
इदं जगदहं सोऽयं दृश्य जातमवास्तवम् ।
यस्य चित्ते न स्फुरति स जीवन्मुक्त उच्यते ॥30॥

जिससे लोग उद्वेग प्राप्त नहीं करते और जो लोगों से उद्वेग प्राप्त नहीं करता और जो हर्ष, द्वेष तथा भय से रहित हुआ हो, वह 'जीवन्मुक्त' कहा जाता है। व्यवहार के योग्य सभी पदार्थों के समूह मानो पराये ही हों, ऐसा समझकर उनके सम्बन्ध में जो शीतल ही रहता हो, उनके सम्बन्ध में राग-द्वेष से जो मुक्त रहता हो, वह पूर्णात्मा 'जीवन्मुक्त' कहलाता है। हे मुनि ! जब मनुष्य चित्त में रही हुई सभी कामनाओं को छोड़ देता है, और सर्वात्मा मुझमें (अन्तरात्मा में) ही संतुष्ट रहता है, वह 'जीवन्मुक्त' कहलाता है। जाड्यरहित केवल परमपावन चिद्रूप स्थान में अक्षुब्ध (शान्त) चित्तवाला होकर जो विश्राम करता है, वह 'जीवन्मुक्त' कहलाता है। 'यह जगत् मैं ही हूँ और जो यह सब दृश्य है वह मिथ्या है'— ऐसे ज्ञान से जिसके चित्त में आत्मातिरिक्त किसी का भी स्फुरण नहीं होता, वह 'जीवन्मुक्त' कहलाता है।

सद्ब्रह्मणि स्थिरे स्फारे पूर्णे विषयवर्जिते ।
आचार्यशास्त्रमार्गेण प्रविश्याशु स्थिरो भवः ॥31॥

शिवो गुरुः शिवो वेदः शिवो देवः शिवः प्रभुः ।
शिवोऽस्म्यहं शिवः सर्वं शिवादन्यत्र किञ्चन ॥32॥
तमेव धीरो विज्ञाय प्रज्ञां कुर्वीत ब्राह्मणः ।
नानुध्यायद्बहूञ्छब्दान्वाचो विग्लापनं हि तत् ॥33॥
शुको मुक्तो वामदेवोऽपि मुक्तस्ताभ्यां विना मुक्तिभाजो न सन्ति ।
शुकमार्गं येऽनुसरन्ति धीराः सद्यो मुक्तास्ते भवन्तीह लोके ॥34॥
वामदेवं येऽनुसरन्ति नित्यं मृत्वा जनित्वा च पुनःपुनस्तत् ।
ते वै लोके क्रममुक्ता भवन्ति योगैः सांख्यैः कर्मभिः सत्त्वयुक्तैः ॥35॥

सत्यस्वरूप ब्रह्म स्थिर, सर्वव्यापी, पूर्ण और विषयरहित है । उसमें आचार्य और गुरु के बताए हुए मार्ग पर शीघ्र ही प्रवेश करके तुम उसमें स्थिर हो जाओ । 'शिव गुरु है, शिव वेद है, शिव देव है और शिव प्रभु हैं । मैं शिव हूँ और यह सब शिव है, शिव से भिन्न कुछ है ही नहीं'—इस तरह उस परमात्मा को जानकर धीर पुरुष को उसी में बुद्धि करनी चाहिए । उसे अनेक शब्दों का विचार नहीं करना चाहिए, क्योंकि वह तो वाणी को थकाने वाला होता है । शुकदेव मुक्ति को प्राप्त हुए हैं, वामदेव भी मुक्ति को प्राप्त हुए हैं, उनके बिना अन्य लोग मुक्ति को प्राप्त नहीं हुए हैं । इसलिए जो धीर पुरुष शुकदेव के मार्ग का अनुसरण करते हैं, वे इस लोक में शीघ्र ही मुक्त हो जाते हैं । और जो लोग वामदेव के मार्ग का अनुसरण करते हैं, वे लोग बार-बार मरकर और बार-बार जन्म लेकर सांख्य से, योग से या सात्त्विक कर्मों से क्रम मुक्ति को प्राप्त करते हैं ।

शुकश्च वामदेवश्च द्वे सृती देवनिर्मिते ।
शुको विहङ्गमः प्रोक्तो वामदेवः पिपीलिका ॥36॥
अतद्व्यावृत्तिरूपेण साक्षाद्विधिमुखेन वा ।
महावाक्यविचारेण सांख्ययोगसमाधिना ॥37॥
विदित्वा स्वात्मनो रूपं संप्रज्ञातसमाधितः ।
शुकमार्गेण विरजाः प्रयान्ति परमं पदम् ॥38॥
यमाद्यासनजायासहठाभ्यासात्पुनःपुनः ।
विघ्नबाहुल्यसंजात अणिमादिवशादिह ॥39॥

देवों ने शुक और वामदेव—ऐसे दो मार्ग निर्माण किए हैं । शुक पक्षी होता है और वामदेव चींटी होती है । (गति के परिमाण में ।) 'नेति-नेति'—ऐसे वेदोक्त अतद्व्यावृत्ति के रूप में अथवा साक्षात् विधिमुख से, महावाक्यों के विचार से अथवा तो सांख्य और योग की समाधि द्वारा अपने स्वरूप को जानकर संप्रज्ञात समाधि के द्वारा जो रजोगुणरहित हो जाते हैं वे लोग शुक के मार्ग से परमपद को प्राप्त करते हैं । यम आदि तथा आसन आदि करने से जो परिश्रम उत्पन्न होता है उसके तथा हठयोग के बार-बार अभ्यास करने से विघ्न बाहुल्य होता है और अणिमादि सिद्धियों से भी प्रमाण में समुचित फल प्राप्त नहीं होता ।

अलब्ध्वापि फलं सम्यक्पुनर्भूत्वा महाकुले ।
पुनर्वासनयैवायं योगाभ्यासं पुरश्चरन् ॥40॥
अनेकजन्माभ्यासेन वामदेवेन वै पथा ।
सोऽपि मुक्तिं समाप्नोति तद्विष्णोः परमं पदम् ॥41॥
द्वाविमावपि पन्थानौ ब्रह्मप्राप्तिकरौ शिवौ ।

सद्योमुक्तिप्रदश्चैकः क्रममुक्तिप्रदः परः ।
अत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः ॥42॥
यस्यानुभवपर्यन्ता बुद्धिस्तत्त्वे प्रवर्तते ।
तद्दृष्टिगोचराः सर्वे मुच्यन्ते सर्वपातकैः ॥43॥
खेचरा भूचराः सर्वे ब्रह्मविद्दृष्टिगोचराः ।
सद्य एव विमुच्यन्ते कोटिजन्मार्जितैरघैः ॥44॥

इति चतुर्थोऽध्यायः ।

यद्यपि इससे अच्छा (योग्य) फल तो नहीं मिलता, पर वह अच्छे कुल में जन्म प्राप्त करता है, और उस जन्म से वह पूर्व-जन्म की वासना से फिर से अपने योगाभ्यास को आगे बढ़ाता है । इस प्रकार अनेक जन्मों तक अभ्यास करने से वामदेव के मार्ग से वह भी विष्णु के परमधाम रूप मुक्ति को प्राप्त करता है । ये दोनों मार्ग ब्रह्मप्राप्ति कराने वाले और कल्याणस्वरूप हैं । उनमें से एक मार्ग सद्योमुक्ति (तुरन्तमुक्ति) देता है और दूसरा मार्ग क्रममुक्ति देने वाला है । जो मनुष्य सर्वत्र एक आत्मा को ही देखता है, उसको इस लोक में क्या मोह हो सकता है ? और क्या शोक भी हो सकता है ? जिसकी बुद्धि अनुभव-पर्यन्त एक तत्त्व के विचार में ही प्रवर्तमान होती है, उसकी दृष्टि में जो लोक आते हैं, वे सभी पापों से छूट जाते हैं । आकाशविहारी हों या धरती पर विचरण करने वाले हों—वे सभी जीव ब्रह्मवेत्ता पुरुष की दृष्टि पर पड़ते हैं कि तुरन्त ही वे करोड़ों जन्मों के पापों से मुक्त हो जाते हैं ।

यहाँ चौथा अध्याय पूरा हुआ ।

❋

पञ्चमोऽध्यायः

अथ हैनं ऋभुं भगवन्तं निदाघः प्रप्रच्छ योगाभ्यासविधिमनुब्रूहीति ।
तथेति स होवाच—
पञ्चभूतात्मको देह पञ्चमण्डलपूरितः ।
काठिन्यं पृथिवी ह्येका पानीयं तद्द्रवाकृति ॥1॥
दीपनं च भवेत्तेजः प्रचारो वायुलक्षणम् ।
आकाशतत्त्वतः सर्वं ज्ञातव्यं योगमिच्छता ॥2॥

फिर निदाघ ने भगवान् ऋभु से पूछा—'मुझे योगाभ्यास की विधि बताइए ।' तब 'बहुत अच्छा' ऐसा कहकर ऋभु बोले—शरीर पंचभूतात्मक है और पाँच मण्डलों से भरा हुआ है । उनमें जहाँ कठिनता है, वह पृथ्वी है । जहाँ प्रवाह का आकार है, वह जल है । जठर में जो अग्नि जलती है वह तेज है । जो प्रसरण (आना-जाना) है वह वायु है । और जो कुछ खाली है, वह आकाशतत्त्व के कारण से है । योग के जिज्ञासु को यह सब जान लेना चाहिए ।

षट्शतान्यधिकान्यत्र सहस्राण्येकविंशतिः ।
अहोरात्रवहैः श्वासैर्वायुमण्डलघाततः ॥3॥
तत्पृथ्वीमण्डले क्षीणे वलिरायाति देहिनाम् ।
तद्वदापोगणापाये केशाः स्युः पाण्डुराः क्रमात् ॥4॥
तेजःक्षयेऽक्षुधा कान्तिर्नश्यते मारुतक्षये ।
वेपथुः संभवेन्नित्यं नाम्भसेनैव जीवति ॥5॥

इत्थं भूतक्षयान्नित्यं जीवितं भूतधारणम् ।
उड्याणं कुरुते यस्मादविश्रान्तं महाखगः ॥6॥

वायुमण्डल के आघात से इस शरीर में एक रात-दिन के सामान्यतया इक्कीस हजार छः सौ श्वास-प्रश्वास चल रहे हैं। प्राणियों में जब पृथ्वीमंडल (तत्व) कम पड़ जाता है, तो शरीर पर झुर्रियाँ पड़ जाती हैं, जब जल कम पड़ जाता है, तो क्रमशः केश सफेद हो जाते हैं, जब तेजोभाग कम पड़ जाता है, तो ठीक तरह से भूख नहीं लगती तथा कान्ति नष्ट होती है, जब वायुभाग की कमी पड़ जाती है, तो शरीर में नित्य कँपकँपी होती है। और अकेले जल या अकेले आकाश से कोई जी नहीं सकता। इस प्रकार नित्य ही भूतों का क्षय होता रहता है। इसलिए भूतों को धारण किए रहना (भूत धारण करना) ही जीवन है। इसी कारण से बड़े-बड़े पक्षी अविच्छिन्न रीति से सतत ही उड़ते रहते हैं।

उड्डियाणं तदेव स्यात्तत्र बन्धोऽभिधीयते ।
उड्डियाणो ह्यसौ बन्धो मृत्युमातङ्गकेसरी ॥7॥
तस्य मुक्तिस्तनोः कायात्तस्य बन्धो हि दुष्करः ।
अग्नौ तु चालिते कुक्षौ वेदना जायते भृशम् ॥8॥
न कार्या क्षुधितेनापि नापि विण्मूत्रवेगिना ।
हितं मितं च भोक्तव्यं स्तोकं स्तोकमनेकधा ॥9॥
मृदुमध्यममन्त्रेषु क्रमान्मन्त्रं लयं हठम् ।
लयमन्त्रहठा योगा योगो ह्यष्टाङ्गसंयुतः ॥10॥

इसी को उड्डियाणबन्ध कहा जाता है। इस उड्डियाणबन्ध को यदि हमारे शरीर में प्रतिदिन किया जाए, तब मृत्युरूप हाथी का नाश करने में वह केसरी (सिंह) जैसा होता है। शरीर से इसकी मुक्ति भी हो सकती है परन्तु निर्दिष्ट पुरुष के लिए यह उड्डियाणबन्ध दुष्कर है, क्योंकि अग्नि को जब चलायमान किया जाता है, तब पेट में बड़ी वेदना होती है, इसलिए भूखे मनुष्य को और विष्टा-मूत्र के वेग वाले मनुष्य को यह उड्डियाणबन्ध नहीं करना चाहिए। जिसे योगक्रिया करनी हो, उसे हितकारी, थोड़ा-थोड़ा और प्रमाणपुरःसर (प्रमाण के अनुसार) खाना चाहिए। इस प्रकार विविध खाद्यों से क्षुधाशान्ति करके मृदु = लय, मध्यम = हठ और मन्त्र = नादानुसन्धान—इन योगों की साधना करनी चाहिए। इन तीन योगों में प्रथम क्रम लययोग का, द्वितीय मन्त्रयोग का और तीसरा क्रम हठयोग का है। उनमें हठयोग यम आदि आठ अंगों वाला होता है।

यमश्च नियमश्चैव तथा चासनमेव च ।
प्राणायामस्तथा पश्चात्प्रत्याहारस्तथा परम् ॥11॥
धारणा च तथा ध्यानं समाधिश्चाष्टमो भवेत् ।
अहिंसा सत्यमस्तेयं ब्रह्मचर्यं दयार्जवम् ॥12॥
क्षमा धृतिर्मिताहारः शौचं चेति यमा दश ।
तपः सन्तोषमास्तिक्यं दानमीश्वरपूजनम् ॥13॥
सिद्धान्तश्रवणं चैव ह्रीर्मतिश्च जपो व्रतम् ।
एते हि नियमाः प्रोक्ता दशधैव महामते ॥14॥

हे बुद्धिमान ! यम, नियम, आसन, प्राणायाम, धारणा, प्रत्याहार, ध्यान और आठवीं समाधि—ये आठ योग के अंग हैं। इनमें अहिंसा, सत्य, अस्तेय (चोरी न करना), ब्रह्मचर्य, दया, आर्जव (सरलता), क्षमा, धैर्य, मिताहार तथा बाहर-भीतर की पवित्रता—ये दश यम हैं। इसी प्रकार तप, सन्तोष, आस्तिकता, दान, ईश्वरपूजन, सिद्धान्तश्रवण, लज्जा, मनन, जप और व्रत—ये दस नियम कहे जाते हैं।

एकादशासनानि स्युश्चक्रादि मुनिसत्तम ।
चक्रं पद्मासनं कूर्मं मयूरं कुक्कुटं तथा ॥15॥
वीरासनं स्वस्तिकं च भद्रं सिंहासनं तथा ।
मुक्तासनं गोमुखं च कीर्तितं योगवित्तमैः ॥16॥
सव्योरु दक्षिणे गुल्फे दक्षिणं दक्षिणेतरे ।
निदध्यादृजुकायस्तु चक्रासनमिदं मतम् ॥17॥

हे मुनिश्रेष्ठ ! चक्र आदि आसन ग्यारह हैं। चक्रासन, पद्मासन, कूर्मासन, मयूरासन, कुक्कुटासन, वीरासन, स्वस्तिकासन, भद्रासन, सिंहासन, मुक्तासन और गोमुखासन—ये ग्यारह आसन योगवेत्ताओं ने कहे हैं। (यहाँ ग्यारह आसन कहे हैं, जब कि जाबालदर्शनोपनिषद् में नौ आसन बताए हैं। यहाँ पर चक्रासन और कूर्मासन—दो ज्यादा बताए गए हैं। उनमें से चक्रासन का स्वरूप तो यहाँ बताया गया है, अन्य आसनों के स्वरूप जाबालदर्शनोपनिषत् में बताए गए हैं। कूर्मासन के विषय में जिज्ञासु को किसी योग्य गुरु के पास जाकर उसकी जानकारी प्राप्त कर लेनी चाहिए।) जब बाँयीं जाँघ दाहिने टखने पर और दाहिनी जाँघ बाँयें टखने पर रखी जाए और शरीर एकदम सीधा रखा जाय, तब उसे चक्रासन माना गया है।

पूरकः कुम्भकस्तद्वद्रेचकः पूरकः पुनः ।
प्राणायामः स्वनाडीभिस्तस्मान्नाडीः प्रचक्षते ॥18॥
शरीरं सर्वजन्तूनां षण्णवत्यङ्गुलात्मकम् ।
तन्मध्ये पायुदेशात्तु द्व्यङ्गुलात्परतः परम् ॥19॥
मेढ्रदेशादधस्तात्तु द्व्यङ्गुलान्मध्यमुच्यते ।
मेढ्रान्नवाङ्गुलादूर्ध्वं नाडीनां कन्दमुच्यते ॥20॥
चतुरङ्गुलमुत्सेधं चतुरङ्गुलमायतम् ।
अण्डाकारं परिवृतं मेदोमज्जास्थिशोणितैः ॥21॥

पूरक, कुंभक और रेचक—इस तीन प्रकार का प्राणायाम होता है। वह अपनी नाड़ियों के द्वारा ही होता है, इसलिए नाडियाँ कही जाती हैं। सभी प्राणियों का (मनुष्यों का) शरीर छियानबे अंगुल के प्रमाण का होता है। इस शरीर में गुदा के ऊपर दो अंगुल और लिंग प्रदेश के नीचे दो अंगुल को शरीर का मध्यप्रदेश कहा जाता है। और लिंग के नीचे—एक अंगुल ऊँचे नाड़ियों का कन्द (मूल स्थान) कहा जाता है। वह चार अंगुल ऊँचा, चार अंगुल लम्बा-चौड़ा, अण्ड जैसे आकार का है और मेद, मज्जा, हड्डियों और रक्त से आवृत है।

तत्रैव नाडीचक्रं तु द्वादशारं प्रतिष्ठितम् ।
शरीरं ध्रियते येन वर्तते तत्र कुण्डली ॥22॥
ब्रह्मरन्ध्रं सुषुम्णा या वदनेन पिधाय सा ।
अलम्बुसा सुषुम्णायाः कुहूनाडी वसत्यसौ ॥23॥
अनन्तरारयुग्मे तु वारुणा च यशस्विनी ।
दक्षिणारे सुषुम्णायाः पिङ्गला वर्तते क्रमात् ॥24॥

तदन्तरारयोः पूषा वर्तते च पयस्विनी।
सुषुम्ना पश्चिमे चारे स्थिता नाडी सरस्वती ॥25॥

वहीं नाड़ीचक्र स्थित है। वह बारह आराओं वाला है। इसी के द्वारा शरीर धारण किया जाता है। उसमें कुण्डली अवस्थित है। नाड़ीचक्र में जो सुषुम्ना नाड़ी है, उसने अपने मुख से ब्रह्मरन्ध्र को ढँककर रखा है। अलम्बुसा और कुहू नाड़ियाँ सुषुम्णा के पास में होती हैं और सुषुम्णा के दाहिनी ओर के आरे में पिंगला नाड़ी अवस्थित है। इसके बाद के दो आरों में पूषा और यशस्विनी—ये दो नाड़ियाँ हैं, और सुषुम्ना के पश्चिम के आरे में सरस्वती नाड़ी है।

शङ्खिनी चैव गान्धारी तदनन्तरयोः स्थिते।
उत्तरे तु सुषुम्नाया इडाख्या निवसत्यसौ ॥26॥
अनन्तरं हस्तिजिह्वा ततो विश्वोदरी स्थिता।
प्रदक्षिणक्रमेणैव चक्रस्यारेषु नाडयः ॥27॥
वर्तन्ते द्वादश ह्येता द्वादशानिलवाहकाः।
पटवत्संस्थिता नाड्यो नानावर्णाः समीरिताः ॥28॥
पटमध्यं तु यत्स्थानं नाभिचक्रं तदुच्यते।
नादाधारा समाख्याता ज्वलन्ती नादरूपिणी ॥29॥
पररन्ध्रा सुषुम्ना च चत्वारो रत्नपूरिताः।
कुण्डल्या पिहितं शश्वद्ब्रह्मरन्ध्रस्य मध्यमम् ॥30॥

इसके बाद के दो आरों में शंखिनी और गान्धारी नाड़ियाँ हैं। सुषुम्ना के उत्तर भाग में इडा नाम की नाड़ी रहती है। इसके बाद हस्तिजिह्वा और विश्वोदरी नाडियाँ आयी हुई हैं। इंस तरह इस नाडी चक्र के आराओं में दाहिनी ओर के प्रदक्षिणा के क्रम से नाडियाँ आई हुई हैं। ये बारह नाडियाँ हैं। उनमें बारह वायु बह रहे हैं। वे वस्त्र की तरह रही हुई हैं और तरह-तरह के रंगों वाली कही गई हैं। नाभि प्रदेश का जो मध्य स्थान है, उसे नाभिचक्र कहा जाता है। और जो नाडीनाद का आधार है उसे ज्वलन्ती और नादरूपिणी कहा गया है। पररन्ध्रा और सुषुम्ना आदि चार रत्नों से भरपूर हैं। और ब्रह्मरन्ध्र का मध्यभाग सदैव कुण्डली के द्वारा ढँका हुआ ही रहता है। (आवृत होकर रहता है।)

एवमेतासु नाडीषु धरन्ति दश वायवः।
एवं नाडीगतिं वायुगतिं ज्ञात्वा विचक्षणः ॥31॥
समग्रीवशिरःकायः संवृतास्यः सुनिश्चलः।
नासाग्रे चैव हृन्मध्ये बिन्दुमध्ये तुरीयकम् ॥32॥
स्रवन्तममृतं पश्येन्नेत्राभ्यां सुसमाहितः।
अपानं मुकुलीकृत्य पायुमाकृष्य चोन्मुखम् ॥33॥
प्रणवेन समुत्थाप्य श्रीबीजेन निवर्तयेत्।
स्वात्मानं च श्रियं ध्यायेदमृतप्लावनं ततः ॥34॥

इस प्रकार इन नाडियों में दश वायु धारण किए जाते हैं। इस तरह नाडीगति और वायुगति को जानकर बुद्धिमान मनुष्य को गर्दन, मस्तक और शरीर को सीधा रखकर, मुँह बन्द करके, एकदम निश्चल होकर बैठना चाहिए और नासिका के अग्रभाग में, हृदय के बीच में और बिन्दु के बीच जो तुरीय पद अवस्थित है, उसे एकदम एकाग्र होकर, दोनों नेत्रों से उससे होता हुआ अमृत का स्रवण देखना चाहिए। फिर बाद में अपानवायु का संकोच करके गुदा को ऊँचे खींचना चाहिए। इस प्रकार प्रणवमंत्र

के द्वारा ठीक तौर से उसे ऊपर स्थापित करके लक्ष्मीबीज के द्वारा उसे वापिस लौटाना चाहिए। उस समय अपने आत्मा का लक्ष्मी के रूप में ध्यान करना चाहिए। इससे अमृत के द्वारा तरबतर हुआ जा सकता है।

कालवञ्चनमेतद्धि सर्वमुख्यं प्रचक्षते।
मनसा चिन्तितं कार्यं मनसा येन सिद्ध्यति ॥35॥
जलेऽग्निज्वलनाच्छाखापल्लवानि भवन्ति हि।
नाधन्यं जागतं वाक्यं विपरीता भवत्क्रिया ॥36॥
मार्गे बिन्दुं समाबध्य वह्निं प्रज्वाल्य जीवने।
शोषयित्वा तु सलिलं तेन कायं दृढं भवेत् ॥37॥
गुदयोनिसमायुक्त आकुञ्चत्येककालतः।
अपानमूर्ध्वगं कृत्वा समानोऽन्ने नियोजयेत् ॥38॥

इसे ही सभी में मुख्य कालवञ्चन कहा जाता है। इसी के द्वारा मन में चिन्तित कार्य मन में ही सिद्ध हो जाता है। "जल स्थान में अग्नि प्रकट करने से भी शाखाएँ और कोंपलें प्रस्फुटित होती हैं—यह जो जगत् का वाक्य है, वह यहाँ अधन्य (अकृतार्थ) नहीं होता (कृतार्थ ही होता है), यहाँ विपरीत क्रिया होती ही है। मार्ग में बिन्दु को बाँधकर, जीवन में अग्नि को प्रज्वलित करके जल को सुखा देना चाहिए, इससे शरीर दृढ़ (मजबूत) बनता है। गुदारूप मूल स्थान में एकाग्र होकर एक ही समय में (उसी समय) अपानवायु का संकोच भी करना चाहिए। और इस तरह उसे ऊर्ध्वगामी बनाकर समान के रूप में जठर के अन्न के साथ जोड़ना चाहिए।

स्वात्मानं च श्रियं ध्यायेदमृतप्लावनं ततः।
बलं समारभेद्योगं मध्यमद्वारभागतः ॥39॥
भावयेदूर्ध्वगत्यर्थं प्राणापानसुयोगतः।
एष योगो वरो देहे सिद्धिमार्गप्रकाशकः ॥40॥
यथैवापाङ्गतः सेतुः प्रवाहस्य निरोधकः।
तथा शरीरगाच्छाया ज्ञातव्या योगिभिः सदा ॥41॥
सर्वासामेव नाडीनामेष बन्धः प्रकीर्तितः।
बन्धस्यास्य प्रसादेन स्फुटीभवति देवता ॥42॥

उस समय अपने आत्मा का लक्ष्मी के रूप में ध्यान करना चाहिए। इससे अमृत में तरबतर हुआ जा सकता है। यह योग बलरूप है। इसका बीच के द्वारभाग से आरंभ करना चाहिए। प्राण और अपान का सुयोग करके उसकी ऊर्ध्वगति की भावना करनी चाहिए। यह उत्तम योग है और देह में सिद्धि का मार्ग प्रकट करने वाला है। जैसे बीच में मेंड़ (बाँध) बाँधी हो, तो वह पानी के प्रवाह को रोकती है, वैसे ही योगियों के शरीर की छाया के बारे में समझना चाहिए। इसे 'सर्वनाडीबन्ध' कहा जाता है। इस बन्ध के सिद्ध होने पर आत्मारूप देवता स्फुट हो जाता है।

एवं चतुष्पथो बन्धो मार्गत्रयनिरोधकः।
एकं विकासयन्मार्गं येन सिद्धाः सुसङ्गताः ॥43॥
उदानमूर्ध्वगं कृत्वा प्राणेन सह वेगतः।
बन्धोऽयं सर्वनाडीनामूर्ध्वं याति निरोधकः ॥44॥

अयं च सम्पुटो योगो मूलबन्धोऽप्ययं मतः।
बन्धत्रयमनेनैव सिद्ध्यत्यभ्यासयोगतः ॥45॥
दिवारात्रमविच्छिन्नं यामे यामे यदा यदा।
अनेनाभ्यासयोगेन वायुरभ्यसितो भवेत् ॥46॥

इस प्रकार चार मार्ग वाला यह बन्ध तीन मार्गों को रोकता है, एवं एक मार्ग को खुला कर देता है, जिससे सिद्ध हुए मनुष्यों ने अच्छी तरह से आत्मतत्त्व को प्राप्त कर लिया है। प्राण के साथ उदान वायु को ऊर्ध्वगामी करके तुरन्त ही यह नाडियों का बन्ध किया जा सकता है। वह निरोधक है, इसलिए ऊपर ही ऊपर जाता है। यह सम्पुट योग है। इसे 'मूलबन्ध' भी माना गया है। इसका अभ्यास करने से अन्य तीन बन्ध इसी के द्वारा सिद्ध हो जाते हैं। रात-दिन और प्रहर-प्रहर पर जिस समय इसका अभ्यास किया जाता है, उस-उस समय वायु वश में आने लगता है।

वायावभ्यसिते वह्निः प्रत्यहं वर्धते तनौ।
वह्नौ विवर्धमाने तु सुखमन्नादि जीर्यते ॥47॥
अन्नस्य परिपाकेन रसवृद्धिः प्रजायते।
रसे वृद्धिं गते नित्यं वर्धन्ते धातवस्तथा ॥48॥
धातूनां वर्धनेनैव प्रबोधो वर्धते तनौ।
दह्यन्ते सर्वपापानि जन्मकोट्यर्जितानि च ॥49॥
गुदमेढ्रान्तरालस्थं मूलाधारं त्रिकोणकम्।
शिवस्य बिन्दुरूपस्य स्थानं तद्धि प्रकाशकम् ॥50॥

इस प्रकार वायु को वश करने का अभ्यास होने पर शरीर में प्रतिदिन अग्नि बढ़ता रहता है और अग्नि के बढ़ने से अन्न आदि आसानी से पच जाते हैं। अन्न का ठीक तरह से पाचन होने से रस की वृद्धि होती है, और रस की वृद्धि होने से दिन-प्रति-दिन धातु की वृद्धि होती रहती है। इस प्रकार से धातुओं के बढ़ने से शरीर में ज्ञान बढ़ जाता है, और करोड़ों जन्मों के सभी पाप जल जाते हैं। गुदा और लिंग के बीच में मूलाधार अवस्थित है, उसके तीन कोने हैं और वही स्थान बिन्दुरूप शिव का प्रकाशक स्थान है।

यत्र कुण्डलिनी नाम परा शक्तिः प्रतिष्ठिता।
यस्मादुत्पद्यते वायुर्यस्माद्वह्निः प्रवर्धते ॥51॥
यस्मादुत्पद्यते बिन्दुर्यस्मान्नादः प्रवर्धते।
यस्मादुत्पद्यते हंसो यस्मादुत्पद्यते मनः ॥52॥
मूलाधारादिषट्चक्रं शक्तिस्थानमुदीरितम्।
कण्ठादुपरि मूर्धान्तं शाम्भवं स्थानमुच्यते ॥53॥
नाडीनामाश्रयः पिण्डो नाड्यः प्राणस्य चाश्रयः।
जीवस्य निलयः प्राणो जीवो हंसस्य चाश्रयः ॥54॥

वहाँ पर कुण्डलिनी नाम की पराशक्ति का स्थान है। वहाँ से वायु उत्पन्न होता है, और वहीं से अग्नि भी बढ़ती है। वहाँ से बिन्दु उत्पन्न होता है, वहीं से नाद बढ़ता है, वहीं से 'हंस' (सोऽहं मंत्र) भी उत्पन्न होता है, और वहीं से मन उत्पन्न होता है। मूलाधार आदि छः चक्र शक्ति का स्थान कहलाते हैं, और कण्ठ के ऊपर, मस्तक तक 'शांभव स्थान'—आत्मा का स्थान कहा जाता है। यह देह

नाडियों का आश्रयस्थान है, एवं नाडियाँ प्राण का आश्रय है, प्राण जीव का आश्रयस्थान है और जीव का परमात्मा आश्रयस्थान है।

हंसः शक्तेरधिष्ठानं चराचरमिदं जगत्।
निर्विकल्पः प्रसन्नात्मा प्राणायामं समभ्यसेत् ॥55॥
सम्यग्बन्धत्रयस्थोऽपि लक्ष्यलक्षणकारणम्।
वेद्यं समुद्धरेन्नित्यं सत्यसन्धानमानसः ॥56॥
रेचकं पूरकं चैव कुम्भमध्ये निरोधयेत्।
दृश्यमाने परे लक्ष्ये ब्रह्मणि स्वयमाश्रितः ॥57॥
बाह्यस्थविषयं सर्वं रेचकः समुदाहृतः।
पूरकं शास्त्रविज्ञानं कुम्भकं स्वगतं स्मृतम् ॥58॥

वह हंस शक्ति का मूल स्थान है। वही स्थावर-जंगम जगत् है—ऐसा समझकर, विकल्परहित होकर प्राणायाम का अच्छी तरह से अभ्यास करना चाहिए। जिस मनुष्य को सत्य का (आत्मतत्त्व का) अनुसन्धान करने की मनीषा हुई हो, उसको तीनों बन्धों में अच्छी तरह रहते हुए भी लक्ष्य-लक्षण का कारण और नित्य जाननेयोग्य परम तत्त्व को खोज निकालना चाहिए। परब्रह्मरूप प्रत्यक्ष लक्ष्य में अपनी स्थिति करके रेचक और पूरक प्राणायाम को कुंभक के बीच में रोककर बहुत अभ्यास करके अन्त में कुंभक में स्थिति कर देनी चाहिए। बाहर के सभी विषय रेचक कहलाते हैं। शास्त्रों का अनुभव ज्ञान पूरक है और अपने में रहा हुआ परम तत्त्व कुंभक कहलाता है।

एवमभ्यासचित्तश्चेत्स मुक्तो नात्र संशयः।
कुम्भकेन समारोप्य कुम्भकेनैव पूरयेत् ॥59॥
कुम्भेन कुम्भयेत्कुम्भं तदन्तस्थः परं शिवम्।
पुनरास्फालयेदद्य सुस्थिरं कण्ठमुद्रया ॥60॥
वायूनां गतिमावृत्य धृत्वा पूरककुम्भकौ।
समहस्तयुगं भूमौ समं पादयुगं तथा ॥61॥
वेधकक्रमयोगेन चतुष्पीठं तु वायुना।
आस्फालयेन्महामेरुं वायुवक्त्रे प्रकोटिभिः ॥62॥

इस प्रकार अभ्यास करने में यदि चित्त लग जाए, तो वह मुक्त हो जाता है, इसमें कोई भी सन्देह नहीं है। कुम्भक से चढ़ाकर कुम्भक को ही पूरक करना चाहिए। फिर उस कुंभक से ही कुंभक करना चाहिए। और उसके अन्दर स्थिति करके परमशिव का ध्यान करना चाहिए और फिर कण्ठमुद्रा से अत्यन्त स्थिरता से फिर से आस्फालन (कुम्भक द्वारा ही वायु का संचरण) करना चाहिए। वायुओं की गति को घेरकर, पूरक और कुम्भक धारण करके दोनों हाथ सीधे रखने चाहिए, और पृथ्वी पर दोनों पैर भी सीधे रखने चाहिए। वेधक क्रम के योग से वायु के द्वारा वायु के मुख में प्रकोटियों से चार पीठवाले महामेरु का आस्फालन करना चाहिए। (वेधक योग अर्थात् ब्रह्मा-विष्णु-रुद्र ग्रन्थियों का वेध।)

पुटद्वयं समाकृष्य वायुः स्फुरति सत्त्वरम्।
सोमसूर्याग्निसम्बन्धाज्जानीयादमृताय वै ॥63॥
मेरुमध्यगता देवाश्चलन्ते मेरुचालनात्।
आदौ सञ्जायते क्षिप्रं वधोऽस्य ब्रह्मग्रन्थितः ॥64॥

ब्रह्मग्रन्थिं ततो भित्त्वा विष्णुग्रन्थिं भिनत्त्यसौ ।
विष्णुग्रन्थिं ततो भित्त्वा रुद्रग्रन्थिं भिनत्त्यसौ ॥65॥
रुद्रग्रन्थिं ततो भित्त्वा छित्वा मोहमलं तथा ।
अनेकजन्मसंस्कारगुरुदेवप्रसादतः ॥66॥

जिस समय वायु सोम, सूर्य तथा अग्नि के सम्बन्ध से तुरन्त ही दोनों नासापुटों को खींचकर स्फुरित होता है, तब वह अमृत देने वाला होता है, ऐसा समझना चाहिए। मेरु का संचालन करने से मेरु के मध्य में रहते हुए देव चलित होते हैं, और तुरन्त ही प्रथम ग्रन्थि के द्वारा उसका वेध होता है। बाद में ब्रह्मग्रन्थि भेदकर वह योगी विष्णुग्रन्थि को भेदता है। और विष्णुग्रन्थि को भेदकर रुद्रग्रन्थि को भेदता है। रुद्रग्रन्थि को भेदकर अनेक जन्मों के संस्कारों तथा गुरु की कृपा से मोहरूपी मैल को काटकर वह परमपद को प्राप्त हो जाता है।

योगाभ्यासात्ततो वेधो जायते तस्य योगिनः ।
इडापिङ्गलयोर्मध्ये सुषुम्नानाडिमण्डले ॥67॥
मुद्राबन्धविशेषेण वायुमूर्ध्वं च कारयेत् ।
ह्रस्वो दहति पापानि दीर्घो मोक्षप्रदायकः ॥68॥
आप्यायनः प्लुतो वापि त्रिविधोच्चारणेन तु ।
तैलधारामिवाच्छिन्नं दीर्घघण्टानिनादवत् ॥69॥
अवाच्यं प्रणवस्याग्रं यस्तं वेद स वेदवित् ।
ह्रस्वं बिन्दुगतं दैर्घ्यं ब्रह्मरन्ध्रगतं प्लुतम् ।
द्वादशान्तगतं मन्त्रं प्रसादं मन्त्रसिद्धये ॥70॥

इस प्रकार योगाभ्यास करने के बाद, उस योगी को इडा और पिंगला के बीच की सुषुम्ना नाडी के मण्डल में वेध होता है। इसके लिए मुद्रा तथा बन्धों की विशेषता के द्वारा वायु को ऊर्ध्व गतिवाला करना चाहिए। वह वायु ह्रस्व होता है, तो पापों को जलाता है, और दीर्घ होता है तो मोक्षदायक होता है, और प्लुत हो तो पुष्टिकारक होता है। इस प्रकार तीन प्रकार के उच्चारणों से वह युक्त होता है। घण्ट के दीर्घ निनाद जैसा और तेल की धारा की तरह अविच्छिन्न ऐसा प्रणव का जो अग्र भाग है, वह अवर्णनीय है। उसे जो जानता है, वह वेदवेत्ता है। इस प्रणवमंत्र के ह्रस्व भाग को बिन्दु में अवस्थित मानकर तथा दीर्घ भाग को ब्रह्मरन्ध्र में तथा प्लुत भाग को द्वादशार चक्र के अन्त में अवस्थित मानकर ध्यान करना चाहिए, जिससे प्रसादरूप होकर वह मंत्र की सिद्धि के लिए हो।

सर्वविघ्नहरश्चायं प्रणवः सर्वदोषहा ।
आरम्भश्च घटश्चैव पुनः परिचयस्तथा ॥71॥
निष्पत्तिश्चेति कथिताश्चतस्रस्तस्य भूमिकाः ।
कारणत्रयसम्भूतं बाह्यं कर्म परित्यजन् ॥72॥
आन्तरं कर्म कुरुते यत्रारम्भः स उच्यते ।
वायुः पश्चिमतो वेधं कुर्वन्नापूर्य सुस्थिरम् ॥73॥
यत्र तिष्ठति सा प्रोक्ता घटाख्या भूमिका बुधैः ।
न सजीवो न निर्जीवः काये तिष्ठति निश्चलम् ।
यत्र वायुः स्थिरः खे स्यात्सेयं प्रथम भूमिका ॥74॥

यह प्रणवमंत्र सभी विघ्नों को हरने वाला और सर्वदोषों का नाश करने वाला है। इसकी चार भूमिकाएँ हैं—आरंभ, घट, परिचय और निष्पत्ति। उनमें आरंभ यह है कि जहाँ मन-कर्म-वचन—तीनों से होते हुए बाह्य कर्मों का त्याग करके भीतर के ही कर्म किए जाते हैं। विद्वानों ने घट नाम की दूसरी भूमिका ऐसे बताई है कि जिसमें पश्चिम से वेध करता हुआ वायु चारों ओर से पूर्ण होकर अत्यन्त स्थिर रहता हो। जिसमें वायु सजीव भी न हो और निर्जीव भी न हो, ऐसा वायु शरीर में स्थिर रहे और हृदयाकाश में स्थित बना रहे उसे प्रथम परिचय नाम की भूमिका कहा गया है।

यत्रात्मना सृष्टिलयौ जीवन्मुक्तिदशागतः ।
सहजः कुरुते योगं सेयं निष्पत्तिभूमिका ॥75॥ इति ।

और जिसमें जीवन्मुक्ति में पहुँचा हुआ मनुष्य सहजस्वरूप बनकर स्वयं ही सृष्टि तथा लय को कर सकता हो, वह निष्पत्ति भूमिका है।

एतदुपनिषदं योऽधीते सोऽग्निपूतो भवति। स वायुपूतो भवति। सुरापानात्पूतो भवति। स्वर्णस्तेयात्पूतो भवति। स जीवन्मुक्तो भवति। तदेतदृचाभ्युक्तम्। तद्विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः। दिवीव चक्षुराततम्। तद्विप्रासो विपन्यवो जागृवांसः समिन्धते। विष्णोर्यत्परमं पदमित्युपनिषत् ॥76॥

इति पञ्चमोऽध्यायः ।

इति वराहोपनिषत्समाप्ता ।

इस प्रकार इस उपनिषद् को जो जानता है, वह अग्नि जैसा पवित्र हो जाता है, वह वायु जैसा पवित्र हो जाता है, वह सुरापान के पाप से मुक्त होता है, वह सुवर्ण की चोरी के पाप से मुक्त हो जाता है, वह जीवन्मुक्त हो जाता है। ऐसा ही ऋचा में कहा गया है—"विष्णु के उस परम पद को आकाश में फैले हुए चक्षु की भाँति ज्ञानी लोग सदैव देखते हैं। विष्णु का जो परम पद है, उसमें जाग्रत् रहने वाले ब्रह्मज्ञानी क्रोधरहित होकर अच्छी तरह से प्रकाशित हो रहे हैं।

यहाँ पाँचवाँ अध्याय पूरा हुआ।
इस प्रकार वराहोपनिषत् समाप्त होती है।

शान्तिपाठः

ॐ सह नाववतु। सह नौ—मा विद्विषावहै। (पूर्ववत्)
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

(102) शाट्यायनीयोपनिषत्

(उपनिषत्परिचय)

शुक्लयजुर्वेदीय यह उपनिषद् 40 मंत्रों की है। इसमें विष्णुलिंग संन्यासधर्म का विवेचन किया गया है। इसमें मन का बन्धन और मोक्ष का हेतुत्व, साधन-चतुष्टय सम्पत्ति, कुटीचक के धर्म, चार प्रकार के संन्यासी और उनके धर्म, कुटीचकों के जप-यज्ञ आदि, योगयज्ञ आदि चार प्रकार के यज्ञ, परिव्राजकों के कर्तव्य, उनके वासस्थान आदि के नियम, आत्मज्ञानी की स्थिति, आरूढच्युतत्व में प्रत्यवाय विष्णु के लिंगद्वय का अनुवर्तन—ये विषय प्रतिपादित किए हुए हैं।

शान्तिपाठः

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं—पूर्णमेवावशिष्यते। (पूर्ववत्)
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

इसका हिन्दी रूपान्तर पूर्व में (पैंगलोपनिषत् में) द्रष्टव्य है।

मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः।
बन्धाय विषयासक्तं मुक्त्यै निर्विषयं स्मृतम् ॥1॥
समासक्तं सदा चित्तं जन्तोर्विषयगोचरे।
यद्येवं ब्रह्मणि स्यात्तत्को न मुच्येत बन्धनात् ॥2॥
चित्तमेव हि संसारस्तत्प्रयत्नेन शोधयेत्।
यच्चित्तस्तन्मयो भाति गुह्यमेतत्सनातनम् ॥3॥
नावेदविन्मनुते तं बृहन्तं नाब्रह्मवित्परमं प्रैति धाम।
विष्णुक्रान्तं वासुदेवं विजानन्विप्रो विप्रत्वं गच्छते तत्त्वदर्शी ॥4॥

मन ही मनुष्य के बन्ध और मोक्ष का कारण होता है। विषयों में आसक्त मन बन्ध के लिए होता है, और विषयों से रहित मन मोक्ष के लिए होता है। जैसा प्राणी का चित्त विषयों की ओर आसक्त होता है, वैसा ही यदि ब्रह्म में आसक्त होता तो बन्धन से कौन मुक्त नहीं होता ? (सभी मुक्त हो जाते) चित्त ही संसार है, उसे प्रयत्नपूर्वक शुद्ध करना चाहिए। जैसा मनुष्य का चित्त होता है, वैसा ही वह होता है, यह सनातन और गूढ सत्य है। वेदतत्त्व को न जानने वाले के लिए तो विराट् है ही नहीं। वह उसे मानता ही नहीं। ब्रह्म को नहीं जानने वाला उस परमधाम को प्राप्त ही नहीं कर सकता। उस सर्वान्तर्यामी सर्वज्ञ वासुदेव को जानने वाला ब्राह्मण ही तत्त्वदर्शी होकर अपने स्वरूप को प्राप्त कर सकता है।

अथ ह यत्परं ब्रह्म सनातनं ये श्रोत्रिया अकामहता अधीयुः।
शान्तो दान्त उपरतस्तितिक्षुर्योऽनूचानो ह्यभिजज्ञौ समानः।

त्यक्तैषणो ह्यनृणस्तं विदित्वा मौनी वसेदाश्रमे यत्र कुत्र ॥5॥
अथाश्रमं चरमं संप्रविश्य यथोपपत्ति पञ्चमात्रां दधानः ॥6॥

अब जो श्रोत्रिय—वेदरहस्यज्ञ लोग इस सनातन परब्रह्म को किसी कामना के बिना ही समझ लेते हैं, वे ब्रह्मस्वरूप ही हो जाते हैं। ऐसा पुरुष शान्त, संयमी, विषयभोगों से उपरत (पराङ्मुख), सहनशील, वेदज्ञ, एषणाओं से रहित, गुरु-देव-पितृ ऋणों से मुक्त होकर मुमुक्षु के समान बनकर उस परमतत्त्व (ब्रह्म) को जान कर, मौनी बनकर, जहाँ-कहीं भी आश्रम में निवास करे। इसके बाद अन्तिम संन्यासाश्रम में प्रविष्ट होकर यथासाध्य त्रिदण्ड आदि पंच मात्राओं को स्वीकार करता हुआ मोक्ष प्राप्त करे।

त्रिदण्डमुपवीतं च वासः कौपीनवेष्टनम्।
शिक्यं पवित्रमित्येतद् बिभृयाद्यावदायुषम् ॥7॥
पञ्चैतास्तु यतेर्मात्रास्ता मात्रा ब्रह्मणे श्रुताः।
न त्यजेद्यावदुत्क्रान्तिरन्तेऽपि निखनेत्सह ॥8॥
विष्णुलिङ्गं द्विधा प्रोक्तं व्यक्तमव्यक्तमेव च।
तयोरेकमपि त्यक्त्वा पतत्येव न संशयः ॥9॥
त्रिदण्डं वैष्णवं लिङ्गं विप्राणां मुक्तिसाधनम्।
निर्वाणं सर्वधर्माणामिति वेदानुशासनम् ॥10॥

और जहाँ तक आयुष्य रहे, वहाँ तक त्रिदण्ड, उपवीत, वस्त्र, लंगोटी, छींका और पवित्री धारण करे। यति की ये पाँचों मात्राएँ ब्रह्म (ॐकार) में समाहित हैं। इनका त्याग कभी नहीं करना चाहिए। इन सभी को मृत्यु आने पर शरीर के साथ जमीन में गाड़ देना चाहिए। विष्णुलिंग व्यक्त और अव्यक्त के भेद से दो प्रकार का होता है। संन्यासी यदि इन दोनों में से एक को भी छोड़ेगा तो वह पथभ्रष्ट हो जाएगा, इसमें कोई सन्देह नहीं है। त्रिदण्ड को वैष्णवलिंग के रूप में जाना जाता है। यह चिह्न ब्राह्मणों को मुक्तिप्रदायक होता है। यह चिह्न वेद का अनुशासन रूप तथा सर्व धर्मों का निर्वाण माना जाता है।

अथ खलु सौम्य कुटीचको बहूदको हंसः परमहंस इत्येते परिव्राजकाश्चतुर्विधा भवन्ति। सर्व एते विष्णुलिङ्गिनः शिखिन उपवीतिनः शुद्धचित्ता आत्मानमात्मना ब्रह्म भावयन्तः शुद्धचिद्रूपोपासनरता जपयमवन्तो नियमवन्तः सुशीलिनः पुण्यश्लोका भवन्ति। तदेतदृचाभ्युक्तम्।

कुटीचको बहूदकश्चापि हंसः परमहंस इव वृत्त्या च भिन्नाः।
सर्व एते विष्णुलिङ्गं दधाना वृत्त्या व्यक्तं बहिरन्तश्च नित्यम् ॥11॥

अब हे सौम्य ! कुटीचक, बहूदक, हंस और परमहंस—ये चार प्रकार के परिव्राजक (संन्यासी) होते हैं। ये सभी विष्णुलिंग वाले, शिखावाले, उपवीत धारण करने वाले, शुद्ध मनवाले, अपने आत्मा में ही ब्रह्म की भावना करने वाले, शुद्ध चैतन्य की उपासना में ही परायण, जप और संयम वाले, नियमों को पालने वाले, शीलवान और पवित्र कीर्तिवाले होते हैं। यह बात इस ऋचा में भी कही गई है कि—कुटीचक, बहूदक, हंस और परमहंस—ये चार भेद तो प्रकृति (सहज रुचि) के अनुसार किए गए हैं। ये सदा व्यक्त और अव्यक्त तथा बाह्य और आन्तरिक विष्णुलिंग को धारण करने वाले होते हैं।

पञ्चयज्ञा वेदशिरःप्रविष्टाः क्रियावन्तोऽमी संगता ब्रह्मविद्याम् ।
त्यक्त्वा वृक्षं वृक्षमूलं श्रितासः संन्यस्तपुष्पा रसमेवाश्नुवानाः ।
विष्णुक्रीडा विष्णुरतयो विमुक्ता विष्ण्वात्मका विष्णुमेवापियन्ति ॥12॥

वे पंचयज्ञ वाले (जप, तप, स्वाध्याय, योग और ज्ञान वाले) होते हैं, तथा वेदों के मस्तक (उपनिषदों) में प्रविष्ट होते हैं। वे अपने-अपने धर्मानुकूल कर्म करने वाले होते हैं, तथा ब्रह्मविद्या के साथ संगति किए हुए होते हैं। वे इस संसाररूपी वृक्ष को छोड़कर संसारवृक्ष के मूल (ब्रह्म) का आश्रय करने वाले होते हैं। सभी कर्मकाण्डरूपी पुष्पों को वे छोड़ देते हैं और सारभूत तत्त्व का ही आस्वाद करते हैं। वे केवल विष्णु में ही रमण करते हैं, विष्णु में ही प्रीति करते हैं, वे विमुक्त हैं, विष्णुस्वरूप ही हैं और केवल विष्णु के ही पूजाध्यानादि से कृतार्थ होते हैं।

त्रिसन्ध्यं शक्तितः स्नानं तर्पणं मार्जनं तथा ।
उपस्थानं पञ्चयज्ञान्कुर्यादामरणान्तिकम् ॥13॥
दशभिः प्रणवैः सप्तव्याहृतिभिश्चतुष्पदा ।
गायत्रीजप यज्ञश्च त्रिसन्ध्यं शिरसा सह ॥14॥

इस प्रकार के परिव्राजक को मरणपर्यन्त तीनों सन्ध्याओं में यथाशक्ति स्नान, तर्पण, मार्जन, उपस्थान और पाँच यज्ञ करते रहना चाहिए। और तीनों सन्ध्याओं में दश प्रणव (ॐकार) तथा सात व्याहृतियों (भूः, भुवः, स्वः, महः, जनः, तपः, सत्यम्) के साथ तथा 'आपो ज्योती' इत्यादि शिर के साथ चतुष्पाद गायत्री का जाप और यज्ञ करना चाहिए।

योगयज्ञः सदैकाग्र्यभक्त्या सेवा हरेर्गुरोः ।
अहिंसा तु तपोयज्ञो वाङ्मनःकायकर्मभिः ॥15॥
नानोपनिषदभ्यासः स्वाध्यायो यज्ञ ईरितः ।
ओमित्यात्मानमव्यग्रो ब्रह्मण्यग्नौ जुहोति यत् ॥16॥
ज्ञानयज्ञः स विज्ञेयः सर्वयज्ञोत्तमोत्तमः ।
ज्ञानदण्डा ज्ञानशिखा ज्ञानयज्ञोपवीतिनः ॥17॥
शिखा ज्ञानमयी यस्य उपवीतं च तन्मयम् ।
ब्राह्मण्यं सकलं तस्य इति वेदानुशासनम् ॥18॥

उसे सदैव एकाग्रभक्ति से योग, यज्ञ, हरि और गुरु की सेवा और मन-वाणी-शरीर और कर्मों से अहिंसा, तप और यज्ञ करते रहना चाहिए। विविध उपनिषदों के अभ्यास को स्वाध्याय यज्ञ कहा जाता है। अव्यग्र होकर ॐकार के उच्चारणपूर्वक आत्मा का ब्रह्मरूपी अग्नि में होम जो किया जाता है, उसे ही ज्ञानयज्ञ जानना चाहिए। वह सभी यज्ञों में उत्तमोत्तम यज्ञ है। इस यज्ञ के करने वालों का ज्ञान ही दण्ड होता है, ज्ञान ही शिखा होती है, ज्ञान ही यज्ञोपवीत होता है। इस प्रकार जिसकी शिखा ज्ञानमयी होती है, उपवीत भी ज्ञानमय होता है, उसके लिए सभी वस्तुएँ ब्रह्ममय हैं, ऐसा वेद का अनुशासन है।

अथ खलु सोम्यैते परिव्राजका यथा प्रादुर्भवन्ति तथा भवन्ति। कामक्रोधलोभमोहदम्भदर्पासूयाममत्वाहंकारादींस्तितीर्य मानावमानौ निन्दास्तुती च वर्जयित्वा वृक्ष इव तिष्ठासेत्। छिद्यमानो न ब्रूयात्। तदेवं

विद्वांस इहैवामृता भवन्ति। तदेतदृचाभ्युक्तम्। बन्धुपुत्रमनुमोदयित्वान-वेक्ष्यमाणो द्वन्द्वसहः प्रशान्तः। प्राचीमुदीचीं वा निर्वर्तयंश्चरेत ॥19॥

अब हे सौम्य! ये परिव्राजक कैसे प्रादुर्भूत होते हैं, यह कहा जाता है—काम, क्रोध, लोभ, मोह, दम्भ, दर्प, असूया, ममत्व, अहंकार आदि को पार करके मान-अपमान तथा निन्दा-स्तुति को छोड़कर वृक्ष की तरह निश्चल बैठने की इच्छा होनी चाहिए। काटे जाने पर भी कुछ कहना नहीं चाहिए। तो ऐसा जानने-बरतने वाले यहीं (इसी लोक में) अमृतरूप हो जाते हैं। यही ऋग्वेद की ऋचा में भी कहा है—भाइयों और पुत्रों की अनुमति लेकर (उनका पालन-पोषण करके) फिर कभी उनकी ओर न देखते हुए, शीत-उष्णादि द्वन्द्वों को सहन करता हुआ वह पूर्व या उत्तर की ओर चला जाए।

पात्री दण्डी युगमात्रावलोकी शिखी मुण्डी चोपवीती कुटुम्बी ।
यात्रामात्रं प्रतिगृह्णन्मनुष्यात् अयाचितं याचितं वोत भैक्षम् ॥20॥
मृद्दार्वलाबूफलतन्तुपर्णपात्रं तत्तथा यथा तु लब्धम् ।
क्षीणं क्षामं तृणं कन्थाजिने च पर्णमाच्छादनं स्यादहतं वा विमुक्तः ॥21॥

पात्रवाला, दण्डधारी, केवल जीव-परमात्मा को ही देखने वाला, शिखाधारी, मुंडित, उपवीतरूपी कुटुम्बवाला वह अपनी प्राणयात्रा के लिए ही मनुष्यों से भिक्षा माँगकर निरन्तर विचरण करे। मिट्टी या काष्ठ की तुम्बी, नारियल का या नारियल के रेशों से निर्मित जैसा मिले वैसा पात्र वह ग्रहण करे। एक चटाई, वृक्षों की छाल या सूखे घास से बनी कथरी, कृष्णमृगचर्म तथा कीड़ों द्वारा न खाए गए हों, ऐसे पत्तों से बनी ओढ़नी (उत्तरीय) उस संन्यासी को धारण करना चाहिए। (श्रीफल के रेशों की चटाई भी हो सकती है।)

ऋतुसन्धौ मुण्डयेन्मुण्डमात्रं नाधो नाक्षं जातु शिखां न वापयेत् ।
चतुरो मासान्ध्रुवशीलतः स्यात्स यावत्सुप्तोऽन्तरात्मा पुरुषो विश्वरूपः ॥22॥
अन्यानथाष्टौ पुनरुत्थितेस्मिन्स्वकर्मलिप्सुर्विहरेद्वा वसेद्वा ।
देवाग्न्यगारे तरुमूले गुहायां वसेदसङ्गोऽलक्षितशीलवृत्तः ।
अनिन्धनो ज्योतिरिवोपशान्तो न चोद्विजेदुद्विजेद्यत्र कुत्र ॥23॥

हंस संन्यासी को ऋतुसन्धि के समय मुण्डन करवाना चाहिए। पर कुटीचक संन्यासी को तो शिखा कभी नहीं कटवानी चाहिए। जब विश्वरूप विराट् भगवान् नारायण शयन करते हैं, तब तक (चौमासा में) एक ही स्थान पर रहकर चित्त स्थिर रखकर उसे निवास करना चाहिए। इस प्रकार श्रवण-ध्यान-समाधि आदि की प्राप्ति को चाहने वाले संन्यासी को स्वकर्म करते हुए एक स्थान पर ही रह जाना चाहिए अथवा तो उसे अन्यत्र आश्रय प्राप्त कर लेना चाहिए। उसको अपना निवास किसी देवालय में, किसी वृक्ष के मूल में (नीचे) अथवा नजदीक की किसी गुफा में कर लेना चाहिए। वहाँ संगरहित और सर्वथा अलक्षित (जनसंपर्क से दूर) रहकर काष्ठरहित अग्नि की तरह शान्तचित्त रहना चाहिए। उसे किसी को भी देखकर क्षुब्ध नहीं होना चाहिए, और सभी में आत्मबुद्धि कर लेनी चाहिए।

आत्मानं चेद्विजानीयादयमस्मीति पूरुषः ।
किमिच्छन्कस्य कामाय शरीरमनुसञ्ज्वरेत् ॥24॥
तमेव धीरो विज्ञाय प्रज्ञां कुर्वीत ब्राह्मणः ।
नानुध्यायाद्बहूञ्छब्दान्वाचो विग्लापनं हि तत् ॥25॥

बाल्येनैव हि तिष्ठासेन्निर्विद्य ब्रह्मवेदनम् ।
ब्रह्मविद्यां च बाल्यं च निर्विद्य मुनिरात्मवान् ॥26॥
यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामो येऽस्य हृदि श्रिताः ।
अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते ॥27॥

मनुष्य यदि अपनी आत्मा को ही, "मैं ब्रह्म हूँ"—इस तरह जान ले तो फिर क्या चाहता हुआ, किसके काम के लिए वह अपने शरीर का शोषण या पोषण करे ? धीर पुरुष को उसी को जानकर (ब्रह्म को जानकर) उसी में अपनी बुद्धि को स्थिर कर देना चाहिए । ऐसे ब्रह्मज्ञ को अन्यान्य दूसरे शब्दों का ध्यान नहीं करना चाहिए, क्योंकि वह तो मात्र वाणी को थकाने वाली बात है । वैराग्ययुक्त होकर रहने की इच्छा करनी चाहिए । ब्रह्म के सिवा और कुछ है ही नहीं—ऐसा विश्वास करके (निश्चय करके) ब्रह्म को पहचान लेना चाहिए और वैराग्य को भली भाँति समझकर आत्मा में ही रमण करते हुए सभी को आत्मवत् ही देखना चाहिए । जब इसके हृदय में रही हुई सभी कामनाएँ छूट जाती हैं, तब मर्त्य अमर्त्य बन जाता है और ब्रह्म का रसास्वादन करने लगता है ।

अथ खलु सोम्येदं परिव्राज्यं नैष्ठिकमात्मधर्मं यो विजहाति स वीरहा भवति । स ब्रह्महा भवति । स भ्रूणहा भवति । स महापातकी भवति । य इमां वैष्णवीं निष्ठां परित्यजति । स स्तेनो भवति । गुरुतल्पगो भवति । स मित्रध्रुग्भवति । स कृतघ्नो भवति । स सर्वस्माल्लोकात्प्रच्युतो भवति । तदेतदृचाभ्युक्तम् ।
स्तेनः सुरापो गुरुतल्पगामी मित्रध्रुगेते निष्कृतेर्यान्ति शुद्धिम् ।
व्यक्तमव्यक्तं वा विधृतं विष्णुलिङ्गं त्यजन्न शुध्येदखिलैरात्मभासा ॥28॥

अब हे सौम्य ! जो कोई यदि यह नैष्ठिक आत्मधर्मरूप संन्यस्त को छोड़ देता है, वह वीर का हत्यारा होता है, वह ब्राह्मण का हत्यारा होता है, वह भ्रूण का हत्यारा होता है, वह बड़ा ही पातकी होता है । जो इस वैष्णवी निष्ठा को छोड़ देता है, वह चोर होता है, वह गुरुशय्या पर बैठने का पाप प्राप्त करता है (गुरुस्त्रीगमन का पाप पाता है), वह मित्रद्रोही बनता है, वह कृतघ्न होता है, वह सभी लोकों से पतित होता है । यह बात एक ऋचा में भी कही गई है कि—कोई चोर, शराब पीने वाला, गुरुपत्नीगामी और मित्रद्रोही तो प्रायश्चित्त के द्वारा आत्मा के प्रकाश के कारण शुद्धि को प्राप्त कर लेते हैं, परन्तु व्यक्त या अव्यक्त विष्णुलिंग को एक बार धारण करके फिर छोड़ देने वाला तो समग्र प्रायश्चित्तों से भी शुद्धि नहीं पा सकता ।

त्यक्त्वा विष्णोर्लिङ्गमन्तर्बहिर्वा यः स्वाश्रमं सेवतेऽनाश्रमं वा ।
प्रत्यापत्तिं भजते वातिमूढो नैषां गतिः कल्पकोट्यापि दृष्टा ॥29॥
त्यक्त्वा सर्वाश्रमान्धीरो वसेन्मोक्षाश्रमे चिरम् ।
मोक्षाश्रमात्परिभ्रष्टो न गतिस्तस्य विद्यते ॥30॥
पारिव्राज्यं गृहीत्वा तु यः स्वधर्मे न तिष्ठति ।
तमारूढच्युतं विद्यादिति वेदानुशासनम् ॥31॥

तो मनुष्य विष्णु के बहिर्लिंग या अन्तर्लिंग को छोड़कर फिर अपने आश्रम में स्थित हो या अनाश्रम (आश्रमहीन) अवस्था में रहता है, तो वह अतिमूढ पुरुष अपने जीवन में पल-पल पर

विपत्तियाँ प्राप्त करता है और अनन्त जन्मों तक (कल्प कोटियों में भी) उसकी सद्गति नहीं होती । जो पुरुष सभी आश्रमों को छोड़कर मोक्षाश्रम में ही लम्बे समय तक रहता है, वह फिर जब उस मोक्षाश्रम से परिभ्रष्ट हो जाता है, तब तो उसकी फिर कोई भी गति नहीं है । परिव्राजक आश्रम को ग्रहण करके फिर जो मनुष्य अपने उस धर्म में स्थित नहीं रहता उसको 'आरूढच्युत' (चढ़कर गिरा हुआ) कहा जाता है, ऐसा वेद का अनुशासन है ।

अथ खलु सोम्येमं सनातनमात्मधर्मं वैष्णवीं निष्ठां लब्ध्वा यस्तामदूषयन्वर्तते स वशी भवति । स पुण्यश्लोको भवति । स लोकज्ञो भवति । स वेदान्तज्ञो भवति । स ब्रह्मज्ञो भवति । स सर्वज्ञो भवति । स स्वराड् भवति । स परं ब्रह्म भगवन्तमाप्नोति । स पितॄन्सम्बन्धिनो बान्धवान्सुहृदो मित्राणि च भवादुत्तारयति ॥32॥

अब हे सौम्य ! जो मनुष्य इस वैष्णवी निष्ठारूप सनातन आत्मधर्म को प्राप्त करके इस निष्ठा को दूषित न करते हुए उसी में अवस्थित रहता है, वह संयमी है, वह पवित्र नाम (कीर्ति) वाला है, वह सभी लोकों को जानने वाला होता है, वह वेदान्त को जानने वाला होता है, वह ब्रह्मज्ञ होता है, वह सर्वज्ञ होता है, वह स्वराट् होता है, वह परब्रह्म रूप भगवान् को प्राप्त करता है, वह अपने पितृओं को, सम्बन्धियों को, भाइयों को, हितैषियों को और मित्रों को संसार-सागर से पार उतार देता है ।

तदेतदृचाभ्युक्तम्—
शतं कुलानां प्रथमं बभूव तथा पराणां त्रिशतं समग्रम् ।
एते भवन्ति सुकृतस्य लोके येषां कुले संन्यसतीह विद्वान् ॥33॥
त्रिंशत्परांस्त्रिंशदपरांस्त्रिशच्च परतः परान् ।
उत्तारयति धर्मिष्ठः परिव्राडिति वै श्रुतिः ॥34॥
संन्यस्तमिति यो ब्रूयात्कण्ठस्थप्राणवानपि ।
तारिताः पितरस्तेन इति वेदानुशासनम् ॥35॥

ऐसा वेद की दो ऋचाओं में भी कहा गया है—जिसके कुल में कोई यदि संन्यास लेता है, तो उसके कुल में पहले की सौ पीढ़ियों और बाद की तीन सौ पीढ़ियों में जन्म ग्रहण करने वालों का उद्धार हो जाता है । ऐसे उत्तम कृत्य करने वाले विद्वान् संन्यासी तो कभी-कभी ही इस लोक में जन्म लेकर कृतार्थ कर देते हैं । विद्वान् संन्यासी तीस बाद की और तीस पहले की तथा तीस बाद के भी बाद की पीढ़ियों को तार देता है, ऐसा श्रुति कहती है । प्राणों के कण्ठगत होने पर (मरण के समीप आने पर) भी जो इस प्रकार कहे दे कि 'मैंने संन्यास लिया है' तो ऐसा समझना चाहिए कि उसने पितृओं को तार दिया । ऐसी वेद की आज्ञा है ।

अथ खलु सोम्येमं सनातनमात्मधर्मं वैष्णवीं निष्ठां नासमाप्य प्रब्रूयात् । नानूचानाय नानात्मविदे नावीतरागाय नाविशुद्धाय नानुपसन्नाय नाप्रयतमानसायेति ह स्माहुः । तदेतदृचाभ्युक्तम्—
विद्या ह वै ब्राह्मणमाजगाम गोपाय मां शेवधिष्टेहमस्मि ।
असूयकायानृजवे शठाय मा मा ब्रूया वीर्यवती तथा स्याम् ॥36॥

हे सौम्य ! इस सनातन आत्मधर्मरूप वैष्णवी विद्या को स्वयं आचरण किये बिना किसी को कहनी नहीं चाहिए। यह विद्या वेदाध्ययनरहित को, आत्मा को नहीं जानने वाले को, वैराग्य रहित को, अविशुद्ध (मलिन) को, जो गुरु के पास न आया हो, उसको तथा जिसका मन संयत न हो उसको तथा अतत्पर को नहीं कहनी चाहिए, ऐसा कहा गया है। एक ऋचा में भी यही बात कही गई है—विद्या ब्राह्मण के पास आई और कहने लगी कि मेरा रक्षण करो। मैं तुम्हारी निधि हूँ। असूयावाले, कपटी और दुष्ट (नीच) के आगे मुझे न कहो। तभी मैं वीर्यवान् (बलवान) हो सकती हूँ।

यमेवैष विद्याच्छुचिमप्रमत्तं मेधाविनं ब्रह्मचर्योपपन्नम्।
अस्मा इमामुपसन्नाय सम्यक् परीक्ष्य दद्याद्वैष्णवीमात्मनिष्ठाम् ॥37॥
अध्यापिता ये गुरुं नाद्रियन्ते विप्रा वाचा मनसा कर्मणा वा।
यथैव तेन न गुरुर्भोजनीयस्तथैव चान्नं न भुनक्ति श्रुतं तत् ॥38॥

इस आत्मनिष्ठ वैष्णवी विद्या को, जिसे पवित्र, मेधावी, सावधान, अभिमानशून्य और ब्रह्मचारी समझे, उस पास में आए जिज्ञासु को ही देना चाहिए। और देने से पहले उसकी ठीक-ठाक परीक्षा भी लेनी चाहिए। गुरु के द्वारा पढ़ाए गए जो लोग मन, वाणी और कर्म के द्वारा गुरु का आदर नहीं करते, वे जैसे अपने गुरु को नहीं खिलाते-पिलाते, वैसे श्रवण-ज्ञान को वे भी नहीं खा सकते (पचा सकते)। अथवा तो ऐसे लोगों के अन्न को हितैषी लोग ग्रहण नहीं करते और गुरु भी स्वीकार नहीं करते। वैसे यह यति भी उस कृतघ्न का अन्न न ग्रहण करे, ऐसा श्रुति का वचन है।

गुरुरेव परो धर्मो गुरुरेव परा गतिः।
एकाक्षरप्रदातारं यो गुरुं नाभिनन्दति।
तस्य श्रुतं तपो ज्ञानं स्रवत्यामघटाम्बुवत् ॥39॥
यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ।
स ब्रह्मवित्परं प्रेयादिति वेदानुशासनम् ॥ इत्युपनिषत्।

इति शाट्यायनीयोपनिषत्समाप्ता।
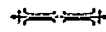
गुरु ही परमधर्म है, गुरु ही परम गति है। जो मनुष्य उन एकाक्षर—प्रणवमंत्र के दाता गुरु का आदर नहीं करता, उसका सुना हुआ सब ज्ञान कच्चे घड़े के भीतर के जल की तरह द्रवित हो जाता है। जिस मनुष्य की जैसी देवताओं पर भक्ति होती है, वैसी ही गुरु पर भी होती है, वह ब्रह्मज्ञानी परमपद को प्राप्त करता है, ऐसा वेद का वचन है।

इस प्रकार शाट्यायनीयोपनिषत् समाप्त होती है।

शान्तिपाठः

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं····पूर्णमेवावशिष्यते। (पूर्ववत्)
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

❋

(103) हयग्रीवोपनिषत्

(उपनिषत्परिचय)

यह अथर्ववेदीय उपनिषद् है। इसमें नारद जी और ब्रह्मा का संवाद है। नारदजी को ब्रह्मविद्या की जिज्ञासा हुई। ब्रह्माजी ने उन्हें हयग्रीव मंत्रों का जप करने का उपदेश दिया। 'ह्लौं' यह हयग्रीव का एकाक्षर मंत्र है। उससे घटित और तीन मंत्र भी बताए। उन तीन मंत्रों के ऋषि, ध्यान, आदि भी बताए। हयग्रीव का एक चौथा मंत्र भी कहा, पाँचवाँ भी कहा, एकाक्षर मंत्र भी कहा। वागादिसिद्धि कर प्रयोग बताया। फिर मंत्रज्ञान का फल, मंत्रों का महावाक्यार्थ प्रतिपादन, स्वरव्यंजन भेद से मन्त्र का द्वैविध्य, अनुमंत्र, इस विद्या का फल और अन्त में प्रार्थना दी है।

शान्तिपाठः

ॐ भद्रं कर्णेभिः····देवहितं यदायुः। (पूर्ववत्)
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

इसका हिन्दी रूपान्तर पूर्व में (शाण्डिल्योपनिषत् में) द्रष्टव्य है।

नारदो ब्रह्माणमुपसमेत्योवाच—अधीहि भगवन् ब्रह्मविद्यां वरिष्ठां ययाऽचिरात् सर्वपापं व्यपोह्य ब्रह्मविद्यां लब्ध्वैश्वर्यवान् भवति ॥1॥
ब्रह्मोवाच—हयग्रीवदैवत्यान् मन्त्रान् यो वेद स श्रुतिस्मृतीतिहास-पुराणानि वेद स सर्वैश्वर्यवान् भवति ॥2॥

एक बार नारद ने ब्रह्मा के पास जाकर कहा—'हे भगवन्! श्रेष्ठतम ब्रह्मविद्या को कहिए जिससे मनुष्य शीघ्र ही सभी पापों को दूर करके ऐश्वर्यशाली होता है।' तब ब्रह्मा बोले—'जो हयग्रीव देवता के मंत्रों को जानता है, वह श्रुति, स्मृति, इतिहास, पुराण, सब-कुछ जान लेता है और सर्व प्रकार से ऐश्वर्यशाली हो जाता है'।

त एते मन्त्राः—
विश्वोत्तीर्णस्वरूपाय चिन्मयानन्दरूपिणे।
तुभ्यं नमो हयग्रीव विद्याराजाय विष्णवे स्वाहा स्वाहा नमः ॥3॥
ऋग्यजुःसामरूपाय वेदाहरणकर्मणे।
प्रणवोद्गीथवपुषे महाश्वशिरसे नमः स्वाहा स्वाहा नमः ॥4॥
उद्गीथ प्रणवोद्गीथ सर्ववागीश्वरेश्वर।
सर्ववेदमयाचिन्त्य सर्वं बोधय बोधय स्वाहा स्वाहा नमः ॥5॥

वे मंत्र (मंत्रार्थ) ये हैं—"विश्व से परे स्वरूपवाले, चिन्मय और आनन्दस्वरूप, विद्या के राजा ऐसे हे हयग्रीव, आपको नमस्कार, स्वाहा स्वाहा। ऋक्, यजुः और साम के स्वरूप, वेदों का संग्रह-कार्य करने वाले, प्रणव और उद्गीथरूप शरीरवाले, बड़े अश्व के मस्तकवाले आपको नमस्कार, स्वाहा

स्वाहा। हे उद्गीथ ! हे प्रणवोद्गीथ ! हे सभी वाणियों के ईश्वर के भी ईश्वर ! हे सर्ववेदमय ! हे अचिन्त्य ! हमें ज्ञान दीजिए, ज्ञान दीजिए, स्वाहा स्वाहा नमः।

ब्रह्मात्रिरविसवितृभार्गवा ऋषयः। गायत्रीत्रिष्टुबनुष्टुप्छन्दांसि। श्रीमान् हयग्रीवः परमात्मा देवतेति। ह्लौमिति बीजम्। सोऽहमिति शक्तिः। ह्लूमिति कीलकम्। भोगमोक्षयोर्विनियोगः।
अकारोकारमकारैरङ्गन्यासः। ध्यानम्—
शङ्खचक्रमहामुद्रापुस्तकाढ्यं चतुर्भुजम्।
सम्पूर्णचन्द्रसंकाशं हयग्रीवमुपास्महे ॥6॥

इन मंत्रों के ब्रह्मा, अत्रि, रवि, सवितृ और भार्गव ऋषि हैं। गायत्री, त्रिष्टुभ् और अनुष्टुप् छन्द हैं। श्रीमान् हयग्रीव परमात्मा देवता हैं। 'ह्लौं' यह बीज है। 'सोऽहम्' इनकी शक्ति है। 'ह्लूम्' यह कीलक है। भोग और मोक्ष में इनका विनियोग है। अकार, उकार और मकार के द्वारा अंगन्यास विहित हैं। फिर ध्यान इस तरह से किया जाता है—'शंख, चक्र, महामुद्रा और पुस्तक से युक्त चार हाथों वाले तथा संपूर्ण चन्द्र की आभा वाले हयग्रीव की हम उपासना करते हैं।'

ॐ श्रीमिति द्वे अक्षरे। ह्लौमित्येकाक्षरम्। ॐ नमो भगवत इति सप्ताक्षराणि। हयग्रीवायेति पञ्चाक्षराणि। विष्णव इति त्रीण्यक्षराणि। मह्यं मेधां प्रज्ञामिति षडक्षराणि। प्रयच्छ स्वाहेति पञ्चाक्षराणि। हयग्रीवस्य तुरीयो भवति ॥7॥

'ॐ' और 'श्रीं'—ये दो अक्षर है। 'ह्लौं' यह एक अक्षर है। 'ॐ नमो भगवते'—ये सात अक्षर हैं। 'हयग्रीवाय'—ये पाँच अक्षर हैं। 'विष्णवे'—ये तीन अक्षर हैं। 'मह्यं मेधा प्रज्ञां'—ये छः अक्षर हैं और 'प्रयच्छ स्वाहा'—ये पाँच अक्षर हैं। ये सब मिलकर के हयग्रीव का चौथा मंत्र बनता है। (पूरा मंत्र इस प्रकार होगा—"ॐ श्रीं, ह्लौं ॐ नमो भगवते हयग्रीवाय विष्णवे मह्यं मेधां प्रज्ञां प्रयच्छ स्वाहा।" इस प्रकार से यह मंत्र उनतीस अक्षरों वाला होता है।

ॐ श्रीमिति द्वे अक्षरे। ह्लौमित्येकाक्षरम्। ऐमैमैमिति त्रीण्यक्षराणि। क्लीं क्लीमिति द्वे अक्षरे। सौः सौरिति द्वे अक्षरे। ह्रीमित्येकाक्षरम्। ॐ नमो भगवत इतिं सप्ताक्षराणि। हयग्रीवायेति पञ्चाक्षराणि। मह्यं मेधां प्रज्ञामिति षडक्षराणि। प्रयच्छ स्वाहेति पञ्चाक्षराणि। पञ्चमो मनुर्भवति ॥8॥

'ॐ', 'श्रीं'—ये दो अक्षर हैं। 'ह्लौं' यह एक अक्षर है। 'ऐं'-'ऐं'-'ऐं'—ये तीन अक्षर हैं। 'क्लीं' 'क्लीं'—ये दो अक्षर हैं। 'सौ' 'सौ'—ये दो अक्षर हैं। 'ह्रीं'—यह एक अक्षर है। 'ॐ नमो भगवते'—ये सात अक्षर है। 'मह्यं मेधां प्रज्ञां'—ये छः अक्षर हैं। 'प्रयच्छ स्वाहा'—ये पाँच अक्षर हैं। ये सब मिलकर हयग्रीव का पाँचवाँ मंत्र बनता है। (पूरा मंत्र इस तरह होगा—"ॐ श्रीं ह्लौं ऐं ऐं ऐं क्लीं क्लीं सौः सौः ह्रीं ॐ नमो भगवते हयग्रीवाय मह्यं मेधां प्रज्ञां प्रयच्छ स्वाहा"—यह मंत्र चौंतीस अक्षरों का होता है।

हयग्रीवैकाक्षरेण ब्रह्मविद्यां प्रवक्ष्यामि। ब्रह्मा महेश्वराय महेश्वरः संकर्षणाय संकर्षणो नारदाय नारदो व्यासाय व्यासो लोकेभ्यः प्रायच्छदिति हकारों लकारोमुकारों त्रयमेकस्वरूपं भवति। ह्लौं

बीजाक्षरं भवति। बीजाक्षरेण ह्लौंरूपेण तज्जापकानां संपत्सारस्वतौ भवतः। तत्स्वरूपज्ञानां वैदेही मुक्तिश्च भवति। दिक्पालानां राज्ञां नागानां किन्नराणामधिपतिर्भवति। हयग्रीवैकाक्षरजपशीलाज्ञया सूर्यादयः स्वतः स्वस्वकर्मणि प्रवर्तन्ते। सर्वेषां बीजानां हयग्रीवैकाक्षर-बीजमनुत्तमं मन्त्रराजात्मकं भवति। ह्लौं हयग्रीवस्वरूपो भवति ॥9॥

अब मैं हयग्रीव के एकाक्षर से ही ब्रह्मविद्या कहूँगा। इस विद्या को ब्रह्मा ने महेश्वर को, महेश्वर ने संकर्षण को और संकर्षण ने नारद को, नारद ने व्यास को और व्यास ने सब लोगों को सिखाया था। 'हकारोम्' 'सकारोम्' और 'मकारोम्'—तीनों एक स्वरूप होते हैं। 'ह्लौं' (स्लौं) बीजाक्षर है। और बीजाक्षर 'ह्लौं' (स्लौं) रूप से जप करने वालों की संपत्ति और ज्ञान बढ़ते हैं, एवं उसके स्वरूप को जानने वालों की विदेहमुक्ति भी हो जाती है। इसका साधक दिक्पालों का, राजाओं का, नागों का और किन्नरों का अधिपति बनता है। हयग्रीव के एकाक्षर मंत्र करने वाले की आज्ञा से सूर्योदय और अन्य भी अपने आप अपने-अपने कर्मों में प्रवृत्त हो जाते हैं। सभी बीजों में हयग्रीव का एकाक्षर बीज तो उत्तम और मंत्रराजात्मक ही है। यह 'ह्लौं' (एकाक्षरमंत्र) हयग्रीव का स्वरूप ही है।

अमृतं कुरु कुरु स्वाहा। तज्जापकानां वाक्सिद्धिः श्रीसिद्धिरष्टाङ्ग-योगसिद्धिश्च भवति ॥10॥
ह्लौं सकलसाम्राज्येन सिद्धिं कुरु कुरु स्वाहा ॥11॥

'इन एकाक्षरोपासकों के लिए अमृत कर दो, अमृत ही कर दो स्वाहा'—इस तरह का जप करने वालों की वाक्-सिद्धि होती है और श्रीसिद्धि तथा अष्टांगयोग सिद्धि भी होती है। 'ह्लौं' सकलसाम्राज्य से सिद्धि दो, सिद्धि दो'—यह एक अन्य मंत्र है।

तानेतान् मन्त्रान् यो वेद अपवित्रः पवित्रो भवति। अब्रह्मचारी सुब्रह्मचारी भवति। अगम्यागमनात् पूतो भवति। पतितसंभाषणात् पूतो भवति। ब्रह्महत्यादिपातकैर्मुक्तो भवति। गृहं गृहपतिरिव देही देहान्ते परमात्मानं प्रविशति ॥12॥
प्रज्ञानं ब्रह्म। अहं ब्रह्मास्मि। तत्त्वमसि। अयमात्मा ब्रह्मेति महावाक्यैः प्रतिपादितमर्थं त एते मन्त्राः प्रतिपादयन्ति ॥13॥

ऐसे इन मंत्रों को जो जानता है, वह अपवित्र हो तो पवित्र हो जाता है, ब्रह्मचारी न हो तो अच्छा ब्रह्मचारी बन जाता है। अगम्य के गमन के पाप से मुक्त होता है, पापमय वाणी के पाप से मुक्त हो जाता है, ब्रह्महत्यादि पापों से मुक्त हो जाता है। इस देह के छूटने पर जैसे घर का मालिक अपने घर में प्रवेश करता हो, उसी तरह परमात्मा में प्रवेश कर जाता है। 'प्रज्ञानमानन्दं ब्रह्म', 'तत्त्वमसि', 'अयमात्मा ब्रह्म' और 'अहं ब्रह्मास्मि'—इन महावाक्यों के द्वारा प्रतिपादित अर्थ को ही ये मंत्र प्रतिपादित कर रहे हैं (महावाक्यों के अर्थ क्रमशः—'प्रज्ञान ब्रह्म है', 'वह तुम हो,' 'यह आत्मा ब्रह्म है' और 'मैं ब्रह्म हूँ'—ऐसा होता है।)

स्वरव्यञ्जनभेदेन द्विधायते ॥14॥

ये सभी मंत्र स्वर और व्यंजन के भेद से दो प्रकार के होते हैं। स्वर प्रकृति का अंश है और व्यंजन ब्रह्म का अंश है। और बीज मायाविनिर्मुक्त परब्रह्म है।

अथानुमन्त्रान् जपति—
यद्वाग्वदन्त्यविचेतनानि राष्ट्री देवानां निषसाद मन्द्रा ।
चतस्त्र ऊर्जं दुदुहे पयांसि क्व स्विदस्याः परमं जगाम ॥15॥
गौरीमिमाय सलिलानि तक्षत्येकपदी द्विपदी सा चतुष्पदी ।
अष्टापदी नवपदी बभूवुषी सहस्राक्षरा परमे व्योमन् ॥16॥
ओष्ठापिधाना नकुली दन्तैः परिवृता पविः ।
सर्वस्यै वाच ईशाना चारु मामिह वादये ॥17॥
ससर्परीरमतिं बाधमाना बृहन्मिमाय जमदग्निदत्ता ।
आ सूर्यस्य दुहिता ततान श्रवो देवेष्वमृतमजुर्याम् ॥18॥

मंत्रों को कहकर ये चार अनुमंत्र कहे गए हैं। इनका अर्थ इस तरह किया जा सकता है—देवों के अधिपतियों की रानी वाक् जब नीचे यज्ञ में बैठती है और जब कुछ समझ में न आए ऐसा बोलती है तब वह पानी और दूध बरसाती है। भूभाग के लिए क्या उसका श्रेष्ठ भाग चला गया ? बादलों की आवाज, एकपदी, दो पदवाली, चार पदवाली, आठ पदवाली, नौ पदवाली या तो स्वर्ग में हजार पद वाली होते हुए स्वर्ग में से जल बना रही है......ओठों से आवृत और दाँतों से घिरा हुआ यह वज्र सबके ऊपर प्रभुत्व करने वाला है, वह मुझे अच्छी वाणी बुलाए यही वाणी का रस है।......सब तरफ धीरे-धीरे सरकती हुई, जमदग्नि की दी हुई और अज्ञान को दूर करती हुई सूर्यपुत्री ने बड़ी भारी आवाज की और देवों के बीच अविनश्वर अमृतमय अन्न बरसाया (इन मंत्रों के साथ यद्यपि प्रस्तुत विषय का कोई सम्बन्ध नहीं बैठता।)

य इमां ब्रह्मविद्यामेकादश्यां पठेद्धयग्रीवप्रभावेण महापुरुषो भवति । स जीवन्मुक्तो भवति ॥19॥
ॐ नमो ब्रह्मणे धारणं मे अस्त्वनिराकरणं धारयिता भूयासं कर्णयोः श्रुतं मा च्योढ्वं ममामुष्यमोमित्युपनिषत् ॥20॥

इति हयग्रीवोपनिषत्समाप्ता ।
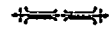
जो मनुष्य इस ब्रह्मविद्या को एकादशी के दिन पढ़ेगा वह हयग्रीव के प्रभाव से महापुरुष होगा। वह जीवन्मुक्त हो जाता है। ॐ ब्रह्म को नमस्कार। मेरा धारण अध्ययन का रक्षण हो। मेरा अनिराकरण (पढ़ी हुई विद्या का अनिराकरण) विस्मरण का अभाव हो। मैं विद्या को अच्छा धारण करने वाला बनूँ। गुरुमुख से श्रवण की गई विद्या को मैं भूलूँ नहीं। और मेरा आयुष्य कलेवररहित कैवल्यमय बन जाए। यही यह उपनिषत् है।

इस प्रकार हयग्रीवोपनिषत् समाप्त होती है।

शान्तिपाठः

ॐ भद्रं कर्णेभिः······देवहितं यदायुः । (पूर्ववत्)
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

❋

(104) दत्तात्रेयोपनिषत्

(उपनिषत्परिचय)

यह अथर्ववेदीय उपनिषत् है। इसके तीन खण्ड हैं। सत्यक्षेत्र प्रयाग में ब्रह्माजी के तप से भगवान् प्रकट हुए। ब्रह्माजी ने उनसे तारक के बारे में पूछा। भगवान् ने उत्तर देते हुए दत्तात्रेय के बारे में बताया। दत्तात्रेय का ध्यान, उनका तारक एकाक्षर मंत्र, उनके षडक्षर, अष्टाक्षर, द्वादशाक्षर, षोडशाक्षर और दत्तात्रेय अनुष्टुप् आदि मंत्र बताए। दूसरे खण्ड में दत्तात्रेय मालामंत्र कहा गया है और तीसरे खण्ड में दत्तात्रेय विद्या का फल दिया गया है।

शान्तिपाठः

ॐ भद्रं कर्णेभिः······देवहितं यदायुः । (पूर्ववत्)
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

इसका हिन्दी रूपान्तर पूर्व में (शाण्डिल्योपनिषत् में) द्रष्टव्य है।

प्रथमः खण्डः

ॐ सत्यक्षेत्रे ब्रह्मा नारायणं महासाम्राज्यं किं तारकं तन्नो ब्रूहि भगवन्नित्युक्तः सत्यानन्दचिदात्मकं सात्त्विकं मामकं धामोपास्वेत्याह । सदा दत्तोहमस्मीति प्रत्येतत्संवदन्ति ये न ते संसारिणो भवन्ति । नारायणेनैवं विवक्षितो ब्रह्मा विश्वरूपधरं विष्णुं नारायणं दत्तात्रेयं ध्यात्वा सद्वदति ॥1॥

सत्यक्षेत्र में ब्रह्मा, बड़े तेजोमय नारायण से, 'हे भगवन्! तारक क्या है, इसके सम्बन्ध में आप मुझे कहिए'—ऐसा कहने लगे। तब नारायण ने कहा—'सत्य-आनन्द-चिदात्मक ऐसा मेरा जो सात्त्विक धाम है, उसकी उपासना करो' उन्होंने आगे कहा—'जो लोग मेरे प्रति 'मैं दत्त हूँ'—ऐसा ठीक तरह से कहेंगे, वे संसारी नहीं होते'। जब नारायण ने ब्रह्मा से इस तरह कहा, तब ब्रह्मा विश्वरूपधारी विष्णु भगवान् नारायण का ध्यान करके इस तरह कहने लगे कि 'सत् सत्'।

दमिति हंसः । दामिति दीर्घम् । तद्बीजं नाम बीजस्थम् । दामित्येकाक्षरं भवति । तदेतत्तारकं भवति । तदेवोपासितव्यं विज्ञेयं गर्भादितारणम् । गायत्री छन्दः । सदाशिव ऋषिः । दत्तात्रेयो देवता । वटबीजस्थमिव दत्तबीजस्थं सर्वं जगत् । एतदेवैकाक्षरं व्याख्यातम् ॥2॥

ब्रह्मा के इस दृढ़ानुभव से सन्तुष्ट भगवान् दत्तात्रेय तब कहने लगे—'दम्' यह हंस (प्रत्यगात्मा) है, 'दाम्' यह उसका विश्रान्तिस्थान परब्रह्म दीर्घ है। उसका बीज ब्रह्म ही है। वह बीजस्थ 'दाम्' एकाक्षर है। वही यह तारक है। उसी की उपासना करनी चाहिए, वही जानना चाहिए। इसका गायत्री छन्द है, सदाशिव ऋषि है, दत्तात्रेय देवता है। जैसे वटबीज में वट रहता है, वैसे ही दत्तबीज में जगत् रहता है। इस प्रकार एकाक्षर मंत्र की व्याख्या की गई।

व्याख्यास्ये षडक्षरम्। ओमिति प्रथमम्। श्रीमिति द्वितीयम्। ह्रीमिति तृतीयम्। क्लीमिति चतुर्थम्। ग्लौमिति पञ्चमम्। द्रामिति षट्कम्। (ॐ श्रीं ह्रीं क्लीं ग्लौं द्रां इति) षडक्षरोऽयं भवति। सर्वसंपद्वृद्धिकरी भवति। योगानुभवो भवति गायत्री छन्दः। सदाशिव ऋषिः। दत्तात्रेयो देवता ॥3॥

अब षडक्षर की व्याख्या करूँगा। इसमें ॐ प्रथम है, श्रीं द्वितीय है, ह्रीं तृतीय है, क्लीं चौथा अक्षर है, ग्लौं पाँचवाँ अक्षर है और द्रां छठा अक्षर है, इस प्रकार यह षडक्षर मंत्र है। इसकी उपासना से योगानुभव होता है। इसका गायत्री छन्द है। सदाशिव ऋषि है और दत्तात्रेय देवता है। इस तरह ॐ श्रीं ह्रीं क्लीं ग्लौं द्रां—ऐसा छः अक्षरों वाला मंत्र बनता है।

द्रमित्युक्त्वा द्रामित्युक्त्वा वा दत्तात्रेयाय नम इत्यष्टाक्षरः। दत्तात्रेयायेति सत्यानन्दचिदात्मकम्। नम इति पूर्णानन्दैकविग्रहम्। गायत्री छन्दः। सदाशिव ऋषिः। दत्तात्रेयो देवता। दत्तात्रेयायेति कीलकम्। तदेव बीजम्। नमः शक्तिर्भवति ॥4॥

प्रथम 'द्रं' या 'द्रां' कहकर बाद में 'दत्तात्रेयाय नमः' ऐसा बोलने से अष्टाक्षर मंत्र बनता है। इसमें 'दत्तात्रेयाय' पद सत्यानन्दचिदात्मक है और 'नम' पद पूर्णानन्दस्वरूप है। इस मंत्र का छन्द गायत्री है, और सदाशिव ऋषि हैं, एवं दत्तात्रेय देवता है। 'दत्तात्रेयाय'—यही कीलक है, और वही बीज है, 'नमः' शक्ति है।

ओमिति प्रथमम्। आमिति द्वितीयम्। ह्रीमिति तृतीयम्। क्रोमिति चतुर्थम्। एह्रीति तदेव वदेत्। दत्तात्रेयेति स्वाहेति मन्त्रराजोऽयं द्वादशाक्षरः। जगती छन्दः। सदाशिव ऋषिः। दत्तात्रेयो देवता। ओमिति बीजम्। स्वाहेति शक्तिः। सम्बुद्धिरिति कीलकम्। द्रमिति हृदये। ह्रीं क्लीमिति शीर्षे। एहीति शिखायाम्। दत्तेति कवचे। आत्रेयेति चक्षुषि। स्वाहेत्यस्त्रे। तन्मयो भवति। य एवं वेद ॥5॥

अब दत्तात्रेय का द्वादशाक्षरमंत्र कहा जाता है। इसमें प्रथमाक्षर 'ओम्' है, दूसरा 'आम्' है, 'ह्रीं' तीसरा है, 'क्रोम्' चौथा है। बाद में 'एहि' बोलना चाहिए और बाद में 'दत्तात्रेय स्वाहा' ऐसा बोलने से बारह अक्षरों का यह मंत्रराज बनता है। (पूरा मंत्र—'ॐ आं ह्रीं क्रों एहि दत्तात्रेय स्वाहा'–ऐसा होता है) इस मंत्र का छन्द जगती है, सदाशिव ऋषि है, दत्तात्रेय देवता है, ओम् बीज है और स्वाहा शक्ति है। सम्बुद्धि कीलक है। 'द्रम्' कहकर हृदय में, 'ह्रीं क्लीं' कहकर मस्तक पर, 'एहि' कहकर शिखा पर, 'दत्त' कहकर कवच पर, 'आत्रेय' कहकर आँख पर और 'स्वाहा' कहकर अस्त्र पर न्यास करने से साधक तन्मय हो जाता है और जो यह जानता है, वह भी तन्मय होता है।

षोडशाक्षरं व्याख्यास्ये। प्राणं देयम्। मानं देयम्। चक्षुर्देयम्। श्रोत्रं देयम्। षड्दशशिरश्छिनत्ति। षोडशाक्षरमन्त्रो न देयो भवति। अतिसेवापरभक्तगुणवच्छिष्याय वदेत्। ओमिति प्रथमं भवति। ऐमिति द्वितीयम्। क्रोमिति तृतीयम्। क्लीमिति चतुर्थभ्। क्लूमिति पञ्चमम्। ह्रामिति षष्ठम्। ह्रीमिति सप्तमम्। ह्रूमित्यष्टमम्। सौरिति नवमम्।

दत्तात्रेयायेति चतुर्दशम्। स्वाहेति षोडशम्। *गायत्री छन्दः। सदाशिव* ऋषिः। दत्तात्रेयो देवता। ॐ बीजम्। स्वाहा शक्तिः। चतुर्थ्यन्तं कीलकम्। ओमिति हृदये। क्लां क्लीं क्लूमिति शिखायाम्। सौरिति कवचे। चतुर्थ्यन्तं चक्षुषि। स्वाहेत्यस्त्रे। यो नित्यमधीयानः *सच्चिदा-* नन्दसुखी मोक्षी भवति। सौरित्यन्ते श्रीवैष्णव इत्युच्यते। *तज्जापी* विष्णुरूपी भवति ॥6॥

यह षोडशाक्षर मंत्र अनधिकारी को नहीं देना चाहिए—भले प्राण देना पड़े, भले उसे मान भी देना पड़े, चाहे उसे आँख भी दो, या चाहे तो उसे कान भी दो। क्योंकि अनधिकारियों को यह मंत्र दिए जाने से तो सोलह मस्तक कट जाते हैं। इसलिए अनधिकारियों को यह षोडशाक्षर मंत्र नहीं देना चाहिए। परन्तु जो शिष्य अतिसेवापरायण हो, भक्त हो और गुणवान हो उसी को देना चाहिए। इसमें ओं प्रथमाक्षर है, ऐं द्वितीय है, क्रों तृतीय है, क्लीं चतुर्थ है, क्लूं पाँचवाँ है, ह्रां छठा है, ह्रीं सातवाँ है, ह्रूं आठवाँ है, सौः नवाँ है, दत्तात्रेयाय—ये पाँच मिलकर चौदह होते हैं और 'स्वाहा'—ये दो मिलकर सोलह होते हैं। (पूरा मंत्र—'ॐ ऐं क्रों क्लीं क्लूं ह्रां ह्रीं ह्रूं सौः दत्तात्रेयाय स्वाहा' होगा।) इस मंत्र का गायत्री छन्द है, सदाशिव ऋषि है, दत्तात्रेय देवता है, ॐ बीज है, स्वाहा शक्ति है। चतुर्थ्यन्त 'दत्तात्रेयाय' शब्द कीलक है। इसका ओम् कहकर हृदय में, क्लां-क्लूं-क्लीं कहकर शिखा में, सौः कहकर कवच में, चतुर्थ्यन्त 'दत्तात्रेयाय' पद से आँख पर और स्वाहा कहकर अस्त्र पर हमेशा अध्ययन करते हुए जो न्यास करता है, वह सच्चिदानन्द की ओर मुखवाला मोक्ष प्राप्त करता है। और सौः के बाद 'श्रीवैष्णवे' यह भी बोला जाए तो वह बोलने वाला विष्णुरूपी हो जाता है।

अनुष्टुप्छन्दो व्याख्यास्ये। सर्वत्र सम्बुद्धिरिमानीत्युच्यन्ते—
दत्तात्रेय हरे कृष्ण उन्मत्तानन्ददायक।
दिगम्बर मुने बाल पिशाच ज्ञानसागर ॥
इत्युपनिषत्। अनुष्टुप् छन्दः। सदाशिव ऋषिः। दत्तात्रेयो देवता। दत्तात्रेयेति हृदये। हरे कृष्णेति शीर्षे। उन्मत्तानन्देति शिखायाम्। दायकमुने इति कवचे। दिगम्बरेति चक्षुषि पिशाचज्ञानसागरेत्यस्त्रे। आनुष्टुभोऽयं मयाऽधीतः। अब्रह्मजन्मदोषाश्च प्रणश्यन्ति। सर्वोपकारी मोक्षी भवति। य एवं वेदेत्युपनिषत् ॥7॥

इति प्रथमः खण्डः।

अब दत्तात्रेय के अनुष्टुप् मंत्र की व्याख्या करता हूँ। ये पद सर्वत्र संबुद्धि कहे जाते हैं—"हे दत्तात्रेय! हे हरे! हे कृष्ण! हे उन्मत्त! हे आनन्ददायक! हे दिगम्बर! हे मुनि! हे बालपिशाच! हे ज्ञानसागर!" ऐसी यह उपनिषत् है। यह अनुष्टुप् छन्द है, सदाशिव ऋषि है, दत्तात्रेय देवता है। 'दत्तात्रेयाय' बोलकर हृदय में, 'हरे कृष्ण' कहकर मस्तक पर, 'उन्मत्तानन्द' कहकर शिखा पर, 'दायकमुने' कहकर कवच में, 'दिगम्बर' कहकर आँख पर, 'पिशाचज्ञानसागर' कहकर अस्त्र में (न्यास करना चाहिए!) यह मंत्र मैंने सीखा। इससे ब्रह्मातिरिक्त जन्म के जो दोष हैं, वे नष्ट हो जाते हैं। जो यह जानता है वह साधक सर्व का उपकारक और मोक्षगामी बनता है। ऐसा उपनिषत् कहती है।

यहाँ प्रथम खण्ड पूरा हुआ।

❋

द्वितीयः खण्डः

ओमिति व्याहरेत्। ॐ नमो भगवते दत्तात्रेयाय स्मरणमात्रसन्तुष्टाय महाभयनिवारणाय महाज्ञानप्रदाय चिदानन्दात्मने बालोन्मत्तपिशाचवेषायेति महायोगिनेऽवधूतायेति अनसूयाऽऽनन्दवर्धनायात्रिपुत्रायेति सर्वकामफलप्रदाय ओमिति व्याहरेत्। भवबन्धमोचनायेति ह्रीमिति व्याहरेत्। सकलविभूतिदायेति क्रोमिति व्याहरेत्। साध्याकर्षणायेति सौरिति व्याहरेत्। सर्वमनःक्षोभणायेति श्रीमिति व्याहरेत्। महोमिति व्याहरेत्। चिरंजीविने वषडिति व्याहरेत्। वशीकुरु वशीकुरु वौषडिति व्याहरेत्। आकर्षयाकर्षय हुमिति व्याहरेत्। विद्वेषय विद्वेषय फडिति व्याहरेत्। उच्चाटयोच्चाटय ठठेति व्याहरेत्। स्तम्भय स्तम्भय खखेति व्याहरेत्। मारय मारय नमः संपन्नाय नमः संपन्नाय स्वाहा पोषय पोषय परमन्त्रपरयन्त्रपरतन्त्रांश्छिन्धि च्छिन्धि ग्रहान्निवारय निवारय व्याधीन्निवारय निवारय दुःखं हरय हरय दारिद्र्यं विद्रावय विद्रावय देहं पोषय पोषय चित्तं तोषय तोषय सर्वमन्त्रसर्वयन्त्रसर्वतन्त्रसर्वपल्लवस्वरूपायेति ॐ नमः शिवायेत्युपनिषत् ॥1॥

इति द्वितीयः खण्डः।

पहले ॐ बोलना चाहिए। बाद में "ॐ नमो भगवते......इत्यादि मूल मंत्र के बाद ओम् बोलना चाहिए। यह दत्तात्रेय का मालामंत्र है। (हम मूलमंत्र में दिए गए नामों का ही यहाँ उल्लेख कर देते हैं, वे सरल हैं इसलिए इनके अनुवाद की आवश्यकता नहीं मालूम पड़ती। यों भी मंत्रों के उन्हीं अक्षरों को पढ़ने से ही मंत्रफल मिलता है, अनुवाद से नहीं।) ॐ नमो भगवते दत्तात्रेयाय, स्मरणमात्र-सन्तुष्टाय, महाभयनिवारणाय, महाज्ञानप्रदाय, चिदात्मने, बाल-उन्मत्त-पिशाच-वेशाय, महायोगिने, अवधूताय, अनसूया-आनन्द-वर्धनाय, सर्वकाम-फल-प्रदाय और बाद में ॐ कहना चाहिए। (सभी शब्दों का अर्थ सरल ही है। फिर, 'भव-बन्ध-मोचनाय'-ऐसा बोलकर 'ह्रीं' का उच्चारण करना चाहिए। फिर, 'सकलविभूतिदाय'—ऐसा कहकर 'क्रौं' बोलना चाहिए। फिर, 'साध्याकर्षणाय' यह कहकर बाद में 'सौः' बोलना चाहिए। फिर, 'सर्वमनःक्षोभणाय'-ऐसा कहकर अन्त में 'श्रीं' बोलना चाहिए। और 'महा-ओम्' भी बोलना चाहिए। फिर, 'चिरंजीविने' यह बोलकर 'वषट्' बोलना चाहिए। फिर, 'वशीकुरु वशीकुरु' बोलकर, 'वौषट्' बोलना चाहिए। फिर, 'आकर्षय आकर्षय हुम्' कहना चाहिए। फिर, 'विद्वेषय विद्वेषय फट्' और फिर, "उच्चाटय उच्चाटय ठ ठ" बोलना चाहिए। फिर, 'स्तम्भय स्तम्भय ख ख'—ऐसा बोलना चाहिए। फिर, "मारय मारय नमः संपन्नाय नमः संपन्नाय स्वाहा, पोषय पोषय परमन्त्र-परयन्त्र-परतन्त्रांश्छिन्धि छिन्धि, ग्रहान्निवारय निवारय व्याधीन्निवारय निवारय दुःखं हरय हरय दारिद्र्यं विद्रावय विद्रावय देहं पोषय पोषय चित्तं तोषय तोषय"—इस प्रकार सर्वमंत्र, सर्वयंत्र, सर्वतंत्र और सर्वपल्लव स्वरूप ॐ शिव को नमस्कार। इस प्रकार यह उपनिषद् है। (इस प्रकार शत्रु के उच्चाटन, मारण, स्तंभन और अपने दुःखादि निवारण और पोषण की प्रार्थना है।)

यहाँ दूसरा खण्ड पूरा हुआ।

❋

तृतीयः खण्डः

य एवं वेद। अनुष्टुप् छन्दः। सदाशिव ऋषिः। दत्तात्रेयो देवता। ओमिति बीजम्। स्वाहेति शक्तिः। द्रामिति कीलकम्। अष्टमूर्त्यष्टमन्त्रा भवन्ति। यो नित्यमधीते वाय्वग्निसोमादित्यब्रह्मविष्णुरुद्रैः पूतो भवति। गायत्र्याः शतसहस्रं जप्तो भवति। महारुद्रशतसहस्रजापी भवति। प्रणवायुतकोटिजप्तो भवति। शतपूर्वान् शतापरान् पुनाति। स पङ्क्तिपावनो भवति। ब्रह्महत्याऽऽदिपातकैर्मुक्तो भवति। गोहत्यादिपातकैर्मुक्तो भवति। तुलापुरुषादिदानैः प्रपापानतः पूतो भवति। अशेषपापान्मुक्तो भवति। अभक्ष्यभक्ष्यपापैर्मुक्तो भवति। सर्वमन्त्रयोगपारीणो भवति। स एव ब्राह्मणो भवति। तस्माच्छिष्यं भक्तं प्रतिगृह्णीयात्। सोऽनन्तफलमश्नुते। स जीवन्मुक्तो भवतीत्याह भगवान्नारायणो ब्रह्माणमित्युपनिषत् ॥1॥

इति तृतीयः खण्डः।

इति दत्तात्रेयोपनिषत्समाप्ता।

जो इस दत्तात्रेय विद्या को जानता है, वह उक्त फल पाता है। इस दत्तात्रेय विद्या का अनुष्टुप् छन्द है, सदाशिव ऋषि है, दत्तात्रेय देवता है, 'ओम्' यह बीज है, 'स्वाहा' यह शक्ति है, 'द्राम्' यह कीलक है, आठ मंत्र ही आठ मूर्तियाँ हैं। इसको जो पढ़ता है, वह वायु, अग्नि, चन्द्र, सूर्य, ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र जैसा पवित्र होता है। इसने एक लाख गायत्री मंत्रों का जप किया माना जाता है, उसने एक लाख महारुद्रमंत्र का जप किया है, ऐसा माना जाता है। उसने अयुत कोटि ओंकारजप किया है, ऐसा मानना चाहिए। सौ अगली और सौ पिछली अपनी पीढ़ियों को वह पवित्र कर देता है। वह अपनी पंक्ति को पावन करता है। वह ब्रह्महत्यादि पापों से मुक्त होता है। गोहत्यादि पापों से भी वह मुक्त होता है। तुलापुरुष आदि दान से और प्रपा आदि के पान से जो पुण्य मिलता है, वह उसको मिल जाता है। सम्पूर्ण पापों से वह मुक्त हो जाता है। अभक्ष्य भक्ष्य के पाप से भी वह मुक्त हो जाता है। सर्वमंत्र योग में वह पारंगत होता है। वही ब्राह्मण होता है। विद्वान् पुरुष को इसी से इस उपनिषद् को अपने भक्त या शिष्य को ग्रहण करवानी चाहिए। वह अनन्त फल को प्राप्त करेगा। वह जीवन्मुक्त हो जाएगा, ऐसी यह उपनिषत् भगवान् नारायण ने ब्रह्मा से कही है। यहाँ उपनिषत् पूरी हुई।

यहाँ तीसरी खण्ड पूरा हुआ।

इस प्रकार दत्तात्रेयोपनिषत् समाप्त होती है।

शान्तिपाठः

ॐ भद्रं कर्णेभिः......देवहितं यदायुः। (पूर्ववत्)

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

❋

(105) गरुडोपनिषत्

(उपनिषत्परिचय)

अथर्ववेदीय परम्परान्तर्गत इस उपनिषत् में ब्रह्मा से लेकर भारद्वाज तक की गुरु-शिष्य परंपरा बताकर गरुडविद्या कही गई है। इस विद्या का तात्पर्य विषनिवारण विद्या से है। सर्प से लेकर जितने भी जहरीले दंश देने वाले जन्तु हैं, इन सबके विष-निवारण की प्रक्रिया इस उपनिषद् में बताई है। इसमें मुख्यतः गुरुशिष्य परंपरा और इस विद्या के ऋषि देवता, छन्द, विनियोग आदि बताया है, और अन्त में गरुडमाला मंत्र का विवेचन दिया गया है।

शान्तिपाठः

ॐ भद्रं कर्णेभिः—देवहितं यदायुः। (पूर्ववत्)
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः॥

इसका हिन्दी रूपान्तर पूर्व में (शाण्डिल्योपनिषत् में) द्रष्टव्य है।

गारुडब्रह्मविद्यां प्रवक्ष्यामि यां ब्रह्मविद्यां नारदाय प्रोवाच नारदो बृहत्सेनाय बृहत्सेन इन्द्राय इन्द्रो भरद्वाजाय भरद्वाजो जीवत्कामेभ्यः शिष्येभ्यः प्रायच्छत्॥1॥

अब मैं गरुडब्रह्म विद्या को कहूँगा, जिस ब्रह्मविद्या को ब्रह्मा ने नारद से कहा था। नारद ने बृहत्सेन को, बृहत्सेन ने इन्द्र को, इन्द्र ने भारद्वाज को और भारद्वाज ने जीवन धन्य बनाने की इच्छा करने वाले अपने शिष्यों को कहा था।

अस्याः श्रीमहागरुडब्रह्मविद्याया ब्रह्मा ऋषिः। गायत्री छन्दः। श्रीभगवान्महागरुडो देवता। श्रीमहागरुडप्रीत्यर्थे मम सकलविषवि-नाशनार्थे जपे विनियोगः॥2॥

इस महागारुड विद्या के ऋषि ब्रह्मा हैं। गायत्री छन्द है। श्री भगवान् महागरुड देवता हैं। महागरुड के प्रीत्यर्थ मेरे मकल विषों के विनाश के लिए जप में विनियोग किया जाता है।

ॐ नमो भगवते अङ्गुष्ठाभ्यां नमः। श्रीमहागरुडाय तर्जनीभ्यां स्वाहा। पक्षीन्द्राय मध्यमाभ्यां वषट्। श्रीविष्णुवल्लभाय अनामिकाभ्यां हुम्। त्रैलोक्यपरिपूजिताय कनिष्ठिकाभ्यां वौषट्। उग्रभयंकरकालानलरूपाय करतलकरपृष्ठाभ्यां फट्। एवं हृदयादिन्यासः॥3॥

'ॐ नमो भगवते अंगुष्ठाभ्यां नमः' कहकर दोनों अँगूठों पर, 'श्री महागरुडाय नमः तर्जनीभ्यां स्वाहा'—ऐसे कहकर दोनों तर्जनियों पर, 'पक्षीन्द्राय मध्यमाभ्यां वषट्'—कहकर दोनों मध्यमाओं पर, 'श्रीविष्णुवल्लभाय अनामिकाभ्यां हुम्'—ऐसा कहकर दोनों अनामिकाओं पर, 'त्रैलौक्यपरिपूजिताय कनिष्ठिकाभ्यां वौषट्'—ऐसा कहकर दोनों कनिष्ठिकाओं पर तथा 'उग्रभयंकर कालानलरूपाय करतलकरपृष्ठाभ्यां फट्'—ऐसा कहकर हथेलियों और पृष्ठ भागों पर न्यास करना चाहिए—अँगूठे से

उन-उन अंगुलियों का स्पर्श करना चाहिए। करतलादि में परस्पर स्पर्श करना चाहिए। इसी तरह दाहिने हाथ की पाँचों अँगुलियों से हृदयादि का भी न्यास करना चाहिए।

भूर्भुवः सुवरोमिति दिग्बन्धः॥4॥

इसी तरह भूः, भुवः, स्वः और ॐ—इन व्याहृतियों से दिग्बन्धन सम्पन्न करना चाहिए।

ध्यानम्—
स्वस्तिको दक्षिणं पादं वामपादं तु कुञ्चितम्।
प्राञ्जलीकृतदोर्युग्मं गरुडं हरिवल्लभम्॥
अनन्तो वामकटको यज्ञसूत्रं तु वासुकिः।
तक्षकः कटिसूत्रं तु हारः कर्कोट उच्यते॥
पद्मो दक्षिणकर्णे तु महापद्मस्तु वामके।
शङ्खः शिरः प्रदेशे तु गुलिकस्तु भुजान्तरे॥
पौण्ड्रकालिकनागाभ्यां चामराभ्यां सुवीजितम्।
एलापुत्रकनागाद्यैः सेव्यमानं मुदान्वितम्॥
कपिलाक्षं गरुत्मन्तं सुवर्णसदृशप्रभम्।
दीर्घबाहुं बृहत्स्कन्धं नागाभरणभूषितम्॥
आजानुतः सुवर्णाभमाकट्योस्तुहिनप्रभम्।
कुङ्कुमारुणमाकण्ठं शतचन्द्रनिभाननम्॥
नीलाग्रनासिकावक्त्रं सुमहच्चारुकुण्डलम्।
दंष्ट्राकरालवदनं किरीटमुकुटोज्ज्वलम्॥
कुङ्कुमारुणसर्वाङ्गं कुन्देन्दुधवलाननम्।
विष्णुवाह नमस्तुभ्यं क्षेमं कुरु सदा मम॥
एवं ध्यायेत्त्रिसंध्यासु गरुडं नागभूषणम्।
विषं नाशयते शीघ्रं तूलराशिमिवानलः॥5॥

अब ये ध्यानमंत्र कहे जाते हैं—"जिनका दाहिना पैर स्वस्तिकाकार है, बाँया पैर घुटनों तक सिकुड़ा हुआ है, जिन्होंने दोनों हाथ प्रणाम मुद्रा में जोड़ रखे हैं, जो विष्णुवल्लभ हैं, जिन्होंने अनन्त नाग को बाँयें हाथ में कड़े के रूप में धारण किया है, और वासुकि को यज्ञोपवीत के रूप में धारण किया है, तक्षक को करधनी और कर्कोट को गले के हार की तरह जिन्होंने धारण किया है, पद्मनाग को दाहिने तथा महापद्मनाग को बाँये कान के आभूषण के रूप में जिन्होंने धारण किया है, जिन्होंने शंख नाग को सिर पर तथा गुलिक नाग को हाथों के बीच के भाग में धारण कर रखा है, जिन्होंने पौण्ड्र कलिक नागों को चँवर के रूप में रखा है, जिनकी एला और पुत्रक आदि नागों के द्वारा प्रसन्नतापूर्वक सेवा की जा रही है, ऐसे कपिल वर्ण नेत्र वाले, सुवर्ण जैसी कान्तिवाले, लम्बी भुजाओं वाले, विशाल कन्धों वाले, नागों के अलंकारों से विभूषित, घुटनों तक सोने की कान्तिवाले तथा कटि तक हिम जैसी धवल प्रभावाले, कुंकुम के समान लाल शरीरवाले, सैंकड़ों चन्द्रों समान मुख की कान्तिवाले, नासिका के अग्र भाग में तथा मुखमण्डल में नीलवर्ण वाले, विशाल कुण्डलयुक्त कान वाले, भयंकर दाढ़ों से विकराल मुखवाले, अत्यन्त देदीप्यमान मुकुट धारण करने वाले, कुंकुम से किए गए लेप से लाल अंगवाले, कुन्दपुष्प और चन्द्र के समान धवल मुखवाले हे विष्णुवाहन गरुडदेव! आपको नमस्कार हो। आप सदैव हमारा कल्याण करें।"—इस प्रकार तीनों सन्ध्याओं में नागविभूषित गरुड का ध्यान करना चाहिए। इससे रूई के ढेर में पड़े अग्नि की तरह गरुडदेव सभी विषों का नाश कर देते हैं।

ओमीमों नमो भगवते श्रीमहागरुडाय पक्षीन्द्राय विष्णुवल्लभाय त्रैलोक्यपरिपूजिताय उग्रभयंकरकालानलरूपाय वज्रनखाय वज्र-तुण्डाय वज्रदन्ताय वज्रदंष्ट्राय वज्रपुच्छाय वज्रपक्षालक्षितशरीराय ओमीमेह्येहि श्री महागरुडाप्रतिशासनास्मिन्नाविशाविश दुष्टानां विषं दूषय दूषय स्पृष्टानां विषं नाशय नाशय दन्दशूकानां विषं दारय दारय प्रलीनं विषं प्रणाशय प्रणाशय सर्वविषं नाशय नाशय हन हन दह दह पच पच भस्मीकुरु भस्मीकुरु हुं फट् स्वाहा ॥6॥

अब गरुडमाला मंत्र और मूल मंत्र आदि कहते हैं—"पक्षीराज, गरुड, विष्णुप्रिय, तीनों लोकों में पूजित, भयंकर, कालाग्नि समान, कठारे नखवाले, कठोर चोंच वाले, कठोर दाँत वाले, कठोर दाढों वाले, कठोर पूँछ वाले, कठोर पंखों से लक्षित शरीर वाले, भगवान् श्री गरुड को नमस्कार है। हे महागरुड ! आप आइए। अपने अनुशासित इस आसन पर आइए। प्रवेश कीजिए। दुष्ट के विष को दूर कीजिए। दूर कीजिए। स्पर्शमात्र से असर करने वाले विष को दूर कीजिए, दूर कीजिए। रेंगने वाले विषैले साँपों का विष दूर कीजिए, दूर कीजिए। छिपे विष को हटाइए, हटाइए। सर्व प्रकार का जहर दूर कीजिए, दूर कीजिए। मारिए मारिए, जलाइए जलाइए, बचाइए बचाइए। सभी विषों को भस्म कीजिए, भस्म कीजिए। हुँ फट–इस तरह सबीज मंत्र से आहुति देनी चाहिए। (स्वाहा–आहुति समर्पण करना चाहिए)

चन्द्रमण्डलसंकाश सूर्यमण्डलमुष्टिक। पृथ्वीमण्डलमुद्राङ्ग श्रीमहागरुड विषं हर हर हुं फट् स्वाहा ॥7॥
ॐ क्षिप स्वाहा ॥8॥

"हे चन्द्रमण्डल समान तेजवाले ! हे सूर्यमण्डल को मुट्ठी में रखने वाले ! हे पृथ्वी जैसे मुद्रांगों वाले ! हे महागरुड ! समस्त विषों का हरण कीजिए, हरण कीजिए हुँ फट् स्वाहा करके सबीज मंत्र से आहुति देनी चाहिए। (अन्य मंत्र है—ॐ क्षिप स्वाहा) ॐ हे महागरुड ! आप विषों और विषधरों को फेंक दीजिए इस निमित्त से स्वाहा—यह आहुति समर्पित है।

ओमीं सचरति सचरति तत्कारी मत्कारी विषाणां च विषरूपिणी विषदूषिणी विषशोषणी विषनाशिनी विषहारिणी हतं विषं नष्टं विष-मन्तःप्रलीनं विषं प्रनष्टं विषं हतं ते ब्रह्मणा विषं हतमिन्द्रस्य वज्रेण स्वाहा ॥9॥

तत्कारी–मत्कारी–उनका या हमारा हिंसक जो विष फैलता ही जाता है, उसे विषरूपिणी, विषदूषिणी, विषशोषणी, विषनाशिनी, विषहारिणी—ऐसी ब्रह्मविद्या को नाश कर दिया (विषरूपिणी और विषनाशिनी—दोनों ब्रह्मविद्या है क्योंकि संसारविषवृक्ष उसी का ही विवर्त है, और विशनाशिनी इत्यादि तो है ही।) विष को नष्ट करने में इन्द्र के वज्र ने सहयोग दिया। इस निमित्त यह आहुति समर्पित है।

ॐ नमो भगवते महागरुडाय विष्णुवाहनाय त्रैलोक्यपरिपूजिताय वज्रनखवज्रतुण्डाय वज्रपक्षालंकृतशरीराय एह्येहि महागरुड विषं छिन्धि छिन्धि आवेशयावेशय हुं फट् स्वाहा ॥10॥

तीनों लोकों में पूजित, विष्णु के वाहन, वज्र जैसे नखों तथा वज्र जैसी चाँच (मुख) वाले, वज्र जैसे पंखों से शरीर को भूषित करने वाले भगवान् महागरुड को नमस्कार हो। हे महागरुड ! आइए, आइए, विष को काटिए, काटिए, प्रविष्ट हो जाइए, प्रवेश कीजिए हुं फट् स्वाहा—ऐसा सबीज मंत्र बोलकर आहुति प्रदान करनी चाहिए।

सुपर्णोऽसि गरुत्मान्त्रिवृत्ते शिरो गायत्रं चक्षुः स्तोम आत्मा साम ते तनूर्वामदेव्यं बृहद्रथन्तरे पक्षौ यज्ञायज्ञियं पुच्छं छन्दांस्यङ्गानि धिष्णिया शफा यजूंषि नाम। सुपर्णोऽसि गरुत्मान्दिवं गच्छ सुवः पत ॥11॥

हे गरुडदेव ! आप सुन्दर पंख वाले और अग्नि जैसे गतिवाले हैं। त्रिवृत् सोम आपका मस्तक है, और गायत्र (साम) आपके नेत्र हैं। यज्ञ आपकी अन्तरात्मा और सभी छन्द आपके अवयव हैं। यजुष् आपका नाम है, वामदेवसाम आपकी देह है और यज्ञायज्ञीय साम आपकी पूंछ है। और घिष्ण्य स्थित अग्नि आपके नख हैं। हे गरुडदेव ! आप अग्नि की तरह दिव्य लोक में जाइए और स्वर्गलोक को प्राप्त कीजिए।

ओमीं ब्रह्मविद्याममावास्यायां पौर्णमास्यायां पुरोवाच सचरति सचरति तत्कारी मत्कारी विषनाशिनी विषदूषिणी विषहारिणी हतं विषं नष्टं विषं प्रनष्टं विषं हतमिन्द्रस्य वज्रेण विषं हतं ते ब्रह्मणा विषमिन्द्रस्य वज्रेण स्वाहा ॥12॥

प्राचीन काल में अमावास्या या पूर्णिमा में यह ब्रह्मविद्या कही गई थी। उनकी या हमारी हिंसा करने वाला विष जो फैल रहा है, उस विष का नाश करने वाली, उसका दूषण और हरण करने वाली यह ब्रह्मविद्या है। उसने विष को नष्ट कर दिया। उसने इन्द्र के वज्र द्वारा विष का नाश कर दिया। विष को नष्ट करने में इन्द्र के वज्र ने सहायता की। इस निमित्त यह आहुति समर्पित है।

तत्स्त्र्यम्। यद्यनन्तकदूतोऽसि यदि वानन्तकः स्वयं सचरति सचरति तत्कारी मत्कारी विषनाशिनी विषदूषिणी हतं विषं नष्टं विषं हतमिन्द्रस्य वज्रेण विषं हतं ते ब्रह्मणा विषमिन्द्रस्य वज्रेण स्वाहा ॥13॥

तत्स्त्र—यह बीजमंत्र सर्वविषनाशक है। तुम चाहे अनन्तक के दूत हो वा स्वयं अनन्तक हो, यह विष जो उनकी या हमारी हिंसा करने वाला फैल रहा है उसका दूषण और हरण करने वाली यह ब्रह्मविद्या है। उसने विष का नाश कर दिया। उसने इन्द्र के वज्र द्वारा विष का नाश कर दिया। विष का नाश करने में इन्द्र के वज्र ने सहायता की इस निमित्त यह आहुति समर्पित है।

यदि वासुकिदूतोऽसि यदि वा वासुकिः स्वयं सचरति सचरति तत्कारी मत्कारी विषनाशिनी विषदूषिणी हतं विषं नष्टं विषं हतमिन्द्रस्य वज्रेण विषं हतं ते ब्रह्मणा विषमिन्द्रस्य वज्रेण स्वाहा ॥14॥

तुम यदि वासुकि के दूत हो या स्वयं वासुकि हो। यह उनकी और हमारी हिंसा करने वाला जो विष फैल रहा है उसका दूषण और हरण करने वाली यह ब्रह्मविद्या है। उसने विष का नाश कर दिया। उसने इन्द्र के वज्र द्वारा विष का नाश कर दिया। विष का नाश करने में इन्द्र के वज्र ने सहायता की इसके निमित्त यह आहुति समर्पित है।

यदि तक्षकदूतोऽसि यदि वा तक्षकः स्वयं सचरति सचरति तत्कारी मत्कारी विषनाशिनी विषदूषिणी हतं विषं नष्टं विषं हतमिन्द्रस्य वज्रेण विषं हतं ते ब्रह्मणा विषमिन्द्रस्य वज्रेण स्वाहा ॥15॥

चाहे तुम तक्षक के दूत हो या स्वयं तक्षक हो ! यह जो उनकी और हमारी हिंसा करने वाला जहर फैल रहा है, उसको नाश करने वाली, उसको भी दूषित करने वाली यह ब्रह्मविद्या है। उस

ब्रह्मस्वरूपा ने इन्द्र के वज्र द्वारा घातक विष को विनष्ट किया। विषनाश करने में इन्द्र के वज्र ने सहायता दी। उस निमित्त से यह आहुति समर्पित है।

यदि कर्कोटकदूतोऽसि यदि वा कर्कोटकः स्वयं सचरति सचरति तत्कारी मत्कारी विषनाशिनी विषदूषिणी हतं विषं नष्टं विषं हतमिन्द्रस्य वज्रेण विषं हतं ते ब्रह्मणा विषमिन्द्रस्य वज्रेण स्वाहा ॥16॥

तुम यदि कर्कोटक के दूत हो या स्वयं कर्कोटक हो। यह जो उनकी और हमारी हिंसा करने वाला जहर फैल रहा है, उसका नाश करने वाली, उसका दूषण करने वाली ब्रह्मविद्या है। उस ब्रह्मस्वरूप ने इन्द्र के वज्र द्वारा घातक विष का नाश कर दिया। इन्द्र के वज्र ने विष का नाश करने में सहायता दी। इसके निमित्त यह आहुति समर्पित है।

यदि पद्मकदूतोऽसि यदि वा पद्मकः स्वयं सचरति सचरति तत्कारी मत्कारी विषनाशिनी विषदूषिणी हतं विषं नष्टं हतमिन्द्रस्य वज्रेण विषं हतं ते ब्रह्मणा विषमिन्द्रस्य वज्रेण स्वाहा ॥17॥

तुम पद्मक के दूत हो या स्वयं पद्मक हो। यह जो उनकी और हमारी हिंसा करने वाला विष फैल रहा है, उसका नाश करने वाली, उसको दूषित करने वाली ब्रह्मविद्या है। उस ब्रह्मस्वरूपा ने विष का नाश किया। उसने इन्द्र के वज्र के द्वारा विष का नाश किया। विष का नाश करने में इन्द्र के वज्र ने सहायता की। इस निमित्त यह आहुति समर्पित है।

यदि महापद्मकदूतोऽसि यदि वा महापद्मकः स्वयं सचरति सचरति तत्कारी मत्कारी विषनाशिनी विषदूषिणी हतं विषं नष्टं विषं हतमिन्द्रस्य वज्रेण विषं हतं ते ब्रह्मणा विषमिन्द्रस्य वज्रेण स्वाहा ॥18॥

तुम यदि महापद्मक के दूत हो या स्वयं महापद्मक हो, यह जो उनकी और हमारी हिंसा करने वाला जहर फैल रहा है, उसका नाश करने वाली, उसको दूषित करने वाली ब्रह्मविद्या है। उसने विष का नाश किया। इन्द्र के वज्र द्वारा विष का नाश किया। विष का नाश करने में इन्द्र ने उसकी सहायता की। उस निमित्त यह आहुति समर्पित है।

यदि शङ्खकदूतोऽसि यदि वा शङ्खकः स्वयं सचरति सचरति तत्कारी मत्कारी विषनाशिनी विषदूषिणी विषहारिणी हतं विषं नष्टं विषं हतमिन्द्रस्य वज्रेण विषं हतं ते ब्रह्मणा विषमिन्द्रस्य वज्रेण स्वाहा ॥19॥

तुम यदि शंखक के दूत हो अथवा स्वयं शंखक हो। (पर) यह जो उनकी और हमारी हिंसा करने वाला विष फैल रहा है, उसका नाश करने वाली, उसको भी दूषित करने वाली ब्रह्मविद्या है। उसने विष का नाश कर दिया। उसने इन्द्र के वज्र द्वारा विष का नाश किया। विष को नाश करने में इन्द्र ने सहायता की। इस निमित्त यह आहुति समर्पित है।

यदि गुलिकदूतोऽसि यदि वा गुलिकः स्वयं सचरति सचरति तत्कारी मत्कारी विषनाशिनी विषदूषिणी विषहारिणी हतं विषं नष्टं विषं हतमिन्द्रस्य वज्रेण विषं हतं ते ब्रह्मणा विषमिन्द्रस्य वज्रेण स्वाहा ॥20॥

तुम यदि गुलिक के दूत हो अथवा स्वयं गुलिक हो, यह जो उनकी और हमारी हिंसा करने वाला विष फैलता है, उसका नाश करने वाली, उसको भी प्रदूषित करने वाली ब्रह्मविद्या है। उस ब्रह्मरूपा ने घातक विष का नाश कर दिया। उसने इन्द्र के वज्र के द्वारा विष का नाश किया। विष का नाश करने में इन्द्र ने उसकी सहायता की। उस निमित्त यह आहुति समर्पित है।

यदि पौण्ड्रकालिकदूतोऽसि यदि वा पौण्ड्रकालिकः स्वयं सचरति सचरति तत्कारी मत्कारी विषनाशिनी विषदूषिणी विषहारिणी हतं विषं नष्टं विषं हतमिन्द्रस्य वज्रेण विषं हतं ते ब्रह्मणा विषमिन्द्रस्य वज्रेण स्वाहा ॥21॥

चाहे तुम पौण्ड्रकालिक के दूत हो या स्वयं पौण्ड्रकालिक हो, यह जो उनकी और हमारी हिंसा करने वाला विष है, उसका नाश करने वाली उसको भी दूषित कर देने वाली यह ब्रह्मविद्या है। इस ब्रह्मरूपा ने विष का नाश किया। इसने इन्द्र के वज्र के द्वारा इस घातक विष का नाश किया। विष के नाश में इन्द्र ने उसकी सहायता की। उस निमित्त यह आहुति दी जाती है।

यदि नागकदूतोऽसि यदि वा नागकः स्वयं सचरति सचरति तत्कारी मत्कारी विषनाशिनी विषदूषिणी विषहारिणी हतं विषं नष्टं विषं हतमिन्द्रस्य वज्रेण विषं हतं ते ब्रह्मणा विषमिन्द्रस्य वज्रेण स्वाहा ॥22॥

चाहे तुम नागक के दूत हो अथवा स्वयं नागक हो। यह जो उनकी और हमारी हिंसा करने वाला जहर फैल रहा है, उसका नाश करने वाली, उसको भी प्रदूषित कर देने वाली ब्रह्मविद्या है। इस ब्रह्मरूपा ने घातक विष का नाश कर दिया। उसने इन्द्र के वज्र के द्वारा विष का नाश किया। विष के नाश में इन्द्र ने उसकी सहायता की। इस निमित्त यह आहुति समर्पित है।

यदि लूतानां प्रलूतानां यदि वृश्चिकानां यदि घोटकानां यदि स्थावरजङ्गमानां सचरति सचरति तत्कारी मत्कारी विषनाशिनी विषदूषिणी विषहारिणी हतं विषं नष्टं विषं हतमिन्द्रस्य वज्रेण विषं हतं ते ब्रह्मणा विषमिन्द्रस्य वज्रेण स्वाहा ॥23॥

तुम चाहे बड़ी मकड़ी हो, चाहे बिच्छू हो, चाहे घुडदौड साँप हो, या चाहे स्थावर जंगम हो, यह जो उनकी और हमारी हिंसा करने वाला विष फैल रहा है, उसको नष्ट करने वाली, उसको भी दूषित कर देने वाली ब्रह्मविद्या है। उस ब्रह्मरूपा ने घातक विष को नष्ट कर दिया। उसने यह विषनाश इन्द्र के वज्र द्वारा किया। विष के नाश में इन्द्र ने उसकी मदद की। इसके निमित्त यह आहुति समर्पित है—स्वाहा।

अनन्तवासुकितक्षककर्कोटकपद्मकमहापद्मकशङ्खकगुलिकपौण्ड्रकालिकनागक इत्येषां दिव्यानां महानागानां महानागादिरूपाणां विषतुण्डानां विषदन्तानां विषदंष्ट्राणां विषाङ्गानां विषपुच्छानां विश्वचाराणां वृश्चिकानां लूतानां प्रलूतानां मूषिकाणां गृहगौलिकानां गृहगोधिकानां घ्रणासानां गृहगिरिगह्वरकालानलवल्मीकोद्भूतानां तार्णानां पार्णानां काष्ठदारुवृक्षकोटरस्थानां मूलत्वग्दारुनिर्यासपत्रपुष्पफलोद्भूतानां दुष्टकीटकपिश्वानमार्जारजम्बुकव्याघ्रवराहाणां जरायुजाण्डजोद्भिज्जस्वेदजानां शस्त्रबाणक्षतस्फोटव्रणमहाव्रणकृतानां कृत्रिमाणामन्येषां भूतवेतालकूष्माण्डपिशाचप्रेतराक्षसयक्षभयप्रदानां विषतुण्डदंष्ट्राणां विषाङ्गानां विषपुच्छानां विषाणां विषरूपिणी विषदूषिणी विषशोषिणी विषनाशिनी विषहारिणी हतं विषं नष्टं विषमन्तःप्रलीनं विषं प्रनष्टं विषं हतं ते ब्रह्मणा विषमिन्द्रस्य वज्रेण स्वाहा ॥24॥

अनन्त, वासुकि, तक्षक, कर्कोटक, पद्मक, महापद्मक, शंखक, गुलिक, पौण्ड्रकालिक आदि सभी नाग तथा सभी दिव्य नागों के और महानागों के आदिरूप विषैली चोंचों, विषैले दाँतों, विषैली दाढों, विषैले अंगों तथा विषैली पूँछों वाले सभी जगहों में घूमने वाले बिच्छू, मकड़ी, बड़ी मकड़ी, चुहिया, छछूंदर, छिपकली, घोटक, घर की दीवारों के तथा फर्श के छोटे-छोटे छिद्रों आदि में रहने वाले विषैले कीड़े, चींटी-चींटे, दीमक, तृण-पत्तों-काष्ठ-पेड़-कोटर आदि में रहने वाले, जड-तना-वृक्ष छाल-पत्तों-पुष्पों-फलों-में उत्पन्न होने वाले विषैले दुष्ट कीड़े, बन्दर-कुत्ते-बिल्ली-सियार-व्याघ्र-वराह आदि घूमने वाले विषैले जानवर, जरायुज (पशु, मनुष्यादि), अण्डज, उद्भिज्ज और स्वेदज सब प्राणी, शस्त्र-अस्त्र से कटे या घायल हुए अंग, फोडे, घाव, आदि में उत्पन्न हुए बड़े कीड़े, कृत्रिम तथा अन्य विष, भूत-वेताल-कूष्मांड-प्रेत-पिशाच-राक्षस-यक्ष आदि भयप्रदायक, विषैली चंचुवाले, विषैली दाढ़वाले, विषैले अंगों वाले, विषैली पूँछवाले भले हों, परन्तु विषों की भी विषरूप विषदूषक यह ब्रह्मविद्या सभी विषों को दूषित करने वाली, सभी विषों का शोषण करने वाली, सभी विषों का नाश करने वाली और सभी विषों का हरण करने वाली है। यह ब्रह्मविद्या सभी विषों को मारे, नष्ट करे। उस ब्रह्मविद्या ने इन घातक विषों को, अन्तर्लीन विषों को, प्रणाशक विषों को भी नष्ट कर दिया है। इन सभी विषों को नष्ट करने में इन्द्र के वज्र ने उसकी सहायता की है—स्वाहा।

य इमां ब्रह्मविद्याममावास्यायां पठेच्छृणुयाद्वा यावज्जीवं न हिंसन्ति सर्पाः। अष्टौ ब्राह्मणान्ग्राहयित्वा तृणेन मोचयेत्। शतं ब्राह्मणान् ग्राहयित्वा चक्षुषा मोचयेत्। सहस्रं ब्राह्मणान् ग्राहयित्वा मनसा मोचयेत्। सर्पाञ्जले न मुञ्चन्ति। तृणे न मुञ्चन्ति। काष्ठे न मुञ्चन्तीत्याह भगवान्ब्रह्मेत्युपनिषत् ॥25॥

इति गरुडोपनिषत्समाप्ता।
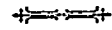
जो मनुष्य इस ब्रह्मविद्या को अमावास्या में पढ़ता है, या सुनता है, उसको जिन्दगीभर साँप नहीं काटते। इस ब्रह्मविद्या को आठ ब्राह्मणों को ग्रहण करवाकर (स्वीकार करवाकर) फिर तृण (जड़ीबूटी) के द्वारा विष का मोचन करना चाहिए। इसे सौ ब्राह्मणों को ग्रहण करवाकर नेत्रों से विष को मुक्त करना चाहिए। उसे हजार ब्राह्मणों से स्वीकार करवाकर मन से जहर को मुक्त करना चाहिए। साँपों को पानी में नहीं छोड़ना चाहिए, तृणों में नहीं छोड़ना चाहिए, काष्ठों में भी नहीं छोड़ना चाहिए, ऐसा ही ब्रह्माजी ने कहा है। यही उपनिषत् है।

इस प्रकार गरुडोपनिषत् समाप्त होती है।

शान्तिपाठः

ॐ भद्रं कर्णेभिः……देवहितं यदायुः। (पूर्ववत्)
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

(106) कलिसंतरणोपनिषत्

(उपनिषत्परिचय)

कृष्णयजुर्वेद परम्परा की इस छोटी-सी उपनिषद् में केवल तीन मंत्र हैं। इन तीन मंत्रों में प्रस्तुत भगवान् के नाम-स्मरण मात्र से कलि को पार किया जा सकता है, यह कहकर आवरणविनाश के लिए भगवान् के सोलह नाम दिए हैं, तथा अन्त में नाम जप की महिमा भी बताई गई हैं।

शान्तिपाठः

ॐ सह नाववतु। सह नौ……मा विद्विषावहै। (पूर्ववत्)
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

इसका हिन्दी रूपान्तर पूर्व में (शारीरकोपनिषद् में) द्रष्टव्य है।

द्वापरान्ते नारदो ब्रह्माणं जगाम कथं भगवन् गां पर्यटन्कलिं संतरेयमिति। स होवाच ब्रह्मा साधु पृष्टोऽस्मि सर्वश्रुतिरहस्यं गोप्यं तच्छृणु येन कलिसंसारं तरिष्यसि। भगवत आदिपुरुषस्य नारायणस्य नामोच्चारणमात्रेण निर्धूतकलिर्भवति ॥1॥

द्वापर के अन्त में नारद ब्रह्मा के पास गए। वे कहने लगे—'हे भगवन्! पृथ्वी पर भ्रमण करता हुआ मैं कैसे कलिकाल को पार कर सकता हूँ।?' तब ब्रह्मा बोले—'अच्छा प्रश्न पूछा है। यह सर्ववेदों का रहस्य और गोपनीय बात है। तो यह सुनो कि जिससे कलिकाल के संसार को पार कर जाओगे। भगवान् आदि पुरुष नारायण के नामोच्चारण मात्र से ही मनुष्य कलियुग को झाड़कर फेंकने वाला बन जाता है'।

नारदः पुनः पप्रच्छ तन्नाम किमिति। स होवाच हिरण्यगर्भः। हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे। हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे। इति षोडशकं नाम्नां कलिकल्मषनाशनम्। नातः परतरोपायः सर्ववेदेषु दृश्यते। इति षोडशकलावृतस्य जीवस्यावरणविनाशनम्। ततः प्रकाशते परं ब्रह्म मेघापाये रविरश्मिमण्डलीवेति ॥2॥

तब नारद ने फिर पूछा—'वह नाम क्या है?' तब हिरण्यगर्भ ब्रह्मा बोले—हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे। हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे'—इस प्रकार ये सोलह नाम कलिकाल के पापों को नाश करने वाले हैं। इससे बड़ा उपाय सभी वेदों में दिखाई नहीं देता। इन सोलह नामों से सोलह कलाओं से आवृत जीव के आवरण का नाश होता है। इसके बाद जैसे बादलों को हट जाने से रविमण्डल साफ प्रकाशित होता है, वैसे ही जीव के आगे परब्रह्म प्रकाशित हो उठता है।

पुनर्नारदः पप्रच्छ भगवन्कोऽस्य विधिरिति। तं होवाच नास्य विधिरिति। सर्वदा शुचिरशुचिर्वा पठन्ब्राह्मणः सलोकतां समीपतां

सरूपतां सायुज्यतामेति। यदास्य षोडशीकस्य सार्धत्रिकोटीर्जपति तदा ब्रह्महत्यां तरति। तरति वीरहत्याम्। स्वर्णस्तेयात्पूतो भवति। पितृदेवमनुष्याणामपकारात्पूतो भवति। सर्वधर्मपरित्यागपापात्सद्यः शुचितामाप्नुयात् सद्यो मुच्यते सद्यो मुच्यत इत्युपनिषत् ॥3॥

इति कलिसंतरणोपनिषत्समाप्ता।
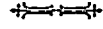
नारद ने फिर पूछा—'भगवन्! इसकी विधि क्या है?' तब ब्रह्मा बोले—इसकी कोई विधि नहीं है। सदैव पवित्र या अपवित्र ब्राह्मण इसको जपते-पढ़ते हुए ईश्वर की सलोकता (एकलोकता) को, सामीप्य को, ईश्वर जैसे स्वरूप को और ईश्वर में मिल जाने की अवस्था को प्राप्त कर लेता है। जब साधक इस षोडश नाम वाले मंत्र का साढे तीन करोड जप कर लेता है, तब वह ब्रह्महत्या के पाप से मुक्त हो जाता है। वह वीरहत्या के पाप से मुक्त हो जाता है। वह सुवर्ण चोरी के पाप से मुक्त हो जाता है। पिता-देव-मनुष्यों पर किए गए अपकार के पापों से मुक्त हो जाता है। सर्वधर्म त्याग के पाप से वह शीघ्र मुक्त हो जाता है। वह पवित्र हो जाता है। छूट जाता है, छूट जाता है, यही इस उपनिषत् का कहना है। यहाँ उपनिषत् पूरी होती है।

इस प्रकार कलिसंतरणोपनिषत् समाप्त होती है।

शान्तिपाठः

ॐ सह नाववतु। सह नौ—मा विद्विषावहै। (पूर्ववत्)
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः॥

(107) जाबाल्युपनिषत्

(उपनिषत्परिचय)

इस सामवेदीय उपनिषद् में कुल 23 मंत्र है। इसमें पिप्पलाद के पुत्र पैप्पलादि और जाबालि का परमतत्त्व के विषय में प्रश्नोत्तर है। मुख्य प्रश्न ये हैं—तत्त्व क्या है? जीव कौन है? पशु कौन है? ईश कौन है? और मोक्षप्राप्ति का उपाय क्या है? इन सभी प्रश्नों का उत्तर जाबालि ने क्रमशः दिया है। अन्त में इस उपनिषत् में प्रतिपादित ज्ञान की महिमा बताकर उपनिषत् को पूरा किया है।

शान्तिपाठः

ॐ आप्यायन्तु ममाङ्गानि—ते मयि सन्तु। (पूर्ववत्)
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः॥

इसका हिन्दी रूपान्तर पूर्व में (महोपनिषत् में) द्रष्टव्य है।

अथ हैनं भगवन्त जाबालिं पैप्पलादिः पप्रच्छ भगवन्मे ब्रूहि परमतत्त्वरहस्यम् ॥1॥
किं तत्त्वं को जीवः कः पशुः क ईशः को मोक्षोपाय इति ॥2॥
स तं होवाच साधु पृष्टं सर्वं निवेदयामि यथाज्ञातमिति ॥3॥
पुनः स तमुवाच कुतस्त्वया ज्ञातमिति ॥4॥
पुनः स तमुवाच षडाननादिति ॥5॥
पुनः स तमुवाच तेनाथ कुतो ज्ञातमिति ॥6॥
पुनः स तमुवाच तेनोशानादिति ॥7॥
पुनः स तमुवाच कथं तस्मात्तेन ज्ञातमिति ॥8॥
पुनः स तमुवाच तदुपासनादिति ॥9॥
पुनः स तमुवाच भगवन्कृपया मे सरहस्यं सर्वं निवेदयेति ॥10॥

एक बार भगवान् जाबालि से पैप्पलादि ने पूछा—'भगवन्! मुझे परम तत्त्व का रहस्य कहिए। तत्त्व क्या है? जीव कौन है? पशु कौन है? ईश कौन है? मोक्ष का उपाय क्या है?' तब जाबालि ने उनसे कहा—'ठीक पूछा है। मैंने जो जाना है वह कहता हूँ।' पैप्पलादि ने फिर से उनसे पूछा—'आपने कहाँ से जाना?' तब उन्होंने कहा—'षडानन से।' तब उन्होंने फिर पूछा—'उन्होंने कहाँ से जाना?' तब उन्होंने कहा—'उन्होंने ईशान से जाना।' तब पैप्पलादि ने फिर पूछा—'तो फिर उन्होंने कैसे और कहाँ से जाना?' जाबालि बोले—'उसकी उपासना से जाना'। तब पैप्पलादि बोले—'हे भगवन्! कृपा करके मुझे रहस्यसहित वह ज्ञान बताइए।'

स तेन पृष्टः सर्वं निवेदयामास तत्त्वम्। पशुपतिरहंकाराविष्टः संसारी जीवः स एव पशुः। सर्वज्ञः पञ्चकृत्यसम्पन्नः सर्वेश्वर ईशः पशुपतिः ॥11॥

के पशव इति पुनः स तमुवाच ॥12॥
जीवाः पशव उक्ताः । तत्पतित्वात्पशुपतिः ॥13॥
स पुनस्तं होवाच कथं जीवाः पशव इति । कथं तत्पतिरिति ॥14॥
स तमुवाच यथा तृणाशिनो विवेकहीनाः परप्रेष्याः कृष्यादिकर्मसु नियुक्ताः सकलदुःखसहाः स्वस्वामिबध्यमाना गवादयः पशवः । यथा तत्स्वामिन इव सर्वज्ञ ईशः पशुपतिः ॥15॥
तज्ज्ञानं केनोपायेन जायते ॥16॥
पुनः स तमुवाच विभूतिधारणादेव ॥17॥
तत्प्रकारः कथमिति । कुत्र कुत्र धार्यम् ॥18॥

उसके ऐसा कहने पर जाबालि ने सब तत्त्व इस प्रकार बताया—'स्वयं पशुपति ही अहंकार से आविष्ट होकर संसारी जीव बनते हैं और वही पशु है । जो सर्वज्ञ और पंचकृत्यों से पूर्ण है वह ईश ही पशुपति है ।' तब उसने फिर पूछा—'पशु कौन है ?' उन्होंने उत्तर दिया—'जीव ही पशु कहे गए हैं, और उनके पति होने से ईश्वर पशुपति कहे गए हैं ।' फिर उन्होंने पूछा—'जीव पशु क्यों हैं और ईश्वर उनके पति कैसे हैं ?' तो उन्होंने उत्तर दिया—'जैसे घास खाने वाले विवेकहीन किसी अन्य के दास, कृषि आदि कामों में जोड़े गए सभी दु:खों को सहन करने वाले अपने मालिक के द्वारा बाँधे गए बैल आदि पशु कहलाते हैं, उसी प्रकार उन पशुओं जैसे जीवों के स्वामी होने से यह सर्वज्ञ ईश्वर पशुपति कहे जाते हैं ।' तब पैप्पलादि ने पूछा—'तब उनका ज्ञान कैसे हो सकता है ?' तब जाबालि ने उत्तर दिया कि—'विभूतिधारण से ही उसका ज्ञान होता है ।' तब पैप्पलादि ने फिर पूछा—'उस विभूतिधारण का क्या प्रकार है ? वह कहाँ-कहाँ धारण करना चाहिए ?'

पुनः स तमुवाच सद्योजातादिपञ्चब्रह्ममन्त्रैर्भस्म संगृह्याग्निरिति भस्मेत्यनेनाभिमन्त्र्य मानस्तोक इति समुद्धृत्य जलेन संसृज्य त्र्यायुषमिति शिरोललाटवक्षःस्कन्धेष्विति तिसृभिस्त्र्यायुषैस्त्र्यम्बकैस्तिस्रो रेखाः प्रकुर्वीत । व्रतमेतच्छाम्भवं सर्वेषु वेदेषु वेदवादिभिरुक्तं भवति । तत्समाचरेन्मुमुक्षुर्न पुनर्भवाय ॥19॥

तब फिर जाबालि ने उत्तर दिया कि—'सद्योजातं०' आदि पाँच मंत्रों से भस्म को इकट्ठा करके, 'अग्निरिति भस्म'—आदि कहकर उसका अभिमंत्रण करके, 'मानस्तोके' आदि मंत्रों से उठाकर, जल से उसे मिश्रित करके 'त्र्यायुषं जमदग्ने०' आदि मंत्रों से मस्तक, ललाट, छाती और कन्धों पर उसे धारण करना चाहिए । बाद में, 'त्र्यायुषं' और 'त्र्यम्बकं' आदि मंत्रों से तीन रेखाएँ और खींचनी चाहिए । यह शांभव ब्रह्म है । इसे सभी वेदवादियों ने कहा है । मुमुक्षु को फिर से जन्म न लेना पड़े, इसलिए इसका आचरण करना चाहिए । (ऊपर जो सद्योजातादि पाँच मंत्रों का उल्लेख किया है, वे पूरे मंत्र इस प्रकार हैं—"ॐ सद्योजातं प्रपद्यामि सद्योजाताय वै नमो नमः । भवे भवे नातिभवे भवस्व मां भवोद्भवाय नमः ॥1॥ वामदेवाय नमो ज्येष्ठाय नमः । श्रेष्ठाय नमो रुद्राय नमः । कालाय नमः कालविकरणाय नमो बलविकरणाय नमः ॥2॥ बलाय नमो बलप्रमथनाय नमः । सर्वभूतदमनाय नमो मनोन्मनाय नमः ॥3॥ अघोरेभ्योऽथ घोरेभ्यो घोरघोरतरेभ्यः सर्वेभ्यः सर्वशर्वेभ्यो नमस्तेऽस्तु रुद्ररूपेभ्यः ॥4॥ तत्पुरुषाय विद्महे महादेवाय धीमहि । तन्नो रुद्रः प्रचोदयात् ॥5॥ तथा—"अग्निरिति भस्म । वायुरिति भस्म । जलमिति भस्म । स्थलमिति भस्म । व्योमेति भस्म । सर्वं ह वा इदं भस्म । मन एतानि चक्षूँषि भस्मानि ।"—ये पूरे मंत्र हैं ।

अथ सनत्कुमारः प्रमाणं पृच्छति । त्रिपुण्ड्रधारणस्य त्रिधा रेखा आललाटादाचक्षुषोराभ्रुवोर्मध्यतश्च ॥20॥

अब जब सनत्कुमार ने उसका प्रमाण (कद) पूछा तब उन्होंने कहा कि त्रिपुण्ड्र धारण करने के लिए तीन आडी रेखाएँ पूरे ललाट के मध्य, भौंहों तथा नेत्रों तक खींचनी चाहिए ।

याऽस्य प्रथमा रेखा सा गार्हपत्यश्चाकारो रजो भूर्लोकः स्वात्मा क्रियाशक्तिः ऋग्वेदः प्रातःसवनं प्रजापतिर्देवो देवतेति । याऽस्य द्वितीया रेखा सा दक्षिणाग्निरुकारः सत्त्वमन्तरिक्षमन्तरात्मा चेच्छाशक्तिर्यजुर्वेदो माध्यन्दिनसवनं विष्णुर्देवो देवतेति । याऽस्य तृतीया रेखा साऽऽहवनीयो मकारस्तमो द्यौर्लोकः परमात्मा ज्ञानशक्तिः सामवेदस्तृतीयसवनं महादेवो देवतेति ॥21॥

जो इसकी प्रथम रेखा है, वह गार्हपत्य अग्नि, अकार, रजोगुण, भूर्लोक, अपनी आत्मा, क्रियाशक्ति, ऋग्वेद और प्रात:सवन है, एवं प्रजापति देव उसके देवता हैं । जो इसकी दूसरी रेखा है, वह दक्षिणाग्नि, उकार, सत्त्वगुण, अन्तरिक्षलोक, अपनी अन्तरात्मा, इच्छाशक्ति, यजुर्वेद और मध्याह्नकालीन सवन है और इसके देव विष्णु हैं । जो इसकी तीसरी रेखा है, वह आहवनीय अग्नि सहित मकार है । वह तमोगुण, द्यौलोक, परमात्मा, ज्ञानशक्ति, सामवेद और तीसरा सवन है, महादेव इसके देवता हैं ।

त्रिपुण्ड्रं भस्मना करोति यो विद्वान्ब्रह्मचारी गृही वानप्रस्थो यतिर्वा स महापातकोपपातकेभ्यः पूतो भवति । स सर्वान् वेदानधीतो भवति । स सर्वान्देवान्ध्यातो भवति । स सर्वेषु तीर्थेषु स्नातो भवति । स सकलरुद्रमन्त्रजापी भवति । न स पुनरावर्तते न स पुनरावर्तते ॥ इति ॥22॥
ॐ सत्यमित्युपनिषत् ॥23॥

इति जाबाल्युपनिषत्समाप्ता ।
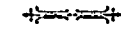
साधक इस प्रकार से भस्म से त्रिपुण्ड्र करता है । जो विद्वान् ब्रह्मचारी, गृहस्थी, वानप्रस्थी या संन्यासी हो, वह चाहे महापातकी हो तो भी त्रिपण्ड्रधारण से मुक्त होता है, उपपातकों से मुक्त होता है । उसने सभी सर्वदेवों का ध्यान कर लिया माना जाता है । उसे सभी तीर्थों में स्नान कर लिया माना जाता है । वह संकल रुद्रमंत्रों का जप किया हुआ माना जाता है । वह फिर से जन्म नहीं लेता, फिर से वह यहाँ आता नहीं है । यह सत्य है, ऐसा यह उपनिषत् कहती है, और यहाँ वह पूरी होती है ।

इस प्रकार जाबाल्युपनिषत् समाप्त होती है ।

शान्तिपाठः

ॐ आप्यायन्तु ममाङ्गानि·····ते मयि सन्तु । (पूर्ववत्)
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

(108) सौभाग्यलक्ष्म्युपनिषत्

(उपनिषत्परिचय)

यह ऋग्वेदीय परंपरा की उपनिषत् है। इसमें 'श्रीसूक्त' के अक्षरों के आधार पर देवी के मंत्र, चक्र आदि प्रकट किए हैं। देवसमूह और नारायण के प्रश्नोत्तररूप में यह उपनिषत् है। इसके तीन खण्ड हैं। प्रथम खण्ड में सौभाग्यलक्ष्मी का स्थान, श्रीसूक्त के ऋषि आदि का निरूपण, सौभाग्यलक्ष्मी चक्र, एकाक्षरी मंत्र, ऋषि आदि, एकाक्षरी चक्र और लक्ष्मी का विशेषमंत्र है। दूसरे खण्ड में योग्याधिकारी के लिए ज्ञानयोग, षण्मुखीमुद्रा से युक्त प्राणायामयोग, नादाविर्भावपूर्वक तीन ग्रन्थियों का विवेचन, अखण्ड ब्रह्माकारवृत्ति, निर्विकल्पभाव, समाधिलक्षण आदि हैं। तीसरे खण्ड में नवचक्रों का विस्तृत वर्णन है। अन्त में फलश्रुति है।

शान्तिपाठः

ॐ वाङ्मे मनसि—वक्तारमवतु वक्तारम्। (पूर्ववत्)
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

इसका हिन्दी रूपान्तर पूर्व में (अक्षमालिकोपनिषत् में) द्रष्टव्य है।

प्रथमः खण्डः

अथ भगवन्तं देवा ऊचुर्हे भगवन्नः कथय सौभाग्यलक्ष्मीविद्याम् ॥1॥ तथेत्यवोचद्भगवानादिनारायणः सर्वे देवा यूयं सावधानमनसो भूत्वा शृणुत। तुरीयरूपां तुरीयातीतां सर्वोत्कटां सर्वमन्त्रासनगतां पीठोपपीठ-देवतापरिवृतां चतुर्भुजां श्रियं हिरण्यवर्णामिति पञ्चदशर्ग्भिर्ध्यायेत् ॥2॥

देवों ने भगवान् से कहा—'हे भगवन्! हमें सौभाग्यलक्ष्मी विद्या बताइए।' तब भगवान् नारायण ने 'अच्छा' ऐसा कहकर आगे कहा कि—तुम सब देवता सावधान होकर सुनो। महाकाली, महालक्ष्मी और महासरस्वती—इन तीनों से भी अलग एक चौथी शक्ति के या तो उससे भी परे, सर्वश्रेष्ठ, सभी मंत्रों के अधिष्ठानरूप ऐसी तथा जिसकी पीठ तथा उपपीठ देवताओं से घिरी हुई है, ऐसी चार हाथों वाली लक्ष्मीदेवी है। उसका 'हिरण्यवर्णां' आदि श्रीसूक्त की पंद्रह ऋचाओं से ध्यान करना चाहिए।

अथ पञ्चदश ऋगात्मकस्य श्रीसूक्तस्यानन्दकर्दमचिक्लीतेन्दिरासुता ऋषयः। श्रीरित्याद्या ऋचः चतुर्दशानामृचामानन्दाद्यृषयः। हिरण्य-वर्णाद्याद्यत्रयस्यानुष्टुप् छन्दः। कांसोस्मीत्यस्य बृहती छन्दः। तदन्ययो-र्द्वयोस्त्रिष्टुप्। पुनरष्टकस्यानुष्टुप्। शेषस्य प्रस्तारपङ्क्तिः। श्र्यग्निर्देवता। हिरण्यवर्णामिति बीजम्। कांसोऽस्मीति शक्तिः। हिरण्यमया चन्द्रा रजतस्त्रजा हिरण्यस्त्रजा हिरण्या हिरण्यवर्णेति प्रणवादिनमोन्तैश्च-

तुर्थ्यन्तैरङ्गन्यासः। अथ वक्त्रत्रयैरङ्गन्यासः। मस्तकलोचनश्रुतिघ्राण-वदनकण्ठबाहुद्वयहृदयनाभिगुह्यपायूरुजानुजङ्घेषु श्रीसूक्तैरेव क्रमशो न्यसेत् ॥3॥

पंद्रह ऋचाओं वाले इस श्रीसूक्त के आनन्द, कर्दम, चिक्लीत और इन्दिरापुत्र ऋषि हैं, पहली ऋचा के ऋषि श्रीदेवी स्वयं हैं। शेष चौदह ऋचाओं के ऋषि आनन्द आदि हैं। 'हिरण्यवर्णां०', तां म आवह०', और 'अश्वपूर्णाम्०'—इन तीन ऋचाओं का अनुष्टुप् छन्द है, 'कां सोऽस्मितां०'—इस ऋचा का छन्द बृहती है। इसके बाद की दो ऋचाओं का छन्द त्रिष्टुप् है। इसके बाद की आठ ऋचाओं का (अर्थात् 'उपैतु मां' से लेकर 'आर्द्रा यः करिणीम्०' तक) अनुष्टुप् छन्द है। अन्तिम ऋचा, अर्थात् 'तां म आवाह जातवेदो०'—इस पंद्रहवीं ऋचा का छन्द प्रस्तारपंक्ति नाम का है। श्री और लक्ष्मी इसकी देवताएँ हैं। 'हिरण्यस्स्रणां०'—यह बीज है। 'कां सोऽस्मि०'—यह शक्ति है। 'हिरण्मया, चन्द्रा, रजतस्रजा, हिरण्यस्रजा, हिरण्या, हिरण्यवर्णा'—ये छः अंग देवता हैं। उनके पहले प्रणव और अन्त में 'नमः' शब्द लगाकर उन शब्दों को चतुर्थ्यन्त करके अंगन्यास करने चाहिए। इसके बाद वक्त्रत्रयमंत्र से भी अंगन्यास हैं। मस्तक, आँखें, कान, नाक, मुख, कण्ठ, दोनों हाथ, हृदय, नाभि, गुह्यांग, गुद, ऊरुओं, जाँघों और पैरों में—पंद्रह स्थलों में श्रीसूक्त की पंद्रह ऋचाओं द्वारा क्रमशः न्यास करने चाहिए।

अमलकमलसंस्था तद्रजःपुञ्जवर्णा
करकमलधृतेष्टाऽभीतियुग्माम्बुजा च।
मणिकटकविचित्रालंकृताकल्पजालैः
सकलभुवनमाता सन्ततं श्रीः श्रियै नः ॥4॥

निर्मल कमलदल पर आसीन, कमलपराग के समूह जैसे वर्णवाली, चारों हाथों में क्रमशः वरमुद्रा, अभयमुद्रा और अन्य दो हाथों में दो कमल धारण करने वाली, मणिजडित कंकणों से विचित्र शोभावाली, सभी अलंकारों से विभूषित, सर्वलोक माता लक्ष्मी हमें सर्व प्रकार से सम्पन्न करें। इस मंत्र से भगवती का ध्यान करना चाहिए।

तत्पीठकर्णिकायां ससाध्यं श्रीबीजम्। वस्वादित्यकलापद्मेषु श्रीसूक्त-गतार्धार्धर्चा तद्बहिर्यः शुचिरिति मातृकया च श्रियं यन्त्राङ्गदशकं च विलिख्य श्रियमावाहयेत् ॥5॥

अब देवी का मंत्र कहा जाता है—उनकी पीठ पर कर्णिका में (बीजकोश में) प्रयत्नपूर्वक श्रीबीज 'श्रीं' लिखना चाहिए। बाद में आठ, बारह और सोलह दलवाले पद्मों के ऊपर तथा भूवृत्तों के बीच श्रीसूक्त का आधा-आधा मंत्र लिखना चाहिए। बाद में बीजकोश के बाहर—'यः शुचिः प्रयतो भूत्वा' आदि फलदर्शक मंत्र को लिखकर षोडशार के बीच तथा ऊपर 'अ'कार से लेकर 'क्षकार' तक मातृकावर्णों को लिखना चाहिए। इस तरह दस अंगों से युक्त श्रीचक्र बनाकर श्री का आवाहन करना चाहिए। (दस अंग ये है—प्रणव, षट्कोण, भूवृत्त, अष्टदल, भूवृत्त, द्वादशदल, भूवृत्त, द्वादशदल, भूवृत्त और निर्भूवृत्त।)

अङ्गैः प्रथमावृतिः। पद्मादिभिर्द्वितीया। लोकेशैस्तृतीया। तदायुधै-स्तुरीया वृतिर्भवति। श्रीसूक्तैरावाहनादि। षोडशसहस्त्रजपः ॥6॥

अब आवरण कहे जाते हैं कि—अंगन्यास की देवताएँ प्रथम आवरण है, दूसरे आवरण में पद्मा, पद्मवर्णा, पद्मस्था, आर्द्रा, तर्पयन्ती, तृप्ता, ज्वलन्ती, स्वर्णप्रकारा—ये आठ देवियाँ आती हैं। तीसरे आवरण में इन्द्रादि देव—दिक्पाल आते हैं। चौथे आवरण में वज्रादि आयुध लेने चाहिए। इस प्रकार पूजन करने के बाद सूक्त का सोलह हजार बार जप करने से पुरश्चरण होता है।

सौभाग्यरमैकाक्षर्या भृगुनिचृद्गायत्री। श्रिय ऋष्यादयः। शमिति बीजशक्तिः। श्रामित्यादि षडङ्गम् ॥7॥

सौभाग्यरमा नाम के एकाक्षरी मंत्र 'श्रीः' की उपासना का प्रकार यह है कि इस एकाक्षरी मंत्र के ऋषि भृगु हैं। निचृद्गायत्री इसका छन्द है, श्रीः देवता हैं, 'शं' बीज है, इस मंत्र के षडंग न्यास के लिए श्रां, श्रीं, श्रूं, श्रैं, श्रौं और श्रः—ये बीज हैं।

भूयाद्भूयो द्विपद्माभयवरदकरा तप्तकार्तस्वराभा
शुभ्राभ्राभेभयुग्मद्वयकरधृतकुम्भाद्भिरासिच्यमाना।
रक्तौघाबद्धमौलिर्विमलतरदुकूलार्तवालेपनाढ्या
पद्माक्षी पद्मनाभोरसि कृतवसतिः पद्मगा श्रीः श्रियै नः ॥8॥

यह ध्यानमंत्र है—"जिन्होंने ऊपर के दो हाथों में दो कमल धारण किए हैं तथा शेष दो हाथों में से एक के द्वारा अभयमुद्रा और दूसरे के द्वारा वरमुद्रा धारण की है। तपे हुए सोने-सा वर्णवाली, जिसके ऊपर सफेद बादल जैसे श्वेत दो हाथी अपनी सूँड़ में रखे हुए कुंभों से अभिषेक कर रहे हैं, ऐसी तथा जिसके मुकुट में रत्नों की लडियाँ लटक रहीं है ऐसी, सुन्दर रेशमी वस्त्र धारण करने वाली, ऋतु-अनुकूल फूलों की गन्ध से लेपित, कमलपत्र जैसी आँखों वाली, विष्णु के हृदयकमल में वास करने वाली, पद्मासना लक्ष्मी हम सबके ऊपर कल्याण करने वाली बने। (इस भावना के अनुसार ध्यान करना चाहिए।)

तत्पीठम्। अष्टपत्रं वृत्तत्रयं द्वादशराशिखण्डं चतुरस्रं रमापीठं भवति। कर्णिकायां ससाध्यं श्रीबीजम्। विभूतिरुन्नतिः कान्तिः सृष्टिः कीर्तिः सन्नतिर्व्युष्टिः सत्कृष्टिर्ऋद्धिरिति प्रणवादिनमोन्तैश्चतुर्थ्यन्तैर्नवशक्तिं यजेत् ॥9॥

इस मंत्र के लिए देवी का पीठ निम्नलिखित प्रकार से बनाना चाहिए। अष्टदल कमल बनाकर, उसकी चारों ओर तीन वर्तुल करके उनमें बारह राशियों के बारह विभाग करने चाहिए। फिर चतुरस्र बनाने से रमायंत्र (रमापीठ) होता है। अष्टदल की कर्णिका में (बीजकोश में) षट्कोण बनाकर उसके मध्य में साध्य के नाम के साथ 'श्रीं' (बीज) लिखना चाहिए। और विभूति, उन्नति, कान्ति, सृष्टि, कीर्ति, सन्नति, व्यष्टि, उत्कृष्टि और ऋद्धि—इन नव पीठशक्तियों का उन्हें चतुर्थी विभक्ति लगाकर, पहले प्रणव जोड़कर और बाद में नमः लगाकर पूजन करना चाहिए। (जैसे—'ॐ विभूत्यै नमः, ॐ उन्नत्यै नमः' आदि)।

अङ्गैः प्रथमावृत्तिः। वासुदेवादिभिर्द्वितीया। बालक्यादिभिस्तृतीया। इन्द्रादिभिश्चतुर्थी भवति। द्वादशलक्षजपः ॥10॥

और, आवरणपूजा के लिए षडंग से प्रथमावरण की तथा वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न, अनिरुद्ध की पूजा द्वारा द्वितीय आवरण की पूजा करनी चाहिए। और बालाकि, विमला, कमला, विभीषका, वनमालिका, मालिका और वसुमालिका का पूजन तीसरे आवरण के लिए करना चाहिए। और चौथे

आवरण की पूजा में इन्द्रसहित समस्त देवों की और वज्र आदि उनके सभी आयुधों की पूजा चाहिए और पुरश्चरण के लिए नियमानुसार बारह लाख मंत्रों का जप करना चाहिए।

श्रीलक्ष्मीर्वरदा विष्णुपत्नी वसुप्रदा हिरण्यरूपा स्वर्णमालिनी रजतस्रजा स्वर्णप्रभा स्वर्णप्राकारा पद्मवासिनी पद्महस्ता पद्मप्रिया मुक्तालंकारा चन्द्रसूर्या बिल्वप्रिया ईश्वरी भुक्तिर्मुक्तिर्विभूतिर्ऋद्धिः समृद्धिः कृष्टिः पुष्टिर्धनदा धनेश्वरी श्रद्धा भोगिनी भोगदा सावित्री धात्री विधात्रीत्यादि-प्रणवादिनमोन्ताश्चतुर्थ्यन्ता मन्त्राः। एकाक्षरवदङ्गादिपीठम्। लक्षजपः। दशांशं तर्पणम्। दशांशं हवनम्। द्विजतृप्तिः ॥11॥

विविध मंत्रों से लक्ष्मी की पूजा की जाती है। इससे आदिनारायण ने विविध मंत्र बताए हैं। जैसे श्री, लक्ष्मी, वरदा, विष्णुपत्नी, वसुप्रदा, हिरण्यरूपा, स्वर्णमालिनी, रजतस्रजा, स्वर्णप्रभा, स्वर्णप्राकारा, पद्मवासिनी; पद्महस्ता, पद्मप्रिया, मुक्तालंकारा, चन्द्रा, सूर्या, बिल्वप्रिया, ईश्वरी, भुक्ति मुक्ति, विभूति, ऋद्धि, समृद्धि, कृष्टि, पुष्टि, धनदा, धनेश्वरी, श्रद्धा, भोगिनी, भोगदा, धात्री, विधात्री—ऐसे नाम लेकर उनके आगे प्रणव तथा अन्त में नमः जोड़कर नामों को चतुर्थ्यन्त बनाकर मन्त्र बनाना चाहिए। (जैसे ॐ श्रियै नमः, ॐ लक्ष्म्यै नमः इत्यादि।) इन सभी मंत्रों के अंगन्यास और पीठ-पूजा आदि तो एकाक्षरमंत्र—सौभाग्यरमा—की तरह ही करना चाहिए। इसका पुरश्चरण एक लाख जप का है, जप के दशांश का तर्पण और शतांश का हवन भी है। और ब्रह्मभोजन कराना चाहिए।

निष्कामानामेव श्रीविद्यासिद्धिः। न कदापि सकामानामिति ॥12॥

निष्काम भाव से पुरश्चरण करने वालों को ही सिद्धि मिलती है, सकाम लोगों को कभी सिद्धि नहीं होती है।

यहाँ प्रथम खण्ड पूरा होता है।

❋

द्वितीयः खण्डः

अथ हैनं देवा ऊचुस्तुरीयया मायया निर्दिष्टं तत्त्वं ब्रूहीति। तथेति स होवाच—
योगेन योगो ज्ञातव्यो योगो योगात्प्रवर्धते।
योऽप्रमत्तस्तु योगेन स योगी रमते चिरम् ॥1॥
समापय्य निद्रां सुजीर्णेऽल्पभोजी श्रमत्याज्यबाधे विविक्ते प्रदेशे।
सदा शीतनिस्तृष्ण एष प्रयत्नोऽथ वा प्राणरोधो निजाभ्यासमार्गात् ॥2॥
वक्त्रेणापूर्य वायुं हुतवहनिलयेऽपानमाकृष्य धृत्वा
स्वाङ्गुष्ठाद्यङ्गुलीभिर्वरकरतलयोः षड्भिरेवं निरुध्य।
श्रोत्रे नेत्रे च नासापुटयुगलमथोऽनेन मार्गेण सम्यक्
पश्यन्ति प्रत्ययांशं प्रणवबहुविधध्यानसंलीनचित्ताः ॥3॥

भगवान् आदिनारायण से देवों ने कहा—'त्रिगुणातीत तुर्या माया का रहस्य कहिए।' तब नारायण ने 'ठीक है' कहकर आगे कहा—योग से योग को जानना चाहिए। योग योग से बढ़ता है। जो सावधान होकर योगपरायण होता है, वह योगी दीर्घायु होता है। योगी को पर्याप्त निद्रा लेकर,

खाया हुआ पच जाने पर ही अल्पाहार लेकर, श्रम न हो ऐसे निर्विघ्न एकान्त स्थल में बैठकर, मन को तृष्णारहित बनाने का हमेशा ही प्रयत्न करते रहना चाहिए। अथवा प्राप्त किए ज्ञानानुसार प्राणायाम करना चाहिए। मुँह से वायु को जठर में भरकर नीचे जाते हुए अपान को वापस खींचकर उन दोनों का सम्मिश्रण होने देना चाहिए। इस समय हाथ के अँगूठे, अँगुलियाँ और दोनों करतलों से दोनों कान, दोनों आँखें, दोनों नासिकाओं को बन्द कर देना चाहिए और चित्त में ओमकार का प्रयत्नपूर्वक ध्यान करना चाहिए। ऐसा करने से योगी लोग सभी पदार्थों को अपने समीप में ही देख सकते हैं।

श्रवणमुखनयननासानिरोधनेनैव कर्तव्यम्।
शुद्धसुषुम्नासरणौ स्फुटममलं श्रूयते नादः ॥4॥
विचित्रघोषसंयुक्तानाहते श्रूयते ध्वनिः।
दिव्यदेहश्च तेजस्वी दिव्यगन्धोऽप्यरोगवान् ॥5॥
सम्पूर्णहृदयः शून्ये त्वारम्भे योगवान्भवेत्।
द्वितीयां विघटीकृत्य वायुर्भवति मध्यगः ॥6॥

कान, मुख, आँख तथा नासिका का इस तरह निरोध करना चाहिए, जिससे साधक को शुद्ध सुषुम्ना नाडी में प्राण का अवस्थान होता है, एवं उसे अनाहतनाद सुनाई पड़ता है। अनाहतनाद में विचित्र प्रकार की आवाजों से भरी हुई ध्वनि सुनाई पड़ती है। ऐसे प्राणनिरोध करने वाला योगी दिव्यदेहधारी, तेजस्वी, दिव्यगंधयुक्त, नीरोगी और परिपूर्ण हृदय वाला होता है। एकान्त में इसका अभ्यास करने से योगसिद्धि होती है। इस तरह करने से प्राणवायु इडा को छोड़कर सुषुम्णा में स्थित होता है।

दृढासनो भवेद्योगी पद्माद्यासनसंस्थितः।
विष्णुग्रन्थेस्ततो भेदात्परमानन्दसम्भवः ॥7॥
अतिशून्यो विमर्दश्च भेरीशब्दस्ततो भवेत्।
तृतीयां यत्नतो भित्त्वा निनादो मर्दलध्वनिः ॥8॥
महाशून्यं ततो याति सर्वसिद्धिसमाश्रयम्।
चित्तानन्दं ततो भित्त्वा सर्वपीठगतानिलः ॥9॥

योगी को प्रथम आसनसिद्धि प्राप्त कर लेनी चाहिए। पद्मासनादि में से किसी एक आसन पर स्थिर होने से प्रथम विष्णुग्रन्थि का भेद होता है, और उससे उसे परम आनंद होता है। उस समय उसे घबरा देने वाला भेरी शब्द सुनाई देता है। वह शब्द अतिशून्य से (गहराई से) आता है। तब वायु पिंगला नाडी को यत्नपूर्वक छोड़ देता है, तब उस समय तीसरी ग्रन्थि (रुद्रग्रन्थि—मणिपूरक चक्र) को भेदकर चलने पर मृदंग जैसी आवाज आने लगती है। इसके बाद प्राणवायु अन्य चक्रों का भेदन करता हुआ महाशून्य (आकाशचक्र) में पहुँच जाता है, और वहाँ सभी सिद्धियाँ उसे मिल जाती हैं। इसके बाद प्राणवायु चित्त के आनन्द को भी भेदकर कामरूपादि सभी पीठों में गतिशील हो जाता है।

निष्पत्तौ वैणवः शब्दः क्वणतीति क्वणो भवेत्।
एकीभूतं तदा चित्तं सनकादिमुनीडितम् ॥10॥
अन्तेऽनन्तं समारोप्य खण्डेऽखण्डं समर्पयन्।
भूमानं प्रकृतिं ध्यात्वा कृतकृत्योऽमृतो भवेत् ॥11॥
योगेन योगं संरोध्य भावं भावेन चाञ्जसा।
निर्विकल्पं परं तत्त्वं सदा भूत्वा परं भवेत् ॥12॥

अहंभावं परित्यज्य जगद्भावमनीदृशम्।
निर्विकल्पे स्थितो विद्वान्भूयो नाप्यनुशोचति ॥13॥

ऐसी क्षमता से उसे वेणुनाद जैसा नाद सुनाई पड़ता है। उस समय चित्त एकाग्रवृत्ति वाला हो जाता है। सनकादि मुनियों ने ऐसे चित्त को प्रशस्त कहा है। तब योगी सान्त में अनन्त का (खण्ड में अखण्ड का) लय करके ज्ञानगम्य ब्रह्म और प्रकृति का ध्यान करते हुए कृतकृत्य बनता है। वह अमर बन जाता है। इस प्रकार असंप्रज्ञात योग से संप्रज्ञात योग को अपने वश में करके, छोटे भाव की सहायता से ही बड़े भाव को प्राप्त करके निरन्तर निर्विकल्प होकर वह परम भाव को प्राप्त होता है। अहंभाव को छोड़कर जो आत्मभाव से अलग जगद् भाव को भी छोड़ देता है, वह निर्विकल्प भाव में स्थित हो जाता है, तो फिर निर्विकल्पभाव में स्थित ऐसे योगी के लिए और कुछ सोचने के लिए शेष ही नहीं रहता।

सलिले सैन्धवं यद्वत्साम्यं भवति योगतः।
तथात्ममनसोरैक्यं समाधिरभिधीयते ॥14॥
यदा संक्षीयते प्राणो मानसं च प्रलीयते।
तदा समरसत्वं यत्समाधिरभिधीयते ॥15॥
यत्समत्वं तयोरत्र जीवात्मपरमात्मनोः।
समस्तनष्टसंकल्पः समाधिरभिधीयते ॥16॥
प्रभाशून्यं मनःशून्यं बुद्धिशून्यं निरामयम्।
सर्वशून्यं निराभासं समाधिरभिधीयते ॥17॥
स्वयमुच्चलिते देहे देही नित्यसमाधिना।
निश्चलं तं विजानीयात्समाधिरभिधीयते ॥18॥

जैसे पानी में नमक पिघलकर एकरूप हो जाता है, उसी तरह आत्मा और मन की एकरूपता को समाधि कहते हैं। जब प्राण क्षीण हो जाता है और मन का विलय हो जाता है, तब जो सामरस्य होता है उसे समाधि कहते हैं। जिसमें सभी संकल्प नष्ट हो जाते हैं, ऐसे जीव और ब्रह्म के ऐक्य को समाधि कहा जाता है। जब कुछ भी आभास नहीं होता, मनोरहित, बुद्धिशून्य, किसी उपद्रवरहित संसारबोधरहित जो अवस्था है, उसे समाधि कहते हैं शरीर के गतिशील होने पर भी चित्त समाधि वाला हो, तो वह योगी निश्चल है, ऐसा समझो। वह समाधि कहलाती है।

यत्र यत्र मनो याति तत्रतत्र परं पदम्।
तत्रतत्र परं ब्रह्म सर्वत्र समवस्थितम् ॥19॥

समाधिस्थ के लिए तो जहाँ जहाँ मन जाता है, वहाँ-वहाँ परमपद ही है। और जहाँ-जहाँ परमपद-ब्रह्म होता है, वहाँ-वहाँ समानता होती है।

यहाँ दूसरा खण्ड पूरा हुआ।

❋

तृतीयः खण्डः

अथ हैनं देवा ऊचुर्नवचक्रविवेकमनुब्रूहीति। तथेति स होवाच—आधारे ब्रह्मचक्रं त्रिरावृतं भगमण्डलाकारम्। तत्र मूलकन्दे शक्तिः पावकाकारं ध्यायेत्। तत्रैव कामरूपपीठं सर्वकामप्रदं भवति। इत्याधारचक्रम् ॥1॥

तब देवों ने भगवान् आदिनारायण से पूछा—'नवचक्र (श्रीचक्र) का विवेक (विवरण) कहिए।' नारायण ने तब 'अच्छा' ऐसा कहकर आगे कहा—आधार अर्थात् मूलाधार में ब्रह्मचक्र स्थित है। वह तीन वृत्तों से घिरा हुआ वक्राकार स्वरूप का है। उसमें मूलकन्द में अग्निज्योति जैसी ज्योति का ध्यान करना चाहिए। वहाँ सभी कामनाओं का परिपूरक कामरूप पीठ आया हुआ है।

द्वितीयं स्वाधिष्ठानचक्रं षड्दलम्। तन्मध्ये पश्चिमाभिमुखं लिङ्गं प्रवालाङ्कुरसदृशं ध्यायेत्। तत्रैवोड्याणपीठं जगदाकर्षणसिद्धिदं भवति ॥2॥

दूसरा स्वाधिष्ठान चक्र है। वह छः दलों वाले कमल के आकारवाला है। उसके बीच—कर्णिका में पश्चिमाभिमुखी, प्रवाल जैसे रंग वाले, अंकुर की तरह दृश्यमान लिंग (शिवलिंग) का ध्यान करना चाहिए। वहाँ पर समस्त जगत् को आकृष्ट करने की सिद्धि देने वाला उड्याणपीठ स्थित है।

तृतीयं नाभिचक्रं पञ्चावर्तं सर्पकुटिलाकारम्। तन्मध्ये कुण्डलिनीं बालार्ककोटिप्रभां तडित्प्रभां (तनुमध्यां) ध्यायेत्। सामर्थ्यशक्तिः सर्वसिद्धिप्रदा भवति। मणिपूरकचक्रम् ॥3॥

तीसरा नाभिचक्र (मणिपूरकचक्र) है। वह साँप जैसे टेढ़े-मेढ़े पाँच आवर्तों से घिरा हुआ है। उसके बीच कुण्डलिनी शक्ति स्थित है। वह प्रात:कालीन उदीयमान करोड़ों सूर्यों जैसी कान्तिवाली है, और बिजली जैसी चमकीली है। उसके उस प्रकार के रूप का ध्यान करना चाहिए। उससे सर्वसिद्धिदायक सामर्थ्य प्राप्त होता है। उसे मणिपूरकचक्र कहा जाता है।

हृदयचक्रमष्टदलमधोमुखम्। तन्मध्ये ज्योतिर्मयलिङ्गाकारं ध्यायेत्। सैव हंसकला सर्वप्रिया सर्वलोकवश्यकरी भवति ॥4॥

चौथा हृदयकमल है। वह आठ दलों वाला है। और उल्टा होकर स्थित है। उसमें ज्योतिर्मय तथा लिंगाकार रूप में अवस्थित जीव का ध्यान करना चाहिए। इस ध्यान से हंसकला नाम की सभी लोकों को वश में करने वाली और सभी को प्रिय लगने वाली शक्ति (सिद्धि) प्राप्त होती है। (यह अनाहतचक्र है।)

कण्ठचक्रं चतुरङ्गुलम्। तत्र वामे इडा चन्द्रनाडी दक्षिणे पिङ्गला सूर्यनाडी तन्मध्ये सुषुम्नां श्वेतवर्णां ध्यायेत्। य एवं वेदानाहतसिद्धिदा भवति ॥5॥

पाँचवाँ कण्ठस्थान में अवस्थित कण्ठचक्र (विशुद्धिचक्र) है। वह चार अँगुलियों के प्रमाण वाला है। उसकी बाँयी ओर इडा नाम की चन्द्रनाडी है और दाहिनी ओर पिंगला नाम की सूर्यनाडी है। उन दोनों के बीच में सफेद रंग की सुषुम्ना नाडी का ध्यान करना चाहिए। जो इस प्रकार जानता (ध्यान करता) है, वह अन्यों को भी अनाहत की सिद्धि देने वाला हो जाता है।

तालुचक्रम्। तत्रामृतधाराप्रवाहः। घण्टिकालिङ्गमूलचक्ररन्ध्रे राजदन्तावलम्बिनीविवरं दशद्वादशारम्। तत्र शून्यं ध्यायेत्। चित्तलयो भवति ॥6॥

तालुप्रदेश में तालुचक्र आया हुआ है। वहाँ अमृत का धाराप्रवाह बह रहा है। वहाँ घण्टिका के का लिंग है। इस चक्र के मध्य में आए हुए छिद्र में राजदन्तों के मूल के छिद्र जुड़े हुए हैं।

(ऊपर के जबड़े के बीच में आए हुए दो बड़े दाँत राजदन्त कहे जाते हैं।) उस छिद्र को (ब्रह्मरन्ध्र को) दशम द्वार कहा जाता है। वहाँ पर शून्य का ध्यान करना चाहिए। इससे चित्त का लय होता है।

सप्तमं भ्रूचक्रमङ्गुष्ठमात्रम्। तत्र ज्ञाननेत्रं दीपशिखाकारं ध्यायेत्। तदेव कपालकन्दवाक्सिद्धिदं भवत्याज्ञाचक्रम् ॥7॥

सातवाँ भ्रूचक्र है। वह दोनों भौंहों के बीच में स्थित है। एक अँगूठे जितना उसका परिमाण है। वहाँ दीपक की ज्योति जैसा ज्ञाननेत्र है। उसका ध्यान करना चाहिए। इसी चक्र को वाक्सिद्धिप्रद, कपालकन्द अथवा आज्ञाचक्र कहा जाता है।

ब्रह्मरन्ध्रं निर्वाणचक्रम्। तत्र सूचिकागृहेतरं धूम्रशिखाकारं ध्यायेत्। तत्र जालन्धरपीठं मोक्षप्रदं भवतीति परब्रह्मचक्रम् ॥8॥

आठवाँ चक्र ब्रह्मरन्ध्र में आया हुआ है। वह निर्वाणचक्र है। उसमें सूई की नोक जैसे प्रमाणवाला धूम्रशिखा के आकार वाले का ध्यान करना चाहिए। वहाँ जालन्धरपीठ आया हुआ है। यह चक्र मोक्षदायक होता है, इसलिए इस निर्वाणचक्र को परब्रह्मचक्र का कहा गया है।

नवममाकाशचक्रम्। तत्र षोडशदलपद्ममूर्ध्वमुखं तन्मध्यकर्णिकात्रिकूटाकारम्। तन्मध्ये ऊर्ध्वशक्तिः। तां पश्यन्ध्यायेत्। तत्रैव पूर्णगिरिपीठं सर्वेच्छासिद्धिसाधनं भवति ॥9॥

नवाँ चक्र आकाशचक्र है। वह सोलह दलों वाले कमल के आकार का है। वह ऊर्ध्वमुखी है। उसकी मध्यकर्णिका त्रिकूटाकार (तीन शिखरों जैसी) है। उसमें ऊर्ध्व, शक्तिदायक, परशून्य का ध्यान करना चाहिए। वहाँ पर पूर्णगिरि पीठ है। यह चक्र सभी इच्छाओं की सिद्धि का साधन माना जाता है।

सौभाग्यलक्ष्म्युपनिषदं नित्यमधीते सोऽग्निपूतो भवति। स वायुपूतो भवति। स सकलधनधान्यसत्पुत्रकलत्रहयभूगजपशुमहिषीदासीदासयोगज्ञानवान्भवति। न स पुनरावर्तते न स पुनरावर्तत इत्युपनिषत् ॥10॥

इति सौभाग्यलक्ष्म्युपनिषत्समाप्ता।

इस प्रकार सौभाग्यलक्ष्मी नामक उपनिषत् जो नित्य पढ़ता है, वह (ज्ञानरूपी) अग्नि से पवित्र होता है, वह वायु से पवित्र होता है, वह हरएक प्रकार से धन, धान्य, सत्पुत्रों, स्त्री, घोड़ों, भूमि, हाथियों, भैंसों, पशुओं, महिषियों, दासियों, दासों आदि से युक्त तथा योग के ज्ञानवाला होता है, उसका पुनर्जन्म नहीं होता, ऐसा यह उपनिषत् कहती है।

यहाँ तृतीय खण्ड पूरा हुआ।

इस प्रकार सौभाग्यलक्ष्म्युपनिषत् समाप्त होती है।

शान्तिपाठः

ॐ वाङ्मे मनसि---वक्तारमवतु वक्तारम्। (पूर्ववत्)
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

(109) सरस्वतीरहस्योपनिषत्

(उपनिषत्परिचय)

यह उपनिषद् कृष्णयजुर्वेदीय है। आश्वलायन और ऋषियों के संवाद के रूप में है। इसमें महासरस्वती का तात्त्विक स्वरूप बताया गया है। पहले दशश्लोकी सरस्वती विद्या बताई है। यह तत्त्वज्ञान का साधन है। बाद में उस विद्या के ऋषि, देवता, छन्द आदि बताए हैं। फिर उन दसों श्लोकों के अलग-अलग देवता, ऋषि और छन्द आदि बताए हैं। फिर सरस्वती की प्रार्थना, उनका ब्रह्मत्व, उनका प्रकृतित्व, मायेश्वरत्व (पुरुषत्व), ईश्वरत्व बताया है। माया की आवरण और विक्षेप शक्तियों का उद्भव, जीवस्वरूप, आवरणनाश, छः प्रकार की समाधियाँ, साक्षात्कार, मुक्ति एवं फलश्रुति भी दी गई है।

शान्तिपाठः

ॐ सह नानवतु। सह नौ—मा विद्विषावहै। (पूर्ववत्)
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

इसका हिन्दी रूपान्तर पूर्व में (शारीरकोपनिषत् में) द्रष्टव्य है।

ऋषयो ह वै भगवन्तमाश्वलायनं सम्पूज्य पप्रच्छुः—
केनोपायेन तज्ज्ञानं तत्पदार्थावभासकम्।
यदुपासनया तत्त्वं जानासि भगवन्वद ॥1॥
सरस्वतीदशश्लोक्या सऋचा बीजमिश्रया।
स्तुत्वा जप्त्वा परां सिद्धिमलभं मुनिपुङ्गवाः ॥2॥

ऋषियों ने भगवान् आश्वलायन की पूजा करके उनसे पूछा—"हे भगवन्! किस उपाय से ब्रह्मसाक्षात्कारी ब्रह्मज्ञान प्राप्त होता है, यह आप जानते हैं। जिस उपासना से यह ज्ञान आपने प्राप्त किया हो, वह हमें बताइए।" तब ऋषियों के इस प्रश्न के उत्तर में आश्वलायन ने कहा कि, "हे मुनिवर्यो! बीजयुक्त सरस्वतीसूक्त की दश ऋचाओं का जप और उस सूक्त द्वारा स्तुति करके मैं इस परम सिद्धि को प्राप्त कर सका हूँ।"

ऋषय ऊचुः—
कथं सारस्वतप्राप्तिः केन ध्यानेन सुव्रत।
महासरस्वती येन तुष्टा भगवती वद ॥3॥

ऋषियों ने पूछा—"हे सुव्रत! कौन-से ध्यान से, कौन-सी विधि से ज्ञानप्राप्ति होती है? और महासरस्वती कैसे प्रसन्न होती है? यह उपासना आप हमें बताइए।

स होवाचाश्वलायनः—अस्य श्रीसरस्वती दशश्लोकीमहामन्त्रस्य अहमाश्वलायन ऋषिः। अनुष्टुप् छन्दः। श्रीवागीश्वरी देवता। यद्वागिति

बीजम्। देवीं वाचमिति शक्तिः। प्रणो देवीति कीलकम्। विनियोग-स्तत्प्रीत्यर्थे। श्रद्धा मेधा प्रज्ञा धारणा वाग्देवता महासरस्वतीत्येतैरङ्ग-न्यासः ॥4॥

तब आश्वलायन ने कहा—इस सरस्वती दशश्लोक महामंत्र के आश्वलायन ऋषि हैं, अनुष्टुप् छन्द है, श्रीवागीश्वरी देवता है, 'यद्वाग्'-यह वीज है, 'देवी वाचम्'-यह शक्ति है, 'प्रणो देवी'-यह कीलक है, उनकी प्रीति में विनियोग है। श्रद्धा, मेधा, प्रज्ञा, धारणा, वाग्देवता, महासरस्वती—इन नामों से अंगन्यास है।

नीहारहारघनसारसुधाकराभां
कल्याणदां कनकचम्पकदामभूषाम्।
उत्तुङ्गपीनकुचकुम्भमनोहराङ्गीं वाणीं
नमामि मनसा वचसा विभूत्यै ॥5॥

अब ध्यानमंत्र यह है—"बर्फ की हारमाला, कर्पूर की राशि और चन्द्र की धवलता समान श्वेत कान्तिवाली, कल्याणकारिणी, सुवर्ण तथा चम्पक पुष्पों की माला जैसे वर्ण वाली, उन्नत, पुष्ट कुचकुम्भ तथा मनोहर अंगोंवाली सरस्वती को मैं वाणी का वैभव प्राप्त करने के लिए मन से प्रणाम करता हूँ।" इस प्रकार का ध्यान करना चाहिए।

ॐ प्रणो देवीत्यस्य मन्त्रस्य भरद्वाज ऋषिः। गायत्री छन्दः। श्रीसरस्वती देवता। प्रणवेन बीजशक्तिः कीलकम्। इष्टार्थे विनियोगः। मन्त्रेण न्यासः ॥6॥

'प्रणो देवी०'—इस मंत्र के भरद्वाज ऋषि हैं, गायत्री छन्द है, सरस्वती देवता हैं, प्रणव बीज-शक्ति और कीलक है। अभीष्ट सिद्धि के लिए विनियोग है, मंत्र से षडंगन्यास किया जाता है।

या वेदान्तार्थतत्त्वैकस्वरूपा परमार्थतः।
नामरूपात्मना व्यक्ता सा मां पातु सरस्वती ॥7॥
ॐ प्रणो देवी सरस्वती वाजेभिर्वाजिनीवती। धीनामवित्र्यवतु ॥8॥

जो सरस्वती परमार्थ रूप से उपनिषदों के तत्त्व का (ब्रह्म का) ही एक रूप है, और सरस्वती के नाम-रूप से सगुण हुई है वह मेरी रक्षा करे। (अब जपमंत्र यह है—) ऊपर के ध्यानमंत्र से ध्यान करके जप करना चाहिए कि—अन्न से पूर्ण और उपासकों का रक्षण करने वाली सरस्वती हमारा रक्षण करें। हमें अधिक अन्न दें, हमें तृप्त करें।

आ नो दिव इति मन्त्रस्य अत्रिर्ऋषिः। त्रिष्टुप् छन्दः। सरस्वती देवता।
ह्रीमिति बीजशक्तिः कीलकम्। इष्टार्थे विनियोगः। मन्त्रेण न्यासः ॥9॥
या साङ्गोपाङ्गवेदेषु चतुर्ष्वेकैव गीयते।
अद्वैता ब्रह्मणः शक्तिः सा मां पातु सरस्वती ॥10॥
ह्रीं आ नो दिवो बृहतः पर्वतादा सरस्वती यजतागंतु यज्ञम्। हवं देवी जुजुषाणा घृताची शग्मां नो वाचमुशती शृणोतु ॥11॥

'आ नो दिव०'—इत्यादि मंत्र के अत्रि ऋषि हैं, त्रिष्टुप् छन्द है, सरस्वती देवता हैं, 'ह्रीं' बीजशक्ति और कीलक है, इष्ट अर्थप्राप्ति में इसका विनियोग है। और मंत्र से न्यास है। ध्यानमंत्र यह है—"जो अंग-उपांग सहित सभी वेदों में ब्रह्म की अद्वैतशक्ति के रूप में गाई जाती है, वह सरस्वती

मेरा रक्षण करे।'' जपमंत्र यह है—''हमारे द्वारा पूजित सरस्वती द्युलोक में बड़े पर्वताकार मेघों में होकर हमारे यज्ञ में आएँ। और हमारे आनन्ददायक स्तोत्र प्रेम से सुनें।''

पावका न इति मन्त्रस्य मधुच्छन्द ऋषिः। गायत्री छन्दः। सरस्वती देवताः। श्रीमिति बीजशक्तिः कीलकम्। इष्टार्थे विनियोगः। मन्त्रेण न्यासः ॥12॥

या वर्णपदवाक्यार्थस्वरूपेणैव वर्तते।
अनादिनिधानानन्ता सा मां पातु सरस्वती ॥13॥

श्रीं पावका नः सरस्वती वाजेभिर्वाजिनीवती। यज्ञं वष्टु धिया वसुः ॥14॥

'पावका न०'—इत्यादि मंत्र के मधुच्छन्दा ऋषि हैं, गायत्री छन्द, सरस्वती देवता, श्रीं बीज-इष्टार्थ में विनियोग और मंत्र से न्यास होता है। ध्यानमंत्र इस प्रकार है—''जो वर्ण, पद, वाक्य और अर्थ के रूप में रहती है, और जो उत्पत्ति और नाश से रहित है ऐसी सरस्वती मेरी रक्षा करें''। जपमंत्र यह है—''पवित्र करने वाली, अनादि सम्पत्ति वाली सरस्वती देवी हमारे यज्ञ में पधारें और धनप्राप्ति करवाकर (धनप्राप्ति कराने वाली बुद्धि देकर) हमारा यज्ञ पूर्ण कराएँ।

चोदयित्रीति मन्त्रस्य मधुच्छन्द ऋषिः। गायत्री छन्दः। सरस्वती देवता। ब्लूमिति बीजशक्तिः कीलकम्। मन्त्रेण न्यासः ॥15॥

अध्यात्ममधिदैवं च देवानां सम्यगीश्वरी।
प्रत्यगास्ते वदन्ती या सा मां पातु सरस्वती ॥16॥

ब्लूं चोदयित्री सूनृतानां चेतन्ती सुमतीनाम्। यज्ञं दधे सरस्वती ॥17॥

'चोदयित्री०' आदि मंत्र के मधुच्छन्दा ऋषि, गायत्री छन्द, सरस्वती देवता, 'ब्लूं', बीज-शक्ति और कीलक, इष्टार्थ में विनियोग और मंत्र से न्यास होता है। ध्यानमंत्र है—''जो देवों का अध्यात्म और अधिदैव तत्त्वरूप है, जो भीतर बोलती हुई-सी है, ऐसी सरस्वती हमारी रक्षा करें।'' जप मंत्र यह है—''प्रिय और सत्य बोलने की प्रेरणा देने वाली, सज्जनों को उनके उत्तम कार्यों में प्रेरणा देने वाली सरस्वती ने यज्ञ को धारण किया है। उन्हीं के आधार पर इस यज्ञ की पूर्णता अवलम्बित है। इसलिए वे यज्ञ को सफल बनाएँ''।

महो अर्णं इति मन्त्रस्य मधुच्छन्द ऋषिः। गायत्री छन्दः। सरस्वती देवता। सौरिति बीजशक्तिः कीलकम्। मन्त्रेण न्यासः ॥18॥

अन्तर्याम्यात्मना विश्वं त्रैलोक्यं या नियच्छति।
रुद्रादित्यादिरूपस्था यस्यामावेश्य तां पुनः।
ध्यायन्ति सर्वरूपैका सा मां पातु सरस्वती ॥19॥

सौः महो अर्णः सरस्वती प्रचेतयति केतुना। धियो विश्वा विराजति ॥20॥

'महो अर्ण०' इत्यादि मंत्र के मधुच्छन्दा ऋषि, गायत्री छन्द, सरस्वती देवता, सौः बीजशक्ति और कीलक, इष्टप्राप्ति के लिए विनियोग तथा मंत्र से न्यास होता है। ध्यानमंत्र यह है—''जो अपने अन्तर्यामी स्वरूप से समग्र विश्व में व्याप्त होकर उसे शक्ति देती है, ऐसी रुद्र-सूर्यादि के रूप में रहने

वाली हमारी रक्षा करें।'' जपमंत्र यह है—''नदी के रूप में स्थित सरस्वती अपने प्रवाहरूपी कर्म से अपनी अगाध जलराशि का परिचय देती हैं और देवी के रूप में वह अपने बुद्धि-प्रवाह से अपनी अगाधता को बताती है''।

चत्वारि वागिति मन्त्रस्य उचथ्यपुत्र ऋषिः। त्रिष्टुप् छन्दः। सरस्वती देवता। ऐमिति बीजशक्तिः कीलकम्। मन्त्रेण न्यासः ॥21॥

या प्रत्यग्दृष्टिभिर्जीवैर्व्यज्यमानानुभूयते।
व्यापिनी ज्ञप्तिरूपैका सा मां पातु सरस्वती ॥22॥

ऐं चत्वारि वाक् परिमिता पदानि तानि विदुर्ब्राह्मणा ये मनीषिणः। गुहा त्रीणि निहिता नेङ्गयन्ति तुरीयं वाचो मनुष्या वदन्ति ॥23॥

'चत्वारि वाग्०' इत्यादि मंत्र के उचथ्यपुत्र (दीर्घतमा) ऋषि, त्रिष्टुप् छन्द, सरस्वती देवता, 'ऐं' बीजशक्ति और कीलक है। इष्ट-प्राप्त्यर्थ विनियोग और मंत्र से न्यास है। ध्यान मंत्र है—''जो व्यापक तथा चिद्रूप होने पर भी सामान्य जनों के द्वारा विविध रूपों में अभिव्यक्त दिखाई देती है, वह सरस्वती हमारी रक्षा करें।'' जप मंत्र यह है—''परा-पश्यन्ती-मध्यमा-वैखरी—इन चार रूपों वाली वाणी को विद्वान् जानते हैं। उनमें से पहली तीन हृदय-गुफा में छिपकर रहती हैं। मनुष्य चौथी वैखरी वाणी बोलते हैं''। (इस प्रकार वाणी चार प्रकार की है)।

यद्वाग्वदन्तीति मन्त्रस्य भार्गव ऋषिः। त्रिष्टुप् छन्दः। सरस्वती देवता। क्लीमिति बीजशक्तिः कीलकम्। मन्त्रेण न्यासः ॥24॥

नामजात्यादिभिर्भेदैरष्टधा या विकल्पिता।
निर्विकल्पात्मना व्यक्ता सा मां पातु सरस्वती ॥25॥

क्लीं यद्वाग्वदन्त्यविचेतनानि राष्ट्री देवानां निषसाद मन्द्रा। चतस्र ऊर्जं दुदुहे पयांसि क्व स्विदस्याः परमं जगाम ॥26॥

'यद्वाग्वदन्त्य०' इत्यादि मंत्र के ऋषि भार्गव हैं, त्रिष्टुभ् छन्द है, सरस्वती देवता, 'क्लीं' बीज-शक्ति और कीलक, इष्टप्राप्ति के लिए विनियोग और मंत्र से न्यास होता है। ध्यानमंत्र यह है—''नाम, जाति के भेद से जो आठ प्रकार की है (नाम, धातु, उपसर्ग, निपात, जाति, गुण, क्रिया और यदृच्छा।) परन्तु जो स्वयं निर्विकल्प और व्यक्त है, ऐसी सरस्वती मेरी रक्षा करो।'' जपमंत्र यह है—देवताओं को आनन्द देनेवाली, दिव्य भाव धारण करने वाली, अज्ञानियों को ज्ञान देने वाली यह सरस्वती यज्ञ में विराजित होकर चारों दिशाओं के लिए अन्न-जल का दोहन-सर्जन करती हैं। यह मध्यमा वाणी सरस्वती का परमतत्त्व है। वह कहाँ जा रही हैं?

देवीं वाचमिति मन्त्रस्य भार्गव ऋषिः। त्रिष्टुप् छन्दः। सरस्वती देवता। सौरिति बीजशक्तिः कीलकम्। मन्त्रेण न्यासः ॥27॥

व्यक्ताव्यक्तगिरः सर्वे वेदाद्या व्याहरन्ति याम्।
सर्वकामदुघा धेनुः सा मां पातु सरस्वती ॥28॥

सौः देवीं वाचमजनयन्त देवास्तां विश्वरूपाः पशवो वदन्ति। सा नो मन्द्रेषमूर्जं दुहाना धेनुर्वागस्मानुपसुष्टुतैतु ॥29॥

'देवीं वाचं०' इत्यादि मंत्र के भार्गव ऋषि, त्रिष्टुभ् छन्द, सरस्वती देवता, 'सौः' बीजशक्ति और कीलक, इष्टप्राप्ति के लिए विनियोग और मंत्र से न्यास है। ध्यानमंत्र यह है—''वेदादि शास्त्र जिसे

व्यक्त और अव्यक्त वाणी कहते हैं, वे सरस्वती सबकी कामधेनु मेरी रक्षा करें।'' जपमंत्र यह है—''प्राणदेवताओं ने जिस वैखरी वाणी को उत्पन्न किया है, उसे जगत् के जीव बोल रहे हैं। वह कामधेनु जैसी अन्न और बल देने वाली वैखरीरूपा सरस्वती हमारी स्तुतियों से प्रसन्न होकर हमारे समीप आकर हमारी सभी कामनाएँ पूर्ण करें।''

उत त्व इति मन्त्रस्य बृहस्पतिर्ऋषिः। त्रिष्टुप् छन्दः। सरस्वती देवता। समिति बीजशक्तिः कीलकम्। मन्त्रेण न्यासः॥30॥
यां विदित्वाखिलं बन्धं निर्मथ्याखिलवर्त्मना।
योगी याति परं स्थानं सा मां पातु सरस्वती॥31॥
सं उत त्वः पश्यन्न ददर्श वाचमुत त्वः शृण्वन्न शृणोत्येनाम्। उतो त्वस्मै तन्वं विसस्रे जायेव पत्य उशती सुवासाः॥32॥

'उत त्व०' इत्यादि मंत्र के बृहस्पति ऋषि, त्रिष्टुप् छन्द, सरस्वती देवता, 'सं' बीजशक्ति तथा कीलक, इष्टप्राप्ति के लिए विनियोग और मंत्र से न्यास होता है। ध्यानमंत्र यह है—''सर्वमार्गों से जिसे जानकर, योगी लोग बन्धों को छिन्न-भिन्न करके परमस्थान को प्राप्त करते हैं, वह सरस्वती मेरी रक्षा करें।'' जप मंत्र यह है—''कुछ लोग इस वाणी को देखने पर भी नहीं देख सकते (नहीं समझ सकते)। सुनने पर नहीं सुन सकते। जबकि कुछ लोगों के लिए तो वह उसी प्रकार प्रकट हो जाती है, जैसे पति की इच्छा करने वाली वस्त्राभूषणों से अलंकृत स्त्री अपने को पति के समक्ष निर्वस्त्र होकर समर्पित कर देती है।

अम्बितम इति मन्त्रस्य गृत्समद ऋषिः। अनुष्टुप् छन्दः। सरस्वती देवता। ऐमिति बीजशक्तिः कीलकम्। मन्त्रेण न्यासः॥33॥
नामरूपात्मकं सर्वं यस्यामावेश्य तां पुनः।
ध्यायन्ति ब्रह्मरूपैका सा मां पातु सरस्वती॥34॥
ऐं अम्बितमे नदीतमे देवितमे सरस्वती। अप्रशस्ता इव स्मसि प्रशस्तिमम्ब नस्कृधि॥35॥

'अम्बितम०' इत्यादि मंत्र के ऋषि गृत्समद, छन्द अनुष्टुप्, देवता सरस्वती, तथा बीजशक्ति कीलक 'ऐं' है। तथा मंत्र से न्यास होता है। ध्यानमंत्र यह है—''योगीजन जिसमें नामरूपात्मक सब जगत् को आरोपित करके उसका ब्रह्म के रूप में ध्यान करते हैं, वह सरस्वती मेरा रक्षण करें।'' जपमंत्र यह है—''हे श्रेष्ठमाता, श्रेष्ठनदी, श्रेष्ठदेवी, सरस्वती! आपकी कृपा के बिना तो हम सब गरीब हैं, हमारी कोई गिनती नहीं। तुम कृपा करो, जिससे जनसमुदाय में हम गणनापात्र हों। धनाभाव और ज्ञानाभाव की पूर्ति करके हमें धन और ज्ञान से पूर्ण कर दो।''

चतुर्मुखमुखाम्भोजवनहंसवधूर्मम।
मानसे रमतां नित्यं सर्वशुक्ला सरस्वती॥36॥
नमस्ते शारदे देवि काश्मीरपुरवासिनी।
त्वामहं प्रार्थये नित्यं विद्यादानं च देहि मे॥37॥
अक्षसूत्राङ्कुशधरा पाशपुस्तकधारिणी।
मुक्ताहारसमायुक्ता वाचि तिष्ठतु मे सदा॥38॥

कम्बुकण्ठी सुताम्रोष्ठी सर्वाभरणभूषिता।
महासरस्वती देवी जिह्वाग्रे संनिविश्यताम्॥39॥

ब्रह्मा के मुखकमलों के वन के ज्ञानहंस की पत्नी ऐसी सरस्वती, जो कि हंसीरूप से सर्वतः श्वेत है, मेरे मानस सरोवर में सर्वदा रमण करें। हे काश्मीर नगर में बसने वाली देवी शारदा! आपको नमस्कार। मैं नित्य आपकी प्रार्थना करता हूँ कि आप मुझे विद्यादान दें। अक्षसूत्र (जपमाला), अंकुश, पाश और पुस्तक को धारण करने वाली, मोतियों के हार से सुशोभित सरस्वती हमेशा ही मेरी वाणी में रहें (वाणी में निवास करे)। शंख-सी त्रिवलय कंठवाली, ताँबे से लाल ओठों वाली, सर्वप्रकार के आभूषणों से शोभित, महासरस्वती देवी मेरे जिह्वा के अग्रभाग में विराजमान रहें।

या श्रद्धा धारणा मेधा वाग्देवी विधिवल्लभा।
भक्तजिह्वाग्रसदना शमादिगुणदायिनी॥40॥
नमामि यामिनीनाथलेखालंकृतकुन्तलाम्।
भवानीं भवसंतापनिर्वापणसुधानदीम्॥41॥
यः कवित्वं निरातङ्कं भुक्तिमुक्ती च वाञ्छति।
सोऽभ्यर्च्यैनां दशश्लोक्या नित्यं स्तौति सरस्वतीम्॥42॥
तस्यैवं स्तुवतो नित्यं समभ्यर्च्य सरस्वतीम्।
भक्तिश्रद्धाभियुक्तस्य षण्मासात्प्रत्ययो भवेत्॥43॥
ततः प्रवर्तते वाणी स्वेच्छया ललिताक्षरा।
गद्यपद्यात्मकैः शब्दैरप्रमेयैर्विवक्षितैः॥44॥
अश्रुतो बुध्यते ग्रन्थः प्रायः सारस्वतः कविः॥45॥

जो श्रद्धा, धारणा, मेधा, वाग्देवता और विधि (ब्रह्मा) की वल्लभा के स्वरूप में पहचानी जाती है, भक्तों का जिह्वाग्र जिसका घर है, उस शमदमादि गुणों को देने वाली सरस्वती को मैं नमस्कार करता हूँ। चन्द्रलेखा से सुशोभित केशकलाप वाली, संसार के त्रिविध तापों के शमन के लिए अमृत की नदी जैसी भवानी (सरस्वती) को मैं नमस्कार करता हूँ। बाधारहित कवित्व की और भुक्ति-मुक्ति की जो कामना करता है, वह नित्य उपर्युक्त दश मंत्रों से सरस्वती की पूजा (स्तुति) करता है। इस तरह स्तुति-पूजा करने वाले और श्रद्धालु भक्त को छः मास में ही प्रतीति हो जाती है। उसमें अपने आप ही ललित अक्षरों वाली वाणी, गद्य और पद्य के रूप में अप्रमेय और इच्छित अर्थों में प्रकट हो जाती है। पहले न देखे-सुने ग्रन्थ को भी वह जान-पढ़ सकता है, वह विद्वान् कवि हो जाता है।

(इत्येवं निश्चयं विप्राः) सा होवाच सरस्वती—
आत्मविद्या मया लब्धा ब्रह्मणैव सनातनी।
ब्रह्मत्वं मे सदा नित्यं सच्चिदानन्दरूपतः॥46॥
प्रकृतित्वं ततः सृष्टं सत्त्वादिगुणसाम्यतः।
सत्यमाभाति चिच्छाया दर्पणे प्रतिबिम्बवत्॥47॥
तेन चित्प्रतिबिम्बेन त्रिविधा भाति सा पुनः।
प्रकृत्यवच्छिन्नतया पुरुषत्वं पुनश्च ते॥48॥

आश्वलायन कहते हैं कि हे ब्राह्मणो! इस तरह उपासना करने से सरस्वती ने प्रसन्न होकर मुझसे कहा—मैं ही ब्रह्म हूँ! ब्रह्मरूपी मैंने ही आत्मविद्या प्राप्त की है। सच्चिदानंद रूप से मेरा ब्रह्मत्व सिद्ध

ही है। बाद में सत्त्वादि गुणों की साम्यावस्था से मैं ही प्रकृतिरूप बनी हूँ। दर्पण में पड़ते प्रतिबिम्ब की तरह चिच्छाया सत्य दिखाई देती है। इस चैतन्य के प्रतिबिम्ब से वह त्रिगुणात्मिका दिखाई देती है। इस प्रकार प्रकृति से व्याप्त मुझमें पुरुषत्व (परब्रह्मत्व) (प्रकृतियोग से जीवत्व) भी है ही।

शुद्धसत्त्वप्रधानायां मायायां बिम्बितो ह्यजः।
सत्त्वप्रधाना प्रकृतिर्मायेति प्रतिपाद्यते ॥49॥
सा माया स्ववशोपाधिः सर्वज्ञस्येश्वरस्य हि।
वश्यमायत्वमेकत्वं सर्वज्ञत्वं च तस्य तु ॥50॥
सात्त्विकत्वात्समष्टित्वात्साक्षित्वाज्जगतामपि।
जगत्कर्तुमकर्तुं वा चान्यथा कर्तुमीशते।
यः स ईश्वर इत्युक्तः सर्वज्ञत्वादिभिर्गुणैः ॥51॥
शक्तिद्वयं हि मायाया विक्षेपावृतिरूपकम्।
विक्षेपशक्तिर्लिङ्गादि ब्रह्माण्डान्तं जगत्सृजेत् ॥52॥
अन्तर्दृग्दृश्ययोर्भेदं बहिश्च ब्रह्मसर्गयोः।
आवृणोत्यपरा शक्तिः सा संसारस्य कारणम् ॥53॥

जब शुद्धसत्त्व प्रधान प्रकृति में ब्रह्म (सरस्वती) का प्रतिबिम्ब पड़ता है, तब वह माया कहलाती है। वह माया ईश्वर की वशीभूत उपाधि है। इसीलिए ईश्वर को माया को वश में रखने वाला, सर्वज्ञ और एकमात्र कहा जाता है। वह ईश्वर (सात्त्विक, समष्टिरूप तथा जगत् का साक्षी होने से—) जगत् को बनाने, न बनाने या और कुछ करने में समर्थ हैं। ऐसा जो सर्वज्ञत्वादि गुणों से युक्त है, उसे ईश्वर कहा जाता है। विक्षेप और आवरण—ये दो माया की शक्तियाँ हैं। विक्षेपशक्ति लिंगदेह से लेकर ब्रह्माण्ड तक जगत् का सर्जन करती है। वह भीतर के दृग्दृश्य के भेद को तथा बाहर के ब्रह्म और जगत् की भिन्नता को आवृत कर देती है। और यही आवरणरूप अपरा शक्ति सृष्टि का कारण है।

साक्षिणः पुरतो भातं लिङ्गदेहेन संयुतम्।
चितिच्छायासमावेशाज्जीवः स्याद्व्यावहारिकः ॥54॥
अस्य जीवत्वमारोपात्साक्षिण्यप्यवभासते।
आवृतौ तु विनष्टायां भेदे भातेऽपयाति तत् ॥55॥
तथा सर्गब्रह्मणोश्च भेदमावृत्य तिष्ठति।
या शक्तिस्तद्वशाद्ब्रह्म विकृतत्वेन भासते ॥56॥
अत्राप्यावृतिनाशेन विभाति ब्रह्मसर्गयोः।
भेदस्तयोर्विकारः स्यात्सर्गे न ब्रह्मणि क्वचित् ॥57॥

साक्षीरूप चितिशक्ति जब लिंगदेह से युक्त होकर व्यावहारिक जीव की संज्ञा को प्राप्त करता है, और तब चिति और बुद्धि की तरह, ब्रह्म और जीव का भेद खड़ा होता है। जीवरूप से प्रत्यक्ष जगत् बनता है। साक्षी ब्रह्म-चिति में आरोप से ही जीवात्मा दीखता है। अत: जब आरोप-आवरण का नाश होता है, तब यह दृश्यमान भेद नष्ट हो जाता है। इस आवरणशक्ति का विकार जगत् में होता है, ब्रह्म में कभी नहीं होता।

अस्ति भाति प्रियं रूपं नाम चेत्यंशपञ्चकम्।
आद्यत्रयं ब्रह्मरूपं जगद्रूपं ततो द्वयम् ॥58॥
अपेक्ष्य नामरूपे द्वे सच्चिदानन्दतत्परः।
समाधिं सर्वदा कुर्याद्धृदये वाथ वा बहिः ॥59॥
सविकल्पो निर्विकल्पः समाधिर्द्विविधो हृदि।
दृश्यशब्दानुभेदेन स विकल्पः पुनर्द्विधा ॥60॥

अस्ति = है, भाति = आभास होता है और प्रिय = प्रिय लगता है तथा रूप और नाम—ये पाँच अंश हैं, उनमें पहले तीन ब्रह्म का स्वरूप हैं अन्त्य दो जगत् का स्वरूप हैं। इनमें से नाम और रूप (अन्त्य दो) की उपेक्षा करके, ब्रह्म के सच्चिदानन्द रूप में परायण होकर अपने भीतर या बाहर हमेशा समाधि साधना में साधक को तत्पर ही रहना चाहिए। हृदय में होती हुई इस समाधि के सविकल्प और निर्विकल्प—ऐसे दो भेद होते हैं। और सविकल्पक भी दो प्रकार का होता है—एक दृश्यानुविद्ध और दूसरा शब्दानुविद्ध।

कामाद्याश्चित्तगा दृश्यास्तत्साक्षित्वेन चेतनम्।
ध्यायेद्दृश्यानुविद्धोऽयं समाधिः सविकल्पकः ॥61॥
असङ्गः सच्चिदानन्दः स्वप्रभो द्वैतवर्जितः।
अस्मीतिशब्दविद्धोऽयं समाधिः सविकल्पकः ॥62॥
स्वानुभूतिरसावेशाद्दृश्यशब्दाद्यपेक्षितुः।
निर्विकल्पः समाधिः स्यान्निवातस्थितदीपवत् ॥63॥
हृदीव बाह्यदेशेऽपि यस्मिन्कस्मिंश्च वस्तुनि।
समाधिराद्यसन्मात्रान्नामरूपपृथक्कृतिः ॥64॥
स्तब्धीभावो रसास्वादात्तृतीयः पूर्ववन्मतः।
एतैः समाधिभिः षड्भिर्नयेत्कालं निरन्तरम् ॥65॥

'चित्त में उत्पन्न होने वाले कामादि विकार दृश्य हैं, और चेतन उनका साक्षी है'—इस प्रकार का ध्यान करना ही दृश्यानुविद्ध सविकल्पक समाधि है। 'मैं असंग, सच्चिदानंद, स्वप्रकाश, द्वैतवर्जित हूँ'—इस प्रकार ध्यान करने को शब्दानुविद्ध सविकल्प समाधि कहते हैं। आत्मानुभूति के रस के आवेश में दृश्य और शब्द की उपेक्षा करने वाले साधक के हृदय में वायुरहित प्रदेश में रखे गए दीपक की भाँति निर्विकल्प समाधि होती है। जैसे ये दोनों समाधियाँ हृदय में होती हैं, वैसे ही बाहर भी किसी वस्तु के प्रति एकाग्रता होने से हो सकती हैं। प्रथम समाधि द्रष्टा तथा दृश्य के विवेक से होती है। द्वितीय समाधि आदि सत् रूप से नाम रूप का पृथक्करण करने से हो सकती है। तृतीय प्रकार की समाधि पूर्वोक्त प्रकार से होती है, उसमें स्तब्धीभाव होता है। साधक को इन छः प्रकार की समाधियों में निरन्तर अपनी अनुकूल समाधि की साधना करते रहना चाहिए।

देहाभिमाने गलिते विज्ञाते परमात्मनि।
यत्र यत्र मनो याति तत्र तत्र परामृतम् ॥66॥
भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे ॥67॥

मयि जीवत्वमीशत्वं कल्पितं वस्तुतो न हि ।
इति यस्तु विजानाति स मुक्तो नात्र संशयः ॥68॥ इत्युपनिषत् ।

इति सरस्वतीरहस्योपनिषत्समाप्ता ।
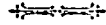
परमात्मा को जानते हुए जब देहाभिमान का नाश हो जाता है, तब मन जहाँ कहीं भी जाता है, वहाँ उसे परमात्मा का रूप ही दिखाई देता है। उसे परामृत परमात्मा ही दीखता है। तब हृदय की सभी ग्रन्थियाँ टूट जाती हैं। सभी संशय नष्ट हो जाते हैं। तब उस परात्पर के दर्शन से सभी कर्म नष्ट हो जाते हैं। यह जीवत्व और ईश्वरत्व तो मुझमें कल्पित (आरोपित) ही है, वह वास्तविक नहीं है। यह जो जानता है, वह मुक्त हो जाता है, उसमें कोई संशय नहीं।

इस प्रकार सरस्वतीरहस्योपनिषत् समाप्त होती है।

शान्तिपाठः

ॐ सह नाववतु । सह नौ—**मा विद्विषावहै ।** (पूर्ववत्)
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

❋

(110) बह्वृचोपनिषत्

(उपनिषत्परिचय)

ऋग्वेदपरम्परा की इस उपनिषद् में जगत्कारणस्वरूपा आदिशक्ति का स्वरूप बताया है। चित्शक्ति का स्वरूप, चित्शक्ति का सर्वकारणत्व, चित्शक्ति के शब्द से अर्थ का भावन, चित्शक्ति का अद्वितीयत्व, प्रत्यक् और पर चित्शक्ति का ऐक्य, अम्बिका आदि रूपों में चित्-शक्ति की भावना और ब्रह्म का ही मुख्य ज्ञेयत्व—ये विषय क्रमशः बताए गए हैं।

शान्तिपाठः

ॐ वाङ्मे मनसि—**वक्तारमवतु वक्तारम् ।** (पूर्ववत्)
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

इसका हिन्दी रूपान्तर पूर्व में (अक्षमालिकोपनिषत् में) द्रष्टव्य है।

देवी ह्येकाग्र आसीत् । सैव जगदण्डमसृजत् । कामकलेति विज्ञायते । शृङ्गारकलेति विज्ञायते ॥1॥
तस्या एव ब्रह्मा अजीजनत् । विष्णुरजीजनत् । रुद्रोऽजीजनत् । सर्वे मरुद्गणा अजीजनन् । गन्धर्वाप्सरसः किन्नरा वादित्रवादिनः समन्तादजीजनन् । भोग्यमजीजनत् । सर्वमजीजनत् । सर्वं शाक्तमजीजनत् । अण्डजं स्वेदजमुद्भिज्जं जरायुजं यत्किञ्चैतत्प्राणिस्थावरजङ्गमं मनुष्यमजीजनत् ॥2॥

पहले एक देवी ही थीं। उन्होंने जगत् के अण्डे का सर्जन किया। इसलिए वह कामकला के रूप में जानी जाती हैं और वह शृंगारकला के नाम से भी प्रख्यात हैं। उन्हीं से ब्रह्मा पैदा हुए, विष्णु पैदा हुए और रुद्र पैदा हुए। उन्हीं से सभी मरुद्गण पैदा हुए तथा गन्धर्व, अप्सराएँ, किन्नर, तुम्बुरु आदि वादक और यह चारों ओर दिखाई देने वाला जगत् उत्पन्न हुआ। उन्हीं से सब भोग्य पदार्थ जन्मे, भोक्ता भी (शाक्त भी) जन्मे। अण्डज, स्वेदज, उद्भिज्ज, जरायुज—जो कुछ भी प्राणी, स्थावर, जंगम, मनुष्य आदि हैं, वह जन्मे।

सैषाऽपरा शक्तिः । सैषा शाम्भवी विद्या कादिविद्येति वा हादिविद्येति वा सादिविद्येति वा रहस्यम् । ओमों वाचि प्रतिष्ठा ॥3॥
सैव पुरत्रयं शरीरत्रयं व्याप्य बहिरन्तरवभासयन्ती देशकालवस्त्वन्तरसङ्गान्महात्रिपुरसुन्दरी वै प्रत्यक् चितिः ॥4॥

वह देवी ही अपरा शक्ति है। वही शांभवीविद्या, कादिविद्या, हादिविद्या, अथवा सादिविद्या कहलाती है, वह रहस्यमयी है। वे ही प्रणववाची ॐ अक्षरस्वरूपा, सत्-चित्-आनन्दमयी शक्ति प्राणियों की वाणी में प्रतिष्ठित हैं। (शांभवीविद्या = परमकल्याणीकारी ईशसाक्षात्कार विद्या। कादि विद्या = क ए इ ल ह्रीं बीज मंत्रों वाली विद्या। हादिविद्या = ह स क ह ल ह्रीं बीजमंत्रों वाली विद्या।

सादिविद्या = स क ल ह्रीं बीज मंत्रों वाली विद्या) ये देवी ही तीनों अवस्थारूपी पुरों और तीनों प्रकार के शरीरों को विस्तीर्ण करके बाहर और भीतर प्रकाश फैला देती हैं। ये महात्रिपुरसुन्दरी प्रत्यक् चेतना के रूप में देश-काल-पात्र के रूप में नि:संग होकर रहती हैं।

सैवात्मा ततोऽन्यदसत्यमनात्मा । अत एषा ब्रह्मसंवित्तिर्भावाभावकला-विनिर्मुक्ता चिद्विद्याद्वितीयब्रह्मसंवित्तिः सच्चिदानन्दलहरी महात्रिपुर-सुन्दरी बहिरन्तरनुप्रविश्य स्वयमेकैव विभाति । यदस्ति सन्मात्रम् । यद्विभाति चिन्मात्रम् । यत्प्रियमानन्दं तदेतत्सर्वाकारा महात्रिपुरसुन्दरी । त्वं चाहं च सर्वं विश्वं सर्वदेवता । इतरत्सर्वं महात्रिपुरसुन्दरी । सत्यमेकं ललिताख्यं वस्तु तदद्वितीयमखण्डार्थं परं ब्रह्म ॥5॥

वे (देवी) ही आत्मस्वरूप हैं, उनके सिवा और सब कुछ असत्य और आत्मरहित है। इसीलिए वे ब्रह्मविद्या हैं। वे भाव-अभाव की कलाओं से रहित हैं, यह चिद्विद्या अद्वितीय ब्रह्मविद्या सच्चिदानन्दलहरी, महात्रिपुरसुन्दरी भीतर-बाहर प्रवेश करके स्वयं ही सर्वत्र एकस्वरूप में प्रकाशित हो रही हैं। जो अस्तित्ववाला है, वह केवल सत् है, जो दिखाई देता है, वह केवल चित् है। जो प्रिय है, वह आनन्द है। तो इन तीनों सभी आकार को धारण करने वाली वे महात्रिपुरसुन्दरी हैं। तुम, मैं, और यह सारा विश्व भी उन्हीं एकदेवता का रूप है। तुम और मैं के सिवा भी जो कुछ इस जगत् में निर्दिष्ट किया जा सकता है, वह सब कुछ भी श्रीमहात्रिपुरसन्दरी ही है। यह जो ललिता नाम की वस्तु है, वही सत्य है। वह परब्रह्म से अलग नहीं है, और वह अखण्डार्थ परब्रह्म का ही रूप है।

पञ्चरूपपरित्यागादस्वरूपप्रहाणतः ।
अधिष्ठानं परं तत्त्वमेकं सच्छिष्यते महत् इति ॥6॥

ब्रह्म के सिवा और कुछ है ही नहीं, ऐसा ज्ञान होने के बाद ज्ञानी के लिए अस्ति, भाति, प्रिय, नाम और रूप—ये पाँचों स्वरूप छूट जाने से अधिष्ठानरूप एक ही महान् परमतत्त्व सत् रूप शेष रह जाता है।

प्रज्ञानं ब्रह्मेति वा अहं ब्रह्मास्मीति वा भाष्यते। तत्त्वमसीत्येव सम्भाष्यते। अयमात्मा ब्रह्मेति वा अहं ब्रह्मास्मीति वा ब्रह्मैवाहमस्मीति वा ॥7॥

इसी बात को श्रुतियाँ, 'प्रज्ञानं ब्रह्म' या 'अहं ब्रह्मास्मि', अथवा 'तत्त्वमसि' या 'अयमात्मा ब्रह्म'—इत्यादि महावाक्यों के द्वारा अथवा 'ब्रह्मैवास्मि' इत्यादि के वाक्यों के द्वारा कह रही हैं। (अर्थात् प्रज्ञान ही ब्रह्म है, मैं ब्रह्म हूँ, वह तुम हो, अथवा यह आत्मा ब्रह्म है, अथवा मैं ब्रह्म ही हूँ—ऐसे वाक्यों के द्वारा श्रुतियाँ यही कह रही हैं।)

योऽहमस्मीति वा सोऽहमस्मीति वा योऽसौ सोऽहमस्मीति वा या भाष्यते सैषा षोडशी श्रीविद्या पञ्चदशाक्षरी श्रीमहात्रिपुरसुन्दरी बालाम्बिकेति बगलेति वा मातङ्गीति स्वयंवरकल्याणीति भुवनेश्वरीति चामुण्डेति चण्डेति वाराहीति तिरस्करिणीति राजमातङ्गीति वा शुकश्यामलेति वा लघुश्यामलेति वा अश्वारूढेति वा प्रत्यङ्गिरा धूमावती सावित्री सरस्वती गायत्री ब्रह्मानन्दकलेति ॥8॥

ऐसे 'अहं ब्रह्मास्मि' इत्यादि वाक्यों के द्वारा ज्ञानियों के अनुभूयमान तत्त्व को ही उपासक लोग षोडशी, श्रीविद्या, पंचदशाक्षरी, श्रीमहात्रिपुरसुन्दरी, बाला, अम्बिका, बगला, मातंगी, स्वयंकल्याणी, भुवनेश्वरी, चामुण्डा, चण्डा (चण्डी), वाराही, तिरस्करिणी, राजमातंगी, शुकश्यामला, लघुश्यामला, अश्वारूढा, प्रत्यंगिरा, धूमावती, सावित्री, सरस्वती, गायत्री, ब्रह्मानन्दकला आदि के रूप में अनुभव करते हैं। (उपास्य देवता के रूप में देखते हैं।)

ऋचो अक्षरे परमे व्योमन् । यस्मिन्देवा अधि विश्वे निषेदुः । यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति । य इत्तद्विदुस्त इमे समासते ॥ इत्युपनिषत् ॥9॥

इति बह्वृचोपनिषत्समाप्ता ।
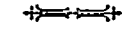
ऋचाएँ परमाकाश में (अक्षर अविनाशी तत्त्व में) स्थित रहती हैं। उसी में समस्त देवगण सम्यग् रूप से निवास करते हैं। जो मनुष्य उन ऋचाओं के मर्म को ठीक तौर से नहीं पहचान पाता है, वह उन्हें केवल मुँह से पढ़कर क्या लाभ ले सकता है? परन्तु जो लोग इनके अर्थ को (विवक्षित अर्थ को) यथातथ समझते हैं, वे ही ब्रह्म के साथ एकीभाव को (समास को) प्राप्त करते हैं।

इस प्रकार बह्वृचोपनिषत् समाप्त होती है।

शान्तिपाठः

ॐ वाङ्मे मनसि···वक्तारमवतु वक्तारम्। (पूर्ववत्)
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

❋

(111) मुक्तिकोपनिषत्

(उपनिषत्परिचय)

इस शुक्लयजुर्वेदीय उपनिषद् में हनुमानजी के साथ श्रीरामचन्द्रजी का संवाद है। इस उपनिषद् के दो अध्याय हैं। इनमें प्रथम अध्याय के दो खण्ड हैं। प्रथमाध्याय के प्रथम खण्ड में हनुमानजी की जिज्ञासा, वेदान्तज्ञान से सायुज्यप्राप्ति, मुक्ति के प्रकार और उनके साधनों की जिज्ञासा, सालोक्यमुक्ति के साधनरूप में उपासना, कैवल्य मुक्ति के साधनरूप में उपनिषत्-ज्ञान, एक सौ आठ उपनिषदों का क्रम, उपनिषदों के अर्थज्ञान से मुक्तिलाभ आदि विषय हैं। दूसरे खण्ड में एक सौ आठ उपनिषदों के अलग शान्तिपाठ तथा उपनिषद्-ज्ञान से ही कैवल्यमुक्ति कही है। द्वितीय अध्याय में जीवन्मुक्ति और विदेहमुक्ति के स्वरूप, प्रमाण, साधन, प्रयोजन बताए हैं। वासना—उसका क्षय, प्रकार, मनोनाश, विज्ञान, सहजकुंभक और अन्य आनुषंगिक विषयों की चर्चा की गई है।

शान्तिपाठः

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं—पूर्णमेवावशिष्यते। (पूर्ववत्)
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

इसका हिन्दी रूपान्तर पूर्व में (पैंगलोपनिषत् में) द्रष्टव्य है।

प्रथमोऽध्यायः

प्रथमः खण्डः

अयोध्यानगरे रम्ये रत्नमण्डपमध्यमे।
सीताभरतसौमित्रिशत्रुघ्नाद्यैः समन्वितम् ॥1॥
सनकाद्यैर्मुनिगणैर्वसिष्ठाद्यैः शुकादिभिः।
अन्यैर्भागवतैश्चापि स्तूयमानमहर्निशम् ॥2॥
धीविक्रियासहस्राणां साक्षिणं निर्विकारिणम्।
स्वरूपध्याननिरतं समाधिविरमे हरिम् ॥3॥
भक्त्या शुश्रूषया रामं स्तुवन् पप्रच्छ मारुतिः।
राम त्वं परमात्माऽसि सच्चिदानन्दलक्षणः ॥4॥
इदानीं त्वां रघुश्रेष्ठ प्रणमामि मुहुर्मुहुः।
त्वद्रूपं ज्ञातुमिच्छामि तत्त्वतो राम मुक्तये ॥5॥
अनायासेन येनाहं मुच्येयं भवबन्धनात्।
कृपया वद मे राम येन मुक्तो भवाम्यहम् ॥6॥

रमणीय अयोध्यानगर में रत्नमण्डप के मध्य में सीता, भरत, सुमित्रापुत्र लक्ष्मण, शत्रुघ्न आदि के साथ में रहते हुए तथा सनकादि मुनियों के समूहों द्वारा तथा वसिष्ठ आदिकों तथा शुक आदि अन्यान्य भगवद्भक्तों के द्वारा रातदिन स्तुति किए जाने वाले ऐसे तथा बुद्धि के अनेक परिणामों के साक्षीरूप एवं स्वयं निर्विकारी, समाधि के विराम काल में भी अपने ही स्वरूप में तल्लीन ऐसे हरि की सेवा-शुश्रूषा पूर्वक भक्तिभाव से मारुति श्री हनुमान जी ने रामजी की स्तुति करते हुए पूछा—"हे राम! आप तो परमात्मा हैं, आप सच्चिदानन्दस्वरूप हैं। हे रघुश्रेष्ठ! मैं आपको बार-बार प्रणाम करता हूँ। हे राम! मैं मुक्ति के लिए आपके स्वरूप को तात्त्विक रूप में जानना चाहता हूँ, जिससे मैं संसार के बन्धन से सरलता से मुक्त हो जाऊँ। कृपा करके वह कहिए कि जिससे मैं मुक्त हो जाऊँ।"

साधु पृष्टं महाबाहो वदामि शृणु तत्त्वतः।
वेदान्ते सुप्रतिष्ठोऽहं वेदान्तं समुपाश्रय ॥7॥
वेदान्ताः के रघुश्रेष्ठ वर्तन्ते कुत्र ते वद।
हनूमञ्छृणु वक्ष्यामि वेदान्तस्थितिमञ्जसा ॥8॥
निश्वासभूता मे विष्णोर्वेदा जाताः सुविस्तराः।
तिलेषु तैलवद्वेदे वेदान्तः सुप्रतिष्ठितः ॥9॥
राम वेदाः कतिविधास्तेषां शाखाश्च राघव।
तासूपनिषदः काः स्युः कृपया वद तत्त्वतः ॥10॥
श्रीराम उवाच—
ऋग्वेदादिविभागेन वेदाश्चत्वार ईरिताः।
तेषां शाखा ह्यनेकाः स्युस्तासूपनिषदस्तथा ॥11॥

तब राम ने कहा—"हे महाबाहो! तुमने अच्छा प्रश्न पूछा है। सुनो, अब मैं तुम्हें सब तात्त्विक रूप से कहता हूँ। मैं वेदान्त में अच्छी तरह प्रतिष्ठित हुआ हूँ, इसलिए तुम वेदान्त का अवलम्बन करो।" तब हनुमानजी ने पूछा—"हे रघुश्रेष्ठ! ये वेदान्त कौन से हैं? वे कहाँ हैं? मुझे यह कहिए।" तब राम ने कहा—"हे हनुमान! वेदान्त की सही स्थिति मैं स्पष्टरूप से बता रहा हूँ, सुनो। विष्णुरूप मेरे निःश्वास से ये सभी विस्तृत वेद उत्पन्न हुए हैं। और जैसे तिलों में तेल रहता है, उसी प्रकार वेदान्त वेदों में रहता है।" तब हनुमान ने पूछा—"हे राम! वेद कितने हैं? उनकी शाखाएँ कितनी हैं? उनमें उपनिषदें कितनी हैं? यह सब मुझे तात्त्विक रूप से आप बताइए।" तब श्रीराम ने कहा—ऋग्वेदादि भेद से वेद चार कहे गए हैं। उनकी शाखाएँ और उपनिषदें तो बहुत हैं।

ऋग्वेदस्य तु शाखाः स्युरेकविंशतिसंख्यया।
नवाधिकशतं शाखा यजुषो मारुतात्मज ॥12॥
सहस्रसंख्यया जाताः शाखाः साम्नः परन्तप।
अथर्वणस्य शाखाः स्युः पञ्चाशद्भेदतो हरे ॥13॥
एकैकस्यास्तु शाखाया एकैकोपनिषन्मता।
तासामेकामृचं [मृगेकाऽपि]येन पठ्यते भक्तितो मयि ॥14॥
स मत्सायुज्यपदवीं प्राप्नोति मुनिदुर्लभाम्।
राम केचिन्मुनिश्रेष्ठा मुक्तिरेकेति चक्षिरे ॥15॥
केचित्त्वन्नामभजनात् काश्यां तारोपदेशतः।

अन्ये तु सांख्ययोगेन भक्तियोगेन चापरे ॥16॥
अन्ये वेदान्तवाक्यार्थविचारात् परमर्षयः ।
सालोक्यादिविभागेन चतुर्धा मुक्तिरीरिता ॥17॥

ऋग्वेद की इक्कीस शाखाएँ हैं। हे मारुतपुत्र ! यजुर्वेद की एक सौ नौ शाखाएँ हैं। हे परंतप ! सामवेद की एक हजार शाखाएँ हैं, और हे वानर ! अथर्ववेद की पचास शाखाएँ हैं। एक-एक शाखा की एक-एक उपनिषद् है। उनमें से कोई यदि मुझमें भक्ति रखकर एक मंत्र को भी पढ़ता है, तो वह मुनियों को भी दुर्लभ ऐसी मेरी सायुज्य पदवी को प्राप्त हो जाता है।" तब हनुमान ने पूछा—"हे राम ! कुछ श्रेष्ठ मुनि मुक्ति एक ही है, ऐसा कहते हैं, कुछ लोग नाम भजन से, कुछ लोग काशी में तारोपदेश से, कुछ लोग सांख्ययोग से, कुछ लोग भक्तियोग से और कुछ परमऋषि वेदान्त के वाक्यार्थ के विचार से सालोक्य आदि भेद से चार प्रकार की मुक्ति कहते हैं।"

स होवाच श्रीरामः—
कैवल्यमुक्तिरेकैव पारमार्थिकरूपिणी ।
दुराचाररतो वाऽपि मन्नामभजनात् कपे ॥18॥
सालोक्यमुक्तिमाप्नोति न तु लोकान्तरादिकम् ।
काश्यां तु ब्रह्मनालेऽस्मिन् मृतौ मत्तारमाप्नुयात् ॥19॥
पुनरावृत्तिरहितां मुक्तिं प्राप्नोति मानवः ।
यत्र कुत्रापि वा काश्यां मरणे स महेश्वरः ॥20॥
जन्तोर्दक्षिणकर्णे तु मत्तारं समुपादिशेत् ।
निर्धूताशेषपापौघो मत्सारूप्यं भजत्ययम् ॥21॥

तब श्रीराम ने कहा—"पारमार्थिक रूप से कैवल्यमुक्ति तो एक ही प्रकार की है। परन्तु हे कपि ! यदि कोई मनुष्य दुराचार में फँसा हो, वह भी यदि मेरा नाम जप करे, तो उससे अन्य लोकों की प्राप्ति के बदले मेरे लोक को प्राप्त करता है। काशी में मेरे तारमंत्र को सुनते हुए जो मरता है, तो वह मानव पुनरावृत्ति से रहित मुक्ति को पा लेता है। काशी में कहीं भी मरने पर वह महेश्वर होता है। (मरणासन्न व्यक्ति के) दाहिने कान में मेरे तारमंत्र को पढ़ना चाहिए, जिससे वह समग्र पापों को झाड़कर मेरे सारूप्य को प्राप्त करता है।

सैव सालोक्यसारूप्यमुक्तिरित्यभिधीयते ।
सदाचाररतो भूत्वा द्विजो नित्यमनन्यधीः ॥22॥
मयि सर्वात्मके भावो मत्सामीप्यं भजत्ययम् ।
सैव सालोक्यसारूप्यसामीप्या मुक्तिरिष्यते ॥23॥
गुरूपदिष्टमार्गेण ध्यायन् मद्रूपमव्ययम् ।
मत्सायुज्यं द्विजः सम्यग्भजेद्भ्रमरकीटवत् ॥24॥
सैव सायुज्यमुक्तिः स्याद्ब्रह्मानन्दकरी शिवा ।
चतुर्विधा च या मुक्तिर्मदुपासनया भवेत् ॥25॥

उसी को सालोक्य और सारूप्य मुक्ति कहा जाता है। सदाचारपरायण होकर सदैव एकाग्र बुद्धिपूर्वक मुझ सर्वात्मक में जो भाव रखता है वह मेरे सामीप्य को प्राप्त करता है, वही सालोक्य,

सारूप्य और सामीप्य मुक्ति कही गई है। गुरु के उपदिष्ट मार्ग से मेरे अव्यय स्वरूप का ध्यान करते हुए द्विज साधक कीटभ्रमरन्याय से मेरा सायुज्य प्राप्त करता है, वही सायुज्यमुक्ति होती है, वही ब्रह्मानन्दकारी, कल्याणमयी है। चारों प्रकार की मुक्ति मेरी उपासना से होती हैं।"

इयं कैवल्यमुक्तिस्तु केनोपायेन सिध्यति ।
माण्डूक्यमेकमेवालं मुमुक्षूणां विमुक्तये ॥26॥
तथाऽप्यसिद्धं चेज्ज्ञानं दशोपनिषदं पठ ।
ज्ञानं लब्ध्वाऽचिरादेव मामकं धाम यास्यसि ॥27॥
तथाऽपि दृढता नो चेद्विज्ञानस्याञ्जनासुत ।
द्वात्रिंशाख्योपनिषदं समभ्यस्य निवर्तय ॥28॥
विदेहमुक्ताविच्छा चेदष्टोत्तरशतं पठ ।
तासां क्रमं सशान्तिं च शृणु वक्ष्यामि तत्त्वतः ॥29॥

तब हनुमान ने पूछा—"यह कैवल्यमुक्ति किस उपाय से सिद्ध होती है ?" तब राम ने कहा—"मुमुक्षुओं की मुक्ति के लिए एक 'माण्डूक्योपनिषत्' ही पर्याप्त है। फिर भी यदि ज्ञान सिद्ध न हो तो दश उपनिषदें पढ़ो। उनसे ज्ञान प्राप्त करके तुम मेरे धाम में शीघ्र ही आ जाओगे। हे अंजनापुत्र ! उससे भी यदि ज्ञान दृढ़ न हो तो बत्तीस उपनिषदें पढ़कर अज्ञान को दूर करो। और विदेहमुक्ति की इच्छा हो तो एक सौ आठ उपनिषदें पढ़ो। उनका क्रम और उनके शान्तिमंत्र मैं अच्छी तरह से कहता हूँ इसे सुनो—

ईशकेनकठप्रश्नमुण्डमाण्डूक्यतित्तिरिः ।
ऐतरेयं च छान्दोग्यं बृहदारण्यकं तथा ॥30॥
ब्रह्मकैवल्यजाबालश्वेताश्वो हंस आरुणिः ।
गर्भो नारायणो हंसो बिन्दुनादशिरःशिखा ॥31॥
मैत्रायणी कौषितकी बृहज्जाबालतापनी ।
कालाग्निरुद्रमैत्रेयी सुबालक्षुरिमन्त्रिका ॥32॥
सर्वसारं निरालम्बं रहस्यं वज्रसूचिकम् ।
तेजोनादध्यानविद्यायोगतत्त्वात्मबोधकम् ॥33॥
परिव्राट् त्रिशिखी सीता चूडा निर्वाणमण्डलम् ।
दक्षिणा शरभं स्कन्दं महानारायणाह्वयम् ॥34॥

ईश, केन, कठ, प्रश्न, मुण्डक, माण्डूक्य, तैत्तरीय, ऐतरेय, छान्दोग्य, बृहदारण्यक, ब्रह्म, कैवल्य, जाबाल, श्वेताश्व, हंस, आरुणिक, गर्भ, नारायण, परमहंस, अमृतबिन्दु, अमृतनाद, अथर्वशिर, अथर्वशिखा, मैत्रायणी, कौषीतकिब्राह्मण, बृहज्जाबाल, नृसिंहपूर्व और उत्तरतापिनी, कालाग्निरुद्र, मैत्रेयी, सुबाल, क्षुरिका, मंत्रिका, सर्वसार, निरालम्ब, शुकरहस्य, वज्रसूचिका, तेजोबिन्दु, नादबिन्दु, ध्यानबिन्दु, ब्रह्मविद्या, योगतत्त्व, आत्मबोध, नारदपरिव्राजक, त्रिशिखिब्राह्मण, सीतोपनिषत्, योगचूडामणि, निर्वाण, मण्डलब्राह्मण, दक्षिणामूर्ति, शरभ, स्कन्द और त्रिपाद्विभूति-महानारायणोपनिषत् तथा अद्वयतारक है (और भी आगे)—

रहस्यं रामतपनं वासुदेवं च मुद्गलम् ।
शाण्डिल्यं पैङ्गलं भिक्षुमहच्छारीरकं शिखा ॥35॥

तुरीयातीतसंन्यासपरिव्राजाक्षमालिका ।
अव्यक्तैकाक्षरं पूर्णा सूर्याक्ष्यध्यात्मकुण्डिका ॥36॥
सावित्र्यात्मा पाशुपतं परं ब्रह्मावधूतकम् ।
त्रिपुरातपनं देवी त्रिपुरा कठभावना ।
हृदयं कुण्डली भस्म रुद्राक्षगणदर्शनम् ॥37॥
तारसारमहावाक्यपञ्चब्रह्माग्निहोत्रकम् ।
गोपालतपनं कृष्णं याज्ञवल्क्यं वराहकम् ॥38॥
शाट्यायनी हयग्रीवं दत्तात्रेयं च गारुडम् ।
कलिजाबालिसौभाग्यरहस्यऋचमुक्तिका ॥39॥

—रामरहस्य, रामपूर्व और उत्तरतापनी, वासुदेव, मुद्गल, शाण्डिल्य, पैंगल, भिक्षुक, महोपनिषत्, शारीरक, योगशिखा, तुरीयातीत, संन्यास, परमहंसपरिव्राजक, अक्षमालिका, अव्यक्त, एकाक्षर, अन्नपूर्णा, सूर्य, अक्षि, अध्यात्म, कुण्डिका, सावित्री, आत्मोपनिषत्, पाशुपतब्रह्म, परब्रह्म, अवधूत, त्रिपुरतापिनी, देवी, त्रिपुरा, कठरुद्र, भावना, रुद्रहृदय, योगकुण्डलिनी, भस्मजाबाल, रुद्राक्षजाबाल, गणपति, जाबालदर्शन, तारसार, महावाक्य, पंचब्रह्म, प्राणाग्निहोत्र, गोपालपूर्व और उत्तरतापनी, कृष्ण, याज्ञवल्क्य, वराह, शाट्यायनी, हयग्रीव, दत्तात्रेय, गरुड, कलिसन्तरण, जाबालि, सौभाग्यलक्ष्मी, सरस्वतीरहस्य, बह्वृचोपनिषत् और मुक्तिकोपनिषत् ।

एवमष्टोत्तरशतं भावनात्रयनाशनम् ।
ज्ञानवैराग्यदं पुंसां वासनात्रयनाशनम् ॥40॥
पूर्वोत्तरेषु विहिततत्तच्छान्तिपुरःसरम् ।
वेदविद्याव्रतस्नातदेशिकस्य मुखात् स्वयम् ॥41॥
गृहीत्वाऽष्टोत्तरशतं ये पठन्ति द्विजोत्तमाः ।
प्रारब्धक्षयपर्यन्तं जीवन्मुक्ता भवन्ति ते ॥42॥
ततः कालवशादेव प्रारब्धे तु क्षयं गते ।
वैदेहीं मामकीं मुक्तिं यान्ति नास्त्यत्र संशयः ॥43॥

इस प्रकार ये एक सौ आठ उपनिषदें असंभावना आदि तीनों भावनाओं का नाश करने वाली तथा ज्ञान और वैराग्य देने वाली हैं। ये तीनों प्रकार की पुत्रादि की एषणाओं का नाश करने वाली हैं। इन उपनिषदों को पहले और अन्त में तत्तद् वैदिक शान्तिपाठ के साथ, वेदविद्या में प्रवीण—श्रोत्रिय गुरु के मुख से साक्षात् ग्रहण करके जो श्रेष्ठ ब्राह्मण इन एक सौ आठ उपनिषदों को पढ़ते हैं, वे जहाँ तक प्रारब्ध का क्षय हो, वहाँ तक यहाँ रहते हुए जीवन्मुक्त हो जाते हैं। बाद में समयवशात् प्रारब्ध कर्मों के क्षय होने पर विदेहमुक्ति को प्राप्त करते हैं, इसमें कोई सन्देह नहीं है।

सर्वोपनिषदां मध्ये सारमष्टोत्तरं शतम् ।
सकृच्छ्रवणमात्रेण सर्वाघौघनिकृन्तनम् ॥44॥
मयोपदिष्टं शिष्याय तुभ्यं पवननन्दन ।
इदं शास्त्रं मयाऽऽदिष्टं गुह्यमष्टोत्तरं शतम् ॥45॥
ज्ञानतोऽज्ञानतो वाऽपि पठतां बन्धमोचकम् ।
राज्यं देयं धनं देयं याचतः कामपूरणम् ॥46॥

इदमष्टोत्तरशतं न देयं यस्य कस्यचित् ।
नास्तिकाय कृतघ्नाय दुराचाररताय वै ॥47॥
मद्भक्तिविमुखायापि शास्त्रगर्तेषु मुह्यते ।
गुरुभक्तिविहीनाय दातव्यं न कदाचन ॥48॥

ये एक सौ आठ उपनिषदें सभी उपनिषदों का सारतत्त्व हैं। इनके एक बार भी श्रवणमात्र से सब पापसमूह नष्ट होता है। हे पवनपुत्र! यह तुम्हें—शिष्य को मैंने यह एक सौ आठ उपनिषदों का गोपनीय ज्ञान कहा। जाने-अनजाने भी यह पढ़ने से बन्धन से मोक्ष होता है। किसी को माँगने पर राज्य या धन दिया जा सकता है, और उसकी इच्छा पूरी की जा सकती है, पर अनधिकृत को यह एक सौ आठ उपनिषदें नहीं देनी चाहिए। जो नास्तिक, कृतघ्न और दुराचारपरायण हो, जो मेरी भक्ति से विमुख हो, उसे नहीं देना चाहिए। जो शास्त्रों की खाइयों में मूर्च्छित हुआ हो उसे और जो गुरुभक्तिरहित हो, उसे भी कभी नहीं देना चाहिए।

सेवापराय शिष्याय हितपुत्राय मारुते ।
मद्भक्ताय सुशीलाय कुलीनाय सुमेधसे ॥49॥
सम्यक् परीक्ष्य दातव्यमेवमष्टोत्तरं शतम् ।
यः पठेच्छृणुयाद्वाऽपि स मामेति न संशयः ॥50॥
तदेतदृचाभ्युक्तम्—
विद्या ह वै ब्राह्मणमाजगाम गोपाय मां शेवधिष्टेऽहमस्मि ।
असूयकायानृजवे शठाय मा मा ब्रूया वीर्यवती तथा स्याम् ॥51॥
यमेव विद्याश्रुतमप्रमत्तं मेधाविनं ब्रह्मचर्योपपन्नम् ।
अस्मा इमामुपसन्नाय सम्यक् परीक्ष्य दद्याद्वैष्णवीमात्मनिष्ठाम् ॥52॥

इति प्रथमः खण्डः

परन्तु हे मारुति! जो कोई सेवापरायण, शिष्य, हितकारी पुत्र, मेरा भक्त, सुशील, कुलीन, बुद्धिमान हो, उसकी परीक्षा करके ही यह अष्टोत्तर शत उपनिषदों का ज्ञान देना चाहिए। इसे जो पढ़ेगा, या सुनेगा वह मुझे प्राप्त होगा, इसमें कोई संशय नहीं है। यह बात एक ऋचा में भी कही गई है कि—विद्या ब्राह्मण के पास आई और कहा कि मेरा रक्षण करो, मैं तुम्हारी निधि हूँ। मुझे ईर्ष्या वाले, कुटिल और शठ को मत कहो, इसी से मैं बलवती बन सकती हूँ। इस वैष्णवी आत्मनिष्ठ विद्या को, जिसे हम अप्रमत्त, विश्रुत, बुद्धिमान, ब्रह्मचर्ययुक्त जानें, उसी पास में आने वाले को परीक्षा करके ही देनी चाहिए। इस प्रकार यहाँ प्रथम अध्याय का प्रथम खण्ड पूरा होता है।

द्वितीयः खण्डः

अथ हैनं श्रीरामचन्द्रं मारुतिः पप्रच्छ ऋग्वेदादिविभागेन पृथक् शान्तिमनुब्रूहीति। स होवाच श्रीरामः—
ऐतरेयकौषीतकिनादबिन्द्वात्मप्रबोधनिर्वाणमुद्गलाक्षमालिकात्रिपुरा-सौभाग्यबह्वृचानामृग्वेदगतानां दशसंख्याकानामुपनिषदां वाङ्मे मनसीति शान्तिः ॥1॥

तब उन रामचन्द्र से हनुमान ने कहा—'ऋग्वेदादि के विभाग से अलग शान्तिपाठ कहिए।' तब श्रीराम बोले—ऐतरेय, कौषीतकि, नादबिन्दु, आत्मबोध, निर्वाण, मुद्गल, अक्षमालिका, त्रिपुरा, सौभाग्यलक्ष्मी और बह्वृच ऐसी दस ऋग्वेद में आई हुई उपनिषदों का शान्तिपाठ 'वाङ्मे मनसि' आदि मन्त्र है।

ईशावास्यबृहदारण्यजाबालहंसपरमहंससुबालमन्त्रिकानिरालम्बत्रिशिखीब्राह्मणमण्डलब्राह्मणाद्वयतारकपैङ्गलभिक्षुतुरीयातीताध्यात्मतारसारयाज्ञवल्क्यशाट्यायनीमुक्तिकानां शुक्लयजुर्वेदगतानामेकोनविंशतिसंख्याकानामुपनिषदां पूर्णमद इति शान्तिः ॥2॥

ईशावास्य, बृहदारण्यक, जाबाल, हंस, परमहंस, सुबाल, मंत्रिका, निरालम्ब, त्रिशिखिब्राह्मण, मण्डलब्राह्मण, अद्वयतारक, पैंगल, भिक्षुक, तुरीयातीतावधूत, अध्यात्म, तारसार, याज्ञवल्क्य, शाट्यायनी और मुक्तिका—इन उन्नीस शुक्लयजुर्वेदान्तर्गत उपनिषदों का शान्तिपाठ 'पूर्णमदः' आदि मंत्र है।

कठवल्लीतैत्तिरीयकब्रह्मकैवल्यश्वेताश्वतरगर्भनारायणामृतबिन्द्वमृतनादकालाग्निरुद्रक्षुरिकासर्वसारशुकरहस्यतेजोबिन्दुध्यानबिन्दुब्रह्मविद्यायोगतत्त्वदक्षिणामूर्तिस्कन्दशारीरकयोगशिखैकाक्षराक्ष्यवधूतकठरुद्रहृदययोगकुण्डलिनीपञ्चब्रह्मप्राणाग्निहोत्रवराहकलिसंतारणसरस्वतीरहस्यानां कृष्णयजुर्वेदगतानां द्वात्रिंशत्संख्याकानामुपनिषदां सह नाववत्विति शान्तिः ॥3॥

कठ, तैत्तिरीय, ब्रह्म, कैवल्य, श्वेताश्वतर, गर्भ, नारायण, अमृतबिन्दु, अमृतनाद, कालाग्निरुद्र, क्षुरिका, सर्वसार, शुकरहस्य, तेजोबिन्दु, ध्यानबिन्दु, ब्रह्मविद्या, योगतत्त्व, दक्षिणामूर्ति, स्कन्द, शारीरक, योगशिखा, एकाक्षर, अक्षि, अवधूत, कठरुद्र, रुद्रहृदय, योगकुण्डलिनी, पंचब्रह्म, प्राणाग्निहोत्र, वराह, कलिसंतरण और सरस्वतीरहस्य—इस बत्तीस कृष्णयजुर्वेदान्तर्गत उपनिषदों का शान्तिपाठ 'सह नाववतु०' आदि मन्त्र है।

केनच्छान्दोग्यारुणिमैत्रायणिमैत्रेयीवज्रसूचिकायोगचूडामणिवासुदेवमहत्संन्यासाव्यक्तकुण्डिकासावित्रीरुद्राक्षजाबालदर्शनजाबालीनां सामवेदगतानां षोडशसंख्याकानामुपनिषदामाप्यायन्त्विति शान्तिः ॥4॥

केन, छान्दोग्य, आरुणि, मैत्रायणि, मैत्रेयी, वज्रसूचिका, योगचूडामणि, वासुदेव, महा, संन्यास, अव्यक्त, कुण्डिका, सावित्री, रुद्राक्षजाबाल, जाबालदर्शन और जाबालि—इन सोलह सामवेदान्तर्गत उपनिषदों का शान्तिपाठ 'आप्यायन्तु०' आदि मंत्र है।

प्रश्नमुण्डकमाण्डूक्याथर्वशिरोऽथर्वशिखाबृहज्जाबालनृसिंहतापनीनारदपरिव्राजकसीताशरभमहानारायणरामरहस्यरामतापनीशाण्डिल्यपरमहंसपरिव्राजकान्नपूर्णासूर्यात्मपाशुपतपरब्रह्मत्रिपुरातपनदेवीभावनाभस्मजाबालगणपतिमहावाक्यगोपालतपनकृष्णहयग्रीवदत्तात्रेयगारुडानामथर्ववेदगतानामेकत्रिंशत्संख्याकानामुपनिषदां भद्रं कर्णेभिरिति शान्तिः ॥5॥

प्रश्न, मुण्डक, माण्डूक्य, अथर्वशिर, अथर्वशिखा, बृहज्जाबाल, नृसिंहतापिनी, नारदपरिव्राजक, सीता, शरभ, त्रिपाद्विभूतिमहानारायण, रामरहस्य, रामतापनी, शाण्डिल्य, परमहंसपरिव्राजक, अन्नपूर्णा, सूर्य, आत्मा, पाशुपतब्रह्म, परब्रह्म, त्रिपुरातापिनी, देवी, भावना, भस्मजाबाल, गणपति, महावाक्य, गोपालतापिनी, कृष्ण, हयग्रीव, दत्तात्रेय और गरुड—इन इकतीस अथर्ववेदान्तर्गत उपनिषदों का शान्तिपाठ 'भद्रं कर्णेभिः०' आदि मंत्र है।

मुमुक्षवः पुरुषाः साधनचतुष्टयसंपन्नाः श्रद्धावन्तं सत्कुलभवं श्रोत्रियं शास्त्रवात्सल्यं गुणवन्तमकुटिलं सर्वभूतहिते रतं दयासमुद्रं सद्गुरुं विधिवदुपसंगम्योपहारपाणयोऽष्टोत्तरशतोपनिषदं विधिवदधीत्य श्रवणमनननिदिध्यासनानि नैरन्तर्येण कृत्वा प्रारब्धक्षयाद्देहत्रयभङ्गं प्राप्योपाधिविनिर्मुक्तघटाकाशवत् परिपूर्णता विदेहमुक्तिः। सैव कैवल्यमुक्तिरिति ॥6॥

अत एव ब्रह्मलोकस्था अपि ब्रह्ममुखाद्वेदान्तश्रवणादि कृत्वा तेन सह कैवल्यं लभन्ते। अतः सर्वेषां कैवल्यमुक्तिर्ज्ञान मात्रेणोक्ता न कर्मसांख्ययोगोपासनादिभिरित्युपनिषत् ॥7॥

इति द्वितीयः खण्डः

साधनचतुष्टय से युक्त मुमुक्षु लोग श्रद्धालु होकर कुलीन, श्रोत्रिय, शास्त्रों और वात्सल्य आदि गुणों वाले, सरल एवं सभी प्राणियों के कल्याण में परायण, दयासागर, सद्गुरु के पास विधिपूर्वक जाकर, हाथ में कुछ उपहार लेकर, एक सौ आठ उपनिषदों को पढ़कर निरन्तर श्रवण, मनन, निदिध्यासन आदि करके, प्रारब्ध कर्मों के क्षय से देह को छोड़कर उपाधि से विनिर्मुक्त घटाकाश की तरह परिपूर्णता यानी विदेहमुक्ति प्राप्त करता है। कैवल्यमुक्ति भी यही कहलाती है। इसीलिए ब्रह्मा के लोक में रहे हुए लोग भी ब्रह्मा के मुख से वेदान्तश्रवण करके उनके साथ ही कैवल्य की प्राप्ति करते हैं। इसीलिए सभी की कैवल्यमुक्ति केवल ज्ञान से ही होती है। कर्ममार्ग या सांख्ययोग से नहीं होती ऐसा यह उपनिषत् कहती है, यहाँ प्रथम अध्याय पूरा हुआ।

द्वितीयोऽध्यायः

अथ हैनं श्रीरामचन्द्रं मारुतिः पप्रच्छ। केयं वा जीवन्मुक्तिः विदेहमुक्तिः किं वा तत्र प्रमाणं कथं वा तत्सिद्धिः सिद्ध्या वा किं प्रयोजनमिति। स होवाच श्रीरामः। पुरुषस्य कर्तृत्वभोक्तृत्वसुखदुःखादिलक्षणश्चित्तधर्मः क्लेशरूपत्वाद् बन्धो भवति। तन्निरोधनं जीवन्मुक्तिः। उपाधिविनिर्मुक्तघटाकाशवत्प्रारब्धक्षयाद्विदेहमुक्तिः जीवन्मुक्तिविदेहमुक्त्योरष्टोत्तरशतोपनिषदः प्रमाणम्। कर्तृत्वादिदुःखनिवृत्तिद्वारा नित्यानन्दावाप्तिः प्रयोजनं भवति। तत्पुरुषप्रयत्नसाध्यं भवति। यथा पुत्रकामेष्टिना पुत्रं वाणिज्यादिना वित्तं ज्योतिष्टोमेन स्वर्गं तथा पुरुष प्रयत्नसाध्यवेदान्तश्रवणादिजनितसमाधिना जीवन्मुक्त्यादिलाभो भवति। सर्ववासनाक्षयात्तल्लाभः।

तब श्रीरामचन्द्र से मारुति (हनुमान्) ने पूछा—"यह जीवन्मुक्ति और विदेहमुक्ति की सिद्धि कैसी होती है ? इस सिद्धि से क्या प्रयोजन है ? इसमें प्रमाण क्या है ?" तब श्रीराम ने कहा—"कर्तृत्व,

भोक्तृत्व, सुख, दुःख आदि लक्षणवाला चित्त का धर्म होता है। यह क्लेशरूप होने से बन्धन का कारण होता है। उसका निरोध करना ही जीवन्मुक्ति है। घट रूप उपाधि से मुक्त घटाकाश की तरह प्रारब्ध कर्मों का क्षय हो जाने से विदेहमुक्ति होती है। जीवन्मुक्ति और विदेहमुक्ति के विषय में एक सौ आठ उपनिषदें प्रमाण हैं। कर्तृत्व आदि के दुःख के निवारण द्वारा नित्य आनंद की प्राप्ति इसका प्रयोजन है। यह प्रयोजन मनुष्य के प्रयत्नों द्वारा साध्य किया जा सकता है। जिस प्रकार पुत्रकामेष्टि के द्वारा पुत्र, व्यापारादि के द्वारा धन, ज्योतिष्टोम से स्वर्ग प्राप्त किया जाता है, वैसे ही पुरुष के प्रयत्नों द्वारा साध्य वेदान्त के श्रवण आदि के द्वारा जीवन्मुक्ति आदि का लाभ होता है। सर्ववासनाओं के क्षय हो जाने से वह लाभ होता है।

अत्र श्लोका भवन्ति—
उच्छास्त्रं शास्त्रितं चेति पौरुषं द्विविधं मतम्।
तत्रोच्छास्त्रमनर्थाय परमार्थाय शास्त्रितम् ॥1॥
लोकवासनया जन्तोः शास्त्रवासनयाऽपि च।
देहवासनया ज्ञानं यथावन्नैव जायते ॥2॥
द्विविधो वासनाव्यूहः शुभश्चैवाशुभश्च तौ।
वासनौघेन शुद्धेन तत्र चेदनुनीयसे ॥3॥
तत्क्रमेणाशु तेनैव मामकं पदमाप्नुहि।
अथ चेदशुभो भावस्त्वां योजयति संकटे ॥4॥
प्राक्तनस्तदसौ यत्नाज्जेतव्यो भवता कपे।
शुभाशुभाभ्यां मार्गाभ्यां वहन्ती वासनासरित् ॥5॥

इस विषय में ये श्लोक हैं—शास्त्रविमुख और शास्त्रीय—ऐसे दो पुरुषार्थ होते हैं। उनमें से शास्त्रविमुख अनर्थ के लिए होता है, और शास्त्रीय परमार्थ के लिए होता है। मनुष्य में रही हुई लोकवासना, शास्त्रवासना और देहवासना—तीनों होने से ज्ञान ठीक तौर से भासित नहीं होता। वासनाओं का व्यूह शुभ और अशुभ—दो प्रकार का होता है। यदि तुम शुभवासनाओं के समूह द्वारा प्रेरित हुए हो, तब क्रमशः मेरे पद को प्राप्त करोगे। और यदि अशुभ भाव से प्रेरित हो, तो वह तुम्हें संकट में डालेगा। हे कपि! उस पहले अशुभमार्ग के निरोध के द्वारा उसे जीतना चाहिए। यह वासनारूपी नदी शुभ और अशुभ—दोनों मार्गों से बह रही है।

पौरुषेण प्रयत्नेन योजनीया शुभे पथि।
अशुभेषु समाविष्टं शुभेष्वेवावतारयेत् ॥6॥
अशुभाच्चालितं याति शुभं तस्मादपीतरत्।
पौरुषेण प्रयत्नेन लालयेच्चित्तबालकम् ॥7॥
द्रागभ्यासवशाद्याति यदा ते वासनोदयम्।
तदाऽभ्यासस्य साफल्यं विद्धि त्वमरिमर्दन ॥8॥
संन्दिग्धायामपि भृशं शुभामेव समाचर।
शुभायां वासनावृद्धौ न दोषाय मरुत्सुत ॥9॥
वासनाक्षयविज्ञानमनोनाशा महामते।
समकालं चिराभ्यस्ता भवन्ति फलदा मताः ॥10॥

बड़े पुरुषार्थरूप प्रयत्न से इस वासनासरिता को शुभ मार्ग की ओर मोड़ देना चाहिए। और अशुभों में प्रविष्ट चित्त को शुभ कार्यों में उतारना (लगा देना) चाहिए। अशुभ से शुभ की ओर मोड़ा गया यह चित्त भी कभी दूसरी (अशुभ की) ओर झुक जाता है, इसलिए चित्त को बच्चे की तरह लाड़ लड़ाकर काम लेना चाहिए। यदि अभ्यास की पटुता के कारण यदि शुभ वासना का उदय हो जाता है, तब तो तुम्हें अभ्यास की सफलता मान लेनी चाहिए। हे शत्रुनाशन! इसमें तुम्हें यदि कोई सन्देह हो, तो भी शुभ वासना का अनुसरण एकदम करते ही रहना चाहिए। क्योंकि हे पवनपुत्र! शुभवासना की वृद्धि में तो कोई दोष है ही नहीं। दुर्वासनाओं का क्षय, विज्ञान और मनोनाश—इन तीनों का अभ्यास एक ही साथ करना चाहिए क्योंकि हे महामति! एक साथ इन तीनों का अभ्यास फलदायक होता है, ऐसा माना जाता है।

त्रयमेते समं यावन्नाभ्यस्ताश्च पुनः पुनः।
तावन्न पदसम्प्राप्तिर्भवत्यपि समाशतैः ॥11॥
एकैकशो निषेव्यन्ते यद्येते चिरमप्यलम्।
तन्न सिद्धिं प्रयच्छन्ति मन्त्राः संकीर्णिता इव ॥12॥
त्रिभिरेतैश्चिराभ्यस्तैर्हृदयग्रन्थयो दृढाः।
निःशङ्कमेव त्रुट्यन्ति बिसच्छेदाद्गुणा इव ॥13॥
जन्मान्तरशताभ्यस्ता मिथ्या संसारवासना।
सा चिराभ्यासयोगेन विना न क्षीयते क्वचित् ॥14॥
तस्मात्सौम्य प्रयत्नेन पौरुषेण विवेकिना।
भोगेच्छां दूरतस्त्यक्त्वा त्रयमेव समाश्रय ॥15॥

इन तीनों का जहाँ तक एक साथ बार-बार अभ्यास नहीं किया जाएगा, वहाँ तक तो सैंकड़ों वर्षों के बाद भी मेरे पद की प्राप्ति नहीं हो सकती। यदि उनका एक-एक करके अलग अभ्यास किया जाएगा, तब तो लम्बे समय तक भी, मन्त्रों के अलग-अलग पढ़ने से जैसे सिद्धि नहीं होती, वैसे ही सिद्धि हो ही नहीं सकती। परन्तु इन तीनों के एक साथ अभ्यास करने से, लम्बे समय के बाद अवश्य ही हृदय की दृढ ग्रन्थियाँ भी टूट ही जाती हैं, जैसे काटने के साधन से रस्सियाँ कट जाती हों। इसलिए जन्मजन्मान्तर से अभ्यस्त संसारवासना जो कि मिथ्या ही है, वह लम्बे अभ्यास के योग के बिना तो कहीं नष्ट हो ही नहीं सकती। इसलिए हे सौम्य! विवेकी बुद्धि से बहुत प्रबल पुरुषार्थ द्वारा भोग की इच्छा को दूर से ही छोड़कर इन तीनों का—वासनाक्षय, विज्ञान और मनोनाश का—अवलम्बन कर लो।

तस्माद्वासनया युक्तं मनो बद्धं विदुर्बुधाः।
सम्यग्वासनया त्यक्तं मुक्तमित्यभिधीयते।
मनोनिर्वासनीभावमाचराशु महाकपे ॥16॥
सम्यगालोकनात् सत्याद्वासना प्रविलीयते।
वासनाविलये चेतः शममायाति दीपवत् ॥17॥
वासनां सम्परित्यज्य मयि चिन्मात्रविग्रहे।
यस्तिष्ठति गतव्यग्रः सोऽहं सच्चित्सुखात्मकः ॥18॥
समाधिमथ कर्माणि मा करोतु करोतु वा।
हृदयेनात्तसर्वेहो मुक्त एवोत्तमाशयः ॥19॥

इसलिए ज्ञानियों ने वासनायुक्त मन को ही 'बद्ध' माना है और वासनाओं से अच्छी तरह छूटा हुआ मन मुक्त माना है। हे कपि ! इसलिए तुम शीघ्र ही मन के वासनारहित भाव का आचरण करो। सत् पदार्थ का अच्छी तरह अवलोकन करने से वासना का विलय हो जाता है, और वासना के विलय से मन दीपक की तरह शान्त हो जाता है। जो मनुष्य वासना को छोड़कर चिन्मात्रस्वरूप ऐसे मुझमें व्यग्रता को छोड़कर स्थित रहता है, वह तो मैं ही सत्-चित्-सुखात्मक हूँ। (वह मेरा ही स्वरूप होता है।) वह फिर समाधि करे या न करे, और कार्य करे या न करे, हृदय से ही सभी कामनाओं को प्राप्त हुआ वह उत्तम आशयवाला मनुष्य मुक्त ही है, ऐसा समझना चाहिए।

नैष्कर्म्येण न तस्यार्थस्तस्यार्थोऽस्ति न कर्मभिः।
न समाधानजाप्याभ्यां यस्य निर्वासनं मनः ॥20॥
सन्त्यक्तवासनान्मौनादृते नास्त्युत्तमं पदम् ॥21॥
वासनाहीनमप्येतच्चक्षुरादीन्द्रियं स्वतः।
प्रवर्तते बहिः स्वार्थे वासनामात्रकारणम् ॥22॥
अयत्नोपनतेष्वक्षि दृग्द्रव्येषु यथा पुनः।
नीरागमेव पतति तद्वत् कार्येषु धीरधीः ॥23॥

फिर उसका न तो नैष्कर्म्य से कोई अर्थ है, न वा कर्मों से। जिसका मन ही वासनारहित हो गया है उसे तो साधनसहित जपादि से भी कोई मतलब नहीं है। वासनारहित मौन के सिवा उसके लिए कोई उत्तम पद नहीं है। वह मन वासनारहित होने पर भी चक्षुरादि इन्द्रियाँ तो स्वत: बाहर अपने विषयों में प्रवर्तित होते ही रहते हैं, वे केवल वासना के कारण हैं। अनायास लाए गए जले हुए पदार्थों में आँख पड़ने पर भी उसमें आसक्ति नहीं होती, उसी प्रकार धीर बुद्धि वाला भी कार्यों में उसी आसक्ति-रहित भाव को ही रखता है।

भावसंवित्प्रकटितामनुरूपां च मारुते।
चित्तस्योत्पत्त्युपरमां वासनां मुनयो विदुः ॥24॥
दृढाभ्यस्तपदार्थैकभावनादतिचञ्चलम्।
चित्तं सञ्जायते जन्मजरामरणकारणम् ॥25॥
वासनाऽऽवशतः प्राणस्पन्दस्तेन च वासना।
क्रियते चित्तबीजस्य तेन बीजाङ्कुरक्रमः ॥26॥
द्वे बीजे चित्तवृक्षस्य प्राणस्पन्दनवासने।
एकस्मिंश्च तयोः क्षीणे क्षिप्रं द्वे अपि नश्यतः ॥27॥

हे मारुति ! भावरूप पदार्थों को विषय करने वाली, अभिलषित उन पदार्थों के अनुरूप चित्त की वृत्ति को ही मुनि लोग वासना कहते हैं। और दृढ रूप से उन पदार्थों में भावनाएँ करते रहने के अभ्यास से चंचल बना हुआ मन ही जन्म और मरण का कारण बन जाता है। उन वासनाओं के कारण से ही प्राण का स्पन्दन होता है। और उससे फिर वासनाएँ होती हैं और उस चित्तबीज से फिर स्पन्दन—इस तरह बीजांकुर न्याय से क्रम चलता रहता है। इस चित्तरूपी वृक्ष के दो बीज हैं—एक है प्राणस्पन्दन और दूसरा है वासना। उनमें से एक का भी क्षय (नाश) होने से दोनों का तुरन्त ही नाश हो जाता है।

असङ्गव्यवहारत्वाद्भवभावनवर्जनात्।
शरीरनाशदर्शित्वाद्वासना न प्रवर्तते।

वासनासम्परित्यागाच्चितं गच्छत्यचित्तताम् ॥28॥
अवासनत्वात् सततं यदा न मनुते मनः।
अमनस्ता तदोदेति परमोपशमप्रदा ॥29॥
अव्युत्पन्नमना यावद्भवानज्ञाततत्पदः।
गुरुशास्त्रप्रमाणैस्तु निर्णीतं तावदाचर ॥30॥
ततः पक्वकषायेण नूनं विज्ञातवस्तुना।
शुभोऽप्यसौ त्वया त्याज्यो वासनौघो निराधिना ॥31॥

नि:संग व्यवहार से, संसार की भावना के त्याग से और शरीर के नाश होने के विचार से वासना फिर प्रवृत्त नहीं होती और वासना के परित्याग से तो चित्त, 'अचित्त' ही हो जाता है। इस प्रकार सतत वासनाओं के अभाव से जब मन कुछ भी सोचता नहीं है, तब परम उपशम को देने वाली अमनस्कता का उदय होता है। जब तक तुमने उस परम पदार्थ को जाना नहीं है, और जब तक तुम्हारा मन पूरा व्युत्पन्न नहीं हो पाया है, तब तक जो गुरु और शास्त्र का निश्चित प्रमाण है, उसके अनुसार ही आचरण करते रहो। और इसके बाद जब तुम्हारे कषाय (संचित कर्म) पक्व हो जाएँगे, तब वस्तु को यथार्थ रूप में जानकर तुम आधिरहित होकर यह शुभ मार्ग भी छोड़ दोगे।

द्विविधश्चित्तनाशोऽस्ति सरूपोऽरूप एव च।
जीवन्मुक्तौ सरूपः स्यादरूपो देहमुक्तिगः ॥32॥
अस्य नाशमिदानीं त्वं पावने शृणु सादरम्।
चित्तनाशाभिधानं हि यदा ते विद्यते पुनः ॥33॥
मैत्र्यादिभिर्गुणैर्युक्तं शान्तिमेति न संशयः।
भूयोजन्मविनिर्मुक्तं जीवन्मुक्तस्य तन्मनः ॥34॥
सरूपोऽसौ मनोनाशो जीवन्मुक्तस्य विद्यते।
अरूपस्तु मनोनाशो वैदेहीमुक्तिगो भवेत् ॥35॥
सहस्राङ्कुरशाखात्मफलपल्लवशालिनः।
अस्य संसारवृक्षस्य मनो मूलमिदं स्थितम् ॥36॥
संकल्प एव तन्मन्ये संकल्पोपशमेन तत्।
शोषयाशु यथा शोषमेति संसारपादपः ॥37॥

चित्तनाश दो प्रकार का होता है—एक सरूप और दूसरा अरूप। जीवन्मुक्त का सरूप और विदेहमुक्त का अरूप चित्तनाश होता है। वे पवनपुत्र ! इस चित्तनाश के बारे में मैं कहता हूँ, यह तुम आदरपूर्वक सुनो। यह चित्तनाश ऐसा है कि, पहले जब चित्त मैत्री आदि गुणों से युक्त होता है, तब शान्ति को प्राप्त होता है, इसमें कोई भी सन्देह नहीं है। ऐसी शान्ति में वह पुनर्जन्म से मुक्त हो जाता है, वही जीवन्मुक्त का मन है। इसी को जीवन्मुक्त का सरूप मनोनाश कहा जाता है। परन्तु अरूप मनोनाश तो विदेहमुक्ति के बाद ही हो सकता है। हजारों अंकुरों, पल्लवों, शाखाओं और फलों वाले इस संसार-वृक्ष के मूल रूप में तो यह मन का संकल्प ही रहा है। इसलिए संकल्प का शमन करके तुम संकल्पों को ही सुखा दो (शुष्क कर दो) जल्दी ही इसे सुखा दो कि जिससे संसाररूपी वृक्ष सूख जाए।

उपाय एक एवास्ति मनसः स्वस्य निग्रहे।
मनसोऽभ्युदयो नाशो मनोनाशो महोदयः ॥38॥

ज्ञमनो नाशमभ्येति मनोज्ञस्य हि शृङ्खला ॥39॥
तावन्निशीव वेताला वल्गान्ति हृदि वासनाः।
एकतत्त्वदृढाभ्यासाद्यावन्न विजितं मनः ॥40॥
प्रक्षीणचित्तदर्पस्य निगृहीतेन्द्रियद्विषः।
पद्मिन्य इव हेमन्ते क्षीयन्ते भोगवासनाः ॥41॥

अपने मन के निग्रह का एक ही उपाय है। जीवन्मुक्ति में मन के सरूप नाश को अभ्युदय और विदेहमुक्ति में मन के अरूप नाश को महोदय कहा जाता है। ज्ञानी का मन तो नाश ही प्राप्त करता है और अज्ञानी का मन ही शृंखला है। रात्रि में वेतालों की तरह चित्त में वासनाएँ केवल तभी तक नाचा करती हैं, जब तक कि एक तत्त्व के दृढ़ अभ्यास से मन जीत लिया न गया हो। जिसके चित्त का दर्प क्षीण हो गया हो, जिसने इन्द्रियों के शत्रुओं को जीत लिया हो, ऐसे मनुष्य की भोगवासनाएँ तो हेमन्त ऋतु में पद्मिनियों की तरह क्षीण हो जाती हैं।

हस्तं हस्तेन संपीड्य दन्तैर्दन्तान् विचूर्ण्य च।
अङ्गान्यङ्गैः समाक्रम्य जयेदादौ स्वकं मनः ॥42॥
उपविश्योपविश्यैकां चिन्तकेन मुहुर्मुहुः।
न शक्यते मनो जेतुं विना युक्तिमनिन्दिताम् ॥43॥
अङ्कुशेन विना मत्तो यथा दुष्टमतङ्गजः।
अध्यात्मविद्याधिगमः साधुसंगतिरेव च ॥44॥
वासनासम्परित्यागः प्राणस्पन्दनिरोधनम्।
एतास्ता युक्तयः पुष्टाः सन्ति चित्तजये किल ॥45॥

हाथ से हाथ को जोर से मलकर और दाँतों को दाँत से जोर से घिसकर, अंगों को अंगों से आक्रान्त करके अर्थात् बड़े जोर से (पूरे बल से) अपने मन को जीत लेना चाहिए। केवल बैठे ही रहने से और मन में केवल विचार करने पर किसी युक्ति (अच्छी कारगर युक्ति) के बिना तो मन कभी जीता नहीं जा सकता। दुष्ट हाथी की तरह अंकुश के बिना (किसी युक्ति के बिना) तो वश में आ ही नहीं सकता। ये युक्तियाँ हैं, एक तो अध्यात्मविद्या की जानकारी, दूसरी है साधुओं की संगति और तीसरी युक्ति है वासनाओं का परित्याग, चौथी युक्ति है प्राणों के स्पन्द का निरोध। ये सभी युक्तियाँ चित्त के जय के लिए पुष्ट मानी गई हैं।

सतीषु युक्तिष्वेतासु हठान्नियमयन्ति ये।
चेतसो दीपमुत्सृज्य विचिन्वन्ति तमोऽञ्जनैः ॥46॥
विमूढाः कर्तुमुद्युक्ता ये हठाच्चेतसो जयम्।
ते निबध्नन्ति नागेन्द्रमुन्मत्तं विसतन्तुभिः ॥47॥
द्वे बीजे चित्तवृक्षस्य वृत्तिव्रततिधारिणः।
एकं प्राणपरिस्पन्दो द्वितीयं दृढभावना ॥48॥
सा हि सर्वगता संवित् प्राणस्पन्देन चाल्यते।
चित्तैकाग्र्याद्यतो ज्ञानमुक्तं समुपजायते ॥49॥
तत्साधनमथो ध्यानं यथावदुपदिश्यते।
विलाप्य विकृतिं कृत्स्नां सम्भवव्यत्ययक्रमात्।
परिशिष्टं च चिन्मात्रं चिदानन्दं विचिन्तय ॥50॥

ये युक्तियाँ होने पर भी जो लोग हठ से मन को नियन्त्रण में लाने का *प्रयत्न करते हैं, वे तो* दीपक को छोड़कर अंजन से ही अन्धकार को दूर करने का *व्यर्थ-सा प्रयत्न कर रहे हैं। जो इस प्रकार* हठ से मन का विजय करने का प्रयत्न करते हैं, वे तो ऐसे विमूढ हैं कि मानो बिसतन्तुओं से मत्त हस्तिराज को बाँधने का प्रयत्न करते हों। वृत्तियों के ही व्रती (सतत वृत्तिशील) चित्तरूपी वृक्ष के दो बीज हैं। एक प्राणपरिस्पन्द है और दूसरा है दृढ़भावना। वह संसार की दृढ भावना प्राण के स्पन्दन से संचालित होती रहती है। प्राणायाम करने से चित्तचलन की शान्ति होती है और चित्त की उस एकाग्रता से ब्रह्मज्ञान उत्पन्न होता है। चित्त को एकाग्र करने का साधन ध्यान है। वह यहाँ पर *यथातथ* उपदिष्ट किया जाता है कि सृष्टिगत सारी विकृतियों को (सारी सृष्टि को ही) ब्रह्म में विलय करके (ब्रह्म से ही जन्म और ब्रह्म में ही लीन, ऐसा ध्यान करके) सृष्टि के सिवा अविशिष्ट रहे हुए एकमात्र सच्चिदानन्दस्वरूप का ही चिन्तन (ध्यान) करो।

अपानेऽस्तङ्गते प्राणो यावन्नाभ्युदितो हृदि।
तावत् सा कुम्भकावस्था योगिभिर्यानुभूयते ॥51॥
बहिरस्तंगते प्राणे यावन्नापान उद्गतः।
तावत्पूर्णां समावस्थां बहिष्ठं कुम्भकं विदुः ॥52॥
ब्रह्माकारमनोवृत्तिप्रवाहोऽहङ्कृतिं विना।
सम्प्रज्ञातसमाधिः स्याद्ध्यानाभ्यासप्रकर्षतः ॥53॥
प्रशान्तवृत्तिकं चित्तं परमानन्ददायकम्।
असम्प्रज्ञातनामाऽयं समाधिर्योगिनां प्रियः ॥54॥

(ध्यान एक साधन यह भी है कि जिसे सहजकुंभक का अभ्यास कहते हैं।) जब अपान का अस्त हो जाता है और हृदय में जहाँ तक प्राण का अभ्युदय नहीं होता, वहाँ तक की अवस्था कुंभक अवस्था है, जो योगियों के द्वारा अनुभव की जाती है। (अर्थात् हृदयाकाश में अपान का भी अस्त और प्राण का अनुदय हो, ऐसी बुद्धि की स्थिरता को अन्तःकुंभक कहते हैं।) नाक के बाहर बारह अंगुल के परिमाण में बाह्याकाश में यदि प्राण अस्त हो और अपान का उद्गम न हो, तो वहाँ तक की उस सन्धि को बाह्यकुंभक कहते हैं। अहंकार के बिना ब्रह्माकारमनोवृत्ति का प्रवाह जब ध्यान के अभ्यास की उत्कृष्टता से हो, तब संप्रज्ञात समाधि होती है। जब चित्त की सभी वृत्तियाँ शान्त हो जाती हैं और चित्त परम आनन्ददायक हो जाता है, तब यह योगियों को प्रिय लगने वाली असंप्रज्ञात समाधि होती है।

प्रभाशून्यं मनःशून्यं बुद्धिशून्यं चिदात्मकम्।
अतद्व्यावृत्तिरूपोऽसौ समाधिर्मुनिभावितः ॥55॥
ऊर्ध्वपूर्णमधःपूर्णं मध्यपूर्णं शिवात्मकम्।
साक्षाद्विधिमुखो ह्येष समाधिः पारमार्थिकः ॥56॥
दृढभावनया त्यक्तपूर्वापरविचारणम्।
यदादानं पदार्थस्य वासना सा प्रकीर्तिता ॥57॥
भावितं तीव्रसंवेगादात्मना यत्तदेव सः।
भवत्याशु कपिश्रेष्ठ विगतेतरवासनः ॥58॥

यह असंप्रज्ञात समाधि जाग्रदादि प्रभा से शून्य, वृत्त्यादि मन से शून्य, बुद्धि से भी शून्य केवल चिदात्मक ही होता है। और यह अतद्—नेति नेति से आत्मा से अतिरिक्त वस्तु की व्यावृत्ति करने

वाली होती है, यह समाधि मुनियों के द्वारा अनुभूत है। यह समाधि ऊपर से भी पूर्ण है, नीचे से भी पूर्ण है, मध्य में भी पूर्ण ही है, यह श्रुतिसिद्ध है, और यही पारमार्थिक (सही) समाधि है और आगे-पीछे का कोई विचार किए बिना ही दृढ़भावना से जिस किसी पदार्थ का जो ग्रहण किया जाता है, वही वासना है। हे कपिश्रेष्ठ ! वही तो तीव्र संवेग से आत्मा में अनुभूत किया जा रहा है। परन्तु जैसे तीव्र संवेग से आत्मा में वासना का अनुभव होता है, वैसे ही अन्य वासनाओं से मुक्त पुरुष भी तीव्र संवेग से हो सकता है।

तादृग्रूपो हि पुरुषो वासनाविवशीकृतः ।
सम्पश्यति यदैवैतत् सद्वस्त्विति विमुह्यति ॥59॥
वासनावेगवैचित्र्यात् स्वरूपं न जहाति तत् ।
भ्रान्तं पश्यति दुर्दृष्टिः सर्वं मदवशादिव ॥60॥
वासना द्विविधा प्रोक्ता शुद्धा च मलिना तथा ।
मलिना जन्महेतुः स्याच्छुद्धा जन्मविनाशिनी ॥61॥
अज्ञानसुघनाकारा घनाहंकारशालिनी ।
पुनर्जन्मकरी प्रोक्ता मलिना वासना बुधैः ॥62॥

वासना के द्वारा वश किया पुरुष वैसा ही (उसी प्रकार का ही) हो जाता है। वह किसी वस्तु को देखता है, और यही सत्य वस्तु है, ऐसा मान भी लेता है और उसमें मोहित भी हो जाता है। वासनाओं के वेग की विचित्रता से वह वस्तु अपना वह स्वरूप भी नहीं छोड़ती। ऐसा होने से वह दूषित दृष्टि वाला मनुष्य मानो नशे में हो, इस तरह भ्रमपूर्ण ही देखता है। यह वासना दो प्रकार की है, एक शुद्ध वासना और दूसरी अशुद्ध (मलिन) वासना। जो मलिन वासना है, वह जन्म का कारण होती है, और जो शुद्ध वासना है, वह जन्म का विनाश करने वाली होती है। बुद्धिमान मनुष्य अज्ञान के सघन आकारवाली गाढ अहंकार से युक्त, पुनर्जन्मकारिणी वासना को ही मलिन वासना कहते हैं।

पुनर्जन्माङ्कुरं त्यक्त्वा स्थितिः सम्भृष्टबीजवत् ।
बहुशास्त्रकथाकन्थारोमन्थेन वृथैव किम् ।
अन्वेष्टव्यं प्रयत्नेन मारुते ज्योतिरान्तरम् ॥63॥
दर्शनादर्शने हित्वा स्वयं केवलरूपतः ।
य आस्ते कपिशार्दूल ब्रह्म स ब्रह्मवित् स्वयम् ॥64॥
अधीत्य चतुरो वेदान् सर्वशास्त्राण्यनेकशः ।
ब्रह्मतत्त्वं न जानाति दर्वी पाकरसं यथा ॥65॥
स्वदेहाशुचिगन्धेन न विरज्येत यः पुमान् ।
विरागकारणं तस्य किमन्युदपदिश्यते ॥66॥

इसलिए पुनर्जन्म के अंकुररूप उस वासना (अशुद्ध वासना) को छोड़कर जले हुए बीज की-सी स्थिति करनी चाहिए। बहुत से शास्त्रों की कथाओं की बार-बार वृथा जुगाली करते रहने से क्या फायदा होगा ? इसलिए हे मारुति ! प्रयत्न करके भीतर के ज्योति को ही खोज लेना चाहिए। दर्शन-अदर्शन आदि सभी विकल्पों को छोड़कर जो स्वयं कैवल्यरूप से ही ब्रह्म में अवस्थित रहता है, वह हे वानरसिंह ! स्वयं ब्रह्म हो जाता है। चारों वेदों को पढ़कर, अनेक शास्त्र पढ़कर भी मनुष्य जिस तरह दर्वी भोजन का रस नहीं जानता, वैसे ही शास्त्र के मर्म को नहीं पहचान सकते। अपने देह की अपवित्र

गन्ध को पाकर भी जिस मनुष्य में वैराग्य उत्पन्न नहीं होता, उसे भला और कौन-सा उपदेश दिया जाए ?

अत्यन्तमलिनो देहो देही चात्यन्तनिर्मलः ।
उभयोरन्तरं ज्ञात्वा कस्य शौचं विधीयते ॥67॥
बद्धो हि वासनाबद्धो मोक्षः स्याद्वासनाक्षयः ।
वासनास्त्वं परित्यज्य मोक्षार्थित्वमपि त्यज ॥68॥
मानसीर्वासनाः पूर्वं त्यक्त्वा विषयवासनाः ।
मैत्र्यादिवासनानाम्नीर्गृहाणामलवासनाः ॥69॥
ता अप्यतः परित्यज्य ताभिर्व्यवहरन्नपि ।
अन्तःशान्तसमस्तेहो भव चिन्मात्रवासनः ॥70॥
तामप्यथ परित्यज्य मनोबुद्धिसमन्विताम् ।
शेषस्थिरसमाधानो मयि त्वं भव मारुते ॥71॥

यह देह तो बहुत ही मलिन है, और जो देही (चैतन्य) है, वह बहुत ही निर्मल है। उन दोनों का अन्तर जानकर किसकी पवित्रता का विधान किया जा सकता है ? (किसी का नहीं, क्योंकि देह तो स्वभाव से ही मलिन है, वह पवित्र हो ही नहीं सकता और चैतन्य तो पवित्र ही है, उसके लिए भी पवित्रता के विधान की कोई आवश्यकता नहीं रहती।) जो पुरुष वासनाओं से बद्ध है, वही बद्ध कहा जा सकता है, और जो वासनाओं का क्षय है, वही मोक्ष कहा जाता है। इसलिए तुम सभी वासनाओं को छोड़कर मोक्ष के अर्थित्व को भी छोड़ ही दो। पहले मन में रही हुई सभी विषयों की वासनाओं को छोड़कर मैत्री आदि नाम की वासनाओं को ग्रहण करो। बाद में तो उनको भी छोड़कर, उनके अनुसार ही बाहर वर्तन करते हुए भी भीतर में तो शान्त ही और सर्वसमान स्नेह वाले और केवल चिन्मात्र में ही वासना रखने वाले हो जाओ। हे मारुति ! अन्त में तो मन और बुद्धि में रही हुई उस वासना को भी छोड़कर मुझमें ही स्थिर विश्रान्ति लेने वाले बने रहो।

अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययं तथाऽरसं नित्यमगन्धवच्च यत् ।
अनामगोत्रं मम रूपमीदृशं भजस्व नित्यं पवनात्मजार्तिहन् ॥72॥
दृशिस्वरूपं गगनोपमं परं सकृद्विभातं त्वजमेकमक्षरम् ।
अलेपकं सर्वगतं यदद्वयं तदेव चाहं सकलं विमुक्त ॐ ॥73॥
दृशिस्तु शुद्धोऽहमविक्रियात्मको न मेऽस्ति कश्चिद्विषयः स्वभावतः ।
पुरस्तिरश्चोर्ध्वमधश्च सर्वतः सुपूर्णभूमाऽहमितीह भावय ॥74॥
अजोऽमरश्चैव तथाऽजरोऽमृतः स्वयंप्रभः सर्वगतोऽहमव्ययः ।
न कारणं कार्यमतीत्य निर्मलः सदैव तृप्तोऽहमितीह भावय ॥75॥
जीवन्मुक्तपदं त्यक्त्वा स्वदेहे कालसात्कृते ।
विशत्यदेहमुक्तत्वं पवनोऽस्पन्दतामिव ॥76॥

(अब भगवान् राम अपना स्वरूप बताते हैं कि—) शब्दरहित, स्पर्शरहित, रूपरहित, अव्यय (विकाररहित), रसरहित, नित्य और जो गन्धरहित है, नाम और गोत्र से रहित यह मेरा रूप है। हे पवनपुत्र ! हे दुःखनाशन ! तुम मेरे ऐसे स्वरूप की उपासना करो। यह स्वरूप केवल साक्षीस्वरूप है, आकाश के तुल्य व्यापक और निराकार है, एक बार ही प्रकाशित हुआ है—कालातीत रूप से

प्रकाशित है, अजन्मा है, एक है, अक्षर (अच्युत) है, वह निर्लेप है, जो सर्वव्यापक है, जो अद्वैत है, वही मैं हूँ। इसलिए मैं विमुक्त हूँ, मैं ॐकाररूप तुरीयतुरीय हूँ। मैं सर्व का साक्षीस्वरूप हूँ, मैं शुद्ध हूँ, मैं अक्रिय (क्रियारहित) कूटस्थ हूँ। स्वभाव से ही वास्तव में मेरा कोई विषय नहीं है और मैं भी किसी का विषय नहीं हूँ। आगे-पीछे, ऊपर-नीचे, दाँये-बाँये (सर्वत्र) चारों ओर मैं परिपूर्ण भूमा स्वरूप हूँ, ऐसी तुम भावना करो। मेरा कोई जन्म नहीं है, मेरा कोई मरण भी नहीं है, मेरा कोई बुढ़ापा भी नहीं है। मैं अमृत हूँ, मैं स्वयंप्रकाशित हूँ, मैं सर्वगत हूँ, मैं अव्यय हूँ। मैं कारण भी नहीं हूँ और कार्य भी नहीं हूँ अर्थात् मैं कार्यकारण का अतिक्रमण करके निर्मल रूप से सदैव परितृप्त रहता हूँ, ऐसी भावना करो। इस प्रकार का ज्ञानी जब अपना यह देह काल से ग्रस्त हो जाता है, तब जीवन्मुक्त के पद को छोड़कर विदेहमुक्ति के पद को, जैसे पवन स्पन्दनराहित्य को प्राप्त करता है, वैसे ही वह प्राप्त कर लेता है।

तदेतदृचाभ्युक्तम्—
तद्विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः। दिवीव चक्षुराततम्। तद्विप्रासो विपन्यवो जागृवांसः समिन्धते। विष्णोर्यत्परमं पदम्॥77॥
ॐ सत्यमित्युपनिषत्॥

इति मुक्तिकोपनिषत्समाप्ता।
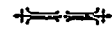
यह बात ऋचा के द्वारा भी कही गई है कि—वही विष्णु का परम पद है, जिसका ज्ञानी लोग ध्यान किया करते हैं। द्योतनात्मक ब्रह्म में मानो चक्षु की तरह अपने आत्मा में ही उस अपरिच्छिन्न व्यापक का वे ध्यान करते हैं। क्योंकि वे विद्वान् ब्रह्मविदों में वरिष्ठ हैं, वे कोपरहित हैं, वे सतत जागरूक होते हैं। वही विष्णु का परम पद है।

इस प्रकार मुक्तिकोपनिषत् समाप्त होती है।

शान्तिपाठः

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते॥
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः॥

सम्पूर्णोऽयमुपनिषत्समुच्चयः।
ॐ तत्सद्ब्रह्मार्पणमस्तु।

पारिभाषिक शब्दकोश

अ

अक्षय–क्षयरहित, अविनाशी, परमात्मा, अक्षर, (कठ. 1.2.16.) कूटस्थ।

अक्षर–अक्षरब्रह्म - ॐकार, ब्रह्म, परमात्मा, प्रणव, 'न क्षरति-विनश्यति इति अक्षरः'—इस व्युत्पत्ति से अविनाशी ब्रह्म–अक्षरब्रह्म–ओंकार–प्रणव—ये सभी शब्द एक ही तत्त्व के प्रतिपादक हैं। (देखिए माण्डूक्योपनिषत् तथा माण्डूक्य-कारिका)।

अग्नि–वैदिक वाङ्मय का महत्त्वपूर्ण देवता; उसके तीन रूप हैं—आकाश में सूर्य, अन्तरिक्ष में विद्युत् तथा पृथ्वी पर साधारण अग्नि। उसे गृहपति और दिव्य पुरोहित भी कहा गया है। उसे तीन रूपों में कहा गया है—गार्हपत्य, दक्षिणाग्नि और आहवनीय। मीमांसासूत्रों में इसके छः रूप बतलाए गए हैं; यथा—गार्हपत्य, आवहनीय, दक्षिणाग्नि, सभ्य, आवसथ्य और औपासन। अग्नि और आदित्य, इन दोनों को 'भर्ग' भी कहा गया है—'अग्निर्वै भर्गः' (जैमिनिसूत्र—'आदित्यो वै भर्गः' (4.28.2)।

अग्निष्टोम–एक श्रौतयज्ञ। यज्ञ दो प्रकार के होते हैं—सोमयज्ञ और हविर्यज्ञ। जिसमें सोमरस से आहुतियाँ दी जाती हों, उसे सोमयज्ञ और जिसमें दूध-दही-घी आदि की आहुतियाँ दी जाती हों उसे हविर्यज्ञ कहते हैं। अग्निष्टोम सोमयज्ञ के अन्तर्गत है। यह यज्ञ बसन्त ऋतु में किया जाता है। (देखिए—ताण्ड्यब्राह्मण 6.1.1)।

अग्निहोत्र–अग्नि के लिए एक यज्ञविशेष। (इसके लिए एक कथा है; देखिए—तैत्तरीय ब्राह्मण, 2.1.2.5)। अग्निहोत्र के दो प्रकार हैं—मास-पर्यन्त और यावज्जीवन। आजीवन अग्निहोत्र में रोज सुबह-शाम अग्नि को आहुतियाँ दी जाती हैं, एवं अग्निहोत्री का दाह भी उसी अग्नि में होता है, वह अग्नि जीवन तक बुझती नहीं है। यह अग्निहोत्र विवाह के बाद ब्राह्मण बसन्त ऋतु में, क्षत्रिय ग्रीष्म ऋतु में और वैश्य शरद् ऋतु में अग्नि-स्थापन करके शास्त्रविहित विधि और मंत्रों से प्रारम्भ करता है। प्राचीन काल में विविध हव्यों से आहुतियाँ दी जाती थीं; आजकल दूध, दही, घी आदि की आहुतियाँ दी जाती हैं।

अंगन्यास–पूजा आदि षट्कर्मों के अन्तर्गत विभिन्न अंगों को पवित्र करने के लिए, उनमें देवत्व-स्थापन के लिए न्यास की विधि–स्पर्श करने की विधि की जाती है। अंगों को मंत्रोच्चारपूर्वक स्पर्श करने की यह विधि दैनिक पूजा के उपरान्त विशेषतः तान्त्रिक प्रयोगों में की जाती है। स्थिति-भेद से यह मंत्रोच्चारपूर्वक न्यास-स्पर्श की विधि के अंगन्यास, षडंगन्यास, करन्यास आदि कई प्रकार होते हैं। (देखिए—दक्षिणामूर्त्युपनिषत्, 6; योगकुण्डल्युपनिषत्, 2.37-38)।

अङ्गिरा–द्रष्टा ऋषि। इन्हें ब्रह्माजी का मानसपुत्र कहा जाता है। ये अथर्वा ऋषि के भाई लगते हैं। अंगिरा के वंशज आंगिरस कहलाते हैं। कहीं-कहीं अथर्वांगिरस का युग्म में उल्लेख मिलता है।

अंगुष्ठमात्र–मनुष्य की हृदय-गुहा में परमात्मा अंगुष्ठपरिमाण वाला है, ऐसा उपनिषदों का कहना है (कठ. 2.3.17, 2.1.12, 2.1.13)। वह सूर्य के समान प्रकाशमय ज्योति है (श्वेता. 5.8)।

अज–जन्मरहित। यह विशेषण ब्रह्मा, विष्णु, महेश, ईश्वर, कामदेव आदि के लिए प्रयुक्त होता है। ब्रह्म को अज भी कहा गया है। जीव और माया को भी अज कहते हैं (श्वेता. 4.5)। माया को या प्रकृति को 'अजा' कहा गया है।

अजपा (गायत्री, जाप, मन्त्र)–जो जप अनायास सहज ही चलता रहे उसे 'अजपा जाप' कहते हैं। इसे 'सोऽहं' या हंस साधना भी कहा जाता है। इस प्रकार स्वाभाविक रूप से जिस मन्त्र का अविरत जाप चलता है, इसे 'अजपा मंत्र' कहते

हैं। इस साधना में प्राण की शक्ति की–गायत्री की रक्षा होती है, अत: इसे ही 'अजपा गायत्री' भी कहा जाता है।

अजर–जो जीर्ण (वृद्ध) नहीं होता, वह अजर कहा जाता है। इसीलिए देवगण अजर कहे गए हैं। आत्मा, परमात्मा के विशेषण रूप में भी 'अजर' शब्द का प्रयोग होता है। घृतकुमारी औषधि को भी अजरा कहा गया है। जरा(वृद्धत्व)हीन ही अजर का शब्दार्थ है।

अज्ञान–ज्ञान का न होना। अयथार्थानुभव। ज्ञान का विरोधी। इसे ही अविद्या, माया आदि नामों से कहा जाता है। 'रस्सी में साँप या सीप में चाँदी' का उदाहरण इसे समझाने के लिए प्राय: दिया जाता है। वेदान्त में इसके अनेक पर्याय हैं; यथा— अज्ञान, माया, अव्यक्त, अव्याकृत, प्रधान, प्रकृति, अध्यास, शक्ति, उपाधि, त्रिगुणात्मिका, अजा। यद्यपि माया और अविद्या एक ही है, पर थोड़ा भेद यह है कि जब अज्ञान चैतन्य को वश में करता है, तब वह अविद्या होती है और जब चैतन्य अज्ञान को वश में करता है, तब वही अज्ञान माया कहलाता है। अविद्यावशीभूत चैतन्य जीव है और माया को वश में करने वाला चैतन्य ईश्वर है। वह अज्ञान, माया, अविद्या जो कहो, अनादि, अजा (जन्म-रहित) है। यह अनन्त है, अनिर्वचनीय है।

अज्ञान-आवरण–'अज्ञान' वेदान्त में ज्ञान का केवल अभाव नहीं है, वह ज्ञान का विरोधी भावरूप अनिर्वचनीय पदार्थ है। पारमार्थिक सत् तत्त्व को पहचानने के लिए त्रिगुणात्मक भावरूप अज्ञान पदार्थ—माया को जानने की जरूरत है। उस ज्ञानावरोधक अज्ञान के साथ 'आवरण' शब्द का प्रयोग कई जगह पर किया गया है। अर्थात् अज्ञान सही वस्तु को ढँक देता है। इससे पारमार्थिकता नहीं जानी जा सकती। पारमार्थिकता के बदले कुछ और ही दीख पड़ता है, जिसे **'विक्षेप'** कहते हैं। सीप में दिखाई देने वाला रजत 'विक्षेप' है। यह देखकर मोह होता है (गीता, 5.15)। इस तरह अज्ञान (माया) की दो शक्तियाँ हुई—1. 'आवरण' और 2. **'विक्षेप'**। मूल वस्तु को ढँकने वाली शक्ति आवरण है, और उसमें अन्य दिखने वाली शक्ति 'विक्षेप' है। आवरणशक्ति 'सत्' को ढँक देती है और 'विक्षेप' उसमें जगत् दर्शाती है।

अणिमादि (अष्टसिद्धि)–विविध यौगिक साधनाओं से सिद्धियाँ मिलती हैं। ये विशिष्ट शक्तियाँ हैं। अनेक सिद्धियों में आठ मुख्य हैं—(1) अणिमा–शरीर को अणु की तरह सूक्ष्म बनाना, (2) महिमा–शरीर को विशाल बनाना, (3) गरिमा–शरीर को भारी बनाना, (4) लघिमा–शरीर को हल्का बनाना, (5) प्राप्ति–दूरस्थ पदार्थ को प्राप्त करना, (6) प्राकाम्य–इच्छित वस्तु को प्राप्त करना, (7) ईशित्व–सब पर शासन चलाना और (8) वशित्व–सबको अपने वश में लाना। कहीं-कहीं इन सिद्धियों को अलग तरीके से भी लिया गया है। (देखिए सांख्यकारिका-59 और गीता, अ. 19.20-22)।

अणु–किसी पदार्थ के सूक्ष्मातिसूक्ष्म अविभाज्य अंश को 'अणु' कहा जाता है। वह इन्द्रियों से अग्राह्य होता है। अपने मूल पदार्थ के गुण उसमें होते हैं। वह अणु भी उससे सूक्ष्मतम अनेक परमाणुओं के संयोग से बनता है। वैशेषिक दर्शन परमाणुओं के संयोग से सृष्टि-रचना मानता हैं, अत: उन्हें परमाणुवादी कहा जाता है। उपनिषदों में आत्मा को अणु इसलिए माना गया है कि उसका ज्ञान बहुत सूक्ष्म है। तर्क से परे है। (देखिए कठ. 1.2.8 और 1.2.20)।

अतिरात्र यज्ञ–यज्ञ-संस्कृति में यज्ञ दो प्रकार के हैं—1. श्रौत और 2. स्मार्त। श्रुतिप्रतिपादित श्रौत यज्ञों में केलव श्रुतिमंत्रों का और स्मृतिप्रतिपादित स्मार्त यज्ञों में पुराणों और श्रुतिमन्त्रों का प्रयोग होता है। श्रौत यज्ञों में अग्निहोत्र, दर्श–पूर्णमास, चातुर्मास्य, पशुयाग और सोमयाग—ये पाँच यज्ञ आते हैं। इनमें जिस यज्ञ में सोमरस की आहुतियाँ दी जाती हैं, उन्हें सोमयाग और जिनमें दूध, घी आदि की आहुतियाँ दी जाती हैं, उन्हें 'हविर्याग' कहा जाता है। सोमयाग वसन्त

ऋतु में एक दिन का होता है। कभी-कभी पाँच दिन भी लग जाते हैं। यह सोमयज्ञ सात प्रकार के होते हैं—1. अग्निष्टोम, 2. अत्यग्निष्टोम, 3. उक्थ्ययाग, 4. षोडशी याग, 5. वाजपेय याग, 6. अविरात्र याग और 7. अप्तोर्याम याग। इस प्रकार अतिरात्र यज्ञ सोमयज्ञ का एक प्रकार है। यह याग अग्निष्टोम की विशिष्ट कृति ही है। (विकृति याग)।

अथर्वा–ये अथर्ववेद के द्रष्टा ऋषि हैं। इन्हीं के नाम से वेद का नाम अथर्ववेद पड़ा। ये अंगिरा के भाई हैं, ब्रह्मा के मानसपुत्र हैं। अथर्वा ने अंगिरा को ब्रह्मविद्या का उपदेश दिया था। इन्होंने समुद्र में छिपे अग्नि का पता लगाया था। इनके वंशज आथर्वण कहलाए।

अद्वयानन्द–'अद्वय' का अर्थ है—दो का अभाव। वह अद्वैत जीव-परमात्मा का है। ब्रह्म-जीव-जगत् सबको एक ही तत्त्व मानने वाली शंकर की विचारधारा के अनुसार उस ऐक्य के साक्षात्कार रूप मोक्ष आनन्दस्वरूप है। उसी अद्वैतभाव (परमात्मभाव) को ही परमानन्द, सदानन्द, ब्रह्मानन्द आदि भी कहा जाता है।

अद्वैत–वेदान्त का प्रमुख सिद्धान्त। इसमें केवल ब्रह्म ही सत्य है, जीव ब्रह्मरूप ही है, जगत् मिथ्या है, ऐसा सिद्धान्त है (देखिए, छान्दोग्य. 6.2.1)। शंकराचार्य के केवलाद्वैत के बाद अन्य परवर्ती आचार्यों ने द्वैत, द्वैताद्वैत, विशिष्टाद्वैत, शुद्धाद्वैत, अविभागाद्वैत आदि मत प्रचलित किए।

अद्वैतग्रन्थि–यज्ञोपवीत प्रकरण में इसके स्वरूप के तात्त्विक विवेचन के रूप में इसे 'अद्वैत ग्रन्थि' कहा गया है (पा.ब्र.पू.का. 14)।

अद्वैतशक्ति–महोपनिषद् के अनुसार अद्वैतशक्ति परब्रह्म से सम्बद्ध है। और इसी कारण वह द्वैत-सी दिखाई देती है (देखिए महोपनिषद्, 6.62)।

अधिदेवता–भारत की संस्कृति के अनुसार प्रत्येक ग्राम, स्थान, कुल, वस्तु के अपने-अपने अधिष्ठान के एक-एक देवता होते हैं। जैसे—ग्रामदेवता, स्थानदेवता, कुलदेवता आदि। यद्यपि सभी में एक परब्रह्म की ही सत्ता व्याप्त है, फिर भी परब्रह्म की विविध शक्तिधाराओं को ध्यान में रखकर एक-एक शक्ति को देवता का नाम दिया गया है।

अधिष्ठान–अधिकरण, वासस्थान, स्थिति, मुकाम, आधार, अधिकार आदि इसके पर्याय हैं। इसमें अवस्थित को अधिष्ठेय कहा जाता है, जैसे ब्रह्म अधिष्ठान है और जगत् अधिष्ठेय है।

अधिष्ठाता–अधिकारी, निवासी, स्वामी, अध्यक्ष, मुखिया, नियन्ता, देखभाल करने वाला (देखिए बह्वृच. 6)। अधिदेवता शब्द में इसकी स्पष्टता की गई है। हमारे अर्धनारीश्वर, नीलकण्ठ, पशुपति, प्राणलिंगी, मृत्युंजय, रुद्राक्ष, विरूपाक्ष, शिवशक्ति, सदाशिव आदि शब्दों में यही अर्थ ध्वनित होता है।

अध्यारोप-अपवाद–अवस्तु में वस्तु के आरोप को 'अध्यारोप' कहा जाता है। जैसे—रज्जु में सर्प का आरोप अथवा जैसे ब्रह्म में जगत् का आरोप। इस 'अध्यारोप' का ही दूसरा नाम 'विपर्यय' अथवा 'विपर्यास' है। आचार्य शंकर ने इसे ही 'अध्यास' कहा है। इसी अध्यारोप, विपर्यय, विपर्यास या अध्यास अथवा विपरीत प्रतीति या भ्रम का निराकरण करने वाला उसका विरोधी शब्द 'अपवाद' कहा जाता है।

इस 'अपवाद' शब्द को वेदान्तसार ने इस प्रकार बताया है—"रस्सी में अध्यारोप के कारण जो साँप दिखाई देता है, जो रज्जु का विवर्त सर्पाभास दिखाई देता है, उसे दूर करके केवल अपने मूल स्वरूप को दिखाने वाले ज्ञान को अपवाद कहा जाता है।" इस प्रकार 'अध्यारोप' और 'अपवाद' दोनों शब्दों को एक साथ समझना चाहिए।

अध्वर्यु-उद्गाता–यज्ञ कराने वाले ब्राह्मणों (ऋत्विजों) में एक 'अध्वर्यु' नाम का 'ऋत्विज्' ब्राह्मण होता है। यज्ञ कराने वाले ब्राह्मणों की संख्या सामान्यतया सोलह होती है और प्रत्येक के अपने-अपने नाम और कार्य होते हैं। ब्रह्मा, ब्राह्मणाच्छंसी, आग्नीध, पोता आदि जैसे ये

सोलह नाम हैं। परन्तु इनकी मुख्य संख्या चार ही है। होता ऋचागान करता है, अध्वर्यु यज्ञविधि करता है, व्यवस्था करता है और होता को प्रोत्साहित करता है और उद्गाता सामवेद के मंत्रों का गान करके प्रार्थना करता है।

अनन्त–व्यापक, विराट् सृष्टि की रचना करने वाले परमात्मा को अनन्त कहा गया है। यह समस्त सृष्टि अन्तहीन, अपरिमित और अप्रमेय है; इसका कर्ता भी वैसा ही है। (अथर्वशिर. 48), (बह्वृच. 4.1.5 आदि)।

अनासक्त–जिसे किसी विषय या वस्तु के प्रति लगाव का अत्यन्त अभाव हो, उसे अनासक्त कहते हैं। ऐसे आसक्ति से (लगाव से) रहित मनुष्य को असंग भी कहा जाता है। विषय या वस्तु के प्रति अत्यधिक अनुरक्ति ही आसक्ति है और उस आसक्ति का अभाव ही अनासक्ति है। आसक्ति वाले मनुष्य को 'आसक्त' और अनासक्ति वाले को 'अनासक्त' कहा जाता है। उपनिषदों में मुमुक्षु साधकों को संसार में अनासक्त रहने का निर्देश दिया गया है। (देखिए महोपनिषद्, 2.43)।

अनास्था–'आस्था' का अर्थ श्रद्धा और 'अनास्था' का अर्थ श्रद्धा का अभाव होता है। अनास्था के और भी अर्थ—अनादर, अपमान, उपेक्षा, बेइज्जती, सम्मान का न होना आदि भी होते हैं। ईश्वर, धर्म, कर्मफल आदि में विश्वास उठ जाने को 'अनास्था संकट' नाम दिया जाता है। आजकल यदि उन पर आस्था होती भी है तो अपनी किसी कामना की पूर्ति करने की शर्तयुक्त व्यापारी वाली आस्था होती है। अक्ष्युपनिषद् में आस्था की स्वार्थी विकृतियों को दूर करने के अर्थ में 'अनास्था' शब्द का विशेष प्रयोग किया गया है। (देखिए अक्ष्युपनिषद्, 23-25)।

अनाहतनाद–जो शब्द बिना आघात से, बिना धक्के से अपने आप उत्पन्न होता हो उसे अनाहत (अन् + आहत) नाद कहते हैं। योगीजन अपने दोनों कानों में अँगुलियाँ डालकर इसे सुनते हैं। प्रणवध्वनि या ॐकार ध्वनि या सोऽहं की ध्वनि ही अनाहत या अनहद नाद कहलाती है। तन्त्र-शास्त्र में ऐसा कहा गया है कि हृदयस्थित सुषुम्ना के बीच द्वादशदल कमल में स्थित शब्द ब्रह्ममय है। वही अनाहत है। हठयोगानुसार हठयोग से जब कुण्डलिनी जाग्रत् होती है, तब वह ऊर्ध्वमुखी होती है, और तब बिना किसी आघात से उसमें जो एक विस्फोट होता है, वही 'अनाहत-नाद' है। किसी शंखध्वनि या भ्रमरगुंजन जैसा उसका अनुभव होता है। इस प्रकार अनाहतनाद के कई अर्थ मिलते हैं।

अनियामकत्व–यह शब्द उपनिषदों में अनेक बार प्रयुक्त हुआ है। जो किसी को वश में (नियम में या नियन्त्रण में) रखने का गुण न रखता हो, उसे अनियामक कहते हैं और उसका भाव ही 'अनियामकत्व' कहा जाता है। निर्वाणोपनिषद् में परमहंस की स्थिति बतलाते हुए उपनिषत्कार कहते हैं कि—'अनियामकत्व' ही उस (परमहंस) की निर्मल शक्ति होती है। परमहंस लोग मायातीत हो जाने के कारण तथा सर्वसाक्षिता प्राप्त करने के कारण अनियामकत्व गुण से ओतप्रोत होते हैं, अर्थात् वे किसी के द्वारा नियंत्रित नहीं होते। वे किसी को नियंत्रित भी नहीं करते। वे साक्षिभाव से युक्त होते हैं। (देखिए—निर्वाण. 52 की टीका)।

अनुपवीत-उपवीत-उपनयन–ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य जाति के लोगों के लिए किया जाने वाला यह एक महत्त्वपूर्ण संस्कार है। वह संस्कार नया जन्म एवं नयी जीवनरीति को जन्म देता है इसलिए उपनयन, उपवीत या यज्ञोपवीत धारण करके इन तीनों वर्णों के लोग 'द्विज' (दूसरा जन्म लेने वाले) कहे जाते हैं। वह दूसरा जन्म त्यागपूर्ण यज्ञीय और उपासनायुक्त जीवन है। तीनों वर्णों के लोगों के लिए गायत्री की उपासना का विधान किया गया है। इनमें जो यज्ञोपवीत (उपवीत, जनेऊ का धागा) प्रतीक रूप से विधिपूर्वक धारण नहीं करता उसे 'अनुपवीत' कहा जाता है। वह उपवीत संस्कार से वंचित हो जाने से अमुक यज्ञीय अधिकार को खो देता है।

अथर्वशिर उपनिषद् में कहा गया है कि इस उपनिषद् का पाठ करने वाला अनुपवीत हो तो भी उपवीतधारी हो जाता है (अथर्व. 9)।

अनुयाज-प्रयाज–यद्यपि याग, याज और यज्ञ—ये तीनों समानार्थी शब्द हैं, पर जब कोई बड़ा याज (यज्ञ) किया जाता है, तब उसके तीन भाग किए जाते हैं, यथा—उस बड़े याज की पूर्व तैयारियों की विधियों को 'प्रयाज' की संज्ञा दी गई है, मध्य की मुख्य विधियों को 'याज' की संज्ञा दी गई है, और अन्तिम विधियों को 'अनुयाज' कहा गया है। (देखिए ऐतरेय ब्राह्मण, 2.18, निरुक्त 8.11, प्राणाग्निहोत्रोपनिषद् 21 और 22)।

अनुष्टुप्-त्रिष्टुप्–ये दोनों वैदिक छन्द हैं। महर्षि कात्यायन ने सर्वानुक्रमणी में सात वैदिक छन्दों का उल्लेख किया है। वे हैं—गायत्री, उष्णिक्, अनुष्टुप्, बृहती, पंक्ति, त्रिष्टुप् और जगती। अनुष्टुप् छन्द में आठ-आठ अक्षर के चार चरण होते हैं। (अनुष्टुप् के महत्त्व के लिए देखिए विष्णुपुराण, 1.5.45 और ऋग्वेद, 10.130.4)।

अन्तःकरणचतुष्टय और इन्द्रियाँ–शरीरावयव जिस शक्ति से कार्य करते हैं, उसे इन्द्रियशक्ति कहते हैं। ये इन्द्रियाँ जीवात्मा के कर्तृत्व-भोक्तृत्व के साधन (करण) हैं। ये इन्द्रियाँ दो प्रकार की होती हैं—1. ब्राह्य इन्द्रियाँ और अन्तरिन्द्रिय। अन्तरिन्द्रिय शरीर के भीतर सक्रिय होती है। इसकी संख्या चार है—मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार। एक ही अन्तःकरण के ये चार भाग हैं—संकल्पविकल्पात्मक मन, निश्चयात्मक बुद्धि, अभीष्टचिन्तनात्मक चित्त और अहंभावनात्मक अहंकार।

बहिरिन्द्रियों का स्वरूप बाहर से प्रकट होता है। वे ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियों के भेद से दो प्रकार की हैं। **ज्ञानेन्द्रियाँ**—श्रोत्र, त्वचा, नेत्र, घ्राण और जिह्वा—ये पाँच हैं, और **कर्मेन्द्रियाँ**—वाणी, हाथ, पैर, गुदा और उपस्थ—ये पाँच हैं। मन को उभयेन्द्रिय कहा गया है। इस प्रकार कुल ग्यारह इन्द्रियाँ होती हैं।

अन्तर्दृष्टि-अन्तर्मुखी वृत्ति–मनुष्य को कार्यप्रेरित करने वाली दो प्रकार की वृत्तियाँ हैं, उनमें एक अन्तर्दृष्टि या अन्तर्मुखी दृष्टि है। इसे अन्तर्दृष्टि भी कहते हैं। उसे अपनाकर साधक अपने को निर्विकार आत्मतत्त्व जानकर शरीर को वस्त्रमात्र मानता है, और लोक व्यवहार में जलकमलवत् निर्लेप (असंग) रहता है (गीता, 5.10 एवं 5.24, अद्वयतारक. 2 और रुद्रोपनिषद् 1) तथा इससे बिल्कुल विपरीत वृत्ति ही 'बहिर्वृत्ति' कही जाती है।

अन्तर्मुख-बहिर्मुख–आन्तरिक वृत्ति वाले साधक को अर्थात् अन्तःकरण की ओर झुकने वाली वृत्ति वाले को अथवा भीतर की भावनाओं और विचारों में तल्लीन रहने वाले को अन्तर्मुख या आत्मरत कहा जाता है। ऐसा अन्तर्मुख पुरुष अपनी इन्द्रियों और मन को बलपूर्वक आन्तरिक उत्थान में नियोजित करके आत्मशक्ति का संचय और आत्मोत्कर्ष करता है। जब कि बहिर्मुख व्यक्ति अपनी इन्द्रियों को शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्धादि विषयों में लगाता हुआ आन्तरिक शक्ति को खोता रहता है (देखिए अक्षिको. 2.36, अ.पू. 1.34)।

अन्तर्यामी-साक्षी–व्यापक परमात्मा का यह एक अन्वर्थक विशेषण है। यह व्यापक परमात्मा सभी पदार्थों में अनुस्यूत और व्याप्त होने के कारण वह सब कुछ देख-सुन-जान सकता है। ऐसे सभी के अन्तस् (भीतर) में रहने वाले चैतन्यरूप आत्मा को अन्तर्यामी, कूटस्थ, साक्षी, क्षेत्रज्ञ आदि कहा जाता है। वह जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्ति—तीनों अवस्थाओं में तथा उत्पत्ति-स्थिति-लय में भी रहने वाला, जानने वाला, नित्य, साक्षी, चैतन्य है, उसे ही 'तुरीय चैतन्य' कहते हैं। (देखिए सर्वसारोप. 4,9 और 11 तथा महो. 1.51)।

अपरा-पराविद्या–'परा' शब्द का अर्थ है—परम उत्तम, सबसे परे जो है वह। इससे जो अलग है वह 'अपरा' = सामान्य है। उपनिषदों में इस तरह दो प्रकार की विद्याएँ बताई गई हैं। जो सब

से परे की (आत्मतत्त्व की) उपनिषदों के द्वारा जानी जाती है वह **'पराविद्या'** है, और जो ऋक्-यजु आदि वेदों के द्वारा जानी जाने वाली अन्य विद्या है, वह **'अपराविद्या'** है। (देखिए मुण्डकोपनिषद्, 1.1.4-5)।

अपरा-पराशक्ति–'परा' का अर्थ सबसे परे (उत्तम) अर्थात् चैतन्य है, और 'अपरा' का अर्थ इसके विपरीत जड़ लिया जाता है। परमात्मा इन्हीं चित् और अचित् (परा-अपरा) दो शक्तियों से जगत् का निर्माण करता है। अपरा शक्ति अचित् शक्ति (जड शक्ति) है, और **परा शक्ति** चित् शक्ति (चैतन्य शक्ति) है। गीता में अपरा शक्ति = प्रकृति को **अष्टधा** कहा है, और चेतन प्रकृति को **पराशक्ति** कहा है (7.4), सांख्य में पुरुष को **'पर'** और प्रकृति को **'अपर'** कहा गया है (श्वेताश्वतर. 1.8, 4.10, बहवृच्. 1.2, 1.3)।

अपरिग्रह–अनिवार्य वस्तु से अधिक का परित्याग करना **'अपरिग्रह'** कहलाता है। अपरिग्रह की गणना योगदर्शन के **पाँच यमों** (अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह) में होती है। जैनदर्शन के अनुसार मोहत्याग और विषय-वस्तुओं के परित्याग को **'अपरिग्रह'** माना गया है। अपरिग्रह की फलश्रुति पातंजलयोगदर्शन (2.39) में कही गई है। **'अपरिग्रह'** का व्रत धारण करने वाले को **'अपरिग्रही'** कहा गया है।

अपान (पंच प्राण)–पाँच प्राणों में से अपान एक है। पाँच प्राण—प्राण, अपान, व्यान, उदान, समान—ये हैं। अपानवायु मलादि को निकाल-कर जीवन देता है। इसकी उपस्थिति गुदा और उपस्थ में होती है। नाभि के नीचे की ओर जाना उसका स्वभाव है (देखिए—योगसूत्र, 3.39)। योगसम्बन्धी उपनिषदों में इन पाँचों प्राणों के बारे में बार-बार कहा गया है।

अप्सरा–'अप्' का अर्थ जल है और वास्तव में उस अप् (जल) में उत्पन्न होने वाली औषधियों का ही 'अप्सरा' शब्द से व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ निकलता है। माना जा सकता है कि प्रथमत: वनस्पतियाँ (औषधियाँ) ही प्राणदायिनी, जीवनदायिनी, सुविधादायिनी रही होंगी और बाद में उसी शब्द का अर्थ विस्तार (तेल शब्द की तरह) सुन्दरियों तक में हो गया। यह शब्द कठोपनिषद् में आया है। यमराज ने नचिकेता को अध्यात्म विद्या के बदले अप्सराएँ आदि देने का प्रलोभन दिया, पर नचिकेता टस से मस न हुआ। देवराज इन्द्र भी अपनी रम्भा, उर्वशी आदि अप्सराओं के द्वारा यतियों के तपोभंग करते हैं, ऐसी कथाएँ भी मिलती हैं।

अभ्युदय-नि:श्रेयस–'अभ्युदय' का अर्थ सांसारिक (भौतिक) उन्नति होता है और 'नि:श्रेयस' का अर्थ आध्यात्मिक उन्नति (परम कल्याण) होता है। ये दोनों जिसके द्वारा सिद्ध हों, उसे ही कणाद मुनि 'धर्म' कहते हैं। अभ्युदय अपरा विद्या है और नि:श्रेयस परा विद्या है। उपनिषद् कहती है कि मनुष्यों को ये दोनों परा (नि:श्रेयस) और अपरा (अभ्युदय) विद्याएँ जाननी चाहिए। जो पूर्ण मानवता (मानव्य) सिद्ध कर सके वही धर्म अर्थात् वही सही जीवनधारक तत्त्व है, ऐसा ऋषियों ने माना है।

अमनस्क (उन्मनी स्थिति)–यह योग की एक उच्चतम स्थिति है। इस अवस्था में मन में संकल्प-विकल्पादि की उपस्थिति ही नहीं रहती। इसे 'मनोनाश' या 'उन्मनी स्थिति' कहते हैं। मण्डलब्राह्मणोपनिषद् (3.2.4) की टीका में इसका वर्णन है। इस स्थिति को प्राप्त हुए योगी को बाह्य पूजा, उपासना आदि की कोई आवश्यकता ही नहीं रहती। यही निर्विचारता, इच्छादिराहित्य, मनोराहित्य आदि नामों से कही जाती है। (अधिक जानकारी के लिए देखिए मण्डलब्राह्मणोपनिषद् 2.2.4)।

अमानित्व-निरहंकारिता–साधना में इस गुण का बड़ा महत्त्व है। एक तरह से इसे लज्जाशीलता भी कहा जाता है। **निरहंकारिता** और **दंभशून्यता** भी इसी के नामान्तर हैं। ऐसे गुण वाला व्यक्ति सबके हृदय में अपना स्थान जमा सकता है। वह अपनी नम्रता से कठोरतम व्यक्ति से भी काम निकाल सकता है। इस शालीनता का कोई मूल्य

नहीं है, फिर भी इससे सब कुछ खरीदा जा सकता है। इसकी महिमा नारदपरिव्राजकोपनिषद् (3.90) में गाई गई है।

अमृत-मृत्यु–ईशावास्योपनिषद् में कहा है कि—"अविद्या से मृत्यु को पार कर विद्या से मनुष्य अमृत को भोगता है। मृत्यु और जन्म जगत् का अटल नियम है। इस जन्म-मरण के फेरे से छुटकारा पाने के लिए बार-बार प्रार्थनाएँ की गई हैं, पर वह कैसे हो सकता है ? तो कहते हैं कि मृत्यु के रहस्य को अविद्या द्वारा जाना जा सकता है। अविद्या से मृत्यु को पार किया जा सकता है। वह अविद्या क्या है ? गीता में वेदों को अविद्यात्मक कहा गया है—'त्रैगुण्यविषया वेदा:'। उन वेदोंरूपी अविद्या से जागतिक मोह-रूपी अविद्या को दूर करके अर्जुन को निस्त्रैगुण्य अमृत का उपभोग करने को कहा गया है। जिस तरह एक काँटे को निकालने के लिए दूसरे काँटे का उपयोग किया जाता है और काँटा निकल जाने के बाद दोनों काँटे फेंक दिए जाते हैं उसी प्रकार वेदों के उपदेशों से मृत्युरूपी काँटे को निकाल कर, फिर दोनों काँटे फेंककर अमरता को अर्थात् मोक्ष के आनन्द को भोगना चाहिए। 'मृत्योर्मा अमृतं गमय' आदि अनेक औपनिषदिक वाक्य यही सीख दे रहे हैं। (देखिए जैमिनि. 9.25.10, कठोपनिषद्. 2.1.2, 2.3.14-15, गीता 2.15, 2.27 आदि)।

अवधारणा–मन में किसी विषय के प्रति विचार, कल्पना, धारणा का उदय होने या स्थिर होने के सन्दर्भ में प्राय: 'अवधारणा' शब्द का प्रयोग किया जाता है। तथ्य निश्चय या तथ्यपुष्टि को भी अवधारणा कहते हैं। उपनिषदों में चार अन्त:करणों के नियमों के सन्दर्भ में इस शब्द का प्रयोग है। शारीरकोपनिषद् में संकल्प-विकल्प को मन का, निश्चय को बुद्धि का, स्मरणादि अनुसन्धान को चित्त का और कर्तृत्वाभिमान को अहंकार का विषय माना है। इनमें 'निश्चय' ही अवधारणा है, जो बुद्धि का विषय है (शारीर-कोपनिषद् 4)।

अवधूत–हमारे ब्रह्मचर्यादि चार आश्रमों में अन्त्य आश्रम संन्यासाश्रम है। इसे प्रव्रज्या भी कहते हैं। क्योंकि संन्यासी आत्मकल्याण और जगत् के हित के लिए परिव्राजक (भ्रमणशील) ही रहता है। संन्यासी समस्त इन्द्रियों पर जय प्राप्त करने वाला होता है। (संन्यासी के जीवन के लिए देखिए—शाकटायनी उपनिषद् 6, 7 और 8)। संन्यासी पंच मात्राओं को—त्रिदण्ड, उपवीत, कौपीन, छीका और पवित्री को ही धारण करता है। संन्यासोपनिषद् में संन्यासी के छ: प्रकार बताए गए हैं। उनमें से एक 'अवधूत' भी है (संन्यास. 2.3)। अवधूतोपनिषद् के मन्त्र दो में अवधूत की परिभाषा करते हुए कहा है कि संसार-बन्धन से मुक्त, अविनाशी, वरेण्य तथा महावाक्यों के लक्ष्यार्थभूत व्यक्ति को 'अवधूत' कहा जाता है। संन्यासोपनिषत् (2.27-30) में कहा गया है कि अवधूत अनियमवाला होता है। उसके लिए कोई नियम नहीं है। पतित और निन्दित को छोड़कर कहीं से भी अजगरवृत्ति से वह भोजन करता है, सदा आत्मानुसन्धान में लीन रहता है। संन्यासी के अन्य भेद इस प्रकार हैं; यथा—

कुटीचक–(या कुटीचर) शिखा एवं यज्ञोपवीत धारण करता है। दण्ड, कमण्डलु, लंगोटी, चादर और गुदड़ी रखता है। माता-पिता-गुरु की आज्ञा में रहता है। बटलोई, फावड़ा और छींका धारण करते हुए मन्त्रसाधनपरायण होकर एक ही स्थान पर रहता है, श्वेत ऊर्ध्वमुखी त्रिपुण्ड्र धारण करता है, और तीन दण्ड रखता है। (देखिए संन्यासोपनिषद् 2.24)।

बहूदक–शिखा, कन्था, त्रिपुण्ड्र आदि धारण करके कुटीचक के समान होता है। वह माधुकरी से जीवन-निर्वाह करता है, और केवल आठ ग्रास ही भोजन करता है (संन्यासोप. 2.25)।

हंस–हंस प्रकृति वाला संन्यासी जटा एवं त्रिपुण्ड्रधारी, ऊर्ध्वपुण्ड्रधारी, अनिश्चित स्थान पर भिक्षा माँगकर आजीविका चलाने वाला और केवल कौपीन पहनने वाला होता है (संन्यासोप. 2.26)।

परमहंस-यह शिखा-उपवीत कुछ नहीं रखता। केवल पाँच घरों से भिक्षा माँगकर आजीविका चलाता है। कौपीन, चादर और दण्ड ही अपने पास रखता है। वह सर्वत्यागी भिक्षु है। वही सच्चा भिक्षु है, अन्य नहीं (परमहंसोपनिषत् 4)।

तुरीयातीत-वह गोमुखवृत्ति से केवल तीन घरों में ही भिक्षा माँगता है। वह अपने आपको केवल चैतन्य ही मानता है।

इनके अतिरिक्त छठा **अवधूत** है। इस प्रकार संन्यासियों के छः भेद होते हैं। संन्यासोपनिषद् में इनके अन्य भेद भी (कर्मसंन्यासी, वैराग्य-संन्यासी, ज्ञानसंन्यासी आदि अनेक भेद किए गए हैं। देखिए—संन्यासोपनिषद् 2.20, 2.21, 2.22 आदि।

अविमुक्त-इसका शाब्दिक अर्थ—'जो मुक्त नहीं है वह'—ऐसा होता है, किन्तु जाबालोपनिषद् के अनुसार वह **'ब्रह्म का स्थान'** है। (जाबालोपनिषत् 1.1)। मूर्धा (ब्रह्मरन्ध्र) और चिबुक के बीच के स्थान को भी 'अविमुक्त' कहा जाता है। भौंहों और घ्राण के मध्य भाग को भी कहीं-कहीं 'अविमुक्त' कहा गया है। काशीक्षेत्र को भी 'अविमुक्त क्षेत्र' कहा गया है (स्कन्दपुराण)। कुछ लोग काशी के निकट पाँच कोस की दूरी को भी 'अविमुक्त' कहते हैं।

अवेदन (और) **असंसक्ति**-अक्ष्युपनिषत् और महोपनिषत् में बताई हुई सात योग भूमिकाओं में से असंसक्ति **'असंगता'** भी एक है। असंसर्ग भी उसी का पर्याय है। महोपनिषद् के अनुसार पहली **'शुभेच्छा'** भूमिका में सांसारिक मायाजाल के प्रति ग्लानि और शास्त्रोक्त सत्कर्मों की इच्छा होती है। दूसरी **'विचारणा'** भूमिका में शास्त्राध्ययनजनित वैराग्य से श्रेष्ठ आचरण की प्रवृत्ति होती है। तीसरी **'तनुमानसी'** भूमिका में प्रबल वैराग्य होता है। चौथी **'सत्त्वापत्ति'** भूमिका में चित्त शुद्ध सत्त्वस्वरूप में स्थिर होता है। इन भूमिकाओं के अभ्यास से पाँचवीं **'असंसक्ति' (असंग - अनासक्ति)** सिद्ध होती है। पाँचों भूमिकाओं के सतत अभ्यास से 'पदार्थ भावना' नाम की छठी भूमिका उदित होती है, जिसमें आत्मातिरिक्त कुछ है ही नहीं, ऐसी भावना हो जाती है और अन्तिम भूमिका **'तुर्यगा'** है। वह जीवन्मुक्त की दशा है। बाद में तुर्यगातीत अवस्था विदेहमुक्त की अवस्था है।

अक्ष्युपनिषद् में सात भूमिकाएँ बताई हैं, परन्तु महोपनिषद् में बताई गई भूमिकाओं से इसमें अन्तर है। इसके अनुसार—अवेदन, विचार, असंसर्ग, स्वप्न, सुषुप्तपद, तुर्या और विदेहमुक्ति—ये सात योग-भूमिकाएँ हैं। इसके अनुसार योग की प्रारम्भिक अवस्था को ही 'अवेदन' कहा गया है। इस अवेदन की अवस्था में साधक दिन-प्रतिदिन धीरे-धीरे वासनात्मक विचारों से दूर होता जाता है और हमेशा पारमार्थिक कार्यों में संलग्न होकर आनन्द में रहता है और किसी भी अश्लील चेष्टा से घृणा करता है। वह भयभीत होकर भोगेच्छा का त्याग कर देता है। वह सबके प्रति मधुर व्यवहार करता है। स्वाध्याय-सत्संग के द्वारा मोक्ष की आकांक्षा करता रहता है, इसी भूमिका को अवेदन अवस्था अथवा भूमिका कहा गया है। अक्ष्युपनिषत् के अनुसार दूसरी 'विचार' भूमिका वाला साधक विद्वज्जनों का आश्रय लेता है। गुरुजनों के सान्निध्य से वह शास्त्रों के मर्म को पकड़ लेता है। तीसरी **'असंसर्ग'** भूमिका वाला साधक शास्त्रों में अपनी बुद्धि को स्थिर करके तपस्वियों के आश्रमों में निवास करता है और सहज भाव से भूमिशयनादि कठोर व्रतों को धारण करता है। यह असंसर्ग भूमिका दो प्रकार की है—एक सामान्य और दूसरी श्रेष्ठ। सामान्य भूमिका वाला साधक सब कुछ ईश्वराधीन ही है, ऐसा मानकर अनासक्त रहता है और श्रेष्ठ भूमिका वाला साधक स्वयं को अकर्त्ता मानता है तथा ईश्वर या पूर्वकृत कर्मों को ही कर्ता मानकर शब्द-अर्थ-भावहीन होते हुए मौन हो जाता है (अक्षि. 2.25-26)। उसका द्वैतभाव अद्वैतभाव में समाप्त हो जाता है। वह विकल्पशून्य आनन्दप्रद अवस्था को प्राप्त कर लेता है। चौथा **'स्वप्न'** भूमिका को प्राप्त करके जगत् को स्वप्न की तरह देखने लगता है। इसके बाद, **'सुषुप्तपद'** नाम की छठी भूमिका में प्रवेश करके साधक सद्-असद्, अहंकार-अनहंकार—सबसे परे अद्वैत स्थिति में आ जाता है। सातवीं भूमिका **'विदेहमुक्ति'** की स्थिति है। इसमें समस्त प्रारब्ध और समस्त देह समाप्त हो जाते हैं। इसमें साधक ब्रह्मभूत, ब्रह्मानन्दमय हो जाता है (तेजोबिन्दूपनिषत्, 4.33 तथा अक्ष्युपनिषद् 2.40-48)। इस प्रकार महोपनिषद् और अक्ष्युपनिषद्—दोनों में योग की सात भूमिकाएँ अलग-अलग रूप में बताई गई हैं। हमारे अपेक्षित पारिभाषिक शब्द—अवेदन, असंसक्ति, असंसर्ग अवेदन आदि का क्या अर्थ और क्या स्थान है, वह उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट हो जाएगा। साथ ही साथ दोनों उपनिषदों की सात भूमिकाओं की अलग पारिभाषिक संज्ञाओं के अर्थ और स्थान भी मालूम हो जाएँगे।

अश्व-पशुओं में पराक्रमी, बलिष्ठ, गतिमान पशु अश्व है। इसी के पर्यायवाची अर्वन्, अर्वा, हय, **वाजि** आदि शब्द उपनिषदों में प्रयुक्त हुए हैं। अश्व ही शक्ति, पराक्रम, गतिशीलता आदि का प्रतीक माना गया है। देखिए तैत्ति.आ. 3.8.7.1, ऐत.ब्रा. 5.1, शतपथब्राह्मण 3.6.2.5, गोपथ-ब्राह्मण 2.4.11 आदि। बृहदारण्यक उपनिषद् (1.1.1) में तो विराट् यज्ञ की कल्पना करके अश्व को उसका मस्तक स्थानीय बताया गया है। और भी बृहदारण्यक उपनिषद् (1.1.2) में और कठोपनिषद् में रूपकों के द्वारा अश्व की वेगशीलता और बलिष्ठता को बतलाया गया है।

अश्वमेध-प्राचीनकाल में राजनैतिक एकता स्थापित करने के लिए यह वैदिक यज्ञ किया जाता था। तात्त्विक दृष्टि से इसका उद्देश्य अश्व = पराक्रम के साथ मेधा = बुद्धि को जोड़ने से राष्ट्र की अभीष्ट उन्नति को प्राप्त करने का था। चक्रवर्ती राजा ही यह यज्ञ कर सकता था। इसमें पहले अश्व को छोड़कर विशिष्ट यज्ञानुष्ठान प्रारम्भ किया जाता था और छोड़े हुए अश्व के द्वारा अश्वमेधकर्ता के आधिपत्य की स्वीकृति माँगी जाती थी। विचरण करते अश्व को बाँधने वाले के साथ युद्ध करके तथा उसे जीतकर अपने आधिपत्य की स्वीकृति उससे करवायी जाती थी। अश्वमेध को सब यज्ञों का राजा कहा जाता था (शतपथब्राह्मण, 13.2.2.1)। अश्वमेध सम्पूर्ण राष्ट्र के हित के लिए—राष्ट्र के पराक्रम, मेधा, सम्पदा और राष्ट्रियता के विकास एवं विस्तार के लिए ही किया जाता है। इस सन्दर्भ में तैत.आ. में कहा है कि, 'राष्ट्रं वा अश्वमेधः' (3.8.9.4) बृहदारण्यकोपनिषद् (1.2.7) में भी सूर्य को अश्वमेध की उपमा दी गई है।

अष्टग्रह-सामान्यतः नवग्रह माने जाते हैं। बाद में हुई खोजों के अनुसार ग्रहों की संख्या बारह मानी गई है, किन्तु यहाँ उपनिषदों में 'ग्रह' का अर्थ अलग ही है। आध्यात्मिक सन्दर्भ में 'ग्रह' शब्द का अर्थ भिन्न है। अथर्वशिर उपनिषद् में देवों ने रुद्र की स्तुति करते हुए उन्हें 'अष्टग्रह' कहा है (अथर्वशिर 4)। बृहदारण्यक उप. (3.2.1) में प्राण, वाक्, जिह्वा, चक्षु, श्रोत्र, मन, हस्त और त्वचा को अष्टग्रह कहा गया है और इन आठ ग्रहों के विषयों को वहाँ अतिग्रह कहा गया है। अर्थात् पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, एक कर्मेन्द्रिय, मन और प्राण—ये अष्टग्रह हैं और उनके विषय अतिग्रह हैं। जैसे प्राण का अतिग्रह अपान है और अपान अतिग्रह द्वारा गृहीत है। इसी से प्राणग्रह गन्धों को सूँघने का कार्य सम्पन्न करता है (बृह. 3.2.3)। वाक् ग्रह है, नाम अतिग्रह है, नाम से वाक् गृहीत है, अतः वाणी से उच्चारण होता है। इस तरह सभी (आठ) ग्रहों और अतिग्रहों को भी समझना चाहिए।

अष्टदल कमल-शरीरस्थ चक्रों का उपनिषदों में आलंकारिक वर्णन है। जैसे कुण्डलिनी को सर्पिणी, सहस्रारचक्र-स्थान को क्षीरसागर आदि। इसी तरह अनाहतचक्र को **'अष्टदल-कमल'** अथवा **'हृदयकमल'** कहा जाता है। इसी का एक और नाम **'ब्रह्मपुर'** भी है। इसी को क्षुरिकोपनिषत्कार ने प्रत्याहार प्रकरण में

हृदयस्थित रक्तोत्पल जैसे प्रतीत होने वाले को 'दहरपुण्डरीक' भी कहा है (क्षुरिको. 10)। इसे 'अनाहत चक्र' भी कहा जाता है। इसकी साधना की फलश्रुति शिवसारतन्त्र में इन्द्रियस्वामित्व और वाक्पतित्वादि की प्राप्तिरूप बताई गई है।

अष्टांगयोग–चित्रवृत्ति के निरोध के लिए योग दर्शन में बताए गए आठ उपायों को अंग कहा गया है। इन आठ अंगों से युक्त योग को अष्टांग योग कहा जाता है। इन आठ अंगों में पाँच बहिरंग हैं—**यम, नियम, आसन, प्राणायाम** और **प्रत्याहार** तथा तीन अन्तरंग हैं—**धारणा, ध्यान** और **समाधि**। इन्हीं को **अष्टांग योग** कहते हैं। ये अंग निम्नवत् हैं—

यम–मन और इन्द्रियों को विषयों की ओर जाने से रोकना **'यम'** है। वह पाँच प्रकार का है—**सत्य, अहिंसा, अस्तेय, ब्रह्मचर्य** और **अपरिग्रह**।

नियम–काम्य कर्मों से हटाकर निष्काम कर्म में बाँधने वाले कार्य। **'नियम'** पाँच प्रकार के हैं—**शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय** और **ईश्वरप्रणिधान**।

आसन–शरीर को स्थिर और सुखपूर्वक रखने वाली शरीरस्थिति। आसन की सिद्धिवाला पुरुष शीतोष्णादि द्वन्द्व सहन कर सकता है।

प्राणायाम–प्राणों को वश में करना 'प्राणायाम' है। प्राणों को वश में करने वाला व्यक्ति अपने मन, इन्द्रियों तथा शरीर का शासक हो जाता है। प्राणायाम के तीन भेद है—रेचक, पूरक और कुम्भक।

प्रत्याहार–चित्त को अनात्म पदार्थों से हटाकर आत्मा में लगाए रहना 'प्रत्याहार' कहलाता है।

धारणा–चित्तवृत्तियों को चारों ओर से हटाकर एक स्थान (विषय) पर लगाना 'धारणा' है। योगसूत्रानुसार चित्त को एक स्थान या विषय पर दृढ़ करना धारणा है (यो.द. 3.3)।

ध्यान–किसी एक विषय पर चित्त की निरन्तर स्थिरता को ध्यान कहा जाता है (मैत्रे. 2.3)। मन की सर्वविकार मुक्ति 'ध्यान' है।

समाधि–यह ध्यान की पराकाष्ठा है। इससे कैवल्यपद (मोक्ष) की प्राप्ति होती है। इसके भी भेद योगशास्त्र में किए गए है।

असंभूति-संभूति–ईशावस्योपनिषद् में 'संभूति' और 'असंभूति' इन दोनों शब्दों का प्रयोग हुआ है। शंकराचार्य ने अपने भाष्य में संभूति का अर्थ 'कार्यरूप जगत्' और 'असंभूति' का अर्थ 'कारणरूप प्रकृति' ऐसा किया है। अर्थात् कार्य-ब्रह्म संभूति है और अव्याकृत कारणरूप प्रकृति 'असंभूति' है। पिण्डरूप में भी दृश्यमान शरीर संभूति और अदृश्य कारण असंभूति है। यही एक तरह से समन्वयवादी दृष्टिकोण है। आगे के चौदहवें मन्त्र में कहा है कि, जो मनुष्य संभूति (दृश्यमान जगत्) और विनाश = विगतनाश (नाशरहित प्रकृति) को साथ-साथ जानता है, वह विनाश (नाशरहित) प्रकृति से मृत्यु को पार करके संभूति (दृश्यमान जगत्) से अमरत्व को प्राप्त करता है। केवल संभूति (दृश्यमान जगत्) की अथवा केवल असंभूति (मूलकारण) की उपासना करने वाला तो घोर अन्धकार में पड़ने के कारण कल्याण प्राप्त नहीं कर सकता। अर्थात् एकांगी दृष्टिकोण भयानक है, समन्वय-कारी दृष्टिकोण ही उत्तम है।

असुर-राक्षस–शास्त्रों ने जैसे मनुष्यों को ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र और निषाद जैसी पाँच श्रेणियों में बाँटा है, वैसे ही सूक्ष्म (अन्तरिक्ष) लोक के वासियों को भी गन्धर्व, पितर, देवगण, असुर और राक्षस जैसी पाँच श्रेणियों में बाँटा है (देखिए—निरुक्त 3.8)। असुरों को दैत्यों और दानवों की श्रेणी में गिना जाता है। वे पवित्र कार्यों में विघ्नकर्त्ता और कुमार्गगामी माने जाते हैं। उन्हें कुबेर के धनकोश का रक्षक भी माना गया है। उनकी उत्पत्ति के बारे में देखिए, बृहदारण्यकोपनिषत् (5.2.1)।

असूया–अध्यात्म-पथ पर जाने वाले साधक के मन में प्रायः अनेकानेक प्रकार के विकार उत्पन्न हुआ करते हैं। काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि ऐसे ही विकार हैं। इन पर विजय प्राप्त करके ही साधक अपना लक्ष्य सिद्ध कर सकता है। 'असूया' भी ऐसा ही एक विकार है। किसी के गुणों में भी दोषों को देखने की प्रवृत्ति 'असूया' है। इसका अपर नाम 'ईर्ष्या' है। (देखिए—वात्स्यायन. 4.1.3; अमरकोशकार भी ऐसा ही कहते हैं।

आ

आकाश–जिस अवकाश (खाली स्थान) में पूरा विश्व समा जाता है, उसे आकाश कहते हैं। पाँच महाभूतों में से वह एक है। 'शब्द' उसका गुण है। बड़े आकाश के और स्वर्गलोक के बीच के भाग को अन्तरिक्ष कहते हैं। द्यौः, द्यु, अभ्र, व्योम, पुष्कर, अम्बर, नभ, गगन, अनन्त, स्वर्ग, खं आदि आकाश के पर्यायवाची शब्द हैं। आकाश-पाताल में सात-सात लोकों का उल्लेख उपनिषदों में मिलता है। बृहदारण्यक उपनिषत् में याज्ञवल्क्य ने गार्गी को आकाश का विस्तार बताया है (बृहदारण्यक उप. 3.8.4), तैत्तिरी-योपनिषद् में भी आकाश को सर्वरूप कहा गया है। (तै. 3.10.3)।

आग्नेय–आग्नेय शब्द विशेषण है। अग्नि में दी जाने वाली पुरोडाशयुक्त आहुतियों को 'आग्नेय' कहा जाता है। अग्निपुराण को भी आग्नेय (अग्निसम्बद्ध) पुराण कहते हैं। दक्षिण-पूर्व की मध्यवर्ती दिशा को भी 'आग्नेय' कहा गया है। स्वर्ण को भी आग्नेय कहा गया है। जैमिनीय उपनिषद् में पृथ्वी को भी आग्नेय कहा गया है।

आग्नेयी दृष्टि—आहिताग्नि लोगों के द्वारा नियमित किया जाने वाला कामनापूर्त्यर्थ यज्ञ। ये यज्ञ प्रयोजन-भेद से अनेक नाम वाले होते हैं, जैसे—मित्रविन्देष्टि आदि। आग्नेयी दृष्टि भी उन्हीं में से एक दृष्टि है। दृष्टि का अर्थ विशेष प्रयोजनों से किया जाने वाला यज्ञ ही होता है।

आचार्य–1. अध्ययन कराने वाले अध्यापक, 2. यज्ञोपवीत देकर सांगवेदों का अध्ययन कराने वाले (मनु. 2.140), 3. शास्त्रार्थ चुनकर स्वयं आचरण करने वाला (द्वयोपनिषत् 3), 4. मंत्र देने वाला व्यक्ति, 5. शिक्षक, 6. धर्ममत के बड़े महन्त, 7. धर्मस्थापक, 8. प्रस्थानत्रयी पर भाष्य लिखने वाले आदि अनेकों अर्थ इस शब्द के हैं।

आज्य भाग–यज्ञ सम्बन्धी एक उपकरण और तत्सम्बन्धी क्रियाकलाप का एक विशिष्ट घृत का भाग।

आज्यस्थाली–प्राणाग्निहोत्र उपनिषद् में शरीरयज्ञ के अन्तर्गत दाहिने हाथ को स्रुवा और बायें हाथ को आज्यस्थाली कहा गया है (प्रा.हो.उ. 22)। इसमें ही नेत्रों को **आज्य भाग** तथा गले को **धारा** कहा है।

आत्मचिन्तन–अनात्मा को छोड़कर केवल आत्मा का ही चिन्तन-मनन करना। इस आत्मानुसन्धान को 'अन्तर्यज्ञ' भी कहते हैं। गीता (6.30) में इसका स्वरूप बताया गया है। अपनी आत्मा को सबमें तथा सबको अपनी आत्मा में देखना ही आत्मचिन्तन है।

आत्मचैतन्य–आत्मा की चैतन्यरूपता, संविद्-रूपता। इस प्रकार का ज्ञान रखना ही 'आत्मदृष्टि' भी कहा जाता है।

आत्मश्राद्ध–स्वर्गस्थ देवों, ऋषियों, देवमानवों आदि की शान्ति के लिए श्राद्ध करने का विधान है। यह श्राद्ध प्रायः आठ प्रकार का होता है—देवश्राद्ध, ऋषिश्राद्ध, पितृश्राद्ध, दिव्यश्राद्ध, मनुष्यश्राद्ध, भूतश्राद्ध, मातृश्राद्ध और आत्म-श्राद्ध। आत्मश्राद्ध की बात परिव्राजकोपनिषद् में कही गई है। जब कोई मनुष्य आतुर या क्रमिक संन्यास लेता है, तब वह चान्द्रायणादि प्रायश्चित्तों को करके फिर स्वयं का ही श्राद्ध मरने से पहले ही कर लेता है। उसे **'आत्मश्राद्ध'** कहते हैं। आत्मश्राद्ध में वह अपना खुद का, पिता जीवित न हो तो पिता का, पिता जीवित हो तो पितामह का भी श्राद्ध कर लेता है।

आत्मसाक्षात्कार–आत्मा के पारमार्थिक स्वरूप का अनुभव, मिलन, प्रत्यक्ष दर्शन। साक्षात्कार का अर्थ प्रत्यक्ष अनुभूति या इन्द्रियजन्य ज्ञान भी हो सकता है, पर आत्मा का साक्षात्कार बाह्य

इन्द्रियों से नहीं होता। श्रुति कहती है—'मनसैवानुद्रष्टव्यः'।

आत्मा-जीवात्मा–उपनिषदों का-वेदान्त का प्रधान प्रतिपाद्य विषय आत्मा ही है। यह आत्मा अपने पारमार्थिक रूप में नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त, निर्विकार ही है। इस पर अविद्या (अज्ञान) के कषाय (कल्मष) का कोई प्रभाव नहीं पड़ता। इसलिए वह परमात्मा का समकक्ष ही (परमात्मा ही) है। (नृसिंह उ. ता. 1-2, रामोत्तरतापनी 2.9, ऐतरेय 1.1.1, नृ.उ. 7.4 आदि इसके असंख्य प्रमाण हैं। ऐसी उस आत्मा का दूसरा रूप यह है, जो अविद्या (अज्ञान) से आवृत हो जाता है। उसे ही 'जीव' या 'जीवात्मा' कहा जाता है। उसी का संसार में बार-बार आवागमन (आना-जाना) हुआ करता है। जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्ति अवस्था में शरीर का अनुवर्तन करने वाला चैतन्य ही जीव (जीवात्मा) है। इसके प्रमाण में ब्रह्मबिन्दु उपनिषद् (12), कठोपनिषद् (2.2.10), आदि अनेक प्रमाण हैं। जीवात्मा जब उस अविद्या (अज्ञान) को छोड़कर अपने वास्तविक स्वरूप को पहचान लेता है, तब वह अपने मूल रूप ब्रह्म के साथ एकाकार हो जाता है, उसे ही मोक्ष कहा गया है। फिर जगत् में पुनरागमन नहीं होता। (देखिए बृहदारण्यक उप. 2.4.5)।

आदिपुरुष–सृष्टि के पहले केवल परब्रह्म की ही उपस्थिति होने से उसे ही 'आदिपुरुष' कहा गया है। आदिजीव, हिरण्यगर्भ और नारायण के लिए भी आदिपुरुष का प्रयोग किया गया है। गीता में अर्जुन ने कृष्ण को 'त्वमादिदेवः' कहा है। ऋग्वेद (10.90.2 और 12) में उस आदिपुरुष से ही चतुर्वर्ण सृष्टि का सर्जन होना कहा गया है।

आदेश–आज्ञा, उपदेश, संकेत, विवरण, भविष्य-कथन, विधिवाक्य आदि इसके पर्यायवाची शब्द हैं। तैत्तिरीय उप. (2.3.1) में इसका अर्थ विधिवाक्य है। केन. (4.4) में इसका अर्थ संकेत है।

आध्यात्मिक-आधिदैविक-आधिभौतिक–सभी विषयों को और विषयों के ज्ञान को तीन भागों में विभाजित किया जाता है। अन्यान्य प्राणियों के शरीरों अथवा स्थूल भौतिक तत्त्वों से **सम्बन्धित** सभी विषय **'आधिभौतिक'** कहे जाते हैं। दैवी गुणों या देवसम्बन्धी विषयों को **'आधिदैविक'** कहा जाता है। तथा आत्मतत्त्व से सम्बन्धित विषयों को **'आध्यात्मिक'** कहा जाता है। केनोपनिषद् (4, 5) में मन को आध्यात्म कहा गया है।

आनन्द-परमानन्द–इसका अर्थ प्रसन्नता है। यह आत्मा-परमात्मा का स्वरूप (सच्चिदानन्द) बताया गया है। पंचकोशों में आबद्ध आत्मा का अन्तिम कोश 'आनन्दमय कोश' है। तैत्ति.उ. (3.6) में आत्मा-परमात्मा के इस आनन्दस्वरूप की महिमा का वर्णन है। तैत्तिरीयोपनिषद् (2.7) में भी 'रसो वै सः' कहकर उस निरतिशय आनन्दसुखस्वरूप आत्मा का वर्णन किया गया है। इस आनन्दस्वरूप को ही सृष्टि की उत्पत्ति-स्थिति-लय का कारण माना गया है। यही आनन्द परमानन्द ब्रह्म है।

आनुष्टुभ मन्त्र–अनुष्टुप् छन्द में रचा हुआ (बना हुआ) मन्त्र। इसमें आठ-आठ अक्षर वाले चार चरण होते हैं। कुल बत्तीस अक्षर होते हैं। प्रणवसहित नारसिंह मन्त्र अनुष्टुप् छन्द में होने से उसे आनुष्टुभ मन्त्र कहा गया है।

आपः–इसका अर्थ 'जल' है। उपनिषदों में इसकी ईश्वरी तत्त्व के साथ संगति बिठाई गई है। आपः सम्भवतः प्राणरूप (जीवनरूप) होने से उसे 'अन्न' भी कहा गया है। तैत्तिरीयोपनिषद् (3.8.1) में उसे तेज भी कहा गया है। कई वैदिक सूक्तों में इसकी स्तुति भी की गई है। **आपः** में सृष्टि-संरचना की मूलभूत इकाई की अर्थध्वनि उठती है। इसमें वरुणदेव प्रतिष्ठित माने गए हैं। उसे सर्वदेवरूप भी माना गया है। (देखिए, ना.प. 403, 97)।

आयतन–इसका अर्थ स्थान, मन्दिर, विश्रामालय आदि है। उपनिषदों में विष्णु को मंगलों का आयतन कहा गया है। छान्दोग्य में कहा गया है कि जो आयतन को जान लेता है वह सब जान

लेता है। वहाँ आयतन का अर्थ मूल कारण (स्रोत) है। (सन्दर्भ—छान्दोग्य. 5.1.5 और 4.8.3)।

आर्य–इस शब्द का अर्थ कुलीन, सभ्य, शिष्ट, साधु, वफादार, इन्सान आदि कई होते हैं। इसका जातिविशेष अर्थ भी पाया जाता है। कृषीकार भी एक अर्थ है। वेदों में अतिप्राचीन जाति के अर्थ में यह शब्द है। वेदों में आर्य और दस्यु प्रमुख जातियाँ थीं। आर्यों को श्रेष्ठ और दस्युओं को कनिष्ठ माना जाता था। (ऋग्वेद, 1.103.3; 1.51.8)। महीधर ने आर्य शब्द को स्वामी और वैश्यवाचक माना है। सायण का अरणीय अथवा सर्वगन्तव्य अर्थ इससे मिलता-जुलता है। निरुक्तकार ने आर्य को ईश्वरपुर कहा है। अक्ष्युपनिषद् में आर्य शब्द आया है। इसके अनेक अर्थ हैं।

आवागमनचक्र–प्राणी अपने कर्मों के अनुसार विविध योनियों में जन्म लेता है, मरता है और फिर जन्म लेता है। ऐसा जन्म-मरण का चक्र जब तक मोक्ष न हो, तब तक चलता ही रहता है। इस चक्र में चौरासी लाख योनियों में प्राणी को आना-जाना पड़ता है। इसी आवन-जावन को आवागमन कहा जाता है।

आशा–अप्राप्त को प्राप्त करने की इच्छा आशा है। अभिलषित वस्तु भी आशा कही जाती है। छान्दोग्य. (2.22.2) में कहा है कि "पितृओं के लिए स्वधा, मनुष्यों के लिए आशा और पशुओं के लिए तृण-जल का आगान करूँ।" "देवगण मनुष्यों की आशाओं का प्रतिरक्षण करते हैं" (जैमि.उप. 1.34.11)। उपनिषदों में आशा को पिशाचिनी भी कहा है (मैत्रेय्युप. 1.12)। उपनिषत् आशा को शाश्वत भी बताते हैं (देखिए जैमिनि, 4.22.1)। आशा को त्यागने की बात मैत्रेय्युपनिषद् (2.12) में कही गई है।

आश्रम–भारतीय जीवन-शैली के चार विभाग किए गए हैं उन्हें 'आश्रम' कहा जाता है; यथा—ब्रह्मचर्याश्रम, गृहस्थाश्रम, वानप्रस्थाश्रम और संन्यासाश्रम।

आसक्ति-मोह-ममता–ये पर्याय हैं। किसी वस्तु पर लगाव। यह तामस विकार है। इसे गीता में कीचड़ कहा गया है (गीता 2.52, 14.34)। वह मनुष्य को फँसाकर उसको जन्म-मरण के घेरे में डालता और सुख-दुःखादि देता रहता है। शास्त्रों ने उससे छूटकर मुक्तिलाभ करने का उपदेश दिया है (देखिए गीता, 2.17)। ईशोपनिषद् 7 में यो.चू. 84 में और मैत्रा. 4.2 में आसक्ति के अवगुण और अनासक्ति के लाभ बताए गए हैं।

आसन–योग के आठ अंगों में यह तीसरा अंग है। जिसमें शरीर को स्थिर रखकर पहले सिद्धि प्राप्त करनी पड़ती है, बाद में प्राणायाम आदि की साधना होती है। आसन की व्याख्या—'स्थिरसुखमासनम्' यह है। अर्थात् जो स्थिर और सुखदायी हो, वही 'आसन' है। जिस प्रकार स्थिर (अविचल) होकर, कष्टरहित होकर सुखपूर्वक लम्बे समय तक बैठा जा सके, वह आसन है। ऐसे बहुत से आसन अन्यान्य ग्रन्थों में वर्णित हैं, पर जाबालदर्शनोपनिषद् के अनुसार स्वस्तिक, गोमुख, पद्म, वीर, सिंह, भद्र, मुक्त, मयूर और सुख—ये नौ आसन मुख्य हैं।

आस्तिकता–वेदों की प्रमाणभूतता का स्वीकार। उस स्वीकार करने वाले को आस्तिक कहा जाता है। वेदप्रामाण्य को स्वीकार न करना ही नास्तिकता है और प्रमाण नहीं मानने वाले को नास्तिक कहा जाता है। और ईश्वरप्रामाण्य को मानने वाला भी आस्तिक और न मानने वाला नास्तिक कहलाता है।

आहवनीय–वैदिक ग्रन्थों में अग्नि के अनेक प्रकार हैं। उनमें आवहनीय अग्नि, गार्हपत्य अग्नि और दक्षिणाग्नि हैं। उनमें से जिस अग्नि के द्वारा अतिथियों का और देवों का आवाहन किया जाए उसे आहवनीय अग्नि कहते हैं (अथर्वशिर. 7.9.13)। घर में रखा गया पूज्य अग्नि **'गार्हपत्य अग्नि'** है और जिसमें अन्न पकाया जाता है वह 'दक्षिणाग्नि' है। (विस्तार के लिए देखिए—मनु. 2.231 और कठरुद्रोपनिषद् 3)।

इ

इडा–हठयोगानुसार शरीर की तीन मुख्य नाडियों में से एक, जो नासिका के वाम भाग पर स्थित है।

इन्द्रियाँ–शरीरस्थ चैतन्य अंश जिनके माध्यम से कर्ता-भोक्ता बनता है वे इन्द्रियाँ (करण) हैं। ये दो प्रकार की हैं—बाह्येन्द्रियाँ और अन्तरिन्द्रिय। बाह्येन्द्रियाँ दो प्रकार की हैं—1. ज्ञानेन्द्रियाँ, 2. कर्मेन्द्रियाँ। ज्ञानेन्द्रियाँ—आँख, कान, नाक, जीभ और त्वचा है और कर्मेन्द्रियाँ—वाक्, पाणि, पाद, पायू और उपस्थ है। अन्तरिन्द्रिय मन है। वह कार्यभेद से मन, बुद्धि, चित और अहंकार—चार प्रकार का है। शास्त्रों में इन इन्द्रियों का दमन करने की शिक्षा है।

इष्टापूर्त-वेदाध्ययन, अग्निहोत्र और अतिथि-सत्कार 'इष्ट' कहलाते हैं, और तालाब-कुआँ खुदवाना या देवमन्दिर बँधवाना आदि '(आ) पूर्त' कहलाते है। अर्थात् यज्ञ-यागादि अदृष्ट फलवाले कर्म 'इष्ट' हैं और दृष्टफल वाले कर्म 'पूर्त' कहलाते हैं। (मुं. 1.2.10, कठ. 1.1.8, प्रश्न. 1.9)। 'इष्ट' का अर्थ अभीप्सित—चुना हुआ भी होता है, जैसे इष्टदेव आदि।

ई

ईशान—(1) पूर्व-उत्तर के बीच के दिशाभाग को 'ईशान' कहते हैं। भगवान् शिव त्र्यम्बक को भी 'ईशान' कहा गया है। (अथर्वशिर. 3, 4)

ईश्वर-अद्वैत वेदान्त में ब्रह्म एक ही तत्त्व है। वह शुद्ध, बुद्ध, नित्य, मुक्त है। वह ब्रह्म दो प्रकार का है—1. परब्रह्म और 2. अपरब्रह्म। परब्रह्म निर्गुण, निर्विषय, केवल चैतन्यरूप है और अपर ब्रह्म मायाशक्ति से उपहित और सगुण है। उस मायोपहित सगुण-अपर-ब्रह्म को ही ईश्वर कहा गया है (पंचदशी, 4.43)। वह जगत् का निमित्त कारण है। मायोपहित ब्रह्म ईश्वर और अविद्या-वच्छिन्न चैतन्य जीव है। ब्रह्म (चैतन्य) तो एक ही है, पर उपाधिवशात् ये भेद हुए हैं। अष्टांग-योग के नियम अंग में पाँचवाँ ईश्वरप्रणिधान या ईश्वरपूजन माना गया है।

उ

उक्थयाग-यह सोमयाग का तीसरा भेद है। इसे भी अग्निष्टोम की विकृति माना जाता है। इस यज्ञ का आयोजन पशु की आकांक्षा से किया जाता है (स.श्रौ० 9.7)। इसमें इन्द्र और अग्नि का यजन किया जाता है। दोनों को एक-एक अज समर्पित किया जाता है।

उञ्छवृत्ति-जो गृहस्थाश्रमी पवित्र जल द्वारा सर्व कार्य निष्पन्न करके खेतों में पड़े रहे अनाज के द्वारा अपनी आजीविका चलाते हैं, उनकी इस आजीविका को उञ्छवृत्ति कहा गया है। (आश्रमोपनिषद् 2)।

उड्डियानबन्ध-हठयोग में विविध प्रकार के बन्ध होते हैं। योग सम्बन्धी अनेक उपनिषदों में उनका उल्लेख पाया जाता है। इन बन्धों में मूलबन्ध, उड्डियानबन्ध और जालन्धरबन्ध—ये तीन बन्ध मुख्य हैं। महाबन्ध और महावेध का भी उल्लेख है। उड्डियानबन्ध में दोनों जानुओं को मोड़कर एवं दोनों पैरों के तलुवों को आपस में मिलाकर नाभि से नीचे और आठ अंगुल ऊपर के पेट के हिस्से को बलपूर्वक खींचकर मेरुदण्ड में इस प्रकार लगाया जाता है, जिससे पेट में गड्ढा जैसा दिखाई पड़ता है। इसमें प्राण पक्षी की तरह सुषुम्ना की ओर उड़ने लगता है। (यो.त. 119)।

उत्तरायण-जब सूर्य मकर रेखा से उत्तर में कर्क रेखा की ओर जाता है, तब उसे 'उत्तरायण' कहा जाता है। सूर्य के इस उत्तरायण का समय छः महीनों का होता है और छः महीने दक्षिणायन के होते हैं। यह शिशिर-वसन्त-ग्रीष्म ऋतुओं का समय होता है।

उदुम्बर-यह वानप्रस्थाश्रम के चार भेदों में से एक भेद का नाम है। जो वानप्रस्थी जिस किसी दिशा में जाकर गूलर, बेर, नीवार आदि बटोर कर, अग्नि-संचरण कर उनसे महायज्ञ करके उन्हीं को खाकर जीता है, वह उदुम्बर या औदुम्बर कहा जाता है।

[illegible]-यज्ञ के मुख्य चार [illegible] सामगन्त्रों का गान करता है।

[illegible]-(1) एक प्रकार के [illegible] (छा. 1.1.5)। सामगान के [illegible] प्रस्ताव, उद्गीथ, प्रतिहार, [illegible] और [illegible] विचरणशील सूर्य भी उद्गीथ कहा गया है [illegible] उद्गीथ की श्रेष्ठता [illegible] है।

[illegible]-जो जीव भूमि को फाड़ कर निकलते हैं, उन्हें उद्भिज्ज कहा जाता है। हम लोगों ने वन-स्पतियों में भी जीवतत्त्व को पहले से माना है।

[illegible]अवस्था-उन्मनी भाव, अन्यमनस्कता, मनो-[illegible], मनोराहित्य आदि सभी पर्यायवाची शब्द हैं।

[illegible]-उपदेशक, धर्मोपदेशक, आचार्य, गुरु, [illegible], मार्गोपदेशक आदि समानार्थ वाले शब्द हैं।

[illegible]नयन-ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्यों का क्रमशः 8, 12 और 16 वर्ष पर किया जाने वाला एक संस्कार है। वहाँ से ब्रह्मचर्याश्रम शुरू होता है और तब से व्यक्ति का पुनर्जन्म (द्विज) होना कहा जाता है. शूद्र अनुपवीत होते हैं। उनका उपनयन (उपवीत) संस्कार नहीं होता।

उपनिषत्-(1) गुरु के पास रहस्यमय ज्ञान प्राप्त करने के लिए बैठना (उप + नि + सद्), (2) अविद्या (अज्ञान) को दूर कर देने वाला, (3) वैदिक साहित्य का अन्तिम भाग। उपनिषदों को 'ब्रह्मविद्या' भी कहते हैं। उपनिषदों में परा-अपरा दोनों विद्याएँ बताकर परा विद्या की श्रेष्ठता बताई गई है। उपनिषत् साहित्य वैदिक शाखाओं पर आधारित हैं। कुछ तो प्राचीन उपनिषदें हैं, जो ब्रह्मविद्या बताते हैं और कुछ परवर्ती उपनिषद् मध्यकालीन सम्प्रदायों की देन हैं।

उपपातक-महापातकों के सिवा जो छोटे-छोटे पाप होते हैं, उन्हें उपपातक कहा जाता है।

उपप्राण-पाँच प्राणों (प्राणापानादि) के उपरान्त पाँच उपप्राण भी माने गए हैं। वे हैं—नाग (डकार लेना), कूर्म (पलक झपकना), कृकल

[illegible] की [illegible] कहा जाता है।

उपासना-[illegible]

ऊ

ऊर्ध्वपुण्ड्र-अनेक प्रकार के अनेकानेक शाखा वाले संन्यासी जो अनेक तरह के चिह्न धारण करते हैं, [illegible] वैष्णव-सम्प्रदाय के लोग ऊर्ध्वपुण्ड्र [illegible] मस्तक पर ऊपर की ओर जाने वाली खड़ी रेखा को ऊर्ध्वपुण्ड्र कहते हैं (नारदपरि.उप. 5.12)।

ऊर्ध्वरेता-जिसका वीर्य ऊर्ध्वगामी हो, उसे 'ऊर्ध्वरेता' कहते हैं। भीष्म, हनुमान, सनकादि आदि ऐसे ऊर्ध्वरेता थे। वे अखण्ड ब्रह्मचारी होते हैं। शिव को भी ऊर्ध्वरेता कहा गया है (जाबाल.दर्श. 7.2)।

ऋ

ऋचा-वेद (ऋग्वेद) के मन्त्रों को ऋचा (ऋच्) कहा जाता है। ऋच् स्तुतिवाचक है। ऋग्वेद के मंत्रों में देवों की स्तुति है, इसलिए उन्हें ऋचाएँ कहते हैं। ऋचाओं का संग्रह होने से ही उस वेद का नाम ऋग्वेद पड़ा है।

ऋत-सत्य-प्रिय वचन को 'ऋत' कहते हैं। इसके अन्य पर्यायवाची शब्द—मोक्ष, जल, कर्मफल, यज्ञ, सूर्य, ब्रह्म, प्राकृतिक नियम, ईश्वरीय नियम, अनुकूल वचन आदि भी होते हैं। (तै.आ. 9.1.1, तै.सं. 3.2.9.1, शत.ब्रा [illegible] 3.4.16, जैमि. 3.36.5, शत.ब्रा. 4.1.[illegible]

इ

इडा–हठयोगानुसार शरीर की तीन मुख्य नाडियों में से एक, जो नासिका के वाम भाग पर स्थित है।

इन्द्रियाँ–शरीरस्थ चैतन्य अंश जिनके माध्यम से कर्ता-भोक्ता बनता है वे इन्द्रियाँ (करण) हैं। ये दो प्रकार की हैं—बाह्येन्द्रियाँ और अन्तरिन्द्रिय। बाह्येन्द्रियाँ दो प्रकार की हैं—1. ज्ञानेन्द्रियाँ, 2. कर्मेन्द्रियाँ। ज्ञानेन्द्रियाँ—आँख, कान, नाक, जीभ और त्वचा है और कर्मेन्द्रियाँ—वाक्, पाणि, पाद, पायु और उपस्थ हैं। अन्तरिन्द्रिय मन है। वह कार्यभेद से मन, बुद्धि, चित और अहंकार—चार प्रकार का है। शास्त्रों में इन इन्द्रियों का दमन करने की शिक्षा है।

इष्टापूर्त–वेदाध्ययन, अग्निहोत्र और अतिथि-सत्कार 'इष्ट' कहलाते हैं, और तालाब-कुआँ खुदवाना या देवमन्दिर बँधवाना आदि '(आ) पूर्त' कहलाते हैं। अर्थात् यज्ञ-यागादि अदृष्ट फलवाले कर्म 'इष्ट' हैं और दृष्टफल वाले कर्म 'पूर्त' कहलाते हैं। (मुं. 1.2.10, कठ. 1.1.8, प्रश्न. 1.9)। 'इष्ट' का अर्थ अभीप्सित—चुना हुआ भी होता है, जैसे इष्टदेव आदि।

ई

ईशान—(1) पूर्व-उत्तर के बीच के दिशाभाग को 'ईशान' कहते हैं। भगवान् शिव त्र्यम्बक को भी 'ईशान' कहा गया है। (अथर्वशिर. 3, 4)

ईश्वर–अद्वैत वेदान्त में ब्रह्म एक ही तत्त्व है। वह शुद्ध, बुद्ध, नित्य, मुक्त है। वह ब्रह्म दो प्रकार का है—1. परब्रह्म और 2. अपरब्रह्म। परब्रह्म निर्गुण, निर्विषय, केवल चैतन्यरूप है और अपर ब्रह्म मायाशक्ति से उपहित और सगुण है। उस मायोपहित सगुण-अपर-ब्रह्म को ही ईश्वर कहा गया है (पंचदशी, 4.43)। वह जगत् का निमित्त कारण है। मायोपहित ब्रह्म ईश्वर और अविद्या-वच्छिन्न चैतन्य जीव है। ब्रह्म (चैतन्य) तो एक ही है, पर उपाधिवशात् ये भेद हुए हैं। अष्टांग-योग के नियम अंग में पाँचवाँ ईश्वरप्रणिधान या ईश्वरपूजन माना गया है।

उ

उक्थयाग–यह सोमयाग का तीसरा भेद है। इसे भी अग्निष्टोम की विकृति माना जाता है। इस यज्ञ का आयोजन पशु की आकांक्षा से किया जाता है (स.श्रौ० 9.7)। इसमें इन्द्र और अग्नि का यजन किया जाता है। दोनों को एक-एक अज समर्पित किया जाता है।

उञ्छवृत्ति–जो गृहस्थाश्रमी पवित्र जल द्वारा सर्व कार्य निष्पन्न करके खेतों में पड़े रहे अनाज के द्वारा अपनी आजीविका चलाते हैं, उनकी इस आजीविका को उञ्छवृत्ति कहा गया है। (आश्रमोपनिषद् 2)।

उड्डियानबन्ध–हठयोग में विविध प्रकार के बन्ध होते हैं। योग सम्बन्धी अनेक उपनिषदों में उनका उल्लेख पाया जाता है। इन बन्धों में मूलबन्ध, उड्डियानबन्ध और जालन्धरबन्ध—ये तीन बन्ध मुख्य हैं। महाबन्ध और महावेध का भी उल्लेख है। उड्डियानबन्ध में दोनों जानुओं को मोड़कर एवं दोनों पैरों के तलुवों को आपस में मिलाकर नाभि से नीचे और आठ अंगुल ऊपर के पेट के हिस्से को बलपूर्वक खींचकर मेरुदण्ड में इस प्रकार लगाया जाता है, जिससे पेट में गड्ढा जैसा दिखाई पड़ता है। इसमें प्राण पक्षी की तरह सुषुम्ना की ओर उड़ने लगता है। (यो.त. 119)।

उत्तरायण–जब सूर्य मकर रेखा से उत्तर में कर्क रेखा की ओर जाता है, तब उसे 'उत्तरायण' कहा जाता है। सूर्य के इस उत्तरायण का समय छः महीनों का होता है और छः महीने दक्षिणायन के होते हैं। यह शिशिर-वसन्त-ग्रीष्म ऋतुओं का समय होता है।

उदुम्बर–यह वानप्रस्थाश्रम के चार भेदों में से एक भेद का नाम है। जो वानप्रस्थी जिस किसी दिशा में जाकर गूलर, बेर, नीवार आदि बटोर कर, अग्नि-संचरण कर उनसे महायज्ञ करके उन्हीं को खाकर जीता है, वह उदुम्बर या औदुम्बर कहा जाता है।

उद्गाता–यज्ञ के मुख्य चार ऋत्विजों में से एक। यह सामसन्त्रों का गान करता है।

उद्गीथ–(1) एक प्रकार का सामगान, (2) प्रणव (छा. 1.1.5)। सामगान के प्रकार हैं—हिंकार, प्रस्ताव, उद्गीथ, प्रतिहार, उपद्रव और निधन। विचरणशील सूर्य भी उद्गीथ कहा गया है। उद्गीथ की श्रेष्ठता छान्दोग्य (1.1.2) में बताई गई है।

उद्भिज्ज–जो जीव भूमि को फाड़ कर निकलते हैं, उन्हें उद्भिज्ज कहा जाता है। हम लोगों ने वन-स्पतियों में भी जीवतत्त्व को पहले से माना है।

उन्मनी अवस्था–उन्मनी भाव, अन्यमनस्कता, मनो-नाश, मनोराहित्य आदि सभी पर्यायवाची शब्द हैं।

उपदेष्टा–उपदेशक, धर्मोपदेशक, आचार्य, गुरु, ऋत्विज, मार्गोपदेशक आदि समानार्थ वाले शब्द हैं।

उपनयन–ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्यों का क्रमशः 8, 12 और 16 वर्ष पर किया जाने वाला एक संस्कार है। वहाँ से ब्रह्मचर्याश्रम शुरू होता है और तब से व्यक्ति का पुनर्जन्म (द्विज) होना कहा जाता है, शूद्र अनुपवीत होते हैं। उनका उपनयन (उपवीत) संस्कार नहीं होता।

उपनिषत्–(1) गुरु के पास रहस्यमय ज्ञान प्राप्त करने के लिए बैठना (उप + नि + सद्), (2) अविद्या (अज्ञान) को दूर कर देने वाला, (3) वैदिक साहित्य का अन्तिम भाग। उपनिषदों को 'ब्रह्मविद्या' भी कहते हैं। उपनिषदों में परा-अपरा दोनों विद्याएँ बताकर परा विद्या की श्रेष्ठता बताई गई है। उपनिषत् साहित्य वैदिक शाखाओं पर आधारित हैं। कुछ तो प्राचीन उपनिषदें हैं, जो ब्रह्मविद्या बताते हैं और कुछ परवर्ती उपनिषद् मध्यकालीन सम्प्रदायों की देन हैं।

उपपातक–महापातकों के सिवा जो छोटे-छोटे पाप होते हैं, उन्हें उपपातक कहा जाता है।

उपप्राण–पाँच प्राणों (प्राणापानादि) के उपरान्त पाँच उपप्राण भी माने गए हैं। वे हैं—नाग (डकार लेना), कूर्म (पलक झपकना), कृकल (भूख लगना), धनंजय (समस्त शरीर का पोषण करना) और देवदत्त (जम्हाई लेना)।

उपाधि–जिसके संयोग से कोई वस्तु किसी विशेष रूप से दिखाई देती हो, तो उस वस्तु अर्थात् विशेष दर्शक वस्तु को 'उपाधि' कहा जाता है। जैसे स्वच्छ (श्वेत) स्फटिकमणि लाल गुलाब के संयोग से लाल दिखाई देता है, तो लाल गुलाब को उपाधि कहा जाता है।

उपासना–जीव अपने इष्ट के साथ एकाकार होने का जो अभ्यास करता है, उसे 'उपासना' कहा जाता है। उपासना-अभ्यास की इस प्रक्रिया को इष्ट साक्षात्कार का साधन समझा जाता है। यह चित्त की एकाग्रता का वाचक शब्द है।

ऊ

ऊर्ध्वपुण्ड्र–अनेक प्रकार के अनेकानेक शाखा वाले संन्यासी जो अनेक तरह के चिह्न धारण करते हैं, उनमें एक ऊर्ध्वपुण्ड्र भी है। रामानन्दी वैष्णव-सम्प्रदाय के लोग ऊर्ध्वपुण्ड्र लगाते हैं। मस्तक पर ऊपर की ओर जाने वाली खड़ी रेखा को ऊर्ध्वपुण्ड्र कहते हैं (नारदपरि.उप. 5.12)।

ऊर्ध्वरेता–जिसका वीर्य ऊर्ध्वगामी हो, उसे 'ऊर्ध्वरेता' कहते हैं। भीष्म, हनुमान, सनकादि आदि ऐसे ऊर्ध्वरेता थे। वे अखण्ड ब्रह्मचारी होते हैं। शिव को भी ऊर्ध्वरेता कहा गया है (जाबाल.दर्श. 7.2)।

ऋ

ऋचा–वेद (ऋग्वेद) के मन्त्रों को ऋचा (ऋच्) कहा जाता है। ऋच् स्तुतिवाचक है। ऋग्वेद के मंत्रों में देवों की स्तुति है, इसलिए उन्हें ऋचाएँ कहते हैं। ऋचाओं का संग्रह होने से ही उस वेद का नाम ऋग्वेद पड़ा है।

ऋत–सत्य-प्रिय वचन को 'ऋत' कहते हैं। इसके अन्य पर्यायवाची शब्द—मोक्ष, जल, कर्मफल, यज्ञ, सूर्य, ब्रह्म, प्राकृतिक नियम, ईश्वरीय नियम, अनुकूल वचन आदि भी होते हैं। (तै.आ. 9.1.1, तै.सं. 3.2.9.1, शत.ब्रा. 1. 3.4.16, जैमि. 3.36.5, शत.ब्रा. 4.1.4.10,

जैमि. 3.26.5—आदि विविध अर्थों के उदाहरण है)। वास्तव में अटल (शाश्वत) नियम को 'ऋत' और बदलने वाले नियम को 'सत्य' कहा जाता है। जल का निम्नगामित्व और अग्नि का ऊर्ध्वगामित्व, सूर्योदय, सूर्यास्त आदि को 'ऋत' कहेंगे और देश-कालानुसार बदलते हुए ऋतुओं के परिवर्तन के नियम को 'सत्य' कहेंगे।

ऋत्विज-यज्ञों को सम्पादित करने वाले होता, अध्वर्यु, उद्गाता, ब्रह्मा आदि को ऋत्विज् कहा जाता है। यज्ञ के स्वरूप के अनुसार सम्पादकों की संख्या में बढ़ाव-घटाव हुआ करता है, कहीं चार, कहीं सात, तो कहीं सत्रह तक भी संख्या होती है। और प्रस्तौता, प्रतिहर्ता आदि उनके कामों के अनुसार उन्हें नाम भी दिए जाते हैं।

ऋद्धि-सिद्धि-'ऋद्धि' भौतिक समृद्धि का द्योतक शब्द है और 'सिद्धि' आध्यात्मिक समृद्धि का द्योतक शब्द है। (देखिए—गीता 12.10) अणिमादि योगसिद्धियाँ तो प्रसिद्ध ही हैं।

ऋषि-वेदमन्त्रों का द्रष्टा। मन्त्रों का साक्षात्कर्ता। ऋषि दिव्यदृष्टि से युक्त होते हैं। मुण्डकोपनिषद् (3.2.5) में और गीता में भी ऋषियों के लक्षण बताए गए हैं। आगे चलकर देवर्षि, ब्रह्मर्षि, राजर्षि जैसे कई भेद 'ऋषि' शब्द के किए गए हैं। उपनिषदों के द्रष्टा ये सभी ऋषि ही थे।

ए

एकत्व-ऐक्य-एक होने का भाव है। जैसे जीव ही ब्रह्म है, यह एकत्व (ऐक्य) है (छा. 6.2.1)। जीव-ब्रह्म का एकत्व (ऐक्य - एकता) प्रतिपादित करना ही उपनिषदों का मुख्य प्रतिपाद्य विषय है। (ऋ 6.47.18, ब्रह्मबिन्दु 12 और गीता 9.15)

एकर्षि अग्नि-एकर्षि अग्नि का उल्लेख मुण्डकोपनिषत् (3.2.10) को छोड़कर और कहीं भी नहीं मिलता। वहाँ पर एकर्षि अग्नि में होम करने वाले को ब्रह्मविद्या का उपदेश करने का विधान है। कुछ विद्वान एकर्षि अग्नि की संगति आत्म ज्योतिरूप अग्नि से बिठाते हैं। कुछ लोग एकर्षि शब्द की व्युत्पत्ति 'जो अकेला गतिमान रहता है (ऋषि) ऐसा करते हैं, तो कुछ विद्वान्—'सभी देवों में अवस्थित अग्नि को सभी आहुतियों के ग्रहणकर्ता के रूप' को भी एकर्षि कहते हैं।

एकादश द्वार-एकादश अक्ष-शरीर को ग्यारह द्वारों से युक्त अर्थात् एकादश द्वार वाला कहा गया है। दो आँखें, दो कान, दो नासिकाएँ, एक मुख, ब्रह्मरन्ध्र, नाभि, गुदा और उपस्थ—ये एकादश द्वार हैं। कठोपनि. (2.2.1) में नवद्वार कहे गए हैं, श्वेताश्वतर में भी यही है—दो आँखें, दो कान, दो नासिकाएँ, एक मुख, गुदा और उपस्थ।

एषणात्रय-एषणा का अर्थ इच्छा, चाह, कामना, याचना आदि है। सामान्यतया तीन एषणाएँ मानी जाती हैं—पुत्रैषणा, वित्तैषणा और लोकैषणा। सन्तति, धनधान्यादि तथा कीर्ति की ये तीन एषणाएँ सामान्यतया सबमें होती है।

ओ

ओंकार-ॐकार या प्रणव परमात्मा का प्रतीक है। यह अ-उ-म—तीन वर्णों से बना है। ये तीनों अक्षर तीनों देवों का बोध कराते हैं। वे देव क्रमशः विष्णु, महेश्वर और ब्रह्मा हैं। अतः ॐ ब्रह्म है। तैत्ति. उ. 1.8.1, ध्यानबिन्दु 9, मैत्रा. 6.37 आदि में ॐ की परम उपास्यता बताई है। ऐसा भी कहा गया है कि ॐ के तीन वर्णों के उच्चारण से योगी जीवन्मुक्त हो जाता है। (आत्मबोधोपनिषद् 1 तथा कठोपनिषद् 1.2.16) अन्यान्य कई उपनिषदों में भी ॐ की महिमा, ॐ की उपास्यता, उपासना की फलश्रुति बार-बार बताई गई है।

क

कपालशोधन क्रिया-हठयोग में धौती, बस्ती, नेति, नौलि, त्राटक और कपालभाति—ये छः क्रियाएँ शरीरशोधन के लिए कही गई हैं। इनमें छठी अन्तिम क्रिया जो कपालभाति है, यह एक विशिष्ट प्राणायाम है। (ह.यो.प्र. 2.22) यह कफनाशक है। लोहार की धौंकनी के समान

शीघ्रता से रेचक-पूरक करके किया जाने वाला प्राणायाम ही कपालभाति है (ह.यो.प्र. 2.35)। मेरुदण्ड में इसके तीन प्रकार बताए हैं—1. जातकर्म कपालभाति, 2. व्युत्कर्म कपालभाति और 3. शीतकर्म कपालभाति। इनमें जातकर्म कपालभाति की तीन विधियाँ हैं। प्रथम विधि में सुखासन में बैठकर, दायें नथुने को बन्द कर, बायें से बलपूर्वक वायु को खींचकर बिना रोके दायें नथुने से बाहर निकाला जाता है। इसी प्रकार दायें से वायु खींचकर बायें से बाहर निकालते हैं। दूसरी विधि यह है कि दोनों नथुनों से एक साथ वायु खींचकर बाहर निकालते हैं। और तीसरी विधि में दायें नथुने को बन्द करके बाँये से पूरक-रेचक करते हैं। सम्भवतः यह कपालशोधन प्रक्रिया कपालभाति की दूसरी या तीसरी प्रक्रिया से मिलती-जुलती होगी। योग-कुण्डलिन्युपनिषद् (1.24-25) में इसको इस प्रकार कहा गया है—दायीं नासिका से धीरे-धीरे बाहर की वायु खींचकर बायीं नासिका से रेचन करें। कपाल-शोधन में भी वायु को धीरे-धीरे बाहर निकाले। बस, इससे अधिक इसका अन्यत्र कहीं भी उल्लेख नहीं है।

कपालाष्टक-योग के आठ प्रसिद्ध अंगों को कपालाष्टक कहते हैं। (देखिए परब्रह्मोपनिषत् 2 की ब्रह्मयोगी व्याख्या)।

करन्यास-तंत्रोक्त मन्त्रों के उच्चारणपूर्वक अंगुष्ठ सहित समस्त अँगुलियों के तल और पृष्ठभाग पर किए गये न्यास को करन्यास कहते हैं।

कर्म-इसका सामान्य अर्थ है क्रिया अथवा गति। आध्यात्मिक रूप से कर्म के सहारे ही आत्मा संसारवहन करता है। कर्मचक्र ही संसार का तथ्य है। समग्र ब्रह्माण्ड कर्म से ही गतिशील है। उपनिषदों में इन्द्रियों के द्वारा की जाने वाली क्रियाओं को 'कर्म' कहा है। 'कर्म' के साथ करने वाले को कर्तृत्वाभिमान होता है। गीता में कर्म सात्त्विक, राजस और तामस—तीन प्रकार के कहे गए है (गी. 3.5)। गीता में नियत कर्मों को अनिवार्य रूप से करने को कहा गया है (गी. 3.8)। आसक्तिरहित निष्काम कर्माचरण करने से मनुष्य कर्मबन्धन से मुक्त होता है, यह बात गीता बार-बार कहती है (गी. 4.17, 3.9 आदि)। ईशावास्य (2) भी यही कहती है।

कर्मफल-मनुष्य कर्म करने में स्वतन्त्र है, किन्तु कर्म-फल पाने में पराधीन है। किए हुए कर्मों का फल तो वह अवश्य पाता ही है, पर वह उसके हाथ में नहीं है। पूर्वजन्मकृत कर्मफल ही हमारा भाग्य (प्रारब्ध) है (गीता, 2.47)। कर्मफल-त्यागी कर्मयुक्त मनुष्य नैष्ठिक शान्ति पाता है (गी. 5.12 और 12.12)।

कर्मसंन्यासी-जो ब्रह्मचर्य, गृहस्थ और वानप्रस्थ आश्रमों में विधिपूर्वक रहने के बाद नियमानुसार संन्यास ग्रहण करता है, वह कर्मसंन्यासी है (संन्यासोपनिषद् 2.22)। संन्यास के स्वरूप भेदों में से यह एक है।

कला-किसी कर्म या स्थिति की द्योतिका कला है। चन्द्रप्रकाश के सोलहवें भाग को भी कला कहते हैं। सूर्यप्रकाश के बारहवें भाग को भी कला कहते हैं। परब्रह्म में सभी कलाएँ (चौसठ कलाएँ) हैं, ऐसा माना जाता है। वैदिक मान्यतानुसार परब्रह्म के चार पादों में चौसठ कलाओं का विभाजन होने से प्रत्येक पाद में सोलह कलाएँ होती हैं। और परब्रह्म ने अपने एक पाद से विश्व बनाया, इसलिए विश्व में परब्रह्म की सोलह कलाएँ हैं (त्रिपादूर्ध्व.; ऋग्. 10.90.4)। इन सोलह कलाओं को 'पूर्णकला' कहते हैं। विश्व के प्रत्येक प्राणी में अपनी शक्ति के तारतम्य के अनुसार कला की कोई न कोई संख्या अवश्य होती है। तंत्रशास्त्र में जीवनोपयोगी 64 कलाएँ भी कही गई हैं।

कलियुग-चार युगों में से चतुर्थ युग। उसकी अवधि 432000 वर्ष मानी जाती है। एक अन्य मान्यता के अनुसार कलियुग की आयु 1200 वर्ष तक की भी मानी गई है।

कल्पवृक्ष-मनचाही वस्तु को देने वाला देवलोक का एक कल्पित वृक्ष 'कल्पवृक्ष' है। इसे कल्पतरु भी कहा जाता है। स्मृतिशास्त्र विशेष भी कल्पवृक्ष

कहा जाता है (भागवत 1.1.3)। कल्पद्रु, कल्पद्रुम, कल्पतरु, कल्पलतिका, कल्पलता, कल्पमहीरुह, कल्पवल्ली, कल्पविटप आदि भी इसके अन्य नाम हैं। देवासुरों के सामूहिक समुद्रमंथन से निकले हुए चौदह रत्नों में से यह एक है, ऐसी मान्यता है। गोपालपूर्वतापिन्युपनिषद् 32 में इसका उल्लेख भगवान् के आश्रय रूप में मिलता है।

कल्पान्त–कल्प प्राचीन कालगणना की एक इकाई है। यह बड़ी लम्बी अवधि है। सृष्टि के काल चक्र को सत्य, त्रेता, द्वापर और कलि—इन चार युगों में बाँटा गया है। एक-एक युग की अवधि कई लाख वर्षों की होती है। चारों युगों की अवधि कुल मिलाकर करीब तैतालीस लाख बीस हजार वर्षों की है। इतने एक हजार चतुर्युगी के वर्ष ब्रह्मा का एक दिन के बराबर है और उतनी ही लम्बी उनकी रात्रि भी है। दोनों मिलाकर एक कल्प होता है और उस कल्प के अन्त में प्रलय की स्थिति होती है।

कवि-मनीषी–उपनिषदों में परब्रह्म परमात्मा को कवि, मनीषी कहा गया है (ईश. 8)। 'कवि' का अर्थ सर्वज्ञ, विचारवान, प्रतिभाशाली, प्रशंस-नीय, दूरदर्शी, विद्वान्, त्रिकालज्ञ, मनीषी आदि होता है और 'मनीषी' का अर्थ भी पंडित, विद्वान्, बुद्धिमान, मेधावी, स्तोता आदि होता है। गीता के 4.16 में कवि का अर्थ विद्वान् ही है। परन्तु गीता के 8.9 में तो परमात्मा को ही कवि कहा गया है। महोपनिषद् में भी सर्वेश्वर को कवि शब्द से उपन्यस्त किया गया है। (महो. 4.79)।

कामकला–इस शब्द के कई अर्थ मिलते है, जैसे कामदेव की कला (प्रिया, पत्नी); चन्द्र की सोलह कलाएँ भी कामकला कही जाती हैं। तंत्रोक्त विधिविशेष को भी कामकला कहते है। सृष्टिनिर्माण की आदिदेवी को भी कामकला कहते हैं। कामक्रीडा भी कामकला है। तंत्र-ग्रन्थों में कहा गया है कि आदिसृष्टि का मूल कारण शिव (कल्याणकारी ब्रह्म) और शक्ति (ब्रह्म की चित् शक्ति)—ये दो बिन्दुरूप हैं। शिवबिन्दु श्वेतवर्ण और शक्तिबिन्दु रक्तवर्ण है। दोनों बिन्दुओं के संयोग का नाम 'काम' है। शिवशक्ति बिन्दु से अक्षर, भाषा और महाभूतों की उत्पत्ति होती है। अकार शिव का और इकार शक्ति का बोधक होता है। शिवबिन्दु, शक्तिबिन्दु और नाद—इन्हीं तीनों से जो अहंकार उत्पन्न होता है, उसी को 'कामकला' कहा जाता है। बहवृचोपनिषद् में चित् शक्ति को आदि सृष्टि की सर्जक मानकर उन्हीं को कामकला या शृंगारकला कहा गया है। (देखिए बहवृ. 1)। इससे एक परमात्मा की बहुत होने की कामना और तदनुसार जगत् का सर्जन ही कामकला है, ऐसा प्रमाणित होता है। इसी चित् शक्ति को शृंगारकला भी इसलिए कहा जाता है कि इसके मन्त्र के पहले शृंगस्वरूप अकार-उकार-मकार वाला ॐकार बोला जाता है।

कामधेनु–इच्छित वस्तु को देने में कामधेनु भी प्रसिद्ध है। यह स्वर्ग की गाय है। वह इष्टफलदात्री है। स्वर्ग की इस गाय को कामधेनु और सुरभि भी कहते हैं। श्वेतवर्णा चतुर्वेदरूप चार पाद वाली, चार पुरुषार्थरूपी चार स्तनों वाली, मोक्षरूप दुग्धधारा वाली, शिव के नन्दी की माता यह कामधेनु है (गो.पू.ता. 25)। यह भी कल्पवृक्ष की तरह समुद्रमन्थन से ही उत्पन्न हुई है। साधना के क्षेत्र में गायत्री को भी कामधेनु कहा गया है।

कामबीज–तन्त्र-ग्रन्थों में कामबीज को कामनापूर्ति करने वाला बीजमन्त्र बताया गया है। इसे मूलमन्त्र भी कहते हैं। अत: विशिष्ट प्रयोजनों के निमित्त उनके लिए निर्धारित मन्त्रों के साथ ह्रीं, क्लीं आदि बीजमन्त्र लगाते हैं। इससे मन्त्रों में बड़ी शक्ति उत्पन्न होती है और यथाशीघ्र वांछना-पूर्ति करने में बड़ी सहायता मिलती है। गोपाल-पूर्वतापिनी में 'क्लीं' को कामबीज कहा गया है। (गो.पू.ता. 12.13)

कामेश–समस्त कामनाओं का नियन्त्रक ब्रह्म। वही षडैश्वर्य से सम्पन्न भगवान् है। वे ही निष्काम उपासक को ब्रह्मपद (परमपद) की प्राप्ति करवा देते है (त्रिपुरातापि. 1)। अजरा, पुराणी महत्तरा चित् शक्ति भी उनके साथ होती है।

कामेश्वरी–कहीं-कहीं सच्चिदानन्दघन परमात्मा को 'कामेश्वरी देवता' भी कहा गया है। भावनोपनिषद् में शरीर में श्रीचक्रत्व के कारणों का विवेचन करते हुए अव्यक्त, महत्तत्व, अंहकार, कामेश्वरी, वज्रेश्वरी तथा भगमालिनी को आन्तरिक त्रिकोण के अग्रभाग में स्थित देवता कहा गया है (देखिए भावनोपनिषद् 2)।

कालाग्नि–सर्वविनाशक अग्नि कालाग्नि है। प्रलयकालीन अग्नि ही कालाग्नि है। रुद्र को भी कालाग्नि कहा गया है, क्योंकि वे संहार के देव हैं। पंचमुखी रुद्राक्ष को भी कालाग्नि कहा गया है। इसे संवर्तक भी कहा गया है (का.रु. 1)।

कालातीत–काल से परे। ब्रह्म कालातीत है। गणपत्युपनिषत् में गणपति को 'कालत्रयातीत' कहा है (गण. 6)। निर्गुण निर्विशेष ब्रह्म किसी भी सांसारिक प्रत्यय से परे है, वह अनिर्वचनीय है, वह अवाङ्मनसगोचर है। काल भी एक जागतिक प्रत्यय है। निर्गुण ब्रह्म उससे भी परे है वह विश्वातीत है इसलिए कालातीत है। ब्रह्म के अतद्व्यावृत्तिरूप निर्गुणत्व के वर्णन में असंख्य बार सर्वातीत ब्रह्म कहा गया है।

कुण्डलिनीशक्ति–यह योग वर्णित अतिमहत्त्व की महाशक्ति है। इसके जागने से मनुष्य रिद्धि-सिद्धियों का स्वामी बन जाता है। उसे परमात्मा की पराशक्ति कहते हैं। वह प्रत्येक जीव में सुषुप्तावस्था में रहती है। वह मनुष्य-शरीर में मेरुदण्ड के नीचे गुदा और उपस्थ के बीच में स्थित मूलाधारचक्र में कुण्डली मारकर सर्पिणी की तरह अवस्थित है। तन्त्रसार उसे देवी कहता है। वह मूलाधार चक्र में सूक्ष्म रूप में रहती है। योगानुसार शरीर में छह चक्र माने गए है। उनमें कुण्डलिनी मूलाधार चक्र में स्वयंभूलिंग में साढ़े तीन चक्कर लगाकर सर्पिणी की तरह विद्यमान है। करोड़ विद्युत्प्रभा-सी तेजस्वी उदीयमान सूर्य जैसी प्रकाशित कुण्डलिनी का ध्यान करके साधक प्राणायाम द्वारा प्राणमन्त्र पढ़ता हुआ उसे जाग्रत् करके शुभ शान्ति प्राप्त करता है। (शब्दकल्पद्रुम, खण्ड 2, पृ. 140)। विवेक-मार्तण्ड में कुण्डलिनी का सुन्दर विवेचन है। यह योगियों के लिए मोक्ष का और अनभिज्ञों के लिए बन्धन का कारण बनाती है। वह वलयाकार में कन्दस्थल के नीचे की नाड़ियों के गुच्छ के ऊपर अपने मुँह से ब्रह्मरन्ध्र का द्वार ढँके हुए सुप्तावस्था में है। साधक हठयोगादि साधनों से उसे जगाकर ब्रह्मरन्ध्र के ताले को उस चाभी से खोलता है (विवेकमार्तण्ड 52-56)। जाबाल-दर्शनोपनिषत् (4.11) में नाभि से दो अंगुल नीचे, अष्टप्रकृतियुक्त कुण्डलिनी शक्ति रहती है ऐसा वर्णन है। महायोगविज्ञान में भी योगिनी तन्त्र में भी कुण्डलिनी जागरण का फल बताया गया है।

कूटस्थ–शिखरस्थ या गुप्तस्थ को कूटस्थ कहते है। अन्तर्व्याप्त, अन्तर्यामी, परमेश्वर, जीवात्मा, सर्वोपरिस्थ, अचल, अविनाशी इत्यादि इसके वाचक अनेक शब्द हैं। न्यायदर्शन अजन्मा परमात्मा को कूटस्थ कहता है। सांख्य का कूटस्थ परिणामरहित पुरुष है। वह तीनों अवस्थाओं में एक समान और निर्लिप्त ही है। शाक्त लोग शिव को कूटस्थ कहते हैं। कूटस्थ जीवात्माओं का समष्टिगत रूप है। जड प्रकृति से परे अव्यक्त पुरुष कूटस्थ है। गीता क्षर से परे अक्षर को कूटस्थ कहती है। उपनिषदों में ब्रह्म से लेकर चीटींपर्यन्त सभी प्राणियों की बुद्धि में रहने वाला, उनके सभी देहों का नाश होने पर भी रहने वाला 'कूटस्थ' है (सा.सा. 10)

कृच्छ्र-चान्द्रायण–कृच्छ्र अर्थात् कष्टसाध्य। शारीरिक तप, कठिन प्रायश्चित्त आदि इसके अर्थ है। चन्द्रकलाओं के साथ जो कष्टसाध्य तप, किया जाता हो, वही कृच्छ्र-चान्द्रायण है। प्रायश्चित्त और धर्मसंचय का यह व्रत है। इसमें चन्द्रकलाओं के घटने-बढ़ने पर घटता-बढ़ता भोजन लिया जाता है। इस व्रत के यवमध्य और पिपीलिकामध्य ये दो प्रकार हैं। मनु. 19.27, याज्ञ.स्मृ. 3.323, वसिष्ठस्मृ. 27.21, बौधा.धर्म.सू. 4.5.18 आदि में इस व्रत के यवमध्य प्रकार को बताया गया है कि शुक्ल पक्ष में बढ़ती चन्द्रकलाओं के साथ प्रतिपदा को एक,

दूज को दो—इस प्रकार बढ़ते-बढ़ते पूर्णिमा को 15 ग्रास भोजन किया जाता है, फिर कृष्णपक्ष में घटती चन्द्रकला के साथ ग्रासों को क्रमशः प्रतिदिन घटाते-घटाते चतुर्दशी को एक ग्रास तथा अमावास्या को उपवास (निराहारत्व) किया जाता है। पिपीलिकामध्य रीति में कृष्णपक्ष की प्रतिपदा से व्रतारम्भ करके प्रथम दिन में चौदह ग्रास लिए जाते हैं और प्रतिदिन घटाते-घटाते कृष्णचतुर्दशी को एक ही ग्रास लिया जाता है और अमावास्या निराहारी होती है। फिर शुक्ल पक्ष की प्रतिपदा को एक ग्रास लेकर क्रमशः बढ़ाते-बढ़ाते पौर्णमासी को पन्द्रह ग्रास लिए जाते हैं। आश्रमोपनिषत् (4) में इस व्रत के आचरण के अधिकारी बताए गए हैं।

कैवल्य–उपाधिरहित केवल चैतन्य की स्थिति 'कैवल्य' है। विवेक शक्ति के उदय होने पर मनुष्य का अहंकार सहज की मिट जाता है। फिर कर्तृत्व अथवा सुख-दुःख कुछ नहीं होता और कारणाभाव में कार्यरूप रागद्वेष, धर्माधर्म कुछ भी नहीं रहता। धीरे-धीरे प्रारब्ध के नष्ट होने पर अविद्या के अभाव से संस्कारों का भी अभाव होता है और आत्मा केवल अपने 'चित्' स्वरूप में स्थित रहता है। यही 'कैवल्य' है (देखिए पातंजलयोगसूत्र 4.34)। इसी को सांख्य आत्यंतिकनिवृत्ति कहता है। अध्यात्मोपनिषद् (16) में भी कैवल्य का विवेचन दिया गया है।

क्रतु–यज्ञ, अश्वमेध तथा विवेक, प्रज्ञा, संकल्प, इच्छा आदि इस शब्द के अर्थ है। छान्दोग्योपनिषद् (3.14.1) में परमपुरुष को 'क्रतुमय' कहा गया है। उपनिषदों में कहा गया है कि—छन्द, यज्ञ, क्रतुविशिष्टयज्ञ, व्रत आदि सब वेदवर्णितों का अधिष्ठाता वह मायावी पुरुष है (श्वे. 4.9)।

क्षेत्रज्ञ–शरीर क्षेत्र का ज्ञाता, सर्वसाक्षी अथवा जीवात्मा को भी क्षेत्रज्ञ कहते हैं। इसे आत्मा और परमात्मा के पर्यायरूप में प्रयुक्त देखा जाता है। शरीर में प्रकाशमान चैतन्य क्षेत्रज्ञ है (स.सा. 8)। उसी का अंश जीवात्मा है। वह प्रत्येक शरीर में है (मैत्रा. 2.5)। शरीर 'क्षेत्र' है तो शरीर को जानने वाला 'क्षेत्रज्ञ' है। गीता का क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ विभाग इसका पूरा विवेचन करता है।

क्षेत्रपाल–तैंतीस कोटि में यह भी एक देवता है। वह क्षेत्ररक्षक–खेत का रखवाला करने वाला देव है। इसके 49 भेद किए गए हैं। अजर, आपकुन्त आदि उनके नाम हैं। कार्तवीर्य को भी क्षेत्रपाल कहते है (मत्स्यपुराण 43.27, आत्मपुराण 94.24)। गृह-रक्षार्थ भी क्षेत्रपाल का आवाहन किया जाता है। क्षेत्रपाल तीन नेत्रों वाले, नीलगिरि से वर्ण वाले, सिर पर चन्द्र और जटावाले, गदा-कपाल-पुष्पमाला-गन्धवस्त्र लिए चार हाथों वाले, कानों में सर्पकुण्डल पहने हुए होते हैं। सभी पुण्य क्षेत्रों में एक क्षेत्रपाल होते है। कुमाऊँ क्षेत्र में स्वयंभू क्षेत्रपाल की विशाल मूर्ति है। ये बल-बुद्धि-तेजोदायक देव हैं।

ख

खेचरी मुद्रा–चित्तशोधन के लिए की जाने वाली यौगिक मुद्राओं में से यह एक है। इसमें जीभ को उलट कर कपालकुहर में प्रविष्ट कर दृष्टि को भौहों के बीच स्थिर किया जाता है। इससे ध्यान स्थिर होता है। भूख-प्यास मिट जाती है। चित्त मनःशून्यता में रमण करता है (यो.त. 117)।

ग

गन्धर्व–देवों के एक भेद अथवा अर्ध देवों के रूप में गन्धर्व माने गए हैं। वे देवों के पास गाना गाते है। वे गो (वाणी) को धारण करते है। वे द्युस्थानीय और अन्तरिक्ष-स्थानीय होते हैं। द्युस्थानीय गन्धर्व दिव्य गन्धर्व कहे जाते हैं। वे सोमरक्षक, चिकित्सक, सूर्याश्वों के वाहक और ज्ञान के प्रकाशक हैं। अन्तरिक्ष-स्थानीय गन्धर्व नक्षत्र-प्रवर्तक और सोमरक्षक होते हैं। उपनिषदों तथा ब्राह्मण-ग्रन्थों में उनके देवगन्धर्व और मनुष्यगन्धर्व ऐसे भी भेद किए गए हैं। दिव्य और मर्त्य भेद भी मिलते है। कहीं-कहीं तो गन्धर्वों के बारह भेदों का उल्लेख भी मिलता है। (अग्निपुराण)।

गरिमा–योग की आठ सिद्धियों अणिमादि में से एक। जिसके द्वारा मनुष्य अपना भार बहुत बढ़ा सकता है।

गायत्र–गायत्री मन्त्र का जप करने वाले ब्रह्मचारी को 'गायत्र' कहते हैं। (आश्रमोपनिषद् 1)

गायत्री–गायत्री प्राणों का त्राण करने वाली है। वही प्राणस्वरूप है (शत.ब्रा. 1.3.5.15)। गायत्री को प्राण, तेज, ब्रह्मवर्चस् आदि भी कहा गया है। देखिए—शत.ब्रा. 1.8.13.2, तै.सं. 3.2.9.3 और मै.ब्रा. 4.3.1। आठ-आठ अक्षरों वाले तीन चरणों से बने छन्द को गायत्री कहा गया है। वह सर्वोत्तम छन्द माना गया है (जै.ब्रा. 2.227)। त्रिसंध्या में गायत्री जप का विधान है। वह ब्रह्मा-विष्णु-महेश—तीनों शक्तियों का रूप माना गया है (स्कन्दपुराण, काशीखण्ड, 4.9.58)। उसे वेदमाता, देवमाता, विश्वमाता कहा गया है। उसकी उपासना से अभ्युदय और निःश्रेयस दोनों की प्राप्ति होती है (अथर्व. 19.71.1)।

गार्हपत्य–यज्ञ संस्कृति के समय जो तीन प्रकार के अग्नि घर में प्रतिष्ठापित किए जाते थे, उनमें से एक। वह अग्नि विवाह के बाद घर में गृहस्थाश्रम काल तक रखा एवं पूजा जाता था।

गुरु–गायत्री मन्त्र का उपदेष्टा, अध्यात्मविद्या का प्रदाता, दीक्षा देने वाला, पढ़ाने वाला—ये सब 'गुरु' कहलाते है। हमारी संस्कृति में गुरु का बड़ा महत्त्व और सम्मान है। संस्कार कराने वाला विप्र भी गुरु कहलाता है (मनु. 2.142)। इस प्रकार माता, पिता, अध्यापक, पुरोहित, दीक्षा देने वाला, ज्ञान देने वाला, विप्र—ये सब गुरु हैं। पति, अतिथि और ब्राह्मण भी गुरु हैं। चाणक्यनीति में अच्छे गुरु के लक्षण बताए गये हैं। उपनिषदों के अनुसार ब्रह्मप्राप्ति कराने वाले ही गुरु हैं। इस मुख्य गुरु की प्रशंसा और मान-सम्मान के लिए गुरुग्रन्थसाहिब और कबीर आदि सन्तों ने भी बहुत कुछ लिखा एवं कहा है।

गुरुकुल–प्राचीन काल में यज्ञोपवीत धारण करने के बाद बालक ब्रह्मचर्याश्रम में प्रवेश करके विद्या-प्राप्त्यर्थ पच्चीस वर्ष तक गुरु-गृह में निवास करता था और शहर के या गाँव के बाहर एकान्त स्थल में अन्य अनेक विद्यार्थियों के साथ गुरु उसे पढ़ाते और शिक्षा देते थे। उस स्थान को गुरु-कुल कहा जाता है।

गृहस्थ–प्राचीन ब्रह्मचर्यादि चार आश्रमों में दूसरा गृहस्थ-आश्रम है। इसमें ब्रह्मचर्याश्रम के बाद व्यक्ति विवाहादि करके शास्त्रविहित धर्म-कार्यों को करते हुए करीब 25 वर्षों तक रहता है। इस आश्रम में कामनाओं की पूर्ति की जाती है। व्यक्ति इसमें अपनी पत्नी एवं परिवार का भरण-पोषण करता है और पाँच ऋणों से मुक्त होता है। आश्रमोपनिषद् में गृहस्थों के चार भेद किए गये हैं।

गृह्यसूत्र–वैदिक पद्धति में गृह्यसूत्र उन शास्त्रों का नाम है, जिनमें गृहस्थों के लिए सभी सोलह संस्कारों और अन्य कर्तव्यों का निर्देश किया गया है। वे धर्मशास्त्रीय, व्यावहारिक वर्तन एवं नीति सम्बन्धी ग्रन्थ हैं। ब्राह्मण-आरण्यक युग के बाद आए सूत्र-ग्रन्थों की ये रचनाएँ हैं। आजकल लगभग ऐसे गृह्यसूत्र और धर्मसूत्र मिलते हैं। अन्य सूत्र-ग्रन्थों में श्रौतसूत्र और शुल्वसूत्र आते हैं।

ग्रह-नक्षत्र–आकाशमण्डल के तारे, जो अपने सौरमण्डल में सूर्य की परिक्रमा कर रहे हैं, वे 'ग्रह' कहलाते हैं। फलित ज्योतिष के अनुसार सौरमण्डल में नौ ग्रह हैं। किसी बड़े ग्रह के साथ उपग्रह भी हैं। वे उपग्रह अपने ग्रह की परिक्रमा करते हैं। और नक्षत्र वे हैं, जो सूर्य-मण्डल से बहुत दूर दिखाई देते हैं। वे चन्द्र सापेक्ष हैं। चन्द्र पृथ्वी की परिक्रमा 27 दिनों में पूरी करता है, इसलिए नक्षत्रों को भी सत्ताइस भागों में बाँटा गया है।

घ

घोर संन्यासिक–गृहस्थों के चार प्रकार किए हैं–यायावर, वार्ताकवृत्ति, शालीनवृत्ति और घोर संन्यासी। इनमें घोर संन्यासी उसे कहा जाता है, जो पवित्र व्रत द्वारा दैनिक कार्य सम्पन्न करते हुए खेतों के बचे दानों से आजीविका चलाता है। अकिंचन रहता हुआ वह सौ वर्ष तक यज्ञिय

जीवन जीते हुए साधना करता है (आश्रमोपनिषद् 2)।

च

चतुराश्रम–मानव-जीवन के चार विभाग हमारी संस्कृति में किए गए हैं। वह भारतीय जीवन की एक पद्धति है। आयु के 100 वर्ष निर्धारित करके 25-25 वर्षों के चार विभाग करके ये जीवन-पद्धति बनाई गई है। पहले पचीस वर्ष ब्रह्मचर्याश्रम, दूसरे पचीस वर्ष गृहस्थाश्रम, तीसरे पचीस वर्ष वानप्रस्थाश्रम और चौथे पच्चीस वर्ष संन्यासाश्रम पालन का विधान है।

चतुर्दश-भवन–सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में चौदह भुवन (लोक) माने गए हैं। सात ऊपर हैं, सात नीचे हैं। ऊपर के लोकों को स्वर्गलोक और नीचे के लोकों को अधोलोक या पाताललोक कहते हैं। ऊपर के लोक—भूः, भुवः, स्वः, महः, जनः, तपः और सत्य हैं और नीचे के लोक ये हैं—अतल, वितल, सुतल, तलातल, महातल, रसातल और पाताल।

चतुर्युग–भारतीय काल गणना के अनुसार कालचक्र को चार युगों में विभाजित किया गया है—1. सत्युग, 2. त्रेतायुग, 3. द्वापर और 4. कलियुग। इन युगों के वर्ष भी निश्चित किए गए है। सत्युग सबसे लम्बा और कलि सबसे छोटा है। चारों युगों की कुल वर्ष संख्या तैतालीस लाख बीस हजार वर्षों की होती है, उसे चतुर्युग या चतुर्युगी कहते हैं।

चतुर्वर्ण–मानव समाज को गुण-कर्म के अनुसार चार विभागों में बाँटा गया है—(1) अध्ययन-अध्यापन, धार्मिक क्रियाएँ करने-कराने वाले पवित्र लोग ब्राह्मण हैं, (2) अपने या बाहर से आए हुए आक्रमणों से प्रजा का रक्षण करने वाले क्षत्रिय हैं, (3) खेती, व्यापार, व्यवसाय आदि से देश की धन-सम्पत्ति बढ़ाने वाले वैश्य हैं और (4) इन सभी वर्णों की शारीरिक सेवा करने वाले शूद्र हैं।

चतुर्व्यूह–चार पदार्थों का अथवा चार मनुष्यों का समूह चतुर्व्यूह कहा जाता है। जैसे राम-लक्ष्मण-भरत-शत्रुघ्न अथवा कृष्णबलदेव-प्रद्युम्न-अनिरुद्ध कहा जाता है कि सृष्टि के कार्य के लिए भगवान् ने वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध—इन चार रूपों में अवतार लिया था। अतः उन्हें चतुर्व्यूह कहते हैं (देखिए मुद्गलोपनिषद् 4)।

चमस–सोमयाग करने या सोमरस का वितरण करने वाला एक यज्ञपात्र, जो उदुम्बर, पलाश, खदिर आदि की लकड़ी से चम्मच की आकृति का बनाया जाता था। यज्ञ की पूर्णाहुति देने में भी उसका उपयोग होता था। सभी ऋत्विजों के चमस के अलग-अलग नाम भी दिए गए हैं जैसे उद्गाता का 'उद्गात्' चमस आदि।

चरु–हविष्यान्न बनाने का पात्र 'चरु' है (ऋग्. 1.7.6, अथर्व. 9.5.6)। पात्रवाचक 'चरु' शब्द का बाद में इतना अधिक प्रयोग हुआ कि उसमें पकाए गए हविष्यान्न को भी लोग चरु ही कहने लग गए। इस चरु को बनाने की विस्तृत विधि कात्यायन श्रौतसूत्र (4.1.67) में देखी जा सकती है।

चातुर्मास्य–एक श्रौत याग जो चार महीनों में पूरा किया जाता है। वसन्त-शरद में नए अन्न की जो इष्टि की जाती है, उसे 'आग्रयण' कहते है। वैदिक कल्प के अनुसार वर्ष के चार-चार मास के मुख्य तीन मौसमों में चातुर्मास्य याग किया जाता है। फाल्गुनी, आषाढी और कार्तिकी पूर्णिमाओं में वह सम्पन्न किया जाता है। (देखिए शत.ब्रा. 2.6.3.1, 1.6.3.36 और 2.6.4.9)।

चाक्षुषी विद्या–उपनिषदों में अनेक रहस्यमयी विद्याओं का उल्लेख है, जो आज अगम्य हो गई हैं। उन विद्याओं में कुछ भौतिक अभ्युदय करने वाली हैं तो ज्यादातर आध्यात्मिक कल्याण करने वाली हैं। विद्याओं की फलश्रुति तो मिलती है पर विधि-प्रक्रिया नहीं मिलती। ऐसी ही एक 'चाक्षुषी विद्या' भी है, जो चाक्षुषोपनिषद् में वर्णित है। इसको चाक्षुष्मती विद्या भी कहते हैं। नेत्ररोगों को दूर करने के लिए चाक्षुषोपनिषत् में वह कही गई है। यहाँ इस विद्या की उपासना-विधि भी बताई गई है। अहिर्बुध्न्य ऋषि, गायत्री छन्द और सूर्य देवता वाली इस विद्या का विनियोग नेत्ररोग के निवारणार्थ होता है। अक्ष्युपनिषत् में भी यह विद्या बताई है, लेकिन चाक्षुष विद्या के मन्त्रों से यहाँ कुछ पाठ-भेद हैं। अक्ष्युपनिषत् (प्रथमखण्ड) में इस विद्या का फल बताया गया है। चाक्षुषोपनिषत् को ही चाक्षु-रुपनिषत्, चक्षूरोगोपनिषत्, नेत्रोपनिषत् आदि भी कहते हैं।

चित्त–अन्तःकरण के मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार—ये चार भेद हैं। उनमें चित्त का कार्य परस्परानुसंधान करना, स्मृति रखना आदि है। पतंजलि के अनुसार तो मन, बुद्धि और अहंकार तीनों मिलकर एक चित्त बनता है। योग-दर्शनानुसार चित्त की प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा और स्मृति—ये पाँच वृत्तियाँ होती हैं और क्षिप्त, मूढ, विक्षिप्त, एकाग्र और निरुद्ध—ये पाँच भूमियाँ है। मैत्रायण्युप. 4.3-5 तथा 4.1 में और महोपनिषत् 4.66 में चित्त के स्वरूप, महत्ता और शान्ति के विषय में बताया गया है।

चित्तशुद्धि–चित्त का पूर्णतः मलरहित होना ही आत्म-साक्षात्कार की पूर्व शर्त है। यह चित्तशुद्धि वेद-विहित कर्माचरण से होती है अर्थात् निष्काम कर्माचरण से चित्तशुद्धि होती है।

चिदात्मा–परमात्मा सत्, चित्, आनन्दस्वरूप है। चित् का अर्थ चैतन्य और आनन्द का अर्थ परम सुख होता है। परमात्मा का स्वरूप चैतन्यमय होने से उन्हें चिदात्मा कहते है। वह चित् (चैतन्य) सघन होने से उसे चिद्घन कहते हैं। वही चित् उनमें पूर्णतः भरा होने से उन्हीं को चिन्मय भी कहते हैं। वह चित् (चैतन्य) ही परम सुख (परमानन्द) होने से उन्हें चिदानन्द कहते हैं। (अध्यात्मो. 61, आत्मोपनिषद् 1-4, ब्रह्मविद्योपनिषद् 19)।

छ

छन्द–अक्षरगणनानुसार वाक्य के किए जाने वाले भेद को छन्द कहते हैं। इन्हीं छन्दों ने ऋषियो के अन्तःकरण में प्रस्फुटित मन्त्रों को मूर्त रूप देने का कार्य किया। गायत्री, त्रिष्टुभ्, अनुष्टुप्, जगती, उष्णिक्, बृहती, पंक्ति—ये सात उनके भेद हैं। फिर एक-एक भेद के आर्षी-दैवी-आसुरी आदि आठ-आठ भेद किए गए हैं। अक्षरमेल और मात्रामेल—ये भी छन्द के भेद हैं। छान्दोग्य. 1.4.2 में छन्द की व्युत्पत्ति बताई है। देवों का आच्छादन करने से वे छन्द कहलाए।

ज

जगत्–परमात्मा की बनाई दुनिया। यह सब दृश्य-मान जड़-चेतन जगत् है। शंकर जगत् को मिथ्या मानते हैं और रामानुज जगत् को ईश्वर का शरीर मानते हैं। जगत् त्रिगुणात्मक एवं अग्निषोमात्मक कहा गया है। (शत.ब्रा. 4.5.9.8 एवं बृ.जा. 27)।

जड़-चेतन–गतिशील या वृद्धिशील प्राणी चेतन है, निश्चेष्ट पदार्थ जड़ हैं। इन्हें ही स्थावर-जंगम कहा गया है। अचर और चर भी क्रमशः ये ही हैं।

जरा–बूढ़ापन, जिसमें शरीर जीर्ण या क्षीण होता जाता है, यह प्रायः 50 साल के बाद की अवस्था होती है।

जरायुज–चार प्रकार के प्राणी हैं—अण्डज, स्वेदज, उद्भिज और जरायुज। जो प्राणी जरायु से जन्म लेते है उन्हें 'जरायुज' कहते है, जैसे—मनुष्य, पशु आदि।

जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्ति–व्यक्ति का जीवन इन तीन अवस्थाओं में से गुजरता रहता है। अधिकांश जाग्रदवस्था में ही गुजरता है। उसमें वह ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियों से काम करता हुआ सुख-दुःख का और कर्तृत्व-भोक्तृत्व का अनुभव करता है। सोया हुआ मनुष्य अचेतन मन की सक्रियता से भीतर में स्वप्न देखता है। बाह्य नहीं अपितु सूक्ष्म शरीर तब सक्रिय रहता है और उसमें वह सुख-दुःखादि का अनुभव करता है। सुषुप्तावस्था गाढ निद्रा की अवस्था है। इसमें स्थूल-सूक्ष्म दोनों शरीर निष्क्रिय होते हैं।

जातवेदा–अग्नि का नाम है। कहीं-कहीं सूर्य को भी जातवेदा कहा है। इस शब्द का उल्लेख

कठोपनिषद् (2.1.8) एवं केनोपनिषद् (3.3) में किया गया है।

जालन्धरबन्ध–हठयोगानुसार शरीरगत वायु को नियन्त्रित करने के लिए कुछ बन्ध किए जाते है, उनमें एक जालन्धरबन्ध भी है। कण्ठ का आकुंचन करके ठोड़ी को कण्ठकूप में दृढ़तापूर्वक इस तरह स्थापित किया जाए कि ठोडी का अन्तर मात्र चार अंगुल का रह जाए और सीना आगे की ओर तना हो। कण्ठक्षेत्र के सभी नाडी-जाल को बाँधकर उस प्रदेश की सभी विकृतियों को इस तरह दूर करने से जालन्धरबन्ध होता है।

जितेन्द्रिय–सभी इन्द्रियों को वश में रखने वाला। अध्यात्म-मार्ग में इन्द्रिय-संयम की बड़ी महिमा है। मन को स्थिर बनाने में यह अनिवार्य है।

जीव–अविद्या (माया) से अवच्छिन्न चैतन्य को 'जीव' कहा जाता है।

जीवन्मुक्त–भारत में मानव-जीवन का परम लक्ष्य 'मोक्ष' या 'मुक्ति' है। ब्रह्म का साक्षात्कार (जान लेना) ही वह मुक्ति है। वह मुक्ति अविद्या की आवरण-विक्षेप शक्तियों को दूर करने से होती है। श्रवण-मननादि से आवरण का नाश होता है और ब्रह्म-साक्षात्कार होता है। वास्तव में तो जीवात्मा शुद्ध-बुद्ध-मुक्त स्वभाव वाला ही है। पर भ्रम से ही वह बद्ध दीखता है। गुरूपदेशादि से भ्रम के टूट जाने से वह प्राप्त की ही प्राप्ति करता है। यही मुक्ति है। मिली हुई-सी उस मुक्ति के आनन्द में डूबा हुआ साधक सांसारिक बातों से ऊपर उठकर प्रसन्नता से जीता है, उसे 'जीवन्मुक्त' कहा जाता है। इसके अतिरिक्त मृत्यु के बाद मुक्त होने वाले को 'विदेहमुक्त' कहते हैं। ये **मुक्तात्मा** हैं।

ज्ञान–सामान्य रूप से ज्ञान का अर्थ जानकारी होता है, पर दार्शनिक दृष्टि से इसका अर्थ है—यथार्थ अनुभव और वः भी परमतत्त्व का। अर्थात् ब्रह्म का साक्षात् अनुभव ही सच्चे अर्थों में ज्ञान है।

ज्ञान-भक्ति-कर्मयोग–गीतोक्त योग के ये तीन मुख्य विभाग हैं। योग का अर्थ 'परमात्मप्राप्ति' है। परमात्मा की सर्वव्यापकता का अनुभव ज्ञानयोग है; श्रद्धा, भक्ति, प्रेम से परमात्मा से जुड़ जाना **भक्तियोग** है और परमात्म-प्रीत्यर्थ निष्काम कर्माचरण करके उसे पा लेना **कर्मयोग** है। गीता में कर्मयोग की महत्ता (5.2) कही गई है।

ज्ञान-विज्ञान–यथार्थ ज्ञान के बिना मुक्ति नहीं होती। ज्ञानप्राप्ति गुरुसेवा-प्रणिपात-परिप्रश्न से होती है। ज्ञान की महिमा गीता 4.38, 4.33, 4.36, 4.37, 4.39 आदि में बहुत बार बताई गई है। और 'विज्ञान' का अर्थ विशिष्ट ज्ञान है। अर्थात् किसी विषय के तत्त्वों और सिद्धान्तों का क्रमबद्ध संगृहीत ज्ञान 'विज्ञान' कहलाता है।

ज्ञानवैराग्य संन्यासी–ज्ञानवैराग्य संन्यासी वह है, जो क्रमशः सभी शास्त्रों का अभ्यास करके, समस्त अनुभव प्राप्त करके ज्ञान तथा वैराग्य के तत्त्वों को अच्छी तरह समझकर देहमात्र को अवशिष्ट मानकर संन्यास ग्रहण करता है। (संन्यासो. 2.21)।

ज्ञान संन्यासी–ज्ञान संन्यासी वह है, जो शास्त्र-ज्ञान प्राप्त कर सांसारिक सद्गुणों और दुर्गुणों का अनुभव करके प्रपंच से उपरत होकर शरीर, शास्त्रों और लोक वासनाओं का परित्याग करके संसार की समस्त प्रवृत्तियों को वमन किया अन्न मानकर चारों साधनों से युक्त होकर संन्यासधर्म स्वीकार करता है। (संन्यासो. 2.20)

ज्ञानाग्नि–जीवन्मुक्त स्थिति में उसके ब्रह्मसाक्षात्कार होने पर ज्ञानरूपी अग्नि से उसके सभी संचित कर्म जल जाते है, ऐसा कहा है। (गी. 4.19, मुण्डक 2.2.8)। यह ज्ञान केवल जानकारी नहीं, अपितु पर साक्षात्कार (अनुभव) है।

ज्ञानेन्द्रियाँ–विषयों का ज्ञान कराने वाली पाँच इन्द्रियाँ—आँख, कान, नाक, जिह्वा और त्वगिन्द्रिय।

त

तद्वन–केनोपनिषत् के चौथे खण्ड के छठे मन्त्र में इस शब्द का प्रयोग किया गया है। शंकराचार्य ने 'तद्वन' शब्द का अर्थ 'ब्रह्म' किया है। तत् = उस (प्राणिसमूह) का वन = भजनीय जो है, वह तद्वन है। सभी का वह भजनीय इसलिए है क्योंकि वह सब का प्रत्यगात्मस्वरूप है—शंकर ने ऐसा अर्थ किया है। क्योंकि ब्रह्म की उपासना सम्भव न होने की पूर्वाकांक्षा के उत्तर में यह शब्द आया है। 'वन' शब्द का अन्य अर्थ 'जल' भी है। वह ताप (हृदयताप) को शान्ति देता है। तैत्तिरीयोपनिषद् (2.7) में उसे 'रस' कहा गया है।

तनुमानसी–अक्ष्युपनिषद् में बताई गई सात भूमिकाओं में तीसरी भूमिका है।

तप–विषयों (राग) से शरीर-मन को दृढ़तापूर्वक मुक्त करके उसे योग के लिए सज्ज बनाना ही 'तप' कहलाता है। शरीर और मन का संयम करके उनकी शक्तियों को ऊर्ध्वगामी करना भी तप है। 'तप' से असाधारण शक्तियाँ उत्पन्न होती हैं। तप कायिक-वाचिक-मानसिक—तीन प्रकार का होता है। देवादि की सेवा कायिक तप है, शास्त्राध्यनादि वाचिक तप है और भावशुद्धि आदि मानसिक तप है। श्रद्धापूर्वक निष्कामकर्माचरण सात्त्विक तप है। इस तरह सात्त्विक, राजस और तामस—ये तीन प्रकार के तप भी हैं। उपनिषदों में तप और स्वाध्याय में प्रमाद नहीं करने की बात कही गयी है (तैत्ति. 1.9)। तप की महिमा और फल तथा कर्तव्यता आदि को मुण्डक 1.1.8, तैत्ति. 3.2, मैत्रा. 4.3 आदि में बताया गया है।

तारकब्रह्म-तारकमन्त्र–अथर्वशिखोपनिषद् कहती है कि जो समस्त भयों एवं दुःखों को दूर कर दे वही 'तारक' है (2.1)। अथर्वशिर उपनिषद् (49) कहती है कि—जिस तारक मन्त्र के उच्चारण से ही गर्भ-जन्म-जरा-मरण और संसार के अन्य भयों से मुक्ति मिले वह **'तारक मन्त्र'** है। अद्वयतारकोपनिषद् में तो तारकमन्त्र का विस्तार से वर्णन किया गया है। उसमें तारकयोग का स्वरूप भी अच्छी तरह बताया गया है। अद्वयतारक (2) में तारकब्रह्म को प्रत्यगात्मा माना है (ब्रह्मयोगी-व्याख्या)। षडक्षर मन्त्र का ॐकार भी तारकमन्त्र माना गया है।

तुरीय-तुरीयातीत–प्राणियों की जाग्रदादि चार अवस्थाओं में अन्तिम अवस्था। यह चौथी मोक्षावस्था है। जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्ति की उत्पत्ति और लय को जानने वाला, स्वयं उत्पत्ति-नाश से रहित, जो नित्य साक्षी चैतन्य है, वही 'तुरीय' है और उस अवस्था को भी तुरीय कहते है। (स.सा. 4, ना.प. 5.1)। उस चौथी तुरीय अवस्था को जीतने वाले संन्यासियों को तुरीयातीत कहते हैं। परब्रह्म को भी तुरीयातीत कहा गया है। (बृ.उ. 5.14.3 तथा ना.प. 6.1)।

तैजस–सृष्टिविकास-क्रम में कारणरूप ईश्वर की इच्छानुसार सृष्टि के सर्जन-संकल्प के साथ ही सृष्टि-प्रक्रिया शुरू हो जाती है। इसी क्रम में सूक्ष्म तन्मात्राएँ, पञ्चभूत, ज्ञानेन्द्रियाँ, कर्मेन्द्रियाँ पञ्चप्राण आदि उत्पन्न होते हैं, बाद में पञ्चीकरण त्रिवृत्करण के आधाररूप सूक्ष्म शरीर उत्पन्न होता है। उस सूक्ष्म शरीर से उपहित चैतन्य को समष्टि के अभिप्राय से हिरण्यगर्भ और व्यष्टि के अभिप्राय से तैजस कहा जाता है।

तैंतीस देवता–'देव' शब्द विश्व की प्रकाशक कल्याणकारी शक्तियों का द्योतक है। इसे तैंतीस कोटि (श्रेणियों) में बाँटा गया है—आठ वसु, एकादश रूद्र, बारह आदित्य, एक पृथ्वी और एक द्यौ। (देखिए—शतपथब्राह्मण-4.5.7.2)।

त्रयताप-त्रिविध दुःख–ताप (दुःख) तीन विभागों में बाँटे गए हैं—(1) आधिभौतिक—जो दुःख बिच्छू, साँप आदि अन्य प्राणियों के द्वारा होते हैं। (2) आधिदैविक—जो दुःख प्रकृति से जुड़े होते हैं, जैसे—अतिवृष्टि, अकाल आदि। (3) आध्यात्मिक—जो दुःख मन से जुड़े होते हैं जैसे ईर्ष्या, द्वेष आदि।

त्रय शरीर-शरीरत्रय–शरीर भी तीन प्रकार के हैं—(1) स्थूल शरीर—दृश्यमान अंगावयवों (पञ्चभूतों) से निर्मित, (2) सूक्ष्म शरीर—अभौतिक, अमूर्त, अदृश्य पाँच तन्त्रमात्राओं, पाँच ज्ञानेन्द्रियों, पाँच कर्मेन्द्रियों और मन, बुद्धि आदि सत्रह तत्त्वों से निर्मित है। (3) कारण शरीर माया है, जो भावनाओं, इच्छाओं आदि से निर्मित है। सूक्ष्म शरीर को 'लिंग शरीर' भी कहते हैं।

त्रिगुणी-त्रिगुणमयी माया–ब्रह्म की शक्ति। इसी को माया, अज्ञान, अविद्या, अव्यक्त, प्रकृति, अलौकिक शक्ति, दैवी शक्ति, महद्ब्रह्म आदि कई नामों से कहा जाता है। तत्त्वत: न होने पर भी दिखाई देने वाली माया है। माया और ब्रह्म के योग से जगत् बना है। कृष्णोपनिषद् (4.5) में उसे त्रिगुणात्मिका कहा है। माया के ये तीन गुण सत्त्व, रजस् और तमस् हैं, जो क्रमश: शान्ति, गतिशीलता (सर्जकता) और आलस्य के प्रतीक हैं।

त्रिणाचिकेताग्नि–कठोपनिषद् में यमराज ने नचिकेता को जो यज्ञ का रहस्य बताया, वह अग्नि जिसे उन्होंने प्रसन्न होकर नचिकेता का नाम दिया था।

त्रिपाद् ब्रह्म–ईश्वर ने वामनावतार में तीन कदमों में सारे विश्व को नाप लिया था, इसलिए ईश्वर को 'त्रिपाद् ब्रह्म' कहा जाता है।

त्रिपुटी–ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञान के तीन पुटों (आकारों) का समूह 'त्रिपुटी' कहा जाता है।

त्रिपुरा–प्राणिमात्र के तीनों शरीरों में विद्यमान रहने के कारण उस चित् शक्ति को त्रिपुरा, त्रिपुरा-सुन्दरी और महात्रिपुरासुन्दरी कहा जाता है। (बह्वृच. 4)।

त्रिवृत् स्तोम–'स्तोम' के स्तुति, गुणगान, यज्ञ, समूह, राशि आदि अनेक अर्थ होते है। अधिकांशत: इसका अर्थ स्तुति ही होता है। सामगान के अन्तर्गत स्तुतिपरक छन्द ही स्तोम है (जैमिनि. 1.43.6)। कालान्तर में स्तुति की विशेष पद्धति को भी स्तोम कहा जाने लगा। (तैति.सं. 3.1.24 तथा वाज.सं. 9.33.10.10 आदि) सामगायकों द्वारा यज्ञ में प्रयोजनीय तीन-तीन मन्त्रों की तीन-तीन आवृत्ति से सम्पादित अभीष्ट संख्या वाले मन्त्रसमूह को स्तोम कहते हैं।

त्रैपुर–तीन पुरों की समष्टि को त्रैपुर कहा जाता है। (स्थूल-सूक्ष्म-कारण की व्यष्टि-समष्टि मिलकर त्रैपुर होता है।)

त्र्यक्षरी विद्या–साधना के अभीष्ट-सिद्ध्यर्थ की जाने वाली विधियाँ विद्या कहलाती हैं। इनमें त्र्यक्षरी विद्या भी एक है। सौभाग्यलक्ष्म्युपनिषत् में त्र्यक्षरी विद्या, श्रीविद्या है। सौभाग्यलक्ष्मी प्राप्त करने के लिए विहित विद्या को ही सौभाग्यलक्ष्मी विद्या कहा गया है। सुप्रसिद्ध श्रीसूक्त इसी विद्या के अन्तर्गत है। (अधिक जानकारी के लिए देखिए, सौ.ल. उपनिषद् 1.1, 1.5, 1.11 तथा बह्वृचोपनिषद् 8 और यो.कुं. 2.23-24)।

त्र्यम्बक–तीन आँखों वाले, शंकर, महेश्वर, ईशान, रुद्र, (स्त्री. त्र्यंबका)।

द

दक्षिणा–यज्ञ करने के बाद पुरोहितों को दिया जाने वाला दान। ब्रह्मचर्य समाप्ति के समय शिष्य द्वारा गुरु को दिया जाने वाला दान। प्रत्येक धार्मिक क्रिया के बाद पुरोहितों को दान देने का विधान शास्त्रों में है (ऋ. 10.107.2)। छान्दोग्य. (3.17.4) आत्मयज्ञ को भी दक्षिणा कहता है। दक्षिणा श्रद्धापूर्वक दी जानी चाहिए। (बृह. 3.9.19)।

दक्षिणाग्नि–अग्नि के अनेक प्रकारों में से एक दक्षिणाग्नि है। वह अन्नपाचन करने वाली अग्नि है।

दक्षिणायन–सूर्य जब कर्क रेखा से मकर रेखा की ओर जाता है, तब दक्षिणायन होता है।

दमन–इन्द्रियों को वश में (संयम में) रखना। बृहदारण्यकोपनिषद् में प्रजापति ने 'द द द' का उपदेश देकर दान, दया और दमन की शिक्षा दी है। आत्मसाक्षात्कार के लिए अधिकार प्राप्त करने के लिए जो षट् सम्पत्ति बताई है उसमें दम भी एक है। दम ही दमन है। स्वाध्याय के लिए भी दमन अनिवार्य है।

दर्शपूर्णमास–यज्ञ संस्कृति में जो प्रत्येक अमावास्या के दिन यज्ञ किया जाता है उसे 'दर्श' यज्ञ कहते हैं, और जो प्रत्येक पूर्णिमा के दिन यज्ञ किया जाता है वह पौर्णमास या पूर्णमासिक यज्ञ कहा जाता है। ये नियत यज्ञ है। (तैत्तिरीय

संहिता 1.6.9.3 और 2.5.6.2)। संहिताओं में इसकी तुलना देवयान मार्ग से की गई है।

दिग्बन्ध-दिग्बन्धन–अनुष्ठान यज्ञादि कार्यों में आसुरी तत्त्वों द्वारा किए जाने वाले सम्भावित विघ्नों को दूर करने के लिए अनुष्ठान (यज्ञ) स्थल की चारों दिशाओं में दैवी शक्ति के स्थापन के लिए ऋषियों ने दिग्बन्ध या दिग्बन्धन की विधि का निर्माण किया है। (लाङ्गुल. 2)

दहरपुण्डरीक–हृदयस्थ रक्तकमल जैसे प्रतीत होने वाले आकार को 'दहरपुण्डरीक' कहा है। वेदान्त भी यही कहता है (क्षुरिकोपनिषद् 10)। यही अनाहत चक्र है।

दीक्षा–संकल्पपूर्वक अनुष्ठान, अभीष्ट देवमन्त्र ग्रहण, यजन-पूजन-व्रतादि, यज्ञोपवीत संस्कार आदि। यों तो कई ग्रन्थों में दीक्षा की कई प्रकार की व्याख्याएँ मिलती हैं। प्रत्येक शुभ कार्य से पहले दीक्षा लेना अनिवार्य माना गया है। शास्त्रों में दीक्षा के लिए मुहूर्त भी निश्चित किए गए हैं। दीक्षा के अनेक प्रकार हैं, जैसे—मन्त्रदीक्षा, समयीदीक्षा, लोकदीक्षा, क्रियादीक्षा, कलादीक्षा आदि। बृहदारण्यकोपनिषद् (3.9.2) में दीक्षा की महिमा वर्णित है। कहा है कि दीक्षा सत्य में प्रतिष्ठित है। निर्वाणोपनिषद् (2.14) में तो परब्रह्म के संयोग को ही दीक्षा माना गया है।

दुख-सुख–अनुकूलवेदनीय सुख और प्रतिकूल-वेदनीय दु:ख है। सांख्यों के तापत्रय की चर्चा त्रयताप (त्रिताप) शब्द में हम कर चुके हैं। सच्चा सुख तो सच्चिदानन्दस्वरूप का अनुभव ही है। अन्य सुख विनाशी हैं।

देव-देवता–प्रधान देवता ब्रह्मा, विष्णु, और महेश क्रमश: सृष्टि के सर्जन, पालन और संहार के नियामक माने जाते हैं। 12 आदित्य, 8 वसु, 11 रुद्र और 2 द्यावा पृथिवी मिलकर 33 देवता माने गए हैं।

देवजयन–इसके तीन अर्थ होते है—1. वेदिस्थल, 2. यज्ञस्थल और 2. पृथ्वी। सामान्यत: इसका अर्थ 'देवों के लिए यज्ञक्रिया' ऐसा होता है, पर इसके वास्तविक अर्थ तो ऊपर बताए अनुसार ही हैं। शतपथब्राह्मण और कात्यायन श्रौतसूत्र में भी ऐसा ही अर्थ बताया गया है। जाबालोपनिषद् (1.1) और मनु (2.23) में भी यही अर्थ है।

देवयान–शरीर से उत्क्रमण करने के बाद परलोकगमन के दो भागों में से एक देवयान मार्ग है। देवयान से जाने वाला व्यक्ति ब्रह्मलोक को प्राप्त होता है। दूसरा पितृयान है, उससे जाने वाला व्यक्ति चन्द्रलोक को प्राप्त होता है। इसे अर्चिरादि मार्ग भी कहते हैं। इसका सम्बन्ध उत्तरायण, शुक्लपक्ष, दिवस आदि से है।

द्युलोक–स्वर्गलोक। अन्य अर्थों में आकाश भी होता है। यह शब्द ऋग्वेद में प्राय: 500 बार आया है।

द्रष्टा–इसका सामान्य अर्थ 'देखने वाला' होता है। पर अनेक विशेषण लगाकर अनेक अर्थ किए जा सकते हैं। हमारे ऋषियों को मंत्रद्रष्टा कहा गया है। उन्होंने मंत्रों का (ऋचाओं का) साक्षात्कार किया था। पातंजल में आत्मा को द्रष्टा और अन्त:करण को दृश्य कहा गया है। दृग्दृश्य विवेक से ही मुक्ति होती है, ऐसा वेदान्त कहता है। वेदान्त साक्षी चैतन्य को द्रष्टा कहता है।

द्वैत–जहाँ दो होते हैं वह द्वैत है। मध्वाचार्य द्वैतवादी हैं और आचार्य शंकर अद्वैतवादी हैं।

ध

धर्म-अधर्म–धर्म का सामान्य अर्थ है—'धारण करना'। दर्शनानुसार जिससे भौतिक उन्नति और आध्यात्मिक कल्याण हो, उसे 'धर्म' कहते हैं। मीमांसा में वेदविहित धर्मानुष्ठान को धर्म कहा गया है। न्याय में धर्म 24 गुणों में से एक है। गीता में वर्णाश्रम धर्म की बात कही है। स्मृतियों में दस लक्षण वाला धर्म कहा गया है। साधारण धर्म के रूप में मूल्यनिष्ठ जीवन को ही धर्म कहा गया है। इससे विपरीत परपीडनरूप उच्छृंखलता को अधर्म कहा गया है।

धर्मसूत्र–धर्म का विवेचन करनेके लिए सूत्रकाल में जो सूत्र-ग्रन्थ बने उन्हें धर्मसूत्र कहा जाता है।

उन सूत्र-ग्रन्थों में वर्णाश्रम धर्म, सदाचरण, सामान्य सर्वपालनीय सद्गुणात्मक धर्म आदि का निर्देश है। ये वेदों के 'कल्प' नामक अंग के अन्तर्गत आते हैं। श्रौत, कल्प, धर्म और गृह्य ऐसे चार प्रकार के सूत्र-ग्रन्थ हैं। आपस्तम्ब, हिरण्यकेशी, बौधायन, गौतम और वसिष्ठ—इतने धर्मसूत्र मुख्य हैं।

धाता–इसे ही 'विधाता' कहते हैं। विधान-निर्णय को करने, रचने या बनाने वाला विधाता या धाता है। ऋग्वेद में आदित्य को धाता (विधाता) कहा है (9.3.17) निरुक्त में उत्पादक को 'धाता' और आजीविकादि के प्रेरक को 'विधाता' कहा है (11.10)। मैत्रावरुण (5.8) के अनुसार परमेश्वर ही विष्णु, नारायण, अर्क, सविता, धाता, विधाता सब-कुछ है।

धारणा–अष्टांग योग का छठा अंग है। चारों ओर से चित्तवृत्तियों को हटाकर किसी एक विषय या स्थान पर स्थिर करने को धारणा कहा जाता है। (अमृतोपनिषद् 8 एवं 16; पा.यो.द. 3.1)।

ध्यान–अष्टांग योग का सातवाँ अंग। धारणा की धारावाहिता ही ध्यान है। ध्यान की पराकाष्ठा ही समाधि है।

धृति–सामान्यतः इसको धर्म के दस लक्षणों में से एक माना जाता है। अर्थ—धैर्य, धीरज धारण करना, सन्तोष, तुष्टि, मन की दृढ़ता, सोलह मातृकाओं में से एक आदि अनेक अर्थ हैं। वास्तव में जिससे मन, प्राण एवं इन्द्रियाँ वश में रहें, वही धृति है। इसके सात्त्विक, राजस और तामस रूप से तीन भेद गीता में बताए गए हैं।

ध्रुव–स्थिर, अचल, निश्चल, अटल, शाश्वत—ये इसके पर्याय हैं। कहीं-कहीं परमात्मा के पर्याय रूप में भी इस शब्द का प्रयोग किया गया है (कठ. 1.2.10)। 'ध्रुवा नीतिः' का अर्थ अटूट (अपरिवर्तनीय) नियम होता है। इसी को ब्रह्मविद्योपनिषद् में ज्ञानाग्नि का पर्याय ध्रुवाग्नि भी कहा है।

नव-चक्र–योगोपनिषदों के अन्तर्गत सूक्ष्मरूप से स्थित विभिन्न चक्रों का वर्णन आता है। यों तो छः चक्र या सात चक्र ही प्रसिद्ध हैं, परन्तु कुछ लोगों ने कुल नौ चक्र माने हैं। योगराजोपनिषद् और सौभाग्यलक्ष्म्युपनिषद् में कुछ पाठ-भेद के साथ नौ चक्र माने हैं। उनके मतानुसार पहला ब्रह्म चक्र है, दूसरा मूलकन्द (मूलाधार) है (इसे अग्निकुण्ड या कुण्डलिनी भी कहते हैं)। तीसरा नाभिचक्र है। चौथा हृदयचक्र या अनाहत चक्र है। पाँचवाँ कण्ठ चक्र (विशुद्ध चक्र) है। छठा तालुका (घण्टिका) चक्र है। सातवाँ भ्रूचक्र (विद्यास्थल) है। आठवाँ ब्रह्मरन्ध्र और नवाँ व्योम चक्र है। (देखिए, योगराजोपनिषद् 5-7, 12, 16-17 तथा सौ.ल.उप. 3.8-10 इत्यादि)।

नव द्वार–दो कान, दो आँखें, दो नासिकाएँ, मुख, गुदा और उपस्थ—ये नव द्वार कहे गए हैं।

नाचिकेताग्नि–कठोपनिषद् में यमराज से दूसरे वरदान के रूप में नचिकेता ने यज्ञीय विद्या माँगी थी। यमराज ने नचिकेता को सांगोपांग वह विद्या पढ़ाई। बाद के तीसरे 'मृत्युरहस्य' रूप वरदान माँगने पर यमराज द्वारा इस वरदान के एवज में उनके द्वारा प्रदत्त अन्य प्रलोभनों से वशीभूत न होते हुए नचिकेता की उस निश्चलता को देखकर उस अग्निविद्या का नाम नचिकेता के नाम पर उसे 'नाचिकेताग्नि' नाम प्रदान किया। इसे 'त्रिणाचिकेत' भी कहते हैं।

नाद-अनाहतनाद–नाद का सामान्य अर्थ ध्वनि है। आकाशस्थ अग्नि और मरुत् के संयोग से नाद उत्पन्न होता है, ऐसा संगीतज्ञ मानते हैं। इसे नादब्रह्म कहते हैं। उससे सारा जगत् व्याप्त है। योगीजन साधना में अनवरत गुंजायमान अनाहत नाद को सुनते रहते हैं। प्राणाग्नि के आधार से शरीर के अन्दर ध्यान स्थिर करने पर एक नाद सुनाई देता हैं। इसमें विविध ध्वनियाँ सुनाई देती हैं। प्रारम्भ में नाद बहुत जोर से अनेकविध सुनाई पड़ता है। अभ्यास के बाद वह सूक्ष्म से सूक्ष्मतर होता जाता है (नादबिन्दु. 33)।

पुष्परसमग्न भ्रमर जैसे पुष्पगन्ध की परवाह नहीं करता, उसी तरह नादासक्त चित्त विषयों की परवाह नहीं करता। (नादबिन्दु. 43)। मनोमृग को बाँधने का जाल नाद ही है (नादबिन्दु. 45)।

नारायण–सागर-जल में शेषशायी भगवान् नारायण सृष्टि के सर्जक, पालक और संहारक माने जाते हैं और उन्हें एक शक्ति मानकर पूजा जाता है। पुरुषसूक्त में उसी नारायण पुरुष का, विराट् पुरुष का उल्लेख है। मुद्गलोपनिषद् में भी उनकी महिमा का गान है। वे तीनों काल में अवस्थित हैं। वे सबसे परे और सबसे श्रेष्ठ हैं। (मुद्गल. 23)। नारायण से ही समष्टिगत प्राण और सभी इन्द्रियाँ उत्पन्न हुईं। सम्पूर्ण सृष्टि नारायण से ही जन्मी (नारा. 9)। वे ही एकमात्र विशुद्ध, निष्कलंक, निर्विकल, निरंजन हैं। (नारायणोप. 2, महोप. 1.1 और कलिसं. 1)।

निदिध्यासन–ज्ञानप्राप्ति के अन्तरंग साधनों में वह अन्त्य है। गुरुमुख से शास्त्र-श्रवण के बाद अपनी बुद्धि से शास्त्रानुकूल तर्क-समाधान करके फिर निश्चित वस्तु (आत्मा) का सतत ध्यान करना निदिध्यासन है। निदिध्यासन ही एक तरह से समाधि है। यह मनन का अग्रिम चरण है। आत्मा के विजातीय शरीरादि जड़ विषयों के विचार से रहित और अद्वितीय ब्रह्मविषयक सजातीय विचारों का तैलधारावत् सातत्य ही निदिध्यासन है। (बृहदा. 2.4.5)।

नियम–योग के आठ अंगों में से दूसरा अंग। ये पाँच प्रकार के हैं—1. शौच (आन्तर्बाह्य पावित्र्य), 2. सन्तोष, 3. तप, 4. स्वाध्याय और 5. ईश्वरप्रणिधान। (पात.यो.सू. 32, जाबाल-दर्शन. 1.20-22, 2.1, 2.3, 2.8, मनु. 4.12, गीता 6.17) आदि में इन नियमों का विस्तृत विवरण है।

निरञ्जन–जिसमें अञ्जन, कालिमा या अविद्या नहीं है, वह निर्गुण ब्रह्म।

निरहंकारिता–यह 'अमानित्व-अदंभित्व' गुण का पर्यायवाची शब्द है। यह उच्च सात्त्विक गुण है।

निर्गुण-सगुण–परब्रह्म के दो स्वरूप माने गए हैं—निर्गुण और सगुण। सगुण रूप से सकल (दृश्य) सृष्टि की उत्पत्ति होती है। दूसरा निर्गुण रूप ब्रह्म का पारमार्थिक स्वरूप है। निर्गुण का अर्थ गुणरहित है। परमात्मा की बनाई हुई सृष्टि तो सत्त्व, रजस् और तमोगुण से युक्त है, पर परमात्मा स्वयं इन गुणों से परे है। वह अव्यक्त और केवल ज्ञानगम्य है। सगुण व्यक्त है। निर्गुणोपासना कठिन और सगुणोपासना सरल है। निर्गुण तो निराकार, भेदरहित, नित्य, अविनाशी, सर्वोपाधि-विनिर्मुक्त, शुद्ध-बुद्ध-मुक्त स्वभाव है। (देखिए—कठ. 1.3.15, मुण्डक. 1.1.6, बृहदारण्यक. 2.3.6 आदि)।

निर्वाण–जन्म-मरण-निवृत्तिरूप मोक्ष का पर्याय-वाची शब्द है। निवृत्ति, मुक्ति।

निर्विकल्पक–विक्षेपरहित धारावाहिक एकाग्रता को समाधि कहते हैं। वह योग की पराकाष्ठा है। ध्यान की एकाग्रता करते-करते जहाँ तक ध्याता-ध्येय-ध्यान की त्रिपुटी का भान रहता है, वहाँ तक तो सविकल्प समाधि होती है, पर जब धीरे-धीरे ध्याता-ध्येय-ध्यान का भी भान नहीं रहता, तब उस स्थिति को निर्विकल्पक समाधि कहा जाता है। जैसे पानी में नमक घुल जाता है, ऐसा एकीभाव निर्विकल्प समाधि में होता है। (देखिए ह.यो.प्र. 4.5 और निरालम्बोप. 39)।

निःश्रेयस्–भौतिक उन्नति को 'अभ्युदय' या 'प्रेयस्' और आध्यात्मिक कल्याण को निःश्रेयस् अथवा 'श्रेयस्' कहा गया है।

निष्काम कर्म–कामनारहित कर्तव्यपालन ही निष्काम कर्म है। निष्कामकर्माचरण ही गीता का मुख्य सन्देश है। निष्काम कर्म लोकसंग्रह, ईश्वर-प्रीत्यर्थ या प्रारब्धपरिचालित भी होता है। इसमे चित्तशुद्धि होने पर ज्ञानप्राप्ति से मुक्ति मिलती है। निष्काम कर्मों में व्यक्तिगत कामना नहीं होती, जगत् के हित का प्रयोजन हो सकता है।

निःस्पृह–किसी भी स्पृहा (इच्छा) का त्यागी। भौतिक वस्तुओं की स्पृहा न रखने वाला व्यक्ति एकमात्र आध्यात्मिक कल्याण की ही आकांक्षा

रखता है (गीता 6.18, 14.12 और महो. 3.36) स्पृहा की उत्पत्ति और उससे मुक्ति की बात इनमें कही है।

प

पञ्चकोश–वेदान्त में मानव-शरीर के पाँच कोशों का वर्णन है—1. अन्नमय (स्थूल शरीर), 2. प्राणमय कोश, 3. मनोमय कोश, 4. विज्ञानमय कोश और 5. आनन्दमय कोश। ये आत्मा (चैतन्य) को आवृत किए हुए हैं।

पञ्च तन्मात्राएँ–सूक्ष्मभूत—शब्दतन्मात्रा, स्पर्श-तन्मात्रा, रूपतन्मात्रा, रसतन्मात्रा और गन्ध-तन्मात्रा—ये पाँच तन्मात्राएँ कही गई हैं।

पञ्चप्राण–प्राण पाँच माने गए हैं—प्राण, अपान, व्यान, समान, उदान। (विशेष विवरण 'प्राण' शब्द में देखें।

पञ्चभूत–पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश—ये पाँच भूत या पञ्चमहाभूत कहे जाते हैं।

पञ्चयज्ञ या **पञ्च महायज्ञ**–वानप्रस्थ के लिए हमेशा करने योग्य पाँच यज्ञ होते हैं—1. ब्रह्म यज्ञ (वेदों का अध्ययनाध्यापन), 2. देवयज्ञ (अग्निहोत्र), 3. पितृयज्ञ (श्राद्धतर्पणादि), 4. अतिथियज्ञ (मनुष्ययज्ञ) तथा 5. भूतयज्ञ (प्राणियों को खिलाना-पिलाना)।

पञ्चविध मुक्ति–जीवात्मा की इष्टदेव-प्राप्ति ही मुक्ति है। इसके पाँच प्रकार हैं—1. सालोक्य, 2. सामीप्य, 3. सारूप्य, 4. सायुज्य और 5. कैवल्य। 'सालोक्य' इष्टदेव के लोक की प्राप्ति है, 'सामीप्य' उनके समीप रहने की प्राप्ति है, 'सारूप्य' उनके जैसे रूप की प्राप्ति है, 'सायुज्य' उनके साथ जुड़ जाने की प्राप्ति है और 'कैवल्य' अपनी शुद्धचैतन्यमयता की प्राप्ति है। (देखिए मुक्तिकोपनिषद् 1.18-19, 21-25)।

पञ्चाग्नि–अन्वाहार्यपचन, आहवनीय, गार्हपत्य, आवसथ्य और सभ्य—ये पाँच प्रकार के अग्नि है। इन्हें पंचाग्नि कहते हैं। इनसे सम्बन्धित तत्त्वज्ञान को **पञ्चाग्निविद्या** कहते हैं। छान्दोग्योपनिषत् तो सूर्य, बादल, पृथ्वी, पुरुष, और स्त्री सम्बन्धी तात्त्विक ज्ञान को पञ्चाग्निविद्या कहती है। तो वायुपुराण गार्हपत्य, आहवनीय, दक्षिणाग्नि, सभ्य और आवसथ्य को पञ्चाग्नियाँ मानता है (वा.पु. 10.6.41-42)। मत्स्यपुराण (35.116) के अनुसार ययाति ने पाँच अग्नियों के बीच एक वर्ष तक तपस्या की थी। कठोपनिषद् में पञ्चाग्निसिद्ध पुरुषों को 'पञ्चाग्नयः' कहा गया है। पञ्चाग्निसिद्धि-प्राप्त मनुष्य मन्त्रशक्ति के नियामक होते हैं।

पञ्चीकरण–पाँच सूक्ष्म भूतों (तन्मात्राओं) को पहले प्रत्येक को दो-दो भागों में (आधे में) विभक्त करके फिर एक आधे भाग के चार भाग करके अपने से अन्य सूक्ष्म भूतों के साथ मिलाने से पञ्चीकरण होता है और सूक्ष्म में से स्थूलभूत (इन्द्रियभोग्य भूत) बनता है। जैसे $\frac{1}{2}$ पृथ्वी के साथ $\frac{1}{8}$ जल, $\frac{1}{8}$ वायु, $\frac{1}{8}$ तेज, $\frac{1}{8}$ आकाश मिलाने से स्थूल पृथ्वी बनती है। उसी तरह अन्य चारों भूतों के सन्दर्भ में समझ लेना चाहिए।

परब्रह्म–विश्व का परमतत्त्व ब्रह्म दो प्रकार का बताया गया है—1. पर और 2. अपर। परब्रह्म तो शुद्ध चैतन्य, नित्य शुद्ध, बुद्ध, मुक्त, निर्लेप और निर्गुण है। वही ब्रह्म जब सगुण बनता है, अपनी शक्ति (माया शक्ति) को लेकर गतिशील होता है तब वह सृष्टि का कर्ता सर्वज्ञ आदि हो जाता है, वही अपरब्रह्म है। परब्रह्म निर्गुण और अपरब्रह्म सगुण होता है।

परमगति–परमात्मा की अनुभूति की अवस्था ही परमगति है। इसे ही मुक्ति या मोक्ष कहते हैं। (कठ. 2.3.10 और गीता 8.11)।

परमज्योति–परब्रह्म ज्योतिस्वरूप, प्रकाशस्वरूप, ज्ञानस्वरूप होने से उसे परमज्योति कहा गया है। चिदात्मा, चिदानन्द, चिद्घन, चिन्मय, चैतन्य आदि सब उसी के पर्यायवाची शब्द है। परमपुरुष भी वही है, परात्पर भी वही हैं। परब्रह्म के अनेकानेक नाम हैं। उसी का स्थान परमपद है।

परमपद–वह भी परमगति ही है। मोक्ष या मुक्ति भी यही है। महाभारत के शान्तिपर्व (47.37) में श्रीकृष्ण को ही परमपद कहा है। परब्रह्म का निवास जहाँ हो, वह परमपद है। कठ. 1.3.1 में परमपद उसे कहा है, जहाँ से लौटकर मनुष्य पुनः यहाँ नहीं आता (कठ. 1.3.8)। वीतराग यति ही परमपद (मोक्ष) प्राप्त करते हैं।

परमव्योम–'व्योम' का अर्थ तो आकाश है, पर उसमें 'परम' लगा देने से इसका अर्थ 'परा चेतना' हो जाता है। ऋग्वेद में 'परा चेतना' के अर्थ में परमव्योम शब्द का कई बार प्रयोग हुआ है। ऋग्वेद में 'परा चेतना' से सृष्टि की उत्पत्ति और संचालन होता है, ऐसा वर्णित है। इसकी तुलना आज के कम्प्यूटर तन्त्र के 'मास्टर कम्प्यूटर' से की जा सकती है। मास्टर कम्प्यूटर से माइक्रोवेव टॉवर्स द्वारा विभिन्न कम्प्यूटर जुड़े रहते हैं। इसके लिए, 'गौरीर्मिमाय.....सहस्राक्षरा परमे व्योमन्' —यह ऋग्वेदीय मन्त्र (1.164.41) द्रष्टव्य है। यही मन्त्र एकाक्षरोपनिषद् में भी आया है। तदुपरान्त एकाक्षरोपनिषद् 1 और 4 में भी इसे हृदयव्योम, परमव्योम से प्रकाशित परा चेतना का ही संकेत दिया गया है।

परमसिद्धान्तश्रवण–'तत्त्वमसि' आदि महावाक्यों द्वारा जीव-ब्रह्म-ऐक्य का अनुसन्धान करते हुए, आत्मा और परमात्मा को प्राप्त करना ही सिद्धान्तश्रवण या परमसिद्धान्तश्रवण है।

परमहंस–संन्यासियों की चार कोटियों में से एक उच्चतम कोटि। वह शिखा-यज्ञोपवीतरहित, पाँच घरों से भिक्षा माँगकर, हाथ के ही पात्र में खाने वाला एक कौपीनधारी तथा एक चादर और दण्ड धारण करने वाला होता है।

परमात्मभाव–परमानन्द, ऐक्यानुभव. अद्वयानन्द, अद्वैतानन्द, अपरोक्षानुभूति—ये सभी पर्याय-वाची शब्द ही हैं।

परमात्मा–वेदान्तानुसार तो वास्तव में जीवात्मा और परमात्मा में भेद नहीं है, केवल उपाधिगत ही भेद है, किन्तु वैशेषिक दर्शन परमात्मा को जीवात्मा से अलग मानता है और उसे नित्य ज्ञानवान्, नित्य इच्छावान् और नित्य संकल्पवान् मानता है। वह सम्पूर्ण सृष्टि का संचालक और एक ही है। वह सर्वोपरि विशुद्ध आत्माओं का समूहरूप है। न्यायदर्शन उसे सबका कर्त्ता, भोक्ता, सर्वज्ञ, सर्वानुभवकर्ता मानता है। महाभारत में प्राकृत गुणों से बद्ध चैतन्य को आत्मा और उनसे मुक्त चैतन्य को परमात्मा माना गया है। गीता में क्षर-अक्षर से उत्तम पुरुष को परमात्मा कहा है (गीता 15.17)। वह सर्व-व्यापक और सर्वपोषक तथा अव्यय और ईश्वर है। गीता (13.22) में इसका पर्याप्त वर्णन है।

परलोक–इस पृथ्वीलोक (मर्त्यलोक) से अन्य कोई भी लोक। ऊपर और नीचे सात-सात लोक हैं।

परा-अपरा विद्या–वेदाध्ययन आदि अपरा विद्या है और अविनाशी ब्रह्म को जानने की विद्या परा विद्या है। उपनिषदों में दोनों विद्याओं को जानने योग्य कहा गया है।

परा-पश्यन्ती-मध्यमा-वैखरी–ये वाणी के चार रूप कहे गए हैं। मूलाधार चक्र से उठने वाले नाद को 'परा' वाणी कहते हैं। यह नाद मूलाधार से उठकर हृदय में जुड़ता है, तब वह '**पश्यन्ती**' वाणी कही जाती है। हृदय से उठकर बुद्धि में जुड़ने पर वही '**मध्यमा**' वाणी होती है और वही वाणी वहाँ से उठकर कंठ में आकर वागिन्द्रिय द्वारा स्फुटित होकर सर्वश्राव्य बनती है, तब उसे '**वैखरी**' वाणी कहा जाता है। इसका उल्लेख अलंकारकौस्तुभ, निघण्टु (2.23) और अथर्व-वेद (7.44.1) में किया गया है। अक्षमालोप-निषद् में चारों वाणियों का वंदन किया गया है। भगवान् श्रीकृष्ण ने वाणी को अपनी विभूति कहा है। (गीता 10.34)।

परिभूः–चारों ओर से आच्छादित किए हुए को 'परिभूः' कहा जाता है।

परिव्रज्या-परिव्राजक–धर्म और विद्या के प्रचार-प्रसार के लिए अथवा जनजागरण के लिए पूरे देश में घूमना परिव्रज्या कहलाता है। वानप्रस्थी, संन्यासी या त्यागी ऐसी परिव्रज्या करता है तो उसे परिव्राजक या परिव्राट् कहते हैं। सदैव श्रवण, मनन, चिन्तन, भजन आदि करते हुए,

सादा-सीधा-सरल जीवन जीते हुए, तितिक्षा आदि के साथ ऐसी परिव्रज्या करने वालों में नारद श्रेष्ठ माने गए हैं। आश्रमोपनिषद् (4) में परिव्राजकों के प्रकार बतलाए गए हैं।

पर्जन्य–सामान्य अर्थ तो मेघ या बादल होता है, पर कहीं-कहीं इसका अर्थ इन्द्रदेव, सूर्यदेव या विष्णुदेव भी किया गया है। पर्जन्य एक देवता-विशेष है। वह अन्तरिक्ष-स्थानीय वैदिक देवता हैं। (शतपथब्राह्मण 14.9.1.13; तै.सं. 7.5.18.1 तथा जै.बा. 1.114)।

पवमान–इसका शब्दार्थ 'पवित्रकारी' होता है। सोम पावनकारी होने से उसे 'पवमान' कहा गया है। कुछ स्तोत्रों को भी इसी कारण 'पवमान स्तोत्र' कहते हैं। (काठ.सं. 22.10, शत.ब्रा. 2.5.1.5, जैमि.ब्रा. 1.214 आदि अनेक स्थल देखे जा सकते हैं)।

पश्चिमलिङ्ग–संन्यासियों के कुछ चिह्न होते हैं। इन चिह्नों को धारण करने वाले संन्यासी 'व्यक्त-विष्णुलिंग' संन्यासी कहे जाते हैं। उनमें कुछ पूर्वलिंग और कुछ पश्चिमलिंग परिव्राजक कहे जाते हैं (निर्वाणोपनिषत् 3)। बाह्य चिह्न धारण करने वाले पूर्वलिंग (व्यक्त विष्णुलिंग) संन्यासी दया, क्षमा, निरहंकारिता, करुणा, निर्विकारिता आदि गुणों को धारण करते हैं, जब कि पश्चिमलिंग (अव्यक्त विष्णुलिंग) बाह्य चिह्नों को धारण किए बिना ही अन्त:करण में सभी गुण रखते हैं (देखें—निर्वाणोपनिषद् 1.58 की ब्रह्मयोगी टीका)।

पाप-पुण्य–अनिष्ट भावनाओं और अनिष्ट साधनों से किया जाने वाला निकृष्ट कार्य पाप है और शुभ भावनाओं और शुभ साधनों से किया गया मंगलकार्य पुण्य है। पुण्य का फल स्वर्गादि और पाप का फल नरक (दु:खादि) की प्राप्ति है। सत्संग पुण्यदायी और कुसंग पापदायी है। (निरा. 16.17)। परोपकार पुण्य का निमित्त और परपीडन पाप का निमित्त होता है।

पिंगला–शरीर में सुविख्यत तीन नाड़ियों में से एक। नासिका के दक्षिण भाग में स्थित नाडी।

पितर-पूर्वज-गोत्रज–पिता, दादा, परदादा आदि हमसे पहले जन्म लिए हुए हमारी पीढ़ियों के व्यक्तियों को पितर, पूर्वज या गोत्रज कहते हैं। इन्हें 'वंशज' भी कहा जाता है। उन पितरों के प्रति कृतज्ञता व्यक्त करने के लिए श्राद्ध-तर्पणादि किए जाते हैं। (छान्दोग्य. 2.22.2 तथा बृहदा. 4.3.33)।

पुत्रैषणा–तीन एषणाएँ हैं—वित्तैषणा, लोकैषणा, और पुत्रैषणा। पुत्रैषणा अर्थात् पुत्रप्राप्ति की इच्छा।

पुनर्जन्म–जब तक व्यक्ति की मुक्ति नहीं होती है, तब तक उसे बार-बार जन्मना-मरना पड़ता है। एक मृत्यु के बाद पुन: शरीर धारण करने को पुनर्जन्म कहते हैं (गीता 2.27)। यह पुनर्जन्म कर्मफल और आसक्ति के अनुसार विविध योनियों में होता रहता है। मुक्ति होने से ही इस चक्कर से छुटकारा मिलता है (गीता 18.16)।

पुरश्चरण–इसका सामान्य अर्थ है—'चलने से पहले।' किसी कार्य की सिद्धि के पूर्व में किए जाने वाले अनुष्ठान को पुरश्चरण कहा जाता है। ये तीन प्रकार के हैं—गति, आगति और स्थिति। गति बढ़ने, आगति लौटने और स्थिति ठहरने को कहते हैं। अभीष्टसिद्ध्यर्थ की जाने वाली साधना के साथ-ही-साथ प्रगति के अवरोधक दोषों को लौटाया भी जाता है। इस गति और आगति से पूर्व शक्ति को स्फुटित करने के लिए स्थिति को अपनाया जाता है। यही पुरश्चरण है। सामान्यत: सवा लाख मन्त्रों का अनुष्ठान सर्वसुलभ और सर्वकल्याणकारी है। इसकी विधि अत्यन्त जटिल है। इसकी विधि में थोड़ी भी असावधानी होने से इसके लाभ के बदले हानि भी हो सकती है। नित्यकर्म, सन्ध्या, पूजन, शापमोचन, हवन, तर्पण, मार्जन, अभिषेक, मुद्रा, विसर्जन और ब्राह्मणभोजन—इसका क्रियाकलाप है। अनेक तन्त्र-ग्रन्थों में बहुत-सी बातें अतिविस्तार से लिखी गईं हैं। (नृ.पू.ता. 1.16)।

पुराण–पुरातन, प्राचीन, पुराणकालीन सन्तों, महात्माओं, राजाओं और विशिष्ट पुरुषों की परम्परागत चली आती हुई कथाओं को पुराण कहते हैं। प्रधानत: अठारह पुराण हैं; और उपपुराण भी हैं, वे भी अठारह हैं। पुराणों के वक्ता व्यासदेव माने गए हैं। हमारा प्राचीन इतिहास उनमे वर्णित है।

पुरुष (पुराणपुरुष)–परमपुरुष। सबके पुर (शरीर) में रहने वाला अंगुष्ठमात्र पुरुष, जो आकारहीन और ज्योतिस्वरूप है, जो व्यापक और मुक्तिदाता है, वही पुरुष है। वही आत्मा, परमात्मा और अन्तरात्मा के तीन रूपों में प्रकट हुआ है। (कठ. 2.1.12-13, 2.3.8 तथा आत्मो. 1)। वह आदित्य के सदृश प्रकाशमान है (श्वेता. 3.8; छान्दोग्य 6.7.1, 3.16.1, 3.14.1, मुण्डक 1.12.11)। वह पुरुष षोडशकलायुक्त है। वह यज्ञरूप, संकल्परूप, अमृतरूप, अविनाशी, विराट् एवं विश्वपुरुष है।

पुरुषसूक्त–ऋग्वेद के दशम मण्डल के 90वें सूक्त को और यजुर्वेद के 31वें अध्याय के सोलह मन्त्रों को पुरुषसूक्त कहते है। इसमें विराट् नारायण की स्तुति है। मुद्गलोपनिषत् में इसके अर्थनिर्णय का विवेचन है।

पुरोनुवाक्या–यज्ञों में तीन प्रकार की आहुतियों में से एक पुरोनुवाक्या आहुति है। यह आहुति जिस मन्त्र को पढ़कर दी जाती है, उसे 'पुरोनुवाक्या' नाम से स्वीकार किया गया है। इन ऋचाओं को पृथ्वी, प्राण और भ्रातृव्य देवता से जोड़ा गया है। (शत. ब्रा. 14.6.1.9; बृहदारण्यक 3.1.10 तथा तै.सं. 1.6.10.4)।

पुर्यष्टक–स्थूल दृश्यमान शरीर के भीतर अनुमेय एक सत्रह तत्त्वों वाला सूक्ष्म शरीर माना गया है। कहीं-कहीं उस सूक्ष्म शरीर के इन सत्रह तत्त्वों को आठ अंगों में समाहित किया गया है। उन आठ अंगों का आलंकारिक नाम पुरी देकर उसे पुर्यष्टक कहा गया है। ये आठ पुरी—ज्ञानेन्द्रिय-पंचक, कर्मेन्द्रियपंचक, प्राणपंचक, सूक्ष्मभूत-पंचक, अन्त:करणचतुष्टय, काम, कर्म और अविद्या हैं (पैंगलोपनिषत् 2.5)।

पूर्णपुरुष–द्वन्द्वातीत, सनातन, परब्रह्म, विश्व के सर्जक-पालक-संहारक पुरुषब्रह्म। श्रीकृष्ण को भी पूर्णपुरुष कहा गया है। षोडशकलायुक्त पुरुष भी पूर्णपुरुष है। (नारा. 2; रुद्रहृदय. 6; कृष्ण. 10.12 आदि)।

पूषा–यह पोषणकर्त्ता देवता हैं। चारों वेद में इसका उल्लेख है। ऋग्वेद में 'पूषा' का अर्थ सूर्य की मानवपुष्टिप्रदात्री एवं मानवकल्याणकर्त्री बुद्धि किया गया है। यजुर्वेद में पूषा को सूर्य द्वारा प्रेरित देवता कहा गया है (यजुर्वेद 17.58)। तैत्तिरीय ब्राह्मण में उसे दीर्घायु और वर्चस्प्रदाता देवता बताया गया है। (तै.ब्रा. 1.2.1.19)।

पौर्णमासी यज्ञ–दर्श (अमावास्या) और पूर्णिमा के दिन प्रतिमास किए जाने वाले यज्ञों में प्रति पूर्णिमा के दिन किया जाने वाला यज्ञ।

प्रकृति-पुरुष–सांख्यदर्शनानुसार पुरुष और प्रकृति ये दो तत्त्व हैं। अव्यक्त प्रकृति ही **व्यक्त** जगत् के रूप में परिणत होती है। उपनिषदों के अनुसार तो उस प्रकृति की उत्पत्ति भी पुरुष से ही होती है। जैसे मकड़ी अपने से ही तन्तुजाल को उत्पन्न करती है और अपने में ही समा लेती है, वैसे ही पुरुष अपने से ही जगत् उत्पन्न करता है और अपने में ही समा लेता है। (मुण्डक. 1.1.7)। प्रकृति जड़ है और पुरुष चेतन। वे दोनों अलग-अलग कोई कर्म नहीं कर सकते। इसलिए पुरुष प्रकृतिस्थ होकर प्रकृति के तीन गुणों का उपयोग कर जगत् बनाता है। गीता में दोनों को अनादि माना गया है (गीता 13.19 और 13.21)।

प्रज्ञा-प्रज्ञान–प्रज्ञा का अर्थ प्रकृष्ट ज्ञान अथवा प्रकृष्ट बुद्धि है। और ऐसी बुद्धि या ज्ञान वाले विद्वान् को ही प्रज्ञान कहा जाता है। आत्मा-परामात्मा के अनुभूतिजन्य ज्ञान को ही प्रज्ञा या प्रज्ञान कहा जाता है। बुद्धि की दूरदर्शिता भी प्रज्ञा है। बौद्धिक (ज्ञातव्य वस्तुओं या तत्त्वों)

कामनाओं की ग्रहण-क्षमता भी प्रज्ञा है, ऐसा उपनिषदें मानती हैं। (कौषी.ब्रा. 1.7, 3.3; अध्यात्म. 44)। कौषीतकिब्राह्मणोपनिषद् में इसका कार्य-व्यवहार विस्तार से समझाया गया है (3.2)। उपनिषदों में इसलिए प्रज्ञान को ब्रह्म का पर्याय माना गया है (प्रज्ञानं ब्रह्म)।

प्रणव-'प्रणव' ॐकार है। नादबिन्दु उपनिषद् के अनुसार तत्त्वज्ञान प्राप्ति के बाद, प्रारब्ध क्षीण होने पर ॐकारस्वरूप परब्रह्म के साथ आत्मैक्य-चिन्तन करने से नादरूपी स्वप्रकाशित शिवतत्त्व का प्रादुर्भाव इस तरह हो जाता है, जैसे मेघावरण हट जाने से सूर्य प्रकाशित हो जाता है (ना.बि. 30)। अर्थात् प्रणव ही परब्रह्म और प्रणव ही नादब्रह्म है। वही ॐकार है। इसी ॐकार की नाद-साधना को 'प्रणवसन्धान' नाम दिया गया है। सिद्धासन में बैठकर, वैष्णवी मुद्रा धारण करके दाहिने कान में उठती हुई अनाहत ध्वनि अविरत सुननी चाहिए।

प्रतिष्ठा-इस शब्द के स्थापना, स्थान, गौरव, कीर्ति, आदर, निवास, आधार आदि पर्याय हैं। 'प्रतिष्ठा को जानने से मनुष्य इह-परलोक में प्रतिष्ठा पाता है'—ऐसा उपनिषद् में कहा गया है (छा. 5.1.3)। यहाँ प्रतिष्ठा का अर्थ परमात्मा का अदृश्य, अशरीर, अवर्णनीय, अनाश्रित, अभय प्रतिष्ठा (स्थिति) होता है। (तैत्ति. 2.7.1, जै.उ. 1.21.2)।

प्रत्यगात्मा-इसका अर्थ है निर्मल चित्तवृत्तिवाला आत्मा। विशुद्ध अन्तरात्मा (परमात्मा) के लिए भी इस शब्द का प्रयोग होता है। प्रत्यग् (भीतर का, अन्तस् का) आत्मा साक्षी चैतन्य है। वह प्रत्यगात्मा है (कठोपनिषत्)।

प्रत्याहार-आठ योगांगों में से पाँचवाँ अंग। (यो.द. 2.29) प्रत्याहार में चित्तवृत्तियों को या इन्द्रियों को अपने विषयों से हटाकर चित्त को हर स्थिति में शान्त रखकर अपने चिन्तन को आत्मा में ही लगाए रहना होता है। (अमृतनाद. 5)

प्रदक्षिण-प्रदक्षिणा-देवपूजा आदि अवसरों पर देवमूर्ति को दाहिनी ओर करके दायें से चारों ओर श्रद्धापूर्वक घूमना ही प्रदक्षिण या प्रदक्षिणा अथवा परिक्रमा कही जाती है। देवभेद से परिक्रमा की संख्या भी ज्यादा-कम होती है। 'कर्मलोक' नाम के ग्रन्थ में ऐसा संख्या-निर्णय किया गया है। कालिकापुराण कहता है कि दायाँ हाथ फैलाकर, सिर झुकाकर, देवता को दाहिनी ओर करके एक या तीन बार की जाने वाली परिक्रमा को 'प्रदक्षिण' कहा जाता है। वह कामनापूर्ति करने वाली होती है (अक्षको. 15)।

प्रपञ्च-शास्त्रों में इसका अर्थ भवसागर या संसार से लिया जाता है। विस्तार, फैलाव, उथलपुथल, पञ्चतत्त्वों के अनेकानेक भेद आदि अन्य अर्थ भी है। (आत्मबोधोपनिषद् 2.11.12 और महोपनिषद् 3.4.9)।

प्रमादः-मानसिक आलस्य, शैथिल्य, निष्क्रियता। प्रमाद लापरवाही और आन्तरिक दुर्बलता को भी कहते हैं। इसे ब्रह्मनिष्ठों के द्वारा त्याज्य माना गया है। ब्रह्मवादी के लिए प्रमाद को मृत्यु जैसा कहा गया है (अध्या. 15)। गीता (14.8) में प्रमाद को तमस् कहा गया है। प्रमाद के कारण कर्तव्यशीलता नष्ट हो जाती है।

प्रमेय-अप्रमेय-जो पदार्थ (वस्तु) प्रमायोग्य (यथार्थ ज्ञान कराने योग्य) प्रमाणों द्वारा सिद्ध किए जाने योग्य हो, उसे 'प्रमेय' कहा जाता है। इस दृष्टि से जगत् का प्रत्येक पदार्थ प्रमेय ही है और जो उससे विपरीत हो अर्थात् जो किसी प्रमाण से सिद्ध न किया जा सके उसे अप्रमेय कहते हैं। ऐसा अप्रमेय ब्रह्म है। वह मानवों को बुद्धिगम्य नहीं है। शास्त्रों में प्रतिपादित ब्रह्म की व्याख्याएँ ब्रह्म के निकट तो हैं, पर पूर्ण नहीं हैं। इसीलिए शास्त्र भी 'नेति-नेति' कहकर विरत हो जाते हैं। (सं.ब्रा.उ. 3.1.3)

प्राजापत्य-कामनापूर्ति के लिए श्रौतसूत्रों में बताए गए अनेकानेक यज्ञों (इष्टियों) में से एक। यद्यपि आहिताग्नि द्वारा दर्शपौर्णमास भी इष्टि ही है, पर प्रयोजन-भेद से इन इष्टियों के मित्रविन्देष्टि, आग्नेय इष्टि आदि अनेक भेद किए गए हैं। कुछ विद्वानों के मत में संन्यास-दीक्षा के पूर्व अपना सर्वस्व देकर 'प्राजापत्य' यज्ञ करना चाहिए। याज्ञवल्क्यस्मृति (3.56) में इसका पूर्वोक्त प्रकार से ही वर्णन किया गया है। शंखस्मृति (7.1) में वही श्लोक पाठभेद में उद्धृत है।

प्राज्ञ-यह जीव की एक संज्ञा है। अविद्योपहित चैतन्य ही जीव है। जीव का सम्बन्ध स्थूल, सूक्ष्म और कारण—तीनों शरीरों से है। अहंकार आदि का कारण अज्ञानोपहित चैतन्य ही कारण-शरीर है। तीनों शरीरों से सम्बद्ध चैतन्य को इस प्रकार संज्ञाएँ दी गई हैं—स्थूलशरीर से सम्बद्ध व्यष्टि चैतन्य की 'विश्व', सूक्ष्मशरीर से सम्बद्ध व्यष्टि चैतन्य की 'तैजस्' और कारणशरीर से सम्बद्ध व्यष्टि चैतन्य की संज्ञा 'प्राज्ञ' है।

प्राणहंस-प्रणवहंस-मुख्य प्राण-जीवात्मा के लिए 'हंस' शब्द का प्रयोग तो उपनिषदों में अनेकानेक बार आता रहता है, पर कभी-कभी प्राण या मुख्य प्राण के लिए भी हंस शब्द का प्रयोग देखा जाता है (कौ.ब्रा.उ. 3.2)। जीवात्मा वस्तुतः मुख्य प्राण ही है, इसलिए मुख्य प्राण को भी 'हंस' कहा जाता है। प्रणवोच्चारण में मुख्य प्राण की स्वयंचालित प्रक्रिया होती है। इसलिए वह प्रणवहंस भी है। (पाशुपत, पूर्व० 19)

प्राणायाम-आठ योगांगों में चौथा अंग प्राणायाम है। प्राणों पर प्रभुत्व प्राप्त करने के लिए प्राणायाम का विधान है। आसन के स्थिर होने के बाद श्वास-प्रश्वास की गति रोकने को 'प्राणायाम' कहा जाता है। श्वास-प्रश्वास के गति-प्रवाहों को रेचक-कुम्भक-पूरक के माध्यम से बाहर-भीतर दोनों स्थानों में रोकना (विराम देना) ही 'प्राणायाम' है। प्राणायाम के अनेक प्रकार हैं। उनमें प्राणाकर्षण, अनुलोम-विलोम, नाडीशोधन आदि प्राणायाम मुख्य हैं।

प्रारब्ध-मनुष्य द्वारा पूर्व में किए गए सभी कर्म **'संचित'** होते हैं। मनुष्य अभी जो कर्म कर रहा है वे **'क्रियमाण'** कहलाते हैं और जिन किए गए संचित कर्मों का फल मनुष्य अब भोग रहा है, उन फलोन्मुखी कर्मों को **'प्रारब्ध'** कर्म कहते हैं। दृष्टान्त रूप में जो बीज हम आज खेत में बो रहे है वह **क्रियमाण** कर्म जैसा है, बाद में उत्पन्न हुआ जो अन्न हमारे कोठारों में पड़ा है, वह **संचित** कर्मों जैसा है, और जो अनाज हम खा चुके हैं और जिसने पचने का कार्य शुरू कर दिया है, वह **प्रारब्ध** कर्म जैसा है। प्रारब्ध हमारे हाथ में नहीं है। सभी कर्मों का फल तो अवश्य मिलता ही है। ज्ञानाग्नि भी प्रारब्ध कर्मों का नाश नहीं कर सकता। वह संचित, क्रियमाण और भावि कर्मों का ही नाश कर सकता है।

फ

फेनप-वानप्रस्थाश्रम के किए गए वैखानस आदि चार भेदों में से एक 'फेनप' नाम का भेद भी है। फेनप वानप्रस्थी विक्षिप्तवत् रहता है, शीर्ण पत्र-फल ही खाता है, अग्निपरिचरण करता है, कहीं भी विश्राम कर लेता है, नियमित पंचयज्ञादि क्रियाएँ करता है और साधना में निरत रहता है (आश्रमोपनिषद् 3)। कुछ लोग कहते हैं कि वृक्षों से अपने-आप ही नीचे गिरते हुए पत्रों और फलों को 'फेन' कहा जाता है और उन्हें ग्रहण करने के कारण ऐसे वानप्रस्थियों को 'फेनप' कहा गया है। श्रीमद्भागवत (3.12.43) की व्याख्या में बताया गया है कि दूध पीते हुए बछड़े के मुख से गिरते हुए दूध के फेन से जो अपनी आजीविका चलाता है, उसे फेनप कहते हैं।

ब

बन्ध-हठयोगानुसार शरीर-शुद्ध्यर्थ किए जाने वाले लगभग पाँच बन्ध बताए गए है। अष्टोत्तर-शतोपनिषदन्तर्गत योग-प्रधान उपनिषदों में इन पाँच बन्धों में से मूलबन्ध, उड्डियाणबन्ध और जालन्धर बन्ध—इन तीनों बन्धों का वर्णन प्रायः मिलता ही है। इसके अतिरिक्त महाबन्ध और महावेध का वर्णन भी पाया जाता है।

बन्धन-मोक्ष-प्राप्ति में बाधक सभी घटक बन्धन कहे जाते हैं। सांसारिक पदार्थों (विषयों-व्यक्तियों) में अतिलगाव या आसक्ति ही बन्धन है। सकाम कर्म बन्धन हैं, विषय-विकार और

अहंभाव बन्धन है। निरालम्ब उपनिषद् में इसका भली-भाँति विस्तृत विवेचन किया गया है। (निरा. 18.28)। गीता (3.9) में भी यज्ञार्थ कर्मों के अतिरिक्त कर्मों को **बन्धन** कहा गया है। मैत्रायण्युपनिषद् (4.11) में मन को ही बन्धन और मोक्ष का कारण माना गया है।

बला-अतिबला–सामान्यत: 'बला' शब्द का अर्थ आपत्ति, दु:ख, भूत-प्रेतादि का आवेश, आफत, रोग इत्यादि के लिए होता है। 'बला' नामक एक औषधि भी होती है, जो बलवर्धक, पुष्टिकारक और कफ-पित्त-नाशक होती है। यह बला औषधि—बला, अतिबला, महाबला और नागबला नाम से चार प्रकार की होती है। बला शब्द का तीसरा अर्थ **विशिष्ट** प्रकार की विद्या भी होता है। इसे **'ब्रह्मकन्या'** विद्या कहा गया है। विश्वामित्र ने यह विद्या राम को सिखाई थी। इस विद्या के प्रभाव से युद्ध में भूख-प्यास नहीं लगती। सावित्र्युपनिषद् में इस विद्या के छन्द, ऋषि, देवता, विनियोग आदि बताये गए हैं। यह विद्या उपनिषदों की अन्य अनेक रहस्यमय विद्याओं में से एक है।

बलि–भूमि की उपज का जो भाग कृषक प्रतिवर्ष राजा को देता है, उसे 'बलि' कहते हैं। देवों को दिया गया उपहार, भेंट या भोज्य पदार्थ भी बलि कहलाता है। पंच यज्ञों में चौथे भूतयज्ञ को भी **'बलि'** कहा गया है (भूतबलि, श्वानबलि, काकबलि, देवबलि आदि)। श्राद्ध में पितरों को दिया जाने वाला **'बलि'** नामक पितृयज्ञ होता है। समस्त प्रज्ञा और समस्त देव ब्रह्म को प्राणरूप बलि भेंट करते है। (प्रश्न. 2.7, कौ.ब्रा. 2.1)।

बिन्दु–बिन्दु के कोशलभ्य अर्थ तो अनेक होते हैं, पर यहाँ के सन्दर्भ में हठयोग के ब्रह्मचर्य प्रकरण में बताये हुए वीर्यबिन्दु के संरक्षण के लिए किया जाने वाला योग ही इसका अर्थ है। अर्थात् बिन्दु का अर्थ वीर्यबिन्दु संरक्षण ही है। (ह.यो.प्र. 3.88-89)। भागवत और शारदातिलक के अनुसार परमेश्वर से शक्ति, शक्ति से नाद और नाद से बिन्दु उत्पन्न हुआ है। कुंजिकातन्त्र में तो बिन्दु को सर्वप्रथम उत्पन्न हुए ब्रह्म का ही रूप माना गया है। क्रियासार में बिन्दु को शिवात्मक और बीज को शक्त्यात्मक माना है। नाद और बिन्दु का घनिष्ठ सम्बन्ध होने से इन दो शब्दों का प्राय: एक साथ ही उल्लेख होता रहता है। मण्डलब्राह्मणोपनिषत् में उस ब्रह्म को **नादबिन्दु**, कालातीत और अखण्डमण्डलाकार कहा गया है (मं.ब्रा.उ. 2.1.4)। योगशिखोपनिषद् (6.72) में नाद को ही बिन्दु और बिन्दु को ही **'चित्त'** कहा गया है। इसी प्रकार बिन्दु की उत्पत्ति-स्थितिलय का कारण मन ही बिन्दु है—ऐसा योगशिखोपनिषद् (6.73) में कहा गया है। इस प्रकार 'बिन्दु' शब्द के अनेक अर्थ प्राप्त होते हैं। योग और ध्यान के सन्दर्भों में यह शब्द चित् आदि के लिए प्रयुक्त होता है।

बुद्धि-धी–यहाँ के सन्दर्भ में यथार्थ निश्चय करने वाली मन की शक्ति को 'बुद्धि' कहा गया है। इसी को धी, मति, धीष्णा आदि भी कहते हैं। इसका परिष्कृत रूप मनीषा है। इसके उत्तरोत्तर विकास के अनुसार क्रमश: ये नामान्तर होते हैं—प्रज्ञा, मेधा, भूमा और ब्राह्मी स्थिति। बुद्धि को चैतन्यात्मा का गुण माना है। मन, इन्द्रियाँ और अहंकार बुद्धि के लिए ही कार्य करते हैं। गायत्री मन्त्र में सविता को बुद्धि को प्रेरित करने के लिए कहा गया है। गीता में गुणानुसार बुद्धि के तीन भेद किए गए हैं। अन्त:करणचतुष्टय में बुद्धि को महत्तत्त्व का निश्चयात्मक स्थान प्राप्त है। (ना.प. 6.3)।

बृहत् या बृहन्–ब्रह्मचारी के चार भेदों में से एक भेद। जीवन भर गुरुकुल का त्याग न करने वाले ब्रह्मचारी को बृहत् या बृहन् कहते हैं।

बोध–ज्ञान, अनुभूतिजन्य ज्ञान, जानकारी आदि इसके अर्थ हैं। बोध की पराकाष्ठा आत्मबोध है। सत्यभाव-दयाभाव-ब्रह्म में अहंभाव (अहं ब्रह्मास्मि) ही ज्ञान की पराकाष्ठा है। जागरण-स्मरण-ज्ञान आदि को प्रतिबोध कहा जाता है। अन्त:करण की प्रेरणा से उत्पन्न ज्ञान को भी **प्रतिबोध** कहा जाता है। केनोपनिषद् (2.4) में प्रतिबोध से परमात्मप्राप्ति की बात कही गई है।

ब्रह्म–उपनिषदों का मुख्य प्रतिपाद्य विषय है—परब्रह्म। निरतिशय महान्, बुद्धिमान, सर्वज्ञ, सत्तावान, विद्यमान, शाश्वत, नित्य, अपरिवर्तन-शील तत्त्व ही ब्रह्म है। वही सच्चिदानन्द, सत्य-ज्ञान-अनन्त रूप है, वही ब्रह्म का सही स्वरूप है। स्वरूपान्तर्गत अन्य-भेदक ऐसे इस लक्षण को स्वरूपलक्षण कहते हैं, परन्तु जो लक्षण स्वरूप के भीतर न होने पर अन्यों से भेद करता है, वह तटस्थ लक्षण है जैसे सृष्टिसर्जक-पालक-संहारक ब्रह्म (तै. 3.1)। ब्रह्म तो जन्मादि से परे है—ये जन्मादि उसके भीतर नहीं हैं। अत: यह तटस्थ लक्षण हुआ। ब्रह्म के इन दोनों लक्षणों के प्रतिपादक वाक्य श्रुतियों में मिलते हैं (कठ. 1.3.35)। इन दोनों लक्षणों के अनुरूप शास्त्रीय मान्यतानुसार ब्रह्म के दो रूपों की कल्पना की गई है—1. सगुण और 2. निर्गुण। 'ब्रह्म' शब्द के अन्य अर्थों में—वेद, ब्रह्मा, ब्राह्मण आदि हैं। परब्रह्म को ही ब्रह्मतत्त्व कहते हैं।

ब्रह्मचर्य–चारों आश्रमों में प्रथम पचीस वर्ष की अवधि का वेदाध्ययन का यह आश्रम है। उपनयन के बाद यह आरम्भ होता है। ब्रह्मचर्य-व्रत के द्वारा परमात्म-प्राप्ति का विधान है। ब्रह्मचर्य के व्रत का पालन करके देवों ने मृत्यु को जीत लिया, ऐसा वर्णन अथर्ववेद (11.7.19) में है। वीर्यरक्षा के लिए अष्टविध मैथुन से बचना भी ब्रह्मचर्य है।

ब्रह्मचारी–जो ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करता है उसे ब्रह्मचारी कहा जाता है। ब्रह्म अर्थात् वेद का चिन्तन-मनन करने वाला ब्रह्मचारी कहलाता है। आश्रमोपनिषद् में ब्रह्मचारी के चार भेद बताए है—1. गायत्र, 2. ब्राह्म (ब्राह्मण), 3. प्राजापत्य तथा 4. बृहन् या बृहत् (आश्रम. 1)। इनमें 48 वर्षों तक वेदाध्ययन-चिन्तन करते हुए ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करने वाला ब्राह्म (ब्राह्मण/ **ब्रह्मचारी**) कहलाता है और जो गृहस्थ होते हुए भी केवल ऋतुकाल में ही स्त्रीसंग करता है, वह **प्राजापत्य** कहलाता है। वह अन्य दारत्यागी होता है। जो ब्रह्मचारी उपनयन के बाद तीन रात तक अलवण (नमकरहित) भोजन करता हुआ गायत्री का जाप करता रहता है, वह गायत्र ब्रह्मचारी कहलाता है और बृहत् या बृहन् ब्रह्मचारी की व्याख्या तो पहले **'बृहत्'** या बृहन् शब्द में बता चुके हैं। (आश्रमोपनिषत् 1)

ब्रह्मजज्ञ–ब्रह्म + ज + ज्ञ अर्थात् ब्रह्मा से जन्मी हुई सृष्टि को जानने वाला। अग्निदेव सर्वव्यापक होने से वे सर्वज्ञाता 'ब्रह्मजज्ञ' कहे जाते हैं। (कठोपनिषद् 1.1.17)

ब्रह्मनाडी–सुषुम्ना नाडी का अन्य नाम **ब्रह्मनाडी** है। सुषुम्ना का अन्य नाम **ब्रह्मद्वार** भी है।

ब्रह्मनिष्ठ–ब्रह्मविद्या के प्रति एकनिष्ठ पुरुष को ब्रह्मनिष्ठ कहा जाता है। अथवा ब्राह्मणवृत्ति या ब्रह्मज्ञान से सुसम्पन्न व्यक्ति को ब्रह्मनिष्ठ कहते हैं।

ब्रह्मरन्ध्र–मस्तक के बीच एक गुप्त छिद्र है। इस छिद्र में प्राण निकलने पर ब्रह्मलोक की प्राप्ति होती है। योगियों के प्राण इसी छिद्र से निकलते है। इसको मोक्षद्वार भी कहते हैं। इसे सुषिरमण्डल भी कहते है (अमृ. 26)। जिस साधक के प्राण इस मण्डल को भेदकर सूर्य तक पहुँच जाते हैं, उसकी कहीं पर भी मृत्यु हो, उसकी मुक्ति हो ही जाती है (अमृत. 39)।

ब्रह्मलोक–देवयान-मार्ग के परलोकगमन करने वाले को अन्त में प्राप्त होने वाला लोक। मोक्ष, ब्रह्मात्मैक्य।

ब्रह्मविद्या–उपनिषदों की प्रमुख प्रतिपाद्य विद्या। ब्रह्म का (परमतत्त्व का) ज्ञान कराने वाली विद्या। यही सब विद्याओं की आधारभूत विद्या है। (मुण्डक. 1.1.1)। अन्य विद्याएँ नाशवंत हैं, किन्तु ब्रह्मविद्या स्थिर (शाश्वत) है। (शुकरहस्यो-पनिषत्)।

ब्रह्मपुर–हृदयस्थ अष्टदलकमल अथवा दहर पुण्डरीक का यह पर्यायवाची शब्द है।

ब्रह्मयज्ञ–वेदों के अध्ययन-अध्यापन को ब्रह्मयज्ञ कहते हैं। प्रतिदिन करणीय पाँच महायज्ञों में से यह एक है।

ब्रह्मलीन–जीवन्मुक्त पु॰॰ शरीर त्यागकर ब्रह्मलीन होता है। इसको पुन: सूक्ष्म शरीर नहीं होता।

ब्रह्मवेत्ता–ब्रह्म को जानने, समझने या अनुभव करने वाला, ब्रह्मज्ञानी। अन्य अर्थ में वेदों को जानने वाला भी ब्रह्मज्ञ या ब्रह्मवेत्ता कहा जाता है। गीता में स्थिरबुद्धि और मोहरहित को ब्रह्मवेत्ता (ब्रह्मविद्) कहा गया है (गीता 5.20)। आत्माराम और आत्मक्रीड को भी ब्रह्मवेत्ताओं में श्रेष्ठ माना गया है। (मुण्डक. 3.1.4)।

ब्रह्मसन्ध्या–सन्धिकाल में ईश्वरोपासना। ऐसी सन्ध्या को पाशुपतब्रह्मोपनिषत् में मानसिक यज्ञ कहा गया है। (पा.ब्र., पू.का. 18)

ब्रह्मा–सगुण ब्रह्म के तीन रूप माने गए हैं—ब्रह्मा, विष्णु और महेश। यह ब्रह्मा का रूप सृष्टि के सर्जन का कार्य करता है। ये ब्रह्माजी पुराणों-वेदों और आदि के प्रकटकर्ता भी माने गए हैं। किसी यज्ञ के प्रधान सम्पादक-संरक्षक ऋत्विज् को भी ब्रह्मा कहा जाता है। इन्हें ही धाता, विधाता, प्रजापति, हिरण्यगर्भ, पितामह आदि नामों से कहा जाता हैं। पुराणों के अनुसार सागर में शेष-शय्या पर सोये हुए विष्णुजी के नाभि-स्थित कमल से ब्रह्माजी स्वयं आविर्भूत हुए। इसलिए उन्हें स्वयंभू भी कहते हैं। सभी कलाएँ, विद्याएँ, सब कुछ ब्रह्माण्ड इन्हीं से उत्पन्न हुआ। ब्रह्मा की पत्नी 'ब्रह्माणी' के रूप में मान्य है। (देखिए मुं.उ. 1.1.1)।

ब्रह्माण्ड–ऊपर एवं नीचे के सात-सात कुल चौदह लोक मिलकर ब्रह्माण्ड होता है। ब्रह्माण्ड अति महत् परिमाण वाला है। बृहदारण्यकोपनिषद् में ब्रह्माण्ड के आकार का वर्णन किया गया है।

ब्राह्मण–ब्रह्म (परमतत्त्व) को जानने वाला ब्राह्मण है। वेदों को जाने वाला भी 'ब्राह्मण' कहा जाता है। चार वर्णों में से पहला वर्ण भी ब्राह्मण कहा जाता है। ब्राह्मण को पृथ्वी का देवता कहा गया है। ब्राह्मणवर्ण के कर्तव्य स्मृतियों में बताए गए हैं (मनु. 1.88)। ब्राह्मण की व्याख्या याज्ञवल्क्य ने गार्गी से बृहदारण्यकोपनिषद् (3.8.10) में बताई है। कहा है कि जो अक्षर-अविनाशी-आत्मतत्त्व को जानकर इस लोक से प्रयाण करता है, वह ब्राह्मण है। बृहदारण्यक (3.5.1 तथा 1.4.15) में भी क्रमश: ब्राह्मण की दिनचर्या और ब्राह्मण की उत्पत्ति के बारे में बताया गया है।

ब्राह्मी स्थिति–योगी की विविध अवस्थाओं में से एक। अक्ष्युपनिषद् ओर महोपनिषद् में पाठ-नाम के भेद से ऐसी सात अवस्थाएँ बताई गई हैं। जीवन्मुक्तावस्था को प्राप्त होकर साधक समस्त लोकव्यवहारों का निर्वहन करते हुए भी जब ब्रह्मातिरिक्त और कुछ नहीं देखता और स्वयं को ब्रह्म में लीन हुआ-सा अनुभव करता है, तब उस स्थिति को 'ब्राह्मी स्थिति' कहा जाता है। ऐसी ब्राह्मी स्थिति का सविस्तार वर्णन महोपनिषद् (6.66-73) में किया गया है।

भ

भद्रासन–दोनों पैरों के टखनों को वृषण के नीचे सीवन के दोनों पार्श्व भागों में इस प्रकार रखा जाए कि बाँया टखना सीवन के वाम पार्श्व में स्थित पैर को हाथों द्वारा दृढ़ता से पकड़ सके। (जा.द. 3, 7)

भर्ग–सूर्य के तेज या दीप्ति (ज्योति) को भर्ग कहा जाता है। 'भर्ग' शब्द भूनने के अर्थ से बनता है। अर्थात् पापों को भूनने के लिए सूर्योपासना करनी चाहिए। भगवान् शिव के लिए भी 'भर्ग' शब्द का प्रयोग देखा जाता है। मैत्रायण्युपनिषद् में कहा है कि जो सूर्य में स्थापित है, वही भर्ग आँख की पुतलियों में भी है। उसकी कान्ति से मनुष्य गति कर सकता है। भर्ग को सबको तापने वाला कहा गया है। साथ ही साथ उसे प्राणियों का रंजन करने वाला भी कहा गया है। प्राणियों में जाने से वह भर्ग है अथवा प्राणियों में आने-जाने या प्रजा का भरणपोषण करने से भी वह भर्ग कहलाता है।

भवबन्धन–संसार का बन्धन। परापूर्व के कर्मों और संस्कारों की वजह से हमें इस संसार में जन्म-मरण के फेरे में अनिवार्य रूप से भटकना ही पड़ता है। वह ऐसा बन्धन है कि आत्मसाक्षात्कार हुए विना उससे छुटकारा नहीं होता। यह आवागमन की अनिवार्यता ही भवबन्धन है। भव का अर्थ संसार है, इसे सागर या भवसागर कहा है।

भावनायोग–भावना अन्त:करण से (हृदय से) उत्पन्न होती है। चिन्तन मस्तिष्क से और क्रिया शरीर से उत्पन्न होती है। अन्त:करण के पवित्र और निर्मल होने पर भावनाएँ भी विशुद्ध होती हैं और फिर भावनानुसार ही क्रियाएँ होने लगती हैं। चिन्तन भी भावनानुसारी ही है। देवावाहन का मूल शुद्धभावना ही है। ऐसी भावना को भी योग कहा है। भावनोपनिषत् (3) में भावनायोग को ही पूजोपचार कहा है। इसमें सभी क्रियाएँ भावनात्मक ही होती हैं, बाह्य नहीं होतीं। भावनायोग का फल जीवन्मुक्ति है (भावनोपनिषत् 4)।

भूचरसिद्धि–यह एक यौगिक सिद्धि है। योग की अनेकानेक सिद्धियों में से भूचरसिद्धि का वर्णन योगतत्त्वोपनिषद् में किया गया है। केवलकुम्भक प्राणायाम सिद्ध हो जाने पर रेचक-पूरक का त्याग कर दिया जाता है और अभ्यास के समय में निकला पसीना शरीर में ही मल दिया जाता है। देह में कम्प और दर्दुरभाव (मेढक का भाव) के बाद योगी का शरीर पद्मासन स्थिति में ही भूमि से ऊपर उठने लगता है, अतिमानुषी अगम्य चेष्टाएँ होने लगती हैं, यह भूचरसिद्धि है। योग-तत्त्वोपनिषद् (59-60) में सिद्धि का स्वरूप बताया है और (62-63 में) इसकी शर्तें भी बताई हैं।

भूत–प्राणी, बीता हुआ समय, पंचभूत, मृत्यु के बाद प्रेतयोनि—आदि अनेक अर्थों में इस शब्द का प्रयोग होता है। गीता (2.28) में यह शब्द प्राणी के अर्थ में ग्रहण किया गया है। ईशावास्योपनिषद् (7) में भी यह प्राणी के अर्थ में है। इस प्रकार इस शब्द का तीन-चार अर्थों में यत्र-तत्र प्रयोग मिलता है।

भूमा–इस शब्द का सामान्य अर्थ—भारी, गुरु, प्राचुर्य, बहुतायत, बड़ी संख्या, सम्पत्ति, पृथ्वी आदि होता है। पर उपनिषदों का भूमा ईश्वर का रूपविशेष ही होता है। यह निरतिशय है, नि:सीम है। छान्दोग्योपनिषद् (7.23.1) में उसे निरतिशय सुखस्वरूप कहा है। और भी छान्दोग्य (7.24.1) कहती है कि—जहाँ पर कुछ अन्य (अलग) नहीं देखा-सुना-जाना जाता वह भूमा है और जहाँ पर कुछ अलग देखा-सुना जाता है, हव अल्प है। भूमा अपनी महिमा में ही प्रतिष्ठित है। वास्तव में तो वही सब की प्रतिष्ठा है, उसकी तो कोई प्रतिष्ठा हो ही नहीं सकती। वह निरालम्ब है। वह ऊपर-नीचे, बाएँ-दायें सर्वत्र व्याप्त है। वह अविभाज्य है, असीम है, अखण्डानन्दरूप है (छान्दो. 7.25.1)। इसके उपरान्त बोधोपनिषत् (2.8) और तेजोबिन्दु. 3.12-13 आदि में भी आत्म-साक्षात्कारी व्यक्ति अपने को भूमा के रूप में बताता है।

भोक्ता–भोग करने वाले अथवा भोगने वाले को सामान्यत: भोक्ता कहते हैं। भोजन या शासन करने वाला भी भोक्ता कहलाता है। अनुभव या सहन करने वाला भी भोक्ता है। कहीं पर प्रकृति को भोग्या और जीव को भोक्ता कहा गया है। इन्द्रियों को घोड़ा, विषयों के चलने का मार्ग और शरीर-मन-इन्द्रियों के साथ रहने वाले जीवात्मा को मनीषीगण भोक्ता कहते हैं (कठ. 1.3.4)। गीता में भगवान् ने अपने को सब यज्ञों का भोक्ता और स्वामी कहा है (गीता 9.24)। कैवल्य (18) में भी यही कहा गया है। वास्तव में भोक्ता, भोग्य और प्रेरयिता (परमात्मा)—इन तीनों का ज्ञान होने पर सब कुछ जान लिया जाता है। ब्रह्म ही इन तीन भेदों में वर्णित है (श्वेता. 1.12)।

भौतिक शरीर–पाँच पञ्चीकृत भूतों से बना हुआ दृश्यमान स्थूलशरीर—शरीर के तीन प्रकार में से एक।

म

मन, मनस्, मानस–पाँच ज्ञानेन्द्रियों और पाँच

कर्मेन्द्रियों के साथ मन-मानस-मनस् को कहीं पर ग्यारहवीं इन्द्रिय के रूप में माना गया है। परन्तु वह अन्तरिन्द्रिय है। मन अन्त:करण की वह वृत्ति है, जिसके द्वारा संकल्प-विकल्प किए जाते हैं। किसी ने मन को सुख-दु:खादि की बोधक ज्ञानेन्द्रिय माना है (तर्कभाषा)। मन द्वारा किए गए मनन को वाणी व्यक्त करती है। (जै. 1.40.5)। मन ही देखता-सुनता है। काम, संकल्प, श्रद्धा आदि सबका कारण मन ही है। मन ही बन्धन और मोक्ष का कारण है (गीता और बृह. 1.5.3)। मन का सामर्थ्य असीम है उसका वेग भी बड़ा भारी है। मन अनन्त है (बृह. 3.1.9)। सांख्य के अनुसार प्रकृति से महत् (बुद्धि) और महत् से अहंकार और बाद में अहंकार से मन उत्पन्न होता है। पाशुपत-ब्रह्मोपनिषद् (पू.का. 11) में महेश्वर सदाशिव को ब्रह्म का मानसब्रह्म कहा गया है।

मनीषी-कवि-सर्वज्ञ, विचारवान्, विद्वान्, विवेकी, प्रतिभाशाली, दूरदर्शी, त्रिकालज्ञ है। विशेष विवेचन के लिए 'कवि' शब्द को देखिए।

मंत्रयोग-लययोग-राजयोग-हठयोग-'योग' शब्द का सामान्य अर्थ जुड़ना-जोड़ना, मिलना-मिलाना, संयोग, संगति, ध्यान, वृत्ति और चित्तवृत्तिनिरोध आदि होते हैं, परन्तु व्यावहारिक दृष्टि एवं प्रक्रिया-भेद से योग के लययोग, मंत्रयोग, राजयोग, हठयोग आदि कई भेद होते है। योगशिखोपनिषद् (129) कहती है कि ये सभी मिलकर महायोग कहलाते हैं। इन सभी योगों की चार अवस्थाएँ होती हैं—आरम्भावस्था, घटावस्था, परिचयावस्था तथा निष्पत्ति-अवस्था।

मन्त्रयोग का लक्षण योगतत्त्वोपनिषद् (21-22) में कहा गया है कि जो साधक मातृकायुक्त बारह सौ मन्त्र का जाप करता हुआ मन्त्रयोग सिद्ध करता है, वह क्रमश: अणिमा आदि सिद्धियों का ज्ञान प्राप्त करता है। मन्त्रयोग को हंसमन्त्र (सोऽहम्) पर आधृत होने का विवेचन योग-शिखोपनिषद् में किया गया है। श्वास-प्रश्वास द्वारा यह सहज मन्त्रजप सर्वप्राणियों को होता तो रहता है, परन्तु गुरु-उपदेश से साधक सुषुम्ना नाडी में प्राण के प्रविष्ट हो जाने पर इसी मन्त्र का उल्टा (हंस का सोऽहम्) जाप करता है। तब इसे **मन्त्रयोग** कहा जाता है।

लययोग—खाते-पीते, उठते-बैठते, सोते, चलते-फिरते चित्त को परमात्मा में लगाए रहने पर जो योग होता है, वह लययोग है। इसमें किसी भी स्थिति में निष्कल परमात्मा में ध्यान को एकाग्र किया जाता है (यो.त. 23-24)। अन्यत्र कहा गया है कि लययोग के उदय होने पर जीव-परमात्मा का ऐक्य हो जाता है अर्थात् साधक का चित्त ब्रह्म में लीन हो जाता है। तब शरीरस्थ प्राण स्थिर हो जाता है। इससे सुख और आत्मानन्दपूर्वक परम की प्राप्ति होती है। (योगशिखो. 1.134-136)।

हठयोग में अष्टांग योग, मुद्रा, बन्ध आदि किए जाते हैं। इसमें हठपूर्वक इन्द्रियों को सहज धारा से हटाकर निक्षिप्त धारा में लगाया जाता है। इसका विस्तृत विवरण 'हठयोग' शीर्षक में आगे प्रस्तुत है।

राजयोग वह है जो योगों का राजा कहलाता है और उसके द्वारा भी हठयोग की सारी सिद्धियाँ मिल जाती हैं। प्रत्येक जीव की योनि के मध्य में (मूलाधार और योनि के बीच कन्द में) महाक्षेत्र में जपा और बन्धूक के पुष्पों के समान रक्तवर्णी रज होता है। वह दैवी तत्त्वों से समावृत होता है। जब यौगिक क्रियाओं के द्वारा साधक शरीर के ऊर्ध्वभाग-स्थित शिवस्वरूप रेतस् और अधोभाग स्थित रज का योग करता है, तब प्राण और अपान भी उन्हीं में लीन हो जाते हैं। रज-रेतस् की इस योगक्रिया को ही राजयोग कहा जाता है। राजयोगी को हठयोग की आवश्यकता नहीं है।

मन्थ-यह वेदकालीन एक पेय पदार्थ है। कई पदार्थों को मथकर वह बनाया जाता था इसलिए उसे 'मन्थ' कहा गया है। शांखायन आरण्यक (12.8) में ऐसे सभी प्रकार के मन्त्रों का उल्लेख है। सत्तू में दूध मिलाकर बनाये गये पेय को भी मन्थ कहते हैं। सम्भवत: यही प्राचीन मन्थ है।

'मन्थ' का दूसरा अर्थ घर्षण द्वारा अग्नि उत्पन्न करने में बोला जाने वाला मन्त्र भी होता है। बृहदारण्यकोपनिषद् में 'मन्थ' शब्द का उल्लेख कई बार आया है। जब आहुति डालने के बाद स्रुव में जो अवशिष्ट घी लगा रहता है, उसे मन्थ में डालने को कहा जाता है।

मन्यु-क्रोध का पर्याय। परन्तु इसके अन्य पर्यायों में स्तोत्र, कर्म, शोक, योग, क्रोध (पुण्यप्रकोप), साहस, अहंकार आदि भी मिलते हैं। अग्नि और शिव भी 'मन्यु' कहे गए हैं। इन्द्र ने मन्यु से मिलकर असुरों को मारा, ऐसा कहा गया है। (तै.सं. 4.4.8.9)। तैत्तरिय संहिता, मैत्रेयी ब्राह्मण, तैत्तिरीय ब्राह्मण आदि में कई बार अन्यान्य अर्थों में मन्यु शब्द आता है।

ममता-किसी वस्तु पर अति लगाव, अति मोह अति आसक्ति को ममता या ममत्व कहते हैं।

मर्त्य-मरणशील को मर्त्य कहते हैं। यह जगत् 'मर्त्य' है, अत: इसे 'मर्त्यलोक' कहते हैं। कठोपनिषद् (1.1.6, 1.1.28) और बृहदारण्य-कोपनिषद् (4.4.7) में 'मर्त्य' शब्द प्रयुक्त है। कठोपनिषद् में मर्त्य प्राणी को धान्य की उपमा दी है और बृहदारण्यकोपनिषद् में आत्मज्ञान से 'मर्त्य' अमर्त्य बन जाता है, ऐसा कहा है।

महाचक्र-नृसिंहतापिन्युपनिषद् में "मन्त्रराज आनुष्टुभ् नारसिंह मन्त्र से ही महाचक्र बनता है"—ऐसा देवों के प्रश्न के उत्तर में प्रजापति ने कहा है। अनुष्टुप् छन्दोबद्ध आठ-आठ अक्षर वाले चार चरण और बत्तीस अक्षर इस मन्त्रराज में होते हैं। इस महामंत्र को सुदर्शन चक्र भी कहते हैं। यही विष्णु का चक्र है। पद्मपुराण (उत्तरखण्ड के 145वें अध्याय) में सुदर्शन चक्र को शिव ने बनाकर विष्णु को दिया—ऐसा वर्णन है। पूरा नारसिंह मन्त्र (महामन्त्र) इस प्रकार है—"ॐ उग्रं वीरं महाविष्णुं ज्वलन्तं सर्वतोमुखम्। नृसिंह भीषणं भद्रं मृत्युमृत्युं नमाम्यहम्।" (नृ.पूर्व.ता. 2.6)।

महात्मा-उच्चतम स्वभाव, आचरण, विचार वाले को महात्मा कहते हैं। यह शिव का पर्याय भी है। दर्शनों में यही शब्द परमात्मा और विश्वात्मा के लिए भी प्रयुक्त हुआ है। किसी आदरणीय सन्त को भी महात्मा कहा जाता है। कठोपनिषद् में यमराज को महात्मा कहा गया है।

महात्रिपुरसुन्दरी-प्राणिमात्र के तीनों पुरों (अवस्थाओं)। जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्ति में विद्यमान रहने के कारण चित् शक्ति को ही 'त्रिपुरसुन्दरी' या 'महात्रिपुरसुन्दरी' कहते हैं।

महापातक-पातक का अर्थ पाप है, यह परपीडन से होता है। श्रेणी के अनुसार पापों की अनेक संज्ञाएँ हैं। महापातक उनमें से एक है। ये महापातक पाँच माने गए हैं—1. ब्रह्महत्या, 2. सुरापान, 3. गुरु-पत्नीगमन, 4. चौर्य और 5. महापातकियों का संग। एक अन्य श्रेणी उपपातक की है, इसके पचास भेद बतलाए गए हैं।

महाबन्ध-मूलबन्ध, उड्डियाणबन्ध और जालन्धर-बन्ध—इन तीनों बन्धों के सम्मिलित रूप को महाबन्ध कहा जाता है। (योग.उप. 112-114)

महामुद्रा-चित्तशोधन और प्राणों के ऊर्ध्वगमन के लिए योग में कही गई मुद्राओं में से एक। महामुद्रा वह है, जिसमें मूलबन्धपूर्वक वामपाद की एड़ी से गुदा और उपस्थ के बीच के स्थान अर्थात् सीवन को दबाया जाता है और दक्षिण पाद को फैलाकर उसकी अँगुलियों को दोनों हाथों से पकड़ा जाता है। इसके बाद वाम नासिका से पूरक करके जालन्धरबन्ध लगाया जाता है। बाद में जालन्धरबन्ध खोलकर दक्षिण नासिका से रेचक किया जाता है। इसी प्रकार दाहिनी ओर से भी यही मुद्रा दुहराई जाती है।

महावाक्य-जीव-ब्रह्मैक्य का प्रतिपादन करने वाले वाक्य 'महावाक्य' हैं। ये चार हैं—1. प्रज्ञानं ब्रह्म, 2. अहं ब्रह्मास्मि, 3.तत्त्वमसि और 4. अयमात्मा ब्रह्म।

महावेध-हठयोगान्तर्गत पाँच बन्धों में से एक। महावेध में मूलबन्धपूर्वक पद्मासन में बैठकर प्राण और अपान वायु को नाभिप्रदेश में एक करके दोनों हाथ तानकर नितम्बों पर मिलाते हुए भूमि

पर जमाकर नितम्बों को आसन के साथ ही उठाकर बार-बार भूमि पर ताडित किया जाता है। इससे प्राण सुषुम्ना में प्रवेश करके कुण्डलिनीजागरण होता है।

मातरिश्वा–अन्तरिक्ष में प्रवहमान पवन का एक पर्याय **मातरिश्वा** है। कहीं-कहीं अग्नि को भी **मातरिश्वा** कहा गया है। मातरिश्वा को प्राणदाता पिता कहा गया है (प्रश्न. 2.11)। मातरिश्वा सृष्टि के मूल घटक 'अप्' को धारण करता रहता है (ईश. 8)। केनोपनिषद् (3.8) में वायु ने स्वयं को ही 'मातरिश्वा' कहा है।

माया–सदसद्विलक्षण, भावरूप, अनिर्वचनीय, आवरणविक्षेपरूप अनादि ईश्वरीय शक्ति ही माया है।

मीमांसा–मीमांसा का अर्थ विचार, निर्णय और विवेचन होता है। हमारे दर्शनों में तर्कपूत तत्त्व-निर्णय के लिए पूर्व और उत्तर दो मीमांसादर्शन हुए हैं। जैमिनि ने पूर्वमीमांसा में वेदों के पूर्व भाग कर्मकाण्ड का तत्त्वनिर्णय पूर्वमीमांसा सूत्रों के द्वारा किया और बादरायण ने उत्तर मीमांसा में वेदों के उत्तरभाग (ज्ञानकाण्ड) का तर्कपूर्ण तत्त्वनिर्णय अपने ब्रह्मसूत्रों के द्वारा किया।

मुक्ति-मोक्ष–जन्म-मरण के चक्र से छुटकारा ही मुक्ति है। सांसारिक राग-द्वेष-तृष्णा आदि से मुक्त होने पर ही मुक्ति मिलती है। सच्चे विवेक ज्ञान से (दृग्-दृश्य के विवेक से) तथा पारमार्थिक तत्त्व के ज्ञान से आत्मा के अपरोक्ष ज्ञान रूप मुक्ति होती है। मुक्ति (मोक्ष) मानव-जीवन का अन्तिम पुरुषार्थ (अन्तिम ध्येय, परम लक्ष्य) है। हमारे सभी दर्शन मुक्तिलक्षी हैं।

मुनि–मननशील एवं चिन्तनशील को मुनि कहते हैं। जगत् के हित के लिए चिन्तन-मनन करने वाले ऋषियों और मुनियों की हमारे देश में कमी नहीं। वे हमारी प्राचीनतम संचित निधि हैं। मुनि दुःख में उद्वेगरहित और सुख में स्पृहारहित होते हैं (गी. 2.56)। कामनारहित होकर वे नियत कार्य करते रहते हैं। अपने मोक्ष और जगत् के हित के लिए चिन्तन-मनन करते हैं। ऋषि और मुनि शब्द में यह भेद है कि ऋषि मंत्रद्रष्टा होते हैं और मुनि चिन्तक होते हैं। मुनि मुमुक्षु होते हैं। वे मुक्त बनने जा रहे हैं। मुनि अपरोक्षानुभूति के अधिकारी साधक (मुमुक्षु) होते हैं। कुछ मुनिसत्तम जीवन्मुक्त भी होते हैं।

मुदिता–योगशास्त्र में आध्यात्मिक उन्नति के लिए अनेक साधनाएँ हैं। पातंजलयोगदर्शन में मैत्री-करुणा-मुदिता-उपेक्षा के गुणों द्वारा की जाने वाली चित्तशुद्धि की साधना बताई गई है। (पा.यो.सू. 3.33) अर्थात् सुखियों के सम्बन्ध में मैत्री दुःखियों के सम्बन्ध में करुणा, पुण्यात्माओं के सम्बन्ध मुदिता तथा पापात्माओं के सम्बन्ध में उपेक्षा रखने की यह साधना है। यहाँ मुदिता का अर्थ आनन्द होता है।

मुद्रा–योग में चित्तशोधन और प्राण के ऊर्ध्वगमन के लिए अलग-अलग मुद्राएँ प्रतिपादित की गईं हैं; यथा—1. खेचरी मुद्रा, 2. महामुद्रा, 3. अश्विनी मुद्रा, 4. शक्तिचालिनी मुद्रा, 5. योनि-मुद्रा, 6. योगमुद्रा, 7. शांभवी मुद्रा, 8. तडागी मुद्रा, 9. विपरीतकरणी मुद्रा, 10. वज्रोली मुद्रा, 11. अमरोली मुद्रा, 12. सहजोली मुद्रा आदि। इनमें कुछ प्रमुख मुद्राएँ निम्नवत् हैं—

खेचरी मुद्रा–जीभ को उलटकर कपालकुहर में जाकर दृष्टि को भ्रूमध्य में एकाग्र किया जाता है। यह मुद्रा ध्यान में बड़ी सहायक है। इसके अभ्यास से भूख-प्यास, निद्रा, तृष्णा, मूर्च्छा आदि से छुटकारा होता है। विशेष अध्ययन के लिए योगतत्त्वोपनिषद् (117) देखें।

महामुद्रा–मूलबन्धपूर्वक वाम पाद की एड़ी को गुदा और उपस्थ के बीच दबाते हैं और दक्षिणपाद को फैलाकर उसकी अँगुलियों को दोनों हाथों से पकड़ते हैं। इसके बाद बायें नथुने से पूरक करके जालन्धर बन्ध लगाते हैं। बाद में जालन्धर बन्ध खोलकर दाहिने नथुने से रेचक करते हैं। इस प्रकार दाहिनी ओर से भी यही मुद्रा करनी चाहिए।

अश्विनी मुद्रा–इसमें पद्मासन या सिंहासन में बैठकर योनिप्रदेश का घोड़े की तरह बार-बार आकुंचन-प्रकुंचन किया जाता है। इससे प्राणोत्थान और कुण्डलिनी की जागृति में सहायता मिलती है।

शांभवी मुद्रा–इसमें मूलबन्ध और उड्डियाण बन्ध पूर्वक पद्म या सिद्ध आसन में बैठकर नासाग्र या भ्रूमध्य में दृष्टि को स्थिर करके ध्यान लगाया जाता है।

वज्रोली मुद्रा–इसमें साधक प्रारम्भ में उपस्थेन्द्रिय द्वारा मूत्र को ऊपर खींचने और पुनर्विसर्जित करने का अभ्यास करता है। बाद में जल, दूध, तेल, घृत, शहद और पारे को भी खींचने और छोड़ने का अभ्यास बन जाता है। अभ्यास के दृढ़ हो जाने पर स्त्रीयोनि में रेतस् विसर्जित करके उसके रज को ग्रहण किया जाता है। पर इसमें किसी अनुभवी सिद्ध का मार्गदर्शन अनिवार्य है। अन्यथा हानि और पतन होता है। (देखिए योगतत्त्वोपनिषद्, 126-127)।

अमरोली मुद्रा–यह वज्रोली मुद्रा का अगला चरण है। इसमें अमरी (मूत्र) की आरम्भ की और अन्तिम धारा को छोड़कर मध्य धारा को हाथ या पात्र में लेकर रोज पीकर तथा उसका नस्य (नाक द्वारा ऊपर लेना) करके जो अभ्यास किया जाता है, वही अमरोली मुद्रा होती है। (देखिए—यो.त. 128)।

सहजोली मुद्रा–इसमें अमरोली सिद्ध ने अमरोली पान और नस्य के बिना भी सहज ही सिद्धि प्राप्त हो जाती है। (देखिए यो.त. 128 की ब्रह्मयोगी टीका)

षण्मुखी मुद्रा–इसका उपयोग मनोविजय और प्राणजय के लिए किया जाता है। जाबाल उपनिषद् (6.32-35) में इसका उल्लेख मिलता है। स्वस्तिक आसन में बैठकर मन को एकाग्र करके अपान वायु को ऊपर चढ़ाकर, धीरे-धीरे प्रणवजप करते हुए, दोनों अँगूठों से कानों को, तर्जनियों से नेत्रों को, अन्य अँगुलियों से नासापुटों को बन्द करके मूर्धा में प्राण (मन) का तब तक ध्यान करें, जब तक आनन्द की अनुभूति न हो। इस तरह प्राण ब्रह्मरन्ध्र में प्रविष्ट हो जाते हैं।

वैष्णवी मुद्रा–मूलाधारादि चक्रों में मन को एकाग्र करने के लिए इस मुद्रा का उपयोग किया जाता है। इसमें मूलाधार, अनाहत, आज्ञा तथा सहस्रार चक्रों में क्रमशः विराजित विराट्, सूत्र, बीज, तुरीय अथवा अन्तर्लक्ष्य में बहिर्दृष्टि (खुले नेत्र) रखते हुए अर्थात् अपलक होकर मन को एकाग्र किया जाता है। (देखिए शाण्डिल्योपनिषद् 1.7.14)

मुहूर्त–रात-दिन का तीसवाँ भाग या बारह क्षण (20 पल या दो दण्ड या दो घड़ी या अड़तालीस मिनट का समय)। किसी शुभ कार्य के लिए फलित ज्योतिष के अनुसार निकाले गये समय को भी मुहूर्त कहा जाता है। शतपथब्राह्मण (10.4.2.18) में कहा है कि प्रजापति ने दिन और रात के पन्द्रह-पन्द्रह भागों को **'लोकम्पृणो'** के रूप में देखा। वे देवों के द्वारा रक्षित होते हैं—**'मुहुः त्रायते'** इसलिए एक दिन में तीस मुहूर्त होते हैं। अतएव उन भागों का नाम मुहूर्त पड़ा।

मूढ–नासमझ-ज्ञानशून्य-जडबुद्धि गूढ कहलाता है। जो हिताहित (अच्छे-बुरे) को समझ नहीं पाता वह मूढ है। मूढ प्रवाहपतित है। यह शब्द कठोपनिषद् (1.2.5) और निरालम्बोपनिषद् (3.3) में आया है। अविद्याग्रसित होने पर भी पंडितम्मन्य को मूढ कहा है और निरालम्बोपनिषद् में कर्तृत्वादि अभिमान वाले को मूढ कहा है।

मूर्ततारक-अमूर्ततारक–साधारणतया 'मूर्त' शब्द का तात्पर्य मूर्तिमान्, आकृतिमान तथा 'अमूर्त' शब्द का अशरीरी या आकारहीन होता है। किन्तु अद्वयतारक, अथर्वशिख, अथर्वशिर, मण्डल-ब्राह्मण आदि उपनिषदों में तारकब्रह्म की दर्शनविधि में विशिष्ट अर्थ है। मूर्ततारक या मूर्तितारक में इन्द्रियों के अन्तस् में (मनश्चक्षु में) तारक (ब्रह्मप्रकाश) का ध्यान किया जाता है तथा अमूर्त या अमूर्ति तारक वह है जिसमें कि दोनों

भ्रुकुटियों के बाहर एक निश्चित दूरी पर उसका दर्शन किया जाता है (अद्वयतारक 10)। मनश्चक्षु से दर्शन करते समय या बाहर भी भौंहों से कुछ दूरी पर दर्शन की दोनों स्थितियों में मन को संयुक्त रखना पड़ता है। मूर्ततारक में मन सहित नेत्रों की अन्तर्दृष्टि से देखा जाता है और अमूर्त तारक में मन सहित दोनों भौंहों से बाहर एक **निश्चित दूरी** पर उस तारक प्रकाशरूप ब्रह्म के दर्शन का अभ्यास किया जाता है (मं.ब्रा.उ. 1.3.2)। यह तो तारकयोग का पूर्वार्द्ध ही है, उत्तरार्ध तो अमनस्क स्थिति में ही किया जाता है।

मूलबन्ध-पूर्वोक्त योगशास्त्रीय तीन मुख्य बन्धों में से प्रथम बन्ध। लिंगस्थान और गुदा के रन्ध्र को बन्द करके तथा अपान वायु का ऊर्ध्वगमन करके प्राणवायु को उसके साथ एकत्व करना ही मूलबन्ध है। इसमें बाएँ पैर को सीवन में दृढ़तापूर्वक लगाकर और उसे सिकोड़कर अधोगामी अपानवायु का ऊर्ध्वगमन किया जाता है (यो.त. 120-121)।

मूलाधार-योनि और गुदा के बीच आया हुआ एक चक्र (सात या छः में से एक)। वहाँ पास में कुण्डलिनीशक्ति साढ़े तीन वलय लेकर सुषुप्तावस्था में विद्यमान है।

मृगतृष्णा-मृगरीचिका-रेत पर सूर्य की प्रखर किरणों के पड़ने से दूर से उसमें जो जल का भ्रम होता है, उसे मृगजल, मृगतृष्णा, मरुमरीचिका, मृगमरीचिका आदि नाम दिए गए हैं। ज्यादातर मृगों (हिरनों) को ऐसा भ्रम होने की सम्भावना देखकर ऐसी संज्ञाएँ दी गई होंगी। मिथ्या प्रतीति ही मृगतृष्णा है। रज्जु में साँप या सीप में रजत की प्रतीति भी ऐसा ही भ्रम है। और ब्रह्म में जगत् की प्रतीति भी तो ऐसा ही भ्रम है। इस भ्रम से मुक्त होने का मार्ग ही उपनिषदों का मुख्य उपदेश है।

मृत्यु-अमरत्व का अर्थात् सत्त्व, ज्योति, सत् या ब्रह्म का विरोधी और तमस् का प्रतीक मृत्यु है। अविवेकी, अज्ञानी, बाह्य भौतिक भोगों में फँसा हुआ व्यक्ति मृत्यु को ही (अज्ञानान्धकार को ही) प्राप्त करता है। इसीलिए 'मृत्योर्मा अमृतं गमय'—ऐसी हम प्रार्थना करते हैं।

मृत्युञ्जय-मृत्यु पर विजय प्राप्त करने वाले शिव। स्वयं जगत् का संहार करते हुए भी ये अमर ही हैं, उन्होंने मृत्यु को अपने वश में कर लिया है।

मेधा-धारणायुक्त बुद्धि को मेधा कहते हैं। उत्कृष्ट स्मृतिक्षम, मानसिक शक्ति, प्रज्ञा, धारणा, बुद्धि—ये सभी मेधा के पर्याय शब्द हैं। वेदों में मेधाशक्ति की प्रार्थनाएँ हैं। इन्द्र से मेधासम्पन्न करने की प्रार्थना तैत्तिरीयोपनिषद् (1.4.1) में है और वहीं पर ओंकार को मेधा से ढँकी हुई ब्रह्म की निधि कहा गया है। बृहदारण्यकोपनिषद् (1.5.2) में कहा गया है कि प्रजापति ने मेधा से ही सात प्रकार के अन्नों की उत्पत्ति की।

य

यक्ष-एक अर्ध देवयोनि। यक्षगण कुबेर के सेवक हैं। कुबेर निधियों के रक्षक हैं। कुबेर उनके राजा हैं। वे प्रचेताओं की सन्तानें हैं। वटवृक्ष यक्षतरु कहलाता है, क्योंकि उन्हें वटवृक्ष बहुत प्रिय हैं। केनोपनिषद् में ब्रह्म के यक्षरूप बनकर देवों के पास अभिप्राय जानने के लिए जाने की कथा है। गीता (17.4) में यक्षपूजा राजसी प्रकृति वाले लोगों की कही गई है।

यज्ञ-प्रज्वलित अग्नि में हव्य पदार्थों की आहुति देना। वैदिक संस्कृति यज्ञप्रधान थी। यज्ञों का पूरा जाल तत्कालीन संस्कृति का प्रधान अंग था। अध्वर, क्रतु, यष्टि, हवन, होम, अग्निहोत्र आदि उसके पर्याय हैं। उस समय सोमयाग, अश्वमेध, राजसूय, ऋतुयाज, अग्निष्टोम, अतिरात्र, दशरात्र, दर्शपूर्णमास, पवित्रेष्टि, पुत्रकामेष्टि, चातुर्मास्य, सौत्रामणि, पुरुषमेध आदि विविध प्रकार के यज्ञों का बोलबाला था। इन्हें पाकयज्ञ, हविर्यज्ञ, सोमयज्ञ और पशुयज्ञ के नाम से चार विभागों में बाँटा गया है।

यज्ञीय उपकरण और क्रियाएँ-यहाँ प्रमुख यज्ञीय उपकरणों और क्रियाओं का विवरण दिया जा रहा है; यथा—(1) **अन्तर्वेदिका**-यज्ञ के अन्यान्य उपकरणों के साथ एक 'वेदि' भी बनाई जाती है। उस सुन्दर पूर्वाभिमुखी योषितोपम वेदि के अन्दर के भाग को अन्तर्वेदि या अन्तर्वेदिका कहते हैं। परन्तु इसके विषय में विशेष विवरण उपलब्ध नहीं है। केवल उल्लेख ही मिलता है। (2) **अभिषेक**-यज्ञ में की जाने वाली मार्जन की (छिड़कने की) क्रिया को सामान्यतः अभिषेक कहा जाता है। वह मंगल कार्यों के अवसर पर किया जाता है। शिवलिंग पर की जाने वाली जल या दूध की धारा को भी अभिषेक कहते हैं। (रुद्रोपनिषद्) (3) **अवभृथस्नान**-किसी यज्ञ या बड़े मंगल कार्य के अन्त में किए जाने वाले स्नान को अवभृथ स्नान कहते हैं। इसे प्रायश्चित्त स्नान भी कहते हैं। एक यज्ञ की समाप्ति के वाद दूसरे यज्ञ के प्रारम्भ में भी यह किया जाता है। (का.श्रौ. 19.5.16)। (4) **आज्यभाग**-ऋग्वेदी लोग जिस आज्य-आहुति को स्रुवा के द्वारा उत्तराभिमुख होकर अग्नि को समर्पित करते हैं, उसे 'आज्यभाग' कहा जाता है। दक्षिण की ओर सोमदेव के निमित्त दी जाने वाली आहुति को भी 'आज्यभाग' कहा जाता है। यजुर्वेदी लोग अग्नि के उत्तर-पूर्वार्ध में 'अग्नये स्वाहा' कहकर तथा दक्षिण-पूर्वार्ध में 'सोमय स्वाहा' बोलकर जो आहुति देते हैं, वह भी 'आज्यभाग' ही कहलाता है। आज्यभाग होतृवरण और पंच प्रयाज के बाद ही किया जाता है। आज्यभाग की विस्तारपूर्वक प्रक्रिया 'कात्यायन यज्ञपद्धति' नामक ग्रन्थ में दी है, जिज्ञासु को वहाँ पर ही देख लेना चाहिए। (5) **आज्यस्थाली**--आज्य रखने के पात्र को आज्यस्थाली कहा जाता है। आज्याहुतियों के लिए आज्यस्थाली में से चार स्रुवा आज्य (घी) जहू में, आठ स्रुवा उपभृत में और चार स्रुवा ध्रुवा में करने का भी उल्लेख है। (का.श्रौ. 2.7.9-10 एवं 15)। प्राणाग्निहोत्रोपनिषद् तो शरीरयज्ञ में दाहिने हाथ को स्रुवा और बाँये हाथ को ही आज्यस्थाली कहा है। (प्रा.हो. 22) (6) **द्रोणकलश**-एक यज्ञीय पात्रोपकरण। यह पात्र सोम के लिए उपयोग में लाया जाता है। यह पात्र विकंकत काष्ठ, जिसे किंकिणी या कटाई कहते हैं, से बनता है, उसका आकार चौड़ा होता है। बीच में खड्डा और चारों ओर परिधि बनाई जाती है। वह अट्ठाइस अंगुल लम्बा और बारह अंगुल चौड़ा होता है (कपि.क.सं. 44.9 एवं का.श्रौ. 8.7.4)। प्राणाग्निहोत्रोपनिषद् (22) में मूर्धा को ही द्रोणकलश कहा गया है। (7) **यूप**-विविध यज्ञीय कार्यों के लिए यह एक महत्त्वपूर्ण स्तम्भ है। पशुयज्ञों में पशुबन्धन के लिए तथा अग्निष्टोम में जयमान दीक्षा में यूपच्छेदन के लिए इसका उपयोग होता है। यह पलाश, बिल्व, खदिर, देवदारु आदि से बनाया जाता है। वह 3, 5 से लेकर 21 हाथ तक लम्बा हो सकता है (का.श्रौ. 6.1.8-26, 14.5.10 और 20.4.16)। प्राणाग्निहोत्र में यूप को ओंकार कहा है। (8) **स्रुवा**-इंससे यज्ञाग्नि में घी की आहुतियाँ दी जाती हैं। यह एक लगभग हाथ लम्बा और आगे एक अंगुष्ठ तक के गर्तवाला खदिर या विकंकत काष्ठ का या स्रुववृक्ष का बना हुआ होता है। इसे 'स्रुव' भी कहा जाता है। द्रोणकलश और स्रुवा दोनों एक ही वृक्ष के काष्ठ से बनते हैं। (शब्दकल्पद्रुम, खण्ड 4.370 तथा का.श्रौ. 1.3.33)। प्राणाग्निहोत्रोपनिषत् में शरीरयज्ञ के भीतर दाँये हाथ को स्रुव कहा गया है। (9) **सूक्तवाक्**-दर्शपौर्णमासादि श्रौतयज्ञों में स्वस्तिवाचन क्रिया के अन्तर्गत सूक्तवाक् का पाठ किया जाता है। आहवनीय कुण्ड के निकट अध्वर्यु पलाशसमिधा से बनी हुई पश्चिमी परिधि का स्पर्श करके आग्नीध्र से आश्रवण (संवाद) करता है। इसके बाद अध्वर्यु होता को सूक्तवाक् का पाठ करने की प्रैष (आज्ञा) देता है। सूक्तवाक् का मन्त्र—'**इदं द्यावापृथिवी**' (हौत्र परिशिष्ट 13) आदि है। बाद में होता यह पाठ करता है। (10) **शंयुवाक् अथवा शंयोर्वाक्**-सूक्तवाक् की ही तरह आग्नीध्र और अध्वर्यु के क्रमशः 'संवदस्व'

तथा 'आगानग्रीव' कहने पर अध्वर्यु होता को शंयुवाक् (शंयोर्वाक्) पढ़ने की प्रैष (आज्ञा) करता है। शंयोर्वाक् (शुभवचन) का मन्त्र यह है —'संवदस्वागानग्नीदगञ्छ्रावय श्रौषट्' (का.श्रौ. 3.6.15) 'नञ्छञ्योरावृणीमहे' (सां.श्रौ. 1.14.21) है। होता इस शंयु-संज्ञक मन्त्र का पाठ करता है। कात्यायन श्रौतसूत्र में इसका उल्लेख है और प्राणाग्निहोत्र में शरीर-यज्ञ प्रकरण में तो दाँत-ओठों को सूक्तवाक् और तालु को शंयुवाक् कहा है। (प्राणा. 22) (11)

यज्ञस्तोम–यज्ञों में देवों के निमित्त किए जाने वाले गुणगान और स्तुतियों को यज्ञस्तोम कहा गया है। सृष्टि के आरम्भ में अकेले नारायण ने अपने भीतर रहे विराट् पुरुष को बाहर लाने के लिए जो ध्यान किया, वही 'यज्ञस्तोम' हुआ—ऐसा महोपनिषद् कहती है (महो. 1.1-4)। (12) **धिष्ण्य**–इस शब्द के तो स्थान, अग्नि, नक्षत्र आदि कई अर्थ होते हैं, पर यहाँ के सन्दर्भ में यह स्थान, गृह, अग्नि के अर्थ में ही प्रयुक्त हुआ है। संहिताओं, श्रौतसूत्रों, ब्राह्मण आदि ग्रन्थों के अध्ययन से पता चलता है कि अग्निष्टोमादि यागों में यज्ञशालाओं में सदोमण्डल में विशिष्ट खुरस्वरूप (कुण्डस्वरूप) बनाए जाते थे। अग्निचयनादि यागों में इन पर ईंटों का चयन भी किया जाता था। (शत.ब्रा. 9.4.3.1)। धिष्ण्य आठ प्रकार के होते थे—आग्नीध्रीय, क्षेत्रीय, प्रशास्त्रीय, ब्राह्मणाच्छंसीय, पौत्रीय, नेष्ट्रीय, अच्छावाकीय और मार्जालीय। कौन-सा धिष्ण्य कहाँ पर रखा जाता था इसका विवरण भी शास्त्रों में मिलता है। धिष्ण्यों के आकारों की विशेषताओं का वर्णन भी ब्राह्मण-ग्रन्थों में विस्तार के साथ मिलता है। आहुतियों के बारे में भी विवरण शतपथब्राह्मण (4.3.4.7) में मिलता है।

यज्ञोपवीत-उपनयन–सोलह संस्कारों में से एक। इसका अधिकार ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्यों के लिए ही है। इससे वे द्विज (दो बार जन्मे) कहे जाते हैं। प्राचीन काल में गुरु द्वारा व्याहृतिपूर्वक गायत्री-मन्त्र पाकर शिष्य गुरुगृह-वास करके विद्या प्राप्त करता था और ब्रह्मचर्य का पालन करता था। यह उसका प्रथम आश्रम था। वह ज्ञान के प्रतीक के रूप में तीन धागों वाले जनेऊ को धारण करता था। उसे ही यज्ञसूत्र, उपवीत, ब्रह्मसूत्र आदि कहते हैं (ब्रह्म. 8.10)।

यज्वा–यह 'यज्' धातु से निष्पन्न शब्द है। इसका अर्थ यज्ञ कराने वाला (याज्ञिक) होता है। वस्तुत: ज्ञानी और यज्ञमय (त्यागमय) जीवन जीने वाला साधक ही यज्वा है (ब्रह्मोपनिषद् 22)।

यति–यह संयमशील संन्यासी का ही पर्याय है। विशेष विवरण के लिए 'संन्यासी' शब्द में देखिए।

यन्त्र–यन्त्र के कई अर्थों में से प्रस्तुत सन्दर्भ में यन्त्र का अर्थ 'देवता का अधिष्ठान' ही होता है, अन्य मशीन आदि नहीं। ये यन्त्र सोने, चाँदी ताम्र या भोजपत्रों पर तत्तत् देवता के मन्त्र के बीजमन्त्र आदि लिखकर बनाए जाते हैं। यन्त्रस्थापन करके ही देवता की पूजा करनी चाहिए। देवता के अनुसार मन्त्र-लेखन-सामग्री बदली जाती है। (केसर आदि) यन्त्र पहना भी जाता है और पूजा भी जाता है। उसे बनाने की अनेक विधियाँ हैं, जो तन्त्रसारादि ग्रन्थों में बताई गई हैं। श्रीयन्त्र, रामयन्त्र, सुदर्शन महाचक्र, गोपालचक्र आदि प्रसिद्ध यन्त्र हैं।

यम–इसका एक अर्थ तो मृत्यु के देव हैं और अन्य अर्थ योग के आठ अंगों में से पहला अंग है। यह यम पाँच प्रकार के हैं—1. अहिंसा, 2. सत्य, 3. अस्तेय (अचौर्य), 4. ब्रह्मचर्य और 5. अपरिग्रह।

याज्या-शस्या-शस्त्र–यज्ञोपयुक्त सूक्त, मन्त्र या ऋचा को 'याज्या' कहते हैं। वेद की अन्य ऋचाओं को 'शस्या' कहते हैं और जिन मन्त्रों से होता स्तुति करता है, उन्हें 'शस्त्र' कहा जाता है। देखिए—शतपथब्राह्मण (1.4.2.19), गोपथ-ब्राह्मण (2.3.22), जैमिनिब्राह्मण (1.227) और ऐतरेयब्राह्मण (3.44)।

यायावर–गृहस्थों के चार प्रकारों में से एक। इस प्रकार के गृहस्थ यज्ञ करते-कराते हैं, पढ़ते और पढ़ाते भी हैं। शुभ कार्यों के लिए दान लेते भी हैं और करते भी हैं। आत्मसाधना करते हैं। (देखिए—आश्रमोपनिषद् 2)।

योग–योग का अर्थ है—जोड़ना, मिलाना, संगति आदि। साधना के अर्थ में योग के कई भेद किए गए है—मन्त्रयोग, लययोग और हठयोग, राजयोग आदि (यो.त. 19)। यम-नियमादि योग के आठ अंग हैं। पतंजलि मुनि इस अष्टांग योग के निर्माता हैं। योगसाधना से अनेक विलक्षण शक्तियाँ प्राप्त होती हैं। गीताकार ने **'योग'** शब्द का अर्थ 'कर्म-कौशल' और 'समत्व' किया है। (2.50)। गीता ने शरीर, मन और अन्त:करण रूप साधनों के द्वारा क्रमश: कर्मयोग, ज्ञानयोग और भक्तियोग को निरूपित किया है। कठोपनिषत् (2.3.13) ने इन्द्रियों की स्थिर धारणा को योग कहा है, तो गीता (6.36) में संयतात्मा को योग-साधन माना गया है। गीता निष्कामकर्माचरण को योग के केन्द्र में रखती है।

योगक्षेम–योगक्षेम का अर्थ है—अप्राप्त की प्राप्ति तथा प्राप्त का रक्षण। सामान्य मनुष्य की आकांक्षा इस शब्द में द्योतित है। पर जो असामान्य लोग अध्यात्मरत होते हैं उनके लिए तो परमात्मा का योग या मिलन ही मुख्य है, क्षेम की चिन्ता उन्हें नहीं होती, भगवान् ही उनके क्षेत्र की और जरूरतों की पूर्ति कर देते हैं। उनकी श्रद्धा अत्यन्त बलवती होती है। गीता में भगवान् ने वचन दिया है कि—'योगक्षेमं वहाम्यहम्'।

योगनिद्रा–यौगिक प्रक्रियाओं से उत्पन्न निद्रा को योगनिद्रा कहते हैं। उसे समाधि का एक अंग माना गया है। वहाँ बाह्यज्ञान नहीं होता, अत: वह निद्रा कहलाती है। इस निद्रा की पराकाष्ठा ही समाधि है। मण्डलब्राह्मणोपनिषद् (2.5.2) में शुद्ध, अद्वैत, चैतन्य और अमनस्क अवस्था ही योगनिद्रा है।

योगी–ऊपर बताए योग की साधना करने वाले को योगी कहा जाता है। गीता के अनुसार निष्काम-कर्माचरण करने वाला योगी है। गीता में कृष्ण ने अर्जुन को ऐसा योगी बनने को कहा है। पर ऊपर के चारों योगों में से किसी भी योग के साधक को योगी कह सकते हैं। उसी का अन्य पर्याय **'योगात्मा'** भी है।

योनि–उद्गम, उत्पत्ति-स्थान अथवा उत्पादक कारण के अर्थ में **'योनि'** शब्द साधारणतया प्रयुक्त होता है। हमारे शास्त्रों में प्राणियों की ऐसी चौरासी लाख योनियाँ (उत्पत्ति-स्थान), जातियाँ बताई गई हैं। कुछ विद्वानों के मत में अण्डज (अण्डों से उत्पन्न होने वाले) प्राणियों की इक्कीस लाख, स्वेदज (पसीने से उत्पन्न हो वालों) की इक्कीस लाख, उद्भिज्ज (पृथ्वी को फाड़कर उत्पन्न होने वालों) की इक्कीस लाख तथा जरायुज (जरायु से उत्पन्न होने वाले प्राणियों) की संख्या इक्कीस लाख की होती है, इस प्रकार चारों मिलकर चौरासी लाख योनियाँ होती हैं।

र

रयि–जल, सोमरूप अन्न, धन, भोजन आदि इस शब्द के अर्थ होते हैं। आदित्य को प्राण और रयि को चन्द्र माना गया है। प्रकृति से स्थूल-सूक्ष्म, मूर्तामूर्त सभी घटक 'रयि' माने गए हैं। (प्रश्नोप. 1.5 एवं 1.9)। चन्द्रलोक में होकर जाने वाले पितृयान मार्ग को भी 'रयि' कहा गया है। मनुष्य 'रयि' (धन-सम्पदा) की सदैव अपेक्षा करते हैं।

राग-द्वेष–किसी इष्ट वस्तु या सुख की प्राप्ति की अभिलाषा राग (आसक्ति) कहलाती है और इसके विपरीत किसी अनिष्ट वस्तु या दु:ख के प्रति घृणा (अनिच्छा) रखने की वृत्ति को द्वेष कहा जाता है। पतंजलि ने राग को पाँच क्लेशों में से एक माना है। उनके अनुसार सुख भोगते हुए व्यक्ति की वृत्ति अधिकाधिक सुख पाने की ही रहा करती है। वही 'राग' है। राग का मूल अविद्या है और उसका परिणाम क्लेश है। न्यायदर्शन में काम, मत्सर, स्पृहा, तृष्णा, लोभ

आदि सबको अनुराग में ही समाविष्ट किया गया है। प्रशस्तपाद ने द्वेष के पाँच भेद किए हैं—द्रोह, क्रोध, मन्यु, अक्षमता और अमर्ष। योगदर्शन दुःखानुशायी चित्तवृत्ति को द्वेष कहता है (यो.द. 2.8)। रागद्वेष रजोगुण के विकार हैं (गीता. 14.7)। कृष्णोपनिषत् (14) में इन विकारों की तुलना राक्षसों से की गई है। गीता (3.34) में भी इन्हें शत्रु कहा गया है।

राजयोग–योगशिखोपनिषद् (1.136-138) के अनुसार जब साधक शरीर के ऊर्ध्वभाग स्थित शिवस्वरूप रेतस् और अधोभाग स्थित रज का योग करता है, तब प्राण और अपान भी उन्हीं में लीन हो जाते हैं। रज और रेतस् के योग की इस क्रिया को ही राजयोग कहा गया है। (राजयोग की प्रशंसा के लिए देखिए, ह.यो.प्र. 4.8)।

रुद्र–परब्रह्म, ईशान, महादेव आदि इसके पर्याय हैं।

रुद्रग्रन्थि–कुण्डलिनीशक्ति जिन तीन ग्रन्थियों को भेदकर सहस्रार में प्रवेश करती है, उनमें से एक रुद्रग्रन्थि है। पहली ग्रन्थि मूलाधारस्थ है, वह ब्रह्मग्रन्थि है। तदुपरान्त हृच्चक्र-स्थित विष्णु-ग्रन्थि का भेदन करती है और बाद में आज्ञाचक्र-स्थित 'रुद्रग्रन्थि' नामक तीसरी ग्रन्थि को भेदती है। इन तीनों ग्रन्थियों में क्रमशः ब्रह्मा-विष्णु-रुद्र (महेश) का स्थान माना जाता है (यो.कुं. 1.67-69)।

रुद्राक्ष–(रुद्र + अक्ष) त्रिपुरवध के समय भगवान् रुद्र की आँखों से जो आँसू गिरे उनसे रुद्राक्ष की उत्पत्ति हुई, ऐसा माना गया है (रुद्रजाल 2)।

ल

लक्ष्य-त्रय–ब्रह्मदर्शन में तीन प्रकार की दर्शन प्रक्रियाओं की सहायता ली जाती है। उनमें तीन रंग विशेषों की स्थितियाँ होती हैं और तीन प्रकार के दर्शन होते हैं। वे तीन प्रकार के दर्शन ही लक्ष्यत्रयी हैं। वे ही बाह्यलक्ष्य, मध्यलक्ष्य तथा अन्तर्लक्ष्य रूप लक्ष्य-त्रय हैं। ब्रह्मज्योतिदर्शन में सर्वप्रथम 4, 6, 8, 10 और 12 अंगुल की दूरी पर क्रमशः नीला, काला, लाल, पीला और मिश्र रंग का आकाश दिखाई देता है, वह बाह्य लक्ष्य है। प्रातःकाल में ध्यान के समय पर सूर्य-चन्द्र-अग्नि की ज्वालाओं के समान और ध्यानरहित समय में अन्तरिक्ष समान दिखाई देता हो, तब उसे मध्यलक्ष्य कहते हैं और अन्तर्लक्ष्य दीप्तिमान ज्योतितुल्य है। महर्षिगण ही इस इन्द्रियातीत ज्योति को जान सकते हैं। इस अन्तर्लक्ष्य ज्योति के बारे में विद्वानों में बड़ा मतभेद है। कोई इसे सहस्रार दल में, कोई इसे बुद्धि की गुहा में सर्वांगसुन्दर पुरुष रूप में, तो कोई शीर्ष स्थान में स्थित उमासहित पंचमुखी महेश्वर के रूप में मानते हैं। कुछ लोक 'अंगुष्ठमात्र पुरुष' (हृदयस्थ) को ही अन्तर्लक्ष्य मानते हैं। (विशेष विवरण के लिए देखिए—मण्डलब्राह्मणोपनिषत् 1.2.8, 1.2.11-12, 1.3.6 और 1.4.1-2)।

लययोग–योग के प्रकारों में से एक। योग-तत्त्वोपनिषत् (21-22) के अनुसार मातृकायुक्त बारह सौ मन्त्रों का जप करने से मन्त्रयोग सिद्ध होता है, वह बड़ा सिद्धिदायक है। विशेष विवेचन 'मन्त्रयोग' शब्द में किया गया है।

लिंगशरीर–जब मृत्यु के समय जीव अपने स्थूल शरीर को छोड़कर जाता है, तब लिंगशरीर या सूक्ष्मशरीर को साथ में लेकर ही जाता है। पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ, पाँच प्राण तथा मन और बुद्धि—इन सत्रह तत्त्वों से सूक्ष्मशरीर बनता है (शारीकोपनिषत्)।

लीलाविग्रह–सनातन ब्रह्म जिस प्रकार अपनी माया (विराट् लीलाविग्रह) से ही मंच पर नाटक करने के समान मानव-शरीर धारण करते हैं, उसी प्रकार पूर्ण पुरुष सनातन ब्रह्मरूप श्रीकृष्ण ने गोपवेश धारण किया था। वास्तव में तो वे पूर्ण पुरुष, सनातन ब्रह्म साक्षात् श्रीहरि ही हैं। (देखिए कृष्णोपनिषत् 10-12)। ऐसे ब्रह्म के लीलामय शरीर को ही लीलाविग्रह कहते हैं।

लोक–पुराणों में सात लोक उल्लिखित हैं। वस्तुतः पृथ्वी के ऊपर भी सात लोक हैं और पृथ्वी के नीचे भी सात लोक माने गए हैं। इस

प्रकार कुल मिलाकर चौदह लोक ही होते हैं। ऊपर के लोक—भूः, भुवः, स्वः, जनः, तपः, महः और सत्य है तथा नीचे के लोक—अतल, वितल, सुतल, तलातल, रसातल, महातल और पाताल हैं (पद्मपुराण)। उपनिषदों ने शीर्षस्थ इन्द्रियों—दो आँखें, दो कान, दो नासिकाएँ और एक मुख को सात लोक कहे हैं। उपनिषदों में इहलोक को (पृथ्वी को) और परलोक को इनके अतिरिक्त कहा गया है।

व

वरदान–किसी देवी-देव या मनुष्य-महापुरुष से माँगा हुआ पदार्थ प्राप्त हो, उसे वरदान कहा जाता है (वर = श्रेष्ठ वांछित वस्तु और दान = दिया जाना)। कठोपनिषद् में नचिकेता की यमराज से तीन वरदान माँगने की कथा है। 'वर' का दूसरा अर्थ श्रेष्ठ महात्मा भी होता है (कठ. 1.3.14)। दैवी शक्तियाँ वरदान देती हैं। मनुष्य वर देता नहीं है, माँगता है।

वषट्कार-हन्तकार–देवों के लिए किया गया खास यज्ञ वषट्कार कहलाता है। कहीं-कहीं पर यह शब्द स्वाहाकार के अर्थ में भी प्रयुक्त होता है। यह शब्द यज्ञ की प्रतिष्ठा माना गया है। (तै.सं. 7.5.5.3)। इसे वैश्वानर अग्नि और सूर्य से भी सम्बद्ध किया गया है (मै.ब्रा. 4.6.7)। अतिथि या संन्यासी आदि के लिए गृहस्थ लोग भोजन का कुछ अंश निकाला करते थे। इसको हन्तकार कहा जाता था।

वह्नियोग–कुण्डलिनी-जागरण के लिए प्रतिपादित अनेक यौगिक प्रक्रियाओं में वह्नियोग या अग्नियोग भी एक अत्यन्त महत्त्व का सोपान है। योगचूडामण्युपनिषत् के अनुसार इस वह्नियोग से सुषुप्त कुण्डलिनी जागत् होती है। वह्नियोग एक प्रकार की प्राणायाम प्रक्रिया है (योगचूडामणि 36.39)। यह मंत्रोक्त वह्नियोग कदाचित् सूर्यभेदी प्राणायाम की प्रक्रिया हो सकती है, क्योंकि इससे सूर्यचक्र का जागरण होकर आन्तरिक अग्नि उत्पन्न होती है। सूर्य-भेदी की भावना भी इसी के समान है। दोनों लगभग एक समान हैं। हठयोगप्रदीपिका (3.116) में भी कुण्डलिनी-साधना में भानु के आकुंचन और अग्नि के वशवर्ती होने की बात कही गई है, अतः दोनों एक ही है, ऐसा मालूम पड़ता है।

वह्निशिखा–यह शब्द यों तो एक वृक्ष का नाम है, पर उपनिषदों में इस शब्द का एक विशिष्ट अर्थ है। चतुर्वेदोपनिषत् में चारों वेदों की उत्पत्ति विराट् पुरुष से कही गई है। उसमें कहा गया है कि सहस्रशीर्ष सहस्राक्ष विराट् पुरुष कमलकोश समान हृदय में नीचे मुख करके एक कोश के रूप में लटका है, वह शक्तिसम्पन्न है। उसके बीच में श्रेष्ठ अग्नि (ज्योति) चतुर्मुखी ज्वालायुक्त स्थित है। उसी के बीच वह्निशिखा (अग्निज्योति - श्रेष्ठ शिखा) के बीच विराट् पुरुष (परब्रह्म) स्थित है। वही परमज्योति परमात्मा या परब्रह्म आदि कही जाती है (चतुर्वेदो. 4.6)।

वाक्सिद्धि–आहार-नियमन तथा निरन्तर सत्य बोलने के अभ्यास से वाक्सिद्धि प्राप्त होती है। वाक्सिद्धि वाला मनुष्य जो भी अपने मुँह से बोलता है, वह सत्य हो जाता है। इसके लिए अनेक यौगिक क्रियाएँ भी होती हैं। त्रिशिखि-ब्राह्मणोपनिषद् (111-112) में कहा गया है कि ब्राह्ममुहूर्त में जिह्वा से वायु को खींचकर पी लेने से तीन मास में वाक्सिद्धि होती है।

वाजपेय यज्ञ–सोमयाग की सात संस्थाओं में वाजपेय पाँचवाँ है। वह षोडशी याग की विकृति है। उसी से ही इसकी लगभग सभी क्रियाएँ सम्बद्ध है। सम्राट् बनने की कामना वाला आहिताग्नि ब्राह्मण या क्षत्रिय इसे शरद् ऋतु में करता है (शत.ब्रा. 5.1.1.14 और 5.1.1.11)।

वाजी–यह 'अश्व' शब्द का पर्याय है। वेदों और शास्त्रों में बलिष्ठ पशु के सन्दर्भ में सुप्रसिद्ध है।

वाणी–मुख से निकले हुए सार्थक शब्द वाणी कहे जाते हैं।

वानप्रस्थ–भारतीय जन-जीवन के शास्त्रीय चार विभागीकरण (आश्रमों) में से तीसरा आश्रम।

वार्ताकवृत्ति–चार प्रकार के गृहस्थों में से एक। वे गृहस्थ वार्ताकवृत्ति कहलाते हैं, जो कृषि, पशुपालन आदि कार्य आनन्दपूर्वक करते हुए सौ वर्षों तक यज्ञोपासनादि करते रहते हैं (आश्रमोपनिषद् 2)।

वालखिल्य–वानप्रस्थ आश्रमियों के चार भेदों में से एक। जो वानप्रस्थ जटा धारण करके फटे वस्त्र और वृक्ष की छालों को शरीर का आवरण बनाकर आठ मास तक (मार्गशीर्ष से आषाढ़ तक) उपार्जित पुष्प-फल-शाक-कन्दमूल आदि तथा अन्न ग्रहण करके बाकी के चातुर्मास्य में उसी संचित अन्नादि द्वारा आजीविका चलाते हैं। वे चातुर्मास्य में कुछ ग्रहण नहीं करते। वे लोग पंचमहायज्ञ करते हैं (आश्रमोपनिषद् 3)।

वासनात्रय–'वासना' शब्द के तो आशा, ज्ञान, संस्कार, स्मृति, हेतु, भावना आदि अनेकानेक अर्थ होते हैं, पर किसी वस्तु या व्यक्ति के प्रति अत्यधिक स्नेह या मोह के कारण किसी तत्सम्बन्धी प्रसंग के आने पर उसकी वासना जाग उठती है। ऐसी तीन प्रकार की वासनाओं को उपनिषदों ने वासनात्रय कहा है; यथा—1. देह सम्बन्धी वासना, 2. मन सम्बन्धी वासना और 3. बुद्धि सम्बन्धी वासना।

विकार–किसी व्यक्ति या श्रेष्ठ वस्तु की वृत्ति या प्रकृति में बदलाव आ जाने को विकार कहते हैं। खराबी, दोष और अवगुण भी विकार कहे जाते हैं। जैसे—काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मात्सर्य—ये सब विकार हैं। (गीता 2.62, 16.21 आदि)।

विक्षेप–माया की दो शक्तियों (आवरण और विक्षेप) में द्वितीय शक्ति। इसके द्वारा जो वस्तु जिसमें नहीं है, वह दिखाई देती है, जैसे रज्जु में साँप और ब्रह्म में जगत्। इसे अध्यारोप या आरोप भी कहते हैं। इसके अन्य शब्द विपर्यास और विपर्यय भी हैं। इसी को पारिभाषिक रूप से 'विवर्त' भी कहते हैं।

विचारणा–अक्ष्युपनिषद् और महोपनिषद् में योग की जो सात भूमिकाएँ बताई गई हैं, उनमें से दूसरी भूमिका विचारणा नाम की है। वैराग्य धारण करने से पूर्व जब सांसारिक मायाजाल के प्रति ग्लानि का भाव उत्पन्न होता है और शास्त्रादि के प्रति जिज्ञासा-भाव उत्पन्न होता है, और श्रेष्ठ कर्म करने की इच्छा होती है, तब उसे 'विचारणा' की भूमिका कहा जाता है।

विज्ञानात्मा–स्थूल शरीर के व्यष्टि उपहित चैतन्य के विश्व कहते हैं। वही विश्व 'विज्ञात्मा' भी कहा जाता है (पैंगलोपनिषद् 2.6)।

विदेहमुक्ति—यहाँ जब मनुष्य जीवन्मुक्त होते हुए प्रारब्ध कर्मों का फल भोगता हुआ जीता रहता है, और प्रारब्ध कर्मों के क्षीण होने हो जाने पर देहत्याग करके मुक्त हो जाता है, उसे विदेहमुक्त कहते हैं। विगत देह वाली मुक्ति ही विदेहमुक्ति है। ('न तस्य प्राण उत्क्रामन्ते' आदि)।

विद्वान्–ज्ञाता, जानकार, बुद्धिमान, विद्यावान, ये सभी शब्द उपनिषदों में अनेक बार आये हैं। (जैसे ईश. 18, मुण्डक. 3.2.8, निरा. 32 आदि)।

विद्या–'विद्या' का अर्थ ज्ञान है। वह परा-अपरा दो प्रकार की है। यथार्थ ज्ञान विद्या है। विवेक ज्ञान भी विद्या है। मुक्तिदात्री विद्या है। अमृतदात्री विद्या है। (ईश. 11, मैत्रा. 7.9, केन. 2.4, संन्यास. 2.83-84, संहितोपनिषद् 3.4 आदि)।

विधाता–विधान, रचना, निर्माण करने वाला। सृष्टि का सर्जक, ब्रह्मा, ईश्वर, धाता। (देखिए ऋग्वेद, 8.3.17, मैत्रा. 5.8, निरुक्त 10.26 और 11.10)।

विनियोग–फलोद्देश्य से किसी वस्तु के उपयोग को 'विनियोग' कहते हैं। वैदिक कार्यों में मन्त्र-विशेष के प्रयोग को विनियोग कहा जाता है। प्रेषण, प्रवेश आदि भी इस शब्द के अर्थ हैं। जाबालदर्शनोपनिषद् (6.2.13) में साधना प्रक्रिया में किए जाने वाले प्रयोग को विनियोग कह गया है।

विभु–इस शब्द के अनेक अर्थ हैं; यथा—व्यापक, स्वामी, शंकर, ब्रह्म, विष्णु, आत्मा, जीवात्मा, ईश्वर आदि। वेद-पुराण-उपनिषदों में विराट् ब्रह्म की सर्वव्यापकता के अर्थ में इसका अनेक बार प्रयोग किया गया है। पैंगलोपनिषद् (2.1) आदि अनेक उदाहरण दिए जा सकते हैं।

विरज–रज (रजोगुण) जिसमें न हो, वह 'विरज' कहलाता है। पञ्चब्रह्मोपनिषद् (1) में ब्रह्म को विरज (रजोगुणरहित अर्थात् गुणत्रयरहित) कहा गया है।

विरजा–इस शब्द के वृक्ष, प्रेमिका, तीर्थ, नाड़ी और नामों में ययाति की माता, ऋक्ष, वानर की पत्नी आदि अनगिनत अर्थ होते हैं। यहाँ के सन्दर्भ में कौषीतकिब्राह्मणोपनिषद् के अध्याय 2 एवं 3 में यह एक नदी है। साधक विरजा नदी के पास जाकर संकल्पमात्र से उसे भी लँघ जाता है। गायत्रीरहस्योपनिषद् में इसे गायत्री की चौबीस शक्तियों में से एक कहा गया है (गा.र. 6)। क्षुरिकोपनिषद् में इसे एक नाडी कहा गया है।

विराट् पुरुष–सार्वभौम शक्तिसम्पन्न परमपुरुष। दृश्यादृश्य अनन्त सृष्टि का सर्जक है। उसकी हजारों संज्ञाएँ हैं (शां.भ. 25.9.4)। सारा जगत् उसका शरीर है। सृष्टि के परे दस अंगुल तक उसकी स्थिति है (पुरुषसूक्त)।

विवर्त–जो न हो अर्थात् कारण के न होते हुए भी कार्यरूप में दिखाई पड़े, वह विवर्त कहलाता है, जैसे ब्रह्म में विश्व विवर्त है।

विवस्वान्-वैवस्वत–बारह आदित्यों में एक को विवस्वान् नाम दिया गया है। सूर्य के आदित्य आदि बारह नाम हैं। उसकी पत्नी 'संज्ञा' है। भागवतपुराण के छठे स्कन्ध के छठे अध्याय में तथा ब्रह्माण्डपुराण के 2.38 तथा भागवतपुराण 9.1.15 में विवस्वान् सम्बन्धी सभी बातें वर्णित है।

विश्व–स्थूल शरीर के व्यष्टि-उपहित चैतन्य को विश्व कहा जाता है। वह एक जीवसंज्ञा है।

विषयभोग–ज्ञानेन्द्रियों के द्वारा शब्द-स्पर्शादि विषयों का अनुभव करना ही विषयभोग है। (गीता 2.62)।

विष्णुग्रन्थि–कुण्डलिनीशक्ति के सहस्रार तक जाने के मार्ग में आने वाली भेदन करने योग दूसरी ग्रन्थि (तीन ग्रन्थियों में से दूसरी ग्रन्थि)।

वीतराग–साधना की उच्चतम स्थिति में पहुँचा हुआ साधक। राग-द्वेषादि समस्त वासनाओं से रहित। जैसे बुद्ध, महावीर आदि (गीता 4.10)। जाबालदर्शनोपनिषद् (6.50-51) में इसकी अधिक विवेचना की गई है। महोपनिषद् के 67वें मन्त्र में भी इसका विवेचन है।

वीर्य–शरीर की सात धातुओं में से एक। यह बल और कान्तिदायक धातु है। आत्मा से (प्रकृति सूर्य या अग्नि से) वीर्य की प्राप्ति होती है (केन. 2.4)। वीर्य का अर्थ सामर्थ्य भी होता है। (केन. 3.5)।

वेद-वेदत्रयी–वेद संसार का प्राचीनतम ग्रन्थस्थ ज्ञानराशि है। यद्यपि वेद चार हैं—ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद। परन्तु वेदत्रयी इसलिए कही जाती है, क्योंकि वैदिक वाङ्मय संहिता, ब्राह्मण और उपनिषत्—तीनों को मिलाकर कहा जाता है। अथवा—मन्त्र, गद्य और गायन (क्रमशः ऋक्, यजुः, साम)—इन तीनों के कारण वेदत्रयी कहा गया है।

वेदांग–वेदों के साथ अंगरूप में अध्ययन किये जाने वाले शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द और ज्यौतिष—इन छः विषयों को वेदांग कहा गया है।

वेदान्त–वेदों के अन्तभाग को (अर्थात् सार भाग को), तत्त्वज्ञान को अर्थात् उपनिषदों को वेदान्त कहा जाता है। उपनिषदों के उपकारक शारीरक सूत्रों और गीता आदि अन्यान्य ग्रन्थों को भी वेदान्त कहा जाता है।

वैकुण्ठ–भगवान् विष्णु का धाम (स्थान) वैकुण्ठ है। पुराणानुसार यह सत्यलोक के ऊपर है। भगवान् विष्णु के द्वारा मुक्ति पाए गए लोग यहाँ अजर-अमर होकर रहते हैं। अवतार के समय भगवान् सारे वैकुण्ठ को नीचे भूतल पर उतार देते हैं (कृष्णोपनिषद् 25)। अधिक जानकारी के लिए नारायण उपनिषद् (4) देखें।

वैराग्य–सांसारिक विषयभोगों को तुच्छ मानने की वृत्ति वैराग्य है। वैराग्य से ही संन्यास ग्रहण किया जाता है। भोग्य पदार्थों के प्रति वासना का अभाव ही वैराग्य है (अध्यात्मो. 41)। वैराग्य का फल बोध और बोध का फल उपरति और उपरति का फल आत्मानुभवजन्य शान्ति है। (अध्यात्मो. 28)।

वैश्वदेव–प्रतिदिन संस्कृत अग्नि में पके अन्न द्वारा सर्वदेवों के उद्देश्य से किया जाने वाला हवन।

वैश्वानर–सामान्य अर्थ अग्नि है। भोजन के पाचन में योगदान देने वाले शरीरस्थ परमात्म चेतन का अंश भी 'वैश्वानर' कहलाता है (गीता 15.14)। चतुर्विध प्राणियों का समष्टिगत अधिष्ठातारूप चैतन्यांश भी 'वैश्वानर' है।

वैखानस–यह भी वानप्रस्थियों का एक प्रकार है। ग्रामीणों द्वारा उपेक्षित, स्वयं उत्पन्न, पकी हुई औषधियों और वनस्पतियों को अग्नि में पकाकर खाने वाले और पंचयज्ञ करने वाले वानप्रस्थ लोग वैखानस कहे जाते हैं (आश्रमोपनिषद् 3)।

व्यष्टि-समष्टि–समूह या समाज से पृथक् किए गए पदार्थ या व्यक्ति को व्यष्टि कहते हैं। सामूहिकता के अभाव वाले व्यक्ति को व्यष्टि की संज्ञा दी गई है। इससे ठीक विपरीत अर्थ वाला शब्द 'समष्टि' है। समूह ही समष्टि है। उपनिषद् में कहीं-कहीं व्यष्टि का अर्थ सर्वव्यापकता भी लिया गया है। (कौ.बा. 1.7)

व्याहृति–एक प्रकार का कथन। व्याहृतियाँ सात मानी गई हैं—भूः, भुवः, स्वः, तपः, जनः, महः और सत्यम्। पहली तीन महाव्याहृतियाँ हैं। पुराण इन्हें सविता और पृश्नि की कन्याएँ मानते हैं। उपनिषद्-ग्रन्थों में पहली तीन को तीनों वेदों के निचोड़–अभिस्रवित साररूप रस के रूप में माना गया है (तैत्ति. 1.5.1, जैमिनि 2.9.3)। जैमिनीय (1.23.6) के अनुसार तीनों व्याहृतियों के निचोड़ से ॐ अक्षर अभिस्रवित हुआ है।

व्योम-व्योमपञ्चक–व्योम का सामान्य अर्थ है 'आकाश'। यह मेघ का पर्याय भी है। विष्णु को भी 'व्योम' कहते हैं। शिव का भी एक नाम 'व्योमकेश' है। लोक को भी व्योम कहा है। (शत.ब्रा. 7.5.2.18)। तैत्तरीयसंहिता में अन्न को भी व्योम कहा गया है (5.3.3.2)। मण्डल-ब्राह्मणोपनिषत् (4.1.2) के अनुसार आकाश, पराकाश, महाकाश, सूर्याकाश और परमाकाश के समुच्चय को व्योमपंचक कहा गया है।

व्रात्य–इस शब्द के व्रतधारी, परमेश्वर आदि अर्थ पहले थे, परन्तु परवर्ती काल में इस शब्द का अर्थ उल्टा ही हो गया और कर्तव्यभ्रष्ट, च्युत आदि अर्थ में इस शब्द का उपयोग होने लगा। संस्कारहीन व्रात्य कहलाता है। जैमिनीय ब्राह्मण में व्रात्य शब्द सम्भवतः व्रतों के नियम-उपनियम के अर्थ में है (जै.ब्रा. 2.221)। यही शब्द प्रश्नोपनिषद् में प्राण के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है।

श

शक्तिचालिनी मुद्रा–योगशास्त्रीय दस मुद्राओं में से एक। सिद्धासन या पद्मासन में बैठकर दोनों हथेलियाँ जमीन पर जमा दें। बीच-पचीस बार धरती से नितम्बों को उठाकर पृथ्वी पर ताडन करे, बाद में मूलबन्ध लगाकर नासिका के समुचित छिद्र से पूरक करके, प्राण-अपान को संयुक्त करके, जालन्धरबन्ध लगाकर यथाशक्ति कुम्भक करना चाहिए। कुम्भक काल में अश्विनी मुद्रा करनी चाहिए। बाद में जालन्धरबन्ध खोलकर पूरक से विपरीत नासिका से रेचन करना चाहिए और विकाररहित होकर स्थिर हो जाना चाहिए। तब यह मुद्रा होती है। इसका विशेष वर्णन घेरण्डसंहिता, हठयोगप्रदीपिका आदि ग्रन्थों में किया गया है। जिज्ञासुओं को उन ग्रन्थों से जान लेना चाहिए। यहाँ विस्तार-भय से इतना ही कहा है।

शब्दब्रह्म–ओंकार को शब्दब्रह्म कहा गया है। आध्यात्मिक सन्दर्भों में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण होने से उसे साक्षात् ब्रह्म कहा गया है। (तैत्तिरीयोपनिषत् 1.8.1)। ब्रह्मबिन्दु उपनिषद् (16-17) में, उसका ध्यान-चिन्तन विहित है और परब्रह्म से उसकी एकता बताई है। मैत्रायण्युपनिषद् (6.22) में भी यही बात कही गई है।

शस्त्र–यज्ञ में होता जिन मन्त्रों से स्तुति करते हैं, उस स्तुति को शस्त्र कहा जाता है।

शान्ति–क्रिया-वेग-गति-क्षोभ-उद्वेग आदि से रहित स्थिति। चित्त की वासना आदि का क्षय। आराम, निवृत्ति, अनिष्ट-निवारण। इसे श्रद्धावान् प्राप्त करता है (गीता 4.39)।

शांभवी मुद्रा–मूल तथा उड्डियाणबन्ध पूर्वक पद्म या सिद्ध आसन पर बैठकर नासाग्र अथवा भ्रूमध्य में दृष्टि को स्थिर करके ध्यान लगाने से शांभवी मुद्रा होती है।

शालीनवृत्ति–गृहस्थों के चार प्रकारों में एक। जो स्वयं यज्ञादि करते हैं, पर दूसरों को नहीं कराते वे शालीनवृत्ति हैं।

शास्त्र–प्राचीन ऋषि-मुनियों के ग्रन्थ। कर्तव्या-कर्तव्य बोधक अनुशासन। चार वेद, छः वेदांग, मीमांसा, न्याय, धर्मशास्त्र, पुराण, आयुर्वेद, धनुर्वेद, गंधर्ववेद और अर्थशास्त्र मिलकर वे कुल 18 माने गए हैं।

शीतली प्राणायाम–योगशास्त्रों में लगभग 96 प्रकार के प्राणायाम बताए गए हैं, उनमें 9 मुख्य है। उनमें एक शीतली प्राणायाम है। इसका वर्णन गोरक्षसंहिता तथा घेरण्डसंहिता में किया गया है। क्रियाभेद से कुम्भकप्राणायाम के सहित आदि आठ भेदों में शीतली एक है। शीतली प्राणायाम में सर्वप्रथम दोनों नथुनों को बन्द करके दोनों ओठों को कौए की चोंच के समान बनाकर जिह्वा को थोड़ा बाहर निकाला जाता है। इसके बाद मुख द्वारा धीरे-धीरे वायु को अन्दर खींचा जाता है। यथाशक्ति कुम्भक करके दोनों नथुनों से धीरे-धीरे वायु बाहर निकाला जाता है। यही शीतली प्राणायाम है। (हठयोगप्रदीपिका 2.57-58)। योगकुण्डलिन्युपनिषद् के अनुसार शीतली प्राणायाम थोड़ा अलग है (योग. 21, 30 एवं 31)।

शुद्धि-शुचिता-पवित्रता–उपनिषदों ने केवल शारीरिक शुद्धि को ही नहीं, अपितु आन्तरिक पवित्रता को ही अधिक महत्त्व दिया है। नियमों से ज्यादा यमों को महत्त्व दिया है (मैत्रेयी. 2.10)। ज्ञानरूपी मिट्टी और वैराग्यरूपी जल से धोए जाने पर ही सच्ची आन्तरिक पवित्रता होती है। (मैत्रेयी. 2.3)।

शुभेच्छा–योग की सात भूमिकाओं में से पहली भूमिका। वैराग्य धारण करने से पहले सांसारिक मायाजाल के प्रति ग्लानि का भाव उत्पन्न होता है और शास्त्रजिज्ञासा होती है तथा सत्कर्मों के आचरण की वृत्ति होती है, तो उसे शुभेच्छा नामक योग की प्रथम भूमिका कहा गया है।

शृंगारकला–चित् शक्ति (बह्वृचोपनिषद् 1) ही आदि देवी हैं।

शोक–अनिष्ट-प्राप्ति से हृदय में जो भाव होता है उसे 'शोक' कहा जाता है।

शौच–पाँच प्रकार के नियमों में से एक। आन्तरिक एवं बाह्य पवित्रता को शौच कहते हैं।

श्रद्धा–यह सत्य की धारणा (श्रत् + धा) है। प्रेमभक्तिपूर्वक पूज्यभाव को श्रद्धा कहते हैं। यह एक हृदयवृत्ति है (बृहदारण्यक. 3.9.2)। गीता में त्रिगुणानुसार श्रद्धा के तीन भेद किए गए हैं। (17.2)। श्रद्धाविहीन हवन-दानादि और तप आदि को व्यर्थ कहा है (गीता 17.28)। मनु के अनुसार श्रद्धापूर्वक किया गया धर्माचरण ही फलदायी होता है (मनु. 4.226)। गीता (17.3, 7.21) एवं ऋग्वेद (10.151.4) आदि में श्रद्धा की महिमा गाई गई है।

श्रवण–गुरुमुख से शास्त्र का श्रवण। आत्मज्ञान के लिए वेदान्तप्रतिपादित प्रथम साधन।

श्राद्ध–पितरों के प्रति श्रद्धाभाव से अर्पित जल या भोज्य-पदार्थ को 'श्राद्ध' कहते हैं। शास्त्रों के या लोक विधि के अनुसार पितरों के प्रति किए गए कार्य को श्राद्ध कहते हैं। मनु ने श्राद्ध के पाँच प्रकार बतलाए हैं—नित्य, नैमित्तिक, काम्य, वृद्धिश्राद्ध और पार्वण। भविष्यपुराण में बारह प्रकार के श्राद्ध बताए गए हैं। श्राद्ध का प्रारम्भ करने वाले इक्ष्वाकुपुत्र निमिराज माने गये हैं।

श्रीचक्र-श्रीबीज-श्रीविद्या–इत्यादि शब्दों का विवरण 'त्र्यक्षरी विद्या' शब्द में द्रष्टव्य है।

श्रुति–वेदमन्त्रों, ब्राह्मणों, आरण्यकों और उपनिषदों को 'श्रुति' कहा जाता है, क्योंकि वे ऋषियों ने रचे नहीं, अपितु द्रष्टाओं ने अन्य ऋषियों को सुनाए है।

श्रेय-प्रेय–श्रेय कल्याणकारी आध्यात्मिक मार्ग है, और प्रेय भौतिक उन्नति करने की इच्छा से लिए जाने वाले मार्ग को कहते हैं। आनन्दस्वरूप परब्रह्म की प्राप्ति का मार्ग श्रेय है तथा इस लोक या स्वर्गलोक के सुख-भोगों की प्राप्ति के लिए सामग्रियों को जुटाने का मार्ग है, वह 'प्रेय' का मार्ग है। (अधिक के लिए देखिए, कठ. 1.2.2)।

श्रोत्रिय–वेद-वेदांगों में पारंगत पण्डित को 'श्रोत्रिय' कहा जाता है। सुसंस्कृत ब्राह्मण विद्वान् 'श्रोत्रिय' कहलाता है। ऐसे ज्ञानी श्रोत्रिय का उल्लेख बृहदारण्यकादि उपनिषदों में किया गया है। (बृहदारण्यक. 6.1.14, मैत्रायणी. 6.15, तैत्तरीयो. 2.8 आदि)।

ष

षट्चक्र–योग-साना के ग्रन्थों में 'षट्चक्रभेदन' (षट्चक्रवेधन) का उल्लेख कुण्डलिनी जागरण के लिए किया जाता है (यो.शि. 6.74, यो.कु. 3.7.12)। वे छः चक्र हैं—1. मूलाधार, 2. स्वाधिष्ठान, 3. मणिपूर, 4. अनाहत, 5. विशुद्धचक्र और 6. आज्ञाचक्र।

षडंगन्यास–इसके विवरण के लिए 'अंगन्यास' शब्द द्रष्टव्य है।

षड्ऊर्मियाँ–ये एक तरह से मन की तरंगें हैं। ये छः हैं—प्राणसम्बन्धी—भूख और प्यास, मन सम्बन्धी—शोक और मोह तथा शरीर सम्बन्धी —जरा और मृत्यु, ये कुल मिलाकर छः हैं।

षड्गुण-षट्सम्पत्ति–मोक्षप्राप्ति के लिए साधक को षट् सम्पत्ति का आश्रय लेना पड़ता है। वह षट् सम्पत्ति इस प्रकार है—शम, दम, उपरति, तितिक्षा, श्रद्धा और समाधान। वेदान्त-श्रवण के अधिकारी बनने के चार साधनों में से यह एक साधन है।

षड्भावविकार–विकार भी ऊर्मियों की तरह छः कहे गए हैं; यथा—1. जन्म, 2 अस्तित्व, 3. विपरिणमन (परिणाम), 4. विकास (वर्धन), 5. अपक्षय और 6. मृत्यु। संन्यासियों को इन षड् ऊर्मियों से और षड् भाव विकारों से दूर रहने को कहा गया है।

षड्रिपु–छः प्रकार के शत्रु माने गए हैं—काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद और मात्सर्य। इन्हें 'षड्वर्ग' भी कहा जाता है (मुद्गल. 4.4, गीता 3.37)। इन्हें छोड़ देने की बात गीता (16.21) में कही गई है।

षण्मुखी मुद्रा–मन और वायु पर विजय प्राप्त करने के लिए यह मुद्रा बतलाई गई है। इसमें प्राण ऊर्ध्वगामी और मन एकाग्र होता है। इसमें आनन्दानुभूति होती है (जाबालदर्शनोपनिषत् 6.32-35)। स्वस्तिक आसन लगाकर एकाग्र-चित्त से अपान वायु को ऊपर चढ़ाकर शनैः-शनैः ओंकार का जप करते हुए, दोनों अँगूठों से दोनों कानों को, तर्जनियों से दोनों नेत्रों को और अन्य अँगुलियों से दोनों नासिकाओं को बन्द करके मूर्धा में मन को आनन्द की अनुभूति होने पर्यन्त धारण करना चाहिए। इस तरह प्राण का मन में प्रवेश होता है। यही षण्मुखी मुद्रा है।

षोडशकला–चन्द्र के सोलहवें भाग को कला कहते हैं। मनुष्य के सोलह विशिष्ट गुणों को भी षोडश कला कहा जाता है। पूर्णब्रह्म को भी सोलह कला वाला कहकर उद्धृत किया गया है (जैमिनीयोप. 3.38.8)। सम्पूर्ण जगत् को भी सोलह कला वाला मना गया है (शत.ब्रा. 13.2.2.13)। षोडश संख्या पूर्णता की बोधक है। षोडशकला इसलिए पूर्ण शक्तियों की बोधिका है। ब्रह्म ने सोलह कला के अपने एक तृतीयांश भाग से ही जगत् बनाया है, बाकी तीन पाद तो परे (अतीत) हैं (48 कलाएँ तो विश्वातीत हैं) अतः ब्रह्म को 64 कला वाला माना गया है। ('त्रिपादूर्ध्व उदैत्पुरुषः—त्रिपादस्यामृतं दिवि'।)

षोडशी याग–सोमयागों के क्रम में यह चौथा याग है। यह अग्निष्टोम की विकृति माना जाता है। थोड़ी सी विशिष्ट क्रियाओं के अतिरिक्त अन्य बातें अग्निष्टोम जैसी ही हैं। यह याग वीर्य-कामना से किया जाता है (स.श्रौ. 7.9)। अग्नि, इन्द्राग्नी और इन्द्र इसके देवता हैं। इनके लिए क्रमशः दो अज और एक मेष समर्पित किया जाता है।

स

संकल्प–निश्चय अथवा तीव्र विचार 'संकल्प' है। संकल्पों का आश्रय मन होता है (बृ. 2.4.11)। कल्याणकारी (शिव) संकल्प उत्कृष्ट ज्ञान का साधन हो सकता है (शि.सं. 3)। संकल्पों से ही कामनाएँ उत्पन्न होती हैं, उन्हें त्यागने की बात गीता में कही गयी है (6.24)। उपनिषदों में संकल्पों को मन का स्वरूप कहा गया है। संकल्प और मन को अलग नहीं मानना चाहिए (महोपनिषत् 4.53)।

संन्यास–चार आश्रमों में से अन्तिम आश्रम। सम् (पूर्ण) और न्यास (छोड़ना) अर्थात् सम्पूर्ण कर्मकाण्ड को छोड़कर आत्मनिरत रहने के लिए किया गया वास। वह दो प्रकार का है—क्रमिक और आतुर। क्रमिक संन्यास 75 वर्षों के बाद लिया जाता है और आतुर संन्यास वैराग्य आने पर तुरन्त लिया जाता है। विविदिषा संन्यास आदि भी संन्यास के प्रकार हैं।

संन्यासी–संन्यास धारण करने वाला संन्यासी कहा जाता है। वह जितेन्द्रिय, वैरागी और मुमुक्षु होता है। परिव्राजक, यति, मुनि, अवधूत आदि इसी के नामान्तर हैं। निरालम्ब (39), मैत्रायणि. (2.17) आदि अनेक उपनिषदों में इसका विस्तृत विवरण दिया गया है। संन्यासी के प्रकार, नियम, दिनचर्या, आदि सब बातें उन उपनिषदों में बताई गईं हैं।

संवत्सर–सामान्य अर्थ वर्ष होता है। अन्य अर्थ यह हैं—प्रत्येक साठ वर्ष की एक इकाई करके उसे बारह भागों में विभक्त किया जाता है और प्रत्येक भाग का प्रथम वर्ष, जो पाँच-पाँच वर्षों के बाद आता है, उसे संवत्सर कहते हैं और उन बारह भागों को 'युग' कहा जाता है। संवत्सर का प्रारम्भ चैत्र-शुक्ल प्रतिपदा–मत्स्यावतार जयन्ती के दिन से होता है। आदित्य को 'संवत्' और चन्द्रमा को 'सर' कहा गया है (जै.ब्रा. 2.60)। एक संवत्सर में बारह मास और चौबीस अर्धमास होते हैं (मैत्रा.ब्रा. 1.10.5; ऐत.ब्रा. 8.6)। अग्नि और प्रजापति भी संवत्सर कहे गए हैं (ताण्ड्यमहाब्राह्मण, 17.13.17 और शत.ब्रा. 1.6.3.35)। संवत्सर साठ माने गए हैं।

संस्कार–संस्कार का अर्थ सुधार या परिष्कार है—स्वभाव-परिशोधन। मनुष्य के अचेतन मन में अनुभवों की पड़ी हुई छाप भी संस्कार कहलाती है। मनुष्यों के कार्य संस्कारों से प्रेरित होते हैं। माव-जीवन में परिष्कार करने के लिए हमारे ऋषि-मुनियों ने सोलह संस्कारों की योजना की है। इन संस्कारों से मनुष्य में उत्तरोत्तर भावों और विचारों का परिष्कार होता रहता है। संस्कार किसी विशेष योग्यता को प्राप्त करने के लिए भी किए जाते हैं। (जै.सू. 3.2.1 का भाष्य और तन्त्रवार्तिक)।

सकाम-निष्काम कर्म–किसी कामना के लिए किए जाने वाले कर्मों को सकाम कर्म या काम्य कर्म कहते हैं, और कामनारहित निष्काम-कर्माचरण को कर्तव्य समझकर लोकसंग्रह या ईश्वरप्रीत्यर्थ किए जाने वाले को निष्काम कर्म कहते हैं। सकाम कर्मों से बन्धन और निष्काम कर्मों से बन्धनमुक्ति होती है। (गीता. 2.47, 4.20, 5.12 और 12.12 आदि देखिए)।

सगुण-सविशेष ब्रह्म–वह चैतन्य, जिसमें सर्वज्ञत्व, सर्वेश्वरत्व, सर्वनियंतृत्व आदि का आरोप किया जाता है।

सच्चिदानन्द–यह आत्मा अथवा परमात्मा का स्वरूप है। वह 'सत्'—त्रिकालाबाधित अस्तित्व, है, वह चित्—चैतन्यरूप, ज्ञानरूप, स्वप्रकाश रूप, स्फुरणरूप है और वह आनन्दरूप, निरतिशय आनन्दस्वरूप है। (देखिए कठोपनिषद्, 1.2.18, 2.1.15 आदि)।

सत्-असत्–'सत्' शब्द के अस्तित्व, सत्ता, सत्य, ब्रह्म, शाश्वत, स्थायी, सज्जन आदि कई अर्थ होते हैं, किन्तु हम उस ब्रह्म को ही नित्य-स्थायी-त्रिकालाबाधित शाश्वत तत्त्व के रूप में लेंगे। इसके विपरीत असत् वह है, जो मिथ्या, असत्य, अस्तित्वहीन, सत्तारहित, बुरा, दुष्ट आदि होता है। यहाँ के सन्दर्भ में जगत् ही असत्, मिथ्या, कालाबाधित है। उपनिषत् कहती है—सत्य की ही सदा जय होती है (मै.ब्रा. 4.3.8)। सत्य में प्रमाद नहीं करना चाहिए (तैत्ति. 1.11.1)। गीता कहती है कि असत् का कोई भी अस्तित्व नहीं है और सत् का कहीं भी अभाव नहीं है (गीता 2.16)। यज्ञ, तप, दान, सौजन्य और सद्भाव में सत् है (गीता 17.26-27)।

सत्त्व–प्रकृति के तीन गुणों में एक सत्त्व है। त्रिगुणात्मिका प्रकृति के सत्त्व, रजस् और तमस्—ये तीन गुण हैं, इनमें सत्त्व सर्वोत्तम गुण है। ज्ञान, शान्ति, विवेक, सत्प्रवृत्ति आदि इसके लक्षण हैं। 'सत्त्व' शब्द आत्मा-परमात्मा की मूल सत्ता का भी बोधक है। यह सत्त्व (सत्तारूप परमात्मा) त्रिगुणातीत है। प्रकृति के ये तीनों गुण जीवात्मा को शरीर से बाँधते हैं (गीता 14.5) तीनों गुणों के लक्षण गीता (14.9 से 14.17) में बताए गए हैं।

सत्त्वापत्ति–अक्ष्युपनिषत् में बताई गई सात भूमिकाओं मे से यह चौथी भूमिका है। इसके द्वारा आत्मा अपने शुद्ध स्वरूप में स्थित होता है।

सदानन्द–अद्वैत में (मुक्ति में) मिलता हुआ आत्यन्तिक निरतिशय आनन्द ही सदानन्द है।

सद्गति-सद्गुरु–हमारे यहाँ सद्गुरु की महिमा का अत्यन्त गुणगान है। वे सद्गति (मोक्ष-प्राप्ति) कराते हैं। गुरु श्रोत्रिय और ब्रह्मनिष्ठ हो तभी वह सद्गुरु है।

सनातन–सद्,तन, कालातीत, त्रिकालाबाधित तत्त्व, ब्रह्म।

सन्तोष–यह योग के आठ अंगों के अन्तर्गत दूसरा अंग (नियम) है। इस नियम के पाँच प्रकार हैं, उनमें एक सन्तोष दूसरा नियम है। अपनी स्थिति के अनुसार योग्य प्रयत्न करने पर जो प्राप्त हो उसे 'सन्तोष' कहते हैं। वही सुख का मूल है। (मनु. 4.12, जाबालदर्शनो. 2.5)।

सन्धि–पारस्परिक वैर निपटाने के लिए राजाओं का समझौता, अस्थियों के विविध जोड़, स्वर-व्यंजनादि को मिलाने से होने वाला रूप, दिन-रात का मिलन, प्रातः-मध्याह्न-सायं काल आदि अनेक अर्थों में सन्धि शब्द प्रयुक्त होता है। यहाँ के सन्दर्भ में प्रातः, मध्याह्न और सायंकाल की त्रिसन्ध्या है। प्रत्येक संध्या में गायत्री जप और उपासना का विधान है। संधिकाल की उपासनाएँ विशेष फलदायिनी होती हैं। (सम् = सम्यक् और ध्या = ध्यान) उस समय अच्छा ध्यान लगाने का संकेत है। सन्धि और सन्ध्या—दोनों शब्द एक ही अर्थ को प्रकट करते है।

सप्तचक्र–सामान्यतया कुण्डलिनी-जागरण के लिए छः चक्रों का भेदन विहित है, परन्तु इस षट्चक्रभेदन के बाद जो इससे परे सातवें चक्र तक कुण्डलिनी शक्ति का ऊर्ध्वगमन होता है, तो साधक पूर्णता की स्थिति में पहुँच जाता है। यह सातवाँ चक्र सहस्रारचक्र है। इसमें सहस्रदल कमल होने की बात कही जाती है। तन्त्रसार, हठयोगप्रदीपिका आदि ग्रन्थों में इन सातों चक्रों की विशद विवेचना की गई है।

सप्त जिह्वाएँ–यज्ञीय विधियों में अग्नि का आधि-दैविक रूप—मानवीकरण भी एक है। ऊर्जा-उष्णता-प्रकाशादि युक्त अग्निदेव मुखादि अवयवों से युक्त होकर भोजन आदि करते हैं। अग्निदेव अपनी जिह्वाओं से आज्य आदि हव्य पदार्थों को ग्रहण करते हैं। अग्नि के इस प्रकार मानवीकरण-दैवीकरण से अग्नि की लपटें ही उसकी जिह्वाएँ मानी जाती हैं। ये लपटें (ज्वालाएँ) पुराणों एवं उपनिषदों में सात प्रकार की मानी गई हैं। मुण्डकोपनिषद् (1.2.4) के अनुसार ये सात जिह्वाएँ काली, कराली, मनो-जवा, सुलोहिता, सुधूमवर्णा, स्फुलिंगिनी और विश्वरुची हैं। वस्तुतः तो ये जिह्वाएँ अग्नि की

ज्वालाएँ ही हैं। इसी को आगे सात दीप्तियों में भी कहा गया है (मुण्डक. 2.1.8)।

सप्तयज्ञ–यज्ञप्रधान संस्कृति में यज्ञों के श्रौत और स्मार्त ऐसे दो विभाग किए गए हैं। यहाँ के सन्दर्भ में तो ये सात यज्ञ दार्शनिक स्तर के ही हैं। मुण्डकोपनिषद् (2.1.8) में सप्तयज्ञ या सप्तहोम का तात्पर्य स्पष्ट करते हुए आचार्य शंकर कहते है कि होमों का अर्थ 'अपने विषयों का विज्ञान' होता है। 'यदस्य विज्ञानं' इस श्रुति से भी यही अर्थ सिद्ध होता है। यहाँ पर 'विषयों के विज्ञान' से तात्पर्य 'सप्तप्राण (शीर्षस्थ इन्द्रियवर्ग) के ज्ञान' से है। इस विशिष्ट ज्ञान को जब आत्मदृष्टि के उद्देश्य से होमा जाता है या छोड़ा जाता है, तो उसे ही सात यज्ञ कहा जाता है। परन्तु व्यवाहरिक दृष्टि से तो ये सात यज्ञ—दो यज्ञ सुबह-शाम के, एक यज्ञ दर्श का, एक यज्ञ पौर्णमास, एक चातुर्मास्य, एक आग्रायण और एक सांवत्सरिक—ये कुल मिलाकर सात होते हैं।

सप्तलोक–भूः, भुवः, स्वः, जनः, महः तप और सत्य—ये सात लोक हैं।

सप्त समिधाएँ–यज्ञीय अग्नि को प्रदीप्त करने के लिए सात समिधाएँ विहित हैं—आम्र, पलाश, खदिर, उदुम्बर (गूलर) आदि। दार्शनिक दृष्टि से 'इन्द्रियविषय' ही समिधाएँ हैं। शीर्षस्थ सात इन्द्रियाँ ही सात समिधाएँ है, यथा—2 नाक, 2 कान, 2 चक्षु, और 1 जीभ मिलाकर सात होती हैं।

समाधि–सामान्यतया चित्त की एकाग्रता समाधि है परन्तु विशेषरूप से विकाररहित विशुद्ध चित्तवृत्ति की अवस्था 'समाधि' कही जाती है। समग्र चित्तवृत्तियों का बाहर से निरोध हो जाने पर वे जब पूर्णतः आत्मस्थ हो जाती हैं, तब समाधि होती है। अष्टांग योग का आठवाँ एवं अन्तिम अंग समाधि है। सविचार, सवितर्क, अस्मिता और आनन्द के भेद से समाधि (संप्रज्ञतसमाधि) के चार भेद किए गए हैं। इस समाधि में ध्याता, ध्यान और ध्येय का भान रहता है, जब कि असंप्रज्ञात समाधि में वह भान नहीं होता।

सम्प्रसाद–चित्त की प्रसन्नता एवं निर्मलता। परब्रह्मोपनिषद् में परब्रह्म के ध्यान की अवस्था को सम्प्रसाद कहा है। और उसे देवों का सम्प्रसाददाता, अन्तर्यामी, असंग चैतन्य पुरुष कहा है। कभी-कभी सुषुप्ति को भी सम्प्रसाद कहते हैं। मुण्डकोपनिषद् में स्वप्नानुभव में आत्मा को भी सम्प्रसाद कहा गया है। सुबालोपनिषद् (4.3) में द्वितीय कोशस्थ शयन करने वाले और लोक-परलोक का दर्शन करने वाले तथा समस्त शब्दों को जानने वाले आत्मा को सम्प्रसाद कहा गया है।

संभूति–संभवन का (उत्पन्न होने का) नाम संभूति है। संभूति कार्यरूप होती है। इसलिए यह दृश्यमान जगत् संभूति है—ऐसा शंकराचार्य का अर्थ है। असंभूति इसके ठीक विपरीत अर्थ-वाचक शब्द है।

सरस्वती-चालन–शक्तिचालन मुद्रा का अपर नाम।

सर्ग-प्रतिसर्ग–'सर्ग' का अर्थ संसार अथवा सृष्टि होता है। जगत् के मूल उद्गम स्थान को भी सर्ग कहा गया है। और जगत् के प्रलय को 'प्रतिसर्ग' कहा गया है। पुराणों के लिए इन दोनों का वर्णन आवश्यक विषय होता है। सर्ग को ब्रह्म का विकास तथा प्रतिसर्ग को ब्रह्म का संकोच माना गया है।

सर्वान्तर्यामी–सभी भूत प्राणियों के अन्तस् में रहने वाले को सर्वान्तर्यामी कहते हैं। वह ईश्वर है, प्राणियों के हृदय में रहता है (गीता 18.61)। श्वेताश्वर (6.11) में कहा है कि सभी भूतों में एक देव गूढ रूप से अवस्थित है। वह सर्व भूतों का अन्तरात्मा है। नृसिंहपूर्वतापिन्युपनिषद् (1.12) में यही बात 'ऋत' और 'सत्य' शब्द का प्रयोग करके कही गई है। 'साक्षी' इसी का नामान्तर है।

सविकल्पक समाधि–जिस समाधि में ध्याता,

ध्येय और ध्यान की त्रिकुटि का भान रहता हो, उसे सकविकल्प समाधि कहते हैं।

सविता–सूर्य (आदित्य) को सविता कहा गया है, क्योंकि उन्हीं को सृष्टि का उत्पादक, सर्जक, रचयिता भी माना गया है। ये सुप्रसिद्ध वैदिक देवता हैं। सूर्य के उदीयमान स्वरूप को ही सविता कहा जाता है (निरुक्त 8.31)। आदित्य अन्तरिक्षां देवता हैं, वही सावित्री हैं (सावि. 6 और जैमिनि. 3.18.3)। आदित्य, भर्ग आदि भी इनके नाम हैं। मैत्रावरुण आदि में भी इनकी महिमा का गान है।

सहज समाधि–अष्टांग योग की चरमावस्था समाधि है। परन्तु ऐसे औपचारिक साधन के बिना ही (साधना किए बिना ही) अपने दैनन्दिन के कार्य करते रहने पर भी जीवन के परम लक्ष्य को पा लेना स्वभावत: समाधि 'सहजसमाधि' कही जाती है। इसी समाधि को कबीरदास ने 'सहजसमाध भली' कहकर प्रशंसा की है। महोपनिषद् के चौथे अध्याय के 61वें और 62वें मन्त्र में इस सहजसमाधि का उल्लेख किया गया है। उपनिषद् कहती है कि जो सुन्दर औदार्य और वैराग्य रस से ओतप्रोत आनन्दमय अवस्था की प्राप्ति होती है, उसे ही समाधि अवस्था कहते है। जब सांसारिक पदार्थों के त्याग के प्रति दृढ़ निश्चय हो जाता है और इससे जब जीवन में राग-द्वेष आदि सम्पूर्ण नष्ट हो जाते हैं वही समाधि है। यह समाधि साधनसाध्य समाधि से अलग ही है। यहाँ केवल अभ्यास बल से ही एकाग्रवृत्ति होती है। उसी आनन्दसमाधि को सहजसमाधि कहते है।

सहजावस्था–योगसाधना की पराकाष्ठा ही सहजावस्था कही जाती है। इस स्थिति में साधक हर स्थिति में समानता रखता है। शीतोष्णादि द्वन्द्वों को सहना और हर हाल में खुश रहना ही साधक का स्वभाव हो जाता है। गीता इसी को समत्वयोग, ब्राह्मी स्थिति और स्थितप्रज्ञता कहती है। महोपनिषद् (4.72) में इस स्थिति का विशद वर्णन करते हुए कहा गया है कि ममत्व बन्धन है और निर्ममत्व बन्धराहित्य है। यह अवस्था दुर्लभ है, जो गुरु-कृपा या ईशानुग्रह से प्राप्य है।

सहजोली मुद्रा–शरीर-शोधनार्थ की जाने वाली बहुत-सी मुद्राओं में से एक, जो हठयोग में बताई गई है।

सहस्रार चक्र–छ: चक्रों के परे सातवाँ चक्र जो आज्ञाचक्र के ऊपर स्थित है।

सांख्य–इसका सामान्य अर्थ ज्ञान है। छ: आस्तिक दर्शनों में से एक महत्त्वपूर्ण दर्शन। इसके प्रणेता कपिल माने जाते है। पुरुष-प्रकृति दो तत्त्वों को मानने वाले वे द्वैती थे। सांख्य लोग इस जगत् को त्रिगुणात्मिका प्रकृति के द्वारा निर्मित मानते हैं। मूलत: तो सांख्य ज्ञान ही था। दर्शन के रूप में वह ज्ञान से अलग तो बाद में हुआ। ज्ञान ही वेदान्त है।

साक्षात्कार–इस शब्द का अर्थ—प्रत्यक्ष दर्शन, अनुभव, अनुभूति, ज्ञान आदि है। आत्म-साक्षात्कार या ब्रह्म-साक्षात्कार के लिए उपासनादि कई कर्म उपायरूप में कहे गए हैं। गुरूपदिष्ट चार वेदान्तीय महावाक्यों का चिन्तन करते हुए अनुभूति की अवस्था प्राप्त करके साधक अपने शुद्ध मन—अग्र बुद्धि के द्वारा साक्षात्कार करता है। वह नित्यशुद्धबुद्धमुक्त ब्रह्मानुभूति है।

साम–चार वेदों में से एक गायन-प्रधान वेद। अन्य वेदों के कुछ मंत्रों को गायन में बिठाने से ही सामवेद बना है। कहीं ऋग्वेद के मन्त्रों को भी साम कहा है। गान और तत्त्व जुड़ने से साम की महत्ता बढ़ी हुई है। गीता में भगवान् ने भी सामवेद को अपनी विभूति माना है (गीता 10.22) ब्राह्मण-ग्रन्थों (शत.ब्रा. 4.4.5.6) में भी साम को वाणी की प्रतिष्ठा कहा है। छान्दोग्यपनिषद् (2.2.1) में साम की पंचविध उपासना का वर्णन किया गया है।

सामीप्य–यह भी पंच प्रकार की मुक्ति में से एक है, जो साधक को सदैव भगवान् के समीप ही रखती है। भगवान् के समीप अर्थात् उसी लोक में भक्त रहता है।

सायुज्यपद–यह भी पाँच प्रकार की मुक्ति में से एक

है। इसमें साधक भगवान् के साथ जुड़ जाता है अर्थात् भगवद्रूप ही हो जाता है।

सारूप्य–पाँच मुक्तियों में से सारूप्य मुक्ति वह है जिसमें भक्त का रूप भगवान् जैसा ही बन जाता है। इसमे वह भगवान् के साथ जुड़ नहीं जाता अर्थात् एक नहीं हो जाता अपितु उनके जैसा रूप धारण करते हुए उनसे अलग रहता है।

सालोक्य–पाँच प्रकार की मुक्ति में से एक। इसमें साधक परमात्मा को सदा के लिए निरखता रहता है और परमात्मा को ही परमात्मा (सगुण को) सदा के लिए देखता रहता है।

सावित्री–गायत्री की लौकिक शक्ति सावित्री है। स्थूल जगत् की शक्तियों से उसका सम्बन्ध है। पारलौकिक शक्ति या ब्रह्मविद्या को गायत्री कहते हैं, तथा वर्चस् या तेजस् को सावित्री मानते हैं। आदित्य सूर्य है तो प्रकाशित 'द्यौ:' सावित्रीरूप है। यदि सविता अग्नि है तो धरती सावित्री है। वरुण सविता है तो 'आप:' सावित्री है। (सावि. 1.2)। सावित्री को जानने वाला मृत्यु को तैर जाता है और वह उसी लोक को प्राप्त होता है। (जैमिनि. 4.28.6)। अथर्वशिर (6) में ब्रह्म से लेकर गायत्री से लोकों की उत्पत्ति बताई गई है।

सिंहासन–यह आसन दक्षिण टखने को बायीं ओर सीवन के नीचे रखकर बायें टखने को इसी तरह उल्टा रखकर किया जाता है। (जा. 3.6.1.3)

सिद्धासन–बाँए पैर की एड़ी को सीवन के बीच बलपूर्वक स्थिर करके तलवे को दायें पैर के ऊरु पर रखने से यह आसन बनता है।

सिद्धि–यह आध्यात्मिक सफलता या विभूति का बोधक शब्द है। योग की अणिमा आदि आठ सिद्धियाँ तो सुप्रसिद्ध ही हैं। ईश्वरप्रीत्यर्थ निष्कामकर्माचरण करने वाला भी सिद्धि प्राप्त करता है, ऐसा गीता कहती है (गीता 12.10)।

सुख-दु:ख–अनुकूल वेदनीय सुख है और प्रतिकूल वेदनीय दु:ख है।

सुषुप्ति–जीव की तीन अवस्थाओं में से एक। स्थूल-सूक्ष्म शरीर की निष्क्रियता की आनन्दयुक्त अवस्था। उठने के बाद आनन्द का स्मरण होता है, वही उसकी आनन्दयुक्तता का प्रमाण है।

सुषुम्ना नाडी–हृदयकेन्द्रस्थ 101 नाड़ियों के जाल में प्रत्येक नाडी की सौ-सौ शाखाएँ और उन शाखाओं में प्रत्येक शाखा की बहत्तर हजार उपशाखाएँ योग में मानी गई हैं। इनमें इडा, पिंगला और सुषुम्ना—ये तीन नाड़ियाँ मुख्य हैं। सुषुम्ना नाडी के बारे में क्षुरिकोपनिषद् कहती है कि सुषुम्ना परमतत्त्व में लीन है और विरजा ब्रह्मरूपिणी है। वाम नाडी इडा और दक्षिण नाडी पिंगला के बीच के उत्तम स्थान में स्थित सुषुम्ना नाडी को जो जानता है, वह वेदवित् है (क्षुरि. 16.17)।

सूक्ष्मद्रष्टा–अति सूक्ष्म बातों को समझ लेने वाला, तीक्ष्ण बुद्धिमान, अथवा—ऋषि, परमेश्वर और शिव को भी सूक्ष्म द्रष्टा कहा गया है। भेदक बुद्धिवाले मर्म को पकड़ने वाला सूक्ष्म द्रष्टा कहा जाता है। कठोपनिषद् (1.3.12) में सूक्ष्माति-सूक्ष्म हृदय गुहा में अवस्थित तथा सकल-विश्वसर्जक बहुविध परमात्मा को ही सूक्ष्मद्रष्टा कहा गया है।

सूत्रात्मा–समष्टि के सूक्ष्मशरीर के अभिमानी देवता। हिरण्यगर्भ का नामान्तर।

सृष्टि-अतिसृष्टि–संसारोत्पत्ति को 'सृष्टि' कहते हैं। सृष्टि के पहले एकाकी चेतन पुरुष द्वारा की गई प्रथम कामना से क्रमश: संसार (जगत्) की उत्पत्ति हुई, इसे सृष्टि कहते हैं। (छा. 6.3.2, मुण्डक 1.1.9)। प्रलय के समय पुन: उसी में यह सृष्टि मिल जाती है (तैत्ति. 3.1.1) और जो उत्कृष्ट सृष्टि है उसे 'अतिसृष्टि' कहते हैं।

सोम–एक पोषक वनस्पति, लता। सोमरस और सोमवल्ली की वेदों में बारबार अत्यन्त महिमा गाई गई है। (साम. 473-474, यजु. 16.72, अथर्व. 3.27.4 आदि)।

सोऽहम्–जीव-ब्रह्मैक्य प्रतिपादक अनेकानेक वाक्य वेदान्त में हैं। जीव अज्ञानवश होकर अपने को ब्रह्म से अलग मानता है। उसे बोध

कराने के लिए—'शिवोऽहम्', 'अहं ब्रह्मास्मि' 'तत्त्वमसि', 'अयमात्मा ब्रह्म', 'प्रज्ञानं ब्रह्म' आदि अनेक वाक्य हैं। 'सोऽहं' भी इसी प्रकार का वाक्य है। जब मनुष्य का अज्ञानरूप निर्माल्य दूर हो जाता है तब देहदेवालय में अवस्थित उस चैतन्य को ब्रह्मरूप से ही पूजना चाहिए।

स्तोम-संहिताओं में देवों के प्रति स्तोम संग्रहीत है। स्तोम का अर्थ स्तुति, गुणगान, प्रशंसा आदि होता है (जै. 1.43.6)। सामगानान्तर्गत स्तुति-परक मन्त्र ही स्तोम है।

स्थितता-हृदय की दिव्य भावनाओं से परितुष्ट सतत शान्त साधक की अवस्था 'स्थितता' कही जाती है। याज्ञवल्क्य ने बृहदारण्यकोपनिषद् में जनक को समझाते हुए इस शब्द का प्रयोग किया है (बृह. 4.1.7)। गीता (2.55) भी यही कह रही है।

स्थूलप्रकृति-मूलप्रकृति तो भगवान् की माया नाम की शक्ति या तीनों गुणों की साम्यावस्था, या विश्व का मूल कारण कही जाती है। उसमें से उत्पन्न हुए आब्रह्माण्डस्तम्बपर्यन्त जगत् को स्थूलप्रकृति कहा जाता है। योगचूडामण्युपनिषद् (72) में इसका विवेचन किया गया है।

स्थूलशरीर-तीन शरीरों में से दृश्य पांचभौतिक शरीर को स्थूलशरीर कहते हैं। अन्य दो शरीरों में सूक्ष्मशरीर और कारणशरीर है। सूक्ष्मशरीर को लिंगशरीर भी कहते हैं। वह सत्रह तत्त्वों का बनता है (10 इन्द्रियाँ, 5 प्राण और मन तथा तदुपाधिक चैतन्य)।

स्रुवा-एक यज्ञीय उपकरण है, जिससे अग्नि में घी की आहुतियाँ डाली जाती हैं।

स्वधा-पितरों को श्रद्धापूर्वक भोज्य-पदार्थ, पिण्ड या जल समर्पण करने के समय 'स्वधा' शब्द का उच्चारण किया जाता है। इसे 'स्वधाकार' कहते हैं। पितर स्वधारूपी अन्न से ही आयु पाते हैं (शत.ब्रा. 13.8.1.4, तै.सं. 2.3.10.4; और छान्दोग्य. 2.22.2)। उपनिषद् में वाणी को धेनु रूप मानकर उसके चार स्तनों के रूप में—स्वाहाकार, स्वधाकार, वषट्कार और हन्तकार माने हैं, (बृहदारण्यक. 5.8.1)। पुराणों में 'स्वाहा' और 'स्वधा को अग्नि की दो पत्नियों के रूप में माना है। देवों के लिए स्वाहा और पितरों के लिए स्वधा बोलकर उन्हें उनका भाग—तर्पण पहुँचाया जा सकता है।

स्वप्न-जीव की तीन अवस्थाओं में से एक। निद्रा में वस्तुओं, व्यक्तियों और घटनाओं का सम्बद्ध या असम्बद्ध दिखाई देना ही स्वप्न है। स्वप्न में सूक्ष्मशरीर काम करता है। उसका अधिष्ठाता देव 'तैजस्' कण्ठ में निवास करता है। स्वप्न का उल्लेख ऋग्वेद (2.58.10) में भी है। ब्रह्मवैवर्तपुराण के 77वें अध्याय में स्वप्नों की शुभाशुभ फलश्रुति बताई गई है। रात में स्वप्न में पितृराज मनुष्यों में प्रविष्ट होते हैं (जै. 4.5.2)। कठोपनिषद् (2.3.5) में कहा है कि जैसे स्वप्न में वस्तुएँ अस्पष्ट दीखती हैं वैसे ही पितृलोक में परमात्मा अस्पष्ट दिखाई देते हैं। 'स्वप्न' एक भूमिका का भी नाम है।

स्वयभूः-परिभूः-'स्वयंभू' का अर्थ अपने-आप ही उत्पन्न होने वाले ब्रह्मा, विष्णु, महेश, कामदेव आदि कहे जाते हैं। यह शब्द ईश्वर का विशेषण भी है। प्रथम मनु का भी 'स्वायंभुव मनु' कहा गया है। और 'परिभूः' शब्द का अर्थ चारों ओर से आच्छादित किया गया होता है।

स्वर-वेदों में तीन प्रकार के स्वर हैं—उदात्त, अनुदात्त और स्वरित। छान्दोग्य (2.22.5) और तैत्तिरीयोपनिषद् (1.2.1) में अ-आ आदि ध्वनि बोधकों को स्वर कहा गया है। ब्राह्मणग्रन्थों में स्वर को आदित्य, प्राण, पशु, श्री, प्रजापति और अनन्त के रूप में वर्णित किया है। (जै.उ.ब्रा. 3.33.1; शां.ब्रा. 7.1.10)। हमारी भाषा में अआ, इई, उऊ, ऋॠ आदि स्वर हैं, तो संगीत में सारेगम आदि सात स्वर हैं। योगचूडामणि उपनिषद् में तो अन्य ही प्रकार के साधना सम्बन्ध के स्वर की बात कही गई है। उसमें श्वास-प्रश्वास की विशिष्ट प्रक्रिया (प्राणायाम) में स्वर का प्रयोग किया गया है। (देखिए—यो.चू. 67)

स्वराट्-स्वराट् का अर्थ दीप्तिमान या प्रकाशक और विराट् का अर्थ व्यापक होता है। छन्द में दोनों शब्द साथ में आए हैं। दोनों वैदिक छन्द हैं। जिस छन्द के प्रत्येक द्विपद में आठ तथा एक पद में दश अक्षर हों उसे 'स्वराट्' या स्वराज् कहते हैं और दश-दश अक्षरों के तीन चरण वाले छन्द को 'विराट्' कहते हैं। विराट् की विशिष्ट अवधारणा 'विराट् पुरुष' है। (गा.रह. 4.5)

स्वर्ग्य अग्नि-स्वर्ग को प्राप्त कराने वाली अग्नि विद्या। कठोपनिषद् में इसे 'स्वर्ग्य अग्नि' का नाम दिया गया है (कठोपनिषद् 1.1.13)। बाद में यमराज ने उस स्वर्ग्य अग्नि को प्रसन्न होकर नचिकेता का ही नाम दे दिया (कठ. 1.1.17)।

स्वस्ति-कल्याण, क्षेमकुशल, शुभभावना आदि अर्थ वाला यह शब्द ऋग्वेद के कई सूक्तों में और स्वस्तिपाठ में आया है। सोमदेव से की गई कल्याण-प्रार्थनाओं में (तै.ब्रा. 1.4.8.6) तथा कठोपनिषद् (1.1.9) में इस शब्द के द्वारा परमात्मा का ओम् अक्षर द्वारा स्मरण करने का निर्देश दिया गया है। मुण्डक (2.2.6) और कठरुद्र (4) आदि में भी इसका प्रयोग किया गया है।

स्वाधिष्ठान चक्र-यौगिक नव चक्रों में से एक। इन सभी चक्रों का विवरण पहले दिया जा चुका है। उसे 'नवचक्र' शब्द की व्याख्या में देख सकते हैं।

स्वाहा-'स्वाहा' (सु + आ + हा) शब्द का अर्थ अच्छी तरह से या पूरे तौर से छोड़ देना या विसर्जन करना होता है। यज्ञ में याजक 'स्वाहा' शब्द के उच्चारण के साथ आहुतियाँ (होमद्रव्यों का अग्नि में विसर्जन) देता है। इसे स्वाहाकार कहते हैं। यह शब्द इसी क्रिया के लिए प्रयोज्य हो गया है। निरुक्तकार ने 'स्वाहा' शब्द का दूसरा अर्थ—सु + आह = 'सुन्दर कथन' भी किया है। अथवा स्व = स्वत्व को, आ = ठीक तरह से और हा = छोड़ना या त्याग करना, ऐसा भी किया है। (निरुक्त. 8.20)

स्वदेज-पसीने से उत्पन्न होने वाले जन्तु आदि। चार प्रकार के जीवों में से एक प्रकार।

हंस-परमहंस-हंस एक पक्षी है। वह नीर-क्षीर-विवेक करने वाला माना गया है। ब्रह्म, आत्मा, तथा प्रकाशस्वरूप जीवात्मा को भी 'हंस' कहा गया है। अपने इष्ट, आराध्य, महात्मा, गुरु को भी आदर से 'परमहंस' कहा जाता है। सबके जीवनाधार ब्रह्मचक्र में यह जीवात्मा (हंस) भ्रमण करता है (श्वेताश्वतर 1.6)। कठोपनिषद् (2.2.2) में परमात्मा को 'हंस' कहा गया है। जो मनुष्य हृदयस्थ अनाहतध्वनियुक्त प्रकाशमय चिदानन्द को जानता है, वह हंस ही कहा जाता है (ब्रह्मबिन्दु 20-21)। आदित्य को भी हंस कहा गया है (एतरेय ब्रा. 4.20)। संन्यासियों के चार प्रकारों में से एक प्रकार को 'हंस' कहा गया है। हंस शब्द का वास्तविक अभिप्राय यह है कि जो सत्-असत् का विवेक कर सकता हो, जो आत्मा-अनात्मा के भेद को जानता हो, उस नीर-क्षीर जैसे विवेक के जानने वाले को 'हंस' कहना चाहिए। और जिसने इस ज्ञान की पराकाष्ठा प्राप्त की हो, उसे 'परमहंस' कहना चाहिए।

हठयोग-मंत्रयोग, लययोग आदि योगसाधना के चार भेदों में से एक हठयोग है। इसमें हठपूर्वक (बलपूर्वक) चित्तवृत्तियों को बाह्य विषयों से हटाकर अन्तर्मुखी करके ब्रह्मैक्य किया जाता है। इसी के द्वारा शरीर और नाडी की शुद्धि करके शरीर का व्याधिशमन और स्वास्थ्योन्नयन किया जाता है (गोरक्षसंहिता)। योगशिखोपनिषद् (133) में इसकी विशेष जानकारी दी गई है।

हन्तकार-प्राचीन काल में अतिथि या संन्यासी के लिए गृहस्थ लोग भोजन का अल्प अंश प्रतिदिन निकाल लेते थे। वह अंश पुष्कल का चौगुना, अथवा मोर के सोलह अण्डों के बराबर होता था। उसे 'हन्तकार' कहा जाता था।

हय-'अश्व' या 'अर्वा' का नामान्तर है। प्राचीन काल में वह पशुओं में उत्तम माना जाता था। वेगवान् होने से उसका युद्धादि में बहुत उपयोग होता था। वाजी भी उसका नाम है।

हर्षशोक–प्रिय वस्तु की प्राप्ति से मन में होती हुई भावना 'हर्ष' है और उसके बिछुड़ने से हृदय में होती हुई वेदना 'शोक' है। हर्ष-शोक परस्पर विपरीत होने से द्वन्द्व हैं। शास्त्रों में अध्यात्म-पथ के यात्री को हर्ष और शोक इन दोनों का त्याग कर देने का निर्देश है (कठ. 1.2.12, गीता 2.26)।

हिरण्यगर्भ–सृष्टि में सर्वप्रथम हिरण्य (सोने का गर्भ) अण्ड रूप में प्रजापति ब्रह्मा जन्मे और उन्हीं से सारी सृष्टि उत्पन्न हुई। शास्त्रों में कहीं-कहीं हिरण्यगर्भ शब्द विष्णु के लिए या आत्मा के लिए भी प्रयुक्त हुआ देखा जाता है। और कामना को परमात्मा की एक शक्ति के रूप में कहा गया है और इस शक्ति को ही हिरण्यगर्भ प्रजापति आदि अनेक नाम दिए गए हैं। अधिक जानकारी के लिए देखिए मैत्रावरुण (5.8) और श्वेताश्वर (3.4)।

हुत-प्रहुत–हवनीय द्रव्य को हुत, हवि या हविष्य कहते हैं। हवनादि कार्य के लिए प्रयुक्त खाद्यान्न, तिल, चावल, जौ, घी आदि सब हुत (हवि) ही हैं। यह हुत (हवि-हविष्य) देवान्न कहलाते हैं और इन हुतों को देवों को बलि के रूप में समर्पित करने की जो विधि होती है, उसे 'प्रहुत' कहा जाता है। उपनिषद् कहती है कि परमात्मा ने दो अन्न जो देवों के लिए बाँटे हैं, वे हुत और प्रहुत हैं। इसलिए देवों के लिए आहुतियाँ और बलि देते हैं (बृहदारण्यक. 1.5.2)।

हृदयगुहा–प्रत्येक प्राणी या मनुष्य के हृदय में परमात्मा का निवास है, ऐसी प्रसिद्धि है। प्रजापति आदि सभी देवों का निवास हृदय में माना जाता है। (बृहदारण्यक 5.3.1 और अ.शि. 43)। देवी अदिति प्राणों के साथ हृदय में अवस्थित है (कठ. 2.1.7)। यह परमात्मा अन्नमय कोश (शरीर) में हृदयस्थान के आश्रय में प्रतिष्ठित है। (मुण्डकोपनिषत् 2.2.7; श्वेताश्वतरोपनिषद् 6.11 तथा महाभारत, वनपर्व 313.117)। यह हृदयगुहा की हृदयाकाश है।

हृदयग्रन्थि–द्वेष, कपट, कुटिलता आदि हृदय की ग्रन्थियाँ (गाँठें) मानी जाती हैं। मोह और अन्य आन्तरिक विकार भी हृदयग्रन्थियाँ हैं। ये सब न सुलझने वाली ग्रन्थियाँ ही हैं। अर्थात् सभी विकार, वासनाएँ, इच्छाएँ, तृष्णाएँ बन्धन में डालने वाली ग्रन्थियाँ ही हैं। कठोपनिषद् (2.3.15) कहती है कि जब परब्रह्म परमात्मा का साक्षात्कार हो जाता है तब ये सभी ग्रन्थियाँ खुल जाती हैं, अर्थात् मनुष्य तब बन्धनमुक्त हो जाता है। मुण्डकोपनिषद् (2.2.8) में भी यही कहा गया है।

होता–यज्ञ के मुख्य चार ऋत्विजों में से एक। बाकी के तीन ब्रह्मा, उद्‌गाता और अध्वर्यु हैं। होता का काम यह है कि वह यज्ञ में मंत्रों का उच्चारण करता है। अन्य मुख्य ऋत्विजों की तरह ही होता के तीन सहयोगी होते हैं। अत: सामान्यतया किसी यज्ञ में सोलह ऋत्विज हुआ करते हैं। मैत्रावरुण, अच्छावाक् और ग्रावस्तत्—ऐसे तीन नाम सहयोगियों को दिए गए हैं।

❋

मन्त्रानुक्रमणिका

अ

आ

इ

ई

ऐ

ओ

क

त

ध

न

ब

भ

म

य

ष

स

❋